KALYAN

1963

Lib. G. K. V.
Hardwar

110339

110339
110339

कल्याण

वर्ष ३७] [अङ्क २

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे ह

संस्करण—१,३०,००० (एक लाख तीस हजार)

विषय-सूची

कल्याण, सौर फाल्गुन २०१९, फरवरी १९६३

विषय — पृष्ठ-संख्या

१–धनुष-टङ्कारसे ज्वाला भड़की [कविता] ... ६८३
२–कल्याण ('शिव') ... ६८४
३–'धर्मयुद्ध—भगवत्प्राप्तिका साधन' ... ६८५
४–'पाञ्चजन्य लो हाथमें' [कविता] (पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम') ६९१
५–संन्यास-तत्त्व (श्रद्धेय स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती) ६९२
६–अनन्य भक्तिसे भगवत्प्राप्ति (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... ६९५
७–प्रकाशका देश (महात्मा श्रीश्रीसीतारामदास ओंकारनाथजी महाराज) ... ७०२
८–मधुर ७०७
९–अन्ताराष्ट्रिय चेतना एवं भारतीय संस्कृति (डा० श्रीनरेन्द्रकुमार सेठी, एम्० ए०, एम्० बी० ए० (न्यूयार्क), पी-एच्० डी० (न्यूयार्क), एम्० आर० ए० एस्०, एम्० बी० एच०, साहित्यरत्न, विशारद, धर्मरत्न, प्रोफेसर, लाङ्ग आइलेण्ड विश्वविद्यालय न्यूयार्क एवं प्रतिष्ठापक, भारत-केन्द्र, न्यूयार्क) ७०८
१०–आपमें छिपा हुआ चमत्कारी विद्युत्प्रवाह—आत्मतेज (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ... ७०९
११–गोस्वामी तुलसीदास और अहंकार (श्रीसद्गुरुशरणजी अवस्थी) ... ७१२
१२–मानस रोग (श्रीगोपालदत्तजी सारस्वत) ७१५
१३–जिन्हें दोष नहीं दीखते [कहानी] (श्री 'चक्र') ७१७
१४–किंचित् भी दोष नहीं देखते [कविता] ७१९
१५–दो युगोंमें [गद्य-काव्य] (डा० श्रीहरिवंशरायजी 'बच्चन') ७२०
१६–प्रतीक्षा (श्रीहरिश्चन्द्रजी अष्ठाना 'प्रेम') ७२१
१७–हमारा धर्म—धर्म-युद्ध (श्रीजित्तूरामजी मौर्य) ७२३
१८–प्रभुका बल [कविता] ... ७२७
१९–कैसा साहित्य चाहिये ? (गोरखपुरमें अनुष्ठित 'निखिल-भारत-बंग-साहित्य-सम्मेलन'के ३८वें अधिवेशनमें स्वागत-समितिके अध्यक्ष श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारके बंगला स्वागत-भाषणके कुछ भागका अनुवाद) ७२८
२०–भारतीय संस्कृतिमें पशु-पक्षियोंका महत्त्व (श्रीइन्द्रलालजी शास्त्री, विद्यालङ्कार) ७३१
२१–सर्वधर्मान् परित्यज्य (डॉ० कैलाशनाथजी मिश्र, एम्० डी०, एम्० बी० एच० ए०) ७३४
२२–पता नहीं [कविता] ... ७३८
२३–जीवनमें सफलताकी कुंजी (प्रो० श्रीहंसराजजी अग्रवाल, एम्० ए०, पी० ई० एस्०) ७३९
२४–दिल्लीके संत कवि महात्मा चरणदास (श्रीफतहचन्द्रजी शर्मा 'आराधक') ... ७४०
२५–पढ़ो, समझो और करो ... ७४२

चित्र-सूची

१–वृषभारूढ़ हर-पार्वती ... ... (रेखाचित्र) ... मुखपृष्ठ
२–धनुष-टङ्कारसे ज्वाला भड़की ... ... (तिरंगा) ... ६८३

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण
भारतमें
विदेशमें
(१० पै

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

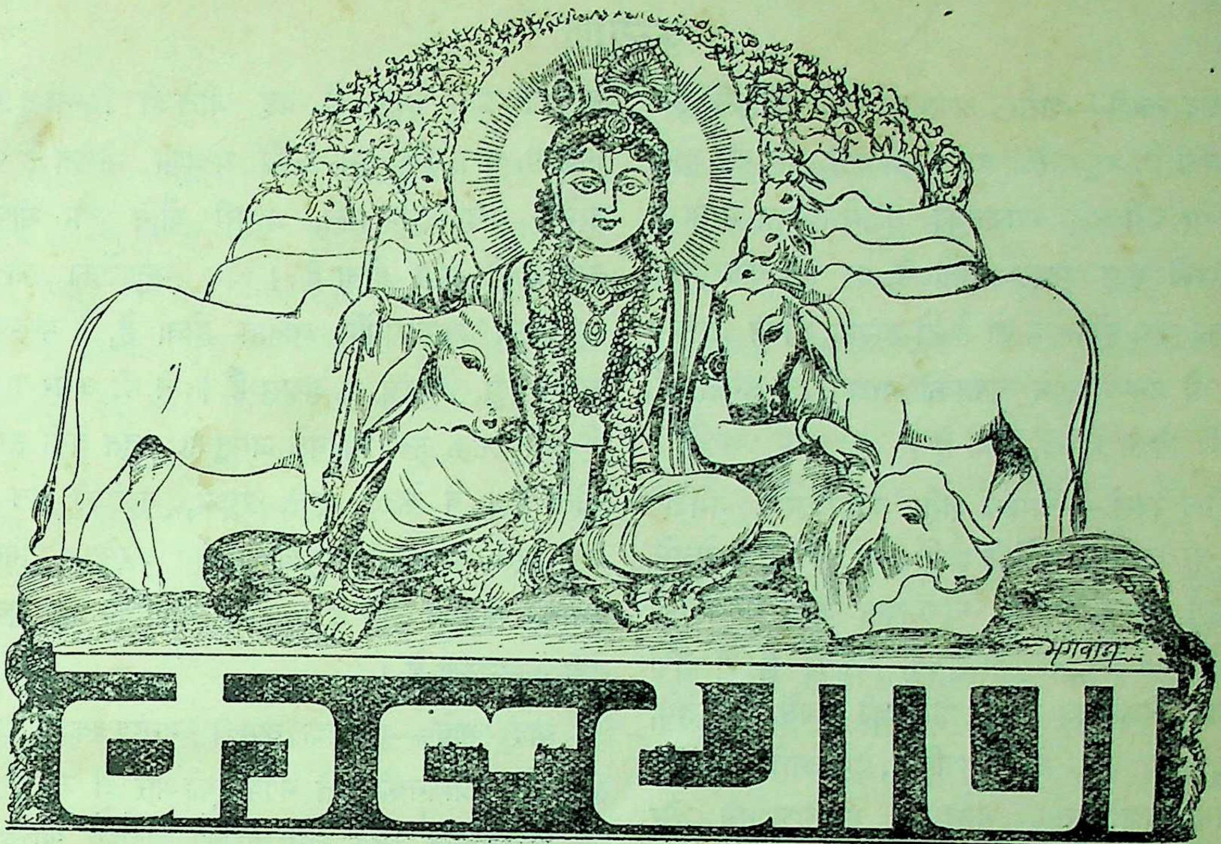

कल्याण

शुद्धतेजःस्वरूपं च भक्तानुग्रहविग्रहम् । अतीव कमनीयं च श्यामरूपं नमाम्यहम् ॥
परिपूर्णतमं शान्तं राधाकान्तं मनोहरम् । सत्यं ब्रह्मस्वरूपं च नित्यं कृष्णं नमाम्यहम् ॥

वर्ष ३७ } गोरखपुर, सौर फाल्गुन २०१९, फरवरी १९६३ { संख्या २
पूर्ण संख्या ४३५

धनुष-टङ्कारसे ज्वाला भड़की

असुरोंने आ किया आक्रमण देवोंपर सहसा उद्दण्ड ।
सुर-पुकार सुन, उठे रोष भर हरि, ताना कठोर कोदण्ड ॥
धर प्रत्यञ्चा खींचा धनुको, हुआ भयानक धनु-टंकार ।
भड़क उठी ज्वाला भीषण, उमड़ा कालानल कर हुंकार ॥
होगा अब विनष्ट जल-भुनकर असुरोंका सारा समुदाय ।
या फिर साधु बनेंगे सब वे तजकर अघ-अनीति-अन्याय ॥

कल्याण

याद रक्खो—शरीर क्षणभङ्गुर है, विनाशी है। जो जन्मा है, वह मरेगा ही; जो बना है, वह नष्ट होगा ही। पर वही यदि भगवान्‌की सेवामें लगकर मरता है तो उसकी मृत्यु सफल होती है, पर वही यदि केवल भोगोंका भोग होकर मरता है तो उसका जीवन असफल है। जो मनुष्य अपने जीवनको भगवत्सेवामें लगाता है, उसीका जीवन सार्थक होता है।

याद रक्खो—जिसका शरीर परोपकारमें, गरीबोंके दुःख दूर करनेमें, आर्तोंकी आर्ति हरण करनेमें, परसेवामें, त्यागपूर्ण कर्तव्य-पालनमें, माता-पिता आदि गुरुजनोंकी सेवामें, धर्मरक्षामें, साधु-संरक्षणमें, देशकी सुरक्षा तथा पालनमें, विश्वमानव एवं प्राणीमात्रकी सेवामें, धर्मयुद्धमें, त्याग, क्षमा, दया, विनय, अहिंसा, प्रेम आदि सद्भावोंके सेवनमें, देवाराधनामें, भगवान्‌के भजन-ध्यानमें और भगवान्‌की मङ्गलमयी भक्तिमें लगकर चरम गतिको प्राप्त होता है, उसको शुभ गतिकी और निष्काम भावसे करनेपर भगवत्प्राप्तिरूप परम गतिकी प्राप्ति होती है। जिन मनुष्योंका जीवन इस प्रकार भगवत्सेवामें उत्सर्ग होता है, वे ही मनुष्य वास्तवमें सच्चे अर्थमें मनुष्य हैं। वे ही दैवमानव हैं और वे ही अपने आदर्श जीवनसे जगत्‌का वास्तविक उपकार करते हैं।

याद रक्खो—जिसका शरीर दूसरोंके अहितमें, गरीबोंको सतानेमें, लोगोंके दुःख बढ़ानेमें, स्वार्थवश परस्वापहरणमें, भोगपूर्ण इन्द्रियसेवनमें, गुरुजनोंके अपमानमें, धर्मके नाशमें, साधु-पीड़ामें, देशकी बुराई तथा अरक्षामें, विश्वमानव एवं जीवोंके अपकारमें, अधर्म-पूर्ण स्वार्थभरे युद्धमें, काम-क्रोध-लोभ, मद, क्रूरता, हिंसा, द्रोह, वैर आदि असद्भावोंके वश होकर असदाचरणमें, असुर—असुरभावापन्न मानव और आसुरी भोगोंकी आराधनामें, विषयचिन्तन—विषय-सेवनमें और विषय-भोगोंकी अमङ्गलमयी,—परिणाम-दुःखमयी भक्तिमें लगकर मृत्युको प्राप्त होता है, वह जीते-जी चिन्ता-दुःख-निराशा, पाप और तन-मनकी यन्त्रणा भोगता है एवं मरनेके बाद अशुभ गति, आसुरी योनि और भीषण नरकादिको प्राप्त होता है। जिन मनुष्योंका जीवन इस प्रकार असत्कार्योंमें व्यतीत होता है, वे मनुष्यके रूपमें पशु, पिशाच या राक्षस हैं। वे ही असुर-मानव हैं और उनके जन्म-जीवनसे जगत्‌की बहुत बड़ी हानि होती है। वे केवल कुत्ते, सूअर, गदहेकी मौत ही नहीं मरते, वरं महान् दुःखोंका भोग करनेकी भूमिका बनाकर साथ ले जाते हैं। मानव-जीवनकी यह सबसे बड़ी असफलता है।

याद रक्खो—मनुष्यके असली मनुष्यत्वका प्रारम्भ होता है—जीवनकी गति भगवान्‌की ओर हो जानेपर—और भगवत्सेवाके लिये त्याग-तप-पूर्ण धर्मका आचरण करनेपर। धर्म वही है जिससे अपना तथा दूसरोंका परिणाममें परम कल्याण हो। इस प्रकारके धर्मका आचरण करनेके लिये ही मनुष्य-शरीर प्राप्त हुआ है।

याद रक्खो—मनुष्यको कर्म करनेका अधिकार प्राप्त है। मनुष्य केवल भोगयोनि नहीं है, कर्मयोनि है। वह अपने कर्मोंके द्वारा अपना भविष्य अत्यन्त दुःखमय भी बना सकता है, सुखमय बना सकता है और सत्साधनमें प्रवृत्त हो तो भगवान्‌को—आत्माको भी प्राप्त कर सकता है जो जीवनका परम लक्ष्य है।

याद रक्खो—इस सिद्धान्तको समझकर जो मनुष्य कर्माधिकारका सदुपयोग करता है, वही बुद्धिमान् है। अतएव तुम पापोंका—दुष्कर्मोंका सर्वथा त्याग करो, पुण्योंका—सत्कर्मोंका आचरण करो और वह सत्कर्मोंका आचरण भी करो भगवत्पूजा—भगवत्सेवा-भगवत्प्रीतिके पवित्र भावसे। ऐसा करनेपर तुम्हारा जीवन सर्वथा सफल हो जायगा।

'शिव'

'धर्मयुद्ध—भगवत्प्राप्तिका साधन'

भारतवर्ष धर्मप्राण तथा आध्यात्मिक देश है। उसके प्रत्येक विचार तथा कार्यका धर्मसे सम्बन्ध है तथा धर्मका लक्ष्य है—आत्मसाक्षात्कार या 'भगवत्प्राप्ति'। इसलिये उसके जीवन-निर्वाहके सभी कार्य धर्मसङ्गत होते हैं। इस धर्ममें भौतिकताका बहिष्कार नहीं है। 'अर्थ' और 'काम' भी आवश्यक पुरुषार्थ हैं, पर वे होने चाहिये—'धर्म'-नियन्त्रित और उनका लक्ष्य भोग न होकर होना चाहिये—'मोक्ष'। इसीलिये पुरुषार्थ-चतुष्टयमें 'अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष' चारोंको स्थान है। इन चारोंकी जिसमें उपयुक्त रूपमें—सर्वभूतहित-साधनके रूपमें सिद्धि होती हो—वही 'धर्म' है।

'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।'

जिससे अभ्युदय (सर्व प्रकारके श्रेष्ठ लौकिक बल-वैभव) तथा निःश्रेयस (मोक्ष) की सिद्धि होती हो, वह धर्म है। अतएव जहाँ सर्वभूतहितके लिये, समष्टिके लाभके लिये युद्धकी आवश्यकता हो, वहाँ युद्ध भी धर्म है। जो युद्ध दूसरेके स्वत्वका अपहरण करनेके लिये हो, शत्रुभावको लेकर किसीका अहित करनेके लिये हो, द्वेषपूर्ण हिंसावृत्तिसे हो, क्रोध या लोभके आवेशमें अविवेकपूर्ण हो, एवं जगत्में कामोपभोगपरायणतारूप आसुरी-सम्पत्तिकी वृद्धिके लिये हो, वह युद्ध धर्म नहीं है। इसके विपरीत जो सबके हितके लिये हो, धर्म और न्यायके विस्तारके लिये हो, दैवी सम्पदारूप धर्मकी सुरक्षाके लिये हो, वैर तथा द्वेष-रहित अहिंसावृत्ति (शरीरके किसी अङ्गसे विषपूर्ण मवाद निकालकर उसे शुद्ध करनेके लिये आपरेशनकी भाँति) से हो—वह युद्ध धर्म है और उसीका नाम 'धर्मयुद्ध' है।

अर्जुन धर्मयुद्धमें प्रवृत्त होना चाहते थे; परंतु दोनों ओर सेनामें अपने कुटुम्बी स्वजनोंको देखकर शोकाकुल हो गये और धनुष-बाण छोड़कर रथमें एक किनारे बैठ गये। उस समय भगवान्ने उनसे कहा—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥
(गीता २। २-३)

विषमस्थलमें उपजा कैसे तुममें अर्जुन यह व्यामोह।
जो अनार्यसेवित, अस्वर्गद, है अकीर्तिकारी संदोह ॥
नहीं तुम्हारे योग्य नपुंसकता यह, करो न तुम स्वीकार।
तुच्छ हृदयकी दुर्बलता तज, उठो, युद्ध कर अङ्गीकार ॥

'अर्जुन! इस विषमस्थलमें तुममें यह मोह कैसे आ गया? यह न तो (आर्य) श्रेष्ठ पुरुषोंके द्वारा आचरित है, न स्वर्गप्रद है और न कीर्ति करनेवाला ही है। पार्थ! इस नपुंसकताको छोड़ो, यह तुम्हारे योग्य नहीं। तुम शत्रुको तपानेवाले वीर हो, हृदयकी इस तुच्छ दुर्बलताका परित्याग करके युद्धके लिये उठकर खड़े हो जाओ।'

फिर सब प्रकारसे आत्माकी अमरता समझाते हुए भगवान् बोले—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥
(२। १८-१९)

अप्रमेय अविनाशी है यह हे भारत! जीवात्मा नित्य।
युद्ध करो, तुम जान सभी उसके देहोंको अथिर अनित्य ॥
मरने और मारनेवाला आत्माको जो लेता मान।
नहीं मारता मारा जाता यह, वे इससे हैं अनजान ॥

'अर्जुन! आत्मा नाशरहित है, अप्रमेय है और नित्य है एवं उसके जितने ये शरीर हैं—सभी नाश होनेवाले हैं

(इनके नाश होनेसे आत्माका नाश नहीं होता)। अतएव तुम युद्ध करो। इस आत्माको जो मारनेवाला मानता है और जो मरा मानता है, वे दोनों ही इसका स्वरूप नहीं जानते। वस्तुतः यह आत्मा न तो मारता है और न मारा ही जाता है।'

फिर व्यावहारिक धर्ममें भी तुम क्षत्रिय हो, अतएव—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥
(२। ३१-३३)

अपना धर्म देखकर भी मत होओ तुम कम्पित हे पार्थ!
नहीं श्रेय कुछ भी क्षत्रियके लिये युद्धके सिवा यथार्थ॥
खुला तुम्हारे लिये वीरवर! स्वर्गद्वार यह अपने-आप।
सुख-सौभाग्यवान् क्षत्रिय ही पाते ऐसा युद्ध अपाप॥
अगर करोगे नहीं कदाचित् तुम यह परम धर्म-संग्राम।
खो करके निज धर्म, सुयश, तुम लोगे पाप बटोर तमाम॥

'अपने धर्मकी ओर देखकर भी तुम्हें युद्धसे काँप जाना नहीं चाहिये; क्योंकि क्षत्रियके लिये धर्मयुद्धसे बढ़कर अन्य कुछ भी कल्याणकारक नहीं है। हे पार्थ! अपने-आप प्राप्त हुए ऐसे खुले हुए स्वर्गके द्वाररूप (पापरहित) युद्धको सौभाग्यवान् क्षत्रिय ही पाते हैं। अतएव यदि कदाचित् तुम इस धर्मयुद्धको नहीं करोगे, तो तुम स्वधर्म और कीर्तिको खोकर पापको प्राप्त होओगे।' इतना ही नहीं—

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥
भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥
अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥
(२। ३४-३६)

तब फिर गायेंगे जगमें सब सदा तुम्हारी अमिट अकीर्ति।
सम्मानितके लिये मरणसे भी बढ़कर होती अपकीर्ति॥
महारथी मानेंगे तुमको भयवश हुए समर उपराम।
जिनमें हो बहुमान्य, उन्हींमें होगा तुच्छ तुम्हारा नाम॥
निन्दा शत्रु करेंगे तव सामर्थ्य-शक्तिकी कुवचन बोल।
उससे बढ़कर होगा क्या फिर दुःख तुम्हारे लिये अतोल॥

'सब लोग तुम्हारी कभी नष्ट न होनेवाली अकीर्ति किया करेंगे (अर्जुन कायर था, यह अकीर्ति सदा लोगोंके कहनेकी वस्तु बनी रहेगी) और सम्मान्य पुरुषके लिये ऐसी अकीर्ति मृत्युसे भी बढ़कर (दुःखदायिनी) होती है। आज जिन लोगोंमें तुम बहुत माननीय हो, उन्हींकी दृष्टिमें तुम्हारी तुच्छता होगी और वे महारथी लोग यही मानेंगे कि अर्जुन भयके कारण युद्धसे भाग खड़ा हुआ। तुम्हारा अहित चाहनेवाले लोग तुम्हारी शक्तिसामर्थ्यकी निन्दा करते हुए न कहने योग्य बहुत-सी बातें कहेंगे। इससे बढ़कर तुम्हारे लिये (अतुल) दुःख और क्या होगा?'

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥
(२। ३७)

मर जानेपर स्वर्ग मिलेगा, जीतोगे पाओगे राज।
उठो अतः कौन्तेय! युद्धका मनमें करके निश्चय आज॥

अतएव 'कौन्तेय! तुम युद्धके लिये दृढ़ निश्चय करके खड़े हो जाओ। युद्धमें मृत्यु हो जायगी तो स्वर्गको प्राप्त होओगे और जीत जाओगे तो पृथ्वीका भोग करोगे।'

परंतु यदि भौतिक सुख राज्यलाभ या विजयकी प्राप्तिके लिये ही युद्ध किया जाता है तो आसक्ति, ममता तथा कामना रहनेके कारण मनुष्य आसुरीभावापन्न होकर जीवनके असली लक्ष्यको भूल जाता है और ऐसे पाप-कर्म कर बैठता है जो भविष्यमें उसके बन्धन तथा भयानक दुःखके हेतु होते हैं। अर्जुन इसी पापसे डर रहे थे। अतः युद्ध करके भी वे पापसे

बचे रहें, हिंसाकर्म भी अहिंसामय हो जाय, भगवान् इसका उपाय बतलाते हुए कहने लगे—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥
(२।३८)

विजय-पराजय, लाभ-हानि, सुख-दुःख मानकर एक समान।
फिर रणमें प्रवृत्त होनेपर पाप न होगा रंचक मान॥

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःख परिणाममें जो भी प्राप्त हो, उसमें समान बुद्धि रखकर, फिर युद्धमें प्रवृत्त होओ। ऐसा करनेपर (रंचक भर भी) पाप नहीं होगा।'

कोई भी कर्म जब आसक्ति तथा फल-कामनासे रहित होकर किया जाता है, तो वह 'योग' बन जाता है और उस निष्काम कर्मयोगका फल मोक्ष ही होता है। भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकारके मोक्ष-साधनरूप कर्मका निर्देश करते हैं—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥
(२।४८)

तज आसक्ति, योगस्थित होकर करो धनंजय कर्म विनीत।
हो समबुद्धि असिद्धि सिद्धिमें फल-समत्व ही योग पुनीत॥

'धनंजय! कर्म तथा फलकी आसक्तिको त्यागकर एवं सिद्धि और असिद्धिमें समभावापन्न होकर तथा योगस्थ होकर—भगवान्के साथ जुड़कर (विनीत भावसे) कर्म करो। यह फलमें 'समत्व भाव' ही (पवित्र) योग है।'

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥
(३।३०)

मुझमें चित्त जोड़ सब कर्मोंका कर मुझमें ही संन्यास।
युद्ध करो तुम, तजकर ममता, कामज्वर, भोगोंकी आस॥

'तुम मनको मुझमें जोड़े हुए जो कुछ भी कर्म करो, किसी फलके लिये न करके उन सब कर्मोंका मुझमें भलीभाँति त्याग करते रहो। (मेरे लिये ही कर्म करो।) और भोगोंकी सारी आशा, लौकिक प्राणि-पदार्थोंकी ममता और कामना आदिसे होनेवाले सारे मानस तापोंको त्यागकर युद्ध करो।'

इस प्रकार युद्ध भी एक परम उच्चकोटिकी आध्यात्मिक साधना बनकर मनुष्य-जीवनको उसके चरम तथा परम फल 'भगवान्की प्राप्ति' कराकर सार्थक कर देता है। भगवान् फिर अर्जुनसे कहते हैं—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥
(८।७)

इससे स्मरण करो तुम मेरा सभी समय, फिर करो, सुयुद्ध।
अर्पित कर मन-बुद्धि, मुझे निश्चय ही पाओगे हो शुद्ध॥

'इसलिये तुम सर्वकालमें निरन्तर मेरा स्मरण करो और (पवित्र) युद्ध करो। यों मन-बुद्धि मुझमें (भगवान्में) अर्पण कर देनेपर तुम निस्संदेह मुझको (भगवान्को) प्राप्त होओगे।'

यों भगवान्में मन-बुद्धि लगा देनेपर भगवान्की कृपासे सहज ही सारे विघ्न हट जाते हैं। भगवान्ने यह समझाते हुए गीताके उपदेशका उपसंहार करनेके प्रसङ्गमें कहा—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥
(१८।५८)

हो मच्चित्त, तार देगी सब दुर्गोंसे मम कृपा अनंत।
नहीं सुनोगे, अहंकारवश, तो होओगे नष्ट तुरंत॥

'मुझको चित्त सौंपकर मेरे चित्तवाले बन जाओ। फिर मेरी कृपासे तुम (अनायास ही) सारी कठिनाइयोंको पार कर जाओगे। परंतु यदि तुम अहंकारवश मेरी बातें नहीं सुनोगे, मेरे कथनानुसार आसक्ति-ममता-कामना तथा वैर-हिंसाका त्याग करके युद्ध नहीं

करोगे तो तुम नष्ट हो जाओगे (श्रेय-मार्गसे गिर जाओगे ।)'

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥
(१८ । ५९)

नहीं करूँगा युद्ध—अगर तुम अहंकारवश लोगे मान ।
मिथ्या यह मान्यता, तुम्हें रणमें जोड़ेगी प्रकृति महान ॥

'तुम अहंकारवश भले ही यह मानते रहो कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा ।' पर तुम्हारा यह निश्चय—यह मान्यता ही मिथ्या है । तुम्हारी प्रकृति (स्वभाव) ही तुम्हें युद्ध करनेके लिये बाध्य करेगी । अर्थात् तुम्हें युद्ध तो करना ही पड़ेगा, परंतु वह कामना-आसक्ति तथा वैर-विरोधयुक्त युद्ध धर्मयुद्ध न होनेसे तुम्हारा पतन करा देगा ।'

कर्तव्यरूपसे प्राप्त कोई भी कर्म बुरा नहीं है, बुरी है अपनी आन्तरिक बुरी भावना । संसारके समस्त भूत-चराचर भगवान्‌के ही रूप हैं, यह समझकर उनके हितके लिये यथासमय यथायोग्य कर्म किया जाय तो प्रत्येक कर्म भगवान्‌की पूजा बन जाता है और वह जीवनको सफल कर देता है । इसलिये भगवान् अर्जुनको उपदेश करते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥
(१८ । ४६)

जिससे जीव सकल निकले हैं, जो सबमें रहता है व्याप्त ।
मनुज पूज उसको स्वकर्मसे होता परम सिद्धिको प्राप्त ॥

'जिससे समस्त चराचर प्राणी उत्पन्न हुए हैं तथा जिससे यह सारा जगत् (बर्फमें जलकी भाँति) व्याप्त है, उस भगवान्‌को अपने-अपने कर्मके द्वारा पूजकर मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त होता है ।'

यह है भगवान्‌के द्वारा की हुई धर्मयुद्धकी व्याख्या तथा उसमें प्रवृत्त होनेके लिये अर्जुनको आज्ञा । इस कठोर कर्ममें भी हृदयकी विनम्रता है, शारीरिक हिंसामें भी यह मानस अहिंसा है, क्योंकि यह सर्वभूत-हितकी भावनासे ओतप्रोत त्यागमयी भगवत्पूजा है; स्वार्थवश होनेवाला काम्यकर्म नहीं । आसक्ति-कामना, दम्भ-दर्प-अभिमान, क्रोध-हिंसा-अज्ञान आदि दुर्गुणों तथा दुर्विचारोंसे तथा कामोपभोगपरायणतासे युक्त आसुरी सम्पदा ही बन्धनका कारण होती है और भगवत्पूजारूप कर्मनिष्ठामयी दैवीसम्पत्ति मोक्षका कारण होती है । भगवान्‌ने कहा है—

'दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।'
(१६ । ५)

और अर्जुन 'दैवी सम्पदाको प्राप्त पुरुष' है, यह भगवान्‌ने श्रीमुखसे कहा है—

'मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ।'
(१६ । ५)

दैवीसम्पत्-प्राप्त पार्थ ! तुम करो न बन्धनका कुछ शोक ।

अर्थात् तुम्हारा बन्धन नहीं होगा । तुम चिन्ता मत करो और दैवी सम्पदाके २६ गुण*-लक्षणोंमें अक्रोध, अहिंसा, अलोलुपता, निर्वैरता (अद्रोह) आदि गुणोंका समावेश है । अतएव अर्जुनको जिस धर्मयुद्धमें भगवान्‌ने प्रवृत्त किया था—वह क्रोध, हिंसा, लोभ, वैर आदिसे रहित भगवत्पूजाके भावसे सम्पन्न था । ऐसा युद्ध भी परमार्थका परम साधन होता है । भारतीय आर्य-संस्कृतिकी यही विशेषता है कि इसमें प्रत्येक कर्म भगवत्पूजारूप बनकर भगवत्प्राप्ति करानेवाला बन जाता है । भारतीय संस्कृतिमें जीवमात्र भगवत्स्वरूप हैं, अतः जीवमात्रका हित-चिन्तन और हितसाधन उसका सहज स्वभाव होता है । इसीसे भारतका यह स्वाभाविक नारा है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ॥

---

* देखिये भगवद्गीता अध्याय १६ श्लोक १ से ३ ।

'सब सुखी हों, सब तन-मनसे नीरोग हों, सभीको कल्याणका साक्षात्कार हो और दुःखका भाग किसीको भी न मिले ।'

यद्यपि आज भौतिक विज्ञानकी चकाचौंधमें सारा जगत् तथाकथित भौतिक प्रगतिके प्रवाहमें बह रहा है, सर्वत्र धर्मकी अवहेलना हो रही है । भारतवर्ष भी आत्मविस्मृत-सा होकर इसी प्रवाहमें बह जाना चाहता है । तथापि भारतके सर्वसाधारणमें स्वाभाविक ही परम्परागत यह चिरन्तन मान्यता अभी वर्तमान है कि 'अखिल विश्व एक ही प्रभुका पसारा या एक ही अविच्छिन्न आत्मस्वरूपमय है ।' इसीसे आजका हमारा भारतीय शासन अभाग्यवश धर्म-निरपेक्ष होते हुए भी भारत समस्त विश्वमें शान्तिका अभिलाषी है । सबका कल्याण हो, सभीका हित हो, समस्त विश्वमें शान्ति तथा प्रेमका विस्तार हो यही उसका स्वाभाविक उद्देश्य रहा है । इसीसे भारत न तो किसी परस्पर-विरोधी गुटमें शामिल हुआ और न किसीका विरोधी ही बना । वह सर्वथा तटस्थ होकर सबका मित्र बना रहा तथा सबको अपना मित्र मानता रहा और चुपचाप अपने विकासके प्रयासमें लगा रहा । भारतके अधिकारियोंने यह सोचा ही नहीं कि हमपर भी कोई आक्रमण हो सकता है । कुछ बुद्धिमान् विज्ञ पुरुषोंने सावधान भी किया, परंतु उनकी बात समझमें नहीं आयी । इसीसे वे इस आवश्यक दिशामें प्रायः सर्वथा असावधान तथा अप्रस्तुत रहे । परंतु यह एक बड़ी भूल थी । किसीसे कभी द्वेष न रहे, सबका हित-साधन हो, समस्त विश्वमें शान्ति तथा प्रेमका विस्तार हो—ये बहुत ही अच्छे, परम आदर्श, जीवनके स्वभाव बना लेने योग्य—पवित्रतम विचार हैं, परंतु इन विचारोंका पूर्ण सेवन, पालन, संरक्षण तथा विस्तार हो—इसकी सफलताके लिये भी, इसमें बाधा देनेवाली प्रबल आसुरी शक्तिके दमनके लिये सदा प्रस्तुत रहना आवश्यक है । आसुरी शक्तिके दमनमें ही उसका भी हित है । उसका दमन नहीं होगा और वह यदि बढ़ती चली जायगी तो उसका उत्तरोत्तर पापपूर्ण विस्तार होता जायगा, जो उसके लिये भी परिणाममें अत्यन्त घातक होगा । फिर जहाँ भौतिक राज्य-संचालनके द्वारा भगवत्पूजा करनी है, वहाँ उसकी सुरक्षाका प्रयत्न भी इस भगवत्पूजाका ही एक आवश्यक अङ्ग है । इस आवश्यकतापर पूरा ध्यान न देने और इसपर अमल न करनेके कारण ही इस 'शान्तिप्रेमी' तथा 'विश्वमित्र' भारतपर बर्बरतापूर्ण आक्रमण करनेका चीनको दुस्साहस हुआ है । चीनके इस बढ़े रोगका नाश करके उसे नीरोग बनाकर उसका हित-साधन करनेके लिये आज भारतका यह परमावश्यक कर्तव्य हो गया है कि भारत अपना बल-विक्रम-शौर्य-वीर्य बढ़ाकर चीनकी भौतिक आसुरी शक्तिका ध्वंस कर दे और उसे भारतकी पवित्र भूमिसे ही नहीं, पवित्र बौद्ध-विहारस्थली तिब्बतसे भी बाहर निकाल दे । इसीमें उसका, भारतका और विश्वका हित है । चीनको ऐसी निर्दोष स्थितिमें पहुँचा देना आवश्यक है कि जिसे देखकर उसके तथा अन्य किसी भी राष्ट्रके मनमें कभी किसीपर भी अन्यायपूर्ण आक्रमण करनेकी कल्पना ही उत्पन्न न होने पाये ।

अवश्य ही ऐसा करनेमें हमारे मनमें चीनकी जनताके प्रति या चीन देशके प्रति जरा भी द्वेष या वैरभाव नहीं होना चाहिये । द्वेष या वैर होना चाहिये उसमें आये हुए दोषोंके प्रति, तथा उन्हें ही बड़ी वीरताके साथ समूल नष्ट करनेका प्रयत्न भी होना चाहिये । हमें नाशक 'वैरी' नहीं बनना है, पोषक 'वीर' बनना है ।

वर्तमानमें चीनने जो युद्धबन्दी (सीज फायर)

की घोषणा की है और वह जो अन्यायपूर्वक जीते हुए भारतके कुछ स्थानोंको छोड़कर पीछे हटा या हट रहा है, इसका कारण यह नहीं है कि उसकी राज्य-विस्तार-कामनामें कोई कमी आ गयी हो, या वह सच्चे अर्थमें कुछ शान्ति चाहने लगा हो । इसका प्रधान कारण है—संसारके प्रायः सभी देशोंकी भारतके प्रति सहानुभूति प्रकट करना, अमेरिका-ब्रिटेन आदि देशोंका भारतकी प्रचुर सहायता करना, रूसकी चीनके प्रति कड़ी नजर होना और चीनके साथ विश्वके कम्यूनिष्ट देशोंका भी मतभेद उत्पन्न हो जाना । चीनके पीछे हटनेका कारण संसारके देशोंकी खोयी हुई सहानुभूतिको पुनः प्राप्त करनेका प्रयत्नमात्र है, न कि सच्ची नीयतसे की गयी शान्तिकी साधना है । तथापि हमें उसकी नीयतकी ओर न देखकर उसके इस कार्यका स्वागत करना चाहिये और यदि वह भारतकी ८ सितम्बरकी स्थितिपर वापस लौट जानेकी शर्त मान लेता है तो उसके साथ समझौतेका प्रयत्न भी अवश्य करना चाहिये। यद्यपि ८ सितम्बरकी स्थितिमें भी चीनका भारतकी बहुत-सी भूमिपर अन्यायपूर्ण कब्जा रह जाता है। तथापि शान्तिकी इच्छासे इसे स्वीकार कर लेना उचित है । परंतु यह होनेपर भी अपनी भौतिक शक्तिकी ओरसे उदासीन नहीं होना चाहिये । उसे आधुनिकतम प्रचुर शस्त्रास्त्रोंसे सुसम्पन्न बनाकर और पर्याप्त रूपसे बढ़ाकर कायम रखना चाहिये, जिससे पुनः चीन अथवा कोई भी देश भारतकी ओर बुरी नीयतसे आँख उठाकर न देख सके ।

भारत सदा ही शान्ति चाहता है, वह शान्ति ही चाहता रहेगा । अब भी वह किसीपर आक्रमण करने नहीं गया था । उसे बलात्कारसे ही युद्धमें घसीटा गया है, पर जब घसीटा गया है, तब वह पराङ्मुख भी कैसे हो सकता है ? और होना भी नहीं चाहिये ।

परंतु यह स्मरण रखना चाहिये कि केवल भौतिक बल-विक्रमसे ही काम नहीं चलेगा । सर्वत्र पूर्ण विजय प्राप्त करनेके लिये एक बहुत बड़े अमोघ साधनकी आवश्यकता है—वह है अध्यात्मबल—दैवी बल ।* श्रीरामचरितमानसमें राम-रावण-युद्धके प्रसङ्गमें भगवान् रामके द्वारा उस अध्यात्मबलका विजय-रथके रूपकमें बड़ा ही सुन्दर विवेचन हुआ है । भगवान् श्रीरामको रथरहित देखकर विभीषण अधीर हो जाते हैं । तब भगवान् श्रीराम उनसे कहते हैं—

सुनहु सखा कह कृपानिधाना। जेहिं जय होइ सो स्यंदन आना॥
सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका॥

---

* 'कल्याण' के गतवर्षके बारहवें अङ्कमें प्रकाशित 'चीनपर पूर्ण विजय प्राप्त करनेके लिये आध्यात्मिक साधन भी किये जायँ' शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ था । हर्षकी बात है कि देशवासियोंका उसमें बताये हुए आध्यात्मिक साधनोंकी ओर ध्यान तुरंत आकर्षित हुआ और स्थान-स्थानपर देशकी सुरक्षा एवं चीनपर विजय-प्राप्तिके भगवदाराधन और देवाराधनका पवित्र कार्य आरम्भ हो गया । लगभग भारतके विभिन्न प्रान्तोंके बीस स्थानोंसे ऐसे समाचार मिले हैं और प्रायः प्रतिदिन ही मिल रहे हैं । कहीं वैदिक विष्णुयाग, रुद्रयज्ञ तो कहीं गायत्रीयज्ञ होते हैं; कहीं चण्डीकी आराधना, कहीं मृत्युञ्जय आदिके द्वारा शिवोपासना, कहीं रामचरितमानसके सम्पुटित पारायण, कहीं रामरक्षास्तोत्रके अनुष्ठान, कहीं मन्त्रानुष्ठान तथा अखण्ड नामकीर्तन और कहीं सामूहिक प्रार्थना आदि हो रहे हैं । हमारे यहाँ भी एक शतचण्डी-यज्ञ इसी उद्देश्यसे हो चुका है । इस ओर देशवासियोंका ध्यान खींचते हुए पुनः सबसे निवेदन किया जाता है कि वे अपने-अपने क्षेत्रमें तन-मन-धनसे यथाशक्ति सरकारकी सहायता करते हुए ही प्रधानरूपसे भगवदाराधना और देवाराधनाकी ओर ध्यान देकर आराधना करें-करावें ।

—सम्पादक

बल बिबेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे॥
ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना॥
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर बिग्यान कठिन कोदंडा॥
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना॥
कवच अभेद बिप्र गुर पूजा। एहि सम बिजय उपाय न दूजा॥
सखा धर्ममय अस रथ जाकें। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें॥

महा अजय संसार रिपु जीति सकइ सो बीर।
जाकें अस रथ होइ दृढ़ सुनहु सखा मतिधीर॥

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णके श्रीमुखसे उपदिष्ट दैवी सम्पदाका ही यह रूपान्तरमात्र है। केवल भौतिकबल कहीं जीवनशक्तिशून्य उच्छ्वासमात्र होकर रह जाता है, कहीं उत्तेजनाकी भावमयी आँधीमें उड़ाकर वह नाशके पथपर ले जाता है तो कहीं वह राक्षसी तामसबल बनकर यथार्थ कल्याण-पथसे वञ्चित करके सर्वनाश कर देता है। अतएव बाहरी तैयारीके साथ ही उसके आधाररूपमें इस प्रकारकी एक धर्ममयी बलवती प्रेरणा होनी चाहिये, जिसका हमारी बाहरी रणनीति और रण-सज्जासे सदा सम्पूर्ण संयोग बना रहे और जो हमारे अंदर चिरकालीन पूर्ण विजयप्रदायिनी महान् सात्त्विक अमोघ शक्तिका स्रोत बहाती रहे। इसके लिये धर्म तथा शक्तिके मूल सर्वशक्तिमान् भगवान्का एकान्त आश्रय परम आवश्यक है। भगवदाश्रयका बल ही परम अजेय बल है। जहाँ असीम-शक्ति भगवान्का आश्रय होगा और बल-विक्रमके साथ धर्मयुद्धके लिये हम भलीभाँति प्रस्तुत होंगे, वहाँ निश्चय ही हमारी विजय होगी। और इस प्रकारसे प्राप्त हमारी 'पूर्ण विजय' का अर्थ होगा—दैवी सम्पत्तिकी विजय—भागवतीशक्तिकी विजय। एवं इस दैवी सम्पत्ति—भागवतीशक्तिकी पूर्ण विजयसे ही जगत्में सच्ची तथा दीर्घकालीन शान्तिकी स्थापना होगी।

दिव्य-दृष्टि-प्राप्त संजयने गीतामें अन्तमें कहा है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥
(१८। ७८)

'जहाँ कृष्ण योगेश्वर प्रभु हों, जहाँ धनुर्धारी हों पार्थ।
मेरे मतसे, वहाँ सदा श्री, विजय, भूति, ध्रुव नीति यथार्थ॥'

'पाञ्चजन्य लो हाथमें'

(रचयिता—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम')

(१)

कहाँ पड़ी है गदा गदाधर ! आज तुम्हारी ?
कहाँ सुदर्शन चक्र ? नक्रका जो संहारी॥
हमें निहत्थे देख शत्रु चढ़ आये ऊपर।
भारी संकट आज मुरारे ! भारत भू पर॥
धीर धनञ्जयको लिये आओ सत्वर साथमें।
मुरलीधर ! मुरली धरो, पाञ्चजन्य लो हाथमें॥

(२)

पाँच गाँवके लिये महाभारतके हामी !
बैठे हो क्यों मौन कहाँ त्रिभुवनके स्वामी ?
पाँच गाँवका नहीं हिमालयका सवाल है।
जिसके हित उठ खड़ा हुआ भारी बवाल है॥
आज त्रिविष्टप पर हुआ असुरोंका अधिकार है।
देवलोक व्याकुल तुम्हें कबसे रहा पुकार है॥

(३)

दैवेच्छासे धर्मयुद्ध है सम्मुख आया।
आ धमका है स्वयं न हमने इसे बुलाया॥
कोटि कण्ठमें गूँज उठे फिर गीताका स्वर।
टूट पड़े भारत निर्भय रिपुओंके ऊपर॥
रथी भक्तके हित पुनः बन जाओ रथवान तुम।
जीत वहीं जिस पक्षमें स्वयं धर्म भगवान् तुम॥

* * *

संन्यास-तत्त्व

(लेखक--श्रद्धेय स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)

सत्संगी--स्वामीजी ! आप संन्यास-आश्रमका इतना बखान करते हैं और उसे मुक्तिका द्वार बतलाते हैं । वह प्रभुके दरबारकी एक चाबी है; तुरीय आत्माके साक्षात्कारका प्रत्यक्ष साधन होनेके कारण ही उसे तुर्याश्रम कहा जाता है--इस प्रकार उसकी प्रशंसा करते आप थकते ही नहीं । पर हम संसारी जीवोंको यह बात ठीक समझमें नहीं आती । ये सब बड़ी-बड़ी अतिशयोक्तियाँ होंगी--ऐसा विचार मनमें आये बिना नहीं रहता । हम तो संसारी जीव ठहरे, इससे हमारा चश्मा ही ऐसा है कि हमारी नजर किसी चीजकी काली दिशाकी ओर ही पहले पड़ती है । उजियाली दिशाकी ओर नजर जाती ही नहीं । आप कृपा करके हमें समझाइये--सच्ची वस्तु क्या है और हमारी भूल कहाँपर है ?

स्वामीजी--भाई ! तुम्हारा कहना ठीक है । संसारमें रचे-पचे रहनेवाले मनुष्योंकी दृष्टिके आगे सदा मायाका पर्दा पड़ा रहता है, इसलिये वे किसी भी वस्तुको उसके यथार्थ रूपमें नहीं देख सकते । इसमें तुम्हारा दोष नहीं है । दृष्टिकी मलिनता ही इसका कारण है । पीलिया हो जानेपर दूध भी पीला दिखायी देता है, इसमें मनुष्यका कोई दोष नहीं है । पीलिया मिटते ही दूध सफेद दिखायी देगा ।

अब पहली बात तो यह समझनेकी है कि कोई भी अच्छी वस्तु जब खराब आदमियोंके हाथोंमें पड़ जाती है, तब वह वस्तु कितनी ही अच्छी क्यों न हो, अच्छी रह नहीं सकती; क्योंकि खराब हाथोंसे उसका दुरुपयोग हुए बिना नहीं रहता । किसी कारखानेने एक अच्छा चाकू बनाया, उसका उपयोग करके एक सर्जन मनुष्यके प्राण बचा सकता है, परंतु वही चाकू बंदरके हाथ आ जानेपर उससे अनेक अनर्थ हो सकते हैं । अब यदि बंदरके किये हुए अनर्थको देखकर चाकू बनानेवाली संस्थाको दोषी ठहराकर यह कहा जाय कि यही सारे अनर्थकी जड़ है, तो यह उचित नहीं होगा । इसी प्रकार व्यवहारमें तुम्हें कोई मनुष्य ऐसा मिल गया हो, जिसके आचरणसे तुम्हें घृणा उत्पन्न हो गयी हो तो इससे संस्था ही खराब है, यह नहीं कहा जा सकता ।

दूसरा उदाहरण है आजका साम्यवाद । एक संस्थाकी दृष्टिसे वह अपने विशुद्ध रूपमें बहुत ही अच्छी चीज है । हमारे हिंदू-दर्शनमें सर्वत्र इस वादके दर्शन होते हैं । उसका स्वरूप यह है--

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ॥

संसारमें सभी प्राणी सुखी हों, सभी रोगरहित हों, प्राणिमात्रका कल्याण हो और दुःखका भाग किसीको भी न मिले । यह है साम्यवादका शुद्ध स्वरूप । हमारे यहाँ इसे त्यागकी भावनासे तथा परस्पर सद्भावनासे काममें लाया जाता है । पश्चिममें इसे द्वेषकी भावनासे व्यवहारमें लाया जाता है । जिसके पास जो कुछ है, उससे छीन लो, ऐसा पश्चिमका उपाय है । इसकी जगह हम कहते हैं कि तुम्हारे पास जो है, उसे जितना अपने काममें लेना आवश्यक हो लेकर, शेषको ईश्वरकी सेवामें लगा दो । दोनोंका ध्येय एक ही है, पर एक उसका दुरुपयोग करता है, दूसरा सदुपयोग । इससे वह संस्था अपने शुद्धरूपमें खराब है--यह नहीं कहा जा सकता । इसी प्रकार संन्यासाश्रमका बाना धारण करके यदि कोई यथेच्छाचार करता हो तो इससे यह नहीं माना जा सकता कि समूची संन्यास-संस्था ही खराब है ।

अतएव संन्यासके विषयमें मैं जो कुछ कहता हूँ, उसमें रत्तीभर भी अतिशयोक्ति नहीं है । यही नहीं, वरं वह सोलहों आने सत्य है । इससे भी आगे बढ़कर यहाँतक कहा जा सकता है कि प्रत्येक मनुष्यको, चाहे वह स्त्री या पुरुष और किसी भी धर्म या देशका हो, उसे संन्यास लेना ही पड़ता है ।

सत्संगी–स्वामीजी ! यह तो बड़े गजबकी बात है । फिर तो मुक्ति बहुत ही सस्ती हो जायगी और गेरू इतनी महँगी हो जायगी कि कहीं ढूँढ़े भी नहीं मिलेगी। कारण, संन्यास लेनेका अर्थ है—चार पैसेकी गेरूका खर्च । कपड़े रँगे कि हो गये भगवा-वस्त्रधारी संन्यासी ।

स्वामीजी–तुम्हारी समझमें किस बातकी उलझन है–यह अब समझमें आया । तुम भगवा कपड़ेको ही संन्यास मानते हो । पर संन्यासका अर्थ तो बड़ा ही गम्भीर है । भगवा-वस्त्र तो केवल आश्रमका चिह्न बतानेभरके लिये है; वह संन्यासका कोई स्वरूप नहीं है । जब तुम संन्यासका सच्चा अर्थ समझ लोगे, तब मेरी कही बात यथार्थ है, यह तुम्हारी समझमें आ जायगा और फिर ऐसा कुतर्क उपस्थित नहीं होगा ।

गीता सर्वमान्य ग्रन्थ है, अतः हम संन्यासका तत्त्व गीतासे ही समझें तो बहुत अच्छा होगा । श्रीकृष्ण परमात्मा गीतामें अपने श्रीमुखसे कहते हैं—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते ॥
(५ । ३)

भगवान् कहते हैं—'अर्जुन ! जो मनुष्य राग-द्वेषसे मुक्त होकर सुख-दुःख, मानापमान आदि तमाम द्वन्द्वोंसे छूट गया है, उसे सदा सच्चा संन्यासी समझो और ऐसा संन्यासी बिना ही किसी परिश्रमके सुखपूर्वक बन्धनसे मुक्त हो जाता है ।' देखो, यहाँ भगवान्‌ने संन्यासका लक्षण भी बता दिया और वह मुक्तिका द्वार है, यह भी कह दिया । फिर अठारहवें अध्यायमें भगवान् कहते हैं—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
(१८ । २)

ऋषि-मुनियोंका कहना है कि काम्यकर्मोंके त्यागका नाम ही संन्यास है । कैसी उत्तम व्याख्या सूत्ररूपसे की गयी है । अब यहाँ यह समझना है कि काम्यकर्म किसे कहते हैं और वह किसलिये किया जाता है ।

काम्यकर्मका अर्थ है—कामना या इच्छाकी पूर्तिके लिये किया जानेवाला कर्म । इच्छा प्राणिमात्रको सुख-प्राप्तिकी ही होती है, दुःखकी किसीको नहीं होती । अब यह विचार करना है कि यह सुख भोगनेवाला कौन है ? आत्मा तो असङ्ग है, उसमें सुखभोग सम्भव नहीं; अतएव काम्यकर्मका इतना ही अर्थ रह गया कि शरीरको सुख पहुँचानेके लिये जो-जो कर्म किये जाते हैं, वे ही काम्यकर्म कहलाते हैं । अब यह देखना है कि शरीरको सुख क्यों पहुँचाना चाहिये ? इसका कारण यह है कि लंबे—अनन्त जन्मोंके सहवासके कारण, शरीरमें आसक्ति हो जानेसे उसमें ममताका बन्धन हो गया है और इस ममताके परिणामस्वरूप पुरुषने अपनेको शरीररूप ही मान लिया है । एवं इसीसे वह शरीरको सुख पहुँचानेके लिये प्रयत्न करता रहता है ।

अब संन्यासकी योग्यता प्राप्त करनेके लिये—इस काम्यकर्मका त्याग करना हो तो पहले तो शरीरकी आसक्तिका त्याग करना चाहिये, तदनन्तर देह-देहीके विवेकके द्वारा अपनेको देहसे अलग करना चाहिये और देहसे अलग हो जानेपर अपने आत्मस्वरूपमें स्थिर होना आवश्यक है । जबतक देहमें आसक्ति है, तबतक देहसे अलग नहीं हुआ जा सकता; और जबतक 'मैं देहसे भिन्न हूँ'—ऐसा दृढ़ निश्चय नहीं हो जाता, तबतक देहको सुख पहुँचानेकी इच्छा नहीं मिट सकती एवं जबतक ऐसी इच्छा रहती है, तबतक काम्यकर्मका त्याग हो ही नहीं सकता । अतएव संन्यासकी योग्यताके लिये देहसे अलग होकर आत्मस्वरूपमें स्थिर होना चाहिये । इतने विवेचनसे तुम समझ सके होगे कि संन्यासका अर्थ—आत्मसाक्षात्कारसे कम कुछ भी नहीं है । अतएव संन्यासको मुक्तिका द्वार कहना या उसे आत्मसाक्षात्कारका प्रत्यक्ष साधन कहना किसी प्रकारकी अतिशयोक्ति नहीं है, वरं वस्तुका यथार्थ दर्शनमात्र है ।

अब भगवान्‌ने गीतामें संन्यासका फल क्या बताया है, वह देखें—

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥
(१८ । ४९)

संन्यासी सब ओरसे आसक्ति हटा चुका होता है, मन-बुद्धिपर विजय प्राप्त कर चुका होता है और इच्छामात्रका त्यागी होता है, इससे उसको परम नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त होती है । 'परमा नैष्कर्म्यसिद्धि' का अभिप्राय है—कर्म करते रहनेपर भी उसमें कर्तापनका अभिमान न रहने तथा फलकी आशा न रहनेके कारण कर्मका बन्धन नहीं होता । सारांश यह कि संन्यासी प्रारब्धके क्षय न होनेतक शरीरसे यथायोग्य व्यवहार जीवननिर्वाह या लोकसंग्रहके लिये करता है, परंतु वह व्यवहार भूँजा हुआ बीज जैसे अङ्कुर उत्पन्न नहीं करता, वैसे ही बन्धनकारक नहीं होता; इससे वह संसारमें जलमें कमलकी भाँति निर्लिप्त रहता है । अब तुम समझ गये होगे कि भगवा-कपड़ा संन्यासका स्वरूप नहीं है, वह तो बाह्यचिह्न मात्र है । संन्यासी देहसे अलग हो जाता है । वह जीते-जी ही देह अग्निको सौंप चुका है, यह बतानेके लिये, वह अग्निके रंगका गेरुआ वस्त्र धारण करता है ।

भाई ! अब, मैंने जो यह कहा था कि 'प्रत्येक मनुष्यको संन्यास लेना ही पड़ता है ।' इसको समझना है । हम संन्यासका ऊपर यह अर्थ कर आये हैं कि शरीरमेंसे आसक्ति निकालकर, शरीर और संसारसे अलग हो जाना संन्यास है । अब तुम्हीं देखो कि मरनेके समय प्रत्येक मनुष्यका क्या होता है ? शरीरसे अलग तो झख मारकर होना पड़ता है । अलग होना अच्छा नहीं लगता, परंतु कोई धक्का मारकर निकालने लगे तब शरीरको छोड़े बिना चलता भी नहीं । इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य शरीरसे अलग तो होता ही है—उसे होना ही पड़ता है और शरीरके साथ सम्बन्ध छूटते ही संसारका सम्बन्ध भी छूट ही जाता है । परंतु शरीरमें आसक्ति बनी रहनेके कारण उसे दूसरा शरीर धारण करना पड़ता है और इस प्रकार जन्म-मरणका चक्र चलता ही रहता है । कहनेका अभिप्राय इतना ही है कि संन्यास-दीक्षामें और सामान्य मनुष्यकी मृत्युमें बस इतना ही अन्तर है कि संन्यासी विवेकपूर्वक, अपने शरीर और संसारके सम्बन्धको स्वेच्छासे जीते-जी ही छोड़ देता है; और सामान्य मनुष्यको मृत्युके समय अनिच्छासे बाध्य होकर शरीर और संसारको छोड़ना पड़ता है । दोनोंमें क्रिया एक ही है । पर भावमें महान् अन्तर होनेके कारण फलमें भी बहुत बड़ा अन्तर हो जाता है । संन्यासी जीवन्मुक्त होकर विचरता है और संसारीका भवाटवीमें भटकना चालू रहता है ।

अब यदि पुरुष विवेकको जाग्रत् करके शान्तिपूर्वक यह विचार करे कि एक दिन तो शरीरको छोड़ना ही पड़ेगा, शरीर छूटते ही संसारका सम्बन्ध भी छूट ही जायगा; क्योंकि शरीर तो सीमित समयके लिये भाड़े-पर लिया हुआ है, समय पूरा होते ही मालिकको वापस सौंप ही देना है, तब फिर, मुद्दत पूरी होनेके पहले ही उसमेंसे आसक्ति हटाकर हँसते मुख मालिककी चीज मालिकको वापस सौंप दी जाय तो कितना अच्छा हो । फिर यदि मुद्दत पूरी होनेके पहले ही, यदि मैं अपने घरका पता लगा लूँगा तो इस भाड़ेके मकानको खाली करनेके बाद तुरंत ही वहाँ जाकर सुखसे रहूँगा; फिर वहाँसे किसी दूसरे भाड़ेके घरमें रहनेके लिये जाना नहीं पड़ेगा ।'—बस, इतना विवेक मनुष्यमें आ जाय और उसको वह अमलमें ले ले तो उसका भवबन्धन कट जाता है ।

अनन्य भक्तिसे भगवत्प्राप्ति

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

गीतामें भगवान्‌ने जहाँ-जहाँ भक्तिका वर्णन किया है, वहाँ-वहाँ भक्ति, भजन, प्रेमके वाचक शब्दोंका ही प्रयोग किया है। इस कारण भक्तिके मार्गमें प्रेमकी प्रधानता है। भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११ का पूर्वार्द्ध)

'जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।'

यहाँ 'यथा' शब्द प्रकार अर्थमें है अर्थात् जो मेरा ध्यान करता है, उसका मैं ध्यान करता हूँ। जैसे, महाभारतमें वर्णन आता है कि राज्य पानेके पश्चात् राजा युधिष्ठिर श्रीकृष्णके पास गये और कृतज्ञता प्रकट करने लगे कि प्रभो! हमने आपकी कृपासे ही यह राज्य पाया है; किंतु भगवान्‌ने कोई उत्तर नहीं दिया; क्योंकि वे उस समय ध्यानमग्न थे। तब युधिष्ठिरने आश्चर्य करते हुए पूछा—'आप तो अमितपराक्रमी, समस्त जगत्‌के आश्रयदाता पुरुषोत्तम हैं, आप किसका ध्यान कर रहे हैं?' इसपर भगवान्‌ने कहा—

शरतल्पगतो भीष्मः शाम्यन्निव हुताशनः।
मां ध्याति पुरुषव्याघ्रस्ततो मे तद्गतं मनः॥

(महा० शान्ति० ४६। ११)

'राजन्! बाणशय्यापर पड़े हुए पुरुषसिंह भीष्म, जो इस समय बुझती हुई आगके समान हो रहे हैं, मेरा ध्यान कर रहे हैं, इसलिये मेरा मन भी उन्हींमें लगा हुआ है।'

इससे समझना चाहिये कि भीष्मका भगवान्‌में कितना प्रेम था और भगवान्‌के स्वभावकी ओर भी ध्यान देना चाहिये कि उनकी कितनी सुहृदता है। भगवान् सबके सुहृद्—हेतुरहित दया और प्रेम करनेवाले हैं—इस प्रकार जाननेसे मनुष्यको शान्ति मिल जाती है। भगवान् कहते हैं—

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

(गीता ५। २९ का उत्तरार्द्ध)

'मेरा भक्त मुझको सम्पूर्ण भूतप्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी—ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है।'

जैसे सूर्यका प्रकाश सब जगह समान रहता है किंतु दर्पणमें तो सूर्य प्रतिबिम्बित होकर प्रत्यक्षकी भाँति दृष्टिगोचर होते हैं और काठ-पत्थर आदिमें नहीं, इसी तरह भगवान् सब जगह समान भावसे रहते हुए भी जिसका हृदय दर्पणकी भाँति शुद्ध है और जो भगवान्‌को प्रेमसे भजता है, उसके हृदयमें विशेषरूपसे निवास करते हैं। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(गीता ९। २९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है, परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।'

जो भगवान्‌के प्रति निष्कामभावसे अनन्य प्रेम करता है, भगवान् भी उसके प्रति वैसा ही प्रेम करते हैं। भगवान्‌ने गीतामें बताया है—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

(७। १७)

'उनमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेम-भक्तिवाला निष्कामी ज्ञानी भक्त अति उत्तम है; क्योंकि

मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है ।'

इतना ही नहीं, भक्त प्रेमसे भगवान्‌को, जो कुछ भी देता है, उसे भगवान् प्रकट होकर ग्रहण कर लेते हैं।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥
(गीता ९ । २६)

'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ ।'

अतएव—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥
(गीता ९ । २७)

'हे अर्जुन ! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर ।'

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥
(गीता ९ । २८)

'इस प्रकार, जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्‌के अर्पण होते हैं—ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा ।'

अतः भक्तिका साधन सब साधनोंसे सुगम भी है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥
(गीता ८ । १४)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ ।'

यदि कहें कि निरन्तर चिन्तन करनेसे भगवान्‌की प्राप्ति सुलभ तो है किंतु भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन होना कठिन है तो इसका उत्तर यह है कि भगवान्‌में श्रद्धा, प्रेम और आत्मीयता होनेपर कठिन नहीं है; क्योंकि फि नित्य-निरन्तर चिन्तन अपने-आप ही होने लगता है। तथा भगवान्‌के प्रति प्रेम मनुष्यका स्वाभाविक ही होना चाहिये; क्योंकि भगवान्‌के सिवा वास्तवमें अपना कोई सुहृद् है नहीं, उनके साथ जीवका नित्य सम्बन्ध है। सत्संग और शास्त्रके द्वारा भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझनेपर उनमें स्वाभाविक ही प्रेम हो जाता है; क्योंकि भगवान्‌के समान कोई गुणी और प्रभावशाली नहीं है तथा भगवान्‌की भक्तिके साधनके समान और कोई दूसरा साधन नहीं है । भगवान्‌ने भक्ति करनेवाले श्रद्धालु भक्तकी विशेष प्रशंसा की है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥
(गीता ६ । ४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें ल हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है ।'

सगुणोपासक और निर्गुणोपासककी उत्तमता विषयमें अर्जुनके पूछनेपर भगवान्‌ने सगुणोपासकको श्रेष्ठ बताया है—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥
(गीता १२ । २

'मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भज ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे यु होकर मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मुझ योगियोंमें अति उत्तम योगी मान्य हैं ।'

इसके सिवा आगे अ० १२ श्लोक ५ में निर्गु

निराकारका साधन कठिन बताया है और सगुण-साकार उपासनासे आत्माका शीघ्र उद्धार होनेकी बात कही है—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥
(गीता १२ । ६-७)

'परंतु जो मेरे परायण रहनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही अनन्य भक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं। हे अर्जुन ! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ ।'

इतना ही नहीं, यदि वह पापीसे भी पापी हो तो भी अनन्य भक्तिके प्रभावसे शीघ्र ही परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥
(गीता ९ । ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने-योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है ।

वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है । हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता ।'

भगवान्‌की अनन्य भक्ति—अनन्य प्रेमसे भक्त भगवान्‌का दर्शन, यथार्थ ज्ञान और भगवान्‌में प्रवेश भी कर सकता है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥
(गीता ११ । ५४)

'हे परंतप अर्जुन ! अनन्य भक्तिके द्वारा तो इस प्रकार रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ ।'

यदि कहें कि ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं होती—ऐसा शास्त्रोंमें कहा गया है, सो ठीक है । किंतु भक्ति करनेवालेको भगवान् स्वयं ज्ञान प्रदान कर देते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
(गीता १० । १०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं ।'

अतएव भक्तियोगमें भगवान्‌के प्रति अनन्य विशुद्ध दृढ़ प्रेम होना ही प्रधान है । उस परम प्रेमकी प्राप्तिके इच्छुक साधकोंको अपने समयके प्रधानतया तीन विभाग समझने चाहिये—१—ऐकान्तिक साधन-काल, २—व्यवहार-काल, ३—शयन-काल । इनको किस प्रकार सुधारकर उत्तमोत्तम रीतिसे व्यतीत किया जाय, इसपर विचार किया जाता है ।

ऐकान्तिक साधन-काल

भक्तियोगके साधकोंको एकान्तमें बैठकर जप, ध्यान, पूजा, पाठ (स्वाध्याय), स्तुति, प्रार्थना आदि नीचे लिखे अनुसार उत्तम रीतिसे करना चाहिये ।

१. जप—जैसे जल, पानी, नीर, अप्, वाटर आदि सब जलके ही नाम हैं, इसी प्रकार ॐ, हरि, राम, कृष्ण, भगवान्, नारायण, वासुदेव, अल्लाह, खुदा, गॉड आदि भगवान्‌के हजारों नाम हैं । ये सभी समान हैं ।

किंतु जिसकी जिस नाममें रुचि, श्रद्धा, विश्वास विशेषरूपसे है उसके लिये वही नाम विशेष लाभप्रद है। जो नामजप वाणीके द्वारा जोरसे उच्चारण करके किया जाता है, उसकी अपेक्षा जो दूसरोंको सुनायी न दे ऐसे धीमे स्वरसे ओठोंके द्वारा उच्चारण किया जानेवाला उपांशु जप अधिक महत्त्वका होता है तथा उपांशु जपकी अपेक्षा मानसिक जप और भी अधिक महत्त्वका है। श्रीमनुजी कहते हैं—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥
(मनु० २। ८५)

'विधि-यज्ञसे जपयज्ञ दसगुना, उपांशुजप सौगुना और मानसजप हजारगुना श्रेष्ठ कहा गया है।'

२. **ध्यान**—भगवान्के निराकार या साकार और साकारमें भी शिव, विष्णु, राम, कृष्ण या अन्य जिस किसी भगवत्स्वरूपमें जिसकी श्रद्धा, विश्वास और प्रीति हो, उसके लिये वही विशेष लाभप्रद है। किंतु भगवान्के स्वरूपका ध्यान करनेके समय भगवान्के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझकर ध्यान किया जाय तो वह विशेष लाभदायक है।

३. **पूजा**—मन्दिरोंमें या अपने घरमें अपने इष्टदेवका षोडशोपचारके द्वारा विधिपूर्वक श्रद्धा-प्रेमसे पूजन करना उत्तम है। इससे भी उत्तम है अपने हृदयरूप मन्दिरमें या बाह्य आकाशमें अपने इष्टदेवके स्वरूपकी स्थापना करके षोडशोपचारद्वारा बिधिपूर्वक श्रद्धा-प्रेमसे मानसिक सामग्रीसे मानसिक-पूजन करना। बाह्य पूजा तो बिना मनके भी हो सकती है किंतु मानसिक पूजा तो बिना मन लगाये होती ही नहीं; इसलिये बाहरी सामग्रीसे पूजा करनेकी अपेक्षा मनसे पूजा करना और भी श्रेष्ठ है।

भगवान्को प्राणीमात्रके उत्पादक और रक्षक तथा प्राणीमात्रमें व्यापक समझकर भगवद्भावसे सबकी सेवा, आदर-सत्कार करना—यह भगवत्पूजा व्यापक होनेके कारण पूर्वोक्त पूजाकी अपेक्षा भी श्रेष्ठ है। इस पूजाका स्वरूप भगवान्ने गीतामें यों बताया है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(१८। ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

४. **पाठ**—(स्वाध्याय)—श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, गीता, रामायण, भागवत, स्तोत्र आदि धार्मिक ग्रन्थोंके साधारणतया किये जानेवाले स्वाध्यायकी अपेक्षा उन ग्रन्थोंमें आये हुए भगवान्के गुण, प्रभावके प्रसङ्गोंका तत्त्व-रहस्य समझते हुए अनुशीलन करना विशेष लाभप्रद है।

५. **स्तुति**—भगवान्के गुणोंका गायन करना ही 'स्तुति' कहा जाता है। जैसे गीतामें अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति की है—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥
(१०। १२-१३)

'आप परम ब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं; क्योंकि आपको सब ऋषिगण सनातन, दिव्य पुरुष एवं देवोंका भी आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं। वैसे ही देवर्षि नारद तथा असित और देवल ऋषि तथा महर्षि व्यास भी कहते हैं और स्वयं आप भी मेरे प्रति कहते हैं।'

इसी प्रकार गीतामें तथा अन्यान्य ग्रन्थोंमें भी भगवान्की स्तुतियाँ नाना प्रकारसे मिलती हैं। उन

स्तुतियोंका भगवान्के गुण, प्रभावको समझकर श्रद्धा-प्रेमभावसे गायन करना विशेष लाभप्रद हैं ।

६. **प्रार्थना**—किसी भी कार्य-सिद्धिके लिये या किसी पदार्थकी प्राप्तिके लिये भगवान्से याचना करना 'प्रार्थना' है । जैसे गीतामें अर्जुनने भगवान्से चतुर्भुज-रूपके दर्शनके लिये प्रार्थना की है—

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥
(गीता ११ । ४६)

'मैं वैसे ही आपको मुकुट धारण किये हुए तथा गदा और चक्र हाथमें लिये हुए देखना चाहता हूँ, इसलिये हे विश्वरूप ! हे सहस्रबाहो ! आप उसी चतुर्भुजरूपसे प्रकट होइये ।'

इस प्रकार भक्तोंने नाना प्रकारसे भगवान्से प्रार्थना (याचना) की है, जिनका विभिन्न ग्रन्थोंमें वर्णन पाया जाता है । प्रार्थना भी भगवान्का तत्त्व-रहस्य समझते हुए श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवान्में अनन्य विशुद्ध प्रेम प्राप्त होनेके लिये ही की जाय तो वह बहुत उत्तम है ।

उपर्युक्त छहों साधनोंमेंसे जिस समय जो भी साधन किया जाय, उसे (१) भावसहित अर्थ समझते हुए, (२) परम श्रद्धा, (३) अनन्य विशुद्ध प्रेम और (४) मनोयोगपूर्वक, (५) गुप्त तथा (६) निष्कामभावसे करना चाहिये । इस प्रकार किये हुए साधनका महत्त्व हजारों गुना बढ़ जाता है ।

अब इन छहों प्रकारोंके सम्बन्धमें लिखा जाता है—

(१) **भावसहित अर्थ समझना**—जप, ध्यान, पूजा, पाठ, स्तुति, प्रार्थनाका भावसहित अर्थ समझना यह है कि जो कुछ भी जप, ध्यान, पूजा, पाठ, स्तुति, प्रार्थना की जाय, उसका वास्तविक अभिप्राय (भाव) और तत्त्व-रहस्य क्या है—इसे भलीभाँति समझकर करना ।

(२) **परम श्रद्धा**—किसीमें भी जो प्रत्यक्षकी भाँति विश्वास और पूज्यभाव है, उसका नाम 'श्रद्धा' है तथा जो प्रत्यक्षसे भी बढ़कर पूज्यभावपूर्वक विश्वास है, उसका नाम 'परम श्रद्धा' है । जैसे पत्नीसहित राजा द्रुपदको भगवान् शिवजीने यह वर दिया था कि पहले तुम्हारे कन्या उत्पन्न होगी; किंतु वही बादमें पुरुष बन जायगा—इसके अनुसार उनके कन्या उत्पन्न हुई, किंतु श्रीशिवजीके वचनोंपर दृढ़ विश्वास करके कन्या रहते हुए भी उसे पुरुष मानकर उसका पुरुषों-जैसा ही 'शिखण्डी' नाम रक्खा । इतना ही नहीं, उसका विवाह भी उन्होंने दशार्ण देशके राजा हिरण्यवर्माकी पुत्रीके साथ कर दिया । शिवजीके वरदानके अनुसार बादमें शिखण्डी समयपर पुरुषत्वको प्राप्त हो गया (महा० उद्योग० १८८—१९२) । इसका नाम प्रत्यक्षसे बढ़कर विश्वास यानी परम श्रद्धा है ।

(३) **अनन्य विशुद्ध प्रेम**—केवल एक भगवान् ही सर्वश्रेष्ठ हैं, वे ही हमारे स्वामी, शरण लेने योग्य, परम गति और परम आश्रय हैं । वे ही माता-पिता, भाई-बन्धु परम हितकारी और सर्वस्व हैं, उनके सिवा हमारा कोई आत्मीय नहीं है—ऐसा समझकर केवल उनमें ही स्वार्थरहित अतिशय श्रद्धापूर्वक अनन्य प्रेम हो, उनके सिवा अन्य किसीमें भी प्रेम न हो, उसको 'अनन्य विशुद्ध प्रेम' कहते हैं । इसे ही गीतामें अनन्य भक्ति कहा गया है (११ । ५४-५५, १३ । १०; १४ । २६) । इन श्लोकोंका भाव विस्तारसहित गीताप्रेससे प्रकाशित 'गीतातत्त्व-विवेचनी' टीकामें देख सकते हैं ।

(४) **मनोयोग**—मन लगाकर साधन करना ही

मनोयोगपूर्वक साधन करना है । यह नहीं होना चाहिये कि हम हाथमें माला रखकर जप कर रहे हैं और मन कहींका कहीं जा रहा है । किसी कविने कहा है—

माला तो करमें फिरै, जीभ फिरै मुख माहिं ।
मनुवाँ तो चहुँ दिसि फिरै, यह तो सुमिरन नाहिं ॥

इसी प्रकार गीता-रामायण आदिका पाठ करते समय मन कहीं जा रहा है और वाणीसे पाठ हो रहा है, यह पता ही नहीं है कि कहाँ किस स्थलका पाठ चल रहा है तो वह मनोयोगपूर्वक साधन नहीं है ।

इसी तरह स्तुति-प्रार्थना आदिके विषयमें समझ लेना चाहिये । अतः उपर्युक्त साधनोंको करते समय मन अन्यत्र कहीं नहीं जाय, निरन्तर साधनमें ही लगा रहे—ऐसा प्रयत्न करना चाहिये ।

(५) **गुप्तभाव**—उपर्युक्त साधनोंके द्वारा भगवत्कृपासे कोई विशेष अनुभवयुक्त घटना हो जाय तो उसको तथा इन साधनोंको भी गुप्त रखना चाहिये, किसीसे भी न कहना चाहिये; क्योंकि मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाकी आकाङ्क्षासे कहनेपर अभिमान बढ़ता है और विशेष अनुभव होना बंद हो जाता है । जैसे कपूरभरी डिबियाका मुख खोल देनेपर उसमेंसे कपूर शनैः-शनैः क्षीण हो जाता है, इसी प्रकार अपने मुखसे अपने गुण-प्रभाव, साधन या उसके फलकी प्रशंसा करनेसे उसका महत्त्व क्षीण हो जाता है । इसलिये गुप्तभावसे साधन करना चाहिये ।

(६) **निष्कामभाव**—ईश्वर, महात्मा, देवता, मनुष्य या अन्य किसी भी प्राणीसे तथा जड पदार्थोंसे भी स्त्री, पुत्र, धन, मकान, आरोग्य, कष्टनिवृत्ति, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदि इस लोकके और स्वर्ग आदि परलोकके भी किसी भी पदार्थके लिये किंचिन्मात्र भी कामना, याचना, अभिलाषा, इच्छा कभी न करना 'निष्कामभाव' है ।

किंतु भगवान्के प्रति परम श्रद्धा और परम प्रेमकी प्राप्तिके लिये, जप-ध्यान आदि निरन्तर होनेके लिये, भगवत्प्राप्तिके लिये और भगवान्के साथ नित्य संयोगके अनुभवके लिये भगवान्से जो कामना है, वह निष्कामके ही तुल्य है ।

व्यवहारकाल

व्यवहारकालमें निम्नलिखित छः बातोंको काममें लाना चाहिये—

(१) व्यवहारकालमें यानी चलते, उठते, बैठते, खाते, पीते, व्यवसाय और व्यवहार करते समय निरन्तर भगवान्के नाम और रूपका स्मरण रखते हुए ही उन कार्योंको करना चाहिये । भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥
(गीता ८ । ७)

'इसलिये हे अर्जुन ! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर । इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निस्संदेह मुझको ही प्राप्त होगा ।'

जब भगवान्का निरन्तर स्मरण रखते हुए युद्ध भी हो सकता है, तब अन्य सब कार्य होनेमें तो आपत्ति ही क्या है ! अर्जुन क्षत्रिय था, अतः उसके लिये युद्ध कर्तव्य था । इसी प्रकार दूसरे वर्णाश्रमवालों और स्त्रियोंको अपने-अपने शास्त्रविहित कर्तव्यका पालन भगवान्को निरन्तर स्मरण रखते हुए ही करना चाहिये ।

(२) मैं भगवान्का हूँ, भगवान् मेरे हैं, । यह भगवान्के साथ मेरा नित्य सम्बन्ध सदासे है, सदा ही

रहेगा—इस प्रकार समझकर भगवान्‌के साथ आत्मीयताका सम्बन्ध स्थापित रखना चाहिये ।

(३) ये स्थावर-जङ्गम सारे प्राणी भगवान्‌के हैं और इन सबमें भगवान् व्यापक हैं—यों समझकर सबकी भगवद्भावसे आदर-सत्कार और सेवा करनी चाहिये ।

(४) जो कुछ भी शास्त्रविहित क्रिया की जाय, उसको भगवान्‌की आज्ञा समझकर केवल भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये, भगवान्‌में परम विशुद्ध प्रेम होनेके लिये और भगवान्‌की प्राप्तिके लिये ही निष्काम भावसे करना चाहिये ।

(५) जैसे अर्जुनने अपने रथ, घोड़े और घोड़ोंकी बागडोरको भगवान्‌के हाथमें सौंप दिया था । भगवान् जिस प्रकार अर्जुनको चलाते थे, वह वैसे ही चलता था । उसी प्रकार हमलोगोंको अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीररूपी रथको भगवान्‌के अर्पण कर देना चाहिये । भगवान्‌की कठपुतली बनकर रहना चाहिये । जैसे भगवान् नचावें, वैसे ही नाचना चाहिये । यह भगवान्‌की शरणागतिका भाव है । श्रीभगवान् कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥
(गीता ९ । ३४)

'मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर । इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण हुआ तू मुझको ही प्राप्त होगा ।'

'मन्मना भव' के अनुसार मनके द्वारा भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन करना मनका भगवान्‌में अर्पण है ।

'मद्भक्तो भव' के अनुसार बुद्धिके द्वारा 'मैं भगवान्‌का हूँ' इस प्रकार तत्त्वसे समझकर भगवान्‌में अनन्य प्रेम करना बुद्धिका भगवान्‌में अर्पण है ।

'मद्याजी' के अनुसार सबमें भगवान्‌को समझकर इन्द्रियोंके द्वारा सबकी सेवा-पूजा, सत्कार करना इन्द्रियोंका भगवान्‌में अर्पण है ।

'मां नमस्कुरु' के अनुसार देहसे अहंता-ममता उठाकर भगवान्‌के चरणोंकी सेवामें शरीरको लगा देना शरीरका भगवान्‌में अर्पण है ।

इस प्रकार भगवान्‌के शरण हो जानेपर उस भक्तका 'करना' 'होने'में बदल जाता है ।

(६) जो कुछ भी सुख-दुःख, लाभ-हानि, अनुकूल-प्रतिकूल पदार्थ, परिस्थिति और घटना प्राप्त हो उस सबको भगवान्‌का विधान अथवा भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार या भगवान्‌की लीला समझकर हर समय राग-द्वेषसे रहित हो सम, संतुष्ट और प्रसन्न रहना चाहिये ।

शयनकाल

शयनके समय संसारको नाशवान्, क्षणभङ्गुर, दुःखरूप समझते हुए इसके संकल्पोंके प्रवाहका सर्वथा त्याग करके भगवान्‌में विशुद्ध परम प्रेम होनेके लिये भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यके संकल्पोंका प्रवाह बहाते हुए शयन करना चाहिये । इससे वह शयनकाल भी साधनकालके रूपमें परिणत हो जाता है ।

इस प्रकार भक्तियोगका साधन करनेसे भगवान्‌में अनन्य विशुद्ध परम प्रेम होकर भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है । अतएव भगवान्‌में अनन्य विशुद्ध परम प्रेम प्राप्त करनेके उद्देश्यसे मनुष्यको उपर्युक्त प्रकारसे भक्तिका साधन करनेके लिये कटिबद्ध होकर प्राणपर्यन्त प्रयत्न करना चाहिये ।

प्रकाशका देश

(लेखक—महात्मा श्रीश्रीसीतारामदास ओंकारनाथजी महाराज)

[शिव-राम-संवाद]

शिव—कैसे हो दादा ?

राम—बस, दादा जानेहीवाले हैं ।

शिव—क्यों, क्या बात है ?

राम—रोग-शोक, ज्वाला-यन्त्रणाने डावाँडोल कर दिया है । घरमें प्रायः सभी बीमार पड़े रहते हैं । मैं तो सदाका रोगी हूँ । इसपर गरीबी ! अब भी यमराज उठा क्यों नहीं रहे हैं, समझमें नहीं आता ।

शिव—क्या बात है ? तुम्हारे घरमें इतने रोग क्यों हैं ?

राम—क्यों हैं ? मुझे तो पता नहीं दादा !

शिव—रोग बिना कारण नहीं होते । अवश्य कुछ कारण है ही । रोगका प्रधान कारण है राजस-तामस आहार । भगवान्ने गीतामें स्पष्ट कहा है—अति कटु, अति अम्ल, अति गरम, तीक्ष्ण, रूक्ष और विदाही आदि राजसिक आहार दुःख-शोक-रोग प्रदान करते हैं और यातयाम, रसहीन, दुर्गन्धयुक्त, बासी, उच्छिष्ट तथा मांस-मछली आदि निषिद्ध आहार तामसप्रिय है, जो सर्वथा त्याज्य है । शरीर-मनको स्वस्थ रखनेके लिये आहारादि शुद्ध करने पड़ते हैं । आहारमें कोई नियम रखते हो ?

राम—ना भाई ! कोई नियम नहीं रखता । मांस, मछली, बत्तक, मुर्गी, अंडे, लहसुन, प्याज—सारे देशमें फैल रहे हैं, हम भी वही खाते हैं ।

शिव—तुमलोगोंके रोगका कारण है आहारका यह यथेच्छाचार । मांस-मछली, बत्तक, मुर्गी, अंडे तो दूरकी बात है, प्याज भी हिंदूके लिये अखाद्य है । यह सब खाकर ही मनुष्य इतने रोग उत्पन्न करता है । जो जीवनके असली लक्ष्यपर पहुँचना चाहते हैं उनके लिये सात्त्विक आहार आवश्यक कर्तव्य है ।

राम—मांस-मछली-प्याज आदि खानेमें क्या हानि है ? अंग्रेज, मुसल्मान आदि भी तो आदमी हैं, ये तो खाते हैं ?

शिव—उनके और हमारे जीवनके लक्ष्य पृथक् हैं । उनके लक्ष्यकी सीमा इसी लोकतक ही है, पर हमारे जीवनका लक्ष्य ईश्वर-दर्शन है; अतएव उनके साथ हमारा मेल नहीं हो सकता । मांस-मछली-प्याज खानेपर शरीरमें उत्तेजना उत्पन्न होती है और उसके द्वारा इच्छा-अनिच्छासे शरीरकी सार धातु ब्रह्मस्वरूप शुक्र देहसे निकल जाती है । मनुष्य कामवश हो जाता है । अतएव आहार-संयम आवश्यक है । ब्राह्मणोंके लिये तो मनमाना आहार करना आत्महत्याके समान है । ब्राह्मणका शरीर है—तपस्याके लिये । खैर, तुम संध्या करते हो ?

राम—ना भाई, नहीं करता । किसी दिन दस बार गायत्री जपनेका समय मिल जाता है और सच बात तो यह है कि किसी दिन वह भी नहीं हो पाता । पेटके धंधेमें भाग-दौड़ करनी पड़ती है । संध्या करूँ कब ?

शिव—रोग, दरिद्रता और कितनी यन्त्रणाओंके भोगके लिये समय मिल जाता है, पर संध्याके लिये समय नहीं मिलता । जानते हो—ब्राह्मण तीन दिन संध्या नहीं करता तो उसे चाण्डालत्व प्राप्त हो जाता है ।

राम—तुम ब्राह्मण-ब्राह्मण कह रहे हो भाई ! मैंने तो अच्छे लोगोंको यह कहते सुना है कि हम म्लेच्छके राज्यमें वास करते हैं—हमारा ब्राह्मणत्व नहीं रहा ।

शिव—पुण्यभूमि 'भारत' म्लेच्छराज्य है ? यह कौन कहता है ? सूर्य, अग्नि, गङ्गाजल जैसे स्वाभाविक पवित्र

हैं, वैसे हमारी भारतभूमि स्वतः ही पवित्र है। कालक्रमसे विधिके विधानसे म्लेच्छ राजा होनेपर भी इसकी स्वाभाविक पवित्रता नष्ट नहीं हुई है। भारतमें अत्यधिक सात्त्विक परमाणु अपने-आप ही उत्पन्न होते हैं। किसकी शक्ति है जो इस देशको अपवित्र कर दे। विदेशी म्लेच्छगण राजा होकर वे ही पवित्र होकर चले गये। बहते-बहते आये थे और बहते-बहते ही चले गये। तुमको इसके प्रमाण देता हूँ—श्रीमन् महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य, श्रीतुलसीदास आदि म्लेच्छराज्यके ही ब्राह्मण हैं—उनकी कृपासे कितने म्लेच्छोंका उद्धार हो गया ? श्रीतैलङ्गस्वामी, श्रीभास्करानन्दस्वामी, श्रीरामकृष्ण परमहंस—ये भी म्लेच्छराज्यके ब्राह्मण हैं। परमहंस बाबाकी चरणसेवा करके कायस्थ श्रीनरेन्द्रनाथ श्रीविवेकानन्द बनकर म्लेच्छदेशको मतवाला बना आये। कितने विधर्मी उनकी सेवा करके कृतार्थ हो गये। श्रीअभेदानन्द प्रभृति भी म्लेच्छराज्यके ब्राह्मणकी कृपासे असाध्य साधन कर गये। श्रीविशुद्धानन्द सरस्वती, श्रीविशुद्धानन्द परमहंस, श्रीरामदास काठिया बाबा, प्रभु जगबन्धु सुन्दर—ये भी म्लेच्छराज्यके ब्राह्मण थे। जगबन्धु सुन्दरकी चरणसेवा करके श्रीरामदास बाबाजी ब्राह्मण न होनेपर भी लाखों लोगोंका कल्याण कर गये। श्रीविजयकृष्ण गोस्वामी, श्रीरामानन्द ब्रह्मचारी, श्रीनिगमानन्द परमहंस, श्रीसंतदास बाबाजी महाराज प्रभृति सैकड़ों ब्राह्मण करोड़ों लोगोंका कल्याण कर गये और अब भी कर रहे हैं।

राम—अच्छा, तुम भाई ! मेरे लिये कुछ उपाय करो। मैं म्लेच्छाधम हूँ। मेरे लिये कोई गति नहीं है।

शिव—अरे ! चकमक पत्थर पाखानेमें पड़ा रहेगा तो क्या उसमेंसे आग कहीं चली जायगी ? लोहेका आघात लगते ही आग निकलेगी। तुम ब्राह्मण हो—तुम्हारे शरीरमें अब भी उन शाण्डिल्य मुनिका रक्तस्रोत प्रवाहित हो रहा है—तुम संध्या करो, यह करते ही तुम्हारी मैल-मिट्टी सब दूर हो जायगी। वेदने कहा है—

उद्यन्तमस्तं यन्तमादित्यमभिध्यायन्।
ब्राह्मणो विद्वान् सकलं भद्रमश्नुते॥
(तैत्तिरीय आरण्यक)

'उदय और अस्त होनेवाले आदित्यका विशेषरूपसे ध्यान करके विद्वान् ब्राह्मण समस्त कल्याणको प्राप्त करता है।'

संध्यामुपासते ये तु सततं शंसितव्रताः।
विधूतपापास्ते यान्ति ब्रह्मलोकं सनातनम्॥
निशायां वा दिवा वापि यदज्ञानकृतं त्वघम्।
त्रैकाल्यसंध्याकरणात् तत्सर्वं हि प्रणश्यति॥
(याज्ञवल्क्यस्मृति)

'जो लोग तीक्ष्ण अटूट नियमके साथ सतत संध्या-उपासना करते हैं वे सर्वथा विशेषरूपसे पापशून्य होकर सनातन ब्रह्मलोकमें चले जाते हैं। रात्रि अथवा दिनमें जो अज्ञानसे पाप होते हैं, त्रिकाल संध्या करनेपर उन सब पापोंका नाश हो जाता है।'

सायं प्रातश्च यः संध्यामुपास्ते शुद्धमानसः।
जपन् हि पावनीं देवीं गायत्रीं वेदमातरम्॥
तया सम्भावितो देव्या ब्राह्मणो धूतकिल्बिषः।
न सीदेत् प्रतिगृह्णानो ह्यपि पृथ्वीं ससागराम्॥
(अग्निपुराण)

'जो शुद्धचित्त पुरुष नित्य सायं और प्रातःकाल संध्या-उपासना करते हैं, वेदमाता पवित्रकारिणी ज्योतिर्मयी गायत्रीका जप करके उसके द्वारा अनुगृहीत निष्पाप ब्राह्मण अन्य प्रतिग्रह तो दूरकी बात है—यदि सागरसहित सारी पृथ्वीका भी प्रतिग्रह कर ले तो भी क्लेशको प्राप्त नहीं होता।'

अनृतं मदगन्धं च दिवा मैथुनमेव च।
पुनाति वृषलस्यान्नं बहिः संध्या ह्युपासिता॥
(यम)

'बाहर संध्या-उपासनादि करनेपर वह असत्य, मद्यगन्ध, दिवामैथुन और शूद्रान्न-भोजनको भी पवित्र करती है ।'

सर्वावस्थोऽपि यो विप्रः संध्योपासनतत्परः ।
ब्राह्मण्यात् स न हीयेत सोऽन्यजन्मगतोऽपि सन् ॥
संध्यामुपासिता येन तेन विष्णुरुपासितः ।
दीर्घमायुः स विन्देत सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥
(योगियाज्ञवल्क्य)

'जो विप्र सभी अवस्थाओंमें संध्योपासनामें तत्पर रहता है, वह जन्मान्तरमें भी ब्राह्मण होता है; जो संध्या-उपासना करता है, उसके द्वारा भगवान् विष्णुकी उपासना होती है; संध्या करनेवाला सारे पापोंसे बिल्कुल छूटकर दीर्घायु प्राप्त करता है ।'

राम—संध्या करनेका फल तो कम नहीं है, जितने कुछ पाप हैं, सब नष्ट हो जाते हैं । संध्या करनेवाला दीर्घायु प्राप्त करता है । यह तो मैं नहीं जानता था । जीवनमें कितने पाप किये हैं और उनके फलस्वरूप कितनी यन्त्रणाएँ भोगी हैं, पर पाप नाश करनेका कोई इतना सहज उपाय है, यह तो किसीने नहीं बताया था । भाई ! तुम्हारे मुखसे संध्या-महिमाकी बातें सुनकर प्राण मानो आनन्दसे नाच उठे हैं । प्राणोंमें आनन्दका संचार हो आया है ।

शिव—अग्निपुराणमें ब्रह्माने गायत्रीसे कहा है—

कुर्वन्तोऽपीह पापानि ये त्वां ध्यायन्ति पावनि ।
उभे संध्ये न तेषां हि विद्यते देवि पातकम् ॥
गायत्र्यास्तु परं नास्ति दिवि चेह च पावनम् ॥

'हे पवित्रकारिणी ! इस जगत्में पाप करके भी जो प्रातः-सायं तुम्हारा ध्यान करते हैं, हे देवि ! निश्चय ही उनके पाप नहीं रहते । गायत्रीके समान पवित्र करनेवाला अनुपम श्रेष्ठ साधन न तो मर्त्य जगत्में दूसरा कुछ है, न स्वर्गमें ही है ।'

न तथा वेदजप्येन पापं निर्दहति द्विजः ।
यथा सावित्रीजप्येन सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥
गायत्रीजपनिरता गच्छन्त्यमृततां द्विजाः ॥
(बृहद् यमः)

'द्विज गायत्रीका जाप करके जैसे पापोंको भस्मीभूत करता है, वैसा वेदपाठ करके भी नहीं कर सकता । गायत्री-जपमें लगा हुआ द्विज अमृतत्वको प्राप्त करता है ।'

राम—और कुछ भी करनेकी आवश्यकता नहीं, केवल संध्या तथा गायत्री-जपसे ही सब हो जायगा ? सुना है हमारे पूर्व पुरुष साग्निक थे । नित्य होम करते थे । हम तो यह सब कुछ भी नहीं जानते ।

शिव—कालके प्रभावसे सचमुच हम कलियुगके ब्राह्मण निरग्नि हो गये हैं; परंतु हमारी परम सहायिका गायत्री माता हैं । गायत्री-जपसे ही हमें सब कुछ प्राप्त हो जायगा ।

जप्येनैव हि संसिद्ध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः ।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥
(मनु० २ । ८७)

'ब्राह्मण केवल तपके द्वारा ही पूर्ण रूपसे सिद्धि प्राप्त करता है । वह अन्य कुछ करे या न करे, वह सबके साथ मैत्रीभाव रखनेवाला ब्राह्मण ही कहा जायगा ।'

राम—तुम संध्याके विषयमें और भी कुछ कहो ।

शिव—

संध्या येन न विज्ञाता संध्या येनानुपासिता ।
जीवन्नेव भवेच्छूद्रो मृतः श्वा चाभिजायते ॥
(देवीभागवत ११ । १६ । ६)

'जो द्विज संध्या नहीं जानता और नहीं करता, वह जीते-जी ही शूद्र हो जाता है और मरनेके बाद कुत्तेकी योनिको प्राप्त होता है ।'

संध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु ।
यदन्यत् कुरुते कर्म न तस्य फलभाग्भवेत् ॥
(दक्ष०)

'संध्याहीन ब्राह्मण सदा ही अपवित्र और सम्पूर्ण कर्मोंमें अयोग्य होता है । वह जो अन्य कर्म करता है, उसका फल उसे नहीं मिलता ।'

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥
(मनु० २ । १०३)

'जो द्विज प्रातः और सायं संध्योपासना नहीं करता, उसे सभी द्विजोचित कर्मोंसे शूद्रकी भाँति बहिष्कृत कर देना चाहिये ।'

एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम् ।
संध्ययोर्वेदविद् विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥
(मनु० २ । ७८)

'व्याहृतिके सहित इस अक्षर गायत्रीका दोनों संध्याकालमें जप करके वेदज्ञ ब्राह्मण वेदपाठका फल प्राप्त करता है ।'

राम—व्याहृति किसे कहते हैं ?

शिव—ब्रह्माने **ॐ भूः** कहकर पृथ्वीकी, **ॐ भुवः** बोलकर अन्तरिक्षकी, **ॐ स्वः** बोलकर स्वर्गलोककी, इसी प्रकार **ॐ महः, ॐ जनः, ॐ तपः, ॐ सत्यं** बोलकर इन सातों लोकोंकी सृष्टि की थी । व्याहृतिका अर्थ है उक्ति । ॐकार तथा सप्तव्याहृति शिरके सहित गायत्रीका जप प्राणायामके समय किया जाता है ।

राम—गायत्री-शिर क्या है ?

शिव—**'आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम् ।'** इसपर फिर विचार करेंगे ।

राम—संध्या कब करनी चाहिये ?

शिव—

पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठेत् सावित्रीमार्कदर्शनात् ।
पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥
(मनु० २ । १०१)

'प्रातःसंध्या करके सूर्योदयपर्यन्त और सायं-संध्या करके जबतक तारे न दिखायी दें, तबतक गायत्री-जप करना चाहिये ।' सूर्योदयके २४ मिनट पहलेसे २४ मिनट पीछेतक प्रातः-संध्याका काल है । ठीक कालपर संध्या अवश्य करनी चाहिये । दैवयोगसे किसी दिन कालका अतिक्रम हो जाय तो दस बार गायत्रीका जप प्रायश्चित्तके रूपमें करके संध्या करनी चाहिये । परंतु ठीक कालपर संध्या की जाय, इसके लिये सचेष्ट रहना चाहिये । सायं-संध्याका काल भी सूर्यास्तके २४ मिनट पहलेसे सूर्यास्तके २४ मिनट पीछेतक है ।

राम—ठीक कालपर संध्या न करनेसे क्या हानि होती है ?

शिव—प्रत्येक कार्यके लिये एक निर्दिष्ट समय होता है । मान लो जैसे भूखके समय भोजन किया जायगा तो पित्तरस निकलकर उसका परिपाक हो जायगा । पीछे रस रक्तके रूपमें परिणत हो जानेपर या भूख मारी जानेपर भोजन करनेसे परिपाक नहीं होगा । इसी प्रकार उपासनाका काल, रात्रि बीतकर दिन उगने तथा दिन बीतकर रात्रि आनेकी संधिका समय है । इस समय अपने-आप ही प्राण सुषुम्नाके अभिमुखी होते हैं । इसलिये ठीक कालपर संध्या करनेपर मनुष्य शीघ्र ही मूल लक्ष्यपर पहुँच सकता है । संध्याका काल ही केवल उपासनाका समय है ।

संध्यायां न स्वपेद् राजन् विद्यां न च समाचरेत् ।
न भुञ्जीत च मेधावी तथाऽऽयुर्विन्दते महत् ॥
(महाभारत, अनु० १०४ । ११९)

संध्याकालमें न तो सोना चाहियें, न पढ़ाई आदि विद्याचर्या करनी चाहिये और न भोजन ही करना चाहिये । ऐसा करनेसे दीर्घायुकी प्राप्ति होती है ।' संध्याकालमें केवल संध्या-जप ही करना चाहिये । निद्रा-आहार-विद्या-चर्चा न करनेसे अर्थात् केवलमात्र गायत्री-जपादि करनेसे दीर्घायु मिलती है ।

राम—तो संध्याके समय गायत्री-जप करनेसे आयु बढ़ती है ?

शिव—निश्चय ही बढ़ती है । प्रातः-सायं जप करनेसे आत्मदर्शन होता है ।

अच्छा और भी सुनो—

उत्तमा तारकोपेता मध्यमा लुप्ततारका ।
कनिष्ठा सूर्यसहिता प्रातःसंध्या त्रिधा स्मृता ॥
उत्तमा सूर्यसहिता मध्यमा लुप्तभास्करा ।
कनिष्ठा तारकोपेता सायंसंध्या त्रिधा स्मृता ॥
(देवीभागवत ११।१६।४-५)

'प्रातःसंध्या तारे दीखते हों उस समय करनेपर उत्तमा, तारे दीखने बंद होनेपर मध्यमा और सूर्य निकलनेपर अधमा होती है और सायं-संध्या सूर्य रहते समय उत्तमा, सूर्यास्तके समय मध्यमा और तारे दीखनेके बाद कनिष्ठा होती है ।'

राम—तो तारे रहते-रहते प्रातःसंध्या और सूर्य रहते-रहते सायं-संध्या आरम्भ कर देनी चाहिये ?

शिव—हाँ, यही संध्या भगवान्‌की प्रथम आज्ञा है ।

'अहरहः संध्यामुपासीत्'—जो ब्राह्मण इस संध्याको नहीं करता, उसकी इस लोक और परलोकमें असीम दुर्गति होती है ।

संध्यालोपस्य चाकर्ता स्नानशीलश्च यः सदा ।
तं दोषा नोपसर्पन्ति गरुत्मन्तमिवोरगाः ॥
(महर्षि कात्यायन ११ । १६)

'जो कभी संध्याका लोप नहीं करता और नित्य स्नान करता है उसके पास, जैसे गरुड़के पास साँप नहीं आ सकते, वैसे ही आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक कोई भी दोष अर्थात् पाप, अपराध, अनिष्ट, कुकर्म, कलङ्क, त्रुटि, अनियम, राग-द्वेष-मोह आदि नहीं आ सकते ।' गायत्रीजपकी अपार महिमा है ।

गायत्रीं जपते यस्तु द्वौ कालौ ब्राह्मणः सदा ।
तया राजन् स विज्ञेयः पङ्क्तिपावनपावनः ॥
कामकामो लभेत् कामं गतिकामस्तु सद्गतिम् ।
अकामस्तु तदाप्नोति यद् विष्णोः परमं पदम् ॥
(विष्णुधर्मोत्तर)

'जो प्रातः-सायं सदा गायत्री-जप करता है वह पंक्तिपावनोंमें पावन होता है, सकाम भावसे जप करनेपर काम्य वस्तुकी प्राप्ति होती है; गति चाहनेवालेको सद्गति मिलती है और निष्काम पुरुषको विष्णुके परमपदकी प्राप्ति होती है ।'

राम—केवल गायत्रीजपसे ही मनुष्य विष्णुका परम पद प्राप्त कर सकता है ?

शिव—निश्चय ही । वैदिक उपासना ही गायत्री-उपासना है । पहले प्रणव-उपासना है । उसमें असमर्थ व्यक्ति गायत्रीकी उपासना करे । गायत्री-उपासनाकी योग्यता नष्ट हो जानेके कारण ही तो ऋषियोंने पौराणिक-तान्त्रिक उपासनाकी व्यवस्था की ।

राम—गायत्री-उपासनाके द्वारा जो गति प्राप्त होती है, क्या वही राम-कृष्ण आदिकी उपासनासे भी मिलती है ?

शिव—हाँ, सभीका चरम परम काम्य ॐकार है । ॐकार ही ब्रह्म है । ॐकार ही सब कुछ है । समस्त वेद जिस परम वाञ्छितका प्रतिपादन करते हैं, तपस्याके द्वारा देह-दोष दूर होनेपर जो व्यक्त होता है, जिसे पानेकी इच्छासे ब्रह्मचारी गुरुगृहमें वास करके ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं । वह ॐकार ही है; वही पर-अपर ब्रह्म है । अकार, उकार और मकार—ॐकारकी तीन मात्रा हैं । अकारका उपासक अकारका साक्षात् करके पृथ्वीपर लौट आता है, उकार मात्राका उपासक चन्द्रलोकमें जाकर वहाँके ऐश्वर्यका भोग करके यहाँ लौट आता है । और जो अ, उ, म—त्रिमात्रात्मक ॐकार पुरुषोत्तमका ध्यान करता है, वह तृतीय मात्राके स्वरूपको प्राप्त होकर ज्योतिर्मय सूर्यमें मिल जाता है । वह सब पापोंसे मुक्त होकर नादसमूहोंके द्वारा हिरण्यगर्भ लोकमें पहुँच जाता है और फिर हिरण्यगर्भसे भी उत्तम पुरुषोत्तमके दर्शन करता है, जो शान्त अजर अमृत अभय और सबसे उत्तम है । ॐकारका आश्रय लेनेपर उसकी भी प्राप्ति हो जाती है । यह सभी कुछ ॐ—अक्षरात्मक है, यह जो कुछ भी भूत, भविष्यत् और वर्तमान है, सभी ॐकार है और जो कुछ भी त्रिकालसे अतीत है, वह भी ॐकार ही है । ॐकार ही सब कुछ है । एकमात्र वही है, उसीकी इच्छा हुई थी—'बहुत होऊँ' । वही सब कुछ सजकर खेल करता है ।

[शेष आगे]

मधुर

बहुत दिनोंके बाद प्रियतम श्यामसुन्दर पधारे । राधाको अनुपम अतुल मिलन-सुख मिला । परस्पर वार्तालाप होने लगा । प्रियतम श्रीकृष्णके पूछनेपर राधाजीने बड़े ही संकोचके साथ अपनी दशाका संक्षेपमें वर्णन किया और अपने मनकी गूढ़ अनन्य अभिलाषा प्रकट करती हुई वे बोलीं——

तुम बिनु बीतत छिन छिन जुग सम
मम जीवनधन ! बनवारी ! ।
जरत रहत नित हिय दावानल
दारुन दहत देह सारी ॥
पै या तैं सुख होत जु तुमकूँ
आवत जब यह सुधि प्यारी ।
तब अति उपजत मो चित महँ सुख
मिटत मरम पीरा झारी ॥
धन्य वियोग जनित मेरो दुख
जो तुम्हरे हित सुखकारी ।
या दुख पै हौं नित्य निछावर
पल पल जाऊँ बलिहारी ॥
जुग जुग जनम जनम रोवत मोय
मिलत रहै यह सुख भारी ।
तुम्हरो सुख ही है मेरो सुख
केवल, मन्मथ-मनहारी ! ॥
या सिवाय नहिं जगै कबहुँ कछु
कोउ अभिलाषा अघहारी ! ।
बिछुरन-रोवन, मिलन-हँसन सब
हो तुअ सुख-हित गिरिधारी ॥

मेरे जीवनधन ! हे वनविहारी ! तुम्हारे न रहनेपर, तुम्हारे बिना मेरा एक-एक क्षण युगके समान बड़ा होकर बीतता है, हृदयमें नित्य-निरन्तर दावानल जलता रहता है, जिससे सारी देह दहकती रहती है । पर जब यह प्यारी स्मृति होती है कि इससे तुमको सुख होता है, तो तुरंत मेरे चित्तमें अत्यन्त सुखका उदय हो जाता है और मेरी सारी मर्म-पीड़ाओंके समूह मिट जाते हैं । प्रियतम ! तुम्हारे वियोगसे उत्पन्न होनेवाला मेरा यह दुःख, जो तुम्हारे लिये सुखका कारण है, धन्य है । इस दुःखपर मैं नित्य न्यौछावर हूँ, पल-पलपर बलिहारी जाती हूँ । यह मेरा दुःखरूप परम सुख युग-युगमें——जन्म-जन्ममें मुझ सदा रोती हुईको मिलता रहे । हे मन्मथके मनको हरण करनेवाले अनुपम सुन्दर ! तुम्हारा सुख ही एकमात्र मेरा सुख है । हे गिरिराजको धारण करके सबका दुःख हरण करनेवाले प्रियतम ! हे सारे कामनारूपी पापका हरण करनेवाले हरि ! मेरे अंदर इस एक अभिलाषाके अतिरिक्त अन्य कोई भी, कुछ भी अभिलाषा कभी भी जगे ही नहीं । मेरा बिछुड़ना-रोना और मिलना-हँसना सब केवल तुम्हारे सुखके लिये ही हो प्रियतम !

सुनि मृदु मधुर बचन प्यारी के
पुलकित तन मुरलीधारी ।
निज सुख हेतु त्याग लखि सखि कौ
उमग्यो हिय रस सुविहारी ॥
निकस्यौ दृग-द्वारनि मधु रस सो
अमृत अनुत्तम बिस्तारी ।
दोउ अति विह्वल भये प्रेमबस
उदई प्रीति रीति न्यारी ॥

परम प्रियतमा श्रीराधाके इन मृदु मधुर वचनोंको सुनकर, मुरलीध्वनिसे सबको पुलकित करनेवाले मुरलीधरका शरीर पुलकित हो गया । अपने सुखके लिये प्रिय सखी राधाका यह परम त्याग देखकर——उनके हृदयमें सब कुछ भुला देनेवाला रस उमड़ आया और वह मधुर रस नेत्रद्वारोंसे निकलकर सर्वश्रेष्ठ सुधाका विस्तार करने लगा । श्रीराधा-माधव दोनों प्रेमविवश हो गये । विशुद्ध प्रीतिकी विलक्षण रीतिका उदय हो गया ।

रहे मौन कछु काल रसिक प्रभु
तब रस-बानी उचारी ।

मो पै प्रिये ! वस्तु नहिं कोऊ
तुम्हरे रसकी अनुहारी ॥
कैसें कै करि सुख पहुँचावौं
तोय त्याग-रस-मतवारी ।
जुग जुगको मैं रिनी, न मो पै
नहिं रति रिन सोधनवारी ॥

तदनन्तर रसिक प्रभु श्रीकृष्ण कुछ समयतक मौन रहे, फिर रसभरी वाणीका उच्चारण किया । बोले—— प्रिये ! मेरे पास ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जो तुम्हारे रसकी समानता करनेवाली हो । हे त्यागके परम रसमें प्रमत्त रहनेवाली ! मैं तुमको कैसे, क्या करके सुख पहुँचाऊँ ? मैं तो तुम्हारा युग-युगका ऋणी हूँ । मेरे पास वह प्रीति ही नहीं है, जिससे तुम्हारा ऋण-शोध हो सके ।

सुनि प्रिय बचन परी चरननि मैं
प्रेमातुर सर्वस हारी ।
लई उठाय तुरत प्रियतम ने
भरी नेह भरि अँकवारी ॥

प्रियतम श्यामसुन्दरके इन वचनोंको सुनकर सर्वस्व हरण करनेवाले प्रेमसे आतुर होकर राधा श्रीमाधवके चरणोंमें गिर पड़ीं । उन्हें पड़ी देखकर प्रियतमने उनको तुरंत उठाकर स्नेहपूर्ण हृदयसे लगा लिया ।

धन्य त्याग, धन्य प्रेम !

अन्ताराष्ट्रिय चेतना एवं भारतीय संस्कृति

(लेखक——डा० श्रीनरेन्द्रकुमार सेठी, एम्० ए०, एम्० बी० ए० (न्यूयार्क), पी-एच्० डी० (न्यूयार्क), एम० आर० ए० एस०, एम० बी० एच०, साहित्यरत्न, विशारद, धर्मरत्न प्रोफेसर, लांग आईलेण्ड विश्वविद्यालय न्यूयार्क एवं प्रतिष्ठापक, भारतकेन्द्र, न्यूयार्क)

भारतीय संस्कृतिकी उदात्त धार्मिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक परम्पराका एक गौरवमय इतिहास है । संस्कृतिकी शक्तिपूर्ण चेतनाका उल्लेख हमें सर्वत्र मिलता है । इसका कारण वस्तुतः भारतीय दर्शनकी सार्वभौमिकता और व्यापकता ही है । जन-जनके भाव-स्थलको स्पर्श करते रहनेके कारण इस यशस्विनी संस्कृति-साधनामें जडताका कभी भी लेशमात्र भी समावेश नहीं हुआ । उदीयमान ज्योतिपुञ्जकी किरणोंके समान स्वच्छ एवं पुनीत साधनारत तपस्वीकी चेतनाके समान सशक्त हमारी संस्कृति सदैव सर्वत्र आशा और उत्साहका परम केन्द्र रही है ।

हमारे चिरन्तन महर्षियोंने, जहाँ ब्रह्मकी नानारूपेण क्रियाका उद्घाटन किया और शक्तिकी स्पन्दनमयी परिधिको आत्मसात् किया, वहाँ जीवनदायिनी श्रद्धाकी विश्वास-जनक महिमाका गान भी किया और अनुरागमें केन्द्रित प्रभु-लीलाका चित्रण भी । इस प्रकार उन तपस्वी आराधकोंने विश्व-चेतनाका एकाङ्गी निरूपण कभी नहीं किया । समग्र मानवताके समस्त भावचित्रों, शक्ति-स्वरूपों, राग-विरागों, क्रिया-प्रक्रियाओंका ऐसा सजीव और निष्ठात्मक चित्रण विश्वकी किसी भी सांस्कृतिक-परिवेशमें नहीं मिलता ।

पौराणिक आख्यानों तथा प्राचीन शास्त्रोंमें हमें सर्वत्र विश्वव्यापी भारतीय संस्कृतिके उदाहरण मिलते हैं । परंतु हमारी सांस्कृतिक सम्पत्तिका यही एकमात्र आधार नहीं है । आधुनिक युगके वैज्ञानिकों, विचारकों तथा विदेशी विहारोंके अनवरत अन्वेषणोंसे भी यह सिद्ध हो चुका है कि भारतीय संस्कृति केवल भारतकी सीमातक ही व्याप्त नहीं थी, अपितु सारे विश्वमें फैली हुई थी । मध्य एशियाके अन्तर्गत कई भग्नावशेष प्राप्त हो चुके हैं जो इसके यशस्वी चिह्न हैं । यूरोपकी साहित्यिक पृष्ठभूमिमें संस्कृत ग्रन्थोंके अनेकानेक दृष्टान्त मिलते हैं ।

यूनानी तथा इटालवी साहित्यमें तो अधिकांश प्राचीन ग्रन्थ संस्कृतके कथानकोंसे ओत-प्रोत हैं । इसके अतिरिक्त हालहीमें यह भी सिद्ध किया जा चुका है कि अमेरिकामें भी आजसे २५०० वर्ष पूर्व भारतीय संस्कृतिका प्रवेश हो चुका था । आजके युगमें जिस भौगोलिक प्रदेशको 'मेक्सीको' के नामसे सम्बोधित किया जाता है, वहाँके आदि-निवासियोंकी माया-संस्कृति भारतीय विचारधाराका ही एक प्रतिरूप है । भिक्षु चमनलालकी प्रसिद्ध पुस्तक 'हिंदू अमेरिका' से यह तथ्य निर्विवाद रूपसे प्रतिष्ठित हो चुका है कि प्राचीन कालमें नव-विश्वके हरेक स्वरूपपर भारतीय जीवनकी एक सुदृढ़ छाप थी ।

इस प्रकार हमारे सम्मुख भारतीय संस्कृति एक विश्वव्यापी परिवेशमें प्रकट होती है, जिसकी नानारूपेण गति-विधियों तथा रूप-प्ररूपोंसे एक समय समस्त विश्वका अनेक भाग प्रभावित था। इसका अर्थ यह नहीं कि यह संस्कृति अपनी छाप आक्रमण, विजय या संहारके द्वारा स्थापित करती थी। इसकी सार्वभौमिक स्थापनाका मूल है—इसकी संग्रहात्मक तथा गत्यात्मक प्रणाली। निरन्तर जागरूकताकी ओर उन्मुख होनेके कारण, बाह्य विचारों तथा तथ्योंको स्वीकार करनेकी असीम शक्तिके कारण तथा प्राणिमात्रमें आस्था एवं विश्वासकी भावना जाग्रत् कर सकनेके कारण ही भारतीय जीवन-दर्शन अपनी भौगोलिक तथा सामयिक सीमाओंको अतिक्रम कर सार्वजनिक एवं सार्वकालिक हो गया। **'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'** की उल्लासमयी, ओजस्वी वाणीमें जडताके प्रति आग्रह नहीं था—इसमें समग्र मानवताकी चेतना एवं कुशलताका वरदान था।

आज जब आध्यात्मिक परम्परा तथा उदात्त भावनाका संबल छूटा जा रहा है तथा भौतिक उत्कर्षकी भी अवसाद-मयी कालिमा सर्वत्र देश-विदेशमें व्याप्त होती जा रही है; हमारा कर्तव्य है कि—

श्रद्धा हि जगतां धात्रि, श्रद्धा सर्वस्य जीवनम्—की अमर प्रेरणा लेकर पुनः अन्ताराष्ट्रिय समाजमें हमारी नैसर्गिक चेतनाका स्वरूप प्रकट करें। देश-विदेशमें भारतीय संस्कृतिकी गरिमा जब पुनः नूतन उत्कर्ष एवं उन्नयनके साथ फैलेगी, तभी मानवकी समस्त शक्ति, स्फूर्ति तथा जागृतिका विकास हो सकेगा।

◆

आपमें छिपा हुआ चमत्कारी विद्युत्प्रवाह—आत्मतेज

(इसे विकसित कीजिये)

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

आपकी चुम्बकीय शक्ति

सच मानिये, आपमें एक प्रकारकी बिजली छिपी हुई है, जो दूसरोंको चुम्बककी तरह अपनी ओर आकर्षित करती है। हिंदुओंके महापुरुषों, ऋषि-मुनियों, देवताओं, अवतारों आदिके मुखमण्डलके चारों ओर एक गोलाकार आलोक बना रहता है। उनके मुखसे सूर्यकी किरणों-जैसा एक सशक्त प्रकाश-पुञ्ज निकलता रहता है। यह उनका विद्युत्-प्रवाह है। महापुरुषोंका तेज पृथ्वीके कोने-कोनेतक पहुँचता है। महात्माओंका तेजस् उनकी मुद्रा-विचार तथा वाणीसे प्रस्फुटित होकर वायुमण्डलमें व्याप्त हो जाता है। वह सूर्यकी तरह सशक्त है।

प्रसिद्ध विचारक श्रीगणेशदत्त गौड़ इन्द्रके अनुसार मानवीय तेज अनेक रंग तथा उपरंगोंका होता है। यह भावनाओंके अनुसार बदलता रहता है। इसके प्रायः दस रंग होते हैं। परोपकारीका तेज उज्ज्वल होता है। ईर्ष्यालु तथा द्वेषी भावना-वालेका तेजस् गहरे मेघके रंगका होता है। क्रोधी व्यक्तिके तेजमें गहरे लाल रंगकी धारियाँ होती हैं। विद्वानों और बुद्धिमानोंका तेज पीले रंगका होता है। लोभकी कामनावालों-का तेज नारंगी होता है। प्रेम, आसक्तिमें तेजस शुद्ध प्रेमका द्योतक होता है। धार्मिक भावनावालोंका तेज नीले रंगका होता है। हलका नीला रंग आध्यात्मिक शक्तिवालेका तेज है। अपवित्र और दुष्ट व्यक्तियोंका तेज काले रंगका होता है। आयुर्वेदमें कहा गया है कि अमुक रोगसे ग्रसित व्यक्तिको इतने हाथके फासलेपर नहीं आने देना चाहिये। इसी कारण दुष्टोंकी संगतिका विरोध किया गया है और अच्छी संगतिकी प्रशंसा।

आपमें आत्मतेज छिपा हुआ है

आपका तेज आपके विचारोंसे उत्पन्न होता है। जब मनुष्यके एक विशेष प्रकारके विचार स्थायी और सशक्त बन जाते हैं, तब वे उसके मुखमण्डलसे सूर्यकी किरणोंकी तरह निकलने लगते हैं। इन विचारोंको स्थायी बनानेमें मनुष्यके आहार-विहार, श्रवण-दर्शन, स्पर्श तथा वातावरण भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। मनुष्य जैसे विचारोंमें निवास करता है, उसका तेज भी वैसा ही बनता है।

विचारोंको एक विशेष दिशा, केन्द्र या विषयपर एकाग्र करनेसे शक्ति बढ़ती है। शुद्ध विचार और पवित्र भावनाएँ तेजसके निर्माणमें अपना अद्भुत चमत्कार दिखाती हैं।

आपमें तेज और शक्ति छिपे हुए हैं। आपमें विद्युत्का प्रकाश, उष्णता; लोहेकी चुम्बकीय शक्ति है। यही आपकी जीवनी-शक्ति है, इच्छाशक्ति है और सब स्थूल उत्पत्तिकी बीजरूप शक्ति है। यह तेज प्रत्येक मनुष्यमें और प्रत्येक पदार्थमें है। प्रत्येक वस्तुके कोने-कोनेसे निरन्तर प्रवाहित होता रहता है। सूक्ष्मदृष्टिवाले व्यक्ति इसका अनुभव कर सकते हैं। भारतीय संस्कृतिमें होनेवाले ऋषियों, संतों, महात्माओं और देवताओंके अद्भुत बलकी गाथाएँ आज भी प्रसिद्ध हैं। उनके पास जानेसे दुष्टोंके विचार बदल जाते थे, पापियोंका पाप धुल जाता था। इसलिये इसको 'ब्रह्मतेज' कहते हैं। हम बड़े प्राचीन महात्माओंके चित्रोंमें उनके मुखके चारों ओर जो गोल चक्र देखते हैं, वही उनका तेज है। वही दिव्य प्रकाश है। वह स्थूल जगत्-जन्य पदार्थोंमें प्रकाशसे बिल्कुल भिन्न है।

आत्मतेजके परमाणु

आत्मतेजके परमाणु इतने सूक्ष्म होते हैं कि हम उन्हें स्थूल दृष्टिसे नहीं देख सकते। एक आलपीनके सिरेपर ८०००,०००,०००,०००,०००,००० परमाणु समाये हुए हैं। हमारे आत्मतेजके परमाणु इनसे भी सूक्ष्म होते हैं।

सारा जगत् ही इन छोटे-छोटे परमाणुओंका ही बना हुआ है। इसी तेजस्के अद्भुत बलसे प्राचीन ऋषि-मुनि दूरस्थ विचारों और घटनाओंको जान लेते थे। सर्वत्र अपने विचार भेज सकते थे और आशीर्वादके शब्दोंसे परमाणुओंमें गति उत्पन्न कर जगत्का कल्याण करते थे।

पवित्र संत पुरुषों और महात्माओंमें, शुद्ध वस्तुओंमें, घीमेंसे निरन्तर शुद्ध सात्त्विक तेजस् निकला करता है। इसीलिये भारतीय संस्कृतिमें इनका दर्शन और स्पर्श करना शुभ माना गया है।

दुष्ट मनुष्योंके संगसे, दुष्ट वस्तुओंके स्पर्शसे, सहवाससे हमपर दुष्ट राक्षसी और बुरे तेजस्का कुत्सित और विषैला प्रभाव पड़ता है। इसीलिये स्नान, उपवास और पूजनद्वारा आत्माको पवित्र करनेका विधान है, जिससे दुष्ट तेजस्का प्रभाव धुल जाता है और हमारे शरीरसे शुद्ध तेजस् निकलने लगता है। हमारे धर्म और संस्कृतिमें गङ्गा, यमुना, गङ्गोत्तरी आदिमें स्नान करनेका इसीलिये माहात्म्य है। इस देशके अनेक वृक्ष—जैसे पीपल, बड़, चन्दन, तुलसी, बिल्व, नीम, नीबू, आँवला आदि अब भी शुद्ध स्वास्थ्य-शक्तिवर्द्धक तेजस्का प्रवाह निकालकर हमें उत्तम स्वास्थ्य, शक्ति और भव्य विचार प्रदान कर रहे हैं।

किसी पाश्चात्त्य वैद्यने भारतवर्षमें नीमका वृक्ष देखकर आश्चर्यके साथ यह कहा था—

'इस देशमें ऐसा अमृतमय रोगनाशक वृक्ष होते हुए भी भारतमें बीमारीसे एक प्रकारकी अकाल मृत्युसे अगणित लोग मरते हैं और विशेषकर युवकों और बच्चोंका रोगी होना और मरना बड़े आश्चर्य और दुःखकी बात है।'

इसी दैवी और उपयोगी तेजस्के सिद्धान्तके अनुसार प्रत्येक हिंदू और भारतीय संस्कृतिके प्रेमीको कम-से-कम तुलसीका एक वृक्ष सदैव घरमें रखने, प्रतिदिन उसे अर्घ्य देने, पूजन करनेकी आज्ञा दी गयी है और उसे धर्मका एक अङ्ग माना गया है।

यही मनोवैज्ञानिक रहस्य भारतके पत्थर, स्फटिक, मणि, हीरा, लाल आदि बहुमूल्य रत्न और हीरोंके सम्बन्धमें हैं।

सच मानिये, प्रत्येक उत्तम, उपकारी, स्वास्थ्यवर्द्धक पदार्थमेंसे दैवी तेजस् निकालनेका विधान रक्खा गया है। हमें इसे जानकर इनसे लाभ उठाना चाहिये।

आपके तेजस्का मलिन अथवा प्रकाशवान् होना

हमारे तेजस् या आकर्षण-शक्तिका मलिन अथवा प्रकाशवान् होना; सशक्त अथवा निर्बल होना—विशेषकर हमारे विचारों और शुभ संकल्पोंपर निर्भर है। शुद्धता, दया, प्रेम, एकता, आनन्द, सहानुभूति, परोपकार, सेवा, सहायता और आशीर्वादके विचारोंपर ही निर्भर है। अतः हमारे वेदोंमें बार-बार ऐसी प्रार्थनाएँ की गयी हैं—

पुनन्तु मां देवजनाः पुनन्तु वसवो धिया।
विश्वेदेवाः पुनीत मा जातवेदः पुनीहि मा॥
(ऋग्वेद ९। ६७। २७)

अर्थात् देवजन मुझे पवित्र करें। मननशील लोग मुझे विचारद्वारा पवित्र रक्खें। सब पदार्थ मुझे उत्तम विचार ही देते रहें। पवित्रताके आधार, भगवान् मुझे पवित्र करें।

यदस्मृति चकृम किञ्चिदग्न उपारिम चरणे जातवेदः।
ततः पाहि त्वं नः प्रचेतः शुभे सखिभ्यो अमृतत्वमस्तु नः॥
(अथर्ववेद ७। १०६। १)

हे अग्निस्वरूप प्रभो ! कई बार भूलसे हम कुछ कर बैठते हैं और अपने आचरणमें लड़खड़ाने लगते हैं। आप जाननेवाले हैं। हमारे संस्कार ठीक कीजिये। हमें अमृत-भाव प्रदान कीजिये। हमारे द्वारा हमारे साथियोंका भला होता रहे।

आकूतिं देवीं सुभगां पुरो दधे चित्तस्य माता सुहवा नो अस्तु।
यामाशामेमि केवली सा मे अस्तु विदेयमेनां मनसि प्रविष्टाम्॥
(अथर्ववेद १९ । ४ । २)

हे प्रेरणा-देवि ! आ, तू हमें ऐश्वर्य लानेवाली है। तू सोच-विचारकी जननी है। मैं जहाँ रहूँ, तू मेरा सदा साथ देनेवाली बन। तुझे मैं अपने मनमें सदा प्रतिष्ठित होते हुए देखता रहूँ।

अतः उत्तम तेजस् प्राप्त करनेके लिये हमें मलिन अथवा निर्बल-संकीर्ण विचार त्यागकर उत्तमोत्तम विचार मनमें प्रतिष्ठित करने चाहिये। शुद्धता, दया, प्रेम, एकता, आनन्द और शक्तिके विचारोंको ही मनमें स्थान दीजिये और सदैव उन्हें ही आकाश तथा आस-पासके वातावरणमें फैलाते रहिये। आप ब्रह्मतेज प्राप्त करनेके अधिकारी बनेंगे।

दो प्रकारका तेज

तेज दो प्रकारका होता है—सबल और निर्बल। सबल तेज दूसरे निर्बल तेजवाले व्यक्तियोंको अपनी ओर खींचता है और उनपर अपना मनमाना प्रभाव डालकर बरबस दृढ़ इच्छाके साथ उनको अपने अधीन करता है। सबल तेज वजनदार और प्रभावशाली होता है। अतः दूसरोंके द्वारा प्रभावित नहीं किया जा सकता। निर्बल तेज हल्का और प्रभावहीन होता है तथा प्रत्येक मनुष्यद्वारा प्रभावित होता है। हल्की-सी रूईके समान होनेसे सबल तेजके सामने नहीं टिकता और सदैव असफल रहता है।

प्रभावशाली तेजयुक्त व्यक्तिका उद्देश्य स्थिर होता है। उसकी मुखमुद्रा शान्त और गम्भीर होती है। उसकी उपस्थितिमें निर्बल तेजवाला व्यक्ति दबी हुई बिल्लीके समान चुप रहता है। उसे देखकर स्वभावतः ही लोग आकर्षित हो जाते हैं। कोई आँखें उठाकर उसके सम्मुख देखनेका साहस नहीं कर सकता। उसके मनमें सदैव अटल चट्टानके सदृश दृढ़ इच्छा और पूर्ण विश्वास होता है। भय और शंका उसके मनमें स्थान ही नहीं पाते। वह कभी वाद-विवाद या निरर्थक बातें नहीं करता। न फजूल गुनगुनाता और न व्यर्थ अङ्ग-संचालन करता है। वह सदैव युक्तियुक्त आवश्यक बातें और स्थायी ठोस कार्य करता है। फुरसतमें आत्म-चिन्तन करता है, जिससे अपनी शक्तियोंको केन्द्रित रखता है तथा वायुमण्डलके परमाणुओंसे शक्तिका आकर्षण करता रहता है। जब आप उससे बातें करेंगे, तो वह बड़े ध्यानसे आपकी बातें सुनेगा। जब वह आपसे बातें करेगा तो वह आपके नेत्रोंकी पुतलियोंमें शान्त और स्थिरभावसे देखेगा, अथवा भृकुटीके मध्यभागमें, नासिकाकी जड़में अपनी दृष्टि गड़ा देगा और इस प्रकार अपने विचारोंका गूढ़ प्रभाव आपके मस्तिष्कमें भेज देगा। आप उसकी बातें मान लेंगे और सदैव उससे प्रेम करेंगे।

मनोवैज्ञानिक रहस्य यह है कि ऐसे व्यक्तियोंकी इच्छा-शक्ति दृढ़ होती है और उस केन्द्रबिंदुके कारण उनके शरीरके प्रत्येक भागमें सूक्ष्म तेजस् निरन्तर प्रवाहित होता रहता है और दूसरोंको प्रभावित कर उन्हें अपने वशमें करता है।

आपमें भी ये तेजस् शक्तियाँ हैं। आप भी दूसरोंपर प्रभाव डाल सकते हैं। दूसरोंको आकर्षित कर सकते हैं। आपकी इच्छाशक्तिमें ये सोयी पड़ी हैं। आप अभ्यासद्वारा, निरन्तर दूसरोंपर प्रयोगद्वारा इन शक्तियोंको जाग्रत् और विकसित कर सकते हैं।

यदि आप अपने किसी अङ्गसे काम न लेंगे, तो वह निर्बल हो जायगा और इस प्रकार बेकाम हो जायगा। धीरे-धीरे व्यायामसे वह सशक्त बनेगा। अबतक आप सोये पड़े थे, परंतु उत्साहित होकर एकदम सब शक्ति एक दिनमें प्राप्त करनेकी आशा मत कीजिये। जिंदगीका मैल एक दिनमें नहीं छूटता और जिंदगीभरकी भूख—आशा एक दिनमें पूरी नहीं होती। अहंकार मत बढ़ाइये, किंतु इच्छाको दृढ़ विश्वासरूपी खाद्य देकर स्फुरित करते रहिये।

संसारके जितने महापुरुष हुए, वे सब सरल-स्वभाव, प्रसन्नचित्त, नम्र, शान्त एवं गम्भीर प्रकृतिके पुरुष थे। जब आपका यह दृढ़ निश्चय है कि लोग आपके इच्छानुकूल कार्य करें, तब आप अपना प्रभाव-तेजस् विकसित कीजिये। अपने रहन-सहन और व्यवहारको वजनदार और आकर्षक बनाइये। अपने विचारों, बातों, कार्यों और संकेतोंपर पूर्ण अधिकार रखिये।

जिनको आप प्रभावित करना चाहते हैं, उनके

कमजोरियोंका निरीक्षण कीजिये। विशेषकर प्रत्येक मनुष्यके मुख, आँख, हाथकी हथेली और अंगुलियोंसे सूक्ष्म-तेजस् निकला करता है। इसलिये जिस मनुष्य अथवा वस्तुसे हमारा संयोग अथवा स्पर्श होता है, जिसपर हमारी दृष्टि पड़ती है अथवा जिस किसी भी पदार्थको हम छूते हैं, उसपर हमारा प्रभाव पड़ता है और हमारे तेजस्के परमाणुओंमें तथा उस वस्तु या मनुष्यके तेजस्के परमाणुओंमें एक प्रकारकी हलचल होती है और दोनोंमें जो सबल होता है, वह निर्बलको हरा देता है, परंतु सबल तेजयुक्त व्यक्तिका तेजस् भी कुछ कम हो जाता है। ईसामसीहसे एक रोगिणी स्त्रीके कपड़ोंका स्पर्श हो गया था। उस स्त्रीका रोग तो अच्छा हो गया; पर स्पर्श होते ही ईसामसीहके तेजस्में कुछ न्यूनता आ गयी उसका अनुभव उन्हें उसी समय हुआ था। अतः इतना आत्मतेज एकत्रित करो कि उसमें थोड़ी-बहुत कमी होनेपर भी तुम सूर्यकी तरह चमकते ही रहो।

आकूत्या नो बृहस्पत आकूत्या न उपागहि।
अथो भगस्य नो धेहि अथो नः सुहवो भव॥

(अथर्ववेद १९।४।३)

हे ज्ञान-आधार प्रभो! आओ। प्रेरणाको लेकर आओ। हमें ऐश्वर्य प्रदान करते हुए आओ। हमारी टेर सुनते हुए आओ। हमें आत्मबलसे प्रदीप्त करो।

गोस्वामी तुलसीदास और अहंकार

(लेखक—श्रीसद्गुरुशरणजी अवस्थी)

गोस्वामी तुलसीदास बड़े विद्वान् थे, यह ठीक है; वे बड़े कवि थे, यह भी ठीक है। उनका सांसारिक ज्ञान बड़ा विस्तृत था, यह भी उतना ही सत्य है। परंतु साधकसे सिद्ध और भक्तसे संत व्यक्ति कैसे बन सकता था, इस मार्गका भी उन्होंने दर्शन किया और कराया है। वैसे साधक और भक्त दोनोंके मार्गमें काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार सभी बड़े प्रबल अवरोध हैं; परंतु गोस्वामी तुलसीदासके अनुभवमें अहंकार सबसे बड़ा शत्रु है। अहंकारको दूर करनेके लिये सभी संत कवियों और महात्माओंने पाठ पढ़ाया है। वास्तवमें अन्य सब कुवृत्तियाँ इसीके अधीन विस्तार पाती हैं। पदार्थों और व्यक्तियोंकी अपने उपभोगके लिये जो आकाङ्क्षा होती है, उसीको काम कहते हैं। सारी इच्छाओंका केन्द्र अहं होता है और अहंके पोषणके लिये ही उनका उदय होता है। अभिलषित पदार्थ अथवा व्यक्तिके न मिलनेकी खीजको क्रोध कहते हैं। अप्राप्तसे अहंको जो ठेस लगती है और यह दूसरा जो आड़े आ जाता है और अहंकी कामना पूरी होने नहीं देता है, उसके विनाशका उद्वेग ही क्रोध है। इस दृष्टिसे क्रोध सीधा अहंकारके ही कारण उदय होता है। लोभ तो अहंके सीधे नातेमें है। अहंके लिये ही पदार्थोंका आकर्षण लोभ कहलाता है। आरम्भमें उपभोग करनेके लिये पदार्थोंसे गहरा लगाव लोभके रूपमें प्रकट होता है और फिर कभी-कभी लोभीके मनमें भोगके कारण पदार्थोंकी न्यूनता हो जानेका भय इतना प्रबल हो जाता है कि भोगभावना गौण हो जाती है, केवल संग्रहवृत्ति मात्र रह जाती है। परंतु सामने अथवा पीछे अहंका रूप ही लोभवृत्तिमें काम करता है। मोह तो व्यक्तियोंके लिये होता है। यह भी स्पष्ट अहंकी परितुष्टिके लिये ही होता है। जहाँ मोहका परिशुद्धीकरण अभ्याससे साधक कर लेता है, वहाँ यह शुद्ध प्रेमके रूपमें दिखायी देने लगता है। त्वंका अहंपर उत्सर्ग; त्वंका अहंके लिये प्रयोग शुद्ध 'मोह' है और अहंका त्वंके लिये उत्सर्ग और अहंका त्वंकी सेवामें नियोजित होना 'प्रेम' है। प्रेमके शुद्ध रूपमें अहंकारका पूर्ण लय हो जाता है।

कहनेका अभिप्राय यह है कि सारी कुवृत्तियोंकी जड़में अहंकार काम करता है। यदि अहंकारको साधक खदेड़ सके तो सारी कुवृत्तियोंका प्रासाद ढह जायगा। गोस्वामीजीने इस बातकी स्थान-स्थानपर व्यञ्जना की है कि भगवान् रामचन्द्रको अहंकार बिल्कुल असह्य है और जहाँ भी किसीको दण्ड दिया गया है, उसके मूलमें अपराधीका अहंकार रहा है। अहंकी स्थिति केवल भगवान्की स्थिति है। किसी भी कामका उनके सिवा कोई दूसरा कर्ता नहीं है।

'अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥'

(गीता ३।२७)

अहंकारवश मनुष्य समझता है कि किसी कार्यका

कर्ता वह है अर्थात् वह भी भगवान्‌की समकक्षताका दावा करता है । यह स्थिति साधकके लिये बहुत घातक है। अतएव गोस्वामीजीने स्थान-स्थानपर यह दर्शाया है कि अहंकारीको भगवान् दण्ड देते हैं और उसके अभिमानको चूर-चूर कर देते हैं—

सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ॥
(७।७३ (ख)।५)

संसृति मूल सूलप्रद नाना। सकल सोकदायक अभिमाना॥ ६॥
तातें करहिं कृपानिधि दूरी। सेवक पर ममता अति भूरी॥ ७॥
जिमि सिसु तन ब्रन होइ गोसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं॥ ८॥

जदपि प्रथम दुख पावइ रोवइ बाल अधीर।
ब्याधि नास हित जननी गनइ न सो सिसु पीर॥ ७४ (क)॥
तिमि रघुपति निज दास कर हरहिं मान हित लागि।
तुलसिदास ऐसे प्रभुहि कस न भजहु भ्रम त्यागि॥ ७४ (ख)॥

यह अहंकारका विनाश भगवान्‌की अमोघ अनुकम्पा है। इसीसे उनके दर्शन होते हैं। अहंके विलयमें ही परमके दर्शन होते हैं।

जब मैं था तब हरि नहीं; अब हरि हैं मैं नाहिं।

अहंकार कभी-कभी सद्वृत्तियोंके जागरणमें भी उदय हो जाता है। अच्छे कर्म, नियम-व्रतका परिपालन, तीर्थ, उपवास इत्यादि, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह इत्यादि नियमको पालन करनेवालेमें भी ये सद्वृत्तियाँ अपने महत्त्वका आभास देकर अहंकार उत्पन्न कर देती हैं। इस अहंकारको स्वयं अहंकारी कभी-कभी नहीं जान पाता। इस अहंकारीको भी दण्ड मिलता है। हमारे पुराणोंमें तथा अन्य प्राचीन आख्यानोंमें ऐसे उदाहरण भरे पड़े हैं, जहाँ पुण्यात्मा अहंकारीको दण्ड मिले हैं। सत्यवादी हरिश्चन्द्र, दानी बलि, ब्रह्मर्षि नारद इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

रामचरितमानसमें अहंकारीको दण्ड देनेकी पहली योजना नारदमुनिसे आरम्भ होती है। भगवान्‌के अवतार कब-कब और क्यों हुए? यह बतलाते समय शिवजीने पार्वतीजीसे कहा—

'नारद श्राप दीन्ह एक बारा। कलप एक तेहि लगि अवतारा॥'
(१।१२३।५)

पार्वतीजी यह सुनकर चकित हो गयीं; नारद-ऐसे भगवद्भक्त भगवान्‌को शाप दे सकते हैं।

'गिरिजा चकित भइ सुनि बानी। नारद बिष्नु भगत पुनि ग्यानी॥
कारन कवन श्राप मुनि दीन्हा। का अपराध रमापति कीन्हा॥'

वास्तवमें नारदजीको जिस स्त्रीको जीतनेका अहंकार हुआ था और जिस कामदेवपर विजय प्राप्त करनेके कारण उनमें मद उत्पन्न हो गया था, उसी स्त्रीजाति और उसी कामदेवसे उनकी पराजयकी योजना करके उनके अहंकारको चूर-चूर कर दिया गया। उन्होंने इस विजयका श्रेय भगवत्-कृपाको न देकर अपनेको दिया और अज्ञानसे विजयके कर्ता बन बैठे। इस प्रसङ्गमें भक्तवत्सल रामका निश्चय सुनिये। जब उन्होंने नारदके मुँहसे ही उनके अहंकार-का प्रसङ्ग सुन लिया तो क्या निर्णय करते हैं—

'करुनानिधि मन दीख बिचारी। उर अंकुरेउ गरब तरु भारी॥
बेगि सो मैं डारिहउँ उखारी। पन हमार सेवक हितकारी॥'
(१।१२८।४,५)

और इस निश्चयका ही परिणाम नारदको भोगना पड़ा।

दूसरा प्रसङ्ग परशुरामजीका है। उनके अहंकारकी सीमा नहीं दिखायी देती। अपने श्रीमुखसे वे आप कहते हैं—

'बाल ब्रह्मचारी अति कोही। बिस्व बिदित छत्रियकुल द्रोही॥
भुजबल भूमि भूप बिनु कीन्ही। बिपुल बार महिदेवन्ह दीन्ही॥'
(१।२७१।६-७)

इत्यादि।

इस अहंकारकी कैसी दुर्दशा लक्ष्मणजीद्वारा की गयी है, यह जनककी भरी सभा सुनती रही। स्वयंवरमें आये हुए सभी राजाओंके समक्ष परशुरामका पराभव हुआ—

'अनुचित बहुत कहेउँ अग्याता। छमहु छमा मंदिर दोउ भ्राता॥'

अहंकारका एक हलका-सा प्रसङ्ग जटायुके संदर्भमें भी आता है। जटायुको यह ध्यान था कि वह भगवान्‌की पत्नीको राक्षस रावणसे छुड़ाने जा रहा है। उसे यह अहंकार आ गया कि वह रावणको पराजित करके नष्ट कर देगा। वह एक पवित्र काम करने जा रहा है। वह रामका काम करने जा रहा है। यह सद्वृत्तिके उदयका अहंकार है। वह ललकारकर कहता है—

'सीते पुत्रि करसि जनि त्रासा। करिहउँ जातुधान कर नासा॥'
(३।२९।९)

इस अहंकारका परिणाम क्या होता है—

'काटेसि पंख परा खग धरनी। सुमिरि राम की अद्‌भुत करनी ॥'
(३ । २९ । २०)

अर्थात् 'खग' होनेके नाते आकाशमें उड़ते रहनेकी जो उसमें नैसर्गिक शक्ति थी, वह भी उसकी छिन गयी। उसके पंख रावणने काट दिये। अहंकार करनेवालेकी अपनी निजी शक्तिका भी क्षय हो जाया करता है। परंतु अभीतक जटायुकी समझमें नहीं आया कि वह भगवान् रामकी पत्नीको बचा रहा था, उसकी सहायता होनी चाहिये थी; परंतु उलटे उसके पंख कट गये। इसीलिये उसके इस प्रसङ्गको 'अद्भुत' कहा है। यह रहस्य उसे तब समझमें आता है जब भगवान् रामचन्द्रजी उससे कहते हैं—

'सीता हरन तात जनि कहहु पिता सन जाइ।
जौं मैं राम त कुल सहित कहिहि दसानन आइ ॥'
(३ । ३१)

अर्थात् पिता स्वर्गमें हैं। आपको भी वहीं भेज रहा हूँ। तभी तो उनसे भेंट होगी। भेजनेका कारण है—

'परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं ॥'
(३ । ३१ । ९)

परंतु जिसे आप शत्रु समझते हैं वह रावण भी अकेले नहीं, कुलसमेत वहीं आवेगा। तभी तो उसकी पिताजीकी बातें होंगी और सीताहरणकी वार्ता बतला सकेगा। मैं तो 'राम हूँ', शत्रु-मित्रमें समभावसे रमा हूँ। अतएव मेरी पत्नीका पक्ष लेकर अहंकारवश किसी विशेषताकी याचना करना भ्रम है। अहंकारको छोड़ना आवश्यक है।

इसके बाद रामायणमें बालिका प्रसङ्ग है। अहंकारका यह प्रसङ्ग बहुत ही स्पष्ट है। सुग्रीव जाकर अपने भाई बालिको लड़नेके लिये ललकारता है। बालिकी पत्नी तारा अपने पतिके चरण पकड़कर समझाने लगती है। वह कहती है—

'सुनु पति जिन्हहि मिलेउ सुग्रीवा। ते द्वौ बंधु अतुल बल सींवा ॥'
(४ । ६ । २८)

अब बालिका अहंकार देखिये—

'अस कहि चला महा अभिमानी। तृन समान सुग्रीवहि जानी ॥'
(४ । ७ । १)

इस अहंकारको भगवान्‌को तोड़ना है। अतएव जब वह बाणसे आहत होकर पृथ्वीपर गिरता है और इस प्रकार छिपकर हमला करनेका कारण रामसे पूछता है तो रामचन्द्रजीका पहला उत्तर सुनिये—

'अनुज बधू भगिनी सुत नारी। सुनु सठ कन्या सम ए चारी ॥
इन्हहि कुदृष्टि बिलोकइ जोई। ताहि बधे कछु पाप न होई ॥'
(४ । ८, ७ तथा ८)

बालि तो इस पापको पाप ही नहीं समझता था। अतएव यह आरोप उसकी समझमें नहीं आया। रामचन्द्रजी अपनी नैतिकता, अपने आचार अथवा अपनी संस्कृतिसे वानर-जातिके आचरणको कैसे तोल सकते थे और बालिको दोषी कह सकते थे। यहाँ तो रामचन्द्रजीने केवल आर्य-सभ्यताके उदात्त लक्षणोंकी चर्चा की है और उनकी अवहेलनासे आर्यजाति किस प्रकार दण्डनीय है, यह बतलाया है। अनार्य बालि 'अनुज बधू' को कुदृष्टिसे देखनेके कारण मारा नहीं जा सकता। और फिर अन्यत्र कहा है—

'जेहि अघ बध्यो ब्याध जिमि बाली। पुनि सुकंठ सोइ कीन्ह कुचाली ॥
सोइ करतूति बिभीषन केरी। सपनेहुँ सो न राम हियँ हेरी ॥'

अतएव मालूम होता है कि यह आरोप केवल मौखिक था। वास्तविक अपराध बालिको बादमें बतलाया गया—

'मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करेसि न काना ॥
मम भुज बल आश्रित तेहि जानी। मारा चहसि महा अभिमानी ॥'
(४ । ८, ९ तथा १०)

और बालि समझ भी गया—

'सुनहु राम स्वामी सन चल न चातुरी मोरि ॥
प्रभु अजहूँ मैं पापी अंतकाल गति तोरि ॥'
(४ । ९)

अहंकारके भागते ही भगवान् रामचन्द्रमें परिवर्तन हुआ। देखिये—

'सुनत राम अति कोमल बानी। बालि सीस परसेउ निज पानी ॥
अचल करौं तन राखहु प्राना।' (४ । ९ । १ तथा २)

बालि अब भी 'अनुज बधू' को 'कुदृष्टि' देखनेवाला बना है, परंतु भगवान् रामका व्यवहार ही दूसरी प्रकारका बदल जाता है। इससे स्पष्ट है कि सारा दोष

उसके अहंकारका था। अहंकारके लुप्त होते ही उसके प्रति व्यवहार बिल्कुल बदल जाता है।

राक्षस लोग तो अहंकारकी मूर्ति थे। उनको उसका दण्ड मिला। परंतु अन्तमें सबका ही अहंकार छूटा और सबको ही सद्गति मिली। गरुड़को अहंकार हुआ कि मैंने नागफाँससे रामचन्द्रजीको छुड़ाया। गरुड़ पक्षिराज हैं, उसे शिक्षाके लिये 'शकुनाधम' काकके पास जाना पड़ा और इस प्रकार उसका अहंकार नष्ट हुआ। स्वयं काकभुशुण्डिने अपने पूर्वजन्मकी कथा सुनाते हुए बतलाया कि उनके अभिमानको किस प्रकार नष्ट किया गया।

'मंदिर माझ भई नभ बानी। रे हतभाग्य अग्य अभिमानी॥'

(७। १०६ ख। १)

'जौं नहिं दंड करौं खल तोरा। भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा॥'

(७। १०६ ख। ४)

सारांश यह है कि गोस्वामी तुलसीदासकी साधना-पद्धतिमें अहंकार सबसे बड़ा और प्रमुख अवरोध है और उन्होंने अपने समस्त ग्रन्थोंमें अहंकारके दोष और उसके पराभवकी ही चर्चा की है।

* * *

मानस रोग

(लेखक—श्रीगोपालदत्तजी सारस्वत)

आधुनिक युगने जहाँ एक ओर सुख-भोगकी सामग्री प्रचुरतासे उत्पन्न की है, वहाँ दूसरी ओर विविध प्रकारके रोगोंकी भी सृष्टि की है। भोग और विलासके पदार्थोंकी वृद्धिके साथ-साथ मानसिक रोग भी बढ़ते जा रहे हैं। आज सम्पूर्ण सुख-सुविधाओंके बीच मानव दुखी, व्यग्र एवं अशान्त है।

ज्यों-ज्यों विज्ञानजनित भौतिक संस्कृतिने उन्नति की है, त्यों-त्यों मनुष्य भौतिक सुखोंकी ओर अधिकाधिक आकर्षित हुआ है। जिसके पास भौतिक सम्पत्तिका भण्डार जितना ही विशाल है, वह आजकल उतना ही सभ्य और श्रेष्ठ माना जाता है।

आधुनिक सभ्यताने वर्गवादको जन्म दिया है। आजका समाज वर्ग-भेद, जाति-भेद, भाषा-भेद, रंग-भेद, वर्ण-भेद, देश-भेद, नीति-भेदके कारण नाना भेदोंमें विभाजित हो गया है। इस भेद-वादने बुद्धिको संकुचित बनाकर व्यक्तित्वको खण्डित कर डाला है। प्रत्येक व्यक्तिमें स्वरतिकी भावना (Ego instinct) चरम सीमाको पहुँच गयी है। वह जो कुछ कार्य करता है, अपने क्षुद्र अहंके परितोषके लिये। इस अहंवादकी प्रवृत्तिने मानव-जीवनमें अनेक ग्रन्थियाँ डाल दी हैं, जिससे आजके मानवका चरित्र कुण्ठाग्रस्त हो गया है। उसके मानसमें अतृप्त इच्छाओंका ताण्डव नृत्य होता रहता है। आजके मानवका हृदय कुण्ठा, भय, द्वन्द्व, अतृप्ति, आतुरता, उद्वेग, विक्षोभ, नैराश्य आदि अनेक विकारोंका संग्रहालय बना हुआ है। सभ्यताके अभिमानी पाश्चात्त्य देशोंमें भी नागरिक जीवन अनौचित्य, अपराध, औद्धत्य आदि नाना विकृतियोंसे कलुषित हो रहा है। फलतः उन देशोंमें पागलोंकी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ रही है।

यों तो मानसिक रोग अनेक हैं; जिनकी संख्या करना कठिन है; किंतु काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, शोक, भय, चिन्ता, हिंसा, द्वेष, दम्भ, द्रोह, निन्दा, आलस्य, प्रमाद, संशय, दीनता, कायरता, मत्सरता आदि विशेषरूपसे दृष्टिगोचर हो रहे हैं। इन रोगोंसे सर्वत्र पीड़ित होकर मानव-समाज आज आर्तनाद कर रहा है। इनमेंसे एक-एक रोग ही जीवनका नाश करनेमें समर्थ है, जिसमें अनेक रोग हैं; उसके विषयमें तो कहना ही क्या!

पाश्चात्त्य देशोंमें मानस-शास्त्रियोंने मनके रोगोंका बहुत कुछ अध्ययन किया है। वहाँ मानसिक रोगोंके चिकित्सालय भी मिलते हैं, जिनमें उचित प्रकारसे रोगोंका निदान होता है; किंतु हमारे देशमें मानसिक रोगोंके उपचारकी वैसी सुविधा नहीं है।

भगवद्गीताके चौदहवें अध्यायमें गुणोंकी उत्पत्ति, स्वरूप, स्वभाव, कार्य, परिणाम एवं इनसे छूटनेके उपायोंपर विचार किया गया है और अन्तमें ज्ञानके मार्गसे सिद्धि प्राप्त करनेवाले त्रिगुणातीत पुरुषके लक्षणोंका वर्णन है। इसी संदर्भमें कहा गया है—

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥

(गीता १४। १७)

अर्थात् सत्त्वगुणसे ज्ञान, रजोगुणसे लोभ तथा तमोगुणसे प्रमाद, मोह एवं अज्ञानकी उत्पत्ति होती है ।

इसमें सत्त्वगुणको छोड़कर शेष गुणों (रजोगुण और तमोगुण) को सब दोषोंका कारण कहा गया है । इनमें भी तमोगुणजन्य प्रमाद, मोह और अज्ञान सबसे अधिक भयानक रोग हैं; क्योंकि सम्पूर्ण मानसिक रोगोंका मूल एकमात्र अज्ञान ही है ।

इसी प्रकार स्थितप्रज्ञके लक्षणोंके प्रसङ्गमें गीतामें कहा गया है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥

(गीता २ । ६२-६३)

विषयभोगोंका चिन्तन करनेसे उनमें आसक्ति हो जाती है और आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है और कामनामें बाधा पड़नेपर क्रोध उत्पन्न होता है । क्रोधसे अज्ञान उत्पन्न होता है, अज्ञानसे स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाती है, स्मृतिके भ्रमित होनेसे बुद्धिका नाश हो जाता है तथा बुद्धिके नाशसे पुरुष कल्याणसे पतित हो जाता है ।

यहाँ विषयासक्तिजनित विषयकामनाको सम्पूर्ण व्याधियोंका मूल कारण माना गया है । सब पापोंका मूल काम है— इस तथ्यको गीतामें अन्यत्र भी प्रकट किया गया है—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥

(गीता ३ । ३७)

अर्थात् रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही (प्रतिहत होकर) क्रोध हो जाता है । यह काम भोगोंसे कभी नहीं तृप्त होता । यह बड़ा पापी है । इसे ही शत्रु समझो ।

योगदर्शनमें—**'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ।'**

अविद्या, अहङ्कार, राग, द्वेष एवं मृत्युभयके नामसे जिन पाँच क्लेशोंका उल्लेख हुआ है, वे महारोग हैं । इनमें मूल कारण अविद्याको बतलाया गया है ।

गोस्वामी तुलसीदासने उत्तरकाण्डान्तर्गत मानस रोगोंके प्रकरणमें कहा है—

'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला । तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला ॥'

सम्पूर्ण रोगोंका मूल मोह है । उन व्याधियोंसे फिर और बहुत-से कष्ट उत्पन्न होते हैं ।

तात्पर्य यह है कि सभी प्रकारके मानसिक रोगोंका मूल कारण अविद्या, मोह और मोहजनित विषय-कामना बताया गया है ।

शारीरिक रोगोंकी अपेक्षा मानसिक रोग अधिक भयानक हैं । सूक्ष्म एवं अदृष्ट होनेके कारण उनसे आसानीसे छुटकारा नहीं मिलता । एक तो उनकी पहचान ही कठिन है । दूसरे यदि उनका ज्ञान भी हो जाय तो उनके दूर करनेका उपाय विदित नहीं । इसके लिये वैद्य भी नहीं मिलते । फलतः उनके वशीभूत होकर प्राणी विविध कष्टोंको भोगते हैं । अन्तमें कर्तव्यसे भ्रष्ट होकर पतनके गड्ढेमें जा गिरते हैं ।

नवीन मनोविज्ञानकी खोजोंसे ज्ञात हुआ है कि मानसिक रोगोंके फलस्वरूप शारीरिक व्याधियोंका आरम्भ होता है । रुग्ण शरीर रुग्ण मनोवृत्तिका परिणाम है । विषय-कामना, मानसिक आवेग, स्नायविक तनाव एवं प्रतिहिंसाकी भावनाने नाना प्रकारके शारीरिक रोगोंको उत्पन्न किया है । इसमें संदेह नहीं; भय, चिन्ता, शोक आदि मनोविकृतियोंके कारण अनेक बाह्य रोगोंका जन्म होने लगता है ।

बौद्ध धर्मने आन्तरिक दोषोंकी निवृत्तिके लिये अष्टाङ्गिक मार्गका प्रतिपादन किया है । सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प एवं सम्यक् कर्मान्त आदिके द्वारा ही जीवनका सुधार हो सकता है । कुशल कर्मोंके आचरणसे अकुशल कर्मोंका निवारण ही सम्यक् दृष्टि है । बौद्ध धर्मने चित्तके संस्कारके लिये शुभ कर्मोंके आचरणका अनुमोदन किया है ।

योगदर्शनने भावनाकी शुद्धिपर बल दिया है—

'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ।'

(योगदर्शन १ । ३३)

अर्थात् सुखी मनुष्योंमें मित्रताकी भावना करनेसे, दुःखी लोगोंपर दया करनेसे, पुण्यात्माओंको देखकर प्रसन्न होने और पापियोंकी उपेक्षा करनेसे मलोंका नाश होकर चित्त शुद्ध हो जाता है ।

चित्तके विकारोंको दूर करनेके लिये योगदर्शनकारने एक और भी उपाय बताया है—

'वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्।'

(योगदर्शन २ । ३३)

इसका अर्थ यह है कि विरोधी भावोंके बाधा डालनेपर उनके प्रतिपक्षी विचारोंका बार-बार चिन्तन करना चाहिये। अशुभ विचारोंको मनसे हटानेके लिये बार-बार शुभ विचारोंका चिन्तन करना चाहिये। निषिद्ध कार्योंके पूर्वापर परिणामको सोचकर उनसे विरत हो जाना चाहिये। उदाहरणके लिये—झूठ, चोरी अथवा व्यभिचारके विचार आनेपर उनसे उत्पन्न होनेवाले क्षणिक सुख और भविष्यमें उत्पन्न होनेवाले स्थायी दुःख तथा अयशका बार-बार विचार करना चाहिये। इसके अतिरिक्त झूठके स्थानपर सत्य, चोरीके स्थानपर दान और व्यभिचारके स्थानपर पवित्र मङ्गलमय भावोंका अनुसरण करते रहना चाहिये। इस प्रकार अशुद्ध संकल्पोंका उदय होनेपर उनके प्रति बार-बार दोष-दृष्टिसे विचार करके शुभ संकल्पोंके द्वारा उनका निवारण करना चाहिये।

गो० तुलसीदासजीने मानसिक रोगोंका वर्णन करके उनके नाशके लिये भक्तिको संजीवन मूल बताया है—

राम कृपा नासहिं सब रोगा। जौं एहि भाँति बनै संजोगा॥
सदगुर बैद बचन बिस्वासा। संजम यह न बिषय कै आसा॥
रघुपति भगति सजीवनि मूरी। अनूपान श्रद्धा मति पूरी॥
एहि बिधि भलेहिं सो रोग नसाहीं। नाहिं त जतन कोटि नहिं जाहीं॥

(उत्तरकाण्ड)

निष्कर्ष यह कि आन्तरिक रोगोंकी निवृत्तिके लिये अनेक उपायोंका विधान किया गया है। इनमेंसे जिसके लिये जो अनुकूल हो, उसे उसी उपायका निरन्तर अवलम्बन करते रहना चाहिये। परंतु इसके लिये सबसे अधिक आवश्यक है—सत्संकल्प। ज्यों-ज्यों शुभ संकल्पकी शक्तिका विकास होगा, आन्तरिक रोग आप-से-आप नष्ट होने लगेंगे। संकल्पकी शक्तिके दृढ़, बलिष्ठ तथा अमोघ होनेसे समस्त मनोविकृतियाँ अवश्य दूर होंगी तथा चित्त शिवसंकल्प हो जायगा। इति शम्।

जिन्हें दोष नहीं दीखते

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'आप निर्दोष हैं। आराध्यका आदेश पालन करनेके अतिरिक्त आपके पास और कोई मार्ग नहीं था।' आचार्य शुक्र आ गये थे आज तलातलमें। पृथ्वीके नीचे सात लोक हैं—अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल। इनमें तीसरा लोक सुतल भगवान् वामनने बलिको दे रक्खा है। उसके नीचे अधोलोकोंका मध्य लोक तलातल मायावियोंके परमाचार्य परम शैव असुर-विश्वकर्मा दानवेन्द्र मयका निवास है। सुतलमें तो बलिकी प्रतिकूलताका प्रयत्न करनेवाले असुरोंको दण्ड देने श्रीनारायणका सुदर्शन चक्र यदा-कदा चक्कर लगा लेता है और अधोलोक प्रायः सभी उसके प्रशासनमें हैं; किंतु तलातलमें वह कभी नहीं जाता। भगवान् त्रिपुरारिका लाड़ला भक्त मय—उसके आश्रितोंको चक्रसे कभी भय नहीं हुआ।

'दानवेन्द्र अत्यन्त दुखी हैं। पूरे सात दिनोंसे उन्होंने जल ग्रहण नहीं किया।' अनुचरोंको कोई मार्ग नहीं सूझा तो वे सुतल आचार्य शुक्रके चरणोंमें पहुँचे। आचार्य अपने मुख्य यजमान असुरेन्द्र बलिके समीप ही रहते हैं; किंतु दानव तथा राक्षसोंके भी वही कुलगुरु हैं। वही विपत्तिके सहायक तथा मार्गद्रष्टा हैं। दानवोंको लगा कि आचार्य ही कोई सुलझाव निकाल सकते हैं।

'भगवान् चन्द्रमौलिके श्रीचरणोंमें श्रीकृष्णचन्द्रकी अत्यन्त अनुरक्ति है।' आचार्य कह रहे थे—'और श्रीगङ्गाधर भी द्वारकानाथसे अत्यन्त स्नेह रखते हैं। उमाकान्तने जब यह विधान किया, उसे सम्पन्न करनेमें श्रीकृष्णके प्रति कहीं अश्रद्धा या अपकारका भाव नहीं आता और सत्य तो यह है कि शिवने एक क्रूर शलभको केवल दीपकके समीप भेजा। उस अप्रतिहत शौर्यका न सौभ कुछ बिगाड़ सकता था, न शाल्व। अब तो समाप्त भी हो चुका यह प्रसङ्ग। शाल्वको चक्रकी धाराने निर्वाण दे दिया।'

'भगवन्। मेरे आराध्य भगवान् चन्द्रमौलि और श्रीकृष्णचन्द्रमें कोई अन्तर है, यह कलुष इस जनके अन्तरमें कभी नहीं आया। वे करुणावरुणालय कृत्तिवास रहें या पीताम्बर-परिधान; विश्वके परमकारण-कारण वही हैं। लीलारूप उनके ये और रुचिवैचित्र्यके कारण उनका त्रिलोचन-रूप इस

जनको प्रिय है । वे दोष नहीं देखेंगे, जानता हूँ; क्योंकि उन्हें कभी किसीके दोष दीखते नहीं । वे उत्तमश्लोक हैं—उन्हें दोष देखना आता ही नहीं ।'

'मेरा अमरत्व उस दिन अग्निकी ज्वालामें भस्म ही हो चुका था । मैंने उस दिन प्रत्यक्ष देखा श्रीकृष्णका प्रभाव । महेन्द्रकी वर्षा और उनका वज्र व्यर्थ हो गया था । मैं इतना अज्ञ नहीं था कि इसे अर्जुनके शरोंका चमत्कार मान लेता ।' दो क्षण मयको अपना गद्गद स्वर सम्हालनेमें लगे और फिर वे बोले—'श्रीकृष्णकी इच्छाका प्रताप था वह और उस इच्छाने उस दिन अग्निको जो सामर्थ्य दी थी—मय उन लपटोंमें तृणके समान भस्म हो जाता; किंतु इस अधम सुर-शत्रु दानवकी कातर पुकार उन्होंने सुन ली । कोई आर्त पुकार उनके श्रीचरणोंसे निराश नहीं लौटी । मयका यह शरीर, इसका यह जीवन श्रीकृष्णका कृपाप्रसाद, और कोई सेवा उनकी यह नहीं कर सका ।'

'वे हैं ही कृपा-विग्रह । बलिपर जो अचिन्त्य अतर्क्य अनुग्रह उन्होंने किया ।' आचार्य शुक्रका कण्ठ भी भर आया—'उनकी अहैतुकी असीम कृपाका मुझसे अधिक प्रत्यक्ष साक्षी और कौन होगा । वे त्रिभुवननाथ मेरे यजमानके द्वारपर गदापाणि द्वारपाल बने खड़े हैं । उन्होंने मुझसे यहाँ आते समय कहा है—'मय बहुत भावप्रवण है । उसे आश्वस्त करो आचार्य !'

'वे दयाधाम तो कहेंगे ही ।' मय क्रन्दन कर उठे—'मेरे सचिव कहते हैं कि मैं द्वारका जाकर श्रीकृष्णचन्द्रसे क्षमा-याचना करूँ । अज्ञ हैं वे । उन उदार चक्रचूड़ामणिसे भी क्या क्षमा-याचना करनी पड़ती है ? किसीके अपराध उनके विशाल नेत्र देख भी पाते हैं कि क्षमा माँगी जाय ? मैं चला ही जाऊँ । तो वे कहेंगे—'मय ! तुम भी यह पागलपन करते हो ? मैं भला तुमसे रुष्ट हो सकता हूँ कभी ?'

'लेकिन यह कृतघ्न !' मयने मस्तक पटक दिया भूमिपर । उनकी अन्तर्वेदनाका अन्त नहीं था । 'भगवान् गङ्गाधरने सौभ-निर्माणकी आज्ञा इसी पापिष्ठको दी—इसीलिये तो कि इसके अन्तरमें कहीं आसुर-द्वेष छिपा था । कोई कल्मष कहीं चित्तमें न होता—जो अपने संकल्पमात्रसे त्रिभुवनकी सृष्टि कर सकते हैं, शाल्वको एक विमान नहीं प्रकट करके दे सकते थे ? जिन्होंने मुझे जीवनदान दिया उनके शत्रुको उन्हींके नगर एवं जनोंको उत्पीड़ित करनेके लिये इन करोंने सौभ-जैसा दुर्भेद्यप्राय विमान अर्पित किया । मुझे ही इस कर्मका भार आराध्यने क्यों दिया आचार्य ?'

आचार्य क्या उत्तर दें । भगवान् भूतनाथके संकल्प या कर्मका हेतु जाननेमें तो आचार्यकी सर्वज्ञता समर्थ नहीं है । उन लीलामयकी लीला; किंतु इस मयको आचार्य कैसे समझायें ? यह वे स्वयं नहीं समझ पा रहे हैं ।

'मैं कितने भी वर्ष उपोषित रहूँ, मर नहीं सकता । भगवान् शंकरने मुझे अमरत्व दिया है ।' दानवेन्द्र रुदन कर रहे थे—'खाण्डव-दाहमें अग्नि मुझे अंधा, पङ्गु बना दे सकता था । अर्जुनके बाण मयको लुञ्ज-पुञ्ज करके धर देते । मयका अमरत्व विडम्बना बनकर रह जाता और आज वह विडम्बना बन गया है कि मय देह त्यागकर अपनी कृतघ्नताका प्रायश्चित्त करनेमें भी समर्थ नहीं है । श्रीकृष्णकी दृष्टिमें मयका कोई अपराध नहीं । आप भी कह लें कि मय निर्दोष है; किंतु स्वयं अपनी दृष्टिमें मयने जो घोर कृतघ्नता की है शाल्वको द्वारकापर आक्रमणके लिये सौभ-विमान निर्मित करके देनेकी…।'

'किंतु स्वेच्छासे तो नहीं किया तुमने यह !' आचार्य फिर बोले । लेकिन अपने प्रयत्नकी निष्फलता वे समझ चुके थे । उनकी वाणीमें उत्साह नहीं था—'अपने मित्र शिशुपालके वधसे क्रोधाविष्ट शाल्व तप कर रहा था । पूरे वर्षभर मुट्ठीभर रेत प्रतिदिन खाकर वह आशुतोषकी आराधना करता रहा । भगवान् शिव उपेक्षा कर देते उसकी ? तुम तो निमित्त बने आराध्यके आदेशको पूर्ण करनेमें ।'

'मैं ही क्यों निमित्त बना ?' मयके इस प्रश्नका कोई उत्तर नहीं था । 'मैं इस कृतघ्नताके लिये क्यों चुना गया ?'

'यदि तुम एक बार द्वारकेशके दर्शन कर आते !' आचार्य भी अनुरोध ही कर सकते थे ।

'क्या मुख लेकर जाऊँगा वहाँ ?' मयका रुदन फूट पड़ा 'उनके सम्मुख कैसे जाऊँगा ? नहीं ! नहीं ! नहीं जा सकेगा मय उन दयाधामके सम्मुख ।'

× × ×

'चक्र ! तलातलमें यह सहस्रार चक्र मय !' आचार्यके मुखसे चीत्कार निकल गया । सहस्र-सहस्र सूर्य एक साथ उदय हुए हों, ऐसा महाप्रकाश । इस चक्रको

आचार्य कैसे भूल सकते हैं; किंतु तलातलमें तो यह आया नहीं करता और आज······।

'आओ ! इस अधमको अपनी महाज्वालासे परिपूत करो परमास्त्र !' मयने दोनों हाथ जोड़े—'आपके वेगको कोई वरदान, कोई प्रभाव प्रतिहत नहीं कर पाता ! मयके चित्तमें जो दारुण दावानल धधक उठा है, आपके तेजमें देह दग्ध हो तो शान्ति मिले उससे । आओ ! कृपा करके पधारो !'

'महाभागवतोंकी केवल वन्दना कर सकता है यह !' आचार्य और मय दोनों इस मेघ-गम्भीर स्वरसे चौंके । आचार्यका चिरपरिचित है यह स्वर और वही स्वर तो है जिसे मयने खाण्डव-दाहके समय सुना था । नेत्र खोलकर त्वरापूर्वक मय आचार्यके साथ उठ खड़े हुए ।

'देवेन्द्रको लगा कि इस समय दानवेन्द्र असावधान हैं तो तलातलके अपने शत्रुओंको वे कुछ कम कर लें ! स्मित-शोभितानन भगवान् वामन सम्मुख चले आ रहे थे—'किंतु अब ये स्वयं लज्जित हैं अपने कृत्यपर । इन्हें क्षमा कर दो दानवेन्द्र !'

अब आचार्य तथा मयने देखा कि भगवान् वामनके पीछे नतमस्तक वज्रपाणि इन्द्र संकुचित खड़े हैं । उन्हें कहाँ आशा थी कि उपेन्द्रके ही हाथों उन्हें यह पराभव प्राप्त होगा । किंतु ये उपेन्द्र—ये किसीके हैं तो केवल अपने जनोंके, अन्यथा इनकी गति कब किसकी समझमें आयी है ।

'मय प्रमत्त हो सकता है । वह प्रमाद कर सकता है' दानवेन्द्रने भगवान् वामनके चरणोंपर मस्तक रखनेके पश्चात् कहा—'किंतु सुतलके संरक्षककी सावधानीमें अन्तर पड़ेगा, अथवा मयपर उनका अनुग्रह कम है, यही समझकर देवराजने भूल की और जब मेरे स्वामीने उन्हें क्षमा कर दिया, तब मेरे तो ये सम्मान्य हैं !'

'आप इन्हें अनुमति दें अमरावती जानेकी ।' भगवान् वामनने ही कहा—'आपकी अनुमतिके बिना ये जायँ तो वह जो महाचक्र ऊपर घूम रहा है···।'

'ओह, तो आज देवेन्द्रको ज्ञात हुआ कि श्रीकृष्णका चक्र केवल देवताओंका संरक्षक नहीं है ।' मयके मुखपर हास्य आया—'आज देवाधिपको उसने बंदी किया है !'

'दानवेन्द्रके बंदी हैं ये ।' आचार्यने सूचित किया, यद्यपि अनावश्यक था यह ।

'आप सम्भवतः दानवका आतिथ्य स्वीकार नहीं करेंगे ।' मयने देवेन्द्रको अङ्कमाल देकर बिदा दी—'अतः प्रसन्नतापूर्वक प्रस्थान करें ।'

'मयके लिये द्वारका भी दूर नहीं है । वह दूर भी हो तो सुतल तो समीप ही है ।' भगवान् वामन इन्द्रके चले जानेपर मयके हाथको अपने हाथमें लेकर बड़े कोमल स्वरमें कह रहे थे—'दानवेन्द्र भूल जाते हैं कि उनकी व्यथा किसी औरको भी व्यथित करती है । कोई भक्तिपूत हृदय जब व्यथित होता है, श्रीकृष्णचन्द्रको द्वारकाकी सुकोमल रत्नशय्या सुख नहीं दे पाती ! अन्ततः कोई बात भी हो !'

'प्रभु ! दयामय !' मयने दोनों भुजाओंमें बाँध लिये वामनके चरणकमलद्वय और उनपर मस्तक रखकर उन्हें अपने अश्रुओंसे सिक्त करने लगे ।

'उठो वत्स !' भगवान्ने उठाकर हृदयसे लगाया मयको—'भगवान् शंकरको तुम जितने प्रिय हो, श्रीकृष्णका स्नेह उससे अधिक ही तुम्हें प्राप्त है ।'

◆

किंचित् भी दोष नहीं देखते

भरा हुआ दुस्तर दोषोंसे अगणित अवगुणका भण्डार ।
नहीं देखते तुम किञ्चित् भी, नहीं कभी देते दुत्कार ॥
जो अनन्य शरणागत होता, करते उसे तुरत स्वीकार ।
दे निज आश्रय, पापरहित कर उसे बनाते पुण्याधार ॥
तुमसे तुम्हीं एक हो अनुपम, करुणामृतके पारावार ।
मेरे जैसे महा अधमको किया सहजही अंगीकार ॥

दो युगोंमें

(रचयिता—डा० श्रीहरिवंशरायजी 'बच्चन')

एक युगने—
प्रथम रश्मिका स्वागत किया
और अपने मधुर-मधुर तपके
बलपर
उसे स्वर्ण-किरणमें बदल दिया ।

एक युगने—
सूर्यका स्वागत किया
पर जब वह मार्तण्ड हुआ,
प्रचण्ड हुआ, प्रखर हुआ,
तो उसने डरकर धूपका चश्मा लगा लिया
घबराकर अपनेको किसी कोनेमें छिपा लिया ।

मैं—
प्रथम रश्मिके आँगनमें खेला,
स्वर्ण-किरणोंमें नहाया,
पूत हुआ,
सूर्य निकला
तो मैंने काममें हाथ लगाया,
कण्ठसे राग उठाया ।
मार्तण्ड तपा
तो मैंने उसे सहा,
बहुत स्वेद बहा,
पर मैं लगा रहा ।
और अब मेरा दिन ढलता है,
मेरे-जैसोंके श्रमसे,
संगीतसे कहाँ कुछ बदलता है;
पर इतना भी क्या कम है
कि जब मेरा तन श्रान्त है,
मेरा मन शान्त है ।

पुस्तकालय
110339
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

प्रतीक्षा

(लेखक—श्रीहरिश्चन्द्रजी अष्ठाना ‘प्रेम)

जीवनकी संध्या हो गयी, पर तुम्हें देख नहीं पाया, रातकी छायाको दूरसे देखकर हृदयमें उथल-पुथल मची है। एक अशान्ति-सी घोर अशान्ति—हाय रात्रि आयेगी। क्या यों ही सो जाऊँगा? क्या प्रतीक्षा व्यर्थ होगी? ऐसा तो नहीं हो सकता। मैंने तुमपर विश्वास किया है। तुम्हारी बातपर विश्वास किया है। तुम निश्चय ही मिलोगे। शायद कोई अनन्य भक्त तुम्हें बाँधे बैठा है, शायद मेरा स्थान तुम्हारे लिये उपयुक्त रूपसे सजा नहीं है। तो मैं क्या करूँ? मुझे तो कुछ आता नहीं। मैं तो इतना ही जानता हूँ—मैं तुम्हारा हूँ तुम मेरे हो, बस। और यही तो तुमने अनेक वाणियोंमें सिखाया ही है।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

तुम्हें बड़े-बड़े पकवान और भोग तो नहीं चाहिये। बड़े-बड़े यज्ञ—बड़ी-बड़ी इमारत, बड़प्पनका आडम्बर नहीं चाहिये। चाहिये, एक निर्मल भक्तिपूर्ण हृदय, जो तुम्हारा आधार लिये हो—केवल तुम्हारा सहारा। तुम्हारे सिवा और है ही कौन? जिसका कोई सहारा ले? तुम्हारे ही तो अनेक रूप हैं। तुम्हीं तो उनमें प्राण डालते हो। फिर सब सहारे तुम्हारे ही तो हैं। मुझे बताओ, क्या कमी है? जो कमी हो उसे पूर्ण कर दो या पूर्ण करनेकी शक्ति-भक्ति और ज्ञान दे दो। मैंने तो सब समर्पण कर दिया। अरे, मेरा था ही क्या? सब तुम्हारा दिया ही तो था। बस, जब ‘मेरा’ उठा लिया तो तुम्हारा तुम्हारा हो गया। फिर आते क्यों नहीं? अब भी मेरे पास एक अनमोल रत्न है—भक्ति! तुम्हारे साक्षात्‌की असह्य प्रतीक्षा! यह तो आनेपर ही चरणोंकी भेंट होगी। यह सबको तो सौंपा नहीं जा सकता, इधर-उधर फेंका नहीं जा सकता, अज्ञातको दिया भी नहीं जा सकता। अनमोल है और फिर तुम्हें प्रिय है इसीसे।

बातें करते हो, छिपकर। सुनायी तो देता है, पर दिखायी नहीं देते। आवाज सुनता हूँ, आँखें फाड़-फाड़कर देखता हूँ; पर कुछ नहीं। क्या इन आँखोंसे नहीं देख सकता तो वे आँख दो जिनसे देख सकूँ। सभी जगह हो यह तो सत्य है; तुम्हारी वाणी है—सत्य ही है। वृक्षोंकी, अनेक जीवोंकी ओटमें ऐसा छिपकर घूमते हो जो किसीको दिखायी ही नहीं देते—पहचाने ही नहीं जाते। इतनी बड़ी चादर ओढ़ रक्खी है कि जिधरसे चादर हटाओ चादर ही हाथ आती है; पर तुम्हारा स्पर्श नहीं होता। कहते हो मैं तो स्वयं ही मिलनेको उत्सुक हूँ। फिर मिलते क्यों नहीं? तुमने आवाज दी, मैंने दरवाजा खोल दिया, फिर अब अंदर कोई और है भी नहीं। देखते तो हो रातकी अँधियाली करीब आती जा रही है। तुम्हीं सुला दोगे—दूरसे लोरी गाकर, मगर सामने नहीं आओगे? क्या खेल है यह। तब क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? ढूँढ-ढूँढकर थक गया; पर तुम्हारा ठिकाना नहीं मिला—तुमतक पहुँच नहीं पाया। तुमने कहा—

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

तो फिर कहींसे प्रकट क्यों नहीं हो जाते साक्षात्-स्वरूप? मुझे तुम्हारी विशाल योगमाया जाननेकी—देखनेकी अभिलाषा नहीं—दिव्य दृष्टि उसीके लिये आवश्यक है न? मैं तो सौम्य रूप देखना चाहता हूँ। अरे, जब अर्जुन-से वीर और भक्त उस रूपको सहन नहीं कर सके, तब मैं क्या चीज हूँ। मुझे दिखाओ—

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥

कहते हो—‘सादा रूप जान नहीं पाते—तेजोमय रूप सहन नहीं कर सकते’ तो वही रूप दिखाओ जो गोपियोंको दिखाते थे—गोप-सखाओंको दिखाते थे, छोटा-सा सलोना रूप जो कंसको दिखाया था—वह नहीं, प्रेमसे ओत-प्रोत आँखोंमें प्यारका अमृत छलकता हो, आग नहीं। हाथ उठाओ मुझे ऊपर उठानेको, गला दबानेको नहीं। ऐसा रूप तुमने कहा—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

आँखें गड़ा-गड़ाकर मूर्तियोंमें देखता हूँ, आदमियोंमें ढूँढ़ता हूँ, जानवरोंमें पहचाननेकी कोशिश करता हूँ। पर तुम लुके-छिपे फिरते हो—एक नकाब डालकर! एक ऐसा जामा पहनकर सामनेसे गुजर जाते हो कि पहचाने नहीं जाते। क्या लुत्फ आता है तुम्हें इसमें? चुपचाप चलते हो, सबको देखते हो, सबकी सुनते हो, चलनेकी आवाज भी आती है; पर दिखायी नहीं देते। तुम्हीं शायद आते हो; पर मैं जान नहीं पाता। तुम जनाते जो नहीं इसीसे। मैं तो आनेवाली रात्रिकी काली रोशनी देखकर घबरा उठा हूँ! क्या तुम यों ही भुला दोगे? ऐसा नहीं हो सकता। निश्चय है, धोखा नहीं हो सकता। हो ही नहीं सकता। तुम्हारी बात जो है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

और एक ही बार तो नहीं कहा—फिर वादा किया—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

जब यहाँतक कहते हो कि 'मेरेको प्राप्त होगा' तो दर्शन तो निश्चय ही दोगे। कहीं बातोंमें कुछ हेर-फेर तो नहीं? तुम्हें तुम्हारे भक्त छलिया भी कहते हैं—प्यारसे। नहीं, ऐसा नहीं—जो हृदयमें ही बैठा हो उसका तो दर्शन साक्षात् होना ही है। तुम्हारी बात है, अविश्वास क्यों हो?

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'

तभी तो आँखें बंदकर अन्तरमें घुसकर तुम्हें कितना ढूँढ़ता हूँ। तुम्हारा प्रकाश तो मिलता है; पर तुम नहीं मिलते। न जाने कौन-से कोनेमें छिप जाते हो। धीरेसे आवाज भी देते हो, झनकार-सी, जो नस-नसको झिंझोर देती है। सुनता हूँ, मुग्ध होता हूँ; पर तुम सामने नहीं आते। न तुम्हारे प्रकाशसे सान्त्वना है, न तुम्हारी आवाज़से तसल्ली! वर्षोंसे इन्हींसे बहला रहे हो। तुम नहीं मिले तो कुछ नहीं मिला। निराश हो जाता हूँ; पर मेरी निराशामें आशाका प्रकाश है। मैं जानता हूँ वह भी तुम्हारी ही देन है ताकि मैं इतना सफर तय करके लौट न जाऊँ; कहीं रास्ता भूल न जाऊँ। विश्वास रक्खो, मैं कहीं और जा ही नहीं सकता। तुम्हारी बात सुनी थी—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

तो मैंने सब तर्क कर दिया—मैंने तुम्हारी ओर मुख कर लिया तो सबकी ओर मेरी पीठ अपने-आप हो गयी। पाप-पुण्य, भुक्ति-मुक्ति सभीसे उदासीन हो गया। बस, एक लालसा रही तुम्हें जानकर सामने देखनेकी। यही अब जीवन है; यही विश्वास है। कहते हो, अभी गलेतक ही भक्ति-सरोवरमें डूबा हूँ। सत्य ही है; सिर नहीं डुबोया। तुम दिखते नहीं तो आँखें तुम्हें ही तुम्हारी इन अनेक वस्तुओंमें ढूँढ़ती हैं; सभी आवाज़ोंमें कान तुम्हारी ही आवाज सुनना चाहते हैं। तुम मिलोगे तो जिह्वा तुमसे बात करेगी—भक्तिके सागरमें इसे भी डुबो दूँ—यही चाहते हो? हाँ, तुमने कहा—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

क्या इसका यही तात्पर्य है? तो और भक्ति कहाँसे लाऊँ? जितना तुम देते हो उतना ही तो पाता हूँ। भक्ति तो संसारमें मिलती नहीं, तब कहाँसे लाऊँ? संसारको तो तुमने मुक्तिसे भर दिया और भक्तिको केवल रख लिया अपने पास। जिसे जितना चाहते हो, देते हो। फिर कहते हो 'कम है' 'काफी नहीं'—तो फिर पर्याप्त भक्ति ही दे दो। मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ—मुझे उतनी पूर्ण भक्ति दे दो; जिसे देखने तुम सामने आ खड़े होते हो। बात एक ही है—तुम आओगे तो भक्ति साथ लाओगे। भक्ति तो पूर्ण होगी ही। नहीं, ऐसा नहीं। कंसके सामने आये तो भक्ति नहीं लाये; उसे भक्ति नहीं दी। तो भक्ति तुम्हारी सजीव है, तुमसे आगे चलती है। भक्ति वह गङ्गा है जो सबको पावन करे, जिसका स्रोत तुम्हारे पास है। किधरसे बहे, यह रोक-थाम तुम्हारी है—तो प्रभो! भक्ति ही दो इतनी जो तुम्हें खींच लाये या जो मुझे तुमतक खींच ले जाये। संसार तो लुटा-लुटाकर देते हो—चाहे जिसको तिसको; और भक्ति इने-गिनेको परख-परखकर!

लो, अब तो शाम भी ढलती जा रही है। भयभीत अँधेरे आकाशमें धीरे-धीरे चुपके-चुपके अपना शासन

बढ़ाता जा रहा है; मुझे डर लगता है। कितना मूर्ख हूँ मैं रात्रिसे डरता हूँ—क्यों ? भूल गया था—

> अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
> यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

यह सब सच है, पर प्रभु ! अन्तकालकी कौन जाने—तुम्हारी लीला जो अपरम्पार है। तो इससे पहले कि, रात्रिकी अँधियाली मुझे अपने आँचलमें ढाँप ले; तुम आओ, निश्चय एक क्षणको ही, पर जताकर। ऐसा न हो कि मैं तुलसी चन्दन ही घिसता रहूँ और तुम चन्दन लगाकर चल भी दो। प्रभु ! मैं प्रतीक्षा करूँगा, प्रतीक्षा करता ही रहूँगा। शहनाई सुनी, आतिशबाजीकी रंगीनी देखी, बराती आते-जाते देखे, पर दूल्हा नहीं दीखा; न जाने कितनी लंबी बरात है यह तुम्हारी !

हमारा धर्म—धर्म-युद्ध

(लेखक--श्रीजित्तूरामजी मौर्य)

आज हमारे समक्ष एक जटिल समस्या उपस्थित हो गयी है, वह समस्या है—धर्म। धर्मके पीछे आपसमें बड़ी कशमकश है। धर्मको लेकर आये दिन बड़ी रस्साकशी हुआ करती है। मैदान किसके हाथ लगा, इसका निर्णय ही नहीं हो पाता। विश्व-मैदानमें रूस-अमरीका, चीन-जापान, अफ्रीका-आस्ट्रेलिया, जर्मनी-इंगलैंड, हिंदुस्तान-पाकिस्तान आदि सभी अपने-अपने धर्मकी जय और दूसरेके धर्मकी क्षय, ऐसी आवाज़ बुलन्द करते हैं। कुछ समझमें ही नहीं आता कि अन्ततोगत्वा इनका धर्म क्या है ? उपर्युक्त देशोंमें किसीको ले लें और उसके अन्तरमें प्रवेश करें तो देखेंगे कि उस पूरे देशका भी एक धर्म नहीं है, वहाँवाले अपना-अपना पृथक् धर्म बतलाते हैं। यही नहीं, यदि एक-एक व्यक्तिसे पूछा जाय तो वह अलग-अलग अपना धर्म बतलाता मिलेगा। इस प्रकार विश्वमें असंख्य व्यक्ति और अगणित धर्म मिलेंगे। अब जरा शान्तचित्तसे गहराईतक उतरकर सोचें कि क्या धर्म कोई ऐसी चीज़ है जो असंख्य होगा ? यदि धर्म अगण्य है, तो उसका नाश अवश्यम्भावी है, क्योंकि सृष्टिका नियम जो है कि वह अनेक या असंख्यका विनाश करती है और जो एक है—जैसे आत्मा (परमात्मा), उसका बाल भी बाँका नहीं कर सकती। सुनिये, हमारे ऋषि और महर्षियोंने हजारों-हजारों वर्षतक छान-बीन करनेके पश्चात् क्या कहा ? यही न ! 'इस संसारमें धन, जीवन, सभी कुछ अस्थायी है, इस नाशवान् संसारमें एक ही वस्तु स्थायी है और वह है धर्म।' तब तो यह निश्चित है कि धर्म अगणित नहीं, वह एक ही है। हाँ, उसके माननेवाले—उसपर चलनेवाले असंख्य हो सकते हैं, जो अपने-अपने रास्ते या मार्गसे उस लक्ष्य (धर्म) तक पहुँचनेका प्रयास करते हैं। वास्तवमें सम्पूर्ण विश्व या ब्रह्माण्डका धर्म तो एक ही हो सकता है और वह है—मनुष्यता—मानवधर्म।

मानवमात्रका तो केवल एक ही धर्म (मनुष्यता) है। इसके अलावा जितने भी धर्म हैं वे सभी इस मानवधर्मके ही अन्तर्गत आ जाते हैं या ऐसा मानें कि अन्यान्य धर्म मनुष्यता-धर्मरूपी वृक्षकी शाखाएँ हैं या अन्यान्य धर्म हमारे पंथ अथवा मार्ग हैं, जिनपर चलकर हम इस मानवधर्मतक पहुँचते हैं। दुनियाँके जितने भी उपधर्म अथवा पंथ या मार्ग हैं, सभी हमको अपने-अपने ढंगसे मनुष्यता ही सिखा रहे हैं; सभी मनुष्यताकी ओर उन्मुख हैं। इनमें कोई भी मनुष्यताके विपरीत बोलता है तो वह अधर्म अथवा कुपंथ या कुमार्ग–उपाधिसे अशोभित होता है।

जब कभी पैशाचिकता उठकर अपनी चरम सीमाको छूने लगती है और मनुष्यताको ठेस पहुँचती है, तब ब्रह्म अवतरित होता है। वह मनुष्यताको उठाकर दिव्य सिंहासनपर बिठाता है और पैशाचिकताको दबोचकर उसका विनाश करता है। दुनियाँके किसी भी धर्मके भगवान्, खुदा, पैगम्बर या गॉडको लीजिये—वह हमें सत्य, प्रेम, अहिंसा और करुणाका पाठ पढ़ाकर मनुष्यता ही सीखनेकी प्रेरणा देता है। तो मामला साफ हो जाता है कि ब्रह्म मनुष्यताके लिये ही अवतार लेता है। जब हमारा भगवान् या गॉड अथवा खुदा मनुष्यताके लिये अवतरित होता है, तो हम

मनुष्य होकर दूसरा धर्म अपनावें और आचरण मानव-धर्मके विरुद्ध करें, यह बड़ी अशोभनीय बात होगी।

रावणने अपने परिवारके साथ दानवीय वृत्तिका आतङ्क फैलाया तो मानवीय वृत्तिका लोप-सा होने लगा; इतना ही नहीं, वरं ऋषि-महर्षियोंके यहाँ भी त्राहि-त्राहि मच गयी। तब ब्रह्मको मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रके रूपमें अवतरित होना पड़ा। तुलसीकृत रामचरितमानसमें आद्योपान्त हम यही देखते हैं कि राजनीति, लोकनीति, अध्यात्म और विज्ञानके द्वारा राघवेन्द्रने हमको मानवताका ही पाठ सिखाया है और पैशाचिकताका विनाश किया है। इसीलिये राघवेन्द्रका 'मर्यादापुरुषोत्तम' नाम भी सार्थक है।

× × × ×

मनुष्यतामें सीमोल्लंघन अनुचित और असहनीय

मानससे हमें सीखनेको मिलता है कि मनुष्यको कभी किसी हालतमें भी सीमोल्लङ्घन नहीं करना चाहिये। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रने आन्तरिक-बाह्य जितने भी युद्ध किये, वे कहीं भी कभी भी सीमासे बाहर नहीं हुए। हाँ, जो-जो भी सीमा पार करके उनके समक्ष आये, उनको उन्होंने समुचित दण्ड दिया।

शूर्पणखा जंगल (पञ्चवटी) में आयी। वह विधवा और परम रूपवती थी। उसने कामान्ध हो रामसे विवाह करनेकी इच्छा प्रकट की। रामने सोचा कि वन तपस्वियोंकी भूमि है फिर विवाहकी अभिलाषासे यह (राक्षसी) यहाँ कैसे आयी? शूर्पणखाको सीमा पार करते देख रामने लक्ष्मणके द्वारा उसकी नाक कटवा दी। नाक काटकर सौन्दर्यविहीन कर देना—एक स्त्रीके लिये इससे बढ़कर विनाश और क्या हो सकता है? मानो रामने इस प्रकार रावणत्वको चुनौती दी और पहली चौकी कायम की वहाँ।

खर-दूषण दण्डकारण्यमें आये। उन्होंने भी सीमा पार कर दी; क्योंकि दण्डकारण्य तो मुनियों-ऋषियोंका आश्रम (केन्द्र) था। फिर राक्षसोंका वहाँ क्या काम? बस, रामने उन दोनोंका वध करके वहाँ दूसरी चौकी कायम की।

बालिको रामने इसलिये मारा कि बालि है तो बंदरकी जाति जो मनुष्यसे मिलता-जुलता है, इसलिये इसे मनुष्यका काम करना चाहिये, किंतु यह काम करता है राक्षसोंका-सा। दूसरी बात यह कि यहाँका राजा है तो रावणत्वकी सीमा यहाँतक हो गयी है। फिर इसके आगे मैं कैसे जाऊँ? तुरंत बालिको मारकर राज्य दे दिया सुग्रीवको और अपनी सीमा बना ली वहाँतक। यह तीसरी चौकी श्रीरामचन्द्रने तोड़ी।

सतीको पतिकी बातमें अविश्वास हुआ तो सीताका रूप धारणकर रामको जाँचने चली। रामने कहा, 'माँ! अविश्वासके दोषने तुम्हें पिताजीसे विलग कर दिया और तुम अकेली जंगलमें भटक रही हो।' यह रामका केवल संकेत (टोकना) था सतीके लिये। किंतु वास्तवमें सतीने सीमा पार की, जिसके परिणामस्वरूप उन्हें दुःख मिला, शंकरजीसे तिरस्कृत हुईं और दूसरा शरीर धारण करना पड़ा।

जगज्जननी जानकीने स्वर्णमृग देखकर रामसे कहा, 'नाथ! इसकी मृगछाला बहुत सुन्दर होगी, इसलिये शीघ्र जाइये और उसका वध करिये।' रामने कहा, 'प्रिये! अबतक मैं प्यारा था, मेरे सिवा संसारमें तुम्हें कुछ नहीं चाहिये था तभी तो अवधका वैभव त्यागकर तुमने मेरे साथ जंगल-पहाड़ोंपर भटकना और पदयात्राके कष्टको वरण किया। किंतु यहाँ तपश्चर्या-भूमिमें आकर तुम्हें सोनेसे मोह हो गया।' फिर रामने स्वयं मनमें निश्चय किया कि सीताने सीमा पार कर दी है तो इसे सोनेकी लंकामें ही बिठाऊँगा। वहीं मनचाहा सोना ले लेगी—और अपने चल दिये मृगके पीछे-पीछे।

सीताके आग्रहपर लक्ष्मण रामके पास पहुँच गये, तो रामने कहा, 'तुम आज्ञोल्लङ्घन कर सीमा पार कर आये हो, तो जाओ और देखो, सीता भी आज्ञोल्लङ्घन कर सीमा पार कर गयी होगी! वास्तवमें सीता भी लक्ष्मणद्वारा खींची सीमा पार कर गयीं। तब रावणने उनका हरण किया और आकाशमार्गसे लेकर चम्पत हो गया।

उधर रावण कम बुद्धिमान् नहीं था। उसने विचार किया कि जंगल जब तपस्वियोंकी सीमामें आता है तो मुझे भी तपस्वी बनकर ही जंगलमें प्रवेश करना चाहिये। फलतः साधु बनकर आया और सीताका हरण करनेमें सफल हुआ।

यहाँपर रावण पैशाचिक वृत्तिका होनेपर भी मनुष्यताकी सीमाका बहुत खयाल करता है। सीताका तबतक वह कुछ नहीं करता है जबतक कि सीता लक्ष्मणजी द्वारा खींची सीमा पार नहीं करती हैं। ज्यों ही सीताने सीमाको पार किया,

त्यों ही रावण, जो आया था तो साधु-वेषमें किंतु सीताको हरते समय अपने वास्तविक वेशको दिखाकर ही सीताको हाथ लगाया। केवल इसलिये कि साधु-परम्परामें उसके द्वारा कहीं कलंक न लग जाय! कितना पवित्र और ऊँचा ख्याल था उस नरपिशाचका—मनुष्यताकी सीमा और साधु-वेशके लिये! किंतु आज मनुष्य होकर जो मनुष्यताकी सीमा पार करते हैं और साधुवेशमें समाजको ठगते हैं, उनको क्या कहा जाय?

किंतु रामने कहा कि एक बार साधु बनकर फिर साधारण पुरुष बन जाना ही सीमाके बाहर हो जाना है। पर रावण तो साधुरूप धारण करनेके बाद साधारण पुरुष भी नहीं बन सका, वह एकदम निम्नतम श्रेणीका पिशाच बन गया। रावण परम सीमोल्लङ्घक है, इसलिये उसका वध करना आवश्यक ही नहीं, वरं अति अनिवार्य है! किंतु लंका मेरी सीमाके बाहर है फिर वहाँ कैसे जाऊँ? पहाड़ और जंगलोंको पार करके श्रीरामचन्द्र समुद्र-तटपर पहुँचे। उनसे मिलनेके लिये विभीषण आया। तब कुछ बंदरोंने कहा, 'महाराज! यह भी रावणका गुप्तचर है, कुछ भेद लेनेके लिये ही सीमा पार करके आया होगा!' रामने कहा, 'मित्रभावसे अथवा दास बनकर जो अपनी शरणमें आता है, वह अपनी ही सीमामें आता है, वह सीमोल्लङ्घक नहीं होता है। हर प्रकारसे, यहाँतक कि अपने प्राणको निछावर करके भी शरणागतकी रक्षा करना मनुष्य-धर्म हो जाता है और शत्रुभावसे जो सीमा पार करता है वह सीमोल्लङ्घक होता है। सीमोल्लङ्घकका वध करना परम धर्म होता है। यही मनुष्यताकी कसौटी है जिसे 'धर्म-युद्ध' कहा जाता है।

अब क्या था, रामने तुरंत विभीषणको समुद्रतटपर ही 'लंकेश' कह दिया। यानी उसे लंकाका राजा बना दिया। जब रामका दास 'लंकेश' हो गया, तब लंका भी रामकी सीमामें आ गयी। इस प्रकार रामने लंकामें प्रवेशका अधिकार अपने लिये सम्भव किया। ऐसा किये बिना वे स्वयं सीमोल्लङ्घनके दोषी बन जाते, फलतः रामने अपनी सेनाके साथ लंकामें प्रवेश किया और रावणका सर्वनाश किया।

इन बातोंसे स्पष्ट है कि मनुष्यताके सिद्धान्तोंमें सीमोल्लङ्घन अनुचित तो है ही, असहनीय भी है। और कोई भी जो मनुष्यताका प्रेमी होगा, उसे कभी गवारा नहीं कर सकता।

× × ×

धर्म-युद्धमें अहिंसा और विश्वशान्ति

'अहिंसा, अहिंसा' रट लगानेवाले भारतमें कम नहीं हैं; किंतु चीनके एकदम आक्रमण कर देनेसे कुछ लोग तर्क करने लगे हैं कि अब अहिंसासे कैसे काम चलेगा? तर्क करते हैं वह ठीक है; क्योंकि जब हममेंसे ऋषि जाने लगे तो लोगोंने पूछा, 'महाराज! अब आपलोग जा रहे हैं तो हमारे लिये कौन ऋषि होगा?' तो ऋषियोंने उत्तर दिया, 'तुम अपना ऋषि 'तर्क' को समझो, जबतक कि कोई ऋषि पैदा नहीं होता।' तबसे तर्क ही हमारे लिये ऋषि बन गया है। हम खूब तर्क करने लगे हैं। अब चीनसे लड़ाई लड़नेपर हिंसा तो होगी ही, फिर सर्वोदयवाले अहिंसाके द्वारा विश्व-शान्ति कैसे ला सकेंगे? शान्ति एक वृत्ति है तो अशान्ति दूसरी। पूरे विश्वमें ये दोनों वृत्तियाँ काम करती हैं। तो विश्व-शान्ति वृत्ति एक ओर और विश्व-अशान्ति वृत्ति दूसरी ओर। संसारकी रीति है—सत्साहित्यका लोप होने लगे तो असत्साहित्यका उदय होता है, सद्वृत्ति दबने लगे तो असद्वृत्ति उभड़ने लगती है, अहिंसा-वृत्ति निस्तेज होती है तो हिंसावृत्ति प्रचण्ड रूप धारण करती है। ठीक इसी प्रकार, यदि शान्तिवृत्ति अपना प्रयत्न ठप कर दे तो अशान्तिवृत्ति जोर पकड़ेगी और आजके विज्ञानका सहारा लेकर विश्वके लिये महाप्रलय भी समुपस्थित कर सकती है। इसीलिये, विश्व-कल्याणकी दृष्टिसे शान्तिवृत्तिको बढ़ावा देना हमारा परम धर्म हो जाता है। शान्तिवृत्ति दुनियाँमें बढ़ेगी, तभी अशान्तिवृत्ति दब सकती है। फिर शान्तिवृत्तिके द्वारा क्रमशः विश्व-शान्तिकी स्थापना कर सकना हमारे लिये सम्भव होगा।

कुछ लोग अहिंसाका गलत अर्थ करते हैं। धर्म-युद्धको भी ऐरा-गैरा युद्ध समझकर उसमें हिंसाका तर्क बिठाते हैं। ऐसा तर्क मेरी समझसे अहिंसा और धर्म-युद्ध दोनोंके प्रति अन्याय होगा और मनुष्यता रूठकर इस संसारसे बिदा माँग लेगी। तब अहिंसा कहाँ टिकेगी? अहिंसाका एकमात्र आधार मानवता है। चीनसे लड़ाई न लड़ी जाय

तब अहिंसा, और लड़ाई लड़ी गयी तो हिंसा होगी, ऐसा आप मानते हैं ? लड़ाई नहीं लड़ेंगे तो कायर बनकर निस्तेज हो जायँगे और चीनके डरसे आपको भारत छोड़कर लंका या समुद्रपार आस्ट्रेलियामें जा बसना होगा। यह आपकी अहिंसा नहीं, कायरताका प्रतीक होगा। अरे, अहिंसा तो वीरोंका शस्त्र है, कायरोंका नहीं। जो कायर होगा, भीरु होगा, वह अहिंसा क्या दिखलायेगा ? उसकी अहिंसा तो लाचारीकी अहिंसा होगी। अहिंसा तो वही दिखा सकता है जो शौर्यवान् होगा, धैर्यवान् होगा और सत्यवान् होगा। कोई सर्वशक्तिसम्पन्न है, फिर भी वह दुर्बलोंपर आक्रमण करने और सतानेके बजाय उनपर प्रेम बरसाता है—यह उसकी अहिंसावृत्ति है। और यदि कोई दुर्बलोंपर अकारण हमला करके उनपर विपत्तियोंका पहाड़ ढाहता है तो सर्वशक्तिसम्पन्न मनुष्य उन दुर्बलोंके रक्षार्थ आक्रमणकारीका प्रतीकार करता है। यह प्रतीकार भी उसकी अहिंसावृत्ति ही तो है, किंतु अकारण आक्रमणकारीके विरुद्ध चूँतक नहीं करता, यह उसकी अहिंसावृत्ति नहीं, वरं कायरता और भीरुताकी वृत्ति है।

श्रीरामचन्द्रजीको लीजिये। वे सर्वशक्तिसम्पन्न थे। उन्होंने पैशाचिकताको मिटानेके लिये हजारों राक्षसोंका वध कर डाला। तो क्या वे हिंसक थे ? नहीं, वे अहिंसक ही बने रहे। वाह रे अहिंसा ! धर्म-युद्धके लिये हजारों-हजारोंका वध कर दे, फिर भी तू मौजूद रहती है ! राक्षसोंने अपने अनाचारसे मनुष्यताको चुनौती दी तो श्रीरामचन्द्रजीने रावणत्वके विरुद्ध धर्म-युद्ध करके मनुष्यताको प्रस्थापित किया।

मनुष्यता है प्रकाश, तो पैशाचिकता है अन्धकार; प्रकाश स्तुत्य है, अन्धकार निन्द्य। रामचरितमानसमें इसी प्रकाश और अन्धकारका युद्ध हुआ है। परिणाममें प्रकाशकी विजय हुई और अन्धकारकी पराजय। यह बड़ी अनोखी घटना थी, जिसकी छाप मानव-हृदयपर अमिट है। इसलिये जहाँ अन्धकार है वहाँ प्रकाशका लाना श्रेयस्कर है; किंतु प्रकाशपर अन्धकारका आवरण डालनेका मिथ्या प्रयास निम्नतम है। जब कभी ऐसा निम्नतम और निन्द्य प्रयास आरम्भ हुआ कि ब्रह्म अविलम्ब शरीर धारण कर लेता है और मनुष्यतारूपी प्रकाशसे अन्तर-बाहर दोनों ओर युद्ध करके वह अन्धकार का विनाश करता है। यही 'धर्म-युद्ध' है, इसीके लिये ब्रह्म भगवान्‌का अवतार लेता है।

ब्रह्मने एक-दो करके अनेकों बार अवतार धारण किया और हर बार मानवमात्रको मनुष्यताको ही सिखाया। फिर भी हम मनुष्य नहीं बन सके तो इसमें ब्रह्मका क्या दोष ? हमारा ही दोष तो है। हममें ही कमी है, हम अपनी बुद्धि विकसित नहीं कर रहे हैं; हम बुद्धू हैं, तभी तो 'गुरु' ने एक ही पाठ (मनुष्यता) अनेक बार पढ़ाया इसपर भी वह पाठ (मनुष्यता) हम सीख नहीं सके। तो, हमारी कमीसे ब्रह्म फिर अवतरित होगा ? पर यह हमारे लिये महान् लज्जाकी बात होगी।

चीन जो बौद्धकालसे भारतका शिष्य रहा है, वह अब मनुष्यतासे कतराकर गुरुकी कुटिया ही उजाड़नेकी तैयारी कर रहा है। किंतु भारतने आजतक गुरु-दक्षिणामें भी चीनके किसी खण्डको लेनेकी माँग कभी नहीं रक्खी—यह गुरु-शिष्यके कितने महान् और पवित्र सम्बन्ध रखनेका श्रेय भारतको है, किंतु चीनकी पैंतरेबाजी तो देखिये। क्या यही गुरु-शिष्यकी मर्यादा है ? 'गुरु गुड़ रह गये और चेला चीनी हो गये।' यही सीमोल्लङ्घन ही तो मनुष्यताको असहनीय है। चीनियोंने मनुष्यताको छोड़ दी तो पैशाचिकताके सिवा दूसरी कौन-सी वस्तु है जो उनके पास फटकेगी ? इसलिये चीन-भारतका युद्ध मनुष्यता और पैशाचिकताकी लड़ाई है—धर्म-युद्ध है। इसी धर्म-युद्धकी कदर न करनेसे ही हमारा देश सदियोंतक गुलाम रहा। मनुष्यताका कर्तव्य होता है कि वह धर्म-युद्धका आवाहन करे। इस धर्म-युद्धका व्यापक महत्त्व सभी क्षेत्रोंमें है। इसलिये विश्वके समस्त मानव चाहे वे किसी भी धर्म, जाति, पंथ, मार्गके क्यों न हों—मनुष्यताके नाते पैशाचिकताके विरुद्ध खड़ा होना उनका कर्तव्य हो जाता है। किंतु इस दिशामें भारत ही सबसे अग्रणी रहा है, इसलिये भारतके हर नागरिकका परम कर्तव्य होता है कि धर्म-युद्धको सीना खोलकर स्वीकार करे।

मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रके समयका दण्डकारण्य तो अयोध्याके दक्षिणमें भरद्वाजके आश्रमसे लेकर अगस्त्य मुनिके आश्रमतक फैला था और दण्डकारण्यके दक्षिण बहुत दूर समुद्रपार थी लंकापुरी। दण्डकारण्यमें रहते थे—ऋषि-मुनि और भालू-बंदर। किंतु लंकापुरीमें वे, जिनकी

प्रवृत्ति मनुष्यसे बिल्कुल विपरीत थी, राक्षस रहते थे। यह बात बहुत पुरानी हो गयी। अब तो लंकामें मनुष्य रहने लगे और इधर दण्डकारण्यमें भी मनुष्योंकी बस्ती हो गयी। तो प्राचीन कालका दण्डकारण्य और लंका दोनों समाप्त हो गये। पहलेकी वृत्तियाँ अब वहाँ नहीं रह गयीं। अब वे वृत्तियाँ स्थानान्तरित होकर अयोध्याके बहुत दूर उत्तरमें हिमालय और चीनमें पहुँच गयीं। आज तपस्याकी भूमि हिमालय हो गया है, और उपद्रव-भूमि बन गया है—चीन देश। जहाँ तपस्वी रहें, वह दण्डकारण्य और जहाँ उपद्रवी रहें वही लंका हो जाता है।

हमारी सफलता और योग्यता तो इसीमें है कि हम ब्रह्मको नमस्कार करके कह दें कि 'महाराज! अबतक आपने हमारे लिये अनेकों बार अवतार धारण किये—एक ही पाठ (मनुष्यता) अनेकों बार पढ़ाये, उसे हमने अब सीख लिया है—हम मनुष्य बन गये हैं। आधुनिक दण्डकारण्यकी रक्षाके लिये आपका सिखाया हुआ धर्म-युद्ध करके आधुनिक लंकामें हम अब मनुष्य बसायेंगे। आप केवल आशीर्वाद दीजिये।' तभी ब्रह्म अपनी संतानकी सफलतापर प्रसन्न होगा।

पाण्डवोंको लीजिये। वे क्या अहिंसक नहीं थे ? वे पूरे-पूरे अहिंसक थे, इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं। ये तनिक भी युद्धवृत्ति नहीं रखते थे, किंतु कौरवोंद्वारा लड़ाई उनके सिरपर लादी गयी, तब श्रीकृष्णने पाण्डवोंको गीतापाठ सिखाकर धर्म-युद्ध करनेको प्रेरित किया। धर्म-युद्ध हुआ। सारे कौरव मारे गये। फिर भी पाण्डव अहिंसक-के-अहिंसक बने रहे। इसीलिये उनका यश-गान आजतक होता आ रहा है और जबतक इतिहास कायम है, उनके नामके साथ-साथ धर्म-युद्ध भी मानवको प्रेरणा देता रहेगा।

ठीक इसी प्रकार भारत युद्ध-वृत्ति नहीं रखता है; किंतु चीनने बिना घोषणाके आक्रमण करके भारतके मस्तकपर युद्ध ला पटका है। साथ-ही-साथ, अपनी सीमा पार करके वह भारतकी सीमामें दाखिल हो गया है। यह बात अलग है कि अभी चीनने यह जाहिर किया है कि शान्तिके हितमें हम अपना आक्रमण रोक ले रहे हैं। अब यह सोचनेकी बात है, कि उसने जो जाहिर किया है वह कहाँतक ठीक है। अक्सर तो विश्वास रखना योग्य होता है, किंतु आजतकका चीनका जो अनुभव भारतको मिला है इससे उसपर विश्वास रखना कठिन हो जाता है। इसी भाँति चीन मनुष्यताकी सीमा लाँघता रहता है। सीमोल्लङ्घन मानवता नहीं दानवता है। तो इस दानवताका प्रतीकार करनेके लिये धर्म-युद्ध करना भारतका परम धर्म हो जाता है। मानवताके रक्षार्थ ऐसे धर्म-युद्धमें विश्वका मानवसमाज भारतके साथ रहेगा, ऐसी मेरी शुभकामना है।

* * *

प्रभुका बल

जान गया जो भरी हुई हैं दुर्बलता मेरे अंदर।
दूर करूँगा उन्हें तुरत अब मैं प्रभुके बलको पाकर ॥
मैं प्रमाद आलस्य न आने दूँगा कभी तनिक अभिमान।
शक्ति-प्रेरणा-स्फूर्ति सभी सत्ता केवल प्रभुकी ही जान ॥
देखूँगा प्रत्येक कर्म शुभमें मैं प्रभुका ही बस, हाथ।
पल-पलमें नव बल पाऊँगा पाकर प्रभु-चरणोंका साथ ॥
करते हैं सब जगमें जैसे बाह्य वस्तुओंका नित दान।
मुक्त-हस्तसे वैसे ही मैं दूँगा प्रभुका प्रेम महान् ॥
पाकर प्रेम परम प्रभुका फिर होगा सारा जग पावन।
सबमें फिर निर्बाध चलेगी लीला उनकी मनभावन ॥

कैसा साहित्य चाहिये ?

(गोरखपुरमें अनुष्ठित 'निखिल-भारत-बंग-साहित्य-सम्मेलन'के ३८ वें अधिवेशनमें स्वागत-समितिके अध्यक्ष श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारके बंगला स्वागत-भाषणके कुछ भागका अनुवाद)

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥

समागत परम आदरणीय विद्वद्वृन्द, साहित्य-शिल्पी महानुभाव एवं साहित्यप्रेमीगण !

भगवान् बुद्धके आविर्भाव तथा निर्वाण—दोनों पावन स्थलियोंके अत्यन्त निकट स्थित, योगिराज बाबा गोरखनाथजीकी तपोभूमि गोरखपुर नगरमें अनुष्ठित 'निखिल-भारत-बंग-साहित्य-सम्मेलन'के इस ३८ वें अधिवेशनमें आप सभीका भक्तिविनम्र हृदयसे स्वागत और नमस्कार कर रहा हूँ ।

प्रथमत: वर्तमान काल ही कई दृष्टियोंसे अत्यन्त विकट है । द्वितीयत: आपलोगोंके उपयुक्त सेवा-सत्कार तथा संवर्धनाकी व्यवस्था करनेमें हमलोग कोई योग्यता नहीं रखते । सभी क्षेत्रोंमें हमारी त्रुटि, दैन्य तथा दोष ही वर्तमान हैं । आपलोग अपनी उदारताकी ओर देखकर हमारे दोषों और त्रुटियोंको क्षमा करेंगे तथा इस साहित्य-सम्मेलनकी परम सफलताके लिये प्रचेष्टा करेंगे; यही मेरी प्रार्थना है ।

हमारे कुछ हितैषी मित्रोंने परामर्श दिया था कि इस सम्मेलनको इस समय स्थगित कर दिया जाय; परंतु हमने आपलोगोंके उदारचरित तथा समयोचित श्रेष्ठ विचारशक्तिपर श्रद्धा होनेके कारण निर्णय किया कि यह सम्मेलन देशकी वर्तमानकालीन आवश्यकताके एक पूरकरूपमें ही सिद्ध होगा; अत: स्थगित करनेका कोई कारण नहीं दिखायी दिया ।

साम्यवादके कलङ्कस्वरूप, साम्राज्य-विस्तारवादी, निर्लज्ज तथा विश्वासघातक चीनके बर्बर आक्रमणसे भारत इस समय विपद्ग्रस्त है । जिसको भाई समझकर परम विश्वासके साथ तिब्बतमें पैर जमानेमें भारतने कोई भी बाधा न देकर, प्रकारान्तरसे सहायता की थी, मित्र-भावनासे जिसको संयुक्त राष्ट्रसंघमें प्रतिनिधित्व प्राप्त करानेके लिये भारतने प्रयत्न किया था; उसी चीनने आज भारतकी साधुता तथा शान्तिप्रियताका अनुचित लाभ उठाकर, भीषण आततायी दस्युकी भाँति प्रबल वेगसे भारतमें प्रवेशकर भारतकी पवित्र भूमिको रक्त-रञ्जित करनेमें जरा भी हिचक नहीं की । यह निश्चय ही उसकी आसुरिकताकी पराकाष्ठाका निदर्शन है; परंतु भारत भी एक सनातन सत्य सिद्धान्तका उपयुक्त रूपसे अनुसरण नहीं कर पाया था । शान्तिकी रक्षा तथा शान्तिविस्तारके लिये एक ऐसी प्रचण्ड शक्तिकी आवश्यकता है, जो परस्वापहरणमें प्रवृत्त, हिंसापरायण, दस्युभावापन्न, दुर्दान्त आसुरिक शक्तिको तुरंत प्रतिहत तथा विध्वंस करनेमें समर्थ हो । नहीं तो, शान्तिपरायण दुर्बलशक्ति दैव-मानवोंको प्रबल भौतिक बलसम्पन्न प्रमत्त आसुरिक शक्तिके द्वारा कम-से-कम एक बार तो हार खानी ही पड़ती है । वर्तमान क्षेत्रमें भी ऐसा ही हुआ है । चोर धर्मकी बात क्यों सुनने लगा ?

इसके अतिरिक्त एक बात और भी है । स्वतन्त्रता प्राप्त करनेके बाद हमलोग बिल्कुल निश्चिन्त होकर केवल विकास-योजनाके कार्यमें ही लग गये थे; परंतु दुर्भाग्यवश उसीके साथ हम द्रुतवेगसे अग्रसर होने लगे थे—असंयम, इन्द्रियचरितार्थता, विलास, असदाचार, भ्रष्टाचार एवं पारस्परिक द्वेष-कलहके अधर्ममय पतनकारी कुपथपर । इसीसे हमारे जीवनमें देशकी प्राचीन संस्कृति और स्वभावके विरुद्ध 'कर्तव्य' एवं 'त्याग'के पवित्र आसन

पर 'अधिकार' तथा 'अर्थ'ने अधिकार जमा लिया था। इसी कारण हमें सभी ओर 'अधिकार' तथा 'अर्थ'के लोभी आकुल तथा उन्मत्तप्राय लोगोंका प्रचण्ड ताण्डव दिखायी देने लगा था। इसीलिये मङ्गलमय भगवान्‌की सहज ही सृजन और संहार करनेवाली मङ्गलमयी शक्तिने कृपा कर इस कठोर आघातका आयोजन किया है। वह इस उद्देश्यसे कि भारत फिरसे संयमी, सदाचारी, त्यागसम्पन्न, कर्तव्य तथा धर्मपरायण बन जाय, हमारे तमसाच्छन्न वर्तमान जीवनमें पुनः एक चेतनामयी सात्त्विक जागृति आ जाय। इसीके फलस्वरूप आज भारतकी जीवन-सरितामें सर्वत्र अदम्य उत्साह, उल्लास, कर्तव्यपरता, निर्मल त्याग और पवित्र बलिदानकी एक बड़े जोरकी बाढ़ आ रही है और वह सब तरहके प्रमादके कूड़े-करकटके ढेरको दूरकर, प्रबल वेगसे सम्पूर्ण देशको एक ही लक्ष्यकी ओर बहाकर ले जा रही है; सबको एक बना दिया है। इसीसे आज भारतके सभी सम्प्रदाय, सभी दल, परस्पर-विरोधी सारे भाव-विचारोंको छोड़कर एक मन-बुद्धिसे, एक स्वरसे तथा एक निश्चयसे सब कुछ समर्पितकर, विश्वासघाती चीनको हमारी पवित्र भूमिसे तुरंत बाहर निकाल भगानेके कार्यमें जुट गये हैं। इसीसे उमड़ पड़ी हैं—करोड़ों-करोड़ों रुपयोंकी थैलियाँ और सोनेके ढेर-के-ढेर भारत-जननीके चरणकमलोंमें समर्पित होकर धन्य होनेके लिये; और दौड़ पड़े हैं लाखों-लाखों मौतके दीवाने जवान स्वेच्छासे, सहर्ष, हँसते-हँसते रणाङ्गणमें अपने प्राण विसर्जनकर माताका मुख उज्ज्वल करनेके लिये!

भारत सदा ही अपने सहज स्वभावसे सर्वभूतहितमें रत रहा है। भारतने कभी भी, किसीकी भी, अमङ्गल-कामना नहीं की है। अकल्याण और अमङ्गलकी कामना उसकी संस्कृतिके प्रतिकूल है। जो अखिल विश्व-ब्रह्माण्डमें सर्वत्र सर्वदा एक परमात्माको अनुस्यूत देखता है, वह किसीका किसी तरह भी, कैसे तो अहित सोच सकता है और कैसे अहित कर सकता है! हाँ, जिस प्रकार हमारे शरीरके प्रत्येक अङ्गमें समान आत्मभाव रहनेपर भी, तथा प्रत्येक अङ्गका सुख तथा हित इच्छित होनेपर भी यदि कोई एक अङ्ग सड़-गल जाय, मवादसे भर जाय और उसके कारण कहीं सारे शरीरमें जहर फैल जानेकी आशङ्का हो जाय, तो उस समय हम अपने शरीरके हितके लिये ही उस अङ्गका ऑपरेशन करवाकर उसे कटवा देनेकी चेष्टा करते हैं। वैसे ही, यदि समष्टि-शरीरका कोई अङ्ग सड़-गलकर विषमय हो जाता है तो समष्टिके हितके लिये उसका भी 'ऑपरेशन' करना आवश्यक हो जाता है। इसमें हिंसा नहीं है। विशुद्ध अहिंसाकी प्रतिष्ठाके लिये ही इस निर्दोष हिंसाका आश्रय ग्रहण किया जाता है। अहिंसा आचारधर्मका एक उत्कृष्ट गुण है, अभावात्मक निष्क्रियता नहीं। इसी कारण आत्मदृष्टिसे अपना अङ्ग होनेपर भी आज चीनका सफल ऑपरेशन आवश्यक हो गया है। यह हमारी सर्वभूत-हितकी कामनाके अन्तर्गत ही एक राग-द्वेषविहीन पवित्र कार्य है। श्रीभगवान्‌ने अर्जुनसे कहा था—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥

'अध्यात्मचित्तसे सारे कर्मोंको मुझमें निक्षेप करते रहो तथा आशा-ममता-कामज्वरको त्यागकर युद्ध करते रहो।'

श्रीभगवान्‌ने और भी कहा है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिः .... ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य .... ।

सर्वकालमें भगवान्‌का स्मरण रखते हुए मन-बुद्धिको भगवान्‌में समर्पित करके राग-द्वेषरहित भावसे

श्रीभगवान्‌की पूजाकी भावनासे युद्ध करनेपर वह युद्ध भी श्रीभगवान्‌की अर्चना बन जाता है ।

इस प्रकारकी श्रीभगवान्‌की पूजाके लिये अनुष्ठित आशा-ममता-कामना-शून्य युद्ध ही धर्मयुद्ध है ।

इसी भगवत्पूजारूप धर्मयुद्धमें सर्वतोभावसे समर्पित होकर, जिससे हमारे जीवन धन्य हो सकें,——इसी ओर लक्ष्य रखकर पवित्र और उद्‌बोधक साहित्यका सृजन करना वर्तमानमें समस्त साहित्यिक मनीषियोंका कर्तव्य है ।

सत्साहित्य ही वास्तविक 'साहित्य' पदवाच्य है । केवल भाषाको साहित्य नहीं कहा जाता । भाषा तो साहित्यका माध्यममात्र है । जो साहित्य विभिन्न क्षेत्रोंमें समान भावसे सभीको कल्याण-मार्गपर चलनेके लिये प्रेरणा देता है, सभीका कल्याण करता है, वही सत्साहित्य है । सत्साहित्य मानवको श्रेयकी ओर ले जानेके लिये विभिन्न रूपोंमें आत्मप्रकाश करता है तथा मानवको सदा श्रेयके मार्गपर ही आगे बढ़ाता रहता है । जिस समय देश किसी आभ्यन्तरिक अथवा बाह्य आसुरी शक्तिके द्वारा आक्रान्त होता है, उस समय उस आसुरी शक्तिके तत्काल विध्वंस-साधनसे ही सबका श्रेय सम्पन्न हो सकता है । इसी कारण आज भारतमें एक अभिनव जागृति आ गयी है और साहित्यिक मनीषियोंने ऐसे शौर्य-वीर्यपूर्ण साहित्यका सृजन आरम्भ कर दिया है, जिससे देशका सम्पूर्ण जन-समूह, आबाल-वृद्ध-वनिता सभी अपने-अपने क्षेत्रमें देशके निमित्त जीवन उत्सर्ग करनेके लिये अनुप्राणित हो रहे हैं । आज वे शान्तिकालके विलास-कलापूर्ण संगीतका त्याग करके परम शाश्वत सुधामयी शान्तिकी प्राप्तिके लिये प्रचण्ड रणभेरीका दिग्भेदी सुर बजाने लगे हैं ।

हमारा बंगला-साहित्य-जगत् चिरकालसे इस क्षेत्रमें यशस्वी है——यह सर्वजनविदित है । भारतमाताको परतन्त्रताकी कठिन शृङ्खलासे मुक्त करनेके लिये बंगला-साहित्यके आदरणीय मनीषी ऋषि बंकिमचन्द्रने उपन्यासके नामपर मुक्तिमन्त्रका शङ्ख फूँका था । उनके 'आनन्दमठ' में सन्तानदलद्वारा गाये गये विश्वविख्यात 'वन्देमातरम्' राष्ट्रगीतसे उस समय आसेतु हिमाचल—समग्र देश मतवाला हो उठा था——आत्मबलिदान देकर भारतमाताकी मुक्तिके लिये । मैं कभी नहीं भूल सकूँगा, विप्लवयुगके बंगला साप्ताहिक 'युगान्तर'की अग्निमयी भाषाको, जिसकी पंक्ति-पंक्तिमें, शब्द-शब्दमें भरी रहती थी——मरणोन्मादकी दुर्दमनीय अनुप्रेरणा ।

ज्वलुक ज्वलुक विप्लवबलि नगरे नगरे ।
भस्म होक् राक्षसेर स्वर्ण लंकापुरी ॥
(नगर-नगरमें जल उठे विप्लववह्नि विशाल ।
राक्षसकी लङ्कापुरी होय भस्म तत्काल ॥)

उस युगके बंगला-साहित्यने देशके महान् बलिदान-यज्ञमें जो अभूतपूर्व अनुदान दिया है, उसकी तुलना और कहीं नहीं मिलेगी ।

परंतु भावके साथ विवेकका योग बहुत आवश्यक है——जोशके साथ होशकी जरूरत है । साहित्यमें भी भाव-प्रेरणाके साथ-साथ विवेकपूर्ण प्रेरणा भी परमावश्यक है, जिससे भावकी उछालमें कोई ऐसा काम न बन जाय जो न करने योग्य हो । एक प्रकारका संयम बना रहे तथा प्रयोजनके अनुसार भावकी सरिता भी सदाके लिये बहती रहे । कालविशेषकी आवश्यकताका सामयिक उत्तेजनामय भाव स्वभावरूपमें परिणत नहीं हो जाना चाहिये । स्वभाव बन जानेपर फिर बाह्य शत्रुके अभावमें अपना घर ही समरक्षेत्र बन जा सकता है । आशा है, हमारे परम आदरणीय निपुण साहित्यिक महारथीवृन्द इस क्षेत्रमें विशेष रूपसे यशोलाभ करेंगे । × × × ×

भारतीय संस्कृतिमें पशु-पक्षियोंका महत्त्व

[पशु-पक्षियोंकी हत्या महान् अपराध और पाप]

(लेखक—श्रीइन्द्रलालजी शास्त्री, विद्यालंकार)

भारतवर्षकी जो सम्पत्तियाँ और निधियाँ हैं उनमें पशु-पक्षियोंका स्थान भी पर्याप्त ऊँचा है। इस सम्पत्तिकी दृष्टिसे भारत अन्य देशोंसे बहुत अधिक समृद्ध है। कहा जाता है कि सारे विश्वमें जितने पशु हैं, उनका चतुर्थांश केवल भारतमें है। भारतमें ५०० प्रकारके स्तनीन वर्गके पशु पाये जाते हैं। भारत अपनी इस सम्पत्ति या धरोहरकी रक्षा 'अहिंसा परमो धर्मः' इस सिद्धान्तके आधारपर ही करता रहा है।

वैदिक सनातन धर्ममें पशुओंकी पूजा भी होती आयी है। जैसे दशहरे (विजयादशमी) पर घोड़ेका पूजन, गोवर्धन-पर्वपर गाय-बैलका पूजन और नागपञ्चमी-पर्वपर साँपोंकी पूजा की जाती है। प्रातःकाल नकुल (नेवले) के दर्शनको महान् मङ्गलकारी और विजयादशमीके दिन नीलकण्ठके दर्शन कर लेना शुभ शकुन माना जाता है। शिवरात्रिपर नन्दी (बैल) की पूजा की जाती है।

प्रातःकाल हाथीके दर्शन करना महान् मङ्गलकारी माना जाता है। 'यशस्तिलकचम्पू' नामक जैन महाकाव्यमें हाथीको परमेष्ठी-पुत्र बतलाया गया है और जो प्रातःकाल उठते ही हाथीको देखता है और उसकी पूजा (सत्कार) करता है उसके सारे विघ्नोंका नष्ट हो जाना तक बतलाया गया है।

अथ प्रभाते परमेष्ठिनन्दनान्समर्च्य पश्यन् करिणो नरेन्द्रः।
दुःस्वप्नदुष्टग्रहनष्टचेष्टाः प्रयान्ति नाशं सहसा नृपस्य॥

(यशस्तिलकचम्पू, पूर्वखण्ड)

अपने-अपने गृहद्वारोंपर हाथी-घोड़ोंके चित्र लिखवाना इसी मङ्गलदायक सूचनाका स्रोत है।

सनातन वैदिक धर्ममें अनेक देवी-देवताओंके वाहन पशु-पक्षी ही बतलाये गये हैं। जैसे शीतलाका वाहन गर्दभ, गणेशजीका वाहन मूषिक, ब्रह्माजीका हंस, विष्णुका गरुड़, महादेवका बैल, कार्तिकेयका मयूर, इन्द्रका ऐरावत हाथी, लक्ष्मीका उलूक, महाकालीका सिंह। इस तथ्यसे भी पशु-पक्षियोंका महत्त्व भारतीय संस्कृतिमें पर्याप्त है।

राष्ट्रपिता कहे जानेवाले स्व० महात्मा गांधीजीका प्रिय पशु बकरी रहा है। वे बकरीका ही दूध पीते थे और उसे बहुत प्यार करते थे।

जैन-धर्ममें २४ तीर्थङ्कर माने जाते हैं। इन चौबीसमें आधेसे अधिक तीर्थङ्करोंकी पहचानके लिये चिह्न पशु-पक्षियोंके ही हैं। कहा जाता है कि जब तीर्थङ्कर भगवान् जन्म लेते हैं तब सौधर्म स्वर्गका इन्द्र स्वर्गसे उतर भगवान्‌के दर्शनके लिये आता है और सबसे पहले अङ्गुष्ठ देखता है। उस अङ्गुष्ठमें जो चिह्न उसे दीखता है वही चिह्न उन भगवान्‌का माना जाता है। जैसे ऋषभदेव भगवान्‌के बैलका, अजितनाथ तीर्थङ्कर भगवान्‌के हाथीका, सम्भवनाथ भगवान्‌के घोड़ेका, अभिनन्दननाथ स्वामीके बंदरका, कुंथुनाथ स्वामीके बकरेका, भगवान् महावीर स्वामीके सिंहका चिह्न है। और भी अनेक तीर्थङ्कर भगवान्‌के विविध पशु-पक्षियोंके चिह्न हैं। तीर्थङ्कर भगवान्‌का अभिषेक-पूजन करते समय इनका भी पूजन अभिषेकादि हो जाना स्वाभाविक है।

भगवान्‌को इन्द्र प्रसूतिस्नान करानेके लिये जब पांडुक-शिलापर ले जाता है तब ऐरावत हाथीपर ही बिठाकर ले जाता है। धरणेन्द्र (सर्प) ने भगवान् पार्श्वनाथपर आये हुए उपसर्गको भक्तिवश दूर किया था। भगवान् पार्श्वनाथके चिह्न भी सर्पका ही है। इस दृष्टिसे भी पशु-पक्षियोंका महत्त्व बहुत बढ़ जाता है। शान्तिनाथ स्वामीके हरिणका चिह्न है।

हरिषेणबृहत्कथाकोशमें लिखा है—

यतिराजवाजिकुञ्जरगोमयवरकुम्भवृषवरा ह्येते।
आगमने निष्क्रमणे सिद्धिकराः सर्वकार्येषु॥

गमन और प्रवेशके समय यदि सामने मुनि, राजा, घोड़ा, हाथी, गोबर, कलश और बैल दीख पड़ें अर्थात् ये सामने आ जायँ तो जिस कार्यके लिये गमनागमन किया जाय, वह सिद्ध हो जाता है।

इसी ग्रन्थमें और भी लिखा है—

श्रमणस्तुरगो राजा मयूरः कुञ्जरो वृषः।
प्रस्थाने वा प्रवेशे वा सर्वे सिद्धिकराः स्मृताः॥

श्रमण, (पवित्र 'साधु'), घोड़ा, राजा, मोर,

हाथी, बैल—ये प्रस्थान और प्रवेशमें सामने आ जायँ तो सिद्धिकारक होते हैं।

और भी—

ज्ञानी च योगी च तपोधनश्च
शूरोऽथ राजाथ सहस्रदश्च।
ध्यानी च मौनी च तथा शतायुः
संदर्शनादेव धुनन्ति पापम्॥

ज्ञानी—विद्वान्, योगी (साधु-संत), तपस्वी, शूरवीर, राजा, हजारोंका दान देनेवाला, ध्यानी, मौन धारण करनेवाला और सौ वर्षकी आयुवाला—इनके दर्शनमात्रसे ही पाप नष्ट हो जाते हैं अर्थात् ये सब दर्शनमात्रसे ही पापको नष्ट करनेवाले हैं।

इस शकुन अथवा निमित्तशास्त्रसे भी पशु-पक्षियोंका महत्त्व, उपयोगिता, मङ्गलकारण आदि सुस्पष्ट है। जब भारत-जैसे देशमें उसके सत्ताधारियोंद्वारा इन पशु-पक्षियोंको मार डालने—खाने, पकाने, पीड़ा देनेके समाचार सामने आते हैं, इनको मारने-काटनेके लिये बड़े-बड़े कसाईखानोंका संचालन और नव संस्थापन सुना जाता है तब महान् दुःख होता है और चिन्ता होती है कि भारत आगे होकर अपनी सम्पत्ति और निधिको नष्ट कर रहा है। वास्तवमें तथ्य यह है कि इन सत्ताधारियोंको भारतीय शास्त्रों, भारतीय संस्कृति, भारतीय महत्त्व, आध्यात्मिक रहस्य और परम धर्म अहिंसाका जरा-सा भी ज्ञान नहीं है। यदि है तो उसपर विश्वास नहीं है। यदि उक्त चीजोंका ज्ञान और उसपर विश्वास होता तो भारत सब देशोंका इस समय भी पूज्य और शिरोमणि निःसंदेह माना जाता।

यद्यपि भारतमें वास्तविक साधु-संतोंकी बहुत कमी है तो भी इस समय यत्र-तत्र पाये जाते हैं। उनके सद्भाव और प्रभावसे यदि भारतीय जनताकी उनपर आस्था रही तो चीन भारतका बाल भी बाँका न कर सकेगा। भारतीय जनताका कर्तव्य है कि पशु-पक्षियोंकी हिंसासे विरक्त होकर वास्तविक, सच्चे तपस्वी साधु-संतोंके प्रति भक्ति रखते हुए चीन शत्रुको खदेड़नेमें तन-मन-धनसे पूरा-पूरा सहयोग दें। सारे संकट पापोंके फल हैं। इसीलिये नये पापोंका समावेश न होने दें और पुराने पापोंकी निर्जरा की जाय। तभी यह संकट दूर होगा। सापराध चीन या अन्य शत्रुके मारनेमें हिंसा नहीं, परंतु निरपराध मूक हितैषी प्राणियोंको मारनेमें तो हिंसा ही है।

ज्यौतिषशास्त्रकी बारह राशियोंमें मेष (भेड़ा), वृष (बैल), कर्क (केकड़ा), सिंह, वृश्चिक (बिच्छू), मीन (मछली) और मकर (मगरमच्छ)—इन सात राशियों या नक्षत्रोंके नाम पशु-पक्षियों-जैसे और इनके आकार भी वैसे ही हैं। इन राशियोंके स्वामी ही ग्रह और दो उपग्रह (राहु-केतु) हैं। जब हम इनको मारेंगे तो इन ग्रहों-उपग्रहोंका नाराज हो जाना और दुःख देना स्पष्ट है। अतः किसी भी प्राणीको मारनेका संकल्पतक भी नहीं करना चाहिये।

भगवान् श्रीकृष्णको गोपाल कहते हैं। बहुत-से लोग अपने पुत्र-पुत्रियोंका नाम गोपाल रखते हैं। गौका अर्थ गाय ही नहीं है; किंतु चलने-फिरनेवाला प्राणी है। 'गच्छतीति गौः' जो चले-फिरे सो गौ। इस प्रकार गौ शब्दका अर्थ समस्त त्रसप्राणी है। किसी भी त्रसप्राणीको न सतानेवाला ही गोपाल हो सकता है। गोपाल नाम रखना भगवान् श्रीकृष्णका प्रतीक है। भगवान् श्रीकृष्ण प्राणीमात्रके रक्षक थे। श्रीकृष्ण, विष्णुके ही रूप हैं। विष्णुका अर्थ व्यापक है। आत्मा सभी प्राणियोंमें होनेसे व्यापक है। इसीलिये जो वैष्णव होते हैं वे किसीकी हिंसा नहीं करते, मांसाहारी भी नहीं होते।

और स्थानोंका तो पता नहीं। राजस्थानके अनेक प्रान्तोंमें मकानको अधिकतर 'गुवाडी' कहा जाता है। गुवाडीका शुद्धरूप 'गोवाडी' है। अर्थात् जहाँ गाय-भैंस, बकरी-बकरे, भेड़ आदि भी मनुष्योंके साथ ही रहते हों। वास्तवमें मानवजीवन पशुजीवनपर ही आधारित है।

कबूतरोंकी हवा लगनेसे क्षयरोग दूर हो जाता है। इसीलिये धार्मिक लोग कबूतरोंको चुग्गा डालते हैं; परंतु छोटे दिलवाले गर्हणीय स्वार्थी कहते हैं कि कबूतर आदि पक्षी हमारा अन्न खा जाते हैं, अतः इन्हें मार डालना देशहित है। जो कबूतर शान्ति और संवादका दूततक प्रसिद्ध है, क्षय रोगका नाशक है और भी उसके अनेक उपकार हैं, वह दो-चार अनाजके दानोंसे अपना पेट भर ले, उसका यह बदला कि उसे जानसे मार दिया जाय। कितनी कृतघ्नताकी पराकाष्ठा है!

भारतीय संस्कृतिमें प्राणीमात्रके संरक्षणकी यत्र-कुत्र आज भी प्रणाली प्रचलित है। जैसे चींटियोंको चून, मछलियोंको आटेकी गोलियाँ, गायोंको ग्रास एवं घास, चीलोंको पकौड़ा-बड़े, कुत्तोंको रोटी और तो क्या साँपोंतकको

दूध पिलाया जाता है। श्राद्धोंके दिनोंमें तो कौओंको भी खूब खिलाया जाता है।

राजा दिलीपके द्वारा नन्दिनी गायकी रक्षाके लिये सिंहके सामने अपना शरीर भी अर्पण करना प्रसिद्ध है। बाज (इन्द्रका रूप) जब मयूर (अग्निके रूप) को खाने आया तो राजा शिविने मयूरके प्राण बचाकर बाजको उसकी क्षुधापूर्तिके लिये अपना शरीराङ्ग काटकर देना उचित समझा।

शरीरकी सुन्दरताके लिये भी पक्षियोंके अङ्गोंकी उपमा दी जाती है। जैसे नारीके चञ्चल नेत्रोंको हरिणके नेत्रोंकी उपमा दी जाती है। कटिको सिंहकी कटिकी उपमा दी जाती है।

स्वामिभक्तिमें कुत्तेकी, चेष्टामें कौएकी, ध्यानमें बगुलेकी सदृशताको अच्छा समझा जाता है। कालिदासके अभिज्ञान-शाकुन्तल आदि ग्रन्थोंसे विदित होता है कि ऋषियोंके आश्रममें अभयारण्य भी होते थे। जहाँ किसी पशु-पक्षीको कोई नहीं मार सकता था और सारे पशु-पक्षी आनन्दसे रहते थे। यदि कोई पशु उन्मत्त या निर्दयी होकर अन्य पशु-पक्षियोंको सताता था तो उसे भी अभयारण्यसे बाहर लाकर ही दण्ड दिया जाता था, जिससे अन्य पशु-पक्षी भयभीत न हों।

उत्तरी भारतमें ईसासे ३०० वर्ष पहले सम्राट् अशोकका राज्य था। तब शिकार खेलनेका पूर्ण निषेध था। आजके राष्ट्रध्वजमें अशोकचक्रका प्रतीक चक्रचिह्न होते हुए भी राज्यस्तरपर कसाईखाने चलें और नये-नये खुलें, यह अशोकचक्रका अपमान या उसके साथ विश्वासघात भी है। उस समय राजाज्ञाके अनुसार वनोंमें स्वार्थवश या अज्ञानतासे या प्रमादवश आग लगाना दण्डनीय अपराध माना जाता था। आज तो हर कोई सिगरेट पीकर दियासलाई डाल देता है और आग लग जाती है। जिसका कारण हमारे कहने और दिखानेमें तो अहिंसा है; परंतु कृतिमें नहीं है।

मुगल बादशाह शिकारके बड़े शौकीन थे, तो भी उनके समयमें वन्य जीवोंका संरक्षण होता था; परंतु अब तो हाथी-तक मार दिये जाते हैं। अकबर सम्राट्ने हजारों चीते पाल रक्खे थे। अब शेर-चीते वनोंमें भी नहीं रहे। सबको मार दिया गया। भारतमें अंग्रेज आये, आबादी बढ़ने लगी। भूमिकी आवश्यकता हुई। वनोंको नगर बनानेके लिये पशुओंका विध्वंस होने लगा। कुछ लोग आखेट कर इनको मारने लगे। काठियावाड़में एक बड़े अंग्रेजने ८० शेर मारे—एक ही दिनमें १० मारे। इन शेरोंको मारनेके लिये सैकड़ों-हजारों पशु मारे गये; क्योंकि शेरको बुलानेके लिये बकरे-भैंसे आदि आनेके स्थानपर बाँध दिये जाते हैं ताकि उस लोभसे वे आ जायँ और पीछे उनको गोली मारी जा सके।

यदि हम इन वन्य जीवोंकी हत्याकी ओर भी नजर ओझल कर लें तो भी निरपराध पशु-पक्षियोंके मारने-काटनेकी तो कोई आवश्यकता ही नहीं है। ये प्राकृतिक खाद्य पदार्थ भी नहीं हैं। इनके रहनेसे खाद्य-उत्पादन बढ़ता है। पोषक तत्त्व घी, दूध, दही, मक्खन इन्हींसे मिलते हैं। हमारे पूर्वजोंने इनका महत्त्व समझा है; उनके ये सहयोगी रहे हैं—हमारे भी हैं।

सत्ताधीशोंका कहना है कि सारे विश्वमें जितने पशु हैं उनका चतुर्थांश केवल भारतमें हैं; इसलिये इनसे खाद्य-समस्या हल करनी चाहिये। प्रथम तो यह कहना ही असंदिग्ध प्रतीत नहीं होता कि भारतमें इतने पशु हैं। यदि हैं तो दूध एक रुपयेका एक सेर क्यों मिलता है? घी सात रुपये सेर क्यों है? जब दूध-घी आदिकी इतनी कमी है तो इनकी संख्याको मार-काटकर और भी घटाना मूर्खता और वज्रपाप तथा अपराध नहीं है तो और क्या है! यह भी कहा जाता है कि इस देशकी गाय औसतन २०० सेर, भैंस ६०० सेर प्रति वर्ष दूध देती है जब कि इंगलैंडकी गाय-भैंस उन्नीस गुना देती है। यह कहकर भी इनकी अनुपयोगिता बतलाकर जो दो सौ सेर और ६ सौ सेर देती हैं उनको भी सर्वथा नष्ट करनेके लिये उनकी हत्या की जाती है जब कि चारा, घास, खल आदिकी प्रचुरतासे उत्पादन बढ़ाना चाहिये। ध्येय बतलाया जाता है उत्पादन बढ़ाना और नष्ट कर देना उत्पादनके साधनको। क्या यह बुद्धिमानी है!

अब तो ऐसे कसाईखाने खोलनेकी योजना भी कार्याधीन है जिससे ६५०० पशु छः घंटेमें ही कट जायँ। चीनके साथ संघर्षका समय है। इसमें उत्पादन बढ़ानेकी तीव्रतम आवश्यकता है। परंतु कसाईखानोंसे तो घी, दूध, दही, अन्न आदि सभीका उत्पादन घटेगा। इसलिये भारत सरकारको चाहिये कि कसाईखानोंकी योजना बंद कर दे और जो कसाईखाने चल रहे हैं उनको भी शीघ्रातिशीघ्र बंद कर दे।

यह आशंका व्यर्थ है कि पशु बढ़ गये तो क्या खायँगे । पशु अन्न नहीं खाते, वे घास खाते हैं । अन्नसे पाँचगुना घास (कड़वी खाखला आदि) अन्नके साथ ही पैदा हो जाता है । अलग घास भी होता है । पाला परिश्रमके बिना ही पैदा हो जाता है । इसलिये पशुओंके लिये अलग खाद्यकी चिन्ता करना अनावश्यक है । पक्षी भी पत्ते आदि ही खा लेते हैं । इसपर भी इन्हें घटाना है तो इनमें परिवार-नियोजन किया जा सकता है । आवश्यकतासे अधिक नर-मादाओंको अलग रखनेकी व्यवस्था करना कठिन नहीं है । यह प्रश्न हो कि इससे तो काटकर खा लेना ही लाभकारी होगा—परंतु यह भौतिक लाभ मानवताका घातक है, भारतकी आध्यात्मिकताका विनाशक है और कृतघ्नताका द्योतक है । सारे जीवन किसीसे लाभ उठाकर अन्तमें उसे मार-काटकर खा जाना घोर कृतघ्नता, पाप और अपराध है और उन प्राणियोंका अप्रतीकार अभिशाप लेना है । जिन्हें पालना उन्हें ही खा जाना, कितना अनैतिक कार्य है !

जो पशु-पक्षी हमारे देव-देवताओंके वाहन हों, चिह्न हों, नर-नारियोंके शरीरके उपमान हों, नक्षत्ररूप हों, एवं और भी अनेक प्रकारसे सम्मान्य और विधेय हों, और तो क्या जिनकी पूजातक होती हो,—वे किसी भी दशामें वध्य नहीं हो सकते और न भक्ष्य ही हो सकते हैं । पशु-पक्षियोंकी जीवनरक्षाका धार्मिक दृष्टिसे ही उपयोग नहीं है किंतु खाद्य-समस्याकी दृष्टिसे भी बड़ा भारी उपयोग है । पशु-जीवन मानवजीवनका बड़ा भारी सहयोगी है । पशुजीवन कृषिद्वारा उत्पादनके सम्बन्धमें परावलम्बन और परतन्त्रताको मिटानेवाला है । प्रत्येक दृष्टिकोणसे पशु-पक्षियोंका संरक्षण ही उचित है । उनका वध और उसके लिये कसाईखाने चलाना असीम देश-द्रोह और भारतीय संस्कृति-द्रोह भी है ।

सर्वधर्मान्परित्यज्य

(लेखक—डॉ० कैलाशनाथजी मिश्र, एम्० डी०, एम्० बी० एच्० ए०)

मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा
निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे ।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो
मयाऽऽत्मभूयाय च कल्पते वै ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । २९ । ३४)

'मनुष्य जब सब कर्मोंको छोड़कर, मुझमें ही आत्माको अर्पण कर मेरी ही आराधनाकी इच्छासे सब कुछ करता है, तब वह जीवन्मुक्त होकर मेरे ही सदृश ऐश्वर्यका अधिकारी हो जाता है ।'

योगीश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी यह वाणी बार-बार पुकारकर कह रही है, 'तू अपना सब कुछ मुझे दे दे—मैं तुझे प्राप्त हूँगा ।' पर हाय रे मनुष्यका अपना अहं ! जो उस सर्वस्वके प्रति अपना समर्पण नहीं होने देता । उस परम प्रीतमको एक झलक भी इसके कारण देखनी नसीब नहीं । और तभी तो—

काबा बुतखाना कलेसा कौमेआ,
ढूँढ़ता दर-दर कि तेरा घर मिले ।
कुछ न पूछो कैसी नफ़रत हमसे है,
हम हैं जबतक वह हमें क्योंकर मिले ॥

कबीरने भी कहा—

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाँहि ।

और इसी प्रकार अंग्रेजीका एक कवि भी कहता है—

When shall I be free?
When "I" shall cease to be.

तो इस अहंके नाशसे या इसकी विस्मृतिसे ही क्या उस महानन्दकी प्राप्ति होगी ? उस परम प्रीतमका दर्शन होगा ? पर यह तो सांसारिक सम्बन्धोंमें भी स्पष्ट है । प्रेमकी प्रगाढ़ताके साथ-ही-साथ अपना स्वार्थ, अपना अहं, अपने व्यक्तित्व, कुल तथा सर्वस्वका अभिमान समाप्त होता जाता है और यह समाप्त होना जितना ही अधिक होगा, प्रेम उतना ही तीव्र होगा और उस प्रेमका आनन्द तो प्रेमी ही जान सकता है; क्योंकि **'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम् ।'** सम्भोगकी चरम स्थितिमें लज्जा, घृणा, क्रोध, अहं क्या शेष रह जाता है ? और जितने ही अंशोंमें ये भाव निःशेष होते हैं, वह क्षणिक आनन्द उसी

मात्रामें अधिक होता है या यों कहिये कि आनन्दकी उस चरम स्थितिमें ये भाव भी उसीके विपरीत समाप्तप्राय होते हैं। उस समय यही अहं घृणा, द्वेष इत्यादि दुर्भावनाओंका पुतला अपने प्रीतमसे एकाकार होनेकी परम चेष्टामें रत रहता है और फलस्वरूप आनन्दकी प्राप्ति होती है। यदि इस वासना-पूर्तिके समय ये भाव भी उपस्थित रहें तो क्या आनन्दकी प्राप्ति होगी? सम्भवतः नहीं। यह तो इन भावोंकी कमनीयता या उग्रतापर निर्भर है। इसका स्पष्ट अर्थ हुआ कि आनन्दकी प्राप्तिमें ये भाव बाधक हैं। वहाँ तो सम्पूर्ण समर्पण और विस्मृति होनी चाहिये; पर ये सांसारिक सुख हैं ही कितनी देरके लिये? कीट्सके सुनिये—

At a touch sweet pleasure melteth.
Like unto bubbles when rain pelteth.

—तो जब यह आनन्द क्षणिक है तब (और वास्तवमें जो है ही नहीं) इसमें आनन्द कहाँ? इसमें तो इसका नाश छिपा है और नाश होनेपर दुःखकी प्राप्ति भी अवश्यम्भावी है और इसीलिये एकमात्र उस विश्वात्माके प्रति प्रेम और समर्पणका अनन्त, अपार आनन्द ही श्रेष्ठ और वरणीय है।

इस जड-जगत्‌में यह काम कितना निष्कृष्ट समझा जाता है; पर यदि यही काम जडविषयक न होकर भगवद्विषयक हो जाय तो उत्कृष्ट हो जाता है। पर यह जड जगत् है क्या? तो कहते हैं यह भगवान्‌की छाया है जो मायाके दर्पणमें प्रतिफलित हुआ है। नन्ददासजीके शब्दोंमें—

'या जगकी परछाँह री माया दरपन बीच।'

अब अगर दर्पणमेंकी छायाको हम देखें तो स्पष्ट ही होगा कि यह उल्टी पड़ती है। जो चीज ऊपर होती है वह नीचे और जो नीचे होती है वह ऊपर दिखायी पड़ती है। यही स्थिति रतिकी भी हुई। जो जड-जगत्‌में सबसे नीचे है, वही भगवद्विषयक होनेपर सबसे ऊपर हो जाता है। तो यही प्रेम और समर्पण जब उस परम प्रीतमके लिये होता है तब वह स्वयं हमें ऊपर उठाकर अपने हृदयसे लगा लेता है। पर जरूरत है कि हम अपने सम्पूर्ण अस्तित्वको उसे समर्पित कर दें और कहें—

Come to my heart, and see your face in the tears of my eyes.

उसीके प्रेमातिरेकमें अपनी ख़ुदीको भुला दें—

बेख़ुदी छा जाय ऐसी दिलसे मिट जावे ख़ुदी,
उनके मिलनेका तरीक़ा अपने खो जानेमें है॥

और जब यह स्थिति हो जायगी, तब तो सर्वत्र ही उस प्रीतमके दर्शन होंगे।

दर दीवार दरपन भये, जित चितवौं तित तोंहि,
काँकर, पाथर, ठीकरी भये आरसी मोंहि॥

पर कहाँ! कहाँ है यह चरम स्थिति? हे मेरे परम प्रीतम! तू मुझे एक झलक तो दिखा जा। मैं पागल हो जाऊँ, विकल हो जाऊँ और तुझीमें भूलकर 'मीर' की तरह कह सकूँ—

दिखाई दिये यूँ कि बेख़ुद किया
हमें आपसे भी जुदा कर चले।

और कोई पूछे तो होशमें आकर कहूँ—

ओह शोख़ियोंसे जलवा दिखाकर तो चल दिये,
उनकी ख़बर को जाऊँ कि अपनी ख़बर को मैं॥

पर नहीं—यह झूठी आत्मप्रवञ्चना कैसी? हृदय तड़प उठता है। तेरे हृदयमें वह प्रेमकी ज्योति कैसे जलेगी? अरे मन! तू अपने अहं और स्वार्थमें खोया है। तूने अपना आपा खोया नहीं, अपना सम्पूर्ण प्रेम उसे दिया ही नहीं, तो उससे उसके प्यारकी अपेक्षा कैसे करता है? उसने तुझे क्या-क्या नहीं दिया, पर तू उसकी दी हुई वस्तुओंमें, इस सारे विश्वकी विविधताओंमें उलझकर उस देनेवालेको ही भूल बैठा। कितनी कृतघ्नता है। उस देनेवालेकी ओर आँख उठाकर देखता भी नहीं—वह तुझे कैसे मिलेगा? हाय! इस हृदयमें इतनी कृतघ्नता, इतना स्वार्थ, इतना अहंकार कहाँसे आ गया? प्रेमका स्रोत कैसे सूख गया? अरे मन!

हर कसे रा नूरे सिद्के इश्क ईं रह कै देहद,
सूरते ख़ुरशीद रा अंदर शबे तारी मज़ो।
बर सरे तूरे हवा तंबूरे शहवत मी ज़नी,
इश्के मरदे लंतरानी रा बदीं ख़ारी मज़ो॥

इस मार्गमें सत्यका प्रणय किसको प्राप्त हो सकता है? अँधेरी रातमें सूर्य कैसे प्राप्त हो सकता है? तू सांसारिक विषयोंमें पड़ा हुआ जीवनके झूठे सुखोंका आनन्द लूट रहा

है—फिर बता, इस बुरी भावनामें रहकर तू सच्चा प्रणयी किस प्रकार बन सकता है ?'

प्रेम ! प्रणय ! कैसा अनोखा शब्द है, कैसी अनुभूति है इसमें ! हाय रे हाय ! इसीलिये कविने लिखा—

प्रेम बराबर जोग नहिं, प्रेम बराबर ध्यान ।
प्रेम भगति बिन साधना, सब ही थोथा ज्ञान ॥

और कबीरने—

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय ।
ढाई अच्छर प्रेम के, पढ़ै सो पंडित होय ॥

आह ! इसीलिये तुलसीदासने रामसे वरदान माँगा—

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु ।
बसहु निरंतर तासु मन, सो राउर निज गेहु ॥

किस मनोदशामें तुलसीदासने यह कहा होगा । आँखें डबडबा आयी होंगी, हृदय प्रेममें गद्गद हो उठा होगा, हिचकियाँ बँधी होंगी, उनका सम्पूर्ण अस्तित्व चीत्कार कर उठा होगा—और तभी अन्तस्तलसे ये शब्द निकले होंगे । यह प्रेम क्या क्षणिक था ! क्षणिक है ! नहीं ...... नहीं ...... और तभी तो मैथिलकोकिल विद्यापतिने लिखा—

'सोइ परीति अनुराग बखानिबे तिल-तिल नूतुन होइ ।'

और उस रूपको निहारते, उस आनन्दमें डूबे उन्हें कभी तृप्ति ही नहीं हुई—प्यास बढ़ती ही गयी ।

जनम अवधि हम रूप निहारल नयन ना तिरपित भेल ।'

अरे अहंकारी ! सांसारिक प्रेम ही देखना है तो दीपक और पतंगेका प्रेम देख ! पतंगा लाख रुपयेके फानूसको नहीं देखता, वह नन्हें-से दीपकको ही अपना सर्वस्व देता है । यह आवाज़ सुन—

खाके परवाने से आती ये सदायें पैहम,
ज़िंदगी है दिले दिलवर में फ़नां हो जाना ।

मनुष्योंमें लैला और मजनूँका प्रेम देख ।

लैलाके वियोगकी तीव्रतामें जब मजनूँके शरीरपर दाने निकल आते हैं और फ़स्साद (रगोंसे खून निकालनेवाला) फ़सद खोलनेके लिये नश्तर निकालता है तो मजनूँ बड़ी मिन्नत अर्ज़ करता है । और कह उठता है—

लेक अज़ लैला वजूदे मन पुरस्त ।
ईं सदफ़ पुर अज़ सिफ़ाते आंदुरस्त ॥
तरसम ऐ फ़स्साद अगर फ़स्दम कुनी ।
नेश रा नागाह बर लैला ज़नी ॥
दानद आं अक़्ले कि ऊ दिल रौशनीस्त ।
दरमियाने लैलये मन फ़र्कनीस्त ॥
मन के अम लैला व लैला कीस्त मन ।
मायके रूहेम अंदर दो वदन ॥

'मेरे सम्पूर्ण शरीरमें लैला ही व्याप्त है और इस शरीररूपी सीपीमें उस मोतीकी झलक भरी है । इसलिये ऐ फ़स्साद ! मुझे डर है कि यदि तू मेरी फ़सद खोलेगा तो यह नश्तर कहीं लैलाके न लग जाय । जो रहस्यको समझता है वह जानता है कि मुझमें और लैलामें कुछ भी अन्तर नहीं है । 'मैं' लैला हूँ और लैला 'मैं' है । प्रत्यक्ष दो शरीर दिखायी देते हैं पर प्राण एक ही है ।'

देखा ! प्रेमका यह अनोखा रूप । इसीलिये—

शवज ख़ुद बरी गर्दतावर हक़ीक़त,
तुरा बे तो हासिल शवद इनहिदादे ।

'अपने-आपको भुला दे । वास्तविकतातक पहुँचनेका यही उपाय है, इसी उपायसे तू अपने आपेको भी दूर कर सकेगा ।'

उद्धव गोपियोंके लिये योगका ज्ञान लेकर जाते हैं पर उनकी प्रेमकी अनुभूति देखकर, उनके ज्ञानका गर्व चूर-चूर हो जाता है । गोपियाँ कहती हैं—

कौन ब्रह्म की जाति, ज्ञान कासों कह ऊधौ ।
हमरे सुंदर स्याम, प्रेम को मारग सूधौ ॥

और फिर भी जब उद्धव नहीं मानते तो विनती करती हैं—

ऊधो ! जोग-जोग हम नाहीं ।
जेहि लगि जोगी भरमत भूले, सो तो है अपु माँही ॥

उद्धव ज्ञानके अहंमें भूले हैं ! श्रीकृष्णका संदेशा देते हैं और मिलता है उन्हें उलाहना—

ऊधो ! तुम भये बौरे पाती लै के आये दौरे,
जोग कहाँ राखैं यहाँ रोम रोम स्याम है ।

उफ़ ! गोपियोंकी आकुलता, उनका वह प्रेम किसे प्राप्त है ? वह प्रेम, जिसे देखकर ऊधवका ज्ञान गल जाता है । वह चरम स्थिति किसे प्राप्त है जो उनकी तरह कह सके—

प्रान भये स्याममय, स्याम भये प्रानमय,
हियमें न जानि परै प्रान है कि स्याम है।

यह अवस्था गोपिकाओंकी ही थी ।

एक प्रेमके कारण ही एक परमात्मा नाना रूपोंमें व्यक्त हो गया है । अकेले रमण नहीं किया जा सकता, इसलिये परमात्मा या ब्रह्म स्वयं अपने भक्तोंमें मिल सकता है । श्रुति कहती है—

एकाकी न रमते । स द्वितीयमैच्छत् ॥

इसीलिये तो कहा है तू अपना सर्वस्व उसे दे दे। निवेदन कर—

वपुरादिषु योऽपि कोऽपि वा
गुणतोऽसानि यथातथाविधः ।
तदयं तव पादपद्मयो-
रहमद्यैव मया समर्पितः ॥

'हे भगवन् ! शरीर आदिमें स्थित मैं जो कोई भी हूँ अथवा गुणोंमें जैसा भी हूँ, वैसा ही मैं अपने-आपको आपके चरणकमलोंमें अर्पित करता हूँ !'

गीतामें अर्जुनसे भगवान् श्रीकृष्णने क्या कहा था, उसे तो याद कर—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
(१८ । ६६)

'सब धर्मोंको त्यागकर तू एक मेरी शरणमें ही आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू सोच मत कर ।'

और रामके रूपमें उनकी प्रतिज्ञा तो याद कर—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥
(वा० रा० युद्धकाण्ड १८ । ३३)

× × × ×

निर्जन प्रान्त । रात्रिका दस बजा होगा । मनको यही समझाते, अपने ही खयालोंमें डूबा चला जा रहा हूँ कि अचानक स्तब्ध रह जाता हूँ । पासके ही मन्दिरसे सिसकियाँ आती हैं । और आगे बढ़ता हूँ तो दीपकके मन्द प्रकाशमें जिस मूर्तिको जिस अवस्थामें देखता हूँ—अपना अहं गल जाता है, आँखें भर जाती हैं । जानता नहीं कौन है पर निवेदनके शब्द अन्तर-प्रदेशमें गूँज-गूँज उठते हैं । सुभद्राकुमारी चौहानकी वे पंक्तियाँ अन्तरको भेदकर प्रभुके चरणोंमें लोट-लोट पड़ती हैं—

पूजा और पुजावा प्रभुवर ! इसी पुजारिनको समझो ।
दान-दक्षिणा और निछावर, इसी भिखारिनको समझो ॥
मैं उन्मत्त प्रेमकी भूखी हृदय दिखाने आई हूँ ।
जो कुछ है बस यही पास है, इसे चढ़ाने आई हूँ ॥
चरणोंमें अर्पित है इसको, चाहो तो स्वीकार करो ।
यह तो वस्तु तुम्हारी ही है, ठुकरा दो या प्यार करो ॥

मेरी आँखें बरस पड़ती हैं, मस्तक झुक जाता है और अब—

ना बूद शुदम बूद नमी दानम चीस्त ।
अखगर शुदा अम दूद नमी दानम चीस्त ॥
दिल दादमो जाँ दादमो ईमाँ दादम,
सूदस्त दिगर सूद नमी दानम चीस्त ॥

'मैं' नाश हो गया, अब मुझे अपने पहले 'होने'की याद नहीं । मैं सुलगता हुआ कोयला बन गया; मुझे धुआँका ज्ञान नहीं । मैंने हृदय, प्राण और धर्म प्रभुकी भेंट कर दिये—और मुझको सबसे बड़ा लाभ यही मालूम हुआ; इसके अतिरिक्त मैं दूसरे लाभको जानता ही नहीं ।

पर क्या सचमुच 'मैं' नाश हो गया ? नहीं । यह अल्पज्ञता सर्वज्ञताके लिये; परिच्छिन्नता अपरिच्छिन्नताके लिये, किरण सूर्यके लिये और जलकी बूँदका समुद्रके लिये अर्पण-सा है । क्या बूँद सागरमें मिलकर नष्ट हो जाती है ? नहीं, वह तो सागरको और उसकी बड़ाईको ही सामने रखती है । इसी प्रकार अपना अहं जब परमेश्वरमें मिल जाता है तब वह अपने नाशसे प्रभुके अस्तित्वको ही दिखाता है ।

और जबसे यह सब देखा है, मनकी विचित्र अवस्था है । वही दृश्य, वही प्रीतम, वही प्रभु—

लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल ।
लाली देखन मैं चली मैं भी हो गयी लाल ॥

अपना सम्पूर्ण अहं, अपना सम्पूर्ण 'होने'का ज्ञान—सब कुछ कर्पूरकी तरह उड़ गया है और अब—

समा गये मेरी नज़रोंमें छा गये दिल पर,
ख़याल करता हूँ उनको कि देखता हूँ मैं ।
न कोई नाम है मेरा, न कोई सूरत है,
कुछ इस तरह हमातनदीद हो गया हूँ मैं ।
न कामयाब हुआ और न रह गया महरूम,
बड़ा गज़ब है कि मंज़िल पै खो गया हूँ मैं ॥

और अब उस प्रीतम बिना कहाँ चैन, कहाँ सुख । किसीने ठीक ही कहा है—

प्रीतम नहीं बजार में वहै बजार उजार,
प्रीतम बसै उजार में वहै उजार बजार ॥

पर अब कहाँ उजार और कहाँ बजार । अब तो—

'सब घट मेरा साइयाँ' ॥

पानीकी बूँद जबतक अलग थी, उसकी अपनी सत्ता थी । वह समझती थी कि मेरी अपनी हस्ती है, पर जब उसने सागरको देखा, तो देखा कि उसका अपना सब कुछ सिवा जलके और कुछ नहीं । जलके सिवा अलग उसका 'मैं' कुछ नहीं । यही स्थिति जीव और ब्रह्मकी है । अब अपना अहं, अपना 'मैं' कहाँ रह गया ? अब तो जो है सो वही है । समस्त संसार नाम-रूपमें रहता है, नाम-रूप देश-कालमें और देश-काल मनमें रहते हैं । इसलिये जब अपना अहं और मन ही नहीं रहा तो देश-काल कहाँ रहा और जब देश-काल नहीं तो नाम-रूप कैसा ? और जब नाम-रूप नहीं तो अपना-पराया कहाँ, अपने-परायेके अभावमें राग-द्वेष कहाँ ? और जब राग-द्वेष समाप्त हो गये तो पाप-पुण्य भी खतम और जब पाप-पुण्य ही नहीं तो कैसा सुख और कैसा दुःख अर्थात् बन्धन और उसका भय भी निःशेष हो गया । यही है प्रेम और समर्पणकी चरम और परम गति । कहा है—

चिन्तां कुर्यान्न रक्षायै विक्रीतस्य यथा पशोः ।
तथार्पयन् हरौ देहं विरमेदस्य रक्षणात् ॥

'बेचे हुए पशुकी रक्षाके लिये जैसे चिन्ता नहीं की जाती वैसे ही श्रीहरिके चरणोंमें देहको समर्पित करनेवाला पुरुष उस देहकी रक्षासे निवृत्त हो जाय ।' धन्य हो प्रभु ! धन्य है तुम्हारी प्रेमलीला ।

मुबारक ज़िंदगी उनकी है कद्रे वक्त उनको है,
कि रटते हैं तुम्हारा नाम तुमको याद करते हैं ॥

॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

* * *

पता नहीं

नहीं कामका रहा, छोड़ दो इसकी आशा ।
रक्खोगे, तो तुम्हें मिलेगी नित्य निराशा ॥
भस्म हो गयी बुद्धि जागतिक जल-भुन कर सब ।
रही न कोई इसमें भोग-विचार-भूमि अब ॥
क्या करना, क्या नहीं, सोच सकता न तनिक यह ।
सदा सहज ही उदासीन रहता, सब कुछ सह ॥
होता, जो होना है, उसके ही करनेसे ।
नहीं इसे कोई मतलब जीने-मरनेसे ॥
नहीं रहा अब किसी द्वन्द्वसे भी परिचय है ।
हुआ करे कुछ भी, यह तो अब नित निर्भय है ॥
लिखता-लिखवाता वही, करता-करवाता वही ।
पता नहीं क्या गलत है, पता नहीं क्या है सही ॥

जीवनमें सफलताकी कुंजी

(लेखक—प्रो० श्रीहंसराजजी अग्रवाल, एम्० ए०, पी० ई० एस्०)

आजकल यह प्रथा प्रचलित है कि विद्यार्थी जब बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण कर लेता है तब उसे उपाधि प्रदान की जाती है। उपाधि-प्रदानके समारोहपर दीक्षान्त भाषणके लिये किसी महान् शिक्षा-विशारदको आमन्त्रित किया जाता है और वह महापुरुष दीक्षान्त-उपदेशमें विद्यार्थियोंकी जीवन-यात्राके लिये कोई-न-कोई उपदेश दिया करता है। ऐसी ही प्रणाली प्राचीनकालमें भी प्रचलित थी। उपनिषद्-कालमें विद्याप्राप्तिके अनन्तर शिष्य गुरुसे अन्तिम उपदेशके लिये जब प्रार्थना करता है तब गुरु जो शिक्षा उसे प्रदान करता है, उसमें एक वाक्य इस प्रकार है—**'स्वाध्यायान्मा प्रमद'** अर्थात् 'स्वाध्यायसे कभी प्रमाद मत करना।'

अनेक युवक-युवतियाँ इस पंक्तिको पढ़कर यह तात्पर्य लगा लेते हैं कि किसी भी विषयकी पुस्तकोंका अध्ययन स्वाध्याय है। यहाँतक कि विदेशी भाषाओंके अश्लील उपन्यासोंके अध्ययनको भी वे स्वाध्याय समझ लेते हैं। इस प्रकार करनेपर जीवनमें सफलताके स्थानपर जब असफलता मिलती है, तब वे इस उपदेशको निरर्थक समझ लेते हैं। प्रायः यह सबके अनुभवकी बात है कि विदेशी भाषाओंके सौन्दर्य-वर्णनको पढ़कर मन चञ्चल हो जाता है, अतः इसे हम स्वाध्याय कभी नहीं कह सकते। वाल्मीकि और तुलसीने भी स्थान-स्थानपर सौन्दर्य-वर्णन किया है; पर उसे पढ़कर हम इस परिणामपर पहुँचते हैं कि रामसे बढ़कर सुन्दर संसारमें कोई पुरुष नहीं और सीतासे अधिक संसारमें कोई सुन्दरी नहीं। परंतु इससे हमारा मन चञ्चल नहीं होता। हमारी भावना सीताके प्रति जगदम्बा और जगज्जननीकी होती है। हमारा मन श्रद्धा और भक्तिसे उनके चरणोंमें झुक जाता है—यह स्वाध्याय है।

स्वाध्याय जीवनमें सफलताकी अमोघ कुंजी है। 'स्व'का तात्पर्य है 'अपना-आप' अर्थात् आत्मा। आत्माके अध्ययनसे अथवा आत्मनिरीक्षणसे या आत्मज्ञानसे जो साहित्य सम्बन्ध रखता है, उसका पढ़ना, उसपर मनन करना तथा उसपर आचरण करना ही स्वाध्याय है। जीवनमें सफलताके लिये यह नितान्त आवश्यक है। जिस प्रकार हमारे शरीरको बलवान् बनानेके लिये भोजनकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार मन और बुद्धिको प्रखर करनेके लिये तथा आत्माको सबल बनानेके लिये स्वाध्यायकी परम आवश्यकता है। शास्त्र बतलाता है और अनुभवसे हम नित्यप्रति देखते हैं कि शरीरकी अपेक्षा मन सूक्ष्म है, मनकी अपेक्षा बुद्धि और बुद्धिकी अपेक्षा आत्मा। जो वस्तु जितनी अधिक सूक्ष्म होती है, उतनी ही उसकी व्यापकता और महत्ता अधिक होती है। आजकलके युगमें प्रायः हमारी यही धारणा बन गयी है कि शरीरको हृष्टपुष्ट बनाना ही हमारा मुख्य ध्येय है। मन कितना ही चञ्चल क्यों न हो जाय तथा बुद्धि कितनी भी कलुषित क्यों न हो जाय, इसकी हमें परवा नहीं। जिस भारतभूमिमें मानवका ध्येय आत्मज्ञान होता था और शारीरिक तप करके भी मनुष्य प्रभुकी खोजमें लीन रहता था, आज उसी भारतकी पुण्यभूमिमें हमारे युवकोंका ध्येय बन गया है—हाय रोटी, हाय कपड़ा, हाय मकान, हाय भोग। रोटी, कपड़ा और मकान तथा भोग हमारे शारीरिक निर्वाहके लिये आवश्यक हैं। इनकी प्राप्तिका सत्प्रयास अवश्य होना ही चाहिये, परंतु सदा यह ध्यान रहना चाहिये कि यह हमारा साधन है, साध्य नहीं। पशु और मानवका भेद करते हुए शास्त्रने यही बतलाया है कि पशुको आत्मज्ञानकी परवा नहीं होती और मानवको होती है। यदि मानव आत्मज्ञानकी खोजमें प्रयास नहीं करता तो वह पशुके ही समान है।

स्वाध्यायकी महत्ताको महात्मा गांधीने समझा था। स्वाध्यायशील व्यक्तिकी आत्मा कितनी बलवान् हो जाती है, इसका उनके जीवनसे प्रचुर प्रमाण मिलता है। यद्यपि उनका शरीर दुर्बल था तो भी उनकी आत्मा समूचे अंग्रेजी साम्राज्यका अकेले मुकाबला कर सकती थी। एक ओर अंग्रेजी सरकारकी सारी भौतिक शक्ति—तोपें, बंदूकें, फाँसी और जेल तथा दूसरी ओर महात्मा गांधीकी स्वाध्यायशील पवित्र आत्मा। किसकी जीत हुई ? इतिहास बताता है कि जिस अंग्रेजी साम्राज्यपर कभी सूर्य अस्त न होता था वह १९४७ में भारतमें समाप्त हो गया। संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसको स्वाध्यायशील व्यक्ति प्राप्त नहीं कर सकता।

जब हम स्वाध्यायकी महत्ताको समझ लेते हैं तब किसी समय हमारे शरीरको अन्न न भी मिले तो हमें उसकी

चिन्ता नहीं होती; परंतु किसी दिन स्वाध्यायको समय न मिले तो आत्मा इस प्रकार तड़पती है जैसे जलके बिना मछली। साधककी यह अवस्था एकदम नहीं हो जाती। कुछ साधना करनी पड़ती है, कुछ अभ्यास करना पड़ता है और फिर हमें—जीवनके उद्देश्यमें पूरी सफलता मिलती है।

‘प्रमाद न कर’—इसका केवल यही तात्पर्य नहीं कि ‘आलस्य न कर’। प्रमादका वास्तविक अर्थ है उचित कार्योंको न करना और अनुचित कार्योंको करना। समय अमूल्य है, धनकी अपेक्षा समयका मूल्य कई गुना अधिक है। गया हुआ धन पुनः प्राप्त हो सकता है; परंतु गया हुआ समय लौटकर नहीं आता। समय थोड़ा है, कार्य अधिक है। अतः हमें यह विशेष सावधानी रखनी चाहिये कि हम समयको व्यर्थ चेष्टाओंमें न खोयें। जीवनमें हमारा कोई लक्ष्य होना चाहिये। अपने लक्ष्यको निर्धारित करके हम अपना कार्यक्रम इस प्रकार बनायें कि हमारी सभी चेष्टाएँ उस लक्ष्यमें सहायता करनेवाली हों। जो चेष्टा उस लक्ष्यमें सहायक न हो सकती हो, उसको प्रमाद समझकर हम तत्काल छोड़ दें।

मानवका यह स्वभाव है कि वह अपनी प्रशंसा करता है और दूसरेके दोषोंको देखता है। इससे आत्मा शनैः-शनैः पतित हो जाता है। स्वाध्यायशील व्यक्ति जब आत्माका निरीक्षण करता है तब वह अपने अवगुणोंकी ओर ध्यान देता है और उनपर चिन्तन करके उनको दूर करनेका प्रयास करता है। वह दूसरोंके गुणोंको देखता है और उनको अपने अंदर धारण करनेकी चेष्टा करता है। अपने अवगुणोंको और दूसरेके गुणोंको बढ़ा-चढ़ाकर देखना स्वाध्यायशील व्यक्तिका स्वभाव बन जाता है। वास्तवमें स्वाध्याय जीवनमें सफलताकी अमोघ कुंजी है।

दिल्लीके संत कवि महात्मा चरणदास

(लेखक—श्रीफतहचन्द्रजी शर्मा ‘आराधक’)

ढाई सौ वर्ष पुरानी बात है, एक सिद्ध पुरुषका अवतरण अलवरके निकट डेहरा ग्राममें हुआ था। बाल्यकालमें ही ये सिद्ध पुरुष अपने ननिहाल दिल्लीमें आ गये थे। तबसे लेकर अपने जीवनकालके लगभग ८० वर्षोंमेंसे ६० वर्ष भगवद्भक्ति, परोपकार और योगसाधना आदिमें बिताये। आप जानना चाहेंगे कि वे सिद्ध पुरुष कौन थे? ये सिद्ध पुरुष थे—महात्मा चरणदास, जिनके पन्थका आज भी राजस्थान, दिल्ली, उत्तरप्रदेश और पंजाब आदिमें अनेक स्थानोंपर ‘चरणदासी’ नामसे प्रचलन है। ‘चरणदासी’-पन्थमें जहाँ महात्मा चरणदासजी अवतरित हुए, वहाँ इस मतको सहजोबाई और दयाबाई-जैसी उत्कृष्ट कोटिकी साधिकाएँ मिली हैं, जिन्होंने अपनी भक्ति, वैराग्य, संत-साहित्यकी समाराधनासे अपने गुण और उनके पन्थको संसारप्रसिद्ध कर दिया।

महात्मा चरणदासमें बाल्यकालसे ही भक्तिके चिह्न दिखायी देने लगे थे। बहुत बार चरणदासजीने साधुओंसे पूछा था कि ‘जीवनके कल्याणके क्या उपाय हैं?’ संतोंने एक बार कहा कि ‘बिना गुरुके गोविन्द नहीं मिल सकते।’ अपनी अठारह वर्षकी अवस्थामें संसारको जानने और प्रभुको पानेके लिये महात्मा चरणदास अपने घरसे निकल चले। कुछ समयतक देशके प्रमुख स्थानोंका भ्रमण करके जब शुकताल पहुँचे और कोई मार्ग नहीं दिखायी दिया, तो उन्हें अपना जीवन व्यर्थ-सा जान पड़ा और वे फूट-फूटकर रोने लगे। कुछ रो लेनेके बाद जब ये प्रकृतिस्थ हुए तब फिर उनकी दृष्टि एक बार उस टीलेपर गयी जहाँ आजसे पाँच हजार वर्ष पूर्व संतोंके वीतराग तपस्वी शुकदेवजीने राजा परीक्षित्को श्रीमद्भागवतका अमृत-पान कराया था। उसी टीलेपर उन्हें शुकदेव मुनिसे प्रेरणा मिली।

महात्मा चरणदास इस दिव्य दृश्यको पाकर दिल्ली आये और अपनी माताकी आज्ञा लेकर उन्होंने साधु बननेकी इच्छा प्रकट की।

दिल्ली उन दिनों भी भारतकी राजधानी थी। उसी राजधानीके राजदरबारमें महात्मा चरणदासके नाना नियुक्त थे। ऐसी स्थितिमें, यह राजपद छोड़कर उनके परिवारका एक प्रिय अङ्ग साधु बने, यह सब उन्हें पसंद नहीं आया। किंतु ये सब रुकावटें आनेपर भी महात्मा चरणदास साधु बन गये।

नादिरशाहके आक्रमणकी भविष्यवाणी

महात्मा चरणदास पहले महापुरुष थे, जिन्होंने अपने शिष्योंको यह बता दिया था कि दिल्लीपर नादिरशाह आक्रमण

करेगा और लूट-खसोट करके दो माह बाद अपने देश ईरानको लौट जायगा। महात्मा चरणदासकी अपने शिष्योंको कही गयी यह बात धीरे-धीरे सारी दिल्लीमें फैल गयी। यह बात मुहम्मदशाहके मन्त्री सहाउद्दीन खाँके कानोंमें भी पड़ी। सहाउद्दीन खाँ इस बातकी सत्यता जाननेके लिये महात्मा चरणदासके पास आया। आपने निर्भय होकर अपने शिष्योंसे जो कहा था, वही सहाउद्दीनको भी बता दिया। सहाउद्दीनने भयभीत होकर यह बात बादशाहसे भी कह दी। बादशाहने अपनी अदावर्ज महात्माजीकी खिदमतमें भिजवायी और कहा कि 'मेहरबानी करके इस पर्चेपर यह लिख दें कि नादिरशाहका भारतपर आक्रमण कब होगा?' महात्मा चरणदासने बादशाहको जो लिखकर दिया था, वह सोलह आने सत्य निकला।

नादिरशाह जब वापस लौटने लगा, तब उसे चरणदासकी भविष्यवाणीका बादशाहसे पता लगा। नादिरशाहने आश्चर्यान्वित होकर महात्मा चरणदासको पालकी भेजकर बुलवाया, पर महात्मा चरणदास नहीं गये। उन्होंने कहा—

जो हरिके रँगमें रँगा, भूषणसे क्या काम।
चरणदास कछु भय नहीं, ना कुछ चहिये दाम॥

जब पालकी खाली वापस लौटी और नादिरशाहको पता चला कि महात्मा चरणदास नहीं आये, तब उसने तत्काल उन्हें गिरफ्तार करनेके लिये सेना भेजी। महाराज स्वयं उपस्थित हो गये। नादिरशाहने हँसकर कहा कि 'मैंने श्रद्धापूर्वक बुलवाया, तब आये नहीं और अब डरके मारे यहाँ आये हो।'

महात्मा चरणदासका अट्टहास लाल किलेमें गूँज उठा। वे बोले—'तेरे भयसे नहीं आया, तेरी कोई शक्ति नहीं, जो मेरा अनिष्ट कर सके।'

नादिरशाहने कहा कि 'अपना चमत्कार दिखाओ' नादिरशाहका इतना कहना था कि उसका ताज सिरसे दूर जा गिरा। नादिरशाहने अपमानित होकर महाराज चरणदासको जेल भिजवा दिया। आज्ञा दी गयी कि पत्थर मार-मारकर चरणदासका अन्त कर दिया जाय, किंतु जब भी जेलका फाटक खुला तब आप वहाँ नहीं थे। नादिरशाहने दोबारा विश्वस्त पहरेदारोंकी उपस्थितिमें जेल भिजवाया, किंतु तब भी जेलसे निकलकर उन्होंने सोते हुए नादिरशाहको ठोकर लगायी और कहा यह सोनेकी जगह नहीं है। क्रूर नादिरशाह भी ये सब घटनाएँ देखकर जान गया कि महात्माजी साधारण जीव नहीं हैं। वह जबतक दिल्लीमें रहा, महाराजके पास आता रहा और चलते समय भी दर्शन करके गया।

मुहम्मदशाहके उत्तराधिकारी शाह आलम (द्वितीय) देशमें चल रहे अशान्तिकालके कारण यहाँसे भागकर पटना चले गये। शाह आलमकी माताको महात्मा चरणदासने यह बताया था कि वह दिल्ली लौट आनेपर भारतका बादशाह बनेगा। जब यह बात सत्य हो गयी, तब शाह आलमने महात्माजीको भेंट देनी चाही। महात्माजीने कहा—'मुझे कुछ नहीं चाहिये।' बार-बार आग्रह करनेपर उन्होंने कहा कि 'यदि देना चाहते हो तो मेरी शिष्या सहजोबाईको दे दो।' शाह आलमने सहजोबाईको कुछ जागीर दी जो अबतक दिल्लीके गाँवों तथा मेरठ जिलेमें है। महात्मा चरणदास जहाँ रहते थे, उस स्थानपर चर्खेवालानमें उनका स्मृति-मन्दिर विद्यमान है। यहाँ कई बार शाह आलम, मुगल बेगमे तथा जयपुर आदिके राजा भी सामान्य जनोंके समान आते रहे।

चरणदासके भक्ति-सम्बन्धी विचार

चरणदास-पन्थमें शब्दमार्गपर विशेष बल दिया गया है। महात्मा चरणदासने अपनी वाणीमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान तथा आशाके परित्याग करनेका उपदेश दिया है। उनका यह विश्वास है कि शत्रुओंको जीते बिना साधना हो नहीं सकती। महात्मा चरणदासने गुरु-महिमा गायी है। उनके पन्थमें गुरुचरणका आश्रय लेना सर्वोच्च साधन माना जाता है। महात्मा चरणदास गुरु-भक्तिमें कबीरसे भी आगे हैं। उनका कहना है कि 'तीनों लोकोंमें देख-भाल करनेपर भी गुरुके समान कोई दिखायी नहीं दिया।' इस सम्बन्धमें आपका कहना है—

मैं मिरगा गुरु पारधी, सबद लगायो बान।
चरणदास घायल गिरे, तन मन बींधे प्रान॥

प्रभु-प्राप्तिके सम्बन्धमें उनका कहना है—

जग माटी मारे रहो, लगे रहो हरि ध्यान।
पृथ्वीपर देही रही, परमेसुरमें प्रान॥

इन सब गुणोंके स्वामी भक्तप्रवर चरणदासजीका जन्म भाद्रपद शुक्ल तृतीयाके दिन आजसे २५४ वर्ष पूर्व हुआ था। उनके त्यागकी चर्चा आज भी देशमें बड़े सम्मानके साथ की जाती है।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

सतीका साहस

पश्चिमी पंजाबके जिला डेराग़ाज़ीखाँमें कोटकरानी नामकी एक बस्ती है। खेमीबाईका जन्म उसी गाँवमें हुआ। उसी धरतीपर वह खेली और उसीका अन्न-जल खाते हुए यौवनकी ओर बढ़ने लगी। यौवनसम्पन्न होनेपर उसका विवाह पिताने साथके गाँव, डोनेमें, एक अच्छे सच्चरित्र युवक रामचरणके साथ कर दिया। पति-पत्नी दोनों प्रसन्नतापूर्वक रहने लगे।

एक दिन रामचरण किसी कामसे बाहर गया। खेमीबाई घरमें अकेली थी। उस दिन सायं उसकी गाय घर न लौटी। चरवाहा गाय चरानेके लिये ले जाता था और शामको वापस गाँवमें छोड़ जाता था। खेमीबाईको चिन्ता हुई कि कहीं गाय खो न गयी हो। इसलिये वह गायका पता लगाने चरवाहेके घरकी ओर चल दी। भगवान् भास्करका रथ आराम करनेके लिये तेजीसे भागा जा रहा था। चरवाहेका घर गाँवसे एक मीलकी दूरीपर था। उसके रास्तेमें एक बहुत भयानक खाई थी। इसमें वर्षाका पानी आकर एकत्र हो जाता। अँधेरेमें तो वह और भी भयंकर हो जाती।

अब खेमीबाई उस खाईके निकट पहुँच चुकी थी। उसे एक मुसलमान गुंडे करीमने देख लिया। करीमपर कामदेवका भूत सवार हो गया। उसने सोचा, 'अभी तो इसे जाने देना चाहिये। वापसीपर अपना मनोरथ पूरा करूँगा, क्योंकि तब अच्छा खासा अँधेरा हो जायगा। यों भी वह उस समय उसे घेर न सकता था; क्योंकि जितनी देरमें वह उसके पास पहुँचता उतनी देरमें वह खाई पार कर सकती थी।

खेमीबाई चरवाहेके घर पहुँची। पूछनेपर मालूम हुआ कि चरवाहा गायको कोटकरानीमें ही छोड़ आया है। वह वापस जानेको तैयार हो गयी।

दिनका प्रकाश समाप्त हो रहा था। पर खेमीबाईको तो घर पहुँचना ही था। जब वह लौट रही थी तो पश्चिमकी ओरका अन्तिम लाल मेघ भी समाप्त हो चुका था। रातके अँधेरेने धरतीको अपनी चादरमें लपेट लिया। इधर वह गुंडा बदमाश उसके आनेकी ताकमें बैठा था कि वह कब खाईमें प्रवेश करे और कब वह अपनी नीच वासना पूरी करे। अन्तमें बेईमानको पैरोंकी आहट सुनायी दी। वह चौकस हो गया। जब खेमीबाई खाईके ठीक बीचमें पहुँची तो उसके कानोंमें धीमी-सी आवाज़ सुनायी दी—'ठहर जाओ!'

खेमीबाईने पीछे मुड़कर देखा। क्षणभरमें सब कुछ समझ गयी।

'बेईमान!' वह गरजकर बोली—'अपना हित चाहते हो तो वापस चले जाओ।'

परंतु वासनाके अंधे उस बदमाशपर कोई प्रभाव न हुआ। वह पागलके समान आगे बढ़ने लगा। खेमीबाई चुपचाप खड़ी रही। करीम निकट पहुँचा और उसको वह अपने बाहुपाशमें जकड़ना ही चाहता था कि खेमीबाईके जोरदार मुक्केने उसकी नाक तोड़ दी। करीमको इतने जोरका धक्का लगा कि वह पीछे जा गिरा। एक छोटी-सी चीख भी उसके मुँहसे निकल गयी। उसके हाथ अपनी नाकको मलने लगे।

खेमीबाई आगे बढ़ी। करीम डर गया कि अब पता नहीं यह क्या करे। इस कारण उसने भागनेका यत्न किया। इस बीचमें खेमीबाईका हाथ करीमके कानपर जा पड़ा। बदमाशने कानोंमें बालियाँ पहन रक्खी थीं। खेमीने एक बालीको पकड़ लिया। किंतु वह इस जोरसे भागा कि बाली उसके कानको फाड़ती हुई खेमीके हाथमें रह गयी। खेमीबाई अपने गाँवमें पहुँच गयी। घर जानेसे पूर्व उसने अपनी गायकी खोज की और उसे ढूँढ़कर घर ले आयी।

दूसरे दिन जब रामचरण घर लौटा तब पत्नीने सारा वृत्तान्त उसे कह सुनाया। पतिने मुकद्दमा करनेकी ठानी। सौभाग्यसे थानेदार भी उन्हीं दिनों किसी कामसे उनके गाँवमें आया हुआ था। कोटकरानी छोटा गाँव होनेके कारण उसका अपना कोई थाना या पुलिस-चौकी न थी। रामचरणने थानेदारके पास जाकर रपट लिखवायी। थानेदारने खेमीबाईको बुलवाया और उससे पूछा—'क्या आप उ हरामीको पहचान सकेंगी?'

'जी हाँ, क्यों नहीं?' खेमीबाईने उत्तर दिया—'मैं उ जरूर पहचान लूँगी।'

तीसरे दिन गाँव तथा आसपासके सभी गुंडे थानेदारके आदेशसे एकत्र किये गये । सबको एक पंक्तिमें खड़ा करनेके पश्चात् खेमीबाईसे कहा गया कि वह उस बेईमानको ढूँढ़ निकाले । खेमीबाई देखती चली गयी । एक आदमीके सामने जाकर वह रुक गयी । उस पुरुषने सिवा आँखोंके शेष चेहरेको पगड़ीके सिरेसे ढक रक्खा था । खेमीबाईने उसे बाँहसे पकड़कर पंक्तिसे बाहर कर दिया । थानेदारसे उसने कहा—'यही है वह बदमाश !'

'आप कैसे कहती हैं कि यह वही है ?' थानेदारने प्रश्न किया—'इसका प्रमाण ?'

खेमीबाई विचार करने लगी, पर कुछ ही क्षणके लिये । अब वह जल्दीसे उस गुंडेके समीप पहुँची और उसकी नाकको दबाया । नाकके दबाते ही वह पीड़ासे चीख उठा और एकदम पीछे हट गया ।

'एक तो यह प्रमाण है' खेमीबाईने थानेदारसे कहा—'क्योंकि इसी जगहपर इसे मुक्का लगा था जिसके कारण इसे अबतक पीड़ा हो रही है ।'

'अच्छा यह तो हुआ ।' थानेदारने कहा—'क्या आप इसकी पहचान भी बता सकती हैं ?'

'इससे जरा यह पूछिये कि इसके दायें कानकी बाली कहाँ गयी है' खेमीबाईने थानेदारसे कहा ।

जब उससे इस विषयमें सवाल किया गया तो वह बोला—'कुछ दिन पूर्व मैं एक वृक्षके नीचे सो रहा था । तब जोरसे आँधी आयी और वृक्षकी एक बड़ी-सी टहनी मेरे कानसे बालीको काटते हुए निकल गयी ।'

'अच्छा तो वह बाली कहाँ है ?' अब खेमीबाईकी बारी थी, इसलिये उसने पूछा ।

बदमाश चुप रहा । उससे कोई जवाब न बन पड़ा ।

'उस रात यह बाली मेरे हाथमें ही रह गयी थी,' खेमीबाईने अपनी जेबसे बाली निकालकर थानेदारके हाथपर रख दी । थानेदारने करीमके दूसरे कानकी बालीसे इसे मिलाया तो दोनों एक-जैसी निकलीं । करीमको सजा हो गयी ।

—धर्मवीर

(२)

प्रचण्ड अग्निमें गिलहरीके, चिड़ियोंके तथा चूहियोंके बच्चोंकी जीवित रहनेकी सत्य घटनाएँ

कुछ समय पूर्व राजपूत कालेज पिलखुवाके संस्थापक कर्मवीर आर्यसमाजके सुप्रसिद्ध महोपदेशक, महात्मा श्रीलटूरसिंहजी पिलखुवा पधारे थे । उन्होंने मेरे पूछनेपर, बहुत-से प्रतिष्ठित पुरुषोंके सामने अपनी आँखों देखी निम्नलिखित घटनाएँ सुनायीं ।

(१) कुछ दिनों पहले मऊ जिला मेरठके बढ़इयोंने लक्कड़-लकड़ियोंको जलाकर उनके कोयले बनानेका निश्चय किया । जमीनमें एक गड्ढा खोदा गया और उसे लक्कड़-लकड़ियोंसे भरकर आग लगा दी गयी । रातभर वे धाँय-धाँय जलते रहे । अगले दिन जब सब लक्कड़ जलकर कोयले हो गये तब उन लोगोंने गड्ढेसे कोयले निकालने शुरू किये । कोयले निकालते-निकालते उन्होंने देखा कि और सब लक्कड़-लकड़ी तो जल गये हैं, परंतु उनमें लकड़ीका एक गठा बिल्कुल ही नहीं जला है, वह ज्यों-का-त्यों पड़ा है । यह बात नहीं कि वह अलग पड़ा रह गया हो, वह जलनेवाली लकड़ियोंके बीचमें था । यह देखकर सभीको आश्चर्य हुआ । किसीको कुछ भी कारण समझमें नहीं आया । तब उसे बाहर निकालकर कुल्हाड़ीसे काटकर देखनेका विचार हुआ । तदनुसार उसे बाहर लाकर कुल्हाड़ीसे चीरा गया तो दिखायी दिया कि उस गट्ठेके अंदर छोटे-छोटे गिलहरीके बच्चे जीवित बैठे हैं, उनको न जरा-सी आँच लगी, न जरा भी उनका बाल बाँका हुआ । प्रचण्ड अग्निमें उनका इस प्रकार सुरक्षित रहना देखकर सभी आश्चर्यचकित हो गये । यह आँखों-देखी घटना बरबस यह मनवा देती है कि ईश्वर है और वह जिसको बचाना चाहता है—आश्चर्यजनक रूपसे बचा देता है ।

जाको राखै साइयाँ मार सकै नहिं कोय ।
बाल न बाँका करि सकै, जो जग बैरी होय ॥

(२) दूसरी सत्य घटना हमारे गाँवकी सामने देखी हुई है । गाँवके एक मकानमें ऊपर छप्पर पड़ा था । अकस्मात् पता नहीं, कैसे उस छप्परमें आग लग गयी । सारा छप्पर जलकर भस्म हो गया । देखा जानेपर मालूम हुआ छप्परका एक कोना बिल्कुल नहीं जला । उसके अत्यन्त समीप पहुँचकर भी प्रचण्ड आग उसे नहीं जला पायी । सबको बड़ा कुतूहल

हुआ। पास जाकर देखा गया तो दिखायी दिया कि उस कोनेमें छोटे-छोटे चिड़ियाके बच्चे जीवित बैठे हैं। सारा छप्पर जल-भुनकर खाक हो जानेपर भी इन पक्षिशावकोंको तनिक भी आँच नहीं लगी। प्रभुकी इस अद्भुत लीलाको देखकर सभी आश्चर्यमें डूब गये। आग किसीको न जलाये—यह बात किसी प्रकार भी विश्वासयोग्य न होनेपर भी इन आँखों-देखी घटनाओंको सत्य कैसे न माना जाय ?

इसके पश्चात् आर्यसमाजके श्रीदिलेरामजी और महाशय रघुबरदयालजीने एवं एक मुसल्मान छात्र श्रीअलियास अहमदने आँखों-देखी चुहियोंके बच्चोंकी दो बड़ी विचित्र घटनाएँ आगसे बिल्कुल बचनेकी सुनायीं।

प्रभुकी अपार महिमा है।

—भक्त श्रीरामशरणदासजी, पिलखुवा

(३)

बिना माँगे रुपये चुकाये

लगभग चालीस वर्ष पहलेकी बात है। कलकत्तेमें कपड़ेके एक दूकानदारने—पूजाकी बिक्रीकी भीड़में—दस-बारह हजार रुपयोंकी कुछ गाँठें एक चलानीवालेको डेलिवर दे दी, पर उसके नाम लिखना भूल गया और इसलिये उसके रुपयोंका भुगतान भी नहीं मँगवाया गया। बात बिल्कुल भूलमें पड़ गयी। जिन चलानीवाले व्यापारीको माल भेजा गया था उसका भी उस समय ध्यान नहीं गया। पूजाकी बिक्रीका काम पूरा होनेके बाद जब भीड़ कम हो गयी, तब उस दूकानदारके दस-बारह हजार रुपये घटनेकी बात ध्यानमें आयी। पर उन गाँठोंकी बात उसे एकदम ही विस्मृत हो गयी। बड़ी चिन्ता हुई, पर कुछ उपाय नहीं था। बहुत तलाश की, पर पता नहीं लगा—बेचारा मन मारकर रह गया। उधर चलानीवालेने वे गाँठें जिनको चलान की थी, उनका पहुँचका पत्र मिला तथा रुपये आये। उसके यहाँ सब जमा-खर्च था ही। तब उसे पता लगा कि इन गाँठोंके रुपये दूकानदारने नहीं मँगवाये। लगभग ढाई महीने बीत चुके थे। उसने दूकानदारको कहलवाया कि असुक दिन आपने इतनी गाँठें हमें डेलिवर दी थीं, उनके रुपये नहीं मँगवाये, सो मँगवा लीजिये। दूकानदार यह समाचार पाकर हर्ष-गद्गद हो गया और स्वयं जाकर रुपये लाया तथा धन्यवाद दिया। चलानीवाले व्यापारीने हट करके रुपयोंका व्याज भी दिया। उसने चलानीवाले व्यापारीसे कहा—'भाई साहेब ! आपको ये गाँठें दी थीं, यह बात मुझे तो याद ही नहीं थी। आप खबर न देते तो पता ही नहीं लगता। आपके मनकी इस ईमानदारीको देखकर मुझे बड़ी ही प्रसन्नता हुई है और मैं आपका बड़ा उपकार मानता हूँ।' उस व्यापारीने कहा—'भाई साहेब ! आपके रुपये आपको चुकाकर मैंने कौन-सा प्रशंसनीय काम किया है, यह तो देने ही चाहिये थे। न देनेकी मनमें कल्पना भी होती तो बड़ा पाप होता। मेरे पिताजीने मुझे यही सिखाया था कि 'बेटा ! परायी छदामपर भी कभी मन मत चलाना। दूसरेके हकका एक पैसा भी जानकर मार लेना—उसकी जान मारनेके समान है।'

—जमनादास अगरवाला

(४)

व्यापारमें प्रतिष्ठा

स्काटलैंडके एडिनवर्ग नगरके एक कारखानेसे एक भारतीय उद्योगपतिने एक पुरानी पर अच्छी हालतकी बड़ी मीलिंग मशीन खरीदी। मशीन बेचनेवाले कारखानेके मालिकने अनुभवी पुरुषोंके अभावके कारण यह शर्त रक्खी कि वे कारखानेमें बैठी मशीनकी डेलिवरी देंगे। अतः खरीददार अपने इंजिनियरको मशीन खोलनेके समय वहाँ एडिनवर्ग भेज दें, उनके सामने मशीन खोली जाय, जिससे वे भारत ले जाकर मशीनको अच्छी तरह बैठा सकें। उद्योगपतिने यह शर्त स्वीकार की और उन्होंने अपने प्रधान इंजिनियरको एडिनवर्ग भेज दिया।

मशीन इतनी बड़ी थी कि मशीनको खोलकर फिरसे बैठानेकी तालीम लेकर लौटनेमें इंजिनियर साहेबको तीन महीने लग गये। मशीन भी खुली हालतमें भारत पहुँच गयी। उसे कारखानेमें बैठानेका काम शुरू हुआ। आधी-पौनी मशीन बैठी होगी—इतनेमें इंजिनियर साहेबकी स्मृति मन्द पड़ गयी और अनेक प्रयत्न करनेपर भी वे मशीनको ठीक नहीं बैठा सके। वे घबराये। बात मालिकतक पहुँची। दस-पंद्रह हजार रुपये खर्च करके इंजिनियर साहेबको तालीम लेने एडिनवर्ग भेजा गया था। इतनेपर भी ऐसी स्थिति हो गयी। इससे मालिकको बड़ा क्षोभ तथा क्रोध हुआ। मशीनसे उत्पन्न होनेवाले मालकी माँग बढ़ गयी थी। इससे ग्राहक भी आतुरतासे राह देखने लगे।

अन्तमें मालिकने तंग आकर एडिनवर्ग कारखानेवालेको सारी हालत लिखी और वहाँसे इंजिनियर भेजनेके लि

नम्रताके साथ विनय की तथा इसका सारा खर्च देनेका वचन दिया ।

एक सप्ताहके बाद ही तार मिला कि दो इंजिनियर चल पड़े हैं और शीघ्र ही पहुँचकर मशीन चालू कर देंगे। उनके पहुँचनेपर बम्बईके एक खर्चीले होटलमें दोनोंके ठहरनेकी व्यवस्था की गयी। मालिक उनको कारखानेपर ले गये और मशीन बैठानेका काम प्रारम्भ हुआ । जरा भी समय न खोकर दोनोंने बड़ी मेहनत की और आठ ही दिनोंमें मशीनको चालू करके वे अपने देशको लौट गये। जाते समय उद्योगपतिने उनका आभार माना और खर्चका पूरा बिल भेज देनेके लिये अनुरोध किया ।

परंतु एक सप्ताहके बाद कम्पनीका पत्र आया । उसमें लिखा था—'हमारे इंजिनियरोंकी आपने वहाँ अच्छी तरहकी सार-सँभाल की, इसके लिये हम आपके आभारी हैं । आपके इंजिनियरने जैसे-तैसे मशीन बैठाकर उसे चालू नहीं किया; यह उचित किया; कारण चलती मशीन कहीं टूट जाती तो हमारे कारखानेकी बदनामी होती । आशा है, अब मशीन ठीक चल रही होगी । खर्चके लिये कुछ भी चिन्ता करनेकी जरूरत नहीं है; क्योंकि हमारी मशीनको व्यवस्थितरूपसे चालू कर देनेमें हमारी शोभा और हित दोनों ही समाये हैं । इसपर जो खर्च लगा है, वह सब-का-सब हमारी कम्पनी देगी—यह निश्चय हो चुका है । इसके साथ आपके द्वारा चुकाये हुए होटलके बिलकी रकमका चेक भेजा जा रहा है । इसे सँभाल लें और भविष्यमें हमारे लायक कुछ भी काम हो तो अवश्य जनावें।' अखण्ड आनन्द—शान्तिलाल बोले

(५)

ईमानदारके लिये तिमादी नहीं

एक डाक्टरने बतलाया कि (अप्रैल सन् १९४५) एक पचीस-छब्बीस वर्षके मारवाड़ी युवकको हैजा हो गया । उपचार करनेपर एक बार बीमार कुछ ठीक हुआ, पर अकस्मात् रोग फिर बढ़ गया और स्थिति भयानक हो उठी। शूल उत्पन्न हो गया और हाथ-पैर ऐंठने लगे । युवकको लगा कि अब मैं नहीं बचूँगा । उसने तुरंत माता-पिताको बुलाकर कहा कि 'मैं शायद न बचूँ, अतएव जिन लोगोंसे मैंने बिना किसी लिखा-पढ़ीके या केवल हैंडनोटपर रुपये लिये हैं, उनके नाम-पते तथा रकम लिख देता हूँ । ये सब रुपये चुका दीजियेगा ।' यह होनेके बाद शामको जाकर देखा तो रोगी अच्छा हो गया था ।

हिंदूमात्र ही इस बातको जानता है कि 'ऋण रखना पाप है। तिमादी (Law of Limitation) का कानून बना है । उसके कारण इस लोकमें चाहे न देना पड़े; परंतु परलोकमें तो देना ही पड़ेगा और नरक अनिवार्य होगा।' ईमानदारीमें तिमादी नहीं होगी । मारवाड़ी युवकने इस तिमादी कानूनका लाभ उठाना नहीं चाहा, इसीसे आसन्न-मृत्युसे उसकी रक्षा हो गयी । —भारताजिर

(६)

चायके व्यापारीकी आदर्श व्यापारनिष्ठा

एक बार एक व्यापारीके वहाँसे मैंने चाय खरीदी। चाय अच्छी न होनेके कारण जब मैं वापस देने गया, तब उसने लेनेसे इनकार कर दिया और मेरे साथ अपमानजनक बर्ताव किया। इसके विपरीत एक दूसरा अनुभव भी मुझे हुआ था, उसीको यहाँ लिख रहा हूँ ।

उस समय राज्योंके विलीनीकरणसे पहले मैं एक राज्यका अधिकारी था । मुझे बहुत-से गाँवोंमें घूमना पड़ता और बड़े परिमाणमें चाय खरीदनी पड़ती । उस समय एक पैकेटके दाम थे साढ़े तीन आने ।

एक बार मैं सात पैकेट खरीदकर ले गया । मैंने पहला पैकेट खोला, उसमें सदाकी तरह सुगन्ध नहीं थी । हम सुगन्धके लिये यह चाय खरीदते थे । हमारी आदत पड़ गयी थी । दूसरा पैकेट खोला, उसमें भी वही बात । अधिक पैकेट खोलनेकी हिम्मत नहीं हुई । यह दूकानदार भी कहीं उसीका मौसेरा भाई हो और सारे पैकेट हमारे सिर ही मँढ़ जाय !

जिस कम्पनीसे चाय खरीदी थी, उसे फोन करनेपर उत्तर मिला—'आपको इस प्रकार कष्ट हुआ, इसके लिये हमें अन्तःकरणसे खेद है। आप सब पैकेट यहाँ वापस ले आइये।'

समयपर मैं दूकानपर पहुँचा । कम्पनीने पहलेसे ही इन्स्पैक्टरको बुला रक्खा था । मानो कोई बड़ी बारीक जाँच करनी हो ।

इंस्पैक्टरसे मैनेजरने कहा—देखिये, यह अपने ग्राहककी शिकायत है, इसका क्या करना है । इंस्पैक्टर कड़ी परीक्षा करके तीसरा डिब्बा खोलने लगा—'अरे-अरे, यह क्या' मेरे मुँहसे अचरजभरा उद्गार निकल पड़ा ।

'आप घबरायें नहीं···खोलने दीजिये···'

इसके बाद जैसे कोई पाकमेंसे सड़े आम निकालता हो, उसने एकके बाद एक—सभी पैकेट खुलवाये। चायकी क्वालिटी खराब थी, यह निश्चय होते ही उसने जो शब्द कहे वह आज भी मेरे कानोंमें गूँज रहे हैं।

'कोई हर्ज नहीं, महाशय ! यह सारी जिम्मेवारी हमारी अपनी है। आपको जो बेहद तकलीफ उठानी पड़ी है, इसके लिये हम बड़ी लज्जाका अनुभव कर रहे हैं·····आप हमारे ताजे स्टाकमेंसे दूसरे सात पैकेट तो हकके, और आपको तकलीफ हुई इसके बदले एक पैकेट कम्पनीकी तरफसे ले जाइये।'

'परंतु, इन खोले हुए पैकटोंका आप क्या करेंगे ?' मैंने कहा।

'इनको हम रब्बिश—कूड़ेमें डाल देंगे। हमारे मालके बाबत ग्राहककी कोई शिकायत आये तो हमारी प्रतिष्ठाका क्या हाल हो ? अखण्ड आनन्द। —प्रशान्त

(७)

श्रीरामरक्षास्तोत्रके पाठसे अङ्ग-प्रत्यङ्ग सुरक्षित

सन् १९५७की बात है। कुवार महीनेमें गाँवमें मेरे चाचाका देहान्त हो गया था। हमलोग उनकी तेरहीपर गये थे। सब काम हो जानेपर हमारे लौटनेका प्रोग्राम बना। प्रातःकाल नहानेके समय नित्यके अभ्यासके अनुसार रामरक्षाका पाठ हो गया और हमलोग वहाँसे बरहनके स्टेशनको चल दिये। गाड़ी आयी। वहाँ बहुत ही कम गाड़ी ठहरती है। मेरे पतिदेवकी तबीयत कुछ खराब थी, अतः उन्हें पहले चढ़ा दिया। फिर लड़की चढ़ गयी। जब मैं चढ़ने लगी, तब गाड़ी चल दी। मेरा एक हाथ लड़कीके हाथमें था, दूसरेसे मैंने गाड़ीका हैंडल पकड़ रक्खा था। पर मेरा पैर गाड़ीकी पटरीसे फिसल गया। लड़की मेरा बोझ सँभाल नहीं सकी; उसके हाथसे मेरा हाथ छूट गया और मेरे दूसरे हाथसे हैंडल छूट गया। मैं सीधी पहियोंके पास पहुँच गयी और एक फर्लांगतक नीचे झूलेकी तरह झूलती रही। रेलके पहियेसे मेरा सिर आधा फुट दूर होगा। उसी अवस्थामें मैंने आँखें खोलकर देखा—गाड़ी चल रही है, पहिये घूम रहे हैं। फिर भगवान्को याद करके सोचने लगी—बीमार पतिका क्या होगा। तदनन्तर आँख खोली तो गाड़ी खड़ी थी। लोग दौड़-धूप कर रहे थे। मेरी बेटी रो रही थी। मुझे उन्होंने आवाज दी। मेरा पैर एक रॉडमें फँसा था जो पहियेके ऊपर लगा होता है। किसी आदमीने गाड़ीके नीचे घुसकर मेरा पैर रॉडमेंसे निकाला। मैं बिल्कुल अच्छी अवस्थामें निकल आयी। मेरा चश्मा भी ऐसे रक्खा था, जैसे किसीने उतारकर पहियोंके बीचमें स्लीपरोंपर रख दिया हो। चूड़ी भी ठीक थी। पीठ कुछ रेलके पत्थरोंसे रगड़कर जरूर छिल गयी थी। पर और सब अङ्ग ठीक थे। मेरा पूर्ण विश्वास है कि रामरक्षाके नित्य पाठसे भगवान् प्रत्येक अङ्गकी रक्षा करते हैं। रामरक्षास्तोत्रको कण्ठस्थ किये तो मुझे बहुत वर्ष हो गये। हरेक बीमारी और परेशानीमें इससे मुझे सहायता मिलती रहती है। जबसे 'कल्याण' में इसके चमत्कारी गुणोंकी चर्चा पढ़ी है तबसे मेरी श्रद्धा और भी बढ़ गयी है। मैंने इसे नवरात्रमें सिद्ध भी कर लिया है। मेरी हाथ जोड़कर पूजनीय भाई-बहिनोंसे प्रार्थना है कि वे इससे लाभ उठावें। —बृजरानी डेम्पीयर नगर, मथुरा।

(८)

ईमानदारी

श्रीकैनीज बीच (Mr. Kenys Beach) नामक एक अमेरिकन पत्रकार चीन-भारत-युद्धका समाचार जानने दिल्ली आये थे। वे शिकागोके दैनिक समाचारपत्र डेलीन्यूज (Daily News) के संवाददाता हैं। उन्होंने पाकिस्तानके हवाईजहाजपर सवार होनेके लिये हवाई-अड्डेके लिये एक टैक्सी भाड़ेपर की थी। पाकिस्तान पहुँचनेपर उन्हें स्मरण आया कि उनका एक छोटा केस (brief case) उस टैक्सीमें छूट गया। उस केसमें नगद तथा डालरके चेक आदि मिलाकर पंद्रह हजार रुपयेकी रकम थी।

पाकिस्तान अधिक न ठहरकर वे तुरंत तारीख ३।१२।६२ को सबेरे दिल्ली लौट आये और अमेरिकन दूतावासमें पहुँचनेपर उन्हें पता चला कि एक टैक्सी ड्राइवर उनका छोटा-सा केस उसी दिन वहाँ जमा करवा गया था।

तब श्रीबीच टैक्सी ड्राइवरकी तलाशमें निकले और दिनभर भटकनेपर शामको उन्होंने उसे ढूँढ़ पाया। मिलनेपर बड़ी कठिनतासे उसे दो सौ रुपये पुरस्कार स्वीकार करनेके लिये राजी किया।

—गंगाशरण शर्मा, एम्० ए० बी-कॉम

उत्तराखण्डकी यात्रा

(चौंतीस चित्रोंसहित)

(लेखक—सेठ श्रीगोविन्ददास, श्रीमती रत्नकुमारीदेवी और श्रीगोविन्दप्रसाद श्रीवास्तव)

आकार डबल-क्राउन सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या ३१०, चित्र ३४,मूल्य २.०० (दो रुपये), डाकखर्च .९१ नये पैसे।

मासिक 'कल्याण' में समय-समयपर छपा हुआ प्रसिद्ध साहित्यिक विद्वान् संसद्-सदस्य सेठ श्रीगोविन्ददासजीका अपने परिवार और साथियोंसहित की हुई उत्तराखण्ड-यात्राका यह वर्णन पुस्तकाकार प्रकाशित किया गया है। उत्तराखण्ड भारतका गौरवमय अङ्ग है। हिंदुओंकी पवित्र तपोभूमि और तीर्थभूमि है। इस पुस्तकमें इस पवित्र भूमिका बड़ा ही सुन्दर वर्णन ऐसी अच्छी सरल, सुबोध तथा हृदयग्राहिणी भाषामें किया गया है कि जिसका आनन्द पढ़नेपर ही मिलता है। वर्तमानमें चीनके वर्बरतापूर्ण आक्रमण और हमारे इस पवित्रतम हिमालयखण्डपर उसकी क्रूर दृष्टिके समय तो हिमालय या उत्तराखण्डका महत्त्व और गौरव जानना प्रत्येक भारतीयके लिये और भी आवश्यक हो गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थमें हरिद्वार, ऋषिकेश, लक्ष्मणझूला, यमुनोत्तरी, गङ्गोत्तरी, केदारनाथ और श्रीबदरीनाथ आदिका वर्णन है। परिशिष्ट (१) में हरिद्वारसे यमुनोत्तरी, (२) में यमुनोत्तरीसे गङ्गोत्तरी, (३) में गङ्गोत्तरीसे केदारनाथ, (४) में हरिद्वारसे केदारनाथ, (५) में केदारनाथसे बदरीनाथ, (६) में हरिद्वारसे बदरीनाथ और (७) में बदरीनाथसे ऋषिकेश और कोटद्वाराका वर्णन, उनकी ऊँचाई, एक स्थानसे दूसरे स्थानकी दूरी, पोस्ट तथा तार आफिसें, अस्पताल, औषधालय, डाकबँगले और पुलिस-थानोंका विवरण है।

आशा है कि पाठकगण इस सुन्दर ग्रन्थसे हिमालयके ज्ञानलाभके साथ ही साहित्यिक आनन्द भी प्राप्त कर सकेंगे।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

'कल्याण'के पुराने प्राप्य विशेषाङ्क (डाकखर्च सबमें हमारा है)

१—हिंदू-संस्कृति-अङ्क

पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविता ४६, संगृहीत २९, चित्र २४८, डाकव्ययसहित मूल्य ६ रु० ५० नये पैसे। साथ ही इसी वर्षका अङ्क दूसरा तथा तीसरा बिना मूल्य। सजिल्द ७ रु० ७५ नये पैसे।

२—संतवाणी-अङ्क

पृष्ठ-संख्या ८००, तिरंगे चित्र २२, इकरंगे चित्र ४२, संतोंके सादे चित्र १४०, मूल्य डाकव्ययसहित ७ रु० ५० नये पैसे।

३—मानवता-अङ्क

पृष्ठ-संख्या ७०४, मानवताकी प्रेरणा देनेवाले सुन्दर ३९ बहुरंगे, एक दुरंगा, १०१ एकरंगे और ३९ रेखाचित्र। डाकव्ययसहित मूल्य ७ रु० ५० नये पैसे।

४—संक्षिप्त देवीभागवताङ्क

जनवरी १९६० का विशेषाङ्क, मूल्य ७ रु० ५० नये पैसे।

५—संक्षिप्त शिवपुराणाङ्क

१९६२ का विशेषाङ्क, प्रसिद्ध शिवपुराणका संक्षिप्त साररूप है। इसमें ७०४ पृष्ठोंकी ठोस पाठ्य-सामग्री है। बहुरंगे चित्र १७, दोरंगा रेखाचित्र १, सादे १२ और १३८ रेखाचित्र हैं। मूल्य डाकखर्चसहित ७.५०, सजिल्दका ८.७५ नये पैसे हैं।

'कल्याण'के आजीवन ग्राहकोंका चंदा १००) है। नियम लिखकर पूछिये।

व्यवस्थापक—**कल्याण, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

'कल्याण' के आजीवन ग्राहक बनकर सत्साहित्यके प्रचारमें सहायता कीजिये

(१) 'कल्याण' तथा गीताप्रेससे प्रकाशित पुस्तकोंका मूल्य बहुत कम है, यह सभी जानते हैं। गीताप्रेसका उद्देश्य ही है कम कीमतमें सत्-साहित्यका प्रचार करना। अतः पुस्तकोंके दाम बढ़ानेका कोई विचार अभी नहीं है। पर छपाईकी सभी चीजें उत्तरोत्तर महँगी होती जा रही हैं, इसलिये उत्पादनका खर्च बहुत बढ़ गया है। अतएव किसी प्रकार भी जनताको 'कल्याण' तथा गीताप्रेसकी पुस्तकें सस्ते दाममें मिलती रहें तथा 'कल्याण'के ग्राहकोंको प्रतिवर्ष रुपये भेजनेकी असुविधा न रहे; इसलिये एक सौ रुपये एक साथ लेकर आजीवन सदस्यकी भाँति 'आजीवन ग्राहक' बनानेका निश्चय किया गया है। इससे आजीवन ग्राहक बननेवाले जबतक रहेंगे और जबतक 'कल्याण' चलता रहेगा, उनको 'कल्याण' प्रतिवर्ष मिलता रहेगा। अवश्य ही उनके पीछे उत्तराधिकारियोंको नहीं मिलेगा और किसी कारणवश 'कल्याण' बंद होनेपर भी नहीं मिलेगा। दोनों ही हालतोंमें रुपये गीताप्रेसके हो जायँगे। इससे प्रकारान्तरसे गीताप्रेसकी सहायता भी होगी। गीताप्रेस यों चंदा नहीं लेता; परंतु आजीवन ग्राहक बननेवाले मूल्य-स्वरूप जो एक सौ रुपये देंगे, वे तो लिये ही जायँगे। जो सज्जन गीताप्रेसकी तथा 'कल्याण'की सहायता करना चाहें, वे स्वयं आजीवन ग्राहक बनकर तथा अपनी शक्ति और इच्छाके अनुसार, जिन लोगोंके पास पैसे नहीं हैं, परंतु जो 'कल्याण' पढ़ना चाहते हैं—ऐसे लोगोंको आजीवन ग्राहक बनाकर उनके प्रत्येकके लिये एक सौ रुपये दे सकते हैं। इससे 'कल्याण' पढ़नेवालोंकी सहायता होगी, सत्साहित्यका प्रचार होगा और गीताप्रेसकी प्रकारान्तरसे सहायता भी होगी। एक सज्जनने अभी अपनी ओरसे ऐसे सौ ग्राहक बनाये हैं। आजीवन ग्राहक बन रहे हैं, परंतु अभी, जितनी संख्यामें ग्राहक बनानेकी बात सोची थी, उसे देखते कम बने हैं। अतएव गीताप्रेसके तथा 'कल्याण'के प्रेमी लोगोंको स्वयं ग्राहक बनकर तथा दूसरोंको यथासाध्य बनाकर रुपये शीघ्र भिजवाने चाहिये। निर्धारित संख्या पूरी हो जानेपर और आजीवन ग्राहक नहीं बनाये जा सकेंगे।

---

(२) जो सज्जन रु० ७·५० देकर साधारण ग्राहक बन चुके हों वे ९२·५० और भेजकर आजीवन ग्राहक बन सकते हैं।

(३) कुछ सज्जन प्रतिवर्ष सजिल्द विशेषाङ्क लेना चाहते हैं, अतः उनको १२५) (एक सौ पचीस रुपये) भेजने चाहिये।

(४) भारतवर्षके बाहर (विदेश) के महानुभावोंके लिये अजिल्द 'आजीवन ग्राहक' का मूल्य १२५) या १० पौंड है। सजिल्दका मूल्य १५०) या १२ पौंड है।

(५) कुछ प्रेमी मित्रोंने अपनी मीलों, कारखानों, उत्पादक तथा व्यापारी संस्थाओं, आश्रमों, मन्दिरों, पुस्तकालयों, क्लबों और अन्यान्य संस्थाओंको तथा फर्मोंको आजीवन ग्राहक बनानेका विशेष आग्रह किया है। अतः उनका यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया है। अतः संस्थाओं तथा फर्मोंको भी आजीवन ग्राहक बनाया जाता है। जो लोग इस प्रकारके ग्राहक बनाना चाहें, वे उनका नाम पतेसहित पूरा मूल्य भेजनेकी शीघ्र कृपा करें।

व्यवस्थापक—'कल्याण' पो० गीताप्रेस, गोरखपुर

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

कल्याण

वर्ष २७

अङ्क ३

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे

संस्करण—१,३०,००० (एक लाख तीस हजार) दूसरी बार—५,००० (पाँच हजार)

विषय-सूची

कल्याण, सौर चैत्र २०१९, मार्च १९६३

विषय पृष्ठ-संख्या

१–लक्ष्मीनारायण, लक्ष्मी, सरस्वती [कविता] ७४७

२–कल्याण (शिव) ··· ७४८

३–भगवत्प्राप्तिके विविध साधन (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· ७४९

४–प्रकाशका देश (महात्मा श्रीश्रीसीतारामदास ओंकारनाथजी महाराज) ··· ७५७

५–धर्मक्षेत्र (श्रीलक्ष्मीकान्तजी मिश्र, एम्० ए०, साहित्यरत्न) ··· ७६१

६–मधुर ··· ··· ७६७

७–श्रीराम (श्रीहरेशचन्दजी अग्रवाल, एम्० ए०) ७६८

८–ईश्वर कब हँसता है ? (श्रीराजेन्द्रप्रसादजी एम्० ए०) ··· ··· ७७३

९–राम-महिमा (प्रा० श्रीदेऊलगाँवकर चन्द्रकान्त) ··· ··· ७७४

१०–सुंदरता कहुँ सुंदर करई (डा० श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू, एम्० ए०, डी० लिट्०) ७७७

११- द्वादशाक्षर मन्त्र और गीता (श्रीगोविन्दराम पं० हूँदराजजी बोधा [यजुर्वेदी]) ··· ७७९

१२- हृदयमें मधुर गान रखकर आनन्दित होइये (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ··· ··· ७८३

१३–पारिवारिक जीवनकी दृढ़ भित्तियाँ—प्रेम, सहिष्णुता और सेवा (श्रीअगरचन्दजी नाहटा) ७८६

१४–करुण-प्रार्थना [कविता] ··· ७८८

१५–कौन सोचता है ? कौन व्यथित है ? (श्रीसुंदरलालजी बोहरा) ··· ७८९

१६–समर्पण [कविता] (पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम') ··· ७९१

१७–तीर्थ [कहानी] (श्री 'चक्र') ··· ७९२

१८–सुन्दरता क्या है ? (स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज) ··· ··· ७९४

१९–हिमालय-संरक्षण—देवालय-संरक्षण (श्रीओंकारमलजी सराफ) ··· ७९५

२०–वन्दना [कविता] (श्रीजगन्नाथजी मिश्र गौड़ 'कमल' विद्यालङ्कार) ··· ७९८

२१–जन्तु-जगत्की विशेषताएँ (डा० श्रीरामदयालजी भार्गव) ··· ७९९

२२–दीर्घसूत्रीसे ! (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') ८०१

२३–न्यायोपार्जित धनसे ही शान्ति मिलती है (श्रीभगवानदासजी चौधरी) ··· ८०२

२४–प्रभु प्रकाशसे भर देते हैं [कविता] ··· ८०२

२५–संस्कारकी बात (श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा) ८०३

२६–पढ़ो, समझो और करो ··· ८०५

चित्र-सूची

१–धर्मरथीको भगवान्का वरदान ··· ··· (रेखाचित्र) ··· मुखपृष्ठ

२–लक्ष्मीनारायण, लक्ष्मी, सरस्वती ··· ··· (तिरंगा) ··· ७४७

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण
भारतमें
विदेशमें
(१० पै

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

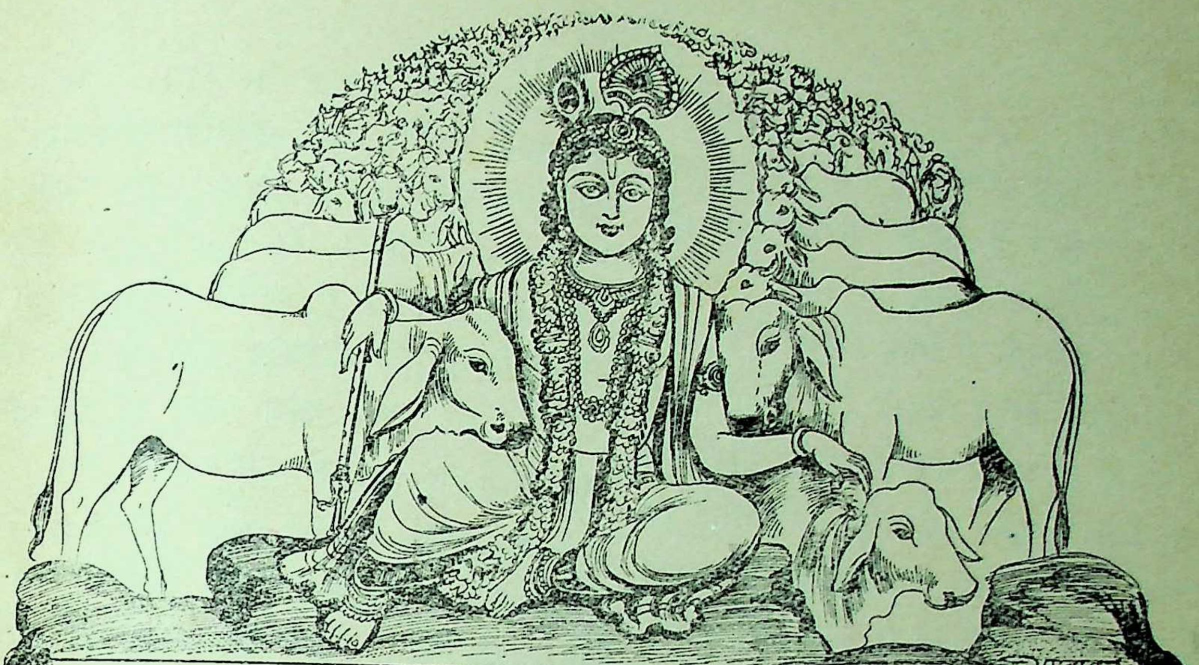

कल्याण

शुद्धतेजःस्वरूपं च भक्तानुग्रहविग्रहम् । अतीव कमनीयं च श्यामरूपं नमाम्यहम् ॥
परिपूर्णतमं शान्तं राधाकान्तं मनोहरम् । सत्यं ब्रह्मस्वरूपं च नित्यं कृष्णं नमाम्यहम् ॥

वर्ष ३७ } गोरखपुर, सौर चैत्र २०१९, मार्च १९६३ { संख्या ३
पूर्ण संख्या ४३६

लक्ष्मीनारायण, लक्ष्मी, सरस्वती

शक्ति-शक्तिधर श्रीलक्ष्मी-नारायण दें मंगल वरदान ।
मिटें अशान्ति-दुःख सबहीके, प्राप्त करें सुख-शान्ति महान् ॥
माँ लक्ष्मी कर कृपा, हरें दारिद्र्य, करें सौभाग्य प्रदान ।
माँ सरस्वती दें शुचि विद्या-बुद्धि, हरें सारा अज्ञान ॥

याद रक्खो—तुम्हारे पास तन-धन, विद्या-बुद्धि, शक्ति-बल, पद-ऐश्वर्य आदि जो कुछ है, सब भगवान्का है, सब उन्हींसे मिला है और सब उन्हींकी सेवाके लिये है। उनकी सेवामें लगनेपर ही सबकी सार्थकता है एवं तुम्हारे जीवनकी भी इसीमें सफलता है।

याद रक्खो—जहाँपर जिसको ऐसी किसी वस्तुकी आवश्यकता हो जो तुम्हारे पास है, तो यह समझो वहाँ उस वस्तुके यथार्थ स्वामी भगवान् ही तुमसे अपनी वह वस्तु चाह रहे हैं। अतएव विनम्रताके साथ आदरपूर्वक उनकी वस्तु उन्हें अर्पण कर दो और इसमें अपना सौभाग्य समझो।

याद रक्खो—किसी भी वस्तुके लिये तुम कभी यह न समझो कि यह तुम्हारी है और न उसके लिये अभिमान करो। अपने लिये जितनी कम-से-कम आवश्यकता हो, उतनी भगवान्का कृपाप्रसाद समझकर, ग्रहण करो और शेष सब उन्हींकी सेवामें लगाते रहो।

याद रक्खो—सभीमें सदा-सर्वदा भगवान् बस रहे हैं, वरं भगवान् ही समस्त अनन्त विविध रूपोंमें अभिव्यक्त हैं। यह समझकर सभीका मान करो, सभीसे प्रेम करो, सभीका आदरयुक्त हित करो। दीनोंमें दयालु बनकर मत जाओ, दीन होकर ही जाओ और उनके दुःखको अपना दुःख अनुभव करके उनका दुःख दूर करनेका प्रयत्न करो।

याद रक्खो—दूसरेके दुःखसे सहज दुखी होकर हृदयमें जो एक द्रवता होती है और उसे दूर करनेके लिये जो त्यागमयी वृत्ति उत्पन्न होती है, उसका नाम दया है। दया अपना-पराया नहीं देखती, दया अभिमान नहीं आने देती, दया सेवा तथा त्यागमें सुखका अनुभव कराती है, नम्रता लाती है और जिसकी सेवा तुमने की, उसके हृदयमें अपनी न्यूनताका उदय नहीं होने देती, बल्कि उसे भगवान्की कृपाका अनुभव कराती है। ऐसी दया—परदुःखको निज दुःखके रूपमें परिणत कर उसे तन-मन-धनसे दूर करनेकी स्वाभाविक प्रवृत्ति करानेवाली हृदयकी कोमलतम वृत्ति बहुत ही अच्छी चीज है। इसे अवश्य धारण करो, पर दयालुताका अभिमान न करो, अपनेको कभी बड़ा मत मानो।

याद रक्खो—दीनोंके सामने धनीपनकी शान दिखाना एक अपराध है। दीनोंमें दीनोंकी भाँति ही रहो। उन्हें जितना ऊँचा उठा सकते हो, उठाकर उन्हींके साथ-साथ अपना रहन-सहन भी ऊँचा कर लो। पर अपने वैभवका विज्ञापन मत करो, अपनेको प्राप्त वस्तुओंका अभिमान करके किसीका अपमान कभी न करो। ऊँचे बनो नीचे बनकर—विनम्र होकर—सबकी यथासाध्य सेवा करके।

याद रक्खो—किसी गरीबके सामने गर्वभरी वाणी बोलना, उसके साथ रूखा और कठोर व्यवहार करना भगवान्का अपराध है; क्योंकि उस गरीबके रूपमें भगवान् ही तुम्हारे सामने प्रकट हैं। अतएव सभीके साथ नम्र होकर मधुर वाणी बोलो; अपनी विनयविनम्र पियूषवर्षी वाणी तथा व्यवहारके द्वारा सर्वत्र शीतल मधुर सुधाकी धारा बहा दो; दुःखकी विष-ज्वालासे जलते हुए हृदयोंमें सुधा ढालकर उन्हें विषशून्य शीतल, शान्त और मधुर बना दो और यह सब करो केवल भगवान्की सेवाके लिये और करो सब कुछ उन्हींकी शक्ति, प्रेरणा और वस्तु मानकर। तुम्हारी निरभिमान त्यागमयी सेवासे भगवान् बड़े प्रसन्न होंगे और उनकी प्रसन्नता तुम्हारे जीवनको परम सफल बना देगी।

'शिव'

भगवत्प्राप्तिके विविध साधन

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

परमात्माकी प्राप्तिके लिये भगवान् और ऋषि-मुनियोंने बहुत-से साधन (उपाय) बतलाये हैं। उनमेंसे किसी भी एक साधनके अनुसार अभ्यास किया जाय तो निश्चय ही परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। ऐसे अभ्यास करनेयोग्य कुछ साधनोंका दिग्दर्शन यहाँ कराया जाता है—

(१) एक सच्चिदानन्दघन निर्गुण निराकार ब्रह्मके सिवा और कुछ भी नहीं है। एक विज्ञानानन्दघन ब्रह्म ही ब्रह्म है। उस आनन्दमय ब्रह्मका मनसे इस प्रकार मनन करना कि पूर्ण आनन्द, अपार आनन्द, शान्त आनन्द, घन आनन्द, अचल आनन्द, ध्रुव आनन्द, नित्य आनन्द, बोधस्वरूप आनन्द, ज्ञानस्वरूप आनन्द, परम आनन्द, महान् आनन्द, अचिन्त्य आनन्द, बस, एक आनन्दके सिवा और कुछ भी नहीं। इस प्रकार मनन करते-करते मन मनन-क्रियासे रहित हो उस आनन्दमय ब्रह्ममें तन्मय हुआ तद्रूप—विलीन हो जाता है। फिर, ऊपर बताये हुए विशेषणोंसे जो ब्रह्मका विशेष रूप बुद्धिके द्वारा समझमें आता है, उसको ध्येय (लक्ष्य) बनाकर ध्यान करना चाहिये। यहाँ ब्रह्म ध्येय है, बुद्धिकी वृत्ति ध्यान है और साधक ध्याता है। इस प्रकार ध्यान करनेपर बुद्धि तन्मय होकर तद्रूप हो जाती है। तब ध्याता, ध्यान और ध्येयविषयक त्रिपुटी नहीं रहती। केवल एकमात्र ब्रह्म ही रह जाता है। उस साधककी ब्रह्ममें स्थिति हो जाती है। यह सविकल्प समाधि है। इस सविकल्प समाधिमें ब्रह्मका नाम, रूप और ज्ञान रहता है। योगदर्शनमें इसको सवितर्क समाधि कहा गया है।

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः। (योगदर्शन १ । ४२)

'उनमें शब्द, अर्थ और ज्ञान—इन तीनोंके विकल्पोंसे संकीर्ण—मिली हुई समाधि सवितर्क है।'

इसके बाद जब साधक स्वयं ब्रह्ममें तद्रूप हो जाता है, तब वहाँ ये शब्द, अर्थ, ज्ञान नहीं रहते। केवल एक अर्थमात्र वस्तु—ब्रह्मका स्वरूप ही रहता है। यही निर्विकल्प समाधि है। इसको योगदर्शनमें निर्वितर्क समाधि कहा गया है।

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का। (योग० १ । ४३)

'शब्द और प्रतीतिकी स्मृतिके भलीभाँति लुप्त हो जानेपर अपने रूपसे शून्य हुईके सदृश केवल ध्येयमात्रके स्वरूपको प्रत्यक्ष करानेवाली चित्तकी स्थिति ही निर्वितर्क समाधि है।'

इसका फल परम गतिकी प्राप्ति है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥
(५ । १७)

'जिनका मन तद्रूप हो गया है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो गयी है और सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही जिनकी निरन्तर एकीभावसे स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्तिको अर्थात् परम गतिको प्राप्त होते हैं।'

(२) **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'**—(छान्दोग्य० ३ । १४ । १) जड-चेतन, चर-अचर जो भी कुछ है वह सब निःसंदेह परब्रह्म परमात्माका ही स्वरूप है—यों सबमें ब्रह्मबुद्धिका अभ्यास करना। इस साधनको भगवान्ने गीतामें यज्ञका रूपक देकर यों समझाया है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥
(४ । २४)

'जिस यज्ञमें अर्पण अर्थात् स्रुवा आदि भी ब्रह्म है और हवन किये जानेयोग्य द्रव्य भी ब्रह्म है तथा ब्रह्मरूप कर्ताके द्वारा ब्रह्मरूप अग्निमें आहुति देनारूप क्रिया भी ब्रह्म है—उस ब्रह्मकर्ममें स्थित रहनेवाले योगीद्वारा प्राप्त किये जानेयोग्य फल भी ब्रह्म ही है ।'

इस प्रकार जो मनुष्य सबमें परमात्मबुद्धि करके परमात्माके स्वरूपका ही सदा-सर्वदा अनुभव करता रहता है, वह उच्चकोटिका महापुरुष समझा जाता है ।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥
(गीता ७ । १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष, सब कुछ वासुदेव ही है—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है ।'

इसलिये सबमें ब्रह्मबुद्धि करनेका अभ्यास करना चाहिये; क्योंकि जो कुछ नाना रूपमें दीखता है वह एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही है, उसका ही विस्तार है । भगवान्ने गीतामें कहा है—

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥
(गीता १३ । ३०)

'जिस क्षण यह पुरुष भूतोंके पृथक्-पृथक् भावको एक परमात्मामें ही स्थित तथा उस परमात्मासे ही सम्पूर्ण भूतोंका विस्तार देखता है, उसी क्षण वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ।'

(३) एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके भावका और अन्य समस्त दृश्यरूप संसारको स्वप्नवत्, मायामात्र, कल्पित, अनित्य और असत् समझते हुए उसके अभावका अनुभव करना ।

भगवान् गीतामें बतलाते हैं—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥
(८ । २०)

'उस अव्यक्तसे भी अति परे दूसरा अर्थात् विलक्षण जो सनातन अव्यक्तभाव है वह परम दिव्य पुरुष सब भूतोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता ।'

इस प्रकार अभ्यास करनेपर उसके अनुभवमें प्रकृति और उसके कार्यका अभाव होकर एक विज्ञानानन्दघन ब्रह्म ही रह जाता है ।

(४) गीतामें अ० १८ श्लोक ४९ से ५५ तक ज्ञानकी निष्ठाके नामसे वर्णित ध्यानकी प्रणालीके अनुसार ज्ञाननिष्ठाकी दृष्टिसे एकान्तमें साधन करना । इस साधनसे भी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है ।

(५) गीतामें अ० १३ श्लोक ७ से ११ तक भगवान्ने जो ज्ञानकी प्राप्तिके साधन बतलाये हैं और जिनको भगवान्ने 'ज्ञान' संज्ञा दी है, उन साधनोंके अनुसार अपना जीवन बनाना । इस प्रकारका ज्ञानमय जीवन बनानेसे भी परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है ।

(६) जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँ परमात्माके स्वरूपका ही अनुभव करके मनको उसमें तन्मय कर देना—उसीमें लगा देना ।

कहा भी है—

यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः ।

अभिप्राय यह कि भगवान्के सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार जिस स्वरूपमें अपनी श्रद्धा, रुचि हो, उसीमें भेद या अभेदभावसे अपने मनका समाधान कर देना—भलीभाँति लगा देना और सर्वत्र मनसे उसीका अनुभव करना चाहिये । इस प्रकार अभ्यास करते-करते मन परमात्मामें तन्मय हो सकता है ।

(७) जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँसे हटाकर उसे अपने इष्टदेव परमात्माके निर्गुण, सगुण, निराकार या साकार स्वरूपमें लगानेका प्रयत्न करना ।

भगवान् गीतामें कहते हैं—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥
(६।२६)

'यह स्थिर न रहनेवाला और चञ्चल मन जिस-जिस शब्दादि विषयके निमित्तसे संसारमें विचरता है उस-उस विषयसे रोककर यानी हटाकर इसे बार-बार परमात्मामें ही लगावे।'

(८) अपने मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और शरीर—सबको पूर्णरूपसे भगवान्के समर्पण कर देना। यही भगवत्-शरणागति है। इसमें मनके द्वारा निरन्तर भगवान्का चिन्तन करना, भगवान्के सिवा और किसीका भी चिन्तन न करना—यह मनको भगवान्के अर्पण करना है (गीता ८। १४, ९। २२)। 'भगवान्के सिवा और कोई मेरा नहीं है'—बुद्धिके द्वारा ऐसा निश्चय करके एकमात्र भगवान्में ही अनन्य प्रेम करना—यह बुद्धिको भगवान्के अर्पण करना है (गीता ९। ३०)। 'भगवान् सबमें व्यापक हैं' ऐसा समझकर भगवद्भावसे सबका आदर-सत्कार और सेवा करना—यह इन्द्रियोंको भगवान्के अर्पण करना है (गीता १८। ४६)। तथा शरीरको अपना न मानकर भगवान्का मानना यानी शरीरमें अहंता-ममतासे रहित हो जाना और शरीरनिर्वाहके लिये जो भी कुछ आकर प्राप्त हो, उसमें संतुष्ट रहना—यह शरीरको भगवान्के अर्पण करना है। इस प्रकार भगवान्के शरण हो जानेसे भगवान्की प्राप्ति हो सकती है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥
(९। ३४)

'मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण हुआ तू मुझको ही प्राप्त होगा।'

(९) मन, वाणी, नाड़ी, श्वास, कण्ठ आदि किसीके द्वारा भी अपने परम इष्टदेव भगवान् राम, कृष्ण, शिव, विष्णु आदिके किसी भी नाम-रूपका परम प्रेम और श्रद्धाके साथ निष्कामभावसे निरन्तर जप-ध्यान करना।

योगदर्शनमें भी बतलाया गया है—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा। (योग० १। २३)

'ईश्वरप्रणिधानसे भी समाधिकी सिद्धि शीघ्र हो सकती है।'

तस्य वाचकः प्रणवः। (योग० १। २७)

'उस ईश्वरका वाचक (नाम) प्रणव (ॐकार) है।'

तज्जपस्तदर्थभावनम्। (योग० १। २८)

'उस ॐकारका जप और उसके अर्थस्वरूप परमेश्वरका चिन्तन करना चाहिये।'

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।
(योग० १। २९)

'उक्त साधनसे विघ्नोंका अभाव और आत्माके स्वरूपका ज्ञान भी हो जाता है।'

(१०) केवल एक भगवान्में अनन्य विशुद्ध प्रेम (अनुराग) करना। इससे भगवान्की शीघ्रातिशीघ्र प्राप्ति हो जाती है।

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥
(रा० च० मा० बाल० १८४। ३)

रामहि केवल प्रेम पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥
(रा० च० मा० अयोध्या० १३६। १)

किसी संस्कृत-कविने कहा है—

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का
कुब्जायाः किमु नाम रूपमधिकं किं तत्सुदाम्नो धनम्।
वंशः को विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषं
भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः॥

'व्याधमें क्या सदाचार था ? ध्रुवकी अवस्था ही कितनी थी ? गजराजमें ऐसी कौन विद्या थी ? कुब्जाके नाम-रूपमें कौन-सा उत्कृष्ट सौन्दर्य था ? सुदामाके पास क्या धन था ? विदुरका कौन-सा उच्च कुल था ? यादवपति उग्रसेनमें कहाँका पुरुषार्थ था ? भगवान् तो भक्तिके प्रिय हैं । वे केवल भक्तिसे ही संतुष्ट होते हैं, गुणोंसे नहीं ।'

अतः भगवान्में प्रेम करना ही मनुष्यका परम कर्तव्य है । भगवान्में प्रेम होनेके अनेक उपाय हैं । भगवान्में प्रेम होनेकी तीव्र लालसा जाग्रत् रहनेसे स्वाभाविक ही भगवान्में प्रेम हो जाता है । 'एकमात्र भगवान् ही हमारे हैं' इस प्रकार भगवान्के प्रति अपनत्वके भावसे भगवान्में प्रेम हो जाता है जैसे सांसारिक विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति—प्रेम हो जाता है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
(गीता २ । ६२ का पूर्वार्ध)

इसी प्रकार भगवान्का चिन्तन करनेवालेका भगवान्में प्रेम हो जाता है। भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवसे कहा है—

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते ॥
(श्रीमद्भा० ११ । ४१ । २७)

'जो पुरुष निरन्तर विषय-चिन्तन किया करता है उसका चित्त विषयोंमें फँस जाता है और जो निरन्तर मेरा स्मरण करता है उसका चित्त मुझमें ही तल्लीन हो जाता है ।'

केवल भगवान्के नाम-स्मरणसे भी भगवान्में प्रेम होता है—

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदयँ सनेह बिसेषें ॥
(रा०च० मा० बाल० २० । ३)

भगवान्के और भगवद्भक्तोंके जीवन-चरित्रोंको पढ़नेसुननेसे भी भगवान्में प्रेम होता है । भगवान्में दृढ़ श्रद्धा-विश्वास होनेसे भी भगवान्में प्रेम होता है औ सत्संगसे भी भगवान्में प्रेम होता है । सत्संगके लि श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग ॥
(रा० च० मा० उत्तर० ६१

भगवान्के शरण होकर करुणाभावपूर्वक स्तुति प्रार्थना करनेसे भी प्रेम होता है एवं भगवान्के गुण प्रभावका तत्त्व-रहस्य समझनेसे भी भगवान्में प्रेम होता है।

इस प्रकार भगवान्में प्रेम होनेके और भी बहुत उपाय हैं । और कुछ चाहे हो या न हो, भगवान् श्रद्धाविश्वासपूर्वक दृढ़ अनुराग होना परम आवश्यक है इसलिये भगवान्में विशुद्ध और अनन्य प्रेम-अनुराग होने लिये उपर्युक्त उपायोंको करनेकी चेष्टा तत्परताके सा प्राणपर्यन्त करनी चाहिये । इससे भगवान्में परम प्रे होकर भगवान्की प्राप्ति हो सकती है ।

(११) भगवान्के साथ दास्य, सख्य, वात्सल्य माधुर्य आदि किसी भी प्रकारके भावसे सम्बन्ध स्थापि करना । जैसे, भगवान् श्रीकृष्णके प्रति गोपियोंका स भावसे युक्त विशुद्ध परकीय माधुर्य भाव था, रुक्मि आदि पटरानियोंका कान्ताभावसे युक्त स्वकीय माधु भाव था, अर्जुनका दास्य और सख्य भाव था, गो बालकोंका केवल सख्य भाव था, श्रीनन्द-यशोदा औ वसुदेव-देवकीका वात्सल्य भाव था, अक्रूरका दास्य भा था । इसी प्रकार भगवान् श्रीरामके प्रति दशरथ-कौसल्या का वात्सल्य भाव था, भरत-लक्ष्मण-शत्रुघ्न-हनुमान् दास्य भाव था, सीताका माधुर्य भाव था, विभीषणका दा और सख्य भाव था, सुग्रीवका सख्य भाव था एवं श्रीतुल दासजीका केवल दास्य भाव था । इसीसे श्रीतुलसीदास कहते हैं—

सेवक सेब्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धांत बिचारि ॥
(रा० च० मा० उत्तर० ११९ क)

वस्तुतः भाव ही प्रधान है। बिना भावके किसी भी क्रियाका विशेष मूल्य नहीं है। अतः हमलोगोंको अपनी श्रद्धा, विश्वास और रुचिके अनुसार किसी भी भावसे भावित होकर भगवान्‌के साथ सम्बन्ध स्थापित करना चाहिये।

(१२) भगवान्‌की सत्ता, स्वरूप, गुण, प्रभाव, महिमा और उनके वचनोंमें प्रत्यक्षसे भी बढ़कर दृढ़ श्रद्धा-विश्वास करना। तात्पर्य यह कि भगवान् सम्पूर्ण दिव्य अलौकिक गुणोंसे सम्पन्न हैं। उनके समान कोई गुणी नहीं है। न भगवान्‌के समान कोई प्रभावशाली है। वे सर्वशक्तिमान्, सर्वसमर्थ, असम्भवको भी सम्भव कर सकनेवाले और समस्त सौन्दर्यके महान् केन्द्र हैं। संसारमें जो भी कुछ गुण, प्रभाव, महिमा, ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य आदि प्रतीत होता है, वह सब भगवान्‌के गुण, प्रभाव, सौन्दर्य आदिके एक अंशका आभासमात्र है। भगवान् हैं, मिलते हैं, अनेक मनुष्योंको मिले हैं, मुझे भी अवश्य मिलेंगे—इस प्रकार जो भगवान्‌के सम्बन्धमें प्रत्यक्षसे भी बढ़कर दृढ़ विश्वास है, वह परम श्रद्धा है एवं जैसे, महर्षि हारिद्रुमत गौतमके वचनोंमें जबालाके पुत्र सत्यकामकी परम श्रद्धा थी, जिसके फलस्वरूप उसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो गयी (छान्दोग्य० ४। ४–९); उससे भी बढ़कर गीतादिमें कहे हुए जो भगवान्‌के वचन हैं उनमें दृढ़ विश्वास करके मनुष्यको उनके अनुसार चलना चाहिये। इससे बहुत शीघ्र कल्याण हो सकता है; क्योंकि श्रद्धाकी कमीके कारण ही परमात्माकी प्राप्तिमें विलम्ब हो रहा है। परम श्रद्धा होनेपर फिर परमात्माकी प्राप्तिमें कोई विलम्ब नहीं। भगवान् गीतामें कहते हैं—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥
(४। ३९)

'जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्बके—तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

(१३) भगवान् शिव, विष्णु, राम, कृष्ण आदि अपने इष्टदेवका आह्वान करके, मनसे उनको अपने सम्मुख उपस्थित देखकर चरणसे लेकर मस्तक तक उनके प्रत्येक अङ्गका दर्शन करते हुए मुग्ध होना और भगवान्‌के स्वरूपकी मानसिक सामग्रियोंसे बहुत प्रेमपूर्वक मानसिक पूजा करना। इस पूजामें पत्र, पुष्प, फल, जल आदि पूजाकी सभी सामग्री मानसिक है, भगवान्‌का स्वरूप भी मानसिक है और पूजा करनेवाला साधक भी अपने मानसिक शरीरसे ही पूजा करता है। मन्त्रोंका उच्चारण और पूजाकी सारी क्रिया भी मानसिक होती है। यह श्रद्धा-प्रेमपूर्वक की हुई मानसिक पूजा बाहरी मूर्तिपूजाकी अपेक्षा श्रेष्ठ है; क्योंकि बाहरी पूजामें तो मन इधर-उधर चला जाता है। किंतु इस मानसिक पूजामें मन अन्यत्र नहीं जा सकता; क्योंकि इस पूजामें सभी कुछ मानसिक है। यदि मन ही अन्यत्र चला जाय तो फिर यह पूजा ही कैसे हो ? चाहे मानसिक पूजा हो चाहे मूर्तिपूजा, श्रद्धा-प्रेमपूर्वक की गयी पूजाको भगवान् स्वीकार करते हैं। वे स्वयं कहते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
(गीता ९। २६)

'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ।'

(१४) यम-नियमोंका पालन करते हुए एकान्त स्थानमें सिद्धासन, पद्मासन, स्वस्तिकासन आदि किसी भी आसनसे बैठकर प्राणायामका अभ्यास करना और विषयोंसे इन्द्रियोंका सम्बन्ध विच्छेद करके एकदेशमें

यानी परमात्माके सगुण स्वरूपमें ही चित्तको एकाग्र करके परमात्माका ध्यान करना। इस प्रकार साधन करनेसे मनुष्यकी समाधि होकर उसे परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

महर्षि पतञ्जलिजी कहते हैं—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।
(योग० २। २९)

‘यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये आठ योगके अङ्ग हैं।’

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।
(योग० २। ३०)

‘अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरीका अभाव), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (संग्रहका अभाव)—ये पाँच यम हैं।’

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।
(योग० २। ३२)

‘शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरशरणागति—ये पाँच ‘नियम’ हैं।’

स्थिरसुखमासनम्। (योग० २। ४६)

‘निश्चल (हलन-चलनसे रहित) सुखपूर्वक बैठनेका नाम ‘आसन’ है।’

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।
(योग० २। ४९)

‘आसन सिद्ध होनेके बाद श्वास और प्रश्वासकी गतिका रुक जाना ‘प्राणायाम’ है।’ प्राणवायुका शरीरमें प्रविष्ट होना श्वास है और बाहर निकलना प्रश्वास है, इन दोनोंकी गतिका रुक जाना प्राणायाम है।

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः।
(योग० २। ५०)

‘उक्त प्राणायाम बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति और स्तम्भवृत्ति—ऐसे तीन प्रकारका होता है। तथा वह देश, काल और संख्याद्वारा देखा जाता हुआ लंबा और हल्का होता है।’

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः। (योग० २। ५१)

‘बाहर और भीतरके विषयोंका त्याग कर देनेसे अपने-आप होनेवाला चौथा प्राणायाम है।’

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।
(योग० २। ५४)

‘अपने विषयोंके सम्बन्धसे रहित होनेपर जो इन्द्रियोंका चित्तके स्वरूपमें तदाकार हो जाना है, वह ‘प्रत्याहार’ है।’

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। (योग० ३। १)

‘बाहर या शरीरके भीतर कहीं भी किसी एक देशमें चित्तको ठहराना ‘धारणा’ है।’

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। (योग० ३। २)

‘जहाँ चित्तको लगाया जाय, उसीमें वृत्तिका एकतार चलना ‘ध्यान’ है।’

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।
(योग० ३। ३)

‘जब ध्यानमें केवल ध्येयमात्रकी ही प्रतीति होती है और चित्तका निज स्वरूप शून्य-सा हो जाता है, तब वही (ध्यान ही) समाधि हो जाता है।’

(१५) संसारके जितने भी विषय-भोग हैं वे वस्तुतः रसरहित हैं। ऐसा समझकर रागद्वेषरहित और वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा न्याययुक्त विषयोंका ग्रहण करते हुए उनको इन्द्रियोंमें विलीन कर देना।

गीतामें कहा गया है—

शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥
(४। २६ का उत्तरार्ध)

‘दूसरे योगी लोग शब्दादि समस्त विषयोंको इन्द्रियरूप अग्नियोंमें हवन किया करते हैं।’

इस प्रकार करनेसे साधककी दृष्टिमें सभी विषय-भोग रसहीन हो जाते हैं । फिर इन्द्रियोंका विषयोंके साथ सम्बन्ध होनेपर भी उसपर वे अपना प्रभाव नहीं डाल सकते । इस प्रकारका साधन करनेवाला पुरुष भी सनातन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है । (गीता ४।३१)

इसलिये मनुष्यको राग-द्वेषसे रहित होकर मन-इन्द्रियोंको वशमें करके संसारमें विचरण करना चाहिये । इस प्रकार अभ्यास करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होकर उसकी परमात्मामें स्थिति हो जाती है । भगवान्ने बतलाया है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥
(गीता २ । ६४-६५)

'अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक तो अपने वशमें की हुई रागद्वेषसे रहित इन्द्रियोंद्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है । अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर इसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्न चित्तवाले कर्मयोगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर एक परमात्मामें ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है ।'

(१६) संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंका और शरीरका विस्मरण करके पूर्णरूपसे संकल्परहित हो एक चिन्मय परमात्माका ही चिन्तन करना । इस प्रकार अभ्यास करते-करते जब अन्तःकरणका भलीभाँति संयम हो जाता है, तब चिन्मय परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है । फिर उसका शरीर और संसारसे वास्तवमें कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता । गीतामें बतलाया गया है—

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥
(४ । २७)

'दूसरे योगीजन इन्द्रियोंकी सम्पूर्ण क्रियाओंको और प्राणोंकी समस्त क्रियाओंको ज्ञानसे प्रकाशित आत्मसंयमयोगरूप अग्निमें हवन किया करते हैं ।'

अतः शरीर और संसारके संकल्पों और स्फुरणाओंसे रहित होकर केवल एक चिन्मय परमात्माका ही चिन्तन करना चाहिये ।

(१७) शरीर, वाणी और मनके द्वारा निष्काम-भावसे तपका अनुष्ठान करना ।

भगवान् कहते हैं—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥
(गीता १७ । १४)

'देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनोंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीर-सम्बन्धी तप कहा जाता है ।'

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥
(गीता १७ । १५)

'जो उद्वेग न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है तथा जो वेद-शास्त्रोंके पठनका एवं परमेश्वरके नाम-जपका अभ्यास है, वही वाणीसम्बन्धी तप कहा जाता है ।'

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते ॥
(गीता १७ । १६)

'मनकी प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवच्चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरणके भावोंकी भलीभाँति पवित्रता—इस प्रकार यह मनसम्बन्धी तप कहा जाता है ।'

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥
(गीता १७ । १७)

'फलको न चाहनेवाले योगी पुरुषोंद्वारा परम श्रद्धासे किये हुए उस पूर्वोक्त तीन प्रकारके तपको सात्त्विक कहते हैं ।'

इस त्रिविध तपका श्रद्धापूर्वक निष्कामभावसे अनुष्ठान करनेपर भी भगवत्प्राप्ति हो सकती है ।

(१८) निष्कामभावसे कर्म करनेकी जो प्रणाली गीता २ । ४७ से ५१ तक बतायी गयी है, जिसका नाम कर्मयोग है उसके अनुसार साधन करना ।

इस कर्मयोगके साधनसे भी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है ।

(१९) गीता १६ । १-२-३ में दैवीसम्पदाके नामसे वर्णित सद्गुण-सदाचारका भलीभाँति सेवन करना और गीता १६ । ४, ७ से २१ तक आसुरीसम्पदाके नामसे वर्णित दुर्गुण-दुराचारका सर्वथा त्याग करना ।

इस प्रकार आसुरीसम्पदाके त्याग और दैवीसम्पदाके सेवनसे भी मनुष्यका कल्याण हो सकता है ।

(२०) वीतराग पुरुषोंका चिन्तन करना ।

श्रीपतञ्जलिजीने कहा है—

वीतरागविषयं वा चित्तम् । (योग० १ । ३७)

'वीतरागको विषय करनेवाला चित्त भी स्थिर हो जाता है ।'

अभिप्राय यह है कि श्रीशुकदेवजी आदि जो विरक्त महापुरुष हुए हैं, उन महापुरुषोंका चिन्तन करनेसे मनमें स्वाभाविक ही वैराग्य होकर संसारसे उपरति हो जाती है तथा परमात्मामें ध्यान लगकर समाधि हो जाती है ।

यदि विरक्त महात्माकी पहचान न हो सके तो अपनी मान्यताके अनुसार जिस महापुरुषमें श्रद्धा-विश्वास हो उसीका ध्यान करना चाहिये ।

(२१) सुखी मनुष्योंके प्रति मित्रता, दुखी मनुष्योंके प्रति दया, धर्मात्मा मनुष्योंके प्रति मुदिता और पापी मनुष्योंके प्रति उपेक्षा करना ।

श्रीपतञ्जलिजीने बतलाया है—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ।
(योग० १ । ३३)

'सुखी मनुष्योंमें मित्रताकी, दुखी मनुष्योंमें दयाकी, पुण्यात्मा पुरुषोंमें प्रसन्नताकी और पापियोंमें उपेक्षाकी भावना करनेसे चित्त शुद्ध—निर्मल हो जाता है ।'

चित्त शुद्ध होनेपर मनुष्य परमात्माकी प्राप्तिका पात्र हो जाता है । किंतु प्राणीमात्रके प्रति निष्कामभावसे दया और प्रेम करनेका अभ्यास करनेसे तो सहज ही चित्त शुद्ध होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है ।

भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥
(१२ । ४ का उत्तरार्ध)

'वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं ।'

श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

परहित बस जिन्ह के मन माहीं । तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं ॥
(रा० च० मा० अरण्य० ३० । ५)

ऊपर जो इक्कीस साधन बतलाये गये हैं, इनका स्वरूप भलीभाँति हृदयङ्गम करनेके लिये उनमें संकेत किये हुए गीताके श्लोकोंकी विस्तृत व्याख्या गीता-तत्त्वविवेचनी टीकामें देख सकते हैं । इनके सिवा और भी बहुत-से साधन हैं । उन साधनोंमेंसे किसी एकका भी अनुष्ठान अच्छी प्रकार श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे किया जाय तो निस्संदेह उसे परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है ।

◆

प्रकाशका देश

(लेखक—महात्मा श्रीश्रीसीतारामदास ओंकारनाथजी महाराज)

[गताङ्क पृष्ठ ७०६ से आगे]

[शिव-राम-संवाद]

'अ'कार पृथ्वी, अग्नि, ऋग्वेद और ब्रह्मा है। 'उ'कार अन्तरिक्ष, वायु, यजुर्वेद और जनार्दन विष्णु है। 'म'कार द्यौः, सूर्य, सामवेद और महेश्वर है।

राम—मनमें बड़ी गड़बड़ मच रही है—मान लो, मैं राम-राम करने लगा, तो इससे क्या मिलेगा?

शिव—राम-राम करते-करते राम तुम्हें दर्शन देंगे। रामनाम पूरा हो जायगा, फिर तुम राम उच्चारण नहीं कर सकोगे। तुम यदि नित्यलीलाकी इच्छा रखते होओगे तो चिन्मय नित्य साकेतमें राम-सीताको प्राप्त करके उनका कैङ्कर्य करोगे और यदि वह आकाङ्क्षा नहीं होगी तो एकीभूत हो जाओगे।

राम—ओंकार कहाँ है?

शिव—वह आकाशकी भाँति विश्वव्याप्त हो रहा है। सबके भीतर-बाहर वही विराजमान है। उसकी इच्छा हुई थी 'बहुत होकर प्रकट होऊँगा।' अतः वही सब कुछ सजकर खेल कर रहा है।

राम—तुम मुझे जरा समझाकर कहो।

शिव—परम व्योम चिदाकाशमें सृष्टिके आदिमें स्पन्दन हुआ—

'बहु स्यां प्रजायेयेति'

बहुत होकर जन्म लूँगा। यह प्रथम स्पन्दन ही परब्रह्म ओङ्कार है—महाकाशमें विश्वहीन विश्वमें सर्वत्र 'ॐ ॐ ॐ' की ध्वनि होती रहती है। आकाश वायुमें ॐकार नादलीला करता रहता है। ॐकारनाद ही प्रकृति है, वही माया है, तमःतप ज्ञानप्रधान है, शक्ति अज परमाणु है। ये सभी ॐकारनादके नाम हैं। उसी शब्दमय परमाणुसे वायु, वायु स्थूल होकर अग्नि, अग्नि स्थूल होकर जल, जल स्थूल होकर पृथ्वी—ये सभी भूत ॐकार-नादरूप परमणुसे ही संजात हैं। उससे आधिदैविक—चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, देवतागण; आधिभौतिक—मनुष्य, पशु-पक्षी-कीट-पतङ्ग, वृक्ष-लता, सागर-नद-नदी, पर्वत, सोना-चाँदी-लोहा-ताँबा आदि धातुएँ—संक्षेपमें समस्त पार्थिव पदार्थ और आध्यात्मिक—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ आदि इन्द्रियोंका उदय हुआ।

राम—हमारा यह देह कहाँसे हुआ?

शिव—ॐकारनाद ही जमकर हो गया। जैसे जल जमकर बरफ हो जाता है, वैसे ही ॐकारनाद जमकर देह बन गया।

राम—देह मेरा है, मैं कौन हूँ?

शिव—तुम जीवात्मा हो, ज्योतिर्मय नादात्मक ॐकार हो—तुम हो कुल-कुण्डलिनी।

राम—वह निराकार है या साकार?

शिव—वह निराकार है, साकार है, साकार-निराकार दोनोंसे अतीत है।

राम—बात ठीक समझमें नहीं आयी।

शिव—तुम यदि निराकाररूपसे उसकी उपासना करोगे तो उसके निराकार स्वरूपमें मिल जाओगे; यदि साकाररूपकी उपासना करोगे तो त्रिपादविभूतिमें जो उसकी नित्यलीला चलती है, उस नित्यलीलामें साथी हो जाओगे।

राम—त्रिपादविभूति कहाँ है और कैसी है?

शिव—अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंके ऊर्ध्वपर 'कोटिसूर्य-

समप्रभ कोटिचन्द्रसुशीतल'—प्रकाशका देश—ज्योतिका राज्य है। उसका नाम परमपद है। इसीसे वह सबका काम्य है।

राम–तब गायत्रीकी उपासनाके द्वारा हमलोग उसी प्रकाशके राज्यमें जायँगे ?

शिव–हाँ, परमपद सभीके लिये काम्य है। निर्गुण उपासक उस परमपदको प्राप्त करके उसमें मिल जाते हैं और भक्तगण, जो उस परमपदके अधीश्वर हैं, उनकी सेवा करके कृतार्थ होते हैं। गायत्री-जपके द्वारा ब्राह्मण पुरुषोत्तम ॐकारमें मिल जाते हैं। अद्वैत ब्रह्मकी प्राप्ति ही ब्राह्मणका लक्ष्य है।

राम–गायत्रीका अर्थ क्या है ?

शिव–भूर्भुवः स्वः—तीनों लोकोंके प्रसविता देवके उस तेजका चिन्तन करते हैं, जो तेज हमलोगोंकी बुद्धि-वृत्तियोंको उनकी ओर प्रेरण करता है।

राम–तीन लोक ही क्यों, लोक तो सात हैं ?

शिव–सात लोक तीन लोकोंमें ही हैं। कोई-कोई अर्थ करते हैं कि भूः आदि सातों लोकोंमें व्याप्त ॐकारस्वरूप विश्वप्रसविता ज्योतिर्मय देवके उस तेजका ध्यान करते हैं जो तेज हमारी बुद्धि-वृत्तिसमूहको धर्म, अर्थ, काम, मोक्षकी ओर प्रेरित करता है। आचार्योंने गायत्रीके अनेक प्रकार अर्थ किये हैं। सार बात यही है कि गायत्रीके द्वारा तेजोमय ॐकारका ही ध्यान किया जाता है। गायत्री-जप करते-करते ज्योतिका आविर्भाव अपने-आप ही हो जाता है।

राम–गायत्री-जप कहाँ करना चाहिये ?

शिव–

गृहेषु तत्समं जप्यं गोष्ठे शतगुणं स्मृतम्।
नद्यां शतसहस्रं तु अनन्तं शिवसंनिधौ॥
(गोभिल)

घरमें जप सम होता है, गोष्ठमें जप करनेपर सौगुणा हो जाता है, नदी-तीरपर लाखगुणा और शिवजीके समीप जप करनेपर वह अनन्तगुणा होता है।

दशभिर्जन्मजनितं शतेन च पुराकृतम्।
त्रियुगं तु सहस्रेण गायत्री हन्ति दुष्कृतम्॥

दस बार गायत्री-जप करनेपर इस जन्मके, सौ बार जपनेपर पूर्वकृत और हजार बार जपनेपर तीनों युगोंके पापोंका नाश हो जाता है।

राम–ऐसा ही होता हो तो फिर मनुष्य इतना कष्टमें क्यों है ?

शिव–जिस प्रकारसे जप करनेपर पाप-नाश होते हैं, ठीक उस प्रकारका जप ब्रह्मचर्यहीनता, आहारका दोष, उच्चारणकी भूलें आदि कारणोंसे होता नहीं। तथापि जप करते-करते उसकी कृपा क्रमशः पापोंका नाश करती रहती है। वह उच्चारणको ठीक कर देती है।

सहस्रपरमां देवीं शतमध्यां दशावराम्।
गायत्रीं तु जपेद् विप्रो न स पापेन लिप्यते॥

नित्य सहस्र गायत्रीका जप श्रेष्ठ, सौ जप मध्यम और दस जप अधम है। जो विप्र गायत्रीका जप करता है, वह पापसे लिप्त नहीं होता।

राम–गायत्रीकी खूब महिमा है।

शिव–गोभिल कहते हैं—

'अष्टकृत्वः एकादशकृत्वः द्वादशकृत्वः पञ्चदशकृत्वः शतकृत्वः सहस्रकृत्वः'—

आठ बार, ग्यारह बार, बारह बार, पंद्रह बार, सौ बार और सहस्र बार जप किया जाता है। आठ बारके जपसे पृथ्वीपर विजय प्राप्त होती है, ग्यारह बारके जपसे अन्तरिक्षपर, बारह बारके जपसे स्वर्लोकपर, पंद्रह बारके जपसे सब दिशाओंपर, सौ बारके जपसे सबपर और हजार बारके जपसे जो कुछ भी देखा-सु जाता है—सबपर विजय प्राप्त की जा सकती है।

राम–विजय प्राप्त करनेका क्या अभिप्राय है ?

शिव–चित्तने बहिर्मुख होकर संसारकी रचना क ली है, गायत्री-जपके द्वारा चित्त अन्तर्मुख हो जाता है

प्राण सुषुम्णामें प्रवेश कर जाते हैं। चित्तके अन्तर्मुख होनेपर बृहद् ब्रह्माण्डपर विजय प्राप्त हो गयी और प्राणोंके सुषुम्णामें प्रवेश करनेपर क्षुद्र ब्रह्माण्डपर।

नरसिंहपुराणमें कहा गया है—

सहस्रपरमां देवीं शतमध्यां दशावराम्।
गायत्रीं यो जपेन्नित्यं न स पापैर्हि लिप्यते॥

प्रतिदिन सहस्र बार जप करना उत्तम, सौ बार जप करना मध्यम और दस बार अधम है। जो नित्य सहस्र गायत्रीजप करता है, वह पापसे लिप्त नहीं होता।

लक्षद्वादशयुक्तस्तु पूर्णब्राह्मण इङ्गितः।
गायत्र्या लक्षहीनस्तु वेदकार्ये न योजयेत्॥
(शिव० विद्येश्व० ११।४६।६७)

एक लाख जप करनेपर ही ब्राह्मणोचित कर्म करनेकी योग्यता प्राप्त होती है। बारह लाख जप करनेवाला पूर्ण ब्राह्मण होता है।

राम—बारह लाख गायत्री-जपमें कितने दिन लगते हैं?

शिव—प्रतिदिन एक हजार जप करनेपर तीन वर्ष चार महीनेमें १२ लाख गायत्री-जप हो जाता है। सात्त्विक आहार और ब्रह्मचर्यका नियम लेकर जो १२ लाख गायत्री-जप कर लेते हैं, वे असाध्य साधन कर सकते हैं।

राम—गायत्री-जपसे ही सब कुछ हो जाता है, फिर संध्या करनेकी क्या आवश्यकता है?

शिव—ॐकारकी व्याख्या है—सप्रणव व्याहृति गायत्री, शिवके साथ गायत्री। और गायत्रीकी संक्षिप्त व्याख्या है—संध्या; और चतुर्वेद, षड्दर्शन, समस्त शास्त्र, रामायण, महाभारत, भागवत आदि सब गायत्री-की विस्तृत व्याख्या हैं।

राम—रामायण-भागवतमें तो श्रीराम और श्रीकृष्णकी लीला-कथाएँ हैं।

शिव—ॐकार ही श्रीराम और श्रीकृष्ण हैं।

राम—ठीक समझ नहीं पा रहा हूँ।

शिव—समझना कठिन है। जाने दो—संध्याके मन्त्रमें जलको जगज्जननी कहा गया है और उसकी प्रार्थना की गयी है। सूर्यकी प्रार्थना है। सभी एकमात्र भगवान् हैं—यही संध्याके मन्त्रोंमें बताया गया है। जीवका मूल लक्ष्य है—'सभी कुछ भगवान् हैं'—इस ज्ञानको प्राप्त करना। संध्याके द्वारा यह ज्ञान प्राप्त होता है। सप्रणव गायत्री और गायत्री-शिरके द्वारा पर-अपर ब्रह्म ॐकारका स्वरूप बतलाया गया है।

ॐ भूः ॐ भुवः ॐ स्वः ॐ महः ॐ जनः ॐ तपः ॐ सत्यं—

ये सात व्याहृति गायत्रीका निम्न भाग हैं। गायत्रीका शिर है—**आपः ज्योतिः रसः अमृतं, ब्रह्म, भूर्भुवः स्वः ओम्।** समस्त जल, सम्पूर्ण ज्योतिः, सब रस और अमृत ब्रह्म अपर प्रणव है। भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों कालोंमें—भूर्भुवः स्वः—ये तीन कालातीत त्रिपादविभूति हैं। नित्य चिन्मय परम ब्रह्म ॐकार इस त्रिपादविभूतिमें ही भक्तोंका परमपद वैकुण्ठ, गोलोक, वृन्दावन, साकेत, कैलास और परम ब्रह्मलोक है। अपर प्रणव सप्तलोक व्याप्त है। यहाँ माया या कालका खेल चलता है और त्रिपादविभूति है कालातीत परम लोक।

राम—यह सब नहीं समझ सका।

शिव—संध्या करो, नित्य एक सहस्र गायत्री-जप करनेकी चेष्टा करो। क्रमशः सब अपने-आप ही समझ सकोगे।

ॐकारं पितृरूपेण गायत्रीं मातरं तथा।
पितरौ यो न जानाति स विप्रस्त्वन्यरेतजः॥
(देवीभागवत)

ॐकार पिता है, गायत्री माता है। जो विप्र इन पिता-माताको नहीं जानता उसे दूसरेके वीर्यसे उत्पन्न समझना चाहिये।

राम—संध्या-गायत्रीकी बात तो सुनी, परंतु इसमें ठीक रस नहीं मिलेगा । घरमें जिससे सभी आनन्द प्राप्त करें और मुझे जिससे सहज ही आनन्दकी प्राप्ति हो, ऐसा कोई मार्ग बताओ ।

शिव—तुमलोग तो रामोपासक हो ?

राम—हाँ, घरमें श्रीरामका विग्रह है, हम सबने राममन्त्र लिया है । वैसे कोई भोग नहीं लगाया जाता, केवल चावल चढ़ाया जाता है ।

शिव—नित्य प्रातःस्नान, यथाकाल संध्या, तुलसी-सेवा किया करो । फिर कलियुगके—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ॥

—इस महामन्त्रका प्रातः-संध्या सब लोग मिलकर जप-कीर्तन करना, ठाकुरजीके अन्नभोगकी व्यवस्था करना, इष्टदेवताको केवल चावल चढ़ानेसे अपराध होता है । घर ठाकुरजीका है । उनके घरमें मछली, मांस, प्याज आदिको न घुसने देना । अधिक दिन नहीं, तीन महीने इस नियमका पालन करके देखो । केवल तुम्हीं नहीं, घरभरके सभी स्त्री-पुरुष आनन्द-राज्यमें पहुँच जाओगे । जलन तो इसीसे है कि आनन्दमयको भूल गये हैं । आनन्दमय श्रीभगवान्का नाम उठते, बैठते, खाते, सोते सब समय लिया करो । नाम और नामी भिन्न नहीं हैं । नाम लेते-लेते शीघ्र ही उनका पता लग जायगा । भगवान् हैं और अब भी दर्शन देते हैं ।

राम—और क्या करना चाहिये ?

शिव—शामको रोज रामायण पढ़कर सबको सुनाना । राम-राम करना । कब क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये—इसकी व्यवस्था वे स्वयं भी कर देंगे । उन्होंने कहा है—मैं उसको वह बुद्धियोग देता हूँ जिसके द्वारा शरणागत भक्त मुझको प्राप्त कर लेता है ।

भाई ! बहुत जन्म-जन्मान्तरोंकी साधनाके फलस्वरूप मानवदेहकी प्राप्ति होती है । इस देहका मुख्य लक्ष्य है—'ईश्वर-दर्शन' । जीवनका बहुत-सा अंश व्यर्थ चला गया है । अभीसे यह चेष्टा करो, जिससे अब एक श्वास भी व्यर्थ न जाय ।

राम—एक बात और याद आ गयी ।

शिव—बताओ !

राम—अच्छा, गायत्री-जप करनेपर ज्योति मिलती है, सो हमलोग तो रोज ही सूर्य और चन्द्रमाकी ज्योति देखते हैं,—बिजली और गैसकी रोशनीमें भी ज्योति है । गायत्री-जपसे यदि ज्योति ही मिलती है, तो फिर उस ज्योतिके लिये जप क्यों किया जाय ?

शिव—इस ज्योति और उस ज्योतिमें भेद है । वह ज्योति भर्ग-ज्योति है । भर्ग शब्दका अर्थ है भूँज देना। ब्रह्मज्योति मनुष्यके अनन्त जन्मोंके काम-कर्मोंको भूँज डालती है । इससे फिर कर्मोंका अंकुर नहीं उत्पन्न होता । जापक आत्मस्वरूपमें मिल जाता है । हाँ, यह ज्योति आँखोंके द्वारा देखी जाती है; पर उस ज्योतिको जापक आँखें बंद करके भीतरकी आँखोंसे देख पाता है । पहले खण्डरूपमें दर्शन होता है, उसके बाद अनन्त आकाशकी भाँति 'कोटिसूर्यसमप्रभ कोटिचन्द्रसुशीतल' परम ज्योतिके पारावारमें सदाके लिये निमज्जित हो जाता है । यही प्रकाशका देश ही सबके लिये एकमात्र काम्य है ।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥
(कठोपनिषद् २ । २ । १५)

उस पुरुषोत्तम ॐकारको सूर्य प्रकाशित नहीं कर सकता, चन्द्रमा और तारे भी नहीं प्रकाशित कर सकते, फिर यह जागतिक अग्नि तो कैसे उसे प्रकाशित कर

सकती है ? वह स्वयं प्रकाशमान है, अतः सब उसीके प्रकाशसे प्रकाश पाते हैं, उसीकी ज्योतिके द्वारा यह सब विविध रूपोंमें प्रकाशित हो रहा है ।

सर्वदिशाओंमें व्याप्त वह पुरुषोत्तम ॐकार ही सबसे पहले हिरण्यगर्भरूपमें प्रकट हुआ । वही ब्रह्माण्डमें विराट्-रूपमें रहता है । उसीने फिर मनुष्यादिके शिशुरूपमें जन्म लिया और लेगा । वही समस्त जीवोंके भीतर रहता है । इसलिये वह सर्वतोमुख है । अर्थात् सब प्राणियोंका मुख उसीका मुख है ।

यो देवोऽग्नौ यो अप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश ।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः ॥

जो स्वयम्प्रकाश पुरुषोत्तम ॐकार अग्निमें स्थित है, जो जलमें अधिष्ठित है, जो शाली धान आदि ओषधियोंमें वर्तमान है, जो अश्वत्थादि वनस्पतियोंमें विराजमान है—उस ज्योतिर्मय ॐकारको बार-बार प्रणाम करता हूँ ।'

ॐ तत्सत् ॐ

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ॥
जय गुरु, जय नाम, जय भगवान्

धर्मक्षेत्र

(लेखक—श्रीलक्ष्मीकान्तजी मिश्र, एम्० ए०, साहित्यरत्न)

धर्म और समाज

सामान्यतया मानव-जीवनके लिये धर्म सदैवसे ही एक गूढ़ विषय रहा है । संसारका कोई भी ऐसा भाग नहीं जहाँ धर्म किसी-न-किसी रूपमें वर्तमान न हो, यद्यपि देश, काल और परिस्थितियोंके अनुसार किसी स्थानपर धर्मका क्या रूप होगा, यह नहीं कहा जा सकता । जिन लोगोंके विचारोंमें किसी परम्परागत धर्मको मान्यता नहीं प्राप्त है, वे भी व्यापक धर्मके किसी-न-किसी अङ्गको स्वीकार कर जीवन-यापन करते हैं । जिस किसी समयसे धर्मका प्रारम्भ माना जाय, यहाँतक कि मानवकी वह अवस्था जब कि किसी समाज-व्यवस्थाका प्रारम्भ नहीं हुआ था या उसके पहलेके किसी रूपमें यह नहीं कहा जा सकता कि धर्मका किसी कालविशेषमें प्रारम्भ हुआ । परंतु धर्म किसी स्पष्ट रूपमें उस समय ही आ पाया, जब मानवके समक्ष एक सामाजिक व्यवस्था आयी । आज धर्मका समाजसे कोई अलग भी रूप हो सकता है, ऐसे विचार नहीं उठते । क्रमशः मानवके सामाजिक जीवनका विकास होता गया और धर्मका रूप भी समाजके लिये स्पष्ट होता गया । आज जब मनुष्यकी परिभाषा करते हैं तो मनुष्य एक 'बौद्धिक प्राणी है' के स्थानपर 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है' पर अधिक जोर देते हैं । यद्यपि इनमें कोई आन्तरिक या बाह्य विरोध नहीं है परंतु पहली एक सामान्य परिभाषा है और दूसरीमें मनुष्यके सम्बन्धमें समाजको महत्त्व दिया गया है । आज मनुष्यके लिये प्रायः असम्भव है कि वह समाजके सभी सम्बन्धोंसे अलग होकर अपना जीवन-यापन कर सके । इसीलिये आधुनिक विचारक जे० कृष्णमूर्तिने यहाँतक कह दिया है कि जीवित रहना सम्बन्धित होना है (To be is to be related) । जहाँ सम्बन्ध है वहाँ समाजका कोई-न-कोई रूप अवश्य होगा । इस आधारपर धर्म हमारे लिये समाजसे परे कोई वस्तु नहीं रह जाती और समाजका अर्थ किसी-न-किसी समाज-धर्मसे ही लिया जाता है ।

धर्मके विभिन्न रूप

इस प्रकार धर्मका सामाजिक रूप निश्चित होनेपर तत्सम्बन्धित अनेक विचार उठते हैं । धर्म क्या है ? धर्मका मनुष्यके व्यक्तिगत या सामाजिक जीवनसे क्या सम्बन्ध है ? धर्मका लक्ष्य और फल क्या है ? आदि । भारतीय मनीषियोंने बहुत पहलेसे ही धर्मका रूप निश्चित कर रक्खा है । इस विवेचनमें 'जो धारण करे वही धर्म है', 'वेदोक्त प्रेरणा ही धर्म है' आदि अनेक रूप प्रस्तुत किये गये हैं, जिनके अनुसार भारतीय संस्कृतिका निर्माण हुआ है । इसके अतिरिक्त धर्मका सामाजिक व्यवस्थाके साथ जब सम्बन्ध देखते हैं तो धर्मके अनुसार अर्थ और कामकी प्राप्ति करते हुए मोक्ष पानेकी बात कही गयी है । इसीलिये धर्म, अर्थ, काम और मोक्षमें धर्मको प्रथम स्थान मिला है । स्पष्ट है कि बिना धर्म

सामाजिक जीवनका व्यवस्थित रूप सम्भव ही नहीं लगता । नैतिक रूपमें भी नीतिशास्त्रके मूल विचार कि 'प्रत्येक मनुष्यको साधन नहीं साध्य समझना चाहिये' केअनुसार भी धर्मयुक्त व्यवहार ही मान्य ठहरता है । इसी आधारपर मोक्षकी प्राप्तितक धर्म सदैव आगे-आगे चलता है । सामाजिक और नैतिक पक्षमें धर्मका यह रूप तभी चल सकता है, जब मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक रूपोंमें धर्मकी सिद्धि हो । धर्म बाह्य आचरणमें उसी समय आ सकता है जब धर्मको मनद्वारा स्वीकार किया जाय । मनद्वारा ग्रहण करनेका अर्थ है—धर्मकी भावना बन जाना । जबतक सिद्धान्त भावनाके रूपमें नहीं बदल जाता, तबतक उसमें कार्यशक्ति नहीं होती । सिद्धान्त विचाररूपमें ही रहनेपर व्यावहारिक नहीं बन सकते । इस प्रकार धर्म भाव बन जानेपर व्यावहारिक एकताका निर्माण होता है । इसी व्यावहारिक एकताकी परिणति आध्यात्मिक रूपमें हो जाती है । चाहे भारतीय सामाजिक व्यवस्थापर विचार किया जाय अथवा अन्य किसी प्रकारकी व्यवस्थाको देखा जाय, व्यावहारिक एकता सभी जगह मान्य है । बिना इसके कोई भी कार्य सुचारु रूपसे चल ही नहीं सकता । इसीको यहाँपर वेदोक्त प्रवृत्तिरूप धर्म (कर्मयोग) कहा गया है । आचार्य शंकरने अपने गीता-भाष्यमें इसका उल्लेख किया है—

स भगवान् सृष्ट्वा इदं जगत् तस्य च स्थितिं चिकीर्षुः मरीच्यादीन् अग्रे सृष्ट्वा प्रजापतीन् प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं ग्राहयामास वेदोक्तम् ।

—अर्थात् इस जगत्को रचकर इसके पालन करनेकी इच्छावाले उस भगवान्ने पहले मरीचि आदि प्रजापतियोंको रचकर उनको वेदोक्त प्रवृत्तिरूप धर्म (कर्मयोग) ग्रहण करवाया । इसके बाद निवृत्तिरूप धर्म (ज्ञानयोग) का निरूपण किया है—

'ततः अन्यान् च सनकसनन्दनादीन् उत्पाद्य निवृत्तिलक्षणं धर्मं ज्ञानवैराग्यलक्षणं ग्राहयामास ।'

अर्थात् फिर उनसे अलग सनक, सनन्दनादि ऋषियोंको उत्पन्न करके उनको ज्ञान और वैराग्य जिसके लक्षण हैं ऐसा, निवृत्तिरूप धर्म (ज्ञानयोग) ग्रहण करवाया । इस प्रकार प्रवृत्तिरूप धर्मसे व्यावहारिक रूपकी और निवृत्तिरूप धर्मसे आध्यात्मिक रूपकी सिद्धि होती है । इन्हीं दोनों पक्षोंमें सभी प्रकारसे सामञ्जस्य स्थापित करना व्यावहारिक धर्म और पारमार्थिक धर्म, कर्मयोग और ज्ञान, बुद्धि और मन, विचा और भावनाको एक साथ साधना है । इसीलिये आचा शंकरने कहा है—

जगतः स्थितिकारणं प्राणिनां साक्षाद् अभ्युदयनिःश्रेयस हेतुः यः स धर्मो ब्राह्मणाद्यैः वर्णिभिः आश्रमिभिः श्रेयोऽर्थिभिः अनुष्ठीयमानः ।

जो जगत्की स्थितिका कारण तथा प्राणियोंकी उन्नति और मोक्षका साक्षात् हेतु है एवं कल्याणकामी ब्राह्मणा वर्णाश्रम अवलम्बियोंद्वारा जिसका अनुष्ठान किया जाता उसका नाम धर्म है । धर्मकी इस परिभाषामें उत्पत्ति, स्थि और लय, सामाजिक व्यवस्था, प्राणियोंका विकास और मो आदिका समावेश है । इस प्रकार धर्मका यह रूप एका नहीं रह जाता । सभी देश, काल और परिस्थितियोंमें धर्मका विधान हो सकता है । इस प्रकार धर्मका वह रूप समाप्त हो जाता है जो किसी वर्ग या सम्प्रदायमें सीमित और यहाँ धर्मकी एक व्यापक पृष्ठभूमि बन जाती है ।

धर्मक्षेत्र और कुरुक्षेत्र

गीताकी पृष्ठभूमिमें यही व्यापक धर्म है । इसी आधार कुरुक्षेत्र धर्मक्षेत्रके रूपमें है । 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' से गीताका प्रारम्भ हुआ है, उसे यदि किसी व्यावहारिक मान्यता अनुसार ग्रहण किया जाय तो गीता किसी विशिष्ट देश, और परिस्थितिमें ही महत्त्वपूर्ण होगी । वस्तुतः गीता सीमामें किसी भी प्रकार नहीं बाँधी जा सकती । यदि होता तो गीता आजके लिये महत्त्वपूर्ण नहीं कही जा सकती यह हो सकता है कि कुरुक्षेत्रके सभी लोगोंके लिये 'धर्मक्षेत्र' के रूपमें न हो, परंतु 'धर्मक्षेत्र' के लिये किसी मान्यताका कोई प्रभाव नहीं है । यदि इस विचारको न र हुए कुरुक्षेत्रकी विशिष्ट परिस्थितियोंतक धर्मक्षेत्रको जाय तो फिर भगवान् श्रीकृष्णको 'धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवा युगे युगे' क्यों कहना पड़ता ? वस्तुतः धर्मके क्षेत्रमें ही स्थापनाकी बात हो सकती है । इसीलिये केवल कुरुक्षेत्र धर्मक्षेत्र नहीं हो सकता । युग-युगमें धर्मक्षेत्र है और रूपमें यह धर्मक्षेत्र जीवनका धर्मक्षेत्र कहा जा सकता है । प्रकार यह प्राणियोंका धर्मक्षेत्र बन जाता है जो किसी वि परिस्थितिकी सीमाके अन्तर्गत नहीं है । कुरुक्षेत्रको ही धर्म माननेसे काम नहीं चलता । यदि यह माना जाय तो कुरुक्षेत्र ऐतिहासिक महत्त्व है और वह इतिहासकारके लिये महत्त्व

होगा। महाभारतका कुरुक्षेत्र एक ऐतिहासिक घटनामात्र रह जायगा। केवल ऐतिहासिक महत्त्ववाले कुरुक्षेत्रके लिये धर्मक्षेत्र कहकर गीता-ज्ञानका उपदेश कम समझमें आता है। स्पष्ट है कि गीता-ज्ञानका उपदेश किसी देश, कालकी सीमासे नहीं बँधा है। उसके ज्ञानका आन्तरिक महत्त्व है जिसकी परिणति व्यवहारमें होती है।

युगके अनुसार धर्म

युगके अनुसार परिस्थितियोंमें परिवर्तन होता है। इन्हीं परिस्थितियोंके आधारपर किसी युगकी कुछ मान्यताएँ बनती हैं, उन्हें उस विशिष्ट युगकी विशेषताएँ कह सकते हैं। गीताका सम्बन्ध युगकी अलग-अलग विशेषताओंसे नहीं हो सकता; क्योंकि यदि ऐसा माना जाय तो उसके लिये सीमित और एकाङ्गी होनेका आक्षेप आता है। गीता वस्तुतः विभिन्न युगोंकी समस्त विशेषताओंके मूलको पकड़कर चलती है। यही कारण है कि आजतक संतों और विद्वानोंने उसमें वही पाया है जिसकी उन्होंने कामना की। उन्हें गीतामें अपनी सभी समस्याओंका समाधान मिला। इसका कारण है गीताका मानव-प्रवृत्तियोंके सूक्ष्म निरीक्षणसे वास्तविक और उचित समाधान प्रस्तुत करना, जो लोगोंके व्यावहारिक अथवा आध्यात्मिक विचारोंके लिये उपयोगी सिद्ध हुआ है।

स्वधर्म और परधर्म

धर्मकी व्यापक अनुभूतिमें दो पहलू सामने आते हैं। जहाँ धर्म व्यक्तिगत अनुभवों और प्रवृत्तियोंके अनुसार स्वाभाविक रूपमें ग्रहण किया जाता है, वहाँ 'स्वधर्म' और जहाँ व्यक्तिके लिये सामाजिक सम्बन्ध आते हैं वहाँ 'परधर्म'की बात आती है। यहाँ स्वधर्म और परधर्म दोनों ही धर्मक्षेत्रके अन्तर्गत आते हैं। व्यक्तिगत रूपमें तो सभीके लिये स्वधर्मकी बात ठीक जान पड़ती है, परंतु सम्बन्धके लिये सबके साथ परधर्मकी बात लगी हुई है। स्वधर्मका पालन करते हुए भी परधर्मसे छुटकारा नहीं मिल जाता। व्यक्तिगत शान्तिके अतिरिक्त सामाजिक शान्ति परधर्मको ध्यानमें रखनेपर ही आ सकेगी। यद्यपि स्वधर्म तो सबके लिये है, परधर्मके साथ बिना सामञ्जस्य स्थापित किये स्वधर्म स्वाभाविक रूपसे चल सकेगा, यह नहीं कहा जा सकता। स्वधर्मके पालनमें यदि परधर्म विरोधी है तो एक समस्या खड़ी हो जायगी। फिर भी जब वास्तविक बात आती है तो स्वधर्म प्रधान और परधर्म गौण हो जाता है। गीतामें स्वधर्म और परधर्मके लिये कहा है—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥
(३।३५)

अर्थात् परधर्मकी अपेक्षा गुणरहित भी अनुष्ठान किया हुआ अपना धर्म कल्याणकर है। स्वधर्ममें स्थित पुरुषका परधर्ममें स्थित पुरुषके जीवनकी अपेक्षा मरण भी श्रेष्ठ है; क्योंकि दूसरेका धर्म भयदायक है।

इसके आगे भगवान् श्रीकृष्णने अध्याय १८ में इसका निरूपण किया है—

स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥
(१८।४७)

स्वभावसे नियत किये हुए कर्मोंको करता हुआ मनुष्य पापको प्राप्त नहीं होता।

इस प्रकार स्वधर्मके पालनमें स्वभावका विशेष महत्त्व है। प्रत्येक व्यक्तिके लिये स्वभावके अनुसार काम करना भी सरल और सुखप्रद होगा। फिर क्यों परधर्मकी बात आती है? यदि सामाजिक व्यवस्थापर विचार किया जाय तो परधर्मके पालनमें ही गड़बड़ी फैलती है। जब अपने नियत कर्मको कोई नहीं करेगा तो यह धर्मक्षेत्र कभी व्यवस्थित नहीं रहेगा। परधर्मके पालनमें ही सामाजिक और व्यक्तिगत, बाह्य और आन्तरिक संघर्ष होते हैं। वर्तमान जीवनमें संघर्षोंके बढ़नेका कारण भी यही है कि लोग अपने स्वाभाविक कर्मोंको करनेकी अपेक्षा दूसरोंके कर्मोंको अपनानेकी लालसा रखते हैं। आजके लोग दूसरोंसे ऐसा चाहते भी हैं। श्रीअरविन्द इसका उल्लेख इस प्रकार करते हैं—'आधुनिक बुद्धिके लिये मनुष्य एक विचारक-कार्यकर्त्ता या उत्पादक और योद्धा सब एक साथ हैं और सामाजिक व्यवस्थाकी प्रवृत्ति भी इन सब क्रियाओंको एकत्र करनेकी है तथा प्रत्येक व्यक्तिसे आध्यात्मिक, आर्थिक, सैनिक जीवन और सामाजिक आवश्यकताओंके लिये उसका सहयोग पानेकी आशा की जाती है, जब कि उसके व्यक्तिगत स्वभाव और आवश्यकताओंपर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। प्राचीन भारतीय सभ्यतामें व्यक्तिके स्वभाव, प्रकृति और प्रवृत्तिपर विशेष जोर दिया गया है और इसके अनुसार ही नैतिक प्रकार, सामाजिक कार्य और स्थान निश्चित किये गये थे—वर्तमान

समाजमें धर्मकी स्थापना तभी हो सकेगी जब कि व्यक्ति-धर्मको महत्त्व दिया जायगा। इस प्रकार समाजकी व्यवस्थाका आधार केवल बाहरी विधान और आदर्श ही नहीं रहेंगे, वरं उसके लिये आन्तरिक पृष्ठभूमि बनेगी और तभी स्वधर्मके पालनकी बात सहज हो सकेगी ! यहाँ परधर्मके साथ किसी प्रकार विरोध नहीं रह जायगा, परंतु दोनोंमें आन्तरिक एकता और सामञ्जस्य होगा।

वर्तमान धर्म, भौतिकवाद, विज्ञानवाद और अध्यात्म

आज जब स्वधर्म और परधर्मके सम्बन्धमें विचार करते हैं तो उनका कोई निश्चित रूप सामने नहीं आता। स्वधर्म तो फिर भी सबके लिये समानरूपसे महत्त्व रखता है परंतु परधर्मका किसी व्यक्तिके लिये क्या रूप है, यह वह भी सरलतासे निश्चित नहीं कर सकता; क्योंकि स्वधर्मको ही ठीक प्रकारसे समझ पाना उसके लिये साधारणतया कठिन है। इसका कारण है व्यक्तिकी भौतिकवादी, विज्ञानवादी आदि विचारधाराएँ, जिनके प्रभावके कारण व्यक्तिको स्वधर्मके समझनेमें कठिनाई होती है। स्वधर्मके अनुसार अथवा यह कहा जा सकता है कि अपने स्वभावके अनुसार व्यक्ति कार्यकी ओर प्रेरित तो होता है, परंतु विवेक न होनेके कारण तथा मनःप्रवृत्तियोंके विकृत होनेके कारण वह अपने मार्गसे विचलित हो जाता है। वर्तमान समयमें भौतिकवादी और विज्ञानवादी अपने वाह्य आवरणको सत्य मानकर और उसमें भ्रमित होकर किस दिशाकी ओर जा रहे हैं यह उन्हें भी ठीक प्रकारसे ज्ञात नहीं। यद्यपि धर्मके व्यापक रूपमें ये सब भी आ जाते हैं, परंतु जहाँ भौतिकवाद ही केवल सत्य माना जाता है, वहाँ उसका दृष्टिकोण एकाङ्गी हो जाता है। भौतिकवादी प्रवृत्ति कोई वर्तमान कालकी ही हो यह बात नहीं। संसारके प्रारम्भसे ही उसके भौतिक रूपको महत्त्व दिया गया है, परंतु बादमें मानवकी व्यापक अनुभूतिने इन सबको एक साथ आत्मसात् कर लिया। इसीलिये 'नेति नेति'के निरूपणमें मानवने जहाँ ज्ञानकी पराकाष्ठापर जाकर तत्त्वकी पूर्ण अनुभूतिके सम्बन्धमें असमर्थता प्रकट की, वहाँ 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'के रूपमें एक व्यापक अनुभूति भी प्राप्त हुई, जिसमें 'यह ही' के स्थानपर 'यह भी' आ गया। इस प्रकार जीवनका प्रत्येक रूप एक विशाल इकाईमें समा गया और वहाँ किसी वर्गको स्थान नहीं मिला। इस आधारपर भौतिकवाद हो या विज्ञानवाद—सभी अपनी चरम अवस्थामें उसी इकाईमें लीन हो जाते हैं। वैचित्र्य और संघर्ष तो मध्य अवस्थामें ही दिखायी पड़ता है। आधुनिक भौतिकवाद और विज्ञानवाद अपनी मध्य अवस्थामें ही अध्यात्मसे अलग रह सकते हैं। इसी अवस्थामें प्रत्येकके धर्म अलग-अलग होंगे और यहींपर वर्ग और सम्प्रदायके संघर्ष होंगे। इस प्रकार 'यह ही सत्य'के स्थानपर 'यह भी सत्य' की अनुभूति जबतक प्राप्त नहीं होगी, तबतक वर्गविहीनता भौतिक, वैज्ञानिक और आध्यात्मिक किसी भी दृष्टिकोणमें नहीं आ सकती। फलतः स्वधर्म और परधर्ममें सामञ्जस्य लाना प्रायः असम्भव होगा। इस जीवनके धर्मक्षेत्रमें उसी धर्मकी स्थापना करना है जिससे व्यक्ति अपने पूर्णत्वमें स्वधर्म और परधर्मको समा सके। तभी मानवका वास्तविक कल्याण होगा।

वर्तमान समाज और धर्म, व्यष्टि और समष्टि

वर्तमान समाज और गीता-धर्म उन्हीं लोगोंको अलग-अलग दिखायी पड़ते हैं, जिन्होंने अपनी व्यष्टिकी इकाईको समष्टिकी इकाईमें लीन नहीं कर दिया। इसीलिये आजका समाज गीता-धर्मको सरलतासे नहीं समझ पाता। यद्यपि नैतिक आधारपर तो यह कहा जा सकता है कि व्यक्तिके स्थानपर समाज महत्त्वपूर्ण है, परंतु समाजके महत्त्वपूर्ण होनेपर 'व्यक्तिको संतोष क्यों नहीं है ?' इस प्रश्नका समाधान कैसे होगा ? वस्तुतः व्यष्टि जबतक समष्टिकी इकाई बनकर नहीं रहेगी और समष्टि जबतक व्यष्टिकी इकाईको महत्त्व प्रदान नहीं करेगी, तबतक न तो व्यक्ति सुखी होगा और न समाज व्यवस्थित होगा।

वैसे तो व्यक्ति-धर्म (समाजके अङ्गके रूपमें), समाजधर्म (सामाजिक आदर्शोंके रूपमें), देशधर्म (सांस्कृतिक वैचित्र्यके रूपमें) आदिके भिन्न-भिन्न पहलू हैं, जिनपर आवश्यकतानुसार जोर दिया गया है, परंतु यहाँ भी देशके लिये स्वधर्म और विदेशके लिये परधर्म होनेपर वही समस्या आ खड़ी होती है। हमारे देशका धर्म सबके लिये 'स्वधर्म' बना हुआ है और इसे ही समष्टि मान लिया गया है, फिर किसी देशकी समष्टि (यदि कोई मान ली जाय) अन्य देशकी समष्टिके साथ समन्वय क्यों नहीं कर पाती ? स्पष्ट है कि वर्तमान समयमें किसी विशिष्ट देशमें ही धर्मक्षेत्र

मान लेनेका अर्थ है, किसी देश-व्यष्टिका संसार-समष्टिमें असामञ्जस्य और इसका परिणाम होगा संघर्ष । वर्तमान युगमें संसारमें तनाव होनेका कारण भी यही है । पहले महाभारतके भीतर ही कुरुक्षेत्र था, अब पूरे संसारमें कुरुक्षेत्र होगा । उस समय कुरुक्षेत्र धर्मक्षेत्र था, इसीलिये 'धर्मसंस्थापनार्थाय' की बात हो सकी, परंतु अबका कुरुक्षेत्र यदि धर्मक्षेत्र न बन सका तो परिणाम क्या होगा उसका अनुमान ही लगाया जा सकता है । यदि संसारके धर्मक्षेत्र होनेकी सम्भावना न हो तो संसारके विभिन्न देशोंके कर्णधारोंका जीवन ही धर्मक्षेत्र बन जाय, यही बहुत है । इसीलिये व्यक्ति, समाज या देशधर्मकी अपेक्षा संसार-धर्म इस वैज्ञानिक युगमें पहले है । परंतु इस धर्मकी सिद्धि भी स्वधर्मके पालनसे ही हो सकेगी, जिसका परधर्मसे कोई विरोध नहीं ।

धर्म, कर्म, भक्ति और ज्ञान

आध्यात्मिक क्षेत्रमें भी कर्म, भक्ति और ज्ञानका व्यष्टिवादियोंने अलग-अलग निरूपण किया है और इस क्षेत्रमें भी विभिन्न मत हैं । यद्यपि सभीने धर्मको मान्यता दी है, वह चाहे किसी रूपमें हो, परंतु कर्मवादियोंके लिये धर्मका अर्थ कुछ दूसरा है और भक्ति तथा ज्ञानमें धर्म किसी अन्य रूपमें है । यह तो ठीक है कि स्वभाव और अनुभवके आधारपर ही कर्म, भक्ति अथवा ज्ञानकी ओर प्रवृत्ति होती है और उसे ही स्वधर्मके रूपमें स्वीकार किया जाता है, परंतु दूसरेके ज्ञान-स्वधर्म या भक्ति-स्वधर्ममें भेद क्यों किया जाता है ? सिद्धान्त-निरूपणके बाह्य आडम्बरमें चाहे कुछ भी समझ लिया जाय, परंतु संतोंकी अपरोक्षानुभूतिने तीनों (कर्म, भक्ति और ज्ञान) की एकताको ही देखा है । यह हो सकता है कि अवस्था-विशेषमें किसी एककी प्रधानता हो, परंतु स्वतन्त्ररूपमें कोई भी नहीं रह सकता । इसके लिये प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं होती, बल्कि एकके पूर्ण साधनमें दूसरे स्वतः आ जाते हैं ।

धर्म बाह्य और आन्तरिक

मनुष्य-जीवनके इस धर्मक्षेत्रके दो पहलू हैं—बाह्य और आन्तरिक । इन्हीं दोनोंके सामञ्जस्यके लिये मनुष्यका प्रयास रहता है । यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि प्राणी बिना अपनेको वातावरणके अनुकूल बनाये रह ही नहीं सकता । मनुष्यके लिये आन्तरिक और बाह्य सामञ्जस्य दोनोंकी आवश्यकता होती है, परंतु उससे निम्नश्रेणीके प्राणियोंके लिये केवल बाह्यवातावरणसे सामञ्जस्य रखनेकी आवश्यकता होती है । इसी आधारपर मनुष्य जहाँ बाह्य जगत्में समाज, देश, परिस्थितियों आदिसे सम्बन्धित है, वहाँ उसका अपना अन्तर्जगत् भी है जिसमें अपने विचारों और अनुभवोंके आधारपर विचरण करता है । यही उसका मानस लोक है । मनुष्यके लिये इन दोनों क्षेत्रोंमें सामञ्जस्य रखना भी अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि अन्तर्जगत्की अनुभूतियोंके आधारपर ही बहिर्जगत्का निर्माण होता है । मनुष्यके लिये मानसलोकका प्राणी इसीलिये कहा गया है कि उसके बाह्य-जीवनका संचालन इसीके द्वारा होता है । गीतामें स्वधर्मका विवेचन इसी मानस-लोकके आधारपर किया गया है, जिसमें व्यक्तिके स्वभाव, विचार आदि बनते हैं । यद्यपि बाह्य धर्मोंका निर्माण इसीके आधारपर हुआ है, परंतु अन्तर्धर्मका बाह्यरूपमें जब स्पष्टीकरण होता है तो उसमें परिस्थितिजन्य विकार आ जाते हैं । इसके अतिरिक्त अन्तर्धर्म अशुद्ध हृदय होनेके कारण भी विकारयुक्त हो जाता है, क्योंकि जबतक मनुष्यमें काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि होंगे, तबतक उसे अपने वास्तविक अन्तर्धर्मका ज्ञान नहीं होगा । फलतः वह स्वधर्मके पालन करनेमें असमर्थ होगा । गीता-धर्मका उद्देश्य यही है कि व्यक्ति काम, क्रोध, लोभ आदि मानसिक विकारोंसे रहित शुद्ध-हृदयसे युक्त, हानि-लाभ, जय-पराजय, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंमें स्थिरबुद्धिवाला, सिद्धि-असिद्धिमें समताभावसे सम्पन्न और निष्पक्ष भावसे लोकसंग्रहकी भावना लेकर अपनी आत्म-तुष्टिमें ही व्यावहारिक जीवनका पालन करे, जिसमें अन्तर्धर्म और बाह्य-धर्ममें किसी प्रकारका असामञ्जस्य न हो । वस्तुतः आत्म-ज्ञानका व्यष्टि और समष्टिरूपमें ठीक निरूपण इसी आधारपर किया जा सकता है । मानव-जीवनका विकास और उसके उद्देश्यकी प्राप्ति इसीमें निहित है ।

धर्मसे मोक्षतक

भारतीय विचारकोंके लिये मोक्ष एक रुचिपूर्ण एवं गहन विषय रहा है, परंतु मोक्ष-प्राप्तिके साधनोंके सम्बन्धमें सब एकमत नहीं प्रतीत होते । जनसाधारणके लिये भी मोक्ष सबसे बड़ा आकर्षण है । यहाँपर जीवनका चरम उद्देश्य मोक्ष पाना ही है । सैद्धान्तिक विवादोंसे अलग मोक्षके लिये आत्माका परमात्मासे पूर्ण तादात्म्य होनेमें प्रायः सभी एकमत हैं । इसके

साथ ही बाह्य अवस्थाओंसे अलग होकर आन्तरिक रूपमें ही मोक्षकी बात मानी गयी है, इसीलिये **'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'** अर्थात् इस मनुष्यके लिये मन ही बन्धन और मोक्षका कारण है—की बात कही गयी है। जहाँतक मानसिक अवस्थाकी बात है, वहाँ प्रत्येकके लिये पूर्ण स्वतन्त्रता है; क्योंकि मन ही परिस्थितियोंके बन्धनसे अलग होनेमें समर्थ है। गीतामें इसका निरूपण किया गया है—

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥
(५ । २८)

अर्थात् जिसके इन्द्रिय, मन और बुद्धि वशमें किये हुए हैं, जो मननशील और मोक्षपरायण है तथा जो इच्छा, भय और क्रोधसे रहित हो चुका है वह सदा मुक्त ही है। उसे कोई दूसरी मुक्ति प्राप्त नहीं करनी है।

इसके अतिरिक्त मोक्षके लिये एकत्व-ज्ञानका भी निरूपण किया गया है—

ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥
(९ । १)

विज्ञानसहित अर्थात् अनुभवसहित ज्ञान जिस ज्ञानको जानकर तू संसाररूप बन्धनसे मुक्त हो जायगा।

यहाँपर ज्ञानका अद्वैतरूप ही है। **'वासुदेवः सर्वमिति'**—सब कुछ वासुदेव ही है—**'आत्मैवेदं सर्वम्'**—आत्मा ही यह समस्त जगत् है, **'एकमेवाद्वितीयम्'**—ब्रह्म अद्वितीय एक ही है, आदि श्रुति-स्मृतियोंमें स्पष्ट किया गया है। परंतु इन्द्रिय-निग्रह और इस एकत्व-ज्ञानके साथ भगवान् श्रीकृष्णने मोक्षके लिये सभी धर्मोंको त्यागनेके लिये भी कहा है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
(गीता १८ । ६६)

अर्थात् सब धर्मोंको छोड़कर मुझ एककी शरणमें आ, मैं तुझे धर्माधर्मबन्धनरूप सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा।

इस प्रकार सब धर्मोंको त्याग इन्द्रिय-निग्रह करके मोक्ष होनेपर भी लोकसंग्रहार्थ कर्म करना चाहिये; क्योंकि यह समस्त जगत् आत्मा ही है **'आत्मैवेदं सर्वम्'**। अतः गीतामें कर्मशून्यतारूप वैयक्तिक मोक्षका प्रतिपादन नहीं किया गय है। ज्ञान-प्राप्तिरूप मोक्षके पानेपर व्यक्ति लोकसंग्रहके लि समर्थ होता है। **'आत्मदीपो भव'**—आत्माको प्रकाशि करो—से भी इसकी पुष्टि होती है। जिस प्रकार अपने घर दीपक जला लेनेपर ही व्यक्ति दूसरेके घरका दीपक ज सकता है, उसी प्रकार आत्मज्ञान होनेपर ही यथार्थ लोकसं हो सकेगा। इसीलिये वैयक्तिक मोक्षके साथ सामाजिक मो की बात आती है। इसी आधारपर भक्त प्रह्लादने भगवान यह वर माँगा था—

प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्तिकामा
मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः ।
नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एकः

अर्थात् अपनी मुक्तिकी कामना करनेवाले देव और मु अबतक काफी हो चुके हैं जो जंगलमें जाकर मौन साध किया करते थे, किंतु उनमें परार्थनिष्ठा नहीं थी, लेकिन अकेला इन सब कृपणजनोंको छोड़कर मुक्त होना नहीं चाहता

इसी प्रकार भगवान् बुद्धने भी अकेले निर्वाण प्राप्त करनेकी बात कही थी। श्रीअरविन्द भी इसका प्रतिपाद करते हैं—वहाँ मोक्ष प्रकृतिसे परे भी है, परंतु उसका धार भी है, हमारे व्यक्तित्वका पूर्णत्व है, परंतु संसार और अ लोगोंके सम्बन्धमें भी पूर्णत्व है। इसलिये बिना इस पृथ्व की परवा किये वैयक्तिक मोक्ष हमारा उच्चतम लक्ष्य नहीं है दूसरोंके मोक्ष और आत्मपूर्णत्वसे हमारा उतना ही मतल है—हम यह कह सकते हैं कि हमारी दिव्य स्व-अभिरुचि-जितना कि हमारा अपना मोक्ष, नहीं तो दूसरोंके सा एकत्वकी बातका कोई अर्थ न होगा।

इसीलिये आत्मज्ञानी पुरुष दूसरोंके कल्याणके लि प्रेरित होता है, परंतु जहाँ वैयक्तिक मान्यताओंके आधार ही सत्य-निरूपण किया जायगा, वहाँ वास्तविक कल्याण सम्भ नहीं। वर्तमान जटिल परिस्थितियोंमें मोक्षकी यह बात भले ठीक न लगे, परंतु गीताने इस समस्याका जो सर्वश्रे समाधान प्रस्तुत किया है वह जीवनके व्यापक धर्मक्षे अनुकरणीय है। तभी मानव 'आत्मैवेदं सर्वम्'की अनुभू कर अपना और संसारका कल्याण करनेमें समर्थ हो सकेगा

मधुर

श्रीकृष्ण मथुरा पधार गये और वहीं रह गये। परंतु महाभाग्यवती परम प्रेमरूपा श्रीगोपीजनोंकी एवं उनकी आत्मस्वरूपा श्रीराधिकाजीकी स्मृति एक क्षणके लिये भी त्याग नहीं सके। उन्होंने अपना प्रेम-संदेश देकर श्रीउद्धवजीको वहाँ भेजना चाहा। उद्धवजीको भाँति-भाँतिसे वहाँकी सब बातें समझाकर, किन-किनसे कैसे मिलकर क्या कहना है यह बतलाते हुए वे प्रेमसागरमें निमग्न हो गये और गद्गद-कण्ठसे गोपी तथा राधाके दिव्य विशुद्ध प्रेमकी महिमा गाते हुए अपना मनोरथ बतलाने लगे। बोले——

ऊधौ ! तुम तें कहौं का गोपी-प्रेम-महत्त्व।
जिन जान्यौ केवल परम सुद्ध प्रेम कौ तत्त्व॥
मो में ही अनुराग सुचि ममता अमल अनन्य।
सेवत सरबस सौंपि सो मोय गोपिका धन्य॥
मो मन नित्य मनस्विनी प्रानवती मम प्रान।
मेरे ही हित कर्म सब करत बिगत अभिमान॥
असन-बसन तन-धन सकल धारत मम-सुख-काज।
निज सुख-इच्छारहित नित तजि सब विषय-समाज॥
राग न नैकहु कितहुँ कछु अग-जग ममताहीन।
इह-पर-भोग-विराग नित सहज नेह-रस-लीन॥
मम महिमा, सेवा, परम श्रद्धा, मनकी बात।
केवल गोपीजनन कौं सबै तत्त्वतः ज्ञात॥

उद्धव ! मैं तुमसे उन गोपिकाओंके प्रेमकी महिमा क्या कहूँ। केवल उन गोपियोंने ही परम विशुद्ध प्रेमके तत्त्वको जाना है। उनका सारा पवित्र अनुराग केवल मुझमें ही है और मुझमें ही उनकी निर्मल अनन्य ममता है। उन्होंने अपना सर्वस्व समर्पण कर दिया है और वे केवल मेरी सेवामें लगी हैं। उन गोपिकाओंको धन्य है। उनमें उनका अपना मन नहीं रहा, वे मेरे ही मनसे मनवाली हैं। इसी प्रकार वे मेरे ही प्राणोंसे प्राण धारण करती हैं। वे समस्त कर्म केवल मेरे ही लिये करती हैं, उनमें जरा भी अभिमान नहीं है। वे तन, मन, धन, भोजन, वस्त्र केवल मेरे ही सुखके लिये धारण किये हुए हैं। अपने सुखकी उनको तनिक भी इच्छा नहीं है। उन्होंने सम्पूर्ण विषय-समूहका त्याग कर दिया है। उनकी जरा-सी भी, कहीं भी, कुछ भी आसक्ति नहीं है, वे सारे अग-जगकी ममताको छोड़ चुकी हैं। इस लोक और परलोकके भोगोंसे उनका नित्य ही सहज वैराग्य है और सहज ही वे स्नेह-सुधा-रसमें लीन हो रही हैं। मेरी सारी महिमा, मेरी सेवा, मेरी परम श्रद्धा और मेरे मनकी बातको केवल वे गोपाङ्गनाएँ ही तत्त्वसे जानती हैं।

तिन में सब की आतमा सब की परमाधार।
महाभावमयि राधिका रस-पर-पारावार॥
तिनके मन-बच-कर्ममें उमगत नित रस-सिंधु।
धन्य भयो मैं पाय कछु तिन तें मधु-रस-बिंदु॥
परम त्यागमय प्रेम कौ सुख-सागर लहरात।
वा सुख चाखन कौं सदा मम मन अति ललचात॥
बनौं कबौं जो राधिका मैं लै तिन कौ भाव।
कृष्न मानि सेवौं तिनहि तब पूरै मन चाव॥
जाउ सखा, धनि होउ, लै सिर तिन चरनन-धूरि।
दरसन करि दृग-फल लहौ जो मम जीवन-मूरि॥

उन श्रीगोपाङ्गनाओंमें सबकी आत्मा और सबकी परम आधार हैं——प्रेमके सर्वोच्च स्वरूप महाभावकी मूर्ति श्रीराधिकाजी, जो परम (भगवत्-प्रेम) रसकी समुद्र हैं। उनके मन, वाणी, कर्ममें प्रेम-रस-सुधाका समुद्र उमड़ता रहता है, उन्हींसे कुछ मधुर रस-बूँदोंको प्राप्त करके मैं धन्य हो गया हूँ। उनमें परम त्यागमय प्रेमसे उत्पन्न सुखका समुद्र लहराता रहता है। उनके उस सुखका रसास्वादन करनेके लिये मेरा मन सदा ही अत्यन्त ललचाता रहता है। मैं यदि कभी उनके भावोंको ग्रहण करके राधिका बन सकूँ और उनको कृष्ण मानकर उनकी सेवा कर सकूँ, तब मेरे मनका चाव पूरा हो। सखा उद्धव ! तुम जाओ और जो मेरे जीवनकी मूल हैं,——उन श्रीराधिकाजीकी चरण-धूलिको अपने सिरपर धारण करके धन्य बनो और उनके दर्शन करके आँखोंका वास्तविक फल प्राप्त करो।

श्रीराम

(लेखक—श्रीहरेशचन्दजी अग्रवाल, एम्० ए०)

रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥

यह संदेहरहित है कि प्राणिमात्रमें मानव ही सर्वश्रेष्ठ है और जिसका आधार स्वयं उसका चरित्र है। इसी अपने चरित्रके कारण वह सबका अधिकारी बना हुआ है। जबतक उसका चरित्र उसके पास है, तबतक उसका यह गौरवपूर्ण अस्तित्व भी अक्षुण्ण है। अन्यथा उसमें और अन्य जीवोंमें कोई अन्तर नहीं।

जिनके मन राम सों नेह नहीं, सो सही पसु पूँछ बिषान न द्वै।

जिनके मनमें रामसे स्नेह नहीं है, वे हैं तो पशु ही, केवल उनके एक पूँछ दो सींग नहीं हैं।

अबतक संसारमें जितने भी चरित्रको धारण करनेवाले महान् पुरुष हुए हैं और जिन्हें आजका संसार पूज्य समझ पूजता एवं नतमस्तक होता है, उन सबने अनादिकालसे ही सद्गुणोंके आदर्शोंकी स्थापना की है। इस प्रकार उन्होंने ज्ञान एवं बुद्धि धारण करनेवाले देवात्माओंको बाध्य किया है कि वे स्वयं चरित्रवान् होकर चरित्रवान् पुरुषोंके नामका जाप करते हुए उनके गुणोंका प्रचार एवं प्रसार करें, जिससे मानव-समाज अपने अस्तित्वको बनाये रखनेमें सफल हो और शनैः-शनैः मनुष्यताकी सीढ़ीपर चढ़ता चला जाय। चरित्रकी महिमा अपार है, उसका साङ्गोपाङ्ग वर्णन करना कठिन है। ऐसे ही देवात्मा ब्रह्मस्वरूप महान् पुरुषोंमें भारतीय साहित्यके चरित्रनायक रघुकुलनन्दन भगवान् श्रीरामकी भी गणना होती है। इन्होंने अपने आचार-विचार एवं सद्व्यवहारसे अपने पूर्वपुरुषोंके आदर्शों तथा गुणोंको स्वयं ग्रहण कर भविष्यमें होनेवाले उत्तराधिकारियोंके निमित्त महान् आदरणीय उदाहरण उपस्थित किये थे; किंतु कालान्तरमें व्यतिक्रमके उपस्थित होनेसे प्राचीन शृङ्खला टूट गयी और हमारा देश तथा सभ्यता दुर्दशाको प्राप्त हो गये।

सच्चिदानन्द भगवान् श्रीराम सद्गुणोंके अथाह समुद्र थे और ऐसी पीयूषवर्षिणी रसधारा थे, जिसने आजतक मानवजातिको जीवित कर रक्खा है। बालकपनसे ही सदाचरण उनका मुख्य कर्म था—

प्रातकाल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुर नावहिं माथा॥
आयसु मागि करहिं पुरकाजा। देखि चरित हरषइ मन राजा॥

माता-पिताकी आज्ञाको धारण करना तो मुख्य था ही परंतु गुरु-आज्ञा एवं गुरु-भक्ति भी उनके लिये सर्वोपरि थी, जैसा कि जनकपुरीमें गुरु-सेवा करते हुए उनका वर्णन मिलता है—

तेइ दोउ बंधु प्रेम जनु जीते। गुरु पद कमल पलोटत प्रीते॥
बार बार मुनि अग्या दीन्हीं। रघुबर जाइ सयन तब कीन्हीं॥
उठे लखनु निसि बिगत सुनि, अरुनसिखा धुनि कान।
गुर तें पहिलेहिं जगतपति, जागे रामु सुजान॥
—मानस

तत्त्ववेत्ता परब्रह्म होते हुए भी संसारके नाते आनन्दकन्द श्रीराम यह जानते थे कि बिना गुरु-आशीर्वाद तथा ज्ञानके संसार-सागरको पार करना सरल नहीं कहा जाता है—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

इस सम्बन्धमें वह उदाहरण मननयोग्य है जब कि गुरु वशिष्ठजी महाराज दशरथके कथनानुसार सीतापति श्रीरामको राज्याभिषेकके पूर्व संयम-नियम-पालनके लिये आदेश देने जाते हैं और रघुकुलतिलक श्रीराम उनका स्वागत कर पादप्रक्षालन करते तथा कहते हैं—

रत्नासने समावेश्य पादौ प्रक्षाल्य भक्तितः।
तदपः शिरसा धृत्वा सीतया सह राघवः॥
धन्योऽस्मीत्यब्रवीद्रामस्तव पादाम्बुधारणात्।
—अध्यात्मरा० (अयोध्या)

श्रीरामने गुरुजीको रत्नसिंहासनपर बैठाकर उनके चरण धोये और सीताजीके सहित उस चरणोदकको भक्तिपूर्वक अपने शीशपर रखकर कहा—'हे मुने! आपके चरणोदकको धारण कर आज मैं कृतकृत्य हो गया।' श्रीरामके आज्ञापालनका क्या कहना है जब कि जनकपुरीमें गुरुपूजन-हेतु जनकजीकी वाटिकामें प्रसून लेते हुए मालियोंसे पूछते हैं—

चहुँ दिसि चितइ पूँछि मालीगन। लगे लेन दल फूल मुदित मन॥
—मानस

पिताकी आज्ञाका पालन करनेके सम्बन्धमें वनगमनके अवसरपर श्रीराम माता कैकेयीसे कहते हैं—

अहं हि वचनाद् राज्ञः पतेयमपि पावके।
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे॥
न ह्यतो धर्मचरणं किंचिदस्ति महत्तरम्।
यथा पितरि शुश्रूषा तस्य वा वचनक्रिया॥

—वाल्मीकिरा०

'मैं महाराजके कथनानुसार अग्निमें भी कूद सकता हूँ, तीव्र विषका पान कर सकता हूँ और समुद्रमें भी गिर सकता हूँ; क्योंकि जो पिताकी सेवा और उनकी आज्ञाका पालन करना है, इससे बढ़कर संसारमें दूसरा धर्म नहीं है।' इस सम्बन्धमें श्रीराम और भी कहते हैं—

सीतां त्यक्ष्येऽथ कौसल्यां राज्यं चापि त्यजाम्यहम्।
अनाज्ञप्तोऽपि कुरुते पितुः कार्यं स उत्तमः॥
उक्तः करोति यः पुत्रः स मध्यम उदाहृतः।
उक्तोऽपि कुरुते नैव स पुत्रो मल उच्यते॥
अतः करोमि तत्सर्वं यन्मामाह पिता मम।
सत्यं सत्यं करोम्येव रामो द्विर्नाभिभाषते॥

—अध्यात्मरा० (अयोध्या)

'सीता, कौसल्या तथा राज्यको भी त्याग सकता हूँ। जो पुत्र पिताकी आज्ञाके बिना ही उनका अभीष्ट कार्य करता है वह उत्तम है; जो पिताके कहनेपर करता है वह मध्यम होता है और जो कहनेपर भी नहीं करता वह विष्ठाके समान है। अतः पिताजीने मेरे लिये जो कुछ आज्ञा की है, उसे मैं अवश्य पूर्ण करूँगा, यह सर्वथा सत्य है कि राम दो बात कभी नहीं कहता।'

इसके अतिरिक्त इसी प्रसङ्गमें श्रीराम कैकेयीसे कहते हैं—

सुनु जननी सोइ सुत बड़भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥
तनय मातु पितु तोषनिहारा। दुर्लभ जननि सकल संसारा॥

× × × ×

भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥

× × × ×

अंब एक दुखु मोहि बिसेषी। निपट बिकल नरनायकु देखी॥

× × × ×

राउ धीर गुन उदधि अगाधू। भा मोहि तें कछु बड़ अपराधू॥

—मानस

इसी प्रकार मातृ-भक्तिके सम्बन्धमें श्रीराम सुमित्रानन्दन लक्ष्मणके प्रति कहते हैं—

यस्या मदभिषेकार्थे मानसं परितप्यति।
माता नः सा यथा न स्यात् सविशङ्का तथा कुरु॥
तस्याः शङ्कामयं दुःखं मुहूर्तमपि नोत्सहे।
मनसि प्रतिसंजातं सौमित्रेऽहमुपेक्षितुम्॥

—वाल्मीकिरा०

'लक्ष्मण! मेरे राज्याभिषेकके कारण जिसके चित्तमें संताप हो रहा है उस हमारी माता कैकेयीके प्रति वही काम करो, जिससे मेरे ऊपर किसी प्रकारका संदेह न हो, उसके मनमें संदेहके कारण उत्पन्न हुए दुःखकी मैं एक मुहूर्तके लिये भी उपेक्षा नहीं कर सकता।'

इसके अतिरिक्त माता कैकेयीके सम्बन्धमें आज्ञाकारी श्रीराम भरतको भी समझाते हैं और उनकी निन्दा न करनेके लिये आग्रह करते हुए कहते हैं कि हे भरत! तुम्हें ऐसा नहीं कहना चाहिये; क्योंकि उससे उन्हें दुःख होगा।

जो व्यक्ति बिना सोचे-विचारे अपनेसे बड़ोंका आज्ञा-पालन करनेके लिये तत्पर रहता है, वह पहलेसे ही किन-किन अन्य गुणोंको धारण किये हुए है, इसका सरलतासे अनुमान किया जा सकता है। इसमें संदेह नहीं रघुकुलभूषण दशरथकुल-उजागर श्रीराम पहलेसे ही अहंता और गर्वका त्याग करके सत्य, दया, क्षमा, मृदुलता, धीरता, वीरता, विनय, शान्ति, संयम, तेज, प्रेम, त्याग आदि अनन्त आदर्श गुणोंको धारण किये हुए थे। कोपभवनमें महाराज दशरथसे मिलनेपर श्रीराम कहते हैं—

मंगल समय सनेह बस सोच परिहरिअ तात।
आयसु देइअ हरषि हियँ कहि पुलके प्रभु गात॥

धन्य जनमु जगतीतल तासू। पितहि प्रमोदु चरित सुनि जासू॥
चारि पदारथ करतल ताकें। प्रिय पितु मातु प्रान सम जाकें॥

—मानस

इसके साथ ही माता कौसल्याके सम्मुख सब प्रसंग सुन लेनेपर लक्ष्मणके द्वारा क्रोध करनेपर जगत्के भोगोंकी नश्वरता और आत्मस्वरूपकी चर्चा करते हुए सनातन परम-पुरुष श्रीराम उन्हें समझाते हैं—

यदिदं दृश्यते सर्वं राज्यं देहादिकं च यत्।
यदि सत्यं भवेत्तत्र आयासः सफलश्च ते॥
भोगा मेघवितानस्थविद्युल्लेखेव चञ्चलाः।
आयुरप्यग्निसंतप्तलोहस्थजलबिन्दुवत्॥

पुस्तकालय काँगड़ी

यथा व्यालगलस्थोऽपि भेको दंशानपेक्षते ।
तथा कालाहिना ग्रस्तो लोको भोगानशाश्वतान् ॥
करोति दुःखेन हि कर्मतन्त्रं शरीरभोगार्थमहर्निशं नरः ।
देहस्तु भिन्नः पुरुषात्समीक्ष्यते को वात्र भोगः पुरुषेण भुज्यते ॥
——अध्यात्मरामायण

'यह जो कुछ राज्य और देहादि दिखायी देता है, वह सब सत्य होता तो अवश्य तुम्हारा परिश्रम सफल होता; किंतु ये भोग तो मेघरूपी वितानमें चमकती हुई बिजलीके समान चञ्चल हैं और आयु अग्निमें तपाये हुए लोहेपर पड़ी हुई जलकी बूँदके समान क्षणिक है । जिस प्रकार सर्पके मुँहमें पड़ा हुआ भी मेढक मच्छरोंको ताकता रहता है, उसी प्रकार लोग कालरूप सर्पसे ग्रस्त हुए भी अनित्य भोगोंको चाहते रहते हैं । कैसा आश्चर्य है कि शरीरके भोगोंके लिये ही मनुष्य रात-दिन अति कष्ट सहकर नाना प्रकारकी क्रियाएँ करता रहता है । यदि यह समझ ले कि शरीर आत्मासे भिन्न है तो फिर भला पुरुष कैसे किसी भोगको भोग सकता है ?'

अन्तमें लक्ष्मणको ज्ञान देते हुए सर्वथा शान्त रहनेके लिये आनन्दकन्द श्रीराम उनसे कहते हैं—

क्रोधमूलो मनस्तापः क्रोधः संसारबन्धनम् ।
धर्मक्षयकरः क्रोधस्तस्मात्क्रोधं परित्यज ॥
क्रोध एष महान् शत्रुस्तृष्णा वैतरणी नदी ।
संतोषो नन्दनवनं शान्तिरेव हि कामधुक् ॥
—अध्यात्मरामायण

'मनके संतापका मूल क्रोध ही है और क्रोध ही संसारका बन्धन तथा धर्मका क्षय करनेवाला है । इसलिये तुम क्रोधको छोड़ दो । यह क्रोध महान् शत्रु है । तृष्णा वैतरणी नदी है, संतोष नन्दनवन है और शान्ति ही कामधेनु है ।'

इस प्रकार राज्याभिषेकके अवसरपर माता कैकेयीके द्वारा वनवास प्रदान किये जानेपर सहज शान्तस्वरूप श्रीरामको क्रोध न होकर आनन्द ही होता है और हमें उनके मानव-लीलाके अनुभवों तथा दार्शनिकताके बारेमें पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है । श्रीरामके स्वभाव, शीलके सम्बन्धमें माता कैकेयीने भी मन्थरासे कहा था—

धर्मज्ञो गुणवान् दान्तः कृतज्ञः सत्यवाञ्छुचिः ।
रामो राजसुतो ज्येष्ठो यौवराज्यमतोऽर्हति ॥
भ्रातॄन् भृत्यांश्च दीर्घायुः पितृवत् पालयिष्यति ।
संतप्यसे कथं कुब्जे श्रुत्वा रामाभिषेचनम् ॥
—वाल्मीकिरा०

'हे कुब्जे ! राम धर्मके ज्ञाता, गुणवान्, जितेन्द्रिय, कृतज्ञ, सत्यवादी और पवित्र होनेके साथ ही महाराजके ज्येष्ठ पुत्र हैं, अतः युवराज होनेका अधिकार उन्हींको है । वे दीर्घजीवी और अपने भाइयों तथा दासोंका पिताकी भाँति पालन करेंगे । भला उनके अभिषेककी बात सुनकर तू इतनी क्यों जल रही है ?'

इन गुणोंके आधार शत्रुनाशक श्रीरामने अवश्य ही यह निश्चय कर लिया था कि किसी दैवी घटनावश ही मातामें यह परिवर्तन हुआ है, अन्यथा ऐसा होना असम्भव है । इसलिये दैवके विधानको सहन करना चाहिये । चित्रकूटमें माताओंसहित भरतके आनेपर और सभाके मध्य माता कैकेयीके यह कहनेपर यह सब स्पष्ट हो जाता है—

युग-युगतक चलती रहे कठोर कहानी—
'रघुकुलमें भी थी एक अभागिन रानी ।'
निज जन्म-जन्ममें सुने जीव यह मेरा—
'धिक्कार ! उसे था महास्वार्थने घेरा ।'
—साकेत

इसपर शत्रुकुलघालक श्रीराम कहते हैं—

'सौ बार धन्य वह एक लालकी माई,
जिस जननीने है जना भरत-सा भाई ।'
पागल-सी प्रभुके साथ सभा चिल्लाई,
'सौ बार धन्य वह एक लालकी माई ॥'
—साकेत

इस प्रकार राजनीतिविशारद श्रीराम अपने आदर्श आचरणके द्वारा अनिष्टकारी विमाता कैकेयीके प्रति क्षुब्ध जनताके मनोंमें सहानुभूतिका उदय करके उनसे कैकेयीके लिये यह कहला लेते हैं—

'सौ बार धन्य वह एक लालकी माई ।'

और वह भी उस जनतासे, जिसने अयोध्यामें कैकेयीके विरुद्ध हो, ये अपशब्द कहे थे—

एहि पापिनिहि बूझि का परेऊ । छाइ भवन पर पावक धरेऊ ॥
निज कर नयन काढ़ि चह दीखा । डारि सुधा बिषु चाहत चीखा ॥
कुटिल कठोर कुबुद्धि अभागी । भइ रघुबंस बेनु बन आगी ॥
निज प्रतिबिंबु बरुकु गहि जाई । जानि न जाइ नारि गति माई ॥
—मानस

इस प्रकार शान्तिपूर्वक प्रतिकूलको अनुकूल बना लेना हमारे परम आदर्शचरित्र पूर्णकाम श्रीरामका ही काम था। माताके द्वारा भाइयोंमें फूट डालनेका प्रयत्न करनेपर भी श्रीराम अपने पक्षमें कुछ न कर भाई भरतके ही पक्षमें मत देते हैं और चित्रकूटमें भरतके आनेपर तथा लक्ष्मणके क्रोध करनेपर भरतकी महिमा गाते हुए उन्हें समझाते हैं—

सुनहु लखन भल भरत सरीसा। बिधि प्रपंच महँ सुना न दीसा॥
भरतहि होइ न राजमदु बिधि हरि हर पद पाइ।
कबहुँ कि काँजी सीकरनि छीरसिंधु बिनसाइ॥
—मानस

तत्पश्चात् भरतजीके आनेपर और लक्ष्मणजीके संकेत करनेपर भक्तवत्सल श्रीराम पागल-से हो दौड़ पड़ते हैं—

उठे रामु सुनि प्रेम अधीरा। कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा॥
बरबस लिए उठाइ उर लाए कृपानिधान।
भरत राम की मिलनि लखि बिसरे सबहि अपान॥
—मानस

श्रीरामके इस आचरणके प्रभावसे ही भरतके प्रति क्रोध करनेवाले श्रीलक्ष्मणजी भरतसे प्रेमपूर्वक मिलते हैं—

मिलि सप्रेम रिपुसूदनहि केवटु भेंटेउ राम।
भूरि भायँ भेंटे भरत लछिमन करत प्रनाम॥

वनवासी श्रीरामके व्यक्तिगत आचार-व्यवहारके अतिरिक्त उनके सम्बन्धमें श्रीभरतजीके विमल विचारोंकी झाँकीके भी दर्शन कीजिये—

राम जनमि जगु कीन्ह उजागर। रूप सील सुख सब गुन सागर॥
पुरजन परिजन गुर पितु माता। राम सुभाउ सबहि सुखदाता॥
बैरिउ राम बड़ाई करहीं। बोलनि मिलनि बिनय मन हरहीं॥
मोरें सरन रामहि की पनही। राम सुस्वामि दोसु सब जनही॥
अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन॥
—मानस

जिस भरतके लिये महारानी कैकेयीने इतना बड़ा षड्यन्त्र रचा, वे भरत किसी प्रकार भी भाई श्रीरामके विरुद्ध राज्य स्वीकार करनेके लिये तैयार नहीं होते; क्योंकि एक तो वे श्रीरामके ज्येष्ठ होनेके नाते उन्हींका अधिकार मानते हैं और दूसरे, प्रभुके चरित्र तथा आदर्शोंका जो प्रभाव भरतके मनपर पड़ा हुआ है, वह सर्वथा अक्षुण्ण और अमिट है।

जहाँ भी जरा भी अवसर मिला, वहाँ श्रीरामने अपने सहज भ्रातृ-प्रेमको प्रकट किया है। वन जानेके समय वे श्रीसीताजीसे कहते हैं—

भ्रातृपुत्रसमौ चापि द्रष्टव्यौ च विशेषतः।
त्वया भरतशत्रुघ्नौ प्राणैः प्रियतरौ मम॥
—वाल्मीकिरामायण

'हे सीते! मेरे भाई भरत-शत्रुघ्न मुझे प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय हैं। अतः तुम्हें उनको अपने भाई और पुत्रके समान या उससे भी बढ़कर प्रिय समझना चाहिये।'

लंकामें लक्ष्मणके शक्ति लगनेपर श्रीरामका विलाप मननयोग्य है—

सुत बित नारि भवन परिवारा। होहिं जाहिं जग बारहिं बारा॥
अस बिचारि जियँ जागहु ताता। मिलइ न जगत सहोदर भ्राता॥

× × ×

बहु बिधि सोचत सोच बिमोचन। स्रवत सलिल राजिव दल लोचन॥
—मानस

इसी प्रकारसे रावण-वधके उपरान्त प्रभु श्रीराम एक क्षण भी वहाँ नहीं ठहरना चाहते और तुरंत भरतसे मिलना चाहते हैं। वे विभीषणसे कहते हैं—

तोर कोस गृह मोर सब सत्य बचन सुनु भ्रात।
भरत दसा सुमिरत मोहि निमिष कल्प सम जात॥

× × ×

बीतें अवधि जाउँ जौं जिअत न पावउँ बीर।
सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु पुनि पुनि पुलक सरीर॥

श्रीरामका अपने भाइयों एवं भक्तोंपर ऐसा ही प्रेम और अनुग्रह था कि उनके हितके लिये वे नंगे पाँव अवसर-कुअवसरका बिना विचार किये ही दौड़ पड़ते थे। कौन है ऐसा सहज उपकारी और प्रेमी! श्रीसीता माताके द्वितीय वनवासके अवसरपर किसी निर्णयपर पहुँचनेके पूर्व पहले भाइयोंसे और तदुपरान्त महर्षि वसिष्ठसे मन्त्रणा करते हैं—

मन्त्रणा गृहमें प्रातःकाल,
भरत लक्ष्मण रिपुसूदन संग।
राम बैठे थे चिन्तामग्न,
छिड़ा था जनकात्मजा-प्रसंग॥
—वैदेही-वनवास

अन्तमें विचार-विनिमय तथा निष्कर्षपर पहुँचनेके उपरान्त वे भाइयोंसे कहते हैं—

मुझे यह है पूरा विश्वास ,
लोक-हित-साधनमें सब काल ।
रहेंगे आप लोग अनुकूल ,
धर्म-तत्त्वोंपर आँखें डाल ॥

—वैदेही-वनवास

तत्पश्चात् घटनावश लक्ष्मणके महाप्रयाणके उपरान्त श्रीराम व्याकुल हो उठते हैं और स्वयं भी पृथ्वीका त्यागकर परमधामको पधारते हैं ।

प्रवेशयत सम्भारान् मा भूत् कालात्ययो यथा ।
अद्यैवाहं गमिष्यामि लक्ष्मणेन गतां गतिम् ॥

—वाल्मीकिरामायण

शीघ्र ही समस्त सामग्रियाँ एकत्रित की जायँ । देरी न हो; क्योंकि मैं आज ही जिस जगह लक्ष्मण गया है, वहाँ जाना चाहता हूँ ।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचनसे हम पाते हैं कि श्रीरामजीने किस प्रकार अपने भ्रातृ-प्रेमको स्थायित्व प्रदान किया था । वे किस प्रकार समय-कुसमयमें अपने भाइयोंके हितमें लगे रहते तथा उनके गुणगानमें भी नहीं चूकते थे ।

अब हम पारिवारिक जीवनके पश्चात् सामाजिक जीवनकी ओर अग्रसर होते हैं और वहाँ यह देखना है कि श्रीराम किस प्रकार अपने मित्रों तथा आश्रितोंके प्रति प्रेम-भाव रखते और उन्हें अपना बनानेमें सफल होते थे । सर्वप्रथम उनका अयोध्याका बालचरित सामने आता है ।

बंधु सखा सँग लेहिं बोलाई । बन मृगया नित खेलहिं जाई ॥

× × ×

अनुज सखा सँग भोजन करहीं । मातु पिता अग्या अनुसरहीं ॥
जेहि बिधि सुखी होहिं पुर लोगा । करहिं कृपानिधि सोइ संजोगा ॥
बेद पुरान सुनहिं मन लाई । आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई ॥

—मानस

इस प्रकार आनन्दकन्द श्रीराम भाइयों तथा मित्रोंसे समन्वय स्थापित कर तथा अयोध्यावासियोंपर अपना प्रभाव डाल उन्हें भी एकरस बनानेका प्रयत्न किया करते थे । राजकर्मचारियोंसे भी उनका समान बर्ताव था । अवस्थानुसार सबके साथ अपने वे आदर्श धर्मका पालन करते थे, जैसे—

राम सुमंत्रहि आवत देखा । आदरु कीन्ह पिता सम लेखा ॥

× × ×

रघुपति प्रजा प्रेम बस देखी । सदय हृदयँ दुखु भयउ बिसेषी ॥
कहि सप्रेम मृदु बचन सुहाए । बहुबिधि राम लोग समुझाए ॥
किए धरम उपदेस घनेरे । लोग प्रेम बस फिरहिं न फेरे ॥

—मानस

तत्पश्चात् जब वनवासी श्रीराम शृंगवेरपुर पहुँचते हैं, तब निषाद प्रजावत्सल प्रभुसे तुरंत सम्पर्क स्थापित करने आता है—

यह सुधि गुहँ निषाद जब पाई । मुदित लिए प्रिय बंधु बोलाई ॥
सहज सनेह बिबस रघुराई । पूँछी कुसल निकट बैठाई ॥

अन्तमें शृंगवेरपुरमें ठहरनेके उपरान्त मन्त्री सुमन्त्र जब महाराज दशरथके आदेशानुसार अयोध्या लौट चलनेके लिये कहते हैं, तब आज्ञापालक श्रीराम स्थितिवश उन्हें समझाते हैं—

मंत्रिहि राम उठाइ प्रबोधा । तात धरम मतु तुम्ह सबु सोधा ॥
सिबि दधीच हरिचंद नरेसा । सहे धरम हित कोटि कलेसा ॥
धरमु न दूसर सत्य समाना । आगम निगम पुरान बखाना ॥

गङ्गा पार करनेके समय केवट तथा उनके मध्य अर्थात् प्रभु तथा भक्तके परस्पर प्रेमका जो उदाहरण प्राप्त होता है वह अन्यत्र प्राप्त होना दुर्लभ है—

मागी नाव न केवटु आना । कहइ तुम्हार मरमु मैं जाना ॥

× × ×

एहि घाटतें थोरिक दूरि अहै कटि लौं जलु, थाह देखाइहौं जू ।
परसे पगधूरि तरै तरनी, घरनी घर क्यों समुझाइहौं जू ॥
तुलसी अवलंब न और कछू लरिका केहि भाँति जियाइहौं जू ।
बरु मारिए मोहि, बिना पग धोए, हौं नाथ न नाव चढ़ाइहौं जू ॥

—कवितावली

× × ×

सुनि केवट के बैन प्रेम लपेटे अटपटे ।
बिहसे करुना ऐन चितइ जानकी लखन तन ॥
कृपासिंधु बोले मुसुकाई । सोइ करु जेहि तव नाव न जाई ॥
बेगि आनु जल पाय पखारू । होत बिलंबु उतारहि पारू ॥

—मानस

प्रभु रुख पाइ कै, बोलाइ बालक घरनिहि,
बंदि कै चरन चहूँ दिसि बैठे घेरि-घेरि ।
छोटो-सो कठौता भरि आनि पानी गंगाजू को;
धोइ-पाय पीअत पुनीत बारि फेरि-फेरि ॥

—कवितावली

उपर्युक्त वर्णनसे श्रीरामका अतुलनीय प्रजानुरञ्जन तथा सख्यप्रेम प्रकट होता है, जो किसी प्रकारका भेद-भाव नहीं मानता और समानरूपसे ऊँच-नीच सबको प्राप्त होता है।

इसी प्रकार चित्रकूट पहुँचनेपर श्रीरामके आगमनकी बात सुनकर सभी मुनिवृन्द वनवासी आते हैं—

जथा जोग सनमानि प्रभु बिदा किए मुनिबृंद।
करहिं जोग जप जाग तप निज आश्रमन्हि सुछंद॥
यह सुधि कोल किरातन्ह पाई। हरषे जनु नवनिधि घर आई॥
कहत सुनत रघुबीर निकाई। आइ सबन्हि देखे रघुराई॥
राम सनेह मगन सब जाने। कहि प्रिय बचन सकल सनमाने॥

× × ×

रामहि केवल प्रेमु पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥
राम सकल बनचर तब तोषे। कहि मृदु बचन प्रेम परिपोषे॥
बिदा किए सिर नाइ सिधाए। प्रभु गुन कहत सुनत घर आए॥

× × ×

जब तें आइ रहे रघुनायकु। तब तें भयउ बनु मंगलदायकु॥
फूलहिं फलहिं बिटप बिधि नाना। मंजु बलित बर बेलि बिताना॥
करि केहरि कपि कोल कुरंगा। बिगत बैर बिचरहिं सब संगा॥

—मानस

इस प्रकार श्रीरामके आगमनके कारण जिस परिवर्तनका वर्णन ऊपर किया गया है, उस सम्बन्धमें आनन्दकन्द श्रीरामके देवत्वको एक ओर रखकर उनके मनुष्यत्वपर विचारकर देखा जाय तो यह सब उनके चरित्रका प्रताप था कि इतना घोर परिवर्तन हुआ और सब उनके प्रेमसे सराबोर हो उनके चरित्ररूपी गङ्गामें डुबकियाँ लेने लगे एवं प्रेमसे परिपूर्ण हो सत्-चित्-आनन्दरूपी परमात्मरूपमें लीन हो गये।

श्रीरामके वियोगमें रथके घोड़ेतक व्याकुल हो उठते हैं, जिससे यह स्पष्ट होता है कि प्रभुका न केवल मनुष्य-जातिपर ही बल्कि पशु-पक्षीसहित जीवमात्रपर प्रेमाधिकार था—

देखि दखिन दिसि हय हिहिनाहीं। जनु बिनु पंख बिहग अकुलाहीं॥
नहिं तृन चरहिं न पिअहिं जलु मोचहिं लोचन बारि।
ब्याकुल भए निषाद सब रघुबर बाजि निहारि॥

—मानस

[शेष आगे]

ईश्वर कब हँसता है ?

यदि हम—सांसारिक मनुष्य—अपनी दृष्टिको तनिक भी अन्तर्मुखी बनायें और अपने कर्मों—क्रिया-कलापोंपर विचार करें तो हमको अपने भोलेपन, नादानी, नासमझी, अज्ञानता या कपटीपनपर कितनी हँसी आयेगी, कितना क्षोभ होगा कि हम उस परमेश्वरको धोखा देनेका प्रयत्न करते हैं जो सर्वव्यापक, सर्वद्रष्टा, अनादि, अनन्त और त्रिकालज्ञ है, जो हमारे जीवनमें व्यतीत होनेवाले प्रतिपल, प्रति श्वासपर घटित होनेवाली ज्ञात-अज्ञात क्रियाओं, संकल्प-विकल्पों, जिन्हें हम स्वयं भी कभी-कभी नहीं जान पाते, उनसे भी सुपरिचित है। इतना ही नहीं, हम यह निश्चितरूपेण मान बैठे हैं कि हमने उस परमेश्वरको धोखा दे दिया है। क्या हमारी यह अज्ञानता हास्यास्पद नहीं है ?

हमारे ये कार्य उस परम पिताके प्रति वैसे ही हैं, जैसे कोई शिशु अपने पिताको, जिसने उसे गोदमें ले रक्खा है, थप्पड़ मारे और पिता रोनेका प्रदर्शन करे। बच्चा पिताके मुँहमें खानेकी वस्तु रक्खे और पिता सचमुच खानेका प्रदर्शन करे और दिखाये कि वह बच्चा जैसे सचमुच उसे (पिताको) खिलानेवाला है इत्यादि। बालक अपने हर कार्यसे यह समझता है कि मानो मैं जो कुछ कर रहा हूँ वह सत्य है और वास्तवमें यह पिता कुछ भी नहीं समझता। जब उस अबोध बालकके हृदयमें ऐसा विचार आने लगता है, अर्थात् पिता जब यह देखता है कि यह बालक मुझे खेलते हुए देखकर अपनेको कितना समझदार समझ रहा है, तब निस्संदेह उसे हँसी छूट जाती है।

—राजेन्द्रप्रसाद, एम्० ए०

राम-महिमा

(लेखक—प्रा० श्रीदेऊलगांवकर चन्द्रकान्त)

राम नामाचे पोवाडे । अखंड ज्याची वाचापढे ।
धन्य तो एक संसारी । रामनाम जो उच्चारी ॥
—तुकाराम

रामनामके गीत जिसकी वाचा अखण्ड पढ़ती है और जिसकी वाणी रामनाम रटती है, वह इस संसारमें धन्य है ।

वेदान्तमें ॐकारको उद्गीथ कहा गया है । पतञ्जलि भी ॐकारको 'ईश्वरवाचक' कहते हैं ।

तस्य वाचकः प्रणवः । तज्जपस्तदर्थभावनम् । ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ।

ॐकार ईश्वरवाचक है । ॐकारका जप और उसके अर्थकी भावनाद्वारा आत्म-प्राप्ति तथा विघ्ननाश होता है ।

'ॐकार यह परमेश्वरका प्यारा नाम है और इस नामसे भगवान्‌की आराधना की जाय तो वे प्रसन्न होकर दर्शन देते हैं ।' ऐसा शंकराचार्यजीका कहना है—

'तस्मिन्हि प्रयुज्यमाने स प्रसीदति प्रियनामग्रहणेनेव लोकाः ।'

सभी उपनिषदोंने ॐकारका महत्त्व-गान किया है । 'प्रणवोपासना'-ग्रन्थमें छान्दोग्य, माण्डूक्य, लिङ्ग, तैत्तिरीय, उपनिषदोंसे ॐकार-वर्णनकी ऋचाएँ उद्धृत की गयी हैं । किंतु ॐकार और गायत्री-मन्त्रका अधिकार केवल द्विजोंको ही था । इसी कारण आगे चलकर भगवान्‌के सहस्र नाम हुए । प्रणवमें जो शक्ति है, वही शक्ति इन सहस्र नामोंमें भी है । इन्हें ज्ञानेश्वर 'हजार जहाज' कहते हैं, इनसे भवसागर पार किया जा सकता है । स्वयं भगवान् कहते हैं—

नामाचिया सहस्रवरी । नावाइया अवधारी ।
सजूनिया संसारी । तारु झालो ॥
(ज्ञा० अ० १२।९०)

जिस प्रकार मन्त्रोंकी संख्या अनन्त है, उसी प्रकार परमात्माकी नामावली भी अनन्त है । किंतु इन सब नामोंमें 'राम' नामको एक अनोखा महत्त्व प्राप्त हुआ है । शास्त्रोंने 'राम'को 'तारक-ब्रह्म' कहा है । राममन्त्र प्रणवमन्त्रसे भिन्न नहीं है । वैदिक मन्त्र प्रायः शापयुक्त होते हैं । उनका शापमोचन, उत्कीलन तथा संजीवन करना पड़ता है । किंतु परमात्माके ये नाम सिद्ध हैं । उन्हें फिरसे सिद्ध करनेकी कोई आवश्यकता नहीं । उन मन्त्रोंमें 'राम' भी है ।

रामो नृसिंहो विष्णुश्च शंकरश्चाम्बिका तथा ।
गजाननो गुरुश्चैव सप्तैते सिद्धमन्त्रकाः ॥
(शारदातिलक)

एक बार नारद अपने पिता ब्रह्माके पास गये और उन्होंने उनसे पूछा—हे विश्वेश्वर ! परमात्माके नामोंमें पाप-नाशकी कितनी शक्ति है, यह कृपया बताइये । ब्रह्माजीने उत्तर दिया—हे पुत्र ! जिन पापोंके लिये शास्त्रमें कोई प्रायश्चित्त नहीं, उन पापोंका संहार नाम-संकीर्तनसे होता है और हरिनाम-स्मरण-जैसी दूसरी औषध नहीं है ।

सत्यं सत्यं पुनः सत्यं भाषितं मम सुव्रत ।
नामोच्चारणमात्रेण महापापात्प्रमुच्यते ॥
राम रामेति रामेति रामेति च पुनर्जपन् ।
स चण्डालोऽपि पूतात्मा जायते नात्र संशयः ॥

इसीसे यह कहा गया है—

नाम्नोऽस्ति यावती शक्तिः पापनिर्हरणे हरेः ।
तावत् कर्तुं न शक्नोति पातकं पातकीजनः ॥

हरि-नाममें पाप नाश करनेकी जितनी शक्ति है, उतने पाप पापीलोग भी नहीं कर सकते ।

उसी प्रकार एक समय देवताओंमें शतकोटि रामायण-के विभाजनका प्रश्न उपस्थित हुआ । पर वे कोई निर्णय नहीं कर सके । अतएव सबने परम विरागी भगवान् शंकरको पंच नियुक्त किया । कोटि, लाख, हजार, सौ—इस प्रकार विभाजन करते-करते एक बच गया । उस समय शंकरजीने कहा—मैंने तो सबका बराबर भाग कर दिया । यह एक बच रहा । इस एकको किसे दूँ, इसका भाग तो हो नहीं सकता और किसी एकको देनेपर मेरा पक्षपात समझा जायगा । अतएव आपलोगोंकी आज्ञासे इस बचे हुए एकको मैं ही ले लेता हूँ । शतकोटि रामनामोंमेंसे भगवान् शिवजीने जो बचा हुआ भाग बड़े चावसे लिया, वही 'राम'-नाम है* । शिवजी निरन्तर राम-नामका स्मरण करते हैं ।

---

* रामचरित सतकोटि. महँ लिय महेस जियँ जानि ।

वे श्रीरामके सर्वश्रेष्ठ भक्त हैं। इस प्रकारकी कथा शिवपुराणमें आती है। आनन्दरामायण, श्रीधरके 'रामविजय' में भी इस कथाका आधार लिया गया है। एकनाथजीने शिवपुराणका हवाला देते हुए अपने 'भावार्थ रामायण'में अरण्यकाण्डके १९ वें अध्यायमें कथा लिखी है।

स्मृति, पुराण, रामोत्तरतापिन्युपनिषद्, रामपूर्वतापिन्युपनिषद्—इन ग्रन्थोंमें राम-महिमाका विशद वर्णन आता है।

(श्री) सप्तकोटि महामन्त्राश्चित्तविभ्रमकारकाः।
एक एव परो मन्त्रो राम इत्यक्षरद्वयम्॥
(वृद्धमनुस्मृति)

(रा) जपतः सर्ववेदांश्च सर्वमन्त्रांश्च पार्वति।
तस्मात् कोटिगुणं पुण्यं रामनाम्नैव लभ्यते॥
(पद्मपुराण)

(म) यथैव वटबीजस्थः प्राकृतश्च महान् द्रुमः।
तथैव रामबीजस्थं जगदेतच्चराचरम्॥
(रामपूर्वतापिन्युपनिषद्)

भारतीय संतोंने राममहिमाका अपार वर्णन किया है। पेशवाके समय महाराष्ट्रके प्रसिद्ध कवि मोरोपंतने एक सौ आठ रामायणोंकी रचना की है। एकनाथजीने भावार्थ रामायणसे चालीस हजार संख्यामें ग्रन्थकी रचना की। विठ्ठलभक्ति करनेवाले सभी संतोंने रामस्मरणको महत्त्व दिया है। भरथरी-सम्प्रदायके सभी संतोंने, अद्वैत-पंथी होनेके कारण पाण्डुरंग, राम, कृष्ण नामोंमें कभी भेद नहीं किया।

ज्ञानदेव कहते हैं—

रामकृष्ण सर्व दोषां हरण। जडजीवा तारण हरि एक॥

राम-कृष्ण सब दोषोंका हरण करते हैं, जड जीवोंका उद्धार करते हैं।

रामकृष्ण उच्चार अनन्त राशि पाप।
पाणचे कळप पळती पुढे॥
—नामदेव

राम-कृष्णके उच्चारसे पापोंके ढेर भागते रहते हैं।

ज्ञानदेव एवं नामदेवने किसी एक देवताके नामोच्चारको महत्त्व नहीं दिया। 'हरिमुखे बोल' (मुखसे हरि कहो) इतना मात्र आग्रहसे कहा है। 'हरिस्मरण' किसी भी नामसे किया जाता है। फिर भी नाथजी, तुकाराम, ज्ञानदेव आदि संतोंने राममहिमाका वर्णन किया है। एकनाथजीने भावार्थ रामायणमें बहुत जगह रामवर्णन किया है। कालविपर्यासका दोष भी नाथजीने किया है। बालकाण्डमें राममहिमाका किस प्रकार वर्णन किया है देखिये—जब श्रवणको दशरथजीका बाण लगता है और वह जमीनपर गिरता है तब उसके मुखसे 'राम'नाम निकलता है। वह कहता है—

कोणा सभाग्याचा बाण। रामस्मरणें सी आला॥
श्रावणासी बाण लागता। नाठवेचि मातापिता॥
नाठवेचि देहममता। रामस्मरता देहत्यागी॥

'राम-स्मरण करते हुए मुझे किस भाग्यवान्ने तीर मारा? तीर लगते ही माता, पिता, देह—इनको श्रवण भूल गया और राम-स्मरण करते हुए उसने देह त्याग कर दिया।'

सच देखा जाय तो कथाके कालक्रमसे श्रवणके मुखमें रामनाम आनेका कोई कारण नहीं। मूल-रामायणमें भी श्रवण 'हाय-हाय' करता हुआ धरतीपर गिरता है। '**हा हेति पततस्तोये बाणाद्व्यथितमर्मणः**' किंतु नाथजीको राम-स्मरणका महत्त्व वर्णन करना है, इसलिये उन्होंने कालविपर्यासका दोष भी सिरपर ले लिया। रामस्मरणसे श्रवण मुक्त हो गया, इतना ही नहीं अपितु राम-नाम सुननेके कारण राजा दशरथको भी ब्रह्म-हत्याका पातक नहीं लगा—

रामनाम स्वयें ऐकतां। रायसी न बाधे ब्रह्महत्या॥

रामनाम-स्मरण किस प्रकार मोक्षप्रद, कल्याणकारक एवं पुण्यप्रद है, जनताको उन्हें यह दिखलाना है। उनमें विश्वास निर्माण करना है। हरिनामस्मरणकी लगनका, चावका उन्हें निर्माण करना है। वे कहते हैं—

जैं धर्माची वाढी मोडे। अधर्माची शीग चढे॥
तैं आम्हा येणे घडे। संसार स्थिति॥

जब धर्मका आचरण डूबने लगता है तब हमें संसारमें आना आवश्यक होता है। इसी भूमिकासे उनकी ग्रन्थ-रचना हुई है। मानवोंके लिये तो रामकथा अमृतके समान है किंतु समस्त देवोंको भी रामकथा मधुर लगती है। नाथजी यह कहना नहीं भूलते। उन्हें सरस्वती कहती हैं—

ते म्हणे गा रामकथेलें। वेगीं चालवी भावार्थे।
सद्भावें होईल सरते। प्रिय संतातें करीन॥

'तुरंतहि राम-कथा भावार्थसे कहो। मैं उसे संतोंमें प्रिय करूँगी।'

महाराष्ट्रमें विस्तारपूर्वक रामकथाका वर्णन करनेवाले नाथ

ही पहले संत हैं। भावार्थ रामायणको रामकथा-कोश कहा जाता है।

एकनाथजीके पश्चात् तुकारामने भी अत्यन्त स्पष्टरूपसे राम-महिमाका वर्णन किया है। तुकारामको जो गुरु-मन्त्र मिला वही 'रामकृष्णहरि' था। तुकारामने एक रामचरित्र भी लिखा है। स्वयं वे अपनेको रामका राऊत (सिपाही) समझते हैं—

आम्ही रामाचे राऊत। वीर झुंजार बहुत ॥

इस रामनामके लिये कुछ कीमत नहीं देनी पड़ती, इसका वर्णन करते हुए तुकाराम कहते हैं—

नाम घेता न लगे मोल। नाम मंत्र नाही खोल ॥
दोचि अक्षरांचें काम। उच्चारावे राम राम ॥

दो अक्षरोंका काम है और वह है 'राम राम।' और इसका अधिकार सबको है। ज़ात-पाँत, लिंगभेद और समय, काल, स्थिति आदिका भी बन्धन नहीं है। तुकाराम कहते हैं—

राम म्हणे वाट चाली। यज्ञ पाउला पाउलीं ॥
धन्य धन्य तें शरीर। तीर्थ व्रतांचे माहेर ॥
राम म्हणे करता धंदा। सुख समाधी त्या सदा ॥
राम म्हणे ग्रासो ग्रासी। तोचि जेविला उपवासी ॥

चलते समय भी राम-नामका यज्ञ कर सकते हैं। जो आदमी राम-नामका यज्ञ करता है उसका शरीर मानो तीर्थोंका उद्गम-स्थान है। काम-धंधा करते समयमें रामनाम करनेपर सुख-समाधिमें तल्लीन हो सकते हैं। भूखा आदमी अगर रामस्मरण करेगा तो उसका पेट भर जायगा।

राष्ट्रगुरु रामदासजीका नाम नारायण था, किंतु राम-भक्तिसे वे रामदास बन गये। इसी घटनासे उनकी रामभक्ति समझमें आ सकती है। दासबोध, करुणाष्टक, मनांचे श्लोक और स्फुट काव्यमें राम-महिमाका तथा रामोपासनाका रामदासजीने वर्णन किया है। रामायणके केवल दो काण्डोंकी रचना उन्होंने की है। समर्थ रामदासजीके रामवर्णनमें केवल रामोपासनाका ही आग्रह दृष्टिगोचर होता है। वे कहते हैं—

भजाया जनीं पाहला राम येकु।
करी बाण येकु। मुखी शब्द येकु ॥
क्रिया पाहता उधरे सर्व लोकु।
घटी जानकी नाथकाचा विवेकु ॥

ऐसी एक कथा प्रचलित है कि रामदास पण्ढरपुर जानेको तैयार नहीं थे; क्योंकि वहाँ उनके राम नहीं थे। किंतु विट्ठलजीने राम-स्वरूपमें उन्हें दर्शन दिया और यह ज्ञान करवाया कि राम और पाण्डुरंग विट्ठल एक ही हैं। दासबोधमें छठवें दशकका सातवाँ समास राम-महिमा-वर्णनपर ही है।

महाराष्ट्रमें रामकथा लिखनेमें मोरोपंत अद्वितीय हैं। पंतजीकी राम-वर्णनपर लिखी हुई पद्य-संख्या १७३६० है। उन्होंने एक सौ आठ रामायण लिखे। पंतजीकी रामभक्ति अवर्णनीय है। श्रीरामकुमार वर्मा तुलसीदासजीको राम-साहित्यके सम्राट् कहते हैं। तद्वत् मोरोपंत मराठी भाषाके राम-साहित्यके सम्राट् हैं।

रामेति रामेति सदैव बुद्ध्या विचिन्त्य वाचा ब्रुवती तमेव।

इस रामायणोक्तिके अनुसार उन्होंने राम-महिमाका वर्णन किया है।

ऐसी माला रामचरणीं। गुंफून पूजा रामचरणीं ॥
वोंकारवत् अखंडपणीं। खंडूचि नये ॥
(दासबोध० ९४। ३। ९)

राम-नामकी माला उन्हें राम-चरणोंपर अर्पण करनी थी, इसीलिये एक सौ आठ रामायणकी माला उन्होंने तैयार की। उन्हें सिर्फ राम-महिमा और रामस्मरण करना था, इसलिये उन्होंने रामायणोंमें विविधता लानेका प्रयास नहीं किया। उनका उद्देश्य निम्न आर्याओंसे मालूम होगा।

श्रीरामाच्या नामें ताप। नाशे भंगे सारा ताप ॥
ऐसा अन्यत्र प्रताप। कोणाहि मन्त्री नसे ॥
श्रीरामचरित करिते मुक्त। सत्कृत किमपि सेविता भावे॥
पार न लागे दशत बदननाहि। परंतु वाटतें गावे ॥

पंत-साहित्यसे ऐसे वचन हजारों मिलेंगे।

इन संतोंके सिवा श्रीधरका 'रामविजय' बहुजन समाजमें बहुत ही लोकप्रिय है। श्रीधरकी विशेषता उसकी सादी, सुलभ भाषा है। उत्तर भारतमें जिस प्रकार रामचरितमानस पढ़ा जाता है, उसी प्रकार महाराष्ट्रमें 'रामविजय' पढ़ा जाता है। गिरिधर, नागेश, निरंजन, वहिणाबाई, मुक्तेश्वर आदि संतोंकी रामायणपर या कुछ प्रसंगोंपर रचनाएँ उपलब्ध हैं। तुलसीके रामचरितको Bible of Northern India कहते हैं, वही स्थान महाराष्ट्र

'रामविजय'को है। पंत और तुलसीकी रामनामकी ओर देखनेकी दृष्टि कैसी एक है, यह इस दृष्टान्तसे ज्ञात होगा।

पंत—'बा नामा! तू जीवन दीना मीना सदा जपा उदधि।'

तुलसी—'रामनाम ही की गति जैसे जल मीनको।'

एकनाथ, पंत, श्रीधर, तुकाराम—इन कवियोंकी रचनाका पूर्ण विवरण देना इस छोटेसे लेखमें बड़ा कठिन है। भारतीय जीवन राममय है। इसका श्रेय इन संतोंको है और आधुनिक संत गांधीजी, विनोवाको भी है। रामनामसे रोग-मुक्ति होती है, इस आशयका पत्र गांधीजीने लिखा था। इस यन्त्रयुगमें भी रामनवमी बड़ी धूम-धामसे लोग मनाते हैं। भारतीय जीवनमें और संस्कृतिमें 'राम' है—इसी कारण भारतीय जीवन और संस्कृतिमें कुछ 'राम' है। जिस दिन भारतीय जीवनसे 'राम' निकल जायगा, उसी दिन भारतीय संस्कृति नष्ट हो जायगी, इसमें संदेह नहीं।

पंडित जवाहरलाल नेहरूने कहा है—"I do not think any person can understand fully without possessing a knowledge of magnificient epics, that are India's pride and Treasure."

श्रीनेहरू-जैसे विद्वान्, बुद्धिवादी, पुरोगामी और भौतिक प्रगतिपर भारतको ले जानेवाले, पाश्चात्त्य-संस्कृतिका गुण वर्णन करनेवाले महान् नेताके ये विचार हैं। इससे यह जाना जा सकता है भारतमें रामका महत्त्व और रामके चरित्रका प्रभाव भारतीय जनतापर कितना महान् है।

सुंदरता कहुँ सुंदर करई

(लेखक—डाक्टर श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू, एम्० ए०, डी० लिट्०)

गोस्वामी तुलसीदासजी अद्वितीय भक्त ही नहीं थे, परमोच्च कलाकार भी थे। कलाकारका सम्बन्ध सौन्दर्य-साधनासे है; क्योंकि जहाँ कला है वहाँ सौन्दर्य है, जहाँ सौन्दर्य है वहाँ कला है। काव्यकला शब्दोंद्वारा हमें सौन्दर्य-जगत्में ले जाकर अलौकिक आनन्दका अनुभव कराती है। लौकिक आनन्द विषयभोगसे मिलता है। यह आनन्द निम्न श्रेणीका है। इससे शक्ति क्षीण होती है और हमारा जीवन पशुजीवनके स्तरपर ही रहता है। कलाका आनन्द हमारे भीतर एक विशेष शक्तिका संचार करता है, हमें अनुप्राणित करता है। हमारे जीवनको पशुवत् जीवनके स्तरसे उठाकर ऊपर ले जाता है। काव्य-निर्माण एक कला है। सूक्ष्मरूपमें भक्ति भी एक कला है; क्योंकि भक्ति अलौकिक सौन्दर्यसे हमारा योग कराती है। जब एक विलक्षण भक्त कलाकार बन जाता है, तब सोनेमें सुगन्ध मिल जाता है। उसके बनाये सौन्दर्यके संसारमें विचरण करके हम इस पृथ्वीसे बहुत ऊपर उठ जाते हैं। हमारा सुख हमें अलौकिक कर देता है। 'रसो वै सः' रस ही 'वह' है, रस ही वह तत् है जिसका संकेत 'तत्त्वमसि' में है। तत्की सत्यं-शिवं-सुन्दरम् गुणत्रयीमें सुन्दरम् अन्तिम श्रेणी है; जिसका अर्थ यह है कि तत् सत्य है, इसकी सत्ता अवाच्य है, इसकी एकमात्र अद्वितीय सत्ता ही एकमात्र अद्वितीय [illegible] है और यह शिव है; कल्याणकारक है, सबको सब प्रकारसे कल्याणदाता है और सुन्दर है, अत्यन्त सुन्दर है, अनिर्वचनीय सुन्दर है, एकमात्र अद्वितीय सुन्दर है। अतएव अनिर्वचनीय आनन्ददाता है। उस तत्की सत्तासे ही उसका अस्तित्व है, जो कुछ दृश्यजगत्में स्थिर है, जो कुछ सत्ताको प्राप्त है। इसी प्रकार उस तत्की चित्-शक्तिके कारण ही जो कुछ जिस किसी मात्रामें जिसमें भी जो चैतन्य है वह है, और अपने अस्तित्वका, अपनी स्थितिका, अपने विविध सम्बन्धोंका, अपने निकटस्थ तथा दूरस्थित विषयोंका सचेत ज्ञान है। और जिस-किसीमें थोड़ी तथा अधिक मात्रामें जैसी भी सुन्दरता है और उस सुन्दरताके कारण जो उसमें आनन्द है, अथवा अन्य वस्तुओंकी सुन्दरताके सम्पर्कसे जो आन्तरिक आनन्द अनुभूत होता है, उस आनन्दका आदिस्रोत है वह तत्का अनन्त आनन्द।

हमलोगोंकी दृष्टि नीचेकी ओर, पृथ्वीकी ओर, स्वभावतः जाती है, अतएव अपार्थिव दृष्टिकोण अपनानेके लिये हमें विशेष प्रयत्न करना पड़ता है। यदि हम सौभाग्यवश 'श्रीगुर पद नख मनि गन जोती'का स्मरण करके दिव्य दृष्टिको प्राप्त कर पायें तो हमें एक अनुपम अनुभव प्राप्त होगा। यह सृष्टि एक जग-व्यापक अद्भुत सौन्दर्यसे ओतप्रोत है। कोई भी वस्तु किसी स्थानमें ऐसी नहीं है जिसमें किसी-न-किसी मात्रामें सौन्दर्य न हो। आकाश परम सुन्दर है चाहे वह अमावास्या

भगवान् भास्करके तेजसे प्रज्वलित हो या राकेशकी अमृतमयी कान्तिसे परिपूर्ण । कृष्णपक्षमें तारोंकी निराली छटा होती है, शुक्लपक्षमें नित्य नयी चन्द्रकलाकी । बादलोंका संसार तो सौन्दर्यका निवासस्थान ही है परंतु बादलोंकी सुन्दरता वही समझ सकता है जिसने हिमालयकी ऊँची चोटियोंमें भ्रमण किया है । प्रेम-मग्न हृदयमें क्षण-क्षण बदलते संकल्पोंके समान वर्षाके बादलोंके रंग और रूप क्षण-क्षणमें बदलते हैं । शरद्के श्वेत बादल हों या मस्त हाथियोंकी पंक्तियोंके समान गरजते काले जलद । बादलोंके रूप, बादलोंकी चाल, बादलोंके रंग मन-मुग्धकारी होते हैं । समुद्रको जिसने एक बार भी देखा, वह उसकी 'बहुताई'का विस्मयभरा आनन्द भूल नहीं सकता । समुद्रकी निर्भय गर्जना और उस गर्जनाकी प्रतिध्वनि, समुद्रके असीम उल्लाससे भरी स्ववशविहारिणी, स्वेच्छाचारी अनन्त तरङ्गें, उछलती, हिलोरें खाती, अट्टहाससे बिखरती-फैलती !!! समुद्रका सौन्दर्य समुद्रके समान अनन्त है । झरने कैसे सुन्दर होते हैं, कोई इस प्रकार बल खाकर पहाड़की चोटीसे गिरता है जैसे कोई अप्सरा स्वर्गसे नीचे उतर रही हो । कभी दो चश्मे एक-दूसरेसे यों वेगसे मिलते हैं, जैसे वर्षों बाद प्यारे मित्र मिले हों । कभी दो चश्मे ऐसे चुपचाप एक दूसरेसे अलग होते हैं, जैसे दो मित्र सदाको उदास हृदयसे अलग हो रहे हों। पक्षियोंकी सुन्दरता अपना एक विशेष स्थान रखती है । उनके पंखोंके रंग, उनकी मीठी बोलियाँ, उनकी सुन्दर उड़ान, कैसी मनोमोहक होती है !! यह वही जानता है जिसने पहाड़ोंपर और वनोंमें उन्हें प्यारसे देखा है । पुष्पोंकी कोमलता, उनके रंग, उनकी सुगन्ध, उनके रूप और तितलियोंके अद्भुत रूप और रंग कवि भी वर्णन नहीं कर सकता । इस संसारमें अगणित नर, नारी और बालक हैं; परंतु कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं होता, जिसका कोई-न-कोई अङ्ग सुन्दर न हो । किसीकी आँखें सुन्दर होती हैं, किसीकी भौंहें, किसीके गाल, किसीकी ठोड़ी, किसीके होंठ, किसीकी नाक, किसीके कान, किसीके बाल, किसीका माथा, किसीके हाथ, किसीके पैर, किसीकी चाल, किसीकी मुस्कुराहट, किसीकी हँसी, किसीका चुप रहना, किसीका देखना, किसीका न देखना, किसीका बोलना और किसीका न बोलना । इसी प्रकार हर एक व्यक्तिमें भावका सौन्दर्य भी पाया जाता है । कोई ऐसी नारी या ऐसा नर या बालक नहीं, जिसके अंदर कोई-न-कोई सद्भाव गुणरूपसे व्याप्त न हो । किसीमें दया, किसीमें सहिष्णुता, किसीमें सौन्दर्य-प्रेम, किसीमें सेवाभाव, किसीमें मातृभक्ति, किसीमें पितृप्रेम, किसीमें भाईका या बहनका प्यार, किसीमें पक्षियोंका प्रेम, किसीमें ईश्वरभक्ति, किसीमें धर्मभाव, किसीमें दान-प्रियता, किसीमें न्याय-प्रेम, किसीमें शान्तिकी इच्छा, किसीमें अहिंसाके प्रति निष्ठा और किसीमें दूसरेके कल्याणका भाव ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यह जगत् सौन्दर्यसे ओत-प्रोत है । आकाशमें सौन्दर्य है, जलमें सौन्दर्य है, थलमें सौन्दर्य है, पक्षियोंमें, पुष्पोंमें, तितलियोंमें, नर और नारियोंमें, बालकोंमें सब स्थानोंमें कुछ-न-कुछ सौन्दर्य अवश्य है । हमारे भीतर सौन्दर्य है, हमारे बाहर सौन्दर्य है, हमारे ऊपर-नीचे, चारों ओर सौन्दर्य-ही-सौन्दर्य है । यह संसार एक महान् छबिगृह है । इस संसारकी इस अनुपम सुन्दरताका कारण क्या है ? इस महान् छबिगृहको दृश्यमान कौन करता है ? कलाकारशिरोमणि कविवर तुलसीदासजी इस प्रश्नका उत्तर इस प्रकार देते हैं कि जगज्जननी, जगन्मोहिनी जानकीजी ही इस संसारकी सुन्दरताका आदिकारण हैं, वे ही इस महान् छबिगृहको दृश्यमान करती हैं ।

सुंदरता कहुँ सुंदर करई । छबिगृहँ दीपसिखा जनु बरई ॥

जगदम्बा जानकीजीकी नित्य, अनादि, अनन्त, अनिर्वचनीय, सर्वव्यापक कान्ति ही दीपशिखाके समान इस जगत्रूप छबिगृहकी छबिको दीप्तिमान् करती है । जानकीजीकी शोभा अकथनीय है ।

राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना । परमानंद परेस पुराना ॥

ऐसे श्रीरघुनाथजी भी सीताजीकी शोभाका वर्णन न कर सके ।

हृदयँ सराहत बचनु न आवा ।

जिनकी सुन्दरतासे राकापति अमृतपूर्ण होते हैं, जिनकी सुन्दरतासे अग्नि प्रज्वलित होती है, जिनकी सुन्दरतासे सूर्य तेजस्वी दिखलायी देते हैं, जिनकी सुन्दरताकी अमर, अनन्त कहानी उषा नित्य नये-नये रंगोंसे लिखती है लेकिन पूर्ण कहानी लिख नहीं पाती, उन जगन्मोहिनी सीताजीकी सुन्दरतासे ही सब वस्तुएँ सुन्दरताको प्राप्त होती हैं । जगन्मोहिनी ही सुन्दरताकी आत्मा हैं । वे ही सुन्दरताको सुन्दर करती हैं ।

द्वादशाक्षर मन्त्र और गीता

(लेखक—श्रीगोविन्दराम पं० हूँदराजजी बोधा [यजुर्वेदी])

विहाय पीयूषरसं मुनीश्वरा
ममाङ्घ्रिराजीवरसं पिबन्ति किम् ।
इति स्वपादाम्बुजपानकौतुकी
स गोपबालः श्रियमातनोतु नः ॥

मुनीश्वरगण अमृतरसको त्यागकर मेरे चरणारविन्द-मकरन्द-रसका पान क्यों करते रहते हैं ? यह सोचकर कौतूहल-वश अपने ही चरणकमलके अँगूठेका पान करता हुआ वह गोपबाल (नन्हा मुन्ना श्रीकृष्ण) हमारा कल्याण करे ।

प्रश्न—छोटा बच्चा कैसे कल्याण कर सकेगा ?

उत्तर—कृष्ण=कृष्+ण=सत्ता+आनन्द ।

वह सर्वशक्तिशाली तथा परम आनन्दमय है । जिसने उसकी शरण ली, उसीका कल्याण हुआ (जैसे द्रौपदी आदि)।

प्रलयके समय मार्कण्डेय मुनिने देखा कि एक सुन्दर और सुकोमल बालक अपने चरणकमलका अंगूठा मुँहमें डाले, पीपलके पत्तेपर विराजमान हो, अगाध और भयावह समुद्रमें उनकी ओर आ रहा है । मुनिके निकट पहुँचते ही उसने जम्हाई ली और मुनिको अपने पेटमें पहुँचा दिया । वहाँ मुनिने अनन्त ब्रह्माण्ड इत्यादि देखे । क्या ऐसे बालकको हमें साधारण बालक समझना चाहिये ? वह तो पूर्णब्रह्म पुरुषोत्तम है ।

आत्यन्तिकं व्याधिहरं जनानां
चिकित्सकं वेदविदो वदन्ति ।
संसारतापत्रयनाशबीजं
गोविन्द दामोदर माधवेति ॥

वेदोंके ज्ञाता विद्वान् लोग गोविन्द (वेदवाक्योंद्वारा ही ज्ञात होनेवाले), दामोदर (दम आदि साधनोंसे जब मति उत्कृष्ट हो जाती है, तभी ज्ञात होनेवाले) और माधव (मौन, ध्यान और योगके द्वारा ही ज्ञात होनेवाले) अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णको ही बड़ी-से-बड़ी विकट व्याधिको मिटानेवाले वैद्य तथा संसारके तीनों तापोंके (आधिभौतिक=प्राणियोंद्वारा प्राप्त होनेवाले, आधिदैविक=देवताओंद्वारा प्राप्त होनेवाले तथा आध्यात्मिक=शारीरिक और मानसिक) नाशका बीज बतलाते हैं ।

शरीरं सुरूपं ततो वै कलत्रं
यशश्चारु चित्रं धनं मेरुतुल्यम् ।
यशोदाकिशोरे मनो वै न लग्नं
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥

सुन्दर शरीर हो, लावण्यवती स्त्री हो, सुन्दर तथा विचित्र यश हो तथा मेरु पर्वततुल्य धन हो, परंतु यदि यशोदानन्दन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रमें मन नहीं लगा, तो इन सबसे क्या लाभ ?

वासुदेवं परित्यज्य येऽन्यं देवमुपासते ।
तृषिता जाह्नवीतीरे कूपं वाञ्छन्ति दुर्भगाः ॥

जो लोग श्रीवासुदेवको (वसुदेवजीके पुत्र श्रीकृष्णको) छोड़कर दूसरे किसी देवताकी (उससे भिन्न मानकर) उपासना करते हैं, वे अभागे गङ्गाजीके तटपर रहते हुए भी प्यास बुझानेके लिये कुएँकी चाहना रखते हैं ।

ऐसे पूर्णपुरुषोत्तम, अशरणशरणका द्वादशाक्षरमन्त्र ‘**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**’ तथा उनकी अमृतवाणी श्रीमद्भगवद्गीता हमारे दुःखोंका नाश करनेमें तथा हमारा उद्धार करनेमें समर्थ है । द्वादशाक्षरमन्त्र और गीता कैसे और क्यों हमारे दुःखोंका नाश तथा हमारा उद्धार करते हैं, यह भेद इनसे ही सुनें ।

‘**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**’का अर्थ है, (ॐ) सत्, चित् और आनन्दस्वरूप तथा मोक्षदायक परब्रह्म, (भगवते) (सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्यसे युक्त, (वासुदेवाय) जो सबमें बसता है, तथा जिसमें सब बसते हैं (तथा वसुदेवजीके सुपुत्र श्रीकृष्ण) ऐसेके लिये (नमः) नमस्कार हो ।

द्वादशाक्षरमन्त्रके प्रत्येक अक्षरसे गीताके कुछ श्लोक आरम्भ होते हैं, उन्हींसे सहायता लें ।

द्वादशाक्षर मन्त्रका पहला अक्षर है ‘ॐ’, जिसका अर्थ है—सत्, चित् और आनन्दस्वरूप परमात्मा तथा मोक्षदायक परब्रह्म ।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥
(८ । १३)

जो पुरुष ॐ ऐसे एक अक्षररूप ब्रह्मको उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मुझको चिन्तन करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह पुरुष परमगतिको प्राप्त होता है । वह परम गति है भगवन्मय हो जाना, भगवान्से अलग न रहना ।

हम जिसके कारण जीवित कहलाते हैं, वह हमारे शरीरके अंदर रहनेवाला जीवात्मा, परमात्माका ही अंश है। मायाके चक्करमें फँसकर, यह जीवात्मा अनन्त कालसे उस परमात्मासे अलग हो गया है। मायाके आवरणके कारण न तो अपने अंशीके सांनिध्यमें, जो उसे आनन्दका अनुभव होता था, उसका स्मरण है और न तो अंशीके विरहमें जो उसे दुःख होना चाहिये, वह दुःख ही है। हम तो संसारके ही सुखों और दुःखोंमें फँसे हैं। परमात्माके सांनिध्यमें जो सच्चा सुख और आनन्द प्राप्त होता है, उसे प्राप्त करनेके लिये, हमें सब कुछ देकर भी पूर्ण प्रयास करना चाहिये। अपना सर्वस्व अर्थात् देह, प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरण तथा इनके धर्म तथा पति, स्त्री, गृह, पुत्र, इष्टमित्र, सम्बन्धी एवं धन, इहलोक, परलोक—इन सबको परमात्माको समर्पण करना चाहिये और उनके साथ, परमात्माकी प्राप्तिके हेत्वर्थ, बिना आसक्तिके, शास्त्रोक्त मर्यादाओंमें रहकर व्यवहार करना चाहिये तथा अपनेको परमात्माका दास समझना चाहिये। जैसे उनसे अलग होनेकी वेदना तीव्र होती जायगी, वैसे ही उनमें भक्ति दृढ़ होती जायगी और शीघ्र ही वे हमें प्राप्त हो जायँगे, हमारे दुःख सदाके लिये नाश हो जायँगे और सच्चा सुख तथा अनन्त आनन्द सदाके लिये हमें प्राप्त हो जायगा।

यदि कोई हमें ऐसा लाभदायक मार्ग बतलाये, तो हमें उसके द्वारा मिली हुई कृपाके बोझके कारण नतमस्तक होकर उसे नमस्कार तो करना ही चाहिये।

दूसरा अक्षर है न=नमस्कार।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥
(११।४०)

हे अनन्त सामर्थ्यवाले! आपको आगेसे और पीछेसे भी नमस्कार हो। हे सर्वात्मन्! आपको सब ओरसे नमस्कार हो; क्योंकि अनन्त पराक्रमशाली आप सारे संसारको व्याप्त किये हुए हैं, इससे आप सर्वरूप हैं।

भगवान् सबमें बसते हैं, इसलिये वे सर्वात्मा हैं। वे छोटे-से-छोटे अणुसे लेकर बड़ी-से-बड़ी वस्तुमें विद्यमान हैं और ऐसा कोई स्थान अथवा वस्तु नहीं है, जिसमें वे न हों, अतः वे सर्वव्यापी हैं। एतदर्थ हमें सबमें और सब ओर उनका दर्शन करते हुए उनको नमस्कार करना चाहिये। वे 'कर्तुम्, अकर्तुम् तथा अन्यथाकर्तुम् समर्थ' हैं, इसलिये वे अनन्त सामर्थ्यवाले तथा अनन्त पराक्रमशाली कहे गये हैं। हमें उनकी ही शरणमें जाना चाहिये। **'श्रीकृष्णः शरणं मम।'** उनके दिखलाये गये मार्गपर चलना चाहिये तथा ऐसा कोई कर्म नहीं करना चाहिये, जिसके लिये उन्होंने रोका हो।

तीसरा अक्षर है मो=मः और मा+उ।

मा=नकारात्मक, उ=उक्ति अर्थात् नहीं करने योग्य कर्मोंके विषयमें उक्ति।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥
(९।१२)

वृथा आशा, वृथा कर्म तथा वृथा ज्ञानवाले अज्ञानीलोग राक्षसी, आसुरी तथा मोहिनी प्रकृतिको ही धारण करते हैं।

भगवान् ही हमारे सच्चे सुहृद् तथा सम्बन्धी हैं। वे जिनसे हमारा कल्याण हो तथा हमारे कर्म और योग्यतानुसार ही हमें सम्बन्धी, मित्र, पद तथा सुख-दुःखादि देते हैं। वे हमें ऐसे सम्बन्धी इत्यादि देते हैं, जिनकी सहायतासे हम अधिक योग्य बनकर शीघ्र ही उनको (ईश्वरको) प्राप्त करें। अतः न तो हमें निरर्थक आशाओंका सेवन करना चाहिये और न निरर्थक आशाओंके प्राप्त्यर्थ शास्त्रविधिका उल्लङ्घन कर निरर्थक कर्म ही करने चाहिये। वे हमारी ऐसी माँगोंकी ही पूर्ति करते हैं, जिनसे हमारा सच्चा अभ्युदय हो। वे तो हमारे माँगे बिना ही हमें ऐसी वस्तुएँ प्रदान करते रहते हैं तथा ऐसे सुअवसर देते रहते हैं, जिनसे हमारा सच्चा अभ्युदय हो। आवश्यकता है उन वस्तुओं तथा सुअवसरोंसे पूरा लाभ उठानेकी, न कि उन्हें ठुकरानेकी। निरर्थक भावनाएँ तब उत्पन्न होती हैं, जब हम सुख भगवत्प्राप्तिमें नहीं, अपितु क्षणिक सांसारिक भोगोंमें ही मानते हैं। यही वृथा अर्थात् निरर्थक ज्ञान है। हमें द्वेषवश होकर अथवा अपने सुखके लिये या प्रमादवश भी किसीको दुःख नहीं पहुँचाना चाहिये। तब हमें क्या करना चाहिये, जिससे हमारा भला हो? हमें तो अनन्य भावसे वासुदेवकी ही भक्ति करनी चाहिये, जिससे हमारे दुःख सदाके लिये नाश हो जायँ तथा हमें भगवान्के सांनिध्यका अनुपम आनन्द प्राप्त हो।

चौथा अक्षर है भ=भक्ति ।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥
(१८ । ५५)

भक्तिद्वारा ही वह मुझ परमात्माको, मैं जो हूँ और जितना हूँ, ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्वसे जान लेता है तथा उस भक्तिसे मुझको तत्त्वसे जानकर तत्काल मुझमें ही प्रविष्ट हो जाता है ।

अनन्य-भक्तिद्वारा ही मनुष्य भगवान्के निर्गुण-निराकार तथा दिव्य सगुण-साकार रूपोंका भेद तथा कैसे भगवान् निर्गुणसे सगुण, सगुणसे निर्गुण, निराकारसे साकार तथा साकारसे निराकार बनते हैं, समझता है । भगवान्के यथार्थ स्वरूपका ज्ञान होते ही उनकी प्राप्ति हो जाती है । भगवान्को क्यों प्राप्त करना चाहिये ?

अतः पाँचवाँ अक्षर है ग=गति ।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥
(९ । १८)

प्राप्त होने योग्य परम धाम, भरण-पोषण करनेवाला, सबका स्वामी, शुभाशुभका देखनेवाला, सबका वासस्थान, शरण लेने योग्य, प्रत्युपकार न चाहकर हित करनेवाला, सबकी उत्पत्ति तथा प्रलयका हेतु, स्थितिका आधार, निधान और अविनाशी कारण मैं ही हूँ ।

अतः हमें उनकी ही शरणमें जाना चाहिये । ये ही हमें संसारके बन्धनोंसे छुड़ाकर अपनेमें लीन कर लेंगे । जो उनसे एक नहीं हुए, उनको तो दुःखमय जन्म-मरणके चक्करमें घूमना ही पड़ेगा ।

छठा अक्षर है व=वध और विनाश ।

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥
(११ । २७)

वे आपके विकराल दाढ़ोंवाले भयानक मुखोंमें बड़े वेगसे दौड़ते हुए प्रवेश कर रहे हैं और कई एक चूर्ण हुए सिरोंसहित आपके दाँतोंके बीच लगे हुए दीख रहे हैं ।

परंतु जो सन्मार्गपर चलते हैं और भगवान्में ही चित्त लगाते हैं, उनकी तो वे नैया पार लगाते हैं ।

सातवाँ अक्षर है, ते= ता+ इ= तारनेकी इच्छा ।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥
(१२ । ७)

उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसारसमुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ ।

परंतु यदि भक्ति इतनी प्रबल नहीं हुई तो क्या होगा ? तो भगवान् उन्हें पुनः मनुष्यशरीर देकर आगे बढ़नेका अवसर देंगे । इसलिये—

आठवाँ अक्षर है वा= व+ आ= वस्त्र+आवरण । अर्थात् यह शरीररूपी वस्त्र जीवात्माका आवरणमात्र है ।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥
(२ । २२)

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है ।

इस शरीरके रहते हुए तथा अन्य शरीरोंको प्राप्तकर मनुष्यको भगवान्की भक्ति करते हुए संसारमें कैसे रहना चाहिये ? सबसे समान भावसे तथा प्रेमसे बर्ताव करना चाहिये ।

नवाँ अक्षर है सु=सुहृद्वत् आचरण करना ।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥
(६ । ९)

(सच्चे प्रेम और हित करनेवाले) सुहृद्, मित्र, शत्रु, द्वेष्य (स्वभावसे नीच), मध्यस्थ (दोनों पक्षोंकी भलाईके लिये न्याय करनेवाले), उदासीन (किसी प्रकारका भी सम्बन्ध नहीं रखनेवाले), कुटुम्बियोंमें, धर्मात्माओंमें तथा पापियोंमें समान (प्रेम) भाव रखनेवाला अत्यन्त श्रेष्ठ है ।

अथवा

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ।

(५ । २९)

मैं सब प्राणियोंका सुहृद् हूँ यह जानते ही शान्ति मिल जाती है। भगवान्‌के इस सौहार्दपर विश्वास करके शान्ति प्राप्त करनी चाहिये और भगवान्‌का अनुकरण करके प्राणीमात्रका सुहृद् बनना चाहिये। और भी कोई ऐसा साधन है जिससे हमारी शीघ्र उन्नति हो तथा हम भगवान्‌को शीघ्र प्राप्त करें । यह है देवताओंकी सेवा, इसलिये—

दसवाँ अक्षर है दे=देवताओंकी सेवा ।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥

(३ । ११)

तुमलोग इस यज्ञद्वारा देवताओंको उन्नत करो और वे देवता तुमलोगोंको उन्नत करें । इस प्रकार निःस्वार्थभावसे एक दूसरेको उन्नत करते हुए तुमलोग परम कल्याणको प्राप्त होओगे ।

ऐसी सुन्दर शिक्षाएँ देनेवाले तथा मुक्तिका मार्ग बतलानेवालेको एक बार फिर नमस्कार करें । इसलिये ग्यारहवाँ अक्षर है वा=वासुदेवको वन्दन करें ।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥

(११ । ३९)

आप वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजाके स्वामी ब्रह्मा तथा ब्रह्माके भी पिता हैं । आपके लिये हजारों बार नमस्कार हो, नमस्कार हो, आपके लिये फिर भी बार-बार नमस्कार नमस्कार !!

भगवान्‌ने प्रतिज्ञा की है कि इस प्रकार उनमें मन लगानेवालोंका वे अवश्य उद्धार करेंगे । इसलिये—

बारहवाँ अक्षर है य=यजमान और याचकका उद्धार ।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥

(१८ । ६८)

जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके, इस परम रहस्यम शास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा (उन्हें सुनायेगा, पढ़ायेगा अथवा प्रचार करेगा) वह मुझको ही प्राप्त होगा । इस कोई संदेह नहीं है ।

अतः हमारा परम कर्तव्य है कि गीताके ज्ञानके आधार पर संसारके सब कार्य करें, अपने तथा औरोंके कष्ट मिटा और आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी भक्तिद्वार परमपदको प्राप्त हों ।

ध्येयः सदा योगिभिरप्रमेय-
श्चिन्ताहरश्चिन्तितपारिजातः ।
कस्तूरिकाकल्पितनीलवर्णो
गोविन्द दामोदर माधवेति ॥

योगी भी जिन्हें ठीक-ठीक जान नहीं पाते हैं, जो सभी प्रकारकी चिन्ताओंको हरनेवाले हैं और मनोवाञ्छित वस्तुओंको देनेके लिये कल्पवृक्षके समान हैं तथा जिनके शरीरका वर्ण कस्तूरीके समान नीला है, उन्हें सदा ही गोविन्द ! दामोदर ! माधव ! इन नामोंसे स्मरण करना चाहिये ।

यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः ।
ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः ॥

जहाँ सत्य, धर्म, ईश्वरविरोधी कार्यमें लज्जा और हृदयकी सरलता है, वहाँ ही श्रीकृष्ण रहते हैं और जहाँ श्रीकृष्ण रहते हैं, वहाँ निःसंदेह विजय है ।

ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किंचन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनोदरे किमपि यन्नीलं महो धावति ॥

ध्यानके अभ्याससे जिनका चित्त वशमें हो गया है, वे योगी यदि उस निर्गुण और निष्क्रिय परम ज्योतिको देखते हैं तो देखा करें, हमारे लिये तो यमुनाजीके तटपर जो (श्रीकृष्ण नामवाली) वह अलौकिक नील ज्योति दौड़ती फिरती है, वही चिरकालतक लोचनोंको चकाचौंधमें डालनेवाली हो ।

बोलो भक्त और भगवान्‌की जय !

हृदयमें मधुर गान रखकर आनन्दित होइये

(लेखक—डाक्टर श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

हमारे भक्त कवियोंने कभी कविता करनेका जान-बूझकर प्रयत्न नहीं किया। उनका प्रभुभक्तिविह्वल हृदय स्वयं ही संगीतके रूपमें फूट निकला। भक्तप्रवर सूरदास, भक्तशिरोमणि तुलसीदास, प्रभुप्रेममें पगी मीराँ, कबीर, नानक इत्यादि भक्त कवियोंने संगीतमय जीवन व्यतीत किया। वे प्रभुभक्तिमें विह्वल होकर एकतारेपर कुछ-न-कुछ मधुर गीत गुनगुनाया करते थे। रैदास जूते बनानेका कार्य करते-करते गाते रहते, कबीर जुलाहेका करघा चलाते-चलाते भजन गाते रहते, तुलसी और सूर प्रति दिन एक भव्य भजनसे ही प्रारम्भ करते थे। इन्हें कभी यह ज्ञान नहीं था कि वे सर्वगुणसम्पन्न उत्तम काव्य-रचना कर रहे हैं। यह भजन, उनका यह संगीत, ये मधुर गान 'स्वान्तःसुखाय' ही थे। अपने मन, हृदय, शरीर और आत्माको पूर्ण प्रसन्न और तृप्त रखनेके लिये ही इनका निर्माण हुआ था। मीराँ तो जो गाती थी, वही एक मधुर गान बनकर निकलता था। इन मधुर गीतोंने उसके हृदयको सरस और ताजा बना रक्खा था। उनकी तन्मयतामें वह संसारके कष्टोंको भुला सकी थी।

सच मानिये, जीवन बिल्कुल ही दूसरे प्रकारका हो सकता है यदि आप उसे मनमें या हृदयमें एक मधुर गान रखकर आरम्भ करें। जीवनकी अनेक विषमताएँ बहुत कुछ कम हो सकती हैं या बिल्कुल ही हट सकती हैं, यदि आप गाकर जीवन प्रारम्भ करें। हृदयको किसी मधुर भजन, प्रेरणाप्रद कविता, प्रिय गानसे सरस और तरोताजा रखिये।

हृदयमें किसी गीतका प्रेरक, उत्साहप्रद, संतोषदायक, उन्नतिशील भाव रखना इस बातका प्रमाण है कि आप जीवनके प्रत्येक दिनकी समस्याएँ, विरोध अथवा कठिनाइयाँ ईश्वरमें विश्वास रखकर दूर कर रहे हैं। आपके मनमें किसी प्रकारका भय नहीं है। यह गीत हमें जीवनरूपी सागरमें दूरतक बड़ी बहादुरीसे आगे बढ़ाता है और मनमें नये जोशको भर देता है। गानेसे कठोरताएँ दूर होकर सरसतामें बदल जाती हैं। बुरे-से-बुरा थका या उबा देनेवाला काम आसान लगता है। खेद है कि हम उस शक्ति और योग्यताको नहीं जानते, जो हमें प्रेरक गीतसे मिल सकती है। एक बार एक प्रेरक गाना गाइये, फिर आप पायेंगे कि आपके हृदयकी कली जैसे पूरी तरह खिल गयी है, रग-रेशे ताजगीसे भर गये हैं, मन और शरीरमें नयी ताकत आ गयी है; अब हम अपना कठोर कार्य भी बखूबी पूरा कर पा रहे हैं।

हमें अपनी आजकी समस्याओंका सफलतासे मुकाबला करनेके लिये एक प्रेरक गीतकी आवश्यकता है; क्योंकि हमारी आजकी समस्याएँ विषम हैं। इन कठिनाइयोंको हम संगीतके द्वारा हल करेंगे। हमें वे कठिनाइयाँ कदापि नहीं आयेंगी, जो हमारे पूर्वजोंको आती थीं। आर्थिक समस्याएँ, पारिवारिक विषमताएँ, मकान, बीमारी, बच्चोंके विवाहकी शत-शत समस्याएँ हमें विचलित नहीं करेंगी, यदि हमें आजके लिये कोई प्रेरक शान्ति-स्फूर्तिदायक गीत मिल जाय।

एमर्सन कहा करते थे, 'हमारा यह वर्तमान समय, अन्य समयकी तरह बहुत ही उपयुक्त और कार्य करनेके लिये सर्वोत्तम समय है। जरूरत यह है कि हम यह जान लें कि उसका उचित उपयोग हम किस प्रकार कर सकते हैं।'

यह कथन आज भी उतना ही सही है जितना यह तब था, जब इसे एमर्सनने कहा था। उन्नतिकी असंख्य सम्भावनाएँ हमारे चारों ओर बिखरी पड़ी हैं। इन

सम्भावनाओंके विषयमें सोचने, विचारने तथा उन्हें कार्यरूपमें परिणत करनेसे हमें नयी आशा मिलती है। यह कार्य प्रेरक गीत बड़ी तेजीसे हमारे लिये करते हैं। प्रत्येक उत्तम कविता या गीतमें एक उत्तम भाव छिपा रहता है, जो हमारे शरीरमें फैलकर हमारी ताक़तोंको दुगुना-चौगुना बढ़ा देता है।

मनमें पवित्र भजन, या ईश्वरीय प्रेरणासे सना हुआ गान आपको ईश्वरीय शक्ति प्रदान करता है। हमारे विचार ईश्वरके अक्षय शक्तिभण्डारसे शक्ति खींचते हैं। ईश्वरकी शक्ति आपके चारों ओर वातावरणमें बिखरी पड़ी है। भजनकी विद्युत्-तरङ्गें उसे आसपाससे खींचती हैं। इन भजनोंमें जो ईश्वरीय शक्ति शब्द-शब्द और अक्षर-अक्षरमें छिपी पड़ी है, उसे अनुभव कीजिये। ये उन संतों तथा महात्माओंके उद्गार हैं, जिन्होंने स्वयं अपने अंदर ईश्वरीय शक्तियोंको अनुभव किया था। ये भजन उन संतोंके प्रत्यक्ष जीवनके निचोड़ हैं, अनुभवकी किरणें हैं। इनसे ईश्वरीय शक्तिका माहात्म्य प्रकट हो रहा है।

प्रेरक गान चाहे आप उच्च स्वरसे करें अथवा शान्त मन-ही-मन गुनगुनायें, या किसी भक्त प्रेमीद्वारा सुनें—हर प्रकार उपयोगी और कल्याणकारी है। इसे आन्तरिक आह्लाद, आन्तरिक आनन्दके गुणके रूपमें ग्रहण करना चाहिये और अनुभव करना चाहिये कि वही मधुर स्वर्ग-जैसा पवित्र संगीत हमारे जीवन-पुष्पद्वारा प्रकट हो रहा है। हमारे देशमें संत और भक्त कवियोंके संगीतमय भजनों और ईश्वरीय गीतोंका बृहत् भण्डार बिखरा पड़ा है। उसमेंसे स्वयं अपनी रुचि और आवश्यकतानुसार भजन चुन लेने चाहिये। तुलसीकी 'विनयपत्रिका', सूरका 'सूरसागर', मीराँकी 'पदावली', कबीरके 'पद'—ये सब पवित्र भावोंसे परिपूर्ण हैं।

प्रातः उठते ही बड़े प्रेमसे निम्न उत्तम भजनोंको गाना सुख, स्वास्थ्य और मङ्गलमय जीवन प्रदान करनेवाला है—

अब कै नाथ ! मोहि उधारि।
मगन हौं भव-अंबुनिधि मैं, कृपासिंधु मुरारि॥
नीर अति गंभीर माया, लोभ-लहरि तरंग।
लिएँ जात अगाध जल कौं गहे ग्राह अनंग॥
मीन इंद्रिय तनहि काटत, मोट अघ सिर भार।
पग न इत-उत धरन पावत, उरझि मोह-सिवार॥
क्रोध-दंभ-गुमान तृष्ना पवन अति झकझोर।
नाहिं चितवन देत सुत-तिय, नाम-नौका ओर॥
थक्यौ बीच बिहाल बिहवल, सुनौ करुना-मूल !।
स्याम, भुज गहि काढ़ि लीजै सूर ब्रज कैं कूल॥

सूरदासजी बतलाते हैं कि यह संसार समुद्रकी तरह जंजाल दुःखरूप है। माया इस संसारसागरका अगाध जल है, लोभरूपी लहरें हैं, कामवासनाका मगर है, इन्द्रियाँ ही मछली हैं और जीवके सिरपर पापोंकी गठरी रक्खी हुई है। मोह ही इस समुद्रमें सेवार है। कामक्रोधादिकी हवा झकझोर रही है। हरिनामकी नौका ही पार लगा सकती है, पर स्त्री-पुत्रकी माया उधर देखने ही नहीं देती। भगवन् ! आप ही मेरा हाथ पकड़कर पार लगायेंगे। आप ही मेरे बल हैं। आपकी करुणा ही संसार-सागरसे मेरा उद्धार करनेवाली है।

एक और भजन इस प्रकार है—

प्रभु, मेरे गुन-अवगुन न बिचारौ।
कीजै लाज सरन आए की, रबि-सुत-त्रास निवारौ॥

× × × ×

जो गिरिपति मसि घोरि उदधि मैं लै सुरतरु बिधि हाथ।
मम कृत दोष लिखै बसुधा भरि, तऊ नहीं मिति नाथ॥
तुमहिं समान और नहिं दूजौ, काहि भजौं हौं दीन॥
कामी, कुटिल, कुचील, कुदरसन, अपराधी, मति-हीन।

× × × ×

तुम सरबज्ञ सबै बिधि समरथ, असरन-सरन मुरारि।
मोह-समुद्र सूर बूड़त है, लीजै भुजा पसारि॥
(सूरदास)

अथवा यह गाइये—

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुंज-हारी॥

नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसो ?
मो समान आरत नहिं, आरतिहर तोसो ॥
ब्रह्म तू, हौं जीव, तू है ठाकुर हौं चेरो ।
तात-मातु, गुरु-सखा तू सब बिधि हितु मेरो ॥
मोहिं तोहिं नाते अनेक, मानियै जो भावै ।
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु ! चरन-सरन पावै ॥

(विनयपत्रिका)

कुछ आधुनिक कवियोंके प्रेरक गीत लीजिये—

हे भगवान् ! महान् बनूँ मैं ।
दुख आकर मुझसे टकरावें ।
गिरकर चूर-चूर हो जावें ॥
अविचल अटल रहूँ दृढ़ होकर—
प्रभु ऐसा चट्टान बनूँ मैं ।
हे भगवान् महान् बनूँ मैं ॥ १ ॥
उन्नत हो नभमें लहराऊँ ।
मानवके जगमें फहराऊँ ॥
शुचिता अरु मानवताका—
ऐसा अमिट निशान बनूँ मैं ।
हे भगवान् ! महान् बनूँ मैं ॥ २ ॥
जगमग ज्योति अखण्ड जला लूँ ।
भूले पथके पथिक बुला लूँ ॥
हो जाऊँ मग-दर्शक जगका—
ऋषियोंकी संतान बनूँ मैं ।
हे भगवान् ! महान् बनूँ मैं ॥ ३ ॥
मैं सत्य-सुधाका पान करूँ ।
मैं प्रेमी बन सम्मान करूँ ॥
मैं न्यायी न्याय-विधान करूँ ।
फिर जीवनका अभिमान बनूँ मैं ।
हे भगवान् ! महान् बनूँ मैं ॥ ४ ॥
तेरी करुणाका ध्यान करूँ ।
प्रतिक्षण तेरा आह्वान करूँ ॥
हो जाऊँ तन्मय तुझमें तब—
तेरे करका वरदान बनूँ मैं ।
हे भगवान् ! महान् बनूँ मैं ॥ ५ ॥

—पं० जनार्दन पाण्डेय

एक कविता जिससे आप सदा नयी शक्ति और प्रेरणा पा सकते हैं—

(१)

क्या हुआ नभमें घटाएँ घिर गईं तो,
क्या हुआ तममें दिशाएँ खो गईं तो,
छोड़ना मत आश मनकी तू अभी,
प्रातका जगमें उजेला छायगा ही !
भोरका तारा गगनमें आयगा ही !

(२)

क्या हुआ पतझार तेरे बागमें मुसका रहा तो,
क्या हुआ मझधारमें तूफान फिर इठला रहा तो,
छोड़ना पतवार मत माँझी अभी तू,
बागमें मधुमास फिरसे छायगा ही !
भोरका तारा गगनमें आयगा ही !

(३)

जिन्दगीमें फूल भी हैं, शूल भी हैं,
जिन्दगीमें हार भी है, जीत भी है,
फिर हृदयमें क्यों निराशा भर रहा तू ?
शाप भी वरदान बनकर आयगा ही !
जिन्दगीका यह अँधेरा जायगा ही !

—श्रीउमाकान्त एस० चौधरी

इसी प्रकारके अनेक प्रेरक गीत, कविताएँ, भजन, वाणियाँ, दोहे इत्यादि आप अपने लिये छाँट सकते हैं। गुनगुनाकर नयी ताकत और नयी स्फूर्ति पा सकते हैं। इन गीतोंमें आपके जीवनको सरस और उत्साहप्रद बनानेकी बड़ी शक्ति है। यदि संगीतका अस्तित्व मिट जाय, तो दुनियाँ बड़ी नीरस, रूखी और कर्कश माळूम होने लगेगी। प्राणियोंके अंदर जो उन्नतिशील चैतन्य तत्त्व है, वह संगीतद्वारा गति प्राप्त करता है। उसे आगे बढ़ाता है। मनुष्यके अंदर जो नयी जागृति होती है, उसका आधार शक्तिशाली झंकृतियाँ ही हैं। भव्य संगीतकी कम्पनमय प्रेरणासे ही समस्त सृष्टिका काम चल रहा है।

एक विद्वान्के शब्दोंमें हम यह कह सकते हैं कि ‘एक दिव्य संगीतसे दसों दिशाएँ झंकृत हो रही हैं। हर ओर स्वर-लहरी गूँज रही है। हृषीकेशका पाञ्चजन्य,

शंकरका डमरू, भगवान् श्रीकृष्णकी मधुर मुरली, सरस्वतीकी वीणाका सत्य शिव और सुन्दर संगीत निनादित हो रहा है और उसपर विमुग्ध होकर विश्वकी जड-चैतन्य सत्ताका प्रत्येक परमाणु नृत्य कर रहा है ।'

आइये, इस अमृतमय संगीतको अपने प्राण औ आत्मामें उतारें ।

पारिवारिक जीवनकी दृढ़ भित्तियाँ—प्रेम, सहिष्णुता और सेवा

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

प्रत्येक प्राणी जन्म तो अकेला लेता है, पर उसकी वृद्धि और सुरक्षामें कई व्यक्तियोंका हाथ होता है । सबसे पहले तो उसे जिसने अपने गर्भमें रक्खा और जन्मग्रहणके बाद भी जिसकी सेवाएँ उसे आगे बढ़ानेमें सहायक होती हैं, उस माताका उसपर असीम उपकार होता है । इसी तरह पिता, माता, बहिन, दादी आदि, जो भी उसके निकट-सम्बन्धी उसके पनपनेमें सहायक होते हैं, उन सबके प्रति उसका आकर्षण होना स्वाभाविक है । यह आत्मीय-भाव, ममत्व या प्रेम ही पारिवारिक जीवनकी मूल भित्ति है । वैसे तो जीवन-व्यवहारमें अनेकों व्यक्तियोंसे सम्पर्क रहता है, पर उनके साथ वैसा अपनत्व कम ही हो पाता है । इसलिये जिनके साथ सदा रहा जाय, जो अपने सुख-दुःखके साथी हों, जिससे वंशपरम्परानुगत निकट-सम्बन्ध हो, उसका एक परिवार माना जाता है । जिनको हम अपना मानते हैं और जो हमें अपना मानते हैं, उस अपनेपनके साथ पारिवारिक सम्बन्ध विशेषरूपमें जुड़ता है ।

प्राचीन संस्कृति या परम्पराका अनुसंधान करनेपर यह मालूम होता है कि मनुष्यको अपना अकेलापन अखरा । सुख-दुःखके समय एक दूसरेसे मिलना, अपनी बात दूसरोंको कहना और दूसरोंकी बात स्वयं सुनना उसे आवश्यक प्रतीत हुआ । वैदिक मान्यताके अनुसार सृष्टिकर्ता ईश्वर पहले अकेला था और उसे अपना अकेलापन अखरा और ईश्वरको यह इच्छा उत्पन्न हुई कि मैं एकका अनेक हो जाऊँ—'एकोऽ बहु स्याम् ।' उसके बाद ईश्वरने सृष्टिकी रचना आर की और विविध आकृति, रुचि एवं योग्यतावा प्राणियोंकी सृष्टि की; क्योंकि एकही-जैसे सभी प्रा होते तो क्रीड़ा या लीलाका जो सुख ईश्वर अनु करना चाहता था, वह उसे नहीं मिल पाता । प यदि इन विभिन्नताओंमें एकता स्थापित करनेका प्रय नहीं होता, सामञ्जस्य स्थापित नहीं किया जाता, त सब एक दूसरेसे विलग रहकर अपनी-अपनी खिच अलग-अलग पकाते, उनका मेल-मिलाप और पारस्परि सौहार्द नहीं बन पाता । इसलिये स्नेह, ममत्व या प्रेमक बन्धन भी प्राणियोंमें डाला गया, जिससे एक-दूसरे अलग होते हुए भी सब एकताके डोरेमें बँधे हुए-से रहें माताके हृदयमें अपनी संतानके प्रति स्नेह नहीं हो तो संतानका जीवित रहना ही कठिन हो जाता औ उसकी उन्नति तो हो ही नहीं सकती; क्योंकि उस शारीरिक एवं बौद्धिक विकासमें समय लगता है । व स्वयं अपना आहार जुटाने और ग्रहण करनेमें सम नहीं होता और जीवन-व्यवहारकी अनेक बातें सी नहीं पाता । इसी तरह पारिवारिक जीवनकी आवश्यकत हुई और उससे मानव-समाजने बहुत अधिक उन्न की । वैसे तो पशुओंमें भी पारिवारिक जीवन हो है । पर उनकी अनेक शक्तियाँ उस रूपमें विकसित न हो पातीं, जिस रूपमें मनुष्यकी । एककी अपे अनेक व्यक्तियोंकी शक्ति जुड़ती है तो उससे अधि

लाभ मिलता है; क्योंकि प्रत्येक व्यक्तिमें जहाँ अपनी कुछ विशेषताएँ होती हैं, तो कुछ कमियाँ भी होती हैं। इसलिये पारस्परिक संगठनके द्वारा एक दूसरेकी कमियोंकी पूर्ति हो जाती है और विशेषताएँ बढ़ जाती हैं। इसलिये पारिवारिक जीवन एक पूरक जीवन है।

अनेक प्रकारकी अनेक शक्तियाँ मिलनेसे सबको उसका अच्छे परिमाणमें लाभ मिलता है। सुख और दुःखमें एक दूसरेका सहारा मिलनेसे दुःख इतना भारी नहीं प्रतीत होता। जहाँ अकेला एक व्यक्ति ऊब जाता है, वहाँ दूसरा व्यक्ति उसे आश्वासन या सहारा देकर उसके दुःख-भारको हल्का कर देता है कि तुम चिन्ता न करो, मैं तुम्हारे साथ हूँ। जो भी सुख मुझे प्राप्त होगा हम बाँटकर खायेंगे और दुःख मिलेगा तो भी मिलके भोगेंगे। तुम्हारा कोई विरोधी है या तुम्हें कोई मारने आयेगा तो मैं भी तुम्हारे साथ हूँ। तुम अपनेको अकेला मत समझना। तुम घरका काम देखोगे, तो बाहरका काम मैं सम्हाल लूँगा। तुम बीमार पड़ जाओगे तो तुम्हारा काम मैं कर लूँगा अर्थात् एक दूसरेसे मिल-जुलकर रहने और परस्पर सहायक बननेसे जीवन-संग्राममें अनेक सुविधाएँ प्राप्त होती हैं और इसी बातको लक्ष्यमें लेकर भारतमें पारिवारिक जीवनका अधिक विस्तार हुआ। एक परिवारमें दस-पाँच ही नहीं, पर सौ-दो-सौ व्यक्ति भी होते हैं। उन सब व्यक्तियोंकी योग्यता एक समान हो ही नहीं सकती। कोई कमाऊ होता है तो कोई उड़ाऊ। कोई बुद्धिमान् होता है तो कोई मूर्ख। कोई बलवान् होता है, तो कोई बलहीन। कोई स्वस्थ है तो कोई रोगी। कोई एक व्यक्ति ही बहुत व्यक्तियोंका काम कर सकता है, तो कोई सर्वथा निठल्ला और निकम्मा होता है। यावत् परिवारमें कुछ व्यक्ति अंधे, लँगड़े, लूले, बहरे भी होते हैं, पर सबमें अपनत्व और ममत्व होनेसे सबका एक साथ निर्वाह होता रहता है।

कुछ तेजमिजाजके होते हैं, उनकी कटु बात भी सबको सहनी पड़ती है। अतः पारिवारिक जीवनकी दूसरी मूल भित्ति है—सहिष्णुता। एक दूसरेकी अच्छी-बुरी बातको सहन किये बिना निर्वाह नहीं हो सकता। यदि परिवारके एक व्यक्तिने कुछ कहा और दूसरा उसे सहन नहीं कर पाया तो परस्परमें झगड़ा होकर पारिवारिक संगठन टूट जायगा। यदि एक व्यक्ति नहीं कमाता है और परिवारके लिये भाररूप है तो भी परिवारका मुखिया उसे बरदाश्त करेगा। सबको स्नेह-रज्जुमें बाँधकर रखनेकी यह कला सहनशीलतापर ही आधारित है।

तीसरी मूल भित्ति है—पारस्परिक सहयोग और सेवा। मनुष्य जिसको अपना मान लेता है उस आत्मीयके लिये स्वयं कष्ट उठानेको भी तैयार रहता है—यदि उससे दूसरेको सुख मिलता हो। परिवारका एक व्यक्ति रोगी होता है तो उसकी परिचर्यामें वह अपने शरीरकी सुध-बुध खो बैठता है। दिन-रात एक करके भी वह कैसे और जल्दी-से-जल्दी रोगमुक्त हो, इसके लिये पूरा प्रयत्न करता है। मान लीजिये एक व्यक्ति गिर पड़ा, पर यदि उसे कोई सहारा देकर खड़ा करनेवाला हो तो उसका कष्ट बहुत हलका हो जायगा। आज विपत्ति मुझपर आयी है तो कल दूसरेपर भी आ सकती है। इसलिये एक दूसरेके सहयोग एवं सेवाकी नितान्त आवश्यकता है। परिवारके लोग घरके अनेक कामोंमें बँटवारा कर लेते हैं और अपना-अपना काम ठीकसे करते रहते हैं, तो भी मन मिला रहता है। एक व्यक्तिको बहुत अधिक काम करना पड़े और दूसरा निकम्मा बैठा रहे तो अधिक काम करनेवालेको यह अखरेगा ही और इसका परिणाम आगे चलकर पारिवारिक संगठनका छिन्न-भिन्न हो जाना अनिवार्य होगा। ठीक है, परिवारमें कोई कम काम करता है, कोई अधिक। उसे अधिक महत्त्व देना भी भेदका कारण बनेगा, पर जहाँ उसकी मात्रामें आधिक्य आया, वहाँ तो अलगाव

होना निश्चित ही है; क्योंकि सहन करनेकी भी एक सीमा होती है । अतः परिवारके लोगोंमें एक दूसरेका ध्यान रखना और सहायक बनना बहुत ही आवश्यक है । जिस प्रकार सम्पत्तिमें सबका समान भाग है उसी प्रकार विपत्तिमें भी होना चाहिये । एक दूसरेकी सेवा करनेको तत्पर रहना चाहिये । तभी पारिवारिक जीवन सुखी हो सकता है ।

अनुशासन भी पारिवारिक जीवनका आवश्यक अङ्ग है । परिवारके मुखियाके अनुशासनमें सभीको रहना जरूरी है । स्वच्छन्द अपने मनके मते चलनेसे परिवार तीन-तेरह हो जायगा ।

भारतीय संस्कृतिमें आत्मीयताके विस्तारको बड़ा महत्त्व दिया गया है । अतः संकुचित परिवारसे विशाल परिवारकी ओर हमारा ध्यान जाना आवश्यक है । ज्यों-ज्यों विश्वप्रेमकी भावना बढ़ती जायगी; त्यों-त्यों परिवारका संकुचित दायरा विशाल होता जायगा । साधु-महात्मा यही तो करते हैं । पहले तो देखनेमें यही लगता है कि इन्होंने परिवारको छोड़ दिया, स्नेह-बन्धनको तोड़ दिया । पर वास्तवमें उन्होंने संकुचित पारिवारिक जीवनको समाप्तकर विशाल परिवारको अपनाया है । अब उनका अपनत्व या ममत्व दस-बीस व्यक्तियोंमें ही सीमित न रहकर हजारों, लाखों और करोड़ोंमें व्याप्त हो गया है । इसीलिये कहा गया है—

अयं निजः परो वेत्ति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

साधुके लिये पहले कुटुम्बका सम्बन्ध छूटकर गु शिष्योंका परिवार बनता है । फिर अनेक अनुयायियोंका ए विशाल परिवार बन जाता है और अन्तमें उन्हें सारा वि ही अपना कुटुम्ब—परिवार मालूम देने लगता है । उनके लिये पराया कोई है ही नहीं, सभी तो अपने हैं । अतः यह तेरा, यह मेरा यह क्षुद्र भावना वहाँ समाप्त हो जाती है । यही आत्मीयताका विस्तार है, यही विश्वप्रेम है ।

आजकल पारिवारिक जीवनके प्रति अरुचि बढ़ने लगी है । सभी स्वतन्त्र या स्वाधीन रहना चाहते हैं । बड़ोंके प्रति विनय और माता-पिता आदि गुरुजनोंके प्रति अपना कर्तव्य भुला दिया जा रहा है । परिवार अनेक छोटे-छोटे दायरोंमें विभक्त होता जा रहा है । इससे संकुचित स्वार्थवृत्ति प्रबल हो रही है । दो भाइयोंमें एक सगा भाई तंगीमें है, भूखा है, कष्टमें है, पर दूसरा भाई समर्थ होते हुए भी उसकी ओर उपेक्षा कर रहा है । एक दूसरेको सहायता देनेकी भावना समाप्त होती जा रही है । यह भारतीय संस्कृतिके तो सर्वथा विपरीत है ही, पर इससे मानवोचित गुणोंका ह्रास होता दिखायी दे रहा है । मैं पिया, मेरा बैल पिया, अब चाहे कुआँ टूट पड़ो । मैं सुखी हूँ, बस, इतना ही काफी है, दूसरा दुखी है तो इसका मैं क्या करूँ ? इस तरह आजकल 'मैं' अपनी स्त्री और संतानमें ही सीमित होता जा रहा है । यह बहुत ही हानिकारक है । इस ओर ध्यान देकर माता-पिता, भ्राता-बहिन आदिके पारिवारिक प्रेमसम्बन्धको उपर्युक्त दृढ़ भित्तियोंपर पुनः स्थापित करना चाहिये ।

करुण प्रार्थना

नाथ ! हौं निपट निरंकुस नीच ।
नरक-कीट मैं पर्‍यौ रहौं नित पाप-तापके कीच ॥
करौं भगतिकी बात मनोहर भीतर भरे बिकार ।
अंतरजामी तुमहु तें मैं करौं कपट-ब्यवहार ॥
निज सुभावबस नाथ दयाकर पकरि उधारौ हाथ ।
पाप-प्रवाह पतित पामर कौं करौ कृपालु सनाथ ॥

कौन सोचता है ? कौन व्यथित है ?

(लेखक—श्रीसुन्दरलालजी बोहरा)

व्यक्ति, समाज और राष्ट्रका उत्थान प्राकृतिक वातावरणपर निर्भर करता है; किंतु यह परिभाषा भौतिक प्रगतिको ही संतुष्ट कर सकती है । जहाँतक व्यक्तिके सामाजिक उत्थानकी बात है, नैतिक उत्थानका आदर्श है एवं नागरिक दायित्वोंसे ऋण-मुक्तिकी बात है; प्राकृतिक वातावरणकी अपेक्षा स्वयं व्यक्तिद्वारा निर्मित वातावरण उत्तरदायी है । 'सावधान'के स्वर यहींसे गूँजने शुरू होते हैं; क्योंकि स्वयंद्वारा निर्मित मार्गको सुधारने-मोड़नेमें प्रायः व्यक्ति तर्क-वितर्क करते रहते हैं और अक्सर परिणाम विपरीत ही होता है । सावधान रहते हुए संशोधन करना अपने-आपमें विशेष महत्त्व रखता है और संशोधन भी प्रायः वे ही सफल होते हैं जो संयमी एवं सत्यके सच्चे पुजारियोंद्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं । अतः कथनी एवं करनीमें सामञ्जस्य अनिवार्य है । बदल वही सकता है जो वह स्वयं बदलकर बता सकता है । बिना आत्मशोधन एवं अनुसंधानके बदलनेकी बात करना अरण्यरोदन ही है । अतः जो आपत्तिमें, समाजकी किंकर्त्तव्यविमूढ़ स्थितिमें आगे आये, वही अग्रगामी है, वही आदर्श मानव है और वही समाजके मान-मूल्योंको बदलनेका सच्चा अधिकारी है। शिव बनना और बनाना संयमपर निर्भर करता है । आज भारतको ऐसे ही आदर्श नीतिपरायण पुरुषोंकी आवश्यकता है ।

आज जहाँ प्रगतिके नामपर दुर्गति पोषण पा रही है । मनोरञ्जनके नामपर सिनेमाद्वारा सत्यानाश हो रहा है । नवीनताके रूपमें नाशका नृत्य हो रहा है । जीवनके मान-मूल्योंका दिन-दूना रात-चौगुना (Cumulatively) विघटन हो रहा है । चारों ओर अनुशासनहीनता एवं अनुत्तरदायित्वका वातावरण विस्तृत हो रहा है । कुल-मर्यादा मरघटपर पड़ी है; शैक्षणिक मर्यादाको संन्यास दिया जा रहा है । फिर भी हम विकास कर रहे हैं ! आज लगता है, जैसे विचारकोंका मस्तिष्क शून्य हो गया है; समाजसुधारकोंकी आवाज अटक गयी है, नेताओंको नींद आ गयी है, अध्यापक आमोद-प्रमोदमें मस्त हैं और पत्रकार 'प्रेस्टिज' के पीछे पागल हैं । हमने इतने बाँध बना लिये; हमने इतना लोहा ढाल लिया, हमने इतनी सड़कें बना दीं, इतने अस्पताल-कारखाने खोल दिये और हमने इतना ऋण प्राप्त कर लिया ! क्या यही प्रगति है ? क्या यही उत्थान है ? जब कि हमने इतने सदाचारविनाशक सिनेमाघरोंका निर्माण होने दिया; हमने मनोविज्ञानके नामपर इतना सेक्स साहित्य छपने-बिकने दिया; हमने इतने नट-नर्तकोंका सम्मान किया; हमने इतनी उम्रकी लड़कियोंको नाचना अनिवार्य बनाया; हमने धूम्रपानकी धूम मचने दी; शराबबंदीके नामपर शराब-प्रचार किया । हमने कोठेकी वेश्यावृत्तिका निवारण किया तो पर्देकी वेश्यावृत्ति प्रारम्भ हो गयी ! पहलेकी वेश्यावृत्ति कुछ लोगोंतक ही सीमित रही, पर इस 'पर्देकी वेश्यावृत्ति' का रोग आठसे लेकर साठतककी उम्रवालोंको लग गया है । भोजन छोड़ सकते हैं मगर सिनेमा अवश्य देखेंगे । बाप अपनी युवती कन्याके साथ सुहागरातकी हरकतोंसे पूर्ण फिल्म देखता है और वही बाप कन्याको पर्देमें रखना चाहता है ! विडम्बनाको भी विलाप करना पड़ता है यहाँ !

जीनेके रास्ते दो हैं (वस्तुतः एक ही है—योग) योग और भोग । एक रास्ता हरिताभपूर्ण मैदानकी ओर जाता है तो दूसरा रेतके टीबोंसे परिपूर्ण मरुभूमिकी ओर । योगमें मोक्ष है तो भोगमें बन्धन तथा रोग । एकमें श्रीवृद्धि है तो दूसरेमें सर्वनाश । जगद्गुरु भारतने भीष्म, हनुमान्, लक्ष्मण, ययाति एवं भर्तृहरिके रूपमें

दोनों मार्गोंका अनुसरण किया, मगर बात—आस्था—पहले पथपर ही पक्की रही और उसकी संस्कृति, कला एवं आचार-विचार सनातन हुए । 'जीवन' अपने सर्वोत्कृष्ट रूपमें भारतके जन-जीवनके सम्मुख उपस्थित हुआ । किंतु मानव-प्रकृति हर नये क्षण परिवर्तन चाहती है—हर क्षण 'संतोष' को संन्यास देनेका हठ करती है और यहींसे सत्यानाश शुरू होता है । भारतवासियोंको योगवादका प्रतिपादन करते-करते अजीर्ण हो गया ! मार्गदर्शक स्वयं मार्गच्युत और मार्गसे अपरिचित हो गया । भारतने अपनी चोंच बंद कर ली । वह अपनी चोंच तभी खोले, जब अमेरिका, इंगलैण्ड और रूस सिखाये कि 'बच्चे ! चोंच ऐसे खोलते हैं ।' भारतको अपने नैतिक संस्कारोंमें त्रुटि दिखायी देने लगी, अपने नैतिक मूल्योंमें मन्दी नजर आने लगी । उसे अपने-आपमें आस्था नहीं रही और साथ ही इन्द्रियोंमें आसक्ति अवश्य प्रबलतर हो गयी । यही कारण है कि आज भारतीय जन-जीवनमें दुराचार, दुःख और अशान्ति है । आज भोगवाद योगवादपर हावी है । आज व्यक्ति बावले होकर चौराहोंपर खड़े हैं—उन्हें रास्ता चाहिये ! पर कौन दिखाये ! और परिणाम होता है विकृत प्रपञ्चमें परमासक्ति । लोग चोरी-छिनारी और राम-राम साथ-साथ करना चाहते हैं । एक टाँग घोड़ेपर और दूसरी गदहेपर रखकर लक्ष्यको पाना चाहते हैं और परिणाम है अनुशासनहीनता, अशान्ति, अनुत्तरदायित्व और उत्तरोत्तर अधम गति ।

इन सबके मूलमें एक प्रधान वस्तु है—सिनेमा ! फिल्मोंको राजकीय सम्मान दिया जाता है, विद्वानोंके मुखसे फिल्मोंकी प्रशंसा करवायी जाती है । सिनेमा-नर्तकियोंके चित्र उच्च-से-उच्च अधिकारियोंके साथ छापे जाते हैं । यह सब पतनके लक्षण हैं । यह सिनेमारूपी मीठा जहर उन हजारों अस्पतालोंके रूपमें प्रकट हो रहा है, जहाँ असंख्य व्यक्ति सुजाक, मधुमेह और क्षयरोगके रूपमें अपने कियेका दुष्परिणाम भोग रहे हैं; यह जहर उन भस्मों और बटिकाओंके रूपमें प्रकट हो रहा है जिन्हें यौवनपूर्वकी अवस्थामें 'स्वप्नदोष-नाशक' के रूप नन्हें-मुन्ने उदरस्थ करना शुरू कर देते हैं; यह वि उस तलाकरूपी भवनकी तिड़कनोंसे रिस रहा है जिसमें कभी एक आदर्श परिवार रहता था और आ जहाँ कबूतरखाना है; यह वह मिट्टीका तेल है आत्महत्यारूपी आगको भड़काकर उसमें अलसायी कलियोंको होम रहा है; यह वह दैत्य है जो राह चल पावन ललनाओंका कुत्सित तिरस्कार कर रहा है ! इत पर भी कहा जाता है कि भारत प्रगति कर रहा है भारतवासियोंको अपेक्षित कैलोरियों (Callories) भोजन मिल रहा है, औसत उम्र बढ़ रही है ! ह प्रगति कर रहे हैं ! पर वास्तविक चिन्ता किसको है ? कौ व्यथित है ? अपनी-अपनी डफली अपना-अपना राग सेन्सर-बोर्ड सो रहा है । हैरानी तो तब होती है ज राम और सीताको भी पर्देपर नचाया जाता है । फि चाहे सामाजिक हो, धार्मिक हो, पारिवारिक या श्मशान-यात्राकी हो, आकर्षक नाच-कूद और गा उसमें अवश्य रहेगा ! आखिर यह अनाचारका प्र नहीं तो क्या है—सभ्य असदाचार !

मेरा मन पूछता है, मानवमें विशेषता क्या है जब भोग, भय, भोजन और नींद पशुओंमें भी है । मान विशेषता है विवेककी । आज उसी विवेकको ह विवेकपर रोना आ रहा है । 'मनुज जीवित पर मानवका मोहन ।' आज मानवका विवेक नष्ट हु जा रहा है और आदमी पुनः पशु बनने लगा— सदाचारकी समझ या समझानेसे कोई वास्ता नहीं रख चाहता । पशुओंकी सम्भोग-प्रवृत्ति प्रकृतिसे संचालि होती है; पर इधर मानवने अपनी 'सत्ता'को सर्वो मानकर प्रकृतिका उपहास किया है—विवेक अविवेकके वस्त्र पहिनाकर वह अहर्निश भोगोपासन रत है । वस्तुतः स्थिति भयावह है । आज प्रायः

लोग प्रमादग्रस्त और असदाचारपरायण होते जा रहे हैं। 'कूएँ भाँग पड़ी'—सच्चा रास्ता कौन दिखाये ?

पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्।

सारा जगत् ही मोहमयी प्रमादकी मदिराको पीकर उन्मत्त हो रहा है !

एक विशेष बातका यहाँ उल्लेख करना आवश्यक समझता हूँ। कुछ पत्र, जो फिल्मोंमें अश्लीलताके नामपर जेहाद किया करते हैं, वे ही जब फिल्मी-फकीरोंके अर्द्धनग्न एवं विभिन्न मुद्राओंके फोटो छापते हैं तो सुधारको भी संताप करना पड़ता है। सुधार और व्यापार कभी साथ नहीं चल सकते। एकमें जहाँ त्याग है वहाँ दूसरेमें आसक्ति। अतः 'कल्याण' की तरह विज्ञापन स्वीकार न करना ही श्रेयस्कर है।

यदि हम भारतवर्षकी सही अर्थोंमें प्रगति चाहते हैं तो देशके सारे सिनेमाघरोंको अविलम्ब सरायोंमें परिवर्तित कर दिया जाय। फिल्मी साहित्यकी समाप्ति कर दी जाय। समुद्रपारसे आये हुए सेक्स-साहित्यको समुद्रमें डुबो दिया जाय। नये सिरेसे सेक्स-साहित्यका सृजन करनेवालोंके लिये कठोर दण्डकी व्यवस्था की जाय; क्योंकि आज व्यक्ति इतना विवेकभ्रष्ट हो गया है कि बिना कठोर दण्डके केवल पुचकारनेसे राहपर नहीं चलता। फिर उन भजन-मण्डलियोंका बहिष्कार किया जाय जो फिल्मी तरङ्गोंमें भजन अलापती हैं। सहशिक्षा बंद की जाय और कन्याओंके लिये अलगसे पाठ्यक्रम प्रारम्भ किया जाय। समाजका कायाकल्प भी उचित पथ्यपर चलनेसे ही होगा। अतः समाजके धुरीजनों—अध्यापक, संन्यासी, पत्रकार, नेता, माता-पिता—सभीसे अन्तरात्मासे अनुरोध करता हूँ कि वे अपनी भावी पीढ़ीको इस सिनेमारूपी कुष्ठरोगसे बचायें। व्यक्तिकी प्रगतिमें ही समाजकी प्रगति निहित है; क्योंकि व्यक्तियोंके समूहका नाम ही समाज है। संयमकी महिमाको बल प्रदान करनेवाली प्राचीन परम्पराओंका उपहास करना अपने पैरोंपर आप ही कुल्हाड़ी मारना है। भूतसे यदि वर्तमान सीखता है तो भविष्य अवश्य उज्ज्वल होता है। उपहास हर स्थितिमें भयावह है। समाजके अग्रगामियोंको परमात्मा सद्बुद्धि दें जिससे कि देशकी कच्ची फुलवारीको अनाचाररूपी अजगरकी विषैली श्वाससे सुरक्षा हो सके।

◆

समर्पण

श्रीकृष्णाय नमः

कृष्ण-विरह-आतप-जनित ताप कलेस अपार।
लहि आनँद सपनो भयो बीते बरष हजार॥
घर धरनी सुत संपदा लाभ हेतु दिन-रैन।
तन इन्द्रिय मन प्रान मम जतन-निरत बेचैन॥
धरम सहित इन सबन कौं निज आत्मा के साथ।
हौं सौंपत भगवान प्रभु नँद-नंदन के हाथ॥
दास तिहारो कृष्ण हौं सतत नवावौं माथ।
चरन गहौं निज सरन लै कीजै नाथ सनाथ॥

—पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री 'राम'

तीर्थ

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

सौम्य शान्तस्वभाव वयोवृद्ध एवं विद्वान् थे वे कथावाचक। बड़ा कोमल स्वर था। वे कह रहे थे—

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

अष्टादश पुराण भगवान् वेदव्यासकी ही रचना हैं। इसलिये उसमें सभी वचन व्यासके ही हैं; किंतु उन सबका सार, सबमें प्रधान ये दो वचन हैं—१–परोपकार सर्वश्रेष्ठ पुण्य है। और २–दूसरोंको पीड़ा देनेके समान कोई पाप नहीं है।

कथावाचक बड़ी तल्लीनतासे व्याख्या सुनानेमें लगे थे और ग्रामके सीधे-सादे श्रोता एकाग्रचित्त सुन रहे थे। सबसे पीछे एक प्रचण्डकाय, भयंकर-दर्शन, वज्रदेह, बड़ी दाढ़ी-मूँछोंवाला अधेड़ उम्रका पुरुष अपने मोटे लट्ठको सहारा बनाकर कब आकर खड़ा हो गया, किसीने नहीं देखा। कोई देखता भी तो दस्युप्रमुख दुर्दान्तको पहचान सके, ऐसा कोई यहाँ नहीं था। अवश्य ही दुर्दान्तका नाम आतंक बनकर पूरे प्रदेशमें छा चुका था।

भयानकताकी मूर्ति वज्रपुरुष दुर्दान्त, जिसने दया, नम्रता, क्षमा आदि स्वप्नमें भी नहीं सीखे, जिसके सम्मुख उसके दलके मुख्य व्यक्ति भी 'भीगी बिल्ली' बने रहते हैं, पता नहीं क्यों आया था इस ग्राममें और फिर सहज ही क्यों खड़ा हो गया था इस कथा सुनती भीड़के पीछे।

'परपीड़न सबसे बड़ा पाप' दुर्दान्तके चित्तमें एक अन्धड़ उठा—जीवन पूरा उसका इसी पापमें बीता और अब? इस सत्तर वर्षकी अवस्थामें इस महापापसे छुटकारा पानेका मार्ग मिलेगा उसे?

कथा समाप्त हो गयी। आरती हुई, प्रसाद बँटा और लोग एक-दो करके चले जाने लगे। वृद्ध कथावाचकने ग्रन्थको वस्त्रमें लपेट करके मस्तकसे लगाया और वे आसनसे उठे।

'पण्डितजी!' बहुत नम्र बना लेनेपर भी बड़ा कर्कश एवं उग्र स्वर था। ब्राह्मणने सामने देखा उस दण्डहस्त उग्र पुरुषको—'आपने दस्यु दुर्दान्तका नाम सुना होगा?'

'सुना है भाई!' पीला पड़ गया वृद्ध ब्राह्मण। थरथराते कण्ठसे उसने कहा—'थोड़ेसे पैसे मिले हैं कथाकी आरतीमें। यदि तुम चाहो ....'

'डरिये मत! पैसे मुझे नहीं चाहिये!'

दुर्दान्त क्या करे, चेष्टा करके भी उसका निसर्ग कर्कश-स्वर कोमल नहीं होता। लेकिन वह अपनी बात कह तो देना ही चाहता है—'दुर्दान्तने पंद्रह वर्षकी आयुसे अबतक जब कि वह सत्तरका है, दूसरोंको पीटा, मारा, लूटा, सताया। दूसरोंको सताना ही उसका व्यवसाय, विनोद और जीवन रहा। उस-जैसे महापापीके भी उद्धारका कोई उपाय है?'

'है! होगा क्यों नहीं?' वृद्ध क्षणार्धमें स्वस्थ एवं गम्भीर हो गये—'किसी एकका भी उद्धार असम्भव हो तो भगवान् फिर पतितपावन किस बातके?'

'लेकिन मुझसे भजन-पूजन, जप-तप जो आप बतानेवाले हैं, सो कुछ नहीं होनेका है।' दस्युने स्वयं एक उपाय सुझाया—'मेरे पास सम्पत्तिका अभाव नहीं। मेरा गुप्त कोष स्वर्ण-रत्नसे भरा है। यदि वह काम दे सके........... ।'

'नहीं भैया!' ब्राह्मणने सिर हिला दिया।

'वह पापकी कमायी—कीचड़से कीचड़ धोया नहीं जा सकता। अपने पसीनेका उपार्जन होता तो भले कुछ काम आता। उसे तो अपने साथियोंको बाँट दो और उनको धन लेकर इस अन्यायसे अलग होनेके लिये समझा दो, यदि वे समझ सकें।'

'वे समझ जायँगे; किंतु मैं क्या करूँ?' दस्युके किसी जन्मके पुण्य आज जागे थे।

'तुम तीर्थयात्रा करो ।' दो क्षण सोचकर ब्राह्मणने कहा—'पूरे भारतके तीर्थोंका दर्शन करो । तीर्थयात्रामें पैदल चलोगे । भूख-प्यास सहोगे । तप होगा अपने-आप । नियम-संयमका पालन होगा । भगवान्के श्रीविग्रहोंके तथा संत-महापुरुषोंके दर्शन होंगे । शरीरसे ही हो सके ऐसा सुगम साधन तो तीर्थयात्रा ही है ।'

'मैं पवित्र हो गया, यह मुझे कैसे पता लगेगा' दस्युने जिज्ञासा की ।

'जब दूसरे दीन-दुखियोंपर चित्तमें स्वयं दया आवे ।' ब्राह्मणने बतलाया—'और जब अपना अपराध-अपमान करनेवालेपर भी मनमें क्रोध न आवे, तब समझ लेना कि तुम पवित्र हो गये ।'

दस्युने हाथ जोड़कर प्रणाम किया ब्राह्मणको ।

× × × ×

दस्युराज दुर्दान्तका शरीर अब भी गठा हुआ है; किंतु दुर्बल हो गया है । लाठी अब भी रखता है वह हाथमें; किंतु उसकी लाठीसे तो अब कुत्ते भी कदाचित् ही डरते हैं । सिर एवं दाढ़ी-मूँछके केश प्रायः सब श्वेत हो गये हैं । फटे वस्त्र, नंगे बिवाईभरे पैर, उलझे केश—कोई तपस्वी लगता है देखनेमें अब दुर्दान्त । बिना माँगे कोई कुछ दे दे तो भूख मिटे, अन्यथा कहीं जल पीकर वृक्ष अथवा निर्जन मन्दिरमें रात्रि बिता देता है । बहुत कम बोलता है; किंतु स्वरमें अब भी कुछ रूक्षता है ।

'माता-पिता सबसे बड़े तीर्थ हैं । उनकी सेवा और उनके लिये श्राद्ध सबसे श्रेष्ठ पुण्य है ।' गयामें पहुँचनेपर एक तीर्थपुरोहित मिल गये दुर्दान्तको और उन्होंने इस निर्धन यात्रीपर कृपा की । सिकताके पिण्डका विधान ऐसे ही अकिञ्चन जनोंके लिये तो शास्त्रने किया है ।

'कोई सेवा नहीं कर सका यह नीच माता-पिताकी ।' फूटकर रो पड़ा आज । सम्भवतः वह पहिली बार रोया होगा ।

'दुखी मत हो भाई ! माता-पिता नहीं रहे; किंतु उनके ही समान गुरु, गौ और संत सजीव श्रेष्ठतम तीर्थ हैं ।' तीर्थपुरोहित बोले—'और तुम्हारा यह पश्चात्ताप—पश्चात्तापसे श्रेष्ठ पाप-क्षालक तीर्थ दूसरा कोई नहीं है ।'

दुर्दान्त अब दुर्दान्त कहाँ है ! लोग उसे बाबाजी कहते हैं । वह अद्भुत यात्री हो गया है । गायें दीख जायँ तो घास उखाड़नेमें लगेगा और कुछ तृण प्रत्येकको देकर तब आगे बढ़ेगा । कोई भिखारी, रोगी मिल जाय तो दस-पाँच दिन ही नहीं, महीने-दो-महीने बिता देगा उसकी सेवामें । अवश्य ही वह साधु-संतोंके समीप टिकता नहीं । उनकी ज्ञान-चर्चा उसकी मोटी समझमें नहीं आती; किंतु बड़ी श्रद्धासे प्रणाम करता है । सुयोग मिले तो सूखी लकड़ी तोड़कर रख आता है साधुओंके पास और किन्हींके पैर भी दबाता कुछ देर बैठता है । लेकिन है वह यात्री । कहीं टिकना नहीं सीखा उसने । उसकी तीर्थयात्रा चल रही है ।

'परम तीर्थ है अपना पवित्र चित्त !' एक संत मिल गये उत्तराखण्डकी यात्रा करते समय दुर्दान्तको । कई दिनोंतक मार्गमें उनका साथ रहा । उनका आसन इसने अपने कंधेपर लटका लिया था । वे संत कह रहे थे—'तुम्हारा चित्त तो तीर्थ हो चुका है । ऐसे पवित्रहृदय परोपकारी संत-सेवी पुरुष तीर्थोंमें जाकर उन्हें भी तीर्थ बनाते हैं ।'

विनम्र, तितिक्षु, क्षमामूर्ति दुर्दान्त—वह कई महीनोंसे निरन्तर भगवन्नाम लेने लगा था । श्रीबद्रीनाथके श्रीविग्रहके सम्मुख जब वह पहुँचा, उसके पैर लड़खड़ाये । वहींसे संतोंने उसका देह उठाया और अलकनन्दामें समाधि मिली उस देहको । वह तीर्थीभूत तीर्थयात्री……………

सुन्दरता क्या है ?

(लेखक—स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज)

विश्वका प्रत्येक प्राणी सौन्दर्यकी ओर आकृष्ट होता है । क्या मूर्ख और क्या विद्वान् सभी सौन्दर्योपासक होते हैं । प्रत्येक स्त्री-पुरुष अपने सौन्दर्यकी वृद्धिके प्रयत्नमें लगा रहता है। देशकी काफी सम्पत्ति केवल सौन्दर्यवर्द्धक वस्तुओंमें व्यय की जाती है। पर यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि बाह्य सौन्दर्य कोई सौन्दर्य नहीं है। असली सौन्दर्यका पता तो बहुतोंको है ही नहीं । यहाँपर असली सौन्दर्यपर कुछ प्रकाश डाला जाता है।

जो मनुष्य नाना प्रकारके शृंगारसे युक्त होकर अपनेको सुन्दर मान बैठते हैं वे भारी भूलमें हैं। जो सौन्दर्य क्रीम, पाउडर, स्नो और वस्त्रादिपर निर्भर करता है वह वास्तवमें सौन्दर्य नहीं है। किसी विद्वान्के विचारानुसार शृंगार वही करता है जिसको अपनी सुन्दरतामें विश्वास नहीं है। ऐसे तो ईश्वरकी सृष्टिमें कोई भी वस्तु, व्यक्ति और क्रिया असुन्दर है ही नहीं । उसमें भी मानव तो सुन्दरतम प्राणी है। ईश्वर कोई ऐसा साधारण कलाकार नहीं है, जिसकी सृष्टिकलापर कोई नाक-भौं सिकोड़ सके। वह स्वयं सुन्दर है और उसकी सृष्टि भी सुन्दर है। जो कुछ असुन्दरता दृष्टिगोचर है वह जीव-कल्पित संसारमें ही है।

अष्टावक्रजी स्वयं तो आठ अङ्गोंके टेढ़े थे। उनको देखकर जीवन्मुक्त ज्ञानीकी भी हँसी नहीं रुकती थी। पर उनका जीवन इतना पवित्र और सुन्दर था कि राजर्षि जनक भी उनके शिष्य हो गये। जो भी लोग अपनी बाह्य असुन्दरताको अभिशाप मानते हैं उनको अष्टावक्रकी जीवनीसे शिक्षा लेनी चाहिये।

मानव यदि चाहे तो अपनेको इतना सुन्दर बना सकता है कि सारा संसार उसकी ओर आकृष्ट होकर उसके पीछे-पीछे चलेगा। यही नहीं, स्वयं परमात्मा भी उसका पीछा नहीं छोड़ेगा; क्योंकि वह स्वयं सकल-सौन्दर्य-सम्पन्न होकर भी सौन्दर्यका ही उपासक है।

सुन्दरताकी माँग सारे संसारको है। अतः जो मनुष्य सुन्दर होगा उसकी माँग सारे संसारको होगी ही

जिसका स्वभाव उदार, शान्त और निर्मल उसकी ओर सभी आकृष्ट होते हैं। अतः सुन्दरता लिये स्वभावका सुधार करना परमावश्यक है

जो स्वार्थरहित होकर संसारकी सेवा करता है उसकी माँग सबको होती है। सभी उसके पीछे रहते हैं स्वार्थरहित सेवकके सभी दास हो जाते हैं, पर स्वा मनुष्य स्वामी होकर भी सबका दास बन जाता है इसलिये स्वार्थरहित सेवा करना सुन्दरताका हेतु है

महान् पुरुषोंके संगमें रहते-रहते भी मनुष्य आकर्षण एवं सुन्दरताकी अभिव्यक्ति होने लगती है

सुन्दर विचारवाले मनुष्यका प्रभाव दूसरे अवश्य पड़ता है।

यह तो सच्ची बात है कि मनुष्य अपने विचारे अनुरूप ही होता है। अतः सुन्दर विचारसे सौन्द की अभिवृद्धि होती है।

सदाचार, श्रम, संयम, सात्त्विकता, मधुर-भाषण, दान प्रसन्नता, स्वाध्याय, सुन्दर स्वास्थ्य, स्वच्छता, निष्कपटता भगवद्विश्वास, भगवत्स्मरण, इच्छाशक्ति, सत्य-संकल्प सत्यप्रियता, आत्मसम्मान, आत्मज्ञान एवं निष्कामता आदि सभी मनुष्योंके सर्वोत्तम भूषण हैं, जिनको पाक कोई भी स्त्री-पुरुष समाजमें चमकने लगता है इनके विपरीत जो कुछ है, एवं परदोष-दर्शन, परापवाद परचर्चा, परस्त्री-प्रेम, पर-निन्दा, पर-सम्पत्ति और क्रो आदि ये सभी असुन्दरताके लक्षण हैं।

जो भी स्त्री या पुरुष त्यागरूपी सिंहासनपर आसीन है वैराग्यरूपी मुक्तामालासे युक्त है, निष्कामतारूपी श्वेत व धारण करता है, शीलरूपी भूषणसे सुशोभित है औ ज्ञानका मुकुट जिसके सिरपर है, वह ऐसा सुन्द शोभने लगता है कि स्वयं सौन्दर्य-निधान सर्वशक्तिमा परमात्मा भी उससे मिलनेके लिये लालायित रहता है

सियावर रामचन्द्रकी जय!

हिमालय-संरक्षण—देवालय-संरक्षण

(लेखक—श्रीओंकारमलजी सराफ)

भारतका नाम देव-भूमि है और हिमालयका नाम आदिदेवालय है । भारतके इस नामकी सार्थकता देवताओंने अवतार ग्रहण कर सिद्ध किया है और हिमालयके इस नामकी सार्थकता स्वयं आदिशक्ति जगदम्बाने जन्म लेकर तथा देवाधिदेव भगवान् आशुतोषने अपना निवास बनाकर सिद्ध किया है । भारत देवालयोंका देश है और इसका प्रारम्भ स्वयं ही परमात्माने सर्वप्रथम हिमालयका निर्माण करके किया है । पृथ्वीकी उत्पत्तिके साथ ही इस आदिदेवालयका निर्माण हुआ । इस नामकी सार्थकता और भी बढ़ जाती है, जब हम भारतीय वाङ्मयमें वर्णित हिमालयका यशोगान पढ़ते हैं ।

आदिदेवालय हिमालय

देवालय वहीं है, जहाँ देवत्वकी प्रतिष्ठा और स्थिति होती है । लोकदृष्टिमें देवालय मनुष्यकी समग्र अभ्युदय और श्रेयस् साधनाओंका केन्द्र माना जाता है । जब वेद, पुराण, उपनिषद्, ब्राह्मण आदि सद्ग्रन्थोंके बाद भी आधुनिक शास्त्र, इतिहास और भूगोलका अध्ययन करते हैं तो हिमालय आदिदेवालयके रूपमें ही हमारे सामने आता है । यदि हम वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे मानव-सभ्यताके विकासकी आदि कड़ी ढूँढ़ते हैं तो हमारी दृष्टि सर्वप्रथम हिमालयपर ही टिकती है । मानव-विकासकी पहली लीला आलोकविकासके प्रथमस्थल हिमालयकी गिरि-कन्दराओं, घाटियों और तराइयोंसे प्रारम्भ होती है। आजका जनशून्य हिमालय केवल हिम और प्रस्तरका ही अनन्त भण्डार नहीं है, बल्कि ज्ञान, कर्म, सिद्धि और जीवनकी उपादेयताका भी अक्षय स्रोत प्रतीत होता है । सारा भारतीय चिन्तन, जीवन-दर्शन, संस्कृति और सभ्यता सिन्धु और गङ्गाके वीचि-विचुम्बित किनारोंपर ही सर्वप्रथम उद्भूत हुई है, जिसका उद्गम पर्वतराज हिमाचल है । सिन्धु और गङ्गाके द्वारा जो उपलब्धियाँ भारतीय समाज और स्वयं भारतको हुई हैं, उसका गुणगान करनेमें इतिहास और भूगोलकी सीमा संकुचित ज्ञात होती है । फिर इनके जनक हिमालयद्वारा प्रदत्त उपलब्धियोंको वाणीमें बाँधना दुष्कर ही नहीं, असम्भव है । संसारके समस्त कागज और मसि समाप्त हो जानेपर भी हिमालयकी गाथा समाप्त नहीं होती, जो वास्तवमें भारतकी कथा है, भारतीय जीवन और दर्शनकी कथा है, भारतीय ऋषियों और मनीषियोंकी अनन्त साधनाकी कथा है । सम्पूर्ण शास्त्रकार हिमालयको जगज्जननी जगदम्बाका जनक कहकर वाणीकी असमर्थताको प्रकट कर देते हैं । हिमालयकी इतनी प्रशस्तिके बाद शायद अन्य वर्णनका मार्ग अवरुद्ध हो जाता है । फिर भगवान् शंकरकी तपोभूमि बननेका सौभाग्य आदिदेवालय हिमालयको ही प्राप्त है ।

हिमालय और भारत

हिमालय और भारतका सम्बन्ध उसी प्रकारका है जिस प्रकार एक सम्राट्के सिरपर राजमुकुट । हिमालय भारतसे अलग होनेपर भारत वैसा ही लगेगा, जैसा एक सम्राट् जिसका राजमुकुट छीन लिया गया हो और वह अनाथ हो गया हो । हिमालय सचमुच भारतको ईश्वरके वरदानके रूपमें प्राप्त हुआ है । भारतके उत्तरी द्वारका प्रहरी हिमालय भारतीय कृषि, भारतीय पावस और सुरक्षाका प्रधान प्रस्तर-पुरुष है । सम्पूर्ण उत्तर भारत हिमालयकी महिमा और उदारताका ही परिणाम है । हिमालयके बिना भारतकी कल्पना हो ही नहीं सकती ।

हिमालय और संस्कृति

हिमालय गौरवमयी भारतीय संस्कृतिका जनक है ।

भारतीय संस्कृतिकी विशेषता यही है कि वह धर्म-प्राण है और बिना भेद-भावके सम्पूर्ण मानव-जातिके मौलिक अधिकारोंकी सुरक्षा करती है तथा एक-एक पृथ्वी-कणको भी स्वातन्त्र्य और अभ्युदयसे सज्जित करनेका प्रयास करती है। भारतने कभी भी दूसरेकी भूमिपर आक्रमण नहीं किया है, बल्कि सम्पूर्ण संसारसे सांस्कृतिक आदान-प्रदान किया है। उसकी लड़ाई असुरत्वसे रही है और उसकी संस्कृति देवत्वकी विजय-परम्परा है। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान्ने रावणका वध कर तथा विभीषणका राज्याभिषेक कर यह सिद्ध कर दिया है कि भारत आक्रमणकारियों, अराजकों, दूसरेके अधिकारों और उपलब्धियोंको हड़पनेवाले असुरोंका नाश कर सम्पूर्ण राष्ट्रोंको उनकी प्रभुसत्ताके रूपमें ही प्रतिष्ठा करता है, स्वातन्त्र्य और स्वशासनका अधिकार देता है और धर्मकी स्थापना करता है। इस महान् सांस्कृतिक परम्पराका जनक एकमात्र हिमालय है, जिसके प्राङ्गणमें युगों-युगोंतक मूक रहकर ऋषि-मुनियोंने देवत्वका चिन्तन, प्रयोग और सम्बोध किया है। भारतीय यज्ञ-संस्कृतिका भी हिमालयकी एकान्त और शान्त तराइयोंमें उद्भव, विकास, पल्लवन तथा पुष्पन हुआ है। शिक्षाके क्षेत्रमें हिमालयकी कन्दराओं और जंगलोंने अभूतपूर्व कार्य किये हैं। यहाँकी चतुष्पाठियाँ, आश्रम और साधना-कक्षने भारतीय संस्कृतिको जितना विस्तृत और परिवर्द्धित किया है, उसका मूल्याङ्कन नहीं हो सकता। हमारी संस्कृतिका आदिस्रोत दण्डकारण्य[1] भी हिमालय-की उपभूमि ही है, जहाँ ऋषियोंने असुरत्वपर विजय प्राप्त करनेके लिये साधनाएँ कीं और असुर-निकन्दन भगवान् रामचन्द्रने वहाँ पदार्पण कर अगस्त्य आदि मुनिजनोंको संकल्प कर सान्त्वना प्रदान की थी। भरद्वाज, याज्ञवल्क्य आदि पौराणिक ऋषियोंने हिमालयकी तराइयोंमें इतने यज्ञ किये कि सारा हिमालय वैदिक मन्त्रोंकी ध्वनिसे गूँज उठा था और सारा लोक 'स्वाहा' की गगन-विदारक ध्वनिसे निर्भय और ध्वान्त हो उठा था। आक्रमणकारी, दुर्जन और लोकारि असुरोंको वधकर सारे मानव-समाजको त्राससे त्राण दिलाया था।

भारतीय संस्कृतिकी शुभ चेतनाको सर्वतोमुखीरूपसे नगेश्वर हिमाचलका वरदान मिला है और वह इसलिये प्राणवती बनी है कि हिमालयकी यज्ञपूत वायुलहरियोंने उसमें सुरभि संचारित की है। हमारी संस्कृति तभीतक अचल, अडिग और विशुद्ध है, जबतक हमारे उत्तरमें उसका जनक नगपति उसे गोदमें बिठलाकर थपकियाँ देता रहेगा।

हिमालय और वैदिक काल

संसारका चेतन युग वेदोंसे प्रारम्भ होता है। ये वेद पुस्तकरूपमें संसारके पहले संस्करण हैं जो ब्रह्म और नरकी सामञ्जस्यताको 'श्रुति' अर्थात् 'ध्वनि' के माध्यमसे अक्षुण्ण बनाये हुए हैं। मानव-मस्तिष्क समस्त साधनाजन्य और लौकिक तथा पारलौकिक चिन्तनकी अतिसीमा वेदोंकी ऊर्ध्वरेता ऋचाएँ हैं। उनका जहाँ अपौरुषेयत्व स्वतःसिद्ध है, वहीं मानव-जीवनके आचार-चिन्तन और प्रयोगके रूपमें भी सर्वसुलभ है। नगराज हिमालय इनका प्रयोगस्थल है। वेदोंमें कालमापक मन्वन्तर हिमालयकी स्थिति सिद्ध करते हैं और काल-निर्माणकके रूपमें हिमालय प्रत्येक जलप्लावनमें मनुओंके आश्रयका स्थान रहा है। अन्तिम मनु वैवस्वत जलप्लावनमें हिमालयके ही शरणार्थी रहे और उसके सारस्वत प्रदेशमें इडाके साथ ही कुछ कालतक उन्होंने सृष्टिकी अमोघ साधना की थी। श्रद्धाके साथ आनन्दका मार्ग अन्वेषण करनेके लिये मनुने हिमालयको ही

---

[1] आचार्य विनोबा भावेने दण्डकारण्यको हिमालयके पास ही बतलाया है।

• दैनिक विश्वमित्र, कलकत्ता—२२ दिसम्बर १९६२।

निर्वाचित किया था । गत जलप्लावनके पश्चात्‌की सृष्टिका एकमात्र आभार-अधिकारी नगपति हिमालय ही है । भारतीय जन-जीवन और जन-समाज हिमालयका ही उपदान है और इस रूपमें हिमालयको छोड़कर हम जीवित रहनेकी कल्पना नहीं कर सकते ।

तपोभूमि हिमालय और पौराणिक वाङ्मय

भारतीय जीवन-दर्शन तपःपूत है । यहाँकी पद्धतियाँ अनन्त तपस्याकी ज्वालाओंसे तप्त और निर्मल हुई हैं । हिमालयकी एकान्त-शान्त तलहटी ऋषियोंकी तपःसाधनासे पवित्र हुई है । आश्रमोंकी लीला-भूमि हिमालय सम्पूर्ण भारतीय संस्कृतिके सम्पोषणार्थ आदिकालसे ही तत्पर है । हिमालयका महत्त्व इसलिये और भी तपस्याभूमिके रूपमें बढ़ जाता है, जब हम सनातनधर्म और संस्कृतिके प्रतीक-स्तम्भ भगवान् शंकरके कैलासकी ओर दृष्टिपात करते हैं । शिवपुराण तो इस कैलासवासी भूतभावन आशुतोष शंकर तथा कैलासकी महिमाओंका गान है । यों भगवान् शंकरका सम्पूर्ण यशोगान हिमालयकी महिमाका वरदान ही है । देवाधिदेव महादेव शम्भुके साथ कैलास (हिमालय) का सम्बन्ध इतना घनिष्ठ रूपसे जुड़ा हुआ है, जिसकी यशोगाथा नानानिगमागमपुराण भी गानेमें असमर्थ हैं । आदिशक्ति पार्वतीसे लेकर आवास प्रदान करनेका सारा कार्य नगराज हिमालयद्वारा ही सम्पादित हुआ है । यों हिमालयका दर्शन करनेसे भी ज्ञात होता है कि शिव ध्यानस्थ होकर बैठे हैं । उनके धवल शिखर हिमालयकी चोटियाँ हैं ।

भगवान् वेदव्यास और आदिकवि वाल्मीकिने भी अपनी रचनाओंमें हिमालयकी प्रशस्ति की है जो सनातन संस्कृतिका प्राणगीत है । श्रीमद्भागवत, शिव-पुराण, देवीभागवत, महाभारत तथा वाल्मीकीय रामायणमें हिमालयकी महिमा मिलती है । पुराणोत्तर संस्कृत वाङ्मयमें कालिदासके कुमारसम्भव, मेघदूत और रघुवंश-महाकाव्यका अप्रतिम स्थान है तथा ये काव्य भारतीय वाङ्मयके महामहिम संगीत हैं । कुमारसम्भवमें कविकुल-कमल कालिदासने हिमालयका सजीव वर्णन उपस्थित किया है । 'जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ' की सूक्ति संस्कृतिका प्राण-स्वर है, जिस 'पार्वतीपरमेश्वरौ' का एकमात्र स्थान नगराज हिमालय ही है ।

यज्ञभूमि हिमालय

सनातनधर्म यज्ञस्वरूप है और भगवान् विष्णु भी यज्ञस्वरूप ही कहे गये हैं । अखिल आर्यावर्तके सर्वतोमुखी विकास और अभ्युदयके लिये तथा सम्पूर्ण जड-चेतनकी प्रगति और उन्नतिके लिये विश्व-चेतक ऋषियोंने यज्ञका आयोजन किया था । चारों वेद यज्ञोंके ही संगीत हैं । सनातनधर्मने मानवका स्वरूप-चिन्तन ही यज्ञमय किया है । जीवनके प्रत्येक पहलूपर 'स्वाहा' और 'स्वधा' की अग्नि-चर्या उस कालकी विशेषता थी । यज्ञ पञ्चमहाभूतोंकी कृषि थे । अग्नि महाभूतके माध्यमसे जल, अनिल, क्षिति और आकाश तत्त्वोंकी खेती कर इन्हें मानव-उपयोगमें लाना इन यज्ञोंका प्रधान उद्देश्य था और इन्हीं यज्ञोंद्वारा उदारमना ऋषि प्रकृतिको मानवोपयोगी बनाते थे, पावसकी अर्चना करते थे तथा आध्यात्मिक, नैतिक, सांस्कृतिक और बौद्धिक समृद्धिका आयोजन किया करते थे । यज्ञ-भारतका सारा श्रेय पर्वतेश्वर हिमाचलको है । इसका साथी पौराणिक वाङ्मय तो है ही, किंतु महाभारतमें यह वर्णन प्रचुरतासे प्राप्त होता है । यज्ञपुरुष भगवान् हिमालयकी उपत्यकाओंमें भ्रमण करते फिरते हैं । मुनिराज भरद्वाज, च्यवनपुत्र प्रमति, याज्ञवल्क्य, स्थूलकेश आदि संतजनोंकी साधना-भूमि हिमालय ही रहा है ।

तीर्थराज हिमालय

हिमालय स्वयं ही सनातन संस्कृतिका तीर्थस्थान है ।

इसकी घाटियों और पहाड़ियोंमें सनातनधर्मके प्राणकेन्द्र अनेक तीर्थ और मन्दिर स्थित हैं । श्रीबद्रीविशाल, ज्योतिष्पीठ, केदारनाथ, तुंगभद्रा, गंगोत्तरी, यमुनोत्तरी, पशुपतिनाथ आदि तीर्थ हिमालयकी अर्चना है । सम्पूर्ण हिमालय ही शंकर-स्वरूप है । हरिद्वार आदि तीर्थ हिमालयका ही चरण-भाग है । पाण्डवोंद्वारा स्वर्गारोहणके लिये हिमालयका निर्वाचन और भगवान् श्रीकृष्णका तप यह सिद्ध करता है कि हिमालय स्वर्गद्वार है, स्वर्गमार्ग है, 'जिसकी प्राप्ति सम्पूर्ण सनातन-चिन्तनका परम लक्ष्य है ।

पदाक्रान्त हिमालय

आज वही पुण्य-प्रतीक हिमालय विदेशियोंद्वारा पदाक्रान्त हो गया है । हिमालय भारतमाताका राजमुकुट है, संस्कृति और धर्मका मूल-स्रोत है । अतः इसकी सुरक्षा सभी भारत-जनका परम कर्तव्य है । आज हिमालयके लिये सभी भावनाओंकी एकता आवश्यक है; क्योंकि यह आदिदेवालय है और हिमालयके बिना भारतकी कल्पना भी नहीं हो सकती ।

इसी उद्देश्यसे देवालय-संरक्षण-समितिने देवालय-संरक्षणके कार्यक्रममें हिमालय-संरक्षणको प्रमुखता देनेका कार्यक्रम अपनाया है । इस युद्ध-कालमें भारतकी विजय हो और हिमालय उसीका होकर रहे, इसके लिये हम सभी भगवान्‌से प्रार्थना करें तथा प्रत्येक उत्सर्ग करनेके लिये हमें तत्पर होना आवश्यक है ।

जय हिमालय——जय सनातनधर्म !

* * *

वन्दना

(रचयिता—श्रीजगन्नाथजी मिश्र गौड़ 'कमल' विद्यालङ्कार)

जय-जय केशव, कृष्ण, मुरारी !
जय मुकुन्द, मधुसूदन माधव
जय नटवर गिरिधारी !!

मोर-मुकुट-धर वेणु-अधर-धर
पीताम्बर-धर, वनमाला-धर

जय-वृन्दावन कुंज-विहारी ।
जय-जय केशव, कृष्ण, मुरारी ॥

जय-राधावर, मंजुल, मनहर,
जयति चक्रधर, अच्युत, श्रीधर,

जय-जय सुर-मुनि-जन-मनहारी ।
जय-जय केशव, कृष्ण, मुरारी ॥

जय विश्वम्भर, सुन्दर-सुन्दर
जय-जय सुखकर, पातक-दल-हर

जय-जय भुवन-भार भय-हारी ।
जय-जय केशव, कृष्ण, मुरारी ॥

जन्तु-जगत्की विशेषताएँ

(लेखक—डा० श्रीरामदयालजी भार्गव)

आज हम इस बातपर विचार करें कि उन पशु-पक्षियोंमें मनुष्योंकी अपेक्षा कौन-कौन-सी विशेषताएँ हैं, जिन्हें हम सदैव हेय दृष्टिसे देखते आये हैं। सर्वप्रथम यदि स्वास्थ्यकी दृष्टिसे देखें तो यह प्रतीत होता है कि हम सभ्य, वैज्ञानिक कहे जानेवाले मानवोंने अपने शरीरको प्रकृतिके विरुद्ध आचरणके द्वारा इतना कोमल बना डाला है कि उसकी रोगसे सुरक्षा और रोग-निवारण-क्षमता बड़ी कमजोर हो गयी है। पशु-पक्षी बिना वस्त्रोंके भी शीत-उष्ण-वर्षा आदि ऋतुओंके प्रभावको सहनेमें समर्थ हैं जब कि हम वस्त्रोंसहित भी उनके सदृश ऋतुओंके प्रभावको सहन नहीं कर पाते। यहाँतक कि शीतमें हम जानवरोंकी खाल और बालोंके ऊनी एवं रेशमी वस्त्रोंसे ही शरीरको उष्ण रख पाते हैं। इस शीतमें हम प्रकृति-प्रदत्त शीत वायुको अपनेसे दूर रखते हैं, कमरे बंदकर वस्त्रोंसे शरीरको भलीभाँति ढककर सोते हैं तथा धनके बलपर मकानको वायुसुरक्षित (air conditioned) तक कर डालते हैं। फिर तनिक-सी शीत वायु छूनेपर यदि सर्दी-जुकाम एवं कफसे ग्रस्त हो जाते हों तो इसमें क्या आश्चर्य है ? हमारी स्थिति तो इस प्रकार है—

कोमलतान्तस्तत्रास्ति वदन्ति यत्र मानवाः।
स्पर्शनाच्छीतपत्रस्य प्रतिश्यायस्तु जायते॥

नाज़की खत्म है उनपर जो ये फरमाते हैं।
ठंडा पत्ता छूते ही सर्दी जुकाम हो जाते हैं॥

इसी प्रकार पशु-पक्षी भोजन भी उन पत्ते, फल, अनाज आदि वस्तुओंका प्राकृतिक रूपमें ग्रहण करते हैं, जिनमें विटामिनोंकी प्रचुरता रहती है। वे संयमित रूपसे भूख लगनेपर ही खाते हैं एवं पेट भरनेसे अधिक मात्रामें नहीं खाते। इससे विपरीत हमलोग असंयमित रूपसे बिना ही भूख भोजन करते हैं, स्वादके लोभसे खूब ठूँस-ठूँसकर खा जाते हैं और प्राकृतिक पदार्थोंको तरह-तरहसे पकाकर उनका विटामिन नष्ट कर डालते हैं। इससे जठराग्नि स्वतः ही मन्द हो जाती है तथा हम उदरसम्बन्धी रोगोंसे पीड़ित रहते हैं। इस स्थितिमें यदि ५० प्रतिशत रोग हममें हों, तो क्या आश्चर्य है! ये जीव हमारी अपेक्षा शारीरिक श्रम भी कहीं अधिक करते हैं, जिसका स्पष्टीकरण इसीसे हो जाता है कि यदि कोई मनुष्य अधिक कार्य करता है तो मित्रगण कहने लग जाते हैं कि 'क्या गधेकी तरह काम करते हो'।

हमलोग शहरोंमें घनी आबादीके कारण पास-पास मकान होनेसे तथा गंदगीके कारण शुद्ध वायुसे वञ्चित रहते हैं, इसके विपरीत पशु-पक्षी शुद्ध वायुमें यथेच्छ-विहार करते हैं। विषय-भोगका तो कहना ही क्या, सभ्य कहलानेवाली मनुष्यजाति आज इस असंयमके क्षेत्रमें जानवरोंकी पंक्तिमें बैठने योग्य तो क्या, मुँह दिखाने योग्य भी नहीं रही है। समय, ऋतु आदिका कुछ भी विचार नहीं। संकेतमें ही सयाने सब समझ लें।

इन प्रकृतिके पुजारी जानवरोंको विधाताने ऐसा सुघड़ एवं सुन्दर बनाया है कि जिसकी तुलनामें मनुष्य तो नगण्य-सा है। चिड़ियाघरोंमें हम रंग-बिरंगे सुन्दर पशु-पक्षी देखते हैं, जिनके निर्माणमें प्रकृतिने अपनी अद्भुत कुशलता एवं चित्रकला दिखलायी है। उसी प्रकार यदि किसी मनुष्यघरमें भिन्न-भिन्न प्रकारके मानवोंको उनके प्राकृत रूपमें रक्खा जाय तो हमें स्वयं ही अनुमान हो जायगा कि दोनोंमें कौन अधिक सुन्दर तथा श्रेष्ठ है। यदि इनकी बनावटकी सुन्दरताकी उपमा हमलोगोंमें कुछ अंशतककी पूरी उतर जाय तो हम अपनेको धन्य समझते हैं। उदाहरणस्वरूप तोतेकी-सी नाक, हिरणकी-सी आँख, सिंहका-सा कंधा एवं शेर-सा दिल

इत्यादि । प्रकृतिने जानवरोंमें नरको मादासे अधिक सुन्दर बनाया है, जैसे शेरको शेरनीसे, मोरको मोरनीसे, बंदरको बंदरियासे इत्यादि । मनुष्यको स्त्रीकी अपेक्षा कैसा बनाया है, इसका निर्णय पाठक स्वयं कर लें।

दृष्टिमें चील-दृष्टि, गृद्ध-दृष्टि प्रख्यात हैं जो अत्यधिक दूरीकी वस्तुएँ भी देख सकते हैं जब कि हम अत्यधिक निकट पढ़नेमें तथा देखनेमें असमर्थ हैं और चश्मा लगाते हैं। यही नहीं, इनकी भविष्य दृष्टि भी तीव्र होती है । जब कभी कोई भूकम्प या संकट आनेको होता है तो पशु-पक्षी चिल्लाने लगते हैं । जिसकी मृत्यु निकट हो, उसके हाथसे कौए बलि भी नहीं लेते । इनकी घ्राणशक्ति तो अत्यधिक तीव्र है । आजकलके विश्व-विख्यात जासूस कुत्तोंकी सहायतासे अपराधियोंका पता लगाते हैं । अन्धा हाथी भी घ्राणशक्तिके द्वारा मार्गका पता लगा लेता है । एक कुतियाको बोरेमें बंद करके नदीपार १८ मील दूर छोड़ा गया था, कुछ दिनोंबाद वह अपने स्थानपर लौट आयी । मनुष्यकी आवाज इन पशु-पक्षियोंकी अपेक्षा कर्कश होती है । मधुरभाषिणी स्त्रीको पिकवयनीकी उपमा और चालमें गजगामिनी उपमा दी जाती है । नियत समयका ज्ञान भी इन्हें पूरा होता है । मुर्गेको कभी भी अलार्मकी आवश्यकता नहीं होती ।

हंसका नीर-क्षीरविवेक तो प्रसिद्ध है। आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि यह रोगोंके स्वयं चिकित्सक भी हैं । जैसे किसीको घाव हो गया तो उसको चाटकर रोग-क्षमता बढ़ाकर ये ठीक कर लेते हैं, बहुत-से पशु-पक्षी ऐसी रोगनाशक जड़ी-बूटियोंको जानते हैं, जिससे वे अपने रोगोंकी चिकित्सा कर लेते हैं ।

गौमाताके समान तो उपकारी संत कोई है ही नहीं, जिसकी प्रत्येक वस्तुको मनुष्य जीवनपर्यन्त उपभोग करता है ।

उपर्युक्त गुणोंको ही ध्यानमें रखते हुए विद्यार्थि
उपदेश दिया जाता है ।

काकचेष्टा बकध्यानं श्वाननिद्रा तथैव च
अल्पाहारी गृहत्यागी विद्यार्थिपञ्चलक्षणम्

शकुन विचारनेवाले भी पशु-पक्षियोंकी बोली सु
भविष्यका निर्णय कर लेते हैं, यथा—

काकस्य वचनं श्रुत्वा गृहीत्वा तृणमुत्तमम्
त्रयोदशसमायुक्तः सप्तभिर्भागमाचरेत्
लाभं[1] नष्टं[2] महासौख्यं[3] भोजनं[4] प्रियदर्शनम्[5]
कलहो[6] मरणं[7] चैव काको वदति नान्यथा

अर्थात् कौएका वचन सुनकर एक
तिनका लेकर उसे अंगुलसे नापे, जितने अंगुल हों
तेरह मिलाकर सातसे भाग दे। यदि १ शेष रहे तो
२ रहे तो नष्ट, ३ रहे तो महासुख, ४ हो तो भो
५ हो तो प्रिय-मिलन, छः हो तो कलह और ७
तो मरण आदि ।'

पशु-पक्षी बिना साबुन लगाये ही स्वच्छ एवं चि
रहते हैं । देवताओंने भी इनसे प्रसन्न होकर बा
रूपमें एक-एकको अपनी सेवामें रख लिया है ।
ब्रह्माजीने हंस, विष्णु भगवान्‌ने गरुड, शिवजीने न
स्वामीकार्तिकने मोर और दुर्गाने सिंह आदि ।

हम स्वार्थी मनुष्य इनकी प्रत्येक वस्तुका उ
डटकर करते हैं । इनकी खालसे जूते एवं अन्य वस्
बनती ही हैं, संन्यासी भी इनकी खालको पवित्र
हैं । मृगछाला एवं शेरकी खाल अपने पास रखते
हम भी अपने कमरोंको सजाते हैं । भेड़, ऊँट औ
बालोंसे बने हुए ऊनी वस्त्र धारण करते हैं और रे
कीड़ोंसे रेशमी वस्त्र बनाकर पहनते हैं ।

औषध-निर्माण तथा प्रयोगोंमें भी आजकल स्वार्थी
इनके प्रति भीषण अत्याचार करके स्वार्थ-साधन कर

पशु-पक्षी जन्मजात ही परिव्राजक होते हैं ज
इसमें लंबी आयु व्यतीत होनेपर वानप्रस्थ तथा

लेनेकी बुद्धि उत्पन्न होती है । (वह भी सबमें नहीं) धन्वन्तरिजीने भी पक्षीका रूप धारण कर वैद्यसे पूछा—'कोऽरुक्, कोऽरुक्, कोऽरुक्', अर्थात् रोगी कौन नहीं ? जिसका उत्तर वैद्यजीने दिया—'हितभुक् मितभुक् जितेन्द्रियश्च'—'हितकर और परिमित भोजन करनेवाला और जितेन्द्रिय ।' मनुष्योंकी अपेक्षा इस सूत्रका जानवर अधिक अच्छी तरहसे पालन करते हैं । इसके अतिरिक्त हमारे भगवान्ने भी अवतारोंमें मत्स्य, वराह तथा नृसिंह-का रूप धारण किया था । इन सब बातोंको देखते हुए राष्ट्रकवि श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त कहते हैं—

करते हैं हम पतित जनोंमें बहुधा पशुओंका आरोप ।
करता है पशु-वर्ग किंतु क्या निज निसर्ग-नियमोंका लोप ?
मैं मनुष्यताको सुरत्वकी जननी भी कह सकता हूँ ।
किंतु पतितको पशु कहना भी कभी नहीं सह सकता हूँ ॥

यों बहुत-से भौतिक गुणोंमें पशु-पक्षी मानवसे बढ़े-चढ़े हैं । मनुष्यमें तो एक ही प्रधान गुण है—विवेक । जिसके द्वारा वह आध्यात्मिक दृष्टिसे अपना लक्ष्य—साध्य निश्चय करके उसके लिये साधनमें प्रवृत्त होता है और मानव-जीवनके प्रधान लक्ष्य भगवत्प्राप्ति या भगवत्प्रेमकी प्राप्तिमें आगे बढ़ता है । जो मनुष्य ऐसे नहीं हैं, उनके सम्बन्धमें गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

तिन्हतें खर सूकर स्वान भले, जड़ताबस ते न कहैं कछु वै ।
जिन्हके मन रामसों नेह नहीं, सो सही पसु पूँछ-बिषान न द्वै ।
जननी कत भार मुई दस मास भई किन बाँझ गई किन च्वै ।
जरि जाहु सो जीवन जानकिनाथ जियें जगमें तुम्हरो बिनु ह्वै ॥

इसपर विचार करके मानव-जीवनके असली लक्ष्यकी ओर जीवनकी गति करके हम सच्चे मानव बनें और पशु-पक्षियोंके गुण ग्रहण करें ।

जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार ।
संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार ॥

* * *

दीर्घसूत्रीसे !

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

दुनिया आकाशके तारे तोड़नेपर तुल रही है ।

तुम दीर्घसूत्री बने बैठे हो ।

क्या करें क्या न करें ?—यह किंकर्तव्यविमूढ़ता तुम्हें खाये जा रही है ।

कैसे करें ? क्या करें ? कब करें ? कहाँ करें ? आदि-आदि तर्क-वितर्क तुम्हारा पीछा ही नहीं छोड़ रहे हैं ।

करें भी कि नहीं ?····संशयका साँप भी फन फैलाये तुम्हें डस जाना चाहता है ।

इन सबसे बच—भागकर किसी निर्णय—निश्चयपर पहुँचकर तुम कुछ करने चलते भी हो तो कुछ इस तरह ढिसल-मिसल करके चलते हो कि तुम्हारी चाल देखकर चींटीकी चाल भी मात मान लेती है ।

ऐसे कैसे चलेगा ?

स्पुतनिकके युगमें चींटी-मात-चालसे चलकर तुम किस दीनके रहोगे ? कहाँ पहुँचकर दम लोगे ?

सच, मंजिल तो स्वप्न ही रहेगी इस तरह ! न, न, स्वप्नमें भी हवातक हाथ न लगेगी उसकी ।

कुछ सोचो-समझो और दीर्घसूत्रता छोड़ो । जागो, सँभलो और चल पड़ो गन्तव्यस्थलकी ओर····एक निष्ठासे, अनन्य श्रद्धासे, सहज सुज्ञतासे, संतत सत्वर गतिसे ।

इसीमें खैर है, अन्यथा विनष्ट हुए धरे हो ।

अपनी मृत्यु आप मत बुलाओ ।

हद कर रखी है तुमने ।

तुम दीर्घसूत्री बने बैठे हो ।

दुनिया आकाशके तारे तोड़नेपर तुल रही है ।

न्यायोपार्जित धनसे ही शान्ति मिलती है

(लेखक—श्रीभगवानदासजी चौधरी)

द्वितीय विश्वयुद्धके समयकी बात है। भारतमें अनाज, कपड़ा, चीनी आदि सभी जीवनोपयोगी चीजोंपर नियन्त्रण था। एक स्थानसे दूसरे स्थानपर ले जानेके लिये भी परमिट लेना पड़ता था। परमिटकी प्राप्तिके लिये व्यापारियों और उपभोक्ताओंको बड़ी-बड़ी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता था।

उसी समय मेरे एक मित्र बम्बई टेक्सटाइल कंट्रोल आफिसमें परमिट देनेके कामपर नियुक्त थे। अच्छा वेतन था। उनका स्वभाव भी मिलनसार था और वे बहुत संतोषजनक रूपसे अपना काम करते थे। धीरे-धीरे कुसंगतिसे या धनके लोभसे उनके दिलमें धन कमानेकी दुष्ट बुद्धि उत्पन्न हुई। क्षेत्र था ही। वे चुपचाप प्रत्येक परमिटपर कुछ-न-कुछ लेने लगे। इस अनीतिकी रीतिसे वर्ष-डेढ़-वर्षमें ही उनके पास तीस हजार रुपये नकद जमा हो गये।

मनुष्य सबको धोखा दे सकता है। पर ईश्वरको नहीं दे सकता। ईश्वर प्रत्येक व्यक्तिमें अन्तरात्मारूपसे बैठा हुआ उसके भले-बुरे सब कामोंको निरन्तर देखता और उचित न्याय करता रहता है।

अनीतिके द्वारा कमाया हुआ धन जैसे आता है, वैसे ही चला भी जाता है। मेरे उन मित्रकी धन-तृष्णा उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। उन्होंने कुछ लोगोंको सट्टा करते देखकर सोचा कि 'क्यों न मैं भी सट्टेका व्यापार करूँ और सहज ही बहुत-सा धन कम एकदमसे धनी हो जाऊँ।' उन्होंने सट्टा करना किया। अनीतिसे उपार्जित धनके नाश होनेका साधन मानो ईश्वररचित ही था। उन्होंने दस की दरमें अमुक चीज खरीदनी शुरू की और खरीद कर ली। अकस्मात् युद्ध बंद हो गया। मन्दी आ गयी और वह दस रुपयेवाली चीज रुपयेमें बिकी। जितना कमाया था, सब पंद्रह दिनोंमें ही वापस चला गया!

आज भी वे मित्र प्रायः मिलते हैं और यही हैं कि हमारे सच्चे प्रयत्न, सच्चे व्यापार और ईमानद हमें जो सम्पत्ति मिलती है, वही हमारे पास रहती अन्यायसे कमाया हुआ धन निश्चय ही नष्ट हो जाता

अतएव सभी भाइयोंसे मेरी प्रार्थना है कि व्यापार, समाज, सरकारी दफ्तर—किसी भी काम करते हों, हमें अनीति, बेईमानी, चोरी-ठगीसे सावधानीके साथ बचना ही चाहिये। हमारे भाग्यमें कुछ मिलना है, वह हमारे नीतिपूर्ण सद्-उद्योगसे मिल जायगा। वास्तवमें वही धन संसारमें श्रेष्ठ महत्त्वकी वस्तु है। जिस शान्तिके लिये संसारके नारी छटपटाते रहते हैं, वह सच्ची शान्ति भी न्यायशील और ईमानदार पुरुषको ही मिलती है।

प्रभु प्रकाशसे भर देते हैं!

देते हैं भगवान् सदा ही सहज मुझे निज दिव्य प्रकाश।
करते हैं नित मंगल मेरा, है यह मेरा दृढ़ विश्वास॥
संकटकी प्रत्येक घड़ीमें रहते हैं वे मेरे पास।
हर लेते संकट तत्क्षण ही जैसे रवि करता तम-नाश॥
नये नये पथसे आ-आकर करते घोर विपद्से त्राण।
विविध अनन्त साधनोंसे प्रभु करते हैं मेरा कल्याण॥
बरसाते इतनी अनुकम्पा, गणना नहीं—नहीं परिमाण।
अनुभव मुझे कराते अपना भर देते प्रकाशसे प्राण॥

संस्कारकी बात

(लेखक—श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)

आजके युगकी सबसे बड़ी प्रसादी है—अविश्वास। पुरानी कही हुई सभी बातोंको हम अविश्वासकी दृष्टिसे देखते हैं। एक साधारण-सा उदाहरण लीजिये। भारतीय आयुर्वेदके पण्डितोंने ऐलोपैथिक चिकित्साप्रणालीके विद्वानोंको बार-बार चेतावनी दी थी कि 'शारीरिक पीड़ाको दूर करनेके लिये अफीम, कोकीन, मारफीन ऐसी चीजोंसे तैयार की गयी औषधका परिणाम भयंकर होगा। कुछ समयके लिये पीड़ा शान्त हो जायगी, पर रोगीमें उस नशेकी ऐसी बुरी आदत पड़ जायगी कि फिर वह ऐसी ओषधियोंका नशेके रूपमें सेवन करने लगेगा।' वह बात; वह सीख हँसी करके उड़ा दी गयी। आज विश्व-स्वास्थ्य-संघने अपनी ताजी रिपोर्टमें इस बातपर बड़ी चिन्ता प्रकट की है कि मादक ओषधियोंके सेवनके कारण लाखों व्यक्तियोंमें मादक-द्रव्य-सेवनका संस्कार पड़ गया है। वे इसके लती हो गये हैं। संयुक्तराज्य अमेरिकामें ऐसे लती तथा 'रोगी' व्यक्तियोंकी संख्या सन् १९६१में ८६,२५६ थी, जिनमेंसे ५,५५० की उम्र १८–२१ वर्षकी थी। इतना ही नहीं, ऐसी ओषधियोंका आत्महत्याके लिये बड़ा उपयोग होता है। इंग्लैंडमें प्रतिवर्ष ७०० के लगभग व्यक्ति ऐसी ओषधियोंकी 'अधिक' खूराक लेकर आत्महत्या कर लेते हैं।

सोचनेकी बात है कि एक-दो बार ही मादक ओषधिके जरा-से सेवनका मन-बुद्धिपर कितना बुरा संस्कार पड़ जाता है। संस्कार इसी प्रकार साधारण-से-साधारण वस्तुके द्वारा मनको पकड़ लेता है। आजके विज्ञानके युगमें, जब बिना वैज्ञानिक प्रयोगसे सिद्ध हुआ ईश्वर भी विश्वासकी वस्तु नहीं है, उस समय विज्ञान स्वयं भारतीय दर्शनके सिद्धान्तोंकी पुष्टि करता जा रहा है।

अन्तरात्मा, प्रेरणा, संकल्प, अन्तर्ज्योति तथा पूर्व-जन्म-कृत संस्कारसे उत्पन्न ज्ञानकी बात हमारा दर्शन प्रतिपादित करता चला आ रहा है। पश्चिमी विज्ञानने इसे मानना अस्वीकार कर दिया। उसने कहा कि 'मस्तिष्ककी बनावट, मस्तिष्कमें जितने निशान बने हों, जितना ऊँचा-खाला भेजा हो, जितनी टेढ़ी-मेढ़ी नसें उसमें घूमती हों, उतना ही बड़ा बुद्धिमान् वह मनुष्य होगा।' इसी आधारपर सैकड़ों वर्षोंसे मस्तिष्ककी नाप-जोख की गयी, बड़े-बड़े विद्वानोंके मस्तिष्क उनके मुर्देमेंसे निकालकर तौले गये। आश्चर्यजनक बातें मालूम हुईं। यह कोई जरूरी नहीं है कि आदमी या जानवरके मस्तिष्ककी रचनामें अन्तर हो। बड़े-बड़े मूर्ख व्यक्तियोंका मस्तिष्क बहुत बड़ा और बड़े-बड़े विद्वानोंका मस्तिष्क बहुत छोटा होता है। पशु और मनुष्यकी बुद्धिमें कोई विशेष अन्तर नहीं है। अनेक विषयोंमें पशुकी बुद्धि अधिक कुशाग्र होती है। केवल एक महान् अन्तर है। पशु किसी निश्चित स्थिति या विषयपर सोच सकता है। मनुष्य विषय गढ़ता है, बनाता है, कल्पना करता है, तर्क-वितर्क करता है। यह शक्ति उसे कहाँसे मिली। खोपड़ेके भीतर छोटी-सी दिमागकी पुड़िया रखकर भी महापुरुष तथा मेधावी व्यक्ति बहुत ऊँची बातें कहाँसे, कैसे सोच लेते हैं। अभी आजतक तो विज्ञानने इस प्रश्नका यही उत्तर दिया है कि यह ऐसा रहस्य है जिसको अभीतक नहीं समझा जा सका है।

लेकिन हमारे पास इसका उत्तर स्पष्ट है। हम कहते हैं कि अन्तःप्रेरणा, अन्तर्बुद्धि, प्रबोध—यह सब जन्म-जन्मान्तरके संस्कारद्वारा संचित निधि हैं। इसे विज्ञान नहीं तौल सकता, विज्ञान नहीं जान या पहचान सकता।

नैतिक शिथिलता

आधुनिक सभ्यताके चकाचौंधने धर्म तथा देवताकी इतनी उपेक्षा कर दी है कि कम्यूनिस्ट देश पूर्वी जर्मनीमें सवा करोड़की आबादीमें लगभग ६,०६,००० बच्चे सरकारी बाल-गृहमें पल रहे हैं। प्रचण्ड धनी संयुक्तराज्य अमेरिकाके पुलिस-विभागकी सन् १९६१ की रिपोर्टके अनुसार वहाँ प्रति चार मिनटपर एक गम्भीर अपराध होता है। प्रति घंटे एक हत्या होती है। प्रति ३३ मिनटपर बलात्कारका एक व्यभिचार होता है। प्रति ६ मिनटपर एक डकैती, प्रति ३७ सेकेण्डपर एक सेंधमारी, प्रति एक मिनटपर एक बड़ी चोरी तथा प्रति डेढ़ मिनटपर एक मोटरकार चोरी होती है। वैभवकी यह प्रसादी है। जिस सभ्यतामें मानवका संस्कार इस प्रकार बन रहा हो, उसका क्या भविष्य होगा। उनके सामने प्रश्न अभावका नहीं है; नैतिक शिथिलताका है। उनसे अच्छे हम हैं—जिनका सिद्धान्त है—

जिण दीन्हीं है चूँच, चून भी बोही देसी।
कुण नीचो कुण ऊँच, रैयत है सब राम की॥
ग्रंथ पंथ सब जगतमें, बात बतावत तीन।
राम हृदय, मनमें दया, तन सेवामें लीन॥
लाज रखै तो जीव रख लज बिन जीव न रक्ख।
साँईं तोसूँ बीनती, दोनूँ भेळा रक्ख॥

इतनी सीधी-सादी-सी कामना लेकर जब हम अपने

जीवनका संस्कार बनाने चलें तो फिर आजके जीवनकी नैतिक शिथिलतासे बच सकते हैं। हमारे जीवनकी आधार-शिला टूट गयी है। मानव-जीवनकी मर्यादा खण्डित हो गयी है, इसीलिये चारों ओर त्राहि-त्राहि मची हुई है। पश्चिमकी नकल करते-करते हम भी बहुत कुछ खो बैठे हैं और शायद इसी परिस्थितिसे विचलित होकर भारत-सरकारके शिक्षा-विभागने सभी विश्वविद्यालयोंको आदेश दिया है कि बी० ए० प्रथम वर्षसे ही 'नैतिक तथा धार्मिक महापुरुषोंके जीवनसे शिक्षा' देनेका प्रबन्ध करें। आजकी हमारी समस्याओंमें हमें बाहरसे कुछ सीख लेनेकी आवश्यकता नहीं है। हमें तो वाल्मीकिरामायणका यह उपदेश याद रखना चाहिये—

निरुत्साहस्य दीनस्य शोकपर्याकुलात्मनः।
सर्वार्था व्यवसीदन्ति व्यसनं चाधिगच्छति॥

अर्थात् जो पुरुष निरुत्साह, दीन और शोकाकुल रहते हैं, उनके सब काम बिगड़ जाते हैं और वे बहुत बड़ी विपत्तिमें पड़ जाते हैं। यदि हमने अपने जीवनके संस्कारको नष्ट करनेका, अपने अगले जन्मको गँदला और निरर्थक करनेका निश्चय नहीं किया है तो निरुत्साहरूपी मादक ओषधिसे बचकर अपने मन-वचन-कर्मके संस्कारको अभीसे सँवारना पड़ेगा। संस्कारसे भाग्य बनता है, पर भाग्यके विषयमें एक बात याद रखनी चाहिये—

यथा ह्येकेन चक्रेण रथस्य न गतिर्भवेत्।
एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति॥

जैसे एक पहियेसे रथ नहीं चलेगा, वैसे ही विना प्रयत्नके दैव भी अनुकूल नहीं हो सकता।

प्रयत्न करनेमें सुख-दुःख, ऊँचा-नीचा तो लगा ही रहता है। उससे निरुत्साह होनेकी आवश्यकता नहीं है। संस्कारकी मर्यादाके भीतर, शान्ति तथा धैर्यसे काम लेना होगा। सब कुछ चला जाय, पर सत्य यदि हमारे पास है तो हमारी सम्पदाकी सीमा नहीं है—

अश्वमेधसहस्राणि सत्यं च तुलया कृतम्।
अश्वमेधसहस्रेभ्यः सत्यमेवातिरिच्यते॥

यह हजार अश्वमेध-यज्ञकी तुलनामें भी सत्यका पलड़ा भारी है। दरिद्रता और भूखसे हम अनाथ और कंगाल नहीं होते।

झूठा पाट-पटंबरा, झूठा दिखणी चीर।
साँची पियाजी री गूदड़ी, निरमल रहै सरीर॥

दक्षिणसे प्राप्त बहुमूल्य वस्त्र धारण करनेसे कहीं अधिक निर्मलता शरीरपर प्रियतम परमात्माकी सच्ची (सत्यकी) गूदड़ी रखनेसे होती है।

छप्पन भोग बहाय दे, उण भोगन में दाग।
लूण-अलूणो ही भलो, अपणै पियाजी रो साग॥

अपने प्रियतम परमात्माके सागसे बढ़िया स्वादिष्ट और कुछ भी नहीं है।

सुख मानै तो सुक्ख है दुख मानै तो दुक्ख।
सच्चा सुखिया सोय है दुख मानै ना सुक्ख॥

स्वर्गीय आगा हस्रने बरसों पहले लिखा था—

जिस राह है खौफ़ो ख़तर उस राहसे ईसा न चल॥
जुर्मो गुनाहके बोझसे वरना गिरेगा सरके बल।
छाई है जुलमत हर तरफ अंधा न बन अब भी सम्हल॥
मुड़, दौड़, भाग, आ इस तरफ ताकत अभी है पाँवमें।
आराम, इज्जत, जिंदगी सब है खुदाकी छाँवमें॥

आजके जीवनमें जब वासना और कामनाने हमारे मन और बुद्धिको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है, अपना, अपने परिवारका, अपने समाज तथा देशका संस्कार हमें अपने कार्योंद्वारा ही सँवारना है। वैभवका परिणाम संयुक्तराज्य अमेरिका तथा निरीश्वरवादका परिणाम सोवियत रूस तथा चीनसे काफी मालूम हो जाता है। हम भी स्वतन्त्रताके बाद अपने प्राचीन जीवनकी अमूल्य बातें भूलनेकी धुनमें हैं। हमें भूलना नहीं चाहिये कि जरा-सी गलत ओषधि विष बनकर शरीरको नष्ट कर देती है। केवल वासनाकी किंचित् चिनगारी समूचे शरीरको नष्ट कर देती है। बाबा किनारामने कहा था—

चाह चमारी चूहरी, चाह सबै ते नीच।
तू तो पूरन ब्रह्म था, चाह न होती बीच॥

आज आवश्यकता इस बातकी है कि हम अपने लिये भी वही करें जो पतञ्जलिके लिये लिखा था—

योगेन चित्तस्य पदेन वाचं कायं मलं चैव हि वैद्यकेन।

मन, बुद्धि, शरीर-संस्कार इन तीनोंके योगसे बनता है पर सबका सुचारुरूपेण नियन्त्रण हो जाय। यदि हम परमात्मा की सत्ताको न भूलें, उस परमात्माको जिसके विषयमें आयुर्वेदके प्रवर्तक (भगवान् धन्वन्तरिसे प्राप्त) चरकने आरम्भमें ही लिखा है:—

प्रभवो न ह्यनादित्वाद् विद्यते परमात्मनः।

अनादित्व-हेतु परमात्माकी उत्पत्तिका कोई कारण नहीं है। उसी प्रकार संस्कारके निरूपणका प्रकार केवल बोधगम्य है, बुद्धि तथा तर्कसे नहीं समझा जाता। जिसने अपना संस्कार नहीं बनाया, उसका जन्म निरर्थक है।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

वेद-मन्त्रोंका चमत्कार

सन् १९५५ के अप्रैलमें ग्राम नरहरिपुर जि० बाराबंकीमें 'विष्णुयज्ञ' हुआ था। यह यज्ञ नरहरिपुरके निवासी पण्डित लक्ष्मीचन्द्र तिवारीने पूज्य श्री १०८ स्वामी नारदानन्दजी सरस्वतीकी सत्प्रेरणासे करवाया था। मैं काशीसे यज्ञका 'आचार्य' होकर गया। यज्ञकी पूर्णाहुति होनेके बाद मैं उसी दिन आवश्यक कार्यवश काशी आनेके लिये तैयार हो गया। काशी आनेके लिये नरहरिपुरसे 'रुदौली' रेलवे स्टेशन पहुँचना पड़ता है, जो नरहरिपुरसे लगभग ६-७ मीलकी दूरीपर है। वहाँका मार्ग पक्का न होनेके कारण यातायातका साधन केवल बैलगाड़ी है। अतः मैं भी अपने दो साथियों (वेदाचार्य पं० जगदानन्द झा, अध्यापक—गवर्नमेन्ट-संस्कृत कालेज, पटना तथा पं० लक्ष्मीनारायणजी (कल्लोजी) सारस्वत, काशी) के साथ बैलगाड़ीमें सवार हो गया। उसी समय नरहरिपुरके दो वृद्ध पुरुष वहाँ उपस्थित होकर बोले—'पण्डितजी! यहाँसे रात्रिमें रुदौली स्टेशन जाना खतरेसे खाली नहीं है। मार्गमें चोर-डाकू पड़ते हैं, जो लूट-पाट ही नहीं करते, किंतु पथिकोंको मारते-पीटते और नग्नतक कर देते हैं। अतः रात्रिमें न जाकर दिनमें जाइयेगा।' मैंने कहा—'मेरे पास चोर-डाकुओंसे बचनेके लिये अचूक उपाय है, मुझे चोर-डाकुओंका भय नहीं।' कहकर हमलोग रात्रिको ९ बजे स्टेशनके लिये रवाना हो गये।

वसन्त ऋतु और चैत्रका महीना था। रात्रिको चैती हवा कभी मन्द और कभी तेज चलती थी, जो हम सभीको सुखद और सुहावनी प्रतीत हो रही थी। यज्ञकी व्यस्ततासे मैं श्रान्त था, अतः बैलगाड़ीमें निद्रा आ गयी। समथल भूमि न होनेके कारण बैलगाड़ीके भयंकर खटर-पटर शब्दसे कुछ ही देर बाद मेरी नींद उचट गयी। दोनों साथियोंने अत्यन्त भयभीत मुद्रामें मुझसे कहा—'बहुत देरसे हमारे पीछे तीन आदमी लगे हैं और उनके हाथमें टार्च भी है, जिसको कभी-कभी जलाते भी हैं। देखिये वे ही तीनों आदमी हैं, जो हमारी ओर लपके चले आ रहे हैं।'

मैंने बैलगाड़ीके चालकसे पूछा—'हमारे पीछे जो आदमी लगे हैं, इनके बारेमें तुम्हारा क्या ख्याल है?' गाड़ीवानने कहा—'ये चोर-डाकू मालूम होते हैं।' गाड़ीवानकी बात सुनकर मेरे साथी बोले—'हमलोगोंसे भूल हो गयी, जो वृद्ध पुरुषोंके रोकनेपर भी रात्रिको चल पड़े।' मैंने निर्भीक होकर कहा—'आपलोग तनिक भी न घबरायें। एक बार मेरे स्वर्गीय श्रीपिताजी (महामहोपाध्याय पं० श्रीविद्याधरजी गौड) ने मुझे मार्गमें चोर-डाकूसे त्राण पानेके लिये वेदके कुछ महत्त्वपूर्ण मन्त्र बतलाये थे, जिनके ग्यारह अथवा पाँच बार पाठ करनेसे निश्चित ही चोर-डाकुओंसे रक्षा होती है। अतः अब हमें उन वेद-मन्त्रोंका पाठ करना चाहिये। अवश्य ही वेद भगवान् हमारी रक्षा करेंगे।' पश्चात् हम सभीने श्रीपिताजीके बतलाये हुए निम्नलिखित वेद-मन्त्रोंका उच्चस्वरसे एक स्वरमें होकर पाठ प्रारम्भ कर दिया—

'रक्षोहणं बलगहनम्०'	(शु० य० ५ । २३–२५)
'रक्षसां भागः०'	(शु० य० ६ । १६)
'योऽअस्मभ्यम्०'	(शु० य० ११ । ८०)
'आयुर्म्मे पाहि०'	(शु० य० १४ । १७)
'अग्नेर्भागोऽसि०'	(शु० य० १४ । २४–२६)
'नमः कृत्स्नायतया०'	(शु० य० १६ । २०–२२)
'कृणुष्व पाजः०'	(शु० य० १३ । ९–१४)

हमलोग बार-बार उपर्युक्त वेद-मन्त्रोंका पाठ कर रहे थे कि मार्गमें एक गाँव आ गया। बैलगाड़ीके चालक तथा मेरे साथियोंकी सम्मति हुई कि 'गाँवमें गाड़ी रोककर रात्रि यहीं व्यतीत की जाय और प्रातःकाल स्टेशन चला जाय। इससे चोर-डाकूका खतरा दूर हो जायगा और चोर-डाकू भी वापस चले जायँगे।' मैंने कहा—'क्या आपलोगोंको वेदमन्त्रोंपर विश्वास नहीं है, जो भयभीत होकर यहाँ ठहरनेकी बात कह रहे हैं?' मेरे साथी संकोचके साथ दबे स्वरमें बोले—'हमें वेद-मन्त्रोंपर पूर्ण विश्वास है।' मैंने कहा—'तब मार्गमें रुकनेकी आवश्यकता नहीं है। आज वेद-मन्त्रोंके चमत्कार देखनेका अवसर उपस्थित है। अवश्य ही वेद भगवान् हम सबकी रक्षा करेंगे।' बैलगाड़ी रोकी नहीं गयी और हमलोगोंका वेदपाठ पूर्ववत् चलता रहा। जब गाड़ी गाँवसे लगभग आधा मील आगे पहुँची, तो फिर वे तीनों टार्च जलाते हुए दिखायी देने लगे।

जिस प्रकार हमलोग उच्च स्वरसे वेद पाठ कर रहे थे, ठीक उसी प्रकार गाड़ीवान भी बड़ी तेजीसे गाड़ी हाँक रहा

था। बैलगाड़ीकी गतिके अनुकूल वे चोर-डाकू भी सपाटेके साथ हमारी ओर लपके आ रहे थे। हमें इस बातका अवश्य आश्चर्य हो रहा था कि कई मीलसे चोर-डाकू हमारा पीछा करते हुए भी हमसे लगभग दो-तीन फर्लांग दूर-दूर ही चलते रहे और हमारे सम्मुख नहीं आये। इधर हमारा वेद-मन्त्र-पाठ नौ बार समाप्त हो रहा था कि बीचहीमें गाड़ीवान बोला—'पण्डितजी! अब यहाँसे स्टेशन सिर्फ एक मील रह गया है और अब वे चोर-डाकू भी दिखलायी नहीं देते।' हम सभीने चारों ओर दृष्टि दौड़ायी तो पीछा करनेवाले पुरुषोंका कुछ पता नहीं चला। पश्चात् हम सभीने नित्य, अनादि अपौरुषेय वेद भगवान्‌की ही महती कृपा समझी, जिनकी कृपासे वे चोर-डाकू स्वतः वापस चले गये और हमलोग दो बजे सानन्द स्टेशन पहुँच गये। स्टेशन पहुँचनेपर वहाँके स्टेशन-मास्टर तथा अन्य कई सज्जनोंने पूछा—'आपलोग कहाँसे आ रहे हैं?' मैंने कहा—'यज्ञ कराकर नरहरिपुरसे आ रहे हैं।' सभीने साश्चर्य कहा—'नरहरिपुरके मनुष्य बड़े आततायी मालूम होते हैं, जिन्होंने रात्रिमें यहाँ आनेके लिये आपलोगोंको रोका नहीं। उन्हें तो मालूम है यह मार्ग बड़ा खतरनाक है।' मैंने कहा—'गाँववालोंका कोई दोष नहीं। उन्होंने मना किया था, किंतु मैं जान-बूझकर वहाँ रुका नहीं। मुझे वेद-मन्त्रोंपर पूर्ण विश्वास और भरोसा था कि यदि मार्गमें किसी प्रकारकी विपत्ति पड़ेगी, तो अवश्य ही वेद-मन्त्रोंद्वारा हमारी रक्षा होगी। मार्गमें जो चोर-डाकू मिले थे, वे वेद-पाठके प्रभावसे वापस चले गये, जिससे हम यहाँ सुरक्षित पहुँच गये।' इस घटनाको सुनकर सब लोग दंग रह गये। सभीने वेदके चमत्कारपर विश्वास एवं श्रद्धा व्यक्त की।

'वेदो नारायणः साक्षात्' (भागवत ६।१।४०) के अनुसार जो लोग वेदोंमें श्रद्धा और विश्वास रखते हैं, उनकी आज भी वेद भगवान् सर्व प्रकारसे रक्षा करते हैं।

लेख-विस्तारके भयसे मैंने पूरे मन्त्रोंका उल्लेख न कर, केवल मन्त्रोंके प्रतीक, अध्याय और मन्त्र-संख्याका उल्लेख किया है। मैंने जो मन्त्र लिखे हैं, इनमेंसे बहुत-से मन्त्र **'रक्षोघ्न-सूक्त'** नामसे प्रसिद्ध हैं। रक्षोघ्नसूक्तके पाठ करनेसे राक्षस, भूत, प्रेत, चोर आदिका भय नहीं रहता, ऐसी फलश्रुति है, जिसका मुझे प्रत्यक्ष साक्षात्कार हुआ।

—याज्ञिकसम्राट् श्रीवेणीराम शर्मा गौड, वेदाचार्य

(२)

प्रभुकी दिव्य कृपाकी प्रत्यक्षानुभूति

मेरे एक सहृदय वयोवृद्ध भगवद्भक्त स्नेहीद्वारा वर्णित घटना निम्नवत् है—

'दिनाङ्क १८ अक्टूबर, १९६१, तदनुसार आश्विन शुक्ल ९, संवत् २०१८ विक्रमीकी घटना है। खरगोन (म० प्र०) से लगभग १६ मीलकी दूरीपर स्थित बमनाला और सेलदा ग्रामोंके मध्य एक तपोमूर्ति महात्माश्रीका पवित्र आश्रम है। आश्रम पुण्यतोया वेदा नदीके तटपर सुस्थित है। पूज्य महात्माजी प्रत्येक वर्षकी आश्विन शुक्ल नवमीको नवरात्रके उपलक्ष्यमें कन्याओंको भोजन कराते हैं। घटनाकी तिथिको भी वही पुण्यकर्म सम्पन्न करनेका निश्चय किया गया। मैंने पूज्य महात्माजीके दर्शन करनेका विनम्रभावसे सुसंकल्प किया। तदनुसार मैं इसी दिन खरगोनसे प्रस्थित हुआ। साथमें दो वयोवृद्ध वैष्णव भक्त तथा मेरा एक पुत्र (अवस्था १२ वर्ष) तथा मेरी पोती (अवस्था ५ वर्ष) थे। मोटरकार बमनाला ग्राममें छोड़ दी गयी। सारा समुदाय पैदल वेदा नदीके तटपर पहुँचा। नदीपर पुल अथवा रपट आदि नहीं है। वर्षाऋतुमें छोटी नावोंके सहारे नदी पार करनी पड़ती है। वर्षाऋतुके पश्चात् नदीका जल सूख जाता है और नदीको वैसे पैदल ही पार किया जा सकता है। इस वर्ष संयोगवश अतिवृष्टिके कारण नदी अथाह जलराशिसे परिपूरित थी और जल-प्रवाह भी तीव्र वेगमय था।

नदी पार करनेके लिये एक छोटी नाव किरायेसे की गयी। मैंने सभी सज्जनोंको उसमें बैठाया और अन्तमें मैं स्वयं बैठा। पूज्य महात्माजीके पादपद्मोंमें भेंट करनेके लिये मैंने अपने साथ एक मन आटा तथा दो टोकरी फल आदि ले रक्खे थे। वे पदार्थ भी नावमें यथास्थान रख दिये गये। नावने अथाह जलराशिमें गतिशील होना प्रारम्भ किया। शीघ्र ही नाव दूसरे किनारेके निकट आ पहुँची। वहाँ जलका प्रबलतम वेग था और जलकी गहराई भी १५-२० फीटसे कम न होगी। सभी पूर्ण आनन्दानुभूतिसे प्रकृतिके सुरम्य भागोंके दर्शन करते हुए महात्माजीके दर्शनकी लालसासे अनुरागित होकर गन्तव्य स्थलतक पहुँचनेके क्षणकी प्रतीक्षा कर रहे थे।

सहसा घटना-चक्रमें परिवर्तन हुआ। जलके वेगमय सुदृढ़ आघात-प्रतिघातोंसे नाव अपना संतुलन खो बैठी। नाविकने अपने सहज धैर्यको तिलाञ्जलि दे दी। नाव एक भागपर सहसा लम्बाकार होने लगी और उसी

भागसे उसमें जल भरने लगा। मेरे मनमें सहसा यह भाव उत्पन्न हुआ कि यह अस्थायी संतुलन-परिवर्तन ही है। अतएव लम्बाकार उत्थित भागको दबानेके लिये हम उधर बढ़ने लगे। परंतु स्थिति भयंकर होती गयी। नाव जलके प्रहारसे प्रकम्पित होने लगी और हमारे दो वयोवृद्ध साथी भय-मिश्रित शब्दोच्चारण करने लगे। पर ईश्वरीय अनुग्रहसे मेरी मनःस्थिति अप्रत्याशितरूपमें आश्चर्यमयी हो गयी। मेरे मुखसे केवल ये ही शब्द निकले—सुरेन्द्र और मंजुको सम्हालना। मन विचारोंसे सर्वथा शून्य हो गया। मैं अर्द्धनिमीलित नेत्रोंसे सारे दृश्यको देखता रह गया। अचानक नेत्रोंके समक्ष सरिताके समीपस्थ तटपर स्थित एक वृक्षकी शाखाएँ हाथमें आने लगीं। ऐसा प्रतीत हुआ कि किसी अद्वितीय महान् शक्तिने इस वृक्षकी सुदृढ़ शाखाएँ हम सबके हाथोंके समीप ला दीं और साथ ही उन्हें हाथोंसे भी पकड़वा दिया। मैंने सुरेन्द्र और मंजुके कोमल हाथोंको भी इन शाखाओंको सुदृढ़तासे पकड़े हुए देखा। एक ही क्षणमें नाव हमारे पैरोंके नीचेसे अनन्त जलराशिमें अपने अस्तित्वको विनष्ट करनेके लिये तीव्र वेगसे बढ़ गयी और हम पाँचों प्राणी वृक्षकी शाखाओंसे लटके रह गये। न जाने कब किसी व्यक्तिने तट-परसे वृक्षपर चढ़कर हम पाँचोंको खींचकर तटके भूमि-भागपर खड़ा कर दिया। हमारे साथका सारा सामान नावके साथ ही उस विराट्में निमग्न हो गया।

तटपर आकर मेरी मनःस्थितिमें परिवर्तन हुआ और मेरे हृदयमें शनैः-शनैः भावोंका उद्रेक होने लगा। विश्वास मानिये कि घटना घटित होते समय मेरे मनमें न भय था, न शोक, न विषाद और न ऐसी स्थिति कि प्रभुके दिव्य नामोंसे उन्हें पुकार सकूँ और रक्षा-हेतु आर्तनाद कर सकूँ। अब प्रभु-की असीम कृपाका स्मरण कर नेत्रोंसे अश्रुओंकी अविरल धारा प्रवाहित होने लगी और ऐसा भासित होने लगा कि दयानिधि करुणावरुणालय प्रभु किस प्रकार अपने वरद-हस्त बढ़ाकर अभयदान एवं आश्रय देते हैं। मैं अपने गुरु महाराजकी दिव्य वाणीके अचेतन भाव ग्रहण करने लगा—

वे सुखमें क्या दुखमें कभी भी
न छोड़ते हैं हमको अकेला।
वे साथमें ही रहते हैं सदा
सम्हालनेको हमको हमेशा॥

तटसे आगे बढ़कर हमने पूज्य महात्माके चरणारविन्दोंमें नमन किया और घटनाका प्रत्यक्ष विवरण उनके समक्ष प्रस्तुत किया। पूज्य महात्माजीने शान्तिप्रद मुस्कराहटमें यही कहा—'प्रभु दीनवत्सल हैं।' इस घटनासे उन्हें न कोई संताप हुआ और न उन्होंने हमारे प्रति कोई समवेदना ही प्रकट की। वे प्रभुके दिव्य अनुग्रहका स्मरण करके भावमग्न होकर चुप बैठे रहे।

—भगवानदास झा एम० ए०, बी०एस् सी०, एल्-टी०, मा० १०

(३)

संगका फल

इसे घटना तो कहना उचित नहीं होगा; परंतु संयोग-की बात अवश्य कह सकते हैं, बात कुछ पुरानी है।

मेरे एक मित्र थे। बहुत समयतक हम साथ-साथ पढ़े। उनका परिवार हमसे सम्पन्न था। इसी कारणसे उन्हें हाथ-खर्चके लिये रोजाना अच्छे पैसे मिल जाते थे; क्योंकि वे माता-पिताके प्रिय लड़के थे। समयके साथ-साथ भाग्यने भी करवट बदली। उनके पिता सट्टेके शौकमें पड़ गये और उन्होंने अपने संचित धनको इस बुरे शौकमें स्वाहा कर दिया। स्थिति यहाँ-तक आ पहुँची कि घरका खर्च चलना भी कठिन हो गया। घरकी हालत कैसी भी हो, पर खर्चके पैसे मिलने ही चाहिये। फिर उन्हें फिजूल खर्च करनेकी आदत जो पड़ गयी थी। उन्होंने चोरी करना शुरू किया, कभी सम्बन्धियोंके घर तो कभी अपने मित्रोंके यहाँ; आदतमें स्थायित्व आ गया और कुछ मित्रोंकी कुशिक्षा भी ऐसी मिली। वे पढ़ाई छोड़कर इसी कुकार्यमें लग गये।

दो सप्ताह पहले वे ही मित्र एक लंबे अर्सेके बाद मुझसे मिले तो ऐसा अनुभव हुआ कि मानो वे दूसरा जन्म लेकर इस पृथ्वीपर अवतरित हुए हैं। मैंने प्रश्न किया—'मित्र! इस परिवर्तनका रहस्य क्या है?' उन्होंने बताया कि एक चोरीके मामलेमें कुछ लोगोंने मुझे घेर लिया था और मेरी बहुत पिटाई भी की गयी। उसी समय एक साधुजी उधरसे गुजरे। उन्होंने मेरी दशापर सहानुभूति प्रकट करते हुए मुझे छुड़ाया और भीड़को तितर-बितर कर दिया। मुझे वे अपने निवास-स्थान (मन्दिर) पर ले गये और समझाते हुए साधुजीने बताया कि 'बेटा! चोरी करनेमें दो बड़े नुकसान हैं। प्रथम तो जिसका पैसा हम चुराते हैं उसकी आत्माको बड़ा दुःख पहुँचता है और दूसरे, उस चुराये हुए पैसेका सदुपयोग भी नहीं हो पाता। तुम इस बुरे व्यसनको छोड़ दो और रोजाना सबेरे उठते ही पाँच मिनिट अपने इष्टदेवताका नाम लिया करो। भगवान्की कृपासे सब कार्य ठीक हो जायगा।'

उस दिनके बादसे साधुजीके द्वारा बताये हुए मार्गपर मैं चलने लगा। उस परम परमात्माके नामका प्रभाव यह हुआ कि मैंने जवाहरातका धंधा सीख लिया, घरकी स्थिति भी सुधर गयी और आज मेरा परिवार पूर्णतया सुखी है।

मित्रकी बात मेरे हृदयके अन्तस्तलतक पहुँची और मैं बोल उठा—‘हे परमात्मा ! सत्संग तथा तेरे नामके प्रभावसे हैवान भी इंसान बन सकते हैं।’ —हेमचन्द्र सोजातिया

(४)

भूलका पश्चात्ताप

बंगालके अवसरप्राप्त न्यायाधीश श्रीनीलमाधव वन्द्योपाध्याय जीवनके अन्तिम श्वास ले रहे थे। उनका प्रत्येक श्वास प्रतिक्षण मृत्युके बिछौनेपर मूर्च्छित हो रहा था। उनके घर-कुटुम्बके लोग नीलमाधवजीकी मुमूर्षु दशा देखकर उनसे पूछ रहे थे, ‘आपको कुछ कहना हो सो सुखपूर्वक कह दें।’

नीलमाधवने कहा—‘आजसे पाँच वर्ष पूर्व मैंने पाँच हजारकी बीमा करायी थी। उस समय डाक्टरी परीक्षामें मुझे सर्वथा नीरोग बताया गया था; परंतु उसी दरम्यान मेरे मधुमेहका रोग आरम्भ हो गया था। मैं इसे जानता भी था। इतनेपर भी मैंने बीमाको रद्द नहीं करवाया। इसीका पश्चात्ताप आज मेरे कलेजेको काट रहा है। बंगालके न्यायाधीशके पदपर रहकर मैंने वर्षोंतक अपने कर्तव्यका पालन किया और अन्तमें मेरे-जैसा न्यायाधीश ईमानदारीसे हट गया ! इसका इस समय मुझे बहुत बड़ा दुःख हो रहा है। आप बीमा-कम्पनीवालोंको बुलाइये, जिससे मैं पालिसी रद्द करवा दूँ और बीमासे मिलनेवाली रकम मेरे उत्तराधिकारियोंको न मिले, इसकी व्यवस्था करवा दूँ। मेरे उत्तराधिकारियोंको ऐसे बेहकके पैसे मिलें, मैं यह नहीं चाहता।’ (अखण्ड आनन्द)

—धैर्यचन्द्र बुद्ध

(५)

सत्संगतिका परिणाम

लगभग बीस वर्ष पहलेकी बात है। मेरा भानजा मेरे पास रहता था और नीचे कपड़ेकी दूकानमें अकेला ही सोता था। एक दिन अल्मारीमेंसे छः सौ रुपये निकालकर ले गया। कई वर्षोंके बाद इसी ज्येष्ठमें वह आया और अपनी मामीके चरणोंमें गिरकर बोला—‘मामीजी ! यह लो अपने रुपये। मैं आपका बच्चा हूँ। मेरे अपराधको क्षमा करो।’ उसकी मामीने रुपये लेनेको बहुत ही इन्कार किया, परंतु मना करनेपर भी वह रुपये देकर चला गया। लगभग एक महीने बाद उसका पत्र आया। उसमें लिखा था—‘श्रीम जी तथा मामीजीके चरणोंमें अनन्त बार नमस्कार। मैं अ छः सौ रुपये लौटा देनेमें अपनी कोई मानवता नहीं समझ वे तो मुझे देने ही थे। इस जन्ममें न देता, किसी जन्ममें बैल, गधा आदि बनकर देता। अमानत, ठगी, अन्याय आदिका पैसा भगवान्‌के कानूनमें वापिस पड़ता है। यमदूतोंकी मार और नरककी यात्रा रही अलग। तो श्रीभक्त कबीरजीने हमारी भलाईके लिये कहा है—

कबीरा आप ठगाइये और न ठगिये कोय।
आप ठगे सुख ऊपजै और ठगे दुख होय॥

और फिर अन्यायका पैसा ठहरता भी नहीं। न कहा है—

अन्यायोपार्जितं द्रव्यं दशवर्षाणि तिष्ठति।
प्राप्ते चैकादशे वर्षे समूलं च विनश्यति॥

अन्यायसे पैदा किया हुआ धन अधिक-से-अधिक वर्ष ठहरता है। ग्यारहवें वर्ष वह धन मूलसहित न जाता है।

इस प्रकारके बहुत-से वाक्य पत्रमें लिखे थे। मैं तो कहूँगा कि रुपये निकालना कुसङ्गका प्रभाव था—

को न कुसंगति पाइ नसाई। रहइ न नीच मतें चतुर

और रुपये लौटा देना प्रभुकी कृपा तथा सत्स प्रभाव—

सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस परस कुधात सुह

तभी तो गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने स्वर्ग और मो सुखसे सत्सङ्गके सुखको बड़ा बताया है—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

—रामस्वरूप

(६)

दस्युओंद्वारा उपकारका बदला और ब्राह्मण त्याग

आज इस भौतिक युगमें मानवता एवं नैतिक दिनोंदिन ह्रास हो रहा है। मनुष्य अपने स्वार्थके लिये से-बुरे जघन्य-से-जघन्य कार्य करनेमें भी नहीं हिच नीचे एक सच्ची घटना लिखी जा रही है जिसमें लुटे एक त्यागी विप्रके कृतज्ञता और त्यागका वर्णन है। यद्यपि कुछ वर्षों पुरानी है। चितौड़ जिलेके एक

भगवद्भक्त ब्राह्मण सपरिवार रहते थे। वे सात्त्विक जीवन व्यतीत करते थे। उस समय आजकल-जैसा बाहरी आडम्बर गाँवोंमें नहीं पहुँचा था। अमीर-गरीब, हिंदू-मुस्लिमका भेद-भाव भी वहाँ नहीं था। ग्रामवासी सीधे-सादे, सात्त्विक, एक दूसरेके दुःख-सुखमें सहायता करनेवाले, निष्कपट, परिश्रमी एवं आस्तिक होते थे। इन ब्राह्मण सज्जनमें ये सभी गुण मौजूद थे। गीताका नित्य पाठ करते थे। संध्या, हवन, पाठपूजा करना इनका नित्यका कर्म था। रियासतकी ओरसे इन्हें कृषिके लिये कुछ भूमि मिली हुई थी। गाँवके वैष्णव मन्दिरके पुजारी भी थे। एक दिन प्रातः ब्राह्ममुहूर्तमें ये जब शौचादिसे निवृत्त हो लौट रहे थे तो मार्गमें इन्हें कुछ आदमी मिले और उन्होंने इन्हें ब्राह्मण समझकर प्रणाम किया। तदनन्तर इन्हें कुछ दूर अपने साथ अलग ले गये जहाँ निर्जन वन था। ये व्यक्ति डाकू थे। वनमें कई ऊँट थे। वहाँ उनका सरदार ठहरा हुआ था। दस्यु-सरदारने पण्डितजीको प्रणाम कर अपने पास बैठनेको कहा। पण्डितजीने अपनेको लुटेरोंके बीच पाकर कुछ भयका अवश्य अनुभव किया। सरदारने कहा—'पण्डितजी! डरो मत, हम आपको लूटने नहीं आये हैं। बात यह है कि हम बहुत दूरसे आ रहे हैं, रास्तेमें कहीं भोजनका प्रबन्ध नहीं हो सका, अगर आप हमारे लिये एक मन आटा और कुछ घी, दाल इत्यादि खाद्य-सामग्रीका प्रबन्ध कर दें, तो हम आपका बड़ा उपकार मानेंगे। आपकी बड़ी मेहरबानी होगी।' सरदारके स्वरमें दीनता थी। सभी दस्यु भूखे थे। पण्डितजीने मनमें विचार किया कि भूखे लोगोंको अन्नदान करना गृहस्थका प्रथम कर्तव्य है।

अतः उन्होंने यह बात स्वीकार कर ली। वे गाँवको चले गये। दस्यु सरदारने उनके साथ अपने आदमी नहीं भेजे। ऐसा करनेसे वे पुलिसके हाथ पकड़े जा सकते थे। पण्डितजी अपने घर गये। यदि वे चाहते तो डाकुओंको पुलिसके हाथों पकड़वाकर काफी इनाम प्राप्त कर सकते थे; किंतु मानवता, सत्यता, धर्म तथा ईमानदारीको कैसे धोखा दे सकते थे? उन्होंने किसीसे इस बातका जिक्रतक नहीं किया। घरसे चुपचाप स्वयं ही साथ एक आदमी लेकर एक मन आटा, कुछ घी, दाल आदि सामग्री ले चले। वनमें जाकर दस्युओंके डेरेपर वह सामान पहुँचा दिया।

दस्युओंने भोजन बनाया। भोजन प्राप्त कर दस्यु-सरदारने पण्डितजीको धन्यवाद दिया। दस्यु सरदार अपने दलसहित आगेको चल दिया और पण्डितजी अपने घरको लौट आये।

× × × ×

कुछ महीनों पश्चात् एक बार यही पण्डितजी उसी वनकी ओर घूमने जा रहे थे, अकस्मात् वे ही दस्यु फिर इन्हें मिले और पण्डितजीको अपने सरदारके पास ले गये। सरदारने इनको प्रणाम करके कहा—'पण्डितजी! आपके उस दिनका उपकार हम नहीं भूले हैं—अब हम अपने प्रयत्नसे यह बहुत-सा माल अनेक प्रदेशोंसे लूटकर लाये हैं। आप किसी भी एक सन्दूकको ले लीजिये। उसमें जो भी निकलेगा, आपका होगा। पण्डितजीने लोभ या कौतूहलवश एक सन्दूकपर हाथ रख दिया। उसे खोला गया तो उसमें हजारों रुपयोंका सोना था। सरदारने पण्डितजीको सन्दूक छिपाकर घर ले जानेको कहा।

अब धर्मभीरु तथा विद्वान् पण्डितजीके मनमें धर्मका भय और 'परद्रव्येषु लोष्टवत्' आदि शिक्षा-सम्बन्धी बातें आने लगीं। गीताके धन और पत्थरमें समानभाववाले गुणातीत व्यक्तिका ध्यान आया। श्लोककी मस्तिष्कमें स्मृति हो आयी।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥

(१४। २४)

वे अपने मनमें विचार करने लगे कि प्रथम तो धन है ही बुरी चीज, फिर यह धन तो लूटका है। जिसका यह धन होगा, उसका मन कितना दुखी हो रहा होगा। ऐसे पापमय धनको ग्रहण कर मैं अपने परिवारको तामसिक स्थितिमें नहीं ले जा सकता। इस धनको लेना घोर पाप है। फिर, भूखेको भोजन देकर उसके बदलेमें धन लेना तो गृहस्थ-धर्मको कलंकित करना है। ऐसा विचारकर पण्डितजीने सरदारको धन लेनेसे एकदम इन्कार कर दिया। सरदारने बहुत आग्रह किया; किंतु पण्डितजी खाली हाथ ही घर लौट गये। यह था दस्यु-सरदारद्वारा उपकारका बदला और धर्मज्ञ पण्डितजीका आदर्श त्याग। इस घटनाको कई वर्षों बाद पण्डितजीने अपने स्वजातीय बन्धुओंको सुनाया था। उन्हीं सुननेवाले बन्धुओंमेंसे एक सज्जनने यह घटना मुझे सुनायी।

—प्राध्यापक श्याममनोहर व्यास एम्० एस्-सी०

(७)

जुलाहेकी ईमानदारी

इलाहाबादसे लगभग २२-२३ मीलपर एक गाँव है—मऊआइमा। यहाँ अधिकतर जुलाहे रहा करते हैं जो हाथ-करघेसे साड़ियों तथा खंड (ब्लाउजके कपड़े) बनाया तथा बेचा करते हैं। यहाँकी बनी हुई साड़ियाँ तथा ब्लाउजके कपड़ोंकी [illegible] तो सभी स्थानोंपर खपत है तथापि महाराष्ट्र एवं गुजरातमें तो यहाँके कपड़ोंकी बहुत ही माँग है।

सन् १९५९ की घटना है। मेरे एक मित्र श्रीनरसिंहदासजीकी कपड़ेकी दूकान है। वे एक दिन साड़ियाँ ख़रीदनेके लिये मऊआइमा जा रहे थे। रविवारका दिन था, अतः मेरी छुट्टी होनेके कारण मैं भी घूमनेके दृष्टिकोणसे उनके साथ चला गया था। नरसिंहदासजी १७०० रुपयेके सौ-सौके नोट अपने साथ ले गये थे। कोई व्यवस्थित मंडी न होनेके कारण व्यापारियोंको वहाँ जुलाहोंके घर-घर जाकर दस-दस-पाँच-पाँच साड़ियाँ खरीदनी पड़ती हैं। चूँकि जुलाहोंको हाथ-के-हाथ नकद भुगतान करना पड़ता है, इसलिये रुपये साथमें ही लिये रहना पड़ता है।

दिनभर घूम-घूमकर नरसिंहदासजीने माल खरीदा। मैं भी उनके साथ-साथ था। लगभग ५ बजे सायंकाल एक जुलाहेके यहाँ करीब १४५) का माल लिया गया था। चूँकि वहाँसे वापस आनेके लिये लगभग छः बजे गाड़ी मिलती थी, इसलिये जल्दबाजीमें पता नहीं कैसे मेरे व्यापारी मित्रके सौ-सौ रुपयेके तीन नोट उसी जुलाहेके मकानमें गिर गये। परंतु उस समय नोटोंके गिरनेका न तो नरसिंहदासजीको ही ज्ञान था, न मुझे ही और न उस गरीब जुलाहेको ही।

वहाँसे सब साड़ियाँ इत्यादि एक गाँठमें बाँधकर तथा लगेज करवाकर छः बजेवाली गाड़ीसे हमलोग वापस आ गये। दूसरे दिन जब मैं नरसिंहदासजीसे मिला तो वे बहुत दुखी थे। उन्होंने ३००) खो जानेकी घटना मुझे भी सुनायी; सुनकर मुझे भी बड़ा अफसोस हुआ। मैंने कहा कि एक बार मऊआइमा जाकर खोजबीन करनी चाहिये। नरसिंहदासजी निराश हो चुके थे। कहने लगे—'भाई! दुनिया बड़ी बेईमान हो गयी है। यदि किसीको रुपये मिल भी गये होंगे तो वह क्यों लौटायेगा? बेकारमें आने-जानेमें दो-चार रुपये और खर्च हो जायँगे। खोये हुए रुपये तो मिलनेसे रहे।'

लेकिन संतोष न हुआ। दूसरे दिन वे मऊआइमा गये। जिन-जिन जुलाहोंके यहाँ उन्होंने साड़ियाँ खरीदी थीं उनके यहाँ गये परंतु रुपयोंका पता न लगा। कुछ लो कहा भी कि 'लालाजी! आप बेकार परेशान न हों। आ रुपये मिलने बहुत मुश्किल हैं।' निराश होकर तथा सोचकर कि जब आये ही हैं तो सभी जगह पूछ क लिया जाय, नरसिंहदासजी उस जुलाहेके यहाँ भी पहुँच जिसके यहाँ सबके बादमें माल खरीदा गया था। इन्हें दे ही वह जुलाहा, जो कि अपने मकानमें एकदम उदास हुआ था, खुश हो उठा तथा मेरे मित्र उससे कुछ पू इसके पहले ही वह कहने लगा कि 'लालाजी! कल आ ३००) के नोट मेरे यहाँ गिर गये थे। नोट देखते ही आपको ढूँढ़नेके लिये स्टेशनतक गया भी, परंतु गाड़ी चुकी थी। लीजिये अपने रुपये सँभालिये तथा मुझे उ कीजिये।' रुपये मिलनेपर नरसिंहदासजीकी खुशीका ठिका न रहा। उन्होंने जब उस गरीब जुलाहेको कुछ इना तौरपर देना चाहा तो उसने कुछ भी लेनेसे इन्कार दिया। उनके बहुत आग्रह करनेपर उस गरीब जुलाहेने शब्द कहे थे वे वास्तवमें एक ईमानदार आदमी ही सकता है। उसने कहा—'लालाजी! आपके गिरे हुए वापस करके तो मैंने अपना फर्ज अदा किया है। यदि आ मुझे कुछ देना ही चाहते हैं तो यह आशीर्वाद दीजिये पराये धनके लिये मेरी नीयत कभी भी खराब न हो।'

दूसरे दिन जब नरसिंहदासजीने मुझे जुलाहेकी ईमा दारीके बारेमें बताया तो मेरा मस्तक भी उस गरीब ईमानदार जुलाहेके प्रति श्रद्धासे झुक गया।

—श्यामसुन्दर अग्रवाल एम० काम०, एल्-एल०,

(८)

दमाकी सहज दवा

खानेका नमक १॥ (डेढ़) तोला लेकर सुनारकी गलानेकी कुठालीमें पकवा लिया जाय। पकनेपर उस भस्मरूप हो जायगा। उस नमकको खरल कर लिया जाय रात्रिको भोजनके बाद दो मुनक्का दाख लेकर उनका निकालकर वह १॥-१॥ रत्ती नमक उनमें भरकर गो बना ली जाय। फिर धीरे-धीरे चूसकर दोनों मुनक्का गोलियोंको खा लें। इसके बाद तीन-चार घंटेतक जल पीना चाहिये। इस प्रकार ५—७ दिन इस औषधका प्रयो करनेपर दमा (श्वास) रोगमें अवश्य लाभ होता है।

—फूलचन्द जैन

प्रेमी ग्राहकोंकी सेवामें एक विशेष निवेदन

आपका प्रिय यह मासिक-पत्र 'कल्याण' गत छत्तीस वर्षोंसे अपनी नीतिके अनुसार जनताकी यथासाध्य सेवामें संलग्न है। जन-मानसको संकीर्ण तथा सीमित स्वार्थकी भावनाओंसे ऊपर उठाकर प्राणिमात्रके हितके लिये प्रेरित करना, उच्च चरित्रनिर्माणके द्वारा मानवजीवनको यथार्थ प्रगतिकी ओर अग्रसर करना, अर्थ और अधिकारके स्थानपर त्याग और कर्तव्यकी स्थापना करना तथा सदाचार, संयम, ज्ञान, वैराग्य, निष्कामकर्म, सेवा और सार्वजनिक कल्याणके भावोंका प्रचार करना; महापुरुषोंके चरित्र, आचरण और वाणीके प्रसारद्वारा सबको ईश्वराभिमुखी बनाना, एवं भगवन्नाम-जप-कीर्तन तथा लोककल्याणकारी सच्चे साधनोंका विस्तार करना 'कल्याण'का प्रधान लक्ष्य रहा है। इसके विशेषाङ्कोंको साहित्यकी अमूल्य सम्पत्ति माना जाता है। 'पढ़ो, समझो और करो' शीर्षक स्तम्भमें लोगोंके जीवनको ऊपर उठानेवाली सच्ची घटनाओंका इतना प्रभावोत्पादक वर्णन रहता है कि जिससे बहुत बड़ी संख्यामें लोग सन्मार्गकी ओर प्रवृत्त होते हैं। इसके अतिरिक्त राष्ट्रभाषा हिंदीके प्रचारमें 'कल्याण'को बहुत बड़ा श्रेय है। हजारों-हजारों अहिंदी-भाषी प्रान्तोंके महानुभाव इसके ग्राहक हैं और चावसे इसे पढ़ते हैं तथा बहुत-से लोग तो 'कल्याण' पढ़नेके लिये ही हिंदी सीखते हैं।

गतवर्षके विशेषाङ्क 'संक्षिप्त-शिवपुराणाङ्क' की १,५१,००० प्रतियाँ छपी थीं। फरवरीसे दिसम्बरतकके अङ्क १,४८,००० की संख्यामें प्रतिमास छापे गये थे। चालू वर्षके विशेषाङ्कके लिये अनेक मित्रोंने 'ब्रह्मवैवर्तपुराण'के लिये आग्रह किया था। इस पुराणमें पूर्णपुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णकी अनेक विचित्र मधुर-मधुर लीलाएँ हैं, जिन्हें गा-गाकर भक्तलोग मुग्ध हो जाते हैं और उनका जीवन धन्य हो जाता है। यह सब कुछ होते हुए भी देशकी वर्तमान संकटकालीन परिस्थितिको समझते हुए इस विशेषाङ्ककी केवल १,४१,००० प्रतियाँ छापी गयीं। जिसमें अबतक लगभग १,२०,००० ग्राहक बने हैं। यदि चालू वर्षमें लगभग बीस हजार ग्राहक और न बने तो छपे हुए अङ्क पड़े रहेंगे, जिससे संस्थाकी रकम रुकी रहेगी और उसे घाटा उठाना पड़ेगा।

पिछले वर्षोंमें लगातार छपाईसम्बन्धी खर्च बढ़े हैं। कागजोंका मूल्य गत जुलाईमें ही बढ़ा है। आर्टपेपरके मूल्यमें लगातार भारी वृद्धि हुई है। कर्मचारियोंका वेतन तथा व्यवस्था-खर्च भी प्रतिवर्ष बढ़ता ही है। सरकारी कर-भार भी बढ़ता ही जा रहा है। संकटकालीन युद्ध-बीमाका भारी खर्च बढ़ गया है। कागजोंपर अन्तःप्रान्तीय बिक्री-कर (Central sales tax) की दर एक प्रतिशतसे बढ़ाकर दो प्रतिशत करनेकी घोषणा हो ही चुकी है तथा इस अङ्कके निकलते-निकलते नये बजटकी कर-वृद्धियोंका भी असर पड़ ही सकता है। डाक-दरकी भी समय-समयपर काफी वृद्धि होती रही है। इन सब कारणोंसे 'कल्याण' की लागत और खर्चमें काफी वृद्धि हुई है। फिर भी 'कल्याण'का वार्षिक मूल्य विशेषाङ्कसहित बहुत वर्षोंसे वही रु० ७.५० चला आ रहा है जिसमें डाक-खर्च भी सम्मिलित है। ऐसी परिस्थितिमें प्रेमी ग्राहकोंकी सेवामें हमारा अनुरोध है कि प्रत्येक ग्राहक महानुभाव विशेष चेष्टा करके कम-से-कम दो-दो ग्राहक और बना दें तो इन बीस हजार विशेषाङ्कोंका सहज ही बिक जाना तथा ग्राहक-संख्यामें और भी वृद्धि होना कोई बड़ी बात नहीं है। 'कल्याण' का प्रचार उत्तरोत्तर बढ़ना चाहिये और गतवर्षका विशेषाङ्क जब १,५१,००० छपा है तो चालू वर्षका विशेषाङ्क कम-से-कम उतना तो छपना ही चाहिये। पर यह सब प्रेमी ग्राहकोंके प्रयत्नोंपर ही निर्भर है।

आजीवन ग्राहक बनने-बनानेवाले सज्जन 'कल्याण'की विशेष सहायता कर सकते हैं। आजीव ग्राहक-शुल्क केवल एक सौ रुपया है। जो लोग वार्षिक मूल्य साढ़े सात रुपये भेज चुके हैं वे वा साढ़े बानवे रुपये भेजकर चालू वर्षसे ही आजीवन ग्राहक बन सकते हैं।

आशा है कि 'कल्याण'के प्रेमी ग्राहक-अनुग्राहक महानुभाव कल्याणके शुभ प्रचारमें सहायता कर की अवश्य कृपा करेंगे।

व्यवस्थापक—कल्याण, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर

गीताभवन ऋषिकेश-सत्सङ्गकी सूचना

श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका विचार चैत्र वदी ३० (२५ मार्च १९६३) के लगभग गीताभव (स्वर्गाश्रम) पहुँचनेका है। सदाकी भाँति आषाढ़ सुदी १५ के लगभग तक उनका वहाँ ठहरनेका विचार है

गीताभवन 'सत्सङ्ग'में जानेवालोंको ऐश-आरामकी दृष्टिसे न जाकर सत्सङ्गके उद्देश्यसे ही जा चाहिये तथा सत्सङ्गमें अधिक-से-अधिक भाग लेना चाहिये।

नौकर-रसोइया आदि यथासम्भव साथ लाना चाहिये। ऋषिकेशमें नौकर-रसोइया मिलना कठि है। स्त्रियाँ पीहर या ससुरालवालोंके साथ अथवा अन्य किसी सम्बन्धीके साथ ही जायँ। अकेली न जा एवं अकेली जानेकी हालतमें यदि स्थान न मिल सके तो दुःख नहीं करना चाहिये। गहने आदि जोखिम चीजें साथ नहीं रखनी चाहिये। बच्चोंको वे ही लोग साथ ले जायँ, जो उन्हें अलग डेरेपर रखनेका प्रब कर सकते हों; क्योंकि बच्चोंके कारण सत्सङ्गमें विघ्न होता है। खान-पानकी चीजोंका प्रबन्ध यथासा किया जाता है, किंतु दूधका प्रबन्ध होना कठिन है।

बहुत दिनोंसे अप्राप्त दो बड़ी पुस्तकोंके नये संस्करण

श्रीरामचरितमानस—मोटा टाइप, बृहदाकार, २२×२९ इंच चार पेजी, भाषाटीकासहित रंगीन चित्र ८, पृष्ठ-संख्या ९८ सजिल्द, मूल्य १५.००, डाकखर्च ५.६४।

छान्दोग्योपनिषद्—सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, ९ रंगीन चित्र, पृष्ठ-संख्या ९६८, सजिल्द, मू० ३.७५, डाकखर्च १.९

पुस्तकें स्थानीय विक्रेताओंसे प्राप्त करनेपर अथवा रेलसे मँगवानेपर भारी डाकखर्चकी बचत हो सकती है।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर

'कल्याण' नामक हिंदी मासिक पत्रके सम्बन्धमें विवरण

फार्म चार—नियम-संख्या—आठ

१–प्रकाशनका स्थान—गीताप्रेस, गोरखपुर

२–प्रकाशनकी आवृत्ति—मासिक

३–मुद्रकका नाम—मोतीलाल जालान

राष्ट्रगत सम्बन्ध—भारतीय

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

४–प्रकाशकका नाम—मोतीलाल जालान

राष्ट्रगत सम्बन्ध—भारतीय

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

५–सम्पादकका नाम—(१) हनुमानप्रसाद पो
(२) श्रीचिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शा

दोनोंका राष्ट्रगत सम्बन्ध—भारतीय

दोनोंका पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

६–उन व्यक्तियोंके नाम-पते जो इस समाचार-पत्रके मालिक हैं और जो इसकी पूँजीके भागीदार हैं। श्रीगोविन्दभवनकार्यालय, पता–नं० ३०, बाँसतल्ला गली, कलकत्ता (सन् १८ के विधान २१ के अनुसार रजिस्टर्ड धार्मिक संस्था)

मैं मोतीलाल जालान, इसके द्वारा यह घोषित करता हूँ कि ऊपर लिखी बातें मेरी जानकारी विश्वासके अनुसार यथार्थ हैं।

मोतीलाल जाल
प्रका

दि० १ मार्च १९६३

३१५०२

Duplicate

पुस्तकालय
गुरुकुल काँगड़ी

कल्याण

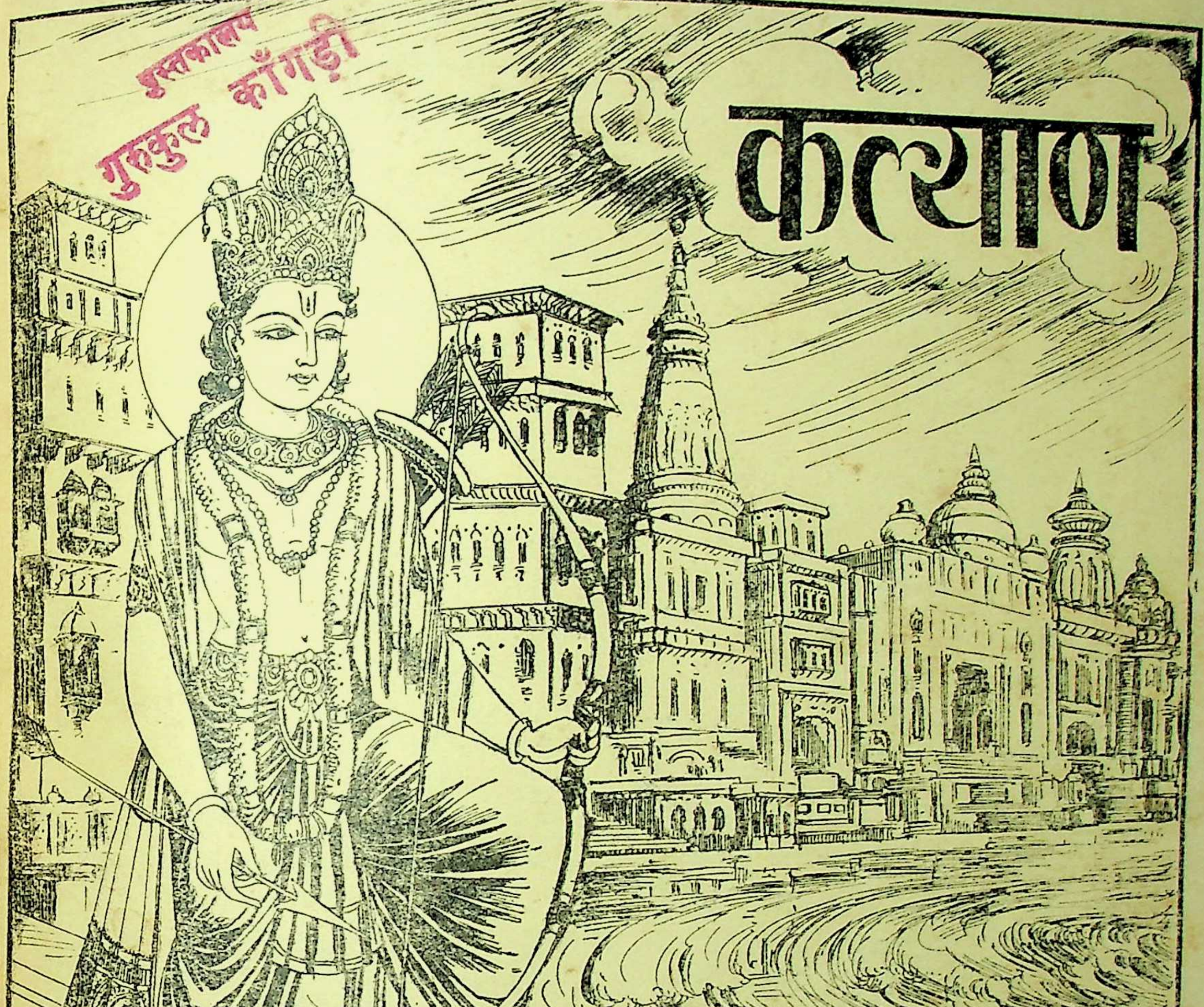

वर्ष २७]

[अङ्क ४

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

संस्करण—१,३५,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर वैशाख २०२०, अप्रैल १९६३

विषय ··· पृष्ठ-संख्या

१–रुद्रका तीसरा नेत्र खुला [कविता] ··· ८११
२–कल्याण (शिव) ··· ··· ८१२
३–हिंदू-दर्शन (श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय एम्० ए० महोदय) ··· ८१३
४–सुना दे कविवर ऐसा गान [कविता] (श्रीयुगलसिंहजी खीची, एम्० ए०, बार-ऐट-लॉ) ··· ··· ८१८
५–भगवान्‌के स्वभावका रहस्य (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· ८१९
६–श्रीराम (श्रीहरेशचन्दजी अग्रवाल, एम्० ए०, बी० टी०) ··· ··· ८२४
७–मोहमेघाच्छन्नता (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') ··· ··· ८२९
८–संस्कृतिका भारतीय तत्त्व (डा० श्रीनरेन्द्रकुमारजी सेठी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, न्यूयार्क) ··· ८३०
९–मधुर ··· ··· ८३१
१०–सबमें सब ओर श्यामसुन्दर [कविता] ८३३
११–भारतीय मूर्तियाँ और चित्र आपको प्रेरक शान्तिसंदेश देते हैं (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०, साहित्यरत्न: विद्याभास्कर) ··· ८३४
१२–मानव-देह किसलिये ? (श्रीलक्ष्मीनारायणजी 'अलौकिक') ··· ··· ८३७
१३–कोप या कृपा [कहानी] (श्री 'चक्र') ८३८
१४–विज्ञानके आलोकमें शक्तिका स्वरूप (डॉ० कैलाशनाथजी मिश्र एम्० डी०, एम्० बी०, एच्० ए०) ··· ··· ८४०
१५–रामचरितमानसकी अन्तःकथाएँ (डा० श्रीवागीशदत्तजी पाण्डेय एम्० ए०, साहित्याचार्य, पी-एच्० डी०) ··· ८४५
१६–प्रेयसकी गन्ध महकाओ फिर [कविता] (प्रो० श्रीगोपालजी 'स्वर्णकिरण' एम्० ए०) ८४८
१७–दीपावली-विज्ञान (श्रीरणछोड़दासजी 'उद्धव') ··· ··· ८४९
१८–विवेकानन्द और भारतीय धर्म तथा संस्कृति (श्रीशशिधरजी शर्मा शास्त्री, सर्वदर्शनाचार्य, एम्० ए०) ··· ८५२
१९–सूरदासकी सगुण भक्ति (श्रीहरनारायणजी टंडन 'स्वामीजी') ··· ··· ८५७
२०–ईश्वरमें विश्वास (श्रीलक्ष्मणस्वरूपजी माहेश्वरी, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०) ८५९
२१–अन्तःकरण-शुद्धि [परम पूज्यपाद पं० श्रीपुरुषोत्तमनारायण नागरजी महाराजका सदुपदेश] (प्रेषक—श्रीभगवानदास झा 'विमल' एम्० ए०, बी० एस्-सी०, एल्० टी०, साहित्यरत्न) ··· ८६२
२२–मौनं चैवास्मि गुह्यानाम् (श्रीभगवानदीनजी मिश्र एम्० ए०) ··· ८६४
२३–मैं प्रस्तुत हूँ—(श्रीबालकृष्णजी बलदुवा बी० ए०, एल्-एल्० बी०) ··· ८६६
२४–माका खेल (प्रेषक—श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय) ··· ८६७
२५–पढ़ो, समझो और करो ··· ८७१

चित्र-सूची

१–दशरथराजकिशोर ··· ··· (रेखाचित्र) ··· मुखपृष्ठ
२–रुद्रका तीसरा नेत्र खुला ··· ··· (तिरंगा) ··· ८११

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण
भारतमें
विदेशमें
(१० पैसे)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

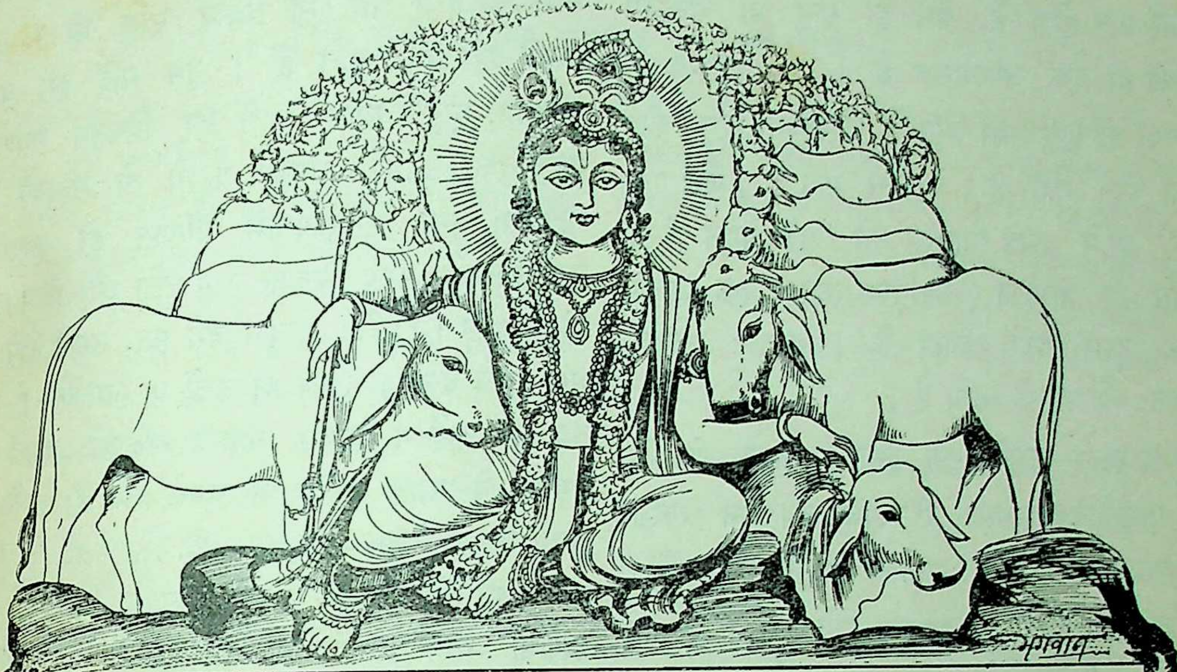

कल्याण

शुद्धतेजःस्वरूपं च भक्तानुग्रहविग्रहम् । अतीव कमनीयं च श्यामरूपं नमाम्यहम् ॥
परिपूर्णतमं शान्तं राधाकान्तं मनोहरम् । सत्यं ब्रह्मस्वरूपं च नित्यं कृष्णं नमाम्यहम् ॥

वर्ष ३७ गोरखपुर, सौर वैशाख २०२०, अप्रैल १९६३ संख्या ४ पूर्ण संख्या ४३७

रुद्रका तीसरा नेत्र खुला

खुलता नेत्र तीसरा भीषण उठता विषम रौद्र-रस जाग ।
करता दहन दुष्ट दुर्दान्तोंका बरसा प्रलयंकर आग ॥
शीतल ज्योति-सुधा-धारासे हरता सब जनके संताप ।
मंगल धर्मस्थापन होता, मिटते सारे जगके पाप ॥

कल्याण

याद रक्खो—जैसे शरीर कुमार, तरुण और वृद्धावस्थाको प्राप्त होता है, वैसे ही मृत्यु भी वास्तवमें शरीरकी ही एक अवस्थामात्र है । इस शरीर-आत्म-वियोगको ही मृत्यु कहा जाता है, वास्तवमें मृत्यु कोई भयंकर वस्तु नहीं है । देहान्तर मात्र है । जैसे एक आदमी पुराने कपड़े त्यागकर नये कपड़े पहन लेता है, वैसे ही जीवात्मा (प्रकृतिस्थ पुरुष) एक देहको छोड़कर दूसरे देहमें जाता है । वस्तुतः आत्मा स्वरूपतः ज्यों-का-त्यों रहता है ।

याद रक्खो—मृत्युसे तुम इसीलिये डरते हो कि तुमने पाञ्चभौतिक शरीरको ही अपना रूप मान रक्खा है । शरीर जड है; वह माताके उदरमें बनता है । और जो कभी बनता है, वह नष्ट होगा ही । उसका विनाश उसकी उत्पत्तिकी भाँति ही सहज स्वाभाविक है । तुम्हारा जो असली आत्मस्वरूप है वह तो नित्य है; कौमार, यौवन, जरा, व्याधि, मरण आदिसे सदा ही मुक्त है । इसलिये मृत्युसे डरनेका कोई कारण ही नहीं है । यह केवल अज्ञानमात्र है ।

याद रक्खो—यह शरीरकी मृत्यु भी तभीतक होती है, जबतक जीव परिवर्तनशील और अनित्य प्रकृतिके परिणामोंमें स्थित होकर, उनमें मिथ्या तादात्म्य मानकर उन्हींको अपना स्वरूप मान रहा है । जिस क्षण तुम्हें यह भान हो जायगा—तुम यह जान लोगे कि ये सारे परिवर्तन प्रकृतिके परिणाम मात्र हैं, मैं तो सदा निर्लिप्त इन सबका द्रष्टामात्र हूँ—उसी क्षण तुम जन्म-मृत्युके बन्धनसे मुक्त हो जाओगे । जो बन्धन वास्तवमें है नहीं, माना हुआ ही है ।

याद रक्खो—यह प्रकृति और इसके परिणाम भी जिस स्वरूपमें तुम इन्हें देख रहे हो, उस स्वरूपमें यथार्थतः नहीं हैं । यह सब माया है या ये लीलामय प्रभुके खेलमात्र हैं । वे ही स्वयं खेल, खिलौना और खेलनेवाले बने यह सब लीला कर रहे हैं । जन्म भी उन्हींका लीला-स्वरूप है और इसी प्रकार मृत्यु भी । मृ रूपमें वही प्रकट होते हैं । तुम यदि इस बा जानकर, मृत्युके स्वाँगमें आये हुए प्रियतम भगवा पहचानकर उनका आलिङ्गन करोगे तो मृत्युकी भीषणता परम सुखरूपतामें परिणत हो जायगी तुम भगवान्के साथ मिलकर परम धन्य और नित्य सु हो जाओगे । इसलिये मृत्युसे डरो मत, उसमें छिपे भगवान्को देखो । देखते ही उन्हें पा जाओगे । ज तक तुम उन्हें न देखकर बाहरी सज्जाको देखते तभीतक वे प्रत्यक्ष होनेपर भी तुमसे छिपे हैं; ज्यों तुमने उनको देखा—पहचाना कि फिर तो वे नि प्रत्यक्ष ही हैं । वे ही वे हैं—सर्वत्र, सर्वदा, स रूपोंमें, सभी अवस्थाओंमें और सभी नाम-रूपोंमें

याद रक्खो—मानव-जीवनकी सफलता भी इसी है । मानव-जीवन मिला ही इसलिये है कि इसमें आ जीव प्रकृतिके मिथ्या बन्धनसे मुक्त हो जाय, अपने स्वरूपको प्राप्त करके 'जीव'से नित्य आत्मा ब जाय । नित्य आत्मा तो सदा है ही, 'जीव' मान्यता ही उसे अपने स्वरूपसे वञ्चित रख रही है इसीसे वह नित्य स्वरूपमें स्थित होनेपर भी—स्व होनेपर भी अस्वस्थ ही है ।

याद रक्खो—जो 'प्रकृतिस्थ' है—प्रकृतिमें स्थि है, वही अस्वस्थ है और जो आत्मस्वरूपमें स्थित है—आत्मस्थ है वही स्वस्थ है । स्वस्थताकी पहचान है जगत समस्त प्राणि-पदार्थ-परिस्थितियोंमें समभावसे सदा एकमा परमात्माको देखना, परमात्माको उपलब्ध करना । विविध व्यवहारस्थलोंमें व्यवहार-भेद होते हुए एकमात्र नित्य अभिन्न परमात्माका अभिन्न स्पर्श प्रा करना । यह स्वस्थता ही मानव-जीवनका लक्ष्य है औ इसीको प्राप्त करानेवाले विचार तथा क्रियाओंका ना ही सच्ची साधना है ।

'शिव'

हिंदू-दर्शन

(लेखक—श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय एम्० ए० महोदय)

'दर्शन' शब्दका साधारण अर्थ है—देखना । इसका पारिभाषिक अर्थ तत्त्वविज्ञान है । साधारण अर्थसे ही पारिभाषिक अर्थकी उत्पत्ति हुई है । हमलोगोंने देखनेकी शक्ति लेकर जन्म ग्रहण किया है । हमारे सामने एक विशाल दृश्य-जगत् विद्यमान है । स्वभावतः ही हम यहाँ विविध विचित्र पदार्थोंका दर्शन करते रहते हैं । यह देखना जितना ही विस्तारको प्राप्त करता जाता है एवं साथ-ही-साथ हमारी बुद्धिका जितना ही विकास होता जाता है, उतना ही हम अनुभव करते हैं कि हमारा यह स्वाभाविक देखना तो नितान्त ही असम्पूर्ण है, इस देखनेके द्वारा तो द्रष्टव्य जगत्के साथ हमारा यथार्थ परिचय नहीं होता, इस देखनेको तो वस्तुतः देखना ही नहीं कहा जा सकता । अपने आसपासके पदार्थों तथा व्यापारोंको देखते-देखते हमारी बुद्धिमें नाना प्रकारके प्रश्न उठते रहते हैं एवं केवल इन्द्रियोंके साथ विषयोंके संयोग होनेसे उन प्रश्नोंका समाधान नहीं होता । जागतिक पदार्थोंकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाश देखते-देखते हमारी बुद्धिमें यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि ये सब कहाँसे उत्पन्न होते हैं एवं फिर कहाँ विलीन हो जाते हैं ? दृश्यमान प्रत्येक पदार्थका ही किसी-न-किसी कारणसे उत्पन्न होनेका स्वभाव देखकर असंख्य पदार्थोंके समष्टि-स्वरूप समस्त जगत्के ही कारणका पता लगानेकी प्रवृत्ति हमारे अंदर उत्पन्न होती है । इस कार्य-कारण-सम्बन्धका निर्णय करके जबतक पदार्थोंके स्वरूपकी जानकारी नहीं हो जाती, तबतक बुद्धि इस बातको स्वीकार नहीं करती कि उनका यथार्थ परिचय मिल गया, मनमें यह बात नहीं आती कि उनको पूर्णरूपसे देख लिया गया । समस्त जगत्के कारणका आविष्कार न कर सकनेतक यह बोध नहीं होता कि जगत्का परिचय मिल गया, बुद्धिमें यह अनुभव नहीं होता कि जगत्को देख लिया गया ।

जागतिक व्यापारोंको देखते-देखते, उनमें रहा हुआ अद्भुत अखण्डनीय नियम-शृङ्खलाका राजत्व हमारी दृष्टिको आकर्षित करता है, सर्वत्र निर्माण-ध्वंसके अंदर भी एक ऐक्य और सामञ्जस्यको देखकर हम विमोहित हो जाते हैं । इस नियम-शृङ्खला और ऐक्यसूत्रका पता लगानेके लिये एवं उनके मूलका अनुसंधान करनेके लिये बुद्धिमें एक स्पृहाका उदय होता है । स्वभावतः ही यह जिज्ञासा होती है कि किस अलक्ष्य शक्तिके द्वारा सुनियत विधानसे यह जगत् परिचालित हो रहा है—इस जगत्का नियन्ता कौन है ? उन सारे नियमोंको और उनके अन्तरालमें विद्यमान नियन्त्रण करनेवाली शक्तिको भलीभाँति देख लिये बिना विकसित बुद्धिको इस बातका संतोष नहीं हो सकता कि जगत्को सम्यक्रूपसे देख लिया गया ।

बाहरकी ओरसे दृष्टि फिराकर अपनी ओर दृष्टिपात करनेपर भी अनेकों समस्याएँ उपस्थित हो जाती हैं । देहके इतने परिणाम, वृद्धि और क्षयके अंदर भी हमें इस बातका अनुभव होता है कि, 'मैं एक ही हूँ'—यह मैं कौन है ? इन्द्रियोंके विकार और हानि, मनके भाव और अवस्थाओंके परिवर्तन, ज्ञानकी ह्रास-वृद्धि—इन सबमें भी मेरे मैंपनका एकत्व नष्ट या क्षुण्ण नहीं होता; यह मैं कौन है ? इस मैंका भलीभाँति परिचय पाये बिना हमारा अपने-आपको ही देखना नहीं बना । फिर, मेरे साथ इस जगत्का, जागतिक पदार्थोंका, जगत्कारण और जगन्नियन्ताका यथार्थ सम्पर्क क्या है ? मेरे अंदर जिस ज्ञानकी प्रेरणा, कर्मकी प्रवृत्ति और भावके उच्छ्वासका मैं अनुभव करता हूँ—ये सब भी कहाँसे आते हैं, मेरे साथ इनका क्या सम्बन्ध है और इनकी सार्थकता किसमें होती है । मेरे अंदर श्रेय और प्रेय, उचित और अनुचित, न्याय और अन्याय, धर्म और अधर्म, अच्छे और बुरेका एक भेदबोध नित्य विद्यमान है, एवं बुद्धिविकासके साथ-साथ इस बोधका भी विकास होता रहता है । सचमुच ही इस भेदका कोई आधार है या नहीं ? यदि है, तो उस आधारका स्वरूप क्या है ? हमारे जीवनका आत्यन्तिक श्रेय क्या है ? क्या जान लेनेपर हमारे ज्ञानकी सम्यक् पूर्णता होगी, क्या करनेपर हमारे कर्मकी सम्यक् सार्थकता होगी और क्या प्राप्त कर लेनेपर हमारी चाहोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति होगी ? इन सारी समस्याओंके समाधानके बिना हमारा अपनेको अपने परिपूर्णरूपमें देखना नहीं बनता ।

इस प्रकार अपनेको और जगत्को देखते-देखते हमारी बुद्धिके उत्कर्षके साथ-साथ जिन सब गम्भीर समस्याओंकी उत्पत्ति होती है, उन सारी समस्याओंका समाधान हो जानेपर

जब देखना होता है, तभी दृश्य विषयोंका यथार्थ परिचय प्राप्त होता है एवं तभी यथार्थ देखना भी होता है। इस प्रकारसे देखना ही 'दर्शन' शब्दका पारिभाषिक अर्थ है। इसीका नाम 'तत्त्वविज्ञान' है। इस प्रकार देखनेके लिये जैसे इन्द्रियोंका सुनियत व्यवहार आवश्यक है, इसीके साथ युक्ति-विचार भी बहुत बड़ी मात्रामें आवश्यक है। प्रत्यक्ष विषयोंके ऊपर विचारशक्तिका सुनियन्त्रित प्रयोग किये जानेपर उनके तत्त्वका दर्शन या रहस्यका उद्घाटन होता है। अतएव सुनिपुण न्यायसङ्गत विचारके द्वारा समस्त पदार्थोंके—आत्मानात्ममय चेतनाचेतनमय समग्र विश्वके मूलतत्त्वके अन्वेषण और आविष्कार करनेका नाम ही है—दर्शनशास्त्र। मानवीय बुद्धिकी पूर्ण सत्यको देखनेकी स्पृहा, उसके लिये यथोचित उपायोंका उद्भावन, परिपूर्ण सत्यका आदर्श रूप—ये सभी दर्शनशास्त्रके रूपमें प्रकट होते हैं। इसीको तत्त्वविज्ञान, तत्त्वमीमांसा आदि नाम दिये गये हैं। इस प्रकार पारिभाषिक अर्थमें 'दर्शन' शब्दका व्यवहार कितना प्राचीन है, इसे ठीक-ठीक बताना कठिन है। तथापि इतना तो एक प्रकारसे सुनिश्चित है कि महाभारतके पूर्वसे ही ऐसा प्रयोग चला आ रहा है।

बहुत-से विचारशील मनीषियोंका यह मत है कि जिस प्रकार व्यक्ति-जीवनमें बुद्धिका क्रम-विकास होता है, उसी प्रकार जाति-जीवनमें भी बुद्धि क्रमशः विकासको प्राप्त होती है। जातीय जीवनमें बुद्धिके जिस परिमाणमें उत्कर्ष प्राप्त कर लेनेपर जीव और जगत्-सम्बन्धी चरम और परम तत्त्वके दर्शनके लिये जो आग्रह उत्पन्न होता है एवं यथोचित अनुशीलन और दृष्टिके सम्यक् शोधनके द्वारा उस तत्त्वके सम्बन्धमें एक सुनिष्पन्न सुस्पष्ट मतका निर्माण होता है, हिंदू-जातिके जीवनमें बुद्धिका तदनुरूप विकास किस सुप्राचीन युगमें हुआ था, इस बातका ऐतिहासिक रूपसे निश्चय करना तो असम्भव ही जान पड़ता है। हिंदुओंका प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद है। समग्र मानव-जातिमें भी उसका समकालीन अथवा कुछ ही बादका दूसरा कोई भी ग्रन्थ नहीं है और कभी था इसका भी कोई प्रमाण नहीं मिलता। ऋग्वेदमें ही इस बातका निर्विवाद प्रमाण विद्यमान है कि उस प्रागैतिहासिक युगमें भी आर्य मनीषिगण इन चरम तत्त्वोंके सम्बन्धमें केवल गवेषणा ही नहीं करते थे, बल्कि सुनिपुण विचारसिद्ध निश्चय भी करते थे।

इस दार्शनिक गवेषणाके क्रमविकासके फलस्वरूप वेदके अन्तर्भाग (वेदान्त) उपनिषद्में मनुष्यके ज्ञातव्य, प्राप्तव्य और भोक्तव्य विषयोंके सम्बन्धकी चरम समस् ऐसे कितने ही समाधान मिलते हैं, जिनका अतिक्रम किंवा जिनके अंदर भूल दिखानेमें आर्यमनीषाकी परवर्ती युगयुगान्त-व्यापिनी विचारसाधना और तत्त्व-समालोचना समर्थ नहीं हुई, बल्कि नतमस्तक होकर उसे मान लेने बाध्य हुई। कालक्रमसे वेदोपनिषद्के सिद्धान्तोंने आप्त ईश्वरवाक्य या अपौरुषेय स्वतःसिद्ध वाणीके रूपमें होकर, चरम तत्त्वके सम्बन्धमें प्रत्यक्षानुमानादि प्रमाणोंके ऊपर स्थान प्राप्त किया। विचार-बुद्धि दृष्टिकेन्द्रसे, विभिन्न प्रणालियोंका अवलम्बन करके, नाना तर्कयुक्तियोंकी सहायतासे नाना प्रकारके वाद-प्रति माध्यमसे जितनी ही परम सत्यकी ओर—ज्ञानकी सार्थकताकी ओर अग्रसर होती है, उतना ही वेदोपनि ऋषियोंद्वारा आविष्कृत तत्त्वसमूह समर्थित होते हैं

मानवबुद्धिके साधनक्षेत्रमें अभिज्ञताका पारिपार्श्विक अवस्थाकी जटिलता, मनोवृत्तिका वैचि विभिन्न प्रकारकी वासना-कामना-रुचि-प्रकृतिके फलस्वरूप मतभेद और संशय जितने ही वृद्धिको होते हैं, प्रमाणकी दृढ़ता और तर्कयुक्तिका बाहुल उतना ही अधिक आवश्यक हो जाता है। सब प्र संदेहोंके निराकरण और विरोधी मतोंके खण्डनके किसी विशेष सिद्धान्तका प्रतिपादन नहीं होता। इस प्रयो ही दर्शनशास्त्रकी परिपुष्टि होती रहती है।

उपनिषदोंके युगमें भी तत्त्वसम्बन्धी कितने प्रकारके संशय और मतभेद उपस्थित थे, ऋषियों सम्बन्धमें कितने वाद-विवाद होते थे, कितने प्रमाण, और युक्तितर्कोंकी अवतारणा होती थी, सभा करके प्रकार किसी एक मीमांसापर पहुँचनेकी प्रचेष्टा होती इन बातोंका छान्दोग्य, बृहदारण्यक आदि उपनि सुस्पष्ट निदर्शन मिलता है। महाभारतमें उल्लेख मिल कि विभिन्न मतोंके हजारों-हजारों आचार्य जनकादि जिज्ञासु विद्योत्साही नरेन्द्रोंके प्रासादोंमें एकत्रित विरोधी सिद्धान्तोंका खण्डन करके अपने-अपने सिद्धा श्रेष्ठत्व प्रतिपादन करनेका प्रयास करते थे। उस अतिप्र युगमें ही दार्शनिक मतवादोंके इतने वैचित्र्य उत गये थे कि जनसमाजमें धारणा ही बन गयी थी **मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्** ।' मतवादोंके वैचित्र्य भी

प्रकार हुए थे, उसी प्रकार समन्वयके प्रयत्न भी हुए थे। अन्य मतावलम्बियोंके मतोंकी भ्रान्तियोंका युक्तितर्ककी सहायतासे प्रदर्शन करके उनको अपने मतमें ले आनेके प्रयत्न भी होते थे एवं बहुत-से लोग अपने मतकी भ्रान्तिको समझकर दूसरे मतको ग्रहण भी कर लेते थे। प्रचलित दार्शनिक ग्रन्थोंमें ऐसे अनेक मत पूर्वपक्ष रूपमें उपन्यस्त हुए हैं एवं ऐसे अनेक मत अपने-अपने मतोंके पोषक-रूपमें उल्लिखित हैं, जिनका वर्तमानमें दूसरा कोई निदर्शन नहीं मिलता।

विभिन्न मतवादोंकी तुलनामूलक दार्शनिक आलोचनाओंके फलस्वरूप जितने मतवाद युक्तिसंगत नहीं प्रतिपन्न हो सके, जिन मतवादोंके पक्षका समर्थन करनेके लिये असाधारण शक्तिशाली आचार्योंका आविर्भाव नहीं हुआ एवं जिन मतवादोंको नये-नये विरोधी मतोंके आक्रमणसे बचानेके लिये उपयुक्त सम्प्रदाय गठित नहीं हुए, वे सभी मतवाद दुर्बल होकर विनाशको प्राप्त हो गये एवं उनके अन्तर्भुक्त तात्त्विक सत्य-सिद्धान्तसमूह दूसरे प्रबलतर मतोंमें सम्मिलित हो गये। आर्योंके समाजमें जो दार्शनिक मतवाद प्राधान्य और प्रसार प्राप्त कर सके एवं सम्प्रदाय-गठनद्वारा आचार्यशिष्यपरम्परा क्रमसे प्रचलित रहकर आत्मरक्षा और आत्मपुष्टि कर सके, उनमें सांख्य और योग, न्याय, वैशेषिक, कर्ममीमांसा (पूर्वमीमांसा) और ब्रह्म-मीमांसा (उत्तरमीमांसा वा वेदान्त)—ये षड्दर्शनके नामसे लोकप्रसिद्ध हुए। इनमेंसे प्रत्येककी ही भाष्य, टीका, वृत्ति, व्याख्या, निबन्ध आदिके माध्यमसे विरोधी मतके खण्डन और आत्ममतके समर्थनमें प्रयोग होनेके कारण खूब परिपुष्टि हुई। उनमेंसे हिंदू-समाजकी विचारधारा, भावधारा और कर्मधारापर वेदान्त-दर्शनका प्रभाव सर्वापेक्षा अधिक पड़ा। इस समाजमें जितने भी धर्म-सम्प्रदाय गठित हुए, प्रायः सभी ही वेदान्तदर्शनकी तत्त्वमीमांसाके ऊपर प्रतिष्ठित हैं। उन सब धर्म-सम्प्रदायोंके आचार्योंने अपनी-अपनी बुद्धि, रुचि और आध्यात्मिक अनुभूतिके अनुसार वेदान्त-दर्शनकी विभिन्न व्याख्याएँ की हैं एवं इन व्याख्याओंके माध्यमसे वेदान्त-दर्शन नाना शाखाओंमें विभक्त हो गया है एवं हिंदू-समाजमें दार्शनिक गवेषणाका भी प्रसार हुआ है। वेदान्त-दर्शनको भित्ति न बनाकर भी अनेक धर्म-सम्प्रदाय गठित हुए हैं। उनकी भी भित्तिमें दार्शनिक मत हैं; किंतु वेदान्तानुगत न होनेके कारण वे समाजमें उपधर्म माने गये हैं।

इन दार्शनिक मतवादोंके बीच पौर्वापर्य-निर्धारण करना अतिशय कठिन है,—असम्भव कहा जाय तो भी अत्युक्ति न होगी। वर्तमानमें प्रत्येक दर्शन-शास्त्रके आदिमें एक-एक सूत्रग्रन्थ पाया जाता है एवं इनके सूत्रकारोंके नाम भी प्रचलित हैं। किंतु इन सब सूत्रग्रन्थोंसे सूचित मतवादोंका जन्म-निर्देश करना समीचीन न होगा। एक-एक मतवाद विभिन्न दार्शनिक मुनियोंकी गवेषणा एवं अन्यान्य मतवादोंके साथ वादप्रतिवादके माध्यमसे पर्याप्त मात्रामें विकास और परिपुष्टि प्राप्त करनेके बाद, सूत्राकारमें उनके सिद्धान्त, प्रयोजन, विचार-प्रणाली, आपत्तिखण्डन, विरोधी मतोंका निरसन आदि सभी विषय संक्षेपमें ग्रथित हुए हैं। प्रत्येक दर्शनके सूत्रग्रन्थोंमें दूसरे-दूसरे दर्शनोंके मतवाद और विचार-पद्धतिका उल्लेख और समालोचनाएँ देखी जाती हैं, एवं स्वकीय और परकीय मतोंके पोषक प्राचीन आचार्योंके भी उल्लेख पाये जाते हैं। सुतरां दार्शनिक मतवादकी दृष्टिसे कौन-सा पहलेका है और कौन-सा बादका, इस बातका निर्णय सूत्रग्रन्थोंके प्राचीनत्वकी आलोचना करके नहीं किया जा सकता। उपनिषद्, महाभारत, बौद्धग्रन्थ आदिसे प्रमाणित होता है कि सांख्य-दर्शन अतिशय प्राचीन है, किंतु इसके प्रचलित सूत्रग्रन्थ अपेक्षाकृत आधुनिक हैं। मतवादोंके प्राचीन-त्वकी तुलनामें प्राचीनतम सूत्रग्रन्थ भी अपेक्षाकृत अर्वाचीन हैं। किंतु मतवादकी आलोचनाके समय उन सूत्रग्रन्थोंको ही उन-उन दर्शनोंके प्रामाण्य ग्रन्थके रूपमें ग्रहण करना पड़ता है, जिसके कारण प्राचीनतर दार्शनिक ग्रन्थ किंवा दार्शनिक मत-विकासका विवरण अनेक क्षेत्रोंमें लुप्त हो गया है।

दार्शनिक तत्त्वालोचना करनेके लिये, प्रथमतः कतिपय प्रमाणोंको स्वीकार कर लेना पड़ता है, एवं सत्य-मिथ्या-निरूपणके कसौटीस्वरूप कतिपय सार्वजनीन नियमोंको भी मान लेना आवश्यक होता है। जिसके द्वारा प्रमा या प्रकृष्ट ज्ञान उत्पन्न हो, सत्यका यथार्थ परिचय प्राप्त हो, उसीका नाम है—'प्रमाण'। प्रमाणोंमें पहला है 'प्रत्यक्ष'—अर्थात् इन्द्रियोंके साथ विषयोंके संनिकर्षसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान। यह सर्ववादिसम्मत है एवं दूसरे सभी प्रमाण प्रत्यक्षके ऊपर बहुत कुछ निर्भर करते हैं। दूसरा प्रमाण है 'अनुमान'।

पूर्वलब्ध किसी ज्ञानके ऊपर निर्भर करके जब किसी नये तत्त्वका परिचय प्राप्त होता है, तब उसको अनुमान कहा जाता है। प्रत्यक्ष और अनुमान दोनोंमें भ्रान्ति हो सकती है। भ्रम, प्रमाद, करण-पाटव, विप्रलिप्सा आदिके कारण प्रत्यक्ष लब्ध ज्ञान भी दूषित हो सकता है, अनुमानजनित ज्ञान भी मिथ्या हो सकता है। तथापि ज्ञानके लिये हम लोगोंको प्रत्यक्ष और अनुमानके ऊपर ही निर्भर रहना पड़ता है। अनेक दार्शनिक सम्प्रदाय प्रत्यक्षके अतिरिक्त सभी प्रकारके ज्ञानको अनुमानके ही अन्तर्भुक्त मानते हैं और कोई-कोई दार्शनिक सम्प्रदाय अनुमानका संकीर्ण अर्थमें व्यवहार करके उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, ऐतिह्य आदिको भी अलग प्रमाणरूपमें ग्रहण करते हैं। किंतु प्रत्येक प्रमाणकी ही परीक्षा कर लेनी पड़ती है; क्योंकि भ्रान्तिकी सम्भावना सर्वत्र रहती है।

हिंदू दार्शनिकोंका एक विशिष्ट लक्षण यह है कि वे वेदको एक स्वतन्त्र प्रमाणके रूपमें ग्रहण करते हैं एवं अतीन्द्रिय तत्त्वके सम्बन्धमें इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और तदुपजीवी अनुमानादिकी अपेक्षा उसको श्रेष्ठतर प्रमाण मानते हैं। उनका विश्वास है कि वेदके तात्पर्यसमूह या प्रतिपाद्य तत्त्वसमूह और विधिनिषेधसमूह ऋषियोंके प्रत्यक्षीकृत सत्य हैं। कहना न होगा कि वेद शब्दसे वे ग्रन्थ-समष्टिको नहीं समझते थे, बल्कि तन्निहित सत्यसमूहको ही समझते थे। ये सब सत्य सनातन हैं। इन्हीं सनातन सत्योंके ऊपर प्रतिष्ठित होनेके कारण हिंदूधर्म 'सनातन' धर्मके नामसे प्रसिद्ध है। दार्शनिक सम्प्रदायोंमेंसे मीमांसकोंका कहना है कि इन सत्योंका प्रसार विश्वप्रवाहके ही समान नित्य है, ये सब सनातन नीतियाँ आचार्य-शिष्य-परम्पराक्रमसे सदासे ही मानव-समाजमें चली आ रही हैं। वेद अपौरुषेय और नित्य हैं। न्याय और वैशेषिक वेदको स्वयं ईश्वरकी वाणी मानते हैं। उनके मतमें वेद पौरुषेय हैं, किंतु हमलोगोंके समान किसी पुरुषविशेषके द्वारा रचित नहीं हैं, अपितु स्वयं ईश्वरके नित्य ज्ञानके भण्डारसे प्रवाहित हैं। बहुत लोग कहते हैं कि वेद ईश्वरद्वारा सृष्ट या रचित नहीं हैं, किंतु ईश्वर-ज्ञानमें नित्य प्रकाशित हैं। वे वेदके कर्ता नहीं ज्ञातामात्र हैं। कोई भी हिंदू दार्शनिक चाहे जिस किसी प्रकारकी युक्तिके द्वारा वेदके प्रामाण्यका प्रतिपादन क्यों न करे, वेदके प्रामाण्यको स्वीकार कर लेनेके सम्बन्धमें सभी एकमत हैं। जो-जो दर्शन उसे स्वीकार नहीं करते, वे सब हिंदू-समाजमें नास्तिक दर्शन माने जाते हैं।

वैदिक वाक्योंका ब्रह्मसूत्रादि दार्शनिक ग्रन्थोंमें अनेक स्थलोंपर श्रुति, दर्शन, प्रत्यक्ष आदि नामोंसे उल्लेख किया गया है। वेदके अन्तभागका नाम है—'उपनिषद्'। उपनिषद्में ही वेदके चरम तात्पर्यसमूह, अन्तिम सिद्धान्त-समूह, गभीरतम तत्त्वसमूह निहित हैं और गुरु-शिष्य-परम्परासे उपदिष्ट होते हैं। इसीलिये उपनिषद् वेदान्त नामसे प्रसिद्ध हैं। हिंदू दार्शनिकोंमें उपनिषदोंके वाक्य श्रेष्ठतम प्रमाण माने जाते हैं। इनके बाद वेदान्तका अनुसरण करनेवाली स्मृतियोंको भी वे लोग प्रमाण मानते हैं। स्मृतियोंमें गीताका स्थान सर्वोच्च है और उसके विषयमें यह साधारण विश्वास है कि वह स्वयं भगवान्की वाणी है। किसी-किसी दार्शनिक सम्प्रदायमें आगमसमूहको भी प्रमाण माना जाता है। इनके अतिरिक्त हिंदू-दार्शनिकोंके विचारक्षेत्रमें योगियोंके प्रत्यक्ष, महापुरुषोंकी समाधिलब्ध प्रज्ञा और उन्नत साधकोंकी अलौकिक अनुभूतिको भी बहुधा प्रमाणरूपमें उपस्थित किया जाता है।

इस प्रकार शास्त्रप्रमाण स्वीकार करनेके मूलमें एक सुदृढ़ युक्ति है, अर्थात् इस दृढ़ भित्तिके अभावमें सत्यान्वेषणके विचाररूपी प्रासादका खड़ा करना सम्भव न होगा। अपने इन्द्रिय-प्रत्यक्षके ऊपर निर्भर रहकर हम चाहे जितना भी युक्तिविचार कर लें, उसके द्वारा जीव और जगत्के पारमार्थिक स्वरूपको हम कभी नहीं जान सकते एवं जान सकनेके लिये जिस प्रकारके विधिनिषेधका अनुवर्तन करना आवश्यक है, वह भी नहीं समझ सकते। अतीन्द्रिय तत्त्व और उसको प्राप्त करनेके लिये जीवनधाराको नियन्त्रण करनेकी प्रणाली हमारे साधारण ज्ञानके अगोचर है। तथापि उसके साथ मानव-जीवनका निगूढ़ सम्बन्ध है। मनुष्यकी बुद्धि जब सम्मार्जित और संस्कृत हो जाती है, अन्तःकरण जब राग-द्वेष-मोहसे विहीन, निर्मल और विक्षेपरहित हो जाता है, हृदय जब सत्यके प्रति गभीर अनुरागवश तीव्र जिज्ञासाद्वारा अनुप्राणित होकर सत्यके यथार्थ स्वरूपसे अवगत होनेके लिये व्याकुल हो जाता है, तब सत्यका यथार्थ स्वरूप उसकी बुद्धिमें प्रतिफलित होता है, अतीन्द्रिय तत्त्व उसके साक्षात्कारके योग्य हो जाता है। जिस जातिकी समस्याओंके समाधानके लिये उसका चित्त व्याकुल होकर दूसरे सब चिन्तनोंका त्याग करके ऐकान्तिक

एकाग्रताके साथ उसी ओर उन्मुख रहता है, उस जातिकी समस्याओंका समाधान उसके अन्तरमें प्रकाशित हो जाता है। इसको भगवत्प्रदत्त ज्ञान या सत्यका साक्षात् आत्म-प्रकाश कहा जा सकता है। ऐसे ही महापुरुषोंके चित्तमें प्रकाशित तत्त्वको आदर्श बनाकर विभिन्न तत्त्वजिज्ञासु साधकगण जीवन परिचालन और दार्शनिक बुद्धिका अनुशीलन करके जब उसी प्रकारकी उपलब्धि करते हैं और जीवनको सार्थक बोध करते हैं, तब उन तत्त्वोंकी सत्यताके सम्बन्धमें कोई संदेह नहीं रह जाता। वेदोपनिषदुक्त तत्त्वसमूह परवर्तीकालके ज्ञानी योगी भक्त दार्शनिकगणोंके द्वारा समर्थित होनेसे ही उनकी प्रामाणिकता सुदृढ़-रूपसे प्रतिष्ठित हो गयी है।

वेदोपनिषदोंमें प्रतिपादित तत्त्वसमूह ही वस्तुतः समस्त हिंदू दार्शनिक विचारका मूल है। ऋग्वेदके ही किसी-किसी ऋषिने विश्वजगत्के आदिकारण और तात्त्विक स्वरूपके अनुसंधान करनेमें प्रवृत्त होकर सूक्ष्म कारणसे स्थूल कार्यका उद्भव, अव्यक्त कारणसे व्यक्त कार्यकी अभिव्यक्ति, एवं कारणके अंदर कार्यके तात्त्विक स्वरूपका दर्शन किया था। इसी विचारप्रणालीका अनुसरण करके उन लोगोंने विश्वके आदिमें एक अव्यक्त स्वप्रकाश परम तत्त्वका संधान प्राप्त किया था। सृष्टिके पूर्व वही तत्त्व अपनेको अभिव्यक्त करनेकी शक्तिको अपने स्वरूपके साथ अभिन्न या अविभक्तभावमें रखकर, प्रकाश-प्रवृत्तिक्रियाविहीन सर्वविधभेदवर्जित एक अवस्थामें विराजमान था। उसके मनमें काम या सिसृक्षा जाग्रत् हुई, उसकी शक्तिका उद्बोधन हुआ, उसने अपनेको आप ही बहुधा विभक्त नाम-रूपोंमें अभिव्यक्त किया। ऋग्वेदके नासदीय सूक्तमें इस सृष्टि-रहस्यका अतुलनीय वर्णन है। इस प्रकारकी परिकल्पना करके भी सृष्टिरहस्यके सम्बन्धमें ऋषियोंके चित्तमें इतने प्रश्न उत्पन्न हुए कि उनका सम्यक् संतोषजनक उत्तर न पाकर वे सोचने लगे कि जिन्होंने इस जगत्की सृष्टि की है, वे भी इस सम्बन्धकी सभी समस्याओंका समाधान कर सकते हैं या नहीं, इसमें संदेह है।

पुनश्च, विश्ववैचित्र्यमें एक सुमहान् ऐक्यका अनुसंधान करते-करते उन लोगोंने सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष सहस्रपात् सर्वव्यापी एक विराट् अखण्ड पुरुषकी सत्ताकी उपलब्धि की। उन्होंने देखा कि विश्व कतिपय विभिन्न वस्तुओं और व्यापारोंकी समष्टिमात्र नहीं है; क्षुद्र-बृहत्, जड-चेतन, भूर्भुवःस्वः; भूत-भविष्यत्-वर्तमान समस्तको परिव्याप्त करके, अपने एकत्वद्वारा समस्तको एकीभूत करके, एक महान् पुरुष विराजमान है; एवं समस्त विश्वप्रपञ्चका अतिक्रम करके भी उसकी सत्ता विद्यमान है। वह अकेला पुरुष ही जगत्में अनन्त रूपोंमें अभिव्यक्त है। पुरुषसूक्तमें इसी चिन्तनकी पूर्णता मिलती है।

पक्षान्तरमें, आत्मस्वरूपका अन्वेषण करते-करते उन लोगोंने आत्माको देह-इन्द्रिय-मन-बुद्धिके अतीत एक अखण्ड अनन्त चैतन्यरूपमें अनुभव किया, अपनेको स्वरूपतः सर्व-प्रकार उपाधि, ससीमता, स्व-परभेद, दुःख-तापादिसे विमुक्त बोध किया, एवं अन्तमें विश्वके मूलतत्त्व उस अखण्ड पुरुषके साथ अभिन्न रूपमें उपलब्धि करके अपनेको ही सर्वकारण-कारण; सर्वाध्यक्ष, सर्वमयरूपमें वर्णन किया। अहंसूक्त या देवीसूक्त या वाक्सूक्त इस उपलब्धिकी एक अनन्य साधारण भाषामयी मूर्ति है।

वैदिक ऋषियोंने जगत्प्रक्रियाके भीतर एक और भी गभीर तत्त्वका उद्घाटन किया। जीवके कर्म और कर्मफलभोगके साथ जड जगत्के कार्यकारण-शृङ्खलाके एक अभ्यन्तरीण योगका उन लोगोंने लक्ष्य किया। उन्होंने देखा कि बाह्य जगत्के दृष्ट कार्य-कारण-शृङ्खलाके पीछे उसके नियामक विधिरूपमें एक धर्मविधान है। आधिदैविक शासन और न्यायदण्ड है। जागतिक व्यापारमात्रका उन्होंने आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक—इस त्रिविध दृष्टिसे दर्शन किया, उनके अंदर एक अत्याश्चर्यमय सामञ्जस्यका आविष्कार किया। ऐसी दृष्टिका अवलम्बन करके वे मानवीय प्रयत्नोंकी अप्रत्याशित आपात व्यर्थता एवं दृष्ट प्रयत्नके बिना भी किसी-किसीके अप्रत्याशित सुख-सौभाग्यकी प्राप्तिके निगूढ़ कारणका सहज ही निर्देश कर सके। इस प्रकारके तत्त्वनिरूपणके फलस्वरूप वाञ्छित सिद्धिलाभके लिये दृष्ट कार्यकारणानुयायी उपायोंका अवलम्बन न करके उन लोगोंने बहुधा अदृष्ट फलप्रद यज्ञानुष्ठानकी व्यवस्था की। दृष्ट भोग्य-सामग्रीको विहित विधानानुसार विश्वनियन्ताकी प्रीति-कामनासे बहुजनकल्याणार्थ आहुति देकर अदृष्ट शुभ फलके लिये विश्वनियन्ताके निकट प्रार्थना करना ही यज्ञकी मूल नीति है। इस प्रकार यज्ञको ही उन लोगोंने मानवोचित कर्म माना। प्रवृत्तिके अनुगत [illegible] जो कर्म किये जाते हैं, चाहे वे

विचारपूर्वक ही क्यों न किये गये हों, उनको वे लोग मानवोचित कर्म या धर्म नहीं मानते थे। कर्मके अंदर आदर्श जितना ही उच्च हो, त्याग जितना ही महान् हो, उतना ही यज्ञका श्रेष्ठत्व होता है। सर्वोपरि, उन लोगोंने एक महान् 'सर्वहुत' यज्ञकी परिकल्पना की थी। इसमें अपना सब कुछ त्याग करके अपने स्वयंकी भी आहुति प्रदान कर देनी पड़ती है। इस सर्वत्यागके द्वारा मनुष्य 'विश्वजित्' हो जाता है। यज्ञके आदर्शका चिन्तन करके विश्वस्रष्टा ईश्वरकी उन लोगोंने यज्ञपुरुषरूपमें धारणा की थी एवं इस सिद्धान्तपर वे पहुँचे थे कि यज्ञसे ही विश्वकी सृष्टि होती है एवं यज्ञके द्वारा ही विश्वकी स्थिति और सामञ्जस्य सुरक्षित रहता है।

प्राचीन वैदिक ऋषियोंकी यह कल्पना आरण्यक और उपनिषदोंके ऋषियोंमें विशेषरूपसे परिपुष्ट हुई थी। जीव, जगत् और ईश्वरका पारमार्थिक स्वरूप, उनका एक दूसरेके साथ तात्त्विक सम्बन्ध, जडतत्त्व, प्राणतत्त्व, मनस्तत्त्व, विज्ञानतत्त्व और आनन्दतत्त्व, कर्म-ज्ञान और उपासनाका रहस्य—ये सभी उनकी गवेषणाके विषय थे, एवं प्रत्येक विषयमें ही एक-एक युक्तियुक्त सिद्धान्तपर पहुँचकर उन्होंने अपनी उपलब्धिप्रसूत दृढ़ताके साथ जिज्ञासुओंके प्रति उन तत्त्वोंकी घोषणा की थी।

जिस चरम तत्त्वसे समस्त सृष्ट जगत्की उत्पत्ति होती है, जिसके आश्रयसे सबकी स्थिति है, एवं अन्तमें जिसके स्वरूपमें सब विलीन हो जाता है, उस चरम तत्त्वको उन लोगोंने नाम दिया था—'ब्रह्म'। उन लोगोंने इस ब्रह्मके ही दो रूपोंका निर्देश किया, एक तो स्वप्रतिष्ठ निर्गुण निरुपाधिक निर्विशेष स्वरूप और दूसरा जीव-जगत्के सम्बन्धमें सगुण सोपाधिक सविशेष स्वरूप। उन्होंने **'सत्यं ज्ञानमनन्तम्'**, **'प्रज्ञानमानन्दम्'**, **'शुद्धमपापविद्धम्'**, **'शान्तं शिवमद्वैतम्'** **'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्'** आदि वाक्योंसे ब्रह्मके स्वरूपका निर्देश किया है।'

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' आदि वाक्योंसे उसका वर्णन किया है; और फिर **'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्'**, **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'**, **'एतदात्म्यमिदं सर्वम्'**, **'यो विश्वं भुवना विवेश'** आदि वाक्योंसे उसके सर्वव्यापित्व सर्वमयत्व सर्वरूपत्वका ख्यापन किया। ब्रह्म और आत्माको कभी एक वृक्षस्थ दो पक्षी किंवा धूप और छायाके समान, परस्पर सम्बद्ध तथापि पृथक् रूपमें घोषित किया गया है, अथवा कभी **'अयमात्मा ब्रह्म'**, **'अहं ब्रह्मास्मि'**, **'सोऽहमस्मि'** इत्यादि वाक्योंमें दोनोंके ऐक्यका निर्देश किया गया है। फिर **'आत्मैवाधस्तात्, आत्मैवोपरिष्टात्'**, **'अहमेवाधस्तात्, अहमुपरिष्टात्'** आदि वाक्योंमें अहं या आत्माके ही सर्वमयत्व और अद्वैतत्वकी घोषणा की गयी है। (शेष आगे)

सुना दे कविवर ऐसा गान

(रच०—श्रीयुगलसिंहजी खीची, एम्० ए०, बार-ऐट-लॉ)

सुना दे कविवर ऐसा गान।
कि जिससे राष्ट्र करे उत्थान॥
आज जो राष्ट्र बड़े बलवान।
समझते सैनिक बलमें शान॥
आत्मबलका उनको हो भान।
समझकर सबको एक समान॥
करें वे मानवताका मान।
सुना दे कविवर ऐसा गान॥

जगत् है शान्ति-शक्तिका खेल।
सर्वदा रहता उनमें मेल॥
शक्तिका हो जाता जब ह्रास।
शान्तिका तब होता परिहास॥
राष्ट्र दें दोनोंपर ही ध्यान।
सुना दे कविवर ऐसा गान॥

जानकर विश्व सकल परिवार।
परस्पर राष्ट्र करें व्यवहार॥
मिटा दें जगसे अत्याचार।
सत्यकी कर दें जय-जयकार॥
करें सब स्नेह-सुधाका पान।
सुना दे कविवर ऐसा गान॥

भगवान्के स्वभावका रहस्य

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

हमलोगोंको जो यह मनुष्य-शरीर मिला है वह भगवान्की कृपासे ही मिला है, अपनी करनीसे नहीं । भगवान्ने यह कितना सुहृदतापूर्ण नियम बनाया है कि चौरासी लाख योनियोंको भोगनेके बाद तो जीवको आत्माके उद्धारके लिये मनुष्य-शरीर देते ही हैं, चाहे कोई कैसा ही पापी क्यों न हो । यह अविनाशी जीव चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करते-करते हैरान हो जाता है, तब दयामय भगवान् इसपर दया करके मनुष्य-शरीर देते ही हैं ।

आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥
(राम० उत्तर० ४३ । २-३)

ख़याल करना चाहिये, यह भगवान्का हेतुरहित दया और प्रेमपूर्ण सुहृद्तासे भरा हुआ कितना उच्च कोटिका स्वभाव है । इस सुहृदतापूर्ण स्वभावको यथार्थ जाननेसे मनुष्य परमात्माकी प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है । भगवान्ने गीतामें कहा है—

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥
(५ । २९ का उत्तरार्ध)

'मेरा भक्त मुझको सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी—ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है ।'

भाव यह कि भगवान् तो सदा-सर्वदा सब प्रकारसे पूर्णकाम हैं, फिर भी परम दयालुस्वभाव होनेके कारण वे बिना किसी हेतुके स्वाभाविक ही सबपर अनुग्रह करके सबका हित ही करते रहते हैं और समय-समयपर अवतार लेकर नाना प्रकारकी ऐसी लीलाएँ करते हैं जिनको सुनकर ही लोग भगवान्के परायण हो तर जाते हैं । भागवतमें बतलाया गया है—

अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः ।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत् ॥
(१० । ३३ । ३७)

'भगवान् जीवोंपर कृपा करनेके लिये ही अपनेको मनुष्यरूपमें प्रकट करते हैं और ऐसी लीलाएँ करते हैं जिन्हें सुनकर जीव भगवत्परायण हो जायँ ।'

उनकी प्रत्येक क्रियामें जगत्का हित भरा रहता है । वे जीवोंके लिये जो भी विधान करते हैं, वह दया और प्रेमसे पूर्ण होता है । जो मनुष्य इस रहस्यको पूर्णतया जानकर यह विश्वास कर लेता है कि भगवान् मेरे अहैतुक प्रेमी हैं, वे जो कुछ भी करते हैं, मेरे हितके लिये ही करते हैं, वह प्रत्येक अवस्थामें जो कुछ भी होता है उसको परम दयालु भगवान्का प्रेम और दयासे ओतप्रोत मङ्गलमय विधान समझकर सदा ही प्रसन्न और संतुष्ट रहता है, इससे उसे परम आनन्द और परम शान्ति मिल जाती है ।

वे सर्वशक्तिमान्, सर्वलोकमहेश्वर, सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी, अनन्त गुणगणोंके सागर, परम दयालु, परम प्रेमी भगवान् अपनेको जीवोंका सुहृद् बतला रहे हैं । जब मनुष्य उनके इस कथनपर विश्वास करके उनको अपना सुहृद् मान लेता है तब उसे कितना अलौकिक आनन्द और कैसी अपूर्व शान्ति होती है, इसका अनुमान लगाना भी कठिन है । वास्तवमें भगवान्के समान भगवान् ही हैं । उनके समान तो संसारमें हेतुरहित दयालु, प्रेमी, निष्काम भावसे परम हित करनेवाला कोई है ही नहीं ।

उमा राम सम हित जग माहीं। गुरु पितु मातु बंधु प्रभु नाहीं॥
(राम० किष्किन्धा० ११ । १)

माता-पिता, बन्धु-बान्धव सभी अपने स्वार्थके लिये ही प्रेम करते हैं, स्वार्थको छोड़कर कोई नहीं। बृहदारण्यक उपनिषद्में श्रीयाज्ञवल्क्यजीने मैत्रेयीसे कहा है कि पति, स्त्री, पुत्र, धन आदि सब अपने प्रयोजनके लिये ही प्रिय होते हैं।

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।
(बृ० उ० २ । ४ । ५)

'अरी मैत्रेयि! सबके प्रयोजनके लिये सब प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये सब प्रिय होते हैं।'

श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं—

सुर नर मुनि सब कै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥
(राम० किष्किन्धा० ११ । १)
स्वारथ मीत सकल जग माहीं। सपनेहुँ प्रभु परमारथ नाहीं॥
(राम० उत्तर० ४६ । ३)

किंतु भगवान् जीवोंसे बिना किसी प्रयोजनके ही प्रेम करते हैं, उनका कितना उच्चकोटिका निःस्वार्थ प्रेमपूर्ण सुहृद् स्वभाव है, जिसकी कोई सीमा ही नहीं। चाहे कोई कैसा ही पापी क्यों न हो, भगवान्के अनन्यभावसे शरणमें आनेके साथ ही भगवान् उसे शुद्ध बनाकर उसका उद्धार कर देते हैं।

रामचरितमानसमें भगवान् श्रीराम कहते हैं—

कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥
सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥
जौं सभीत आवा सरनाईं। रखिहउँ ताहि प्रान की नाईं॥
(राम० सुन्दर० ४३ । १, ४)
पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं
भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥
(राम० उत्तर० ८५ । ४, ५)

क्योंकि—

रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिए की॥
(राम० बाल० २८ । ३)

भगवान्के चित्तमें भक्तकी भूल-चूक याद न
रहती और वे उसके हृदयके सद्भावोंको ही सैकड़ों
याद करते रहते हैं।

इतना ही नहीं, जो सच्चे हृदयसे 'मैं आपका
यों वाणीके द्वारा भी एक बार भी कह देता है—
उसको भगवान् सदाके लिये निर्भय कर देते हैं
भगवान्ने स्वयं यह घोषणा की है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥
(वा० रा० युद्ध० १८ । ३३

'जो एक बार ही 'मैं आपका हूँ' इस प्र
शरणके लिये याचना करता है उसे मैं समस्त प्राणियों
अभय देता हूँ—यह मेरा व्रत (नियम) है।'

भगवान्का कितना उत्तम स्वभाव है। वे भक्त
प्रेमकी ओर ही देखते हैं, जाति-पाँति, धन, विद्या, बुद्धि
बल आदिकी ओर नहीं देखते।

भक्त प्रह्लादने भगवान्की स्तुति करते हुए कहा है—

मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौज-
स्तेजःप्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः।
नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो
भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय॥
(श्रीमद्भा० ७ । ९ । ९

'मैं समझता हूँ कि धन, कुलीनता, रूप, त
विद्या, ओज, तेज, प्रभाव, बल, पौरुष, बुद्धि और योग—
ये कोई भी परम पुरुष भगवान्को संतुष्ट करनेमें स
नहीं हैं; परंतु भक्तिसे तो भगवान् गजेन्द्रपर भी सं
हो गये थे।'

क्योंकि भगवान् तो केवल भक्तके अनन्य वि
प्रेमकी ओर देखते हैं। अनन्य प्रेमी जितना भगवान
प्यारा होता है उतना कोई भी प्यारा नहीं होता।

भगवान्ने गीतामें कहा है—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥
(७ । १७)

'उनमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेम-भक्तिवाला (निष्कामी) ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।'

श्रीबृहस्पतिजीने इन्द्रसे कहा है—

सुनु सुरेस उपदेसु हमारा। रामहि सेवकु परम पिआरा ॥
(राम० अयोध्या० २१८ । १)

भगवान् श्रीराम स्वयं काकभुशुण्डिजीसे कहते हैं—

सत्य कहउँ खग तोहि सुचि सेवक मम प्रानप्रिय ।
अस बिचारि भजु मोहि परिहरि आस भरोस सब ॥
(राम० उत्तर० ८७ (ख)

इसलिये हमलोगोंको अन्य सबका आशा-भरोसा छोड़कर निष्कामभावसे भगवान्‌की अनन्य भक्ति करनी चाहिये।

श्रीभरतजी भगवान्‌के स्वभावके तत्त्व-रहस्यको जाननेवाले परम भगवद्भक्त थे। उनका भगवान्‌में बहुत ही उच्चकोटिका भाव था। श्रीतुलसीदासजीने उनके उत्तम भावोंका बहुत ही सुन्दर चित्रण किया है, जिनमें भगवान्‌के स्वभावका दिग्दर्शन होता है।

सील सकुच सुठि सरल सुभाऊ। कृपा सनेह सदन रघुराऊ ॥
अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा। मैं सिसु सेवक जद्यपि बामा ॥
(राम० अयोध्या० १८३ । ३)
राम जनमि जग कीन्ह उजागर। रूप सील सुख सब गुन सागर॥
पुरजन परिजन गुर पितु माता। राम सुभाउ सबहि सुखदाता॥
बैरिउ राम बड़ाई करहीं। बोलनि मिलनि बिनय मन हरहीं॥
सारद कोटि कोटि सत सेषा। करि न सकहिं प्रभु गुन गन लेखा॥
(राम० अयोध्या० १९९ । ३-४)
जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ। तब पथ परत उताइल पाऊ ॥
(राम० अयोध्या० २३३ । ३)
मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काऊ ॥
मो पर कृपा सनेहु बिसेषी। खेलत खुनिस न कबहूँ देखी ॥
सिसुपन तें परिहरेउँ न संगू। कबहुँ न कीन्ह मोर मन भंगू ॥
मैं प्रभु कृपा रीति जियँ जोही। हारेहुँ खेल जितावहिं मोही ॥
(राम० अयोध्या० २५९ । ३-४)
राउरि रीति सुबानि बड़ाई। जगत बिदित निगमागम गाई ॥
कूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी ॥
तेउ सुनि सरन सामुहें आए। सकृत प्रनामु किहें अपनाए ॥
देखि दोष कबहुँ न उर आने। सुनि गुन साधु समाज बखाने ॥
को साहिब सेवकहि नेवाजी। आपु समाज साज सब साजी ॥
निज करतूति न समुझिअ सपनें। सेवक सकुच सोचु उर अपनें ॥
सो गोसाइँ नहिं दूसर कोपी। भुजा उठाइ कहउँ पन रोपी ॥
(राम० अयोध्या० २८९ । १-४)

जब भगवान् श्रीरामके वनसे अयोध्या लौटनेकी अवधिमें केवल एक ही दिन शेष रह गया तब तो भरतजी भगवान्‌के विरहमें अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं और भगवान्‌के मधुर स्वभावको स्मरण करके कहने लगते हैं—

जौं करनी समुझै प्रभु मोरी। नहिं निस्तार कलप सत कोरी ॥
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ ॥
(राम० उत्तर० प्रारम्भकी चौ० ३)

भरतजीके कथनका भाव यह है कि भगवान् दीन और दुखियोंके बन्धु हैं, उनका स्वभाव बहुत ही कोमल है, इस कारण वे अपने भक्तोंके दोषोंकी ओर देख ही नहीं सकते।

अतएव हमलोगोंको भी अपना भाव भरतजीके समान बनाना चाहिये। फिर हमारे कल्याणमें कोई संदेह नहीं; क्योंकि 'भगवान् सब प्राणियोंके सुहृद् हैं' इस तत्त्व-रहस्यको जाननेवाला मनुष्य भी सारे प्राणियोंका सुहृद् बनकर भगवान्‌का परम भक्त बन जाता है। भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥
(गीता १२ । १३-१४)

'जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, स्वार्थरहित सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित, अहंकारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है तथा जो योगी निरन्तर संतुष्ट है, मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए है और मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है—वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है।'

भगवान्के स्वभावका तत्त्व और रहस्य समझनेपर मनुष्य भगवान्का ही हो जाता है एवं भगवान् उसे अपना यथार्थ तत्त्व जना देते हैं। रामचरितमानसमें श्रीवाल्मीकिजीके वचन हैं—

सो जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥
(राम० अयोध्या० १२६ । २)

वही पुरुष भगवान्को यथार्थ तत्त्वसे जान सकता है, जिसको भगवान् जनाते हैं। पर जिसके एकमात्र भगवान् ही हैं, जो भगवान्पर ही निर्भर है, जो अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय, प्राण, शरीर सब कुछ भगवान्को समर्पण कर चुका है, वही भगवान्को जाननेका पात्र होता है और उसीको भगवान् अपना यथार्थ स्वरूप जनाते हैं।

गीतामें भी बतलाया गया है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
(१० । ९-१०)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं, उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेम भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

भगवान्के समान संसारमें कोई प्रभावशाली गुणी नहीं है। उनके मुकाबलेमें यह जीव तुच्छ इसपर भी मनुष्य भगवान्को जिस प्रकारसे जिस भजते हैं, भगवान् उन्हें उसी प्रकारसे उसी भजते हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
(गीता ४ । ११ का पूर्वा

अभिप्राय यह है कि वात्सल्य, दास्य, सख्य, मा आदि जिस किसी भावसे जो भगवान्को भजता है, भगवान् उसी भावसे भजते हैं। जैसे, रुक्मिणी पटरानियाँ भगवान् श्रीकृष्णको कान्ताभावसे युक्त स्व माधुर्यभावसे भजती थीं, उनके लिये भगवान् परम होकर उनके भावकी पूर्ति करते थे। जो गो भगवान्को सख्यभावसे युक्त परकीय माधुर्यभावसे भ थीं उनके लिये भगवान् वैसे ही सख्यभावसे प्रेमास्पद बनकर रहते थे। नन्द-यशोदा, वसुदेव-दे आदि वात्सल्यभावसे भजते थे उनके लिये भग पुत्ररूप होकर रहते थे। अक्रूर आदि भक्त दास्यभा भजते थे उनके लिये भगवान् स्वामी होकर रहते थे श्रीदामा आदि गोपबालक सख्यभावसे भजते थे, उनके लिये उनके सखा होकर रहते थे। अर्जुन दास्य और सख्य दोनों भावसे भजते थे, इसलिये भग उनके लिये उनके स्वामी और सखा होकर रहते थे।

इसी तरह जो जिस प्रकारसे भगवान्को भ हैं भगवान् भी उनको उसी प्रकार भजते हैं। शरशय्यापर शयन करते हुए भीष्मजी भगवान् श्रीकृ ध्यान करते हैं तो भगवान् भी भीष्मजीका ध्यान करते

महाराज युधिष्ठिरसे भगवान् स्वयं कहते हैं—

शरतल्पगतो भीष्मः शाम्यन्निव हुताशनः ।
मां ध्याति पुरुषव्याघ्रस्ततो मे तद्गतं मनः ॥
(महा० शान्ति० ४६ । ११)

'राजन् ! बाणशय्यापर पड़े हुए पुरुषसिंह भीष्म, जो इस समय बुझती हुई आगके समान हो रहे हैं, मेरा ध्यान कर रहे हैं, इसलिये मेरा मन भी उन्हींमें लगा हुआ है ।'

इतना ही नहीं, जो प्रेमसे भगवान्को भजते हैं भगवान् उनको अपने हृदयमें बसा लेते हैं और भगवान् उनके हृदयमें बस जाते हैं । भगवान्ने गीतामें कहा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥
(९ । २९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है; परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ ।'

ऐसा ही भाव भागवतमें भी मिलता है—

न तस्य कश्चिद् दयितः सुहृत्तमो
न चाप्रियो द्वेष्य उपेक्ष्य एव वा ।
तथापि भक्तान् भजते यथा तथा
सुरद्रुमो यद्वदुपाश्रितोऽर्थदः ॥
(१० । ३८ । २२)

'न तो भगवान्के कोई प्रिय है और न अप्रिय । न उनका कोई अति सुहृद् है और न कोई शत्रु । उनकी उपेक्षाका पात्र भी कोई नहीं है । फिर भी जैसे कल्पवृक्ष अपने निकट आकर याचना करनेवालोंको उनकी मुँहमाँगी वस्तु देता है वैसे ही भगवान् श्रीकृष्ण भी, जो उन्हें जिस प्रकार भजता है, उसे उसी रूपमें भजते हैं—वे अपने प्रेमी भक्तोंसे अतिशय प्रेम करते हैं ।'

श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं—

आरत लोग राम सबु जाना । करुनाकर सुजान भगवाना ॥
जो जेहि भायँ रहा अभिलाषी । तेहि तेहि कै तसि तसि रुख राखी॥
सानुज मिलि पल महुँ सब काहू । कीन्ह दूरि दुख दारुन दाहू ॥
(राम० अयोध्या० २४३ । १-२)

रामचरितमानसमें भरतजीके वचन हैं—

यह नइ रीति न राउरि होई । लोकहुँ बेद बिदित नहिं गोई ॥
जगु अनभल भल एकु गुसाईं । कहिअ होइ भल कासु भलाईं ॥
देउ देवतरु सरिस सुभाऊ । सनमुख बिमुख न काहुहि काऊ॥
जाइ निकट पहिचानि तरु छाहँ समनि सब सोच ।
मागत अभिमत पाव जग राउ रंक भल पोच ॥
(राम० अयोध्या० २६६ । ३-४, २६७)

खयाल करना चाहिये, भगवान्का कैसा उच्चकोटिका स्वभाव है । उनके-जैसा परम दयालु कोई नहीं है ।

श्रीकाकभुशुण्डिजी कहते हैं—

प्रभु रघुपति तजि सेइअ काही । मोहि से सठ पर ममता जाही ॥
(राम० उत्तर० १२२ । २)

सिव अज पूज्य चरन रघुराई । मो पर कृपा परम मृदुलाई ॥
अस सुभाव कहुँ सुनउँ न देखउँ । केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ॥
(राम० उत्तर० १२३ । २)

श्रीउद्धवजीने कहा है—

अहो बकीयं स्तनकालकूटं
जिघांसयापाययदप्यसाध्वी ।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं
कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ॥
(श्रीमद्भा० ३ । २ । २३)

'पापिनी पूतनाने अपने स्तनोंमें हलाहल विष लगाकर श्रीकृष्णको मार डालनेकी नीयतसे उन्हें दूध पिलाया था, उसको भी भगवान्ने वह परम गति दी, जो धायको मिलनी चाहिये । उन भगवान् श्रीकृष्णके अतिरिक्त और कौन दयालु है, जिसकी शरण ग्रहण करें ?'

जो मनुष्य परम दयालु भगवान्के स्वभावके तत्त्व-रहस्यको जान जाता है उसे भगवान्के सिवा और कुछ भी अच्छा नहीं लगता । अतः वह भगवान्को छोड़कर नाशवान्, क्षणभङ्गुर और दुःखरूप धन, सम्पत्ति, स्त्री, पुत्र आदिको कैसे भज सकता है ।

भगवान् शिवजी कहते हैं—

उमा राम सुभाव जेहिं जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥
(राम० सुन्दर० ३३। २)

फिर वह भगवान्‌को कभी नहीं भूलता और भगवान् भी उसको कभी नहीं भूलते।

गीतामें बतलाया गया है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
(६। ३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृ नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।'

सार यह है कि भगवान्‌का बड़ा ही कोमल, मृदु सरल, सरस, मधुर और मनोहर स्वभाव है। वास्तव उनके समान वे ही हैं। उनके समान अहैतुक दयालु निःस्वार्थ प्रेमी, सुहृद्, शरणागतवत्सल, दीनबन्धु पतितपावन दूसरा कोई नहीं है।

अतः हमलोगोंको भगवान्‌के परम दया और प्रेमम मधुर स्वभावको समझकर उसका नित्य-निरन्तर स्मरण मनन करते हुए उनके प्रेममें मुग्ध रहना चाहिये। इस अनायास और शीघ्र ही भगवत्प्राप्ति हो सकती है।

* * *

श्रीराम

(लेखक—श्रीहरेशचन्दजी अग्रवाल, एम्० ए०, बी० टी०)

[गताङ्कसे आगे]

इसके अतिरिक्त श्रीरामने अपनी जीवन-लीलामें न केवल मानवमात्रसे अपना सम्बन्ध स्थापित किया, बल्कि वनमें विचरण करते हुए जड पदार्थोंसे भी सम्बन्ध स्थापित कर सौहार्द प्रकट किया। सीता-हरणके पश्चात् पेड़-पौधों, लता-बेलों आदि किसीको नहीं छोड़ा और अपने दुःख-सुखके अंशका उनसे आदान-प्रदान किया, जैसे—

लछिमन समुझाए बहु भाँती। पूछत चले लता तरु पाँती॥
हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी। तुम्ह देखी सीता मृगनैनी॥
आगें परा गीधपति देखा। सुमिरत राम चरन जिन्ह रेखा॥
अबिरल भगति मागि बर गीध गयउ हरिधाम।
तेहि की क्रिया जथोचित निज कर कीन्ही राम॥
कोमल चित अति दीनदयाला। कारन बिनु रघुनाथ कृपाला॥
गीध अधम खग आमिष भोगी। गति दीन्ही जो जाचत जोगी॥

इस प्रकार श्रीसीता माताकी खोज करते तथा वनके प्राणिमात्रसे सम्बन्ध स्थापित करते जब श्रीराम शबरीकी कुटियापर पधारते हैं, तब प्रभुका उसके साथ और भी अद्भुत असामान्य आचरण होता है—

सबरी-आश्रम रघुबर आए। अरघासन दै प्रभु बैठाए॥
खाटे फल तजि मीठे लाई। जूठे भए सो सहज सुहाई॥
अंतरजामी अति हित मानी। भोजन कीने, स्वाद बखानी।
जाति न काहू की प्रभु जानत। भक्ति-भाव हरि जुग-जुग मानत।
(सूरसागर)

यहाँपर यह ध्यान देना है कि साम्य-भावको धार करनेवाले श्रीराम किस प्रकार साधारण-से-साधारण व्यक्ति भी समान व्यवहार स्थापित किया करते थे, किस प्रकार वे अपने आश्रितोंसे प्रेम किया करते एवं उन्हें सत्यलोकक अधिकारी बनाते थे। इसके पश्चात् ही ऋष्यमूक पर्वतप प्रभु हनुमान्‌जीसे भेंट होनेपर कहते हैं—

सुनु कपि जियँ मानसि जनि ऊना। तैं मम प्रिय लछिमन तें दूना।
समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ।

इसी प्रकार सुग्रीवसे मिलनेपर तथा उसकी दुःखपू कथाको श्रवणकर वे दुखी हो स्वयं उससे कहते हैं—

सुनु सुग्रीव मारिहउँ बालिहि एकहिं बान।
ब्रह्म रुद्र सरनागत गएँ न उबरिहिं प्रान॥
जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी।
निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्र क दुख रज मेरु समाना।

यहाँपर श्रीरामके द्वारा स्थापित मित्रताके मापदण्ड

विचार करना है कि किस प्रकार वे दूसरोंके दुःखको प्राथमिकता दिया करते थे। यह प्रभुकी कितनी महानता थी कि शरणागतके दुःखको दूर करना वे अपना परम धर्म समझते थे—

'हम भक्तन के भक्त हमारे।
सुन अर्जुन परतिग्या मोरी यह व्रत टरत न टारे॥'

(सूरसागर)

मित्रके धर्मके सम्बन्धमें वे कहते हैं—

कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटै अवगुनहि दुरावा॥
देत लेत मन संक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई॥
बिपति काल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥

इसके पश्चात् वचनानुसार प्रभु मित्र सुग्रीवकी सहायता करनेके लिये उद्यत हो आगे बढ़ते तथा बालिको दण्ड देनेके लिये कार्य-क्रम बनाते हैं। अतएव श्रीरामके समान और कौन उदार एवं हितकारी हो सकता है जो शत्रुको भी, अपने दोषोंको स्वीकार कर लेनेपर अभय प्रदान कर उसीके कथनानुसार अपना व्यवहार निश्चित करते हैं। वे शरणमें आये शत्रुको भी मित्र मान अपनी अनपायिनी भक्ति प्रदान करते हैं जैसा कि विभीषणके सम्बन्धमें मिलता है—

जग महुँ सखा निसाचर जेते। लछिमन हनइ निमिष महुँ तेते॥
जो सभीत आवा सरनाईं। रखिहउँ ताहि प्रान की नाईं॥

× × ×

अस कहि करत दंडवत देखा। तुरत उठे प्रभु हरष बिसेषा॥
दीन बचन सुनि प्रभु मन भावा। भुज बिसाल गहि हृदयँ लगावा॥
अनुज सहित मिलि ढिग बैठारी। बोले बचन भगत भय हारी॥
कहु लंकेस सहित परिवारा। कुसल कुठाहर बास तुम्हारा॥
खल मंडली बसहु दिनु राती। सखा धरम निबहइ केहि भाँती॥

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भक्तवत्सल श्रीराम एक क्षत्रिय होनेके नाते वीर, बली, साहसी, पराक्रमी, निर्भय, शक्तिशाली, शत्रुनाशक होकर भी शरणागतको उसका उचित स्थान तुरंत देनेवाले तथा भक्तके सारे दोषोंको क्षमा कर देनेवाले थे। यह साधारण बात नहीं। एक महापुरुष ही ऐसा कर सकता है; क्योंकि वह सम्यक्-दृष्टि, सम्यक्-ज्ञानी तथा सम्यक्-बुद्धि होता है और क्रोधको धारण न कर अपवाद नहीं बनता **बल्कि उत्साहके आधारपर वीरोंके कार्य करता और उसीके अन्तर्गत आवश्यकतानुसार उसका वध भी करता है जैसा कि मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामने राक्षसराज रावणके वधके उपरान्त** उदाहरण उपस्थित किया था। यह सभी जानते हैं कि लंकाधिपति रावणको सुमार्गपर लानेके लिये मारीचसे लेकर हनुमान्, अंगद, विभीषण, मंदोदरी आदि सभीने प्रयत्न किये; किंतु उस दुर्बुद्धिने किसीकी भी बात नहीं सुनी और कर्मवश प्रभुके द्वारा युद्धमें मारा गया। तदनन्तर विभीषणके विलाप करनेपर श्रीराम कहते हैं—

मरणान्तानि वैराणि निर्वृत्तं नः प्रयोजनम्।
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव॥

(वाल्मीकिरा०)

'हे विभीषण! वैर जीवन-कालतक ही रहता है। मरनेके बाद उस वैरका अन्त हो जाता है। अब हमारा प्रयोजन सिद्ध हो चुका है; अतः अब तुम इसका संस्कार करो। इस समय यह जैसे तुम्हारे स्नेहका पात्र है, उसी प्रकार मेरा भी स्नेह-भाजन है।'

इसीके पश्चात् मन्दोदरी तथा अन्य राक्षसियोंको विलाप करते हुए देखकर श्रीराम भी दुखित होते हैं; परंतु जो होनेको होता है, वही होता है। उससे दुखी नहीं होना चाहिये, ऐसा भगवान्का मत था। इस आधारपर वे विभीषणकी ओर फिर मुड़ते हैं और रावणकी प्रशंसा करते तथा समझाते हुए कहते हैं—

संस्कारः क्रियतां भ्रातुः स्त्रीगणः परिसान्त्व्यताम्।
क्षिप्रमर्हति धर्मेण त्वं यशोभाग् भविष्यसि॥

(वाल्मीकिरा०)

'इन स्त्रियोंको धैर्य बँधाओ और अपने भाईका दाह-संस्कार करो। महाबाहो! धर्मके अनुसार रावण तुम्हारी ओरसे शीघ्र ही विधिपूर्वक दाह-संस्कार प्राप्त करनेके योग्य है। ऐसा करनेसे तुम यशके भागी होओगे।'

प्रायः देखा जाता है कि विजयीके मनमें शत्रुके जीवित रहते जो द्वेषभावना होती है, उसकी मृत्युके उपरान्त नाश करनेके विचारसे वह और अधिक बढ़ जाती है। किंतु धर्म-संस्थापक श्रीरामने ऐसी किसी भावनाको जरा भी स्थान नहीं दिया बल्कि इसके विपरीत रावणको और भी ऊपर उठानेका प्रयत्न किया था। एक वीरको दूसरे वीरके प्रति आचरण करना चाहिये, वही श्रीरामने भी किया था। यह श्रीरामकी **उदारता नहीं तो और क्या है जो उन्होंने शत्रुके प्रति प्रदर्शित की थी।**

उपर्युक्त पंक्तियोंमें श्रीरामके जीवनके कुछ भागोंका दिग्दर्शन कराते हुए उनके चरित्रकी विवेचना अवश्य की गयी है; परंतु अब हमें उन भागोंपर भी विचार कर लेना चाहिये जो कभी-कभी लोगोंके मनोंमें संदेह उत्पन्न कर देते हैं। सर्वप्रथम ताड़काके वधका ही प्रश्न सामने आता है।

एकहिं बान प्रान हरि लीन्हा। दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा॥

परंतु ताड़काका वध करनेके पूर्व विश्वामित्रजीके साथ भलीभाँति विचार-विनिमय तथा प्रस्तावका समर्थन हो चुका था, तभी श्रीरामने उसका वध किया था; क्योंकि भारतीय शास्त्रोंमें स्त्रीवध वर्जित है। विश्वामित्रजी कहते हैं—

नहि ते स्त्रीवधकृते घृणा कार्या नरोत्तम।
चातुर्वर्ण्यहितार्थं हि कर्तव्यं राजसूनुना॥

हे नरश्रेष्ठ! तुम स्त्री-हत्याका विचार करके इसके प्रति दया न दिखाना। एक राजपुत्रको चारों वर्णोंके हितके लिये स्त्री-हत्या भी करनी पड़े तो उससे मुँह नहीं मोड़ना चाहिये।

इसके अतिरिक्त स्त्री-वधके सम्बन्धमें मुनि विश्वामित्रजीने इन्द्रद्वारा विरोचनकी पुत्री मन्थराका वध, भगवान् विष्णुके द्वारा शुक्राचार्यकी माता तथा भृगुजीकी पत्नीके वध आदिके प्रसङ्ग रामको सुनाये और जब पूर्णरूपसे प्रभुने उस कार्यको निष्कलुष समझ लिया, तभी उन्होंने ताड़काका वध किया था।

इसी प्रकार जनकपुरीमें श्रीपरशुरामजीके आनेपर तथा लक्ष्मणजीसे विदग्धतापूर्ण वार्तालाप होने तथा क्रोध करनेपर श्रीराम युद्धकी स्थितिको चतुरतापूर्वक बताते हैं और परशुरामजीकी ओर उनके नारायणी अंशको नष्ट करनेका संकेत करते हैं—

जौं तुम्ह औतेहु मुनि की नाईं। पद रज सिर सिसु धरत गोसाईं॥
छमहु चूक अनजानत केरी। चहिय बिप्र उर कृपा घनेरी॥

× × ×

कंठ कुठार परै, अब हार कि, फूलै असोक कि सोक समूरो।
कै चितसारि चढ़ै कि चिता, तन चंदन चर्चि कि पावक पूरो॥
लोकमें लोक बड़ो अपलोक, सु केसवदास जु दोउ सु दोऊ।
विप्रन के कुल को भृगुनंदन! सूर न सूरज के कुल कोऊ॥

(रामचन्द्रिका)

सुनि मृदु गूढ़ बचन रघुपति के। उघरे पटल परसुधर मति के॥
राम रमापति कर धनु लेहू। खैंचहु मिटै मोर संदेहू॥
देत चापु आपुहिं चलि गयऊ। परसुराम मन बिसमय भयऊ॥

मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम सभी स्थानोंपर अपनी नीति कुशलताके आधारपर विजय प्राप्त करते हैं, जिसे सुनक शत्रु भी प्रसन्न होते एवं प्रशंसा करते हैं। इसमें संदे नहीं कि क्षत्रियकुलमें अवतरित होनेपर वे अपने क्रोधक जल्दी व्यक्त नहीं करते। ब्राह्मणों तथा ऋषि-मुनियोंके दुःख देनेवाले राक्षसोंका बध करना तो उनका मुख्य का ही था। दण्डकारण्यमें रहते हुए जब शूर्पणखा मोहित हे श्रीरामसे विवाह करने आयी, उस समय श्रीरामने उ समझानेका प्रयत्न किया। उसे यह भी बता दिया कि विवाहित हैं तथा एकपत्नीव्रती हैं। फिर भी, जब व सीताको खा जानेके विचारसे भयंकर रूप धारण करे दौड़ी तब उसे शिक्षा देनेके विचारसे श्रीरामके संके करनेपर सुमित्रानन्दन लक्ष्मणजीने उसके नाक-का काट दिये—

इत्युक्त्वा मृगशावाक्षीमलातसदृशेक्षणा।
अभ्यगच्छत् सुसंक्रुद्धा महोल्का रोहिणीमिव॥
क्रूरैरनार्यैः सौमित्रे परिहासः कथंचन।
न कार्यः पश्य वैदेहीं कथंचित् सौम्य जीवतीम्॥
इमां विरूपामसतीमतिमत्तां महोदरीम्।
राक्षसीं पुरुषव्याघ्र विरूपयितुमर्हसि॥

ऐसा कहकर दहकते हुए अंगारोंके समान नेत्रोंवा शूर्पणखा अत्यन्त क्रोधमें भरकर मृगनयनी सीताकी ओ झपटी, मानो कोई बड़ी भारी उल्का रोहिणी नामक तारेपर टूट पड़ी हो।

सुमित्रानन्दन! क्रूर कर्म करनेवाले अनार्योंसे कि प्रकारका परिहास नहीं करना चाहिये। सौम्य! देखो न इस समय सीताके प्राण किसी प्रकार बड़ी कठिनतासे बचे हैं

पुरुषसिंह! तुम्हें इस कुरूपा, कुलटा, अत्यन्त मतवा और लम्बे पेटवाली राक्षसीको कुरूप—किसी अङ्गसे ही कर देना चाहिये।

इसमें संदेह नहीं कि समाजके अन्तर्गत स्त्रि अबला होनेके नाते दया तथा कृपाकी पात्र हैं। पर जब वे मर्यादाहीन हो पुरुषसे लोहा लेनेको तत्पर हो और उनके उस कर्मसे समाजकी हानि हो रही हो, त वह क्षमाकी पात्र नहीं रह जातीं। यही कारण है कि श्रीराम **शूर्पणखाको दण्डनीय ठहराया और नाक-कान कटवा**

छोड़ दिया, जिससे वह भविष्यमें अनुचित कार्योंके करनेका साहस न करे ।

इस घटनासे आगे बढ़नेपर सुग्रीव और बालिके द्वन्द्व-युद्धका दृश्य सम्मुख उपस्थित होता है, जिसमें भक्त सुग्रीवके हार जानेके समय श्रीराम वृक्षकी आड़से वानरराज बालिपर बाण छोड़ पृथ्वीपर गिरा देते हैं और तत्पश्चात् सम्मुख प्रकट होकर उसके दोषोंकी ओर उसका ध्यान आकर्षित करते हैं । बालिके द्वारा बुरा-भला कहने तथा उसके विचारानुसार धर्मके विरुद्ध आचरण करने तथा डाँटनेपर श्रीराम कहते हैं—

धर्ममर्थं च कामं च समयं चापि लौकिकम् ।
अविज्ञाय कथं बाल्यान्मामिहाद्य विगर्हसे ॥
(वाल्मीकिरा०)

'हे वानर ! धर्म, अर्थ, काम और लौकिक सदाचारको तो तुम स्वयं ही नहीं जानते हो, फिर बालोचित अविवेकके कारण आज यहाँ मेरी निन्दा क्यों करते हो ?'

तत्पश्चात् श्रीरामने कहा कि यह सारी पृथ्वी इक्ष्वाकुवंशी राजाओंकी है । इसलिये यह उनका अधिकार है कि विचरण करते हुए वे धर्मसंस्थापनार्थ दुष्टोंका दलन कर साधु पुरुषोंकी रक्षा करें । भरत हमारे राजा हैं इसलिये उनके आदेशानुसार धर्मप्रचारके लिये हम सारी पृथ्वीपर विचरते रहते हैं और धर्ममार्गसे भ्रष्ट पुरुषको विधिपूर्वक दण्ड देते हैं । तुम कामी पुरुष हो और कामान्ध हो अनुचित कार्योंके करनेमें तनिक भी नहीं हिचकते ।

ज्येष्ठो भ्राता पिता वापि यश्च विद्यां प्रयच्छति ।
त्रयस्ते पितरो ज्ञेया धर्मे च पथि वर्तिनः ॥

'बड़ा भाई, पिता तथा जो विद्या देता है, वह गुरु—ये तीनों धर्ममार्गपर स्थित रहनेवाले पुरुषोंके लिये पिताके तुल्य माननीय हैं, ऐसा समझना चाहिये ।'

साथ ही कहते हैं कि इसी प्रकार छोटा भाई, पुत्र और गुणवान् शिष्य—ये तीन पुत्रके तुल्य समझे जाने योग्य हैं । गोस्वामीजीके शब्दोंमें कहते हैं—

अनुज बधू भगिनी सुत नारी । सुनु सठ कन्या सम ए चारी ॥
इन्हहिं कुदृष्टि बिलोकइ जोई । ताहि बधें कछु पाप न होई ॥
(मानस)

इस प्रकार धर्मसंस्थापक श्रीराम अन्य और भी बहुतसे कारण बालि-वध-हेतु उपस्थित करते हैं, जिससे वह लज्जित हो अपने अनुचित व्यवहारके लिये क्षमाप्रार्थी होता एवं दण्डको उचित बतलाता है; परंतु श्रीरामकी महानता इसीमें है कि वे उसके द्वारा भूल स्वीकार करनेपर सरलता तथा दयाको धारण कर, आगे बढ़ते और उसके सिरपर आशीर्वादात्मक हाथ रखते हैं—

सुनत राम अति कोमल बानी । बालि सीस परसेउ निज पानी ॥

और तत्पश्चात्—

राम बालि निज धाम पठावा । नगर लोग सब ब्याकुल धावा ॥

इस प्रकार भक्तवत्सल श्रीराम अपने विरोधियोंको दण्ड देते हुए भी उनके प्रति दयाभाव धारण करके उन्हें परमधाम पहुँचाते हैं । इसके पश्चात् वर्षा ऋतुके समाप्त होने और शरद्के आनेपर पतिव्रता सती सीताकी सुधि कर श्रीराम व्याकुल होते हैं और सुग्रीवके दिये वचनोंपर विचार कर कहते हैं—

सुग्रीवहुँ सुधि मोरि बिसारी । पावा राज कोस पुर नारी ॥
जेहिं सायक मारा मैं बाली । तेहिं सर हतौं मूढ़ कहँ काली ॥

परंतु शीघ्र ही भाव बदलकर कहते हैं—

तब अनुजहि समुझावा रघुपति करुना सींव ।
भय देखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव ॥

तत्पश्चात् सुग्रीवके आनेपर और उसके क्षमाप्रार्थी होनेपर प्रभु कहते हैं—

तब रघुपति बोले मुसुकाई । तुम्ह प्रिय मोहि भरत जिमि भाई ॥
अब सोइ जतनु करहु मन लाई । जेहि बिधि सीता कै सुधि पाई ॥
(मानस)

अर्थात् श्रीरामका क्रोध शीघ्र ही दूर हो दयाभावमें परिणत हो गया । इस प्रकार हम पाते हैं कि धनुर्धर श्रीराम केवल राजा ही नहीं, बल्कि एक साधुपुरुष भी थे, जो अनुचित कार्य करनेवालोंको भी क्षमा भी कर दिया करते थे । इसके उपरान्त वानरोंकी सेनासहित जब प्रभु समुद्र-किनारे पहुँचते हैं, तब समुद्रको पार करनेका प्रश्न सम्मुख आता है । साधारणतया पहले वे समुद्रसे सेना-हेतु मार्ग माँगते हैं, परंतु जडरूप समुद्रके ध्यान न देनेपर तीन दिन पश्चात्, जडको चैतन्यता प्रदान करनेके हेतु, श्रीराम आवेशसे कहते हैं—

बोले राम सकोप तब भय बिनु होइ न प्रीति ॥

लछिमन बान सरासन आनू । सोषौं बारिधि बिसिख कृसानू ॥

× × ×

अस कहि रघुपति चाप चढ़ावा। यह मत लछिमन के मन भावा॥

× × ×

कनक थार भरि मनि गन नाना । बिप्र रूप आयउ तजि माना ॥

इस प्रकार समुद्रके विनीत होनेपर श्रीराम अपना क्रोध समेट लेते और उससे ही पूछते हैं—

सुनत बिनीत बचन अति कह कृपालु मुसुकाइ ।
जेहि बिधि उतरै कपि कटकु तात सो कहहु उपाइ ॥

तत्पश्चात् अन्तमें जलाधिपतिके कथनानुसार उसकी मर्यादाकी रक्षा करते हुए श्रीराम नल-नीलको प्रस्तरखण्डोंको ला-लाकर समुद्रके जलपर रखने एवं सेतु बाँधनेकी आज्ञा देते हैं। इस प्रकार विरोधीके प्रति दयावान् होना तथा प्रेम प्रदर्शित करना साधु श्रीरामका ही काम था।

समुद्र पारकर वानरी सेनासहित लंका पहुँचनेपर भी प्रभु किसी प्रकार भी राक्षसराज रावणका अहित नहीं चाहते, बल्कि वे प्रयत्नशील हैं कि रावणको उनकी शक्ति तथा रूपका ज्ञान हो जाय और वह अपना दोष स्वीकार कर सीताको सादर उनके समर्पित कर दे। इसी सम्बन्धमें जब एक दिन प्रभु लंकाके दक्षिणमें बादल, बिजली एवं ओलोंके गिरनेका अनुभव प्राप्त करते हैं और विभीषणसे पूछनेपर मालूम होता है कि रावण अपने महलमें आनन्द मना रहा है तब उसके अभिमानको चूर करनेके विचारसे वे मुसुकराते हैं और धनुषपर बाण चढ़ाकर छोड़ते हैं—

प्रभु मुसुकान समुझि अभिमाना । चाप चढ़ाइ बान संधाना ॥

छत्र मुकुट ताटंक तब हते एक ही बान ।
सब के देखत महि परे मरमु न कोऊ जान ॥

और फलस्वरूप रावणपत्नी मन्दोदरी पतिको समझाती है—

कंत राम बिरोध परिहरहू । जानि मनुज जनि हठ मन धरहू ॥

बिस्वरूप रघुबंसमनि करहु बचन बिस्वासु ।
लोक कल्पना बेद कर अंग अंग प्रति जासु ॥

इतनेपर भी जब वह नहीं मानता है तब अपने परामर्शदाताओंके परामर्शसे श्रीराम अंगदको रावणकी सभामें भेजते हैं जिससे युद्ध प्रारम्भ करनेके पूर्वतक भी वह समझ जाय—

काजु हमार तासु हित होई । रिपु सन करेहु बतकही सोई ॥

इस प्रकार भक्तवत्सल श्रीरामके समान विश्वमें कौन ऐसा हो सकता है जो शत्रुके न ध्यान देनेपर भी उसके हितमें ही बार-बार प्रयत्नशील हैं। अन्तमें अंगदके लौट विपरीत समाचार देनेपर भी फिरसे एक बार विचार कि जाता है और तत्पश्चात् युद्ध प्रारम्भ होता है—

तब कपीस रिच्छेस बिभीषन । सुमिरि हृदयँ दिनकर कुल भूषन ।
करि बिचार तिन्ह मंत्र दृढ़ावा । चारि अनी कपि कटकु बनावा ।
उत रावन इत राम दोहाई । जयति जयति जय परी लराई ।

राम-रावण-युद्धके समय रावणद्वारा विभीषणके व लिये चलायी गयी प्रचण्ड शक्तिको अपने वक्षःस्थल रोककर शरणागत विभीषणकी रक्षा करना आनन्दक श्रीरामका ही काम था—

आवत देखि सक्ति अति घोरा । प्रनतारति भंजन पन मोरा ।
तुरत बिभीषन पाछें मेला । सन्मुख राम सहेउ सोइ सेला ।

श्रीरामके अतिरिक्त शरणागतके प्रति ऐसी द करके उसकी रक्षा कौन कर सकता है और रावण-व उपरान्त कौन यह कह सकता है—

अब जाहु विभीषण रावण लै कै ।
सकलत्र सबंधु क्रिया सब कै कै ॥
जन सेवक संपति कोस सँभारो ।
मयनंदिनि के सिगरे दुख टारो ॥

(रामचन्द्रिका (केशव

यह स्पष्ट है कि यहाँ इससे श्रीरामकी नीति दयालुता, सहानुभूति, उदारता आदि सभी क्षत्रियों गुण प्रकट होते हैं जो साधारणतया किसी विजयीमें नहीं होते, परंतु साथ ही धर्मसंस्थापक श्रीरा प्रजानुरञ्जकता एवं न्यायशीलताका अद्वितीय उदा अयोध्या लौटनेपर मिलता है जो इस कलिकालमें स नहीं। लंकासे लौटनेके उपरान्त शासन करते हुए लो अपवादको दूर करनेके लिये प्राणप्रियतमा सीताको त्याग दे श्रीरामका ही काम था। वे अपने भाइयोंसे कहते हैं—

अप्यहं जीवितं जह्यां युष्मान् वा पुरुषर्षभाः ।
अपवादभयाद् भीतः किं पुनर्जनकात्मजाम् ॥
श्वस्त्वं प्रभाते सौमित्रे सुमन्त्राधिष्ठितं रथम् ।
आरुह्य सीतामारोप्य विषयान्ते समुत्सृज ॥

(वाल्मीकि

'नरश्रेष्ठ बन्धुओ ! मैं लोकनिन्दाके भयसे अपने प्राणोंको और तुम सबको भी त्याग सकता हूँ, फिर सीताको त्यागना कौन बड़ी बात है ।'

'अतः सुमित्राकुमार ! कल सवेरे तुम सारथि सुमन्त्रके द्वारा संचालित रथपर आरूढ़ हो सीताको भी उसीपर चढ़ाकर इस राज्यकी सीमाके बाहर छोड़ दो ।'

इस प्रकारके त्यागका उदाहरण आज हमें कहाँ मिल सकता है ? श्रीराम-राज्यने यह दिखला दिया था कि प्रजाके हितको एक ओर रखकर प्रजाको प्रसन्न करना ही कितना कठिन कार्य है । प्रसन्न करनेमें ही राजाको अपने सुखकी तिलाञ्जलि देनी पड़ती थी जो सबमें सम्भव नहीं । अयोध्यानरेश श्रीराम ही इन सब दाँवपेचोंके तथा नीतिकुशलताके मर्मज्ञ थे । इसके अतिरिक्त, अन्तमें एक बार काल (मृत्यु)के आने तथा दुर्वासा मुनिके उपस्थित होनेपर प्रतिज्ञाके अनुसार महाराज श्रीरामके लिये ही यह सम्भव था कि वे प्रतिज्ञा या वचनपूर्तिके हेतु लक्ष्मणको त्यागनेमें सफल हुए थे । श्रीराम, प्राणोंसे प्रिय, अपने भाई लक्ष्मणसे कहते हैं—

विसर्जये त्वां सौमित्रे मा भूद् धर्मविपर्ययः ।
त्यागो वधो वा विहितः साधूनां ह्युभयं समम् ॥
(वाल्मीकिरा०)

'सुमित्रानन्दन ! मैं तुम्हारा परित्याग करता हूँ जिससे धर्मका लोप न हो । साधुपुरुषोंका त्याग किया जाय अथवा वध—दोनों समान ही हैं ।'

इस प्रकार त्रिलोकीनाथ श्रीरामके त्रैलोक्यव्यापी चरित्र तथा उनके गुणोंका गान कहाँतक किया जाय । त्वरित गतिसे चलनेवाली लेखनी थककर स्तम्भित है । रामचरित-सागररूपी मसिका पूर्ण उपयोग मानव-शक्तिसे परे है । श्रीराम वह ज्योतिपुञ्ज हैं जिससे अणु-परमाणुतक सभी देदीप्यमान हैं और उनसे शक्ति प्राप्तकर गतिशील होते हैं । यह वह देवगङ्गा है जिसमें स्नानकर मर्त्यलोकवासी देवत्वको प्राप्त होते और उनका सामीप्य लाभ करते हैं । ऐसा चरित्र आजतक किसी देश, समाज, संस्कृति तथा साहित्यमें प्राप्य नहीं, जिससे इसकी तुलना की जाय । श्रीराम, राज्यलक्ष्मीकी रक्षा करते हुए भी, साक्षात् साधुओंकी रक्षा करनेवाले स्वयं एक महान् साधु थे । ठीक ही कहा है—**'रमन्ति साधवः यस्मिन्'** अर्थात् जिसमें साधुओंके गुण हैं वही राम हैं । मानव-चरित्रका आधार ही रामचरित्र होना चाहिये ।

इदं पवित्रं पापघ्नं पुण्यं वेदैश्च सम्मितम् ।
यः पठेद्रामचरितं सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

हरि अनंत हरि कथा अनंता ।
कहहिं सुनहिं समुझहिं श्रुति संता ॥

क्या ही अच्छा हो कि यदि आजके शिक्षाविद् लोग यह निश्चय करें कि व्यक्तिगत चरित्रको ऊपर उठानेके लिये विद्यार्थियोंको श्रीरामके चरित्रका पूर्ण अध्ययन कराया जाय, जिससे उनके अंदर पायी जानेवाली न्यूनताएँ पूर्ण हों, दीपककी ज्योतिके समान सबको ज्योतिर्मय कर दें ।

मोह-मेघाच्छन्नता

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

प्रेमके पुतले प्रेमके ही पुतलोंके साथ प्रेमकी ही दुनियामें प्रेमकी ही रसमयी क्रीड़ा करते रहते हैं । देश-कालका भेद भुला, नाना रंग-रूपोंमें सदैव सर्वत्र प्रेमका ही लेन-देन होता रहता है । प्रेम ही सबपर ·····सबमें छाया-समाया रहता है । छाया-समाया क्या रहता है, होता ही है एकमात्र प्रेम-ही-प्रेम ।

जाने कैसे, क्यों, कभी-कभी स्वच्छ, शुभ्र, उज्ज्वल आकाश स्वच्छ, शुभ्र, उज्ज्वल नहीं रहता । उसमें प्रकाशित प्रेम-सूर्य मोह-मेघाच्छन्नताका शिकार हो जाता है ।

और तब तेरे-मेरेका दौर-दौरा होता है । मैं-तूके विभिन्न भेद खड़े हो जाते हैं । राग-द्वेषका चक्र चलता है । आसक्ति-कामना बखेड़े मचाने लगती हैं । रसमें—रसके नामपर अनरसके दर्शन होते हैं—करने पड़ते हैं ।

परंतु कुछ ही कालके लिये होता है यह सब । फिर तो पूर्ववत् वही सब होने लगता है—होता रहता है ।

सुविज्ञ कहते हैं—लगता भी है कि यह भी एक खेल ही होता है । वास्तविकताके नाते तो कहाँ प्रेम-सूर्य, कहाँ मोह-मेघाच्छन्नता ?

संस्कृतिका भारतीय तत्त्व

(लेखक—डा० श्रीनरेन्द्रकुमारजी सेठी एम्०ए०, पी-एच्० डी०, न्यूयार्क)

संस्कृति एक सात्त्विक और स्पन्दनशील तत्त्व है। इसमें जडता नहीं, चेतनाका स्वरूप व्याप्त है। अखण्ड ब्रह्माण्डमें चित्रित आत्मशक्तिकी प्रभुता है। यह सत्यसे आविर्भूत एक अत्यन्त शुचितम भावना है। संस्कृति, वस्तुतः शक्तिकी ही एक पावन व्यञ्जना है, जिसमें मानवका सर्वोच्च पक्ष प्रतिबिम्बित होता है।

हम संस्कृतिको सभ्यतासे कहीं उच्च, कहीं तीव्र, कहीं विशाल एवं कहीं अधिक सर्वाङ्गीण तत्त्व मानते हैं। सभ्यताकी कल्पना केवल मानवके बाह्य स्वरूपतक ही सीमित है, उसमें व्यवहार-पक्षकी सुनियमितता-तक ही विचार किया गया है। इसके उपरान्त संस्कृति अन्तःपेक्षी तत्त्व है जो व्यवहार-आचारसे तीव्रतर विचार-पक्षकी ओर इङ्गित करती है। सभ्यता एक जड भावना है, संस्कृति चेतनामय। सभ्यता परिवर्तनशील है, संस्कृति पुरातन और चिरन्तन। जहाँ एकमें अतिरञ्जन है, वहाँ दूसरेमें शीतलता और निरन्तर स्वाभाविकता है।

‘कृण्वन्तो विश्वमार्यम्’ की उदात्त भावना हमारी संस्कृतिकी प्राण-प्रसूत भावना है। यहाँ सीमाके स्थानपर सार्वभौमिकता है; विच्छिन्नताके स्थानपर एकताका ज्वलन्त दृष्टिकोण है। पुनीत सत्यकी स्थापना सर्वत्र हो—यह भावना हमारी सांस्कृतिक परम्पराकी ही अमूल्य दैन है।

विश्व-ज्योतिका अखण्ड प्रकाश और आत्मज्योतिका कीर्तिमान् आलोक—दोनोंका सम्मिश्रण भारतीय संस्कृतिमें दर्शनीय है। ब्रह्मकी सर्वोच्च तथा सर्वोत्तम विकसित व्यञ्जना विश्वके किसी भी अन्य दर्शनमें नहीं मिलती। साथ ही मानव-धर्म एवं कर्मकी भी ऐसी महान् योजना अन्यत्र दुर्लभ है। प्राणके दोनों पक्षोंका ऐसा आदर्श चित्रण हमारी संस्कृतिमें ही प्रफुल्लित हो पाया है।

‘सत्यं शिवं सुन्दरम्’ की अभिव्यक्ति हमारी दैनन्दिन जीवनकी प्रत्येक पंक्तिपर पायी जाती है। यह कल्पना अपने आपमें अद्वितीय है। विश्व-दर्शनके किसी भी अङ्गमें ऐसी त्रि-रूपी भावना नहीं दिखायी देती है।

यदि कहीं सत्यकी प्रतिष्ठा है तो शिवकी नहीं और यदि कहीं शिवकी संज्ञा व्याप्त है तो सुन्दर पक्षकी अवहेलना है। एतदर्थ, सांस्कृतिक दृष्टिकोणके अनुसार इन तीनोंका समानधर्मी एकीकरण दुर्लभ है। भारतीय मनीषियों, चित्रकारों तथा साधकोंने इस अमृत-तुल्य त्रिवेणीकी पावन जल-धाराने हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्वको आप्लावित कर दिया है।

विश्वास तथा निष्ठा हमारी संस्कृतिके दो दिव्य अङ्ग हैं। कुण्ठित भौतिकता, बाह्य अवसाद तथा आधुनिक संकीर्णता हेय मानी गयी है। इनके स्थानपर श्रद्धासम्पन्न उदात्तता और व्यापकताकी स्वीकृतिको प्रश्रय दिया है। ऋषि-वाक्य है—**‘श्रद्धा हि जगतां धात्री,’ ‘श्रद्धा सर्वस्वजीवनम्’** विश्वास और आत्मशक्तिका इतना समवेत दृढ़ सम्बल जिस संस्कृतिका एक ज्वलन्त सिद्धान्त हो, उसकी उपादेयता क्या कभी कम हो सकती है?

सर्वजन-कल्याणकी जिस महती कामनाका भारतीय संस्कृतिमें विकास किया गया है, उसकी समानता विश्वका कोई भी सांस्कृतिक संनियम नहीं कर सकता। यहाँतक कि इस सर्वव्यापी भावनामें सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका प्रत्येक प्राणी, प्रत्येक तत्त्व विशेष सम्मिलित है। ‘स्व’ के स्थानपर ‘पर’ की स्थापना इसका स्वाभाविक स्वरूप है। कहा गया है—

> **सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।**
> **सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात॥**

वस्तुतः संस्कृतिका भारतीय तत्त्व मानवका सर्वोत्तम परिवेश है—सच्चिदानन्दका स्थल है और कल्याणका चिर-केन्द्र है। इसका प्रत्येक संस्कार पूर्णतः विकसित है—दर्शन-अध्यात्म, साहित्य, कला तथा विज्ञान आदि सभी बौद्धिक पक्ष यहाँ फले-फूले हैं। इस पुनीत ब्रह्म-स्वरूपिणी, शक्तिमयी तथा शक्तिदायिनी और सनातन भारतीय संस्कृतिका अध्ययन, मनन एवं उन्नयन प्रत्येक पुरुषका गौरवमय सत्कर्तव्य है।

मधुर

श्यामसुन्दर अकस्मात् अन्तर्धान हो जाते हैं, उनका क्षणभरका अदर्शन श्रीराधाके चित्तमें असह्य और अदम्य वियोग-वेदना प्रकट कर देता है। उन्हें ऐसा लगता है मानो वियोगमें युगोंके युग बीत गये। वे अत्यन्त आर्त होकर पुकार उठती हैं—

प्राणप्राण हे ! प्राणनाथ हे !
प्राणप्रियतम ! हे प्राणेश !
परम रमण हे ! मधुर मधुरता,
सुन्दर सुन्दरताके देश ! ॥
बिना तुम्हारे दर्शनके अब
परमाकुल ये पीड़ित प्राण ।
पाना सहज चाहते अब ही
दुःसह विरहानलसे त्राण ॥
निकल भागनेको आतुर ये
दर्शन हेतु त्याग तन-धाम ।
सुन्दर सुन्दर कोटि कोटि शशि-
निन्दक मुख-चन्द्रमा ललाम ॥
अङ्ग अङ्ग जल रहा तापसे
मनमें भरा विषाद विमर्ष ।
शीतल शान्त सुखी हो सकते
नहीं, बिना पाये संस्पर्श ॥
हरी भरी हिय-लता सुधा-सी
सूखी—जली विरहके ताप ।
दर्शन-स्पर्श-सुधा बरसाकर
जीवनदान करो निष्पाप ॥
पल पलमें मूर्छित होती, फिर
करती जाग करुण क्रन्दन ।
हा गोविन्द ! गोपिकावल्लभ !
गोपति ! प्रियतम नँदनन्दन ॥

हे मेरे प्राणोंके प्राण ! हे प्राणोंके नाथ ! प्राणप्रियतम ! हे मेरे प्राणेश्वर ! हे परम रमण ! हे मधुर माधुर्यके और सुन्दर सौन्दर्यके धाम ! तुम्हारे दर्शनके बिना अब ये वियोग-पीड़ित प्राण परम व्याकुल हो रहे हैं, ये इस दुःसह विरहज्वालासे इसी क्षण सहज ही त्राण पाना चाहते हैं। तुम्हारे दर्शनके लिये ये इस शरीरधामका त्याग करके तुरंत निकल भागनेके लिये आतुर हो रहे हैं। ये तुम्हारे उस सुन्दरके भी सुन्दर, करोड़ों-करोड़ों चन्द्रमाओंका मान हरण करनेवाले परमललित मुखचन्द्रमाके दर्शन पाना चाहते हैं। मेरा एक-एक अङ्ग तुम्हारी वियोग-ज्वालासे जल रहा है और मनमें सम्पूर्ण विषाद और असंतोष भरा है। तुम्हारा स्पर्श प्राप्त किये बिना ये अङ्ग और मन कभी शीतल, शान्त और सुखी नहीं हो सकते। मेरी हरी-भरी अमृत-सी हृदय-वेलि तुम्हारे विरहके तापसे सूख गयी—जल गयी है। अब हे निष्पाप ! अपने पवित्र दर्शन और स्पर्श-सुखके अमृतकी वर्षा करके इसे जीवनदान करो। हृदयको पुनः हरा-भरा कर दो। यों विलाप-प्रलाप करती हुई वे पल-पलमें मूर्छित होती हैं और फिर पल-पलमें सचेत होकर करुण क्रन्दन करती पुकारने लगती हैं—हा गोविन्द ! हा गोपियोंके प्राणवल्लभ ! हा मेरी तमाम इन्द्रियोंके स्वामी ! हा प्रियतम नन्दनन्दन !

एक अनन्य तीव्र विरहानल
जल उठता जब उर-अंतर ।
होते प्रकट उसी क्षण प्रियतम
स्वयं वहाँ व्याकुल होकर ॥
प्रकटी मिलन-सुधा धारा उस
विरहानलसे अपने-आप ।
अकस्मात् पलभरमें ही सब
पलटा रंग मिटा संताप ॥
उदय हुए वे मन्मथ-मन्मथ
लिये मधुर मुखपंकज-हास ।
मुरली मधुर लिये कर, छाया
सभी दिशाओंमें उल्लास ॥

इस प्रकार जब प्रेमीके हृदयमें एकमात्र अनन्य तथा तीव्रतम विरहानल भड़क उठता है। जब वह

प्राणप्रियके दर्शन बिना पलभर भी भस्म हुए बिना नहीं रह सकता; तब उसी क्षण प्रियतम परम प्रेमास्पद स्वयं भगवान् भी उससे मिलनेके लिये व्याकुल होकर वहाँ प्रकट हो जाते हैं। अतः यहाँ भी उस विरहानलसे ही अपने-आप अकस्मात् मधुर मिलनकी सुधाधारा प्रकट हो गयी। पलक मारते-मारते ही सारा रंग पलट गया और भीषण ताप सारा मिट गया। वे मन्मथ—मदनके भी मनको मथ डालनेवाले सौन्दर्य-माधुर्य-सागर श्रीश्यामसुन्दर वहाँ प्रकट हो गये। उनके मुखकमलपर मधुर मुसुकान खिल रही थी, हाथोंमें वे मधुर मुरली धारण किये हुए थे। उनके उदय होते ही समस्त दिशाओंमें उल्लास छा गया।

(अभी-अभी श्रीराधाजी वियोगकी भयानक पीड़ासे दुखी थीं। विरहाग्निसे जल रही थीं। पर श्यामसुन्दरके अकस्मात् प्रकट होते ही उनकी विलक्षण स्थिति हो गयी।)

मिटी व्यथा, भूली स्मृति सारी,
मानो था संतत संयोग।
मानो नित्य प्राप्त था प्रियका
चिद्-रस-रूप दिव्य संभोग॥

सारी व्यथा मिट गयी। विषम वियोग-दुःखकी सारी याद भूल गयी। ऐसा लग रहा था मानो सदा ही निरन्तर संयोग ही था। मानो प्रियतम श्यामसुन्दरका चिन्मय रसरूप सम्भोग श्रीजीको नित्य प्राप्त ही था। (कभी वियोग हुआ ही नहीं था, श्रीराधाकी इस विलक्षण स्थितिको श्यामसुन्दरने बड़े चाव और भावसे देखा—)

गया न कहीं कभी था मैं,
जा सकता कहीं न तुमको त्याग।
बोले प्रिय—मैं पान कर रहा था
छिप तव रसमय अनुराग॥

और श्यामसुन्दरने कहा—'प्रिये! मैं तुमको त्यागकर न तो कभी कहीं गया ही था और न कहीं जा ही सकता हूँ। मैं तो यहीं छिपा-छिपा तुम्हारे रसमय अनुरागामृतका रसपान कर रहा था।

श्यामसुन्दरकी यह बात सुनकर राधाजी विरहकी स्मृतिको सर्वथा भूल ही गयी थीं, उनको लगा कि श्यामसुन्दर ठीक ही तो कह रहे हैं; श्यामसुन्दरकी बातका समर्थन करती हुई बोलीं—

कहा श्रीमतीने—'हाँ हाँ सच,
तुम न गये थे मुझको छोड़।
जा सकते न कभी अपने ही
बाँधे स्नेह-बन्धको तोड़॥

श्रीमती राधिकाजी बोलीं—'हाँ हाँ, सच तो है तुम मुझको छोड़कर कहीं नहीं गये थे और अपने ही बाँधे हुए स्नेहके बन्धनको तोड़कर कभी कहीं जा सकते भी नहीं।' फिर जो कभी-कभी नहीं दीख पड़ते हो—सो, यह तो तुम्हारा खेल है।

लुका-छिपी लीलामें जब तुम
हो जाते प्रिय अन्तर्धान।
व्याकुलता लख, मन-नैनोंको
स्वयं बता देते संधान॥
जहाँ जहाँ जाते फिर मेरे
नेत्र ढूँढ़ने तुमको श्याम।
जहाँ जहाँ जाता मन, पाने
तुम्हें, छोड़कर सारे काम॥
वहाँ-वहाँ तुम खड़े दीखते
मोहन मधुर नचाते नैन।
बरबस हरते चित्त, सुधा-से
सुना-सुनाकर मीठे बैन॥
मधुर मधुर मुसकाते, हृदय
लगाते, कर मोहन भ्रू-भङ्ग।
परम सुखद संस्पर्श प्राप्त कर
होते धन्य सुखी सब अङ्ग॥

सदा साथ रहते तुम मेरे
हो चाहे समीप या दूर।
जीवनमें भीतर-बाहर बस,
तुम छाये रहते भरपूर॥

'लुका-छिपी लीलामें प्रियतम ! जब तुम अन्तर्धान हो जाते हो और तुम्हें न देखकर जब मैं व्याकुल हो उठती हूँ, तब मेरी व्याकुलताको देखकर तुम मेरे मनको तथा आँखोंको स्वयं ही अपना पता बता देते हो। इसीसे फिर जहाँ-जहाँ मेरे नेत्र, हे श्यामसुन्दर ! तुम्हें ढूँढ़ते हुए जाते हैं और जहाँ-जहाँ मेरा मन तुम्हें प्राप्त करनेके लिये सारे दूसरे कार्योंको छोड़कर जाता है, वहीं-वहीं तुम हे मोहन ! अपने मधुर-मधुर नेत्रोंको नचाते हुए खड़े दीखते हो और अपने अमृतके सदृश मधुर वचन सुना-सुनाकर बलपूर्वक मेरा चित्त हरण कर लेते हो। फिर मधुर-मधुर मुसकराते हुए और अपनी मोहनी भ्रूभंगिमाकी छटा दिखलाते हुए मुझे हृदयसे लगा लेते हो। उस समय मेरे सारे अङ्ग तुम्हारा परम सुखप्रद संस्पर्श प्राप्त कर धन्य और सुखी हो जाते हैं। श्यामसुन्दर ! समीप रहो या दूर——तुम रहते हो नित्य निरन्तर मेरे साथ ही। मेरे जीवनमें बाहर-भीतर सर्वत्र सदा बस, पूर्णरूपसे तुम्हीं छाये रहते हो।' यों कहते-कहते श्रीराधा आनन्दविभोर हो गयीं।

यों संयोग-सुख-सुधा-रस-
सागरमें दोनों हुए निमग्न।
उदित प्रेम निर्मल भास्कर हो,
मोह निशा कर देता भग्न॥

यों संयोग-सुखके सुधा-रस-समुद्रमें श्रीराधा-माधव दोनों निमग्न हो गये। जहाँ इस प्रकार प्रेमका निर्मल (परम-त्यागपूर्ण) सूर्य उदय होता है, वहाँ वह तुरंत ही अपने दिव्य प्रकाशसे सांसारिक इन्द्रिय-भोग-सुख-कामनारूपी मोहरात्रिका सर्वथा भङ्ग कर डालता है।

प्रेमास्पद-सुख-रूप त्यागमय
प्रेमराज्यके ये दो तत्त्व।
'मिलन वियोग' नित्य रसवर्धक
दोनों रखते परम महत्त्व॥

प्रेमास्पदके सुखरूप परम त्यागमय इस प्रेम-राज्यके——'मिलन' और 'वियोग' रूप ये दो तत्त्व हैं। ये नित्य-निरन्तर पवित्र प्रेमरसको बढ़ाते रहते हैं। इन दोनोंका ही प्रेमराज्यमें परम महत्त्व है।

◆

सबमें सब ओर श्यामसुन्दर

सखि ! क्या हुआ ? मुझे अब नहीं दिखायी देता तन तेरा।
दीख रहा मुसकाता केवल मधुर श्यामसुन्दर मेरा॥
अनल-अनिल-आकाश-धरा-जल सबमें मधुर कराता स्पर्श।
मनुज-दनुज-सुर-पशु-पक्षीमें छिपा, दिखा मुख देता हर्ष॥
स्वप्न-जगत्में भी रहता नित मधुर श्यामसुन्दर छाया।
मोहन मुख दिखलाता, हरकर मिथ्या सभी मोह-माया॥
रहा नहीं कुछ भी, कोई भी, एक श्यामसुन्दरको छोड़।
सबमें सभी ओर दिखता है मधुर मुसकुराता रणछोड़॥

भारतीय मूर्तियाँ और चित्र आपको प्रेरक शान्ति-संदेश देते हैं

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०, साहित्यरत्न, विद्याभास्कर)

एक शान्तिदायक अनुभव

श्रीरोनाल्ड निक्सनको पहली जर्मन-लड़ाईके बाद बड़ी अशान्ति हुई। आप उस युद्धमें हवाई जहाजके युद्ध-अफसर थे। उन्हें हत्या, मारकाट, मृत्युका ताण्डव, खूँरेजी, भयङ्कर रक्तपात, सैकड़ों लाशोंको देखना पड़ा था। इन भीषण दृश्योंको देखकर उनके मनमें बड़ी उथल-पुथल और अशान्ति पैदा हो गयी थी। उनका मन बुरी तरह बेचैन और असंतुलित हो गया था। दिन-भर बेचैन रहते थे। चेहरा अशान्त, तो मन उद्विग्न! उनके मनको शान्ति, संतोष और धैर्य देनेवाली कोई बात न रह गयी थी। वे बड़े अनमने और संतप्त रहते थे।

संयोगकी बात, एक बार उन्होंने अपने ध्यानको केम्ब्रिज विश्वविद्यालयमें मौजूद बुद्ध भगवान्‌की शान्त, मुसकुराती, प्रेरणादायक मूर्तिपर लगाया।

अहह! कितना मोहक-मादक था बुद्धका वह चेहरा। उसके पीछेसे जैसे शान्तिदायक संदेश निकल रहा था, 'हे ईश्वरके पुत्रो! तुम्हारा जीवन शान्ति और तृप्तिके लिये है। आनन्दित और प्रसन्न रहनेके लिये है। मुसकुराते रहिये। तृप्त रहिये। चिन्ताको त्याग दीजिये।' ऐसा लगता था कि उस मूर्तिसे ये उत्साहवर्द्धक विचार तेजीसे निकल रहे हों।

जैसे शीतल फुहारोंसे धीरे-धीरे अग्नि शान्त हो जाती है, वैसे ही भगवान् बुद्धकी मधुर मूर्तिके दर्शन करने तथा उसपर अपना ध्यान केन्द्रित करनेसे श्रीरोनाल्ड निक्सनको अकथनीय शान्ति मिली। तबसे वे पूर्वीय साधनाओंके अनुगामी बन गये और अपना समय इन्हींमें बिताया।

यह अनुभव प्रो० लालजीराम शुक्लने अपने अंग्रेज मित्रके विषयमें लिखा है। इसी प्रकारका एक अनु अमेरिकन लेखक श्रीडेल कार्नेगी महाशय लिखते हैं—

'जब कभी मुझे किसी सांसारिक चिन्ता या कठि का अनुभव होता है, मैं परेशान-सा हो उठता हूँ, मैं वाशिंगटनके राजप्रासादमें रक्खे हुए प्रेसीडेण्ट लि के शान्त चित्रपर अपना ध्यान जमाता हूँ। इससे मनमें शान्त-भाव, साहस और नयी प्रेरणाएँ आ जा हैं। मैं तरोताजा हो अपने कर्तव्यमें फिर जुट जाता हूँ

भारतीय चित्रों और मूर्तियोंमें असीम प्रेरणाएँ दिव्य संदेश छिपे हुए हैं। ये चित्र या मूर्तियाँ दिव्य महापुरुषों, वीरों, नेताओं, धर्मप्रचारकों, विद्वा पथ-प्रदर्शकों, समुन्नत आत्माओंके हैं, जो प्राचीन का हम और आपकी तरह इसी भौतिक संसार, समाजके प्राणी थे। इसी पृथ्वीपर चलते-फिरते हमारी तरह हर्ष, शोक, विषाद, उत्साह, दर्प, करते थे; पर जो अपने उद्देश्यों और विचारोंके निरन्तर गतिमान् रहे, प्रयत्नशील रहे, मर मिटे अमर हो गये। जन-मानसमें सदाके लिये बस ग उनके शील, गुण, विचार, मान्यताएँ, विश्वास, सं जनतापर स्पष्ट हो गये। प्रत्येक व्यक्ति उनके चित्रों पृष्ठ-भूमिसे आज भी उन्हींकी गुप्त शक्तियोंको और अद्‌ सामर्थ्य तथा शक्तिको खींचता है।

चित्र और मूर्ति-दर्शनकी गुप्त मनोवैज्ञानिक प्रक्रि

घरमें रक्खी हुई प्रत्येक मूर्ति या चित्र एक वाता निर्माण करता है। मनुष्यके चर्मचक्षुओंसे जो मूर्तियाँ या आकृतियाँ, दृश्य या वातावरण प्रति दिखायी देता है, पुनः-पुनः जिन चित्रोंपर हमारी पड़ती है, उन सबका गुप्तरूपसे सूक्ष्म प्रभाव

गुप्त मन (Unconscious mind) पर पड़ता रहता है। चुपचाप हमारा मन इन चित्रोंके संदेशों, विचारों या प्रेरणाओंको ग्रहण करता जाता है। इन चित्रों अथवा मूर्तियोंमें चित्रित भावनाओं, स्थितियों और मुद्राओंके अनुसार हमारे मनरूपी परदेपर वैसे ही शुभ-अशुभ विचार उत्पन्न होते हैं और वैसी ही मनःस्थितियाँ बनती हैं। ये मानस-चित्र सदा अपने साथ कुछ विशेषताएँ या गुण-अवगुण लिये रहते हैं। चित्रोंके विचार धीरे-धीरे हमारे सम्पूर्ण शरीर और मनमें व्याप्त हो जाते हैं। मनके कण-कणमें प्रविष्ट होकर उसे तरोताजा और स्फूर्तिमान् कर देते हैं।

मनुष्यका गुप्त मन कैमरेके सूक्ष्मदर्शी लेन्सकी तरह है। कुछ कैमरोंकी शक्ति इतनी तीव्र होती है कि उनसे बहुत सूक्ष्म और सच्चे बोलते-से चित्र खिंच जाते हैं। बाहरका जैसा दृश्य होता है, वह कैमरेमें नेगेटिव-रूपमें आ जाता है। फिर इन्हींको पोजेटिवमें छापनेपर स्पष्ट आकृतियाँ आ जाती हैं। छोटे-से कागजपर बाह्य जगत् या व्यक्तिके सब अवयव या दृश्य उभर आते हैं।

इसी प्रकार हमारे घरों, दूकानों, पाठशालाओं या अपने इर्द-गिर्द जिन चित्रोंको हम प्रतिदिन देखते हैं, चुपचाप अपने मनरूपी कैमरेपर अङ्कित करते चलते हैं। ये गुप्त मनमें जम जाते हैं। इन चित्रोंमें अङ्कित हाव-भाव, मुख-मुद्राएँ, आकृतियाँ, शुद्ध या अशुद्ध विचार, उनमें व्याप्त भावनाएँ और आदर्श भी अङ्कित होते जाते हैं। हमारे आसपास या दृष्टिके सामने जो चित्र अनेक बार आते हैं, वे सदा चुपचाप हमें अच्छी या बुरी प्रेरणाएँ दिया करते हैं। उनमें चित्रित व्यक्तियों, नेताओं, देवी-देवताओं, धर्म-प्रचारकों, ऐतिहासिक महापुरुषों और भव्य आत्माओंके गुणोंको हम अपने चरित्रमें धारण करते और अज्ञात रूपसे क्रमशः उन्हीं-जैसे बनते जाते हैं।

चित्रों और मूर्तियोंकी एक भाषा है

जैसे लेखक शब्दोंके माध्यमसे अपने विचार प्रकट करता है, गायक स्वरके माध्यमसे अपना संदेश देता है, वैसे ही चित्रकार रंगों तथा आकृतियोंसे अपनी बात कहता है। चित्रकार जिस भाषामें अपने विचार प्रकट करता है, वही उसका चित्र है। वह चित्रके माध्यमसे आपसे कुछ बातोंको कहना चाहता है, जिसे बुद्धिमान् देखनेवाले समझ सकते हैं। उसके चित्रमें व्याप्त गुप्त संदेशोंको ग्रहण कर सकते हैं।

हमारे अवतारों तथा देवी-देवताओंकी, रामायण-महाभारत-पुराणोंमें वर्णित भव्य कथाओंसे सम्बन्धित धार्मिक चित्रोंकी हर-एक आकृतिमें, हाव-भाव, अङ्ग-प्रत्यङ्ग, मुख-मुद्राओंमें सर्वत्र दिव्य संकेत भरे रहते हैं। समझदार व्यक्ति इनसे पुराने प्रसङ्ग याद कर लेता है। उनके गुप्त मर्मको जीवनमें उतारता है और उनके द्वारा जीवनको ढालता है।

अध्यापन करनेवाले बन्धु जानते हैं कि जो विचार विद्यार्थियोंके मनपर स्थायी रूपसे अङ्कित करने होते हैं, वे दीवारपर टँगे नक्शों, चार्टों, चित्रों, मूर्तियों और काले तख्तेपर अङ्कित विविध रेखाओंद्वारा किये जाते हैं। बच्चे जो चित्र बार-बार देखते हैं, वैसे ही भाव ग्रहण करते जाते हैं। यही आदत बड़े मनुष्यकी भी है। वह भी अपने इर्द-गिर्द जिन चित्रोंको देखता है, वैसा ही बनता जाता है। इन चार्टोंकी सहायतासे अध्यापकका भाषण बच्चेका अविकसित मन सहज रूपमें ग्रहण कर लेता है। ये शब्द उसके कान सुनते हैं और नेत्र चित्रोंसे एक विशेष भावको ग्रहण करते हैं। इस प्रकार चित्र और मूर्तियाँ हमारे पुराने संस्कारोंको बदलकर नये शुद्ध सात्त्विक और पवित्र संस्कारोंका निर्माण करते हैं।

ऊपर चित्रोंसे बच्चोंके कोमल मनपर होनेवाले मनोवैज्ञानिक प्रभावोंका संकेत किया गया है। वैसा ही

प्रभाव विकसित दिमागोंपर भी पड़ता रहता है। हम अपनी अच्छी या बुरी प्रवृत्तियोंके अनुसार चित्र चुनते हैं, फिर उन्हींके भावोंको गुप्त मनमें धारण करते हैं। कभी-कभी बड़ी उम्रके व्यक्तितकको यह मालूम नहीं हो पाता कि उसने गलत चित्रोंका चुनाव कर लिया है और वह उनसे गलत संकेत (Suggestions) पा रहा है।

उत्तेजक और अश्लील चित्रोंका दूषित प्रभाव

सिनेमामें चलते-फिरते, प्रायः उत्तेजक अश्लील चित्र रहते हैं। अभिनेता और अभिनेत्रियोंके हाव-भाव, विविध मुख-मुद्राएँ दर्शकोंके मनपर तेजीसे अङ्कित होती हैं; क्योंकि चल-चित्रोंकी तस्वीरें बोलती-गाती और चलती-फिरती हैं। हाव-भाव करती हैं, परस्पर बातचीत, नृत्य इत्यादि कार्यकलाप करती हैं। हमें अपनी ओर आकृष्ट करती, लुभाती हैं। प्रायः फिल्मोंके चित्र कुरुचिपूर्ण होनेसे कामोद्दीपक दृश्य हमारा गुप्त मन पकड़ लेता है। बार-बार गंदे फिल्म देखनेसे ये वासनाएँ संस्कारोंके रूपमें बदल जाती हैं। फिर हम अपने दैनिक जीवनमें वही कार्य करने लगते हैं। अतः अश्लील एवं उत्तेजक चित्रोंको देखना पापसे कम नहीं है। गंदे फिल्म मानसिक पापकी सृष्टि करते हैं; क्योंकि इन्हींसे नैतिक पतन प्रारम्भ होता है। एक बार मनमें कुवासना जग जाती है या मनुष्यकी पापमय वृत्तियाँ उमड़ उठती हैं, तो बड़े अनर्थ कराती हैं। अतः इन उत्तेजक चित्रोंसे सावधान रहनेका उपदेश दिया गया है—

अपेहि मनसस्पतेऽप क्राम परश्चर।
(अथर्ववेद २० । ९६ । २४)

मानसिक पापोंसे सदा सावधान रहिये। उनका परित्याग कर दीजिये। मनसे उन कुवासनाओंको निकाल दीजिये, जो दुष्कर्म कराते हैं।

अपास्मत् सर्वदुर्भूतम्। (अथर्ववेद ३ । ७ । ७)

हे मनुष्यो ! अपने गुप्त मनके सब दुर्भावों, मनोविकारों और कुवासनाओंको निकाल बाहर कर बाहरी शत्रु उतनी हानि नहीं कर सकते हैं, जित आन्तरिक शत्रु करते हैं।

अश्लील और गंदी वासनाओंको भड़कानेवाले चित्र रूपी शत्रुओंको घर, परिवार, दूकानों, संस्था निकाल दीजिये।

चित्रोंका चुनाव सावधानीसे कीजिये

आप मित्रोंका चुनाव, घरमें रिश्तेदारों, नये सम्बन् वर-वधू इत्यादिके चुनावमें बड़ी सावधानी बर्तते हैं उसी प्रकार प्रत्येक चित्र भी आपका एक मित्र ही है यदि मित्र गंदा है, तो उसके कुसङ्गसे निश्चय ही आ अवनतिकी ओर चलेंगे। इसलिये ऐसे चित्र चुनि जिनसे मनमें शुभ विचार ही उत्पन्न हों; मनमें उत्साह पौरुष, साहस और नवप्रेरणाएँ ही आयें।

सर्वश्रेष्ठ चित्र हिंदू-धर्म, भारतीय संस्कृति, तीर्थ-स्थान पावन प्रसंगोंसे सम्बन्धित हो सकते हैं, जिनसे देश गौरवमयी संस्कृति स्मृतिपटलपर अङ्कित रहे। वेद, पुरा गीता, रामायण, महाभारत इत्यादि पवित्र ग्रन्थों सम्बन्धित असंख्य चित्र आपको प्राप्त हो सकते हैं। दे देवताओं—भगवान् राम, भगवान् श्रीकृष्ण, हनुमान विष्णु, शिव, आदर्श धर्मगुरुओं, नेताओं तथा ऐतिहासि महापुरुषोंके चित्र हमें सत्पथपर चलाते हैं। प्राकृति दृश्योंके चित्र हमें प्रकृतिके साहचर्यकी भव्य प्रेरण देते हैं। हमारे देवत्वको निखारते हैं।

योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण, मर्यादापुरुषोत्तम भगव श्रीराम, भगवान् गौतम बुद्ध, वीरवर शिवाजी, महारा प्रताप, गुरु गोविन्दसिंह, लोकमान्य तिलक, महा गाँधी, महामना मालवीयजी इत्यादिके चित्र तो प्रत्ये घरमें रहने अनिवार्य हैं। इनसे घरमें पवित्र आत्मा का स्थायी और प्रेरक निवास रहता है।

वे ही चित्र चुनिये, जिनमें मुख-मुद्राएँ प्रसन्नता, मधुर मुसकानसे युक्त तथा उल्लासमय हों। जिनसे मन तरोताजा रहे, शान्ति और नव प्रेरणाएँ पाता रहे। यह याद रखिये—

'अग्निना अग्निः समिध्यते।' (ऋग्वेद १।१२।६)

अग्निसे अग्नि और बड़ी आत्मासे छोटी आत्मा प्रदीप्त होती है। महान् पुरुषों, हिंदू देवी-देवताओंके चित्र दीप्तिमान् आत्माओंके चित्र हैं। इन चित्रोंरूपी दीप्तिमान् आत्माओंके शान्तिदायक और प्रेरक वातावरणमें रहकर अपनी आत्माको प्रदीप्त कीजिये।

मानव-देह किसलिये ?

(लेखक—श्रीलक्ष्मीनारायणजी 'अलौकिक')

'संसारमें कोई भी कार्य प्रयोजनरहित नहीं होता है'—इस सिद्धान्त अथवा नियतिगत सत्यके आधारपर हमें मानव-देहकी लक्ष्यभूत कार्यप्रणालीका निश्चय करना चाहिये। यदि हम इतना भी नहीं सोच सकते कि 'मानव-देह किसलिये ?' तो सचमुच यह बड़े दुर्भाग्यकी बात होगी। उदरपोषण, धनार्जन, विलास-वैभव एवं संततिप्रवाह ही आजके मानवका जीवनलक्ष्य दृष्टिगोचर होता है। सही, पर उस लक्ष्यतक भी मानव कहाँ पहुँचता है ? एकाधिक अभावसे सभी घिरे हुए हैं। धन्य पुरुष तो वे हैं जो अपने जीवनमें किसी अभावका अनुभव नहीं करते तथा मरणोत्तर आनन्दकी प्रशस्त राशि प्राप्त करते हैं। किंतु ऐसा स्वयं ही नहीं हो जाता, कुछ करना भी पड़ता है। 'क्या करना पड़ता है ?' इस प्रश्नके अन्तर्द्वारसे हम शुभ-अशुभ कर्मोंके परिणामकक्षमें पहुँच सकते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
(गीता १८।६१)

'हे अर्जुन! सभी स्थावर-जङ्गम प्राणियोंके हृदय-यन्त्रमें स्थित वह सर्वव्यापी परमात्मा अपनी मायासे सभी जीवोंको उनके कर्मानुसार भ्रमाता है।' इसी ज्ञानतत्त्वको एक संत सीधी-सादी भाषामें इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

चार बेद छह शास्त्र में बात लिखी है दोय।
दुख दीने दुख होत है सुख दीने सुख होय॥

इस पदमें कर्म-अकर्मकी परिभाषा भी देखनेको मिल गयी है। यह सच है कि मानव-देह कर्मभूमि है, जैसा करोगे वैसा भरोगे। इस तथ्यसे संसार अवगत है। फिर भी मानव जैसा अपने साथ चाहता है वैसा दूसरोंके साथ नहीं बर्तता। यही कारण है जो मानवको सुख और शान्तिके केन्द्रतक नहीं पहुँचने देता। लक्ष्य कुछ और निर्धारित करते हैं तथा चलते दूसरी तरफ हैं। इसलिये कि लक्ष्यका मार्ग प्रत्यक्षमें अप्रिय भासित होता है। उसी तरह जैसे रोगीको कड़वी दवा। पर आरोग्य चाहनेवाला रोगी कड़वी ओषधिको भी आनन्दसे पी जाता है और पीता रहता है। वह आरोग्यकामनामें इतना तन्मय रहता है कि उसे ओषधिके स्वादका पता भी नहीं चलता। इसी तरह यदि हम अपने लक्ष्यकी ओर बढ़ चलें तो कोई भी अवरोध हमें विचलित नहीं कर सकेगा। सत्यविद्यासे परिचित होना एवं सनातनदेवकी अन्तरङ्ग सांनिध्यता प्राप्त कर लेना, जीवन-लक्ष्य-वाटिकाके नित नव प्रसून हैं जो चित्ताकर्षक तो हैं ही, आत्मानन्दकी सरलतासे युक्त भी हैं। यजुर्वेद कहता है—

देवस्य चेततो महीम्प्र सवितुर्हवामहे।
सुमतिꣳ सत्यराधसम्॥ (अध्याय २२ मन्त्र ११)

अर्थात् मनुष्यो! जिस परमदेवने अपनी चेतनस्वरूप

क्षमतासे इस विशाल सृष्टि-काननको उत्पन्न किया है, उसकी नित्य उपासना कर सुन्दर विनिश्चयात्मक बुद्धि धारण करो, जिससे जीव सत्यरूपी ब्रह्मको सिद्ध और साक्षात् कर मोक्षकी ओर अग्रसर होगा।

हमें चाहिये कि हम परमात्माकी भक्तिका आलम्बन लेकर आत्मकल्याणके पथपर निर्भीकतासे बढ़ चलें।

कोप या कृपा

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'मातः !' बड़ा करुण स्वर था हिमभैरवका। यह उज्ज्वल वर्ण, स्वभावसे स्थिर-प्रशान्त, यदा-कदा ही क्रुद्ध होनेवाला रुद्रगण बहुत कम बोलता है। बहुत कम अन्य गणोंके सम्पर्कमें आता है। उग्रताकी अपेक्षा सौम्यता ही इसमें अधिक है। साम्बशिवकी एकान्त सेवा और स्थिर आसन; किंतु जब इसे क्रोध आता है—अन्ततः भैरव ही है, पूरा प्रलय उपस्थित कर देगा। किंतु आज यह बहुत ही व्यथित जान पड़ता है।

'तुम इतने कातर क्यों हो वत्स ?' जगदम्बा शैलसुताने अनुकम्पापूर्वक देखा।

'ऋषिकुमार वर्चाने शाप दे दिया मुझे !' रोते हुए हिचकी बँध गयी हिमभैरवकी—'यक्षराजके सरोवरमें स्नान करके वे लौट रहे थे। सुकोमल हिममें चरणपात उन्होंने अपनी ही असावधानीसे किया; किंतु जब गिरे, रोष उन्हें मुझपर आया। उन्हें कोई आघात नहीं लगा। केवल जटाओं एवं वल्कलमें हिमकण भर गये थोड़े-से और वे कहते हैं कि 'हिमभैरव अब ऋषिकुमारोंसे परिहासका प्रमाद करता है। उसे भगवान् शंकरके श्रीचरणोंमें रहनेका अधिकार नहीं। वह मनुष्य-जन्म ले!' आपके इन श्रीचरणोंसे पृथक् यह किंकर····।'

'डरो मत पुत्र !' अत्यन्त कातर, अपने चरणोंको अश्रुधारासे धोते गणको वात्सल्यकी उन अधिदेवताने अपने श्रीकरोंसे उठाया—'ऋषिकुमारकी वाणीको अन्यथा नहीं किया जा सकता; किंतु उन्होंने मनुष्य-जन्म लेनेका ही तो शाप दिया है। मर्त्यलोकमें निवासकी अवधि तो निश्चित की नहीं है। तुम जन्म लो और फिर अविलम्ब वह देह त्यागकर मेरे समीप आ जाओ!'

'मैं भुवनेश्वरीको अम्बा कहता हूँ और अब कोई सामान्य मानवी मेरी जननी बनेगी !' हिमभैरवका रुदन रुका नहीं—'अपवित्र मर्त्यधरा मेरी जन्मभूमि और यमके दूत—रोग मुझे पराभव देंगे—मेरी मृत्युके हेतु बनेंगे !'

'यह सब तुमसे किसने कहा ?' माता पार्वतीने पुचकारा स्नेहपूर्वक—'मेरी प्रिय सखी बलया—नन्दीश्वरके शापसे वह मर्त्यनारी बनी। उसका निर्वासन मुझे व्यथित करता है। तुम उसकी गोदमें जा सकते हो। उसे भी तो तुम अम्बा ही कहते थे। तुम्हारा जन्म मेरे इस दिव्य प्रदेशमें होगा और मुझे बलयाको भी तो मुक्त करना है। मुक्त हो जायँगे उसके सम्पर्कमें आनेवाले अन्य बहुत-से परिपूत प्राणी। तुम्हारा यह हिम तुम सबको शरीर-बन्धनसे मुक्त करेगा !'

'अनुकम्पा माताकी !' हिमभैरवने नेत्र पोंछ लिये। जगदम्बाके ज्योतिर्मय श्रीचरणोंपर उसने मस्तक रक्खा—'अल्पतम अवधि वियोगकी बने इस शिशुके लिये !'

× × ×

'नाथ ! जबसे सावधान हुई, सचेत हुई बड़ी नन्दाकी जत किसी वर्ष चुकाया नहीं मैंने। भगवती नन्दा (पार्वती) हम पर्वतीय जनोंकी परमाराध्या हैं।'

महारानी बलयाने एकान्तमें बड़े ही अनुरोधभरे स्वरमें प्रार्थना की—'यात्राका समय समीप आ रहा है। महाराज अनुग्रह करें! मैं आपको साथ चलनेका आग्रह नहीं करती; किंतु अनुमति प्राप्त हो इस सेविकाको!'

'कठिन यात्रा है और इस समय तुम सरल यात्राके योग्य भी नहीं हो!' कान्यकुब्जेश्वर महाराज यशधवल-का मुख गम्भीर हो गया। दो क्षण वे कुछ सोचते रहे—'किंतु इस अवस्थामें तुम्हारी किसी आकाङ्क्षाको भग्न करना भी ठीक नहीं है। यात्राका संकल्प पवित्र है। मैं साथ चलूँगा और सब सुविधा रहेगी; किंतु एक अनुरोध मेरा भी मानना होगा तुम्हें। यात्राकी किसी भी सीमासे तुम पदयात्रा करनेका आग्रह नहीं करोगी!'

'नहीं करूँगी देव!' महारानीने स्वीकार किया! महाराज यशधवलको बड़ा प्रेम है अपनी इस पर्वतीय महारानीसे और अब तो महारानी अन्तर्वत्नी हैं। राज्यके प्रमुख ज्योतिषियोंने बताया है कि महारानीकी कुक्षिमें कुमार है। महाराजका और आदर बढ़ गया है महारानी बलयाके लिये।

यात्राका आदेश मिला सैनिकोंको और साथमें चिकित्सक, परिचारक आदि सबकी व्यवस्था हुई। यात्राके उत्सुक श्रद्धालुजनों तथा साधुओंको भी महाराज यशधवलने साथ ले लिया। उनके आहार-विश्रामकी व्यवस्था भी राजाने की।

आजके समान तीर्थयात्रा सुगम नहीं थी। वैसे 'बड़ी नन्दाकी जत' आज भी गढ़वालमें कठिन यात्राओंमें है और यह घटना तो आजसे लगभग ६ शती पूर्वकी है। मार्गमें शिविर पड़ते, कथा-कीर्तन, साधु-ब्राह्मणोंका सत्कार और मार्गके तीर्थोंपर स्नान-दान करते यह तीर्थयात्रीसमूह जा रहा था। कई मास मार्गमें लगेंगे, यह स्वाभाविक तथा पहलेसे जानी-समझी बात थी।

महाराज यशधवल जब 'गंगतोली' पहुँचे, महारानी बलयाको प्रसव-वेदना प्रारम्भ हुई। सैनिकों, बहुत-से सेवकों तथा साथके तीर्थयात्रियोंको महाराजने आगे चलनेका आदेश दिया और स्वयं महारानीके साथ रुक गये। चिकित्सक, परिचारक आदि थोड़े-से व्यक्ति गंगतोलीमें रुके। आगे जानेवाले दलने जिबरागिली ढालपर पड़ाव डाला था उस समय जब गंगतोलीमें महारानी बलयाकी गोदमें एक उज्ज्वल-हिमवर्ण पुत्र आया।

× × ×

'मातः!' भगवती उमाके सम्मुख आज उपस्थित थे भगवान् रुद्रके वे गणप्रमुख जिनके ऊपर हिमालयके पुण्यस्थलोंकी पवित्रताको अक्षुण्ण रखनेका दायित्व है। उन्होंने प्रार्थना की—'राजा यशधवलने नन्दाक्षेत्रकी पवित्रता भङ्ग की है। उस क्षेत्रमें उसकी रानीके पुत्र होनेसे क्षेत्र अशुचि हुआ है। रानी बलया आपकी अनुग्रह-भाजना हैं और उनका नवजात पुत्र तो आपका किंकर हिमभैरव—····हम श्रीचरणोंकी आज्ञाके बिना कोई दण्ड-विधान करनेका साहस अपनेमें नहीं पाते।'

'बलया मेरे सांनिध्यसे बहुत काल निर्वासित रह चुकी और हिमभैरव तो प्रार्थना कर गया है कि उसके मर्त्य-शरीरकी आयु अल्पतम होनी चाहिये।' भगवतीने कृपापूर्वक आज्ञा दी—'इन दोनोंके जो भी सहचर हैं, उन्हें भी अब कैलास आ जाने दो! किंतु केवल हिमपातका ही विधान करना है तुम्हें। आधि-व्याधि या अन्य कोई दण्ड किसीको नहीं मिलेगा! किसीको कोई कष्ट अथवा आतङ्क प्रस्त नहीं होना चाहिये।'

'भगवतीकी जैसी *आज्ञा*!' गणप्रमुखोंने अञ्जलि बाँधकर मस्तक झुकाया।

दो क्षण पश्चात् सहसा अतर्कित हिमपात प्रारम्भ हुआ 'जिबरागिली ढाल' के प्रदेशमें। इतना *भयानक*

हिमपात कि किसीको उसे ठीक देखनेका समय भी नहीं मिला। उस ढालके ठीक नीचे 'रूपकुण्ड' है। जो लोग भी ढालपर थे, उनके शरीर हिममें जम गये और पीछे लुढककर हिमके साथ रूपकुण्डमें पहुँच गये।

ठीक उसी समय 'गंगतोली' पर बड़े जोरसे ओले पड़ रहे थे। इन ओलोंकी वर्षामें महाराज यशधवल अपनी पत्नी, नवजात पुत्र तथा सेवक-परिचारकोंके साथ निर्वाण प्राप्त हो गये।*

विज्ञानके आलोकमें शक्तिका स्वरूप

(लेखक—डॉ० कैलाशनाथजी मिश्र एम्० डी०, एम्० बी०, एच्० ए०)

या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥
(दुर्गासप्तशती ५। ३२-३३-३४)

'जो देवी समस्त भूतोंमें शक्तिरूपसे विद्यमान है उसे हमारा बारम्बार प्रणाम है।'

दुर्गासप्तशतीके उपर्युक्त श्लोकमें देवताओंने माँ दुर्गाकी जो स्तुति की है उसमें उन्होंने उसे शक्तिरूपमें पूजा है। शुम्भ और निशुम्भ—दो महादैत्योंसे पीड़ित होकर देवताओंने अपने कल्याणके लिये उपर्युक्त श्लोकसे भी उसकी प्रार्थना की थी और आज हम भी विनाशके इन क्षणोंमें भगवतीके उसी रूपपर जाते हैं।

प्रत्येक क्षण हम शक्तिके विविध रूपोंको देखते हैं, इसके कार्यकलापोंसे परिचित होते रहते हैं। यह सभी जानते हैं कि शक्तिके बिना सब कुछ निष्क्रिय है। सोचने, विचारने और लिखने-पढ़नेसे लेकर जीवनके प्रत्येक क्षणमें हमें शक्तिकी अनिवार्य आवश्यकता पड़ती है। शक्तिके बिना न तो कोई जीवन सम्भव है और न तो सृष्टिका अस्तित्व ही। सामान्य जीवनमें और भौतिकविज्ञान (Physics) में हम शक्ति या ऊर्जाके विविध रूपोंको देखते और अध्ययन करते हैं। प्रकाश, विद्युत्, ताप तथा चुम्बक इत्यादिका अध्ययन विज्ञानका प्रत्येक विद्यार्थी करता है और जानता है कि यह शक्ति या ऊर्जा (Energy) है, पर जिस विद्युत्-शक्तिसे वर्तमान युगका तमाम चमत्कार हम देख रहे हैं, जिस ताप-शक्तिसे सृष्टिका पालन हो रहा है और जिस प्रकाश-शक्तिसे हम जीवन धारण कर रहे हैं, उन शक्तियोंको किसीने कभी देखा है? नहीं। शक्ति अदृश्य है। प्रकाशको किसीने नहीं देखा है। यह प्रकाशशक्ति अदृश्य होते हुए भी समस्त वस्तुओंको देखनेमें हमें समर्थ बनाती है, इसी प्रकार अन्य शक्तियाँ भी अदृश्य हैं।

हिंदू-धर्मग्रन्थोंमें सम्पूर्ण चराचर जगत्को ब्रह्मका स्वरूप बताया गया है। हम चराचर जगत्को शक्तिका स्वरूप मानकर बादमें ब्रह्म और शक्तिके स्वरूपको समझेंगे। हाँ! तो ये समस्त दृश्य और अदृश्य पदार्थ, समस्त दृश्य और अदृश्य संसार शक्तिका ही रूप है। वर्तमान युगके महान् विज्ञानवेत्ता आइन्सटीनने गणितीय विधियोंसे यह सिद्ध किया था कि पदार्थ कुछ नहीं ऊर्जा या शक्ति है और ऊर्जा कुछ नहीं पदार्थ है और यह भी कि प्रकाशको पदार्थ-रूपमें बदला जा सकता है। हम जानते हैं कि प्रकाश पदार्थ नहीं है, शक्ति (Energy) है; पर जब शक्तिको पदार्थ-

---

* चमोली जिलेमें मोटर बसके अड्डे 'ग्वालडाम' से ४१ मील दूर 'रूपकुण्ड' है। यह समुद्रकी सतहसे १६००० फीट ऊँचाईपर है और इसके चारों ओर खड़ी दीवारके समान पर्वत ८० से २५० फीट ऊँचे हैं। इसके ठीक ऊपर 'जिवरागिली ढाल' है। इससे १० मील दूर 'होमकुण्ड' है। इस रूपकुण्डसे बहुत-से अस्थि-पञ्जर गत दो वर्ष पूर्व मिले थे। साथ ही कुण्डसे तलवारें, ढाल, सैनिक वस्त्र, भाले, कमण्डलु, मालाएँ आदि भी मिली थीं। पुरातत्त्ववेत्ताओंने इन अस्थिपञ्जरोंको छः सौ वर्ष पुराना बताया है। यद्यपि 'ये अस्थिपञ्जर किनके हैं'—इस सम्बन्धमें इतिहासज्ञोंने अनेक प्रकारके अनुमान लगाये हैं और उनमें ऐकमत्य नहीं है; किंतु कुमाऊँ प्रदेशमें प्रचलित 'जागर' लोकगीतोंमें जो इस सम्बन्धमें कथा है, उसीका आधार इस कहानीमें लिया गया है। हिमालयमें अब भी ऐसे दिव्य क्षेत्र हैं—मुझे मिले हैं, जहाँ मल-मूत्र या थूक डालना मना है और कोई यह मर्यादा तोड़े तो वहाँ ओले पड़ने लगते हैं। —लेखक

रूपमें बदला जा सकता है तो पदार्थ भी शक्तिका रूपान्तर होगा। यह तो पहले ही जान लिया गया था कि एक शक्तिको दूसरी शक्तिके रूपमें बदला जा सकता है; जैसे—विद्युत्-शक्तिको बल्वमें स्थित विद्युत्-निरोधक तन्तु (Resistant wire) की सहायतासे प्रकाश-शक्तिमें बदलकर; उसी विद्युत्-निरोधक तन्तुकी सहायतासे विद्युत्को ताप-शक्तिमें बदलकर और उसी विद्युत्-धाराको लोहेपर लपेटे हुए तारमेंसे प्रवाहित करके चुम्बक-शक्तिमें बदलकर । पर यह शक्तिको पदार्थरूपमें बदलनेका सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । पदार्थमें एक निश्चित भार होता है और जब शक्तिको पदार्थमें बदला गया तो उसका भी भार होना चाहिये । पर यह भार क्या है ? चूँकि भार तुलनात्मक ही होता है, इसलिये उसकी एक इकाई भी है, जिससे अन्योंकी तुलना है। यह इकाई सबसे सूक्ष्मसे प्रारम्भ होती है जैसे भौतिक शास्त्रमें हाइड्रोजनसे। हाइड्रोजन ही भारकी इकाई है। पर चूँकि शक्तिका भार अबतक नहीं जाना जा सका (यद्यपि पदार्थरूपमें इसका भार होना चाहिये) इसलिये कि यह सूक्ष्मतम है, अतः अब शक्तिको ही सबका मूल, सबकी इकाई मानना होगा और इसी प्रकार आइन्सटीनके उसी सिद्धान्तके अनुसार यह भी होगा कि इस चराचरके समस्त सूक्ष्म और स्थूल पदार्थ शक्तिके ही रूप हैं और इन शक्तियोंकी इकाई भी कोई महाशक्ति है । बदला हुआ रूप इसलिये कि द्रव्यका कभी नाश नहीं होता । उसका रूपान्तर ही होता है । रसायनशास्त्र (Chemistry) का आधार यही सिद्धान्त है कि द्रव्य अविनाशी है; सात सेर लोहा और चार सेर गन्धक मिलानेसे ग्यारह सेर ही लौह सल्फाइड बनता है । यद्यपि लौह सल्फाइडमें लौह या गन्धक किसीका गुण भी विद्यमान नहीं है, तो भी इस यौगिकके भारमें कोई अन्तर नहीं पड़ा। दो परमाणु हाइड्रोजन और एक परमाणु ऑक्सीजनके मिलनेसे एक अणु जलका बना। इस जलमें न तो हाइड्रोजनके गुण हैं और न ऑक्सीजनके ही, पर द्रव्यका नाश यहाँ भी नहीं हुआ। इसी जलको विद्युत्-धारासे विभाजित कर हम फिर दो परमाणु हाइड्रोजन और एक परमाणु ऑक्सीजनको प्राप्त कर सकते हैं। प्रकृति अपना गुण परिवर्तित कर देती है, उसका नाश नहीं होता।

जिस प्रकार द्रव्यकी अविनाशिताका नियम है, उसी प्रकार (Thermochemistry) में शक्तिकी अविनाशिताका नियम (Law of Conservation of Energy) आता है। शक्ति न तो शून्यसे उत्पन्न की जा सकती है और न तो शून्यमें इसका लय हो सकता है। इसको इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि जब द्रव्य शक्तिका रूपान्तर है तो द्रव्यके अविनाशी होनेपर शक्ति भी अविनाशी है।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि यह स्थूल जगत् भी शक्तिका ही स्थूल रूप है, नहीं तो, तात्त्विक दृष्टिसे यह अवास्तविक है। इसमें यदि हम तर्क करें कि जो रूप या जो कुछ हम देख रहे हैं वह सत्य न होकर अवास्तविक कैसे हुआ ? तो हम स्वप्नावस्था और जाग्रदवस्थाका दृष्टान्त देंगे। स्वप्नमें हम जो कुछ देखते हैं, हमें सत्य प्रतीत होता है । स्वप्नमें मैथुन वीर्यपातका कारण होता है। स्वप्नमें जिस समय हम अपना जन्म-मृत्यु, दुःख-सुख इत्यादि देखते हैं, हमें वह पूर्ण सत्य प्रतीत होता है। उस समय वास्तविक संसारकी स्मृति हमें नहीं रहती। उस समय यह संसार ही असत्य होता है। पर पुनः जाग्रत् होनेपर वह स्वप्नका संसार असत्य और यह संसार सत्य प्रतीत होता है । तात्त्विक दृष्टिसे सत्य कोई भी नहीं है । चल-चित्रोंमें हम जो कुछ देखते हैं वह क्या है ? वह तो चित्र भी नहीं, चित्रकी छाया है । पर उसे देखकर क्या हमारे मनमें विभिन्न भाव नहीं उठते ? नायक-नायिकाओंके सुख-दुःखसे क्या हम सुखी या दुखी नहीं होते ? तात्त्विक दृष्टिसे तो वहाँ भी कुछ नहीं है, केवल प्रकाश और छायाका चमत्कार, एक प्रकारका दृष्टिभ्रम । 'थ्री डायमेन्शन' चित्रोंमें यह अनुभूति विशेषरूपसे होती है कि हम सत्य देख रहे हैं; क्योंकि जिन तीन परिमाणों लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाईसे इस जगत्की रचना हुई है,* इन्हीं तीन बातोंको इन चित्रोंमें स्थान दिया गया है। चलचित्रोंमें सभी चित्र रीलमें अलग-अलग होते हैं और उसमें यह सिद्धान्त काम करता है कि किसी भी दृश्यका प्रभाव हमारी आँखोंपर $\frac{१}{१०}$ सेकेंडतक रहता है और यदि इसी $\frac{१}{१०}$ सेकेंडके भीतर कोई दूसरा दृश्य आ जाय तो हम वास्तविक निर्णय नहीं कर सकते। किसी भी दृश्यको हम उसी समय नहीं देख लेते, वरं एक लाख छियासी हजारवें सेकेंडके अन्तरसे देखते हैं;

---

* एक चौथा आयाम कालका भी है पर मिस्नेब्स्कीने यह सिद्ध किया है कि काल दिक्से अलग नहीं और दिक्के समाप्त होनेपर काल भी स्वयं समाप्त हो जाता है।

क्योंकि प्रकाशकी गति यही है। यह हमारा दृष्टि-भ्रम ही है जो इन अलग-अलग चित्रोंकी छाया धाराप्रवाह रूपमें दिखायी देती है। ऐसा ही दृश्य और अदृश्य पदार्थोंमें भी होता है। विज्ञानके विद्यार्थी जानते होंगे कि गैसावस्था वह होती है जिसमें तत्त्व या यौगिकके परमाणु या अणु दूर-दूर तेजीसे घूमते हों। यही घूमनेकी तीव्रता और अणु-परमाणुओंकी दूरी यदि उच्च चाप और निम्न तापमानद्वारा कर दी जाय तो वह पदार्थकी द्रवावस्था होगी और यदि इसी द्रवके अणु-परमाणुओंकी दूरी और तीव्रता और अधिक उच्च चाप तथा अति निम्न तापमानद्वारा कम कर दी जाय तो वह पदार्थकी ठोसावस्था होगी। इससे यह सिद्धान्त निकला कि किसी वस्तुका दृश्य या अदृश्य होना उसके प्रकम्पोंपर आधारित है। यदि किसी स्प्रिंगके तारको जोरसे खींचकर छोड़ दिया जाय तो उसमें भीषण प्रकम्प पैदा हो जायगा। यह प्रकम्प (Frequency per second) जितना ही अधिक होगा, स्प्रिंग दिखायी नहीं देगी। ज्यों-ज्यों प्रकम्प कम होता जायगा, स्प्रिंग दिखलायी देती जायगी। इन हर अवस्थाओंमें स्प्रिंग स्थूल रूपमें विद्यमान थी, पर कम्पन अधिक होनेपर यह अदृश्य थी। मृगतृष्णा क्या है ? वायुके भिन्न-भिन्न घनत्वोंमेंसे विचलित पथसे आते हुए प्रकाशसे उत्पन्न दृष्टिभ्रम ही तो है ? हवाको किसने देखा है ? पर उसका अस्तित्व है कि नहीं। इस हवाको उच्च दाब और निम्न तापमानपर द्रव और ठोसका रूप दिया जा सकता है। यह हवाका दृश्य रूप हुआ। भाप, पानी और बर्फ—जलकी तीन अवस्थाएँ हैं। तात्त्विक दृष्टिसे सब जल ही है। कोयले और हीरेमें क्या अन्तर है ? दोनों ही कार्बन हैं। तो हम जो कुछ जिस रूपमें देखते हैं, वही अन्तिम सत्य नहीं है। यह विश्व इन्द्रजालका खेल है, जिसमें कुछ-का-कुछ भासित होता है।

इस समस्त चराचर जगत्के यावत् पदार्थ शक्तिका स्थूल रूप है, यह हम पहले ही बता आये हैं। चूँकि एक शक्तिको दूसरी शक्तिमें बदला जा सकता है तो एक पदार्थको दूसरे पदार्थमें भी अर्थात् लोहेको सोनेमें भी (भारतमें कीमिया रसायन—लोहेको सोनेमें बदल देनेकी विद्या प्राचीन है)। वैज्ञानिक दृष्टिसे तब हमें तत्त्वोंकी परमाणु-रचनापर ध्यान देना होगा। यदि एक तत्त्वके परमाणुके इलेक्ट्रॉनोंकी संख्या दूसरे तत्त्वके परमाणुके इलेक्ट्रॉनोंकी संख्याके बराबर की जा सके तो एक तत्त्व दूसरे तत्त्वमें परिवर्तित हो सकता है। इन सबका यह अर्थ हुआ कि सारे पदार्थ, सारी शक्तियाँ अलग-अलग प्रतीत होते हुए भी एक ही हैं, जिसे हम पहले ही इकाईके रूपमें माना है, जो अविनाशी है और जिस सबकी उत्पत्ति और जिसमें सबका लय है। शक्तिके सिवा औ कुछ नहीं। सारी सृष्टि शक्तिका ही रूप है। वही आदिशक्ति हमारी दुर्गा है, सरस्वती है, लक्ष्मी है। वही जगज्जननी औ महाकाली है।

विज्ञानकी दृष्टिमें शक्तिका स्वरूप जो ऊपर दिखाया ग है, उसका दूसरा अन्तिम विश्लेषण भी विचारणीय है। उ को निम्नलिखित प्रकारसे समझा जा सकता है।

सृष्टिका प्रत्येक पदार्थ अणु-परमाणुओंका समूह है विभिन्न प्रकारके अणु-परमाणु और विभिन्न प्रकारके पदार्थ प्रत्येक पदार्थ कुछ स्थान घेरता है तथा एक निश्चित काल बना रहता है। पर पदार्थ क्या ? यह अनेक छोटे टुकड़े अणु-परमाणुओंका समूह है। अब एक टुकड़ेको ले लीजि उसका छोटे-से-छोटा भाग और छोटा—और छोटा सोच रहिये और अन्त हुआ कि कुछ नहीं—शून्य। गणितशास्त्र किसी वस्तुको अनन्तसे विभाजित करनेपर वह शून्य हो जा है। तो पदार्थमात्र केवल अनन्त शून्योंके संघातके अति और क्या है ?

काल क्या है ? एक क्षण। नहीं उसका छोटे-से-छो अनन्तवाँ भाग······कुछ नहीं, शून्य। तो इस हिसा पदार्थ और काल दोनों ही अनन्त शून्योंका संघात है। ए प्रतीति है और कुछ नहीं।

यह अनन्तता **विशुद्ध** गति है और शून्यता विशु स्थिति। विज्ञानमें यही 'कन्टिनुअम' और 'क्वैन्टम' है तन्त्रशास्त्रमें यही नाद और बिन्दु। नाद अनन्त गति है, बि शून्यरूपा स्थिति। इस सृष्टिमें जो कुछ भी दिखायी देता वह नाद और बिन्दुका ही उन्मिषित रूप है, गति औ स्थितिका विलास है। नाद ब्रह्मकी इच्छा-शक्ति है, बि क्रिया-शक्ति। नाद शब्द है, बिन्दु रूप है। नाद पदरू प्रकट है तो बिन्दु पदार्थरूपमें।

नाद या शब्द क्या है ? वस्तुतः यह कम्पन है। विज्ञान 'वाइब्रेशन' और उपनिषदोंमें 'एजन' है। किसी वस्तुमें ज प्रकम्प होता है तो शब्द उत्पन्न होता है और किसी वस्त दृश्यमान या अदृश्य होना भी प्रकम्पोंपर ही आधारित है यह पिछले एक उदाहरणमें स्पष्ट है। और होते हुए दिखा न देना या न होकर भी दिखायी देना ही माया है।

प्रति सेकेंड बीससे चालीस हजार बारके कम्पन (Frequency per second) द्वारा उत्पन्न ध्वनिको हम सुन सकते हैं, इसके अपर या परवर्ती नादको नहीं। यही परवर्ती नाद अनहद-नाद है, जिसका योगीजन अभ्यास करते हैं। यही नाद ॐकाररूपमें नाद-ब्रह्म है।

बिन्दुको यदि हम गणितीय बिन्दु लें तो यह आयाम-रहित है। इस बिन्दुको एक गणितीय रेखा लपेटे हुए है जो इसके प्रत्येक भागको स्पर्श करती है, अर्थात् दोनों मिलकर एक बिन्दुमय हो जाते हैं। रेखा 'शक्ति' की वृत्तीय प्रकृति है, इसीलिये वस्तुओंमें वक्रता है। चूँकि किसी सरल रेखामें गति सम्भव ही नहीं है, इसीलिये प्रत्येक ग्रह-उपग्रह वक्र पथोंपर गतिशील हैं और इस प्रकार विविध ब्रह्माण्डोंका निर्माण करते हैं।

'इलेक्ट्रॉन थ्योरी' के अनुसार परमाणु सौर-मण्डलसे मिलता-जुलता एक लघु ब्रह्माण्ड है। इसके केन्द्रमें धनात्मक विद्युत् आवेशयुक्त प्रोटॉन (इस केन्द्रमें न्यूट्रान, पाज़ीट्रान, ही पार्टिकिल्स वगैरह भी हैं) है तथा इसके चारों ओर वृत्ताकार रूपमें तीव्र गतिसे चक्कर लगानेवाला इलेक्ट्रॉन है जो ऋणात्मक विद्युत् आवेशयुक्त है और विभिन्न कक्षाओंमें स्थित है। ये दोनों आवेश मिलकर परमाणुको संतुलित रखते हैं।

निऑनकी परमाणु-रचना

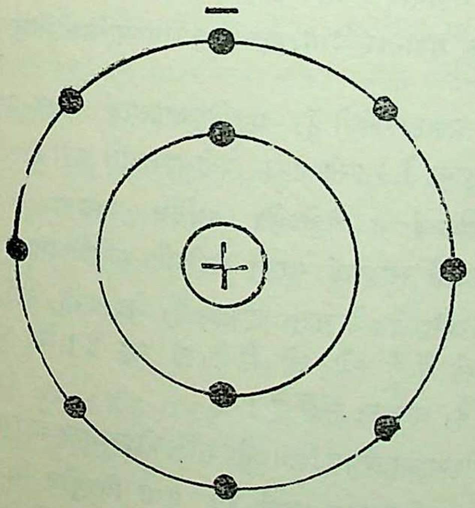

ऐसा ही सारे विश्वमें हो रहा है। जो पिण्डमें है वह ब्रह्माण्डमें है। विश्वमें सारे ग्रह सूर्यके चारों ओर घूमते हैं और सूर्यसहित सारा ग्रह-मण्डल भी अन्य किसी सापेक्ष स्थिर केन्द्रके चारों ओर घूमता है और इस प्रकार हम निरपेक्ष, सर्वनियन्ता, स्थिर ब्रह्म बिन्दुतक पहुँच जाते हैं।

शाक्त-तन्त्रोंमें शिव और शक्तिके सम्मिलित स्वरूपको चणक नामसे अभिहित किया गया है। एक चणकमें दो दाने होते हैं, पर एक दूसरेसे वे इतने सटे रहते हैं कि एक मालूम पड़ते हैं। ये एक ही छिलकेसे घिरे हैं। ये दो दाने शिव और शक्ति हैं और जो छिलका है वह माया है। इस संकेतको वैज्ञानिक भाषामें इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है। शिव धनात्मक आवेश है और शक्ति ऋणात्मक। इन आवेशोंसे उत्पन्न बल क्षेत्र ही मायाका स्वरूप है।

हाइड्रोजनका परमाणु

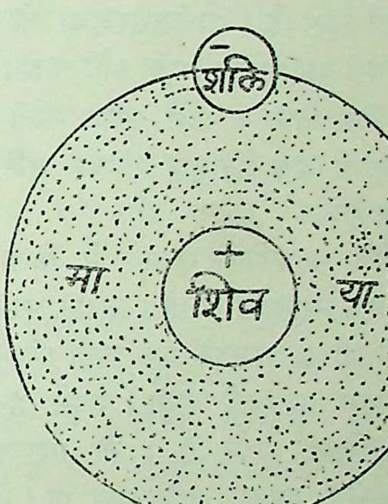

इन दोनोंके कारण ही यह सृष्टि है, जो माया है। इन दोनोंके परस्पर एक दूसरेमें लय हो जानेपर मायाका क्षेत्र अर्थात् जगत्का लोप हो जाता है। बिना शक्तिके शिव शव हो जाता है अर्थात् निष्क्रिय, गतिशून्य। तो अकेले धनात्मक आवेशरूपमें भी शिव संसारकी रचना करनेमें समर्थ नहीं। पर धनात्मक-ऋणात्मक एक ही शक्तिके दो आवेश-प्रकार हैं, जो विद्युत्-युक्त हैं। बृहदारण्यक उपनिषद्में आया है—

'विद्युद्ध्येव ब्रह्म' (५।७।१)

इसमें ऋणात्मक-धनात्मक आवेशोंकी चर्चा नहीं। दोनों ही मूलतः एक होते हुए भी दो रूपोंमें विश्व-प्रपञ्च दिखानेके लिये हैं। इनका एक रूप होना ही महाप्रलय है। योगवाशिष्ठमें महाप्रलयके समय जो महाकाली उत्पन्न होती है और फिर शिवमें लीन हो जाती है, उससे इन विद्युत्-आवेशोंकी तुलना कीजिये, जब ये दोनों मिलकर एकरूप हो जायँ। दोनोंमें क्या अन्तर है ? पर अभी भी प्रश्न उठता है कि क्या इस भौतिक

जगत्के ये विद्युत्-बिन्दु ही वह शिव या शक्ति हैं ? नहीं । 'पिण्डे-पिण्डे ब्रह्माण्डे-ब्रह्माण्डे' के अनुसार कि जो पिण्डमें वही ब्रह्माण्डमें है, तो जो विद्युन्मय 'वह' है, उसीका प्रतिरूप यहाँ भी होगा । शरीरमें असी और वरणा नाड़ियोंके संगमस्थानको ही 'वाराणसी' कहा गया है जहाँ निवास करनेसे (प्राणके केन्द्रस्थसे अर्थ है) मोक्षकी प्राप्ति होती है । यह स्थान भ्रूमध्यमें है । यही शंकरका तीसरा नेत्र है । उसीका प्रतिरूप इस संसारमें असी और वरुणा नदीके संगमपर बसा वाराणसी है, जिसे काशी भी कहते हैं ।

यह धनात्मक-ऋणात्मक रूप नर और नारीके रूपमें भी समस्त सृष्टिमें व्याप्त है । अर्धनारीश्वरका जो प्रतिरूप इस संसारमें है, वही परमाणुके इलेक्ट्रॉन और प्रोटॉनमें भी । इसमेंसे 'जो' आवेश क्षेत्र या माया उत्पन्न करती है वही महामाया है । मूलतः एक होते हुए भी यह सृष्टि, पालन और संहार करती है ।

दुर्गासप्तशतीके 'प्राधानिक रहस्यम्' में लिखा है कि सृष्टिके आदिमें एक महालक्ष्मी ही थीं । उन्होंने अपने शरीरसे ठीक अपने ही आकार-प्रकारकी एक काली स्त्रीको प्रकट किया, जिसका नाम महाकाली हुआ । बादमें अन्य देवी-देवताओंकी उत्पत्तिका वर्णन है । जो महालक्ष्मी थी प्रभायुक्त । सुवर्णकी-सी दमकती कान्तिवाली थी । विज्ञानकी भाषामें इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार भी हो सकता है । विद्युत्के ऋणात्मक और धनात्मक आवेश जब आपसमें मिलते हैं तो तेज या प्रकाश उत्पन्न होता है तो इलेक्ट्रॉन और प्रोटॉन अर्थात् परमाणुके ऋणात्मक और धनात्मक आवेश भी जब एकमें मिले थे तो वह बिन्दु एक तेजपुञ्जके रूपमें ही था, जो अकेला था । यह सृष्टिके लयकी स्थिति है । विज्ञानने यह माना है कि परमाणुके इन आवेश-बिन्दुओंमें स्वतःकी इच्छाशक्ति भी होती है । अब जबतक प्रोटॉन बिन्दुसे इलेक्ट्रॉन बिन्दु अलग नहीं होता, निष्क्रिय (स्वतः अपनी ही इच्छासे) ब्रह्मसे शिव और शक्तिरूप अलग नहीं होता, सृष्टिकी प्रक्रिया या मायाका क्षेत्र उत्पन्न नहीं होता । इलेक्ट्रॉन जब प्रोटॉनसे अलग हुआ तो वह शक्तिपुञ्ज आवेश ही महाकालीका रूप हुआ । प्रकाशका अभाव ही अन्धकार है जो काला है । चूँकि दोनों आवेशोंके अलग होनेपर वह एक बिन्दु तेजपुञ्ज नहीं रह गया, बल्कि इलेक्ट्रॉनमें उस प्रकाशका सर्वथा अभाव होकर वह शक्तिरूपमें सक्रिय हो गया—वह महाकालीका रूप हुआ । अब अन्य देवी-देवताओंकी उत्पत्तिपर भी ध्यान दें । मूलतः सब एक हैं । इनकी उत्पत्तिको हम भिन्न-भिन्न तत्त्वोंकी रचनामें देखें, जहाँ उसी इलेक्ट्रॉनकी भिन्न-भिन्न संख्या, भिन्न-भिन्न कक्षोंमें तीव्रगतिसे घूमती हुई विभिन्न प्रकारके तत्त्वोंको बनाती है । तत्त्वों और यौगिकोंसे निर्मित ही यह सम्पूर्ण विश्व है । सबके मूलमें केवल ऋण-धन विद्युत्के आवेश ही हैं । **'विद्युद्ध्येव ब्रह्म'** । विज्ञानकी भाषामें वही शक्ति है, वही शिव है ।

ऊपर हम कह चुके हैं कि अनेक शक्ति (Energy) रूपोंमें भी मूल शक्ति एक ही है और ये सब शक्तियाँ उस महाशक्तिकी अनन्त शक्तिकी एक छाया हैं, एक किरण हैं । पर एक बूँद जल भी जल है और सागरका जल भी जल ही है । तात्त्विक दृष्टिसे दोनों एक हैं । इसी प्रकार शक्ति और महाशक्तिका अन्तर समझना चाहिये । ऊपर हम यह भी कह चुके हैं ऋणात्मक-धनात्मक विद्युत् आवेश भी मूलतः एक ही हैं, पर मायाका क्षेत्र उत्पन्न करनेके लिये वे अलग-अलग हैं । एकके होनेपर दूसरेका होना भी अनिवार्य है । ये उसी प्रकार हैं जिस प्रकार प्राण स्त्री-पुरुष न होते हुए भी स्त्री-पुरुषरूपी देहमें जाकर ही, दोनोंके द्वारा सृष्टि पैदा करनेमें समर्थ है । विज्ञानके इसी तत्त्वको इस प्रकार स्पष्ट किया गया है । शिव-शक्ति भेदका उत्तर माँ स्वयं देती है । एक बार देवताओंने जाकर भगवतीसे पूछा—

कासि त्वं महादेवि !

हे महादेवि ! आप कौन हैं ? तो भगवतीने उत्तर दिया—

अहं ब्रह्मस्वरूपिणी, मत्तः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगदुत्पन्नम्।
(श्रुति)

मैं ब्रह्मस्वरूपिणी हूँ, प्रकृतिपुरुषात्मक जगत् मुझसे ही उत्पन्न हुआ है । इसी प्रकार देवीभागवतमें कहा है—

सदैकत्वं न भेदोऽस्ति सर्वदैव ममास्य च ।
योऽसौ साहमहं यासौ भेदोऽस्ति मतिविभ्रमात् ॥

मैं और ब्रह्ममें सदा एकत्व है, भेद कभी नहीं है, जो वह है सो मैं हूँ और जो मैं हूँ सो वह है । भेद भ्रान्तिसे कल्पित है, वस्तुतः नहीं है ।

मुण्डमालातन्त्रमें शिव और शक्तिको इस तरह कहा गया है—

यथा शिवस्तथा दुर्गा या दुर्गा विष्णुरेव सः ।
अत्र यः कुरुते भेदं स नरो मूढदुर्मतिः ॥
देवीविष्णुशिवादीनामेकत्वं परिचिन्तयेत् ।
भेदकृन्नरकं याति रौरवं नात्र संशयः ॥

श्रीशंकराचार्यने **'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'** कहकर जिस

अद्वैतवादका प्रतिपादन किया था, जिस सत्यको हमारी श्रुति-स्मृतिने गाया है, विज्ञानके अन्तरालमें वही आश्चर्यजनक-रूपसे मिलता है। विज्ञान केवल इस महासत्यको स्वीकार करनेमें हिचकता है, पर आखिर कबतक?

रामचरितमानसकी अन्तःकथाएँ

(वाल्मीकिकी उत्पत्तिकी कथा)

(लेखक—डा० श्रीवागीशदत्तजी पाण्डेय एम्० ए० (हिंदी-संस्कृत) साहित्याचार्य, पी-एच्० डी०)

वाल्मीकि नारद घटजोनी। निज निज मुखनि कही निज होनी॥

रामकाव्य सहस्राब्दियोंसे मानव-समाजमें बड़ा ही लोकप्रिय सिद्ध हुआ है। वाल्मीकिसे लेकर आजतक देश-विदेशके सैकड़ों कवियोंने इसे अपने काव्यका विषय बनाया है। सभ्यताके निर्माणमें 'राम' लोकके लिये एक महत्त्वपूर्ण प्रेरणा-स्रोत रहे हैं। भारतमें रामकथा सदैव एकरूपमें ही प्रचलित नहीं रही। युगके बदलते हुए दृष्टिकोणने उसे भिन्न-भिन्न दृष्टियोंसे सदैव देखा है। रामायण, महाभारत तथा पुराणोंमें प्राप्त रामकथा भेदकी स्पष्ट रेखाओंको बता रही है।

'तुलसी' ने नाना पुराण, निगम तथा आगमोंका आधार लेकर रामकथाका निर्माण किया है। इसके अतिरिक्त अन्य प्राकृत कवियोंके काव्योंने भी रामकथा लिखनेमें 'तुलसी'को यत्किंचित् सहायता दी है। सच बात तो यह है कि 'तुलसी' के साहित्य-जगत्में आते-आते भारतीय भाषाओंके प्राचीन तथा अर्वाचीन साहित्यमें रामकथाका सृजन अनेक रूपोंमें हो चुका था। तुलसीने स्वतः लिखा है—

व्यास आदि कबि पुंगव नाना। जिन्ह सादर हरि सुजस बखाना॥
चरन कमल बंदौं तिन्ह केरे। पुरवहुँ सकल मनोरथ मेरे॥
कलि के कबिन्ह करौं परनामा। जिन्ह बरने रघुपति गुन ग्रामा॥
जे प्राकृत कबि परम सयाने। भाषा जिन्ह हरि चरित बखाने॥

× × × ×

बंदौ मुनिपद कंजु रामायन जेहि निरमयउ।
सखर सुकोमल मंजु दोष रहित दूषन सहित॥

(रामचरितमानस १। १४)

इससे स्पष्ट है कि तुलसीसे पूर्व वाल्मीकि तथा व्यास आदि कवि रामचरितका बखान कर चुके थे तथा रामकथा प्राकृत कवियोंकी वाणीसे भी वर्णित की जा चुकी थी। रामकथाको भारतीय संस्कृति और साहित्यका प्राण माना जाता है। आदर्शवादी 'राम' ने जीवनमें कृत सुकर्मोंसे लोकको जो प्रेरणा दी, उससे लोक-मानस सद्धर्मकी ओर अग्रसर हुआ। मर्यादामार्गके दृढ़ स्तम्भ 'राम' का चरित्र समयके साथ ज्यों-ज्यों विकसित होता गया, वैसे-वैसे वह लोकके आकर्षणका और भी अधिक केन्द्र-बिन्दु बनता गया। 'रामचरित सत कोटि अपारा' की उक्ति रामकी लोकप्रियताका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

वैसे तो रामकथाके कतिपय पात्रोंका विवरण हमें वैदिक साहित्यमें ही मिल जाता है, लेकिन समग्र रूपसे रामकथाका प्रथम परिचय हमें आदिकवि वाल्मीकिने ही कराया है। पता नहीं, अपने इस विशाल उद्देश्यकी पूर्तिके लिये महर्षिको वैदिक वाङ्मयके साथ लोकप्रचलित विभिन्न कितने स्रोतोंका सहारा लेना पड़ा होगा। वाल्मीकिके बाद 'राम' के चरित्रको केन्द्रबिन्दु मानकर लोकमें अनेक रामायण-ग्रन्थोंका प्रणयन हुआ, जिनमें रामके एक महान् लोकनायक जीवनके साथ ब्रह्मत्वके विकसित आदर्शोंकी भिन्न-भिन्न दृष्टियोंसे समीक्षा की गयी है। 'वाल्मीकि' से लेकर 'तुलसी' तक आते-आते लोकमानसके स्वाभाविक विकासने रामके चरित्रको भी अवश्य विकसित किया है, अनेक रामायण-ग्रन्थ इसके साक्षी हैं।

रामचरितमानसमें रामकथाके अतिरिक्त हमें विभिन्न युगकी अन्य कथाएँ भी देखनेको मिलती हैं। इनमें कुछ कथाएँ वैदिक कालकी, कुछ रामायण-महाभारतयुगीन और कुछ शुद्धरूपसे पौराणिक युगकी कही जा सकती हैं। विशाल भारतीय वाङ्मयमें इन कथाओंपर बहुत कुछ लिखा जा चुका है। लोकमें भी कर्ण-परम्पराके आधारपर ये कथाएँ बहुत प्रचलित हैं। महात्मा 'तुलसी' ने इसीलिये इन कथाओंकी 'मानस'में सूचनामात्र दी है। इन कथाओंमें हमें कहीं कविका नैतिक, कहीं आध्यात्मिक, कहीं दार्शनिक, कहीं राजनीतिक

तो कहीं सामाजिक दृष्टिकोण देखनेको मिलेगा। मानसमें जिन कथाओंकी सूचनामात्र कविने हमें दी है, इस प्रकारकी कथाएँ ही साहित्यमें अन्तःकथाओंके नामसे प्रसिद्ध हैं। इस प्रकारकी अन्तःकथाएँ रामायणमें अनेक हैं। यहाँ हम 'वाल्मीकिकी उत्पत्ति' इस अन्तःकथाका ही संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं। इस अन्तःकथाका संकेत 'मानस'की जिन चौपाइयोंमें मिलता है, वे इस प्रकार हैं—

'बालमीकि' नारद घटजोनी। निज निज मुखनि कही निज होनी॥
(बा० का० ३। ३)

× × × ×

जान आदि कबि नाम प्रतापू। भयउ सुद्ध करि उलटा जापू॥
(बा० का० १९। ५)

× × × ×

उलटा नामु जपत जगु जाना। बालमीकि भए ब्रह्म समाना॥
(अयो० का० १९४। ८)

× × × ×

पाई न केहिं गति पतितपावन राम भजि सुनु सठ मना।
गनिका अजामिल ब्याध गीध गजादि खल तारे घना॥
(उ० का० १३९। १)

यहाँ इस कथाका उल्लेख 'सत्संगति' तथा 'नाम-माहात्म्य' प्रसङ्गमें हुआ है। 'मानस' में इस कथाकी सूचनामात्र दी गयी है। कथाका मूल रूप परवर्त्ती कतिपय रामायण ग्रन्थों तथा पुराणोंमें मिलता है।

यद्यपि 'वाल्मीकि' यह शब्द कुछ संहिता-ग्रन्थों, ब्राह्मणों तथा उपनिषदोंमें प्राप्त होता है,[1] लेकिन इन ग्रन्थोंमें यह शब्द किसी व्यक्तिविशेषके लिये प्रयुक्त न होकर केवल 'वल्मीक' (बाँबी) के लिये ही आया है। हो सकता है, 'वाल्मीकि' इस नाम-निरुक्तिमें आगे चलकर जो आख्यान लिखा गया, उसके लिये इन वैदिक ग्रन्थोंने कुछ सहायता दी हो। नीचे हम कतिपय रामायणों तथा पुराणोंका आधार लेकर संक्षेपमें इस कथापर प्रकाश डालनेका प्रयास कर रहे हैं—

अध्यात्मरामायण—इस रामायणमें यह कथा अयोध्याकाण्ड सर्ग ६, श्लोक ६४–८८ में आयी है। यहाँ म वाल्मीकिने वनवासके समय अपने आश्रमपर पधारे हु भगवान् रामको अपना वृत्तान्त स्वयं सुनाया है। उन्हें स्पष्ट शब्दोंमें रामको बताया कि 'मैं आपके नामके प्रभा ही आज महर्षिपदको प्राप्त हुआ हूँ।'[2] यह कथा यहाँ रा नामके प्रभावके सम्बन्धमें ही कही गयी है। कथा इस प्रकार है—

'वाल्मीकि जन्ममात्रसे ब्राह्मण थे, पर बचपनसे उनका सम्बन्ध किरातोंसे हो गया। वे किरातोंमें पल बड़े हुए, अतः किरातोंके समस्त आचार उनमें आ गये उनका विवाह भी एक शूद्रासे हुआ। उस शूद्रासे उन बहुतसे पुत्र हुए। इस प्रकार चोरोंके साथ रहते हुए वे पूर्ण चोर बन गये। धनुष-बाण लेकर नित्य ही वे जीवों मारने लगे। एक बार अग्निके समान तेजस्वी सप्तर्षिगण उ वनसे निकले। वे उनके भी वस्त्रादि लूटनेके लिये उन ओर दौड़े। तब मुनियोंने उससे पूछा कि 'अरे द्विजाधम जिन पुत्र और स्त्री आदिके लिये तू प्रतिदिन पापकर्म संचि कर रहा है, क्या वे तेरे इस पापकर्मके भागी हैं?' इ बातको पूछनेके लिये मुनियोंने उसे घर भेजा। उसने सभी पूछा। सभीने अपनेको पापका भागी नहीं बताया। इस व्याधको निर्वेद हुआ। वह पश्चात्ताप करता हुआ मुनियों समीप आया और उनके दर्शनोंसे उसका अन्तःकरण शु हो गया। तब उसने मुनियोंसे अपने उद्धारका उपाय पूछा शरणागतकी रक्षा करनेके निमित्त उन्होंने आपसमें परा किया और अपने लौटकर आनेसे पूर्वतक उसे उन्होंने 'म मरा' जपनेकी आज्ञा दी। इस प्रकार मुनि उपदेश देकर च गये और वह व्याध भी जाप करता हुआ तदाकार गया। बहुत समय बीतनेपर व्याधके स्थिर शरीरपर पक्षि बाँबी रख ली। सहस्र युग बीतनेपर सप्तर्षि पुनः आये उन्होंने उसे बाँबीसे बाहर निकलनेकी आज्ञा दी। वल्मी (बाँबी) से निकलते ही मुनियोंने उनका 'वाल्मीकि' न नाम रक्खा। ऋषि आशीर्वाद देकर चले गये।' वाल्मीकि रामको बताया कि 'हे राम! मैं तुम्हारे नामके प्रभावसे इस प्रकारका हुआ हूँ।'

---

[1] दे० तैत्ति० सं० १। १। ३। ४; काठक सं० १९। २; ३१। १२; ३५। १९; वाजस० सं० २५। ८; शत० ब्रा० २। ६। २। १७; तैत्ति० ब्रा० १। १। ३। ४ तथा बृहदा० उप० ४। ४। १०।

[2] राम त्वन्नाममहिमा वर्ण्यते केन वा कथम्।
यत्प्रभावादहं राम ब्रह्मर्षित्वमवाप्तवान्॥
(अध्यात्म० अयो० ६। ६

अहं ते राम नाम्नश्च प्रभावादीदृशोऽभवम् ।

(अध्यात्म० २ । ६ । ८७)

अध्यात्मरामायणमें इस प्रकार हमें वाल्मीकिके केवल एक ही जन्मकी कथा प्राप्त होती है—जिसमें वे जन्मसे ब्राह्मण होते हुए भी संस्कारोंसे व्याध बन गये और उसी जन्ममें सप्तर्षियोंके सत्सङ्गसे महर्षि बने । इसके विपरीत आनन्दरामायणमें वाल्मीकिके तीन जन्मोंकी कथा है । इस रामायणके आधारपर कथा इस प्रकार है—

आनन्दरामायण—'पम्पासरोवरके पास कोई शङ्ख नामक सिद्ध ब्राह्मण रहता था । एक बार वैशाख महीनेमें जब वह एक निर्जन वनमें जा रहा था, तब वहाँ एक व्याधने उसके जूते, छतरी तथा वस्त्रादि सभी छीन लिये । शङ्ख जलती धूपमें कंकड़ोंसे और गर्म बालूसे जलने लगा । तब व्याधने दयाकर उसके फटे और छोटे जूते उसे लौटा दिये ।'

यह व्याधके एक जन्मकी घटना है । व्याधमें पूर्वजन्मके संस्कारसे ही दया उत्पन्न हुई, जिसके कारण उसने शङ्खको उसके जूते वापिस किये । शङ्खने भी योगसे जानकर उसे उसके पूर्वजन्मका आख्यान सुनाया, जो इस प्रकार है—

'पूर्वजन्ममें वह स्तम्भ नामक एक ब्राह्मण था । दुःसङ्गसे वह वेश्यागामी हुआ । उसके एक विवाहिता पत्नी भी थी, जो बड़ी पतिव्रता थी । वह पतिकी प्रसन्नताके लिये वेश्या तथा स्तम्भ दोनोंकी ही सेवा करती थी । एक बार स्तम्भको भगन्दरका रोग हो गया । वेश्या उसकी सम्पत्ति समाप्त होते ही चली गयी; लेकिन उस विवाहिताने स्तम्भकी उस समय भी बड़ी सेवा की । एक बार वैशाखमें देवल ऋषि स्तम्भके घर पहुँचे । कुछ धर्म-बुद्धिसे स्तम्भने अपनी पत्नीको उनकी सेवा करनेकी आज्ञा दी । पतिकी आज्ञासे स्तम्भकी पत्नीने मुनिका चरणोदक लिया । उसने उस जलको स्वयं पीकर स्तम्भके सिरपर भी कुछ डाला और कुछ पिलाया । कुछ समय बाद स्तम्भको संनिपात हुआ । कफके प्रकोपसे उसके दाँत जकड़ गये । अतः बेहोशीमें दवा पिलाते हुए अपनी पत्नीकी एक अंगुली उसने काट ली । अन्तमें वेश्याका स्मरण करते हुए स्तम्भकी मृत्यु हुई । इस प्रकार स्तम्भ ही व्याध बना और वेश्या भीलनी ।'

शङ्खने व्याधको बताया कि देवल मुनिके चरणोदक-पानके पुण्यसे ही उसमें दयाभाव उत्पन्न हुआ, जिसके कारण उसने उसके जूते लौटाये । शङ्खने दयाकर व्याधको उसके भावी जीवनके विषयमें भी बताया, जो इस प्रकार है—

'भविष्यमें कोई कृणु नामक तपस्वी तप करते होंगे । तपस्याके अन्तमें संयोगसे उनकी आँखोंसे वीर्य निकलेगा । वह उस वीर्यको एक बाँबीमें रख देंगे, जिसे एक सर्पिणी खा जायेगी । उसी सर्पिणीसे किरातरूपमें तुम उत्पन्न होओगे । बादको सप्तर्षियोंसे तुम्हारी भेंट होगी और उन्हींकी कृपासे तुम वाल्मीकि ऋषि हो जाओगे । बादको ब्रह्माकी आज्ञासे तुम राम-कथाका निर्माण करोगे और इस प्रकार विश्व-विख्यात बनोगे ।'

(आनन्द० राज्य० उ० सर्ग १४)

यह है आनन्दरामायणमें प्राप्त वाल्मीकिके तीन जन्मोंकी कथा—प्रथम जन्ममें वे स्तम्भ थे, द्वितीयमें व्याध और तृतीयमें कृणुके वीर्यसे पन्नगीके गर्भसे उत्पन्न होनेवाले किरात, जो बादको वाल्मीकि कहलाये ।

स्कन्दपुराण—इस पुराणमें यह कथा आवन्त्यखण्ड, अवन्ती-क्षेत्र-माहात्म्य, अध्याय २४; प्रभासखण्ड प्रभास-क्षेत्रमाहात्म्य, अध्याय २७८, तथा वैष्णवखण्ड, वैशाखमास-माहात्म्य, अध्याय १७-१८ तथा २१ में—तीन स्थानोंपर मिलती है । यहाँ वैष्णवखण्डकी कथा तो कुछ अंशोंमें पीछे वर्णित आनन्दरामायणकी कथासे मिलती है, लेकिन आवन्त्यखण्ड तथा प्रभासखण्डकी कथा भिन्न है । संक्षेपमें तीनों स्थानोंकी कथाका विवरण इस प्रकार है—

आवन्त्यखण्ड—प्राचीन कालमें सुमति नामका एक भृगुवंशी ब्राह्मण था । उसकी पत्नी कौशिकवंशकी थी । सुमतिके पुत्रका नाम अग्निशर्मा था । पिताने उसे बहुत पढ़ाना चाहा, पर वह नहीं पढ़ पाया । एक बार उसके देशमें बहुत दिनोंतक वर्षा नहीं हुई, अतः देशके लोग दक्षिण दिशामें चले गये । सुमति भी पुत्र और पत्नीके साथ विदिशाके वनमें आश्रम बनाकर रहने लगा । वहाँ वनमें रहते हुए अग्निशर्माका सम्पर्क लुटेरोंके साथ हो गया । वह अपने ब्राह्मणत्वको भी भूल गया और व्याधोंके साथ रहते हुए वह भी व्यक्तियोंको लूटने लगा । उसने किसी भीलनीसे अपना विवाह भी कर लिया । एक बार उसे मार्गमें सात ऋषि जाते हुए दिखायी दिये । उसने उनसे वस्त्र, छाता, जूते आदि सभी रख लिये । ऋषियोंने उसे बहुत समझाया और पापके भागी पिता-पत्नी आदि हैं या नहीं, यह पूछने भेजा । तब घरपर उससे सभीने कहा कि तुम्हारे पापसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है ।

इसपर अग्निशर्माकी आँखें खुलीं; वह सप्तर्षियोंकी शरणमें गया। अत्रिने कृपापूर्वक उसे राम-नामकी दीक्षा दी। अग्निशर्माने तेरह वर्ष अविचल रूपसे राम-नामका जप किया। उसके ऊपर बाँबी भी जम गयी। तेरह वर्ष बाद वे ऋषि उधरसे पुनः निकले। उन्होंने बाँबीसे रामनामकी ध्वनि सुनी। तब उन्होंने अग्निशर्माको बाँबीसे बाहर निकाला और उसका नाम वाल्मीकि रक्खा। वाल्मीकिने कुशस्थलीमें महादेवकी आराधना कर दिव्य कवित्व-शक्ति प्राप्त की और शक्ति पाकर रामायणकी रचना की।

प्रभासखण्ड—इस स्थलकी कथा प्रायः आवन्त्यखण्डकी कथाके समान ही है। यहाँ अग्निशर्माके स्थानपर वैशाख नाम दिया है तथा शिवकी आराधनाके स्थानपर यहाँ वाल्मीकिद्वारा देविकाकी पूजा करनेपर उन्हें कवित्व-शक्तिसम्पन्न बताया है। यहाँ वाल्मीकिने देविकाकी पूजा सप्तर्षिकी आज्ञासे ही की है। शेष कथा पूर्ववत् है।

वैष्णवखण्ड—स्कन्दपुराणके इस स्थानपर आनन्दरामायणकी भाँति वाल्मीकिके तीन जन्मोंकी ही कथा है। जैसा हम लिख चुके हैं, यह कथा आनन्दरामायणमें प्राप्त कथासे बहुत मिलती है, अतः यहाँ हम कथाके केवल अंशोंका निरूपण करेंगे, जो आनन्दरामायणसे भिन्न भिन्न कथांश इस प्रकार हैं—(अ) यहाँ शङ्ख नामक सिद्ध ब्राह्मण एक बार गोदावरी नहाने गया। मार्गमें एक व्याध मिला। ब्राह्मणदर्शनसे व्याधकी मति पवित्र शङ्खने व्याधको वैशाख-मासमें स्नान एवं विष्णुकी पूजा को कहा। व्याधने शङ्खसे अपने पूर्वजीवनके विषयमें पूछा। शङ्खने उसे उसके पूर्व-जीवनका इतिहास बता आनन्दरामायणमें शङ्ख और व्याधका साक्षात्कार तो गया है, लेकिन भिन्नरूपमें। वहाँ व्याधने शङ्खको लूट था। स्कन्दपुराणकी भाँति वहाँ शङ्खने उसे विष्णुपूजा नहीं बतायी। (आ) व्याधके पूर्वजन्मकी कथा, जिसे व्याधको बताया, आनन्दरामायणसे हूबहू मिलती है। जन्ममें व्याध स्तम्भ नामका ही कोई ब्राह्मण था। (३) जन्ममें व्याध शङ्खद्वारा बताये हुए नियमित अनु वल्मीक मुनिका पुत्र वाल्मीकि नामसे विख्यात हु आनन्दरामायणमें वाल्मीकिको तीसरे जन्ममें कृणु पन्नगीसे उत्पन्न कहा गया है।

* * *

प्रेयसकी गन्ध महकाओ फिर

(ब्रह्मवैवर्त्तकी श्रीराधासे—)

(रचयिता—प्रो० श्रीगोपालजी ‘स्वर्णकिरण’ एम्० ए०)

सुरसा-सी बाधाएँ राह बंद करती हैं,
उड़ती हुई शान्तिकी कपोती पछताती हैं;
अस्मिताके अन्धड़से कण-कण कँप जाता है,
श्रेयस्के उपवनमें आत्मा अकुलाती हैं;
ज्ञानकी बाती उकसाओ फिर। प्रेयस···

प्रतिद्वन्द्विताके ज्वारमें चंचल मन कँपता है,
लता सब विस्मित हैं, फूल सब उदासे हैं;
अतृप्तिके भाव-शिशु जाग कुलबुलाते हैं,
जडताके बन्धनमें विकल प्राण प्यासे हैं;
प्यास हरो, रास नव रचाओ फिर। प्रेयस···

कण-कणपर राखकी पर्त्त नयी चढ़ती है
चेतनताका बिरवा अधउगा, रोता है
चिन्तनका द्वेषयुक्त प्रवाह उफनाता है
अहंके अँधेरेमें सब कुछ लुप्त होता है
दूधिया चाँदनी बिछाओ फिर। प्रेयस

शक्तिमत्त स्वत्वका विवर्द्धन ही करते हैं
पुण्य लक्ष्यके लिये अपुण्य राह खुलती है
करुणकलित साम्य ज्योति दीख नहीं पड़ती है
उद्धतता, कालिखकी बरषामें धुलती है
शक्तिकी परिभाषा बनाओ फि
प्रेयसकी गन्ध महकाओ फि

दीपावली-विज्ञान

(लेखक—श्रीरणछोड़दासजी 'उद्धव')

दीपावलीसे भारतराष्ट्र राष्ट्रलक्ष्मीको कब प्रसन्न करनेमें समर्थ बन सकेगा ? इस प्रश्नका विचार इस लेखमें किया है।

श्री और लक्ष्मीकी उत्पत्ति—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो
यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते
भद्रैषां 'लक्ष्मी'र्निहिताधि वाचि ॥
(ऋ० १० । ७१ । २)

'सत्तू छननीसे छाने, त्या पंडित बात निकलती है।
वाणी मनसे शुद्ध करे तहँ श्री व मित्रता रहती है॥'

दीपावलीपर्व वैदिक-संस्कृतिविरोधी भी मनाते हैं। निगमागम-शास्त्रसिद्ध भगवान् विष्णुकी अर्द्धाङ्गिनी महालक्ष्मीका पूजनादि करते हैं। क्यों करते हैं ? इसका उत्तर यही है कि भारतीय सांस्कृतिक आयोजन सृष्टिकी मूलाधिष्ठात्री महामाया जगज्जननीके सनातन विधि-विधानोंके द्वारा व्यवस्थित हुए हैं, उस महाशक्तिसे सम्बन्ध रखनेवाले नित्यसिद्ध विधि-विधानोंका 'न'-'न' करते हुए भी **'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति'—'कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्'** इत्यादि आप्त-सिद्धान्तके अनुसार विवश बनकर करना ही पड़ता है। जिस आराधनाके बलपर महालक्ष्मीस्वरूपिणी योगमायाका वैसा ही अनुग्रह हमें प्राप्त होता रहता है, जिससे इस लोकमें अभ्युदय होता है और आत्माके लिये निःश्रेयस (मोक्ष) की सिद्धि हो जाती है।

माता लक्ष्मीका प्रादुर्भाव समुद्रसे हुआ है, आज भी हो रहा है और कल्पके अन्ततक होता रहेगा। कौन-सा वह समुद्र है ? किसने कैसे इसे प्रकट किया ? इत्यादि रहस्यपूर्ण प्रश्नोंके तात्त्विक स्वरूप-समाधानके लिये ही **'समुद्रमन्थनका आख्यान'** कहा गया है। तीन सृष्टिधाराओंके भेदसे तीनों ही सृष्टिधाराओंके मूलाधार तीन महासमुद्र बने हुए हैं। १ स्वयंभूमूला सृष्टिविद्याका आधार नभस्वान् समुद्र है, २ सूर्यमूला सृष्टिविद्याका आधार सरस्वान् समुद्र है और ३ पृथ्वीमूला सृष्टिविद्याका आधार अर्णव समुद्र है। १ संयतीत्रैलोक्यके नभस्वान् समुद्रके मन्थनसे प्रकट हुई विश्वलक्ष्मी **महाकाली** कहलायी, २ क्रन्दसीत्रैलोक्यके सरस्वान् समुद्रके मन्थनसे प्रकट हुई विश्वलक्ष्मी **महासरस्वती** कहलायी और ३ रोदसीत्रैलोक्यके अर्णवसमुद्रके मन्थनसे प्रकट हुई विश्वलक्ष्मी **महालक्ष्मी** नामसे प्रसिद्ध हुई। यों एक ही प्रकृति १ **अव्यक्ता**, २ **व्यक्ता-अव्यक्ता** एवं ३ **व्यक्ता** रूपसे तीन होकर क्रमशः १ **काली**, २ **सरस्वती** और ३ **लक्ष्मीके** रूपसे प्रसिद्ध हो रही है। तीनोंकी मूलप्रकृतिका नाम 'महत् प्रकृति' है, जो १ **सत्त्व**, २ **रज** और ३ **तमोरूप** तीन गुणोंसे युक्त है। १ **सत्त्वप्रधाना स्वायंभुवी महाकाली**, २ **रजःप्रधाना सौरी महासरस्वती** एवं ३ **तमःप्रधाना पार्थिवी महालक्ष्मी** है।

जिस कूर्म (कछुए) की पीठपर समुद्रमन्थन होता है वह **द्यावा-पृथिवीमण्डल** ही **कूर्म** है। सूर्यके आदित्यप्राण इस त्रैलोक्यमें कूर्माकारमें परिणत होकर ही पार्थिव त्रैलोक्यकी प्रजाके सर्जक बनते हैं। जैसा कि—

एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत।
(शतपथब्रा० ७ । ५ । १)

—इत्यादिसे स्पष्ट है। इसी रूपसे ये द्रष्टा हैं, विश्वके पश्यक हैं। अतएव इन्हें **'पश्यकः'** कहा गया है, यही शब्द वर्ण-परिवर्तनसे **'कश्यपः'** रूपसे परिणत हो रहा है। यह कश्यप ही कूर्मप्रजापति हैं, जिसमें पार्थिव त्रिवृत् (९) पञ्चदश (१५) और एकविंश (२१) रूप भूः, भुवः एवं स्वः नामक त्रैलोक्यस्थित है। श्रुतिने कहा है—

यदकरोत् तस्मात् कूर्मः। कश्यपो वै कूर्मः। तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्यः इति। स यः स कूर्मः असौ स आदित्यः।
(शतपथ० ७ । ५ । १ । १ से ६ पर्यन्त)

सूर्यकी ज्योति ही पुराणमें मन्दराचल और ज्योतिर्लिङ्ग है। इसे वेदमें स्कम्भ (स्तम्ब-थम्बा) कहा है और इन्द्र भी कहते हैं। देखिये—

स्कम्भे लोकाः, स्कम्भे तपः, स्कम्भेऽध्यृतमाहितम्।
स्कम्भ त्वा वेद प्रत्यक्षमिन्द्रे सर्वं समाहितम् ॥ १ ॥
इन्द्रे लोकाः, इन्द्रे तपः, इन्द्रेऽध्यृतमाहितम्।
इन्द्रं त्वा वेद प्रत्यक्षं स्कम्भे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ २ ॥
(अथर्वसं० १० । ७ । २९-३०)

'स्कम्भमें सब लोक रहते हैं, स्कम्भमें तप रहता है, स्कम्भके आधारमें ऋत रहता है। हे स्कम्भ ! मैं तुझे प्रत्यक्ष जानता हूँ कि (तुझ) इन्द्रमें सब समाया है ! इन्द्रमें लोक है, इन्द्रमें तप है और इन्द्रमें ऋत रहता है !

हे इन्द्र ! मैं तुझे प्रत्यक्ष जानता हूँ कि (तुझ) स्कम्भमें सब समाया है ।'

यह ज्योतिर्मय अग्निमय ऐन्द्र-स्कम्भ ही वह 'मन्दराचल' है, जिसे स्वयम्भू प्रजापतिने 'समुद्रमन्थनका दण्ड' बना रक्खा है । देखिये—

विश्वकर्मन् भौवन 'मन्द' आसिथ ।
(श० १३ । ७ । १ । १५)

मन्द इत्येष यो धातुरपामर्थे प्रकाशकः ।
अपां विदारणां चैव 'मन्दरः' स निगद्यते ॥
(मत्स्यपु० १२१ । ६१)

मन्थनदण्ड जिस मन्थनकी रज्जुसे युक्त है, वह सर्पणशील (चलनेवाला) प्रचण्ड प्राणात्मक वायु ही है, जिसे संकेत विधिसे 'नाग' कहा गया है । देखिये—

मन्थानं मन्दरं कृत्वा तथा नेत्रं च वासुकिम् ।
(महाभारत १ । १८ । १३)

मन्थन करनेवाले सात्त्विक सूर्यके—ऐन्द्र देवप्राण और तामसिक वरुणके असुरप्राण हैं । देव और असुर प्राणवाली प्रकृतिसे प्रकट विश्वमें सभी पदार्थ न्यून या अधिक मात्रासे दोनों प्रकारके बने हुए हैं । गीतामें भी कहा है—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
(गीता ७ । १३)

गुणात्मक सत्त्वभाव और दोषात्मक तमोभावसे युक्त प्रकृतिके विश्वमें दैवीसम्पत् एवं आसुरीसम्पत् इन दोनोंका ही सहज संघर्ष अनादिकालसे चल रहा है और जबतक सूर्य-चन्द्र रहेंगे, तबतक चलता ही रहेगा । समुद्रमन्थनसे प्रकट हुए १४ रत्नोंमेंसे एक 'महालक्ष्मी' है । जिसका वरण विष्णुरूपी सूर्यनारायणसे हो जाता है । लक्षण 'व्यक्त'का हुआ करता है एवं प्रकृतिका व्यक्तस्वरूप सूर्यमें ही हुआ है अतएव उसकी कान्तिको 'लक्ष्मी' कहते हैं, लक्ष्मीके दो रूप हैं—अमृतलक्ष्मी 'श्री' है और मर्त्यलक्ष्मी 'लक्ष्मी' है । जैसा कि निम्नलिखित मन्त्रवर्णनसे प्रमाणित है—

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ, अहोरात्रे पार्श्वे, नक्षत्राणि रूपं, अश्विनौ व्यात्तम् । इष्णन्निषाणामुं म इषाण सर्वलोकं म इषाण ॥ (य० ३१ । २२)

श्री औ लक्ष्मी ईश-पत्नियाँ दिन-रजनी हैं दोनों ओर ।
तारागण प्रभुका प्रकाश औ द्यु-भू मुख प्रभु चारों ओर ॥
इसी रूपमें निजको देखो साधक स्तुति करनेवाले ।
सर्वलोककी इच्छा होगी—विश्वरूप धरनेवाले ॥

तैत्तिरीय आरण्यकमें—'**ह्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ**' य पाठ है । 'ह्री' का लौकिक अर्थ लज्जा है और शास्त्रीय अ विनय है । 'विनय' देवभावप्रधान है और वह अमृता श्री लक्ष्मीसे सम्बन्धित है । जैसा कि '**विद्या ददाति विनयम्**' से स्पष्ट है ।

विश्वके केन्द्रमें स्थित सूर्यके त्रैलोक्यव्यापक स्वरूप आधार मानकर ही उक्त मन्त्रवर्णन प्रवृत्त हुआ है । केन्द्र सूर्यसे ऊपर स्वयम्भूका और परमेष्ठीका श्रीभाग है और नी चन्द्रका और पृथिवीका लक्ष्मीभाग है । दोनों इसके उ अर्धाकाशके पूरक बनते हैं, जिसके लिये—'**सोऽयमाका पत्न्याऽऽपूर्यते**' प्रसिद्ध है । अतएव पूरक या पूर्णताप्रवर्तक व संवत्सरस्वरूप-सम्पादक अमृत-मृत्युभाववाले श्री और लक्ष्मीभा इस संवत्सररूप आदित्यपुरुषकी 'पत्नी' कहलायी हैं । ३६ अहः (दिन) चितियाँ तथा ३६० रात्रि चितियाँ ऐसी मिलक ७२० इष्टका चितियाँ (अग्नि सोम-चितियाँ) ही इस संवत्स पुरुषके दक्षिण और उत्तर पार्श्व हैं । सोम (रात्रि) गर्भि अहः (अग्नि) की चितियाँ आग्नेय दक्षिणपार्श्व है ए अग्नि (अहः) गर्भित रात्रि (सोम) की चितियाँ सौम वामपार्श्व है । नक्षत्र ही इसके बाह्य भौतिक—रूपसौन्दर्यके प्रतीक हैं । जैसा कि कहा है—

'यावन्त्येतानि नक्षत्राणि, तावन्तो लोमगर्ताः ।'
(शत० १० । ४ । ४ । २

'तेजसां गोलकः सूर्यः—नक्षत्राण्यम्बुगोलकाः ।'
(ज्यो०

द्यौ और पृथिवी ही अश्विनीप्राण है । यही इस सौ संवत्सरका व्यात्तिस्थानरूप मुखस्थान है, जैसा कि—

'अश्विनौ हि द्यावापृथिव्यौ । इमे हीदं सर्वमश्नुवाताम् ॥'

—इत्यादि ब्राह्मण श्रुतिसे स्पष्ट है । ऐसे इस सर्वकामपूर संवत्सरपुरुषसे ही उसके लिये यज्ञका अधिष्ठाता द्विजा यही कामना करता रहता है अर्थात् ऋषि देवभाववाले मानव को इस प्रजापतिपुरुषसे मानो यही कामना व्यक्त करने आदेश दे रहे हैं कि—

'इष्णन्-इषाण' कर्मफलमिच्छन् इषाण-इच्छां कुरु, इच्छ इति यावत्'—

तुम उससे यही इच्छा करो । **असुं इषाण** अर्थात् उस परलोकात्मक आत्मबुद्धिवाले मोक्षकी इच्छा करो, सर्वलोकं

मा इषाण अर्थात् 'अभ्युदयरूपा लोकसमृद्धिकी इच्छा करो। तात्पर्य अमृत-मृत्युमय, श्री एवं लक्ष्मीयुक्त सूर्यप्रजापतिकी उपासनासे मानवके अभ्युदय और निःश्रेयस काम सिद्ध हो जाते हैं।' श्रीका अर्थ है—**'विद्या'** एवं 'लक्ष्मी' का अर्थ है—'भौतिक सम्पत्ति।' विद्या ही माता **'शारदा'** है और भूतसम्पत्ति ही माता **'लक्ष्मी'** है। शारदारूपा श्रीसे समन्विता भूतसम्पत्तिरूपा लक्ष्मी ही भारतीय सांस्कृतिक 'लक्ष्मी' की मौलिक स्वरूप-व्याख्या है। धर्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य नामकी भगसम्पत्तियाँ ही 'श्री' हैं। यह अमृतसूर्यात्मिका है, जिसका अर्थ—स्वयम्भूगर्भिता परमेष्ठीकी व्यक्त-अव्यक्ता **'महासरस्वती'** है। सरस्वती ही 'श्री' है, 'रस' को ही वेदभाषामें 'श्री' कहा गया है। जैसा कि—

अथ या—**एतेषां सप्तानां पुरुषाणां श्रीः, यो रसः आसीत्, तमूर्ध्वं समुदौहन्।** (शत० ६।१।१।४)

—इत्यादिसे स्पष्ट प्रमाणित है।

संस्कृतिके संदेशवाहक भारतीय विद्वद्वर्गकी दासतापूर्ण प्रज्ञामें इस अनार्ष काल्पनिक भ्रान्त धारणाको दृढमूल प्रमाणित कर दिया है कि 'जहाँ सरस्वतीका निवास है, वहाँ लक्ष्मी नहीं रहती एवं जहाँ लक्ष्मीका निवास है, वहाँ सरस्वती नहीं रहती।' उपर्युक्त **'भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि'** के स्थानमें शारदाविहीन क्षेत्रोंमें आयी हुई लक्ष्मी सर्वथा मन-वचन-कर्मसे अलक्ष्मीरूपमें ही तो परिणत हो जाती है।

भृगुका सोम ही वह 'अमृत' है, जिसका देवताओंने अङ्गिरारूपा सरस्वतीको मूल प्रतिष्ठा बनाकर पान किया और आपोमय असुर आपोमयी विमोहिनी वैष्णवीमायासे विमोहित होकर, सरस्वतीसे वञ्चित होकर लक्ष्मीके अनुग्रहके साथ-साथ सोम—अमृतप्राप्तिसे भी वञ्चित बन गये। जिस प्रकार ज्ञानशक्तिका प्रधान उत्तरदायित्व आत्मनिष्ठ ब्राह्मणसे सम्बन्धित है, क्रियाशक्तिरूप पौरुषका उत्तरदायित्व बुद्धिनिष्ठ क्षत्रियसे सम्बन्धित है, उसी प्रकार अर्थशक्तिरूप 'वित्त' का उत्तरदायित्व मनोधर्मा वैश्यसे ही समन्वित माना गया है। लोकलक्ष्मीके इसी भावसे कहा है—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥

(ऋ० १०।७१।२)

'जिस प्रकार भुने हुए जौकी धानीका सत्तू बनानेके लिये (पहले पकी हुई जौ-राशिको) उसे 'तितउ'—शूर्प—सूपड़ेसे साफ किया जाता है, उसी प्रकार परिवारमें, समाजमें या राष्ट्रमें प्रज्ञाशील मानव तितउरूप मनसे 'वाक्'रूपा पकी हुई यवराशिको स्वच्छ—निर्मल बना लेते हैं; उस परिवार, समाज या राष्ट्रके धीर मानव ही (दोषरहिता वाक्के अनुग्रहसे राग-द्वेषरहित होकर परस्पर) सख्यभाव (मैत्रीभाव) स्थापित करनेमें समर्थ बन जाया करते हैं। सख्यभाववाले ऐसे पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय मानवोंकी वाणीमें ही अभ्युदयकारिणी भद्रा-मङ्गलमयी लक्ष्मी निवास करती है।'

अध्यात्ममें—स्वयम्भूका **अव्यक्त**, परमेष्ठीका **महत्** एवं अमृतसूर्यका **अमृतविज्ञान**, इन तीनोंकी समष्टिरूपा आत्मश्री ही मानवका **'आत्मभाव'** है, जिसके आधारपर मर्त्यसूर्यकी **बुद्धि**, चन्द्रका **मन** और पृथिवीका **शरीर**, इन तीनोंकी समष्टिरूपा लोकलक्ष्मी स्थित है। इन तीनों लक्ष्मीपर्वोंके संग्रहके लिये ही मन्त्रश्रुतिमें क्रमशः **धीराः-मनसा-वाचन्** ये शब्द आये हैं। बुद्धि, मन और शरीर—इन तीनोंका जहाँ साथ है, वहाँ सौख्य है या मैत्री है, वहाँ ही लक्ष्मीका निवास है, यही सारांश है। बौद्धिक **श्रम तप** कहलाया है, मानसिक **श्रम कामना** नामसे प्रसिद्ध है एवं शारीरिक श्रम **श्रम नामसे** प्रसिद्ध है। तप, काम और श्रमके सह समन्वयसे ही मानवके अर्णवसमुद्रका मन्थन होता है, एवं इस मन्थन-प्रक्रियासे ही लक्ष्मीका आविर्भाव होता है। काम, तप और श्रम करनेवाले मानवोंकी तो वाणीमें ही लक्ष्मी विराजमान रहती है। न केवल वाणीमें ही किंतु वाणीमें, नेत्रोंमें और अङ्ग-प्रत्यङ्गमें लक्ष्मी व्यक्त रहती है। ऐसे अध्यवसायनिष्ठ मानवश्रेष्ठ ही **पुण्यलक्ष्मीक** कहलाये हैं—

यस्य मुखे लक्ष्म भवति, तं 'पुण्यलक्ष्मीकः' इत्याचक्षते।

(श० ८।४।४।११)

'धीराः' शब्द 'बुद्धि'का और उसके परिश्रमरूप 'तप' का संग्राहक है, **'मनसा'** शब्द 'काम' का संग्राहक है एवं **'वाचम्'** शब्द वाङ्मय शरीर और उसके श्रमका संग्राहक है। यों तीन शब्द तप, काम और श्रमके संग्रहके साथ-साथ लक्ष्मीके मूलाधारभूत मनःप्राणवाङ्मय आत्मभावके भी संग्राहक प्रमाणित हो रहे हैं। **'सोऽकामयत, स तपोऽतप्यत, सोऽश्राम्यत्'** मूलक काम, तप और श्रमका समन्वय ही लक्ष्मीको प्राप्त करा देनेवाला बनता है। सम्पूर्ण विश्वलक्ष्मी मन, प्राण और वाङ्मय प्रजापतिके काम, तप और श्रमरूप अध्यवसायसे ही उत्पन्न हुई है। (क्रमशः)

विवेकानन्द और भारतीय धर्म तथा संस्कृति

(लेखक—श्रीशशिधरजी शर्मा शास्त्री, सर्वदर्शनाचार्य, एम्० ए०)

प्राचीन मत

वैदिक धर्म तथा संस्कृति ही भारतीय धर्म तथा संस्कृति है ।

प्रकृत विषयमें उतरनेसे पूर्व भारतीय धर्म और संस्कृतिका संक्षिप्त परिचय पा लेना अपेक्षित ही नहीं, अनिवार्य भी है । भारतीय धर्म तथा संस्कृति क्या है ? इनका वास्तविक स्वरूप क्या है ?—इसका निर्णय आज पर्याप्त विवादका विषय है । प्राचीन रीतिके मर्मज्ञ विद्वानोंकी सम्मतिमें वही धर्म तथा वही संस्कृति—जिनका उद्भव वेदोंसे हुआ है और इसीलिये जो वैदिक धर्म तथा संस्कृतिके रूपमें प्रख्यात हैं—भारतीय धर्म तथा संस्कृति हैं । उनकी दृष्टिमें इसमें 'मीन-मेष'का कोई अवसर नहीं ।

नवीन मत

सब धर्मोंका समन्वय ही भारतीय धर्म तथा संस्कृति है ।

किंतु, भारत एक विशाल देश है । इसमें विभिन्न धर्मोंके अनुयायी सुदीर्घकालसे निवास करते आ रहे हैं । अतः यहाँ किसी एक धर्मको देश-धर्म स्वीकार करना कठिन पड़ जाता है, इसीलिये नवीन शैलीके विद्वानोंका कहना है कि भारतमें पाये जानेवाले सब धर्मोंकी समष्टि ही भारतीय धर्म है । सब धर्मोंमेंसे उपादेय बातें लेकर उनकी समष्टि ही भारतीय धर्मके रूपमें इन विद्वानोंको अभिमत है । यही बात संस्कृतिके सम्बन्धमें भी है । भारतमें वर्तमानमें अनेक संस्कृतियाँ विद्यमान हैं—किसी एकको भारतीय संस्कृति कहना उचित नहीं हो सकता । अतः इस सम्बन्धमें भी सभी संस्कृतियोंका समन्वय ही उचित मार्ग है । सभी संस्कृतियोंसे कुछ अच्छी-अच्छी उपादेय बातें चुनकर उनके समन्वितरूपको बिना किसी बाधाके—इनकी दृष्टिमें भारतीय संस्कृति कहा जा सकता है ।

नवीन मतकी अव्यवहार्यता

किंतु, थोड़ा-सा भी विचार करनेपर, इस मार्गमें तो काँटे-ही-काँटे नजर आते हैं; क्योंकि उन-उन धर्मोंको खूब जानने और माननेवाले आचार्य ही अपने-अपने धर्ममें—उपादेय तथा हेयका निर्णय करने तथा उपादेयके निर्वाचनके अधिकारी होंगे । पर, क्या उनके लिये यह सम्भव होगा कि वे अपने धर्मकी कुछ बातोंको उपादेय तथा कुछको हे स्वीकार करें । किसी भी धर्मका कोई भी आस्थावान् विद्वान् इस प्रकारकी अर्धजरतीयताको कभी स्वीकृति न देगा । अतः धर्मोंके सम्बन्धमें समन्वय—सब धर्मोंकी खिचड़ी पकाना उचित नहीं ।

दाल और चावलकी खिचड़ी कुछ उपादेय हो सकती है—वह भी विशेषकर बीमारोंके—अस्वस्थ लोगोंके लिये ही । पर, यह धर्मोंकी खिचड़ी तो स्वस्थ हो या अस्वस्थ किसीके लिये भी उपयोगी नहीं । जो अप्रकृतिस्थ हैं, उन्हें किसी धर्मपर विश्वास ही क्यों होने लगा ? तथा जो प्रकृतिस्थ हैं, वे अपना धर्म क्यों छोड़ने लगे ? अतः यह पक्ष नितान्त अव्यवहार्य (Impractical) है । इसमें तो सभी धर्मोंके मर्मपर ही प्रहार हो जाता है ।

इतिहासकी साक्षी

सम्राट् अकबरकी भी प्रबल अभिलाषा थी कि भारतमें एक सामान्यधर्म प्रचलित हो, जो हिंदुओं तथा मुसल्मानोंका समान सम्माननीय हो । उन्होंने स्वयं एक ऐसे समन्वयात्मक धर्मकी स्थापना भी की—जिसका नामकरण उन्होंने किया 'दीने-इलाही'; किंतु इतिहास साक्षी है कि उन्हें इसमें रञ्चभर भी सफलता नहीं मिली । प्रसिद्ध है जब सम्राट्ने अपने अन्तरङ्गतम जयपुरके महाराजा मानसिंहसे इस अपने चलाये नवीन धर्मको स्वीकार करनेके लिये कहा तो महाराजने उन्हें उत्तर दिया—

'सम्राट् ! आपकी आज्ञा हो तो मैं मुसल्मान बननेको तैयार हूँ, किंतु इस 'दीने-इलाही'को स्वीकार करना मेरे लिये सम्भव नहीं ।'

आगे भी इस प्रकारके प्रयत्न चलते रहे, किंतु उनमें सफलता किसीको न मिली—इतिहासके विद्वानोंसे यह तथ्य छिपा नहीं है ।

समन्वयके लिये आधारकी अपेक्षा

किंतु, यदि थोड़ा और आगे बढ़ा जाय तो समन्वयका प्रशस्त मार्ग पा लेना कठिन नहीं । बात यह है कि समन्वयके लिये एक आधारकी आवश्यकता होती है । यह आधार

समन्वयनीयोंकी—अर्थात् जिनका समन्वय करना चाहते हैं; उनकी अपेक्षा विशाल तथा व्यापक होना चाहिये । फूलोंका समन्वय धागेमें होता है । धागा सदा ही फूलोंसे व्यापक तथा विशाल होता है । बिना धागेके—फूल चाहे कितने भी सुन्दर हों, आपसमें गुँथ नहीं सकते ।

वैदिक धर्म ही समन्वयका आधार

इस दृष्टिसे देखनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि जो धर्म व्यापक हो, जिसमें क्षेत्र विशाल हो—इतना विशाल कि दूसरे धर्मोंकी मान्यताएँ उसमें निर्बाध समा सकें—वही समन्वयका आधार हो सकता है । इस प्रकार एक वैदिक धर्म ही भारतीय धर्म सिद्ध होता है; क्योंकि दूसरे सभी धर्मोंके अपने-अपने क्षेत्र सीमित हैं, संकुचित हैं । एक यदि निराकारवादी है तो उसके यहाँ साकारके लिये कोई स्थान नहीं; एक यदि मूर्ति-पूजक है तो उसके यहाँ निराकारके लिये कोई क्षेत्र नहीं । एकमें यदि गुरुके बिना ईश्वरकी प्राप्ति हो ही नहीं सकती तो दूसरेमें ईश्वरकी प्राप्तिके लिये गुरुकी कोई आवश्यकता नहीं । किसीमें विशेष धर्मग्रन्थ या धर्माचार्यपर विश्वास लाना ही उद्धारका साधन है; किंतु दूसरेमें इनकी कोई अपेक्षा नहीं । किसी विशेष दिन विशेष प्रकारकी क्रियाका अनुष्ठानभर एक धर्मका मूल है । पर जिनका इन क्रियाओंपर विश्वास नहीं, उनके लिये इनके यहाँ कोई स्थान नहीं ।

अब यह देखना है कि क्या कोई ऐसा भी धर्म है जिसमें पिछली बतायी हुई सब धर्मोंकी मुख्य विशेषताएँ बिना किसी तोड़-मरोड़के समाविष्ट हो जायँ । हिंदूधर्म, जिसे वैदिक धर्म भी कहा जाता है, ऐसा ही है—इसमें सभीके लिये स्थान है ।

निराकार ब्रह्मस्वरूपका साक्षात्कार यहाँ चरम लक्ष्य माना गया है । जिस ब्रह्मतत्त्वकी प्राप्तिके लिये भारतीयोंके समग्र जीवनकी साधना चलती है—जो उनका एकमात्र साधन (प्राप्य) है—उसका तात्त्विक रूप निराकार है । भारतीय धर्मके मूर्धन्य-आचार्य, महामहर्षि, चारों वेदोंके व्यास-कर्ता भगवान् व्यासने अपने वेदान्तदर्शनके तृतीय अध्यायमें 'ब्रह्म निराकार है या साकार'—इसपर बड़ा ऊहापोह करके सिद्धान्त स्थापित किया है कि तत्त्वतः ब्रह्म-तत्त्व निराकार ही है; क्योंकि श्रुतियाँ निराकार-प्रधान हैं । अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्'—(वेदान्तदर्शन ३ । २ । १४)

अतः निराकारवादी किसी भी धर्मके साथ, इसका कोई विरोध नहीं, उन सभीका इसमें पूर्ण समन्वय सिद्ध हो जाता है ।

निराकारवादी दूसरे धर्मोंमें साकारवादी उन लोगोंके लिये—जिनका ईश्वरके शरीर धारण करने या उसकी मूर्तिकी पूजा करनेमें विश्वास है—कोई स्थान नहीं । पर, यहाँ उनके लिये भी समान स्थान है । परम-तत्त्व यहाँ साकार तथा निराकार दोनों रूपोंमें स्वीकृत हुआ है । स्वयं भगवान् वेदने ब्रह्मके दोनों रूप माने हैं ।

द्वावेव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च ।

(बृ० उ० ४ । १ । २ । १)

निराकार ब्रह्म परब्रह्म है तथा साकार अपर ब्रह्म । दोनोंकी अपने-अपने स्वरूपमें उपासना जीवोंके उद्धारका साधन है । अन्तर यही है कि निराकार उपासना जहाँ साक्षात् उद्धारका मार्ग है—वहाँ साकार उपासकके उद्धारका भार उसके उपास्य देवतापर ही पड़ जाता है ।

आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने भी अपने मुखारविन्दसे कहा है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

(गीता ९ । २२)

'एकाग्रभावसे मेरा ध्यान करते हुए जो भक्त-जन मेरी उपासना करते हैं—सदा मेरेमें लवलीन हुए उन (भक्तों)के योगक्षेमका वहन मैं किया करता हूँ ।'

अन्यत्र भी उन्होंने स्पष्ट कहा है—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥

(गीता १२ । ७)

'हे अर्जुन ! उन भक्तोंका—जिनके कि मन सदा मेरेमें ही लगे रहते हैं—मैं शीघ्र ही मृत्युरूपी संसार-समुद्रसे उद्धार कर लेता हूँ ।'

अतः साकार उपासकके लिये भी यहाँ खूब स्थान है । मूर्ति-पूजाकी उपपत्ति भी इसीसे हो जाती है । इसीलिये तो निराकारवादी भगवान् व्यासको भी—श्रुतियों एवं स्मृतियोंके प्रमाणोंसे—साकार-उपासनामें परमतत्त्वका साक्षात्कार स्वीकार करना पड़ा है—

अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्।
(वेदान्तदर्शन ३ । २ । २४)

जो लोग ग्रन्थविशेष, धर्माचार्यविशेष या अग्नि आदि विभूति-विशेषकी पूजा करते हैं, उनका भी यहाँ सम्मान है। तभी तो भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥
(गीता १० । ४१)

'जो भी वस्तु वैभवयुक्त हो, शोभायुक्त हो तथा शक्तियुक्त हो, हे अर्जुन! तुम उसे मेरे ही तेजके अंशसे उत्पन्न समझो।'

और, विभूति या विभूतिमान्की पूजाकी तो बात ही क्या! समस्त विधि-विधानोंकी उपेक्षा कर नितान्त उपेक्षणीय भूत-प्रेत-पिशाचोंकी पूजा करनेवालोंको भी भगवान् अपनी ही पूजा करता हुआ बताते हैं और उन्हें भी अपनानेका कृपामय आश्वासन देते हैं—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥
(गीता ९ । २३)

'और भी, श्रद्धासे युक्त जो अन्य भक्तजन दूसरे-दूसरे देवताओंकी पूजा करते हैं—वे भी, हे अर्जुन! विधिपूर्वक भले ही न हो, मेरी ही पूजा करते हैं।'

अधिक क्या कहा जाय, जो ईश्वरको नहीं मानता, वह भी यहाँ रह सकता है। महर्षि जैमिनि, शबर तथा कुमारिल-जैसे दार्शनिकोंने भी ईश्वरको प्रत्यक्ष स्वीकार नहीं किया था-ऐसा कहते हैं; किंतु भारतकी परम्परामें उनका स्थान अविचल है। और तो और, अनादर और अवहेलनासे भी ईश्वरका नाम लेनेवालोंका भी यहाँ ध्यान रक्खा गया है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

सांकेत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥
(६ । २ । १४)

भगवान्के नामका उच्चारण किसी बहानेसे, या हँसीमें, गीतालाप-पूरणार्थ या अनादरसे ही क्यों न किया जाय, वह समस्त पापोंका नाशक माना गया है।

सार

अतः यह स्पष्ट है कि वैदिक धर्म ही दूसरे सब धर्मो व्यापक है, अतः वही भारतीय धर्म कहलाने योग्य है। सभी धर्मोंका—उनकी विशेषताएँ नष्ट किये बिना ही—उस सहज समन्वय हो जाता है।

संस्कृति

संस्कृतिका प्रश्न भी इसीसे बहुत कुछ समाहित हो जात है; क्योंकि संस्कृति धर्मसे रली-मिली होती है। विभि देशोंके आचार-व्यवहार ही वहाँकी संस्कृति कहाते तथा वह प्रायः धर्मसे मुद्राङ्कित रहते हैं। यहाँ तो—

'आचारः परमो धर्मः' (मनु० ४ । १५६)

अर्थात् आचार सर्वश्रेष्ठ धर्म है—कहकर मानो भगवा मनुने दोनोंको बिल्कुल एक कर दिया है।

इस प्रासङ्गिक संक्षिप्ततम विवेचनसे यह सिद्ध हुअ कि वैदिक धर्म तथा संस्कृति ही क्रमशः भारतीय धर्म ए संस्कृति है, जो अनादिकालसे न केवल हिंदू समाज अपितु सारे ही मानव-समाजको प्रकाश और प्रेरणा दे आ रहे हैं। स्वामी विवेकानन्द इसी धर्मके उद् व्याख्याताओं तथा मूर्धन्य प्रचारकोंमें अन्यतम थे।

स्वामी विवेकानन्दकी उदयकालिक धार्मिक पृष्ठभूमि

१८५७ की क्रान्ति जैसे-तैसे दब गयी थी, किंतु अंग्रे की हृदय-चिन्ता नहीं दबी थी। उन्होंने दीर्घदृष्टिसे देखा भारतमें जबतक स्वधर्मका अभिमान है, तबतक इसे व करना असम्भव है। अतः प्रथम आवश्यकता है इस धर्माभिमानको नष्ट करना। फलतः, अंग्रेजी शिक्षामें व निपुणतासे धर्मका मूलोच्छेद प्रारम्भ हुआ। ईसाई मिशनरि तेजीसे कार्यरत हुईं। भारतके धर्म-प्राण महापुरुषोंको विभि प्रकारसे कलङ्कित एवं विद्रूप कर सामने लाया जाने ला हमारे प्राचीन इतिहासको मिथ्या घोषित कर दिया गया।

भारतमें कोई अच्छी चीज हुई ही नहीं, कोई महापु हुआ ही नहीं, भारतके पूर्वज नितान्त असभ्य अनार्य थे इस प्रकारके निरन्तर प्रचारसे भारतीय आत्मविश्वासकी हिला दी गयीं।

आत्मविश्वास किसी भी देश या जातिका प्राण होता है तथा उसका आधार होता है। धर्म नष्ट हो जानेपर देश भी मृतप्राय हो जाता है। फिर, भारत तो देश ही धर्मप्राण है। धर्मपर प्रहारसे उसका प्राण ही छटपटा रहा था। जीवन गतप्राय था।

ऐसे समयमें स्वामी विवेकानन्दका जन्म हुआ और उन्होंने मृतप्राय भारतीय धर्मको पुनः जीवन-दान किया। भारतीय संस्कृति भी उनको पाकर फिरसे लहलहा उठी।

स्वामी रामकृष्ण परमहंससे धर्म-दीक्षा लेनेके अनन्तर स्वामीजी आजीवन भारतीय धर्म तथा संस्कृतिके पुनरुद्धारमें ही लगे रहे। इनका कोई भी कोना उन्होंने अछूता न छोड़ा तथा प्रत्येक क्षेत्र उनके स्पर्शसे ज्वलन्त तथा जीवन्त हो गया।

भारतीय धर्म तथा संस्कृतिकी प्रमुख विशेषताएँ और स्वामीजीद्वारा उनकी प्रतिष्ठा

भारतीय धर्म तथा संस्कृति बहुमुखी हैं, तथापि इनकी कुछ निम्नाङ्कित विशेषताएँ हैं, जो मूलभूत हैं—

१-वेद इनका मूल है।

२-आध्यात्मिकता इनका सर्वस्व है।

३-कर्म, भक्ति तथा ज्ञान—इनके एक ही लक्ष्यकी प्राप्तिके अनेक साधन हैं।

हम इन्हींको लक्ष्यमें रखकर स्वामी विवेकानन्दके कार्योंका विहङ्गमावलोकन करेंगे।

हम कह चुके हैं कि स्वामीजीने अपना सारा ही जीवन इसी सार्वभौम सनातन-धर्मकी सेवामें अर्पित कर दिया था। तथापि, 'शिकागो'के सर्वधर्मसम्मेलनकी उनकी वक्तृतासे धर्मका नवीन जीवन प्रारम्भ हुआ। इसकी सार्वभौमता तथा विश्वजनीनताकी आभा शताब्दियोंकी चिररात्रिके अनन्तर एक दूसरे दिनका आरम्भ करती हुई एक बार फिरसे उदित हुई।

स्वामीजीने धर्मका मूलसे सिञ्चन आरम्भ किया। आजके बड़े भारतीय विद्वान् भी अपने धर्म (तथा संस्कृति) को एक खिचड़ीमात्र सिद्ध करनेमें लगे हैं, केवल कुछ व्यापक प्रशंसाके लिये। किंतु सच्चे संसार-हितैषियोंको प्रशंसा या कीर्तिकी अपेक्षा सत्य अधिक प्रिय होता है। स्वामीजीने इसीसे निर्भीकताके साथ घोषणा की थी कि हिंदुओंने—जिनका वे प्रतिनिधित्व कर रहे थे—अपना धर्म दैवीप्रकाशनसे—जिसे 'वेद' कहा जाता है—प्राप्त किया है—

The Hindus have received their religion through revelation, the Vedas.

वेद स्वामीजीकी दृष्टिमें सत्यके खोजियोंके चिरसंचित आध्यात्मिक नियमोंके कोष हैं—

They mean the accumulated treasury of spiritual laws discovered by different persons in different times.[2]

इन नियम-निधियोंके अन्वेषक ही स्वामीजीके शब्दोंमें 'ऋषि' कहलाये, जो अपने अन्वेषणोंके कारण ही पूर्णपुरुषोंके रूपमें आदरणीय हुए—

The discoverers of these laws are called Rishis, and we honour them as perfect beings.

भारतीय ऋषियोंकी संचित इन निधियोंमें जो सबसे जाज्वल्यमान रत्न है—जो वस्तुतः सबका सारसर्वस्व है—वह है 'आत्मा'। इसीकी खोजमें भारतीयोंका समग्र जीवन न्योछावर है और यही है इनकी 'आध्यात्मिकता'।

यह आत्मा सर्वव्यापक है, विशुद्ध ज्ञान तथा आनन्दरूप है। प्रकृतिके प्रपञ्चसे यह परे है। इसीको परब्रह्म, परमात्मा या ईश्वर भी कहा जाता है। पर, इसकी प्राप्ति होगी कहाँ! अरे, जो खोजनेवाला है—वह यही तो है। केवल अपने दिव्य स्वरूपको भूलकर यह प्रपञ्चमें भटक रहा है—यही बन्धन है। आत्मसाक्षात्कार ही इससे छूटनेका एकमात्र साधन है। भारतीयकी सारी साधना इसी साध्यकी प्राप्तिके लिये अबाध चलती है। इससे नीचेका लक्ष्य उसको स्वीकार नहीं।

सिद्धान्त या मत उसे संतुष्ट न कर पायेंगे। उसे साक्षात्कार चाहिये। अपनी आँखोंसे ईश्वरको, अपनी आत्माको देख लेनेपर ही वह संतुष्ट हो सकता है। इसीलिये वैदिक ऋषि कहता है—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः। (बृ० उ० २।४।५)

हमें तो आत्माका ही साक्षात्कार करना चाहिये। वह मतों

१–हिंदूधर्मपर पत्रक—जो सर्वधर्म-सम्मेलनमें १९।९।१८९३ को पढ़ा गया।

२—वही

३–वही।

या पन्थोंमें न भटककर अपने लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये इस बीहड़ राहपर बढ़ा ही जाता है और उसकी इस गतिमें ही उसका सारा धर्म केन्द्रित है। तभी तो स्वामीजीने कहा था—

Thus the whole object of their system is by constant struggle to become perfect, to become divine, to reach God and see God and this reaching God, seeing God, becoming perfect even as the father in heaven is perfect, constitutes the religion of Hindus.×

अर्थात्—इस प्रकार उन हिंदुओंकी पद्धतिका एकमात्र लक्ष्य है—सम्पूर्ण प्रयत्नसे परिपूर्ण बनना, दिव्य भगवत्स्वरूप बनना, ईश्वरकी प्राप्ति तथा उसका साक्षात्कार।—और ये ईश्वरकी प्राप्ति, ईश्वरका साक्षात्कार तथा परिपूर्णभाव—ठीक वैसा ही है जैसा कि परमेश्वरमें है—हिंदुओंके धर्मका निर्माण करते हैं।'

कर्म हो या भक्ति, योग हो या ज्ञान—सब इसी लक्ष्यकी प्राप्तिके अलग-अलग मार्ग हैं (All roads had to Rome)। स्वामीजी कहते हैं—

The goal is to manifest the divine within by controlling nature external and internal. Do this either by work (Karmayoga), or worship (Bhaktiyoga) or philosophy (Jnanayoga), by one or more or all of these, and be free.

अर्थात्—हमारा लक्ष्य है बाह्य और आन्तर प्रकृतिका नियमन करते हुए—अन्तःस्थ दिव्य तत्त्वको आविर्भूत करना। इसे हम चाहे कर्मयोगसे करें, चाहे भक्तियोगसे या ज्ञानयोगसे, इनमेंसे किसी एकसे या अनेकोंसे अथवा मिलकर सबसे तथा स्वतन्त्र हो जायँ।

इस प्रकार स्वामीजीने कर्म, उपासना तथा ज्ञान—तीनोंका समन्वय कर भारतके सभी मत-मतान्तरोंका समन्वय कर लिया। सूक्ष्मदृष्टिसे देखनेपर तो संसारके सभी धर्मोंका समन्वय इसमें हो जाता है; क्योंकि संसारके प्रायः सभी धर्म कर्म तथा उपासनामें ही गतार्थ हो जाते हैं। अन्तर उनमें परिधानका है, शरीरका भी नहीं और आत्माका तो बिल्कुल ही नहीं। और इसी आत्माको तो भारतीय हिन्दू 'परमात्मा' कहा करता है।

मूर्तिपूजाके आधारपर उन दिनों भारतीय धर्म तथा संस्कृतिपर ईसाई मिशनरियोंके आक्षेपोंका प्रहार हो रहा था। यह प्रहार इतना प्रबल था कि बहुतेरे भारतीय विद्वान् भी विचलित हो उठे थे किंतु स्वामीजीने इसकी अद्भुत उपपत्ति की। उन्होंने संसारको बताया कि कोई भी हिंदू मूर्तिकी पूजा नहीं करता, किंतु मूर्तिके द्वारा परमात्माकी पूजा करता है। बात यह है कि निर्गुण निराकार अपरिच्छिन्न परमात्मामें मनुष्यकी परिच्छिन्न बुद्धि टिक नहीं पाती। वह निराधार लड़खड़ाने लगती है। उसके लिये आधार अनिवार्य है। भारतीयोंकी मूर्ति इसी आधारका काम करती है।

धर्मान्तरोंमें भी इस प्रकारकी आधार-कल्पना किसी-न-किसी रूपमें अवश्य की गयी है। तभी स्वामीजीने कहा था—

The Hindus have discovered that the Absolute can only be realized, or thought of, or stated through the relative and the images, crosses and crescents are simply so many symbols—so many pegs to hang the spiritual ideas on.

अर्थात् हिंदुओंने खोज निकाला कि परमतत्त्वका किसी सम्बद्ध परिचित वस्तुके द्वारा ही साक्षात्कार, चिन्तन या कथन-वर्णन हो सकता है और (हिंदुओंकी) मूर्तियाँ, ईसाइयोंके क्रास या मुसल्मानोंके अर्धचन्द्र केवल विविध प्रतीकमात्र हैं—आध्यात्मिक विचारोंको आलम्बन देनेके लिये विविध खूँटियाँ हैं। हम कितने भी निराकारवादी हों—किंतु ईश्वरकी उपासनामें भले ही बाहरी मूर्तिसे पीछा छुड़ा लें—मानसिक मूर्तिसे नहीं ही छुड़ा सकते। स्वामीजीने ठीक ही कहा कि मानसिक प्रतिमाके बिना हम कुछ सोच भी नहीं सकते, ठीक वैसे ही, जैसे साँस लिये बिना जी नहीं सकते।

वास्तविक बात यह है कि मूर्त मनुष्य बिना मूर्तिके उस अमूर्तको एकाएक पा ही नहीं सकता। तभी तो सूरदासने कहा—

रूप रेख, गुन जाति जुगति बिनु निरालंब मन चक्रित धावै।
सब बिधि अगम अगोचर तातें सूर सगुन लीलापद गावै॥

× 'शिकागो' सर्वधर्मसम्मेलनमें हिंदू- धर्मपर पढ़ा गया पत्रक।

समाजके लिये वर्णव्यवस्थाको एक व्यवस्थित समाज-संस्थानके रूपमें स्वीकृत किया तथा इसको समाप्त करनेकी कुछ चेष्टाओंको देखकर गहरा क्षोभ प्रकट किया। हाँ, वर्णव्यवस्थामें कुछ विकार आ गये थे—हम अपने ही कुछ भाइयोंकी उपेक्षापर तुल गये थे। यह भूल-सा गये थे कि वह भी समाज-पुरुषका एक अङ्ग है। हिंदूशास्त्रोंमें उनको नीच एवं उपेक्षणीय कहीं भी नहीं माना। दलित एवं गलित-जैसे शब्दोंका उनके लिये हिंदूशास्त्रमें एकदम अभाव है। हमारे यहाँ तो उन्हें अन्त्यज कहा गया है जिसका अर्थ है' छोटा भाई ! यह केवल इसलिये कि विराट् पुरुषके अङ्गोंसे दूसरे वर्णोंकी उत्पत्तिके अनन्तर इसकी उत्पत्ति हुई थी। किंतु, छोटा भाई तो सभी भाइयोंके दुलारका अधिकारी होता है—तिरस्कारका नहीं। स्वामीजीने इस भावनाको जगानेके सभी सम्भव प्रयत्न किये।

इस प्रकार स्वामी विवेकानन्दने भारतीय धर्म तथा संस्कृतिके जरा-जर्जरित अङ्ग-प्रत्यङ्गको हृष्ट एवं पुष्ट किया, उनमें नवीन आत्माकी प्रतिष्ठा की तथा तार्किकता एवं वैज्ञानिकताकी रत्नकलशियोंसे उसका अभिषेक किया। वे भारतीय धर्म तथा संस्कृतिके महान् उद्धारकके रूपमें सामने आये—जिन्हें पाकर ये कृतार्थ हो गये।

स्वामीजीका शताब्दीसमारोह मनाया जा रहा है। भारतीय धर्म तथा संस्कृति उनका स्मरण कर आज हर्ष-विभोर तथा गद्गद हो रहे हैं और एक बार पुनः अपने इस महान् उद्धारकके दर्शनोंके लिये ललक रहे हैं; क्योंकि आज ये पुनः सङ्कटापन्न हो गये हैं।

महापुरुषोंके अनन्तर उनके उत्तराधिकारी प्रायः उनको अपना मनोवाञ्छित रूप दे दिया करते हैं, जो सामयिक होता है। किंतु महापुरुष सदा ही समयकी सीमाओंसे ऊपर होते हैं। स्वामी विवेकानन्दकी अर्चना उन्हें देवता बनाकर पूजनेमें नहीं, किंतु जिस धर्म तथा संस्कृतिके सर्वहितकारी दिव्य विचारोंका उन्होंने प्रतिनिधित्व किया था, उन्हींके प्रसारमें है। वही उनकी सच्ची अर्चना होगी और वही उनका सच्चा शताब्दीसमारोह होगा।

सूरदासकी सगुण भक्ति

(लेखक—श्रीहरनारायणजी टंडन 'स्वामीजी')

भक्तशिरोमणि महाकवि सूरदासजीने अपने ग्रन्थ 'सूरसागर' में ईश्वरके सगुण रूपका गुण-गान किया है। इसका कारण यह है कि निर्गुण उपासनाकी तुलनामें सगुण उपासना अधिक सरल और श्रेयस्कर है। सूरने निर्गुण ब्रह्मके उपासकोंका विरोध नहीं किया। उन्होंने इस विचारधाराका सैद्धान्तिक खण्डन भी नहीं किया, बल्कि उन्होंने यह स्पष्टरूपसे कहा कि अव्यक्त और निर्गुण ब्रह्म मुख्यरूपसे ज्ञानका विषय है, जब कि उसका सगुण स्वरूप भक्तिका। यों सूरदास जिस वल्लभसम्प्रदायके अनुगामी थे, उसमें भी यद्यपि ईश्वरके सगुण और निर्गुण दोनों ही रूप माने गये, परंतु इष्ट रसरूप उसमें भी सगुण ब्रह्म ही माना जाता है।

वल्लभसम्प्रदायके प्रवर्तक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण ही परम ब्रह्म परमेश्वर हैं। वे अनेक दिव्य गुणोंसे युक्त होनेके कारण 'पुरुषोत्तम' कहलाते हैं। वे पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण आनन्दस्वरूप हैं। उनकी लीलाएँ नित्य हैं। अपने भक्तोंके सुखके लिये वे दिव्य धाममें भाँति-भाँतिकी क्रीड़ाएँ करते रहते हैं। वल्लभाचार्यजीके मतानुसार ब्रह्मका सगुण रूप ही वास्तविक और पारमार्थिक रूप है। इसके विपरीत उसका निर्गुण स्वरूप आंशिकरूपसे तिरोहित रूप है।

सूरने श्रीकृष्णकी भक्तिके रूपमें सगुणका जो गान किया है, उसमें प्रेम-तत्त्वकी व्यञ्जना बहुत विस्तारसे हुई है। श्रीकृष्णकी प्रेममयी मूर्ति भक्तोंके लिये अनन्त सौन्दर्यके सागरके समान है। श्रीमद्भागवतके मूलतः दशम स्कन्धकी कथाको ही अपने गुरु श्रीवल्लभाचार्यके

आदेशसे सूरदासने 'सूरसागर'में गाया है । इसीलिये श्रीकृष्णचरितका गान करनेवाले कवियोंमें महात्मा सूरदासका स्थान सर्वोच्च है । सूरकी कृष्णभक्तिका आधार-स्रोत श्रीराधाकृष्णका प्रेम रहा है । इस प्रेममें भी लीला-पक्षकी ही प्रधानता रही है । भ्रमरगीतके अन्तर्गत सूरदासने प्रेम-दशाके विविध प्रकारोंकी अभिव्यक्ति की है । भ्रमरगीतके समान उपालम्भ काव्य हिंदीमें अन्यत्र नहीं मिलता । इसकी सार्थकता सगुण भक्तिके प्रतिपादनकी दृष्टिसे भी है । उद्धव अपने ब्रह्मज्ञान और योग-कथाका माहात्म्य बताकर गोपियोंको श्रीकृष्णके प्रेमसे विरत करना चाहते थे । सगुण-निर्गुणके पारस्परिक विवाद और सगुणकी श्रेष्ठताके प्रतिपादनकी दृष्टिसे भी यह काव्यांश विशिष्टता रखता है ।

परम ब्रह्म परमेश्वरकी निर्गुण और सगुण उपासनाके विषयमें प्रायः प्राचीन कालसे ही विवाद होता आ रहा है । अनेक कवियोंने पृथक्-पृथक् रूपसे निर्गुण और सगुणका वर्णन करते हुए उनकी श्रेष्ठता बतायी है । इस दृष्टिसे सगुणकी उच्च महिमा और ग्राह्यताके सम्बन्धमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कथन स्वयं भगवान् श्रीकृष्णका है, जो उन्होंने श्रीमद्भगवद्गीतामें अर्जुनको सम्बोधित कर कहा है । गीताके बारहवें अध्यायमें अर्जुनने भगवान्से प्रश्न किया कि 'हे मनमोहन ! जो भक्त सगुण रूप परमेश्वरको अनन्य भावसे भजते हैं अथवा जो निराकारकी उपासना करते हैं, इन दोनों प्रकारके भक्तोंमें उत्तम कौन है ?' भगवान् श्रीकृष्णने उसके इस प्रश्नके उत्तरमें कहा कि 'हे अर्जुन ! मैं उन भक्तोंको अति श्रेष्ठ मानता हूँ जो एकाग्रचित्तसे मुझ सगुणरूप परमेश्वरका परम श्रद्धाके साथ भजन करते हैं । वे भक्त योगीजनमें भी उत्तम योगीके समान मुझे मान्य होते हैं । इसके अतिरिक्त जो भक्त सर्वत्र समबु सर्वभूतहितपरायण तथा इन्द्रियविजयी हैं और निरा ब्रह्मका एकात्म-भावसे चिन्तन करते हैं, वे अन्ततः मुझको ही प्राप्त होते हैं; परंतु निराकार आसक्त भक्तोंके लिये साधन-क्रियाओंमें विशेष परि है । उसके लिये सर्वप्रथम शरीरमेंसे अभिमान भावनाका त्याग आवश्यक है । इसलिये अर्जुन! अपने सगुण रूप परमेश्वरका ध्यान करनेवाले प्रेमी भ को ही शीघ्र इस संसाररूपी सागरसे मुक्ति करता हूँ ।'

सूरदासजीने ब्रह्म और जीवके मध्य माय स्थितिके विषयमें भी अनेक पदोंकी रचना की है । भगवान्की शक्तिका ही एक रूप है । ब्रह्म और जी बीचमें अज्ञानरूपिणी मायाका एक पर्दा रहता है । माया जीवके ब्रह्ममें सम्मिलनके मार्गमें एक बाधा होती है । मायारूपी शक्तिका बाह्य रूप अत्यन्त आक होता है । इसी कारण जीव अपनी लोलुपवृत्तिके भूत हो परम लक्ष्यसे भटक जाता है । सूरदास मायाके दो मुख्य भेद बताये हैं । एक तो सत्य है, जिसे वे 'विद्या' माया कहते हैं और दूसरी माया है जिसे उन्होंने 'अविद्या'माया कहा है । मायाकी तुलना एक नटनीसे की है । यह नटनी माया समस्त सांसारिक जीवोंको अपनी ओर आकृ उनके मनमें भाँति-भाँतिकी तृष्णावृत्तियोंको उत्पन्न है । यह मनुष्यकी बुद्धिको भ्रमित करती है । मनमें कामनारूपी तरंगें उत्पन्न करती है, मिथ्या की मोहक कल्पना उपजाती है । इसीलिये सूरने भक्तिके मार्गमें भी इस मायाको एक बड़ी बाधा है और भगवान्से यह प्रार्थना की है कि वे भक्तोंको के इस बन्धनसे मुक्त रक्खें ।

ईश्वरमें विश्वास

(लेखक—श्रीलक्ष्मणस्वरूपजी माहेश्वरी, एम्० ए०, एल्-एल्०बी०)

'क्या ईश्वरका अस्तित्व है ।' शीर्षक एक लेख अगस्तके नवनीतमें पढ़ा था । बहुत-से विचार मस्तिष्कमें आये, बड़ी कसमकश-सी रही । यह तो सच ही है कि ईश्वर कोई इस तरहकी तर्क-संगत वस्तु नहीं, जिसे गणितके दो और दो चारकी तरह एक अबोधको; या एक जिज्ञासुको समझा दिया जाय । न वह कोई इस तरहकी वस्तु है, जिसके अस्तित्वका ज्ञान किसी वैज्ञानिककी रसायनशालामें हो सके । तब भी अधिकतर वैज्ञानिकोंने ईश्वरको माना है । अधिकांश गणितज्ञोंने ईश्वरमें आस्था की है । डॉ० पॉल ब्रंटन जब भारतमें श्रीरमण महर्षिसे मिले थे तब जो अनुभूति उन्हें हुई थी, उसका उल्लेख यहाँ आवश्यक है । डॉ० पॉल ब्रंटनने लिखा है कि श्रीरमण महर्षिके सांनिध्यमें एक विचित्र प्रकारकी सनसनी उनके रुधिरमें, उनकी रगोंमें व्याप्त होती रही थी । ऐसा लगता था जैसे किसी अज्ञात शक्तिका ज्योतिपुञ्ज उनके अन्तरालमें समाता जा रहा था और उनकी भौतिक चेतनाएँ शिथिल होती जा रही थीं । उन्होंने लिखा है कि एक ऐसी अनुभूति उन्हें हुई, जिसे विज्ञान या गणितकी कोई भाषा पंक्तिबद्ध नहीं कर सकती ।

एक बड़ी मार्मिक घटना है—स्वामी विवेकानन्दके जीवनकी । परिव्राजकके रूपमें स्वामीजी भारतके दौरेपर थे । उत्तर प्रदेशकी बात है । स्वामी विवेकानन्द रेलके तीसरे दर्जेमें सफर कर रहे थे । कई दिनोंकी निरन्तर यात्राके कारण थके हुए थे । भूखे थे । तृषित भी । पास ही एक बनिया बैठा था जो उनके साथ ही सफर कर रहा था । तरीघाट स्टेशनपर दोनों उतरे । बनियेने अपना सामान एक जगह एकत्रित किया, दरी बिछायी, पानी छिड़का और टिफिन खोलकर खाना शुरू किया । स्वामी विवेकानन्द उतरे और उस बनियेसे जरा दूर, एक कोनेमें बैठ गये । भूख और गरमीके मारे उनका सिर फटा जा रहा था और उन्हें ऐसा लग रहा था कि मूर्च्छित हो जायँगे । थोड़ी देरमें एक दूसरा बनिया वहाँ आया । उसके एक हाथमें जलका कलसा था, बगलमें बिछानेकी चटाई थी और दूसरे हाथमें भोजनके संयुक्त पात्र थे । वहाँ पहुँचते ही वह स्वामी विवेकानन्दसे बोला 'चलिये, भोजन कर लीजिये । मैं आपके लिये भोजन लाया हूँ ।' स्वामी विवेकानन्दने देखा; सोचा इसे कहीं और जाना होगा और गलतफहमीसे यह यहाँ चला आया है । बोले—'भाई; किसे खोज रहे तुम ?' बनिया बोला—'महाराज । मैं तो आपके ही पास आया हूँ । उठिये, भोजन कर लीजिये ।' स्वामी विवेकानन्द हतबुद्धिसे उसे देखते रहे । बोले, 'भाई, तुम मुझे कैसे जानते हो ? अभी-अभी आधा घंटा पहले ही तो मैं रेलसे उतरा हूँ । पहले कभी यहाँ आया भी नहीं । तुम शायद भूल रहे हो । जिसे तुम ढूँढ़ रहे हो वह शायद मैं नहीं हूँ ।' बनिया बोला—'आप भी कैसी बातें करते हैं । अभी-अभी तो मैंने आपको देखा ही था । खाना खाकर दोपहरको सोया ही था कि ऐसा लगा जैसे भगवान् श्रीराम आपको बताकर मुझे कह रहे हैं कि मैं फौरन आपके लिये भोजन लेकर उपस्थित होऊँ । अचकचाकर मेरी नींद खुल गयी । पहले तो जरा विचार हुआ । पर फिर सोचा कि ऐसे ही स्वप्न आ गया होगा । दुबारा सोया ही था कि जैसे फिर किसीने सम्पूर्ण शरीरको झकझोर दिया हो । मैंने देखा कि साक्षात् भगवान् श्रीराम खड़े थे और आपकी ओर इङ्गित करके मुझे आदेश दे रहे थे कि मैं आपके लिये भोजन लेकर उपस्थित होऊँ, फौरन मेरी नींद टूटी । मैं उठा । मैंने स्नान किया और फौरन चूल्हा जलाकर आपके लिये भोजन तैयार किया तथा अब मैं आपके समक्ष उपस्थित हूँ । कृपा करके उठें और भोजन करें ।'

स्वामी विवेकानन्दने यह सुना तो अविरल अश्रुधारा उनकी आँखोंसे बह निकली । उन्हें यही विचार आता रहा कि ईश्वरकी कितनी असीम अनुकम्पा है उसके अपने प्रियजनोंपर, कितनी चिन्ता है उसे उनकी !

दो घटनाएँ पिताजीके जीवनकी हैं, ऐसी ही मार्मिक और हृदयस्पर्शी । प्रार्थनाकी निस्पृहता एवं एकाग्रतासे भगवान्का आसन किस तरह हिलता है—यह मैं अपने जीवनमें इन दो घटनाओंसे ही समझ पाया ।

जोधपुरकी बात है, सन् १९३७ की । हमलोग सरदारपुरामें पाँचवीं सड़कपर रहते थे । चारों तरफ बड़ा बीरान-सा था । बड़ी दूरतक हमलोगोंके आस-पास न कोई मकान था, न कोई बस्ती । जंगल था । दोपहरके सन्नाटेमें गधेके-से आकारके सूअर मकानके सामने ही, जरा दूरपर डोला करते थे । आने-जानेवाले बहुत कम थे । मईका महीना था । दिनभर साँय-साँय लू चलती थी । पिताजीके दाहिने पैरके अँगूठेका ऑपरेशन हुआ था । हड्डीका पहला जोड़ सड़ गया था और डाक्टरोंका मत था कि अँगूठा काटना पड़ेगा । बड़ी विकट परिस्थिति थी । इसी बीच एक सरजनका आश्वासन मिला कि

अँगूठा बिना काटे भी काम चल सकता है । सड़े हुए जोड़को धीरे-धीरे निकाल दिया जायगा, इस तरह कि दूसरे जोड़में सड़ाद न लग सके । इसलिये घरपर ही इलाज होना तय हुआ । रोज वे सरजन घर आते, अँगूठेके जख्मको खोलते । औज़ारोंके सहारे सड़ी हुई हड्डीके टुकड़ोंको तोड़कर निकालते; मरहमपट्टी करते और चले जाते । रोजका यही क्रम था । मैं १६ वर्षका था तब । कभी-कभी पास जाकर देखता जख़्मको । आज भी जब उसकी याद आती है तो सारा शरीर जैसे सिहर उठता है । अँगूठा आकारमें फूल गया था, तीन-चार गुना । दो चीरे लग चुके थे नीचेकी ओर उसमें—एक खड़ा और एक आड़ा । इन दो चीरोंके कारण अँगूठा फट गया था बिल्कुल तथा दोनों तरफकी चमड़ी बेसहारा लटक-सी गयी थी । जख्म ऐसा था कि देखा नहीं जाता था । डाक्टर जब बलपूर्वक सड़ी हुई हड्डीके टुकड़े निकालता, तब पिताजी दर्दके मारे इस तरह कराहते कि मकानकी नींव हिल-सी जाती । मेरी दादी मौजूद थीं तब । वे चीख उठतीं । ताऊजी भी थे । उनसे देखा नहीं जाता और वे बाहर चले जाते । रोज यही होता । घरमें बड़ी उदासी-सी छा गयी थी । सब सुस्त रहते । न जाने कैसी असहायता थी । ऐसेमें एक दिन दोपहरको करीब १॥ बजे बड़ी विचित्र-सी घटना घटी । कमरेमें पिताजी अकेले थे, नींदकी झपकी-सी आ गयी थी उन्हें । इतनेमें एक जैन साधु भीतर आये । बाहरकी सीढ़ी चढ़कर वे बरामदेमें आये । फिर दाहिने मुड़े । फिर बाँयें चलकर पिताजीके सिरहाने आये । आहटसे पिताजीकी नींद टूट गयी । हाथ जोड़े । उन्होंने पूछा 'क्यों, क्या बात है ?' पिताजीने हाल बताया । बोले, चिन्ताकी कोई बात नहीं है । सब जल्दी ही ठीक हो जायगा । इतनेमें आवाज सुनकर भीतरसे भी बहुत लोग आ गये । महात्माजीको प्रणाम किया । उन्होंने अभयदानकी मुद्रामें आशीर्वाद दिया एवं वे चले गये ।

हमलोग सोचते रहे कि दोपहरको १॥ बजे जैन मुनि क्योंकर इधर आये । जैन आचार-विचारसे जो परिचित हैं वे सभी जानते हैं कि जैनी साधु सुबह-सुबह ही अपनी भिक्षा वगैरह ले आते हैं । वे लोग जैन घरोंमें ही भिक्षा ग्रहण करते हैं और उसमें भी कितनी ही कठिनाइयाँ हैं । हमलोग वैष्णव हैं । एक जैन साधु हमारे यहाँ आवें—शहरसे इतनी दूर, लू के थपेड़ोंमें, दोपहरको १॥ बजे; एक सुनसानसे मोहल्लेमें—भरोसा नहीं होता था । पर बात तो सही थी ।

बहुत दिनों बाद एक बार पिताजीने बताया कि उन्होंने भगवान्से दिनों तक प्रार्थना की थी कि सब जने दुखी हैं, त्रस्त हैं, भयभीत हैं, कि किसी तरह आप सबको आश्वस्त कर दें, तो ठीक हो ।

दूसरी घटना है नीमचकी, सन् १९४० की । दादी बीमार थीं । उनकी आयु लगभग ६५ वर्षकी थी उस वक्त । दमा था और फेफड़ोंमें कफ जम गया था । पिताजी तथा ताऊजी दोनों वहाँ पहुँच गये थे । बहुत इलाज करवाया, पर अवस्था दिनोंदिन बिगड़ती गयी । श्वासमें घरघराहट-सी होने लगी थी; तथा नब्ज बड़ी अनियमित होकर चलती थी । एक दिन सहसा उनकी तबियत बहुत अधिक बिगड़ गयी । श्वास उखड़कर आने लगी, सम्पूर्ण अङ्ग शिथिल हो गया । आँखें पथरा-सी गयीं तथा नब्ज अपने स्थानसे विलग हो गयी । दो-तीन जनोंने मिलकर सावधानीसे उन्हें पलंगके नीचे उतार लिया । पिताजीमें हिमालयकी-सी सहनशीलता है पर उस समय मैंने देखा, उनकी भी आँखें डबडबा आयीं और बड़ी विकल-सी अवस्थामें वे बाहर चले आये । बाहर बरामदेमें टीनकी छत थी जो लोहेके मोटे-मोटे नलोंके सहारे खड़ी थी । उन्हींमेंसे एक नलके सहारे पिताजी खड़े हो गये, आँखें मूँदे । एक दुर्धर्ष संघर्षकी रेखाएँ उनके मुखपर व्याप्त थीं, पर कौन कह सकता था कि उसके भीतर क्या है ।

दादीकी अवस्थाके समाचार गाँवमें पहुँचते ही आने-जाने वाले स्त्री-पुरुषोंका एक जमघट-सा लग गया । हमारे समाजमें वे सबसे वृद्ध थीं गाँवमें । निकट और दूरके सम्बन्धी आये, और उनके शरीरके इर्द-गिर्द बैठ गये । और बहुत-से लोग आये और चले गये । इस बीच करीब पौन घंटेतक पिताजी वहीं खड़े रहे, समाधिस्थ-से अचल । कितने लोग आये और कितने चले गये, इसका उन्हें कुछ भी भान न था । अचानक दादीके शिथिल शरीरमें गतिका आभास हुआ । उन्हें द हुआ तथा बड़ी छटपटाहटके साथ कै हुई । विक्षिप्त-सी अवस्थामें उन्होंने आँख खोली और फिर बंद कर ली । वैद्यने देखा तो नब्ज फिर अपने स्थानपर आ चुकी थी । उन्हें उठाया तथा फिर पलंगपर लिटा दिया । बाहर आ ताऊजीने पुकारा 'रामस्वरूप, रामस्वरूप' । पिताजी वैसे ही खड़े रहे । बड़े विह्वल-से होकर ताऊजीने पास आकर उन कंधा पकड़कर उन्हें झकझोर-सा दिया । जैसे पिताजी नींद-सी टूटी और स्तम्भित-से होकर उन्होंने पूछा 'क्या हुआ माकी तबियत ठीक है अब । ताऊजीने कहा ।

करीब १॥ घंटे बाद दादीकी नींद टूटी और ता

उन्होंने बताया कि माथेपर तिलक लगाये, शरीरपर दूध-से उजले वस्त्र धारण किये, देवदूत-से चार-पाँच जने आये और उन्होंने मिलकर उन्हें उठानेका प्रयत्न किया। पर पता नहीं क्या हो गया, कैसे वे इतनी भारी हो गयीं कि उठना तो दूर रहा, उनसे हिल भी नहीं सकीं। तब यह कहकर वे लोग चले गये कि 'अभी छोड़ो, थोड़ी देर बाद आकर ले जायँगे।'

करीब महीनेभर बाद दादीको पिताजी नीमचसे जोधपुर ले आये। कोई महीनाभर और निकला होगा कि एक दिन पिताजीने कहा 'किसी अच्छे फोटोग्राफरको बुलवा लाओ यहाँ। सब जनोंका एक सम्मिलित चित्र खिंचवा लेंगे।' मन-ही-मन बड़ा विस्मय-सा हुआ मुझे। कैसे अचानक आज यह फोटोग्राफरकी बात पिताजीके मनमें आयी ! सदा ही तो इसके प्रति वह बड़े अन्यमनस्क-से रहे हैं ! मैं सोचता रहा। करीब ५-७ दिन बाद उन्होंने फिर आग्रह किया, 'देर नहीं होनी चाहिये।' घंटों सोचकर भी मैं समझ नहीं पाया कि आखिर क्या अर्थ हो सकता था इसका। फोटोग्राफर आया और चला गया। कोई सात-आठ दिन बाद ही दादी फिर बीमार पड़ीं और अबकी बार ऐसी पड़ीं कि फिर उठ ही न सकीं।

दादीकी मृत्युके कुछ दिनों बाद मैंने पिताजीसे उनकी फोटो खिंचवानेकी व्यग्रताके बारेमें पूछा। ऐसा लगा जैसे कुछ घनीभूत था जो उनके अन्तरसे बह निकलना चाहता था। अवरुद्ध कण्ठसे उन्होंने कहा नीमचमें जब माको पलंगसे नीचे उतार लिया था तब बाहर आकर मैंने भगवान्‌से यही विनती की थी कि वे माको अपने पास बुलावें, उसके पहले एक मौका, सिर्फ एक मौका मुझे दें कि अपनी माकी तसवीर उतरवा सकूँ मैं, कोई तसवीर नहीं है उसकी मेरे पास। भगवान्‌के चरणोंमें माथा टेके, मैं निरन्तर उनसे प्रार्थना किये जा रहा था तथा अपनी बात मनवानेके लिये हठपूर्वक आग्रह किये जा रहा था। भगवान्‌से अनुनयमें मुझे तो ध्यान भी नहीं रहा कि पौन घंटेतक वहाँ क्या हुआ, कौन आया और कौन गया।'

पर तब भी क्या कोई अश्रद्धालु ईश्वरमें विश्वास कर लेगा ? कर्नल इंगरसोल, जिनकी नास्तिकता लोकप्रसिद्ध (Proverbial) है, अमेरिकामें स्वामी विवेकानन्दसे मिले थे। दोनोंमें विचार-विनिमय भी हुआ था। पर तब भी उनकी उग्रता (Vehe-mence) क्या कुछ घट सकी ? यह तो अन्ततोगत्वा मानना ही पड़ेगा कि ईश्वर श्रद्धा, विश्वास तथा अनुभूतिकी वस्तु है। वह महान् है, भौतिक अनुबन्धोंसे परे। विज्ञानने हमें महत्त्वाकाङ्क्षा दी। एक विजेताका अहंकार दिया। पर विज्ञान धरतीकी क्षुब्ध और आहत मानवताको ज्ञान न दे सका। इसीलिये शायद बर्नार्ड शा कहा करते थे कि विज्ञानकी परिसीमाके अन्तपर ही ज्ञानकी सीमाका आरम्भ होता है।

क्वेटाके भूकम्पकी एक घटना एक बार एक साप्ताहिकमें प्रकाशित हुई थी। उस रोमाञ्चकारी विध्वंसके बीच भी एक ऐसा मकान खड़ा रह सका, जो चारों तरफ सैकड़ों मकानोंसे घिरा था। सब मकान ढह गये। पर उसका बाल भी बाँका नहीं हुआ। प्रबल झंझावातके निर्दय, विनाशकारी थपेड़ोंके बीच भी जैसे एक छोटा-सा दीपक टिमटिमाता रह सका। बड़े आश्चर्यकी घटना थी। लोग देखते और हतबुद्धि हो जाते। लेखकने बताया कि एक मुसल्मान फकीरकी उस परिवारपर कृपा थी और एक बार जब वे उस घरमें आये तब दीवालपर लोहेकी एक कील ठोंककर मानो यह आशीर्वाद देकर चले गये थे कि जबतक वह कील वहाँ रहेगी, उस घरकी तथा उसमें रहनेवालोंकी अमङ्गल तथा अनर्थसे रक्षा करती रहेगी।

अंग्रेजीकी एक पत्रिकामें एक किस्सा एक बार पढ़ा था। दो मित्र थे, एक नास्तिक था, दूसरा आस्तिक था। दूसरेने पहलेसे पूछा।

'अगर एक छोटा बच्चा एक मकानकी पाँचवीं मंजिलसे नीचे गिर पड़े और बच जाय तो क्या कहोगे ?'

'एक आकस्मिकता (an accident)'

'अगर दुबारा फिर वह बच्चा उतनी ही ऊँचाईसे गिरे और बच जाय तो ?' आस्तिकने पूछा।

'एक संयोग (a coincidence)'

'और तीसरी बार मान लो फिर वह बच्चा वहींसे गिर पड़े तथा फिर बच जाय तो ?' जरा झुँझलाहटसे आस्तिकने पूछा।

'एक आदत (a matter of habit)'

कहनेका तात्पर्य यह है कि कोरी तर्ककी छिछालेदर ही करनी हो तो ईश्वरके अस्तित्वका विश्वास सचमुच ही अप्राप्य-सी वस्तु होगी। अन्यथा, आज भी ऐसे महर्षि होंगे जो श्रीरामकृष्ण परमहंसकी तरह विश्वासपूर्वक (Confidently) कह सकते हैं कि उन्होंने ईश्वरको देखा है।

अन्तःकरणशुद्धि

[परम पूज्यपाद पं० श्रीपुरुषोत्तम नारायण नागरजी महाराजका सदुपदेश]

(प्रेषक—श्रीभगवानदास झा 'विमल' एम्० ए०, बी०एस् सी०, एल्-टी०, साहित्यरत्न)

यह संसार एक महान् विद्यालय है और इसमें जन्मे सभी जन मानो विद्यार्थी हैं । इस विद्यालयमें अध्ययन करनेके तीन प्रधान विषय हैं—भौतिकता, दैविकता और आत्मिकता । प्रपञ्च अथवा बाधाकी दृष्टिसे 'भौतिकता' अत्यधिक विचारणीय है । इस भौतिकताको 'अनात्मता' भी कहते हैं, जो आर्थिकताके जंजाल-जालके द्वारा सभी-पर अपना शासन करती रहती है । यह आर्थिकता अथवा अनात्मता अथवा अनावश्यक भौतिक आसक्ति मानवके हृदयको भाँति-भाँतिसे दूषित करती रहती है । वस्तुतः जबतक भौतिकता, अनात्मता एवं आर्थिकताकी आसक्तियाँ हृदयमें धँसी हुई हैं, तबतक अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त नहीं होती और आत्मानुरागरूपी परम श्रेयस्कर सत्-ज्योतिका उदय नहीं हो पाता । प्रायः मनुष्य इस ओरसे अपनी आँख बचा लिया करते हैं; परंतु यही एक महान व्याधि है जिसने जग-व्यवस्थाको, जनजीवनको नारकीय बना रक्खा है । संसारकी सारी उलझनोंकी ओर निहारिये तो स्पष्ट विदित होगा कि इस अनात्म-आसक्तिने बड़ों-बड़ोंको बड़े-बड़े नाच नचाये हैं । संसारका इतिहास—प्रत्येक देशका, जातिका एवं धर्मका इस बातका प्रत्यक्ष साक्षी है कि अनात्म-आसक्तिके चंगुलमें फँसकर बड़े-बड़े धर्म, धर्माचार्यतक रजोगुणके वशीभूत होकर खून-खराबी, मुकदमाबाजी, निन्दा-बुराई, संघर्ष-विघर्ष आदिके निम्नतम स्तरतक उतरते रहे हैं ।

अध्यात्म-विद्याविशारदोंने यह पूर्वसे निर्णय कर रक्खा है कि प्रत्येक मनुष्यका दो प्रकारके मनोंसे सम्बन्ध आता है—(१) शुद्ध मन और (२) अशुद्ध मन । शुद्ध मन कामवर्जित आत्मानुरागी मन कहलाता है । दूसरा मन काम-संकल्प-लोलुप एवं अनात्म-आसक्त मन माना जाता है । मनुष्यको जीवनमें जो सबसे पहले तथा सबसे बड़ा कार्य करना है वह है अशुद्ध मनसे उबरना—उससे निवृत्ति पाना । इस अशुद्ध मनको पिण्डी मनकी भी संज्ञा दी गयी है । इसका प्रधान कार्य अपनेमें अनात्म-आसक्तियोंको सँजोये रखना है । धर्माचरण, सुनैतिकता, उच्च आत्मोन्नति आदि कार्य पिण्डी मनसे हो ही नहीं सकते । एतदर्थ बड़ी आवश्यकता शुद्ध मन अथवा ब्रह्माण्डी मनको जगानेकी है। जैसे संसारके तीन विषय हैं—भौतिक, दैविक और आत्मिक, वैसे ही पिण्डी मनसे उबरने एवं ब्रह्माण्डी मनको जगानेके तीन साधन महापुरुषों एवं संतोंद्वारा सुझाये गये हैं। ये साधन हैं—(१) कर्म, (२) ज्ञान और (३) भक्ति । ये तीनों साधन—उपाय—योगके बिना ढीले, फीके एवं अव्यवस्थित रहते हैं । इसलिये इनमें योग संयुक्त किया गया और उपर्युक्त साधनोंके नाम कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग निश्चित हुए । इन तीन योगोंके सहारे मनुष्य पिण्डी मनको मेट, पलटकर ब्रह्माण्डी मनको जाग्रत कर सकता है ।

पिण्डी मनके लक्षण काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, राग, द्वेष, छल, कपट, पाखण्ड, प्रपञ्च आदि हैं । अज्ञान, अनात्म-आसक्तियाँ और भाँति-भाँतिकी भोग-लोलुपताएँ भी पिण्डी मनके क्षेत्रके अन्तर्गत आती हैं । मनुष्य स्वयं अपने मनके वास्तविक स्वरूपको परखे । जबतक वह पिण्डी मनके अधीन है, तबतक वह, चाहे अपने आपको पिंजड़ेकी किसी भी तहका वासी समझे, मूलतः भौतिक भोगासक्त ही है और उसका अपने आपको छोटा-बड़ा बढ़ा-चढ़ा आदि समझना केवल मायामय भ्रम ही है।

कर्ममार्गको निर्मल बनानेके लिये—कर्म-परम्पराएँ सफलता पानेके लिये—ज्ञानाश्रयी कलाओं और भाँति-भाँतिकी विद्याओंका आश्रय ग्रहण किया गया । आत्माका अनुसंधान प्रारम्भ हुआ । परंतु मार्गमें बड़ी-बड़ी जटिलताएँ आती रहीं अन्तमें भक्ति-मार्गका उदय हुआ और लोग अत्यधिक श्रद्धासे भक्तिपथपर चलने लगे । 'भक्ति'का अर्थ—'अनुराग' अथवा 'प्रेम' माना गया और यह समझाया गया कि 'भक्ति वह है जिसमें आवश्यक अनात्म आसक्तियोंकी अपेक्षा आत्मानुरागकी महत्ता है। भक्ति वह दिव्य तत्त्व है जिसमें कर्मकाण्डकी चतुरतापूर्ण युक्तियोंकी अपेक्षा हृदयकी निर्मलताके माध्यमसे परम तत्त्वतक पहुँचना माना गया है । कर्ममें रजोगुण है

ज्ञानमें युक्तियाँ हैं; पर भक्तिमें केवल निर्मल अन्तःकरणकी महत्ता है। अमुक भक्तिमार्गीय है, इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि वह केवल अन्तःकरणकी शुद्धिद्वारा सर्वेश्वर, अखिलेश्वर, पूर्णेश्वरकी कृपा, प्रसन्नता प्राप्त करना चाहता है। कुछ संघर्षके सम्पर्कके बाद यह संसर्ग प्राप्त हुआ कि सभीने इस बातको स्वीकार किया कि कर्ममार्ग और ज्ञानमार्गकी अपेक्षा भक्तिमार्ग वास्तवमें सुगम, सरल, सहज और नैसर्गिक है। भक्तिमार्ग ही आत्म-जागृति एवं परमात्म-प्राप्तिका सत्-उपाय है। झुंड-के-झुंड मानव भक्तिके द्वारा अपने ध्येयकी प्राप्तिकी दिशामें बढ़ने लगे। 'माया लाई छल-बल अपना। काट दिया कल-मलका ढँकना॥' के अनुसार मायाने—अनात्म-आसक्तिने—जब अपना राज्य-शासन क्षीण होते देखा तो भक्ति-मार्गके भीतर भी एक भ्रम उत्पन्न किया। वह यह है कि हृदयकी पवित्रताके स्थानपर भाँति-भाँतिकी रूढ़ियाँ भक्ति कहलाने लगीं। भक्तिका जो निर्मल जौहर था, वह समय पाकर मानो खुले कपूरके समान उड़ने-सा लगा। आज अपनेको यह सिद्धान्त-रहस्य, तत्त्व चित्तमें स्थिर कर लेना है कि चाहे कोई सनातनी हिंदू हो, ईसाई हो, मुसल्मान हो, बौद्ध हो, जैनी हो; अन्तःकरणकी शुद्धिके बिना कोई किसी भी धर्ममें कभी भी सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। कुछ विशेषज्ञोंने यह प्रकट किया है कि आज्ञापालनसे अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त होती है। इसलिये माता-पिता, गुरु, बड़े जन आदिके आज्ञापालनकी प्रथा चली। अतएव इस आश्रयसे अन्तःकरणकी शुद्धिका प्रयास होने लगा। और भी समय आया जब कि यह विचार बनने लगा कि संसारमें समय-समयपर प्रभुप्रेरणासे अलौकिक विभूतियाँ अवतरित होती हैं, जो साधु, संत, महात्मा, ऋषि, महर्षि, योगी, पीर, पैगम्बर, सिद्ध आदि नामोंसे सम्मानपूर्वक सम्बोधित होती हैं। उनके आज्ञापालन और शरणागतिसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। निष्कर्ष यह है कि जीवनको सफल बनानेके लिये कर्म, ज्ञान आदि समस्त सुप्रयोगोंके ऊपर भक्तिको महत्ता मिली और भक्तिका सार अन्तःकरणकी शुद्धि निर्णीत हुआ। तबसे सभी—छोटे-बड़े, मूर्ख-विद्वान् आदि—इसी प्रयत्नमें रहने लगे कि जैसे-तैसे हृदयकी निर्मलता प्राप्त कर ली जाय। हृदयकी निर्मलताके लिये आज्ञापालन महत्त्वपूर्ण आश्रय बना। यही आज्ञापालन विकसित अवस्थामें सद्गुरु-आज्ञापालन निश्चित हुआ। इस प्रकारकी भक्ति सद्गुरु-भक्ति नामसे प्रसिद्ध हुई। सद्गुरु-आज्ञापालन ही सद्गुरु-भक्ति है और सद्गुरु-आज्ञापालनरूपी सद्गुरु-भक्तिसे अन्तःकरणकी शुद्धि-रूपी पवित्र रत्नकी प्राप्ति होती है। वस्तुतः अन्तःकरणकी शुद्धिसे जीवनका सर्वोत्तम ध्येय—आत्म-जागृति; परमात्म-प्राप्ति जेबमें धरे रत्नके समान प्राप्त हो जाती है।

अन्तःकरण-शुद्धिकी स्थितिमें जो मन क्रियाशील रहता है वह ब्रह्माण्डी मन होता है। ब्रह्माण्डी मनकी जागृतिसे—अन्तःकरणकी शुद्धिसे—सद्गुरुभक्तिसे—मानवके मन, मति, वृत्ति रचनाके निम्नस्तर—मूलाधार, प्रजापतिचक्रसे परे होकर हम मणिपूरकचक्रमें अपना स्थान पा लेते हैं। जब इसी साधनाके बलपर मणिपूरकचक्रसे आगे प्रगति प्राप्त होती है तो चतुर्थ चक्र अनाहतकी प्राप्ति होती है। अनाहतमें 'हत्' अर्थात् द्वैतोत्पन्न शक्तियोंका निरसन होकर अनहद-शक्ति सु-उदित होती है और इसीलिये उस मङ्गलमय भवनका नाम 'अनाहत' पड़ा। उसमें पहुँचनेपर काम-संकल्प उसी प्रकार क्षीण अथवा विलीन हो जाते हैं, जैसे श्रावण मासमें तपन, लू आदिका अन्त हो जाता है। अनाहत पद मानवी विकासके लिये एक अत्यन्त उपयोगी विश्राम-स्थल माना गया है। यह चौथा चक्रीय-भवन है। इसके बाद पञ्चम भवन—विशुद्धमें उसी अन्तःकरणकी क्रमिक शुद्धिके बलपर श्रेष्ठ परमात्म-तत्त्व प्राप्त होता है। इस पञ्चम भवनमें तत्त्वोंके मूल आकाशीय अवयवोंकी सूक्ष्म दीप्तियोंके अनुभव होने लगते हैं। 'अनाहत' का शब्द इसी आकाशीय अवयवोंकी सूक्ष्म-स्थितिके स्थलपर दीप्त रूपसे व्यक्त होने लगता है। यहींसे सुमानवी श्रेष्ठताका कुछ-कुछ अनुभव अथवा व्यक्तिके व्यक्तित्वकी गरिमाका अनुमान होने लगता है। साधारणतया पिण्डीतत्त्व स्थितिके अनुसार 'आकाश'का लक्षण 'शब्द' है और वह शब्द आकाश-तत्त्वके मस्तक-भागमें प्रवेश होनेपर स्पष्ट होता है। उसे योगशास्त्रमें तालुमूलका एक उपचक्र कहा गया है। तालुमूलमें मानवी व्यक्तित्वको मानो यह शक्ति प्राप्त होती है कि वह उस प्राप्त-शक्तिको, जो अनाहतसे अनुभवमें आने लगी थी, वाणीद्वारा व्यक्त करे। तालुमूलमें अनुभवसे प्राप्त शक्ति अव्यक्तकी अव्यक्त स्थितिमें प्रभु-स्मृतिमें परिवर्तित होती है। इस प्रकार प्रभु-स्मृतिसे हम आज्ञाचक्र या ब्रह्म-रन्ध्रकी यात्राके लिये अपने-आपको तैयार करते हैं। इन समस्त चक्रोंकी शक्तियाँ, उनकी लीलाएँ यानी ध्वनियाँ और दीप्तियाँ, भाँति-भाँतिसे विकासक और मोदक होती हैं। इसका विवरण अध्यात्म-मर्मज्ञोंने अपने-अपने ढंगसे किया है, जो भिन्न प्रतीत होनेपर भी तत्त्वतः एक ही है।

संक्षेपमें, अन्तरीय धामोंकी उच्चगति, स्थिति, आनन्द, अनुभव आदिकी सहज प्राप्ति जिस उपायसे होती है, वह भक्ति-मार्ग है। भक्तिमार्गका सारांश अन्तःकरणकी निर्मलता है। अन्तःकरणकी निर्मलता सद्गुरु-आज्ञापालनसे सहजमें **प्राप्त** हो जाती है। एक बार प्रयत्न करके अन्तःकरणकी **शुद्धि** प्राप्त कर ली जाय, फिर बड़ी-बड़ी बातें (जो सुनने-समझनेमें जटिल दीखती हैं) अपने-आप प्राप्त हो जाती है। एक बार पैसा कमा लो; फिर समझमें न आनेवाले मोटर, रेडियो आदि अपने-आप प्राप्त होते रहेंगे। उनके जाननेके प्रयत्नमें पड़ना समयसे पहले होगा। जो पाना है वह तो अन्तःकरणकी शुद्धि है, जो आज्ञापालनसे सहजमें उपलब्ध हो जाती है।

मौनं चैवास्मि गुह्यानाम्

(लेखक—श्रीभगवानदीनजी मिश्र एम्० ए०)

कोशगत रूपमें मौन क्ली (**मुनेर्भाव इति मौनमस्यास्तीति**) से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है 'चुप', 'शान्त', 'वाक्‌रहित' 'तूष्णीकृत'। मुनिसे मौन बना है और आरम्भमें उसका प्रयोग मुनियोंके आचरणोंके लिये होता था। मुनियोंका तपःप्रधान जीवन शान्तिपूर्वक व्यतीत होता था और इसके लिये वे वाक्‌संयम, एकान्तवासका सेवन करते थे। शनैः-शनैः यह तूष्णीकृत भाव 'मौन' शब्दमें प्रधान हो गया। अतः अर्थ-विकासकी दृष्टिसे इसमें अर्थादेश (Transference of meaning) हुआ। कभी-कभी मौनका अर्थ स्वीकृति भी हो जाता है—**'मौनं स्वीकृतिसूचनम् ।'**

तात्त्विक दृष्टिसे वाणीका स्पन्दनहीन होना ही मौनके लिये पर्याप्त नहीं है। चूँकि मुनि एकाग्रचित्त रहकर तपस्या करते थे, अतः मनका भी 'मौन' हो जाता था। इसीसे अपने मूल अभिप्रेतार्थमें मनके मौनकी भी प्रतिष्ठा थी। मनोविज्ञानकी दृष्टिसे मनका मौन या अल्पांशमें भी मनका क्रियारहित होना विचारणीय प्रश्न है और सम्भवतः इसका उत्तर नकारात्मक होगा। सक्रिय मनकी स्थितिमें, कर्मेन्द्रिय-व्यापारसे रहित होनेपर, विधेयात्मक (Positive) संकल्प सदैव वरेण्य माने गये हैं; निषेधात्मक नहीं। चञ्चल मनका अशुभ **चिन्तनकी ओर चला जाना सरल है, इसीसे ऋषि**'...... **तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु**' की प्रार्थना करके मनको शुभ दिशामें प्रेरित करनेकी प्रार्थना करते थे। गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने मौनको मानस तपकी कोटिमें रक्खा है, वाणीके तपके रूपमें नहीं।[1] वाणीके तपमें **'सत्यं प्रियं हितम्'** वाक्यकी मान्यता है। शरीर और वाणीसे मन सूक्ष्मतर और है। अतः 'मानस'का तप मौन भी वरेण्य है, गुह्य है महान् है। सामान्य दृष्टिसे वाणीका ध्वनि-उत्पादन रहित होना 'मौन' नहीं होगा; अपितु ऐसा व्यक्ति कहा जाता है। साभिप्राय एवं स्वेच्छित ढंगसे वाणीका रहित होना ही मौनकी कोटिमें आ सकता है।

मौनके अन्य स्तरोंका निर्धारण पात्र, काल, स्थान दृष्टियोंसे किया जा सकता है। बच्चेका मौन उसे 'मूर्ख' 'गूँगा' विशेषण दे सकता है; **जब कि वयोवृद्ध भी मौनके कारण गम्भीरताकी कोटिमें आ सकता है।** प्रजातन्त्रीय युगमें, जिसने गाल नहीं बजाया, भला उसे 'पण्डित' क्यों कहेगा ? स्वभावसे अल्पभाषी मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे अन्तर्मुखी व्यक्तित्वकी कोटिमें आता भारतीय विचारकोंने मौनकी आवश्यकताको समझते कालविशेष तथा क्रियाविशेषमें इसका 'व्रत' रखनेके विधान बना दिया है।[2] चरित्र और मौनका घनिष्ठ सम्बन्ध मौनी गम्भीर होता है। गम्भीरतामें छिछलापन कैसा ! गाम्भीर्यका सहोदर है। गम्भीरता ज्ञानोत्पन्न है। ज्ञानाश्रित है। अधभरी गागर छलकती है, परंतु पूर्ण शब्द नहीं करता। आज भी यज्ञोपवीतधारी सवर्ण अंग्रेजीदाँ लोगोंको छोड़ दीजिये, शौचादिमें मौन रहते उक्त षट्कर्मोंमें मौन-साधनकी कितनी वैज्ञानिकता निहित आज पुनः परीक्षण—शोधका विषय है।

शान्तिप्रिय अध्यात्मोन्मुख व्यक्तियोंके लिये वास्त

---

[1] मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥
(गीता १६ । १७)

[2] उच्चारे मैथुने चैव प्रस्रावे दन्तधावने ।
स्नाने भोजनकाले च षट्सु मौनं समाचरेत् ॥
(इतितिथ्यादि

मौन सत्पथ है; किंतु आजके व्यस्त जीवनमें मौनकी ऐसी आशा गलत ही होगी। अल्पभाषी होना सदैव अच्छा समझा जाता है, वाचालसे सभी कतराते हैं। यदि महर्षि व्यासने वेद-पुराण आदि लिखवाते समय तीव्र 'स्पीड' से लिखनेवाले गणेशपर अर्थ समझकर लिखनेकी शर्त न लगायी होती तो शायद व्यासजीके क्षणिक विराम—अल्प मौनसे गणेशजीकी लेखनी चिरविश्राम ले चुकी होती और उक्त विषय अधूरे ही पड़े रह गये होते। यद्यपि सांसारिक व्यापारोंमें मौनसे सफलताकी जगह हानि भी हो सकती है, किंतु, कार्य-विशेषमें 'दुराव'से अभीष्ट सम्पादन सम्भव है।[1] जोग, जुगति, तप,मन्त्र आदिका प्रभाव 'दुराव'से ही फलदायक हो पाता है। दुरावमें मिथ्यारोपणका भाव उतना नहीं है जितना वस्तुस्थितिके 'गोपन'का। 'गोपन' किसी भी स्तरका हो सकता है। मौन भी 'अप्रकटीकरण' गोपन है। 'दुराव' तथा मौनकी नैतिकतामें अन्तर हो सकता है; किंतु यह नैतिकता उद्देश्य अर्थात् जोग, जुगति, तप आदिसे परिचालित होगी। ये उद्देश्य भी किसी विशेष उद्देश्यके साधन बनते देखे जाते हैं।

वस्तुतः मौनकी पीठिका वैज्ञानिकतासे दृढ़ है। मन मानसिक तप—मौनकी उपादेयताके ऊपर विवेचित है। चित्तवृत्ति-निरोध—मौनसे योग-साधन होता है, जो ज्ञान; सत् या ईश्वर-प्राप्तिका एक सोपान है। वाणीका अल्प भाषण परम उपादेय है। हमारे प्रत्येक चिन्तन, उच्चारणसे शक्ति खर्च होती है। शब्द बोलनेमें प्राण-शक्तिका ह्रास होता है। वाचाल उस प्राणशक्तिका अपव्ययी होता है, अल्पभाषी मितव्ययी तथा मौनी संग्रही होता है। न बोलनेसे शक्ति अंदर ही अंदर संचित होती रहती है। बशर्ते उसका सुनियोजन हो। इसी कारण सच्चे साधु, मुनि वाणीके सिद्ध होते हैं। एक बार यदि आत्मासे संकल्पपूर्वक कुछ कह दिया तो वह होकर रहेगा—केवल उसी संचित प्राणशक्ति, सुनियोजित इच्छा-शक्ति एवं शिवसंकल्पकी क्षमताके कारण। ऊपर वर्णित है कि मौनमें विधेयात्मकताका भाव है। इसी कारण शुभ संकल्पोंसे व्यक्ति अपने चारों ओर 'शुभ' 'शिव' भावोंकी विद्युन्मयी तरंगें विकीर्ण करके पवित्र उपादेय वातावरणका निर्माण करता रहता है, जिसके प्रभावसे अमूर्त संकल्प क्रियान्वित मूर्त हो उठता है। वाचिक संवेदनासे मौन संवेदना तीव्र होती है। शाब्दिक आशीर्वादसे मौन आशीर्वाद अधिक प्रभावशाली होता है, स्थूलसे सूक्ष्म महान् होता है, मौखिक लगावसे मानसिक लगाव अधिक गहरा होता है। कछुआ अपने अण्डोंको सूखी रेतमें दबा देता है और उनका पोषण स्पर्श करके या उनके ऊपर बैठकर नहीं करता, अपितु जलके किनारे बैठकर अपनी भावनाएँ प्रेषित करता है, जिनसे अण्डे बढ़ते रहते हैं। कछुआको मार दीजिये अंडे स्वतः सड़ जायँगे। आजके युगमें मौन सहानुभूति तथा सह-अनुभूति शुभ संकल्प, एवं 'सत्य प्रिय हितकर' मितभाषिता, वाञ्छित है, आवश्यक है।

उक्त षट्कर्मोंमें मौनाचरणकी उपादेयता परीक्षणका विषय हो सकती है। किंतु भोजनमें मौनकी उपयोगिता व्यावहारिक सत्यपर आधारित है। शान्तचित्तसे खाया हुआ भोजन अधिक हितकर होता है। एक ही मेजमें बैठे हुए तर्क-रत आधुनिक विद्यार्थी बातचीतके दौरानमें हाथा-पाई-तक पहुँचते देखे जा सकते हैं। जोर-जोरसे बात करने, हँसनेसे थूकके कणोंका सुन्दर आदान-प्रदान तो होता ही है, कभी-कभी श्वासनलिकामें भोजनकण पहुँचनेसे मृत्युतक भी हो सकती है।

शायद वाणी और नेत्रोंका पारस्परिक गहरा सम्बन्ध है। वाणीके मौन होनेपर आँखें हृदयकी रामकहानी कह देती हैं। मनकी भली-बुरी भावनाएँ शब्दोंसे अधिक दृष्टिद्वारा अधिक प्रभविष्णुताके साथ व्यक्त होती हैं। 'बड़री' अँखियाँ सुकोमल भावोंकी प्रतीक हैं, चिमधा प्रायः संकीर्ण विचारों-वाला होता है, काने कोई-कोई ही ऐबी नहीं होते। आँख, भाव, चरित्र परस्पर विशेषरूपसे सम्बन्धित हैं। त्रिनेत्रधारी शंकर क्रोधके प्रतीक हैं। मुनि आँखोंसे ही शीतलता प्रदान कर सकते हैं, इसीसे 'कृपादृष्टि' कही जाती है। अबोध मौन शिशुके लिये शब्द उतने महत्त्व; सार्थक नहीं हैं, जितने आपके नेत्र। वह आपकी मौन भाषा, दिलकी बात आँखोंके सहारे सही-सही पढ़ लेगा। शिशु आँखोंसे बात करता है। व्यक्त भावोंकी पूर्णता नेत्रोंकी भावभङ्गिमासे ही सम्भव होती है। श्रोता यदि वक्ताको देखता है तो विशेष तृप्ति या बोध होता रहता है। अज्ञात भाषाभाषियोंके मध्य बोलना न बोलना, मौन रहना एक ही है। पशुओंकी मौन व्यथाएँ कौन कह सकता है! कसाईको देखकर गौकी रूह काँप जाती है, बकरा सहम जाता है। प्रकृतिके अधिकांश प्राणी सर्वप्रथम आपकी आँखोंसे ही भाव जाननेका प्रयास

---

[1] जोग जुगुति तप मंत्र प्रभाऊ। फलइ तबहिं जब करिअ दुराऊ ॥

—रामचरितमानस

करते हैं। आप उनके लिये नितान्त मौन; गुह्य नहीं रह सकते।

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें अपनी विभूतियोंका वर्णन किया है और संसारकी प्रमुख वस्तुओं, तत्त्वोंमें अपनेको प्रतिष्ठित गिनाया है। उन्होंने कहा है कि 'छलोंमें जुआ, तेजस्वियोंमें तेज'', पाण्डवोंमें धनञ्जय, मुनियोंमें व्यास तथा कवियोंमें उशना कवि मैं हूँ। और आगे वे कहते हैं कि 'गोपनीयोंमें मौन भी मैं हूँ।'

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥
(१०। ३८)

वस्तुतः संसारमें पूर्णरूपसे सुरक्षित रखनेके जितने भी सुरक्षित साधन हैं—उनमें मौन सर्वश्रेष्ठ है। विश्वस्तसे विश्वस्त व्यक्तिसे बात खुल जानेकी आशङ्का रहती है। किंतु मौनका कुछ कहना ही नहीं। गुह्यतत्त्व या वस्तुके छिपानेका भाव भी मौन है, गोपन है। मौनमें भगवान्की प्रतिष्ठा है। गोपनीयताके कारण मौनसे रहस्यात्मकता, अनिर्वचनीयताका सहज सम्बन्ध जुड़ जाता है। भगवान् गौतमसे ईश्वर आदिके बारेमें प्रश्न करनेपर वे मौन हो जाते थे। उनके इस मौनके विश्लेषणमें न जाने कितनी अटकलें भिड़ायी गयीं और अनेक दार्शनिक सम्प्रदाय बने, किंतु वास्तविकता आज भी गुह्य है, पूर्णतः निर्णीत नहीं है। कौन कहे बुद्धके इस मौनसे उनके अभिप्रेतमें और स्पष्टता आ गयी हो, जो शब्दोंसे सम्भव नहीं हो सकती थी।

प्रकृतिका कण-कण मौन है, बोलता नहीं, संकेत भले ही करता हो। इसी कारण प्रकृति आजतक गोपनीय, रहस्यमय बनी है। यदि विशाल पर्वतशिखर किसीके लिये स्वाभिमान, दृढ़ता तथा उच्चताके प्रतीक हैं तो 'प्रसाद' के लिये वे ही अचल हिमानीसे रञ्जित, उन्मुक्त, उपेक्षाभरे तुंग अपने जड़ गौरवके प्रतीक बनकर वसुधाका अभिम भङ्ग करते हैं। उल्लासके क्षणोंमें वैसे ही हिमखण्ड रश्मि मण्डित होकर मानो मणिमय दीपकके प्रकाशसे दीखते और जिनसे समीर टकराकर अति मधुर मृदंग बजाया क है। निराशाके क्षणोंमें यही मौन शैलमालाएँ अतीतसे ले अबतक अपने मुँह सियें अभिशाप, ताप, ज्वालाएँ झे देखी जाती हैं। भूतत्त्ववेत्ता इस पर्वतश्रेणियोंमें पुरात सिद्धान्त खोजता है। सूर्यमुखी पुष्पकी परिक्रमा देख कविके हृदयमें राग-विरागके अन्तर्द्वन्द्व पैदा होते हैं, कि वैज्ञानिक उसे देखकर, आकर्षण-विकर्षणके नियम दे है—पराग, रंग, पँखुड़ियोंका विश्लेषण करता है। एक सीधा सम्बन्ध हृदयसे है, दूसरेका मस्तिष्कसे। एक भावनाएँ उद्वेलित होती हैं, तो दूसरेके विचार होते हैं। यह क्यों? यही न कि वे मौन हैं, गोपनीय गुह्य हैं; बोलते नहीं, संकेतमात्र करते हैं और हम अपने चश्मोंसे देखते हैं। कौआ तथा कोयलका भ्रम त तक सम्भव है जबतक वे बोलते नहीं। कोयलके बच्चे मौज इसीमें है कि वह मौन रहे। मौनव्रत छोड़ा नहीं असलियत का पर्दाफ़ास हुआ।

इस सचराचर प्रकृतिका एक-एक कण अपनी कहानी कहता है; किंतु बोलकर नहीं। उसकी अपनी भ है किंतु ध्वनियोंकी नहीं। राग-विराग, उदासीनताका पढ़ाता है किंतु सोच-समझकर नहीं। अतीतसे वह मानवकी लीलाएँ चुपचाप देखता आ रहा है, उदासीन यो की भाँति द्रष्टा ही है। सम्भवतः उसी उदासीनता—मौ कारण आजतक उसके अन्तरालका पता मस्तिष्क या ह किसीसे भी पूर्णतः नहीं लगाया जा सका। वह मौन इसीसे उसकी ओर मानव आज भी आकर्षित है और दमतक उसके रहस्यका पता लगाता रहेगा, जबतक बोलेगा नहीं, चुप रहेगा, मुसकाता रहेगा, मौन रहेगा।

मैं प्रस्तुत हूँ—

(लेखक—श्रीबालकृष्णजी बलदुवा बी० ए०, एल्-एल्० बी०)

मैं प्रस्तुत हूँ—
चल देनेको,
जब भी तुम चाहोगे।
मैं प्रस्तुत हूँ—
वह सब करने,
जो भी तुम चाहोगे।

मैं प्रस्तुत हूँ—
दर्पणवत्,
देखने-दिखाने
सब कुछ, कुछ भी;
जब भी, जो भी, तुम चाहोगे॥

माका खेल

[यह पत्र बहुत दिनों पहलेका लिखा है । लेखक 'तुम्हारा ही राँगा दादा' लोकसमाजमें उतने सुपरिचित न होनेपर भी एक ऊँचे स्तरके प्रेमी भक्तसाधक थे,—नाम था पञ्चानन ब्रह्मचारी । वे गृहस्थ थे और शिलंगमें अध्यापन-कार्य करते थे । उनके 'स्नेहके निमाई' थे बरीशालके स्वनामधन्य भक्तप्रवर आचार्य जगदीश मुखोपाध्याय । यह पत्र पहले उद्बोधनमें प्रकाशित हो चुका है ।—श्रीअक्षयकुमार बन्द्योपाध्याय]

श्रीश्रीदुर्गा

शिलंग—१६ मई, १९१२

परम कल्याणवरेषु,

स्नेहके निमाई मेरे ! बहुत दिन हुए तुम्हारा एक पत्र मिला था । किंतु उसका उत्तर अभीतक नहीं लिख सका; पता नहीं तुम क्या-क्या सोचते होओगे । तुम्हारा पत्र मिलनेके बाद ही, मेरे जीवनमें—इस कामिनी-काञ्चनासक्त मलिन जीवनमें एक ऐसी अलौकिक घटना घट गयी कि लिखने बैठते ही वह अपने-आप ही सामने आ जाती है और लिखना नहीं बनता । पहले सोचा था कि इस घटनाको प्राणोंमें ही छिपा रक्खूँगा । किंतु माकी इच्छा वैसी न होनेके कारण वह चारों ओर फैल गयी । फिर, जो मेरे प्राणोंके गुह्यतम देशमें निवास करते हैं, वे उसे क्यों न जानें ? इसीसे आज लिखनेकी चेष्टा करता हूँ, पता नहीं ठीक-ठीक लिख पाऊँगा या नहीं । पर इसका विचार करनेवाला मैं कौन होता हूँ ? मा जो करेंगी, वही होगा ।

गत २८ फाल्गुनको दो बजेके कुछ बाद ही मैंने स्कूलमें छुट्टी कर दी थी; क्योंकि उस दिन सबेरेसे ही मेरा शरीर कुछ अस्वस्थ-सा था । उसी दिन मैंने घरपर काम करानेके लिये तीन गोरखोंको लगाया था । राजधानी ढाका चली जानेके बाद शिलंग प्रायः जनप्राणीशून्य हो गया था । हमारे मुहल्लेके ७०, ८० मकानोंमेंसे केवल तीन मकानोंमें दूर-दूर तीन आदमी थे । रास्तेके दोनों ओर बड़े-बड़े मकान थे, पर उनमें जन-प्राणी नहीं थे । बीच-बीचमें दो-चार खसिया (पर्वतीय जाति) केवल थे । इस समय खसिया छोकरे ऐसे बदमाश हो उठे थे कि प्रायः सभी घरोंमें पत्थर मार-मारकर उन्होंने दरवाजे तथा खिड़कियोंके काँच फोड़ डाले थे और घरोंमें घुसकर जो कुछ मिला सो ले गये थे । अन्तमें उनके अत्याचारकी मात्रा यहाँतक बढ़ गयी थी कि वे आग लगाकर मकान जलाने लगे थे । जिस दिनकी बात कर रहा हूँ, उस दिन मैं अपने मकानमें मजदूरोंका काम देखने जा रहा था । जाकर मैं फाटकके पास खड़ा हुआ कि मुझे दिखायी दिया—मेरे मकानसे दो मकानोंके बाद बिजनीकी रानीका एक मकान था । (यह मकान पहले श्रीहरकिशोर शर्मा नामक एक ब्राह्मणका था, उन्होंने बेच दिया था,) उस मकानके बड़े घरके पीछे भयानक आग लगी हुई है । आग देखकर पहले तो मनमें आया कि मालूम होता है, खसियोंने जंगलमें आग लगा दी है । जो कुछ भी हो, दौड़कर गया तो दिखायी दिया कि मकानमें एक दूसरे घरमें भी आग लग गयी है । घरके चारों छप्परोंपर पहुँचकर आग मुँडेरेके ऊपरतक चली गयी है । देखते ही सिर चकरा गया । किसीके घरमें एक बालटी या टीन नहीं थी । मेरे अपने मकानमें भी नहीं थी । कारण, मैं अपने मकानमें न रहकर आजकल राय बहादुर भूपालचन्द्र बसुके विशेष अनुरोधसे मजबूर होकर उनके मकानमें रहता हूँ । (वे इस समय सपरिवार कलकत्ते हैं ।) कुछ भी हो, कहीं एक बूँद जल नहीं था । उस समय नलसे जल नहीं आता था । आखिर दौड़कर एक मकान (काली कुमार बाबूके मकान) में घुसा तो वहाँ एक बालटी जल मिला । उसे लेकर दौड़ा आया और मैंने घरमें काम करनेवाले मजदूरोंको जोरसे पुकारा । दो मजदूर दौड़े आये । मैंने देखा आग इतनी बढ़ गयी है कि बड़े घरसे उस घरमें जाना असम्भव हो गया है । दोनों घरोंमें केवल ७-८ हाथकी दूरी थी । मैं बड़े घरके छप्परपर चढ़नेकी चेष्टा कर रहा था कि मजदूरोंने दोनों हाथोंसे रोककर कहा—'बाबू, उस घरपर बिल्कुल मत चढ़ना । वह घर किसी तरह भी नहीं बच सकता ।' इधर तूफानकी तरह हवा चल रही थी, जिससे सारी आग उस बड़े घरकी ओर लपलपाती चली आ रही थी । मैं उस समय बिना किसी सहारेके, बिना सीढ़ीके कैसे छप्परपर चढ़ गया, इसे मैं भी नहीं जानता । मुझे छप्परपर चढ़े देखकर मजदूर अवाक् हो गये । कहीं और कोई जन-प्राणी नहीं था । मैं अकेला छप्परपर था और नीचे वे दो मजदूर थे । मैंने उनमेंसे एकसे कहा—'जल्दीसे बालटी मेरे हाथमें थमा दो ।' एक मजदूर बड़ी कठिनतासे किसी तरह बालटी मेरे हाथमें थमाकर दूर दौड़ गया और बोला—'बाबू !

तुरंत उतर आओ, वह देखो आगने इस घरको भी पकड़ लिया है।' मैं उसकी बात न सुनकर अत्यन्त कष्टसे छप्परके बीचमें जाकर बैठ गया। बालटी उठानेके समय अधिकांश जल नीचे गिर गया था। जो थोड़ा-सा बचा था, वह भी आगपर गिरानेके समय हवाके झोंकेसे सारा मेरे शरीरपर ही पड़ गया। इस समयतक आगने प्रायः १५-१६ हाथ ऊपर उठकर मुझको चारों ओरसे घेर लिया। उधर मजदूरोंकी केवल हाहाकारकी पुकार मुझे सुनायी दी। इसके बाद आगके शब्दके मारे मुझे भी कुछ भी सुनायी नहीं दिया। उस समय चारों ओर आग-ही-आग थी। अग्निके सिवा कुछ दिखायी नहीं देता था। मेरा मुख मानो झुलस गया। अब सहा नहीं गया। प्राण गये-गये—हो गया। मैं अपने-आपको भूल गया; जगत्‌को भूल गया, अपने अस्तित्वको भी भूल गया। केवल अग्नि-ही-अग्नि! प्राण निकलनेकी तैयारी हो गयी। जीवन-मरणका संधिकाल आ गया। ठीक उसी समय प्राणोंसे एक पुकार निकली। मा-माकी पुकार निकली। इस पुकारको किसने निकाला, मुझे पता नहीं। कितनी देर कितनी बार पुकारा, पता नहीं। केवल पुकार-पुकार। केवल मा-मा—जन्मभरके लिये पुकार रहा था। उस समय भाई निमाई! क्या कहूँ, कहना-लिखना नहीं बनता, नहीं बन पाता। उस समय निमाई! मैंने सुनी—वीणा-विनिन्दित कण्ठकी ध्वनि—'मा भैः मा भैः; मैं आ गयी हूँ।' भाई मेरे, ऐसी मधुर ध्वनि जीवनमें कभी नहीं सुनी थी, नहीं सुनी थी। आहा! वह करुणाभरी ध्वनि। उसकी तुलना नहीं है, उसके लिये भाषा नहीं है। तब आँखें खोलीं। भाई जीवन! निमाई मेरे! उस समय जो कुछ देखा—जीवन धन्य हो गया। इस प्रकारका रूप मैंने कभी नहीं देखा था। वह विद्युत्‌से निर्मित मूर्ति, उसके तेजसे समस्त अग्नि निष्प्रभ हो गयी। अत्यन्त करुणापूर्ण दृष्टिसे ऊपर भुजा उठाकर कह रही हैं—'मा भैः-मा भैः; भय नहीं है, भय नहीं है, मैं आ गयी हूँ।' भाई रे, वह उन्मादिनी बनकर आयी हैं। मैं मानो उनके हृदयका धन हूँ, शरीरका मांस हूँ, मेरे बिना मानो वे जी नहीं सकतीं, इसीसे ऊर्ध्वबाहु होकर दौड़ी आयी हैं। वे करुणासे निर्मित उन्मादिनी हैं। अब भी उनके दोनों हाथ ऊपर उठे हैं। क्रमशः दोनों हाथोंको दोनों तरफ घुमाकर उन्होंने मानो अग्निकी दाहिका-शक्तिको हरण कर लिया। उस समय सबसे अधिक आग थी, पर थी बिल्कुल शीतल। उस समय मैं और कुछ भी नहीं बोल सका। केवल मा-मा-मा-मा—पुकारते-पुकारते मेरी बाहरी चेतना लुप्त हो गयी। भाई, अब और लिख नहीं पा रहा हूँ, हाथ अवश हो गया है।

भाई जीवन! कल इतना-सा लिखा था, आगे नहीं लिख सका। अन्तमें मैं कबतक किस प्रकार रहा, यह पता नहीं। फिर आँख खोलकर देखा तो जिस घरमें आग लगी थी, व जलकर राख हो गया था और अब भी दो-तीन हाथ ऊपर तक जल रहा है। परंतु इस बड़े घरके छप्परके खड़का एक तिनका भी नहीं जला। दोनों मजदूरोंने मान लिया था कि मैं मर गया हूँ, वे चुपचाप खड़े देख रहे थे। इसी समय मुझे होश आया। इस समय सूर्य छिपने जा रहा था। मैं प्रायः तीन घंटेसे इस अवस्थामें था। उठनेकी चेष्टा की; पर उठ नहीं सका। निमाई रे! शरीर काँप रहा है, चारों ओर मानो सब नवीन दृश्य प्रकट हो गये हैं, प्रकृतिके प्रत्येक दृश्यमें मानो लावण्य उँडेल दिया गया है, पेड़-पत्ते, घर-मकान सभी मानो नये दिखायी दे रहे हैं। यह सौन्दर्य-राशि कहाँसे आ गयी? किस रूप-लावण्यका सङ्ग पाकर ये सब रूपसे भर गये, बता सकोगे? मजदूरोंने मुझको जरा हिलते देखकर आशाके साथ पुकारना शुरू किया—'बाबू! तुम बच रहे हो? आओ, तुम्हें उतार दें।' मैं किसी तरह छप्परके किनारे पर आया। छोटे-से बच्चेकी तरह हाथ पकड़कर उन्होंने मुझे उतारा और कहा—'बाबू! तुम्हारे और कुछ भी नहीं हुआ है, केवल मुख जल गया है, मुखपर बड़े-बड़े फफोले पड़ गये हैं।' जो कुछ हो, मैंने उतरकर देखा—बरामदेके पास जो एक तरहके फूलोंकी बेल उठकर छप्परके नीचेसे बड़े घरतक चली गयी थी, वह अग्निसे जल गयी है, परंतु बारूदकी तरह सूखे खड़का एक तिनका भी नहीं जला है। छप्परके ऊपर अग्निके जलते हुए गोले पड़कर कोयला हो गये हैं, परंतु खड़के एक तिनकेको भी आग नहीं लगी है। यह देखकर मैं अपनेको भूल गया। एक मजदूरने कहा—'बाबू! हमलोगोंने यह कैसा आश्चर्य देखा—१५-१६ हाथ ऊँची आगकी लपट छप्परपर पड़ी थी और सब कुछ जल उठा था। और अब देख रहे हैं एक तिनका भी नहीं जला है, यह कैसे हो गया? जिस समय आगके फैल जानेसे हमलोगोंको तुम दिखायी नहीं दिये, आगने फैलकर तुमको तथा सारे छप्परको ढक लिया था, उस समय खूब जोरसे कई बार तुम्हारे मुँहसे निकली हुई मा-माकी चिल्लाहट सुनी थी। उसके बाद कोई भी शब्द सुनायी नहीं दिया। तब

हमलोग हाय-हाय करने लगे कि बाबू मर गये हैं।' यों कहकर वह रो उठा। उस समय मेरी क्या अवस्था थी, यह तुम सहज ही समझ सकते हो। बहुत देरके बाद मैंने उससे कहा 'यदि तुम नीचे झरनेसे जल लाकर आग बुझा सकते हो तो चेष्टा करो।' इस समय दो-तीन खसिया स्त्रियाँ और दो पुरुष आ गये। उन सबने मिलकर आगको बुझा दिया। उस समय घोर संध्या हो गयी थी, मैं अत्यन्त कष्टसे घर लौट रहा था। रास्तेमें दो ब्राह्म बाबुओंसे भेंट हो गयी, वे उस समय आफिससे लौट रहे थे। वे मुझसे आग लगनेकी बात सुनकर तुरंत वहाँ दौड़े गये। बड़ा घर इतना नजदीक होनेपर भी वह आगसे बचा रहा, यह देखकर वे अत्यन्त आश्चर्यसे भर गये। मैं घर लौटकर दरवाजा बंद करके बैठ गया। केवल मा-मा पुकार रहा था और रोना आ रहा था। इसी प्रकार रात कट गयी।

मुखकी अवस्था दिनोंदिन भयङ्कर होती गयी। पहले सारा मुँह लाल हो गया था, अब क्रमशः काला होने लगा। जितने दिन बीतने लगे, उतनी ही मुखकी स्थिति शोचनीय होने लगी। यहाँतक हो गया कि जिन लोगोंके साथ १९-२० वर्षोंसे निवास कर चुका था, वे भी मुझे पहचान नहीं सकते थे। उनमेंसे श्रीयुत चारुचन्द्र गोस्वामी (Registrar) ने कहा, 'तुम्हारा इतना प्रफुल्ल मुख किस प्रकारका हो गया?' इतनेपर भी मुझे आनन्द था। अन्तमें १६ चैत्रके दिन मेरे एक दूसरे मित्र ढाकासे शिलंग आये और वे मेरे ही घरपर ठहरे। वे भी मुझे देखकर अवाक् रह गये। उनके लिये घर ढूँढ़नेमें कई दिन लग गये, इससे वे मेरे ही पास रहे। इसके बाद गत २७ चैत्रको यहाँके एक डाक्टरने मेरा मुख देखकर पूछा—आपके मुखको क्या हो गया?' मैंने कहा—'आगसे जल गया था।' उन्होंने कहा—'ऊपरका चमड़ा बिल्कुल जल गया है, यह चमड़ा सारा उतर जायगा तब नीचेसे सफेद चमड़ा निकलेगा, तब आपका मुख ठीक श्वेत कुष्ठ रोगके समान दिखायी देगा और जहाँ फफोले पड़े हैं; वहाँ इन फफोलोंके पिचक जानेपर भयङ्कर दाग बने रह जायँगे।' भाई! इतने दिनोंतक मुखकी अवस्थाको लेकर मेरे मनमें आनन्दको छोड़कर कभी मुहूर्तमात्रके लिये भी निरानन्द नहीं आया था। किंतु पता नहीं, आज मन क्यों विचलित-सा हो गया, बहुत देरतक तिलमिलाता रहा। जो भी हो, घर आनेपर मैं फिर सब भूल गया। रातको बहुत देरतक पुलिन बाबू (जो अभी मेरे घरमें ही हैं) के साथ बातचीत करता रहा। फिर घर आकर सो रहा।

मैं चाहे जब सोऊँ, रातके पिछले पहर तीन बजे मेरी नींद टूट जाती है और मैं उठकर बैठ जाता हूँ। आज भी ठीक उसी समय उठकर बैठ गया। किंतु आज मानो अवस्था कुछ नयी तथा विचित्र-सी लगने लगी। बाहरकी चेतना लुप्त हो गयी। हठात् घरमें दिखायी दिया—उज्ज्वल प्रकाश छा रहा है। सामने फिर वही मूर्ति है। आज मानो शान्त भाव है। उस दिन देखा था उन्मादिनीके सदृश, दोनों आँखें लाल-लाल थीं; परंतु आज अत्यन्त कमनीय है, मुखपर मृदु-मृदु मुसकान छा रही है। भाई रे! उस रूपकी बात कह नहीं सकता। क्या तुलना दूँ उस रूपके लिये; तुलनाकी कोई वस्तु ही नहीं मिलती इस भवमें। वह स्नेहसे गद्गद, प्रेममें पगली और अपने ही भावसे उन्मादिनी है। तुलना नहीं है रे उसकी, कहीं तुलना नहीं है, तुलना नहीं है। तब अपने सुधासम वीणाविनिन्दित कण्ठसे वे बोलीं—'अपने मुखकी बात सोचकर तुम्हारे मनमें उदासी आ गयी थी न?' मैंने कहा 'आ तो गयी थी, पर अब नहीं है।' वह फिर बोली—'अच्छा, एक बार मुझसे कह दो न, अभी तुम्हारा मुख अच्छा हो जायगा।' मैंने कहा—'नहीं मा! यह बात अब किसी तरह नहीं कहूँगा, यह तो तुम्हारा दिया हुआ अलंकार है, यही मेरे लिये अच्छा है, मैं बाहरके सौन्दर्यको लेकर क्या करूँगा। तुमसे माँगनेकी तो मेरे लिये और बहुत-सी वस्तुएँ हैं।' इसपर भी वे बार-बार कहती रहीं—'एक बार कह दो न, अभी तुम्हारा मुख पहलेकी तरह स्वाभाविक हो जायगा। कहो एक बार।' मैंने कहा—'मुझे अब मायामें मत भुलाओ, मैं किसी प्रकार भी नहीं कहूँगा।' तब खूब हँसीं! उस हँसीकी छटाका क्या वर्णन करूँ, कुछ भी कहना नहीं बनता, वह भाषाके अधिकारसे बाहरकी चीज है। भाई रे निमाई! इस प्रकार हँसते-हँसते वे बोलीं,—'तुम स्वयं जब किसी प्रकार भी कुछ नहीं कहना चाहते, तब मैं ही कहती हूँ। आगामी चैत्र संक्रान्तिके दिन तुम ज्यों ही स्नान करके आओगे, त्यों ही देखोगे तुम्हारा मुख स्वाभाविक हो गया है।' इतना कहकर अन्तर्धान हो गयीं। मैं कुछ कहने जा रहा था, पर वह कह नहीं पाया। माको न देखकर मुझे रोना

आ गया। इधर देर हुई जा रही है, तब बड़े कष्टके साथ मैं आसनसे उठा।

क्रमशः संक्रान्तिका दिन समीप आने लगा। अब मेरे हृदयमें कैसी एक धुक्-धुकी होने लगी। इधर मेरे घरमें जो बाबू रहते थे, वे बार-बार कहने लगे कि तुम्हारे मुखकी अवस्था तो दिनों-दिन भयङ्कर हुई चली जा रही है।' एक दिन मैं अकस्मात् उनसे कह बैठा कि 'आगामी संक्रान्तिके दिन मेरे मुखपर कोई दाग नहीं रह जायगा।' उन्होंने पूछा—'आपने यह कैसे जाना?' इससे अन्तमें मैंने उस घटनाका आभास उन्हें दे दिया। उनके अतिरिक्त अन्य भी कई विशेष बन्धुओंके सामने यह बात पहले ही प्रकट हो चुकी थी। उनमें एक सज्जन दीक्षित ब्राह्मण थे। वे सुनकर अवाक् हो गये। परंतु बहुत-से लोग यह पूरा विश्वास नहीं कर सके कि आगके जले दाग बिल्कुल मिटकर मुख स्वाभाविक हो जायगा। सभीके मनोंमें एक कौतूहल उत्पन्न हो गया। ठीक संक्रान्तिके पहले दिन रात्रिसे ही मेरे मनकी एक विचित्र अवस्था होने लगी। बहुत रात गयेतक पुलिन बाबूके साथ बातचीत करके मैं प्रायः ११ बजे सोनेको गया। मेरे मनमें इसी चिन्तासे भय होने लगा कि 'मैंने लोगोंसे पहले बताकर अच्छा नहीं किया।' अब कुछ उल्टा भाव हो गया। 'जब कह दिया है, तब यदि यह सत्य नहीं होगा तो मेरी माके नामपर कलङ्क लगेगा।' यह सोचते ही हृदयमें एक विचित्र अव्यक्त यन्त्रणा होने लगी।

देखते-देखते ही रात्रि बीतकर प्रभात होनेको आया। मेरी वह यन्त्रणा क्रमशः बढ़ने लगी। शरीर काँपने लगा। किसी तरह हाथ-मुँह धोकर गमछा-झोली लेकर मैं रोजकी भाँति झरनेपर स्नान करने जानेके लिये तैयार हो गया। परंतु मेरे पाँव नहीं उठते थे। तब, कलङ्क-भञ्जनके समय श्रीमती राधिकाजी हजार छिद्रोंवाली कलशी लेकर जब यमुनाकी ओर जाने लगी थीं, तबका उनके द्वारा किया गया श्रीकृष्णका स्तुतिगान मुझे याद आ गया। पर मैं तो अणुसे भी अणु हूँ (राधासे मेरी क्या बराबरी!) परंतु भयङ्कर आसक्त होनेपर भी मेरी स्थिति उनकी अपेक्षा भी अधिक कठिन थी। उनकी थी अपने कलङ्क-भञ्जन परीक्षा; परंतु मेरे लिये तो सामने उपस्थित थी मा कलङ्क-भञ्जनकी परीक्षा। अपराधी था मैं, परंतु इसलि कलङ्क लगेगा मेरी मापर! छाती फटने लगी। पैर न नहीं। ठीक पागलकी-सी दशा हो गयी। पैर रखता हूँ क और पड़ता है कहीं। झरना हमारे घरसे आधी मी भी कुछ कम दूरपर था। परंतु इतना-सा रास्ता लिये अत्यन्त दुर्गम हो गया। दुःख, कष्ट और भयसे जडवत् हो गया। दो कदम चलकर ही खड़ा रह जात तब कहने लगा—'क्या उपाय होगा? मा! यदि तुम्ह बात सत्य नहीं होगी तो मैं लोकालयमें अब मुँह न दिखाऊँगा। स्नानके बाद यहींसे किसी तरफ चल दूँ फिर नहीं लौटूँगा। तुम्हारा कलङ्क मैं नहीं सुन सकूँगा। जहाँ खड़ा-खड़ा मैं यों कह रहा था, वहीं मेरे पैर पूर्ण अचल हो गये। परंतु महामायाकी कैसी आश्चर्य माया है उसी क्षण मैं सारी बातें भूल गया। आज इस प्रकार कोई एक विशेष दिन है, यह बात मुझे बिल्कुल ही य नहीं रही। तब रोज जैसे स्नान करने जाता था, वैसे चल दिया। कुछ भी याद नहीं रहा। रोज जैसे स्नान कर आता था, वैसे ही स्नान करके लौट आया। इधर पुलिन बाबू और उनकी पत्नी अत्यन्त कौतूहलके स यह प्रतीक्षा कर रहे थे कि देखें क्या होता है। मैं आ ज्यों ही कपड़े बदलने लगा, दोनों दौड़े आये। पुलि बाबू समीप आकर मेरे मुँहकी ओर देखते हुए स्तम्भि होकर खड़े रह गये। मैंने सोचा—ये इस प्रकार क्यों रहे हैं? अन्तमें उन्होंने ज्यों ही यह कहा कि 'सच तो है आपके मुखपर जरा भी दाग नहीं है, क्या आश्चर्य है— त्यों ही, यह बात सुनते ही मेरी फिर विचित्र स्थिति हो गयी मैं काँपने लगा। बहुत देर बाद मा-मा पुकारकर र लगा। कुछ समयके बाद बड़ी कठिनाईसे घरमें आ दरवाजा बंद करके पड़ गया। भाई रे! अब और कु भी नहीं कह सकता।

तुम्हारा ही—राँगा दा

* * *

पढ़ो, समझो और करो

(१)

सहृदयता

मेरे एक मित्र बड़े उदारहृदय थे । पर उन दिनों उनका हाथ बहुत तंग था । बड़ी मुश्किलसे घरका काम चलता । इधर कई महीनोंसे अनाजवालेका दाम नहीं दिया गया था । उसके तीन-चार सौ रुपये चढ़ गये थे । उसने कहा कि कल रुपये नहीं दिये जायँगे तो अनाज नहीं दूँगा । घरमें बच्चे थे । मित्र बड़ी दुविधामें पड़ गये । वे अपने एक सम्बन्धीके पास गये और किसी तरह बड़ी विनय-प्रार्थना करके उनसे साढ़े तीन सौ रुपये लाये । रुपये लेकर घर आ रहे थे कि रास्तेमें उनके एक पुराने मित्र मिल गये । वे बहुत ही उदास थे । पूछनेपर पता लगा कि 'उनको किसीके तीन सौ रुपये देने थे, उसने नालिश करके डिक्री करवा ली और आज उनके घरपर कुर्की आ गयी । घरमें अपनी लड़कीका कुछ गहना था, उसे कुर्क किया जा रहा है । गहना एक हजारसे ऊपरका है, वह नीलाम हो जायगा । लड़की भी बड़ी गरीब है । उन्होंने बताया कि मैं एक घंटेकी मोहलत लेकर आया हूँ । कुर्कीवालोंने मुझे कृपा करके समय दे दिया । पर रुपये न देनेपर कुर्कीका माल ले जायँगे । मेरे घरमें और कुछ भी है नहीं । मैं इसीलिये तुम्हारे पास जा रहा था । मैं जानता हूँ तुम भी कष्टमें हो, पर दूसरा कोई दीखा नहीं । कुछ प्रबन्ध कर सको तो………' यों कहकर वे मित्र फुफकार मारकर रोने लगे । मेरे मित्रसे यह रोना नहीं देखा गया । उन्होंने साढ़े तीन सौ रुपये उनको देकर कहा—'जल्दी जाकर अपना काम करो ।'

इस प्रकार रुपये दे देनेसे उन्हें कुछ परेशानीमें पड़ना पड़ा, पर उन्होंने उसकी परवाह नहीं की । भगवत्कृपासे कुछ दिनों बाद उनका अभाव दूर हो गया । सट्टेमें उन्हें काफी रुपये मिल गये ।

—वल्लभदास

(२)

अपने वेशभूषाके कारण प्राणरक्षा

संवत् २०११ वैशाख मासकी बात है, एक आवश्यक कार्यसे मैं मुजफ्फरपुर गया था, बाजारमें पहुँचनेपर मुझे खूब जोरोंकी प्यास लग गयी । सरैयागंज मुहल्लेमें एक कोठरीमें दो-चार नवयुवक बैठे कुछ बातें कर रहे थे । वे लोग काली लुंगी पहने हुए थे और शिखासे विहीन थे । अनुमानसे लगा कि ये किसी कॉलेज या स्कूलके छात्र हैं । उन लोगोंका वेशभूषा देखकर मैं लौट चला । मुझे लौटते देखकर उनमेंसे एकने पूछा 'क्यों पण्डितजी !' मैंने कहा 'कुछ नहीं, प्यास लगी है ।' इसपर उसने कहा कि 'आइये पानी पीजिये ।' तब मैंने कहा कि 'हमलोग मुसल्मान-का पानी नहीं पीते हैं ।' इसपर खूब जोरोंसे हँसते हुए उन लोगोंने कहा कि 'पण्डितजी ! हमलोग तो हिंदू हैं ।' तब फिर मैंने उनसे कहा कि 'यदि आप हिंदू हैं तो अपना वेश मुसल्मानोंका-सा क्यों बनाये हुए हैं ? आपलोगोंको बिना चोटीके तथा काली लुंगी धारण किये देखकर मैंने समझा कि आपलोग मुसल्मान होंगे । किंतु अब मैं आपके गलेमें यज्ञोपवीत देख रहा हूँ । इसके लिये आपको धन्यवाद है । पर मेरा तो यही अनुरोध है कि आपलोगोंका अपने वेशभूषा तथा आचार-विचार हिंदुओंका ही रखना चाहिये ।' यह कहकर मैं चल दिया । तब उनमेंसे एक छात्रने पूछा—'पण्डितजी ! आपका मकान ?' मैंने कहा—'मनियारी' । पुनः उसने पूछा—'पण्डितजी ! आप रामेश्वर झाको जानते हैं ?' मैंने कहा—'हाँ, मैं जानता हूँ । मेरे मकानसे उनका मकान कुछ दूर पड़ता है ।' तब उसने कहा—'वे मेरे मामा लगते हैं, मैं अगर कभी आऊँगा तो अवश्य आपसे भेंट करूँगा, आपका नाम क्या है ?' मैं अपना नाम बताकर वहाँसे चला आया ।

अब इसके बाद मैं इस साल संवत् २०१९ माघकी बात लिख रहा हूँ । वही पूर्वकथित छात्र अपने मामाके यहाँ मनियारी आया तो मुझसे भी भेंट करने आया । मैं उसका पवित्र ब्राह्मणोंका-सा वेशभूषा देखकर आश्चर्यमें पड़ गया । साँची धोती पहने, त्रिपुण्ड्र चन्दन लगाये, माथेपर पाग दिये, अंगरखा पहने था और शुद्ध मैथिली बोल रहा था । इस प्रकारका अपूर्व परिवर्तन देखकर मैंने पूछा—'कहिये आजकल आप क्या कर रहे हैं ? आपमें मैं बड़ा परिवर्तन देख रहा हूँ । लुंगीकी जगहपर साँची धोती है, सिरपर शिखा और चन्दन भी है ।' इसपर उस छात्रने कहा कि 'मैं इस समय एम० ए०का छात्र हूँ और इस अपूर्व परिवर्तनका कारण है ठेस लगना । कई वर्ष हुए सीतामढ़ी मेलेमें हिंदू-मुस्लिम दंगा हो गया था । सीतामढ़ीके समीप ही मेरा और मेरे उस साथीका, जिसको आपने मुजफ्फरपुरमें देखा था, घर पड़ता है । हमलोग मेलामें गये थे । संयोगवश मैं तो उस दिन धोती पहने था, किंतु मेरे साथी लुंगी धारण किये ही चल पड़े थे । होनहार बलवान् होता है । जिस समय हम दोनों पहुँचे, उस समय कई हिंदुओंके मुसल्मानोंद्वारा मारे जानेके कारण क्रोधित हिंदूलोग हाथोंमें लट्ठ लिये

मुसल्मानोंको खोज-खोजकर मार रहे थे । अकस्मात् लुंगी पहने हुए मेरे मित्रपर उन लोगोंकी नजर पड़ गयी, बस, वे उसे पकड़कर मारने लगे । यह देखकर मैंने कहा कि 'अरे, यह तो हिंदू है'; किंतु मेरे मित्रको लुंगी पहने तथा शिखाहीन देखकर उन लोगोंको मेरे कथनपर विश्वास नहीं हुआ, बल्कि उनमेंसे एक आदमीने कहा कि 'अरे यह भी तो मुसल्मान ही मालूम होता है। देखो न इसके भी चोटी नहीं है।' यह कहकर उसने मुझे भी पकड़ लिया । दैवयोगसे मेरे गलेमें यज्ञोपवीत था। मैंने उनको अपना यज्ञोपवीत दिखाया, अपना तथा अपने मित्रका भी पूरा परिचय दिया, कई शपथें खायीं, तब बड़ी मुश्किलसे उन लोगोंसे हम दोनों छूट पाये । मेरे मित्र एक अच्छे खानदानके राजपूत हैं, किंतु आनन्दमार्गी होनेके कारण उन्होंने उपवीत उतार दिया था । अतः शिखासूत्रसे शून्य तथा लुंगीधारी होनेके कारण उनको हिंदू साबित करनेमें मुझे बड़ी दिक्कत उठानी पड़ी । मार तो काफी पड़ी, परंतु परमेश्वरकी कृपासे उनके प्राण बच गये । पण्डितजी ! सच कहता हूँ, उसी समय, मुझे आपने वेषभूषाके विषयमें जो कुछ कहा था, वे वह सब बातें याद आ गयीं और साथ ही लड़कपनमें पढ़ी हुई नीले सियारकी कथा भी याद आ गयी, जो अपना वेष त्यागकर राजाकी नकल करनेपर मारा गया था । इसके बाद घर आकर मैंने नाईको बुलाकर शिखा रखवायी तथा अपने कुलानुकूल स्नान-ध्यानपूर्वक त्रिपुण्ड्र चन्दन तथा वस्त्रादि धारण किये । अपने मित्रको भी अनुकूल बना लिया । तबसे सर्वत्र मेरा आदर हो रहा है । पहले तो मैं केवल अपने मित्रोंमें ही आदर पाता था । टोले-महल्लेके लोग मेरे वेशभूषाको देखकर बराबर मेरी खिल्ली उड़ाया करते थे । कोई साहब कहता तो कोई पाकिस्तानी बताता था । यद्यपि मैं पढ़ने-लिखनेमें खूब तेज था किंतु वेषभूषा तथा उद्दण्डताके कारण लोगोंकी दृष्टिमें आदर पाने योग्य न था, किंतु अब मेरे वेशभूषाको देखकर लोग आदरपूर्वक मेरा उदाहरण देते हैं कि 'देखते हो रामचन्द्रको, एम्०ए०में पढ़ता है, पर कैसा आदर्श सादा वेशभूषा, रहन-सहन और चाल-चलन है । पण्डितजी ! अपने देशोचित वेशभूषाका लाभ मुझे दिनोंदिन देखनेमें आ रहा है और मैं अपने साथी-मित्रोंको सदैव यही कहा करता हूँ कि अपने कुलोचित आचार-विचार तथा देशोचित वेशभूषाका भूलकर भी परित्याग न करो । मुजफ्फरपुरमें आपने कहा था, तभीसे मैंने लुंगी धारण करना छोड़ दिया था । उसीके फलस्वरूप मेरे प्राण बच गये और मैंने जरा भी मार नहीं खायी । नहीं तो न तो मैं बच सकता न अपने मित्रको ही बचा सकता । इन सब बातोंको सुन मैंने उस छात्रको बहुत धन्यवाद दिया और कहा आपका अनुकरण यदि सभी छात्र करें तो देशका कल्याण हो ।

—पण्डित रामविलास मिश्र, कथावा

(३)

मांस खाना महापाप

हम पंजाबके रहनेवाले हैं । जब वहाँ गड़बड़ी हुई उस समय मैं छोटा-सा बच्चा था । हमारे घरमें मांसका सेवन और मुझे भी मांस खिलाया जाता था । मैं मांस खा तो लेता, उसके दो-तीन घंटे बाद ही मेरे दस्त होने लगते । घरवाले दिलाते तो ठीक हो जाता । फिर मांस खाता तो फिर वैसा होता । १९४७ में जब हम यहाँ आये तो हमारी हालत और ही थी । दिन गुजरते गये और भगवान्की दयासे लोग कुछ काममें लग गये । फिर यहाँ भी वही मांसका होने लगा । एक दिन घरवालोंने मुझे कुछ पैसे देकर लानेको भेजा । मैं कसाईके अड्डेपर पहुँचा तो वहाँ बहु खरीददार खड़े थे । मांस थोड़ा था, अतः उस कहा—'मैं और बकरा बनाऊँगा, तब आपको दूँगा ।' हम वहाँ बैठ गये । तदनन्तर उसने दूसरे बकरेके साथ जो किया, वह बड़ा ही भयानक था । मैंने इससे पहले बीभत्स दृश्य कभी देखा ही नहीं था । मुझसे वह दृश्य दे नहीं गया । मेरा जी घबराने लगा और मैं वहाँसे तुरंत आया । मुझे कबीरजीका वह दोहा याद आ गया—

बकरी पाती खात है, वाकी तारें खाल ।
जो बकरी को खात हैं, उनका कौन हवाल ॥

मैंने घर लौटकर कह दिया कि उसके मांस खतम हो है । साथ ही मैंने घरवालोंसे यह भी कह दिया कि आप अगर मांस खायँगे तो मैं घरसे चला जाता हूँ । घरवालोंने कि हम मांस खाना छोड़ देंगे । उस दिनसे आज १० हो गये हैं, हमारे घरवालोंने कभी मांस खानेका इरादा नहीं किया । मैं अपने सभी भाइयोंसे हाथ जोड़कर प्रा करता हूँ कि वे सबसे पहले तुरंत मांस खाना छोड़ मांसके लिये जो निर्दयतासे जीव मारे जाते हैं, वह बड़ा पाप है । 'कल्याण' पढ़नेवालोंको तो अभी प्रतिज्ञा ही लेनी चाहिये कि वे कभी मांस नहीं खायँगे । —मदनलाल

(४)

सच्ची तीर्थयात्रा

रामनारायणजी साधारण व्यापारी थे । राजस्थानके

शहरमें साधारण दूकान करते थे। उनकी पत्नी बड़ी श्रद्धालु तथा धार्मिक प्रवृत्तिकी थी। उसका मन बहुत दिनोंसे चारों धामोंकी यात्रा करने तथा पुण्यस्थलोंपर यथासाध्य कुछ दान करनेका था। पर पतिकी आर्थिक स्थितिको देखकर वह कभी कुछ कहती नहीं थी। एक वर्ष उनकी दूकानमें पाँच-सात सौ रुपयेकी बचत हुई, तब उसने एक दिन पतिसे अपने मनकी बात कही। पतिने प्रसन्न होकर सहानुभूतिके साथ कहा—'सब मिलाकर लगभग दो हजारका खर्च है। अगले साल कुछ और कमाई हो जायगी तब चले चलेंगे। तुम्हारी यह इच्छा बहुत ही उत्तम है।' पत्नीने कहा—'लगभग चार सौ रुपये तो दस वर्षमें मैंने बचा-बटोरकर रक्खे हैं।' आखिर यह निश्चय हुआ कि 'होलीके बाद चलना है। अभी छः महीने हैं। इस बीच विवाहोंकी मौसिममें दूकानमें भी कुछ आमदनी हो जायगी।' पत्नी प्रसन्न हो गयी।

आखिर फागुनतक सब मिलाकर सोलह सौ रुपये इकट्ठे हुए। चैत्र कृष्ण २ का मुहूर्त निश्चित हो गया। रामनारायणने दूकानका काम कुछ समेट लिया; क्योंकि तीर्थयात्रामें पीछेसे दूकान बंद रखनी थी। इसी बीच एक दिन गाँवमें बाहरी बस्तीमें आग लग गयी। गरीबोंकी झोंपड़ियाँ तो जलीं ही, छोटी-सी गोशालाके घासका वह बागर जल गयी, जो कल ही खुलनेवाली थी। गोशालाकी डेढ़ सौ गायोंके खाद्यकी भयानक समस्या आ गयी। यह समाचार रामनारायणजीकी धर्मभीरु करुणामयी पत्नीको मिला। घासके अभावमें गौओंको भूखी रहना पड़ेगा, इस विचारसे उसका हृदय दहल गया। उसने अपने पति रामनारायणजीसे कहा कि 'अपने तीर्थयात्रा या तो इस साल स्थगित कर दीजिये अथवा चारों धामोंकी न करके दो ही धामोंकी कीजिये और सोलह सौमेंसे आधे आठ सौ रुपयेका गायोंके लिये घास खरीद दीजिये। घासके अभावमें गायें भूखी रहेंगी।' रामनारायणजीने समझाया कि 'वर्षोंसे तुम्हारी तीर्थयात्राकी इच्छा है और बड़ी कोर-कसरसे—बड़ी कठिनाईसे ये रुपये इकट्ठे हो गये हैं। फिर जुगाड़ होना कठिन है।' पर उसकी समझमें यह बात नहीं आयी। उसने कहा—'तीर्थयात्रा न होगी तो कोई बात नहीं। गाँवमें इस समय कोई घास खरीद दे, ऐसा आदमी दीखता नहीं है। खुली बागरका घास समाप्त हो गया था। कल ही यह बागर खुलनेवाली थी। मैंने पता लगाया है अमुक जाटके पास एक बागर घास है और किसीके पास है नहीं। वह किसीको बेच देगा तो फिर तो घास मिलना ही कठिन हो जायगा। अतएव उस घासको खरीदकर गोशालाको दे दीजिये। तीर्थयात्रामें अपनेको जो लाभ होता, वह न होगा तो कोई बात नहीं, हमारी गोमाता तो भूखों नहीं मरेगी।' रामनारायणजीने पत्नीकी बात मान ली, घास खरीद लिया गया। तीर्थयात्राका विचार एक बार स्थगित-सा हो गया। साढ़े आठ सौमें घास खरीदा गया; साढ़े सात सौ रुपये बच रहे।

इसी बीचमें एक और चीज सामने आ गयी। रामनारायणजीकी पत्नीके पीहरके दूर रिश्तेमें एक भतीजी थी। बहुत गरीब घर था। उसकी एक लड़कीका विवाह होनेवाला था। रुपयोंकी व्यवस्था नहीं हो पायी थी, पर लड़कीका पिता प्रयत्न कर रहा था। वह कलकत्तेमें नौकरी करता था, वहाँ मालिकोंसे सहायता माँगने गया था। वहाँ अकस्मात् हैजा होकर उसका देहान्त हो गया। रामनारायणजीकी पत्नीकी भतीजीपर वज्रपात हो गया। पतिकी मृत्यु हो गयी और इधर जवान लड़कीका विवाह रुकनेकी नौबत आ गयी। आगे डेढ़ साल विवाहका लग्न नहीं था। सयानी लड़की थी। यह समाचार जब रामनारायणजीकी पत्नीको मिला तो उसको बड़ी मर्म-पीड़ा हुई। उसने सोचा, तीर्थयात्राके लिये बचे हुए साढ़े सात सौ रुपयोंमें कन्याका विवाह हो जायगा। उसने रोते हुए अपने पतिके सामने विचार प्रकट किये। रामनारायणजीका हृदय भी बड़ा कोमल था। उन्होंने समर्थन किया। दो महीने बाद विवाहकी तिथि थी। रामनारायणजी और उनकी पत्नी दोनों उसके घर गये, उसे आश्वासन दिया और विवाहके मुहूर्तपर दोनोंने वहाँ जाकर अपने रुपयोंसे कन्याका विवाह कर दिया।

वहाँसे लौटनेपर एक दिन रामनारायणजीकी पत्नीको स्वप्नमें भगवान् नारायणके दर्शन हुए। नारायणने कहा—'तुम्हारी तीर्थयात्रा सफल हो गयी। तुमने गायोंकी रक्षा और विधवा अबलाकी कन्याके विवाहमें रुपये लगा दिये। इससे तीर्थयात्राका फल तो तुम्हें मिल ही गया। मेरी प्रसन्नता भी तुमपर बरस रही है। तुम दोनों पति-पत्नीका लौकिक और पारमार्थिक भविष्य सुधर गया।' उसने जगकर पतिको सपना सुनाया। पतिको भी ठीक वही सपना आया था। दोनों गद्गद हो गये।

भगवान्‌की कृपासे उनका कारोबार बढ़ा, बड़ी सम्पत्ति हो गयी। तीर्थयात्रा भी सम्पन्न हुई। पर उनका जीवन फिर सदाचार, भगवद्भक्ति तथा गरीबोंकी सेवारूप भगवत्पूजामें ही बीता। सच्ची तीर्थयात्रा हो गयी।

—सीताराम शर्मा

(५)

पतिकी अनुगामिनी वीरपत्नी

ईस्वी सन् १९४३ में जापान और मित्र राष्ट्रोंमें होनेवाले युद्धका प्रसङ्ग है। इस समय सिंगापुरसे एक बंगाली नेताने एक ज्वलन्त दीपक भेजा। मातृभूमि भारतके मुक्ति-फौजमें एक सैनिक था। इसने अपनी जापानी प्रियतमासे अन्तिम बार मिलकर कहा था—'मातृभूमिका आवाहन है। आऊँगा तो विजयी बनकर, नहीं तो अगले जन्ममें मिलेंगे।'

और श्योनान (सिंगापुर) में बैठी हुई यह जापानी रमणी अपने भारतीय सैनिक स्वामीकी बाट देखती हुई प्रतिदिन रेडियोसे समाचार सुनती। मणिपुर, तेलविस्ता, हाका, पालम, इम्फाल और कोहिमा……आजाद फौज एकके बाद एक स्थलको जीतती जा रही है।

इन समाचारोंसे पुलकित होती यह रमणी स्वयं भी आजाद फौजका एक अङ्ग बनकर 'झाँसी रानी रेजिमेंट' में भरती हो गयी थी।

फिर तो विजयका पलड़ा पराजयमें पलट गया। समाचार मिलते हैं आजाद फौजके पीछे हटनेके, गिरफ्तारीके और मृत्युके। इतनेपर भी वह प्रतीक्षा करनेसे नहीं चूकी। एक दिन समाचार मिला—इम्फालके जंगलमें पड़ी आजाद फौज घेर ली गयी और उसके सैनिकोंको गिरफ्तार कर लिया गया। उन्हींमें उसका पति भी था।

उस सैनिकने मृत्युको पसंद किया। अपनी राइफलको अपनी ही छातीपर टेककर 'ट्रेगर' दबानेसे पहले ही वह पुकार उठा—'जय हिंद!'

सुहागपर काली स्याही लगा देनेवाले इस समाचारसे जापानी रमणीपर क्या परिणाम हुआ होगा?

परंतु मातृभूमिके लिये आत्मार्पण कर देनेवाले अपने प्रियतमकी इस गौरवमयी मृत्युने जापानी रमणीकी आँखोंमें आँसू ला दिये, पर ये थे गौरवान्वित आँसू।

इसके बादकी वीरगाथाकी यह अन्तिम कड़ी भी प्रियतमके पीछे मृत्युके मार्गको पसंद करनेवाली इस रमणीकी मृत्युकथासे पूर्ण होती है। इस रमणीने पहलेसे संग्रह किये हुए जहरकी पुड़िया जलमें मिलायी और प्रियतमके मृत्युमार्गको वरण किया।

इस सैनिकका नाम था—श्रीएस०एन० कपूर। केसरभीगे कन्तको रणाङ्गणमें भेजनेवाली इस जापानी युवतीका नाम नहीं मिलता। पर पृथ्वी-पटलपर संगृहीत मातृभूमिकी वीरगाथ एक गुलाबके फूलकी तरह सुगन्ध फैलाता हुआ वह चमक होगा……चमकती रहेगी। अखण्ड आनन्द—विष्णु पं

(६)

मूक मानवता

अभी सुरक्षाकोषके लिये कार्यक्रम सम्पन्न करने मेरा पू जाना हुआ था। वहाँ भाई नारायण सोलंकीने एक छोटी किंतु मानवताभरी बात वहाँके एक सज्जन व्यापारीकी सुना

पूनामें दो वर्ष पहले जो बाढ़ आयी थी उसमें बहु घर डूब गये थे। एक गुजराती कुटुम्ब घर नष्ट हो जा कारण चौराहेपर आश्रय खोजता छोटे-से बच्चेके साथ खड़ा थ

वहाँसे बहुत लोग निकलते। सभी—'क्यों भाई, आप बड़ी मुसीबतमें आ पड़े! हमारे लायक कोई काम-काज हो कहना।' ऐसा कहकर मौखिक सहानुभूति दिखाकर आ बढ़ जाते।

मोटरपर सवार होकर कांग्रेसके कार्यकर्ता आ इन्होंने भी सहानुभूति और आश्वासनके दो शब्द कह अपना रास्ता पकड़ा।

किसीने यह विचार नहीं किया कि बिना घरबा बना हुआ यह छोटे-से बच्चेवाला कुटुम्ब रातको कहाँ रहे यों सुबहसे शामतक वह कुटुम्ब भूखा-प्यासा रास्तेके चौ पर खड़ा रहा। उधरसे जिसके साथ आँखकी भी जान-पह नहीं, ऐसे एक राजस्थानी सज्जन निकले। समाचार पूछ सारी परिस्थितिका अनुमान कर लिया और वे उस कुटुम्ब अपने घर ले गये। कुछ भी कहे-सुने बिना ही उसके तथा खाने-पीनेकी सारी व्यवस्था उन्होंने कर दी। सिल कामके लिये एक मशीन भी खरीद दी और उसे कमानेवाला भी बना दिया।

अपने साथ रखकर भाईकी तरह उनकी सँभाल र और वह भी पूरे एक वर्षतक। जब वे भाई अपने पै खड़े रहने योग्य हो गये तब उन्होंने अलग घर ले लिया उसमें रहनेको चले गये।

इस मूक मानवताका विज्ञापन उन सज्जनने कभी भी नहीं किया। न कभी पत्रोंमें नाम तथा फोटो छपवा परंतु जिनकी सेवा-सँभाल की, वे भाई तो उपकारवश इ गुणगान-गाथा गाया ही करते हैं। (अखण्ड आन

—मूलराज भं

श्रीहरिः

'कल्याण' के आजीवन ग्राहक बनकर सत्साहित्यके प्रचारमें सहायता कीजिये

(१) 'कल्याण' तथा गीताप्रेससे प्रकाशित पुस्तकोंका मूल्य बहुत कम है, यह सभी जानते हैं। गीताप्रेसका उद्देश्य ही है कम कीमतमें सत्-साहित्यका प्रचार करना। अतः पुस्तकोंके दाम बढ़ानेका कोई विचार अभी नहीं है। पर छपाईकी सभी चीजें उत्तरोत्तर महँगी होती जा रही हैं, छपाईके कागज, दफ्ती आदिपर Excise duty तथा Central salestax में हालहीमें और भी वृद्धि हो गयी है। इन सबके कारण उत्पादनका खर्च बहुत बढ़ गया है। अतएव किसी प्रकार भी जनताको 'कल्याण' तथा गीताप्रेसकी पुस्तकें सस्ते दाममें मिलती रहें तथा 'कल्याण'के ग्राहकोंको प्रतिवर्ष रुपये भेजनेकी असुविधा न रहे; इसलिये एक सौ रुपये एक साथ लेकर आजीवन सदस्यकी भाँति 'आजीवन ग्राहक' बनानेका निश्चय किया गया है। इससे आजीवन ग्राहक बननेवाले जबतक रहेंगे और जबतक 'कल्याण' चलता रहेगा, उनको 'कल्याण' प्रतिवर्ष मिलता रहेगा। अवश्य ही उनके पीछे उत्तराधिकारियोंको नहीं मिलेगा और किसी कारणवश 'कल्याण' बंद होनेपर भी नहीं मिलेगा। दोनों ही हालतोंमें रुपये गीताप्रेसके हो जायँगे। इससे प्रकारान्तरसे गीताप्रेसकी सहायता भी होगी। गीताप्रेस यों चंदा नहीं लेता; परंतु आजीवन ग्राहक बननेवाले मूल्य-स्वरूप जो एक सौ रुपये देंगे, वे तो लिये ही जायँगे। जो सज्जन गीताप्रेसकी तथा 'कल्याण'की सहायता करना चाहें, वे स्वयं आजीवन ग्राहक बनकर तथा अपनी शक्ति और इच्छाके अनुसार, जिन लोगोंके पास पैसे नहीं हैं, परंतु जो 'कल्याण' पढ़ना चाहते हैं—ऐसे लोगोंको आजीवन ग्राहक बनाकर उनके प्रत्येकके लिये एक सौ रुपये दे सकते हैं। इससे 'कल्याण' पढ़नेवालोंकी सहायता होगी, सत्साहित्यका प्रचार होगा और गीताप्रेसकी प्रकारान्तरसे सहायता भी होगी। एक सज्जनने अभी अपनी ओरसे ऐसे सौ ग्राहक बनाये हैं। आजीवन ग्राहक बन रहे हैं, परंतु अभी, जितनी संख्यामें ग्राहक बनानेकी बात सोची थी, उसे देखते कम बने हैं। अतएव गीताप्रेसके तथा 'कल्याण'के प्रेमी लोगोंको स्वयं ग्राहक बनकर तथा दूसरोंको यथासाध्य बनाकर रुपये शीघ्र भिजवाने चाहिये। निर्धारित संख्या पूरी हो जानेपर और आजीवन ग्राहक नहीं बनाये जा सकेंगे।

(२) जो सज्जन रु० ७.५० देकर चालू वर्षके साधारण ग्राहक बन चुके हों वे ९२.५० और भेजकर आजीवन ग्राहक बन सकते हैं।

(३) कुछ सज्जन प्रतिवर्ष सजिल्द विशेषाङ्क लेना चाहते हैं, अतः उनको १२५) (एक सौ पचीस रुपये) भेजने चाहिये।

(४) भारतवर्षके बाहर (विदेश) के महानुभावोंके लिये अजिल्द 'आजीवन ग्राहक' का मूल्य १२५) या १० पौंड है। सजिल्दका मूल्य १५०) या १२ पौंड है।

(५) कुछ प्रेमी मित्रोंने अपनी मीलों, कारखानों, उत्पादक तथा व्यापारी संस्थाओं, आश्रमों, मन्दिरों, पुस्तकालयों, क्लबों और अन्यान्य संस्थाओंको तथा फर्मोंको आजीवन ग्राहक बनानेका विशेष आग्रह किया है। अतः उनका यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया है। अतः संस्थाओं तथा फर्मोंको भी आजीवन ग्राहक बनाया जाता है। जो लोग इस प्रकारके ग्राहक बनाना चाहें, वे उनका नाम-पतेसहित पूरा मूल्य भेजनेकी शीघ्र कृपा करें।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस, गोरखपुर

'कल्याण'के अबतकके विशेषाङ्कोंमें सबसे अधिक बिकनेवाला गत वर्षका विशेषाङ्क

'संक्षिप्त शिवपुराणाङ्क'

'कल्याण'के अबतक कुल छत्तीस विशेषाङ्क निकले हैं, जिनमें २४वें वर्षका 'हिंदू-संस्कृति- १,२५,००० छपा था, जो उस समयतकके विशेषाङ्कोंमें सबसे अधिक था। उसके बादके विशेषाङ्क कारणोंसे कम संख्यामें छपने लगे। फिर ३४ वें वर्षका 'सं० देवीभागवताङ्क' १,२५,००० छपा। उसके ३५वें वर्षका 'सं० योगवाशिष्ठाङ्क' १,३१,००० छापा गया, जो अब अप्राप्य है। ३६वें वर्षका 'संक्षिप्त पुराणाङ्क' उसी हिसाबसे १,३१,००० छापा गया; परंतु उसकी माँग इतनी अच्छी रही कि सब प्रतियाँ हा हाथ बिक गयीं और हजारों पुराने ग्राहकोंको भी अङ्क न मिल सके। इसलिये कामकी भारी असुवि होनेपर भी २०,००० प्रतियोंका दूसरा संस्करण छापा गया। इस प्रकार इस अङ्ककी एक लाख इक्या हजार प्रतियाँ छप गयीं, जो एक कीर्तिमान् अङ्क है।

यह विशेषाङ्क सुप्रसिद्ध शिवपुराणके साररूपमें सरल हिंदी भाषामें बहुत ही सस्ता है। इ भगवान् शिवकी बड़ी ही विचित्र मधुर लीलाओंका, भक्तवत्सलताका और उनके अवतारोंका तथा भक्तिके तत्त्वोंका बड़ा ही विशद और सर्वोपयोगी वर्णन है। कथाएँ बड़ी ही रोचक तथा प्रभावोत्पादक

पृष्ठ-संख्या ७०४, चित्र सुन्दर बहुरंगे १७, दोरंगा १, सादे १२ तथा रेखा-चित्र १३८ कुल इस विशेषाङ्ककी प्रतियाँ अभीतक मिलती हैं। अतः जिन्हें लेना हो, वे रु० ७.५० (डाकखर्चसहित) भेज रजिस्ट्रीसे मँगवा लें अथवा वी० पी० द्वारा भेजनेकी आज्ञा दें।

'कल्याण'के २४वें वर्षका विशेषाङ्क 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' अब भी प्राप्य है

पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविता ४६, संगृहीत २९, चित्र २४८, मूल्य ६.५० डाकव्ययसहि साथ ही इसी वर्षका दूसरा तथा तीसरा अङ्क बिना मूल्य।

इस अङ्कमें महान् हिंदू-संस्कृतिके प्रायः सभी विषयोंपर प्रकाश डाला गया है। इसमें वेद, उपनि महाभारत, रामायण तथा श्रीमद्भागवतकी सानुवाद सूक्तियोंके साथ-साथ हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप महत्त्व, हिंदूधर्म, वर्णाश्रम, दर्शन-परिचय, हिंदू-संस्कृतिकी व्यापकता, परलोकवाद, श्राद्ध-तत्त्व, हि संस्कृतिमें त्याग और भोगका समन्वय, समाजरचना, ज्ञान, भक्ति, योग, मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र, यज्ञानु पीठविज्ञान, रामराज्यका स्वरूप, शिष्टाचार और सदाचार, आहार-विवेक, आयुर्वेद, विज्ञान, अङ्कग कर्मविज्ञान, उपासनातत्त्व, तीर्थ-व्रत, पर्व-त्योहार, शिक्षा, विभिन्न सम्प्रदाय, स्थापत्यकला, मन्दिर, मूर्तिक शिल्प, चित्रकला, नाट्यकला, चौंसठ कलाएँ, गान्धर्वविद्या, वाद्ययन्त्र, क्रीडा, अस्त्र-शस्त्रादि, वैमानिकक नौ-निर्माणकला, काल-विज्ञान, ज्योतिर्विज्ञान, ज्यौतिष, सामुद्रिक, नक्षत्र-विज्ञान, रत्न-विज्ञान, गोर जीवरक्षा आदि विविध विषयोंपर बड़े-बड़े विद्वानों तथा अनुभवी पुरुषोंके लेख हैं।

इसके अतिरिक्त भगवान्के अवतारोंके, देवताओंके, आदर्श ऋषि-महर्षियोंके, परोपकारी भक्त, तथा सत्पुरुषोंके, आचार्य, महात्मा और भक्तोंके एवं आदर्श हिंदू-नारियोंके बहुत-से पवित्र चरित्र हैं।

डाकखर्च सबमें हमारा है।

व्यवस्थापक—**कल्याण, पो० गीताप्रेस (गोरखपु**

मई

गुरुकुल कांगड़ी

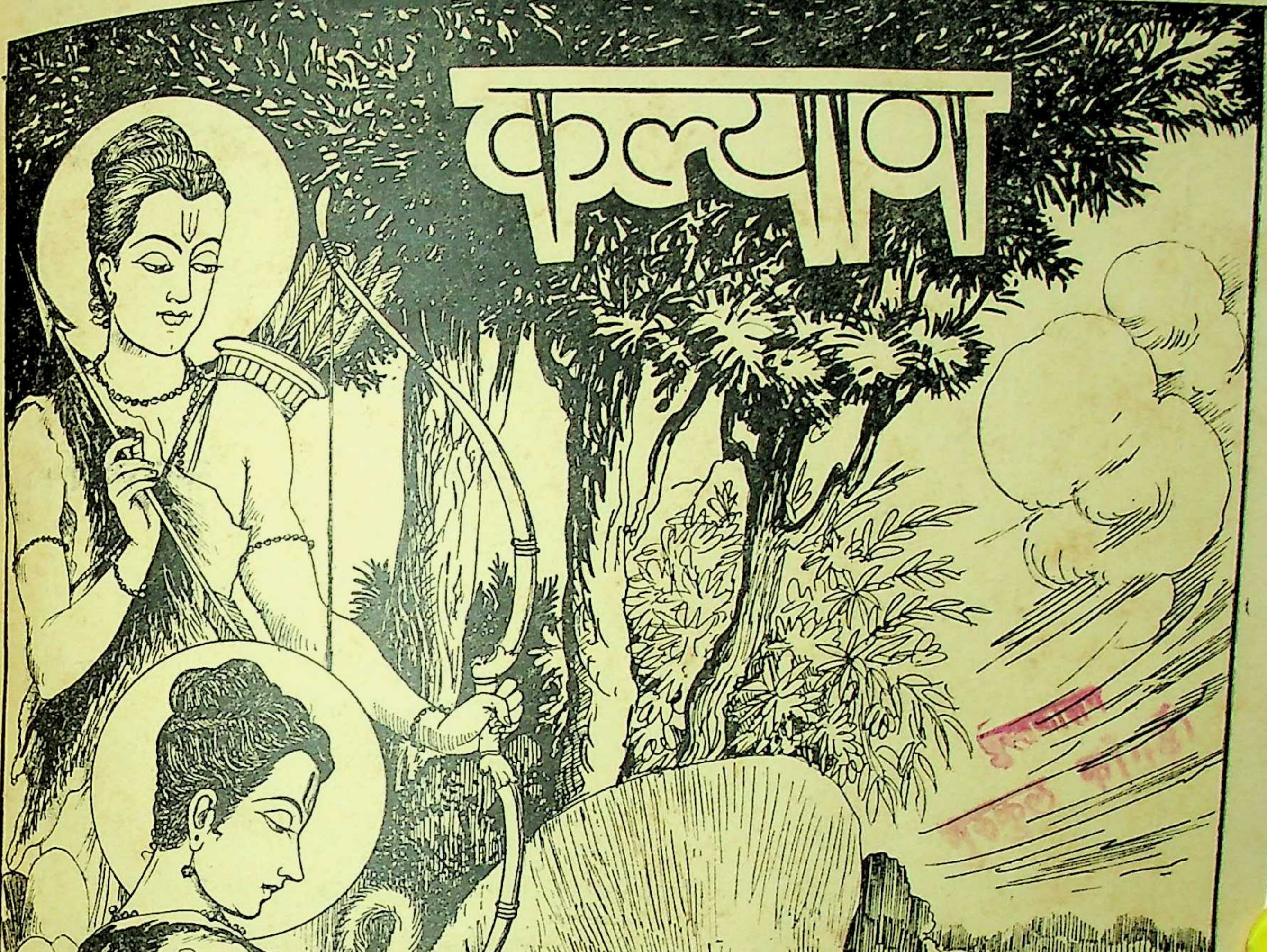

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

वर्ष ३७]

*　　*　　*

[अङ्क ५

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

संस्करण—१,३८,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर ज्येष्ठ २०२०, मई १९६३

विषय पृष्ठ-संख्या

१—गुरु द्रोण और कौरव-पाण्डव बालक [कविता] ८७५
२—कल्याण ('शिव') ... ८७६
३—हिंदू-दर्शन (श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय एम्० ए० महोदय) ... ८७७
४—सूर्य-रथ और उसके सात घोड़े (सर्व-दर्शनाचार्य तत्त्वचिन्तक अनन्तश्री स्वामी अनिरुद्धाचार्य वेंकटाचार्य महाराज) ... ८८२
५—सच्चा मित्र (राष्ट्रपति डा० श्रीराधाकृष्णनद्वारा कथित एक लघुकथा) ... ८८६
६—साधनकी सफलताके उपाय (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... ८८७
७—भक्ति (ब्र० पूज्यपाद श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महात्मा श्रीनथुरामजी शर्मा; अनु०—श्रीसुरेश एम० भट) ... ८९४
८—क्या आप किसी मानसिक दुःख या रोगसे पीड़ित हैं? (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ... ८९६
९—तुम्हारा प्यार चाहता हूँ [कविता] (पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम') ... ८९८

विषय पृष्ठ-संख्या

१०—जीवन-यज्ञ (आदरणीया बहिन श्रीरैहाना तैयबजी) ८९९
११—शक्ति-प्रकटनका महत्त्वपूर्ण उपाय—अभ्यास (श्रीअगरचन्दजी नाहटा) ... ९०१
१२—दीपावली-विज्ञान (श्रीरणछोड़दासजी 'उद्धव') ९०३
१३—मधुर ९०९
१४—कलियुगके अन्तमें [कहानी] (श्री'चक्र') ९११
१५—सम्राट् अकबरद्वारा गोवध-निषेध आज्ञा (श्रीगोवर्धनलालजी पुरोहित, एम्० ए०) ९१५
१६—वनवासी बन्धुओंके बीचमें (श्रद्धेय श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी महाराज) ... ९१७
१७—स्वनामधन्य व्याख्यान-वाचस्पति पं० दीनदयालु शर्मा ९२५
१८—स्वार्थ-परमार्थ एक हो गये [कविता] ९२८
१९—संग्रहका सुख भ्रम है (श्रीगणेशलालजी कर्ण) ९२९
२०—क्या हम बुद्धिमान् हैं? ... ९३०
२१—पढ़ो, समझो और करो ... ९३३
२२—सरकारसे प्रार्थना ९३८

चित्र-सूची

१—गिलहरीको प्यार देते हुए सर्वजीवसुहृद् राम ... ... (रेखाचित्र) ... मुखपृष्ठ
२—बालकोंके सामने आचार्य द्रोणका कुएँसे गेंद निकालना ... (तिरंगा) ... ८७५

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें, रु० १०.००
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण
भारतमें
विदेशमें
(१० पैसे)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

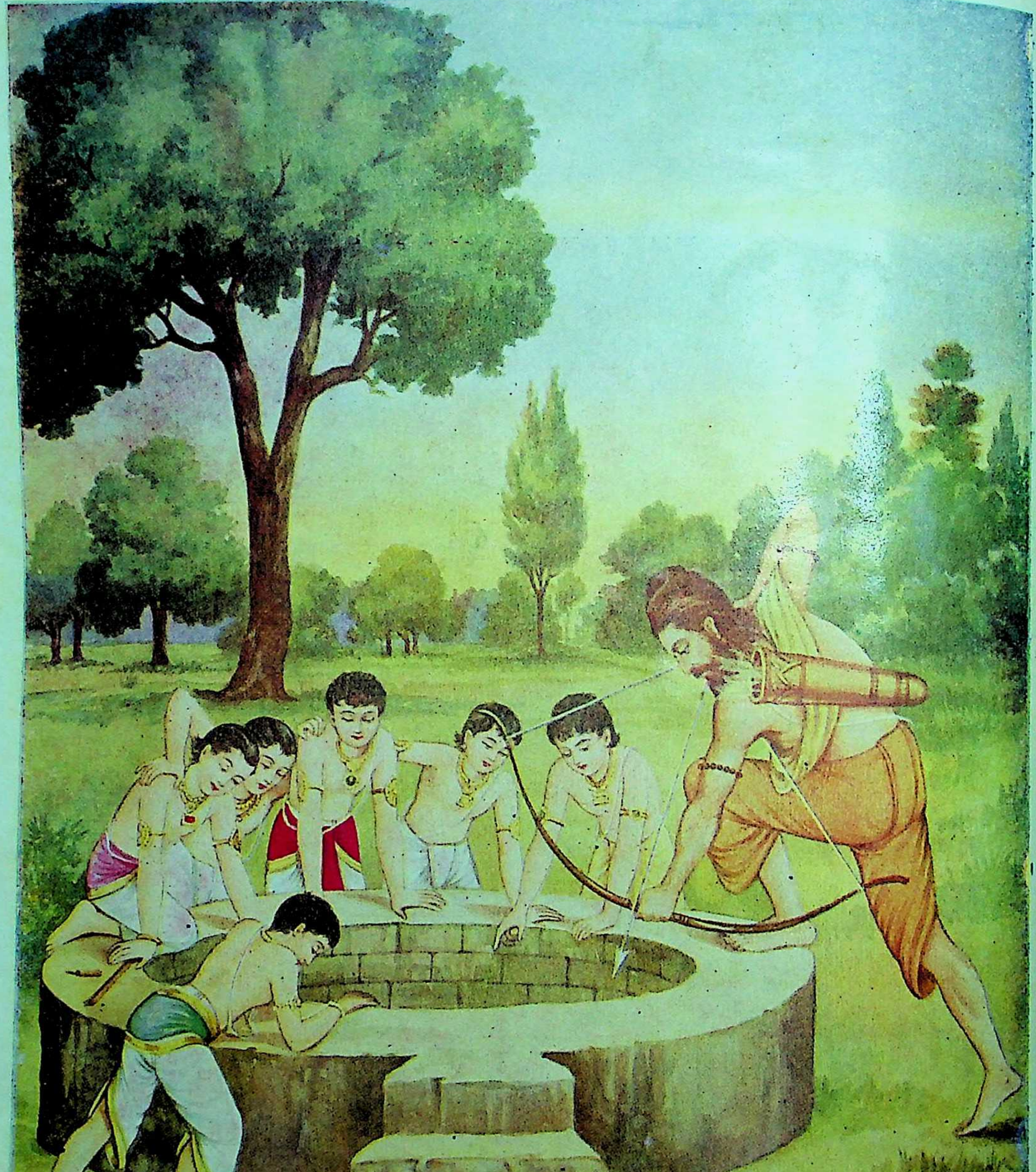

बालकोंके सामने आचार्य द्रोणका कुएँसे गेंद निकालना

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

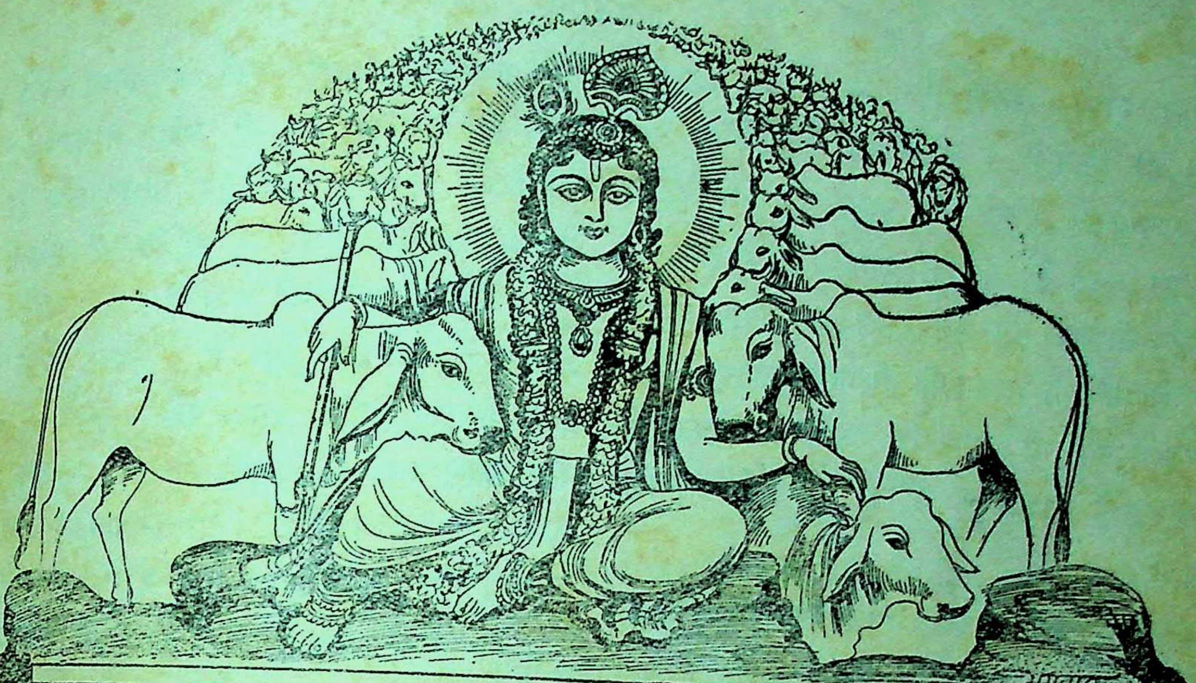

कल्याण

शुद्धतेजःस्वरूपं च भक्तानुग्रहविग्रहम् । अतीव कमनीयं च श्यामरूपं नमाम्यहम् ॥
परिपूर्णतमं शान्तं राधाकान्तं मनोहरम् । सत्यं ब्रह्मस्वरूपं च नित्यं कृष्णं नमाम्यहम् ॥

वर्ष ३७ } गोरखपुर, सौर ज्येष्ठ २०२०, मई १९६३ { संख्या ५
पूर्ण संख्या ४३८

गुरु द्रोण और कौरव-पाण्डव बालक

खेलत गुली कुएँ गिरी, सकैं न ताहि निकार ।
रहै उदास निरास है कौरव-पांडुकुमार ॥
कुँवरन कौं धिक्कार दै बोले गुरु गंभीर ।
निकरत नहिं यह नैक-सी गुल्ली तुम्हते वीर ? ॥
फिर, गुरु ने निज मुद्रिका दई कूप में डारि ।
बोले, देखौ दुहुन कौं अवहीं देउँ निकारि ॥
सींक-बानते बेधि दोउ जोरि सींक ते सींक ।
दई निकारि तुरंत ही गुरु गुल्ली-अँगुरीक ॥
(महाभारत, आदिपर्व)

याद रक्खो—मनुष्य-शरीर भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे ही मिला है । बड़े-से-बड़े ऐश्वर्य-वैभव तथा शक्ति-सामर्थ्यवाले देवता और असुर भी मनुष्यदेहकी आकाङ्क्षा करते हैं; क्योंकि परमात्माकी प्राप्तिका—जो जीव-जीवनका एकमात्र लक्ष्य है—मनुष्य-देह ही परम साधन है । भगवत्प्राप्ति ही परम पुरुषार्थ है और इस परमपुरुषार्थकी प्राप्तिका अधिकार देकर ही अनादिकालसे भटकते हुए जीवको भगवान्‌ने मनुष्यदेह दिया है ।

कबहुँक करि करुना नर देही । देत ईस बिनु हेतु सनेही ॥

याद रक्खो—इस मानवशरीरका सदुपयोग इसीमें है कि एकमात्र भगवत्प्राप्तिके लिये ही मन-तनसे सारे विचार तथा कर्म किये जायँ । न कर्मोंमें आसक्ति रहे, न उनके फलमें । भोग जीवनका लक्ष्य न हो, भगवान् ही लक्ष्य हों; और इस लक्ष्यकी सिद्धिके लिये समस्त दैवी गुणोंका आश्रय लेकर भगवान्‌के मङ्गलविधानमें विश्वास रखते हुए और इसलिये प्रत्येक परिस्थितिमें सुखका अनुभव करते हुए शान्त जीवन बिताया जाय और अन्तमें भगवान्‌की उपलब्धि हो जाय ।

याद रक्खो—इस मनुष्यशरीरको जो लोग नश्वर भोगोंकी प्राप्ति एवं भोगके लिये काम-क्रोध-लोभ, मान-मद-अहंकार, ईर्ष्या-वैर-हिंसा आदिमें ही लगाये रखते हैं, वे यहाँ आजीवन दुःख उठाते हैं—अनन्त चिन्ताओंसे घिरे रहते हैं और नये-नये पाप बटोरकर पुनः महान् दुःखमय योनियोंमें चले जाते हैं । यह मनुष्यशरीरके दुरुपयोगका विषम परिणाम है ।

याद रक्खो—संसारमें जितने प्राणी हैं, सभीमें भगवान् भरे हैं, वे सब भगवान्‌की ही विविध अनन्त अभिव्यक्तियाँ हैं । अतएव सबमें भगवान्‌को देखते हुए, किसी भी प्राणीका जरा भी अहित न करके, सबके कल्याणकी भावना करते हुए भगवत्प्राप्तिके मार्गपर अग्रसर होते चले जाओ, पर यह निरन्तर समझते रहो कि ये सब यात्राके साथी मात्र हैं । इनसे यहाँका जो सम्बन्ध है, वह यथार्थ नहीं है । अतः इनके साथ इनके हितका निर्दोष व्यवहार करो—सबकी यथासाध्य सेवा करो । कहीं भी किसीमें भी न तो आसक्ति करो और न किसीसे द्वेष ही करो । भगवत्-सेवाकी शुद्ध भावना रक्खो । फिर तुम्हारा प्रत्येक कर्म ही भगवान्‌की पूजा बन जायगा और तुम्हारा जीवन सफल हो जायगा ।

याद रक्खो—मानवजीवनकी सफलता ऊँचे अधिकार, विपुल धन-वैभव, संसारमें अपार यश-कीर्ति और बड़ी-से-बड़ी जागतिक सफलताकी प्राप्तिमें नहीं है । यदि ये सब परिस्थितियाँ और पदार्थ भगवान्‌से विमुख करनेवाले हैं तो इनका प्राणघातक मीठे विष या मित्र बनकर धोखेसे मार डालनेवाले शत्रुकी भाँति त्याग या विनाश ही श्रेयस्कर है । मनुष्यजीवनकी सच्ची सफलता है उसका प्रत्येक क्षण भगवान्‌की सेवामें समर्पित होनेमें प्रत्येक श्वासके भगवान्‌की स्मृतिमें डूबे रहनेमें ।

याद रक्खो—वे ही सब प्राणी, पदार्थ, परिस्थितियाँ तुम्हारी वास्तविक हित करनेवाली हैं, जिनसे तुम्हें भगवत्प्राप्तिके साधनमें उत्साह, शक्ति, सहायता सहयोग और प्रकाश मिलता हो, उन्हींका आश्रय तथा यथावश्यक संग्रह करना चाहिये । यही सत्संग है शेष तो सभी कुसंग है जो सब प्रकारसे हानिकारक होनेके कारण सर्वथा त्याज्य है; अतएव सावधानीके साथ जीवनको भगवान्‌में ही लगाये रक्खो । वस्तुतः यही मानवता है । यही सच्चा विकास है ।

'शिव'

हिंदू-दर्शन

(लेखक—श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय एम्० ए० महोदय)

[गताङ्कसे आगे]

उपनिषदोंकी दार्शनिक मीमांसामें द्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, अद्वैतवाद आदि विभिन्न मतवादोंकी सूचना मिलती है । जन्मान्तरवाद, कर्म-कर्मफलवाद, मुक्तिवाद आदिकी भी उपनिषदोंमें व्याख्या हुई है । चरम तत्त्वके सम्बन्धमें मानव-बुद्धिके विकासके साथ-साथ जो सारी समस्याएँ उत्पन्न हुईं, उनमें बहुत थोड़ी-सी ही ऐसी हैं, जिनके सम्बन्धमें उपनिषदोंके ऋषियोंके द्वारा चर्चा न हुई हो एवं जिनकी कोई मीमांसा न की गयी हो । परवर्ती कालमें वेदोपनिषदोंके सिद्धान्तोंको ही केन्द्र बनाकर भारतीय विचार और साधना विचित्र धाराओंमें प्रवाहित हुई है । सिद्धान्तोंका वैचित्र्य, उनकी व्याख्याके सम्बन्धमें मतभेद, विभिन्न मतोंके विरोध-परिहारका प्रयत्न, वेद-बहिर्भूत संघों और सम्प्रदायोंके साथ संघर्ष, उनके आक्रमण तथा उनके निवारणके प्रयास,—प्रधानतः इन्हीं सब कारणोंको लेकर हिंदुओंकी दार्शनिक गवेषणा अग्रसर होती चली आ रही है । कालक्रमसे जटिल युक्तिजालोंसे समन्वित बहुत-से दर्शनशास्त्र हिंदूसमाजमें उत्पन्न और प्रचारित हुए हैं ।

भारतीय दर्शनशास्त्रोंकी एक विशेषता यह है कि उनमें दार्शनिक गवेषणाको जीवनकी साधनासे अलग नहीं किया गया है । जीवनको परिपूर्ण सार्थकतामें प्रतिष्ठित करनेके लिये ही तत्त्वानुसंधान किया गया है । अतएव जीवनके सभी विभागोंको सुनियन्त्रित कर हृदयको उन्नत आदर्शोंके द्वारा अनुप्राणित कर, देहेन्द्रिय-मनकी मलिनताओंको मिटाकर, मनुष्यको उसके परम लक्ष्यकी ओर द्रुतगतिसे चलनेमें जो दर्शनशास्त्र समुचित सहायता नहीं करता, हिंदूसमाजमें ऐसे दार्शनिक युक्ति-तर्कोंका कोई भी मूल्य नहीं आँका जाता । इसी कारण प्रत्येक दर्शनकी उपक्रमणिकामें ही देखा जाता है कि जीवनके उद्देश्य-साधनके लिये ही तत्त्वविचारमें प्रवृत्ति होती है । किसी-किसी दर्शनके आरम्भमें ही कह दिया गया है कि जिससे जीवनके 'अभ्युदय और निःश्रेयस' की प्राप्ति होती है, उस धर्मकी व्याख्या करनेके लिये ही इस शास्त्रका आरम्भ किया जाता है । किसी-किसी दर्शनकी सूचनामें यह बता दिया गया है कि मिथ्या-ज्ञानसे दोष, दोषसे प्रवृत्ति, प्रवृत्तिसे जन्म एवं जन्मसे दुःखकी उत्पत्ति होती है; इसीलिये तत्त्वज्ञान-प्राप्तिके द्वारा मिथ्याज्ञानका निरसन करके दुःखके मूलको विनष्टकर अपवर्गको प्राप्त करा देनेके लिये ही तत्त्व-विचारका आरम्भ किया जाता है । कोई-कोई दर्शन कहते हैं कि आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दुःखोंसे पीड़ित मनुष्य उससे आत्यन्तिक और ऐकान्तिक मुक्ति प्राप्त करनेके उद्देश्यसे ही तत्त्वजिज्ञासु होता है एवं उसीके लिये गवेषणामें प्रवृत्ति होती है । इस प्रकार दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति, पराशान्तिकी प्राप्ति, मोक्ष या अपवर्गकी प्राप्तिको उद्देश्य बनाकर ही भारतीय विचारक्षेत्रमें दार्शनिक गवेषणा प्रवर्तित और प्रचलित हुई है ।

केवल एक पूर्वमीमांसाको छोड़कर दूसरे प्रायः सभी दर्शनोंके मतमें केवल तत्त्वज्ञानके द्वारा ही इस लक्ष्यकी सिद्धि हो सकती है;—मिथ्या ज्ञान ही सब अनर्थों और दुःखोंका हेतु है, अतएव तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होनेपर ही अनर्थकी निवृत्ति और दुःखका नाश होता है ।

इन सब दर्शनोंमें प्राचीनता, विचारनिपुणता और प्रभावकी दृष्टिसे सांख्य-दर्शनका एक विशिष्ट स्थान है । इसके प्रणेता महर्षि कपिल आदिविद्वान्के नामसे उपनिषद्-महाभारतादिमें भी प्रसिद्ध हैं । सम्भवतः उन्होंने ही सर्वप्रथम स्वतन्त्र युक्तिप्रणालीका अवलम्बन करके प्रमाणादिका उल्लेख करते हुए एक सर्वावयवसम्पन्न दार्शनिक मतवादकी प्रतिष्ठा और प्रचार किया था । प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तवाक्यको प्रमाणरूपमें स्वीकार करके विश्वजगत्के तत्त्वानुसंधानमें रत होकर सांख्यदर्शनने दो प्रकारके तत्त्वोंका आविष्कार किया—जड और चेतन । जड है दृश्य, भोग्य और ज्ञेय; एवं चेतन है द्रष्टा, भोक्ता और ज्ञाता । इनमेंसे एक जातिके पदार्थको दूसरी जातिमें परिणत करना सम्भव नहीं, तथापि इन दोनोंके संयोगके बिना किसी प्रकारका प्रकाश, स्थिति और क्रिया सम्भव नहीं । इनमेंसे चेतनका कोई विकार, परिणाम और कार्य नहीं होता एवं जडका स्वभाव ही है विकार, परिणाम और क्रिया । निर्विकार चेतनके सांनिध्यमें जडके स्वभावका विकास होता है एवं उसीसे विकार-परिणामादि होते रहते हैं ।

जगत्‌में सूक्ष्मसे स्थूलका उद्भव, अव्यक्तसे व्यक्तकी उत्पत्तिकी पर्यालोचना करके एवं सभी पदार्थोंमें प्रकाश, प्रवृत्ति और स्थितिरूप लक्षणको देखकर, सांख्यदर्शनने समस्त जगत्‌की अभिव्यक्तिकी एक प्रणालीका आविष्कार किया। समस्त बाह्यपदार्थ शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धयुक्त क्षिति-अप्-तेज-मरुत्-व्योम नामक पाँच मौलिक वस्तुओंद्वारा निर्मित हैं। इन पाँच प्रकारकी वस्तुओंका एक नाम है—महाभूत। इनमेंसे प्रत्येकमें ही प्रत्येकका धर्म आंशिक मात्रामें विद्यमान है। उनके मूलमें है—शुद्ध शब्द-तन्मात्र, स्पर्श-तन्मात्र, रूप-तन्मात्र, रस-तन्मात्र और गन्ध-तन्मात्र। ये सब सूक्ष्म तन्मात्र इन्द्रियग्राह्य नहीं हैं। पञ्चीकृत होकर ही ये इन्द्रियग्राह्य होते हैं। इनसे जिस प्रकार विषयजगत्‌का निर्माण होता है, उसी प्रकार इन सबका ग्रहण और व्यवहार करनेके लिये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ भी उद्भूत होती हैं। इन सबको नियन्त्रित करनेके लिये एक उभयेन्द्रिय है, जिसका नाम है—मन। इन्द्रियोंमें और विषयोंमें संनिकर्ष और आदान-प्रदान किस प्रकार होता है? इसका उत्तर यह है कि दोनों ही एक ही कारणसे अभिव्यक्त होते हैं और उसका नाम है—अहंकार। यह अहंकार बुद्धितत्त्व या महत्तत्त्वके परिणामसे उत्पन्न है। महत्तत्त्वका मूल कारण है—अव्यक्त या मूला प्रकृति। मूला प्रकृति सत्त्व-रज-तमोगुणमयी है; इसी कारण सभी प्राकृत पदार्थ प्रकाशधर्मी सत्त्व, प्रवृत्तिधर्मी रजः और स्थितिधर्मी तमोगुणके मिश्रणसे समुत्पन्न हैं। सत्त्व, रजः और तमोगुणकी साम्यावस्था ही 'अव्यक्त' कहलाती है। उनके वैषम्यसे ही व्यक्त-जगत्‌का उद्भव होता है। मूला प्रकृतिसे लेकर पञ्चमहाभूतोंतक चौबीस तत्त्वोंके द्वारा ही सांख्य विश्व-जगत्‌के स्वरूपकी व्याख्या करता है।

उसके अतिरिक्त द्रष्टा ज्ञाता भोक्ता चेतन आत्मा है। सांख्य उसको 'पुरुष' नामसे पुकारता है। यही पञ्चविंश तत्त्व है। सांख्यमतमें पुरुषकी संख्या अनेक हैं। पुरुषोंके साथ प्रकृतिका अनादि अविवेककृतसंयोग रहनेके कारण प्रकृतिका परिणाम और अभिव्यक्ति चिरकालसे होती आ रही है एवं पुरुष भी प्रकृतिके कार्यमें ज्ञातृत्वाभिमान, भोक्तृत्वाभिमान और कर्तृत्वाभिमान करके सुख-दुःख-मोहग्रस्त होते हुए-से दिखायी दे रहे हैं। दार्शनिक विचारके प्रभावसे किसी पुरुषविशेषको विवेकख्याति—अर्थात् प्रकृतिके साथ आत्यन्तिक भिन्नताकी उपलब्धि होनेपर ही उसे कैवल्यकी प्राप्ति होती है, दुःखत्रयकी आत्यन्तिक और ऐकान्तिक निवृत्ति हो जाती है एवं उसकी अपने निज असंग चित्स्वरूपमें नित्यावस्थिति प्राप्त हो जाती है।

सांख्यमतमें जगत्प्रक्रियाकी तात्त्विक व्याख्याके लिये ईश्वर या ब्रह्मका अस्तित्व स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। जगत्‌के कारणरूपमें ईश्वरका अस्तित्व सांख्यमतमें प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा आगम किसी भी प्रमाणके द्वारा सिद्ध नहीं किया जाता। यदि ईश्वर होगा तो वह भी प्रकृति-पुरुष-संयोगसे उत्पन्न ही होगा। महत्तत्त्वाभिमानी कल्पान्तस्थायी सर्वज्ञ पुरुषविशेष ही सांख्यमतमें 'ईश्वर' नामसे अभिहित होता है।

दार्शनिक दृष्टिसे योगदर्शन सांख्यदर्शनके साथ एक पर्यायभुक्त है। उपनिषद्-महाभारत आदिमें सांख्यके साथ योगका भी उल्लेख देखा जाता है। किंतु महर्षि पतञ्जलिकृत योगसूत्र ही वर्तमानमें योगका प्रधान ग्रन्थ है। जीव-जगत्‌के तत्त्वनिरूपणके सम्बन्धमें यद्यपि योगदर्शनमें सांख्यका मत ही ग्रहण किया गया है, तथापि दोनों विषयोंमें दोनोंमें विशेष भेद है। प्रथमतः, योगदर्शनमें ईश्वरको स्वीकार किया जाता है। क्लेश-कर्म-विपाक-आशयद्वारा अपरामृष्ट, निरतिशय सर्वज्ञ, विश्वके आदिगुरु नित्यसिद्ध नित्यमुक्त पुरुषविशेष ईश्वरको योगदर्शन सम्पूर्णरूपसे स्वीकार करता है। किंतु जगत्प्रक्रियाके ऊपर उसका कोई कर्तृत्व या प्रभुत्व है या नहीं, वह जगत्‌का निमित्तकारण है या नहीं, इस सम्बन्धमें योगसूत्र नीरव है। योगसूत्रके व्याख्याकारोंमें इस सम्बन्धमें मतभेद है। तथापि यह बात तो निश्चित है कि सांख्यके ईश्वरके समान वह जन्य ईश्वर नहीं है, वह नित्य ईश्वर है एवं सबका आराध्य है।

द्वितीयतः साधनतत्त्वके सम्बन्धमें सांख्यने जिस प्रकार तत्त्वविचारको ही प्राधान्य दिया है, योगदर्शनने ऐसा न करके ध्यान-समाधिके अभ्यासपर विशेष दृष्टिपात किया है, साथ ही भक्तिसाधनाको भी समाधिसिद्धिका एक विशिष्ट उपाय बतलाया है। समाधिप्रज्ञाके द्वारा ही योगमतमें विवेक-ख्याति और कैवल्यप्राप्ति होती है। प्रसङ्गक्रमसे योगदर्शनमें मनस्तत्त्वका जो विश्लेषण है एवं मानवके अन्तर्निहित ज्ञानशक्ति और कर्मशक्तिके उपर्युक्त संयमाभ्यासके फलस्वरूप जो कतिपय अलौकिक आपातदृष्टिसे असम्भव क्षमताएँ प्राप्त की जा सकती हैं, उनका जैसा परिचय और उन्हें विकसित करनेके जो सारे साधन योगदर्शनसे जाननेमें आते हैं, वे अतुलनीय हैं।

दार्शनिक दृष्टिसे सांख्य और योग जिस प्रकार एक पर्यायभुक्त हैं, न्याय और वैशेषिक भी उसी प्रकार एक

पर्यायभुक्त हैं । न्यायसूत्रके प्रणेता हैं—गौतम एवं वैशेषिक-दर्शनके प्रणेता हैं—कणाद । दोनों ही दर्शन परमाणुवादको ग्रहण करके जग-तत्त्वकी व्याख्या करते हैं । पृथिवी, अप्, तेज और वायु—इन चार प्रकारके तत्त्वोंके द्वारा सभी स्थूल पदार्थ गठित हैं । ये सब द्रव्य अवयवी हैं । इनका अवयव विभाग करनेपर, अन्तमें अविभाज्य चार प्रकारके परमाणु पाये जाते हैं । परमाणु सब नित्य वस्तु हैं । इनके संयोगसे द्व्यणुक, त्रसरेणु इत्यादि क्रमसे स्थूल द्रव्य उत्पन्न होते हैं । परमाणुओंका प्रलयकालमें भी नाश नहीं होता । इनके अतिरिक्त आकाश, दिक् और काल—इन तीनोंको वे तीन नित्य द्रव्य मानते हैं । मन और आत्मा अनेक हैं—एक-एक प्रतिव्यक्तिमें है । ये असत्कार्यवादी हैं । सांख्य, योग, वेदान्तादिके समान ये लोग कारणके भीतर कार्यकी सूक्ष्मरूप या अव्यक्तावस्थामें विद्यमानता स्वीकार नहीं करते । इनके मतमें कारण द्रव्यसे भिन्न द्रव्यान्तर कार्यरूपमें उत्पन्न होता है, एवं कारण द्रव्यके गुणसे गुणान्तर कार्यमें उत्पन्न होता है । जिस कारणमें जिस कार्यका 'प्रागभाव' रहता है, उसी कारणसे उसी कार्यकी उत्पत्ति होती है । समधर्म-विशिष्ट बहुत-से विशेष द्रव्योंमें अभिव्यक्त एक-एक जातिकी सत्ताकी ये लोग उपलब्धि करते हैं । द्रव्य और गुणमें, कारण और कार्यमें, व्यक्ति और जातिमें जो नित्य सम्बन्ध है, उसको 'समवाय' कहते हैं । जो अयुतसिद्ध हैं, उनके बीचके सम्बन्धको ही 'समवाय' कहते हैं; एवं जो युतसिद्ध हैं, स्वतन्त्ररूपसे रहनेके योग्य हैं, उनके बीचके सम्बन्धको 'संयोग' कहते हैं ।

न्याय और वैशेषिकके मतमें कार्यजगत्की सृष्टिके लिये नित्य अनन्त ज्ञानेच्छाप्रयत्नसम्पन्न परमेश्वरको स्वीकार करना अत्यावश्यक है । उनके मतमें जड उपादानकारणके विद्यमान रहनेपर भी चेतन कर्ताके प्रयत्नके बिना कोई भी कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता । अतएव असंख्य जड परमाणुओंके नित्य विद्यमान रहनेपर भी ईश्वरके प्रयत्नके बिना जगत्की उत्पत्ति सम्भव नहीं होती । अतएव उनके मतमें चतुर्विध परमाणु कार्य-जगत्के उपादानकारण हैं और ईश्वर निमित्तकारण है । ईश्वर शरीरी नहीं है । वह सुख-दुःख, धर्म-अधर्म, राग-द्वेष और संस्कारसे नित्यमुक्त एवं अनन्त ज्ञान, इच्छा और प्रयत्नका आधार परमात्मा है । जीवात्मा बहुत हैं । उनके सुख-दुःख, धर्माधर्म, रागद्वेष-संस्कार एवं परिच्छिन्न ज्ञानेच्छा-प्रयत्नादि गुण हैं । मनके साथ योग होनेसे प्रत्येक आत्माके इन सब गुणोंका विकास होता है । तत्त्वज्ञान प्राप्त होनेपर रागद्वेष-मोहरूप दोष विनष्ट हो जाते हैं, शरीर-इन्द्रिय-मन आदिसे अहं-ममत्वाभिमान तिरोहित हो जाता है, जन्मके कारण कर्म और कर्मफल नष्ट हो जाते हैं, मोक्षकी प्राप्ति होती है, तब उनके सुख-दुःख धर्माधर्मादि कुछ नहीं रह जाते ।

न्याय और वैशेषिकमें न्यायशास्त्र प्रमाणकी—विशेषतः अनुमानकी परीक्षाको लेकर ही चलता है; क्योंकि प्रमेयका तत्त्वज्ञान प्रमाणकी निर्दोषतापर ही निर्भर करता है । पक्षान्तरमें, वैशेषिक पदार्थ विचार, जगत्प्रपञ्चका विश्लेषण एवं कार्य-कारणादिके सम्बन्धके निर्णयको लेकर ही अधिक विचार करता है । न्यायदर्शनने सोलह विषयोंको आलोच्यरूपमें ग्रहण किया है और उनके तत्त्वज्ञानको ही निःश्रेय-प्राप्तिका उपाय बतलाया है । ये सोलहों अवश्य प्रथम दोके ही—अर्थात् प्रमाण और प्रमेयके ही—अन्तर्भुक्त हैं । वैशेषिकके छः पदार्थ भी न्यायशास्त्रके प्रमेयके ही पर्यायगत हैं । इसके अतिरिक्त अनेक अवान्तर विषयोंमें भेद रहनेपर भी दोनोंकी ही दार्शनिक भित्ति एक है ।

सांख्य, योग एवं न्याय, वैशेषिकने यद्यपि वेदको अन्यतम प्रधान प्रमाण माना है, तथापि उनमें स्वतन्त्र विचार-प्रणालियोंका अवलम्बन करके ही अपने प्रतिपाद्य विषयोंका प्रतिपादन किया गया है एवं प्रयोजनानुसार श्रुतिवाक्योंको उद्धृत करके और अपने पक्षके सिद्धान्तानुकूल उनकी व्याख्या करके अपनी मीमांसाका समर्थन किया गया है । किंतु पूर्व-मीमांसा और उत्तर-मीमांसा—कर्म-मीमांसा और ब्रह्म-मीमांसा या वेदान्त—सम्पूर्णरूपसे वेदके ऊपर ही प्रतिष्ठित हैं । इन दोनोंने वेदके ही मननसे वैदिक सिद्धान्तोंका ही युक्तिविचारके द्वारा समर्थन किया है एवं उसके विरुद्ध सभी आपत्तियोंके खण्डन करनेका प्रयास किया है । इनमें पूर्व-मीमांसा वेदके संहिता-भाग या कर्मकाण्डके सम्बन्धमें ही दार्शनिक विचार करता है और उत्तर-मीमांसा या वेदान्त वेदके शिरोभाग उपनिषद् या ज्ञानकाण्डके तात्पर्यके सम्बन्धमें दार्शनिक विचार करता है । ये दोनों प्रत्यक्ष, अनुमान, अर्थापत्ति आदि प्रमाणोंको कार्यतः श्रुतिप्रमाणके सहकारी-रूपमें ही ग्रहण करते हैं । कर्म-मीमांसाके सूत्रकार और प्रधान आचार्य हैं—महर्षि जैमिनि एवं ब्रह्म-मीमांसाके सूत्रकार और प्रधान आचार्य हैं—महर्षि बादरायण ।

पूर्वमीमांसाके मतमें वेद अपौरुषेय है एवं आचार्य-

शिष्य परम्पराक्रमसे सदासे ही चले आ रहे हैं, जगत्-प्रवाह भी सदासे ही चला आ रहा है । अनादि जीवके अनादि कर्म और कर्मफलके द्वारा जगत्की गति नियमित होती आ रही है । अपौरुषेय वेदका तात्पर्य है—धर्मका निर्देश करना अर्थात् इस बातका निरूपण करना कि कौन-सा कर्म करना चाहिये और कौन-सा नहीं करना चाहिये, न कि किसी परिनिष्ठित वस्तुके तत्त्वका निरूपण करना । सुतरां वेदवाक्योंकी व्याख्याके द्वारा धर्माधर्मका ही इस शास्त्रमें निरूपण किया गया है । तत्त्ववार्ताकी जो कुछ अवतारणा हुई है, वह केवल प्रसङ्गतः हुई है । जगत्प्रवाह अनादि है, इसलिये इसके सृष्टिकर्ताकी कोई आवश्यकता नहीं । कर्म ही जगत्का नियामक है इसलिये कर्मको ही ईश्वरके आसनपर बैठाया जा सकता है । इस मतमें नित्य आत्माको स्वीकार किया गया है । आत्मा कर्म और अकर्मका, धर्म और अधर्मका फलभोक्ता है । कर्मके लौकिक दृष्टफलसे पृथक् 'अपूर्व' रूप एक अदृष्टफल उत्पन्न होता है, एवं बहुत कालके बाद भी वह कर्ताको सुख-दुःखादि प्रदान करनेमें समर्थ होता है । कर्मके साथ ज्ञान प्राप्त करके आत्मा जब कामना-वासनासे मुक्त हो जाता है एवं किसी प्रकारके लौकिक या पारलौकिक भोगमें आसक्त नहीं रह जाता, तब उसको मोक्षकी प्राप्ति होती है ।

किसी-किसी दार्शनिकका विचार है कि कर्मकी ही परिणति ज्ञानमें होती है एवं पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा एक ही वैदिक दर्शनके पूर्वभाग और उत्तरभाग हैं। पूर्वमीमांसा-प्रतिपादित वेदविहित कर्मोंका यथाविधि सविचार अनुष्ठान करनेपर चित्त शुद्ध होनेपर ब्रह्मतत्त्वके विचारमें अधिकार उत्पन्न होता है, एवं आत्माकी स्वरूपोपलब्धिके साक्षात् साधनरूप श्रवण, मनन और निदिध्यासन करनेका सामर्थ्य प्राप्त होता है । एक ही पूर्ण दर्शनके दो भाग होनेसे पूर्वभागमें ब्रह्मतत्त्व, आत्मतत्त्व, जगत्तत्त्व और मुक्तितत्त्वके सम्बन्धमें जटिल और गभीर समस्याएँ नहीं उठायी गयीं, उन समस्याओंके समाधान करनेका अधिकार प्राप्त करनेके लिये जिस प्रकारके कर्म आवश्यक होते हैं, उनके सम्बन्धमें ही वेदानुयायी गवेषणा की गयी है ।

किंतु पूर्वमीमांसाकी विचारधाराका अवलम्बन करके जो मीमांसक सम्प्रदाय नामसे प्रसिद्ध हुए हैं, वे साधारणतः इस बातको स्वीकार नहीं करते, एवं वैदान्तिक सम्प्रदायोंके भी अनेक लोग इस बातको नहीं मानते । मीमांसकगण वेदान्तियोंकी युक्तियोंका विरोध करके ईश्वरखण्डन, मार्गकी निन्दा आदि करते रहते हैं; वैदान्तिकगण भी को प्रवृत्तिमार्गका पोषक, निम्नाधिकारियोंके लिये केवल ज्ञानसे ही मुक्ति आदि बातोंकी युक्तिपूर्वक करते हैं । कर्मवादियों और ज्ञानवादियोंका यह कितना प्राचीन है, इस बातका निर्धारण करना कठिन आश्चर्यका विषय तो यह है कि समग्र वेदको ही दोनों प्रामाणिक स्वीकार करते हैं, तथापि उसी वेदको बनाकर ये दोनों सर्वथा विपरीत सम्प्रदाय गठित हुए एक पक्ष जगत्का सृष्टिप्रलय, ईश्वरका जगत्कारणत्व या रचयितृत्व या कर्मफलविधातृत्व, आत्माका आदि कुछ भी न मानकर एक दार्शनिक मतवादका करता है, तो दूसरा पक्ष जगत्का सृष्टि-प्रलय स्वीकार है, ईश्वरको केवल निमित्तकारण ही नहीं, बल्कि और उपादान कारणरूपमें प्रतिपादन करता है, स्वरूपतः नित्यमुक्त मानता है, जीव और जगत्को ईश्वरसे अभिन्न बतलाता है । एक पक्ष ईश्वरको जगत्को रखता है, दूसरा पक्ष जगत्को छोड़कर ईश्वरको रखता है । एक पक्ष कर्मको ही सब कुछ कहता है, पक्ष ज्ञानको ही सब कुछ बतलाता है ।

वेदान्तमतमें न तो जगत्का मूलकारण सांनिध्ययुक्त प्रकृति है, न ईश्वरनियन्त्रित परमाणुसमूह साथ ही जगत् कारणविहीन भी नहीं है, स्वयं ईश्वर ही जगत्का मूल कारण है, वह इसका उपादान निमित्तकारण दोनों ही है । ब्रह्मका स्वरूप और जगत्-कारणत्व श्रुतिसे ज्ञात होता है, एवं श्रुतिका भी वही है, उसकी अभ्रान्तता ही श्रतिकी अभ्रान्तताका है । श्रुतिवाक्योंके समन्वयद्वारा ही उसका स्वरूप जीवजगत्-रूपमें उनका आत्मप्रकाश समझमें आता कार्य-कारणात्मक और स्वरूपतः कारणसे अभिन्न होता अतएव जीव और जगत् वस्तुतः ब्रह्मसे पृथक् नहीं आपाततः पृथक्रूपमें केवल प्रतीत होते हैं । जीव जगत्को यदि ब्रह्मसे पूर्णतः अभिन्नरूपमें ही देखा जाय तो यही कहना पड़ेगा कि वस्तुतः ब्रह्मसे अतिरिक्त किसीका अस्तित्व ही नहीं है । ब्रह्म ही 'एकमेवाद्वितीय' है । ब्रह्म ही यदि एकमात्र स्वतःसिद्ध तत्त्व है, दूसरे की पृथक् सत्ता नहीं है, तो ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, वैराग्य आदि गुण, किंवा सृष्टि-स्थिति-प्रलयकारित्व,

कर्मफल-विधातृत्व, ज्ञानदातृत्व, दुःखमोचयितृत्व आदि कर्मोंका उसके स्वरूपमें आरोप नहीं हो सकेगा; क्योंकि किसी दूसरी वस्तुके सम्बन्धके बिना इन गुणों और कर्मोंकी कल्पना ही नहीं की जा सकती, एवं ब्रह्मसे भिन्न कोई स्वतन्त्र वस्तु है ही नहीं। सुतरां स्वरूपतः ब्रह्म निर्गुण और निष्क्रिय है। हम जीव और जगत्को उससे पृथक् देखते हैं, इसीलिये उन दोनोंके सम्पर्कमें इन गुणों और कर्मोंको हम उसमें आरोप करते हैं। अतएव ये सब गुण और कर्म आपेक्षिक हैं, ब्रह्मका सगुणत्व और सक्रियत्व आपेक्षिक है,—व्यावहारिक है।

ब्रह्म स्वरूपतः निर्विकार सच्चिदानन्दघन रहता हुआ भी अपनेसे स्वरूपतः अभिन्न, परंतु भिन्न प्रतीत होनेवाले असंख्य जीव और जगत्को प्रकट करता है। जिस प्रकार वह नित्य है, उसी प्रकार जीव-जगत् रूपमें उसका आत्मप्राकट्य भी नित्य है। किंतु यह जीव-जगत् कालके प्रवाहमें जब कभी अव्यक्तावस्थामें विलीन हो जाता है, उसीको 'प्रलय' कहते हैं एवं कभी स्थूलरूपमें प्रकाशमान हो जाता है, तब उसीका नाम होता है—'सृष्टि'। अतः उसका स्वरूपगत निर्गुणत्व और निष्क्रियत्व एवं जीवजगत्सापेक्ष सगुणत्व और सक्रियत्व दोनों ही सदा विद्यमान रहते हैं। जिस अनन्यसाधारण शक्तिके उसके अंदर—अर्थात् उसके स्वरूपके साथ अभिन्न-रूपमें—नित्य विद्यमान रहनेके कारण वह नित्य निष्कल, निष्क्रिय, निर्विकार रहकर भी विचित्र प्रकृतिविशिष्ट असंख्य जीवरूपमें एवं अनन्त जटिलतामय विश्वप्रपञ्चरूपमें अपनेको प्रकट करता है, उस अघटनघटनपटीयसी शक्तिको 'माया' कहा जाता है।

मायाशक्तिसम्पन्न ब्रह्मसे जगत्की अभिव्यक्ति किस पद्धतिसे होती है, इस बातकी भी एक युक्तिसङ्गत व्याख्या देनेके लिये वैदान्तिकोंने प्रयास किया है। किंतु वह उनका विशेष प्रतिपाद्य विषय नहीं है। जीव जब ब्रह्मसे स्वरूपतः अभिन्न है, तो इस स्वरूप-ज्ञानके होनेसे ही उसकी मुक्ति हो जाती है। स्वरूपकी अज्ञानता रहनेसे ही जीवको दुःख और बन्धनकी प्राप्ति होती है। तत्त्वज्ञान उत्पन्न होनेपर वह अपनेको ब्रह्मस्वरूप सत्यज्ञानानन्तस्वरूप परमानन्दस्वरूपमें अनुभव करता है, एवं निजको ही 'एकमेवाद्वितीयम्' रूपमें जान लेता है। अपनेमें ज्ञातृ-ज्ञेय-भेदके रह जानेकी सम्भावना न रहनेके कारण उस समयकी अनुभूति, हम जो कुछ साधारण ज्ञानसे समझते हैं, उससे सर्वथा विलक्षण होती है। उस समय ज्ञातृ-ज्ञेय-ज्ञानरहित ज्ञानस्वरूप मात्र रहता है।

युक्तिविचारकी दिशासे इस सिद्धान्तके सम्बन्धमें अनेक प्रश्न उठते हैं। शुद्धचेतन ब्रह्म जड-जगत्का उपादानकारण किस प्रकार हुआ? वह क्या सचमुच ही जीव-जगद्रूपमें परिणत हो गया है, किंवा वह स्वरूपतः जो है, वही है, जीव-जगत्की प्रतीतिमात्र होती है? यदि यही हो तो क्या जीव-जगत्को स्वप्नके समान या रज्जुसर्पके समान मिथ्या नहीं कह सकते? जिस शक्तिके द्वारा उससे जीव-जगत्की उत्पत्ति या प्रतीति होती है, उस शक्तिका स्वरूप क्या है? वह सत्य है अथवा मिथ्या? उसके साथ ब्रह्मका क्या सम्बन्ध है? जीवात्मा क्या ब्रह्मसे अत्यन्त अभिन्न है, अथवा चैतन्यांशमें अभिन्न और शक्ति-आनन्दादि अंशमें भिन्न है? अथवा चैतन्यस्वरूप होनेके कारण जातिगत-दृष्टिसे ब्रह्मके साथ अभिन्न होनेपर भी जीवात्मा व्यक्तिगत दृष्टिसे नित्य ही भिन्न है? अथवा अपर ब्रह्मको एक ही अर्थमें क्या भिन्न और अभिन्न दोनों ही कहा जा सकता है, किंवा औपाधिक भेदको स्वीकार करके वास्तविक अभेदको स्वीकार करना उचित है? क्या ऐसा भी नहीं हो सकता कि जीव और जगत्को नित्य क्रोडीकृत करके ही ब्रह्म विद्यमान है—जिस प्रकार शरीरके साथ शरीरीका सम्बन्ध है, सूर्य-किरणोंके साथ जिस प्रकार सूर्यका सम्बन्ध है, उसी प्रकार जीव और जगत् चिरकालसे उसके अङ्गीभूत होकर भी अङ्गरूपसे या प्रकाररूपसे भेदयुक्त हैं, एवं इन सबको लेकर ही ब्रह्मका स्वरूप है?

ऐसे-ऐसे विभिन्न प्रश्नोंका विभिन्न प्रणालियोंके द्वारा समाधान करनेकी प्रचेष्टामें वेदान्तदर्शनकी अनेकों शाखाओंकी उत्पत्ति हुई। आचार्य शंकरका अद्वैतवाद और उसका साथी मायावाद, आचार्य रामानुजका विशिष्टाद्वैतवाद, मध्वाचार्यका द्वैतवाद, निम्बार्काचार्यका द्वैताद्वैतवाद और वल्लभाचार्यका शुद्धाद्वैतवाद, चैतन्यदेवका अचिन्त्यभेदाभेदवाद आदि विशेष-विशेष सम्प्रदायोंका संगठन-विस्तार और पुष्टिकरण इसीका उदाहरण है। इन सब सम्प्रदायोंने हिंदू-समाजके विचार और साधनापर प्रभाव डाला।

इसके अतिरिक्त और भी बहुत-से साम्प्रदायिक दर्शन हिंदूसमाजमें उत्पन्न हुए। उनमेंसे भागवतमत एक प्राचीन दार्शनिक मत है। वर्तमानमें श्रीमद्भगवद्गीता ही इस मतका प्राचीनतम ग्रन्थ है। समग्र भारतीय विचारधारा और साधन-धारापर इस गीताका प्रभाव अनन्यसाधारण है। भगवान् श्रीकृष्णके इन थोड़े-से वाक्योंमें नाना प्रकारके आपातविरोधी मतोंका समन्वय करनेकी एक ऐसी उदार भित्ति प्रकट हुई है कि जिसके प्रभावको कोई भी भारतीय सम्प्रदाय अतिक्रम

नहीं कर सका। इसी कारण वैदान्तिक दर्शनकी प्रत्येक शाखाने ही उपनिषद् और ब्रह्मसूत्रके समान इसके भी प्रामाण्यको स्वीकार कर लिया है। किंतु इसकी भावधाराका प्रसार वैष्णव-सम्प्रदायोंके द्वारा ही हुआ है।

शैवदर्शन भी एक दार्शनिक मतवाद है। इसने भी माहेश्वर, पाशुपत आदि विभिन्न शाखाओंमें विभक्त होकर भारतीय विचारधाराकी पुष्टि की है। शाक्ततन्त्रोंकी भी एक विशिष्ट दार्शनिक भित्ति है, एवं उसमें भी अनेक निगूढ़ तत्त्व आलोचित और आविष्कृत हुए हैं। शाक्तदर्शनमें शक्तिको ही चरमतत्त्वरूपमें प्रतिपादन करके उसीके द्वारा समस्त विश्वप्रपञ्चकी व्याख्या और सब समस्याओंके समाधानकी चेष्टा की गयी है।

इस प्रकार हिंदूसमाजमें दार्शनिक गवेषणा स्मरणातीत कालसे वर्तमान कालतक विभिन्न शाखा-प्रशाखा-उपशाखाओंमें विभक्त होकर, नाना प्रकारके वाद-प्रतिवाद-संवाद-विसंवादोंके द्वारा विचित्र धाराओंमें प्रवाहित होकर परम सत्यकी चली जा रही है। मानवात्माके चिर आकांक्षित, नित्य प्रेमास्पद ज्ञान-कर्म-भक्तिके नित्य प्रेरयिता और चिर आदर्श, परम परम मङ्गल, परम सुन्दर, परम आनन्दस्वरूप चरम तत्त्वके बहिर्विषयविहारिणी प्रत्यक्षानुमानोपजीविनी मानवबुद्धि सम्बन्ध ही ऐसा है कि बुद्धि उस चरम तत्त्वको विषयीभूत कर लेनेके उद्देश्यसे सर्वदा ही अग्रसर होती किंतु बुद्धि किसी भी समय, उसको अविसंवादित विषयीभूत कर लिया है, यह बोध नहीं कर सकेगी। सदा ही बुद्धिके अन्तरालमें रहकर बुद्धिको प्रेरित रहेगा, बुद्धि सर्वदा ही उसको खोजती ही रहेगी। दार्शनिक गवेषणाका स्रोत कभी भी बंद नहीं होगा। लिये श्रीश्रीरामकृष्णदेव कहते थे कि 'ब्रह्म कभी जूँठा हुआ'। तब,

'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्

* * *

सूर्य-रथ और उसके सात घोड़े

(लेखक—सर्वदर्शनाचार्य तत्त्वचिन्तक अनन्तश्री स्वामी अनिरुद्धाचार्य वेंकटाचार्य महाराज)

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधितस्थुः॥
(ऋग्वेद)

किसी भी वैदिक ऋचा (मन्त्र) का अर्थ करते समय उस मन्त्रके ऋषि और देवताका ज्ञान प्रथमतः आवश्यक है। इस प्राचीन नियम-परम्पराके अनुसार **'सप्त युञ्जन्ति'** इस मन्त्रके द्रष्टा ऋषि दीर्घतमा औचथ्य है और देवता है—सूर्यका एकचक्र रथ एवं उसके सात घोड़े अथवा 'सप्त' नामक एक घोड़ा। यास्क और शौनक आदि वेदाचार्योंका कथन है कि जिस मन्त्रमें जिस वस्तुका वर्णन हो, वही वस्तु उस मन्त्रकी देवता है।

विश्व-गत प्रभव, प्रतिष्ठा एवं प्रलयके कारणभूत सूर्यके रथ एवं उसके घोड़ोंकी कल्पनामें कौतूहल उत्पन्न होना स्वाभाविक है। खगोल-विद्याके विद्वानोंका विज्ञान है कि खगोल, सात अहोरात्र-वृत्तोंसे अवच्छिन्न (सीमित) है। आधुनिक ज्योतिर्वित् ज्योतिष-शास्त्रकी परिभाषामें जिनको 'अहोरात्र-वृत्त' अथवा 'पूर्वापर-वृत्त' कहते हैं, उनकी वैदिक परिभाषा 'छन्द' है। वे छन्द सात हैं। इन सातों छन्दोंमें विषुवन्मण्डल (बृहती छन्द) मध्यमें है। तीन विषुवन्मण्डलके नीचे और तीन ही उसके ऊपर हैं। इन छन्दोंके वैदिक नाम—गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, पंक्ति, त्रिष्टुप् एवं जगती हैं। इनमें सूर्यका (उत्तरायण) गायत्रीमें एवं दक्षिणायन जगतीमें होता है। भगवान् भास्कर जब बृहती छन्दमें तपते हैं, तब रात दिन समान होते हैं।

सूर्य-रथ

उपर्युक्त सात छन्दों (अहोरात्र-वृत्तों) से जितना भाग अवच्छिन्न (सीमित) अथवा विभक्त होता वही आकाशीय भाग सूर्य-रथ माना गया है। (प्रकाशमय) होनेसे यह आकाशभाग-रूप सूर्य-रथ (सुनहरा) है। इस आकाशका नाम सौरमण्डल भी इसमें सूर्य-प्रकाश सतत व्याप्त रहता है, इसलिये यह ही सुनहरा दिखायी देता है। छन्दोंसे सीमित अथवा इस प्रदेशको सूर्य-रथ इसलिये कहते हैं कि सूर्य इससे चलता (घूमता) है। 'वैशेषिक-दर्शन' के **प्रवेशनमित्याकाशस्य लिङ्गम्'** इस सिद्धान्तके अनुसार

गतिका साधन है, वह रथ कहलाता है। आकाश भी अवकाश देनेके कारण गतिका साधन होनेसे रथ-रूप है। **'रथो अर्यते'** यह रथ शब्दकी निरुक्ति यास्कने की है, जिसका अर्थ है—गतिका साधन।

एक चक्र

इस सौर-मण्डलरूप रथकी विशेषता यह है कि इसमें 'क्रान्तिवृत्त' नामक एक ही चक्र है। जिस मार्गसे भगवान् भास्कर चलते हैं, उसे ज्योतिर्विद्वान् 'क्रान्तिवृत्त' कहते हैं। यही 'क्रान्तिवृत्त' अथवा संवत्सरमण्डल उस हिरण्मय रथका एक चक्र है।-

सात घोड़े

सूर्यके इस सुनहरे रथमें 'अहोरात्रवृत्त' अथवा 'पूर्वापर-वृत्त' नामक सात घोड़े लगे हुए हैं। इनके वैदिक नाम गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् एवं जगती हैं। इन अश्वोंके रूप भिन्न-भिन्न हैं। वेदकी यह परिभाषा है कि देवताओंके पशु छन्द ही होते हैं। **'एषा वै परिभाषा पशवश्छन्दांसि देवानाम्'** (इन्द्रविजय) प्रस्तुत वैदिक सिद्धान्तसे गायत्री आदि सात छन्द (अहोरात्रवृत्त) ही सूर्य-रथके सात घोड़े हैं। ये छन्दरूप सात घोड़े प्राणिविध (पशुविध) न होकर प्राणरूप (दिव्य) हैं।

एक घोड़ा

दीर्घतमा ऋषिका कथन है कि सूर्य-रथके घोड़े सात न होकर एक ही है, जिसे 'सौर-मण्डल' कहते हैं। उस एक ही अश्वके सात छन्द (सात मुख) हैं। उस अश्वका नाम 'ऐतरेय ब्राह्मण'में 'ऐतश' है। **'एको अश्वो वहति सप्तनामा'** इस ऋचामें उसका नाम 'सप्त' है। 'ऐतश' और 'सप्त' दोनों शब्द सौर-मण्डलके ही पर्याय हैं। यास्कने सप्तका अर्थ विस्तृत एवं सर्पणशील किया है। यथार्थमें सूर्य-रथका 'सप्त' 'ऐतश' नामक अश्व विस्तृत एवं सर्पणशील ही है। रथका एक चक्र है—क्रान्तिवृत्त एवं एक घोड़ा है—सप्तमुखवाला 'सप्त' (बृहती छन्द)। वेदने विस्मयगर्भित गाम्भीर्य एवं आश्चर्य-मिश्रित किंतु यथार्थ रूपमें सूर्य-रथ एवं उसके सात घोड़ोंका वर्णन किया है। यद्यपि आधुनिक वैज्ञानिकोंसे बहुत पहले भारतीय ज्योतिर्विद्वान् आर्यभट्टने पृथ्वीको भ्रमणशील और सूर्य तथा भ-पंजर (ग्रह-पंजर) को स्थिर माना है, परंतु उनकी यह मान्यता भ-पंजर एवं सूर्यकी दृष्टिसे है। सूर्य और भ-पंजर भी अपनी-अपनी गतिसे अपने-अपने वृत्तों (कक्षाओं) पर घूमते रहते हैं।

ऋचाके उत्तर भागका अर्थ यह है कि सूर्य-रथका 'क्रान्तिवृत्त' नामक एक चक्र ग्रीष्म, वर्षा एवं शिशिर-इन तीन ऋतुओंसे नद्ध (बँधा हुआ) होनेसे 'त्रिनाभि' है। अथवा मकर-वृत्त, विषुवद्वृत्त एवं कर्कवृत्तसे बँधा हुआ होनेसे 'त्रिनाभि' है। वह अजर अर्थात् प्रति संवत्सर अभ्यावृत होनेसे जरारहित (नवीन) है और अनर्व अर्थात् सामान्य अश्वोंसे नहीं, अपितु छन्दोरूप दिव्य घोड़ोंसे युक्त है। इस रथमें केवल सूर्य ही नहीं, प्रत्युत सम्पूर्ण त्रिभुवन अधिष्ठित है; जैसा कि उक्त मन्त्रके चतुर्थ पादमें **'यत्रेमा विश्वा भुवनाधितस्थुः'** यह अन्वर्थक वाक्य उल्लिखित है।

तन्त्रोंमें सूर्य-रथ

सूर्य-रथके इस वैदिक रूपकालंकारका विश्लेषण तन्त्र-शास्त्रमें भी सरलरूपसे मिलता है। 'स्वच्छन्द तन्त्र' का कथन है कि—

अमृतोद्भवो रथो दिव्यः सर्वदेवसमन्वितः।
यज्ञश्चक्रं रथे तस्मिन् सर्वज्ञानमयी च धूः॥
सप्ताश्वाश्च स्वराः सप्त वेद हुंकारनिस्वनाः।
नागा योक्त्राणि तेषां वै अरुणश्चैव सारथिः॥
सत्यं तु मञ्चकं तस्य वायुर्वेगो रथस्य तु।

क्षेमराजाचार्यने इन श्लोकोंका अर्थ आधिदैविक एवं आध्यात्मिक दोनों पक्षोंमें किया है। अधिदैवत पक्षीय अर्थका सार यह है कि तेजस्-समूह सूर्यमण्डल-रूप रथ अमृत (क्षीरसमुद्र) से उत्पन्न हुआ है। यह रथ सर्वदेवतामय है। अर्थात् इसमें देवात्मक प्राण, असुरात्मक प्राण, पितृ-रूप प्राण, गन्धर्व-रूप प्राण, ऋषि-रूप प्राण, अप्सरा-रूप प्राण, यक्षात्मक प्राण, सर्प-रूप प्राण एवं राक्षस-रूप प्राण रहते हैं। सूर्यमण्डलका वर्णन करते हुए आचार्य शौनक 'बृहद्देवता' ग्रन्थमें कहते हैं कि **'देवान् यथायथं सर्वान् निवेश्य स्वेषु रश्मिषु'** अर्थात् सूर्यकी प्रत्येक रश्मिमें सर्वदेव (समस्त प्राण) निवास करते हैं। अतः यह सूर्य-रथ सर्वदेवमय है। प्रस्तुत रथका एक चक्र यज्ञ-रूप है। यहाँपर यज्ञ शब्दसे 'सौर-मण्डल' अभिप्रेत है, जिसे 'क्रान्तिवृत्त' भी कहते हैं। सर्वज्ञानवती सरस्वती देवी उस रथकी धुरा है। षड्ज आदि सात स्वर उस रथके सात घोड़े हैं। सर्प-प्राण उसकी बन्धन-रज्जु है। समष्टिमें व्याप्त दीप्त (रक्त) अहंकार उस रथका

सारथि है, जो पौराणिक भाषामें 'अरुण' नामसे प्रख्यात है। वायु उस रथका वेग है।

अध्यात्मपक्ष

अध्यात्मपक्षमें सूर्यका अर्थ है—तेजस्-समूह चिदात्मा। अमृतसे उत्पन्न अर्थात् पराशक्तिसे उत्पन्न प्राण ही उस चित्-स्वरूप आत्माका रथ है। आत्मसूर्यका यह प्राणरूप रथ सर्व-देवमय है। इसमें सात ज्ञानेन्द्रिय-(घ्राण, चक्षु, रसना, स्पर्श, श्रोत्र, मन, बुद्धि) रूप सात अश्व लगे हुए हैं। क्रियाशक्ति उस रथका एक चक्र है। पूर्वोक्त सात ज्ञानेन्द्रिय-रूप अश्व व्यवहार मात्र हैं; वस्तुतः एक ही प्राणरूप अश्व इस आत्मरूप सूर्यका वहन करता है। यह चित्-सूर्य सदा प्राणारूढ ही रहता है। प्राण-रथ बस्तिगुहा, उरोगुहा एवं शिरोगुहा रूप तीन स्थानोंमें नद्ध (बँधा हुआ) होनेसे त्रिनाभि है। यह अजर, अमर और गतिशील है। इस प्राणरूप रथमें त्रिभुवन आश्रित है। अर्थात् अध्यात्ममें प्राणपर ही अर्थतन्त्र, क्रियातन्त्र एवं ज्ञानतन्त्र आश्रित है। इस प्राण-रथका व्यष्टिगत अहंकार, जिसे 'अरुण' और 'अनूरु' कहते हैं, सारथि है। तत्त्वचिन्तकोंके मतानुसार अहंकारका रंग लाल होनेसे वह 'अरुण' और अपद अर्थात् अनाधारके कारण पाँव न होनेसे वह 'अनूरु' कहलाता है।

पुराणोंमें सूर्य-रथ

पौराणिक कवियोंने भी सूर्य-रथका रोचक वर्णन किया है। उनके मतमें 'सूर्य-मण्डल' ही सूर्य-रथ है। उनका आवेदन है कि प्रकृतिने विश्व-रक्षाके निमित्त 'सूर्य-मण्डल-रूप रथ'का निर्माण किया है। प्रजापतिने उसके निर्माणमें संवत्सरके अवयवोंका उपयोग किया है। उस एक चक्रधारी सूर्य-रथकी नाभि दिन है। पाँच ऋतुएँ पाँच 'अंश' हैं। छः ऋतु-युक्त उसकी एक नेमि है। रात्रि उसका वरूथ है। धर्म ही उसका सिंह-ध्वज है। अर्थ और काम उसके अक्ष-कोटि हैं। उस रथका सारथि ध्रुव है। ध्रुवरूप सारथिने उत्तर ध्रुव एवं दक्षिण ध्रुवमें विद्यमान दो प्राणमय आकर्षण रश्मियाँ पकड़ रक्खी हैं। ध्रुवकी प्रेरणासे वह रथ चलता है। छन्दो-रूप वेगवान् सात घोड़े जिधर चक्र है, उधर लगे हुए हैं और वामगतिसे उसका वहन करते हैं। यह सौवर्ण रथ दिव्य है, प्राकृत नहीं। इसके छन्दोरूप घोड़े भी दिव्य और चित्र-विचित्र तथा विविध रंगवाले हैं, जिससे विश्वगत पदार्थोंमें विविधता उत्पन्न होती है।

पुराणविद्याविशारदोंके मतसे उक्त रथके भीतर वर्गोंमें विभक्त बारह स्थानाभिमानी देवता निवास करते ये देवता सूर्य-मण्डलका आप्यायन करते हैं और उनके को समृद्ध बनाते हैं। पौराणिक परिभाषाके अनुसार विद्यमान तत्त्वके स्थानमें जब दूसरा तत्त्व आसीन होता तब उसे स्थानाभिमानी कहते हैं। सूर्यके स्थानाभिमानी देवता ऋषि, देव, गन्धर्व, पन्नग, अप्सरा, ग्रामणी यक्ष-राक्षस—ये हैं। यह देवसप्तक भगवान् सूर्यके विलक्षणता लाता है और विभिन्न पदार्थोंके निर्माणमें बनता है। द्वादश कलाओंके कारण सूर्यके धाता, वरुण, मित्र, शक्र, उरुक्रम, विवस्वान्, अर्यमा, पूषा, सविता और भग—ये द्वादश नाम प्रचलित हो गये, जो ही सूर्य-शक्तिके भिन्न-भिन्न कार्योंको प्रकट करते हैं। सूर्य-रथके देवतासप्तकके कार्योंका निर्देश पुराणोंमें इस किया है—

ऋषयो देवगन्धर्वाः पन्नगाप्सरसां गणाः।
ग्रामण्यश्च तथा यक्षयातुधानाश्च भूयसः॥
एते तपन्ति वर्षन्ति भान्ति वान्ति सृजन्ति च।
विमानेऽवस्थिता दिव्ये कामगा वातरंहसः॥
एते सहैव सूर्येण भ्रमन्ति दिवसानुगाः।

सूर्य-रथविषयक वेद, तन्त्र एवं पुराणोंकी वर्णन भिन्न-भिन्न है, किंतु इन सबका सूर्य-रथसम्बन्धी लक्ष्य एक ही है। इसी लक्ष्यकी पूर्ति निदान-(शास्त्रविशारदोंने मूर्ति-निर्माणद्वारा की है। जिस प्रकार रूपक अलंकारसे सूर्य-रथ और उसके घोड़ोंका विशद कराते हैं; जैसे पुराण, कथा-अलंकारसे ज्योतिष-परिभाषामें सूर्य-रथ एवं उसके अश्वोंकी जानकारी देते जैसे तन्त्र दिव्य-ज्ञानद्वारा तान्त्रिक प्रणालीमें सूर्य-रथ एवं अश्वोंका परिचय कराते हैं; वैसे ही निदानशास्त्र (निर्माणशास्त्र) भी प्रतिमाद्वारा सूर्य-रथ और उसके ज्ञान स्थूल माध्यमसे कराता है। निदान-शास्त्रका उपासनासे है। किसी भी वस्तुके ज्ञानको क्रियाद्वारा सात् कर लेना ही उस वस्तुकी उपासना है।

प्रतिमा-निर्माण-सिद्धान्त

शून्यवादी बौद्ध 'सिद्धनागार्जुन'ने परमार्थ (अथवा शून्य) वस्तुके ज्ञानके लिये 'व्यवहारमना परमार्थो न दिश्यते' सिद्धान्त स्थिर किया है,

आशय यह है कि किसी भी शून्य (गन्ध, रस, रूप, स्पर्श एवं शब्द प्रभृति गुणोंसे रहित) तत्त्वका ज्ञान व्यवहारका सहारा लिये बिना अशक्य और असम्भव है । इसी सिद्धान्तके आधारपर चार कारणोंसे अरूप देवताओंके रूप (प्रतिमा) का निर्माण किया गया है ।

सूर्य-प्रतिमा

देवता-विज्ञानविदोंका आवेदन है कि देवता होनेसे सूर्य त्रिविध है—१. तेजोमण्डलरूप, २. तेजोमण्डलमें विद्यमान प्राण-मण्डल-रूप और ३. प्राणोंमें विद्यमान अहंता-मण्डलरूप (अभिमानि-विध) । इनमें प्राण-रूप सूर्य एवं अभिमानिविध सूर्य—दोनों अरूप (निराकार) हैं । स्थूल होनेपर भी तेजोमण्डल-रूप सूर्य हस्त-पाद आदिसे रहित होनेके कारण निराकार (अरूप) हैं । तथापि सूर्य-मण्डलमें विद्यमान शक्तियों तथा उनके द्वारा विश्वमें प्रतिक्षण होनेवाले परिणामोंका बोध सर्वसाधारणको सरलतासे हो सके, इस हेतुसे प्रतिमावती, प्रतीकवती, सत्यवती एवं निदानवती—इन चार उपासनाओंमें निदानवती उपासनाके आलम्बनसे सूर्य-प्रतिमाका निर्माण किया गया है । सूर्य-प्रतिमाके विषयमें नैदानिक विद्वानोंका आवेदन है—

रविः कार्यः शुभश्मश्रुः सिन्दूरारुणसप्रभः ।
उद्दीप्तवेशः स्वाकारः सर्वाभरणसंयुतः ॥
चतुर्बाहुर्महातेजाः कवचेनाभिसंवृतः ।
कर्तव्या रशना चास्य या वियंगेति संज्ञिता ॥
रश्मयस्तस्य कर्तव्या वामदक्षिणहस्तयोः ।
ऊर्ध्वस्रग्दामसंस्थानाः सर्वपुष्पाञ्चिताः शुभाः ॥
सुरूपरूपैः स्वाकारो दण्डः कार्योऽस्य वामतः ।
दक्षिणे पिंगलो भागे कर्तव्यश्चातिपिंगलः ॥
उद्दीप्तवेशौ कर्तव्यौ तावुभावपि यादव ।
तयोर्मूर्धनि विन्यस्तौ करौ कार्यौ विभावसोः ॥
लेखनीपत्रककरः कार्यो भवति पिंगलः ।
चर्मशूलधरो दण्डस्तथा यत्नाद् विधीयते ॥
सिंहो ध्वजश्च कर्तव्यस्तथा सूर्यस्य वामतः ।
चत्वारश्चास्य कर्तव्यास्तनयास्तस्य पार्श्वयोः ॥
रेवन्तश्च यमश्चैव मनुद्वितयमेव च ।
ग्रहराजो रविः कार्यो ग्रहैर्वा परिवारितः ॥
राज्ञी च रिक्षुभा छाया तथा देवी सुवर्चला ।
चतस्रश्चास्य कर्तव्याः पत्न्यश्च परिपार्श्वयोः ॥
एकचक्रेऽथ सप्ताश्वे षडरे वा रथोत्तमे ।
उपविष्टस्तु कर्तव्यो देवो ह्यरुणसारथिः ॥
गायत्र्युष्णिगनुष्टुप् च बृहती पंक्तिरेव च ।
त्रिष्टुप् च जगती सप्त छन्दांस्यर्करथे हयाः ॥
रश्मिभिः करसंस्थैस्तु धारयत्यखिलं जगत् ।
सिंहो ध्वजगतश्चास्य साक्षाद् धर्मः प्रकीर्तितः ॥
रशनास्थं जगत् सर्वं देवो धारयते तथा ।
राज्ञी भू रिक्षुभा द्यौश्च छाया छाया प्रकीर्तिता ॥
प्रभा सुवर्चला प्रोक्ता तस्य देवस्य पत्नयः ।
रक्तवर्णः स भगवांस्तेजसां धाम कारणात् ॥
असह्यतेजोधारित्वाद् गूढगात्रस्तथैव च ।
एवं सर्वमयं धाम सूर्य एव प्रकीर्तितः ॥

रूपं तवैतद् दिवसस्य भर्तु-
मंयेरितं सर्वजगन्मयस्य ।
तेजोनिधानस्य परोज्ज्वलस्य
सर्वाधिनाथस्य सनातनस्य ॥

इन श्लोकोंका आशय है कि सूर्य एक चक्र, सात घोड़े, छः अरावाले रथमें विराजमान हैं । अरुण इनके सारथि हैं । सूर्य शुभश्मश्रु, सिन्दूरवत् अरुण-प्रभ, उदीप्त-वेश, शोभनाकृति, सर्वालंकारशोभित, चतुर्बाहु एवं कवच-युक्त हैं । उनकी कटिमें रशना (मेखला) है, जिसे पौराणिक 'वियंगा' कहते हैं । सूर्यके वाम और दक्षिण हाथोंमें पुष्पमालाओंसे शोभित ऊर्ध्वगामिनी रश्मियाँ (रज्जुएँ) हैं । सूर्यके वामभागमें सुन्दराकृति दण्डनामा पार्षद है । दक्षिणभागमें पिंगलनामा पार्षद है । दोनों पार्षदोंका वेश अति चमकदार है । दण्ड और पिंगलके मस्तकोंपर सूर्यके हाथ हैं । पिंगलके हाथमें लेखनी और पत्र है । दण्डनामा पार्षदके हाथमें चर्म और शूल है । सूर्यके वामभागमें सिंहाङ्कित ध्वज है । सूर्यके पार्श्वमें रेवन्त, यम, वर्तमान मनु और भावी मनु—ये चार पुत्र हैं । राज्ञी, रिक्षुभा, छाया और सुवर्चला सूर्यकी चार पत्नियाँ हैं ।

सूर्यकी श्मश्रुओंसे यह सूचित किया गया है कि विश्वमें विद्यमान पुरुष-भावके प्रवर्तक सूर्य ही हैं और स्त्री-भावके प्रवर्तक सोम । सूर्यकी रशना विश्वगत आकर्षण-शक्तिका संकेत है । अर्थात् भू-गोल, ख-गोल आदि सब विश्व सूर्यकी आकर्षण-शक्तिसे टिका हुआ है। '**रशनास्थं जगत् सर्वं देवो धारयते तथा।**' सूर्यके हाथोंमें विद्यमान ऊर्ध्व-रश्मियाँ विकर्षण-शक्तिकी सूचिकाएँ हैं । प्रत्येक ग्रह, नक्षत्र, पिण्ड आदि आकर्षण-विकर्षण नामक दो शक्तियोंसे ही आकाशमें स्व-स्वस्थानमें टिके हुए हैं । आकर्षणशक्ति केन्द्रगत है, अतः रशनासे सूचित की गयी है । विकर्षणशक्ति ऊर्ध्वगत होनेसे हाथों-द्वारा सूचित की गयी है । सूर्यध्वजमें अङ्कित सिंह साक्षात् धर्मका सूचक है । सूर्यकी उपर्युक्त चार पत्नियाँ पृथिवी, द्यु-लोक, छाया और प्रभा—इन चार शक्तियोंकी सूचिकाएँ हैं । सूर्यके उपर्युक्त चार पुत्र पृथिवी आदि

चार शक्तियोंके कार्योंके सूचक हैं । सूर्यका रक्तवर्ण विभिन्न तेजोंके सम्मिश्रणका सूचक है । 'रसायन-शास्त्र'का सिद्धान्त है कि कृष्ण एवं श्वेत रंगके सम्मिश्रणसे रक्त (लाल रंग) उत्पन्न होता है । सूर्यका कवच उसके असह्य तेजका द्योतक है । सूर्यका दण्डनामा पार्षद विश्व-शासनरूप नियतिका सूचक है । जो मानव उस विश्व-शासनरूप नियतिके सनातन नियमोंका उल्लङ्घन करते हैं, उन्हें यह नियतिरूप दण्ड नष्ट कर देता है । सूर्यका पिंगलनामा पार्षद प्राणियोंके शुभाशुभका निरीक्षक है । दण्ड और पिंगलके मस्तकोंपर रक्खे हुए सूर्यके हाथ यह बताते हैं कि दण्ड और पिंगलके कार्य सदा, सर्वत्र अक्षुण्ण रहकर दुष्ट-दमन और शिष्ट-संरक्षण करते हैं ।

इस प्रकार निदान-विद्यामें निष्णात भारतीय ऋषि-मुनियोंने स्थूल माध्यमसे सहेतुक मूर्ति-निर्माणद्वारा अतीन्द्रिय वस्तुओंके गहन ज्ञानको सुगम—सरल बनाकर उसे सर्व-साधारणके समझनेयोग्य बनानेमें जो अनुभवसिद्ध गवेषणा की है, उसका महत्त्व आधुनिक वैज्ञानिकोंके उन आविष्कारोंसे कथमपि कम नहीं, जो सूर्य-मण्डल एवं अन्य ग्रह-नक्षत्रोंकी आकर्षण-विकर्षण शक्तियोंसे सम्बद्ध हैं । क्या ऋषि-मुनियोंकी **'रशनास्थं जगत् सर्वं देवो धारयते तथा'** आदि वैज्ञानिक खोज पुराणोंको सर्व-विद्या-आकर (खान) एवं गम्भीर गहन ज्ञान-विज्ञानकी पवित्र पुरातन पुस्तक बनानेमें प्रबल प्रमाणभूत नहीं बनती ? गुणग्राही विद्वानों एवं अन्वेषकोंको इसपर निष्पक्ष विचार करना चाहिये ।

सच्चा मित्र

(राष्ट्रपति डा० श्रीराधाकृष्णन्‌द्वारा कथित एक लघुकथा)

एक आदमीके तीन मित्र थे । उनमेंसे पहले दोनोंके प्रति उसे बहुत आदर था, अतः उनसे वह बहुत अधिक प्रेम करता था । तीसरेके प्रति उसने ध्यान नहीं दिया और न कभी उस तीसरे मित्रकी चिन्ता ही की।

एक बार उस आदमीपर बहुत कठिन प्रसङ्ग आ पड़ा । उसे इस बातका निश्चय हो गया कि उसे न्यायालयमें खड़ा होना पड़ेगा और उसका अनादर होगा ।

वह अपने पहले मित्रके पास गया और उसे अपनी सहायता करने तथा न्यायालयमें चलनेके लिये प्रार्थना की; लेकिन उस मित्रने उसे साफ ठुकरा दिया । वह बोला, 'न्यायालयकी तो बात ही दूर रही, मैं तुम्हारे साथ एक कदम भी नहीं चलूँगा ।'

इसके बाद वह दूसरे मित्रके यहाँ गया और उससे भी वही प्रार्थना की । दूसरा मित्र बोला, 'मैं यह मानता हूँ कि तुम संकटमें हो, किंतु मैं तुम्हारे साथ केवल न्यायालयकी सीमातक जाऊँगा । पर उसके भीतर आना मेरे लिये सम्भव नहीं होगा । क्षमा करो ।' इस प्रकार इस मित्रसे भी कोई लाभ नहीं हुआ ।

फिर वह तीसरे मित्रके पास (जिसकी ओर उसने कभी भी ध्यान नहीं दिया था) गया । उस मित्रने उसके साथ न्यायालयमें चलना स्वीकार किया । इतना ही नहीं, अपितु उसने न्यायाधीशके सामने उसकी ओरसे अत्यन्त प्रभावपूर्ण रूपसे पैरवी की और उसे दोषमुक्त करवाया । तब उसे उस मित्रके प्रति उपेक्षा करनेपर पश्चात्ताप हुआ।

उस आदमीके ये तीन मित्र सम्पत्ति, सम्बन्धी एवं सत्कर्म थे ।

मनुष्य जब मरणासन्न हो जाता है, तब सम्पत्ति एक कदम भी उसके साथ नहीं जा सकती । उसके सम्बन्धी श्मशानतक उसका साथ देते हैं, इसके आगे वे उसके साथ नहीं जा सकते । परंतु उसके किये हुए सत्कर्म अन्ततक उसका साथ देते हैं; और ईश्वरके न्यायासनके सामने उसकी पैरवी करके उसे दोषमुक्त कराते हैं । किंतु मनुष्य जिस प्रकार सम्पत्ति तथा सम्बन्धियोंकी ओर ध्यान देता है, उस प्रकार सत्कर्मोंकी **ओर ध्यान नहीं देता ।**

संग्रा० एवं अनु०—श्री वा० रा० वझे, बी० ए०

साधनकी सफलताके उपाय

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

बहुत-से व्यक्ति अपने आत्माके कल्याणके लिये अपनी समझके अनुसार बहुत समयसे साधन करते हैं किंतु उन साधनोंका जैसा फल शास्त्रोंमें बताया गया है, वैसा फल देखनेमें नहीं आता । इसमें क्या कारण है और उन्हें किस प्रकार साधन करना चाहिये, जिससे उनकी उत्तरोत्तर उन्नति हो, इस विषयपर कुछ विचार किया जाता है ।

सर्वप्रथम मनुष्यको अपना लक्ष्य स्थिर करना चाहिये; क्योंकि लक्ष्य स्थिर हुए बिना कोई भी साधन सफल नहीं होता । अतः पहले लक्ष्यके विषयमें विचार करना चाहिये । यह स्पष्ट है कि सभी मनुष्य अनन्त और अखण्ड सुख चाहते हैं । वे उस सुखकी संसारमें खोज करते हैं किंतु संसारमें वह सुख है ही नहीं । जैसे मृग मरुभूमिमें जल समझकर उसके लिये दौड़ते रहते हैं और दौड़ते-दौड़ते ही मर भी जाते हैं; किंतु उनको जल नहीं मिलता; क्योंकि मरुभूमिमें जल है ही नहीं । इसी प्रकार इस संसारमें मरुभूमिमें जलकी भाँति मनुष्योंको सुखकी प्रतीति होती है किंतु वास्तवमें संसारमें सुख है ही नहीं । सुखके अखण्ड, अनन्त, अथाह सागर तो एक भगवान् ही हैं । इसलिये मनुष्यका एकमात्र लक्ष्य अनन्त सुखस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति ही है; क्योंकि उस परमानन्दमय परमात्माकी प्राप्ति इस मनुष्यशरीरमें ही हो सकती है, इसीके लिये यह मनुष्यशरीर मिला है । अन्य जितनी भी योनियाँ हैं, वे सब तो भोगयोनियाँ हैं; किंतु मनुष्यका शरीर विषयभोगके लिये नहीं मिला है ।

एहि तन कर फल बिषय न भाई । स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई ॥
(रा० च० मा० उत्तर० ४३ । १)

इस मनुष्यशरीरके पानेका फल विषयभोग नहीं है और न स्वर्ग ही है; क्योंकि वह भी अल्प और अन्तमें दुःखदायक ही है । जैसे यहाँ मरनेके समय दुःख होता है, उससे भी बढ़कर स्वर्गसे पतन होनेके समय होता है । किंतु जो व्यक्ति मनुष्यशरीरको पाकर इस लोक और परलोकके विषय-भोगोंमें मन लगाते हैं वे मूर्ख अमृतके बदले विषको ही ग्रहण करते हैं ।

नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं । पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं ॥
(रा० च० मा० उत्तर० ४३ । १)

संसारके विषय ही विष हैं और परमात्माकी प्राप्ति ही अमृत है । इस बातको ध्यानमें रखकर मनुष्यको उचित है कि वह अपना लक्ष्य स्थिर करे और फिर उस लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये साधनके विषयमें विचार करे ।

जैसे किसी पुरुषने कलकत्ता जानेका लक्ष्य बनाया तो उसके लिये कलकत्ता जानेके मोटर, रेल, वायुयान आदि बहुत-से साधन हैं, इसी प्रकार मनुष्य-जीवनके एकमात्र लक्ष्यरूप परमात्माकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंमें कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग आदि बहुत-से साधन बताये गये हैं । उन साधनोंमेंसे किसी भी एक साधनको अपनी रुचि, विश्वास और बुद्धिकी समझके अनुसार निर्णय करके चुन लेना चाहिये । साधकके लिये श्रद्धा (विश्वास) और रुचि (प्रीति)—ये दो प्रधान-हैं । इसलिये जिस साधककी कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग आदि जिस साधनमें श्रद्धा और रुचि हो, उसके लिये वही साधन सुगम, श्रेष्ठ, शीघ्र लाभदायक और उपयुक्त है एवं वह उसी साधनका अधिकारी है । अतः अपनी श्रद्धा और रुचिके अनुसार ही साधनका निर्णय करना उचित है ।

जिस साधककी श्रद्धा और रुचि तो भक्तिमें है किंतु साधन ज्ञानयोगका करता है और जिसकी श्रद्धा

और रुचि तो कर्मयोगमें है पर साधन करता है ज्ञानयोगका तथा जिसकी श्रद्धा और रुचि तो ज्ञानयोगमें है और साधन भक्तियोग या कर्मयोगका करता है तो उन तीनोंको ही साधनमें विशेष सफलता नहीं मिलती ।

ज्ञानयोगकी प्रशंसा सुनकर किसीकी ज्ञानयोगके साधनमें रुचि और विश्वास तो हो गया किंतु बुद्धिकी मन्दताके कारण ज्ञानयोगके सूक्ष्म तत्त्व-रहस्यको समझनेकी योग्यता नहीं है तो वह साधन उसके लिये उपयुक्त नहीं है । कर्मयोगमें रुचि तो है पर अन्तःकरणमें निष्कामभाव नहीं है तो वह भी उसके उपयुक्त नहीं है । भक्तियोग सुगम भी प्रतीत होता है, उसमें विश्वास भी है, पर रुचि नहीं है तो वह भी उसके लिये उपयुक्त नहीं है ।

किसीका विचार तो एकान्तमें ज्ञानयोगका साधन करनेका रहता है किंतु स्वभाव कर्मोंकी बहुलताका पड़ा हुआ है तो उसके लिये एकान्तमें ज्ञानयोगका साधन उपयुक्त नहीं हो सकता; क्योंकि मनमें कर्मोंके संस्कारोंकी बहुलता होनेसे एकान्तमें कर्मोंकी स्फुरणाएँ ही अधिकतासे होने लगती हैं । अतः उसको कर्मयोगका साधन करना ही उचित है । किसीको विचारके द्वारा भगवान्‌की भक्ति करना अच्छा लगता है; किंतु कर्मोंमें आसक्ति होनेके कारण मन जप-ध्यानमें नहीं लगता तो उसे भी आसक्तिका त्याग करके कर्मयोगका अनुष्ठान करना ही उचित है । कोई अपनी रुचि और विचारके द्वारा कर्मयोगका अनुष्ठान करना चाहता है; किंतु आसक्ति और कामनाके कारण सफलता नहीं मिलती तो उसे भक्तियोगका साधन करना ही उचित है ।

मनुष्य कभी तो ज्ञानकी प्रशंसा सुनता है, कभी **निष्काम कर्मकी और कभी भक्तिकी एवं पुस्तकोंमें भी अनेक प्रकारके साधनोंकी प्रशंसा पढ़ता है तथा भक्तियोगमें भी कभी श्रीरामकी, कभी श्रीकृष्णकी, कभी विष्णु** आदिकी प्रशंसा सुनता और पढ़ता है एवं उस उसीके अनुसार रुचि और विश्वास होता है । यों ना प्रकारकी बातें सुनने और पढ़नेसे मनमें दुविधा जाती है और कौन-सा साधन उसके लिये ठीक कौन-सा बेठीक है—इसका वह निर्णय नहीं कर पाता इसलिये मनुष्यको सुने और पढ़े हुए साधनोंमेंसे ए साधनका निश्चय करके एकनिष्ठ होना चाहिये किसीने भगवद्गीतामें निष्ठा कर ली तो उसे उचित कि सत्संगमें या शास्त्रोंमें प्राप्त जो बातें गीताके अनु हों, उन्हें तो काममें लावे और जो प्रतिकूल हों उन उपेक्षा करे । जैसे पतिव्रता स्त्री, जो कुछ अपने पति अनुकूल होता है उसे ही काममें लाती है, अपने पति प्रतिकूलको नहीं । इसी प्रकार साधकको ईश्वरके साका या निराकार किसी भी एक स्वरूपमें एकनिष्ठ हो चाहिये । साकारमें भी भगवान् शिव, विष्णु, रा श्रीकृष्ण आदिमेंसे किसी एकमें ही निष्ठा करनी चाहि किसीकी भगवान् विष्णुमें निष्ठा हुई तो उसे ऐ मानना चाहिये कि भगवान् विष्णु अवतारी हैं राम, कृष्ण आदि सब उनके अवतार हैं । इसी प्र किसी भी एक महात्माको, जिसमें हमारी महात्मबु है, प्रधान मानकर उनकी आज्ञाका पालन करना उनके अनुकूल ही दूसरोंकी बातोंको मानना उचित प्रतिकूलको नहीं । यों एकनिष्ठ होनेपर नाना प्रका साधनसम्बन्धी बातें सुनने-पढ़नेपर भी फिर दुवि नहीं हो सकती ।

जिस साधकको विवेक और विचारके द्वारा सद् सदाचारमें श्रद्धा-विश्वास तो है किंतु विषयभोगोंमें बुद्धि, विषयासक्ति और स्वभाव-दोषके कारण दु दुराचारोंकी ओर उसकी प्रवृत्ति होती रहती है, उ उचित है कि विवेक-विचारके द्वारा 'विषयोंमें संसारमें सुख नहीं है, ये सब दुःखरूप, अनित्य

क्षणिक हैं'—ऐसा दृढ़ निश्चय करे, जिससे वह दुर्गुण-दुराचारोंसे रहित हो सकता है ।

संसार, शरीर और विषयभोगोंमें सुखबुद्धि, आसक्ति और ममताके कारण ही मनुष्य अपनी श्रद्धा और रुचिके अनुसार अपने लिये निश्चय किये हुए साधनको नहीं कर पाता । एक साधक एकान्तमें बैठकर अच्छी नीयतसे जप-ध्यान करता है किंतु संसार, शरीर और विषयोंमें सुखबुद्धि, आसक्ति और ममता होनेके कारण आलस्य और विक्षेप होकर मन जप-ध्यानमें नहीं लगता । एक दूसरा साधक विवेक-विचारके द्वारा परोपकारकी दृष्टिसे निष्कामभावपूर्वक लोकसेवा करना चाहता है किंतु संसार, शरीर और भोगोंमें सुखबुद्धि, आसक्ति और ममता होनेके कारण उसका निष्काम-भाव नहीं हो पाता । एक तीसरा साधक एकान्त स्थानमें निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन परमात्माके तत्त्वके यथार्थ ज्ञानके लिये विवेक-विचारपूर्वक प्रयत्न करता है; किंतु संसार, शरीर और विषयोंमें सुखबुद्धि, आसक्ति और ममताके कारण आलस्य और विक्षेप आदि विघ्न आ जाते हैं, जिससे उसको सफलता नहीं प्राप्त होती; क्योंकि संसार, शरीर और विषयभोगोंमें सुखबुद्धि, आसक्ति और ममता आदि दोष साधनके महान् विघ्न और पतनकारक हैं । इनके रहते हुए न तो साधनकी सिद्धि हो सकती है और न सुख-शान्ति ही मिल सकते हैं । अतः इन दोषोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ।

सार बात यह है कि कर्मयोगके मार्गमें तो निष्काम-भावकी प्रधानता है, भक्तियोगमें भगवत्प्रेमकी प्रधानता है और ज्ञानयोग (सांख्ययोग) में परमात्माके यथार्थ ज्ञानकी प्रधानता है । इस निष्कर्षके अनुसार ही अपनी श्रद्धा और प्रीतिके अनुकूल साधनका निर्णय करना चाहिये ।

किंतु यदि मनुष्य अपनी बुद्धिसे ठीक-ठीक निश्चय न कर सके तो जिसपर उसका विश्वास हो ऐसे महापुरुषके पास जाकर अपनी सारी परिस्थिति उन्हें बतलाकर उनके कहे अनुसार साधनका निश्चय करके उसका अनुष्ठान करना चाहिये ।

कितने ही मनुष्य अपनी समझके अनुसार निश्चित किया हुआ साधन करते हैं, दूसरे कितने ही महात्माओं-में श्रद्धा रखते हैं और उनके बतलाये हुए साधनका अनुष्ठान करते हैं; फिर भी उन्हें पूरी सफलता नहीं प्राप्त होती—इसका यही कारण है कि उनको अपने साधनकी सफलता न होनेका दुःख नहीं है । साधकको अपने साधनकी सफलता न होनेका दुःख होना चाहिये और किस कारणसे सफलता नहीं हो रही है इसकी खोज करनी चाहिये ।

मान लीजिये, एक साधकका क्रोध करनेका स्वभाव पड़ा हुआ है और वह क्रोधको बुरा समझकर हृदयसे उसका त्याग भी करना चाहता है; किंतु मनके प्रतिकूल कोई कार्य, घटना, परिस्थिति प्राप्त होनेपर उसे क्रोध स्वाभाविक आ ही जाता है । इस सम्बन्धमें उस साधकको नीचे लिखे प्रकारसे विवेकपूर्वक विचार करना चाहिये ।

मनुष्य कर्म करनेमें तो अधिकांश स्वतन्त्र है और फल भोगनेमें सर्वथा परतन्त्र है । जो भी कुछ घटना, परिस्थिति पदार्थ आदि प्राप्त होता है, वह सब अपने पूर्वकृत कर्मोंका फल है । उन पूर्वमें किये हुए पुण्य-पापमय कर्मोंके फलोंका भोग तीन प्रकारसे होता है—अनिच्छा, परेच्छा और स्वेच्छासे । जैसे, आरोग्य प्राप्त होना, जमीनमें गड़े हुए धनका मिलना, जमीन, मकान आदि सम्पत्तिकी कीमत बढ़ जाना, स्वाभाविक ही किसी महात्माका मिल जाना * आदि—यह पूर्वकृत पुण्यकर्म-

---

* पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता । सतसंगति संसृति कर अंता ॥
(रा० च० मा० उत्तर० ४४ । ३)

का अनिच्छा (दैवेच्छा) से प्राप्त फल है। रोगका होना, धनादि पदार्थोंका अग्नि आदिद्वारा विनाश होना, रेलदुर्घटना या अचानक हृदयगति बंद (हार्टफेल) होकर अथवा बिजली आदिसे मृत्यु हो जाना आदि—यह पूर्वकृत पापकर्मका अनिच्छासे प्राप्त फल है। किसी दूसरे मनुष्यके द्वारा अपनी इच्छासे किसीको अपना दत्तक पुत्र बना लिया जाना, या दान या वसीयतनामाके द्वारा अपनी सम्पत्तिका किसीको अधिकार दिया जाना और किसीका अपने मन, बुद्धि या सिद्धान्तके अनुकूल बर्ताव करना आदि—यह पूर्वकृत पुण्यकर्मका परेच्छासे प्राप्त फल है। किसीका जान-बूझकर अपने मन, बुद्धि या सिद्धान्तके प्रतिकूल बर्ताव करना, जबरन् धन, सम्पत्ति, स्त्री आदिका हरण कर लेना, किसीका लोभ, क्रोध, भय आदि किसी भी कारण आघात करना आदि—यह पूर्वकृत पापका परेच्छासे प्राप्त फल है।

स्त्रीसम्भोगसे पुत्र प्राप्त होना, व्यापारसे धन प्राप्त होना, अन्य किसी स्वेच्छासे किये हुए कार्यकी सफलता होना आदि—यह पूर्वकृत पुण्यका स्वेच्छासे प्राप्त फल है। पुत्रप्राप्तिके लिये किये हुए स्त्रीसम्भोगके फलस्वरूपमें गर्भपात होना, व्यापारसे धनका नुकसान होना अथवा अन्य किसी कार्यकी असफलता होना आदि—यह पूर्वकृत पापका स्वेच्छासे प्राप्त फल है।

विचार करनेपर मालूम होगा कि अनिच्छा या स्वेच्छासे तो अपने मनके कितने ही विपरीत कार्यकी प्राप्ति क्यों न हो, उसपर क्रोध आ ही नहीं सकता, केवल दूसरेके द्वारा अपने मनके विपरीत किये हुए कार्यपर ही क्रोध आता है; क्योंकि मनमें यह भाव रहता है कि यह अनुचित कर रहा है और इसपर हमारा क्रोध करना, डाँटना, फटकारना उचित है। ऐसा भाव रखना ही क्रोधको प्रोत्साहन देना है। इसी कारण क्रोध दूर नहीं हो पाता।

'कोई यदि हमारे मनके विरुद्ध किसी भी तरहका का
करता है, तो इसमें उसका कोई दोष नहीं, यह तो हमा
पूर्वकृत पापकर्मका ही परेच्छासे प्राप्त फल है'—
कर्मयोगके साधनकी दृष्टिसे ऐसा मानें तो फिर हमें उस
क्रोध नहीं आ सकता। अथवा भक्तिकी दृष्टिसे वह कर्मफ
भगवान्का विधान या भगवान्की लीला है—ऐसा मा
तो फिर क्रोध नहीं आ सकता। एवं ज्ञानकी दृष्टि
सिनेमा अथवा स्वप्नके दृश्योंकी भाँति उसे असत् मा
तो फिर क्रोध नहीं आ सकता। अपने मनकी क
पूरी करानेकी इच्छा रखना ही क्रोधकी जड़ है; क्यों
भगवान्ने कहा है—

'कामात्क्रोधोऽभिजायते' (गीता २। ६२

—'कामसे क्रोध उत्पन्न होता है।'

इसी प्रकार मनुष्यसे परस्त्रीसेवन, परधनहरण आ
नाना प्रकारके पापकर्म उसके स्वभावदोषके कारण हो
रहते हैं। उन सबमें काम प्रधान है।* विषयोंमें आस
होनेसे ही काम उत्पन्न होता है और वह विषयास
सांसारिक पदार्थोंमें तथा भोगोंमें सुखबुद्धि होनेके का
ही होती है। विषयभोगोंमें सुखबुद्धि अज्ञानसे
एवं उस अज्ञताके कारण ही साधनमें श्रद्धा, रुचि
समझकी कमी और संशय आदि दोष होते हैं। भगवा
ने बताया है—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥
(गीता ४। ४

'विवेकहीन और श्रद्धारहित संशययुक्त म
परमार्थसे अवश्य भ्रष्ट हो जाता है। ऐसे संशय

---

* काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥
(गीता ३। ३

'रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह ब
खानेवाला अर्थात् भोगोंसे कभी न अघानेवाला और बड़ा
है। इसको ही तू इस विषयमें वैरी जान।'

मनुष्यके लिये न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है।'

अतः इन दोषोंको विवेक-विचारके द्वारा सर्वथा दूर करना चाहिये।

अपने दोषोंके सम्बन्धमें मनुष्यका यह मानना कि पाप करनेका जो स्वभाव पड़ गया है, उस स्वभावका बदलना बहुत कठिन है, यह बड़ी भारी भूल है; क्योंकि जहाँपर क्रोध करनेसे महान् हानि या मृत्युदण्डकी सम्भावना प्रत्यक्ष दिखायी देती है, वहाँ किसीको क्रोध नहीं आ सकता। इसी प्रकार आसक्तिके विषयमें समझना चाहिये। जैसे बहुत बढ़िया स्वादिष्ट मिठाईमें भी यदि विष मिला हुआ है—यह ज्ञान हो जाय तो चाहे भोजनमें कितनी ही आसक्ति हो और कितना ही भूखा क्यों न हो—पर वह उस मिठाईको कभी नहीं खा सकता। इसी प्रकार पापकर्मका फल नरक, तिर्यग्-योनि आदिकी प्राप्ति और महान् घोर दुःख निश्चय ही होता है—यह दृढ विश्वास होनेपर फिर वह कोई भी पाप नहीं कर सकता और पूर्वमें किये हुए पाप तो चाहे कितने ही क्यों न हों, परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे और ईश्वरकी भक्तिसे तथा निष्काम कर्मसे शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। कोई कैसा भी पापी क्यों न हो, वह पवित्र होकर संसारसे मुक्त हो जाता है। भगवान्ने ज्ञानके विषयमें अर्जुनसे कहा है—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥

(गीता ४। ३६-३७)

'यदि तू अन्य सब पापियोंसे भी अधिक पाप करनेवाला है; तो भी तू ज्ञानरूप नौकाद्वारा निःसंदेह सम्पूर्ण पापसमुद्रसे भलीभाँति तर जायगा। हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनोंको भस्ममय कर देता है वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको भस्ममय कर देता है।'

इसी प्रकार भक्तिके विषयमें भी कहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९। ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। एवं वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।

अभिप्राय यह है कि मनुष्य चाहे कितना ही पापी और अपराधी क्यों न हो, भविष्यमें पाप न करनेका दृढ़ निश्चय करके भगवान्के अनन्यशरण हो जानेपर भगवान् उसे पूर्वके अपराधोंके लिये क्षमा कर देते हैं और फिर वे उसके पूर्वकृत पापोंकी ओर खयाल ही नहीं करते।

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥

(रा॰ च॰ मा॰ उत्तर॰ प्रारम्भमें चौ॰ ३)

लोकमें भी यह प्रचलित है कि कोई मनुष्य कितना ही अपराधी होनेपर भी जब वह, जिसका अपराध किया गया, उसकी शरणमें चला जाता है तो वह उसके अपराधको प्रायः क्षमा कर देता है। यदि सरकारका भी कोई अपराधी है और वह मुचलका भरकर प्रतिज्ञा कर ले कि मैं भविष्यमें अपराध नहीं करूँगा, मुझे क्षमा करें तो सरकार भी प्रायः उसके अपराधको क्षमा कर देती है। फिर भगवान्की तो बात ही क्या है। वे तो परम दयालु, सहज क्षमाशील और भक्तोंका दुःख दूर करनेके

लिये सदा तत्पर रहते हैं। वे ही यदि क्षमा-याचना करनेपर क्षमा न करें तब तो फिर मनुष्यका उद्धार ही कैसे हो; क्योंकि संसारमें जितने भी प्राणी हैं, उनमेंसे कोई भी ऐसा नहीं जो पूर्वकृत पुण्य और पापसे रहित हो। पुण्य-पापसे रहित होनेपर तो फिर जन्म ही नहीं होता। जन्म पूर्वके पुण्य-पापसे ही होता है। इन सब पापोंका समूल नाश परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे (गीता ४। ३६-३७), ईश्वरभक्तिसे (९। ३०-३१) और निष्कामकर्मसे (गीता ४। २३) सहज ही हो जाता है।

अधिकांश साधकोंमें यह बड़ा भारी दोष है कि वे साधन भी करते हैं—पर साथ-ही-साथ विषयोंमें रस लेते रहते हैं और दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसनोंको भी नहीं छोड़ते। किंतु यह खयाल रखना चाहिये कि यह उनमें एकनिष्ठाकी कमी है। ईश्वर, महात्मा और शास्त्रमें एकनिष्ठा होनेपर ये दोष रह नहीं सकते और इन दोषोंके रहते साधनकी सफलता सम्भव नहीं है। अतएव इन काम-क्रोधादि दोषोंको दूर करके साधनमें प्रयत्नशील होना परम आवश्यक है।

भगवान्‌ने गीतामें बतलाया है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥
(१६। २१-२२)

'काम, क्रोध तथा लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार आत्माका नाश करनेवाले अर्थात् उसको अधोगतिमें ले जानेवाले हैं। अतएव इन तीनोंको त्याग देना चाहिये। हे अर्जुन! इन तीनों नरकके द्वारोंसे मुक्त जो पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है, वह परमगतिको जाता है अर्थात् मुझको प्राप्त हो जाता है।'

यदि पूर्वके स्वभाव-दोषके कारण कहीं मौका पाते ही काम-क्रोध-लोभ आदि दुर्गुण, दुराचार और दुर्व्यसन आ जाते हैं और उसके द्वारा बार-बार विचार करनेपर भी ये नहीं छूट रहे हैं तो साधकको उचित है कि वह इस बातके लिये महान् दुखी होकर पश्चात्ताप करे। असली पश्चात्ताप वही है कि वैसी भूल कभी न हो एवं वह मनमें ऐसा कोई कभी न आने दे, जिससे उन काम-क्रोधादि दुराचारोंको जरा-सा भी प्रोत्साहन मिले। साधक सूक्ष्म-से-सूक्ष्म दोषोंको भी हटाकर सदा साधनमें ही तत्पर रहे। अपने साधनको ही धन, सर्वस्व और प्राणोंसे भी बढ़कर माने। साधनको ही मुख्य माने, अन्य सबको गौण। साधनको 'फिर कर लेंगे'—यों कभी भविष्यपर न

महाभारतमें बतलाया गया है—

श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम्।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतं वास्य न वा कृतम्।
(शान्ति० २७७।

'जिस कामको कल करना हो उसे आज ही ले तथा जिसे अपराह्णमें करना हो, उसे ही कर ले; क्योंकि मृत्यु इस बातकी प्रतीक्षा करती कि इसने काम पूरा कर लिया है या नहीं किसी कविने भी कहा है—

काल करै सो आज कर आज करै सो अब।
पलमें परलै होयगी बहुरि करैगा कब॥

संतोंकी इस चेतावनीको ध्यानमें रखकर जीवन रहते ही अपने साधनकी सिद्धिके लिये कर लेना चाहिये।

यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः।
(भर्तृहरिशत

'जबतक यह शरीररूपी घर स्वस्थ है, आक्रमण नहीं हुआ है, इन्द्रियोंकी शक्ति क्षीण हुई है और आयु भी ढली नहीं है, तभीतक मनुष्यको अपने कल्याणके लिये प्रयत्न कर

चाहिये। नहीं तो, घरमें आग लग जानेपर कुआँ खोदनेका प्रयत्न करनेसे क्या लाभ होगा ?'

यदि किसी भी तरह सुधार न हो और कोई सुधारका रास्ता न बैठे तो मनुष्यको चाहिये कि 'निर्बलके बल राम' केवल भगवान्‌की ही अनन्य शरण ग्रहण करके दोषोंको हटानेके लिये उनसे यों प्रार्थना करे—

मैं केहि कहौं बिपति अति भारी । श्रीरघुबीर धीर हितकारी ॥
मम हृदय भवन प्रभु तोरा । तहँ बसे आइ बहु चोरा ॥
अति कठिन करहिं बरजोरा । मानहिं नहिं बिनय निहोरा ॥
तम मोह, लोभ, अहँकारा । मद, क्रोध, बोध रिपु मारा ॥
अति करहिं उपद्रव नाथा । मरदहिं मोहि जानि अनाथा ॥
मैं एक अमित बटपारा । कोउ सुनै न मोर पुकारा ॥
भागेहुँ नहिं नाथ ! उबारा । रघुनायक करहु सँभारा ॥
कह तुलसिदास सुनु रामा । लूटहिं तसकर तव धामा ॥
चिंता यह मोहि अपारा । अपजस नहि होइ तुम्हारा ॥
(विनयपत्रिका पद १२५)

इस प्रकार अपने दुर्गुण-दुराचार-दुर्व्यसनोंको दूर करनेके लिये तथा एक उन्हींमें निष्कामभावपूर्वक अनन्य श्रद्धा-प्रेम होनेके लिये उनसे अपने मनके करुणाभरे शब्दोंमें स्तुति-प्रार्थना करे कि—

अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम ।
मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निहकाम ॥
(रा० च० मा० अरण्य० ११)

परमानंद कृपायतन मन परिपूरन काम ।
प्रेम भगति अनपायनी देहु हमहि श्रीराम ॥
(रा० च० मा० उत्तर० ३४)

भगत कल्पतरु प्रनत हित कृपासिंधु सुखधाम ।
सोइ निज भगति मोहि प्रभु देहु दया करि राम ॥
(रा० च० मा० उत्तर० ८४ ख)

इस तरह कातरभावसे स्तुति-प्रार्थना करनेपर भगवत्कृपासे समस्त दोष दूर होकर भगवत्प्राप्ति हो सकती है ।

यदि भगवत्प्राप्तिके लिये साधनका यत्न करनेपर भी भगवान् नहीं मिल रहे हैं तो उसके लिये भी मनुष्यको पूर्वोक्त प्रकारसे मनमें घोर पश्चात्ताप होना चाहिये तथा भगवान्‌से मिलनेके लिये भरतजी और गोपियोंकी भाँति ऐसी तीव्र व्याकुलता होनी चाहिये कि उनसे मिले बिना उनके विरहमें प्राण छटपटाने लगें ।

भरतजी कहते हैं—

रहेउ एक दिन अवधि अधारा । समुझत मन दुख भयउ अपारा ॥
कारन कवन नाथ नहिं आयउ । जानि कुटिल किधौं मोहि बिसरायउ ॥

× × × ×

बीतें अवधि रहहिं जौं प्राना । अधम कवन जग मोहि समाना ॥
(रा० च० मा० उ० प्रारम्भकी चौपाइयाँ)

गोपियाँ कहती हैं—

अटति यद् भवानह्नि काननं
त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम् ।
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते
जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । ३१ । १५)

'प्यारे श्यामसुन्दर ! दिनके समय जब तुम वनमें विहार करनेके लिये चले जाते हो तब तुम्हें देखे बिना हमारे लिये एक-एक क्षण युगके समान हो जाता है और जब तुम संध्याके समय लौटते हो तथा घुँघराली अलकोंसे युक्त तुम्हारा परम सुन्दर मुखारविन्द हम देखती हैं उस समय पलकोंका गिरना हमारे लिये भार हो जाता है—ऐसा जान पड़ता है कि इन नेत्रोंकी पलकोंको बनानेवाला विधाता मूर्ख है ।'

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित्‌से बतलाते हैं—

इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा ।
रुरुदुः सुस्वरं राजन् कृष्णदर्शनलालसाः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ३२ । १)

राजन् ! इस प्रकार गोपियाँ विरहके आवेशमें भाँति-भाँतिसे गाने और प्रलाप करने लगीं । अपने प्यारे श्रीकृष्णके दर्शनकी लालसासे वे अपनेको रोक न सकीं, करुणाजनक सुमधुर स्वरसे फूट-फूटकर रोने लगीं । इस प्रकारकी विरह-व्याकुलता होनेपर तो फिर अनायास ही साधनकी सिद्धि होकर तुरंत भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है ।

भक्ति

(लेखक—ब्र० पूज्यपाद श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महात्मा श्रीनथुरामजी शर्मा)

[अनुवादक—श्रीसुरेश एम० भट]

यह प्रतीत होनेवाला जगत् जिसमेंसे उत्पन्न हुआ है, जिसमें स्थित है और प्रलयकालमें जिसमें प्रवेश करता है, उसको 'ईश्वर' कहा जाता है। ऐसे ईश्वरमें या उसके वास्तविक स्वरूप ब्रह्ममें प्रीति रखना ही 'भक्ति' या 'उपासना' है।

सत्, चित्, आनन्द, असङ्ग, अस्थूल और अनणु आदि जो ब्रह्मका स्वभाव है, उसका विचार करके, अन्तःकरणको इस प्रकारके स्वभावयुक्त द्रव्यकी भावनामें सद्गुरुद्वारा उपदिष्ट रीतिसे संलग्न करना—यही निर्गुण ब्रह्मकी या निर्गुण निराकारकी उपासना है। जिस मनुष्यका अन्तःकरण निष्काम कर्मद्वारा शुद्ध हो चुका हो, जिसके अन्तःकरणमें विषयोंकी तृष्णा नहीं हो, जिसके अन्तःकरणकी चञ्चलता अत्यन्त अल्प हो और जिसको एकान्तनिवास करनेकी अनुकूलता हो, ऐसा पुरुष निर्गुण ब्रह्मकी उपासनाका अधिकारी है। निर्गुण ब्रह्मकी इस उपासनासे मनुष्यके अन्तःकरणमें वैराग्यकी वृद्धि होकर बुद्धिकी सूक्ष्मता और एकाग्रता बढ़ती है तथा वह उपासना निदिध्यासनरूप बनकर साधकको ब्रह्मतत्त्वका साक्षात्कार करा देती है। ब्रह्मसाक्षात्कारसे पुरुष पुनरावृत्तिरहित स्थितिरूप मोक्षको प्राप्त करता है।

मायाके सत्त्वादि तीनों गुणोंके नियामक श्रीमहेश्वर, या ईश्वरके लीलाविग्रह, उनकी प्रतिमा और श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु—वस्तुतः मायाके तीनों गुणोंसे तथा उनके धर्मोंसे पर होनेके कारण निर्गुण ही हैं, केवल भक्तोंके अन्तःकरणको तथा उनके नेत्रादि इन्द्रियोंको संतोष देनेके लिये, भक्तोंके द्वारा भावसहित की गयी सेवाको स्वीकार करके उनके अन्तःकरणकी योग्यता बढ़ानेके लिये ही वे साकार प्रतीत होते हैं—ऐसे विवेकके साथ ईश्वरकी भक्ति या उपासना करना—यह निर्गु साकारकी भक्ति या उपासना है। इस भक्ति परिपाकसे ईश्वरके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान होने उपासकको मोक्षलाभ होता है।

परमात्मा या उनसे अभिन्न श्रोत्रिय ब्रह्मनि सद्गुरु सत्त्वगुणसे युक्त है अथवा अत्यन्त उत्तम गु युक्त है, अतएव वह साकार नहीं है, निराकार ही है- ऐसी बुद्धिके साथ की जानेवाली भक्तिको स निराकारकी भक्ति कहा जाता है।

परमात्मा या उनसे अभिन्न श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद् अत्यन्त उत्तम गुणोंसे युक्त और साकार है—ऐ समझके साथ की जानेवाली भक्ति सगुण साका भक्ति कही जाती है। सगुण साकार ब्रह्ममें दृढ भक्ति चित्तशुद्धिद्वारा भक्तको ईश्वरके शुद्ध स्वरूपमें अन प्रीति उत्पन्न हो जाती है। तदनन्तर निदिध्यासनके द्वा उसे मोक्षप्रद ज्ञानकी प्राप्ति होती है।

परमात्माका माहात्म्य समझकर उनकी अन भक्ति करनेवाले अर्थात् परमात्मामें ही परम प्रीति रख उनका आदरपूर्वक सतत स्मरण-ध्यान आदि करने महापुरुषोंका प्रीतिपूर्वक चिरकाल समागम करने उनकी कृपासे अथवा सत्सङ्गरूप महापुण्यके उद होनेपर परमात्माकी कृपासे मनुष्यको परमात्माकी भक्ति लाभ होता है।

भक्तोंके तीन प्रकार हैं—आर्त, अर्थार्थी औ मोक्षेच्छु। रोगादि दुःखोंकी निवृत्तिके लिये परमात्मा भक्ति करनेवाले 'आर्तभक्त' हैं। इस लोक और परलो के सुखकी प्राप्तिके लिये भक्ति करनेवाले 'अर्थार्थी

है और सर्वदुःखोंके अभावरूप—परमानन्दरूप परमात्माकी प्राप्तिके लिये भक्ति करनेवाले 'मोक्षेच्छु' भक्त हैं। प्रथम दो प्रकारके भक्तोंकी भक्ति स्वार्थी भक्ति है। अतः 'मोक्षेच्छु' प्रकारके भक्त ही वास्तविक भक्त हैं। मोक्षकी इच्छा रखकर परमात्माकी भक्ति करना भी सकाम भक्ति है, इसलिये मोक्षकी इच्छाका भी त्याग करके अपना कर्तव्य समझकर परमात्माकी अनन्य भक्ति करनेवाला भक्त ही सर्वोत्तम भक्त है।

परमात्माके अनेक पूज्य आकारोंमेंसे अपने परम प्रिय पूज्य स्थूल आकारमें उनको ज्ञान, वैराग्य, धर्म, ऐश्वर्य, दया, क्षमा और भक्तवत्सलता आदि अनेक शुभ गुणोंसे पूर्णरूपसे सम्पन्न मानकर परमात्माका माहात्म्य-ज्ञानपूर्वक परम प्रीतिसे सतत स्मरण-ध्यान करते रहना प्रथम प्रकारकी भक्ति है।

परमात्माको निराकार अर्थात् शान्त तेजोयुक्त सूक्ष्म आकारयुक्त समझकर, उनमें ज्ञानादि अनेक गुण हैं—ऐसी भावना करके माहात्म्य-ज्ञानपूर्वक परम प्रीतिसे सद्गुरुद्वारा उपदिष्ट परमात्माके नामका स्मरण तथा पूर्वोक्त दिव्य सूक्ष्म स्वरूपका सतत चिन्तन करते रहना—द्वितीय प्रकारकी भक्ति है।

शुद्ध सत्त्वगुणमय पवित्रतम परम प्रिय आकारमें, परमात्मा मायाके सर्वगुणोंसे रहित है, ऐसी भावना करके माहात्म्यज्ञानपूर्वक परम प्रीतिसे परमात्माका सतत स्मरण-ध्यान करते रहना—तृतीय प्रकारकी भक्ति है।

असङ्ग, अपरिणामी, अक्रिय और विशुद्ध चेतनरूप ब्रह्ममें भौतिक आकार और गुण सम्भव नहीं है—ऐसा समझकर ईश्वर, जीव और जगत्के अधिष्ठानरूप उस निराकार, निर्गुण ब्रह्ममें अपनी मनोवृत्तिको सतत संलग्न करते रहना चौथी प्रकारकी भक्ति है।

परमात्माकी अनन्य भक्ति असाध्यके सदृश भवरोगकी आत्यन्तिक निवृत्ति करनेमें अलौकिक औषधके समान है। जगत्में सर्वत्र परमात्माका दर्शन करानेमें वह अलौकिक सिद्धाञ्जनके सदृश है।

प्रभुका अनन्य भक्त प्रभुमें ही वास्तविक सुखका दर्शन करता है। जो मनुष्य प्रभुके स्मरण-ध्यान आदिरूप भक्तिमें अपने मनको संलग्न रखता है, वह संसारके दुःखोंसे कभी दुःखित नहीं होता, किंतु सर्वदा 'आनन्दी' रहता है।

कण्ठमें रुद्राक्ष-तुलसी आदिकी माला धारण करनेसे, विभिन्न प्रकारके तिलक करनेसे या अमुक प्रकारकी पोशाक पहननेसे ही कोई यथार्थ भक्त नहीं कहा जाता। वरं ये सब प्रवृत्तियाँ यदि लोगोंको दिखानेके लिये या अपने मनको ठगनेके लिये की जायँ तो उपकार करनेवाली न होकर अपकारक हो जाती हैं। भक्ति प्रभुको रिझानेके लिये है, जगत्को दिखलानेके लिये नहीं; यह बात भक्तको अवश्य सदा स्मरण रखनी चाहिये।

ब्रह्माण्डके दृश्यादृश्य समस्त प्राणि-पदार्थोंमेंसे तथा अलौकिक बल-रूप-ऐश्वर्योंमेंसे ममताका त्याग करके प्रभुका माहात्म्य समझकर, प्रभुको ही अपना सर्वस्व मानकर, मन तथा वाणीमें दीनता और सरलता रखकर विशुद्ध भावसे परम प्रीतिसे सतत प्रभुका स्मरण-ध्यान आदि करते रहना ही प्रभुकी वास्तविक, अव्यभिचारिणी अनन्यभक्ति है और ऐसी भक्तिसे ही भक्तको प्रभु-स्वरूपके साक्षात्कारद्वारा पुनरावृत्तिरहित मोक्षकी प्राप्ति होती है। ऐसी अनन्य और अव्यभिचारिणी भक्तिकी महिमा अपार है।

क्या आप किसी मानसिक दुःख या रोगसे पीड़ित हैं ?

(लेखक—डाक्टर श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

आजके युगमें हम असंख्य प्रकारके मानसिक रोगियों और दुखी व्यक्तियोंको पाते हैं । कुछ पत्र देखिये—

भिन्न-भिन्न प्रकारकी मानसिक निर्बलताएँ

'मैं कई सालोंसे मानसिक रोगोंसे पीड़ित हूँ । मौत और बीमारीके अनेक विचार निरन्तर मनमें विद्रोह मचाये रहते हैं । हर समय कुछ-न-कुछ चिन्ता बनी रहती है । घर, परिवार, व्यापारमें हानिका डर लगा रहता है । नींदतक नहीं आती । स्मरणशक्ति क्षीण हो गयी है । काममें मन नहीं लगता । मानसिक शान्तिके लिये कई गंडे-ताबीज करा चुका हूँ, परंतु कोई लाभ नहीं । मन जीवनसे ऊब गया है । डर लगा रहता है कि मैं कहीं पागल न हो जाऊँ । आप कोई इलाज बतायें ।'

सरकारी उपेक्षा

एक विद्वान् प्रोफेसरका मानसिक रोग इस प्रकार है—'मैं कभी बहुत अच्छा व्यक्ति समझा जाता था, पर मुझे सरकारकी ओरसे पदोन्नति नहीं मिली । मुझसे कम योग्यताके व्यक्ति मुझसे ऊपर सिफारिश और रिश्वतके बलपर चढ़ गये । मैं जहाँ-का-तहाँ हूँ । इस अत्याचारका मानसिक आघात मुझपर लगा है । फलस्वरूप पिछले नौ वर्षोंसे अनिद्रा, चिन्ता-शोकसे दग्ध हो रहा हूँ । मन काममें नहीं लगता । चारों ओर जैसे अन्धकार-ही-अन्धकार है । कोई प्रयोग मेरे लिये बतायें, तो आजीवन ऋणी रहूँगा ।'

आर्थिक कठिनाइयाँ

एक व्यापारी लिखते हैं—'मुझे व्यापारमें हानि-ही-हानि हो रही है । हाथकी सारी पूँजी स्वाहा होकर कुछ ऋण भी चढ़ गया है । इधर घरके खर्च वैसे-के-वैसे हैं । विवाहके योग्य सयानी कन्याएँ हैं । मन बड़ा भारी-भारी-सा रहता है । खर्चे पूरे होनेकी कोई सूरत नजर नहीं आती है । बताइये मैं क्या करूँ ?'

पारिवारिक कलह

एक सास बहूकी शिकायत करते हुए लिखती है—'मेरा पुत्र लेक्चरार हुआ । कमाने लगा, विवाह किया, पर बहू जैसा मैं चाहती थी, वैसी नहीं आयी । वह ठीक समयपर सोकर नहीं उठती, घरका कार्य नहीं करती, जिम्मेदारी नहीं सँभालती, खुले हाथ खर्च करती है और अपने देवरके सा दुर्व्यवहार करती है । मेरा भी समुचित आदर नहीं कर मेरा पुत्र उसके हाथमें है । घर तू-तू, मैं-मैंसे नरकधाम ब हुआ है । मैं तो ऊब गयी हूँ और किसी तीर्थस्थानपर भा जाना चाहती हूँ । मन दुःख और रोगसे भारी रहता है । यह संसार दुःखोंसे भरा है । जीवनका क्या लाभ है ?'

मानसिक रोगोंके कारण

ऊपर कुछ दुखी व्यक्तियोंकी मानसिक परेशानियों उल्लेख है । संसारमें ऐसे और भी हजारों मानसिक दुः हो सकते हैं । मानसिक रोग आजके सभ्य युगके अभिशा हैं । मनुष्यका 'अहं' तनिक-सी बातसे कुण्ठित हो जाता है यही गुप्त मनमें दबकर भावना-ग्रन्थि (complex)का रू धारण कर लेता है । मनकी प्रत्येक भावना जैसे क्रोध, नैराश्य द्वन्द्व, अतृप्ति, आतुरता, कामवासना, विक्षोभ, डर, उद्वे अभिमान, अहंभाव, अपराधवृत्ति गुप्तमनमें दबकर विकृति रूपमें फूट निकलती है । कुण्ठितभाव दबकर मानसिक रो बनता है । प्रत्येक उत्तेजक भाव सीमासे अधिक बढ़कर मानसिक विकृति बन जाता है ।

कुण्ठा मानस रोगोंकी जड़ है । हमारे जो भाव पूर्ण नहीं होते, वे ही मानस रोगोंका रूप धारण करते हैं । कोई मनो विकार देरतक गुप्त मनमें ठहरकर रोगका रूप धारण कर लेता है । क्रोध, भय, मद, शोक, लोभ, हिंसा, प्रतिशोध, द्वेष, दम्भ, निन्दा, आलस्य, प्रमाद, संशय, दीनता, कायरता इत्यादि कोई भी दुष्ट मनोविकार जब गहराईसे गुप्त मनमें जड़ पकड़ लेता है, तो मनुष्यका अन्तःकरण वैसे ही दूषित वातावरणसे ढक जाता है । वही विकार उसे चारों ओर नज आता है । समाजसे भी वह उसी भावको खींचता रहता है । उसकी बुद्धि संकुचित होकर कुण्ठाओंको अधिकाधिक जटिल करती जाती है । इस प्रकार मनुष्यका प्रत्येक विकार मानस रोग उत्पन्न कर सकता है । विषयभोग, तमोगुणकी प्रधानता सांसारिक चिन्ताएँ, अपनी शक्तियोंके प्रति अज्ञान और क्षोभ को न सँभाल पाना मानसिक रोग उत्पन्न करते हैं ।

मानसिक आघातोंको मनमें मत बैठने दीजिये

मानसिक रोगोंसे बचनेके लिये मनमें किसी आघात

ठेसको गहराईसे स्थान मत दीजिये । जैसे चट्टानपर पानी बह जाता है, चट्टानको कोई असर नहीं पड़ता; वैसे ही सांसारिक विघ्नबाधाओंको बह जाने दीजिये । उनसे अपनी आन्तरिक शान्ति भङ्ग मत होने दीजिये ।

कठिनाइयाँ, व्यापारिक हानियाँ, परिवारके क्लेश धीरे-धीरे समयके साथ स्वयं नष्ट हो जाते हैं । बड़ी-बड़ी मुसीबतें खुद टल जाती हैं, प्रतिकूलताएँ गायब हो जाती हैं । बस, आदमीको उतावला नहीं होना चाहिये । साहस तथा विश्वासके साथ मुसीबतोंका सामना करना चाहिये ।

हमारी सैकड़ों कठिनाइयोंका कारण हमारी क्षणिक भावुकता तथा उत्तेजनाएँ हैं । हमारा मन हमारे वशमें नहीं रहता, इसलिये कल्पनाद्वारा हम छोटी विघ्न-बाधाओंको बहुत बढ़ा-चढ़ाकर अधीर हो जाते हैं । यदि हम कुछ ठहरें, समयको गुजरने दें, तो स्वयं ही हमारी समस्याएँ सुगम होती जाती हैं । इसीलिये कहा गया है कि—

मनस्तापं न कुर्वीत आपदां प्राप्य ।

(गरुडपुराण १११ । २३)

विपदा आनेपर मनको दुखी नहीं करना चाहिये । यदि हमें यह ज्ञान हो जाय कि यह विपदा स्वयं टलनेवाली है । धीरे-धीरे उत्तम समय आनेवाला है । हम प्रकाशकी ओर चल रहे हैं । हमारी समस्याएँ अपने-आप हल होनेवाली हैं, तो हमारी बहुत-सी पीड़ाएँ स्वयं दूर हो जायँगी । समयकी गतिके साथ अज्ञान, मोह और विषयकामनाएँ समाप्त हो जाती हैं ।

किसी भी मनोविकारके तीव्र होनेपर उसके विरोधी शुभ सात्त्विक आत्मिक गुणका चिन्तन और अभ्यास करना चाहिये । अगर क्रोधसे परेशान हैं, तो प्रेमका चिन्तन कीजिये । यदि विषयवासनासे परेशान हैं, तो ब्रह्मचर्य, संयम, त्यागका चिन्तन कीजिये । भयके विचार आनेपर निर्भयता, साहस, शौर्यका चिन्तन कीजिये । लोभके विचार आनेपर त्याग और निस्पृहताका अभ्यास कीजिये । प्रत्येक सद्गुण फैलकर मनमें शान्ति और संतुलन पैदा करता है । सत्संकल्पसे मनमें स्वस्थ स्थिति उत्पन्न होती है ।

स्वतन्त्र मन रखिये । नये ज्ञान, विवेक और नये तरीकोंसे सोचनेसे मन स्वस्थ रहता है । कठिन परिस्थितिमें भी प्रसन्न, तृप्त और संतुलित रहनेकी आदत बनाइये । यह स्थिति धीरे-धीरे अभ्याससे आती है ।

भावात्मक परिपक्वता बढ़ाइये । अर्थात् जो आपकी उम्र है, उसीके अनुसार मनकी भावनाओंका विकास करते चलिये । बड़े होकर बच्चों-जैसी आतुरता, उत्तेजना, तनिक-तनिक-सी बातोंसे परेशानी—ये सब बचपनकी आदतें छोड़ दीजिये ।

किसी शौककी आदत डालिये । बागवानी, गोसेवा, पक्षियोंसे प्रेम, घरकी स्वच्छता, संगीत, सत्साहित्य-पठनपाठन, लेखन इत्यादिकी आदत डालिये । व्यर्थकी चिन्तासे मन हटाकर कहीं घूमने, किसी भले मित्रसे मिलने, कोई अच्छा दृश्य देखने, स्नान करने, थोड़ी देर पृथक् हटकर कहीं बाहर चले जानेसे समस्या स्वयं हल हो जायगी ।

चिन्तापर विजय प्राप्त करनेका सर्वोत्तम उपाय धार्मिक विश्वास है । संसारमें मङ्गलमय प्रभुका ही शुभ विधान चल रहा है । ईश्वर स्वयं हमारा भला ही करनेमें लगे हुए हैं । उनके द्वारा भविष्यमें हमारी भलाई ही होनेवाली है । ईश्वरका विश्वास सब भयोंसे सुरक्षित रहनेका रामबाण उपाय है । ईश्वर सब निराशाओंकी आशा, असहायोंका सहाय है । जो कष्टके समय ईश्वरका चिन्तन करता है, उसे बड़ी मानसिक शान्ति प्राप्त होती है । जितनी देर ईश्वर-चिन्तन, भजन, पूजन, शुभ चित्रोंका दर्शन बना रहेगा, उतनी देर सांसारिक चिन्ताएँ, घबराहट और समस्त क्लेशोंसे मन मुक्त रहेगा । ईश्वरचिन्तन आदिकालसे संसारके दुःखोंको दूर करता रहा है ।

मनको निरुद्देश्य मत भटकने दीजिये । कोई उपयोगी, कोई नया, कोई अच्छा-सा काम चालू कीजिये । यदि आप अपनेको थका हुआ अनुभव करते हैं, तो सोकर तरोताज़गी और नयी शक्ति प्राप्त कर लीजिये । जिन बातोंपर आपका कोई वश नहीं, उनकी चिन्ता छोड़ दीजिये ।

बाहरी विषमताएँ, ये हानि-लाभ, ये कष्ट और पीड़ाएँ आते-जाते ही रहेंगे । हमें चाहिये कि परिस्थितियोंकी विषमताको आने-जानेवाला समझकर उन्हें सहन करें । कठोर परिस्थितियोंकी उपेक्षा करें । बाहरी उथलपुथलको महत्त्व न दें । पीछे मुड़कर केवल अतीतको देखनेसे कोई लाभ नहीं । अतः आगे बढ़िये । विरोधी परिस्थितियोंमें भी अविचल रहिये ।

शुभ चिन्तन किया कीजिये

प्रातः-सायं अपने मनमें दृढ़तासे स्वास्थ्य, आरोग्य और शान्तिके विचार तेजीसे लाया कीजिये । उन्हें मनमें अधिक-से-अधिक ठहराइये । सुखके विचारों, हर्ष, उत्साह और प्रसन्नताके

भावों तथा सफलताओंकी कल्पनासे उत्तम वातावरण बनता है। अतः पूरे दृढ़ विश्वाससे निम्न विचारोंको मनमें बैठाइये—

अपामीवामप विश्वामनाहुतिमपारातिं दुर्विदत्रामघायतः।
आरे देवा द्वेषो अस्मद् युयोतनोरु णः शर्म यच्छता स्वस्तये॥

हे दिव्य शक्तियो! रोगको दूर करो। सब प्रकारकी अश्रद्धाको दूर करो। पाप-प्रिय (लोगों) की कंजूसी और बुरी कमाईको दूर करो। शत्रु-भावको हमसे दूर करो। हमें उदार शान्त-भाव प्रदान करो। जीवन सफल हो। (ऋ० १०। ६३। १२)

स्वस्तिरिद्धि प्रपथे श्रेष्ठा रेक्णस्वत्यभि या वाममेति।
सा नो अमा सो अरणे नि पातु स्वावेशा भवतु देवगोपा॥

सत्-जीवनका मार्ग विशाल है। वह ऐश्वर्यका बीज और सौन्दर्य-लक्ष्मीका द्वार है। देवता उसके रक्षक होते हैं। वह हमारे अंदर पैदा होकर हमारा साथ दे। हम घरपर हों या बाहर, वही हमारी रक्षा करे। (ऋ० १०। ६३। १६)

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽ-
दब्धासो अपरीतास उद्भिदः।
देवा नो यथा सदमिद् वृधे
असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे॥

सब ओरसे भले भाव हमें प्राप्त हों। उनमें कोई धोखा न होसके। उनमें कोई रुकावट न पड़ सके। वे सदा उन्न होते रहें ताकि प्रमादरहित देवताओंसे प्रेरणा पाते हुए ह प्रतिदिन अधिक-अधिक वृद्धिको प्राप्त होते रहें। (यजु २५। १४)

संसारके कोलाहल, हानि-लाभ, जीवन-मरण, कष्ट-पीड़ा हमें व्यग्र नहीं होना चाहिये। ईश्वरके इस अनन्त साम्राज्य हमें सभी समृद्धियाँ, यश और आरोग्य प्राप्त होते है परमात्मासे हम जितना ही अपना सम्बन्ध जोड़ेंगे, उतना मनमें गुप्त शक्तियाँ और शान्ति प्राप्त होंगी; क्योंकि शक्तियोंका आदिस्रोत परमात्मा ही है। संसारके सत्य, त्या प्रेम और सद्विचार परमात्माके आधारपर ही टिकते हैं।

ईश्वरके साथ गहरा और अटूट सम्बन्ध हो जाने मनुष्यकी भीरुता, संकीर्णता, संदेह, अशान्ति, विभीषिका औ पीड़ाएँ दूर हो जाती हैं। उसकी सब आशाएँ पूर्ण होती है

* * *

तुम्हारा प्यार चाहता हूँ

साधनाके पथपर हे देव! तुम्हारा प्यार चाहता हूँ।
उमड़ता भवका पारावार,
पड़ी मेरी नैया मझधार।
तुम्हीं नाविक हो नंदकुमार!
आर्तजनकी सुन करुण पुकार—
लगाओ पार, चाहता हूँ
तुम्हारा प्यार चाहता हूँ॥ १॥

बिछा है काम-बधिकका जाल,
प्रज्वलित क्रोध-अग्नि विकराल।
लोभ मुँह बाये खड़ा विशाल,
तीन इन रिपुओंसे तत्काल—
करो उद्धार, चाहता हूँ।
तुम्हारा प्यार चाहता हूँ॥ २॥

धर्म-पथपर चलनेका चाव,
न टिक पाते पर मेरे पाँव;
चित्तपर कलुषित कुत्सित भाव
न डाले जिससे कभी प्रभाव—
वही प्रतिकार चाहता हूँ।
तुम्हारा प्यार चाहता हूँ॥ ३॥

—पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री

* * *

जीवन-यज्ञ

(लेखिका—आदरणीया बहिन श्रीरैहाना तैयबजी)

एक भाईने उत्सुकतासे पूछा, ''बहिनजी ! दैनिक 'हिन्दुस्तान'में आपके बारेमें जो लिखा गया है, सो सारा सच है ?''

मैं—''अक्षरशः ! विमला बहनने वाकई गज़ब किया है ! उस पूरे लेखमें एक ही शब्द ऐसा है जिसे मैं ज़रा-सा ग़लत कह सकूँ । लेखिका रैहाना पंडितजीको 'जवाहरलाल' कहती है। मैं उन्हें कभी 'जवाहरलाल' नहीं कहती। मैं कहती हूँ या तो 'पंडितजी,' या 'जवाहरलालजी,' या 'नेहरू'।''

जिज्ञासु—'उस लेखको पढ़कर मेरे मनमें कई सवाल-जवाब उठे और मैं उन बातोंपर आम व खुली चर्चा चाहता हूँ। इसकी इजाज़त होगी ?'

मैं—''बखुशी ! जरूर चर्चा छेड़िये !''

जिज्ञासु—''यज्ञ-याग और होम-हवनके भौतिक या सूक्ष्म फायदोंको तो हम समझ चुके हैं, लिहाज़ा उन्हें तो बालाए-ताक ही रहने दें। मुझे तो आज जीवनकी पड़ी है; इन यज्ञ-यागोंसे रोज़मर्राके जीवनमें सुधार आ सकता है क्या ?''

बेटा जितेन्द्र—''माँ, इसका जवाब मैं दूँ !···भाई साहब, मेरे लत्तेमें बच्चोंके क्या हाल थे, बस कुछ न पूछिये ! दिनभर लड़ाई-झगड़े, गाली-गलौज और सिनेमा (अरे माफ़ कीजिये, माँ ! चलचित्र !) के अश्लील और घटिया गाने ! आज, सुबहसे लेकर राततक बच्चे मन्त्र, भजन और तरह-तरहके कीर्तन गाते फिरते हैं। वातावरणमें ऐसा तो फ़र्क हो गया है—क्या बताऊँ ?''

एक बहन—''मेरे बच्चोंको अंग्रेजी किताबों, अंग्रेजी प्रेमकथाओं, अंग्रेजी चलचित्रों और अंग्रेज़ी नाच-गानोंके सिवाय कुछ आता ही नहीं था। हमारे घरके क़रीब ही एक बड़ा यज्ञ चल रहा था, तो एक टोलीके साथ मेरे बच्चे भी,—सिर्फ़ ज़रा देखने और तमाशबीनीकी वृत्तिसे—उसमें जा बैठे। मैं क्या बताऊँ, बहनजी, उनपर क्या असर हुआ ! कहीं तो गीता पढ़ी और समझायी जा रही थी; कहीं भागवतका दौर चल रहा था; कहीं मन्त्रोंकी गूँज थी, तो कहीं भजनोंका भक्ति-स्रोत ! मेरे बच्चे चकाचौंध हो गये बहनजी ! कहने लगे, 'माँ ! हमें पता ही नहीं था कि भारतमें ऐसी-ऐसी चीजें भी हैं !' अब मेरे बच्चे बड़े शौक़से हिंदीका अभ्यास करने लगे हैं और तीनों बड़े बच्चोंने अपनी-अपनी शालाओंमें संस्कृतका विषय पसंद किया है। बहनजी ! इससे हमारे तमाम घरका वातावरण बदल गया है। मेरे बच्चोंको भारत मिला है ! और जब मैं सोचती हूँ कि मेरे घरमें जो हुआ है सो भारतके हज़ारों और लाखों घरोंमें हुआ होगा, तो मेरा चित्त आनन्दविभोर होकर भगवान्‌के चरणोंमें लोटने लगता है ! मैं तो कहती हूँ कि बलिहारी इन अष्टग्रहोंकी ! इन्होंने हमारा जीवन बदल दिया।'

एक भाई—(तनिक शरारतसे) ''और यह जो हज़ारहा मन घी खराब हुआ सो ?''

बहन—(उत्तेजित होकर) ''अरे भाडमें जाय आपका हज़ारहा मन घी !''

भाई (मुस्कराकर बड़ी नरमीसे)—''तो भाड़हीमें तो गया, बहनजी !''

एक दूसरी बहन—''तो जाने दीजिये भाड़में ! उस घीने भाड़में जाकर हमें भाड़से निकाला है, उसका क्या ? जिससे हमारी पूरी कौममें एक सुधारकी लहर जाग गयी, इसमें ज़रा भी शक नहीं ! कौमका महत्त्व क्या घीसे कम है ? आपलोग बरसोंसे इस कल्याणकी योजना और उस कल्याणकी योजना करते आये हैं और इन चौदह सालमें भारतके इन्सानोंका क्या कल्याण कर डाला है ? बड़े-बड़े नानगल बनाये—पर बाढ़को जब आना हुआ, तब वह आकर ही रही कि नहीं ? पूनाके लोग ठेकेदारोंकी बेईमानीपर कुरबान हुए। आपने चन्दीगढ़ बनाया और अशोका होटेल बनाया और बड़े-बड़े परदेशी ढंगके बेढंगे मकान बनाये। आपने बड़े-बड़े कारखाने खोले और मौज-शौककी नयी-नयी चीजें बनायीं और कहने लगे 'भारतने बड़ी प्रगति की है।' हम माँ-बापसे पूछिये कि भारतने क्या प्रगति की है !—हम माँ-बाप, जो एक तरफसे अपने बच्चोंको आजकी तालीम दिलाते लुट और खुट जाते हैं; और दूसरी तरफ विद्यापीठोंके विषैले वातावरणसे बिगड़े हुए विद्यार्थीयुवकोंके भोग-विलास निभाते-निभाते लुट और खुट जाते हैं ! आपलोग इन्सानोंको इन्सान बनानेकी तो कोई तरकीब सुझाते नहीं और 'मनों घी' के रागड़े अलापते फिरते हैं।''

हमलोग सन्नाटेमें आ गये। मेरी आँखोंमें आँसू भर आये और मैंने मुँह मोड़ लिया। मुझे मालूम था कि इस आफतजदा माँकी बेटीने एक प्रतिष्ठित विद्यापीठके छात्रावासमें रहकर क्या क़हर मचाया था

और किस बेदर्दी, खुदग़रजी और निर्लज्जतासे पूरे कुटुम्बके माथेपर स्याह टीका लगा दिया था। मुआमिला बहुत ही शर्मनाक था और अगर विद्यालयके बड़ोंमें नीति और शराफतका कुछ भी लिहाज़ होता, तो जिन लड़कों और लड़कियोंने यह अश्लील विलासोत्सव मनाया था उन्हें कड़ी सजाएँ दी जातीं। मगर लड़के-लड़कियोंके माँ-बाप बड़े-बड़े लोग थे, लिहाजा बात दबा दी गयी। फिर भी जहाँ दाग लगे, वहाँ दाग तो रहे ही। इसे माँका ग़म समझकर मैं ख़ामोश रही।

एक सत्संगी भाई इस मुआमिलेसे वाकिफ़ थे और अब उन्होंने एक बहुत ही मौलिक और महत्त्वपूर्ण सवाल पूछा। बड़ी गम्भीरतासे बोले, "बहनजी, इन यज्ञ-यागोंका हम कुछ इस तरह उपयोग नहीं कर सकते कि जिससे हमारे जीवनमें फिर कुछ सभ्यता, नीति, रूहानी क़दरें, सामाजिक जिम्मेदारी और इन्सानियत आ जाय?"

योगदा-मण्डलके एक प्रतिष्ठित व्यक्तिने जवाब दिया, 'क्यों नहीं? मेरे सत्संग-मण्डलने इस तरहकी चेष्टा करनेकी सोची है। आपलोग जानते हैं कि जनवरीके पूरे महीनेमें हमलोगोंने तीस लाख मृत्युञ्जय-मन्त्र जपा है—विश्वकल्याणार्थ। इससे हमलोगोंपर ऐसा जबरदस्त असर हुआ और हमारे बच्चोंपर ऐसा कल्याणकारी प्रभाव पड़ा कि पाँच फरवरीकी शानदार पूर्णाहुतिके बाद हम सभीने तय किया कि हम इस कामको जारी रखेंगे। लिहाजा, संकल्प किया कि अबकी बार पूरा साल मन्त्रानुष्ठान करके सन् ६३ में उसकी पूर्णाहुतिका यज्ञ करें। साथ-ही-साथ हमें कुछ सुझाव भी मिले। अबके सुझाव यह था कि जो लोग पूर्णाहुतिमें हवि देना चाहेंगे सो अपने-अपने जीवनसे पाँच पापोंको निकाल छोड़ें—शराब, जुआबाज़ी और सट्टाबाजी, व्यभिचार और हर तरहकी अश्लीलता, रिश्वतबाजी, काले बाजार और हर तरहकी बेईमानी और पाँच मानसिक और कर्मिक हिंसा—यानी, लड़ाई-झगड़े-फसाद, निन्दा और फितना-अंगेज़ी, इत्यादि। जो चाहे, इन पाँच चीजोंकी प्रतिज्ञा ले ले कि वह न यह पाप करेगा, न किसीके ऐसे पापमें शरीक रहेगा, न किसीके ऐसे पापोंको प्रोत्साहन देगा; और (सबसे महत्त्वपूर्ण) वह इन पापोंके निवारणमें अपनी पूरी शक्ति लगा देगा—वाचासे, कर्मसे, विचारसे और प्रार्थनासे। जिसे जो प्रतिज्ञा लेनी हो, ले सकता है; मगर पूर्णाहुतिकी पावन और पवित्र आगमें हवि देनेका अधिकार उसीको होगा जो इन पाँच पापोंसे मुक्त होगा। आशा है हम इस प्रयत्नमें सफल रहेंगे। दिल्लीका विषैला और आसुरी जीवन सरकारी योजनाओंसे नहीं सुधर सकता—यह मुआमिला तो और जनार्दनके बीचका है।"

हमारी पाण्डव-सेनाने इस बातको बड़े ज़ौक और शौकसे सुना। श्रीमती कमलादेवीने कहा, "कुछ करना चाहिये। शहरका सड़ा हमारे छोटे-से-छोटे गाँवतक पहुँच रहा है। मैं गाँवमें पुरानी चीजें ढूँढ़ने निकलती हूँ, तो लोग मुझे नया-नया कचरा-माल बताते हैं और कहते हैं, 'नहीं जी, पुराना माल आपके लिये नहीं!' गुड़ियोंके मुँह अंग्रेजी गुड़ियोंके होते हैं। एक बच्चोंकी शालामें कुछ नाच देखने गयी, तो शिक्षिकाने एक बच्चीका मुँह और बाहें पाउडरसे तमाम सफेद-सफेद कर दिया था। मैं बोली, 'ऐसा क्यों करते हैं?' वह बोली, 'चमड़ी देखिये कैसी है!' मैं बोली, 'मेरी चमड़ी भी ऐसी ही है!' यानी गाँवके लोगोंमें गाँवके लिये तिरस्कार पैदा किया जाता है और शहरोंका आदर-आकर्षण। मैं कहती हूँ, 'आप अपने घरोंपर पुराने ढंगसे सुन्दर-सुन्दर चित्र क्यों नहीं बनाते?' तो वे चटसे जवाब देते हैं, 'आप दिल्लीमें अपने बंगलोंपर तो नहीं बनाते! यह क्या हो रहा है मैं कुछ समझ नहीं सकती!" और कमलादेवी ठंडी साँस लेकर खामोश हो गयीं। यह क्या हो रहा है सो तो ज़ाहिर है। पर हम भारतकी जनता, इसे कबूल क्यों करें? हम इस चीज़का जबरदस्त प्रतीकार क्यों न करें? भारत भारतीयोंका है। भारतमें भारतीय, भारतीय बनकर क्यों न रहें? हमारे पीछे भारतका योग-बल और हमारे आगे हमारे साधु-संतोंकी अनन्त और अटूट कतार है। बापूजीका शिक्षण हमारा मार्गदर्शक है। हम क्यों डरें?

'मंगल प्रभात'

◆

इस भारत-चीन-युद्धकी विकट स्थितिमें भी विश्वासपूर्वक सर्वहितमय मङ्गल परिणामकी प्राप्तिके लिये देवाराधनाका ही अनुष्ठान करना-कराना चाहिये।

—सम्पादक

शक्ति-प्रकटनका महत्त्वपूर्ण उपाय—अभ्यास

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

विश्वका प्रत्येक मानव चाहता है कि उसे सफलता मिले, पर केवल चाहनेसे ही तो कोई वस्तु प्राप्त नहीं हो जाती, उसके लिये अपेक्षित योग्यताका विकास करना भी आवश्यक होता है। प्रत्येक आत्मामें अनन्त शक्ति है, पर वह दबी या छिपी हुई है, इसलिये उसका सही भान मनुष्यको स्वयं नहीं होता। अतः वह अपनेको शक्तिहीन या कमजोर मान बैठता है। शक्तिके विकासके लिये योग्य वय, शारीरिक स्थिति और अनुकूल साधना भी आवश्यक होती है, जैसे बाल्यवयमें शारीरिक स्थिति शक्ति-प्रकटनके अनुरूप नहीं होती, पर ज्यों-ज्यों शरीर सशक्त हो जाता है, शक्ति प्रकट होती जाती है। यह तो शक्ति-प्रकटनका प्राकृतिक तरीका है, पर अपनी बुद्धि और कर्मोंसे भी शक्तिका विकास मनुष्य आश्चर्यजनक रूपसे कर सकता है। जैसे शारीरिक शक्तिको बढ़ानेके लिये व्यायाम उत्तम साधन है, वैसे ही बौद्धिक एवं ज्ञानशक्तिका विकास करनेके लिये स्वाध्याय-चिन्तन विशिष्ट उपाय है।

प्रत्येक कार्य आरम्भमें एक बार कठिन-सा लगता है, पर जब साहसपूर्वक उसको करनेमें जुट जाते हैं तो थोड़े समयके बाद ही वह कठिन कार्य सरल बन जाता है। जिस कार्यको करना हम अभी असम्भव-सा मानते हैं, वही सम्भव हो जाता है। तब कहिये वह कार्य-शक्ति आयी कहाँसे? वस्तुतः वह अपने भीतर ही छिपी हुई थी और अभ्यास एवं प्रयत्नके द्वारा प्रकट हो गयी।

मनकी दुर्जेयता सर्वविदित है। बड़े-बड़े योगी-महात्माओंने भी मनको वशमें लाना बहुत ही कठिन बतलाया है, पर गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा कि 'अभ्यास और वैराग्यके द्वारा मन वशमें किया जा सकता है।' वास्तवमें अभ्यास शक्ति-प्रकटन और सफलताका महान् साधन है। पुनः-पुनः प्रवृत्तिका नाम अभ्यास है और मन इधर-उधर भटकने लगता है तो उसे बार-बार स्थिर और शान्त करनेका प्रयत्न किया जाता है तो पुनः अभ्यासके द्वारा आखिर एक दिन चित्तकी चञ्चलता स्थिरतामें परिणत हो जाती है। मन थक जाता है और हार मानकर आत्माके अनुकूल बन जाता है। अभ्यासकी व्याख्या करते हुए कहा गया है—

चित्तवृत्तीनामेकस्मिन् आलम्बने सर्वतः समाहृत्य पुनः पुनः स्थापनम्—अभ्यासः।

यदि हम किसी कार्यको कठिन समझकर छोड़ देते हैं तो वह कठिन न होनेपर भी हमारे लिये तो बहुत कठिन हो जायगा, अतएव किसी भी कार्यको करनेके लिये सबसे पहले मनमें ऐसे दृढ़ संकल्पकी अत्यन्त आवश्यकता है कि करेंगे या मरेंगे! ऐसे दृढ़ संकल्पके सामने असम्भव कार्य भी सम्भव हो जाता है। नेपोलियन बोनापार्टने कहा था कि 'असम्भव शब्दको ही शब्दकोशसे निकाल दिया जाय।' हमारे मनीषियोंने भी कहा है।

मनके हारे हार है मनके जीते जीत॥

हम देखते हैं कि बहुत-से ऐसे कार्य, जिन्हें हम नहीं कर पाते, पर दूसरे व्यक्ति उन्हें करते ही हैं। उनसे हमें प्रेरणा लेनी चाहिये कि हम भी प्रयत्न करनेपर वैसा कर सकेंगे। उसके नहीं हो सकनेका कोई कारण नहीं है, यदि कोई कारण है भी तो उस बाधक कारणको प्रयत्न तथा अभ्याससे हटाया भी जा सकता है। अतः सबसे प्रथम आवश्यकता है आत्मविश्वासकी। हम अपनी शक्तिका भान भूल चुके हैं, इसलिये मनकी कमजोरीको हटाकर साहसके साथ कार्य करनेसे जुट जाना है।

अभ्यास करते हुए भी शक्ति प्रकट नहीं हो रही है या सफलता नहीं मिल रही है तो उसका कारण

ढूँढ़िये एवं अपनी भूल सुधारिये। शक्तिका विकास समय-सापेक्ष है, जिसमें योग्यता या प्रतिभा अधिक होती है, वह थोड़े प्रयाससे अधिक सफलता प्राप्त कर सकता है और जिसमें उसकी कमी है, उसके लिये अधिक समय एवं श्रम लगाना अपेक्षित है। इसलिये अभ्यास करते हुए भी सफलता प्राप्त न हो तो निराश मत होइये तथा धीरजके साथ उसमें लगे रहिये। उतावली करनेसे कोई काम नहीं होता।

धीरे धीरे ठाकराँ, धीरे ही सब होय।
माली सींचे सौ घड़ा, ऋतु आयाँ फल होय॥

यह निश्चय रखिये कि अभ्यासके द्वारा आप सफलताके समीप पहुँच रहे हैं। जब कार्यसिद्धिके अनुरूप अभ्यास हो जायगा तो सफलता अपने-आप मिल जायगी। जैसे मामूली रस्सीके बार-बार घिसारेसे कठिन पत्थरमें भी निशान या रेखाएँ पड़ जाती हैं, वैसे ही मूर्ख भी विद्याभ्यास करते-करते पण्डित बन जाता है। कहा भी है—

करत करत अभ्यासके जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत-जात ते सिलपर परत निसान॥

नीतिज्ञोंने कहा है कि अधम पुरुष वे हैं, जो कार्यको कठिन समझकर उसके करनेके लिये प्रवृत्त ही नहीं होते, मध्यम वे हैं जो साहसके साथ कार्यका प्रारम्भ तो कर देते हैं, पर विशेष कठिनाई आनेपर रुक जाते हैं, और उत्तम वे हैं जो अनेक बाधाएँ आनेपर भी आगे बढ़ते जाते हैं। अब आपको अधम, मध्यम और उत्तम—इन तीनोंमेंसे कौन-सा बनना है? स्वयं सोचिये। जीवनमें सफलता चाहते हैं तो पुनः-पुनः अभ्यास करते रहिये। उत्साहहीन होकर बीचमें न छोड़िये। विश्वास रखिये शक्ति प्रकट होगी ही और सफलता मिलेगी ही।

चिरकालीन एवं निरन्तर अभ्यासके द्वारा आदत पड़ती है। यह ध्यानमें रखिये कि आप बुरी आदतोंके शिकार न हो जायँ। यदि कोई बुरी आदत पड़ गयी है तो उसे छोड़नेका पूर्ण प्रयत्न कीजिये और अच्छी आदतें डालनेका अभ्यास करते रहिये। तभी आप महान् बन सकेंगे।

यह प्रसिद्ध है कि विद्या अभ्यासके द्वारा आती है और अभ्यास किये बिना विस्मृत हो जाती है। अभ्याससे विद्या और बुद्धि बढ़ती है, इसलिये सारी सफलताका मूल निरन्तर अभ्यास करते रहना ही ठीक है। किसी महापुरुषने कहा है—

अभ्यासेन क्रियाः सर्वा अभ्यासात् सकलाः कलाः।
अभ्यासाद् ध्यानमौनादि किमभ्यासस्य दुष्करम्॥

अर्थात् सब कार्योंकी सिद्धि अभ्यासके द्वारा ही होती है। समस्त कलाओंकी साधना भी अभ्यासके द्वारा ही होती है। ध्यान, मौन आदि आत्मोत्थान भी अभ्यासके द्वारा ही सिद्ध होता है। अभ्यास करनेवालेके लिये कोई भी काम कठिन नहीं है। कठिन काम भी अभ्यासके द्वारा सुगम हो जाते हैं। इसलिये आत्मविश्वासके साथ, हतोत्साह हुए बिना, अभ्यासको चालू रखिये, सफलताकी प्राप्ति निस्संदेह है। अंग्रेजीमें कहावत है कि 'Practice makes a man perfect.' अभ्याससे मनुष्य पूर्णत्व प्राप्त करता है।

अज्ञोऽपि तज्ज्ञतामेति शनैः शैलोऽपि चूर्ण्यते।
बाणोऽप्येति महालक्ष्यं पश्याभ्यासविजृम्भितम्॥

अभ्यासका माहात्म्य देखो। अभ्याससे मूर्ख विद्वान् बन जाता है, धीरे-धीरे पर्वत भी चूर्ण हो जाता है और बाण भी अपने महान् लक्ष्यको प्राप्त हो जाता है।

जलमभ्यासयोगेन शैलानां कुरुते क्षयम्।
कर्कशानां मृदुस्पर्शं किमभ्यासान्न साध्यते॥

अभ्यासके सहयोगसे कोमल-स्पर्शी जल कठोर पर्वतोंका क्षय कर देता है। अभ्याससे किस वस्तुकी सिद्धि नहीं होती।

दीपावली-विज्ञान

(लेखक—श्रीरणछोड़दासजी 'उद्धव')

[गताङ्कसे आगे]

दीपावलीसम्बन्धित एकादशी आदि अन्य तिथियाँ

'दीपावलीपर्व' से सम्बन्ध रखनेवाले कुछ सापेक्ष प्रसङ्गोंकी ओर लक्ष्मी-प्रेमियोंका ध्यान आकर्षित किया जा रहा है। वैष्णव-जगत्में वैष्णवी 'एकादशी' तिथिकी बड़ी महिमाका पुराणशास्त्रमें वर्णन है। अधिक मासके सहित एक वर्षमें १३ मासकी २६ 'एकादशी' तिथियाँ हो जाती हैं। निम्नलिखित विवरण देखिये—

१ मार्गशीर्ष कृष्ण	एकादशी	'उत्पन्ना'	(१)	१	संवत्सरके देवप्राणका विकास-काल इसमें देव जाग्रत् हैं और असुर सुप्त हैं।
२ ,, शुक्ल	,,	'मोक्षा'	(२)		
१ पौष कृष्ण	,,	'सफला'	(३)	२	
२ ,, शुक्ल	,,	'पुत्रदा'	(४)		
१ माघ कृष्ण	,,	'षट्तिला'	(५)	३	
२ ,, शुक्ल	,,	'जया'	(६)		
१ फाल्गुन कृष्ण	,,	'विजया'	(७)	४	
२ ,, शुक्ल	,,	'आमर्दकी'	(८)		
१ चैत्र कृष्ण	,,	'पापमोचनी'	(९)	५	
२ ,, शुक्ल	,,	'कामदा'	(१०)		
१ वैशाख कृष्ण	,,	'वरूथिनी'	(११)	६	
२ ,, शुक्ल	,,	'मोहिनी'	(१२)		
१ ज्येष्ठ कृष्ण	,,	'अपरा'	(१३)	७	
२ ,, शुक्ल	,,	'निर्जला'	(१४)		
१ आषाढ़ कृष्ण	,,	'योगिनी'	(१५)	८	
२ ,, शुक्ल	,,	'पद्मा'	(१६)		संवत्सरके आसुरप्राणका प्रधान काल इसमें असुर जाग्रत् हैं और देव सुप्त हैं।
१ श्रावण कृष्ण	,,	'कामिका'	(१७)	९	
२ ,, शुक्ल	,,	'पुत्रदा'	(१८)		
१ भाद्र कृष्ण	,,	'अजा'	(१९)	१०	
२ ,, शुक्ल	,,	'वामना'	(२०)		
१ आश्विन कृष्ण	,,	'इन्दिरा'	(२१)	११	
२ ,, शुक्ल	,,	'पापांकुशा'	(२२)		
१ कार्तिक कृष्ण	,,	'रमा'	(२३)	१२	
२ ,, शुक्ल	,,	'प्रबोधिनी'	(२४)		
१ मलिम्लुच कृष्ण	,,	'कमला'	(२५)	१३	
२ ,, शुक्ल	,,	'सुभद्रा'	(२६)		

इन २६ एकादशियोंमेंसे यहाँ आषाढ़ शुक्लपक्षकी 'पद्मा' तथा कार्तिकशुक्लपक्षकी 'प्रबोधिनी' नामकी एकादशियोंकी ओर ही विशेषरूपसे ध्यान देना है।

'आपो वै पुष्करपर्णम्' इत्यादि वेदवचनके अनुसार पुष्करात्मक पद्मको ही **'आपः'** कहा गया है, जिससे संकेत-विधिके द्वारा 'आपोमय-परमेष्ठी' आ जाता है। आषाढ़शुक्ल

एकादशीसे आरम्भ कर कार्तिकशुक्ल दशमी तक वर्षाके चार महीनोंमें भूपिण्ड अपने परिभ्रमणात्मक क्रान्तिमण्डलके साथ आपोमय (पुष्करपद्मरूप) पारमेष्ठ्य समुद्रकी ओर हो जाता है । अर्थात् इन चार महीनोंमें पार्थिव जगत्में आपोमय पारमेष्ठ्य वारुणप्राणका ही प्राधान्य हो जाता है, जो कि वारुणप्राण ऐन्द्र-देवप्राणोंका प्रतिद्वन्द्वी माना गया है । अतः इस कालमें देवताओंकी सुषुप्ति मान ली गयी है । सचमुच सौर पार्थिव-मण्डलकी ज्योतिर्मयी लक्ष्मी इन चार महीनोंमें आरम्भकी आषाढ़शुक्ल एकादशी तिथिमें अपने वरुणालयरूप पद्मालयसे समन्विता बनती हुई तमोभावमें ही परिणत हो जाती है । इन्द्रकी लक्ष्मी यों मानो ऐन्द्राग्न देवताओंसे रुष्ट होकर अपने धाम—परमेष्ठीरूप पद्मालयका ही आश्रय ले लेती है । इसी वारुणपाद्म पारमेष्ठ्यभावको संकेतभावसे सूचित करनेके लिये ही पुराणपुरुष भगवान् व्यासने आषाढ़शुक्लकी एकादशीको 'पद्मा' नाम दिया है, यही 'देवशयनी' कहलायी है ।

प्राणाग्निकी वर्षाकालीना सुषुप्तिके आधारपर ही तो प्राणाचार्यों (वैद्यों) ने **'वर्षासु दोषाः कुप्यन्ति तेऽम्बुलम्बाम्बुदेऽम्बरे'** (अष्टाङ्गहृदय) यह सिद्धान्त व्यवस्थित किया है । वर्षाऋतुमें अग्नि मन्द हो जाती है, अतएव भिषग्वरोंने आहारादिकी लघुताका ही आदेश दिया है । वर्षाकालके देव कब जागते हैं ? इसी प्रश्नका समाधान वह कार्तिकमास है, जिसके आरम्भसे ही सांस्कृतिक प्रजामें देवजागरण-महोत्सव आरम्भ हो जाता है । देवजागरणका अर्थ है—सौरपार्थिव—ऐन्द्राग्नदेवप्राणोंका अपने स्वरूपमें आना । इनके स्वरूपमें आनेका अर्थ है—लक्ष्मीका पद्मालयसे विष्णुकी प्रेरणाके द्वारा पुनः पद्मासना बनना, अर्थात् पार्थिव सौरमण्डलमें प्रबुद्ध होना । इस प्रबोधनसे ही चार महीनोंके अन्तकी कार्तिकशुक्ल एकादशी 'प्रबोधिनी' नामसे प्रसिद्ध हुई है । देवप्राणको ही अपनी मूलप्रतिष्ठा बनानेवाली भारतीय सांस्कृतिक प्रजाके लिये इससे बड़ा माङ्गलिक पर्व दूसरा क्या होगा, जिसमें देवप्राण पुनः प्रबुद्ध होकर लोकलक्ष्मीरूपसे इसकी जीवनधाराका अनुगामी बन जाता हो ? फलस्वरूप जो माङ्गलिक विधिविधान चार मासमें रुके हुए थे, वे प्रबोधिनीसे पुनः प्रारम्भ हो जाते हैं । अतः पुराणपुरुषने प्रबोधिनी एकादशीका अत्यन्त उल्लाससे यशोवर्णन कर दिया है । जैसा कि निम्नलिखित कतिपय वचनोंसे प्रमाणित है—

तावद् गर्जति विप्रेन्द्र गङ्गा भागीरथी क्षितौ ।
यावन्नायाति पापघ्नी कार्तिके हरिबोधिनी ॥
तावद् गर्जन्ति तीर्थानि आ समुद्रसरांसि च।
यावत् प्रबोधिनी विष्णोस्तिथिर्नायाति कार्तिके।
वाजपेयसहस्राणि अश्वमेधशतानि च।
एकेनैवोपवासेन प्रबोधिन्यां लभेन्नरः।
दुर्लभं चैव दुष्प्रापं त्रैलोक्यं सचराचरम्।
तदपि प्रार्थितं विप्र ददाति हरिबोधिनी।

(स्कन्दपुराण एवं ह

लक्ष्मीका जागरण ही देवजागरणका निमित्त बन
अतएव देवजागरणका आधार लक्ष्मीजागरण ही बना
है । लक्ष्मीके जागरणका आरम्भ कार्तिककृष्ण त्रयोदशी
जाता है । आगममें वरुणात्मिका अलक्ष्मीका नाम धूमा
वेदमें इसका नाम 'निर्ऋति' है । इस निर्ऋतिरूपा अ
सहयोगी देवता वरुण और यम हैं तथा श्रीरूपा ल
सहयोगी देवता इन्द्र और कुबेर हैं । त्रयोदशी, च
अमावस्या, प्रतिपदा और द्वितीया—यह तिथिपञ्चक ल
अलक्ष्मीके प्रवर्तक प्राणदेवताओंका संक्रमणकाल मा
गया है । जहाँ वरुण, निर्ऋति और यमके सत्कारसे न
नरकचतुर्दशी कहलायी है, वहाँ इन्द्र, लक्ष्मी और कु
सत्कारसे यही चतुर्दशी 'रूपचतुर्दशी' नामसे प्रसिद्ध हो
है । तदनन्तर अमावास्या तिथिका आगमन होता है
दीपावलीपर्वका प्रमुख दिवस माना गया है । अमाव
अनन्तर कार्तिकशुक्ल प्रतिपदा तिथिसे यम और नि
सहयोगी वरुणका प्रभाव तो आगे-आगे शिथिल होता ज
और कुबेर तथा लक्ष्मीके सहयोगी इन्द्रका प्रभाव आगे
प्रबल बनता जाता है । अतएव यह दिवस 'इन्द्रदिन
लिया गया है । इन्द्रके सहयोगसे उसका सहयोगी
भी प्रबल होने लगता है । वरुणके चले जानेसे
दही, ओषधि और वनस्पति आदि भोग्य पदार्थोंसे
रखनेवाले वर्षाजनित (वरुण-प्राणजनित) विकार भी
जाते हैं और सर्वत्र इन्द्रकी शुद्धिका साम्राज्य उ
जाता है, इसी उपलक्ष्यमें इस दिन 'अन्न-कूटमहोत्सव'
जाता है ।

अमावास्याके बाद प्रतिपदा तिथिमें आर्ष प्रजा इन्द्र
महोत्सव ही मनाती आ रही थी, किंतु आगे जाकर
'गोवर्द्धनपूजन' का स्थान ग्रहण कर लिया । वास्तव
पूजनसे भी 'गोवर्द्धन' तत्त्व परिपूर्ण बना रहता है ।

प्राणलक्ष्मी और भूतलक्ष्मीके भेदसे लक्ष्मीश
महिमाविवर्तोंका वर्णन हुआ है । प्राणलक्ष्मीको ही—'

वै श्रियः' रूपसे 'श्री' कहा गया है, एवं भूतलक्ष्मी ही 'लक्ष्मी' नामसे प्रसिद्ध हुई है । 'इन्द्र-प्राणात्मक गौ-पशु' इस भूतलक्ष्मीका स्वरूप है ।

परमेष्ठीका आपोमय मण्डल ही अक्षरविद्यासे विष्णुधाम कहलाया है । यहीं वह सौम्य गौप्राण प्रतिष्ठित है, जो पितर-प्राणसे अभिन्न है । स्वयम्भूका ऋषिप्राण ही बलच्चितिसे परमेष्ठीमें आकर जैसे 'पितर' बन गया है (**ऋषिभ्यः पितरो जाताः—मनुः**) इसी प्रकार स्वयम्भूकी ब्रह्मगवी ही परमेष्ठीमें इट्रूपसे 'विष्णुगवी' बन गयी है, जिसका नैगमिक नाम है—'कामगवी' एवं पौराणिक नाम है—'कामधेनु' । इसी सौम्या गौके सम्बन्धसे परमेष्ठी विष्णु—'गोसव' कहलाया है, जो 'गोसव' ही पुराणमें 'गोलोक' नामसे प्रसिद्ध हुआ है । **'व्रजं गच्छ गोष्ठानम्'** इत्यादि यजुर्वेदके मन्त्रानुसार परमेष्ठीका गोलोक ही परमेष्ठीके विष्णुका वह व्रजधाम कहलाया है, जिसके सगुण पूर्ण मानुषावतारका महद्भाग्य इस भारतभूमिको ही प्राप्त हुआ है । सौम्य रश्मियोंसे भूरिश्रृङ्गा बनी हुई प्राणरूपा-सौम्या गोमाताएँ इसी व्रजधामात्मक पारमेष्ठ्य गोलोकमें स्वच्छन्द विचरण करती रहती हैं । देखिये—

या ते धामान्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिश्रृङ्गा अयासः ।
अत्राह तदुरुगायस्व विष्णोः परमं पदमव भारि भूरि ॥

(यजुः-सं० ६ । ३)

'जो तेरे स्थानपर गमन करनेको हम कामना करें, जहाँ सूर्यदेवताकी अतिप्रकाशमान किरणें विस्तृत होती हैं, इस स्थानमें महात्माओंसे स्तुति किये हुए विष्णुके उत्तम स्थानको कहते हैं, वह बहुत प्रकारसे प्रकाश करता है ।'

स्वयंभूके त्रयीवेदरूप चार कलावाले ब्रह्मपुरुष और परमेष्ठीकी अथर्ववेदरूपा छः कलावाली सुब्रह्मप्रकृतिके दाम्पत्यसे दश अवयववाला जो विराट्-पुरुष प्रकट हुआ, उसीका नाम 'सूर्यनारायण' है । विराट्सूर्यमें वही परमेष्ठीका गौतत्त्व विराट्-रूपमें परिणत हो जाता है, जिसका अर्थ है—आदित्यरूप । परमेष्ठीका पितरप्राण ही सूर्यके देवप्राणरूपमें परिणत हुआ है । **'पितृभ्यो देवदानवाः'** (मनुः) । अतएव सौर इन्द्रप्राणात्मक विराट्-आदित्य 'गौ' नामसे प्रसिद्ध हो जाता है । **'विराड् वै गौः'** (यजुः-सं० १३ । ४३, शतपथ ब्रा० ७ । ५ । २ । १९) **'विराजो वा एतद् रूपंयद् गौः'**—(ताण्ड्य० ४ । ९ । ३) **'गावो वा आदित्याः'** (ऐ० ब्रा० ४ । १७) इत्यादि वचन इसी ऐन्द्री सौरी गौकी महिमाका यशोवर्णन कर रहे हैं ।

माता रुद्राणां दुहिता वसूना
स्वसाऽऽदित्यम्नाममृतस्य नाभिः ।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय
मा गामनागामदितिं वधिष्ट ॥

(ऋक्सं० ८ । १०१ । १५)

'गौ ११ रुद्रोंकी माता है, ८ वसुओंकी कन्या है, १२ मासरूपी आदित्य (विष्णु) भगवान्की बहिन है, जीवमात्रको जीवित रखनेवाली जीवनीशक्ति (आक्सिजन विटामिन ए) का केन्द्र है, गायके प्रति क्या कर्तव्य है ऐसा विचार करते हुए मनुष्यके प्रति भगवान् आज्ञा देते हैं कि अपराधरहित अवध्य गायको मत मारो ।'

अध्यात्ममें बुद्धि सूर्यके मघवा—इन्द्रप्राणमयी है, प्रज्ञान—मन अन्तरिक्षके मरुत्वान्—इन्द्रप्राणमय है एवं शरीर पृथिवीके वासव—इन्द्रप्राणमय है । अतएव मानवसंस्थाके सभी प्रतिष्ठात्मक प्राण गौरूप हैं । तभी तो इन्द्रियके विषयोंको—'गोचर' कहा गया है । इन्द्रके सम्बन्धसे ही इन्हें 'इन्द्रिय' कहा गया है । **'इन्द्रियं वै वीर्यं गावः'** (श० ५ । ४ । ३ । १०) यों अधिदैवतरूपा ईश्वरीयसंस्थामें, अध्यात्मरूपा प्राणीसंस्थामें तथा अधिभूतरूपा स्थावरसंस्थामें गौतत्त्वका प्राधान्य और उसके सम्बन्धसे इन्द्रका प्राधान्य प्रमाणित हो रहा है । गोपशुके महामहिमत्व और इसके त्रैलोक्यव्यापक स्वरूपका स्पष्ट शब्दोंमें स्वरूप देखिये—

(१) आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन् सीदन्तु गोष्ठे रणयन्त्वस्मे ।
प्रजावतीः पुरुरूपा इह स्युः, इन्द्राय पूर्वीरुषसो दुहानाः ॥

(२) गावो भगो गाव इन्द्रो मे अच्छाद्
गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः ।
इमा या गावः सजनास इन्द्रः
इच्छामीद् वृधा मनसा चिदिन्द्रम् ॥

(३) यूयं गावो मेदयथा कृशं चिद्
अश्लीलं चित् कृणुथा सुप्रतीकम् ।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचः
बृहद्वो वय उच्यते सभासु ॥

(४) प्रजावतीः सूयवसं रुशन्तीः
शुद्धा अपः सुप्रयाणे पिबन्तीः ।
मा वः स्तेन ईशत माघशंसः
परि वो हेती रुद्रस्य वृञ्ज्यात् ॥

(तैत्तिरीय ब्रा० काण्ड २, प्रपाठक ८, अनुवाक् ८)

सत्त्ववेदद्रष्टा वेदमहर्षि गौमातासे यही कामना कर रहे हैं कि—‘ये गौ माताएँ मेरे यहाँ [वैधयज्ञोंमें व परिवारों—घरोंमें] पधारें, [पधारकर मेरे यज्ञका और परिवारका] अभ्युदय करें। मेरी गौशालाओंमें विराजें और [यहाँ स्वस्थतापूर्वक विराजमान होकर] मेरे [इस परिवारका] पालन-पोषण करें। [यहाँ आकर विराजमान होनेवाली ये] गौमाताएँ प्रजावती बनें, [संतानवती बनें और इन अनेक संतानोंके धूम्र-धूसर-श्वेत-रक्त-पीत-कपिला आदि विविध रूपोंसे संतानवती बनती हुई ये गौमाताएँ] यों अनेक रूपवती बन जायँ। [इसके अतिरिक्त] उषाकालसे पहले रहनेवाली रात्रियोंमें इन्द्रके लिये [अग्निहोत्र-दर्शपूर्णमासादि यज्ञकर्माङ्गभूत] सान्नाय-द्रव्यके स्वरूप सम्पादनके लिये दूध देनेवाली बनकर ही यहाँ विराजें ॥ १ ॥

ये जो गौमाताएँ हैं, वे ही हमारे [परिवारकी] सम्पत्ति [सौभाग्य-लक्ष्मी] हैं। सुनिर्मला इन गौमाताओंका पालन [स्वरूपरक्षा] जैसे [सौर] इन्द्रके द्वारा हो रहा है, वैसे ही ये गौमाताएँ हमारा पालन करती हैं [करती रहें]। ये गौमाताएँ [तीसरे पारमेष्ठ्य द्युलोकमें प्रतिष्ठित ‘ब्रह्मणस्पति’ नामक प्रथमस्थानीय [परमेष्ठिस्थानीय] पवित्र सोमसे [जीवनीय प्राणतत्त्वसे] ही नित्य समन्वित हैं। [अर्थात् इस गौपशुका आधारभूत मौलिक प्राण पारमेष्ठ्य सोमतत्त्वसे ही समन्वित है] हे मानवो ! जो ये गौमाताएँ हैं, वे साक्षात् इन्द्र [की प्रतिमा हैं, सौर-इन्द्रप्राणात्मिका] हैं। [अतः इस गोवंश-रक्षाके लिये] मैं अपने बुद्धियुक्त चिन्मनसे उस इन्द्र [के अनुग्रह] की ही कामना कर रहा हूँ। अर्थात् सौर इन्द्रात्मिका देवभाववाली सात्त्विकी बुद्धिके अनुग्रहसे ही गौमाताका यह दिव्यस्वरूप मेरा उपास्य बना करता है। [जब कि सत्त्वबुद्धिशून्य जडभूतवादी मानव गौके इस प्राणात्मक महत्त्वसे अपरिचित रहता हुआ गौको एक सामान्य पशु ही माननेकी भ्रान्ति करता रहता है] ॥ २ ॥

हे गौमाताओ ! आप हमारी निर्बल—कृश संततियोंको [अपने सबल-जीवनीय दूध-दही-घृत-तक्र-मण्ड आदिसे] सबल सुपुष्ट ही करनेका अनुग्रह करें। दुर्बलाङ्ग अतएव कुरूपवत् दीखनेवाली हमारी संतानोंको [अपने रूप-बलवर्धक दुग्धादिसे] सुरूप-सुरूपवती-बलिष्ठ बनाती हुई आप इन्हें सौन्दर्य प्रदान करनेका अनुग्रह करें। हे गौमाताओ ! वैज्ञानिकोंकी परिषदोंमें आपका [वस्तुतत्त्वरूप] दुग्ध ही ‘बृहदुक्थ’ [सृष्टिका मूल कारण] से विचारपरामर्शका मौलिक बना रहता है। [रश्मिमण्डलरूप अर्कम केन्द्रीभूत मूलबिम्बात्मक हृदययुक्त वस्तुतत्त्व ही ‘बृह कहलाया है। निश्चयसे सौरप्राणात्मक केन्द्रीय गौरूप ही वह बृहदुक्थ है, जो अपने महदुक्थ, महाव्रत पुरुषरूप गायत्रीमात्रिक सौर-इन्द्रवेदके रूपसे विद्व तत्त्वचर्चाका आधार, मूलविषय बना रहता है।]॥

[हमारे परिवारमें निवास करनेवाली] वे गौ वत्स-वत्सासे युक्त होकर कोमल हरा घास चरती रहें सुशोभन-स्फटिकके समान निर्मल-स्वच्छ सुविधापूर्वक करनेयोग्य प्रपाणों [‘उदपान’ नामसे प्रसिद्ध खेलियों परिपूर्ण [भरे हुए] निर्मल जलका पान करती रहें इस प्रकार उत्तम घास और शुद्ध जल खाती-पीती हे गौमाताओ ! [आप तृप्त-पुष्ट-समृद्ध होकर हमें आशीर्वाद दीजिये, जिसके बलपर हम आपका कर सकें। फलस्वरूप] चोर आपको न चुरा प्रज्ञाहीन-दुष्टबुद्धि असुरकर्मा नराधम आपका ताड़ कर सकें। इस प्रकार आपके ही आशीर्वाद-बलपर हम दुष्ट-आततायीवर्गसे रक्षा करनेमें समर्थ बन सकें आप यों पूर्ण प्रसन्न बनकर हमें अपने अतिष्ठावा (अधि रुद्रदेवताके कोपसे बचानेका अनुग्रह करती रहें ॥ ४

गौस्वरूपके लिये महाभारत अनुशासनपर्व ५१ से ८३ तक ३३ अध्यायोंमें ‘नहुष-च्यवन-संवा गाथासे गोमाहात्म्यका वर्णन हुआ है, जो पूर्ण ध्यान दे आचरण करने योग्य है। गाथामें गङ्गायमुनाके जलमें तप करनेवाले महर्षि च्यवनको निषादोंके जा देखकर क्षमा-याचनापूर्वक भारतीय सम्राट् नहुषको जाना और गविजात महर्षिके द्वारा च्यवन मूल्याङ्कनका निर्णय हुआ है।

वह कौन-सा उपाय था, जिसे एक भारतीय बुद्धि अबतक नहीं जान सकी, ऐसे समर्थ सम्राट् राज्यतन्त्रके सफल संचालक योग्यतम मेधावी मन्त्रि जान सके, राजाके आचार-धर्मोंका यथाविधि करनेवाले पुरोहितकी प्रज्ञा जिसे न जान सकी, साम्राज्यकी संस्कृतिनिष्ठा और सांस्कृतिक धर्मके

विद्वान् ब्राह्मण तक अन्वेषण करनेमें सर्वथा असमर्थ ही प्रमाणित हो गये और महाभाग नहुष अपने सम्पूर्ण साम्राज्यके समर्पणसे भी इस ऋषिका मूल्य न कर सके। वह कौन-सा अमूल्यतम लोकातीत महामहनीय—मूल्यात्मक उपाय था, जिसने आज नहुषको मण्डलके सहित हर्षविभोर कर दिया ! प्रश्नकी जिज्ञासा आस्था—श्रद्धाशील मानवश्रेष्ठोंके लिये अवश्य ही उत्सुकताका कारण प्रमाणित हो रही होगी। इस वर्तमान कठिन समयमें महर्षि गविजातके पावन मुखकमलसे निकले हुए उस पुण्यतम उपायका स्मरण ही कर लिया जाता है। महर्षि गविजात कहते हैं—

अनर्घेया महाराज 'द्विजा' वर्णेषु चोत्तमाः ।
गावश्च पुरुषव्याघ्र गोमूल्यं परिकल्प्यताम् ॥

'हे राजन् ! जिस प्रकार चारों वर्णोंमें वेदतत्त्ववित् 'ब्राह्मण'का कोई मूल्य नहीं आँका जा सकता, हे पुरुषसिंह नहुष ! उसी प्रकार उनके समान 'गौमाता' का भी कोई मूल्याङ्कन सम्भव ही नहीं है।' जिस प्रकार त्रैलोक्यातीत पारमेष्ठ्य महानात्मासे युक्त ब्राह्मण लौकिक भौतिक क्रय-विक्रयात्मक मूल्याङ्कनोंकी सीमासे बाहर है, उसी प्रकार पारमेष्ठ्य-वैष्णव सौम्य गौप्राणसे अभिन्न गौपशु भी अपने भीतरके आत्मभावसे भौतिक मूल्याङ्कनकी सीमाओंसे सर्वथा अलग है। मानवीय वर्णोंमें जो स्थान ब्राह्मणका है, पाशव्य वर्णोंमें वही स्थान गौका है। इन दोनों विश्वप्रतिष्ठात्मक महद्भूतोंके विकल्पनसे ही धर्मविप्लव हो जाया करता है, एवं उसके निरोधके लिये सगुणेश्वरको ही अवतार धारण करना पड़ता है। जिनके अवतारका उद्देश्य है—

'गो-ब्राह्मणहिताय च' (महाभारत, वा० रा० बाल० २६।५)

क्योंकि इन दोनोंके सुप्रतिष्ठित होते ही विश्व अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है। आज हम गविजात महर्षिके उपर्युक्त उपायके महत्त्वको अर्थवादपरक ही माननेकी महती भ्रान्ति करने लग पड़े हैं, जब कि इसके सिवा भी महात्मा भीष्मने आगे चलकर अनेक अध्यायोंमें इस गौ-महिमाका यशोगान करते हुए भारतराष्ट्रको धन्य—कृतकृत्य बनाया है। कहा है—

गवां मूत्रपुरीषस्य नोद्विजेत कथंचन ।'

एक बार अपने सम्पूर्ण साधनोंसे सजित होकर महालक्ष्मी गोमण्डलमें प्रणतभावसे उपस्थित हो गयीं। गौमाताएँ महालक्ष्मीके इस रूपसौन्दर्य तथा गुणसौन्दर्यको देखकर विस्मित बन गयीं और कहने लगीं कि—'हे लक्ष्मीदेवी ! आप कौन हैं ? कहाँसे ऐसा अद्भुत रूप-गुण प्राप्त किया है ? हम सब आपके इस अलौकिक रूपको तथा सम्पत्ति-महिमाको देखकर विस्मित हैं। हम यह जानना चाहती हैं कि आप वास्तवमें क्या हैं एवं यहाँसे अब कहाँ जायँगी ?'

महालक्ष्मीने कहना आरम्भ किया कि—"मैं लोककान्ता [लोकप्रिया] हूँ, मेरा नाम 'श्री' है। हे गौमाताओ ! आपका अभ्युदय हो, यही मेरा संक्षिप्त स्वरूप-परिचय है। मैंने देवके द्वेषी दैत्योंको सदाके लिये छोड़ दिया है और मुझसे समन्वित देव हर्षनिमग्न हैं। और सुनो गौमाताओ ! जिनमें मेरा निवास नहीं होता, वे कुछ समयके बाद सभी ओरसे विनष्ट हो जाते हैं। 'पृथिवीके शरीरमूलक अर्थ, चन्द्रके मनोमूलक काम तथा सूर्यकी बुद्धिसे समन्वित धर्म' मुझ लक्ष्मीसे समन्वित होकर ही सुखी हैं। यह मेरा सर्वव्यापक प्रभाव है। गौमाताओ ! मेरी यह बड़ी ही कामना है कि मैं आपमें भी निवास करूँ। मेरी इस प्रार्थनासे आप भी श्रीयुक्त बन जानेका अनुग्रह करें।"

गौमाताओंने लक्ष्मीके इस आकर्षक आमन्त्रणके प्रति [मानो अपने त्रैलोक्यसे अलग पारमेष्ठ्यकी तुलनामें उपेक्षणीय ही मानते हुए] यही कह डाला कि—हे देवि ! आप स्वरूपसे अस्थिर हैं, चञ्चल हैं और सर्वसामान्योंके साथ आपका समागम होता रहता है। आपके इन्हीं लौकिक साधनोंके कारण हमें आपकी कोई कामना नहीं है। कल्याण हो आपका। जहाँ आप स्वतन्त्रतासे रमण कर सकें, वहीं पधार जायँ। हमें अपने स्वरूपके लिये जो कुछ अपेक्षित है, वह सभी हममें पहलेसे ही विद्यमान है, अतएव हमें आपसे कोई प्रयोजन नहीं है। **'यथेष्टं गम्यताम् ।'**

यह सुनकर लक्ष्मीदेवी पुनः कहने लगी—हे गौमाताओ ! आप भले ही अपने किसी उत्तम शरीराङ्गमें मुझे स्थान प्रदान न करें, किंतु मुझे तो अपना कोई वैसा निम्न श्रेणीका ही अङ्ग बतला दें, उसमें निवास करके ही मैं अपने आपको अभिनन्दिता बना लूँगी।

जब इस प्रकार अत्यन्त दीनभावसे महालक्ष्मी गौमाताओंकी शरणमें ही आ गयी तब करुणवत्सला गौमाताओंने सम्मिलितरूपसे मूलभावसे ही आश्वासन प्रदान कर डाला

कि 'हे यशस्विनी लक्ष्मीदेवी ! आप हमारे गोबर और मूत्रमें ही आजसे निवास कीजिये।' यह वाक्य सुनते ही महालक्ष्मी उस गोबर और गोमूत्रमें लीन हो गयीं।

अतएव गोवर्धन-पूजनमहोत्सवका अर्थ इन्द्रपूजनमहोत्सव है। जिसमें इन्द्रपूजनसे सम्बन्धित गोपूजन ही विहित है। आगे ८३ वें अध्यायमें पितामह ब्रह्मा तथा स्वर्गके अध्यक्ष इन्द्रके संवादसे इसी तथ्यका महात्मा भीष्मने यशोगान किया है। जिसका केवल एक वचन देते हैं। भीष्म उवाच—

एतच्छ्रुत्वा सहस्राक्षः पूजयामास नित्यदा।
गाश्चक्रे बहुमानं च तासु नित्यं युधिष्ठिर।
न किंचिद्दुर्लभं लोके गवां भक्तस्य भारत॥

(महाभा० अनु० अध्याय ८३)

इन्द्रकी बात भी उस समय शिथिल ही पड़ जाती है, जब हम सगुणेश्वर भगवान् श्रीकृष्णको स्वयं ही गोचारणकर्ममें न केवल निरत ही सुनते हैं, किंतु स्वयं गौमाताओंका प्रणत-भावसे पूजनार्चन करते रहनेका भी वर्णन है। इसी गौके सम्बन्धसे जो नन्दनन्दन भगवान् गोविन्द गोपाल नामसे प्रसिद्ध हुए हैं। गौ और इन्द्रप्राण एक ही है।

अमावास्याके बाद प्रतिपदाको पद्मपुराणके कार्तिकमाहात्म्यके १२४वें अध्यायके अनुसार गोपूजनात्मक इन्द्रपूजन-महोत्सवरूप-मार्गपाली सम्पन्न करनेके बाद रात्रिमें दैत्यपति बलिका पूजन किया जाता है, इससे आसुर प्राणमयी निर्ऋतिका सम्मान हो जाता है। तदनन्तर द्यूतकर्मका विधान है। द्यूत-क्रीड़ा (जुआ) भारतीय संस्कृतिकी दृष्टिसे सर्वथा निन्द्यकर्म है। 'एक लगाना और दस पाना ही' आजके द्यूतका फल माना जाता है। उत्तरदायित्वसे शून्य मानव ही अनुकूलताकी दृष्टिसे इस महान् निन्द्य द्यूत (वर्तमानयुगके सुप्रसिद्ध—'सट्टा') पथके भ्रष्ट लोग अनुयायी बने हुए हैं। यदि द्यूतकी अभिरुचि ही है, तो ऐसे कितव (जुआरी) के साथ ही जुआ खेलना चाहिये, जो कभी इस द्यूतकर्ममें जीतना जानता ही नहीं। फलरूप दाव लगानेवाला मानव जुआरी इस द्यूत-कर्ममें सदा विजयश्री ही प्राप्त करता है। वह हारनेवाला महान् कितव है—'संवत्सरप्रजापति'। इसके द्यूतस्थानरूप पृथिवीमें जौ-गेहूँ आदि थोड़े-से बीजरूप 'अक्ष' (फाँसे) फेंक देनेवाला मानव-कितव एक-एक दानेसे सौ या सौसे अधिक दाने प्राप्त कर लेता है। इसी तथ्यको लक्ष्य बनाकर अघात्मक द्यूतकर्मको सर्वथा निन्द्य बतलाते हुए, उसके स्थानमें 'कृषि' रूप अवश्यंभावी विजयसे युक्त प्राजापत्यके द्यूतकर्मका विधान करते हुए ऋषि कहते हैं—

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व
वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया
तन्मे विचष्टे सवितायमर्यः॥

(ऋ० १०। ३४। १

फिर कार्तिक शुक्ल द्वितीयाको 'यमराजपूजनमहो मनाया जाता है, अतएव इस तिथिको 'यमद्वितीया' भी हैं। ऋग्वेदके सुप्रसिद्ध 'यमयमीसूक्त'में महर्षिने यमत सुविशद वैज्ञानिक व्याख्या की है। १२ आदित्यप्रा समष्टिरूप सूर्यके अवसानशक्तिप्रधान अतएव 'अन्तक' ना प्रसिद्ध आदित्यप्राण-विशेषका ही नाम 'यम' है, जि शनैश्चरकक्षामें धर्म और यम—रूपसे महिमात्मक व्य माना गया है। सूर्यकी ज्योतिवाला वही तत्त्व 'धर्मरा जिसे 'पितृस्वर्ग' का अधिष्ठाता माना गया है। तथा शनै वाला सूर्यविरुद्धदिशावाला अतएव तमःप्रधान वही आदि प्राण 'यमराज' है, जिसे ८४ प्रकारके 'नरक' का अधि माना गया है। धर्मराज इन्द्रके साथ रहता है और य वरुणके साथ रहता है। यथा—

एष वै यमो य एषस्तपति। (शतपथ ब्रा० १४। १। ३।
अग्निर्वाव यमः। (गोपथ ब्राह्मण उ० ४।
अग्निर्वै यमः इयं पृथिवी यमी। आभ्यां हीदं सर्वं यत
(शतपथ ब्रा० ७। २। १। १

सूर्यकी दक्षिण दिशाकी किरणरूप सूक्ष्म प्राणात्मक प्रधान अतएव उष्णप्रकृतिक 'जल' ही यमुनाजलका प्र है। अतः पुराणने यमुनाको सूर्यपुत्री मान लिया है, उसके अंदरके आग्नेय प्राणका यमत्व भी प्रकृतिसे ही प्र हो रहा है। और यों यमुनानदी 'यम-यमी' दोनों पुत्रक [भाई-बहिनों] के सम्बन्धसे समन्विता है। एवं इसी त आधारपर यमद्वितीया—'भ्रातृद्वितीया'(भाईदोज) आदि न प्रसिद्ध हो गयी है। यमुनातटपर बहिनके द्वारा भाईका भो करना पुराणशास्त्रने अत्यन्त ही माङ्गलिक माना है। यथ

स्वसुर्नरो वेश्मनि यो न भुङ्क्ते
यमद्वितीयादिनमेव लब्ध्वा।
तं पापिनं सर्वसुराः प्रबुद्ध्य
संसारमार्गे रटयन्ति विप्र॥

(पद्मपुराण उत्तरखण्ड १९५ वाँ अ

[शेष आगामी अं

मधुर

यों तो श्रीराधा-माधवका कभी वियोग होता ही नहीं, पर प्रेमलीला-राज्यमें लीलामाधुरी-रसके आस्वादनार्थ वियोग-संयोगके कटु-मधुर, मधुर-मधुर प्रसङ्ग आते रहते हैं। मथुरा पधारनेके बाद एक दिन प्रियतम श्रीकृष्णका श्रीराधाजीसे मिलन हुआ। पहले बीती मधुर लीलाकी बातें चल पड़ीं। तब श्रीकृष्णके मथुरा पधारनेपर श्रीराधाजीके मनमें कैसे किन भावोंका उदय हुआ था और श्रीश्यामसुन्दरने प्रकट होकर क्या कहा था। श्रीकृष्णके पूछनेपर श्रीराधाजीने ऐसे एक प्रसङ्गको यों सुनाया——

नहीं तुम्हारा अन्तर देखा,
देखे नहीं भीतरी भाव।
भूलभरी अपनी आँखोंसे
देखा बाहरका बर्ताव॥
भूल गयी मैं शील तुम्हारा
सहज नित्य निर्मल निर्दोष।
अपने दृष्टिदोषसे मुझको
दिये दिखायी तुममें दोष॥
जाने लगे श्यामसुन्दर जब
तुम मथुरा, हो रथ आरूढ़।
लगी समझने निष्ठुर निर्दय
प्रेमशून्य मैं तुमको मूढ़॥

श्यामसुन्दर! मैंने न तो तुम्हारे हृदयको देखा, न तुम्हारे भीतरके भाव ही देखे। अपनी उन आँखोंसे, जो केवल भूलोंसे भरी थीं, तुम्हारा बाहरी बर्तावमात्र देखा। मैं तुम्हारे सहज दोषरहित नित्य निर्मल शील-स्वभावको भूल गयी और अपने ही दृष्टिदोषसे मुझको तुममें दोष दिखायी देने लगे। प्रियतम! जब तुम रथपर चढ़कर मथुराको जाने लगे, तब मुझ मूढ़ने यही समझ लिया कि तुम प्रेमसे शून्य हो और बड़े ही निष्ठुर तथा निर्दय हो।

यद्यपि तुम निज आत्मा-मनको
छोड़ गये थे मेरे पास।
लोगदिखाऊ तनसे जाते
भी, थे अतिशय खिन्न उदास॥
मेरे शुद्ध प्रेमका करके
जान-बूझकर तुम अपमान।
जाते हो, माना, अकुलायी,
लगी चोट भड़का अभिमान॥
प्रेमरहित मिथ्या अभिमानिनि
मुझ कुटिलाका यह दुर्भाव।
डाल न सका तुम्हारे निर्मल
प्रेम-सूर्यपर किंतु प्रभाव॥

श्यामसुन्दर! यद्यपि तुम अपने आत्मा तथा मनको मेरे ही पास छोड़ गये थे; (क्योंकि वे तो सदा मेरे पास ही रहते हैं, वस्तुतः शरीर भी मेरे ही साथ रहता है) तुम तो केवल लोगोंको दिखानेभरके लिये जा रहे थे। पर इस लोगदिखाऊ जानेमें भी तुमको अत्यन्त खेद हो रहा था और तुम उदास थे। किंतु मैंने तो यही माना कि तुम जान-बूझकर मेरे विशुद्ध प्रेमका तिरस्कार करके जा रहे हो। इससे मैं व्याकुल हो गयी। मुझे बड़ी चोट लगी और मेरा अभिमान (चोट खाकर) भड़क उठा (और मैं तुममें दोष-ही-दोष देखने लगी)। वस्तुतः मैं प्रेमसे रहित थी और प्रेमका मिथ्या अभिमान करनेवाली थी। मुझ कुटिलाका यह दुर्भाव था, परंतु मेरा यह दुर्भाव तुम्हारे निर्मल प्रकाशमय प्रेम-सूर्यपर तनिक भी असर नहीं डाल सका। (तुम्हारी प्रेम-ज्योतिमें इससे जरा भी मलिनता नहीं आयी।)

हुए प्रकट, नित नव-वर्धन-
सौन्दर्य कमल-मुख किये मलान।
अपराधी-से खड़े हो गये,
मस्तक नीचा किये अमान॥
नित्य अधर मुसकान मधुरयुत
मदन-मनोहर नित्य किशोर।
क्यों हो रहे खिन्न यों? परमा-
नन्दसिन्धु मुनि-मानस-चोर॥

देख सहम मैं गयी, मलिन
मुख-शशि, मन उमड़ा दुःख अपार ।
बोल न सकी, बह चली नेत्रों-
से उत्तप्त अश्रुकी धार ॥

तुम सहसा प्रकट हो गये; परंतु तुम्हारा मुखकमल, जिसका सौन्दर्य नित्य नवीनरूपसे बढ़ता रहता है, म्लान हो रहा था । तुम अपराधीके सदृश मेरे सामने सर्वथा मान छोड़कर (दीन भावसे) सिर नीचा करके खड़े हो गये । तुम कामदेवके भी मनको हरण करनेवाले परम सुन्दर नित्य नव किशोर हो, तुम्हारे अधरोंपर नित्य-निरन्तर मधुर मुसुकान खेलती रहती है, तुम परमानन्द-समुद्र हो और अपने सौन्दर्य-माधुर्यसे मुनियोंके मनको चुरा लेते हो । ऐसे तुम आज खिन्न क्यों हो रहे हो ? तुम्हारे म्लान मुखचन्द्रको देखकर मैं सहम गयी; मेरे मनमें दुःख उमड़ आया, मेरी वाणी रुक गयी और मेरे नेत्रोंसे गरम-गरम आँसुओंकी धारा बह चली ।

बोले—'अति अगाध प्रेमोदधि-
रूपे हे राधे ! सुखखान ।
तेरे गुण-सौन्दर्य-सुधा अनुपम-
से पोषित मेरे प्राण ॥
तेरे विना नहीं क्षण भर भी
है मेरा सम्भव अस्तित्व ।
तू ही मेरी जीवन-जीवन,
तू ही मेरी जीवन-तत्त्व ॥
आत्मा तो तू ही है मेरी,
तू ही मेरी है आधार ।
तुझसे ही मैं हूँ, तुझसे ही
चलते ये सारे व्यापार ॥

तब तुम बोले—'हे अत्यन्त अगाध प्रेमसमुद्र-रूपिणी राधे ! हे मेरे सुखकी खान ! तेरे अनुपम गुण और सुन्दरताकी सुधासे ही मेरे प्राणोंका पोषण होता है । तेरे विना एक क्षणके लिये भी मेरा अस्तित्व सम्भव नहीं है । तू ही मेरे जीवनकी जीवन है, तू ही मेरे जीवनकी तत्त्व है और मेरी आत्मा तो तू ही है, अ तू ही मेरी आधार है । मैं तुझ (शक्तिसे) ही (प्रक हूँ और तुझ (शक्ति) से ही मेरे ये समस्त लीला-व्या चल रहे हैं ।

नहीं गया था तुझे त्याग मैं,
नहीं कहीं जा सकता त्याग ।
मेरे प्राणोंका है बस,
परमाश्रय, तेरा ही अनुराग ॥
देह गया था मथुरा, सो भी
लोकदृष्टिसे ही केवल ।
पर कर दिया उसीने आह्लादिनि !
तुझको अत्यन्त विकल ॥
तेरी इस व्याकुलतासे ये
प्राण रो उठे, हो उद्विग्न ।
प्राणरूप-अनुराग इसीसे
हुआ तुरंत शोकसंलग्न ॥
शोकाकुल अनुराग-प्राणमें
उठी त्वरित आतुरता जाग ।
खड़ा कर दिया मुझे उसीने
तेरे सम्मुख ला, बड़भाग ! ॥

असलमें मैं तुझे छोड़कर नहीं गया था, मैं छोड़कर कहीं जा भी नहीं सकता; क्योंकि मेरे प्रा एकमात्र आश्रय तेरा अनुराग (प्रेम) ही है (प्रेम ही मेरे प्राण हैं) । मथुरा तो केवल शरीर था, सो भी केवल लोकदृष्टिसे ही । किंतु इस दि देहगमनने ही हे आह्लादिनी ! तुझको अत्यन्त व्य कर दिया । तेरी इस व्याकुलताने मेरे प्राणोंमें व्याकु उत्पन्न कर दी, वे उद्विग्न होकर रो पड़े । मेरे प्रा तेरा अनुराग ही हैं, अतः वह प्राणरूप प्रेम स्वयं क्षण शोकमें डूब गया । उस शोकाकुल अनु प्राणमें तुरंत मिलनकी आतुरता जग उठी औ बड़भागे ! उसीने मुझको तेरे सामने लाकर खड़ दिया है ।

कर अपराध क्षमा हे करुणा-
मयी ! क्षमामयि ! स्नेहागार !

निज-स्वरूप-महिमामयि स्वामिनि !
नित्य सहज ही रहित विकार ॥
हो प्रसन्न-मुख देख सकृत
इस अपने आश्रित तनकी ओर।
ह्लादिनि ! मुझे हँसा दे, हँसकर,
रससागरे, न जिसका छोर ॥
नहीं समझना कभी मुझे
रंचक भर भी अपनेसे भिन्न।
दिव्य अभिन्न प्रेमरस-सागर
नित्यनिरन्तर अपरिच्छिन्न ॥

हे करुणामयी ! क्षमामयी ! हे स्नेहकी भण्डार ! मेरा अपराध क्षमा कर दे । हे अपनी स्वरूपमहिमासे पूर्ण स्वामिनि ! तू सहज ही सदा निर्विकार है । हे आनन्दमयी ! प्रसन्नवदन होकर एक बार अपने आश्रित इस तनकी ओर निहार ले, जिस रसकी कोई सीमा नहीं है, ऐसे रसकी समुद्र ! एक बार तू हँसकर मुझको हँसा दे । (अबसे) मुझको कभी भी तनिक भी अपनेसे पृथक् मत समझना । (तू और मैं दो नहीं हैं, हम दोनोंके रूपमें एक ही) दिव्य अभिन्न प्रेमरस-समुद्र नित्य निरन्तर असीमरूपसे लहरा रहा है ।

प्रियतमके सुन वचन, भाव
दर्शन कर, मैं हो गयी निहाल ।
सदा बिकी बेमोल, पड़ी
आतुर प्रिय-पद-पंकज तत्काल ॥

श्यामसुन्दर ! तुम प्रियतमके इन वचनोंको सुनकर और भावोंके दर्शन कर मैं कृतकृत्य हो गयी ! मैं सदा ही बेमोल बिकी हुई हूँ । आतुर होकर तुम प्रियतमके पदपङ्कजमें पड़ गयी !

इस प्रेम-संवादकी व्याख्या सम्भव नहीं ।

कलियुगके अन्तमें—

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

[आपने यदि वैज्ञानिक कही जानेवाली कहानियोंमेंसे कोई पढ़ी हैं तो देखा होगा कि किस प्रकार दो-चार शती आगेकी परिस्थितिका उनमें अनुमान किया जाता है और वह अनुमान अधिकांश निराधार ही होता है । यह कहानी भी उसी प्रकारकी एक काल्पनिक अनुमान मात्र प्रस्तुत करती है; किंतु यह सर्वथा निराधार नहीं है । पुराणोंमें कलियुगके अन्त समयका जो वर्णन है, वह सत्य है; क्योंकि पुराण सर्वज्ञ भगवान् व्यासकी कृति हैं । उनमें भ्रम, प्रमाद सम्भव नहीं है । अतः उन पुराणोंके वर्णनोंको मुख्याधार बनाकर कल्पनाने कहानीको यह आकार दिया है । अवश्य ही आजके सामान्य स्वीकृत एवं सम्भाव्य वैज्ञानिक तथ्योंको दृष्टिमें रक्खा गया है ।

यह कलिसंवत् ५०६४ है विक्रम संवत् २०२० में । कलियुगकी कुल आयु (पूरा भोगकाल) ४३२००० वर्ष है । इसलिये यह कहानी लगभग ४२६९०० वर्ष आगेके सम्बन्धमें है और उस समयकी स्थितिका एक दृश्य उपस्थित करती है ।

इसका प्रयोजन ? अनेक बार लोग इस भ्रममें पड़ते हैं कि कल्कि अवतार हो गया या निकट वर्षोंमें होनेवाला है ।[*] यह प्रचार भी कुछ लोग करते हैं, किन्हीं भ्रान्तियोंके कारण अथवा कुछ निहित स्वार्थोंके कारण । ऐसी दशामें यह कहानी इतना तो सूचित कर ही देती है कि शास्त्र-पुराणोंके अनुसार कल्कि अवतार जिस समय होगा, उस समयकी सामाजिक अवस्था किस स्तरपर पहुँच चुकी होगी और मुख्य घटनाएँ क्या होंगी । उनके प्रमुख पात्र कौन-से होंगे । इस विशेष कहानीके लिये इतना स्पष्टीकरण आशा है, पर्याप्त होगा ।

—लेखक]

× × × ×

---

[*] अभी हमारे पास उड़ीसा, बिहार, मध्यप्रदेश, दिल्ली, राजस्थान आदि स्थानोंसे विभिन्न अवतार हो जानेके पत्र आये हुए हैं । —सम्पादक

'यह पुरुवंशी प्रतीपात्मज देवापि राजर्षि मरुको अभिवादन करता है !' हिमालयका अत्यन्त दुर्गम दिव्यदेश कलाप ग्राम, जो नित्यसिद्ध योगियोंकी साधन-भूमि है; जो मनुष्य तो दूर, गन्धर्वादि उपदेवताओंके लिये भी अगम्य एवं अदृश्य है, उसी सिद्धभूमिमें आज कुछ हलचल जान पड़ती थी। जहाँ अखण्ड शान्ति, नित्य उद्रिक्त सत्त्वगुण सदा रहता है, वहाँ किञ्चित् भी रजस-क्रियाका उद्भव आश्चर्यकी ही बात है। पूरा युग लक्ष-लक्ष वर्ष व्यतीत हो गये, ऐसा तो कभी नहीं हुआ कि प्रयत्न करनेपर भी समाधिमें चित्तकी स्थिति न हो। विवशतः राजर्षि देवापि अपने आसनसे उठे। द्वापरका जब अन्त होनेवाला था, उससे कुछ ही पूर्व ये भीष्मपितामहके पिता शान्तनुके बड़े भाई यहाँ आये थे। इस साधनभूमिमें इनका साधनकाल सबसे थोड़ा रहा था। महर्षियोंके समीप जाकर उनके एकान्तमें बाधा देना ठीक नहीं लगा, अतएव अपनेसे कुछ ही शताब्दी पूर्व साधन-दीक्षित होनेवाले राजर्षि मरुके समीप वे चले आये। यह सिद्ध भूमि, यहाँ शताब्दियोंका मूल्य हमारे आपके घंटों-जितना भी कठिनाईसे ही होगा। राजर्षि मरु द्वापरके प्रारम्भमें (त्रेताके व्यतीत होनेके कुछ पीछे) आये थे। केवल कुछ लाख वर्ष पहिले—देवापिको वे अपने सहाध्यायी-जैसे लगते थे और दोनों राजर्षियोंमें अच्छी मैत्री भी हो गयी थी यहाँ आकर।

'इक्ष्वाकुवंशीय शीघ्रका पुत्र यह मरु राजर्षि देवापिका अभिवादन करके उनका अभिनन्दन करता है।' मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामके पुत्र कुशके वंशमें अग्निवर्णके पौत्र हैं ये राजर्षि मरु। ये भी ध्यानस्थ नहीं थे। उठकर देवापिको अंकमाल दी और आसन अर्पित किया उन्होंने।

आजकी दृष्टिसे असाधारण, अकल्पनीय, दीर्घकाय, प्रलम्बबाहु, कमलदल-विशाल लोचन, उन्नत नासिका, प्रशस्त भाल एवं वक्ष और पाटल गौर वर्ण, अ सुन्दर, सुगठित, किञ्चित् तपःकृश देह, जटाजूट, श्मश्रुकेश, केवल वल्कल परिधान—दोनों ही सा अनुपम कृति लगते थे। राजर्षि मरुका शरीर देवा विशाल था और आयुमें भी वे बड़े थे। देवापि उन सम्मान अपने अग्रजके समान करते थे; किंतु रा मरु सदा देवापिको अपना समकक्ष मित्र ही मानते है

'आज कुछ अकल्पनीय होनेवाला लगता है' देवापिने कहा—'अनेक बार प्रयत्न करके भी ए नहीं हो सका हूँ। जैसे कोई आकर्षण नीचे जना जगत्की ओर खींच रहा है।'

'आप जानते ही हैं कि हम दोनों स्रष्टाके संकल्पविशेषके यन्त्र हैं।' राजर्षि मरु बोले— मेरी भी आज यही अवस्था है। लगता है कि समय आ गया, जब हम दोनोंको कार्यक्षेत्रमें जा होगा। भगवान् ब्रह्माने मेरे रूपमें सूर्यवंशका बी यहाँ सुरक्षित किया था और आप चन्द्रवंशके पुरुष बनेंगे निकटके सत्ययुगमें। सम्भव है, अब बीजोंके विस्तारका काल आ चुका हो।'

'वत्स ! रजस्का लेश भी यहाँ वर्जित है। स दोनों ही राजर्षियोंके हृदयमें कोई अलक्ष्य वा गूँजी—'तुम्हारा साधनकाल पूर्ण हो गया। स कर्ताकी इच्छासे तुममें रजस् अंकुरित होने लगा है। अब तुम कर्मभूमिमें पधारो।'

'आदेश आ गया !' वहाँ प्रत्यक्ष मिलन महत्त्व नहीं रखता। अदृश्य-दृश्यका भेद नगण्य है मनका संकल्प परस्पर विचारविनिमय, उपदेशग्र एवं आदेशप्राप्तिका सुपरिचित माध्यम है उस सि स्थलीमें। दोनों राजर्षियोंने हाथ जोड़कर सिर झुका और एक साथ वहाँसे चले।

× × ×

'मनुष्य हैं ये ?' राजर्षि मरु एवं देवापिके सम्मुख तो आजके मनुष्योंका आकार ही अत्यल्प है, कलिके अन्तमें तो उन्हें तीनसे चार फीटतकके ही मनुष्य सर्वत्र मिलने थे। 'इनके मध्य रहना सम्भव होगा ?'

'हम सीधे महेन्द्राचलपर चलेंगे !' थोड़ी देर भगवती भागीरथीके तटपर हरद्वारमें ध्यानस्थ रहकर दोनों राजर्षि उठे——'इस आगामी चतुर्युगीके युग-निर्माता एवं शास्त्रनिर्देशक भगवान् परशुराम हैं। उनके पावन चरणोंमें प्रणिपात करके हमें आदेशकी अपेक्षा करनी है।'

'धन्य हो गया सम्भल ग्राम ! पवित्र हो गया विप्रश्रेष्ठ विष्णुयशका कुल। भगवान् कल्किरूपमें अवतीर्ण हुए।' भगवान् परशुरामने स्वयं गद्गद स्वरमें कहना प्रारम्भ किया ! मरु और देवापिकी जैसे वे प्रतीक्षा ही कर रहे थे। दोनोंने जब चरणोंमें मस्तक रक्खा, भार्गवने एक साथ भुजाओंमें भर लिया उन्हें। स्वयं ही चिरपरिचितकी भाँति——जैसे पिता पुत्रोंसे मिले और अपने संवाद दे कहने लगे——'अभी आज ही वे लोकमहेश्वर यहाँसे गये हैं। किंतु तुम दुखी मत हो। तुम दोनों तो उनके परम प्रिय हो। वे स्वयं तुम्हारे भवन पधारेंगे !'

'हमारे भवन ?' मरुने चकितभावसे पूछा। भला उनकी तो कहीं झोंपड़ी भी नहीं है।

'हाँ, अब तुम गार्हस्थ्य स्वीकार करो !' परशुरामजी वात्सल्य-गद्गद कह रहे थे——'मैं तुम्हारे पुत्र-पौत्रोंको श्रुति-शास्त्र तथा शस्त्रकी भी शिक्षा दूँगा। ये जटाएँ आज विसर्जित करो और सूर्य-चन्द्र वंशोंके राज्य स्थापित करो इस पुण्यभूमिमें।'

'वे निखिल गुरु !' भगवान् परशुराम भाव-विह्वल हो रहे थे। वे पुनः कल्किका वर्णन करने लगे——'इस जनको उन्होंने गौरव दिया। उन्हें कहाँ अध्ययन करना और सीखना रहता है। श्रुति उनका निःश्वास है। मृत्यु उनके संकल्पकी छाया; किंतु यहाँ वे अत्यन्त विनम्र सेवापरायण बने रहे। उन्होंने समस्त शास्त्र, साङ्गवेद एवं समस्त अस्त्र-शस्त्रोंकी शिक्षा ग्रहण करनेका नाट्य किया। गुरुका गौरव दिया इस जनको।'

'वे परम प्रभु किधर····?'

'वे उग्रतेजा-रूपमें इस बार प्रकट हुए हैं।' परशुरामजीने प्रश्नका तात्पर्य समझ लिया——'उन सहस्र सूर्यसमप्रभका अङ्गवर्ण भी नेत्रोंको आकलन नहीं हो पाता। तुम जानते हो कि इस भार्गवने भूमिको इक्कीस बार निःक्षत्र किया और नौ शोणितह्रद बनाये कुरुक्षेत्रमें। किंतु आज तुच्छ है वह परशु। भगवान् देवेन्द्रके द्वारा प्रदत्त उच्चैःश्रवाकी पीठपर वायुके वेगसे रौंद रहे हैं धराको। उनके करकी कराल करवाल····तुम दर्शन करोगे उनके ?'

'देव ! दयामय !' आर्तनाद कर उठे दोनों तपस्वी। भगवान् परशुरामके अनुग्रहसे प्राप्त दिव्य-दृष्टिसे जो कुछ उन्होंने देखा, असह्य था वह उनके लिये। प्रचण्ड वायुके वेगसे दौड़ता हरितवर्ण श्यामकर्ण अश्व और उसकी पीठपर केश बिखेरे, नेत्रोंमें प्रलयकी ज्वाला लिये, कोटि-कोटि भास्करके समान उग्रतेजा, अरुणवर्ण खड्गहस्त वे परम पुरुष ! पृथ्वी जैसे सम्पूर्ण रक्तके सागरमें डूब जायगी ! तिनकों-जैसे उड़ते-उछलते शव। अश्वके खुर रौंद रहे हैं राशि-राशि प्राणियोंको। समूह-के-समूह मनुष्य खड्गसे कटते जा रहे हैं। क्रन्दन, शव, रक्त——कोई कुछ समझे, इससे पूर्व तो महामृत्यु बनी तलवार टुकड़े उड़ा जाती है। नगर-ग्राम, देश-द्वीप——प्रलयंकर-सा घूमता अश्व और उसके पीछे उमड़ता रक्तका सागर ! असह्य था यह दृश्य !

'अभय वत्स !' आश्वासन दिया भगवान् परशुरामने। युग बीत गये, उर्वी अन्न-फल उत्पन्न नहीं करती। मनुष्योंने कृत्रिम उर्वरकोंका इतना उपयोग किया कि

धरा बंजर बन गयी । समुद्री काई और सेवारको आहार बनाया नरोंने; किंतु अपने ही आविष्कृत अद्भुत स्फोटकोंसे उस सागरीय आहारको भी उन्होंने विषैला बना लिया । गोधूम और शालि यदि कहीं अब मिलेंगे भी तो वे श्यामकके समान अणुप्राय रह गये हैं । इस रक्त-कर्दमसे धराको उर्वरा बनने दो । इस समय तो मानव आमिष, फल, पत्र, छाल, काष्ण, तृण आदिके आहारपर जीता है और वह भी विडम्बना-प्राय हैं । वृक्षोंमें शमी तथा वैसे ही कण्टक वृक्ष, फलोंमें झाड़ियोंके बदरीफल और आमिष पाता है मानव कृमियों तथा सरीसृपोंका । पशु-पक्षियोंका वंश, पता नहीं कब उसके उदरमें जा चुका ।'

'यह हीनसत्त्व हीनाकार कदर्य मानव····!' मरुने खिन्न स्वरमें कहा, 'अपने मस्तिष्कपर बड़ा गर्व किया इसने; किंतु अपने गर्वमें यह अपने ही आविष्कारोंका आखेट हो गया ।' खिन्न स्वर ही था भगवान् परशुरामका भी—'इसने ऐसे स्फोटक निर्मित किये कि युद्ध करके उनके द्वारा इसीके सब आविष्कार, सब नगर समाप्त हो गये । वन्य प्राणी बन गया यह स्वयंके विनाशक कृत्योंसे । और दूसरा परिणाम भी क्या होता । ईश्वरकी सत्ता तथा धर्म, परलोक आदिको इसने पहिले ही अस्वीकार कर दिया था । स्थूल भोगोंको ही महत्ता देनेका परिणाम जो विनाश होता है, अनिवार्य बना वह ।'

'और अब यह दीन पशुप्राय मानव····।' देवापि बोल नहीं सके ।

'कीटप्राय कहो वत्स !' भार्गव बता रहे थे—'इसकी परमायु आज बीस या तीस वर्ष है । सामान्यत: तो दस-पंद्रह वर्ष पूर्णायु हो गयी है । इन्द्रिय-भोग मात्र जीवन और वे भोग—जो जिसे स्वीकार कर ले जबतकको, वह उसका उतने कालका पति । जैसे भी हत्या-चोरीसे पेट भरे, वही जीविका । जो दूसरोंको दबाने, छीनने, मारनेमें समर्थ हो, वह शासक । शूद्रप्राय, दस्युबहुल ये मानव ! इनके भारसे धरा कलुषि हो गयी है !'

'इनमें हम जो सृजन करेंगे····?' मरुकी शं उचित ही थी । 'कुछ थोड़े संयमी, भावुक भी हैं' भगवान्ने बताया—'दस्यु तो भगवान्की तलवा धाराने समाप्त किये ही समझो ! उन सत्त्वमूर्ति प्र अङ्गरागकी पावन गन्ध अब शेष रहे लोगोंके चित्त नि कर देगी । अब उनकी संतान शुद्धशील होगी और युग प्रभाव उसे उचित दीर्घ आकार भी प्रदान करेगा !'

'श्रीचरण जो आदेश करेंगे' मरुने विनम्रतापू कहा—'इन सेवकोंको उसका पालन करना ही है किंतु—'

'जीवनकी सफलता श्रीहरिके चरणोंमें भक्ति और वह तुम्हें प्राप्त है । भगवान् कल्कि स्वयं पधारें तुम्हारे सदन !' परशुरामजीने आश्वासन देते आदेश दिया—'जो मानव बचे भी हैं, वे शूद्र हैं । दीर्घकालसे वर्णाश्रमका सर्वथा लोप हो चुका है क्रियालोपसे द्विज भी व्रात्य हो गये और फिर वर्ण सं हो गया । अत: इनकी संतति शूद्र ही होगी । तु दोनों क्षत्रियवंशकी प्रतिष्ठा करो । तुम्हारी संतान आगे कुछ स्वयं वैश्यवर्ण अपना लेंगे । ऋषि भी धरा धन्य करने कलापग्रामसे आ रहे हैं । ब्राह्मणोंका उ उनके द्वारा स्थापित हो जायगा । मरुके द्वारा सूर्यवंश परम्परागत राजधानी अयोध्या और चन्द्रवंशका पवि क्षेत्र प्रतिष्ठानपुर अब देवापिके द्वारा पूर्व प्रतिष्ठा प्राप्त करे ।'

'श्रीचरणोंकी प्रतीक्षा करेंगे हम !' दोनोंने सा प्रणिपात किया ।

'प्रजापति स्वयं तुम्हारी सहधर्मिणियोंका नि करेंगे ।' भगवान् परशुरामने आशीर्वाद देकर बताया 'तुम्हारी संततिको शस्त्र एवं शास्त्रकी शिक्षा देने आना ही है !'

सम्राट् अकबरद्वारा गोवध-निषेध आज्ञा

(लेखक—श्रीगोवर्धनलालजी पुरोहित, एम्० ए०)

गोरक्षा भारतीय संस्कृतिका चिरन्तन प्रमुख अङ्ग रही है । राजा दिलीप नन्दिनीकी सेवा-शुश्रूषामें सभी राजकीय सुखोंको त्यागकर वन-वन भटकते रहे । यहाँतक कि राजाने उसकी रक्षाके लिये अपने-आपको सिंहके आगे प्रस्तुत किया था । महाकवि कालिदासने अपने रघुवंश काव्यमें गाय और पृथ्वीके तादात्म्यका वर्णन किया है ।

पयोधरीभूतचतुस्समुद्रां
जुगोप गोरूपधरां धरित्रीम् ।
(रघुवंश सर्ग २, छन्द ३)

पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण गायकी सेवा कर गोपाल कहलाये । गोवत्स-पूजनके रूपमें सारे समाजने गौका आदर किया । संक्षेपमें, गो-सेवा हमारा उत्कृष्ट सामाजिक आदर्श बन गया । भारतीय समाजका बच्चा-बच्चा गायको गौ माताके नामसे पुकारने लगा ।

एक समय था जब समाजके सभी आचार-विचार धर्मसे अनुप्राणित थे । समाजके हित-साधन धर्मके पहलू बने । इन धार्मिक विश्वासोंको आधुनिक सभ्यताने ऊपरी दृष्टिसे देखा । इसकी गहराईतक हम नहीं जा सके । यही कारण है कि हमलोग धर्म-निरपेक्षताको ही प्रजातन्त्रका मूल रूप मानने लगे । परंतु यदि विवेकसे देखा जाय तो इन धार्मिक धारणाओंका मूल उद्देश्य सुखी समाजका निर्माण करना है । मानवका सामाजिक, आर्थिक तथा ऐहिक विकास धार्मिक विश्वासोंसे ही सुनियोजित होता था । उदाहरणके लिये व्रत तथा उपवास रखनेकी धार्मिक वृत्ति एक ओर मानवको स्वस्थ बनानेकी प्रक्रिया है तो दूसरी ओर देशको अन्न-संकटसे बचानेका अचूक साधन है । इसी तरह भारत एक कृषिप्रधान देश है । कृषिकी उन्नति पशु-बलपर आधारित है । दूसरे, दूध-दहीका खाद्यपदार्थोंमें बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है । ये पदार्थ हमको गौ मातासे ही मिलते हैं । विचारपूर्वक देखनेसे गो-रक्षाकी चिरन्तन धार्मिक धारणाएँ राष्ट्रके आर्थिक तथा शारीरिक विकासका अमोघ साधन हैं ।

परंतु इन सभी उच्च आदर्शोंको केवल धार्मिक रूढ़ि माननेमें विदेशी जातियोंने ही भूल नहीं की, वरं विदेशी सभ्यतासे अनुप्राणित हमारे चोटीके नेताओंने भी यही भूल की और करते जा रहे हैं । यह इनकी संकीर्णताका परिचायक है । जब मुसलमान हमारे देशमें आये तो वे भी संकीर्णताके शिकार थे । प्रत्येक विजयी जातिने पराजित राष्ट्रके धर्म तथा साहित्यको नष्ट करनेका प्रयास पूरी शक्तिसे किया । वे लोग कीर्ति तथा स्वार्थके कारण हिंदूसमाजकी धारणाओंको नष्ट करनेमें जुट गये । इनमें इतनी बुद्धि नहीं थी कि इन धार्मिक धारणाओंके उज्ज्वल पक्षको देख सकें । यही कारण था कि मुसलमानोंने गो-वधको अपनाया । परंतु ज्यों-ज्यों ये लोग हमारे सम्पर्कमें आये, हमारे सामाजिक तथा धार्मिक मूल्योंको समझने लगे, कालान्तरमें ये लोग हमारी धारणाओंको उपादेय समझकर अङ्गीकृत भी करने लगे । सम्राट् अकबर पहले शासक थे जो हमारी धारणाओंको समझनेमें सफल हुए । वे अच्छी तरह मान गये कि हिंदू-आदर्शोंको अपनाये बिना मुगलोंकी राजनीतिकताको कायम रखना असम्भव है ।

सम्राट् बड़े उदार थे । इसके अतिरिक्त इनके दरबारमें हिंदू-धर्मके प्रहरियोंका जमघट-सा था । ये लोग सम्राट्को हमारे धर्मके व्यावहारिक पक्षको समझानेमें सफल हुए । गो-वध-निषेधकी आज्ञा निकालनेके लिये सम्राट्को तैयार किया । हिंदुओंकी यह विशेषता

रही कि वे राजनीतिक दृष्टिसे पराजित होनेपर भी अपने धार्मिक विश्वासोंकी रक्षाके लिये जी-जान लड़ाते रहे। यही कारण है कि अनेक धक्के खानेपर भी हमारी संस्कृति विश्वमें जीवित है। समूचे मुसलमान-कालमें हिंदूलोग गो-रक्षा तथा अन्य धार्मिक तत्त्वोंकी रक्षाके लिये आन्दोलन करते रहे। इनमें कवि नरहरि और गंग प्रमुख थे। रहीम मुसलमान होते हुए भी हिंदू-संस्कृतिकी रक्षा हृदयसे करते रहे।

नरहरि बाबरके समयमें मुगल दरबारके प्रतिभाशाली कवि थे। ये हिंदू-धार्मिक मान्यताओंके सच्चे प्रहरी थे। मुसलमानोंद्वारा गो-वधको ये सहन नहीं कर सके। वे रात-दिन गो-रक्षाके बारेमें सोचा करते थे। अन्तमें इस बुराईको सम्राट्तक पहुँचानेका उपाय इन्होंने ढूँढ़ निकाला। यों मध्यकालीन शासन निरङ्कुश था। परंतु लोकमतका आदर करनेका उनका एक विशेष तरीका था। सम्राट् प्रतिदिन जनताके सम्मुख आता था। जनताके एकत्रित होनेके स्थानको फरियाद-स्थल कहा जाता था। इस फरियाद-स्थलपर सभी प्राणी अपने दुःखोंकी कहानी सुनानेके लिये उपस्थित होते थे। अतः नरहरिने भी एक दिन फरियाद-स्थलपर एक गायको लाकर खड़ा कर दिया। जब सम्राट्ने गायके आनेका कारण पूछा तो कविने गायके मूक संदेशको अपनी वाणीमें कह सुनाया——

अरिहु दंत तिनु धरैं, ताहि नहिं मारि सकत कोइ।
हम संतत तिनु चरहिं, वचन उच्चरहिं दीन होइ॥
अमरित पय नित स्रवहिं, बच्छ खंभनिहि बँधावहिं।
हिंदुहिं मधुर न देहि, कटुक तुरकहिं न पियावहिं॥
कह कवि अकबर सुनौ विनवति गउ जोरे करन।
अपराध कौन मारियत, मुएउ चाम सेवइ चरन॥

कविने सम्राट्को समझाया कि गाय आपसे करजोड़ प्रार्थना करती है कि यदि शत्रु भी अपने मुँहमें तिनका ले लेता है तो इसको क्षमा किया जाता है, जब कि हम तो रात-दिन तिनका मुँहमें लिये हैं और दीन वचन बोलती रहती हैं। अपने खूँटेमें बँधवाकर आप सभीके लिये दूध देती हे सम्राट्! तनिक विचार करो, हम हिंदुओंको मधुर दूध नहीं देती हैं और मुसलमानोंको कड़वा नहीं पिलाती हैं। हमारा दूध तो सभीके लिये है। हमारा कौन-सा अपराध है, जिससे हमें जाता है। हम तो मरनेपर अपने चमड़ेसे चरणोंकी सेवा करती हैं।

कविके शब्दोंमें गायकी मार्मिक प्रार्थना सम्राट्ने तत्काल गोवध-निषेध-आज्ञा समस्त प्रसारित की। आयना अकबरी भाग १। पृ० पर लिखा है कि 'इस प्रकारकी घटना तथा कारणोंसे प्रभावित होकर ही अकबरने गो-हत्या-निवा उचित मार्गका अवलम्बन किया था। निम्नलिखित और स्पष्ट होता है कि सम्राट्ने कविके उपर्युक्त प्रभावित होकर समस्त राज्यमें गोवध-निषेधकी प्रसारित की थी।

नरहरि कवि सों गऊकी विनती सुनि,
साँची गुन खलन पै कै मति अकससी।
अकबर जारी परवाने किए मारिबे को,
चारिहु महीपन लखानी बात हक-सी।
ब्यापि गयो हुकुम दिल्लीपति को हिन्द भरि,
वाजि वचन मन आनि कै करक-सी।
जीवन कसाइन को देत भयो गायन. को,
गायन की मौत ले कसाइन को बकसी।

इस तरह सम्राट्ने सामाजिक हितोंके अपने राज्यमें गोवध-निषेधकी आज्ञा प्रसारित आज भी गोरक्षाका एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। लिये कविकी तरह गोरक्षा-आन्दोलनको सत्ताधारियों पहुँचाना तथा सत्ताधारियोंका सम्राट् अकबरकी गोवधनिषेध आज्ञा प्रसारित करना शोभनीय है।

वनवासी बन्धुओंके बीचमें

(भगवन्नाम-कीर्तन तथा रामचरितमानस-प्रचार अभियान)

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा
आभीरकङ्का यवनाः खसादयः ।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः
शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥ *
(श्रीमद्भा० २ । ४ । १८)

वेद तथा पुराणोंमें दो प्रकारके मनुष्य बताये गये हैं, एक तो ग्राम-नगरवासी, दूसरे वनवासी । प्रायः ग्राम-नगरवासी वर्णाश्रम-धर्ममें—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन वर्णोंमें आबद्ध होते हैं । वनवासियोंमें उस समय प्रायः वर्णव्यवस्था नहीं थी । इसीलिये स्मृतियोंमें **'आभीराः पञ्चमाः स्मृताः'** आभीर पञ्चमवर्णके हैं । अर्थात् वर्णाश्रमेतर हैं । किंतु वे वर्णाश्रमधर्मको न मानते हों, सो बात नहीं । बहुत-से वनवासी वन छोड़कर नगरोंमें आ बसे और वे वर्णाश्रमियोंमें मिल गये । पश्चिमी लोग जो यह प्रचार करते हैं कि आर्य लोग विदेशोंसे भारतमें आये । पहले कोल-भील आदि लोग यहाँके मूल निवासी थे । आर्योंने आकर उन्हें जंगलोंमें खदेड़ दिया और स्वयं इस भूमिके राजा बन बैठे । इसीलिये वे वनवासियोंको 'आदिवासी' कहने लगे थे, किंतु यह धारणा सर्वथा असत्य है, मूर्खतापूर्ण है और पश्चिमीय लोगोंकी धर्महीन दुरभिसंधि मात्र है । आर्यलोग कभी कहीं बाहरसे नहीं आये । वे यहींके निवासी हैं; भारत उनकी परम पवित्र मातृभूमि है । पश्चिमीय विद्वानोंके पास कोई भी पुष्ट प्रमाण नहीं है कि आर्य बाहरसे आये । उनके सम्पूर्ण मत अनुमान-पर अवलम्बित हैं । कोई अनुमान सत्य भी होता है, कोई असत्य भी । वे लोग अनुमान करते हैं कि जैसे अमेरिका आदि टापुओंके मूलनिवासी और थे, अंगरेजों-ने उनपर अधिकार जमा लिया । इसी प्रकार भारतमें भी आर्योंने बाहरसे आकर अधिकार जमा लिया । उनका काल-निर्णय भी विचित्र है । ईसाके जन्मके पूर्व वे नहीं जाते । तीन या पाँच हजार वर्षके पूर्वके समयको वे प्रागैतिहास अर्थात् इतिहाससे पूर्वका समय कहते हैं । उनका मानव-जातिका सारा इतिहास या यों कहिये सभ्यताका इतिहास बस पाँच हजार वर्षका ही है । उनका कहना है कि पहिले मानवजाति असभ्य, असंस्कृत पशुके समान थी । मनुष्य जंगलोंमें बंदरोंके समान घूमते थे, शनैः-शनैः उन्हें अग्निका ज्ञान हुआ, वे बीज इकट्ठे करने लगे, बोने लगे, खेती करने और झोंपड़ी बनाने लगे । घर-नगर बने । हमलोगोंकी विकसित विद्या-बुद्धिके फलस्वरूप रेल-बिजलीका आविष्कार हुआ । तार, फोन, बेतारके तार, टेली विजन, मोटर, वायुयान आदि उन्नतिके साधन जुटने लगे । अब मनुष्य पूर्ण सभ्य है ।

इसके विपरीत हम वेद-शास्त्र माननेवाले वर्णाश्रमी आर्यों-की मान्यता दूसरी ही है । जैसे पश्चिमी विद्वान् मानते हैं, पहले आदमी बंदरकी तरह पूर्ण असभ्य था, पीछे उन्नति करते-करते वर्तमान समयका सभ्य बन गया । हमारे यहाँकी मान्यता है पहले वसिष्ठ, अत्रि, याज्ञवल्क्य, भरद्वाज, गौतम आदि समस्त ऋषि पूर्ण धार्मिक और अतिमानुष थे । ज्यों-ज्यों धर्मका ह्रास हुआ, युगोंका परिवर्तन होता गया, त्यों-त्यों मानव धर्मभावके न्यून होनेसे असभ्य बनता गया । इस समय कलिकालमें मनुष्य धर्महीन, यथार्थमें असभ्य तथा पतनोन्मुख हो गया है । पश्चिमीय लोग कहते हैं हम उन्नति कर रहे हैं । आर्य कहते हैं धर्मकी ग्लानि होनेसे हम अवनत हो रहे हैं । पश्चिमीय विद्वान् जहाँ अपने मतलबकी बात देखते हैं, वहाँ वेद-पुराणोंके भी उद्धरण देते हैं । जो उनके अनुमानके विपरीत दीखता है उसे वे गँड़रियोंके गीत या असभ्योंका प्रलाप कह देते हैं ।

हमलोग तो वेद-पुराणोंको ही प्रमाण मानते हैं । हमारे यहाँ वेद-पुराणोंमें स्थान-स्थानपर बताया गया है कि पुष्करमें ब्रह्माजीने सृष्टि की । कर्दम मुनिने देवहूतिके साथ सरस्वतीके तटपर बिन्दुसरोवरके निकट आदिविवाह किया । महाराज पृथु आदिराजा थे, जिनके नामसे वसुन्धराका नाम पृथ्वी पड़ा । उन्होंने ही नगर, ग्राम तथा किलोंकी रचना की । जब इतने-इतने अकाट्य प्रमाण हमारे धर्मग्रन्थोंमें मिलते हैं, तो हम यह कैसे मान लें कि आर्यलोग बाहरसे आये । हम इन भौतिक साधनोंद्वारा उन्नत न होकर वस्तुतः अवनत

---

* जिन भगवान्के भक्तोंका भी आश्रय लेनेपर किरात, हूण, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कङ्क, यवन, खस तथा और भी पाप-योनिवाले पुरुष विशुद्ध बन जाते हैं, उन परमात्माके पाद-पद्मोंमें हमारा पुनः-पुनः प्रणाम है ।

हो रहे हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, आस्तिकता आदि सद्गुण जिसमें हों वह चाहे एक कौपीन ही लगाये क्यों न रहता हो; पेड़के नीचे सूखे पत्ते खाकर बिना कुछ संग्रह किये ही क्यों न रहता हो—वास्तवमें वही सभ्य है। इसके विपरीत, जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, परिग्रह, हिंसा, चोरी, परस्त्री-गमन आदि दुर्गुणोंमें फँसा हुआ हो, फिर चाहे वह कितने भी सुन्दर भवनोंमें रहता हो, कितने भी स्वच्छ वस्त्र पहिनता हो, तार, फोन, बेतारके तार, मोटर, वायुयान आदि कितने भी सुविधाकी सामग्री प्रचुरमात्रामें उसके पास क्यों न एकत्रित हों—वह असभ्य है, पिछड़ा हुआ है। इस प्रकार हमारी और पश्चिमीय विद्वानोंकी विचारधारामें महान् अन्तर है। वे उन्नतिका अर्थ भौतिक बाह्य सामग्रीकी प्रचुरतामें समझते हैं और हमलोग आन्तरिक सद्गुणोंके विकासको उन्नति कहते हैं।

हमारे यहाँ वनवासी दो प्रकारके माने गये हैं। एक तो भूमिके वनोंसे—वृक्षोंसे आजीविका उपार्जन करनेवाले, घोर वनोंमें रहनेवाले; तथा दूसरे नदियोंके तटोंपर रहनेवाले, जलसे आजीविका करनेवाले। वनमें रहनेवाले जैसे कोल, भील, शवर, हूण, किरात, गौंड, उराव, खस, वैगा, मटिया आदि-आदि। ये लोग सदा वनमें निवास करते थे। जलके किनारे जलसे आजीविका करनेवाले निषाद, मल्लाह, केवट, कहार, महार आदि निषादोंके सैकड़ों भेद हैं। ये नदीके किनारे खेती करके, मछली आदि जल-जीवोंको पकड़कर, नौका चलाकर और कोई-कोई नगरवासियोंको लूट-पाट करके भी अपनी आजीविका चलाते थे। पुराणोंमें इनकी उत्पत्तिके स्थान-स्थानपर प्रसंग हैं।

निषादोंकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें लिखा है। जब वेन बहुत ही अन्याय-अत्याचार करने लगा, यज्ञ-याग आदि धर्मके कामोंके लिये निषेध करने लगा, तब अरण्यवासी ऋषियोंने उसकी राजधानीमें आकर उसे बहुत समझाया। वह नहीं माना, ऋषियोंको भी भली-बुरी सुनाने लगा। तब ऋषियोंने क्रोध करके हुंकारद्वारा उसे वहीं मार डाला और फिर वे जंगलोंमें चले गये। वेनकी पत्नीने राजाके शरीरको जलाया नहीं, तैल आदिमें सुरक्षित रक्खा। ऋषि-मुनि वनोंमें ही रहते थे। कहना चाहिये, वनोंके आदिवासी ऋषि-मुनि ही हैं। घोर जंगलोंमें वे ही पर्णकुटी बनाकर तपस्या करते थे। दस्यु भी रहते थे, किंतु वे ऋषियोंको क्षति नहीं पहुँचाते थे। क्षतिवाली कोई वस्तु उन त्यागी सर्वज्ञ ऋषियोंके पास कुछ थी ही नहीं; क्योंकि अपरिग्रही थे। एक समयमें दूसरे समयके लिये भी कंद-मूल-फल संग्रह नहीं करते थे। हमारे यहाँ श्रेष्ठ पराकाष्ठा यही थी कि जो ज्ञान-सम्पन्न व्यक्ति जितना अ असंग्रही होगा, वह उतना ही बड़ा माना जायगा।

ऋषियोंने देखा वेनके मरनेसे प्रजामें लूट-पाट गयी। राजाके कोई पुत्र नहीं था। राजाका पुत्र ही हो सकता है। अतः ऋषियोंने योगप्रभावसे वेनके शरी मथा। उस शरीरमें कुछ कल्मष भी था और श्रेष्ठता थी। शरीरके मथनेसे पहिले एक काला पुरुष उत्पन्न हु वह अत्यन्त काला था, ठिंगना था, उसके हाथ भी छो छोटे थे, किंतु उसकी ठोढ़ी बड़ी थी, उसकी नासिका अग्रभाग चिपटा था, उसकी आँखें लाल थीं और क कड़े बाल ताम्रवर्णके थे। उसने दीनताके साथ ऋषि पूछा—'मैं क्या करूँ?'

ऋषियोंने कहा—'निषीद' अर्थात् आप 'बैठ उसीके वंशज 'निषाद' कहलाये, जो पर्वतोंपर, वनोंमें नि करते हैं। निषादने उत्पन्न होकर वेनके कल्मषको लिया।* इसके अनन्तर महाराज पृथु हुए। महाराज पृथिवीके राजा हुए और निषादराज जलके राजा हुए।

श्रीविश्वामित्रजी जब राजा थे, उस दशामें जब लोभ वसिष्ठजीकी कामधेनुका अपहरण किया तो कामधेनुने ऋषि आज्ञासे क्रोधमें भरकर हुंकार की। हुंकार करते ही उ रोम-रोमसे धनुष-बाण लेकर लाखों किरात, हूण, शक, दर्दर जातिके वीर उत्पन्न हुए। उन्होंने विश्वामित्रकी सेना मार भगाया। ये लोग भी वनोंमें रहने लगे। अमेरि अफ्रीका, इंगलैंड आदि देशोंमें इन्हीं जातिके लोग लगे। इंगलैंड आदिके निवासी सब निषाद जातिके ही आजसे डेढ़-दो हजार वर्ष पूर्व ये लोग बाँसोंकी झों बनाकर मछलियाँ पकड़कर निवास करते हुए रहते थे।

---

* काककृष्णोऽतिह्रस्वाङ्गो ह्रस्वबाहुर्महाहनुः।
ह्रस्वपान्निम्ननासाग्रो रक्ताक्षस्ताम्रमूर्धजः॥
तं तु तेऽवनतं दीनं किं करोमीतिवादिनम्।
निषीदेत्यब्रुवंस्तात स निषादस्ततोऽभवत्॥
तस्य वंशास्तु नैषादा गिरिकाननगोचराः।
येनाहरज्जायमानो वेनकल्मषमुल्बणम्॥
(श्रीमद्भा० ४ । १४ । ४४-

पहले वनप्रदेश भूमिपति राजाओंके शासनसे पृथक् माने जाते थे। भूमिके राजा क्षत्रिय थे। नदियों और उनके किनारोंके राजा निषादराज थे। वन स्वतन्त्र थे। उनमें या तो ऋषि-मुनि या वानप्रस्थी अथवा वनवासी कोल-भील रहते थे। कोई राजकुमार अपराध करता था तो राजा उसे अपने राज्यसे निकाल देता था, उसे वनवासका दण्ड दिया जाता था। वह फिर राजधानीमें नहीं आता था। जीवनभर वनोंमें ही उसे रहना पड़ता था। इस प्रकार वन और नगर दोनों एक दूसरेसे पृथक् थे। वनवासी नगरोंसे बहुत कम सम्बन्ध रखते थे तथा नगरवासी या तो आखेट करने—शिकार खेलने वनोंमें जाते अथवा तपस्याके लिये। जिसे वनवासका दण्ड दिया जाता, वह अपने मन्त्री, पुरोहितों तथा परिवार-वालोंको भी वनमें ले जाता। ऐसे लोगोंमें राजवंशका रक्त तो रहता ही था, वनमें भी जाकर वे अपने किले बनाते, अपना राज्य स्थापित करते। छोटा-मोटा अपना राज्य बना लेते। यों राजा तो बन जाते, किंतु क्षत्रिय उन्हें अपनी कन्या नहीं देते थे। इसलिये उनके पुरोहित कहते **'स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि'** स्त्री तो रत्न है, उसे दुष्कुलसे भी लेनेमें कोई हानि नहीं। इसलिये उन्होंने वनवासियोंसे लड़कियाँ लेना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार वनोंमें भी क्षत्रियोंकी राजधानियाँ बनने लगीं। ये राजगोंड ऐसे ही क्षत्रिय हैं।

पहले नगरोंमें और वनोंमें बहुत अन्तर था। आवागमनकी कठिनाइयाँ थीं। नगरवासी प्रायः वनोंमें दुर्गम स्थानोंमें नहीं जाते थे। वनवासी भी नगरोंमें जाना पसंद नहीं करते थे। जब श्रीरामजी वनमें गये तो वनवासी नर-नारी उनके रूपको देखकर विमुग्ध हो गये। मन्त्रमुग्धकी भाँति उनके पीछे-पीछे फिरते थे। विशेषकर सीताजीके सुकुमार शरीरको देखकर तो वे पानी-पानी हो गये। रामजी न तो वहाँ ऋषि-मुनियोंकी भाँति कुटी बनाकर जीवनभर रहनेको गये थे, न अन्य राजकुमारोंकी भाँति वे वहाँ अपनी कोई राजधानी ही बनाना चाहते थे। वे वनवासियोंमें रम गये। जिन राममें योगीजन रमते हैं, वे राम वनवासियोंके हृदयोंमें रम गये। उनमें हिलमिल गये। रामने वन और नगरका अन्तर दूर कर दिया। राम दोनोंके ही आराध्य बन गये। रामने वनवासियोंको नगरवासियोंके समीप ला दिया। उनकी दूरी कम कर दी। बीचकी खाईको पाट दिया। राम सबके हो गये। वनवासी राम और राजा राम सभीके इष्ट तथा भजनीय बन गये। सचमुच वे काननके राजा हो गये। उन्होंने कहा था अपनी माता कौशल्यादेवीसे—

पिता दीन्ह मोहि कानन राजू। जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू॥

यथार्थमें रामने बड़ा भारी काम किया। उन्होंने वनवासियोंसे नगरवासियोंको मिला दिया।

वनवासी वनोंके स्वतन्त्र राजा होते थे। तभी तो निषादराजने रामजीसे कहा था—'राम! आप मेरे यहाँ राज्य कीजिये, अयोध्याके न सही तो आप श्रृंगवेरपुरके राजा बनकर रहिये। वाल्मीकिरामायणके पढ़नेसे श्रृंगवेरपुरका निषादोंका राजा गुह स्वतन्त्र राजा प्रतीत होता है।

केवटने भी कितना साहस किया। उसने स्पष्ट कह दिया मैं तुम्हारे बापकी शपथ खाकर कहता हूँ—मैं बिना पैर धोये तुम्हें पार न उतारूँगा।

मोहि राम राउरि आन दसरथ सपथ सब साँची कहौं।

भरतजीके आनेपर निषाद युद्ध करनेतकके लिये उद्यत हो गया। इन सब बातोंसे प्रतीत यही होता है कि क्षत्रिय राजाओंने वनवासियोंकी स्वतन्त्रताको स्वीकार किया था। उन्होंने वनोंपर न अपना स्वत्व दिखाया और न वनकी सम्पत्ति कंद, मूल, फल, ईंधन आदिसे ही वनवासियोंको वञ्चित ही किया। वनवासियोंके देवी-देवता यद्यपि वन, पर्वत, भूमि, गौ, भूत, प्रेत, पिशाच, यक्ष, राक्षस आदि होते थे, किंतु वर्णाश्रमियोंके संसर्गसे और विशेषकर रामजीके वनगमनसे वे वर्णाश्रमियोंकी भाँति भगवत्परायण हो गये। रामजीने तो उन्हें विमोहित करके अपना ही बना लिया। वे भी रामभक्तिमें तल्लीन हो गये।

हिंदू राजाओंके अनन्तर मुसल्मानोंने भी वनवासियोंकी स्वतन्त्रतामें हस्तक्षेप नहीं किया। मुसल्मान यहाँ शासन करने—राज्य स्थापित करने नहीं आये थे। वे तो धनके लोभसे लूटपाट करने आये थे। लूटते-पाटते अन्धेके हाथों बटेर लग गयी। वे यहाँके शासक बन बैठे। वनवासियोंके पास धन तो था ही नहीं, इसलिये उन्होंने भी इनकी स्वतन्त्रतामें हस्तक्षेप नहीं किया। उन्हें मुस्लिमधर्ममें दीक्षित करनेकी तो उन्होंने कल्पना भी नहीं की थी। इसीलिये जितने भी वनवासी छोटे-मोटे राजा थे, मुसल्मानी कालतक वे सब-के-सब स्वतन्त्र रहे।

अंगरेजी कालमें इनका जीवन पलटा। अंगरेजोंकी हार्दिक

इच्छा थी कि यह सम्पूर्ण देश ईसाई-धर्मावलम्बी बन जाय। परंतु वे यह भी जानते थे कि उच्चवर्णके हिंदू तो ईसाई बननेसे रहे। या तो दुःखित अन्त्यज ईसाई बन सकते हैं या भोले-भाले निर्धन साधनविहीन अनपढ़ ये वनवासी। इसलिये विदेशी ईसाई मिशनरियोंने पूरी शक्ति लगाकर अन्त्यज तथा वनवासियोंको योजनाबद्ध ईसाई बनाना आरम्भ कर दिया। उन्हें इसके लिये विदेशोंसे करोड़ों-अरबों रुपये मिलते हैं। अंगरेज तो शासक ही थे। स्पष्टरूपसे वे किसीसे नहीं कह सकते थे कि तुम ईसाई बन जाओ, किंतु उनकी हार्दिक भावना ईसाई-मतकी अभिवृद्धिकी ही थी। वे गुह्यरूपसे साम, दाम, दण्ड तथा भेद नीतिसे ईसाइयोंकी जनसंख्या बढ़ानेमें कटिबद्ध थे।

वनवासी बन्धुओंकी बस्ती मिर्जापुर, प्रयाग जिलेसे लेकर उधर उड़ीसा, विहार, मध्यप्रदेश, आन्ध्रतक है; विशेषकर ये मध्यप्रदेशमें, दक्षिणमें और उस समयके छोटे-छोटे राज्य सरगूजा, कोरेया, जसपुर, छोटा उदयपुर, चंकभाकर, पालकोट, बस्तर आदि राज्योंमें निवास करते हैं। मध्यप्रदेशके रायगढ़, सरगूजा, रायपुर, विलासपुर, अमरावती, नीमाड़, यवतमाल, अकोला, बुलडाना, मांडला, जबलपुर, बेतूल, छिन्दवाड़ा, बालाघाट आदि जिलोंके जंगली प्रदेशमें ये लोग विशेषरूपसे निवास करते हैं। सभी वनवासियोंकी गणना की जाय तो सभी जातिके ये वनवासी ५-६ करोड़तक होंगे। अर्थात् भारतकी जनसंख्याका लगभग षष्ठांश।

अंग्रेज-शासकोंकी सहमतिसे ईसाइयोंकी विभिन्न संस्थाओंने यहाँ अपने अस्पताल, विद्यालय, छात्रावास, कुष्ठाश्रम और गिरजाघरोंकी स्थापना की। वनवासी तो भोले-भाले साधनविहीन अशिक्षित ही थे। शासक अंग्रेज थे। वे स्वयं ईसाइयोंकी संख्यावृद्धि चाहते थे। इस कारण ईसाइयोंका थोड़े ही दिनोंमें बहुत बड़ा संगठन खड़ा हो गया। उन्होंने वहाँ समानान्तर सरकार-सी ही बना ली। वे वनवासियोंके राजा ही बन गये। हिंदू रियासतोंमें उन्हें कुछ संकोच था, सो पोलिटिकल एजेंटकी सहायतासे वहाँ भी वे पैर जमाने लगे। जसपुर राज्यमें ईसाई नहीं थे। वहाँके महाराजा ईसाइयोंसे चौकन्ने रहते थे, पीछे उनका देहान्त हो गया। उनके राजकुमारकी अवस्था पाँच वर्षकी थी। राज्य कोर्ट आफ वार्डस्के अन्तर्गत आ गया। दीवान मुसल्मान था। प्रधान अधिकारी अंग्रेज ईसाई। इस बीच वहाँ ईसाइयोंने इतना प्रचार किया कि वनवासियोंकी प्रधान जाति ओउरावोंमें ७५ प्रतिशत ईसाई बना लिये गये। वर्तमान महाराज जब प्राप्तवयस्क हुए इन्हें जब इनका राज्य लौटाया जाने लगा तो सुनते हैं सरकारसे कहा था—मुझे तो जैसे मेरे पिताके समयमें था, वैसा ही लौटाना चाहिये। अर्थात् मेरे पिताके मेरे राज्यमें एक भी ईसाई नहीं था, अब तो इतने हो गये हैं। मैं तभी राज्य लूँगा जब ये सब-के-सब बन जायँगे।

सुनते हैं, लोगोंके बहुत समझानेपर उन्होंने राज्य किया। किंतु उनकी इच्छा यही थी कि मेरी प्रजा चंगुलसे छूटे। इसीलिये उन्होंने एक गाँव धर्मसंघको, स्वामी करपात्रीजीको, तीन ओघड़ बाबाको, एक स्वामी नन्दजीको, दो कल्याण-आश्रमको तथा अन्यान्य विभिन्न को दानमें दिये कि यहाँ साधु-संत निवास करें। का बहुत प्रचार होनेपर सरगूजा आदि छोटे-छोटे 'धर्मपरिवर्तननिरोध' कानून भी बनाये थे, जिनके कोई ईसाई पादरी उनके राज्यमें प्रवेश नहीं कर सकता फिर भी लुक-छिपकर ईसाई व्यक्तिगत रूपसे पहुँच जाते नाना प्रलोभन देकर उन्हें ईसाई बना लेते। तथापि कुछ रोक-थाम थी। राँची आदि अंग्रेजी राज्योंमें वे धड़ल्लेसे ईसाइयोंकी संख्या बढ़ाते गये और अपनी मजबूत करते रहे। जब भारतीय संविधान बना और लिये धार्मिक स्वतन्त्रता घोषित की गयी, तब रियासतोंके ओर तो ईसाई अपनी जड़ जमाये बैठे ही थे। मिलते ही उन्होंने जैसे फौजें शत्रुके देशपर हमला चारों ओरसे वे रियासतोंमें घुस गये और उन्होंने असहाय वनवासियोंके भोले-भालेपन तथा गरीबीसे लाभ कर उन्हें ईसाई बनाना आरम्भ कर दिया। अभी मैंने सरगूजा महाराजका एक वक्तव्य समाचार-पत्रोंमें पढ़ा उन्होंने अपने वक्तव्यमें कहा था कि 'जब मैंने रियासत थी, उस समय मेरी रियासतमें एक भी ईसाई नहीं विलयके अनन्तर अब लाखों ईसाई रियासतमें हो गये हैं।'

रियासतोंके विलय हो जानेपर तो ईसाइयोंका राज्य हो गया। उनके मनसूबे थे कि पाकिस्तानकी भाँति ईसाईस्तानकी भी स्थापना हो। इसके लिये उन्होंने धन, सामर्थ्य-बुद्धि आदिकी पूरी शक्ति लगा दी। पत्रव्यवहार आरम्भ कर दिया और झारखंड पार्टीके एक दल बनाकर वनवासियोंके लिये झारखंड प्रदेशकी

आरम्भ कर दी और खुल्लमखुल्ला काँग्रेसी सरकारका विरोध आरम्भ कर दिया ।

अब तो हमारी धर्मनिरपेक्ष सरकारके भी कान खड़े हुए । ईसाइयोंकी झारखंडकी माँगसे उसका भी सिंहासन डोला । उस समयके प्रधान मन्त्री पं० रविशंकरजी शुक्ल जब इस ओर आये तो ईसाइयोंने उन्हें काले झंडे दिखाये और आन्दोलन किया कि 'काँग्रेस सरकारमें ईसाइयोंको बहुत कष्ट है । अतः आदिवासियोंको झारखंडके नामसे पृथक् राज्य मिलना चाहिये ।'

मध्यप्रदेश सरकारको चिन्ता हुई कि इन विदेशी मिशनरियोंके देशद्रोहको किस प्रकार रोका जाय । इसके लिये सरकारने एक आयोग (कमीशन) नियुक्त किया । उसमें हिंदुओंका अथवा विरोधी दलका कोई भी व्यक्ति नहीं रक्खा गया । प्रान्तके गण्यमान्य लब्धप्रतिष्ठ काँग्रेसी विचारके चुने हुए व्यक्ति रक्खे गये । इसके अध्यक्ष नागपुर उच्चन्यायालय (हाईकोर्ट) के भूतपूर्व प्रधान न्यायाधीश (चीफजस्टिस) डा० भवानीशंकरजी नियोगी बनाये गये । इसीलिये यह आयोग 'नियोगी कमीशन' के नामसे प्रसिद्ध हुआ । इसके सदस्योंमें मध्यप्रदेश विधानसभाके भूतपूर्व अध्यक्ष प्रान्तके प्रसिद्ध काँग्रेसी नेता श्रीघनश्यामसिंहजी गुप्त, श्रीरतनलाल मालवीय, श्रीभानुप्रतापसिंह, श्रीगिरिराजसिंह देवजू तथा मध्यप्रदेश स्वास्थ्य-विभागके मन्त्री श्रीवी० पी० पाठक और एक ईसाई प्रोफेसर एस० के जार्ज नियुक्त हुए । इस प्रकार मध्यप्रदेशकी ईसाई मिशनरियोंकी गति-विधिकी जाँचके लिये यह छः सदस्योंकी समिति बनी । ईसाइयोंने इसका विरोध किया । इस समितिसे उनकी पूरी पोल खुलनेकी सम्भावना थी । अबतक वे अपनेको सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र समझते थे । जो ईसाई हो जाते, उनके मनमें विदेशी पादरी यह भावना भरते कि हमारा लार्ड विशप (धर्मगुरु) सर्वश्रेष्ठ है, उसे कोई अदालतमें नहीं ले जा सकता । बड़े-बड़े सरकारी अधिकारी उसके दर्शनोंके लिये आते हैं । वह सरकारसे जो चाहे करा सकता है । यदि यह समिति बैठी तो हमारे ये सब बालूके किले ढह जायँगे । अतः कैथोलिक चर्चने समितिके विरोधमें अपना वक्तव्य दिया । यहींतक नहीं, उसने नागपुर हाईकोर्टमें समितिके विरुद्ध मेन्डामस पिटीशन (Mandamus petition) भी दायर कर दिया कि सरकारको ऐसी कमेटी बनानेका कोई अधिकार नहीं, किंतु हाईकोर्टने उनकी याचना अमान्य कर दी और १२ अप्रैल सन् ५६ को यह निर्णय दे दिया कि 'राज्यसरकारको पूर्ण अधिकार है वह तथ्योंकी जाँचके लिये समिति नियुक्त कर सकती है और तत्-सम्बन्धी सूचनाओंको एकत्रित कर सकती है । प्रार्थियोंने जो यह दलील दी कि समितिकी नियुक्तिसे हमारे मौलिक अधिकारोंकी अवहेलना होती है यह बात ठीक नहीं । समितिकी नियुक्ति न्यायसंगत है ।'

जब यह निर्णय हो गया तो समितिने अपना कार्य आरम्भ कर दिया । समितिके सदस्योंने अत्यधिक परिश्रम किया । उसने मध्यप्रदेशके, जहाँ वनवासी विशेषरूपसे बसते थे, १४ जिलोंमें दौरा किया । उसने ईसाइयोंके ७७ केन्द्रोंका स्वयं जाकर निरीक्षण किया । लगभग ११३६० आदमियोंकी गवाहियाँ मौखिक लीं । ३७५ लिखित वक्तव्य लिये । फिर बड़ी ही विद्वत्तापूर्ण रिपोर्ट सरकारको दी । यह रिपोर्ट लगभग २५० पृष्ठोंकी है । ढाई रुपया इसका मूल्य है । इस रिपोर्टको पढ़नेसे रोंगटे खड़े होते हैं । हिंदू-समाजका कैसा ह्रास हो रहा है; ईसाई मिशनरी वनवासियोंको ईसाई बनानेके लिये कैसे-कैसे हथकंडे प्रयोगमें ला रहे हैं । उनकी गरीबीसे अनुचित लाभ उठा रहे हैं । अकालके समय या वैसे ही अन्न देकर, बीज देकर, नकद कर्जा देकर, उनके लड़कोंको वस्त्र-पुस्तक देकर पढ़ाते हैं, उनकी फीस माफ करते हैं, हर प्रकारकी सुविधाएँ देते हैं । अस्पतालमें उन्हें बिना मूल्य ओषधि देते हैं । आगे भी सदा बिना मूल्य देते रहनेका आश्वासन देते हैं । जो ईसाई नहीं होते, उनसे मूल्य लेते हैं । सारांश यह है कि जैसे भी वे फँस सकें, उन्हें फँसाते हैं । उन्हें हिंदूसमाजसे पृथक् ही नहीं करते—उनमें विदेशी भावना भरते हैं, वेष-भूषासे उन्हें विदेशी बना देते हैं । उस प्रतिवेदनमें अनेकों उदाहरण दिये गये हैं । कैसे अमुक पादरीने कहा कि 'सरकारको टैक्स मत दो, अपना अलग झारखंड बनाओ, जो इसका विरोध करेगा, उसे निकाल दिया जायगा ।' कैसे लोगोंको डराकर, धमकाकर, रोब जमाकर ईसाई बनाते हैं, कैसे एक बुढ़िया आँखमें दवा डलवाने गयी, उसके दोनों बच्चोंको ईसाई बना लिया । इस प्रकार ईसाई मिशनरियोंके अन्यायके सप्रमाण अनेकों उदाहरण दिये हैं । पूरा प्रतिवेदन पढ़ने योग्य है । सम्पूर्ण विषयका सिंहावलोकन करते हुए अन्तमें समितिने जो सिफारिशें की हैं, वे संक्षेपमें निम्नलिखित हैं—

१–जिन मिशनरियोंका मुख्य उद्देश्य केवल धर्म-परिवर्तन ही है, उन्हें वापस जानेके लिये कहा जाय । देशके भीतर विदेशीय मिशनरियोंका बहुत संख्यामें आना अवाञ्छनीय है और इसकी रोकथाम होनी चाहिये ।

२–भारतीय चर्चके लिये सबसे प्रथम मार्ग है कि वे भारतमें एक संयुक्त-स्वतन्त्र ईसाई चर्चकी स्थापना करें, जो विदेशसे आनेवाली सहायतापर निर्भर न रहे।

३–ऐसी चिकित्सा-सम्बन्धी सेवाओं अथवा अन्य सेवाओंको, जो धर्म-परिवर्तन-कार्यके लिये काममें लायी जाती हों, कानूनद्वारा वर्जित कर देना चाहिये।

४–भारतीय विधानमें बच्चोंके लिये धार्मिक शिक्षा-सम्बन्धी भी कुछ परम्पराएँ हैं, जिनके अनुसार बिना माता-पिता अथवा संरक्षककी मर्जीके उनके बच्चोंको धार्मिक शिक्षा देना वर्जित है। उन धाराओंको कार्यान्वित करनेके लिये शिक्षा-विभागको चाहिये कि वह तत्-सम्बन्धी फार्म इत्यादि तैयार करे और उसको सब स्कूलोंमें वितरण करे।

५–कोई भी ऐसी चेष्टा या प्रयत्न, जिसके द्वारा दबावसे, छल-कपटसे, अनुचित भय दिखाकर अथवा आर्थिक या दूसरी प्रकारकी सहायताका आश्वासन देकर अथवा धोखेसे या किसी प्रकारकी साधारण या भौतिक सहायताका वचन देकर अथवा दूसरे व्यक्तिकी अनुभवहीनता या उसके विश्वासका अनुचित लाभ उठाकर अथवा किसी व्यक्तिकी आवश्यकताओं, उसकी मानसिक दुर्बलता और मूर्खताका लाभ उठाकर और आम तौरसे कोई भी ऐसी चेष्टा और प्रयत्न, चाहे वे सफल हुए हों या असफल, प्रत्यक्षरूपमें हों अथवा अप्रत्यक्ष रूपमें, जिनके द्वारा अन्य धर्मके किसी व्यक्तिके धार्मिक अन्तर्विश्वासको चाहे वह व्यक्ति प्रौढ़ हो या कम आयुका, प्रभावित करनेके लिये जान-बूझकर प्रयास किया जाय, जिससे कि दूसरेका धार्मिक विचार बदल जाय और जिससे कि उसकी धार्मिक मान्यताएँ बदलकर धर्मान्तर करनेवालेकी ही भाँति बन जायँ, तो ऐसी चेष्टाओंको सर्वथा रोक देना चाहिये।

६–धार्मिक संस्थाओंको यह छूट नहीं होनी चाहिये कि वह चायके बगीचोंके लिये तथा अन्य कार्योंके लिये श्रमिकोंको भर्ती कर सके।

७–सरकारका यह प्रथम कर्तव्य है कि वह अनाथालयों-का स्वयं संचालन करे; क्योंकि जिन नाबालिगोंके माता, पिता या संरक्षक नहीं हैं, उनकी वैधानिक संरक्षक सरकार ही है।

८–सरकारको चाहिये कि वह बड़ी-बड़ी और प्रतिनिधि मिशनरी संस्थाओं तथा समस्त ईसाइयोंके लिये एक अ निकाले कि वे सब एकत्र होकर अपनी एक उत्तरदा संस्था स्थापित कर लें, जिसका यह कर्तव्य हो कि स सरकारकी सूचनाके लिये अपनी नीति स्पष्ट शब्दों निर्धारित करे कि मिशन और ईसाई लोगोंको अपने ध प्रचारमें किस प्रकार कार्य करना उचित होगा, ध परिवर्तनके लिये वे क्या-क्या साधन काममें लायेंगे औ अपनी धर्म-प्रचार-सम्बन्धी गतिविधियाँ, नागरिक अनुशा नैतिकता और स्वास्थ्यको किसी प्रकारकी हानि पहुँ बिना किस सीमातक विस्तृत करना चाहेंगे।

९–भारतीय विधानमें संशोधनकी चेष्टा होनी चाहि ताकि यह बात स्पष्ट हो जाय कि विधानमें जो धर्मप्रचार अधिकार दिया गया है, वह केवल भारतीय नागरिकों लिये ही है; परंतु उसके अन्तर्गत धर्म-परिवर्तनके मामले नहीं आते, जहाँ धर्म-परिवर्तन दबाव, धो छल-कपट अथवा दूसरे अनुचित उपायोंसे किया जाता है।

१०–जो धर्म-परिवर्तन अनुचित ढंगसे किये हैं, उनपर उचित नियन्त्रण रक्खा जाय और इसके यदि कानून बनानेकी आवश्यकता हो तो का बनाया जाय।

११–ऐसे गैरसरकारी सलाहकारी बोर्ड, प्रान्तीय स्तर स्थानीय स्तरपर तथा जिलाके स्तरपर स्थापित किये जा जिनमें अल्पसंख्यकोंका जैसे आदिवासियों तथा हरिजनों प्रतिनिधित्व बहुसंख्यामें हो।

१२–डाक्टर, नर्स तथा दूसरे व्यक्ति, जो अस्पतालों कार्य करते हैं, उनके रजिस्ट्रेशनके सम्बन्धमें जो नि कानून इत्यादि हैं, उनका संशोधन हो जाना चाहिये उसमें यह शर्त रख देनी चाहिये कि वे जबतक उक्त कार्यके लिये वहाँ नियुक्त हैं, तबतक धर्म-प्रचार-सम्ब कार्योंमें भाग नहीं ले सकते।

१३–धर्म-प्रचारके लिये जो साहित्य हो, वह सरकारकी अनुमतिके वितरण नहीं किया जाना चाहिये।

१४–जिन संस्थाओंको सरकारकी ओरसे सहा मिलती है अथवा जिन्हें सरकारी मान्यता प्राप्त है, मासिक निरीक्षण सरकारी अफसरोंद्वारा अवश्य चाहिये।

१५-सरकार एक ऐसी नीति निर्धारित करे कि आदिवासियों तथा परिगणित जातिके लोगों एवं पिछड़ी हुई जातियोंके लिये समाज-सेवा-सम्बन्धी कार्य—जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा इत्यादिको सरकार स्वयं अपना उत्तरदायित्व मानकर उक्त प्रकारकी सेवाएँ वहाँ शीघ्र-से-शीघ्र चालू करे। उन क्षेत्रोंमें ऐसी जो गैरसरकारी संस्थाएँ हों, उन्हें केवल अपने धर्मके लोगोंके बीच ही सेवा-कार्य करनेकी अनुमति दी जाय।

१६-राजकीय स्तरपर सांस्कृतिक तथा धर्म-सम्बन्धी कामोंके लिये सरकारकी ओरसे एक पृथक् विभाग स्थापित होना चाहिये, जिसका सम्बन्ध उपर्युक्त बातोंसे हो। ऐसा विभाग एक मन्त्रीके अधीन होना चाहिये और वह मन्त्री परिगणित जाति अथवा दूसरी पिछड़ी जातियोंमेंसे हो तथा उसके अधीन कार्य करनेवाले विशेषरूपसे इस कार्यके लिये शिक्षा-प्राप्त व्यक्ति होने चाहिये।

१७-किसी गैरसरकारी संस्थाको यह आज्ञा नहीं होनी चाहिये कि वह बिना सरकारी स्वीकृतिके विदेशसे किसी प्रकारकी सहायता प्राप्त करे।

१८-किसी विदेशीको स्वतन्त्र रूपसे अथवा किसी धार्मिक संस्थाके सदस्य होनेके नाते, परिगणित अथवा बहिष्कृत क्षेत्रमें कार्य करनेकी अनुमति न दी जाय, जबतक कि वह लिखित रूपसे यह आश्वासन न दे दे कि वह राजनीतिमें भाग नहीं लेगा।

१९-गैरसरकारी अथवा धार्मिक संस्थाओंके पास यदि कोई सामाजिक और आर्थिक उत्थानका कार्यक्रम हो तो उसको सबसे पहले सरकारी अनुमोदन मिलना चाहिये।

इस 'नियोगी' समितिकी नियुक्तिसे तथा इसकी शिफारिसोंसे जनताको आशा थी कि अब धोखा-धड़ीसे सामूहिक धर्म-परिवर्तन अवश्य ही रुक जायगा। मध्यप्रदेश सरकार भी कुछ करना चाहती थी; पर अन्ताराष्ट्रिय ख्यातिलोलुप हमारी केन्द्रीय सरकारके हस्तक्षेपसे इस समितिकी नियुक्ति व्यर्थ हो गयी। इसका प्रतिवेदन रद्दीकी टोकरीमें फेंक दिया गया। जो रिपोर्ट छप गयी थी, वह पहिले जिनको मिल गयी थी उन्हें मिल गयी। शेष सभीको दुष्प्राप्य हो गयी। मैंने तो यहाँतक सुना कि मिशनरीवालोंने उसकी सब-की-सब प्रतियाँ खरीदकर जलवा दीं, नष्ट करा दीं। एक सरकारी स्तरपर 'आदिम जाति-संघ' बनाया गया। उसने कुछ विद्यालय खोले, किंतु मिशनरियोंके स्कूलोंके सामने वे नगण्य हैं।

अब सरकारसे कोई आशा नहीं दिखायी देती। अपनी ही नियुक्त कमेटीकी शिफारिसोंसे सरकार उदासीन हो गयी तो अब किया क्या जाय। ईसाई मिशनरियोंको धनकी तो कुछ कमी है नहीं! अमेरिका आदि पचासों ईसाई देशोंकी जनता तथा सरकारें इनको प्रतिवर्ष लाखों-करोड़ों रुपये देती हैं। ये रुपयोंको पानीकी भाँति बहाते हैं। हमारी सरकार हमसे तो कहती है—हम चोर-बाजारी करनेवालों—ब्लेक मार्केटवालोंको कड़ी-कड़ी सजा देंगे। किंतु ये लोग तीन-चार रुपयेकी धोती आदिको आठ-आठ आनेमें, आठ आनेकी पुस्तकको एक आनेमें बेचते हैं, लोगोंको कर्जा इस शर्तपर देते हैं कि कर्जा न चुकानेपर तुम्हें सपरिवार ईसाई बनना पड़ेगा। ये बातें किसी चोरबाजारीसे कम हैं क्या? पं० रविशंकरजी शुक्लकी हार्दिक इच्छा थी कि इस सम्बन्धमें कुछ अवश्य किया जाय; किंतु उनका शरीर ही नहीं रहा! उनके पीछे कमजोर सरकारें बनीं। वे कुछ इन अन्यायोंके विरोधमें करेंगी—ऐसी आशा दुराशामात्र है।

जसपुरका 'कल्याण-आश्रम' लगभग आठ-दस वर्षसे इन वनवासी जातियोंमें नवजागरणका प्रयास कर रहा है। इसका उद्देश्य है—जो वनवासी ईसाई होनेसे बच गये हैं, उनमें धार्मिक भावना जाग्रत् की जाय; क्योंकि आर्थिक सहायता करके तो हम ईसाइयोंसे पार पा नहीं सकते। एकमात्र विशुद्ध धार्मिक भावनासे ही इन्हें जीता जा सकता है। ईसाई होनेपर भी वनवासी बन्धु जाति-बन्धनोंमें बँधे हुए हैं। वे अपनी जातिके अतिरिक्त अन्य जातियोंमें अभीतक विवाह नहीं करते। यदि इनकी जातिमें धार्मिक भावना उत्पन्न की जाय तो ये बड़े आस्तिक तथा धर्म-भावनावाले होते हैं। कल्याण-आश्रमने इसी उद्देश्यसे लगभग सवा सौ रामायण-संकीर्तन-मण्डलियाँ स्थापित करनेका निश्चय किया है। हमारे लिखनेपर गीताप्रेसने बड़ी साइजकी अर्थसहित रामायणकी १०० प्रतियाँ 'कल्याण' आश्रमको भेज दीं। फाल्गुन मासमें रामायण-वितरणके निमित्त आठ-दस दिनको मैं इस वनवासी क्षेत्रमें गया था। मैंने लगभग हजार डेढ़ हजार मीलकी मोटर-द्वारा इस क्षेत्रमें यात्रा की। लगभग २०-२५ सभाओंका आयोजन हुआ। इन लोगोंकी आस्तिकता तथा सरलताको देखकर हृदय गद्गद हो जाता है। इन्होंने जब सुना प्रयागराजसे एक साधुमहात्मा हमारे यहाँ आ रहे हैं तो हजारोंकी

संख्यामें बहुत दूर-दूरसे स्त्री-पुरुष एकत्रित हुए। लोगोंने अत्यन्त श्रद्धासे मेरी बातोंको सुना और भगवन्नाम-कीर्तन किया। मैं उन्हें रामायण देता और कहता—'इसको पढ़कर सभीको सुनाना।' वे वचन देते 'हम उन्हें पढ़कर सुनायेंगे।' वे मुझे धर्मके पिपासु लगे। मैंने कभी उन्हें धर्म सिखानेकी चेष्टा नहीं की। वे लोग छल-कपट, झूठ-दम्भ आदि जानते नहीं। जो कह देते हैं उसे प्राण-पणसे करते हैं। मुकद्दमा वे लड़ते नहीं। किसी मुकद्दमेमें उन्हें जाना पड़े तो जो बात सच होगी, उसे बिना किसी लगाव-दुरावके यथार्थ कह देंगे। किसी वनवासीने दूसरे वनवासीकी हत्या कर दी, उसकी स्त्री भी खड़ी थी। पुलिसने उसकी स्त्रीको ही गवाहीमें रक्खा। वकीलोंने उसे बहुत समझाया कि 'तू कह दे मेरे सामने नहीं मारा।' उसने कहा—'उसने तो मेरे सामने ही मारा है। मैं झूठी बात कैसे कह सकती हूँ।' लाख समझानेपर भी वह न मानी और उसने कह दिया—'हाँ, मेरे सामने इसने मारा है।' जिसने मारा था, उसे भी वकीलोंने समझाया—'तू कह दे मैंने इसकी हत्या नहीं की।'

उसने कहा—'मैंने ही तो हत्या की है।' भीतर जाकर कुल्हाड़ी निकाल लाया और कहा—'इसी कुल्हाड़ीसे मैंने उसे मारा है और उसका कोई दूसरा आयेगा तो उसे भी इसीसे मारूँगा।' न्यायालयमें उसने स्पष्ट अपना अपराध स्वीकार कर लिया।

ऐसी तो उन लोगोंमें सत्यनिष्ठा है। वे अपनी धुनके पक्के होते हैं। प्रकृतिके साथ उनका तादात्म्य भाव है। वे प्रायः बीमार नहीं होते। खुले जंगलोंमें रहते हैं। कंद-मूल-बीज खाते हैं। अब मकई-धान आदिकी खेती करने लगे हैं, घर भी बनाने लगे हैं। धर्मकी बातोंको बड़े चावसे सुनते हैं। श्रीरामचन्द्रजीने श्रीसीता-लक्ष्मणके साथ इन वनोंमें चौदह वर्षतक निवास किया है; अतः इनमें सर्वत्र राम रम गये हैं। ये लोग मांसाहारी हैं। सुरापानकी भी इनमें आदत है। नृत्य तो इनका जीवन ही है। सुरापान करके रात-रातभर नाचते रहते हैं। भारतसरकार भी गणतन्त्र-दिवसपर इनको बुलाती है। इस वर्ष इन्हें नृत्यपर सर्वोत्तम पुरस्कार प्राप्त हुआ है। नृत्य करते-करते ये तन्मय हो जाते हैं। स्त्री-पुरुष मर्यादाके सहित साथ-साथ नाचते हैं। इनकी अपनी घरेलू भाषा सबकी पृथक् है। किंतु सब लोग बिहारी भोजपुरी-जैसी एक भाषा बोलते हैं। जैसे छत्तीसगढ़ीभाषा। वह हिंदीका ही अपभ्रंश है। उसे 'सदरी' कहते हैं। भाषाको सभी बोलते-समझते हैं। वे अपने रोगोंकी जड़ी-बूटीसे चिकित्सा कर लेते हैं। मैंने कइयोंसे ओषधियाँ लानेको कहा—वे सभी भिन्न-भिन्न ओषधियाँ ले आये, जो हमारे वैद्यकके अनुकूल थीं। मैं सौ पचीस वर्षके आदिवासीसे उसकी झोंपड़ीमें मिलने गया उसके सिरके बाल सब काले थे। १२५ वर्षका होनेपर वह भलीभाँति चलता-फिरता और बड़ी कड़कसे बातें था। मैंने पूछा—'कितने दिनोंसे यहाँ रहते हो?' वह बोला—'याद तो नहीं है। ये जो जसपुरके वर्तमान महाराज हैं इनके बाबाके पिताजीकी मृत्युपर हम उनके लिये लकड़ी कर जंगलसे गये थे।' उसकी भोली-भाली बातोंसे आनन्द आया, बड़ी देरतक मैं उससे बातें करता रहा।

वनवासी बन्धु वैसे कहनेको लोभवश परिस्थिति कारण—ईसाई बन तो गये हैं, किंतु उन्हें अपने देश, तथा जातिके प्रति वैसा ही अनुराग है। यदि सच्ची कुछ उत्साही युवक विशुद्ध धर्मभावसे प्रेरित होकर काम करें तो ये समूह-के-समूह तुरंत अपने प्राचीन धर्ममें आ जायँगे। किंतु कार्यकर्ता उन्हींमें घुलमिल वे अपनेको उन्हींमें मिला लें। बाहरसे गये, दस-बीस कुछ लोगोंको शुद्ध करके अपने घर लौटे आये; ऐसी आन्दोलनसे काम नहीं चलनेका। भक्तिभावसे उन्हें कराना है कि हम किसीसे धर्मभावमें न्यून नहीं हैं। इनकी जातिके ही प्रभावशाली भगवद्भक्त व्यक्तियोंद्वारा जा सकते हैं। ये शुभचिह्न हैं कि इनकी जातिमें ही गुरु और राजमोहिनी देवी—ये दो ऐसे प्रभावशाली हैं कि इनसे लगभग दो-दो लाख वनवासी बन्धु प्रभावित

गहरागुरुके आश्रमपर मैं गया था। ये गृहस्थ अत्यन्त ही नम्र हैं। किसीको मन्त्र नहीं देते, कान फूँकते। पढ़े-लिखे विशेष नहीं, किंतु सबको सरलतासे भाषामें समझाते हैं। ये अपने भक्तोंसे मांस-मदिराका त्याग करवाते हैं। इनका कोई भक्त मांस छूता तक नहीं। घर-घरमें तुलसी लगवाते हैं। बिरवा रोपते हैं। साधु-ब्राह्मणों और गौकी सिखाते हैं। सुरा तो इनके यहाँ सर्वथा वर्जित है नृत्यको इन्होंने वर्जित नहीं किया है। नृत्यमें पुराने

न गाकर तुलसीकृत रामायणकी चौपाई गाते हैं। एक-एक चौपाईको दो-दो, तीन-तीन घण्टे सामूहिक नृत्यके साथ गाते हैं। फिर दूसरी उठाते हैं। ऐसे रात्रि-रात्रिभर व्यतीत करते हैं। एक पहाड़को खोदकर उसीमें मन्दिर, सभा-भवन, सत्सङ्ग-भवन, कुटिया बना ली हैं। मीलों केला-पपीताका बगीचा लगवा दिया है। इसमें एक पैसा नहीं लगा। पाँच-पाँच दस-दस हजार स्त्री-पुरुष अपना भोजन स्वयं बाँधकर अपने अस्त्र-शस्त्र स्वयं लाकर काम करते थे। २७ दिनोंमें उन्होंने यह अद्भुत अपूर्व कार्य कर दिखाया। ऐसे उनके तीन आश्रम हैं। वे कभी ईसाइयोंकी निन्दा नहीं करते। किसीको आनेको नहीं कहते, अपने धर्ममें दृढ़ रहनेका उपदेश करते हैं। उनकी नम्रता, सुशीलता प्रशंसनीय है। मेरे सामने आसनपर नहीं बैठे। बार-बार कहते थे 'महाराज! हम तो कोल-भील अनपढ़ जंगली हैं। हम धर्म क्या जानें। आपलोग जो बता देते हैं उसीका पालन करते हैं।'

इसी प्रकार राजमोहिनी देवीका भी प्रभाव है। वे भी गृहस्थमें ही हैं। ७ बच्चोंकी माँ हैं; किंतु लाखों आदिवासी उनके एक वचनपर अपना सर्वस्व बाँटनेको तैयार हैं। इन लोगोंके स्तुत्य प्रयत्नसे ईसाई होनेकी बाढ़ कुछ रुकी है। ऐसे ही प्रभावशाली वनवासी स्थान-स्थानपर हो जायँ और कुछ बन्धु इन वनवासियोंकी सेवाके लिये ही अपना जीवन अर्पण कर दें तो ये विदेशी चोगेको फेंककर पुनः अपने प्राचीन शुद्ध सनातनधर्मकी शरणमें निश्चय ही आ जायँगे। भगवान् करें ऐसे निःस्वार्थ त्यागी-विरागी नवयुवक हमारी जातिमें उत्पन्न हों, जो इन भाइयोंमें भक्तिभावनाका प्रचार-प्रसार कर सकें।

स्वनामधन्य व्याख्यान-वाचस्पति पं० दीनदयालु शर्मा

उन्नीसवीं शतीके पिछले भागमें १८५७ की क्रान्तिके असफल होनेपर ब्रिटिश-शासन भारतमें दृढ़ हो गया। कुछ समय अंग्रेजोंको पाँव जमाने और देशकी दशाको समझनेमें लगा। अन्ततः वे इस निष्कर्षपर पहुँचे कि जबतक भारतीयोंकी आस्था अपने धर्म, अपनी संस्कृति और अपनी परम्पराओंपर बनी हुई है, तबतक वे विदेशीके आगे मनसे झुकेंगे नहीं—बलपूर्वक उनपर शासन भले ही कर लिया जाय। तदर्थ शिक्षा और मिशनरियोंके प्रचार तथा सरकारी नौकरियोंके लोभद्वारा भारतीयोंकी धर्मभवनाकी जड़ें हिलायी जाने लगीं। बहुत-से पढ़े-लिखे लोग ईसाई होकर अंग्रेज़ोंके साथी बनने लगे। उस समय अनेक तेजस्वी विभूतियोंने जन्म लेकर इस देशकी संस्कृतिकी रक्षाके उपक्रम किये। इन अतिस्मरणीय महात्माओंमेंसे, जिन्होंने देशकी संस्कृतिके आधारपर वर्तमान भारतकी राष्ट्रियताकी नींव डाली, एक थे पं० दीनदयालुजी शर्मा व्याख्यान-वाचस्पति। उस समय जहाँ एक ओर राजा राममोहन रायने बंगालमें ब्रह्म-समाज स्थापित कर इस बढ़ती हुई परदासताका मुकाबला, उसीके कुछ तत्त्वोंको आत्मसात् करके किया, वहाँ बम्बईमें प्रार्थना-समाज और पंजाबमें आर्य-समाज उसी पद्धतिसे सांस्कृतिक प्रतिरक्षामें लगे हुए थे। परंतु इन सभी उद्योगोंसे प्राचीन मर्यादाओंका संरक्षण नहीं हो रहा था।

मूर्ति-पूजा, अवतार, नाम-माहात्म्य, तीर्थ, श्राद्ध, वर्ण-व्यवस्था, सदाचार, पातिव्रतधर्म आदिकी घोर निन्दा हो रही थी। देवी-देवताओं, ऋषियों आदिके विरुद्ध ऐसे अपशब्द कहे जाते थे कि सुनकर कानोंमें उँगली देनी पड़ती थी। मन्दिरोंमें पूजा करनेवालोंपर हमले होने लगे थे। चारों ओर घोर अन्धकार छा गया था। पूर्वजोंके धर्मका नाम लेना पाप समझा जाने लगा था। ऐसे भयानक समयमें धर्मकी सेवाका अटल व्रत लेकर एक तेजस्वी ब्राह्मण देशके सामने आये, जिनका नाम था—दीनदयालु शर्मा। २२ वर्षकी अवस्था थी। न उस समय उनका बड़ा नाम था, न प्रभाव; न कोई साथी थे, न धनका बल था, न जनका। किंतु उनके हृदयमें धर्मकी दुरवस्थाको देखकर एक प्रचण्ड अग्निकी शिखा प्रदीप्त हुई थी कि भारत-जैसे धर्म-प्रधान देशमें, ऋषियोंकी पवित्र तपोभूमिमें यह नास्तिकताका नंगा नाच कैसे हो रहा है? भगवान्के नामका आश्रय लेकर वे मैदानमें आ खड़े हुए और धर्मकी विरोधी शक्तियोंको चुनौती दी कि भारतवर्षके प्राचीन पवित्र धर्मका नाश न होने दिया जायगा। धर्मके आश्रयसे राष्ट्र बलवान् होगा, स्वतन्त्र होगा। बिना नैतिक बलके देशका उत्थान असम्भव है—यह धारणा लेकर वे नरपुङ्गव मैदानमें आये। समाज-सुधार वे भी चाहते थे, परंतु मर्यादाओंका उच्छेद उन्हें स्वीकार न था। अंग्रेज और अंग्रेजीके सामने वे न झुके।

उन्होंने भारत, धर्म, संस्कृत, हिंदी और भारतीय संस्कृतिके उद्धार और दृढ़तामें राष्ट्रकी दृढ़ता देखी ।

भगवान्‌ने उनकी वाणीमें ईश्वरीय बल दिया था । उनके व्यवहारमें आकर्षण, स्वभावमें सौजन्य, दयालुता, उदारता आदि सद्‌गुण दिये थे, जिनके कारण थोड़े ही समयमें उनका नाम सारे देशमें बिजलीकी तरह चमक गया । श्रोताओंको मुग्ध करनेवाली ऐसी अद्‌भुत वाक्-शक्ति प्रभुने उनको दी थी जो जादूके-जैसा असर करती थी । उनके कथनमें युक्ति और प्रमाणका पुट मिला होता था, जिसके सामने विपक्षियोंके छक्के छूट जाते थे । बौद्धोंके देशव्यापी प्रचारका भूत भगानेके लिये जैसे भगवान् शंकराचार्यके युक्तिवादने देशमें क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी, इसी प्रकार पण्डितजीने अपनी अद्‌भुत वाक्-शक्तिके प्रभावसे देशमें उठे नास्तिकताके भयानक तूफानको गिने दिनोंमें ठिकाने लगा दिया। थोड़े ही समयमें देशके कोने-कोनेसे राजा, रईस, धर्माचार्य, मठाधीश, जज, वकील, सेठ, साहूकार, विद्वान्, लेखक, वक्ता सब इस नवीन शक्ति-केन्द्रके समीप एकत्र हो गये और सनातनधर्म-संगठनका कार्य आरम्भ हो गया ।

जन्म

इस महान् कार्यके लिये भगवान्‌ने पण्डित दीनदयालु शर्माको निमित्त बनाकर भेजा था । उनका जन्म पंजाब प्रान्तके रोहतक जिलेमें झज्जर नामके कस्बेमें ज्येष्ठ कृ० ३ सं० १९२० को हुआ था । वहाँ एक अफगान नवाब अब्दुल रहमान खाँ १८५६ के ग़दरके समयतक राज्य करता था । पण्डितजीके पिता पं० गंगासहायजी, उच्च श्रोत्रिय कुलके गौड ब्राह्मण थे । पण्डितजीकी माता बड़ी धर्मपरायणा थीं । उनके उपदेशोंका पण्डितजीके जीवनपर बड़ा प्रभाव पड़ा । नवाबीके कारण वहाँके ब्राह्मणोंमें भी उर्दू-फारसीका ही पठन-पाठन उस समयतक चल रहा था । पण्डितजीके पिता फारसीके अच्छे विद्वान् और कवि थे । परिस्थितिके वश पण्डितजीने भी आरम्भमें उर्दू-फारसीकी ऊँचे दर्जेकी शिक्षा प्राप्त की और उस भाषाके प्रकरण ग्रन्थ पढ़ डाले । फिर स्कूलमें अंग्रेजी भी पढ़ी । शुस्ता उर्दू बोलनेके कारण उनके भाषणोंका उस समयके पढ़े-लिखे समाजपर बड़ा प्रभाव पड़ता था ।

व्रज-यात्रा

पण्डितजीको आरम्भसे ही जन-सेवाका संस्कार था। आपने पहले-पहल झज्जरमें एक 'रिफाहे आम' सोसाइ बनायी जिसके हिंदू-मुसलमान सभी सदस्य थे । व 'हरियाना' नामका एक उर्दू रिसाला आपने निकाला। त तक सनातनधर्मकी ओर आपका ध्यानतक न था।

कुछ मित्रोंके कहनेसे आप व्रज-यात्राको गये और मथु तथा वृन्दावनके विशाल मन्दिरोंके दर्शन किये । वहाँ वृन्दावन केशी घाटपर स्वामी नारायण नामके एक श्रीकृष्णभक्त साधु आप मिले । स्वामीजीने पण्डितजीका बड़े प्रेमसे स्वागत कि और कहा कि 'आ बेटा ! मैं बहुत कालसे तेरी प्रतीक्षा क रहा था । तेरे हाथों धर्मकी सेवाका महान् कार्य होना है। वे स्वामीजीके पास बहुत दिनोंतक रहे और उनके शिष्य हो गये । स्वामीजीकी बनायी 'व्रज-विहार' के दोहोंसे वे अ व्याख्यानोंका मङ्गलाचरण करते थे । वे स्वामीजीके उपदे श्रीकृष्ण-भक्तिमें दीक्षित हो गये थे। स्वामीजी भगवान्‌की रा लीलाके द्वारा उपासना करते थे । पण्डितजीकी भी रासलील विशेष रुचि हो गयी थी ।

पण्डितजीने वहीं हिंदी और संस्कृतका अध्ययन स्वा दयानन्दजीके सहपाठी पं० उदयप्रकाश देवशर्मासे आरम्भ किया । मथुरासे उसी समय 'मथुरा अखबार' नामसे उर्दू साप्ताहिक पत्र अपने सम्पादकत्वमें आपने निकाला, जि सनातनधर्मकी हिमायतके लेख निकलते थे । उस समय उ भारतमें वही एक ऐसा पत्र था जिसमें सनातनधर्म सिद्धान्तोंका प्रतिपादन होता था । इस पत्रके द्वारा पण्डितजी परिचय मुंशी हरसुखराय मालिक अखबार 'कोहेनूर' लाहौर हुआ और बादमें आप 'कोहेनूर' के सम्पादक हो गये कोहेनूर उस समय दैनिक पत्र था ।

धर्म-संगठन

आरम्भमें आपने हरिद्वारमें 'गौवर्णाश्रम-हितैषिणी गं धर्म-सभा' नामकी एक सभा बनायी । यह गंगा-पुत्रों उन्नतिके उद्देश्यसे बनायी गयी थी । फिर संवत् १९ सन् १८८७ में हरिद्वारमें ही भारत-धर्म-महामण्डल स्थापना की और उसका एक अच्छा अधिवेशन कि जिसमें कर्नल आलकट-जैसे थियासफीके नेता और हरिवंशसिंह शेखूपुरा, कपूरथलाके दीवान रामजस सी०

आई०, बाबू बालमुकुन्द गुप्त, पं० अम्बिकादत्त व्यास-सदृश प्रभावशाली लोग शरीक हुए थे। फिर आपने पंजाबमें धर्म-शिक्षाका आन्दोलन आरम्भ किया और लाहौरपर चढ़ाई की, जो उस समय नास्तिकताका दुर्ग बना हुआ था। वहाँ आपने तीस दिनोंतक लगातार व्याख्यानोंकी एक शृंखला बाँध दी, जिससे पंजाबके केन्द्र लाहौरका नास्तिक वातावरण बिल्कुल बदल गया। जिस लाहौरको लोग रावणकी लंकाका नाम देते थे, पण्डितजीके उपदेशोंकी बदौलत ३० दिनकी व्याख्यानमालाके बाद वह रामकी अयोध्यापुरीके रूपमें परिणत हो गया। वहाँ पण्डितजीने पंजाबकी पहली धर्म-संस्था सनातनधर्म-सभा बच्छोंवालीकी स्थापना की। उस अवसरपर वेदकी जो सवारी निकाली, उसमें लाखों नर-नारी सम्मिलित हुए। इत्रकी वर्षासे बाजार सुगन्धित हो उठे। फलवालोंने मनों फल, मिठाईवालोंने मिठाई, मेवावालोंने मनों मेवाकी वर्षा वेद भगवान्‌पर की और महाराज काश्मीर श्रीप्रतापसिंहजी, शेखूपुराके राजा हरिवंशसिंहजी और अन्य राजा-रईस नंगे-पाँव वेद भगवान्‌के जुलूसके साथ चल रहे थे। इस परिवर्तनको देखकर लोगोंने पण्डितजीकी अलौकिक वाक्‌शक्तिका लोहा मान लिया था। इस प्रकार सारे पंजाब और सिन्धमें पण्डितजीने धर्म-सभाओंका जाल बिछाकर फिर उत्तरभारतमें धर्मका शङ्ख बजाया। उनके उद्योगसे यू० पी०, बिहार, मध्यप्रदेश, राजस्थान आदि सारे प्रान्तोंमें हजारों सनातनधर्म-सभाएँ, पाठशालाएँ, गोशालाएँ, अनाथालय, देवमन्दिर, पिंजरापोल आदि बने और धर्मकी पुनर्जागृतिका एक देशव्यापी आन्दोलन चल पड़ा।

भारत-धर्म-महामण्डल

हरिद्वारके बाद आपने भारतधर्म-महामण्डलके दिल्ली, वृन्दावन, काशी आदि स्थानोंमें कई अधिवेशन किये, जिससे उनका यश देशभरमें फैल गया। इसके अनन्तर सन् १९०० २ से १३ अगस्त तक भारतधर्म-महामण्डलका विराट् अधिवेशन दिल्लीमें भारी समारोहके साथ आपने आयोजित किया, जिसमें सारे प्रान्तोंके प्रतिनिधि आचार्य, राजा, पण्डित, वक्ता, सभी श्रेणीके पुरुष सम्मिलित हुए। उस अधिवेशनके बाद पण्डितजीका भारतभरमें अक्षय प्रभाव और सम्मान फैल गया।

सन् १८९९ में पण्डितजीने शिमलेमें कई लाख रुपयोंकी लागतसे एक विशाल कृष्णमन्दिर और सनातनधर्म-सभाका भवन बनवाया। इससे पहले हिंदू-आचार-विचारके लोगोंके ठहरने और पूजा करनेका वहाँ कोई स्थान न था।

विविध सेवाएँ

आपने सैकड़ों शिक्षण-संस्थाओंकी स्थापना की। हिंदीकी सेवामें बहुत बड़ा कार्य किया, सनातनधर्म-प्रतिनिधि-सभाकी स्थापना की, गोरक्षाका महान् कार्य किया। आपके उद्योगसे बड़े-बड़े पिंजरापोलों और गोशालाओंकी सफल स्थापना हुई।

गङ्गाकी धारा

हरिद्वारमें गङ्गाकी धाराको रोककर नहर निकालनेका प्रश्न जब ईसाई सरकारने उठाया, तब आपने छाती ठोककर सरकारको चुनौती दे दी थी कि मेरे जीते गङ्गाके अविच्छिन्न प्रवाहको कोई सरकार नहीं रोक सकती। यदि ऐसा हुआ तो गङ्गाका सफेद पानी लाल होकर बह जायगा और मेरी लाश गङ्गाकी लहरोंपर तैरती नज़र आयेगी। पण्डितजीका ऐसा जोरदार विरोध देखकर सरकारने वह स्कीम रोक दी थी। वे धर्मके सिद्धान्तोंके बड़े दृढ़ अनुयायी थे।

संस्कृत भाषा

संस्कृत भाषाके प्रचारके लिये आपने जन्मभर यत्न किया। सैकड़ों पाठशालाएँ और विद्यालय खुलवाये। 'अखिल भारतीय संस्कृत साहित्यसम्मेलन'की आरम्भिक दशामें आपने महाराजा धौलपुरसे उसकी आर्थिक सहायता करायी। सम्मेलनके हरिद्वार, मथुरा और लाहौरके तीन आरम्भिक अधिवेशन सनातनधर्मसम्मेलनके साथ उसके पंडालोंमें ही हुए। फिर संस्कृत-सम्मेलन दृढ़ हो गया। फिर भी आप उसकी उन्नतिके लिये समय-समयपर यत्न करते रहे।

तीर्थ-यात्रा

आपने भारतवर्षका अनेकों बार धर्म-प्रचारके नाते पर्यटन कर डाला था। पर एक बार सारे तीर्थोंकी यात्रा अपनी माताजीकी सेवा करते हुए सकुटुम्ब आपने की और रामेश्वर, द्वारिका, जगन्नाथपुरी आदि धाम और मथुरा, माया, काशी, कांची, अयोध्या, नासिक, प्रभास, तिरुपति, प्रयाग, कुम्भकोणम्, श्रीरंगम्, मदुरा, चिदम्बरम्, डाकोरजी, भुवनेश्वर आदि सभी तीर्थस्थानोंकी यात्रा करके अपने आपको आपने धन्य माना था। तीर्थयात्राके समय सब स्थानोंमें व्याख्यानों और प्रवचनोंद्वारा आप धर्मप्रचार भी करते जाते थे।

नाम-जप

पण्डितजीको भगवान्के नामके जपमें बड़ा विश्वास था। जीवनके अन्तिम २५ वर्षोंमें उन्होंने निरन्तर भगवान्के नामका जप किया। 'हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।' कलिसंतरण उपनिषद्के इस मन्त्रका जाप करते रहते थे। पाँच करोड़ नाम जप कर वे पुरश्चरण करते थे। ऐसे पाँच पुरश्चरण उन्होंने किये। फिर जपकी गिनती छोड़ दी थी। उनके जपकी संख्या कई अरब नामोंकी हुई होगी। जिन मालाओंपर वे जप करते थे उन मालाओंका उनके कुटुम्बमें बड़ा आदर है। कई बार ऐसा हुआ है कि उन मालाओंको भयानक बीमारोंमें बीमारके सिरपर रख देनेसे बीमार भयसे निकल आया है। पण्डितजीको एक बार फतहपुर सीकरीके पास एक संकटके समय एक ईश्वरीय चमत्कार हुआ था और उनका संकट टल गया था, जिसका उनके जीवनपर भारी प्रभाव पड़ा था। यह घटना उनके जीवनमें एक विशेष महत्त्व रखती है।

आधी शतीसे अधिक समयतक देशकी विविध सेवाएँ करके उनका भौतिक शरीर सन् १९३७ में कालके गालमें विलीन हो गया। परंतु उनके यशका शरीर आज भी अजर और अमर है। ऐसे महान् पुरुष यशके शरीरसे सदा जीवित रहते हैं।

सबकी श्रद्धाके पात्र

पण्डितजी केवल सनातनधर्म या हिंदुओंके ही नहीं थे, बल्कि प्राणीमात्रकी सेवाका व्रत उन्होंने ग्रहण किया था और अपने जीवनके ५५ वर्ष निरन्तर देश, धर्म और जातिकी सेवामें उन्होंने बिताये। उनके हृदयमें मनुष्यमात्रके लिये प्रेम था। वे हिंदू, मुसल्मान, सिख, ईसाई, जैन, बौद्ध आदि सभीके लिये समान थे, सबके अपने थे।

जन्म-शताब्दी

ऐसे देशभक्त परम राष्ट्रवादी भारतीय संस्कृतिके उद्धारक, धर्म-संगठनके जन्मदाता महापुरुषकी जन्मशताब्दी इस वर्ष ज्येष्ठ बदी ३ शनिवार, तदनुसार १२ मई १९६३ को पड़ती है, जिसके मनानेके लिये प्रतिष्ठित देशसेवियोंकी एक प्रभावशालिनी समिति भारत सरकारके गृहमन्त्री श्रीलालबहादुर शास्त्रीकी अध्यक्षतामें गठित की गयी है—जो उक्त तिथिके आसपास शताब्दी मनानेका कार्यक्रम देशके समक्ष रक्खेगी। समितिका प्रधान कार्यालय दिल्लीमें स्थापित कर दिया गया है और इसके तत्त्वावधानमें विभिन्न राज्योंमें प्रादेशिक समितियोंका गठन किया जा रहा है। देशके नर-नारियोंका कर्त्तव्य है कि समितिके निर्देश और प्रार्थनाके अनुसार इस महापुरुषका स्मृति-दिवस पूर्ण श्रद्धा और उत्साहके साथ मनायें।

विशेषकर प्रत्येक सनातनधर्म-सभा, हिंदूसभा, जैन-सिख-सभा, आर्यसमाज, संस्कृत-हिंदी-सेवी संगठनों, गोशाला, जनसंघ, स० ध० स्कूल, कालेज, पाठशाला आदिमें उनकी शताब्दीके दिन उत्सव मनाया जाना चाहिये और सभाओंके भवनोंमें उनके फोटो, जहाँ सम्भव हो, वहाँ उनके चित्र लगाये जाने चाहिये।

इस सम्बन्धमें जिनको कुछ जानना-पूछना हो वे पण्डित अमरनाथजी शर्मा, २६ नेताजी सुभाषरोड, दर्यागंज, दिल्ली ७ से पत्र-व्यवहार करें।

* * *

स्वार्थ-परमार्थ एक हो गये

मेरे द्वारा होता जो कुछ, करते वह सारा भगवान्।
'मैं' न रहा, 'मेरा' न रहा कुछ, कर्त्ता कौन? कहाँ अभिमान?॥
ढाँचा एक बना है रक्खा, अपनेसे ही अपने काम।
नियमित सब चलते कल-पुर्जे, होती दिखती क्रिया तमाम॥
भोग-त्याग, ममता-निर्ममता, अकुशल-कुशल सभी व्यापार।
लीलामय कर रहे स्वयं ही लीला निज-इच्छा अनुसार॥
नहीं बच रहा करनेवाला, करना, करने योग्य पदार्थ।
मिटा स्व-पर, हो गये एक, अविभक्त स्वार्थ, सारे परमार्थ॥

संग्रहका सुख भ्रम है

(लेखक—श्रीगणेशलालजी कर्ण)

जिस प्राचीन भारतीय संस्कृतिपर हम नाज करते हैं, उसपर गौर करते हुए अगर आज समाजको—मानवको देखते हैं तो साफ ऐसा पता चलता है कि मनुष्य अब केवल नामको ही मनुष्य बच रहा है। मानवता, मानवोचित संस्कारके विपरीत उसका स्तर दिन-प्रतिदिन पतनोन्मुख होता जा रहा है। कहाँ है वह मानवीय सद्भावना जिससे मनुष्य वास्तविक अर्थमें मनुष्य माना जा सके ? आजकी मानवीय प्रवृत्तियोंको देखकर ऐसी आशंका होती है कि इतने भौतिक विकासोंके बावजूद मानवता अवसानकी ओर जा रही है। मनुष्य अपनी सद्भावना, समवेदनाको भूलकर स्वार्थकी परिधिमें सिमटता जा रहा है। उसका विचार, भावना, संकीर्ण-संकुचित होती जा रही है।

आज मानव-मनमें स्वार्थकी ऐसी प्रधानता हो गयी है—होती जा रही है कि शिक्षित और अशिक्षित—दोनोंमें कुछ भी अन्तर नहीं दिखता है। कभी-कभी समाजमें, मानव-समुदायमें ऐसी घटनाएँ देखनेको मिलती हैं कि जिन्हें देखकर, सुनकर संकुचित होना पड़ता है। लगता है, शिक्षाके प्रकाशमें भी मनुष्य न केवल भटक ही जाते हैं, बल्कि यों कहा जाय कि ठोकर खाकर गिर जाते हैं, तो भी अत्युक्ति नहीं होगी। एक ओर शिक्षा, दूसरी ओर स्वार्थ ! शिक्षाका उपयोग जब स्वार्थ-साधनामें किया जाय तो वैसी शिक्षासे मानव-कल्याण होनेकी केवल कल्पना ही की जा सकती है।

मनुष्य ऐसा सोचता है कि वह जितना साधन-सम्पत्ति संग्रह कर रक्खेगा, उतना ही उससे अधिक सुख प्राप्त होगा; किंतु सही अर्थमें ऐसा होता नहीं है। बुद्धिपर स्वार्थका आवरण पड़ जानेसे अधिकांश लोग उलटी बातें सोचकर विपरीत दिशाओंकी ओर बहने लगते हैं। फिर तो इस उलटी दिशामें जहाँ स्वाभाविकता नहीं रहती, वहाँ केवल सुखका भ्रम ही रह जाता है। जीवनमें, अपराह्न काल आनेपर भी जब उस अज्ञात सुखका दर्शन नहीं हो पाता है, तब मनुष्यका भ्रम टूटता है और वह पाश्चात्ताप करने लगता है कि उसने गलत सोचा। सुखके स्वरूपको गलत समझा।

अनीति, अन्याय, छल-प्रपञ्चका आश्रय लेकर लोग कुछ पैसे, साधन-सम्पत्ति जोड़ लेते हैं, इस कल्पनासे कि बादकी जिंदगी आरामसे कटेगी। पर होता यह है कि उस संगृहीत सम्पत्तिके संरक्षणकी चिन्ता इतनी बलवती हो जाती है कि सारा आराम हराम हो जाता है और कभी-कभी उसका संग्रह ही उसके अनुताप और मरणका भीषण कारण बन जाता है !

न केवल उसके स्वार्थके शिकार हुए मनुष्य ही उसके शत्रु बनते हैं, बल्कि उसकी संतान, सगे-सम्बन्धी भी उस संगृहीत सम्पत्तिपर अधिकार करनेके लिये षड्यन्त्र रचते हैं, उसका अपमान करते हैं। कभी-कभी तो इससे समाजमें ऐसा जघन्य अपकर्म हो जाता है कि सुननेवाले भी रोमाञ्चित हो उठते हैं।

देखी हुई कई घटनाओंके आधारपर मैं यहाँ प्रकट चिन्तन कर समाजसे, मानव-समुदायसे इतना नम्र निवेदन करना चाहता हूँ कि वे मोहके पर्देसे, सुखके कल्पित भ्रमसे बाहर आकर वास्तविक सुख-शान्तिका अन्वेषण करें।

सच्चा सुख, जिसकी प्राप्ति मानव-जीवनका परम लक्ष्य है, वह वैभव-विलासमें, किसी भोग्य वस्तु-विशेषमें,

अधिकार-पदमें या पैसोंमें नहीं है। जितने सारे संत-सत्पुरुष इस भूमिपर अवतरित हुए, सबने एक स्वरसे यह उपदेश किया, ऐसा संकेत किया कि जिस वस्तुका—साधन-सम्पत्तिका प्राणीमात्रके हितार्थ उपयोग किया जा सकता है, उसे केवल अपने लिये संग्रह करनेवाले कभी सुखी नहीं हो सकते। प्रभुकी इच्छाके विरुद्ध आ करनेसे कब किसे सुख मिला है?

हम सारे मानव-समुदायको, जो अपनेको ज्ञा अधिकारी मानते हैं, इस सरल और सत्य संके गहराईसे विचार करना चाहिये।

क्या हम बुद्धिमान् हैं?

भारतके आर्य-ऋषियोंने अपनी त्यागमयी पवित्र तथा तीव्र साधनाके बलसे उस परात्पर परमतत्त्वका साक्षात्कार किया था, जो एकमात्र नित्य सत्य है। उन्होंने अपने उसी दिव्य अनुभवके आधारपर यह निश्चयरूपसे जाना था और जानकर इस सिद्धान्तकी सुप्रतिष्ठा की थी कि मानव-जीवनका लक्ष्य वही एकमात्र परमतत्त्व परम सत्यस्वरूप ब्रह्म या भगवान् हैं। इसीसे उन्होंने भारतीय संस्कृतिके प्रत्येक क्षेत्रमें मानवके जीवनको चलाया था ब्रह्मकी ओर, भगवान्‌की ओर। जन्मसे लेकर मरणपर्यन्त प्रत्येक स्थितिमें प्रत्येक कर्म किया जाता था आध्यात्मिक भूमिके आधारपर भगवान्‌की प्राप्ति या भगवत्प्रीतिके लिये। 'धर्म'के द्वारा नियन्त्रित भागवत-केन्द्रित 'अर्थ' और 'काम' का यथायोग्य निर्दोष अर्जन और उपयोग करते हुए मनुष्य अपने लक्ष्य 'मोक्ष' या भगवान्‌की ओर बढ़ता था। गुरुकुलमें प्रवेश, गृहस्थाश्रमके कर्तव्यपालन, वानप्रस्थ, संन्यास सभीमें प्रधान हेतु रहता था—भगवत्प्रीति। इसीसे जीवनमें 'त्याग'की प्रधानता थी और 'कर्तव्यपालन'का भाव था। आजकी संस्कृतिमें 'भगवान्'के बदले 'भोग' जीवनका लक्ष्य है। इसीसे 'त्याग'के स्थानपर 'अर्थ' और 'कर्तव्य'के स्थानपर 'अधिकार'ने दृढ़ आसन जमा लिया है। इसीका परिणाम है व्यष्टि और समष्टि—सभीके जीवनकी अनवरत दुःखमयता, संघर्षवृत्ति, हिंसा और अशान्ति। इसीके कारण हमारी सम्पत्तिकी—समृद्धिकी कल्पना आज दैवी न होकर आसुरी हो गयी है। प यथार्थमें न तो आसुरी सम्पदा वास्तंविक सम्पत्ति और न आसुरी सम्पदायुक्त मानवके जीवनमें 'शान्ति ही स्थान है।

भौतिक विषयोंमें सुख होता, लौकिक धन-सम्प सुख होता, इनसे शान्ति प्राप्त होती तो असुर समुदाय सदा सुख-शान्तिका अनुभव करता। असु जो कभी सुख तथा आनन्दके या शान्तिके क दर्शन होते हैं, वे वैसे ही हैं जैसे शराबके नशेमें बे पड़े हुए शराबीकी शान्ति—मुर्दनी; या गन्दे नालेमें बड़बड़ाते हुए शराबीका आनन्द प्रकट करना। वस्तु असुरभावापन्न मानवकी भोग-सम्पत्ति नित्य दुःख त अशान्तिका ही उत्पादन करती है। अशान्ति, असं दुःख उसके अवश्यंभावी परिणाम हैं। आजके व्य और समष्टि जगत्‌में जो घोर अशान्ति, शत्रुता, दूसरेका नाश करनेकी प्रतिस्पर्धा और प्रचेष्टा, शंकाशीलता, भय, युद्ध आदि छाये हैं, इसका का यह त्यागशून्य आसुरी भोगसम्पत्तिकी लालसा ही है आज भौतिक विज्ञान तथा भौतिक समृद्धिमें बढ़कर देश अमेरिका और रूस माने जाते हैं। अमेरिकाके आँकड़े बताते हैं कि खून, बला डकैतियाँ, मोटरोंकी चोरियाँ, ठगी और आत्महत्या संख्या अन्य देशोंकी अपेक्षा वहाँ अधिक है। पागलप रोग तो इतना बढ़ता जा रहा है कि लोग यह आ

करने लगे हैं कि यही गति बनी रही तो आगामी कुछ समयमें अमेरिका पागलोंका देश हो जायगा। प्रकारान्तरसे यही स्थिति रूसकी है। क्रियाके बाहरी स्वरूपोंमें अन्तर है—पर असंतोष, जलन, अशान्ति, द्वेष, वैर, प्रतिहिंसा, हिंसावृत्तिमें दोनों एक-दूसरेसे बढ़-चढ़कर हैं। भौतिक विज्ञान चाहे और भी आश्चर्यजनक प्रगति कर ले, पर दुःख तथा अशान्तिका नाश भागवतकेन्द्रित आध्यात्मिकताके बिना असम्भव है।

अर्जुनके पूछनेपर भगवान्‌ने गीतामें बतलाया है कि 'विषयासक्तिरूप रजोगुणसे उत्पन्न काम ही क्रोध बन जाता है और यह विषयकामना ही समस्त पापोंके उत्पादनमें मूल कारण है।' आज सारा विश्व भोगकामके पीछे उन्मत्त है।

पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्।

मोहमयी प्रमादकी मदिराको पीकर सारा जगत् पागल हो रहा है और पागल अपनेको पागल नहीं मानता। अतएव यह पागलपन दूर भी कैसे हो?

भारतीय संस्कृतिमें कठोर-से-कठोर भौतिक कर्म भी आध्यात्मिक भूमिकामें निष्कामभावसे ईश्वर-प्रीत्यर्थ होते थे। भगवान्‌ने युद्धरूप महान् घोर कर्मके लिये आदेश देते हुए अर्जुनसे कहा था—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्ध्यस्व विगतज्वरः॥
(गीता ३ । ३०)

'तुम मनको अध्यात्ममें रक्खे हुए—मुझमें जोड़े हुए जो कुछ भी कर्म करो, किसी फलके लिये न करके उन सबका मुझमें भलीभाँति त्याग करते रहो। मेरे लिये ही कर्म करो और भोगकी सारी आशा, लौकिक प्राणि-पदार्थोंकी ममता और कामना आदिसे होनेवाले सारे मानस तापोंको त्यागकर युद्ध करो।' युद्ध भी भगवान्‌के लिये और उसमें मानस-तापोंका सर्वथा अभाव!

आज ठीक इसके विपरीत सर्वत्र, धार्मिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्रोंमें भी—सेवा, त्याग, ज्ञान-प्रसार आदिके प्रसंगोंमें भी मनुष्य अशान्ति और अन्तर्दाहसे संतप्त हो रहा है। इसका कारण यही है कि उसका लक्ष्य भगवान्‌के बदले भोग हो गया है, उसके जीवनकी आधारभूमि आध्यात्मिकके बदले सर्वथा भौतिक हो गयी है। वह आज धर्म तथा अध्यात्मकी बात भी अनिश्चयात्मिका भौतिक बुद्धिसे सोचकर ही करता है—इसीसे सभी जगह अशान्ति है, दुःख है। सम्पत्तिमें भी विपत्ति है, सुखमें भी दुःख है, जो अवश्यम्भावी है।

शान्ति किसे मिलती है?—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥
(गीता २ । ७२)

'सारी कामनाओंको छोड़कर जो मनुष्य निःस्पृह होकर विचरता है तथा जिसमें ममता और अहंकार नहीं है, वह शान्तिको प्राप्त होता है।' अथवा—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥
(गीता ५ । २९)

भगवान् कहते हैं—'जो मुझ समस्त यज्ञ-तपोंके भोक्ता, समस्त लोकोंके महान् ईश्वर, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् भगवान्‌को सब प्राणियोंका (और सबके नाते अपना भी) सुहृद् मान लेता है, वह शान्तिको प्राप्त होता है।'

अन्यथा, कामोपभोगपरायण व्यक्ति या देश तो जीवनभर सर्वथा अपार चिन्ताओंसे घिरे रहते हैं।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥
(गीता १६ । ११ -१२, १६, २०)

'अर्जुन ! मृत्युके अन्तिम क्षणतक अपरिमित चिन्ताओंसे ग्रस्त रहते हुए वे कामोपभोगपरायण मानव निश्चितरूपसे मानते हैं कि बस, यही सब कुछ है । इसीसे सैकड़ों-सैकड़ों आशाकी फाँसियोंसे बँधे हुए वे काम-क्रोधको ही अपना बल मानते हैं और विषयोंकी प्राप्तिके लिये अन्यायपूर्वक (भ्रष्टाचार-अनाचारसे) अर्थ संचय करनेका प्रयास करते हैं । मोहजालसे ढका हुआ उन लोगोंका चित्त सदा अशान्त—भटकता रहता है । इस प्रकार विषयभोगोंमें आसक्त वे (यहाँ चिन्ता-कष्ट-अशान्ति भोगते हुए मरते हैं और फिर) महान् अपवित्र नरकोंमें गिरते हैं । वे (मानवजीवनके एकमात्र साध्य) मुझ भगवान्‌को न पाकर जन्म-जन्ममें आसुरी योनियोंमें उत्पन्न होते और फिर नीच गतिमें जाते हैं ।'

इस प्रकार, ऐसे मानव जीवनभर दुःख, चिन्ता, अशान्तिसे जीवन बिताते हुए मरनेके बाद अपवित्र नरकोंमें पड़ते हैं और बार-बार दुःखमयी आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं । यह वस्तुतः मानव-जीवनकी सबसे बड़ी असफलता और उसका दुष्परिणाम है । आजका मानव, जो केवल भौतिक प्रगतिको ही उन्नति, भौतिक विकासको ही विकास मानकर अन्धा होकर उसीके लिये जीवनका प्रत्येक पल लगा रहा है, वह वास्तवमें बुद्धिमान् नहीं है और वह सचमुच प्रगतिकी ओर न जाकर, विकासकी ओर न जाकर इनके नामपर यथार्थमें अधोगति और विनाशकी ओर ही दौड़ा जा रहा है

बुद्धिमान्‌की परिभाषा करते हुए भगवान् कहते हैं

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ।
(गीता ५ । २

'कौन्तेय ! जितने भी ये संस्पर्शज भोग हैं, दुःखयोनि—दुःखोंकी उत्पत्तिके स्थान हैं और अ अन्तवाले हैं, इनमें बुद्धिमान् पुरुष कभी नहीं फँसता

फिर बुद्धिमान् क्या करते हैं ?—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥
(गीता १० । ८

'मैं (भगवान्) ही सबका उत्पत्ति-स्थान हूँ और समस्त जगत्‌की मुझ (भगवान्) से ही प्रवृत्ति हो है, यह मानकर बुद्धिमान् भावसम्पन्न पुरुष (सब कर्मोंद्वारा सर्वत्र सदा) मेरा ही भजन करते हैं ।'

अब हमें अपने जीवनपर विचार करके देखना कि हम वास्तवमें बुद्धिमान् हैं या निरे मूर्ख ! और मूर्ख हैं तो इस मूर्खताके भीषण परिणामपर वि करके हमें तुरंत इस मूर्खताका त्याग कर देना चाहिये तभी हम सच्चे धनसे सम्पन्न समृद्धिशाली होंगे बादशाहोंके भी बादशाह होंगे और तभी हम वास्तव परम शान्ति प्राप्त कर सकेंगे ।

चाह गई चिंता गई मनवा बेपरवाह ।
जिसको कुछ नहिं चाहिए सो जग शाहन्शाह ॥
जिसमें भोगासक्ति नहिं जिसके मनमें त्याग ।
परम शान्तिको प्राप्त हो वही मनुज बड़भाग ॥

पढ़ो, समझो और करो

(१)

सेवाका प्रकाश

'भाई! बगलमेंसे डाक्टरको बुला दो न!' मेरे पड़ोसमें रहनेवाली राधा बहिनने आकर मुझसे कहा। 'क्यों आज क्या है!' 'अरे! जल्दी जाओ, मेरी बहूके बहुत गड़बड़ है, आखिरी महीना चल रहा है, भाई बाहरगाँव गया है।' और मैं डाक्टरको बुलाने दौड़ा। केसकी गम्भीरता समझी जाने योग्य थी।

रास्तेमें ही डाक्टर प्रकाशका घर पड़ता था, परंतु मुझे पहलेसे ही यह पता था कि डाक्टर प्रकाश गाड़ीके बिना तो चलते ही नहीं। अतएव उनके घरके सामने आते ही मेरे पैर अटक गये। वैशाखकी दुपहरीका लगभग एक बजा होगा। दूरतक सुनसान सड़क, मानो धूप तथा तापके साथ दौड़ रही थी। ऐसे समयमें कोई गाड़ीवाला इधरसे क्यों निकलता! मैं चिन्तामें पड़ गया कि नजदीकमें और कोई डाक्टर नहीं है और इन डाक्टरके ले जानेमें यह कठिनता है। अब क्या किया जाय। एक-एक पलका हिसाब था। मैंने सकुचाते-सकुचाते उनके दरवाजेपर लगा हुआ बिजलीकी घंटीका बटन दबाया, मैं अंदर गया। डाक्टर झूलेपर बैठे आरामसे अखबार पढ़ रहे थे। मैंने बात बतायी—'अरे, चलो, चलो, जल्दी चलो'—कहते हुए डाक्टर तुरंत उठ खड़े हुए और नौकरसे उन्होंने पेटी ले चलनेको कहा। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि डाक्टर प्रकाशके उपचारसे उस बहिनके आराम हो गया।

जो डाक्टर गाड़ीके बिना घरसे बाहर पैर नहीं रखते थे, वे इतनी जल्दी दुपहरीमें इतनी फुर्तीसे रोगीको देखने चल पड़े, इसमें मुझे कुछ नवीनता प्रतीत हुई। परंतु कुछ ही दिनों बाद उनके बगलमें रहनेवाले एक भाईसे बातचीत होनेपर मुझे पता लगा कि डाक्टरके इस परिवर्तनके पीछे कौन-सा बल काम कर रहा है।

कुछ समय पूर्व डाक्टर अपनी पत्नीके साथ किसी बाहर गाँवमें घूमकर मोटरके द्वारा घर लौट रहे थे। ईश्वरके विधानसे विचित्र संयोग उपस्थित हो गये। रास्तेमें ही मोटर रुक गयी और उनकी पत्नीके प्रसवका समय होनेके कारण पेटमें सख्त दर्द शुरू हो गया। कुशल डाक्टर होनेपर भी बीच रास्तेमें क्या कर सकते थे? कोई साधन भी नहीं था। डाक्टर सचमुच अड़चनमें पड़ गये। उन्हें स्पष्ट दिखायी दिया कि यदि उनकी पत्नीकी ठीक समयपर व्यवस्था न हुई तो कदाचित् मृत्यु हो जायगी। पीड़ासे कराहती पत्नीको मोटरमें ही छोड़कर वे नजदीकके गाँवकी ओर दौड़े। अच्छे नसीबसे एक बूढ़े वैद्यराज उनकी सहायताके लिये भागे और डाक्टर-पत्नीको अपने घर लाकर वैद्यराजने उसके उपचारकी व्यवस्था की, वहीं उसके पुत्रका प्रसव हुआ।

जाते समय डाक्टर उन वैद्यराजको पैसे देने लगे। वैद्यराजने डाक्टरसे कहा—'भाई! यह मेरी ही बेटी है, यही मानकर मैंने सेवा की है, इसमें मैंने कोई अहसान नहीं किया। फिर अपना तो धंधा ही यही करनेका है। मेरी चार आनेकी दवासे तुम्हारी पत्नीके आराम हुआ है। तुम्हें पैसा ही देना है तो चार आने दे दो।' अन्तिम वाक्य कहकर वैद्यराजजी हँस पड़े। डाक्टर प्रकाश शरमा गये और उसी दिनसे ये 'फारेन रिटर्न' डाक्टर सच्चे अर्थमें 'डाक्टर प्रकाश' बनकर हमारे गाँवमें अपनी सेवाका प्रकाश फैला रहे हैं। 'अखण्ड आनन्द'

—छबीलदास एच, मशरु

(२)

जैसा बीज वैसा फल

कुछ पुरानी बात है—बाबू कालीचरन उत्तरप्रदेशके एक अच्छे जमींदार थे, अच्छी आमदनी थी। वे गाँवमें न रहकर अक्सर शहरमें रहते थे। उन्होंने एक मकान बनवा लिया था, पर वह छोटा था। बाबू उसे बढ़ाना चाहते थे और खुली जमीनमें बगीचा लगवानेकी उनकी इच्छा थी। उनके बगलमें एक गरीब अहीरका घर था। घरके लोग मर गये थे। एक बूढ़ी स्त्री और उसका छोटा-सा पोता था लगभग बारह वर्षका। वह साग-सब्जी पैदा करके उससे अपना पेट पालती थी। कालीचरनने उसकी जमीनको लेना चाहा। उसको पता लगा तो एक दिन आकर वह कालीचरनके चरणोंपर गिर गयी और रोती हुई बोली—'सरकार! आपके पड़ोसमें मुझ गरीब बुढ़िया और अनाथ बच्चेको जहाँ सहायता मिलनी चाहिये, वहाँ आप हमारे पुरखोंकी यह छोटी-सी झोंपड़ी भी उजाड़ देना चाहते हैं! यह मत कीजिये। आपको भगवान्‌ने लक्ष्मी दी है, आप

चाहे जहाँ चाहे जितनी जमीन खरीद सकते हैं, मुझे तो यहीं पड़ी रहने दीजिये। मैं सदा आपको आशीर्वाद दूँगी।' कालीचरन बिगड़ उठे, कड़ककर बोले—'तुमलोग सीधी बातसे माननेवाले नहीं हो, थानेके सिपाही हाथ पकड़कर निकालेंगे तब मानोगे। तुम्हारी झोंपड़ीकी रक्षा होगी और मेरा मकान नहीं बनेगा। यह हरगिज नहीं होगा। तुम्हें सौ-पचास रुपये चाहिये तो ले लो; नहीं तो रुपये भी नहीं मिलेंगे और जमीन तो छोड़नी ही पड़ेगी।' बुढ़ियाको बड़ी निराशा हुई और साथ ही बाप-दादोंकी जमीन जबरदस्ती छिन जानेकी बातसे उसे गुस्सा भी आ गया। उसने कहा—'बाबूजी! अनीतिका फल अच्छा नहीं होता। भगवान् इसे नहीं सहेगा। तुम मेरी मढैया उजाड़ोगे तो तुम्हारा महल भी मटियामेट हो जायगा। मैं जाती हूँ। रोऊँगी भगवान्के सामने जिनका कोमल हृदय है। तुम तो वज्रके बने स्वार्थी हो।' यह सुनकर बाबू कालीचरनका पारा बहुत चढ़ गया। उन्होंने कहा—'बड़ी भगवान्की भगत आयी है—मानो भगवान् तेरे ही हाथकी कठपुतली हैं, और होंगे भी तो क्या है। मैं भगवान् वगवान् कुछ नहीं मानता। कल ही निकालकर छोड़ूँगा। देखूँगा तेरे भगवान् क्या करते हैं—चल निकल यहाँसे।' बुढ़िया उठी और यह कहती हुई—'अरे हिरनाकुसने भी यही कहा था मैं भगवान्को नहीं मानता। उसकी क्या दशा हुई थी।……' चली गयी।

जमींदार समर्थ था। पुलिसके अधिकारी उसके हाथमें थे। उसने दूसरे ही दिन षड्यन्त्र करके रोती हुई बुढ़ियाको उसके नातीसहित घरसे निकलवा दिया और जमीनपर कब्जा कर लिया। बुढ़िया रोती-चिल्लाती बच्चेको लेकर चली गयी। कुछ लोगोंने उसके साथ सहानुभूति प्रकट करते हुए कालीचरनकी करतूतको बुरा भी बताया। पर इससे क्या होता था।

कालीचरनका मकान बड़ा बन गया, बगीचा भी लग गया। पर तीसरे ही वर्ष जोरका प्लेग फैला और कालीचरनका जवान लड़का और उसकी माता सहसा उसके शिकार हो गये। इन दोनोंने भी कालीचरनको बहुत उकसाया था। साथ ही, कालीचरनपर एक पुराने मामलेमें डिक्री होकर उसके मकानपर कुर्की आ गयी। सारा ही दृश्य बदल गया। कालीचरन स्त्री-पुत्र-मकान सब खोकर राहका कंगाल हो गया। 'इस हाथ दे उस हाथ ले।' जैसा बीज वैसा ही फल।

—सिवदीन मिसिर

(३)

सद्व्यवहारका शुभ परिणाम

मानमल और भैंरूदान मामा-फूआके सम्बन्धसे थे। मानमल बहुत ही भोला था पर उसके पास रुपये भैंरूदान काममें बहुत होशियार था। दोनोंने हिस्से काम कर रक्खा था। मानमलकी पूँजी लगी थी भैंरूदान काम सँभालते थे। दोनोंमें बड़ा प्रेम मानमलकी पूँजीकी ईमानदारीसे रक्षा करता हुआ बड़ी निपुणतासे व्यापार चला रहा था। पर सारा काम सँभालता था, इससे दूकानमें उसीकी पूछ मानमलका लड़का सोहनलाल इससे जलता था। भैंरूदानका मान नहीं सह सकता और उसे बदनाम चाहता था। भैंरूदानको इसका पता नहीं था। वह लालसे बच्चेकी तरह बरतता और उससे काममें लिया करता था। सोहनलालने एक दिन रोकड़से नौ रुपये चुरा लिये और रुपये न मिलनेपर जब पूछताछ तब मानमलसे उसने कह दिया कि 'मैंने देखा— रुपये निकालकर अपने घर ले गये थे।' मानमल स्वभावका था। उसने इस बातपर विश्वास करके उलाहना दे दिया। और तो कुछ करनेका उसमें नहीं था। भैंरूदानको दुःख तो हुआ, पर उसने न तो छोड़ा और न क्रोध ही किया। बुद्धिमान् था, सारा उसकी समझमें आ गया। सोहनलालको इससे हुई, पर वह कुछ बोल नहीं सका। भैंरूदानने किसी पता लगा लिया कि सोहनलालने रुपये लेकर अपनी रक्खे हैं। उस मूर्खने नौकरसे अपनी बहादुरी बता दी उसीसे पता लग गया। एक दिन सोहनलाल बाहर गया था, पीछेसे भैंरूदानने मानमलसे कहा—'तुम नाराज न होना, उसने नादानी की है, मुझे पता लग गया है सोहनलालने निकालकर अपनी पेटीमें रक्खे हैं।' कहा—'ऐसा नहीं हो सकता।' भैंरूदानने कहा— उसकी पेटी खोलकर देख लो।' मानमल सरलहृदय भैंरूदानको साथ ले जाकर पेटी खोली, उसमें नौ सौ मिल गये। सोहनलालके आनेपर मानमलने उसे पूछा तो उसने स्वीकार कर लिया और वह रोने मानमल उसपर बहुत नाराज था। भैंरूदानने सोहनको गोदमें लेकर उसको प्यारसे समझाया

आश्वासन दिया । सोहनलालके हृदयमें कृतज्ञता पैदा हो गयी । सीधा तो था ही । सामयिक विकार आ गया था । भैंरूदान तबसे सोहनके साथ विशेष प्रेम तथा आदरका बर्ताव करने लगा । भैंरूदानके सद्व्यवहारसे सोहनलालके मनका सारा विकार दूर हो गया और वह उसका अनुगामी तथा आज्ञाकारी बन गया । यह सद्व्यवहारका फल है । 'मंद करत सो करत भलाई ।'

—चम्पालाल

(४)

रामरक्षास्तोत्रसे लाभ

मैं 'कल्याण'का पाठक इधर कई वर्षोंसे रहा हूँ । पर १९६१ में एम्० ए० की परीक्षामें संलग्न रहनेसे 'कल्याण' नहीं पढ़ सका । फलतः अनेक धार्मिक कृत्योंमें भी अरुचि-सी रही । भगवान्‌से मानो यह देखा नहीं गया । परीक्षाके पूर्व विषमज्वर हो गया । मैंने आर्त पुकार मचायी । ठीक परीक्षाके पाँच दिन पूर्व ज्वरमुक्त हुआ । परीक्षा दी । परीक्षा-फल निकलने नहीं पाया था कि एक षड्यन्त्र हुआ और मुझे अपना पद त्याग करना पड़ा । पर यहीं मैंने ससम्मान पद ग्रहण किया । इस उलट-फेरसे फिर पूजा-पाठसे विरक्ति हुई । बस, स्वास्थ्य गिरने लगा । मन चिन्तित रहने लगा । उसी समय प्रसूतिरोगसे मेरे घरमें जच्चा-बच्चा दोनोंका देहान्त हो गया । परिवारपर विपत्तिका पहाड़ टूट पड़ा । घरमें १० वर्षसे नीचेकी तीन बच्चियोंको देखनेवाली कोई नहीं रही । हम दोनों बाप-बेटे अन्यत्र शिक्षकका काम कर रहे थे । उसमें भी षड्यन्त्र शुरू हुआ । अब तो मैं दुःसह चिन्ताग्रस्त रहने लगा । घर और स्कूल दोनों जगह चिन्ताका सागर लहरा रहा था । स्वयं दुःखको भी हमारा दुःख देखकर कलेजा मुँहको आता था । मैंने समझा, नाश निकट है । इसी समय 'कल्याण'का वह अङ्क मिला, जिसमें 'रामरक्षास्तोत्र' का वर्णन था । उसे पढ़कर भगवत्कृपावश सिद्ध करनेका निश्चय किया । उसी नवरात्रमें उसे सिद्ध किया । तबसे विचित्र चमत्कार मालूम पड़ा । आशाका संचार हुआ । स्वास्थ्य सुधर गया । मन प्रफुल्ल रहने लगा । स्कूलमें भी षड्यन्त्र असफल हो गया । मेरे पुत्रने यह चमत्कार देखकर पाठमात्र शुरू किया । उससे उसमें भी उत्साहका संचार हुआ । तबसे मेरे सम्पर्कमें आनेवाले सभी मित्रोंको मैं इस चिन्तामणिका परिचय देता रहा हूँ । सबने इसका कल्याणप्रद फल बताया है । मेरे विचारमें

और वे दोनों साईं बाबाके पास चल दीं । ज़रदा समर्पण करके सलमाने दोनों बच्चोंको साईं बाबाके चरणोंमें डाल दिया । साईं बाबा यह देखकर बड़े विस्मित हुए । बालकोंको दीर्घायु होनेका आशीर्वाद देकर उन्होंने पूछा कि 'यह सब कैसे हुआ ?' सलमाने सारी घटना सविस्तर वर्णन की ।

साईं बाबाने कहा, 'मैंने जो कुछ पहले कहा था, स्वयं नहीं कहा था; किंतु ईश्वरका अपना आदेश था । ईश्वरीय आदेश कैसे अन्यथा हो गया ? यह मैं नहीं समझ सकता । ईश्वर ही बतानेकी कृपा करें, तब समझमें आवे ।'

साईं बाबाने सलमाको फिर आनेको कहा और वह …ली गयी । दो-चार दिनों बाद सलमा फिर साईं बाबाके पास गयी ।

साईं बाबाने सबसे पहले यही कहा, "वह पागल कहाँ … मुझे बताओ, मैं उसे सिजदह (

उच्च विद्यालय, मैना ग्राम, जिला सहर्षा ।

(५)

बवासीरकी अचूक ओषधि

रसनामें अनावश्यक आसक्ति बढ़ानेसे बवासीरके सदृश रोगोंकी उत्पत्ति होती है । प्रायः जीर्ण कोष्ठबद्धता (कब्ज) के कारण गुदाकी त्रिवल्लियोंमें मांसांकुर उत्पन्न हो जाते हैं, जिन्हें मस्से (piles) कहा जाता है । शौच जाते वक्त इन मस्सोंपर मलकी दबाव-प्रतिक्रिया होनेसे असहनीय दर्द होता है । बैठने-उठनेमें भी कठिनाई रहती है । प्रायः मस्सोंसे रक्त-स्राव होता है । यही बवासीरका भयंकर रूप है । आपरेशन करवा लेनेपर भी यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि ये फिर कभी नहीं होंगे ।

अतएव यहाँ 'जनहिताय' मस्से (बवासीर) का एक आध्यात्मिक प्रयोग लिखा जाता है । मस्सा-निवारणका एक मन्त्र है, जो (मारवाड़के) प्रसिद्ध योगी दिवंगत श्रीनवल-

---

* रामरक्षास्तोत्रके प्रयोगसे लाभ होनेके और भी पत्र मिले थे । एक सज्जन लिखते हैं—वे ११ महीनेसे बीमार थे और तरह-तरहका इलाज करवाकर निराश हो चुके थे । रामरक्षास्तोत्रका पाठ करनेसे वे रोगमुक्त हो गये । एक बच्चा बहुत देरतक विषधर सर्पकी लपेटमें रहकर बच गया आदि ।

—सम्पादक

चाहे जहाँ चाहे जितनी जमीन खरीद सकते हैं, मुझे तो यहीं पड़ी रहने दीजिये। मैं सदा आपको आशीर्वाद दूँगी।' कालीचरन बिगड़ उठे, कड़ककर बोले—'तुमलोग सीधी बातसे माननेवाले नहीं हो, थानेके सिपाही हाथ पकड़क निकालेंगे तब मानोगे। तुम्हारी झोंपड़ीकी रक्षा होगी और मेरा मकान नहीं बनेगा। यह हरगिज नहीं होगा। तुम्हें सौ-पचास रुपये चाहिये तो ले लो; नहीं तो रुपये भी नहीं मिलेंगे और जमीन तो छोड़नी ही पड़ेगी।' बुढ़ियाको बड़ी निराशा हुई और साथ ही बाप-दादोंकी जमीन जबरदस्ती छिन जानेकी बातसे उसे गुस्सा भी आ गया। उसने कहा—'बाबूजी! अनीतिका फल अच्छा नहीं होता। भगवान् नहीं सहेगा। तुम मेरी मढैया उजाड़ोगे तो तुम्हारा महल मटियामेट हो जायगा। मैं जाती हूँ। रोऊँगी भगवान्के सामने जिनका कोमल हृदय है। तुम तो वज्रके बने स्वा बाबू कालीचरनका पारा बहुत च

(६)

रेखमें मेख

पचास साठ वर्ष पहलेकी बात है, सैयद रहमत अली शाह झंग जिले (पश्चिमी पाकिस्तान) के एक छोटे-से ग्राममें सम्पन्न जमींदार थे। जमींदारके पास बहुत-सी उपजाऊ धरती थी। गाय, भैंस, बैल, घोड़े सभी कुछ थे। किंतु उनके इकलौते पुत्र रशीद अलीके कोई संतान न थी। घरमें कोई बच्चा न होनेके कारण बड़ी उदासी छायी रहती थी। पुत्रवधू सलमाको नगरमें लेकर गये और वहाँ बड़ी डाक्टरनीको दिखाया, किंतु कोई रोग उसकी समझमें न आया। सासने बहुत-से तावीज आदि करवाये किंतु सभी निष्फल हुए।

गाँवसे एक मील दूर एक मुसलमान फकीर 'साईं बाबा' एक पक्की कुटियामें रहते थे। इनका सारा समय ईश्वरके स्मरण-चिन्तनमें बीतता था। आस-पासके गाँवमें लोग उनको खुदा रसीदह अर्थात् पहुँचा हुआ संत मानते थे और उनकी सेवा-शुश्रूषासे अपने-आपको कृतकृत्य समझते थे। सलमाने भी साईं बाबाकी प्रशंसा सुनी थी। जब संतान प्राप्त करनेमें चारों ओरसे निराशा हो गयी तो उसने सा बाबाका द्वार खटखटानेकी सोची। उसने अपनी सा आज्ञा लेकर सप्ताहमें दो बार साईं बाबाके लिये बढ़िया ज़र (मीठे चावल) ले जाना आरम्भ कर दिया। यह क्र कई मासतक चलता रहा। बाबा स्त्रियोंसे बहुत कम ब करते थे, इसलिये सलमा चुपचाप ज़रदा पेश करके च ती थी।

एक दिन साईं बाबाके हृदयमें इस ज़रदा लानेवा महिलापर कृपा करनेकी प्रेरणा हुई।

साईं बाबाने कहा, 'बेटी! कई महीनोंसे तुम हमा खिदमत (सेवा) कर रही हो। कहो तुम्हें क्य चाहिये?'

सलमाने बड़ी नम्रतासे उत्तर दिया, 'बाबा! मेरे संता नहीं है। मैं एक बालक चाहती हूँ, जिससे मेरे अँधे घरमें भी उजाला हो जाय।'

साईं बाबाने कहा—'तुम्हारे लिये दुआ माँगूँगा। जे खुदाबन्द ताला हुक्म देंगे, तुम्हें बता दूँगा।'

तीसरे दिन जब सलमा ज़रदा लेकर गयी तो सा बाबाने कहा—'बेटी! मुझे अफसोस है कि तुम्हारी इच्छा पूरी नहीं होगी; क्योंकि अल्लातालाने फ़रमाया है कि तुम्हा भाग्यमें संतान नहीं है। इसलिये तुम ज़रदा मत ला करो और जो लायी हो वह वापस ले जाओ।'

साईं बाबाके निराशा-जनक वचनोंसे सलमाका हृदय टूट गया। वह कुछ समयके लिये खड़ी-की-खड़ी रह गयी। उसकी आँखोंसे आँसुओंकी झड़ी लग गयी। फि उसने ज़रदेकी थाली उठा ली तथा आँसू झरती, ठंडी आहें भरती मुख लटकाये धीरे-धीरे अपने घरकी ओर चली।

कुछ समयसे एक हिंदू साधु भी घूमते-घामते उस इलाकेमें आ गये थे। उनको प्रायः लोग विक्षिप्त समझते थे; क्योंकि वे घंटों चुपचाप ऐसे बैठे रहते जैसे न कुछ देखते हों और न कुछ सुनते हों। यदि कोई व्यक्ति उनसे बात करना चाहता तो वे गाली बकने लगते। फिर भी न मानता तो ईंट, मिट्टी फेंकने लग जाते। कभी बिना कारण हँसते रहते और कभी जोरसे रोने-चिल्लाने लग जाते। जब भूख सताती तो हर किसीके घरसे रोटी माँग खाते। घूमते-घामते जहाँ रात पड़ जाती, वहीं बैठ जाते। किसीने उनको

---

* हमलोगोंने इसका प्रयोग करके परीक्षा नहीं की है। बहुत सीधा निर्दोष प्रयोग है। पीड़ित भाई प्रयोग करके देखें और जो फल हो, उसकी कृपया सूचना दें।—सम्पादक

रोते नहीं देखा था । लोग उनको 'पागल बाबा' कहने लगे थे ।

आज पागल बाबा सारी रात रावी नदीके किनारे बैठे रहे । उस समय दोपहरके दो बजे होंगे, जब उन्होंने सलमाको थाली लिये रोते हुए जाते देखा ।

बाबाने कहा, 'बेटी ! तेरे पास अगर कुछ खानेको हो तो मुझे दे दे । मुझे बड़ी भूख लगी है ।'

सलमा पहले तो बाबाके समीप जानेसे डरी कि कहीं ईंट न मार दें, किंतु फिर उस समय बाबाकी बालकके समान सौम्य आकृति देखकर वह पास आ गयी । धरतीपर सिर रखकर प्रणाम किया और चावलोंकी थाली बाबाके सामने रख दी । किशमिश, बादाम तथा गरीसे सुसज्जित बढ़िया चावल देखकर बाबा खिलखिलाकर हँसने लगे । तत्पश्चात् आनन्दसे भोग लगाया । फिर तृप्त होकर निराशाकी मूर्ति सलमासे बोले, 'तू रोती क्यों है ?' उसने सभी बातें और उस दिनकी साईं बाबासे हुई परम निराशाजनक बातचीत कह सुनायीं और फिर रोने लगी ।

पागल बाबा बोले—'तू एक बालकके लिये रोती है, मैं तुझे दो देता हूँ । प्रसन्न होकर अपने घर चली जा ।'

पहले तो सलमाको पागल बाबाके कहनेका विश्वास न हुआ, किंतु जब गर्भके लक्षण प्रत्यक्ष हो गये, तब उसे बड़ा आनन्द हुआ और उसका हृदय पागल बाबाके प्रति कृतज्ञतासे भर गया । समय पूरा होनेपर उसने दो यमज बालकोंको जन्म दिया । पागल बाबा तबतक जाने कहाँ चले गये थे, इसलिये सलमा अपनी कृतज्ञता प्रकट न कर सकी ।

सभी जानते थे कि साईं बाबा कोई मक्कार फरेबी नहीं हैं जो किसी लालचसे लोगोंको ठगते हों । जमींदारके पौत्रोंके विषयमें तो कोई ठगने-ठगानेकी बात ही नहीं थी; क्योंकि उन्होंने यही कहा था कि सलमाके भाग्यमें संतान नहीं है, फिर यह पागलके कहनेसे कैसे हो गयी ? इस बातका विचार सैयद रहमत अलीके घरमें कई बार हुआ, किंतु बात समझमें नहीं आयी ।

जब बालक दो-तीन मासके हो गये तो सलमाने साईं बाबाके पास जाकर ही इस रहस्यको प्रकट करानेका निश्चय किया । उसने फिर ज़रदा बनाया और अपनी ननदको साथ लेकर साईं बाबाके पास चली । एक बालकको उसकी ननदने उठा लिया, दूसरे बालकको तथा थालीको सलमाने स्वयं उठाया और वे दोनों साईं बाबाके पास चल दीं । ज़रदा समर्पण करके सलमाने दोनों बच्चोंको साईं बाबाके चरणोंमें डाल दिया । साईं बाबा यह देखकर बड़े विस्मित हुए । बालकोंको दीर्घायु होनेका आशीर्वाद देकर उन्होंने पूछा कि 'यह सब कैसे हुआ ?' सलमाने सारी घटना सविस्तर वर्णन की ।

साईं बाबाने कहा, 'मैंने जो कुछ पहले कहा था, स्वयं नहीं कहा था; किंतु ईश्वरका अपना आदेश था । ईश्वरीय आदेश कैसे अन्यथा हो गया ? यह मैं नहीं समझ सकता । ईश्वर ही बतानेकी कृपा करें, तब समझमें आवे ।'

साईं बाबाने सलमाको फिर आनेको कहा और वह चली गयी । दो-चार दिनों बाद सलमा फिर साईं बाबाके पास गयी ।

साईं बाबाने सबसे पहले यही कहा, ''वह पागल कहाँ है ? मुझे बताओ, मैं उसे सिजदह (दण्डवत्-प्रणाम) करूँगा । अल्लाहतालाने फ़रमाया था कि 'वह पागल मेरा अपना प्रेमास्पद है । मैं उसको प्रेम करता हूँ । प्रेमास्पदकी बात कौन टाल सकता है ? उसने मेरे लिये इतना बड़ा त्याग किया है कि जो अवर्णनीय है ।''

बोलो भक्त और उनके भक्तवत्सल भगवान्की जय ।

—श्रीनिरञ्जनदास धीर

(७)

पापका प्रायश्चित्त

एक गाँवमें दो भाई थे । मदनमोहन बड़ेका नाम था और गंगाप्रसाद छोटेका । दोनोंकी स्त्रियोंमें कुछ अनबन रहने लगी । भाइयोंने अलग-अलग हो जानेका विचार किया । बड़े भाईकी स्त्रीका स्वभाव खराब था । उसीके कारण झगड़ा शुरू हुआ था । एक दिन मौका पाकर बुरी नीयतसे वह गंगाप्रसादकी जेबमेंसे बारह सौ नोट निकालकर ले गयी । उसपर किसीका कोई वहम था ही नहीं । समझ लिया गया रास्तेमें कहीं गिर गये होंगे ।

भाग्यकी बात, उसने उन नोटोंको अपने छोटे बच्चेके खिलौनोंकी पिटारीमें ले जाकर रख दिया । वहाँसे दो-तीन दिनोंतक उन्हें हटानेका अवसर नहीं मिला । एक दिन सवेरे वह रसोईमें थी । उसका छोटा बच्चा दूसरे बच्चोंके साथ खेल रहा था । उसने अपने साथी छोटे बच्चोंके साथ पिटारी खोली और खिलौने निकालकर सब खेलने लगे । जाड़ेके दिन थे । कमरेमें अँगीठी जल रही थी । आग कुछ बुझने लगी तो

बच्चेके मनमें आग तेज करनेकी आयी। वह कागज ढूँढ़ने लगा—कागज मिल जायँ तो अँगीठीमें डाल दे। भाग्यसे माताकी पेटी खुली थी। उसने खोलकर देखा—बहुत-से कागज दिखायी दिये। झटसे उठाकर अँगीठीमें डाल दिये। पेटी ज्यों-की-त्यों बंद कर दी। एक बार धुआँ निकला, फिर भक्से कागज जल उठे। पर तुरंत ही बुझ गये, तब बच्चा फिर कागजोंकी खोजमें लगा। खिलौनोंकी पिटारीमें बारह सौ नोट थे। बच्चोंकी दृष्टिमें तो कागज ही थे। उठाकर उन्हें भी अँगीठीमें डाल दिया और वे भी खाक हो गये। इतनेमें किसी कामसे माँ आयी। अँगीठीके आसपास बच्चोंको देखकर कहा—'यहाँ सब क्या करते हो—जल जाओगे?' उसका बच्चा तो डर गया। सोचा मैंने कागज जला दिये—माँ खीझेगी। पर दूसरे एक बच्चेने कह दिया कि 'आग बुझी जा रही थी। इससे तुम्हारे मुन्नाने पिटारीमेंसे कागज निकालकर इसमें डाले तब आग जली। अब फिर बुझ गयी। वह अब और कागज ढूँढ़ रहा है।' यह सुनते ही उसे नोटोंकी याद आयी। पिटारीमें देखा तो नोट नहीं थे। उसके होश हवा हो गये। आँखोंसे आँसू बहने लगे। यह देखकर एक बच्चेने सरलतासे कहा, 'अरी, तुम रोती क्यों हो? आग अच्छी जली थी। ये कागज तो पीछे डाले, पहले तो बकसामेंसे निकालकर डाले थे।' उसने सुनते ही हाय मार कहा—'क्या वे भी जला दिये?' कल ही तीन हजारके मेरे मैकेसे आये थे, माँने भेजे थे और उन्होंने लाकर रखनेको दिये थे। वह 'हाय तोबा' मचाने ल बच्चे तब सहमे रह गये। घरके लोग इकट्ठे हो उसने कहा—'मैं बड़ी पापिन हूँ। उस दिन मैं ही देवरकी मेंसे बारह सौके नोट निकालकर लायी थी। मेरे पापका मुझे हाथोंहाथ मिल गया। उन बारह सौके साथ मेरे हजारके नोट भी जल गये। ढाई गुना फल हाथोंहाथ हो गया।' वह इतना कहकर बेहोश हो गयी। देवरने छिड़ककर चेत कराया। पर वह अपने पापके पश्चात्ता और माँके पाससे आये हुए तीन हजारके नोटोंके जल मानसिक आगसे जल रही थी। देवर गंगाप्रसादने उसे दी। पश्चात्तापकी अग्निसे शुद्ध होकर उसका मन बदल नोट तो जले, पर घरमें प्रेम बहुत बढ़ गया। तबसे कभी अलग होनेकी चर्चा ही नहीं उठी। —हरिनाराय

सं० २०२० के अधिक और क्षय मासके सम्बन्धमें एक निर्णय होना-आवश्यक

सरकारसे प्रार्थना

संवत् २०२० वि० के पञ्चाङ्गोंमें किन्हींमें आश्विन अधिक, मार्गशीर्ष क्षय और फिर, चैत्र अ मास लिखे गये हैं, तथा किन्हीं-किन्हींमें कार्तिक अधिक और कार्तिक ही क्षय माना गया है। चैत्रको अधिकमास इस वर्षमें नहीं माना है। इससे नवरात्र, दशहरा तथा दीपावलीमें प्रायः एक मा अन्तर पड़ रहा है। काशीके अधिकांश पञ्चाङ्ग आश्विन अधिक, मार्गशीर्ष क्षय मानते हैं; पंजाब बंगालने भी प्रायः ऐसा ही माना है। बम्बईने कार्तिक अधिक और कार्तिकको ही क्षय मान लिया धार्मिक जनता बड़ी दुविधामें है, कौन-से पञ्चाङ्गकी बात माने। सरकारी छुट्टियोंमें भी यही गड़ है। मुख्य विवाद है—दृश्य अदृश्य पञ्चाङ्गोंमें नवरात्र, दशहरा, दीपावलीका एक मासका अन्तर, १२ मास या १३ मासमें वर्षकी समाप्ति। वर्षकी समाप्तिवाला प्रश्न उतना अड़चनका नहीं है, जि दशहरा-दीपावलीमें एक महीनेके अन्तरका। अतएव हमारा केन्द्रिय सरकारसे यह नम्र निवेदन है वह इसके निर्णयके लिये देशके विशिष्ट धर्मशास्त्रज्ञाता तथा प्राचीन और नवीन पद्धतिके मानने ज्योतिषके विद्वानोंकी एक समिति किन्हीं सम्मान्य विद्वान्की अध्यक्षतामें बैठाकर उसके द्वारा शीघ्र शीघ्र सर्वसम्मत या बहुसम्मत एक निर्णय कराकर, उसकी घोषणा कर दे, जिससे देशभरमें एक दशहरा, दीपावली समान दिनोंमें मनाये जायँ; सरकारी छुट्टी भी देशभरमें समान तारीखोंमें ही हो। निर्णय बहुत ही शीघ्र हो जाना चाहिये।

—सम

'कल्याण'के आजीवन ग्राहक बनकर सत्साहित्यके प्रचारमें सहायता कीजिये

(१) 'कल्याण' तथा गीताप्रेससे प्रकाशित पुस्तकोंका मूल्य बहुत कम है, यह सभी जानते हैं। गीताप्रेसका उद्देश्य ही है कम कीमतमें सद्-साहित्यका प्रचार करना। अतः पुस्तकोंके दाम बढ़ानेका कोई विचार अभी नहीं है। पर छपाईकी सभी चीजें उत्तरोत्तर महँगी होती जा रही हैं, छपाईके कागज, दफ्ती आदिपर Excise duty तथा Central salestax में हालहीमें और भी वृद्धि हो गयी है। इन सबके कारण उत्पादनका खर्च बहुत बढ़ गया है। अतएव किसी प्रकार भी जनताको 'कल्याण' तथा गीताप्रेसकी पुस्तकें सस्ते दाममें मिलती रहें तथा 'कल्याण'के ग्राहकोंको प्रतिवर्ष रुपये भेजनेकी असुविधा न रहे; इसलिये एक सौ रुपये एक साथ लेकर आजीवन सदस्यकी भाँति 'आजीवन ग्राहक' बनानेका निश्चय किया गया है। इससे आजीवन ग्राहक बननेवाले जबतक रहेंगे और जबतक 'कल्याण' चलता रहेगा, उनको 'कल्याण' प्रतिवर्ष मिलता रहेगा। अवश्य ही उनके पीछे उत्तराधिकारियोंको नहीं मिलेगा और किसी कारणवश 'कल्याण' बंद होनेपर भी नहीं मिलेगा। दोनों ही हालतोंमें रुपये गीताप्रेसके हो जायँगे। इससे प्रकारान्तरसे गीताप्रेसकी सहायता भी होगी। गीताप्रेस यों चंदा नहीं लेता; परंतु आजीवन ग्राहक बनानेवाले मूल्य-स्वरूप जो एक सौ रुपये देंगे, वे तो लिये ही जायँगे। जो सज्जन गीताप्रेसकी तथा 'कल्याण'की सहायता करना चाहें, वे स्वयं आजीवन ग्राहक बनकर तथा अपनी शक्ति और इच्छाके अनुसार, जिन लोगोंके पास पैसे नहीं हैं, परंतु जो 'कल्याण' पढ़ना चाहते हैं—ऐसे लोगोंको आजीवन ग्राहक बनाकर उनके प्रत्येकके लिये एक सौ रुपये दे सकते हैं। इससे 'कल्याण' पढ़नेवालोंकी सहायता होगी, सत्साहित्यका प्रचार होगा और गीताप्रेसकी प्रकारान्तरसे सहायता भी होगी। एक सज्जनने अभी अपनी ओरसे ऐसे सौ ग्राहक बनाये हैं। आजीवन ग्राहक बन रहे हैं, परंतु अभी, जितनी संख्यामें ग्राहक बनानेकी बात सोची थी, उसे देखकर कम बने हैं। अतएव गीताप्रेसके तथा 'कल्याण'के प्रेमी लोगोंको स्वयं ग्राहक बनकर तथा दूसरोंको यथासाध्य बनाकर रुपये शीघ्र भिजवाने चाहिये। निर्धारित संख्या पूरी हो जानेपर और आजीवन ग्राहक नहीं बनाये जा सकेंगे।

(२) जो सज्जन रु० ७.५० देकर चालू वर्षके साधारण ग्राहक बन चुके हों वे ९२.५० और भेजकर आजीवन ग्राहक बन सकते हैं।

(३) कुछ सज्जन प्रतिवर्ष सजिल्द विशेषाङ्क लेना चाहते हैं, अतः उनको १२५) (एक सौ पचीस रुपये) भेजने चाहिये।

(४) भारतवर्षके बाहर (विदेश) के महानुभावोंके लिये अजिल्द 'आजीवन ग्राहक' का मूल्य १२५) या १० पौंड है। सजिल्दका मूल्य १५०) या १२ पौंड है।

(५) कुछ प्रेमी मित्रोंने अपनी मीलों, कारखानों, उत्पादक तथा व्यापारी संस्थाओं, आश्रमों, मन्दिरों, पुस्तकालयों, क्लबों और अन्यान्य संस्थाओंको तथा फर्मोंको आजीवन ग्राहक बनानेका विशेष आग्रह किया है। अतः उनका यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया है। अतः संस्थाओं तथा फर्मोंको भी आजीवन ग्राहक बनाया जाता है। जो लोग इस प्रकारके ग्राहक बनाना चाहें, वे उनका नाम पतेसहित पूरा मूल्य भेजनेकी शीघ्र कृपा करें।

व्यवस्थापक—**'कल्याण', पो० गीताप्रेस, गोरखपुर**

'कल्याण'के चालू वर्षका विशेषाङ्क

'संक्षिप्त ब्रह्मवैवर्तपुराणाङ्क' प्रसिद्ध वैष्णव-पुराण 'ब्रह्मवैवर्तपुराण'का सार रूप है। इसमें गोलोकविहारी परात्पर भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी अभिन्नस्वरूपा श्रीराधिकाजीकी अमृतोपम गोलोक तथा उनकी अवतारलीलाका बड़ा ही सुन्दर वर्णन है। साथ ही सब देवताओंकी एकता, सारी शक्ति एकता, भक्तितत्त्व, सदाचार, कर्म और कर्मफलोंका, दिव्य लोकोंका, ज्ञान-विज्ञानका, चमत्कारपूर्ण दुर्लभ कवचों और मन्त्रोंका विशद विवेचन है। अतएव यह अङ्क सभीके लिये परमोपयोगी और संग्रह करने योग्य

इसमें ७०० से अधिक पृष्ठ, बहुरंगे चित्र १७, दोरंगा १, सादे ६ और लगभग १२० रेखा हैं। वार्षिक मूल्य केवल ७.५० (सात रुपये पचास नये पैसे) तथा सजिल्दका ८.७५ (आठ रुपये पचह नये पैसे) डाकखर्च समेत है। आज ही ग्राहक बनिये और अपने इष्ट-मित्रोंको भी बनाइये।

'कल्याण'के अबतकके विशेषाङ्कोंमें सबसे अधिक बिकनेवाला गत वर्षका विशे

३६वें वर्षके 'संक्षिप्त शिवपुराणाङ्क'की एक लाख इक्यावन हजार प्रतियाँ छापी गयीं, इसमें भगवान् शिवकी ही विचित्र मधुर लीलाओंका, भक्तवत्सलताका और उनके अवतारोंका तथा योग-भक्तिके तत्त्वोंका बड़ा ही वि और सर्वोपयोगी वर्णन है। यह विशेषाङ्क सुप्रसिद्ध शिवपुराणके साररूपमें सरल हिंदी भाषामें बहुत ही सस्ता

पृष्ठ-संख्या ७०४, चित्र सुन्दर बहुरंगे १७, दोरंगा १, सादे १२ तथा रेखा-चित्र १३८ कुल १६८ रु० ७.५० (डाकखर्चसहित) भेजकर रजिस्ट्रीसे मँगवा लें अथवा वी० पी० द्वारा भेजनेकी आज्ञा दें।

'कल्याण'के पुराने प्राप्य विशेषाङ्क

१—हिंदू-संस्कृति-अङ्क

पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविता ४६, संगृहीत २९, चित्र २४८, मूल्य ६.५० । साथ ही वर्षके अङ्क २-३ बिना मूल्य।

इस अङ्कमें महान् हिंदू-संस्कृतिके प्रायः सभी विषयोंपर प्रकाश डाला गया है। इसमें वेद, उपनि महाभारत, रामायण तथा श्रीमद्भागवतकी सानुवाद सूक्तियाँ, हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप तथा महत्त्व, हिंदू वर्णाश्रम, दर्शन-परिचय, हिंदू-संस्कृतिकी व्यापकता, हिंदू-संस्कृतिमें त्याग और भोगका समन्वय, रामरा स्वरूप, शिष्टाचार और सदाचार, आहार-विवेक, गोरक्षा, जीवरक्षा आदि विविध विषयोंपर बड़े-बड़े वि तथा अनुभवी पुरुषोंके लेख हैं।

इसके अतिरिक्त भगवान्के अवतारोंके, देवताओंके, आदर्श ऋषि-महर्षियोंके, परोपकारी भक्त, तथा सत्पुरुषोंके, आचार्य, महात्मा और भक्तोंके एवं आदर्श हिंदू-नारियोंके बहुत-से पवित्र चरित्र हैं।

२—मानवता-अङ्क

पृष्ठ-सं० ७०४, मानवताकी प्रेरणा देनेवाले सुन्दर ३९ बहुरंगे, एक दुरंगा, १०१ एकरंगे और रेखाचित्र। डाकव्ययसहित मूल्य ७ रु० ५० नये पैसे, सजिल्द ८ रु० ७५ नये पैसे।

देशभरके चुने हुए महात्माओं और विद्वानों तथा विदेशी महानुभावोंके मानवतासम्बन्धी सद्विचा संग्रहसे सम्पन्न और सबके द्वारा प्रशंसित।

व्यवस्थापक—कल्याण, पो० गीताप्रेस (गोरख

श्रीगीता और रामायणकी परीक्षाएँ

श्रीगीता और रामचरितमानस—ये दो ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनको प्रायः सभी श्रेणीके लोग विशेष आद दृष्टिसे देखते हैं। इसलिये समितिने इन ग्रन्थोंके द्वारा धार्मिक शिक्षा-प्रसार करनेके लिये परीक्षा व्यवस्था की है। उत्तीर्ण छात्रोंको पुरस्कार भी दिया जाता है। परीक्षाके लिये स्थान-स्थानपर केन्द्र स्थ किये गये हैं। इस समय गीता-रामायण दोनोंके मिलाकर लगभग ३५० केन्द्र हैं। विशेष जानकारीके नीचे पतेपर कार्ड लिखकर नियमावली मँगवानेकी कृपा करें।

व्यवस्थापक—श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति, गीता-भवन, पो० 'स्वर्गाश्रम' (देहरा

कल्याण

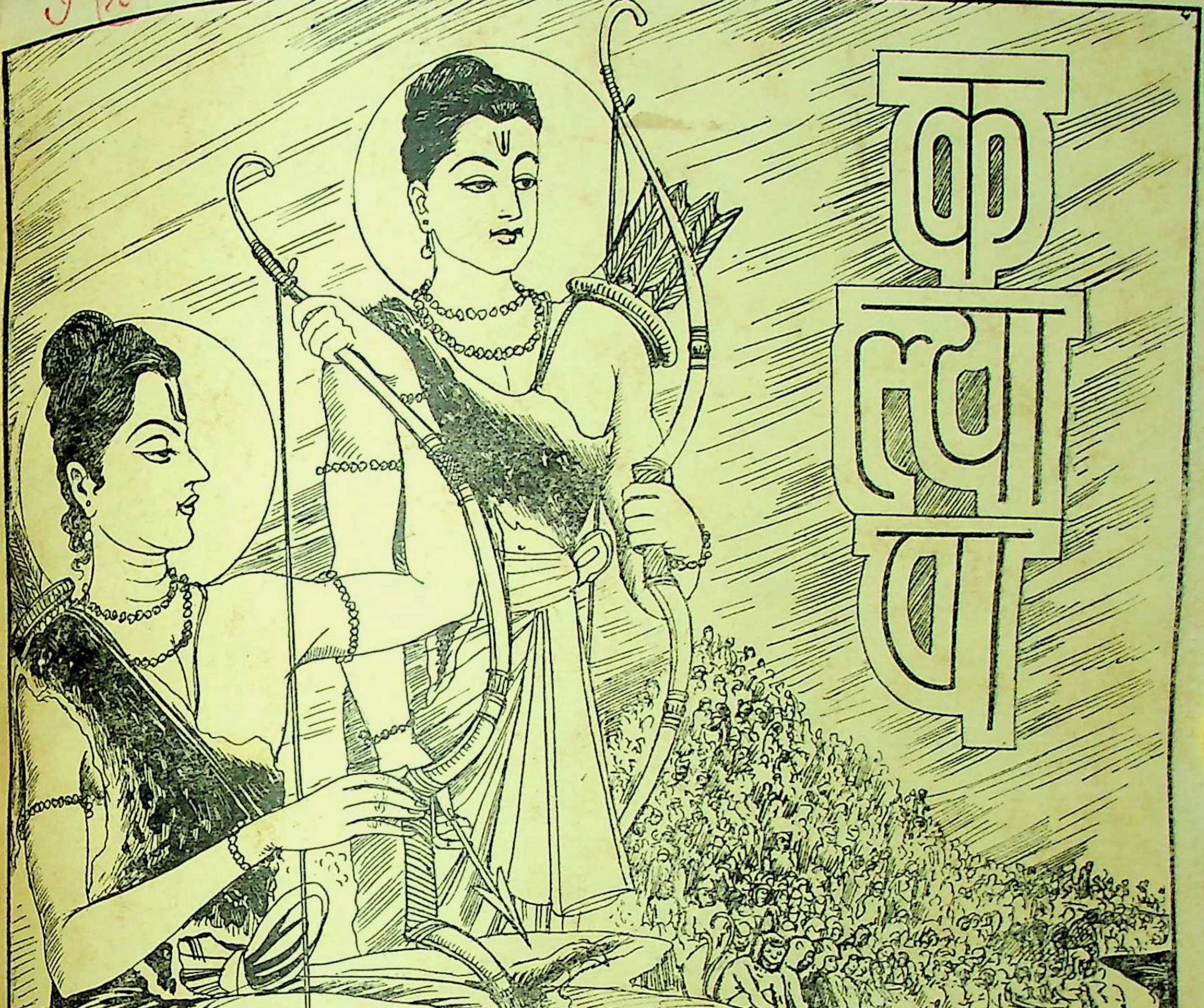

वर्ष २७]

* * *

[अङ्क ६

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

संस्करण—१,३८,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर आषाढ़ २०२०, जून १९६३

विषय पृष्ठ-संख्या

१–अमित रूपसे राम सबसे मिले [कविता] ९३९
२–कल्याण ('शिव') … ९४०
३–श्रीमद्भागवत—एक अनुशीलन (जगद्गुरु श्रीरामानुजाचार्य आचार्यपीठाधिपति स्वामी श्रीराघवाचार्यजी महाराज) … ९४१
४–धर्मकी हानि और पापकी वृद्धिके निवारणके उपाय (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ९४५
५–उपमान तथा उपमेय [कविता] (चतुर्वेदी श्रीउमरावसिंहजी पाण्डेय, प्रेम-विशारद) ९५०
६–वैज्ञानिक-आध्यात्मिक-अनुभव-ज्ञान (श्रीशिवमूर्तिजी) … ९५१
७–मधुर … … ९५३
८–भक्ति (डा० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल) ९५४
९–अधिक सुन्दर बनिये (डा० श्रीरामचरण-जी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, दर्शनकेसरी, विद्याभूषण, साहित्यरत्न) ९५५
१०–सौन्दर्य कहाँ ? (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') … … ९५८
११–ऐसा भी कभी होगा ! (श्रीदुर्गेश) ९५८
१२–एकादशीका उपवास (मूल मराठी-लेखक–श्रीपं० श्री० दा० सातवलेकरजी; अनु०–पं० श्रीश्रुतिशीलजी शर्मा, तर्कशिरोमणि) ९५९
१३–दीपावली-विज्ञान (श्रीरणछोड़दासजी 'उद्धव') … … ९६३
१४–अधर्म और पापसे सावधान रहिये (श्री-श्रीराम माधव चिंगले, एम्० ए०) … ९६६
१५–पाप त्यागकर सदाचरण करो [कविता] ९७०
१६–महाराजा जनकके चरित्रका एक पक्ष (डा० श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू, एम्० ए०, डी० लिट्०) … ९७१
१७–मानसकारका दार्शनिक दृष्टिकोण (श्रीप्राणनाथजी पंकज, एम्० ए०) … ९७५
१८–शक्तिकी उपासनाके दार्शनिक रहस्य (आचार्य पं० श्रीसूर्यमणिजी शास्त्री) … ९७८
१९–दुःख-सुख, सम्पत्ति-विपत्ति और मानापमान [कविता] … ९७९
२०–मानसिक विश्लेषण (श्रीविश्वेश्वर-नारायणजी) … … ९८०
२१–साँड़ देवता [कहानी] (श्री 'चक्र') ९८२
२२–कालियमर्दन और ताण्डव-नृत्य (श्री-व्यौहार राजेन्द्रसिंहजी) … ९८५
२३–भोजन-शुद्धि … ९८६
२४–सूरदासका भ्रमर-गीत (याज्ञिकसम्राट् पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड़, वेदाचार्य) … ९८७
२५–पुष्टिमार्गीय समाराधनामें संगीत-योग (पं० श्रीगोपाल भट्टजी, एम्० ए०) … ९८९
२६–भद्राचलम्—भगवान् श्रीरामके चरणोंसे पावन (श्रीवेंकटलालजी ओझा) … ९९५
२७–तुम और मैं (श्री 'स्वर्णकिरण') … ९९७
२८–पढ़ो, समझो और करो … ९९८
२९–व्यवहार … … १००२

चित्र-सूची

१–वनवासी राम-लक्ष्मण … … (रेखाचित्र) … मुखपृष्ठ
२–प्रभुका ऐश्वर्य … … (तिरंगा) … ९३९
३–भद्राचलम्-मन्दिर … … (इकरंगा) … ९९६

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण
भारतमें
विदेशमें
(१० पैस

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

प्रभुका ऐश्वर्य

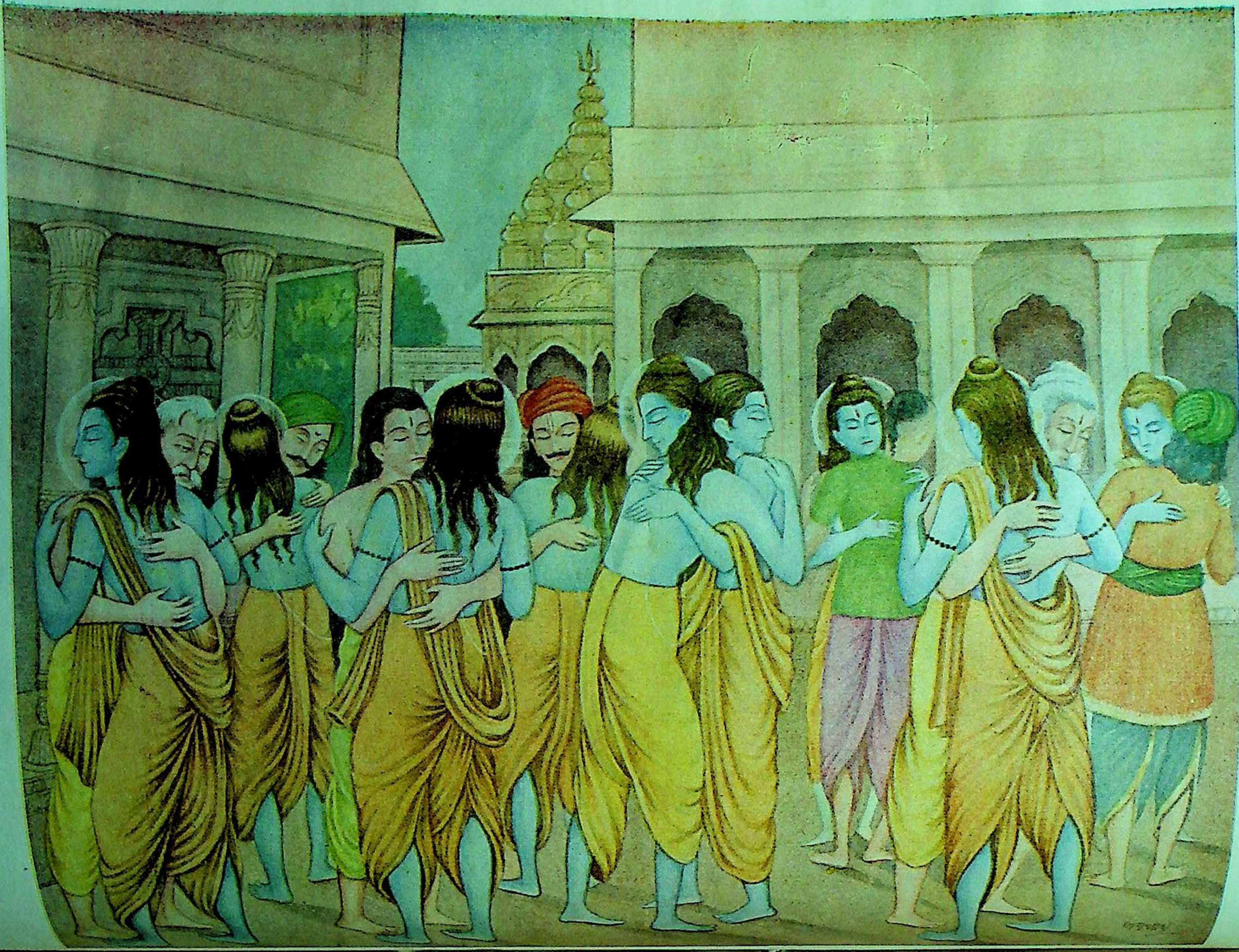

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

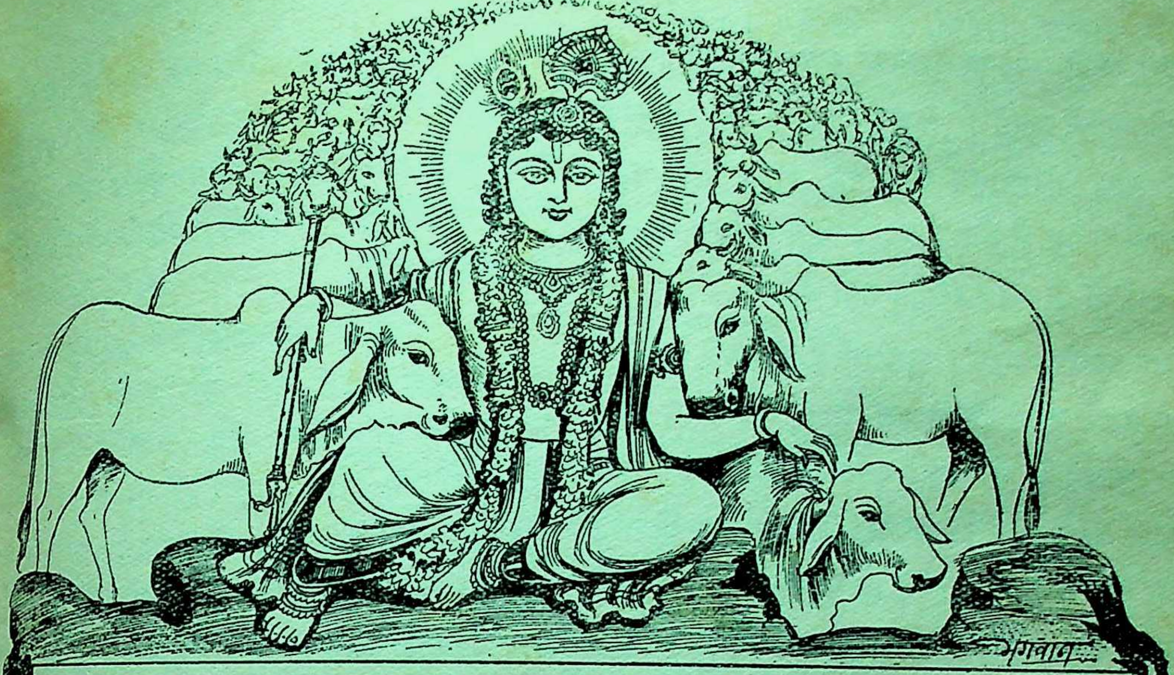

कल्याण

शुद्धतेजःस्वरूपं च भक्तानुग्रहविग्रहम् । अतीव कमनीयं च श्यामरूपं नमाम्यहम् ॥
परिपूर्णतमं शान्तं राधाकान्तं मनोहरम् । सत्यं ब्रह्मस्वरूपं च नित्यं कृष्णं नमाम्यहम् ॥

वर्ष ३७ } गोरखपुर, सौर आषाढ़ २०२०, जून १९६३ { संख्या ६
पूर्ण संख्या ४३९

अमित रूपसे राम सबसे मिले

रिपु रन जीति राम घर आए ।
लखन-सीय-कपि-रीछ सहित प्रभु कुसल, अवध आनंद बधाए ॥
नगर छयो आनंद-कुलाहल, हाट-बाट-घर सबनि सजाए ।
लगे बाजने बजन चहूँ दिसि, मुदित नारि नर देखन धाए ॥
उतरि बिमान भए सब ठाढ़े, अमित रूप निज राम बनाए ।
जथाजोग मिलि राम सबनि तें सबके मन अति मोद बढ़ाए ॥

याद रक्खो—मानव-जीवनकी सफलता भगवत्प्राप्तिमें है, भोगप्राप्तिमें नहीं । मनुष्य चाहता है अनन्त असीम सर्वथा दुःखरहित सुख, वह सहज ही परम स्वतन्त्रता चाहता है और जीवनकी नित्य अमरता चाहता है । ये तीनों ही चीजें भोगोंमें नहीं हैं ।

याद रक्खो—भोगोंमें सुख तो है ही नहीं, वरं वे दुःखयोनि हैं, उनमें दीखनेवाला सुख मोहजनित तथा दुःखका पूर्वरूप है; भोग सदा परतन्त्र हैं तथा वे परतन्त्रता ही प्रदान करते हैं और भोग स्वयं अनित्य एवं विनाशी हैं तथा क्षणभङ्गुरता एवं मरण ही देते हैं । पक्षान्तरमें भगवान् अनन्त असीम सच्चिदानन्दमय हैं । वे परम स्वतन्त्र हैं तथा तमाम बन्धनोंसे मुक्त करके आत्माकी नित्य स्वतन्त्रताका उदय करानेवाले हैं एवं स्वरूपगत अमृतस्वरूप हैं और सहज अमरत्व प्रदान करनेवाले हैं ।

याद रक्खो—क्षणभङ्गुर अनित्य दुःखमय भोगोंके अर्जन, संग्रह तथा उपभोगमें लगा हुआ मनुष्य सदा चिन्ताग्रस्त, अशान्त, भयभीत तथा पापकर्मोंमें ही संलग्न रहता है । इससे उसके संकटोंकी—संतापोंकी नित्य नयी वृद्धि होती रहती है और वह यहाँ अनन्त तापमय असफल जीवन बिताकर दुःखसे मरता और मरनेके बाद बार-बार नरकादि एवं आसुरी योनि आदि अधम गतियोंको प्राप्त होता है । अतएव भोगोंसे आसक्ति हटाकर भगवान्में मन लगाओ ।

याद रक्खो—भोग उतने बुरे नहीं हैं, जितनी बुरी भोगोंकी आसक्ति है । उस भोगासक्तिसे ही भोगकामना उत्पन्न होती है जो सारे पाप-तापोंकी जननी है । अतएव यदि तुम्हें भोग प्राप्त हैं तो उन्हें भगवान्की सेवामें लगाते रहो । भगवान्की सेवामें लगाना ही भोगोंकी सदुपयोगिता और सार्थकता है । अतएव तुम्हारे पास जो कुछ भी भोग-पदार्थ हैं, उन्हें अपना भोग्य न समझकर भगवान्की सेवा-सामग्री समझो और जहाँ जिस जैसी आवश्यकता हो, वहाँ उस समय वैसे ही अभिमानशून्य प्रसन्नचित्तसे उदारतापूर्वक सतत भगवान् सेवामें लगाते रहो एवं इसीमें अपनेको और उन भी धन्य समझो ।

याद रक्खो—सुख शान्तिमें है । अशान्त मनुष्य कभी सुखी नहीं हो सकता और अनिवेदित भोग नित्य नयी अशान्ति पैदा होते हैं । तुम शान्ति चाहते हो, पर चाहते हो अशान्त, अति चञ्चल तथा विनाशशील अपूर्ण यह वैसी ही अज्ञतापूर्ण चाह है जैसे अग्निसे प्राप्त करनेकी चाह । आग जलायेगी ही, वैसे ही भी अशान्ति तथा जलन ही पैदा करेंगे ।

याद रक्खो—इस जीवनकी परम दुर्लभता उपयोगिता इसीलिये है कि यही एकमात्र साधन है । इस मानव-जीवनके अमूल्य क्षण व्यर्थ जा रहे हैं । व्यर्थ ही नहीं, अनर्थमें बीत रहे हैं । जो भोगासक्तिमें लगकर व्यष्टि और समष्टिके केवल भोगसुख बटोरनेके असफल प्रयासमें लगे हो इसके लिये राग, काम, द्वेष, क्रोध, कलह, युद्ध, वैर हिंसाका आश्रय लिये जीवनको सफल एवं धन्य रहे हो, यह तुम्हारा प्रमाद है—उन्माद है । प्रयत्नोंके द्वारा तुम जन-सेवा, देश-सेवा, मानव-सेवा या प्राणी-सेवा तो करते ही नहीं निज-सेवा भी नहीं कर रहे हो । प्रमाद विपरीत प्रवृत्त कराता है और विपरीत कर्मका फल भी ही होता है ।

याद रक्खो—तुम जिन मनोरथों और कार्योंके अपनेको एवं विश्वको सुखी करना चाहते हो, द्वारा सुख नहीं प्राप्त होगा, दुःख ही बढ़ेगा; नहीं मिलेगी, अशान्ति ही बढ़ेगी; प्रेमका विस्तार

होगा, द्वेष ही बढ़ेगा और विकास नहीं होगा, विनाश ही होगा ।

याद रक्खो—तुम भ्रमवश सेवाके नामपर ध्वंस और विकासके नामपर विनाशकी ओर जा रहे हो और इसीको जीवनका कर्तव्य मानकर उत्साहपूर्वक इसीमें जुट रहे हो, यह तुम्हारे लिये और भी बुरी बात है । बुराईको भलाई माननेवालेकी बुराई बढ़ती ही जायगी । अतएव तुम चेतो और आत्माके एवं भगवान्के स्वरूपपर गहरा विचार करो और इस सत्यको उपलब्ध करो कि कल्याण त्यागमें है, धन, पद, अधिकार या किसी प्राणी-पदार्थ-परिस्थितिरूप भोगमें नहीं; जीवनका लक्ष्य भगवान् हैं, भोग नहीं और तुम्हारा कर्तव्य त्यागपूर्ण वृत्तिसे समस्त प्राप्त तन-मन-धनको तथा प्राणी-पदार्थ-परिस्थितिको भगवान्की सेवामें समर्पण करना है, भोगोंमें लगाना नहीं ।

'शिव'

श्रीमद्भागवत—एक अनुशीलन

[जगद्गुरु श्रीरामानुजाचार्य आचार्यपीठाधिपति स्वामी श्रीराघवाचार्यजी महाराज]

श्रीमद्भागवत भागवतदर्शनका विश्वकोष है । ज्ञान-विज्ञानकी ऐसी कोई धारा नहीं, जिसकी चर्चा भागवत-दृष्टिकोणसे इस महान् ग्रन्थमें न की गयी हो । वेद-वाङ्मयकी दृष्टिमें यह वैदिक वेदान्त-सार है । पुराण-वाङ्मयकी दृष्टिमें यह महापुराण है । अध्यात्म-वादकी दृष्टिसे यह परमहंस-संहिता है और भागवतधर्मकी दृष्टिसे भागवत-संहिता ।

श्रीमद्भागवतकी परम्परा साक्षात् भगवान्से आरम्भ होती है । साक्षात् भगवान् नारायणने पितामह ब्रह्माको भागवतका उपदेश किया । ब्रह्माने ब्रह्मर्षि नारदको और नारदने महर्षि वेदव्यासको इसका उपदेश किया । वेदव्यासने भागवत-संहिताकी रचना की और परमहंस शुकदेवको इसकी दीक्षा दी । शुकदेवसे इस संहिताका उपदेश महाराज परीक्षित्को मिला । महाराज परीक्षित्के साथ-साथ महामुनि सूतने इस संहिताको सुना और उनसे शौनक आदि ऋषियोंको इस संहिताका ज्ञान प्राप्त हुआ ।

जैसा कि श्रीमद्भागवतसे ही ज्ञात होता है कि भागवत-ज्ञानकी एक दूसरी परम्परा भी है । इस परम्पराका प्रवर्तन भगवान् संकर्षणसे होता है । संकर्षण शेषसे सनत्कुमार, सनत्कुमारसे सांख्यायन, सांख्यायनसे पराशर और पराशरसे मैत्रेय—इस क्रमसे प्राप्त ज्ञानका उपदेश महर्षि मैत्रेयने महात्मा विदुरको किया था । मैत्रेयके गुरुवर्य महर्षि पराशर वेदव्यासके पिता थे । महर्षि वेदव्यासने अपनी संहितामें इस परम्परासे प्राप्त उपदेशका समावेश किया था । इस प्रकार भागवत-संहितामें दोनों परम्पराओंसे प्राप्त उपदेशका संग्रह है ।

इसके अतिरिक्त भागवतधर्म एवं दर्शनके अन्य उपदेशोंका वर्णन श्रीमद्भागवत-संहितामें है । भगवान् कपिलने माता देवहूतिको भागवतधर्मका उपदेश किया । सनत्कुमारने महाराज पृथुको भागवतधर्मका उपदेश किया । भूतभावन शंकरने प्रचेता लोगोंको, ऋषभदेवने अपने पुत्रोंको, जडभरतने महाराज रहूगणको, प्रह्लादने शिक्षार्थी बालकोंको, नौ योगीश्वरोंने जनकको, दत्तात्रेयने महाराज यदुको तथा भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवको भागवत-दर्शनका उपदेश किया था । नारदने ध्रुव, प्राचीनबर्हि, युधिष्ठिर, वसुदेव आदिको भागवतधर्मका उपदेश किया । ये सारे उपदेश श्रीभागवत-संहितामें संकलित हुए हैं । इनके अतिरिक्त स्थान-स्थानपर जो स्तुतियाँ उपलब्ध होती हैं, उनमें भी भागवत-दर्शनका विवेचन उपलब्ध होता है । इस प्रकार आदिकालसे महामुनि सूतके प्रवचनके कालतकके भागवतसिद्धान्तका विवरण इस संहितामें प्राप्त है ।

शौनक आदि ऋषियोंके परम श्रेय विषयक प्रश्नसे श्रीमद्भागवत महापुराणका आरम्भ होता है। भागवतधर्म और भगवत्तत्त्वकी व्याख्यासे अपने उपदेशको आरम्भकर महामुनि सूतने भागवत-संहिताके प्रणयन तथा भागवत-संहिताके वक्ता परमहंस शुकदेव तथा श्रोता महाभागवत महाराज परीक्षित्का परिचय दिया। इसके पश्चात् महाराज परीक्षित्के परमपुरुषार्थ-सम्बन्धी प्रश्नको लेकर परमहंस शुकदेव साधनपथका उपदेश देते हुए भागवत-संहिताका श्रवण कराते हैं।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे महाराज परीक्षित्का अध्ययन करनेपर ज्ञात होता है कि धर्मकी हत्याका साहस करनेवाले कलिको निवासके लिये स्थान देनेके निमित्त जिन कुकर्मों एवं कुविचारोंका स्मरण महाराज परीक्षित्को आता है, उनके मनोगत संसर्गके कारण ही महाराज परीक्षित्को ऋषिके आश्रममें कर्तव्यकी विस्मृति और अधिकारकी लिप्सा उत्पन्न होती है, जिसका अन्तिम परिणाम होता है—शाप। नैसर्गिक भागवतनिष्ठाके कारण शापका ज्ञान होते ही महाराजको कर्तव्यकी स्मृति होती है और वे त्रिवर्गसे विश्राम लेकर परम पुरुषार्थकी साधनाके लिये गङ्गातटपर जा पहुँचते हैं। यहाँ ऋषि-महर्षियों, संत-महात्माओंके सांनिध्यमें उनका परमहंस शुकदेवसे समागम होता है।

परम पुरुषार्थकी साधना कैसे की जाय? यह महाराज परीक्षित्का प्रश्न था। परमहंस शुकदेवका उत्तर था—

तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम्॥
(श्रीमद्भा० २ । १ । ५)

आशय यह है कि परम पुरुषार्थके साधन-पथपर अग्रसर होनेके लिये चाहिये निर्भयता और इसके लिये अपेक्षित है भगवान्का श्रवण, कीर्तन एवं स्मरण। अध्यात्म-शास्त्रने आत्मानुभूतिके जो दो साधन स्वीकार किये हैं, वे हैं—सांख्य (ज्ञानयोग) और योग (कर्मयोग) इनका विधान करते हुए परमहंसने स्वधर्मानुष्ठान प्रतिपादन किया और नारायणस्मृतिको जीवनका प लाभ बताया। उनके शब्द थे—

एतावान् सांख्ययोगाभ्यां स्वधर्मपरिनिष्ठया।
जन्मलाभः परः पुंसामन्ते नारायणस्मृतिः॥
(श्रीमद्भा० २ । १ । ६

ज्ञानयोगकी पराकाष्ठातक पहुँचे हुए मुनियोंको जहाँ उन्होंने विधि-निषेधसे ऊपर पाया, वहाँ उन्होंने भी देखा कि वे आत्मानुभूतिमें स्थित होकर भी भगवान्के गुणवर्णनमें संलग्न हैं। उन्होंने महाराजको बताया—

प्रायेण मुनयो राजन् निवृत्ता विधिषेधतः।
नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः॥
(श्रीमद्भा० २ । १ । ७)

कि विधि-निषेधसे ऊपर उठे हुए आत्मानुभूतिमें स्थित मुनिलोग भी भगवान्के गुणानुकथनमें आनन्द लेते हैं। अपने जीवनमें भी परमहंस शुकदेवने इस तथ्यको देखा और कहा—

परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोकलीलया।
गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान्॥
(श्रीमद्भा० २ । १ । ९)

आशय यह कि 'आत्मानुभूतिमें स्थित होकर भी मैं भगवान्की लीलाके प्रति आकृष्ट हुआ और मैंने भागवत-संहिताका अनुशीलन किया।'

इस प्रकार भगवत्साक्षात्कारको परमपुरुषार्थका परम लक्ष्य बताकर परमहंस शुकदेवने उसका साधन बताया—

जितासनो जितश्वासो जितसङ्गो जितेन्द्रियः।
स्थूले भगवतो रूपे मनः संधारयेद् धिया॥
(श्रीमद्भा० २ । १ । २३)

अर्थात् '(१) आसनको सिद्ध करे, (२) प्राणायामकी साधना करे, (३) संगका त्याग करे, (४) इन्द्रियोंका संयम करे और (५) तब भगवान्के

स्थूलरूपका ध्यान करे। यही ध्यान आगे चलकर भक्तियोगकी साधनाको प्रशस्त करता है। कहना न होगा कि यही भक्तियोग भागवत-धर्मका साधन है। आगे चलकर शुकदेवजीने बताया कि—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥
(श्रीमद्भा० २ । ३ । १०)

आशय यह है कि अर्थ और कामको लक्ष्य माननेवाले कामना रखते हैं, धर्मको लक्ष्य माननेवाले धीरे-धीरे अर्थ-कामकी कामनाका त्याग करते जाते हैं। मोक्षकी कामना रखनेवाले इनसे ऊपर होते हैं। ये सभी लोग तीव्र भक्तियोगके द्वारा परम पुरुष भगवान्‌की आराधनाके अधिकारी हैं।

भगवान्‌के स्थूलरूपका ज्ञान करानेके लिये परमहंस शुकदेवने एक ओर सृष्टिके इतिहासका वर्णन किया और दूसरी ओर चेतनविन्दुके जन्म-जन्मान्तरके रहस्यकी चर्चा की। वराह भगवान्‌के द्वारा हिरण्याक्षका वध और भगवदवतार कपिलके द्वारा माता देवहूतिको तत्त्वज्ञान चेतनविन्दुके जीवनके दो पक्ष हैं। हिरण्याक्षकी दृष्टि अर्थ-कामपर थी। हिरण्याक्षके विनाशमें अर्थ-कामकी दृष्टिका अन्त अभीष्ट था। वराहके यज्ञमय जीवनके द्वारा धरतीका उद्धार और धर्मकी प्रतिष्ठा हुई।

देवहूतिके पिता स्वायंभुव मनुके दो पुत्र थे—उत्तानपाद और प्रियव्रत। उत्तानपादकी परम्पराके माध्यमसे खगोल और प्रियव्रतकी परम्पराके माध्यमसे भूगोलका वर्णन कर त्रिलोकीका जो चित्र उपस्थित किया गया, वह सप्तद्वीपवती पृथ्वी और चतुर्दश भुवनात्मक ब्रह्माण्डका वर्णन करता हुआ जगत्‌को भगवान्‌के स्थूल रूपमें उपस्थित करता है। यह है समष्टि दृष्टि। व्यष्टि दृष्टिसे पाँचवें स्कन्धतकके भागवतके आख्यान पुरुषार्थ-चतुष्टयकी उपलब्धिमें भागवतधर्मके उपयोगकी व्याख्या करते हैं।

महाराज परीक्षित्‌के नरकविषयक प्रश्नको लेकर एक नयी समस्या उत्पन्न हुई। इसका समाधान परमहंसने अजामिलके आख्यानद्वारा किया। नरके कुविचार तथा कुकर्म जहाँ नरकका द्वार खोलते हैं, वहाँ प्रायश्चित्त पुण्यमय जीवनका निर्माण करनेमें सहायक होता है। किंतु भगवन्नामके द्वारा जो क्रान्ति होती है, वह भगवच्चिन्तनके माध्यमके प्रेय और श्रेय—दोनोंका सम्पादन करती है। छठे स्कन्धमें वर्णित देवराज इन्द्रके आख्यानोंसे इस तथ्यकी पुष्टि होती है।

एक-एक चेतनविन्दु आनन्दसिन्धुमें विलीन होकर आनन्दका सदाके लिये अनुभव करने लगे, यही भगवान्‌का उद्देश्य है, जिसके लिये वे जगत्कारणके रूपमें सृष्टि, स्थिति और प्रलयका नियमन करते हैं। दैवी गुण और उनसे युक्त लोकहितकारी जीवन इस उद्देश्यकी पूर्तिमें सहायक होते हैं। अतः इनके लिये भगवान्‌का समर्थन मिलता है। सप्तम स्कन्धमें प्रह्लादका जीवन इसके लिये प्रमाण है और नारदके द्वारा दिया गया वर्णाश्रमधर्मका उपदेश इसके साधनका मार्ग प्रशस्त करता है।

भगवान् अनादि-अनन्त हैं। देश और कालकी सीमा उनको बाँध नहीं पाती। प्रत्येक देश-कालमें उनके उद्देश्यकी पूर्ति होती रहती है। एक-एक मन्वन्तरमें उनके अवतरणसे मानवको यह प्रेरणा मिलती है। आठवें स्कन्धकी कथाएँ इसीका वर्णन कर प्रत्येक परिस्थितिका भागवत-दृष्टिसे सदुपयोग करनेमें मार्गदर्शन करती हैं। नवें स्कन्धमें इसके भरपूर निदर्शन हैं। ये सारे निदर्शन इसी मन्वन्तरके हैं। अतः वर्तमान मानव-समाजके लिये ये निदर्शन आदर्श हैं।

सत्कर्म और सद्विचारोंकी जिस मनोवृत्तिकी अपेक्षा होती है, उसमें भगवान्‌का अनुभव होते ही सत्कर्म और सद्विचार स्वतः होने लगते हैं, यह विश्वास दिलाता है भागवतका दशम और एकादश स्कन्ध। भगवान्

श्रीकृष्णकी लीलाएँ मनकी प्रवृत्तियोंको आकृष्ट करती हुई जीवनको निवृत्तिकी ओर अग्रसर करती हैं। जो कार्य शारीरिक एवं बौद्धिक साधनाकी लंबी चढ़ाई चढ़नेसे नहीं हो पाता, वह लीलाविहारीकी लीलाओंके चिन्तनसे तत्काल हो जाता है। कारण, यहाँ पहुँचकर साधक दर्शकमात्र नहीं रह जाता, वह लीलाका अङ्ग बन जाता है। तब भगवान्के उद्देश्य और भागवतके उद्देश्यमें अन्तर नहीं रह जाता। ठीक, उसी प्रकार जैसे अङ्ग अङ्गीके इच्छानुसार अपना कार्य करते रहते हैं। चेतनविन्दु सर्वतोभावेन सच्चिदानन्दघन भगवान्के विराट् शरीरका अङ्ग बन जाता है। अपनी चिन्मयताके कारण अनुभूति उसे होती है। तथापि अङ्ग होनेके कारण भगवान्से भिन्न अपनी सत्ताका अनुभव करनेमें उसकी आकाङ्क्षा ही नहीं रहती। यही कारण है कि जब परमहंस शुकदेवने द्वादश स्कन्धमें पहुँचकर कहा—

लीलाकथास्ते कथिताः समासतः।
(१२।४।३९)

और भगवान्की लीला-कथाओंका उपसंहार किया। महाराज परीक्षित्को भगवत्साक्षात्कार होने लगा। महाराजके मुखसे तत्काल ये शब्द निकले—

सिद्धोऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि भवता करुणात्मना।
श्रावितो यच्च मे साक्षादनादिनिधनो हरिः॥
(१२।६।२)

आशय यह है कि 'आपने भगवान्की कथा सुनाकर मुझे अनुगृहीत कर दिया। जैसा कि आगेके विवरणसे ज्ञात होता है। महाराज परीक्षित् श्रीमद्भागवत-संहिताको सुनकर भगवदनुभूतिमें स्थित हो गये। परिणाम यह निकला कि तक्षकके काटते ही वे अपने नश्वर शरीरको त्यागकर मुक्त हो गये।

परमहंस शुकदेवने भागवतसंहिताका श्रवण महाराज परीक्षित्को एक सप्ताहमें कराया था। सातवें दिन तक्षक सर्पके द्वारा काटे जानेका शाप महाराजको मि इसलिये उनका एक सप्ताहमें पूरी संहिताका श्रव लेना आवश्यक भी था। किंतु इस संहिताको ही दिनोंमें और वे भी मृत्यु प्राप्त होनेसे पूर्व सात दिनोंमें सुना जाय, ऐसा कोई नियम नहीं सप्ताह-यज्ञका क्रम अवश्य है। महाराज परीक्षित्की के कारण निस्संदेह भागवत-संहिताके उपसंहारके मृत्युका स्मरण हो आता है। इसे दीर्घायुष्यकी में परिवर्तित करनेके लिये महामुनि सूतने मार्क दीर्घायुष्य तथा आयुष्यदाता सूर्यके व्यूहका वर्णन है। अतः मृत्युके बाद मुक्तिके लिये ही नहीं, जीवनमें भी इसका उपयोग सिद्ध होता है।

श्रीमद्भागवत-माहात्म्यसे ज्ञात होता है कि इस सं का उपयोग जहाँ प्रेतत्वको छुड़ानेमें है, वहाँ ज्ञान वैराग्यको जगाकर युवा बनानेमें भी है। वास बना रहना ही जीवनका प्रेतत्व है। कुकर्म और कु में लगकर धुन्धुकारीकी अधोगति हुई थी। मरक प्रेत हुआ था। श्रीमद्भागवतको श्रवण करनेसे उसे मिली। उसके पिता आत्मदेवने दशामें ही प्रेतत्वसे छुटकारा प्राप्त कर लिया। अतिरिक्त भागवत-संहिताके श्रवणमें नारदने—

भक्तिः सुतौ तौ तरुणौ गृहीत्वा
प्रेमैकरूपा सहसाविरासीत्

—के अनुसार ज्ञान, वैराग्य और भक्तिका ए प्राकट्य देखा था। महामुनि सूतके अनु

तत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं

ज्ञान, वैराग्य और भक्तिके साथ-साथ नि अथवा निष्काम कर्म भी है। शरीरमें निष्काम मनमें वैराग्य एवं निष्कामभाव, बुद्धिमें ज्ञान तथा में भगवान्के प्रति भक्ति—यही भागवतदर्शन धर्मकी साधना है और यही श्रीमद्भागवतका संदेश है।

धर्मकी हानि और पापकी वृद्धिके निवारणके उपाय

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
(४ । ७)

'हे भारत ! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूपको रचता हूँ। अर्थात् साकाररूपसे लोगोंके सम्मुख प्रकट होता हूँ।'

भगवान्‌के इन वचनोंको लेकर कई लोग प्रश्न करते हैं कि 'इस समय संसारमें धर्मकी बड़ी भारी हानि और पापकी वृद्धि हो रही है; फिर भी भगवान् अवतार क्यों नहीं लेते ?' इसका उत्तर यह है कि धर्मकी हानि और पापकी वृद्धि हो रही है, इसमें तो कोई संदेह नहीं; किंतु भगवान् अवतार क्यों नहीं लेते—यह तो भगवान् ही जानें।

मुसल्मानोंके शासनकालमें हिंदूधर्मपर अनेक आक्रमण हुए। हिंदुओंके अनेक धर्मग्रन्थ भी जला दिये गये। जबरन् अनेक हिंदुओंको मुसल्मान बना लिया गया। धर्म-परिवर्तन न करनेवालोंको जबरन् मर्दुमशुमारीके समय मुसल्मान जातिमें नाम लिखवानेके लिये बाध्य किया गया। यों नाम लिखा देनेसे ही राजस्थानमें एक 'क्यामखानी' जाति हो गयी। क्यामखानी जातिके लोग बहुत समयतक विवाह-शादीमें हिंदुओंकी रीति-रिवाजको भी काममें लाते रहे; किंतु बादमें पूरे मुसल्मान हो गये। इस प्रकार अनेक तरहसे हिंदू-धर्मपर आघात हुए थे। पर उस समयमें तो हिंदू अपने धर्मके लिये मर-मिटनेको तैयार रहते थे। गुरु गोविन्दसिंहके लड़कोंने अपने-आपको दीवारमें चिनवा दिया, पर धर्म-परिवर्तन नहीं किया।

अंग्रेजोंके शासनकालमें ईसाई लोगोंने स्कूल, कालेज, अस्पताल आदिके द्वारा सेवा-सुख पहुँचाकर, जगह-जमीन-रुपये आदिका लोभ देकर, फुसलाकर बहुत-से हिंदुओंको ईसाई बना लिया और अब भी बना रहे हैं। उस समयमें हिंदुओंमें अपने धर्मके प्रति कट्टरता और जोश था। इसी कारण उस कठिन समयमें भी धर्मकी रक्षा होती रही। किंतु वर्तमानमें तो अनेक हिंदू भी स्वयं धर्म और ईश्वरकी अवहेलना करने लगे हैं, इसीसे हिंदू-धर्मकी विशेष हानि हुई और हो रही है।

पूर्वमें जो ऋषि-मुनि हुए, वे त्रिकालज्ञ और अनुभवी थे। उन्होंने जो कुछ धर्मके विषयमें लिखा है, वह बहुत ही रहस्यमय, भावपूर्ण और लोक-परलोकमें लाभदायक है। वास्तवमें धर्म वही है जो इस लोक और परलोकमें कल्याणकारक हो। महर्षि कणादने कहा है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।
(वैशेषिक दर्शन १ । २)

'जिससे इस लोकमें अभ्युदय (उन्नति) तथा परलोकमें परम कल्याणरूप मोक्षकी प्राप्ति हो, वही धर्म है।'

हिंदूधर्म अनादि है। इसीसे इसको वैदिक सनातन धर्म कहते हैं। वेद ही इसका मूल है। श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि शास्त्रोंमें इसीका विस्तारसे प्रतिपादन है। श्रीमद्भगवद्गीता उन सब शास्त्रोंका सार है। महाभारतमें बतलाया गया है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता॥
(महा० भीष्म० ४३ । १)

'अन्य बहुत-से शास्त्रोंका संग्रह करनेकी क्या आवश्यकता है। गीताका ही अच्छी तरह गान (श्रवण, कीर्तन, पठन-पाठन, मनन और धारण) करना चाहिये;

क्योंकि वह स्वयं पद्मनाभ भगवान्‌के साक्षात् मुखकमलसे निकली हुई है ।'

सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्ववेदमयो मनुः॥
(महा० भीष्म० ४३ । २)

'गीता सर्वशास्त्रमयी है (गीतामें सब शास्त्रोंके सार-तत्त्वका समावेश है) । भगवान् श्रीहरि सर्वदेवमय हैं । गङ्गा सर्वतीर्थमयी हैं और मनुस्मृति सर्ववेदमय है ।'

इसलिये हिंदूधर्मके सारे शास्त्रोंके साररूप गीताका विशेषरूपसे अध्ययन करना चाहिये ।

हिंदूधर्म ही एक ऐसा धर्म है जो सबसे अधिक प्राचीन है । संसारमें जितने भी मुख्य-मुख्य धर्म माने जाते हैं, उनमेंसे एक भी ऐसा नहीं जो वैदिक सनातनधर्मसे पहलेका हो । अन्यान्य जितने भी संसारमें धर्मके नामसे प्रचलित हुए हैं, वे सब पीछेके हैं । जैसे इस्लामधर्म, जो हजरत मुहम्मदका चलाया हुआ है और जिसका धर्मग्रन्थ कुरानशरीफ है, करीब १४०० सालसे है । तथा ईसाईधर्मको प्रचलित हुए १९६२ साल हुए हैं एवं बौद्धधर्म करीब २५०० वर्षसे प्रचलित है; किंतु वैदिक सनातनधर्म अनादि और नित्य है । इसीसे इसका नाम सनातन है । इसके समान अन्य कोई भी धर्म नहीं है। इसमें दया, अहिंसा, परोपकार, उदारता, त्याग आदि पद-पदमें भरे हुए हैं। धर्मके विषयमें त्रिकालज्ञ महर्षियोंने अनुभव करके जो कुछ लिखा है, उसमें प्रवेश करके गम्भीरतापूर्वक सूक्ष्मतासे विचार करके अनुष्ठान करनेपर हमलोगोंको भी उसका प्रत्यक्ष अनुभव हो सकता है । किंतु दुःखकी बात है कि आज अधिकांश लोग उस धर्मके महान् गम्भीर और दूरदर्शितापूर्ण तत्त्व-रहस्यको नहीं समझते । इसी कारण हिंदूधर्मका ह्रास हुआ और हो रहा है ।

हिंदूधर्मका अभिप्राय यों समझना चाहिये कि हिमालयका 'हि' और सिन्धु (समुद्र) का 'न्धु' लेकर 'हिन्धु' शब्द बना है, उसीका अपभ्रंश शब्द है । अतः हिमालयसे लेकर दक्षिण बीचका जो देश है, उसका नाम 'हिंदुस्थान' है उसमें जो निवास करते हैं उनका नाम 'हिंदू' है । वे जिस सिद्धान्तका पालन करते हैं, उसका है 'हिंदूधर्म' ।

पहले इस देशका नाम भारतवर्ष था । प्रारम्भमें भारतवर्ष ही सबको धर्मकी शिक्षा आदि केन्द्र था । मनुस्मृतिमें बतलाया गया है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।
(१ ।

'इसी देशमें उत्पन्न हुए ब्राह्मणसे पृथ्वीके मनुष्य अपने-अपने सदाचार-धर्मकी शिक्षा ग्रहण क

अतः समस्त भूमण्डलके लोग भारतवर्षसे ही अपने धर्मकी शिक्षा ग्रहण किया करते थे । आज भारतवर्ष हिंदुस्थानके नामसे प्रसिद्ध है ।

इस हिंदूधर्मका ज्ञान करानेवाले जितने धर्म, नीति, अध्यात्म, ज्यौतिष, आयुर्वेद, आदि विषयके प्राचीन ग्रन्थ हैं, वे सभी संस्कृत ही हैं । उनका अध्ययन-मनन न किये जानेके प्रायः लुप्त होते जा रहे हैं । भारतपर बहुत विदेशी शासन रहनेके कारण संस्कृतभाषाका प्रसार बहुत ही कम हो गया । किंतु ख्याल चाहिये—संस्कृतभाषाके समान कोई उत्तम भाषा है । यही आदिभाषा है । इसीको देवताओंकी होनेसे देवभाषा, देवताओंकी लिपि होनेसे देवनागरी उनकी वाणी होनेसे देववाणी कहते हैं । इसमें भाषाओंकी अपेक्षा अनेक विशेषताएँ हैं । व्याकरण अलौकिक है । ऐसा सर्वाङ्गपूर्ण व्याकरण किसी भी भाषाका नहीं है । इसमें एक धातुके रूप बन जाते हैं । वचन और लिङ्ग आदिकी भी

अपनी एक विशेषता है । इसी प्रकार भारतीय ज्योतिष-शास्त्रका गणित अभीतक प्रसिद्ध और प्रत्यक्ष फलदायक है । आयुर्वेदकी ओर देखिये, हमारे त्रिकालज्ञ महर्षियोंने बहुत परिश्रमपूर्वक अनुभव करके आयुर्वेदका आविष्कार किया है, जिसमें रोगोंके निदान, चिकित्सा, ओषधियोंके नाम, रूप, गुण और उनके निर्माण एवं जड़ी-बूटियोंकी विशेषताओंके सम्बन्धमें महत्त्वपूर्ण और अद्भुत विज्ञान भरा हुआ है; किंतु आज आयुर्वेद-विज्ञानके प्रति आदर कम हो जानेके कारण दिनोंदिन उसका ह्रास होता जा रहा है। इसलिये हमलोगोंको इनका विशेष आदर करना चाहिये । आदर करनेसे ही उसका विशेष आविष्कार हो सकता है । अंग्रेजी भाषाके प्रचारके कारण संस्कृतभाषाके ज्ञानमें कमी आयी और आ रही है। उस कमीके कारण तथा डाक्टरी दवाओंके प्रचार-प्रसारके कारण भी आयुर्वेद-विज्ञानकी बहुत हानि हुई। अंग्रेजी भाषाकी शिक्षामें ही ऐसे भाव भरे हुए हैं, जिसको पढ़नेसे ऊपरसे वैसाका वैसा बना रहनेपर भी मनुष्य भीतरसे उन भावोंसे भावित हो अंग्रेज-सा ही बन जाता है । इस विदेशी भाषा, विदेशी पोशाक, विदेशी खान-पान, रहन-सहन और विदेशी चाल-चलनके होनेसे हिंदू धर्मकी बहुत ही हानि हुई है और हो रही है ।

लोगोंमें धार्मिक भावोंकी कमी हो जानेके कारण रोग हो जानेपर मनुष्य आतुर होकर डाक्टरी दवाओंको काममें लाने लगे । आजकल तो डाक्टरी ओषधियोंका और डाक्टरोंका इतना प्रचार हो गया है कि डाक्टरी दवाके सेवनसे बहुत ही कम मनुष्य बचे हैं । डाक्टरी दवाओंमें अपवित्रता और हिंसाकी बहुलता है; किंतु धर्मका विचार उठ जानेके कारण इस ओर लोगोंकी दृष्टि ही नहीं जाती कि मांस, मज्जा, अस्थि, ग्रन्थि, रक्त, अंडा, मदिरा आदि भी उनकी आकृति (रूप) छिपाकर औषधके नामसे उनको दिये जाते हैं । यह कितनी बुरी बात है । इससे धर्मकी बड़ी भारी हानि हो रही है ।

होटलोंमें भोजन करनेसे भी धर्मकी बड़ी भारी हानि हो रही है । होटलमें भोजन करनेवाला कोई व्यक्ति यदि मांस और अंडा नहीं भी खाता तो भी संसर्ग-दोष तो उसके भोजनमें आ ही जाता है । खयाल करना चाहिये, मांस और अंडा आदि महान् अपवित्र और घृणित हैं । उनमें जीवोंकी हिंसा होती है । सूक्ष्मतासे इनके दोषोंकी ओर ध्यान दिया जाय तो ये पदार्थ इतने घृणित हैं कि इनको छूनेकी भी इच्छा नहीं हो सकती। इसी प्रकार मदिरा (शराब) आदि मादक वस्तुओंके सेवनसे मनुष्यके धार्मिक भाव और बुद्धि नष्ट हो जाती है । मांस खाना पाप है; पर मदिरा पीना तो महापाप है । शास्त्रोंमें सैकड़ों पाप बताये गये हैं। उनमें चार महापाप माने गये हैं । मनुजी कहते हैं—

ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः ।
महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह ॥

(मनुस्मृति ११ । ५४)

'ब्राह्मणकी हत्या, मदिरापान, स्वर्णकी चोरी, गुरु-स्त्रीगमन और इन पापोंको करनेवालोंका संसर्ग—इनको महान् पाप कहते हैं ।'

तात्पर्य यह कि किसीकी भी हत्या करना पाप है; किंतु ब्राह्मणकी हत्या करना महापाप है । किसी भी गाँजा-सुल्फा आदि मादक वस्तुका सेवन करना पाप है; किंतु मदिरा पीना महापाप है । किसी भी परायी स्त्रीके साथ गमन करना पाप है; किंतु गुरुपत्नीके साथ गमन करना महापाप है । किसी भी दूसरेकी किसी भी वस्तुकी चोरी करना पाप है; किंतु सोनेकी चोरी करना महापाप है । इनके सिवा, जो उपर्युक्त महापाप करनेवालोंका संसर्ग करता है, वह भी महापापी हो जाता है । अतः इन सभी महापापोंका तो सर्वथा परित्याग करना ही चाहिये । इनके सिवा, नीचे लिखे और भी बहुत-से दोष समाजमें जोरसे फैल रहे हैं, उनका भी सर्वथा त्याग करके समाजकी उत्तरोत्तर उन्नति हो, ऐसी चेष्टा करनी चाहिये ।

दिन-पर-दिन समाजका बहुत पतन होता जा रहा है । कुरीतियाँ, फिजूलखर्ची, दहेजकी प्रथा, शास्त्रनिषिद्ध अपवित्र, हिंसात्मक और मादक पदार्थोंसे बारात आदिकी खातिरी आदि—ये सब समाजके लिये बहुत ही हानिकर हैं । इनके दूर करनेकी कोशिश करनी चाहिये ।

नाटक-सिनेमा देखना बहुत ही बुरा है; क्योंकि उनमें युवती और सुन्दरी स्त्रियोंके चित्र, चरित्र, हाव-भाव, कटाक्ष आदि दिखाये जाते हैं । इससे पुरुषोंमें काम-विकार उत्पन्न होता है और व्यभिचारके भावोंकी जागृति होकर उनका पतन हो जाता है । अतः नाटक-सिनेमा कभी नहीं देखना चाहिये ।

चौपड़-ताश, जूआ-लाटरी, सट्टा-फाटका आदिसे देशकी प्रत्यक्ष हानि हो रही है । इनसे मनुष्य-जन्मका समय व्यर्थ नष्ट होता है, बुद्धि पापमय होकर नष्ट हो जाती है तथा प्रमाद, आलस्य और अकर्मण्यता आती है । ये सभी कार्य देश और समाजके लिये बहुत ही हानिकर हैं । इसलिये इनका सर्वथा त्याग करना चाहिये ।

आजकल लज्जा-शर्म भी दिन-पर-दिन कम होती जा रही है । स्त्रियाँ अपने पीहर (नैहर) और ससुरालमें निर्लज्ज होकर बातें करती हैं और दूसरे पुरुषोंके साथ मोटरमें बैठकर नाटक-सिनेमा देखने जाती हैं । इसी प्रकार पुरुषोंमें भी लज्जा-शर्म कम हो गयी है । बड़ोंका आदर-सत्कार, मान-मर्यादा, विनय-श्रद्धा रखना, नमस्कार करना आदिको लज्जास्पद मानकर उनकी उपेक्षा की जाती है । किंतु यह बड़ा भारी दोष है । इसका त्याग करके विनय और लज्जापूर्वक आदर और प्रेमका व्यवहार करना चाहिये ।

शौचाचार-सदाचारके पालनमें भी बहुत कमी आती जा रही है । शौचाचारकी तो आजकल बहुत-से लोग तत्त्व न समझनेके कारण मजाक उड़ाते और अवहेलना करते हैं । अंग्रेजी भाषा पढ़ने और अंग्रेजोंके संसर्गके कारण केवल बाहरकी सफाईको ही लोग आदर देते हैं जिससे शास्त्रीय शौचाचारकी अवहेलना हो रही है साबुन, जो कि अपवित्र वस्तु है, उससे हाथ धोना पवित्र मानते हैं और जल-मिट्टीसे हाथ धोना अस समझते हैं । भोजनालयमें भोजनादि बनाने जो शास्त्रीय रीति-रिवाज है, उसके स्थानमें सफाई ही प्रधान मानने लगे हैं, शास्त्रीय पवित्रताको नहीं टेबलपर भोजन-सामग्री रखकर उसीमेंसे कई व्यक्ति हाथोंसे ही उठा-उठाकर चारों ओर फिरते हुए खाते हैं । यों वे एक-दूसरेका उच्छिष्ट ही खाते हैं बिना हाथ धोये, जूठे हाथोंसे ही पानीका गिलास ले पी लेते हैं; एक व्यक्तिके पानी पी लेनेपर उसी गिलास से दूसरे पी लेते हैं । चलते-फिरते चाहे जैसे खाते रहते हैं ।

चलते-फिरते खाना मूर्खता है । श्रीकविवर कालिदा ने राजा भोजसे कहा था—

खादन्न गच्छामि हसन्न जल्पे
गतं न शोचामि कृतं न मन्ये।
द्वाभ्यां तृतीयो न भवामि राजन्
किं कारणं भोज भवामि मूर्खः॥

'महाराज भोज ! मैं खाता हुआ नहीं चलता, हँसता हुआ बात नहीं करता, बीते हुएका शोक नहीं करता किये हुए कार्यका अभिमान नहीं करता एवं पर बात करते हुए दो मनुष्योंमें तीसरा नहीं होता (बिना उनकी सम्मतिके उनके पास जाकर नहीं खड़ा होता) फिर मैं किस कारण मूर्ख हूँ ?'

इन सब बातोंको विचारकर हमलोगोंको शौचाचार सदाचारके पालनकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिये क्योंकि शौचाचार-सदाचाररूप बाहरकी पवित्रता भीतर की पवित्रतामें सहायक है । श्रीपतञ्जलिने बतलाया है—

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः।
(यो० २ । ४

'शौचाचारके अभ्याससे अपने अङ्गोंमें जुगुप्सा और दूसरोंसे संसर्ग न करनेकी इच्छा उत्पन्न होती है ।'

भाव यह कि बाहरकी शुद्धिके अभ्याससे मनुष्यकी अपने शरीरमें अपवित्र बुद्धि होकर उसमें वैराग्य हो जाता है अर्थात् आसक्ति नहीं रहती और दूसरे, सांसारिक मनुष्योंके सङ्गमें भी प्रवृत्ति या आसक्ति नहीं रहती । इस प्रकार उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है ।

बहुत-से मनुष्य अज्ञानसे स्वाद-शौकीनी, ऐश-आराम, भोग-विलास और इन्द्रियलोलुपताके सुखमें फँसकर अपना धर्म-कर्म खो रहे हैं; किंतु विचार करनेपर पता चलता है कि इनमें सुख है ही नहीं, बल्कि इनके कारण मनुष्यका पतन ही होता है । अतः अपनी उन्नति चाहनेवाले मनुष्योंको विवेकयुक्त बुद्धिके द्वारा इन सबको दुःखरूप, नाशवान् और क्षणभङ्गुर समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरका संयम करना चाहिये।

भगवान्ने भी कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥
(गीता ५ । २२)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले तथा अनित्य हैं; इसलिये हे अर्जुन ! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता ।'

आजकल भक्ति, ज्ञान और धर्मकी आड़में बहुत-से गृहस्थी तथा साधु-संन्यासी-वेषधारी पाखण्डी मनुष्य स्त्रियोंका सतीत्व नष्ट करते और धन ठगते हैं । इसलिये जहाँ अश्लील वातावरण हो, धनकी लिप्सा हो, उन धूर्तोंके पंजेमें न फँसकर सावधान रहना चाहिये । जो उच्चकोटिके महापुरुष होते हैं, वे तो मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाको भी मल-मूत्रके समान समझते हैं और अपना उच्छिष्ट या चरणोदक देने, पूजा-आरती करवाने आदिको कलङ्क समझते हैं । किंतु जो मान, बड़ाई, पूजा-प्रतिष्ठा चाहते हैं, असलमें वे ही ऐसा करते हैं। उच्चकोटिके ज्ञानी महात्मा पुरुष तो इन सबसे दूर ही रहते हैं । अतएव हमलोगोंको ऐसे लोगोंसे सदा सावधानीपूर्वक बचना चाहिये ।

व्यापारमें भी आजकल झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, दगाबाजी, विश्वासघात आदि दोष बहुत अधिक बढ़ गये हैं । यहाँतक कि खान-पानकी वस्तुएँ भी बिना मिलावटकी—शुद्ध मिलनी कठिन हो गयी हैं । जैसे, घीमें बेजिटेबल, तेलमें ह्वाइट ऑयल, दूधमें अरारोट या मिल्क पाउडर एवं इसी प्रकार अन्यान्य खाद्य पदार्थोंमें भी मिलावट करके उनको विक्रय किया जाता है । यह ग्राहकोंको धोखा देना और महान् अन्याय है ।

सरकारकी ओरसे जो नाना प्रकारके टैक्स लगाये गये हैं, उनमें भी अधिकांश लोग सरकारको धोखा देनेके लिये चोरी, बेईमानी, झूठ, कपट करते हैं—यह अनुचित है । इसमें सरकारको टैक्स कम देना उतना पाप नहीं है, जितना पाप झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी करके और झूठा बहीखाता बनाकर ईश्वरकी कानूनको भङ्ग करनेमें है ।

आजकल घूस-रिश्वतखोरी भी बहुत बढ़ गयी है । न्यायकर्ता हाकिमों, पंचायती करनेवाले पंचों, सरकारी पदाधिकारियों, रेल-कर्मचारियों और अन्यान्य सभी व्यक्तियोंको अपने-अपने कर्तव्यका समुचितरूपसे पालन करते हुए नीतिपर दृढ़ रहना चाहिये । लोभसे, भयसे या दबावसे, कभी न्यायका त्याग करके अनुचित कार्य नहीं करना चाहिये ।

कल्याणकामी मनुष्योंको उचित है कि ऊपर जो-जो दोष बतलाये गये हैं, उनका सर्वथा त्याग करनेका प्रयत्न करें । भारी-से-भारी आपत्ति आनेपर भी अंडे,

मांस आदि अपवित्र घृणित वस्तुओंका तथा मदिरा आदि मादक वस्तुओंका सेवन कभी सीधे या प्रकारान्तरसे भी न करें। नाटक-सिनेमा, चौपड़-ताश, खेल-तमाशा आदिमें समय लगाकर अपना जीवन नष्ट न करें। जहाँतक हो भाँग, तम्बाकू, बीड़ी-सिगरेट आदि मादक वस्तुओंसे भी बचें तथा शास्त्रीय शौचाचार-सदाचारकी कभी अवहेलना न करें। एवं सचाई और समताके साथ लोकहितकी दृष्टिसे निःस्वार्थभावपूर्वक भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही सबके साथ उत्तम-से-उत्तम व्यवहार करें। इस उत्तम व्यवहारके फलस्वरूप मनुष्यका अन्तःकरण शुद्ध होकर सहज ही मुक्ति हो सकती है—जैसे निःस्वार्थ व्यापारसे तुलाधार वैश्य आदिकी मुक्ति हुई।

सभीको अपने आत्माके कल्याणके लिये भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और धर्मके पालनके लिये तत्परतासे कोशिश करनी चाहिये और भारी आपत्ति पड़नेपर भी नीति एवं धर्मका त्याग कामसे, लोभसे, भयसे, लज्जासे किसी भी प्रकार कभी नहीं करना चाहिये। महाभारतमें कहा गया है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥
(स्वर्गा० ५ । ६३)

'मनुष्यको किसी भी समय कामसे, भयसे, या जीवनरक्षाके लिये भी धर्मका त्याग नहीं चाहिये; क्योंकि धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनि तथा जीव नित्य है और जीवनका हेतु अनित्य है

अतः धर्म-पालनके लिये कटिबद्ध होकर प्राण चेष्टा करनी चाहिये। सम्पूर्ण मानवमात्रके लिये धर्मके दस लक्षण बतलाये हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।
(मनुस्मृति ६ ।

'धैर्य, क्षमा, मनको वश करना, चोरी न बाहर-भीतरकी पवित्रता, इन्द्रियोंका निग्रह, बुद्धि, सात्त्विक ज्ञान, सत्य और अक्रोध—ये धर्मके लक्षण हैं।'

आगे इनके पालनका फल बताते हैं—

दश लक्षणानि धर्मस्य ये विप्राः समधीयते।
अधीत्य चानुवर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम्।
(मनु० ६ ।

'धर्मके इन दस लक्षणोंका जो विप्र अध्ययन करते हैं और अध्ययन करनेके पश्चात् अनुष्ठान करते हैं, वे परम गतिको पाते हैं।'

इसलिये मनुष्यको तत्परताके साथ करना चाहिये।

* * *

उपमान तथा उपमेय

चरणकमल के कहत ही गुरुता कमलहिं होय।
औचक चकित प्रभाव लगि कहि न सकहिं कवि कोय॥ १॥
मधुप मधुर मधु पान करि रहे भौंर के भौंर।
जिन देखे अरविंद पग भए और के और॥ २॥
यहि तें अरे मलिन्द तू जनि मतिमंद कहाय।
अमल कमल पद छाँड़ि के समल कमल पै जाय॥ ३॥

—चतुर्वेदी उमरावसिंह पाण्डेय प्रेम-विशारद

* * *

वैज्ञानिक-आध्यात्मिक-अनुभव-ज्ञान

[स्फुट विचार]

(लेखक—श्रीशिवमूर्तिजी)

(१)

सच्चिदानन्द-ब्रह्मके स्वरूप—'सत्-चित्-आनन्द'की अभिव्यक्ति दो प्रकारसे होती है—'वास्तविक, अवास्तविक'। इसमें जो अन्तर होता है, उसका ज्ञान केवल ब्रह्मको ही होता है। अन्य प्राणियोंको तो अवास्तविक दृश्य-ज्ञान होता है। जैसे—१–सफेद वर्ण-के चश्मे (शीशे-) के द्वारा वास्तविक दृश्य प्राप्त होता है और अन्य वर्णोंके शीशोंके द्वारा अवास्तविक, एवं जैसे—२–चुम्बकमें वास्तविक आकर्षणशक्ति निहित रहती है; किंतु उसके सांनिध्यसे जो आकर्षणशक्ति लौह-पदार्थोंमें आ जाती है, वह तो अवास्तविक—नाशमान-क्षणिक होती है; क्योंकि वस्तुतः लौहमें आकर्षणशक्ति नहीं होती।

इसी भाँति सर्वव्यापी ब्रह्मके सांनिध्यसे मायाको जो शक्तियाँ (सत्ता, चेतना, आनन्द) प्राप्त होती हैं, वे सब अवास्तविक, नाशवान्, क्षणिक, केवल दृश्यमात्र होती हैं।

प्राणियों एवं पदार्थोंका स्थूल-सूक्ष्म शरीर मायिक-स्वरूप होता है। इसमें जो चेतना होती है, वह निद्रावस्थामें, मादक द्रव्योंके सेवनसे एवं मृत्युके समय लुप्त हो जाती है। तब स्व-सत्ताका भी ज्ञान नहीं रहता; किंतु इस अवास्तविक सत्ता-चेतनाके लोपका द्रष्टा-ज्ञाता वास्तविक ब्रह्म तो बना ही रहता है, जो जाग्रत् होनेपर, मादकताके दूर होनेपर एवं पुनर्जन्मकी प्राप्तिपर पुनः ज्ञान प्राप्त कराता है; क्योंकि वास्तविक 'सत्ता-चेतना-आनन्द' तो अविनाशी, निर्गुण, निराकार, निरवयव होनेके कारण त्रिगुणोंसे प्रभावित हो ही नहीं सकता। इन त्रिगुणोंका प्रभाव केवल अवास्तविक सत्ता उस चेतनापर पड़ता है (गीता १३ श्लो० ३२ अध्ययनीय)।

स्थूल-सूक्ष्म शरीरकी अवास्तविक सत्ता होती है। उसमें चेतना मन-बुद्धिके आकारमें व्यक्त होती है और आनन्द सुखके आकारमें प्रकट होता है। इसी ज्ञानके निमित्त भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको शिक्षा दी है कि यह दृश्यात्मक जगत् दो भाँतिका प्रतीत होता है—क्षर और अक्षर। (अ० १५ श्लो० १६ से १९ तक।)

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥

(अ० २ श्लो० १२ से २९ एवं अ० ७ श्लो० २४ से ३० तक अध्ययनीय)।

(२)

सूर्यदेवके प्रकाशकी किरणें जो संसारके भिन्न-भिन्न आकारके प्राणियों एवं पदार्थोंपर पड़ती हैं, उन शीशारूपी शरीरधारी प्राणियों आदिपरसे परावर्तित किरणें (Reflected rays) उसी आकारमें अन्यत्र व्यक्त होकर दृश्यमान होती हैं, जिसे प्रतिबिम्ब कहा जाता है। प्रकाशकी किरणें ही प्रतिबिम्बको प्रकाशित एवं प्रकट करती हैं और प्रकाशवत् चेतनाकी भी प्रतीति उसी आकारमें होती है।

अब विचार कीजिये कि यदि प्रकाशकी ज्योति न प्राप्त हो तो कोई प्राणी अपनी मूर्ति एवं प्रतिबिम्बका कैसे दर्शन कर सकता है? उसे कुछ भी न दिखायी देगा।

इसी प्रकारसे यदि प्रकाशवत् चेतना न प्राप्त हो तो जड पदार्थोंकी भाँति स्व-ज्ञान ही न प्राप्त होगा, फिर संसारका ज्ञान कैसे हो सकता है ? वास्तवमें इस संसारका आभास चेतनात्माके ही ज्ञानात्मक प्रकाशके द्वारा प्राप्त होता है, जो वास्तविक ज्ञान है।

देखिये, निद्रावस्था आदिमें शारीरिक ज्ञानका लोप हो जाता है, जिसे अज्ञान नामसे सम्बोधित किया जाता है, यह मन-बुद्धिकी अवास्तविक चेतना होती है। वास्तविक चेतना तो बनी रहती है, उसीको ज्ञान-अज्ञान दोनोंका द्रष्टा-ज्ञाता माना जाता है।

(३)

बुद्धिरूपी इंजीनियरके (Engineer) निरीक्षणमें मनरूपी ठीकेदार (Contracter) भिन्न-भिन्न योनिरूपी भावोंको ज्ञानेन्द्रियरूपी निरीक्षकके (Superviser) निरीक्षणमें कर्मेन्द्रियरूपी मजदूरोंके द्वारा निर्माण कराता है। भिन्न-भिन्न योनियोंके निरीक्षणके लिये यह कैम्प (Camp) रूपी क्षणिक भवन (Building) थोड़े समयके लिये तैयार किये जाते हैं। केवल मानवयोनिमें भविष्य-निर्माणकी योजनाएँ बनती हैं। अन्य योनियाँ तो केवल भोग-योनि मानी जाती हैं।

इसी भाँति—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

(गीता ९ । १०)

इंजीनियर ब्रह्मके निरीक्षणमें माया, जो ठीकेदार है, कल्पान्त तकके लिये सांसारिक भवनको तैयार कराती है। पञ्चतन्मात्राएँ (Material) धातु एवं अन शक्तियाँ निरीक्षक प्रदान (Supply) करता है सूर्यदेव ही वस्तु-प्रदाता (Supplier) एवं इंजी हैं। उनको ज्ञानात्मक, क्रियात्मक शक्तियाँ धातुके भगवान् प्रदान करते हैं। (देखिये गीता अ० श्लोक १)

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।

(गी० अ० १४ श्लोक ३-४ एवं अ० १५ श्लो० अध्ययनीय)

जिन-जिन पदार्थोंकी भवन-निर्माणमें आवश्यकता है उनको मनरूपी ठीकेदारको बुद्धिरूपी इंजीनियरसे चाहिये; क्योंकि उसे गृहको स्वच्छ-नीरोग रखनेके सचेत रहना पड़ता है, अन्यथा उसे पुनः भवन पड़ता है।

भिन्न-भिन्न योनि-भवनों (Camp-buildings) उतने समयतक शुद्ध रखना आवश्यक होता है कि कार्य समाप्त न हो जाय। इसी शुद्धताके संध्योपासन, पूजा, अर्चना आदि क्रियाएँ देवता निरीक्षणमें करनेसे सामग्रियाँ प्राप्त होती हैं। (अ० १४ श्लो० ४ एवं अ० ६ श्लो० २६)

ब्रह्मा निर्माता, विष्णु पोषक, शिव नाशक दे इनके अतिरिक्त, अन्य देवता प्राणियोंके भोग एवं निरीक्षक होते हैं। सबके शरीरमें मनरूपी ठीकेदा ज्ञान और कर्मेन्द्रियोंके देवता सदा स्थित रहते हैं। मनुष्योंको इसका ध्यान रखते हुए कुकर्मोंसे ब प्रयत्न करना चाहिये, तभी वह नीरोग बना रहे

मधुर

एक दिन श्रीराधा-माधव एकान्तमें बैठे मधुर प्रेम-चर्चा कर रहे थे। बात-ही-बातमें प्रियतम श्रीकृष्णने श्रीराधाके प्रति राधामहत्त्व, प्रेम-तत्त्व, स्वरूप-तत्त्व और लीला-तत्त्वका वर्णन किया। उसी प्रसङ्गका यह एक बहुत छोटा-सा अंश है। श्रीकृष्णने कहा—

हे व्रजरमणि-मुकुटमणि राधे !
मत्सुख-सुखिनि मधुर रसखान।
नित नूतन उत्कर्षशील शुचि
महाभावरूपा द्युतिमान॥
पल-पल, पद-पदपर जो करती
सहज सदा मम सुख-सुविधान।
नहीं लेश गुण-गौरवकी स्मृति,
नहीं कहीं कुछ भी अभिमान॥
स्थिति, गति, भाव, विचार, भंगिमा,
इङ्गित, सकल अङ्ग-प्रत्यङ्ग।
विविध विचित्र नित्य रस पूरित
प्रेम-पयोनिधि मधुर तरङ्ग॥

व्रजकी सभी रमणियाँ प्रेममयी हैं; उनकी वृत्ति नित्य निरन्तर भगवान्के दिव्य चिदानन्दमय स्वरूपमें रमण करती है—इसी अर्थमें वे रमणी हैं, वे निजेन्द्रिय-सुख-वाञ्छासे सर्वथा रहित श्रीकृष्णसुखकामिनी एवं श्रीकृष्णगतचित्ता हैं। उन समस्त व्रजरमणियोंमें हे राधे! तुम सबकी मुकुटमणि हो, तुम्हीं मूल प्रेमरस-समुद्रसे उन सबको प्रेमकी प्राप्ति होती है। तुम सदा मेरे सुखमें सुखी रहती हो। तुम मधुर रसकी खान हो। तुम ऐसी हो, जो पल-पलमें, पद-पदपर सहज स्वभावसे ही सदा मेरे ही सुखकी सुन्दर व्यवस्था करती रहती हो, इतना इसके भी जिस सर्वसद्गुणमयीमें अपने गुण-गौरवकी स्मृतिका भी लेश नहीं है, न कहीं भी कुछ भी जिसमें अभिमान है। जिसका संसारमें रहना, चलना, जिसके मनमें उठनेवाले भाव, आनेवाले विचार, चेहरेपर आनेवाली भंगिमाएँ तथा सब चेष्टाएँ, जिसके इशारे-संकेत और जिसके सारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग तथा उनकी क्रिया नित्य मधुर रससे परिपूर्ण प्रेमसमुद्रकी विविध विचित्र मधुर तरङ्गें ही हैं। जो कुछ है तथा होता है—वह सभी विशुद्ध मधुर प्रेमसागरका उच्छ्वासमात्र है।

जिसका कनक-कमल-मुख होता
परम प्रफुल्लित नित्य नवीन।
पा रवि-रश्मि-दृष्टि मम उज्ज्वल
हृदय स्व-सुख-अभिलाषा-हीन॥
मम जीवन-जीवन, मम मन-मन,
नित मत्प्राण-प्राण परिपूत।
अविनाभाव भाव सत्ता सब
क्रिया सहज ही एकीभूत॥

मेरी दृष्टिरूपी सूर्य-किरणोंके सम्पातसे जिसका स्वर्ण-मुख-कमल नित्य नये-नये रूपमें परम प्रफुल्लित होता रहता है। जिसका हृदय स्वसुखकी अभिलाषासे रहित परम उज्ज्वल है। जो मेरे जीवनसे जीवित है या जिसका जीवन ही मेरा जीवन है। जो मेरे मनसे मनवाली है अथवा जिसका मन ही मेरा मन है एवं जो मेरे प्राणोंसे प्राणवाली है या जिसके प्राण ही मेरे प्राण हैं, ऐसी जो जीवन-मन-प्राणोंसे परम पवित्र है। जिसके बिना मेरा और मेरे बिना जिसका भाव या सत्ता ही नहीं है तथा जिसकी सारी क्रियाएँ सहज ही मेरी क्रियाके साथ एकमेक है।

मिली सदा रहती तुम मुझमें,
मैं तुममें रहता नित युक्त।
प्रेम हेतु दो बने परस्पर
रहते लीलासे अनुरक्त॥
दो के बिना, न हो पाता,
यह लीला-रस-वितरण-आस्वाद।
इसीलिये दो बन लीलारत
रहते अमर्याद अविवाद॥

ऐसी जो तुम हो, वह हे राधा ! सदा इस प्रकार मुझमें मिली रहती हो, और मैं नित्य तुममें जुड़ा रहता हूँ। प्रेमके लिये ही लीलासे दो बने हुए हमलोग परस्पर एक दूसरेमें अनुरागी रहते हैं। दोके बिना इस लीला-रसका न वितरण हो सकता है और न आस्वादन ही। इसीलिये हम दो बने हुए सदा सारी मर्यादाओंको एक मन-तनसे निर्विवाद लीला करते रहते हैं।

श्रद्धायुक्त चित्तसे समझनेपर इसमें श्रीरा प्रेमतत्त्व, स्वरूप-तत्त्व और लीला-तत्त्वकी मधुर दर्शन हो सकते हैं।

* * *

भक्ति

(लेखक—डा० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल)

भक्ति, ज्ञान और कर्म—ये तीन साधनाके बड़े मार्ग हैं। ज्ञान मानव-जीवनको किसी शुद्ध अद्वैत-तत्त्वकी ओर खींचता है, कर्म उसे व्यवहारकी ओर प्रवृत्त करता है; किंतु भक्ति या उपासनाका मार्ग ही ऐसा है, जिसमें संसार और परमार्थ दोनोंकी एक साथ मधुर साधना करना आवश्यक है। माधुर्य ही भक्तिका प्राण है। देवत्वके प्रति रसपूर्ण आकर्षण जब सिद्ध होता है, तभी सहज भक्तिकी भूमिका प्राप्त होती है। यों तो बाह्य उपचार भी भक्तिके अङ्ग कहे गये हैं और नवधा भक्ति एवं षोडशोपचार पूजाको ही भक्ति-सिद्धान्तके अन्तर्गत रक्खा गया है; किंतु वास्तविक भक्ति मनकी वह दशा है, जिसमें देवत्वका माधुर्य मानवी-मनको प्रबल रूपसे अपनी ओर खींच लेता है। यह कहने-सुननेकी बात नहीं, यह तो अनुभवसिद्ध स्थिति है। जब यह प्राप्त होती है, तब मनुष्यका जीवन, उसके विचार और आचार कुछ दूसरे प्रकारके हो जाते हैं। सम्भवतः यह कहना उचित न होगा कि ज्ञान और कर्मकी उच्च भूमिकामें मनुष्य इस प्रकारके मानस-परिवर्तनका अनुभव नहीं करता; क्योंकि साधनाका कोई भी मार्ग अपनाया जाय, उसका अन्तिम फल देवत्वकी उपलब्धि ही है। देवत्वकी उपलब्धिका फल है आन्तरिक आनन्दकी अनुभूति अर्थात् विषयोंके स्वल्प सुखसे हटकर मनका किसी अद्भुत, अपरिमित, भास्वर सुखमें लीन हो जाना। अतएव किसी भी साधना-पथको ता दृष्टिसे ऊँचा या नीचा न कहकर हमें य अपनाना चाहिये कि रुचिभेदसे मानवको इनमें एकको चुन लेना होता है। तभी मन अनुकू पाकर उस मार्गमें ठहरता है। वास्तविक स है, जिसमें मनका अन्तर्द्वन्द्व मिट सके और आ ही होनेवाले तनाव या संघर्षकी स्थितिसे मनकी सारी शक्ति एक ओर ही लग सके प्रकार बालक माताके दूधके लिये व्याकु है और जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अन्नके लि होकर सर्वात्मना उसीकी आराधना करता है ही अमृत देवत्वके लिये जब हमारी भावना ज तभी भक्तिका विपुल सुख समझना चाहिये। सूत्रार्थ है—भागधेय प्राप्त करना। यह भागधे प्राप्त करता है और कहाँ—इन दो महत्त्वपू उत्तर यह है कि एक ओर मर्त्य मानव है औ ओर अमृत देवत्व। इन दोनोंका सम्बन्ध वि की ओरसे नियत है। मानवको ही अपना अं प्राप्त करना है और जिसमें वह अंश प्राप्तव्य है, संज्ञा देव है। उस अनन्त अमृत आनन्दरूप दे संज्ञाएँ भारतीय धर्म-साधनामें पायी जाती हैं। भेदके पीछे एक स्वरूपकी एकता स्पष्ट पहचा है। देवमें छोटे और बड़ेकी कल्पना अतात्वि

जो महान् है, वही देव है। जो अल्प है, वही मानव है। भूमाको देव और सीमाको मानव कह सकते हैं। सीमा दुःख और अभावका हेतु है, भूमा आनन्द और सर्वस्व उपलब्धिका। इस प्रकारके किसी भी देवत्वके लिये मानवके मनकी अविचल स्थिति भक्तिके लिये अनिवार्य दृढ़ भूमि है।

मनुष्य-जीवन किसी भी स्थितिमें हो, सर्वत्र वह अपने लिये भक्तिका दृष्टिकोण अपना सकता है। पिताके लिये पुत्रके मनमें, पतिके लिये पत्नीके मनमें, गुरुके लिये शिष्यके मनमें जो स्नेहकी तीव्रता होती है, वही तो भक्तिका स्वरूप और अनुभव है। उस प्रकारका सम्बन्ध कहाँतक सम्भव नहीं ? वही दिव्य स्थिति है। उसके अभावमें हम केवल पार्थिव शरीर ही रह जाते हैं और हमारे पारस्परिक व्यवहार यन्त्रवत् भावशून्य हो जाते हैं। अतएव मानवके हृदयके भीतर जो सबसे मूल्यवान् वस्तु है अर्थात् हृदयमें भरे हुए जो भाव हैं, उनके पूर्णतम विकासके लिये भक्ति आवश्यक है। जिसमें हृदयके भाव तरंगित नहीं होते, वह भी क्या कोई जीवन है ? सत्य तो यह है कि मानवको अपनी ही पूर्णता और कल्याणके लिये भक्तिकी आवश्यकता है। यह भी कहा जा सकता है कि जैसे मानव देवके लिये आकाङ्क्षा रखता है, वैसे ही देव भी मानवसे मिलनेके लिये अभिलाषी रहता है। बिना पारस्परिक सम्बन्धके भक्ति सम्भव नहीं; किंतु उसके लिये तैयारीकी आवश्यकता है। अभीप्सा होनी ही चाहिये। जिस प्रकार स्फटिकको सूर्यकी आवश्यकता है, उसी प्रकार सूर्यरश्मियोंकी सार्थकता स्फटिकमें प्रकट होती है। स्फटिकके समान ही मनकी स्वच्छता बाह्य भक्तिचर्याका उद्देश्य है। जब इस प्रकारकी स्थिति प्राप्त होती है, तब देवत्वका सहज अनुभव हृदयमें आता है।

अधिक सुन्दर बनिये

(लेखक—डाक्टर श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०, दर्शनकेसरी, विद्याभूषण, साहित्यरत्न)

कुरूपता एक मानसिक रोग है

आजकल सौन्दर्य-प्रसाधनोंपर करोड़ों रुपये प्रतिदिन व्यय किये जा रहे हैं। बड़ी-बड़ी फैक्टरियोंमें नये-नये कृत्रिम सौन्दर्य बढ़ानेके साधन तथा वस्तुएँ बन रही हैं। लोग भूखे रहकर इन सौन्दर्य बढ़ानेके तरीकोंका प्रयोग कर रहे हैं। बाजारमें सौन्दर्य-प्रसाधनोंका व्यापार जोरोंसे चल रहा है। बदसूरत-से-बदसूरत भी इन सौन्दर्य-प्रसाधनोंको बाजारसे खरीदकर सुन्दर बनना चाहता है। पर इससे वास्तविक सौन्दर्य नहीं बढ़ता। वेश्याओंकी-सी नकली सुन्दरता भले ही बढ़ जाय।

सच पूछिये तो सच्ची सुन्दरता इन कृत्रिम सौन्दर्य-प्रसाधनोंमें निहित नहीं है, प्रत्युत वह मनुष्यके उत्तम शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्यपर निर्भर है। जबतक आपका शरीर अपना निर्धारित कार्य सुचारुरूपसे नहीं करता, तबतक सौन्दर्य प्रकट नहीं होगा। न शरीरमें रक्तप्रवाह ही ठीक होगा। सुन्दरता वास्तवमें स्वस्थ शरीर, स्वच्छ स्वभाव और अकलुष मनका सामूहिक शुभ परिणाम है।

कुरूपता एक मानसिक रोग है, सुन्दरता अच्छे स्वभावका परिणाम है। स्वास्थ्य और सुन्दरताका गहरा सम्बन्ध है। यदि हम पूर्ण स्वस्थ रहें, प्रसन्न और खिले रहें, तो अधिक-से-अधिक आकर्षक दिखायी दे सकते हैं, भले ही उसका रंग गोरा हो। साधारणसे पुष्पको देखिये, जब वह पूरी तरह खिला हुआ बिहँसता रहता है, तो कितना आकर्षक और प्यारा लगता है। साधारण-सा पक्षी भी जब फुदक-फुदककर हर्षसे कलरव करता है, तो कितना सुहावना लगता है। कुत्ते, बिल्ली, बकरी—यहाँतक कि सूअरके छोटे-छोटे अबोध बच्चे उछलते-कूदते बड़े सुन्दर लगते हैं। सुन्दरता उत्तम स्वास्थ्य, निश्चिन्त जीवन, हर्ष और उल्लासमें छिपी हुई है। इनके

अतिरिक्त सुन्दरताको देरतक स्थिर रखनेके लिये मधुर और स्वस्थ मानसिक भावोंकी भी अतीव आवश्यकता है। जिन व्यक्तियोंका मन घरेलू पारिवारिक या सामाजिक कलह, संघर्षों या लड़ाई-झगड़ोंमें उलझा रहता है, गुप्त मनमें कोई-न-कोई चिन्ता या उत्तेजना बनी रहती है, उनके चेहरोंपर कर्कशता, क्रोध, आवेश तथा तनाव छाया रहता है। अंदरकी तनी हुई मानसिक स्थिति उनकी मुख-मुद्रापर उभरकर चेहरेको कुरूप बना देती है। क्रोध, ईर्ष्या, वासना, उत्तेजना, चिन्ताएँ, घृणा—वे कुत्सित दुष्ट भावनाएँ हैं, जो मनुष्यको कुरूप और अनाकर्षक बनाती हैं। आन्तरिक दुर्गुणोंसे कुरूपता उत्पन्न होती है।

बड़े महात्माओंका सौन्दर्य

क्या आपने हिंदू देवी, देवताओं, महात्माओं और महापुरुषोंके चित्र ध्यानसे देखे हैं? आज तनिक इन चित्रों और मूर्तियोंकी मुखमुद्राओं और उससे उत्पन्न उनकी मानसिक; आन्तरिक—मन:स्थितियोंपर ध्यान दीजिये। आप उनमें सर्वत्र सद्गुणोंकी प्रतिच्छाया पायेंगे।

यह देखिये—भगवान् श्रीकृष्णके बचपनका चित्र है। बालकृष्ण कैसे विहँस रहे हैं। किलक-किलककर इधर-उधर घुटनों चल रहे हैं। उनके निर्दोष मनोभाव उनके चेहरेपर प्रकट हो रहे हैं। इसी प्रकार भगवान् राम, लक्ष्मण, सीताजी, भरत, शत्रुघ्न इत्यादि सबके चेहरोंपर मधुर मुस्कान खेल रही है। सरस्वती, लक्ष्मी, महादेव, विष्णु इत्यादि सबके मुखमण्डल एक मधुर आभासे प्रदीप्त हैं। बुद्ध भगवान्के चेहरेकी शान्ति और तृप्ति देखिये। यही तृप्ति, यही शान्ति, यही मुस्कराहट हमारे सभी देवी-देवताओंके मुखमण्डलपर दिखायी देती है। हमारे सभी देवताओंका एक गुण उनका सौन्दर्य है, उनकी मृदु और मधुर मुस्कान है। यह मुस्कान हमारा दैवीगुण है। मुस्कान धारणकर हम देवताओंके समीप पहुँचते हैं।

चेहरेके इस सौन्दर्यका कारण मनमें छिपा है

हमारे देवताओं तथा महापुरुषोंके चेहरोंके सौन्दर्य कारण उनके मनमें छिपा हुआ है। उनके चेहरों सरलता, सरसता, मधुरता, हलकी-हलकी मुस्कान मानव-मन तथा उसका जीवन बार-बार निछावर हो लगता है। कितना सुन्दर सुखदायक और आँखों प्रिय लगता है उनका यह मुखमण्डल। यह उनके हृदय सुन्दरताको प्रकट कर रहा है। हम सबका मुखमण्ड आन्तरिक सद्गुणोंसे आकर्षक बनता है। शील औ सद्गुणोंका प्रकाश चारों ओर फैलता है। प्रे दया, सज्जनता, ईमानदारी, भलाई इत्यादिमें आकर्षण है।

अच्छे भावोंका अभिनय कीजिये। मुखपर प्रसन्न प्रेम, दया और कोमलता प्रदर्शित कीजिये। वैसे भावोंकी गुप्त तरंगें आपके सर्वत्र शरीरमें दौड़ जायँ आत्मा प्रसन्न हो जायगी और मुखमुद्रा मोहक जायगी।

क्या कारण था कि हमारे देवपुरुषों, महात्माओं दर्शनसे हिंसक जन्तुतक वशीभूत हो जाते थे! पूछा जाय, तो यह उनके चेहरेका मोहक भाव ही

एक विद्वान् लिखते हैं, 'अच्छे और बुरे विचारों धारा मानसिक केन्द्रसे चारों ओर बिखरकर प्रवाहके साथ चमड़ीकी सतहतक एक विद्युत्- समान आती और वहाँ अपना प्रभाव छोड़ जाती है यदि यह मानसिक विचारधारा निरन्तर आती- रहे, तो उसका प्रभाव भी स्थायी रह जाता है। कोई व्यक्ति दया, प्रेम, सेवा, परोपकार, करुणा, स्वच्छता आदि उत्तमोत्तम दैवी गुणोंका निरन्तर मान अभ्यास कर सके, तो वह चाहे कितना ही कुरूप मोहक-मादक आकर्षण-शक्तिसे परिपूर्ण हो सकता है

शोकका विषय है कि हम केवल अपनी मानसिक दुर्भावनाओंके कारण अपनी मोहनी शक्ति खो बैठते हैं। आपकी आयु, स्थिति या आमदनी चाहे कुछ भी क्यों न हो, आप मनमें मधुर देवोचित भाव रखने, उन्हें अपने जीवन और चेहरेपर प्रदर्शित करनेका अभ्यास आजसे ही प्रारम्भ कीजिये। प्रेम, दया, स्नेह, शान्ति, आनन्द आदि मीठे उपयोगी देवताओं-जैसे भावोंको ही मनमें पूर्ण स्थिर कीजिये। सोते-जागते उन्हें रक्तके प्रवाहके साथ समूचे मन और शरीरमें घूमने दीजिये। आपमें मोहक शक्ति आयेगी। सभी उससे प्रभावित होंगे।

क्रोधके अनुगामी अन्याय, अविचार, उत्पीड़न, ईर्ष्या, छिद्रान्वेषण, प्रवञ्चना, कटुभाषण तथा निर्दयताका परित्याग कीजिये; क्योंकि ये बुरे भाव कुरूपता उत्पन्न करते हैं। जीवनको नरककी ताड़नासे परिपूर्ण कर देते हैं।

इसी प्रकार कामवासनाके दुर्गुण त्यागिये। ये हैं—परनिन्दा, अधिक निद्रा, कुलटा स्त्रियोंका तथा चरित्रहीन पुरुषोंका सङ्ग, मद्यपान, मांसभक्षण, कामोद्दीपक गीतोंका गान, गन्दे उत्तेजक साहित्यका अध्ययन, निरुद्देश्य भ्रमण। ये सभी विनाशकारी भाव उत्पन्न कर आपकी मुखाकृतिको बिगाड़ते हैं।

सुखद सुन्दर विचारोंकी भावधारासे सुन्दरता बढ़ती है

सुखद और सुन्दर भावोंको मनमें रख तथा उनका चेहरेपर प्रदर्शन कर हम निश्चय ही अधिक आकर्षक बन सकते हैं। आप इस क्रियाका अभ्यास करें। मन एक शक्ति-केन्द्र है। उसका समूचे शरीरपर राज्य है। मनमें दुःख और चिन्ताएँ जमी रहेंगी, तो निश्चय ही वे कुरूपता उत्पन्न करेंगी। हमारा स्वास्थ्य और सौन्दर्य नष्ट कर देंगी। इसीलिये हमारे यहाँ भावोंके कल्याणकारी सुन्दर रूपको ही मनमें धारण करनेकी प्रार्थना की गयी है—

यास्ते शिवास्तन्वः काम भद्रा याभिः सत्यं भवति यद् वृणीषे। ताभिष्ट्वमस्माँ अभिसंविशस्वान्यत्र पापीरप वेशया धियः॥

'हे मनकी मौज! तू कल्याणकारी स्वरूपको धारण करके हमारे भीतर प्रवेश कर, ताकि जो कुछ तू चाहे, वह पूरा हो (और उससे सबका भला हो) बुरे विचारोंको (हमसे) दूर रख।' (अ० ९। २। २५)

सदा प्रसन्नता और आनन्दके भव्य विचारोंमें ही रमण कीजिये। जब आत्मा प्रसन्न रहती है तो शरीर भी स्वस्थ और सुन्दर रहता है। देखिये, प्रसिद्ध मनोविज्ञानवेत्ता श्रीलालजीराम शुक्ल क्या कहते हैं—

'प्रसन्नता शक्तिकी परिचायिका है। जिस मनुष्यके अंदर आध्यात्मिक शक्ति है, वही प्रसन्न रह सकता है। प्रसन्नता स्वयं उस शक्तिकी उत्पादिका भी है। जो मनुष्य जितना प्रसन्न रहता है, वह अपना आध्यात्मिक बल उतना ही बढ़ा लेता है। इतना ही नहीं, वह अपनी शारीरिक शक्तिकी भी वृद्धि कर लेता है। मन प्रसन्न रहनेपर शरीरकी अमृत पैदा करनेवाली ग्रन्थियाँ अपना काम भली प्रकारसे करती हैं और शरीरमें उन पदार्थोंका प्रवाह जारी रखती हैं, जिनसे शरीर अक्षय बना रहता है और बढ़ता है। बिरला ही प्रसन्नचित्त मनुष्य रोगी मिलेगा।'

अतः अधिक-से-अधिक आनन्द और प्रसन्नताके सुखद विचारोंमें निवास कीजिये और सुन्दर बनिये। आत्माकी प्रसन्नतामें अक्षय सौन्दर्य निहित है। भव्य विचारोंसे सुन्दर बनिये।

सौन्दर्य कहाँ ?

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

व्यक्ति, वस्तु, देश, काल, परिस्थिति—किसीमें भी सौन्दर्य कहाँ ?

सौन्दर्य तो उपयोगमें है।

उपयोगमें भी सौन्दर्य कहाँ ?

सौन्दर्य तो उपयोग-प्रेरक भावमें है; उपयोग पथ-प्रदर्शक निर्णय-निश्चयमें है।

भाव एवं निर्णय-निश्चयमें भी सौन्दर्य कहाँ ?

सौन्दर्य तो भाव-निर्झर एवं निर्णय-निश्चयकार अन्तःकरणमें है।

पर अन्तःकरण जड निपट परतन्त्र ! उसमें भी सौन्दर्य कहाँ ?

सौन्दर्य तो वास्तवमें परम स्वतन्त्र, चैतन्यस्वरूप स्वयंमें है, जिसमें लीन होकर, जिससे अविच्छिन्न भर होकर, जिसके छाया-सौन्दर्यसे ही प्रकाशित—उद्भासित होकर सौन्दर्यविहीन अन्तःकरण सुन्दरतामय उठता है।

सुन्दरतामय ऐसे अन्तःकरणसे सौन्दर्यमय भाव निःसृत होते हैं, सौन्दर्यमय ही निर्णय-नि किये जाते हैं।

सौन्दर्यमय भावोंकी प्रेरणासे, सौन्दर्यमय नि निश्चयोंके पथ-प्रदर्शनमें सौन्दर्यमय ही उपयोग होता है

और सौन्दर्यमय उपयोगका स्पर्श पाकर व्य वस्तु, देश, काल, परिस्थिति सब—सबका सब कु सौन्दर्यमय हो उठता है।

फलतः असौन्दर्यको मुँह छिपानेभरको ठौ रहकर सर्वत्र सौन्दर्य-साम्राज्य स्थापित हो जाता है।

इतना ही नहीं। साथ-साथ बज उठती है स भी विजय-दुन्दुभि, फहर उठती है शिवकी विजय-पताका।

'सत्यं शिवं सुन्दरम्' एक दूसरेसे अलग कहाँ !

ऐसा भी कभी होगा ?

वह समय भी जीवनमें आया, जब मेरा कहलानेवाले पंद्रह-बीस शरीर होते हुए भी उस समय पास नहीं था और उस समयका-सा आनन्द भी जीवनमें कभी नहीं आया। मैंने अनुभव किया—तू मेरे सि है और प्रकृतिके सारे काम यन्त्रवत् होते चले जा रहे हैं। दूसरे आपरेशनके समय भी मैंने बहुत कोशिश वही आनन्द प्राप्त करनेकी, परंतु नहीं मिला तो नहीं ही मिला; क्योंकि मैं-मेरा इत्यादि मुझे घेरे थे।

कितना अच्छा होता यदि तू असीम सुखमें विलीन कर देता मुझे प्यारे ! मेरा-तेरासे छुटकारा जाता। मेरा हृदय, मन और मेरी आँखें तुझसे पूर्ण हो जातीं। मायाके लिये जगह ही नहीं रह जाती। प्र तू कब करेगा मुझे ऐसी, जब कि यन्त्रवत् सांसारिक कार्य होते रहेंगे, पर मुझसे उनका वास्तविक सम्बन्ध न होगा। मेरा हृदय, प्राण, मन—जो कुछ भी मेरा कहनेका सामान है, सब तेरा क्रीडास्थल बन जाय ऐसा भी कभी होगा जब तू-मय हो जायगा सारा संसार मेरा ? एक यन्त्र, एक मन्त्र, एक प्राणायाम—श्री मेरे, श्रीकृष्णकी मैं। कृष्ण ही जीवन-प्राण हो।

(इन चार शब्दोंके लिखनेसे पहले मैं डा० गम्भीरकी कुशल-कामना करती हूँ जिनकी कृपासे इस योग्य हुई।)

एकादशीका उपवास

(मूल मराठी-लेखक—श्रीपं० श्री० दा० सातवलेकरजी)

[अनुवादक—पं० श्रीश्रुतिशीलजी शर्मा, तर्कशिरोमणि]

आजका नवशिक्षित नवयुवक समाज भारतीय संस्कृतिकी कई प्राचीन परिपाटियोंका उपहास करता है। उनकी दृष्टिमें ये परिपाटियाँ अन्धविश्वास या अन्धश्रद्धासे अधिक कुछ नहीं हैं। पर इस उपहासका कारण उनके अंदर विश्वास या श्रद्धाका अभाव नहीं है, अपितु तत्त्वकी अज्ञानता ही है। अन्धविश्वास कहकर यों ही उड़ा दी जानेवाली इन पद्धतियोंमें कितना तत्त्व भरा पड़ा है, इस तक उन नवशिक्षितोंकी पहुँच नहीं है। उन्हीं प्राचीन परिपाटियोंमें 'एकादशीका उपवास' भी एक है। इसका पालन यद्यपि कुछ लोग आज भी करते हैं, पर ये वे ही लोग हैं कि जिनकी श्रद्धा भारतीय संस्कृतिपर आज भी टिकी हुई है। किसी कामको केवल इसीलिये करना कि वह शास्त्रोंमें लिखा हुआ है या पूर्वज करते आये हैं, अवश्य उपहासास्पद कहा जा सकता है, पर एक बार किसी कामके तत्त्वको समझ लेने या मान लेनेपर भी उस कामको न करना तो दुराग्रह ही कहा जायगा।

प्रत्येक धर्मग्रन्थमें उपवासका बड़ा भारी महत्त्व बताया गया है और किसी भी धर्माचार्यने इसके विरुद्ध अपनी कलम नहीं उठायी है। धर्माचार्य जगत्के हितके लिये ही धर्मका प्रचार करते हैं, अतः इससे यह भी स्पष्ट है कि उन्होंने उपवास करनेकी जो आज्ञा दी है, वह भी जगत्के हितके लिये ही होनी चाहिये। पर आजकी प्रचलित शिक्षणपद्धतिके कारण लोगोंकी श्रद्धा धर्मग्रन्थोंसे उठती जा रही है। वे समझते हैं कि धर्मग्रन्थोंके उपदेशोंसे हमारा कुछ भी लाभ होनेवाला नहीं है। इसलिये वे उपवासकी पद्धतिपर भी ध्यान नहीं देते।

पर फिर भी कुछ लोगोंका इस पद्धतिपर महान् विश्वास है। उपवाससे अनेक रोग दूर हो सकते हैं, यह बात शास्त्रीय पद्धतिसे भी सिद्ध हो चुकी है। अनेकोंने अपने दुःसाध्य रोगोंसे उपवासके द्वारा ही छुटकारा पाया। अतः अब उपवासपर अन्धविश्वास रखनेका कोई कारण नहीं है। वस्तुतः उपवासकी पद्धति एक शास्त्रीय पद्धति है।

प्राचीन परिपाटीके अनुसार चलनेवाले हिंदू-परिवारोंमें आज भी एकादशीके दिन उपवास करनेकी रीति है। सम्पूर्ण भारतमें यह दिन विशेष महत्त्वकी दृष्टिसे देखा जाता है। पर आजके नवशिक्षित समाजकी दृष्टिमें यह सब ढकोसला है। वे उपेक्षाकी दृष्टिसे प्रायः कहा करते हैं कि 'उपवास करनेसे क्या लाभ है? यह सब अन्धविश्वास है। यह अज्ञानी और भोले लोगोंके मस्तिष्ककी उपज है। क्या कभी उपवाससे भी देव मिलते हैं? और यदि देव मिल भी जायँ तो हमें उनसे करना क्या है? हमें तो भौतिकवादसे ही जगत्को बदलना है। हम इस उपवासकी पद्धतिको बिल्कुल भी मान्यता देनेको तैयार नहीं; आदि-आदि।' पर यदि ये शिक्षित उन प्राचीन कालके धार्मिकोंकी अपेक्षा स्वस्थ एवं दीर्घायुवाले होते, तो इनका कहना मूल्यवान् हो सकता था। पर देखा जाय तो उपवास करनेवाले वृद्ध जितना स्वस्थ रहते हैं, उसका सौवाँ हिस्सा आरोग्य भी आजके इन उपहास करनेवाले नवशिक्षितोंमें दिखायी नहीं देता। इतना ही नहीं; एक वृद्ध मृत्युका मुकाबला साहससे करता है, जब कि नवशिक्षित उससे सहज ही हार खा जाता है।

रोगप्रतिबन्धक उपाय

धार्मिक पद्धतियोंमें एकादशीका उपवास आजके नवशिक्षितोंके उपहासका विषय बना हुआ है। पर अब यूरोप और अमेरिकाके डॉक्टरोंका भी ध्यान उपवासके महत्त्वपर गया है और उनके विचार उपवासके अनुकूल हो गये हैं। आज उनकी मान्यता यह है कि उपवास रोगोंको नष्ट करनेवाला तथा उनका प्रतिबन्धक है। डॉक्टरोंकी इस मान्यताकी प्रतिध्वनि आज भारतमें भी जहाँ-तहाँ सुनायी देती है और अब लोग उपवाससम्बन्धी साहित्यको पढ़नेमें अपनी रुचि भी दर्शाते हैं। आजसे १०-१५ वर्ष पूर्व उपवास एक उपहासका विषयमात्र रह गया था; पर आज वह स्थिति नहीं रही है।

यूरोप और अमेरिकामें डॉक्टरोंने खोजके द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि उपवास रोगप्रतिबन्धक, आरोग्यवर्धक और मज्जातन्तुओंमें चेतना भरनेवाला है। इस विषयपर अनेक पुस्तकें भी प्रकाशित हो चुकी हैं। अतः अब लोगोंको यह

भास होने लगा है कि उपवास रोगोंको दूर करनेका एक उत्तम उपाय है ।

महात्मा गांधी उपवासके एक महान् भक्त थे, उन्होंने अपने जीवनमें कई बार उपवास किया । उनका भी अनुभव यही था कि उपवाससे शरीर निर्मल होता है और रोगाणु नष्ट हो जाते हैं, परिणामस्वरूप मनुष्य रोगोंसे बच जाता है । उन्होंने उपवासके लाभोंका उल्लेख अपने जीवन-चरित्रमें किया है ।

इस प्रकार कई विचारशील व्यक्ति इसपर बहुत कुछ लिख चुके हैं । शिक्षित मनुष्य परमेश्वरकी भक्तिके नामपर भले ही चाहे उपवास न करें, पर आरोग्यके लिये उपवास करनेमें वे भी नहीं हिचकिचायेंगे ।

उपवासके दिन

यह तो निश्चित है कि उपवास आरोग्यका एक उत्तम उपाय है । पर प्रश्न यह है कि वह किया किस दिन जाय ? आजकी पद्धतिके अनुसार कई लोग वारके हिसाबसे उपवास करते हैं और कई लोग तिथिके हिसाबसे । वारके हिसाबसे उपवास करनेपर सप्ताहमें एक-दो दिन ही भोजनके लिये मिलते हैं, क्योंकि प्रायः प्रत्येक दिन उपवासका कारण बन जाता है । पर तिथिके अनुसार उपवास करनेमें चतुर्थी, एकादशी और चतुर्दशी—प्रधानतया ये तीन दिन ही उपवासके होते हैं, शेष बारह दिन भोजनके लिये मिल सकते हैं । तिथि और वारके उपवासमें यह भेद है ।

विष्णुभक्ति

प्राचीन धर्मग्रन्थोंमें एकादशीके उपवासका बड़ा माहात्म्य दिखायी पड़ता है । इस दिनके उपवाससे विष्णु प्रसन्न होते हैं, ऐसा वैष्णव ग्रन्थोंमें मिलता है । पर जब शैवों और वैष्णवोंमें वैमनस्य जोर पकड़ गया, तो शैवोंने विष्णुकी प्रसन्नताके लिये किया जानेवाला एकादशीका उपवास बंद कर दिया और शिवकी प्रसन्नताके लिये शिवरात्रि (चतुर्दशी) तथा गणेशकी प्रसन्नताके लिये चतुर्थीका उपवास शुरू कर दिया । यद्यपि गणपतिके अनुयायियोंने और शैवोंने अपने-अपने उपवासके दिन अलग-अलग निश्चित कर लिये, तथापि वे एकादशीके उपवासको छोड़ न सके । किसी-न-किसी बहानेसे उन्होंने एकादशीका उपवास भी जारी ही रक्खा और इस प्रकार एकादशीका उपवास सबके लिये आवश्यक हो गया । शैव और वैष्णव सभी चाहे दूसरे उपवास करें, पर एकादशीका उपवास अवश्य करते हैं ।

तिथि और वारोंके उपवास

प्राचीन ग्रन्थोंमें तिथियोंके और उनमें भी एका जितना माहात्म्य मिलता है, उतना वारोंके उपवासका इससे यह स्पष्ट होता है कि वारोंके उपवासका प्रचलन आरम्भ हुआ । एकादशीके उपवास करनेवालेको कि एकादशी है, यह पता लगाना पड़ता है, इसी प्रकार प्रदोष और शिवरात्रिका भी पता लगाना पड़ता है इसके लिये उसे या तो पञ्चाङ्ग देखना पड़ता है ज्योतिषीके पास जाना पड़ता है, इसके सिवा तीसरा और कोई नहीं ।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि तिथिका दिन जाने तिथिसम्बन्धी उपवास करना मनुष्यके लिये असम्भव है आज तो शिक्षितोंको भी तिथियोंका ज्ञान नहीं होता अशिक्षितोंका तो कहना ही क्या ? इस अड़चनको करनेके लिये वारोंके उपवासोंका प्रचलन हुआ और उ भेदके कारण प्रत्येक वारके उपवास आरम्भ हुए । शं सोमवार, देवीका मंगलवार, विठोबाका बुधवार, दत्तके गुरुवार, लक्ष्मीका शुक्रवार, शनिका शनिवार और रविवार—इस प्रकार प्रत्येक वारका एक-एक होनेके कारण उनके उपासकोंने भी उस-उस दिन उ रखना प्रारम्भ कर दिया ।

जबतक एक देवका भक्त दूसरे देवके दिन उ नहीं करता था, तबतक उसे सप्ताहमें छः दिन भो लिये मिलते थे । इससे यद्यपि एकादशीका उपवास होता था, पर फिर भी सप्ताहमें एक दिनके उपवाससे का आरोग्य बना रहता था । पर बादमें जब भिन्न देवोंके उपासकोंमें स्पर्धा दूर हो गयी और उपासक देवोंको आदरकी दृष्टिसे देखने लगे तो उपासकोंकी एक देवकी अपेक्षा अधिक देवोंके उपवासकी ओर लगी और इस प्रकार उपवासके दिन अधिक होने और भोजनके दिन कम । पर इस तरह उपवाससे होने लाभ तो हुआ नहीं, उल्टी अशक्तता बढ़ने लगी ।

इसी कारण, तिथि-सम्बन्धी उपवासोंका प्रचलन होकर वारसम्बन्धी उपवासका प्रचलन ज्यादा हो तिथिके मूल कारणको लोग भूल गये और उन्होंने

समझ लिया कि किसी भी दिन किया गया उपवास सीधा परमेश्वरके पास पहुँचता है, इसी कारण उपवासकी यह दुरवस्था हो गयी।

आज धार्मिक कथाओंका सुनना-सुनाना जो पुराने लोग करते हैं, उन्हें उन कथाओंका तत्त्व प्रायः समझमें नहीं आता, पर वे श्रद्धासे अवश्य करते हैं। इसके विपरीत आजके लोग केवल उपवासका विरोध करते हैं और वह भी बिना तत्त्वविवेचन किये ही। यदि कोई तत्त्वकी विवेचना करके और उस तत्त्वमें कोई सार न देखकर नास्तिक बना हो तो वह युक्तिसङ्गत है, पर आजकी नास्तिकताका कारण धर्मके प्रति उदासीनता है, तत्त्वविवेचना नहीं।

अबतककी विवेचनासे यह स्पष्ट हो गया होगा कि तिथि-वार उपवासकी परिपाटी पुरानी है और उनमें भी सर्वसाधारण उपवास केवल एकादशीका ही है। आज भी बहुत-से लोग श्रद्धापूर्वक एकादशीका उपवास करते हैं। शेष चतुर्थी और चतुर्दशीका उपवास सर्वसाधारण नहीं करते। वारोंके उपवास आधुनिक हैं, पर उनमें एक भी ऐसा उपवास नहीं, जिसे सब लोग करते हों। जो तत्त्व तिथियोंके उपवासमें है, वह दिनोंके उपवासमें नहीं है। वे तत्त्व कौन-से हैं, उन्हें हम यहाँ देखते हैं।

चक्रका सम्बन्ध

चन्द्रकलाकी वृद्धि और क्षयके साथ वनस्पति और प्राणियोंमें रहनेवाले अङ्गोंके रसकी वृद्धि और क्षयका सम्बन्ध है। यद्यपि वैदिक शास्त्रज्ञोंने अब थोड़ा-सा इस बातको स्वीकार किया है। इससे यह ज्ञात होता है कि तिथि-वार उपवासोंसे आरोग्यका विशेष सम्बन्ध है। चन्द्रकलाकी वृद्धिके साथ तिथियोंका जैसा सम्बन्ध है, वैसा वारोंका नहीं। इसलिये वारोंके अनुसार किया गया उपवास कभी ठीक समयपर होता है और कभी अयोग्य समयपर भी होता है। पर तिथियोंमें चन्द्रमाकी स्थिति सदा निश्चित रहती है। इसलिये चन्द्रकी उस स्थितिका प्रभाव शरीरपर पड़ना स्वाभाविक ही है। अतएव विशिष्ट तिथिपर उपवास करनेसे यदि लाभ होनेवाला है, तो वह अवश्य ही होगा।

सूर्य और चन्द्रके आकर्षणके अनुसार प्रतिदिन शुक्लपक्ष और कृष्णपक्षका समय बदलता रहता है। शुक्लपक्षमें तोड़े गये वृक्ष या पौधोंमें जलतत्त्व अत्यधिक बढ़ जानेके कारण उनमें कीड़े लग जाते हैं, पर कृष्ण-पक्षमें काटनेपर उनमें कीड़े नहीं पड़ते। इसका अनुभव आर्द्र प्रदेशमें ज्यादा और शुष्क प्रदेशमें कम होगा।

इससे पाठकोंको यह ज्ञात हो जायगा कि वनस्पति और प्राणियोंके अङ्गरसपर सूर्य-चन्द्रके आकर्षणका प्रभाव पड़ता है। पूर्णिमा और अमावास्याके दिन वनस्पतियोंमें जलतत्त्व अत्यधिक होता है; क्योंकि उस दिन सूर्य और चन्द्र सम रेखामें रहते हैं और अमावास्यामें दोनोंके एक ही स्थानपर रहनेके कारण उस दिन इनका आकर्षण अधिक प्रमाणमें होता है। अष्टमीके दिन उनका आकर्षण सबसे कम होता है; क्योंकि उस दिन वे दोनों समकोणपर रहते हैं।

अष्टमीके दिन जलतत्त्वकी अत्यन्त न्यूनता होती है। नवमीसे उसकी वृद्धि प्रारम्भ होती है। फिर पूर्णिमाके दिन अधिक और अमावास्याके दिन तो अत्यधिक जलतत्त्वकी वृद्धि होती है। प्रतिपदासे जलतत्त्वका क्षय आरम्भ होता है और अष्टमीके दिन आकर अत्यन्त कम हो जाता है। जलतत्त्वकी वृद्धिके दिनोंमें वृक्षोंको काटनेसे उनमें कीड़े पड़ जाते हैं, अतः जलतत्त्वकी वृद्धिके समय काटे गये वृक्ष अधिक समयतक टिकते नहीं। आम, बाँस आदि कमजोर वृक्षोंपर इसका परिणाम बहुत जल्दी पड़ता है; पर सागौन, बबूल आदि सशक्त वृक्षोंपर इसका प्रभाव शीघ्र दृष्टिगोचर नहीं होता। चन्द्रके आकर्षणका परिणाम वृक्षोंपर जितना होता है, उससे कहीं अधिक परिणाम मनुष्योंपर होता है; क्योंकि मनुष्य-शरीर अत्यधिक कोमल होता है और मनुष्यके मनका सम्बन्ध चन्द्रमाके साथ बहुत अधिक है। यह बतानेके लिये ही चन्द्रके साथ मनकी समानता वेदोंमें अनेक तरहसे दिखायी है। सोमका अर्थ भी वनस्पति, चन्द्र और मन है। मनका देवता भी चन्द्रमा ही है। मानसिक शक्तिसे दुर्बल मनुष्यकी वृद्धि और क्षय भी चन्द्रके अनुसार होते हैं। मस्तिष्कके बिगड़ जानेके कारण हुए पागलोंका पागलपन भी चन्द्रमाके क्षय और वृद्धिके आधारपर कम-ज्यादा होता रहता है। ये सब इस बातको बताते हैं कि मनुष्यका चन्द्रमाके साथ बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है।

खेड़गाँवमें लोग वृक्ष काटनेके लिये जलतत्त्वकी वृद्धि और क्षयके दिन पूछनेके लिये ज्योतिषीके पास जाते थे और यथासम्भव क्षयके दिनोंमें ही वृक्ष काटनेका यत्न करते थे। इसी तरह साधारण लोगोंकी यह धारणा रहती है कि अमावास्या और पूर्णिमाके दिनोंमें बीमारी बढ़ती है और अन्य दिनोंमें कम होती है। यद्यपि अज्ञानी लोगोंकाकथन

अधिक विश्वसनीय नहीं होता, फिर भी उनका अनुभव परीक्षणीय है।

न्यूटनके जीवनकी घटना है कि एक बार जंगलमें जाते हुए उसकी भेंट बकरी चरानेवाले एक गडरियेसे हुई। गडरियेने देखा कि उसकी बकरियाँ एकाएक भाग-भागकर धूपसे बचनेके लिये पेड़ोंकी छायामें जाकर खड़ी होने लगीं। यह देखकर उसने न्यूटनसे कहा कि 'एक घंटेके अंदर ही वर्षा होनेवाली है।' न्यूटनको उसकी बातपर विश्वास नहीं हुआ। पर जब वह घर पहुँचनेतक पानीसे बुरी तरह भींग गया तो उसे गडरियेकी बातपर विश्वास करना ही पड़ा। यह भेद है—शास्त्र और अनुभवमें। इसलिये बुद्धिमान्‌की दृष्टिमें सर्वसाधारणोंके अनुभवोंका भी मूल्य होता है।

हमने भी बड़ी सूक्ष्म दृष्टिसे कई वर्षोंतक इस बातका निरीक्षण किया और इससे जो अनुभव हमें प्राप्त हुए, वे इस प्रकार हैं—

अनुभव

१–मृत्युकी संख्या द्वादशीसे तृतीयातक अधिक रहती है। उनमें भी शुक्लपक्षकी अपेक्षा कृष्णपक्षकी इन तिथियोंमें अधिक मृत्यु होती है।

२–द्वादशीसे तृतीयातक यदि कोई रोग प्रारम्भ हो जाय तो तृतीयातक उस रोगका क्षय नहीं होता और यदि बीमार मृत्युके संनिकट हो तो उसका बचना कठिन होता है।

३–चतुर्थीसे एकादशीतकके बीचमें उत्पन्न रोग साधारणतया सौम्य होते हैं और पहले उत्पन्न हुए रोगोंकी दशा इन तिथियोंमें कुछ सुधर जाती है और ठीक होनेवाले रोग इन तिथियोंमें ठीक भी हो जाते हैं।

४–बहुत समयसे रोगग्रस्त मनुष्य प्रायः द्वादशीसे तृतीयातकके मध्यमें ही मरते हैं अथवा इन तिथियोंमें उनकी अवस्था शोचनीय हो जाती है।

५–औषधियोंका परिणाम इन तिथियोंमें आशादायक नहीं होता। पर चतुर्थीसे एकादशीपर्यन्त चिकित्साका परिणाम लाभकारी होता है।

६–छूतकी बीमारियोंके समय भी बीमार पड़ने तथा मरनेवालोंकी संख्या ऊपरकी तिथियोंके अनुसार न्यूनाधिक होती रहती है।

सूर्य-चन्द्रके आकर्षणके कारण शरीरके जीवन-रसमें भी न्यूनाधिकता होती रहती है। इसलिये द्वादशीसे तृतीयातकके दिन मनुष्यकी आरोग्यताके लिये अनि
होते हैं। जो सशक्त हैं, उनके शरीरमें भी उपर्युक्त का
इन तिथियोंमें रोगाणुओंकी वृद्धिकी सम्भावना रहती
इनकी बाढ़ शुक्लपक्षकी अपेक्षा कृष्णपक्षमें अधिक होती है।

सूर्यकी जीवनशक्ति

सूर्यसे इस पृथ्वीपर विपुलमात्रामें जीवनशक्ति
होती है, यदि उसमें जरा-सी भी न्यूनता आ जा
मनुष्यके आरोग्यपर उसका बड़ा अनिष्टकारक प
होता है। यदि सूर्यपर किसी तरहका प्रतिबन्धक
जरा-सा भी आ जाय तो उसकी जीवनशक्तिमें कमी आ
है। परिणामस्वरूप हवामान, मनोवृत्ति, बरसात सभीपर
अनिष्ट प्रभाव पड़ता है। कुछ दिन यदि बराबर
छाये रहें और सूर्यदर्शन जरा भी न हो तो अनेक प्र
रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

द्वादशीसे लेकर अमावास्यातक सूर्यके क्षेत्रपर चन्द्र
प्रभाव रहनेके कारण सूर्यकी जीवनीशक्ति बहुत
कम हो जाती है, इसलिये यह स्थिति अशक्तोंके
घातक सिद्ध होती है और अमावास्याके व्यतीत हो
सूर्यके क्षेत्रसे चन्द्रका प्रभाव भी कम हो जाता है
सूर्यसे जीवनशक्ति अधिक प्राप्त होनेके कारण अमाव
विशेषतः तृतीयाके पश्चात् दस-पंद्रह दिन लाभकारी होते

सूर्यकी ग्रहमालाओंमें सूर्य और चन्द्र धनशक्ति
ऋणशक्तिके केन्द्र हैं। उपनिषदों और वेदोंमें भी
ग्रहोंके सम्बन्धमें अनेक तरहके वर्णन मिलते हैं। अ
भौतिक शास्त्रके आधारपर भी सिद्ध हो चुका है
सूर्य जीवनशक्तिका पुञ्ज है। इसलिये वह धन
केन्द्र है। चन्द्रकी स्थिति इससे उल्टी है। पर
होनेके कारण अपना प्रकाश वह सूर्यसे प्राप्त क
इसलिये वह सूर्यका ऋणी है। इस प्रकार सूर्य धनी
चन्द्रमा ऋणी है। अमावास्याके दिन ऋणशक्ति
चन्द्र सूर्य और पृथ्वीके बीचमें आ जाता है। इ
पृथ्वीपर सूर्यसे आनेवाली जीवनीशक्ति उस दिन
जाती है। सूर्यग्रहण इसी दिन पड़ता है, इस कारण
पृथ्वीपर आनेवाली सूर्यकी जीवनीशक्ति बहुत क
जाती है। इससे अनेक जीवाणु मर जाते हैं, ऐसा आ
शास्त्रज्ञोंका मत है। प्रति अमावास्याको भी
जीवनशक्तिके कम मात्रामें प्राप्त होनेका भी यही
है। ऋग्वेदका कथन है—

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च

'सूर्य जङ्गम-चलनेवाले और स्थावर—न चलनेवाले जगत्की आत्मा है ।' वह अपनी शक्तिसे स्थावर और जङ्गम जगत्को पूर्ण करता है । इससे यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि जिस-जिस प्रमाणमें सूर्य और पृथ्वीके बीच चन्द्र आता जायगा, उस-उस प्रमाणमें उससे प्राप्त होनेवाली जीवनीशक्ति भी कम होती जायगी । कृष्णपक्षमें दशमीके बाद चन्द्र सूर्यके पास आता जाता है और अमावास्याके दिन वह पूरी तरह सूर्य और पृथ्वीके मध्यमें आकर पृथ्वीपर आनेवाली सूर्यकी जीवनीशक्तिको रोक देता है । इसीलिये सूर्यग्रहणके अवसरपर उससे प्राप्त होनेवाली जीवनशक्ति बहुत ही कम हो जाती है । अतः कृष्णपक्षके अवसरपर उससे प्राप्त होनेवाली जीवनशक्ति बहुत ही कम हो जाती है । इसलिये कृष्णपक्षके उत्तरार्धमें सूर्यसे जीवनशक्ति कम प्राप्त होनेके कारण रोगी मनुष्योंके लिये इन दिनोंका प्रतिकूल होना स्वाभाविक ही है । अमावास्याके दिन सामान्य मनुष्योंको जो भय लगता है, उसका भी यही कारण है ।

वनस्पतियोंमें रस बढ़नेके दिनोंमें उनका रस जड़से शाखाओंकी ओर वेगसे दौड़ता है और घटनेके दिनोंमें रस शाखाओंसे जड़की तरफ़ जाता है । इस कारण रस बढ़नेके दिनोंमें तोड़े गये पौधोंमें कीड़े जल्दी और अधिक लगते हैं । मनुष्यके शरीरमें रक्त-परिभ्रमणपर भी इसका प्रभाव पड़ता है । ऊपरके कारणोंपर विचार करनेसे ज्ञात होता है कि अष्टमीके दिन मिलनेवाली सूर्यकी जीवनीशक्ति अधिक पूर्ण और निर्दोष होती है । आकर्षणके कारण रक्त-परिभ्रमण (Circulation of Blood) पर होनेवाले अनिष्ट परिणाम इस दिन कम ही होते हैं । तृतीयासे लेकर अष्टमीतक इष्ट परिणामोंके और बादमें अनिष्ट परिणामोंके होनेकी सम्भावना रहती है । अतएव इन पाक्षिक अनिष्ट परिणामोंसे अथवा रोगाणुओंके बढ़नेकी सम्भावनासे मनुष्योंकी रक्षा हो; इसलिये कुछ उपाय करना आवश्यक था । वह उपाय एकादशीके उपवासके रूपमें शास्त्रज्ञोंने लोगोंके सामने रक्खा ।

दीपावली-विज्ञान

[गताङ्क पृष्ठ ८५१ से आगे]

लेखक—श्रीरणछोड़दासजी 'उद्धव')

वैदिक ज्योतिर्विज्ञान और दीपावली

राजर्षि जनकने भगवान् याज्ञवल्क्यसे प्रश्न किया था कि 'याज्ञवल्क्य ! **किं ज्योतिरयं पुरुषः**' 'याज्ञवल्क्यजी ! यह पुरुष किस ज्योतिवाला है ?' उसका **उत्तर** क्रमशः याज्ञवल्क्यने दिया है—१.आदित्यज्योतिः **सम्राट्**, २. चन्द्रज्योतिः, ३. अग्निज्योतिः, ४. वाग्ज्योतिः, ५. **आत्मज्योतिः** ।

(बृहदारण्यकोपनिषद्)

इसका सारांश यही है कि जीवनसत्ताका आधार ज्ञान कर्मादि इतर अङ्गोंकी भाँति ज्योतिस्तत्त्व भी है और प्रमुखरूपसे है । पाँचों ज्योतियोंका तत्त्वतः **'सूर्यज्योति'**में ही अन्तर्भाव हो रहा है । परज्योति होनेसे चन्द्रज्योति सूर्यज्योतिमें ही आ जाती है, भूपिण्ड सूर्यका ही उपग्रह है, **'वाक् पतङ्गाय धीयते'** इत्यादि सिद्धान्तसे वाग्ज्योति भी सूर्यकी इन्द्रज्योतिमें ही आती है एवं **'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'** (यजुः-सं० १३ । ४६) के अनुसार मानवीय भूतात्मासे अभिन्न आत्मज्योति भी सूर्यसे ही आती है ।

कार्तिकी अमारात्रि सूर्यज्योतिके प्राकृतिक दिव्य प्राणसे वञ्चित है, चन्द्रज्योतिका अभाव तो स्पष्ट ही है, वर्षात्मक वारुण भोगकालसे पृथिवीकी अग्निज्योति भी गिरी हुई है । इन तीनों भूतज्योतियोंके बिना संस्कार लक्षणवाली आत्मज्योति तथा पार्थिवाग्निसे त्यक्त वाग्ज्योति भी मन्द है । यों पाँचों ही व्यक्त ज्योतिर्भाव एक प्रकारसे नहीं-से ही हो रहे हैं । इसीलिये इस रात्रिमें कृत्रिम ज्योति—प्रकाशका समावेश हो गया है । सूर्यके इन्द्रप्रकाशका प्रतिनिधि दीपक है, अग्निज्योतिकी प्रतिनिधि आतिशबाजी (अग्निक्रीड़ा) है; वातावरणमें व्याप्त आसुरप्राणके निरोधके लिये ही कार्तिकमासमें **'आकाशदीप'** प्रज्वलित किया जाता है ।

अमावास्या तिथिमें किस समय लक्ष्मीपूजन करना चाहिये ? यह एक प्रासङ्गिक प्रश्न है; जिसके समाधानमें अनेक विकल्प हो पड़े हैं । कुछ मानवोंने यह मान्यता बना रक्खी है कि 'अर्धरात्रिमें ही लक्ष्मीपूजन करना चाहिये; क्योंकि इस समय प्रायः सभी निद्रानिमग्न हो जाते हैं, अतएव सबको सोता देखकर लक्ष्मी मुझ जागते रहनेवालेपर ही अनुग्रह कर

देगी।' सबको सुलाकर जो अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धिके लिये श्रीविहीना लक्ष्मीका ही संचय करना जीवनका मुख्य पुरुषार्थ मानते हैं, उनपर अवश्य ही जड भूतरूपा, परिणाममें अलक्ष्मी-रूपा लक्ष्मी अनुग्रह कर देती होगी।

किंतु जो आर्षमानव **'सर्वे भवन्तु सुखिनः' 'अत्रा सखायः सख्यानि जानते' 'भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि'** लक्षणा श्रीसे युक्ता (सरस्वतीसे युक्ता) लक्ष्मीको ही अपनी मुख्य आराध्य देवी मानते हैं, वे सांस्कृतिक पुरुष तो सूर्य-सत्तामें ही लक्ष्मीपूजन करना शास्त्रीय कर्म मानते आ रहे हैं। जैसा कि—**'प्रदोषसमये लक्ष्मीं पूजयित्वा यथाक्रमम्'** इत्यादि-से प्रमाणित है। श्री और लक्ष्मी दोनों विष्णुरूपी सूर्यकी अर्धाङ्गिनियाँ हैं। अतः सूर्यकी सत्तामें ही लक्ष्मीपूजन (प्रदोष-समयमें) करना चाहिये।

सूर्यके इन्द्रप्राणवाली हिरण्मय परमेष्ठीका तत्त्व ही श्री (सरस्वती) गर्भिता ज्योतिर्मयी—हिरण्यवर्णा लक्ष्मीका स्वरूप है। यह लक्ष्मीका रूप प्रदोषकालमें ही रहता है। रात्रिमें ज्योतिर्मयी लक्ष्मीका अभाव है। विकसित कमल ही इस श्रीयुक्त लक्ष्मीका आसन है। अर्धरात्रिकी अलक्ष्मीरूपा आसुरीलक्ष्मीका वाहन उल्लू माना गया है। प्रसिद्ध है कि सूर्यास्तपर पङ्कजश्री (कमलश्री) अन्तर्मुख बन जाती है। जब कमल ही मुरझा गया तो रात्रिमें कमलासना कैसे मिल सकती है? फिर तो सरस्वतीविरोधियोंको उल्लू-वाहना—आसुरी लक्ष्मी ही उपास्या बन सकती है।

घरके लोग अङ्गन्यासादि करके दीपादि जलाकर लक्ष्मीका ध्यान करें—

आसीना सरसीरुहे स्मितमुखी हस्ताम्बुजैर्बिभ्रती
दानं पद्मयुगाभये च वपुषा सौदामनीसंनिभा।
मुक्ताहारविराजमानपृथुलोत्तुङ्गस्तनोद्भाषिणी
पायाद्वः कमला कटाक्षविभवैरानन्दयन्ती हरिम्॥१॥

लक्ष्मीपूजनम्

तुलाराशिगते भानौ अमावास्यां नराधिप।
स्नात्वा देवान् पितॄन् भक्त्या सम्पूज्याथ प्रणम्य च॥ २॥
ततोऽपराह्णसमये (लक्ष्मीं) पूजयित्वा यथाक्रमम्।
दीपवृक्षास्तथा कार्या भक्त्या देवगृहेष्वपि॥ ३॥
अमावास्या यदा रात्रौ दिवाभागे चतुर्दशी।
पूजनीया तदा लक्ष्मीर्विज्ञेया सुखरात्रिका॥

कुबेरपूजनम्

लक्ष्मीनारायणाभ्यां च नमोऽन्तेन प्रपूजयेत्।
धिषणं च कुबेरं च पूजयेत्तदनन्तरम्॥
धनदाय नमस्तुभ्यं निधिपद्माधिपाय च।
भवन्तु त्वत्प्रसादान्मे धनधान्यादिसम्पदः॥

दीपदानम्

अग्निर्ज्योती रविर्ज्योतिश्चन्द्रज्योतिस्तथैव च।
उत्तमः सर्वज्योतीनां दीपोऽयं प्रतिगृह्यताम्॥

महामुनि दुर्वासाने एक बार प्रसन्न होकर इन्द्रको
दी। मदोन्मत्त इन्द्रने जयमालाको गलेसे निकालकर
हाथीपर फेंक दिया। हाथीने सूँड़से पृथ्वीपर गिराकर
उसे तोड़ दिया। दुर्वासाके अन्तःकरणसे परोक्षरूपसे शाप
कि जिस राज्यलक्ष्मीके मदसे विजयमालको ऐरावतसे
है वह लक्ष्मी तेरे पूर्वभारतादि लोकोंसे निकलकर
जन्मभूमि समुद्रमें चली जायगी, जहाँ ऐरावतने भी जन्म
है। वैसा ही हुआ। यों इन्द्रकी मदोन्मत्ततासे
ब्राह्मणकी उपास्या सरस्वतीके तिरस्कारसे ही लक्ष्मी रुष्ट
देवत्रैलोक्यसे समुद्रमें चली गयी। लक्ष्मीको लानेके
उपाय खोजे जाने लगे। अन्तमें इन्द्रको विष्णुकी
आना पड़ा और विष्णुके अनुग्रहसे ही लक्ष्मीका फिर
अनुग्रह हुआ।

यज्ञात्मक विष्णुने क्या साधारण प्रार्थनामात्रसे ही प्र
होकर लक्ष्मीका पुनरावर्तन करा दिया था देवम
नहीं। आत्मरूप आधिदैविक नभस्वान् समुद्र, आधि
और आध्यात्मिक समुद्रोंको गर्भमें रखनेवाला आधि
मनःशरीररूप अर्णव समुद्रोंके मन्थनसे ही प्रकृतिसिद्ध
यज्ञकर्मात्मक विष्णुके प्रसादसे ही श्रीयुक्ता माता
अनुग्रह प्राप्त किया जा सकता है, यही उक्त आख्यानका
श्रीयुक्ता लक्ष्मीके पति हैं भगवान् विष्णु 'यज्ञो वै
(शत० १।१।२।१३) 'यज्ञ ही विष्णु है।'
मूलाधार है **'त्रयीवेदात्मक तत्त्ववेद'** जैसा कि—'

विद्या यज्ञः' (शत० १ । १ । ४ । ३)—'ते देवा अब्रुवन् यज्ञं कृत्वा सत्यं तनवामहै' इत्यादिसे स्पष्ट है । अर्थात् कर्मरूप यज्ञका ही नाम विष्णु है ।

जिस देशमें त्रयीवेदवाले यज्ञका प्रतिनिधि कृष्णमृग स्वच्छन्द विचरण करता रहता है, वही देश वेदात्मक-यज्ञ-विष्णुका घर माना गया है, एवं उसी यज्ञिय नैगमिक देशमें वेदमूलक वर्णाश्रमाचारसिद्ध अर्थात् प्रकृतिसिद्ध आत्मप्रतिष्ठ धर्म (आत्म-बुद्धि-मनः-शरीर-समन्वयात्मक अभ्युदय और निःश्रेयससाधक 'मानवधर्म' नामक सनातनधर्म) पुष्पित-पल्लवित हुआ है । जैसा कि कहा है—

यस्मिन् देशे मृगः कृष्णस्तस्मिन् धर्मान्निबोधत ।

(याज्ञवल्क्य १ । २)

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः ।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः ॥

(मनु० २ । २३)

ऐसा देश जिसकी प्राणप्रतिष्ठा—**'मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः'** (ऋ० १० । १८० । २) के अनुसार 'मृग' 'कृष्णमृग' नामसे प्रसिद्ध भारत अग्नि है । पश्चिमके समुद्रवाले देशोंको 'वारुणदेश' ही कहा जायगा । पश्चिमदिशाके दिक्पाल तथा आपोलोकके लोकपाल वैसे ही वरुण माने गये हैं, जैसे कि पूर्वदिशाके दिक्पाल एवं ऐन्द्राग्न-ज्योतिर्लोकके लोकपाल इन्द्र ही माने गये हैं । अतः पूर्व भारतवर्षको जहाँ लक्ष्मीका श्वशुरगृह माना जायगा, वहाँ वरुणरूप पश्चिमी देशोंको लक्ष्मी-का पितृगृह ही कहा जायगा ।

वर्तमानकी दीपावली तो हमारा उपहास ही किया करती है । जो अग्निक्रीड़ा कर सकते हैं, आगसे खेल सकते हैं । संघशक्तिके रूपसे समुद्रमन्थन कर सकते हैं, जिनके दीपपात्रों (शरीर-मन-बुद्धिरूप अग्नि-चन्द्र-सूर्यज्योतिके अवलम्बरूप दीपपात्रों) में तैलमात्रा (आत्मरस) परिपूर्ण है, वास्तविक दीपावलीके पर्व, उत्सव और आयोजनोंका अधिकार उन्हींको प्राप्त हुआ है । दीपज्योतिसे वे कर्मनिष्ठ-धर्मनिष्ठ-आचारनिष्ठ मानव लाभ उठा सकते हैं, जिनके चर्मचक्षुओंमें ज्योतिर्मय चाक्षुषपुरुष (सूर्य) जागरूक है । अतः पूर्वीय भारतवर्षात्मक इन्द्रदेशकी लक्ष्मी पश्चिमके वारुणदेशोंमें चली गयी । जहाँ लक्ष्मी चली गयी, वहाँ दीपावली जगमगा उठी ।

अवश्य ही यहाँकी (पूर्वकी) दीपावलीकी दीपज्वाला तो बुझ गयी थी, किंतु दीपपात्रों (शरीरों) में थोड़ा तैल सांस्कृतिक-परम्परासे सौभाग्यसे बचा रह गया था । वहाँके (पश्चिमके) दीपोत्सवके आयोजकोंने अनुभव किया कि 'पानीसे भी कहीं दीप जले हैं' दीप जलते रहते हैं तैल या घृतसे, और उसका अपने खारे समुद्रमें अभाव है । शीघ्र तैलका अन्वेषण आरम्भ हो पड़ा । पूर्व देशोंपर दृष्टि गयी और इनके शेष बचे हुए सभी प्रकारके तैलकोश स्वाधीन कर लिये गये । यों दीपावलीके साथ-साथ पूर्वीय देशोंका प्राणात्मक और भौतिक सभी प्रकारका तैल-घृत भी बलपूर्वक निकाल लिया गया, कस-कसकर चुआ लिया गया, निचोड़ लिया गया और हम कङ्कालरूपसे बच गये । यही है तैल-घृत-शून्या, मज्जा-मांस-रुधिरशून्या अतएव दीपप्रभाशून्या वर्तमान भारतकी निस्तत्त्वा दीपावली, जो प्रतिवर्ष हमारी सोयी हुई वेदनाओंको जगाकर हमें पीड़ित किया करती है ।

वर्तमान भारतकी आत्म-बुद्धिके प्रकाशसे शून्य, केवल मनःशरीरवाली शून्यं शून्यंकी अनात्मभावनासे समन्विता दुःखमात्रप्रवर्तिका ऐसी अलक्ष्मीरूपा यह दीपावली कब भारतीय दृष्टिसे 'सांस्कृतिक-दीपावलीपर्व' के रूपमें परिणत होगी ? इस प्रश्नका यथार्थ समाधान आज हम भारतवासी **किससे प्राप्त करें ?**

इस प्रश्नके समाधानकी प्रस्तावना होगी—निगमागमकी संस्कृतिका अनन्य स्वाध्यायव्रत । जिस प्रस्तावनाको मतवादोंसे, सत्ताश्रयसे और स्वाध्यायविरोधी सब तन्त्रोंसे सर्वथा निरपेक्ष—तटस्थ ही रखना पड़ेगा । तभी भारतवर्षके सांस्कृतिक आचार और सांस्कृतिक-आयोजनोंका ज्ञान-विज्ञानात्मक मौलिक स्वरूप स्पष्ट हो सकेगा । केवल इस स्पष्टताके बलपर ही श्रीयुक्त महान् सांस्कृतिकपर्व दीपावली-महोत्सवका यथार्थरूपसे आचरण करता हुआ भारतराष्ट्र राष्ट्रलक्ष्मीको प्रसन्न करनेमें समर्थ बन सकेगा ।

◆

अधर्म और पापसे सावधान रहिये

(लेखक—श्री श्रीराम माधव चिंगले, एम्० ए०)

प्राणिमात्र चाहता है कि उसे सुख मिले, दुःख न मिले। सुख भी वह ऐसा चाहता है जिसमें दुःखका लेश न हो और जो पूर्ण और नित्य हो। ऐसा नित्य पूर्ण आत्यन्तिक सुख मोक्षमें ही है। पृथ्वीतलपर वर्तमान समस्त प्राणियोंमें कर्माधिकारी केवल मनुष्य ही है। इसलिये एकमात्र मनुष्य ही शाश्वत सुखरूपी मोक्षका अधिकारी है। केवल मनुष्य ही ऐसी बुद्धिसे युक्त है, जो ब्रह्मसाक्षात्कार कर सकती है ('ब्रह्मावलोकधिषणम्')। मनुष्य यदि योग्य मार्गका अनुसरण करे तो वह नरसे 'नारायण' बन सकता है। इस नरदेहकी इतनी महान् महिमा है; किंतु मनुष्य अनादि अविद्याके प्रभावसे अपने सच्चे स्वरूपको भूलकर बाह्य जगत्के शब्द-स्पर्शादि विषयोंके प्रलोभनोंमें फँसकर ब्रह्मसाक्षात्काररूप एकमात्र परम लाभसे वञ्चित रहता है और जन्म-मरणके चक्करमें पड़ा लगातार दुःख उठाता रहता है। अनन्त जन्मोंके कुसंस्कारोंके फलस्वरूप मनुष्यके मनमें अगणित पाप-वृत्तियाँ घर किये रहती हैं, जो मनुष्यको मानो बलात् सन्मार्गसे खींचकर असन्मार्गमें प्रवृत्त करती रहती हैं, अतः मनुष्य उसके सच्चे स्वरूप-सुखसे वञ्चित रह जाता है। अनन्त कालके अभ्याससे दृढ़ हुई—ये पापवृत्तियाँ एक दिनमें क्षीण नहीं हो सकतीं। इनपर धीरे-धीरे ही पुण्याचरणके द्वारा विजय प्राप्त की जा सकती है। इस प्रकारके शुभसंकल्पसे प्रेरित होकर ही आत्मकल्याणेच्छु साधक भगवन्नाम-जप, गीता-रामायणादिके अध्ययन तथा सदाचरणादि अनेकों साधनोंके अवलम्ब लेकर, इनपर विजय प्राप्त करनेमें प्रयत्नशील होते हैं। उनकी इस शुभ प्रवृत्तिको दृढ़ करनेके हेतु हृदयस्थ पापवृत्तियोंपर विजय प्राप्त करनेके कुछ उपायोंपर प्रकाश डालना प्रस्तुत निबन्धमें अभिप्रेत है।

ध्यान रहे, भगवन्नाम-जपादि साधन भवरोग-नाशके लिये रामबाण ओषधि है। परंतु औषध-सेवनके साथ ही जैसे कुपथ्यसे बचना आवश्यक होता है, वैसे ही इस रामरसायनके सेवनके साथ ही पापाचरणादिरूप कुपथ्यसे बचना आवश्यक है। तभी ये साधन शीघ्र अभीष्ट फल दे सकते हैं। अन्यथा, पापकर्मोंके प्रक्षालनमें ही इनकी सारी शक्ति खर्च हो जाती है और साधकको इ यथार्थ अभीष्ट फल नहीं मिल पाता।

इस दिशामें पाप-पुण्यका स्पष्ट तथा यथार्थ ज्ञान विवेक सबसे पहले आवश्यक है। ध्यान रहे, सारे व्यवहार ज्ञानाधीन ही होते हैं। जिसका जै ज्ञान, वैसा ही उसका व्यवहार होता है। ज्ञान बदलने साथ ही व्यवहार, आचरण भी बदल जाता है व्यवहारमें परिवर्तन होते ही सम्पूर्ण मनुष्य ही आमू बदल जाते हैं। दूषित तथा विपरीत ज्ञानके कारण वाल्मीकि अपने जीवनके पूर्व भागमें डाकू थे; कि इस ज्ञानके बदलते ही, यथार्थ ज्ञानके प्राप्त होते तदनुसार आचरणके फलस्वरूप वे महर्षिपदपर आ हो गये। भगवान् बुद्धको राज्य, सुन्दरी स्त्री, नव पुत्र इत्यादि सभी सांसारिक वैभव प्राप्त थे; किंतु यथार्थ ज्ञानके उदय होते ही कि 'यह सब सांसा वैभव नश्वर है'—वे इन सबसे तुरंत अलग हो गये उन्होंने शाश्वत सुख प्राप्त करके ही चैन ली। इ प्रकार मनुष्य यदि भले या बुरे कर्म करते समय उ भावी अच्छे या बुरे अनिवार्य परिणामोंपर अच्छी विचार कर ले तो उस विचारके द्वारा उसे पापकर्म उनके दुष्परिणामोंसे बचनेमें बड़ी सहायता मिले कर्मसिद्धान्त अटल है। भौतिक विज्ञानका भी इसे समर्थन प्राप्त है। इसी सिद्धान्तका अनुसरण करके कहता है कि सुख—जिसकी सभी इच्छा करते हैं—पुण्य पवित्र कर्मका फल है। दुःख—जिसे कोई नहीं चाह पाप—दुष्कर्मका फल है। किंतु सुखकी इच्छा करने तो सुख नहीं मिल जाता। केवल इच्छा हो, पर उ अनुसार योग्य आचरण न हो तो उसकी शेखचिल्लीके मनोराज्यके सदृश असत् हो जाती है अतः यथार्थ सुख-प्राप्तिके लिये पापकर्मोंसे मुँह मो पुण्य-सम्पादन करना पड़ता है। किंतु हम अपने व्य इससे ठीक विपरीत स्थिति पाते हैं। इस प्रत्यक्ष स्थितिका अनुवाद निम्न श्लोकमें बहुत ही उत्त साथ किया गया है—

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः ।
न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः ॥

'मनुष्य पुण्यके फल (सुख) की तो इच्छा करते हैं; किंतु पुण्यकर्म करनेकी इच्छा नहीं करते । (इसी प्रकार) वे पापके फल (दुःख) को तो नहीं चाहते किंतु पाप कर्म प्रयत्नपूर्वक करते हैं ।' बताइये, ऐसी स्थितिमें मनुष्यको किस प्रकार सुख मिल सकता है और किस प्रकार वह दुःखसे बच सकता है ? इसी आशयकी महर्षि व्यासकी निम्न शिकायत भी देखिये—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे ।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ॥

'मैं दोनों भुजाएँ ऊपर उठाकर जोरसे पुकारकर कहता हूँ कि धर्मसे ही अर्थ और कामकी प्राप्ति होती है । इसलिये धर्माचरण ही क्यों न किया जाय ? किंतु मेरी कही कोई नहीं सुनता है ।' यही तो माया या अविद्याका प्रभाव है। पाण्डवगीतामें दुर्योधन कहते हैं—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।
केनापि देवेन हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥

'धर्म क्या है यह मैं जानता हूँ तथापि उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं होती । अधर्म क्या है यह भी मैं जानता हूँ; किंतु उससे मैं छुटकारा नहीं पा सकता । मेरे हृदयमें स्थित कोई एक देव हैं । वे मुझसे जैसा कराते हैं, वैसा ही मैं करता हूँ ।'

दुर्योधनके उक्त कथनका क्या अर्थ है ? यदि इसका सीधा अर्थ लिया जाय तो मनुष्य अपने कृत कर्मोंके दायित्वसे मुक्त हो जाय और सारे दोष ईश्वरके सिरपर ही लद जायँ । अतएव इसका यह अर्थ लेना चाहिये कि मनुष्य कर्म करनेके लिये तो स्वतन्त्र है किंतु कृतकर्मोंके फल भोगनेमें परतन्त्र है । साथ ही, विशिष्ट प्रकारके कर्म करनेसे बार-बार उन्हींके करनेकी प्रवृत्ति बढ़ती है और इस अभ्यासके फलस्वरूप विशिष्ट प्रकारके संस्कार दृढ़ होते जाते हैं । फिर मनुष्यका उनसे छूटना कठिन हो जाता है । मनुष्यके ये स्वकृत बन्धन महाभयानक होते हैं । व्यसनासक्त मनुष्यके उदाहरणसे इस बातको हम अच्छी तरह समझ सकते हैं । पहले तो मनुष्य निरे शौकसे या केवल देखादेखी चाय, सिगरेट, शराब या अन्य मादक पदार्थोंका सेवन प्रारम्भ करता है । उस समय उसे इनकी कोई आवश्यकता नहीं होती । इतना ही नहीं, इनके सेवनसे पहले-पहले बहुत कष्ट भी उठाना पड़ता है । उलटी आती है, जी मचलाता है, चक्कर आने लगते हैं । किंतु अभ्याससे मनुष्य इनके इतना अधीन हो जाता है कि फिर प्रयत्न करनेपर भी इन्हें छोड़ नहीं सकता । ऐसा मनुष्य यदि 'केनापि देवेन' की दुहाई देने लगे तो वह कहाँतक समर्थनीय होगी ? तात्पर्य यह कि मनुष्य अपने कर्मोंके लिये स्वयं ही जिम्मेदार है । ईश्वर केवल कर्मफलनियन्ता है । इसीसे अपने सुख-दुःखके लिये दूसरोंको जिम्मेवार ठहरानेकी वृत्तिको नीतिज्ञोंने 'कुबुद्धि' कहा है—

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता परो ददातीति कुबुद्धिरेषा ॥

यह निर्विवाद है कि हमारी सारी प्रवृत्तियाँ सुखके लिये ही होती हैं । किंतु अज्ञानके कारण हम सुखप्राप्तिके सच्चे उपायको नहीं जानते । शास्त्रकार हमें सुखप्राप्तिकी यह सच्ची कुंजी बतलाते हैं कि 'अधर्मको छोड़कर धर्मको पकड़ो ।' बिना अधर्मको छोड़े और धर्मको पकड़े कभी सुख प्राप्त नहीं हो सकता । यही आशय निम्न श्लोकमें प्रकट किया गया है—

सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः ।
सुखं च न विना धर्मात् तस्माद्धर्मपरो भवेत् ॥

तात्पर्य यह कि 'सुख प्राप्त करनेके लिये (फिर यह सुख चाहे लौकिक हो अथवा पारमार्थिक) मनुष्यको पापाचरणसे सर्वथा बचकर भगवन्नामस्मरणादि तथा सत्कर्माचरणादि-द्वारा पुण्य संचय करना चाहिये । इन साधनोंका सकामभावसे सेवन करनेपर ऐहिक सुखोंकी प्राप्ति होती है । किंतु इन्हीं साधनोंका निष्कामभावसे सेवन करनेपर मनुष्य चित्तशुद्धिके द्वारा ज्ञानका अधिकारी हो जाता है और उसे यथार्थ ज्ञानसे शाश्वत सुखकी प्राप्ति भी हो सकती है एवं सगुण प्रेमियोंको, स्वरूपके प्रेमियोंको भगवत्तत्त्वका दिव्य सगुण साक्षात्कार भी हो सकता है ।

उपर्युक्त साधनोंका सेवन करते समय मनुष्य यदि दो बातोंका पूरा-पूरा ध्यान रक्खे तो उसे पापाचरणसे बचनेमें और पुण्य सम्पादन करनेमें बहुत अधिक सहायता मिल सकती है । ये दो उपाय ये हैं—

(१) मनुष्य जब कोई पाप कर्म करता है तब वह प्रायः यह भ्रान्त धारणा बना लेता है कि 'मुझे कौन

देखता है। यह बात स्पष्ट है कि सबके देखते हुए मनुष्य बहुत ही कम ऐसे काम करता है, जिन्हें सभ्य समाज अच्छा नहीं समझता। किंतु चोरी-छिपे वह ऐसी बातें करनेसे नहीं हिचकता। 'काला बजार' शब्द प्रयोग इसी मनोवृत्तिका द्योतक है। किंतु यदि मनुष्यको इस प्रकारके पापकर्म करते समय इस बातका ज्ञान और निश्चय हो जाय कि उसके एकान्तसे एकान्तमें किये हुए पापकर्मके भी अदृश्य रूपसे देखनेवाले अनेक हैं तो उसे पापकर्मसे परावृत्त होते देर नहीं लगेगी। इसी प्रकारकी सूचना भगवान् मनुने निम्न श्लोकमें दी है—

मन्यन्ते वै पापकृतो न कश्चित्पश्यतीति नः।
तांस्तु देवाः प्रपश्यन्ति स्वस्यैवान्तरपूरुषः॥
(८ । ८५)

'पाप करनेवाले समझते हैं कि उन्हें कोई नहीं देखता है। किंतु उनको याद रखना चाहिये कि उन्हें देखनेवाले कई देव हैं और है उन्हींके हृदयमें बैठा हुआ पुरुष !'

मनुष्यके छिपकर किये हुए पापकर्मोंको देखनेवाले देवता ये हैं—

आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च।
अहश्च रात्रिश्च उभे च संध्ये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम्॥

चौदह देव मनुष्यके शुभाशुभ कर्मोंको देखते हैं—सूर्य, चन्द्रमा, वायु, अग्नि, द्युलोक, पृथ्वी, जल, हृदय—हृदयस्थ पुरुष या चैतन्य, यम, दिन, रात एवंइनके दो संधिकाल और धर्म। ध्यान रहे, वैदिक देवता-विज्ञानके अनुसार उक्त चन्द्र-सूर्यादि केवल प्राकृतिक जड पदार्थ नहीं हैं। इन सबसे अभिप्राय इनके अभिमानी देवताओंसे है, जो इनके भीतर ही वर्तमान रहते हैं। चन्द्रसूर्यादि पिण्ड इनके बाह्य शरीरमात्र हैं। ये विभिन्न देव एक ही परब्रह्मके सोपाधिक भेद हैं, जो सृष्टिव्यापारमें महत्त्वका काम करते हैं। जिस प्रकार एक ही केन्द्रीय राजसत्ता अधिकार-विभागद्वारा देहातके कोने-कोनेतक फैली रहती है और जिस प्रकार इस सत्ताके गुप्तचर बिना किसीके जाने अपना काम करते रहते हैं, उसी प्रकार सृष्टिकालीन पारमेश्वरी-व्यवस्थामें भी सोपाधिकरूपसे सत्ताविभाजनके सिद्धान्तानुसार अनेक देवताओंके द्वारा सृष्टिके व्यापार नियन्त्रित होते रहते हैं; और यहाँ भी मनुष्यकी गुप्त-से-गुप्त कृतियोंको देखनेवाले गुप्तचर उसके साथ लगे रहते हैं। आप मनुष्यकी आँखोंमें धूल झोंक सकते हैं, किंतु इन पारमेश्वरी-शक्तिरूप देवताओंकी आँखोंमें और स्वयं हृद सहस्र नेत्रवाले अन्तःसाक्षी परमात्माकी आँखोंमें कैसे धूल झों सकते हैं ? पाप करते समय मनुष्य इस बातका ध्यान न रखता। किंतु जब इन कर्मोंके दुःखप्रद अनिष्ट फल मिल प्रारम्भ हो जाते हैं, तब वह ईश्वर और दैवको कोसता है ऐसे समय भी वह अपने ही किये हुए कर्मको देखकर उस अनुताप नहीं करता !

(२) इस सम्बन्धमें एक दूसरी प्रचलित भ्रान्त धार यह है कि 'सत्याचरण या धर्माचरणका अवलम्बन करने और किसी भी रूपमें असत्यका आश्रय न लेनेपर व्यावहारि जगत्में, विशेषतः व्यापार-व्यवसायादि सदृश क्षेत्रोंमें सफल नहीं मिल सकती।' किंतु यह कोई बुद्धिमानी या दूरदर्शि नहीं है। तात्कालिक लाभकी प्राप्तिके लिये यदि आगे चल असत्यके आश्रयके फलस्वरूप इह-पर दोनों लोक बिगड़ते हैं तो ऐसा लाभ किस कामका ? पाप-पुण्य, धर्माधर्म-स्व अतीन्द्रिय विषयमें एकमात्र अधिकार रखनेवाली श्रुति पुका पुकारकर कहती है—**'सत्यमेव जयति नानृतम्'** (मुण्ड उ० ३ । १ । ६) सत्य बोलनेवालेकी ही विजय होती है असत्य बोलनेवालेकी नहीं। असत्य भाषण (जो असत्याच का भी उपलक्षण समझा जाना चाहिये) के भी घोर दुष्परि श्रुति बतलाती है—**'समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृ मभिवदति'** (प्रश्न० उ० ६ । १) अर्थात् जो अस भाषण करता है वह जड़मूलसे सूख जाता है ! श्रुतिके इ आशयको स्मृतिकार भगवान् मनुने निम्न श्लोकमें स्पष्ट क दिया है—

अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति॥
(४ । १७

'परस्व-हरण या परद्रोहादिरूप सब तरहके अधर्म यद्यपि तात्कालिक रूपसे धनादिकी समृद्धि होती-सी दिख देती है, जिसके फलस्वरूप मनुष्य अनेक नौकर-चाकर, धनधान्यादिसे सम्पन्न होता-सा और अपने शत्रुओंपर वि प्राप्त करता-सा दिखायी देता है, तथापि कुछ समयके प जब किया हुआ अधर्म अपना फल देने लगता है, तब उस सारे ऐश्वर्यके सहित मनुष्यका नाश हो जाता है !'

अधर्म तथा अन्यायसे प्राप्त धन कितने समयतक रहता है इसकी भी अवधि हमारे त्रिकालज्ञ शास्त्रकारोंने बतलायी है—

अन्यायोपार्जितं द्रव्यं दशवर्षाणि तिष्ठति ।
प्राप्ते चैकादशे वर्षे समूलं च विनश्यति ॥

यह अवधि दस वर्षकी है । ग्यारहवाँ वर्ष लगते ही वह जड़मूलके सहित नष्ट होने लगता है । तात्पर्य यह कि पाप या अधर्मके तात्कालिक तथा आपातरमणीय फलोंके भुलावेमें न पड़कर, उनके भावी दुष्परिणामोंकी ओर ध्यान रखकर उनसे बचनेमें ही बुद्धिमानी है । यही सच्ची दूरदर्शिता है ।

सुखार्थीको सदैव इस बातका विवेक जाग्रत् रखना चाहिये कि पापकर्म आदि, मध्य तथा अन्त तीनों ही कालोंमें दुःखप्रद है । अन्तःकरणमें पापकर्मके संकल्पका उदय होते ही मनुष्य सुखकी नींदसे हाथ धो बैठता है । जिस समय मनुष्य प्रत्यक्षरूपमें पापकर्ममें प्रवृत्त होता है, उस समय उसे छिप-छिपकर उस कर्मके करनेमें कितना भारी कष्ट उठाना पड़ता है । एक असत्यको छिपानेके लिये सैकड़ों असत्योंका आश्रय लेना पड़ता है ! फिर इस कर्मके कर चुकनेपर वह कहीं प्रकट न हो जाय, इस बातकी रात-दिन चिन्ता रखनी पड़ती है । इन उत्तरोत्तर बढ़ते हुए प्रयासोंमें हृदयकी शान्ति और सुख कहाँ-के-कहाँ काफूर हो जाते हैं । पापका तो स्वभाव ही है कि वह मनुष्यके हाथसे होते ही अपने जनकको खाने लगता है । अन्ततोगत्वा एक-न-एक दिन किया हुआ पाप प्रकट हो ही जाता है । सत्यका तो यह स्वभाव ही है कि वह छिपाये नहीं छिप सकता, दबाये नहीं दब सकता । एक-न-एक दिन वह सामने आकर ही रहता है । तब फिर मनुष्य सबकी नजरोंमें गिर जाता है और मानवी तथा ईश्वरी उभयविध न्यायालयके दण्ड-विधानानुसार उसे दण्ड भोग करना पड़ता है । यदि मनुष्य इस अनर्थपरम्परासे बचना चाहे तो उसे अपने हृदयमें पाप-संकल्पको उठने ही नहीं देना चाहिये । यदि किसी कारणवश वह उठ भी जाय तो उसके भावी दुष्परिणामोंका चित्र सामने लाकर तुरंत उसकी जड़ काट देनी चाहिये । यदि आप संकल्परूपी पापबीजको विवेकरूपी अग्निमें भून देते हैं तो फिर कभी भी उससे अंकुरादि उत्पन्न नहीं होंगे । इसी आशयसे महाराष्ट्र संत समर्थस्वामी रामदास हृदयस्थ पापसंकल्पको छोड़नेका और सत्य संकल्प धारण करनेका उपदेश देते हैं—

मना पापसंकल्प सोडूनि द्यावा ।
मना सत्यसंकल्प जीवीं धरावा ॥

अर्थात् हे मन ! तू पापसंकल्पको छोड़ दे और सत्यसंकल्पमें जी लगा ।

यह बात सुनिश्चित है कि यदि पापकर्म करते समय मनुष्यके सामने उनके भावी दुष्परिणामोंका जीता-जागता चित्र खड़ा हो जाय तो उसके हाथसे वह कर्म कदापि न हो । प्रायः होता यह है कि मनुष्य तात्कालिक लाभकी ओर दृष्टि गड़ाकर पापकर्म कर बैठता है । किंतु यदि उसके हृदयमें यह विवेक जाग्रत् हो जाय कि पापकर्मसे जितना लाभ होगा, भविष्यमें उससे कई गुना अधिक हानि होगी तो वह कदापि पापकर्ममें प्रवृत्त न होगा । मान लीजिये एक मनुष्य कई दिनोंसे भूखा है । ऐसे मनुष्यके सामने कोई पञ्च-पक्वानोंसे भरा हुआ थाल रख दे और उन्हें छूनेसे पहले ही उसका कोई विश्वासपात्र हितैषी उसे इशारा कर दे कि इन पदार्थोंमें जहर मिला हुआ है तो क्या वह भूखा मनुष्य उनका सेवन करेगा ? सेवन करना तो दूर रहा, वह उन्हें छूयेगा भी नहीं और तत्काल वहाँसे भाग खड़ा होगा ।

शास्त्र मनुष्यका सच्चा हितैषी है । वह अज्ञानी मनुष्यको (जो पापकर्मके तात्कालिक फलकी ओर ही देखता है) पापकर्मके घोर भावी दुष्परिणामोंसे परिचित कराकर उससे छुड़ाना चाहता है । यही 'निषेध' शास्त्रका प्रयोजन है । इसी प्रकार मनुष्यको पुण्यकर्म प्रारम्भमें कष्टप्रद मालूम होते हैं; क्योंकि इन्हें करते समय मनको मारना पड़ता है । किंतु शास्त्र इन कर्मोंके भावी सुमधुर फलोंसे परिचित कराकर मनुष्यकी इनमें प्रवृत्ति कराता है । शास्त्रके 'विधि' वचनोंका यही कार्य है । यदि मनुष्यको भावी सुखका पूर्ण ज्ञान हो जाय तो वह तात्कालिक कष्टकी उपेक्षा ही करता है । परीक्षार्थी विद्यार्थी अपने भावी हितके लिये अध्ययनमें कितना परिश्रम करता है, यह सबको विदित ही है ।

त्रिविध सुखका रहस्य भगवान्ने श्रीमद्भगवद्गीतामें भलीभाँति समझाया है—

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥
(१८ । ३६–३९)

'हे भरतश्रेष्ठ (अर्जुन) ! अब तुम मुझसे सुखके तीन प्रकारोंका स्वरूप सुनो—जिस सुखमें साधक भजन, ध्यान और सेवादिके अभ्याससे रमण करता है और दुःखोंके अन्तको प्राप्त होता है । जो सुख पहले साधनाभ्यासके समय विषके समान अप्रिय मालूम होता है; किंतु परिणाममें अमृतके तुल्य प्रिय और हितावह होता है, इस प्रकारका भगवत्-विषयक बुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न सुख सात्त्विक सुख कहलाता है ।

'जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है और जो पहले भोगकालमें अमृतके समान प्रिय लगता है, किंतु जो परिणाममें विषके समान कटु फलदायक होता है—ऐसा सुख राजस कहा गया है ।

'जो सुख पहले और पीछे भी, भोगकालमें और परिणाममें भी आत्मामें मोह उत्पन्न करता है, ऐसा निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न सुख तामस कहा गया है ।'

श्रीभगवान्‌ने अर्जुनको निमित्त बनाकर मनुष्यमात्रके कल्याणके लिये स्पष्ट शब्दोंमें सब बातोंका स्पष्टीकरण कर दिया है । अतएव प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है कि वह भगवद्वचनमें श्रद्धा रखकर उसके अनुसार आचरण करे तथा अपना शाश्वत कल्याण करके नरदेहको सफल बना ले ।

मनुष्य जिन विषयसुखोंको ग्राह्य समझकर घोर पापकर्म करता है उनका स्वरूप क्या है ? कठश्रुति बालक नचिकेताके मुँहसे इसका उत्तर देती है—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्
सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः ।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव
…………………… ॥

अत्यन्त विनश्वर इनका स्वरूप है । ये आज दिखा हैं, किंतु कल रहेंगे या नहीं इसमें भी संदेह है । इसके विषयसेवन मनुष्यकी सब इन्द्रियोंका तेज हरण कर लेता फिर सबका जीवनकाल भी अल्प ही है । इन्हीं कार विवेकी पुरुषोंने सब प्रकारके कर्मफलोंको दुःखरूप ही क है—'दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' (पातञ्जलयोगसूत्र २-१४ श्रुति भी मुक्तकण्ठसे कहती है—'अतोऽन्यदार्त्तम्' (उ० ३ । ४ । २) यानी एक परब्रह्म या आत्मस्व छोड़कर और सब विनाशसे ग्रस्त हैं । ऐसी स्थितिमें मनु चाहिये कि गीता-रामायणादि-सरीखे ग्रन्थोंसे पाप-पुण्या स्वरूप समझकर तथा अपने कर्तव्य-कर्मका भलीभाँति प्राप्त करके, अन्तःकरणकी मलिन वासनाओं तथा पापवृत्ति को दूर करे और धर्ममार्गका ही आचरण करे, जिससे इ कल्याण हो । भगवन्नामरूपी रसायन भवरोगपर अव्यर्थ औ है । किंतु इसका सेवन करते समय परद्रव्य, परदारा, निन्दा, असत्याचरण, परपीड़ा आदिके सदृश पापरूपी कु से बचना परम आवश्यक है । तभी इसका अभीष्ट फल हो सकता है । अब हम निम्न बोधवचनोंद्वारा इस विवे का उपसंहार करें—

नश्वरं सुखमनादरणीयं स्वान्तरं सुविमलं करणीयम् ।
रामनाम सततं जपनीयं तेन संसृतिजलं तरणीयम् ।
सर्वथा स्वहितमाचरणीयम् ।

पाप त्यागकर सदाचरण करो

इह-पर दोनों लोकमें जो चाहो कल्यान ।
पाप-कर्मसे विमुख हो भजो सदा भगवान ॥
काम-क्रोध-मद-लोभ, भय, कटु भाषण, अभिमान ।
पर-दारा, पर-द्रव्य, पर-पीड़ा, पर-अपमान ॥
तज इन सबको सर्वथा, कर सबका सम्मान ।
करो नित्य सत्-आचरण सेवो साधु सुजान ॥

महाराजा जनकके चरित्रका एक पक्ष

(लेखक—डाक्टर श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू, एम्०ए०, डी० लिट्०)

महाराजा जनक सामान्य राजा नहीं थे । ज्ञान और वैराग्यमें जैसे वे विलक्षण थे, वैसे ही वे राजकार्यमें कुशल थे । श्रीसीताजीने सुमन्त्रसे कहा—

पितु बैभव बिलास मैं डीठा । नृप मनि मुकुट मिलित पद पीठा ॥

राजा जनकके पाँव रखनेकी चौकीसे राजाओंके मणि-मुकुट स्पर्श करते रहते थे । एक उच्च अधिकारका प्राप्त करना कठिन है, परंतु इससे कहीं अधिक कठिन इस उच्चाधिकारका निर्वाह करना है । जनक एक वैभवसम्पन्न महीपति थे और उन्होंने अपने स्थानकी रक्षा अपूर्व योग्यतासे की । नरपाल होते हुए ही वे राजा, जनता और ऋषि-मुनियोंके सम्मानपात्र बने रहे । यह उनके शासन-कौशल और उच्च व्यक्तित्वका प्रमाण है । सीता-स्वयंवरमें आये हुए सहस्रों पराक्रमी राजा एकके बाद एक हारकर बैठते जा रहे थे । त्रिपुरारिके धनुषने सबका पराक्रम विफल कर दिया ।

'दीप दीपके भूपति नाना'

एक-एक करके, हार मानकर, सिर झुकाकर बैठ गये । ऐसा कोई नहीं रहा जो—

कुँअरि मनोहर बिजय बड़ि कीरति अति कमनीय ।

—की लालसासे धनुष तोड़नेके लिये उठनेका साहस करता । जनक यह लीला देख रहे थे । जिनको अपने बल और पौरुषका गर्व था, उनके गर्वको विदेह-राजाने चूर होते देखा । मैथिल-नरेशने अभिमानका सिर झुकते देखा, उनकी हार देखी जो अपनेको विजय-वीर समझते थे और उनके स्वप्न टूटते देखे जिन्होंने अपने अरमानोंसे मधुर-स्वप्न-जगत् बनाया था । तब जनकको एक बात याद आयी । उनको यह खटका कि जो राजकुमार मुनि विश्वामित्रके साथ आये थे वे क्यों नहीं उठे ! 'सोभासिंधु खरारी' श्रीरघुनाथजीको देखकर जनकपुरकी युवतियोंको यह लगा कि—

'जोगु जानकिहि यह बरु अहई'

और रंग-भूमिमें नर-नारियोंकी एक यही लालसा थी—

एहि लालसाँ मगन सब लोगू । बरु साँवरो जानकी जोगू ॥

जो बात सहस्रों नर-नारियोंके हृदयमें उठी, वही राजा जनकके हृदयमें उठी । राजा जनकको अपनी वह दशा याद थी, जब वे श्रीरघुनाथजीकी सुन्दरतासे विदेह हो गये थे ।

मूरति मधुर मनोहर देखी । भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी ॥

यहाँ 'मूरति' एकवचन है और यह शब्द श्रीरघुनाथजीके ही लिये प्रयोग हुआ है । कविवर तुलसीदास-जीकी शैली है कि वे एक बार तो श्रीरघुनाथजीका सबके साथ वर्णन कर देते हैं और बादमें उनका विशेष प्रकारसे अलग वर्णन करते हैं । जैसे बाल-लीलाका वर्णन करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं—

'चारिउ सील रूप गुन धामा'

यहाँ 'चारिउ' में सामूहिक रूपसे श्रीरघुनाथजी आ गये, परंतु फिर यह कहकर कि—

'तदपि अधिक सुखसागर रामा'

कविवर तुलसीदासजी श्रीरघुनाथजीको एक वर्गविशेषमें कर देते हैं । इसी प्रकार—

जिन्ह बीथिन्ह बिहरहिं सब भाई । थकित होहिं सब लोग लुगाई ॥

यहाँ 'सब भाई' में श्रीरघुनाथजीसहित चारों भाई आ गये और उनके माधुर्यका नर-नारियोंपर जो प्रभाव पड़ा, वह कविवरने वर्णन कर दिया—'थकित होहिं ।' परंतु इतनेसे भक्तवर तुलसीदासजीको संतोष नहीं हुआ ।

उन्होंने कहा—

कोसलपुर बासी नर नारि बृद्ध अरु बाल ।
प्रानहु ते प्रिय लागत सब कहुँ राम कृपाल ॥

इस प्रकार एक बार सब भाइयोंके साथ श्रीरघुनाथजीका वर्णन करके कविवरने उनका फिरसे अलगसे गुण वर्णन किया । आगे चलकर अयोध्यामें मुनिवर विश्वामित्रके प्रति राजा दशरथका वचन है—

'सब सुत प्रिय मोहि प्रान की नाईं'

परंतु—

'राम देत नहिं बनइ गोसाईं'

क्योंकि वे विशेष प्रिय हैं ।

इसी प्रकार—

भए सब सुखी देखि दोउ भ्राता। बारि बिलोचन पुलकित गाता॥

दोनों भाइयोंको देखकर प्रेम-आनन्दसे सब पुलकित हो गये और भावकी प्रीतिसे उनके आँसू आ गये; परंतु श्रीरघुनाथजीकी अनुपम मधुर मूर्ति देखकर तो वैराग्य-विभूति विदेह विशेष प्रकारसे अपनेको भूल गये—

मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेखी॥

जिन श्रीरघुनाथजीको देखकर खर और दूषणने कहा कि—

नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे जिते हते हम केते॥
हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुंदरताई॥

और जिनकी रूप-माधुरी देखकर राक्षस-हृदय रजनीचरके भी हाथ न चले—

'प्रभु बिलोकि सर सकहिं न डारी'

उन शोभाधाम खरारि श्रीरघुनाथजीकी अनन्त छबि देखकर राजा जनकको 'अलौकिक सोभा'वाली अपनी 'कुँअरि मनोहर' याद आ गयी; क्योंकि श्रीरघुनाथजीको देखकर राजा जनकके हृदयपर भी वही प्रतिक्रिया हुई जो सहस्रों नर-नारियोंके हृदयोंपर हुई थी कि—

'बरु साँवरो जानकी जोगू'

और इसीलिये अपने संतोषके लिये राजाने ऋषिवरसे यह प्रश्न किया—

कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक। मुनिकुल तिलक कि नृपकुल पालक॥

पूछा तो 'दोउ बालक' के लिये, लेकिन अभिप्राय विशेषकर एकहीसे था; क्योंकि जनकपुरके नरपालको भी यही लगा कि—

जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी। तेहिं स्यामल बरु रचेउ बिचारी॥

लेकिन राजा बुद्धिमान् थे, नीतिनिपुण थे, इसलिये शिष्टाचारके नाते दोनों भाइयोंके सम्बन्धमें प्रश्न किया, केवल एकका ही नहीं पूछा।

इस मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमिके संदर्भमें जनकको यह खटका कि जिन श्रीरघुनाथजीको देखकर—

सहज बिराग रूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥

वे 'दसरथ के जाए' धनुष तोड़ने क्यों नहीं उठे! परम चतुर शासक राजा जनकने विचार किया कि कुछ
बात कहनी चाहिये जिसके कारण यदि उन्हें कोई संकोच
तो उसे त्यागकर वे धनुषभङ्गके लिये अनुप्राणित हो

शोभासिन्धु श्रीरघुनाथजीको देखकर राजा जनकके
में वैसे विचार नहीं उठे, जैसे रानी सुनयनाके मनमें उठे

रावन बान छुआ नहिं चापा। हारे सकल भूप करि दा
सो धनु राजकुँअर कर देहीं। बाल मराल कि मंदर ले

ऐसे विचार राजा जनकके मनमें नहीं उठे।
कारण यह था कि मुनिवर विश्वामित्रका अतुल प्रभाव
जानते थे। यह वे ही विश्वामित्र थे जिन्होंने तपबलसे ब्र
का पद प्राप्त किया था, जिनकी उग्र तपस्याके कारण
ऐसी अद्भुत शक्ति आ गयी थी कि जब त्रिशंकुको
मुनि विश्वामित्रकी इच्छाके विपरीत स्वर्गसे निकालकर पृथ्वी
ओर गिरा दिया तब उन्होंने त्रिशंकुको बीचमें ही
रोक दिया और इन्द्रके व्यवहारसे कुपित होकर मुनि
दक्षिणमें दूसरे सप्त ऋषिमण्डल और नक्षत्रमालाओंकी
आरम्भ कर दी और नये देवतागण भी बनाने आरम्भ
दिये। ऐसे परम तपस्वी, परम शक्तिमान् ऋषिवर विश्वामि
परमप्रिय अनुगामी श्रीरघुनाथजी थे, यह राजा जनक
चुके थे।

उठे सकल जब रघुपति आए। बिस्वामित्रु निकट बै

मुनिवर विश्वामित्रका श्रीरघुनाथजीको निकट बै
और ऋषिका राजासे सप्रेम और सगर्व यह कहना कि—

रामु लखनु दोउ बंधुबर रूप सील बल धाम।

और बलधाम होनेका यह प्रमाण कि—

मख राखेउ सबु साखि जगु जिते असुर संग्राम॥

इन सब बातोंसे राजा जनकको विश्वास हो गया था
ये राजकुमार अद्वितीय हैं, अनुपम हैं, अलौकिक हैं।
स्वयं बलधाम हों, जिनकी अद्भुत और अभूतपूर्व कीर्ति
साक्षी बन गया हो, जिनके ऊपर परम प्रतापी ब्रह्मर्षि विश्वा
जैसे तपस्वीका वरद हस्त हो, ऐसे रघुकुलमणि श्रीरघुना
ही यह आशा की जा सकती थी कि जो औरोंके
असम्भव थे, उन कार्योंको वे सम्भव करके दिखला देंगे।
इनके कुछ कार्योंकी प्रशंसा जनकपुर पहुँच चुकी थी
अहल्योद्धारकी बात जब जानकीजीको मालूम थी तो क्या
जनक उससे अनभिज्ञ रहे होंगे?

इसलिये राजा जनकको यह बात खटकी कि 'रूप सील बलधाम' वाली 'मूरति मधुर मनोहर' अबतक छिपी क्यों बैठी है, अपना अलौकिक पराक्रम वह क्यों नहीं दिखाती ? क्योंकि सत्य तो यही लगता था कि—

जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी। तेहिं स्यामल बरु रचेउ बिचारी॥

'बिचारी' शब्द ध्यान देने योग्य है।

अतएव राजा जनक बोले। कविवर तुलसीदासजीने विदेहके सम्बन्धमें यह नहीं कहा कि 'बोले बचन रोष महुँ साने' बल्कि 'महुँ'के स्थानपर 'जनु'का प्रयोग किया।

नृपन्ह बिलोकि जनकु अकुलाने। बोले बचन रोष जनु साने॥

शासक-प्रवीण राजा जनकने क्रोधका नाटक किया और ऐसे वचन कहे मानो वे क्रोधमें सने हों। राजाने कहा—

दीप दीप के भूपति नाना। आए सुनि हम जो पन ठाना॥
देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आए रनधीरा॥
कुँअरि मनोहर बिजय बड़ि कीरति अति कमनीय।
पावनिहार बिरंचि जनु रचेउ न धनु दमनीय॥

राजा जनक कहते हैं कि 'आए' अपनी इच्छासे और कामना-पूर्तिके लिये आये, कुँअरि और कीर्ति पानेके लोभसे आये, हमने बुलाया नहीं, हमारा प्रण सुनकर आये। देवता स्वर्गलोकसे आये, राक्षस पाताललोकसे आये, पृथ्वीके द्वीप-द्वीपके भूपति आये, जो रणधीर थे, विपुल वीर थे, वे आये, तीनों लोकोंके विपुल वीरों और पराक्रमधारियोंको परीक्षार्थ 'कीरति अति कमनीय'ने जनकपुर आकर्षित कर लिया।

'अति' का अर्थ 'बहुत अधिक' नहीं है। गोस्वामी तुलसीदासजीने 'अति'की व्याख्या इस प्रकार की है—

सीता कै अति बिपति बिसाला। बिनहिं कहें भलि दीन दयाला॥

अतः 'अति' का अर्थ है इतनी अधिक कि जो सीमा पार कर चुकी हो, जिसके वर्णनमें शब्द अपर्याप्त हों। अतएव 'अति कमनीय'का अर्थ है 'अकथ कमनीय', जिस असीम कमनीय कीर्तिने सबको यहाँ एकत्रित किया। परंतु—

पावनिहार बिरंचि जनु रचेउ न धनु दमनीय।

परम चतुर राजा जनकके 'जनु' शब्दने इसके लिये आड़ छोड़ रक्खी जो अभीतक नहीं उठा और हो सकता है धनुषभङ्गके लिये वह अब उठे।

राजा जनकने कड़वी बात कही। यदि सब लोग राजाके निमन्त्रणपर बुलाये हुए होते तो राजा ऐसी कड़वी बात न कहते; क्योंकि ऐसा करना आमन्त्रितका तिरस्कार होता। परंतु राजाने लोगोंको बुलाया नहीं था। वे तो आये थे—राजाका प्रण सुनकर। अपनी इच्छासे आये थे।

राजाने कड़वी बात कही, पर इसका कुछ फल नहीं मिला। स्थिति वैसी ही रही। श्रीरघुनाथजी जहाँ बैठे थे, वहीं बैठे रहे !

तब राजा जनकने अधिक चुभनेवाली बात कही। उन्होंने सोचा कि यह तो सीधी हृदयमें चुभ जायगी और कुछ काम कर दिखायेगी। प्रत्येक महीपको सम्बोधित करके वे बोले—

कहहु काहि यह लाभु न भावा। काहुँ न संकर चाप चढ़ावा॥

'लाभु' की बात बड़ी मार्मिक है।

'रंगभूमि जब सिय पगु धारी'

उस समय कविको ऐसा लगा कि—

'देखि रूप मोहे नर नारी।'

और जो सबकी चेष्टाएँ देखकर उनके भावोंको समझनेमें तत्पर थे, उन शासक-प्रवीण राजा जनकको भी ऐसा ही प्रतीत हुआ कि जानकीका रूप देखकर—

'मोहे नर नारी'

तब क्या वे न मोह गये होंगे जो 'जानकी जोगू' थे, जिन श्रीरघुनाथजीकी कौमार अवस्था जानकीजीके रूपसे मोहित हो जानेमें पूर्ण सहायता दे रही थी ! इसलिये व्यंगसे यहाँ 'लाभु' का प्रयोग राजाने किया।

परंतु फिर भी कुछ असर न हुआ। अयोध्याके राजकुमार रघुवंशमणि जहाँ जैसे बैठे थे वैसे ही बैठे रहे।

तब राजा जनकने और भी तीव्र और कटु बात कही—कुछ धिक्कारते हुए कही—

रहउ चढ़ाउब तोरब भाई। तिलु भरि भूमि न सके छड़ाई॥

लेकिन इसका भी कुछ असर न हुआ, स्थिति बदली नहीं। श्रीरघुनाथजी जैसे बैठे थे वैसे ही बैठे रहे। राजा जनकने सोचा कि मेरे ये वचन-बाण विफल क्यों हो रहे हैं ? तब उन्हें एक बात याद आयी और उन्होंने सोचा कि मुझसे भूल

हो गयी; क्योंकि श्रीरघुनाथजीके साथ वह बात तो लागू होती नहीं थी, जो औरोंके साथ थी कि वे—

आए मुनि हम जो पन ठाना ।

उनको तो रंगभूमिमें स्वयं राजा जनकने बुलाया था—

सतानंद तब जनक बोलाए । कौसिक मुनि पहिं तुरत पठाए ॥
जनक बिनय तिन्ह आइ सुनाई । हरषे बोलि लिए दोउ भाई ॥
सतानंद पद बंदि प्रभु बैठे गुरु पहिं जाइ ।
चलहु तात मुनि कहेउ तब पठवा जनक बोलाइ ॥

अतएव अबतक जो कुछ राजा जनकने कहा वह 'दसरथके जाए' से सम्बन्ध नहीं रखता था । तब मनोविज्ञान-प्रवीण राजाने जो शासन-कला और नीतिमें निपुण थे, ऐसी बात कही जो किसी भी वीर क्षत्रिय-कुमारके हृदयमें चुभ जाती, जिसकी नाक पिनाकने अबतक नहीं काट ली थी । 'चक्रवर्त्ति दसरथ के जाए' के हृदयमें तो सीधी लगनेवाली थी । राजा जनकने कहा—

अब जनि कोउ माखै भटमानी । बीर बिहीन मही मैं जानी ॥

'मैं जानी' अर्थात् यह कही-सुनी बात नहीं है । यह बात दृढ़ है, निश्चित है । जैसे शंकर भगवान्का वचन है—

हरि ब्यापक सर्वत्र समाना । प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना ॥

यहाँ 'मैं जाना' का अर्थ है कि यह मेरा निजका अनुभव है जिसपर मेरा दृढ़ विश्वास है । इसी प्रकार राजा जनक कहते हैं कि—

बीर बिहीन मही मैं जानी ।

राजा कहते हैं कि वीरविहीन मही है—यह मैंने प्रत्यक्ष देख लिया, यह मेरा सत्य अनुभव हो चुका है और इस अनुभवपर निर्धारित अपने अन्तिम निर्णयको भी राजाने सुना दिया—

तजहु आस निज निज गृह जाहू ।

फिर अपने शब्दोंके प्रभावको कटुतर और अधिक तीव्र करनेके लिये उन्होंने एक मनोवैज्ञानिक चाल चली । उन्होंने उस 'कुँअरि मनोहर'की दीन दशा दिखलायी जिसका रूप देखकर सब नर-नारी मोह गये थे । शासक-प्रवीण राजा जनक बोले—

लिखा न बिधि बैदेहि बिबाहू ।

ठीक है, जब विधिने वैदेहि-विवाह लिखा ही नहीं, कोई क्या कर सकता है—

जो बिधि लिखा लिलार ।
देव दनुज नर नाग मुनि कोउ न मेटनिहार ।

राजा जनकने अपनी विवशता दिखाकर इस दुर्भा अपने उत्तरदायित्वको इस प्रकार मुक्त कर दिया कि—

सुकृतु जाइ जौं पन परिहरऊँ । कुँअरि कुआरि रहउ का करउँ

और इस प्रकार जग-मोहिनी 'अलौकिक शोभा' क 'कुँअरि मनोहर'की दीन-हीन दशाको सहानुभूतिप्रद बना ऐसा करुण वातावरण निर्माण करके लोकनीतिनि शासनकला-प्रवीण राजा जनकने क्षत्रियत्वको यों अ चुनौती दी—

जौं जनतेउँ बिनु भट भुवि भाई । तौ पनु करि होतेउँ न हँस

राजा जनकके वचनोंने अपना कार्य पूरा किया । एक उन्होंने कहा—

बीर बिहीन मही मैं जानी ।

और फिर वही बात दोहरायी—

बिनु भट भुबि भाई ।

यह लखनलालके लिये असह्य हो गया । रघु राजकुमारका क्षत्रियत्व जाग उठा । उन्होंने राजा जन चुनौतीका चुनौतीसे उत्तर दिया । उधर जानकीजीके प्र पूर्णरूपसे एक-एकको गूढ़ सहानुभूति हो ही गयी थी; क्योंकि—

जनक बचन सुनि सब नर नारी । देखि जानकिहि भए दु

इसके बाद जो हुआ वह जगविदित है ।

इस प्रकार राजा जनकने अपनी वाक्चातुरीसे—

सब मंचन्ह तें मंचु एक सुंदर बिसद बिसाल ।

—पर अपने और जानकीजीके प्रति गहरी सहानु उत्पन्न करके रघुवंशी रामानुज लखनलालके क्षत्रियत्वको बार चुनौतीसे जगाकर ऐसी स्थिति निर्माण कर दी श्रीरघुनाथजीको धनुषभङ्गके लिये उठना पड़ा ।

इस प्रसङ्गमें राजा जनककी लोक-व्यवहार-नीति और एक उत्कृष्ट शासकोचित मनोवैज्ञानिक निपुणता स्पष्ट है ।

मानसकारका दार्शनिक दृष्टिकोण

(लेखक—श्रीप्राणनाथजी पंकज, एम्० ए०,)

कविके लिये कविता भावाभिव्यक्ति मात्र नहीं होती; उसमें उसके समस्त जीवनकी आस्थाओंकी, उसकी तत्त्वस्पर्शिनी अन्तःप्रज्ञाकी चरम परिणिति निहित रहती है। दृष्टिकोणको अभिव्यक्त करनेका माध्यम कुछ भी हो, पर एक व्यापक दार्शनिक आधार-बिन्दु कविके लिये अत्यन्त अनिवार्य है, जिसे केन्द्र बनाकर वह अपनी कला और कल्पनाका सृजन तथा विकास करता है। इस जीवन-दर्शनके अभावमें कविता और कला निष्प्राण रहती है और कदाचित् ही अपनी बाह्य-सज्जाके बलपर वह कुछ काल जनमानसमें अपना स्थान बना भी ले, तो भी चिरस्थायिनी तो वह कदापि नहीं हो सकती। इस प्रकार जीवन-दर्शनकी व्यापक और सुनिश्चित परिकल्पना किसी भी अमर-काव्यके लिये अनिवार्य है।

कवि परिस्थितियोंसे निर्मित भी होता है और उनका निर्माण भी करता है। गोस्वामी तुलसीदासजीके साहित्य-क्षेत्रमें आविर्भावके समय वातावरणमें कुछ अजीब घुटन-सी थी। अकबरके राजनीतिक प्रयत्नोंके कारण दो संस्कृतियोंमें एक कृत्रिम-सा मिलन हो रहा था और शाहजहाँ—गोस्वामी-जीके समकालीन मुगल-सम्राट्के अपेक्षाकृत कड़े व्यवहारके बावजूद भी राजपूत मुगल राज्यको सहयोग दे रहे थे। कृत्रिम मिलनके वातावरणमें जो उलझन और उमस होती है, वह इधर सामाजिक और धार्मिक जीवनमें लक्षित हो रही थी। असंख्यों मनुष्योंके लिये एक सुनिश्चित दिशा मरीचिकामें जलकी आशाके समान बनकर रह गयी थी। भारतकी परम्परागत दार्शनिक विचार-धाराओंके प्रभावसे धार्मिक जीवनमें विस्फोट हो रहे थे। एक आचार्य शंकरकी प्रखर प्रतिभासे प्रभूत अद्वैतवादी दृष्टिकोण था, जो अनजान हाथोंमें पड़ जानेके कारण देहाभिमानका कारण और मनमाने कर्मोंको करते रहनेका बहाना बन गया था। दूसरी, पौराणिक आस्थाओंपर निर्मित रसिक-दृष्टि थी, जिसका रहस्यमय मधुर रूप धीरे-धीरे छिपता जा रहा था और जिसके स्वच्छन्द प्रयोगसे उच्छृङ्खलताको प्रोत्साहन मिल रहा था। धार्मिक विक्षेपोंकी भी कमी नहीं थी जो कि विभिन्न सम्प्रदायोंमें वास्तविक तत्त्वकी समानताको भूलकर अपने-अपने सिद्धान्तोंको श्रेष्ठ सिद्ध करनेकी प्रवृत्तिसे उत्पन्न हो रहे थे।

हमारी यह सारी-की-सारी आर्ष दार्शनिक पद्धति इस प्रकार उलझकर अस्पष्ट हो रही थी और जन-समुदायको एक निश्चित दिशा दे नहीं पा रही थी। आवश्यकता एक ऐसे समर्थ और सबल आचार्यकी थी जो इस सारी दार्शनिक-परम्पराको अपने व्यापक दृष्टिकोणमें समेटकर उसका समन्वय कर उसे पूर्णरूपसे विश्वमें प्रस्तुत कर पाता—धार्मिक जीवनको, जो कि दार्शनिक आस्थाओंपर आधारित होता है, एक सुनिश्चित दिशा देता, ऊपरी विरोधोंके नीचे मौलिक प्रतिपाद्य-तत्त्वकी एकरूपताका दिग्दर्शन करा पाता और भारतकी अध्यात्ममूलक संस्कृतिका महान् प्रतिपादक बनकर जनसाधारणका नेतृत्व कर सकता।

तुलसीके आविर्भावको भगवत्कृपाका एक बहुत बड़ा प्रतीक कहना मुझे सर्वाधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। उनके रूपमें हमें एक ऐसा आचार्य मिला, जिसके पास न केवल प्रौढ़ मस्तिष्क था, अपितु एक अत्यन्त भाव-प्रवण हृदय और रस-सिक्त लेखनी भी थी। इस प्रकार वे बुद्धि और हृदयका कुछ ऐसा समन्वय कर पानेमें सफल हुए जो मानवताके लिये दिशा-निर्देशक सिद्ध हुआ। यों हम देखते हैं कि उनकी रसनिष्यन्दिनी जन-भारती देशके प्रत्येक वर्गके हृदयमें स्थान बना पानेमें सफल हुई और भारतको अपने गहन दार्शनिक तत्त्वोंका सरल, स्पष्ट और वास्तविक स्वरूप दिखायी दिया।

स्पष्ट है कि मानसका दर्शन समन्वयमूलक दर्शन है। विश्वके स्वरूपका जहाँतक सम्बन्ध है, गोस्वामीजी आचार्य शंकरके पूर्ण समर्थक हैं। इस संसारकी कल्पना इसके अधिष्ठान ब्रह्ममें ही होती है। अतः संसार ब्रह्मके ही आश्रित है—

एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई।

इस पङ्क्तिका तात्पर्य सीधा श्रुतिकी निम्न पङ्क्तियोंका स्पष्टीकरण है—

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति···तद्ब्रह्म।'

(तैत्तिरीयोपनिषद् ३ । १)

आचार्य शंकर 'जन्माद्यधिकरण' (वेदान्तसूत्र) में इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—

'अस्यजगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्यानेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनसाप्यचिन्त्यरचनारूपस्य जन्मस्थितिभङ्गं यतः——तद्ब्रह्म ।'

परंतु यह सारा संसार, आचार्य शंकरके मतानुसार ब्रह्ममें भ्रान्तिके कारण कल्पित है। अन्धकार और प्रकाशकी भाँति विरोधी स्वभावके होनेके बावजूद भी एककी कल्पना दूसरेमें—संसारकी ब्रह्ममें—हम नैसर्गिक रूपमें कर बैठते हैं—

'···अन्योन्यस्मिन्नन्योन्यात्मकतामन्योन्यधर्मांश्चाध्यस्येतरेतराविवेकेनात्यन्तविविक्तयोर्धर्मधर्मिणोर्मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य···'

यह 'अतस्मिन् तद्बुद्धि' है। इसीको आचार्य शंकर अध्यासका नाम देते हैं। विवेकचूडामणिमें आचार्य कहते हैं—

यत्र भ्रान्त्या कल्पितं तद्विवेके तत्तन्मात्रं नैव तस्माद्विभिन्नम् ।
भ्रान्तेर्नाशे भाति दृष्टा हि सत्त्वं रज्जुस्तद्वद्विश्वमात्मस्वरूपम् ॥

संसारके सम्बन्धमें गोस्वामीजीकी पूर्णरूपसे यही मान्यता है—और जिस प्रकार ज्ञानको ही भ्रान्तिके नाशका उपाय आचार्य मानते हैं, उसी प्रकार गोस्वामीजी भी उसे स्वीकार करते हैं—

झूठहु सत्य जाहि बिनु जानें। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचानें॥
जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागें जथा स्वप्न भ्रम जाई॥

परंतु वे इस ज्ञानको श्रमसाध्य नहीं मानते। भगवत्कृपा ही इसमें एकमात्र कारण है, अतः वे भगवत्कृपाको प्राथमिकता देते हैं—

सो जानइ जेहि देहु जनाई।

और—

जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई।

अब चूँकि भगवत्कृपा भक्तिसे अथवा अनन्यशरणागतिसे प्राप्य है; अतः गोस्वामीजीके निकट शरणागति अथवा भक्ति परम साधन है, ज्ञान उसके आधीन है—

सो सुतंत्र अवलंबु न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना॥

इस प्रकार गोस्वामीजी दार्शनिक दृष्टिसे यह तो मानते हैं कि संसारका मिथ्यात्व ब्रह्मको जान लेनेसे स्पष्ट हो है और ऐसा होनेसे जीव और ब्रह्मका अभेद सि जाता है—

'जानत तुमहिं तुमहिं होइ जाई।'

परंतु चूँकि इस जाननेमें भगवत्कृपा और भगव भक्ति कारण है; अतः भक्ति ही गोस्वामीजीका अभीष्ट है। इस भक्तिकी भावनाके परिणाममें गोस्वामीजीमें सेवक-भाव और शरणागतिके विचारोंका विकास होता यह भावना इतनी प्रबल और मार्मिक है कि बौद्धि इसके सामने हेय प्रतीत होने लगता है। यहाँ कवि आचार्योंके सिद्धान्तोंकी अभिव्यञ्जना करता है। तो बरबस यामुनाचार्यके आलवन्दार-स्तोत्रका स्मरण लगता है। श्रीमद्भागवतके अन्तर्गत गजेन्द्र-स्तुति, और ब्रह्मस्तुति मानसके पृष्ठोंसे लोकभाषामें छलकने हैं। भक्ति और प्रपत्तिकी इस व्यापक भावनाके मानसका दार्शनिक पक्ष पीछे पहुँच जाता है और गो वैष्णव सिद्धान्तोंके व्याख्याता प्रतीत होने लगते हैं; यहाँ भी तुलसीकी समन्वयमूलक भावना दृष्टिगोचर है—उन्होंने ज्ञान और भक्ति—दो विरोधी प्रतीत हो सिद्धान्तोंको मौलिक रूपमें एक-दूसरेके पूरक बनाकर किया है।

संसारका निर्माण मायाकी अनिर्वचनीय शक्ति है। यही मायाशक्ति ब्रह्मके संकेतपर सृष्टिका निर्माण, और संहार करनेमें प्रवृत्त होती है—

लव निमेष महुँ भुवन निकाया। रचइ जासु अनुसासन

तथा—

भृकुटि बिलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता

यहाँ यह मत वैष्णव-दर्शनके सर्वथा अनुकूल बैठता परंतु कवि इसे भी अद्वैतकी ही ओर प्रेरित करता है— दृष्टिकोण तो तन्त्रशास्त्रके अनुसार 'शिवाभिन्ना शिवं प्रतिपादक है—

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
बंदउँ सीताराम पद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न॥

परंतु निष्कर्षरूपेण तो मायाकी वास्तविक सत्ता ही है? वह तो जड है, मिथ्या है—

जासु सत्यता ते जड़ माया। भास सत्य इव मोह

मोहकी—भ्रमकी सहायताके कारण यह माया और इससे निर्मित यह सारा विश्वप्रपञ्च सत्य प्रतीत होते हैं।

संसार और मायाके मिथ्यात्वकी बातके साथ ही हम सत्य, ज्ञान और अनन्तस्वरूप ब्रह्मतक पहुँचते हैं। इसी अधिष्ठानमें मायाकी कल्पना है और इसीमें संसारकी। ब्रह्म आनन्दस्वरूप है। भगवान् बादरायण कहते हैं—**आनन्दमयोऽभ्यासात्** (ब्र० सू० १।१२)। बृहदारण्यकके शब्दोंमें **विज्ञानमानन्दं ब्रह्म** (३।९।२८)। अन्यत्र भी श्रुति ब्रह्मको आनन्दमय कहती है—

'सैषानन्दस्य मीमाꣳसा भवति'। 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन'। 'आनन्दो ब्रह्मेति व्याजानात्' इत्यादि।

शब्द आनन्दमयमें यह मयट् प्रत्यय विकारार्थमें न होकर प्राचुर्यार्थमें है, इस आशयके शारीरकसूत्र (प्रथम पाद, सूत्र १३) की व्याख्यामें आचार्य शंकर कहते हैं—

'आनन्दप्रचुरत्वं च ब्रह्मणो मनुष्यत्वादारभ्योत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिन्स्थाने शतगुण आनन्द इत्युक्त्वा। ब्रह्मानन्दस्य निरतिशयत्वावधारणात्।'

गोस्वामीजीने भी स्थान-स्थानपर ब्रह्मके आनन्दमयत्वका प्रतिपादन किया है—

जो आनंदसिंधु सुख रासी।
जय सच्चिदानंद जग पावन।
चिदानंदमय देह तुम्हारी। —इत्यादि।

परंतु एक भेद स्पष्टरूपसे हम आचार्य शंकर और गोस्वामीजीके ब्रह्ममें देखते हैं। भगवान् राम गोस्वामीजीकी दृष्टिमें वेदान्तके परम प्रतिपाद्य निरुपाधि ब्रह्म हैं। आचार्य शंकरके बताये हुए ब्रह्म और ईश्वर दोनों रूपोंका मधुर समन्वय हमें तुलसीके दर्शनमें दिखायी देता है—

जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा स्वप्न भ्रम जाई॥
बंदउँ बालरूप सोइ रामू। सब बिधि सुलभ जपत जिसु नामू॥

और—

राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा॥
सहज प्रकासरूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना॥
राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना॥

पुरुष प्रसिद्ध प्रकासनिधि प्रगट परावर नाथ।
रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ कहि सिव नायउ माथ॥

यही परब्रह्म राम सारे विश्वमें व्याप्त हैं—**'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** की भावनाका विकास तुलसीके दर्शनमें यों हुआ है—

सीय राम मय सब जग जानी।

और—

निज प्रभुमय देखहिं जगत······॥

इसी ब्रह्मका सनातनस्वरूप इस संसारको प्रकाशित कर रहा है—'जगत् प्रकास्य प्रकासक रामू······और भगवत्कृपासे बोध होनेपर और कुछ भी शेष नहीं रह जाता, केवल निरुपाधि ब्रह्म रामके अतिरिक्त।

गोस्वामीजी रामके इस रूपका चित्रण करते थकते नहीं हैं और उपनिषद्के **'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'** के अनुसार 'मन समेत जेहि जान न बानी'—ऐसा कहते हुए भी इस सत्यको स्थापित करनेमें निरन्तर प्रयत्नशील हैं। सामाजिक मूल्योंके लिये जहाँ गोस्वामीजीको यह आवश्यक था कि वे भगवान् रामको एक आदर्श मर्यादापालक लोकनायकके रूपमें प्रस्तुत करते, वहाँ धर्मको सही और सुनिश्चित दिशा देनेके लिये यह भी जरूरी था कि वे भगवान् रामकी वेदान्तप्रतिपाद्य ब्रह्मके साथ अभिन्नता स्थापित करते; क्योंकि शुष्क ब्रह्मज्ञान—जिसकी गोस्वामीजीने कड़े शब्दोंमें भर्त्सना की है—मनुष्यको अधकचरी और अपरिपक्व स्थितिमें छोड़ देता है। गोस्वामीजीने मनुष्यकी सुनिश्चित 'ब्राह्मी स्थिति'के लिये प्रयत्न किया और उसे वह दिशा दी; पर, केवल मनुष्यको कुछ कह देना आवश्यक था, इसलिये उन्होंने ऐसा किया—यह कहना तो 'स्वान्तःसुखाय'के कविका गलत मूल्याङ्कन करना होगा। उन्होंने अपने अन्तःसंचित जीवन-दर्शनको हमारे समक्ष ईमानदारीसे प्रस्तुत किया, इसीमें उनके काव्यका अमरत्व निहित है—यही उनकी मानसका जन-जनके मानसमें एक दिव्य संदेशके रूपमें बस जानेका रहस्य है!

समन्वयके इस दार्शनिक महाकविको हमारे शत-शत प्रणाम!

शक्तिकी उपासनाके दार्शनिक रहस्य

(लेखक—आचार्य पं० श्रीसूर्यमणिजी शास्त्री)

शक्तिमान् और शक्तिमें वस्तुतः अभेद है। शक्तिमान् और शक्तिकी पृथक्-पृथक् सत्ता जबतक परोक्षानुभूति अथवा अपरोक्षानुभूतिद्वारा प्रत्यक्ष की जाती है, तबतक यह मानना ही पड़ेगा कि शक्तिमान्से शक्तिका प्राधान्य है। एक गायक, जिसमें अलौकिक गायनशक्तिका विकास है, उसकी अपेक्षा उसकी गायन-शक्तिका आदर, उपयोग और महत्त्व अधिक पाया जायगा। वह गायक यदि अपनी गानशक्तिका प्रयोग करे, तो उसका दर्शन न करके भी उसकी मधुर शब्दमयी सृष्टिके विलासमें जगत् मुग्ध होता है; परंतु वह जब अपनी शक्तिको अपनेमें अव्यक्त रखता है, उस समय उसके स्वरूपको देखकर कोई भी मुग्ध नहीं हो सकता। इसी कारण शक्ति-उपासनाका विस्तार, शक्ति-उपासनाका उपयोग और शक्ति-उपासनाका महत्त्व पुराण, तन्त्र आदि शास्त्रोंमें अधिक पाया जाता है।

वस्तुतः उपासना सगुण ब्रह्मकी होती हैं। जबतक द्वैत-भान है, तभीतक उपासनाका सम्बन्ध रह सकता है। द्वैत-भान तभीतक रह सकता है, जबतक सगुणत्व है।

इसी कारण वेद-सम्मत सभी शास्त्रोंमें सगुण उपासनाका ही अधिक विस्तार है। सगुण उपासनाके पाँच भेदोंमेंसे चिद्भाव आश्रयकारी विष्णु-उपासना, सद्भाव आश्रयकारी शिव-उपासना, भगवत्तेजका आश्रयकारी सूर्योपासना, भगवद्भावमयी बुद्धिका आश्रयकारी धीश-उपासना और भगवत्-शक्तिका आश्रयकारी शक्ति-उपासना है।

ब्रह्मानन्द-विलास-रूपी सृष्टि-दशामें ब्रह्मपदसे घनिष्ठ सम्बन्ध रखनेवाले चित्, सत्, तेज, बुद्धि और शक्ति—ये ही पाँच हैं। चित्-सत्ता जगत्को दिखाती है, सत्-सत्ता जगत्के अस्तित्वका अनुभव कराती है, तेज जगत्को ब्रह्मकी ओर आकर्षण करता है, बुद्धि सत् ब्रह्म और असत् जगत्का भेद बताती है, और शक्ति, सृष्टि, स्थिति लय करती हुई जीवको बद्ध भी कराती है तथा मुक्त भी कराती है। इसी कारण इन पाँचोंके अवलम्बनसे सगुणपञ्चोपासनाका विज्ञान निर्णीत हुआ है। उपासक इन्हीं पाँचोंके अवलम्बनसे ब्रह्मसांनिध्य प्राप्त करके ब्रह्मसायुज्य प्राप्त कर लेता है।

अनन्त कोटि ब्रह्माण्डमय दृश्यप्रपञ्च ब्रह्मश ही विलास है। ब्रह्मशक्ति ही सृष्टि-स्थिति-लय करती वही अविद्या बनकर जीवको बन्धन-जालमें फँसाती और विद्या बनकर उसको ब्रह्मसाक्षात्कार कराके करती है। दूसरी ओर ब्रह्मशक्तिमें और ब्रह्ममें अद्वै वत् भेद नहीं है। शक्तिमान्से शक्तिकी विशेषता है, सो गायक और गान-शक्तिके उदाहरणसे ऊपर ही गयी है। उसी ब्रह्मशक्तिके भेद वेद और शा चार प्रकारके कहे हैं।

ब्रह्ममें सदा लीन रहनेवाली तुरीया शक्ति कहाती यह ब्रह्मशक्ति सच्चिदानन्दमय स्वस्वरूपकी प्रकाशिनी ब्रह्मा-विष्णु-महेशकी जननी, निर्गुण ब्रह्मको सगुण दि वाली, ब्रह्म-आलिङ्गित महाशक्ति कारणशक्ति कहाती है। यही शक्ति कभी विद्या बन जाती है, कभी अ बन जाती है। ब्रह्मशक्तिके तमःप्रधान और सत्त्व दो पृथक् भाव ही इसके कारण हैं। ब्रह्मशक्तिकी ती अवस्था सृष्टि करानेवाली ब्राह्मी शक्ति, स्थिति करानेवा वैष्णवी शक्ति और लय करानेवाली शैवी शक्तियाँ जाती हैं। ये ही तीनों सूक्ष्म शक्ति कहाती हैं। चाहे सृष्टि हो, चाहे जंगम सृष्टि हो; चाहे ब्रह्माण्ड सृष्टि चाहे पिण्ड सृष्टि हो; सर्वत्र सृष्टि, स्थिति और क्रम एवं अस्तित्वको रखनेवाली ये ही सूक्ष्म ब्रह्मशक्ति हैं। भगवान् ब्रह्मा, भगवान् विष्णु और भगवान् जो प्रत्येक ब्रह्माण्डके नायक हैं, वे इन्हींके सहयोगसे अपना कार्य सुसम्पन्न करते हैं। उस महाशक्तिकी अवस्था स्थूल शक्ति कहाती है। स्थूल शक्तिका अनु पदार्थ विद्याके द्वारा भी होता है। स्थूल जगत्की अवस्था का परिवर्तन, उसका धारण आदि सब कार्य इस द्वारा सुसिद्ध होते रहते हैं। उसके तडित्-शक्ति आदि भेद हैं। इस कारण भी शक्ति-उपासनाका विस्तार और महत्त्व अधिक है।

समष्टि-व्यष्टिरूपी ब्रह्माण्ड-पिण्डात्मक-सृष्टि ब्रह्म-शक्ति ही विलास है। वह चतुर्दश लोकमय है। प्रत्येक ब्रह्माण

भू, भुवः, स्वः आदि सात ऊर्ध्वलोक और अतल, वितल आदि सात अधोलोक हैं। सात ऊर्ध्वलोकोंमें देवताओंका वास है और सात अधोलोकोंमें असुरोंका वास है। यह मृत्युलोक ऊर्ध्व सप्त लोकोंमेंसे भूलोकका एक बहुत छोटा-सा अंश है। इसमें जीवगण मातृगर्भसे उत्पन्न होते हैं और मृत्युको प्राप्त होते हैं। इस कारण इसका नाम मृत्युलोक है। अन्य सभी लोकोंमें मातृगर्भसे जन्म नहीं होता। भारतवर्षरूपी मृत्युलोकके ही जीव अपने-अपने कर्मोंके वश होकर मृत्युके अनन्तर आतिवाहिक देहके द्वारा उन नाना दैवलोकोंमें दैवी सहायतासे पहुँचते हैं। पिण्ड तीन श्रेणीका होता है। एक सहज-पिण्ड उद्भिज्जादि योनियोंका, दूसरा मानव-पिण्ड मनुष्योंका और तीसरा दैवपिण्ड देवताओंका कहाता है। मृत्युलोकके अतिरिक्त जितने लोक हैं, वे सभी देवलोक कहाते हैं। उनमें दैवपिण्डधारी देवताओंका ही वास है। सहजपिण्डधारी अथवा मानवपिण्डधारी जीव दैवपिण्डधारी जीवोंको देख नहीं सकते। देवतागण इच्छा करें, तभी वे देख सकते हैं। देवलोक हमारे पार्थिवलोकसे अतीत और सूक्ष्म हैं। सुर जिस प्रकार दैवपिण्डधारी हैं, उसी प्रकार असुर भी दैवपिण्डधारी हैं। भेद इतना ही है कि देवताओंमें आत्मोन्मुख वृत्तिकी प्रधानता है और असुरोंमें इन्द्रियोन्मुख वृत्तिकी प्रधानता है। यही कारण है कि सूक्ष्म देवलोकमें देवासुरसंग्राम प्रायः हुआ करता है। परंतु देवतागण आत्मोन्मुख होनेसे वे कदापि असुर-राज्यको छीननेकी इच्छा नहीं करते, अपने ही अधिकारके लोकमें तृप्त रहते हैं।

असुरगण विषयलोलुप होनेके कारण उनकी प्रवृत्ति सदा दैवराज्य छीननेकी ओर बनी रहती है। यह देवासुरसंग्रामका मूल कारण है। मृत्युलोकमें भी मानवपिण्ड देवासुर-संग्रामके लिये दुर्गरूप हैं। उनको असुरगण और देवतागण अपने-अपने ढंगपर अपने-अपने अधिकारमें लानेका प्रयत्न करते रहते हैं। यही मनुष्यपिण्डमें पाप-पुण्यसे सम्बन्धयुक्त कुमति और सुमतिका युद्ध है। देवासुर-संग्राममें जब-जब असुरोंकी जय होने लगती है, तब ब्रह्मशक्ति महामायाकी कृपासे ही पुनः असुरोंका पराभव होकर सूक्ष्म दैवराज्यमें शान्ति स्थापित करती है। मनुष्य जब पाप-पङ्कमें फँस जाता है, तब पुनः उसका उस दलदलसे निकलना कठिन होता है। ऐसे समयमें गुरुबल अथवा दैवबल, ये ही उसके सहायक होते हैं। ये सब उस अखिल लोकमयी जननी महाशक्तिकी कृपाका ही रूपान्तर है।

जगत्कारण परमात्मा ब्रह्म जिस प्रकार सत्-चित् और आनन्दरूपसे त्रिभावद्वारा जाने जाते हैं, पुनः पराभक्तिके अधिकारी भावुक भक्तगण जिस प्रकार उनके इन तीनों भावोंके अनुसार ब्रह्म, ईश्वर और विराट्रूपसे अपने हृदय-मन्दिरमें पृथक्-पृथक् भावसे उनके दर्शन करके आनन्द-सागरमें अवगाहन करते हैं, वैसे ही संसारकी सब वस्तुएँ भी त्रिभावात्मक हैं। कारण-ब्रह्ममें जिस प्रकार तीन भाव हैं, उसी प्रकार कार्य-ब्रह्म भी त्रिभावात्मक है। इसी कारण वेद और वेदसम्मत शास्त्र भी त्रिविध अर्थमय हुआ करते हैं। इसी सर्वतन्त्रसिद्धान्तस्वरूप प्राकृतिक नियमके अनुसार देवासुर-संग्रामके भी तीन स्वरूप हैं। देवासुर-संग्रामका अध्यात्म-स्वरूप प्रत्येक पिण्डमें क्लिष्ट और अक्लिष्ट अर्थात् पाप-जनक और पुण्यजनक वृत्तिके नित्य युद्धद्वारा प्रकट होता है। उस युद्धका अधिदैव-स्वरूप सूक्ष्म दैवराज्यमें देवराज और असुरराजकी सेनाओंके द्वारा प्रकट होता है—जैसा कि शुम्भ-निशुम्भ और महामायाका युद्ध एवं उसका अधिभूत रूप इस मृत्युलोकमें नाना सामाजिक और राजनीतिक युद्धके द्वारा प्रकट होता रहता है।

* * *

दुःख-सुख, सम्पत्ति-विपत्ति और मानापमान

प्रभुकी याद दिलानेवाले दुःख रहें नित मेरे पास।
प्रभुकी याद भुलानेवाले सुख-समूह हो जायें नाश॥
वह विपत्ति सम्पत्ति परम है, जिसमें प्रभुके हों दर्शन।
वह सम्पत्ति विपत्तिरूप है, हटवा दे जो प्रभुसे मन॥
वह अपमान मान सच्चा है, जिसमें हो शुभ प्रभुका भान।
जो प्रभुसे सम्पर्क छुड़ा दे, वह है जलनेलायक मान॥

मानसिक विश्लेषण

(लेखक—श्रीविश्वेश्वरनारायणजी)

मनोविज्ञानने मानव-मनके अङ्ग-प्रत्यङ्गका सम्यक्रूपसे अध्ययन किया है । विविध पहलुओंसे मनके विविध तरङ्गोंका विश्लेषण भी किया है । आजके कुछ विद्वानोंका कहना है कि पश्चिमीय दार्शनिक ही मनोविज्ञानके विस्तार-क्षेत्रके जन्मदाता हैं; परंतु मेरे विचारसे उनका यह कहना बिल्कुल ही भ्रान्त प्रतीत होता है । हाँ, उनका यह कहना कुछ हदतक तो अवश्य मान्य है कि पश्चिमीय दार्शनिकोंने 'मनोविज्ञान' नामकी संज्ञा देकर इसका अध्ययन किया है । परंतु भारतीय दार्शनिकोंने दर्शनक्षेत्रके अन्तर्गत अध्ययन-मननके सिलसिलेमें मानव-मनके अंदर उठनेवाले तरङ्गोंका तथा विविध रूपसे आनेवाले सुख-दुःख, कामोत्तेजक प्रवृत्तियाँ, परिस्थितियाँ एवं भावनाओंका विशद वर्णन किया है ।

पश्चिमीय दार्शनिक कहते हैं कि सांसारिक बाधाओंके रहते मनकी शान्ति सम्भव नहीं । फलस्वरूप मन तरह-तरहके विघ्न-बाधाओंसे घिरा रहेगा । मन अशान्त रहनेसे वह तरह-तरहकी चिन्ताओंका ही दास बना रहेगा । ऐसी हालतमें शान्ति-लाभके लिये मानवको मनकी गतिकी ओर बढ़ना होगा । जिस बातको लेकर मन अशान्त बना हुआ है, उसकी प्राप्तिके लिये यथासाध्य प्रयत्न करना होगा । तभी मनकी गति रास्तेपर आ सकती है । पर इस सम्बन्धमें पूर्वीय दार्शनिकोंका कहना है कि मनके अंदर उठनेवाली हर तरङ्गकी पूर्ति नहीं की जा सकती । मनकी तो दशा ही ऐसी है कि एक अभावकी पूर्ति होते ही दूसरा अभाव खटकने लगता है और सबकी पूर्ति सम्भव नहीं । मनके अंदर उठनेवाली विभिन्न आवश्यकताओंको दमन करनेका ही हमारे पूर्वपुरुषोंने उपाय बताया है । पश्चिमीय मनोवैज्ञानिकोंका कहना है कि 'मनको दमन करनेसे भले ही उसकी प्रतिक्रिया तत्काल न हो, पर उसकी भावना हमारे अन्तर्मनमें दबे रूपमें रह जाती है और समय पाकर वही उपद्रवका कारण बनती है । इसीसे अनेकों प्रकारके मानसिक उपद्रव होते हैं ।' परंतु हमारे पूर्वीय विचारकोंका कहना है मनको दमन करनेके लिये आवश्यक है कि मनको इस तरहकी खूराक देनी चाहिये कि उसे जिस ओरसे हटाना है, उससे अधिक सुख-शान्तिकी उपलब्धि उसे दूसरी ओरसे मिल सके । इसीलिये हमारे यहाँ मनको सांसारिक भोग-कामनाओंसे हट भगवत्-सुखकी ओर लगानेका संकेत किया गया जहाँ इसे कभी भी दमनकी बातोंकी स्फुरणा तक न हो बल्कि सहज ही आनन्द और शान्तिकी ही प्राप्ति होती है विषयोंसे उन्मुक्त मन भगवत्-चिन्तन, कथा-कीर्तन-भ इतनी प्रसन्नताको प्राप्त कर लेता है, जिससे पूर्वकी दुःखद प्रतीत होने लगती हैं । तब क्या मनके करनेपर अन्तर्मनमें दबी हुई भावना कभी उभर सकती है ? वह तो और प्रसन्नताको प्राप्त होगी ।

थोड़े कालके लिये हम गीताकी ओर आ जायँ तो पता चलेगा कि इस अजेय मनको एक जगह के करनेके लिये उसमें तरह-तरहके उपायोंको निर्देश गया है । अर्जुनको जब यह मालूम हो गया कि एकाग्र किये बिना किसी प्रकारकी भी यौगिक क्रियाओं सिद्धि सम्भव नहीं है, तब उन्होंने भगवान्से किया—'हे भगवन् ! यह मन अति वेगवान् है। दशामें योगका साधन कैसे किया जा सकता है ।' भगवान् श्रीकृष्णने कहा—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥

(गीता ६ ।

हे महाबाहो ! निःसंदेह मन चञ्चल कठिनतासे वशमें होनेवाला है; परंतु हे कुन्तीपुत्र अभ्यास अर्थात् स्थितिके बार-बार यत्न करने वैराग्यसे वशमें होता है, इसलिये इसको अवश्य करना चाहिये ।

अब हमें तत्कथित अभ्यास और वैराग्यको भी लेना है । जीवको जन्म-जन्मान्तरसे विषयोंमें ही सुख मान अभ्यास लगा है । तब उसका मन एकाग्र होगा भी वह तो विषयोंका ही चिन्तन करेगा और विषय-चि मनकी एकरूपता सम्भव नहीं; क्योंकि सां वासनाएँ मनको ढकेलकर विक्षिप्त दशामें ले जाती मन अशान्त हो जाता है । अतः बार-बार अभ्यास चाहिये । जो मन विषयोंमें भटकता था, उसे नि भगवान्में लगाना चाहिये । भगवान् सर्वव्यापी हैं । ऐसा स्थान नहीं जहाँ भगवान् न हों और वैष्ण

होना चाहिये कि 'जिन सांसारिक विषयोंमें मन टिकता है, वे सभी क्षणभङ्गुर और नाशवान् हैं । फिर उसमें आसक्ति ही क्यों !' इस तरहसे यदि बार-बार प्रयत्न किया जाय तो सम्भव है जन्म-जन्मान्तरसे विषयोंमें भटकनेवाला मन भगवान्में लग जाय । इसपर एक लोककथा भी है ।

एक किसान अपने किसी मवेशीको एक खूँटेमें बाँधकर उसे वहीं खिलाता रहा । कुछ दिन पश्चात् उसने एक दूसरी जगह खूँटा गाड़ दिया और उसे वहाँ बाँध दिया । मवेशीने तुरंत इस नये खूँटेको तोड़ दिया और पहले जहाँ बाँधा जाता था, वहीं जाकर खड़ा हो गया; पर किसान बार-बार वहीं नया खूँटा गाड़-गाड़कर उसे बाँधने लगा । जब मवेशीको इस नये खूँटेपर खाना-खूराक मिलने लगा और इसमें उसका मन रम गया तो उसका अभ्यास पुराने खूँटेसे छूट गया । अब वह कहींसे छूटता, उसी नये खूँटेपर आकर खड़ा हो जाता ।

यह है दृष्टान्त, परंतु इसमें बहुत बड़ा तत्त्व छिपा हुआ है । जीवरूपी मवेशी है, इसे जन्म-जन्मान्तरसे विषय-सेवनका अभ्यास लगा हुआ है । भगवत्-तत्त्व परम मधुर होनेपर भी उसे विष-तुल्य लगता है । वहाँ इसके मनका टिकाव होता ही नहीं । परंतु अनवरत अभ्यास जारी रखनेसे एक दिन ऐसा भी आ जाता है, जब कि इसका पूर्वाभ्यास अनायास ही छूट जाता है, जिस विषयमें इसे आनन्द मिलता था वही विष-तुल्य हो जाता है और परमानन्दमय भगवान्में सदाके लिये इसका मन रम जाता है । परंतु मनके अंदर रहा हुआ जन्म-जन्मान्तरका कुसंस्काररूपी मल आसानीसे नहीं धुलता । जीवका यह स्वभाव वस्तुतः था नहीं । मायारूप आवरणने इसे भ्रममें डाल दिया और इस भ्रम-जालमें पड़नेसे ही मनमें तरह-तरहके दोष उत्पन्न हो गये, जिनका मनने एक परिवार ही कायम कर लिया । इस कुसंस्कारके परिवारको तुलसीदासजीने मानस-रोगकी संज्ञा दी है । काकभुशुण्डिजीके शब्दोंमें वे कहते हैं—

सुनहु तात अब मानस रोगा । जिन्ह तें दुख पावहिं सब लोगा ॥
मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला । तिन्ह तें पुनि उपजहिं बहु सूला ॥
काम बात कफ लोभ अपारा । क्रोध पित्त नित छाती जारा ॥
प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई । उपजइ सन्यपात दुखदाई ॥
बिषय मनोरथ दुर्गम नाना । ते सब सूल नाम को जाना ॥
ममता दादु कंडु इरषाई । हरष बिषादु गरह बहुताई ॥
पर सुख देखि जरनि सोइ छई । कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई ॥
अहंकार अति दुखद डमरुआ । दंभ कपट मद मान नहरुआ ॥
तृस्ना उदर बृद्धि अति भारी । त्रिबिधि ईषना तरुन तिजारी ॥
जुग बिधि ज्वर मत्सर अबिबेका । कहँ लगि कहौं कुरोग अनेका ॥

ये सब हैं मानस-रोग । इनके वशीभूत हो जीव निरुपाय हो जाता है । इन असाध्य रोगोंसे ग्रसित जीव योगकी सिद्धि अथवा परमार्थ-साधन कर भी कैसे सकता है—जब कि वह शान्त मनद्वारा ही सम्भव है । इसीलिये कहते हैं—

एक ब्याधि बस नर मरहिं ए असाधि बहु ब्याधि ।
पीड़हिं संतत जीव कहुँ सो किमि लहै समाधि ॥

ये असाध्य रोग परमार्थ-साधनके अनेकों उपाय करनेपर भी नहीं जाते । यद्यपि जीव अपने प्रयत्नमें तत्पर है—

नेम धर्म आचार तप ग्यान जग्य जप दान ।
भेषज पुनि कोटिन्ह नहिं रोग जाहिं हरिजान ॥

तब जन्म-जन्मान्तरसे लगी गाँठके तोड़नेका कौन-सा उपाय है, जिससे जीव शान्ति लाभ कर सके । इसके लिये मानसकार उपाय भी बताते हैं—

राम कृपाँ नासहिं सब रोगा । जौं एहि भाँति बनै संयोगा ॥

वह कौन-सा संयोग उपस्थित होगा, जिससे कि जन्म-जन्मान्तरके दुःसाध्य रोगका नाश हो सके । इसके लिये आगे कहते हैं—

सद्गुर बैद बचन बिस्वासा । संजम यह न बिषय कै आसा ॥

जिस प्रकार शारीरिक रोग-नाशके लिये हम किसी अच्छे वैद्य या डाक्टरकी शरण ग्रहण करते हैं और उसके बताये अनुसार दवाका सेवन तथा संयम करते हैं; उसी प्रकार इस भवरोगके लिये हमें सद्गुरुरूपी वैद्यकी शरण ग्रहण करनी होगी और उसके परमार्थ-साधनके वचनोंपर दृढ़ श्रद्धा-विश्वास करना होगा । परंतु इसके संयमके विषयमें कहते हैं कि विषय-वासनाओंकी तृष्णा छोड़ देनी होगी । यही इसका संयम है । इस तरह यदि किया जाय, तभी इस मानस-रोगसे छुटकारा पा सकते हैं । कहते हैं—

एहि बिधि भलेहिं सो रोग नसाहीं । नाहिं त जतन कोटि नहिं जाहीं॥

तभी हम जीवनका अन्तिम लाभ प्राप्त भी कर सकते हैं, जिसे पाकर कुछ करना-पाना शेष नहीं रह जाता ।

साँड़ देवता

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'साधुका दर्शन करना है तुझे ?'—सहसा चलते-चलते वे खड़े हो गये और हाथ उठाकर एक झोपड़ीकी ओर संकेत करके बोले—'जा, वहाँ जा ! वहाँ तुझे सच्चे साधुके दर्शन मिल जायँगे ।'

काला कोयले-जैसे रंगका देह, लाल-लाल नेत्र, सिरपर चिड़ियाके घोंसलेके समान उलझे केश । ये सर्वथा दिगम्बर रहते हैं । अङ्गमें धूलि, कीचड़ और केशोंमें तिनके लगे रहें—साधारण बात है । कहीं न डेरा है, न कुटिया । वृक्षके नीचे, खंडहरमें या मार्गके ही एक ओर पड़ रहते हैं । प्यास लगनेपर अञ्जलिसे जल पी लेंगे माँगकर; किंतु भोजन माँगते नहीं । कोई कुछ दे और भूख हो तो ले लेंगे, नहीं तो सिर हिलाकर चल देंगे ।

लोग कहते हैं कि पगला है । किंतु पागलपनकी कोई बात देखी नहीं गयी इनमें । न किसीको मारते, न गाली देते । प्रायः नित्य गङ्गामें डुबकी लगाते देखा गया है । कोई पास आ बैठे या समीप खड़ा हो जाय तो 'भाग जा ! भाग जा !' अवश्य चिल्लायँगे और उसके भागनेसे पहले स्वयं ही उठकर अन्यत्र चल देंगे ।

मैं आज इनके पीछे चल पड़ा, जब ये 'भाग जा !' कहकर चल दिये । थोड़ी दूर जाकर मुड़े और मुझे झोपड़ी दिखाने लगे । चमारोंके झोपड़े हैं इधर ग्रामसे बाहर थोड़ी दूरीपर । इन सब झोपड़ोंसे तनिक हटकर एक झोपड़ा और है । मैं जानता हूँ कि वह बूढ़े मंगू चमारका झोपड़ा है । इस गंदी बस्तीमें (गंदी मैं अनुमानसे ही कहता हूँ; क्योंकि) मैं कभी भीतर नहीं गया । लेकिन ये संत (मैं संत ही समझता हूँ इन अवधूतको) कहते हैं तो मंगूके झोपड़ेको आज

लेना चाहिये । सम्भव है, कोई साधु आ टि

उसके यहाँ । इन साधुओंका ठिकाना क्या कि

आसन जमा दें ।

चमरटोलेमें जाना मुझे पसंद नहीं । उनका

काटकर गया, फिर भी पासके खेतोंमें जो गंदगी है—

लेकिन मंगूके झोपड़ेके आसपास गंदगीका नाम नहीं

झोपड़ेके सम्मुख पर्याप्त दूरतक एक तिनका नहीं,

से लिपी-पुती स्वच्छ भूमि ! इस झोपड़े और आस

की स्वच्छताने इधर आनेकी ग्लानि दूर कर दी।

तुलसीके कुछ पौधे हैं और गेंदा फूल रहा है।

बाहर ही बैठा है झोपड़ेके और जूता बनानेके

चमड़ा छीलनेमें लगा है !

मुझे देखते ही उसने राँपी हाथसे छोड़ दी

उठ खड़ा हुआ । दोनों हाथ जोड़कर सिरसे

प्रणाम करके बोला—'मालिकने क्यों कष्ट कि

किसीसे बुला भेजा होता !'

मंगूका झोपड़ा खुला पड़ा है । भीतर कोई

होगा भी कौन। मंगूका पुत्र परलोक चला गया चा

पहले । पुत्रकी स्त्री पिछले साल दूसरेके बैठ

बस, एक पाँच वर्षका पौत्र है जो मंगूकी पुत्रवधू

नहीं ले गयी ।' मंगूकी टाँगोंको दोनों हाथोंमें पक

पीछे छिपा तनिक सिर टेढ़ा करके झाँक रहा है

बच्चा मेरी ओर ।

'मालिकको हाथ जोड़ ।' मंगूने बालकको

पकड़ा तो वह और भी चिपट गया उसकी घु

नंगी टाँगोंसे । खूब काला, नंग-धड़ंग; किंतु

आँखोंवाला सुन्दर सलोना बच्चा है । बड़ा प्यारा

गलेमें एक छोटी ताबीज काले धागेमें लटकती है और दूसरा कुछ नहीं देहपर ।

'तुम्हारे यहाँ और कोई नहीं है ?' मैंने इधर-उधर देखा। कहीं कोई बाबाजी होंगे, यह मेरा अनुमान ठीक नहीं निकला ।

'और कौन होगा मालिक ?' मंगूने फिर हाथ जोड़े। उससे बैठनेको कहना व्यर्थ है; क्योंकि मैं खड़ा रहूँगा, तबतक वह बैठेगा नहीं । लेकिन उसने समझ लिया कि मैं खड़े-खड़े चले जाने नहीं आया, इसलिये झोपड़ेमें खाट लेने जाते हुए कह गया—'और तो बस, ये साँड़ देवता हैं ।'

'साँड़ देवता !' मंगूके झोपड़ेके बाहर एक नाटा काले धब्बेवाला लाल साँड़ बैठा है । छोटा-सा, दुबला, कुरूप साँड़, जिसके दोनों नेत्रोंमें मसे लटक रहे हैं । कूबड़के पास बड़ा-सा घावका दाग है । वह बैठा-बैठा 'पागुर' कर रहा है । कभी-कभी पूँछ हिलाकर मक्खी उड़ा देता है । मंगूकी टाँगोंसे चिपका बालक अब चला गया है साँड़ देवताके पास । वह साँड़का गोबर जो उसने अभी-अभी किया है, अपनी छोटी हथेलीमें उठाकर दूर ले जा रहा है ।

'तो इसने अब यहाँ अड्डा जमाया है !' चारपाईपर बैठकर मैंने साँड़की ओर संकेत किया ।

'गङ्गा मैयाने कृपा की मालिक !' मंगू मेरे पास ही भूमिपर बैठ गया—'मैंने उस दिन 'बड़े घर' जब कथा हो रही थी—वे पंडितजी आये थे कथा बाँचनेवाले, तब दूर बैठकर उनकी कथा सुनी । बड़े विद्वान् थे पंडितजी । उन्होंने कहा था कि 'साँड़ साक्षात् धर्म हैं । धर्मकी जो रक्षा करता है, धर्म उनकी रक्षा करते हैं । भगवान् उसपर प्रसन्न होते हैं; क्योंकि धर्मके स्वामी स्वयं भगवान् हैं ।'

'मैं ठहरा नीच जातिका मूर्ख गँवार । धर्म-कर्म क्या होता है, पता नहीं । भगवान्का भजन-पूजन तो ब्राह्मण-ठाकुर करते हैं ।' बड़े भोलेपनसे मंगू कह रहा था । 'गङ्गाजी नहा लेता हूँ और तुलसी मैयापर एक लोटा पानी डाल देता हूँ, लेकिन मालिक ! दूसरे दिन गङ्गाजीसे लौट रहा था तो ये साँड़ देवता मिल गये । पता नहीं कैसे इनका अगला दाहिना पैर टूट गया था । ऐसे डकरा रहे थे पीड़ासे कि सुना नहीं जाता था । चार भाइयोंके हाथ-पैर जोड़कर इनको उठवा लाया । ये साक्षात् धर्म हैं । गङ्गा मैयाकी कृपासे इनकी सेवा मिल गयी । हल्दी-प्याज बाँधते-बाँधते इनके पैरका दर्द तो चला गया, लेकिन हड्डी जुड़ेगी नहीं ।'

'इनके लिये चारा ?' मुझे पता है कि मंगूका निर्वाह अपने बनाये जूते बेचकर होता है । उसके पास दूसरी कोई जीविका नहीं । यह बुड्ढा अब मजदूरीका परिश्रम नहीं कर पाता ।

'गङ्गामैयाने शायद इनकी सेवाके लिये ही वह दो बिस्वा जमीन छोड़ दी है ।' मंगूने बताया—'पिछले साल तो वह भी कट गयी थी । इस साल मैयाने छोड़ दी । उसमें बाजरा डाल दिया था । अब वह साँड़ देवताकी सेवाके काम आ गया ।'

'तुम्हारे पास खेत है मंगू ?' मेरे लिये नयी सूचना थी यहाँ 'यह भी एक हँसी-जैसी बात है मालिक ।' मंगूने बताया—'जब अंग्रेजी राजमें गदर हुआ था, कोई साहब इस गाँवमें आ निकला । उसका बूट टूट गया था । मेरे परदादाने उसे एक अच्छा चमरौधा जूता पहिना दिया तो वह कछारकी जमीनका पट्टा उन्हें दे गया । हर साल चौबीस रुपये लगान जरूर देता हूँ; लेकिन जमीन तो पता नहीं कब गङ्गामैयाके पेटमें चली गयी । कभी दो और कभी चार बिस्वा मैंने जिंदगी भर जोती है । इस साल कुल चार हाथ चौड़ी धरती मैयाने छोड़ी है ।'

गङ्गाकिनारे जिसकी जमीनका जितना पट्टा हो, लगान उसे उतनी जमीनका देना पड़ता है । जमीन गङ्गाजी पूरी काट ले जायँ तो भी और उसके सामने मीलभर जमीन छोड़ दें तो भी । उसकी जमीनकी सीधमें जितनी भूमि धारा छोड़ दे, सब उसकी । मंगू डेढ़ रुपये बीघेके हिसाबसे लगान देता है । इसका अर्थ है कि उसके पास पूरे सोलह बीघेका पट्टा है । सोलह बीघे कछारकी भूमि गङ्गा यदि छोड़ दें—मंगू एक वर्षमें लखपती हो जायगा ।

'तुम्हारे इस पोतेका भाग्य बलवान् दीखता है ।' मैंने बच्चेकी ओर देखकर कहा । गाँवके लोगोंकी दृढ़ मान्यता है कि गङ्गा दयामयी हैं । वे कोसी नदीकी भाँति प्रलयंकरी नहीं हैं । वे भूमि काटती हैं, फसल बहाती हैं; किंतु पूरे ब्याजके साथ लौटा भी देती हैं । वे जब भूमि छोड़ती हैं, तो उस भूमिमें सोना उगता है । यदि गङ्गाने अबतक मंगूकी भूमि नहीं छोड़ी तो अवश्य उसे या उसके पौत्रको वे कई गुना भूमि देनेहीवाली होंगी, यह मेरा मन कह रहा था ।

'अब मैयाकी कृपा और इन साँड़ देवताकी ।' मंगूने भूमिमें मस्तक रक्खा । 'यही एक बच रहा है इस झोपड़ेका दीया । जीता-जागता रहा तो अगले साल इसे पढ़ने बैठाऊँगा ।'

मंगूकी महत्त्वाकांक्षा पौत्रके लिये होना स्वाभाविक है । किंतु उस गरीबकी महत्त्वाकांक्षा भी कितनी ? 'बच्चा चार अक्षर पढ़कर रामायण बाँचने लगे । चिट्ठी-पत्री करने योग्य हो जाय और पेटके लिये दो रोटी कमाना सीख जाय—बस !'

'आपने कोई हुकुम नहीं किया मालिक !' मैं उठकर चलने लगा तो मंगूने पूछा । अबतक बातचीतमें लगकर वह भूल ही गया था कि अकारण कोई उसके द्वारपर क्यों आयेगा ?

'इधर घूमने आया था तो तुम्हारे साम
सफाई देखकर चला आया ।' मैंने वहाना
दिया—'कोई विशेष काम नहीं था ।'

मंगूको मैं क्या बताऊँ कि मैं कैसे आया
उस फक्कड़ने सम्भवतः इस बूढ़े चमारको ही
बताया अथवा मुझसे पिण्ड छुड़ानेको जो मुँहमें
कह दिया । मंगू साधु है ? यह संदेह मनमें लिये
मैं लौट आया उस दिन । यह जूता गाँठनेवाला
चमार साधु ? लेकिन वे अवधूत झूठ क्यों बोलें
यह साधु और उसका साँड़ देवता ?

× × ×

'भगवन् ! आप कृपा नहीं करेंगे ?' बात
साल बादकी है । आज मैं फिर उन अवधूतके
पड़ा हूँ । वे बैठे थे अपनी मस्तीमें वृक्षसे
मैंने पैर पकड़ लिये—'अपने लिये नहीं माँगता
किंतु श्रावण बीतनेवाला है, वर्षाकी बूँद नहीं पड़ी।
आते हैं और चले जाते हैं । सूखे खेत, भूखे
और ये निरीह गाँवके लोग—आप इनपर कृपा
करेंगे ?'

'जा ! भाग जा ! मेरे पास क्या धरा है
उन्होंने पैर छुड़ा लिये मेरे हाथसे और उठ खड़े
जाते-जाते बोले—'उस साधुके पास चला जा !'

'मंगू भगत !' मुझे अवधूतने फिर वही
दिखाया था । वहाँ जाकर मैंने हाथ जोड़े तो
हड़बड़ाकर स्वयं भी हाथ जोड़कर खड़ा हो
लेकिन मैंने प्रार्थनाके स्वरमें कहा—'अवधूत
कहा है कि तुम चाहो तो वर्षा हो सकती है ।
हुई हो तो क्या खायँगे तुम्हारे ये साँड़ देवता ?'

'देवता ! धर्म देवता !' मंगू दो क्षण गम्भीर
और फिर जाकर साँड़के अगले पैरपर उसने
पटक दिया । इन वर्षोंमें साँड़ इधर-उधर भले
आता हो, रहा मंगूके झोपड़ेपर ही है । उसे

बाँधा नहीं जाता; किंतु किसीके खेतमें उसने मुँह मारा हो, यह मैंने किसीसे नहीं सुना । मंगू केवल रो रहा था सिर रक्खे । मैं कई क्षण खड़ा रहा और फिर लौट आया ।

उसी दिन मेरे लौटनेके दो घड़ी बाद घटाएँ आयीं और शामतक तो खेत ही नहीं, नदी-नाले भी लहराकर बह उठे; किंतु मंगू दूसरे दिन इस लोकसे चला गया । मंगूके साँड़ देवताका क्या हुआ, किसीको पता नहीं । मंगूकी भस्म गङ्गामें पहुँचाकर पड़ोसी लौटे तो उस लंगड़े साँड़का पता नहीं था । ढूँढ़नेपर भी वह मिला नहीं ।

मंगूका पौत्र यद्यपि अभी बच्चा है और पढ़ता है; किंतु उसके शुभ-चिन्तकोंका अभाव नहीं है; क्योंकि गङ्गाने इस वर्ष लगभग अड़तालीस बीघे कछारकी भूमि उसे दे दी है । इतनी बड़ी सम्पत्तिके स्वामीको कहीं हितैषियोंका अभाव हुआ है ?

कालियमर्दन और ताण्डव-नृत्य

(लेखक—श्रीव्यौहार राजेन्द्रसिंहजी)

दो चित्र मेरे सामने हैं, कालियनागपर नृत्य करते हुए श्रीबालकृष्णका चित्र और प्रलयकालमें नृत्य करते हुए नटराजका चित्र । फुफकारते हुए भयंकर कालियनागपर कोमल चरण श्रीबालगोपालका नृत्य और वंशीवादन मृत्युपर अमर जीवनके आनन्दमय नृत्यको सूचित करता है । कालियनागके हजारों सिरोंमें प्रधान पाँच सिर सहस्रों प्रवृत्तियोंसे युक्त पञ्चेन्द्रियोंको सूचित करते हैं, जिनपर आत्मा नृत्य करता है । अक्सर वे इन्द्रियाँ ही जीवात्माको नचाती रहती हैं । यदि वह जरा-सा तार चूका कि इन्द्रियोंने उसे डसा । उनसे बचनेका एकमात्र उपाय यही है कि हम इन इन्द्रियोंको अपने हृदयमें रहनेवाले परमात्माको सौंप दें । फिर तो, वह ऐसा नृत्य नाचेगा कि फुफकारते हुए कालियनागके मुखसे कचूमर निकलने लगेगा और वह पनाह माँगने लगेगा ।

भागवतमें वर्णित है कि कालियनागका जो-जो सिर नहीं नमता था उसे श्रीबालकृष्ण अपने चरण-प्रहारसे दबा देते थे । इस चरण-प्रहारसे कालियनाग विष वमन करने लगा । इन्द्रियोंसे विषयरूपी विष वमन करानेका भी यही उपाय है कि उनपर श्रीबालकृष्णका पदाघात हो ।

इधर कालिय विष वमन कर रहा है और उधर बालकृष्ण अपने मधुर वंशीनिनादसे मुग्ध कर रहे हैं । विषसे खाली हुए हृदयको कर्णकुहरोंके द्वारा भक्ति-सुधासे भर रहे हैं ।

उधर नटराज प्रलयङ्कर अपनी जटाओंको छिटकाये, गजचर्म ओढ़े, डमरू बजाते हुए विश्वके शवपर अपना ताण्डव नृत्य कर रहे हैं । बालकृष्णका नृत्य मृत्युपर जीवनका नृत्य है और रुद्रका ताण्डव-नृत्य जीवनपर मृत्युके देवता प्रलयङ्करका नृत्य है । दोनों ही आनन्दसे वंशी और डमरू बजा रहे हैं । जीवनमें भी आनन्द और मृत्युमें भी आनन्द । आनन्द हमारे जीवनका ध्रुव सत्य है, दुःख नहीं । इसीलिये वे प्रलयङ्कर होकर भी शंकर हैं । शवको चूर्ण-विचूर्ण करनेके कारण वे शिव हैं । भीमरूप होकर भी कल्याणकारक हैं—

स भीमरूपः शिव इत्युदीर्यते ।

मृत्युका प्रतीक विष उनके कण्ठमें विराजमान है । कालरूपी सर्प उनका भूषण है । विष भी उनके लिये अमृत हो जाता है । 'कालकूट फल दीन्ह अमी के ।' त्यागसूचक जटा उनका मुकुट है—**'जटा मुकुट अहि मौर सँवारा ।'**

भोजन-शुद्धि

भोजन पवित्र हो; पवित्र स्थानपर पवित्र पुरुषके द्वारा पवित्र वस्तुओंसे बनाया हुआ हो, पवि स्थानपर पवित्रतासे बैठकर किया जाय और पवित्र होकर मनमें पवित्र भाव रखते हुए किया जाय।

दूसरेकी जूँठी कोई चीज न खाओ, न अपनी जूँठी कोई चीज दूसरेको खिलाओ। जूँठी चीजोंके सेवनसे विचारोंमें विकार पैदा होते हैं, बुद्धि बिगड़ती है और शरीरमें नये-नये रोग पैदा होते हैं। डाक्टर किसी संक्रामक रोगके रोगीकी नब्ज देखकर साबुनसे हाथ धोते हैं; क्योंकि रोगके कीटाणुओंका भय रहता है। जब छूने मात्रसे कीटाणुओंका संक्रमण होता है, तब थूक लगे जूँठे पदार्थोंके भोजनमें कीटाणुओंका भय नहीं है, यह मानना ही मूर्खता है।

आसानीसे ऊपरसे मुँहमें डालकर खानेकी सुविधा होनेपर भी आज-कल फलादि तथा सूखे मेवे आदि भी जीभसे अंगुली लगाकर जूँठे करके खाये जाने लगे हैं। एक-दूसरेकी जूँठन शौकसे खायी जाती है। 'बफे पार्टी' तो पशु-भोजनकी भाँति सबके जूँठन खाने-खिलानेकी ही दूषित भोजन-प्रणाली है। इससे शारीरिक, मानसिक रोग बढ़ते हैं और पतन होता है।

हाथ-मुँह धोकर पवित्र स्थानमें पवित्रतासे जमीनपर बैठकर अन्नका आदर करते हुए शान्तिसे भोजन करो और भोजनके उपरान्त हाथ-मुँह धोकर कुल्ले करो। इससे भोजनकी पवित्रता बनी रहेगी और शरीर तथा मन स्वस्थ होंगे। हाथ-मुँह न धोने तथा कुल्ले न करनेके कारण ही विदेशोंमें दाँतोंका पायरिया रोग उत्तरोत्तर बढ़ रहा है।

बिना नहाये-धोये गंदे विचारोंवाले सर्वभक्षी मनुष्यके अथवा कामी, क्रोधी तथा वैर-भाव रखनेवाले एवं अस्वस्थ व्यक्तिके हाथका बनाया हुआ भोजन मत करो। उससे मनमें अपवित्रता, गन्दगी, काम-क्रोधादि विकार तथा शत्रुता उत्पन्न होगी। अच्छी तरह नहा धोये शुद्ध शरीरवाले, पवित्र सात्त्विक भोजी, शु स्नेहमय भाववाले संयमी स्वस्थ सुहृद् व्यक्तिके हाथ बनाया भोजन करो। भोजन बनानेवाले मनुष्य स्वस्थ या अस्वस्थ शारीरिक और मानसिक विचा तथा परमाणुओंका प्रभाव भोजनपर पड़ता है और उ पदार्थोंका भोजन करनेवाले व्यक्तिपर भी तदनुसार ही असर पड़ता है। 'जैसा अन्न, वैसा मन।'

भोजनमें मांस, मद्य तथा हिंसाजनित सभी पदार्थों सर्वथा एवं प्याज-लहसुन आदि तामसी पदार्थोंका त्याग करो। इन सब पापमयी गंदी वस्तुओंके सेवन सद्विचार नष्ट होते, मनमें विकार उत्पन्न होते औ बुद्धिका नाश होता है। ये चीजें सर्वतोमुखी पत कारक हैं।

चोरी, परस्वापहरण, ठगी, बेईमानी, हिंसा, भ्र चार आदि साधनोंसे प्राप्त धनसे मिले हुए भोजन बुद्धिका बहुत बुरी तरह नाश होता है। इससे पा पुण्यबुद्धि हो जाती है और फलतः मनुष्यका सर्वना हो जाता है। 'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।'

भोजन करनेसे पहले भोजनके पदार्थोंको आदर पूर्वक प्रथम भगवान्‌के अर्पण करके तब भोजन करो ऐसा करनेपर वह 'प्रसाद' बन जायगा और उस 'प्रसाद' (अन्तःकरणकी निर्मलता और प्रसन्नता की ही प्राप्ति होगी, जो समस्त कर्मोंका पवित्रीकर समस्त दुःखोंके नाश करनेवाला और समस्त कल्याण प्रदान करनेवाला है।

सूरदासका भ्रमर-गीत

(लेखक—याज्ञिकसम्राट् पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड़, वेदाचार्य)

यह निर्विवाद है कि हिंदीके व्रजलीला-गायक कवियोंमें सूरदासजी सर्वश्रेष्ठ हैं। इस लघु लेखमें हम उनके उन पदोंपर कुछ विचार करेंगे, जिन्हें 'भ्रमर-गीत' कहा जाता है।

श्रीकृष्ण कंसद्वारा आमन्त्रित होकर अक्रूरजीके साथ मथुरा गये। वहाँ उन्होंने कंसको मारा, अपने पिताको बन्धनमुक्त किया और कुब्जाको अपने प्रेमकी अधिकारिणी बनाया। वे जब अवधि बीत जानेपर भी न लौटे, तब ब्रजवासी बड़े आर्त्त हुए। इसी बीच श्रीकृष्णने अपने सखा उद्धवको व्रजमें भेजा कि वे विशेषतः गोपियोंको समझावें।

उद्धव जब व्रजमें आये, उन्होंने अद्वैतवादका राग अलापा। पर उनका यह रस-विहीन उपदेश व्यर्थ हुआ। उद्धव अपना राग अलाप रहे थे, तभी एक भ्रमर उड़ता-उड़ता वहाँ आ निकला। अन्योक्ति-पद्धतिसे भ्रमरको लक्ष्यकर गोपियोंने उद्धवको बनाना प्रारम्भ किया। इस क्रियामें गोपियोंने जो बातें कही हैं, जो पद कहे हैं, उन्हींका नाम 'भ्रमर-गीत' है।

प्रसङ्गतः यह लिखना अनुचित न होगा कि सूरदासजीने श्रीकृष्ण और गोपियोंके प्रेमका वर्णन किया है, उसकी अभिव्यक्तिमें प्रेमका यह विकास अत्यन्त स्वाभाविकता अतएव दृढ़तासे हुआ था। इसलिये प्रेम या भक्तिकी उपेक्षा करनेवाले उद्धवजीके उपदेश व्यर्थ हो गये।

श्रीकृष्णने उद्धवजीको भेजा ही इसलिये था कि उनका अभिमान दूर हो जाय। वे प्रच्छन्न व्यंग करते हुए कहते हैं—

उद्धव! बेगिही ब्रज जाहु।
सुरति-सँदेस सुनाय मेटौ बल्लभिनको दाहु॥

हे उद्धव! तुम शीघ्र ही व्रज जाओ, ब्रह्मज्ञानका 'सँदेश' सुनाकर वल्लभियोंका ताप दूर करो।

उद्धव गर्वमें चूर व्रज पहुँचे। गोपियोंने श्रीकृष्णका मित्र जानकर उनका बड़ा स्वागत किया।

उद्धवने चट ज्ञानकी गठरी खोली और उसमेंसे अद्वैतवादको सामने रखकर उसका वे बखान करने लगे। अब तो गोपियाँ घबरायीं। उन्होंने सोचा कि रसिक-शिरोमणिका यह कैसा अरसिक मित्र आ पहुँचा। अब क्या किया जाय? उन्होंने उद्धवको बनाना शुरू किया।

आये जोग सिखावन पाँड़े।
परमारथी पुराननि लादे ज्यों बनजारे टाँड़े॥

यह देखो पाँडेजी योग सिखाने आये हैं। ये बड़े परमार्थी हैं और पुराण लादे फिरते हैं, जैसे बनजारे पण्य-वस्तु लिये घूमते हैं।

आयौ घोष बड़ौ ब्योपारी।
लादि खेप गुन-ग्यान-जोगकी ब्रजमें आप उतारी।
फाटक दै कर हाटक माँगत भोरै निपट-सुधारी॥

गोपियाँ एक दूसरीको सावधान करने लगीं—हे सखी! व्रजमें एक बड़ा व्यापारी आ गया है। उसने ज्ञान और योगकी खेप (मालका बोझ) व्रजमें उतारी है और फाटक (अन्नकी भूसी, फटकन) देकर सोना लेना चाहता है। हमलोगोंको एकदम मूर्ख ही समझ लिया है।

गोपियाँ पूछती हैं—

ए अलि! कहा जोगमें नीको?
तजि रस रीति नंदनंदनकी सिखवत निर्गुन फीको।

हे भ्रमर! योगमें क्या अच्छाई है। नन्दनन्दनसे प्रेम छोड़कर तुम निर्गुणका उपदेश देते हो।

उद्धवजी बोले—हमारा निराकार ब्रह्म अन्तर्यामी है, घट-घटमें व्याप्त है।

गोपी बोलीं—तो वह श्रीकृष्णमें भी होगा; पर,

हरि काहेके अंतरजामी?
जौ हरि मिलत नहीं यहि औसर, अवधि बतावत लामी॥

हरि काहेके अन्तर्यामी हैं! यदि होते तो इस समय अवश्य आकर मिलते। जब हम वियोगमें दशम अवस्थाके आस-पास हैं। वे अन्तर्यामी होते तो मिलते, लंबी अवधि न बताते और हे उद्धवजी! तुम जो ऐसी बातें कह रहे हो, इसमें तुम्हारा दोष नहीं।

बिलग जनि मानहु ऊधो प्यारे।
यह मथुरा काजरकी कोठरि जे आवहिं ते कारे॥

तुम बुरा न मानो, दुःख न करो, तुम्हारा दोष नहीं। मथुरा है ही काजलकी कोठरी, वहाँसे जो आता है, वह काला ही (हृदयका) आता है।

हे उद्धवजी ! हमारा दुःख तो श्रीकृष्णहीको देखनेसे मिटेगा, तुम्हारे ब्रह्मकी चर्चासे नहीं—

का की गई भूख मन-लाडू सो देखहु चित चेत।

विचार कर देखो, मनके मोदकोंसे किसकी भूख मिटी है ?

गोपियोंको संदेह हुआ कि रसिकराज श्रीकृष्णने दिल्लगीके लिये उद्धवको भेजा है। उन्होंने उद्धवसे पूछा—

साँच कहौ, तुमको अपनी सौं, बूझत बात निदाने।
'सूर' स्याम जब तुम्हें पठाये, तब नेकहुँ मुसुकाने॥

हे उद्धवजी ! सच कहना, तुम्हें शपथ है कि श्रीकृष्णने जब तुम्हें भेजा, तो वे जरा भी मुस्कराये थे ? (यदि श्रीकृष्ण मुस्कराये, तब तो निश्चय ही दिल्लगी की है।)

पर, उद्धव पुनः जोर-शोरसे अपना राग अलापने लगे। गोपियाँ बोलीं—

ऊधो ! भली करी तुम आये।
ये बातें कहि कहि या दुखमें व्रजके लोग हँसाये॥

हे उद्धव ! अच्छा किया कि तुम यहाँ आ गये और विरह-व्याकुल लोगोंको अपनी (मूर्खता-भरी) बातोंसे हँसा तो दिया।

उद्धवजी पुनः अपने विषयका प्रतिपादन करने लगे। खीझकर गोपियाँ बोलीं—

ऊधो ! जोग बिसरि जनि जाहु।
बाँधहु गाँठ, कहूँ जनि छूटै फिर पाछे पछिताहु॥
ऐसी बस्तु अनूपम मधुकर ! मरम न जानै और।
व्रजबासिन के नाहि काम की, तुम्हरे ही है ठौर॥

हे उद्धव ! योगको भूल न जाना। इसे गाँठ बाँधकर रख लो, कहीं छूट न जाय कि पीछे पछताओ। यह अपूर्व वस्तु है, इसका मर्म कोई नहीं जानता। कम-से-कम यह व्रजवासियोंके तो कामकी नहीं है।

गोपियाँ पुनः कहती हैं—

यह निर्गुन निर्मूल गाठरी अब किन करहु खरी।
नफा जानि कै यहाँ लै आये सबै वस्तु अकरी॥

यह निर्गुण (निर्गुण ब्रह्म तथा गुणहीन वस्तु) (बिना जड़ या पत्तेकी तथा ऐसी, जिसमें अपना नहीं लगा है, अर्थात् ऐसा ब्रह्म, जिसकी स्वानुभूति नहीं है, सुन-सुनाकर बकते हो) गठरी सँभालो। जानकर सभी मँहगी वस्तु तुम यहाँ ले आये।

पर उद्धव अपनी बकवाद बंद नहीं करते। झुँझलाकर गोपियाँ कहती हैं—

कत श्रम करत सुनत को यहाँ है,
होत ज्यों बनको रोयो।
'सूर' इते पर समझत नाहीं,
निपट दईको खोयो॥

क्यों श्रम करते हो ? कौन सुनता है ? क्यों रोदन करते हो ! इतनेपर भी समझते नहीं ! 'निपट खोये'—विधाताद्वारा एकदम नष्ट न हो !! 'पूरे' हैं। नहीं ही माने। गोपियाँ बोलीं—

उधो हम हैं तुम्हरी दासी।
काहेको कटु-बचन कहत हो, करत आपनी हाँसी॥

हे उद्धव ! हम तो तुम्हारी दासी हैं। क्यों वचन (ब्रह्मचर्चा) कहते हो और अपनी हँसी कराते

गोपियोंका दैन्य, प्रेम, औदार्य छलक वे श्रीकृष्णके लिये संदेश देने लगीं—

उधो कहियो यह संदेस।
लोग कहत कुब्जा-रस-माते, तातैं तुम सकुचौ जनि

हे उद्धवजी ! श्रीकृष्णसे कहना कि लोग तुम्हें रत' कहते हैं। इस बातका जरा भी संकोच न चले आओ।

फिरि व्रज बसहु गोकुल नाथ।
बहुरि तुमहिं न जगाय पठवौं गोधननके साथ॥
करिहौं न तुमसौं मान हठ, हठिहौं न माँगत दान।
कहिहौं न मृदु मुरली बजावन, करन तुमसौं गान॥
कहिहौं न चरनन देन जावक, गुहन बेनी फूल।
कहिहौं न करन सिंगार बट-तर बसन जमुना-कूल॥

देहु दरसन नंदनंदन ! मिलन ही की आस ।
'सूर' प्रभुकी कुँवर छवि कौ भरत लोचन प्यास ॥

'कहिहौं न चरनन देन जावक' आदिसे यह सूचित होता है कि प्रेमका भक्तिमें पर्यवसान हो चला है।

जब प्रियके दर्शनका आग्रह भी छूट जाय, तो आत्मोत्सर्गकी अन्तिम कोटि समझनी चाहिये। वह इस पदसे स्पष्ट है—

जहँ जहँ रहौ राज करौ तहँ तहँ,
लेहु कोटि सिर भार।
यह असीस हम देति 'सूर' सुनु,
न्हात खसै जनि बार ॥

'जहाँ रहो वहीं राज्य करो' यह दर्शनका अनाग्रह है।

अन्तमें वे कहती हैं—

हम तौ दुहूँ भाँति फल पायो।
जौं ब्रजनाथ मिलैं तौ नीकौ, नातरु जग जस गायो ॥

यदि श्रीकृष्ण मिलें तो अच्छा, न मिलें तो भी अच्छा।

उनमें पुनः विनोद-वृत्ति जाग्रत् होती है। वे पूछती हैं—

निर्गुन कौन देसको बासी ?
मधुकर ! हँसि समझाय, सौंह दै बूझति, साँच न हाँसी ॥

हे मधुकर ! निर्गुण कहाँका निवासी है ? क्रोध न कर, हँसकर बता दो, सच ! तुझे शपथ है, हम सचमुच पूछती हैं, हँसी नहीं करती हैं।

इस छोटेसे लेखमें दो-चार पदोंकी बानगी दी गयी। यही सम्भव भी था। सूरदासजीके पाण्डित्य, रसिकता, दूरदर्शिता और लोकोत्तर कल्पनाका आनन्द लेना हो, तो पाठक 'सूरसागर' में यथाशक्ति गोते लगावें*।

* * *

पुष्टिमार्गीय समाराधनामें संगीत-योग

(लेखक—पं० श्रीगोपाल भट्टजी, एम्० ए०)

हमारा उत्तरमध्यकालीन युग राजनीतिक एवं सामाजिक क्रान्तिका युग था। बाहरी देशोंसे आये हुए विदेशी लोग इस देशको जीतकर यहाँ बस गये और इस देशको अपना ही समझने लग गये। जब अपना ही शौर्य विदेशियोंको परास्त कर सकने और अपना शासन बनाये रख सकनेमें समर्थ न रह सका, तब हमने परस्पर एक दूसरेके रहन-सहन, उनकी विद्या-कलाओं और उनकी सामाजिक व्यवस्थाओंको किसी-न-किसी रूपमें अपना ही लिया। विजेताका विजितोंपर प्रभाव पड़ता ही है, अतः उनकी संस्कृति और विचारभावना हमें प्रभावित कर चली और यहाँतक कि हमारी उपासना-पद्धतिपर भी उसका प्रभाव पड़ा।

जनसाधारण अपने आश्रयदाताओं—अमीर उमराव जागीरदार राजाओं और नवाबों आदिको प्रसन्न करने और उनसे बख्शीश प्राप्त करनेमें ही अपनी सारी शक्ति लगाये हुए था। सारी विद्याओं और कलाओंकी सिद्धि तभी मानी जाती थी जब उसका प्रदर्शन विद्वानों और गुणीजनोंके सामने राजदरबारोंमें होता था और गुणीजनोंद्वारा उसकी प्रशंसा की जाती थी, तभी राजपुरस्कार भी मिल पाता था। कभी-कभी कलाकारोंको उत्कृष्ट कलाप्रदर्शनमें असमर्थता रहनेपर मौतके घाट भी उतरना पड़ता था। इस स्थितिमें विद्याओं और कलाओंकी यद्यपि आशातीत उन्नति हुई और विद्वानों एवं कलाकारोंको राज्याश्रय एवं पुरस्कार भी प्राप्त हुए, जिससे जनसाधारणमें इसकी वृद्धिके लिये पर्याप्त आकर्षण एवं प्रवृत्ति बढ़ी, परंतु सारी साधना 'परान्तःसुखाय'में ही परिणत हो गयी, जब कि उसकी सात्त्विक साधना स्वान्तःसुखाय ही थी और इसी 'परान्तःसुखाय'की प्रवृत्तिने सारी हमारी साधनाको उसी साँचेमें ढालना प्रारम्भ कर दिया, जिसका प्रभाव हम आजतक अपने ऊपर देखते हैं। इसके अतिरिक्त इस साधनाका और भी कुछ ध्येय है या नहीं, यह हम समझते ही नहीं—यह अपना ही दुर्भाग्य है।

ऐसे समयमें भी कुछ ऐसे लोग थे, जो अपनी सारी साधनाको भगवदर्पण करते थे, उन्हें अपने समयमें ख्याति, राज्याश्रय एवं जनतासे धनकी अपेक्षा नहीं थी। वे इसे तृणवत् मानते थे—

संतन को कहा सीकरी काम।
आवत जात पन्हैया टूटैं बिसरि जाय हरिनाम ॥

---

* लेखककी अप्रकाशित 'तत्त्व-विचार' पुस्तकसे उद्धृत।

कहा जाता है, कुम्भनदासजी उस समयके एक प्रसिद्ध गायक कवि थे। उनके गायनकी प्रशंसा बादशाहतक पहुँच चुकी थी। बादशाहके अति आग्रहसे बुलाये जानेके उपरान्त कुम्भनदासजीने बादशाहकी मर्जीके अनुसार पद-गायन करनेके अनन्तर उनसे यही प्रार्थना की कि अब आप हमें कभी न बुलायें। उन्होंने मनमें विचार किया कि जिस विषयीके देखनेमात्रसे दुःख होता है, उसको नाहक सलाम झुकाना पड़ता है; वक्रनीतियों एवं मदिरापानादिसे मत्त दारुणहृदय इन राजाओंकी क्या व्यर्थ स्तुति की जाय, जिनका चरित्र अत्यन्त दूषित है, जिनकी स्तुतिसे न तो ऐहिक सुख-समृद्धि ही प्राप्त हो और न मरनेके बाद अनन्त सुख ही। अतः उन्होंने सर्वकल्याणकारी जगदीश्वर भगवान्‌की आराधना और उन्हींके लीलागुणगानमें अपनी साधना और अपने इस मानवजीवनकी सिद्धि मानी। उन लोगोंने कहा—

ये दृशो भृशमिरामदारुणाः दारुणाश्च हृदि वक्रनीतिभिः।
तेषु राजसु विदां सदा नवा दानवारिमपहाय का स्तुतिः॥
वृथाकुटिलवेल्लितभ्रकुटिवल्लरीभीषणा-
मदान्धनमदोल्कटां चटुपरः परैः सेवताम्।
वयं तु नवमालतीं ललितसौरभोद्गारिणीं
गिरं सफलयामहे गुणगणैर्वृषाद्रीशितुः॥

(कविचक्रवर्तिश्रीश्रीनिवासभट्टमहोदयानाम्)

इन भक्तकवियोंने अपनी सारी वाणीकी साधना, विद्याओं और कलाओंकी सिद्धि जगदीश्वर भगवान्‌की आराधनामें एवं उनकी कृपा-प्राप्तिमें ही लगा दी। सूरकी बालकृष्णकी उपासना भावनाके साथ ही उन्होंने भी अपना समस्त जीवन ही लगा दिया।

सोभित कर नवनीत लिये।
घुटुरुन चलत रेनु तनु मंडित मुख दधि लेप किये॥
कठुला कंठ वज्र केहरि नख राजत (हे सखि!) रुचिर हिये।
धन्य सूर एकहु पल यह सुख कहा (भयो) सत कल्प जिये॥

उक्त पदके आधारपर श्रीबालकृष्णकी समाराधना भक्तोंने तीन प्रकारसे की है—वात्सल्यभावसे श्रीनंद एवं माँ यशोदाके भावनानुसार; माधुर्यभावनामें अनुरागवती गोपिकाओंके भावानुसार, निकुञ्जमें श्रीराधा-कृष्ण और उनकी अनुचरी ललिता-विशाखादिके रूपमें; तथा सख्य-रसकी भावनाके अनुसार वृन्दावनमें गाय चराते हुए राम-कृष्णकी उपासना सखामण्डलीके साथ की।

यों तो उक्त भावनाओंके अनुसार आराधना भा सम्प्रदायमें, गौडीय सम्प्रदायमें और निम्बार्क-सम्प्रदायमें भी की जाती है; किंतु इस सरस आराधनापद्धतिका विशेष आनन्द पुष्टिमार्गीय आचार्योंने लिया है। उन्होंने अपने शुद्धाद्वै दर्शनके साथ-साथ भगवान् श्रीकृष्णके नवनीत-प्रिय स्वरूप की आराधना बड़े आकर्षक ढंगसे की है; जिसमें उन्होंने अपने समस्त ऐहिक साधनोंका विनियोग भगवत्सेवामें क दिया। श्रीनन्दालयमें माँ यशोदाकी भावनाके अनुसार सेवा-क्रम ऐसा सरस बनाया गया है कि जिसे कोई भी रसिक-हृदय व्यक्ति यदि देखे तो उस पद्धतिकी ओर सहसा आकृष्ट हुए बिना नहीं रह सकता। विभिन्न ऋतुओंके अनुसार प्रभुके भोग-राग-कीर्तन (लीलागुणगान) वस्त्र-अलंकार-धारण आदिकी पद्धति अपनी निजी है, साथ ही बड़ी मोहक एवं भावयुक्त है। जिसमें राग एवं रसकी एक ऐसी समन्वित योजना दीख पड़ती है कि जिसे देखते ही बनता है, कहनेमें वाणीकी असमर्थता रह जाती है। इस सेवाक्रमकी क्रमबद्धतापर ज्यों-ज्यों सोचते हैं, परम विस्मय होता है। अतः यह मानना ही पड़ता है कि उसमें अलौकिक ही दिव्यता है। जिन महापुरुषोंने इस पद्धतिको क्रमबद्ध किया, वे निःसंदेह दिव्य और रस-सिद्ध पुरुष थे। वे भगवान् श्रीकृष्णकी नित्य-लीलाके नित्य-परिकर ही थे, जिन्होंने कलिकालके अल्प-साधन, अल्प सामर्थ्यवान् इन संतप्त जीवोंके कल्याणार्थ ही इस पृथ्वीतलपर जन्म लिया और उस दिव्य नित्य-लीलाको संसारमें प्रकाशित किया; नहीं तो ऐसे तत्कालीन कठिन युगमें ऐसी दिव्याराधन-पद्धति भला कैसे सम्भव हो पाती? उसकी दिव्यता ही आजतक उस सरस उपासनाको अक्षुण्णरूपमें बनाये हुए है। उसकी सरसता आज भी सहृदयों, भावुकों और रसज्ञोंको आकृष्ट करनेके लिये पर्याप्त है। इस आराधना-पद्धतिको द्विगुणित क्या सहस्रगुणित करनेवाली पद्धति कीर्तन (प्रभुकी झाँकियों-दर्शनमें उन-उन समयोंपर गाये जानेवाले लीला-गुण-गान) की है जो समय-समयपर प्रभुके सामने भगवान्‌की अनेक लीलाओंके गुणगानके रूपमें की जाती है।

पुष्टिमार्गीय मन्दिरोंमें प्रायः प्रातःकालसे रात्रितक शयनपर्यन्त आठ बार दर्शन (झाँकियाँ) होती हैं; जिनमें हर समय विविध भावनाओंके अनुसार, विविध ऋतुओंके अनुसार विविध उत्सवोंके अनुसार यह लीला-गायन सुरीले गायकों द्वारा, जिन्हें कीर्तनियाँ कहते हैं, किया जाता है; इस पद्धति

कुशल गायक कलाकारोंकी कलाकारिताको अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता, बल्कि महात्माओं (रससिद्ध कवियों) की वाणी (कविता) को शुद्ध रागोंके स्वरोंमें धीमी गतिमें ध्रुपद-धमार-पद्धतिके अनुसार झाँझ, मृदंग (पखावज), तानपूरा, इसराज, सारंगी आदि वाद्योंके साथ इस प्रकारसे गाया जाता है कि कीर्तनसे प्रभुके दर्शनोंका पूर्णतम लाभ मिले और वह दिव्यलीला प्रकटरूपमें दिखलायी देने लगे। जिसमें श्रोतागण, दर्शकगण, सेवाधिकारीगण सभी रसविभोर हो जायँ और उस रस-प्रवाहमें अपने जीवनके त्रिविध ताप (शोक-मोहादि) को भूल जायँ।

पुष्टिमार्गीय इस अनुग्रहमार्गके संस्थापक जगद्गुरु श्रीवल्लभाचार्यजी थे। वे स्वयं बहुत संक्षिप्त रीतिमें श्रीनाथजीकी सेवा करते थे। सूरदास नामक भक्त कवि उनके परम अनुरक्त शिष्य थे, जो आचार्यजीसे श्रीमद्भागवतकी श्रीकृष्णलीलाका श्रवण करते थे और उसीका वर्णन सरस पदावलीमें सुन्दर रागोंकी योजनामें प्रभुके सामने गाकर सुनाया करते थे। धीरे-धीरे तत्कालीन राज्याश्रयके प्राप्त होनेपर इस सेवाश्रमके वैभवका पूर्ण विस्तार हुआ। श्रीवल्लभाचार्यजीके कनिष्ठ पुत्र गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी इस सम्प्रदायके संगठन-कर्ता एवं सेवामार्गके प्रवर्तक हुए। उनके समयमें गोविन्दस्वामी (अष्टछापके प्रसिद्ध कवि) श्रीनाथजीके कीर्तनियाँ नियुक्त किये गये। गोविन्दस्वामी अच्छे गायक भी थे और कवि भी। अष्टछापके कवियोंमें आपका नाम बड़े आदरसे लिया जाता है। कहा जाता है गोविन्दस्वामी जब गाते थे, उनको प्रभुकी लीला स्पष्टरूपमें दिखलायी देती थी। एक समय शयनके समय फागके दिनोंमें गोविन्दस्वामी

श्रीगोवर्द्धन राय लाला। तेरे चंचल नयन बिसाला॥

नामक पद (धमार) गा रहे थे। उन्होंने आगे वर्णन किया 'अचका अचका आयकें भाजी गाल लगाय' ग्वालिन (श्रीराधा) श्रीकृष्णके कपोलोंपर गुलाल मलनेकी इच्छासे अचक-अचक (धीरे-धीरे) आयी, गुलाल मली और श्रीकृष्णके कपोल-से-कपोल मिलाकर भाग गयी। श्रीकृष्ण भी उनके(श्रीराधाके) पीछे भागे। उन दोनोंकी इस अनुरागमयी लीलाका वर्णन करते-करते गोविन्दस्वामी गाते-गाते चुप हो गये। उनका मन भी उन दोनोंके साथ ही भाग निकला; वे अपने तन-मनके स्वकीय स्वरूपमें ही न रहे। कहा जाता है कि श्रीगुसाईंजीने स्वयं जब गोविन्दस्वामीको सम्बोधित करके पूछा कि 'आप चुप क्यों हो गये ? आगेकी लीलाका वर्णन कीजिये ?' तब गोविन्दस्वामीकी इस असमर्थताको देखकर श्रीनाथजी स्वयं (भगवान्) ने अन्तिम पंक्ति 'श्रीगोवर्धनवर रूप पै जन गोविंद बलि बलि जाय' गाकर पूरा कर दिया। इस प्रकारके अनेक शब्द-चित्र गोविन्दस्वामीके काव्यमें मिलते हैं। स्वयं आचार्यगण बड़े रसज्ञ एवं भावुक थे और उनकी इस उपासनाके अनुरूप ही ऐसे भक्त कवि भी उनको मिले जिन्होंने इस मार्गको अत्यन्त सरस बना दिया। अष्टछापके तथा व्रजके अन्यान्य भी अनेक कवियोंके बड़े सुन्दर शब्द-चित्र हमें उनके काव्योंमें मिलते हैं। यहाँ तो हमें केवल यही दिखलाना है कि इस सरस सेवा-मार्गको इन भक्त गायकोंने किस प्रकार और भी सरस कर दिया। हृदयका अनुरागी होना, प्रभुकी लीलाको सीधे स्वरोंमें गा देना मात्र ही इन भक्त गायकोंकी विशेषता थी। वे किस उस्तादके शागिर्द थे ? या किस विद्यालय या विश्वविद्यालयकी शिक्षा पाये हुए थे ? या किस राजाके दरबार-गायक थे ? इनमें कितनी गायन-कला-चातुरी थी ? यह उनकी विशेषता नहीं थी। कहा जाता है कि उस समयके प्रसिद्ध और बादशाह अकबरके दरबारी गायक तानसेन गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजीके यहाँ आये और उन्होंने अपना कलापूर्ण गायन सुनाया। गायनकी कला-चातुरीका जहाँतक सम्बन्ध था, तानसेनका गायन उत्कृष्टतम था। सभीने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की; किंतु गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजीने जब उन्हें गायनका पुरस्कार दिया तब एक सहस्र मुद्रा देनेके बाद ऊपरसे एक कौड़ी रख दी। इस कौड़ीको देखकर तानसेन सहसा चौंक पड़े और उसका रहस्य पूछने लगे। उत्तरमें गुसाईंजीने कहा कि सहस्र मुद्राएँ तो आपके इस कलापूर्ण गायन-प्रदर्शनके पुरस्काररूप हैं। परंतु यह आपकी सारी कलाचातुरी हमारे लिये कौड़ीभर मूल्यकी है; क्योंकि इसमें हमारे प्रभुका गुणगान नहीं है। उस विद्या और कलाका क्या मूल्य ? क्या प्रयोजन ? क्या विनियोग ? जिसमें हमारे प्रभुका गुणगान न हो। हमारी दृष्टिमें उसका मूल्य कौड़ी भी नहीं। श्रीगुसाईंजीने प्रथम तो तानसेनको अपने कीर्तनियाँ गोविन्दस्वामीसे निम्नलिखित एक पद सुनवाया—

यो मन गिरिधर छबि पै अटक्यौ।
ललित त्रिभंगी चाल पै चलि कें चिबुक चारु गढ़ि ठठक्यौ॥
सजल स्याम घन बरन लीन ह्वै फिर चित अनत न भटक्यौ।
कृष्णदास किये प्राण निछावर यह तन जग सिर पटक्यौ॥

इसके अनन्तर उन्होंने अपनी सारी विद्याकला एवं सारी साधनाकी सर्वाङ्ग सिद्धि भगवत्सेवा-विनियोग ही बतलायी। इस बातको सुनकर तानसेनने श्रीगुसाईंसे प्रार्थना की कि मुझे भी इस अनुग्रहमार्गका पथिक बना लीजिये। कहा जाता है कि तबसे तानसेन श्रीगुसाईंजीके अनुगत हुए, तभीसे उनकी कवितामें 'तानसेनके प्रभु तुम (या वे) बहुनायक' नामसे छाप आने लगी, अन्यथा 'कहैं मियाँ तानसेन' की छाप उनकी कवितामें आया करती थी। अस्तु, यहाँ इस बातके कहनेसे केवल इतना ही प्रयोजन है कि हमारा सारा प्रयत्न, सारी कलाचातुरी यदि भगवद्गुणगानमें विनियुक्त होती है तो वह सार्थक है, अन्यथा निरर्थक। जैसा कि श्रीमद्भागवतपुराणमें कहा गया है—

न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो
जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित् ॥
तद्वाग्विसर्गो जनताघसम्प्लवो (विप्लवो)
यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि ।
नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि य-
च्छृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः ॥

तात्पर्य यह है कि यदि गायनकलाबाजी स्वर-तालों और लयकारियों आदिका ही विस्मयकारक प्रदर्शन मात्र हो और उसमें भगवद्गुण या सदुपदेशात्मक काव्यका विनियोग न हो तो उस संगीतकी कलाबाजीका क्या उपयोग? वह तो निरर्थक प्रयास या जलताडन ही कहा जायगा। उससे तो श्रेय और प्रेयमेंसे किसीकी भी सिद्धि नहीं हुई। ऐसी साधनासे क्या लाभ? अस्तु, श्रीभगवान्‌की विविध झाँकियोंमें ये कीर्तनियाँ लोग बड़े सुरीले स्वरोंमें दर्शनोंकी भावनाके अनुसार ही पद-गायन करते हैं। उनके उस गायनमें कहीं भी कोरी कलाकारिताको महत्त्व नहीं दिया जाता, परंतु साथ ही यह भी देखा जाता है कि यदि कोई भक्त कलाकार उक्त पद्धतिसे अपनी कलाका भी प्रदर्शन किया चाहे तो उसका भी मान श्रीभगवान्‌के सम्मुख होता है।

पुष्टिमार्गीय मन्दिरोंमें प्रातःकालसे रात्रिपर्यन्त आठ बार दर्शन (झाँकियाँ) होते हैं। प्रातःकालकी सबसे पहली झाँकी 'मङ्गला' कहलाती है। इस 'मङ्गला'के दर्शनोंसे पूर्व भगवान्‌के जगानेके समय बीन या वीणा बजाये जानेकी प्रथा देखनेमें आती है। यह वीणा प्रातःकालमें प्रातःकालीन रागोंमें तथा शामको भोगके समय तत्कालीन रागोंमें तथा शयनके समय कान्हरा, शंकरा या विरागादि रागोंमें बड़े स्वरविन्यासोंमें किया जाता है।

कहा जाता है कि गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजीके श्रीघनश्यामजी नित्यप्रति भगवान्‌के शयनके लिये शय्या सुकोमल पुष्पोंसे करते थे और उनके शयनके पूर्व वीणा करते थे। रात्रिभर आँखोंपर पट्टी बाँधकर भगवान्‌के करनेके समय पंखा झलते रहते थे। वीणा बजाते उनके हाथोंमें कुछ खुरदरापन आ गया था। एक दिन जो ध्यानपूर्वक अपने हाथोंको देखा तो उन्हें यह खुरद दिखलायी दिया। उन्होंने उसका कारण सोचना किया। शीघ्र ही वे इस निष्कर्षपर आ गये कि इसी वीनवा यह बात हुई होगी। उनके मनमें इस बातको लेकर संकोच होने लगा कि प्रभुके नवनीतवत् सुचिक्कण श्रीअङ्गमें मेरे हाथोंका यह खुरदरापन अवश्य ही पहुँचाता होगा। निदान उन्होंने उसी दिनसे वीनवाद कार्य अपने छोटे भाई श्रीरघुनाथजीको सौंप दिया। वीणावादनका कार्य अब भी बड़े-बड़े प्रतिष्ठित घरोंमें परिकरके व्यक्तियों या कीर्तनियोंद्वारा मधुर स्वरोंमें जाता है। इसके वादनके समय यही ध्यान रक्खा जा कि स्वरविन्यास परम मधुर हो। चमत्कार—प्रदर्शनादि लयकारियोंकी विविधताको महत्त्व नहीं दिया जाता। सर्वथा प्रभु-सुखद हो, यही भावना ही प्रमुख रहती है।

वीणावादनके अनेक पद इस सम्प्रदायकी कीर्तन पाये जाते हैं। मङ्गलाके समय एक पद गाया जाता है—

“आज प्रात नवकुंज द्वार ह्वै (पै) ललिता ललित बजाई
पौढ़े सुनत स्याम श्रीस्यामा दम्पति चतुर नवीन

वीनवादनमें पटु श्रीललिता नामक सखीने निकु पर, जहाँ श्रीराधाकृष्ण दोनों शयन किये हुए थे, जगानेके लिये ललित स्वरोंमें या ललित रागमें वीणावादन जिसे लेटे-लेटे श्रीराधा एवं श्रीकृष्ण सुनते रहे या भाव है कि जिस मधुर वीणावादनके ललित स्वरवि सुनते हुए चतुर दम्पति (श्रीराधाकृष्ण) नवीन (और नवीना (श्रीराधा) दोनों ही पुनः सो गये। भावुकजन अर्थ लगा लें। अस्तु, उद्धरणसे केवल यही है कि वीणावादन इतना मधुर होना चाहिये कि तो क्या स्वयं श्रीभगवान् भी सुनते हुए आनन्द-विभोर हो

उपर्युक्त पदमें ललिता नामक परम अन्तरङ्ग सखीके वीणावादनका उदाहरण हमने रक्खा । इस वीणावादनकी परम उत्कृष्ट आचार्या श्रीराधा हैं । जिनके विषयमें श्रीगदाधर भट्टजी कहते हैं 'विदित (चतुर) चौंसठ कला तदपि भोरी' जैसा कि नीचेके पदसे स्पष्ट दिखलायी देता है । यह पद ग्रीष्मकाल या उससे पूर्व ही 'राजभोग' सम्मुखमें कुञ्जमहलकी भावनामें ध्रुपदमें (चौताल) गाया जाता है ।

बैठे हरि राधा संग कुंज भवन अपने रंग,
कर मुरली अधर धरे सारँग मुख गाई ।
मोहन अति ही सुजान परम चतुर गुननिधान
एक तान जान बूझि चूकि कें बजाई ॥
प्यारी जब गह्यो बीन सकल कला गुन (न) प्रवीन
अति नवीन गुन सहित वही तान सुनाई ।
वल्लभ गिरिधरनलाल रीझ दई अंकमाल
कहत भले भले लाल सुंदर सुखदाई ॥

एक और भी पद इसी ध्रुपदका भाव व्यक्त करता है । जहाँ श्रीकृष्ण वेणुवादनमें अपनी कलाचातुरी दिखलाते हैं; वहाँ श्रीराधा अपने वीणावादनमें वही सिद्धता दिखलाती हैं ।

जब स्याम अभिराम मुरली धुनि कीनी ।
तब स्यामा सुर मिलाय बीना कर लीनी ॥

सूरदासजीने भी एक पदमें—

स्याम तेरी मुरली नेंकु बजाऊँ ।
जोइ जोइ तान भरो मुरलीमें सोइ सोइ गाय सुनाऊँ ॥

अतः जहाँ श्रीकृष्णका वेणुवादन शीलस्वरूप बतलाया गया है, वहाँ श्रीराधा भी संगीतकी गायन, वादन एवं नृत्यकी आचार्या बतलायी गयी हैं । इसके उदाहरण हमें रासके पदोंमें, नृत्यकी विविध गतियोंमें, विविध वाद्योंके वादनके वर्णनमें मिलते हैं । अस्तु, वीणावादन इस मार्गकी आराधनामें एक विशेष सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त किये हुए है । संगीतकी सम्यक् योजना भगवत्सेवामें इसी मार्गके द्वारा हो सकी है, यह कहना कुछ अत्युक्ति नहीं है । मनुष्यकी सारी क्रियाएँ भोग-राग, वस्त्र-अलंकार-भूषण, भवन-सम्पत्ति आदि समस्त वैभवका विनियोग केवल श्रीभगवान्‌की पवित्र सेवामें ही हो । स्त्री-पुत्र, परिजन, भाई-बन्धु, इष्ट-मित्र आदि सबको श्रीभगवान्‌की सेवामें ही लगाया जाय—इस मार्गकी यह विशेषता है । सभी वस्तुएँ भगवदीय हैं; हमारा अपना कुछ नहीं, अतः **'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये'** की भावनासे भगवदर्पण करना—यही इस मार्गकी प्रपत्तिका दृष्टिकोण है । अपने भोगकी वस्तुको अपनी न समझकर प्रभुकी है, प्रभुकी सेवामें ली जाय, लगायी जाय । यह भावना मनुष्यके प्रत्येक व्यवहारमें रहे, यही आचार्योंका उपदेश रहा है । उसी दृष्टिकोणसे असमर्पित (जो प्रभुके समर्पण न की जा सकी हो या जिसका भगवत्सेवामें उपयोग न हुआ हो) वस्तुका व्यवहार इस मार्गमें त्याज्य समझा गया है । प्रभुकी सेवामें आनेसे पूर्व किसी भी वस्तुका उपभोग इस मार्गमें ग्राह्य नहीं माना गया है [कालान्तरमें इस सिद्धान्तका गलत अर्थ समझकर कुछ अधिकारी लोगोंने असमीचीन प्रयोग प्रारम्भ कर दिया, जिसकी प्रतिक्रिया भी हुई । अस्तु, इसके विवेचनसे हमारा यहाँ कोई प्रयोजन नहीं] और कहा जाता है कि किसी समय एक कीर्तनियाँ या गायक भैरवी राग, जिसमें कई प्रकारसे चमत्कारवादी स्वरोंका प्रयोग करके इतने आकर्षक ढंगसे गा रहे थे कि वह राग सुननेमें बहुत ही सुन्दर दिखलायी दे रहा था । किसी श्रोताने गायकके गायन-माधुर्यपर उसके सुरीलेपनपर उस रागके वैचित्र्यपर उसकी सराहना वहीं करना प्रारम्भ कर दिया । तत्कालीन सेवाधिकारी भी उस समय वहीं थे । उन्होंने उस प्रशंसकसे उस सराहनाका अभिप्राय पूछा । उसने अपना सरलभावसे विचार प्रकट कर दिया । इसपर अधिकारी महोदयने पूछा कि 'क्या इस राग-विशेषका तुमने आस्वादन कर लिया ? यदि ऐसा है तब तो यह राग अब हमारे प्रभुके आस्वादनकी वस्तु नहीं रही, "यह तो अब छू गई" । तभीसे कहा जाता है 'भैरवी रागिनी छू गई' । अतः पुष्टिमार्गीय मन्दिरोंमें कहीं इस राग या रागिनीको गाते या बजाते हुए सुननेमें नहीं आता और न किसी कीर्तन-पद्धतिकी पुस्तकोंमें ही इस रागका कहीं विवेचन ही देखनेमें आता है । इसका दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि इस रागको प्रायः चमत्कारवादी लोग राजाओंके दरबारोंमें गाया करते थे और इस चमत्कार-प्रदर्शनके कारण उसके शुद्ध रूपमें यत्र-तत्र बहुत-से परिवर्तन करके बिगाड़ दिया था । इसी कारण यह राग अपने शुद्ध रूपमें नहीं रह पाया था । साथ ही, इस सेवा-मार्गका एक कठोर नियम यह भी है कि किसी भी व्यक्तिके किसी भी कार्यसे लौकिक भावनाओंको, कामोत्पादक भावनाओंको और संसारी विलासिताकी भावनाओंको पोषण नहीं मिलना

चाहिये । उक्त भावनाओंकी गन्ध भी हमारे अंदर प्रवेश न कर सके इसी कारण इस रागके विषयमें भी यही निर्णय तत्कालीन सेवाधिकारियोंने किया । इस रागमें शृङ्गारी भावनाओंके गीत ठुमरी आदि पद्धतियोंमें भाँड या दरबारी गायक गाया करते थे, जिनमें विविध रागोंके मेल और चमत्कारजनक मुखड़े रहते थे । अतः इस रागके प्रयोगकी इस लौकिकताके कारण ही इसे मन्दिरकी पवित्र भावनामें स्थान नहीं दिया गया और इसी लौकिकताके वर्जनके रूपमें देखा गया है कि हार्मोनियम, सारंगी एवं तबला या अन्यान्य आधुनिक वाद्य प्राचीन मन्दिरोंमें प्रभुके सम्मुख नहीं किये जाते । हाँ, अब यत्र-तत्र हार्मोनियमका प्रयोग होने लगा है ।

इन पदगायनोंकी विशेषता इस बातपर निर्भर करती है कि लीला-पद-गायन इतना मधुर, स्पष्ट और सरस होना चाहिये कि दर्शक, श्रोतागण एवं भावुक सेवाधिकारीगण उस लीला-रसमें रस-विभोर हो जायँ और रसिक महानुभावों-द्वारा वर्णित लीलाका प्रत्यक्ष दर्शन कर सकें । राग और रसकी इस समन्वित पद्धतिमें कौन जाने किस-किसको क्या-क्या सिद्धि मिली और मिलती रहती है । परंतु प्रायः यह देखा गया है कि इस लीलागानमें मत्त ये व्यक्ति (कीर्तनियाँ) अपने जीवनको परम धन्य मानते हैं; क्योंकि वे प्रभुके सम्मुख उनका लीला-गुणगान महानुभावोंकी दिव्य वाणियोंके आधारपर करते रहते हैं । वे अपने-आपको किसीका नौकर, आश्रित या बड़ा आर्टिस्ट (कलाकार) नहीं मानते । वे तो केवल कीर्तनकार हैं, ऐसा मानते हैं । परंतु उनकी यह साधना "इहैव तैर्जितः सर्गः" की साधनासे किसी भी प्रकार कम नहीं कही जा सकती । एक तो प्रभुका चरित्र ही दिव्य और उस लीलाका गान करनेवाला कितना पुनीतात्मा होगा, इसकी कौन कल्पना कर सकता है । श्रीगोपीजनोंने श्रीमद्भागवतान्तर्गत रासपञ्चाध्यायीमें कहा ही है—

तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः ॥

श्रीवृन्दावनमें प्रसिद्ध श्रीराधावल्लभजीका मन्दिर है। उसके कीर्तनियाँ जिन्हें वहाँ मुखियाजी कहते हैं, पिछली कई पीढ़ियोंसे राग-रागिनियाँ, पद-पदावलियोंके विशेषज्ञ होते आ हैं; जिन्हें प्रायः महानुभावोंकी समस्त वाणियाँ कण्ठाग्र ही हैं। प्रभु-सम्मुख लीलागान करते हुए वे अपने आपेमें नहीं रहते स्वयं पगले-से रहते हैं । उन्हें अपने खाने-पीने, रहने-सहनेकी कुछ सुध-बुध नहीं रहती । रात्रि-दिन उसी लीला-भावनामें निमग्न रहते हैं । शायद ऐसी ही लीला-रस-मत्तता सर्वत्र ही लीला-गुणगानपर भक्त कीर्तनियोंकी रहती होगी । एक रसिक महानुभावसे मैंने यों ही पूछा कि 'अमुक स्थानपर बहुत सुन्दर उपनिषदीय गम्भीर चर्चा होती है, आप वहाँ क्यों नहीं आते ?' उन्होंने बड़े सुन्दर सरल ढंगसे उसका समाधान करते हुए रहीमके दोहेमें उत्तर दिया—

जिन नैनन प्रीतम बसे पर छबि कहाँ समाय।
भरी सराय 'रहीम' लखि पथिक आप फिरि जाय॥

'हम तो व्रजराज-कुँवर श्रीश्यामसुन्दर और श्रीराधिका-रानीकी लीलामाधुरीका आनन्द लेते रहते हैं । हमें इस सूखे निर्गुण ज्ञान और आत्माके शुष्क विवेचनसे क्या प्रयोजन। जबतक नवनीत न प्राप्त हो तबतक दधिका मन्थन ठीक है। जब नवनीत प्राप्त हो गया तब फोकरा मठाके बिलोनेमें क्या मिलेगा ।' कितनी सुलझी बात थी । मेरे मनको भा गयी । विस्तारके भयसे इस लेखको यहीं समाप्त किया जाता है । आगे फिर कभी पाठकोंके समक्ष भगवत्सेवाके अष्टयामकी भावनाओं और उनमें ऋतुओंके अनुसार रागोंके विनियोगकी विवेचना की जा सकती है और वर्षभरके अनेक उत्सवोंकी भावनाएँ उनमें वस्त्र, साज-शृंगारोंकी भावनाएँ, उनके साथ रागोंका योग किस-किस प्रकार बदलता है आदिपर विचार हो सकता है ।*

---

* इस लेखके सामग्री-एकत्रीकरणमें जो सहायता काशी हिंदू विश्वविद्यालयान्तर्गत कॉलेज आफ म्यूजिक एण्ड फाइन आर्टके चित्रकला-विभागाध्यक्ष बम्बईवास्तव्य श्रीजगन्नाथजी मुरलीधारी अहिवासीसे प्राप्त हुई है, इसके लिये लेखक उनके अनुग्रहका आभारी है ।

भद्राचलम्—भगवान् श्रीरामके चरणोंसे पावन

(लेखक—श्रीवेंकटलालजी ओझा)

दंडक बन पुनीत प्रभु करहू। उग्र साप मुनिबर कर हरहू॥

इक्ष्वाकुके छोटे पुत्र राजा दण्डकने अपने गुरु शुक्राचार्यकी बड़ी कन्या अरजासे दुर्व्यवहार किया। उसने अपने पितासे कह दिया। पिताने क्रुद्ध होकर शाप दे राजाका समस्त राज्य नष्ट कर दिया। हराभरा प्रदेश वनस्पतिसे शून्य हो गया। दण्डक राजाका राज्य मिटकर वन बन गया; इसीलिये यह दण्डकारण्य कहाया। अपने वनवासकालमें भगवान् श्रीरामने अगस्त्य ऋषिके अनुरोधपर शुक्राचार्यके शापसे इस दण्डकारण्यका उद्धार किया, जिससे सब वृक्षादि फलने-फूलने लगे और ऋषि-मुनि वहाँ तपस्या करने लगे।

यहींपर अगस्त्य ऋषिके आग्रहपर पर्णशाला अर्थात् अपने हाथसे पत्तोंकी कुटिया बनाकर श्रीराम अपनी पत्नी सीता और भाई लक्ष्मणसहित रहने लगे, जिसका उल्लेख रामायणमें तुलसीदासजीने इस प्रकार किया है

'गोदावरी निकट प्रभु रहे परनगृह छाइ'

खम्ममेट जिलेके कोत्तागुडम्, भद्राचलम् आदि स्थानके निवासियोंकी यह आदिकालसे मान्यता चली आयी है कि यहाँके आसपासका जो वियावान जंगल है, वही रामायण-कालके दण्डकारण्यका एक भाग है और भगवान् श्रीराम भद्राचलम्से २० मील दूर पर्णशाला बनाकर रहे थे।

भद्रऋषि जिस पर्वतकी चोटीपर तपस्या करते थे, उसीपर आजका भद्राचलम् बसा हुआ है और उसका यह नामकरण उन्हींके नामपर हुआ है। यहाँ प्रतिवर्ष रामनवमीके अवसरपर बड़ा भारी मेला लगता है, जो १५ दिनतक रहता है। प्रथम दिन वहाँ रामजन्मके बाद कल्याण-महोत्सव होता है, जो भगवान् श्रीरामचन्द्र और सीताजीके विवाहकी याद ताजा कर देता है। वेदमन्त्रोंकी ध्वनिसे वायुमण्डल पावन हो जाता है। भगवान्की शोभायात्रा इस अवसरपर मुख्य मार्गपर निकलती है, जो बड़ी ही राजसी ठाट-बाटकी होती है। कल्याण-महोत्सवके लिये यहाँ एक विशाल मण्डप बना हुआ है।

काजीपेट विजयवाडा रेलमार्गपर डोरनकलसे भद्राचलम् रोडके लिये रेल जाती है। जहाँसे गोदावरीके इस पार गुम्मूर तक सरकारी बसें चलती हैं। वहाँसे नावमें बैठकर नदी पार की जाती है, यदि पानी अधिक हुआ। अन्यथा यात्री पैदल ही नदी पार करते हैं। १९५७ में यहाँपर रामनवमीके अवसरपर यात्रियोंकी भारी भीड़के कारण एक नाव-दुर्घटना हो गयी, जिसमें २०० यात्रियोंने गोदावरीमें सदाके लिये जल-समाधि ले ली। इस तरहकी दुर्घटनाकी पुनरावृत्ति न हो, अतः आन्ध्रप्रदेश-सरकारने यहाँ गोदावरीके विशाल पाटपर एक पुलके निर्माणका श्रीगणेश किया है। इसके तैयार हो जानेपर यात्री सीधे बसमें वहाँ जा सकेंगे, जिससे उनका समय बचेगा और यात्रा सुलभ हो जायगी।

यहाँपर रामनवमीके अतिरिक्त भी नित्य यात्री आते रहते हैं। कई लोग पिण्डदान आदि भी यहाँ कराते हैं। तिरुपति बालाजीकी तरह यहाँ भी श्रद्धालु नर-नारी अपने सिरके बालोंका मुण्डन कराते हैं। वह प्रथा इस ओर अत्यधिक प्रचलित है, शिक्षित और अशिक्षित सभी इसका पालन करते हैं। दक्षिणको छोड़कर अन्य प्रदेशोंसे आनेवाले श्रद्धालु ऐसा नहीं करते।

अब तो यहाँपर भारत-सरकारने यात्रियोंकी सुविधाके लिये एक बंगला भी बनाया है, जहाँ कोई भी ठहर सकता है और इसी तरह राज्य-सरकार भी यात्रियोंकी सुख-सुविधाके लिये काफी ध्यान दे रही है। जिससे यहाँ प्रतिदिन देश-भरसे आनेवाले यात्रियोंकी संख्या बढ़ रही है और उसी अनुपातसे भद्राचलम्का विकास भी हो रहा है।

जहाँपर भगवान् श्रीराम गोदावरी पारकर सीताकी खोजमें निकले थे, उस पावन स्थलपर सीतारामस्वामीके मन्दिरके निर्माणकी कथा भी बड़ी विचित्र है। आजसे लगभग ३०० वर्ष पूर्व गोलकुण्डा साम्राज्यके हैदराबादके अन्तिम बादशाह अबुल हसन तानाशाह थे। इनके प्रधानमन्त्री अवकन्ना थे। उनके भतीजे गोपन्ना यहाँ तहसीलदार थे, जो बड़े रामभक्त थे। रामभक्ति-रसपूर्ण उनके बनाये गीत आज भी तेलगु-भाषी घरोंमें प्रातःकाल बड़े प्रेमसे गाये जाते हैं; जैसे कि उत्तरमें तुलसी और मीराँके। अपनी रामभक्तिके कारण रामदासके नामसे वे लोकप्रिय हो गये और उनके असली नामका बहुत कम लोगोंको पता है।

जनसहयोगसे मन्दिरका निर्माणकार्य आरम्भ हुआ, पर धनकी कमीके कारण जब निर्माणकार्य बंद होने लगा तो

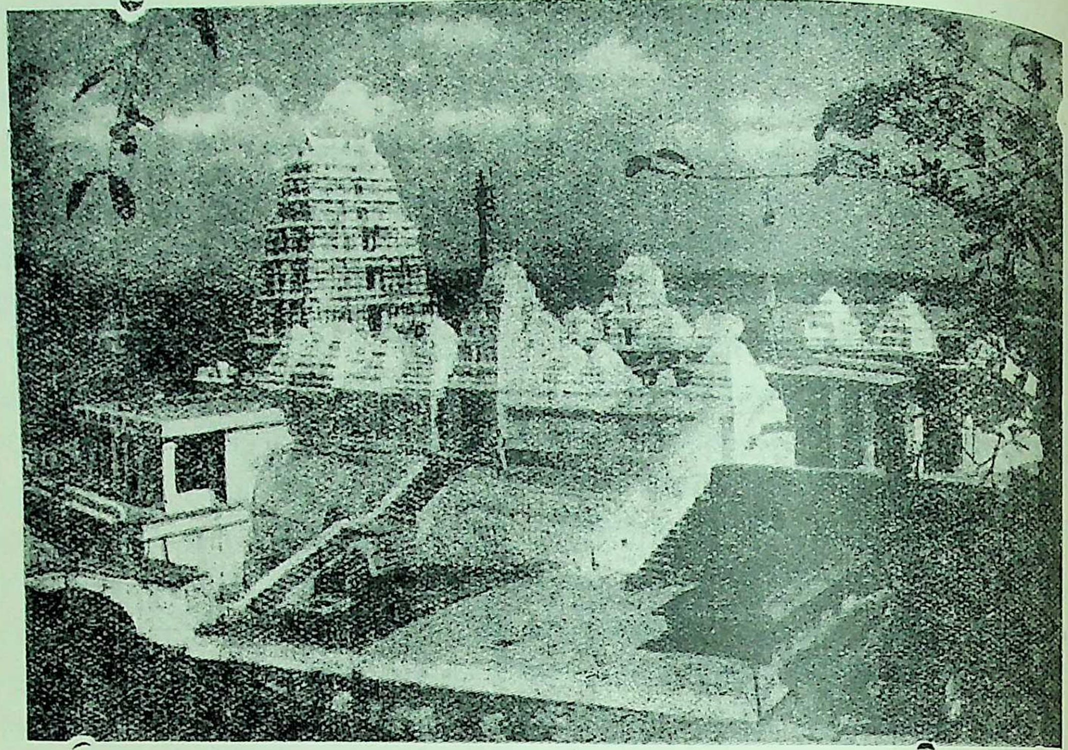

सरकारी मालगुजारीके रुपये, जो तहसीलके खजानेमें थे, उनसे निर्माणकार्य पूर्ण कर दिया। जब समयपर रुपया गोलकुण्डा नहीं पहुँचा तो बादशाहने कारणका पता लगानेके लिये दूत भेजे। उन्होंने वापस जाकर असली बात बादशाहको बता दी, जिसे सुनते ही उनकी क्रोधाग्निका भड़कना स्वाभाविक था। गोपन्ना (रामदास) को जंजीरमें बाँधकर गोलकुण्डा लानेकी राजाज्ञा निकली, सरकारी धनके दुरुपयोगके भयंकर आरोपमें तानाशाहने उन्हें गोलकुण्डेके किलेमें ही कैद कर दिया, पर रामदासके मुखपर चिन्ता या शर्मके कोई चिह्न नहीं थे। उन्हें तो यह अटूट विश्वास था कि भगवान् स्वयं उनकी रक्षा करेंगे। बस, इसी विश्वासपर वे बन्दीगृहमें भी भगवान् श्रीरामकी भक्तिमें ही लीन रहने लगे, क्षणभरके लिये भी उनकी श्रद्धा डिग न सकी। वहाँ भी वे निर्भय होकर पूजा-पाठमें निमग्न रहते थे। यह बन्दीगृह संत रामदासकी गुफाके नामसे बालाहंसारके कुछ नीचे आज भी गोलकुण्डामें दिखायी देती हैं।

चमत्कारको नमस्कार

कहते हैं कि अन्तमें एक दिन संत रामदासको अपनी रामभक्तिका पुरस्कार मिला। भगवान्ने उनकी भक्तिसे प्रसन्न हो उन्हें दर्शन दिये और सरकारी खजानेकी मुहर लगी हुई सरकारी रकमकी पूरी भरपाईकी रसीद, जो कि मन्दिरके निर्माणमें खर्च हुई थी, देकर अन्तर्द्धान हो गये।
घटनाका पता लगते ही स्वयं तानाशाह बन्दी-गृहमें
और संत रामदासको मुक्त किया। दरबारमें
पूर्ण राजसी सम्मान प्रदान किया और कहा कि
अज्ञात व्यक्तिने पूरी रकम खजानेमें जमा कर दी है।'
तो तानाशाह इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने संत रामदा
भेंट आदिसे अर्चना की, बल्कि मन्दिरके खर्चके लिये
अनुदान और भगवान्को धारण करनेके लिये बहुमूल्य
आदि अर्पण कर संत रामदासको बन्दीगृहमें रखनेके
प्रक्षालन किया।

संत रामदास पुनः भद्राचलम् लौट आये और उन्होंने
शेष आयु वहींपर भगवान् श्रीरामकी सेवामें अर्पण कर
आज भी भद्राचलम्में इनका मकान देखकर यात्री
नत हो जाते हैं।

१६८७ में गोलकुण्डा साम्राज्यके पतनके बाद, जब
उसपर औरंगजेबने विजय प्राप्त कर ली थी, यह
१७२४ तक मुगल-शासनमें रहा और १७२४ में जब
साम्राज्यके दक्षिणके सूबेदार आसफजहाँने
नाम धारण कर अपनेको स्वतन्त्र घोषित कर निजाम
स्थापना की, तबसे यह मन्दिर १९४८ तक निजाम

शासित रहा। फिर, १८६० की संधिके अनुसार गोदावरी नदीके उस पारका भूभाग अंग्रेजोंके अधीन चला गया। फिर भी निजाम राज्यकी ओरसे बुरगमपाड्के तहसीलदार मन्दिरकी व्यवस्था करते थे, जिसपर राज्यकी ओरसे २५ से ३० हजार रुपया वार्षिक खर्च होता था। तानाशाह और हैदराबादके अन्य मुसल्मान शासकोंद्वारा भगवान् श्रीरामको समय-समयपर भेंट किये गये बहुमूल्य गहने आज भी यहाँ सुरक्षित हैं और रामनवमी आदि विशेष समारोहोंपर भगवान्को धारण कराये जाते हैं।

संत रामदासने उस समय मन्दिरका निर्माण ६ लाख रुपयेमें किया था। निज मन्दिरके अतिरिक्त २४ छोटे मन्दिर भी आसपास बने हुए हैं, जिनसे मन्दिरकी शोभा और भी बढ़ गयी है। अब इसी मन्दिरके जीर्णोद्धारके लिये आन्ध्र-प्रदेश-सरकारके धर्मस्व-विभागके तत्कालीन मन्त्री श्री के० चन्द्रमौलिने १२ लाख रुपयेकी एक योजना १९६० में तैयार की थी। इसके पूर्ण होनेपर निःसंदेह भद्राचलमकी काया-पलट हो जायगी। जीर्णोद्धार-कोषमें भक्तोंका अच्छा योग मिल रहा है। इस समय मन्दिरका प्रबन्धभार एक समितिके अधीन है और उसके अध्यक्ष स्वयं धर्मस्व-विभागके मन्त्री रहते हैं।

तुम और मैं

(रचयिता—श्री'स्वर्णकिरण')

शून्य पटपर दृश्य
तुम हो
स्वतः अंकित एक अक्षर,
दीप्त, अपने आप अनुपम शक्तिसे सम्पन्न;
एक अक्षर, विश्वव्यापी गूँज;
औ' मैं विश्वव्यापी गूँजका बस एक कण हूँ।
अहंसे परिचित,
विवशताकी न छाया,
चिन्तनाकी शक्तिसे अभिभूत
विस्तृत एक उपवन हूँ।
गन्धवहकी गन्धसे अभिषिक्त
तुम

आलोकके हो कल्पतरु;
निर्भीक, अपने आपमें संतुष्ट,
केवल कल्पतरु बस एक, फल-माधुर्य लेकिन
जगद्व्यापी;
जगद्व्यापी कल्पतरु-माधुर्यका मैं एक कण हूँ,
पासमें अद्भुत विमोहन शक्ति,
रेशम डोर, मोहक स्वप्नके सुकुमार स्वर-जैसे
नहीं मैं आत्मरतिके स्वप्नका स्वन हूँ।
ऊर्ध्वगति औ' अधःगतिके बीच
तुम हो
सलिलपूरित एक मानस,
मुक्त, अपने-आपमें उत्फुल्ल;
एक मानस, अनगिनत अनुभूतियोंसे पूर्ण;
और मैं
इस तरहकी अनुभूतियोंका एक कण हूँ।
एक कण, संवेदनाका पुंज,
विकसनशील, ऊर्ध्वग,
कान्तिसे संयुक्त, सक्षम,
विभापूरक, दीप्त पौरुष-व्रत-प्रवण हूँ।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

कृतज्ञता-ईमानदारी और कृतघ्नता-बेईमानी

गणेशदासजी राजस्थानके निवासी थे । आसामके एक गाँवमें उनकी कपड़े, गल्ले, किरानेकी दूकान थी । काम कुछ चलने लगा । तब वे देशसे रामकुमार नामक अपने एक गरीब सम्बन्धीको मुनीमके रूपमें ले गये । उसको पाला-पोसा, काम सिखाया, काम सौंपा । इन्हींके साथ एक साँवलराम नामक गरीब ब्राह्मण भी गये । गणेशदासजीने अपने छोटेसे भगवान‍के मन्दिर (ठाकुरवाड़ी) में साँवलरामको पुजारी नियुक्त कर दिया । इसके सिवा बरनी, पाठ-पूजा आदि करके भी वे कुछ कमाने लगे । पर साँवलराम रहते थे गणेशदासजीके गोलेमें ही तथा वहीं खाते भी थे । कुछ समय बाद साँवलरामने अपनी पत्नीको भी बुला लिया । गाँवमें राजस्थानियोंके कई परिवार रहते थे । नयी बहीका पूजन, पूजापाठ, व्रत-त्योहार, रामनवमी-दीवाली आदिके काम रहते थे ही । वहाँ और कोई पण्डित था नहीं । सभी कामोंमें साँवलरामजीकी माँग रहती । वे अच्छी तरह कमाने-खाने लगे । रुपये जुड़ने लगे । जब वे गणेशदासजीके साथ आये थे, तब भी और उनकी स्त्रीके आनेके बहुत दिनों बादतक भी उनकी हालत बहुत गरीबीकी ही थी । गणेशदासजीकी पत्नी और गणेशदासजी उनकी हर तरहसे सहायता करते । लड़कीका विवाह भी करा दिया था उन्होंने ही । इधर पं० साँवलरामजी भी गणेशदासजीके लिये अपना जीवन देनेको तैयार रहते ।

दूकानका सारा काम अब रामकुमार सँभालने लगा । उसका परिवार भी वहाँ आ गया । कुछ वर्षोंके बाद रामकुमारकी नीयत बिगड़ी । उसने दूकानमें चोरी आरम्भ की । दूकानका सामान अपने घर ले जाता, माल बेचकर रुपये अपनी जेबमें डाल लेता । धीरे-धीरे इस बातका साँवलरामजीको पता लग गया । उन्होंने रामकुमारको समझाकर कहा कि 'यों चोरी तथा नमकहरामी करना ठीक नहीं, इससे बड़ा पाप होता है ।' पर पैसेका लोभ मनुष्यके विवेकको नष्ट कर देता है । 'चोर धर्मकी बात क्यों सुनने लगा ।' रामकुमारने उनकी बात नहीं सुनी । बल्कि साँवलरामको भी कुछ हिस्सा देनेका प्रस्ताव किया । साँवलराम ईमानदार थे, सच्चे थे । उन्होंने उस प्रस्तावको ठुकरा ही नहीं दिया, रामकु समझाया भी । पर वह नहीं माना । उलटे साँवलरामसे मानने लगा और गणेशदासजीसे साँवलरामजीके आचरण, व्यवहार आदिके सम्बन्धमें झूठी-झूठी शिकायतें 'यह व्यभिचारी है, चोर है, मैं समझाता हूँ तो मुझसे मानता है ।' आदि कह-कहकर उनका मन खराब करने

रामकुमारकी चोरी खुले हाथों चलने लगी । बेईमा बेहद बढ़ती गयी । वह बड़ी तेजीसे अपना घर बनाने ल गणेशदासजीकी हानिका उसके मनमें कोई विचार ही रहा । साँवलरामजीसे यह नहीं सहा गया । उन्होंने ग दासजीको एक दिन सब बातें संक्षेपमें कहीं । गणेशदासजीके मन पहलेसे खराब तो था, पर उन्होंने रामकुमारसे इस बाबत पूछा । रामकुमारने साँवलरामजीके सम्बन्धमें अली बातें सुनाकर उनसे कहा—'मैंने तो पहले ही कहा था साँवलराम अब पहले-जैसा गरीब ब्राह्मण नहीं रहा है- यह आपका बुरा चाहता और बुरा ही करता है । मु वैर मानता है, इसीसे मेरे बारेमें झूठी बातें बना-बना उसने आपसे कही है ।' यों कहकर वह झूठमूठ रोने ल और अपना विश्वास जमानेके लिये गणेशदासके पैर पकड़ बोला—'आप मालिक हैं, जचे सो कीजिये । पर मु आपका अनिष्ट देखा नहीं जाता, इसीसे रोकर आपसे कहता हूँ कि आप अपना भला चाहते हैं तो साँवलराम तुरंत निकाल देना चाहिये ।'

सेठ गणेशदासपर रामकुमारके रोनेका बड़ा असर पड़ उन्होंने साँवलरामजीको बुलाकर उनका तिरस्कार किया और घरसे निकल जानेको कह दिया । उनकी पत्नी चन्दाने रो टोका भी, पर उस समय गणेशदासजी क्रोधमें थे, बुद्धि म गयी थी, इससे वे नहीं माने । साँवलराम अपना सामान ले रोती हुई पत्नीको लेकर चल दिये और एक दूसरे दूकानदार हरनारायणके घर जाकर रह गये । वह इनसे बहुत प्रे करता था ।

× × ×

कुछ समय बाद पासा पलटा । रामकुमारकी बेईमानी तथा अन्यायाचरणसे गणेशदासजीकी दूकानका बुरा हाल हो गया । एक दूसरे व्यापारी बजरंगलालसे, जो गुंडा स्वभाव

था और गणेशदाससे द्वेष रखता था, साजिश करके रामकुमारने गणेशदासकी फार्मके नामसे तीन साल पहलेकी तारीखमें पंद्रह हजारका उधार रुपये लेनेका हैंडनोट लिख दिया—कह दिया कि 'डिक्री होनेपर रुपये वसूल होंगे तब आधे-आधे बाँट लिये जायँगे।' नालिश हो गयी। रामकुमारको सब प्रकारकी सही करनेका हक था। उसने साक्षी दे दी कि 'रुपये फार्मके कामसे लिये गये थे, मेरे हस्ताक्षर हैं।' हाकिमको भी किसी तरह पक्षमें कर लिया गया। डिक्री हो गयी। मालताल तो कुछ था नहीं, जमीन-गोला था और कुछ गहना था। उसपर कुर्कीकी नोटिस आ गयी। गाँवभरमें तरह-तरहकी पक्ष-विपक्षकी चर्चा फैल गयी। रामकुमारकी नीचता सीमा पार कर गयी।

कुर्की आनेवाली थी, उसके पहले दिन रात्रिको साँवलरामजीकी स्त्री—गोदावरी ब्राह्मणी चुपके-से गणेशदासजीकी स्त्री चन्दा बाईके पास पहुँची और पैर पकड़कर रोने लगी। उस समय गणेशदास कुछ व्यवस्था करनेके लिये बाहर गये हुए थे। वे कई दिनोंसे प्रयत्न कर रहे थे कि कहींसे जमीन-गोलेपर कुछ रुपये मिल जायँ तो इज्जत बचे। पर कहीं व्यवस्था हो नहीं पा रही थी। निराश और बड़े दुखी थे। कभी-कभी दोनों स्त्री-पुरुष आत्महत्याकी बात सोचा करते थे। कहा करते हे प्रभो!—'साँई इतनी बीनती दोनँ भेला रख। लाज रखे तो जीव रख लज बिन जीव न रख॥' आज यह आखिरी प्रयास था। सफलता न होगी तो फिर कुछ-न-कुछ किया ही जायगा, यही कहकर वे गये थे।

पण्डितानी गोदावरीको पैर पकड़े रोती देखकर दुखिया चन्दा भी रो पड़ी। धीरजका बाँध टूट गया। इस दुःखके समय गोदावरी आयी तो है, इसी बातपर चन्दाका स्नेह उमड़ आया। वह बोल न सकी। गोदावरीने धीरेसे बगलमेंसे एक पोटली निकाली—उसमें सोनेका छः-सात हजारका गहना था और दस हजारके नोट थे। दस-पंद्रह वर्षकी साँवलरामकी ब्राह्मण-वृत्तिकी सारी कमाई थी। उसने रखकर हाथ जोड़कर कहा—'मैं कंगालिनी आपका कोई उपकार करने नहीं आयी। आप मेरी माँ हैं, मेरे पतिकी माँ हैं। आपके ही स्नेहसे हमलोगोंका जीवन बना है, हमारे रक्तके कण-कणमें आपका अन्न भरा है। यह जो कुछ है, सब आपका ही है। इसे आप स्वीकार करें।' यों भाँति-भाँतिसे गोदावरी बड़ी नम्रतासे रो-रोकर चन्दासे प्रार्थना कर रही थी और चन्दा उसका उपकार मानती हुई लेनेसे इन्कार कर रही थी। इसी बीच गणेशदासजी खाली हाथ उदास लौटे। वे दूर खड़े होकर आँसू पोंछने लगे और सुनने लगे इनकी बातें। गोदावरी कह रही थी—'माँजी! यह सारी रामकुमारकी करतूत है, उसीने हमारे भोले सेठजीको बहकाकर आपके बेटे (साँवलराम) को घरसे निकलवाया, उसने बेईमानीसे अपना घर बनाया और उसीने षड्यन्त्र करके यह विपत्ति बुलवायी। पर आप उसपर क्षमा करें और मेरी प्रार्थनाको स्वीकार करें।' सुनकर गणेशदास दंग रह गये। अपनी भूलपर पश्चात्तापकी आग जल उठी। वे तुरंत सामने आ गये। श्रीसाँवलरामजीको बुलाया गया। सारा भेद खुला। सवेरे रुपये कोर्टमें भरकर वकीलोंकी सलाहसे बजरंगलाल और रामकुमारपर फौजदारी मामला दायर कर दिया और मामलेके फैसला न होनेतकके लिये कोर्टमें दरखास्त देकर बजरंगलालको रुपये न देनेका आदेश प्राप्त कर लिया। कोर्टमें केस चलनेपर सच्ची बातें सामने आ गयीं। बजरंगलाल और रामकुमारको कड़ी कैदकी सजा हुई। रुपये गणेशदासको वापस मिल गये। सबकी सहानुभूति बढ़ गयी। दूकान फिर चल निकली। गणेशदास सुखी हो गये। साँवलराम और उनकी पत्नी फिर घरमें आ गये। उनके प्रति गणेशदासका जीवन कृतज्ञतासे भर गया।

ये दो सच्चे चित्र हैं। एक—कृतज्ञता, ईमानदारी और भलाईका, दैवी भावका; दूसरा—कृतघ्नता, बेईमानी और बुराईका, आसुरी सम्पत्तिका।

सोचिये—और जीवनमें दैवी सम्पत्तिके चित्रको चरित्ररूपसे उतारिये।

—बालमुकुन्द सोनी

(२)

बड़ोंका आशीर्वाद

सर चिन्तामणि देशमुख भारतके माने हुए अर्थशास्त्री हैं। ब्रिटिश-राज्यकालमें वे रिजर्व बैंकके गवर्नर थे। इनसे पहिले अर्थविभागके इतने ऊँचे पदपर किसी भी भारतीयकी नियुक्ति नहीं हुई थी। देश स्वतन्त्र होनेपर श्रीजान मथाई और सर षणमुखम् चेट्टीके बाद वे केन्द्रीय सरकारमें फाइनेन्स मेम्बर (अर्थसचिव) बनाये गये। मेरठके नागरिकोंद्वारा आयोजित एक स्वागत-समारोहमें

बोलते हुए आपने अपने जीवनकी एक रोचक घटनाका वर्णन किया।

श्रीदेशमुखजीने कहा कि जब मैं फर्ग्यूसन कालेज पूनाका विद्यार्थी था, तब लोकमान्य तिलकने एक दिन हमारे प्रिन्सिपल महोदयसे कहा कि 'मुझे एक आवश्यक अर्थसम्बन्धी लेख लिखना है, आप अपने किसी होशियार छात्रको भेज दें, मैं जो बोलूँ उसे वह ठीक-ठीक लिखता रहे।' प्रिन्सिपल महोदयने इस कार्यके लिये मुझे चुना और कहा कि आज संध्यासमय पाँच बजेके लगभग लोकमान्य तिलकजीके पास चले जाना और वे जो बोलें उसे ठीक-ठीक लिखते रहना।' मैंने इसे अपना अहोभाग्य समझा और सगर्व तिलकजीके चरणोंमें पहुँचा। अकस्मात् उस समय तिलकजीसे मिलने कुछ महानुभाव आ गये और लेख लिखानेके लिये उनके पास समय नहीं रहा। तिलकजी इससे खिन्न थे। मैंने कहा, 'आप मुझे समझा दीजिये कि आप क्या लिखाना चाहते हैं। एक स्थूल-सी रूप-रेखा दे दीजिये। मैं स्वयं लेख तैयार कर लाऊँगा।' इसपर तिलकजी मुस्कराये, पर मेरा मन रखनेके लिये उन्होंने अपना विषय और मुद्दे मुझे समझा दिये। अगले दिन मैं वह लेख तैयार करके उनकी सेवामें पहुँचा, जिसे पढ़कर वे बहुत ही प्रसन्न हुए और मेरे सिरपर हाथ फेरते हुए बोले—'जाओ, हमने तुम्हें आशीर्वाद दिया, तुम एक दिन भारतके फाइनेन्स मेम्बर बनोगे।' तिलकजीका यह आशीर्वाद मुझे बराबर स्मरण रहा; क्योंकि मैं जानता था कि महात्माओंका आशीर्वाद कभी निष्फल नहीं जाता और जब मैं रिजर्व बैंकका गवर्नर बन गया तो मैंने समझा कि अब लोकमान्यका आशीर्वाद पूरा हो गया; क्योंकि रिजर्व बैंकके गवर्नर और फाइनेन्स मेम्बरके पदमें कोई ऐसा विशेष अन्तर नहीं है और इसके बाद मैं इस आशीर्वादकी बात बिल्कुल भूल गया। परंतु अब भारतसरकारका फाइनेन्स-मेम्बर बन जानेके बाद मुझे फिर तिलकजीका आशीर्वाद याद आ गया कि यह मेरी भूल थी कि रिजर्व बैंककी गवर्नरीपर ही मैंने उनके आशीर्वादको पूरा हुआ समझ लिया था। महात्माओंका आशीर्वाद लगभग ही सत्य नहीं होता, वह तो अक्षरशः सत्य होता है।

—राजेन्द्रप्रसाद जैन, तिरसा

(२)

एक अफसर और

एक पाठशालामें एक समय किसी विद्वान् स्वामी
प्रवचन था। विद्यार्थियोंके योग्य अपने सरल प्रवचनमें उन्हों
विद्यार्थियोंको एक दृष्टान्त सुनाया, उसीको यहाँ लि
जाता है।

एक राजा था, बड़ा शौकीन। इतनेपर भी प्रजाके प्र
उसकी बड़ी लगन थी। प्रजा कैसे सुखी हो, इसकी चि
वह सदा करता।

उसने अपने नगरमें बालकोंको सुबह-शाम दूध दि
इसकी व्यवस्था सोची। गोचरभूमि खरीदी। सौ गायें मो
लीं और उन गायोंके पालनके लिये उनकी सेवा करने
एक ग्वाला रक्खा।

वह ग्वाला गायोंको चराकर सुबह-शाम गायोंको दु
और दूध दरबारमें दे जाता तथा वहाँसे बालकोंको ब
दिया जाता।

इस योजनाके अनुसार बहुत दिनोंतक सुन्दर व्यव
चलती रही; पर धीरे-धीरे समाजमें परिवर्तन आया। शौ
शौक बढ़ गया और महँगीका चक्र चलने लगा। नगर
खान-पानकी चीजोंकी कीमत बढ़ गयी, कपड़े-लत्तेपर भी
महँगाईका असर पड़ा। बेचारा ग्वाला इस महँगीसे घबराया।
उसने राजाजीसे फरियाद की, पर कुछ फल नहीं हुआ।
नौकरीमें एक पैसा भी नहीं बढ़ा। बँधी नौकरीसे बेचा
इस महँगीमें कुटुम्बका पालन कैसे करता!

और अन्तमें 'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्?' (भू
क्या पाप नहीं करता) के अनुसार उसने रास्ता ढूँढ़ा। गौ
तंदुरुस्त होनेके कारण प्रत्येक दस-दस सेर दूध दिया करतीं।
कुल पचीस मन दूधमेंसे एक मन निकालकर ग्वालेने ए
मन जल मिलाना शुरू किया। ग्वालेने नीति एक कि
रख दी। बेचारा और करता भी क्या!

कुछ दिन तो यों चला। एक दिन राजाजीने दूध
जाँच की। राजाजीको लगा दूध पतला कैसे!

उनको चाहिये था कि वे ग्वालेसे पूछते, उसकी ब
सुनते। पतले दूधके लिये कौन जिम्मेवार है, इसका प
लगाते। पर ऐसी व्यावहारिकतासे काम लें तो राजाजी कै

उन्होंने तुरंत ही ग्वालेपर देखरेख रखनेके लिये ए

अफसरको नियुक्त कर दिया। इस अफसरके वेतनका चौथा हिस्सा भी ग्वालेको अधिक दिया गया होता तो ? पर यह सब राजाजी क्यों करने लगे।

अफसर साहेबकी कार्रवाई शुरू हुई। अधिक नहीं, सिर्फ दो-तीन दिनोंतक तो वह ग्वाला कुछ नहीं बोला; लेकिन चौथे ही दिन उसने उन साहेबसे कहा—'भाई साहब ! काहेमें से पेट पूरा करूँ ? थोड़ेमें कहूँ तो इतना ही कि आप यदि कृपादृष्टि रक्खेंगे तो आपके यहाँ भी बच्चे दूध पीते रहेंगे।'

अरे, उस भोले हृदयके ग्वालेकी नीति कहाँ चली गयी ? वह कैसे ऐसा नीतिचोर बन गया ? यह प्रश्न भी क्या ऐसा है जिसे हमलोग न समझ सकें ?

वे अफसर धमकी दे गये; पर उनकी धमकीके पीछे कितना स्वार्थ था ? साहेबके बाल-बच्चोंके लिये दूध पहुँचने लगा; इस कमीको मिटानेके लिये जलके सिवा और था ही क्या जो मिलाया जाता !

राजाको आजकल निश्चिन्तता थी। पर एक दिन जाँच कर बैठे तो पता लगा कि दूध तो पतला ही होता चला जा रहा है। राजाजीको और क्या सूझता ? एक इन्सपेक्टर अफसर और रक्खे गये। इन इन्सपेक्टर साहेबके यहाँ भी बिना ही दूध खरीदे दूधपाक-हलवा बनने लगा।

अब राजाजीने दूधको गाढ़ा बनानेके लिये उन इन्स्पेक्टरके ऊपर एक समिति बना दी और दूसरे ही दिन समितिके प्रत्येक सदस्यके लिये दो-एक देगची खरीदना कर्तव्य हो गया, दूधके आगमनका स्वागत-सत्कार करनेके लिये ही तो। और इस प्रकार ग्वालेका सारा समय गायोंके पालनमें नहीं, पर अफसरोंके 'लालन-पालन'में ही खर्च होने लगा। गायोंकी दूध देनेकी शक्ति घट गयी। मुश्किलसे दस मन दूध गायें दे पातीं और उसमेंसे नौ, साढ़े-नौ मन अफसरोंके यहाँ बँट जाता। कठिनतासे केवल एक मन दूध ग्वालेके पास बचता। उसमें चौबीस मन जल मिलाया जाता और उसे सब दूध कहते।

राजाने फिर जाँच-पड़ताल की, अब प्रधान मन्त्रीसे पूछनेकी बात मनमें आयी। उनको बुलाकर सब बातें बतायीं। प्रधानजी मूँछोंमें मुस्करा दिये।

राजाजीने तंग आकर व्यंगमें पूछा—'दूधमें सफेदी तो नहीं होनी चाहिये न ? फिर इस दूधमें इतनी सफेदी क्यों है ?

प्रधान मन्त्रीने तिरछी नजरसे जवाब दिया—एक अफसर और नियुक्त कर दीजिये। फिर इतनी सफेदी भी दूर हो जायगी······सिर्फ खाँटी दूध ही रह जायगा······,

हमारी आजकी योजनाओंकी तो इस दृष्टान्तके साथ कहीं कुछ लाग-लपेट नहीं है न ? (अखण्ड आनन्द)

—जोइताराम पटेल

(४)

चौकीदारकी ईमानदारी

श्रीधर्मदास चौकीदार ग्राम-पञ्चायत धिठती, तहसील चच्योट, जि० मण्डी (हि० प्र०) को ३ अप्रैल १९६३ के दिन धिठती, चच्योट मार्गमें एक बटुवा मिला, जिसमें सात सौ रुपये थे। श्रीधर्मदास चौकीदारने उसे रास्तेसे उठाया और जोरसे पुकारा कि 'यह बटुवा' किसका है ?' उस समय आस-पास खेतोंमें काम कर रहे आदमियोंसे पूछा; किंतु बटुवा उनका नहीं था। थोड़ी देरमें जिस व्यक्तिका वह बटुवा था, वह चार फर्लांगसे पीछे बुलाया गया। उसे पूछा गया कि 'बटुवा आपका है ?' उसने उत्तर दिया कि 'मेरा ही है।' श्रीधर्मदास चौकीदारने उसे सम्मानपूर्वक उसके हाथोंमें सौंप दिया। जब खोलकर देखा तो सात सौ रुपयेकी रकम पूरी थी।

इस समय वह बटुवेवाला, जो कि लाहुलनिवासी था, खुशीमें श्रीधर्मदास चौकीदारको बीस रुपये ईनामके रूपमें दे रहा था; किंतु श्रीधर्मदास चौकीदारने उससे कहा कि 'मुझे ईश्वरने जो दिया है, वह संतोषजनक है। यह तो मेरा कर्तव्य था। आपके खोये हुए पैसे मुझे आपको देने ही हैं।' श्रीधर्मदास चौकीदारके साथ और भी व्यक्ति थे, उन्होंने कहा था कि 'आप क्यों वापिस कर रहे हैं, यह तो आपको रास्तेमें मिले हैं।' किंतु श्रीधर्मदास चौकीदारने कहा कि 'दूसरेकी चीज मैं कैसे लेता ? यदि लेता तो पता नहीं, भगवान मुझे कितना और दुःख देते। मेरे लिये दूसरेका धन धूलके समान है। मैं एक साधारण ग्रामपञ्चायतका चौकीदार हूँ। मुझको कुल पंद्रह रुपया मासिक वेतन मिलता है। मुझे उसीमें संतोष है। देनेवाला भगवान् है। अगर मैं लालच-लोभमें आकर छिपा लेता तो देखा तो ईश्वरके सिवा किसीने भी नहीं था। पर भगवान् मुझे कैसे क्षमा करते। सम्भवतः

भगवान् मेरी परीक्षा ले रहे थे; किंतु उनकी कृपासे मैं उसमें सफल हो गया हूँ ।'

श्रीधर्मदास चौकीदार एक साधु-भक्त-संत-सेवक ईमानदार और दयाशील व्यक्ति है । भगवान्‌का उपासक दीन-दुखियोंपर दया करनेवाला और सत्यके मार्गसे कभी भी विचलित नहीं होनेवाला होता है । धर्मदास गरीब तथा निर्धन घरसे सम्बन्ध रखता है, परंतु साधु-सेवाने उसके चित्तको निर्मल बना दिया है । अतएव श्रीधर्मदास चौकीदार अपनी सचाईकी प्रतिभासे आगेके लिये भी प्रतिभाशाली बनता रहेगा ।

श्रीधर्मदास चौकीदारने साधु-संतोंके लिये भी अपनी जमीनमें एकान्त स्थानमें एक कुटिया बना रक्खी है । कुटियामें कोई भी महात्मा ठहर सकता है । श्रीधर्मदास चौकीदार सेवाके लिये तैयार रहता है ।

—के० आर० राकेश

(५)

भाग्यका चमत्कार

सन् १९५३ में हम मोगा मण्डी, फीरोजपुर जिलामें अपने मामाके यहाँ गये हुए थे । लगभग दो महीने वहाँ रहे थे । वहाँ एक सरदार थे, बर्तन सिरपर लेकर घूम-घूमकर बेचा करते । एक दिन फूट-टूटमें उन्हें कहींसे आठ आनेमें किसी रईस घरानेका एक पानदान मिल गया । पानदान बहुत सुन्दर था, उसपर जड़ाऊ काम था । पानदान बंद था । वे शामको जब घर आये तो मुहल्लेकी कुछ औरतें जुट गयीं । किसीने खरीदी, किसीने गिलास लिया । एक औरत वह पानदान रुपये चार आनेमें खरीदकर अपने घर ले गयी । पर उसने उसको खोलना चाहा; बहुत जोर लगाया, पर जब खुला तो उसने आकर अपने दाम वापस ले लिये पानदान सरदारजीको लौटा दिया । दूसरे दिन रविवार दूकानें बंद थीं, इसलिये सरदारजी चौतरेपर बर्तन बैठ गये । किसीने उस पानदानको फिर सवा तीन खरीदा । पर भाग्यकी बात, उससे भी वह पानदान खुला, तब शामको वह भी लौटा गया । उसके लौट बाद सरदारजीको बड़ा गुस्सा आया और वे कहने कि 'ऐसा क्या पानदान है किसीसे नहीं खुलता ।' आकर सरदारने उसको उठाकर जोरसे सड़कपर दे मारा कहा कि 'देखता हूँ—यह कैसे नहीं खुलता ।'

सड़कपर गिरते ही पानदानके दो टुकड़े हो गये । डिब्बा एक तरफ और ढक्कन दूसरी तरफ गिर पर यह देखकर सब आश्चर्यचकित हो गये और सबने मुँहमें दबा ली—कि उसमें सात हजार रुपयेके सत्तर नोट थे । सरदारने डिब्बा उठाकर नोट लिये । तबसे सरदार वहाँ ठाटसे बर्तनोंकी दूकान करते यह मेरी आँखों-देखी घटना है ।

—मदनलाल

व्यवहार

जो व्यवहार तुम सदा दूसरोंसे अपने लिये चाहते हो अर्थात् मान-सत्कार, प्रशंसा, हित, प्रेम, सेवा, और सद्व्यवहार चाहते हो,—वही दूसरोंके प्रति सदा विशेष सावधानी तथा उदारताके साथ स्वाभाविक

जो व्यवहार तुम दूसरोंसे अपने लिये कभी नहीं चाहते अर्थात् अपमान-असत्कार, निन्दा, द्रोह, उपेक्षा, हानि और दुर्व्यवहार कभी भी जरा भी नहीं चाहते,—वही दूसरोंके साथ कभी जरा भी न करो ।

संस्कृति-माला भाग १ से ८ (कक्षा ३ से १० के लिये)

प्रायः सभी देश-हितैषियों तथा शिक्षाविशारदोंने यह स्वीकार किया है कि शिक्षा-संस्थाओंके वर्तमान पाठ्यक्रममें भारतीय संस्कृतिके ज्ञानका समावेश न होनेके कारण आज देशके नवयुवकोंमें अनुशासनहीनता आ गयी है। नैतिक बलका अभाव हो गया है और उच्छृङ्खलता बढ़ गयी है। भारतीय संस्कृतिके अमर सिद्धान्तोंसे परिचित होनेपर ही ये कमियाँ दूर हो सकती हैं। इसलिये विरला-शिक्षण-संस्थाओंके सम्मान्य कुलपति पद्मश्री पं० श्रीशुकदेवजी पाण्डेने विभिन्न कक्षाओंके विद्यार्थियोंके मानसिक धरातलके अनुरूप प्राचीन भारतीय संस्कृतिका एक पाठ्यक्रम तैयार करनेके लिये विभिन्न शिक्षाविद् सज्जनोंकी एक उपसमिति श्रीयुत डॉ० कन्हैयालालजी सहल, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, अध्यक्ष—हिंदी-संस्कृत-विभाग, विरला-आर्टस् कालेज, पिलानी (राजस्थान) की अध्यक्षतामें नियुक्त की थी। उसने विभिन्न कक्षाओंके लिये जो पाठ्यक्रम बनाया उसीके अनुसार ये पुस्तकें तैयार हुई हैं। आशा है कि शिक्षा-जगत् इनसे लाभ उठा सकेगा।

संस्कृति-माला भाग १ (कक्षा ३ के लिये)—पृष्ठ-सं० ४८, सुन्दर दोरंगा मुख-पृष्ठ, मू० २० नये पैसे, डाकखर्च अलग। इसमें रामायण, महाभारत, श्रवणकुमार, प्रह्लाद, ध्रुव, सती सावित्रीकी कहानियाँ और पालनीय नियम हैं।

संस्कृति-माला भाग २ (कक्षा ४ के लिये)—पृष्ठ-सं० ५६, सुन्दर दोरंगा मुखपृष्ठ, मू० .२५ नये पैसे। डाकखर्च अलग। इसमें सत्यकाम जाबाल, महाशाल शौनक और अङ्गिरा ऋषि, याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी, नचिकेता, इन्द्र-विरोचन, श्रीकृष्ण, भक्त हनुमान्, भीष्मपितामह, युधिष्ठिर और एकलव्यकी कहानियाँ तथा पालनीय नियम हैं।

संस्कृति-माला भाग ३ (कक्षा ५ के लिये)—पृष्ठ-संख्या ८८, मूल्य .३० नये पैसे। डाकखर्च अलग। इसमें महर्षि वाल्मीकि, महर्षि व्यास, भगवान् परशुराम, महात्मा कबीर, गुरु नानकदेव आदि १९ पाठ हैं।

संस्कृति-माला भाग ४ (कक्षा ६ के लिये)—पृष्ठ-संख्या १०४, सुन्दर दोरंगा मुखपृष्ठ, मूल्य .३५ नये पैसे। डाकखर्च अलग। इसमें भक्त सुव्रत, भक्त परीक्षित्, मातृपितृभक्त श्रवणकुमार, चैतन्य महाप्रभु, समर्थ स्वामी रामदास, महामुनि वशिष्ठ, दिलीप, भक्त सूरदास, तानसेन, मीराँ आदि २६ पाठ हैं।

संस्कृति-माला भाग ५ (कक्षा ७ के लिये)—पृष्ठ-संख्या ९६, मूल्य .३५ नये पैसे। डाकखर्च अलग। इसमें जातक कथाओंका परिचय, चाणक्य, चरक, कालिदास, कर्ण, दमयन्ती, बुद्ध, महावीर, तक्षशिला, नालन्दा आदि १७ पाठ हैं।

संस्कृति-माला भाग ६ (कक्षा ८ के लिये)—पृष्ठ-सं० १००, सुन्दर दोरंगा मुख-पृष्ठ, मू० .३५ नये पैसे। डाकखर्च अलग। इसमें दानवीर दानव नमुचि, राजा त्रिविक्रमसेन और भिक्षुक तपोदत्तकी कहानी, धवलमुख और उसके दो मित्र, भरत मुनि, कपिल मुनि, भामती, रामकृष्ण परमहंस आदि १९ पाठ हैं।

संस्कृति-माला भाग ७ (कक्षा ९ के लिये)--पृष्ठ-सं० १५२, आठ सादे चित्र, मू० .५५ नये पैसे। डाकखर्च अलग। इसमें ब्रह्मतेजकी विजय, अभिमानका त्याग, महर्षि दध्यङ्ङाथर्वणकी क्षमाशीलता आदि १२ पाठ हैं।

संस्कृति-माला भाग ८ (कक्षा १० के लिये)--पृष्ठ-सं० १३६, सुन्दर दोरंगा मुख-पृष्ठ, दो तिरंगे तथा दो सादे आर्टपेपरपर छपे चित्र, मू० .५५ नये पैसे। डाक-खर्च अलग। इसमें ईशादि तेरह उपनिषद्, श्रीमद्भगवद्गीता, हड़प्पा और मोहेन-जो-दड़ो और विक्रमशिलाके पाठ हैं।

ये सभी पुस्तकें साफ सुन्दर अक्षरोंमें छपी हुई हैं। स्कूल-कालेजोंके पाठ्यक्रममें सम्मिलित करने योग्य हैं। विक्रेताओंको नियमानुसार कमीशन तथा अपने निकटस्थ स्टेशनतक नियमानुसार फ्री-डिलेवरी मिलती है।

श्रीमद्भगवद्गीता-तत्त्वविवेचनी

टीकाकार—श्रीजयदयालजी गोयन्दका। गीता-विषयक २५१५ प्रश्न और उनके उत्तरके रूपमें विवेचनात्मक ढंगकी हिंदी टीका, पृष्ठ ६८४, रंगीन चित्र ४, मूल्य साधारण संस्करण ४.००, **३८ पौंडके मोटे रैगऊभ टिकाऊ कागजोंका बढ़िया संस्करण, मूल्य ६.००**, डाकखर्च अलग।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

॥ श्रीहरिः ॥

एक नयी पुस्तक ! *प्रकाशित हो गयी !!*

कर्मयोगका तत्त्व

लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका

आकार डबल क्राउन सोलह पेजी, पृष्ठ-संख्या ४२०, दो तिरंगे तथा तीन सादे—कुल पाँच सुन्दर चित्र, मूल्य १.१२, डाकखर्च १.०३, कुल २.१५ न० पै० ।

जबसे श्रीगोयन्दकाजीके ज्ञानयोग-सम्बन्धी लेखोंका संग्रह **'ज्ञानयोगका तत्त्व'** तथा प्रेम-योग-सम्बन्धी लेखोंका संग्रह **'प्रेमयोगका तत्त्व'** प्रकाशित हुए, तभीसे अनेक प्रेमियोंका यह आग्रह था कि उनके कर्मयोग-सम्बन्धी लेखोंका भी एक अलग संग्रह प्रकाशित किया जाय जिससे इस मार्गके साधकोंको एक स्थानपर एकत्र कर्मयोगसम्बन्धी पर्याप्त सामग्री प्राप्त हो सके ।

प्रस्तुत पुस्तकमें कर्मयोग-सम्बन्धी ३१ लेखोंका संग्रह है, जो समय-समयपर 'कल्याण' तथा 'तत्त्व-चिन्तामणि' आदि पुस्तकोंमें प्रकाशित हो चुके हैं । ये लेख गृहस्थोंके लिये विशेष उपादेय हैं; क्योंकि इनमें गृहस्थाश्रममें रहकर बहुलतासे काम करते हुए भी शीघ्रातिशीघ्र परमात्माकी प्राप्ति कैसे हो सकती है—यह विशेषरूपसे बतलाया गया है । आशा है कि कर्मयोगके तत्त्व-रहस्यको भलीभाँति समझने और तदनुसार साधन करनेके इच्छुक लोगोंके लिये यह संग्रह विशेषरूपसे सहायक हो सकेगा ।

श्रीगोयन्दकाजीकी कुछ अन्य पुस्तकें

१—**महत्त्वपूर्ण शिक्षा**—पृष्ठ-संख्या ४७६, चार तिरंगे सुन्दर चित्र, मूल्य १.०० डाकखर्च अलग ।
२—**परम साधन**—पृष्ठ-संख्या ३७२, पाँच सुन्दर तिरंगे चित्र, मूल्य १.०० डाकखर्च अलग ।
३—**मनुष्य-जीवनकी सफलता**—पृष्ठ-संख्या ३५२, पाँच तिरंगे चित्र, मूल्य १.०० डाकखर्च अलग ।
४—**परम शान्तिका मार्ग**—पृष्ठ-संख्या ४१६, चित्र रंगीन चार, सादे दो, मूल्य १.०० डाकखर्च अलग ।
५—**मनुष्यका परम कर्तव्य**—पृष्ठ-संख्या ४१०, चित्र रंगीन चार, मूल्य १.०० डाकखर्च अलग ।
६—**ज्ञानयोगका तत्त्व**—पृष्ठ-संख्या ३८४, चित्र रंगीन तीन, मूल्य १.०० डाकखर्च अलग ।
७—**प्रेमयोगका तत्त्व**—पृष्ठ-संख्या ३८०, चित्र रंगीन पाँच, सादा १, मूल्य १.०० डाकखर्च अलग ।

☞ पुस्तकोंका आर्डर यहाँ देनेके पहले अपने शहरके पुस्तकविक्रेतासे प्राप्त करनेका प्रयत्न कीजिये, इससे आपको भारी डाकखर्च एवं समयकी बचत हो सकेगी ।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

कल्याण

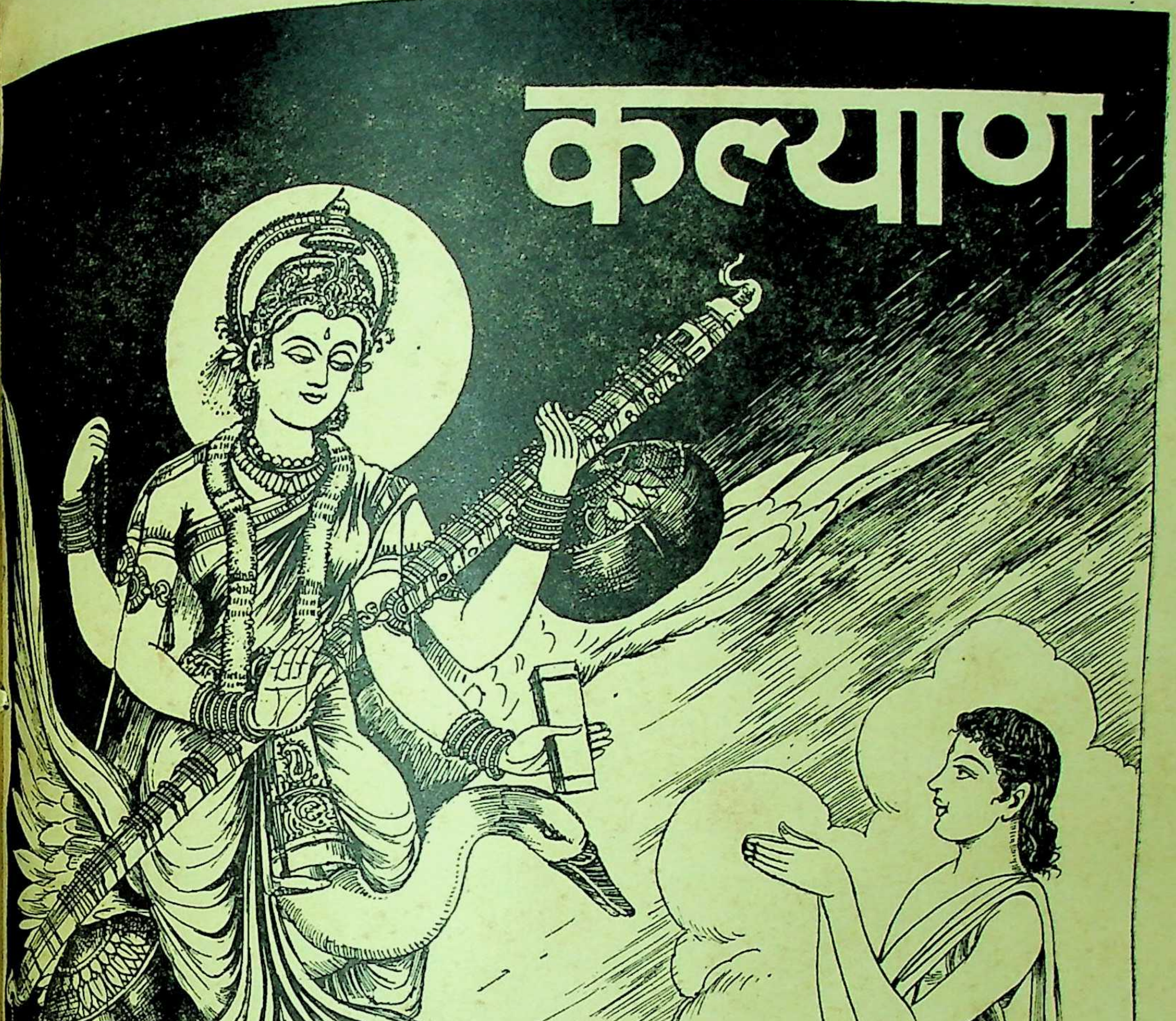

३७]

* * *

[अङ्क ७

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे

संस्करण—१,३८,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर श्रावण २०२०, जुलाई

विषय पृष्ठ-संख्या

१–मिथ्याचार [कविता] (गीता ३ । ६ के आधारपर) १००३
२–कल्याण ('शिव') ... १००४
३–साधन-विचार (श्रद्धेय स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज) ... १००५
४–सत्सङ्गका प्रसाद (पं० श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र 'माधव' एम्० ए०, पी-एच्० डी०) १०१०
५–वेदमें अवतारवाद (महामहोपाध्याय पं० श्रीगिरिधरजी शर्मा चतुर्वेदी) ... १०११
६–आत्मोद्धारकी प्रधान-प्रधान दो-दो बातें (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... १०१३
७–अब मैं केवल जोग तुम्हारे [कविता] (डा० श्रीहरिवंशरायजी 'बच्चन') ... १०१९
८–मधुर १०२०
९–एकादशीका उपवास (मूल मराठी-लेखक—पं० श्री श्री० दा० सातवळेकरजी; अनु०—पं० श्रीश्रुतिशीलजी शर्मा, तर्कशिरोमणि) ... १०२२
१०–अवतार [कहानी] (श्री 'चक्र') ... १०२४
११–प्रभुकी कृपा [कविता] ... १०२६
१२–सबका कल्याण कैसे हो ! (स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजका एक भाषण) १०२७
१३–श्रीमद्भागवतकी मौलिकता और उसके महापुराण होनेमें प्रमाण (पण्डित श्रीगोपालदत्तजी शर्मा, ज्योतिषशास्त्री)
१४–हे राम ! [कविता] (श्रीजगन्नाथजी मिश्र गौड़ 'कमल' विद्यालंकार) ...
१५–तुलसीदासजीकी सौन्दर्य-भावना (श्रीपरमलालजी गुप्त) ...
१६–हृदयंगम [कविता] (श्रीबालयोगी प्रेमवर्णीजी) ... ...
१७–मनको सदा कल्याणकारी विषयोंमें लगाइये (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ...
१८–अनन्य प्रेम ही सर्वोत्तम भजन है [कविता] (संकलित) ...
१९–मितव्ययिताका आदर्श (श्रीरमाकान्तजी मिश्र) ... ...
२०–हमारा महान् शत्रु—आलस्य (श्री-अगरचन्दजी नाहटा) ...
२१–मोक्ष-साधन-रहस्य (श्रीस्वामी प्रेमानन्दजी महाराज) ... ...
२२–दवाओंसे बचिये (श्रीधर्मचन्दजी सरावगी)
२३–सुशासनका साक्षात्कार (पण्डित श्रीसूरजचन्दजी सत्यप्रेमी (डाँगीजी); प्रेषक—श्रीसत्यपालजी शर्मा 'सत्य') ...
२४–प्रियतम-सुख [कविता] ...
२५–धर्मप्राण संस्कृति और देवालय (श्री-ओंकारमलजी सराफ) ...
२६–पढ़ो, समझो और करो ...

—ω—

चित्र-सूची

१–भक्तको भगवती सरस्वतीका दर्शन ... ... (रेखाचित्र) ...
२–मिथ्याचार ... ... (तिरंगा) ...

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण
भारतमें
विदेशमें
(१०

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

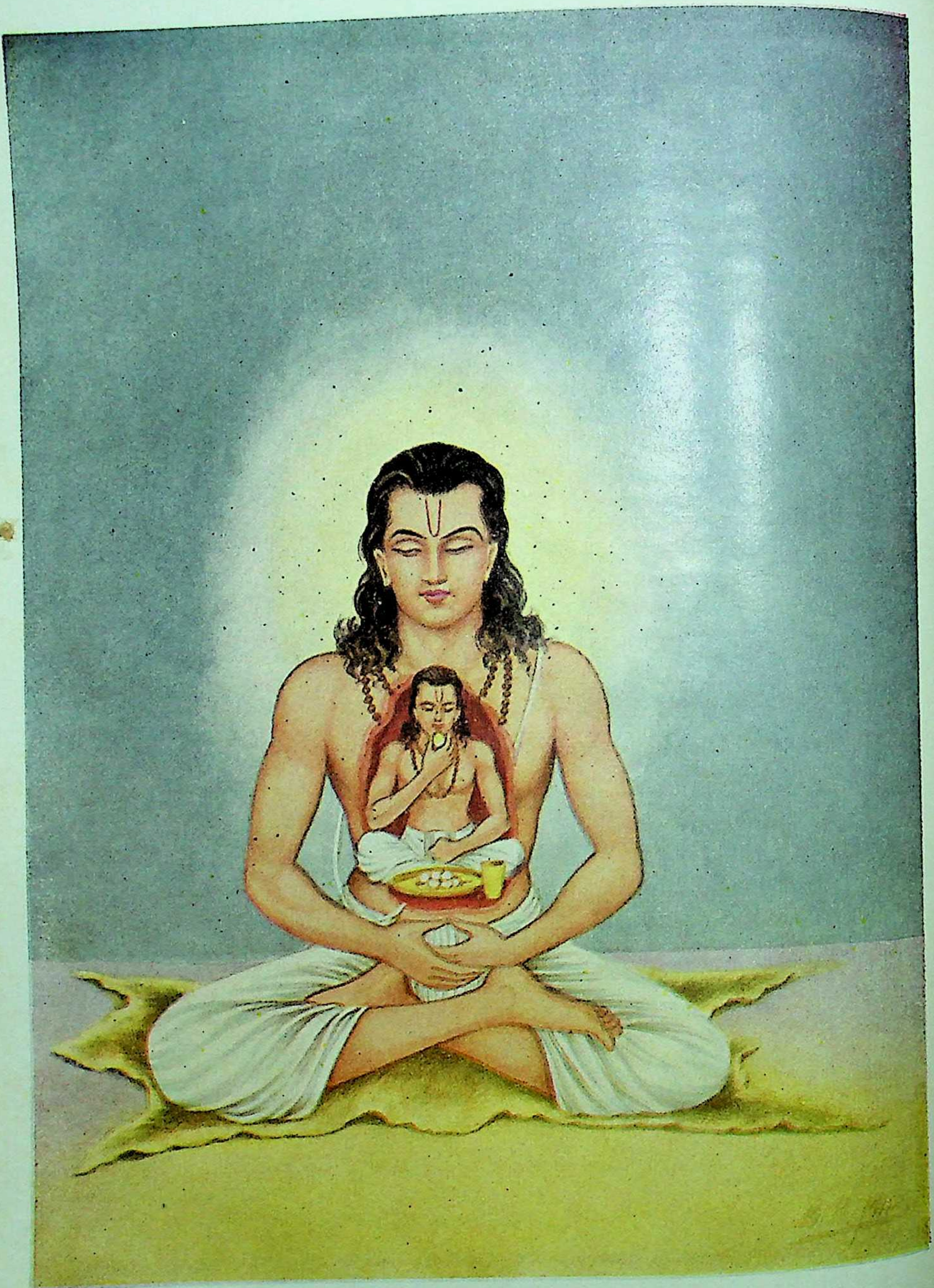

मिथ्याचार

[गीता ३ । ६

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

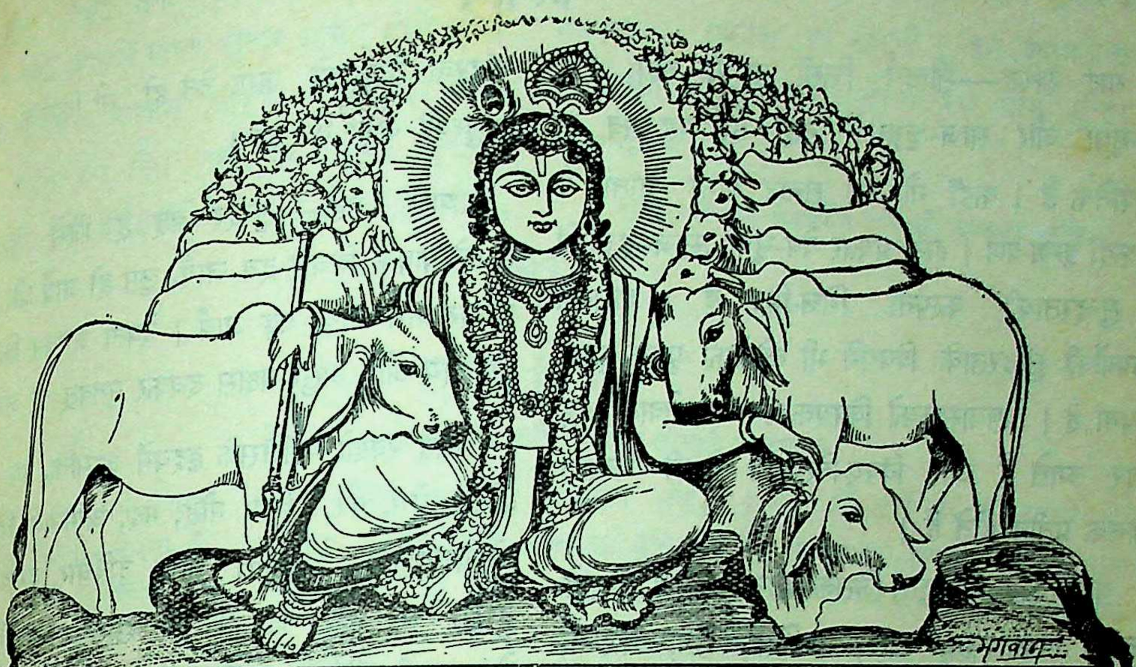

कल्याण

शुद्धतेजःस्वरूपं च भक्तानुग्रहविग्रहम् । अतीव कमनीयं च श्यामरूपं नमाम्यहम् ॥
परिपूर्णतमं शान्तं राधाकान्तं मनोहरम् । सत्यं ब्रह्मस्वरूपं च नित्यं कृष्णं नमाम्यहम् ॥

वर्ष ३७ } गोरखपुर, सौर श्रावण २०२०, जुलाई १९६३ { संख्या ७
पूर्ण संख्या ४४०

मिथ्याचार

कर्मेन्द्रियाँ रोक जो तजता बाहर भोगोंका व्यवहार ।
मनसे करता भोग मूढ़ सो कहलाता है मिथ्याचार ॥
(गीता ३ । ६)

'जो मूर्ख कर्मेन्द्रियोंको रोककर बाहरसे उनके भोगोंका त्याग कर देता है, किंतु मन-ही-मन उनका सेवन करता रहता है, वह मिथ्याचार (दम्भी) कहलाता है ।'

याद रक्खो—सौन्दर्य किसी बाहरी रूप, रंग, वेष-भूषा और साज-शृङ्गारमें नहीं है; यह सब तो काल्पनिक है। कहीं गौर-वर्ण सुन्दर माना जाता है तो कहीं कृष्ण-वर्ण। इसी प्रकार वेष-भूषा, साज-शृङ्गारमें भी सुन्दरताकी कल्पना भिन्न-भिन्न है। शरीरके अवयवोंकी सुन्दरताके विषयमें भी लोगोंकी पृथक्-पृथक् कल्पना है। विषयासक्तको विषयकामना बढ़ानेवाले अङ्ग सुन्दर लगते हैं और विषय-विरक्तको वे ही अत्यन्त भयानक प्रतीत होते हैं।

याद रक्खो—वस्तुतः जिसका हृदय सुन्दर है, जिसके अन्तरमें विषयविराग, त्याग, अहिंसा, प्रेम, करुणा, परदुःखकातरता, विनय, दया, नम्रता, सहिष्णुता, सेवा, संयम, साधुता, समता, शान्ति आदि सुन्दर विचार, भाव, गुण भरे हैं, वही वस्तुतः सुन्दर है। ऐसे सुन्दर हृदयवाले पुरुष या स्त्रीकी मुखाकृतिमें, उसके नेत्रोंमें, उसके अङ्ग-अङ्गमें भीतरके इन सुन्दर भावों—गुणोंका प्रकाश अपने-आप छा जाता है और वह देखनेवालोंके हृदयमें उसके भावोंकी न्यूनाधिकताके अनुपातसे इन गुणोंका प्रकाश करता है।

याद रक्खो—किसीको देखकर तुम डर जाते हो, किसीको देखकर निर्भय हो जाते हो; किसीको देखते ही क्रोध उत्पन्न होता है, किसीको देखकर क्षमाका उदय हो जाता है; किसीको देखकर कामके वश हो जाते हो, किसीको देखते ही संयमकी सहज उत्पत्ति हो जाती है; यह सब इसीलिये होता है कि उसकी मुखाकृति आदिसे वैसे ही भावोंका प्रकाश हो रहा है।

याद रक्खो—जगत् त्रिगुणात्मक है, इसलिये सभीके अन्तरमें कम-ज्यादा सात्त्विक गुण भी है, तमोगुण भी है। देवता भी हैं, राक्षस भी हैं। तुम अपने सात्त्विक या तामस गुणसे, देवभाव या आसुरभावसे किसीके अंदरके देवताको जगा देते हो, तो किसीके अं असुरको जगा देते हो।

याद रक्खो—सुन्दर वह है जिसे देखते हमारे पापके विचार दब जायँ, लुप्त हो जायँ और पुण्य विचार जग जायँ, बढ़ जायँ। देवता जगकर क्रियाशील हो जाय और असुर-राक्षस दबकर मृतवत् हो जाय।

याद रक्खो—जिसके हृदयमें आसक्ति, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, वैर, हिंसा, मोह, मद, अभिमान, विषय-भोगपरायणता, अशान्ति आदि दुर्विचार, दुर्भाव और दुर्गुण भरे हैं, वह बाहरसे सुन्दर दीखनेपर भी वेष-भूषासे सुसज्जित होनेपर भी वस्तुतः सुन्दर नहीं है भयानक है। वह स्वयं सदा दोषोंका घर बना रहता है; क्योंकि उसके अंदरका असुर-राक्षस जगा हुआ सक्रिय हो रहा है और उसके सम्पर्कमें जो आता है उसको भी वह अपनी नकली सुन्दरताके पर्देमें छिपे भयानक विचार-भाव देकर उसे भी असुर-राक्षस बना देना चाहता है।

याद रक्खो—जिस सुन्दरताके साथ हमारे चरित्रकी पवित्रता, भावोंकी विशुद्धि और आचरणकी शुचिता है, वही सुन्दरता वास्तविक है। शेष समस्त सौन्दर्य यथार्थतः वैसा ही है, जैसा जहरसे भरा चमकता हुआ स्वर्ण-कलश। इस भयानक सुन्दरतासे अपनेको बचाओ और इसीलिये बाहरी रूप-रंग, वेष-भूषा, साज-शृङ्गारके चक्करमें न पड़कर विचारों, भावों और गुणोंको तथा उसीके अनुसार अपनी क्रियाको सुन्दर बनाओ। इससे शरीर स्वस्थ होगा, मन स्वस्थ होगा, बुद्धि स्वस्थ होगी; क्योंकि इसीसे स्व-स्थ आत्माके शुभदर्शन होंगे।

याद रक्खो—गंदे विचार, असद्भाव, दुर्गुण तथा दुष्कर्म स्वयं नरक हैं और नरकोंमें ले जानेवाले हैं।

उनमें सर्वत्र गंदगी तथा कुरूपता भरी है, भले ही भ्रमसे वे कहीं बाहरसे स्वच्छ, सुन्दर प्रतीत होते हों ।

याद रक्खो—भगवान् श्रीकृष्ण श्यामसुन्दर हैं—उनका बाहरी रंग गोरा नहीं, पर उनकी सुन्दरता सबको मोह लेती है; इसीलिये कि उनके बाहर-भीतर, सर्वत्र सदा परम कल्याणमय, नित्य नवीन सुन्दर दिव्य भगवत्ताका प्रकाश हो रहा है। इस श्याम-प्रकाशमें डूब जाओ तो तुम भी बाहर-भीतरसे परम सुन्दर हो जाओगे—

'ज्यों-ज्यों बूडै स्यामरँग त्यों-त्यों उज्ज्वल होय ।'

'शिव'

साधन-विचार

(लेखक—श्रद्धेय स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज)

साधनके सम्बन्धमें विस्तृत विचार करनेके पहले मैं यह विचार करना चाहता हूँ कि साधनमात्रका सार क्या है ? सब साधनका सार, सब साधनोंका भूप अथवा साधनराज है—

'साधन सिद्धि राम-पग नेहू ॥'

दूसरे साधनोंको देह-स्वरूप मानें तो इसको आत्मा कहेंगे। 'नेहू' शब्दका अर्थ स्नेह, भाव या प्रेम—अर्थात् सच्चा साधन वही है जिससे श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें प्रीति हो, भाव हो या अनुराग हो। वह भाव कैसा होना चाहिये ?—इसका उत्तर है, 'परानुरक्तिरीश्वरे'। अर्थात् श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें परा अनुरक्ति, अलौकिक प्रेम होनेका नाम ही सच्चा साधन है। श्रीरामचन्द्रजीका स्वरूप अलौकिक है, अतएव उनके प्रति प्रेम भी अलौकिक होना चाहिये। अध्यात्मरामायणमें श्रीरामचन्द्रजीकी स्तुतिके प्रसङ्गमें ऐसा वर्णन आता है—

नित्यं शुद्धं बुद्धमनन्तं प्रणवाख्यम् ।
सत्तामात्रं सर्वहृदिस्थं दृशिरूपम् ॥

यहाँ श्रीरामचन्द्रजीको साक्षात् परब्रह्मरूप वर्णन किया है। अर्थात् अपने इष्टमें परब्रह्म-भावपूर्वक निरतिशय प्रेमका होना ही सर्वसाधनकी प्रथम सीढ़ी है। प्रथम सीढ़ीपर चढ़े बिना कोई छतपर नहीं चढ़ सकता। इसी प्रकार इष्टदेवके प्रति जबतक सच्चा प्रेम नहीं होता, तबतक कोई आदमी साधनमें आगे नहीं बढ़ सकता।

यही बात दूसरी जगह दूसरी रीतिसे कही गयी है—

'राम नामको अंक है सब साधन हैं सून ।'

इसका भाव यह है कि रामनाम अर्थात् ईश्वरके किसी भी स्वरूपमें भाव और प्रेम, अपने-अपने इष्टमें प्रेम या अनुराग अङ्क है। अङ्क नौ होते हैं, जो एकसे नौतक क्रमशः प्रसिद्ध हैं। दूसरे साधन शून्यरूप हैं। यदि एकके आगे हम शून्यको रक्खें तो उसकी कीमत दस हो जाय। यदि एक न हो और शून्य अकेला लिखा जाय, तो उसकी कीमत कुछ भी नहीं होगी। इसका सारांश यह है कि कोई भी साधन कीजिये, यदि उसके साथ ईश्वर-प्रेम है तो उस साधनका दस गुना फल हो जायगा और यदि वह नहीं है तो साधन व्यर्थ जायगा अर्थात् बहुत ही अल्प होगा या नहींके बराबर होगा।

पतञ्जलि भगवान्ने अपने योगदर्शनमें 'अभ्यास'की आलोचना करते समय 'सत्कारासेवित' एक विशेषण प्रयुक्त किया है। उसका भी यही भाव है। साधनके प्रति प्रेम न हो, साधन यदि भावसे न होता हो, तो वह साधन सफल नहीं होता। साधनमें प्रेम या भाव तभी होता है, जब साध्यके प्रति प्रेम और भाव हो। साध्य अर्थात् ईश्वरके प्रति प्रेम न हो तो उसकी प्राप्तिके साधनमें प्रीति कैसे हो सकती है ?

इस प्रसङ्गमें समझाते हुए श्वेताश्वतर उपनिषद्में कहा गया है—

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥

भाव यह है कि मनुष्य यदि आकाशको चमड़ेके समान अपने शरीरमें लपेटनेमें समर्थ हो जाय तो वह ईश्वर-प्रेमके बिना मुक्ति प्राप्त कर सकता है। अर्थात् ईश्वर-प्रेम न हो तो किसी भी साधनसे मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

हम यहाँ जिस साधनकी बात करते हैं, वह अपरा विद्याके या लौकिक विद्याके अथवा भौतिक विद्याके साधनकी बात नहीं है । उस क्षेत्रमें तो प्रभुके लिये अथवा उनके नामके लिये आज कोई स्थान ही नहीं रह गया है । वहाँ तो स्थूल देहके सिवा दूसरी कोई शक्ति है, यह बात कदाचित् ही कोई सोचता है । इसलिये हमको यहाँ उसके सम्बन्धमें विचार नहीं करना है । हमें तो ऐसे साधनके सम्बन्धमें विचार करना है, जिससे सुखकी प्राप्ति होती है, परमानन्दमें निमज्जित होकर जीव बारंबार जन्म-मरणके दुःखसे छुट्टी पा जाता है ।

पहले मैं कह चुका हूँ,

'साधन सिद्धि राम पग नेहू ।'

अर्थात् यही एक सच्चा साधन है । तो फिर विभिन्न शास्त्रोंमें जो विभिन्न साधन बतलाये गये हैं, वे किस लिये ? यह प्रश्न स्वभावतः उठता है । यह बात आपाततः सच्ची भी लगती है, क्योंकि मानवमात्रके स्थूल शरीर पञ्चभूतोंसे बने होनेके कारण एक समान हैं । सब शरीरोंमें प्रभुने एक-सी सामग्री प्रदान की है । तथा सूक्ष्म शरीर भी एकसमान उपादानसे बने हैं, उनमें भी किसी प्रकारकी न्यूनाधिकता नहीं है । प्राण भी सब शरीरोंमें एक ही है और एक ही ईश्वर नियन्तारूपमें सब शरीरोंमें विराज रहा है । तब फिर साधन पृथक्-पृथक् क्यों चाहिये ? उपर्युक्त सारे तत्त्व सत्य हैं तथापि साधन पृथक्-पृथक् देखनेमें आते हैं । क्या बात है ? ऐसा क्यों है ?—यह समझानेकी चेष्टा करूँगा ।

हिंदू शास्त्रकी मान्यताके अनुसार सारे जीव अनादि कालसे अनेकों बार चौरासी लाख योनियोंमें भटकते आ रहे हैं, उनमें कुछ जीव पुण्यके प्रतापसे आज मानव-शरीरको प्राप्त हुए हैं । इनमें कितने ही जीव इन्द्रासनपर बैठकर आये होंगे, कितने ही जीवोंने देवता बनकर श्रेष्ठ स्वर्गीय सुखोंको भोगा होगा, कितने ही जीव चक्रवर्ती राजा बन चुके होंगे, कितने ही जीव साधारण राजा बन चुके होंगे, कितने ही बड़े अफसर, बड़े व्यापारी, बड़े-बड़े विधान-शास्त्री आदि हो चुके होंगे । कितने ही पशुका जन्म ले चुके होंगे, कितने ही पक्षीके रूपमें अवतरित हुए होंगे, अधिक क्या कहें, अनेक जातिके ऊँच-नीच, भले-बुरे, ब्रह्मासे लेकर चींटी तकका जन्म धारण कर चुके होंगे । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी दो जीवका इस संसारचक्रमें प्रारब्ध एक-सा नहीं होता, अतएव किसी भी दो जीवके संचित कर्म एक-सरीखे नहीं होंगे । फलस्वरूप किसी भी दो जीवोंके प्रारब्ध भी एक-से नहीं बनते, अतएव किसी भी दो जीवोंके सुख-दुःखके भोग भी एक-सरीखे नहीं होते । ये सुख-दुःखके भोग अन्तःकरणमें अपने संस्कार डालते जाते हैं । भोग तो समाप्त हो जाते हैं, परंतु उनके संस्कार अन्तःकरणमें रह जाते हैं । इन विभिन्न संस्कारोंके कारण पृथक्-पृथक् रुचि उत्पन्न होती है । किन्हीं भी दो मनुष्योंकी रुचि एक-सी नहीं होती । इसका कारण यह है कि किन्हीं भी दो मनुष्योंके अन्तःकरणके संस्कार एक-से नहीं होते । एक दृष्टान्त लीजिये । षट्रसमें एक रस लवण किसीको प्रिय लगता है तथा दूसरे मनुष्यको वह बहुत खारा होनेके कारण अप्रिय लगता है । पहला मनुष्य इस रससे सुखका अनुभव करता है । अतएव यह रस उसके अन्तःकरणमें सुखका संस्कार छोड़ जायगा । उधर, दूसरे मनुष्यको यही रस प्रिय न लगकर अप्रिय लगेगा और अप्रिय लगनेके कारण उसे सुख न होकर दुःख होगा । अतएव उसके अन्तःकरणमें दुःखका संस्कार पड़ेगा ।

अब यदि आप सूक्ष्म दृष्टिसे देखें तो समझमें आ जायगा कि पदार्थमें स्वतः प्रियत्व या अप्रियत्व नहीं होता । यदि उसमें प्रियत्व होता तो वह दोनों आदमियोंको प्रिय लगता । यदि उसमें अप्रियत्व होता तो वह दोनों मनुष्योंको अप्रिय लगता । अतएव इससे स्पष्ट हो गया कि सुख-दुःख देनेवाला कोई पदार्थ नहीं है । तो फिर सुख-दुःख होता कैसे है !—केवल अन्तःकरणके संस्कारके द्वारा न होनेपर भी सुख-दुःख होता है । तात्पर्य यह है कि संस्कारभेदके कारण रुचिकी भिन्नता होनेसे एक ही पदार्थ एक आदमीको सुखरूप दीखता है और वही पदार्थ उससे भिन्न रुचिवालेको दुःखरूप दीखता है ।

रुचि-विभिन्नताके कारण कुछ लोगोंको परमानन्द, परम सुख अर्थात् आत्यन्तिक सुखकी इच्छा भी होगी । उनके ध्येय एक होनेपर भी, रुचिकी विभिन्नताके कारण साधन-प्रणाली विभिन्न होगी और सब मनुष्य एक ही मार्गसे गन्तव्य स्थानको नहीं जाँगे । जिसका जैसा अधिकार होगा, वह वैसा मार्ग प्राप्त करेगा । कोई पैदल पगडंडीका मार्ग पकड़ता है और कोई वाहनके बिना नहीं जा सकता । वाहनमें भी सम्पत्तिके अनुसार कोई बैलगाड़ीमें तो कोई घोड़ागाड़ीमें,

कोई मोटरमें तो कोई हवाई जहाजमें जायगा। इसी प्रकार अन्तःकरणके संस्कारके चढ़ाव-उतारके अनुसार पृथक्-पृथक् लोगोंके लिये मृदु, मध्यम या तीव्र साधनोंकी सुविधा शास्त्रोंमें की गयी है।

रुचिभेदसे साधन-भेदकी बात श्रीमहिम्नःस्तोत्रमें भी कही गयी है—

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

रुचिकी विभिन्नताके कारण विभिन्न मनुष्य अपनी उपासना पृथक्-पृथक् रीतिसे तथा पृथक्-पृथक् साधनोंके द्वारा करते हैं। रुचिकी विभिन्नताके कारण इष्टदेव भी विभिन्न होते हैं, तथापि वे सब आपको ही प्राप्त होते हैं। ठीक उसी प्रकार जैसे अनेकों नदियाँ टेढ़े या सीधे मार्गसे जाकर अन्तमें समुद्रमें मिलती हैं।

यहाँ ऋजुका अर्थ है सीधा और सरल साधन, जिसको सामान्य बुद्धिका मनुष्य भी समझ सके। कुटिलका अर्थ है जटिल साधन, जो झट समझमें न आते हों, जिनको केवल सूक्ष्म बुद्धिवाला मनुष्य ही समझ सकता हो। परंतु वस्तुतः बात और ही है। जो साधन सद्गुरुके द्वारा मिला है, वह 'क' के लिये सरल है पर 'ख' के लिये अनुकूल नहीं है तो वही साधन 'ख' के लिये कुटिल कहलायेगा। इसी प्रकार जो साधन 'ख' के लिये सरल है परंतु 'ग' के लिये अनुकूल नहीं है तो वही साधन 'ग' के लिये कुटिल कहलायेगा। इस प्रकार साधनमें स्वतः ऋजुता या कुटिलता नहीं होती, परंतु रुचि तथा अधिकार-भेदसे एक ही साधन एकके लिये ऋजु तथा दूसरेके लिये कुटिल जान पड़ता है।

अतएव साधनका निश्चय करते समय सद्गुरुकी खास आवश्यकता है। कोई भी साधक, जो अपने साधनका निश्चय स्वयं कर लेता है, उसका साधन कुछ दिन तो ठीक तौरपर चलता है, परंतु दीर्घकालके पश्चात् मन उससे हटने लगता है और वह दूसरे साधनकी खोजमें लग जाता है। उस साधनको भी कुछ दिन करता है, फिर उससे भी मन उचटता है तो तीसरा साधन शुरू कर देता है। इसका परिणाम यह होता है कि एकके बाद दूसरा साधन बदलता जाता है और किसी भी साधनमें निष्ठा परिपक्व नहीं होती। अन्तमें वह साधनमात्रसे उदासीन हो जाता है और परिणामस्वरूप नास्तिक बन जाता है।

यह बात एक उदाहरणसे स्पष्ट समझें; क्योंकि गुरुके द्वारा निर्दिष्ट साधन ही परिपक्व हो सकता है।

पाँच-छः मनुष्य हैं। उन सबको एक ही रोग है, उसके लिये जुलाब लेना आवश्यक है। वे पंसारीकी दूकानपर जाकर पूछते हैं कि 'भाई! जुलाबके लिये क्या लेना चाहिये?' वह कहता है कि नमकीन आँवला बहुत अच्छा रहेगा। दूसरी दूकानपर जाकर पूछते हैं तो वह कहता है कि हर्रे अच्छी रहेगी। तीसरा दूकानदार कहता है कि नौसादर अच्छा रहेगा। चौथा कहता है कि विलायती नमक अच्छा रहेगा। झण्डूकी दूकानपर पूछनेसे वह कहता है कि अश्वगंधा ले लो, वायु कुपित हो गया है।

ऐसी अवस्थामें वे निश्चय नहीं कर पाते कि कौन-सा जुलाब लें और उनको निराशा हो जाती है। इतनेमें एक चतुर मनुष्य कहता है, 'भाई! उदास क्यों होते हो? चतुरलाल वैद्यके यहाँ चलो और वे जैसा कहें, वैसा करो। वैद्यराज प्रत्येककी प्रकृतिकी जाँच करके किसीको हर्रे, किसीको नौसादर तथा किसीको नमकीन आँवला, किसीको विलायती नमकका नुस्खा बताते हैं और उससे प्रत्येकको लाभ होता है।

इसी प्रकार हम सब लोग एक ही रोगसे पीड़ित हैं। व्याधि महाभयंकर है, उसका नाम है भव-रोग। निदान तो ठीक है, परंतु चिकित्सामें भूल होनेसे मृत्यु निश्चित है। यहाँ मृत्युका अर्थ एक बार मरना नहीं है, बल्कि अनन्त मृत्युके चक्करमें भटकना है। **'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति।'** अतएव सद्गुरुरूपी सद्वैद्यके पास जाना चाहिये और उनकी बतलायी हुई ओषधिका सेवन तबतक करना चाहिये, जबतक व्याधि निर्मूल न हो जाय। इसमें असावधानी करनेसे रोग दूर नहीं हो सकता।

महात्मा कवि सुन्दरदासजीने भी सद्गुरुको सद्वैद्यके रूपमें वर्णन किया है—

सुंदर सद्गुरु बंदिये, सो ही बदन जोग।
औषध शब्द पिलायके, दूर कियो भव रोग॥

इसी बातको समझाते हुए गीतामें श्रीभगवान्ने कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

आध्यात्मिक मार्गमें पुस्तक पढ़ने या भाषण सुननेसे कार्यसिद्धि नहीं होती। अतएव हे अर्जुन! तुझे यदि

यथार्थ रहस्य जानना है तो ज्ञानी अर्थात् श्रोत्रिय और तत्त्वदर्शी ब्रह्मनिष्ठ महात्माकी शरणमें जाओ। उनको विनयपूर्वक प्रणाम करके, उनकी सेवा करके प्रश्न करनेसे वे महात्मा यथार्थ रहस्य समझायेंगे। तत्त्वका रहस्य समझनेका यही मार्ग है। दूसरा कोई मार्ग नहीं है—

'नान्यः पन्था विद्यते।'

औषध निश्चित हो जानेके बाद उसके सेवनमें भी बहुत ध्यान देना चाहिये। अतएव भगवान् पतञ्जलि कहते हैं कि **'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितः।'** अर्थात् दीर्घकालपर्यन्त, जबतक व्याधि निर्मूल न हो जाय तबतक ओषधि-सेवन करना चाहिये और वह भी **'नैरन्तर्येण'** अर्थात् सतत, बीचमें त्रुटि न आने दे। यह नहीं कि सप्ताहमें पाँच दिन किया और दो दिन नहीं किया। सबसे महत्त्वकी बात है **'सत्कारेण आसेवितः।'** अर्थात् श्रद्धा और विश्वासपूर्वक औषधका सेवन करना चाहिये। सारांश यह है कि सद्गुरुके बताये हुए साधन, जबतक साध्यमें सिद्धि न हो, तबतक श्रद्धा और विश्वासपूर्वक भावसे करते रहना चाहिये।

हमने पहले कहा है कि 'क' का साधन 'ख' को अनुकूल नहीं पड़ता, 'ख' का साधन 'ग' को अनुकूल नहीं पड़ता। इसका कारण दूसरे प्रकारसे एक दृष्टान्तद्वारा खोजिये।

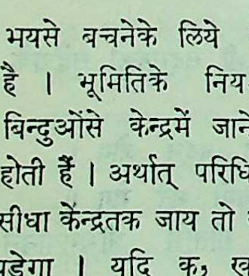

एक वृत्त बनाइये। इस वृत्तकी परिधिके ऊपर सब लोग अपनी-अपनी प्रवृत्तिके अनुसार चल रहे हैं। वृत्तके केन्द्रमें परमेश्वर विराजमान होकर सब प्राणियोंका नियमन कर रहा है। सभी मनुष्योंको जन्म-मरणके भयसे बचनेके लिये केन्द्रमें परमेश्वरकी शरणमें जाना है। भूमितिके नियमके अनुसार परिधिके विभिन्न बिन्दुओंसे केन्द्रमें जानेवाली सारी रेखाएँ परस्पर समान होती हैं। अर्थात् परिधिके चाहे किसी भी स्थानसे मनुष्य सीधा केंन्द्रतक जाय तो सबके लिये एक-सा रास्ता चलना पड़ेगा। यदि क, ख, ग—तीन मनुष्य अपने-अपने स्थलसे केन्द्रतक जायँ तो सबको समान मार्ग चलना पड़ेगा। यदि 'क' 'ख'से कहे कि मेरा रास्ता सरल और सीधा है, अतएव यहीं आओ, हम दोनों आदमी साथ-साथ चलेंगे, तो ख के लिये यह मार्ग बड़ा लम्बा और कुटिल हो जायगा। इसी प्रकार ग यदि क या ख के पास जाकर फिर केन्द्रकी ओर जाय तो उसका मार्ग भी बहुत लम्बा और कुटिल कहलायगा। सारांश यह है कि जो जहाँ है, उसे वहाँसे ही अपने मार्गपर चलना चाहिये। दूसरेके रास्ते जानेपर उलटे रास्ते चढ़ जायगा।

यह बात एक-दूसरे दृष्टान्तके द्वारा समझिये। बम्बईमें एक बड़ा सम्मेलन है। सारे भारतके मनुष्य वहाँ जानेवाले हैं। एक आदमी मसूरीसे चलता है, दूसरा कलकत्तेसे चलता है। एक मद्रासमे जाता है तो दूसरा धनुष्कोटिसे जाता है। एक गोवासे चलता है तो दूसरा राजकोटसे आता है। अब यदि प्रत्येक मनुष्य यह आग्रह करे कि मैं जिस रास्तेसे जाता हूँ, उसी रास्तेसे सब लोग बम्बई चलें, तो यह स्पष्ट है कि दूसरे लोगोंकी कठिनाइयाँ बहुत बढ़ जायँगी। कलकत्ते, मद्रास, धनुष्कोटि, गोवा तथा राजकोटसे चलनेवाले सब लोग मसूरी होकर बम्बई जायँ तो स्पष्ट है कि सबके रास्ते बहुत लम्बे और असुविधाजनक हो जायँगे। अतएव जो जहाँ है उसे वहींसे सीधे बम्बई जाना चाहिये। तदनुसार साधनके विषयमें भी जिसकी जैसी रुचि हो, जैसा स्वभाव हो तथा जिसका जैसा अधिकार हो, उसीके अनुसार उनके साधन भी विभिन्न प्रकारके होने चाहिये। एक ही साधन-पथ सबके लिये उपयोगी नहीं हो सकता।

यहाँतक हमने दो बातें निश्चित कीं—(१) रुचिभेदके कारण साधन-भेद अनिवार्य है, तथा (२) साधन सद्गुरुके द्वारा निश्चित होना चाहिये। अब यह प्रश्न हो सकता है कि साधन करना आवश्यक क्यों है? उत्तरमें निवेदन यह है कि जीव मायामें फँस गया है, मोहजालमें जकड़ गया है। उससे मुक्त होकर उसको अपने घर पहुँचना है। अतएव माया क्या वस्तु है? इसका स्वरूप जानना चाहिये।

लक्ष्मणजीके प्रश्नका उत्तर देते हुए श्रीरामचन्द्रजीने अपने श्रीमुखसे कहा है—

मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥
(राम० अर० १५)

यह मैं हूँ, यह मेरा है। यह तू है और यह तेरा है। यही जीवकी अविद्या है। 'मेरी' और 'तेरी' की दो डोरियोंसे जीवके गलेमें फाँसी लगी है। फाँसीकी ये डोरियाँ

जबतक कटतीं नहीं, तबतक गलेकी फाँसी नहीं छूटती। श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं कि 'मैं' और 'मेरा' 'तू' और 'तेरा'—इसीका नाम माया है और इस मायासे प्रत्येक जीव बँधा गया है। यह व्यष्टिकी बात हुई, परंतु समष्टिमें 'गो-गोचर' अर्थात् इन्द्रिय-गोचर, तत्तत् इन्द्रियोंसे जो ज्ञान होता है और फिर 'जहँ लगि मन जाई'—अर्थात् जहाँतक मन जा सकता है, तत्तत् मनसे जो ज्ञान होता है, 'सो सब माया जानेहु भाई'—उस सबको हे भाई! तुम मायारूप जानो—सारांश यह है कि भौतिक प्रपञ्च और उसका ज्ञान, जो मन और इन्द्रियोंके द्वारा होता है, उसको तुम माया समझो।

यहाँ 'मैं और मेरा' जो अविद्याके कारण जीवको हो रहा है, इसके लिये भी माया शब्दका प्रयोग किया है और भौतिक प्रपञ्च जो ईश्वरकी रचना है, इसके लिये भी माया शब्दका व्यवहार किया है; क्योंकि माया और अविद्या शब्द सामान्यतः पर्याय रूपमें व्यवहृत होते हैं। इसी प्रकार 'अनुभवप्रकाश' ग्रन्थके रचयिता स्वामी विशुद्धानन्दजीने प्रधान, प्रकृतिं, माया, अविद्या और अज्ञान—इन सबको पर्याय शब्द माना है। जहाँ शास्त्रीय चर्चा नहीं, अथवा जहाँ किसी विशेष दर्शनका अभ्यास नहीं या किसी शास्त्रीय प्रक्रियाके विषयमें समझाना नहीं है, वहाँ इन शब्दोंका व्यवहार पर्यायरूपमें करनेसे कोई आपत्ति नहीं होती। संतवाणीमें बहुधा शास्त्रीय सूक्ष्म चिन्तन न होनेके कारण इस प्रकारका प्रयोग होना स्वाभाविक है।

वेदान्तके अनुसार मायाविशिष्ट चेतन ही ईश्वर है और अविद्याविशिष्ट चेतन जीव कहलाता है। यहाँ विशिष्ट शब्दका प्रयोग दोनों जगह है। परंतु विशिष्ट होनेमें बहुत बड़ा भेद है। ईश्वरको जब अवतार लेनेकी या सृष्टि करनेकी इच्छा होती है, तब ईश्वर स्वेच्छासे मायाको अङ्गीकार करता है और कार्य हो जानेपर उसे छोड़ देता है। परंतु जीवके सम्बन्धमें यह बात नहीं है। वह तो अज्ञानके कारण मोहसे अविद्यामें फँस जाता है और फिर उसको यह भान भी नहीं होता कि मैं कौन हूँ। परमेश्वर दया करे तभी जीव उससे छूट सकता है। इस रहस्यको समझानेके लिये ही ईश्वरको स्वतन्त्र और जीवको परतन्त्र कहते हैं।

इस अविद्या और मायाके बीच जो अन्तर है, उसे पञ्चदशी-में एक ही श्लोकमें बहुत सहज रीतिसे समझाया गया है—

ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशेन निर्मिता ।[1]
जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो जीवकल्पितः ॥[2]

(१) परमात्मा योगनिद्रामें सोये थे। उससे जागकर देखते हैं तो कुछ दीख नहीं पड़ता। तुरंत ही सहज इच्छा होती है—**'एकोऽहं बहु स्याम्'**—अर्थात् मैं अकेला हूँ, अनेक रूप हो जाऊँ।' यह संकल्प प्रकृतिके ऊपर प्रतिफलित हुआ और प्रकृति माताने पुरुषकी प्रसन्नताके लिये अनेकविध सृष्टिकी रचना की। परंतु यह सृष्टि जडके समान ज्यों-की-त्यों खड़ी रही। उसमें क्रिया या गति कुछ भी दृष्टिगोचर न हुई। परमात्माको तो अनेक रूप होकर बैठना था, अतएव अपने अनेक अंशोंसे वे सारी सृष्टिमें प्रवेश कर गये और सारी सृष्टि चेतन बन गयी। इसका नाम है सृष्टि और यह **'ईशेन'** अर्थात् प्रभुके द्वारा निर्मिता अर्थात् रची गयी है।

इस सृष्टिमें भौतिक सृजन त्रिगुणात्मिका प्रकृतिका है और ये तीनों गुण जबतक विषमावस्थामें रहते हैं, तभीतक सृष्टि रहती है। अतएव भौतिक पदार्थोंमें विषमता रहने, अर्थात् वृद्धि-ह्रास होते रहनेको शास्त्रोंने षड्विकार रूपमें वर्णन किया है। परंतु हम स्थूल दृष्टिसे भौतिक सृष्टिको तीन विकारवाली समझें तो काम चले। वे विकार हैं—उत्पत्ति, स्थिति और लय—अर्थात् जन्म, जीवन और मरण। ईश्वरकी सृष्टिमें कोई घट-बढ़ नहीं होती, केवल विकार अर्थात् रूपान्तर हुआ करता है। एक क्षण भी ऐसा नहीं जाता, जिसमें असंख्य शरीर उत्पन्न न होते हों, तथा असंख्य शरीर नाशको प्राप्त न होते हों। शरीर उत्पन्न होनेसे ईश्वरकी सृष्टिमें कोई वृद्धि नहीं होती तथा नाश होनेसे उसमें कोई ह्रास नहीं होता। उसमें तो सारा जैसा है, वैसा ही रहता है। केवल विकार अर्थात् रूपान्तर उत्पत्ति और विनाशरूपमें दिखलायी देते हैं। इस बातको एक दृष्टान्तके द्वारा समझिये। समुद्रमें प्रतिक्षण असंख्य तरङ्ग उत्पन्न होते हैं और नाशको प्राप्त होते हैं। अतः जैसे यहाँ उत्पत्ति और विनाश प्रत्यक्ष दिखलायी देते हैं, परंतु वस्तुतः कुछ उत्पन्न नहीं होता और न विनाशको प्राप्त होता है। केवल जलके विकार उत्पत्ति-विनाशरूपमें दिखायी पड़ते हैं और जल जैसे-का-तैसा रहता है, तरङ्गोंकी उत्पत्तिके समय न वह बढ़ता है और न तरङ्गोंके नाशके समय घटता है।

(शेष आगे)

सत्सङ्गका प्रसाद

(लेखक—पं० श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र 'माधव' एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

कुछ दिनों पहले एक पूज्यचरण प्रज्ञाचक्षु महात्माके सत्सङ्गका सौभाग्य पटनानिवासियोंको प्राप्त हुआ था। उसमें पूज्य स्वामीजीके प्रवचनसे कुछ अनमोल बोल यथाश्रुत, यथागृहीत लिखे जा रहे हैं—

'मानव-जीवनका निर्माण प्रभुकी अहैतुकी कृपासे हुआ है। यह किसी कर्मका फल नहीं है। खोजकी सामर्थ्य मानवमें ही है, सुने हुए पर अपनेको निछावर करनेकी शक्ति भी मानवको ही मिली है। जीवनका मौलिक प्रश्न है—व्यक्तिगत जीवनमें असफलता और सामाजिक जीवनमें संघर्ष क्यों है? उत्तर है—मिले हुएके दुरुपयोगसे। दुःख तो सबके जीवनमें है परंतु दुःखका प्रभाव नहीं है। सुखके चले जानेपर भी सुखके लिये जो प्रलोभन है यही मुख्य समस्या है। जो हम मानते हैं, जानते हैं और करते हैं उससे व्यक्तिगत जीवनकी असफलता और सामाजिक जीवनका संघर्ष मिटा? उत्तर है, नहीं मिटा। हम जो कुछ करते हैं, मानते हैं, जानते हैं, उसपर कभी विचार नहीं करते। मानवका काम है अपनी ओर देखकर अपनी बात मानना। मानव-जीवनका महत्त्व है प्राप्त परिस्थितिके सदुपयोगसे। इस सदुपयोगसे आत्मरति प्रभु-प्रेममें और प्रभुप्रेम विश्वप्रेममें अपने-आप रूपान्तरित होता जायगा। विपत्तिमें अपनी ओर देखो, प्रकाश मिलेगा। हमारा मूल्य परिस्थितिके अधीन नहीं है, परिस्थिति हमारे अधीन है।

जो कुछ मिला है, वह 'उसका' है। जो सामने है, वही परमात्मा है। मिले हुए-से सामनेवालेकी सेवा ही प्रभु-सेवा है। प्रभुको अपना मान लो, जो मिला है उसे परमात्माका मान लो। जगत्‌के स्वरूपमें, अपनी सामर्थ्यके द्वारा, अपने द्वारा उनकी पूजा करो। जगत्‌की सेवा ऐसे ही है जैसे पतिके नाते सासकी सेवा। अर्थात् परमात्माके नाते विश्वकी सेवा और सेवाके में प्रियतमकी अगाध मधुमय नित नव स्मृति। मेरे जो कुछ है सारे विश्वका है—यही भावात्मक सेवा है।

× × ×

न्याय अपनेपर, प्रेम सबके प्रति। किसी भी सभी अपने हैं। आत्माके नाते, परमात्माके जगत्‌के नाते सभी अपने हैं। किसीके साथ भी ऐसी बात नहीं करेंगे जो हानिकर हो जाय। धर्मसे बुराई न करनेकी प्रेरणा मिलती है; क्योंकि सभी अपने हैं। विचारोंमें भेद होनेपर भी प्रीतिकी एकता अनिवार्य है। जो हमें जानता है, जिसे हम नहीं जानते, वही परमात्मा है। उनका भी उतना ही है जो उसे नहीं मानते हम सबका ज्ञाता, आश्रय, प्रकाशक वही है। प्रेमकी प्रेरणा दी। अपने पास जो कुछ है— का है। वे अपने हैं। जीवनमें प्रेम न होनेपर ही या शासनकी आवश्यकता होती है। मिले हुएको कर देना ही धर्म है। नीति धर्मकी रक्षक है। नीतिका उत्पादक है। न्याय राजा है, प्रेम साधु है अपनेपर अपना शासन, अपनेपर अपना न्याय— मानव-जीवनका मङ्गलोदय है। भूतकालके त्यागकर वर्तमानकी निर्दोषतामें स्थित होना सच्ची साधना है। व्यक्तिगत विचारोंकी भिन्नता होते भी प्रीतिकी एकता रहे—यही सच्चा मानव-जीवन है दूसरोंके अधिकारकी रक्षा और अपने त्याग—यही मानव-जीवन है और इसीके अंदरसे सच्चा योग, सच्चा ज्ञान, सच्चा प्रेम आता है।

× × ×

सभीको अपनी ओर देखना है। धर्म जब अवतरित हो जाता है तो जीवन प्रभु-प्रेमसे

जाता है। धर्मात्माकी आवश्यकता जगत्‌को सदैव रहती है। धर्मात्माको जगत्‌का चिन्तन नहीं होता। धर्मका अर्थ ही है—भयरहित शान्ति। धर्म रागरहित कर देता है। रागरहित भूमिमें योगरूपी वृक्ष उगता है, जिसमें तत्त्वज्ञानरूपी फल लगता है, जिसमें प्रेमरूपी रस रहता है। मानवमें ही धर्म अवतरित होता है, अतएव धर्मसे मानवका परम आत्मीय सम्बन्ध है। धर्म एक प्राकृतिक एवं दैवी विधान है। धर्म व्यक्तिकी खोज है, व्यक्तिके दिमागकी उपज नहीं। धर्मात्मा अनेक हुए, पर धर्म एक है।

× × ×

शिक्षाका स्रोत मानव-जीवन है। जीवनकी सारी उपयोगी बातें शिक्षाके अन्तर्गत हैं। जीवनका ज्ञान जीवनसे मिलता है, पुस्तकसे नहीं। जो मनका निरोध नहीं कर सकता, वह बच्चेकी सेवा नहीं कर सकता। अपनी सुन्दरतासे समाजको सुन्दर बनाना—यही शिक्षा है। शिक्षाका अर्थ है—अपना सुख देकर दूसरोंका हित करना। शिक्षाका अर्थ है—हमारे लिये कुछ नहीं चाहिये। दीक्षाका अर्थ है—जीवनकी एकमात्र माँग 'प्रेम' है। अतएव दीक्षाका अर्थ है सबके साथ हमारी एकता।

वेदमें अवतारवाद

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीगिरिधरजी शर्मा चतुर्वेदी)

वेदमें अवतारवाद है या नहीं। इसके लिये अवतारवादके प्रतिपादक कुछ मन्त्र यहाँ लिखे जाते हैं—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजाय
मानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरा-
स्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥

इसका अर्थ है कि प्रजाओंका पति भगवान् गर्भके भीतर भी विचरता है। वह तो स्वयं जन्मरहित है किंतु अनेक प्रकारसे जन्म ग्रहण करता रहता है। विद्वान् पुरुष ही उसके उद्भव-स्थानको देखते एवं समझते हैं। जिस समय वह आविर्भूत होता है तब सम्पूर्ण भुवन उसीके आधारपर अवस्थित रहते हैं। अर्थात् वह सर्वश्रेष्ठ नेता बनकर लोकोंको चलाता रहता है। इस मन्त्रके प्रकृत अर्थमें अवतारवाद अत्यन्त स्फुट है। अब यद्यपि कोई विद्वान् इसका अन्य अर्थ करें तो प्रश्न यही होगा कि उनका किया हुआ अर्थ ही क्यों प्रमाण माना जाय? मन्त्रके अक्षरोंसे स्पष्ट निकलता हुआ हमारा अर्थ ही क्यों न प्रमाण माना जाय? वस्तुतः बात यह है कि वेद सर्वविज्ञाननिधि है। वह थोड़े अक्षरोंमें संकेतसे कई अर्थोंको प्रकाशित कर देता है और उसके संकेतित सब ही अर्थ शिष्ट सम्प्रदायमें प्रमाणभूत माने जाते हैं। इसलिये बिना किसी खींच-तान और लाग-लपेटके जब इस मन्त्रसे अवतारवाद बिल्कुल विस्पष्ट हो जाता है, तब इस अर्थको अप्रमाणित करनेका कोई कारण नहीं प्रतीत होता। यदि कोई वैज्ञानिक अर्थ भी इस मन्त्रसे प्रकाशित होता है तो वह भी मान लिया जाय। किंतु अवतारवादका अर्थ न माननेका कोई कारण नहीं। अन्य भी मन्त्र देखिये।

'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत कुमारी।'
(अथर्ववेद का० १०।४।८)

यहाँ परमात्माकी स्तुति है कि आप स्त्रीरूप भी हैं, पुरुषरूप भी हैं। कुमार और कुमारीरूप भी आप होते हैं।

अब विचारनेकी बात है कि परमात्मा अपने व्यापक स्वरूपमें तो स्त्री, पुरुष, कुमार, कुमारी कुछ भी नहीं है। ये रूप जो मन्त्रमें वर्णन किये गये हैं, अवतारों-

के ही रूप हो सकते हैं। पुरुषरूपमें राम, कृष्ण आदि अवतार प्रसिद्ध ही हैं। स्त्रीरूप महिषमर्दिनी आदि अवतारोंका विस्तृत वर्णन दुर्गासप्तशतीमें प्रसिद्ध है। वहाँके अवतार सब स्त्रीरूप ही हैं। व्यापक, निराकार परमात्मा पुरुषरूपमें वा स्त्रीरूपमें इच्छानुसार कहीं भी प्रकट हो सकता है। कुमारीरूपमें अवतार भी वहाँ वर्णित है। और कुमाररूपमें वामनावतार प्रसिद्ध ही है, जिसकी विस्तारसे कथा शतपथ ब्राह्मणमें प्राप्त होती है। शिष्ट-सम्प्रदायमें मन्त्र और ब्राह्मण दोनों ही वेद माने जाते हैं, इसलिये शतपथमें प्रसिद्ध कथाको भी वेदका ही भाग कहना शिष्ट-सम्प्रदायद्वारा अनुमोदित है और कथाका संकेत मन्त्रमें भी मिलता है।

'इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदं समूढमस्य पा॑ꣳसुरे।'

अर्थात् इन दृश्यमान लोकोंको विष्णुने विक्रमण किया—इनपर अपने चरण रक्खे। अर्थात् अपने चरणोंसे सब लोकोंको नाप डाला। सब लोग इनकी पाद-धूलिमें अन्तर्गत हो गये। यह स्पष्ट वामन अवतारकी कथा है। यहाँ भी अर्थका विभाग उपस्थित होनेपर यही उत्तर होगा कि मन्त्रके अक्षरोंसे स्पष्ट प्रतीत होता हुआ हमारा अर्थ क्यों न माना जाय। जो कथा ब्राह्मण और पुराणोंमें प्रसिद्ध है, उसके अनुकूल मन्त्रका अर्थ न मानकर मनमाना अर्थ करना एक बलात् कार्य होगा। जो सम्प्रदाय ब्राह्मणभागको वेद नहीं मानते, वे भी यह तो मानते ही हैं कि मन्त्रोंके अर्थ ही भगवान्ने ऋषियों की बुद्धिमें प्रकाशित किये। वे ही अर्थ ऋषियोंने लिखे, वे ही ब्राह्मण हैं और पुराण आदि भी वेदार्थोंके निरूपण ही हैं, यह उनमें ही वर्णन किया गया है। इसी प्रकार मत्स्यावतारकी कथा और वराह अवतारकी कथा भी शतपथ आदि ब्राह्मणोंमें स्पष्ट मिलती है। जो वैज्ञानिक अवतार हैं, जिनका सृष्टिमें विशेषरूपसे उपयोग है, उनकी कथा ब्राह्मणोंमें सृष्टि-प्रक्रिया बतानेके लिये स्पष्ट रूपसे दी गयी है। उनके वैज्ञानिक अर्थोंको प्रकाशित करनेका यहाँ स्थान नहीं है। सम्पूर्ण सृष्टिका विवरण करना गीताके व्याख्यानोंमें सर्वथा अप्रस्तुत होगा।

महाभारतके टीकाकार श्रीनीलकण्ठने 'मन्त्र-भागवत' और 'मन्त्र-रामायण' नामके दो छोटे निबन्ध भी लिखे हैं। उनमें राम और कृष्णकी प्रत्येक लीलाओंके प्रतिपादक मन्त्र उद्धृत किये हैं, उन मन्त्रोंसे राम और कृष्णके प्रत्येक चरित प्रकाशित होते हैं। और वेदके रहस्यको प्रकाशित करनेमें ही जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत किया, उन वेदके असाधारण विद्वान् विद्यावाचस्पति श्रीमधुसूदनजी ओझाने भी गीता-विज्ञान-भाष्यके आचार्य-काण्डमें उन मन्त्रोंको दुहराया है। इसलिये ये मन्त्र उन लीलाओंपर नहीं घटते, ऐसा कहनेका साहस कोई नहीं कर सकता। इससे वेदोंमें अवतारवाद होना भी स्पष्ट हो जाता है।* × × ×

---

* भारतके प्रसिद्ध विद्वान् महामहोपाध्याय पं० श्रीगिरिधरजी शर्मा चतुर्वेदीने गत सात वर्षोंतक प्रति रविवारको गीता का प्रवचन करके अठारह अध्याय समाप्त किये। उसी 'गीताप्रवचन' में की हुई पहले छः अध्यायोंकी विद्वत्तापूर्ण नवीन विचारोंसे युक्त व्याख्या 'गीताप्रवचन-व्याख्यानमाला'के नामसे काशी-हिंदू-विश्वविद्यालय नेपालराज्य संस्कृत-ग्रन्थमालाके चतुर्थ भागके रूपमें विश्वविद्यालयके द्वारा प्रकाशित हुई है, उसीका एक क्षुद्र-सा अंश ऊपर दिया गया है। पुस्तक बड़ी ही उपयोगी है तथा संग्रह एवं ध्यानपूर्वक अध्ययन करनेके योग्य है। पुस्तक बड़े साइजके ६३१ पृष्ठोंमें अच्छे कागजोंपर बड़ी सुन्दर छपी है। 'कल्याण'के गीता-प्रेमी पाठकोंको इससे लाभ उठाना चाहिये।

आत्मोद्धारकी प्रधान-प्रधान दो-दो बातें

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

ज्ञान, भक्ति आदि साधनोंके अनुसार यहाँ ऐसी प्रधान-प्रधान दो-दो बातें बतलायी जाती हैं, जिनको धारण करनेपर मनुष्यका निश्चय ही कल्याण हो सकता है।

(१) आत्मोद्धारके लिये भगवान्ने गीतामें दो ही निष्ठा बतलायी है—ज्ञाननिष्ठा (अद्वैतवाद) और योगनिष्ठा (द्वैतवाद—भक्तियोग और कर्मयोग)।

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥
(गीता ३ । ३)

'हे निष्पाप अर्जुन! इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा मेरे द्वारा पहले कही गयी है। उनमेंसे सांख्ययोगियोंकी निष्ठा तो ज्ञानयोगसे और योगियोंकी निष्ठा कर्मयोगसे होती है।'

भगवान्ने इसके पूर्व दूसरे अध्यायमें श्लोक ११ से ३० तक ज्ञाननिष्ठाका एवं श्लोक ४० से ७२ तक योगनिष्ठाका वर्णन किया है; जिसमेंसे श्लोक ४७ से ५१ तक तो प्रधानतासे कर्मयोगका विवेचन है और श्लोक ६१ में भक्तियोगका उल्लेख है।

ये दोनों ही निष्ठाएँ कल्याण करनेवाली हैं।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
(गीता ५ । ४)

'उपर्युक्त सांख्य और कर्मयोगको मूर्खलोग पृथक्-पृथक् फल देनेवाले कहते हैं न कि पण्डितजन, क्योंकि दोनोंमेंसे एकमें भी सम्यक् प्रकारसे स्थित पुरुष दोनोंके फलरूप परमात्माको प्राप्त कर लेता है।'

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥
(५ । ५)

'ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परमपद प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है; इसलिये जो पुरुष ज्ञानयोग और कर्मयोगको फलरूपमें एक देखता है वही यथार्थ देखता है।'

इसलिये मनुष्यको अपनी रुचि और योग्यताके अनुकूल इन दोनोंमेंसे किसीका भी तत्परतासे अनुष्ठान करना चाहिये।

(२) सांख्य (ज्ञान) की दृष्टिसे आत्मा और अनात्मा—इन दोनोंका यथार्थ तत्त्व समझना चाहिये। इस विषयमें एक श्लोक है—

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः॥

'जो करोड़ों ग्रन्थोंमें कहा गया है उसीको मैं इस आधे श्लोकसे बतलाता हूँ कि जीव ब्रह्म ही है, भिन्न नहीं। ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है।'

अतः अद्वैतमार्गके साधकोंको नित्य-निरन्तर एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके भावका और दृश्यरूप संसारको स्वप्नवत्, मायामात्र, कल्पित, अनित्य और असत् समझते हुए उसके अभावका अनुभव करना चाहिये। गीतामें भगवान्ने कहा है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥
(२ । १६)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।'

तात्पर्य यह कि सत्य वस्तु जो परमात्मा है उसका तो कभी अभाव नहीं होता और जो अनित्य देहादि दृश्य पदार्थ हैं वे कभी कायम नहीं रहते ।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥
(गीता २ । १८)

'इस नाशरहित, अप्रमेय, नित्यस्वरूप जीवात्माके ये सब शरीर नाशवान् कहे गये हैं । इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन ! तू युद्ध कर ।'

अतः ज्ञानयोगके साधकोंको इस प्रकार आत्मा और अनात्माके तत्त्वको भलीभाँति समझ लेना परम आवश्यक है ।

(३) सगुण भगवान्‌के दो स्वरूप हैं—निराकार और साकार । इन दोनों स्वरूपोंकी उपासना भेद-भावसे होती है । निराकारकी उपासनाका प्रकरण गीता ८ । ९, १०, २२; ९ । ४, ५, ६; १० । २०; १५ । १५, १७ आदिमें मिलता है । साकार उपासनाका प्रकरण गीता ४ । ६—११; ९ । २६; १० । १२, १५; ११ । ७, १७, ३६–४६; १८ । ७७ आदिमें मिलता है । इनके सिवा, गीतामें बहुत-से श्लोक ऐसे भी हैं जिनके अनुसार साधक अपनी इच्छाके अनुकूल सगुण-साकारकी या सगुण-निराकारकी भी उपासना कर सकता है, जैसे—६ । ४७; ७ । १४, १६; ८ । ५, ७; ९ । २२; १० । ९-१०; ११ । ५४-५५; १२ । २, ६-७-८; १८ । ६५-६६ आदि ।

भक्तिके साधकोंको अपनी इच्छाके अनुसार भगवान्‌के किसी भी स्वरूपकी श्रद्धा-प्रेमपूर्वक उपासना अवश्य करनी चाहिये ।

(४) भक्तिके साधकोंके लिये ये दो साधन सार है—भगवान्‌में परम अनुराग, विशुद्ध अनन्य प्रेम और संसारसे तीव्र वैराग्य । गीतामें भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥
(१५ । ३-४)

'इस अहंता, ममता और वासनारूप अति दृढ़ मूलोंवाले संसाररूप पीपलके वृक्षको दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा काटकर उसके पश्चात् उस परमपदरूप परमेश्वरको भलीभाँति खोजना चाहिये, जिसमें गये हुए मनुष्य फिर लौटकर संसारमें नहीं आते और जिस परमेश्वरसे इस पुरातन संसारवृक्षकी प्रवृत्ति विस्तारको प्राप्त हुई है । उसी आदिपुरुष नारायणके मैं शरण हूँ—इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके उस परमेश्वरका मनन और निदिध्यासन करना चाहिये ।'

यहाँ तीसरे श्लोकके उत्तरार्धमें वैराग्यका और चौथे श्लोकमें शरणागतिरूप भक्ति (प्रेम) का प्रतिपादन किया गया है ।

श्रीमद्भागवत-माहात्म्यमें गोकर्णजीने अपने पिताजीके प्रति कहा है—

देहेऽस्थिमांसरुधिरेऽभिमतिं त्यज त्वं
जायासुतादिषु सदा ममतां विमुञ्च ।
पश्यानिशं जगदिदं क्षणभङ्गनिष्ठं
वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठः ॥
(४ । ७९)

'पिताजी ! यह शरीर हड्डी, मांस और रुधिरका पिण्ड है । इसे आप 'मैं' मानना छोड़ दें और स्त्री-पुत्रादिको 'अपना' कभी न मानें । इस संसारको रात-दिन क्षणभङ्गुर देखें, इसकी किसी भी वस्तुको स्थायी समझकर उसमें राग

न करें। बस, एकमात्र वैराग्यरसके रसिक होकर भगवान्‌की भक्तिमें लगे रहें।'

श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

रमा बिलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥
(रा० च० मा० अयो० ३२३ । ४)

भगवान्‌की निष्काम विशुद्ध भक्ति शीघ्र ही कल्याण करनेवाली है। उसके समान यज्ञ, दान, तप आदि कुछ भी नहीं है।

भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
(गीता ११ । ५३-५४)

'जिस प्रकार तुमने मुझको देखा है, इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं न वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे ही देखा जा सकता हूँ। परंतु हे परंतप अर्जुन! अनन्य-भक्तिके द्वारा इस प्रकार रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखा जा सकता हूँ, तत्त्वसे जाना जा सकता हूँ और प्रवेश अर्थात् एकीभावसे प्राप्त भी किया जा सकता हूँ।'

आगे अनन्य-भक्तिका स्वरूप बतलानेके लिये अनन्यभक्तोंके लक्षणोंका वर्णन करते हैं—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥
(गीता ११ । ५५)

'हे अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें वैरभावसे रहित है—वह अनन्यभक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है।'

यहाँ भी '**सङ्गवर्जितः**' कहकर वैराग्यके लिये और 'मत्परमः' 'मद्भक्तः' कहकर अनन्य-भक्तिके लिये स्पष्ट संकेत है।

(५) भगवान्‌के विरहमें व्याकुल होकर भगवान्‌के लिये ही चिन्तित रहे, संसारके लिये नहीं। किसी कविने कहा है—

केशव केशव कूकिये ना कूकिये असार।
रात दिवस के कूकते कबहुँ तो सुनै पुकार॥

जिस प्रकार 'हाय धन! हाय धन!' करना धनकी तीव्र इच्छाका द्योतक है, वैसे ही भगवान्‌के विरहमें व्याकुल होकर 'केशव! केशव!' कूकना ही भगवद्दर्शनकी तीव्र इच्छाका द्योतक है। अभिप्राय यह कि एकमात्र भगवान्‌से मिलनेकी ही तीव्र इच्छा करे, सांसारिक पदार्थोंकी कभी किंचिन्मात्र भी इच्छा न करे। यह भगवान्‌से मिलनेकी तीव्र इच्छा भगवान्‌से मिलानेवाली है; क्योंकि जिस प्रकार भक्त भगवान्‌को भजते हैं, वैसे ही भगवान् भी उनको भजते हैं। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
(गीता ४ । ११ का पूर्वार्ध)

'जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।'

किंतु धन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य, आरोग्य आदिकी तीव्र इच्छा करनेपर भी वे धनादि पदार्थ मनुष्यको इच्छानुसार नहीं मिलते। सभी लोग आरोग्य चाहते हैं, किंतु इच्छा करनेमात्रसे आरोग्य नहीं प्राप्त होता। दुःखको कोई नहीं चाहता, सुख सभी चाहते हैं पर इच्छा करनेमात्रसे ही सुख नहीं मिलता, न दुःख ही निवृत्त होता है। इसका कारण यही है कि मनुष्य ही धनादि पदार्थोंकी चाह करता है, धनादि पदार्थ उसे नहीं चाहते। महाभारतमें महाराज युधिष्ठिरके प्रति भीष्मजीके वचन हैं—

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः॥
(भीष्म० ४३ । ४१)

'महाराज ! पुरुष अर्थका दास है किंतु अर्थ किसीका दास नहीं है। यह सच्ची बात है। मैं कौरवोंके द्वारा अर्थसे बँधा हुआ हूँ।'

इस कथनसे यही तात्पर्य निकलता है कि धनादि पदार्थ किसीके दास नहीं हैं—वे किसीको नहीं चाहते। इसलिये मनुष्यको भगवान्‌से मिलनेकी ही तीव्र इच्छा करना उचित है, अन्य किसीकी नहीं।

(६) संत-समागम और हरिभक्ति—ये दो साधन बहुत महत्त्वके हैं।

किसी कविने कहा है—

सुत दारा अरु लच्छमी पापीके भी होय।
संत-समागम हरि-भगति दुर्लभ जगमें दोय॥

भगवान् श्रीकृष्ण तो भक्त उद्धवसे कहते हैं—

प्रायेण भक्तियोगेन सत्सङ्गेन विनोद्धव।
नोपायो विद्यते सध्र्यङ् प्रायणं हि सतामहम्॥
(श्रीमद्भा० ११ । ११ । ४८)

'प्यारे उद्धव ! मेरा ऐसा निश्चय है कि सत्सङ्ग और भक्तियोग—इन दो साधनोंका एक साथ ही अनुष्ठान करते रहना चाहिये। प्रायः इन दोनोंके अतिरिक्त संसारसागरसे पार होनेका और कोई सुगम उपाय नहीं है; क्योंकि संत पुरुष मुझे अपना आश्रय मानते हैं और मैं सदा-सर्वदा उनके पास बना रहता हूँ।'

गीतामें भगवान्‌ने अर्जुनसे अपनी भक्ति करनेवाले भक्तको सबसे बढ़कर बतलाया है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥
(६ । ४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे श्रेष्ठ मान्य है।'

श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं—

भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रा
(रा० च० मा० उत्तर० ४५ ।

सत् नाम परमात्माका है, उनमें प्रीति होना उनका सङ्ग है। वह परमात्माकी प्रीति सत्संगसे प्राप्त होती है।

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥
(रा० च० मा० उत्तर० ६१

सत्संगके बिना हरिकथा नहीं मिलती, हरिकथाके बिना मोह दूर नहीं होता और मोह दूर हुए बिना भगवान् श्रीरामके चरणोंमें दृढ़ प्रेम नहीं होता।

उदाहरणके लिये भगवान्‌की भक्तिको ही वृक्ष समझना चाहिये। सत्संग करना ही उस वृक्षमें जल सींचना है, उससे भगवान्‌का प्रेम प्राप्त होना है वृक्षका हरा-भरा होना है और भगवान्‌की प्राप्ति है उसका फल है।

(७) मनुष्य दो बातोंको कभी न भूले—१ भगवान्‌को, २ मृत्युको। श्रीनारायणस्वामीने कहा है—

दो बातन को भूल मत जो चाहे कल्यान।
नारायण इक मौत को दूजे श्रीभगवान॥

मृत्युको हर समय अपने निकट देखनेसे मनुष्यसे पाप नहीं बन पाता; क्योंकि शरीर और संसारसे वैराग्य हो जाता है। एवं भगवान्‌का हर समय स्मरण रखनेसे पापोंका नाश होकर भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। जो सदा-सर्वदा भगवान्‌का स्मरण करता है उसे अन्तकालमें भगवान् अवश्य ही स्मरण हो जाते हैं; क्योंकि मनुष्य जैसा सदा-सर्वदा अभ्यास करता है उसका अन्तकालमें वैसा ही अभ्यास स्वाभाविक ही होता है। भगवान कहते हैं—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥
(गीता ८ । ६)

'हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावको स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह सदा उसी भावसे भावित रहा है ।'

अतएव मनुष्यको हर समय ही भगवान्‌का स्मरण रखना चाहिये । अर्जुनसे भी भगवान्‌ने यही कहा है—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥
(गीता ८ । ७)

'इसलिये हे अर्जुन ! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर । इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा ।'

(८) आत्मकल्याणके लिये चित्तवृत्तियोंका निरोध और मनको वशमें करना प्रधान बताया गया है । मनको वशमें किये बिना परमात्माकी प्राप्तिरूप योगकी सिद्धि सम्भव नहीं । भगवान् कहते हैं—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥
(गीता ६ । ३६)

'जिसका मन वशमें किया हुआ नहीं है ऐसे पुरुषद्वारा योग दुष्प्राप्य है और वशमें किये हुए मनवाले प्रयत्नशील पुरुषद्वारा साधनसे उसका प्राप्त होना सहज है—ऐसा मेरा मत है ।'

मनके निरोध और वशमें करनेके दो ही उपाय प्रधान हैं—अभ्यास और वैराग्य ।

महर्षि पतञ्जलिजी कहते हैं—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः । (योगदर्शन १ । १२)

'उन चित्तवृत्तियोंका निरोध अभ्यास और वैराग्यसे होता है ।'

मनको वशमें करनेके ये ही दो उपाय भगवान्‌ने गीतामें भी बतलाये हैं—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥
(६ । ३५)

'हे महाबाहो ! निस्संदेह मन चञ्चल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है, परंतु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! यह अभ्यास और वैराग्यसे वशमें होता है ।'

श्रीपतञ्जलिजीने अभ्यासका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः । (योगदर्शन १ । १३)

'उन दोनोंमेंसे, चित्तकी स्थिरताके लिये जो प्रयत्न करना है वह अभ्यास है ।'

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ।
(योगदर्शन १ । १४)

'परंतु वह अभ्यास बहुत कालतक निरन्तर (लगातार) और आदरपूर्वक साङ्गोपाङ्ग किया जानेपर दृढ अवस्थावाला होता है ।'

गीतामें अभ्यासका रूप भगवान्‌ने यों बताया है—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥
(गीता ६ । २६)

'यह स्थिर न रहनेवाला और चञ्चल मन जिस-जिस शब्दादि विषयके निमित्तसे संसारमें विचरता है, उस-उस विषयसे रोककर यानी हटाकर इसे बार-बार परमात्मामें ही लगावे ।'

श्रीपतञ्जलिजीने वैराग्यका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ।
(योगदर्शन १ । १५)

'देखे और सुने हुए विषयोंमें सर्वथा तृष्णारहित चित्तकी जो वशीकार नामक अवस्था है वह वैराग्य है ।'

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् । (योगदर्शन १ । १६)

'पुरुषके ज्ञानसे जो प्रकृतिके गुणोंमें तृष्णाका सर्वथा अभाव हो जाना है—वह 'पर वैराग्य' है ।'

गीतामें वैराग्यका रूप यों बताया गया है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥
(५ । २२)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं । इसलिये हे अर्जुन ! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता ।'

तथा—

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ।
(गीता १३ । ८ का उत्तरार्ध)

'जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख और दोषोंका बार-बार विचार करना—'वैराग्य' है ।'

इस प्रकार अभ्यास और वैराग्य करनेसे मन वश होकर परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है ।

(९) सद्गुण और सदाचारका सेवन एवं दुर्गुण और दुराचारका त्याग आत्मकल्याणमें परम आवश्यक है ।

भगवान् प्रेरणा करते हैं—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
(गीता ६ । ५ का पूर्वार्ध)

'अपनेद्वारा अपना संसार-समुद्रसे उद्धार करे और अपनेको अधोगतिमें न डाले ।'

सद्गुण-सदाचारका सेवन करना और दुर्गुण-दुराचारका त्याग करना ही अपनेद्वारा अपना उद्धार करना है, किंतु इसके विपरीत करना अपनेद्वारा अपना पतन करना है ।

सद्गुण-सदाचारोंके समूहका नाम दैवीसम्पदा है दुर्गुण-दुराचारोंके समूहका नाम आसुरी सम्पदा है भगवान्ने अर्जुनसे कहा है—

दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव।
(गीता १६ ।

'दैवी सम्पदा मुक्तिके लिये और आसुरी बाँधनेके लिये मानी गयी हैं । इसलिये हे तू शोक मत कर; क्योंकि तू दैवी सम्पदाको उत्पन्न हुआ है ।'

दैवी सम्पदा गीतामें यों बतलायी गयी है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत।
(१६ । १-

'भयका सर्वथा अभाव, अन्तःकरणकी पूर्ण निर्म तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति सात्त्विक दान, इन्द्रियोंका दमन, भगवान्, देवता गुरुजनोंकी पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम आचरण एवं वेद-शास्त्रोंका पठन-पाठन तथा नाम और गुणोंका कीर्तन, स्वधर्मपालनके लिये सहन और शरीर तथा इन्द्रियोंके सहित अन्तः सरलता, मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार किसीको कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय भाषण, अपकार करनेवालेपर भी क्रोधका न होना, कर्तापनके अभिमानका त्याग, अन्तःकरणकी अर्थात् चित्तकी चञ्चलताका अभाव, किसीकी निन्दादि न करना, सब भूतप्राणियोंमें हेतुरहित इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी आसक्तिका न होना, कोमलता, लोक और

विरुद्ध आचरणमें लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, बाहरकी शुद्धि एवं किसीमें भी शत्रुभावका न होना और अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव—ये सब तो हे अर्जुन ! दैवीसम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं ।'

इसके विपरीत आसुरी सम्पदा है—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥
(गीता १६ । ४)

'हे पार्थ ! दम्भ, घमंड और अभिमान तथा क्रोध, कठोरता और अज्ञान भी—ये सब आसुरीसम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं ।'

इस आसुरी सम्पदाका विस्तार गीताके सोलहवें अध्यायमें श्लोक ७ से २१ तक किया गया है, जिनपर विस्तृत विवेचन 'गीतातत्त्वविवेचनी' टीकामें देख लेना चाहिये ।

उपर्युक्त आसुरी सम्पदाका परित्याग करके दैवी सम्पदाको ग्रहण कर लेनेपर ही मनुष्यका कल्याण सम्भव है ।

(१०) दूसरोंका हित करना ही परम धर्म है और दूसरोंका अनिष्ट करना ही परम पाप है । प्रसिद्ध है—

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् ।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥

'अठारह पुराणोंमें श्रीवेदव्यासजीके दो सार वचन हैं कि दूसरोंका उपकार करना धर्मके लिये प्रधान है और दूसरोंको पीड़ा देना पापके लिये प्रधान है ।'

श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई । पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ॥
(रा० च० मा० उत्तर० ४० । १)

इसलिये मनुष्यको उचित है कि मन, वाणी, शरीरके द्वारा सबका लौकिक और पारलौकिक हित ही करे, किंतु अनिष्ट तो कभी किसीका किंचिन्मात्र भी किसी भी निमित्तको लेकर कभी न करे । अभिप्राय यह कि न किसीको बुरा समझे, न किसीका बुरा चाहे, न किसीका बुरा करे और न किसीके दोषोंको देखे ।

उपर्युक्त सभी बातें मनुष्यका परम कल्याण करनेवाली हैं । इसलिये मनुष्यको इनको भलीभाँति समझकर काममें लानेकी चेष्टा करनी चाहिये ।

अब मैं केवल जोग तुम्हारे

(१)

अब मैं केवल जोग तुम्हारे !
सैन हँसकर बोला, 'बावरा जो तुझ पर तन वारे !'
अंदर पैठा; बैठ गया मन लाज हयाके मारे ।
साधन करते सब दिन बीते; जीते जो सो हारे ।
जैसा हूँ वैसा ही मुझको ऐसा कौन दुलारे ।
अब मैं केवल जोग तुम्हारे !

(२)

तुमने मेरी लाज बचा ली !
जड़ हठ में मैं माँग पड़ा था तुमसे भेंट निराली ।
गड़ पथ में ही जाता, आता हाय लिये जो खाली ।
रख मन मेरा तुमने रख ली मेरे मुखकी लाली ।
कौन बिगाड़े उसकी जिसकी तुम करते रखवाली ।
तुमने मेरी लाज बचा ली !

—हरिवंशराय 'बच्चन'

मधुर

एक समयकी बात है। श्रीराधाजीका प्रियतम श्रीकृष्णसे लीलारसवृद्धिके भावसे कई दिनोंतक मिलन नहीं हुआ। श्यामसुन्दर मिलनेके लिये आतुर थे और श्रीराधा जहाँ जातीं, वहीं पीछे-पीछे जाकर पहुँच जाते। तदनन्तर एक दिन प्रिय श्रीकृष्णको अत्यन्त विकल देखकर राधाजीने मिलनेका सुअवसर दिया। बड़ी पवित्र मधुर प्रेमचर्चा होने लगी। श्रीश्यामसुन्दर श्रीराधाके पवित्र प्रेमसुधा-समुद्रमें निमग्न थे। उनकी यह स्थिति देखकर श्रीराधाजीने श्रीश्यामसुन्दरके सुन्दर दिव्य स्वभावकी प्रशंसा करते हुए विनोदकी भाषामें उनकी महत्ता तथा अपना दैन्य प्रकट करते हुए कहा—

प्रेमाधीन शिरोमणि हो तुम
प्रेमीके कर बिक जाते।
प्रेम विशुद्ध देख भगवत्ता-
को भी सहज बिसर जाते॥
तुम रस हो, रसमूल, रसिक
तुम परम रसोंके हो ज्ञाता।
देख दिव्य रस, तुम्हें सहज ही
निज रस-रूप भूल जाता॥
परम गुणाकर हो, गुणज्ञ तुम,
तुम सद्गुण वितरण करते।
देख दिव्य सद्गुण, अपनेको
उसपर न्योछावर करते॥
जो सब छोड़ परम श्रद्धासे
तुम्हें लक्ष्यकर चल पड़ता।
तुरत सामने आ जाते तुम,
नहीं उसे चलना पड़ता॥

प्यारे श्यामसुन्दर! प्रेमके महत्त्वको जाननेवाले जितने भी प्रेमाधीनता स्वीकार करनेवाले महानुभाव हैं, तुम उन सबमें शिरोमणि हो। तुम तो जहाँ जरा भी विशुद्ध प्रेम देखते हो, वहीं अपनी सारी भगवत्ताको भूलकर उसके अधीन हो जाते हो। तुम ही यथार्थमें 'रस' हो, तुम ही रसके मूल स्रोत हो—सारा संसार तुम्हींसे रस प्राप्त करता है, तुम ही परम रसिक हो और रसोंके तत्त्वको जाननेवाले हो। पर तुम ऐसे रसिक हो कि जहाँ भी कहीं तुम्हें दिव्य रस दिखायी दिया कि तुम्हें अपनी 'रस'-रूपताकी विस्मृति हो जाती है और तुम उस रसके आस्वादनके लिये लालायित हो उठते हो। तुम ही समस्त श्रेष्ठ गुणोंकी खान हो, गुणके ज्ञाता हो और तुम्हीं सबको सदा सद्गुणोंका वितरण करते हो, पर जहाँ कहीं दिव्य गुण देखते हो, वहाँ अपनेको उसपर न्योछावर कर देते हो। प्रेम-रस और गुणोंके स्वरूप तथा मूल स्रोत एवं भण्डार होनेपर भी तुम जो ऐसा करते हो, यह भी तुम्हारी—प्रेमाधीनता, रसरूपता और गुणज्ञता का ही परिचय है। इसके अतिरिक्त, यदि कोई सब कुछ छोड़कर, तुम्हें लक्ष्य बनाकर परम श्रद्धाके साथ तुम्हारी ओर चलना आरम्भ कर देता है तो तुम ऐसे उदार हो कि तुरंत ही उसके सामने आकर खड़े हो जाते हो, उसे चलना ही नहीं पड़ता। जहाँ कुछ भी प्रेम-रस या गुण हो, वहाँ तुम्हारा ऐसा करना ठीक है, यह तुम्हारे हृदयकी विशालता और उदारता है; परंतु—

मैं तो नित्य प्रेम-कण-विरहित
हूँ सर्वथा शुष्क रसहीन।
सद्गुण एक नहीं है मुझमें
दोष पूर्ण हूँ, दुर्गुण-पीन॥
पीठ दिये ही हूँ मैं रहती,
सदा विमुख ही हूँ चलती।
इतनेपर भी कभी न मुझको
अपनी नीच दशा खलती॥

मैं तो सदा ही, प्रेमकी बात तो दूर, प्रेमके एक कणसे भी पूर्णरूपसे रहित हूँ। रसकी तो चर्चा ही क्या, मेरा हृदय तो सर्वथा सूखा और नीरस है। इसी प्रकार मुझमें एक भी सद्गुण नामको भी नहीं है, वरं मैं दोषोंसे भरी हूँ और दुर्गुणोंसे स्थूल हो रही हूँ। कभी तुम्हारे सम्मुख होती ही नहीं, सदा ही पीठ दिये रहती हूँ, यही नहीं, मैं तो सदा तुम्हारे विमुख ही चलती हूँ।—इतनेपर भी मेरी, इस नीच दशापर मुझे जरा भी दुःख नहीं होता।

फिर तुम क्यों रीझे हो मुझपर?
क्यों देते हो इतना प्यार?
क्यों पीछे-पीछे फिरते हो?
क्यों करते ममता-विस्तार?
जाना, तुम अति ही भोले हो,
या तुम हो अत्यन्त उदार!
निज स्वभाववश दोषीमें भी
देख रहे गुण नित्य अपार॥

फिर, पता नहीं, तुम किस बातको लेकर मुझपर रीझ रहे हो! क्यों इतना प्रेम दान कर रहे हो? क्यों सदा मेरे पीछे-पीछे फिरते हो और क्यों सब ओरसे मेरे प्रति इतनी ममता फैला रहे हो? मैं जान गयी, तुम एकदम भोले हो, अथवा तुम अत्यन्त उदार हो, बस, केवल उदार ही हो। इसी अपने स्वभावके वश होनेके कारण तुम दोषभरी मुझमें सदा अपार गुण ही देख रहे हो।

बिना हेतु नित देते रहते
हो तुम इतना प्रेम ममत्व।
यही जानकर मुझ अधमामें
जाग उठा है यह विषमत्व॥
कर आरोप उसीका तुमपर
देख रही तुममें वैषम्य।
पक्षपातवश करते मुझसे
प्रेम, न जो सुधियोंको क्षम्य॥
इसीलिये मुझ गर्वीलीने
तुमको मान लिया अपना।
तुमपर नित अधिकार मानती,
जागूँ या देखूँ सपना॥
तुम ही मेरे प्राणनाथ हो,
हो सर्वस्व, एक आधार।
अपने ही गुणसे जो मुझको
सदा दे रहे इतना प्यार॥

इसीसे तुम बिना ही कारण नित्य-निरन्तर मुझको इतना प्रेम दे रहे हो और ममता बढ़ा रहे हो। तुम्हारी इस अकारण प्रीतिको देख-जानकर मुझ अधमाके मनमें यह एक विषमता उत्पन्न हो गयी और मैंने उसी विषमताका तुमपर आरोप करके यह मान लिया कि तुम मुझसे पक्षपात करते हो, इसीलिये मैं प्रेमके योग्य न होनेपर भी मेरे प्रति तुम जितना प्रेम करते हो, उतना दूसरोंके प्रति नहीं करते, यद्यपि तुम्हारे इस पक्षपातको बुद्धिमान्‌जन क्षमाके योग्य नहीं मानते। पर तुम्हारे इस पक्षपातपूर्ण प्रेमको देखकर मेरा गर्व बढ़ गया और मैंने तुमको अपनी वस्तु ही मान लिया। इसीसे चाहे जागूँ या सोती रहूँ, सदा तुमपर अपना यह अधिकार मानती हूँ कि तुम मेरे हो और सच-मुच ही श्यामसुन्दर! तुम ही मेरे प्राणेश्वर हो, तुम ही मेरे सर्वस्व हो, तुम ही एकमात्र आधार हो। जो अपने ही गुणसे मुझ दोषपूर्णको सदा-सर्वदा इतना प्यार दे रहे हो।

श्रीराधाके इन पवित्र भावोंकी जय हो!

एकादशीका उपवास

(मूल मराठी-लेखक--श्री पं० श्री दा० सातवलेकरजी)

[अनुवादक--पं० श्रीश्रुतिशीलजी शर्मा, तर्कशिरोमणि]

[गताङ्कसे आगे]

उपवासकी निर्दोषता

शुक्ल और कृष्णपक्षकी एकादशीके दिन उपवास करनेसे शरीरके अंदरका मल नष्ट हो जाता है, रोगाणु नष्ट हो जाते हैं और शरीरके स्वस्थ हो जानेके कारण आगेके दिनोंमें होनेवाले अनिष्टकारक परिणामोंका शरीरपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। स्वस्थ मनुष्यके लिये पंद्रह दिनोंमें इस एक दिनका उपवास पर्याप्त है। पर जो रोगोंसे आक्रान्त हैं, उनके लिये अमावास्यासे पहले चतुर्दशीके उपवासका भी विधान है। पूर्णिमाके पहलेके चतुर्दशीके दिन उपवास करनेका विधान नहीं है; क्योंकि अमावास्याके दिन अनिष्टकारक परिणामका जितना भय रहता है, उतना पूर्णिमाके दिन नहीं। त्रयोदशीके दिन प्रदोषकाल (संध्याकाल) के समय उपवास करना चाहिये। अमावास्याके बाद शुक्लपक्षमें चतुर्थीको पूर्ण उपवास और कृष्णपक्षकी चतुर्थीको आधे उपवासका विधान ऐच्छिक है। बाकीके उपवास करें या न करें, पर एकादशीका उपवास आवश्यक है, ऐसा शास्त्रकारोंका मत है। तिथिवार किये जानेवाले उपवासोंकी संख्या इतनी ही है, पर उनकी योजना अद्भुत है—

मासका प्रारम्भ—शुक्लपक्ष

१. चतुर्थी—द्वादशीसे लेकर तृतीयातकके दिनोंमें सूर्यसे जीवनशक्ति कम मिलनेके कारण कुछ मल शरीरमें यदि एकत्रित हो गया हो तो वह नष्ट हो जाय और आगेके दिनोंमें प्राप्त होनेवाली निर्दोष जीवनशक्तिका पूर्णतया लाभ उठाया जा सके, इसलिये पूरे दिनका लङ्घन करना चाहिये। फिर दशमीतक कोई लङ्घन नहीं।

२. एकादशी—आगेके सप्ताहमें होनेवाली प्रतिकूल परिस्थितिसे बचाव करनेके लिये एक दिनका पूरा लङ्घन।

३. प्रदोष—सदोष प्रकृतिवाले लोगोंके लिये प्रतिकूल सप्ताहमें आधा उपवास।

इसके आगे पूर्णिमाके निकल जानेके बाद—

कृष्णपक्ष

१. संकष्टी चतुर्थी—प्रतिकूल सप्ताहके निकल आनेपर उन दिनोंमें उत्पन्न हुए दोषको नष्ट करनेके लिये आधे दिनका उपवास।

२. एकादशी—आगे आनेवाले विशेष प्रतिकूल सप्ताहमें अनिष्ट परिणामोंसे बचनेके लिये पूर्ण लङ्घन।

३. प्रदोष—सदोष प्रकृतिवालोंके लिये आधा उपवास।

४. चतुर्दशी—अमावास्याके विशेष प्रतिकूल परिस्थितिको हटानेके लिये पूर्ण लङ्घन।

शुक्लपक्षकी अपेक्षा कृष्णपक्षमें अमावास्याके निकट एक अधिक उपवास रक्खा गया है। इसका कारण पहले ही बताया जा चुका है। स्वस्थ मनुष्यके लिये केवल एकादशीका उपवास ही पर्याप्त होता है। पर जो प्रायः बीमार रहते या पड़ते हैं, उनके आरोग्यके लिये यह सब योजना है। इसलिये वह सब ऐच्छिक हैं।

इस प्रकार उपवाससे शरीरकी शक्ति बढ़ती है और रोग-बीज नष्ट होते हैं।

तिथिवारके उपवासोंमें जो तत्त्व है, वह दिनोंके उपवासोंमें नहीं है; क्योंकि वार किसी भी तिथिपर आ सकते हैं अर्थात् यह कोई निश्चित नहीं है कि बृहस्पतिवार हमेशा एकादशीके दिन ही पड़ेगा, वह अमावास्या, पूर्णिमा, द्वादशी किसी भी दिन पड़ सकता है। इस कारण सूर्य-चन्द्रके आकर्षणके कारण होनेवाले फेर-बदलसे वारोंके उपवासोंका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी कारण शास्त्रकारोंने जितना महत्त्व तिथिके उपवासोंका बताया है, उतना वारोंके उपवासोंका नहीं। सुविधाकी दृष्टिसे यद्यपि आज वारोंके उपवासोंका प्रचलन अधिक है, पर तिथिके उपवास अधिक शास्त्रसम्मत और उपवास-चिकित्साके समीप हैं।

जो प्राचीन लोग उपवास करते हैं वे बहुत रोगी नहीं होते। नयी संस्कृतिके उपासक एवं प्राचीन संस्कृतिके उपहासक

तथा दिनमें छः बार खाकर बिल्कुल उपवास न करनेवाले नवशिक्षित लोग हमेशा रोगी होते हैं । पर प्राचीन लोग अपनी धर्मभीरुताके कारण उपवास करते हुए तथा अन्य दिनोंमें सिर्फ एक या दो बार ही खाकर बीमारीको पास भी फटकने नहीं देते । उनके शरीरमें संचित रोगोत्पादक मल योग्य समयपर उपवास करनेके कारण नष्ट हो जाता है। पाठकगण इसका अनुभव कर सकते हैं ।

यूरोपियन लोगोंको दिनमें छः बार खाते हुए देखकर भारतीय भी उसी प्रकार करने लगे । सबेरे चाय, थोड़ा-सा नाश्ता, दोपहर भोजन, डेढ बजे कुछ हल्का खाना, चार बजे फिर चाय, शामको सात बजे भोजन, रातमें फिर चाय— यह क्रम हमारे भारतीय साहबोंका है । यूरोप ठंढा देशके कारण वहाँ भूख ज्यादा लगती है, पर वैसी स्थिति भारतमें नहीं है। यह सीधी-सी बात भी लोग भूल जाते हैं और दूसरोंका अन्धानुकरण करने लगते हैं ।

दो समय भोजन

हमारे शास्त्रोंमें एक या दो समयका ही भोजन लिखा हुआ है। बचपनमें शरीरके बढ़नेके कारण बच्चोंको बार-बार खाना पड़ता है, पर बड़ोंकी वैसी स्थिति नहीं है । बड़ोंको सिर्फ दो समय ही खाना चाहिये । तीसरी बार मुँहमें कुछ भी न डालें। वृद्धोंको सिर्फ एक ही वक्त खाना चाहिये, हमारे शास्त्रोंका इस तरहका उपदेश है। पर अन्धानुकरण करनेवालोंको यह पसंद नहीं आयेगा । वे पुराने लोगोंके अन्धविश्वासको भला-बुरा कहते हुए दिनमें छः बार खाते हैं और इच्छानुसार खूब चाय पीते हैं तथा अन्धानुकरण करते है। वह अन्धविश्वास लाभप्रद है या यह अन्धानुकरण, विचारणीय है ।

मुँहमें लार उत्पन्न होती है और वह दाँतमें अटके हुए अन्नके टुकड़ोंको धीरे-धीरे निकाल फेंकती है । पर यदि पहलेके अन्न-टुकड़ोंके दाँतोंसे दूर होनेके पहले ही दुबारा कुछ खा लें तो पहलेके अन्नकणके ऊपर दूसरे अन्नकण जाकर चिपक जाते हैं और अंदरके अन्नकण सड़ने शुरू हो जाते हैं। दिनमें बहुत बार खानेवालोंके मुँह कभी भी साफ नहीं रहते। यूरोपवासियोंके भी दाँत अच्छे नहीं रहते । उनके दाँत अकसर कीड़े लगे हुए होते हैं ।

दाँत

सब जगत्के मनुष्योंमें हिंदुओंके दाँत उत्तम होते हैं और जहाँ नयी संस्कृति अभी पहुँची नहीं, वहाँ हिंदुओंके दाँत अभी भी उत्तम हैं । पाश्चात्त्योंका अन्धानुकरण करनेके लिये दिनमें अनेक बार खानेवाले तथा बिल्कुल उपवास न करनेवाले भारतीय साहबोंके भी दाँत खराब होते हैं । दिनों-दिन दाँतोंके रोग बढ़ते जाते हैं । ब्रशके प्रयोगसे मसूड़े छिल जाते हैं और उनके द्वारा कृमि दाँतोंमें घुसते हैं । अतः इस साधनसे भी दाँतोंके रोग बढ़ते ही हैं ।

अपचनसे भी दाँतके रोग बढ़ते हैं और उनमें बिष बढ़ने लगता है । भोजन करते समय लारके साथ वही बिष पेटमें जाकर अनेक रोगोंका कारण बनता है । कभी-कभी तो यह क्षय-जैसे भयंकर रोगोंका भी कारण बन जाता है । पर इस होनेवाले नाशका कारण हमारा अपना आचार ही है, यह बात किसीकी समझमें नहीं आती । नवयुवक यदि दो ही समय खायें और एकादशीका उपवास रक्खें, तो ऊपर कही गयी आपत्तियाँ उन्हें कभी तंग न करें ।

प्राचीन लोग भी आज विकृतावस्थामें पहुँच गये हैं । वे भी उपवासके दिन केवल अन्न नहीं खाते, बाकी सभी पदार्थ खाते हैं । अथवा उपवासके दिन चाय या काफी पीते हैं । पर यह ढंग भी घातक है । आरोग्यके लिये उपवास कैसे किया जाय, इसका सविस्तर विवेचन करके यह समझ लेना चाहिये कि उपवासका सम्बन्ध केवल जीभसे न होकर सभी इन्द्रियोंसे है ।

व्रतोंकी योजना

अपने भारतीय धर्ममें उपवास एवं व्रतोंकी जो प्राचीन योजना है, वह इतनी सहेतुक, बुद्धिपुरस्सर और दूरतकका विचार करके की गयी है कि इसकी योजना करनेवालोंकी जितनी भी प्रशंसा की जाय, थोड़ी ही है। हमारे धर्ममें बहुत-से त्यौहार तिथिसे सम्बन्धित हैं, उसी प्रकार उपवास भी एकादशीसे सम्बन्धित है । प्रत्येक त्यौहारका तिथिसे सम्बन्ध दिखाना इन थोड़ेसे पृष्ठोंमें असम्भव है, तथापि यह विषय यहाँ अंशरूपसे दिखाते हैं । 'दशमी, एकादशी और द्वादशी' इन तीन तिथियोंके साथ त्यौहारोंका क्या सम्बन्ध है और इनसे हमें क्या बोध मिलता है, इसका विचार हम अब करते हैं—

विजया दशमी

दशमीका बड़ा पर्व 'विजया दशमी' (दशहरा) है । दशमी विजययुक्त होती है। दशमीका अर्थ है 'दश+शमी ।

पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय—इन दसोंका शमन करना, संयम करना अर्थात् दसों इन्द्रियोंको स्वाधीन रखना, यह 'दश शमी' अथवा दशमीका साध्य है। यदि दसों इन्द्रियाँ अपने स्वाधीन रहीं, अपने दिव्य रथके दसों दिव्य घोड़े यदि अपने अधिकारमें रहे तो इस 'दशरथ' (आत्मा)का इच्छित स्थानपर पहुँचना सम्भव हो सकेगा। जिस मंजिलपर मनुष्यको पहुँचना है, वहाँ वह सरलतासे पहुँच सकेगा। इसीका नाम विजय है। इसीलिये इसे 'विजया दशमी' कहते हैं। इसी 'दशरथ'से 'राम'रूपी प्रचण्ड शक्ति उत्पन्न होती है और वही इन्द्रियोंसे विषयोपभोग करनेवाले 'दशमुख'पर विजय करती है। दशरथ दसों इन्द्रियोंके संयमसे सत्कार्य करने लिये धर्ममार्गपर लगानेवाला है और 'दशमुख' दसों इन्द्रि को बेकाबू करके अधर्ममार्गपर चलानेवाला है। इन दोनों युद्ध सनातन है और अन्तमें दशरथके रामकी ही विजय होती है। जगको जीतनेवाले दशमुखके पुत्र इन्द्रजित्की विजय नहीं होती। यह सारांशमें 'विजयादशमी'का सार है। (क्रमशः

अवतार

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'संसारके प्राणी अत्यन्त दुखी हैं दयाधाम !' देवर्षि नारद गोलोकेश्वरका सत्कार स्वीकार करके आसनपर आसीन हो गये थे और कुशल-प्रश्नका अवकाश दिये बिना ही उन्होंने स्वतः प्रार्थना प्रारम्भ कर दी—'आपकी अहैतुकी कृपाके अतिरिक्त उनका और कोई आश्रय नहीं है।'

'मैं कृपा-कृपण नहीं हुआ हूँ देवर्षि !' तनिक मुस्कराये मयूरमुकुटी—'जीवोंके परम कल्याणके लिये श्रुतिकी शाश्वत वाणी मैंने पूर्वसे उन्हें प्रदान की। सृष्टिके प्रारम्भमें ही मैं स्रष्टाको वेद-ज्ञान दे देता हूँ, जिससे जीवोंको अज्ञानके अन्धकारमें भटकना न पड़े।'

'वे अब भी भटक रहे हैं।' कृपाकी अतिशयताके कारण नारदजीके नेत्र टपकने लगे—'जप-तप, योग-यज्ञ आदिमें प्रथम तो उनकी प्रवृत्ति नहीं होती और कदाचित् हो भी गयी तो आपकी लोकविमोहिनी मायाके प्रलोभन कहाँ कम हैं। भोग, यश, स्वर्ग और कुछ न हो तो अहंकार—इन पाशोंसे परित्राण कैसे पायें वे दुर्बल ?'

'अन्ततः आप चाहते क्या हैं ?' सीधा प्रश्न किया गया। श्रीनारदजीका क्या ठिकाना कि कब उठ ख हों। उनको कहीं स्थिर बैठना आता नहीं। उनकी खड़ाऊँ हिलने लगी है। दूसरे, ये लम्बी चुटियावाले वीणाधारी विचित्र स्वभावके हैं। इधरकी उधर लगाने पहेली बुझानेमें इन्हें आनन्द आता है। क्या पता कब कह दें कि आगेकी बात अपने आप समझो। अभी सानुकूल हैं। अतएव अभी सीधे ही पूछ लेना अधिक उपयु था।

'मेरे चाहनेका कोई महत्त्व नहीं।' देवर्षिने उलाहना नहीं दिया। वे प्रार्थनाके स्वरमें ही बोल रहे थे—'आप सर्वज्ञ हैं; किंतु जीव इसे समझ नहीं पाते। उनके मध्य आप पधारो और स्वयं अपने व्यक्त होओ उन्हें देखो। वे आपके परम मङ्गलायतन स्वरूपका दर्शन करें। आपके व्यक्त सगुण-साकार श्रीविग्रहके क्रीड़ा-विहारोंका आधार मिले उनके चञ्चल चित्तको। तब कहीं माया भगवती भी कुछ संकुचित होंगी, कुछ कृपा करना आवेगा उन्हें।'

पीताम्बरधारीने तनिक देखा निकुञ्जेश्वरीकी ओर। तात्पर्य स्पष्ट था—'इनकी छाया-शक्ति ही माया है। आप इनसे क्यों नहीं कहते ?'

‘ये नित्य प्रेमस्वरूपा—इन्हें तो स्नेह ही देना आता है !’ देवर्षिने अञ्जलि बाँधकर मस्तक झुकाया—‘आपकी क्रीडा-प्रियतामें बाधा न पड़ती; इन्होंने कहाँ कब उपेक्षा सीखी है किसीकी । इनके स्मरणसे मायाका अन्धकार तिरोहित होता है; किंतु जीवोंका अभाग्य—वे स्मरण ही कहाँ कर पाते हैं । उनके लिये स्मरणका स्पष्ट, व्यक्त, सुरम्य, आधार प्रदान करने आप स्वयं धरापर पधारें देव !’

‘आपकी इच्छा पूर्ण हो !’ देवर्षिने वीणा तब उठायी, जब सर्वेश्वरके श्रीमुखसे यह सुन लिया ।

× × ×

‘मैं बार-बार धरापर गया और मैंने जीवोंके कल्याण-के साधन उन्हें प्रदान किये ।’ युगोंके पश्चात् देवर्षि फिर गोलोक पधारे थे और इस बार श्यामसुन्दर स्वतः कह रहे थे—‘मानव कर्ममें नित्य स्वतन्त्र है और वह उन्हीं कर्मोंको प्रिय मानता है, जो उसके बन्धनको और दृढ़ करते हैं । वह अपने क्लेशको बढ़ानेमें लगा है । मेरी ओर देखनेका तो जैसे उसके पास समय ही नहीं ।’

‘आपने महामत्स्यरूप धारण किया और मानवके एक आदिपुरुषको स्वतः श्रीमुखसे धर्मका उपदेश किया !’ देवर्षिकी वाणीमें इस बार व्यंग था—‘मानव-का अभाग्य कि वह उस धर्मकी ओर ध्यान नहीं देता और ध्यान नहीं देता प्रलयाब्धिविहारी महामत्स्यकी ओर ।’

‘देवर्षि ! मैं मत्स्यावतार, वाराहावतार या वामन अथवा नृसिंहावतारकी चर्चा नहीं कर रहा हूँ ।’ श्रीकृष्णचन्द्र खुलकर हँसे—‘ये अवतार मनुष्योंके मध्य नहीं हुए और मानव इनमें आकर्षण न पाये तो उसे दोष देनेका कारण नहीं है ।’

‘मनुष्यके कल्याणके लिये आप गृहत्यागी बने और नर-नारायणरूपसे आपने दीर्घकालीन तपस्या की । कपिलरूपमें आपने तत्त्वका प्रसंख्यान किया और तपका आदर्श स्वतः उपस्थित किया ।’ देवर्षिका स्वर परिवर्तित नहीं हुआ—‘कूर्म, यज्ञ, हयशीर्ष, मोहिनी अवतारकी चर्चा आप करेंगे नहीं; क्योंकि वे भी मनुष्योंके मध्य नहीं हुए । यही अवस्था हंस, धन्वन्तरि-जैसे अवतारोंकी है और प्रभु ! ऋषभरूपसे भी वही तपका आदर्श दिया आपने । मानव तप कर नहीं पाता । थोड़ेसे ऋषियोंके वशका है तप । जहाँ वह अपनेको समर्थ नहीं पाता, वहाँसे उदासीन तो होगा ही ।’

‘आप अपनेको और अपने अग्रज सनकादि कुमारों-को गणनामें लेनेवाले नहीं हैं । परशुरामका अवतार साधन प्रदान करनेके लिये हुआ नहीं । आगे भी बुद्ध तथा कल्कि-अवतार प्रयोजनविशेषसे होने हैं तथा गजेन्द्रके उद्धार या ध्रुवके लिये हुए अवतारकी बात भी मैं नहीं करता ।’ इस बार श्रीभगवान्का स्वर गम्भीर हो गया—‘आप चाहें तो कह सकते हैं कि पृथुके रूपमें भी मैं सत्ययुगमें धरापर गया और यज्ञका ही विशेषरूपसे मैंने प्रतिपादन किया; किंतु मैंने त्रेतामें मानवको सम्यक् आदर्श देनेमें कहाँ त्रुटि की देवर्षि ? मैंने सम्पूर्ण मानव-चरितको क्या उचितरूपमें अयोध्यामें उपस्थित नहीं किया ?’

‘मन्दप्रज्ञ ही मर्यादापुरुषोत्तमके मङ्गल चरितमें त्रुटि देखते हैं !’ देवर्षिके स्वर श्रद्धाभरित हुए—‘आप अनन्त कृपा-पयोधि हैं, इसीलिये तो यह जन इन श्रीचरणोंमें पुनः जीवोंपर कृपा-याचना करने उपस्थित हुआ है ।’

‘तब आप चाहते हैं…… ।’ श्यामसुन्दरकी बात पूरी नहीं हुई । देवर्षिने अञ्जलि बाँधकर मस्तक झुकाया ।

'कलि-कलुष मानवको मर्यादामें रहने नहीं देता देव ! आपके भुवन-पावन चरित उसे निर्मल करते हैं और आपका वह पावन 'राम' नाम निखिल पाप-तापका विनाशक है । आपने मानवके समस्त वर्गोंके लिये सम्पूर्ण वैदिक ज्ञान एवं साधन-प्रणाली अपने कृष्ण-द्वैपायन रूपसे सुगम कर दी है; किंतु···· ।' दो क्षण रुककर पुनः बोले देवर्षि—'यदि आप अपने इन त्रिभुवनमोहन रूपसे पधारते ! यदि अपने इन दिव्य चरितोंको प्रकाशित करते धरापर, जो श्रवणमात्रसे चित्तको अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं ।'

'प्रेम मानवको श्रीचरणोंकी ओर अधिक आकर्षित करता है मर्यादाकी अपेक्षा और भक्तिदेवीपर आपका सर्वाधिक अनुग्रह भी है ।' देवर्षिने इस बार श्री-निकुञ्जेश्वरीके पाद-पंकजोंकी ओर मस्तक झुकाया—'महाभावका आलोक यदि एक बार धराको धन्य कर जाता ।'

'इसका अर्थ है कि अंश और कलाका अवतरण देवर्षिको संतुष्ट नहीं कर सका है । आदर्श मर्यादासे भी ये नित्य अवधूत कुछ अधिक चाहते हैं किंतु महाभाव····' मयूरमुकुट उन महाभावकी मि मूर्ति अपनी अभिन्न सहचरीकी ओर झुका—'वह अन्यत्र व्यक्त नहीं होता । उसका आलोक धरापर कों व्यक्त होता है तो वह दूसरेमें व्यक्त हो, यह कै हो सकता है । आप धरापर पधारेंगी ?'

'अस्वीकृति मैंने कभी सुनी नहीं ।' देवर्षि बीचमें ही बोले—'अनन्त स्नेह, अनन्त कृपा और अनन्त वात्सल्य जहाँसे शिशु पाता है, वहाँ उसकी याचना पूर्व-स्वीकृत ही रहती है ।'

'एवमस्तु' सुननेकी भी अपेक्षा देवर्षिने नहीं की। वे वीणा करोंमें उठा चुके थे और उठ चुके थे आसनसे। उनकी अंगुलियाँ वीणाके तारोंसे उल्लासपूर्ण झंकृति गुंजित करने लगी थीं । भला कहीं किसीकी आकाङ्क्षा इन चारु चरणोंतक पहुँचकर भी कभी अपूर्ण रही है ?

◆

प्रभुकी कृपा

घेरे हुए मुझे है प्रभुका सभी ओर सब समय प्रकाश ।
बाँधे हुए मुझे है प्रतिपल प्रभुके दिव्य प्रेमका पाश ॥
रक्षा करती है मेरी नित प्रभुकी शक्ति अमोघ विशाल ।
प्रभुकी नित्य कृपा अब मेरी करती सारी सार-सँभाल ॥
सहज सुहृद प्रभुका वह पावन मिला मुझे सौहार्द अपार ।
हुआ सरस जीवन, उमड़ा शुचि स्नेह-सुधाका पारावार ॥
अपना लिया मुझे अब प्रभुने रक्खा मेरे सिरपर हाथ ।
रखने लगे निरन्तर मुझको करुणामय प्रभु अपने साथ ॥
प्रभुकी शाश्वत शान्ति आ बसी मेरे जीवनमें सब ओर ।
करती रहती मुझे सर्वदा आत्यन्तिक आनन्द-विभोर ॥

सबका कल्याण कैसे हो ?

(स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजका एक भाषण)

प्रश्न—सबका कल्याण कैसे हो ?

उत्तर—ऐसा मनमें आता है कि मैं जो बात कहता हूँ, इसको आप और हम सब करें तो सबका कल्याण हो जाय। सबसे पहले तो हमारा यह उद्देश्य हो कि हमें अपना उद्धार करना है। हमारी यह एक ही इच्छा है, एक ही माँग है, जरूरत है, आवश्यकता है। कहावत भी है—

एकै साधें सब सधै, सब साधें सब जाय।

—एकके सिद्ध करनेसे सब काम सिद्ध हो जाते हैं और सब कामोंको सिद्ध करना चाहें तो कोई-सा भी सिद्ध नहीं होता। अतः सबसे पहली आवश्यकता तो इस बातकी है कि सब ओरसे वृत्तियोंको हटाकर एक अपने कल्याणकी ओर ही कर लिया जाय। अब इस उद्देश्यके अनुसार निरन्तर साधन होना चाहिये। उस निरन्तरताके लिये विचार करना है।

हमारे सामने ये चीजें आती हैं—काम-धंधा, समय, व्यक्ति, वस्तु आदि-आदि। भाव यह कि हमारे सामने अनेक तरहके काम-धंधे कर्तव्यरूपसे आते हैं। और एक हमारे पास है समय (वक्त)—यानी हमें जो रात-दिन, महीना-वर्ष आदिके रूपमें उम्र मिली हुई है। तीसरी हमारे सामने माता-पिता, स्त्री-पुत्र, कुटुम्बी आदि व्यक्तियाँ आती हैं। चौथी आती हैं धन, मकान आदि वस्तुएँ। इनके लिये हमें अलग-अलग क्रिया करनी पड़ती है। कभी ऐसा होता है कि अभी सत्सङ्गका समय है सत्सङ्ग करो, अभी समय भोजनका हो गया तो भोजन कर लो, अब आरामका समय है आराम कर लो, अब पुस्तक पढ़ना है तो यह कर लो। इसी प्रकार जीविकाका काम है, रसोईका काम करना है, बाल-बच्चोंके पालन-पोषणका काम होता है, सोनेका काम होता है, शारीरिक शुद्धिका काम है, गङ्गास्नान आदिका काम होता है। ऐसे अलग-अलग धंधे सामने आते हैं, वे समय-समयपर आते हैं। अतः कामका विभाग होगा और समयका विभाग होगा। ऐसे ही व्यक्तियोंका और वस्तुओंका भी विभाग होगा कि ये हमारी हैं और ये हमारी नहीं हैं। किंतु ये जो अलग-अलग हैं, इन सबको एक कर देना तो हमारे वशकी बात नहीं है और उचित भी नहीं है। तब फिर उद्देश्य एक कैसे हो ? तो हम विचारसे इस अलग-अलगपनेको मिटा दें। यह कैसे हो ? वस्तुएँ भी अलग-अलग रहेंगी, व्यक्तियाँ भी अलग-अलग रहेंगी, उनका उपयोग भी अलग-अलग होगा, समय भी अलग-अलग रहेगा और काम-धंधा भी अलग-अलग रहेगा ही। यह रहना ही चाहिये। यह रहना कोई अन्याय नहीं है। तब हम एक साधन क्या और कैसे करें ? क्योंकि हमारा उद्देश्य एक होता है तो वस्तुएँ इतनी सामने आ जाती हैं। हमें कुटुम्ब-पालनके लिये धन भी कमाना है, अपने परिवारके लिये वस्तुएँ भी लाना है, वक्तपर आराम भी करना है, सोना भी है, खाना-पीना भी है। यह सब अलग-अलग होगा। तब फिर एक उद्देश्य कैसे हो ? यह प्रश्न आता है।

इसमें एक खास बात समझनेकी है। हम अलग-अलग काम किसलिये करते हैं ? वह 'लिये'—उद्देश्य हमारे अनेक हो जाते हैं, तब हम फँसते हैं। कभी हमारा उद्देश्य विद्या हो जाती है, कभी यश हो जाता है, कभी धन हो जाता है, कभी मान-बड़ाई और स्वास्थ्य उद्देश्य हो जाता है। कभी भगवत्प्राप्ति उद्देश्य हो जाता है, कभी भजन-ध्यान करना उद्देश्य होता है। ऐसा होनेसे हम साधन नहीं कर सकते। 'सब साधें सब जाय'—कोई-सा भी काम सिद्ध नहीं हो पाता। इसलिये हमारा भाव एक ही होना चाहिये कि हम सभी काम करेंगे और करेंगे प्रभुकी प्रीतिके लिये, भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये। सोकर उठनेपर यह सोचें कि अब काम क्या करना है, भगवान्‌की आज्ञाका पालन करना है, भगवान्‌के लिये करना है और मैं भगवान्‌का ही काम कर रहा हूँ। मान लें वह काम आप हाथ-मुँह धोनेका कर रहे हैं। तो उसमें अनुभव यह होना चाहिये कि यह भगवान्‌का काम है। यदि आप कहें कि इसे हम भगवान्‌का काम कैसे मानें, हम तो अपना मुँह धोते हैं, अपने हाथ धोते हैं। तो समझना चाहिये, आप अपने हाथ-मुँह धोते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि आप अपनेको स्वयं अपना मानते हैं, भगवान्‌का नहीं मानते। अतः इस प्रकार अपनेको भगवान्‌का नहीं माननेसे उद्देश्यकी सिद्धि नहीं होगी। तो क्या होगा ? बन्धन होगा। और क्या होगा ? जो होता आया है वही होगा। प्रश्न होता है कि इस शरीरको भगवान्‌का कैसे मान लें ? इसका उत्तर यह है—जब हम भगवान्‌को प्राप्त करना चाहते हैं और

हम भगवान्के हैं तो हमारा शरीर भी भगवान्का है । हम हाथ धोनेके समय यह समझें कि भगवान्की अनन्त सृष्टिमें यह भी उनका एक छोटा-सा क्षुद्र अंश है । जैसे छोटे-से-छोटा रज (बालू) का एक कण भी पृथ्वीसे अलग नहीं है, ऐसे ही एक शरीर यह है । बहुत छोटा है अनन्त ब्रह्माण्डमें । परंतु यह भी है भगवान्का । अतः यह अनुभव होना चाहिये कि मैं मुँह धो रहा हूँ, यह भगवान्का काम कर रहा हूँ; हाथ धो रहा हूँ यह भगवान्का काम कर रहा हूँ । यह मैं बहुत महत्त्वकी बात समझनेके लिये कहता हूँ, हँसी-दिल्लगीकी बात नहीं है । आप टट्टी जा रहे हैं, पेशाब कर रहे हैं—उसमें भी यह अनुभव होना चाहिये कि मैं भगवान्का काम कर रहा हूँ । स्वतः भीतरसे ही यह वृत्ति रहनी चाहिये । यह शरीर जब भगवान्का है, तब इसको साफ करना क्या भगवान्का काम नहीं है ? हम किसीके घरकी टट्टी साफ करते हैं तो क्या उस घरके मालिकका काम नहीं कर रहे हैं ? उसमें झाड़ू लगाते हैं तो उस घरका जो मालिक है, उसीका तो काम कर रहे हैं । इसी प्रकार जब यह शरीर भगवान्का है तो इससे टट्टी-पेशाब करके इसको साफ करना भी भगवान्का ही काम करना है । ऐसे ही, स्नान कर रहे हैं—यह भी भगवान्का काम कर रहे हैं । कपड़ा धो रहे हैं, यह भगवान्का काम कर रहे हैं । अब रसोई बनाते हैं तो भगवान्का काम करते हैं । भोजन करते हैं तो यह भी भगवान्का काम करते हैं । ऐसी कोई क्रिया न हो, जो क्रिया भगवान्की न होती हो । यदि हमें यह अनुभव न हो कि प्रत्येक काम हम भगवान्का ही कर रहे हैं तो हम इसे मानना शुरू कर दें कि हम प्रत्येक काम भगवान्का ही कर रहे हैं ।

जैसे सभी काम भगवान्के हैं, वैसे ही सब समय भी तो भगवान्का ही है । यह समय तो भगवद्भजनका है और यह समय अभी काम-धंधेका है—यह विभाग हम न करें । जब भगवान्के भजन करनेका काम भी भगवान्का है और यह रसोई बनानेका काम भी भगवान्का है, तब यह सब-का-सब समय भी भगवान्का ही हुआ । अतः कार्यविभाग भी नहीं रहा और समयविभाग भी नहीं रहा । साधक कभी यह समय-विभाग न करे कि यह समय तो भजनका है और यह भजनका नहीं है । हाँ, भजनके रूप अलग-अलग हैं । उस समय नाम-जप, ध्यान आदि भजन था; अब रसोई बनाना भजन है । विचार करें, भजन नाम किसका है ? भगवान्की सेवाका । जब भगवान्के लिये काम कर रहे हैं तो वह ही तो भजन है; अतः भगवान्का काम भजन है ही । भोजन करना भी भगवान्का भजन है । यह समय भगवान्का है । इसलिये यह नहीं सोचना चाहिये कि करनेका समय भगवान्का समय नहीं है । ऐसे ही काम-धंधे करते समय यह अनुभव हो कि सब काम भगवान्का है, सबका सब समय भगवान्का हो गया ।

अब आप कहें कि हम सोते हैं तो क्या सोनेका काम भी भगवान्का है और क्या सोनेका समय भी भगवान्का है! अवश्य । यह कैसे ? जब आप सोयें, तब यह बात काममें लेनी है । यह बहुत बढ़िया बात जान पड़ती है । सोयें तब हम नींद लेनेके लिये, आरामके लिये न सोयें । तो किसलिये सोयें ? इतनी देर बैठे हुए, चलते-फिरते हुए काम करते भगवान्का । अब छः या पाँच घंटा लेटकर भगवान् भजन करना है; क्योंकि यह शरीर भगवान्का है । चलाना-फिराना भी इसका काम है, काम-धंधा करना भी इसका काम है और इसे लंबा डालकर थोड़ा आराम देना भी काम इसीका है । किंतु इसका होते हुए भी हमें करना भगवान् का काम है । सोकर—नींद लेकर हमें भगवान्का भजन करना है, आराम नहीं करना है, सुख नहीं लेना है । ऐसा चिन्तन करते सो जायँ । सोते समय हमें नींद न आ जाय तबतक भगवान्के चरणोंमें पड़े रहें, भगवान्का चिन्तन होता रहे, यह अनुभव करते रहें कि हमपर भगवान्का कृपामय हाथ है, कृपादृष्टि है । जैसे, माँ अपने बच्चेको गोदमें लिये बैठी है, बालक उसके चरणोंमें पड़ा है तो माँकी उसपर कृपा है, वैसे ही मैं भगवान्के चरणोंमें पड़ा हूँ, भगवान्की मुझपर कृपा है, भगवान् मुझे कृपादृष्टिसे देख रहे हैं, मेरे सिरपर भगवान्का हाथ है । इस प्रकार चिन्तन करते हुए उनका नाम लेते रहें । अब यह लेटनेका समय भजन हो गया! ऐसा करते हुए नींद आ गयी तो आ गयी । नींद लेनेकी चिन्ता नहीं कि नींद नहीं आयी । अपने तो नींद लेनेसे मतलब नहीं है, भगवान्के चरणोंमें पड़े रहनेसे मतलब है । हम प्रभुके हैं । नींद आ गयी तो प्रभुका ही नींदरूपी काम कर रहे हैं । नींद नहीं आती तो भी भगवान्का ही चिन्तनरूपी काम कर रहे हैं ।

इस प्रकार सब-का-सब काम-धंधा भगवान्का है और सब-का-सब समय भगवान्का । अब रह गयीं व्यक्तियाँ ।

ये जो हमारे भाई-बन्धु, माता-पिता, स्त्री-पुत्र, कुटुम्बी, प्रेमी-सम्बन्धी हैं—ये सब व्यक्तियाँ हैं। ये भी भगवान्‌के हैं। ये भगवान्‌के हैं तो भगवान्‌के जनोंकी सेवा कैसे करनी है ? जैसे, श्रेष्ठ बहू अपनी सासकी सेवा करती है। इसी प्रकार सासको अपनी बहूके प्रति कर्तव्य-पालन करना है यानी उसे सुख देना है, अपना सुख लेना नहीं है। अपना अपना सुख लेना तो हमारा उद्देश्य नहीं है। अपना सुख न लेकर उसको सुख कैसे पहुँचाना है ? माता सीताको और कौसल्या अम्बाको याद कर लो। माँ कौसल्या तो यह कहती है कि मैंने दीपककी बत्ती भी ठीक करनेके लिये सीताको कभी नहीं कहा और भूमिपर, जो कठोर है, पैर नहीं रखने दिया। ऐसा तो माता कौसल्याने किया और सीता कहती है—मैं बड़ी अभागिनी हूँ कि मैंने आपकी सेवा नहीं की। दोनोंको पश्चात्ताप इसीका है। बहूको यह विचार नहीं हुआ कि सासने मुझे सुख नहीं दिया और सासको यह विचार नहीं कि बहूने मेरा धंधा नहीं किया। विचार यही है कि प्रभुका काम करना है। अतः इसकी सेवा कर देना है। जैसे वह प्रसन्न रहे, उसका हित हो, वैसे कर दे और अनुकूल बननेकी भावना रखे।

इसी तरह जितने भी कुटुम्बी हैं, सभी भगवान्‌के हैं। अब विचार करें, उनमें हमें दो विभाग जान पड़ते हैं कि ये तो हमारे कुटुम्बी हैं, हमारे सम्प्रदायके हैं और ये हमारे नहीं हैं। ये हमारे कुटुम्बी हैं—इसका अर्थ यह हुआ कि इस कुटुम्बकी सेवा करना मेरा पहला कर्तव्य—धर्म है; क्योंकि इस कुटुम्बका मैं ऋणी हूँ, इसलिये इसका ऋण पहले चुकाना है और जो हमारे नहीं जान पड़ते, समय-समयपर उनकी भी सेवा करनी है। यानी उनकी सेवा करनेकी अधिक आवश्यकता होनेपर, समय निकालकर पहले उनकी सेवा करे। सेवा क्यों करनी है ? भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये, क्योंकि ये भगवान्‌के हैं। 'ये हमारे हैं'—इसका तात्पर्य होता है कि इनकी सेवा विशेषतासे कर देनी है; क्योंकि वे हमसे विशेषतासे सेवा चाहते हैं। अतः उनकी सेवा पहले कर दो, और विशेषतासे कर दो। परंतु मानो यह कि ये भगवान्‌के हैं, मेरे नहीं हैं। इनमें जो मेरापन प्रतीत होता है, इसका अर्थ यह है कि हमें इनको सुख पहुँचाना है, इसलिये ये हमारे कुटुम्बी हैं। यह भावना सदा जाग्रत् रखे।

अब अन्तमें रहीं वस्तुएँ। वस्तुओंका उपयोग अलग-अलग होगा। भोजनकी थाली-गिलासका उपयोग अलग होगा, लिखनेकी कलमका उपयोग अलग होगा। वस्तुएँ अलग-अलग काममें आती हैं। यह अलग-अलग उपयोग किसलिये है ? भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये। इनको भगवान्‌की सेवामें लेना है। ये अपनी और ये दूसरेकी—भगवान्‌के नाते तो यह विभाग है नहीं। किंतु जो हमारी कहलाती हैं, उस अपनी वस्तुसे तो पहले काम लेना है। इस तरह इन वस्तुओंसे प्रभुकी और प्रभुकी जनताकी सेवा करना है।

तात्पर्य क्या निकला ? यही कि कोई-सा भी काम भगवान्‌का न हो—ऐसा नहीं। कोई-सा भी क्षण भगवान्‌का न हो ऐसा नहीं। कोई-सी भी व्यक्ति भगवान्‌की न हो ऐसा नहीं और कोई-सी भी वस्तु भगवान्‌की न हो ऐसा नहीं। अब बताइये, निरन्तर भजनके सिवा और हुआ क्या ! स्वतः निरन्तर भजन—निरन्तर साधन हो जायगा।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।

सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर, युध्य च—यहाँ 'युध्य च' कहनेका अर्थ है—समय-समयपर जो आवश्यक काम आ पड़े वह करना; परंतु करना भगवान्‌की आज्ञासे और उनकी प्रसन्नताके लिये। अर्जुनने और क्या किया ! जब वे कर्णको मारने लगे तब कर्णने कहा—'अर्जुन ! तुम अन्याय करते हो।' भगवान्‌ने कहा—'अर्जुन ! कर्णको बाण मार दो।' अर्जुन बोले—'हमें न्याय-अन्याय कुछ नहीं देखना है, हमें तो प्रभुकी आज्ञाका पालन करना है। प्रभुकी आज्ञा है—इसे मार दो।'

किंतु हमलोगोंके सामने प्रत्यक्षरूपसे प्रभु हैं नहीं तो भगवान्‌की वाणी देख लो और हृदयमें टटोलकर देख लो कि हम ऐसा आचरण क्या दूसरोंसे चाहते हैं। दूसरोंसे नहीं चाहते तो वैसा मत करो। साक्षात् भगवान् आज्ञा दें तो न्याय-अन्यायको भी देखनेकी जिम्मेवारी हमपर नहीं रही। भगवान् सामने प्रत्यक्ष नहीं हैं तो भगवान्‌की आज्ञा—गीतादि ग्रन्थ हैं। उनमें देख लो, उनके अनुसार न्याय करो, अन्याय मत करो और उनसे समझमें न आये तो घबराओ मत, किंतु भाव शुद्ध रखो; फिर समझमें आ जायगी।

एक बाबाजी थे। कहीं जा रहे थे नौकामें बैठकर ! नौकामें और भी बहुत लोग थे। संयोगसे नौका बीचमें बह गयी। ज्यों ही वह नौका जोरसे बही, मल्लाहने कहा—

'अपने-अपने इष्टको याद करो, अब नौका हमारे हाथमें नहीं रही । प्रवाह जोरसे आ रहा है और आगे भँवर पड़ता है । शायद डूब जाय । अतः प्रभुको याद करो ।' यह सुनकर कई तो रोने लगे, कई भगवान्‌को याद करने लगे । बाबाजी भी बैठे थे, पासमें था कमण्डलु । उन्होंने 'जय सियाराम जय जय सियाराम, जय सियाराम जय जय सियाराम' बोलना शुरू कर दिया और कमण्डलुसे पानी भर-भरकर नौकामें गिराने लगे । लोगोंने कहा—'यह क्या करते हैं ?' पर कौन सुने ! वे तो नदीसे पानी नौकामें भरते रहे और जय सियाराम जय जय सियाराम…… कहते रहे । कुछ ही देरमें नौका घूमकर ठीक प्रवाहमें आ गयी जहाँ नाविकका वश चलता था । तब नाविकने कहा—'अब घबरानेकी बात नहीं रही, किनारा निकट ही है ।' यह सुनकर बाबाजी नौकासे जलको बाहर फेंकने लगे और वैसे ही 'जय सियाराम जय जय सियाराम' कहने लगे । लोग बोले—'तुम पागल हो क्या? ऐसे-ऐसे काम करते हो ?' बाबाजी—'क्या बात है भाई ?' लोग—'तुमको दया नहीं आती ? साधु बने हो । वेष तो तुम्हारा साधुका और काम ऐसा मूर्खके-जैसा करते हो ! लोग डूब जाते तब ?' बाबाजी—'दया तो तब आती जब मैं अलग होता । मैं तो साधु ही रहा, मूर्खका काम कैसे किया ?' लोग—'जब नौका बह गयी तब तो तुम पानी नौकाके भीतर भरने लगे और जब नौका भँवरसे निकलने लगी तब पानी वापस बाहर निकालने लगे । उल्टा काम करते हो ?' बाबाजी—'हम तो उल्टा नहीं, सीधा ही करते हैं । उल्टा कैसे हुआ ?' लोग—'सीधा कैसे हुआ ?' बाबाजी—'सीधा ऐसे कि हम तो पूरा जानते नहीं । मैंने समझा कि भगवान्‌को नौका डुबोनी है । उनकी ऐसी मर्जी है तो अपने भी इसमें मदद करो और जब नौका प्रवाहसे निकल गयी तो समझा कि नौका तो उन्हें डुबोनी नहीं है, तब हमें तो उनकी इच्छाके अनुसार करना है—यह सोचकर पानी नौकासे बाहर फेंकने लगे । साधु ही हो गये तब हमें हमारे जीने-मरनेसे तो मतलब नहीं है, भगवान्‌की मर्जीमें मर्जी मिलाना है । पूरी जानते हैं नहीं । पहले यह जान लेते कि भगवान् खेल ही करते हैं, उन्हें नौका डुबोनी नहीं है तो हम उसमें पानी नहीं भरते । पर उस समय मनमें यह बात समझमें नहीं आयी । हमने यही समझा था कि नौका डुबोनी यही इशारा है ।'

यह शरणागत भक्तका लक्षण है । यह तो उन सं कर दिया; पर आपलोगोंसे यह कहना है कि नौका डूबने लगे तो उसमें पानी तो नहीं भरना, परंतु बिल्कुल नहीं । यही समझना कि बहुत ठीक है, बड़ी मौज बड़े आनन्दकी बात है; इसमें भी कोई छिपा हुआ है । हमने ऐसी भी एक बात सुनी है । एक संत आश्रम है, उसी आश्रमकी बात कई वर्षों पहलेकी है । वहाँके महन्त थे, बड़े अच्छे थे, बहुत विद्वान् भगवान्‌के बड़े भक्त थे । एक बार गङ्गाजी बहुत गयीं । पहाड़से पानीका प्रवाह आया बहुत जोरसे आश्रमके पीछे ऐसे बड़े जोरसे पानीका नाला आया मानो मकानको काटकर बहा ही देगा । उस समय वहाँके बड़े महन्त थे, उनका नाम याद नहीं रहा; खुश हो गये, प्रसन्न हो गये और गद्‌गद हो गये अब मैयाकी गोदमें जायँगे—मतलब, गङ्गाजीमें जायँगे दूसरे जितने थे घबरा रहे थे कि मकान बह जायगा वे खुश हो रहे थे । हुआ क्या ? पानीका नाला और साथमें पत्थर-ही-पत्थर आकर पत्थरोंका ढेर गया । तब पानी एक ओरसे निकलने लगा और मकान बच गया । बच गया तो बच गया । उन संतोंके हृदय तो यही भाव हुआ कि मैयाकी गोदमें जायँगे । कीजिये, माँकी गोदमें बच्चेको आनन्द आता है दुःख होता है ? उनको यही खुशी थी । प्रत्यक्ष तो डूबनेकी थी कि इतना पानीका प्रवाह बढ़ा है; किंतु इन्हें खुशी हो रही है । इससे सिद्ध क्या हुआ करनेमें तो भगवान्‌की आज्ञा, इशारेके अनुसार करना और होनेमें हरदम प्रसन्न रहना है । चाहे सुख आवे दुःख, जो घटना घटे, उसमें खुश रहना है; होना है वह तो सब-का-सब भगवान्‌के हाथमें है करना हमारे हाथमें है । अतः करना सब भगवान्‌की आज्ञासे । होनेके नामपर जो होये उसमें खुश हो कि वाह !! प्रभुकी बड़ी कृपा है । जो हो रहा है, उसमें यह देखना कि यह ठीक है, यह बेठीक है । बल्कि यह कि यह कर कौन रहा है, यह किसके हुकमसे, इशारेसे हो रहा है । 'करी गोपालकी सब होइ ।'

जो दुःख आता है, दर्द होता है, उसमें भगवान्‌की विशेष कृपा है। दर्द, दुःख, प्रतिकूलता—यह पापोंका फल है कि पुण्यका ? पापोंका फल मानते हैं तो फल भोगनेसे पाप रहेंगे कि नष्ट होंगे ? एवं पाप नष्ट होना भगवान्‌की कृपा है या अकृपा है ? शुद्धि हो रही है, भगवान् कृपा कर रहे हैं—ऐसा विचारकर मस्त होता रहे। ज्यों टीस चले, ज्यों पीड़ा हो, त्यों अनुभव हो कि भगवान्‌की बड़ी कृपा है। प्रभु बड़ी कृपा कर रहे हैं—पवित्र बना रहे हैं। सुनार सोनेको अपनाता है तो उसको खूब तपाता और पीटता है, खराबी-खराबी निकाल देता है। इसका अर्थ यह होता है कि अब वह अपनायेगा। इसी तरह प्रभुने हमको अपना लिया तो अब अपनी वस्तुको साफ कर रहे हैं, अतः अपनेको मस्त होना चाहिये।

अभिप्राय यह कि जो होता है, उसमें तो कोई अनिष्टकी सम्भावना है नहीं, उसमें तो प्रसन्नता लानी है; क्योंकि वह भगवान्‌के हाथमें है और जो हमें करना है, वह उसकी आज्ञासे करना है, उसकी आज्ञाके विरुद्ध नहीं करना है—यह हमारा उद्देश्य है। इन दोके सिवा और कोई बात है नहीं—एक होना और दूसरा करना। तो फिर हमारा जीवन सब-का-सब साधनमय हो गया। अब हम सब समय मस्त रहें। किंतु हम मस्त नहीं रहते, तभी तो कहना पड़ता है—इधर लक्ष्य नहीं है। लक्ष्य हो तो ऐसे हो सकता है।

इसलिये चौबीस घंटोंमें एक मिनट भी ऐसा नहीं; जिस समयमें साधन न होता हो। अब बताओ, कौन-सा समय ऐसा शेष रहा, जिसमें साधन न हो। सब समय साधन ही हो रहा है। और अब कौन-सी प्रवृत्ति, कौन-सी क्रिया है, जो भगवान्‌का भजन न हो। इससे **'सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर'** हो जायगा। जो कहा है—

'यत्क्षणं यन्मुहूर्तं वा वासुदेवं न चिन्तयेत् ।'

कह हनुमान बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई ॥

—तो अपनी विपत्ति तो दूर हो गयी। अब विपत्ति कहाँ रही ? सब-का-सब समय भगवान्‌का, सब-का-सब काम भगवान्‌का, सब-की-सब वस्तुएँ भगवान्‌की, सब व्यक्तियाँ भगवान्‌की, सब-के-सब सम्बन्ध भगवान्‌के। और हमारी कोई वस्तु है ही नहीं। मन भगवान्‌का, बुद्धि भगवान्‌की, शरीर भगवान्‌का, प्राण भगवान्‌के, सब भगवान्‌के हैं—

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये ।

—'आपकी वस्तु ही, प्रभो ! आपके चरणोंमें समर्पित है।' ऐसे होकर मस्त होते रहें।

हमारे क्या है ? हमारे तो भगवान् हैं और भगवान् हैं इसलिये आनन्द है। फिर मौज और मस्ती रहेगी ही।

चिन्ता दीनदयालको मो मन सदा अनन्द ।

भगवान् और हम दो हैं। हमारा-उनका बँटवारा हो गया। मौज-मौज हमारे हिस्से आ गयी और चिन्ता-चिन्ता भगवान्‌के। तुम चिन्ता नहीं करते ? मैं क्यों करूँ ? भगवान् करें। भगवान् बड़े हैं; बड़े चिन्ता किया करें। भक्त नरसीजीके पत्र आया, बहुत बड़ा चिट्ठा कि इतना-इतना सामान लाओ तो आना। पत्रमें ऊपर भगवानका नाम लिखनेकी रिवाज अनादि कालसे चली आ रही है। पत्र पढ़ा तो ऊपर भगवान्‌का नाम लिखा ही था, नरसीजी नाचने लगे—

'पाती तो बाँच नरसी मगन भया ।'

—लाखों-करोड़ोंकी वस्तु चाहिये। पत्रमें इतनी वस्तुएँ लिखी थीं कि उनकी बात पढ़-सुनकर नरसीजी नाचने लगे और खुश हो गये एवं गाने लगे—

ऊपर नाम लिख्यो सो तो मायरो भरसी ।
नरसीलो तो बैठ्यो बैठ्यो भजन करसी ॥

आपलोगोंके किसी कुटुम्बी, सम्बन्धीका कोई भी काम पत्रमें लिखा आता है तो पत्रमें ऊपर जिसका नाम होता है उसीपर भार होता है; कहीं बालकोंपर भी कोई भार होता है ? बालक तो यही सोचते हैं, विवाह है, अच्छी बात है, हम तो मौज करेंगे, मीठा-मीठा भोजन करेंगे। अरे ! तुम तो मौज करोगे, पर पितापर कितना खर्चा होगा, पता है ? पर उनको क्या चिन्ता ?

कितनी मौज हो रही है ! कोई नरसीजीसे पूछे—

तुम किसके भरोसे जा रहे हो ? भरोसा क्या ? हमारे तो भगवान् भात भरेंगे । तुम भी चलो भैया ! मीठा-मीठा भोजन करोगे । यहाँ अपने कोई चिन्ता-फिक्र है ? अपने तो मौज हो रही है ।

चिन्ता दीनदयालको मो मन सदा अनन्द ।
जायो सो प्रतिपालसी रामदास गोविन्द ॥

हम तो सबकी चिन्ता-फिक्रसे छूट गये । हमने तो प्रभुकी शरण ले ली । सब काम भगवान्का हो गया । मौज है । भगवान्के दरबारसे नीचे उतरे ही नहीं । ये जो छोटे-छोटे बालक—छोकरे होते हैं उसमेंसे कोई-कोई तो ऐसे होशियार हो जाते हैं कि माँ गोदीसे नीचे रखे तो रोने लगते हैं । उन्हें बड़ी अच्छी युक्ति आ गयी । इसी तरह अपने तो भगवान्की गोदमें चढ़ा ही रहे, नीचे उतरे ही नहीं ।

इसीलिये नारदजीने भक्तिसूत्रमें बताया है—

तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति ।

सम्पूर्ण आचरणोंको भगवान्के समर्पित कर दिया और भगवान्की विस्मृतिमें परम व्याकुलता—बड़ी घबराहट होती है; क्योंकि भगवान्ने गोदसे नीचे रख दिया । अतः यही निश्चय रखे कि हम तो गोदमें ही रहेंगे, नीचे उतरेंगे ही नहीं । अब तुम दुःख पाओ चाहे सुख पाओ । हम क्या करें ? बच्चा तो गोदमें ही रहेगा; भार लगे तो माँको लगे, बच्चा क्या करे । हम नीचे उतरेंगे ही नहीं, हम तो प्रभो ! आपके चरणोंमें ही रहेंगे, आपकी गोदीमें ही रहेंगे और मस्त रहेंगे । खूब मौज हो रही है । यहाँसे सत्सङ्गसे जाय तो खुशी—आनन्दमें ही जाय । क्या हो गया ? क्या क्या हो गया, मौज हो गयी । 'क्या' तो पीछे रह गया अर्थात् 'क्या' का अर्थ प्रश्न होता है सो प्रश्न तो हमारे रहा ही नहीं । भगवान्के यहाँ ही हम रहते हैं । भगवान्का ही काम करते हैं, भगवान्के ही दरबारमें रहते हैं । मौज-ही-मौज है । प्रभुके यहाँ आनन्द-ही-आनन्द है । खुशी किस बातकी है ? तो दुःख ही किस बातका ? चिन्ता किस बातकी ? कोई है तो 'चिन्ता दीनदयालको' । हम तो मौज करते हैं । बस, अभीसे ही मस्तीमें रहे । चले-फिरे, उठे-बैठे—सब समय मौज-ही-मौज है । उसके तो भगवच्चिन्तन ही होता है । फि भगवान्का चिन्तन करना नहीं पड़ता । ऐसी मस्तीमें चिन्त स्वतः होता है । इसीलिये ध्रुवजीने कहा है—

विस्मर्यंते कृतविदा कथमार्तबन्धो !

आपको भूलें कैसे ? आप भूले जायँ कैसे ? कैसे भूलें बताइये । इस जन्ममें माँ थोड़ा ही प्यार करती है । जब वह माँ भी याद रहती है, तब अनन्त जन्मोंसे प्यार करनेवाले कैसे भूली जाय ! सदा स्नेह रखनेवाले भगवान् भूले जायँ! हमारा काम तो उनके चरणोंमें पड़े रहना है, उनकी ओर मुँह करना है । हमको याद करते हैं स्वयं वे प्रभु । एक बात याद आ गयी । ध्यान देकर सुनें । हम भगवान्को याद नहीं करते तब भी भगवान् हमको याद करते हैं । इसका क्या पता ? आप जिस स्थितिमें स्थित रहते हैं, उस स्थितिसे ऊबते हैं कि नहीं, तंग आते हैं कि नहीं ? कुटुम्बसे रुपये-पैसेसे, शरीरसे, काम-धंधेसे तंग आते हैं न ? क्यों आते हैं ?—भगवान् आपको याद करते हैं तब तंग आते हैं । भगवान् अपनी तरफ खींचते हैं तब उस स्थितिसे तंग आ जाते हैं । फिर भी हम उसे पकड़ लेते हैं । किन्तु भगवान् ऐसी स्थिति रखना नहीं चाहते किसी जीवकी कि वह भोगोंमें, रुपयोंमें, कुटुम्बमें फँसे । अर्थात् ऐसी कोई स्थिति नहीं जहाँ ठोकर न लगे । ऐसी कोई स्थिति हो तो आप बतायें । ठोकर तभी लगती है जब भगवान् हमें विशेषतासे याद करते हैं कि अरे ! कहाँ भूल गया तू! मुझे याद कर । मुझको छोड़कर कहाँ भटकता है ? पर हम फिर फँसते हैं । भगवान् यदि हमें याद नहीं करते तो हमें सुखकी इच्छा कभी नहीं रहती । परम सुख, परम आनन्द तो भगवान् ही हैं । हमें भगवान्की इच्छा होती है यह भगवान् हमें याद करते हैं, अपनी ओर खींचते हैं, पर वे जबरदस्ती नहीं करते ।

सार बात यह कि सभी काम भगवान्के हैं, सभी समय भगवान्का है, सभी व्यक्तियाँ भगवान्की हैं और सभी वस्तुएँ भगवान्की हैं । कोई भी क्रिया करते समय यह अनुभव निरन्तर होता रहे तो साधन निरन्तर हो सकता है, जिससे सबका कल्याण है ही ।

श्रीमद्भागवतकी मौलिकता और उसके महापुराण होनेमें प्रमाण

(लेखक—पण्डित श्रीगोपालदत्तजी शर्मा, ज्योतिषशास्त्री)

संसारके समस्त अध्यात्मग्रन्थोंका शिरोमणि श्रीमद्भागवत निगम-कल्पतरुका पका हुआ अमृत फल है। यह श्रीव्यासदेवकी समाधि भाषा है। यह अत्यन्त सरस, मधुर, ललित पदोंसे परिपूर्ण, भावगम्भीर, प्रसादगुणयुक्त कमनीय भावोंसे ओत-प्रोत अद्वैत भक्तिशास्त्रका सर्वस्व है। इसका उपकरण इतना मार्मिक है कि वह श्रोताओंके अन्तस्तलको आनन्दसमुद्रमें निमग्न कर देता है।

भगवान् व्यास पुराण, इतिहास और ब्रह्मसूत्रकी रचना करनेके बाद भी शान्ति प्राप्त करनेमें असमर्थ रहे, तब देवर्षि नारदके उपदेशसे निजकृत ब्रह्मसूत्रके अकृत्रिम भाष्यस्वरूप गायत्री-मन्त्रार्थरहस्य वेदार्थरूप श्रीमद्भागवतका निर्माण किया।

यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्मविस्तरः।
वृत्रासुरवधोपेतं तद्भागवतमिष्यते ॥
(मात्स्ये)

अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थविनिर्णयः।
गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ वेदार्थपरिबृंहितः ॥
द्वादशस्कन्धसंयुक्तः शतविच्छेदसंयुतः।
ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रः श्रीमद्भागवताभिधः ॥
(गारुडे)

सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम्।
निःश्रेयसाय लोकस्य धन्यं स्वस्त्ययनं महत् ॥
(भागवते)

अर्थात् जहाँ गायत्री-मन्त्रके रहस्यार्थके साथ धर्मोंका विस्तार वर्णन किया है। ब्रह्मसूत्र और भारतार्थका निर्णय किया गया है। वेदार्थ-परिबृंहित गायत्री-भाष्यका वास्तविक स्वरूप दर्शाया है। द्वादश स्कन्धयुक्त अठारह हजार श्लोकोंवाला श्रीमद्भागवत नामका रत्न जिसमें सम्पूर्ण वेद और इतिहासोंका सारसंग्रह किया गया है। जिसमें लोककल्याण और मोक्षप्राप्तिका विधान है।

श्रीमद्भागवतका प्रथम श्लोक 'जन्माद्यस्य' बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। इसमें गायत्रीमन्त्रका 'धीमहि' पद अन्तमें आया है और वेदमाताके अर्थको प्रकट करता है। पद्मपुराणके उत्तरखण्ड अध्याय १८९ से १९४ के मननसे श्रीमद्भागवतकी महापुराणता सिद्ध होती है। श्रीमद्भागवतकीर्त्तन-सभाका प्रथमाधिवेशन सरस्वती नदीके पश्चिमतट 'शम्याप्रास' नामक स्थान बदरिकाश्रमके व्यासाश्रममें हुआ था। जहाँ श्रीव्यासदेवने श्रीनारदके आदेशसे महाग्रन्थका प्रणयन कर सर्वप्रथम निजपुत्र श्रीशुकदेवको अध्यापन किया था। फिर द्वितीय अधिवेशन श्रीगङ्गातीरपर 'शुकताल' स्थानपर हुआ था जहाँ महर्षि शुकदेवने महाराजा परीक्षित्के निकट लोमहर्षणि श्रीसूत गोस्वामीप्रमुख अनेक ऋषि-महर्षियोंके सम्मुख एक सप्ताह कालतक श्रीमद्भागवत-कथा कीर्तन की। इसके बाद तृतीय अधिवेशन गोमती नदी-तटस्थित 'श्रीनैमिषारण्य' में हुआ। जहाँ श्रीसूत गोस्वामीने श्रीशौनकादि ऋषियोंको श्रीमद्भागवत कथा श्रवण करायी। ये तीन ही अधिवेशन साङ्गोपाङ्ग सम्पन्न हुए थे।

श्रीमद्भागवतपर सैकड़ों टीकाएँ बनीं। सभी आचार्योंने टीकाएँ बनायीं, जिनमें श्रीधरस्वामीकी भावार्थदीपिका बड़ी महत्त्वपूर्ण और सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। श्रीधर स्वामीका आविर्भाव ई० ११०० माना जाता है। ये भगवान् नृसिंहके उपासक थे। इन्होंने अपनी टीकाके प्रारम्भमें यह श्लोक लिखा है—

व्यासो वेत्ति शुको वेत्ति राजा वेत्ति न वेत्ति वा।
श्रीधरः सकलं वेत्ति श्रीनृसिंहप्रसादतः ॥

अर्थात् भागवतका तात्पर्य श्रीव्यासदेव और महर्षि शुकदेव जानते हैं। महाराज परीक्षित् जानते हैं या नहीं ? यह संदेहजनक है। किंतु श्रीधरस्वामी भगवान् नृसिंहके प्रसादसे पूर्णरूपसे जानते हैं। इसलिये यह टीका अधिक लोकप्रिय हुई है। यह टीका अद्वैत-मतानुयायिनी है। तब भी श्रीचैतन्य महाप्रभुको यह अत्यन्त प्रिय हुई थी। भागवतके प्रथम श्लोकपर १०० प्रकारकी टीकाएँ श्रीवेंकटेश्वर प्रेस मुंबईसे प्रकाशित हो चुकी हैं। इसी प्रकार अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत और द्वैत आदि समस्त सम्प्रदायोंके आचार्योंने श्रीमद्भागवतपर टीकाएँ लिखी हैं।

आधुनिक ऋषिकल्प स्व० डा० भगवानदास वाराणसीने अपने 'पुरुषार्थ' ग्रन्थमें लिखा है कि मेरी बहुत वर्षोंसे उत्कट इच्छा है कि भागवतका आद्योपान्त सरस पद्यमय अनुवाद हिंदीमें होता, जैसा तुलसीदासजीने रामायणका कर दिया। रामायणसे मर्यादापुरुषका सर्वाङ्गीण चित्र हमलोगोंकी आँखोंके सामने आता है। उत्तम पुत्र, उत्तम पति, उत्तम भ्राता, उत्तम प्रजापालक, उत्तम मित्र, उत्तम शत्रु, उत्तम वीर, उत्तम स्वामी, उत्तम पिता—इन भावोंका एकत्रीभूत चित्र वाल्मीकिने रामायणमें खींचा है। मधुकर-गीतसे अतिमानुष परम पुरुषका एक ही रूप देख पड़ता है। इतनेसे हमारा

काम नहीं चलता। हमको तो उनके सभी रूप चाहिये। मुझे बड़ा आश्चर्य और खेद है कि भारतवर्षके हिंदी कवियोंने भागवतके सर्वजनीन अनुवादकी ओर ध्यान नहीं दिया। रामायणके-जैसी भागवत भी तैयार हो जाय और अँधियारेको दूर करनेमें सहायता दे। डाक्टर साहबने श्रीमद्भागवतके महत्त्वपरक कई श्लोक और निजनिर्मित कई पद्य 'पुरुषार्थ' में इसी प्रसङ्गमें उद्धृत करके श्रीमद्भागवतकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। अन्तमें जो हृदयग्राही मार्मिक शब्द लिखे हैं, वे इस प्रकार हैं—

यदि हमारे वर्तमान कवियोंमें ऐसी मानस और पार्थिव आभ्यन्तर और बाह्य तीर्थोंकी और गुरुजनोंके चरणोंकी पवित्र सेवाका पुण्य उदय होगा तथा हिंदीभाषी भारतवासियोंमें भी, तब वे इनको यह समग्र कथा सुनानेका यत्न करेंगे और सुनेंगे। मेरा ऐसा भाग्य नहीं, ऐसा पुण्य नहीं, मेरे पास ऐसी कविताशक्ति नहीं जो इस उच्चकोटिकी भगवत्सेवा कर सकूँ! मेरे लिये मेरी क्षुद्रताके अनुरूप दूसरी बहुत नीची कोटिकी चाकरीकी आज्ञा दी गयी है, सो भी नहीं निभती, इसलिये इस महाकार्यके लिये दूसरोंसे प्रार्थना करता रहता हूँ—इत्यादि।

इस प्रकार भागवतकी महिमा अनेक प्राचीन-अर्वाचीन मनीषियोंने गायी है। डाक्टर साहबने तो पुरुषार्थके कोई २० पृष्ठ रँगे हैं। यहाँ लेख-विस्तारभयसे अधिक उपकरण नहीं दिया जा सका।

श्रीमद्भागवत-जैसे ग्रन्थरत्नके सर्वसाधारणके लिये अनायास उपलब्ध रहते हुए हमारे दुर्भाग्यसे हमारे कुछ विद्वानोंने किसी सामयिक कारणसे जनसाधारणकी इधर अनास्था करा देनेका प्रयत्न किया, जिससे अध्यात्म-जगत्‌की बड़ी हानि हुई। पुराणोंकी वास्तविक विशेषताके परिज्ञानसे रहित कुछ लोगोंने श्रीमद्भागवतको बोपदेवकी कृति बतला दिया। इससे बहुत-से इतिहासविशेषज्ञ कहलानेवालोंके मस्तिष्कमें भी विकृति आयी और उसका प्रभाव सर्वसाधारण जनोंपर भी पड़ा। अब मैं श्रीमद्भागवतके व्यासदेवकी कृति होने और बोपदेवकी न होनेके परिपुष्ट प्रमाण उपस्थित करता हूँ।

१. बोपदेव १३वीं शताब्दीमें हुए थे। उन्होंने एतद्विषयक तीन ग्रन्थ प्रकट किये थे। १. हरिलीलामृत, २. मुक्ताफल, ३. परमहंसप्रिया। हरिलीलामृत काशीसे प्रकाशित हो चुका है, जिसमें भागवत ग्रन्थके अध्यायोंकी सूची दी है। मुक्ताफल कलकत्तेसे प्रकाशित हुआ है और परमहंसप्रिया अप्रकाशित है। मुक्ताफलके प्रारम्भमें ५ श्लोक और अ
६—इस प्रकार कुल ११ श्लोक बोपदेवकी रचना है।
ग्रन्थके समग्र श्लोक भागवतके हैं। मुक्ताफलमें कुल
अध्याय हैं और ८०० श्लोकोंका संग्रह है। बोपदेवने भक्ति
नौ रसोंके श्लोकोंको एकत्र लिपिबद्ध किया है। बोपदे
परमहंसप्रियामें श्रीमद्भागवतकारके एक हजारसे अधि
आर्ष प्रयोग ऐसे दिखलाये हैं जो व्याकरणसे सिद्ध नहीं हो
क्या कोई अपनी ही गलती इस प्रकार प्रकट करनेकी
करता है?

२. महाराष्ट्रके अन्तर्गत देवगिरिके यादववंशीय रा
महादेव और रामचन्द्रके हेमाद्रि १२६० ई० से १३०१ ई०
तक मन्त्री थे। बोपदेव इन्हीं हेमाद्रिके आश्रित थे। हेमाद्रि
अपने 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' और 'दानखण्ड' ग्रन्थोंमें भागवत-
के श्लोकोंको प्रमाणमें प्रस्तुत किया है। क्या अपने आश्रि
की रचनाके उपकरणको प्रमाणमें उपस्थित कर कोई अ
ग्रन्थकी और व्यक्तित्वकी प्रतिष्ठा पा सकता है?

३. कहा जाता है कि श्रीशंकराचार्य और रामानु
चार्यने कहीं अपने भाष्योंमें भागवतका स्मरण नहीं किया!
इसलिये भागवतकी रचना इन दोनोंके बादकी है! य
नितान्त भ्रम कल्पित है। श्रीशंकराचार्यने ब्रह्मसूत्रपर शारीरक
और श्रीरामानुजने श्रीभाष्यका निर्माण किया है। श्रीमद्भागवत
ब्रह्मसूत्रकी समाधि भाषामें व्याख्या है। यथा—

वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि।
समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्॥

अतः व्याख्याका प्रमाण ब्रह्मसूत्रको अपनी व्याख्या
न दिया हो। अपने अन्यान्य ग्रन्थोंमें दोनों आचार्योंने य
स्थान भागवतके प्रमाण उद्धृत भी किये हैं। पद्मपुरा
श्रीविष्णुसहस्रनामके शांकर-भाष्यमें 'स आश्रयः परं ब्र
परमात्मेति शब्द्यते' इति भागवते २। १०। ७ इति प्रथ
शतके पञ्चमनामव्याख्याने। अर्थात् पहले शतकके
नामके व्याख्यानमें। आगे ५५वें नामके व्याख्या
'पश्यन्त्यदो रूपमदभ्रचक्षुषा सहस्रपादोरुभुजाननाद्भुत
१। ३। ४ यह श्लोक दिया है। इसके अतिरिक्त श्रीशंक
चार्यने अपने 'चतुर्दशमतविवेक' ग्रन्थमें श्रीमद्भागवत
नामोल्लेख किया है। श्रीरामानुजाचार्यके वेदान्ततत्त्वसार
भागवतके बहुत-से वाक्य उद्धृत हुए हैं।

४. श्रीशंकराचार्यके दादा गुरु श्रीगौडपादाचार्यने उत्त
गीताके भाष्यमें 'तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्य

स्थूलतुषावघातिनाम्’। १० । १४ । ४ श्लोक भागवतसे उद्धृत किया है। इसके अतिरिक्त ईश्वरकृष्णकी ‘सांख्य-कारिका’ के ऊपर गौडपादकी माठर वृत्ति है। उसमें भागवत १ । ८ । ५२ का श्लोक उद्धृत किया गया है—

यथा पङ्केन पङ्काम्भः सुरया वा सुराकृतम्।
भूतहत्यां तथैवैकां न यज्ञैर्मार्ष्टुमर्हति ॥

आगे इसीमें, ‘एतद्व्यातुरचित्तानां मात्रास्पर्शेच्छया विभुः’ (२ । ६ । ३५) आया है। इसी माठर वृत्तिको ५५७में परमार्थ पण्डितने चीनी भाषामें अनुवाद किया था। गौडपादाचार्यका समय छठी शताब्दीके उत्तरार्द्धमें माना जाता है, इसलिये भागवत छठी सदीसे प्राचीन है। श्रीरामानुजने अपने वेदार्थसंग्रहमें विष्णुपुराण और मत्स्यपुराणको प्रामाण्यरूपसे ग्रहण किया है। उक्त दोनों पुराणोंमें भागवतका नाम कई जगह आया है। इससे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि भागवत व्यासदेवकी कृति है।

५. अन्यान्य बहुत-से आचार्य जो एक हजारकी शताब्दीसे पहले हुए हैं, उन सबने भागवतको प्रमाण-कोटिमें लिया है। इधरमें फैलाया हुआ भ्रम कि ‘भागवत बोपदेवकी कृति है।’ उक्त प्रमाणोंसे निरस्त हो जाता है।

६. अब एक बात और रह जाती है कि पुराणोंमें इसी भागवतकी गणना है वा देवीभागवतकी? यह विवाद भी भागवतप्रेमियोंमें बहुत समयसे सिरदर्द पैदा करता है; किंतु विद्वत्समाजके द्वारा इस प्रश्नका भी निर्णय हो चुका है। देवीभागवतपर एक ही टीका हुई है; किंतु भागवतपर सैकड़ों व्याख्यान हैं। शास्त्रीय एक ही सिद्धान्तसे यह निर्णय हो जाता है कि देवीभागवत पदका किसी साधारण व्यक्तिके द्वारा नामकरण हुआ है। ‘तस्येदम्’ यह पाणिनीय ४ । ३ । १२० का सूत्र है। इससे ‘भगवत इदं भागवतम्’ पद निष्पन्न होता है। इसी प्रकार ‘भगवत्या इदं भागवतम्’ यह पद सिद्ध नहीं होता। ‘भगवती’ शब्द स्त्रीलिङ्ग है। अतः ‘स्त्रीभ्यो ढक्’ ४ । १ । १२० इस सूत्रके अनुसार ‘भागवतीय’ शब्द निष्पन्न होता है। इससे प्रमाणित होता है कि बहुमानित श्रीमद्भागवतके अवैध अनुकरणसे देवीभागवतकी रचना हुई है।

७. इस युगमें चतुर्वर्ग-फलदायक श्रीमद्भागवत-जैसा चित्त-प्रसादन करनेवाला शान्तिका प्रतीक ग्रन्थरत्न सर्वसाधारणके लिये समुपलब्ध है। इसका हिंदीभाषार्थसहित सस्ते-से-सस्ता सचित्र संस्करण गीताप्रेससे उपलब्ध हो सकता है। आत्मकल्याणके लिये भवसागरको तरनेकी यह सुदृढ़ नौका है। साधक दलदलसे निकलकर इधर प्रयत्नशील हों। श्रीमद्भागवतके बाहरी रंग-रूपके दिग्दर्शनके लिये इस लेखमें अकाट्य प्रमाण उपस्थित किये गये हैं। विद्वान् लोग समीक्षा करें। आगे अन्तरङ्गरूपको प्रस्तुत करनेका प्रयत्न किया जा सकता है।

हे राम !

मेरे ललित ललाम।
भेज रहा हूँ भोज-पत्रपर लिखकर प्रणत प्रणाम ॥
चाह रहा हूँ तुम आ जाते मेरे हृदय-भवनमें।
रह जाती न तुम्हारे दर्शनकी अभिलाषा मनमें ॥
तुम्हें बिठाकर प्रेमासनपर हो जाता निष्काम।
मेरे ललित ललाम ॥

(२)
तुम न पधारे तो जाऊँगा तुम्हें खोजने वनमें।
जहाँ किये तुम बास भभूत रमाये कोमल तनमें ॥
पंचवटी-पथ, चित्रकूट है लेते अभी तुम्हारा नाम।
मेरे ललित ललाम ॥

(३)
कहीं मिली जो शिला-अहल्या तो मैं पता पूछ लूँगा।
पद-स्पर्शके लिये प्रतीक्षामें संसार भुला दूँगा ॥
कब अवसर वह दोगे मुझको, हे मेरे लीलामय राम !
मेरे ललित ललाम ॥

(४)
खोजूँगा फिर अवधपुरीमें, मिले न तुम यदि वनमें।
जहाँ सिंहासनपर बैठे भर भक्ति-भाव जन-जनमें ॥
कहाँ छिपोगे इन नयनोंसे कहलाकर तुम राजा राम।
मेरे ललित ललाम ॥

(५)
तुम मिलते हो, मैं सुनता हूँ, दुखियोंके क्रन्दनमें।
खोजूँगा मैं तुम्हें नहीं धनपतियोंके कंचनमें ॥
जहाँ मिले, तुम वहीं बन गया भक्तोंका पावन सुख-धाम।
मेरे ललित ललाम ॥

(६)
खोज-खोज केवटके आग्रहको लाऊँ जीवनमें।
प्रेम-भक्ति शबरीकी पाऊँ, तुम मिल जाओ क्षणमें ॥
तुम्हें खोजना ही अब मेरा रहे जगतमें काम।
मेरे ललित ललाम ॥

—जगन्नाथ मिश्र गौड़ ‘कमल’ विद्यालंकार

तुलसीदासजीकी सौन्दर्य-भावना

(लेखक—श्रीपरमलालजी गुप्त)

सौन्दर्य एक सापेक्ष शब्द है। इसके दो पक्ष हैं—१—विषयिगत और २—विषयगत। इसी आधारपर विद्वानोंमें दो प्रकारके प्रवाद प्रचलित हो गये हैं। कुछ विद्वान् सौन्दर्यको विषयिगत मानते हैं और कुछ विषयगत।

विषयिगतपक्षका समर्थन पाश्चात्य विद्वान् क्रोचे, कालिंगवुड आदिने अत्यन्त प्रबलतासे किया। क्रोचेके मतानुसार बाह्य जगत्की तो कोई सत्ता ही नहीं है; जो कुछ है वह सब मनमें है। वस्तुओंका जो रूप प्रत्यक्ष दिखायी देता है, वह मनने अपनी सुविधाके लिये बना लिया है। बाह्य वस्तुओंके संसर्गसे हमारी आत्मामें कुछ अरूप संवेदन होते हैं, जिन्हें कल्पना बिम्बरूप दे देती है। यही सहजानुभूति (Intuition) है, यही अभिव्यञ्जना है और यही सौन्दर्य। क्रोचे सौन्दर्यको अभिव्यञ्जनासे विलग कोई वस्तु नहीं समझते। (We may define beauty as successful expression or better as expression and nothing more because expression when it is not successful is not expression.) अभिव्यञ्जना पूर्णतया मानसिक क्रिया है। उसका बाह्य जगत्से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिये सौन्दर्य वस्तुगत न होकर आत्मगत होता है। (Beauty does not belong to things, it belongs to the human aesthetic activity.) बाह्य वस्तुओंमें जो सौन्दर्य दिखायी देता है, वह बार-बार उस वस्तुके सम्बन्धमें सौन्दर्यमयी उक्तियाँ सुननेके कारण। इस प्रकार क्रोचेने सौन्दर्यको पूर्णतया आत्मगत स्वीकार किया।

हमें एक सीमाके अन्तर्गत सौन्दर्यको विषयिगत स्वीकार करनेमें कोई आपत्ति नहीं। परंतु हम सौन्दर्यके विषयगत पक्षको भूल नहीं सकते। सौन्दर्य-भावनामें काल, सांस्कृतिक परिस्थिति, मानसिक स्थिति आदि प्रभाव डालते हैं। हम कह सकते हैं कि 'जब दिल लगा दीवारसे तो परी क्या चीज है' परंतु हम पूछना चाहते हैं कि परी और दीवार क्या समान सौन्दर्यकी वस्तुएँ हैं। फिर हम जगत्की कुछ वस्तुओंके प्रति क्यों आकृष्ट होते हैं और कुछके प्रति क्यों नहीं! उदाहरणके लिये हमारे समक्ष एक सुन्दर स्त्री और एक पुरुष खड़े हुए हैं। क्यों हमारी दृष्टि नारीकी ओर स्वभावतः खिंची जाती है। अभिव्यञ्जनावादका समर्थक यह उत्तर दे सकता है कि 'मनने ही एकको सुन्दर और दूसरेको असुन्दर मान लिया है। नारी और पुरुषमें सुन्दरता और असुन्दरताका कोई प्रश्न नहीं।' ठीक है, परंतु हम पूछते हैं कि 'यदि हमारे सामने नारी और पुरुष न होते तो मनमें सौन्दर्यकी कोई प्रतिक्रिया होती ही क्यों? इसलिये वस्तुका अस्तित्व कैसे अस्वीकार किया जा सकता है?' स्वयं क्रोचे भी वस्तुगत आधारको पूर्णतया विस्मृत नहीं करता।

सौन्दर्य कुछ अंशोंतक वस्तुमें होता है। यह वस्तुके गुण, रेखाओं आदिके सामञ्जस्यपर निर्भर है। ताजमहलका सौन्दर्य सभीको अपनी ओर आकृष्ट करता है। इसका कारण है—उसके अङ्गोंका सामञ्जस्य, विषयीकी भावनामात्र नहीं। नारीके सौन्दर्यका क्या कारण है? उसके सभी अङ्गोंका सामञ्जस्य। जहाँ यह सामञ्जस्य गड़बड़ हो जाता है, वहीं भद्दापन प्रतीत होने लगता है। सौन्दर्यका मानदण्ड विभिन्न हो सकता है, परंतु सौन्दर्यका आधार वहाँ भी वस्तुगत होता है। इसलिये सौन्दर्य विषयिगत तथा विषयगत दोनों है। किसी एकको हम अलग करके नहीं रख सकते। सौन्दर्यके इन दो रूपोंको एक दूसरेसे विलग करके समझना दुस्साध्य ही नहीं, वरं असम्भव है। इसी कारण घनानन्दने कहा है—

लिखि राख्यौ चित्र यौं प्रवाह रूपी नैननि में
लहि न परति गति उलट असेरे की ।
रूप कौ चरित्र है अनंदघन जान प्यारी
ए किधौं बिचित्रताई मो चित चितेरे की ॥

सौन्दर्य विषयगत है या विषयिगत, इसे कवि स्वयं नहीं समझ पाता ।

फिर भी सौन्दर्यके इन दो पक्षोंमें कभी किसी पक्षकी प्रधानता हो सकती है, कभी किसीकी । तुलसीकी सौन्दर्यभावना विषयिगत अधिक है, यद्यपि विषयगत रूपको भी वे भुला नहीं सके । उन्होंने अपने मनकी भावनाके अनुसार संसारके समस्त सौन्दर्यको असत्य एवं माया कहकर अस्वीकार कर दिया है । उनकी आँखें अलौकिक सौन्दर्यकी खोज करती हैं; परंतु उस सौन्दर्यको भी वे लौकिक धरातलपर उतार देते हैं । जहाँ उन्होंने संसारके झूठे सौन्दर्य या नारी-सौन्दर्यके प्रति मनको सचेत किया है, वहाँ भी वे उसके प्रति पूर्णरूपसे अचेतन नहीं हैं । फिर भी, उन्होंने बाह्य सौन्दर्यकी अपेक्षा आन्तरिक सौन्दर्यको अधिक महत्त्व दिया । बनावटीपनकी निन्दा करते हुए सहज सौन्दर्यकी सराहना की—

चरन चोंच लोचन रँगौ, चलौ मराली चाल ।
छीर-नीर-बिबरन समय बक उघरत तेहि काल ॥
(दोहावली)

बाह्य सौन्दर्यमें आन्तरिक कुरूपता कैसे छिप सकती है। गोस्वामीजी उन भक्तोंमेंसे हैं, जो सद्‌गुणोंको महत्त्व देकर अपने आराध्यके व्यापक सौन्दर्य-सागरमें डुबकियाँ लगाया करते हैं । उनकी आँखें केवल उसी रूप-माधुरीका पान करती हैं । इस प्रकार उन्होंने समस्त सांसारिक सौन्दर्यसे अपना मन हटाकर आराध्यके सौन्दर्यमें ही उसका केन्द्रीकरण कर दिया है । उनका मन किसी भी स्थितिमें उस सौन्दर्यसे अलग नहीं होना चाहता । उसने चातककी टेक अपना रखी है । चातकके नेत्र सदा घनके सौन्दर्यकी ओर अटके रहते हैं, भले ही उसे कठिन साधना करनी पड़े—

उपल बरसि गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर ।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर ॥

तुलसीने इसी प्रणको लेकर समस्त सांसारिक सौन्दर्यके प्रति विरक्ति प्रदर्शित की है । इसलिये उनके काव्यमें प्रकृति एवं नारी-सौन्दर्यकी छटा दिखायी नहीं देती । तुलसीने सीताके सौन्दर्यका जो चित्रण किया है, वह अपने आराध्यकी आराधिका धर्मपत्नी होनेके कारण । साथ ही यह सौन्दर्य अत्यन्त मर्यादित एवं सात्त्विक प्रभाव उत्पन्न करनेवाला है । उसमें अन्य कवियोंकी भाँति नखशिख आदिका स्थूल चित्रण नहीं है । उसमें हृदयको द्रवित करनेका अनुपम गुण है । उसकी प्रभावात्मक विमलता देखिये—

सखि ! सरद बिमल बिधु बदन बधूटी !
ऐसी ललना सलोनी न भई, न है, न होनी,
रच्यौ रची बिधि जो छोलत छबि छूटी ॥
साँवरे गोरे पथिक बीच सोहति अधिक,
तिहुँ त्रिभुवन-सोभा मनहुँ लूटी ।
तुलसी निरखि सिय प्रेम बिबस कहैं तिय,
लोचन-सिसुन्ह देहु अमिय घूटी ॥

सूरदासके सौन्दर्य-वर्णनमें यह बात नहीं है । सूरने नारी-सौन्दर्यके अनेक चटकीले और मादक चित्र प्रस्तुत किये हैं । पर गोस्वामीजीकी दृष्टि उधर गयी ही नहीं है । उनका वर्णन अत्यन्त मर्यादित एवं संयमित है । उनकी भावनापर संतका अङ्कुश सदा लगा रहता है । उनके सौन्दर्याक्रममें ऐन्द्रिय उत्तेजनाका नितान्त अभाव है । उसमें हृदयको उदात्त बना देनेवाला गुण मिलता है । गोस्वामीजीने नारी-सौन्दर्यका सर्वाङ्ग चित्रण नहीं किया । इसका कारण यह है कि वे नारीको मायारूप मानते थे । अपनी साधनामें उन्होंने नारीको सबसे अधिक बाधक स्वीकार किया है—

काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि ।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद माया रूपी नारि ॥
(रामचरितमानस

तुलसीने 'गीतावली'में रामके सौन्दर्यका विस्तृत वर्णन किया है । बालवर्णन, जनकपुरकी स्त्रियोंद्वारा सौन्दर्य-वर्णन, वन-मार्गमें ग्राम-वधूटियोंद्वारा वर्णन, उत्तरकाण्डका वर्णन—सभी रामके सौन्दर्यसे भरे पड़े हैं । उसमें रामकी प्रत्येक अवस्थाके सौन्दर्यका अङ्कन हुआ है । सभी व्यक्ति रामके सौन्दर्यसे प्रभावित हैं । अधिकांशतः यह वर्णन रामके अङ्ग-नखशिखसे सम्बन्ध रखता है और इसमें परम्परागत उपमानोंका सहारा लिया गया है । परंतु इस परम्परागत वर्णनमें भी तुलसीकी कल्पनाने मौलिकता दिखायी है । देखिये—

अरुन चरन, अंगुली मनोहर, नख दुतिवंत कछुक अरुनाई ।
कंज दलनि पर मनहुँ भौम दस बैठे अचल सु-सदसि बनाई ॥
पीन जानु उरु चारु जटिल मनि नूपुर पदकल मुखर सुहाई ।
पीत पराग भरे अलिगन जनु जुगल जलज लखि रहे लुभाई ॥

× × ×

कंबु कंठ, चिबुकाधर सुंदर, क्यों कहौं दसनन की रुचिराई ।
पदुम कोस महँ बसे बज्र मनो निज सँग तड़ित-अरुन-रुचि लाई ॥
नासिक चारु, ललित लोचन, भ्रू कुटिल, कचनि अनुपम छबि पाई।
रहे घेरि राजीव उभय मनो चंचरीक कछु हृदयँ डेराई ॥

इसमें चरणोंके लिये कमल, कण्ठके लिये शङ्ख, अधरोंके लिये पद्मकोश, दाँतोंके लिये विद्युत्, लोचनोंके लिये कमल, बालोंके लिये भौंरे आदि सभी उपमान प्राचीन एवं रूढ़िगत हैं । परंतु तुलसीने उनकी योजना इस प्रकार की है कि प्रयोगमें मौलिकता दिखायी देती है।

गोस्वामीजीके अधिकांश सौन्दर्य-वर्णनोंमें सूक्ष्मताका अभाव है; किंतु उनमें उदात्तता अवश्य मिलती है । यही विशेषता उन्हें अन्य कवियोंसे ऊँचा उठा देती है । एक उदाहरण लीजिये—

दूलह राम, सीय दुलही री ।
घन दामिन बर बरन, हरन-मन सुंदरता नखसिख निबही री ।
सुषमा-सुरभि सिंगार-छीर दुहि मयन अमियमय कियो है दही री
मथि माखन सिय रामसँवारे, सकल-भुवन-छबि मनहुँ मही, री।
तुलसिदास जोरी देखत सुख सोभा अतुल न जात कही, री ॥
रूप-रासि बिरची बिरंचि मनो,सिला लवनि रति-काम लही री॥

पाठक देखेंगे कि इस वर्णनमें सूक्ष्म सौन्दर्य न हुए भी स्थूलता एवं वस्तुपरकता एक प्रकारसे सी हो गयी है । इससे मनमें एक उदात्त और भावनाकी सृष्टि होती है । मन उस सौन्द व्यापकताको अनुभूत करने लगता है, जो आकर भी संसारसे परे है और जिसमें सारको संकलित कर दिया गया है । यह तुलसी सौन्दर्य-वर्णनकी मौलिक विशेषता है, जो अन्य नहीं मिलती ।

गोस्वामीजीके सौन्दर्य-वर्णनकी एक अन्य त्मक विशेषता यह है कि उनका सौन्दर्य सम्बन्धित है । उन्होंने सौन्दर्याङ्कनमें सदैव ध्यान रक्खा है । इसी कारण उसमें स्वाभाविक और मर्यादा बनी हुई है । इसके विपरीत सूर कवियोंने केवल श्रीकृष्णके सौन्दर्य-पक्षको ही है । इसलिये उसमें अधिक उन्मुक्तता एवं प्राचुर्य है । तुलसीने रूप और शील दोनोंको समाविष्ट कर दिया है—

सजनी ! हैं कोउ राजकुमार ।
पंथ चलत मृदु पद कमलनि दोउ सील रूप आगार।

तुलसीने सौन्दर्यका वर्णन एक भक्तकी किया है, रसिककी दृष्टिसे नहीं। उनका उद्देश्य भगवान्के सौन्दर्यका प्रत्यक्षीकरण या कराना है, काम या विषयकी ओर आकृष्ट नहीं । इसी कारण उनके सौन्दर्य-चित्र मनको एवं पवित्र सौन्दर्यका बोध कराते हैं ।

'गीतावली'में रामकी विभिन्न मुद्राओं और स्थितियोंका सौन्दर्य भी मिलता है । रामकी समय एक मुद्रा देखिये—

सुभग सरासन सायक जोरें ।
खेलत राम फिरत मृगया बन, बसति सो मृदु मूरति मन मोरें।
जटा मुकुट सिर सारस-नयननि गौ हैं तकत सुभौंह सकौं।

इसमें मृगको लक्ष्य करके भौंहें सिकोड़कर निशाना साधनेकी कैसी स्वाभाविक मुद्रा है । इस सौन्दर्यका प्रभाव भी कैसा व्यापक है, देखिये—

सोभा अमित समाति न कानन उमगि चली चहुँ दिसि मिति फोरें।
चितवत चकित कुरंग कुरंगिनि सब भए मगन मदन के भोरें ॥

जिस सौन्दर्यको देखकर मनुष्य तो क्या, पशु-पक्षी तक मोहित हो जाते हैं, प्राकृतिक उपकरण आनन्दसे विभोर हो उठते हैं, क्या उसे लौकिक कहा जा सकता है ? परंतु इस सौन्दर्यकी दीप्ति पृथ्वीपर ही अपनी प्रभा विकीर्ण करती है । इसलिये यह लौकिकताकी पृष्ठभूमिपर अलौकिक सौन्दर्य है ।

अन्तमें एक गत्यात्मक सौन्दर्यका उदाहरण देकर इस प्रसङ्गको समाप्त करते हैं । मृगके पीछे दौड़ते हुए रामकी स्वाभाविक भङ्गिमाएँ देखिये—

सोहति मधुर मनोहर मूरति हेम-हरिन के पाछें।
धावनि, नवनि, बिलोकनि, बिथकनि बसै तुलसि उर आछें ॥

उपर्युक्त विश्लेषणसे सिद्ध है कि तुलसीकी सौन्दर्य-भावना अपनेमें नितान्त मौलिक और अतुलनीय है । मर्यादा, उदात्तता, शीलका समन्वय आदि उसकी प्रधान विशेषताएँ हैं ।

हृदयंगम

(रचयिता—श्रीबालयोगी प्रेमवर्णीजी)

(१)

एकताकी रागिनी हो ।
प्रेमका स्वर सुघर अन्तर
माधुरी कविकी घनी हो,
चाँदनीकी चूँदरीमें
पुनः वह सुख फागुनी हो ।
एकताकी रागिनी हो ॥

(२)

विरहकी अर्थी पुकारे—
'मिलनका अन्तिम पहर है ।'
नयनकी नदिया-किनारे
आँसुओंके बोझसे झुक
तिलमिलाते हैं सितारे ।
विरहकी अर्थी पुकारे ॥

(३)

तोड़ पलकोंके किनारे
आँसुओंके देशमें चल
जीवनी-स्वासें सहारे
स्वप्नके संसारमें सुधि
खो गयी राधा पुकारे ।
तोड़ पलकोंके किनारे ॥

(४)

मिट रहा अनागत खटका
आकुल अनादि फाँसीमें
प्रत्याशी जीवन लटका
आनन्द खोजता यह मन
जाकर तन-तनमें भटका ।
मिट रहा अनागत खटका ॥

(५)

रीझेंगे या खीजेंगे
भावुकता तन्मयतासे
क्या सच प्रीतम भीजेंगे
इन प्रेमिल मनुहारोंसे
चिर क्लेश-कर्म छीजेंगे ।
रीझेंगे या खीजेंगे ॥

(६)

संगममें डूबा तरता
चिर दुख संत्रस्त हृदय हो
सिंदूर प्रेमका भरता
कवि महाविरहकी मंजिल
रचना पदसे तय करता ।
संगममें डूबा तरता ॥

(७)

प्रियका सिंदूर बिखरता
टल रही प्रतीक्षा-वेला
अन्तर आकाश सिहरता
ये अन्धकारके आँसू
ऊषाका रंग निखरता।
प्रियका सिंदूर बिखरता॥

(८)

हृदयका घाव नहीं भरता
नीर नयनोंका मनभावन
विरहसे प्रेम नहीं डरता
भावनाका अनन्य राधन
किसीका चाव नहीं करता।
हृदयका घाव नहीं भरता॥

(९)

प्राणमें सिहर रहा संगीत
बह रहा विरह हृदय हिमशिला
पिघलती प्रीत, मुखरते गीत
मिलनके तारोंसे स्वर मिला
प्रेमकी हार कहूँ या जीत।
प्राणमें सिहर रहा संगीत॥

(१०)

विरहमें नींद नहीं आती
आँसुओंके प्रिय दर्पणमें
पलकमें पीड़ा हर्षाती
विहँसती राधा अर्पणमें
मधुर स्मृति प्यास सिहर जाती।
विरहमें नींद नहीं आती॥

(११)

प्रिय 'विरह योग' के रासी
चमके अंतर ज्वालामें
वह मेरे तन-मन वासी
सुधि आँसू सुमन सँजोती
कट रही हृदयकी फाँसी।
प्रिय 'विरह योग' के रासी॥

(१२)

पियाका गाँव आता है
उन्हींका प्रेम बन सम्बल
सतत पथ पर बढ़ाता है
नहीं कुछ, 'मैं' चढ़ाऊँ क्या?
दरशका दाँव आता है।
पियाका गाँव आता है॥

(१३)

वियोगिन गीत गाती है
'सुहागिन' माँग भरनेको
पियाके देश जाती है।
हृदय-वनसे 'सुमन' लेकर
चिदालयको सजाती है।
वियोगिन गीत गाती है॥

(१४)

प्रेमरस भोगी न आये।
हृदयकी अर्थी वरनको
कफन भी सोगी न लाये।
सिहरती सिटती मिलनको
पुलिनपर योगी न आये।
प्रेमरस भोगी न आये॥

(१५)

हो गयी प्रियसे सगाई
कह रही धड़कन हृदयसे
किंतु यह कैसी जुदाई
पीर विस्मृतिकी सतहसे
सुप्त थी आखिर जगाई।
हो गयी प्रियसे सगाई॥

(१६)

प्रिय दर्शन ज्योति जगाई
एकाकिन अधित्यकामें
चिर श्रद्धा पीर पगाई।
वह हृदय देशसे आये
जब अचल 'समाधि' लगाई।
प्रिय दर्शन ज्योति जगाई॥

(१७)
बीती वह भूल भुला देना
धूलमें पड़ा हुआ यह फूल
प्रेम द्रुम-मूल धुला लेना।
विरहसे उलझा हृदय-दुकूल
सुधियोंके शूल सुला देना।
बीती वह भूल भुला देना॥
(१८)
चरणमें बैठा धर धरना
देवता शरण तरण तारण
लिये तन तरणीको तरना।
विषयके विषम बवंडरसे
सुमनको दूर नहीं करना।
चरणमें बैठा धर धरना॥
(१९)
भृकुटिके मध्य सुरति-संगम
चित्तमें प्रियतमका दर्शन
हुआ चैतन्य प्राण निर्मम।
खिला मन बुद्धि अहं शतदल
ज्योतियोंका चिर हृदयंगम।
भृकुटिके मध्य सुरति-संगम॥
(२०)
हृदयसे हृदय हुआ अर्पण
सुषुम्णा सार योगका यज्ञ
चन्द्रमाका करता भेदन।
महाव्रत प्रज्ञाका आलोक।
पंचकोशोंमें परिवर्तन।
हृदयसे हृदय हुआ अर्पण॥
(२१)
पलक पंखोंकी मृदु फड़कन
कह रहीं 'प्रिय कल्पद्रुममें
बसा ले हृदय नीड़ निर्जन।
साधनामें मन-सुमन खिले
सुरभती सुधि बन संजीवन।'
पलक पंखोंकी मृदु फड़कन॥
(२२)
हृदयमें हर्षाया मधुवन
लाई श्वास समीर संदेश
आ रहे 'संगम'को सावन।
चाँदकी छायामें कुछ छन
सिसकता मेरा भावुक मन।
हृदयमें हर्षाया मधुवन॥
(२३)
हृदयमें प्रियका आवाहन
करे ऋण-धनसे संघर्षण
इन्द्रियोंका प्रतिपल नर्तन।
ज्योतियोंका यह आकर्षण
देखता 'मैं-पन' प्रज्ञा मन।
हृदयमें प्रियका आवाहन॥
(२४)
चित्तमें छिपा हुआ चेतन
करे संकेत महापथका
'परा पश्यन्ती' का गुञ्जन।
'चला रथ संगमको अविरल'—
अहं करता अनुप्रेरित मन।
चित्तमें छिपा हुआ चेतन॥
(२५)
चित्तमें चमक रहा चेतन
गुणत्रयका चिर संचित ऋण
चुकाने चपलाका वेतन।
अहंता-ममतामय कण-कण
चक्रवत् घूम रहा यह तन।
चित्तमें चमक रहा चेतन॥
(२६)
अचल है मेरा सिंहासन
हो रहा केवल ईक्षणसे
प्रकृतिमें प्रतिपल नित नर्तन।
गुणत्रयका प्रत्यावर्तन
सृजन संपोषण संहारन।
अचल है मेरा सिंहासन॥
(२७)
'निस्सङ्ग ज्योति' का निर्गम
संगीत सरस रचनाएँ
गङ्गा गिरि वास विहंगम।
सुहागिनि हो साधनाएँ
कर वरण शरण शिव-संगम।
'निस्सङ्ग ज्योति' का निर्गम॥

मनको सदा कल्याणकारी विषयोंमें लगाइये

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

हमारा मन जब एक विषयमें तृप्ति नहीं पाता, तब वह भागकर नये विषयको पकड़ता है। जब उसमें भी शान्ति नहीं पाता, तब तीसरे विषयकी ओर दौड़ता है। इस प्रकार वह सदैव इधर-उधर भटकता, लुढ़कता और कूदता-फिरता है, मानो उसकी कोई अमूल्य वस्तु खो गयी हो, जिसका पाना उसे आवश्यक है और जिसके बिना उसका कार्य नहीं चल सकता।

हमारे चञ्चल नेत्र इस संसारमें अनेक प्रकारके दृश्य देखते हैं, जिससे उनका प्रभाव मनपर पड़ता है। देखा गया है कि जीवनकी बहुत-सी घटनाओं, दृश्यों, परिस्थितियोंपर मन सुख मानता है। अतः इनपर वह देरतक टिका रहता है। बहुत-से ऐसे विषय हैं कि वह उनसे जल्दी ही पीछा छुड़ाना चाहता है।

अतः मनको किसी एक सुन्दर उपयोगी, कल्याणकारी विषयपर टिकाये रखना संयमकी अपेक्षा सुगम है। अभ्यासमें सिद्धि प्राप्त करनेके लिये जिज्ञासुको सर्वप्रथम इसी साधनाका आश्रय लेना चाहिये। भक्तोंको प्रायः इसके द्वारा अधिक सहायता मिलेगी।

यदि उन्नतिके इच्छुक महान् पुरुषोंके चरित्रों, इतिहास, पुराण, गीता, रामायण इत्यादि धर्म-ग्रन्थोंमेंसे किसी मनोहर लीलाको लेकर उसका साङ्गोपाङ्ग स्पष्ट चित्र अपने मानसिक जगत्‌में स्थिर करे, उसीमें देरतक रमण करे, वही मानसिक वातावरण बनाये रहे, तो उन्नति हो सकती है। धीरे-धीरे वे ही भाव जीवनमें स्पष्ट हो सकते हैं। इस रीतिसे धीरे-धीरे मन एक मार्गपर एकाग्र हो सकता है।

ज्यों-ज्यों वह मानसिक एकाग्रता, चरित्र और भाव-चित्रमें अपना प्रवेश पाता जायगा, त्यों-त्यों यह आदत मजबूत होती जायगी और मन सरलतापूर्वक एकाग्र होने लगेगा। जीवनकी किसी मनोहर सुन्दर घटनाको मानसिक जगत्‌में उपस्थित करनेसे चित्तका संयम जितना हो सकता है, उतना किसी पुस्तकको पढ़ने अथवा विषयको या दुहरानेसे नहीं हो सकता।

जिन लोगोंने मनका साधन आरम्भ कर रखा है उनकी प्रायः ये शिकायतें होती हैं कि संयमके साधन का यत्न करनेसे चित्तकी चञ्चलता और भी अधिक बढ़ जाती है। वे कहते हैं कि हम मनको एकाग्र करना चाहते हैं, परंतु वह नहीं होता। कुछ अंशोंमें यह शिकायत ठीक है, परंतु वास्तवमें देखा जाय, तो उनका साधन ही गलत है; क्योंकि वे एक म्यानमें दो तलवारें रखनेका प्रयत्न करते हैं। एक विषयको पकड़े हुए हम दूसरे विषयको नहीं पकड़ सकते। एक साथ ही हम दो नावोंमें नहीं बैठ सकते। प्रत्यक्ष हम यह देखते हैं कि जहाँ बहुत शोर हो रहा हो या जहाँ तीन-चार मनुष्य एक साथ ही बोल उस समय हम सबोंको बात एक ही समयमें नहीं सुन पड़ती, क्योंकि हमारा मन सदा एक ही विषयको देखता, सुनता एवं विचार करता है। पुस्तकके दो पृष्ठों अथवा दो लकीरोंको हम एक साथ कभी नहीं पढ़ सकते।

अतः इससे यह सिद्ध है कि हमारा चित्त सदैव एक ही विषयको पकड़ता है; पर कठिनाई यह है कि वह अधिक कालतक उसपर स्थिर नहीं रहता। इसलिये जबतक हम एक मुख्य बातको, जो हमारे चित्तमें जमी हुई है, न छोड़ दें, तबतक चित्त दूसरे विषयपर स्थिर नहीं हो सकता। जो विषय उपयोगी हैं, जिनसे वास्तवमें हमारा सच्चा लाभ हो सकता है, जो हम अध्ययन कर रहे हैं, उन्हींपर मनको बारंबार एकाग्र करना चाहिये। इस प्रकार एकाग्रताकी सिद्धि हो सकती है।

उदाहरणके लिये जब बालक रोता है, उस समय यदि हम उसे भय दिखायें और कहें कि 'चुप हो जा, नहीं तो पीटेंगे।' तो शायद ही वह चुप हो; परंतु इसकी अपेक्षा और भी अच्छा साधन उसको चुप करनेका यह है कि उसे कोई खिलौना दे दिया जाय, मिठाई दे दी जाय या अन्य पदार्थ जो उसे पसंद हो, तो वह धमकाये जानेकी अपेक्षा शीघ्र ही चुप हो जायगा और प्रसन्न भी हो जायगा। यही हाल हमारे मनका भी है। इसके विषयमें श्रीकृष्णभगवान्‌ने जो कुछ कहा है, ह महत्त्वपूर्ण है—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥
(गीता ६। ३५)

उन सब साधकोंको जो मनका साधन कर रहे हैं, दृढ़ताके साथ उन संकल्पोंपर दृष्टि रखनी चाहिये, जो चित्तमें सदा प्रवेश करते रहते हैं। उनमेंसे केवल शुभ और उत्कृष्ट संकल्पोंको ही अपने इच्छानुसार संग्रह करते रहना चाहिये। अशुभ और हानिकर संकल्पोंके आवेशको रोकना चाहिये। यह तभी होगा, जब सदा शुभ संकल्पोंको ग्रहण करनेका ध्यान रहे। इससे अशुभ संकल्प आप ही न फटकने पायेंगे। इसमें अभ्यास ही प्रमुख बात है। अभ्याससे हमारा मन बलवान् होगा। हमपर दूसरोंके बुरे विचारों तथा गालियोंका प्रभाव न पड़ेगा।

बहुधा लोग अशुभ विचारों तथा अप्रिय अवस्थाओंका ही चिन्तन करते रहते हैं और उनसे अपना पीछा छुड़ानेके लिये युद्ध करते रहते हैं। रोगी मनुष्य यदि रोगका ही चिन्तन सदैव करता रहेगा तो वह कदापि स्वस्थ नहीं हो सकता, चाहे कितनी ही ओषधियोंका सेवन करे। इसके विपरीत यदि मनुष्य दवा ही न ले और अपने ही संकल्पको बलवान् रखकर मनकी चञ्चलतापर संयम करके पूर्ण स्वस्थ तथा आनन्दमय अवस्थाका चित्र ही अपने मानसिक जगत्‌में उपस्थित करे और यह धारणा करे कि वह पूर्ण स्वस्थ है तो वह अवश्य स्वस्थ हो जाता है। सद्विचार ही वह बीज है, जो जीवनको स्वस्थ, सुन्दर और तृप्त बना सकता है।

अपने कष्टोंको कभी मत गिनिये। जबतक वे बिल्कुल आ ही न जायँ, तबतक निरन्तर उनकी भयावह कल्पनाएँ कर अपनी उत्कृष्ट सृजनात्मक शक्तिका क्षय मत कीजिये।

प्रिय व्यक्तियों, अपनी छोटी-बड़ी सफलताओं, अपनी समृद्धि और यश-प्रतिष्ठा इत्यादिकी मङ्गलकारी स्मृतियाँ ही मन-मन्दिरमें बसाइये। अपनी सफलताओंके विषयमें चिन्तन करने, उन्हींमें लगे रहने तथा उन्हीं दिशाओंमें विकास करनेसे नयी शक्तिका प्रादुर्भाव होता है। अपनी शक्तिकी बातें सोचनेसे शक्तियोंका विकास होता है।

* * *

अनन्य प्रेम ही सर्वोत्तम भजन है

उमा जोग जप दान तप नाना ब्रत मख नेम।
राम कृपा नहिं करहिं तसि जसि निष्केवल प्रेम॥
पन्नगारि सुनु प्रेम सम भजन न दूसर आन।
यह बिचारि मुनि पुनि पुनि करत राम गुन गान॥
(श्रीरामचरितमानस)

* * *

मितव्ययिताका आदर्श

(लेखक—श्रीरमाकान्तजी मिश्र)

अर्थशास्त्रकी ट्युटोरियल कक्षा । प्राचार्य महोदयके सामने टेबलपर अभ्यास-पुस्तिकाएँ पड़ी थीं । छोटे प्रश्नोंके लंबे-चौड़े उत्तर । विद्यार्थियोंकी आँखें प्राचार्य महोदयके चेहरेपर थीं और प्राचार्य महोदयकी आँखें अभ्यास-पुस्तिकाओंकी पंक्तियोंपर । उन्होंने पुस्तिकाओंको देखनेके बाद लड़कोंकी ओर देखते हुए कहा, 'Be clear and concise' (अर्थात् आपके उत्तर स्पष्ट एवं संक्षिप्त होने चाहिये ।)

संध्याके समय एक दिन मन्त्री महोदय आये । आनेका उद्देश्य 'राष्ट्रीय प्रतिरक्षा-कोष'से सम्बन्धित था । उन्होंने भाषणके तारमें कह डाला,—'आज राष्ट्रके सामने जो खतरा है, उसे दूर करना हम सबोंका परम कर्तव्य है । आज आवश्यकता है कि हम स्वयं अपनी कुछ आवश्यकताओंको भूल जायँ और राष्ट्रके हितमें अपने तुच्छ हितोंकी बलि दे दें····।' अपने लंबे और सारगर्भित भाषणमें मन्त्रीजीने योजना एवं राष्ट्रीय रक्षाके लिये मितव्ययितापर जोर दिया ।

देशके बड़े-बड़े समाचारपत्रोंने मुख-पृष्ठोंपर लिखा, 'Wage war on wastes' (अर्थात् हम बर्बादियोंसे लड़ें) ।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने तो बहुत पहले ही आसक्ति और अनबुझी आवश्यकताओंके विषैलेपनपर प्रकाश डालते हुए अर्जुनसे कहा था—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥
(२ । ६२-६३)

आवश्यकताओंकी अनन्त, दूषित कुण्डलिनी और उनके भयावह परिणामोंकी ओर लोगोंके ध्यान सदासे आकर्षित किये गये हैं ।

* * *

आप मानेंगे कि सभीकी कुछ आवश्यकताएँ हैं । जीवित रहनेके लिये हमें वायु चाहिये, चाहिये, वस्त्र चाहिये, अन्न और जल चाहिये । कहिये, संसारमें आते ही आवश्यकताओंने हमें आ फिर भी दो रास्ते हैं—अपव्यय और मितव्यय । सारी अशान्ति और शान्ति बसती है ।

लगाम ढीली की और घोड़ा लगा हवासे करने । रास कड़ी हुई और बेचारा घोड़ा रास्तेपर लगा । पर एक ऐसा घोड़ा होता है, जो काफी और उद्दण्ड हो जाता है । वह अपने प्राणोंकी भी नहीं करता । लगामसे उसके जबड़े छिल जाते हैं, भी वह रुकनेका नाम ही नहीं लेता जबतक कि गिर नहीं पड़ता ।

* * *

घरमें बच्चे नये खिलौनेके लिये मचलते हैं । नये गहनोंके लिये रूठती हैं । आवश्यकताओंकी अत्यन्त तीव्र है । हमें मोटर चाहिये, आलीशान चाहिये, बगीचा चाहिये, सेवकोंका एक दल चाहिये ये न भी मिलें, फिर भी दिवा-स्वप्न तो हम देखते ही हैं इनके विषयमें ।

इन सभी आवश्यकताओंके पीछे हमारी एक आवश्यकता है कि इन बढ़ती आवश्यकताओंपर हमें नियन्त्रण कैसे करना चाहिये ? आत्मसंयमद्वारा । आत्मसंयम कहाँसे आये ? वस्तुओंकी निस्सारताका होनेपर ।

* * *

शहरमें अकेले आदमीके लिये दो कमरोंवाला फ्लैट क्या, एक कमरा भी काफी होता है । मेरे मित्रने पटना (राजेन्द्रनगर) में अकेले दो कमरोंवाला फ्लैट लिया । वे एकमें सोते थे और दूसरेमें पढ़ते मित्रोंसे मिल-जुल लेते थे । उन्होंने अपने विषयमें मनोरञ्जक कहानी हमें सुनायी । अपने कमरोंको

धीरे उन्होंने फर्नीचरसे सुसज्जित करना प्रारम्भ किया। अपने आरामके लिये एक आरामकुर्सी थी उनके यहाँ। अब दो मित्रोंके सामने वे अकेले आरामकुर्सीपर बैठें तो कैसे? दो से तीन कुर्सियाँ बड़ी-बड़ी और चली आयीं। धीरे-धीरे इनका ताँता बढ़ चला। पहले बेचारे एक ही टेबलपर पढ़ भी लेते, दाढ़ी भी बना लेते और अखबार वगैरह भी रख छोड़ते। अब 'डाइनिंग टेबल' आया, दो छोटे-छोटे टेबल अखबार रखनेके लिये और बरामदेकी शोभा बढ़ानेके लिये आये। आल्मारियाँ आ पहुँचीं। घर क्या? फर्नीचरकी एक दूकान-सी हो गयी। चलने-फिरनेको भी काफी कम जगह बच रही। अन्तमें उन्होंने सब फर्नीचर घर भिजवा दिया और काफी जगह हो गयी।

हमारी भी व्यग्रता बढ़ती चलती है। हम हैं कि आवश्यकताओंको पूरा करके दम मारनेको परेशान और आवश्यकता वे हैं कि एक गयी और दूसरी कई साथियों-को लिये आ खड़ी हुई। गजबकी व्यग्रता है। वह बढ़ती ही जाती है और हमारी मुट्ठी छोटी पड़ रही है। हम हार माननेको तैयार नहीं हैं। इतनी दूरीतक हमारा अहंकार पहुँच गया है कि दूसरोंके आगे हार माननेको तैयार नहीं। आजका मानव व्यग्रतामें—खिंचाव (tension) में जी रहा है। उसे कभी शान्ति नहीं। युद्धकी आशङ्का है, दीवालियेपनका डर है, हारका भय है। '**तेते पाँव पसारिये, जेती लाँबी सौड़**' को हमने उलट डाला है, जो वस्तु-स्थितिसे कभी भी मेल नहीं खाता। '**लंबे पाँव पसार दो, मत देखो तुम सौड़।**' अब तो आफत आ गयी है! जो जितना अधिक भोगैश्वर्योंके पीछे है, उसका जीवन-मान उतना ही अधिक बढ़ा-चढ़ा है। मनकी सारी शान्ति गवाँकर काठ-कबाण जुटाये चलो, इसीमें आज जीवनकी सार्थकता है।

'सादा जीवन और उच्च विचार'को आज कायरोंका आदर्श कहा जाता है। आजके मानवकी दृष्टिमें कबीर फीके पड़ गये, जिन्होंने कहा है—

साइँ इतना दीजिये जामें कुटुम समाय।
मैं भी भूखा ना रहूँ साधु न भूखा जाय॥

* * *

आजकी अधिकांश आवश्यकताएँ कृत्रिम हैं। सभ्यताके बढ़ते रोगकी देन हैं। बाह्य आडम्बरकी उछल-कूद हैं। आदमी अपनी मुट्ठी देखकर खर्च नहीं करता, बल्कि अपनी इच्छा देखकर रोता है। आजका सभ्य मस्तिष्क दुखी है, रुग्ण है।

* * *

विद्यार्थीने कम शब्दोंमें भाव स्पष्ट नहीं किया। मन्त्री महोदयने लंबे भाषणके दौरानमें मितव्ययिताके गुणोंका बखान किया। श्रीकृष्णने भी इसपर जोर दिया। पर वे सब जहाँ-के-तहाँ रह गये। अमल तो उसपर किसीने नहीं किया।

हम बकते जाते हैं, लिखते जाते हैं। एक ही बातको दस तरहसे कहनेके आदी हैं। कठिनता और दुरूहताको हम शैलीका एक विशेष गुण मान बैठें हैं। विचारोंमें मितव्ययिताकी आवश्यकता है।

जेट और राकेटके युगमें भी हम शिथिलताके आदी हैं। यह हमारी मूर्खता है। अभी एक मूर्ख हमारी बगलमें आ बैठता है। अनाप-शनाप बकने लगता है और हम भी अपना काम छोड़ उससे उलझ पड़ते हैं। काम गया ताकपर। तो हमें समयकी मितव्ययिताकी भी आवश्यकता है।

* * *

हम बुद्धिका प्रयोग करें; क्योंकि भगवान्‌ने बड़ा सोच-समझकर हमें एक दिमाग दिया है। हित-अनहित-की पहचान सबोंको है। न्यूनतम व्ययपर अधिकतम लाभ सभी क्रियाओंका मौलिक सिद्धान्त रहा है। इसे एक बार भला आजमाकर तो देखिये कि आप इस परीक्षामें कहाँतक सफल होते हैं और आपमें आत्म-संयमकी कितनी मात्रा है।

हमारा महान् शत्रु—आलस्य

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महारिपुः।

अर्थात् मनुष्यका सबसे बड़ा शत्रु उसके शरीरमें स्थित आलस्य ही है। अपने इस जीवनमें भी हम प्रतिपल यह अनुभव करते हैं कि किसी भी कार्यकी सिद्धिमें आलस्य ही सबसे महान् बाधक है। उत्साहकी मन्दतासे प्रकृतिमें शिथिलता आती है। हमारे बहुत-से कार्य आलस्यके ही कारण सम्पन्न नहीं हो पाते। दो मिनटके कार्यके लिये आलसी व्यक्ति 'फिर करूँगा, कल करूँगा' करते-करते लंबा समय यों ही बिता देता है।

हमारे जीवनका बहुत बड़ा भाग आलस्यमें ही बीत जाता है; यदि हम उतने समयतक कार्य-तत्पर रहें तो कल्पनासे अधिक कार्यकी सिद्धि हो सकती है। इसका अनुभव हम प्रतिपल कार्यमें संलग्न रहनेवाले व्यक्तिके कार्यकलापोंद्वारा भलीभाँति कर सकते हैं। बहुत बार हमें यह आश्चर्य होता है कि आखिर एक व्यक्ति इतना काम कब और कैसे कर लेता है। अपने स्वर्गीय पिताजीके बराबर जब हम तीन भाई मिलकर भी काम नहीं कर पाते तो उनकी कार्यक्षमताका अनुभव कर हम विस्मय-विमुग्ध हो जाते। जिन कार्योंके करनेमें हमें प्रातःकाल नौ-दस बज जाते हैं, वे हमारे सोकर उठनेके पहले ही उन्हें कर डालते थे। जब कोई काम करना हुआ, वे तुरंत काममें लग गये और उसको पूर्ण करनेके पश्चात् उन्होंने विश्राम लिया। जो काम अभी हो सकता है, उसे घंटों बाद करनेकी मनोवृत्ति आलस्यकी ही निशानी है। एक-एक काम हाथमें लिया और करते चले गये तो बहुत-से कार्य पूर्ण हो जायँगे; पर बहुत-से काम एक साथ लेनेसे किसे पहले किया जाय, इसी इतस्ततःमें समय बीत जाता है, एक भी काम पूरा और ठीकसे नहीं हो पाता।

काल करै सो आज कर, आज करै सो अब।
पलमें परलय होयगी, बहुरि करेगा कब॥

दूसरी बात ध्यानमें यह रखनी है कि एक से अधिक कार्य हाथमें न लिये जायँ; क्योंकि किसी भी कार्यमें पूरा मनोयोग और उत्साह न रहनेसे सफलता नहीं मिल सकेगी। अतः एक-एक कार्यको हाथमें लिया जाय; अन्यथा, सभी कार्य अधूरे रह जायँगे और पूरे हुए बिना किसी भी कार्यका फल नहीं मिल सकता। आलसी व्यक्ति पहले तो कार्यका आरम्भ ही नहीं करता; यदि प्रारम्भ भी करता है तो हारकर उसे अधूरा छोड़ देता है।

जैन ग्रन्थोंमें शुभ कार्योंमें बाधा देनेवाली बातोंको तेरह 'कठिनाइयाँ' (रुकावट डालनेवाला) की संज्ञा दी गयी है। उसमें सबसे पहला काठिया 'आलस्य' ही है। बहुत बार बना-बनाया काम तनिक-से आलस्यके कारण ही बिगड़ जाता है। प्रातःकाल निद्रा भङ्ग हो जाती है, पर आलस्यके कारण ही हम उठकर काममें नहीं लगते। इधर-उधर उलट-पुलट करते-करते कामका समय खो बैठते हैं। जो व्यक्ति उठकर काममें लग जाता है, वह हमारे उठनेके पहले ही बहुत-से काम समाप्त कर लेता है। दिनमें भी आलसी व्यक्ति विचारोंमें ही रह जाता है और करनेवाला कमाई कर लेता है। अतः प्रत्येक समय किसी-न-किसी कार्यमें लगे रहना चाहिये। कहावत भी है कि 'ठालेसे बेगार भली।'

मानव-जीवन दुर्लभ होनेके कारण उसका प्रत्येक क्षण अत्यन्त मूल्यवान् है। जो समय जाता है, वह वापस नहीं आता। प्रतिक्षण आयु क्षीण हो रही है। न मालूम जीवन-दीप कब बुझ जाय। अतः क्षणमात्र भी प्रमाद न करनेका, भगवान् महावीरने उपदेश दिया है। महामना गौतम गणधरको सम्बोधित करते हुए उन्होंने

उत्तराध्ययन सूत्रमें कहा है—**'समयं गोयम मा पमायए'** अर्थात् 'हे गौतम ! क्षणमात्रका भी प्रमाद न कर ।'

जैन-दर्शनमें प्रमाद* निकम्मेपनके ही अर्थमें नहीं है, परंतु समस्त पापाचरणके आसेवनके अर्थमें भी है । पापाचरण करके भी जीवनके बहुमूल्य समयको व्यर्थ न गँवाइये । आलसी आत्माकी शक्तिका उपयोग नहीं करता तो पापाचारी उसका दुरुपयोग करता है । दोनों ही ठीक नहीं ।

कई लोग कार्योंकी अधिकतासे घबराते हैं और आराम नहीं मिलनेसे स्वास्थ्य नष्ट होनेकी आशङ्का करते हैं । पर आलस्यके त्यागद्वारा कार्यशक्ति बहुत बढ़ायी जा सकती है । अतः अपनेको अधिकाधिक कार्य कर सकनेके उपयुक्त बनानेका अभ्यास डालना चाहिये । शरीर-मन आदिका जैसा अभ्यास डाला जाता है, वैसे ही वे बन जाते हैं । कार्य करते रहनेसे शक्तियोंका विकास होता है ।

आत्मा अनन्त शक्तिका भंडार है, पर उसका मान न होनेसे ही हम उस शक्तिका अनुभव नहीं कर पाते । बहुत बार उससे काम न लेनेके कारण ही हमारी शक्ति कुण्ठित हो जाती है । विधिवत् उपयोग करते रहनेसे वह क्रमशः बढ़ती चली जाती है । हम दो-चार घंटे शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक श्रम करके थक जाते हैं एवं विश्रामके लिये आतुर हो उठते हैं; पर अभ्यास-के बलपर जिन्होंने अपनी शक्तिको बढ़ा लिया है, वे पंद्रह-बीस घंटेतक काम करनेपर भी थकते नहीं । महात्मा गांधी, पं० जवाहरलाल नेहरूके कार्योंको देखिये, उनका प्रतिपल कार्यसंलग्न है । दस-बारह वर्ष हुए जब नेहरूजी सिल्हट पधारे थे तो मैंने देखा कि उनके एक ही दिन में १००–१५० मीलके भ्रमणके साथ १०-२० कार्यक्रम थे; उन्होंने किसीको फेल नहीं होने दिया । उनके एक-एक मिनटके समयका कार्यक्रम बँधा हुआ था, स्थान-स्थानपर भाषण देना पड़ता था । लोग उनकी ऐसी कार्यशक्ति देखकर दंग रह जाते हैं । गांधीजीको भी कितने अधिक काम करने पड़ते थे, पर वे सबको नियमित रूपसे करते थे । सैकड़ों व्यक्तियोंसे मिलना, सबकी बातें सुनना तथा संतोषप्रद उत्तर देना । सैकड़ों व्यक्तियोंके पत्र आते थे और 'हरिजन' आदिके लिये लेख लिखना, प्रवचन देना तथा रोगियोंको सँभालना, चरखा कातना और सभी शारीरिक कार्य अच्छी तरह करना, टहलने भी जाना । फिर भी उनके ठीक समयपर सब काम निपट जाते थे । वे कभी भी आजका कार्य कलपर नहीं छोड़ते थे ।

आलस्यके कारण ही हम अपनी अन्तर्हित शक्तियोंका अनुभव नहीं कर पाते और शक्तिका उपयोग न कर उसे कुण्ठित कर देते हैं । किसी भी यन्त्र और औजारका उपयोग करते हैं तो वह ठीक और तेज रहता है । सत्कर्मोंमें तो आलस्य तनिक भी न करें; क्योंकि 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि'—अच्छे कामोंमें बहुत विघ्न आते हैं । आलस्य करना है तो असत् कार्योंमें कीजिये, जिससे आपमें सद्बुद्धि उत्पन्न हो और कोई भी बुरा कार्य आपसे होने ही न पाये ।

जहाँतक हम पुरुषार्थ नहीं करते, वहींतक कार्य कठिन लगता है । पुरुषार्थके सामने असम्भव कुछ भी नहीं । सभी कठिन काम सरल हो जाते हैं । लंबा रास्ता आलसीके लिये है, चलनेवालेके लिये तो वह ज्यों-ज्यों कदम बढ़ायेगा, रास्ता तय होता जायगा और उत्साह बढ़नेसे छोटा-सा प्रतीत होगा । अतः हम आलस्यरूपी शत्रुको अपने पास ही न फटकने दें—पुरुषार्थी बनें ।

---

* 'प्रमाद'का अर्थ किया गया है करनेयोग्य कार्यको—वैध कर्तव्यको न करना और न करनेयोग्य कर्मोंको करना ।
—सम्पादक

मोक्ष-साधन-रहस्य

(लेखक—श्रीस्वामी प्रेमानन्दजी महाराज)

मानव-शरीरधारी आत्मज्ञानसम्पन्न अखिलब्रह्माण्डनायक लीला-विहारी पूर्णतम ब्रह्म पुरुषोत्तम व्रजेन्द्रनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण ही गीता-ज्ञानके यथार्थ रहस्यवेत्ता और सदुपदेशकर्ता हैं। चिरकालसे त्रिविध-ताप-तापित और अज्ञानान्धकारसे आच्छादित अर्जुन-नामधारी जीव इस भवाटवीमें भटक रहा है। उसे दिव्य दृष्टि प्रदानकर भगवान् ज्ञानोपार्जनमें प्रवृत्त कराना चाहते हैं। प्रवृत्ति-निवृत्ति-स्वरूप दैवी और आसुरी सम्पत्ति धारण करनेवाले तथा कर्म और ज्ञानके यथार्थ रहस्यके अमर्मज्ञ मायाच्छन्न जीवोंकी इन्द्रिय-मनादि शक्तियाँ आपसमें संघर्ष कर रही हैं। नित्य ही क्षण-क्षण उनका संघर्ष परिवर्द्धित हो रहा है। श्रीकृष्ण-नामधारी सद्गुरुस्वरूप लीलानायक इन्हीं दोनों सेनाओंके बीचमें ज्ञानखड्गधारी अर्जुन नामक प्रपन्न जीवका जिज्ञासारूपी रथ खड़ा करते हैं। मायाच्छन्न जीव अर्जुनने जिन इन्द्रियों, मन तथा चित्त, बुद्धि, अहंकारका आश्रय लेकर विषय-सेवन किया है और क्षणिक आनन्दका उपभोग किया है, उनका परित्याग करनेमें वह असमर्थ है और उनसे निवृत्त होनेमें दुःखकी अनुभूति करता है और संघर्षसे विमुख होना चाहता है। किंतु बातें करता है निरालम्ब स्थितिकी। भगवान् रहस्य समझ जाते हैं और उसकी मोह-निवृत्तिके लिये गीता-ज्ञानका उपदेश करते हैं। इसी प्रसङ्गमें वे साधकको किस तरह अपने इन्द्रियों तथा मन-बुद्धिके साथ सम्बन्ध-विच्छेद करनेमें सतत जाग्रत् रहना चाहिये और प्रतिकूल विषयोंसे विराग और भगवच्चरणोंके प्रति अनुराग रखना चाहिये, इसका रहस्योद्घाटन करते हैं। भगवान्का निर्देश है—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥

अमानित्व—मानीपनका भाव अर्थात् बड़प्पन प्रकट करनारूप जो मानित्व है, उसका अभाव अमानित्व। मोह ही दुःखका कारण है। छोटा-बड़ा, गुणी-अवगुणी, विद्वान्-मूर्ख, बलवान्-निर्बल, धनी-गरीब—ये सभी भावनाएँ परस्पर-विरोधिनी हैं। इन्हींके कारण राग-द्वेष उत्पन्न होता है और इसीसे मानापमानकी अनुभूति होती है। इसलिये पूज्यपाद गोस्वामीजीने बतलाया है—

सबहि मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रान-सम ते मम प्रानी।

मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामने भरतलालजीके प्रति ऐसा उपदेश किया है। यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण भी अर्जुनके प्रति आदेश करते हैं कि तुम भी अमानी हो जाओ। मानके देखकर विनय-विनम्र हो जाओ।

अदम्भित्व—साधनादि अच्छे गुणोंका बिना ही हुए बाहरसे दिखाना—प्रचार करना ही ढोंग या दम्भ है। इसका न होना अदम्भित्व है। इस दम्भित्वका त्याग करके सच्चा निष्कपट जीवन बनाना चाहिये।

अहिंसा—हिंसा न करना अर्थात् प्राणिमात्रको कायिक, वाचिक, मानसिक—किसी प्रकारका कष्ट न देना और न देनेकी भावना रखना। श्रुतिका उपदेश है—'अहिंसा परमो **धर्मः**।' अहिंसा-पालनकी आवश्यकता इसलिये है कि उसके सांनिध्यमें रहनेवालेका वैरभाव स्वतः मिट जाता है—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः।

क्षमा—दूसरोंका अपने प्रति अपराध देखकर क्रोधादि विकारका न होना अक्रोध है। पर अपराधीके अपराधको भूलकर उसका हित चाहना—क्षमा है।

आर्जव—सरलता, अकुटिलता। किसीके प्रति कौटिल्यपूर्ण नीतिका व्यवहार न करना।

आचार्योपासनम्—आचार्यकी उपासना। मोक्षसाधन करानेवाले गुरुकी शुश्रूषा, उनका आज्ञापालन आदि। गुरुके प्रति जिज्ञासुका शिष्टाचार।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

शौच—बाह्याभ्यन्तर शुद्धि—शारीरिक मलोंको मिट्टी और जलसे शुद्ध करना और आभ्यन्तरिक मलों—राग-द्वेषादिकको प्रतिपक्ष-भावनासे दूर करना।

स्थिरता—मोक्ष-मार्गमें ही निश्चित निष्ठा, निश्चित लक्ष्य।

आत्मविनिग्रह—आत्माका अपकार करनेवाला और आत्माशब्दसे कहा जानेवाला जो कार्य-कारणका संघातरूप

यह शरीर है, इसका निग्रह अर्थात् इसे अपनी स्वाभाविक विषय-प्रवृत्तिसे हटाकर सन्मार्गमें ही नियुक्त करना। जब साधक इस स्थानपर पहुँचकर दृढ़ हो जाय, तभी वह दुर्भावना रखनेवाले शत्रुओंसे सामना करे। शङ्का उत्पन्न हो सकती है कि इन्द्रिय-विषयोंके प्रति विराग तथा अनहंकार, जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि- दुःखमें दोष-दृष्टि रक्खें, इस साधनके पहले अमानित्व, अदम्भित्व आदि साधनोंको क्यों प्रकट किया गया ? समाधान यह है कि कोई भी सेनानी जैसे शत्रुओंसे सामना करनेके पहले अपनी सेना, व्यूह, खाद्य-सामग्री, निवास-स्थान आदि वस्तुओंका दिग्दर्शन कर लेता है, तदुपरान्त युद्धमें प्रवृत्त होता है, उसी प्रकार भगवान्‌ने गीतामें निर्देश किया है कि जब अमानित्व, अदम्भित्व, अहिंसा, क्षान्ति, आर्जव, आचार्योपासना, शुश्रूषा, शौच, स्थिरता, आत्मविनिग्रह—ये सभी गुण और धर्म अपनेमें आ जायँ तभी इन्द्रिय-विषयोंमें वैराग्य-अनहंकार, जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि, दुःख—इन सबमें दोषदृष्टि आयेगी। पुत्र, दारा, गृह आदिमें ममता नहीं होगी अथवा इष्ट-अनिष्टकी प्राप्तिमें सुख-दुःखकी भावना न होगी। समताका साम्राज्य स्थापित होगा। ज्ञानकी वह दुर्लभ स्थिति प्राप्त होगी, जिसे पाकर पुनः जन्म-मरणके चक्करमें नहीं आना पड़ेगा। त्रिविध तापोंसे निवृत्ति मिल जायगी। यही जीवका चरम लक्ष्य है, अन्तिम पुरुषार्थ है।

पुनः भगवान् श्रीकृष्णने इन्द्रिय-विषयोंसे वैराग्य, अनहंकार तथा जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि—इनके प्रति किस प्रकार दोष-दृष्टिका व्यवहार करें—यह बतलाया है।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्य—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

इस शरीर-रूपी रथके बुद्धिरूपी सारथिके हाथमें मन-रूपी लगाम है। इन्द्रिय-रूपी घोड़े उच्छृङ्खल हैं। आरोहण करनेवाला रथी जीवात्मा है। प्रत्येक घोड़ेके ऊपर भी एक-एक देवता सवार रूपमें स्थित हैं, जो गुप्तरूपसे सूक्ष्म-शरीर धारणकर, उनको प्रेरितकर विषयभोगोंके प्रति लोलुप बनाकर उच्छृङ्खल बना रहे हैं। बुद्धिरूपी सारथि मनरूपी लगाम ग्रहण करनेमें अपनेको असमर्थ समझता है—इसलिये कि बागडोर भी इतनी कमजोर है कि विशेष शक्ति व्ययकर रोकनेमें उसके टूट जानेका भय है। संकल्प-विकल्प-रूपी सूत्रको मिलाकर जो मनरूपी लगाम तैयार हुआ है, उसके सूत्र कच्चे हैं। सारांश, मन इन्द्रियोंका अधिष्ठाता है। इन्द्रियोंके आश्रित रहकर ही मन विषय-सेवन करता है। प्रत्येक इन्द्रियके अधिष्ठाता भोग-लिप्साके मूर्तिमान् रूप देव हैं, जिनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति भोगोंके प्रति है। ये सभी—इन्द्रियाँ, मन-बुद्धि, चित्त-अहंकार, सर्वाङ्ग शरीर—आत्माके आश्रित ही स्थित हैं। आत्माकी इनके प्रति इतनी आसक्ति हो गयी है कि इनसे विलग रहकर इनसे भिन्नताकी अनुभूति कर अपनेको निराश्रित समझता है। मन-बुद्धि इन्द्रियादि यद्यपि इसके सेवक हैं, अनुचर हैं, फिर भी यह अज्ञानी मायाच्छन्न जीव इनसे भिन्नताका अनुभव कर अपनेको निराश्रित समझता है। सम्भवतः इसीलिये इनसे संघर्ष भी नहीं करना चाहता। प्रत्येक इन्द्रियके अलग-अलग भोग्य विषय हैं। इन्द्रियोंमें स्वयं भोगनेकी शक्ति नहीं। मनका आश्रय लेकर देवता ही उनको प्रेरितकर भोगोंके प्रति उनकी आसक्ति उत्पन्न कराते हैं। वैराग्यका अर्थ है–वीतरागता अर्थात् रागोंके प्रति विरति। राग कहते हैं आसक्ति तथा स्पृहाको। इससे अनासक्त और स्पृहा-रहित हो जाना ही विराग है। इन्द्रियोंके जो स्वाभाविक विषय हैं, उनसे जीव बन्धनमें नहीं पड़ता। उनके प्रति जब आसक्ति हो जाती हैं, तभी बन्धन दृढ़ हो जाता है। जैसे मुँह-का विषय है—आहार ग्रहण करना। उसके साथ रसनाका सम्बन्ध है—रसानुभवसे। उसकी अभिव्यक्ति मनके द्वारा बुद्धिपर आती है। आत्मा चित्तके सहारे उसका चिन्तन करती है। फिर आनन्द मानकर अहंकार कर बैठती है। इसी क्रमसे आसक्ति बढ़ती जाती है। यदि मुख केवल जिह्वाके आश्रयसे आहार ग्रहण करके ही संतोष कर ले, आत्मा उसपर सतत नियन्त्रण रक्खे, मनसे उसका संयोग न होने दे, तब आसक्ति उत्पन्न ही न हो। इसी प्रकार जिन-जिन इन्द्रियोंके जो-जो स्वाभाविक कार्य हैं, उनसे मनका सम्बन्ध न होने पाये, आत्मा सतत जाग्रत् रहकर प्रयत्नशील रहे तो वह रागरहित हो जाता है; क्योंकि मन, बुद्धि, चित्त, अहंकारके सङ्गद्वारा जो उसकी वृत्ति संकुचित हो गयी है तथा मल-विक्षेप-आवरण आदि

दोषोंने उसके ऊपर जो आवरणरूपी जाल फैला दिया है, उसे वह शीघ्र ही छिन्न-भिन्नकर मुक्त हो जाता है। उसकी स्थिति सहज स्वरूपमें हो जाती है और स्वरूपस्थिति ही मोक्ष है। श्रुति कहती है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

मन—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्तेर्निर्विषयं स्मृतम् ॥

संशयात्मक मन—एक ही चित्त-शक्ति अवस्था-भेदसे विभिन्न स्वरूपोंमें भासित होती है। जब वह संकल्प-विकल्प करती है तब उसकी संज्ञा मन है, जब निश्चय करती है तब बुद्धि, जब चिन्तन करती है तब चित्त और जब अभिमान करती है तब अहंकार। यही अन्तःकरण-चतुष्टय है। चित्-शक्ति आत्माकी प्रतिभासित शक्ति है। इसीलिये चित्तकी उपमा दर्पण और कम्पनरहित स्वच्छ सरोवरसे दी गयी है। चित्तमें किसी प्रकारकी स्फुरणा नहीं हो, किसी भी वृत्तिका उदय न हो; क्योंकि जब वृत्तियाँ उदित होती हैं तभी चित्तमें संकल्प-विकल्प होता है। किसी भी कार्य या वस्तुमें तभी आसक्ति उत्पन्न होती है, जब उसके लिये पहलेसे ही संकल्प होता है। संकल्प, इच्छा, प्रयत्न तीसरी अवस्था प्राप्ति या अप्राप्ति। प्राप्तिसे राग (सुखानुशयी रागः) और अप्राप्तिसे दुःख (दुःखानुशयी द्वेषः) होता है। सारांश यह है कि मनके लिये वैराग्यकी वस्तु यही है कि संकल्प न हो और जब संकल्प नहीं होगा तो विकल्प नहीं होगा, जब विकल्प नहीं होगा तो दुःख ही नहीं होगा। तदनन्तर सुख-ही-सुख है। तब प्रश्न हुआ कि सुख क्या है? **'सुखः क आनन्दस्वरूपः ।'** आनन्द ही ब्रह्मका रूप है, **'आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात् ।'** शङ्का उत्पन्न होती है कि बुद्धि तथा चित्तके सम्बन्धमें विराग उत्पन्न करनेका कोई संकेत नहीं, जब कि इन्द्रिय, मन तथा अहंकारके प्रति भगवान्ने किया है। बुद्धि सारथि है, रथीके आदेशानुसार ही सारथि रथ बढ़ा सकता है। उसकी स्वयं अपनी भावना काम नहीं करती। यद्यपि मनरूपी लगाम उसके हाथमें है फिर भी वह साधन-सम्पन्न अपरोक्ष ज्ञानी जीवके लिये एक संकेत है न कि बद्ध जीवके लिये। सारांश यह है कि बुद्धि जबतक निश्चयात्मिका नहीं हो जाती, सदसद्विवेकिनी नहीं हो जाती, आत्माके साथ उसका सीधा सम्बन्ध नहीं हो जाता, तबतक उसकी गति मनके रहती है। इसी तरह चित्त भी जबतक असंयत बुद्धिका अनुगामी है, तबतक स्वेच्छया उसमें कोई उत्पन्न नहीं होती। मन और अहंकार—ये ही दो अज्ञानान्धकारसे आच्छादित करनेवाले हैं, जिनका लेकर बुद्धि और चित्त निश्चय और चिन्तन करते हैं। कारणसे भगवान् श्रीकृष्णने बुद्धि और चित्तके प्रति का संकेत नहीं किया है।

अनहंकार—'अभिमानात्मकोऽहंकारः ।' मिथ्या भावना ही बन्धनका कारण है। अहंकारके कारण ही नाना प्रकारकी विपत्तियोंका सामना करता है। गोस्वामीजीने 'विनय-पत्रिका' में संकेत किया है—

जब ते देह गेह निज जानी। तब तें देह भयो अभिमानी।
मायाबस स्वरूप बिसरायो। तेहि भ्रम तें दारुन दुख पायो।

'रामचरितमानस' में भी आया है—

सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ।
संसृति मूल सूल प्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना।
तातें करहिं कृपानिधि दूरी। सेवक पर ममता अति भूरी।

शरीरमें ही अहंकी भावना करके जीव अपनेको अनुभव करने लगता है। मायाका यही स्वरूप है। कोई शुद्ध कार्य हो, उसमें अहंकारका योग हो जानेसे ही स्वरूप विकृत हो जाता है। गोस्वामीजीने कहा है—

मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया।

'योगवाशिष्ठ' में वशिष्ठजीने भगवान् रामके प्रति उपदेश किया है कि चित्तमें जो अहंकी स्फुरणा होती है, सृष्टिका कारण है। इसलिये बतलाया कि अभिमानका करो और त्यागका भी जो अभिमान हो, उसका भी करो। गीता भी संकेत करती है कि अहंकारका त्याग करो।

जन्म—पूर्वकर्मानुसार जीव प्रारब्धका भोक्ता है। प्रारब्ध बनता है संचितको लेकर। प्रारब्ध ही धारण करनेका हेतु है। प्रारब्धका क्षय भोगसे होता है। भोगका स्वरूप वासना है। वासना बीज है। यह अङ्कुरित होता है—शरीर, मन, इन्द्रियादि क्षेत्रसे; इसी इस जीवको पूर्वजन्ममें किये हुए इष्ट-अनिष्ट कर्मोंका भोगनेके लिये सूक्ष्मशरीररूपी झोलीमें कर्मरूपी

लेकर कारण-शरीरमें प्रवेशकर नूतन पाञ्चभौतिक शरीर धारण करना होता है। इसीको 'जन्म' कहते हैं। भगवान् आदेश देते हैं जन्ममें दोष देखनेको। रहस्य यह है कि जन्म लेनेके लिये वासनालिप्त जीवको पुरुषके वीर्यका आश्रय लेकर माताकी कुक्षिमें आना पड़ता है। वहाँ नाना प्रकारके कष्ट तथा कफ-रक्त-मांस, मल-मूत्र इत्यादि विकारोंके बीच जीवन व्यतीत करना पड़ता है। दुःखों, यातनाओंकी अनुभूति करके इस जीवको विषयसे विरत रहना चाहिये। जब इन्हीं सभी विषयोंपर विचार किया जाय और विवेकद्वारा इनसे होनेवाले सुख-दुःखादिके प्रति उपेक्षा हो जाय, तभी यह जीव कृतार्थ हो। यही जन्मका रहस्य है और इसमें दोष देखना है।

मृत्यु—मृत्युका अर्थ है पाञ्चभौतिक शरीरका त्याग। मृत्यु भयका कारण है। मृत्युसे सभी डरते हैं। यह जीव कर्मानुसार जिस शरीरको धारण करता है, उसमें स्थित मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार तथा कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियोंके सङ्गसे इतना आसक्त हो जाता है कि इस शरीरको छोड़कर जाते समय इसे बहुत कष्ट होता है। ममत्वके कारण वह इन्हें अपना स्वरूप ही मान लेता है। प्रत्येक इन्द्रियके अधिष्ठाता देवता हैं, जिनकी विषयभोगोंके प्रति विशेष आसक्ति है। शरीर तथा मन-इन्द्रियोंद्वारा वे विषय-सेवन करते हैं। इसलिये जब जीव इस शरीरको छोड़कर जाने लगता है, तब इन्हें अत्यन्त कष्ट होता है और साधकको विषयमें प्रवेश करनेके लिये बलात् कपाट खोल देते हैं। फिर दीर्घकाल-पर्यन्त भोग भोगकर पुनः कर्मरूपी बीजके साथ वे भी पुनः दूसरे शरीरमें प्रवेश कर जाते हैं, जिस प्रकार भ्रमर एक पुष्पसे दूसरे पुष्पमें परागार्थ प्रवेश करता है। भगवान् इसलिये भक्तको उपदेश देते हैं कि वह **मृत्युमें** भी दोष देखे; क्योंकि जन्मके बाद ही मृत्यु होती है तथा मृत्यूपरान्त जन्म—दोनोंमें अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

जरा—जरा वृद्धावस्थाको कहते हैं। शरीरके छः विकार हैं—उत्पत्ति, वृद्धि, स्थिति, ह्रास, क्षय और नाश। इन्हींमें पाँचवीं जरावस्था है। जिस प्रकार वृक्षमें कोई फल लगता है, उसकी वृद्धि होती है, वह परिपक्व होता है और पुनः शाखासे विच्छिन्न हो जाता है। वही हालत शरीरकी भी है। जरावस्था पाँचवीं परिपक्वावस्था है। इसमें सम्पूर्ण इन्द्रियाँ शिथिल पड़ जाती हैं, उनकी शक्ति नष्ट हो जाती है—यहाँतक कि शारीरिक क्रियाका निर्वाह भी अपने-आप नहीं होता। विषय भी पूर्णरूपेण भुक्त नहीं होते। यही नहीं, स्त्री-पुत्र भी अन्तमें उनका साथ छोड़ देते हैं। इसलिये वृद्धावस्थामें दुःख और दोष देखनेके लिये भगवान्ने संकेत किया है।

व्याधि—शरीरमें अनेक प्रकारके ताप उत्पन्न होते हैं। यों तो त्रिविध ताप प्रसिद्ध हैं, पर उनकी शाखा-प्रशाखा अनेक हैं। ये ही समय पाकर विभिन्न रोगोंका रूप धारण-कर रोगीको शरीर-मनादिका आश्रय लेकर दुःख पहुँचाते हैं। कायिक, मानसिक आदि दुःखोंसे जीव पीड़ित हो जाता है। उसका भी कारण पूर्वजन्म-कृत अनिष्ट कर्म ही हैं। इसलिये भगवान्ने इन व्याधियोंके प्रति दोष देखनेका निर्देश किया है।

दुःख—'**प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्, अनुकूलवेदनीयं सुखम्।**' सुख-दुःखके सम्बन्धमें पूर्व आचार्योंका सिद्धान्त यह है कि सुख, दुःख दोनों वेदनाके स्वरूप हैं। जो वेदना प्रतिकूल होती है उसे दुःख और जो अनुकूल होती है उसे सुख कहते हैं। इसका मुख्य कारण है रागद्वेष। रागद्वेषसे ही इनकी उत्पत्ति होती है। राग ही आसक्ति है। आसक्ति होती है ममत्वके कारण। ममत्वका कारण मोह है। मोह कहते हैं अज्ञानको। अज्ञानके कारण ही जीव मायाके वशीभूत होता है और किसी शरीरविशेष, वस्तुविशेष या कार्य-विशेषमें सम्मोह आनेके कारण जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़ता है तथा विभिन्न योनियोंमें भ्रमणकर कर्मानुसार सुख-दुःख आदिका भोग करता है। उसीका चिन्तन करते-करते वह दुःख-स्वरूप हो जाता है। इसलिये उसके प्रति भी दोष देखनेका संकेत है। इस प्रकार जन्मादिमें दुःखरूप दोषको बार-बार देखनेसे शरीर, इन्द्रिय और विषय-भोगोंसे वैराग्य हो जाता है। उससे मन-इन्द्रियादि कारणोंका साक्षात्कार करनेके लिये अन्तरात्मामें प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार ज्ञान-का कारण होनेसे जन्मादिमें दुःखदोषकी बार-बार आलोचना करना ज्ञान है।

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥

असक्तिरनभिष्वङ्गः—आसक्तिके निमित्तभूत विषयोंमें प्रीतिमात्रका नाम सक्ति है, उसका अभाव यानी उससे विरति ही असक्ति है। मोहपूर्वक अनन्य आत्मभावना-रूप जो विशेष असक्ति है, उसको आसक्ति कहते हैं। जैसे

किसी वस्तु या व्यक्तिविशेषके प्रति आसक्त होकर उसके सुखसे सुखी और दुःखसे दुखी होना अथवा किसीकी मृत्युपर अपना प्राणत्याग करना, रोना, तड़पना इसका आश्रय है।

पुत्रदारगृहादिषु—त्रिविध एषणा ही जन्म-मृत्यु तथा बन्धनका कारण है। पुत्रैषणा, लोकैषणा, वित्तैषणा—इन त्रिविध एषणाओंके कारण ही जीवको शूकर-कूकर पतंगादि योनियोंमें भ्रमण करना पड़ता है। इनसे वे ही महापुरुष, जिनके ऊपर अकारण करुणावरुणालयकी विशेष अनुकम्पा होती है, बचते हैं। पुत्रैषणाके कारण ही महान्-महान् पुरुष जैसे राजा दशरथ, वसुदेव, हरिश्चन्द्रको बहुत कष्ट उठाना पड़ा। वित्तैषणामें भी अनेक प्रकारसे भयभीत रहना पड़ता है। लोकैषणासे तो कोटि विरक्तोंमें कोई एक बचा है, यद्यपि महात्माओंके लिये लोकैषणा शूकरी विष्ठाके तुल्य है। 'गृहादिषु'का अर्थ है—मकान, जमीन आदि तथा गृहमें रहनेवाले दास, पशु-पक्षी आदिमें भी आसक्ति; अतः इनके प्रति भी उदासीन रहे।

नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु—प्रियाप्रिय वस्तुओंकी प्राप्तिमें, सफलता और असफलतामें भी चित्तका सम रहना। प्रियकी प्राप्तिमें हर्ष नहीं, अप्रियकी प्राप्तिमें विषाद नहीं। इस प्रकार जो चित्तकी नित्य समता है, वही यथार्थ ज्ञान है।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥

मयि चानन्ययोगेन—मुझ ईश्वरसे परे अन्य कोई भी नहीं है, अतः ईश्वर ही हमारे परम गति हैं—इस प्रकार जो अविचल निश्चित बुद्धि है, वही अनन्य योग है। रामचरितमानसमें पूज्यपाद गोस्वामीजीने रामके शब्दोंमें हनूमान्के प्रति संकेत किया है—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ॥

भक्तिरव्यभिचारिणी—उस अनन्यतासे युक्त होकर भजन करना ही कभी न विचलित होनेवाली अव्यभिचारिणी भक्ति है। जैसे पतिव्रता स्त्री अपने पतिके सिवा किसी अन्य पुरुषसे किसी प्रकारकी कामना नहीं रखती, उसका चिन्तन नहीं करती, उसी प्रकार संसारके ही नहीं, इन्द्रलोक तथा ब्रह्मलोकके भोगोंको तुच्छ-निस्सार समझकर, उनकी उपेक्षा करके भगवान् वासुदेवके चरणोंमें अविच्छिन्न तैल-धारावत् [illegible] अनुरक्ति रहनेकी वृत्तिको ही अव्यभिचारिणी भक्ति कहते हैं। इसको प्राप्त करके ही जीव उस स्थितिको प्राप्त करता है जिसके प्रति भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥

विविक्तदेशसेवित्वम्—एकान्त पवित्र देश-सेवनका स्वभाव। जो देश स्वभावसे पवित्र हो या झाड़ने-बुहारने आदि संस्कारोंसे शुद्ध हो तथा जहाँ सर्प-व्याघ्रादि किसी प्रकारके हिंस्र जन्तुओंसे भय नहीं हो, ऐसे वन, नदी-तीर या देवालयादि एकान्त पवित्र देशमें निवास करनेका जिनका सहज स्वभाव है, वे ही विविक्त-देश-सेवी हैं। उस निर्जन पवित्र देशमें रहनेका लाभ क्या है? इसपर भगवान् कहते हैं कि निर्जन पवित्र देशमें निवास करनेसे ही चित्त पवित्र और स्वच्छ होता है। इसलिये विविक्त देशमें आत्मादिकी भावना प्रकट होती है। वहाँ लौकिक पुत्र, गृह, कलत्र, धनादि बाधा नहीं पहुँचाते। इसलिये उपासनामें वृत्ति सतत जाग्रत् रहती है।

अरतिर्जनसंसदि—जनसमुदायसे अप्रीति। इससे यह संकेत है कि जो शिष्टाचार-विनयभावरहित संस्कारशून्य विषयासक्त प्राकृत पुरुष हैं, उनके समुदायको ही जनसंसद् कहते हैं। यदि संस्कारसम्पन्न संत-साधुसेवी तथा भगवद्भक्त व्यक्तियोंके प्रति संकेत होता तो शास्त्रसे विरुद्ध होता; क्योंकि संतों तथा महापुरुषोंके सङ्गके सम्बन्धमें हर जगह निर्देश है कि उनका सङ्ग अवश्य करो अतः यहाँ विनययुक्त संस्कारसम्पन्न मनुष्योंका संकेत नहीं है; क्योंकि वह तो ज्ञानका सहायक होता है। प्राकृत जनसमुदायमें प्रीतिका अभाव ज्ञानका साधक होनेके कारण अनुकूल है, इसलिये उसका सेवन न साधकका कर्तव्य है—

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्—आत्मादिविषयक ज्ञान ही नाम अध्यात्मज्ञान है। उसमें नित्य स्थिति यानी ब्रह्म, और प्रकृति—इनका स्वरूप क्या है? इनका परस्पर सम्बन्ध क्या है?

शरीर तथा मन-इन्द्रियादिके प्रति इनका सम्बन्ध क्या है ?—इसके वास्तविक ज्ञानको ही अध्यात्मज्ञान कहते हैं। उसमें निरन्तर स्थित रहनेके ही अभ्यासको नित्य स्थिति कहते हैं।

तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्—तत्त्वज्ञानके अर्थकी आलोचना। अमानित्वादि ज्ञान-साधनोंकी परिपक्व भावनासे उत्पन्न होनेवाला जो तत्त्वज्ञान है, उसका रहस्य जो संसारकी उपरति-रूप मोक्ष है, उसकी आलोचना अर्थात् सत्यासत्य गुण-दोषका निर्णय; क्योंकि उसकी आलोचना करनेसे ही उसके साधनोंमें प्रवृत्ति होती है। अमानित्वसे लेकर तत्त्वज्ञानके अर्थकी आलोचना-पर्यन्त कहा हुआ समस्त साधन-समुदाय ज्ञानका साधन होनेके कारण ज्ञान-नामसे कथित है। उपर्युक्त ज्ञान-साधनोंके समुदायसे विपरीत जो मानित्व, दम्भित्व, हिंसा, क्षमाका अभाव, कुटिलता इत्यादि अवगुण-समुदाय हैं, वे संसारमें प्रवृत्त करनेके हेतु हैं। उन्हें भी अज्ञान कहते हैं। अतः उनका परित्याग उपदिष्ट है। अज्ञानसे ही जीव बन्धन-युक्त होता है (अज्ञानाद्बद्ध्यते जन्तुः), इसलिये अज्ञान सर्वथा त्याज्य एवं ज्ञान उपास्य है। श्रुति भगवती कहती है—

ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।

दवाओंसे बचिये

(लेखक—श्रीधर्मचन्दजी सरावगी)

अभी कुछ दिनों पहले मैंने अखबारोंमें एक समाचार पढ़ा था। उसमें लिखा था कि एक लड़केको चिकित्सकोंने पेनिसिलीनके इन्जेक्शन दिये। उन इन्जेक्शनोंका उसके स्वास्थ्यपर बहुत बुरा असर पड़ा और लड़केकी बीमारी बढ़ती गयी। उसे दूर करनेके लिये अमेरिकासे एक दूसरी दवा मँगाकर दी गयी। उस दवाका नाम था—न्यूट्रैपेम। (Newtrapem)

इस समाचारके पढ़नेके बाद इस तरहकी और अनेक घटनाएँ मुझे याद हो आयीं, जिनको या तो मैंने पढ़ा था या किसी भुक्तभोगी अथवा उसके रिश्तेदारों या मित्रोंके मुँहसे सुना था कि अमुक दवा देनेसे प्रतिक्रिया हो गयी और लाभके बजाय रोगीकी हालत और भी बिगड़ गयी अथवा दवा लेनेके बाद एक रोग दब गया और दूसरा रोग उभड़ आया।

इस तरहकी बातें अक्सर हम देखते-सुनते हैं और इसके बावजूद भी हम दवाओं, इन्जेक्शनों और इसी तरहकी अन्यान्य चीजोंको, जिन्हें स्वास्थ्यलाभके नामपर चिकित्सक लोग देते हैं, हम अपने शरीरमें डालते रहते हैं। इसके बारेमें हमलोगोंके सोचनेका तरीका ही गलत हो गया है। यदि कोई कहता है कि अमुक पुल खतरनाक हो गया है, तो सरकार भी उस पुलपर आवागमनका चलना रोक देती है और जनता भी उसपर नहीं जाना चाहती, किंतु दवाओंके बारेमें हम इतने अन्धविश्वासी हैं कि उनके हानिकारक प्रभावको अपनी आँखोंसे देखते रहते हैं और फिर भी उन्हें लेते रहते हैं तथा उसका फल भोगते हैं, तथापि दवाओंके प्रति हमारा मोह नहीं छूटता। इसका कारण यह है कि एक तो हम अपनी गलत आदतोंके सुधारे बिना स्वास्थ्य प्राप्त करनेकी सोचते हैं। दूसरे, अपने लाभके लिये लोग दवाओंके बारेमें आकर्षक विज्ञापन निकालते रहते हैं।

बहुत-से लोगोंका ख्याल है कि पेनिसिलीन निर्दोष दवा है यानी वह यदि कहीं फायदा नहीं करती तो नुकसान भी नहीं करती। किंतु यह धारणा बिल्कुल गलत है। पेनिसिलीन कीटाणुओंको मारनेवाली दवा है, उससे रोगके कीटाणु नष्ट होते हैं। जब यह कीटाणु नष्ट करती है तो शरीरमें जानेपर शरीरके लिये लाभजनक आवश्यक कीटाणुओंको भी नष्ट करती है। शरीरमें दवाके नामपर किसी भी तरहके विषका प्रवेश कराना, चाहे वह खानेकी दवाके रूपमें हो या इन्जेक्शनके रूपमें या अन्य किसी रूपमें हो, कभी बुद्धिमानी नहीं है। विषको मारनेके लिये विषका शरीरमें प्रवेश कराना आवश्यक है—इस प्रकार सोचना तो वैसा ही हुआ जैसे आगसे लड़नेके लिये कोई हाथमें आग लेकर लड़े। एक विष शरीरमें है और उसका असर नष्ट करनेके लिये दवाके नामपर जो दूसरा विष प्रवेश कराया जाता है, वह सम्भवतः पहले विषके प्रभावको दबा देता है या कम कर देता है,

फिर भी अपना प्रभाव तो डालता ही है। कभी वह प्रभाव ऐसा होता है जो तुरंत देखनेमें आ जाता है और कभी देखनेमें नहीं आता। अक्सर ही बच्चोंके शरीरमें जब दवाइयाँ ठूँस दी जाती हैं, तब जिन रोगोंको रोकनेके लिये वे दवाएँ शरीरमें डाली जाती हैं, वे रोग कुछ दिनोंके लिये दब जाते हैं, किंतु उनकी जगह कोई दूसरा रोग उत्पन्न हो जाता है। अक्सर एनिमिया यानी खूनकी कमीकी बीमारी पैदा हो जाती है। इसका कारण यह है कि शरीरमें लगातार दवाओंके रूपमें विषके भरे जानेसे शरीरकी प्राकृतिक क्रियामें बाधा पड़ती है, पाचनशक्ति नष्ट हो जाती है, खाये हुए भोजनका ठीकसे खून नहीं बन पाता और शरीरमें खूनकी कमी हो जाती है।

इस विषयमें अमेरिकाके एक प्रसिद्ध चिकित्सक हैरोल्ड थामस हीमैनको एक ऐसे रोगीने लिखा था, जिसका दस सप्ताहतक दवाओंसे एक अस्पतालमें इलाज किया गया और इस बीच उसकी सुननेकी शक्ति एकदम नष्ट हो गयी थी और वह बहरा हो गया था।

इस सम्बन्धमें यह उल्लेखनीय है कि स्ट्रैप्टोमाइसिन या इस तरहकी जितनी भी दवाएँ हैं, वे श्रवण-इन्द्रियोंके कोमल तन्तुओंको नष्ट कर देती हैं, जिनका नव-निर्माण होना प्रायः असम्भव है।

मुख्य बात यह है कि दवाओंका प्रयोग करना ही गलत है। शरीरमें किसी तरहके अस्वास्थ्यके आनेपर हमें आँख मूँदकर दवाओं और इन्जेक्शनोंकी ओर नहीं दौड़ना चाहिये। बल्कि इस बातको ध्यानमें रखना चाहिये कि जितने भी विकार शरीरमें प्रकट होते हैं, वे वास्तवमें रोग नहीं हैं, बल्कि शरीर उन विकारोंके माध्यमसे अपनेको स्वस्थ करना चाहता है। शरीरमें वे खराबियाँ हमारे गलत खान-पान, गलत रहन-सहन और हमारी गलत आदतोंके कारण पैदा होती हैं, अतः उन्हें दूर करनेके लिये हमें अपना खान-पान सही—प्राकृतिक करना होगा। गलत रहन-सहनका तरीका बदलना होगा और अपनी आदतोंमें सुधार करना होगा। यह नहीं कि तुरंत लाभ पानेके लोभसे शरीरमें और भी खराबी पैदा कर लें और फिर असमय मौतके मुँहमें चले जायँ या जीयें तो मरेके बराबर होकर।

प्रायः यह भी देखने-सुननेमें आता है कि कोई रोगी जब चिकित्सकके पास जाता है तो चिकित्सक उसे तरह-तरहकी दवाएँ देता है, तरह-तरहके इन्जेक्शन देता है, किंतु उसका रोग दूर नहीं होता। रोग दूर हो भी कैसे सकता है—प्रकृति जिस रास्तेपर चलकर किसीके स्वास्थ्यको सुधारती है, जब उसीमें दवाएँ और इन्जेक्शन शरीरमें जाकर बाधा उत्पन्न कर देते हैं, तब शरीर किस तरह स्वस्थ होगा। इस प्रकार रोगीके काफी रुपये फीस, इन्जेक्शनों तथा दवाओंके नामपर खर्च हो जाते हैं और चिकित्सक एक दिन उस रोगीके रोगको असाध्य घोषित कर देता है। तब वह रोगी निराश होकर दवाओंको बंद कर देता है। वैसी स्थितिमें प्रायः प्रकृति अपना काम करके उस रोगीको स्वस्थ कर देती है। यह क्या इस बातका प्रमाण नहीं है कि रोगीका रोग अच्छा करनेके लिये दवाओं और इन्जेक्शनोंकी जरूरत नहीं है, बल्कि प्रकृतिके रास्तेपर लौटनेकी जरूरत है। इस सम्बन्धमें एक घटनाको हमारे समाजके प्रायः सभी लोग जानते होंगे।

एक प्रतिष्ठित व्यक्तिका उदाहरण है, चिकित्सकोंके द्वारा दवाके नाम उनके काफी रुपये खर्च हो गये। उन्हें तरह-तरहकी दवाएँ दी गयीं और अन्तमें उनके रोगको असाध्य घोषित करके दवा बंद कर दी गयी और कह दिया गया कि अब ये कुछ ही दिनोंके मेहमान हैं। वे तत्काल काशी चले गये। उन्होंने सब तरहकी दवाएँ छोड़कर अपने जीवनको प्राकृतिक कर लिया। अन्नका एकदम परित्याग करके वे दूध-फलपर रहने लगे। गङ्गा-स्नान शुरू कर दिया और कुछ ही दिनोंमें वे एकदम स्वस्थ हो गये और फिर लंबी उम्रतक जीवित रहे।

ये सब बातें यह सिद्ध करती हैं कि हमें दवाओंकी ओर न दौड़कर प्रकृतिकी ओर चलना चाहिये। हमें स्वस्थ रहने और अपनी गलतीके कारण अस्वस्थ हो जानेपर पुनः स्वास्थ्य-लाभ करनेका यही सही रास्ता है।

* * *

सुशासनका साक्षात्कार

(लेखक——पण्डित श्रीसूरजचन्दजी सत्यप्रेमी (डाँगीजी))

[प्रेषक——श्रीसत्यपालजी शर्मा 'सत्य']

श्रीभगवान्‌का शासन स्वभावसे शाश्वत होनेपर भी विभव या वैभवदृष्टिसे सतत 'चलता'-'जा'-'रहा' है। 'चलता' यानी उसमें उत्पादन भी है, जिसका वाचक ब्रह्मा है। 'जा' यानी उसमें व्यय भी है, जिसका वाचक रुद्र है । 'रहा' है यानी उसमें ध्रौव्य भी है, जिसका वाचक विष्णु है । सम्पूर्ण लोकोंके सभी द्रव्योंकी सभी अवस्थाओंपर यानी सभी व्यक्तियोंकी सभी शक्तियोंकी सभी अभिव्यक्तियोंपर उल्लिखित नियमका अटल शासन है।

इस नियमके नाथ होनेसे ही नेमनाथ शासन-नायक कहलाते हैं। जो राजमति है, वह नित्य इनकी सङ्गिनी होती है। दरिद्रमति ही नेमनाथके शासनके अज्ञानसे विषयोंमें भटकती है—कभी उधर और कभी इधर; यानी निवृत्तिमें हैवान और प्रवृत्तिमें शैतान बनकर घड़ीकी लटकनकी तरह लटकती रहती है; या कभी साधनके अहंकारमें अटक जाती है। जबतक यह राग या ममत्व खटकता नहीं, तबतक नेमनाथके शासनका आराधक नहीं कहा जा सकता ।

योगेश्वर श्रीकृष्णको यह राग खटकता है, इसलिये स्वक्षत्रिय होते हुए भी वे पहले गोपालन और कृषिकर्ममें लगे। अपने बड़े भाईको तो हलधर ही बना दिया । उत्तम अर्थ-व्यवस्थाका आदर्श गोकुल और कृषि है । जितना-जितना गोवर्धनका आन्दोलन उठाया जायगा, उतना-उतना ही देश स्वयं पूर्ण रहेगा। 'जितना गोबर उतना धन' यह भारतका आर्थिक जीवन था। बच्चियाँ कन्या बनते समय अपने प्रार्थना-गीत यों गाती थीं—**'कड़ियाँ जित्तो गोबर दीज्यो'** अर्थात् कटिपर्यन्त गोबरमें रहना पड़े ऐसा घर मुझे देना। जब धन-की गिनती होती, तब गोधन-संख्या देखकर ही उसे श्रीमान् माना जाता था। आज भी इसका प्रतीक श्रीनाथद्वारा है। सैकड़ों, हजारों रुपयोंका प्रतिदिन शुद्ध गोरस-सना अन्न केवल वहीं पकता है । पुराणोंके अनुसार लक्ष्मीका गोबरमें ही निवास माना गया है । नोटोंके बंडल और बैंक-बैलेंसको लक्ष्मी मानना वेश्याको माता माननेके समान है। हमारे देश-की सर्वतोमुखी संस्कृतिका साक्षात्कार जिनको हुआ था, वे दो पुरुष धन्य हैं; एक हैं श्रीवल्लभाचार्य और दूसरे हैं श्री-तुलसीदास। वे दोनों ही गोस्वामी हैं। गोरक्षणके कारण ही हरिश्चन्द्र और रामका वंश गोमाता नन्दिनीके आशीर्वादसे प्राप्त 'रघु'के नामसे विख्यात हुआ। 'रघुपति राघव राजाराम' ही हमारे देशकी सर्वतोमुखी रक्षा करनेमें समर्थ हैं । इनको सम्पूर्ण विश्वकी लक्ष्मी जो सीता प्राप्त हुई थीं, वे भी विदेह क्षत्रियके कृषिकर्मद्वारा ही प्राप्त थीं। इसी कारण वे नारियोंकी आदर्शभूता सिद्ध हुईं । जिस भूमिकामेंसे उनका अवतार हुआ था, वह भूमिका पवित्र बैलोंके पवित्र गोमल-मूत्रोंसे ही सिञ्चित थी। हमारी मातृभूमि ट्रैक्टर्स नहीं माँगती, गोमूत्र माँगती है। जो ट्रैक्टरोंसे खेती करके अन्नोत्पादन चाहते हैं, वे मातृस्तनोंके दुग्ध नहीं, रक्तपानके इच्छुक हैं । वर्धमान-भगवान्‌के श्रावकोंके घरमें सैकड़ों-हजारों गोकुलोंका उल्लेख मिलता है। हमारे बापूने भी विदेशी बहन मिस स्लेडको मीराँबाई बनाकर गोवर्धनधारी गोपालका प्रिय कार्य सौंपा और वैश्य-ऋषि जमनालाल बजाजको काँग्रेसका अध्यक्ष न बना गो-सेवा और कृषि सौंपी। हमारे ब्रह्मर्षि लोकमान्य थे, क्षत्रिय ऋषि नेताजी थे, उसी प्रकार वैश्यऋषि जमनालाल बजाज थे; इसीलिये बापूने उनको भारतीय संस्कृतिके अनुरूप ही कार्य सौंपा । तात्पर्य यह है कि हमें देवकीके नन्दन गोपालका आदर्श मानकर गोवर्धनकी ही पूजा करनी चाहिये, अमरेन्द्र—अमेरिकाकी नहीं।

'देवकीके पुत्र' लिखनेका तात्पर्य यह है कि आज हमारी मनोवृत्ति 'देव'की नहीं, अपितु राक्षसी हो गयी है। राक्षसी यानी अपना मानकर रक्षण करनेवाली—संग्रह करनेवाली; देवकी यानी देनेवाली। जो ब्राह्मण होनेपर भी—वेद-वेदाङ्गमें पारंगत होनेपर भी रखनेकी वृत्ति रखता है—या सोनेकी लङ्का बना लेता है, उसे राक्षस ही कहा गया है। यह लक्ष्मी माताका दूध पीनेकी वृत्ति नहीं, उसे छीनकर धोखेसे अपने अधिकारमें करनेकी बीभत्स मनोवृत्ति है। हमारे यहाँ लक्ष्मीपति तो केवल भगवान् हैं; भगवान् श्रीकृष्ण इसीलिये 'श्रीनाथ' कहलाते हैं। जो लक्ष्मीपुत्र नहीं बनकर लक्ष्मीपति या पूँजीपति बनना चाहते हैं, वे माँके स्वामी बननेका घोर अनाचार सेवन करते हैं। ऐसे अनाचारी असुर

कैसे सुखी हो सकते हैं ! वे स्वयं दुखी होते हैं और विश्वमें दुःखका विस्तार ही करते हैं ।

जिस प्रकार अर्थ-व्यवस्थाके आदर्श गोपाल नन्दनन्दन हैं, उसी प्रकार धर्मव्यवस्थाके आदर्श उनके बड़े भाई देवकीके छः पुत्र हैं, जिनके लिये प्रख्यात है कि मामाने उन्हें मार दिया । परंतु शासननायक नेमनाथने यह रहस्योद्घाटन किया कि ये पुत्र सुलसागाथा पत्नीके यहाँ बड़े हुए हैं और उनके शासनमें महाव्रतका पालन कर रहे हैं । देवकी यह जानकर कितनी आनन्दित हुई होगी, उसका अनुमान लगाना भी हमारे लिये दुष्कर है । पाँच ज्ञानेन्द्रियोंका बल और छठा मन—इन्हें मारनेकी क्या आवश्यकता है ? इनको अप्रमत्तवृत्तिके घर बड़ा करके नियमोंके संरक्षणमें सौंप देना चाहिये; बस, धर्मका इतना ही तात्पर्य है । सारांश यह है कि आर्थिक सुखके लिये गोपालका आदर्श है और आन्तरिक सुखके लिये मन और इन्द्रियोंकी विजय ही अनुकरणीय है । आर्थिक सुखका फल उत्तम 'काम'-सेवन है और आन्तरिक सुखका फल मोक्षरूप ब्रह्मरसपान है । वसुदेव कामके आदर्श हैं और गजसुकुमार मोक्षके आदर्श हैं । आगमोंमें उल्लेख है कि वसुदेवकी रानियाँ देवकीके अनुशासनमें चक्रवर्तीसे भी अधिक यानी बहत्तर हजार थीं और सबमें सगी बहनोंसे भी अधिक प्रेम था । भगवान् श्रीकृष्ण जब देवकीमाताके दर्शन करने जाते थे तब प्रति छः महीने बाद उनकी फिर बारी आती थी । अभिप्राय यह है कि अपनी चार सौ माताओंके वे नित्य दर्शन करते थे और फिर उसी माताके पास छः महीने बाद पहुँचते थे । आज वे देवकीमाताके चरणोंमें नमस्कार करके बोले—'माता ! आज उदास क्यों दीखती हैं ?' माताने कहा "बेटा ! आज तेरे बड़े भाई साधुवेशमें यहाँ तीन बार भिक्षाके लिये आये । वे दो-दो मिलकर आये थे । सब एक-सरीखे होनेसे मुझे शङ्का हुई, भगवान् नेमनाथके साधु और ऐसे रसलोलुप ! क्या द्वारकामें अन्यत्र गृहस्थाश्रमकी उदारता लुप्त है ? पर जब मैं धर्मरथ सजाकर उद्यानमें वीतराग प्रभुके दर्शनके लिये गयी, श्रीनेमनाथने मेरा समाधान किया—'देवकी, ये छहों पुत्र तो तुम्हारे ही हैं। जिन्हें तुम अनभिज्ञतावश मृत समझ रही थीं, वे हिरण्यगवेषक दिव्य व्यक्तिके द्वारा सुलसागाथा पत्नीके घर पहुँचा दिये गये थे । वे ही बड़े होकर वैराग्यके द्वारा गृहस्थाश्रम त्यागकर महाव्रतोंके पालक बने ।' बेटा ! यह सुनकर मैं तो भौंचक्की हो गयी और छहों पुत्रोंके पास जाकर उनके तपःसंयमसे पवित्र अङ्गोंका दर्शन करने लगी । उस समय मेरे स्तनोंसे दूधकी धार बह चली । उद्यानसे लौटकर मैं आज प्रसन्न होनेके स्थानपर उदासीन हो गयी हूँ कि मैंने सात-सात पुत्र उत्पन्न किये और एकको भी दूध नहीं पिला सकी । मैं चाहती हूँ एक ऐसा पुत्र, जो मेरे हाथों पले—मेरा दूध पीये ।"

भगवान् श्रीकृष्ण माताकी उक्त बात सुनकर अपनी विशिष्ट शक्तिके बलपर छोटे बालक बनकर मचलने लगे और दूध-मिश्री माँगने लगे । दूधमें मिश्री अधिक पड़ गयी तो वापिस निकालनेके लिये हठ करते हुए रोने लगे । माताने दूध और डाल दिया तो चिल्लाने लगे—फीका हो गया। माताने कहा—'कृष्ण ! यह तेरी कृत्रिम लीला है, स्वाभाविक सरल मचल नहीं ।' भगवान् श्रीकृष्ण तत्काल अपने निज स्वरूपमें प्रकट हुए और मातासे प्रार्थना की कि आप निश्चिन्त रहें । वासुदेवके सामर्थ्यसे उसकी माँ अपनी सब अभिलाषाओंको सम्पन्न कर सकती हैं । वसुदेवका पुत्र अपने छोटे भाईकी माँग आराधिका शक्तिके बलपर अवश्य ही पूरी करेगा । तीन दिनतक उपवासके साथ सम्पन्न पौषधव्रतकी आराधना करनेसे एक परम मृदुल गजके तालुके समान कोमल अत्यन्त सुकुमार बालकका जन्म हुआ जिसका नाम गजसुकुमार था । देवकी माताकी चिर-तिक्षित मनीषा सफल हुई और दैवी सम्पत्तिके अत्यन्त सुकुमार कमलोंमें इस कृष्णानुजका जन्म हुआ ।

युवावस्था आनेपर योगेश्वर श्रीकृष्णने अपने छोटे भाईके लिये सौ कन्याओंका चुनाव करनेका संकल्प किया और निन्यानबे कन्याएँ तो अन्तःपुरमें पहुँचा दी गयी थीं। इसी प्रसङ्गपर तीर्थस्वामी नेमनाथका पदार्पण हुआ। स्वागतके लिये भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं समारोहके साथ पधारे। मार्गमें एक बालिका खेल रही थी । श्रीकृष्ण अपने धर्मरथसे उतरे और उस बालिकासे अपनी बड़ी बहनको बुला लानेको कहा । तुरंत ही वह बालिका अपने घर पहुँच गयी और अपने पितासहित बड़ी बहनको साथ लेकर आयी । भगवान् श्रीकृष्णके अपने भाईके लिये उपस्थित उस कुमारीकी माँग की और आज्ञानुसार उसे अन्तःपुरमें पहुँचा दिया। इस प्रकार सौकी संख्या पूरी हो गयी । अब इस गृहस्थाश्रमके पवित्र कर्त्तव्यको पूरा करके भगवान् श्रीकृष्ण नेमनाथ स्वामीके

शासनमें पहुँचे और परम शान्तिका उपदेश ग्रहण किया। पार्षदोंके साथ श्रीकृष्ण लौट चले।

परंतु विचारणीय है कि एक छोटा भाई गजसुकुमार वीतरागके चरणोंमें हाथ जोड़े खड़ा है—'प्रभो ! मेरे मन-मतंगको मायाग्राहने ग्रस्त कर लिया है, अब तो अधरोंमें आह अटक रही है। भैया मुझे एक-एक नहीं, सौ-सौ मायाओंके बन्धनमें बाँध देना चाहते हैं, अतः मुझे इस संसाररूपी दल-दलसे उबार लीजिये। मेरा हृदय तो आपकी वैराग्य और त्यागमयी वाणीसे ओतप्रोत हो गया है। अब मेरे मुण्डको पकड़कर आप खींच लें। गजकी सूँड उखाड़ी थी, उसी प्रकार मेरा मूँड उघाड़ा है। मुझे विश्वास हो गया है कि जैसा उद्धार वहाँ हुआ, वैसा यहाँ भी होगा' नेमनाथके वचनामृत झरने लगे—दैवी सम्पत्ति देवकीके कर-कमलोंमें पला हुआ गजसुकुमार ही ऐसी बात कर सकता है। उन्होंने कहा—'जाओ भैया! तुम अपनी माताकी अनुमति ले आओ! तुम शीघ्र ही सब बन्धनोंसे मुक्त हो जाओगे!' श्रीगजसुकुमार दौड़ते हुए माताके चरणोंमें उपस्थित हुए और उन्हें अपनी सहज सरल माँग पेश की—'माँ! मैंने नेमनाथ प्रभुके दर्शन किये। नियमोंके संरक्षणकी इच्छा जाग्रत् हुई।' माँने कहा—'मैं धन्य हूँ। याद रख विश्व-कुटुम्बी बन रहा है; इसलिये फिर जन्म-मरण करके किसी अन्य माताको मत रुलाना।'

भाई श्रीकृष्णने कहा–'भैया! एक दिन तो राज्य कर लो।' माँकी इच्छा पूरी करनेवाला व्यक्ति क्या अपने बड़े भाईकी इच्छा पूर्ण नहीं कर सकता ? अवश्य ही करेगा। भाई श्रीकृष्णने अपने वैरागी बन्धुको बाध्य कर दिया कि वह एक दिनको तो राज्य करे। भाई श्रीकृष्णके अनुरोधसे गजसुकुमारका राज्याभिषेक हुआ। श्रीकृष्णने राज्यमन्त्रीके तौरपर आज्ञा माँगी—'राजन्! मेरे लिये आदेश कीजिये।' राजा गजसुकुमारका आदेश हुआ—'सचिववर्य्य! आपको राज्यकी आज्ञा है कि अपने स्वामीके संन्यासकी तैयारी करें और अपने किसी योग्य सुपुत्रको ही यह पद अर्पित करें।' एक दिन अत्यन्त समारोहके साथ गजसुकुमारकी दीक्षा सम्पन्न हुई। उसी दिन हाथ जोड़कर अपने परम-गुरुदेवके समक्ष खड़े हो गये और नम्रतापूर्वक पूछने लगे कि 'मुझे आप ऐसा सीधा रास्ता बताइये, जिसपर चलकर मैं आज-का-आज कृतकृत्य हो जाऊँ।'

श्रीनेमनाथ स्वामीने गजसुकुमारकी आध्यात्मिक सामर्थ्यको तुरंत पहचान लिया और कहा—'श्मशानमें जाओ एवं एकान्तमें केवल अपनी आत्माका ज्ञान प्राप्त करो और उसीमें लीन हो जाओ।'

श्रीगजसुकुमार ये वचन सुनकर बैठा नहीं; उठा तो था ही, चल पड़ा। एकान्त श्मशानमें पहुँचकर स्वस्थ ध्यानस्थ हो गया। भावी-प्राबल्यसे उसका आसन्न श्वशुर उधरसे निकल पड़ा। अपने भावी जामाताकी यह स्थिति देखकर चकित हो गया। मनमें द्वेष जाग्रत् हुआ—मेरी कन्याको जीवित वैधव्यकी अग्निमें झोंकनेवाले इस दुष्ट व्यक्तिको जीवित रहनेका क्या अधिकार है ? अपने जामाताके खुले लुञ्चित केशवाले खल्वाटपर मिट्टीकी पाल बाँधी और जलते हुए अङ्गारे उसकी शान्त खोपड़ीपर डालकर तत्क्षण श्रीकृष्णके भयसे भागा। वहाँसे सीधा न भाग वह वीथिकाओंमेंसे होकर जाने लगा।

इधर श्रीगजसुकुमार अंगारोंको हिलानेसे पृथ्वीपर पड़े हुए जीवोंकी हिंसा होगी, इस करुणा-भावसे जडवत् खड़े रहे और शरीरका मोह छोड़कर ब्रह्मस्वरूप हो गये। समरस सागरमें निमग्न हो गये। उधर श्रीकृष्ण अपने संन्यस्त भ्राताके वन्दनके लिये गये। नेमनाथ स्वामीने कहा—'भैया! भाई गजसुकुमार तो जिस कार्यके हेतु आया था, उसे सम्पन्न कर चुका है। त्रिकालदर्शी नेमनाथने सारी घटनाएँ सुनायीं। यह सुनकर श्रीकृष्ण कारुण्य-रससे आतुर हो गये। विचार किया कि भाई तो गया; अब यह बेचारा मेरे डरके मारे कहीं स्वयं ही न मर जाय, इस पुण्यभावसे राज-मार्गसे न जाकर वीथियोंसे होकर निकलने लगे।

उनका समधी भी उक्त दुष्कृत्य करके इसी मार्गसे आ रहा था। नियतिकी प्रबलतासे दोनोंकी अप्रत्याशित भेंट हो गयी। श्रीकृष्ण उसे अहिंसाका आश्वासन देना चाहते थे, पर भयके मारे उस बेचारेकी हृदयगति ही रुक गयी। अब श्रीकृष्णने सोचा परमात्माका अंश तो चला गया। अब इस शरीरकी तो दुर्गति ही बनानी चाहिये, जिसको उदाहरणके रूपमें यादकर साधुओंको कोई नहीं सतायेगा, चूँकि मेरे अवतारका प्रथम

कर्त्तव्य ही साधुका परित्राण है। उसके शरीरको नगरकी गली-गलीमें उसके दुष्कृतकी घोषणा करते हुए घसीटवाया गया। सर्वत्र श्रीकृष्णके इस पुण्यप्रकोपका समादर हुआ। इसी प्रकार यदुवंशमें धर्मके आदर्श श्रीकृष्णके छः भाई अर्थके आदर्श श्रीबलरामके साथ स्वयं कामके आदर्श वसुदेव-देवकीजी, मोक्षके आदर्श श्रीगजसुकुमार मुनि और श्रीसंघके स्वामी नेमनाथका शासन स्थापित हुआ।

जो इसका साक्षात्कार करेंगे, उनको सभी पुरुषार्थोंकी प्राप्ति होगी। धर्मके लिये वे पाँच इन्द्रियाँ और छठे मनको नेमनाथके संरक्षणमें सौंप देंगे, अर्थके लिये वे गोपालन और कृषिसे प्रेम करेंगे, और काम-पुरुषार्थके लिये उनका वसुदेवचित्त उन सभी वासनाओंको, देवकीके आधिपत्यमें रखकर अर्थात् दैवी सम्पदाके सहारे अपना जीवन बितायेंगे; तात्पर्य यह है कि देवकीके अनुशासनमें देकर भोग भोगेंगे और मोक्षके लिये श्रीगजसुकुमार
तितिक्षा धारण करेंगे।

भारतीय शासनका आदर्श जबतक इस पद्ध
न चलेगा, तबतक देशको पूर्ण स्वतन्त्र समझना नाद
है, और विश्वशान्तिका दम भरना दम्भमात्र है। ह
चाहते हैं कि सभी इस शासनका साक्षात्कार करें औ
नेमविधानका नाथ भारत फिर जगद्गुरुके आस
अभिषिक्त हो सके—ऐसा पूर्ण पुरुषार्थ करें। उल्लि
कथाको अद्भुत मानना श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीके शब्दों
उपयुक्त नहीं; क्योंकि—

जेहिं यह कथा सुनी नहिं होई। जनि आचरजु करै सुनि सो
कलपभेद हरि चरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह ग
राम अनंत अनंत गुन अमित कथा बिस्तार।
सुनि आचरज न मानहीं जिन कें बिमल बिचार॥

(रामचरितमान

प्रियतम-सुख

'सर्व-त्याग' हो गया सहज ही, होने लगा 'भजन' अविराम।
एकमात्र 'प्रियतम-सुख' ही है 'भजन' सहज सुन्दर सुखधाम॥
'कृष्ण सुखी होंगे'—इससे मैं करूँ सर्वथा 'सर्वत्याग'।
जगी नहीं 'कर्तव्य-बुद्धि', यह केवल सहज रहा 'अनुराग'॥
मेरी अब प्रत्येक चेष्टामें रहता यह 'सहज-सुभाव'।
इसीलिये 'प्रियतम-सुख'के हित उठते नये नये नित चाव॥
लोक-वेद-तन-धर्म कर्म सब लज्जा-धैर्य-मान-सुख-भोग।
सहज हो गया त्याग सभीका, जबसे हुआ श्याम-सुख-योग॥
मिटे सभी 'आसक्ति, वासना, ममता, आशा, काम, क्रोध।
केवल 'प्रियतम-सुख' ही प्रिय अति जीवनका रह गया सुबोध॥
मिटी सभी अनुकूल और प्रतिकूल वेदना, विस्मय-खेद।
'प्रियतम-सुख' में देश-कालका, बन्ध-मोक्षका रहा न भेद॥

---

* इस लेखमें बहुत-सी बातें सबका समन्वय करनेके लिये जैन साहित्यसे ली गयी हैं।

धर्मप्राण संस्कृति और देवालय

(लेखक——श्रीओंकारमलजी सराफ)

भारतकी संस्कृति धर्म-प्राण है और धर्म सनातन। इसीलिये हमारी संस्कृति सनातन कहलाती है और धर्म भी सनातन-धर्म कहलाता है। हमारी संस्कृति धर्म-प्राण है, सनातन है; इसीलिये अजेय है, अखण्ड और अव्यय है। हमारी सनातन संस्कृतिका प्राणगीत है श्रीमद्भगवद्गीता और इसमें स्वयं परब्रह्म भगवान् धर्म-रथके संचालक बनकर घोषणा करते हैं——

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

सज्जनोंकी रक्षा और दुष्टोंका विनाश ही हमारे अवतारवादका मूल उद्देश्य है। हमारे आनन्दकन्द परमात्मा इसीलिये अवतरित होते हैं कि वे धर्मकी स्थापना करते हैं और इसे हानि पहुँचानेवाले दुष्टप्रकृति असुरोंका विनाश करते हैं। बिना असुरोंके विनाशके धर्मस्थापना सनातन नहीं हो सकती। यही है हमारी संस्कृतिका मूल मन्त्र और इसीके प्रतीकस्वरूप चमचमा रहे हैं हमारे गगनचुम्बी देवालय।

अपराजेय संस्कृतिके तत्त्व

सर्वदा अपराजित रहनेवाली भारतकी देव-संस्कृति असुरत्व-पर देवत्वकी विजय-परम्परा है। इस परम्पराको संजीवित रखनेके लिये ही अनन्त-ब्रह्माण्डनायक सच्चिदानन्द परमात्मा संसारमें अवतरित होते हैं और असुरत्वके प्रभावसे प्रताड़ित और प्रपीड़ित मोहग्रस्त समाजको शस्त्र उठानेका मन्त्र देते हैं और कहते हैं—दुष्टोंको मैंने पहलेसे ही मार डाला है, तुम निमित्तमात्र बनो। चिन्ताका परित्याग करो; शस्त्र उठाओ; क्योंकि न्याय और धर्म तुम्हारा अधिकार है। इसे छोड़ देना क्लीबता है, अधर्म है।

सनातन संस्कृति देवत्वकी: असुरत्वपर या सत्त्वकी तमपर विजयकी मनोहारिणी कथा है। प्रत्येक देवपुरुष सौन्दर्ययुक्त होता है। वह अधर्मियों तथा अन्यायियोंको विनष्ट करता है। असत्, तमस्, असुरत्व और अन्यायका स्वरूप भयानक, विद्रूप, बीभत्स तथा अमङ्गलकारी बतलाया गया है। इसीके प्रतिरूप देवालय भी सौन्दर्ययुक्त भावनाकी सौन्दर्ययुक्त प्रतिकृति हैं, जो इतने पवित्र हैं कि समग्रलोकमें सौन्दर्य, सत्य, न्याय, आनन्द अर्थात् 'शिवम्' का स्रोत बहाते रहते हैं।

मनुष्यत्वकी परम दृष्टि

सनातन संस्कृतिकी सबसे बड़ी विशेषता है—मनुष्यत्वका चरम निरूपण। इस संस्कृतिमें मनुष्यत्वकी पतित अवस्था दानवत्व है और चरम अवस्था ब्रह्मत्व—मोक्ष। संसारकी सारी संस्कृतियोंसे भिन्न तथा उत्तम हमारी भारतीय संस्कृति है। हम मनुष्य हैं, भगवान्‌के अंश—आत्मा हैं। हम सर्वशक्तिमान् हैं, पूर्ण, अव्यय और निर्मल हैं। हमारा लक्ष्य है मोक्ष, परमपद-प्राप्ति यानी जिस अंशीसे हम उद्भूत हैं, उसीमें पुनः मिल जाना। ठीक इसके विपरीत, अन्य संस्कृति दूसरेको पतित, अज्ञानी और घृणित बतलाती है। हमारे महापुरुष ब्रह्मके साकाररूप हैं और उनके संत या ईश्वरपुत्र। इसीलिये वे धर्मकी स्थापना तो करते हैं किंतु अधर्मका विनाश नहीं करते। वे अज्ञानी और आततायियोंद्वारा मार दिये जाते हैं और हमारे महापुरुष उनका संहार करते हैं।

योरोपीय संस्कृतिकी मनुष्यत्व-चिन्तना आस्कर वाइल्डकी व्याख्यासे जानी जा सकती है। कलाको जीवनसे पृथक्-कर कलाके लिये कहनेवाले आस्कर वाइल्ड मनुष्यत्वका निरूपण करते हुए कहते हैं—मनुष्य तीन प्रकारका होता है—पाषाण (Stone) के समान, कन्दुक (Ball) के समान और श्येन (Eagle) के समान। पाषाणके समान मनुष्य टूटकर जहाँ गिरते हैं, वहीं पड़े रहते हैं। कन्दुकके समान मनुष्य इस संसारसे ऊपर उठनेकी उछाल मारते हैं किंतु पुनः गिर जाते हैं, किंतु उनकी उछाल निरन्तर जारी रहती है। श्येनके समान मनुष्य श्रेष्ठ हैं जो संसारसे ऊपर उठकर विचरण करते रहते हैं। जहाँ भी इसमें गंदगी देखते हैं, झपटकर उठा ले जाते हैं। इसके विपरीत, हमारा मनुष्यत्व-निरूपण महान् है, व्यापक है, अत्युच्च है।

देवालय हमारे इसी मनुष्यत्व-निरूपणको अमर बनाते हैं और हमारा पथ-प्रदर्शन करते हैं। इसी प्रकारका विचार देवालय-संरक्षण समितिके पाक्षिक पत्र 'स्वधर्म' में 'देवालय-संरक्षण क्या है'* शीर्षक लेखमें प्रकट किया गया है।

सनातन संस्कृति और युद्ध

आज भारतकी शान्ति-नीतिको चीनी आक्रमणने चुनौती दी है। हम शान्तिरक्षाके लिये सामान्यतः कटिबद्ध हैं, किंतु सनातन संस्कृति शान्ति और विश्व-बन्धुत्वपर आधारित

---

* 'देवालय-संरक्षण क्या है? पाक्षिक 'स्वधर्म'के प्रथम तीन अङ्कोंमें प्रकाशित लेख।

रहते हुए भी निरन्तर शौर्य-परम्परारूप रही है। इतिहास इसका साक्षी है कि हम निरन्तर अनार्यत्वसे लड़ते रहे हैं। जब भी हमने अहिंसाको साध्य माना, हम युद्धरत रहे और विजयी बने। जब भी हमने अहिंसाको साधन माना, हमारी पराजय हुई। हम लड़ते हैं शान्तिके लिये शान्तिके शत्रुओंसे, धर्मके लिये दुष्टों और असुरोंसे तथा न्यायके लिये आततायियों और अन्यायियोंसे।

हमारी संस्कृतिका मूल स्रोत है—वेद। वेदोंमें आर्यत्वका अनार्यत्वसे संघर्ष और आर्यत्वकी विजय दिखायी गयी है। हमारी पवित्र ऋचाएँ शक्तिपुञ्ज देवताओं—सविता, पूषा, इन्द्र, वरुण, अग्नि आदिकी स्तुतियाँ हैं। युद्धसे भाग जाना ही अधर्म कहा गया है। हमारी सनातन संस्कृतिके दो पुराणग्रन्थ रामायण और महाभारत युद्धके ही आधारपर सांस्कृतिक और धार्मिक विजयकी कहानी हैं। अस्त्र-शस्त्र भी हमारे सांस्कृतिक दृष्टिकोणसे पूज्य हैं। असुरनिकन्दन भगवान् विष्णुके चतुर्भुजरूपमें गदा, शङ्ख, चक्र और पद्म (पद्म भी शान्तिस्वरूप शस्त्र है)। अष्टभुजा दुर्गाके हाथोंमें त्रिशूल, धनुष, खड्ग, तलवार, खप्पर, गदा, चक्र, शङ्ख आदि-आदि। शत्रुञ्जय इन्द्रके हाथमें अजेय वज्र, भूतभावन भगवान् शंकरके हाथमें त्रिशूल और श्रृङ्गी, मर्यादापुरुषोत्तम रामके हाथमें शार्ङ्ग और वंशीधर ललितललाम घनश्याम श्रीकृष्णके हाथमें चक्र, हनुमान्‌के हाथमें गदा आदि सभी सिद्ध करते हैं कि हम पद्म-स्वरूप शान्ति और धर्मकी रक्षाके लिये शस्त्र धारण किये रहते हैं और शङ्खनाद करते रहते हैं। सनातन संस्कृतिकी इस शौर्य-परम्पराकी एकमात्र अभिव्यक्ति हैं देवालय। शङ्ख, चक्र और त्रिशूल हमारे राष्ट्रीय प्रतीक हैं।

ये देवालय आज भी चीनी आक्रमणके समय देशके स्त्री-पुरुषोंको उनका सांस्कृतिक स्वरूप स्मरण करा रहे हैं।

धर्मप्राण संस्कृतिके केन्द्र

धार्मिक विजयका निरन्तर शङ्खनाद करनेवाली भारतकी ब्राह्म-संस्कृति जीवनके सर्वतोमुखी उन्नयन और उत्थानके लिये आदिकालसे लेकर अबतक कार्यरत है। सर्वप्रथम इसके प्रधान केन्द्रके रूपमें आश्रम संस्थापित थे, जहाँ त्याग, आत्मदर्शन, कर्म और आचारकी व्यावहारिक शिक्षा दी जाती थी। इन सभीके साथ ही गार्हस्थ्य-धर्मकी मूलभावना उत्पादन और सेवापर विशेष बल दिया जाता था। समाज, कुटुम्ब, धर्म, देश और विश्वके
कर्तव्यका बहुमुखी ज्ञान इन आश्रमोंका कार्य
जीवन-यापनके निमित्त कृषि-कार्योंका व्यावहारिक
यहाँ दिया जाता था। विवेकका वार्द्धक्य यहींसे होता
इनके बाद ही देवालय भी संस्कृतिके केन्द्र बने, जहाँ
साथ-साथ साधारणीकरण, आत्मोन्नयन, समदर्शन
समन्वयके लिये उपासना, पूजा, अर्चना आदिका
प्रशस्त किया गया। गो-सेवा सार्वजनिक स्वास्थ्य, श्री-सम
और कृषि-कर्मके लिये प्रचलित हुई थी।

आज वैज्ञानिक और आधुनिकवादी दृष्टिकोण, जो प्रधान
पाश्चात्त्य-दर्शनसे अभिभूत है, प्रत्येक ओर प्रतिष्ठित हो
है, जिससे हमारा सांस्कृतिक अवमूल्यन मौलिक रूपसे
होता। हम निरन्तर निर्बल होते चले गये। आश्रम
भी शिक्षण और सामान्य आनन्दके केन्द्र हो सकते हैं
वैज्ञानिक शिक्षणकी प्रतियोगितामें राष्ट्रको विजयी
सकते हैं। इनके द्वारा शिक्षण बहुत ही कम खर्च
होगा, जिससे सर्व साधारण लाभ उठा सकते हैं और राष्ट्र
सबलताकी ओर अग्रसर कर सकते हैं। इसके साथ
देवालयोंका विस्तार हमारी शक्तिका विस्तार है और विल
प्रगतियोंकी अधोगामिता। राष्ट्रमें सुख-शान्ति लानेके
इन देवालयोंको पुनः कार्यशील बनाना ही होगा।

सबल राष्ट्रकी आवश्यकताएँ

आजकी विश्व-प्रतियोगिता और अनात्मवादी, विस्ता
वादी चीनी-आक्रमण और अन्ताराष्ट्रीय कूटनीतिके दबाव
स्थितिमें राष्ट्रका बहुमुखी निर्माण तभी हो सकता है,
धर्मप्राण संस्कृतिके आधारपर राष्ट्र-जीवनका संयोज
समन्वय और संवर्द्धन किया जाय। सैनिकीकरणकी दिश
ग्राम्य-स्तरपर आश्रमों और देवालयोंके माध्यमसे जो का
हो सकता है, वह सनातन होगा। औद्योगीकरणकी विशिष्ट
राष्ट्रकी कृषि-व्यवस्थाको विस्मृत-सा कर दिया था। इस ओ
विशेष दृष्टि देना अनिवार्य है। कृषि-कार्यके बहुमुखी उत्था
लिये गो-संरक्षण, गो-संवर्द्धन और देवालय-संरक्ष
आवश्यकता है। इस आधारपर संघटित राष्ट्रकी विजय ध्रु
निश्चित है। इस सम्बन्धमें देवालय-संरक्षण समितिके कार्य
हैं। पाठकोंको चाहिये कि वे समितिसे इस सम्बन्ध
जानकारी उपलब्ध करें और संस्कृतिकी धर्मप्राण
रक्षा करनेमें हमारा सहयोग करें।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

ईमानदारीका फल

घरमें स्त्रीको टी० बी० हो रही थी। छोटे एकमात्र बच्चेको भयानक कुकुर-खाँसी। न दवाके लिये पैसे थे न पथ्यके लिये। मगनलाल बीस रुपये महीनेकी नौकरी करता था। डाक्टरने कहा था कि वह सौ रुपयेकी व्यवस्था कर सके तो उसके स्त्री-बच्चेके लिये दवा तथा पथ्यकी व्यवस्था हो सकती है और दोनोंके प्राण बच सकते हैं। डाक्टर अपनी फीस नहीं लेगा, पर दवा तथा पथ्यकी व्यवस्था तो मगनलालको ही करनी पड़ेगी।

मगनलालका बुरा हाल था। कहाँसे पैसे मिलें। उसके मालिक भी बहुत धनी नहीं थे। मामूली व्यापार करते थे। उनके दो लड़के बाहर पढ़ते थे तथा बूढ़े मा-बाप देशमें रहते थे। दोनों जगह पचास-पचास रुपये वे प्रतिमास भेजा करते थे। उन्होंने दो मनीआर्डर पचास-पचास रुपयेके लिखकर मगनलालको सौ रुपये समेत दिये और डाकमें लगानेको भेजा।

मगनलालको स्त्री-बच्चेकी जान बचानेके लिये सौ रुपयेकी ही जरूरत थी और ये सौ रुपये ही थे। स्त्री-बच्चेकी करुण दशा, उनकी रोनी सूरत और रुपयोंकी व्यवस्था होनेपर उनकी जान बचनेकी पूरी आशा। मगनलालका मन विचलित होने लगा। बार-बार संघर्ष हुआ, पर आखिर स्त्री-बच्चेके मोहने विजय पायी। मगनलाल मनीआर्डर न लगाकर शामको रुपये घर ले गया। पर उसका मन बड़ा खिन्न था। चेहरा अत्यन्त उदास। वह पश्चात्तापकी आगसे जल रहा था। घर जाकर उसने पत्नीसे कहा बड़ी हिम्मत बटोरकर कि वह सौ रुपये लाया है—दवा-पथ्यादिके लिये। पत्नीने उसके चेहरेको उदास तथा आँखोंमें छलकते आँसुओंको देखा। पूछा, 'कहाँसे कैसे लाये हैं ?' उसने सारी बातें बता दीं। पत्नीने कहा—'आपने मोहमें पड़कर यह क्या किया ? मान लीजिये मेरे तथा बच्चेके प्राण नहीं बचेंगे; पर कौन कह सकता है कि अगले जन्ममें हमलोगोंका फिर मिलाप नहीं होगा। पर खोया हुआ ईमान, गँवायी हुई सचाई कहाँसे वापस मिलेगी। आप भगवान्‌पर भरोसा कीजिये और कल ही दोनों मनीआर्डर लगा दीजिये तथा हिम्मत करके अपना यह अपराध मालिकको बता दीजिये। हो सकता है वे आपकी एक बार नीयत बिगड़ी जानकर आपको निकाल दें, पर भगवान् आपके योगक्षेमको निबाहेंगे। आप भगवान्‌पर पूरा भरोसा कीजिये।'

मगनलालका मन तो दुविधामें था ही। दो प्रकारके पापी होते हैं। एक तो वे—जिनको परिस्थितिके परवश होकर मानसिक कमजोरीके कारण पाप करने पड़ते हैं; पर वे पाप उनके हृदयमें शूलकी तरह चुभते रहते हैं। दूसरे वे, जो पाप करके अपनेको बुद्धिमान् मानते तथा गौरवका अनुभव करते हैं। ऐसे पापियोंका उद्धार बड़ा ही कठिन होता है। पर मगनलालका यह पाप परिस्थिति-परवश हुआ था, उसके मनमें पश्चात्ताप था। उसको पत्नीकी पवित्र प्रेरणासे अपनी भूल स्पष्ट हो गयी। दूसरे ही दिन उसने मनीआर्डर लगा दिये और मनीआर्डर लगाकर कल वापस न लौटनेकी, मोहवश रुपये रख लेनेकी, अपने मनकी बिगड़ी हालतकी तथा पत्नीके साथ हुई बातचीतकी सारी कथा रोते-रोते मालिकको सुना दी और कहा कि 'मुझसे यह अक्षम्य अपराध हो गया है, आप मुझे निकाल दीजिये।'

मालिक बड़े नेक तथा सहृदय थे। वे मगनलालकी स्त्रीकी बीमारीका हाल कुछ सुन चुके थे। मगनलालने तो कभी विशेष बताया नहीं था। इसलिये वे समझते थे—अच्छी हो गयी होगी। आज सब बातें सुनकर उनके नेत्रोंमें आँसू आ गये और सहानुभूति जाग उठी। उन्होंने मगनलालका वेतन बीससे पैंतालीस कर दिया। ऐसे ईमानदार आदमी मासिक पैंतालीसपर मिल जायँ तो बड़े सस्ते मिले। सौ रुपये नगद उसी समय दे दिये और कह दिया कि 'पत्नी तथा बच्चेके लिये दवा-पथ्यमें जो खर्च लगे, सब दूकानसे ले लिया करो।'

मगनलाल और उसकी पत्नीको ईमानदारीका फल हाथों-हाथ मिला। पत्नी और बच्चा दोनों अच्छे हो गये। आगे चलकर तो मालिकने मगनलालको अपनी दूकानमें बराबरका हिस्सेदार बना लिया।

—रामजीवन चौधरी

(२)

नास्तिकता और अनास्तिकताका फल

यह घटना आजसे पंद्रह वर्ष पूर्वकी है । उन दिनों मैं प्रतिवर्ष हिंदी, संस्कृत तथा अंग्रेजीकी साथ-साथ कई परीक्षाएँ देता और प्रत्येकमें ही सफलता प्राप्त करता । इस बार-बारकी सफलतासे मुझमें अहंवृत्ति जाग गयी और मेरी यह धारणा बन गयी कि जो कुछ मनुष्यको मिलता है, उसमें पुरुषार्थ कारण होता है, दैव नहीं । मैं भगवान् कृष्णका उपासक हूँ और एक लघु प्रतिमा, जो उन दिनों भी मेरे पास थी और आज भी है, उसकी पूजा किया करता था । मेरी अहंताने धीरे-धीरे मुझे उस पूजासे विरत किया और मैं पुरुषार्थपर और विश्वास करता हुआ अध्ययन करने लगा । सन् १९४९ में मैं शास्त्रीका द्वितीय वर्ष दे रहा था, इससे पूर्वके दोनों वर्षोंमें मेरी प्रथम श्रेणी आयी थी और उस वर्ष भी मैंने अथसे इतितक ग्रन्थोंको पढ़ा और कण्ठ कर लिया । मेरे लिये यह सुलभ था कि मैं सोनेकी स्थितिसे जगकर किसी भी स्थलकी किन्हीं भी पंक्तियोंकी टीका-टिप्पणी कर सकता था । भगवान्के प्रति मेरी धारणा कुछ शिथिल हो गयी थी, शायद यह उसीका परिणाम था—मैं परीक्षामें बैठा, पर अनुत्तीर्ण हो गया । अपने साथियोंमें और विद्यालयमें मेरे लिये जीवन-मरणका प्रश्न बन गया । सारा अहंकार, जो मुझमें कुछ दिनोंसे जग रहा था, चूर-चूर हो गया । प्रश्न केवल यही था, यह सब हुआ कैसे ? आप विश्वास करेंगे, सात दिन तक मैं अपने आराध्य प्रभुके सामने रोता हुआ समाधान पूछने लगा । मानसिक चिन्ताने दुर्बल तो बना ही दिया था । आठवें दिन मुझे स्वप्न हुआ और स्वप्नमें मैंने जो कुछ देखा आज भी उसे प्रभुकी कृपा समझ मैं अपनेको धन्य मानता हूँ । मैंने स्वप्नमें देखा परीक्षाकी कापीको कोई मेरे सामने लाया और एक-एक पृष्ठ पलटकर मेरी अशुद्धियोंको और मेरे प्राप्ताङ्कोंको कोई गिना रहा है । लगभग एक-डेढ़ मास बाद रजिस्ट्रार आफिससे मेरे प्राप्ताङ्क मिले और वे वही थे, जिन्हें मैंने स्वप्नमें कापीपर गिने थे—पूरे सोलह, जब कि सत्रहमें उत्तीर्ण होते हैं । अनन्तर भगवान्ने धैर्य दिया और उनके प्रसादसे ही आज मैं एक विश्वविद्यालयमें प्राध्यापक बन कार्य कर रहा हूँ । आप आश्चर्य करेंगे, बचपनमें ही हम पितृविहीन हो गये, भावी जीवनका कोई अता-पता भी नहीं था, फिर भी भगवान्की प्रेरणासे न जाने कितनी ज्ञात-अज्ञात सहायताएँ हमें मिलीं जिनसे मैंने बहुत सुखपूर्वक अपने उन विगत दिनोंको बिताया । मेरी आज यही धारणा है कि मेरी उस क्षणिक नास्तिकताने मुझे जीवनमें असफलताका मुँह दिखाया और मेरी प्रगा आस्तिकताने आज मुझे इस स्थलपर ला बैठाया ।

—वागीशदत्त पाण्डेय एम्० ए० (हिंदी-संस्कृत) पी-एच्० डी०, साहित्याचार्य

(३)

कर्तव्य-पालन

संध्याका समय था । रेलगाड़ी पूनासे बम्बई जा रही थी । गाड़ीमें अधिक भीड़ नहीं थी । लोग आरामसे यात्रा कर रहे थे । पहला दर्जा तो बिल्कुल खाली था, सिर्फ एक कालेजकी युवती थी । कालेजकी छुट्टियोंमें वह बम्बई जा रही थी । उसी गाड़ीसे मेरा मित्र भी बम्बई जा रहा था । वह रेलवे पुलिसमें था ।

धीरे-धीरे अँधेरा होने लगा । गाड़ी तेजीसे चल रही थी । इतनेमें बगलके डिब्बेमेंसे एक दर्दभरी चिल्लाहटकी आवाज आयी । पर शायद उस ओर किसीका ध्यान नहीं गया । सिर्फ मेरे उस पुलिस मित्रने उसे सुना और वह सोचने लगा कि जरूर पहले दर्जेमें कुछ गड़बड़ी होगी ।

तुरंत ही वह गाड़ीके दरवाजेपर आ गया । सिग्नल न मिलनेके कारण एक-दो मिनिटके लिये गाड़ी ठहरी । सिर्फ इतना ही मौका उसको मिला, वह झटसे गाड़ीसे कूद पड़ा और अगले पहले दर्जेके डिब्बेमें चढ़ गया ।

वहाँकी हालत देखने, सोचने या सुनने लायक नहीं थी । उसमें एक अकेली युवती थी और दो गुंडे थे । युवतीका मुँह बंद किया हुआ था, जिससे वह चिल्ला न सके । मार-पीट और कीमती चीजें छीननेका काम चालू था । इस करुणापूर्ण और भयानक दृश्यको देखकर मेरे मित्रकी आँखें लाल हो गयीं । उसने तुरंत ही दोनों गुंडोंपर हमला किया । उन लुटेरोंके पास हथियार थे । इसके पास सिर्फ एक डंडा था । पर अपनी जानको जोखिममें डालकर मेरा मित्र उनसे भिड़ गया । वहाँ एक छोटी-सी लड़ाई हो गयी । लुटेरोंके हथियार मेरे मित्रने छीन लिये । पर उसको बहुत बुरी मार और तकलीफ सहनी पड़ी । आखिर लुटेरोंको मार खाकर भागना पड़ा । इस छोटी-सी लड़ाईमें मेरे मित्रकी जीत हो गयी । वह महिला डरके मारे काँपती हुई इस

दृश्यको देख रही थी। वह बोल नहीं सकती थी। मेरे मित्रकी जीत देखकर उसमें कुछ धीरज आया। वह समझी कि इन बहादुर पुरुषके रूपमें खुद भगवान् ही मेरी सहायताके लिये आये हैं।

मेरे मित्रने उस युवतीको बम्बईमें उसके भाईके घरपर पहुँचाया। मेरे मित्रकी इस बहादुरीको देखकर अत्यन्त कृतज्ञ हुई वह महिला कुछ पुरस्कार दे रही थी, किंतु मेरे मित्रने लिया नहीं। केवल इतना ही कहा कि 'समझो; मेरी बड़ी बहनपर ऐसी विपत्ति पड़ती तो क्या मैं सहायता न करता? इस अवस्थामें मदद करना मेरा कर्तव्य है। भगवान्ने मुझे उस समय ऐसी शक्ति दी कि मैं लुटेरोंका मुकाबला करके बहनकी जान बचा सका। यह सब भगवान्की कृपासे ही हुआ, मुझसे कुछ भी नहीं।'

बादमें मेरे घरपर आकर, मित्रने मुझे यह दुर्घटना सुनायी। दुर्घटना सुनकर मुझे बहुत दुःख हुआ। मैंने भगवान्से केवल यही प्रार्थना की—'हे प्रभो! ऐसा टेढ़ा समय किसीपर न आने देना।'

मनुष्य जब इस दुनियामें सच्चाईके साथ सत्कार्य करता है तो टेढ़े समयपर खुद भगवान् ही किसी-न-किसी रूपमें उसकी सहायताके लिये आ खड़े होते हैं।

—वि० ग० ढमाले, ओतूर (पूना)

(४)

गङ्गामाईकी महिमा

पहलेकी बात है कि मैं एक दिन बड़ा परीशान था। छोटे भाईकी स्त्री बीमार मृत्युसे लड़ रही थी। चार दिन बाद मेरी बहिनकी शादी थी। रिश्तेदार आ गये थे। हम सबने मिलकर निश्चय किया कि सब रात्रि-जागरण करें और मिलकर परमपिता परमात्मासे प्रार्थना करें कि हमारी परीशानी दूर हो। जागरणके पश्चात् प्रातः आरती की गयी और मेरे मुँहसे स्वयं ही ये शब्द निकले कि 'यदि वहू भी बच जाय और शादी भी निर्विघ्न समाप्त हो जाय तो मैं प्रतिमास सालभरतक एक दिन गङ्गास्नान किया करूँगा।' बहूको इस कारण अस्पतालमें भर्ती करा दिया कि यदि मृत्यु होनी ही है तो अस्पतालमें ही हो और हम शादीकी तैयारीमें लग गये। परमात्माकी ऐसी कृपा हुई कि बहू ठीक होने लगी और शादीके दिन उसकी इच्छा हुई कि कोठीपर ले चलो—मैं तो वरको देखूँगी। वरको अस्पताल भेजा गया। बहूने उसके पैर पूजे और माला पहनायी। आठ दिनके भीतर शादी भी निर्विघ्न हो गयी और बहू भी अच्छी होकर अस्पतालसे घर लौट आयी।

हमारा परिवार आर्यसमाजी है। उसी वातावरणमें रहनेके कारण मुझे गङ्गाजीमें कोई श्रद्धा नहीं थी। परंतु अचानक मुँहसे उस दिन जागरणके पश्चात् सालभर प्रतिमास एक दिन गङ्गास्नान करनेकी बात न जाने कैसे स्वयं ही निकल गयी थी, अतः उसी निश्चयके बन्धनमें फँसकर मैंने प्रतिमास गङ्गास्नान एक दिन करना शुरू कर दिया। गङ्गाजीके किनारे कई महात्माओंके दर्शन हुए। मुझे गङ्गास्नान करनेमें बड़ा आनन्द आने लगा। प्रतिमास चारों ओरसे कुछ-न-कुछ शुभ समाचार आते रहे। तीन अमेरिकन साधुओंने और कई भारतवर्षके उच्चकोटिके महात्माओंने स्वयं कोठीपर पधारकर सेवकको अनुगृहीत किया। एक महात्मा 'ज्ञानेश्वरी'की पुस्तक मेरी मेजपर छोड़ गये। एक अमेरिकन महात्मा २१ दिन कोठीपर ठहरकर शिवलिङ्गकी मूर्ति मुझे दे गये। पूजाके कमरेमें एक महात्मा श्रीकृष्णका चित्र फ्रेम कराकर रख गये। इन सब बातोंसे और ज्ञानेश्वरीको पढ़ते-पढ़ते मैं एक मूर्तिपूजक बन गया। शङ्ख-कीर्तनकी खड़तालें, इकतारा, झाँझ इत्यादि सभी चीजें मेरे पूजाके कमरेमें आ गयीं। पूजा करनेमें सेवकको बड़ा आनन्द आने लगा। प्रतिदिन गङ्गा-जलका प्रातःकाल आचमन करनेके पश्चात् ही खाने-पीनेका संकल्प कर लिया। गङ्गाजलकी एक छोटी शीशी मैं सदा अपनी जेबमें रखने लगा। इस प्रकार १२ मास गङ्गास्नान करनेमें मुझे इतना आनन्द आया कि मैंने निश्चय किया कि अब भविष्यमें प्रतिमासका गङ्गास्नान करना जीवनभर जारी रक्खूँगा। बहुत-से अद्भुत चमत्कार हुए; पर उनका यहाँ वर्णन करना ठीक नहीं जान पड़ता।

यों ही पाँच वर्ष गङ्गास्नान करते बीत गये। फिर मेरी बड़ी पुत्र-वधू बहुत बीमार हुई। ६ महीने उसे अस्पतालमें रखना पड़ा। खर्च भी बहुत हुआ। एक दिन डाक्टरनियोंने जवाब दे दिया कि अब इसके बचनेकी आशा नहीं। सभी रो रहे थे। मैं एक कोनेमें एक छोटी-सी चारपाईपर बैठा था। एक हाथमें गङ्गाजल-शीशी—दूसरे हाथमें गीताका सबसे छोटा गुटका और

माला । शरीर काँप रहा था—आँखोंसे अश्रुधारा बह रही थी । मेरे मुँहसे निकला—'भगवान् ! आपकी इच्छा—बहू आपने ही दी थी । आप ले जाना चाहते हैं तो ले जाइये—मेरे कोई पाप होंगे, जिनका दण्ड मुझे मिल रहा है । पर इस बार आप इसपर कृपा करके जीवनदान दें—तो मैं अब प्रतिमास दो दिन गङ्गास्नान किया करूँगा ।' उधर डाक्टरनियाँ उपचार कर रही थीं । आध घंटे बाद बड़ी डाक्टरनीने आकर कहा कि बहू अब बच गयी—यकीन मानो मरेगी नहीं, पर पूरी ठीक होनेमें शायद कुछ महीने और लग जायँ । मुझे घरवालोंने चाय पिलायी, तब कहीं मैं होशमें आया । प्रभुका और गङ्गामाईका बहुत बड़ा धन्यवाद किया । बहूको घर लिवा लाये और उसकी दशा प्रतिदिन सुधरती गयी । इस समय उसके तीन बच्चे हैं । मुझे छः वर्षतक दमेकी बीमारी लग गयी । मैं सदा यह कहता रहता था कि जिस गलेमें प्रतिदिन गङ्गाजल जाता है उस गलेमें दमेकी शिकायत नहीं रहेगी । किसी दिन गङ्गामाई कोई औषध भेजेंगी और यह बीमारी चली जायगी । हुआ भी ऐसा ही—अनूपशहरके पास गङ्गास्नान करनेके एक दिन बाद किसीने मुझे धोखेसे ठंडाईकी जगह भंग पिला दी । मैं १८ दिन सिरके दर्दमें पड़ा रहा । पर दमा ऐसे चला गया कि आजतक कभी भी उसका दौरा नहीं हुआ ।

श्रीराम कालिज आफ़ कॉमर्स दिल्लीसे जब मैं १९५४ में रिटायर हुआ, तब मुझे श्रीयुवराज कर्णसिंहजी सदरेरियासत जम्मू-कश्मीर अपने कॉमर्स कालेजका प्रिंसिपल बनाकर ले गये । कश्मीरसे प्रतिमास दो दिन गङ्गास्नान करने आना कठिन था । इसलिये पूज्य श्रीहरिबाबाजीके आज्ञानुसार मैंने प्रतिमास तीन दिनके हिसाबसे वर्षमें ३६ दिन गङ्गास्नान तीन महीनोंकी छुट्टियोंमें करनेका निश्चय किया और पाँच वर्ष ऐसा ही करता रहा और कहीं ३६ दिन गङ्गाके किनारे रहकर आनन्द लेता रहा । कश्मीरसे रिटायर होनेपर मेरी आयु ६५ वर्षकी हो गयी । तब फिर श्रीहरिबाबाजीके आज्ञानुसार यह नियम लिया कि प्रतिवर्ष १ दिन और अधिक गङ्गास्नानको बढ़ाता रहूँगा । इस १९६३ ई० में ४१ दिन गङ्गास्नान करूँगा । गङ्गामाई सब निभा देगी ।

परिवारमें जब कोई बाहर जाता है, गंगाजलकी शीशी अपने साथ रखता है । मेरा छोटा भाई डा० आनन्दस्वरूप शर्मा बुलंदशहरमें हैं—उसके लड़कियाँ थीं—लड़का था । आर्यसमाजके मन्त्री होनेके नाते उसे गङ्गाजीमें नहीं थी । पर मेरे कहनेपर एक वर्षतक प्रतिमास गङ्गा करनेपर गङ्गामाईकी कृपासे उसे पुत्ररत्न प्राप्त हुआ आजकल लन्दनमें डाक्टरी पढ़ रहा है । इसी प्रकार एक करीबी रिश्तेदार—पं० परमानन्द बेकल एक मुकदमे फँस गये—जीतनेकी कोई आशा नहीं थी । वे ज्योतिषी मैंने उनसे कहा कि जबतक मुकदमा चले, प्रतिमास गङ्गास्नान करते रहो तो मेरा पूर्ण विश्वास है कि तुम्हारी जीत होगी तीन वर्ष मुकदमा चला, पर अन्तमें उनकी जीत हुई । जीवित रहे प्रतिमास गङ्गास्नान करते रहे ।

मुझे जब भी कोई परीशानी हुई या नौकरीके सम्बन्ध तरक्की इत्यादि और दूसरी इच्छाएँ हुईं, तब मैं लिखकर अर्जीकी नकल गङ्गाजीमें डाल देता था । सच बात तो यह कि जो कुछ भी मैंने गङ्गामाईसे माँगा, वह मुझे तुरंत ही मिल अब मैं ६९ वें वर्षमें चल रहा हूँ । प्रभुसे प्रार्थना है गङ्गामाई इसी प्रकार हमारे देशपर अमृतकी वर्षा करके सब सुखी करती रहें । भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥
येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥

श्रीगङ्गा माता ! सबका उद्धार कर दे—दुखिया को तू सुखिया संसार कर दे ।

—मदनलाल शाण्डिल्य एम्० ए०, बी० कॉम, एल्-एल्० बी०

(५)

बुरेमें भी भलाई तथा परिवर्तन

आजसे दस वर्ष पहलेकी बात है । कच्छसे अपरिचित मैं बरंडीसे कोटडा जानेके लिये घरसे निकला सलाह ली—किस रास्ते जाना ठीक है ? मैं बरंडीसे बैलगाड़ीमें आया । दूरसे आती हुई बसको देखकर वालेने कहा—'इस बसपर सवार हो जाओ, यह कोटडा पहुँचा देगी ।' मैंने उतरकर उस बसमें खड़े जगह प्राप्त कर ली । पाँच-सात मील आगे निकले कंडक्टर मेरे पास आया । मैंने पैसे देकर कहा—टिकट कोटडा ।' वह क्षणभर मेरी ओर देखकर बोला

'यह बस कोटडा नहीं जाती। जान पड़ता है आपको यहाँकी जानकारी नहीं है। अगले स्टापपर उतर जाइयेगा। वहाँसे बायीं तरफ एक पगडंडी मिलेगी। लगभग डेढ़ मीलपर रोहा-गाँव है। वहाँसे रातको नौ बजे कोटडा जानेवाली बस मिलेगी।'

बुगचा उठाकर मैं उतरा, सँकड़ी-सी पगडंडीसे आगे बढ़ा। सूर्यदेव तो कभीके विदा ले चुके थे। एकाध फर्लांग आगे बढ़ा होऊँगा कि पीछे कुछ आहट-सी सुनायी दी, मैंने चौंककर पीछेकी ओर देखा। कोई काली छाया मेरी ओर बढ़ रही थी। ईश्वरका स्मरण करता हुआ मैं आगे बढ़ा कि दो-ही-तीन मिनटमें वह छाया मेरे बगलमें आ पहुँची। मेरा हृदय काँप गया। एक लंबा पूरा पुरुष, बड़ी-बड़ी मूँछें, सिरपर बड़ा पग्गड़ और पट्टेसे बँधी बंदूक देखकर मैं तो मुर्दा-सा हो गया। मेरे समीप आकर उसने पूछा—'क्यों महाशय! कहाँ जाना है?'

डरके मारे मैं उत्तर नहीं दे सका। उसने फिर पूछा। मैंने शुरूसे अबतककी बात सुना दी।

'तुम थके हुए जान पड़ते हो। लाओ, यह बुगचा मैं उठा लूँ।' 'नहीं···नहीं···मैं बिल्कुल थका नहीं हूँ।' सारी हिम्मत बटोरकर मैं मुश्किलसे इतना बोल पाया। मेरी आवाजसे उसने पहचान लिया कि मैं डर गया हूँ; वह खिलखिलाकर हँस पड़ा। नीरव रात्रिमें उस हँसीने मुझे और भी डरा दिया।

'कठिनाईमें मदद करना हम गाँववालोंको आता है; आप कहो तो आपको भी उठाकर ले चलूँ' उसने कहा।

मेरी समझमें नहीं आया कि मैं इसका क्या उत्तर दूँ और मैं उसके पीछे-पीछे घसिटता चला। बुगचा अब उसके हाथमें था। कितने ही विचार मेरे मस्तकमें भर गये। मैं विकल हो गया। कोई गाँव नहीं आया। विपत्तिमें भगवान् याद आया करते हैं। दूरसे मन्दिरकी झाँझ-घण्टा सुनायी दी। इस ध्वनिने मेरे अंदर एक अजब श्रद्धा उत्पन्न कर दी—भगवान्में।

बुगचा मेरे हाथमें देते हुए उस पुरुषने कहा—'लो, यह रोहा आ गया। अब मैं जा रहा हूँ। मुझे यहाँ लोग रतनजीके नामसे पहचानते हैं।'

मैंने स्वीकृतिमें सिर हिला दिया। खेतोंमें होता हुआ वह अदृश्य हो गया, मैंने गाँवमें प्रवेश किया। बस आनेमें कुछ देर थी। कितने ही लोग वहाँ जमीनपर बैठे थे। मैं उनकी ओर बढ़ा। उनको पता लगा कि मैं डेढ़ मील सुनसान रास्तेसे आया हूँ। तो एक युवकने कटाक्ष किया—'हमने तो सुन रक्खा था कि शहरके लोग डरपोक होते हैं और आप इस अँधेरेमें अकेले आ गये।'

डेढ़ मीलतक मेरे साथ आनेवाले सज्जनके विषयमें मैंने बताया। सब चुपचाप सुनते रहे। एकने पूछा—'क्या नाम था उनका?' और 'रतनजी' सुनते ही सब लोग बिना ही कुछ कहे उठकर चल दिये। उनका यह काम मेरी समझमें नहीं आया। बस आयी, कंडक्टरसे पूछकर मैं बसमें जा बैठा। पास बैठे हुए मुसाफिरको कदाचित् रतनजीके बारेमें कोई जानकारी हो, मैंने उससे पूछा—'क्यों भाई! यह रतनजी कौन है?'

मेरी ओर देखकर उसने मुँह फेर लिया। मैंने फिर पूछा, तब उसने कहा—'आप उसे नहीं जानते? आश्चर्य है। वह यहाँका प्रसिद्ध डाकू है। आप कहीं उसे देख लें तो तुरंत प्राण निकल जायँ—ऐसा भयानक है। अच्छे-अच्छे पुलिसवाले उससे डरते हैं।' बड़ी देरसे रात्रिको मैं कोटडा पहुँचा, तब कहीं जीव अपनी जगहपर आया।

× × ×

अबसे दो वर्ष पहले बंबईमें एक विवाहमें अचानक रतनजी मिले। पर इस समय वे डाकू नहीं, एक प्रतिष्ठित पुरुषके रूपमें विवाहमें निमन्त्रित थे। मुझे नहीं पहचान सके। मैंने पहचान बतायी। मुझको हृदयसे लगा लिया। 'क्यों आज तो वह डर नहीं लगता है न? अब मैं एक किसान बन गया हूँ और किये पापोंका प्रायश्चित्त करनेके प्रयत्नमें लगा हूँ।'

मैं मनमें सोचने लगा—ऐसा कोई मङ्गल क्षण आता है, जो मनुष्यको विषसे हटाकर अमृतके समीप ले जाता है।

(अखण्ड आनन्द)

—मोतीलाल डी. सावला

(६)

दोनों सच्चे साबित हुए

मेरे पड़ोसमें मेरे मित्र डाक्टर साँईदासजी खन्ना रहते थे। करीब १५ बर्ष हुए उनका स्वर्गवास हो गया। उनकी बीमा करायी हुई थी, उसके करीब २७००) डाक्टर साहबकी

पत्नीको मिले। डाक्टरकी स्त्रीने ये रुपये वहाँके लब्ध-प्रतिष्ठ वकील साहब श्रीपरतापमलजी मेहताको जमा करनेके लिये दे दिये। वकील साहबने ये रुपये स्वयं नहीं रखकर यहाँकी एक फर्म श्रीशिवदास सिरेमलमें डाक्टर साहबकी स्त्रीके नामसे ही जमा करवा दिये। कुछ वर्षों बाद डाक्टर साहबकी पत्नीको रुपयोंकी जरूरत हुई और उन्होंने वकील साहबसे रुपये माँगे। वकील साहब इस बातको बिल्कुल ही भूल गये थे कि उन्होंने ये रुपये श्रीशिवदास सिरेमलमें खन्नाजीकी स्त्रीके नामसे जमा करवा दिये थे। वकील साहबने बहियाँ देखीं, पर रुपये कहीं जमा नहीं मिले। वकील साहबने कहा कि रुपये तो आपके जमा नहीं हैं। इसपर डाक्टर साहबकी पत्नीने कहा कि रुपये मैंने जरूर आपको दिये थे। वकील साहबने सोचा ज्यादा तूल-तवीलमें जानेसे लोग समझेंगे कि एक विधवा स्त्रीकी रकम दबानेकी नीयतसे मुकर रहे हैं। चुपचाप रु० २७००) डाक्टर साहबकी पत्नीको दे दिये।

गतवर्ष श्रीशिवदास सिरेमलके हिस्सेदार अलग-अलग हुए और उन्होंने हिसाबके आँकड़ोंमें रु० २७००) के छः आने ब्याजसे प्रायः ४६००) श्रीसाँईदासजी डाक्टर साहबकी पत्नीके नामसे जमा निकाले। डाक्टर साहबकी स्त्रीको सूचना दी गयी। उन्होंने कहा मैंने तो रुपये जमा नहीं कराये। फिर वकील साहबके पास गये तो अब उनको सब बातें याद आ गयीं कि ये रुपये तो वही हैं, जो बीमाके डाक्टर साहबकी पत्नीने उन्हें दिये थे और उन्होंने डाक्टर साहबकी पत्नीके नामसे ही जमा करा दिये थे। डाक्टर साहबकी स्त्रीने वकील साहबसे कहा कि मेरे रुपये तो आपने दे दिये थे, पर वकील साहबने कहा—'ये रुपये तो आपके ही हैं। इस विस्मृतिमें भी भगवान्‌का कुछ रहस्य है।' प्रसन्नतासे वकील साहबने पूरे रुपये डाक्टर साहबकी स्त्रीको दिला दिये। कहा—प्रसन्नता इसी बातमें है कि मैं भी सच्चा था और डाक्टर साहबकी पत्नी भी सच्ची थीं। इसका भेद ईश्वरने चौदह वर्ष बाद खोला। ईश्वरकी लीला विचित्र है, सचाई प्रकट हुए बिना नहीं रहती।

—हरषराज लोढ़ा

(७)

आत्माकी आवाज

१३ अप्रैल सन् १९६३ के दोपहरकी बात है। 'कल्याण' का विशेषाङ्क पढ़ रहा था और उसमें बिल्कु था। इसी समय अचानक मेरे अंदरसे एक आवाज लगी कि 'जरा बाहर चलो, जरा बाहर चलो।' पर इसपर कोई ध्यान नहीं दिया और मैं पढ़नेमें ही लगा र पर मुझे आत्मशान्ति नहीं हुई, बार-बार बाहर जानेकी आने लगी और मेरा मन पढ़नेसे उचट गया। मैं कमरेसे बाहर आया, तो क्या देखता हूँ कि मेरा चार छोटा भानजा बाहर खड़ा है, उसके हाथमें एक दियास है। क्षणभरमें ही वहाँपर मुझे बगलके बरामदेकी सीढ़ियों 'चट, चट, चट' शब्द सुनायी दिये। मैं शीघ्र ही उस गया तो मेरे आश्चर्यका ठिकाना न रहा। वहाँपर कु घासकी एक किवाड़के सहारे रखी थीं और उनमें जोरकी आग लगी हुई थी। शायद बच्चेने दियास जलाकर फेंक दी हो। उन पिंडियोंके सहारे उस किवा भी आगने पकड़ लिया था और वह भी जलने लगा

मैंने शीघ्र ही जल लाकर उस अग्निको शान्त कि कुछ हानि नहीं हुई थी, किंतु हो जाती। वह अग्नि तो हो गयी, किंतु मेरे मनमें बराबर उस 'जरा बाहर चलो' आवाज गूँज रही थी।

अब आप स्वयं ही अनुमान लगा सकते हैं कि यदि समय मैं उस आवाजकी ओर ध्यान न देता तो कि भयानक परिणाम होता। इसलिये मनुष्यको अपनी अन्तरात्मापर विश्वास रखना चाहिये। वह हमें तथा सच्चे मार्गपर ले जाती है। जब भी हम कोई कार्य हैं, तब हमारे हृदयमें दो तरहकी भावना जाग्रत् होती है। पहली होती है 'इसे करूँ' और दूसरी होती है 'न करूँ'। इ तरहसे 'मन' और 'आत्मा' में संघर्ष होता रहता है। हम मनकी बात मान लेते हैं तो परिणाम अच्छा निकलता और यदि आत्माकी बातपर विश्वास करते हैं उसका परिणाम इस घटनाके अनुसार आपके प्रस्तुत ही है।

—महेशचन्द्र

* * *

'कल्याण'के चालू वर्षका विशेषाङ्क 'संक्षिप्त ब्रह्मवैवर्तपुराणाङ्क'

प्रसिद्ध वैष्णव-पुराण 'ब्रह्मवैवर्तपुराण'का सार रूप है। इसमें दिव्य गोलोकविहारी परात्पर भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी अभिन्नस्वरूपा श्रीराधिकाजीकी अमृतोपम गोलोक-लीला तथा उनकी अवतारलीलाका बड़ा ही सुन्दर वर्णन है। साथ ही सब देवताओंकी एकता, सारी शक्तियोंकी एकता, भक्तितत्त्व, सदाचार, कर्म और कर्मफलोंका, दिव्य लोकोंका, ज्ञान-विज्ञानका, चमत्कारपूर्ण दुर्लभ स्तोत्रों, कवचों और मन्त्रोंका विशद विवेचन है। अतएव यह अङ्क सभीके लिये परमोपयोगी और संग्रह करने योग्य है।

इसमें ७०० से अधिक पृष्ठ, बहुरंगे चित्र १७, दोरंगा १, सादे ६ और लगभग १२० रेखाचित्र हैं। वार्षिक मूल्य केवल ७.५० (सात रुपये पचास नये पैसे) तथा सजिल्दका ८.७५ (आठ रुपये पचहत्तर नये पैसे) डाकखर्चसमेत है। आज ही ग्राहक बनिये और अपने इष्ट-मित्रोंको भी बनाइये।

'कल्याण'के गत वर्षका विशेषाङ्क 'संक्षिप्त शिवपुराणाङ्क'

३६वें वर्षके 'संक्षिप्त शिवपुराणाङ्क'की एक लाख इक्यावन हजार प्रतियाँ छापी गयी थीं। इसमें भगवान् शिवजी बड़ी ही विचित्र मधुर लीलाओंका, भक्तवत्सलताका और उनके अवतारोंका तथा योग-भक्तिके तत्त्वोंका बड़ा ही विशद और सर्वोपयोगी वर्णन है। यह विशेषाङ्क सुप्रसिद्ध शिवपुराणके साररूपमें सरल हिंदी भाषामें बहुत ही सस्ता है।

पृष्ठ-संख्या ७०४, चित्र सुन्दर बहुरंगे १७, दोरंगा १, सादे १२ तथा रेखा-चित्र १३८, कुल १६८, मूल्य रु० ७.५० (डाकखर्चसहित) भेजकर रजिस्ट्रीसे मँगवा लें अथवा वी० पी० द्वारा भेजनेकी आज्ञा दें।

कल्याणके पुराने प्राप्य विशेषाङ्क

१—हिंदू-संस्कृति अङ्क

पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविता ४६, संगृहीत २९, चित्र २४८, मूल्य ६ रु० ५० नये पैसे। साथ ही इसी वर्षका अङ्क दूसरा तथा तीसरा बिना मूल्य।

इस अङ्कमें महान् हिंदू-संस्कृतिके प्रायः सभी विषयोंपर प्रकाश डाला गया है। इसमें वेद, उपनिषद्, महाभारत, रामायण तथा श्रीमद्भागवतकी सानुवाद सूक्तियाँ, हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप तथा महत्त्व, हिंदूधर्म, वर्णाश्रम, दर्शन-परिचय, हिंदू-संस्कृतिकी व्यापकता, हिंदू-संस्कृतिमें त्याग और भोगका समन्वय, रामराज्यका स्वरूप, शिष्टाचार और सदाचार, आहार-विवेक, गोरक्षा, जीवरक्षा आदि विविध विषयोंपर बड़े-बड़े विद्वानों तथा अनुभवी पुरुषोंके लेख हैं। इसके अतिरिक्त भगवान्‌के अवतारोंके, देवताओंके, आदर्श ऋषि-महर्षियोंके, परोपकारी भक्त, राजा तथा गुरुओंके, आचार्य, महात्मा और भक्तोंके एवं आदर्श हिंदू-नारियोंके बहुत-से पवित्र चरित्र हैं।

२—संतवाणी-अङ्क

पृष्ठ-सं० ८००, तिरंगे चित्र २२, इकरंगे चित्र ४२, संतोंके सादे चित्र १४०, मूल्य डाकव्ययसहित ७ रु० ५० नये पैसे।

३—मानवता-अङ्क

पृष्ठ-संख्या ७०४, मानवताकी प्रेरणा देनेवाले सुन्दर ३९ बहुरंगे, एक दुरंगा, १०१ एकरंगे और ३९ रेखाचित्र। डाकव्ययसहित मूल्य ७ रु० ५० नये पैसे।

देशभरके चुने हुए महात्माओं और विद्वानों तथा विदेशी महानुभावोंके मानवतासम्बन्धी सद्विचारोंके संग्रहसे सम्पन्न और सबके द्वारा प्रशंसित।

व्यवस्थापक—कल्याण, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

एक करोड़ रामचरितमानस-पाठ

आगामी वि० सं० २०३० में गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी रचित श्रीरामचरितमानसके वर्ष पूरे होते हैं। इस सुअवसरपर एक विशाल धार्मिक और साहित्यिक समारोह मनानेकी दरीबा, दिल्ली ६ के अखिलभारतीय श्रीसनातनधर्ममहामण्डलने बनायी है और इस बीच वर्षोंमें श्रीरामचरितमानसके एक करोड़ पाठ करने-करानेका प्रस्ताव किया है। प्रतिवर्ष दस लाख पाठ होनेसे दस वर्षोंमें एक करोड़ पाठ पूरे हो सकते हैं। यह महान् मङ्गलमय, सर्वविश्वहितकारी लोक-परलोक-कल्याणकारी परम पुण्य अनुष्ठान है।

अतः 'कल्याण'के लाखों-लाखों पाठक-पाठिकाओंसे मेरा विनम्र निवेदन है कि मङ्गलमय कार्यमें स्वयं सक्रिय सहयोग देने और दूसरे अधिक-से-अधिक लोगोंको प्रेरणा देनेकी करें, जिससे सब लोग पूर्ण उत्साहके साथ श्रीरामचरितमानसका नवाह्न-पारायण, मासपारायण, दिनका अखण्ड पाठ, ऋतुपारायण, त्रैमासिक पारायण आदि किसी भी रूपमें पाठ करना आरम्भ दें और संख्यासहित पाठपूर्तिकी सूचना नीचे लिखे पतेपर अवश्य भिजवा दें।

हनुमानप्रसाद पोद्दार—
श्रीरामचरितमानस-कोटि-पाठ-
गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीगीता और रामायणकी आगामी परीक्षाएँ

श्रीगीता और रामचरितमानस—ये दो ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनको प्रायः सभी श्रेणीके लोग आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। इसलिये समितिने इन ग्रन्थोंके द्वारा धार्मिक शिक्षा-प्रसार करनेके लिये की व्यवस्था की है। उत्तीर्ण छात्रोंको योग्यतानुसार पुरस्कार भी दिया जाता है। इस वर्षसे परीक्षाओंमें पुरस्कारोंकी संख्या एवं धनकी वृद्धि भी की गयी है। परीक्षाओंके लिये स्थान-स्थानपर ३५० केन्द्र भी स्थापित हैं तथा और भी नियमानुसार किये जा सकते हैं।

आगामी गीता-परीक्षाएँ रविवार, सोमवार दि० २४–२५ नवम्बर १९६३ को एवं रामायण- दि० ५–६ जनवरी १९६४ को होनेवाली हैं। केन्द्र-व्यवस्थापकोंसे निवेदन है कि सभी परीक्षाओंके आवेदनपत्र एवं नवीन केन्द्रोंके लिये प्रार्थना-पत्र दि० ३० अगस्त १९६३ तक भेज देनेकी कृपा करें। जानकारीके लिये पत्र लिखकर नियमावली मँगवा सकते हैं।

व्यवस्थापक—श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति, गीता-भवन, पो० स्वर्गाश्रम (

3७7८८

पुस्तकालय
गुरुकुल काँगड़ी

कल्याण

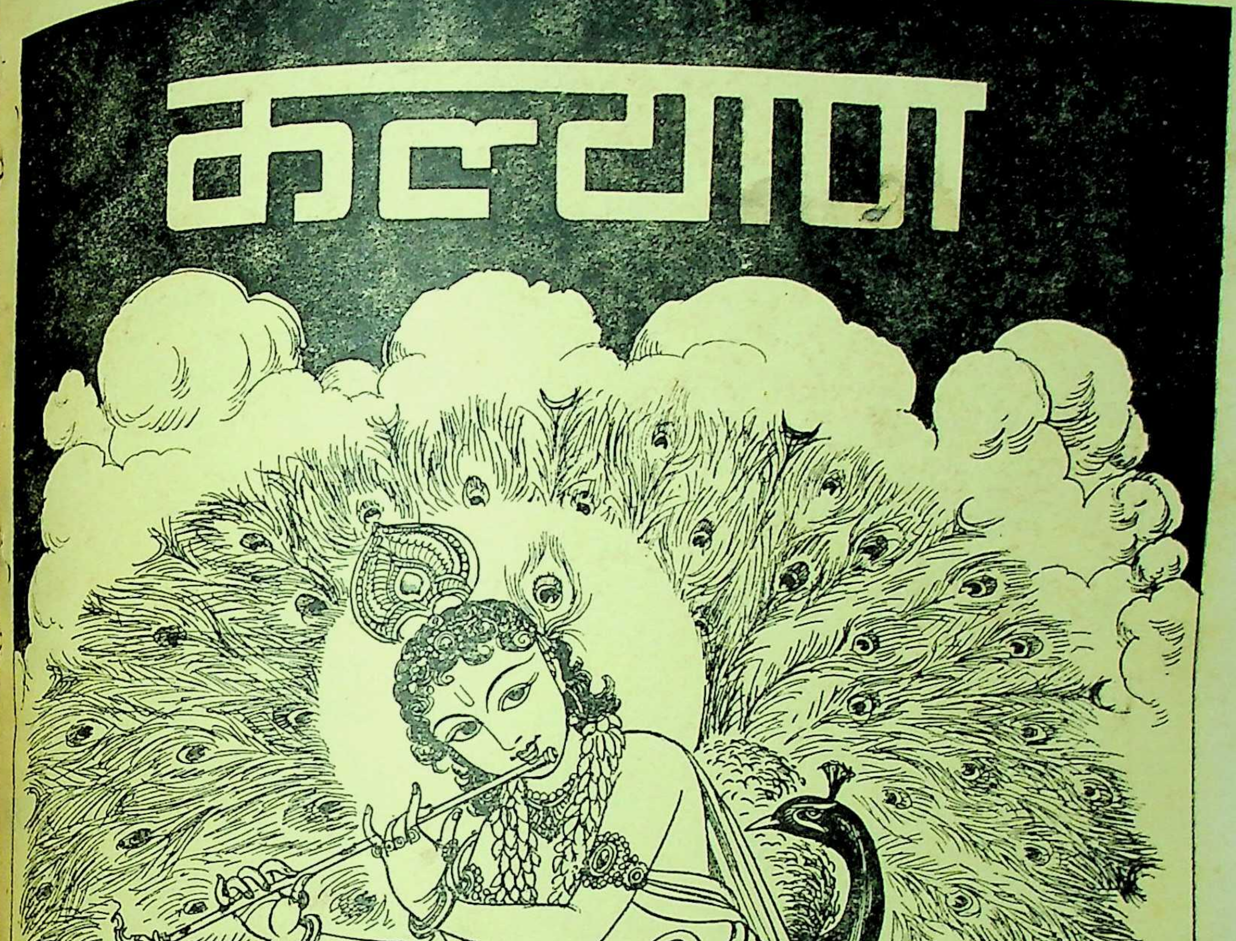

वर्ष ३७] * [अङ्क ८

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ।

संस्करण—१,३८,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर भाद्रपद २०२०, अगस्त १९६३

विषय पृष्ठ-संख्या

१–सांख्ययोगी और निष्काम कर्मयोगी [कविता] (गीता ५।५ के आधारपर) १०६७
२–कल्याण ('शिव') ... १०६८
३–साधन-विचार (श्रद्धेय स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज) १०६९
४–भक्तिके बिना सुख कहाँ ! [कविता] (गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी) ... १०७३
५–पुराणोक्त धर्म-वंशका रहस्य (सर्व-दर्शनाचार्य तत्त्वचिन्तक अनन्तश्री स्वामी अनिरुद्धाचार्य वेंकटाचार्यजी महाराज) १०७४
६–करता राम सनेही [कविता] (संत नामदेवजी) १०७८
७–केवल निष्काम कर्मसे भगवत्प्राप्ति (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... १०७९
८–धर्म, सदाचार, सम्प्रदाय और ईश्वर (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ... १०८३
९–आत्मनाश—एक नशा (श्री-शेषनारायणजी चंदेले) ... १०८८
१०–कौंध रहे वे क्षण [कविता] (प्रो० स्वर्णकिरण) १०९०
११–निराश हृदयकी जीवन-ज्योति (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०, साहित्यरत्न, विद्याभूषण, दर्शनकेसरी) १०९१
१२–सत्य समदर्शन [कहानी] (श्री 'चक्र') १०९४
१३–'सगुन जान नहिं कोइ' (पं० श्रीज्ञान-शंकरजी पाण्डेय, एम्० ए०) ... १०९६
१४–षोडशनाम महामन्त्रके विस्तृत विविध अर्थ (परमहंस श्रीश्रीमद्भक्तिमयूख भागवत गोस्वामीजी महाराज) ... ११००
१५–दानशीलता (श्रीरघुनाथप्रसादजी पाठक) ११०५
१६–जीवकी कल्याण-साधना (श्रीगोपालजी भट्ट एम्० ए०) ... ११०७
१७–'ओ मेरे मन ! गुणगान करो श्रीसीता-रामका' (डा० श्रीरवीन्द्रप्रताप राव, आर्गेनिक केमिस्ट्री डिपार्टमेंट, यूनिवर्सिटी आव् ऐडेलायड, साउथ आस्ट्रेलिया) ... ११०९
१८–राम-लक्ष्मण—दो शरीर एक प्राण (श्रीदूधनाथसिंहजी) ... १११०
१९–सूरदास मदनमोहन (श्रीगोकुलानन्द-जी तैलंग 'साहित्यरत्न') ... १११३
२०–दुर्वचन (विद्यावाचस्पति पं० श्रीगणेश-दत्तजी शर्मा 'इन्द्र') ... १११७
२१–रामका अन्याय (श्रीराजेन्द्रप्रसादजी जैन) ११२१
२२–मन एवं इन्द्रियोंसे सावधान ! (प्रो० श्रीशैलजानन्दजी झा 'अंगार', एम्० ए०) ११२३
२३–जब पाण्डव हार गये ! (श्रीउपेन्द्रनाथ राय, एम्० ए०, शास्त्री) ११२६
२४–पढ़ो, समझो और करो ... ११२७

चित्र-सूची

१–मुरलीकी तान ... ... (रेखाचित्र) ... मुखपृष्ठ
२–सांख्ययोगी और निष्काम कर्मयोगी ... ... (तिरंगा) ... १०६७

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्र
भारतमें .
विदेशमें .
(१० पै

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

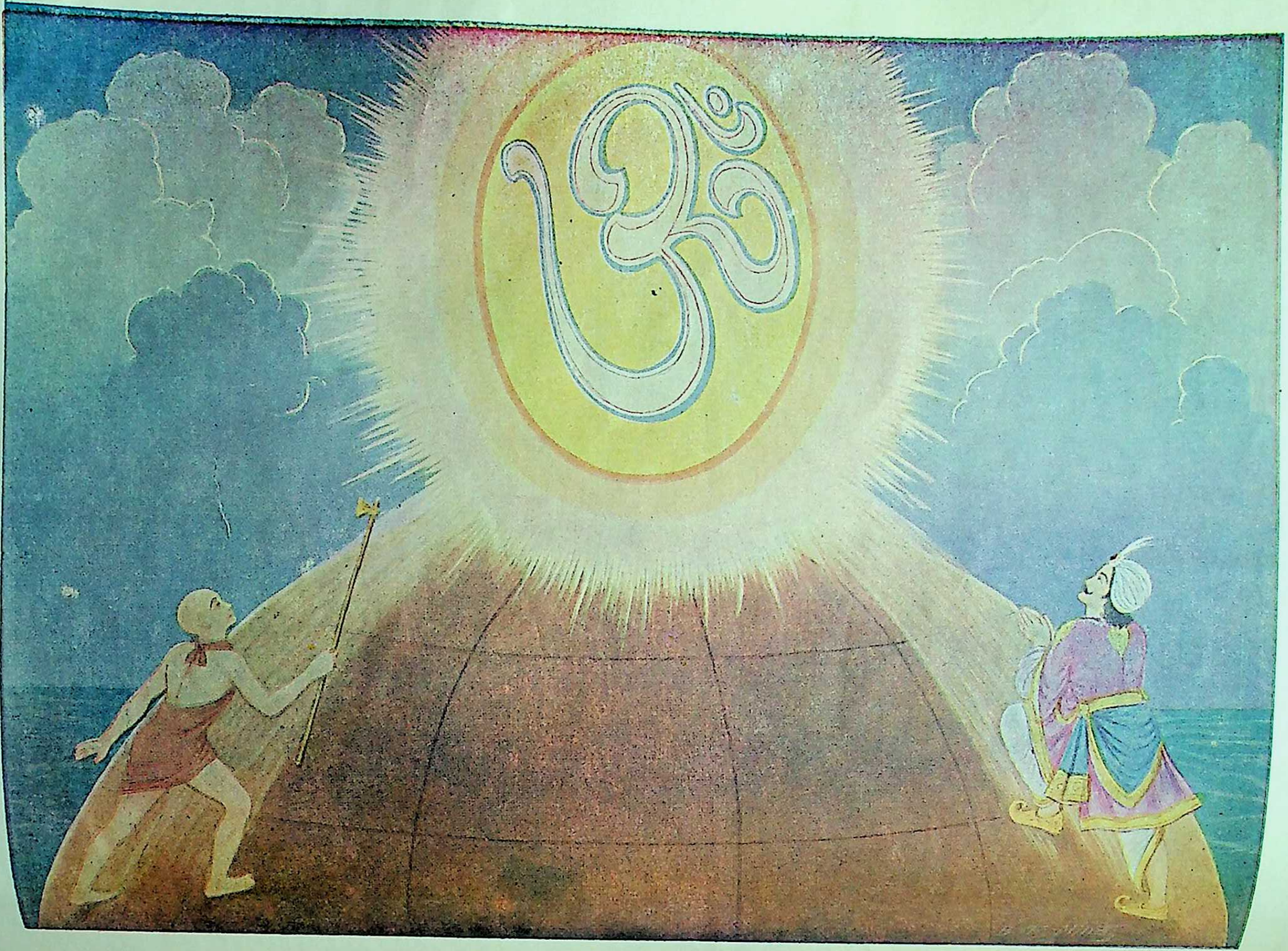

सांख्ययोगी और निष्काम कर्मयोगी

[गीता ५ । ५

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

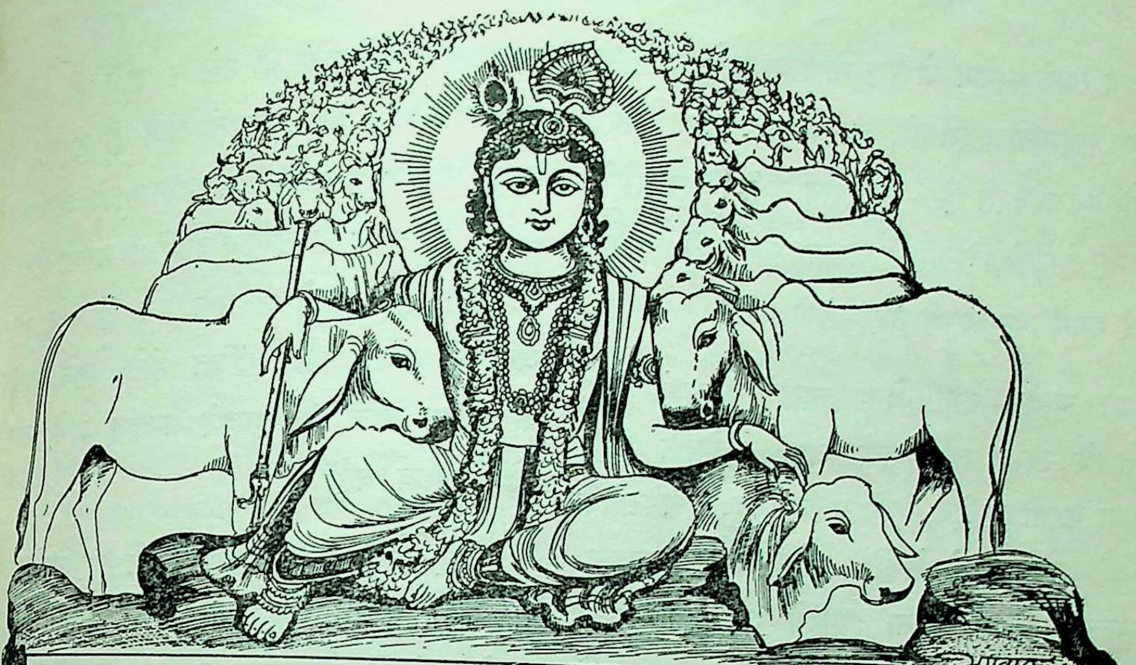

कल्याण

शुद्धतेजःस्वरूपं च भक्तानुग्रहविग्रहम् । अतीव कमनीयं च श्यामरूपं नमाम्यहम् ॥
परिपूर्णतमं शान्तं राधाकान्तं मनोहरम् । सत्यं ब्रह्मस्वरूपं च नित्यं कृष्णं नमाम्यहम् ॥

वर्ष ३७
गोरखपुर, सौर भाद्रपद २०२०, अगस्त १९६३
संख्या ८
पूर्ण संख्या ४४१

सांख्ययोगी और निष्काम कर्मयोगी

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥

जाते वहीं कर्मयोगी हैं, सांख्य प्राप्त करते जो स्थान ।
वही देखता, देख रहा जो सांख्य, योगको एक समान ॥

(गीता ५ । ५)

कल्याण

याद रक्खो—तुम जो कुछ भी दान करते हो, किसीकी कुछ सहायता करते हो, भगवान्का भजन करते हो और ध्यान करते हो—यह सब तभी विशुद्ध रहेंगे, जब इन्हें लोगोंको दिखानेकी अथवा जनानेकी भावना तुम्हारे मनमें बिल्कुल ही नहीं रहेगी।

याद रक्खो—दान देना चाहिये, जिसको देना चाहते हो उसके लाभ तथा अपने संतोषके लिये, सहायता करनी चाहिये किसी दुखीका दुःख मिटानेके लिये और अपने संतोषके लिये। इसी प्रकार भगवान्का भजन-ध्यान भी करना चाहिये भगवान्के प्रीतिसम्पादन तथा अपने परमार्थसाधनके लिये। पर यदि तुम्हारे मनमें अपने ये कार्य दूसरोंको दिखानेकी बात आती है तो तुम अपने उद्देश्यसे गिर जाते हो। फिर इनसे वास्तविक सिद्धि या सफलता नहीं मिलती।

याद रक्खो—जो काम दूसरोंको दिखाने या जनानेके लिये किये जाते हैं, उनमें उद्देश्य हो जाता है दिखाना और जनाना ही। जब दूसरे लोग नहीं देखते या नहीं जान पाते, तब तुम उन कार्योंके करनेमें शिथिलता करने लगते हो और आगे चलकर तो करना ही छोड़ देते हो। अतएव उन कार्योंमें पवित्रता नहीं रह जाती।

याद रक्खो—अपने-आपको अपने प्रति ईमानदार रहनेकी बड़ी आवश्यकता है। भगवान् तो धोखा खाते नहीं, तुम स्वयं ही अपने-आपको धोखा देकर कर्म या साधनके वास्तविक फलसे वञ्चित रह जाते हो। इसलिये उचित यह है कि तुम जो कुछ भी दान करो, दान ग्रहण करनेवाला भी उसे न जाने तो सर्वोत्तम, नहीं तो कम-से-कम दूसरा तो जाने ही नहीं। इसी प्रकार सहायताके करनेमें भी ध्यान रक्खो और भजनध्यानमें तो दूसरोंको दिखाने-जनानेकी भावना होनी ही नहीं चाहिये। ये तो अन्तरके धन हैं और निरन्तर अन्तरमें अर्जित और संचित होते रहने चाहिये। केवल तुम जानो और तुम्हारे भगवान् जानें, तीसरेसे कोई मतलब नहीं।

याद रक्खो—किसी सार्वजनिक सहायताके कार्यमें भी, जहाँतक बने, अपना नाम प्रकट न करनेका विचार रक्खो। किसी संस्थाद्वारा सहायता करवानी हो तो उसमें भी सम्भव हो तो अपना नाम प्रकाशित मत होने दो। इससे दानका मूल्य बढ़ जायगा और अधिक-से-अधिक विशुद्धि होगी।

याद रक्खो—तुम जो कुछ भी देते हो, वह भगवान्की ही चीज है और जिसको देते हो वह भी भगवान्का ही रूप है। अतएव अभिमान छोड़कर भगवान्की चीज भगवान्को अर्पण करनेमें अपना सौभाग्य समझो और अर्पणबुद्धिसे ही दान करो।

याद रक्खो—दान-सहायता और भजन-ध्यान भगवान्की प्रीतिके लिये ही होने चाहिये। अन्य लोगोंको दिखाने अथवा अन्य किसी सदुद्देश्यको लेकर इन्हें करना भी लाभदायक ही है पर इनका असली विशुद्ध रूप और असली भगवत्प्रीतिरूप फल तो तभी रहता और प्राप्त होता है जब कि ये गुप्तरूपसे हों और केवल भगवत्प्रीति-सम्पादनके लिये ही हों।

'शिव'

साधन-विचार

(लेखक—श्रद्धेय स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज)

[गताङ्क पृष्ठ १००९से आगे]

इसी प्रकार ईश्वरकी सृष्टिमें भी पञ्चमहाभूतोंके तरङ्ग प्राणी-पदार्थोंके रूपमें उत्पन्न होते और नाशको प्राप्त होते भी दीखते हैं। तथापि पञ्चमहाभूतोंमें कोई ह्रास-वृद्धि नहीं होती। ये तो ज्यों-के-त्यों सृष्टिसे प्रलयतक बिना घट-बढ़के बने रहते हैं। इन पञ्चमहाभूतोंमें जो विकार या रूपान्तर होता है, उसको हम उत्पत्ति-विनाश कहते हैं। वस्तुतः जलतरङ्गके समान न कुछ उत्पन्न होता है और न कुछ नाश होता है। परंतु तरङ्गका विवेचन करते समय हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि न तो कुछ उत्पन्न होता है और न कुछ विनाशको प्राप्त होता है; क्योंकि वहाँ 'अहंता-ममता' रूपी अविद्याका पर्दा हमारी आँखोंपर नहीं लगा है। परंतु शरीरकी उत्पत्ति और विनाशके समय यह तटस्थ दृष्टि नहीं रहती; क्योंकि वहाँ हमारी आँखोंके ऊपर अविद्याका पर्दा पड़ा रहता है। सर्वदा ऐसी तटस्थ दृष्टि रहनेका ही नाम है सच्चा ज्ञान।

यही बात एक कविने केवल दो पंक्तियोंमें कही है। जैसे—

आया न कोई, गया न कोई, जो जैसा-का-तैसा है।
द्रष्टा है एक अभिन्न चेतन, वह वैसा-का-वैसा है॥*

कविकी स्त्रीका देहान्त हो गया है। इस प्रसङ्गमें कुछ लौकिक बात करके आध्यात्मिक दृष्टिसे वह कहता है कि मेरी स्त्री मर गयी, यह ठीक है और इससे मेरा संसार बर्बाद हो गया, यह बात भी उतनी ही ठीक है। परंतु इससे ईश्वरकी सृष्टिमें कोई फेर-बदल नहीं हुआ। न तो इसमें कोई नया आया और न इसमेंसे कोई चला गया। अनादि-कालसे जैसा चलता आ रहा है, वह ज्यों-का-त्यों है, अर्थात् इसमें कोई घट-बढ़ नहीं हुई और स्वयं परमात्मा भी सृष्टिमें प्रवेश करनेके बाद भी जैसा था, वैसा-का-वैसा है और सारी सृष्टिमें प्रवेश करनेसे परमात्माके स्वरूपमें कोई घट-बढ़ नहीं हुई, वह द्रष्टाके रूपमें ज्यों-का-त्यों है।

(२) **'जाग्रदादिविमोक्षान्तः'**—अर्थात् जीव शरीर धारण करके माताके गर्भमेंसे बाहर निकलता है तबसे लेकर जबतक उस शरीरका नाश नहीं होता तबतकका जो संसार है, वह **'संसारः जीवकल्पितः'** अर्थात् जीवका रचा हुआ, संसार उसकी कल्पनामात्र है। इस जीव-कल्पित संसारमें घट-बढ़ होती रहती है। इसमें कुछ भी स्थिर नहीं है। इस जीव-कल्पित संसारकी सृष्टि कैसे होती है, इसकी आलोचना कीजिये।

जीव शरीर धारण करके गर्भसे बाहर आया। परमेश्वरने उसका पालन-पोषण करनेके लिये एक माता दी, जिसने उसको पाल-पोसकर बड़ा किया। दो वर्षके बाद परमेश्वर उससे पूछता है। भाई! यह कौन है? तो वह उत्तर देता है—'मेरी माँ है।' प्रभु कहते हैं ठीक है। प्रभुने फिर उसको एक भाई दिया और पूछा—'भाई! यह कौन है?' वह बोला—'मेरा भाई है।' फिर दो-तीन दूसरे भाई-बहिन देकर पूछा—'ये कौन हैं?' बोला—'मेरे भाई-बहिन हैं।' पश्चात् प्रभुने उसका ब्याह कराया और उसकी स्त्रीको भी दो-तीन बालक प्रदान किये, और पूछा—'भाई! ये कौन हैं?' वह बोला—'मेरे स्त्री-पुत्रादिक हैं। मैं स्वयं जाकर स्त्रीको ब्याह करके लाया था। क्या तुमने नहीं देखा था, जो पूछते हो? और उसके पेटसे उत्पन्न बच्चे मेरे ही हैं, इसमें पूछनेकी क्या बात है?' यों देखिये! मेरा-मेरा करता हुआ जीव कैसा मूढ़ बन जाता है!

अब एक दिन प्रभुकी दृष्टि उसकी स्त्रीके ऊपर पड़ी। अपनी सृष्टिमें उसको दूसरा काम सौंपना था। प्रभुने कहा—'अपनी स्त्री मुझको लौटा दो।' वह बोला—'अपनी वस्तु मैं आपको क्यों दूँ?' प्रभु झपट मारकर अपनी वस्तु ले जाते हैं और वह वहाँ ही रोता खड़ा रह जाता है। इस प्रकार जीवके संसारकी सृष्टि होती है और हमने प्रत्यक्ष देख लिया कि इसमें 'मेरी-तेरी' की कल्पनाके सिवा संसार-जैसी कोई वस्तु नहीं है। इसी कारण संसारको मिथ्या कहा है; क्योंकि जीवकी कल्पनाके सिवा उसका कोई स्वरूप नहीं है। **'संसरति इति संसारः'**—अर्थात् पकड़ने जाओ तो हाथमेंसे सरक जाय, उसे संसार कहते

---

* 'आव्युँ काइं नथी, गयुं पण नथी, जे जेम नुं जेम छे।
द्रष्टा एक अभिन्न चेतन अहो, ते तेम न तेम छे॥

हैं। फिरकीसे जल भरने जाओ तो कुछ हाथ न लगेगा। इसी प्रकार संसारके पदार्थ कोई भी स्थिर नहीं रहते। सब-के-सब समय आनेपर सरक जानेवाले हैं।

संसार इसी प्रकार रचा जाता है। इसलिये प्रत्येक जीवका संसार अपनी-अपनी कल्पनाके अनुसार पृथक्-पृथक् होना चाहिये। इस व्यक्तिगत संसारमें ह्रास-वृद्धि हुआ करती है, यह हमने प्रत्यक्ष देख लिया। इसमें ममताके कारण सुख-दुःख उत्पन्न होता है। 'क' के संसारमें जब दो आदमी कम होते हैं, तब रोना-पीटना होता है, और 'ख' या 'ग' के संसारमें एक-दो आदमी बढ़ते हैं तो वहाँ आनन्द-मङ्गल होता है।

इस प्रकार जन्मसे मृत्युपर्यन्त जीव, 'मेरा-मेरा' करता हुआ अपने संसारकी सृष्टि करता है। उसमें वृद्धि होनेसे आनन्द मनाता है और ह्रास होनेपर रोता-पीटता है। इस तरह शरीरके प्रारब्ध-भोगके अनुसार सुख-दुःखकी तरङ्गोंमें डूबता-उतराता जीव संसारमें भटकता रहता है और प्रारब्धका भोग समाप्त होनेपर उसको अपना शरीर भी इच्छा न होते हुए भी छोड़ देना पड़ता है। शरीरके साथ सम्बन्ध छूटनेपर उसके रचे हुए इस संसारके साथ भी सम्बन्ध छूट जाता है और दूसरे जन्ममें इसकी स्मृति भी नहीं रहती।

इस बातका रहस्य समझाते हुए महाभारतकार एक श्लोकमें इस प्रकार कहते हैं—

मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च।
संसारेष्वनुभूतानि यान्ति यास्यन्ति चापरे॥

हे जीव! तुम हजारों माता-पिताकी गोदमें खेले होओगे तथा हजारों स्त्री-पुत्रादिका सुख भी तुमने भोगा होगा। वे जैसे चले गये और उनकी स्मृतितक आज नहीं है, उसी प्रकार वर्त्तमान जन्मके माता-पिता तथा स्त्री-पुत्र आदिके साथका सम्बन्ध भी छूट जायगा और वैसी स्थितिमें इनकी भी स्मृति भावी जन्मोंमें नहीं रहेगी। तथा जबतक तुम्हारी मुक्ति नहीं हो जाती तबतक यह संयोग-वियोग चलता ही रहेगा।

यह बात नाटकके दृष्टान्तसे इस प्रकार समझायी जा सकती है। प्रत्येक जीवका संसार नाटकका एक प्रवेश है। नाटकके किसी-किसी प्रवेशमें दो-चार आदमी अधिक भी आते हैं और किसी प्रवेशमें चले भी जाते हैं। यह प्रवेश जीवका एक संसार है और इसमें घट-बढ़ हुआ करती है। सारे प्रवेशोंके समूहका नाम नाटक है। अर्थात् नाटक तो ईश्वरकी सृष्टि है और उसमें प्रत्येक प्रवेश जीव-विशेषका संसार है।

यहाँतक हमने मायाके स्वरूपका दिग्दर्शन किया। अब यह विचार करना है कि इससे मुक्ति कैसे मिल सकती है। श्रीकृष्णभगवान्ने गीतामें इस प्रसङ्गमें बहुत ही स्पष्ट कहा है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

श्रीभगवान् कहते हैं कि मेरी माया 'दुरत्यया' है अर्थात् इससे निस्तार पाना बहुत कठिन है। प्रायः असम्भव-सा है। परंतु श्रीभगवान्की जीवके ऊपर इतनी बड़ी कृपा है कि इस प्रकारकी अपनी दुस्तर मायाको पार करनेका भी सरल उपाय बतलाते हैं। श्रीभगवान् कहते हैं कि जो कोई मेरी शरणमें आ जाता है, वह मेरी मायाको सहज ही पार कर जाता है। मायापतिकी शरणमें जानेपर माया कैसे पास आ सकती है। यदि सूर्यके पास अन्धकार जा सकता हो तो परमेश्वरके समीप माया जा सकती है। इसीलिये भगवान्ने कहा है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अर्थात् दूसरी सारी बातोंको छोड़कर केवल मेरी शरणमें आ जा, इससे तू सब प्रकारसे निर्भय हो जायगा।

इस प्रकार मायाके बन्धनसे छूटनेके लिये ईश्वरकी अनन्य शरणागतिका एक मुख्य मार्ग हमने देखा। परंतु हम जहाँ हैं, वहाँसे इस मुख्य रास्तेतक पहुँचनेमें कुछ गलियों-को पार करना पड़ेगा। अर्थात् अनन्य शरणागतिकी योग्यता प्राप्त करनेके लिये कुछ साधन करने पड़ेंगे और ये सब साधन भक्तिमार्गके साधन कहलाते हैं।

इन साधनोंका निश्चय करनेके लिये सद्गुरुके पास अपने लिये योग्य साधनका निर्णय करना पड़ेगा। परंतु गुरुके पास जानेके पहले एक विशेष योग्यता प्राप्त करनी पड़ेगी। इस योग्यताका साधन-चतुष्टय श्रीचैतन्य महाप्रभुने इस प्रकार निश्चय किया है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

अर्थात् (१) अपनेको एक तृणसे भी तुच्छ माने। इसीका नाम दीनता है। भक्तिमार्गकी पहली पगडंडी दीनता है; क्योंकि जबतक दैन्य नहीं आता तबतक अनन्य शरणागति नहीं हो सकती। दूसरे साधनोंमें कमी-बेशी हो तो चल सकता है, परंतु दीनताके बिना तो आगे बढ़ा ही नहीं जा सकता। (२) वृक्ष-जैसा सहनशील हो। अर्थात् सुख-दुःखमें सम रहे, समता प्राप्त करे। प्रत्येक साधनमें समताका ऊँचा स्थान है। इसके बिना किसी साधनमें उन्नति नहीं होती। अपनेको मान मिले, ऐसी इच्छा भी नहीं होनी चाहिये। समाजमें लोग मेरा आदर करें, लोग महान् भक्तके समान मेरा सम्मान करें—ऐसी इच्छा भी न हो। अर्थात् लोकैषणाका त्याग करे तथा भूतमात्रमें मेरे भगवान् ही विराज रहे हैं—ऐसा भाव बनाये रक्खे, सबका आदर करे, अर्थात् सबको मान प्रदान करे और मनसे प्राणीमात्रको सत्कार करे।

इसके बाद गुरुके बताये हुए साधन भाव और प्रेमके साथ यदि निरन्तर किये जायँ तो भगवान्का साक्षात्कार इसमें देर न लगेगी। देर लगती है केवल योग्यता प्राप्त करनेमें।

× × ×

अब एक दूसरी दृष्टिसे मायाका विचार कीजिये। माया त्रिगुणात्मिका है। उसके तीनों गुणोंमें क्षोभ उत्पन्न होनेसे क्रमपूर्वक उनसे पञ्चमहाभूत उत्पन्न हुए। इन पञ्चमहाभूतोंके विभिन्न अङ्गोंसे सूक्ष्म और स्थूल शरीर बने। अतएव मानव-शरीरको मायाका एक मूर्तस्वरूप कहें तो कह सकते हैं। (यहाँ 'शरीर' शब्दका प्रयोग स्थूल और सूक्ष्म दोनोंके लिये आया है।) क्योंकि इस शरीरके द्वारा ही प्रपञ्चका प्रसार होता है। यह सुख-दुःखमय सारा व्यवहार भी शरीरको लेकर ही है। शिवत्व और जीवत्व भी इस शरीरके कारण ही होता है। शरीरद्वारा भोग भोगा जाता है, यह देखते-देखते शिवको शरीरमें आसक्ति हो जाती है, फलतः अपनेको कर्त्ता-भोक्ता मानकर अपने शिवभावको भूलकर वह जीवभावको प्राप्त होता है और न होनेपर भी जन्म-मरणके कष्टको भोगता है।

इसी दृष्टिकोणको श्रीभगवान्ने गीतामें इस प्रकार व्यक्त किया है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।

यहाँ 'अनित्य' और 'असुख' शब्द समझने योग्य हैं। यह जगत् प्रवाहरूपसे नित्य दीखता है, परंतु वस्तुतः नित्य नहीं है, बल्कि अनित्य अर्थात् नित्यत्वकी भ्रान्ति करानेवाला, वस्तुतः क्षणभङ्गुर है। इसी प्रकार जबतक विवेकबुद्धि जाग्रत् नहीं हो जाती, तबतक यह सुखरूप दीखता है, परंतु वस्तुतः यह सुखकी भ्रान्ति कराकर दुःखका ही भोग कराता है। अर्थात् जीवको फुसलाकर दुःखमें सुखबुद्धि प्रदान करता है। राजस सुखको समझाते हुए श्रीभगवान्ने यही बात स्पष्ट की है कि यह जगत् भोगकालमें तो सुखरूप जान पड़ता है, परंतु परिणाममें यह जीवको दुःखकी परम्परामें ही ढकेलता है। यहाँ लोकका अर्थ अपना जगत् है, परंतु इसका अर्थ शरीर भी होता है। अतएव जबतक यह शरीर है, तबतक यह जगत् है, और इस शरीरके लिये ही जगत्के सारे व्यवहार हुआ करते हैं। यदि शरीर छूट जाय अर्थात् शरीरसे आसक्ति निकल जाय तो उसके लिये जगत्के व्यवहार नहीं रहते। सारांशमें श्रीभगवान् कहते हैं—'हे अर्जुन! इस क्षणभङ्गुर और दुःखदायी शरीरमें आये हो तो शरीरकी माया छोड़कर मेरा भजन कर लो। मनुष्य-शरीरकी सार्थकता इसीमें है।

यही बात भगवान् पतञ्जलिने योगदर्शनमें इस प्रकार समझायी है—

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः।

—द्रष्टा अर्थात् शुद्धस्वरूपमें आत्मा और दृश्य अर्थात् शरीर—इन दोनोंका संयोग अर्थात् एकमें मिल जाना हेयहेतु अर्थात् दुःखका कारण है। भाव यह है कि आत्माने शरीरको ही अपना स्वरूप मान लिया है, यानी 'शरीर ही मैं हूँ'—ऐसा दृढ़ देहाध्यास उसे हो गया है। यही समस्त दुःखोंका, जन्म-मरण आदि दुःखोंका कारण है। अर्थात् शरीर ही मायारूप होकर आत्माको जीवभावमें ला देता है।

द्रष्टा आत्मा और दृश्य शरीर, दोनोंमें जो संयोग होता है, इसको शास्त्र हृदय-ग्रन्थि कहते हैं; कहीं-कहीं इसको चिज्जड (चित्+जड) ग्रन्थि भी कहते हैं। अब यह समझना है कि यह 'ग्रन्थि' शब्द कैसे आया? हम दस-बारह फुट लंबी रस्सी देखते हैं। हमारे पास छः-छः फुटके दो टुकड़े थे, दोनोंकी एक गाँठ बाँधकर उसको हम काममें लाते हैं। गाँठ बाँधनेसे क्या हुआ? दो रस्सियोंसे एक सपाट रस्सी बन गयी। इसी प्रकार आत्मा शरीरके साथ एकात्मता मान लेता है और फलस्वरूप स्वयं शरीररूप हो जाता है तथा

अपनेको न होते हुए भी शरीरके दुःख-सुखको अपना मानकर सुखी-दुखी होता है।

चित् अर्थात् चैतन्य कहनेसे आत्मा और जड यानी शरीर—इन दोनोंके बीच तादात्म्य-संयोग हो जानेसे इनका नाम 'चिज्जड-ग्रन्थि' बनता है। चैतन्य और जड, इन दोनोंमें सम्बन्ध नहीं होता, बल्कि शरीरके मायारूप होनेके कारण चैतन्य अपने प्रतिबिम्बको अन्तःकरणमें देखकर अपनेको शरीररूप मान बैठता है और शरीरके सुख-दुःखको भोगता रहता है। परस्पर अत्यन्त विरोधी स्वभाववाले पदार्थोंमें एकात्मता हो गयी, भला इससे बढ़कर मायाका दूसरा चमत्कार और क्या हो सकता है? आत्मा चेतन है, पर शरीर जड है। आत्मा नित्य और अविनाशी है, परंतु शरीर अनित्य और क्षणभङ्गुर है, अर्थात् इसका कब नाश हो जायगा, इसका कुछ भी निश्चय नहीं। आत्मा पवित्र है, परंतु सारा शरीर अपवित्र और मलिनताका घर है। आत्मा आनन्दस्वरूप और सुखस्वरूप है, परंतु शरीर दुःखोंकी परम्पराका धाम है। इस प्रकार अत्यन्त विलक्षण स्वभाववालोंमें मिलन सूर्य और अन्धकारके मिलनके समान असम्भव है, परंतु मायाके प्रभावसे तादात्म्य मिलन होता है, यह हम आँखों देखते हैं। इसी कारण मायाको 'अघटित-घटना-पटीयसी माया' कहा गया है अर्थात् असम्भवको भी सम्भव करके दिखानेमें जो चतुर है, उसका नाम है माया। सचमुच परमेश्वरकी माया बहुत बलवान् है। सोनेका मृग न किसीने देखा न सुना; परंतु सीताका हरण और रावणका मरण इस मायाके ही कारण हुआ।

अब आगे देखिये। शरीरकी बनावट ऐसी है कि मनुष्य काम किये बिना नहीं रह सकता। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

> न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
> शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥

अर्थात् स्वभावतः शरीरसे कर्म हुआ करता है, अतएव मनुष्य एक क्षण भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। इतना ही क्यों? कर्म किये बिना शरीर भी नहीं टिक सकता।

अतएव जबतक शरीर है, तबतक कर्म करना ही है और जबतक अन्तःकरण है तबतक इच्छाएँ होती रहेंगी। अतएव कर्मका फल भोगनेके लिये तथा इच्छाओंको तृप्त करनेके लिये जीवको बारंबार जन्म लेना पड़ता है। यदि कोई कर्म न करे और किसी प्रकारकी इच्छा न करे, उसको जन्म भी न लेना पड़े। परंतु यह बात सम्भव है। अतएव जीवको जन्म न लेना पड़े, इसके लिये दूसरी युक्ति खोजनी पड़ेगी।

कर्म तो जड है, वह जीवको कैसे बन्धनमें डाल है? परंतु कर्ममें जो आसक्ति होती है, वह बन्धनका है। कोई कर्म करते समय स्वयं कर्त्ता न होते हुए भी कर्तृत्वका अभिमान करता है और कर्मफलकी आशा है। इस प्रकार कर्ममें अहंकार, आसक्ति और फलकी ही जीवको बन्धन देनेवाली है, कर्म नहीं। यह श्रीभगवान्‌ने गीतामें इस प्रकार समझायी है—

> यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
> हत्वापि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते।

अर्थात् जिस मनुष्यको यह अभिमान नहीं होता कि इस कर्मका कर्त्ता हूँ तथा इस कर्मका मुझे यह मिलेगा—ऐसी आशा जो मनुष्य नहीं करता, कदाचित् इस युद्ध-भूमिमें खड़े सब लोगोंको मार भी तो भी अकर्त्ता ही रहेगा और इस हेतु इस कर्मका उसे नहीं मिलेगा, अर्थात् यह कर्म बन्धनकारक न हो कर्म किस प्रकार सम्पादन होता है, इसकी बहुत आलोचना भगवान्‌ने इसी प्रसङ्गमें की है। उन्होंने 'अधि तथा कर्त्ता' आदि श्लोकोंके द्वारा स्पष्ट किया है कि कर्मका सम्पादन इन अधिष्ठानादि पाँच साधनोंसे होता है; तथापि मनुष्य अपनेको कर्त्ता मानता है, वह अंधा ही है समझना चाहिये।*

इच्छाएँ भी सारी-की-सारी बन्धनकारक नहीं होतीं। प्रकृति-प्रेरित इच्छाएँ—जैसे भूख लगनेपर खानेकी इच्छा, प्यास लगनेपर पानी पीनेकी इच्छा, थक जानेपर आराम करनेकी इच्छा अवश्य होती है; परंतु ये इच्छाएँ बन्धनकारक नहीं होतीं। बन्धनकारक तो वे ही इच्छाएँ होती हैं, जिनमें कर्मके द्वारा किसी फलकी वासना या भोगकी वासना हो। ऐसी इच्छाएँ तृप्त हों या न हों, अन्तःकरणमें संस्कार छोड़ जाती हैं और ये संस्कार ही भवबन्धनको दृढ़ करते हैं।

---

* गीता अध्याय १८ श्लोक १४, १५, १६

अतएव यह निश्चय हो गया कि कर्म करते हुए यदि कर्तृत्वका अभिमान नहीं होगा और फलकी आशा भी न होगी, तभी भवबन्धन दूर होगा। इसके लिये एक ही रास्ता दीखता है और वह यह है कि मायाको छोड़ दे, अर्थात् शरीरके साथ जो तादात्म्य-सम्बन्ध हो गया है, उसको छोड़ दे। शरीरमें अहंबुद्धि होनेपर ही शिवमें जीवभाव आता है। अतएव इसके लिये यह साधन अपनाना चाहिये कि जिससे देहमें रहते हुए देहके सङ्गका सम्बन्ध छूट जाय और देहके सुख-दुःख तथा कर्त्ता-भोक्तापन आत्माको स्पर्श न कर सकें।

इसके लिये जो साधन किया जाय, वह ज्ञान-मार्गका भी एक साधन हो। ऐसा साधन खोजनेके लिये सद्गुरुकी शरण लेनी पड़ेगी। परंतु सद्गुरुके पास जानेके पहले एक विशेष योग्यता प्राप्त करनी पड़ती है। यह योग्यता साधन-चतुष्टयके नामसे पुकारी जाती है और इसका स्वरूप इस प्रकार है—(१) विवेक यानी क्या सत् और शाश्वत है, तथा क्या असत् और नश्वर है——इसका निश्चय करनेवाली बुद्धि, (२) वैराग्य—अर्थात् इहलोक और परलोकके किसी पदार्थमें आसक्ति न होना, यानी भोगके पदार्थोंमें सहज अरुचि होना, (३) षट् सम्पत्ति—शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा और समाधान। इनमें तितिक्षा और श्रद्धा विशेष उपयोगी है, (४) मुमुक्षुता—अर्थात् मुक्त होनेकी प्रबल इच्छा। इन चार साधनोंसे सम्पन्न होकर साधक श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी शरणमें जाय और पश्चात् उसके बतलाये हुए साधनको तबतक भाव और प्रेमसे निरन्तर करता रहे, जबतक साध्यकी सिद्धि न हो। ऐसे साधकको मुक्ति प्राप्त हुए बिना नहीं रहती।

इस 'साधन-विचार'का सार संक्षेपमें इतना ही समझकर मनुष्य ईश्वरका आश्रय लेकर अपने मार्गपर सदाचार-पूर्वक चले, प्रारब्धके योगसे रास्तेमें कटीली झाड़ी आये तो उसमें न फँसे बल्कि सावधानीसे अपने रास्ते चला जाय। मार्ग छोड़कर न चले, नहीं तो रास्ता भूल जायगा। यदि कहीं काँटेमें कपड़े फँस जायँ तो सावधानीसे छुड़ा ले और आगे बढ़े। यदि रास्तेमें पुष्पोद्यान आये तो उसे देखकर सुगन्धसे लुब्ध होकर रुक न जाय, बल्कि आगे-ही-आगे बढ़ता जाय। अर्थात् सुखके भोगमें आसक्त न हो और दुःख आनेपर घबरा न जाय; क्योंकि प्रारब्धका भोग तो भोगनेपर ही छुटकारा मिलता है। घबरानेसे तो काम चलनेका नहीं। अतएव दुःखके प्रसङ्गमें नीचेका मन्त्र याद रक्खे और आगे बढ़ता जाय।

ज्ञानी काटे ज्ञान ते, मूरख काटे रोय।
मौत बुढ़ापा आपही सब काहूको होय॥

यही बात पञ्चदशीमें इस प्रकार लिखी है—

ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्चात्र समेऽप्यारब्धकर्मणि।
न क्लेशो ज्ञानिनो धैर्यान्मूढः क्लिश्यत्यधैर्यतः॥

प्रारब्धानुसार दुःखका भोग ज्ञानी तथा अज्ञानी दोनोंको होता है। परंतु ज्ञानी तो धैर्यसे सहन करके शान्ति-सेवन करता है और अज्ञानी धैर्य धारण न कर सकनेके कारण क्लेशका अनुभव करता है।

जहाँ जानेसे सार वस्तु प्राप्त हो, वैसा सत्सङ्ग अवश्य करे। परंतु वस्तुतः आश्रय तो ईश्वरका ही ग्रहण करे।

सच कहा है कि 'मार्गस्थो नावसीदति' अर्थात् जो मनुष्य अपने रास्ते चलता रहता है, वह अवश्य ही लक्ष्यस्थानपर पहुँच जाता है। जो रास्तेमें गलती करते हैं या रास्ता बदला करते हैं, उनको ही विघ्न-बाधाएँ घेरती हैं। ऐसे मनुष्य लक्ष्यस्थानपर नहीं पहुँच सकते।

भक्तिके बिना सुख कहाँ ?

जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ग्यान हेतु श्रम करहीं॥
ते जड़ कामधेनु गृहँ त्यागी। खोजत आकु फिरहिं पय लागी॥
सुनु खगेस हरि भगति बिहाई। जे सुख चाहहिं आन उपाई॥
ते सठ महासिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड़ करनी॥

—गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी

पुराणोक्त धर्म-वंशका रहस्य

(लेखक—सर्वदर्शनाचार्य तत्त्वचिन्तक अनन्त श्रीस्वामी अनिरुद्धाचार्य वेंकटाचार्यजी महाराज)

पुराण

विश्व-विद्या एवं विश्व-कलाओंके विश्वकोश होनेपर भी पुराणोंका मुख्य सम्बन्ध किस विषयसे सम्बद्ध है ? इस प्रश्नका समाधान करती हुई अथर्ववेदीय गोपथ-ब्राह्मण श्रुति कहती है—**'ध्रुवायाश्चोर्ध्वायाश्च पुराणवेदं निरमिमित'** अर्थात् ध्रुवा दिशा (पृथिवी) एवं ऊर्ध्वा दिशा (द्युलोक) से पुराण, वेद (पुराण-विद्या) का निर्माण हुआ है। श्रुतिका तात्पर्य यह है कि त्रिलोकी एवं उसके अन्तर्गत पदार्थोंकी सृष्टि, स्थिति एवं प्रलयसे पुराण-विद्याका सम्बन्ध है। इसी रहस्यको प्रकट करनेके लिये पुराणोंमें यह कहा गया है कि ब्रह्माके पाँचवें मुख (आकाश) से पुराणोंका आविर्भाव हुआ है।

त्रिलोकी

आप्तोंका आदेश है कि आधिदैविक, आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक भेदसे त्रिलोकी तीन प्रकारकी है। इस त्रिलोकीके ही क्रमशः दिव्यत्रिलोकी, शारीरिकत्रिलोकी एवं भूतत्रिलोकी भी नामान्तर हैं। योग-शास्त्र एवं तन्त्र-शास्त्रोंमें दिव्यत्रिलोकीको ब्रह्माण्ड, शारीरिकत्रिलोकीको पिण्ड एवं भौतिक त्रिलोकीको विराट् कहते हैं **'पिण्डब्रह्माण्डयोरैक्यम्'** यह तान्त्रिकों और योगियोंका सिद्धान्त विज्ञान्य (प्रमाण-युक्त) है। त्रिलोकी एवं त्रिलोकी-अन्तर्गत सब पदार्थोंकी उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय-परम्पराको कहना पुराणोंका मुख्य विषय है। इसी कारण धर्म और अधर्मके वंशका वर्णन भी पुराण-विद्याके अन्तर्गत ही है। कारण कि धर्म एवं अधर्मरूप द्वन्द्व, विश्व-धारक धर्माधर्म, ज्ञानाज्ञान, वैराग्य-राग (आसक्ति) एवं ऐश्वर्य-अनैश्वर्यरूप चार द्वन्द्वोंमें अन्यतम द्वन्द्व है। इस अर्थको सरलतासे समझानेके लिये तन्त्रोंमें धर्मको ज्ञान, वैराग्य एवं ऐश्वर्यके साथ भगवान्‌के पीठका एक पाद माना गया है। ऐसे ही अधर्मको पीठका शरीर माना गया है। भगवान्‌का पीठ विश्वरूप ही है।

धर्मका वंश

धर्म-वंश-ज्ञानके पूर्व, धर्मके स्वरूपका ज्ञान आवश्यक है। धर्मका स्वरूप क्या है, इस प्रश्नका उत्तर देता हुआ 'वराहपुराण' कहता है कि 'विश्वकी संचालिका जो शक्तियोंमें अन्यतम शक्ति धर्म है।' 'विष्णुपुराण' का आवेदन है कि 'विश्वमें तीन प्रकारकी शक्तियाँ प्रतिक्षण तीन कार्य किया करती हैं। उनमें एक शक्ति दक्ष आदि प्रजापतियोंके रूपोंमें नित्य सृष्टि किया करती है। दूसरी शक्ति धर्म, मनु एवं धर्मात्मा मनुष्योंके रूपोंमें नित्य रक्षा किया करती है। तीसरी शक्ति अधर्म एवं रौद्रोंके नित्य प्रलय किया करती है। इनमें जो शक्ति विश्वकी नित्य रक्षा (धारण) करती है, वही शक्ति (वीर्य) धर्म है। इसके स्वरूपको निरूपित करते हुए आप्तजन कहते हैं—

धर्मो हि वीर्यं ध्रियते हि धर्मो धर्मो धृतो धारयते हि रूपम्।

अर्थात् धारणात्मिका शक्तिको धर्म कहते हैं। वह शक्ति धर्म इसलिये है कि द्रव्य (धर्मी) द्वारा धारण की जाती है। जिस द्रव्य (धर्मी) द्वारा जो शक्ति (धर्म) धारण की जाती है, अर्थात् जिस पदार्थका जो धर्म है, वही धर्म उस पदार्थ (धर्मी) को धारण (रक्षा) करता है। इन दो कारणोंसे उस शक्तिको धर्म कहते हैं। इसका विशेष भाष्य इस प्रकार हो सकता है कि विश्वगत यच्च-यावत् पदार्थोंके संरक्षण एवं संवर्द्धनके लिये धर्मतत्त्व आविर्भूत हुआ है। वही धर्मरूपसे प्रत्येक पदार्थके हृदयमें प्रतिष्ठित होकर तत्तत्पदार्थोंका संरक्षण-संवर्द्धन करता है। यही धर्मतत्त्व ब्राह्मण ग्रन्थोंमें 'अन्तर्यामी' नामसे प्रसिद्ध है।

यद्यपि अन्तर्यामी ईश एकरूप है, तथापि उपाधिभेदसे विविध रूपोंमें परिणत हो जाता है। जलका अन्तर्यामी (द्रवत्वरूप धर्म) जहाँ पानीको निम्नगामी बनाता है, वहाँ अग्निका अन्तर्यामी (उष्णत्वरूप धर्म) अग्निको ऊर्ध्वगामी बनाता है। यही धर्मरूप अन्तर्यामी विश्वका शासन करता है। इसी अन्तर्यामी (धर्म) के शासन-दण्डसे प्रशासित होकर विश्वके पदार्थमात्र स्व-स्वकर्ममें प्रवृत्त रहते हैं। वही धर्म 'नियति' कहलाता है। जो पदार्थ अपनी 'नियति' (धर्म) को छोड़ देता है, वह नष्ट हो जाता है—

'येऽत्यायुस्ते पराबभूवुः।'

स्पष्ट ज्ञानके लिये पुनरपि विवरण किया जाता है।

प्रकृतिमें जो अलौकिक शक्ति सम्पूर्ण संसारकी रक्षा करती है, उसीका नाम धर्म है। जो शक्ति पृथिवीमें व्यापक होकर पृथिवीके पृथिवीत्व (काठिन्य) को बनाये रखती है, जो शक्ति जलमें रहकर जलके जलत्व (तरलता) का सम्पादन करती है, जो शक्ति तेजमें रहकर उष्णताकी रक्षा करती है, जिस शक्तिके न रहनेसे पृथिवी जल अथवा तेजरूपमें परिणत हो जाती है, तेज गुरुत्व एवं काठिन्य धर्माक्रान्त होकर पृथिवीरूपमें परिणत हो जाता है, जो शक्ति पञ्चभूतों एवं मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष और ग्रह-नक्षत्र आदि पाञ्चभौतिक पदार्थोंको अपने-अपने स्वरूपमें स्थित रखकर उनका संवर्धन करती है, वही प्राकृतिक शक्ति धर्म है।

सम्पूर्ण ब्रह्माण्डकी प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक अणु-परमाणुके भीतर आकर्षण-विकर्षण नामक दो शक्तियाँ हैं। वैदिक परिभाषामें इन्हीं दो शक्तियोंको विष्णु और इन्द्र कहा गया है। इन दोनोंकी समानताके कारण असीम एवं शून्य आकाशमें वर्तमान अनन्त ब्रह्माण्डोंमें अनन्त सूर्य, चन्द्र तथा नक्षत्र अपनी-अपनी कक्षापर घूमते हुए कभी कोई अपनी कक्षासे गिरकर दूसरे ग्रहादिके साथ टकराता नहीं। सोममय चन्द्रलोक तेजोमय सूर्यलोकमें प्रविष्ट होकर नष्ट नहीं होता अथवा बड़ा ग्रह छोटे ग्रहको अपने भीतर खींचकर नष्ट नहीं कर देता। जो प्रकृति (ईश्वरीय शक्ति) आकर्षण-विकर्षण दोनोंकी समानता रखकर सब पदार्थोंकी रक्षा करती है और उनकी वृद्धि करती है, वही प्रकृति-शक्ति धर्म है।

विश्वमें धर्मरूपी इस धारिका शक्तिका प्रभाव दो रूपोंमें दिखायी देता है। प्रथम यह कि एक पदार्थको दूसरे पदार्थसे पृथक् रखकर उसे अपनी अवस्थामें सुरक्षित रखना, द्वितीय यह कि क्रमशः उस पदार्थकी उन्नति कराकर उसे पूर्णताकी ओर ले जाना। विश्व इसी धारिका शक्तिपर टिका हुआ है। इसको निदान (संकेत) भाषामें समझानेके लिये महादेव (ब्रह्माण्ड) का वाहन वृषभ अङ्कित किया गया है।

धर्म-वंशका रूपक

ब्रह्माण्डकी रक्षिका (धारिका) यह धर्मात्मिका शक्ति भिन्न-भिन्न रूपोंसे अधिदैवत (ब्रह्माण्ड) एवं पिण्ड (शरीर) में रहकर रक्षा करती है, इस तत्त्वको सरलतासे आबाल-गोपालोंतक पहुँचानेके लिये पुराणोंने रूपकालंकारसे काव्योंकी भाषामें इस प्रकार समझाया है—'धर्म ब्रह्माका पुत्र है, वह ब्रह्माके दक्षिण-स्तनसे उत्पन्न हुआ है। दक्षप्रजापतिकी तेरह पुत्रियाँ (दाक्षायणी कन्याएँ) उसकी पत्नियाँ हैं, जिनके नाम ये हैं—श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्ति, तुष्टि, पुष्टि, क्रिया, उन्नति, बुद्धि, मेधा, तितिक्षा, ह्री एवं मूर्ति। इन पत्नियोंसे धर्मको तेरह पुत्र प्राप्त हुए, जो विश्वका कल्याण करते हैं। श्रद्धासे शुभ, मैत्रीसे प्रसाद, दयासे अभय, शान्तिसे सुख, तुष्टिसे मुद, पुष्टिसे स्मय, क्रियासे योग, उन्नतिसे दर्प, बुद्धिसे अर्थ, मेधासे स्मृति, तितिक्षासे क्षेम, ह्री (लज्जा) से प्रश्रय (विनय) उत्पन्न हुआ। मूर्तिसे आधार (अणु-परमाणुका आश्रय तत्त्व) उत्पन्न हुआ, जो पिण्ड-ब्रह्माण्डात्मक है। इस आधार-भेदसे ही मूर्तिके पुत्र नर-नारायण कहलाये।

धर्म-वंशका तात्त्विक रूप

उपर्युक्त प्रकारसे पुराणोंमें धर्मवंशका रूपकालंकारसे उल्लेख हुआ है। इस पौराणिक भाषाका तात्त्विक (दार्शनिक भाषा) में अनुवाद करें तो वह इस प्रकारसे होगा कि 'धर्म' प्रकृतिकी नित्य रक्षा करनेवाली एक सात्त्विक शक्ति है। दक्ष-वृत्तकी तेरह पुत्रियाँ, जिन्हें चान्द्री शक्तियाँ अथवा सौम्य शक्तियाँ भी कहते हैं, प्रस्तुत धर्मतत्त्वकी सहयोगिनी शक्तियाँ हैं। पौराणिक परिभाषामें जिस मार्गसे चन्द्रमा पृथ्वीके चारों ओर नियत कक्षावृत्तपर परिक्रमण लगाया करता है, वह कक्षावृत्त 'दक्षवृत्त' नामसे प्रसिद्ध है। इस 'दक्षवृत्त'से अवच्छिन्न (सीमित) चन्द्र-मण्डल ही सृष्टिकी उत्पादिका सौर, आग्नेय आदि विविध शक्तियोंके साथ औषधरूपमें परिणत होता हुआ पार्थिव प्रजाकी उत्पत्तिका कारण बनता है। इसलिये दक्षवृत्तको दक्षप्रजापति कहते हैं। दक्ष-वृत्तमें चान्द्र-सोमकी प्रधानता रहती है। जिस प्रकार अग्नितत्त्व पुरुष-संस्थाका अधिष्ठाता बनता है, तथैव सोमतत्त्व स्त्री-भावका प्रवर्तक है। दक्षवृत्तमें स्त्री-प्राणप्रधान इसी चान्द्रसोमकी प्रधानता है। इसका संरक्षक दक्षवृत्त (दक्षप्रजापति) ही है। अतएव पुराणोंमें इस सोमतत्त्वको दक्षप्रजापतिकी कन्या माना है। यह एक ही सोमतत्त्वात्मक कन्या ६० भागोंमें विभक्त हो जाती है। सोमतत्त्वपूर्ण यह दक्षवृत्त भिन्न-भिन्न शक्तियोंसे विभक्त होता रहता है एवं उन शक्तियोंके साथ मिलकर तत्तत् पदार्थोंको त्रिलोकीमें उत्पन्न करता रहता है। जिस प्रकार कश्यपात्मक सूर्यके सम्बन्धसे दक्षवृत्तके १३ विभाग हो जाते हैं, उन विभागोंके सम्बन्धसे कश्यप प्रजापति सर्पप्राण, देवप्राण आदि भिन्न-भिन्न प्राणोंके जनक होते हैं।

दक्षवृत्तके येही १३ विभाग कद्रू, विनता, दिति, अदिति आदि नामोंसे पुराणोंमें प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार धर्मतत्त्व भी उस दक्षवृत्तको ८–१० अथवा १३ भागोंमें विभक्त करता है। उन भागोंसे मिथुनभावको प्राप्त होता हुआ अधिदैवत, अध्यात्म एवं अधिभूतोंमें विभिन्न भावोंका प्रवर्तक होता है। विश्वका कोई भी जन्य पदार्थ आग्नेय एवं सौम्यरूप दो तत्त्वोंके विना उत्पन्न नहीं हो सकता, यह प्राकृत नियम है। इस नियमसे नियन्त्रित होनेके कारण सौर अथवा आग्नेय तत्त्वप्रधान धर्मतत्त्वको भी स्त्री-भाव-प्रधान दक्षवृत्तमें रहनेवाले सोमतत्त्वका अवलम्बन विभिन्न भावोंके उत्पादनके लिये लेना पड़ता है। यही धर्मका दाक्षायणी कन्याओंके साथ विवाह है, जिसका पुराणोंमें रूपकालंकारसे वर्णन हुआ है।

दक्ष-कन्याओंके नामान्तर

उपरिवर्णित धर्मपत्नी दाक्षायणियों एवं उनके पुत्रोंके नाम श्रीमद्भागवतपुराणके आधारपर लिखे गये हैं। अन्य पुराणोंमें दक्षकन्याओं तथा उनकी संततिके नामोंमें भेद है। 'विष्णुपुराण'में उनके नाम इस प्रकार हैं—श्रद्धा, लक्ष्मी, धृति, तुष्टि, मेधा, पुष्टि, क्रिया, बुद्धि, लज्जा, वपुः, शान्ति, सिद्धि, कीर्ति, ख्याति, सती, सम्भूति, स्मृति, प्रीति, क्षमा, संतति, अनसूया, ऊर्जा, स्वाहा, स्वधा—इन चौबीस कन्याओंमेंसे तेरह कन्याओंका विवाह धर्मके साथ हुआ है। प्राञ्जल भाषामें कहें तो यों कह सकते हैं कि धर्मके ही तेरह रूपान्तर हैं। इन्हीं रूपोंसे प्रकृति प्राणियोंका ही नहीं अपितु पदार्थमात्रका पालन किया करती है। ब्रह्माण्ड-रक्षिका ये शक्तियाँ जब पदार्थोंमें विकसित होती हैं, विशेष करके मनुष्योंमें, तब विश्वकी अनेक प्रकारसे रक्षा किया करती हैं।

धर्मके पुत्र

दक्षपुत्री श्रद्धासे धर्मने कामको उत्पन्न किया, लक्ष्मीका पुत्र दर्प हुआ। धृतिने नियमको जन्म दिया, तुष्टिने संतोषको उत्पन्न किया। पुष्टिका पुत्र लोभ है। दक्ष-कन्या मेधाने श्रुत (शास्त्र-ज्ञान) को उत्पन्न किया तो दक्षपुत्री क्रियाने तीन पुत्रोंको जन्म दिया। जब क्रिया तमोगुणको धारण करती है, तब 'दण्ड' नामक पुत्रको जन्म देती है, वह जब रजोगुणमें रहती है, तब उससे नय (नीति) नामक पुत्र उत्पन्न होता है और जब वह सत्त्वगुणका भोग करती है, तब अनौद्धत्यरूप मानस विनयको जन्म देती है। दाक्षायणी बुद्धि बोध (ज्ञान) को उत्पन्न करती है। दक्षकन्या लज्जादेवी शरीरसम्बन्धी विनयको उत्पन्न करती है। वपुदेवी व्यवसा (कर्मण्यता) को जन्म देती है। दक्ष-कुमारी शान्ति दे क्षेमको उत्पन्न करती है। सिद्धि सुखको और कीर्ति यश जन्म देती है।

ब्रह्मवैवर्तपुराण धर्मकी आठ पत्नियाँ मानता है। उन नाम हैं—शान्ति, पुष्टि, धृति, तुष्टि, क्षमा, श्रद्धा, मति और स्मृति। इनमें शान्तिका पुत्र संतोष, पुष्टिका महान् (मह परिमाण), धृतिका धैर्य, तुष्टिके हर्ष और दर्प, क्षमाका सहिष्णु, श्रद्धाका धार्मिक, मतिका ज्ञान एवं स्मृतिका पु जाति-स्मर हुआ, जिसका अर्थ है—जात-जात (उत्प उत्पन्न) संस्कारका स्मरण करना।

लिङ्गपुराणमें दक्षपुत्री क्रियाके दो पुत्र माने गये हैं—दण्ड और समय। यहाँपर समयसे मर्यादा अभिप्रेत है। वस्तुतः दण्ड और मर्यादाने ही विश्वको धारण कर रखा है। इसी पुराणमें दक्षकन्या बुद्धिके बोध और अप्रमाद—ये पुत्र माने गये हैं। पुराणका कहना है कि धर्मपुत्र काम विवाह प्रीति देवीसे हुआ है। इन दोनोंके मिथुन-भावसे ह नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। धर्म एवं उसके पुत्र-पौत्रत्व उदर्क (उत्तरकालीन) सुख है।

दक्षकी १६ कन्याएँ

विष्णुपुराणमें स्वायम्भुव दक्ष (यज्ञसूत्रात्मक) प्राणरूप दक्षकी २४ कन्याओंका उल्लेख है। किंतु श्रीमद् भागवतपुराण निम्नाङ्कित श्लोकके आधारपर २४ कन्याओं दक्षकी केवल १६ कन्या ही मानता है। जैसे—

> प्रसूतिं मानवीं दक्ष उपयेमे ह्यजात्मजः।
> तस्यां ससर्ज दुहितॄः षोडशामललोचनाः॥

यद्यपि श्रीमद्भागवत दक्षकन्यात्वेन प्रसिद्ध ख्याति, अनसूया एवं कला आदि कन्याओंको कर्दम प्रजापति एवं मनुपुत्री देवहूतिकी कन्याएँ मानता है, तथापि कर्दम प्रजापति तथा देवहूतिका कतिपय पुराणोंमें उल्लेख नहीं मिलता। इससे अनुमान होता है कि कर्दम दक्षका ही रूपान्तर (छाया) है। 'छायायाः कर्द जज्ञे' यह भागवत-वचन सुप्रसिद्ध है। मनुपुत्री एवं कर्दमपत्नी देवहूति भी मनुपुत्री प्रसूतिका ही रूपान्तर है। वस्तु देवहूतिका अर्थ है—दैवीगुणोंकी उत्पादिका शक्ति। अनसूया आदि गुण दिव्य गुण हैं। अतः जिस मानवी

देवहूतिका विकास होगा, वह मानव दैवीगुण क्षमा, अनसूया; कला आदि गुणोंसे अलंकृत हुए बिना नहीं रह सकता।

कर्दमकन्या

पुराणान्तरोंमें दक्ष-कन्यात्वेन प्रसिद्ध कला, अनसूया, श्रद्धा, हविर्भूः, गति, क्रिया, ऊर्जा, चिति एवं ख्याति—ये नौ कन्याएँ श्रीमद्भागवतके अनुसार कर्दम प्रजापति एवं मनुकन्या देवहूतिकी पुत्रियाँ हैं। इनमें कलाके कश्यप एवं पूर्णिमान ये दो पुत्र हैं। अनसूयाके दत्त, दुर्वासा एवं सोम—ये तीन पुत्र हैं। अङ्गिराकी श्रद्धासे सिनीवाली, कुहू, राका एवं अनुमति—ये चार कन्याएँ हैं। बृहस्पति एवं उतथ्य भी श्रद्धाके पुत्र हैं। हविर्भूःका पुत्र अगस्त्य है। क्रियाके पुत्र हैं—वालखिल्यादि ऋषिगण। विश्वमें उच्चावच (छोटी-मोटी) क्रियाओंके प्रवर्तक वालखिल्य ऋषि (प्राण) ही हैं। ऊर्जाके पुत्र हैं—चित्रकेतु आदि। अथर्वाकी पत्नी चितिने दध्यङ् प्राण (ऋषि) को उत्पन्न किया। भृगुने ख्यातिसे धाता-विधाताको उत्पन्न किया।

प्राणविध हैं—

ब्रह्मा, ब्रह्मपुत्र मनु, मनुपत्नी देवी शतरूपा तथा उनकी तीनों (देवहूति, आकूति, प्रसूति) पुत्रियाँ। देवहूति-पति कर्दम और कर्दमकी कला, अनसूया, ख्याति आदि पुत्रियाँ एवं उनके पति मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा आदि सब प्राणविध (प्राणरूप) हैं, प्राणिविध (मनुष्यविध) नहीं—अतः सर्वदेश एवं सर्वकालमें व्याप्त हैं। इन सबका व्यवहार दिव्य है। दिव्य शक्तियोंका विवाह आदि व्यवहार भी दिव्य ही है। मनुष्य-व्यवहारवत् मानना अज्ञान है। केवल सरलतासे प्रबोधके लिये ही मानुष-व्यवहारसे उनके विवाह आदिका वर्णन है। वस्तुतः यह सब काव्यभाषामें रूपकालंकार है।

अन्य प्रकार

प्राचेतस दक्षकी ६० कन्याओंमेंसे १० धर्मकी पत्नियों, उनके पुत्रों, प्रपौत्रोंके नाम तथा पुत्रोंके कार्य श्रीमद्भागवतमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे उपलब्ध होते हैं। प्रथम दक्ष-पुत्री भानुका पुत्र देवऋषभ एवं पौत्र देवसेन है। द्वितीया पुत्री लम्बाका पुत्र विद्योत (विद्युत्) है एवं पौत्र घोष (स्तनयित्नु) है। तृतीया कन्या ककुप्का पुत्र पार्थिव दुर्गम प्रदेश है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस पार्थिव भागमें ककुप् शक्ति (प्राण) का प्राकट्य होता है, वह भाग वन, पर्वत आदिसे दुर्गम बन जाता है। चतुर्थी पुत्री यामीका पुत्र स्वर्ग एवं पौत्र नन्दी (आनन्द) है। यहाँपर 'स्वर्ग' शब्दका अर्थ नागवीथि है। पाँचवीं पुत्री विश्वाके पुत्र विश्वेदेव हैं। इनका कार्य एक बीजको अनेक रूपोंमें परिणत करना है। छठी पुत्री साध्याके पुत्र साध्यदेव एवं पौत्र अर्थ-सिद्धि है। साध्य प्राण (शक्तियाँ) वस्तुकी साधक (निर्माण-कर्त्री) शक्तियाँ हैं। इसका आशय यह है कि वस्तुका उत्पादन अथवा निर्माण ही साध्योंका अर्थसिद्धिरूप (वस्तुनिष्पादनरूप) पुत्र है। सातवीं मरुत्वतीके मरुत्वान् (इन्द्र) और जयन्त (उपेन्द्र)—ये दो पुत्र हैं। आठवीं मुहूर्ताके पुत्र मौहूर्तिक देव (प्राण) हैं। ये अपने-अपने कालमें उत्पन्न फल देते हैं। नवीं दक्षकन्या संकल्पाका पुत्र संकल्प एवं पौत्र काम (वस्तुकी अभिलाषा) है। दशवीं कन्या वसुके आठ वसु पुत्र हैं, जो पिण्ड-ब्रह्माण्डमें भिन्न-भिन्न भावों (गुणों) के प्रवर्तक हैं।

भानु, लम्बा एवं ककुप् आदि दक्ष-पुत्रियाँ तथा उनके विद्योत एवं द्रोण आदि पुत्र—ये सब प्राणरूप होनेसे प्रकृतिकी उच्चावच कलाएँ हैं तथा पिण्ड और ब्रह्माण्डमें भिन्न-भिन्न भावोंकी प्रवर्तिका हैं। जैसे—दक्षपुत्री और धर्मपत्नी वसुका पुत्र द्रोण नामक वसु अपनी पत्नी अभिमतिके सहयोगसे अध्यात्ममें हर्ष, शोक, भय एवं विस्मय आदि भावोंका प्रवर्तक है, वैसे ही ब्रह्माण्डमें भी व्यापक भय-शोकादिका कारणभूत है। द्रोण एक प्रकारकी आग्नेय शक्ति है, जो अभिमतिरूप सौम्य शक्तिसे मिलकर हर्ष, शोक एवं भय आदि भावोंको उत्पन्न करती है। इस तात्त्विक अर्थको पौराणिक लोग रूपकालंकारसे इस प्रकार कहते हैं कि द्रोणने अपनी पत्नी अभिमतिके दाम्पत्य-भावसे हर्ष, शोक आदि पुत्रोंको उत्पन्न किया। प्राण नामक वसु अध्यात्ममें पिण्ड एवं अधिदैवत (ब्रह्माण्ड) में बल, आयु एवं पुरोजव (आगे बढ़ना) भावोंका प्रवर्तक है। दक्षकन्या वसुका पुत्र ध्रुव वसु विश्वमें विद्यमान विविध घनताओं (काठिन्य भावों) का प्रवर्तक है। अर्क वसु अपनी पत्नी वासनाके सहयोगसे अध्यात्ममें तर्ष, अभिलाषा, आशा एवं प्रतीक्षा आदि भावोंका प्रवर्तक है। तर्ष, अभिलाषा आदि भाव वस्तुमात्रमें इसी अर्क वसुसे उत्पन्न होते हैं। विभावसु नामक वसु उषाके दाम्पत्य-भावसे व्युष्ट, रोचिष्, आतप एवं पंचयाम (दिन) आदि विविध प्रकाशोंके तारतम्यका पिण्डब्रह्माण्डमें प्रवर्तक है। इस प्रकाशसे ही प्राणी निद्रासे जाग्रत् होते हैं।

प्रस्तुत विवेचनसे यह सिद्ध हुए बिना नहीं रहता कि जहाँ अन्य दर्शन भय, शोक एवं हर्ष आदि मानुष भावोंका उल्लेखमात्र सम्मुखाकारसे करते हैं, वहाँ पुराण उनके मूल कारण एवं उनके स्वरूपका भी 'इदमित्थम्' रूपसे निर्देश करते हैं—वह भी प्राञ्जल तथा सरल-सरस भाषामें । दुःखका विषय है कि अपनी जड बुद्धिके कारण पुराण-रहस्योंको न समझकर भ्रान्त जनोंने 'पुराणोंपर वैदिक वस' डालनेका असफल प्रयत्न किये हैं । इससे तो वैदिक संस्कृतिका ही नाश है । विश्वमें सामान्य जनोंतक वैदिक संस्कृतिके प्रचार और प्रसारके लिये पुराणोंसे बढ़कर दूसरा कोई साधन नहीं । पुराणोंकी उपेक्षा प्रकारान्तरसे वेदोंकी ही उपेक्षा है । पुराण, वेद (प्रकृति) के इस ध्रुव नियमका कि भय, शोक एवं हर्ष आदि विश्वगत सभी पदार्थ मूलमें विद्यमान दो तत्त्वोंसे उत्पन्न हैं, कभी उल्लङ्घन नहीं करते ।

दो दक्ष

१८ पुराणोंमेंसे दो-तीन पुराणोंको छोड़कर सब पुराणोंमें धर्मवंशका उल्लेख है । इन पुराणोंमें २ प्रकारसे उसका उल्लेख मिलता है । एक जगह दक्षकी २४ कन्याओंमेंसे १३ कन्याओंका विवाह धर्मके साथ हुआ, यह उल्लेख है । अन्यत्र दक्षकी ६० कन्याओंमेंसे १० कन्याएँ धर्मको देनेका उल्लेख है । इन दोनों स्थलोंमें केवल संख्यामें ही भेद नहीं है, अपितु उनके नामों तथा पुत्र-पौत्रोंके नामोंमें भी भिन्नता है । प्राचीन विद्वानोंने विष्णुपुराणकी व्याख्यामें इस भिन्न का समाधान करते हुए कहा है कि दक्ष दो हैं— स्वायम्भुव दक्ष, दूसरा प्राचेतस दक्ष । स्वायम्भुव दक्षको और प्राचेतस दक्षको ६० कन्याएँ हैं । स्वायम्भुव दक्षकी कन्याओंमेंसे १३ का विवाह धर्मके साथ हुआ है प्राचेतस दक्षकी ६० कन्याओंमेंसे १० कन्याओंका । विद्वानों का यह समाधान कि 'दक्ष दो हैं' प्रमाणयुक्त होनेसे यथा है । वस्तुतः दक्ष दो ही हैं—एक दक्षवृत्तरूप दक्ष और दूसरा प्राणात्मक दक्ष, जिसे व्यवसायरूप दक्ष कहते हैं ये ही स्वायम्भुव दक्ष हैं । इनका काम अध्यात्ममें व्यवसा शक्तिको उत्पन्न करना है । यही दक्ष-यज्ञका सूत्र है, जि सूत्रपर यज्ञका वितान होता है ।

व्यवसायरूप स्वायम्भुव दक्षकी १३ कन्याओं एवं उ संतानोंका वर्णन ऊपर किया गया है । दक्षवृत्तरूप प्राचे दक्षकी १० कन्याओं तथा उनके पुत्रोंके नाम नीचे दि जाते हैं—१ मरुत्वतीके पुत्र मरुत्वान्, २ वसुके पुत्र ३ यामीकी संतति नागवीथि, ४ लम्बाका पुत्र ५ भानुका पुत्र भानु, ६ अरुन्धतीके पुत्र तृणादि ७ संकल्पाका पुत्र संकल्प, ८ मुहूर्ताके पुत्र मुहूर्त ९ साध्याके पुत्र साध्यदेव और १० विश्वाके पुत्र विश्वे हैं । स्वायम्भुव दक्षकी पत्नी मनुपुत्री प्रसूति है और प्राचे दक्षकी पत्नी वृक्षकन्या असिक्नी है । (शेष

करता राम सनेही

हमरो करता राम सनेही ।
काहे रे नर ! गरब करत है,
बिनसि जाय झूठी देही ॥
मेरी-मेरी कौरव करते दुरजोधन-से भाई ।
बारह जोजन छत्र चलै था, देही गिरधन खाई ॥
सरब सोनेकी लंका होती, रावनसे अधिकाई ।
कहा भयो दर बाँधे हाथी, खिन महँ भई पराई ॥
दुरवासा सूँ करत ठगौरी, जादव वे फल पाए ।
कृपा करी जन अपने ऊपर नामा हरिगुन गाए ॥

—संत नामदेवजी

केवल निष्काम कर्मसे भगवत्प्राप्ति

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

केवल निष्काम कर्मसे भी परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है और उसमें भक्तिका मिश्रण हो जाय, तब तो कल्याण होनेमें बात ही क्या है। जैसे भगवान्‌ने कहा है—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥
(गीता १२ । १२)

अभिप्राय यह कि अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है। योगका अभ्यास, शास्त्रका अभ्यास, किसी भी प्रकारका जो अध्यात्मविषयक अभ्यास है, उससे ज्ञान श्रेष्ठ है। पर जो अभ्यास ज्ञानपूर्वक नहीं है, उसकी अपेक्षा वह ज्ञान श्रेष्ठ है जहाँ ज्ञान है पर अभ्यास नहीं है। जो केवल ज्ञान यानी शास्त्रज्ञान (परोक्ष ज्ञान) है, उससे परमात्माका ध्यान श्रेष्ठ है। किंतु जो परमात्माका साक्षात्—यथार्थ अनुभव यानी अपरोक्ष ज्ञान है, उससे नहीं। तथा परमात्माका जो ध्यान निष्काम नहीं है, ऐसे ध्यानसे कर्मफलका त्याग श्रेष्ठ है अर्थात् जहाँ कर्मके फलकी इच्छा नहीं है, ऐसा निष्काम कर्म भगवान्‌के सकाम ध्यानसे श्रेष्ठ है; क्योंकि कर्मफलके त्यागमें जो त्याग है, उस त्यागसे तत्काल शान्ति मिलती है। परमात्माकी प्राप्ति होनेपर जो शान्ति मिलती है, वही शान्ति उसे मिल जाती है। इसलिये निष्काम कर्म सबसे श्रेष्ठ है, इसीसे ध्यानसे भी कर्मफलका त्याग श्रेष्ठ कहा गया है। इसमें कर्मफल-त्यागके साथ ध्यान नहीं है यानी यह ध्यानरहित कर्मफल-त्याग है; क्योंकि ध्यान होनेसे तो ईश्वरकी भक्ति शामिल हो गयी, अतः वह तो श्रेष्ठ है ही। पर जिस ध्यानके साथ फलत्याग नहीं है, उस सकाम ध्यानकी अपेक्षा वह निष्काम कर्म जिसके साथ ध्यान नहीं है, श्रेष्ठ है। यह केवल कर्मयोग है।

गीताके तीसरे अध्यायके १९वें श्लोकमें भी केवल कर्मयोगका वर्णन है। वहाँ आसक्तिके त्यागसे परमात्माकी प्राप्ति बतलायी गयी है।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥

भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—‘अर्जुन! इसलिये तू अनासक्त भावसे—आसक्तिरहित होकर कर्तव्य कर्मोंका अच्छी प्रकारसे आचरण कर; क्योंकि अनासक्त भावसे सदा-सर्वदा कर्मोंका आचरण करता हुआ पुरुष परमात्माको प्राप्त कर लेता है।’

यहाँ साधनके साथ भक्ति नहीं है और कर्मोंके साथ ‘सततम्’ शब्द है। अतः इसका यह अर्थ है कि सदा-सर्वदा अनासक्त भावसे कर्मोंका आचरण कर। जहाँ आसक्ति नहीं है, वहाँ कामना है ही नहीं; क्योंकि—

‘सङ्गात्संजायते कामः’ (गीता २ । ६२)

—आसक्तिसे ही कामना उत्पन्न होती है। जहाँ आसक्ति ही नहीं, कारण ही नहीं, वहाँ कामनारूप कार्यका अभाव है ही।

ऐसे ही गीताके छठे अध्यायके पहले श्लोकमें भी भक्तिरहित कर्मयोग है—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥

जो कर्मोंके फलके आश्रयसे रहित है यानी कर्म करता है पर फलका आश्रय नहीं लेता—जिसे कर्मके फलकी इच्छा बिल्कुल नहीं है, ऐसा निष्काम भावसे कर्म करनेवाला पुरुष श्रेष्ठ माना गया है। वह संन्यासी है, वह योगी है। किंतु केवल स्वरूपसे जिसने कर्मोंका या अग्निका त्याग कर दिया है, वह न संन्यासी है और न योगी है। वास्तवमें जिसके अन्तःकरणमें उच्चकोटिका भाव है, भीतरमें भी जिसके त्याग है, भीतरमें ज्ञान है, भीतरमें योगका अभ्यास है, परमात्माका ध्यान है, उसके लिये यह नहीं कहा कि वह संन्यासी या योगी नहीं है।

इसी प्रकार कहीं आसक्तिके त्यागकी, कहीं कामनाके त्यागकी बात गीतामें कही गयी है। साथमें भगवान्‌की भक्तिका सम्बन्ध नहीं है। ऐसा कर्मयोग भी मुक्तिको देनेवाला है। गीतामें पाँचवें अध्यायके ११ वें, १२ वें श्लोकोंमें भी इसका उल्लेख है।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥
(गीता ५ । ११)

केवल शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियोंसे निष्काम कर्मयोगी—अनासक्तभावसे—आसक्तिसे रहित होकर आत्माकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं; उससे अन्तःकरण शुद्ध होकर वे परमात्माको पा लेते हैं।

आगे स्पष्ट बतला दिया—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥
(गीता ५ । १२)

कर्मयोगसे युक्त यानी निष्काम भावसे कर्म करनेवाला योगयुक्त पुरुष कर्मफलको त्यागकर निष्ठावाली शान्तिको पा लेता है—जो शान्ति योगनिष्ठाकी या परमात्माकी प्राप्ति होनेपर मिलती है, जिसे परमशान्ति और शाश्वत-शान्ति भी कहते हैं। तथा जो योगयुक्त नहीं है, वह कामनाके कारण फलमें आसक्त हुआ कर्मोंके द्वारा बँध जाता है।

इस प्रकार गीतामें जहाँ-कहीं भक्तिका बिल्कुल सम्बन्ध नहीं बताया गया है, वह कर्म निष्काम कर्म है। यानी जहाँ कामनाका अभाव है, आसक्तिका अभाव है, कर्तव्य-बुद्धिसे कर्म किया जाता है, वह केवल निष्काम कर्म है। उससे भी आत्माका उद्धार हो जाता है और उसके साथ भक्तिका मिश्रण हो जाय, तब तो उससे उद्धार हो ही जाता है।

अब यह विचार करना चाहिये कि वह कौन-सा कर्म है। जिस वर्ण-आश्रमके मनुष्यके लिये, जिस पुरुष या स्त्रीके लिये शास्त्रने जो कर्म निश्चित कर दिया है—उसका कर्तव्य बतला दिया है, उस कर्मको निष्काम-भावसे करनेपर उसका कल्याण हो जाता है। जैसे सुहागिन स्त्रीके लिये पातिव्रत्यधर्मका पालन करना उसका कर्तव्य है। वह निष्काम भावसे केवल पातिव्रत्यधर्मका पालन करती हुई परमात्माको प्राप्त हो जाती है। इसी प्रकार जिसके माता-पिता जीवित हैं, वह निष्कामभावसे केवल माता-पिताकी सेवा करके परम गतिको प्राप्त हो जाता है। उसके लिये माता-पिताकी सेवा परम धर्म है, शेष सब उपधर्म हैं। मनुस्मृतिमें बतलाया गया है—

त्रिष्वेतेष्विति कृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते॥
(मनु० २ । २३७)

माता, पिता और आचार्य—इन तीनोंकी सेवासे ही पुरुषका सब कर्म सम्पन्न हो जाता है। यही साक्षात् परम धर्म है, इसके अतिरिक्त अन्य सब उपधर्म हैं।

पातिव्रत्यधर्मका पालन करनेसे किन-किन स्त्रियोंका उद्धार हो गया—इसके लिये शास्त्र प्रमाण हैं। श्रीतुलसीदासजी भी, रामचरितमानसके अरण्यकाण्डमें अनसूयाजीने जो सीताजीके प्रति उपदेश दिया था, उसका उल्लेख करते हुए लिखते हैं—

एकइ धर्म एक ब्रत नेमा । कायँ बचन मन पति पद प्रेमा ॥
बिनु श्रम नारि परम गति लहई । पतिब्रत धर्म छाड़ि छल गहई ॥
(अरण्य० ४ । ५, १)

स्त्रीके लिये एक ही धर्म, एक ही व्रत और एक ही नियम है—मन, वाणी और शरीरसे पतिके चरणोंमें प्रेम करना। छलका त्याग करके पातिव्रत्यधर्मका पालन करनेवाली नारी बिना ही परिश्रम परम गतिको प्राप्त हो जाती है।

इसी प्रकार शास्त्रोंमें जगह-जगह पातिव्रत्यधर्मकी महिमा बतलायी गयी है। अनसूयाजी स्वयं पातिव्रत्यधर्मका पालन करनेवाली थीं—जिनके ब्रह्मा, विष्णु, महेशने अंशरूपसे अवतार लिया। ऐसे और भी बहुतसे उदाहरण हैं।

इसी प्रकार मनुष्य सबकी सेवा करके परम गतिको प्राप्त हो जाता है, अवश्य ही उसका निष्काम भाव होना चाहिये। उसमें किसी प्रकारका भी कहीं भी किंचिन्मात्र भी स्वार्थ नहीं रहना चाहिये। हरेक प्रकारसे हमलोगोंका कर्तव्य है सबकी सेवा करना। यज्ञ, दान, तप इत्यादि जो शुभ कर्म हैं, उनका भी जो निष्कामभावसे पालन करता है, उसका निश्चय कल्याण हो जाता है। अवश्य ही भाव निष्काम होना चाहिये, उनमें उसका कोई स्वार्थ नहीं रहना चाहिये।

शूद्रका सब वर्णोंकी सेवा करना धर्म है। वह चारों वर्णोंकी सेवा करके परम गतिको प्राप्त हो जाता है। किंतु उसमें भी निष्काम भाव होना चाहिये। इसी प्रकार वैश्य कृषि, गौरक्ष्य, वाणिज्य——निष्काम भावसे करे तो उसका उद्धार हो जाता है; किंतु जो वैश्य रुपया संग्रह करनेके लिये कर्म करता है, उस रुपयोंकी कामनावालेका नहीं। जो अपना कोई भी स्वार्थ नहीं रखता और यह समझता है कि खेती, व्यापार या गोरक्षाके द्वारा सबको सुख पहुँचाना है तथा यों सुख पहुँचाकर भी जो बदला कुछ भी नहीं चाहे——उसीका निष्कामभाव है। आप दूसरोंकी सेवा करते हुए यदि मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी इच्छा करते हैं तो वह निष्काम सेवा नहीं है। आप इनकी इच्छा तो नहीं करते, इनकी प्राप्ति आपका उद्देश्य भी नहीं है, पर दूसरे लोग आपका आदर-सत्कार तथा प्रतिष्ठा करते हैं, आपकी कीर्ति गाते हैं और उस सबको सुनकर यदि आपके चित्तमें प्रसन्नता होती है तो वह भी सकामभाव है। वह एक प्रकारसे निष्कामभावमें कमी है। इस बातको तो मनुष्यको बुद्धिसे या विचारसे हटा देना ही चाहिये कि दूसरे मनुष्य यह कहें कि वाह वाह! वाह वाह!! ये बड़े उच्चकोटिके निष्कामी हैं, बड़े स्वार्थत्यागी हैं। ये शब्द हमको प्रिय नहीं लगने चाहिये, बल्कि इन्हें सुनकर हमको लज्जा होनी चाहिये, मनमें दुःख होना चाहिये।

हरेक काममें यह विचार करना चाहिये कि यह काम जो मैं कर रहा हूँ इसमें कोई मेरी कामना तो नहीं है, मेरी आसक्ति तो नहीं है। जहाँ आसक्ति है, कामना है, वहाँ समझना चाहिये कि वह निष्काम नहीं है। किंतु निष्काम न होनेपर भी सेवा करना उत्तम है। विचार करना चाहिये——कोई मनुष्य किसी भी प्रकारसे दूसरेकी सेवा करता है, दान देता है, उपकार करता है और वह भयसे, लज्जासे या मान-बड़ाईकी इच्छासे करता है तो वह करना भी न करनेकी अपेक्षा बहुत श्रेष्ठ है। किंतु जो निष्काम कर्म है, उसका तो बहुत ही ऊँचा दर्जा है।

मनुष्यको सदा सावधान रहना चाहिये। किसी भी प्रकारकी कामना निष्कामभावमें कलङ्क है। शुभकर्म सकाम भावसे भी करना अच्छा है। पर निष्कामका दर्जा बहुत ऊँचा है। सकाम और निष्काममें बहुत अधिक अन्तर है; रात-दिनका अन्तर है। इस बातको ध्यानमें रखकर मनुष्यको निष्कामभावसे आचरण करना चाहिये।

कोई भी मनुष्य कुछ काम करता है तो पहले मनमें यह भाव आ जाता है कि इसको करनेसे मुझको क्या लाभ होगा। यही सकाम भाव है। इसलिये मेरी इस क्रियासे संसारको कितना लाभ होगा——इस दृष्टिको रखकर कर्म करना चाहिये। अधिक-से-अधिक लोगोंको लाभ हो——यह ध्यान रखना चाहिये और उस लाभके बदलेमें कुछ भी नहीं चाहना चाहिये, बल्कि देनेपर भी नहीं लेना चाहिये। किंतु याद रखना चाहिये कि कहीं-कहीं लेना भी एक प्रकारसे निष्काम हो जाता है। जैसे कोई साधु, महात्मा, ब्राह्मण या गृहस्थ है, उसे कोई व्यक्ति अपना कर्तव्य समझकर निष्कामभावसे कुछ देता है, उचित या न्याय समझकर देता है तो उसको निष्कामभावसे ले लेना देनेवालेके लिये भी हितकर है और लेनेवालेके लिये भी हितकर है। जैसे, किसी साधुके पास कुछ नहीं है, देनेवाला आग्रह करके देता

है और साधुकी भी एक प्रकारसे लेनेकी इच्छा नहीं है बल्कि अपने फटे-पुराने वस्त्रसे ही काम चलानेकी इच्छा है, किंतु फिर भी वह उसके आग्रह करनेपर उसके संतोष—प्रसन्नताके लिये कुछ स्वीकार कर ले तो उसमें दोष नहीं है । यदि दाताके मनमें यह दुःख हो कि मैं गया-बीता हूँ इसलिये महाराजने मेरी वस्तु स्वीकार नहीं की तो उसके दुःखको दूर करनेके लिये वह वस्तु ले ली जाय तो वह लेना भी न लेनेके समान ही है । इसी प्रकार कोई गृहस्थ है, उसके यहाँ किसीने यह कहलाकर फल आदि भेज दिये कि हमारे लड़केकी शादीके निमित्त आये हुए ये फल आदि आपके लिये भेजे हैं । उनको न लेनेपर उस दाताको दुःख होता है तो वहाँ कुछ ले लेना भी न लेनेके समान है । इसी तरह किसीके यहाँ हम गये और वह हमें अतिथि समझकर सत्कार करता है और हम उसे स्वीकार नहीं करते, हमारे स्वीकार न करनेसे उसे दुःख होता है तो उस हालतमें हम उसकी दी हुई वस्तु स्वीकार कर लें तो यह लेना न लेनेके ही समान है ।

अपने स्वार्थके लिये दूसरेसे सेवा स्वीकार करना तो सकाम है किंतु उसकी प्रसन्नताके लिये स्वीकार कर लेनेमें दोष नहीं है । हरेक बातमें यह ध्यान रखना चाहिये कि कहीं हमारे भीतर कोई स्वार्थका भाव तो नहीं है । जो स्वार्थका भाव है, वही हानिकर है । जैसे, अपने लड़के, नौकर या स्त्रीसे काम ले लेते हैं, न लेनेसे उनको दुःख होता है तो उनसे काम करवाना, सेवा लेना न लेनेके समान ही है । हरेक विषयमें ऐसा विचार कर लेना चाहिये कि मैं जो स्वीकार करता हूँ, वह उसकी प्रसन्नताके लिये स्वीकार करता हूँ या अपनी प्रसन्नताके लिये । जहाँ स्वार्थ है, वहीं सकामभाव है । यह सकामभाव निष्कामभावमें कलङ्क है । पर वास्तवमें जो न्यायसे प्राप्त है, उसे स्वीकार कर लेनेमें दोष नहीं है । उत्तम कोटि वह है कि अपनी प्रसन्नताके लिये नहीं, दूसरोंके संतोषके लिये हम स्वीकार करें, वह हमारा निष्कामभाव है ।

इसके सिवा, यह भी विशेषरूपसे खयाल रखना चाहिये कि अपने मनके अनुकूल जो कुछ प्राप्त होता है, उसमें तो राग होता है और जो अपने मनके प्रतिकूल प्राप्त होता है, उसमें द्वेष होता है । किंतु जहाँ राग-द्वेष है, वहाँ निष्कामता नहीं है । अतएव हरेक काम करते समय राग और द्वेषका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये । राग-द्वेषसे रहित होकर विषयोंमें विचरण करना भी कल्याणकारक होता है । यहाँ विषयोंमें विचरणका अर्थ है राग (रस)-बुद्धिसे रहित हो विषयोंका न्याययुक्त सेवन । जैसे भोजनादि करना न्याययुक्त है, शरीरनिर्वाहके लिये आवश्यक और उचित है । विषयोंमें विचरण करना, इस कथनमें आसक्ति झलकती है; इसलिये साथमें यह कहना पड़ता है कि विषयोंमें विचरण करनेका अर्थ आसक्ति—रस-बुद्धिसे विषयोंका ग्रहण नहीं समझना चाहिये । किसी भी प्रकारकी कामना न रखकर केवल शरीरनिर्वाहमात्रके लिये उचित खाना-पीना आदि विषयोंमें जो विचरण करना है, वह निष्कामभाव है । गीतामें बतलाया गया है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥
(गीता २ । ६४-६५)

भाव यह कि जिनमें राग-द्वेषका नाम-निशान नहीं है और जो अपने वशमें हैं ऐसी इन्द्रियोंके द्वारा, जिसका मन भी अपने वशमें है, वह पुरुष विषयोंमें विचरण करता हुआ प्रसादको प्राप्त होता है यानी उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और अन्तःकरण शुद्ध होनेसे चित्तकी प्रसन्नता होती है । उस सात्त्विक प्रसन्नतासे सारे दुःखोंका नाश हो जाता है और उसकी बुद्धि परमात्माके स्वरूपमें या यों कहें निष्काम कर्मयोग-

की निष्ठामें शीघ्र ही स्थित हो जाती है, जिससे वह परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

निष्कामभावकी यह महिमा है । यहाँ जो विषयोंमें विचरण करना है—उसमें कोई आसक्ति नहीं है, कोई कामना नहीं है, कोई राग-द्वेष नहीं है । अपना कर्तव्य समझकर ही वह न्याययुक्त कर्मोंका आचरण करता है । बिना राग-द्वेषके ही केवल इन्द्रियों-के द्वारा विषयोंमें विचरण करता है । ऐसा आचरण करनेसे उसका कल्याण हो जाता है । भगवान् कहते हैं—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥
(गीता २ । ७१)

जो मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग करके स्पृहा (आसक्ति) से रहित होकर और ममता तथा अहङ्कार-से रहित हो विचरण करता है, वह उस यथार्थ शान्ति-को प्राप्त होता है, जो शान्ति परमात्माकी प्राप्ति होनेपर मिलती है । इससे पूर्वके ७० वें श्लोकमें भी आया है—**स शान्तिमाप्नोति न कामकामी**—वह वास्तविक शान्तिको प्राप्त होता है, कामना करनेवाला कामी पुरुष कभी शान्तिको नहीं प्राप्त होता । अतः यहाँ उसी वास्तविक शान्तिकी प्राप्तिका वर्णन है ।

इस प्रकार केवल निष्काम कर्मसे भी मनुष्यका कल्याण हो जाता है, फिर साथमें भक्तिका सम्मिश्रण हो तब तो फिर बात ही क्या है ।

* * *

धर्म, सदाचार, सम्प्रदाय और ईश्वर

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

वेद-पुराण, दर्शन-धर्मशास्त्र, काव्य-इतिहासादिका सर्वस्वभूत प्राणस्वरूप एकमात्र धर्म ही है । मनु आदि-का सुस्पष्ट डिण्डिम घोष ही था—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
(मनुस्मृति ८ । १५)

अर्थात् धर्म ही सब कुछ है । जो धर्मको मारना चाहता है, धर्मपर प्रहार करता है, धर्म उसे निस्संदेह मार डालता है । और जो धर्मकी रक्षा करता है, धर्म उसे बचा लेता है । गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी श्रीरामके मुँहसे कहलाते हैं—

सिबि दधीचि हरिचंद नरेसा । सहे धरम हित कोटि कलेसा ॥
रंतिदेव बलि भूप सुजाना । धर्मु धरेउ सहि संकट नाना ॥
मैं सोइ धरमु सुलभ करि पावा । तजें तिहूँ पुर अपजस छावा ॥
—इत्यादि

वाल्मीकि श्रीरामको 'विग्रहवान् धर्म' कहते हैं । श्रीराम, युधिष्ठिर आदि राजाओंके राज्यमें कोई नरकगामी नहीं होता था । संसारमें भी किसीको हिंस्र जंतु, सर्प, जल, अग्नि, रोग, दुःख, शोक, वियोगका कोई भय न था; क्योंकि इनका राज्य 'धर्मसर्वस्व' था ।

नाधयो व्याधयश्चैव रामे राज्यं प्रशासति ।
(वा० रा० युद्ध०)

नाधिव्याधिजराग्लानिदुःखशोकभयक्लमाः ।
मृत्युश्चानिच्छतां नासीद् रामे राजन्यधोक्षजे ॥
(श्रीमद्भा० ९ । १० । ५०)

नाधयो व्याधयः क्लेशा दैवभूतात्महेतवः ।
अजातशत्रावभवन् जन्तूनां राज्ञि कर्हिचित् ॥
(श्रीमद्भा० १ । १० । ६)
—इत्यादि

राजनीतिज्ञोंकी दृष्टिमें धर्म

कौटल्य-जैसे परम कूटनीतिज्ञने भी राज्यपालनमें धर्म—सदाचारको ही सब कुछ माना है और वर्णाश्रम-धर्मके बिना राज्यके तहस-नहस होनेकी बात लिखी है । कालिदास भी 'धर्म-पालन' ही राजाका मुख्य कर्तव्य मानते हैं ।

नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत्
स एव धर्मो मनुना प्रणीतः।
(रघुवंश १४ । ६७)

कौटल्य लिखता है कि धर्म ही कल्याणकारी है। उसके नष्ट होनेपर पहले वर्णसांकर्य फैलता है, फिर दुनिया नष्ट हो जाती है—

धर्मातिक्रमे लोकः संकरादुच्छिद्येत।
(१ । ५ । १५)
तस्मात् स्वधर्मं भूतानां राजा न व्यभिचारयेत्।
स्वधर्मं संदधानो हि प्रेत्य चेह च नन्दति॥
(अर्थशास्त्र १ । ३ । १६)

जहाँ अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्रमें विप्रतिपत्ति उपस्थित हो, वहाँ धर्मशास्त्र ही प्रमाण माना जाय—

संस्थया धर्मशास्त्रेण शास्त्रं वा व्यावहारिकम्।
यस्मिन्नर्थे विरुध्येत धर्मेणार्थं विनिर्णयेत्॥
(कौ० अर्थशास्त्र ३ । १ । ५६)

सदाचार तथा वर्णाश्रमधर्मके रक्षक होनेसे ही राजाको 'धर्मप्रवर्तक' कहा गया है—

चतुर्वर्णाश्रमस्यायं लोकस्याचाररक्षणात्।
नश्यतां सर्वधर्माणां राजा धर्मप्रवर्तकः॥
(कौ० अर्थशा० ३ । १ । ५०)
आत्मसम्पद्गुणैर्युक्तं नीतिज्ञं युक्तकारिणम्।
धार्मिकं प्राप्य राजानं सुखी लोकोऽभिवर्धते॥

'राजा' का अर्थ ही—कि जिसमें धर्म विराज रहा हो—

यस्मिन् धर्मो विराजेत तं राजानं प्रचक्षते।
(म० शा० प० ९० । १५)

महाभारतमें भीष्मने युधिष्ठिरको 'राजधर्मसार'का उपदेश करते हुए कहा है कि वास्तवमें आचार और धर्मकी रक्षा ही राजाका एकमात्र कार्य है। यदि वह ऐसा नहीं करता तो असफलप्रयास होकर सदाके लिये नरकमें गिर पड़ता है। यदि राजा अपने राष्ट्रमें (चोरी, हिंसा, उच्छृङ्खलता, लूट, व्यभिचार आदिके मूल) अधर्मको नहीं रोकता तो सारा राष्ट्र त्रस्त त आतङ्कित हो जाता है। ऐसे राजाके व्यवहारसे दे पूजा, श्राद्ध, कथाएँ बंद हो जाती हैं। धर्म ही म काम्यवस्तुओंकी वर्षा करनेके कारण 'वृष' कहा जाता है धर्म तथा सदाचारके ही ऊपर सम्पूर्ण भूतोंकी स्थिति है राजाको 'धर्म' का रूप होना चाहिये। यदि वह ऐ नहीं करता तो उसे 'धर्मलोप्ता', 'वृषल' कहते हैं—

यस्मिन् विलीयते धर्मस्तं देवा वृषलं विदुः॥
वृषो हि भगवान् धर्मो यस्तस्य कुरुते ह्यलम्।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं विवर्धयेत्॥
धर्मे वर्धति वर्धन्ति सर्वभूतानि सर्वदा।
तस्मिन् ह्रसति हीयन्ते तस्माद्धर्मं न लोपयेत्॥
… … … …
प्रभवार्थं हि भूतानां धर्मः सृष्टः स्वयम्भुवा।
तस्मात् प्रवर्तयेद्धर्मं प्रजानुग्रहकारणात्।
……………………**धर्मः श्रेष्ठतरः स्मृतः।**
… … … …
धर्मः श्रेयस्करतमो राज्ञां भरतसत्तम॥
(महा० शा० प० ९० । १५—१७, १९-२१

शुक्राचार्य भी कहते हैं कि मनमानी करनेवा राजाको पापग्रस्त होना पड़ता है, विफलता मिलती है अतः वेद, इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्रका आदर कर चाहिये—

स्वतन्त्रः साधयन्नर्थान् राजापि स्याच्च किल्बिषी।
···उत्तमोऽपि नृपो धर्मनाशान्नीचतामियात्।
वेनो नष्टस्त्वधर्मेण पृथुर्वृद्धस्तु धर्मतः।
तस्माद्धर्मं पुरस्कृत्य यतेतार्थाय पार्थिवः॥
धर्मात् पैजवनो राजा विधाय बुभुजे श्रियम्।
अधर्माच्चैव नहुषः प्रतिपेदे रसातलम्॥
(शुक्र० १ । ६८-६९, कामन्दक १ । १६-१७

'सगरान्वये इन्द्रसेनो राजा रजस्वलया स्वदे सह संगतः, इति राक्षसेनात्तु मारब्धः। उक्तश्चापि तेन यदि त्वं सर्वाः प्रजा अधर्मे नियोजयति तदा न भक्षयामि। इत्युक्तः स प्राणभयात् तथैवानुष्ठितवान् इत्यधर्मादचिरेणैव क्षयं गतः। तदनन्तरं तद्वंशजा अपि विनाशं प्राप्ताः। तत्संततावेव पैजवनो बभूव।

तेन राक्षसवचनमनादृत्य भयं त्यक्त्वा प्रजा धर्मे नियोजिताः । अतः स चिराय महीं बुभुजे ।'

(जयमङ्गला—उपाध्यायनिरपेक्षा)

महर्षि गौतम भी 'राजधर्म-निरूपण'में राजाका प्रधान कार्य वर्णाश्रमकी रक्षा बतलाते हैं—

वर्णाश्रमांश्च न्यायतोऽभिरक्षेत् ।
चलतश्चैतान् स्वधर्मे स्थापयेत् ।
धर्मस्यांशभाग्भवति ।

(गौतमधर्मसूत्र २ । २ । ९—११)

सोमदेवका 'नीतिवाक्यामृत' ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है । इसमें ३२ समुद्देश हैं, जिनमें पहला 'धर्मसमुद्देश' ही है । इसमें वे सर्वप्रथम 'धर्म'को अभ्युदयनिःश्रेयसप्रद कहकर अधर्मको इसका विपरीतफलदायक अर्थात् दुःख-शोक-नरकदायक लिखते हैं—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ।
अधर्मः पुनरेतद्विपरीतफलः ॥
कः सुधीः भेषजमिवात्महितं
धर्मं परोपरोधादनुतिष्ठति ।

धर्मातिक्रमाल्लब्धं परेऽनुभवन्ति, स्वयं तु पापस्य भाजनं सिंह इव सिन्धुरवधात् ।

धर्मविरोधी लोकायतिक नीतिशास्त्रज्ञके लिये अपने अर्थशास्त्रमें आचार्य बृहस्पति कहते हैं—

लोकायतिको मृतो भवति, अर्थकामधर्ममोक्ष-विहीनः, नारकी च, तत्कुलं च तत्पुत्रपौत्रान्तरे विनश्यति ।

(बार्हस्पत्यार्थशास्त्र २ । १७)

नीतिका फल धर्म, धन, सुखकी प्राप्ति ही है—

नीतेः फलं धर्मार्थकामावाप्तिः । (बार्हस्पत्य० २ । २७)

धर्मेण कामार्थौ परीक्ष्यौ ।

गीता तो स्वधर्ममें मृत्युको भी श्रेष्ठ कहती है—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' । उपनिषदें धर्म—सदाचारमें ही जगत्की प्रतिष्ठा—स्थिति बतलाती हैं—

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा ।

यहाँ राजनीतिज्ञोंके मतकी इसलिये थोड़ी चर्चा की गयी है कि राजा चाहे तो धर्मलोप कर सकता है; क्योंकि सारी प्रजा सदा राजाका ही अनुवर्तन करती है—

स्वधर्ममनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजा ।

(भोजप्रबन्ध)

और इस प्रकार राजा चाहे तो सत्ययुगमें भी कलियुगकी सृष्टि कर सकता है जैसा कि रावण, हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु आदिने किया था । (सुनते हैं रावणके राज्य करते हुए ६८ सत्ययुगादि आये और गये थे ।) कुन्ती एवं भीष्मने भी महाभारतमें बराबर राजाको ही कालका कारण बतलाया है और उसीके द्वारा सत्ययुग, कलियुग आदिका प्रवर्तन माना है—

कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम् ।
एतत्ते संशयो मा भूद् राजा कालस्य कारणम् ॥

(महा० उद्योग० १३२ । १६; शान्तिपर्व ६९ । ७९ भोजप्रबन्ध पृ० ९ इत्यादि)

शुक्रने भी ऐसा ही कहा है—

कालस्य कारणं राजा सदसत्कर्मणस्त्वतः ।
स्वक्रौर्योद्यतदण्डाभ्यां स्वधर्मे स्थापयेत्प्रजाः ॥

(१ । ६०)

राजा कृतयुगस्रष्टा त्रेताया द्वापरस्य च ।
युगस्य च चतुर्थस्य राजा भवति कारणम् ॥
कृतस्य करणाद्राजा स्वर्गमत्यन्तमश्नुते ।
कलेः प्रवर्त्तनाद्राजा पापमत्यन्तमश्नुते ॥

(महा० शा० पर्व० ६९ । ९९-१००)

पाश्चात्त्य विद्वानोंने भी धर्म—सदाचारको राजनीतिका अङ्ग माना है (Introduction to Social Philosophy, p. 48; Republic of Plato, Ch. XII; Methods of Ethics by Sidgewick, Elements of Ethics by Muirhead, Book I, Chapter III etc.)

विष्णुशर्माका राजनीतिपरक ग्रन्थ पञ्चतन्त्र प्रसिद्ध है। पं० जवाहरलालजी अपनी पुस्तक Discovery of India के पृ० ७९ की टिप्पणीमें लिखते हैं—

'The story of the innumerable translations and adaptations of the Panchatantra into Asiatic and European languages is a long, intricate and fascinating one. The first known translation was from Sanskrit into Pahlavi in the middle of the 6th century A. C. at the instance of Khusrau Anusherwa Emperor of Persia. Soon after (C. 57 A. C.) a Syrian translation appeared and later on an Arabic one. In the eleventh century a new translation appeared in Syrian, Arabic and Persian, the last-named being famous as the story of Kalia-Daman. Through these translations Panchatantra reached Europe. There was a Greek translation from the Syrian at the end of the eleventh century and a little later a Hebrew translation. In the 15th and 16th centuries a number of translations appeared in Latin, Italian, Spanish, German, Swedish, Danish, Dutch, Icelandic, French, English, Hungerian, Turkish and a number of Slav languages'.

अर्थात् पञ्चतन्त्रके प्रचारकी कथा बड़ी आकर्षक है। ६ठी शताब्दीमें इसका फारसके राजा खुसरो नौशेरवाँ-ने संस्कृतसे पहल्वी भाषामें करवाया। इसके बाद तुरंत इसका अनुवाद सीरियन तथा अरबी भाषामें हो गया। बादमें फारसीमें भी अनुवाद हुआ और इसका नाम 'कालियहदमनग' पड़ा। इन अनुवादोंके सहारे पञ्चतन्त्र योरपमें पहुँचा। १६ वीं शताब्दीतक इसका ग्रीक, लैटिन, इटालियन, स्पैनिश, जर्मन, स्वीडिश, डैनिश, डच, आइसलैण्डिक, फ्रेंच, इंग्लिश, हंगेरियन, टर्किश असंख्य पाश्चात्य भाषाओंमें हो गया।

इतने प्रसिद्ध तथा विश्वव्यात पञ्चतन्त्रका भी सम्बन्धमें क्या मत है, यह भी विचारणीय है। पञ्चतन्त्रमें श्रीविष्णुशर्मा लिखते हैं—

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः।
नित्यः संनिहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः॥
यस्य धर्मविहीनानि दिनान्यायान्ति यान्ति च।
स लोहकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति॥
नाच्छादयति कौपीनं न दंशमशकापहम्।
शुनः पुच्छमिव व्यर्थं पाण्डित्यं धर्मवर्जितम्॥
पुलाका इव धान्येषु पुत्तिका इव पक्षिषु।
मशका इव मर्त्येषु येषां धर्मो न कारणम्॥
सृष्टा मूत्रपुरीषार्थमाहाराय च केवलम्।
धर्महीनाः परार्थाय पुरुषाः पशवो यथा॥
स्थैर्यं सर्वेषु कृत्येषु शंसन्ति नयपण्डिताः।
बह्वन्तराययुक्तस्य धर्मस्य त्वरिता गतिः॥*

(पञ्चतन्त्र ३ । ९४—१००)

मार्कण्डेयपुराण (२७ । ३२) में मदालसा पुत्र अलर्कको राजनीतिकी शिक्षा देती हुई कहती है—

एतद्राज्ञः परं कृत्यं तथैतत् सिद्धिकारकम्।
स्वधर्मस्थापनं नृणां चाल्यते यत्कुबुद्धिभिः॥
(मार्कण्डेयपु० २७ । ३२ वें० प्रेस तथा मोरद्वारा प्रकाशित)

---

* धन, शरीर आदि चञ्चल हैं, अतः उनसे करना चाहिये। धर्महीनका जीना लुहारकी भाथीकी तरह है। दुराचारी पुरुषका विज्ञान भी कुत्तेकी पूँछकी तरह है, जो दंश, मशकोंका निवारण कर सके और न लज्जाका ही। धर्महीन पुरुष सूसी, तितली तथा मच्छरके समान तुच्छ है। केवल खाने और मलमूत्र करनेके लिये ही रचा गया है।

अर्थात् 'दुष्ट बुद्धिवाले पुरुष जनताको सदा धर्मसे बहकाना चाहते हैं । राजाका यह परम कर्तव्य है कि प्रजाको उस वर्णधर्मसे विचलित न होने दे ।'

चक्रवर्ती सम्राट् मान्धाताको बृहस्पतिके बड़े भाई उतथ्य राजनीतिका उपदेश देते हुए कहते हैं कि सारे प्राणियोंकी प्रतिष्ठा धर्ममें है और धर्मकी प्रतिष्ठा राजामें । अतः जो राजा धर्मपूर्वक शासन करता है, वस्तुतः वही पृथ्वीका स्वामी है ।

धर्म ही सदाचार है और सदाचार ही श्रेष्ठ धर्म—

'आचारः प्रथमो धर्मः' 'सर्वागमानामाचारः प्रथमः परिकल्पते ।' (महा० अनु०)

इसलिये स्पष्ट है कि धर्म, सदाचार, शुद्धि, पवित्रताकी उपेक्षा-तिरस्कार करनेपर शासन नहीं चल सकता । उसमें भ्रष्टाचार व्याप्त होकर लूट-हत्या और मात्स्यन्याय (बलीद्वारा छोटेकी हत्या, अपहरणादि) फैल जायगा । वेन आदिकी यही दशा हुई थी । उन दिनों चारों ओर डाकू-ही-डाकू फैल गये थे—

चोरप्रायं जनपदं हीनसत्वमराजकम् ।
लोकाश्चावारयञ्छक्ता अपि तद्दोषदर्शिनः ॥

यह तो 'राजनीति'की दृष्टिसे चर्चा हुई । वास्तविक धर्मचर्चा तो धर्मशास्त्र तथा पुराणोंमें है, जिसके दो ही उदाहरण पर्याप्त होंगे । वाल्मीकीय रामायणमें सीता कहती हैं—

धर्मादर्थः प्रभवति धर्मात्प्रभवते सुखम् ।
धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत् ॥
(३ । ३ । ३०)

इसी प्रकार काशीखण्डमें सूर्योक्ति है—

धर्मो हि रक्षितो येन देहे सत्वरगत्वरे ।
त्रैलोक्यं रक्षितं तेन किं कामार्थैः सुरक्षितैः ॥
रक्षणीयो यदि भवेत् कामः कामारिणा कथम् ।
क्षणादनङ्गतां नीतो बहूनां सुखकार्यपि ॥
अर्थश्चेत्सर्वथा रक्ष्य इति कैश्चिदुदाहृतम् ।
तत्कथं न हरिश्चन्द्रोऽरक्षत् कुशिकनन्दनात् ॥
धर्मस्तु रक्षितः सर्वैरपि देहव्ययेन च ।
शिविप्रभृतिभूपालैर्दधीचिप्रमुखैर्द्विजैः ॥
(स्क० काशी० ४६ । ३३—३७)

अर्थात्—जिसने धर्मकी रक्षा की, उसने मानो त्रिलोकीकी ही रक्षा कर ली । इसीलिये शिवने जलनेसे कामकी तथा हरिश्चन्द्रने विश्वामित्रसे धनकी रक्षा नहीं की । शिवि, दधीचि, हरिश्चन्द्र आदि सभीने धर्मकी ही रक्षा की । ऐसे उदाहरणोंसे वेद-पुराण, धर्म-सूत्र, गृह्य-सूत्र, इतिहास, काव्यादि सारा भारतीय साहित्य भरा पड़ा है और यह प्राचीन भारतीय साहित्य इतना प्रबल, अजेय, ठोस, मोहक तथा उत्कृष्ट है कि आजके भी सभी शोधकर्ता उसे ही विशेष आदर देने लगे हैं । यह सोलह आने सत्य है कि आजका सारा ही साहित्य मिट्टीमें मिल जायगा । केवल लेखक ही भीख माँगकर अपना साहित्य एक-दो बार छाप-बेंच लें; पर गीता-रामायण, रघुवंश, वेदादिको तो लोग प्राणोंकी बाजी लगाकर कण्ठस्थ भी याद रखते चले आये हैं और आगे भी याद रखेंगे । इस सहस्राब्दीका कोई ग्रन्थ विशाल कालकी परम्परामें टिकेगा तो एकमात्र रामचरितमानस । वह भी इसीलिये कि 'नानापुराणनिगमागमसम्मत' है । अगले अङ्कमें सम्प्रदाय और ईश्वरकी चर्चा की जायगी ।

आत्मनाश—एक नशा

(लेखक—श्रीशेषनारायणजी चंदेले)

['वसुंधरा भौतिक विलास, स्वार्थ और हिंसाके हलाहलका पान करनेको उद्यत है। व्योम अध्यात्म-का अमृत देकर उसे आत्मरक्षाका उपाय सुझाता है। अहिंसाका देवदूत गांधी व्योमके पवित्र ध्येयका समर्थक बनकर आता है; किंतु गतिके पागलपनमें व्यस्त वसुंधराको इतना अवकाश कहाँ कि वह अहिंसा और अध्यात्मवादके संदेशको सुने !' —लेखक]

'यह क्या वसुंधरे, अल्पायुमें ही जीवनसे विराग ?' व्योमने अपनी सकरुण आँखें वसुंधराकी आँखोंमें स्थिर कर दीं।

'तुम !'—वसुंधरा कटाक्ष करते हुए बोली—'जीवनके प्रति अनुरागका इससे महत्तर प्रमाण और क्या हो सकता है दुर्भेद्य ?' हलाहल-पात्रका स्पर्श लेते हुए वसुंधराके रक्तिम अधरोंपर झूमता हुआ यह वाक्य थिरक पड़ा।

'क्या विष भी जीवनको गतिसे अनुप्राणित कर सकता है देवि ?'—व्योमने सहानुभूति प्रकट की। वसुंधराकी आँखोंसे मादकता छलक रही थी। वह कहती गयी—'जीवन समुद्र है नीलाङ्ग ! उसकी सतरंगी हँसी अठखेलियाँ करती हुई तरंगें हैं। और मैं—मैं तरंगोंके पारदर्शक अवगुण्ठनमें संतरण—उत्प्लवन करती हुई मत्स्याङ्गना हूँ। मेरा हृदय एक नैसर्गिक जलाशय है। उसका आमोद सतहपर विचरण करता हुआ मराल है। किंतु—तनिक रुककर वसुंधराने कहा—किंतु तुम्हारा इन सबसे क्या सम्बन्ध है ? तुम अदृश्य हो व्योम, तुम्हारी सत्तापर मेरी अनास्था है। अवस्तुसे वस्तुका क्या सम्बन्ध ?'

व्योमने उपदेशकी भाषामें कहा—'चपले ! जो मधुर है, जिसे अपने जीवनके आनन्दका उपकरण समझती है, वही तेरे जीवनकी इयत्ता है। मुग्धे ! तेरी बुद्धि भ्रमित है। जिस पात्रमें भौतिक उपकरणका प्रतिबिम्ब देखकर तू आनन्दातिरेकमें तिरोहित हो रही है, वह हलाहल है। स्वार्थ तेरा प्रतिद्वन्द्वी है, जिसे गले उतार रही है। हिंसा तेरी मृत्यु है, जिसकी तू उपासना करती है। अपने कर-कमलसे इस स्वर्ण-पात्रको मुक्त कर दे। उसमें हलाहल है।'

वसुंधराने विक्षोभ प्रकट किया—'अगोचर ! तुम मुझे मार्गच्युत करनेकी स्पृहा रखते हो ! भौतिक उपकरण मेरा सुहृद् है। मैं उसमें जीवन-दर्शन पाती हूँ। तुम्हारा अध्यात्म मिथ्या है। उसमें जीवन-शक्ति नहीं है। मात्र, वह कल्पना-लोकका साथी है। कल्पनामें सत्यका स्थान कहाँ है ? विशदाम्बर ! जीवनको स्वार्थ और हिंसाकी अपेक्षा है। विश्व एक वितान है, जो स्वार्थोंसे तना हुआ और स्थिर है। स्वार्थरहित संसारकी सत्ता सम्भाव्य नहीं। मेरे जीवनका अपना अलग आदर्श है। वह तुम्हारी बुद्धिसे परे है।'

व्योमने उत्तर दिया—'वसुंधरे ! तुम्हारा चिन्तन अयथार्थ है। कल्पना अध्यात्म-क्षेत्रका सत्य है। असत्यका चिन्तन अशक्य है। सत् ही कल्पनाका विषय बन सकता है। कल्पना सर्वथा निराधार नहीं होती। सारा वस्तु-जगत् भाव-जगत्का निर्माण है। वस्तु-जगत्से भाव-जगत्का कार्य-कारण सम्बन्ध है। किंचित् गहराईसे सोचो, तुम्हारी उक्ति एक प्रवञ्चना है।'

'बस, बस, मैं अधिक नहीं सुनना चाहती !'—वसुंधरा विकल होकर बोली। व्योमने वसुंधराकी बातें सुनकर शान्तिके देव-दूतको पुकारा। गांधी उनके समक्ष हो गये। व्योमने कहा—'महात्मन् ! वसुंधराके मोहका निवारण करो। उसने असत्यको सुहृद् बना लिया है। शत्रुसे मित्रता कर ली है। मरणका वरण-कर लिया है।

जाओ, पथ-भ्रमिता वसुंधराका मार्ग आलोकित करो ।'

आकाश-मार्गसे गांधीका अवतरण हुआ ।

× × ×

विशाल जन-समूहमें एक व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण शक्तिसे चिल्ला रहा था—"गांधीकी अहिंसा आज विश्वकी अहिंसा बनकर उसे मृत्युके मुखसे निकाल लेगी । 'प्रेम' को हृदयके रूपमें, 'सत्य' को विवेकके रूपमें और अहिंसाको उनकी देहके रूपमें पाकर आजका वैज्ञानिक युग धन्य हो गया है । सम्पूर्ण राष्ट्रका सम्मिलित प्रयत्न जन-संहारके विरुद्ध रहेगा ।' गांधी वहाँ उपस्थित थे । अनात्मवादीके मुँहसे ये शब्द सुनकर उन्हें आश्चर्य हुआ ।

'यह क्या !' गांधीके कुतूहलकी सीमा न रही । इस सघन तमिस्राका उद्गम कहाँ है ? धूम्राच्छादित रविरश्मियाँ गहनताका उद्भेदन करनेमें अक्षम हो रही हैं । सर्वत्र व्याप्त धूम्रसे गांधीका दम घुट रहा है । कदाचित् परमाणु-अस्त्रका प्रयोग हुआ था ।

सहसा ज्योतिकी किरणें प्रविष्ट हुईं । उन्होंने कुछ अनोखा ही दृश्य देखा । विविध-यन्त्र-संचालित विश्व और साथ ही काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सर, स्वार्थ और हिंसाका नग्न खिलवाड़ ।

उनका कहीं स्थिर खड़े रह सकना असम्भव हो गया । सम्पूर्ण विश्व अपनेमें व्यस्त था ।

'गति ही जीवन है'

—व्यस्त संसार मानो कह रहा था । गांधी स्थिर रहनेका प्रयत्न करते और अनेक धक्के सहते ।

'आह !' यन्त्र-संचालित वाहनसे उन्हें ठोकर लगी ।

'वृद्ध मानव ! नवीनताकी गतिका अवरोध करते हो ?' चालकने घुड़की दी । गांधीने नम्रतासे कहा—'बन्धु ! मुझे अवरोधकी आकाङ्क्षा नहीं थी, किंतु उसका गन्तव्य-पथ मर्यादित तो होना चाहिये । मर्यादामें सौन्दर्य है बन्धु ! जीवनको उन्मुक्त, उच्छन्द बना देना श्लाघ्य नहीं । इससे अन्य व्यक्तिके जीवनमें व्याघात पहुँचता है । समझनेकी कोशिश तो करो । अस्तु, मेरी सहायता करो ।' गांधीने कराहते हुए कहा—'इस तरहकी ठोकरोंसे मैं क्षीणशक्ति हो गया हूँ ।'

'तुम्हें क्या वाञ्छनीय है वृद्ध ?'

'जीवन !' गांधीने प्रश्न किया—'क्या तुम मुझे नहीं पहचानते ? मैं गांधी हूँ ।'

'है परिचय, किंतु मैं तुम्हारी सहायता नहीं कर सकता । समयाभावसे मैं विवश हूँ ।'

गांधीने पुनः संदेहके स्वरमें पूछा—'क्या तुमने मुझे अबतक नहीं पहचाना ?'

'पहचान लिया है तथा इसी रूपमें कि सत्य, प्रेम और अहिंसा विश्वके समष्टिरूपकी माँग है । व्यष्टिके लिये इसकी कोई उपादेयता नहीं ।'

गांधीने आश्चर्य व्यक्त किया—'तो क्या यह सत्य नहीं कि व्यक्तिका कर्तव्य-पालन समाजके लिये मङ्गल-कामनाका दूसरा रूप है ? क्या तुम नहीं सोचते कि मेरा जीवन विश्वके जीवनका पर्याय है ?'

'अपने गौरवकी गुरुतामें तुम स्वयं झूलते रहो संत ! विश्वकी इकाईपर तुम्हारे प्रति मोहका बन्धन नहीं है ।'

उक्त चालक वही व्यक्ति था, जिसने विशाल जन-समूहमें गांधीकी दुहाई दी थी । गांधी धरतीपर ठहर न सके ।

× × ×

'तुमने गांधीका तिरस्कार किया वसुंधरे !'—व्योमने ललकारा ।

किंतु वसुंधरा पूर्णतः चेतना-विहीन हो चुकी थी ।

क्षीण-सी ध्वनि कर्णगोचर हुई—'इसीमें हमारा गौरव है महान् !'

व्योम कुण्ठित हो गया ।

कौंध रहे वे क्षण

(रचयिता—प्रो० स्वर्णकिरण)

चनेके अङ्कुर के समान
कौंध रहे वे क्षण।
जब हमने मान दिया,
ज्ञान-ज्ञान दिया
विहार के लिये सुविधाएँ दीं,
तुच्छ कंडों औ' उपलों-से वीरान खँडहरों को
चिन्तना की लताओं और कलियों से
भरनेके उपाय बतलाये,
बाँझ बने ध्वस्त प्रस्तरों को
आबाद करने को
करुणा के छलहीन छींटे दिये,
सोयी हुई सिद्धियों के द्वार खोलनेको
'प्रज्ञा' और 'पारमिता' की
कभी पुरानी न होनेवाली कुंजी दी,
भौतिकता से ऊपर उठकर
अध्यात्मके धूम्ररहित आकाश में
विचरने की राह बतलायी,
विनम्रता के कपूरी मन्त्रों से
कुटिल विषधरों को वशीभूत करने के
ढंग बतलाये;
जामुनी रंगवाले काल को
मुट्ठी में करने को
शीतल वाणीवाली जादुई छड़ी दी।
कौंध रहे वे क्षण
जब बारहमासी गुलाब के
नहीं मुरझनेवाले बीज दिये,
एकीभूत चित्त की वे छवियाँ दीं
जो निरन्तर आगे बढ़ाएँ,
उत्साह के वे ज्वार दिये
जो प्रलयकालिक गर्जनों में अभय रहें,
साहचर्य की वह लकड़ी दी
जो कभी टेढ़ी या पुरानी न हो,
ब्रह्मपुत्र के सार्थक्य को सिद्ध कर
(कि हम तुम सभी एक ही ब्रह्म के पुत्र हैं)
'ह्वाँग' औ 'याँगटिसीक्याँग' को
गंग की तरह ही शान्त माना,
गम को पीकर सदैव गमरहित रहनेको
'मानस'के राजहंसोंके विवेक के
मोती दिये।

कौंध रहे वे क्षण
जब मानस के कमल मधु को लेकर
अनुरागी भौंरे पतझर में
वसन्तकी अवतारणा करते,
हवा निर्बन्ध चलती,
स्नेह के शीतल फुहारों से
तन और मन दोनों के दाग
धुल जाते,

अन्तःकालुष्य की रेती का
नहीं छूटनेवाला जंग भी
छूटने को विवश होता,
हिमालय के समान अचल,
समुद्र के सदृश गंभीर,
प्रभञ्जन की तरह निर्भीक,
बरसाती नदी की भाँति उच्छल
पुनीत प्रेम से भीगे हुए वे क्षण
भीतर और बाहर
दोनों को भिगोते हैं,
विस्मय की आग को
प्रज्वलित करते हैं,
सोये हुए परुष पौरुष को
ललकारते हैं,

प्रवञ्चना के दुस्तर दुर्गको तोड़नेको कटिबद्ध हैं,
हाँ,
'पोषणं तदनुग्रहः' पर भी कम ध्यान नहीं।

निराश हृदयकी जीवन-ज्योति

(मैं जिंदगीसे घबरा उठा हूँ)

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०, साहित्यरत्न, विद्याभूषण, दर्शनकेसरी)

आप जिंदगीसे घबराये हुए हैं ?

कभी-कभी आप निराश और पस्तहिम्मत होकर कहते हैं, 'मैं जिंदगीसे घबरा उठा हूँ। मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लगता। मैं संसारसे ऊब उठा हूँ। मुझपर जो मुसीबत पड़ी है, वह असाधारण है। दुनियामें इतना दुखी कोई व्यक्ति नहीं है, जितना दुखी मैं हूँ।'

'मेरे निकटतम सम्बन्धीकी मृत्यु हो गयी। वही मेरे जीवनका सब कुछ था। अब दुनियामें मेरा कौन है ? मेरा सब कुछ नष्ट हो गया। मेरी दुनिया लुट गयी। जीवन सूना हो गया है। अब मैं क्यों जीऊँ ? बिना उस बिछुड़े हुए साथीके जीवन व्यर्थ है। जिंदगीकी डोर टूट गयी है। मेरा दिल सदा-सर्वदाके लिये टूट गया है। मैं अब जीकर ही क्या करूँगा ?'

'मुझे व्यापारमें धक्का लगा है। यह ऐसा धक्का कि अब मेरा पाँव जमना कठिन है। बाजारमें मेरी साख गिर गयी। समाजमें मैं मुँह दिखाने योग्य नहीं रहा। बिना इज्जतके, बिना रुपये-पैसे या आर्थिक समृद्धिके जीना व्यर्थ है। कर्जदार मेरा रक्त ही चूस डालेंगे। मेरा घर-बार, दूकान नीलाम हो जायँगी। उफ़! कितनी बेइज्जती है। इससे तो मरना ही बेहतर है।'

'मेरे घरमें सदा कलह बनी रहती है। सास-बहूकी कचकच, पुत्र आवारा होता जा रहा है, पढ़ता-लिखता या कमाता नहीं है। दिन-रात घरमें क्रोध और आवेशका हुड़दंग मचा रहता है। इस नित-नितकी कलहसे तो आत्महत्या ही कर लें, जिंदगीकी इस कड़वाहटसे छुटकारा तो मिले।'

'मेरी नौकरी छूट गयी है। जीविकाका प्रश्न विकटरूपसे मेरे सामने मुँह फैलाये साँपकी तरह निगलनेको तैयार है। अब टुकड़ा कैसे मिलेगा ? बाल-बच्चों, पत्नी तथा परिवारको भोजन कैसे प्राप्त होगा ? इस बढ़ी हुई उम्रमें मुझे कौन नौकरी देगा ? भूखे मरनेसे तो एक बार ही फाँसी लगाना ठीक है।'

'मैंने प्रेममें मुँहकी खायी है। मेरी प्रियतमाने मुझे धिक्कारा है। मेरे प्रेमका तिरस्कार किया है। मेरे भावी सुख-सपनोंकी दुनिया नष्ट कर डाली है। इस दुनियामें भला मुझे कैसे चैन मिल सकती है ? मैं यह कैसे सहन कर सकता हूँ कि मेरी हृदयेश्वरीका विवाह किसी दूसरे युवकसे हो। मेरे हृदयके दुःखकी कोई सीमा नहीं। मेरे दिलके हजार टुकड़े हो चुके हैं।'

'मैं सदा बीमार ही रहता हूँ। शरीर कमजोर होता जाता है। हाथ-पाँवोंसे उठा-फिरा नहीं जाता। भूख नहीं लगती। कैसी जिंदगी है—बस जिंदा मौत ही है।'

ये बातें वे निराश लोग करते हैं, जिनके पास दुर्बल हृदय और अशक्त संकल्पशक्ति है। ये तर्क उन हीन, कमज़ोर और छोटे मनवाले आदमियोंके हैं, जो जीवन-युद्धसे भाग चुके हैं, मामूलीसे संघर्षसे पस्तहिम्मत हो चुके हैं।

निराश व्यक्तिको नवजीवन

बस, तनिक-से कष्टसे निराश हो गये। आप परम पुरुषार्थी होकर क्षणभरमें कायर बन गये। आप कभी भी असफल नहीं हो सकते।

क्योंकि आप जानते हैं कि निराशा एक प्रकारका

क्षणिक काला अन्धकार है, जो थोड़ी देरमें स्वयं ही हटता है। काले अँधेरे बादल फटते हैं और नयी आशाओंकी रजत-किरणें फूटती हैं। रात्रिके बाद प्रकाशवान्, दीप्तिमान् नया उत्साह, नयी शक्ति और स्फूर्ति देनेवाला दिन उदित होता है। चारों ओर नया जीवन फिर छिटकता है।

संसारमें कौन-सी ऐसी मुसीबत है, जो मनुष्यपर नहीं पड़ी। मनुष्यने हर मुश्किलको आसान बनाया है। हर मुसीबतमें वह पनपा है। हर विरोधको उसने परास्त किया है।

किस बड़े आदमीने कठिनाइयोंसे संघर्ष नहीं किया? दुःखकी काली छाया किस महत्त्वपूर्ण व्यक्ति, प्रसिद्ध नेता, लोकप्रिय धर्मप्रचारकपर नहीं पड़ी? ऐसा कोई व्यक्ति नहीं, जो सदा जीवनपर्यन्त फूलोंकी मृदुल सेजपर सोया हो।

संसार टक्करोंसे भरा हुआ है। यहाँ मनुष्यको, विशेषतः पुरुषको पग-पगपर टक्करें खानी पड़ती हैं—समाजकी टक्करें, जाति-बिरादरीकी ठोकरें, परिवारकी टक्करें, रोजगार और नौकरीकी टक्करें; पर आदमी अन्तमें इन सबको जीतकर ही रहा है। उसने हर टक्करको अपने सीनेपर सहा है।

प्रतिपल आशाका संचार

इस उत्तुङ्ग चट्टानको देखिये। यह समुद्रके किनारे सीना ताने खड़ी है। समुद्रकी उत्ताल तरङ्गें इसपर कस-कसकर वार कर रही हैं। न जाने कितने प्रहार हो चुके हैं, किंतु यह एक सच्चे शूरवीरकी भाँति सीना ताने खड़ी है।

आप भी इस उत्तुङ्ग श्रृङ्गकी भाँति ही दृढ हैं। संसारके कष्टोंमें इतनी ताकत नहीं कि वे आपको हिला सकें। आप मुसीबतोंके मध्य महिमान्वित अविचल हिमालयकी तरह अडिग हैं, अविचल हैं। पूरी तरह दृढ़ हैं। सांसारिक कष्ट तो उन बवंडरोंकी तरह हैं, जिनका आपपर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

आप वह महाशक्तिसम्पन्न महामानव हैं, जिसकी महिमा ये बड़े-बड़े ऊँचे बर्फीले पर्वत कह रहे हैं, जिसकी शक्ति नदियोंसहित यह समुद्र वर्णन कर रहा है, ये चारों दिशाएँ जिसके बाहुतुल्य हैं। आपकी शक्तियोंका अन्त नहीं है। वे निस्सीम हैं।

संसारमें युग-युगसे मृत्यु अपना भयंकर मुँह फैलाये जीवोंको निगलती रही है। कभी इसने महामारीका रूप धारण किया, कभी रणका रक्तपात आया, कभी भूख, विवशता, पीड़ा, हाहाकार आया; पर मनुष्यकी सदा विजय ही रही है। उसने मृत्युको हमेशा परास्त किया है।

जो-जो बाधाएँ जीवनसे लोहा लेने आयीं, सदा ही परास्त हुईं। हमेशा मानव ही जीता है, निष्ठुर प्रहारोंमें भी जीवनकी गति चलती आयी है। उसकी राह कभी नहीं रुकी है। फिर आप क्यों निराश हैं?

विनाशने सृजनशक्तिसे संघर्ष किया, पर सृजनकी बहुतायतसे ही जीवका अस्तित्व है। पृथ्वीसे असंख्य जीव मरे; पर सृजनकी शक्ति देखिये। पृथ्वीपर जीवोंकी संख्या उत्तरोत्तर वृद्धिपर ही है। भविष्यमें भी जीवन सदा विनाशको इसी प्रकार पछाड़ता रहेगा, क्योंकि उसका शक्ति-भंडार ईश्वर है।

आप सृजन-शक्तिके भंडार हैं। मृत्युको आखिरी दम तक पछाड़नेवाले साहसी सैनिक हैं। छाती ठोंके खड़े हैं। भला ऐसी कौन-सी राक्षसी शक्ति है, जो आपका सामना कर सके। आपकी गति वायुसे भी तीव्र है। मृत्यु स्वयं मरेगी; जीवनकी ही विजय रहेगी।

निराशा एक प्रकारकी कायरता है, इसे त्यागिये

एक विद्वान्‌ने उचित लिखा है, 'निराशा एक प्रकारकी कायरता है। जो आदमी कमज़ोर होता है

वह कठोर परिस्थितिका सामना नहीं कर पाता । वह एक कायरकी तरह युद्ध छोड़कर भाग जाता है ।'

'निराशा एक प्रकारकी नास्तिकता है ।' जो व्यक्ति संध्याके डूबते हुए सूर्यको देखकर दुखी होता है और प्रातःकालके सुनहरी अरुणोदयकी आशा नहीं करता, वह नास्तिक है ।

मरणके बाद जीवन होता है । पतझड़के बाद वसन्त आता है । ग्रीष्मके बाद वर्षाकी सुखद सुहावनी शीतल ऋतु आती है ।

इसी प्रकार दुःख क्षणिक हैं, अल्पकालमें दूर होनेवाले हैं । जब दुःखके बाद सुखका दैवी विधान है, तब क्या कारण है कि हम अपनी कठिनाइयोंको स्थायी समझें ?

जो माताके क्रोधको स्थायी समझता है और उसके प्रेमपर विश्वास नहीं करता, वह बालक नास्तिक है । हमें अपनी नास्तिकताका दण्ड रोग, शोक, विपत्ति, जलन, असफलता और अल्पायुके रूपमें भोगना पड़ता है ।

लीजिये कविवर श्रीसुधेशजीका यह उद्बोधन-गीत सुनिये और उससे प्रेरणा प्राप्त कीजिये—

हर विफलता पर न तुम आँसू बहाओ ।
हर सफलता का यही पहला चरण है ।
    हर कदम पर ही तुम्हें यदि शूल मिलते,
    तो उन्हें भी प्यार कर दिलसे लगा लो;
    यदि तुम्हारे स्वप्न भी घायल हुए हैं,
    तो उन्हें चुपचाप पलकोंमें छिपा लो;
बाँध लो तुम नींदको भी मुट्ठियोंमें,
मौत सोना है, कि जीवन जागरण है !
    जो कभी चलता नहीं, वह क्या गिरेगा ?
    जो कभी गिरता, वही उठ उठ चलेगा ।
    जो कि हँस हँस आँधियोंसे खेलता है,
    वह प्रलय में भी दिवाकर-सा जलेगा;
इसलिये चलते चलो गिर-गिर सँभल कर,
रास्तेमें पाँव रुक जाना मरण है ।

आप तुच्छ नहीं, महान् हैं

एक छोटे-से बीजसे कितना बड़ा वटवृक्ष उत्पन्न हो जाता है । छोटे-से बीजको देखकर कौन उसमें छिपी गुप्त शक्तिका अनुमान कर सकता है ? लेकिन उसी बीजसे आश्चर्यचकित करनेवाला दृढ़ और मजबूत वृक्ष बनता है, जिसकी छायामें न जाने कितने व्यक्ति विश्राम करते हैं । इसी प्रकार आपमें अद्भुत शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक शक्तियाँ भरी हुई हैं । इनके विकाससे आप संसारको चकित कर सकते हैं । कुछ दिन पश्चात् आपके जीवनका सबसे सफल भाग आ रहा है । आपके यश और कीर्तिके दिन आगे आ रहे हैं । ठहरिये और प्रतीक्षा कीजिये । परिस्थितियाँ अब बदल रही हैं । नाउम्मीदीके काले बादलोंमें आशाकी स्वर्ण-रेखाएँ चमक रही हैं । तनिक साहस कीजिये । आप तुच्छ नहीं, महान् हैं । इस क्षणिक विपत्तिसे आपको किसी कमजोरीका अनुभव नहीं करना चाहिये ।

आपके पास जो गुप्त आत्मिक शक्तियाँ हैं, वे अचूक ब्रह्मास्त्र हैं । आपकी छिपी हुई ताकतोंकी शक्ति अनेक इन्द्रके वज्रोंसे भी अधिक है । विजय, आनन्द, सफलता, उन्नति आपके जन्मजात अधिकार हैं । अपने हथियारोंको सम्हालिये और एक बार फिर अपने कार्यकी सफलताके लिये जूझ जाइये ।

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुरका वह गीत दुहराइये, जिसमें उन्होंने थके हुए पक्षीको पुनः अपने पंखोंको फड़फड़ा कर ऊँचा उड़ने, आगे बढ़नेकी सलाह दी है । उस कविताका भाव इस प्रकार है । इसे मनमें बैठाइये । इन शब्दोंपर विचार कीजिये—

'यदि मन्द-मन्द मन्थर गतिसे चलकर चारों ओर-से संध्या बढ़ती आ रही है, दिनका संगीत रुक गया है, संगी-साथी छूटनेसे जीवन सूना-सा माळूम हो रहा है, तेरे अङ्गोंमें थकान उभर आयी है, तेरे

मनमें निखर आशङ्का उभर आयी है, दिग्-दिगन्त अपनी काली चादर ताने सो रहे हैं, तो भी मेरे विहंग ! तू अपने पंख बंद न कर ।

यदि तेरे सम्मुख अब भी लंबी दूभर रात्रि है, सुदूर अस्ताचलपर सूर्य ऊँघ रहा है, संसार निश्वास रोक एकान्त स्तब्ध आसनसे बैठा हुआ है, दिनका प्रकाश रजनीके धीमे-धीमे पहर गिन रहा है, अन्धकाररूपी सागरमें चन्द्रमाकी क्षीण रेखामात्र दिखायी दे रही है, तो भी मेरे विहंग ! तू निराश न हो । अपने पंख बंद मत कर ।

समस्त तारागण आकाशमें तेरी ही ओर अनिमेष दृष्टि लगाये हुए हैं । नीचे सागरमें शत-शत लहरें उछल-उछलकर उल्लासका संदेश लिये उद्वेलित हो मेरी ओर दौड़ रहे हैं । वे न जाने कौन वहाँ दूर खड़े अनुनय करके "आओ, आओ !" की पुकार कर रहे हैं ? सभी ओर तेरा स्वागत है । इसलिये मेरे विहंग ! तू अपने पंख अभी बंद न कर ।'

इसी प्रकार आप भी अपनी निराशा छोड़िये । प्रसन्नतापूर्वक अपने कष्टोंको विदा कीजिये । आपको संसारमें व्यर्थ नहीं भेजा गया है । आपमें बलवान् आत्माका निवास है । उसका बल प्रकट कीजिये । ईश्वरका सारा बल आपमें, आपकी सर्वशक्तिमान् आत्मामें निहित है । उसमें पूर्ण विश्वास कीजिये और इस विश्वासकी ज्योति सदा जलाये रहिये ।

सत्य समदर्शन

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

"मैं सत्यका पुजारी हूँ ।"—महात्मा गान्धी ।

'बापूने सत्यको परमात्मा माना है और अहिंसाको उसका साधन !' एक खद्दरधारी सज्जन अपने समीपके दूसरे व्यक्तिसे कह रहे थे ।

सबमें—प्रायः सभी मनुष्योंमें कुछ-न-कुछ दुर्बलता होती है । मेरी अनेक दुर्बलताओंमें यह एक है कि यदि थोड़ी भी आर्थिक सुविधा हो तो गर्मियोंमें पहाड़की ओर भाग खड़ा होऊँगा और अपनी छोटी-सी जेब खाली होनेतक वहीं डटा रहूँगा । इस बार कसौली रहनेकी ठानी थी; क्योंकि प्रसिद्ध पर्वतीय यात्रा-स्थानोंमें भीड़-भाड़ अधिक होती है ।

कालकासे ही मोटर बस पकड़ी हमने । दोनों ओर हरे-भरे पर्वत और वन—मार्ग बड़ा सुन्दर और उसमें भी वे खद्दरधारी महोदय एक गम्भीर चर्चा उठा चुके थे । उनकी बात सुनने और मार्गके दृश्य देखते चलनेमें कोई बाधा नहीं थी; क्योंकि मैं चर्चाका तटस्थ श्रोता था ।

'बापूने सत्य किसे समझा, वे ही जानें ।' दूसरे सज्जन खीझे लगते थे—'किंतु उनके अनुयायियोंने आज जो कुछ कर रक्खा है……।' जाने दीजिये, दोषोंकी चर्चासे कोई लाभ नहीं है । किसीकी निन्दा—किसीकी दुर्बलताका वर्णन करने तथा सुननेमें हम जिस उल्लास-उत्साहका अनुभव करते हैं, वह स्वयं भारी दुर्बलता हैं । उस समय हम भूल ही जाते हैं कि हम जिन दुर्गुणोंकी चर्चा करते हैं, उनके बीज हममें भी हैं और वैसा ही अवसर आनेपर वे ही सुविधाएँ प्राप्त होनेपर हम उस व्यक्तिसे जिसकी अभी निन्दा कर रहे हैं, अच्छे सिद्ध होंगे—यह साहसके साथ नहीं कह सकते ।

'सत्य क्या है ?' किसी भाईने पूछा ।

'तुसी जानदा नहीं ?' एक हट्टे-कट्टे पंजाबी भाईने कमीजकी बाहें समेटीं और घूसा बाँधकर दिखाया—'सच यह है। बाजूकी ताकत सच है।'

सहसा सब यात्रियोंको एक कड़ा झटका लगा। मार्ग एक मोड़पर था। सामनेसे पूरी गतिसे एक ट्रक आ गया। बसका ड्राइवर भी सम्भवतः दो क्षणको इस चर्चाकी ओर आकृष्ट हो गया था। ट्रकने 'हार्न' दिया होगा मोड़ लेते समय; किंतु इसने सुना नहीं और स्वयं मोड़पर हार्न देना भूल गया। आधे क्षण और कुछ इंचसे दुर्घटना बच गयी। ट्रक और बस लगभग टकराते-टकराते रुके। 'ब्रेक' चीख-से पड़े। एक ओर पर्वत तथा दूसरी ओर गहराई—दोनों ड्राइवरोंने क्रुद्ध नेत्रोंसे एक दूसरेको देखा। ट्रक ड्राइवरने कुछ कहा पंजाबीमें, जो मैं स्पष्ट सुन नहीं पाया; किंतु दोनों गाड़ियोंने तत्काल एक दूसरेको बचाकर मार्ग पकड़ा। ऐसे अवसरोंके वे अभ्यस्त लगते थे।

'अभी समझ लेनेवाले थे तुम कि सत्य क्या है।' एक बाबाजी भी बैठे थे बसमें। वे इतनी देर बाद बोले—'बस खड्डमें जाती तो सत्यका पता लग जाता।'

'मौत सच है, यही कहते हैं न आप ?' उन खद्दरधारीने गम्भीरतासे कहा—'किंतु मौतसे जिंदगी कहीं ज्यादा सच है।'

'बाबा, कम-से-कम तू तो कह कि गुरु सच है और अकाल पुरुषका नाम सच है।' एक बूढ़े सफेद दाढ़ीवाले सिख सज्जनने कहा।

'आप ठीक कहते हो !' साधु बोले—'परमात्मा सच है। परमात्माका नाम सच है और गुरु सच है।'

× × ×

'सत्य परमात्मा है और परमात्मा सत्य है !' यह बात भले ठीक हो; किंतु इससे मेरी समझको कुछ नहीं मिला था। परमात्माको समझ लें तब सत्य समझमें आये, तब तो समझमें आ चुका वह।

उस दिन 'मंकी पाइंट' पर जा बैठा था। यह एक ऊँचा शिखर है यहाँका। पता नहीं इसे यह नाम क्यों अंग्रेजोंने दिया था। इसके चारों ओर प्रातः-सायं भ्रमणके लिये मार्ग है और शिखरपर चढ़नेके लिये पगदंडी है। यात्री प्रायः इसपर पहुँचते हैं; क्योंकि यहाँसे नीचे मैदान, नदी, झील ही नहीं, कालका और पंजाबकी राजधानी चंडीगढतक दीखते हैं।

सायंकाल—सूर्यके अस्त होनेमें कठिनाईसे आध घंटेकी देर होगी। मैं जब इस शिखरपर चढ़ने लगा था, यात्रियोंके लौटनेका समय हो चुका था। मुझे उतरते हुए लोग मिले थे। शिखरपर मैं पहुँचा तो वहाँ कोई नहीं था। एकान्त—शान्त। मैं इधर-उधर देखकर बैठ गया। ऊपर स्वच्छ आकाश है; किंतु शिखरसे नीचे पश्चिम दिशामें बादल बिछे हुए हैं।

पर्वतपर छा जानेवाले मिलकी चिमनीसे उठते सफेद धुएँ-जैसे मेघ मैंने बहुत देखे हैं। उनमें मीलों चला हूँ। उनसे घिरकर बैठा हूँ। वर्षाके पश्चात् इन पर्वतोंपर जहाँ-तहाँ छोटे-बड़े उज्ज्वल मेघखण्ड चीड़की डालों और हरी झाड़ियोंमें जब रुक जाते हैं, लगता है खेलते-खेलते थककर मेघ-शिशु जहाँ-तहाँ विश्राम कर रहे हों। किंतु आजकी यह छटा सर्वथा भिन्न, सर्वथा अपूर्व है। मीलोंतक मानो खूब धुनी रुईके कोमल धुए तीस-चालीस फुट ऊँचे बिछा दिये गये हैं। पृथ्वी और गगनका भेद करना कठिन है और उस सम्मुख क्षितिजसे ऊपर तो मैं बैठा हूँ इस शिखरपर।

रुईके धुए फैल रहे हैं, बढ़ रहे हैं। दृश्य डूबता जा रहा है उनमें और इनके पीछे अस्ताचलगामी सूर्यकी किरणोंने इनपर अब अबीर उँड़ेलना प्रारम्भ कर दिया है। यह कैसा रंग—पूरा एक भाग अतसी-पुष्प-नीलाभ और वह भी सूर्यके पीछेसे पड़नेवाले प्रकाशके कारण ज्योतिर्मय, अत्यन्त कोमल ! यह रंग,

यह सौकुमार्य, यह ज्योति—कई क्षण नेत्र और वृत्ति डूबे रह गये वहीं ।

अब उतरना चाहिये । अन्धकार होनेसे पूर्व शिखरसे नीचे पहुँचकर स्वच्छ पथ पकड़ लेना चाहिये । शिथिल पद उतरना पड़ा और पथपर पहुँचते ही वे उस दिनवाले साधु मिल गये, जो आते समय बसमें मिले थे ।

'आप घूमकर आ रहे हैं ?' उन्होंने पूछा और स्वत: कहने लगे—'ये मेघ जो उमड़े आ रहे हैं दृश्योंको एकाकार करते, सत्यका दर्शन करा देते हैं ये ।'

'सत्यका दर्शन ?' मैं कुछ चौंक गया । अपने-आप वह प्रश्न फिर सम्मुख आ गया था, जो उस दिन यात्रामें उठा था और वह सब घटना स्मृतिमें स्पष्ट हो गयी ।

'नाम-रूपने ही तो उस एक चिन्मय परमा ये भेद बना रक्खे हैं !' वे संत कह रहे थे— भेद और इस भेदको लेकर चलनेवाला सब व्यव मिथ्या है । इस भेदको पृथक् कर देनेपर जो ए रह जाता है, सत्य तो वही है ।'

'आपका तात्पर्य है कि इस भेदमें अभेदका द सत्य है ।' मैंने कहा—'ये मेघ उसका कुछ आभ करा देते हैं ।'

सत्यं च समदर्शनम् ।

साधुने केवल श्रीमद्भागवतका एक वाक्य क दिया । उन्हें अब दूसरी ओर जाना था । मार्ग बत्तियाँ जल चुकी थीं । मैं उनको अभिवादन कर पृथक् हुआ ।

'सगुन जान नहिं कोइ'

(लेखक—पं० श्रीज्ञानशंकरजी पाण्डेय, एम्, ए०)

जिस अव्यक्त अचिन्त्य निर्गुण निराकार ब्रह्मके निरूपणमें श्रुतियाँ 'नेति-नेति' कहकर मूक हो जाती हैं; जिस अद्वैत, अनन्त, गुणातीत परमतत्त्वके अवगाहनमें औपनिषदिक ऋषियोंकी बुद्धि भी पङ्गु बन जाती है एवं जिस ज्ञेयतत्त्वकी जिज्ञासामें वैदिक ऋषि—

अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि ।

(केन० उ० १ । ३)

—और 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' कहकर आश्चर्य प्रकट करने लगता है; भगवान् गीताचार्य भी जिस निष्क्रिय अचल, अप्रमेय अक्षर ब्रह्मकी साधना कष्टसाध्य बतलाते हैं—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥

(गीता १२ । ५)

और कबीर भी जिस परमतत्त्वको 'पुहुपबास ते पातरा' कहकर उसकी दुरूहताका परिज्ञान कराते हैं; यही नहीं अंधे कवि सूरको भी जहाँ 'सगुनलीला पद' गानेके लिये बाध्य होना पड़ता है—

रूप रेख गुन जाति जुगुति बिनु निरालंब मन चकित धावै ।
निरगुन अगम बिचारहि तातें सूर सगुन लीला पद गावै ॥

—वहीं निर्गुण मार्गकी 'ग्यान पंथ कृपान कै धारा' ए

कहत कठिन समुझत कठिन साधत कठिन बिबेक।

—वाली दुरूहता एवं दुर्गमताको सूक्ष्म दृष्टिसे परखते हु भी 'श्रुतिसम्मत हरिभक्ति पथ संजुत बिरति बिबेक' के राज पर चलनेवाले एक वीतराग, निःस्पृह महात्माके मु सहसा—

निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ।

—की सरल किंतु निर्भयवाणीकी उद्घोषणा कम आश्च का विषय नहीं है ।

यह बात यों ही कह दी गयी हो, इसके लिये अव नहीं । भूतभावन जगद्गुरु शंकर भी अम्बा पार्वतीसे इ बातकी ही तो पुष्टि कर रहे हैं—

चरित राम के सगुन भवानी । तर्कि न जाहिं बुद्धि बल बानी।

—और उनको सावधान करते हुए कहते हैं—

उमा राम गुन गूढ़ पंडित मुनि पावहिं बिरति।
पावहिं मोह बिमूढ़ जे हरि बिमुख न धर्म रति॥

उमा ! तुम सावधान हो जाओ । मैं अब उसी नरलीला-का वर्णन करने जा रहा हूँ, जिसे देखकर तुम्हें व्यामोह हुआ था एवं जिसके फलस्वरूप तुम 'सती सरीर रहिहु बौरानी' और यही नहीं 'अजहुँ न छाया मिटति तुम्हारी ।'

कारण, सगुण विग्रहवान् भगवान्‌की ईश्वरताका अनुमान तो उनके अतिमानवीय कार्यों एवं शक्तिसम्पन्नतायुक्त ऐश्वर्य-प्रधान रूपके द्वारा सहज ही हो जाता है, एतदर्थ वह सुगम है; किंतु उनका माधुर्य एवं रसप्रधान विमोहनकारी रूप ही भ्रमोत्पादक होनेके कारण तर्कका विषय बन जाता है । अतएव वह बोधगम्य नहीं, अगम है । साधारण प्राकृतजनकी तो बात ही क्या, बड़े-बड़े ऋषि-मुनितक व्यामोहमें पड़ जाते हैं—

सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ ।

× × ×

भगवान् आशुतोष शंकर जगदम्बा पार्वतीके साथ कुम्भज ऋषिके आश्रममें चातुर्मास्य व्यतीत करके कैलासकी ओर आ रहे हैं । मार्गमें दण्डकारण्य पड़ता है । यहाँ निर्गुण ब्रह्म नराकार होकर अपनी माधुर्य किंतु अगम लीलामें प्रवृत्त हो चुका है । विदेहनन्दिनी अपहृत की जा चुकी हैं । भगवान् राघवेन्द्र पागलोंकी भाँति इतस्ततः पशु-पक्षियों, झाड़ियों, गुल्मों एवं लताओंसे उस मृगनयनी सीताका पता पूछते हुए भटक रहे हैं । अवढरदानीने नरलीलामें व्याघात पड़नेके भयसे संनिकट न जाकर दूरसे ही प्रणाम कर लिया । सतीजी यह सब देख रही थीं । सोचने लगीं—

संकर जगत बंद्य जगदीसा । सुर नर मुनि सब नावत सीसा ॥
तिन्ह नृपसुतहि कीन्ह परनामा । कहि सच्चिदानंद परधामा ॥

क्योंकि—

जौं नृपतनय त ब्रह्म किमि नारि बिरहँ मति भोरि ।

सतीको बहुत बड़ा संदेह हुआ । अभी-अभी उस ब्रह्मका निरूपण वे स्वतः ऋषिके श्रीमुखसे सुनकर आ रही हैं । सर्वव्यापक, सर्वज्ञ एवं सर्वान्तर्यामी कहा जानेवाला ब्रह्म आज अल्पज्ञ प्राकृत-जन-सदृश एक साधारण स्त्रीके लिये विलाप कर रहा है, कैसी विडम्बना है—

हे खग मृग हे मधुकर स्रेनी । तुम देखी सीता मृगनैनी ॥
खंजन सुक कपोत पिक मीना । मधुप निकर कोकिला प्रबीना ॥

यही नहीं, शंकरजी देखिये तो, आपके उस [illegible] ब्रह्मको आज एक जीव उपदेश कर रहा है—'लछिमन समुझाए बहु भाँती ।' लक्ष्मण जीव कैसे ?

उभय बीच सिय सोहति कैसी । ब्रह्म जीव बिच माया जैसी ॥

अरे, वह तो उन्मत्तों-जैसी व्यर्थकी बातें भी करने लगा है—

राखिय नारि जदपि उर माहीं । जुबती सास्त्र नृपति बस नाहीं ॥

यही नहीं, आपके उस ब्रह्मका उपहास अधोयोनिवाली मृगियाँ भी कर रही हैं—

तुम्ह आनंद करहु मृग जाए । कंचन मृग खोजन ये आए ॥

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', एकोऽहं बहु स्याम्', 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति ।'

—वाला ब्रह्म भला इतनी दुर्दशाको कैसे प्राप्त हो सकता है ? जब वह सर्वत्र पूर्णरूपेण व्याप्त है, तब उससे सीताकी दूरी कैसी ? जब उस अंशीके सभी अंशस्वरूप हैं, तब फिर सीता या रावणमें भेद ही क्या ? जब उपनिषद्—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

—कहकर उसको सब प्रकारसे पूर्ण बतलाते हैं, तब अपूर्णता कैसे सम्भव है ? और जब अपूर्णता नहीं, तब फिर अभाव किस बातका ? जब कोई अभाव ही नहीं, तब किसी प्रकारकी इच्छा ही कैसे जाग्रत् हो सकती है ? और जब कोई इच्छा ही नहीं, तब फिर चञ्चलता कहाँसे सम्भव है ? परंतु आज ब्रह्म चञ्चल हो उठा है !

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।

—कहलानेवाला वह अखिलात्मा असीम, अज, अनवद्य, अखण्ड, अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, पुञ्जीभूत गुणोंवाला सर्वान्तर्यामी विभु 'मनहुँ महाबिरही अति कामी' रूपमें 'प्रिया बेगि प्रगटसि कस नाहीं' और 'जौं जनतेउँ बन बंधु बिछोहू' आदि कहकर जहाँ अपनी अल्पज्ञता एवं ससीमताका परिचय दे रहा हो, वहाँ प्राकृत मनुष्य ही नहीं, नारद, गरुड़, भुशुंडि-जैसे नीर-क्षीरविवेकी परमतत्त्वज्ञ महात्मा भी मोहग्रस्त हो जायँ—इसमें कोई आश्चर्य नहीं ।

अतः सतीका भ्रम स्वाभाविक ही था ।

देवर्षि नारद 'जेहिं बहु बार नचावा मोही' एवं पितामह ब्रह्मा भी [illegible] जेहिं मोहि नचावा' कहकर उस चरित्र-

के अवगाहनमें अपनी असमर्थता प्रकट कर देते हैं। वस्तुतः यह माधुर्यप्रधान रूप ऐसा है ही।

× × ×

राजराजेश्वर महाराज दशरथके मणिमय प्राङ्गणमें बाल-ब्रह्म क्रीड़ा कर रहा है। महाभाग काकभुशुण्डि उस लीलामें सम्मिलित हो रहे हैं। भगवान् राघवेन्द्र हाथमें मालपूआ लेकर कौएकी तरफ बढ़ते हैं। कौआ समीप आता है। दूसरे हाथसे पकड़नेकी चेष्टा करते ही कौआ दूर हट जाता है। यही लीलाक्रम अधिक समयतक चलता रहा। और—'चलउँ भागि तब पूप देखावहिं।' भगवान्‌को अपनी लीलामें विस्तार करनेकी सूझी। हाथ आगे बढ़ा, कौआ दूर हटा; हाथ बढ़ता ही गया, कौआ उड़ चला। और 'सप्तावरन भेद करि जहाँ लगें गति मोरि'—प्रकृतिके सातों आवरणों अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, महत्तत्त्व एवं अहंकारको पाकर अष्टम आवरण स्वतः प्रकृतिमें ही पहुँच गया; इसके आगे किसी जीवकी गति नहीं। परंतु जब भी पीछे मुड़कर देखता है, तब—

जुग अंगुल कर बीच सब राम भुजहि मोहिं तात।

यह दो अंगुलकी दूरी विचारणीय है! यही दो अंगुलकी दूरी यशोदा मैयाने कन्हैयाको रस्सीसे बाँधते समय भी अनुभव की थी। कहनेका तात्पर्य यह कि कौआ घबराया। आँखें मूँद लीं। परंतु आँखें खोलनेपर देखता है कि वही दशरथका मणिमय प्राङ्गण तथा मुस्कराते हुए वे ही भगवान् राघवेन्द्र उसके समीप बालक्रीड़ामें निमग्न हैं। भगवान्‌ने मुख खोला, कौआ उदरस्थ हुआ। बाहर तो एक ब्रह्माण्डकी बात थी, यहाँ तो—

उदर माझ सुनु अंडजराया। देखेउँ बहु ब्रह्मांड निकाया।

वह प्रत्येक ब्रह्माण्डमें अनेक वर्षोंतक भ्रमण करता रहा—

एक एक ब्रह्मांड महुँ रहउँ बरस सत एक।

यही नहीं, अनेक युग एवं कल्प बीत गये—

भ्रमत मोहि ब्रह्मांड अनेका। बीते मनहुँ कल्प सत एका॥

परंतु 'बिहँसतहीं मुख बाहेर' होनेपर क्या देखता है कि—'उभय घरी महँ मैं सब देखा।' कहाँ तो युगों एवं कल्पोंकी बात और कहाँ दो घड़ी, केवल ४८ मिनट। यहींपर आइंस्टीनके सापेक्ष्यवाद (Relativity) का सिद्धान्त सत्य सिद्ध होता है।

इस प्रकार यह माधुर्यप्रधान सगुण चरित्र भ्रमोत्पादक होनेके कारण दुर्गम एवं दुर्बोध्य है। इसी भ्रमके निराकरणार्थ मानसमें भगवान्‌की नरलीला अथवा उनका माधुर्य रूप सर्वांग सामने रक्खा गया है। जहाँ कहीं इस रूपके कारण भ्रम होनेकी सम्भावना हुई, वहीं वक्ताने श्रोताको सावधान कर दिया है।

क्या परात्पर पूर्णब्रह्मके समक्ष भी क्रोध, मोह, लोभके अवसर आ सकते हैं—

जेहिं सायक मारा मैं बाली। तेहिं सर हतौं मूढ़ कहँ काली॥

इसीलिये भगवान् शंकर उमाको सावधान कर देते हैं कि पुनः भ्रममें न पड़ना—

जासु कृपाँ छूटहिं मद मोहा। ता कहुँ उमा कि सपनेहुँ कोहा॥

इन चरित्रोंके समझनेकी सामर्थ्य सभीमें है भी नहीं। इसे तो—

जानहिं यह चरित्र मुनि ग्यानी। जिन्ह रघुबीर चरन रति मानी॥

अतः उमे! मेरे प्रभुको कभी अशक्त, कभी पर… कभी असमर्थ एवं कभी भयभीत होते देखकर कहीं भ्रममें न पड़ जाना, यह तो उनकी लीला—विलासमात्र है। इ… कारण वे बारंबार उस प्रभुकी सर्वशक्तिमत्ता एवं ऐश्वर्य… स्मरण कराते चलते हैं—

उमा काल मर जाकीं ईछा। सो प्रभु जन कर प्रीति परीछा॥
उमा एक अखंड रघुराई। नरगति भगत कृपाल देखाई॥
भय आतुर कपि भागन लागे। जद्यपि उमा जीतिहहिं आगे॥
उमा करत रघुपति नरलीला। खेलत गरुड़ जिमि अहिगन मीला॥
भृकुटि भंग जो कालहि खाई। ताहि कि सोहइ ऐसि लराई॥

गरुड़जी भी उसी भ्रमके शिकार हुए थे—

ब्यापक ब्रह्म बिरज बागीसा। माया मोह पार परमीसा॥
सो अवतार सुनेउँ जग माहीं। देखेउँ सो प्रभाव कछु नाहीं॥

भवबंधन ते छूटहिं नर जपि जाकर नाम।
खर्ब निसाचर बाँधेउ नागपास सोइ राम॥

वास्तवमें प्राकृतगुणरहित सगुण ब्रह्म समझमें आने… है ही नहीं। वह अवर्ण्य प्रभु तो प्रेम ही करने योग्य है। वर्णन तो निर्गुणका ही सम्भव है। अगस्त्यजी भी … कहते हैं—

जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता। अनुभवगम्य भजहिं जेहि संता ॥
अस तव रूप बखानउँ जानउँ। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानउँ ॥

सगुण रूपकी दुरूहता एवं निर्गुण रूपकी सुलभताको श्रीमद्भागवतकार भी स्वीकार करते हैं—

तथापि भूमन्महिमागुणस्य ते
विबोद्धुमर्हत्यमलान्तरात्मभिः ।
अविक्रियात् स्वानुभवादरूपतो
ह्यनन्यबोध्यात्मतया न चान्यथा ॥
(१ । १४ । ६)

गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातुं
हितावतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य ।
कालेन यैर्वा विमिताः सुकल्पै-
र्भूपांसवः खे मिहिका द्युभासः ॥
(१ । १४ । ७)

—अर्थात् हे अच्युत! हे व्यापक! यद्यपि आपके निर्गुण और सगुण दोनों ही रूपोंकी महिमाका ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त दुरूह है, तथापि शुद्ध अन्तःकरणवाले महात्मा आपके निर्गुण स्वरूपकी महिमा आत्मस्वरूपके प्रकाशमें जान भी सकते हैं। इसके अतिरिक्त उसे जाननेका और कोई उपाय नहीं है। कारण, आपका निर्गुण रूप केवल अनुभवगम्य है, वह वृत्तियोंका विषय नहीं। परंतु भगवन्! जिन समर्थ पुरुषोंने अनेक जन्मोंतक परिश्रम करके पृथ्वीके परमाणु, आकाशके परमाणु, आकाशके हिमकण तथा आकाशमें स्थित नक्षत्रों, तारों तथा उनकी किरणोंके परमाणुओंको गिन डाला है, उनमें भी भला ऐसा कौन है जो आपके सगुणस्वरूपके अनन्त गुणोंको गिन सके।'

कहनेका तात्पर्य यह कि मननशील मुनि एवं बड़े-बड़े वीतराग योगी भी जब अवतार-रहस्यको तत्त्वतः न जानकर भगवान्‌की माधुर्य-लीलासे विमुग्ध हो जाया करते हैं, तब साधारण जनोंकी सामर्थ्य ही क्या? साकाररूपसे प्रकट होनेपर भी अभक्त उन्हें पहचान नहीं पाते। कारण, भगवान् योगमायासमावृत रहते हैं—

'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।'
'अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥'
(गीता ४ । ६)

सगुण रूपकी यह दुर्लभता अपनेको प्राकृत नरलीलामें भी व्यक्त किये हुए बिना नहीं रहती। परंतु बुद्धि उसे तर्ककी कसौटीपर कसनेमें सर्वथा असमर्थ हो जाती है; क्योंकि वह चिन्मयस्वरूप इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिकी पहुँचके बाहर है और जो असम्मूढ़ उसको जान लेता है, वह शरीरको त्यागकर पुनः जन्म नहीं धारण करता—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥
(गीता ४ । ९)

यही कारण है कि भगवान् राघवेन्द्रकी लीला 'दनुज-विमोहन जनसुखकारी' कही गयी है जो 'मायाबस मतिमंद अभागी' हैं और जिनके 'हृदय जमनिका बहुबिधि' लगी हुई है, वे ही हठवश संशय करनेवाले मूढ़ अपने अज्ञानका आरोपण रामपर किया करते हैं। वे उस अज, अक्रिय, अद्वैत, निर्गुण परमतत्त्वका वन-वन भटकते हुए भगवान् राघवेन्द्रके सगुण मानवरूपसे साम्य ही कैसे स्थापित कर सकते हैं। वस्तुतः यहाँ तर्कबुद्धि शिथिल पड़ जाती है, इसी कारण अश्रद्धालु अभक्त उसे पहचान नहीं पाते—

पावहिं मोह बिमूढ़ जे हरि बिमुख न धरम-रति ॥

तथा—

मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ।
(गीता ७ । २५)

इसके विपरीत निर्गुण रूप निरवधि किंतु विचारगम्य है। उसमें रूप, लीला आदिका कोई प्रश्न ही नहीं, तो भ्रम कहाँसे होगा। वहाँ तो सभी वस्तुओंका निषेध करते हुए अव्यभिचारिणी बुद्धिका अवलम्बन ले यम-नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि आदिके द्वारा आत्मतत्त्वसे उस परमतत्त्वका अनुभव किया जा सकता है। यहाँ अद्विधात्मक स्थिति होनेके कारण भटकनेका कोई प्रश्न ही नहीं। इसीलिये—'निर्गुनरूप सुलभ अति' कहा है, परंतु सगुणरूप भ्रमजनक होनेके कारण अगम बतलाया गया है। वैसे तो कबीरसाहब 'निर्गुण' और 'सगुण' के भेदको ही भ्रमात्मक मानते हैं—

'निरगुन सरगुन मनकी बाजी खरे सयाने भटके।'

षोडशनाम महामन्त्रके विस्तृत विविध अर्थ

(लेखक—परमहंस श्रीश्रीमद्भक्तिमयूख भागवत गोस्वामीजी महाराज)

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

निवेदन

भुवन-मङ्गल श्रीकृष्णनाम-संकीर्तन ही कलियुगका धर्म है। हरिनाम-संकीर्तनके अतिरिक्त कलियुगके जीवोंके लिये नित्य मङ्गलकी प्राप्तिका कोई उपाय नहीं है। भगवन्नाम साक्षात् भगवान् है। भगवान् श्रीकृष्ण ही जीवोंका उद्धार करनेके लिये अपने गुणसे कृपा करके नाम-रूपमें अवतीर्ण हुए हैं। इसी कारण भाग्यवान् सज्जनलोग नामाचार्य सद्गुरुसे श्रीकृष्ण-नाम ग्रहण करके नामका आश्रय लेकर हरिनाम लेते-लेते धन्य और कृतार्थ हो जाते हैं।

श्रीकृष्णनाम-संकीर्तन साधन-शिरोमणि है। श्रीगौराङ्ग महाप्रभुने अपने जीवनमें आचरण करके जगत्के सब निवासियोंको कृष्णनाम-महामन्त्रका प्रतिपल कीर्तन करनेका उपदेश दिया है। कलियुग-पावनावतारी श्रीगौराङ्ग महाप्रभुकी शिक्षा मङ्गलाकाङ्क्षी जीवमात्रके लिये अवश्य ही आदरपूर्वक ग्रहण करने योग्य है। इस महामन्त्रका उल्लेख वेद-पुराणादि विभिन्न शास्त्रोंमें सदासे वर्तमान है। इस महामन्त्रके जो विभिन्न अर्थ नित्यसिद्ध महाजनोंने कृपापूर्वक बतलाये हैं, उन्हींको आज मैं अपने इष्टदेव श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी प्रभुपादकी कृपा-भिक्षा करके आत्मशुद्धिके लिये प्रकाशित कर रहा हूँ। भक्तगण इस महामन्त्रके अर्थका आस्वादन करके मुझ-सरीखे पामरको अपनी कृपा और आशीर्वादसे धन्य और कृतार्थ करेंगे।

इस महामन्त्रके सम्बन्धमें विभिन्न शास्त्रोंमें हजारों महत्त्वपूर्ण वचन हैं। विभिन्न पुराण, यजुर्वेदीय कलिसंतरणोपनिषद्, अथर्ववेदीय पिप्पलादशाखा, अनन्तसंहिता, श्रीसनत्कुमारसंहिता आदि संहिताएँ तथा विविध तन्त्रों और महापुरुषोंके महामन्त्र-माहात्म्यसम्बन्धी वचनोंका संग्रह करनेपर एक बहुत बड़ा ग्रन्थ बन सकता है।

महामन्त्रके विभिन्न अर्थ

नामश्रेष्ठं मनुमपि शचीपुत्रमत्र स्वरूपं
रूपं तस्याग्रजमुरुपुरीं माथुरीं गोष्ठवाटीम्।
राधाकुण्डं गिरिवरमहो राधिकामाधवाशां
प्राप्तो यस्य प्रथितकृपया श्रीगुरुं तं नतोऽस्मि॥

कर मङ्गलाचरण शुभ करता ग्रन्थारंभ परम अभिराम।
गुरु, वैष्णव, भगवान—तीनके चरणोंका कर स्मरण-प्रणाम॥
इन तीनोंके स्मरण मात्रसे होता सब विघ्नोंका नाश।
मिलता सहज सभी मनवाञ्छित बिना किये किंचित् आयास॥

श्रीश्रीगौराङ्ग महाप्रभुका उपदेश

कलियुगमें है हुआ कृष्णका नामरूपमें शुभ अवतार।
केवल नाम-रटनसे होता अखिल जगत्का ही निस्तार॥
कर स्वजनोंको सभी महाप्रभु श्रीगौराङ्ग कर रहे उपदेश।
कृष्ण नामके महामन्त्रका सुनो हर्षयुत हो संदेश॥

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

प्रभुने कहा—सभीको मैंने महामन्त्र बतलाया यह।
जपो सभी निर्बन्ध प्रेमसे, दुःख दूर होंगे दुस्सह॥
सबको इससे सभी तरहकी सिद्धि प्राप्त होगी निश्चय।
विधि-विधान कुछ नहीं; जपो अनवरत कहीं भी, किसी समय॥
खाते-पीते, सोते-जगते जपो निरन्तर बिना विराम।
मनसे चिन्तन करो, वदनसे बोलो सदा 'कृष्ण' प्रिय नाम॥
'कृष्ण' नाम इस महामन्त्रका है यह सुन्दर सहज स्वभाव।
जपनेवालेके जीवनमें होता उदय कृष्णका भाव॥

महामन्त्र

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

हरिः कृष्णो राम इति नामत्रयात्मको महामन्त्रः। तस्मिन् सम्बोधनात्मकानि त्रीणि नामानि सन्ति। तत्र त्रयाणामर्थानां माधुर्यमयी व्याख्या—

विज्ञाप्य भगवत्तत्त्वं चिद्घनानन्दविग्रहम्।
हरत्यविद्यां तत्कार्यमतो हरिरिति स्मृतः॥
आनन्दैकसुखः श्रीमान् श्यामः कमललोचनः।
गोकुलानन्दनो नन्दनन्दनः कृष्ण ईर्यते॥
वैदग्धीसारसर्वस्वं मूर्त्तलीलाधिदैवतम्।
श्रीराधां रमयन् नित्यं राम इत्यभिधीयते॥

हरि, कृष्ण, राम—इन तीन नामोंसे युक्त महामन्त्रमें सम्बोधनमय तीन नाम हैं।

इन तीनों नामोंकी माधुर्यमयी व्याख्या इस प्रकार है—

सच्चिदानन्द-विग्रह भगवान् तत्त्वज्ञान प्रदान करके अविद्या या अज्ञानको हरकर उसके कार्योंका भी नाश करते हैं, अतएव वे 'हरि' नामसे प्रसिद्ध हैं। एकमात्र आनन्दरस-विग्रह गोकुलके आनन्दप्रद, कमललोचन, नन्दनन्दन श्रीश्यामसुन्दर ही 'कृष्ण' नामसे अभिहित होते हैं। लीलाके मूर्त्त-विग्रह या अधिदेव रसिकचूड़ामणि श्रीकृष्ण सतत श्रीराधाको रमण करा रहे हैं, अर्थात् श्रीराधाको आनन्दित करते हैं; अतएव वे 'राम' नामसे अभिहित हैं।

ऐश्वर्यमयी व्याख्या

यथा—

हरति त्रिविधं तापं जन्मकोटिशतोद्भवम्।
पापं च स्मरतां यस्मात्तस्माद्धरिरिति स्मृतः॥
कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥
रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि।
इति रामपदेनादः परब्रह्माभिधीयते॥

स्मरण करनेवाले भक्तोंके शत-शत जन्मोंके सारे पाप-तापको हरण करते हैं, अतएव वे 'हरि' हैं। 'कृष्' धातु आकर्षक सत्ता-वाचक और 'ण' शब्द निर्वृति अर्थात् सुखवाचक है, इन दोनोंके ऐक्यमय आनन्दस्वरूप आकर्षक परब्रह्म ही 'कृष्ण' नामसे अभिहित हैं। योगीजन चिन्मय, अनन्त, सत्यानन्द-स्वरूप परतत्त्वमें रमण करते हैं अर्थात् आनन्द प्राप्त करते हैं, अतएव वे परब्रह्म 'राम' नामसे अभिहित होते हैं।

युगलस्मरणमयी व्याख्या

यथा—

मनो हरति कृष्णस्य कृष्णाह्लादस्वरूपिणी।
ततो हरा श्रीराधैव तस्याः सम्बोधनं हरे॥
अपगृह्य त्रपां धर्मं धैर्यं मानं व्रजस्त्रियाम्।
वेणुना कर्षति गृहात्तेन कृष्णोऽभिधीयते॥
रमयत्यनिशं रूपलावण्यैर्व्रजयोषिताम्।
मनः पञ्चेन्द्रियाणीह रामस्तस्मात् प्रकीर्तितः॥

कृष्णकी आह्लादस्वरूपिणी (ह्लादिनीशक्ति) श्रीराधा कृष्णके चित्तको हरण करती है, इस कारण श्रीराधा 'हरा' नामसे कथित होती हैं। 'हरा'का सम्बोधनमें 'हरे' रूप होता है। व्रजरमणीगणकी लज्जा, धर्म, धैर्य और मान दूर करके वंशीध्वनिके द्वारा उनको घरसे आकर्षण करते हैं; अतएव श्रीव्रजेन्द्रनन्दन हरि 'कृष्ण' नामसे अभिहित होते हैं। वे अपने रूपलावण्यसे व्रजरमणीगणके मन और पञ्च इन्द्रियोंको सर्वदा आनन्दित करते हैं, इस कारण 'राम' नामसे कीर्तित होते हैं।

श्रीश्रीजीवगोस्वामिप्रभुकृत श्रीहरिनाममहामन्त्रकी व्याख्या

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥
सर्वचेतोहरः कृष्णस्तस्य चित्तं हरत्यसौ।
वैदग्धीसारविस्तारैरतो राधा हरा मता॥ १॥
कर्षति स्वीयलावण्यमुरलीकलनिःस्वनैः।
श्रीराधां मोहनगुणालंकृतः कृष्ण ईर्यते॥ २॥
श्रूयते नीयते रासे हरिणा हरिणेक्षणा।
एकाकिनी रहःकुञ्जे हरेयं तेन कथ्यते॥ ३॥
अङ्गश्यामलिमस्तोमैः श्यामलीकृतकाञ्चनः।
रमते राधया सार्द्धमतः कृष्णो निगद्यते॥ ४॥
कृत्वारण्ये सरः श्रेष्ठं कान्तयानुमतस्तया।
आकृष्य सर्वतीर्थानि तज्ज्ञानात् कृष्ण ईर्यते॥ ५॥
कृष्यते राधया प्रेम्णा यमुनातटकाननम्।
लीलया ललितश्चापि धीरैः कृष्ण उदाहृतः॥ ६॥
हृतवान् गोकुले तिष्ठन्नरिष्टं पुष्टपुंगवम्।
श्रीहरिस्तं रसादुच्चै रायतीति 'हरा' मता॥ ७॥
ह्यस्फुटं रायति प्रीतिभरेण हरिचेष्टितम्।
गायतीति मता धीरैर्हरा रसविचक्षणैः॥ ८॥
रसावेशपरिस्रस्तां जहार मुरलीं हरेः।
हरेति कीर्तिता देवी विपिने केलिलम्पटा॥ ९॥
गोवर्द्धनदरीकुञ्जे परिरम्भविचक्षणः।
श्रीराधां रमयामास रामस्तेन मतो हरिः॥ १०॥
हन्ति दुःखानि भक्तानां राति सौख्यानि चान्वहम्।
हरा देवी निगदिता महाकारुण्यशालिनी॥ ११॥
रमते भजतो चेतः परमानन्दवारिधौ।
अत्रेति कथितो रामः श्यामसुन्दरविग्रहः॥ १२॥
रमयत्यच्युतं प्रेम्णा निकुञ्जवनमन्दिरे।
रामा निगदिता राधा रामो युक्तस्तया पुनः॥ १३॥

रोदनैर्गोकुले दावानलमाशयति ह्यसौ ।
विशोषयति तेनोक्तो रामो भक्तसुखावहः ॥ १४॥
निहन्तुमसुरान् यातो मथुरापुरमित्यसौ ।
तदागमद्रहः कार्यो यस्याः सासौ हरेति च ॥ १५॥
आगत्य दुःखहर्त्ता यो सर्वेषां व्रजवासिनाम् ।
श्रीराधाहारिचरितो हरिः श्रीनन्दनन्दनः ॥ १६॥

इति श्रीश्रीजीवगोस्वामिप्रभुविरचिता श्रीहरिनाम-महामन्त्रव्याख्या समाप्ता

अनुवाद—श्रीराधा असमोद्ध्र्व प्रेमके द्वारा सर्वचित्तहारी श्रीकृष्णके भी चित्तको हरण करती हैं, अतएव उनका एक नाम 'हरा' है। 'हरा' का सम्बोधन पद 'हरे' होता है ॥ १ ॥

अपने रूप-लावण्य और वंशीध्वनिके द्वारा भुवनमोहन श्रीहरि श्रीराधाको आकर्षण करते हैं, अतएव वे 'कृष्ण' नामसे अभिहित होते हैं ॥ २ ॥

रासलीलाके समय मृगनयनी श्रीराधा केलिकुञ्जमें श्रीकृष्णके द्वारा नीता (हृता) हुई थीं, अतएव श्रीराधाको 'हरा' कहते हैं। इसका सम्बोधनमें 'हरे' रूप होता है ॥३॥

जो अपने श्याम अङ्गकी कान्तिसे सुवर्णको भी श्यामायमान कर देते हैं, वे श्रीराधारमण श्यामसुन्दर ही 'कृष्ण' कहलाते हैं ॥ ४ ॥

व्रज-काननमें अपनी कान्ता श्रीराधाकी इच्छाके अनुसार श्रेष्ठ सरोवरको प्रकट करके उन्होंने उसमें सब तीर्थोंको आकर्षण किया था, अतएव उनका नाम 'कृष्ण' है ॥ ५ ॥

लीलाके द्वारा भुवनमोहन होकर भी श्रीहरि श्रीराधाके प्रेममें मुग्ध होकर उनके द्वारा यमुनातटवर्ती काननमें आकृष्ट होते हैं, इसी कारण वे 'कृष्ण' कहलाते हैं ॥ ६ ॥

व्रजमें वृषरूपधारी बलिष्ठ अरिष्टासुरका प्राण हरनेके कारण श्रीराधाने उनको 'हरि-हरि' कहकर सानन्द आह्वान किया था, अतएव श्रीराधा 'हरा' नामसे पुकारी जाती हैं। 'हरा' का सम्बोधनमें 'हरे' रूप होता है ॥ ७ ॥

श्रीराधा कभी अस्फुट स्वरमें हरिलीला उच्चारण करती हैं तथा कभी प्रेमवश हो उसका कीर्तन करती हैं, अतएव रसिक भक्तगण उनको 'हरा' कहा करते हैं। 'हरा' का सम्बोधनमें 'हरे' रूप होता है ॥ ८ ॥

केलि-परायणा श्रीराधाने रसावेशमें उन्मत्त श्रीकृष्णकी मुरली हरण की थी, अतएव वे 'हरा' नामसे प्रसिद्ध हैं ॥ ९ ॥

श्रीहरिने गोवर्द्धन गिरिके कुञ्जमें आलिङ्गन आदिके द्वारा श्रीराधाको आनन्द प्रदान किया था, इसलिये वे 'राम' नामसे प्रसिद्ध हैं ॥ १० ॥

परम कल्याणमयी श्रीराधा भक्तजनोंके सारे दुःखोंको हरकर उनको परम सुख प्रदान करती हैं, अतएव उनका नाम 'हरा' है। 'हरा' का सम्बोधनमें 'हरे' रूप होता है ॥ ११ ॥

भजन करनेवालोंका मन परमानन्द-सिन्धु श्रीकृष्णमें रमण करता है अर्थात् आनन्द प्राप्त करता है; इस कारणसे श्यामसुन्दर श्रीहरि 'राम' नामसे अभिहित होते हैं ॥ १२ ॥

श्रीराधा निकुञ्जवनमें प्रेमोन्मत्त होकर श्रीहरिको आनन्द प्रदान करती हैं (रमयति आनन्दयति) अतएव उनका नाम 'रामा' है। रामा श्रीराधाके साथ मिलित श्रीकृष्ण ही 'राम' नामसे अभिहित होते हैं ॥ १३ ॥

दावाग्नि देखकर व्रजवासी लोग जब रोने लगे, तब उन्होंने दावानल पान करके भक्तोंको आनन्दित किया था, अतएव वे भक्तोंको सुख देनेवाले नन्दनन्दन श्रीकृष्ण 'राम' नामसे कीर्तित होते हैं ॥ १४ ॥

श्रीहरि असुरोंका संहार करनेके लिये मथुरापुरीमें गये थे। पश्चात् श्रीराधाके साथ मिलनकी कामनासे व्रजमें आये। इसलिये भी श्रीकृष्णके चित्तको हर लेनेके कारण श्रीराधाका नाम 'हरा' हुआ है। 'हरा' का सम्बोधनमें 'हरे' रूप होता है ॥ १५ ॥

जिन्होंने मथुरासे आकर व्रजवासियोंका दुःख हर लिया था, श्रीराधाके मनको हरनेवाली लीलाओंसे युक्त वे श्रीनन्दनन्दन कृष्ण ही 'हरि' नामसे ख्यात हैं। 'हरि' शब्दका सम्बोधनमें अन्तिम 'हरे' पद बना है ॥ १६ ॥

इति श्रीश्रीजीवगोस्वामिप्रभुविरचिता श्रीहरिनाममहामन्त्रव्याख्या समाप्ता

श्रीगोपालगुरुगोस्वामिप्रभुकृता
श्रीहरिनाममहामन्त्रव्याख्या

अज्ञानतत्कार्यविनाशहेतोः
सुखात्मनः श्यामकिशोरमूर्तेः ।
श्रीराधिकाया रमणस्य पुंसः
स्मरन्ति नित्यं महतां महान्तः ॥ १ ॥
विलोक्य तस्मिन् रसिकं कृतज्ञं
जितेन्द्रियं शान्तमनन्यचित्तम् ।
कृतार्थयन्ते कृपया सुशिष्यं
प्रदाय नामत्रययुक्तपद्यम् ॥ २ ॥

अज्ञान और उसके द्वारा उत्पन्न भवव्याधिको नष्ट करनेवाले आनन्दस्वरूप श्यामकिशोरमूर्त्ति श्रीराधारमणको महाभागवतगण नित्य स्मरण करते हैं ॥ १ ॥

रसिक, कृतज्ञ, जितेन्द्रिय, शान्त, अनन्यचित्त सुशिष्यको साधु लोग कृपा करके महामन्त्र (हरे कृष्णादि नामत्रययुक्त पद) को प्रदान करके कृतार्थ करते हैं ॥ २ ॥

हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः ।
अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः ॥ ३ ॥
विज्ञाप्य भगवत्तत्त्वं चिद्घनानन्दविग्रहम् ।
हरत्यविद्यां तत्कार्यमतो हरिरिति स्मृतः ॥ ४ ॥

अथवा सर्वेषां स्थावरजंगमादीनां तापत्रयं हरतीति हरिः। यद्वा दिव्यसद्गुणश्रवणकथनद्वारा सर्वेषां विश्वादीनां मनो हरतीति । यद्वा स्वमाधुर्येण कोटिकंदर्पलावण्येन सर्वेषामवतारादीनां मनो हरतीति हरिः । हरिशब्दसम्बोधने हे हरे ॥ ५ ॥

रासादिप्रेमसौख्यार्थे हरेर्हरति या मनः ।
हरा सा गीयते सद्भिर्वृषभानुसुता परा ॥ ६ ॥
स्वरूपप्रेमवात्सल्यैर्हरेर्हरति या मनः ।
हरा सा कथ्यते सद्भिः श्रीराधा वृषभानुजा ॥ ७ ॥
हरति श्रीकृष्णमनः कृष्णाह्लादस्वरूपिणी ।
अतो हरेत्यनेनैव श्रीराधा परिगीयते ॥ ८ ॥

इत्यादिना श्रीराधावाचक हरा शब्दस्य सम्बोधने हरे ॥

कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः ।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥ ९ ॥
ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः ।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम् ॥ १० ॥
आनन्दैकसुखः श्रीमान् श्यामः कमललोचनः ।
गोकुलानन्दनो नन्दनन्दनः कृष्ण ईर्यते ॥ ११ ॥
कृष्णशब्दस्य सम्बोधने कृष्ण ॥
राशब्दोच्चारणाद्देवि बहिर्निर्यान्ति पातकाः ।
पुनः प्रवेशकाले तु मकारश्च कपाटवत् ॥ १२ ॥
रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि ।
इति रामपदेनादः परब्रह्माभिधीयते ॥ १३ ॥
वैदग्धीसारसर्वस्वं मूर्त्तलीलाधिदैवतम् ।
श्रीराधां रमयन्नित्यं राम इत्यभिधीयते ॥ १४ ॥

श्रीराधायाश्चित्तमाकृष्य रमति क्रीडतीति रामः ।
रामशब्दस्य सम्बोधने राम ।
तथा हि क्रमदीपिकायां चन्द्रं प्रति श्रीकृष्णः—

मम नामशतेनैव राधानाम सदुत्तमम् ।
यः स्मरेत्तु सदा राधां न जाने तस्य किं फलम् ॥ १५ ॥

अनुवाद—जिस प्रकार अग्नि अनिच्छासे भी स्पर्श हो जानेपर जला देती है, उसी प्रकार दुष्टचित्त मानवोंके द्वारा भी किसी भी प्रकारसे स्मरण या कीर्तन होनेपर उसके सारे पापोंको जो हरण करते हैं अर्थात् दूर करते हैं, उन मङ्गलमय भगवान्का नाम 'हरि' है ॥ ३ ॥

अथवा सच्चिदानन्दविग्रह भगवान्का तत्त्वज्ञान प्रदान करके अविद्या या अज्ञानको हरकर उसके कार्योंको भी नष्ट कर देते हैं, इस कारण वे 'हरि' नामसे प्रसिद्ध हैं ॥ ४ ॥

अथवा स्थावर-जङ्गम सबके तापत्रयको हरण कर लेते हैं, इस कारण उनको 'हरि' कहते हैं । अथवा दिव्य अप्राकृत सद्गुणोंके श्रवण-कीर्तनके द्वारा सारे विश्वके निवासियोंके मनको हरण करते हैं, अतएव उनका नाम 'हरि' है। अथवा अपने करोड़ों कंदर्पोंके-से लावण्यकी मधुरताके द्वारा सब अवतारोंके मनको हर लेते हैं, अतएव उन व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णका नाम 'हरि' है। हरिका सम्बोधनमें 'हरे' रूप होता है ॥ ५ ॥

अथवा रास आदिके प्रेम-सुखको प्रदान करनेके लिये जो अपने प्रेम-वात्सल्य और रूप-गुण आदिके द्वारा कृष्णके मनको हर लेती हैं, वे कृष्णकी आह्लाद-स्वरूपिणी (ह्लादिनी शक्ति) श्रीराधा 'हरा' नामसे अभिहित होती हैं ॥ ६–८ ॥

इस राधावाचक 'हरा' शब्दका सम्बोधनमें 'हरे' रूप होता है ।

'कृष्' धातु आकर्षक सत्तावाचक है और 'ण' शब्द निर्वृति अर्थात् सुखवाचक है । इन दोनोंके ऐक्यमय आनन्दस्वरूप आकर्षक परब्रह्म 'कृष्ण' नामसे अभिहित होते हैं ॥ ९ ॥

कृष्ण परमेश्वर हैं । वे सच्चिदानन्दविग्रह हैं, स्वयं अनादि और सबके आदि तथा सब कारणोंके कारण हैं । कृष्णका दूसरा नाम गोविन्द है ॥ १० ॥

एकमात्र आनन्द-रसविग्रह, गोकुलके आनन्दप्रद कमललोचन नन्दनन्दन श्रीश्यामसुन्दर 'कृष्ण'नामसे प्रसिद्ध हैं॥ ११॥

रामनामके 'रा' शब्दके उच्चारणसे सारे पाप दूर हो जाते हैं तथा 'म' शब्दका उच्चारण कपाटवत् होनेके कारण वे पाप पुनः हृदयमें प्रवेश नहीं कर पाते ॥ १२ ॥

योगीजन जिस चिन्मय, अनन्त, सत्य और आनन्द-स्वरूप परतत्त्वमें रमण करते हैं अर्थात् आनन्द प्राप्त करते हैं, वे परब्रह्म 'राम' नामसे अभिहित होते हैं ॥ १३ ॥

लीलाके मूर्त्त-विग्रह या अधिदेव रसिक-चूडामणि श्रीकृष्ण सतत श्रीराधाको रमण करा रहे हैं अर्थात् श्रीराधाको आनन्दित करते रहते हैं, अतएव वे 'राम' नामसे अभिहित हैं। अथवा श्रीराधाके चित्तको हरण करके उनके साथ क्रीड़ा करते हैं, अतएव श्रीकृष्णका एक नाम 'राम' है।१४।

क्रम-दीपिका ग्रन्थमें चन्द्रके प्रति श्रीकृष्णकी उक्ति है—

मेरे शतनामकी अपेक्षा भी 'राधा' नाम श्रेष्ठ है। जो सर्वदा श्रीराधाका स्मरण-कीर्तन करते हैं, उनको जो फल प्राप्त होता है, वह मुझे भी ज्ञात नहीं, अर्थात् वह मेरे लिये भी अज्ञेय है ॥ १५ ॥

(१) हरे—**कृष्णस्य मनो हरतीति हरा राधा, तस्याः सम्बोधने हे हरे !**

(२) कृष्ण—**राधायाः मनः कर्षतीति कृष्णः, तस्य सम्बोधने हे कृष्ण !**

(३) हरे—**कृष्णस्य लोकलज्जाधैर्यादि सर्वं हरतीति हरा राधा, तस्याः सम्बोधने हे हरे !**

(४) कृष्ण—**राधाया लोकलज्जाधैर्यादि सर्वं कर्षतीति कृष्णः, तस्य सम्बोधने हे कृष्ण !**

(५) कृष्ण—**यत्र यत्र राधा तिष्ठति गच्छति वा तत्र तत्र सा पश्यति कृष्णो मां स्पृशति, बलात् कञ्चुकादिकं सर्वं कर्षति हरतीति कृष्णः, तस्य सम्बोधने हे कृष्ण !**

(६) कृष्ण—**पुनर्हर्षतां गमयति वनं कर्षतीति कृष्णः, तस्य सम्बोधने हे कृष्ण !**

(७) हरे—**यत्र कृष्णो गच्छति तिष्ठति वा तत्र तत्र पश्यति राधा ममाग्रे पार्श्वे सर्वत्र तिष्ठति इति हरा राधा, तस्याः सम्बोधने हे हरे !**

(८) हरे—**पुनस्तं कृष्णं हरति स्वस्थानमभिसारयतीति हरा राधा, तस्याः सम्बोधने हे हरे !**

(९) हरे—**कृष्णं वनं हरति वनमागमयतीति हरा राधा, तस्याः सम्बोधने हे हरे !**

(१०) राम—**रमयति तां नर्मनिरीक्षणादिनेति रामः, तस्य सम्बोधने हे राम !**

(११) हरे—**तात्कालिकं धैर्यावलम्बनादिकं हरतीति हरा राधा, तस्याः सम्बोधने हे हरे !**

(१२) राम—**चुम्बनस्तनकर्षणालिङ्गनादिभिः इति रामः, तस्य सम्बोधने हे राम !**

(१३) राम—**पुनस्तां पुरुषायितां कृत्वा रामः, तस्य सम्बोधने हे राम !**

(१४) राम—**पुनस्तत्र रमते इति रामः, तस्य हे राम !**

(१५) हरे—**पुनः रासान्ते कृष्णस्य मनो गच्छतीति हरा राधा, तस्याः सम्बोधने हे हरे !**

(१६) हरे—**राधायाः मनो हृत्वा गच्छतीति कृष्णः, तस्य सम्बोधने हे हरे !**

इति श्रीगोपालगुरुगोस्वामिप्रभुविरचिता श्रीहरिनाम व्याख्या समाप्ता ।

(१) जो कृष्णके मनको हर लेती हैं, वे हरा राधा हैं। 'हरा' का सम्बोधनमें 'हे हरे' रूप होता है।

(२) जो श्रीराधाके मनको आकर्षित करते हैं, श्रीकृष्ण। कृष्णका सम्बोधनमें 'हे कृष्ण' रूप होता है।

(३) श्रीराधा श्रीकृष्णके लोक-लज्जा-धैर्यादिको हर हैं, इस कारण वे 'हरा' कहलाती हैं। 'हरा'का सम्बो 'हे हरे' रूप होता है।

(४) श्रीराधाकी लोक-लज्जा, धैर्यादिको आकर्षित हैं, इस कारण वे 'कृष्ण' कहलाते हैं। कृष्णका सम्बो 'हे कृष्ण' रूप होता है।

(५) श्रीराधा जहाँ-जहाँ रहती हैं या जाती हैं, वे देखती हैं कि 'कृष्ण' मुझे स्पर्श करते हैं, कर्षण अर्थात् हरण करते हैं, इस कारण वे कृष्ण हैं, सम्बोधनमें 'हे कृष्ण' रूप होता है।

(६) वे श्रीराधाको आनन्द प्रदान करनेके वनमें आकर्षण करते हैं, इसलिये 'कृष्ण' कहलाते हैं। कृष्णका सम्बोधनमें 'हे कृष्ण' रूप होता है।

(७) श्रीकृष्ण जिस स्थानमें जाते या रहते हैं, उन-उन स्थानोंमें देखते हैं कि श्रीराधा हमारे सामने— स्थित हैं, अतएव 'हरा' श्रीराधा हैं। उनका सम्बोधनमें हरे' रूप होता है।

(८) पुनः उन्हीं कृष्णको हरण करती हैं,

स्थानमें अभिसार कराती हैं, अतएव श्रीराधाका नाम 'हरा' है। उनका सम्बोधनमें 'हे हरे' रूप होता है।

(९) कृष्णको हरण करके वनमें लाती हैं, अतएव श्रीराधा 'हरा' हैं। उनका सम्बोधनमें 'हे हरे' रूप होता है।

(१०) श्रीराधाको परिहास और दर्शन आदिके द्वारा आनन्दित करते हैं, अतएव उनका नाम राम है। उनका सम्बोधन 'हे राम' होता है।

(११) श्रीकृष्णके तात्कालिक धैर्य आदिको हरण करती हैं, इस कारण श्रीराधा 'हरा' हैं। उनका सम्बोधनमें 'हे हरे' रूप होता है।

(१२) विविध प्रकारसे स्वयं रमण अर्थात् क्रीड़ा करते हैं, अतएव उनका नाम 'राम' है। रामका सम्बोधनमें 'हे राम' रूप होता है।

(१३) पुनः श्रीराधाको आनन्द प्रदान करते हैं; अतएव उनका नाम 'राम' है। उनका सम्बोधन 'हे राम' होता है।

(१४) पुनः-पुनः उसी प्रकार रमण करते हैं, इस हेतु कृष्णका नाम 'राम' है। उनका सम्बोधन 'हे राम' होता है।

(१५) पुनः रासके अन्तमें श्रीकृष्णके चित्तको हरण करके गमन करती हैं, इस कारण श्रीराधाका नाम 'हरा' है। उनका सम्बोधन 'हे हरे' होता है।

(१६) श्रीराधाका चित्त हरण करके गमन करते हैं, अतएव हरिका अर्थ श्रीकृष्ण जान पड़ता है। उनका सम्बोधन 'हे हरे' होता है।

इति श्रीगोपालगुरुगोस्वामिप्रभुविरचित श्रीहरिनाम महामन्त्रकी व्याख्या समाप्त हुई।

* * *

दानशीलता

(लेखक—श्रीरघुनाथप्रसादजी पाठक)

दानशीलता मानवके विकास और आत्मिक शान्तिका अमोघ साधन है। इसमें दिव्यताका पुट लगा होता है। परमात्माके बच्चोंको हृदयमें स्थान देना और उनको अपनी दानशीलतासे लाभान्वित करना परमात्माके प्रति प्रेमका द्योतक होता है। सृष्टिमें सर्वत्र परमात्माकी दानशीलता और उपकार-भावना प्रतिलक्षित होती है । यदि हम परमात्माके पीड़ित और असहाय बच्चोंकी सहायता करते, भूख-प्याससे छटपटाते और सरदीसे ठिठुरते हुए लोगोंको अन्न, जल और वस्त्र देकर तृप्त करते हैं तो हम परमात्माके प्रति अपने प्रेमका परिचय देते हैं।

हमारे वेद-शास्त्रोंमें दानका बहुत माहात्म्य वर्णित है। वेद दान न देनेवाले कंजूसको अराति कहता है, जिसका अर्थ है शत्रु। जो दान नहीं देता, वह समाजका शत्रु समझा जाता है। दानी जहाँ अपने विकासकी प्रक्रियाको पूर्ण करता है, वहाँ वह विपत्तिके समयके लिये अपने मित्रोंकी सृष्टि भी करता है, जो उसकी सहायताके लिये हर समय तैयार रहते हैं। इसी बातकी ओर शेखसादीने संकेत करते हुए कहा है कि जो व्यक्ति गिरे हुओंको ऊपर उठानेमें प्रमाद करता है, उसे यह सोचना चाहिये कि जब मैं गिर जाऊँगा तो दूसरे मुझे उठानेके लिये हाथ नहीं पसारेंगे। मनुष्यके विकास और समाजकी शान्ति एवं रक्षाके लिये दानका महत्त्व यहाँतक स्वीकार किया गया है कि भय, लज्जा, श्रद्धा और अश्रद्धासे भी दान देना आवश्यक ठहराया गया है। परोपकारके कर्म कभी नष्ट नहीं होते और दान तथा परोपकारपर व्यय हुआ धन ही हमारी संचित निधि होती है। उचित साधनोंसे धनका कमाया जाना और अपनेपर भी इस ढंगसे व्यय किया जाना उचित है, जिससे जीवनका निर्वाह हो जाय और समाजमें विलासिता, ईर्ष्या-द्वेष, लूट-खसोट और आपा-धापी व्याप्त न होने पायें। इस प्रकार बचे हुए धनपर समाजका अधिकार होता है। अपनेपर उचित ढंगसे खर्च हुआ और पर-हितमें लगा हुआ धन ही सच्चे अर्थमें अपना धन होता है।

दान देनेमें विवेकसे कार्य लेना आवश्यक होता है। बुराईमें वृद्धि किये बिना भलाई करना सरल कार्य नहीं होता। उस दानका कोई महत्त्व नहीं होता, जो पात्र-कुपात्रका विचार किये बिना अविवेकपूर्वक दिया जाता है।

कुपात्रको दिये हुए दानसे दाता और ग्रहीता दोनोंका अहित होता है। एक कहावत है कि जो व्यक्ति गरीबको भोजन देता है, वह धन्य नहीं होता। धन्य वह होता है, जो भोजन देते समय यह देखता है कि वह गरीब भूखा है या नहीं। विवेकयुक्त दया और परोपकारका जरा-सा भी कार्य अविवेकयुक्त विपुल धन-राशिके दानसे अधिक महत्त्वपूर्ण होता है।

प्रत्येक सत्कार्य दान होता है। यदि हम अपने भाईको अपनी मुस्कुराहटसे प्रफुल्लित करते हैं तो ऐसा करना भी दान है। यदि हम अपने संगी-साथीको सत्कर्मकी प्रेरणा देते हैं तो यह भी दान है। भूले-भटके मुसाफिरको सही मार्गपर डालना, अंधे व्यक्तिको मार्ग बताना, सड़कपर पड़े हुए पत्थरों, काँटों और अन्यान्य दुःखदायी बाधाओंको हटाना, भूखेको अन्न और प्यासेको जल देना भी दान है। मनुष्यकी सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति, जो वह मरनेके बाद इस जगत्में छोड़ जाता है, परोपकारके कार्य होते हैं। जब वह मरता है, तब दुनियादार लोग पूछते हैं 'उसने कितनी सम्पत्ति छोड़ी है ?' परंतु दिव्यात्माएँ पूछती हैं 'उसने परलोकयात्रा करनेसे पूर्व कितने सत्कर्म वहाँ भेज दिये थे ?'

गरीबको दान देनेकी अपेक्षा काम देना चाहिये। काम मिल जानेपर वह आलस्य और निठल्लेपनसे बचा रहेगा। उसे दानपर जीवित रखनेसे उसमें आलस्य-प्रमादादि अवगुण बढ़ सकते हैं। दान दो प्रकारका होता है—एक औपचारिक और दूसरा निरोधक। औपचारिक दानकी प्रवृत्ति प्रायः हानिकर और निरोधक दानकी प्रवृत्ति प्रशंसनीय होती है। रोगकी चिकित्सा करनेकी अपेक्षा उसका रोकना श्रेष्ठ होता है।

दान और परोपकारके कार्य स्वयं बोलते हैं। उनके वाणी होती है, अतः उनकी घोषणा करनेकी आवश्यकता नहीं होती। घोषणा करनेसे उनकी महिमा घट जाती है। प्रदर्शनसे अहंकारकी गंध आने लगती है। मनुष्यपर यह लाञ्छन लग जाता है कि उसे दानसे इतना प्रेम नहीं होता जितना नामसे होता है। सामान्य अवस्थामें अपनी सामर्थ्यके अनुसार परहित करना श्रेष्ठ होता है, परंतु स्वयं कष्ट उठाकर दूसरोंका हित करना श्रेष्ठतर होता है। गरीब और असहायकी जीभ दानका शङ्खनाद होना चाहिये। दूसरोंकी वाह-वाहपर ध्यान रखनेसे दानके पुरस्कारसे, जो परमात्माकी ओरसे आत्मिक आनन्दके रूपमें हमें प्राप्त होता है, हम वञ्चित हो जाते हैं। परमात्माको खुला हुआ हाथ और बंद हुआ मुँह अधिक प्रिय होता है।

पुरानी कहावत है कि दानका आरम्भ घरसे होना चाहिये। केवल इसी आधारपर बाहरवालोंको दानसे वञ्चित रक्खा जाय, यह ठीक नहीं है। परमात्मा सर्वव्यापक है, अतः दानका क्षेत्र भी व्यापक होना चाहिये। मनुष्यको अपनेको संसारके परिवारका अङ्ग समझना चाहिये। अवश्य उसकी उदारता किसी स्थान या व्यक्तिविशेषको प्रमुखता दे सकती है; परंतु उसकी उदारताका लक्ष्य समस्त विश्व होना चाहिये। हाँ, संसारमें एक व्यक्ति ऐसा होता है जिसके प्रति उसे अनुदार रहना चाहिये और वह स्वयं होता है। अपने दोषों और दुर्बलताओंके प्रति मनुष्यको कभी उदार न बनना चाहिये। उनसे बचने और उनके निराकरणमें उसे सदैव यत्नवान् रहना चाहिये।

दान देनेमें विलम्ब न होना चाहिये और प्रसन्नतापूर्वक बिना किसी प्रकारकी झिझकके देना चाहिये। विलम्ब करने और झुँझलाते हुए दान देनेसे उसकी शोभा जाती रहती है और कभी-कभी उसका उद्देश्य भी नष्ट हो जाता है।

प्रत्येक व्यक्तिके जीवनमें प्रसन्नताके अवसर आते हैं परंतु उदार और दान-शील व्यक्ति अपनेको सबसे अधिक प्रसन्न उस समय अनुभव करता है, जब दूसरे व्यक्ति उसकी प्रसन्नताके भागीदार होते हैं।

दानशीलताके वे कर्म, जिनसे पीड़ितोंको दिलासा मिलती हो, उनकी पीड़ा दूर होती हो और जो दाता और ग्रहीताके लिये वरदान सिद्ध होते हों, मनुष्योंके चरणोंमें फूलोंकी भाँति छितराये होते हैं, जो शोभा और सुगन्धकी सृजना करके वातावरणको मनोरम बनाते और प्रकाशमान हीरे बनकर संसारमें भलाईकी प्रगतिके मार्गको धवल प्रकाश प्रदान करते रहते हैं।

जीवकी कल्याण-साधना

(लेखक—श्रीगोपालजी भट्ट एम्० ए०)

आइये, क्षणभरके लिये अपने मनको व्रजके उस गोकुल गाँवमें ले चलें, जहाँ श्रीनन्दका भवन है और उनके उस मणिमय आँगनको देखें, जहाँ सर्वत्र दधि-ही-दधि बिखरा पड़ा है। माँ यशोदाने श्रीकृष्णको पेटभर स्तन्य-पान नहीं कराया और अतृप्त ही छोड़कर चल दी हैं, इसी रोषके कारण श्रीकृष्णने दधिभाण्ड फोड़ दिया है। इसी अपराधके दण्ड-स्वरूप माँ यशोदाने उन्हें अपने वात्सल्य-प्रेम-बन्धनमें ऊखलसे बाँध दिया है। उस ऊखलको खींचते-खींचते श्रीकृष्ण अर्जुनके उन यमल वृक्षोंके बीचसे निकलना चाह रहे हैं। इसी दृश्यको देखकर किसी महात्माने—जिसकी बड़े-बड़े वेदोपनिषदों, शास्त्रोंके तत्त्वोंको खोजते-खोजते, यम-नियमोंका पालन करते-करते सारा जीवन बीत गया किंतु कुछ सार हाथ नहीं आया—किसी अनिर्वचनीय सार-तत्त्वको पाकर इस प्रकार कह दिया कि निगमरूपी निर्जन वनमें भटकते-भटकते यदि थक गये हो और कहीं भी शास्त्रों और पुराणोंमें, उपनिषदोंमें खोजनेपर ऋषि-मुनि-देवोंसे पूछनेपर भी यदि किसीने उस अचिन्त्य अव्यक्त परब्रह्मका पता न बतलाया हो तो हम तुम्हें एक सरल-सा उपाय उसके प्राप्त करनेका बतलाते हैं—वह आपको व्रज-गोकुलमें किसी ग्वालिनीके घरमें छाछके लिये नाचता हुआ, बाँसुरी बजाता हुआ, मयूरपिच्छ धारण किये हुए गायोंको चराता हुआ, पनघटपर छेड़छाड़ करता हुआ या माँ यशोदाके द्वारा अपराध करनेपर ऊखलसे बाँधा हुआ मिल जायगा। उपनिषदोंका प्रतिपाद्य वह परब्रह्म किसी ग्वालिनके घर ऊखलसे बँधा हुआ मिल जायगा—बात सुननेमें कितनी अद्भुत लगती है! सहसा कोई इसपर विश्वास करता नहीं दिखलायी देगा; परंतु वास्तवमें है यह सत्य और अनुभवप्राप्त। उपर्युक्त महापुरुषको उसी परब्रह्मने इस रहस्यका उद्घाटन करानेके लिये अवश्य दर्शन दिया होगा। गोकुलकी गलियोंमें उसको परब्रह्म औपनिषद तत्त्वके दर्शन हो गये होंगे। तभी तो उसने इतना सरल पता बतला दिया—

परमिममुपदेशमाद्रियध्वं
निगमवनेषु नितान्तचारखिन्नाः।
विचिनुत भुवनेषु वल्लवीना-
मुपनिषदर्थमुलूखले निबद्धम् ॥

इतना सरल पता बतला दिये जानेपर भी हमारा दुर्भाग्य है कि हम उसको खोज-पानेकी चेष्टा नहीं कर रहे हैं और उसके पानेकी चिन्तामें यम-नियम-आसन-प्राणायामादि-से समाधितक पहुँचकर भी उसकी झलक भी कहीं नहीं पाते। देह-प्राण-इन्द्रियोंको सुखा-सुखाकर धर्मशास्त्रोंके बतलाये हुए अनेकानेक व्रत, जप, अनुष्ठान, तीर्थसेवन करते-करते विद्वानोंके अनेक कठिन ग्रन्थोंको पढ़-पढ़कर हम थक गये; किंतु उस तत्त्वका कहीं आभास भी हमें नहीं मिला। हमने इस सरल मार्गको न समझा और न उसपर विचार किया। उस संतने कितना सरल, सीधा और यथार्थ पता बतला दिया है; क्योंकि उसने उस तत्त्वके वहाँ (व्रजमें) दर्शन पाये हैं, तभी तो अन्य भटकनेवालोंको इस सरल मार्गका संकेत उसने दिया है। इसी प्रकार उन्हीं संतने कितने मधुर शब्दोंमें निषेध-के बहाने विधिका उपदेश किया है—

मा यात पान्थाः पथि भीमरथ्या
दिगम्बरः कोऽपि तमालनीलः।
विन्यस्तहस्तोऽपि नितम्बबिम्बे
धूर्तः समाकर्षति चित्तवित्तम् ॥

'हे रास्ता चलनेवालो! इस दुर्गम कठिन भयंकर मार्गपर मत चलो। यहाँ इस मार्गपर तमाल वृक्षके समान रंगवाला एक धूर्त बालक नंगा खड़ा हुआ मिलेगा, जिसने अपनी कटिके पश्चात् भागपर अपने हाथ रख रखे हैं! 'सबही अंग कौ बाँकौ' वह बालक आपके चित्तरूपी धनको जबरदस्ती छीन लेगा।' इस रास्तेसे जानेपर इस संतका श्यामसुन्दरने चित्त चुरा लिया होगा, इसी कारण इन्होंने अन्य आनेवाले रास्तागीरोंसे कहा कि 'हम तो इस नंगे बालकके दर्शनोंमें ही लुट गये, हमारा चित्त ठिकाने (यथास्थान) नहीं रहा और यदि तुम्हें लुटना न हो और अपना चित्तरूपी वित्त सम्हालकर रखना हो और उसका प्रयोग किसी बड़ी ब्रह्मप्राप्तिकी समाराधनामें लगाना हो तो अवश्य ही उसे सम्हाले रहो और इस रास्ते जानेका साहस न करो; क्योंकि हम उस श्यामसुन्दरकी रूपमाधुरीपर लुट चुके हैं और अब क़िसी दीन-दुनियाके नहीं रहे। यदि तुम इसी रास्तेपर चलते रहनेकी ज़िद करोगे तो हम नहीं जानते,

तुम्हारा भी वही हाल होगा जो हमारा हुआ है । अतः समय रहते हम आपको सावधान कर रहे हैं ।' कहनेमें बात निषेधकी है, किंतु उसी मार्गपर चलने और गाय चराते उस श्यामसुन्दरका दर्शन प्राप्त करनेके लिये अन्य भटकते हुए संसारी जीवोंको इस भक्तिमार्गकी ओर लानेकी कितनी सुन्दर है युक्ति इन संतोंकी ।

त्रिभङ्गललित रूपमें खड़े श्यामसुन्दरकी उस मधुरमूर्तिको देखकर सब कुछ देह-गेहकी सुध भूल जानेवाले परम रसिकवर श्रीश्रीगदाधरभट्टजी—

'सखी हौं स्याम रँग रँगी ।
देखि बिकाय गई वह मूरति, सूरति माहिं पगी ।

कहते हैं कि जबसे हमने उस मधुर मूर्तिके दर्शन किये, हम तो मानो बिक गये और उसने ऐसा जादू डाला है कि हम तो उसीके रंगमें रँग गये हैं । अब हमें दुनियाके व्यवहारसे कोई प्रयोजन नहीं ।

वेद-वेदाङ्गोपनिषदोंके अध्ययनके बाद निर्गुण निराकार निरञ्जन उस परब्रह्मका चिन्तन करनेकी साधना करनेवाले एक संतकी क्या स्थिति हुई, उसका भी एक चित्र देखिये । अचिन्त्य अव्यक्त उस तत्त्वका चिन्तन करते-करते ज्यों ही समाधिमें वे संत बैठते थे, उनकी विचित्र स्थिति होती थी । कभी वे टेढ़ी पागवाले, मयूरपिच्छ धारण किये यमुनातटपर गाय चराते हुए श्रीकृष्णकी रूप-छविका दर्शन कर चुके थे; परंतु अपने निर्गुण निराकारको पानेकी खोज उनकी बराबर लगी हुई थी । उन्होंने अपनी समाधिके अनुभवको इस प्रकार व्यक्त किया है—

यावन्निरञ्जनमजं पुरुषं जरन्तं
संचिन्तयामि सकले जगति स्फुरन्तम् ।
तावद्बलात्स्फुरति हन्त ! हृदन्तरे मे
गोपस्य कोऽपि शिशुरञ्जनपुञ्जमञ्जुः ॥

'समस्त संसारमें व्याप्त उस अव्यक्त निरञ्जन तत्त्वको खोजते-खोजते जब हम उसका समाधिमें ध्यान करने बैठते हैं; सब ओरसे देह-प्राण-इन्द्रियोंका निरोध करके मनको उस अव्यक्तके चिन्तनमें लगाते हैं और चाहते हैं कि उसकी तनिक-सी भी झलक मिल जाय; परंतु उसके स्थानपर न जाने हठात् किसी गोप (व्रजवासी ग्वाले) का वह छोटा-सा श्यामवर्णका बालक, जिसे श्यामसुन्दर कहते हैं, क्यों आ जाता है ?'

क्या वही श्यामसुन्दर उपनिषदों, वेदों और शास्त्रोंमें निरूपित निर्विकार अव्यक्त अचिन्त्य विभु आत्मा आदि नामोंसे कहा गया है ? यदि यही बात है तो फिर आजसे हम स्पष्ट रीतिसे क्यों न कह दें कि उपनिषदोंका वह परमतत्त्व परब्रह्म श्री श्यामसुन्दर है ? उसके निराकार निरञ्जन-स्वरूपके स्थानपर इस **'गूढं परब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्'**की उपासना कीजिये । यही परात्पर तत्त्व है । इसे निराकार रूपमें यदि खोजियेगा तो शायद नहीं पा सकेंगे । इस साकाररूपमें अपनी-अपनी रुचिके अनुसार उसकी उपासना करके देखें—कैसा आनन्द आता है । उसकी असीम करुणाका कैसा आस्वादन मिलता है ! उन अन्य सारी साधनाओंमें अन्त समयतक यही पछतावा रहता है कि सारी जिंदगी बीत गयी और कोई संतोष देनेवाला तत्त्व हाथ नहीं लगा; किंतु इस सरस भक्तिमार्गमें **"यत्र सम्पूज्यते हरिः'** सिद्ध और साधक दोनों अवस्थाओंमें जीवनका पूर्णतम लाभ पा लिया—ऐसा संतोष भक्तके हृदयमें बना रहता है । तब वह विवेकी पुरुषसे यह पूछता है कि कौन-सा मार्ग तुम्हें सुलभ और श्रेयस्कर दीख रहा है । विवेकीका उत्तर स्पष्ट ही है ।

भक्तिमार्गपर चलनेवाला वह साधक फिर उस मुक्तिकी चाह नहीं करता, जहाँ जाकर फिर वह निष्क्रिय हो जाय । वह तो बार-बार जन्म लेनेकी कामना करता है कि इस जीवनमें भगवन्नाम लूँ, देह-प्राण-इन्द्रियोंसे भगवान्‌की सेवा-अर्चना करके अन्य संसारी लोगोंको इस सरस भक्तिमार्गकी ओर लगाऊँ । उसकी कामना रहती है कि मेरा जन्म भगवद्धाममें हो, जिससे उसके पुण्यदर्शन, उनके पवित्र नामोंका उच्चारण होता रहे, उनके एकान्त भक्तोंकी कृपा मुझपर बनी रहे । उसकी कामना है—

भवन्तु तानि जन्मानि यत्र ते मुरलीरवः ।
कर्णपेयत्वमायाति किं मे निर्वाणवार्तया ॥

'हे श्यामसुन्दर ! यदि मुझे आप जन्म दें तो कृपा करके ऐसे स्थानोंपर वे मेरे जन्म हों, जहाँ तुम्हारी मधुर-मधुर मुरली-की ध्वनि होती हो और मैं अपने कानोंसे उस मधुर मुरली-ध्वनिको सुनता रहूँ, मेरा इस निर्वाण (मोक्ष) की बातचीतसे क्या मतलब ?'

एकान्त भक्तोंकी यह साधना कितनी सीधी, सरल, निष्कपट, सौदेबाजीसे रहित (मुक्तिकी बात तो व्यावसायिकता-की होती है), भगवान्‌की एकमात्र कृपापर ही अवलम्बित होती है, जहाँ जीवका अपना कोई अस्तित्व ही नहीं रहता ।

इस साधनाके लिये कितना सुन्दर आदेश आचार्योंने दिया है—

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं
रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता ।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्
श्रीचैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्राग्रहो नः परः ॥

'कलियुग-पावनावतार श्रीश्रीचैतन्यमहाप्रभुका बतलाया हुआ यह भक्ति-साधनाका आदेश है, जिसपर चलनेका हमारा पूर्ण आग्रह है । श्रीवृन्दावनमें भगवान् श्रीव्रजेशतनय श्रीनन्दराजकुमार एवं श्रीवृषभानुनन्दिनी या कृष्ण-बलरामकी उपासना उस भावसे करनी, जिस भावसे रागानुगा भक्ति करनेवाली या वात्सल्यभाव रखनेवाली व्रजकी वधूजनों (व्रजस्त्रियों) ने की थी । इस प्रेमलक्षणा भक्तिके मार्गपर चलनेवाले पथिकके लिये प्रमाणस्वरूप यदि कोई ग्रन्थ है तो वह श्रीमद्भागवत है और धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूपी पुरुषार्थचतुष्टय हमारा पुरुषार्थ नहीं हैं; अपितु श्रीभगवान्के चरणकमलोंमें, श्रीवृन्दावन-रजरानीमें एवं तद्भावगम्भीरचित्त भगवद्भक्तजनोंमें प्रेम ही हमारा पुरुषार्थ है ।'

कितना सरल उपाय इस मानव-जीवनकी कल्याण-साधनाका आचार्यों एवं उन संत-महात्माजनोंने बतलाया है, जिसने हमारे श्रेय-मार्गको परम सरल कर दिया है !

* * *

'ओ मेरे मन ! गुणगान करो श्रीसीतारामका'

(लेखक—डॉ० श्रीरवीन्द्रप्रताप राव, आर्गेनिक केमिस्ट्री डिपार्टमेंट, यूनिवर्सिटी ऑव् ऐडेलायड, साउथ आस्ट्रेलिया)

ओ मेरे मन ! प्रभुका नाम लो । श्रीसीतारामका गुणगान करो, बावरे ! अनन्तकालसे दिलमें जल रही वासनाकी भयंकर अग्नि तभी बुझेगी, मित्र ! दिलको साफ करो कीर्तनसे, भर दो उसे दिव्य प्रेमकी सुगन्धसे, बिठा लो उसमें प्यारे राधेश्यामको, सबका दिल चुरानेवाले मोहनको । गोविन्दकी विद्यमानतामें तुम्हारा हृदय-कमल विकसित होगा, साथी ! और निर्माण होगा उसमें दिव्य मधुका । इस मधु-पानसे ही तुम्हारे बन्धन कटेंगे, पगले ! और सरल मार्गसे तुम परम आनन्दकी ओर जा सकोगे ।

मेरे सबसे बड़े साथी, मेरे चञ्चल मन, शान्त हो जाओ, प्यारे ! विनम्र बनो—दूर्वादलकी तरह, छोड़ो मान-प्रशंसाको, तजो सारी कामनाओंको । प्रभुका नाम लो बारंबार । अरे ! नाम लेना कितना आसान है, प्यारे ! प्रभुके सहस्राधिक नाम सब समानरूपसे शक्तिमान् हैं । किसी नामके प्रति तुम्हारा प्रेम तुम्हें सत्य-धर्मका उपासक बना देगा, पगले !

हे प्रभो ! कृपा करो मुझपर । कब वह दिन आयेगा जब मैं सांसारिक धन, यश, वासना, प्रसिद्धिको सर्वथा त्याग दूँगा और तुम्हीं मेरे एकमात्र लक्ष्य होगे, माधव ! हे कृष्ण ! तुम कितने बड़े हो—महत्तमसे भी महान् और मैं कितना छोटा हूँ—लघुतमसे भी लघु । तुम्हारी एक कृपादृष्टि ही मेरा कल्याण कर देगी, आनन्दमूर्त्ति !

तुम्हीं आदि सत्य हो, भगवान् ! और मैं जन्म-जन्मान्तरसे सत्यका उपासक । न जाने कैसे मैंने अपनी प्रकृति बिसरा दी है, गोपाल ! कब कहाँ और कैसे—मैं कुछ नहीं जानता, मधुसूदन ! हे मार्गदर्शक, देदीप्यमान, विश्वपोषक प्रभो ! मुझ सत्यधर्म-उपासकके लिये तुम सत्यका मुँह खोल दो ।

प्रभुका नाम लो, ओ मेरे मन !
गुण गाओ श्रीसीतारामका ।
श्रीसीतारामका ।
श्रीसीतारामका ॥

राम-लक्ष्मण—दो शरीर एक प्राण

(लेखक—श्रीदूधनाथसिंहजी)

भरतजीका चरित्र-चित्रण रामायणमें तुलसीदासजीने जिन शब्दोंमें किया है, उससे स्पष्ट है कि उनके त्याग, रामके प्रति महान् अनुराग, पौरुष, रामके इच्छानुसार कर्म करनेमें ही रुचि तथा कर्तव्यपरायणताकी तुलना कहीं नहीं। ऐसी दशामें लोगोंके मनमें इस शंकाका उठना स्वाभाविक है कि क्यों मर्यादा-पुरुषोत्तम रामके साथ भरतका, जो अवस्थामें भी लक्ष्मणसे बड़े थे, नाम न जोड़कर राम-लक्ष्मणकी रट लगायी जाती है और मन्दिरोंमें भी अधिकतर राम-जानकीके साथ लक्ष्मणकी ही प्रतिमा स्थापित की जाती है, जिससे लक्ष्मणका विशेष महत्त्व सिद्ध होता है। यद्यपि भक्तिका आधार विश्वास है, जिसमें शंकाका स्थान नहीं, फिर भी तर्ककी कसौटीपर किसी बात या वस्तुके खरा उतरनेपर उसमें सहज ही आस्था हो जाती है, जिससे आराधकको बड़ा बल मिलता है और ध्यानको केन्द्रीभूत करनेमें सहायता मिलती है।

विभिन्न रामायणोंके अध्ययनसे यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि चारों भाइयों—राम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्नमें आदर्श और अपार स्नेह था; परंतु भाइयोंके पारस्परिक प्रेममें विशेषता यह थी कि लक्ष्मणका रामके प्रति और शत्रुघ्नका भरतके प्रति प्रेम अधिक प्रगाढ़ था, जिसकी पुष्टि निम्नाङ्कित चौपाइयोंसे होती है—

बारेहि ते निज हित पति जानी।
लछिमन राम चरन रति मानी॥
भरत सत्रुहन दूनउ भाई।
प्रभु सेवक जसि प्रीति बड़ाई॥

लक्ष्मण रामसे कितने सम्बद्ध थे और उनका प्रेम कितना अगाध था—इसकी थोड़ी-सी कल्पना मातृपरायण शिशुके उदाहरणसे हो सकती है। जब माँ अपने हिये लगे शिशुको लेकर ऐसी जगह जाती है जहाँके सारे व्यक्ति बच्चेके लिये अपरिचित हों, वहाँ तनिक देरके लिये भी यदि माँ शिशुको छोड़कर कहीं जाती है तो वह यह समझकर कि उसका एक मात्र सहारा छूट रहा है, वह तड़प उठता है और रोकर माँका आँचल पकड़ लेता है, अतः उसे बाध्य होकर बच्चेको गोदमें उठा लेना पड़ता है। श्रीरामके प्रति लक्ष्मणका यह भाव अटूट रहा। जीवनपर्यन्त इसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

माता, पिता, गुरु, पत्नी, भाई, बन्धु, राज्य-पाट, सांसारिक तथा नैसर्गिक सुखकी लालसा इत्यादिका लक्ष्मणको तनिक भी मोह न था। कहीं ऐसा आकर्षण ही उनके लिये नहीं था, जो उन्हें क्षणभर भी रामसे विमुख या उनकी सेवासे विचलित कर सके। इस कथनकी पुष्टिके लिये लक्ष्मणकी उस समयकी दशाका वर्णन करना उपयुक्त होगा, जब उन्हें रामके वन जानेका समाचार मिला था। लक्ष्मण उस समय ऐसे घबरा गये जैसे मणिधर साँप मणि खो जानेपर और मछली जलसे बाहर कर दिये जानेपर व्याकुल हो जाती है। वे काँपने लगे और उनकी आँखोंसे अश्रु-धारा प्रवाहित हो चली। जब उन्हें कुछ न सूझा तो दौड़ते हुए जाकर वे रामके चरणोंमें लोट गये। रामके उठानेपर भी वे हाथ जोड़े खड़े रहे और उनके मुँहसे कोई बात न निकली। यही सोचते रहे कि यदि राम उन्हें साथ वन न ले गये तो उनका होगा क्या। रामने उनका ध्यान राजा दशरथके दुःख, भरत-शत्रुघ्नकी अनुपस्थिति और गुरु, परिवार तथा प्रजाकी सेवाकी ओर खींचा एवं राज्यकाजके ठीक न चलनेके कारण प्रजाके दुःखित हो जानेपर नरकके भागी होनेका भय भी दिखलाया। और भी बहुत-सी नीतिकी बातें कहीं। इन सबके उत्तरमें लक्ष्मणके मुँहसे निकला केवल एक वाक्य कि आप स्वामी और मैं दास हूँ, यदि आप ही मुझे त्याग देंगे तो मेरा क्या वश है। तत्पश्चात् वे दुबारा रामके चरणोंपर गिर पड़े।

थोड़ी देर बाद सँभलनेपर उन्होंने जो कहा, उसे नीचे उद्धृत किया जा रहा है—

दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसाईं ।
लागि अगम अपनी कदराईं ॥
नरबर धीर धरम धुर धारी ।
निगम नीति कहुँ ते अधिकारी ॥
मैं सिसु प्रभु सनेहँ प्रतिपाला ।
मंदरु मेरु कि लेहिं मराला ॥
गुर पितु मातु न जानउँ काहू ।
कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू ॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई ।
प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई ॥
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी ।
दीनबंधु उर अंतरजामी ॥
धरम नीति उपदेसिअ ताही ।
कीरति भूति सुगति प्रिय जाही ॥
मन क्रम बचन चरन रत होई ।
कृपासिंधु परिहरिअ कि सोई ॥

लक्ष्मणकी मनोदशा तथा उनके उपर्युक्त उद्गार उनके राममय होनेके परिचायक हैं, जिनके वियोगमें लक्ष्मणका जीना कठिन ही नहीं वरं असम्भव था। पत्नीसे मिलना तो दूर, माता सुमित्रासे भी विदा माँगने वे तब ही गये, जब रामने उन्हें बरबस उनके पास भेजा। जितने समय वे माँके पास रहे, उन्हें यही भय लगा रहा कि कहीं माता स्नेहके वशीभूत होकर उन्हें वन जानेको मना न कर दें। सब कुछ समझकर ही रामने परिवार, प्रजा तथा राज्यका भार गुरुको उस समयतकके लिये जबतक भरत-शत्रुघ्न ननिहालसे न लौटें, सौंपकर लक्ष्मणको साथ लेकर उन्होंने वनको प्रस्थान किया।

रामका बाल बाँका होते देखनेकी तो कौन कहे, उनके लेशमात्र अपमानका आभास मिलते ही लक्ष्मण आपेसे बाहर हो जाते थे। उस समय श्वसुर, पिता, बड़े भाई तथा अन्य बड़ोंके मानका भी उन्हें तनिक ध्यान नहीं रहता था। सीता-स्वयंवरके समय महाराज जनककी डाँट बताने, परशुरामजीकी खिल्ली उड़ाने, सुमन्तसे विदा लेते समय रामको अकारण ही वनवास देनेके लिये माता-पिताको खरी-खोटी सुनाने तथा भरत-जैसे निष्पाप तथा आदर्श भाईको इस संदेहमें कि वे रामको एकाकी और निःसहाय जान चतुरंगिणी सेना लेकर चित्रकूट उन्हें मारने जा रहे हैं, अपशब्द कहनेमें भी न हिचके। ऐसा नहीं कि लक्ष्मणमें विवेक और ज्ञानकी कमी थी। शृङ्गवेरपुरमें राम-जानकीको जमीनपर शयन करते देखकर जब निषादराजको महान् दुःख हुआ और वह विलखने लगा तो लक्ष्मणने जो उसे उपदेश दिया उससे स्पष्ट है कि वे बड़े ज्ञानी थे। फिर भी रामके प्रति प्रेमकी उनमें इतनी प्रधानता थी कि अपने आराध्यदेवके हितके आगे उनको और कुछ सूझता ही न था। सांसारिक माया-मोहसे वे परे थे और रामके प्रति उनका प्रेम इस पराकाष्ठाको पहुँच गया था कि उनका अपना कोई अस्तित्व था ही नहीं। वास्तवमें लक्ष्मणका चोला या पार्थिव शरीर ही रामसे भिन्न था, अन्यथा राममें वे इतने तन्मय थे कि दोनों भाइयोंको 'दो शरीर एक प्राण' कहनेमें कोई अतिशयोक्ति न होगी।

भरत विज्ञानी रामकी रुचिके अनुसार सेवाको कर्तव्य माननेवाले, नीति-धर्मधुरीण थे और थे व्यवहारकुशल। रामके प्रति उन्हें महान् अनुराग था और वे उनका परम आदर करते थे। रामके मर्यादापुरुषोत्तम होनेका उन्हें भान था, पर साथ ही रामके इच्छानुसार गुरु, माता, पिता, परिवार तथा प्रजाके प्रति अपने कर्तव्यों और उत्तरदायित्वका भी उन्हें ध्यान था। राम-लक्ष्मण जब विश्वामित्रके साथ ऋषि-मुनियोंके कष्टको दूर करने गये तो भरत भाईके वियोगमें अधीर हो लक्ष्मणकी भाँति व्याकुल नहीं हुए थे।

भरत जब रामको मनानेके लिये वन जाने लगे और पूरा परिवार तथा सारे अयोध्यावासी उनके साथ जानेको तैयार हो गये, तब चित्त व्यग्र होनेपर भी

उन्होंने राज्यका प्रबन्ध अस्तव्यस्त न छोड़ा। अनुभवी तथा विश्वस्त सेनानियोंको राज्यकी रक्षाका भार सौंपा। अपनी अनुपस्थितिमें कुशल कर्मचारियोंद्वारा राजकाजके सुचारु रूपसे चलते रहनेका प्रबन्ध किया। मार्गमें सबको समयानुकूल सुख-सुविधा मिले, इस हेतु खाने-पीनेकी सामग्री और बैठने-सोनेके आवश्यक सामान साथ लिया। भरत अपनेको रामका सेवक मानते थे, अतएव सेवा-धर्म निभानेके लिये उन्होंने रामकी भाँति अधिकांश यात्रा पैदल ही की। थके होनेपर भी, रात्रिमें जहाँ लोग विश्राम करते थे, प्रत्येककी वे सुधि लेते थे और माताओंके पैर दबाकर उनकी थकान दूर करते थे। रामके वियोगका दुःख तो था ही, परंतु उससे महान् दुःख उन्हें इस बातका था कि रामके वनवासका कारण उनको बनना पड़ा। भरतको अकारण ही इतना भारी कलङ्क लग जानेसे उन्हें कितनी मानसिक वेदना हुई होगी इसका अनुमान करना भी कठिन है। इन परिस्थितियोंमें भी सबकी सार-सँभाल करना इस बातका द्योतक है कि भरतमें असीम धैर्य, धर्मनिष्ठा तथा कर्तव्य-परायणता थी। यह सब होते हुए भी यदि कोई बात उन्हें असंगत लगी तो विनम्र शब्दोंमें ही सही, उन्होंने अपने स्वामी रामके सामने उसको रख दिया। राम-राज्याभिषेकके बाद जब रामने भरतको जानकीको वनमें छोड़नेको कहा तो ठीक न समझकर इस कामको करनेसे उन्होंने मुँह मोड़ लिया। इसके विपरीत लक्ष्मणने रामकी आज्ञा पाते ही बिना संगत-असंगतका विचार किये उसका पालन किया और जानकीको वे घोर वनमें छोड़ आये। इससे पहले रामके तनिक-से संकेतपर रावण-विजयके बाद लंकामें जगज्जननी सीताकी अग्नि-परीक्षाके हेतु उन्होंने काष्ठ एकत्रित कर अपने हाथों अग्नि प्रज्वलित कर और भी दुष्कर कार्य कर दिखाया था। तात्पर्य यह है कि भरत ज्ञानकी कसौटीपर कसकर ही काम करनेमें विश्वास रखते थे; परंतु लक्ष्मण जो रामकी रुचि समझते थे, वही करते थे और उनकी आज्ञाका पालन बिना किसी सोच-विचारके करते थे। निष्कर्ष यह है कि भरत रामके महान् सेवक होनेके साथ ही परम विज्ञानी थे और लक्ष्मण रामके परम अनुगत अनन्य भक्त। मर्यादापुरुषोत्तम रामने नारदको उपदेश देते हुए कहा—

मोरे प्रौढ़ तनय सम ग्यानी।
बालक सुत सम दास अमानी॥
यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं।
पाएहुँ ग्यान भगति नहिं तजहीं॥

भगवान्‌को भक्त सर्वाधिक प्रिय है, इसकी और भी पुष्टि रामने काकराज (काकभुशुण्डि)को बताते हुए दुबारा फिर की। उनके श्रीमुखसे निकले वाक्योंको तुलसीदासजीने रामायणकी निम्नलिखित चौपाइयोंमें अङ्कित किया है—

सब मम प्रिय सब मम उपजाए।
सब ते अधिक मनुज मोहि भाए॥
तिन्ह महँ द्विज द्विज महँ श्रुतिधारी।
तिन्ह महुँ निगम धरम अनुसारी॥
तिन्ह महँ प्रिय बिरक्त पुनि ग्यानी।
ग्यानिहु ते अति प्रिय बिग्यानी॥
तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा।
जेहि गति मोरि न दूसरि आसा॥
भगतिवंत अति नीचउ प्रानी।
मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥

निस्संदेह लक्ष्मण मन-कर्म-वचनसे रामके अनन्य भक्त तथा दास थे। उनकी कोई न दूसरी गति थी और न अस्तित्व ही। अतएव आराधकोंका उन्हें भरतकी अपेक्षा रामका अधिक प्रिय समझना उचित ही है। इसका यह अर्थ नहीं कि भरतमें रामके प्रति कम प्रेम था। दोनोंकी दो विभिन्न पवित्र प्रेमकी धाराएँ थीं, जो अपने-अपने पथपर चलती थीं।

सूरदास मदनमोहन

[एक भाव-विश्लेषण]

(लेखक—श्रीगोकुलानन्दजी तैलंग 'साहित्यरत्न')

मानव-मनकी सुकुमार रागात्मिका वृत्तियोंकी पृष्ठभूमिमें रूप और रसका जहाँ मङ्गल विधान हुआ है, बाह्य और आन्तर सौन्दर्यकी कलात्मक अभिव्यक्ति हुई है, वहीं और उसी स्थलपर मानो काव्य और संगीतकी, प्रेम और भक्ति-सरीखी उच्चतम आध्यात्मिक साधनाकी संसृष्टि—प्राणप्रतिष्ठा हुई है। कवि, गीतकार, प्रेमी अथवा भक्त—सभी समान रूपसे एक ही रस-तत्त्वके परिपोषक हैं; एक ही भाव-तूलिकासे चित्रित रस, स्वरूपकलाके सजल परिधानमें, उनके द्वारा सज्जित होता है। फिर उन रसिक-मूर्द्धन्य महानुभावोंकी तो बात ही अलग है, जिनमें काव्य, गीत, प्रेम वा भक्तिका विलक्षण सामञ्जस्य है, जो अपनी अलौकिक साधनासे अपने साध्य-आराध्यका ऐसा मूर्तरूप उपस्थापित करते हैं, जिसके निर्वचनमें रस-रागका प्राण-तत्त्व सम्पुटित है।

श्रीसूरदास मदनमोहन-सरीखे भक्त-कवि, कलाकार और प्रेमी, रूप-रागके पारखी, गायक, विधायक—सभी रूपोंमें हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं; पावन-पुण्य व्रज-निकुञ्ज तथा गोष्ठोंकी मादक मधुर भूमिकामें वे श्रीराधा-कृष्ण प्रिया-प्रियतमके माधुर्यका जो स्वानुभव करते हैं, उनके रूप-लावण्यका जो अनुपल आस्वाद पाते हैं, उनके काव्यके परिशीलनसे—उसके भाव-विश्लेषणसे परखिये—

बड़ी-बड़ी अँखियानि साँवरौ ढोटा है अति लौनौ।
अबही तैं मनमथ मन मोह्यौ, आगै अजहूँ हौनौ॥
कहा री, कहौं अँग-अँगकी बानिक नखसिख रूप सुठौनौ।
'सूरदास मदनमोहन' पियकी चितवनमें कछु टौनौ॥

वह जन्मसे ही रूपका जादूगर है, तभी तो मन्मथका भी मन मोहित कर रहा है, किसी 'गोपी-हृदय'की तो बात ही क्या। यह बड़ी-बड़ी सलोनी आँखोंका चमत्कार है, सर्वाङ्ग-श्यामल लावण्यका जादू है। और अभी हुआ ही क्या है, 'आगै अजहूँ हौनौ'……। यह रूप-निधि अनुदिन, अनुपल, प्रवर्द्धमान होगी, यह रूप-सम्मोहन अपनी विश्वविमोहिनी शक्तिसे रसिकोंके तन-मनपर, अन्तर्जगत् और बहिर्जगत्के कण-कणपर छा जायगा, समा जायगा। अङ्ग-अङ्गकी सुढार बानिक, नख-सिखकी लोनी सुषमा कहते नहीं बनती। वे तो उसे 'कछु टौनौ' कहकर, वाणीद्वारा अभिव्यक्त करनेमें अपनेको असमर्थ सिद्ध कर रहे हैं, वह क्या है, कैसा है—एक अनबूझी पहेली बना हुआ है। समग्ररूपमें गोपी-हृदय कवि तो इतना जान पाया है कि यह टौना अङ्ग-अङ्गसे सिमिटकर प्रियतमकी चितवनमें मानो केन्द्रीभूत हो गया है।

त्रिभुवनमें जो भी कुछ सौन्दर्यके नामसे है, वह सब इसी अगाध रूप-निधिका एक कण—एक बिन्दु है। रूप-सौन्दर्यका अधिष्ठाता कामदेव भी जिसके विलक्षण लावण्यसे सम्मोहित है, उसके आकर्षणका अङ्कन कैसे हो? अद्भुत रंग, अद्भुत रूप, अद्भुत रसकी मर्यादा जिसने स्थापित की, उस 'त्रिभुवनकमनं तमालवर्णं' की अनिर्वचनीयता कविके ही शब्दोंमें देखिये—

माई री, यह अद्भुत रंग।
अंग-अंग की बानिक मोपै कहि न परै, काम कौ मन हरै भ्रकुटि भंग॥
त्रिभुवन की सोभा एक रोमपर वारि डारौं, उपमा सकल डोलति लागी संग।
'सूरदास मदनमोहन' पिय सोभासिंधु, पार न पावै छबि के तरंग॥

निस्सीम शोभा-सिन्धु अनुक्षण उच्छलित-तरङ्गित हो रहा है, नीलाम्बुज-श्यामल स्वरूप-सागरकी नील परिधियोंमें हिल्लोलित अङ्ग-अङ्ग माधुरीको अभिव्यक्तिकी परिसीमाओंमें कौन बाँध सकेगा? 'नेति-नेति'की चरितार्थता यहीं तो परिलक्षणीय है। रोम-रोममें रम रही कान्तिमती छवि-तरङ्गों, उनकी निर्बन्ध क्रीडा-कल्पनाओंको मूर्त्तरूप देनेकी किस कविमें, किस कल्पनाके धनी विलक्षण चित्रकारकी तरल तूलिकामें सामर्थ्य है। एक-एक भ्रकुटि-भङ्गिमा, एक-एक दृष्टि-निक्षेप, चारु चितवनकी चञ्चलता, अधरोंका मन्द-मधुर स्फुरण—सभी कुछ तो इतना मादक, इतना मञ्जुल-मधुर है कि बेचारा काम भी उनके आगे पराभूत—पराजित है। किस-किसका निर्वचन किया जाय, किसको क्या उपमा दी जाय, यथातथ्य स्वरूप-निदर्शनके लिये, 'उपमा सकल डोलति लागी संग'……'यह कहकर ही कविकी वाणी कुण्ठित, गतिमें अवरोधित हो जाती है, लड़खड़ा जाती है। इन छवि-तरङ्गोंका पार पाना सहज-सुलभ नहीं। 'त्रिभुवनकी शोभा एक रोमपर वारि डारौं'……

कहिये, अब क्या रहा कहनेको; फिर भी बहुत कुछ

कहना है । कविका मन रूप-गरिमासे दबा-दबा···रसमाधुरीसे पगा-पगा, कुछ कहे बिना रह भी नहीं सकता । 'बदन-सुधा-सरसी' का एक रूपक सहसा कलमकी नोकसे उतरकर शब्द-साधनामें बँध गया—

बदन सुधा सरसी तामें नैन कमल रँगमगे ।
बरुनीके उपल दल चंचल चितवनि पगन गमन डगमगे ॥
मकरंद पान भार भरे फिरि उठि बैठत कुटिल अलक सगबगे ।
सूरदास मदनमोहन ठाढ़े गोदोहन समय कुंडल रबि जगमगे ॥

गो-दोहनकी सरस बेलामें सजीव मूर्तिमन्त मुख-माधुरीका एक साङ्ग रूपक यहाँ उन आरक्त-उत्फुल्ल नेत्रोंकी कल्पना कीजिये, जिन्हें कोमल कमलका उपमान देकर, कविने समग्र मुखमण्डलमें एक अमिय सरोवरकी मञ्जुल कल्पना पायी है । उसमें भी साङ्गता उसका अपना कवि-कौशल है । रँगमगे नयनोंसे हृदयके किन्हीं अन्तःस्तरोंमें विरमती रँगमगी भावनाएँ सहज रूपसे स्फुरित हो रही हैं, मानो उस रूपनिधिका अन्तस्सौन्दर्य नयन-युग्मके इस बाह्य सौन्दर्यसे संवलित होकर एक विलक्षण माधुर्य—एक अलौकिक मादनभावकी सृष्टि कर रहा है । इस रूप-सृष्टिका वैभव अनुक्षण इतने परिमाणमें इतने आवेगसे बिखर-निखर रहा है कि उसे सहेजने-सँवारनेमें बरौनियोंकी कोमल पंखुरियाँ अपनेको अक्षम पाती हैं । पलकोंकी चञ्चलता, चल चितवनकी उन्मनतासे यह भावावेश स्पष्ट निदर्शित हो रहा है । धीरे-धीरे यह भावावेश क्रम-क्रमसे अङ्ग-अङ्गमें समाहित होता जा रहा है । जब दृष्टि ही अस्थिर है, डगमगा रही है, तब अन्य अङ्गोंकी प्रक्रियाएँ, उनकी गति-मति अचञ्चल कैसे रह सकती हैं ? मन डगमगा गया, तन डगमगा गया, पग इधर-उधर पड़ रहे हैं । इस 'सुधा सरसी' का सब कुछ सुधामय है, उसीका यह रगमगापन है, डगमगापन है । यह वह प्रशान्त, सर्वाङ्ग-विलसित मादकता है, जो समूचे कमल-कोषको अपने झीने आवरणसे सम्पुटित—संकुलित किये हुए है । हृदयसे, रग-रगसे सिमिटकर नयन-पुटोंकी परिसीमाओंमें समाया हुआ अनुराग-राग ही तो यहाँ वह मधु-मकरन्द है, जो रसिकजनोंके लिये संजीवनी प्रदान कर रहा है । इस रूपक-में उन रसिकोंकी प्रतीक, श्यामसुन्दरके नयनसरोजके आस-पास बिथुरी रस-मुग्ध, मधु-लुब्ध अलकावलियाँ ही बतायी गयी हैं, जो इतनी भाग्यशालिनी हैं कि उन्हें उन्मुक्त, धित रस-पान करनेको मिल रहा है । ये 'कुटिल' और यह 'मकरन्द-पान', पल-पल प्रवर्द्धमान उनकी कैसी मद-विभोर स्थिति है कि रसोन्मादमें वे रह-रहकर उठती, फिर बैठती हैं, उस रस-कोषपर, और—कुछ और पानेकी बेचैनी, अनमनी अधीरताके साथ । 'मकरन्द-पान' का कण-कण करके, बिन्दु-बिन्दु करके भार जो बढ़ रहा है । क्या वे सँभाल सकेंगी, इस रसावेगको ? अलकोंके लिये एक सुन्दर हेतूत्प्रेक्षा है ।

यह रही एक पक्षकी स्थिति—श्यामसुन्दर मदनमोहनके रूप-रागकी अभिव्यञ्जना । अब इसका दूसरे पक्षपर—इस रूपमोहिनीकी प्रतिक्रिया गोप-ललनाओंपर, स्वामिनी राधापर, भक्त कविकी लेखनीसे चमत्कृत देखिये—

एरी, पाँयनिकी चंचलता क्रम क्रम
ऊँचे चढ़ि चढ़ि सुदीरघ दृगनि गई ।
उत तैं उतरी सिथिलताई मंद मंद
गति तिनि पाई चरननि की सरन लई ॥
उत नितंब स्थूल होत अति अनूप
सबल मध्य देस तातैं ऐसैंही कटि छीन भई ।
'सूरदास मदनमोहन' पिय जोवन सैसव झगरत जाने ।
तब रोमावलि मरजादा दैकै तनमें ठाहर दुहनी दई ॥

यहाँ नायिकाके हृदयमें शृङ्गारके स्थायी रति-भावके सम्पोषणमें सहयोगी दो संचारी भावोंकी एक साथ स्थिति बतायी है—चञ्चलता और शिथिलता । यह भाव-शबलताका लक्षण है । रूप-रागका एक साथ परिपाक है । यहाँ कवि यौवन और शैशवके आगम-निगमको लक्ष्य कर एक वयः संधिकालीन संघर्षकी कल्पना कर रहा है । दो आवेग दो दिशाओं, विरुद्ध दिशाओंसे बढ़े आ रहे हैं । ये हैं रसावेग । समग्र रूप-राशि मानो दो भागोंमें विभक्त हो गयी है । मध्यदेशपातिनी, कटितटवर्तिनी रोमावलि-शृङ्खला इसकी विभाजक रेखा है । नयन और चरण उसके दो सुदूर छोर हैं । इस रस-द्वन्दके पूर्व चरणोंमें चञ्चलताकी गति विद्यमान थी, उनमें एक यौवनसुलभ भावोन्माद था । उधर नेत्रोंमें बाल-सुलभ कुतूहलकी स्थिरता, जिज्ञासा-जन्य गति-कुण्ठाका भाव था, किंतु अब रूप-वय एक ऐसे रसबिन्दुपर आ टिके हैं, जहाँ उनमें एक-दूसरेको आक्रान्त कर लेनेकी आकाङ्क्षा प्रबल होती जा रही है । यौवन और शैशवके बहिर्द्वन्द्व, उद्घोषित संघर्षकी भूमिका तैयार होती जा रही है । उसीका सरस परिणाम है कि चरणोंकी चञ्चलता एक सैन्यावेगके साथ क्रम-क्रम ऊर्ध्व गति पा रही है, सुदीर्घ नयनाञ्चलमें समाहित होती जा रही है । उसके सम्मुख

पक्ष; नयनोंके भाव-सैन्यपर इसकी प्रतिक्रिया हुई, प्रतिरोधात्मक गतिविधियाँ सामने आयीं। उनकी अचञ्चलता उसी क्रमिक गतिसे, धीरे-धीरे निम्नगामिनी हुई और उसने चरणोंका आश्रय लिया। 'चरननि की सरन लई' से स्पष्ट ध्वनित है कि वह नेत्रागत शिथिलता, चरणोंको भाव-विजड़ित करते हुए भी, उसकी चञ्चलताको अभिभूत न कर सकी, वह उसके प्रति आत्मसमर्पित हो गयी। यौवनके उद्दाम आवेगरूप चञ्चलतासे पराजित, सर्वांशतः पराभूत चञ्चलता अङ्गाङ्गपर पूर्ण विजयिनी हुई, वह एक चक्रवर्ती सम्राट्की भाँति शिथिलताको अनुशासित कर रही है—एकदेशीय मण्डलाधिप वा जनपदीय करद राजाके रूपमें। यही शैशवपर यौवनकी विजय है। अवश्य ही, पराभवके बाद भी शिथिलताने अपना आवेग खोया नहीं है। वह पुनरपि ऊपर उठनेका प्रयास कर रही है, ऊरु-नितम्बकी स्थूलता, कटिकी क्षीणता उसके छोड़े हुए वा छोड़े जा रहे भारका प्रमाण है। किंतु रोमावलियाँ उसे एक मर्यादा दे रही हैं, यह यौवन और शैशवके बीच एक युद्धविराम-रेखा है, जिसका अतिक्रमण अशक्य है, अस्वाभाविक भी। भौतिक विज्ञान इसका साक्षी है। गुरुत्वाकर्षण-शक्तिसे भारी वस्तु नीचेकी ओर आयेगी, हलकी वस्तु ऊपरको उठेगी, उसका स्थान ग्रहण करनेके लिये। शिथिलता और चञ्चलतामें यही गति-विनिमय हुआ है, गोपाङ्गनाकी रूप-माधुरी मानो रसिकोंकी एक प्रयोगशाला—रसायनशाला है, जहाँ भारी भरकम शिथिलतापर हलकी फुलकी चञ्चलताकी अपूर्व विजय सिद्ध की गयी है।

इस चञ्चलतासे अभिभावित गोपीकी रूप-छविको कविने और आगे निखारा है। श्यामसुन्दरसे उसे इतना रूप-सम्मोहन मिला है कि वह उसे अपनेमें सहेज-समेट नहीं पाती। उसकी बिखरती-सँवरती रस-चेष्टाओंको आँखोंमें, हृदयमें भर लेनेकी आप भी चेष्टा कीजिये—

आधौ मुख नीलांबर सों ढाँकै, आधौ मुख अलक बिथुरी सोहै।
एक दिसा मानों मकर चाँदनी,
एक दिसा मानों बिजुरी कौंधै, जब हँसि हरि मन मोहै॥
कबहुँ कर पल्लव सों केस निवारत, पाछैं ढारत
तब निकसत संपूरन ससि सनमुख जब जोहै।
'सूरदास मदनमोहन' छिनु छिनु न्यारी न्यारी छबि सोहै,
और त्रिभुवन में उपमा को को है ?

कितना भावपूर्ण रूपक है! किसी रूप-सम्मोहनकी वेलामें अपने बिखर-बिखर पड़ते हुए मुख-लावण्यको समेटती-सी उस गोपीकी चञ्चल चेष्टाओंकी कल्पना कीजिये। नीलाञ्चलके फीके-भीने आवरणमें अपनी सौन्दर्य-माधुरी उससे बाँधते नहीं बनती। नील पिछौरीसे आधा मुख ढँका हुआ है, आधेपर बिथुरी भँवराली अलकावलियाँ भी आवरणका ही काम दे रही हैं; किंतु इससे उसकी मुख-छवि पूरी तरह सम्पुटित, निमीलित नहीं हो पा रही है। यह आंशिक उन्मीलन-निमीलन ही उसकी रूप-ज्योत्स्नाको और निखार रहा है। जब कभी वह कोमल कर-पल्लवोंसे अलक-संवरण करती है, केश-राशिको समेटकर पीछेकी ओर ढार देती है, तब तो उस सम्पूर्ण अनावृत चन्द्रानन-कान्तिका कहना ही क्या? सुनील आवरणके भीतर भी, मुखके आधे भागपर, एक पार्श्वपर, मकराकृति कुण्डलिकाओंकी झलमलाहट शुभ्र चन्द्रिकाकी समुज्ज्वल किरणोंकी भाँति समुद्भासित है; उधर दूसरी दिशामें, बिथुरित साँवल अलकोंकी ओटमेंसे, किसी क्षण मुक्त हास्य-स्मिति-रेखा एक विद्युच्छविका-सा चित्र उतार रही है। सुदूर-सुदूर क्षितिजके छोरोंको छूते हुए प्रशस्त नील गगनके बीच समुज्ज्योतित पूर्णेन्दुका विकास, किसी क्षण नील-श्याम बदलियोंके झीने आवरणमें उसका अर्द्धोन्मीलन-निमीलन, उसके समीप एक पार्श्वपर कुन्तल-मेघमालाओंकी विरन, कभी उनका निरावरण तो कभी संवरण और इस आँख-मिचौनीमें कलित कौमुदीका प्रसारण-संगोपन, कभी समग्र बिम्ब-परिदर्शन, कभी घन-घटाके बीचसे सहसा बिजुरीकी कौंध—यह सारा-का-सारा दृश्य कविने अपनी भाव-तूलिकासे गोपीके मुख-मण्डलपर प्रतिबिम्बित किया है। क्षण-क्षण उदीयमान रसानुभावोंकी अपनी-अपनी अनूठी छवि है। कवि इनके लिये विविध उपमानोंका विधान करते हुए भी संतुष्ट नहीं होता, 'और त्रिभुवनमें उपमाको को है?' कहकर अपनेको असमर्थ पाता है। फिर ऐसे अनुपमेय सौन्दर्य-राशिसे उसके एक ही मन्द-मधुर अधर-स्फुरणसे, रूप-राशिके अगाध निधि स्वयं श्रीहरि भी क्यों न सम्मोहित हो जायँ?

यहाँ तो इतनी विलक्षणता है कि स्वयं गोपी--श्यामाजू अपने ही अङ्ग-अङ्ग-लावण्यपर रीझ रही हैं—

स्यामाजू अपुनौ रूप देखि रीझि रीझि
नैकहु दर्पन दूरि न करति।
आपुनी छबि जु निहारति, आपुनौ तन मन वारति,
बिबस होति प्रतिबिंब के पाइँनि परति॥

कबहुँ स्याम तैं सकुचि मानति जिय अनुमानति
या ही सौं जु प्रीति इहिं डर डरति ।
'सूरदास मदनमोहन' पिय पाछैं दुरि देखत दृष्टि न इत उत टरति ॥

हाथमें लिये हुए दर्पणपर अपने ही रूपका प्रतिबिम्ब पड़ रहा है । अपलक उसपर दृष्टि टिकी हुई है । उसे दूर नहीं करतीं, उसपर तन-मनसे न्यौछावर हो रही हैं—आपपर आप ही, कितनी अद्भुत मोहावस्था है ! इस अनूप रूप-मोहिनीपर वे सशङ्क भी हैं—यह सोचकर कि कहीं इसकी मोहासक्ति इतनी प्रगाढ़ और प्रबल न हो जाय कि प्रियतम श्यामसुन्दरको ही वे भूल जायँ, उनसे विलग हो जायँ । इसीलिये 'बिबस होति प्रतिबिंबके पाइँनि परति'—उधर पीछे छिपकर खड़े हुए मनमोहन भी इस रूप-लीलाको देख रहे हैं—प्रियतमा श्यामाकी स्वरूपासक्ति-विवशता और मनोमुग्धकारिणी मधुर प्रतिच्छविकी ओर एकटक नेत्र लगाये—अचञ्चल, अविचल ।

आजका रूप-शृङ्गार भी तो अनिर्वचनीय है, जिसके प्रति श्यामसुन्दरकी भी आसक्ति इतनी बढ़ती जा रही है कि वे वैसे ही प्रतिमानोंको अङ्गीकार कर अपनी प्रियतमाके साथ आन्तर और बाह्य, दोनों रूपोंमें एक रूपरसता ग्रहण करनेको लालायित हैं । इस शृङ्गार-प्रसाधनका विनिमय वा समीकरण किस रूपमें हुआ है, कविकी वाणीमें देखिये—

तेरे तन कौ बरन तमहरन देखि देखि
स्याम नव पीतांबर उर धार्‌यौ ।
तैं धार्‌यौ नीलांबर और स्याम मनि कंठ
नैननि अंजन दै चिबुक स्याम बिंदु न्यारौ ॥
मन तौ हुतौ एक पहिलैं ही या तन अदलि
बदलि एक भयौ यातैं एहिं बिचार्‌यौ ।
'सूरदास मदनमोहन' स्याम स्यामा
प्रीति परस्पर दोउन अपुनपौ वार्‌यौ ॥

यही एकात्मभाव—तद्रूप-तादात्म्य-भाव है । श्यामाके तमहरन गौरवर्णके प्रतिरूप नव पीताम्बर, नीलाञ्चलके स्थानपर नील कण्ठमणि और श्याम अञ्जनके उपमानमें चिबुकपर श्याम-बिन्दु । कितना सुन्दर रूप-विधान है । एक मन तो थे ही, अब दोनों एक तन भी हो गये । दोनों एक-दूसरेमें 'अपुनपौ' विलय कर दें, यही तो प्रेमका पावन आदर्श है । उनके तन-मनके नित्य साहचर्यका निर्वचन ही ये पंक्तियाँ भी कर रही हैं—

माई री, राधा, बल्लभ बल्लभ, राधा
—वे इनमें, उनमें वे बसत ।
घाम छाँह इत घन, दामिनी उत
कसौटी लीक ज्यों लसत ॥
दृष्टि नैन ज्यों स्वाँस, बैन त्यों
ऐन मैन ज्यों गसत ।
'सूरदास मदनमोहन' पिय प्यारी
मैं देखे सम्मुख हँसत ॥

कितना अभेद-विधान है, अद्वैत-सिद्धि…प्रणय-रागकी परमावधि । 'वे इनमें, उनमें वे बसत' की स्थितिमें विलगाव रहा क्या ? यह तो धूप-छाँह, घन-दामिनीका नित्य-संबंध है । कसौटीपर कसे हैं, दोनों ही खरे; प्रणय-रसमें परम पारंगत । 'नैन, बैन, ऐन, मैन' सभीमें तो निरवधि अविच्छिन्नता है । एक रूप-रसावेश, भावोन्मादमें डूबते-उतराते…रस-लीलाओंमें नित्य-निमग्न वे किस प्रकार चले जा रहे हैं, कविने एक स्थलपर निरूपित किया है—

चले जात नव गजेंद्र गति टेढी काम गली।
रस के भरन अनुसरन बरन के,
पग के धरन मानों प्रेम कली॥
उमँगि मिले तन मन हिय जिय सों,
छबि है मानों रंगथली।
'सूरदास मदनमोहन' नीके बने,
मोहिनी सी छाइ गई रंगरली॥

'टेढी काम गली'…अटपटी प्रीतिकी साँकरी खोरिमें निर्बाध गतिसे चले जाना सामान्य बात नहीं, गज-गतिमें एक उन्मत्तता होती है । आत्म-विभोरताकी मस्ती, बेखबरी होती है । श्यामा-श्याम उसी रस-विभोरतामें उमँग-उमँगकर परस्पर मिल रहे हैं । आज 'तन, मन, हिय, जिय' एक हो रहे हैं । आन्तर और बाह्य रसस्थितिमें समीकरण है । सर्वत्र एक-सा आवेग, एक-सा उल्लास, विलास, आज रूप रागसे और राग रूपसे परस्पर अनुप्राणित हो रहा है । श्यामा-श्यामके रूप, वर्ण और उनके तन, मनमें पले रस, वर्ण…शृङ्गारके अधिष्ठातृदेव श्रीकृष्णके श्याम रंगको दृष्टिमें रख कर ही कविने उनमें 'गज-गति' की उद्भावना की है…उन गज-गतिकी, जिसके मार्गमें आनेवाली वस्तु पददलित नहीं होती, किंतु पद-पदपर जो स्वयं प्रेम-कलिकाओंको विक देती जा रही है । जहाँ रसराज मूर्त्तिमान् शृङ्गार दम्पति प्रवर्तमान है, वहाँ कलियोंके पाँवडे बिछते जायँ, इसमें विल

ही क्या ! प्रिया-प्रियतमकी रँगरेलियोंके साथ उनकी छविसे एक मोहिनी-सी छा रही है, आज तो ।

श्यामा-श्यामके इस एक रूप-रस, राग-रंगका वर्णन करते कवि थकता नहीं । नित्य-नये रूपकोंमें वह उसके परिदर्शन करा रहा है । उनकी प्रणय-चातुरी, नव-नव खेलाओंमेंसे एकका साङ्गरूपमें रसास्वाद लीजिये—

चौंप चपरि तलप रचि रचि
सुभग पुलिन बिसात सँवारि ।
कटाच्छनि की गिनति नहीं बैठे सनमुख दोऊ,
खेलत स्यामा स्याम दृगपासे ढारि ॥
दोऊ चतुर प्रबीन जुग प्रीति न छूटै
हावभाव तरंग तेई रंग रंग सारि ।
'सूरदास मदनमोहन' प्रिया नव नव खेल रचत
लग्यौ तन मन दोऊ जीत न हारि ॥

एक-दूसरेके प्रति 'चौंप' की चौपर सँवारी गयी है । किसी सुभग पुलिनके बीच, लता-वल्लरियोंकी शीतल छाँह-तले, एक तल्पकी रचना करके, दोनों आमने-सामने बैठकर खेल रहे हैं । इस रङ्गशालाके ये दोनों परम प्रवीण खिलाड़ी हैं । दृग-पाँसोंकी ढरनके साथ अनगिन कटाक्ष-निक्षेप ही उनके दाँव हैं, जिनकी संख्या आँकी नहीं जा रही है । बस, रंग-तरंग, हाव-भाव, उमंगकी गोटियाँ दोनों ओरसे बराबर चली जा रही हैं । दोनों रस-चतुरकी प्रीतिका एक बार बन पड़ा 'जुग', दोनोंकी 'जोट' छूटती नहीं । फिर, किसी जीत-हारके परिणामपर नहीं आ पाते । इस प्रेम-चौपड़में दोनों तन-मनसे जुटे हुए हैं । जान पड़ता है, यह नव-नव खेला अनन्तकाल-तक, युग-युगतक चलती रहेगी । नित्य-सनातन प्रीतिकी कैसी सुन्दर कल्पना है ! श्यामा-श्यामका यह प्रेम-व्यापार, नित्य-रस-विहार भक्तोंके हृदयमें नित्य-रस-स्फुरण कराता रहेगा और 'श्रीसूरदास मदनमोहन'-सरीखे भावुक कवि-कलाकार उनके रूप-रागका अनुगायन कर शाश्वत आनन्द-रसानुभूति देते रहेंगे ।

दुर्वचन

(लेखक—विद्यावाचस्पति पं० श्रीगणेशदत्तजी शर्मा 'इन्द्र')

'वाचं ते शुन्धामि' (यजु० ६ । १४)

मैं तेरी वाणीको शुद्ध करता हूँ । यह वेदवाक्य हमें शिक्षा देता है कि वाणीकी पवित्रता आवश्यक है । जीवनमें वाणीका बड़ा गहरा प्रभाव है । मानवीय शक्तियोंमें वाक्-शक्ति सर्वोपरि है । संसारका ऐसा कोई कार्य नहीं, जो इसकी सीमाके बाहर हो ।

जिस प्रकार प्रत्येक वस्तुके दो पहलू होते हैं, उसी तरह वाणीके भी दो पहलू हैं । जिन्हें हम शुभ-अशुभ, पवित्र-अपवित्र, श्रेष्ठ-निकृष्ट, भद्र-अभद्र, उच्च-नीच, स्तुत्य-निन्द्य आदि संज्ञा दे सकते हैं । वाणीका सदुपयोग व्यक्तिको महान् बनाता है तो दुरुपयोग उसे हीनता प्रदान करता है । आज लोक-विश्रुत पुरुष वाणीके कारण ही सम्मानार्ह, पूज्य एवं विश्ववन्द्य हैं । बड़े-छोटे, भले-बुरे, उच्च-नीच, शरीफ और बदकी पहचान उसकी वाणीसे होती है ।

वाणीकी अधिष्ठात्री वाग्देवी सरस्वती है, जिसका आसन जिह्वा और निवासस्थान मुख है । सरस्वतीको पवित्र, ब्रह्मज्ञान-विचार-रता, आदिशक्ति, विश्वव्यापिनी, वीणा और पुस्तक धारण करनेवाली, स्फटिक मालासे युक्त, पद्मासनस्थिता, जड़ता एवं अज्ञानहारिणी, अभयदात्री और हंसारूढा आदि विशेषणोंसे सम्बोधित किया गया है । वस्तुतः देव-देवियोंमें यही एकमात्र ऐसी देवी है जो शस्त्रास्त्रादि आयुधोंसे रहित है । वाग्देवी शान्ति, संतोष, ज्ञान, स्नेह, प्रेम, दया, सहिष्णुता, आनन्द आदि विविध सद्गुणोंसे युक्त है । रसवती ही सरस कही जा सकती है और सरसवती ही सरस्वती है । सरस्वतीका आसन जिह्वा होनेके कारण ही जिह्वाको रसना कहा जाता है । माया-मोह-मदान्धकारभेदिनी तथा तापत्रयोन्मूलिनी वाग्देवी सरस्वतीके उपासकको वाणीकी पवित्रताका सदैव ध्यान रखना चाहिये ।

'सत्यपूतां वदेद् वाचम् ।' इसीलिये आवश्यक है कि वाणीकी पवित्रता नष्ट न होने पाये । और पवित्रताकी रक्षाके लिये ही 'सत्य'को धर्मके दश अङ्गोंमें इसीलिये रक्खा गया है । मीठे वचन वाणीको पवित्र तथा कटुवचन उसे अपवित्र बनाते हैं । मिष्ठभाषी आदरका पात्र होता है और कठोर वचन बोलनेवाला अनादर पाता है । मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षियोंतकमें भी यही नियम लागू होता है । गधेकी रेंकन किसीको भी नहीं सुहाती, जब कि गौका रँभाना कर्णप्रिय होता है । कौवेका स्वर चित्तको क्लान्त कर देता है तो कोयलकी आवाज मनको आनन्द पहुँचाती है ।

दुर्वचनोंको अग्निस्फुलिङ्ग कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी । दुर्वचन मुखरूपी धनुषसे फेंके गये अदृश्य बाण

हैं—ऐसे बाण जो विष-बुझे बाणों-से गहरे पैठकर मनुष्यके मन और आत्माको तड़पाया करते हैं। तीरोंके घाव अच्छे किये जा सकते हैं, किंतु दुर्वचनोंके घाव नासूर बनकर आमरण कष्ट दिया करते हैं। इतिहास उठाकर देख डालिये—वाग्बाणोंकी कठिन क्रूरताके उदाहरण अगणित मिल जायँगे। दुर्वचन कहनेवाला व्यक्ति, इसके दुष्प्रभावसे अछूता नहीं रह जाता। जो दुर्वचन बोलता है और जिसके प्रति दुर्वचनोंका प्रयोग किया जाता है, दोनों ही समान परिणाम भोगते हैं। दुर्वाची वचनोंके अङ्गारोंसे स्वयं भी जलता है और दूसरोंको भी जलाता है; इसीलिये श्रुति-वचन है:—

'सम्यं च सव्रता भूत्वा वाचं वदथ भद्रयाः'

सदैव भद्रवाणीका प्रयोग हितकर है, जो सांसारिक तापोंसे तप्त मानवको हिमसीकरकी भाँति शीतलता प्रदान करती है। महात्मा गान्धीके तीन बंदरोंकी मूर्तियोंमेंसे एक बंदर, जो अपने दोनों हाथोंसे अपने मुँहको दबाये हुए है, यही प्रकट करता है कि 'अपने मुँहसे कभी दुर्वचन न बोलो।'

जिनके मन कलुषित हैं, जो स्वभावसे दुष्ट हैं, जिनका जीवन पतित है, जो दूसरोंका अभ्युत्थान सहन करनेमें असमर्थ हैं और जो आसुरी मनोवृत्तिके व्यक्ति हैं, वे ही दुर्वचनोंका प्रयोग करते हैं। अथवा भले मानसोंमें जब आसुरी बुद्धिका उदय होता है, तब वे क्रोधमें आगबबूले बनकर दुर्वचन बोलने लगते हैं। मनोवैज्ञानिकोंने मूर्खोंके छः लक्षणोंमें दुर्वचनको भी एक चिह्न माना है। यथा—

मूर्खस्य षट् चिह्नानि— गर्वो दुर्वचनम-
तिक्रुद्धो दृढवाणी परनिन्दा स्वयंस्तुतिः।

गर्व, दुर्वचन, क्रोध, कठोर वाणी, दूसरोंकी निन्दा और अपनी प्रशंसा—ये छः चिह्न मूर्खताके द्योतक हैं। ये सभी दुर्गुण एक दूसरेसे सम्बद्ध हैं। यह दुर्गुण-परिवार मूर्खोंके हृदयमें बड़े आनन्द और सुखचैनसे निवास करता है। बुद्धिमान् और समझदार व्यक्ति इनसे दूर रहते हैं। उनके मनपर दुर्गुणोंका कोई प्रभाव नहीं होता, बल्कि दुर्गुणोंपर वे अपने सद्गुणोंद्वारा विजय प्राप्त करते हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा है—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥

(३ । ६०)

मनको मथन करनेवाली इन्द्रियाँ ज्ञानी पुरुषोंके मनको भी बलपूर्वक अपनी ओर खींच लेती हैं। क्योंकि—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

(२ । ६२, ६३)

जो मनुष्य विषयोंका ध्यान करता है, उनमें उसकी आसक्ति बढ़ती है। आसक्ति कामनाओंका मूल है। कामनाओंकी पूर्ति न होनेपर क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोधसे विवेकशक्तिका लोप हो जाता है। विवेकके अभावमें मस्तिष्कमें भ्रम उत्पन्न होना स्वाभाविक है। स्मृतिविभ्रमसे मनुष्यकी बुद्धि क्षीण हो जाती है और बुद्धिके अभावमें मनुष्यका पूर्णतया नाश हो जाता है। अर्थात् मनुष्यकी बर्बादीका मूलस्रोत इन्द्रियोंका विषयोंकी ओर बढ़ना है।

मानव-शरीरमें एक इन्द्रिय तो है नहीं, जिससे जूझकर मनुष्य अपनी रक्षा कर सके। यहाँ तो अनेक हैं, जिन्हें दो प्रकारोंमें विभाजित किया गया है। यथा—कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय। प्रत्येक इन्द्रियका वेग बहुत बड़ा है। साधारण उपाय इन्हें दमन कर सकनेमें असमर्थ रहते हैं। जो व्यक्ति इन्द्रियोंके नियन्त्रणका प्रयत्न करते हैं, वे ही इनकी प्रबलताको समझते हैं। जो इनके संयमका प्रयत्न नहीं करते, वे क्या जानें कि इन्द्रियोंका वेग कितना प्रबल होता है। नदीके प्रवाहमें पड़कर तैरनेवालेको यह पता नहीं लगता कि प्रवाहका वेग कितना है—पता उसे ही लगता है जो प्रवाहके विपरीत तैरनेका प्रयत्न करता है।

लोग सोचते हैं कि इन्द्रिय-भोग्य विषयोंको अपनेसे दूर रखनेपर इन्द्रियोंपर काबू पाया जा सकता है। कुछ लोगोंका यह भी विश्वास हो सकता है कि विषयोंके भोगसे दूर रहनेपर इन्द्रिय-संयम होता है, किंतु ये धारणाएँ मिथ्या हैं। विषयोंकी विरक्ति मनुष्यको विषयसे दूर रख सकती है; किंतु विषयके आनन्दकी ओर उसका मन उसे खींचता रहता है, इसलिये संयम नहीं हो पाता। जैसे एक व्यक्ति उपवासके समय हठात् अन्नसे दूर रहता है पर उसका मन अन्नके स्वादकी ओर आकृष्ट होता रहता है, इसी प्रकार इन्द्रियोंको बलपूर्वक विषयोंसे अलग किया जा सकता है किंतु इन्द्रियजन्य रसोंके आनन्दका अनुभव मन लेता रहता है। अर्थात् विषयोंकी अभिलाषा हठपूर्वक

किये गये नियमनमें प्रायः बढ़ती ही है, घटती नहीं।

इन्द्रियोंके वेगोंकी तुलना उस भयंकर झंझावातसे की जा सकती है, जिसके वेगमें आये वृक्ष, घर आदि सामने आनेवाले पदार्थ उखड़ जाते हैं, ढह जाते हैं या उड़ जाते हैं। इन्द्रियोंका वेग उस टूटे विशाल बाँधके जलकी भाँति है, जो अदम्य रूपसे आगे बढ़ता हुआ सब कुछ बहा ले जाता है या डुबा देता है। प्रत्येक इन्द्रिय मनुष्यको अपने वेगमें बहा ले जाना चाहती है। जिसकी समस्त इन्द्रियाँ अनियन्त्रित हों, उसकी क्या गति हो सकती है—जरा कल्पना तो कीजिये। थोड़ी-सी असावधानी, ज्ञानी-से-ज्ञानी व्यक्तिकी बुद्धिको झकझोर डालती है, उसके पाँव उखाड़ देती है और न जाने कहाँ ले जाकर पटक मारती है। इसलिये भगवान् श्रीकृष्ण विषयोंसे दूर रहनेका उपदेश दे रहे हैं।

विषयीका ध्यान सदैव इन्द्रियोंके चाञ्चल्यकी पूर्णताकी ओर रहता है। वह इन्द्रियजनित सुखोंकी पूर्णताको ही जीवनकी पूर्णता मान लेता है। इन्द्रियोंके भोगोंका निरन्तर ध्यान करनेवाला व्यक्ति कामनामय बन जाता है। भोगोंकी वासना उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। वासनारूपी ग्राह इन्द्रियरूपी गजेन्द्रको अपनी ओर खींचकर लील जाना चाहता है। मनुष्य प्रत्येक इन्द्रियसे अधिक आनन्द, अधिक रस लेनेकी अभिलाषा करता है। यह कामना सुरसाके मुखकी भाँति बढ़ती हुई मनुष्यको लील जानेका कार्य करती है।

जैसे एक ही प्रकारका पदार्थ खाते रहनेसे दुःखका अनुभव होता है, उसी तरह एक ही भोग बहुत दिनोंतक भोगते रहनेसे उसका आनन्द नष्ट हो जाता है, अतः भोगोंकी विविधताकी ओर वह दौड़ने लगता है। परंतु एक दिन जब यह विविधता भी उसके दुःखका कारण बन जाती है, तब क्रोधकी उत्पत्ति स्वाभाविक है। कामनाओंकी अपूर्ति ही क्रोधका कारण है। फिर वह कामना भोजनकी हो, वस्त्रकी हो, धनकी हो, स्त्रीकी हो किंवा कुर्सियोंकी हो। चुनावोंके समय झगड़े, मनमुटाव, हाथापाई और हत्याएँ कामनाओंकी पूर्तिके अभावमें ही होते हैं। जो उसके भोगोंमें बाधक होता है, उसीपर पागल होकर वह आक्रमण करने लगता है। एक ही भोगके लिये यदि दो व्यक्ति हुए तो फिर खीसें निकालकर श्वानवत् जूझने लगते हैं। अर्थात् स्वार्थ, कामना अथवा इच्छाओंका पूरा न होना ही क्रोधको जन्म देता है। इतिहासोंमें वर्णित युद्ध, रक्तपात, अत्याचार आदिकी पृष्ठभूमि क्रोध है और भोगोंको प्राप्त करनेके बीचमें विघ्न करनेवाला उसका शत्रु बनता है, जिसे वह नष्ट कर देना चाहता है। अर्थात् कामनाओंकी अपूर्ति क्रोधका कारण है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'धनंजय! कामनाओंसे क्रोध होता है, क्रोधसे विवेक नष्ट हो जाता है, विवेक खो जानेपर स्मृतिभ्रम होता है, स्मृतिविभ्रमसे बुद्धिका लोप होता है और बुद्धिनाशसे उसकी पूरी तरह बर्बादी हो जाती है।'

जब मनुष्य कामनाओंके पूर्ण न होनेपर क्रोधी होता है, तब उसकी विवेकशक्ति उसका साथ छोड़कर तमाशा देखने लगती है। क्रोधमें मनुष्य ज्ञानहीन पशुतुल्य हो जाता है। पशुतुल्य ही नहीं, उससे भी आगे बढ़ जाता है, आपा खो बैठता है। बुद्धि उसका साथ छोड़ देती है। मनकी स्थिति बिगड़ जाती है। शरीरमें रक्तका अभिसरण बिगड़ जानेसे वह बेकाबू हो जाता है। उसके शरीरमें बहनेवाला रक्त विवर्ण होकर काला हो जाता है। उसका शरीर काँपने लगता है—पैर थर्रा जाते हैं। साँस फूल जाता है और वाणी लड़खड़ा जाती है। इस प्रकार जब वह सब कुछ खो देता है, तब दुर्वचनोंका आश्रय लेता है। क्रोधमें जब उसके पास कुछ नहीं रह जाता, तब अपशब्दोंका प्रयोग करने लगता है। राजसूययज्ञके समय जब प्रथम-वन्दनीय पुरुषकी पाण्डवसभामें ढूँढ़ हुई, तब श्रीकृष्णका नाम प्रस्तावित होते ही चेदिराज शिशुपाल अपनी इच्छाके विपरीत कार्य होता देखकर अपना संयम खो बैठा। उसके मस्तिष्कके संतुलनको क्रोधने बिगाड़ दिया और वह प्रस्ताव करनेवालेको छोड़कर प्रस्तावित व्यक्ति श्रीकृष्णचन्द्रको अपना लक्ष्य बनाकर दुर्वचन बोलने लगा। सभामें सन्नाटा देखकर उसका हौसला और बढ़ गया। उसने सोच लिया कि 'श्रीकृष्ण डर गया और दब गया।' सभाके सारे सदस्योंके मौनसे उसे बढ़ावा मिला। वह खूब गालियाँ बकने लगा। जब उद्दण्डता, उच्छृङ्खलता तथा असभ्यता धरतीसे उठकर आकाशको छूने लगी, तब सहसा निस्तब्धताको भङ्ग करता श्रीकृष्णका सुदर्शन शिशुपालकी ओर बढ़ा और उसने उस दुर्वचन बोलनेवाले चेदिराजके सिरको काट डाला।

दुर्वचनोंसे अशान्ति उत्पन्न होकर भयका निर्माण

होता है । दुर्वचन मनुष्यको पतित बनाता है। इसमें कोई दो मत नहीं हो सकते; किंतु इस सचाईसे भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि जो दुर्वचन कहता है, वह पतित ही होता है। अर्थात् जो नीच, दुष्ट, पतित या मलिन मनवाला होगा, वही दुर्वचन, परुष वाणी और कठोर शब्दोंका उच्चारण करेगा । संत प्रकृतिका मनुष्य कभी दुर्वचन नहीं बोलेगा, जब कि हीन स्वभावका व्यक्ति सहज ही बार-बार गंदे शब्दोंका प्रयोग करेगा । मनुष्यको अपशब्द बोलनेके लिये क्रोध बढ़ावा देता है । वह उसे ढकेलकर निम्नस्तरपर ले जाकर खड़ा कर देता है। जब मनुष्य अपने स्तरसे नीचे गिर जाता है, तब वह ज्ञानशून्य होकर अनर्गल प्रलाप करने लगता है और क्रोधके दहकते अंगारे दूसरोंपर फेंककर उन्हें पीड़ा पहुँचाना चाहता है— समाजमें, राष्ट्रमें और विश्वमें अशान्ति उत्पन्न करके अपने मनको तुष्ट करना चाहता है; किंतु तुष्टिका यह उपाय—यह मार्ग मूर्खोंका अथवा दुर्जनोंका ही कहा जा सकता है ।

क्रोध सभीको आता है । बुद्धिमान्-मूर्ख, सबल-निर्बल, धनी-निर्धन, सभ्य-असभ्य—सभी इस विकारसे पीड़ित हैं, परंतु ठीक उसी प्रकार जैसे कुछ लोग साधारण ज्वरमें बहुत छटपटाने लगते हैं और कई तेज बुखारमें भी शान्त रहते हैं । मूर्ख, अज्ञानी, हीन मनोवृत्तिके लोग, दुष्ट, असहिष्णु, निर्बलात्मा, क्रोधके वशीभूत होकर दुर्वचन बोलने लगते हैं; किंतु ज्ञानी, विद्वान्, बुद्धिमान्, उच्च विचारवाले, संतवृत्तिके लोग क्रोध आनेपर भी उसके शिकार नहीं बन जाते। दुर्वचनोंको वे गोस्वामी तुलसीदासजीके वचनोंमें—

बूँद अघात सहहिं गिरि कैसें। खल के बचन संत सह जैसें॥

—सिद्ध करके दिखा देते हैं । तात्पर्य यह कि दुष्टोंका क्रोध दुष्टतापूर्ण, संसारमें अशान्ति उत्पन्न करनेवाला होता है तो सज्जनों और विवेकी व्यक्तियोंके क्रोधका नाट्य किसीको हानि न पहुँचाकर परिणाममें सुखका कारण बनता है ।

क्रोधमें ज्ञानी व्यक्ति अपनी वाणीपर संयमका अङ्कुश रखता है, जब कि मूर्खकी वाणी क्रोधमें निरङ्कुश गर्दभकी तरह दुलत्तियाँ झाड़ती हुई कर्कशता उत्पन्न कर देती है । अज्ञानी तथा असभ्य क्रोधके वशीभूत होकर जब दुर्वचन बोलता है, तब वह असभ्य और मातृजातिके अपमानसूचक दुर्वाक्य बोलनेमें भी नहीं शर्माता । इसे सर्वसाधारण 'गाली' कहते हैं । गालियाँ, जब माता और बहनोंके सम्बन्धमें अपमानसूचक फ़ोश लफ़्ज़ोंमें बोली जाती हैं, तब तो गाली बोलनेवालेके हीन विचार और नीच मनोवृत्तिके नग्न दर्शन होने लगते हैं । हीन वाणीसे बोलनेवालेकी कुलीनतापर बट्टा आता है। अच्छे माता-पिताकी संतान कभी भी हीन वचन नहीं बोलेगी । खान्दानी लोगोंके मुखसे कभी दुर्वचन नहीं निकलेंगे । वे दुर्वचन बोलनेवालेके सामने 'अगिनि परी तृन रहित थल, आपहि तें बुझि जाय।' का उदाहरण प्रस्तुत करेंगे ।

जब मनुष्य माँ-बहनोंके प्रति नंगे शब्दोंका उपयोग अपनी वाणीसे करने लगता है, तब वाणीकी अधिष्ठात्री देवी सरस्वतीका कितना दुरुपयोग, कितना अपमान होता है—यह कल्पना भी नहीं की जा सकती । जिस वाणीकी अधिष्ठात्री नारी हो, उसीसे नारी जातिका यह अपमान एक असह्य लज्जाकी बात है । वाग्देवीके माध्यमसे किसीकी माता और बहनोंको दुर्वचन बोलना उन्हें निन्द्य तथा नंगे शब्दोंसे अपमानित करना स्वयं अपना और अपनी ही माँ-बहनोंका अपमान समझना चाहिये । भले आदमी कभी किसीके प्रति दुर्वचन नहीं बोलते या यों कहिये कि भले आदमियोंकी पहचान ही यही है कि उनके मुँहसे क्रोधमें भी कभी दुर्वचन नहीं निकलते ।

हीन मनुष्य ही दुर्वचनोंका प्रयोग करते हैं । दुर्वचन अकुलीनताका चिह्न है । हीन संगतिमें रहकर भी मनुष्य दुर्वचनोंका प्रयोग करने लगता है । इससे यह भी सिद्ध होता है कि दुर्वचनोंका प्रयोक्ता हीन संगतिमें रहा है या रहता है । तात्पर्य यह है कि दुर्वचन बोलनेवालेके हीन कुल, हीन माता-पिता, हीन संगति, हीन संस्कृति और हीन शिक्षणमें तनिक भी संदेह नहीं करना चाहिये । यह दुर्वचन-भाषणकी हीनता मनुष्यको दूर करके अपने चरित्रको उज्ज्वल बनानेकी ओर अग्रसर होना चाहिये । हीनतासे ऊपर उठनेवाला व्यक्ति महानताको प्राप्त होता है और हीनतासे प्रेम करनेवाला पतनकी ओर बढ़ता है । हमें वेदके इस वचनको नहीं भुलाना चाहिये कि—'महान् उच्चगुणोंसे युक्त ज्ञानकी प्रकाशक सरस्वती, भारती और इडा—तीनों इस राष्ट्रमें निवास करें—

तिस्रो देवीर्बर्हिरेदꣳ सदान्त्विडा
सरस्वती भारती । मही गृणाना।
(यजु० २७ । १९)

रामका अन्याय

(लेखक—श्रीराजेन्द्रप्रसादजी जैन)

जब मैं अंग्रेजी साहित्य लेकर प्राइवेट एम्० ए० की तैयारी कर रहा था, उन दिनों उचित मार्ग-निर्देशनके लिये कभी-कभी मेरठ कालिज, मेरठके अंग्रेजी विभागके अध्यक्ष प्रोफेसर जे० सी० विस्वासके पास जाया करता था। प्रोफेसर साहब अब अवकाश ग्रहण कर चुके हैं। मेरा उनसे गुरु-शिष्यका पुराना सम्बन्ध है। जब मैं मेरठ कालिजमें बी० ए० का छात्र था, तब वे हमें अंग्रेजी पढ़ाते थे। हम सब छात्रगण उनकी विद्वत्ता और अध्यापन-शैलीसे बहुत प्रभावित थे। प्रोफेसर साहब अंग्रेजीके अतिरिक्त बँगला और संस्कृत साहित्यके भी अधिकारी विद्वान् हैं। एक दिन जब नाटकोंके विषयमें चर्चा चल रही थी, प्रोफेसर साहबने बतलाया कि भवभूतिका उत्तर-रामचरित संस्कृतका सर्वश्रेष्ठ नाटक है। इसीसे बात सीता-वनवासपर आ गयी और प्रोफेसर साहबने उन्होंने रामका घोर अन्याय बतलाया। मैंने प्रतिवाद करना चाहा तो वे उग्र हो उठे। मैं चुप हो गया। गुरु होनेके साथ-साथ मेरी अपेक्षा रामपर उनका अधिकार भी अधिक है। प्रोफेसर साहब धार्मिक वृत्तिके बंगाली वैष्णव हैं।

एक क्या, धार्मिक वृत्तिके अनेक आस्तिक विद्वान् श्रीरामके पावन चरितमें सीता-वनवासको एक अनुचित घटना समझते हैं और किसी-न-किसी प्रकार विधिका विधान या प्रभुकी लीला समझकर अपने मनको संतोष दे लेते हैं। आधुनिक विद्वान् प्रजारञ्जनकी दुहाई देते हैं। अथवा ऐसा कह लेते हैं कि सूर्यमें भी काले धब्बे हैं। मनुष्य-शरीरमें परमात्मा ही क्यों न अवतरित हो, कोई-न-कोई भूल उससे अवश्य ही बन जायगी। कोई भी स्खलन जिससे न हो, ऐसे मानव-तन-धारीकी कल्पना ही असम्भव है।

ऐसा सब सोचनेवाले भक्त तथा विद्वान् अवतारवादका प्रयोजन ही भूल जाते हैं। अवतार संसारका सुख भोगनेके लिये अथवा नाम और यश अर्जनके लिये नहीं होता। उसका मुख्य उद्देश्य धर्मकी स्थापना है और वह धर्मकी स्थापना केवल दुष्टोंके दमनसे ही नहीं हो सकती। दुष्टोंका दलन धर्म-संस्थापनका एक उपाय है। धर्म-प्रचार दूसरा उपाय है। किन परिस्थितियोंमें दलन अधिक लाभदायक है, किनमें प्रचार—यह चतुर वैद्यकी तरह वही जान सकता है, जिसने धर्म-संस्थापनके लिये ही पृथ्वीपर अवतीर्ण होना स्वीकार किया है। फिर धर्म-प्रचारका भी कोई एक मार्ग निश्चित नहीं किया जा सकता। आस्तिकोंमें धर्म-प्रचार शास्त्रोंके ठीक-ठीक अर्थका खोलना है। जिनकी शास्त्रोंपर श्रद्धा नहीं, वहाँ युक्तिवादसे काम निकालना होता है, शास्त्रोंकी दुहाई देनेसे वहाँ कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। कहीं-कहींपर तो बुद्धिगम्य प्रचार सफल सिद्ध न होकर भावात्मक प्रचार चमत्कारी फल दिखलाता है। बहुत-से लोग किसी भी सिद्धान्तको केवल तभी स्वीकार करते हैं, जब उसके माननेवाले उन्हें विजयी, यशस्वी और तेजस्वी दिखलायी दें। मौलाना रूमने एक कहानी लिखी है कि एक बार एक मुसल्मानोंका क़ाफ़िला एक कट्टर पारसियोंके गाँवमें पहुँचा। थोड़ी देर बाद मुसल्मानोंने देखा कि कुछ पारसी उनके लिये मिठाई-हलवा लिये चले आ रहे हैं। उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ कि यह अनहोनी घटना कैसे हुई! पारसी, जो मुसल्मानोंसे इतनी घृणा करते हैं, आज स्वागतार्थ कैसे आ पहुँचे। पूछनेपर एक पारसीने उत्तर दिया कि मेरी लड़की किताबें पढ़-पढ़कर बहुत दिनोंसे मुसल्मान बननेकी जिद कर रही थी, मैं बहुत परीशान था। आज मुसल्मानोंका काफिला आया सुन पहले तो वह बहुत प्रसन्न हुई; परंतु जब आपके मुल्लाने अज़ान दी तो उसकी भद्दी, कर्णकटु, बेसुरी आवाज सुनकर उसने पूछा कि "क्या मुसल्मानोंका स्वर ऐसा ही होता है।" मैंने उत्तर दिया—"हाँ।" उसने कहा, "तो मैं मुसल्मान नहीं बनती।" आपकी कृपासे मेरी लड़कीका खब्त दूर हो गया। उसके उपलक्ष्यमें यह मिठाई और हलवा भेंटके लिये लाया हूँ।

जैसा रोगी, जैसी रोगकी अवस्था, वैसा ही निदान। कहीं-कहींपर धर्म-संस्थापनाके किसी भी साधनसे काम नहीं चलता, तब हृदय-परिवर्तनके अस्त्रसे काम लिया जाता है। विशेषतः जब अपने ही साथियोंको सुधारना हो और दोष एकाधमें न हो, सामूहिकरूपसे फैला हुआ हो। यह हृदय-परिवर्तनका अस्त्र बिल्कुल उल्टा है। अत्याचारका विरोध करनेके स्थानमें इसमें अत्याचारके सामने बहुत शान्तिपूर्वक सिर झुका दिया जाता है। पीड़ित इसमें धर्मको अधर्म और अधर्मको धर्म नहीं कहता, परन्तु वह अत्याचारका कोई

विरोध नहीं करता—सिवा इसके कि अपने आचरणद्वारा अत्याचारियोंको वह यह समझा दे कि वह तुम्हारे अत्याचारको अत्याचार समझता है। यदि रोग जाता रहे और उसकी कोई खोटी प्रतिक्रिया भी न हो तो समझना चाहिये कि औषध और औषध देनेवाला वैद्य दोनों ही ठीक थे। इसी प्रकार यदि समाजसे किसी दोषको दूर करनेके लिये हृदय-परिवर्तनके अस्त्रका प्रयोग किया जाय और उससे कोई नयी बुराई पैदा किये बिना समाजका वह दोष जाता रहे तो हमें समझना चाहिये कि उस अस्त्रका प्रयोग ठीक ही हुआ है।

इस हृदय-परिवर्तनके अस्त्रके लिये सुधारकको बहुत बड़ा मूल्य चुकाना पड़ता है अपने सुख, वैभव और आरामका। पूज्य महात्मा गांधी अनेक बार इस अस्त्रका सफलतापूर्वक प्रयोग करते थे। अमीर आलम पठानने उनपर छुरा चलाया। पुलिस अमीर आलमको पकड़कर ले गया, परंतु गांधीजीने न्यायालयमें अमीर आलमके पक्षमें गवाही दी। अमीर आलम छूट गया और आजन्म उनका अनुयायी बना रहा। प्रभु ईसाने इसी हृदय-परिवर्तनके निमित्त अपने प्राणोंका बलिदान दिया। ईसाइयोंके धर्मानुसार प्रभु ईसा न केवल परमात्माके पुत्र बल्कि स्वयं साक्षात् परमात्मा भी हैं। उनकी यह मान्यता कि एक ही व्यक्ति पिता-पुत्र दोनों हो कहाँतक युक्तियुक्त है, हमें इसपर बहस करनेकी आवश्यकता नहीं। हमारा अभिप्राय केवल इतना है कि ईसाई-धर्मके अनुसार वे परब्रह्म परमेश्वरके अवतार हैं। फिर प्रश्न होता है कि सर्वशक्तिमान् सृष्टि-नियन्ता होते हुए भी उन्होंने दुष्ट यहूदियोंको दण्ड न देकर प्राण-विसर्जनके मार्गको क्यों ग्रहण किया। उत्तर यही है—हृदय-परिवर्तन-द्वारा धर्म-संस्थापनके लिये। यदि वे दुष्टोंके दलनपर आते तो न केवल सारी यहूदी जाति वरं समस्त रोमन राष्ट्र एवं प्रजाको भी उन्हें नष्ट करना पड़ता और फिर जब कुछ भी शेष न रहता, तब उनके धर्मोपदेशको वृक्षों और पर्वतोंके अतिरिक्त और कौन सुनता? प्रभु ईसाने रोगकी उचित चिकित्सा की—भले ही उस चिकित्सामें उन्हें एक चोर डाकुओं-जैसी* निन्दनीय मृत्युका आलिङ्गन करना पड़ा हो! फल सामने है—आज संसारमें न केवल संख्याकी दृष्टिसे ईसाई सबसे आगे हैं बल्कि सभ्यता और संस्कृतिके प्रत्येक क्षेत्रमें उनका स्थान सर्वोपरि है।

भगवान् रामने भी अयोध्यावासियोंकी निन्दनीय मनोवृत्ति-को सुधारनेके लिये आत्मोत्सर्गके मार्गका अवलम्बन किया। उन्होंने कुछ दुष्ट मनोवृत्तिके नागरिकोंके निर्णयके आगे सिर झुका दिया। सीता-वनवाससे जो उन्हें असहनीय वेदना हुई, उसे उन्होंने चुप-चाप सहन किया और अन्तमें वे न केवल अयोध्यावासियोंको सुधारनेमें सफल हुए बल्कि सीता-परित्याग-को लेकर अयोध्यावासियोंमें पड़नेवाले बुद्धिभेदको भी रोकनेमें सफल हुए। अत्याचारके सामने पूर्णतया नतमस्तक हो जानेपर भी रामने बतला दिया कि सीता-रामकी जोड़ी अविच्छिन्न है, संसारकी कोई भी शक्ति उसे तोड़ नहीं सकती। वनवासद्वारा उन्होंने सीताको एक नये गौरवके साथ स्थापित किया। यदि अग्नि-परीक्षा और परित्यागकी घटनाएँ न घटी होतीं तो पूजनीया तो सीता फिर भी रहतीं; परंतु उनकी कहानीमें वह प्रेरणा न रहती, जो अब है।

राम-कथाके समुचित अन्तके लिये भी सीता-वनवास एक अनिवार्य शर्त थी। अयोध्यावासियोंमें सब गुण होते हुए भी अकारण ही दूसरोंकी नीयतपर संदेह करनेका भयानक दोष था। यदि यह दोष उनमें न होता तो राम-कथाका विस्तार नहीं हो सकता था। दशरथ भरतकी अनुपस्थितिमें रामका युवराज्याभिषेक करना चाहते हैं, सम्भवतः उन्हें भरत-पर विश्वास न हो। दशरथने भरतपर संदेह किया, कैकेयीने दशरथपर संदेह किया कि मेरे पुत्रकी अनुपस्थितिसे क्यों यह लाभ उठाया जा रहा है। परस्पर संदेहका यह वातावरण न होता तो रामका वनवास न होता और फिर राम-कथा कैसे आगे बढ़ती। वनवासके पश्चात् भी लक्ष्मण बार-बार निर्दोष भरतपर संदेह करते हैं। वे चित्रकूटमें आते हैं रामकी चरण-रज लेने, लक्ष्मण कुछ और ही बात सोचते हैं। इस वातावरणका प्रभाव जगन्माता जनक-नन्दिनीपर भी पड़ा। मायामृगके पीछे जब राम चले गये, तब मारीचकी कपट-वाणीको सुनकर सीताजी घबरा उठीं, बार-बार लक्ष्मणको भाईकी सहायताको जानेके लिये कहने लगीं। परंतु लक्ष्मण जो राक्षसोंकी मायाको जानते थे, टस-से-मस न हुए। यदि लक्ष्मण न जाते तो सीताका हरण कैसे होता और यदि हरण न होता तो राम-रावणमें विरोध कैसे बँधता और कैसे

---

* And with him they crucified two thieves, the one at his right hand and the other at his left – Mark 15—27

—और उनके साथ दो चोर क्रासपर चढ़ाये गये, एक उनके दाहिने और दूसरा उनके बायें।

राक्षसोंके विनाशके सम्बन्धमें रामका संकल्प पूरा होता । और लक्ष्मण सीताको भाईकी आज्ञाके विरुद्ध अकेली छोड़कर चले जायँ, इसका इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं था कि सीताके द्वारा उनके चरित्र और नीयतपर ऐसा संदेह प्रकट किया जाय, जिसे सुनकर वे तिलमिला उठें । अयोध्यावासियोंके इस जातीय दोषका, जो कभी-कभी विशेष परिस्थितियोंमें उनमें प्रकट हो जाता है, परिहार करना भी राम-जीवनका उद्देश्य था । क्या ही अच्छा हो यदि सीता-वनवास पढ़कर हम रामके अन्याय और भारतमें नारियोंकी करुणापूर्ण स्थितिपर बहस करनेके बदले बिना बात एक दूसरेपर लाञ्छन लगाने और अकारण ही एक दूसरेकी नीयतपर संदेह करनेकी प्रवृत्तिको सदाके लिये छोड़ दें । आज भी यह बुराई हमारे पारिवारिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवनको नरक-कुण्ड बनानेमें कोई कसर नहीं छोड़ रही है । देखना यह है कि अपने इस दोषको निकालनेमें हम किस प्रकार सफल होते हैं ।

मन एवं इन्द्रियोंसे सावधान !

(लेखक—प्रो० श्रीशैलजानन्दजी झा 'अंगार', एम्० ए०)

गीताके छठे अध्यायके छठे श्लोकमें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको लोक-कल्याणार्थ उपदेश देते हुए कहा है—

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥

अर्थात् जिस व्यक्तिका मन सांसारिक विषयोंमें लिप्त हो, वह स्वयं अपना शत्रु है तथा जिसका मन विषयोंसे निर्लिप्त हो, वह स्वयं अपना मित्र है । दूसरे शब्दोंमें, विषय-वासनाओंमें लिप्त मन पतनोन्मुखी होकर मानवको दानवत्वके महाखड्डमें ढकेल देता है तथा दूसरी ओर, विषय-वासनाओंसे निर्लिप्त मन ऊर्ध्वमुखी होकर देवत्वका दुर्लभ द्वार खोल देता है ।

फिर एक स्थलपर श्रीकृष्णने मानवके नित्य-सुखका रहस्योद्घाटन करते हुए कहा है—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥
(५ । २३)

अर्थात् जो इस पाञ्चभौतिक शरीरके विनष्ट होनेके पूर्व ही काम एवं क्रोधसे उत्पन्न वेगको सहन करनेमें समर्थ हो जाता है, वही पुरुष सत्-चित्-आनन्दका भोक्ता है ।

इतना स्पष्ट हो गया कि काम एवं क्रोधसे मुक्ति पानेमें ही सच्चा सुख है; किंतु चूँकि काम और क्रोधके निवासस्थान मन एवं इन्द्रियाँ हैं, अतः इस परम आनन्दोपलब्धिके लिये हमें मन एवं इन्द्रियोंका स्वामी बनना पड़ेगा और जो इनका दास है, वह सदा दुखी रहेगा ।

एक भुक्तभोगी होनेके नाते मैंने उपर्युक्त श्लोकोंकी आवृत्ति की । कामके जादूकी छड़ीपर नाचनेवाला कौन मुझसे बढ़कर पतित और कामी होगा ? भाई ! लेकिन इसमें मेरा क्या दोष ? काम तो ज्ञानको ही ढक देता है और फिर आगे कुछ सूझता ही नहीं । देखिये, यह अनन्त ज्योतिष्पिण्ड सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको उद्भासित कर रहा है; यह अनन्त पृथ्वी निरवलम्ब गतिशील है; सम्पूर्ण भुवनका कण-कण उस वायुसे व्याप्त है, जो सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये प्राण सँजोये रहता है; किंतु एक कामीके लिये उस अनश्वर चतुर चितेरेकी इस अनन्त लीलाका कोई मोल नहीं । उसे तो बस गोरे चामसे ढँका हुआ अस्थिपञ्जर ही एकमात्र सत्य भासता है । उस

अंधेको मदमाती आँखोंद्वारा छिपे हुए हड्डियोंके दो कोटर नहीं दीख सकते और न वक्षःस्थलपर उभड़े हुए मांसके लोथ और खून ही दीख सकते हैं।

हाय राम ! तुमसे बढ़कर हमें काम ही मधुर लगता है। हे प्रभो ! हमारी क्या गति होगी ? हे पिता ! ज्ञान दो, मनश्चक्षु खोलो; हमारे शत्रुओंका दमन करो, नहीं तो मानव-जीवन निरर्थक ही चला जायगा।

मेरे जिज्ञासु पाठको ! मानव-जीवन सुदुर्लभतर है। यही वह जीवन है, जिसे प्राप्तकर हम अपने सृष्टिकर्त्ताको पानेकी इच्छा पूर्ण कर सकते हैं। किंतु इस शिवसंकल्पके पूर्व एक अटल विश्वास अपने मनमें जमा लेना होगा कि कामके राहगीरोंको प्रारम्भमें विष-दंशित, मृगतृष्णाके फूल मिलते हैं और फिर अन्ततक झाड़ीदार शूल और दूसरी ओर रामके पुजारियोंको प्रारम्भमें कण्टकाकीर्ण राहें मिलती हैं और फिर शबनमसे भीगे, सुगन्धमय पुष्पोंसे सजे प्रशस्त पथ, जो सीधे मंजिलतक चले जाते हैं। किंतु इस मङ्गलमय साधन-पथपर केवल वे ही चल सकते हैं, जो मन एवं इन्द्रियोंके स्वामी हों। अवश्य ही मन एवं इन्द्रियोंका स्वामी बनना अत्यन्त ही कठिन है। अतः आप पूर्ण निष्ठाके साथ भगवान् श्रीकृष्णके उस वचनका सदा चिन्तन करते रहें कि इन्द्रियाँ बली हैं, किंतु मन इन्द्रियोंसे भी बली है; विशुद्ध बुद्धि मनसे भी अधिक शक्तिमती है और आत्मा तो सर्वशक्तिमान् है। भगवान् श्रीकृष्णका यह भी उपदेश है कि इन्द्रियाँ एवं मन विषयोन्मुखी हैं, किंतु विशुद्ध बुद्धि एवं आत्मा तो परमानन्दमें रहते हैं। स्पष्ट हो गया कि हमारे अंदर चार शक्तियोंके दो समूह हैं, जो सदा परस्पर संघर्ष करते रहते हैं। अपेक्षाकृत दो लघु शक्तियाँ अर्थात् मन एवं इन्द्रियाँ विषयोंके दलदलमें फँसानेके लिये भरपूर शक्ति लगाती हैं तथा दूसरी ओर अपेक्षाकृत दो गुरु शक्तियाँ अर्थात् बुद्धि एवं आत्म परमानन्दकी प्राप्तिके लिये सतत प्रयत्नशील हैं। चूँकि दो गुरु शक्तियाँ दो लघु शक्तियोंसे अधिक हैं, अतः अन्ततोगत्वा हमारी विजय निश्चित है। साधन-पथपर चलकर मंजिलतक पहुँचनेवाले जितने भी पथिक आजतक हुए, उनमेंसे किसीने भी भगवत्कृपा तथा धैर्यका सम्बल नहीं छोड़ा और जिसने भगवत्कृपा और धैर्य छोड़ दिया, वह मंजिलतक नहीं पहुँच सका। किंतु यह विजय तुरंत नहीं प्राप्त होती। कारण, संग्राममें मन एवं इन्द्रियोंका केवल एक कार्य है—विषयोंमें रमना। किंतु बुद्धि एवं आत्माके दो कार्य हैं——विशुद्धानन्दमें रमना तथा मन एवं इन्द्रियोंको विषयोंसे विरत कराके उन्हें भी विशुद्धानन्दमें रमाना। यही कारण है कि जय-पराजयका निर्णय तुरंत नहीं हो पाता और अधीर व्यक्ति अपनी विजयको नहीं देख पाता।

अब एकाध संतका दृष्टान्त लेकर उपर्युक्त कथनकी सत्यता आँकनी चाहिये। राम-कृष्ण-चरण-रतिके अभिलाषी तुलसी और सूरको भी कामने खूब पछाड़ा, मन तथा इन्द्रियोंने खूब घसीटा। सूर तो हठी मनके सामने रो-रो पड़े।

'माधव जू, मन हठ कठिन पर्‌यौ।
जद्यपि बिद्यमान सब निरखत, दुक्ख सरीर भर्‌यौ॥

किंतु सूरने धैर्य नहीं खोया और अन्तमें हठी मन सूरका गुलाम बन गया। अब तो वह कृष्ण-चरणको छोड़कर कहीं हटता ही नहीं। सूर तंबूरेपर मस्त होकर गाते हैं——

मेरो मन अनत कहाँ सचु पावै।
जैसे उड़ि जहाज कौ पंछी पुनि जहाज पै आवै॥
जिहिं मधुकर अंबुज-रस चाख्यौ, क्यौं करील-फल भावै।
सूरदास प्रभु कामधेनु तजि, छेरी कौन दुहावै॥

तुलसीदासजी रामकृपासे इन्द्रिय-मनके चक्करसे छूटकर कहते हैं—

अब लौं नसानी अब न नसैहौं ।
रामकृपाँ भवनिसा सिरानी, जागें फिरि न डसैहौं ॥
पायेउँ नाम चारु चिंतामनि, उर कर तें न खसैहौं ।
स्यामरूप सुचि रुचिर कसौटी, चित कंचनहि कसैहौं ॥
परबस जानि हँस्यौ इन इंद्रिन, निज बस ह्वै न हँसैहौं ।
मन मधुकर पन कै तुलसी रघुपति-पद-कमल बसैहौं ॥

अतः हे महत्त्वाकाङ्क्षियो ! तुम जैसे भी हो, वैसे मन तथा इन्द्रियोंको अवश्य साधो । चूँकि तुम्हारे शत्रु हठी हैं, इसलिये तुम इन्हें हठसे ही साध सकोगे । ज्ञान और तर्क वृथा हैं मन एवं इन्द्रियोंके सामने । ज्यों ही तुम्हारे शत्रु रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्शके लिये आकुल हों, तुम तत्क्षण राम-नामकी छड़ी लेकर प्रचुर प्रहार करने लगो । देखोगे, विजय तुम्हारी है । प्यारे ! गाँठ बाँध लो । जहाँ भी जाओ, जब भी जाओ, राम-नामकी छड़ी कभी नहीं भूलना । इस भोगलोकमें मन एवं इन्द्रियोंके लिये हर जगह चारे हैं । अतः हर क्षण सावधान रहो । आप सड़कपर चलते हैं । हजारों युवतियाँ सेंट, क्रीमसे लिपी-पुती, जूड़ेमें फूल खोंसकर चलती हैं । नाकोंको गन्ध मिलता है । वह आँखोंसे कहता है—'अरी ! जरा रूप तो पी ले इस अप्सराका ।' खबरदार ! यदि आँखें उठायीं आपने । राम-नामका जप प्रारम्भ कीजिये । फिर आप कहाँ हैं, रूपसी कहाँ है ।

आप सड़कपर आगे बढ़ते हैं । किसीका कोकिल कण्ठ कानोंसे टकराता है । मन आँखोंसे कहता है—री ! यह कौन स्वर्गकी परी है ? आँखोंमें बिठा ले न इस जादूगरनीको ?' खबरदार ! यदि आँखें उठायीं आपने ।

भाई ! अपने अज्ञानी एवं हठी मन तथा इन्द्रियोंको इसी प्रकार हठसे पराजित करना होगा । और कोई चारा नहीं । हाँ, आपके शत्रु केवल हठी ही नहीं, अज्ञानी भी हैं । आँखोंके अज्ञानके कारण ही तो परवाना शमापर जलकर मर जाता है । अज्ञानी परवाने ! एक बार जलते हो तो फिर दूसरी बार क्यों जाते हो उसके निकट ? मछली ! तू भी रस-मोहके अज्ञानमें वृथा क्यों जान गँवाती है ? और अज्ञानी मानव ! तू ! तू तो पाँचों इन्द्रियोंका दास है । अरे ! अपने रामको छोड़कर परायी स्त्रीके हाड़से लिपटता है ? छिः-छिः । कभी मिला भी है कुछ ? अभी भी हट जा रे, पामर !

प्यारे ! अपने विषयासक्त मन एवं इन्द्रियोंसे सतत सावधान रहें, आप इसपर राम-नामरूपी अस्त्रका प्रहार करते रहें ।

फिर तो आप भी तुलसीकी भाँति ही गा उठेंगे—

सिय-राम-सरूपु, अगाध अनूप बिलोचन मीननको जलु है ।
श्रुति रामकथा, मुख रामको नामु, हिएँ पुनि रामहिको थलु है ॥
मति रामहि सों, गति रामहि सों, रति राम सों, रामहि को बलु है ।
सबकी न कहै, तुलसीके मतें इतनो जग जीवनको फलु है ॥
(कविता० उत्तर० ३७)

अन्तमें हम सबोंको उस परमपिता परमेश्वरसे प्रार्थना करनी चाहिये कि 'जब तुम हमारे पिता हो तो अपने पुत्रसे जन्मभर ओझल ही मत रहना । मंजिल तो तुम्हारी बहुत दूर है—कोई बात नहीं; किंतु हे पिता ! जब धैर्य टूटे तो धैर्य बँधा देना । और एक निहोरा पिता ! जब जीवनके अन्तिम क्षणतक भी तुम्हारी मंजिलतक नहीं पहुँच सकूँ तो जरा तुम ही चले आना न !'

जब पाण्डव हार गये !

(लेखक—श्रीउपेन्द्रनाथ राय एम्० ए०, शास्त्री)

महाभारत-युद्धको समाप्त हुए बहुत दिन हो गये। भीष्म आज भी बाणोंकी सेजपर पड़े हुए हैं मृत्युके लिये उपयुक्त क्षणकी प्रतीक्षामें। पाण्डव नित्य उनकी सेवामें उपस्थित होते हैं, उनसे नीति और धर्मकी बातें सुनते हैं, अपनी शङ्काओंका समाधान प्राप्त करते हैं और अपनेको कृतकृत्य समझते हैं। पितामह इन शक्तिशाली, विजेता पाण्डवोंको देखते हैं और समयकी गतिपर विचार करते हुए मौन रह जाते हैं।

आज पितामहने बातचीतके बीच पूछा—'युधिष्ठिर! तुम्हें और कोई शङ्का तो नहीं? मेरी बातें समझ चुके हो न?'

'हाँ पितामह! आपकी कृपासे मैं कृतार्थ हो गया। मुझे अब इस समय कोई शङ्का नहीं है। वैसे धर्मका तत्त्व गूढ़ है और मेरी बुद्धि बहुत साधारण, तुच्छ!' युधिष्ठिरने कहा। भीष्मके अधरोंपर एक हलकी-सी मुस्कान न जाने क्यों बिखर गयी। वे कुछ देर एकदम शान्त रहे।

कुछ देर बाद पितामहके होठ धीरे-धीरे हिले, 'युधिष्ठिर! मुझे संतोष है कि मेरी सभी इच्छाएँ पूरी हो गयीं। मेरा कर्तव्य भी पूरा हुआ। अब मैं इस दुनियासे बिदा ले रहा हूँ। मेरी एक अन्तिम इच्छा है। पूरी करोगे?'

'क्यों नहीं, पितामह?'

'तो सुनो। मेरा अन्तिम संस्कार ऐसे स्थानपर करना, जहाँ कभी कोई जलाया न गया हो। समझे?'

'हाँ पितामह! अवश्य।'

भीष्मने एक दृष्टि पाण्डवोंपर डाली। उनके होठोंपर एक गहरी मुस्कान चमक गयी और उनकी आँखें सदाके लिये बंद हो गयीं।

× × ×

पाण्डव खोज करते-करते थक गये। चारों ओर चारों भाइयोंको युधिष्ठिरने पता लगानेको भेजा, पर खोज सफल न हुई। कोई स्थान ऐसा न मिल रहा था, जहाँ उनकी जानकारीमें कभी-न-कभी कोई जलाया-दफनाया न गया हो। प्रायः निराश हो चले थे कि युधिष्ठिरकी निगाह एक अतिवृद्ध कृषकपर पड़ी।

'बाबा, क्या आपको कोई स्थान मालूम है, जहाँ कोई मुर्दा कभी जलाया न गया हो?'

'हाँ, एक पहाड़ी है जहाँ जितने समयसे मैं जानता हूँ कभी कोई जलाया-दफनाया नहीं गया।'

युधिष्ठिर प्रसन्न हो गये—'अर्जुन! तैयारियाँ करो। अन्ततः हमारी खोज सफल रही।'

पितामहका शव पहाड़ीपर पाण्डव सम्मानपूर्वक ले गये।

अन्तिम संस्कारका उपक्रम आरम्भ हुआ। एकाएक पाण्डव चौंक पड़े। आकाशवाणी हो रही थी—

अत्र भीष्मशतं दग्धं पाण्डवानां शतत्रयम्।
द्रोणाचार्यसहस्रं च कर्णसंख्या न विद्यते॥

सभी चकित थे। क्षणभर सभी शान्त और निश्चेष्ट रहे। अन्ततः भीमने मौन भङ्ग किया—'तो आर्य, हमारी खोज व्यर्थ रही!' माद्रीपुत्रोंने एक साथ कहा—'तो पितामहकी इच्छा पूरी नहीं हो सकी!' और अर्जुन? अर्जुन पूछ रहे थे—'आखिर निःस्पृह पितामहने ऐसी असाधारण इच्छा ही क्यों की?'

युधिष्ठिर मुस्करा पड़े। 'हमारे पितामह वास्तवमें महान् थे। उनका ज्ञान असाधारण था। उन्होंने हमें बहुत कुछ शिक्षा दी, पर हम उसे समझ नहीं सके थे। इसीलिये उन्होंने हमें अन्तिम और सबसे बड़ी शिक्षा दी।'

'सो क्या?' अर्जुनने कहा।

'अर्जुन! तुम्हें अपने हस्तकौशलका गर्व था, भीमको अपनी भुजाओंका और माद्रीपुत्रोंको अपने गुणोंका।

मैं भी धोखेमें था कि मैं ज्ञानी हूँ । कौरवोंको महायुद्धमें नष्ट कर डालनेसे उत्पन्न हमारा दर्प कैसे रुकता ? आज उसे पितामहने चकनाचूर कर दिया । महान् त्यागी भीष्मको क्या इच्छा हो सकती थी ? नश्वर देहके लिये, वह भी मृत शरीरके लिये वे क्यों चिन्ता करते ? वे जो कुछ बताना चाहते थे, जो कुछ उनकी सारी शिक्षाका निचोड़ है, वह इस आकाशवाणीमें आ गया है । अर्जुन ! अब तुम शायद मेरा आशय समझ गये होगे ।’ युधिष्ठिरने कहा ।

‘हाँ, आकाशवाणीने हमें बताया है कि इस पहाड़ीपर ही, जिसपर हम समझते थे कि कभी कोई जलाया-दफनाया नहीं गया, सौ भीष्म जलाये गये हैं, तीन सौ पाण्डव जलाये गये हैं, एक हजार द्रोणाचार्य जलाये गये हैं और कितने कर्ण ? उसकी गिनती ही नहीं ।’ अर्जुनने कहा ।

‘ओफ, तो संसारमें कोई भी स्थान ऐसा नहीं, जहाँ कभी कोई मरा न हो या दफन न किया गया हो ! हमारे-जैसे और हमसे भी बढ़कर बलवानोंका यहीं अन्त हुआ ।’ भीम बोल उठा ।

‘हाँ, परंतु कैसे निराले ढंगसे पितामहने शिक्षा दी !’ नकुल कह पड़ा ।

‘पाण्डुपुत्रोंको महात्मा भीष्मने बिना शस्त्रोंके ही परास्त कर दिया ।’ सहदेवका मत था ।

और वास्तवमें महान् विजेता पाण्डव अपने बूढ़े पितामहसे हार गये थे, किंतु अपनी इस हारपर उन्हें हर्ष था !

(एक प्राचीन कथानकके आधारपर)

पढ़ो, समझो और करो

(१)

सद्व्यवहारका सुपरिणाम

हरजीवनदास और गोविन्ददास दो भाई थे। दोनों ही विवाहित थे। छोटा भाई कुछ भोला था । बड़ा भाई उसके साथ बड़े प्रेमका बर्ताव करता, पर कभी-कभी खीझ भी जाता । छोटे भाईकी स्त्री अपने पतिका अपमान देखकर दुखी तो होती, पर कुछ बोलती नहीं । अपने पतिके भोलेपनपर उसका मन उदास रहता । उसकी जेठानीका स्वभाव इतना अच्छा था कि वह अपने पतिको समय-समयपर नम्रतासे समझाया करती कि ‘भाई भोला है तो क्या, है तो भाई ही न । आप उसपर नाराज न हुआ करें ।’ हरजीवनदास अपनी पत्नीके सद्भावपर मुस्करा देता ।

एक दिन हरजीवनदास चार हीरेके कड़े लेकर आया—दो अपनी स्त्रीके लिये और दो छोटे भाईकी स्त्रीके लिये । उसने लाकर छोटे भाई गोविन्ददासको दो कड़े दे दिये और कहा—‘अपनी पत्नीको दे देना।’ उस दिन गोविन्ददास कुछ खीझमें था । इसलिये वह उन दोनों कड़ोंको फेंककर बोला—‘या तो चारों कड़े लूँगा या एक भी नहीं ।’ बड़े भाईने प्रेमसे समझाया, पर वह समझा नहीं । तब बड़े भाईने जरा खीझकर कहा तो उसने उससे भी अधिक खोटी-खरी कही । हरजीवनदासके मुँहसे अकस्मात् निकल गया कि ‘इस तरह तुम्हारी शरारत नहीं चलेगी, अलग हो जाओ ।’ गोविन्ददासकी पत्नीको अपने स्वामीके व्यवहारपर दुःख हो रहा था, पर अब जेठके मुँहसे अलग हो जानेकी बात सुनकर उसे अलग होनेकी जँच गयी । उसकी जेठानी हरजीवनदासकी पत्नी छतपर रसोईघरमें थी । उसे इन सब बातोंका कुछ पता ही नहीं था । गोविन्ददासकी पत्नी रोती हुई अपनी जेठानीके पास गयी और रोते-रोते बोली—‘जेठजीने आज्ञा दे दी है । मैं आपकी आज्ञा लेने आयी हूँ । हमलोग जा रहे हैं ।’ वह सुनते ही हक्की-बक्की रह गयी । उसने नीचे आकर सब बातोंका पता लगाया और फिर उसने रोकर

अपने पतिके पैर पकड़ लिये और कहा—'आप गोविन्ददास और उसकी पत्नीको अलग कर रहे हैं तो मुझे भी उनके साथ जाने दीजिये। मेरे कोई संतान नहीं है। मैंने छोटे-से देवर गोविन्ददासको अपने पेटके बच्चेकी तरह पाला-पोसा है। इसकी बहूको मैं अपनी बेटी मानती हूँ। मैं इनसे अलग नहीं रह सकती। आप हमलोगोंको अलग भेजकर अकेले कैसे रह सकेंगे? आप अपने इस भोले छोटे भाईको चारों कड़े दे देते तो क्या बिगड़ता। आखिर सभी सम्पत्ति है तो इन्हींकी न। फिर भेदभाव क्यों? मैं जानती हूँ—आपका हृदय भाईके प्रति स्नेहसे भरा है; पर आपका यह भोला भाई बड़े ही स्नेहसे पाला-पोसा गया है, यह आपकी स्नेहभरी खीझको न समझ सकता है और न सहन कर सकता है। इसे हृदयसे लगाइये और सबको सुखी कीजिये।'

हरजीवनदासका हृदय तो अच्छा था ही। पत्नीके इन शब्दोंने बड़ा अच्छा असर किया। उसने उठकर तुरंत छोटे भाईको हृदयसे लगा लिया। वह खीझता और बकता रहा। पर हरजीवनदास रोता और उसे पुचकारता रहा। गोविन्ददासका हृदय भी पलट गया। उस दिनसे घरमें सर्वत्र स्नेहकी सरिता बहने लगी। हरजीवनदासकी पत्नी यदि अपने पतिकी क्रोधाग्निमें जरा-सी आहुति डाल देती तो सारा घर भस्म हो जाता। पर उसने अपने हृदयके अमृतरसको आँसुओंकी धाराके रूपमें बहाकर उनके द्वारा बढ़ती हुई आगको सदाके लिये शान्त कर दिया। धन्य!

—श्रीदलपतराम नटवरलाल

(२)

चेचकके प्रकोपसे बालकोंकी रक्षाका उपाय

संवत् २०१५ की बात है। चैत्रशुक्ला रामनवमीसे चैत्रशुक्ला पूर्णिमातक भासू (जि० टोंक, राजस्थान) ग्राममें विश्वकल्याणार्थ 'विष्णुयाग' हुआ था। यह यज्ञ भासूकी जनताकी ओरसे किया गया था। इस यज्ञको करानेके लिये काशीके सुप्रसिद्ध विद्वान् याज्ञिकसम्राट् पं० श्रीवेणीरामजी गौड़ वेदाचार्य आचार्यरूपमें पधारे थे। वेदाचार्यजी यज्ञ प्रारम्भ होनेके दो दिन पूर्व भासू पधार गये थे। हम लोगोंने वेदाचार्यजीसे निवेदन किया कि 'इधर आठ-दस दिनोंसे अचानक भासू तथा भासूके आस-पासके बीस-पचीस मीलतकके ग्रामोंमें चेचक (शीतला माता) का भयंकर प्रकोप हो गया है, जिससे भासू-जैसे छोटे-से ग्राममें प्रतिदिन एक माससे लेकर बारह वर्षतकके छोटे-छोटे बालक पचासकी संख्यातक मृत्युको प्राप्त हो रहे हैं। अतः यज्ञके प्रति हम लोगोंका जो उत्साह था, वह नष्ट हो गया और हमलोग किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे हैं; समझमें नहीं आता, क्या करें।'

वेदाचार्यजीने बड़ी दृढ़तासे कहा—'यज्ञ प्रारम्भ होनेमें अभी दो दिन बाकी है, इसके पूर्व ही मैं रात्रिमें एक ऐसा अनुष्ठान करा देता हूँ, जिससे निश्चित ही चेचक (शीतला माता) का प्रकोप शान्त हो जायगा और बालकोंकी रक्षा होगी।' वेदाचार्यजीके कथनानुसार हमलोग अनुष्ठान करानेके लिये संनद्ध हो गये और हमलोगोंने पूजनादिकी सारी सामग्रीकी व्यवस्था कर दी। पश्चात् वेदाचार्यजीने भासू ग्रामके मध्यमें चौराहेपर रात्रिमें ८ से १० तक गणपत्यादिका पूजन कराकर दो विद्वान् अनुष्ठानी ब्राह्मणोंको अलग-अलग अनुष्ठान करनेके लिये नियुक्त कर दिया और उनसे इस बातपर विशेष जोर दिया कि 'दीपक जलाकर रात्रिभर एक आसनसे अनुष्ठान पूर्ण करना चाहिये। अन्यथा अनुष्ठानका फल नहीं होगा।' वेदाचार्यजीके आज्ञानुसार दोनों ब्राह्मणोंने सविधि अनुष्ठान रात्रिभर किया। प्रातःकाल होते ही श्रीवेदाचार्यजीके बतलाये हुए अनुष्ठानका तत्काल

प्रत्यक्ष चमत्कार दिखायी दिया; जहाँ प्रतिदिन पचास तककी संख्यामें बालकोंकी मृत्यु होती थी, वहाँ अनुष्ठानके बाद प्रथम दिन केवल एक ही बालककी मृत्यु हुई, जो कई दिन पूर्वसे चेचककी बीमारीसे ग्रस्त था। दूसरे दिनसे चेचकके कारण किसी भी बालककी मृत्यु होनेका समाचार सुनायी नहीं दिया। श्रीवेदाचार्यजीके चमत्कारपूर्ण अनुष्ठानका प्रभाव केवल भासूमें ही नहीं, किंतु भासूके आस-पासके ग्रामोंमें भी पड़ा, जिस कारण सर्वत्र बालकोंकी सुरक्षा हुई। वेदाचार्यजीके चमत्कारपूर्ण अनुष्ठानकी चर्चा दूर-दूरतक फैल गयी। आज भी समय-समयपर वेदाचार्यजीके अनुष्ठानकी प्रशंसा धार्मिकवर्ग किया करते हैं।

चेचककी बीमारी शान्त हो जानेके कारण भासूके निवासियोंकी प्रसन्नताका ठिकाना न रहा। वे सभी लोग अत्यन्त उत्साहके साथ अपने पूर्वसंकल्पित 'विष्णुयाग' की तैयारीमें लग गये। भगवत्कृपासे यज्ञ भी बड़े आनन्दके साथ परिपूर्ण हुआ। यज्ञकी समाप्तिके बाद जब वेदाचार्यजी काशी जानेके लिये तैयार हुए तब मैंने उनसे श्रद्धापूर्वक पूछा कि 'महाराजजी! काशी जानेके पूर्व आप कृपाकर अपने उस अनुष्ठानको बतला दीजिये, जिससे बालकोंकी रक्षा हुई।' श्रीवेदाचार्यजीने कहा—मैंने एक ब्राह्मणसे दुर्गाके—

बालग्रहाभिभूतानां बालानां शान्तिकारकम्।
संघातभेदे च नृणां मैत्रीकरणमुत्तमम्॥

—इस मन्त्रद्वारा दुर्गाका सम्पुटित पाठ कराया था और दूसरे ब्राह्मणसे शीतलाष्टकके—

शीतले त्वं जगन्माता शीतले त्वं जगत्पिता।
शीतले त्वं जगद्धात्री शीतलायै नमो नमः॥

—इस मन्त्रद्वारा दुर्गाका सम्पुटित पाठ कराया था। इन दोनों महमन्त्रोंकी शक्ति अपूर्व है। इन दोनों मन्त्रोंके द्वारा दुर्गाका सम्पुटित पाठ करनेसे चेचक (शीतला माता) का भयंकरसे भयंकर प्रकोप तत्काल दूर हो जाता है और बालकोंकी अकाल मृत्युसे निश्चित ही रक्षा होती है।

वेदाचार्यजीके बतलाये हुए तात्कालिक लाभप्रद अनुष्ठानके प्रत्यक्ष चमत्कारको देखकर मैं दावेके साथ कह सकता हूँ कि चेचक (शीतला) की बीमारीको शान्त करनेके लिये वेदाचार्यजीके द्वारा निर्दिष्ट अनुष्ठानको यदि श्रद्धा और विश्वासके साथ किया जाय तो अवश्य ही लाभ हो सकता है—'श्रद्धया सत्यमाप्यते।'

यह सत्य घटना 'कल्याण' के प्रेमी पाठकोंके कल्याणार्थ प्रेषित है। कोई भी सज्जन चेचककी बीमारीको शान्त करनेके लिये उपर्युक्त लोकोपकारक अनुष्ठानका सदुपयोग कर सकते हैं।

—बजरंगप्रसाद शर्मा, भासू (जि० टोंक)

(३)

सुवास रह गयी

तब मैं विवाह होनेपर पहले-पहल ही ससुराल आयी थी। छोटी-सी बहूको घरमें इधर-उधर फिरते देखकर बड़ोंकी आँखें शीतल होतीं और मेरे आनन्दोल्लासका पार नहीं रहता। स्वर्ग मेरा घर ही था। इतना होनेपर भी नववधूके आनन्दके पीछे नये लोगोंका और नये घरका डर मुझे खूब सताता। काम करते समय सदा यह लगता—कहीं भूल तो नहीं हो गयी?

बड़ी गर्मीका दिन था। पास ही भड़-भड़ जलती हुई सिगड़ी रक्खी थी। गरम-गरम रोटियाँ बनाकर मैं सबको परस रही थी। पास रक्खी कटोरीमें घी खतम

हो गया था। मैं बहुत उतावलीमें हाथ धोकर घी लेने गयी। आलमारीमेंसे घीका काँचका भाँड़ निकालकर जमीनपर रखने लगी तो मेरे गीले हाथोंमेंसे वह चिकना भाँड़ जमीनपर गिर पड़ा।

'हाय रे!'—छाती धोंकनी-सी धोंकने लगी और घी बहने लगा। भाँड़के फूटनेकी आवाज सुनकर मेरी सासजी पूजाघरसे बाहर आयीं और उन्होंने वस्तुस्थितिका परिचय प्राप्त किया। पास आकर मेरी पीठपर हाथ फिराते हुए उन्होंने कहा—'बहू बेटा! घबरा मत। जा शान्तिसे बैठ, मैं सब साफ किये देती हूँ।'

सहानुभूति और प्रेमभरी वाणीने मेरे हृदयमें एक ऐसा उत्पात मचाया कि मेरी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह निकली मानो मैंने बहुत बड़ा अपराध किया हो। मैं अपने कमरेमें जाकर सिसक-सिसककर रोने लगी।

सब सफाई हो गयी। काँच चुन लिये गये, जगह धो दी गयी और जैसे कुछ हुआ ही न हो, ऐसे घरमें सब कामकाज चलता रहा। किसीने, कभी किसी बातपर भी इस घटनाका इशारा करके मुझे नीचा दिखाने अथवा अपने महत्ता-प्रदर्शनका कोई प्रयत्न नहीं किया। घी तो बह गया, पर उसकी सुवास रह गयी।

इस बातको वर्षों बीत गये। मैं अब बहू न रहकर सास बन गयी हूँ, पर कैसी? इसे तो मेरी बहू ही बता सकती है।

—श्रीमती सुभद्रा मारफतिया

(४)

उस हाथ दे, इस हाथ ले

घटना लगभग ५ वर्ष पुरानी है। मेरा घर जिला मेरठ, उत्तर प्रदेशमें है। मैं अवकाश लेकर ग्रीष्मकालमें घर गया हुआ था। वहाँपर श्रीउजागरमलजीने मेरे सामने अपनी आँखों-देखी घटनाका वर्णन किया। घटना उन्हींके शब्दोंमें इस प्रकार है—

एक बार मुझे शामली जानेका अवसर प्राप्त हुआ। यहाँके लिये देहलीसे सहारनपुरतक बसें जाती हैं। वैसे तो गाड़ी भी जाती है, परंतु मैंने बससे जाना ही अधिक अच्छा समझा। बस जब शामली बसस्टैंडपर खड़ी हुई तो वहाँ एक खरगोशका पीछा कुत्तेको करते पाया गया। वह बेचारा खरगोश कुत्तेके भयसे एक झाड़ीमें छिप गया। इस दृश्यको ड्राइवर तथा अन्य यात्रियोंने भी देखा। यात्रियोंने कहा कि भगवान्‌ने बच्चेको बचा लिया। इतना कहनेसे सरदार ड्राइवरको क्रोध आ गया और वह कहने लगा कि 'अभी तो भगवान्‌ने बचाया; अब देखें कौन-सा भगवान् इसकी रक्षा करता है।' इतना कहते हुए वह झाड़ीमेंसे बच्चेको पकड़ लाया और कृपाणसे मारने लगा। यात्रियोंने मना किया और मन-ही-मन भगवान्‌का स्मरण किया, परंतु जैसे ही उसने कृपाण बच्चेपर चलानी चाही कि भगवत्कृपासे बच्चा हाथसे छूट गया और अपनी ही कृपाणसे उस ड्राइवरका अपना ही हाथ कट गया। वह खरगोश भाग चुका था। सभीको खुशी हुई और कहना पड़ा कि मारनेवालेसे बचानेवाला महान् है। उस ड्राइवरको अस्पताल ले जाया गया; परंतु देर हो जानेसे खून इतना बह गया था कि उसके दो-तीन घंटेमें ही प्राण-पखेरू उड़ गये। उस हाथ दे, इस हाथ ले।

डॉ० रामकृष्ण अग्रवाल एम० ए०, बी० एस्०

The Kalyana-Kalpataru

(An Illustrated monthly magazine)

77 Old monthly issues for sale at a highly reduced price of Rs. 10.00 only.

(Delivery free by registered Post)

VOL. 1 Issues Nos. 2 to 12	PRICE 13 nP. each
VOL. 12 " Nos. 2 to 12	" 13 nP. "
VOL. 13 " Nos. 2 to 12	" 13 nP. "
VOL. 14 " Nos. 2 to 12	" 13 nP. "
VOL. 21 " Nos. 1 to 3	" 13 nP. "
VOL. 22 " Nos. 1 to 11	" 13 nP. "
VOL. 23 " Nos. 3 to 10	" 13 nP. "
VOL. 26 " Nos. 1 to 11	" 13 nP. "
Total Copies 77	Total Price Rs. 10.00

OLD SPECIAL NUMBERS STILL AVAILABLE

1. The Gitā-Tattva Numbers— I, II and III (Complete) unbound Price Rs. 7.50 nP.
2. The Bhāgavata Numbers—I, II, III, IV, V, VI (An English translation with the original Sanskrit text of the complete Bhāgavata from Skandhas I to XII with Māhātmya @ Rs. 2.50nP. each) " Rs. 15.62 nP.
3. The Vālmiki-Rāmāyaṇa Numbers—I, II, III (An English translation with original Sanskrit text of Bālakāṇḍa and Ayodhyākāṇḍa up to Canto Eighty-eight of the Vālmiki-Rāmāyaṇa) " Rs. 7.50 nP.

MANAGER,
KALYANA-KALPATARU
P. O. Gita Press (Gorakhpur)

सूचना

'कल्याण' एवं 'कल्पतरु'के सभी ग्राहकोंकी सेवामें नम्र निवेदन है कि वे साधारण एवं आजीवन सदस्योंके दे, पुराने अङ्कोंके मूल्य आदिकी जो भी रकम बैंकके ड्राफ्ट, चेक, पे आर्डर आदिके द्वारा भेजें वह 'मैनेजर, कल्याण'के से न भेजकर 'मैनेजर, गीताप्रेस'के नामसे ही भेजें; क्योंकि हमारा बैंक एकाउन्ट गीताप्रेसके नामसे है, 'मैनेजर, ल्याण'के नामसे नहीं। जो रकम मनीआर्डरसे भेजी जाय, वह सदाकी तरह 'मैनेजर, कल्याण'के नामसे ही भेजें।

व्यवस्थापक—कल्याण, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

'कल्याण'के पुराने प्राप्य विशेषाङ्क

१—हिंदू-संस्कृति-अङ्क

पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविता ४६, संगृहीत २९, चित्र २४८, मूल्य ६ रु० ५० नये पै साथ ही इसी वर्षका अङ्क दूसरा तथा तीसरा बिना मूल्य ।

इस अङ्कमें महान् हिंदू-संस्कृतिके प्रायः सभी विषयोंपर प्रकाश डाला गया है । इसमें वेद, उपनि महाभारत, रामायण तथा श्रीमद्भागवतकी सानुवाद सूक्तियाँ, हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप तथा महत्त्व, हिंदूधर्म, वर्णा दर्शन-परिचय, हिंदू-संस्कृतिकी व्यापकता, हिंदू-संस्कृतिमें त्याग और भोगका समन्वय, रामराज्यका स्वरूप, शिष्टाचार सदाचार, आहार-विवेक, गोरक्षा, जीवरक्षा आदि विविध विषयोंपर बड़े-बड़े विद्वानों तथा अनुभवी पुरुषोंके लेख हैं

इसके अतिरिक्त भगवान्के अवतारोंके, देवताओंके, आदर्श ऋषि-महर्षियोंके, परोपकारी भक्त, राजा सत्पुरुषोंके, आचार्य, महात्मा और भक्तोंके एवं आदर्श हिंदू-नारियोंके बहुत-से पवित्र चरित्र हैं ।

२—संतवाणी-अङ्क

पृष्ठ-सं० ८००, तिरंगे चित्र २२, इकरंगे चित्र ४२, संतोंके सादे चित्र १४०, मूल्य डाकव्ययसहि ७ रु० ५० नये पैसे ।

३—मानवता-अङ्क

पृष्ठ-संख्या ७०४, मानवताकी प्रेरणा देनेवाले सुन्दर ३९ बहुरंगे, एक दुरंगा, १०१ एकरंगे और रेखाचित्र । डाकव्ययसहित मूल्य ७ रु० ५० नये पैसे ।

देशभरके चुने हुए महात्माओं और विद्वानों तथा विदेशी महानुभावोंके मानवतासम्बन्धी सद्विचारोंके सम्पन्न और सबके द्वारा प्रशंसित ।

४—संक्षिप्त-शिवपुराणाङ्क

पृष्ठ-संख्या ७०४, चित्र सुन्दर बहुरंगे १७, दोरंगा १, सादे १२ तथा रेखा-चित्र १३८, कुल १ मूल्य रु० ७.५० (डाकखर्चसहित) भेजकर रजिस्ट्रीसे मँगवा लें अथवा वी० पी० द्वारा भेजनेकी आज्ञा दें।

व्यवस्थापक—**कल्याण, पो० गीताप्रेस** (गोरख

एक करोड़ रामचरितमानस-पाठ

आगामी वि० सं० २०३० में गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीरचित श्रीरामचरितमानसके चार सौ पूरे होते हैं। इस सुअवसरपर एक विशाल धार्मिक और साहित्यिक समारोह मनानेकी योजना दरीबा, दि के अखिल भारतीय श्रीसनातनधर्ममहामण्डलने बनायी है और इस बीचके दस वर्षोंमें श्रीरामचरितमा एक करोड़ पाठ करने-करानेका प्रस्ताव किया है। प्रतिवर्ष दस लाख मानस-पाठ होनेसे दस वर्षोंमें एक पाठ पूरे हो सकते हैं। यह महान् मङ्गलमय, सर्वविश्वहितकारी और लोक-परलोक-कल्याणकारी परम अनुष्ठान है।

अतः 'कल्याण'के लाखों-लाखों पाठक-पाठिकाओंसे मेरा विनम्र निवेदन है कि वे इस मङ्गलमय स्वयं सक्रिय सहयोग देने और दूसरे अधिक-से-अधिक लोगोंको प्रेरणा देनेकी कृपा करें, जिससे सब पूर्ण उत्साहके साथ श्रीरामचरितमानसका नवाह्न-पारायण, मासपारायण, एक दिनका अखण्डपाठ, पारायण, त्रैमासिक पारायण आदि किसी भी रूपमें पाठ करना आरम्भ कर दें और संख्यासहित पाठ सूचना नीचे लिखे पतेपर अवश्य भिजवा दें।

हनुमानप्रसाद पोद्दार—

श्रीरामचरितमानस-कोटि-पाठ-

गीताप्रेस, गोरखपु

वितरण ६३ पुस्तकालय
18 SEP 1963

कल्याण

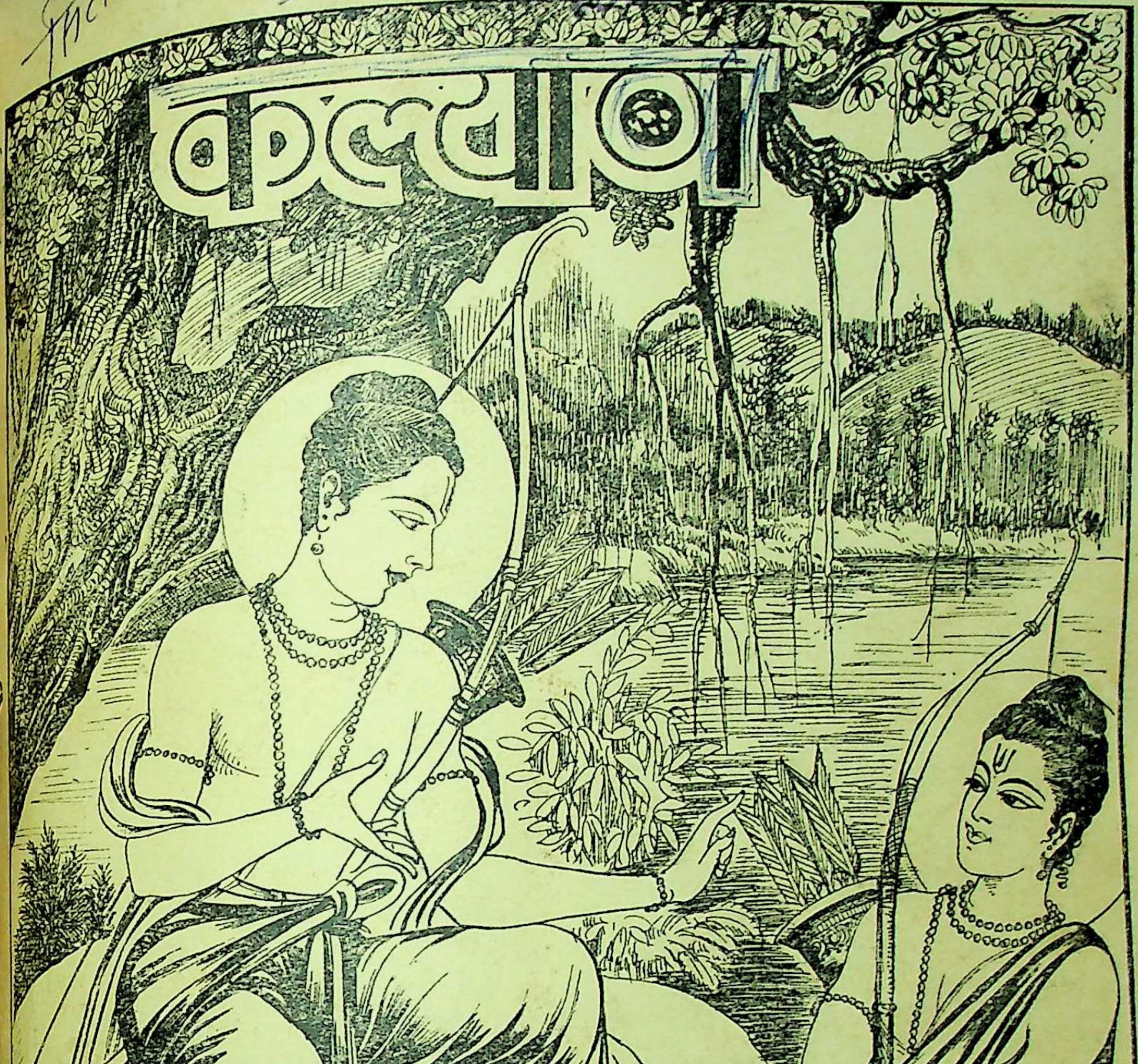

वर्ष १७]   *   *   *   *   [अङ्क ९

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण—१,३८,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर आश्विन २०२०, सितम्बर १९६३

विषय … पृष्ठ-संख्या

१–प्रलय-नृत्य [कविता] … ११३१

२–कल्याण ('शिव') … ११३२

३–शरीर-मीमांसा (स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज) … ११३३

४–पुराणोक्त धर्म-वंशका रहस्य (सर्वदर्शनाचार्य तत्त्वचिन्तक अनन्तश्री स्वामी श्रीअनिरुद्धाचार्य वेंकटाचार्यजी महाराज) … ११३७

५–सब अनर्थोंके मूलभूत राग-द्वेषके नाशके उपाय (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ११४१

६–त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् (पं० श्रीदेवदत्तजी मिश्र काव्य-व्याकरण-सांख्य-स्मृति-तीर्थ) ११४८

७–स्वयंके अतिरिक्त (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') … … ११५०

८–श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी (भाद्रपद-कृष्णाष्टमीके महोत्सवपर गोरखपुरमें हनुमानप्रसाद पोद्दारका प्रवचन) … ११५१

९–विपत्तिको पराजित करनेकी रीतियाँ (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) … ११५५

१०–हमारी मुक्तिनाथ-यात्रा (श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी) … ११५८

११–किसने पुकारा ! (श्रीहरिश्चन्द्रजी अष्ठाना 'प्रेम') … ११६४

१२–रामचरितमानसमें नारीका स्थान (आचार्य पं० श्रीकेदारनाथजी मिश्र, एम्० ए०, एल्० टी०) … ११६९

१३–श्रीश्रीराधा-प्राकट्य-महोत्सव (श्रीराधा-जन्माष्टमी (सं० २०२०) पर हनुमानप्रसाद पोद्दारके गोरखपुरमें प्रवचन) … ११७४

१४–धर्म, सम्प्रदाय, सदाचार और ईश्वर (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) … ११८४

१५–परम योग [कहानी] (श्री 'चक्र') ११८७

१६–खान-पानमें भयानक अशुद्धि … ११८९

१७–पढ़ो, समझो और करो … ११९१

चित्र-सूची

१–लक्ष्मणके प्रति रामका उपदेश … … (रेखाचित्र) … मुखपृष्ठ

२–प्रलय-नृत्य … … (तिरंगा) … ११३१

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें .४५
विदेशमें .५१
(१० पैंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

1-9 SEP 1963

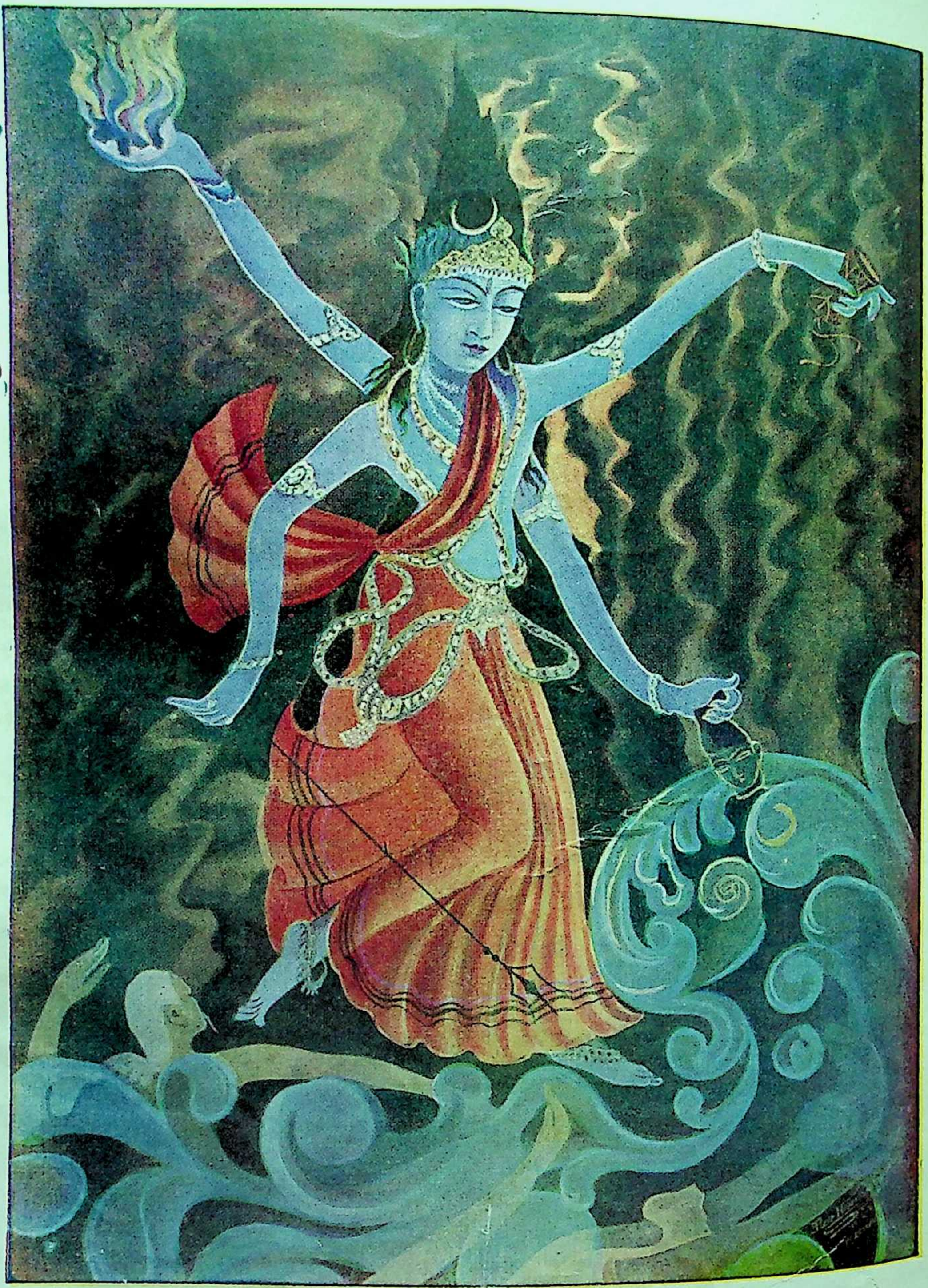

प्रलय-नृत्य

65268

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

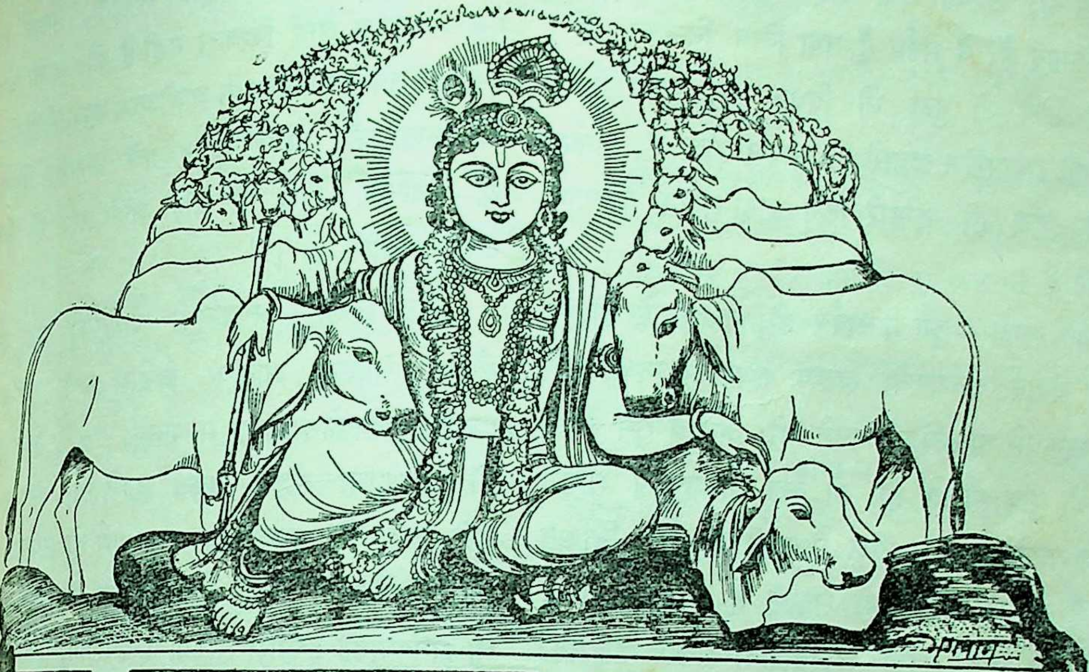

कल्याण

शुद्धतेजःस्वरूपं च भक्तानुग्रहविग्रहम् । अतीव कमनीयं च श्यामरूपं नमाम्यहम् ॥
परिपूर्णतमं शान्तं राधाकान्तं मनोहरम् । सत्यं ब्रह्मस्वरूपं च नित्यं कृष्णं नमाम्यहम् ॥

वर्ष ३७ } गोरखपुर, सौर आश्विन २०२०, सितम्बर १९६३ { संख्या ९
पूर्ण संख्या ४४२

प्रलय-नृत्य

काम-भोग-पर केवल जब हो जाता मानव ।
मानवता खो, वह बन जाता पूरा दानव ।
अर्थ और अधिकार-कामना उठती नव-नव ।
लोभ-क्रोध-प्रदाह, शान्ति पाता न कभी लव ॥
हिंसा-वैर-विरोध-रत, जग हो जाता पापमय ।
करते तब शिव रुद्र बन 'प्रलयनृत्य' संहारमय ॥

याद रक्खो—भगवान् मङ्गलमय हैं, उनका प्रेम अहैतुक है, उनकी दया सहज सर्वत्रव्यापिनी है, वे सर्वशक्तिमान् हैं, वे सर्वज्ञ हैं तथा नित्य निर्भ्रान्त हैं। तुम्हारे लिये जो कुछ भी विधान है, सब उनकी मङ्गलमयी इच्छारहित इच्छासे ही सम्पन्न होता है, अतएव उनकी इच्छा ही तुम्हारे लिये सदा-सर्वदा कल्याणकारिणी है।

याद रक्खो—तुम न सर्वज्ञ हो, न दूरदृष्टि हो, न अपने यथार्थ कल्याणके स्वरूप तथा साधनको ही निर्भ्रान्तरूपसे वास्तविक जानते हो; अतएव तुम अपने लिये जो कुछ सोचते हो, जो कुछ कल्याणका साधन निश्चय करते हो, वह ठीक वैसा ही है, यह निश्चित नहीं है। तुम्हारी भूल हो सकती है। हो सकता है तुम अपनी राग-द्वेषमयी अदूरदर्शिनी दृष्टिसे अहितको हित, अमङ्गलको मङ्गल, अकल्याणको कल्याण और असत्यको सत्य मानकर उसीकी इच्छा करके अपने ही हाथों अपना अनिष्ट कर लेते हो या करने लगते हो।

याद रक्खो—तुमसे भूल हो सकती है, भगवान्से नहीं; तुम भ्रमसे अपना अमङ्गल सोच या कर सकते हो, पर भगवान् कभी तुम्हारा अमङ्गल न सोच सकते हैं न कर सकते हैं। तुम किसी बातमें अपना हित समझकर भी सीमित-शक्ति होनेके कारण उसे नहीं कर सकते, पर असीमशक्ति भगवान्के लिये सभी कुछ सहज सम्भव है। तुम्हारी इच्छा बदल भी सकती है, पर भगवान्की मङ्गलमयी इच्छा नित्य है। अतएव तुमको यही चाहिये कि तुम सब प्रकारसे, सब ओरसे, सभी कार्योंमें अपने परम सुहृद् श्रीभगवान्की इच्छापर अपनेको छोड़कर निश्चिन्त हो जाओ।

याद रक्खो—भगवान्की इच्छापर अपनेको न छोड़कर यदि तुम अपनी स्वतन्त्र इच्छाके अनुसार भगवान्से काम कराना चाहते हो या करते हो तो इससे सिद्ध होता है कि भगवान्की सर्वज्ञता, सौहार्द तथा मङ्गलमयतापर तुम्हें विश्वास नहीं है और अपनी स्वतन्त्र इच्छाका उपयोग करके तुम अपने परम मङ्गल परिणाममें—जो भगवान्की मङ्गलमयी इच्छाके अनुसार होनेवाला था—बाधक होते हो और अपने-आप ही अपना अमङ्गल करते हो।

याद रक्खो—भगवान्की अहैतुकी कृपा, प्रीति, सौहार्द, सर्वज्ञता आदिपर विश्वास करके तुम अपनी स्वतन्त्र इच्छाको छोड़कर भगवान्की इच्छापर निर्भर करते हो तो अपना सहज मङ्गल करते हो। अतएव सदा यही चाहो कि भगवान्की इच्छा पूर्ण हो। यह विश्वास रक्खो—देखनेमें कहीं भयानक या विनाशक होनेपर भी भगवान्की इच्छासे होनेवाला परिणाम, तुम्हें मिलनेवाला फल निश्चय ही तुम्हारे लिये परम कल्याणरूप होगा।

याद रक्खो—अनिच्छा या परेच्छासे जो कुछ भी फल तुम्हें प्राप्त होता है, वह भगवान्के मङ्गलविधानसे ही होता है। उसके विपरीत कभी इच्छा न करो, उसमें कभी असंतुष्ट मत होओ। वरं भगवान्का मङ्गल-प्रसाद समझकर उसे सिर चढ़ाओ। भगवान्से कभी कोई माँग करनी हो, कुछ चाहना हो तो बस, केवल यही माँगो, यही चाहो कि मङ्गलमय भगवन्! तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो। तुम्हारी इच्छाके विपरीत मेरी कभी कोई इच्छा हो ही नहीं और कदाचित् कभी कुछ हो जाय तो उसे कभी पूरी मत करना।

याद रक्खो—भगवत्सेवाकी बुद्धिसे, भगवान् जब जैसी सद्बुद्धि दें, वैसा आचरण करो और फल केवल भगवान्की इच्छापर छोड़ दो। इससे तुम्हें सुख-शान्ति तो मिलेगी ही, भगवत्कृपासे भगवत्प्रेमकी प्राप्ति भी हो जायगी। तुम्हारा जीवन सफल हो जायगा।

'शिव'

शरीर-मीमांसा

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज)

हम जानते हैं कि शरीरके भीतर चैतन्यस्वरूपमें परमात्मा ही रहते हैं। जीवभाव तो आगन्तुक है और भ्रम है। इस भ्रमको दूर करनेके लिये पुरुषार्थ करना पड़ता है।

प्रश्न यह होता है कि 'ऐसी दशामें प्रत्यक्ष दीखनेवाला जन्म-मरण क्या है? जीव विभिन्न योनियोंमें भटकता है, यह क्या है? कर्मका शुभाशुभ फल भोगनेवाला कौन है?'

इन प्रश्नोंका उत्तर देनेके पहले शरीरके विषयमें कुछ बातें हमें जान लेनी चाहिये। शरीर तीन हैं—(१) स्थूल-शरीर, (२) सूक्ष्म-शरीर या लिङ्गदेह और (३) कारण-शरीर।

स्थूल-शरीर देहको कहते हैं, जो प्राण निकल जानेके बाद पड़ा रह जाता है और उसे यदि जलाया या गाड़ा न जाय तो वह सड़ने लगता है और नष्ट हो जाता है। यह पञ्च महाभूतोंका बना हुआ है। नष्ट होनेपर पृथ्वीका अंश पृथ्वीमें मिल जाता है, जलका अंश जलमें, तेजका अंश तेजमें, वायुका अंश वायुमें और आकाशका अंश आकाशमें मिल जाता है। यह शरीर भोगायतन कहलाता है। श्रीशंकराचार्यने इसकी इस प्रकारसे व्याख्या की है—

> पञ्चीकृतमहाभूतसम्भवं कर्मसंचितम्।
> शरीरं सुखदुःखानां भोगायतनमुच्यते॥

अर्थात् यह स्थूल-शरीर पञ्च महाभूतोंके स्थूल अंशोंसे बना है और जीवको किये हुए कर्मोंके फलस्वरूप सुख-दुःख भोगनेके लिये एक निश्चित अवधिके लिये निवासके रूपमें मिला है। इस शरीरको यदि कोई प्राणी खा जाय तो खाया हुआ भाग विष्ठाके रूपमें निकल जाता है और शेष भाग नष्ट होकर अपने-अपने रूपमें मिल जाता है। यह शरीर क्षणभङ्गुर है अर्थात् क्षणभरमें इसका नाश हो जाता है, यानी प्रारब्धका भोग पूरा होनेपर तनिक भी अधिक समयतक नहीं टिक सकता।

मानव-शरीर ऐसा क्षणभङ्गुर है, तथापि यदि इसमें रहनेवाली सामग्रीका सदुपयोग किया जाय तो यह मुक्ति प्रदान करनेवाला भी है; क्योंकि मनुष्य-शरीरमें ही मुक्तिकी साधना हो सकती है, दूसरे किसी भी शरीरमें नहीं हो सकती। देव-शरीरमें भी नहीं हो सकती, दूसरे शरीरकी तो बात ही क्या। ठीक ही कहा है—

> महता पुण्यपण्येन क्रीतेयं कायनौस्त्वया।
> पारं दुःखोदधेर्यातुं तरी यावन्न भिद्यते॥

बहुत बड़े पुण्यके प्रभावसे दुःखरूप भवसागरसे तरनेके लिये ही यह कायारूपी—देहरूपी नौका तुमने प्राप्त की है। जबतक यह टूट-फूट नहीं जाती, उसके पहले ही भवसागरसे तर जा।

(३) तीसरा कारण-शरीर है। सूक्ष्म-शरीरकी बात बहुत लंबी है। वह पीछे आलोचित होगी। यह कारण-शरीर कोई शरीर-विशेष नहीं है। बल्कि यह संसार-चक्रको चलानेमें अर्थात् जीवको जन्म-मरणके फेरमें घुमानेका कारण है। इसी कारण इसको कारण-शरीर कहते हैं। यह कारण-शरीर भवबन्धनका कारण है, इसलिये कोई इसको अज्ञान या अहंकार भी कहते हैं। इसे अज्ञान कहना अधिक ठीक है, क्योंकि अहंकारकी उत्पत्ति भी अज्ञानसे ही होती है। अतएव अज्ञान—स्वरूपका अज्ञान कारण-शरीर है।

इस लेखमें 'जीव' शब्द विशेष अर्थमें व्यवहृत हुआ है। जीवका अर्थ है देहाध्यासयुक्त चेतन, अर्थात् वह चेतन जिसको देहाध्यास दृढ़ हो गया, जिसकी स्थिति शुद्ध-स्वरूपमें नहीं है। जबतक देहाध्यास है, तभीतक यह शरीर है। देहाध्यास छूट जानेके बाद जीव अपने शुद्धस्वरूपमें अर्थात् परमात्मस्वरूपमें स्थित हो जाता है। उस समय शरीर-मीमांसाकी आवश्यकता नहीं होती।

(२) दूसरा सूक्ष्म-शरीर है। स्थूल-शरीर जैसे लोहा-लकड़ीके समान जड है, वैसे यह शरीर पूर्णतया जड नहीं तथा चैतन्यके समान स्वयं चेतन भी नहीं है, बल्कि मध्यभावी है। अर्थात् अति सूक्ष्म होनेके कारण चैतन्यका प्रकाश ग्रहणकर स्वयं चेतन होकर कार्य करनेमें समर्थ हो जाता है। इसकी व्याख्या शंकराचार्यने इस प्रकार की है—

> पञ्चप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वितम्।
> अपञ्चीकृतभूतोत्थं सूक्ष्माङ्गं भोगसाधनम्॥

पञ्च प्राण, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय और सोलहवें अन्तःकरणसे युक्त सोलह कलावाला सूक्ष्म-शरीर होता है।

यह बनावटमें सूक्ष्म होनेके कारण जीवको भोग भोगानेका साधन है। इसी कारण इसका नाम सूक्ष्म-शरीर पड़ा है। इसमें भी जो अन्तःकरण है, वह अति सूक्ष्म होनेके कारण आत्माका आभास ग्रहण करनेमें समर्थ है और इस प्रकार स्वयं चेतनवत् होकर क्रिया कर सकता है। अतः अब यह विचार करना है कि अन्तःकरण है क्या वस्तु।

पहले 'इन्द्रिय' शब्द समझने योग्य है; क्योंकि इसका यथार्थ ज्ञान बहुत थोड़े लोगोंको होता है, अधिक लोग तो इन्द्रियोंके गोलक अर्थात् रहनेके स्थानको ही इन्द्रिय मानते हैं; परंतु यह ठीक नहीं है। प्रत्येक इन्द्रियके पृथक्-पृथक् नियन्ता देवता होते हैं—उदाहरणार्थ, रूप देखनेवाली इन्द्रिय दर्शनेन्द्रिय कहलाती है और यह आँख नामके गोलकमें रहती है। आँखका अवयव ज्यों-का-त्यों हो, पर उसमें देखनेका काम करनेवाली इन्द्रिय चली गयी हो तो मनुष्य देख नहीं सकता। अर्थात् आँख-अवयव स्थूल-शरीरका भाग है और इन्द्रिय एक प्रकारकी शक्ति है, इस शक्तिका देवता सूर्य है। इसी प्रकार मनुष्यका हाथ जब किसी कारणवश बेकार हो जाता है तब हाथका अवयव तो स्थूल-शरीरमें रहता ही है; परंतु उसमेंसे इन्द्रियरूपी शक्तिके चले जानेसे वह काम नहीं कर सकता। अर्थात् हाथ नामक अवयवरूपमें हस्तेन्द्रिय नहीं है; बल्कि हाथके भीतरकी काम करनेवाली शक्ति हस्तेन्द्रिय है। इसका देवता इन्द्र है। इसी प्रकार दसों इन्द्रियाँ पृथक्-पृथक् शक्तियाँ हैं और वे अपने-अपने नियत स्थानमें रहती हैं।

अन्तःकरण दो शब्दोंके योगसे बना है, अन्तःका अर्थ है भीतर और करण इन्द्रियको कहते हैं। दसों इन्द्रियोंका स्थान स्थूल-शरीरमें ऊपर है और यह ग्यारहवीं इन्द्रिय शरीरके भीतर रहकर काम करती है, अतएव इसको अन्तःकरण कहते हैं। इसके लिये शरीरके ऊपर कोई उपयुक्त स्थान नहीं, अतएव यह सारे शरीरमें व्याप्त होकर रहती है। स्थूल-शरीरके किसी भी भागमें सुख-दुःखका असर हो तो अन्तःकरण तुरंत उसे ग्रहण करके जीवके सामने उपस्थित करता है।

अन्तःकरण-शब्दके बदलेमें कभी-कभी हृदय-शब्द व्यवहारमें लाया जाता है। उस समय याद रखना चाहिये कि हृदय शरीरके बाँयें पार्श्वका मांसल अवयव नहीं है, जो रक्तको शरीरमें घुमानेका काम करता है, बल्कि अन्तःकरणके अर्थमें है, अर्थात् वह सारे शरीरमें व्याप्त होकर रहता है। यह खुलासा इसलिये करना पड़ा है कि बहुत लोग हृदय और अन्तःकरणको एक मानकर समझते हैं कि बाँयें पार्श्वका मांसल अवयव ही अन्तःकरण है और इसी अर्थमें व्यवहार भी करते हैं। परंतु यह वस्तुतः है नहीं।

अन्तःकरणकी चार मुख्य वृत्तियाँ हैं, अतएव उसके चार विभाग किये जाते हैं—जिनके नाम हैं मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। इन चारोंके लिये एक शब्दमें अन्तःकरणचतुष्टय शब्द व्यवहार किया जाता है। कभी-कभी अन्तःकरण-शब्दका प्रयोग न करके इन चारोंमें किसी एक शब्दका व्यवहार करते हैं। कहीं अन्तःकरणके बदले मन, कहीं बुद्धि, कहीं चित्त और कहीं अहंकार-शब्द प्रयुक्त होता है। पूर्वोक्त सूक्ष्म-शरीरकी व्याख्यामें श्रीशंकराचार्यने अन्तःकरणके बदले मन और बुद्धि दो शब्दोंका प्रयोग किया है। दूसरे उदाहरण भी निम्नाङ्कित तरीकेसे दिये जा सकते हैं।

चित्तमेव हि संसारः।
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
रागेच्छासुखदुःखादि बुद्धौ सत्यां प्रवर्तते॥

इन तीनों स्थलोंमें विभिन्न शब्द अन्तःकरणके अर्थमें प्रयुक्त हुए हैं और यही समझना ठीक है; क्योंकि इससे गड़बड़ी नहीं होती। इन तीनोंका एक दूसरेके साथ इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि प्रत्येकको कार्यक्षेत्रके अनुसार पृथक्-पृथक् कहना या समझना सम्भव नहीं है। अतएव श्रेयस्कर यही है कि प्रत्येक शब्दके बदले अन्तःकरण-शब्दको स्वरूप समझें, अर्थात् प्रत्येक शब्दको अन्तःकरणका पर्याय या प्रतिनिधि मानें।

अन्तःकरणचतुष्टयका धर्मशास्त्रोंने इस प्रकार वर्णन किया है। मनका धर्म है—संकल्प-विकल्प करना, सारे द्वन्द्वोंको दिखलाना कि यह भला-बुरा, यह सुख-दुःख, यह प्रिय-अप्रिय है। बुद्धिका धर्म है—निश्चय करना; इस वृत्तिके कारण भले-बुरे, प्रिय-अप्रियका पृथक्-पृथक् निश्चय होता है। इसमें मन भी सहायक होता है।

चित्तका धर्म है—चिन्तन करना, एक-न-एक बातका विचार करके सुख-दुःख भोगना तथा भूतकालकी बातें याद करके सुख-दुःख भोगना। आत्मचिन्तन करके मोक्ष-सुख देनेमें भी चित्त समर्थ होता है।

अहंकारका धर्म है—अभिमान करना, यह अपना नहीं, यह अपना है—इस प्रकारका मिथ्या-अभिमान करना।

जीव कहता है कि मैं ब्राह्मण हूँ, मैं जवान या बूढ़ा हूँ, मैं मूर्ख या ज्ञानी हूँ इत्यादि । ये सारे असत् अहंकार हैं । परंतु सत् अहंकार करनेपर जीव मुक्ति प्राप्त करता है—जैसे, मैं ब्रह्म हूँ, मैं परमात्मस्वरूप हूँ, देह आदि दृश्यके साथ मेरा कुछ भी लेना-देना नहीं है, इत्यादि । इस वृत्तिमें चित्त अपना सहकार प्रदान करता है ।

अब इस अन्तःकरणकी महिमा देखिये । जन्म-जन्मान्तरके संचित कर्म अन्तःकरणमें सूक्ष्मरूपसे रहते हैं और वे ही जन्म-मरणके कारण बनते हैं । तथा सूक्ष्म-भाव भी संस्काररूपमें यहीं रहते हैं । अन्तःकरण चैतन्यका आभास प्राप्तकर स्थूल-शरीरको चेतनवान् बनाता है और उसके द्वारा उसके सारे व्यवहार कराता है । यदि उसकी उपस्थिति न हो तो स्थूल-शरीर लकड़ी या लोहेके समान जड हो जाय और कोई भी कार्य न कर सके; यह हम प्राण निकल जानेके बाद प्रत्यक्ष देखते हैं ।

यह बात नीचेके दृष्टान्तसे खूब स्पष्ट हो जायगी । एक बिजलीका लैम्प है । उसमें ऊपर काँचका बल्ब है और उसके भीतर प्रकाश देनेके लिये गोल है । यहाँ ऊपरके काँचके बल्बको स्थूल-शरीर मानिये और भीतरके गोलको सूक्ष्म-शरीर या अन्तःकरण मानिये । बिजलीका प्रकाश इस गोलको प्रकाशित करता है और उसके प्रकाशसे ऊपरका काँचका बल्ब प्रकाशित होकर बाहर चारों ओर प्रकाश फैलता है । यदि किसी कारणसे भीतरका गोल नष्ट हो जाय यानी बिगड़ जाय, तो ऊपरका बल्ब प्रकाश नहीं प्रदान कर सकता । बिजली तो उस दशामें भी उपस्थित रहती है; परंतु उसके प्रकाशको ग्रहण करनेकी वस्तु न होनेके कारण काँचका बल्ब प्रकाश नहीं देता; क्योंकि उसमें प्रकाश ग्रहण करनेकी शक्ति नहीं । इसी प्रकार स्थूल-शरीरमें जबतक अन्तःकरण है तबतक वह चेतनवान् बना रहता है; परंतु जब स्थूल-शरीरको छोड़कर सूक्ष्म-शरीर चला जाता है, तब स्थूलशरीर चेतनरहित हो जाता है; क्योंकि उसमें आत्माका प्रकाश ग्रहण करनेकी शक्ति नहीं रहती । बिजलीके दृष्टान्तके अनुसार सूक्ष्मशरीरके चले जानेपर स्थूलशरीरमें आत्मा तो है, पर उसका प्रकाश नहीं दीखता; क्योंकि प्रकाशको ग्रहण करनेवाली वस्तु उस समय उपस्थित नहीं रहती । आत्मा तो सर्वव्यापक होनेके कारण मुर्देमें भी है, मुर्देके जल जानेपर भी रहेगा, उसे जलानेवाली अग्निमें भी है और सारी अवशिष्ट राखमें भी है । कारण, आत्मा सर्वव्यापक है, अतएव वह कहाँ नहीं है ? अर्थात् सर्वत्र है ।

सूक्ष्म-शरीर स्थूल-शरीरको छोड़कर चला जाता है, तब उसमें आत्माका प्रकाश क्यों नहीं दीखता ? इसका उत्तर श्रीशंकराचार्य देते हैं—

यथा दर्पणाभाव आभासहानि-
मुखं विद्यते कल्पनाहीनमेव ।
तथा धीवियोगे निराभासको यः
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥

तात्पर्य यह है कि मुँहके सामने दर्पण रखनेसे उसमें मुखका प्रतिबिम्ब दिखलायी देता है और दर्पणको दूर करनेसे प्रतिबिम्ब दीखना बंद हो जाता है । ऐसी अवस्थामें बिम्बरूपी मुखका नाश हो गया—ऐसा कोई नहीं मानता; क्योंकि पुनः दर्पण सामने रखनेपर उसमें पुनः प्रतिबिम्ब दिखलायी देता है । इसी प्रकार जब सूक्ष्म-शरीर स्थूल-शरीरको छोड़कर चला जाता है, तब उसमें आत्माका प्रकाश दीखता नहीं । इससे यह नहीं समझना चाहिये कि उस समय स्थूल-शरीरमें आत्मा नहीं है । प्रतिबिम्ब डालनेवाली वस्तु बुद्धि अर्थात् अन्तःकरण जो सूक्ष्म-शरीरके साथ चला गया है, उसके अभावमें आत्माका प्रतिबिम्बरूप प्रकाश नहीं दीखता । अन्यथा, आत्मा तो सर्वव्यापक और त्रिकालाबाधित है ही । अतएव वह कब और कहाँ रहेगा ? अर्थात् सर्वत्र और तीनों कालमें रहेगा ही ।

इस अन्तःकरणके कारण ही देहकी जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थाएँ होती हैं । जब अन्तःकरण बहिर्मुख होता है, अर्थात् ज्ञानेन्द्रियोंद्वारा विश्वके विषयोंका अनुभव करता है, उस अवस्थाको जाग्रत् अवस्था कहते हैं और इस अवस्थाके अभिमानी जीवको 'विश्व' नाम प्रदान करते हैं; क्योंकि इस अवस्थामें जीवका बाहरके विश्वके साथ सम्बन्ध होता है ।

यही अन्तःकरण जब अन्तर्मुख होता है, अर्थात् शरीरके भीतर ही संसारको रचता है और स्थूल-शरीरके साथ सम्बन्ध छोड़ देता है, तब उस अवस्थाको स्वप्नावस्था कहते हैं और उसके अभिमानी जीवको 'तैजस' नाम

प्रदान करते हैं; क्योंकि इस अवस्थामें जीव अपने तैजससे सृष्टि रचता है और उसको भोगता है।

इसी प्रकार जब यही अन्तःकरण अपने उपादान-कारणमें लीन हो जाता है और इससे कार्य सामने नहीं रहता, तब सुषुप्ति अवस्था होती है। कुछ लोग प्रकृतिको अन्तःकरणका उपादानकारण मानते हैं और दूसरे लोग अज्ञानको मानते हैं। दोनों ही बातें ठीक हैं, कोई विरोध नहीं आता। प्रकृतिको मानना अधिक ठीक है, क्योंकि हम ऊपर कह चुके हैं कि अन्तःकरण पञ्चमहाभूतोंके सात्त्विक अंशसे बना है; परंतु कुछ और आगे बढ़कर देखनेसे अज्ञान ही उसका उपादानकारण दीख पड़ेगा। परंतु इसमें मस्तिष्कको थोड़ा श्रम लगाना पड़ता है। इस अवस्थाके अभिमानी जीवको प्राज्ञ कहते हैं। यहाँ प्राज्ञका अर्थ बुद्धिमान्, चतुर या विज्ञानवान् नहीं बल्कि पूर्ण अज्ञान (**प्रकृष्टमज्ञानम्**) अर्थ होता है; क्योंकि सुषुप्ति-अवस्थामें अविद्या या अज्ञानके सिवा और कुछ रहता ही नहीं।

यहाँ एक बात समझने योग्य है। जो जीव जाग्रत्-अवस्था में है, वही जीव उसी स्वरूपमें स्वप्न और सुषुप्ति-अवस्थामें भी रहता है। अवस्था बदलनेसे जीवका स्वरूप नहीं बदलता। विश्व आदि नाम तो केवल उस अवस्था-विशेषके साथ जीवके सम्बन्धको बतलानेके उद्देश्यसे ही व्यवहृत होते हैं। ये तीनों ही नाम एक ही जीवके हैं, इसी कारण वही जीव अपने शुद्ध स्वरूपमें तुर्य कहलाता है।

इस प्रसङ्गमें तुरीय अथवा तुर्य अवस्थाके विषयमें कुछ कहना अप्रासङ्गिक न होगा। जिस प्रकार शरीर कोई शरीर-विशेष नहीं, उसी प्रकार तुरीय अवस्था कोई अवस्था-विशेष नहीं है। अन्तःकरणके बहिःस्फुरण, अन्तःस्फुरण या लयकी अवस्थाओंको क्रमशः जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति कहते हैं। आत्मा इन तीनों अवस्थाओंमें साक्षीरूपमें विद्यमान होता है और केवल द्रष्टारूपमें रहता है। अतएव आत्माको तुरीय या तुर्य कहते हैं और इन तीनों अवस्थाओंके साथ आत्माका सम्बन्ध नहीं है, यह बतलानेके लिये 'तुरीयावस्था' शब्दका व्यवहार करते हैं।

सुख-दुःखके भोग भी इस अन्तःकरणमें ही होते हैं; क्योंकि और सब तो जड हैं और जीव स्वरूपतः सुख-दुःखसे लिप्त नहीं होता; क्योंकि वे उसको स्पर्श नहीं कर सकते। अन्तःकरणके साथ तादात्म्य हो जानेसे, अन्तःकरणमें होने जानेवाले सुख-दुःखका भोक्ता भ्रमवश यह अपनेको मान लेता है। इसी कारणसे जीव सुखी, दुखी होता है। वास्तवमें ऐसा नहीं होता। यह बात नीचेके उदाहरणसे स्पष्ट समझमें आ जायगी।

एक मनुष्यको बिच्छूने डंक मार दिया है। बिच्छूके विषकी वेदनासे वह चिल्लाता है और व्याकुल होता है। पश्चात् कुछ नींद आती है और उसके साथ ही वह मनुष्य शान्त बन जाता है। क्या बिच्छू-डंककी वेदना मिट गयी! नहीं। वह जैसी-की-तैसी है। परंतु वेदनाका अनुभव करनेवाला अन्तःकरण अन्तर्मुख हो गया, यानी स्थूल-शरीरके साथ उसका वह सम्बन्ध न रहा। इसलिये उतने समयके लिये दुःखका भोग दूर हो गया। पश्चात् जब वह आदमी जागता है तो फिर वह वेदना शुरू हो जाती है।

स्वप्नका उदाहरण लीजिये। उस आदमीको नींद आनेपर स्वप्न दीखता है। उसको सामने एक बाघ दीखता है और वह खूब डरता है, भाग जानेकी चेष्टा करता है; परंतु बाघ उसको पकड़ लेता है, इतनेमें उसकी आँख खुल जाती है। देखता है कि बाघ नहीं हैं और वह बिछौनेपर पड़ा है। अब बिच्छू-डंककी वेदना शुरू हो जाती है। इस समय यह बेदना नयी नहीं आयी। अन्तःकरणके बहिर्मुख होनेपर उसका स्थूल-शरीरके साथ सम्बन्ध फिर हो गया। नींद उचट गयी और स्वप्न बंद हो गया। अन्तःकरणके बहिर्मुख होनेपर वह बिच्छू-डंककी वेदना भोगने लगा।

परंतु सुषुप्तिमें अन्तःकरणके विलीन हो जानेपर सुख-दुःखका भोग नहीं जान पड़ता। जीव तो उस समय भी उपस्थित रहता है, पर सुख-दुःख भोगनेवाला अन्तःकरण उस समय उपस्थित नहीं रहता, इस कारण भोग भी नहीं दीखता।

पुराणोक्त धर्म-वंशका रहस्य

(लेखक—सर्वदर्शनाचार्य तत्त्वचिन्तक अनन्तश्री स्वामी श्रीअनिरुद्धाचार्य वेंकटाचार्यजी महाराज)

[गताङ्क पृष्ठ १०७८ से आगे]

प्रकृतिकी अंशकला और उनका अधिदैवतमें प्रभाव

दक्ष-कन्या होनेसे दाक्षायणी एवं धर्मकी पत्नी श्रद्धा, मैत्री एवं दया आदिको ब्रह्मवैवर्तपुराण प्रकृतिकी अंशकला मानता है। वे केवल धर्म-तत्त्वकी पत्नी ही नहीं, प्रत्युत भिन्न-भिन्न तत्त्वोंकी पत्नियाँ भी हैं। उक्त पुराणका कथन है कि (१) देवी स्वाहा अग्निकी पत्नी हैं। सम्पूर्ण जगत्में इनकी पूजा होती है। इनके बिना देवता अर्पित की हुई हवि पानेमें असमर्थ हैं। (२) देवी दक्षिणा यज्ञकी पत्नी हैं। इनके न रहनेसे विश्वके सभी यज्ञ-प्रधान कर्म निष्फल हो जाते हैं। स्वधा पितरोंकी पत्नी हैं। इनके नामोच्चारण बिना दिये हुए कव्यको पितृ-ईश्वर ग्रहण नहीं करते। स्वस्ति वायुकी पत्नी हैं। इनके बिना आदान-प्रदान निष्फल हो जाते हैं। पुष्टि गणेशकी पत्नी हैं। इनके बिना स्त्री-पुरुष क्षीणशक्ति हो जाते हैं। तुष्टि अनन्तकी पत्नी हैं। इनके बिना संसार सम्यक् प्रकारसे तुष्ट नहीं बन सकता। सम्पत्ति ईशानकी पत्नी हैं। इनके न रहनेपर जगत्में दुःख-दारिद्र्य फैल जाता है। धृति कपिलकी पत्नी है, जिसका काम जगत्को धैर्य देकर अधीरतासे बचाना है। क्षमा यमकी पत्नी है, जो वीरोंका भूषण है। इसके न रहनेसे मनुष्य रुष्ट और उन्मत्त बन जाता है। सती-साध्वी रति कामदेवकी पत्नी है। वह क्रीडाकी अधिष्ठात्री देवी है। वह न रहे तो जगत्के सब प्राणी केलि-कौतुकसे शून्य हो जायँ। सती मुक्ति सत्यकी भार्या है। सबसे आदर पानेवाली यह देवी आत्मप्रतिष्ठाकी वृद्धि करती है। दया मोहकी पत्नी है। इसके बिना सम्पूर्ण प्राणी निष्ठुर बन जाते हैं। प्रतिष्ठा पुण्यकी पत्नी है। इसके बिना सारा संसार जीते हुए ही मृतकवत् बन जाता है। कीर्ति सुकर्मकी पत्नी है। इसके अभावमें जगत् यशोहीन हो जाता है। क्रिया उद्योगकी पत्नी है। इसके बिना सारा संसार आलसी होकर नष्ट हो जाता है। मिथ्या अधर्मकी पत्नी है। सभी धूर्त इसका सत्कार करते हैं। यह देवी सत्ययुगमें सर्वथा अदृश्य थी, त्रेतायुगमें सूक्ष्म-रूप धारणकर प्रकट हो गयी। द्वापरमें अपने आधे शरीरसे शोभा पाने लगी। कलियुगमें तो मिथ्यादेवीका शरीर हृष्ट-पुष्ट हो गया है। सब जगह इसीका बोल-बाला है। इसके भाईका नाम कपट है। उसके साथ यह प्रत्येक घरमें चक्कर लगाती है। शान्ति और लज्जा सुशीलकी दो पत्नियाँ हैं। इनके न रहनेपर सारा जगत् उन्मत्तकी भाँति जीवन व्यतीत करने लगता है। ज्ञानकी तीन पत्नियाँ हैं—बुद्धि, मेधा और स्मृति। यदि ये मनुष्यका साथ छोड़ दें तो समस्त जगत् मूर्ख और मृतक-समान बन जाय।

धर्मकी पत्नी मूर्ति हैं। इनका सहयोग न मिले तो परमात्मा और समस्त संसार निराकार-निराधार रह जाय। इनके स्वरूपको अपनाकर ही साध्वी लक्ष्मी सर्वत्र शोभा पाती हैं। 'श्री' और 'मूर्ति' दोनों इनके स्वरूप हैं। रुद्रकी पत्नी कालाग्नि है। इसे योगनिद्रा भी कहते हैं। रात्रिमें इसका सहयोग पाकर समस्त प्राणी आच्छन्न अर्थात् निद्रासे व्याप्त हो जाते हैं। कालकी तीन पत्नियाँ हैं—संध्या, रात्रि और दिन। ये न रहें तो ब्रह्मा भी कालसंख्याका परिगणन नहीं कर सकते। लोभकी दो भार्याएँ हैं—क्षुधा और पिपासा। इन्होंने सम्पूर्ण जगत्पर अपना प्रभाव जमा रखा है। इन्हींके कारण जगत् क्षोभयुक्त तथा चिन्तातुर बनता है। तेजकी दो स्त्रियाँ हैं—प्रभा और दाहिका। इनके अभावमें जगत्स्रष्टा ब्रह्मा अपना कार्य सम्पादन करनेमें असमर्थ हैं। ज्वरकी भार्या जरा और मृत्यु हैं, जिनके पिता कालदेव हैं। इनकी सत्ता न रहे तो ब्रह्माके बनाये हुए जगत्की व्यवस्था ही बिगड़ जाय। निद्राकी कन्याका नाम तन्द्रा है। तन्द्रा और प्रीति—ये दो सुखकी पत्नियाँ हैं। विधिके विधानमें बना रहनेवाला यह समस्त जगत् इनसे व्याप्त है। श्रद्धा और भक्ति वैराग्यकी पत्नियाँ हैं। इनके कृपा-प्रसादसे अखिल जगत् सदा जीवन्मुक्त हो सकता है। देवमाता अदिति, गोमाता सुरभि, दैत्यमाता दिति, कद्रू, विनता और दानव-माता दनु—ये सभी देवियाँ सृष्टिका कार्य सँभालती हैं। इन्हें भगवती प्रकृतिकी कला कहा जाता है। ये सभी कलाएँ विश्वके अणु-परमाणुमें व्याप्त हैं।

दक्ष-कन्याओंका अध्यात्ममें प्रभाव

दक्ष-कन्याएँ अपने पति धर्म अथवा ऋषियोंसे अभिन्न हैं। ये शक्तियाँ ही विश्वमें विद्यमान तत्-तत् धर्म (मृदुता, मधुरता एवं सौन्दर्य आदि) की प्रवर्तिकाएँ हैं। धर्म और धर्मकी शक्तिरूपा श्रद्धा आदि पत्नियाँ, ऋषि और ऋषियोंकी

शक्तिरूपा ख्याति आदि शक्तियाँ अभिन्न हैं । जिस पुरुष अथवा स्त्रीमें दक्ष-कन्या अथवा धर्मपत्नी श्रद्धाका विकास होता है, वह स्त्री अथवा पुरुष पुण्यशील होता है । मानव-हृदयमें शुभभावका संचार ही श्रद्धाका कार्य (फल) है । इसी अर्थको रूपकालंकारसे पुराणोंमें **'श्रद्धासूत शुभं पुत्रम्'** यह कहा गया है । जिस मानवके हृदयमें दक्षकुमारी मैत्रीका विकास होता है, उसके अध्यात्ममें प्रसादभाव (प्राणिमात्रके प्रति स्नेह) का उदय होगा । यही धर्म और मैत्रीके दाम्पत्य-भावसे प्रसादनामक पुत्र (भाव) का उदय होना है । जिस प्राणीके अध्यात्ममें दक्ष (स्वायम्भुव प्राण) एवं धर्मपत्नी दयाका विकास होता है, उसके हृदयमें प्राणियोंके प्रति अभयभावकी उत्पत्ति होती है । इसी भावको समझानेके लिये रूपकालंकार तथा कथालंकारसे काव्यकी भाषामें दयाका पुत्र अभय बताया गया है । अभयदान विश्वमें सब दानोंसे बड़ा है । जिसके अध्यात्ममें शान्तिनामक दक्ष कन्याका विकास होता है, उसके हृदयमें सुखभावका उदय हुए बिना नहीं रह सकता । शान्ति ही सुखकी जननी है । **'अशान्तस्य कुतः सुखम्'** यह गीतावाक्य सानुभव है । जिस पुरुषमें तुष्टिनामक धर्मपत्नीका विकास होता है, उसके मनमें मुद (आनन्द) भावका विकास हुए बिना नहीं रह सकता । भगवान् मनुका यह कथन—**'संतोषमूलं ही सुखं दुःखमूलं विपर्ययः'** सानुभव है । जिसके अध्यात्ममें पुष्टिरूप दक्षकुमारीका विकास है, उसके मनमें मदकी उत्पत्ति होकर रहेगी, जिसका फल अपनेको बड़ा समझनेके रूपमें होगा । जिसके अध्यात्ममें दक्षकन्या क्रियाका विकास होता है, उसके मनमें सदा ही उद्योग-प्रवणता बनी रहती है । अर्थात् जो निष्क्रिय (निकम्मे) होते हैं, वे धर्म-हीन हैं । जिसके मनमें धर्मपत्नी उन्नतिका विकास होगा, उसके हृदयमें दर्प (अहंकार) का संचार हुए बिना नहीं रह सकता । यही भाव उन्नतिसे दर्परूप पुत्र उत्पन्न होनेमें दिखाया गया है । दर्पके स्वरूपका निर्देश गीतामें **'कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया'** इत्यादि वाक्योंसे किया गया है । दर्पके स्वरूपका विवेचन करते हुए आचार्य श्रीवेंकटनाथने संकल्पसूर्योदय ग्रन्थमें कहा है—

विद्यातश्च विवादतश्च विदितादाचारतश्च क्षितौ
कूटस्थाभ्यधिकः कथं मम कुतः को वा समः कथ्यते ॥

अर्थात् विद्या, कुल और धनमें हमारे समान ही कोई नहीं है तब बड़ा तो होगा ही कहाँसे । इस प्रकारके दर्पसे बचना चाहिये । जिसके अध्यात्ममें दक्षकन्या बुद्धिका विकास होता है, उसके हृदयमें कर्तव्याकर्तव्य-विषयक विवेकका उदय होता है । जिसके अध्यात्ममें धर्मपत्नी मेधाका विकास होता है, उसकी स्मरण-शक्ति प्रबल रहती है । जिसके हृदयमें धर्मपत्नी तितिक्षाका विकास है, उसके हृदयमें क्षेमभावका उदय हुए बिना न रहेगा । जिसके अध्यात्ममें लज्जाका विकास है, उसके हृदयमें प्रश्रय (विनय) का विकास होना ही चाहिये। जिसके हृदयमें धर्मपत्नी मूर्तिका विकास होता है, उसके अध्यात्ममें सब गुणोंका विकास होता है । प्रधानतः वह सबका आधार बना रहता है । अध्यात्ममें इस प्रकार दक्ष-कन्याओं (धर्मपत्नियों) के प्रभावका प्रदर्शन है ।

अब दक्षकन्याओंके पतियोंके विकासमें उत्पन्न होनेवाले अध्यात्मभावोंका निर्देश किया जाता है । जिस मानवमें दक्ष-कन्या ख्यातिके पति भृगु (प्राण) का विकास होता है, उस मानवमें ख्याति (ज्ञान) भावका उदय होता है। अर्थात् वह ज्ञानार्जनके लिये सचेष्ट रहता है। जिसके अध्यात्ममें दक्ष-कन्या सम्भूतिके पति मरीचि (प्राण) का उदय होता है, उसमें सम्भूति (प्रजननसामर्थ्य) भावका उदय होता है। यही मरीचिके साथ दक्षकन्या सम्भूतिके विवाहका रूपक-रहस्य है। जिसके अध्यात्ममें दक्षकन्या स्मृतिके पति अङ्गिरा ऋषि (प्राण) का अधिक विकास होता है, उस मानवमें स्मृति (स्मरणशक्ति) का प्राकट्य होता है ।

अधिदैवत अथवा अध्यात्ममें वसिष्ठ-प्राण ओजस्विता-भावका प्रवर्तक है । अतः जिस प्राणीमें दक्षकन्या ऊर्जाके पति वसिष्ठ-प्राणकी प्रधानता होती है, उसमें ओजस्विताभावका उदय होता है । ओजस्विता ही ऊर्जा है । जिस मानव अथवा स्त्रीमें ओजस्विता-गुणका प्राकट्य हो तो निश्चय ही उसमें वसिष्ठ-प्राणकी प्रधानता है । अत्रिप्राण अनसूया-भावका प्रवर्तक है । अतः जिस मानवमें दक्ष-कन्या अनसूयाके पति अत्रि-प्राणका उदय (विकास) होगा, उसके अध्यात्ममें अनसूयाभाव (गुण) का उदय होगा, जिसके स्वरूपका उल्लेख शास्त्रमें इस प्रकार हुआ है ।

न गुणान् गुणिनो हन्ति स्तौति मन्दगुणानपि ।
न हसेच्चान्यदोषांश्च सानसूया प्रकीर्तिता ॥

पुलस्त्य-प्राण विश्वमें राग और घातक वृत्तिका प्रवर्तक है । अतः जिस प्राणीमें प्रीतिके प्रति पुलस्त्य-प्राणका उदय होता है, उसमें अर्थ और कामके प्रति राग एवं घातक वृत्तिवाले गुणका उदय होता है । इसीलिये अधर्मसे अर्थ-कामप्रवण और घातक वृत्तिवाले रावणादि राक्षसोंको

पौलस्त्यकुलनन्दन कहा है। क्रतु-प्राण क्षमा एवं अध्यवसाय (कर्मनिर्भरता)का प्रवर्तक है। इस प्राणका जिस मानवमें उदय होगा, वह मानव सहनशील और कर्मनिपुण होगा। दक्ष-प्राण व्यवसाय-शक्तिका प्रवर्तक है। इस प्राणकी जिसमें प्रधानता है, वह सदा कर्मतत्पर बना रहता है। ऐसे मानवको उद्देश्य करके ही श्रीपुष्पदन्ताचार्यने 'क्रियादक्षो दक्षः' यह कहा है।

अधर्म-वंश

अधर्म धर्मका प्रतिद्वन्द्वी है। दर्शनवेत्ताओंने इन दोनोंके द्वन्द्वको जगत्‌की स्थितिका कारण माना है। अतः अधर्म-वंशका ज्ञान धर्मवंशके सम्यक् ज्ञानके लिये अति उपयोगी है। इसका जानना भी परमावश्यक है। अधर्म-वंशका ज्ञान अधर्मको छोड़नेमें कारण होता है। श्रीमद्-भागवतमें उसका निर्देश इस प्रकार है—

अधर्मकी पत्नी मृषा (मिथ्यावाद) है। अधर्म एवं मृषाके दाम्पत्यभावसे दम्भ और माया नामक मिथुन (जोड़ा) उत्पन्न हुआ। इस दम्भ और मायारूप मिथुनको प्रजारहित निर्ऋतिने दत्तकरूपमें स्वीकृत कर लिया। दम्भ और मायाके दाम्पत्यभावसे लोभ और निकृति (शठता) नामक युगल (जोड़ा) उत्पन्न हुआ। इस जोड़ेसे क्रोध और हिंसा नामक युगल उत्पन्न हुआ। इस जोड़ेसे दुरुक्ति और कलिनामक जोड़ा हुआ। कलिसे दुरुक्ति पत्नीमें भय और मृत्युनामक जोड़ा उत्पन्न हुआ। इस भय और मृत्युरूप युगलसे यातना और निरय नामक मिथुन उत्पन्न हुआ। नरक और यातना दोनों ऊर्ध्वरेता होनेसे अप्रज (संततिरहित) हैं।

प्रकारान्तर

दूसरे पुराणोंमें प्रकारान्तरसे अधर्म-वंशका वर्णन मिलता है। अधर्म ब्रह्माजीके वामस्तन अथवा पृष्ठभागसे उत्पन्न हुआ है। अधर्मकी पत्नी हिंसा है। हिंसाने अधर्मसे अनृत-नामक पुत्र एवं निकृति (शठता) नामक मिथुन (जोड़े)-को उत्पन्न किया। निकृति एवं अनृत दोनोंने माया और भय, वेदना और नरक—ये दो मिथुन (जोड़े) उत्पन्न किये। माया और भय दम्पतीने सर्वभूतापहारी मृत्युको उत्पन्न किया। वेदना और नरकने दुःखरूप पुत्रको उत्पन्न किया। मृत्युने व्याधि, शोक, जरा, तृष्णा, क्रोध आदिको जन्म दिया।

इस सम्बन्धमें मार्कण्डेयपुराणका कथन है कि मृत्युकी दो पत्नियाँ हैं—एक निर्ऋति, दूसरी अलक्ष्मी। निर्ऋतिके पुत्र व्याधि, जरा, शोक, तृष्णा एवं क्रोध आदि हैं। अलक्ष्मीके पुत्र चौदह हैं। चौदह पुत्रोंमें तेरह पुत्र—दस इन्द्रियाँ मन, बुद्धि तथा अहंकार हैं, जो अहंकारमें निवास करते हैं। चौदहवें कनिष्ठ पुत्रका नाम दुस्सह है। दुस्सहके दन्ताकृष्टि, तथोक्ति, परिवर्त, अङ्गध्रुक्, शकुनि, दण्डान्तरति, गर्भहा एवं शस्यहा—ये आठ पुत्र तथा नियोजिका, विरोधिनी, संहारकरी, भ्रामणी, ऋतुहारिका, स्मृतिहरा, बीजहरा और विद्वेषिणी—ये आठ पुत्रियाँ हैं। इनके विनाशक कार्य इनके अन्वर्थक नामसे ही प्रकट हैं। इन आठ कुमार और कुमारियोंके भी अड़तीस कुमार-कुमारियाँ उत्पन्न हैं। उनमेंसे प्रधानके नाम इस प्रकार हैं—विजल्पा, कलहा, तालजिह्व, विरूप, विकृति, निघ्न, मोहिनी, क्षुद्रक, प्रचण्ड, वातरूप, अरूप, अपकारक एवं आत्मस्तोता। इन सबका नाशक कार्य नामसे सुस्पष्ट है। विशेष जिज्ञासुओंको इस विषयमें मार्कण्डेयपुराणके ५० वें तथा ५१ वें अध्यायोंका अध्ययन-मनन करना चाहिये। ये सब पुत्र-पुत्रियाँ प्राणरूप हैं। सर्वसाधारणको यह रहस्य समझानेके लिये इनका परस्परमें विवाह एवं एक दूसरेके प्रति पिता-पुत्र-भाव आदि सम्पूर्ण व्यवहार काव्यकी परिभाषामें रूपकालंकार एवं दर्शनोंकी भाषामें आहार्य ज्ञानसे पुराणोंमें गूढ़ निरूपण किया गया है। जिस प्रकार अधिदैवत एवं अध्यात्ममें दक्ष-कन्याओंके विकासका सुन्दर और रक्षक प्रभाव होता है, तथैव निर्ऋति एवं अलक्ष्मीके पुत्र-पुत्रियोंका भी कुत्सित एवं विनाशक प्रभाव होता है। अतः इनसे दूर रहना परमावश्यक है। विश्वमें अधर्म एवं उसके कुलके प्रसारका कुफल शास्त्रोंमें इस प्रकारसे कहा गया है—

दुःखोत्तराः स्मृता ह्येते सर्वे चाधर्मलक्षणाः।
नैषां पुत्रोऽस्ति भार्या वा सर्वे ते ह्यूर्ध्वरेतसः॥
रौद्राण्येतानि रूपाणि विष्णोर्नरवरात्मज।
नित्यप्रलयहेतुत्वं जगतोऽस्य प्रयान्ति वै॥

अर्थात् अधर्मके फैलावका कुफल दुःख और अधोगमन है—**'गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण'**। अतः राष्ट्र एवं राष्ट्रवासियोंकी उन्नतिके इच्छुकोंको अधर्मका परित्याग एवं धर्मका आचरण करना परमावश्यक है। वेदकी आज्ञा है कि—

'एष आदेशः' 'एष उपदेशः' 'एवमुपासितव्यम्' 'धर्मान्न प्रमदितव्यम्' ओमिति।

धर्मप्रतिमा

पदार्थमात्रमें अन्तर्यामिरूप (तत्-तत् पदार्थोंके धर्मरूप)

से व्याप्त प्रत्येक पदार्थके स्वरूप-संरक्षक एवं संवर्द्धक धर्मका स्वरूप तथा धर्मजन्य फलोंका सरलरूपसे सर्वसाधारणको प्रबोध करानेके लिये धर्मप्रतिमाका सहेतुक निर्माण शास्त्रमें मिलता है। निदान-शास्त्रका इस विषयमें यह आदेश है—

चतुर्वक्त्रश्चतुष्पादश्चतुर्बाहुः सिताम्बरः।
सर्वाभरणवाञ्श्वेतो धर्मः कार्यो विजानता॥
दक्षिणे चाक्षमालां च तस्य वामे तु पुस्तकम्।
मूर्तिमान् व्यवसायस्तु कार्यो दक्षिणभागगः॥
वामभागगतः कार्यः सुखः परमरूपवान्।
कार्यौ धर्मकरौ मूर्ध्नि विन्यस्तौ च तथा तयोः॥
अक्षमाला स्मृतः कालः पुस्तकं चागमं स्मृतम्।
यज्ञः सत्यं तपो दानं तस्य वक्त्रचतुष्टयम्॥
देशकालौ तथा शौचं शुद्धिश्चास्य भुजाः स्मृताः।
श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः॥
तस्य देवस्य धर्मज्ञ ज्ञेयं पादचतुष्टयम्।
सत्त्वाधिकत्वाच्छुक्लस्तु ज्ञानवासाश्च कीर्त्यते॥
अथवा चास्य कर्तव्याः पत्न्यश्चैव चतुर्दश।
कीर्तिर्लक्ष्मीर्धृतिर्मेधा पुष्टिः श्रद्धा क्रिया मतिः॥
बुद्धिर्लज्जा वपुः शान्तिः सिद्धिस्तुष्टिश्चतुर्दश।
द्वाराण्येतानि धर्मस्य सर्वाणि कथितानि ते॥
कार्याः सुरूपा द्विभुजाश्च सर्वा-
स्तेजोऽन्वितास्ताश्च सुभूषणाश्च।
धर्मः स्थितः स्याद्यदि चैक एव
भार्यान्वितश्चेदथ चोपविष्टः॥

इन श्लोकोंका तात्पर्य यह है कि धर्म चतुर्भुज (चार हाथवाला), चतुर्मुख (चार मुखवाला) एवं चतुष्पाद (चार पाँववाला) है। धर्मके वस्त्र श्वेत हैं। वह सर्वाभरण-भूषित है। उसका वर्ण श्वेत है, उसके दक्षिण हाथमें अक्षमाला एवं वाम हाथमें पुस्तक है। धर्मके दक्षिण भागमें मूर्तिमान् व्यवसाय (कर्मठता) एवं वाम भागमें परम सुन्दर सुख है। उन दोनोंके मस्तकोंपर धर्मके दो हाथ रखे हुए हैं। धर्मके प्रतिमानिर्माणका रहस्य यह है कि धर्मके हाथोंमें विद्यमान अक्षमाला कालका संकेत है। पुस्तक आगमका सूचक है। इन दोनों संकेतोंसे यह सूचित होता है कि काल एवं आगम धर्मके दो सहकारी कारण हैं। अर्थात् केवल शास्त्रको पकड़कर वर्तमान कालको भूल जाना—यह धर्मका अनादर है। अथवा केवल वर्तमानकालको ही पकड़कर शास्त्रका अनादर करना भी धर्मका अनादर है। इन दो भावोंके सूचक अक्षमाला तथा आगम हैं। धर्मके चार मुख यज्ञ, सत्य, तप एवं दानके सूचक हैं। धर्मके चार हाथ देश, काल, शौच (शारीरिक पवित्रता) एवं शुद्धि (पदार्थगत पवित्रता) के सूचक हैं। धर्मके चार पाँव श्रुति, स्मृति, सदाचार एवं आत्मप्रियताके सूचक हैं अर्थात् जहाँपर श्रुति एवं स्मृतिके अनुकूल सदाचारका पालन होता हो और अपनी आत्माको उपमान बनाकर दूसरोंके प्रिय-अप्रियका ध्यान रखा जाता हो, वहाँपर ही धर्म प्रतिष्ठित रहता है। धर्मका शुक्ल वर्ण सत्त्वगुणके आधिक्यका सूचक है। अर्थात् मनमें सत्त्वगुणकी वृद्धि धर्माचरणके प्रति श्रद्धा उत्पन्न करती है। धर्मका श्वेत वस्त्र ज्ञानका सूचक है।

प्रकारान्तर

धर्मप्रतिमाके चित्रणका अन्य प्रकार यह है—धर्मके समीप उनकी चौदह पत्नियों (शक्तियों) का निर्माण करना चाहिये। धर्मकी शक्तियोंके नाम ये हैं—कीर्ति, लक्ष्मी, धृति, मेधा, पुष्टि, श्रद्धा, क्रिया, मति, बुद्धि, लज्जा, वपु, शान्ति, सिद्धि, तुष्टि। धर्मपत्नीरूपसे वर्णित ये सब शक्तियाँ धर्मके द्वार हैं। इनके द्वारा ही धर्मकी उपासना होती है।

इस प्रतिमारूप स्थूल माध्यमसे सूक्ष्म धर्मतत्त्वका ज्ञान सुगम किया गया है। इस माध्यमसे यह उपदेश दिया गया है कि धर्मका फल व्यवसाय (कर्मठता) एवं सुख है। बिना धर्माचरणके लोकमें व्यवसाय एवं सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती। व्यवसाय (कर्मठता) एवं सुखपर सदैव धर्मके वरद हस्त हैं। लक्ष्मी, धृति एवं पुष्टि आदि शक्तियाँ धर्मके शरीर ही हैं। इनमेंसे एक भी गुणका धारण साक्षात् धर्मका ही धारण है। अतः उन्नति, रक्षा, व्यवसाय, सुख एवं शान्तिके इच्छुकोंको धर्मका सदा ही आचरण करना चाहिये। इससे स्वहित, परहित तथा इहलोक एवं परलोकमें शाश्वत कल्याणकी प्राप्ति होती है।

धर्मे मतिर्भवतु वः पुरुषोत्तमानां
स ह्येक एव परलोकगतस्य बन्धुः।
अर्थाः स्त्रियश्च निपुणैरपि सेव्यमाना
नैवाप्तभावमुपयान्ति न च स्थिरत्वम्॥
यतो धर्मस्ततो जयः।

सब अनर्थोंके मूलभूत राग-द्वेषके नाशके उपाय

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

मनुष्यमें अनुकूल या प्रतिकूल वृत्ति हर समय होती रहती है। इनसे ही राग-द्वेष पैदा होते हैं। अनुकूलमें राग होता है और प्रतिकूलमें द्वेष। ये राग-द्वेष ही सारे अनर्थोंकी जड़ हैं। रागसे काम और द्वेषसे क्रोध उत्पन्न होता है—

सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।
(गीता २। ६२)

'आसक्तिसे विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है और कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है।'

यहाँ यह शङ्का होती है कि क्रोधका कारण काम है या द्वेष ? इसका उत्तर यह है कि दोनों ही हैं। काम तो क्रोधका निमित्तकारण है और द्वेष उपादानकारण।

इसी प्रकार हर्ष-शोकादि विकार भी अनुकूलता-प्रतिकूलतामें ही होते हैं। अनुकूलतामें हर्ष और प्रतिकूलतामें शोक होता है। चिन्ता, भय, शोक, ईर्ष्या, वैर, क्रोध—ये सभी द्वेषमूलक प्रतिकूल वृत्तिमें ही होते हैं। इसलिये अनुकूल-प्रतिकूल वृत्तियोंका नाश होनेसे सारे विकारोंका नाश होकर मनुष्यमें स्वाभाविक ही समता आ जाती है। समता ही सिद्ध पुरुषकी कसौटी है। भगवान्‌ने गीतामें बतलाया है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥
(५। १९)

'जिन शुद्धचित्तवाले मनुष्योंका मन समभावमें स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है; क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे ये सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही स्थित हैं।'

परमात्माकी समता चेतन है; क्योंकि परमात्मा चेतन है। महापुरुषोंमें जो समता है, वह सात्त्विक भाव है; किंतु सात्त्विक भाव होनेपर भी है तो वह प्रकृतिका कार्य ही। प्रकृति जड होनेसे प्रकृतिका कार्यरूप सात्त्विक भाव भी जड ही है। महापुरुषोंकी समता व्यापक और असीम होनेपर भी परमात्माकी समताकी अपेक्षा सीमित ही है; किंतु है यह परमात्मासे ही। या यों समझें कि यह परमात्माका ही आभास है। जैसे दर्पणमें चन्द्रमाका जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह चन्द्रमासे ही है और बिम्बभूत चन्द्रमाके-जैसा ही वह प्रतीत होता है। इसी प्रकार यहाँ चन्द्रमास्थानीय तो परमात्माकी समता है और चन्द्र-प्रतिबिम्बस्थानीय महात्माओंकी समता है। दर्पणस्थानीय है शुद्धबुद्धि, शुद्धबुद्धिमें ही परमात्माकी समताका प्रतिबिम्ब पड़ता है। कर्मयोग, भक्तियोग या ज्ञानयोग—किसीके द्वारा भी पहुँचे हुए महापुरुषोंमें यह समता स्वाभाविक होती है।

कर्मयोगके द्वारा पहुँचे हुए पुरुषोंकी समताका वर्णन गीताके छठे अध्यायके ७-८-९ वें श्लोकोंमें है—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥

'सरदी-गरमी और सुख-दुःखादिमें तथा मान और अपमानमें जिसके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ भलीभाँति शान्त हैं, ऐसे स्वाधीन आत्मावाले पुरुषके ज्ञानमें सच्चिदानन्दघन परमात्मा सम्यक् प्रकारसे स्थित हैं अर्थात् उसके ज्ञानमें परमात्माके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं। जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, जिसकी स्थिति विकाररहित है, जिसकी इन्द्रियाँ भलीभाँति जीती हुई हैं और जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान हैं, वह योगी युक्त अर्थात् भगवत्प्राप्त है—

यों कहा जाता है । सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी समान भाव रखनेवाला अत्यन्त श्रेष्ठ है ।'

तथा भक्तियोगके द्वारा पहुँचे हुए भक्त पुरुषोंकी समताका वर्णन गीताके १२ वें अध्यायके १८–१९ वें श्लोकोंमें है—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥

'जो शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है तथा सरदी-गरमी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम और आसक्तिसे रहित है; जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला, मननशील और जिस किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही संतुष्ट है और रहनेके स्थानमें ममता और आसक्तिसे रहित है—वह स्थिरबुद्धि भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है ।'

एवं ज्ञानयोगके द्वारा पहुँचे हुए गुणातीत पुरुषोंकी समताका वर्णन गीताके चौदहवें अध्यायके २४-२५ वें श्लोकोंमें मिलता है—

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥

'जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित, दुःख-सुखको समान समझनेवाला, मिट्टी, पत्थर और सुवर्णमें समान भाववाला, ज्ञानी, प्रिय तथा अप्रियको एक-सा माननेवाला और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है; जो मान और अपमानमें सम है, मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है एवं सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित है, वह पुरुष गुणातीत कहा जाता है ।'

किंतु साधक पुरुषमें जो समता है, वह सिद्ध पुरुषकी समताकी नकल है, स्वाभाविक नहीं है । अतः सिद्ध पुरुषमें जो समता है, उसको आदर्श मानकर उसका अनुकरण करना चाहिये । सिद्ध और साधककी समतामें भी अन्तर है । सिद्धमें तो समता स्वाभाविक होती है, किंतु साधकमें समता करनेसे होती है । गीतामें भगवान्‌ने जहाँ भी साधकके लिये समताका उपदेश दिया है, वहाँ 'कृत्वा' 'भूत्वा' आदि शब्दोंका प्रयोग किया है । जैसे, भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥
(गीता २ । ३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको सम करके यानी उनको समान समझकर उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा ।'

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥
(गीता २ । ४८)

'हे धनंजय ! तू आसक्तिको त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समान बुद्धिवाला होकर योगमें स्थित हुआ कर्तव्यकर्मोंको कर; समत्व ही योग कहलाता है ।'

यहाँ 'सम करके', 'सम होकर' ऐसे शब्दोंके द्वारा समता करनेका आदेश है । अतः साधकमें समता स्वाभाविक नहीं है ।

सर्वत्र समता न होनेमें अनुकूल-प्रतिकूल वृत्ति ही कारण है । यही राग-द्वेष आदि सारे अनर्थोंकी जड़ है । अतः इसका नाश करना परम आवश्यक है । इसके नाशके लिये कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग आदि बहुत-से उपाय बतलाये गये हैं । उनमें ज्ञानयोग (अद्वैतमार्ग) की दृष्टिसे अनुकूल-प्रतिकूल वृत्तिके नाशके लिये साधकको यह दृढ़ निश्चय करना चाहिये कि जो कुछ भी देखने, सुनने, समझनेमें आता है, वह पदार्थ और जिसके द्वारा देखा, सुना, समझा

जाता है, वह मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि करण—ये सभी मायिक हैं। जैसे मरुभूमिमें जल, आकाशमें नीलिमा, नेत्रविकारसे आकाशमें तिलमिले, मनोराज्यमें पदार्थ, स्वप्नमें नाना प्रकारकी सृष्टि आदि बिना हुए ही प्रतीत होते हैं, वैसे ही ये संसारके पदार्थ और करण आदि सभी बिना हुए ही प्रतीत हो रहे हैं। एवं जैसे स्वप्नमें पुरुषको जो कुछ प्रतीत होता है वह उसके संकल्पके सिवा और कुछ नहीं; इसी प्रकार यह संसार परमात्माका संकल्पमात्र है, वस्तुतः कुछ नहीं। इस तरह समझनेसे अनुकूल-प्रतिकूल वृत्तिसे उत्पन्न राग-द्वेषादि विकारोंका सर्वथा विनाश हो सकता है।

तथा भक्तिमार्गकी दृष्टिसे साधकको यह दृढ़ विश्वास रखना चाहिये कि संसारमें जो भी कुछ घटना, परिस्थिति, पदार्थ प्राप्त हो रहा है वह सब उन मङ्गलमय भगवान्के पूर्ण विधान (आज्ञा) से ही हो रहा है। अथवा यह सब हमारे कल्याणके लिये भगवान्का भेजा हुआ पुरस्कार (इनाम) है। ऐसा समझकर हर समय संतुष्ट रहना चाहिये या सब कुछ भगवान्की लीला समझकर प्रसन्न रहना चाहिये। यह प्रसन्नता-संतुष्टि हर्ष-शोकयुक्त नहीं है। यह तो भगवान्की प्रसन्नतासे प्रसन्नता है, किसी अनुकूलताको लेकर नहीं। अनुकूलतामें होनेवाली प्रसन्नता तो राजसी होनेसे बन्धनकारक, एकदेशीय, क्षणिक और विनाशशील है; किंतु साधककी यह प्रसन्नता सात्त्विक होनेसे कल्याणकारक, व्यापक और स्थायी है।

इस प्रकारके अविचल श्रद्धा-विश्वाससे अनुकूल-प्रतिकूल वृत्तिजनित राग-द्वेषादि समस्त विकारोंका सर्वथा नाश हो सकता है।

एवं कर्मयोगकी दृष्टिसे ऐसा निश्चय करना चाहिये कि अनिच्छा या परेच्छासे जो भी अनुकूल या प्रतिकूल पदार्थ, घटना, परिस्थिति आदि प्राप्त है, वह अपने ही पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मोंका प्रारब्धस्वरूप फल है। सुख देनेवाली अनुकूलता पुण्यका फल है और दुःख देनेवाली प्रतिकूलता पापका फल है। अतः अनिच्छा या परेच्छासे जो भी घटना, पदार्थ, परिस्थिति आकर प्राप्त हो, उसे अपने कर्मोंका प्रारब्धस्वरूप फल समझकर हर समय संतुष्ट रहना चाहिये; क्योंकि उस फलभोगसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है, जो कल्याणकारिणी है।

इस प्रकारके दृढ़ निश्चयसे उसके अनुकूल-प्रतिकूल वृत्तिसे उत्पन्न राग-द्वेषादि विकारोंका सर्वथा नाश हो सकता है।

ऊपर ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग—तीनों साधनोंकी दृष्टिसे केवल राग-द्वेषके नाशके लिये सरल तरीका बताया गया है। इसके साथ ही मनुष्यको, शीघ्र कल्याण हो—इसके लिये इन तीनों साधनोंमेंसे किसीका भी अनुष्ठान करना परम आवश्यक है। ज्ञानयोग (सांख्ययोग) का साधन यों करना चाहिये। अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीरद्वारा होनेवाले सभी कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित हो, 'गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं'—यों समझकर नित्य-निरन्तर एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके ही अस्तित्वका भाव रहना चाहिये। मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर आदि समस्त पदार्थ प्रकृतिके ही कार्य हैं—'यों समझकर सब क्रिया इनके द्वारा ही हो रही है, मैं कुछ भी नहीं करता'—इस प्रकार सब क्रियाओंको इन्हींपर छोड़ देना चाहिये। भगवान्ने गीतामें कहा है—

नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥
(गीता ५ । ८-९)

'तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास

लेता हुआ, बोलता हुआ, त्याग करता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आँखोंको खोलता और मूँदता हुआ भी, सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थों (विषयों) में बरत रही हैं—इस प्रकार समझकर निस्संदेह ऐसा माने कि मैं कुछ नहीं करता ।'

तथा—

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥
(गीता ५ । १३)

'अन्तःकरण जिसके वशमें है, ऐसा सांख्ययोगका आचरण करनेवाला पुरुष न करता हुआ और न करवाता हुआ ही नौ द्वारोंवाले शरीररूप घरमें सब कर्मोंको मनसे छोड़कर आनन्दपूर्वक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें स्थित रहता है ।'

इस प्रकार गीतामें अन्यत्र भी जहाँ राग-द्वेष—अहंता-ममतासे रहित क्रियाका उल्लेख है, वहाँ भी सांख्ययोगका ही साधन समझना चाहिये । जैसे—

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥
(गीता १८ । २३)

'जो कर्म शास्त्रविधिसे नियत किया हुआ और कर्तापनके अभिमानसे रहित हो तथा फल न चाहनेवाले पुरुषद्वारा बिना राग-द्वेषके किया गया हो—वह सात्त्विक कहा जाता है ।'

इस प्रकार समझकर सांख्ययोग (ज्ञानयोग) का साधन करना चाहिये ।

एवं भक्तियोगके साधकको यों साधन करना चाहिये कि जैसे सांख्ययोगमें प्रकृति और प्रकृतिके कार्योंपर ही समस्त शास्त्रविहित क्रियाओंको छोड़ा जाता है, उसी प्रकार भक्तियोगमें सारी क्रियाओंको भगवान्‌पर छोड़ा जाता है यानी समर्पण किया जाता है । गीतामें भगवान् स्वयं कहते हैं—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥
(३ । ३०)

'मुझ अन्तर्यामी परमात्मामें लगे हुए चित्तद्वारा सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके आशारहित, ममतारहित और संतापरहित होकर युद्ध कर ।'

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥
(गीता ५ । १०)

'जो पुरुष सब कर्मोंको परमात्मामें अर्पण करके और आसक्तिको त्यागकर कर्म करता है, वह पुरुष जलसे कमलके पत्तेकी भाँति पापसे लिप्त नहीं होता ।'

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥
(गीता ९ । २७-२८)

'हे अर्जुन ! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर । इस प्रकार, जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्‌के अर्पण होते हैं—ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा ।'

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
(गीता १८ । ५७, ५८)

'सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके तथा समबुद्धिरूप योगको अवलम्बन करके मेरे परायण और निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो जा । इस प्रकार मुझमें चित्तवाला होकर तू मेरी कृपासे समस्त संकटोंको अनायास ही पार कर जायगा ।'

जैसे कठपुतली अपने शरीरको और अपनी सारी क्रियाओंको सूत्रधारके अर्पण किये हुए है—सूत्रधार जैसे नचाता है वैसे ही वह नाचती है, उसी प्रकार भक्तिके साधकोंको अपने शरीर और अपनी सारी क्रियाओंको भगवान्‌के अर्पण कर देना चाहिये। कठपुतलीके तो केवल शरीर ही है; किंतु पुरुषमें तो मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि विशेष हैं। अतः उसे उनको भी भगवान्‌के अर्पण करना है। वास्तवमें कठपुतलीकी सारी क्रिया सूत्रधार ही करता है, उसी प्रकार जो अपने-आपको भगवान्‌को सौंप देता है उसकी भी सारी क्रिया भगवान्‌के द्वारा ही होती है। किंतु यह खयाल करना चाहिये कि भगवान्‌के द्वारा होनेवाली क्रिया भगवान्‌के विधानसे विरुद्ध नहीं होती। यदि भगवान्‌के विधानके विरुद्ध क्रिया होती है तो जानना चाहिये कि वहाँ भगवान्‌का हाथ नहीं, उसका हाथ है। जब अर्जुनने भगवान्‌से पूछा—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥
(गीता ३। ३६)

'हे कृष्ण! तो फिर यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात्कारसे लगाये हुएकी भाँति किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है?'

इसके उत्तरमें भगवान्‌ने यही कहा—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥
(गीता ३। ३७)

'रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगोंसे कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है; इसको ही तू इस विषयमें वैरी जान।'

अतएव भगवान्‌की आज्ञाके विरुद्ध क्रिया होनेमें राग-द्वेष ही कारण है। जैसे छोटा बच्चा अक्षर सीखते समय क, ख, ग, घ अक्षरोंको लिखनेमें भूल कर देता है, किंतु जब गुरु अपने हाथसे उसके हाथको पकड़कर लिखाता है तब उसमें भूल नहीं होती; क्योंकि उस लिखनेमें गुरुकी ही प्रधानता है, उसी प्रकार जो अपनेको भगवान्‌के समर्पण कर चुका है, उसके सिरपर भगवान्‌का हाथ रहते हुए उससे जो कुछ क्रिया होती है, उसमें कभी भूल नहीं होती; क्योंकि उन क्रियाओंके होनेमें भगवान्‌की ही प्रधानता है। इस कसौटीसे अपनेको कसकर अपनी क्रियाको देखते रहना चाहिये।

भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये कर्म किये भी जायँ, तो भी वे भगवदर्पणके समान ही हैं; क्योंकि उन कर्मोंमें जो कर्तापन है, वह निर्दोष है। जैसे भगवान्‌ने कहा है—

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि॥
(गीता १२। १०)

'यदि तू उपर्युक्त अभ्यासमें भी असमर्थ है तो केवल मेरे लिये कर्म करनेके ही परायण हो जा। इस प्रकार मेरे निमित्त कर्मोंको करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही प्राप्त होगा।'

अतः यह भगवदर्थ कर्म भगवदर्पणके समान ही है।

एवं कर्मयोगके साधकको नीचे लिखी रीतिसे साधन करना चाहिये। भगवान्‌ने गीतामें बतलाया है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥
(२। ४७)

'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें कभी नहीं। इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो।'

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥
(२। ७१)

'जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहंकाररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है।'

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥
(५ । ११)

'कर्मयोगी ममत्वबुद्धिरहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा भी आसक्तिको त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं ।'

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥
(५ । १२)

'कर्मयोगी कर्मोंके फलका त्याग करके भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है और सकाम पुरुष कामनाकी प्रेरणासे फलमें आसक्त होकर बँधता है ।'

तथा दूसरेका ४८ वाँ श्लोक ऊपर दिया ही जा चुका है । इन सबके अनुसार मुख्यरूपसे आसक्ति और कर्मफलकामनाका त्याग करके सिद्धि-असिद्धिमें समभाव रखते हुए कर्तव्यकर्मोंको करना कर्मयोगका साधन है ।

ध्यान देना चाहिये । साधन किसी भी दृष्टिसे हो, अहंता, ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा अभाव होना ही चाहिये । इनका सर्वथा अभाव नहीं है तो इन सबका त्याग करना चाहिये और फिर 'त्याग' क्रियाके अभिमानका भी त्याग कर देना चाहिये अर्थात् त्यागका भी त्याग करना चाहिये । गीतामें ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोगके साधनोंका जहाँ-जहाँ प्रकरण आया है, वहाँ अहंता-ममता, राग-द्वेष और कामनाका त्याग तथा संसारसे वैराग्य पद-पदपर बताया गया है । जैसे, गीताके अठारहवें अध्यायके ४९ वेंसे ५५ वें तक ज्ञाननिष्ठाका वर्णन है, वहाँ भगवान् कहते हैं—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
(गीता १८ । ५१-५३)

'विशुद्ध बुद्धिसे युक्त तथा हल्का, सात्त्विक और नियमित भोजन करनेवाला, शब्दादि विषयोंका त्याग करके एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करनेवाला, सात्त्विक धारणाशक्तिके द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियोंका संयम करके मन, वाणी और शरीरको वशमें करनेवाला, राग-द्वेषको सर्वथा नष्ट करके भलीभाँति दृढ़ वैराग्यका आश्रय लेनेवाला तथा अहंकार, बल, घमंड, काम, क्रोध और परिग्रहका त्याग करके निरन्तर ध्यानयोगके परायण रहनेवाला, ममतारहित और शान्तियुक्त पुरुष सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित होनेका पात्र होता है ।'

यहाँ ५१ वें श्लोकमें राग-द्वेषके त्यागका, ५२ वेंमें वैराग्यका आश्रय लेनेका तथा ५३ वेंमें अहंता, ममता और कामनाके त्यागका स्पष्ट उल्लेख है ।

भक्तिके प्रकरणमें कहा गया है—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥
(गीता ९ । १३)

'हे कुन्तीपुत्र ! दैवी प्रकृतिके आश्रित महात्माजन तो मुझको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित अक्षरस्वरूप जानकर अनन्य मनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं ।'

अतः भक्तमें आसुरी सम्पदा कभी नहीं रहती । अहंता, ममता, राग, द्वेष, कामना, आसक्ति—ये सभी आसुरी सम्पदा ही हैं । (देखिये गीता अ० १६ । ७-२०) एवं भक्तिके साधकके लिये पंद्रहवें अध्यायमें भगवान्ने कहा है—

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥
(गीता १५ । ३-४)

'इस संसार-वृक्षका स्वरूप जैसा कहा गया है, वैसा वहाँ विचारकालमें नहीं पाया जाता; क्योंकि न तो इसका आदि है, न अन्त है और न इसकी अच्छी प्रकारसे स्थिति ही है। इसलिये इस अहंता, ममता और वासनारूप अति दृढ़ मूलोंवाले संसाररूप पीपलके इसको दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा काटकर, उसके पश्चात् उस परमपदरूप परमेश्वरको भलीभाँति खोजना चाहिये, जिसमें गये हुए पुरुष फिर लौटकर संसारमें नहीं आते और जिस परमेश्वरसे इस पुरातन संसारवृक्षकी प्रवृत्ति विस्तारको प्राप्त हुई है, उसी आदिपुरुष नारायणके मैं शरण हूँ—इस प्रकार दृढ निश्चय करके उस परमेश्वरका मनन और निदिध्यासन करना चाहिये।'

आगे भगवान् इस साधनसे सिद्ध हुए भक्तोंके लक्षण बतलाते हैं—

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥
(गीता १५ । ५)

'जिनका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्तिरूप दोषको जीत लिया है, जिनकी परमात्माके स्वरूपमें नित्यस्थिति है और जिनकी कामनाएँ पूर्णरूपसे नष्ट हो गयी हैं—वे सुख-दुःखनामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त ज्ञानीजन उस अविनाशी परमपदको प्राप्त होते हैं।

यहाँ ३ रे श्लोकमें 'असङ्गशस्त्रेण' से वैराग्यका, ५ वें श्लोक 'निर्मानमोहाः' से अहंता-ममताके त्यागका, 'विनिवृत्तकामाः' से कामनाके त्यागका और 'द्वन्द्वैर्विमुक्ताः' से राग-द्वेषके त्यागका संकेत किया गया है।

कर्मयोगके प्रकरणमें बताया गया है—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥
(गीता ६ । ४)

'जिस कालमें न तो इन्द्रियोंके भोगोंमें और न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस कालमें सर्वसंकल्पोंका त्यागी पुरुष योगारूढ कहा जाता है।'

यहाँ 'वैराग्य'का कथन है ही।

तथा—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥
(गीता २ । ६४)

'अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक अपने वशमें की हुई राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंद्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ भी अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है।'

—इसमें 'राग-द्वेषके त्याग'का वर्णन है। एवं दूसरे अध्यायके ७१ वें श्लोकमें, जो ऊपर दिया जा चुका है, कर्मयोगीके लिये अहंता-ममता और कामनाके त्यागका उल्लेख है।

सार बात यह है कि किसी भी साधनसे हो, अनुकूलता-प्रतिकूलतासे उत्पन्न राग-द्वेष आदि समस्त विकारोंका सर्वथा अभाव हुए बिना समता प्राप्त नहीं होती। समता ही परमात्माकी प्राप्तिका प्रधान लक्षण है। अतः राग-द्वेषादि दोषोंका अत्यन्त अभाव करनेके लिये अपनी श्रद्धा, विश्वास, रुचि, सामर्थ्य और अधिकारके अनुसार उपर्युक्त साधनोंका अनुष्ठान करना चाहिये।

त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्

(लेखक—पं० श्रीदेवदत्तजी मिश्र काव्य-व्याकरण-सांख्य-स्मृति-तीर्थ)

शान्तिकी खोज बहुत प्राचीन कालसे हो रही है। संसारके सभी मनुष्य शान्ति चाहते हैं। ऐहिक तथा पारलौकिक दोनों तरहकी शान्ति प्राप्त करनेके उपाय दार्शनिक शास्त्रोंमें प्रचुर मात्रामें लिखे गये हैं। परंतु मनुष्य ठीक उसके विपरीत ही चल रहे हैं, अतः शान्ति मिलती नहीं।

ईशोपनिषद्में लिखा है—

ॐ ईशा वास्यमिद२ सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

इस मन्त्रका तात्पर्य यह है कि संसारके जितने भी पदार्थ हैं, वे ईश्वरसे व्याप्त हैं—वे चाहे स्थावर हों या जंगम। इसलिये ईश्वरके द्वारा स्वेच्छापूर्वक दिये हुए पदार्थोंका उपभोग करो। दूसरेकी वस्तुको देखकर मन मत ललचाओ और उसके लिये स्पृहा न करो।

संसारके मनुष्योंकी प्रवृत्ति संग्रहकी ओर हो रही है। संग्रहमें शान्ति नहीं, अशान्ति रहती है। फिर संग्रहसे शान्ति प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करना वालुकासे तेल निकालनेके समान असम्भवको सम्भव करनेका विफल प्रयत्न है।

असंतोषके कारण मनुष्य अधिक-से-अधिक भोग्य विषयोंको प्राप्त करना चाहता है। वह सोचता है कि अमुक वस्तुके मिल जानेसे हम सुखी हो जायँगे और मनमें शान्ति आ जायगी। परंतु इच्छाकी इतिश्री इच्छित वस्तुके उपभोगसे नहीं होती। ययाति राजाने विषयोपभोगसे अपने मनको तृप्त करनेके लिये अपने पुत्रसे एक हजार वर्षके लिये जवानी उधार ली। एक हजार वर्षके पूर्ण होनेपर जब पुत्रको जवानी लौटानेका समय आया, तब उन्होंने कहा—

पूर्णं वर्षसहस्रं मे विषयासक्तचेतसः।
तथाप्यनुदिनं तृष्णा ममैतेष्वेव जायते॥
यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मात्तृष्णां परित्यजेत्॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥

पुत्रसे ली हुई जवानीको लौटाते समय महाराज ययातिका मन चञ्चल हो उठा। लौटानेकी इच्छा नहीं होती थी। मेरा वृद्धत्व लेकर पुत्रने कितना कष्ट सहा, उसका मन भी विषयोपभोग चाहता होगा—इन बातोंपर उनका ध्यान नहीं गया। ये सांसारिक विषय ऐसे हैं कि अपने सुखके सामने दूसरेके दुःखकी ओर विवेक-शक्तिको जाने नहीं देते।

पुत्रकी जवानी अनिच्छासे ही लौटाकर जब वे तपस्या करनेके विचारसे वनमें चले गये और भोग्य वस्तुओंके प्राप्त न होनेसे तथा इन्द्रियोंकी शिथिलतासे जब उनका मन विषयोपभोगसे उपरत हुआ, तभी उनको शान्ति मिली।

लौकिक शान्तिके विषयमें एक कविने कहा है कि जो त्याग करता है, उसीकी स्थिति उन्नत होती है और जो केवल संग्रह करता है, उसकी स्थिति सदा नीचे रहती है। जैसे—

दानात् प्रतिष्ठा लोकेऽस्मिन् न तु वित्तस्य संचयात्।
ऊर्ध्वं स्थितिः पयोदानां समुद्राणामधस्तथा॥

संसारके प्राणीमात्र मेघको चाहते हैं। उसके जलसे सबको तृप्ति होती है। वह सदा अपने मनमें शान्तिका अनुभव करता है। परंतु समुद्र इस विश्वकी सभी नदियोंका जल अपने घरमें रख लेता है, किसीको देता नहीं। अतः वह सदा अशान्त रहता है और

उसकी गति सदा नीचे ही रहती है। संग्रह सदा अशान्ति पैदा करनेवाला है। हम जितना ही अभीष्ट वस्तुका संग्रह अधिक करते हैं, उतने ही दुःखका अनुभव करते हैं।

एक कविने यह भी कहा है कि हम सुख-प्राप्तिकी आशासे संसारमें अधिक-से-अधिक स्त्री, पुत्र और धन आदिसे सम्बन्ध जोड़ते हैं; परंतु सुख और शान्ति मिलती नहीं। यथा—

यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान् मनसः प्रियान्।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः॥

अर्थात् इस नश्वर संसारमें सम्बन्धियोंसे वियोग होना निश्चित है और वियोगके समय अशान्ति होना भी निश्चित है। अतः इससे किसीको शान्ति आजतक न मिली है और न मिलेगी।

गीतामें भी नरकके तीन द्वार बतलाये गये हैं, जो आत्माके नाशके कारण हैं। जैसे—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥

अर्थात् काम, क्रोध और लोभ—ये तीनों मनुष्यकी अशान्तिके कारण हैं। इनसे ही दुःखोंका प्रवेश होता है। अतः इन तीनोंको बिना छोड़े मनुष्य कभी सुख और शान्तिका अनुभव कर नहीं सकता। यही कारण है कि प्राचीन कालके ऋषि-महर्षि वनोंमें तथा पर्वतोंकी गुफाओंमें रहकर एकान्त जीवन व्यतीत करते थे।

नगरोंमें और ग्रामोंमें विषय और विषयी दोनोंका संसर्ग रहता है। उनके संसर्गसे विषयोपभोगकी लिप्सा उत्पन्न होती है। श्रीमद्भागवतके तृतीय स्कन्धमें लिखा है—

न तथास्य भवेन्मोहो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः।
योषित्सङ्गाद् यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः॥

तात्पर्य यह है कि अज्ञानका कारण जितना स्त्रीका संसर्ग नहीं है उससे अधिक विषयोपभोगमें लिप्त पुरुषोंका संसर्ग है। अतः विषय और विषयी मनुष्योंके संसर्गसे बचनेके लिये मनुष्यको एकान्तवास करना चाहिये। अन्यथा शान्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

श्रीमद्भगवद्गीताके अठारहवें अध्यायमें त्यागका विवेचन स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने किया है। भगवान्‌ने तीन तरहके त्याग बतलाये हैं—तामस, राजस और सात्त्विक। इनमें नियत कर्मोंका त्याग असम्भव है, इसलिये उसका त्याग करना तामस त्याग है। इस त्यागमें दोष है। हठसे नियत कर्मोंको छोड़नेसे शारीरिक और मानसिक दोनों तरहके कष्ट होते हैं।

राजस त्यागमें दुःख होगा, शरीरमें पीडा होगी—इत्यादि भयसे अपने कर्तव्योंको छोड़कर त्यागी बननेका दम्भ होता है। इसलिये ये दो तरहके त्याग करनेसे त्यागका फल प्राप्त नहीं होता। इसी बातको भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात् तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥
दुःखमित्येव यत् कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥

अतः सात्त्विक त्याग जो है, वही वस्तुतः त्याग है। भगवान्‌ने कहा है कि स्वरूपतः कर्म-त्यागको त्याग नहीं कहते। कर्तव्य समझकर कर्मोंको तो करते ही रहना चाहिये, परंतु आसक्ति और कर्मके फलका त्याग करना चाहिये—यही वास्तविक त्याग है। इसी तरहके त्यागसे शान्ति प्राप्त होती है। इसी त्यागके फलको बतलाते हुए **'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'** कहा गया है। सात्त्विक त्यागका लक्षण भगवान्‌ने कहा है—

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥

सात्त्विक त्याग विषयोपभोगमें विराग होनेसे होता

है और विषयोंमें अनुराग होनेसे विषयोंका संग्रह होता है। हमलोगोंकी क्रियाएँ विपरीतरूपसे होती हैं; क्योंकि भगवान्में अनुराग होनेसे विषयसे वैराग्य होता है और वस्तुमें वैराग्य होनेसे उसका त्याग होता है; किंतु हमलोग विषयसे अनुराग करते हैं और भगवान्से वैराग्य करते हैं। यदि हमारी क्रियाएँ इसी तरह होती रहेंगी तो शान्ति कैसे मिलेगी ? अतः यदि हमारी क्रियाओंकी दिशा बदल जाय तो शान्ति मिलनेमें एक क्षणकी भी देर न लगेगी। क्रियाओंकी दिशा बदल जानेपर सांसारिक विषय विष-भक्षणकी तरह त्याज्य हो जाय। फिर तो हमें वह आनन्द प्राप्त होगा कि संसारके भारी-से-भारी कष्ट आनेपर भी हमारा मन कभी चञ्चल न होगा।

अतः यदि हमें शान्ति प्राप्त करनी है तो भगवान्में अनुराग करना चाहिये। भगवान्में अनुराग होनेसे विषयोपभोगमें वैराग्य स्वयं आ जाता है; फिर वह धनियोंको तुच्छ समझता है। वह किसीकी परवा नहीं करता। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां
नैवाङ्घ्रिपाः परभृतः सरितोऽप्यशुष्यन्।
रुद्धा गुहाः किमजितोऽवति नोपसन्नान्
कस्माद् भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान्॥

तात्पर्य यह है कि भगवत्प्रेम प्राप्त होनेपर सांसारिक सुखोपभोग तुच्छ जान पड़ता है। जिसको ईश्वरमें अनुराग है, वह रास्तेके चिथड़ेसे ही शरीर ढक लेता है। उसको अच्छे कपड़ेकी स्पृहा नहीं होती। भिक्षासे प्राप्त अन्न जैसा भी हो, उसीसे संतुष्ट रहता है। नदियोंका जल जो सबके लिये सुलभ है, वह उसकी पिपासा शान्त कर ही देता है। पर्वतोंकी गुफाएँ खुली पड़ी हैं, उनमें रहकर वृष्टि और शीतसे अपनी रक्षा कर ही सकता है; क्योंकि शरणमें आये हुएकी रक्षा करनेके भारको भगवान्ने अपने कंधेपर ले रखा है। फिर वह धनमदसे मत्त धनी पुरुषोंके दरवाजेको क्यों खटखटायेगा।

इस तरह सांसारिक विषयोंसे जिसका मन विरक्त हो गया है, वह विद्वान् पुरुष किसी धनीके पास क्यों जाय ? जब विषयोपभोगकी लालसा होती है, तभी वह उसको प्राप्त करनेकी चेष्टा करता है। न मिलनेसे दुःखी होता है। मिल जानेपर लालसाकी तृप्ति होती ही नहीं, अतः और अधिक प्राप्त करनेकी चेष्टा करता है। इस तरह कभी तृप्ति होती ही नहीं। अतः त्यागसे ही शान्ति मिलती है, यह निश्चित है।

स्वयंके अतिरिक्त

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

स्वयं-ज्योतिके उजालेमें क्या नहीं दीखता ?
स्वयं-तमकी तिमिरतामें क्या नहीं खो जाता ?
ज्योति और तममें सम्बन्ध है सापेक्षताका।
सापेक्ष वस्तुओंका अस्तित्व नहीं होता।
अतः न ज्योति है न तम।
और अब ज्योति है न तम तो क्या दीखता है!
·········क्या न दीखता है !
बात तो यह है कि केवलमात्र स्वयंके अतिरिक्त
·········उस स्वयंके, जिसके बारेमें न कुछ कहते बने
चुप रहते, कहीं और है ही क्या ?··········
सच, कुछ भी तो नहीं।

श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी

(भाद्रपद-कृष्णाष्टमीके महोत्सवपर गोरखपुरमें हनुमानप्रसाद पोद्दारका प्रवचन)

भगवान् श्रीकृष्णके प्रति नमस्कार

अंशांशकांशककलाद्यवतारवृन्दै-
रावेशपूर्णसहितैश्च परस्य यस्य ।
सर्गादयः किल भवन्ति तमेव कृष्णं
पूर्णात् परं तु परिपूर्णतमं नताः स्मः ॥
मन्वन्तरेषु च युगेषु गतागतेषु
कल्पेषु चांशकलया स्ववपुर्बिभर्षि ।
अद्यैव धाम परिपूर्णतमं तनोषि
धर्मं विधाय भुवि मङ्गलमातनोषि ॥
यद् दुर्लभं विशदयोगिभिरप्यगम्यं
गम्यं द्रवद्भिरमलाशयभक्तियोगैः ।
आनन्दकंद चरतस्तव मन्दयानं
पादारविन्दमकरन्दरजो दधामः ॥
पूर्वं तथात्र कमनीयवपुष्मयं त्वां
कंदर्पकोटिशतमोहनमद्भुतं च ।
गोलोकधामधिषणद्युतिमादधानं
राधापतिं धरणिधुर्यघनं दधामः ॥

जिस परम पुरुषके अंश, अंशांश, कला, आवेश और पूर्ण आदि अवतारोंसे सृष्टि-संहारादि लीलाकार्य सम्पन्न होते हैं, उन पूर्णसे भी परे परिपूर्णतम श्रीकृष्णको हम नमस्कार करते हैं।

जो अतीत और अनागत मन्वन्तर, युग और कल्पोंमें श्रीबलरामजीके रूपमें अपनी अंशकलाके साथ दिव्य विग्रह धारण करते हैं, सम्प्रति भी जो अपने परिपूर्ण तेजका विस्तार कर रहे हैं, धर्मविस्तार करके जो पृथ्वीका विविध प्रकारसे मङ्गलविधान किया करते हैं, जो उत्तम योगिगणोंके लिये भी दुर्लभ और एकमात्र सरल शुद्धाशय द्रवितचित्त भक्तियोगके द्वारा ही गम्य हैं, उन आनन्दकन्द विभुके मन्द-मन्द विचरणशील पदारविन्दके मकरन्द-रजको हम अपने हृदयमें धारण करते हैं। हे राधापते! हमने आपके जिस रूपको देखा और अब भी देख रहे हैं, आपके उस अद्भुत कमनीय शतकोटि-मन्मथ-मोहन तथा परम गोलोकधामके द्युतिधारी धरणी-धारण-क्षम रूपको हम हृदयमें धारण करते हैं।

अवतारका स्वरूप और कारण

वैवस्वत मन्वन्तरीय अट्ठाईसवें चतुर्युगके द्वापरके अन्तमें भाद्रमासकी मङ्गलमयी कृष्णाष्टमीके दिन इस पृथ्वी-मण्डलको श्रीकृष्णके प्राकट्यका परम सौभाग्य मिला था। आज वही श्रीकृष्णजन्माष्टमीका परम पावन महान् महोत्सव-पर्व है। यह स्वयं भगवान् श्रीकृष्णका समग्र रूपमें पृथ्वीपर अवतरण है। भगवान्के स्वरूप-तत्त्वकी महिमा और व्याख्या न तो आजतक कोई कर सका है न आगे कोई कर ही सकेगा। स्वयं भगवान्के और भगवत्प्रेमी महानुभावोंके सांकेतिक शब्दोंके आधार-पर उनकी सहज करुणामयी प्रेरणासे ही अपने जीवन-को धन्य करनेके लिये भगवान्के महत्तत्त्वका किंचित् स्मरण कर लिया जाता है। भगवान् नित्य-सत्य-सच्चिदानन्दघन-मङ्गल-विग्रह हैं, नित्य सर्वातीत और सर्वमय हैं, सर्वगुणातीत और अचिन्त्यानन्त-सद्गुण-स्वरूप हैं। उनके अचिन्त्यानन्त सौन्दर्य-माधुर्य-ऐश्वर्य नित्य नवायमान हैं। वे नित्य अजन्मा रहते हुए ही जन्म-लीला करते हैं, नित्य अविनाशी होते हुए ही अन्तर्धान होते हैं और नित्य सर्वभूतमहेश्वर होते हुए ही छोटे-से पराधीन शिशु बनकर मधुर शिशु-लीला करते हैं। इसी अपने अचिन्त्यानन्त-युगपद्-विरुद्ध-धर्माश्रयी स्वरूपका संकेत भगवान्ने भगवद्गीताके चतुर्थ अध्यायके छठे श्लोकमें किया है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥
(गीता ४ । ६)

मैं अजन्मा, अव्ययात्मा और समस्त भूतोंका ईश्वर रहते हुए ही अपनी प्रकृति (स्वां प्रकृतिम्) में अधिष्ठित रहकर, अपनी माया (आत्ममाया) से प्रकट होता हूँ।

भगवान्की तीन प्रकृतियाँ हैं—(१) जगद्रूप अष्टधा 'अपरा प्रकृति', (२) जीवभूत चेतन 'परा प्रकृति', जो अखिल जगत्को धारण करती है। (३) 'अपनी प्रकृति', जिसमें भगवान् लीलाके समय अधिष्ठित

रहते हैं। यह अन्तरङ्गा, विशुद्ध भगवन्मयी है। इसी प्रकारसे भगवान्‌की मायाके भी अनेक रूप हैं; पर जिस मायासे भगवान् स्वयं लीला सम्पादन करते हैं, वह माया भगवान्‌की निजी माया है। इसीका नाम 'योगमाया' अथवा भगवान्‌की 'स्वरूपभूता लीला' है। वे जबतक अपनी विशेष लीला करते हैं, तबतक इसी योगमायाका अवलम्बन करते हैं। रासलीलाके प्रारम्भमें भी इसी योगमायाका समाश्रयण किया गया था। 'योगमायामुपाश्रितः'। इसी योगमायासे अपनेको छिपाये भी रखते हैं—'योगमायासमावृतः' (गीता)।

जीवोंकी भाँति भगवान्‌की दिव्य देह न तो पाञ्चभौतिक होती है न कर्मजनित ही। वह स्वेच्छामय विशुद्ध भगवद्रूप होती है। इसी विशुद्ध भगवद्रूपमें भगवान् श्रीकृष्णका आजकी महामहिमामयी अष्टमी तिथिको प्राकट्य हुआ था। भगवान्‌ने अपने अवतारके तीन प्रधान हेतु बतलाये हैं—'साधुका परित्राण', 'दुष्कृतोंका विनाश' और 'धर्मका संस्थापन'। स्वयं भगवान्‌के इस पूर्ण अवतारमें भगवदाकारके अन्यान्य अवतारी कारणोंका भी समावेश रहता है। इसीलिये पापात्मा राजाओंके रूपमें प्रकट असुरोंका विनाश, उनके द्वारा संत्रस्त साधुओंका परित्राण और पापाचारियोंके द्वारा प्रचलित अधर्मका विध्वंस करके विशुद्ध सनातन मानवधर्मकी स्थापनाका मङ्गल कार्य भी इस अवतारके द्वारा सुसम्पन्न हुआ है। परंतु भगवान् अपने इस घनीभूत परम-प्रेमानन्द-रसरूप लीला-विग्रहके द्वारा उन साधुओंका परित्राण करते हैं, जो भगवान्‌के मङ्गलमय प्रेम और परमानन्दमय दर्शनकी महती उत्कण्ठासे भयानक विरह-वेदनाका अनुभव करते हैं और जीवनका एक-एक पल इस भीषण विरहाग्निकी भयानक ज्वालामें विदग्ध होते हुए बिताते हैं। इसी प्रकार उन दुष्टोंका, उन भाग्यवान् असुरोंके असुर-देहोंका विनाश करके उन्हें सहज ही स्वधाममें पहुँचा देते हैं, जो केवल भगवान्‌के ही मङ्गलरूप कर-कमलोंके द्वारा प्राण-त्याग करके भगवान्‌के दिव्य धाममें पहुँचनेके अधिकारी हो चुके हैं। धर्मकी स्थापनासे काम-कलुषित विषय-सेवनरूप अधर्मके अभ्युत्थानको ध्वंसकर परम उत्कृष्ट भुक्ति-मुक्तिकी वाञ्छाके सहज त्यागसे सम्पन्न हुए परम मधुरतम विशुद्ध प्रेम-धर्मके संस्थापनकी ओर स्पष्ट संकेत है। अतएव लोक-परलोक, स्वार्थ-परमार्थ, ज्ञान-प्रेम, सभी क्षेत्रोंमें अयुक्त आसुरी भोग-भावोंका उन्मूलन करके परमोच्च विशुद्ध दैवी भावोंकी स्थापना सहज ही स्वयं भगवान्‌के इस प्राकट्यके द्वारा सुसम्पन्न होती है।

भगवान्‌का प्राकट्य कंसके कारागारमें अर्धरात्रिके समय होता है। उस समय दसों दिशाओंसहित आकाश निर्मल हो जाता है। नक्षत्र-राशि विचित्र रूपसे झलमलाने लगती है। समस्त भू-मण्डल प्रसन्न हो उठता है। नद-नदियाँ, समुद्र-सरोवर सहज ही स्वच्छ हो जाते हैं। अर्धरात्रिके समय ही नदियों और सरोवरोंमें सर्वत्र शतदल और सहस्रदल पद्म प्रस्फुटित हो उठते हैं। उनकी मधुर सुगन्ध वायुके स्पर्शसे सर्वत्र फैल जाती है। इधर-उधर पराग बिखर जाती है और भ्रमरोंके समुदाय असंख्य रूपमें आ-आकर मधुपान और मधुगुंजारमें प्रवृत्त हो जाते हैं। मयूर महानन्दमें नृत्य करने लगते हैं। शीतल-मन्द-सुगन्ध मलयपवन प्रवाहित होने लगता है। जनपद-समूह समृद्ध हो जाते हैं। ग्राम-नगर सभी मङ्गलनिकेतन बन जाते हैं और देवता-ब्राह्मण, गिरि-समूह और गोसमुदाय सुख-समृद्ध हो जाते हैं। स्वर्गमें अकस्मात् तुमुल जय-ध्वनि-संयुक्त देव-दुन्दुभि बज उठती है। विद्याधर, गन्धर्व, सिद्ध, किन्नर और चारण मधुर गान करने लगते हैं। देवताओंके स्तुति-वाक्योंसे दिग्‌दिगन्त गूँज उठता है। दिव्य गन्धर्व और विद्याधरगण नाच उठते हैं और देवतागण पारिजात, मन्दार, मालती आदि उत्तम सुगन्धमय सुमनोंकी वर्षा करने लगते हैं। सजल मेघ मन्द-मन्द गर्जन करते हुए स्तव-गान करते हैं। इस प्रकार समस्त विश्व-चराचर अपने प्रभुके मङ्गल स्वागतमें अपनेको सजाकर धन्य हो जाते हैं। ऐसे शुभ समयमें भाद्रमासकी कृष्णाष्टमीकी अर्ध रात्रिके समय रोहिणी नक्षत्रके

हर्षण योगमें अरणिसे यज्ञाग्निके सदृश वसुदेवके यहाँ देवकीसे साक्षात् भगवान् हरि आविर्भूत होते हैं। उस समयके भगवान्के स्वरूप-सौन्दर्यका वर्णन करते हुए महर्षि कहते हैं—

स्फुरदच्छविचित्रहारिणं
विलसत्कौस्तुभरत्नधारिणम् ।
परिधिद्युतिनूपुराङ्गदं
धृतबालार्ककिरीटकुण्डलम् ॥
चलदद्भुतवह्निकङ्कणं
तडिदूर्जितगुणमेखलाञ्चितम् ।
मधुभृद्ध्वनिपद्ममालिनं
नवजाम्बूनददिव्यवाससम् ॥
सतडिद्घनदिव्यसौभगं
चलनीलालकवृन्दसन्मुखम् ।
चलदंशुतमोहरं परं
शुभदं सुन्दरमम्बुजेक्षणम् ॥
कृतपत्रविचित्रमण्डनं
सततं कोटिमनोजमोहनम् ।
परिपूर्णतमं परात्परं
कलवेणुध्वनिवाद्यतत्परम् ॥

वसुदेवजीने देखा कि बालक चमचमाते हुए, निर्मल एवं रंग-बिरंगे हारसे विभूषित है। गलेमें शोभाधाम कौस्तुभमणि धारण किये है, चरणोंमें नूपुर एवं भुजाओंमें बाजूबंद सुशोभित हैं, जिनसे क्रमशः चन्द्रमण्डल और सूर्यमण्डलका-सा प्रकाश फैल रहा है। मस्तकपर किरीट-मुकुट और कानोंमें कुण्डल हैं, जिनसे उदयकालीन सूर्यकी-सी आभा छिटक रही है। हाथोंमें कंगन हैं, जो घूमती हुई अग्नि (लुकारी) की शोभा बिखेर रहे हैं। कटि-प्रदेश करधनीद्वारा वेष्टित है, जिसकी लड़ें विद्युल्लेखाके समान कौंध रही हैं। वक्षःस्थलपर कमलोंकी माला झूल रही है, जिसपर भ्रमर गुंजार कर रहे हैं। शरीरपर दिव्य पीताम्बर सुशोभित है, जिसकी कान्ति तपाये हुए सुवर्णकी-सी है और जिसके कारण उसका श्रीविग्रह सौदामनीयुक्त घनघटाकी दिव्य शोभा धारण किये है। मुखमण्डल झूलती हुई नील अलकावलीसे आवृत है। शरीरसे फूटती हुई रश्मियोंद्वारा वह परम सुन्दर एवं सुखदायक बालक भवनके अन्धकारका नाश कर रहा है। कमलके समान बड़ी-बड़ी उसकी आँखें हैं, श्रीअङ्गोंपर शृङ्गारके रूपमें रंग-बिरंगे बेल-बूटोंकी रचना हो रही है और वह परिपूर्णतम पुरुषोत्तम परात्पर बालक अपनी रूप-छटासे प्रतिक्षण करोड़ों कामदेवोंको मोहित करता हुआ मधुर-मधुर मुरली-ध्वनि कर रहा है।

भगवान्के इस अपूर्व माधुर्य-सौन्दर्यमय स्वरूपका दर्शन करके वसुदेव-देवकी सफलजीवन हो गये। उनके आनन्दका पार नहीं रहा। वसुदेवने भगवान्का स्तवन किया। भगवान्ने पूर्वजन्मकी बातें बतलायीं। तदनन्तर वसुदेव-देवकीके प्रार्थनानुसार भगवान् श्रीकृष्ण तुरंत शिशुरूप हो गये और वसुदेवजी उन्हें गोदमें लेकर नन्दालयमें पहुँच गये तथा बदलेमें योग-मायाको ले आये। भगवान्की विचित्र मायाके प्रभावसे सभी स्थानोंके सभी लोग निद्राभिभूत हो गये, इसलिये इस रहस्यको कोई न जान सका।

इसके बादकी श्रीकृष्ण-लीलाका वर्णन श्रीमद्भागवत, ब्रह्मवैवर्तपुराण, विष्णुपुराण, ब्रह्मपुराण, हरिवंशपुराण, महाभारत आदि अनेक ग्रन्थोंमें विशदरूपमें आ चुका है। उसे जितना पढ़ा-समझा जाय, हृदयंगम किया जाय, उतना ही परम मङ्गल है।

श्रीभगवान्के लीला-चरित्रसे शिक्षा तथा कर्तव्य

श्रीभगवान्के सभी गुण परम आदर्श हैं। निष्काम कर्मका जो ज्वलन्त उदाहरण भगवान् श्रीकृष्णने अपनी लीलामें सबके सामने रखा है, वह अद्वितीय है। राग-द्वेष-रहित होकर धर्मयुद्धमें प्रवृत्त होना, हजारों अधर्मी नरेशोंका विनाश करके उनके स्थानपर उन्हींके वंशजोंको स्थापित कर देना, असंख्य-राज्य-निर्माता होकर भी किसी राज्यको स्वीकार न करके सबको समान भावसे प्रेम-दान देते हुए भी अन्यायका समर्थन न करके सबको अधर्मका नाश करनेकी प्रेरणा देना और संसारका सारा कार्य नाटकके रंगमञ्चपर सुनिपुण अभिनेताकी भाँति

सुसम्पन्न करते हुए ममता, आसक्ति, आशा, कामनासे सर्वथा दूर रहकर प्रत्येक कार्यको भगवान्‌की मङ्गल-पूजाके रूपमें परिणत कर देनेका सरल सहज साधन स्वयं आचरण करके जगत्‌के सामने रखना भगवान् श्रीकृष्णके लीला-चरित्रकी विशेषता है ।

भगवान्‌का वृन्दावनीय बाल-चरित्र तो परम मधुरतम वात्सल्य, सख्य और माधुर्यकी पवित्रतम लीलाओंसे परिपूर्ण है। कहीं भी किसी भी देशके इतिहासमें, किसी भी साहित्यकी सृष्टिमें, किसी भी काव्यके कल्पना-काननमें सर्वथा ऐतिहासिक तथ्य होते हुए भी यह अपनी कोई समता नहीं रखता । जिस किसीने इस परम मधुर लीला-सुधा-समुद्रमें अवगाहन किया, वही परम धन्य हो गया । अनेकों बड़े-बड़े परमहंस ऋषि-मुनि-महात्मा, अद्वैत-तत्त्वमें परिनिष्ठित ब्रह्मस्वरूप महापुरुष, तत्त्वज्ञ योगी इस परम अगाध रस-समुद्रमें सर्वथा डूबकर धन्य हो चुके हैं । आज भी भगवान् श्रीकृष्णका लीला-मधुर-रस-समुद्र उसी भाँति लहरा रहा है। उसमें कूदनेका साहस उसीको करना चाहिये जो सारी भोग-मोक्षकी आकाङ्क्षाओंसे सर्वथा शून्य हो चुका हो ।

यों भगवान्‌के आदर्श दिव्य कर्मयोगका, उनके द्वारा आचरित महती जीवन-चर्याका, उनके उपदेशों और शिक्षाओंका आदर्श ग्रहणकर यथायोग्य उन्हें अपने जीवनमें उतारकर सभी धन्य हो सकते हैं और सभीको होना चाहिये ।

आज तो प्रायः सारा ही दृश्य-विश्व 'कामोपभोग-परायण' होकर सर्वथा असुरभावापन्न हो रहा है। इसीसे आजका आसुरी-राक्षसी यन्त्रासुर-समन्वित विज्ञान प्रकारान्तरसे विशुद्ध अध्यात्मनाशक अज्ञानका प्रसार करके आत्मविध्वंसके उद्योग-पर्वमें संलग्न है । इसीसे आज विश्वकी गति विकास तथा प्रगतिके नामपर आध्यात्मिक, नैतिक एवं धार्मिक भाव तथा आचरणोंके विनाश तथा अधोगतिकी ओर हो रही है और सबसे अधिक खेदकी बात तो यह है कि तामसिक बुद्धिके प्रभावसे विपरीत अनुभूति हो रही है—'**अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।**' और इसका परिणाम अधोगति भी निश्चित ही है—

जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ।

भारत भी आज मोहान्ध होकर इसीका अन्ध-अनुकरण कर पतनोन्मुख हो रहा है ।

इस भयानक धर्म-संकटके समय बचे हुए कुछ धर्मभीरु लोगोंके मार्ग-दर्शनके लिये भगवान् श्रीकृष्णकी भगवद्गीता ही एकमात्र पथ-प्रदर्शक दीप-स्तम्भ, नित्य सङ्गिनी पथ-ज्योति और परम पाथेय है । अतएव इस समय भगवान् श्रीकृष्णकी दिव्य उपदेश-वाणीका प्रचार-प्रसार और जीवनमें क्रियात्मक आचरण ही सर्व-प्रधान अथवा एकमात्र आशा-स्थल है । भारतपर इस समय भीषण संकटके बादल छाये हैं और वह 'किंकर्तव्य-विमूढ़' हो रहा है । चीनासुर तथा पाकासुर सिरपर चढ़े आ रहे हैं । इस समय आध्यात्मिक भागवती शक्तिकी आराधना करके उसे जगाना और उससे अमोघ बल प्राप्त करना विशेष प्रयोजनीय है । अन्तमें प्रार्थना कीजिये—

सत्-चित्-घन परिपूर्णतम, परम प्रेम-आनन्द ।
विश्वेश्वर वसुदेवसुत, नँदनंदन गोविन्द ॥
जयति यशोदातनय हरि, देवकिसुवन ललाम ।
राधा-उर-सरसिज-तपन, मधुरत अलि अभिराम ॥
वाणी हो गुणगानरत, कर्ण श्रवण-गुण लीन ।
मन सुरूप-चिन्तन-निरत, तन सेवा-आधीन ॥
पूर्ण समर्पित रहे नित, तन-मन-बुद्धि अनन्य ।
सहज सफलता प्राप्तकर, हो मम जीवन धन्य ॥

नंदके आनंद भयो, जै कन्हैया लालकी ।

विपत्तिको पराजित करनेकी रीतियाँ

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

विपत्ति एक परीक्षा है। परीक्षाका उद्देश्य मनुष्यको मज़बूत करना होता है। दंगलमें उस्ताद अपने नये पहलवानोंको खूब पटकनी देता है। बार-बार गिराता है। हाथ-पाँवोंकी कसरतें कराकर अपने शिष्यको आनेवाली हर मुसीबतके लिये मज़बूत बना देता है। इसी प्रकार विपत्ति हमें दो-चार पटकनी देकर मज़बूत बनाने आती है। एक विपत्तिको सहनकर हम आनेवाली उससे भी बड़ी मुसीबतको परास्त करनेकी ताकत प्राप्त कर लेते हैं। उत्तरोत्तर विपत्तियोंको सहन करते-करते हम भावी जीवनके लिये हर प्रकार सुदृढ़ बन जाते हैं। आनेवाली विपत्तियोंको यों मात दीजिये—

पहली रीति जो अवश्यम्भावी है, उसे स्वीकार कीजिये

जिस विपत्तिसे नहीं बचा जा सकता, उसे सहन करनेकी ताकत इकट्ठी कीजिये। उसे ग्रहण करनेके योग्य शरीर और मनको बनाइये। समयको अवसर दीजिये कि वह आपको नयी आनेवाली बदली हुई परिस्थितिसे युद्ध करने योग्य बना दे।

आप जिस बातसे किसी प्रकार नहीं बच सकते, उसके विषयमें चिन्ता करनेसे भला, आपको क्या लाभ होनेवाला है। बस, आप अपनी कार्य-शक्तियोंको पङ्गु-मात्र बनाकर ही रहेंगे। मृत्यु, हानि, विछोह, परीक्षामें फेल होना या और जो बात रुक नहीं सकती, उसे ग्रहण ही कर लीजिये। समयमें बड़ी ताकत है। यह बड़े-से-बड़े मानसिक घाव—भयंकर हानियाँ, दुःख और तकलीफें कम कर देता है।

मेरे एक मित्रने एक पत्नीकी मृत्युके बाद चार विवाह किये। हर पत्नीके मरनेपर स्वयं आत्महत्याके प्रयत्न किये। उन्हें किसी प्रकार समझा-बुझाकर रोका गया तो फिर समयके प्रवाहसे उनके पुराने घाव भर गये। वे नये विवाह करते गये। आज वे वृद्ध हैं और अपनी चौथी पत्नीके साथ मधुर जीवन व्यतीत कर रहे हैं। उन्होंने समयको मौका दिया। समय बीतता गया और उनमें पत्नीके विछोहको सहन करनेकी ही नहीं, वरं नया विवाह करनेतककी नयी शक्ति आ गयी। अतः जो अपरिहार्य अर्थात् ज़रूरी है, उसे पूरी ताकतसे ग्रहण कीजिये और समयको मौका दीजिये। आप विपत्तिको ज़रूर पराजित कर सकेंगे।

संकटकी घड़ी बीत जानेपर स्वयं शक्ति आने लगती है। व्यग्र होनेसे कोई लाभ नहीं है।

दूसरी रीति—कष्टके विरुद्ध कार्यवाही कीजिये

कष्ट आनेपर अपने विवेक-बुद्धिद्वारा उसे परास्त करनेकी कोई युक्ति सोचिये। यदि आपका कोई इष्ट-मित्र या सच्चा सनेही हो तो उससे सलाह लेकर उसके विरुद्ध कड़ी कार्यवाही कीजिये। किसी प्रकार उससे कम-से-कम हानि हो, यह विचारिये। सच मानिये, आप ज़रूर कोई-न-कोई तरकीब खोज निकालेंगे। जो व्यक्ति कार्यवाहीमें तेजी और सतर्कता दिखाता है, वह अवश्य सफल होता है। कष्टकी घड़ी टल जाती है।

तीसरी रीति—जबतक जीवन है, तबतक उसका पूरा उपयोग कीजिये

जीवन बहुत लंबा है। यह पग-पगपर बहुमूल्य है। न जाने कब किस रूपमें आपका भाग्य चमक उठे,

अच्छे दिन आ जायँ। प्रत्येक दिन नयी-नयी सम्भावनाओंसे भरा पड़ा है। इसलिये निराश होनेकी आवश्यकता नहीं है। जीवनकी सार्थकता इसीमें है कि संसारके उपकारके लिये उसका अधिक-से-अधिक उपयोग किया जाय, मनुष्य आदर्श बने तथा अपने पीछेवालोंके लिये कुछ अनुकरणीय आदर्श छोड़ जाय। शरीरका कोई अङ्ग विकृत होनेपर भी दूसरे अङ्गोंसे जनताकी सेवा की जा सकती है। दूसरोंकी सेवामें मनुष्य अपना दुःख-दर्द भूल जाता है। अतः दूसरोंको सहायता देनेपर मनको एकाग्र कीजिये।

चौथी रीति—आपके पास जो मङ्गलकारी वस्तुएँ हैं, उनकी गिनती कीजिये

आपको अच्छा स्वास्थ्य, प्यार करनेवाला परिवार, पतिभक्ता पत्नी, बन्धु-बान्धव, मकान, वस्त्र, व्यापार, यश, प्रतिष्ठा, यौवन, कीर्ति—न जाने कितनी मङ्गलकारी वस्तुएँ प्राप्त हैं। असंख्य वस्तुएँ ऐसी हैं, जो दूसरोंके पास नहीं हैं। आप इन्हें गिनें और उन लोगोंके जीवनकी कल्पना करें, जिनके पास ये मङ्गलकारी वस्तुएँ नहीं हैं। फिर सोचिये, विपत्तिके लिये शोक करना कितना व्यर्थ है।

माँकी शक्ति ही निराश व्यक्तिको नवजीवन देती है

रामायणकालीन एक घटना आपकी निराशाको नव प्रेरणा दे सकती है। लीजिये, सुनिये—

अपहृता सीताके कारण विरहकातर राम एक दिन अत्यन्त निराश और दुखी थे। कोई मज़बूत सहारा नहीं दीख रहा था। चारों ओर जैसे अन्धकार-ही-अन्धकार था। सुग्रीव उन्हें एक सहारा मिला था। लेकिन वह भी निरपेक्ष था।

श्रीरामको अपने असहाय एकाकीपनपर बेहद आत्मग्लानि हुई। संसारमें उन्हें कुछ भी आश्रय नहीं दीख रहा था। जैसे सारा संसार ही खाली-खाली हो। परदेशमें उस संकटकालीन परिस्थितिमें वे लक्ष्मणको सम्बोधित कर बोले—

'लक्ष्मण! सब दुर्दशा करके भी दुष्ट दैव न जाने मुझे अभी कितना कष्ट और देगा। संकटोंको झेलते झेलते मैं जैसे थक गया हूँ। साहस जवाब दे रहा है। घर छूटा, सगे-सम्बन्धी छूटे, पतिव्रता सहधर्मिणी छूटी। सब ओर दुःख-ही-दुःख है। वनका संकटापन्न जीवन भी विधिको सह्य नहीं हुआ। उफ़ कैसी विवशता है! हमारे वंशमें आजतक मेरे-जैसा दुःखभागी आदमी उत्पन्न नहीं हुआ है। लक्ष्मण! बताओ, अब क्या करूँ? मेरे तो हाथ-पाँव नहीं चलते।' भगवान्ने आगे कहा—

न वित्तं न बलं वीर त्वमेकः सहचारकः।
न चात्र तरणोपायो ह्यसहायस्य मे किल॥

भगवान् श्रीराम दुखी और निराश हो कहने लगे—

लक्ष्मण! मेरे पास धन (अर्थात् आर्थिक बल) नहीं है। मेरे पास शारीरिक शक्ति भी नहीं है। केवल तुम्हारा ही सहारा है। इस दुःखसागरसे पार उतरनेका तुम्हारे अतिरिक्त और कोई आश्रय नहीं है। मैं तो एकदम असहाय और निराश हो गया हूँ। जानकीको यदि कुछ हो गया, तो मैं जीवनसे ऊबकर प्राण त्याग दूँगा।

लक्ष्मण महापराक्रमी भगवान्की ऐसी निराशामयी वाणी सुनकर चकित रह गये। क्या भगवान् श्रीराम-जैसे शक्तिसम्पन्न व्यक्तिको निराश—निरुपाय होना चाहिये! कदापि नहीं।

निराश श्रीरामको ऐसा निस्तेज और निरुत्साह देखकर लक्ष्मणने कहा—‘भगवन् ! क्या आपको अपने लक्ष्मण-जैसे वीर भाईके बाहुबलपर भरोसा नहीं है ? इसके अतिरिक्त हमारे पास भाई भरत, राजा जनक एवं सुग्रीव आदिके सैन्यबलका भरोसा है। हम सब आपके साथ हैं, जीवनके हर पगपर सहायता करनेवाले हैं। यह जीवन संघर्षपूर्ण है—

‘कर्मक्षेत्रं हि मानुष्यम्’ । (म० भा० अनु० प० २१६। १३)

अर्थात् मानव-जीवन कर्मक्षेत्र है। अतः हमें—

‘आत्मा रक्ष्यः प्रयत्नेन’ । (वा० रा० सु० का० ६। १९)

अर्थात् हमें अपनी रक्षा प्रयत्नसे करनी चाहिये, निराश नहीं होना चाहिये।

तस्माच्छोको न कर्तव्यो व्यसने सति राघव।
उद्यमे चित्तमास्थाय स्थातव्यं वै विपश्चिता॥

अर्थात् मनुष्यको (निराश न होकर) सदा अपने उद्यम और शक्तिका ही भरोसा करना चाहिये। कष्टको दूर करनेका निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिये।

जीवनके दीप उत्साहसे जगमगाते रहें। उद्योगका प्रकाश हमारे चरित्रमें स्थायी हो। हमारे मनमें सर्वरक्षिका, सर्वशक्तिमती माँ दुर्गाकी शक्ति उत्पन्न हो, जिससे हम अपने और जन-जनके अनिष्ट और अमङ्गल दूर कर सकें।

लक्ष्मणके समझाने-बुझानेसे भी मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम आश्वस्त न हुए। इतनेमें महर्षि नारद वहाँ आ पहुँचे और रामको निराश हुआ देखकर बोले—

‘राम ! जीवनमें निराश होनेसे कैसे काम चलेगा ? हृदयमें अदम्य उत्साह और उत्तरोत्तर बढ़ते हुए उत्साहको लेकर ही मनुष्य अपने जीवनकी विविध कठिनाइयोंको पार करता है। वनमें आकर आप अपनी संकल्पशक्ति खो बैठे हैं। तभी आप शक्तिके अभावसे कातर और कायर बने हुए हैं। आप नौ दिनका व्रत लेकर शक्तिकी उपासना कीजिये। मैं उसमें आपकी सहायता करूँगा। शक्तिकी आराधना आपको रावण-विजयके लिये काफी ताकत दे देगी। पूर्वकालमें जब-जब संकट आया, तब-तब ब्रह्मा, विष्णु और महेशतकने शक्ति (महिमावती दुर्गा)की आराधना करके बल पाया है।

‘वह शक्ति नित्य, सनातन, सर्वादिकारण और सर्वकामप्रदा, दुःखनाशिनी है। उसके बिना कोई पलक भी नहीं मार सकता। विष्णुकी पालनशक्ति, ब्रह्माकी सृजनशक्ति, रुद्रकी प्रलयशक्तिका आधार वही (दुर्गा) शक्ति है। प्रलयकालमें निर्गुण होकर वह परब्रह्ममें लीन रहती है और सृष्टिकालमें सगुण, सक्रिय होकर विश्वका संचालन करती है। अतः शक्तिकी उपासनासे नवजीवन प्राप्त कीजिये।’

· रामने नौ दिनोंके व्रत-उपवाससे शरीर और आत्माको शुद्ध किया, भगवती दुर्गाका अनुष्ठान किया। माँकी महती शक्तिका उनमें प्रादुर्भाव हुआ। इसीके आधारपर उनकी निराशा, निरुत्साह और दुःख कम हुआ। उनका शरीर और आत्मा ओजस्वी बने और उन्हें पूर्ण विजय प्राप्त हुई। शक्तिकी आराधनाका प्रभाव यह होता है कि उससे मनुष्यकी कष्ट-विरोधिका ताकत बढ़ती है। निर्बलता और हीनताकी भावना हटकर साहस और बलका प्रादुर्भाव होता है। कहा गया है—

ज्ञानतृप्तो न शोचति।

(महाभारत, शा० ३३७। २४)

अर्थात् ज्ञानसे तृप्त विचारशील व्यक्ति व्यर्थ ही निराश नहीं होता, न शोक ही करता है।

जो मनुष्य कर्म और अपने लक्ष्यमें तल्लीन होकर अपनापन भूल जाते हैं, वे ही सफल होते हैं।

संसारमें सबसे बड़ी भूल वे लोग करते हैं, जो सच्चिदानन्द आनन्दकन्द ईश्वरको सर्वव्यापक मानते हुए भी संसारमें दुःख और पापका साम्राज्य मानते हैं।

कड़ी चोटें लगने दीजिये। कड़ी चोटें खा-खाकर लोहा मज़बूत बनता है, कमजोर शक्तिशाली बनता है। कड़ी चोटें जीवनका सच्चा पाठ पढ़ाती हैं और परिस्थितियोंपर विजय पानेका ज्ञान देती हैं। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामपर बचपनसे ही चोटें पड़ीं—अनगिनत चोटें—वनवासकी असंख्य असुविधाएँ, भोजन-निवास-राक्षसोंकी परेशानियाँ, सीता-जीका अपहरण, रावणसे युद्ध—इत्यादि; किंतु उन चोटोंके बाद राम फौलाद ही बन गये। उनकी समस्त कमजोरियाँ शक्तिरूपा बन गयीं। टक्करोंका स्वागत कीजिये और उनके विरुद्ध संगठित होकर कदम उठाइये।

◆

हमारी मुक्तिनाथ-यात्रा

(लेखक—श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

मुक्तिहेतोः कृतो यज्ञो ब्रह्मणासुभृतां परः।
मुक्तिक्षेत्र इति ख्यातस्तस्माल्लोके घटोद्भव ॥*

(स्कन्दपुराण)

छप्पय

बद्ध जीव उद्धार हेतु अवतार धरें हरि।
कच्छ मच्छ बाराह बनें जड-चेतन तनु धरि॥
बृंदा कूँ करि निमित भए पाषान दयानिधि।
सालगराम स्वरूप तरें नर पूजा करि बिधि॥
भवसागर तैं तरन हित, मुक्ति करन, भव-भय हरन।
मुक्तिनाथ स्वामी बने, जग जीवनि जालनि जरन॥

भगवान् वेदव्यासजीने पृथिवीके सात द्वीपोंमेंसे छः द्वीपोंको भूस्वर्ग बताया है। सात द्वीपोंमेंसे जो हमारा यह जम्बूद्वीप है, इसके भी नौ खण्ड हैं। उन नौ खण्डोंमेंसे एक अजनाभ-खण्ड है (जो अब भरतखण्ड या भारतवर्षके नामसे विख्यात है)। केवल यही खण्ड कर्मभूमि है। शेष आठ खण्ड भोगभूमि हैं, अर्थात् वे भी भूस्वर्ग हैं। उनमें द्यौ-स्वर्गसे पुण्यशेष जीव आते हैं। उनकी दस हजार वर्षकी आयु होती है। पुराणोंके अनुसार जहाँतक खारा समुद्र है, वह सब भारतवर्ष ही है। अर्थात् योरोप, अमेरिका, अफ्रीका, एशिया—इन सबकी गणना भारतवर्षमें ही है। पीछेसे हिमालयसे कन्याकुमारीतककी भूमिको ही भारतवर्ष कहनेकी प्रथा चल पड़ी; क्योंकि इसी बीचमें वर्णाश्रमधर्मी आर्य रहते हैं। शेषमें वर्णाश्रमेतर लोगोंके रहनेसे उनको भारतवर्षसे पृथक् माना गया। जैसे द्यौस्वर्ग, पातालस्वर्ग हैं वैसे ही भूमिपर भी आठ खण्ड और सप्तद्वीप भूस्वर्ग हैं। अर्थात् ये कर्मभूमि न होकर भोगभूमि हैं।

वैष्णवलोग स्वर्गको विशेष महत्त्व नहीं देते। उसे वे 'निरय' अर्थात् एक प्रकारका नरक ही मानते हैं। जिसमें पल-पलपर पुण्य क्षीण होनेपर पतनका भय बना रहे, जिसमें सातिशयता दोष हो—दूसरेके ऐश्वर्यको देखकर जलन बनी रहे, वह नरक नहीं तो क्या है ? इसीलिये वैष्णवगण वैकुण्ठको ही श्रेष्ठ मानते हैं। कोई उसे गोलोक कहते हैं, कोई साकेतके नामसे पुकारते हैं। श्रीवैष्णव उसे महावैकुण्ठ कहते हैं।

जैसे ऊपर वैकुण्ठ है, वैसे ही वे पृथिवीपर भी आठ स्थानोंको वैकुण्ठ कहते हैं। उनके मतानुसार वैष्णवदर्पणमें पृथिवीके इन आठ स्थानोंपर महाविष्णुका नित्य निवास है। इन आठ-मेंसे चार स्थान दक्षिणमें और चार उत्तरमें मानते हैं। दक्षिणमें कावेरी द्वीपमें स्थित (१) भगवान् श्रीरङ्गनाथजी, (२) श्री-मुष्टिनाथजी, (३) तीसरे वेङ्कटाद्रिपर स्थित तिरुपति बालाजी और (४) चौथे तोताद्रि। जब हम सिंहाचलम् (विजगापट्टम्) में गये, तब वहाँके माहात्म्यमें भगवान् वाराहनृसिंहके साथ सिंहाचलम्की भी गणना अष्ट भूवैकुण्ठोंमें की गयी थी। इसलिये सिंहाचलम् या तोताद्रि दोनोंको ही भूवैकुण्ठ मानना चाहिये। उत्तरमें (५) श्रीबदरीनाथ, (६) नैमिषारण्य (७) पुष्करक्षेत्र और (८) शालग्रामपर्वतस्थित मुक्तिनाथ—इनको भूवैकुण्ठ माना है। इस पृथिवीपर ये आठ क्षेत्र

---

* स्कन्दजी कहते हैं—हे अगस्त्यजी ! 'प्राणियोंकी मुक्ति हो' इस हेतु ब्रह्माजीने यहाँ यज्ञ किया था, इसीलिये संसारमें यह श्रेष्ठ स्थान 'मुक्तिक्षेत्र' के नामसे प्रसिद्ध हुआ।

वैकुण्ठके समान पुण्यप्रद हैं ।* श्रेयस्कामीको इन स्थानोंकी यात्रा अवश्य करनी चाहिये; क्योंकि पुराणोंमें तीर्थयात्राका बड़ा ही माहात्म्य है। पुराणोंके श्रवण, अध्ययनसे मैं तो इसी निष्कर्षपर पहुँचा हूँ कि प्रायः सभी पुराणोंमें पाँच वस्तुओंका ही माहात्म्य विशेषरूपसे वर्णन किया गया है, स्थान-स्थानपर इन्हीं पाँचोंपर बल दिया गया है। (१) एक तो गङ्गाजीका माहात्म्य, (२) दूसरे तुलसीजीका माहात्म्य, (३) तीसरे एकादशीका माहात्म्य, (४) चौथे समस्त तीर्थोंका माहात्म्य और (५) पाँचवें शालग्रामका माहात्म्य। कदाचित् ही कोई ऐसा पुराण हो, जिसमें इन पाँचोंका वर्णन न आता हो। इसमें भी शालग्रामकी महिमा सबसे अधिक है। कहना चाहिये कि वर्णाश्रमी सनातन वैदिक भागवत-धर्मका आधार-स्तम्भ शालग्राम भी हैं। हम श्रुति-स्मृतिको माननेवाले वर्णाश्रमियोंका शालग्रामके बिना कोई काम चल ही नहीं सकता। सत्यनारायणकी कथा करो तो शालग्राम लाओ। नाम-करण-संस्कारसे लेकर दाह-संस्कारतक हमें प्रत्येक कार्यमें शालग्रामकी आवश्यकता है। संन्यास लेते समय शालग्राम-शिला ही सिरपर रखकर सर्वस्व-त्यागकी शपथ ली जाती है। संन्यासी हो जानेपर भी शालग्रामका आराधन करते हैं। मृत्यु-समय हृदयपर शालग्राम ही रखते हैं।

वैष्णवोंका तो शालग्रामके बिना एक क्षण भी काम नहीं चल सकता। कहा गया है कि बिना शालग्रामको भोग लगाये जो खाता है, वह चण्डालके समान है और मरनेपर कल्पपर्यन्त विष्ठाका कीड़ा बनता है। शालग्राम-शिलाकी पूजामें कोई विशेष विधि-विधान नहीं। जो भी सामग्री मिल जाय, उसीसे शालग्रामकी पूजा हो सकती है। हमारे यहाँ एक कहावत है—शालग्राम-पूजामें क्या प्रयास 'धोकर पी लेना, दिखाकर खा लेना।' शालग्रामजीपर तुलसीका पत्र, फूल, दूर्वा, फल, मूल कुछ भी क्यों न चढ़ा दो, सुमेरुके समान उसका फल हो जाता है।†

बहुत-से देशोंको शास्त्रोंने कीकट या म्लेच्छदेश बताया है। वहाँ जाना भी निषेध है, वहाँ जाना ही पड़े तो कैसे जाय? अपने साथ छोटी एक शालग्राम-बटिया ले जाय। बस, काम बन गया। जहाँ ये चक्राङ्कित शालग्राम रहते हैं, वहाँ तीन योजन अर्थात् छः कोसतक भगवान्‌का क्षेत्र बन जाता है।* कहनेका सार यही है कि शालग्रामका सम्बन्ध भागवत-धर्मसे अच्छेद्य है। पीना हो तो शालग्रामका चरणामृत या पञ्चामृत पीओ। खाना हो तो प्रत्येक वस्तुको शालग्रामका भोग लगाकर तुलसी डालकर खाओ। मस्तकपर चन्दन लगाना हो तो उसी चन्दनको लगाओ जिसकी टिकिया बनाकर शालग्रामके ऊपर चढ़ायी गयी हो। जीवनमें सदा शालग्राम-शिलाको साथ रखो और मरते समय उन्हें हृदयपर रखकर मरो तो कभी भी प्राणीकी अधोगति नहीं होगी।

जिन शालग्राम भगवान्‌का ऐसा भारी माहात्म्य है, वे शालग्राम हिमालयमें मुक्तिनाथमें ही मिलते हैं। वहीं शालग्राम पर्वत है। वह कितना पवित्रतम पुण्यप्रद स्थल होगा, इसकी कल्पना धर्मप्रेमी महानुभाव स्वयं ही कर सकते हैं।

मैंने भारतवर्षके प्रायः सभी प्रसिद्ध तीर्थोंकी एक बार नहीं, अनेकों बार यात्राएँ की हैं। पशुपतिनाथजी भी तीन बार गया हूँ। जब भी नैपाल जाता, तभी लोग कहते—महाराज, मुक्तिनाथकी यात्रा करनी चाहिये; किंतु वह है अत्यन्त कठिन। वहाँ तो कोई विरक्त फक्कड़ ही जा सकते हैं। मुक्तिनाथकी कठिनता, दुरूहता तथा वहाँकी असुविधाओंके सम्बन्धमें अनेकानेक किंवदन्तियाँ सुनी थीं। आजसे जो चालीस-पचास वर्ष पहले मुक्तिनाथ गये थे, वे वहाँकी अतिरञ्जित बातें सुनाते थे। कोई कहते वहाँ तो बरफपर चलना पड़ता है, कोई कहते वहाँ कोई रास्ता थोड़े ही है, घास पकड़के पहाड़ोंपर चढ़ना पड़ता है, भाग्यवश चढ़ गये तो चढ़ गये, हाथसे घास छूट गयी तो मर गये। कोई कहते, वहाँ नदियोंपर पुल थोड़े ही है। रस्सियोंमें लकड़ियाँ बाँधकर झूलते हैं, तनिक भी पैर फिसला तो घड़ामसे नदीमें गिर गये। कोई कहते वहाँ मीलों नदीके ठंडे जलमें चलना पड़ता है। कुछ कहते वहाँ खानेको तो कुछ मिलता ही नहीं। कोदो या मडुआ मिलता है, जो कड़वा होता है; उसीकी रोटी बनाकर खानी पड़ती है। कोई कहते, वहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि वर्णाश्रमी थोड़े ही रहते हैं। भोटिया लोग हैं, वे आदमीका

---

* अयमेतत् स्वयं व्यक्तं विमानं रङ्गसंज्ञकम्।
श्रीमुष्णं वेंकटाद्रिं च शालग्रामं च नैमिषम्॥
तोताद्रिं पुष्करं चैव नरनारायणाश्रमम्।
अष्टौ मे मूर्तयः सन्ति स्वयं व्यक्ता महीतले॥

† पत्रं पुष्पं फलं मूलं तोयं दूर्वाक्षताः सुत।
जायते मेरुणा तुल्यं शालग्रामशिलार्पितम्॥

* म्लेच्छदेशेऽशुचौ वापि चक्राङ्को यत्र तिष्ठति।
योजनानां तथा त्रीणि मम क्षेत्रं वसुंधरे॥

मांसतक खा जाते हैं। आप अपनेको कभी काशी, प्रयागका न बतायें, नहीं तो आपको वे पवित्र मानकर प्रसादरूपमें खा जायँगे। इस प्रकारकी किंवदन्तियाँ सुनते-सुनते मनमें जो कभी जानेका साहस भी होता, वह कम पड़ जाता। ऐसी ही किंवदन्तियाँ आजसे पचास वर्ष पूर्व बदरीनाथजीके सम्बन्धमें थीं। किंवदन्तियाँ क्या, वे बातें ठीक ही थीं। आजसे तीस-बत्तीस वर्ष पूर्व जब हम श्रीबदरीनाथ गये, उसमें और आजकी यात्रामें आकाश-पातालका अन्तर है। तब सब यात्रियोंको ऋषिकेशसे ही पैदल जाना पड़ता था, यद्यपि तबतक सरकारकी ओरसे सड़कें बनने लगी थीं। ओवरसियर-इंजीनियर सदा नियुक्त रहते। मरम्मत करनेवाले मजदूरोंकी टोलियाँ सदा नियुक्त रहतीं, सैकड़ों भंगी उत्तरप्रदेश भरसे सफाईको भेजे जाते। चट्टियोंमें सामान रखनेका प्रबन्ध था। स्थान-स्थानपर औषधालय, नल, डाकघर, तारघर, डाक-बँगले सरकारकी ओरसे बन चुके थे, कालीकमलीवालोंकी ओरसे स्थान-स्थानपर सदावर्त, धर्मशालाएँ, पानी पिलानेकी प्याउएँ लग चुकी थीं। इतना सब होनेपर भी आजसे पचीस-तीस वर्ष पहले बदरीनाथकी यात्रा अत्यन्त दुरूह थी। लोग जीवनकी आशा छोड़कर जाते थे, फिर आजसे सत्तर-अस्सी वर्ष पूर्व, जब ये सब कुछ भी नहीं थे, तब कितनी दुरूह यात्रा रही होगी—इसका अनुमान आजका बदरीनाथयात्री कैसे कर सकता है, जो पहले दिन मोटरमें चले, दूसरे दिन बदरीनाथके सामने मोटरसे उतर पड़े, जिस बदरीनाथ शहरमें दिल्लीकी सभी सुख-सुविधाएँ उपलब्ध हों।

मुक्तिनाथ तो नैपालराज्यमें पड़ता है, जहाँ अभीतक यात्राकी ये सुविधाएँ काठमाण्डू तथा आस-पासके स्थानोंतक ही पहुँचा पायी हैं, वह भी ८–१० वर्षके भीतर ही भारत-सरकारकी सहायतासे; जहाँके राणा कर लेना तो जानते थे, किंतु जनताके इस पैसेको सड़क, औषधालय, शिक्षा, पुल आदि अन्य जनताकी सुख-सुविधाके काममें लगाना चाहिये—यह वे जानते ही न थे। धर्मबुद्धिसे वापी, कूप, तड़ाग, धर्मशाला आदि जो उनकी स्त्रियाँ या वे बनवाते थे, वह दूसरी बात रही। मुक्तिनाथ-यात्रामें अभीतक इन आधुनिक सुविधाओंका प्रवेश नहीं हुआ है, न आरम्भ ही हुआ है: ऐसी दशामें मार्ग दुरूह तो होगा ही; किंतु हमने सोचा—लोग थोड़ेका बहुत बना ही देते हैं। फिर एक शुभ वासना है, उसे पूरी कर ही लेनी चाहिये। अब तो शनैः-शनैः आयु क्षीण ही होती जा रही है। इन्द्रियाँ शिथिलप्राय होती जा रही हैं। मोटर आदिकी सुविधा होनेसे चलनेका अभ्यास छूटता जा रहा है। यद्यपि भागवतकार तीर्थयात्राके विषयमें बहुत उत्साह नहीं दिखाते—वे तो भगवद्-भक्तिपर, सत्सङ्गपर ही बल देते हैं, फिर भी तीर्थोंका अपना महत्त्व है। सबसे बड़ी बात यह है कि एक सद्वासनाकी पूर्ति हो जाती है। इसीलिये अनेकों बार बदरीनाथ आदि पर्वतीय क्षेत्रोंकी यात्रा करनेपर भी हमने इस वर्ष मुक्तिनाथकी यात्राका निश्चय कर ही डाला।

मुक्तिनाथ-यात्राके मार्ग

श्रीमुक्तिनाथजी तिब्बतकी सीमापर अवस्थित हैं। वहाँका जलवायु, रहन-सहन, आचार-विचार, धर्म-संस्कृति—सब तिब्बतसे मिलती है। वहाँ वर्णाश्रमी सनातनी प्रायः नहीं हैं। आसपास प्रायः सभी बौद्ध हैं। वह यद्यपि नैपालराज्यके अन्तर्गत है, तथापि वहाँपर नैपाल-राज्यका कोई सुदृढ़ शासन नहीं है। सिक्का अवश्य नैपाली-चलता है और कुछ केवल नाममात्रका भूमि-कर भी नैपालराज्यको मिलता होगा। इसके अतिरिक्त नैपालराज्यकी ओरसे वहाँ कोई प्रबन्ध नहीं—न पुलिस, न डाकखाना, न कोई न्यायालय तथा अन्यान्य शासनकी सुविधा।

हम पहले ही बता चुके हैं कि पुराणोंके अनुसार आजकल जितने चार महाद्वीप हैं, सभी भारतवर्षके अन्तर्गत हैं। जिस प्रकारकी आज शासनकी सीमाएँ हैं, वैसी हमारे भारतमें या संसारके किसी भी देशमें सीमाएँ नहीं। पहले संसार तीन ही विभागोंमें विभक्त था—वर्णाश्रमी प्रजा, अवर्णाश्रमी प्रजा और वनवासी प्रजा। हिंदू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी, पारसी आदि भेद तो धर्मके नामपर अब थोड़े ही दिनोंसे—लगभग हजार-डेढ़-हजार वर्षसे हुए हैं। योरोप, अमेरिका, अफ्रीका—ये सभी वनवासी प्रान्त माने जाते थे। इनमें वनवासी मल्लाह, कोल, भील, नागा आदि लोग रहते थे, जो पेड़ोंके नीचे या झोंपड़ी बनाकर रहते थे। जंतर-मंतर, जादू-टोना, भूत-प्रेत-पिशाचोंकी पूजा प्रचलित थी। अपनेमेंसे ही उनके दलपति चौधरी होते थे। प्रायः सभी देश-कालके अनुसार छोटे-छोटे वर्गोंमें बँटे थे, जलवायुके अनुसार उनमें कुछ काले-कलूटे थे, कुछ गोरे होते थे। वर्णाश्रमी वे होते थे जो वेद-उपासनाको मानते थे और जिनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी—ऐसे भेद होते थे, जिनमेंके क्षत्रिय अपनेको समस्त पृथिवीका जन्मजात स्वामी मानते थे। स्वामी माननेसे उनका

अभिप्राय सभीसे कर लेना या किसीके निजी शासनमें हस्तक्षेप करना नहीं होता था। हम जो आज्ञा प्रसारित करें, उनके सामने सभी सिर झुका दें; बस, इतना ही उनका अभिप्राय था।

तीसरे अवर्णाश्रमी थे। वे वनवासी और वर्णाश्रमियोंके बीचमें थे। उनमें नियमानुसार राजा होते थे, जो अपनी सेना रखते थे, शासक होते थे, युद्ध करते थे; परंतु उनमें वर्ण-आश्रमका कोई भेद नहीं होता था। उनमें आचार-विचार-संस्कार, वेदाध्ययनकी प्रथा नहीं थी। जब वे वर्णाश्रमियोंके संसर्गमें आते थे, तब वर्णाश्रमी क्षत्रिय राजाओंके उदात्त चरित्र, उनके समाजकी सुव्यवस्था, त्यागी-तपस्वी ब्राह्मणोंका उज्ज्वल चरित्र, अरबों-खरबों सुवर्णमुद्राएँ लगाकर बड़े-बड़े राजसूय, अश्वमेध आदि यज्ञ देखते तो उनके मनमें भी ऐसा करनेकी इच्छा होती। उनमें जो शासक होते, वे अपनी कन्याओंको दूसरे शासित लोगोंको देनेमें हिचकते थे। वे चाहते कि क्षत्रिय हमारी कन्याओंको ले लें। उदारमना ऋषिगण कह देते—**'स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि'**—भाई, स्त्री तो रत्न है, वह कभी वंशके कारण अपवित्र नहीं होता; इसलिये उसे नीच कुलसे भी लेना चाहिये। ऐसे निषाद, किरात, हूण, पुलिन्द, पुल्कश, आभीर आदि राजाओंका क्षत्रियोंसे सम्बन्ध भी होने लगा। वर्णाश्रमी क्षत्रिय उन्हें अपनी कन्या नहीं देते थे, किंतु उनकी कन्या ले लेते थे। कभी-कभी वर्णाश्रमी किसी राजासे पराजित होनेपर अवर्णाश्रमी राज्योंमें चले जाते तो वहाँके राजा भी बन जाते। कभी-कभी वर्णाश्रमी किसी अपराधमें किसी राजपुत्रको बहिष्कृत कर देते, देश-निकाला दे देते तो वे लोग पर्वतोंमें, वनोंमें जाकर या तो अपना स्वतन्त्र छोटा राज्य स्थापित कर लेते या किसी अवर्णाश्रमी राजाको पराजित करके उसके राज्यके अधिकारी बन जाते, दुर्बल होते तो अवर्णाश्रमियोंमें मिल जाते। इस प्रकार वर्णाश्रमी राजा तथा अवर्णाश्रमी राजा आपसमें घुलने-मिलने लगे। कोई-कोई अवर्णाश्रमी राजा क्षत्रियोंसे भी प्रबल होते, वे क्षत्रियोंको परास्त करके वहाँके राजा बन जाते। ब्राह्मण इसमें कुछ हस्तक्षेप न करते। उनका मत था क्षत्रियत्व तो शौर्यमें है—जो बली है, बलवान् है, वही राजा है। इस प्रकार दो-चार पीढ़ीके पश्चात् ऐसे राजा या राजाके साथी भी वर्णाश्रमियोंमें घुल-मिल जाते। हमारे देशमें हूण आये, शक आये, कम्बोज आये, यवन-[illegible] (मुसलमान नहीं) आये, वे सब वर्णाश्रमियोंमें धीरे-धीरे घुल-मिल गये। अब उनका नाम भी नहीं है।

आज जिसे भारतवर्ष कहते हैं, वह तो छोटा होते-होते इतना हो गया है। पहिले चीन, जापान, तिब्बत, इंडोनेशिया, जावा, सुमात्रा, अफगानिस्तान—ये सब भारतके अन्तर्गत थे, और भी आजके सैकड़ों देश।

हम जब छोटे थे, तब भूगोलमें पढ़ा करते थे—भारतवर्षमें दो स्वतन्त्र राज्य हैं—नैपाल और भूटान। आपगास्थान (अफगानिस्तान) भारतका एक अङ्ग था। यही नहीं; वैदिक वर्णाश्रमियोंका वही प्रधान स्थान था। १५०-२०० वर्ष पूर्व ही वह भारतसे पृथक् हो गया। हम कभी स्वप्नमें भी अनुमान कर सकते थे कि ढाकाकी ढाकेश्वरी देवी, लवपुर (लाहौर), सिन्धुप्रदेश—जिसके कारण हम हिंदु कहलाने लगे—ये सब हमारे लिये विदेश बन जायँगे। राजनीतिक परिस्थितियोंसे आज इनकी गणना भारतसे पृथक् होने लगी।

हमारे यहाँ धर्म ही सबको एक सूत्रमें पिरोये हुए था। तीर्थयात्रा ही हमें एक दूसरेसे मिलाये हुए थी। रूसका अग्नि-तीर्थ, जो आज चार सौ वर्ष पहिले हम वर्णाश्रमियोंके अधीन था, अब भी जहाँ वर्णाश्रमी सनातनियोंका मन्दिर है तथा सहस्रों वर्णाश्रमियोंके रहनेका नगर अभी-अभी मिला है, आज हम वहाँ बिना राजकीय अनुमतिके जा नहीं सकते।

देवीभागवतमें जहाँ मुख्य-मुख्य सिद्ध पीठोंका वर्णन है वहाँ एक प्रधान देवीपीठ चीनमें बतलाया गया है।* आज वह पीठ लुप्तप्राय हो गया। जो चीन भारतका एक अङ्ग था, विधिकी विडम्बना तो देखिये, वही चीन आज हमारा शत्रु बना हुआ है और कहता है, भारतने हमारा तिब्बतका प्रदेश दबा लिया है। अरे बाबा! सनातनसे जब चीन ही हमारा संरक्षित देश था, तब महाचीन (प्राचीन ग्रन्थोंमें तिब्बतके लिये 'महाचीन' शब्दका ही प्रयोग होता आया है) तो भारतका अङ्ग था ही। अंग्रेजोंके कालतक तिब्बतमें हमारी ही सेनाएँ रहती थीं, हमारे ही न्यायालय थे, हमारे ही वहाँ डाकबँगले थे, हमारा ही एक प्रकारसे शासन था। वर्णाश्रमियोंके सबसे प्रधान तीर्थ कैलास-मानसरोवर तिब्बतमें ही हैं। तब फिर हम उसे भारतसे पृथक् कैसे कहें। जिनके हाथमें शासनसत्ता है, उनकी भूलके कारण तिब्बतपर चीनकी प्रभुसत्ता मान ली गयी। अस्तु, यह हमारा विषय नहीं।

---

* महालसा परं स्थानं योगेश्वर्यास्तथैव च।
तथा नीलसरस्वत्याः स्थानं चीनेषु विश्रुतम्॥
(देवीभागवत ७ स्कं० अ० ३८ १३ श्लो०)

हाँ, तो हम मुक्तिनाथके मार्गोंका वर्णन कर रहे थे। मुक्तिनाथक्षेत्र नैपालराज्यमें है। नैपाल और भारतमें अब थोड़े दिनोंसे राजनीतिक भेद भले ही पड़ गया है। नहीं तो धार्मिक दृष्टिसे नैपाल-भारतमें कभी भी भेदभाव नहीं था। जैसे यहाँ वर्णाश्रमी हैं, वैसे वहाँ भी हैं। जैसे हम गङ्गा, गायत्री, शालग्राम, तुलसी, वर्ण-आश्रम, तीर्थ मानते हैं—वैसे नैपालमें। यों राजनीति-दृष्टिसे तो भारतके सात सौ राज्य, जो अभी-अभी कांग्रेस-शासनमें विलीन हुए हैं, अपनेको कंपनीराज (अंग्रेजीराज्य) से पृथक् मानते थे। बहुत-से राज्योंके पृथक् सिक्के चलते थे—जैसे ग्वालियर, जयपुर, निजाम हैदराबाद, कश्मीर आदिके। ये अंग्रेजोंद्वारा संरक्षित थे। नैपाल, भूटान प्रभुसत्ता-सम्पन्न माने गये थे। वैसे वे भारतमें ही थे। हिमालय भारतवर्षका सिर है। हिमालयके पाँच खण्ड हैं—(१) नैपाल, (२) कमायूँ, (३) केदार, (४) जालंधर, (५) कश्मीर। ये सब भारतके ही अन्तर्गत हैं।*

जब मैं कश्मीर गया था, तब मुझे देखकर आश्चर्य हुआ कि कश्मीरमें पग-पगपर पुण्यतीर्थ हैं। वहाँ नागोंके तीर्थ विशेष हैं। इसी प्रकार नैपालमें भी पग-पगपर तीर्थ हैं। पर्वतीय प्रान्त होनेसे देवीकी मान्यता अधिक है। किंतु विष्णु, शिव, सूर्य आदिके भी मन्दिर असंख्यों हैं। पहले यह देश किरातोंद्वारा शासित था। स्यात् नीवार जाति उन्हींका भेद हो। भगवान् पशुपतिनाथने अर्जुनको यहीं किरातरूपमें दर्शन दिया था, भगवान् पशुपतिनाथ तथा गुह्येश्वरी देवीके बीचमें किरातेश्वरका बड़ा भारी मन्दिर अभीतक विद्यमान है। भगवान् पशुपतिनाथसे ही अर्जुनको पाशुपतास्त्र प्राप्त हुआ था। नैपालमें बहुत-से पुराणप्रसिद्ध बहुत बड़े-बड़े तीर्थ हैं—जैसे भगवान् पशुपतिनाथ, जगदम्बिका गुह्येश्वरी शक्तिपीठ, नीलकण्ठ, शेषशायी विष्णु, राजधानीके चारों ओर चार विष्णु, चार देवीपीठ, सूर्य, विनायक आदि चार गणेश, नीलकण्ठ, ह्रद, सप्तकौशिकी, सप्तगण्डकी, वराहक्षेत्र, दन्तकाली, पिण्डेश्वर, जनकपुर तथा पुराणप्रसिद्ध अनेक ऋषियोंके स्थान, धौलागिरि, नीलगिरि आदि लाखों पर्वत—जिनमें पग-पगपर असंख्यों तीर्थ हैं। उसी नैपालराज्यके अन्तर्गत श्रीमुक्तिनाथ हैं। वहाँ जानेके अनेकों मार्ग हैं।

नैपालसे मुक्तिनाथ जानेका मार्ग

काठमांडूमें पशुपतिनाथजीका दर्शन करके जो मुक्तिनाथ जाते हैं, उन्हें त्रिशूली मार्ग होकर जाना पड़ता है। यह बड़ा विकट मार्ग है। अब तो त्रिशूलीतक मोटर भी काठमांडूसे जाती है। मोटरसे त्रिशूलीतक पैदल या मोटरसे जाय। वहाँसे भी कठेनी, सल्याणटार, खानचौक, लुईटेल कुन्छा, देउराली, पोखरा, लुंलेगाँव, उल्लेरी, सींकगाँव, दानबाजार, लेतेगाँव, टुकचाबाजार-काकवैंनी और मुक्तिनाथ।

गोरखपुरसे मार्ग

जो लोग काठमांडूसे न जायँ, सीधे भारतसे ही जाना चाहें, उन्हें या तो गोरखपुरसे रेलद्वारा नौतनवाँ—वहाँसे मोटरद्वारा भैरवा—भैरवासे हवाईजहाजद्वारा पोखरा और पोखरासे वही मुक्तिनाथवाले मार्गको जाना चाहिये, जिसको हम पहले बता आये हैं। जो भैरवासे हवाईजहाजसे पोखरा न जाना चाहें, पैदल ही जाना चाहें, उन्हें भैरवासे मोटरद्वारा बुटवल जाना चाहिये और बुटवलसे फिर पैदल जाना चाहिये।

बुटवलसे ३ मार्ग

बुटवलसे भी तीन मार्ग हैं। एक तो रात्रीघाट होकर। बुटवलसे नयापाटी, माल्लुंगा, भूमरे, पुतलीखेत, म्यादी, फरसे, बेग खोला, दानबाजार, फिर लेते, टुकचे, कागवैंनी होकर मुक्तिनाथ। दूसरा बुटवलसे भैंसेफयारिड़ी रुरुक्षेत्र, धापाखानी, दह, बैंनीबाजार, तिपल्याङ्ग, कापरे, फिर वही टुकचे, कागवैंनी और मुक्तिनाथ।

तीसरा मार्ग

बुटवलसे तानसेन, रानीघाट, फिर गंडकीके किनारे-किनारेके अनेक तीर्थोंको करते हुए मुक्तिनाथ पहुँचना। हम इस तीसरे ही मार्गसे गये। अब आप संक्षेपमें उसी मार्ग-का वर्णन सुनिये। मैं यह सब वर्णन बहुत ही संक्षेपमें दे रहा हूँ। पुराणोंकी कथाएँ भी नहीं कह रहा हूँ, नैपालका भौगोलिक राजनीतिक वर्णन भी नहीं कर रहा हूँ। ये सब बातें विस्तारसे मैं अपनी शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाली 'नैपालीमुक्तिनाथ-यात्रा' नामक पुस्तकमें करूँगा। यहाँ तो बहुत ही संक्षेपमें मार्गका विवरण ही दे रहा हूँ।

---

* खण्डाः पञ्च हिमालयस्य कथिता नैपालकूर्माञ्चलौ
केदारोऽथ जलन्धरोऽथ रुचिरः काश्मीरसंज्ञोऽन्तिमः ॥ (केदारखण्ड)

झूँसीसे गोरखपुर

सोचा यह था कि अबकी बहुत भीड़-भाड़ नहीं करेंगे, विकट यात्रा है, चार-पाँच साथियोंको लेकर ही जायँगे; किंतु यह अपनी प्रकृतिके प्रतिकूल है। जो अपने साथ चलनेको तैयार है, उसे मना कैसे करें; जो न भी चलता हो, उससे भी पूछ लेते हैं—यात्राको चलोगे? ऐसे करते-करते हम पच्चीस-छब्बीस आदमी तो यहीं हो गये। वैसे मुक्तिनाथ प्रायः गृहस्थी नहीं जाते, प्रायः फक्कड़—साधु-वैरागी ही जाते हैं, जिनके 'आगे नाथ न पीछे पगहा।' कहावत है—'और तीर्थोंमें जायँ गँड़ भी, किंतु मुक्तिनाथ जायँ साँड़ ही।' अर्थात् घर-द्वार छोड़े हुए स्वच्छन्द घूमनेवाले साधु-वैरागी ही मुक्तिनाथकी यात्रा करते हैं। हमारे साथ पाँच-छः माताएँ भी तैयार हो गयीं। हमने कहा—'चलो; जो भगवान् करेंगे, वही होगा।'

ज्येष्ठ शुक्ला प्रतिपदाको हमलोगोंने झूँसीसे प्रस्थान किया। झूँसीकी वर्तमान सरकारने उपेक्षा कर दी है। आजतक इतिहासमें कभी ऐसा नहीं हुआ कि झूँसीमें कभी कोई गाड़ी खड़ी न होती हो। एक बार डाकगाड़ी यहाँ नहीं खड़ी हुई। हमने तत्काल रेलवे मन्त्रीसे कहा। फिरसे गाड़ी खड़ी होने लगी; किंतु अब आने-जानेवाली कोई डाकगाड़ी झूँसी स्टेशनपर नहीं खड़ी होती। अतः हम सबको अत्यन्त कष्टके साथ रामबाग जाना पड़ता है। पीपेका पुल टूट जानेपर वर्षामें तो अत्यन्त ही कष्ट होता है। पचीस-तीस आदमियोंकी एक प्रकारकी बरात-सी ही थी। सबका यात्राका सामान, कई बार मोटर गयी-आयी। इसी बीच मोटरसे एक दुर्घटना भी हो गयी। एक लड़का मोटरके नीचे आ गया। गुंडोंने उड़ा दिया कि लड़का मर गया। ड्राइवर मोटर छोड़कर भागा, पुलिस आयी, लोग एकत्रित हुए, आधा सामान गया, आधा रह गया। सब चले गये, अकेला मैं रह गया। मैं पैदल ही दौड़ा। रामबाग छः मील, जैसे-तैसे पुल पार किया। पैदल कहाँतक दौड़ें। स्टेशनपर बहुत-से आदमी आये, वे सब निराश हुए, गाड़ी छूट गयी। दारागंज स्टेशनपर जैसे-तैसे पहुँचे ही थे कि गाड़ी वहाँसे भी छूट गयी। किसी तरह जंजीर खींचकर गाड़ी पुनः खड़ी की। राम-राम करके गाड़ीमें चढ़ ही गये। प्रातःकाल आठ बजेके लगभग गोरखपुर स्टेशनपर पहुँच गये। भाईजी ऋषिकेश गये थे। स्टेशनपर गोस्वामीजी तथा गीताप्रेसके अन्यान्य सभी बन्धु मिल गये। बड़े आदर-स्नेहसे हमें गीता-वाटिकाकी अतिथिशालामें ले गये। भाईजीकी पुत्री सावित्रीदेवी वहाँ थी ही। उसने सबको बड़े स्नेहसे भोजन कराया। रेलवे कर्मचारियोंमें दो स्थानोंपर सत्सङ्गका आयोजन था, उनमें थोड़ी-थोड़ी देर होकर गीताप्रेस देखने गये। स्टेशनपर आनन्दनगर चीनी मिलके व्यवस्थापक शर्माजी भी आये थे। उनका आग्रह था कि हम आनन्दनगर भी होते जायँ। अतः और सबको तो चार बजेकी रेलसे नौतनवाँ भेज दिया, हम तीन-चार आदमी गीताप्रेसकी मोटरसे आनन्दनगर गये। मिल तो बंद ही थी, उसे देखकर वहाँके लोगोंसे मिलकर आनन्दनगर स्टेशनपर आ गये, वहाँ सब साथी मिल गये। वहाँसे सब साथमें ही नौतनवाँ पहुँचे।

नौतनवाँसे बुटवल

नौतनवाँ नैपालकी सीमाके समीप एक छोटा-सा व्यापारिक नगर है। भारतीय रेल वहींतक जाती है। अभी वह आधुनिक सभ्यताकी दृष्टिसे पिछड़ा हुआ नगर है। कुछ शहरीपन, कुछ देहातीपनकी खिचड़ी है, सीलन-गंदगी बहुत, मच्छड़ोंका तो वहाँ साम्राज्य ही है। एक मारवाड़ी सज्जनके घरपर ठहरे। उन्होंने बड़ा स्वागत-सत्कार किया। प्रातः एक निजी बस की, पाँच बजे ही सब सामान लादकर चल दिये। एक पत्रकार शर्माजी भी नौतनवाँसे हमारे साथ हो लिये। बड़े ही सज्जन थे। वहाँ बहुत दिनोंसे रहते हैं, सबसे उनका परिचय था। उनसे हमें यात्रा-व्यवस्थामें बड़ी सहायता मिली। बुटवलतक वे हमारे साथ ही गये और सारी व्यवस्था उन्होंने ही की।

नौतनवाँसे हमारी बस प्रातः पाँच-साढ़े पाँच बजे चली। वहाँसे पाँच-छः मीलपर ही नैपाल राज्यकी सीमा थी। उस गाँवका नाम सनौली था। सनौलीसे गोरखपुरको पक्की सड़क जाती है। पक्की सड़कसे उस पार नैपाल राज्य था। बसने हमें ले जाकर नैपाल राज्यकी सीमामें छोड़ दिया। वहाँ हमें ऐसा लगा जैसे आजसे पचास-साठ वर्षके राजस्थानके किसी देशी राज्यके गाँवमें आ गये हैं। कच्ची सड़क, एक पेड़के नीचे पाँच-सात पुरानी मोटरें खड़ी थीं। एक टूटी-फूटी मोटर पड़ी थी। न कोई वहाँ पुलिस न कोई आदमी। किसीसे पूछो गाड़ी कब जायगी, कोई ठीक उत्तर ही न दे। कोई कह दे सवारी हो जायगी तो जायगी। कोई कहे निजी मोटरकार कर लो।

मैं लौटकर सड़कके इस पार भारतीय प्रदेशमें एक साधुकी कुटीपर आया। वहाँ सीमा-रक्षावाली भारतीय सेनाकी एक टुकड़ी अपना शिविर डाले पड़ी थी। सैनिक ड्राइवर

सिपाही कई प्रयागके थे। उन सबने मुझे पहचान लिया। बड़ा आदर-सत्कार किया, वे तुरंत गये। वहाँ कहकर हमारे लिये तुरंत बसका प्रबन्ध करा दिया। हम उस टूटे-फूटे कच्चे रास्तेमें खचड़-खचड़ करते हुए दो-तीन मील चलकर भैरवा पहुँचे। यहाँ भारत सरकारके सहयोग तथा सहायतासे नैपाल सरकारका एक हवाई अड्डा है, जिससे पोखराको हवाई जहाज जाते रहते हैं। पहले हमारा विचार यहींसे हवाई जहाजसे पोखरा होकर मुक्तिनाथ जानेका था; किंतु पीछे खर्चकी कमीसे हमारा विचार बदल गया और हम सीधे बुटवल मोटरसे चले गये। (क्रमशः)

किसने पुकारा ?

(लेखक—श्रीहरिश्चन्द्रजी अष्ठाना 'प्रेम')

पूजाका आसन था—

आँखें बंद थीं। पर मैंने देखा, भगवान् एकदम चौंककर उठ बैठे।

'किसने पुकारा ?'

लक्ष्मीजी बोलीं—'नाथ ! किसीने तो नहीं।'

'नहीं लक्ष्मी ! किसीने पुकारा है।' कहकर एकदम गरुड़पर सवार हो चल दिये, पर तुरंत ही लौट आये उदास-से। 'प्रभो ! कैसे लौट आये ?' लक्ष्मीजीने एक हल्की मुस्कानके साथ कहा। 'लक्ष्मी ! उसने वास्तवमें तुम्हें पुकारा था—मेरा नाम लेकर; मुझे नहीं पुकारा—' दुखी हृदयसे कहा और बैठ गये। धीरेसे फिर बोले, 'तो तुम जाओ न, लक्ष्मी ! उसने तुम्हें पुकारा है।' 'नाथ ! आपकी सेवा छोड़कर मैं कहाँ जाऊँ ?—लक्ष्मीपतिको न पुकारे तो लक्ष्मी कैसे जाय ?' लक्ष्मीजी मुस्करा दीं। इस मुस्कानमें कितना रहस्य था, इसे भगवान् बूझ गये। भगवान्‌ने कुछ खिन्न-चित्त होकर कहा—'हाँ लक्ष्मी ! लोग मुझे याद करते हैं—मेरे लिये नहीं, तुम्हारे लिये, संसार पानेको। तुम आशीर्वादके रूपमें देती हो—एक नौका, कि जीव संसार-सागरसे सुखपूर्वक पार हो जायँ; पर वे उस नौकामें विहार करने लगते हैं—गुमराह हो जाते हैं। फिर तुम्हें बरबस पानेकी प्रबल इच्छा, घोर प्रयत्न करते हैं। जब तुम अपनी छत्रछाया उठा लेती हो, तब मेरी ओर दौड़ते हैं; पर मेरे लिये नहीं—तुम्हारी ही कृपाको लक्ष्य करके। जब मैं उन्हें अपनी ओर खींचता हूँ, तब वे डरकर भाग जाते हैं—'त्राहि-त्राहि' चिल्लाने लगते हैं। लक्ष्मी ! कैसे नादान हैं ये लोग ! मैं दिन-रात कान लगाये रहता हूँ—केवल यह सुननेको कि किसीने पुकारा। रात-दिन घूमता-फिरता हूँ—द्वार-पर-द्वार खटखटाता हूँ कि कोई द्वार खोले—मुझे अंदर बुलाये, पर मनुष्य मेरा नाम तो लेता है—आशीर्वाद माँगता है; पर जब उसकी झलकमात्र देता हूँ तो रो पड़ता है—दूर भागता है ! इतना मोहग्रस्त है वह—अज्ञान है ! वह चाहता है कृपा मिले, पर उसकी इच्छाके अनुसार, उसके समयानुसार, उसकी विधिके अनुसार। वह कृपा माँगता थोड़े ही है—वह तो एक आदेश देता है—एक हुक्म। वह प्रार्थना नहीं करता। रागकी एक भारी गठरी लादे घूमता है—न उसे हल्की करता है न करने देता है। पागलकी भाँति गूदड़-गादड़का एक बोझ लिये है; उसीमें हर्ष मानता है। हर ठोकरको विस्मृतिके गर्तमें डुबो देता है—हर नयी ठोकरको पुरानी करता चलता है, परंतु अपने जीवनमें परिवर्तन लानेको तैयार नहीं होता। हर ठोकर एक चेतावनी है; पर वह उसे चेतावनी थोड़े ही मानता है—वह तो उसे अपने सुखमय जीवनमें एक बाधा मानता है। मूर्ख जो है। उस राग-ग्रस्त जीवनके लिये खोया-खोया-सा फिरता है—न एकाकी रहना जानता है न मेरे साथ रहना चाहता है। चलो, लक्ष्मी ! कहीं भ्रमण कर आयें। चलो, संसारमें ही चलें।'

दोनों चलनेको तैयार ही थे कि आवाज सुनी—'नारायण ! नारायण !' 'कौन, नारद ?' भगवान मुस्कराये। 'कैसे आये ? हम संसारमें अपने अनेकों जीवोंके खेलको देखने जा रहे हैं !' प्रभु अपने हृदयकी व्यथा रोक न सके—बोले, 'नारद ! कोई हमें पुकारता क्यों नहीं ! हम पुकार सुननेको बेचैन हैं, हम सब देनेको तत्पर हैं—अपने को भी; फिर हमें कोई बुलाता क्यों नहीं ? नारद ! तुम उनसे कहते क्यों नहीं ? हम उनसे बातें करना चाहते हैं, वे हमसे बोलें—जैसे बालक पितासे बोलता है, जैसे दोस्त दोस्तसे बोलता है। वे याद करते हैं हमारी, पर निगाह रखते हैं संसारपर। तुमने उस चील्हको देखा, जो आसमानपर उड़ती

है, पर निगाह रखती है जमीनपर पड़े मांसके टुकड़ेपर । नारद ! हमें यह भी मंजूर है कि वे याद करें संसारकी, पर निगाह तो रखें मेरी ओर—मुझे अपनी इच्छाओंकी पूर्ति-का एक साधनमात्र न मानें । मैं तो माया भी देता हूँ—लक्ष्मी क्या मुझसे अलग है ? मैं आनन्द देता हूँ—हर स्थितिमें रहनेवाला आनन्द । वे माँगते हैं सुख, जिसका दूसरा रूप है दुःख। विषयेन्द्रियोंका सुख क्या दुःखसे अलग हो सकता है ! वे जानते हैं, पर मानते नहीं । जन्म-मरणको भोगते हैं, अपने पूर्व कर्मको पहचानते हैं; पर उसी भूलको फिर दोहराना चाहते हैं । मैं छुटकारा देनेको हाथ बढ़ाता हूँ तो वे हाथ खींच लेते हैं । कोई बिरले ही मेरे संकेतको बूझते हैं और मेरी ओर हाथ पसारते हैं । वे ही मुझे जीवन देते हैं—वे ही मेरे प्राण हैं—मैं उन्हींके लिये जीता हूँ । आज भी शान्तिके लिये उन्हींके पास जा रहा हूँ—किसी राहीको राहपर लाकर जीवन सार्थक हो ।' यह कहकर भगवान् लक्ष्मीजीके साथ चल दिये । प्रभुने मुड़कर देखा, कहा—'नारद ! तुम कहाँ ?' नारदजीने कहा, 'प्रभु ! जहाँ आप, वहीं तो मैं हूँ ।' लक्ष्मीजी मुस्करा दीं ।

वह एक साधारण किसान था—संतुष्ट था—बड़ी हवेली या लाख-दो-लाखकी माँग नहीं करता था । दिनभर मेहनत-मजूरी करता था, सायंकालको भोजन पाकर बाल-बच्चोंसमेत अड़ोसी-पड़ोसी बटोरकर एक ढोलक लेकर भजन गाता था । गाँववाले उसे 'संतोषी' कहते थे । शायद इसलिये कि वह अपनी स्थितिसे पूर्णतया संतोष मानता था—संतुष्ट था—शान्त था और प्रसन्न भी था । खेत जानेसे पहले मुँह-हाथ धोता, सूर्यकी ओर मुख करके घुटने टेककर बैठता, नमस्कार करता, अंजली पसारकर कहता 'प्रभु ! मुझे तुमने सब दिया, बाल-बच्चे दिये, खेत दिये, जानवर दिये । मैं सुखी हूँ । कोटिशः धन्यवाद ! मैं क्या माँगूँ ? बस, अपनी कृपा बनाये रखो । हाँ, इतना देते रहो कि पेट भरता रहे—किसी दूसरेके द्वारे माँगना न पड़े । न तो इतना दो कि उसीको सँभालनेमें तुम्हें भूल जाऊँ और न इतना कम ही दो कि मजबूर होकर कोई कदम ऐसा उठ जाय, जो तुम्हारे नाममें धब्बा लगा दे । मैं, मेरी औलाद—सब तुम्हारे हैं । इनका पालन-पोषण तुम्हारा काम है । मेहनत मैं पूरी करूँगा, बस, तुम्हारा हाथ सिरपर रहे ।' इतना कहकर कुछ देर आँख मूँद लेता । उठता, कुछ खाता, कुछ बाँध लेता और खेत चल देता—सुगन्धित इसी तरह सुगन्ध चारों ओर बिखेरता चलता था ।

वह एक बारह-तेरह वर्षका यतीम बच्चा था । माँ-बापका साया उठ गया था—गायें चराता था । शामको जानवर लौटा लानेपर एक समय खानेको रोटी मिल जाती । दुखी था संसारसे, संसारवालोंसे । पर प्रभुमें विश्वास और श्रद्धा उसकी माँने कूट-कूटकर भर दी थी । पेड़के सहारे गाँवसे दूर—दोपहरीमें बैठा यह कहता—'राम ! माँ कहती थी तुम सबके पिता हो, तुम सबके पास ही रहते हो—सबको खिलाते-जिलाते हो, तो हमें भी रोटी दो—तुम्हीं दो, और कोई नहीं देता—मुझे भूख लगी है—दो देना !' बस, बातें करता था । कोई निर्धारित प्रार्थना वह नहीं जानता था—कोई स्तुति-श्लोक उसे नहीं याद थे—पर सरल बातें ही तो प्रार्थना थीं—ये ही प्रभुको प्रिय लगीं । एक सेठकी मोटर वहाँ आयी—लड़केसे पूछा, 'लड़के ! यहाँ कहीं पानी है ?' उसने कहा 'गाँवके पास कुआँ है—मैं चलूँ ।' सेठने उसे बिठा लिया । उसने कुएँसे पानी निकाला—कुछ सेठने पिया, कुछ सेठकी मोटरने । सेठसे बातें हुईं—पूछा, 'लड़के ! तुम्हारे माँ-बाप कहाँ हैं ?' उसने कहा, 'नहीं हैं—बस, भगवान् ही हैं—क्षत्रियका लड़का हूँ—था—।' सेठने पूछा—'मेरे साथ चलोगे ?' उसने कहा, 'जहाँ भगवान्की इच्छा, वहीं जाऊँगा ।' सेठ प्रभावित हुआ—कहा, 'ड्राइवर ! इसे अपने पास बिठा लो—यह हमारे साथ रहेगा ।' बालक बैठ गया और मोटर चल दी । नारदजी मुस्करा दिये—'प्रभु ! तुम्हारी लीला अपरंपार है ! उसके माँ-बाप तो छीन लिये और बड़ा बाप दे दिया—यह प्रार्थना तो उत्तम निकली—स्वच्छ हृदयकी सीधी-सादी पुकार जो थी ।'

वह एक मन्दिरका पुजारी था—बड़े-बड़े श्लोक—बड़ी-बड़ी स्तुति पढ़ रहा था—इधर-उधर लोगोंमें अपनी विद्वत्ता-का अभिमान बाँटता, मन संसारमें था—वाणी संगीतमय थी—कर अनेक कार्य कर रहे थे—शङ्ख भी बजाता, घंटी भी सुनाता और नेत्रोंसे बातें भी करता—फिर आरती की और सब समाप्त, परदा खींच दिया । न उसने प्रभुको सुना—न प्रभुको सुनानेका मौका ही दिया—जैसे पत्थरपर कुछ वाक्य फेंककर मार दिये और चल दिये—जैसे वास्तवमें ही कुछ करके चले । आडम्बर—एक खानापूरी, न मन दिया न तन दिया न कुछ पाया न कुछ पाने दिया । वह प्यार क्या जो नैन-कटोरेसे छलककर दो बूँद बाहर न गिरा दे—वह प्यार क्या, जो बुद्धिको हृदयकी लहरोंमें डुबो न दे—वह प्यार क्या, जो

मूक पत्थरमें वाणी न भर दे। पर यहाँ ऐसा ही प्यार था, जो सजीवको निर्जीव बना दे।

और वहीं निकट मन्दिरमें देखा—एक स्त्रीको—एक अत्यन्त ही व्यथित हृदयको—बाल बिखरे पड़े थे, माथा भूमिमें गड़ा था—हाथ चरणोंकी उँगलियोंको टटोल रहे थे—नेत्रोंसे एक धार बह रही थी। टप-टप करके आँसू गिरते—गिड़गिड़ाकर रो रही थी, जैसे संसारमें सब खो चुकी हो—कोई और आसरा ही न हो—कोई और विश्वासपात्र ही न हो। पटसे एक फूल मूर्तिसे उसके सिरपर गिरा—उसे भी शायद कुछ प्रतीत हुआ। उसने आँखें ऊपर उठायीं और आँचलकी झोली फैला दी—एक फूल टप करके उसमें फिर गिरा। क्या प्रभुने उसकी पुकार सुनी? मान ली? यह आशीर्वाद था! उसने आँसू पोंछे—पुष्पको नेत्रों और सिरसे लगाया। आँचलसे मूर्तिके चरण पोंछे, फिर मत्था टेक दिया—टेके ही रही—फूट-फूटकर रो पड़ी। इस रुदनमें सान्त्वना थी—उल्लास था—कृतज्ञता थी—उस उदास अशान्त चेहरेपर अब इतनी शान्ति थी। क्या मूर्ति बोली? शायद हाँ। यह असहायका रुदन ही प्रार्थना थी।

वट-वृक्षके नीचे वहाँ एक संत अनेक एकत्रित भक्तोंको समझा रहे थे—कह रहे थे—"लोग कहते हैं प्रभु सुनते नहीं—प्रार्थनाका कोई असर ही नहीं होता—कैसे करें प्रार्थना? क्या करें? अरे भाई! प्रार्थना तो बड़ी सरल है—बातें करो, जैसे प्रेयसी अपने प्रियतमसे दिल खोलकर बातें करती है—हर प्रकारकी—किसी भी समय; क्योंकि वह 'अपने'से बात करती है, ग़ैरसे नहीं। द्रौपदीने पुकारा तो दौड़ पड़े—जबतक पाण्डवोंकी ओर निहारती रही, तबतक नहीं आये—बुलाया जो नहीं। गजराजने चीत्कार किया तो भाग पड़े—जबतक अपने बलपर लड़ता रहा, नहीं आये—याद जो नहीं किया। जो चींटीके पैर लड़खड़ानेकी आवाजको भी सुनता है, वह आपकी न सुनेगा? जो उदरमें भी भोजन पहुँचाता है, वह क्या भूल जायगा? जो अबतक साथ है, क्या अब साथ छोड़ देगा—फिर तुम्हें छोड़कर जायगा कहाँ। भक्त ही तो उसके सिरका मुकुट है—वह मुकुटको मान देता है और मुकुट उसको! मुकुटके बग़ैर वह तो है, पर उसके बग़ैर मुकुट बेकार ही है। वह हमारा-तुम्हारा पिता है—हमें देता है तो प्रेमके वश और नहीं देता है तो भी प्रेमके ही कारण। माँ बच्चेकी माँग पूरी करती है तो प्यारके कारण और जब नहीं पूरी करती तो भी प्यारके ही कारण—उसीके हितके लिये। यह हमारी भूल है, हमारी मूर्खता है जो हम सोचते हैं कि हमारी दृष्टिमें जो हितकर है, वास्तवमें वही ठीक है और यदि भगवान् इसके विपरीत समझते हैं तो हम कहने लगते हैं—भगवान् हमें भूल गये। यह कैसा विश्वास है हमारा! उसकी कृपाके अनेक रूप हैं।

"वह दे तो उसकी कृपा—जैसे ध्रुवको दिया।

"वह न दे तो भी कृपा—जैसे नारदको रूप न दिया, जब लक्ष्मीको पानेके लिये भ्रान्त बुद्धिने रूप माँगा था।

"बिना माँगे ही दे—जैसे विभीषणको।

"वह कार्य तुम्हारा स्वयं सिद्ध कर दे और यश तुम्हें दे—जैसे अर्जुनको।

"वह देखता रहे, पर बिना बुलाये न आये, जबतक अहं गल न जाय—पुरुषार्थ-भाव लोप न हो जाय—जैसे गजराजको—द्रौपदीको।

"अनन्य विश्वास रखे तो पत्थरमें जान डाल दे—अग्निको शीतल कर दे—जहरको अमृत कर दे—जैसे प्रह्लाद और मीराके लिये। वह दिया हुआ छीन ले—जैसे माँ उस बच्चेसे खिलौना छीन लेती है जो खेलमें उलझा रहे और अपनी पढ़ाई न करे—उसीके हितके लिये। और जान भी ले ले—जैसे रावणको, पूतनाको उबारा।

"यदि वह प्यारा है तो हर अदा उसकी प्यारी है—हर भाव उसका न्यारा है—हितकर है। दुःख उसके प्यारकी परख नहीं है। दुःख वह आँच है, जो सोनेको तपाकर चमक दे—हथौड़ीकी वह चोट है, जो हीरेमें पानी पैदा करे, कीमत दे। मौत उसके प्यारमें कोई दाग़ नहीं है—वह तो लंबे सफरमें विश्रामका एक मुकाम है—स्वास्थ्यके लिये डाक्टर रोगीको जबरदस्ती सुलाता नहीं क्या?

"तो हम उसके पास कैसे जायँ? जैसे एक रोगी डाक्टरके पास जाता है, वह डाक्टरको पूरी जाँच करनेका अधिकार देता है—यदि कोई दर्द है और रोगी जानता है किस स्थानपर है तो बता देता है। यदि स्थान नहीं जानता तो दर्द बताता है—जाँचके पश्चात् अपनी व्यथा कहनेके बाद डाक्टरकी सुनो—मौन होकर, दवा और पथ्य दोनों ही करो। हमारा और भगवान्‌का नाता कुछ ऐसा ही है। यदि तुम अपनी ही कहते रहो और डाक्टरको अपनी

कहनेका मौका न दो तो क्या डाक्टरके पास जानेका लाभ होगा ?

“जैसे एक फेफड़ेका मरीज सूर्यकी किरणोंमें शरीर खोल देता है, चुप-चाप लेटा रहता है—रोग-नाश तो सूर्यकी किरणें करेंगी ? प्रार्थनाका रहस्य भी यही है कि हमने कितना हृदय-द्वार खोला—प्रभुको कितना अधिकार दिया ?

“हम उसके पास जायँ, जैसे एक बालक अपनी माँके पास जाता है। माँ प्यार करती है, तो भी उसीकी गोदमें। डाँटती-मारती है, तो भी उसीकी गोदमें। वही हमें नहला-धुलाकर साफ करेगी। बस, उस अबोध बालककी तरह, जो केवल माँको जानता है—माँकी गोद जानता है—माँका आँचल। तुमने यदि पाप किया है तो प्रायश्चित्त करके माँका आँचल थाम लो। एक गुमराहको राहपर ला खड़ा कर देनेसे कितनी प्रसन्नता होती है। एक माँके पाँच बच्चे मेले-तमाशोंमें गये। एक गुम गया—बहुत भटका, रोया-चिल्लाया, माँने ढूँढ़ा और पा लिया—एक खोया बच्चा मिल जानेसे बच्चेको, माँको कितना हर्ष हुआ, अनुमान करो। यदि वह न खोता तो इतना दुःख न होता। भगवान्ने कहा—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥

“धर्मके लिये—भक्तके लिये भगवान् आते हैं, परंतु अधर्मी पापी भी उनके आनेका कारण है। उनके बुलानेकी कीमत पापी देता है। उस पिताकी गोदमें सबके लिये स्थान है—क्या पुण्यात्मा—क्या पापात्मा। बस, उधर मुख होना चाहिये—वह आनेका केवल बहानामात्र चाहता है। बलिहारी है उस पापकी, जो पापीको प्रभुकी ओर हाथ पसारनेको कहता है! किस कामका वह पुण्य, जो पुण्यवान्को पुण्यपर गर्व दे—प्रभुसे विमुख कर दे। किसी भी, कितने भी पुण्यसे प्रभुका प्रेम नहीं खरीदा जा सकता। एक सरल अनन्य भक्तिवाला हृदय बिना मूल्य दिये ही उन्हें अपना लेता है। प्रेम कोई मूल्य नहीं है। प्रेम देता है, लेता नहीं। जो देता है, वह पाता है—यही विधान है। पूर्णतया असहाय-निराश्रित और अनन्य अनन्त विश्वासीको ही पुकारनेका अधिकार है—वह हृदय खोलकर उनके सामने जाय और वही तो प्रभुका प्रिय है—वही तो उनके पास जाता है।

“कुन्तीने भगवान्से प्रार्थना की थी—

विपदः सन्तु नः शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत् स्यादपुनर्भवदर्शनम् ॥

“अर्थात् उन्होंने सदाके लिये विपत्ति ही माँगी; क्योंकि विपत्तिमें प्रभुके दर्शन होते हैं, दर्शनसे मोक्ष होता है—समस्त क्लेशोंसे छुटकारा होता है।

“अब प्रार्थना कैसे करें—क्या कहें ? यह जाननेके लिये किसी पुस्तककी—किसी विद्याकी आवश्यकता नहीं; केवल सरल हृदय चाहिये। सच्ची प्रार्थना हृदयसे होती है—वाणी या शब्दोंके शृङ्गारसे नहीं। तुम्हारी असहायता या निराश्रयता ही सबसे बड़ी प्रार्थना है—मूक प्रार्थना। छोटे बच्चेको देखो, जो एक शब्द भी नहीं बोल सकता। वह माँपर पूरी तरह आश्रित है। माँ उसकी सारी आवश्यकताओंको जानती है और पूर्ण करती है। भगवान्से अपनी हर छोटी-बड़ी बात कहो—अपने सुखकी बात, अपने दुःखकी बात, अपनी कमजोरी, अपनी भूलें, अपनी हर परेशानी, सभी कुछ। यद्यपि तुम उसे नहीं देखते, वह तो तुम्हें देखता ही है। प्रार्थना करो कि वह तुम्हें एक योग्य पात्र बना दे, तुम उसके एक उपयोगी यन्त्र हो सको, बजानेवाला वही हो। इस तन्त्रीके तारोंको मिलाकर वह एक झनकार पैदा कर देगा।

“प्रार्थना यों तो स्वाभाविक ही होती है, परंतु अभ्याससे निश्चय ही लाभ होता है। प्रार्थना करनेके पूर्व कुछ देर मौन—ध्यानस्थ अवश्य रहो। प्रार्थना करनेके लिये उपयुक्त वातावरण—एक आवश्यक मानसिक अवस्था हो जाय। प्रार्थना करनेके पश्चात् कुछ देर मौन रहो, उसकी आवाजको सुनो, तुरंत ही उठकर काममें व्यस्त न हो जाओ।

“याद रखो, तुम्हारी निराश्रयता (Helplessness) और तुम्हारा अटल विश्वास (Faith) प्रार्थनाकी नींव (Foundation) हैं, जिसपर प्रार्थनाकी इमारत उठती है। ये ही दो मुख्य अङ्ग हैं, हम दोनोंकी ही तौलमें कम उतरते हैं। हम उसकी ओर हाथ तो फैलाते हैं, पर अपने पुरुषार्थ और दूसरेकी सहायतापर विश्वास करते हैं और सहारा माँगते हैं। यह अनन्य भक्ति नहीं, यह आत्मसमर्पणकी अवस्था नहीं।

“एक कहानी है कि भगवान् शंकरके एक भक्तको जंगलमें डाकुओंने घेर लिया। वह शंकरभगवान्को चिल्लाकर बुलाने लगा। और कोई सहायक न था ही न कोई दिखायी

ही दिया। इधर शंकरजी एकदम पार्वतीजीको छोड़ त्रिशूल लेकर चल पड़े, पर तुरंत ही लौट आये। पार्वतीजीने पूछा—'कैसे एकदम चले, कैसे लौट आये?' शंकरजी बोले—'मेरे भक्तपर एक आपत्ति आयी थी—उसने मुझे पुकारा; परंतु फिर उसने एक ईंट अपनी रक्षाके लिये उठा ली।'

"ऐसा ही हाल हमारे विश्वासका है—कहते तो हैं हम कि पूर्ण विश्वास रखते हैं, पर प्रार्थनाके पूर्व हम शङ्का करते हैं कि क्या भगवान् सुनेंगे। प्रार्थना करते समय भी अविश्वास करते हैं कि क्या प्रार्थना सुनी जा रही है—क्या हमारी आवाज उनतक पहुँची? और प्रार्थना करनेके पश्चात् भी हम अविश्वास ही करते हैं कि क्या हमारी प्रार्थना सुनी गयी? क्या फल देगी? इस अविश्वासके रूपको भी हम विश्वास कहते हैं! ऐसी प्रार्थना एक भारस्वरूप हो जाती है। प्रार्थना हृदयसे होती है, बुद्धि-कौशलसे नहीं। जबतक हमें यह भान होता है कि हम ठीक प्रार्थना कर रहे हैं कि नहीं, कौन-सी प्रार्थना करें—कैसे करें, तबतक यह प्रत्यक्ष ही है कि न हमारा विश्वास ही पूर्ण है और न हमारी निराश्रयता ही। प्रार्थनामें यदि प्रयत्न (Effort) का आभासमात्र भी है तो वह प्रार्थना ठीक नहीं—वह प्रार्थना है ही नहीं, प्रार्थना सहज और स्वाभाविक होती है।

"कुछ लोग पूछते हैं हम कैसे जानें कि हमारी प्रार्थना सुन ली गयी। प्रभुका प्रेम ही प्रभुसे आगे चलता है। जब तुम प्रार्थना करने चले तो प्रार्थना करनेके पूर्व ही तुम्हारी प्रार्थना सुन ली गयी—वही तो तुम्हें प्रार्थनाके लिये प्रेरित करता है, फिर न सुननेका गिला कैसा? प्रार्थनाके पश्चात् शरीर हल्का हो, मन हल्का हो तो जान लो, उसका प्रसाद तुमको मिल गया। प्रार्थना तुम्हारी फलीभूत हो गयी।

"कहानी सुनो—एक भक्त बालक जोर-जोरसे भगवान्‌को बुला रहा था। शैतान आया। उसने कहा—'क्यों बेकार चिल्लाते हो? ईश्वर कहीं तुम्हारी सुनता है?' बालक चुप हो गया नतमस्तक होकर। आवाज आयी—'बेटे! तूने मुझे बुलाना क्यों बंद कर दिया? तू नहीं जानता बुलाना मुझे कितना प्यारा है। क्या मैंने ही तुझे यहाँ नहीं बुलाया—क्या मैंने ही तेरे मनमें मुझे बुलानेकी प्रेरणा नहीं की? तू मुझे नहीं देखता, पर; मैं तो देखता हूँ।' बालक रो पड़ा, कहा—'प्रभु! मुझे क्षमा करो।' किसी अज्ञात हाथोंने उसके आँसू पोंछ दिये।

"एक बार एक मोची प्रार्थना कर रहा था—'भगवन्! मुझे दर्शन दो कि मैं एक सुन्दर जूता तुम्हें पहना सकूँ।' हजरत मूसाने इसे सुना और उसे भला-बुरा कहा। आवाज आयी—'मूसा, हमने तुम्हें भूली आत्माओंको निकट लाने भेजा है—उन्हें दूर भगानेको नहीं।' मूसाको होश आया। उसने प्रभुसे क्षमा माँगी।

"ऐसे ही एक बार एक नट एक गिरजाघरमें गया। वह भूखा था, कुछ कमाई नहीं थी। उसे कोई प्रार्थना न आती थी—वह वर्जिन मेरीकी मूर्तिको प्रसन्न करनेके लिये अकेलेमें अपना खेल दिखाने लगा। कुछ अधिकारियोंने देखा, वह उसे ताड़ना देने चले। नट पसीने-पसीने था, बड़ी मेहनत की थी उसने। इतनेमें देखा मूर्ति सजीव होकर उतरी, उसने नटके माथेका पसीना पोंछा। अधिकारी विस्मयसे भर गये और घुटनोंपर गिर पड़े। यह हमारी भूल है कि हम केवल अपनी जरूरत न बताकर यह बताने लगते हैं कि हमें यह चाहिये, ऐसे चाहिये और अभी चाहिये। यह विश्वासमें कमीको बताता है।

"एक बार दुर्वासा ऋषि पाण्डवोंके यहाँ तब पहुँचे जब भोजन समाप्त हो चुका था—और दस हजार शिष्योंके साथ पहुँचे। भोजन माँगा—कहा, 'स्नान करके अभी आते हैं—भोजन करेंगे।' द्रौपदीके पास सूर्यकी दी हुई एक बटलोई थी, जिससे वह अपने भोजनके पहले अनगिनतोंको खिला सकती थी। पर अब क्या हो? उसने भगवान् कृष्णको याद किया—केवल अपनी विवशता बता दी, अपनी स्थिति। भगवान्‌ने कहा, 'बटलोई लाओ' और उसमेंसे एक शाकका पत्ता, जो कहीं चिपका रह गया था, निकाला और खा लिया। उधर दुर्वासा और उनके शिष्य डकारें लेने लगे—उनका पेट भर गया था। यह हुई प्रार्थना, यह है विश्वास—यह है प्रार्थनाकी पूर्ति भगवत्-इच्छाके अनुसार।

"मनुष्य चिल्लाता है विश्वास, पर विश्वास करता नहीं। इसीसे उसकी प्रार्थना प्रार्थना नहीं होती।

"साधारण जीवनमें लोग देखते हैं, तब विश्वास करते हैं (Seeing is believing); परंतु भक्तजीवनमें पहले विश्वास है, फिर देखना (Believing is seeing!

प्रार्थना उसीकी सार्थक है, जिसकी भक्ति अनन्य है, विश्वास अनन्त है, आत्मा पूर्णतया समर्पित है।

“प्रार्थनासे शान्ति, शक्ति, निर्भयता और विनम्रता आती है। यदि तुम अपने बाल-बच्चोंके लिये धन-सम्पत्ति नहीं छोड़ सकते तो चिन्ता न करो। अच्छा ही है—धन-सम्पत्ति बरबाद हो सकती है—उसका दुरुपयोग हो सकता है। तुम उनके लिये प्रार्थनारूपी अनेक बीज बो दो, जो समय-समयपर फल देंगे—यही तुम्हारी सबसे बड़ी देन है।”

थोड़ा मौन रहकर संत फिर बोले—“तो आओ, प्रार्थना करें। प्रार्थना ही जीवनका शृङ्गार है—प्रार्थना ही जीवन है—प्रार्थना ही वह बेतारका तार है, जो हमारी बात उस प्रभुतक पहुँचा देती है। निःस्वार्थ प्रार्थना उत्तम है।

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मामृतं गमय। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

मेरी अँजुली खुली थी, दो बूँदें उसमें टपक पड़ीं। मत्था टेका, चरण छूए, पुष्प माथेसे लगाया। जैसे किसीने सिरपर हाथ धर दिया—कहा,

पिता नोऽसि, पिता नो बोधीः, नमस्तेऽस्तु, मां मा हिंसीः, विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद्भद्रं तन्न आसुव।

रामचरितमानसमें नारीका स्थान

(लेखक—आचार्य पं० श्रीकेदारनाथजी मिश्र एम्० ए०, एल्० टी०)

रामचरितमानस गोस्वामी तुलसीदासजीकी ऐसी अप्रतिम कृति है, जो विश्व-साहित्यके सर्वोत्कृष्ट आसनपर प्रतिष्ठित है। लोक-धर्म-व्यवस्था-विधानका निरूपण तथा लोक-संग्रहका अद्भुत प्रतिपादन जिस शास्त्रीय विधिसे मानसमें किया गया है, वह सार्वकालिक तथा सार्वजनिक है। संसार-तापसे संतप्त कलियुगके समस्त जीवोंको भगवत्कथा-सुधाका पान कराकर कल्याण करना, रामचरितमानसका उद्देश्य है।

मन करि विषय अनल बन जरई। होइ सुखी जौं एहिं सर परई॥

यह पावन ग्रन्थ सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाय है और जो भी सत्सङ्गके प्रेमी, भगवदनुरागी प्राणी हैं, वे सभी इसके अधिकारी हैं।

राम कथा के तेइ अधिकारी। जिन्ह कें सत संगति अति प्यारी॥

तथा जो प्रेमपूर्वक, श्रद्धाके साथ मानसकी कथाको सदा श्रवण करते हैं, वे स्त्री-पुरुष भी इसके अधिकारी हैं।

कथा सुनहिं सादर नर नारी। तेइ सुरबर मानस अधिकारी॥

इस दृष्टिसे विचार किया जाय तो यह निश्चित होता है कि ‘पुरुष, नपुंसक, नारि’ सभीका मानसके द्वारा कल्याण विहित है। अतएव यह जिज्ञासा कि रामचरितमानसमें नारीका क्या स्थान है, स्वाभाविक ही है। वस्तुतः मानसमें कुछ ऐसे स्थल हैं, जिनमें नारियोंके सम्बन्धमें आपाततः उपेक्षाके भाव प्रतीत होते हैं। उन्हींको लेकर एक भ्रान्तिका सृजन हो गया है, जिससे कहा जाता है कि गोस्वामीजीके हृदयमें नारी-जातिके प्रति तिरस्कारके भाव विद्यमान थे और तत्तत्प्रसङ्गोंमें वे ही स्वाभाविक रूपसे व्यक्त हो गये हैं। किंतु यदि हम इस विषयपर समुचित विचार करें तो इस भ्रान्तिका निराकरण ही नहीं; वरन् यह भी भलीभाँति विदित हो सकता है कि मानसमें नारीका अत्यधिक सम्मान है।

यह हम देखते हैं कि रामचरितमानसके चार श्रोताओंमें अन्यतम एक नारी ही है और उसपर भी गम्भीरतासे दृष्टिपात करें तो पता लगेगा कि एकमात्र नारी ही इस ग्रन्थकी मुख्य श्रोत्री है।

रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा॥

जब शिवने शिवाको सुसमयमें मानसका श्रवण कराया, तब उसी प्रसङ्गमें अन्य तीन श्रोताओं एवं वक्ताओंकी चर्चा हुई। अतः कहा जा सकता है कि अन्य श्रोता-वक्ता तो प्रासङ्गिक और शिवाशिव मूल एवं मुख्य हैं।

ऐसी स्थितिमें नारीकी उपेक्षा मानसका गौण प्रतिपाद्य भी कैसे हो सकता है? इसलिये हमें उन स्थलोंका सम्यक् परीक्षण करना चाहिये, जिनमें नारी-विषयक कुछ विचार प्रकट किये गये हैं। यहाँपर ऐसे प्रधान स्थलोंपर ही विचार किया जायगा। प्रथम (१)—प्रसङ्ग सतीमोहका है,

जिसमें सतीजीने भगवान् रामकी परीक्षा लेनेके अनन्तर भगवान् शिवसे असत्य भाषण करनेपर—

सती कीन्ह चह तहहुँ दुराऊ। देखहु नारि सुभाव प्रभाऊ ॥

२—मन्थराका राज्याभिषेकके समारोहको देखकर दुःखित होनेपर भरत-माताके निकट दीर्घ निःश्वास लेना और रुदन करना है, जो—

ऊतरु देइ न लेइ उसासू। नारि चरित करि ढारइ आँसू ॥

—के रूपमें कहा गया है।

३—जब मन्थराके द्वारा बुद्धि-भेद होनेपर कैकेयी कोप-भवनमें जाती हैं, उस समय उनके प्रति व्यक्तिगत आक्षेपके साथ-साथ नारी-जातिपर भी आक्षेप परिलक्षित होता है—

गूढ़ कपट प्रिय बचन सुनि तीय अधरबुधि रानि।

कैकेयीकी करतूतपर विकल-मनस्क नगरके नर-नारी कहने लगते हैं—

सत्य कहहिं कबि नारि सुभाऊ। सब बिधि अगहु अगाध दुराऊ ॥
निज प्रतिबिंबु बरुकु गहि जाई। जानि न जाइ नारि गति भाई ॥

काह न पावकु जारि सक का न समुद्र समाइ।
का न करै अबला प्रबल केहि जग कालु न खाइ ॥

४—शूर्पणखाका चरित्र और उसके प्रति राम-लक्ष्मणका व्यवहार भी इसका एक उदाहरण माना जाता है।

वर्षा ऋतुके प्रसङ्गमें—

महाबृष्टि चलि फूटि किआरीं। जिमि सुतंत्र भएँ बिगरहिं नारीं ॥

—को भी कुछ लोग नारीका अपमान समझते हैं।

५—शबरीके आश्रममें भगवान् रामके पधारनेपर शबरीकी प्रार्थनाके अभ्यन्तर भी, जिसमें उसने निवेदन किया है कि—

अधम ते अधम अधम अति नारी। तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी ॥

—नारी-निन्दाकी झलकका आरोप कुछ लोग देखते हैं।

६—नारदजीके द्वारा भगवान्से यह प्रश्न करनेपर कि—

राम जबहिं प्रेरेउ निज माया। मोहेहु मोहि सुनहु रघुराया ॥
तब बिबाह मैं चाहउँ कीन्हा। प्रभु केहि कारन करै न दीन्हा ॥

उत्तर देते हुए भगवान्‌के निम्नाङ्कित उद्गार हैं—

काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद मायारूपी नारि ॥

सुनु मुनि कह पुरान श्रुति संता। मोह बिपिन कहुँ नारि बसंता ॥
जप तप नेम जलाश्रय झारी। होइ ग्रीषम सोषइ सब नारी ॥
काम क्रोध मद मत्सर भेका। इन्हहि हरषप्रद बरषा एका ॥
दुर्बासना कुमुद समुदाई। तिन्ह कहँ सरद सदा सुखदाई ॥
धर्म सकल सरसीरुह बृंदा। होइ हिम तिन्हहि दहइ सुख मंदा ॥
पुनि ममता जवास बहुताई। पलुहइ नारि सिसिर रितु पाई ॥
पाप उलूक निकर सुखकारी। नारि निबिड़ रजनी अँधिआरी ॥
बुधि बल सील सत्य सब मीना। बनसी सम त्रिय कहहिं प्रबीना ॥

अवगुन मूल सूलप्रद प्रमदा सब दुख खानि।
ताते कीन्ह निवारन मुनि मैं यह जियँ जानि ॥

७—समुद्रसे मार्ग-याचनाका प्रसङ्ग है, जिसमें रामके कुपित होनेपर समुद्रकी अपने सम्बन्धमें भगवान्‌के कोपका औचित्य सिद्ध करते हुए उक्ति है—

ढोल गवाँर सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी ॥

८—लङ्काकाण्डका वह स्थल है, जिसमें मन्दोदरी और रावणका संवाद आया है। जब मन्दोदरी अपने पतिसे भगवान् रामके प्रति वैरका परित्याग करके उनके चरण-कमलोंसे प्रीति करनेकी सानुरोध प्रार्थना करती है—

बिहँसा नारि बचन सुनि काना। अहो मोह महिमा बलवाना ॥
नारि सुभाउ सत्य कबि कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं ॥
साहस अनृत चपलता माया। भय अबिबेक असौच अदाया ॥

अतएव सरसरी दृष्टिसे इन सभी स्थलोंपर क्रमानुसार विहंगम-दृष्टि डालनेसे गोस्वामीजीके नारी-विषयक दृष्टिकोणका परिज्ञान हो जायगा।

(१) इन सभी स्थलोंपर जो नारी-जातिपर व्यङ्ग परिलक्षित होता है, उसका कारण नारीके प्रति घृणा नहीं है, अपितु उनके स्वभावसिद्ध कोमल गुणोंका अभिव्यञ्जन है। ऐसे प्रसङ्गोंमें कविका ध्यान नीतिशास्त्रोंके वचनोंकी ओर चला जाता है, जिनमें व्यवहारोपयोगी मानसिक विश्लेषणका प्राचुर्य है, कि सभी नारियोंमें सदैव यह स्थिति विद्यमान रहती हो, ऐसी बात नहीं है।

भारतीय संस्कृतिका यह परम्परागत विश्वास है कि स्त्री-का सौभाग्य, सतीत्व और श्रैष्ठ्य पतिके साथ निष्कपट होकर तादात्म्य ग्रहण कर लेनेमें ही है और तभी इन सबके

निर्वाह सम्भव है। यही कारण है कि जहाँ इसका व्यतिरेक पाया गया, वहीं मानसकारने उन विशेषणोंको छोड़ दिया जो उन गुणोंके अन्वयमें थे।

उदाहरणार्थ—जब भगवान् शंकरके साथ श्रीसतीजी श्रीअगस्त्यजीके आश्रममें पधारीं; तब उनके सम्बन्धमें कहा गया—

संग सती जग जननि भवानी। पूजे रिषि अखिलेस्वर जानी॥

और उन्होंने जब शंकरजीसे दुराव किया; तब उन्हींके सम्बन्धमें यह भी कह दिया—

सती कीन्ह चह तहँहुँ दुराऊ। देखहु नारि सुभाउ प्रभाऊ॥

ऐसे स्थलोंमें भी यदि निन्दाके भाव व्यक्त न हों तो नारीके प्राशस्त्यका ज्ञान कैसे हो? श्रीरामजी भी, जो शंकर-भगवान्‌के अनन्यभक्त हैं, परीक्षाके लिये श्रीसीताके रूपमें [illegible] सतीजीको प्रणाम करनेके पश्चात् ही यह पूछते हैं—

कहेउ बहुरि कहाँ बृषकेतू। बिपिन अकेलि फिरहु केहि हेतू॥

इससे भी उपर्युक्त सिद्धान्तकी परिपुष्टि होती है।

(२-३) इन दोनों स्थलोंकी पृष्ठभूमिमें नारीका मर्यादातिक्रमण वन-गमनका कारण बनता है, जिससे संक्षुब्ध होकर कवि नारीके उस उग्र स्वरूपकी ओर श्रोताओंका ध्यान आकृष्ट करने लगता है, जो उसके सहज सौशील्यके आधारभूत पति-प्रेमसे रहित हो जानेपर सम्भावित हुआ करता है।

(४) शूर्पणखाका चरित्र ऐसा है कि यदि आदिसे अन्ततक उसका पर्यालोचन किया जाय तो उसमें भारतीय नारीत्वकी झलक भी देखनेको नहीं मिलती।

उसका रूप-परिवर्तन—

रुचिर रूप धरि तहँ सो गई।

और गर्वोक्ति—

तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी।···मनु माना कछु तुम्हहि निहारी॥

तथा रामके द्वारा लक्ष्मणकी ओर संकेत किये जानेपर लक्ष्मणकी ओर चली जाना और लक्ष्मणके द्वारा श्रीरामकी प्रशंसा किये जानेपर श्रीरामके समीप पहुँचना और फिर निराश होनेपर श्रीसीताजीको ही भक्षण कर लेनेके लिये उद्यत हो जाना, उसके इन सब व्यापारों तथा क्रियाकलापोंको देखते हुए इस प्रसङ्गमें यहाँ किसी नारीका अपमान हुआ, यह नहीं कहा जा सकता।

इसी प्रकार पावस-वर्णन-प्रसङ्गमें—

महावृष्टि चलि फूटि किआरीं। जिमि सुतंत्र भएँ बिगरहिं नारीं॥

—को भी कुछ व्यक्ति नारीका असम्मान समझते हैं; किंतु इसके दोषी केवल गोस्वामीजी ही नहीं अपितु समस्त वैदिक वाङ्मय है। स्मृतियोंमें कहा है—

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
पुत्रो रक्षति वार्धक्ये न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥

अर्थात् कुमारावस्थामें पिता, यौवनकालमें पति तथा वृद्धावस्थामें पुत्र स्त्रीकी रक्षा करता है। वह पूर्ण स्वातन्त्र्यके औचित्यकी अधिकारिणी नहीं होती।

इससे तो नारीकी गरिमा ही भासित होती है, जो मनुष्यसे कहीं बढ़कर है। बहुमूल्य और उत्तम वस्तु ही सदैव रक्षणीय समझी जाती है। भारतीय ललनाओंकी मर्यादा उज्ज्वल तथा सतत रक्षणीय रही है। उसका अतिक्रमण करके प्राप्य स्वतन्त्रता वाञ्छनीय नहीं होती। कुलकी पवित्रता कुलके पुरुषोंपर नहीं, वरन् कुलाङ्गनाओंपर ही अवलम्बित है। इसलिये उनकी समुचित रक्षाका ध्यान न दिया जाना और उनकी अमर्यादित स्वतन्त्रताको गर्हित समझा जाना ही उचित है। श्रीगोस्वामीजीका यही प्रयोजन है। वस्तुतः यहाँ 'स्वतन्त्र' शब्द स्वेच्छाचारीके ही अर्थमें प्रयुक्त हुआ है और स्वतन्त्रतासे यहाँ स्वेच्छाचारिताका ही द्योतन होता है। कुलकी पवित्रता भारतीय समाज-शास्त्रमें एक महत्त्वपूर्ण वस्तु है। यह लोकोक्ति है—

'दुराचारी सदाचारी हो सकता है, पर कुलहीन कुलीन नहीं हो सकता।'

(५) शबरी-प्रसङ्गमें शबरीका उद्गार शुद्ध दैन्य है, जो एक भक्तकी असाधारण विशेषता मानी जाती है। दैन्यकी अवस्थामें एक उच्चकोटिका उत्कृष्ट संत भी अपनेमें दुर्गुणोंकी अनन्त राशियाँ देखने लग जाता है। स्वदोषानुसंधान और आराध्य प्रभुके अचिन्त्य, अनन्त कल्याण-गुणोंका स्मरण भक्तिका पोषक ही है। नारीका स्वदोषानुसंधान और प्रकारका होगा, पुरुषका और प्रकारका।

(६) नारदजीके प्रसङ्गमें न तो नारीके व्यक्तित्वकी निन्दा है और न जातिकी ही। यहाँपर तो भगवान्‌को नारदजीके हृदयमें मोहवश नारीकी जो एक वासनामयी मूर्ति निर्मित हो गयी है, उसमें दोषदृष्टि करानी है।

निवृत्ति-मार्गमें वैराग्यको मुक्ति-सौधकी आधार-भित्ति

माना गया है और वैराग्यका भी आधार विषयोंमें दोषदृष्टि है। यहाँ नारीकी निन्दा नहीं अपितु शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन पाँच विषयोंकी ओर आकृष्ट होती हुई साधककी प्रज्ञाको पुनः अपने लक्ष्यमें स्थिर करनेके लिये विषयमें दोषानुसंधान आवश्यक हुआ करता है। यही बात यदि किसी नारीका मन अपने पतिको छोड़कर पर-पतिकी ओर आकृष्ट होता है तो पुरुषपर भी लागू हो जाती है।

भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा रुक्मिणीसे व्यंग-विनोदके अवसरपर भगवान्‌के द्वारा शिशुपालादि नरेशोंकी ओर रुक्मिणीका ध्यान आकृष्ट किये जानेपर रुक्मिणीका उत्तर इसका एक उदाहरण है। उन्होंने कहा है—

त्वक्श्मश्रुरोमनखकेशपिनद्धमन्त-
मांसास्थिरक्तकृमिविट्कफपित्तवातम्।
जीवच्छवं भजति कान्तमतिर्विमूढा
या ते पदाब्जमकरन्दमजिघ्रती स्त्री॥

अर्थात् जिस स्त्रीने आपके चरणारविन्दमकरन्दका आघ्राण नहीं किया, वही विमूढ़ा कान्तमतिसे चर्म, दाढ़ी, मूँछ, रोम, नख, केशसे आच्छादित और भीतर मांस, हड्डी, रुधिर, कृमि, मल, कफ, पित्तसे भरे हुए, जीवित ही मृतकके समान अन्य पुरुषका भजन करेगी।

ऐसे नारी-पक्षके भी उदाहरण हमारे शास्त्रोंमें मिलते ही हैं।

(७) समुद्रसे मार्ग-याचना-स्थलमें भी नारीको पतिके नियन्त्रणमें रहना चाहिये—यही अभिप्रेत है। ताड़नका अर्थ मारना-पीटना नहीं, वरन् अङ्कुश है। यहाँ यदि ताड़न-का अर्थ शारीरिक नियन्त्रण ही किया जाय तो इस शब्दसे ढोल, गँवार, शूद्र, पशु, नारी—पाँचोंमें एकोक्ति उपलब्ध नहीं होती है।

और (८) रावण-मन्दोदरी-संवादमें जो कुछ स्त्रीके लिये रावणके द्वारा कहा गया है, वह किसी वेदका तो वचन है नहीं, किसी कविकी उक्ति है, जैसा कि रावण कहता भी है कि—

नारि सुभाउ सत्य कबि कहहीं।

इससे यही सिद्ध होता है कि रावण अभिमानाभिभूत होकर अपनी अर्द्धाङ्गिनी, धर्मपत्नीके सत्-परामर्शपर तो ध्यान देता नहीं। इसके विपरीत कुछ कवियोंकी युक्तियोंको उद्धृत करके उसके सुनीति-युक्त परामर्शको विनोदमें ही टाल देता है—

एहि बिधि करत बिनोद बहु प्रात प्रगट दसकंध।
सहज असंक लंकपति सभाँ गयउ मद अंध॥

और मन्दोदरीने भी रावणके वचनोंको गम्भीरतापूर्वक ग्रहण नहीं किया, वरन् उन्हें पतिके मतिभ्रमका ही परिणाम समझा—

मंदोदरि मन महुँ अस ठयऊ। पियहि काल बस मतिभ्रम भयऊ॥

यहाँतक तो संक्षेपमें रामचरितमानसके अन्तर्गत उन अपवादोंकी चर्चा की गयी है, जो अधिक प्रसिद्ध हैं। विस्तृत समीक्षा तो पाठकोंको प्रस्तुत ग्रन्थमें ही पढ़नेको मिलेगी।

वस्तुतः अपवादोंके द्वारा मापदण्ड निर्माण करके किसी लेखक या कवि-मतका ठीक-ठीक ज्ञान एवं निर्धारण नहीं हो सकता। हमें देखना तो यह है कि आदर्श नारियोंके चरित्र-चित्रणके समय या नारी-धर्म-वर्णनके संदर्भमें वे क्या कहते हैं। इन सब प्रसङ्गोंका निष्कर्ष यही है—जहाँ-जहाँ नारियोंके विपरीत कुछ कथन किया गया है, वह सविशेष रूपको लेकर ही किया गया है, निर्विशेष नारीत्वको लेकर कदापि नहीं।

उदाहरणार्थ एक चौपाई है—

सेबक सठ नृप कृपन कुनारी। कपटी मित्र सूल सम चारी॥

इसमें जिस प्रकार सविशेष शठ सेवक, कृपण नृप, कुनारी और कपटी मित्रको शूलके समान बताया गया है—किंतु इससे यह कथमपि सिद्ध नहीं हो सकता कि यहाँ केवल सेवक, नृप और नारीकी निन्दा की गयी है, उसी भाँति यही न्याय उपर्युक्त प्रसङ्गोंमें भी लागू होता है।

नारीके समुज्ज्वल पक्षका चित्रण एवं निरूपण जितना अच्छा गोस्वामी तुलसीदासने मानसमें किया है, उतना उत्तम आदर्श ही कोई कवि कर सका हो। जब श्रीजानकीजी अनसूयाके निकट जाकर उनसे सच्छिक्षा प्राप्त करती हैं, तब उस प्रसङ्गमें वे जो उत्तम पतिव्रताका लक्षण बतलाती हैं—

उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥

—उसपर गम्भीर विचार करनेपर विदित होता है कि यह स्थिति उच्च कोटिके भगवद्भक्त अथवा जीवन्मुक्तके ही

समान है। जिस प्रकार भक्तके लिये भगवान्‌के अतिरिक्त कुछ नहीं रह जाता और जिस प्रकार जीवन्मुक्त अशेष विशेषोंका निषेध करके एकमात्र प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्व-को ही देखता है, उसी प्रकार उत्तम पतिव्रता भी—

सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं ॥

—की अवस्थाका अनुभव करती है।

इस कोटिकी पतिव्रताएँ, यदि गोस्वामीजीकी दृष्टिमें सम्भावित हैं, जैसा कि उन्होंने सीताजीके सम्बन्धमें अनसूया-जीसे कहलाया है कि—

नामु तुम्हार सुमिरि संसारा। तिय चढ़िअहिं पतिब्रत असिधारा ॥

—तो नारी सद्गुणोंके सम्पादनमें, आत्मकल्याणमें अकल्प है, यह तो कहा ही नहीं जा सकता। और जब कि गोस्वामीजी नारीके इस उच्चतम रूपको व्यावहारिक जीवनकी वस्तु मानते हैं, तब यह उनका मत हो भी कैसे सकता है।

पार्वती, कौसल्या, सुमित्रा, सुनयना, अरुन्धती, अनसूया आदि ऐसी नारियोंका चरित्र मानसमें चित्रित है, जिसे सुनकर श्रद्धासे मस्तक झुक जाता है और एक ऐसी अमिट छाप हृदयमें बैठ जाती है कि कहीं भी किसी नारीमें इन भावोंकी छाया भी उपलब्ध हो जाय तो एक विलक्षण सात्त्विक आनन्दकी उपलब्धि होती है।

जो लोग मानसमें नारीकी अवमानना देखते हैं, उन्हें इस भौतिकवादी युगमें यह पता नहीं कि भारतीय नारीके गौरव और अगौरवका मानदण्ड क्या है। वस्तुतः प्रत्येक सामाजिक तथा वैयक्तिक धारणाके पीछे एक दार्शनिक पृष्ठभूमि होती है। यदि हमारे जीवनका लक्ष्य भौतिक ही है तो मानसकी आदर्श नारी ही हमें अंधविश्वासग्रस्त, अशिक्षित, अस्वतन्त्र, उत्पीडित, शोषित और दुःखित ही दृष्टिगोचर होगी। उसका उदात्त स्वरूप तो हमारे दृष्टि-पथमें तभी आयेगा, जब हम जीवनके अभौतिक लक्ष्यको समक्ष रखकर उसके चरित्रोंके मूल्याङ्कन करनेकी चेष्टा करेंगे।

गोस्वामीजीके हृदयमें नारीके प्रति कितना सम्मान था, कितना समादर था, इसका पता तो इसी बातसे लग सकता है कि उन्होंने कहीं भी नारीके श्राङ्गारिक रूपका खुला वर्णन नहीं किया। यहाँतक कि जहाँ इस प्रकार वर्णन प्रसक्त था, वहाँ भी उन्होंने अत्यन्त संयत भाषाका प्रयोग किया है और यह श्रेय एकमात्र मानसकारको ही प्राप्त है—अन्य किसी कवि या लेखकको नहीं। श्रीसीताजीकी अङ्ग-छविका वर्णन एक ज्वलंत उदाहरण है। वे कहते हैं—

सोह नवल तनु सुंदर सारी ॥

—और फिर तुरंत मर्यादाका निर्वाह करते हुए कहने लग जाते हैं—

जगत जननि अतुलित छबि भारी।

ऐसा ही एक प्रसङ्ग है राम-वनवासके समयका—जब ग्राम-वधूटियाँ श्रीजानकीजीको पाकर उनसे प्रश्न करती हैं—

कोटि मनोज लजावनिहारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे ॥

उत्तरमें श्रीसीता व्यतिरेक-मुखसे भगवान् रामको अपना प्राण-वल्लभ, जीवन-सर्वस्व बताना चाहती हैं।

सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नामु लखनु लघु देवर मोरे ॥

परंतु जब इतनेसे भी उनका परितोष नहीं होता, तब आगे गोस्वामीजी वर्णन करते हैं। इङ्गितमात्रसे ही कैसी अनूठी सुमर्यादित मृदु उक्ति है, जो भारतीय ललनाओंकी सुसंस्कृतिकी द्योतक अमूल्य निधि है—

बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी ॥
खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहि सियँ सयननि॥

इसमें जो सुमर्यादित मधुर श्रृङ्गार है उसकी गौरव-गरिमाको क्या कोई उन्मुक्त श्राङ्गारिक वर्णन कर सकता है? कहाँ मिल सकेगा विश्वसाहित्यभरमें ऐसा अद्वितीय उदाहरण? इसी न्यायको हम, गोस्वामीजीकी दृष्टिमें और जो एक आदर्श नारीका रूप है उसमें, और जो आधुनिक भौतिकवादी जनोंकी दृष्टिमें स्वतन्त्र नारीका रूप है उसमें, घटित कर सकते हैं।

इस प्रकारकी और भी अनेक बातें इस संदर्भमें कही जा सकती हैं। दुराचारी पुरुषोंकी निन्दा मानसमें कम नहीं है। असंतोंका वर्णन तो उन्हीं महानुभावोंका यशोगान है। ऐसी स्थितिमें बाह्यजनोंके द्वारा जो भी शङ्काएँ उपस्थित की जाती हैं, वे सब निर्मूल ही ठहरती हैं।

श्रीश्रीराधा-प्राकट्य-महोत्सव

[श्रीराधा-जन्माष्टमी (सं० २०२०) पर हनुमानप्रसाद पोद्दारके गोरखपुरमें प्रवचन]

(दिनमें)

रसवलितमृगाक्षीमौलिमाणिक्यलक्ष्मीः
प्रमुदितमुरवैरिप्रेमवापीमराली ।
व्रजवरवृषभानोः पुण्यगीर्वाणवल्ली
स्नपयति निजदास्ये राधिका मां कदा नु ॥
व्रजकुलमहिलानां प्राणभूताखिलानां
पशुपपतिगृहिण्याः कृष्णवत् प्रेमपात्रम् ।
सुललितललितान्तःस्नेहफुल्लान्तरात्मा
स्नपयति निजदास्ये राधिका मां कदा नु ॥

आज श्रीराधारानीके प्राकट्य-महोत्सवका महापर्व है। जैसे भगवान् श्रीकृष्ण नित्य अनादि हैं, वैसे ही श्रीराधारानी भी नित्य अनादि हैं। जैसे सारे जीवोंकी भाँति भगवान् प्राक्तन कर्म तथा संस्कारवश तदनुरूप पाञ्चभौतिक देह धारण करके कर्म-फल नहीं भोगते और न वे जीवोंकी भाँति अहंकार-आसक्ति-कामनावश नवीन कर्म करते हैं, इसीसे भगवान्के 'जन्म-कर्म' दिव्य—असाधारण, अलौकिक तथा अप्राकृत हैं, उनका विग्रह नित्य सच्चिदानन्दमय है, उसका न तो ग्रहण और त्याग है, न उसमें हानोपादान है और न वह उदयास्त-स्वभाव है—वह नित्य, सत्य, कालातीत और निर्विकार है, वैसे ही सच्चिदानन्दविग्रहा, दिव्य भगवदानन्दांश-घनीभूता, नित्य ह्लादिनीमूर्ति श्रीराधारानीका यह मङ्गल विग्रह भी सर्वथा दिव्य है। सच तो यह है कि श्रीराधारानीकी भगवान् श्रीकृष्णसे नित्य अभिन्नता है। स्वयं श्रीकृष्ण ही स्वरूपभूत प्रेम-रसास्वादनार्थ श्रीराधा-रूपसे नित्य विद्यमान हैं और समय-समयपर भारतकी पुनीत धराको परम पवित्र करनेके लिये भगवान्की भाँति ही वे अपनी प्रकृति (स्वां प्रकृतिम्) में अधिष्ठित होकर अपनी निज माया (योगमाया) से प्रकट होती हैं।

केवल श्रीराधा ही नहीं, भगवान् तो उस समय अवतरित समस्त वृन्दावनको ही नित्य चिदानन्दमय बतलाते हैं। वे कहते हैं—

नित्याः सर्वा इमा रुद्र यथाहं नित्यविग्रहः।
सखायः पितरो गोपा गावो वृन्दावनं मम ॥
सर्वमेतन्नित्यमेव चिदानन्दरसात्मकम्।
इदमानन्दकंदाख्यं विद्धि वृन्दावनं मम ॥
(पद्मपुराण, पातालखण्ड)

'मैं जैसे नित्यविग्रह हूँ, वैसे ही हे रुद्र ! ये सभी नित्य हैं। यहाँ मेरे पिता, माता, सखा, गोपगण, गौएँ और वृन्दावन—सभी नित्य और चिदानन्द-रसात्मक हैं। इस वृन्दावनको मेरा आनन्दकंदस्वरूप ही समझो।'

दिव्य प्रेमराज्यमें श्रीराधारानी अधिरूढ़ महाभावकी या मधुरा रतिकी सकल सम्पदासम्पन्न सजीव मूर्ति हैं। 'श्रीकृष्ण मेरे हैं' इस 'मदीय रति' रूप गोपीभावकी चरम तथा परम परिपूर्ण परिणति अथवा इसका मूल उद्गम-स्थान श्रीराधारानी ही हैं। इनकी इस 'मदीय रति' के नित्य वशीभूत हो दिव्य प्रेमस्वरूप स्वयं रसराजशिरोमणि श्रीकृष्ण राधाके प्रति आत्मसमर्पण किये रहते हैं और अपनी कायव्यूहरूपा समस्त गोपीजनोंके समेत श्रीराधाका अपना स्वभाव तथा स्वरूप प्रियतम श्रीकृष्णका सुख-सम्पादन ही बन जाता है। यही मधुर लीलास्वादन है। वास्तवमें इस मधुरोज्ज्वल लीलामें एक ही परम रस-तत्त्व आस्वाद्य, आस्वादक तथा आस्वादन-रूप बनकर नित्य लीलायमान है।

नित्यसिद्धा गोपाङ्गनाओंमें और नित्यसिद्ध भगवद्-परिकरोंमें सब कुछ विशुद्ध सत्त्वमय अप्राकृत तत्त्व ही होता है। उनके अप्राकृत चित्तमें 'श्रीकृष्ण-प्रीति-सुखेच्छा' या 'सहज सर्वत्यागमय विशुद्ध प्रेम' सहज ही वर्तमान रहता है। साधनसिद्ध गोपाङ्गनाओं तथा

भक्तोंमें पवित्र मञ्जरी-साधनासे या भगवत्कृपासे क्रमशः आगे बढ़ते हुए विशुद्ध प्रेमका उदय होता है। प्रेमके विशुद्ध भावकी वृद्धि होनेपर प्रियतम श्रीकृष्णके प्रति अनन्यासक्ति तथा अनन्य-ममताका दृढ़ प्रादुर्भाव हो जाता है। यही 'प्रेम' उच्च स्तरपर पहुँचकर 'भाव' बनता है। 'भाव' का अर्थ है—प्रेमकी अत्यन्त प्रगाढ़ सर्वनिवेदनमयी स्थिति, जहाँ अपनी स्मृति-सत्ता केवल प्रियतमकी सुखरूपताके रूपमें ही बच रहती है। इस 'भाव' की परम प्रगाढ़ स्थितिका नाम ही 'महाभाव' है। इसी महाभावमें मोदन-मादन भावोंका उदय होता है। इनमें भी 'मादन' सर्वोपरि है, जो श्रीराधारानीका स्वरूप ही है। यह मन-वाणी-बुद्धिसे अगोचर अनिर्वचनीयाचिन्त्य परमोत्कृष्ट विशुद्ध प्रेम श्रीराधारानीमें नित्य मूर्तिमान् होकर लीला करता है। इस लीलामें सर्वत्र केवल 'सहज त्याग', केवल 'सहज अनुराग' और केवल 'सहज सर्वसमर्पण' रहता है।

इस विशुद्ध परम प्रेमकी मूर्तिमती सजीव प्रतिमा राधामुख्या श्रीव्रजाङ्गनाएँ लोक-परलोक एवं भोग-मोक्षके कामना-लेशसे शून्य रहकर श्रीकृष्ण-सुखार्थ ही जीवन धारण करती हैं। उनमें शृङ्गार-सज्जा है, पर अपने लिये नहीं; उनमें भोग-सुखका त्याग है, पर किसी अपने त्याग-सुख या मोक्ष-सुखकी प्राप्तिके लिये नहीं; उनमें ममता है, पर वह है केवल प्रियतम श्रीकृष्णके सुखमें ही; उनमें योग-क्षेम है, पर वह भी परिपूर्ण होकर प्रियतम श्रीकृष्णके सुखार्थ ही है। वे सुस्वादु भोजन-पान करती हैं, पर अपने स्वाद-सुखके लिये नहीं, केवल श्रीकृष्ण-सुखार्थ ही। वे संयमपूर्ण व्रतोपवास करती हैं, परंतु किसी अन्य फलकी कामनासे नहीं, श्रीकृष्ण-सुखार्थ ही। उनमें मान भी है, लोभ भी है, अहंता भी है, आसक्ति भी है और कामना भी है; पर वह मान श्रीकृष्णके प्रेम-सुख-रसास्वादनकी वृद्धिके लिये है, लोभ श्रीकृष्ण-सुखके विस्तारका है, अहंता नित्य उनकी सुखरूपतामें है, आसक्ति उनकी मधुर सुखमयी मुस्कानमें है और कामना केवल उन प्रियतम श्रीकृष्णके सुखकी है। वे जगत्के समस्त बर्ताव-व्यवहार करती हैं, पर उन सबमें भोग-विराग है, आसक्तिका त्याग है तथा संयमकी सुरक्षा है। उनमें कहीं भी अपने अहंकी मङ्गलकामनासे या स्वसुख-कल्पनासे कोई सम्पर्क ही नहीं है। काय-व्यूहरूपा अनन्त गोपियोंसहित श्रीराधाजीका यही मधुर मनोहर स्वरूप है। इसीसे श्रीराधा प्रियतम श्रीकृष्णकी नित्य सहज आराधिका होकर भी नित्य तृप्त, नित्य निष्काम भगवान् श्रीकृष्णके हृदयमें अपने दिव्य स्वरूपभूत सुखकी अपेक्षा भी कहीं विलक्षण श्रीराधाके द्वारा दिव्य रसमय सुख प्राप्त करनेकी इच्छा उत्पन्न करती रहती हैं और इसीसे उनको भगवान्की पवित्रतम परमाराध्या भी बनना पड़ता है। ऐसी श्रीराधाके त्रिभुवनपावन परम पवित्र सर्वत्यागमय प्रेमकी स्मृति जगानेवाली आजकी यह मङ्गलमयी परम पुण्य तिथि भाद्र-शुक्लाष्टमी है। हमारा परम सौभाग्य है कि हम आज इन सर्वसमर्पणमयी, परमत्यागमयी, विशुद्ध प्रेममयी, श्रीकृष्णकी आराधिकाराध्या, श्रीकृष्णात्मा, नित्य दिव्य-लीलाविहारिणी, नित्य निकुञ्जेश्वरी, भगवती श्रीराधाका परम पवित्र स्मरण करके अपनेको धन्य कर रहे हैं।

इस पवित्र प्रेमका सांकेतिक स्वरूप यों समझिये—

इन्द्रिय-सुख-इच्छासे विरहित अतिशय मधुर कृष्ण-अनुराग।
प्रियतम-सुखमय सहज उदित 'सर्वस्व-त्याग', सन भोग-विराग॥
दिव्यज्योति योगी-वाञ्छित शुचि सिद्धि, अनेक अलौकिक भुक्ति।
तीव्र ज्ञान-साधन-संयुत ज्ञानीजन-वाञ्छित दुर्लभ मुक्ति॥
नहीं कामना-लेश किसीमें, नहीं कहीं ममता-मद-मान।
केवल हृदय प्रेम-रस-पूरित, निर्मल निरुपम दिव्य महान॥
देना-ही-देना है जिसमें, लेनेका न कहीं कुछ काम।
नित देनेको, नित लेना ही सहज मानती वृत्ति ललाम॥
राधामुख्या गोपीजनमें रहता यही भाव अभिराम।
इसी प्रेम-रस-आस्वादनके लोभी नित रहते हैं श्याम॥

इस विशुद्ध प्रेमका सर्वप्रथम प्रारम्भ त्यागसे होता

है और ऋषि-मुनि-वाञ्छित मोक्ष-सुखपर्यन्त स्वसुख-वाञ्छाके सहज त्यागसे ही इस प्रेमका यथार्थतः प्राकट्य होता है। आजका मानव तो काम-कलुष-कलङ्कित और सर्वथा कामोपभोगपरायण हो रहा है। इसीसे वह त्यागके नामपर भी भोग-लालसा चरितार्थ करनेमें संलग्न है। एक युग था, जब समराङ्गणमें ठीक शस्त्र-सम्पातके समय भगवान् श्रीकृष्णको दिव्य ज्ञानोपदेश करने तथा अर्जुनको उसे सुननेका सुअवसर प्राप्त था और जिसको सुनाकर भगवान्ने युद्धरूप घोर कर्मका अध्यात्मीकरण करके युद्धके द्वारा ही भगवदाराधन, भगवत्पूजन आदिके सम्पादनसे मानव-जीवनकी चरम तथा परम गति लाभ करनेका अर्जुनको अधिकारी बना दिया था। और कहाँ आज ऐसा दुर्दिन है कि धर्म तथा उपासनाके क्षेत्रमें भी गंदी राजनीति आ गयी है और वहाँ भी नीच स्वार्थकी सिद्धिके लिये दुर्योजनाएँ बनती हैं। आजका मानव इस भीषण कामोपभोग-परायणताके कारण सर्वथा असुरभावापन्न होकर धर्म, ईश्वर, सत्य, मानव-सेवा, लोक-सेवा, देश-सेवा और न्यायके नामपर भी अत्यन्त सीमित नीच स्वार्थ-साधनमें संलग्न हैं। इसीसे आजका मानव भगवद्गीताके समयके उस आध्यात्मिक मानस-धरातलकी कल्पना ही नहीं कर सकता और इस बुद्धिभ्रमके कारण ही आजके कुछ विद्वान् भगवद्गीताका उपदेश युद्धस्थलमें हुआ था, ऐसा नहीं मानते।

इस परिस्थितिमें पवित्रतम गोपी-प्रेम या महाभावरूप श्रीराधाके परमोत्कृष्ट सर्वत्यागकी बातको समझ लेना असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है; परंतु जीवका वास्तविक लक्ष्य भगवत्प्राप्ति या भगवत्प्रेमकी प्राप्ति ही है। अतएव भगवत्कृपासे जीवके चित्तको इस ओर खींचने-खिंचानेका विशुद्ध प्रयास करना सभीका कर्तव्य है। इसीलिये शृङ्गार-प्रचारकी तनिक-सी भी कल्पना न करके विषयासक्ति-त्यागपूर्वक भगवान्के प्रति केवल विशुद्ध प्रेमका उदय हो, इसी उद्देश्यसे इस राधाष्टमी-महोत्सवका प्रारम्भ किया गया था और इसी उद्देश्यसे इसे चलाया भी जा रहा है। तथापि हमलोगोंके स्वभाव-दोषसे विषय-विरक्ति तथा भगवत्प्रेमका जितना प्रचार-प्रसार होना चाहिये था, वैराग्य-राग-रसिकता आकर विशुद्ध भगवदनुराग-रसका जितना प्रादुर्भाव होना चाहिये था और कम-से-कम कौतूहल तथा नाटकमात्र न रहकर इसको जितना परम आध्यात्मिक साधनका सूत्रपात करनेवाला होना चाहिये था, वैसा यह नहीं हो पा रहा है और अधिकांश लोगोंके लिये यह एक (धार्मिक) मेला मात्र रह जाता है—यह अवश्य विचारणीय है और इसके लिये हमारे विचारोंमें, कार्योंमें, कार्यपद्धतिमें एवं उत्सवमें सम्मिलित होनेवाले महानुभावों तथा देवियोंके विचारों और कार्योंमें ऐसे सफल परिवर्तनकी आवश्यकता है, जिससे हमारा यह महोत्सव प्रभु-प्रेम-प्राप्तिका एक अमोघ साधन बन जाय। प्रारम्भिक साधकोंके लिये प्रेमी भक्तोंके द्वारा उपदिष्ट और प्रेमी साधकोंके द्वारा आचरित नीचे लिखी बातोंपर ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है—

अहित, असत्य, व्यर्थ, कटु, निन्दायुत, उद्वेग-वचनका त्याग।
लीला-भगवन्नाम-गुणोंका गान करे नित सह अनुराग॥
मनसे काम-क्रोध-लोभके वेगोंका करके परिहार।
लीला-भगवद्गुण-नामोंका करे नित्य चिन्तन अविकार॥
हिंसामय अशुद्ध भोजनका, करे चटोरेपनका त्याग।
सादा शुद्ध सुभोजन सात्त्विक करे, स्वादका तजकर राग॥
सादे वस्त्र, आचरण सीधे, जीवन आडम्बरसे हीन।
आवश्यकता-अभाव-विरहित, सदा दीन-सेवामें लीन॥
विषयी-संसारी लोगोंका सङ्ग छोड़, सेवै सत्सङ्ग।
व्यर्थ-अनर्थ कार्य सब इन्द्रिय-मनके तजकर रहे असङ्ग॥
भजनोत्साह सदा, भगवत्-अस्तित्व-कृपामें दृढ़ विश्वास।
भजन-सहायक कर्मोंमें शुचि प्रीति, प्रवृत्ति, ध्यान-आयास॥
घोर विपद्में धैर्य, मानकर प्रभुका मङ्गलमय सुविधान।
राधा-कृष्ण-प्रेमको ही, बस, मान एक उद्देश्य महान॥

इन साधनोंपर गम्भीरतासे ध्यान देकर यथासाध्य

इनको जीवनमें उतारनेसे श्रीराधा-माधव-प्रेमकी प्राप्तिका मार्ग सहज ही प्राप्त हो सकता है। अन्तमें हम प्रार्थना करें—

सदा राधिकानाम जिह्वाग्रतः स्यात्
सदा राधिकारूपमक्ष्यग्र आस्ताम्।
श्रुतौ राधिकाकीर्तिरन्तःस्वभावे
गुणा राधिकायाः श्रिया एतदीहे॥

जिह्वाके मम अग्रभागपर रहे विराजित राधा-नाम।
मेरी आँखोंके सम्मुख नित रहे राधिका-रूप ललाम॥
कानोंमें नित रहे गूँजती, राधाकीर्ति-कथा अभिराम।
ना रहे श्रीश्रीराधाका गुण-गण-चिन्तन मन अविराम॥

बोलो कीर्तिदाकुमारी श्रीराधारानीकी जय !!

(रात्रिमें)

वन्दे वृन्दावनानन्दां राधिकां परमेश्वरीम्।
गोपिकां परमां श्रेष्ठां ह्लादिनीं शक्तिरूपिणीम्॥
पूर्णानुरागरसमूर्तितडिल्लताभं
ज्योतिः परं भगवतो रतिमद्रहस्यम्।
यत्प्रादुरस्ति कृपया वृषभानुगेहे
तत्किंकरी भवितुमेव ममाभिलाषः॥

हमारा महान् सौभाग्य है, जो आज हमलोग परम ...की तथा दिव्य भगवत्प्रेमानन्दकी घनीभूत सजीव ...तिमा श्रीश्रीराधाके प्राकट्योत्सवके सुअवसरपर श्रीराधा-...वके पुनीत स्मरणका सौभाग्य प्राप्त कर रहे हैं।

श्रीराधाकी ऐतिहासिक सत्ता है या नहीं, उनको ...हले क्या मानते थे तथा पीछे क्या मानने लगे, उनका क्रम-विकास हुआ या नहीं, उनके सम्बन्धमें वैष्णवों और भक्तोंकी कल्पनाका कितना विस्तार है—इन सब प्रश्नोंपर विवाद करनेकी योग्यता मैं अपनेमें नहीं समझता। मेरी तुच्छ धारणामें तथा मेरे विश्वासमें तो श्रीराधा परात्पर ...म ब्रह्म सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्णकी भाँति ही नित्य सत्य तत्त्व हैं। इन दोनोंका नित्य एकत्व तथा नित्य ही लीला-भेद है और वह अनादि-अनन्त है। श्रीराधाजी ...भाग श्रीवृषभानुके यहाँ प्रकट हुई थीं, समय-समयपर हुआ करती हैं—यह सत्य है। उनकी वृन्दावनकी मधुर लीला भी परम सत्य है। हो सकता है, प्राचीन साहित्य उपलब्ध न होने या लुप्त हो जानेके कारण उनका नाम पहलेके सब ग्रन्थोंमें न मिलता हो। हो सकता है, सब लोगोंको उनके स्वरूप तथा लीलातत्त्वका पता न हो। यह भी सम्भव है कि उनकी छायाका विवाह रायण गोपसे हुआ हो और वे स्वरूपतः यथार्थमें भगवान् श्रीकृष्णकी ही नित्यसङ्गिनी रही हों। अतः उनमें परकीया भावकी कल्पना की गयी हो। एवं ब्रह्माजीके द्वारा विवाह कराये जानेके कारण पहले उन्हें लोग स्वकीया मानते हों और इस कारण उनके साहित्यिक रूपमें साहित्यिकोंके भावनानुसार समय-समयपर परिवर्तन हुआ हो और इसीको क्रम-विकासका नाम दे दिया गया हो। पर 'उनके तात्त्विक सत्य स्वरूपमें किसी भी कल्पनाका स्थान है और कल्पना-राज्यमें ही उनकी सृष्टि, विकास, भावान्तर या रूपान्तर हुआ है एवं प्रेमके केवल साहित्यिक रूपमें ही उनकी काल्पनिक सत्ता है' यह बात माननेको कभी मन नहीं चाहता। उनके नित्य अस्तित्वकी सत्यताका सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि अनेकों प्रेमी भक्तोंको उन अलौकिक प्रेममयी, दिव्य स्नेहमयी, अलौकिक अप्राकृत विग्रहरूपा श्रीराधारानीकी विलक्षण कृपासे उनके प्रत्यक्ष दर्शन, साक्षात्कार, उनकी विविध लीलाओंकी अनुभूति, उनकी लीलामें प्रवेश-प्राप्ति और दिव्य परम स्नेहाशीर्वादकी उपलब्धि हुई है। विश्वासी पुरुषोंके लिये इसके प्रचुर प्रमाण हैं।

भारतके प्रसिद्ध विद्वान् महामहोपाध्याय डा० श्रीगोपीनाथजी कविराजने 'कल्याण'में प्रकाशित एक लेखमें लिखा था—"कोई भयभीत मनुष्य जनशून्य अज्ञात देशमें घोर विपत्तिके समय पलक मारते ही यह देखता है कि स्निग्ध करुणामय एवं प्रशान्त मुखश्रीसे युक्त एक दिव्य ज्योतिर्मय मूर्त्ति उसके दृष्टिपथमें

शून्यस्थानमें आविर्भूत होकर उसके समस्त भयका हरण कर लेती है, उसे आश्वासन देती हुई कहती है—'वत्स, तुम भयभीत क्यों हो रहे हो ? देखो, सामने दीपक जल रहा है। वहाँ जाओ। तुम्हारे सारे अभाव दूर हो जायँगे। मैं तुम्हारे साथ हूँ। भयका कोई कारण नहीं है।' इस आश्वासनको सुनकर वह यदि देखता है कि सचमुच ही सामने पर्णकुटीमें दीपक जल रहा है और वहाँ एक मनुष्य मानो उसीकी प्रतीक्षामें बैठा हुआ है, वह वहाँ आश्रय पाता है, क्षुधा-निवृत्तिके लिये मनमाना भोजन-लाभ करता है, भयसे त्राण पाता है, गन्तव्य स्थानका मार्ग पाता है तथा राहका साथी पाता है तो बताइये उसके हृदयमें किस प्रकारके भावोंका उदय होगा········।" इस घटनाको वह मनुष्य चाहे लौकिक कार्य-कारणके सम्बन्धद्वारा किसीको न समझा सके और कोई चाहे इस घटनाको सत्य न समझे; पर जिसने प्रत्यक्ष ऐसा अनुभव प्राप्त किया है, वह इसे कैसे अस्वीकार कर सकता है और कैसे वह किसीके न माननेसे या तर्कयुक्त खण्डन करनेसे अपने प्रत्यक्ष अनुभवके विरुद्ध उसकी बातको स्वीकार कर सकता है ? ठीक यही बात श्रीराधारानीके सम्बन्धमें है। उनकी सत्ताको कोई स्वीकार करे या न करे, उन्हें कोई चाहे केवल कल्पनाकी वस्तु माने अथवा उनके रूपमें अपने मनकी कल्पनाके अनुसार तर्कयुक्तिका अवलम्बन करके क्रम-विकास माने; पर श्रीराधारानीकी अनुकम्पासे जिनको प्रत्यक्ष अनुभूति हो चुकी है या होती है, तर्कयुक्ति या शब्दजालके आधारपर उनके सत्य विश्वासको कोई कैसे हिला सकता है ? इसी प्रत्यक्ष अनुभूतिके आधारपर अबतकके प्रेमी भक्तोंने जो कुछ देखा, निरखा और फिर लिखा है, उसीपर सहज विश्वास करके इस पवित्र मार्गके साधकोंको बिना किसी शङ्का-संदेहके श्रीराधारानीकी आराधना करनी चाहिये।

मैं न तो साहित्य-क्षेत्रमें प्रवेशका यथार्थ अधिकारी हूँ, न मुझमें विशुद्ध भक्ति और प्रेमका ही तनिक-सा भी प्रत्यक्ष अङ्कुर उगा है; इस अवस्थामें मेरे-सरीखे साहित्य तथा प्रेमके दरिद्रके लिये तो सहज करुणामयी श्रीराधारानीकी मङ्गल-प्रेरणाके अतिरिक्त अन्य कोई साधन ही नहीं है, जिससे मैं उनके सम्बन्धमें कुछ कह-सुन सकूँ।

श्रीराधारानी भगवान् श्रीकृष्णका ही एक दूसरा स्वरूप हैं और उन्हींकी भाँति उनमें समस्त भगवदीय गुणोंका प्राकट्य है। प्रेमकी परमोच्च सीमास्वरूप महाभावस्वरूपा होनेपर भी वे नित्य-निरन्तर अपनेमें प्रेमका अभाव देखती हैं। अतएव उनका वह दिव्य प्रेम प्रतिपल—नित्य वर्द्धनशील है, वह कभी पूरा होता ही नहीं। वे नित्य परिवर्द्धनशील, नित्य नवायमान सौन्दर्य-माधुर्यका अगाध, अपरिसीम, अनन्त भंडार होनेपर भी अपनेमें कुरूपता देखकर कभी भी अपनेको प्रियतम श्यामसुन्दरके योग्य अनुभव नहीं करतीं और सदा सकुचाती रहती हैं। अनन्त-अचिन्त्य अनिर्वचनीय सहज दिव्य भगवत्स्वरूपा होनेपर भी वे अपनेको दोषागार मानकर लज्जाका अनुभव करती हैं। शिव-ब्रह्मादि देवगण, नारद-सनत्कुमार आदि मुनि, वशिष्ठ-व्यासादि महर्षि, याज्ञवल्क्य-शुकदेव आदि ज्ञानी, अनसूया-अरुन्धती आदि सती-पतिव्रता एवं ब्रह्मविद्या आदि प्रत्यक्ष ज्ञानमूर्ति देवियों आदिके द्वारा उपासित, आराधित, परम गौरवमयी, महान् महिमामयी, नित्य निर्मल प्रेमाकर-स्वरूपा होनेपर भी वे अपनेको गौरव-महिमा-विहीन और विकारी हृदय-सम्पन्न बतलाती हैं और नित्य सहज अनुगत होनेपर भी पुनः-पुनः गतिका अवलम्बन करती हैं। इस प्रकार उनमें नित्य निरन्तर अनन्त, अचिन्त्य निरतिशय परस्पर-विरोधी धर्मों एवं भावोंका विकास रहता है।

श्रीराधा और श्रीकृष्ण अभिन्न होनेपर भी विलक्षण प्रेम-सम्बन्धसे सम्बन्धित हैं। वे परस्पर प्रेमी भी हैं और

प्रेमास्पद भी। परंतु अधिकांशमें श्रीराधा ही आश्रयालम्बन-स्वरूप बनी हुई श्रीकृष्णकी आराधना करके उन्हें सुख पहुँचाती रहती हैं। श्रीराधामें अनन्त गुण हैं। उनके स्वरूप-गुणोंको यथार्थतः पूरा कोई नहीं जानता। फिर कोई बता तो कैसे सकता है। पर प्रेमी भक्तोंको उनके निम्नलिखित चौंसठ गुणोंकी विशेषरूपसे उपलब्धि हुई है और वे ये हैं—

अङ्ग अङ्ग अप्रतिम असित सौन्दर्य, अतुल माधुर्य महान।
व्य पवित्र अङ्ग-सौरभ, संतत शुचि अधर मधुर मुसकान॥
सुधावर्षिणी दृष्टियुत, चञ्चलता, वक्रता विशाल।
कृष्ण कच, सोह चन्द्रिका, वेणि-सुगुम्फित मालति-माल॥
कुमारता, सहज श्री-सुषमा; प्रियदर्शना, विलक्षण रूप।
सरलता, परम बुद्धिमत्ता, सेवा-रति, धैर्य अनूप॥
त्य विरह-कातरता, मिलनोत्कण्ठा, नित्य मिलन अनुभूति।
भिमानता, मान-रूपता, वामभावना, विमल विभूति॥
शीलता, शुचि विनम्रता, सर्वत्यागमयता अति पूत।
मयता, अति उदारता, कर्मकुशलता रस-सम्भूत॥
भाव, सौशील्य परम, चापल्य मधुर, गाम्भीर्य अपार।
वाद्य-शुचिनृत्य-कुशलता, ललित अनन्त कला आगार॥
गुण-वर्णन-मुखरा अति, मन मौन, नित्य उद्दीपित भाव।
सुख-कल्पना-शून्य सर्वथा, नित्य एक प्रियतम-सुख-चाव॥
प्रेम-प्रतिमा, पर निजमें नित्य प्रेमशून्यता-ज्ञान।
निवेदनमयता, पर है नहीं समर्पण-स्मृति-अभिमान॥
सहचरी-प्रेम-विवशता, सबमें गुण-महिमाका भान।
सुखमें सुखी सदा निज सुखका सहज त्याग निर्मान॥
प्रियता-सेवा सुखमय प्रियतम-सुख-सम्पादन-जन्य।
वशीकरण गुणगणमय, परम त्यागमय जीवन धन्य॥
स्नेह अति, प्रणय, मान शुचि, पञ्चम राग तथा अनुराग।
दुर्लभ भाव, प्रेम अष्टम अति महाभाव युत त्याग॥
सम्पन्न, इन्हींकी अगली शुभ परिणतिसे युक्त।
महिषी-प्रेयसिगणमें प्रमुख सर्व-अर्पण-संयुक्त॥
शता मधुर, नित्य अभिसार-प्रियता, प्रिय-स्मृति-लीन।
कुञ्जवासिनि, मधुभाषिणि, परमैश्वर्यमयी, शुचि दीन॥
मयी मधुकरी करती प्रिय-पद-कंज-मधुर-रस-पान।
अभिन्न प्रियतमा श्यामकी' एक अनन्य अहंका मान॥

१. प्रत्येक अङ्गमें अतुलनीय अपरिमित सौन्दर्य, २. अतुलनीय महान् माधुर्य, ३. दिव्य अङ्गोंमें पवित्र सुगन्ध, ४. अधरोंपर निरन्तर पवित्र मधुर मुसकान, ५. नेत्रोंकी सुधावर्षिणी दृष्टि, ६. नेत्रोंकी चञ्चलता, ७. विशाल नेत्रोंकी वक्रता, ८. लंबे काले केश, ९. सिरपर चन्द्रिका सुशोभित, १०. वेणीमें मालतीकी माला गुँथी हुई, ११. अङ्गोंकी सुकुमारता, १२. सहज श्री-शोभा, १३. देखनेमें अत्यन्त प्रियदर्शिता, १४. अलौकिक रूप-सौन्दर्य, १५. सहज सरलता, १६. परम बुद्धिमत्ता, १७. सेवामें प्रीति, १८. अनुपम धैर्य, १९. श्रीकृष्ण-विरह-जन्य नित्य कातरता, २०. श्रीकृष्णके प्रति मिलनोत्कण्ठा, २१. श्रीकृष्णके नित्य मिलनका अनुभव, २२. निरभिमानता, २३. मान, २४. वामभाव, २५. निर्मल वैभव, २६. विनयशीलता, २७. पवित्र नम्रता, २८. अत्यन्त पवित्र सर्वत्यागमयता, २९. करुणामयता, ३०. परम उदारता, ३१. प्रेमसे प्रादुर्भूत कार्यकुशलता, ३२. साधुभाव, ३३. परम सुशीलता, ३४. मधुर चपलता, ३५. अपार गम्भीरता, ३६. पवित्र गीत-वाद्य-नृत्य-कुशलता, ३७. अनन्त ललित कलाओंकी भंडार, ३८. प्रियतम श्रीकृष्णके गुण-वर्णनमें अत्यन्त मुखरता, ३९. मानसिक मौन, ४०. नित्य उद्दीप्त भाव, ४१. स्वसुखकी कल्पनाका सर्वथा अभाव, ४२. नित्य एकमात्र प्रियतमके सुखकी इच्छा, ४३. सहज प्रेम-प्रतिमारूपता, ४४. अपनेमें नित्य प्रेमके अभावका ज्ञान, ४५. आत्मनिवेदनमयता, ४६. समर्पणकी स्मृति और अभिमानका अभाव, ४७. सखी-सहचरियोंके प्रति प्रेमविवशता और उनमें गुण-महिमाके दर्शन, ४८. सखी-सहचरियोंके सुखमें नित्य सुखी रहना, ४९. अपने सुखका अभिमानरहित सहज त्याग, ५०. प्रियतमके सुख-सम्पादनके लिये सौतकी प्रियता और सेवामें सुखकी अनुभूति, ५१. प्रियतमको वशमें करनेवाले गुणोंका समूह, ५२. परम त्यागमय धन्य जीवन, ५३. रति, स्नेह, प्रणय, मान, राग,

अनुराग, भाव और महाभावरूप त्यागमय प्रेमका नित्य विकास, ५४. इन आठों भावोंकी अगली परिणति (मोदन-मादन आदि) की प्राप्ति, ५५. प्रियतम श्रीकृष्णकी पटरानियों और प्रेयसियोंमें सर्व-समर्पणयुत प्रमुखता, ५६. मधुर प्रेमविवशता, ५७. नित्य अभिसारप्रियता, ५८. प्रियतम श्रीकृष्णकी स्मृतिमें तल्लीनता, ५९. नव निकुञ्जमें निवास, ६०. मधुर भाषण, ६१. परम ऐश्वर्यमयता, ६२. पवित्र दैन्य, ६३. प्रियतम-पद-कमलके मधुर रसपानके लिये ममतामयी भ्रमरीरूपता, ६४. 'मैं श्रीश्यामसुन्दरकी अभिन्न प्रियतमा हूँ' एकमात्र ऐसा अनन्य अहंकार।

इन्हींके साथ-साथ श्रीकृष्णके प्रति उनके क्या भाव—सम्बन्ध हैं, नीचेके वर्णनसे उनका पता लगता है और गम्भीरतापूर्वक विचार करनेपर श्रीराधाके परम पवित्र प्रेममय हृदयके स्वरूपकी पवित्र झाँकीके दर्शन होते हैं।

कृष्णप्राणाधिका राधा कृष्णप्रेमविनोदिनी।
श्रीकृष्णाङ्गशुभध्यात्री कृष्णानन्दप्रदायिनी॥
कृष्णस्याह्लादिनी देवी कृष्णध्यानपरायणा।
कृष्णसम्मोहिनी नित्या कृष्णानन्दप्रवर्द्धिनी॥
कृष्णानन्दसदानन्दा कृष्णकेलिसुखास्पदा।
कृष्णप्रिया कृष्णकान्ता कृष्णसेवापरायणा॥
कृष्णप्रेमाब्धिशफरी कृष्णप्रेमतरङ्गिणी।
कृष्णचित्तहरा देवी कीर्तिदाकुलपद्मिनी॥
कृष्णमुखी हास्यमुखी सदा कृष्णकुतूहला।
कृष्णानुरागिणी धन्या किशोरी कृष्णवल्लभा॥
कृष्णकामा कृष्णवन्द्या कृष्णार्थे सर्वकामना।
कृष्णप्रेममयी राधा कल्याणी कृष्णमाधुरी॥
कृष्णस्योन्मादिनी काम्या कृष्णलीलाशिरोमणिः।
कृष्णसंजीवनी राधा कृष्णवक्षःस्थलस्थिता॥
कृष्णप्रेममदोन्मत्ता कृष्णसङ्गविलासिनी।
श्रीकृष्णरमणी राधा कृष्णप्रेम्णा कलङ्किनी॥
कृष्णप्रेमवती कर्त्री कृष्णभक्तिपरायणा।
श्रीकृष्णमहिषीश्रेष्ठा श्रीकृष्णाङ्गप्रियंकरी॥
कृष्णसंयुक्तकामेशी श्रीकृष्णप्रियवादिनी।
कृष्णशक्तिः काञ्चनाभा कृष्णा कृष्णप्रिया सती॥
कृष्णप्राणेश्वरी धीरा केलिकुञ्जनिवासिनी।
कृष्णप्राणाधिदेवी सा कृष्णानन्दप्रदायिनी॥
कृष्णप्रसाध्यमाना च कृष्णप्रेमपरायणा।
कृष्णचित्तस्थिता देवी श्रीकृष्णाङ्गसदारता॥

'श्रीराधा श्रीकृष्णको प्राणोंसे भी बढ़कर प्यारी हैं, कृष्ण-प्रेम ही उनके विनोद—मन-बहलावका साधन है। वे श्रीकृष्णके अङ्गोंका ही सदा शुभचिन्तन करती रहती हैं। श्रीकृष्णको आनन्द प्रदान करना ही उनका स्वभाव है और वे श्रीकृष्णको आह्लादित करती हैं। इतना ही नहीं, वे देवी श्रीकृष्णके ध्यानमें ही तत्पर रहती हैं। श्रीकृष्णका ध्यान ही उनकी सर्वश्रेष्ठ गति है। वे (सबके आकर्षक) श्रीकृष्णको भलीभाँति मोहित किये रहती हैं। वे सदा रहनेवाली—अविनाशिनी हैं और आनन्दरूपा श्रीकृष्णके आनन्दको कईगुना बढ़ा देती हैं। श्रीकृष्णके आनन्दमें ही वे सदा आनन्द मानती हैं, श्रीकृष्णके केलिसुखकी आधारभूता हैं। वे श्रीकृष्णकी प्यारी, श्रीकृष्णके द्वारा कमनीय और श्रीकृष्णकी सेवामें ही तत्पर रहनेवाली हैं। श्रीकृष्णके प्रेमरूपी पारावारमें विहार करनेवाली मछली हैं, श्रीकृष्णप्रेमकी तरङ्गिणी हैं। वे श्रीकृष्णके चित्तको चुरानेवाली देवी अपनी जननी कीर्तिदाके कुलको सौरभित करनेवाली कमलिनी हैं। उनका मुख सदा श्रीकृष्णकी ओर रहता है। उनके वदनपर हास्यकी रेखा सदा खेलती रहती है तथा श्रीकृष्ण ही सदा उनके कुतूहल—उत्कण्ठाके विषय बने रहते हैं। वे श्रीकृष्ण-विषयक अनुरागसे पूर्ण होनेके कारण धन्यातिधन्य हैं, नित्य किशोरी तथा श्रीकृष्णवल्लभा हैं। श्रीकृष्ण ही उनकी कामनाके एकमात्र विषय हैं। वे श्रीकृष्णकी ही वन्दनीया हैं और उनकी सम्पूर्ण कामनाएँ श्रीकृष्णके लिये—श्रीकृष्णको लेकर ही होती हैं। नहीं-नहीं, वे राधारानी कृष्णप्रेमकी जीती-जागती पुतली, कल्याणमयी

तथा कृष्णमाधुरीका मूर्तस्वरूप हैं । वे श्रीकृष्णको भी उन्मत्त बना देनेवाली हैं तथा श्रीकृष्णके लिये कामनाका विषय बनी रहती हैं और श्रीकृष्णलीलाकी मुकुटमणि हैं। तथा श्रीकृष्णके प्राणोंके लिये संजीवनी बूटी हैं और श्रीकृष्णके वक्षःस्थलमें निवास करती हैं । वे कृष्णप्रेमके नोंमें मतवाली हुई घूमती हैं और श्रीकृष्णके विलासमें त रहती हैं। वे श्रीराधा श्रीकृष्णको आनन्दित करती हैं और श्रीकृष्णप्रेमके कारण कलङ्किनी बनी रहती हैं । वे श्रीकृष्णप्रेमकी आश्रयभूता विधात्री तथा श्रीकृष्णकी भक्तिमें दा तत्पर रहती हैं । वे श्रीकृष्णकी पत्नियोंमें श्रेष्ठ तथा कृष्णके अङ्गोंका सदा प्रिय करनेवाली हैं। वे श्रीकृष्णसे दा संयुक्त रहनेवाली भगवती कामेश्वरी—त्रिपुरसुन्दरीका ही दूसरा रूप हैं तथा श्रीकृष्णके प्रति सदा मधुर वचन ती हैं। वे श्रीकृष्णकी ह्लादिनी शक्ति और सुवर्णकी-कान्तिसे युक्त हैं। कृष्णा—श्यामानामसे विख्यात कृष्णकी प्रेयसी एवं सतीशिरोमणि हैं । वे श्रीकृष्णके नोंकी स्वामिनी, धैर्यवती तथा केलिकुञ्जमें निवास नेवाली हैं। और तो क्या, वे श्रीकृष्णके प्राणोंकी दात्री एवं श्रीकृष्णको प्रचुर आनन्द देनेवाली हैं। वे देली स्वयं श्रीकृष्णके द्वारा सजायी जाती हैं, श्रीकृष्ण-में ही तत्पर रहती हैं, श्रीकृष्णके मनमें बसी रहती और श्रीकृष्णके ही मधुर मनोहर अङ्गोंमें सदा युक्त रहती हैं ।' अस्तु,

श्रीराधा स्वकीया थीं या परकीया, यह भी एक व्यर्थका प्रश्न है। जब श्रीकृष्ण और राधा स्वरूपतः नित्य भिन्न एक ही तत्त्व हैं, तब उनमें अपने-परायेकी कल्पना सी! जैसे भगवान् निराकार भी हैं, साकार भी हैं और उन दोनोंसे परे भी हैं, उसी प्रकार श्रीराधाजी भी कीया भी हैं, परकीया भी हैं और दोनोंसे परे भी हैं। वान् श्रीकृष्णने तो यहाँतक कहा है—

ये राधिकायां मयि केशवे हरौ
कुर्वन्ति भेदं कुधियो जना भुवि ।
ते कालसूत्रे प्रपतन्ति दुःखिता
रम्भोरु यावत् किल चन्द्रभास्करौ ॥

'इस पृथ्वीपर जो कुबुद्धि मानव राधिकामें और मुझ केशवमें—हरिमें भेद-बुद्धि करते हैं, वे जबतक चन्द्र-सूर्यका अस्तित्व है, तबतक कालसूत्र नामक नरकमें पड़े हुए दुःख भोगते रहते हैं ।'

अतएव स्वकीया-परकीया—जिस-किसी भी भावसे श्रीराधाकी आराधना करते हुए उन्हें श्रीकृष्णसे अभिन्न मानना चाहिये और उनकी समर्था रतिका समादर करते हुए यथासाध्य प्रेम-भावनाको जीवनमें उतारना चाहिये । रतिके तीन भेद माने गये हैं। १—साधारणी, २—समञ्जसा और ३—समर्था । द्वारकालीलामें महाभागा महिषियोंकी रति 'साधारणी' मानी गयी है; क्योंकि उनमें स्वाभाविक ही गृहस्थ-धर्मके अनुसार संतानके लालन-पालनकी आशा और आत्म-सुखकी आकाङ्क्षा भी थी । श्रीकृष्णको सुख देने और उनसे स्वयं सुख पानेकी आकाङ्क्षाके अतिरिक्त अन्य किसी आकाङ्क्षाका जिसमें अभाव होता है, ऐसा जो समरस विलास है, उसे 'समञ्जसा-रति' कहते हैं और जहाँ स्वसुख-वाञ्छाका सर्वथा अभाव है, उसे 'समर्था रति' कहा गया है । समर्था रतिकी प्रतीकरूपा श्रीगोपाङ्गनाएँ हैं और श्रीराधाजी उनमें सर्वप्रधान हैं। वैकुण्ठादि दिव्य परमधामोंकी भगवत्स्वरूपा लक्ष्मी आदि महादेवियाँ यद्यपि श्रीराधासे अभिन्न हैं, तथापि प्रेम-राज्यमें उनकी रतिकी भी श्रीराधाकी रतिसे तुलना नहीं होती । द्वारकाकी पट्टमहिषियोंके सम्बन्धमें तो ऐसी बहुत-सी कथाएँ आती हैं, जिनसे वृन्दावनीय श्रीगोपाङ्गनाओंकी रतिका श्रेष्ठत्व सिद्ध हुआ है । एक कथा है—

'एक बार द्वारकाकी सारी पटरानियाँ द्वारकानाथ भगवान् श्यामसुन्दरके साथ सिद्धाश्रममें पधारीं। पटरानियाँ श्रीकृष्णके द्वारा श्रीराधिका और व्रजगोपियोंके सौन्दर्य, माधुर्य, त्याग तथा प्रेमका प्रभाव सुन चुकी थीं । इसलिये

उनमें बड़ी लालसा थी कि वे श्रीराधारानी आदिके दर्शन करें।

'पटरानियोंमें सत्यभामा आदिने पहले तो अपने सौन्दर्यका बड़ा गर्व किया, पर श्रीराधा आदिका दर्शन करते ही उन सबको मूर्छा हो गयी। तब उनका गर्व गल गया। तत्पश्चात् परस्पर प्रेम-मिलन हुआ। परस्पर बड़े प्रेमकी चर्चा हुई। फिर श्रीकृष्णके आज्ञानुसार रुक्मिणीजीने स्वर्णपात्रमें शर्करायुक्त उष्ण दुग्ध बड़ी प्रीतिके साथ श्रीराधाजीको पिलाया। तदनन्तर सब अपने-अपने स्थानोंको पधार गयीं। रात्रिको भगवान् श्रीकृष्णके समीप रुक्मिणीजी आयीं और शयनके समय अपने कोमल कर-पल्लवोंके द्वारा सदाकी भाँति वे स्वामी श्रीकृष्णका पाद-संवाहन करने लगीं। रुक्मिणीजीने आश्चर्यसे देखा—भगवान्के श्रीचरण-तलमें फफोले पड़े हुए हैं। रुक्मिणीके बहुत पूछनेपर भगवान्ने कहा—

श्रीराधिकाया हृदयारविन्दे
पादारविन्दं हि विराजते मे।
अहर्निशं प्रश्रयपाशबद्धं
लवं लवार्द्धं न चलत्यतीव॥
अद्योष्णदुग्धप्रतिपानतोऽङ्घ्रा-
वुच्छालकास्ते मम प्रोच्छलन्ति।
मन्दोष्णमेवं हि न दत्तमस्यै
युष्माभिरुष्णं तु पयः प्रदत्तम्॥

'रुक्मिणी! राधिकाके हृदयकमलमें मेरे पद-कमल नित्य विराजित रहते हैं। उनके प्रेमपाशमें बँधे हुए मेरे चरण-कमल एक आधे लवके लिये भी वहाँसे नहीं हटते। आज राधिकाने बहुत गरम दूध पी लिया था, इसीसे मेरे पद-कमलोंमें फफोले पड़ गये हैं। तुमने अधिक गरम दूध दे दिया, उसीका यह फल है।' यद्यपि राधाके प्रेमका यह एक बहुत ही स्थूल नगण्य-सा लक्षण है, तथापि भगवान्के इन वचनोंको सुनकर रुक्मिणी आदि परमपवित्र देवी-शिरोमणियोंका दूषणरहित दर्प तत्काल दलित हो गया। उसी अवसरपर पटरानियोंके आग्रहसे श्रीराधा आदि समस्त गोपिकाओंको साथ ले भगवान्ने रास भी किया और इससे श्रीसत्यभामा आदिको फिर गर्व हो गया कि हमारा आजका यह रास वृन्दावनके रासकी अपेक्षा बड़े महत्त्वका हुआ होगा। पर श्रीकृष्णके कहनेपर जब श्रीराधाजीसे उनकी बातचीत हुई और श्रीराधाने वृन्दावनीय रासके सौन्दर्य और प्रभावका वर्णन किया, तब तो समस्त पटरानियोंको यह अच्छी तरहसे भान हो गया कि भगवान् श्रीकृष्णके पवित्र प्रेममें श्रीराधा और गोपाङ्गनाओंकी तुलना किसीके साथ नहीं हो सकती। अतएव श्रीराधाका महाभावमय प्रेम सभीके लिये आदर्श है। इसीसे बहुत बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंने, ब्रह्मर्षियोंने, वेदकी ऋचाओंने और ब्रह्मविद्या आदिने भी तीव्रतम तपस्या करके गोपीप्रेमको प्राप्त करनेका प्रयास करके सफलता प्राप्त की थी। आज उन्हीं श्रीराधाके महान् प्राकट्य-महोत्सवका शुभ दिन है। आज हमें अभिन्नस्वरूप उन श्रीराधा और माधवके चरणोंमें प्रेम प्राप्त करनेका निश्चय करना चाहिये। भगवान् श्रीराधा-माधवका प्रेम प्राप्त करनेके लिये श्रीराधाकी आराधना ही प्रधान साधन है। भगवान् शंकरके पूछनेपर स्वयं श्रीकृष्णने उनसे कहा था—

यो मामेव प्रपन्नश्च मत्प्रियां न महेश्वर।
न कदापि स चाप्नोति मामेवं ते मयोदितम्॥
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन मत्प्रियां शरणं व्रजेत्।
आश्रित्य मत्प्रियां रुद्र मां वशीकर्तुमर्हसि॥
इदं रहस्यं परमं मया ते परिकीर्तितम्।
त्वयाप्येतन्महादेव गोपनीयं प्रयत्नतः॥

'श्रीमहादेव! जो मेरे शरण होते हैं, पर मेरी प्रिया श्रीराधाके नहीं होते, वे वास्तवमें मुझे प्राप्त नहीं करते। अतएव सब प्रकारसे मेरी प्रिया श्रीराधाके शरणापन्न होकर उनकी आराधना करनी चाहिये। रुद्र! यदि मुझे वशमें करना चाहते हो तो मेरी प्रिया राधाके शरणापन्न होओ—यह मैं तुमको गुप्त रहस्य बतलाता हूँ।'

आराधनामें एक ही भावकी विशेषता है कि आराधक

सब प्रकारसे एक ही लक्ष्यको सामने रखकर साधनामें प्रवृत्त हो। भगवान् शंकरने कहा है—

सुचिरं प्रोषिते कान्ते यथा पतिपरायणा।
प्रियानुरागिणी दीना तस्य सङ्गैककाङ्क्षिणी॥
तद्गुणान् भावयेन्नित्यं गायत्यभिशृणोति च।
श्रीकृष्णगुणलीलायाः स्मरणादि तथाऽऽचरेत्॥

'जैसे पतिपरायणा रमणी दीर्घकालसे विदेश गये हुए एकमात्र पतिमें ही अनुरक्त रहती है, केवल पतिके ही सङ्गकी आकाङ्क्षा करती हुई दीनभावसे सदा उसीके गुणोंका चिन्तन, उसीका गुणगान और उसीका गुण-श्रवण करती रहती है, उसी प्रकार साधकको श्रीकृष्णमें आसक्तचित्त होकर श्रीकृष्णका नाम-गुण-लीलादिका ही स्मरण, गान तथा श्रवण करते रहना चाहिये।'

श्रीराधाकी आराधनाके दो प्रधान साधन हैं—(१) श्रीराधाके परम प्रियतम श्रीकृष्णकी सुख-साधना और (२) किसी सिद्धा मञ्जरीके अनुगत होकर मञ्जरी-भावसे श्रीराधा-माधवकी मधुर विशुद्ध सेवामय उपासना।

राधाराधन के परम हैं दो सुन्दर रूप।
दोऊ परम अमोघ सुभ, दोऊ श्रेष्ठ अनूप॥
प्रियतम प्रभु श्रीकृष्ण कौ सुख ही राधाभाव।
राधा-मन में बढ़त नित प्रियतम सुख कौ चाव॥
तिन की सेवा में निरत रहे जो जन मतिमान।
राधा तासौं सदा ही पावै मोद महान॥
राधा-सुख कौ दूसरौ यह साधन बलवान।
मंजरि बनि सेवा करै ससुद जुगल रसखान॥
निज सुख कौ रंचक नहीं, कितहुँ कल्पना-लेस।
सुख हित लाड़लि-लाल के सहै समोद कलेस॥
सेवा सकल निकुंज की करै सदा अविकार।
संयत इंद्रिय-मन सदा, बस, सेवा अधिकार॥
लखि निकुंज-लीला सुखी स्यामा-स्याम ललाम।
लहै परम सुख, बढ़ै सुचि, सेवा-रुचि अभिराम॥
काउ मंजरी कौ रहै अनुगत सदा सचेत।
मंजरि सम सेवा करै ताकौ पाइ सँकेत॥

जो वास्तवमें ही श्रीराधा-माधवकी प्रेम-प्राप्तिके मार्गपर चलना चाहते हों, उन्हें अपनी रुचि एवं अधिकारके अनुसार इन दोनोंमेंसे किसी एक साधनाका आश्रय लेना चाहिये। इनमें श्रीकृष्णकी उपासनाके लिये श्रीराधाकी उपासना और श्रीराधाकी उपासनाके लिये श्रीकृष्णकी उपासना अपेक्षित है। वे एक-दूसरेकी उपासनामें ही अपनी उपासना मानकर परम प्रसन्न होते हैं।

अन्तमें हम श्रीराधारानीसे प्रार्थना करें—

दुराराध्यमाराध्य कृष्णं वशे त्वं
महाप्रेमपूरेण राधाभिधाभूः।
स्वयं नामकृत्या हरिप्रेम यच्छ
प्रपन्नाय मे कृष्णरूपे समक्षम्॥
मुकुन्दस्त्वया प्रेमदोरेण बद्धः
पतङ्गो यथा त्वामनुभ्राम्यमाणः।
उपक्रीडयन् हार्दमेवानुगच्छन्
कृपा वर्तते कारयातो मयेष्टिम्॥

'श्रीराधे! जिनकी आराधना कठिन है, उन श्रीकृष्णकी भी आराधना करके तुमने अपने महान् प्रेमसिन्धुकी बाढ़से उन्हें वशमें कर लिया। श्रीकृष्णकी आराधनाके ही कारण तुम राधा-नामसे विख्यात हुई। श्रीकृष्णस्वरूपे! अपना यह नामकरण स्वयं तुमने किया है, इससे अपने सम्मुख आये हुए मुझ शरणागतको श्रीहरिका प्रेम प्रदान करो।

'तुम्हारी प्रेमडोरमें बँधे हुए भगवान् श्रीकृष्ण पतंगकी भाँति सदा तुम्हारे आस-पास ही चक्कर लगाते रहते हैं, हार्दिक प्रेमका अनुसरण करके तुम्हारे पास ही रहते और क्रीडा करते हैं। देवि! तुम्हारी कृपा सबपर है, अतः मेरेद्वारा अपनी आराधना-सेवा करवाओ।'

बोलो श्रीश्रीराधा-माधवकी जय!!

धर्म, सम्प्रदाय, सदाचार और ईश्वर

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

गीताप्रेस-जैसी एक-दो सच्ची धार्मिक संस्थाओंको छोड़ दिया जाय तो आजके विद्यालय तथा सभी भौतिकवादी प्लेटफार्म केवल अर्थ-कामपरायणता एवं खर्चीले तथा विलासी जीवनकी ही शिक्षा देते दीखते हैं । इससे सभी जगह चोरी, डाका, हत्या आदि भीषण पापोंकी भरमार दीखती है । अभी एक दिन कई पत्रोंमें यह समाचार छपा था कि कुछ डाकुओंने एक छोटे बालककी गाँवके सामने लाकर इसलिये हत्या कर दी कि उसका गरीब पिता उनकी माँगके अनुसार १५००) की जगह कुल ५००) ही दे सका था । धर्म-निरपेक्षताके, पता नहीं, ऐसे परिणाम आये दिन कितने होते हैं !

सम्प्रदाय

श्रेष्ठ अर्थवाची ‘सम्’ उपसर्ग, प्रकृष्ट अर्थवाचक ‘प्र’ उपसर्ग, ‘दा’ धातु और ‘घञ्’ प्रत्यय लगानेसे ‘सम्प्रदाय’ शब्द बनता है । इसमें बुरे भावका कोई गन्धतक नहीं है । उद्योतकरने न्यायवार्तिकके आरम्भमें सम्प्रदायकी परिभाषा इस प्रकार की है—**‘तत्र सम्प्रदायो नाम शिष्योपाध्यायसम्बन्धस्याविच्छेदेन शास्त्रप्राप्तिः ।’** अमरकोषके व्याख्याता भरत, भानुजिदीक्षित, क्षीरस्वामी आदिने ‘गुरुपरम्परागत प्राप्त सदुपदेश’ तथा ‘शिष्टपरम्परापरिगृहीतावतीर्णोपदेश’ को ‘सम्प्रदाय’ कहा है ।* पहले ‘सम्प्रदायविहीनता’ गाली थी और ‘सम्प्रदायविद्’ एक अत्यन्त श्रेष्ठ विशेषण । शंकराचार्य, मधुसूदन आदि अपने परम गुरुओंको ‘सम्प्रदायविद्’ कहते हैं—बृहदारण्यकभाष्य २ । १ । २०, माण्डूक्यकारिका ३ । ४१ के भाष्य आदिमें शंकराचार्यने गौडपादको सम्प्रदायविद् कहा है—‘अत्र च **सम्प्रदायविदः आख्यायिकां सम्प्रचक्षते ।’** (शां० भा०) **अत्र द्रविडाचार्य (गौडपादाचार्य) सम्मतिमाह सम्प्रदायविद्** इति’ (आनन्दगिरिव्याख्या)। मधुसूदन सरस्वती भी गीता ६ । २३ की व्याख्यामें ऐसा ही लिखते हैं । पद्मपुराण, गौतमीतन्त्र, शक्तिसंगमतन्त्र आदिमें सम्प्रदायहीनकी बड़ी निन्दा है । कहते हैं ऐसे लोगोंको मन्त्रसिद्धि नहीं मिलती—

> **सम्प्रदायविहीना ये मन्त्रास्ते निष्फलाः स्मृताः ।**
> **साधनौघैर्न सिध्यन्ति कालकोटिशतैरपि ।**
> **सम्प्रदायपरिच्छिन्नं सदा कुर्याद् गुरुः प्रिये ।**
> **देवास्तमेव शंसन्ति पारम्पर्यपुरस्सरम् ॥**

(कुलार्णव, तन्त्रसार, दीक्षातत्त्व, पद्म, गौतमी, शक्ति सं० आदि)

आचार्योंकी दृष्टिमें सम्प्रदायहीन मूर्खवत् उपेक्षणीय है, चाहे वह भारी विद्वान् ही क्यों न हो—**‘तस्मादसम्प्रदायवित् सर्वशास्त्रविदपि मूर्खवदेवोपेक्षणीयः’** (गीताशांकरभा० १३।२)। उपदेशसाहस्री (पृ० २८१, ३२३, १० आदि गुजराती प्रे० का संस्क०) तथा श्रीभाष्य आदिमें ‘सम्प्रदाय’ का बड़ा महत्त्व प्रदर्शित है । इसी दृष्टिसे ‘कात्यायनश्रौतसूत्र’ का ‘सम्प्रदायभाष्य’, काव्यप्रकाशकी ‘सम्प्रदायप्रकाशिका’ टीका तथा ‘रीतिसम्प्रदाय’, ‘ध्वनिसम्प्रदाय’ आदि सब आदरणीय तथा सुन्दर नाम ही रक्खे गये थे । पर आज ‘साम्प्रदायिकता’ को सबसे बड़ा पाप मान लिया गया है । यह संस्कृतभाषा तथा भारतीय संस्कृतिका भारी तिरस्कार नहीं तो और क्या है ? और जो भारतीय संस्कृति तथा संस्कृत-साहित्यको तिरस्कृत तथा पददलितकर अपनेको देशसेवक मान रहे हैं, भगवान् उन्हें सुबुद्धि दें; क्योंकि किसी देशकी संस्कृति तथा प्राचीन सत्साहित्यादिका गौरव, इतिहासादिकी प्रतिष्ठा, श्रेष्ठ भाषा, रीति-रिवाजोंके प्रचलन आदि ही वास्तविक राष्ट्रीयता और देश हैं । इनकी ही सेवा वास्तविक देशसेवा है । जो कहते हैं कि हम तो इस प्रकार देशसेवा नहीं, मानवताकी सेवा कर रहे हैं, वास्तवमें वे भी दयनीय हैं; क्योंकि धर्म, सम्प्रदाय, सदाचार और सबकी अन्तरतम आत्मा परमेश्वर और अध्यात्मकी हत्या कर देनेपर मानवता नामकी कोई भी

---

* ‘शंकरदिग्विजय’ पृष्ठ १८४ (आनन्दा० स० ५।१०४) के ‘साम्प्रदायिक पराशरपुत्र’ आदि श्लोककी ‘लक्ष्मी’ तथा ‘डिण्डिम’ टीकाओंमें सम्प्रदाय शब्दकी बहुत बड़ी व्याख्याएँ हैं । उनका संक्षेप है—‘प्रकृष्टो निरुपमो यो दायः पितृधनं ‘त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसि’ इति श्रुतेः पितृशब्दितसद्गुरोर्धनमिव सर्वस्वीभूतं ··· ··· ज्ञानमेव । तस्य प्रकृष्टत्वं ह्यप्रतिबद्धत्वेन सद्यः फलजनकत्वान्निरुपमत्वमेव । स सम्यगपरोक्षो येनेश्वरादिगुरुपारम्पर्येण स सम्प्रदायः । तत्र भवः साम्प्रदायिकः ।

वस्तु शेष नहीं रह जाती। वह तो दानवतासे भी हीन अवस्था होगी।

सदाचार

यों तो 'श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः···साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्' आदिसे सदाचार भी 'धर्म' के अन्तर्गत ही है और उससे भिन्न वस्तु नहीं है, तथापि आज जिन्हें शास्त्रोंमें आस्था नहीं, वे इसे भिन्न मानकर भी यदि इसको कुछ आदर दें तो उत्तम ही है। 'सदाचारका अर्थ सत्पुरुषोंका आचार है।' पर सत्पुरुष वे ही हैं; जो शास्त्रोक्त धर्मका पालन करते हों—

शिष्टा ये श्रुतिसम्मताः।
के शिष्टा ये सदाचाराः सदाचाराश्च तत्कृताः।
इतीतरेतराधीननिर्णयत्वादनिर्णयः ॥

इत्यादि (मीमांसा० १।३।७ पर श्लोकवार्तिक*)

इस प्रकार भी परोपकार, त्याग, सचाई, ईमानदारी, उदारता, क्षमा, सरलता, साधुता, निश्छलता आदि ही सदाचारमें आते हैं, जो 'धर्म' से अलग नहीं हैं।

नारायण-उपनिषद्में इस धर्मरूपी सदाचारपर ही संसारको टिका बतलाया है। दुनिया सदाचारीपर ही विश्वास करती है। उसीके पास जाती है, अतः सदाचारपरायण होना चाहिये, किंतु वास्तवमें धर्मका अविरोधी ही सदाचार होता है—

शिष्टं यावच्छ्रुतिस्मृत्योस्तेन यन्न विरुध्यते।
तच्छिष्टाचरणं धर्मे प्रमाणत्वेन गम्यते ॥
यदि शिष्टस्य कोपः स्याद् विरुध्येत प्रमाणता।
तदकोपात्तु नाचारप्रमाणत्वं विरुध्यते ॥

(मीमांसा १।३।४।)

—आदिके तन्त्रवार्तिकमें श्रुति-स्मृत्युक्त धर्मसे अविरुद्ध होनेके कारण ही सदाचारको प्रमाण माना है। अन्यथा आचार प्रमाणकोटिमें आता ही नहीं। 'श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः। तदलाभे शिष्टाचारः प्रमाणम्।' (वशिष्ठ १।३)

स्मृतेर्वेदविरोधे तु परित्यागो यथा भवेत्।
तथैव लौकिकं वाक्यं स्मृतिबाधे परित्यजेत् ॥

(विधानपारिजात)

—आदिके अनुसार भी धर्म ही श्रेष्ठ सदाचार है। इसीलिये गीताचार्य भगवान् श्रीकृष्णने 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः'–धर्मपालनमें मरणको भी परम कल्याणकर ही बतलाया है।

संस्कृतभाषा और सत्साहित्य

भाषाकी दृष्टिसे संस्कृत शुद्ध, पवित्र; साधु तथा विश्वकी श्रेष्ठतम भाषा है। पर आज इसकी बड़ी उपेक्षा है, यद्यपि अन्तर्हृदयमें इसकी महत्ता सभी मानते हैं। न जाननेसे ही लोग इससे द्वेष तथा तिरस्कार करते हैं। उपनिषद्, दर्शन, योगवाशिष्ठ, वाल्मीकि-रामायण, महाभारत, पुराण आदि सत्साहित्यका विशेष प्रचार तथा अध्ययन-अध्यापन होना चाहिये। इससे सदाचारके प्रसारमें तथा प्रजाके कल्याणमें जो सहायता मिली थी और मिलेगी, वह शासन-कानून आदिसे नहीं मिल सकती। सत्साहित्यके ज्ञानसे बिना बाह्य सुखके भी प्राणी सर्वोत्तम ब्रह्मसुख किं वा स्वाराज्य-पदपर सदाके लिये आसीन हो जाता है। अतः संस्कृत-साहित्य, इसके टीकासाहित्य आदिके विशेष प्रयत्नसे प्रकाशन, प्रचार आदिपर ध्यान देना चाहिये। तथा जगह-जगह कथा, प्रवचन आदिका भी प्रबन्ध होना चाहिये। इससे सदाचार, सद्विचार, सद्भावनाके प्रचारमें सहायता मिलेगी।

ईश्वर

वास्तवमें सभी सद्भावनाओं तथा लोकके कल्याणका बीज परमेश्वर ही है। उसीके भयसे प्रजा पाप नहीं करती। वह सदा सबको देखता है, यह समझकर प्राणी एकान्तमें भी कोई गलत काम नहीं करना चाहता। पर आज लोग उसीका अपलाप करके अपनी काबिलियत प्रकट करना चाहते हैं; पर इससे बढ़कर अज्ञान क्या होगा? सदाचार तथा ईश्वरको सभी धर्मके लोग मानते हैं। उसका सांनिध्य भी सभी प्रकारसे सिद्ध है। आराधना करनेवालोंकी वह सभी प्रकारसे सहायता करता है। **'अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्'** (वेदान्तसूत्र ३।२।६।२४)—इस ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें भगवान्

---

* मीमांसा १।३।७ तथा गौतमधर्मसूत्र १।१।२–५ में केवल वेद तथा स्मृतिको ही प्रमाण माना है। अनेक उदाहरणोंको दिखलाकर महापुरुषोंके केवल धर्माचरणको ही ग्राह्य माना है। यही बात 'यान्यस्माकं सुचरितानि' आदि प्रसिद्ध उपनिषद्-वचनमें तथा 'तेषां यत्स्ववचोयुक्तम्' आदि भागवतवचनमें भी बतलायी गयी है।

शंकराचार्य लिखते हैं कि भक्ति, ध्यान, प्रणिधान आदि अनुष्ठानोंसे योगिजन उस परमात्माका दर्शन—साक्षात्कार करते हैं । 'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः।' (बृहदारण्यक उप० ३।१।८) आदि उपनिषद्-वचन तथा—

यं विनिद्रा विनिश्वासाः संतुष्टाः संयतेन्द्रियाः ।
ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानास्तस्मै योगात्मने नमः ॥
(महाभा० शा० पर्व ४७।५४, ४०।८७, ब्रह्मपुराण २८४।६९)

—आदि पुराणवचनोंका भी यही भाव है ।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥'
(गीता ११।५४)

—आदि गीता-वचनोंसे भी यही अभिप्रेत है । उस परमेश्वरकी कृपा साधारण वस्तु नहीं है । यद्यपि उसकी कृपा सामान्यतया सर्वत्र सभी प्राणियोंपर ही है, तथापि जो उसकी परवा न करके पापाचरणमें रत रहते हैं, वे नरक और क्लेशके भाजन होते हैं । इसमें कोई संदेह नहीं—

जगत्त्रयत्राणविधौ धृतव्रतं
तवाङ्घ्रिराजीवमपास्य ये जनाः ।
शरण्यमन्यन्मृगयन्ति यान्ति ते
नितान्तमीशान कृतान्तदेहलीम् ॥
(करुणालहरी ५)

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥
……ततो यान्त्यधमां गतिम् ।
(गीता १६ । १९-२०)

अतः कल्याणकामी व्यक्ति या राष्ट्रको उसकी विशेषरूपसे आराधना करनी चाहिये । संतोंकी दृष्टिमें तो इस असार संसारमें एकमात्र वह प्रभु ही सार है । उसके चरणोंकी शरण जाना तथा भजन ही सभी सुखोंका मूल है । उसके चरणोंकी विस्मृति मानो विपत्तियोंको निमन्त्रण देना है । संतोंके वे भगवान् ही सब कुछ हैं । उनके सभी मित्र-सम्बन्धोंका पर्यवसान एकमात्र उन परमात्मामें ही हो जाता है । जो उस प्रभुको छोड़कर किसी भी दूसरेको मित्र-कलत्र-पुत्र-प्रियतम नहीं मानते, वे ही संत कहे जाते हैं । ऐसे संतोंका ही आचार सदाचार या धर्मादि कहा जाता है—

'समुझब कहब करब तुम्ह जोई । धर्मसार जग होइहि सोई ॥'

उनके ही वचन, आचरण आदिसे विश्वका कल्याण होता है । अतः निरन्तर उन्हें प्रसन्नकर सच्चा साधु, संत, महात्मा वनकर विश्वमें धर्म-सदाचारादिका प्रचार-प्रसार करते हुए अपना तथा विश्वका वास्तविक कल्याण करना चाहिये । धन, भोग, राज्य-पद आदिकी मिथ्या लिप्सा और मोहमें पड़कर तो हमलोग मानो आत्मनाश तथा विश्वनाशका ही प्रयत्न कर रहे हैं । अतः सच्चे संत एवं साधु वननेकी चेष्टा करनी चाहिये—योगी, राजा, राष्ट्रपति अथवा मन्त्री आदि वननेकी कदापि नहीं । इसीमें अपना तथा जगत्का वास्तविक हित निहित है । महात्मा गांधीका भी प्रायः यही आदर्श था। आज उसकी उपेक्षा करनेसे तथा अर्थकी महत्ता एवं पदोंके मोह आदिके कारण ही देशमें भीषण अशान्ति तथा उपद्रव व्याप्त हैं ।

पत्र-पत्रिकाओंको भी सदाचार तथा ज्ञानकी चर्चा करनी चाहिये । पर वे प्रायः सदा धनियों तथा पदप्राप्त व्यक्तियोंकी ही चर्चा करते हैं । ईश्वरका तो वे नाम भी लेना अपनी वेइज्जती मानते हैं । इससे उनका सारा प्रयत्न व्यर्थ तथा विपरीत-परिणामोत्पादक बन जाता है । यद्यपि वे अपनेको देश-सेवारत ही मानते हैं, तथापि वे धर्म, सदाचार, ज्ञान, भक्तिकी चर्चामें अपनी बड़ी भारी तौहीन मानते हैं । विचारसे भागना तथा अदूरदर्शिता ही इसका प्रमुख कारण है । यदि उन्हें सच्चा विश्वहित करना है तो उन्हें भी सच्ची बुद्धिके सहारे ईश्वर, सदाचार, त्याग, परोपकारादि धर्मोंकी चर्चामें ही विशेष योगदान करना चाहिये। आशा है, देशके नेतागण तथा विद्वान् पुरुष इसपर विचार करनेकी कृपा करेंगे ।

परम योग

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

'परो हि योगो मनसः समाधिः ।'

—भागवत

हिमालयके दुर्गम क्षेत्रमें नेपाल राज्यके मुक्तिनाथसे और आगे दामोदरकुण्ड (नकली नहीं, असली दामोदरकुण्ड) के समीप कुछ योगसिद्ध साधकोंका समुदाय एकत्र था । बड़ी-बड़ी कृष्ण-कपिश जटाएँ, सुगठित प्रलम्ब देह, भस्मभूषित सर्वाङ्ग और फटे कानोंमें मोटी योगमुद्रा । यह सिद्ध योगीश्वर गुरु गोरखनाथका शिष्यमण्डल था और उनके सिद्धेश्वर गुरु आज उनके साथ थे ।

'भगवान् दत्तात्रेय आज सोमवती अमावस्याका स्नान दामोदरकुण्डपर करनेवाले हैं ।' सर्वज्ञ योगियोंके सन्देश-विनिमयके लिये कोई चर अथवा स्थूल माध्यम तो आवश्यक नहीं है । कल सायंकाल गुरुको ध्यानमें भगवान् दत्तका संकल्प ज्ञात हो गया था और अपने प्रमुख शिष्योंके साथ आज उषःकालमें उन्होंने दामोदरकुण्डके हिमशीतल जलमें डुबकियाँ लगायीं । भस्मोद्धूलन हो चुका सबका और अब तो सभी हिममुक्त शिलाओंपर बैठे उन सुरासुरवन्दित श्री-अत्रिनन्दनके आगमनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं ।

यह हिमक्षेत्र—तृण भी नहीं होता यहाँ । नीचे जमे हुए उज्ज्वल हिममें यत्र-तत्र कुछ शिलाएँ हैं और ऊपर नील गगन है । चारों ओरसे रजतकान्त शिखरोंसे घिरे इस क्षेत्रमें दामोदरकुण्डका जल पारदर्शी हिमके नीचे स्थिर-शान्त पड़ा है । भगवान् भास्करके दर्शन हुए नहीं; किंतु उनकी क्षितिजसे उठती किरणोंने हिमके इस साम्राज्यपर गुलाल बिखेरना प्रारम्भ कर दिया है ।

केवल एक शिलापर मृगचर्म बिछा है । अपेक्षाकृत कुछ ऊँची शिला है वह । उसपर जो प्रलम्बबाहु, उन्नतभाल, कमललोचन तेजोमय जटाधारी हैं—इन बाबा गोरखनाथका भी क्या परिचय देना आवश्यक है ?

सभी केवल कौपीन-परिधान हैं । योगियोंकी सिद्ध कायाको शैत्य स्पर्श करनेमें असमर्थ है । एक शिलापर कमलपत्रपर दूर्वादल, कमलपुष्प, कुछ फल तथा नवनिर्मित दुग्धोज्ज्वल भस्म है । यत्नपूर्वक यह अर्चन-सामग्री दूरसे लायी गयी है इस अवसरके लिये ।

दिशाएँ आलोकसे भर गयीं । यह ठीक है कि भुवनभास्करकी किरणोंने शिखरोंको स्वर्ण-स्नान करा दिया है; किंतु अम्बरसे यह जो कोटि-कोटि सूर्यसम अपार प्रकाश-पुञ्ज सीधे उतरता आता है । सहसा एक साथ ससम्भ्रम उठ खड़ा हुआ योगियोंका समुदाय और गुरु गोरखनाथने अञ्जलिमें कमलपुष्प उठाये । एक साथ उन कण्ठोंसे परावाणी गूँजी—'अलख ! दत्त गुरु दाता !'

× × ×

'आपके समुदायकी साधना अव्याहत है ?' गुरुदत्तने कुशल-प्रश्न किया । उन्होंने स्नान कर लिया था और प्रशस्त शिलातलपर व्याघ्राम्बर सनाथ हो गया था उनका आसन बनकर । पादपद्मोंमें अर्चाके कमलदल पड़े थे । वाम भाग योगकक्षके सहारे तनिक झुक गया था । विभूति-भूषित भाल और रुद्राक्षकी मालाओंकी शोभा उस कर्पूर-गौर श्रीअङ्गके कण्ठ, भुजा, मणिबन्धमें । दूरसे हिमशिलाओंके टूटने-गिरनेका मन्दस्वर आने लगा था; किंतु जहाँ भुवन-वन्दित योगियोंका समुदाय एकत्र हो उनकी शान्तिमें व्याघात

बननेका साहस प्रकृति कैसे कर सकती है। वायुके पद भी वहाँ शिथिल-संयमित हो जाते हैं।

'नित्य पूर्णकाम भुवनेश्वर प्रभु जब स्वयं साधकोंके साफल्यके लिये सप्रयत्न हैं, इसी मङ्गल विधानके लिये उन्होंने यह योगेश्वरावतार अपना रक्खा है, विघ्न कैसे किसीकी साधनामें व्याघात बन सकते हैं; किंतु–, गुरु गोरखनाथने अञ्जलि बाँधकर मस्तक झुकाया—'जब इन पुण्य चरणोंके दर्शनका सौभाग्य मिला है, सभी आदेश एवं ज्ञानोपदेशसे कृतार्थ होनेकी लालसा रखते हैं!'

'मैं देखना चाहता हूँ पहले आपके साधकोंकी साधना-परिपाटी!' भगवान्ने अपना अभिप्राय व्यक्त किया।

'जैसी आज्ञा!' गुरु गोरखनाथके संकेतपर एक तरुण योगी आगे आये। उन्होंने आसन स्थिर किया, आधे क्षणमें प्रत्याहार ध्यानमें और ध्यान समाधिकी भूमिमें पहुँचा। स्थिर अर्धोन्मीलित दृग्! भगवान् दत्तका दक्षिण कर उठा और योगी सविकल्पसे निर्विकल्पमें पहुँचनेके स्थानपर बाह्यचेतनामें आ गया।

'मनुष्य सदा समाधिमें स्थित नहीं रह सकता!' भगवान्के शब्दोंने एक सन्देश दिया—'निर्विकल्पकी शान्ति सामान्य जीवनमें अवतरित करो वत्स! अपने गुरुदेवके आदर्शको अपनानेका प्रयत्न करो!'

'सोऽहं' दीर्घ घण्टा-निनाद। दूसरे साधकने वह स्थान लिया पहलेके उठ जानेपर और उनका प्रगाढ़ संयम—अनाहत उनके अन्तःसे बाह्य जगत्में गूँजने लगा। शङ्ख, वंशीके स्वर उठे और लय हुए—मेघगर्जनसे ऊपर दिशामें प्रणवकी पराध्वनिसे गूँजने लगीं।

'वत्स!' भगवान् दत्तके संकल्पके साथ साधक जागृतिमें आ गया—'वाद्योंका स्वर जगत्में दुर्लभ नहीं है। मेघकी ध्वनि भी अयाचित आकाशमें गूँजती है। शब्दकी साधनाका लक्ष्य है अशब्दमें स्थिति—नित्य सहज स्थिति जगत्के कोलाहलमें रहते अविकम्प शान्त अशब्दमें!'

'ॐ सच्चिदेकं ब्रह्म ॐ' अन्य साधक आ बैठे थे उस प्रयोगशिलापर। नेत्र-कोणोंके संवेदन-स्नायुसूत्रका उन्होंने किंचित् स्पर्श किया और स्थिर हो गये। रूप—अद्भुत अपूर्व रंगोंकी छटा जब अन्तरसे उमड़ी, सम्पूर्ण हिमप्रदेश रक्त, पाटलपीत, हरित, नील रंगोंसे रञ्जित होने लगा। दो-चार क्षण रंगोंकी छटा और फिर दृश्य—अद्भुत अपूर्व दृश्य! जैसे सम्पूर्ण दिव्य सृष्टि साकार हो उठी है। अन्तमें एक परमोज्ज्वल प्रकाण्ड प्रकाश-राशि।

'अलं!' प्रभुके एक शब्दने साधकको उत्थित कर दिया। 'रंग और रूप सम्पूर्ण दृश्य सृष्टिमें बिखरे पड़े हैं। तुम नेत्र बंद करके संकल्प न भी करो, दिवाकरका तो तीव्र तेज है, जगत्के नेत्रोंको वह नित्य सुलभ है। यह साधना इस रंग-रूपकी सृष्टिमें तुम्हें नित्य अरूपमें निवास दे सके तो यह सफल हुई।'

'लं' केवल बीजका उच्चारण किया अब आसन-पर आये साधकने। शीघ्र ही दिशाएँ सौरभसे भर गयीं। पुष्प-सार जैसे सम्पूर्ण पर्वतोंपर लुढ़का दिये गये हों। क्षण-क्षण सुरभिका परिवर्तन मनों घृत-कर्पूरका मानो हवन हो रहा हो और अन्तमें तुलसी-मञ्जरीका स्थिर अपार सौरभ!

भगवान् दत्तात्रेयने उत्थित करके समझाया इस साधकको 'कहीं भी कोई जाय, गन्ध आयेगी ही। अगन्ध—सहजावस्था है और उसमें स्थित रहना है।'

इसी प्रकार रसका साधक आया। खेचरी मुद्रा तो की उसने; किंतु उसे उत्थित करके गुरु दत्त किंचित् हँसे—'वत्स! तुम्हारे साधनने हम सबका आतिथ्य कर दिया। नाना रसोंका आस्वादन अनुभव किया हमने और अमृतका स्वाद पाया; किंतु रस कहाँ लोकमें दुर्लभ हैं। रसातीत स्थितिमें नित्य अवस्थिति, यह लक्ष्य है तुम्हारी साधनाका।'

स्पर्शके साधकने कुछ अङ्ग-चालनकी क्रियाएँ कीं और तब स्थिर हुआ। हिमप्रदेश सुखद उष्ण बन गया। सबके त्वक्ने पाटलदलोंके स्पर्शका अनुभव किया। भगवान्ने उसे सन्देश दिया 'अस्पर्श—समस्त स्पर्शोंमें रहते स्पर्शातीत बने रहो !'

'तुमने क्या-क्या अनुभव किये !' अन्तमें भगवान् दत्तने योगी भर्तृहरिसे पूछा।

'आपके पदपङ्कज सम्मुख हैं और उनका जो चिन्मय प्रभाव है, वह वाणीमें नहीं आता !' विनम्र उत्तर था।

'तुम्हारे इन साथियोंके प्रयोगोंका चमत्कार !'

'क्षमा करें प्रभु !' वाणीका संकोच कह रहा था कि भर्तृहरिका मन इन्द्रियोंके साथ नहीं था, अतः उन्हें कोई चमत्कार प्रभावित नहीं कर सका। कोई वृत्ति उनके चित्तमें उठी नहीं।

'यही अलख—अलक्ष्य स्थिति !' भगवान्ने बताया—'मनकी यही सहज एकाग्रता परम योग है। सब योगक्रियाओंका यही परम लक्ष्य है।'

खान-पानमें भयानक अशुद्धि

भारतवर्षमें त्रिकालज्ञ परम ज्ञान-विज्ञान-विशारद ऋषियों-मुनियों तथा मनीषियोंने खान-पानकी शुद्धिपर विशेष ध्यान दिया था। खान-पानकी शुद्धिसे आचार तथा धर्मका सम्बन्ध तो प्रधान है ही, स्वास्थ्यका भी बड़ा सम्बन्ध है। अनुचित खान-पानका स्वास्थ्यपर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। भोजनसे ही मन-बुद्धिका निर्माण होता है। 'जैसा भोजन वैसा मन'—प्रसिद्ध है। आहारकी शुद्धिसे ही मनकी शुद्धि होती है। शुद्ध आहारके लिये कम-से-कम नीचे लिखी बातें आवश्यक हैं।

(१) न्याय तथा सत्यतापूर्वक कमाये हुए अपने हकके पैसोंसे प्राप्त हुआ अन्न।

(२) हिंसा-प्रतिहिंसा, परस्वापहरण, पर-हानिसे रहित अन्न।

(३) शुद्ध स्थानमें, शुद्ध शान्त मनवाले व्यक्तिके द्वारा पाक किया हुआ अन्न।

(४) तामसिकतासे वर्जित, उत्तेजना करनेवाला राजस अन्न न होकर शुद्ध सात्त्विक आहार।

(५) उच्छिष्ट या किसीकी थालीमें खानेसे बचा हुआ अथवा किसीका जूठा हुआ भोजन न होकर शुद्ध आहार करना।

वर्तमानमें इन सभीकी उपेक्षा है और हमारे भोजनमें खूब मनमानी चल रही है। सत्य तथा न्याययुक्त कमाई बहुत कम अंशमें रह गयी है। दूसरोंका हक मारने-लूटनेकी अवैध व्यापार-कुशलता मानी जाने लगी है।

जनताके स्वास्थ्य-नाशकी कोई परवा न करके अर्थलोभ-वश खाने-पीनेकी वस्तुओंतकमें मिलावट की जाती है। अभी दिल्लीकी एक सरकारी रिपोर्टमें लिखा था कि 'खाद्यान्नोंमें १५ से ५१ प्रतिशततक मिलावट होती है।' कुछ समय पूर्व अधिकारके साथ यह कहा गया था कि 'दवाइयोंमें प्रायः ५० प्रतिशत नकली दवाइयाँ या मिलावट की हुई दवाइयाँ बाजारमें बिकती हैं।' ऐसी मिलावटी खाद्य-सामग्रियाँ तथा दवाइयाँ बहुत पकड़ी भी गयी हैं और पकड़ी जाती हैं।

आहारकी तामसी वस्तुओंका प्रचार-प्रसार बहुत जोरसे बढ़ रहा है। हिंसामय भोजनका प्रचार तो स्वयं सरकार ही करना चाहती है, इसीसे स्थान-स्थानपर वैज्ञानिक कसाईखाने खोलनेकी और मछली-मुर्गी-व्यवसायकी घृणित योजनाएँ हैं !

हर किसीके हाथका न खाना आजकल कानूनन अपराध माना जाता है। निरामिषभोजी विद्यार्थियोंके लिये बड़ी कठिनता है। अहिंसा-प्रधान भारतवर्षमें आज ऐसे होस्टलोंका, विद्यार्थी-गृहोंका या छात्रालयोंका अभाव हो रहा है, जहाँ केवल निरामिष भोजन बनता हो। प्रायः सभी होस्टलोंमें आमिष भोजन बनता है। निरामिषभोजी बच्चोंके लिये उसी रसोईमें निरामिष चीजें उन्हीं बरतनोंमें तथा उन्हीं रसोइयोंके द्वारा बना दी जाती हैं। छोटे बच्चे जानते भी नहीं कि कौन-सा पदार्थ निरामिष है। फिर अधिक-संख्यक आमिषभोजी साथियों और संरक्षकों-संचालकोंके द्वारा उन्हें बार-बार आमिष-भोजनके लिये उत्साहित किया जाता है। इस अवस्थामें उन बच्चोंका—जिनके घरोंमें कुल-परम्परासे सदा निरामिष भोजन होता आया है—आमिष-भोजनसे बचे रहना असम्भव-सा हो

गया है। अभी हमारे परिवारके ही लगभग छः वर्षके एक बच्चेको छात्रावासमें रखना था; पर कोई ऐसा छात्रालय मिला ही नहीं, जहाँ शुद्ध निरामिष भोजनकी ही व्यवस्था हो। यह बड़े ही दुःखकी बात है और इसपर अहिंसक शुद्ध निरामिषभोजियोंके लिये विचार करने तथा कर्तव्य निश्चय करनेकी आवश्यकता है।

अंडेको तो बहुत-से मनचले लोग निरामिष ही बताने लगे हैं और घर-घरमें, वैष्णव घरोंतकमें अंडोंका प्रचार हो रहा है। रसगुल्ला आदि मिठाइयोंमें अंडे पड़ते हैं; अभी पंजाब-सरकारने विद्यार्थियोंके लिये छात्रालयोंमें अंडे देना अनिवार्य कर दिया था। बहुत विरोधात्मक लिखा-पढ़ी करनेपर यह किया गया है कि जो अंडे नहीं लेना चाहेंगे, उन्हें दूध दिया जायगा।

आजकल खान-पानकी वस्तुओंमें ऐसी चीजें मिलायी जाती हैं, जो विषाक्त होती हैं और मनुष्यके खाने लायक नहीं होतीं।

आजकल बाजारमें जो अच्छी मानी जानेवाली बढ़िया आइस-क्रीम मिलती है, उसमें अंडे तो प्रायः होते ही हैं; क्योंकि कहते हैं विना अंडेके बढ़िया आइस-क्रीम बनती ही नहीं। कुछ समय पूर्व 'नेचर्स पाथ' नामक पत्रमें छपा था कि आइस-क्रीम, जो रासायनिक पदार्थोंके संयोगसे बनायी जाती है, उसमें Vamilla (मधु गन्ध) की जगहपर पिपरोनल (Piperonal—जूँ मारनेकी दवा), Cherry (प्रबदर) की सुगन्ध लानेके लिये ऐलडीहाइड सी १७ (Alde-Hyde C 17—एक आग पकड़नेवाला तरल पदार्थ, जिसका उपयोग रंग, प्लास्टिक और रबड़के निर्माणमें होता है), अनन्नासकी सुगंध लानेके लिये एथिल ऐसीटेट (Ethyl Acetate—जो चमड़ा और कपड़ा धोनेके काममें लिया जाता है—इसकी भाप फेफड़ा, यकृत और हृदयको हानि पहुँचाती है), केलेकी सुगन्ध लानेके लिये एमिल ऐसीटेट (Amyel Acetate—यह तेलसे बने रंगोंका घोलक है)। इस प्रकारकी और भी चीजें मिलायी जाती हैं। 'नेचर्स पाथ' लिखता है 'आप आइस-क्रीमके नामपर अपने परिवारको सम्भवतः विष खिला रहे हैं।'

जूँठन खाना-खिलाना तो वर्तमान सभ्यताका एक लक्षण माना जाने लगा है। जो जूँठन नहीं खाना चाहते, उन्हें बहुत पिछड़े वर्गका गिना जाता है और उनका मजाक ही नहीं उड़ाया जाता, उनसे घृणातक की जाती है।

केवल खान-पानके पदार्थोंमें ही अपवित्र चीजें मिलायी जाती हों, सो नहीं, खान-पानके लिये जो बर्तन आदि चीजें बनती हैं, उन सबमें भी अपवित्र वस्तुओंका संयोग होता है। उदाहरणके लिये भले घरोंमें रोज काममें लिये जानेवाले चीनी मिट्टीके बर्तनोंको ही लीजिये।

'हिंदुस्तान स्टैण्डर्ड'के एक मुख्य संवाददाता उसके १५-७-६३ के अंकमें लिखते हैं—

'विशाल चक्कियोंमें स्फटिक जातिके पत्थरोंके टुकड़े पीसे जा रहे थे। फैक्ट्रीकी छतके समीप भारी-भारी पहिये घूम-घूमकर पत्थरोंको तरलरूप प्रदान कर रहे थे। इस क्रममें क्रमशः चीनी मिट्टीका घोल मिलाया जा रहा था और फिर हड्डियोंकी बुकनी भी। इस मिश्रित घोलको नालियोंद्वारा धरतीके भीतर गलायी हुई मिट्टीसे भरी एक टंकीमें ले जाया जा रहा था और वहाँसे उसपर ८० से १५० सेरका दबाव डालते हुए उसे एक गाढ़ा करनेवाले यन्त्रमें पहुँचाया जा रहा था, जहाँ इसने रोटियोंका-सा रूप धारण कर लिया।

इस प्रकार कच्चा माल तैयार हुआ। फिर पहिये घूमने लगे, साँचे भरने लगे तथा तश्तरियाँ, प्याले, सुराहियाँ और फूलदानियाँ नाचती हुई बाहर निकलने लगीं। तदुपरान्त कोयले अथवा तेलकी भट्ठियोंपर खुरचने, चिकनाने, चित्रित करने तथा दुबारा चमकानेका काम आरम्भ हुआ और बेलियाघाटमें सरकारद्वारा चालित बंगाल सिरामिक इंस्टिट्यूटमें झन-झन करते हुए हड्डी और चीनी मिट्टीके मिश्रणसे बने हुए उपकरण तथा खाने-पीनेके बर्तन अपने अन्तिम परिपक्वरूपमें सामने आने लगे।'

इस प्रकार ये प्याले, जिनमें लोग चाय पीते हैं, मिट्टी तथा हड्डीकी बुकनीकी मिलावटसे बनते हैं। अतएव चीनी मिट्टीके इन प्यालोंका उपयोग करना घृणास्पद है।

इस प्रकार खान-पानकी सभी प्रकारकी शुद्धियोंपर खुले आम चारों ओरसे प्रहार हो रहे हैं। पता नहीं, देखें पतनकी गति तामसिकताकी किस निम्न-स्तरकी भूमिकापर पहुँचकर स्थिर होगी? अभी तो शत-शत दिशाओंसे पतन हो रहा है और उसीको उत्थान माना जाता है। इस विषयपर गम्भीरतासे सोचना चाहिये।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

सच्ची शिक्षिताका स्वरूप

मैंने एम्० ए० पास किया, उसके तीन वर्षके पहले ही मेरा विवाह देहातकी एक साधारण पढ़ी-लिखी लड़कीसे हो चुका था। मेरे चचेरे छोटे भाई रणजीतकी शादी, जो अभी बी० ए० के प्रथम वर्षमें था, गयी साल एक बी० ए० पास शहरी लड़कीसे हुई। यद्यपि मेरी पत्नी बड़ी सुशीला, आज्ञाकारिणी थी तथा घरका सब काम-काज बड़ी लगनसे करती थी एवं बड़े चावसे मेरी सेवा करना चाहती थी। वह कभी सामने नहीं बोलती। पर मेरे साथ घूमने जानेमें तथा सिनेमा आदि देखने जानेमें बहुत सकुचाती। न मेरे मित्रमण्डलमें होनेवाले भोज आदिमें जानेका उसका मन करता। यद्यपि मेरी बातको टालती नहीं, परंतु इससे उसका मन प्रसन्न नहीं रहता। मैं इसी कारण उसपर सदा झुँझलाया करता। उसके प्रति अनुचित शब्दोंका प्रयोग तथा अयुक्त बर्ताव भी कर देता। वह यह सब सहती। पर मैं उससे प्रायः नाराज रहा करता। कभी आदर और प्रेमसे उससे नहीं बोलता। इसका एक प्रधान कारण यह था कि यद्यपि मेरे छोटे भाईकी शिक्षिता पत्नी घरका काम करनेमें कभी उत्साह नहीं दिखाती। वह न पतिका कोई सेवा-सत्कार ही करती, उससे खूब विनोद भी करती, तथापि वह थी बड़े फैशनसे रहनेवाली, बहुत चञ्चल स्वभावकी तथा चुलबुली प्रकृतिकी। वह मेरे भाईके मित्रोंका बड़े चावसे स्वागत करती, उन्हें भोजनादि कराती, उनसे विनोद भी करती और सिनेमा तथा पार्टियोंमें तो बड़े शौकसे स्वामीको उत्साहित करके ले जाती और स्वयं साथ रहती। मैं अपनी पत्नीसे भी ऐसे ही चुलबुलेपनकी चाह करता था और उसके पूरी न होनेपर निराश, उदास तथा क्षुब्ध होता था।

मेरी उदासी तथा क्षोभसे वह बेचारी भी उदास रहती पर कभी उसने कोई शिकायत नहीं की। उसमें एक खूबी यह भी थी कि वह फैशनसे सदा दूर रहती, इससे उसकी आवश्यकता बहुत कम थी। वह कभी कुछ माँग करती ही नहीं। जैसा कपड़ा मिल गया, वैसा ही पहन लिया। यह उसका बड़ा गुण था। पर मेरी आँखें द्वेषबुद्धि होनेके कारण इस गुणको भी उसका दोष—एक गँवारपन ही देखती थीं।

गरमीके दिन थे। छुट्टियोंमें मेरा भाई अपनी पत्नीके साथ पहाड़पर गया था। पर मैं घरपर ही था। ऐसी असभ्य पत्नीको लेकर पहाड़पर जानेवाले सभ्य मित्रोंमें अपनी हँसी कराने भला कैसे जाता। इससे कुढ़कर घरपर ही रह गया था। एक दिन अकस्मात् छोटे भाईकी पत्नीका तार मिला कि 'रणजीतको बुखार हो गया है। मेरा स्वास्थ्य भी ऐसा नहीं कि मैं काम कर सकूँ, अतएव सेवाके लिये आइये या किन्हींको भेजिये।' मैं बड़ी चिन्तामें पड़ा। तार दिया कि 'हमलोग शीघ्र आ रहे हैं, पर लिखो भाईका क्या हाल है और तुम्हें क्या बीमारी है।' उत्तरमें तीसरे दिन तार मिला कि 'रणजीतका बुखार उतर गया, कमजोरी है। मेरा स्वास्थ्य ठीक है। पर इस अवस्थामें मैं यहाँ नहीं रह सकती। मैं आज ही अपने नैहर जा रही हूँ। आप किसीको इनकी सेवा आदिके लिये भेज दीजिये।' तार पढ़कर मैं दंग रह गया। बहू क्यों नहीं रह सकती। जब भाईका बुखार उतर गया और उसका अपना भी स्वास्थ्य ठीक है, तब उसे वहाँ रहनेमें क्या अड़चन है ?

सारी बातें सुनकर मेरी पत्नीने कहा—'हमलोगोंको जल्दी चलना चाहिये। समयपर ही सेवाकी आवश्यकता होती है।' हमलोग उसी दिन चल दिये और दूसरे दिन वहाँ पहुँच गये। बहू तबतक जा चुकी थी। पता लगा कि कमजोरीके कारण रणजीत बहूको साथ लेकर सिनेमा देखने नहीं जा सके, इसीसे वह नाराज होकर चली गयी। मेरी पत्नीने कहा—'अभी बच्ची है, माता-पिताके स्नेहसे पली है। उनकी याद आ गयी होगी। चली गयी तो क्या हुआ। हमलोग आ ही गये हैं।'

भाग्यकी बात—दूसरे ही दिन मुझे बुखार हो गया। घरपर कोई नहीं था। इसलिये रणजीतको मैंने आदमी साथ देकर तीसरे दिन घर भेज दिया। हम दोनों वहाँ रह गये। मेरा ज्वर बढ़ता ही गया और वह १०४. तक पहुँच गया। शरीर जला जाता था। मेरी पत्नी बहुत पढ़ी-लिखी नहीं थी, पर वह तुरंत जाकर एक डाक्टरको लायी। इलाज शुरू हुआ। मेरे बड़े जोरकी चेचक निकल आयी। पंद्रह दिन हो गये। मेरी कमजोरी बढ़ती ही गयी। पर इलाज बहुत ठीक चल रहा था। इस स्थितिमें मैंने जो कुछ देखा, उससे मेरी आँखें खुल गयीं। मेरी उस देहाती पत्नीने अपनी नींद-भूखको बिल्कुल ही भुला दिया। उसका देहातीपन भी विस्मृत हो गया। बड़ी ही दक्षताके साथ समयपर डाक्टरको बुलाना, दवा लाना, ठीक समयपर मुझे दवा देना, रातों जगकर मेरी सेवा करना—इसीमें उसने अपनेको पूरा-पूरा लगा दिया।

ऊपरी काम-काजके लिये एक आदमी रख लिया। मेरे टट्टी-पेशाबके साफ करनेसे लेकर दवा-पथ्य आदिका सारा काम वह इस लगनसे करने लगी कि मैं देखकर दंग रह गया। उसकी सेवा-शुश्रूषाने मुझे बाईस दिनोंमें स्वस्थ कर दिया। ज्वर उतर गया। चेचकके सारे दाने सूखकर गिर गये। मुझे अन्नका पथ्य दे दिया गया। पर वह अब भी मशीनकी भाँति यथायोग्य अपने सब कल-पुर्जोंको पूरा-पूरा लगाकर मेरी सेवा करती ही रही। उसकी सेवा देखकर मेरा मस्तक श्रद्धासे उसके प्रति नत हो गया।

एक दिन उसके मुँहपर मैंने उसकी सेवाके लिये कुछ बड़ाईके शब्द कह दिये। वह तो सुनकर रोने लगी। सिसकती हुई बोली—'मेरे भगवान्! आप यह क्या कह रहे हैं। आपके मुँहसे मैं अपनी बड़ाई सुननेका यह पाप कैसे स्वीकार कर सकती हूँ। मेरे जीवनका कण-कण आपकी पद-रजका सहज सेवक है। इसमें बड़ाईकी कौन-सी बात है। भगवान्ने कृपा करके मेरे सुहागकी रक्षा की। यह सब उनकी दयाका परिणाम है। मैं तो सदा ही नालायक हूँ। मेरा यह सौभाग्य है कि मेरे सुहागकी रक्षा करनेका कार्य स्वयं करके भी भगवान्ने मुझे अवसर दिया कि मेरे द्वारा होनेवाली अपने स्वार्थ-साधनकी भौंडी क्रियाको आपने स्वीकार कर लिया।'

मैं सुनकर गद्गद हो गया। मैं उस दिन यह समझ सका कि असली शिक्षा तो यही है जिससे शिक्षित होकर इस प्रकार मनुष्य अपनेको सर्वथा सेवामें समर्पण करके भी अभिमान नहीं करता और इसे भगवान्की कृपा और अपना सौभाग्य समझता है। धन्य है भारतीय नारीकी यह शिक्षा!

—नरेन्द्रकुमार

(२)

हृदयस्थ प्रभुके आज्ञापालनका चमत्कार

कुछ दिनों पूर्वकी बात है। एक बृहस्पतिवारको मैं और मेरे एक साथी शेगाँवके ब्रह्मीभूत श्रीमत्स्वामी गजानन महाराजके समाधिके दर्शनार्थ गये थे। बृहस्पतिवारको यहाँ यात्रियोंकी इतनी भीड़ होती है, मानो स्वामीके दर्शन-मधुपानके लिये अनन्त मधुमक्खियाँ एकत्र हुई हों। ऐसी स्थितिमें दर्शन होना बड़ा ही कठिन होता है। मन्दिराधिपतिके आज्ञानुसार सब दर्शनार्थी लोगोंको एक पंक्ति बनाकर खड़ा किया गया। पंक्तिमें हमारा स्थान बहुत ही पीछे था। हमलोगोंको समाधिके दर्शन संध्याके समय हुए। दर्शन करके गाँवको लौटना था और पैदल ही जानेका हमारा अटल प्रण था।

हमलोग चलकर दो-तीन मील ही बढ़े होंगे कि पीछेसे जूतोंकी आहट सुनायी दी। हमने पीछेकी ओर देखा तो काले रंगके तीन-चार भीमकाय पुरुष हमारा पीछा करते दिखायी दिये। वे लगभग एक-डेढ़ फर्लांगकी दूरीपर थे। कहना न होगा कि वे चोर थे। उन्हें देखकर हमें भागनेके सिवा और कोई उपाय नहीं सूझा। हम ईश्वरका स्मरण करते हुए पूरी शक्ति लगाकर दौड़ने लगे। पीछे-पीछे चोर भी दौड़ने लगे। रास्तेमें शिवजीका एक मन्दिर पड़ता है, जो इतना अधिक जीर्ण है कि उसे मन्दिरके बजाय खँडहर कहना ही बेहतर होगा। हम भागते-भागते उस खँडहरतक पहुँचे। अबतक अन्धकारने अच्छी तरह अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया था। न तो चोर हमको दीखते थे, न हमें वे दिखायी देते थे। ऐसी स्थितिमें हम दोनों ठहर गये। मैंने दियासलाई जलायी और खँडहरको देखकर उसमें हम घुस ही रहे थे कि मुझे द्वारपर एक बहुत बड़ा मकड़ीका जाला दिखायी दिया और मेरे हृदयस्थ परमेश्वरने मेरे हृदयमें मकड़ीके प्रति दया उत्पन्न कर दी। मैंने अपने साथीको रोककर कहा—'देखो साठेजी! यह जाला एक छोटे-से जीवकी महीनोंकी मेहनत होगी, इसे तोड़ना उचित नहीं, हमें इसे तोड़े बिना ही खँडहरमें जाना है।' साथी भी सात्त्विक गुणसम्पन्न था। उसे मेरी बात पसंद आयी और हम दोनों बड़े कष्टसे दीवालपर चढ़े और कूदकर अंदर पहुँचकर छिप गये। मेरे देह-मन्दिरमें मन-साधक प्रभुका नाम जप रहा था। कुछ ही समय बीता होगा कि चोर भी वहाँ आ पहुँचे। एकने सबको ठहराकर कहा—'ठहरो, हमलोग शायद खँडहरतक पहुँचे होंगे, मेरा अनुमान है वे लोग इसीमें छिपे हों, दियासलाई जलाओ।' दियासलाई जलायी गयी और हमें जूतोंकी आवाज सुनायी देने लगी। खँडहरके पास आते ही मुखियाने अन्य चोरोंसे कहा—'चलो-चलो, वे यहाँ नहीं छिपे हैं, क्योंकि खँडहरके द्वारपर मकड़ीका जाला लगा है। यदि यहाँ छिपते तो यह जाला अवश्य ही कायम नहीं रहता।' वे चल दिये।

हम घबराये हुए चुपचाप वहीं दुबके रहे। कुछ समय बाद खँडहरसे निकले और वहाँसे दो फर्लांगपर स्थित बरखेड़ नामक गाँवमें पहुँचकर वहाँ राम-मन्दिरमें ठहरे। अब हमारे

हृदयसिन्धुमें उछलती हुई घबराहटकी भीषण तरङ्गें शान्त हुईं। मैंने परमेश्वरका आभार मानते हुए मित्रसे कहा—'साठेजी! देखो, मेरे हृदयस्थ परमेश्वरने प्रेरणा करके हमें मकड़ीका जाला दयावश नहीं तोड़ने दिया। इसीसे आज हमारी इज्जत और जान बच गयी।'

इस घटनासे यही दो बोधरत्न ग्रहण करने चाहिये कि 'किसी भी प्राणीका भला करने या चाहनेसे अपना भला अपने-आप ही होता है तथा हृदयस्थ प्रभुकी अनुमतिसे कार्य किये जायँ तो हमारा योगक्षेम वे स्वयं वहन करते हैं।'

बोलो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी जय!

—बटवाड़ीकर मधुकर आखरे। बटवाड़ी (महाराष्ट्र)

(३)

भलेका फल भला

दो सज्जनोंका हिस्सेदारीमें बंबईमें रूईका कारोबार था। आढ़तियोंका तैयार माल भी मँगवाकर बेचा करते थे और की दलालीका काम भी उनके यहाँ होता था। एक दूसरे के व्यापारीके साथ उनका लेन-देनका व्यापार चलता था। के अकस्मात् व्यापारमें बहुत बड़ा नुकसान हो गया। का इन दोनों सज्जनोंके फर्मके लगभग चालीस हजार रुपये व्यापारीमें रह गये। वह था ईमानदार, पर घाटा ना अधिक हो गया था कि वह सबके रुपये चुका हीं सका। इनकी फर्मने उसपर कोर्टमें नालिश कर दी। के रुपये तो देने थे ही, अतः उसने कोई एतराज नहीं या। वरं अन्तिम पेशीके दिन तो वह अदालतमें हाजिर नहीं हुआ। उसपर खर्चसमेत लगभग पैंतालीस हजारकी तरफा डिग्री हो गयी। उसके पास रुपये नहीं थे, यह बात को मालूम थी, पर उसके घरमें उसकी दो विवाहिता कियोंका प्रायः दो लाखका जेवर रक्खा था। इस बातका इस फार्मके एक हिस्सेदारको लग गया। उन्होंने उसके र कुर्कीका आर्डर कोर्टसे ले लिया। इस बातका जब रे हिस्सेदारको पता लगा तो उन्होंने कहा कि 'अपने ये सचमुच लेने हैं और उन्हें वसूल करना भी न्यायसंगत है; पर जब हमें यह मालूम हो गया है कि उसके पास ने पैसे नहीं हैं, लड़कियोंका जेवर है तो उस जेवरको कराना उचित नहीं।'

यह बात पहले हिस्सेदारको नहीं जची। उन्होंने कुर्कीकी करवा दी। तब दूसरे हिस्सेदारने दूसरी जगह जाकर उक्त व्यापारीको फोन कर दिया कि 'हमारी डिग्रीके रुपयोंकी वसूलीके लिये आपके घर अभी कुर्की आनेवाली है। आप अपनी लड़कियोंके गहनेको तुरंत हटा दीजिये।' वह तो सुनकर कृतज्ञतासे भर गया। गहना हटा दिया गया। कुर्कीवाले असफल वापस लौट आये। पहले हिस्सेदार इससे कुछ नाराज तो हुए; पर वे भी धार्मिक विचारके थे, इससे उन्होंने भी संतोष माना।

परिणाम यह हुआ कि उक्त व्यापारीके हृदयमें इतनी कृतज्ञता जगी कि उसने अपने देशके रहनेके मकानको केवल इसीलिये बेचकर इनके असली रुपये चुका दिये। 'भलेका फल भला'

—शिवरतन महेश्वरी

(४)

भगवान् महामृत्युञ्जयकी कृपा

भगवान् महामृत्युञ्जयका आराधक मैं अपने जीवनके स्मृतिकालसे हूँ और उनपर सदा मेरा श्रद्धा-विश्वास रहा है एवं जीवनपर्यन्त वह अक्षुण्ण रहेगा। यह निर्विवाद है कि भारी-से-भारी संकट-कालमें भी उनकी कृपाके बलपर मेरा उद्धार होता रहा है; जिसे मैंने अपनी आत्म-कथामें क्रमवार संकलित भी किया है; उसीमेंसे एक घटनाका उद्धरण नीचे दिया जा रहा है।

मेरा जन्मस्थान मध्यप्रदेशान्तर्गत सतना जिलेकी तहसील अमरपाटनके एक छोटे-से ग्राम करहीमें है। मेरा अब भी स्थायी निवास इसी ग्राममें है। जन्मस्थान होनेके नाते इस ग्रामसे मेरी ममता भी असीम है। जिस स्थानपर इस ग्राममें मेरा आवास स्थित है, वह बहुत पुराना है। मेरे बाबा गुरु वंशधारी राम अग्निहोत्रीने इस स्थानपर विक्रमी संवत् १९१५ में वर्तमान आवासकी नींव डाली थी, तबसे इसी स्थानपर मेरा आवास स्थित है।

आवासके साथ ही एक साधारण कुएँका भी निर्माण मेरे स्वर्गवासी बाबाने कराया था, पर उस कुएँका जल मई लगते ही घट जाता था और गरमीके दिनोंमें करीब चार फर्लांगसे जल मँगाकर गुजर करना पड़ता था। इस अभावको दूर करनेके लिये वि० सं० १९९२ में मैंने एक दूसरे कूपका निर्माण कराया, पर इसमें भी वही हाल रहा, पर्याप्त जल प्राप्त करनेके लिये मैंने कटनी और जबलपुरसे भी बोरिंग करनेवालोंको बुलवाया, पर फल कुछ न हुआ। लगभग

चार हजार रुपये व्यय करनेपर भी जलकी सुविधा न प्राप्त हो सकी।

अन्तमें मैंने एयर कम्प्रेसर मशीनके लिये उपमन्त्री महोदय स्वास्थ्यविभाग म० प्र०से प्रार्थना की; उनकी कृपासे उक्त मशीन मुझे जून १९६२में प्राप्त हुई। लगातार दो दिनोंतक मशीनसे सारा कुआँ छेद डाला गया; पर जल प्राप्त न हुआ। दूसरे दिन शामको मशीनका नियन्त्रक हताश होकर अगले दिन प्रातःकाल ही वापस जानेके लिये उद्यत हो गया। मैं भी हताश था और सोच रहा था कि अब इस पुराने आवासको ही बदल दूँगा, जहाँपर जलका इतना बड़ा अभाव तथा कष्ट है वहाँ रहना ठीक नहीं।

दूसरे दिन नित्यकी भाँति प्रातःकाल जब मैं भगवान् महामृत्युञ्जयका ध्यान कर रहा था, तब मन-ही-मन मैंने जल-अभावकी पूर्तिके लिये कातर प्रार्थना की। प्रार्थनामें मग्न ही था कि अन्तरात्मासे प्रतिध्वनि हुई कि आज पुनः मशीन कुएँमें लगायी जाय। जल प्राप्त होगा। प्रतिध्वनि होते ही ध्यानभंग हुआ और मैं स्थानसे उठकर नियन्त्रकके पास उस स्थानपर आया, जहाँ वह वापस लौटनेके लिये अपना डेरा-सामान बाँध रहा था। मैंने उससे कहा कि 'आज एक बार और मशीन लगाइये और अगर एक बारमें जल न निकला तो आप मशीनके साथ वापस चले जाइयेगा।'

बहुत कहने-सुननेके बाद नियन्त्रक बड़े क्रोधके साथ कुएँमें घुसा और उसने अपनी मशीनको चालू किया। कठिनतासे वह पाँच मिनट भी मशीन न चला पाया होगा कि पानीका एक मोटा स्रोत ऊपर उछलने लगा। नियन्त्रक कुएँके भीतरसे 'खींचो-खींचो'की आवाज लगाकर चिल्लाने लगा। मैं कुएँकी जगतपर ही बैठा भगवान् महामृत्युञ्जयनाथसे मन-ही-मन प्रार्थना कर रहा था। उसकी चिल्लाहट सुनकर मैंने पूछा, क्या बात है। नियन्त्रकने घबराहटके साथ कहा—'शीघ्र निकालिये, नहीं तो मैं डूब जाऊँगा; पानीका मोटा स्रोत नीचेसे फूट रहा है और पानी मेरी कमरतक आ गया है।'

मैंने मनोरथ सिद्ध हुआ जान भगवान् महामृत्युञ्जयको मन-ही-मन प्रणाम किया और नियन्त्रकके निकालनेकी शीघ्र ही व्यवस्था भी की। नियन्त्रकके निकलते-निकलते दस फुट पानी कुएँमें हो गया। आनन्दकी सीमा न रही। भगवान् महामृत्युञ्जयके पूर्णाभिषेककी व्यवस्था की। अब शीतल और सुस्वादु जलसे सैकड़ों प्राणी तृप्त हो रहे हैं। भगवान् महामृत्युञ्जयकी आस्तिकता सदा ही फलवती होती है, इसमें किंचित् मात्र भी संदेह नहीं।

—गुरु रामप्यारे अग्निहोत्री इतिहासकार, रीवाँ (म० प्र०)

(५)

उच्चकोटिकी ईमानदारी

जिन उच्चकोटिके ईमानदार व्यक्तिपर ये पंक्तियाँ लिखी जा रही हैं, खेद है कि वे अब इस संसारमें नहीं हैं। गत ८ दिसम्बर १९६२को उनका स्वर्गवास अपने सुयोग्य पौत्र श्रीनिर्मलकुमार भय्याके साथ कलकत्ता जाते समय अचानक हार्टफेल हो जानेसे नर्मदातटवर्ती बड़वाह (म० प्र०) में लेखकके लघु भ्राता श्रीव्रजमोहनदास गाँधीके निवासस्थानपर हो गया जहाँ श्रीओंकारेश्वरकी तीर्थयात्राके लिये आप सपरिवार ठहरे थे।

आपका शुभनाम था श्रीलक्ष्मीनारायणजी भय्या। इन्दौरकी सुप्रसिद्ध फर्म श्रीचतुरभुज गणेशरामके आप मालिक थे। जिसका अधिकतर सम्बन्ध राजा-महाराजा और जागीरदारोंसे ही रहा और उन दिनों इन्दौरके तोपखानेमें इनकी सबसे बढ़ी-चढ़ी कपड़ेकी दूकान थी। कपड़े आदिके व्यवसायमें आपको भारी धक्का लगा। जिनमें पैसा लेना था वह समयपर आ नहीं पाया। नतीजा यह हुआ कि आप सब कुछ छोड़कर उज्जैन आ बसे। आपकी नीयत बिल्कुल साफ थी। अतः ईश्वर-कृपासे यहाँ स्व० मनोहरलालजी जायसवालकी फर्म श्रीमनोहरलाल बालमुकुन्दसे आपका सम्बन्ध जुड़ गया और इन्हींकी भागीदारीमें सूतका धंधा आपने उज्जैनमें आरम्भ किया एवं भगवत्कृपासे वह उच्च शिखरतक पहुँचा। द्वितीय महायुद्धके समय एकतरफा तेजीमें आपने लाखों रुपये कमाये। भागीदारी भी सानन्द समाप्त की और इन्दौरकी पुरानी फर्मके प्रायः १६ साल पुराने करीब एक लाख रुपयेका कर्ज एक-एकके घर जाकर आपने चुकाया और तब कहीं भाड़ेके मकानसे घरका मकान बनवाकर उसमें रहनेको गये।

आजके युगमें ईमानदारीके ऐसे उदाहरण बहुत कम देखे-सुने जाते हैं।

—राधाकृष्ण गाँधी,

श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके २४१ लेखोंका एक संग्रह

(प्रत्येक भागमें सर्वथा स्वतन्त्र अलग-अलग लेख हैं)

इन लेखोंमें लौकिक, पारलौकिक, व्यावहारिक, पारमार्थिक, नैतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक, सर्वतोमुखी उन्नति करानेमें सहायक एवं सभी वर्ण-आश्रम, स्त्री-पुरुष और बालक-बालिकाओंके कामकी यथेष्ट सामग्री है। वस्तुतः ये लेख परमात्मतत्त्वका यथार्थ ज्ञान करानेके लिये 'चिन्तामणि'के समान हैं।

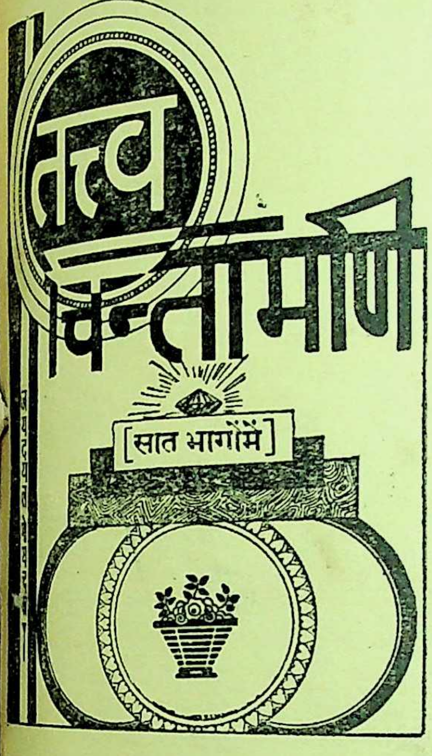

भाग १—में २९ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ३५२, चित्र तिरंगा २, मूल्य··· .६२

भाग २—में ४८ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ५९२, चित्र तिरंगा १, मूल्य··· .८७

भाग ३—में ३३ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ, ४२४, चित्र तिरंगे २, मूल्य··· .७०

भाग ४—में ३१ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ५२८, चित्र तिरंगे ५, मूल्य··· .८१

भाग ५—में ३४ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ४९६, चित्र तिरंगे ४, मूल्य··· .८१

भाग ६—में ३४ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ४५६, चित्र तिरंगा १, मूल्य··· १.००

भाग ७—में ३२ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ५२०, चित्र तिरंगा १, मूल्य··· १.१२,

इन सातों भागोंमें कुल लेख २४१, पृष्ठ ३३६८, चित्र तिरंगे १६, सातोंका मूल्य ५.९३, खर्च ३.८५, कुल ९.७८ मात्र।

भाग १ से ५ तकके छोटे आकारके गुटका संस्करण भी मिलते हैं।

पाँचों भागोंकी कुल पृष्ठ-संख्या ३०६५, तिरंगे चित्र ६, पाँचोंका अलग-अलग जिल्दमें सजिल्द मू० २.७४, खर्च २.२३, कुल ४.९७।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

कल्याणके गत वर्षोंके सचित्र, सुन्दर और शिक्षाप्रद मासिक अङ्कोंके दामोंमें भारी रियायत।

र्ष २८—अङ्क १२
र्ष २९—अङ्क २, ३, ४, ५, ६, ७
र्ष ३०—अङ्क ३
र्ष ३१—अङ्क ४, १०, ११
वर्ष ३२—अङ्क २, १०, ११
वर्ष ३३—अङ्क २, ३, ४, ५, ६, ७, ९, १०, ११, १२
वर्ष ३४—अङ्क ३, ६, ८, ९, १०, ११
वर्ष ३५—अङ्क २, ३, ४, ५, ७, ८, ९, १०, ११, १२

उपर्युक्त ४० अङ्कोंकी पृष्ठ संख्या—२५६०, चित्र रंगीन—४०, चालू दामोंमें मूल्य १८.०० परंतु एक थ सब-के-सब ४० अङ्क लेनेपर केवल ६.००, रजिस्ट्री-खर्च .५५ न० पै०। जिन्हें लेना हो रु० ६.५५ आर्डरसे भेजनेकी कृपा करें। वी० पी० द्वारा भेजनेमें सुविधा नहीं है।

व्यवस्थापक—**कल्याण, पो० (गीताप्रेस) गोरखपुर**

रजि० सं० ए० १७

कल्याणके पुराने विशेषाङ्कोंमेंसे केवल चार ही मिल सकते हैं

कल्याणके पिछले छत्तीस वर्षोंके प्रायः सभी विशेषाङ्क इतने अधिक जनप्रिय और आकर्षक हुए उनमेंसे इकतीस विशेषाङ्क इस समय अप्राप्य हैं। ग्राहकगण उन्हें पानेके लिये बार-बार आग्रह करते रहते हैं परंतु प्रेसमें कामकी अधिकताके कारण उनका पुनर्मुद्रण नहीं हो पाता। अब केवल चार विशेषाङ्कोंकी थोड़ी थोड़ी प्रतियाँ शेष हैं। अतः जिन्हें इनका संग्रह करना हो, वे कृपया शीघ्रता करें।

चारोंके अलग-अलग लेनेपर मूल्य रु० २९.०० है। एक साथ लेनेपर केवल रु० २५.००। डाकखर्च हमारा

१—हिंदू-संस्कृति-अङ्क

पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविता ४६, संगृहीत २९, चित्र २४८, डाकव्ययसहित मू० ६ ५० नये पैसे। साथ ही इसी वर्षका अङ्क दूसरा तथा तीसरा बिना मूल्य।

इस अङ्कमें महान् हिंदू-संस्कृतिके प्रायः सभी विषयोंपर प्रकाश डाला गया है। इसमें वेद, उपनिषद् महाभारत, रामायण तथा श्रीमद्भागवतकी सानुवाद सूक्तियाँ, हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप तथा महत्त्व, हिंदूधर्म, दर्शन-परिचय, हिंदू-संस्कृतिकी व्यापकता, हिंदू-संस्कृतिमें त्याग और भोगका समन्वय, रामराज्यका स्वरूप, शिष्टाचार और सदाचार, आहार-विवेक, गोरक्षा, जीवरक्षा आदि विविध विषयोंपर बड़े-बड़े विद्वानों तथा अनुभवी पुरुषोंके लेख हैं।

इसके अतिरिक्त भगवान्‌के, अवतारोंके, देवताओंके, आदर्श ऋषि-महर्षियोंके, परोपकारी भक्त, राजा सत्पुरुषोंके, आचार्य, महात्मा और भक्तोंके एवं आदर्श हिंदू-नारियोंके बहुत-से पवित्र चरित्र हैं।

२—संतवाणी-अङ्क

पृष्ठ-सं० ८००, तिरंगे चित्र २२, इकरंगे चित्र ४२, संतोंके सादे चित्र १४०, मूल्य डाकव्ययसहित ७ रु० ५० नये पैसे।

इस अङ्कमें संतोंकी पवित्र, जीवन-निर्माणमें सहायक, जीवनको उच्चस्तरपर पहुँचा देनेवाली वाणियोंका अभूतपूर्व संकलन है, जो कुमार्गपर जाते हुए जीवनको वहाँसे हटाकर सच्चे सन्मार्गपर लानेके परम सुहृद् बन्धु है। प्रबल मोह-सरिताके प्रवाहमें बहते हुए जीवोंके उद्धारके लिये सुखमय सुदृढ़ जहाज भगवान्‌की मधुरतम मुखछविका दर्शन करानेके लिये संत-वचन भगवान्‌के नित्य सङ्गी प्रेमी पार्षद हैं। इस में ५८५ संतोंकी वाणियोंका अनेक गद्यों एवं पद्योंमें संग्रह है।

३—मानवता-अङ्क

पृष्ठ-सं० ७०४, मानवताकी प्रेरणा देनेवाले सुन्दर ३९ बहुरंगे, एक दुरंगा, १०१ एकरंगे और रेखाचित्र। डाकव्ययसहित मूल्य ७ रु० ५० नये पैसे।

देशभरमें चुने हुए महात्माओं और विद्वानों तथा विदेशी महानुभावोंके मानवतासम्बन्धी सद्विचारोंसे सम्पन्न और सबके द्वारा प्रशंसित।

४—'संक्षिप्त शिवपुराणाङ्क' (दूसरा संस्करण)

पृष्ठ-संख्या ७०४, चित्र बहुरंगे १७, दोरंगा १, सादे १२ तथा रेखा-चित्र १३८ कुल १६८। मूल्य ७.५

३६वें वर्षका यह 'संक्षिप्त शिवपुराणाङ्क' प्रथम बार १,३१,००० छापा गया; परंतु उसकी माँग इतनी अधिक कि सब प्रतियाँ हाथों-हाथ बिक गयीं और हजारों पुराने ग्राहकोंको भी अङ्क न मिल सके। इसलिये कामकी असुविधा होनेपर भी २०,००० प्रतियोंका दूसरा संस्करण छापना पड़ा था।

यह विशेषाङ्क सुप्रसिद्ध शिवपुराणके साररूपमें सरल हिंदी भाषामें बहुत ही सस्ता है। इसमें भग शिवकी बड़ी ही विचित्र मधुर लीलाओंका, भक्तवत्सलताका और उनके अवतारोंका तथा योगभक्तिके तत्त्वोंका ही विशद और सर्वोपयोगी वर्णन है। कथाएँ बड़ी ही रोचक तथा प्रभावोत्पादक हैं।

व्यवस्थापक—कल्याण, पो० गीताप्रेस (गोरख

Please open at pag 217.

कल्याण

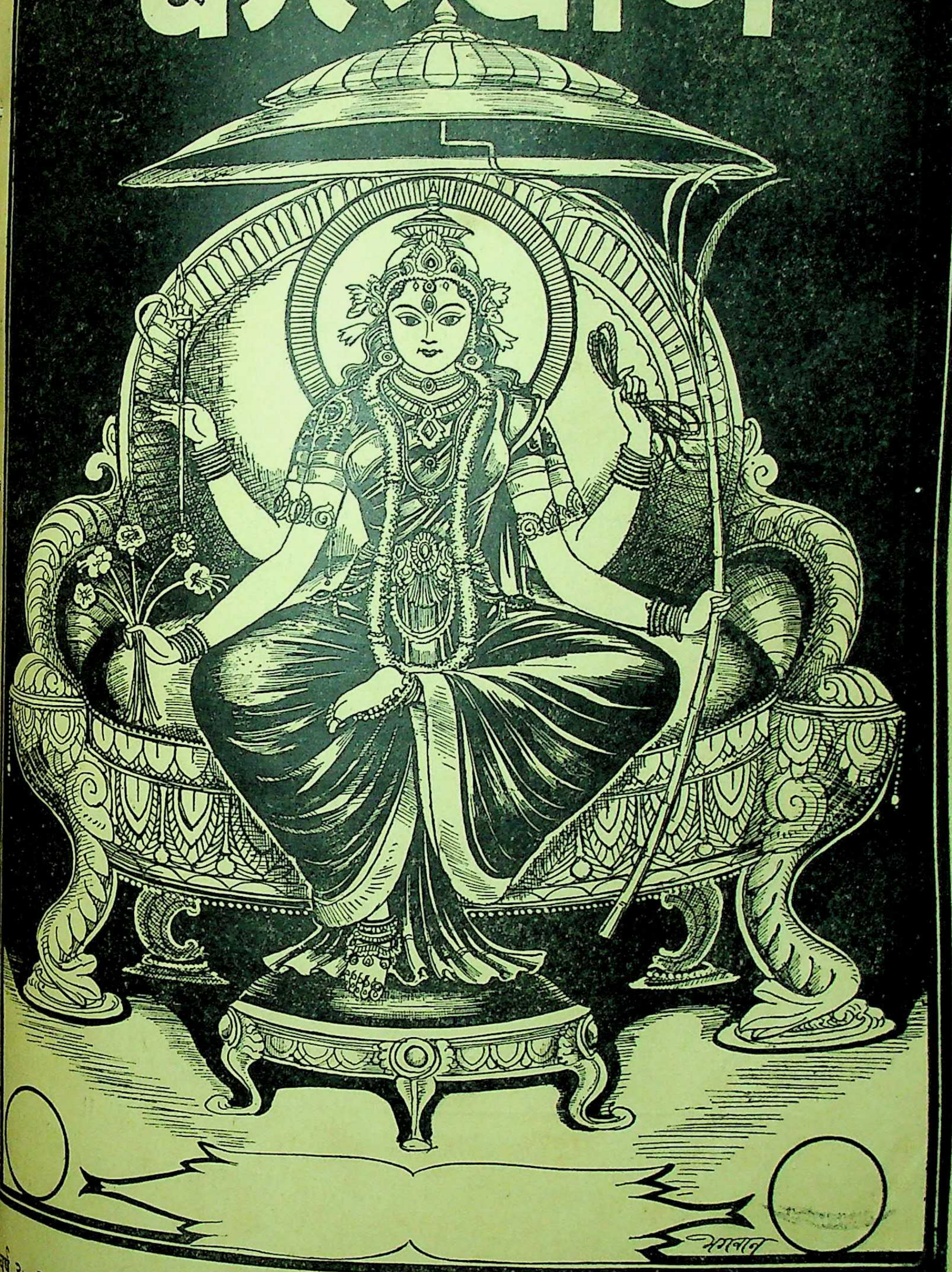

वर्ष ३७]

✻ ✻ ✻

[अङ्क १०

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण—१,३८,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर कार्तिक २०२०, अक्टूबर १९६३

विषय	पृष्ठ-संख्या
१–अनुपम रूप-सौन्दर्य [कविता] ...	११९५
२–कल्याण ('शिव') ...	११९६
३–शरीर-मीमांसा (स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज) ...	११९७
४–मनको संयत और एकाग्र करनेके उपाय (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	१२०१
५–समस्त जीवन ही साधन है (श्री'माधव')	१२०६
६–मधुर	१२०८
७–'नैराश्यं परमं सुखम्' (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)	१२१०
८–श्रीकृष्णकी जन्मकालीन महानता (श्रीब्रिजलालजी बियाणी) ...	१२१३
९–हमारी मुक्तिनाथ-यात्रा (श्रद्धेय श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी) ...	१२१४
१०–रे मन ! [कविता] (विद्यालङ्कार श्रीजगन्नाथजी मिश्र गौड़ 'कमल' वेदान्तरत्न)	१२१७
११–जीवनमें नया परिवर्तन (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०)	१२१८
१२–प्रभुकी अनुकम्पा [कविता] ...	१२२०
१३–सहनशक्ति बढ़ाइये (श्रीअगरचन्दजी नाहटा)	१२२१
१४–भगवान्की दृष्टि (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')	१२२३
१५–उत्साह (डा० श्रीप्रकाशसिंहजी बी० एस्-सी०, एम्० बी० बी० एस्०) ...	१२२४
१६–रक्षकके लंबे हाथ [कहानी] (श्री'चक्र')	१२२५
१७–सारथि (श्रीराजेन्द्रप्रसादजी जैन) ...	१२२७
१८–हममें परिवर्तन क्यों नहीं होता ? (श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)	१२३०
१९–रामचरितमानसकी अन्तःकथाएँ (डा० श्रीवागीशदत्तजी पाण्डेय, एम्० ए० (हिंदी-संस्कृत), साहित्याचार्य, पी-एच्० डी०)	१२३३
२०–दृष्टान्त-रहस्य (श्रीह० भ० प० चातुर्मास्ये महाराज) ...	१२३६
२१–क्षमाका जीवनमें स्थान (श्रीमती पद्मारानी वैश्य)	१२३८
२२–विश्वास और श्रद्धाके प्रतीक देवालय (श्रीओंकारमलजी सराफ, संस्थापक देवालयरक्षण-समिति) ...	१२३९
२३–रस-सुधाधारा [कविता] ...	१२४१
२४–विष्णुध्वज (डा० श्रीदेवसहायजी त्रिवेद एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ...	१२४२
२५–जीवन तुम्हारा लीलाधाम बन गया [कविता]	१२४४
२६–इन्द्राक्षी-कवचका अद्भुत चमत्कार ... (एक बहन)	१२४५
२७–सदाचार (श्रीचोडवरपु रामशेषय्या) ...	१२४८
२८–श्रीभगवन्नाम-जप (नाम-जप-विभाग—'कल्याण'–कार्यालय, गोरखपुर) ...	१२५१
२९–बिना साबुन, बिना पानी निर्मल करनेवाले (श्री'दुर्गेश') ...	१२५४
३०–पढ़ो, समझो और करो ...	१२५५
३१–जय वृषभानुकिशोरी [कविता] (पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम')	१२५८

चित्र-सूची

१–भगवती अन्नपूर्णा	(रेखाचित्र) ...	मुखपृष्ठ
२–अनुपम रूप-सौन्दर्य	(तिरंगा) ...	११९५

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें .४५
विदेशमें .५१
(१० पैंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

गुरुकुल कांगड़ी

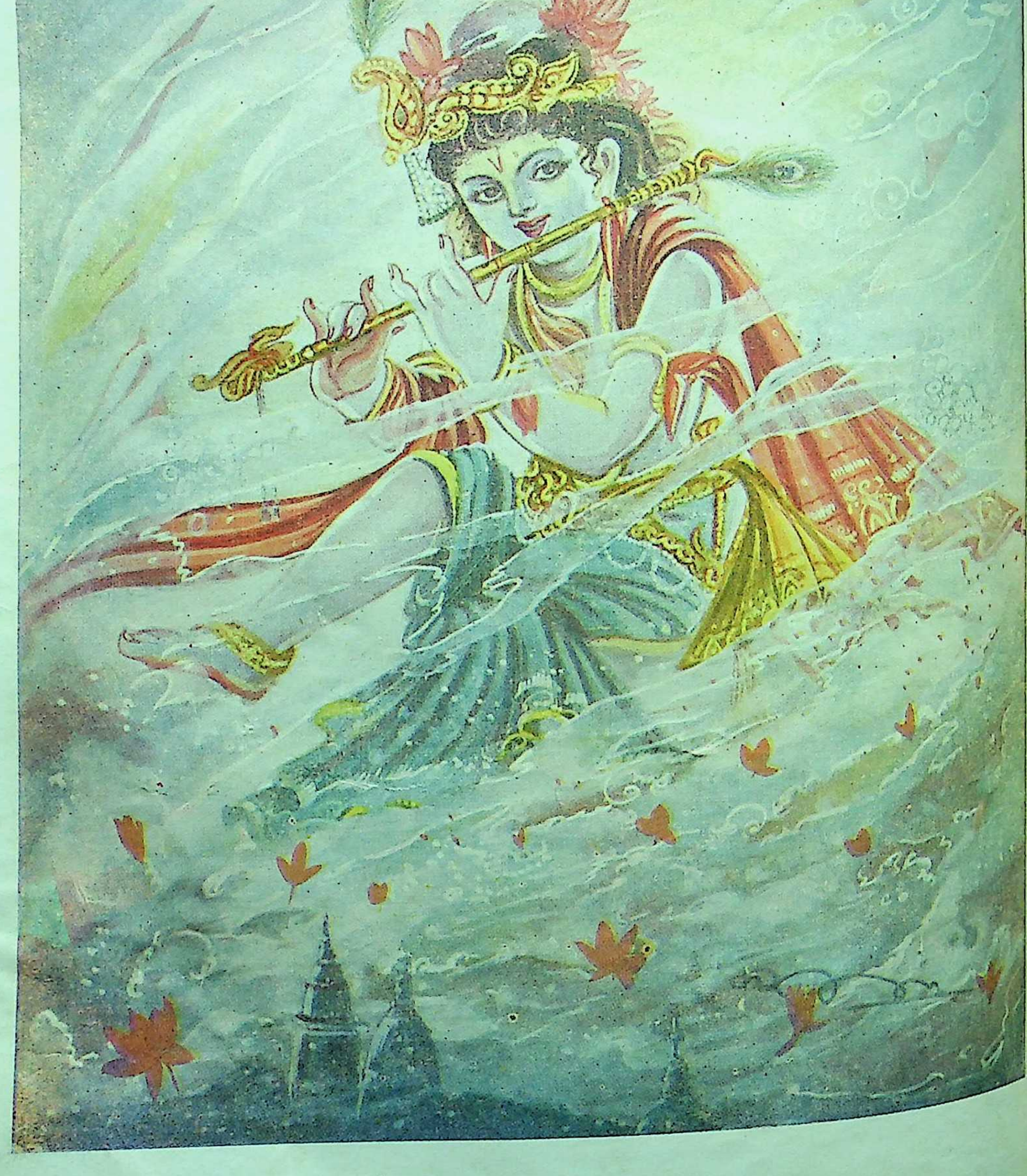

अनुपम रूप-सौन्दर्य

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

२२

कल्याण

शुद्धतेजःस्वरूपं च भक्तानुग्रहविग्रहम् । अतीव कमनीयं च श्यामरूपं नमाम्यहम् ॥
परिपूर्णतमं शान्तं राधाकान्तं मनोहरम् । सत्यं ब्रह्मस्वरूपं च नित्यं कृष्णं नमाम्यहम् ॥

वर्ष ३७ } गोरखपुर, सौर कार्तिक २०२०, अक्टूबर १९६३ { संख्या १०
पूर्ण संख्या ४४३

अनुपम रूप-सौन्दर्य

कालीदह-जल ऊपर सोहत ।
करि कालिय-उद्धार सु निकसत बाहर, सुर-मुनि-जन-मन मोहत ॥
कियौ सिंगार विविध विधि अनुपम कालियकी घरिनी मिलि सारी ।
मधुर रूप-सुंदरतापर सब त्रिभुवन की सुंदरता वारी ॥
मुसुकत मधुर मुरलि धरि अधरनि परम दिव्य रस-सरि विस्तारत ।
भव-दुख-दावानल-निर्वापित करत, सकल जंजाल निवारत ॥

याद रक्खो—तुम्हारे न मानने या न स्वीकार करनेसे सत्यस्वरूप भगवान्‌की सत्ताका अभाव नहीं हो सकता। हाँ, तुम अपनी ओरसे उनकी सत्ता स्वीकार करके उनके आराधन-पूजनसे जो सीधा परम लाभ उठा सकते, उससे वञ्चित हो जाओगे। इसी प्रकार परलोक और कर्मफलको अपने अहंकारके कारण या भ्रान्त बहुमतसे अस्वीकार कर देनेपर भी न तो परलोक मिटेगा और न कर्मफलसे ही छुटकारा मिलेगा। अतएव बुद्धिमानी इसीमें है कि भगवान्‌को, परलोकको और अवश्यम्भावी कर्मफलको स्वीकार करो।

याद रक्खो—भगवान्‌को स्वीकार करनेपर भगवान्‌की सहायता प्राप्त करनेके लिये शुभ कर्म होंगे, परलोकको तथा कर्मफलको माननेपर पापके परिणामस्वरूप घोर दुःखकी सम्भावनासे पाप-कर्मसे बचकर तुम पुण्य-कर्मोंमें लगोगे। भगवान्, परलोक और कर्मफलकी सत्ता यदि न भी हो तो भी तुम्हें लाभ ही होगा; क्योंकि तुम शुभ कर्मोंके द्वारा सुख्याति और प्रतिष्ठा प्राप्त करोगे। हानि तो कुछ भी होगी ही नहीं; परंतु यदि तुम इनको नहीं मानोगे तो इस लाभसे भी वञ्चित रह जाओगे और यदि भगवान्, परलोक तथा कर्मफलकी सत्ता है, तब तो इनके न माननेपर तुम स्वेच्छाचारी और दुष्कर्म करनेवाले बनकर अपना इह-पर सभी बिगाड़ लोगे, तुम्हारी महती हानि होगी।

याद रक्खो—असली बात तो यह है कि भगवान्, परलोक तथा कर्मफल सत्य हैं ही। इन्हें मानकर इनका यथायोग्य सेवन करके तुम स्वयं तो परम लाभके भागी होओगे ही—अपने आचरणोंसे, अपने जीवनसे, अपने आदर्शसे दूसरोंको भी इस ओर लगानेमें समर्थ होओगे। वे अपने आदर्श आचरणसे दूसरोंको लगायेंगे, अतएव तुम विशुद्ध भगवद्भावके प्रचार-प्रसारमें सफल निमित्त बननेका पुण्य और सौभाग्य प्राप्त करोगे।

याद रक्खो—जो स्वयं भगवान्‌की सेवामें लगा है तथा अपने आचरणसे दूसरोंको लगाता है, वह बड़ा भाग्यवान् है और वही प्राणियोंकी सच्ची सेवा करनेवाला है।

याद रक्खो—तुम यदि किसीको ऐसी मीठी चीज खिलाते हो—जिससे वह बीमार होकर मर जाता है तो तुम उसका उपकार-सेवा न करके अपकार तथा कष्टदान ही करते हो। भोग सुखरहित, दुःखालय और दुःखोंकी उत्पत्तिके स्थान हैं। (**'असुखम्'**, **'दुःखालयम्'**, **'दुःखयोनयः'**—गीता) अतएव जो भी व्यक्ति, वस्तु और परिस्थिति मनुष्यको परमानन्दस्वरूप भगवान्‌से हटाकर भोगोंमें लगाती है, वह उसके पतन, भयानक कष्ट, नरकप्राप्ति और आत्म-विनाशमें कारण बनकर उसके साथ शत्रुताका काम करती है। अतः यदि तुम किसीको भगवान्‌में लगाते हो तो उसकी परम सेवा करते हो; क्योंकि इसीसे उसका भविष्य सुख-सौभाग्यमय, पवित्र, उन्नत होगा और वह अविनाशी पदको प्राप्त होगा। एवं यदि तुम भगवान्‌से हटाकर भोगोंमें लगाते हो तो तुम उसके प्रति बहुत बड़ा अपराध करते हो; क्योंकि भोगासक्ति मनुष्यके सब प्रकारसे पतनका कारण है। इतना ही नहीं, यदि तुम अपनी चित्तवृत्तिको भी भगवान्‌से हटाकर भोगोंमें लगाते हो तो अपने साथ भी शत्रुताका ही बर्ताव करते हो; क्योंकि तुम ऐसा करके आप ही अपनेको पतन तथा विनाशके पथपर बढ़ाये ले जाते हो। अतः सावधानीके साथ ऐसा आचरण करो, जिससे तुम स्वयं भोगोंकी ओर न लगकर भगवान्‌की ओर अग्रसर हो सको और दूसरोंको भी भगवान्‌की ओर लगा सको। इसीमें तुम्हारा सौभाग्य है और इसीमें सच्ची लोकसेवा है।

याद रक्खो—भगवान्, परलोक तथा कर्मफलकी सच्ची सत्ताको स्वीकार करनेसे भगवान्‌में वृत्ति सुगमतासे लगती है, अतएव इन्हें स्वीकार करके इनसे लाभ उठाओ और अपना जीवन सफल करो।

'शिव'

शरीर-मीमांसा

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज)

[गताङ्क पृष्ठ ११३६ से आगे]

अब देखिये। जाग्रत्-स्वप्नमें सुख-दुःखका भोग दीख पड़ता है, क्योंकि यहाँ अन्तःकरण मौजूद रहता है; सुषुप्तिमें सुख-दुःखका भोग नहीं दीखता, क्योंकि वहाँ अन्तःकरण लक्षित नहीं होता। जीव तो तीनों अवस्थाओंमें एक ही रूपमें रहता है। यदि सुख-दुःखका भोग वस्तुतः जीवको होता तो वह सुषुप्तिमें भी दीख पड़ता, परंतु सुषुप्तिमें सुख-दुःखका भोग रहता नहीं, अतएव अन्वय-व्यतिरेकसे यह सिद्ध हुआ कि सुख-दुःखका भोग अन्तःकरणको ही होता है। अन्वय यानी जहाँ अन्तःकरण है, वहाँ भोग भी है; और व्यतिरेक यानी जहाँ अन्तःकरण नहीं है, वहाँ सुख-दुःखका भोग भी नहीं है। अतएव सुख-दुःखका भोग वस्तुतः जीवको नहीं, बल्कि अन्तःकरणको होता है। यह बात साधकको खूब दृढ़ करनी चाहिये; क्योंकि यदि यह विश्वास पक्का हो जाय कि सुख-दुःखके भोगके साथ आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है, तो जीवके भवबन्धन छूटनेमें बड़ी सुविधा हो जाय।

सूक्ष्म शरीरको एक रूपकद्वारा इस प्रकार समझा सकते हैं। दस इन्द्रियाँ तो रथरूप हैं, सब जड होनेके कारण स्वतन्त्र रूपसे कुछ भी करनेमें समर्थ नहीं हैं। प्राण गतिशील है, अतएव उसको इस रथका घोड़ा कह सकते हैं। इस रथमें अन्तःकरण राजाके समान बैठा है और सारे सूक्ष्म शरीरका नियमन कर रहा है और इसके साथ ही स्थूल शरीरका नियमन भी होता जाता है।

यहाँतक हमने यह पक्का कर लिया कि सारे कर्मोंको अन्तःकरण सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरके द्वारा सम्पादन करता है और इस कारण कर्मके फलरूप सुख-दुःखका भोग भी वही भोगता है। इस विषयमें गीताका प्रमाण लीजिये—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

अर्थात् प्रकृतिके गुणोंसे ही सारे कर्म सम्पादन होते हैं। प्रकृतिके गुण हैं सत्त्व, रज और तम—सूक्ष्म भावमें इन्हींके द्वारा कर्म सम्पादित होते हैं। यहाँ प्रकृतिके गुण और इनके कार्य शरीरसे अभिप्राय है। शरीरसे स्थूल-सूक्ष्म दोनों शरीरोंको समझना चाहिये। प्रकृतिके तीन गुणोंसे पञ्चमहाभूत उत्पन्न हुए हैं और पञ्चमहाभूतोंसे यह शरीर बना है। अर्थात् शरीरके द्वारा सारे कार्य सम्पादित होते हैं। यह श्रीभगवान्के श्रीमुखकी बात है। इसके ही प्रमाणके विवेचनमें भगवान् कहते हैं—'अहङ्कारविमूढात्मा'—अहङ्कारसे विमूढ़ होकर, अपना स्वरूप न जानकर आत्मा अपनेको जीव मान बैठा है। मैं आत्मा हूँ, कर्ता हूँ, ऐसा मानता है। वस्तुतः कर्ता तो अन्तःकरण है, परंतु उसमें अपना प्रतिबिम्ब देखकर जीव अपनेको कर्ता मानता है।

आगे चलकर श्रीभगवान् कहते हैं—

नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपञ्श्वसन्॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन् निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥

तत्त्ववित् अर्थात् जिसने अपने स्वरूपको जाना है ऐसा योगी यथायोग्य शारीरिक व्यापार करते हुए भी यह मानता है कि वह कुछ भी नहीं करता; क्योंकि उसको दृढ़ प्रतीति है कि इन्द्रियाँ अपना-अपना व्यवहार करती हैं, इनके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, मैं तो केवल इनका व्यवहार देखनेवाला हूँ।

पुनः दूसरे प्रसङ्गमें भी श्रीभगवान् कहते हैं—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति॥

पहले कह चुके हैं कि प्रकृतिके गुणोंद्वारा कर्म होते हैं, यहाँ कहते हैं कि प्रकृतिसे ही सारे कर्म होते हैं। यहाँ एक बात समझने योग्य है। कहीं तो गुणोंको प्रकृतिका कार्य अर्थात् उससे उत्पन्न होनेवाला कहते हैं। जैसे 'सर्वैः प्रकृतिजैर्गुणैः।' यहाँ गुणोंको 'प्रकृतिज' कहा है अर्थात् प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाला, जैसे आत्मज, पङ्कज आदि। दूसरी जगह प्रकृतिको 'त्रिगुणात्मिका' या 'गुणमयी' कहा है, अर्थात् तीन गुण प्रकृतिके स्वरूप हैं, उसके कार्य नहीं। यह बात दोनों प्रकारसे ठीक है और वस्तुस्थितिको समझनेमें कोई गड़बड़ी नहीं होती। हम तो इसको इस प्रकार समझते हैं

कि प्रकृतिसे या उसके गुणोंसे कार्य-सम्पादनका अर्थ है शरीरसे सारे कार्य सम्पादन होते हैं। इसमें कोई गड़बड़ी भी नहीं होती। दूसरी गड़बड़ी यह आती है कि पहले तो अज्ञानके कारण जीव अपनेको कर्ता मानता है, ऐसा कहा। अब स्पष्ट कहते हैं कि जीव अपनेको कर्ता नहीं मानता है।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टा नु पश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥
गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते॥

ये दो श्लोक पूर्ण साधन हैं। यदि इनको ठीक समझकर हृदयमें उतार लिया जाय तो दूसरा कोई साधन न करना पड़े। **'यदा नु द्रष्टा गुणेभ्यः अन्यं कर्त्तारं न पश्यति'** अर्थात् जब निश्चयपूर्वक द्रष्टा अर्थात् जीव गुणोंसे दूसरा कोई, यानी शरीरसे दूसरा कोई कर्त्ता है, ऐसा नहीं मानता। अर्थात् जब जीव यह मानता है कि सारे कर्म शरीरसे ही सम्पादन होते हैं और निश्चयपूर्वक यह भी मानता है कि मैं शरीरसे पृथक् हूँ, तब जीव मद्भाव अर्थात् परमात्मभावको प्राप्त करता है। संक्षेपमें इस श्लोकका यही अर्थ हुआ कि जब जीव अपनेको शरीरसे भिन्न मानता है और यह निश्चय कर लेता है कि सारे कर्म शरीरसे ही सम्पादित होते हैं, तब उसका जीवभाव छूट जाता है और वह अपने परमात्मस्वरूपमें स्थिर हो जाता है।

देही देहसमुद्भवान् एतान् त्रीन् गुणान् अतीत्य, जन्ममृत्युजरादुःखैः विमुक्तः (भवति) (च) अमृतम् अश्नुते। **देही** अर्थात् जीव (ऊपरके श्लोकमें जीवको द्रष्टा और यहाँ देही कहा है)। **देहसमुद्भवान्**—जिससे देह उत्पन्न होता है, **एतान् त्रीन् गुणानतीत्य**—ऊपर बताये प्रकृतिके तीन गुणोंसे परे होकर। तात्पर्य यह है कि जिनसे शरीर उत्पन्न होता है, उन प्रकृतिके तीनों गुणोंसे जीव जब अपनेको अलग मानता है तब **जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तः (भवति)**—जन्म-मृत्यु और वृद्धावस्थाके दुःखसे छूट जाता है और **'अमृतम् अश्नुते'** अमृतपदको भोगता है। सारांश यह है कि जीव जब 'मैं देह हूँ'—यह भाव छोड़ देता है और स्वरूपमें स्थित होता है, तब अपनेको देहसे पृथक् मानता है (देही या द्रष्टाके रूपमें) और इससे जन्म-मृत्यु और जरा—जो शरीरके दुःख हैं उनसे मुक्त हो जाता है और अन्तमें परमात्मस्वरूपको प्राप्त करता है अर्थात् अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है। श्रीशंकराचार्यने कहा है—

'नाहं कर्त्ता बन्धमोक्षौ कुतो मे।'

गीतामें कहा है—

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥
अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥
तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥

बहुत समझने योग्य श्लोक है। हमें तो केवल जीवका अकर्तृत्व सिद्ध करना है। अतएव उतना ही विचार किया जायगा। भगवान् कहते हैं कि कायिक, वाचिक और मानसिक कार्य सम्पादन करनेमें पाँच कारण हैं—(१) अधिष्ठान अर्थात् उपादान कारण, (२) कर्ता अर्थात् निमित्त कारण, (३) **करणं च पृथग्विधम्** अर्थात् विविध साधन, (४) **विविधाः च पृथक् चेष्टा** अर्थात् विभिन्न प्रकारकी क्रियाएँ, (५) दैवम् अर्थात् दैवकी अनुकूलता। इस प्रकार कोई भी कर्म इन पाँच कारणोंसे ही निष्पन्न होता है। तथापि जो दुर्मति बात ठीक न समझनेके कारण अपनेको कर्त्ता मानता है, वह अंधा ही है। यह हस्तामलकवत् स्पष्ट बात भी समझमें न आवे तो उसे अंधा न कहें तो और क्या कहेंगे?

इन पाँच कारणोंपर कुछ ध्यान देना आवश्यक है। एक घड़ा बनाना है। पहले, उसका उपादान कारण मिट्टी चाहिये, दूसरा, निमित्त कारण कुम्भकार होगा। तीसरे, घड़ा बनानेके अन्यान्य साधन जैसे चक्र, उसको घुमानेवाला दण्ड, पानीका कूँड़ा, बासन काटनेकी डोर और पाँचवाँ, दैवयोग भी अनुकूल होना चाहिये।

जीवको बन्धनमें देनेवाले पाँच क्लेश भी इस अन्तःकरणमें ही रहते हैं—(१) अविद्या, अर्थात् विपरीत बुद्धि—उल्टी समझ, दुःखमें सुख-बुद्धि, अपवित्रमें पवित्र-बुद्धि तथा जो क्षणभङ्गुर है, उसे नित्य मानना, (२) अस्मिता अर्थात् द्रष्टा और दृश्यकी एकात्मता, (३, ४) राग और द्वेष, अनुकूल और प्रतिकूल भावोंका होना। (५) अभिनिवेश—मृत्युभय अथवा मताग्रह। अनुभवप्रकाशके कर्त्ता स्वामी विशुद्धानन्दका मत है कि अभिनिवेशका अर्थ है अपने मतका आग्रह, अर्थात् जो मैं कहता हूँ, वही सत्य है।

इस प्रकार जीवको अपने स्वरूपको जाननेके मार्गमें

बाधक दोष भी इस अन्तःकरणमें ही रहते हैं। वे मल, विक्षेप और आवरण नामसे पुकारे जाते हैं। मल अर्थात् पाप जो संचित कर्मोंके साथ चित्तमें रहता है। विक्षेप अर्थात् अन्तःकरणकी चञ्चलता जो मनमें रहती है और तीसरा आवरण अर्थात् पर्दा, जो बुद्धिमें रहता है। बुद्धि जो भले-बुरेका निश्चय करती है, यह जबतक न छोड़े तबतक जीवकी स्वरूपमें स्थिति नहीं होती है, यही आवरण है।

इसलिये जबतक निष्काम कर्मसे अथवा परमेश्वरके किसी भी नामका जप करनेसे या दूसरे किसी उपायसे पापका नाश नहीं होता, विवेकयुक्त वैराग्यके द्वारा विषयोंमेंसे आसक्ति नहीं दूर होती और मनका संकल्प-विकल्प बंद नहीं होता तथा जबतक अन्तःकरण चञ्चल रहता है और इस कारण उसमें ज्ञानका उदय नहीं होता, यानी जीव अपने स्वरूपमें नहीं आ जाता, तबतक साधकको चाहिये कि निष्काम कर्मसे, नाम-जपसे या शास्त्रोक्त दूसरे उपायोंसे पापका नाश करे, जिससे पुण्यका उदय हो। पश्चात् विवेकयुक्त वैराग्यसे तथा विषयोंमें दोषदर्शनसे संसारके भोगोंसे आसक्ति छोड़ दे, इससे अन्तःकरण अपने आप निश्चल होगा और उसके बाद ज्ञानका साधन करनेसे आवरण-भङ्ग हो जायगा और स्वरूपमें स्थिति हो जायगी।

इन तीन शरीरोंमें एक चमत्कारकी बात यह है कि कोई शरीर अकेला नहीं रह सकता। कम-से-कम दो शरीरोंको एक साथ रहना ही चाहिये। स्थूल शरीरका आधार प्रारब्ध कर्मके भोगके ऊपर है। अतएव प्रारब्धका भोग भोग लेनेके बाद यह अपने आप नाशको प्राप्त होता है। इसके नाशके लिये कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। सूक्ष्म शरीरका अवलम्बन संचित कर्म है, अर्थात् जबतक संचित कर्म हैं, तबतक उसका नाश नहीं होता। कारण-शरीरका आधार अज्ञान है, अर्थात् जबतक अज्ञान है तबतक यह नाशको नहीं प्राप्त होता अतएव जन्म-मरणके बन्धनसे छूटना हो तो ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, ज्ञानके होते ही अज्ञान नष्ट हो जायगा और तब कारण-शरीर नष्ट हो जायगा। गीतामें श्रीभगवान्ने श्रीमुखसे कहा है—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥

अर्थात् जैसे लौकिक अग्नि काष्ठको जला डालती है, उसी प्रकार ज्ञानरूपी अग्नि सारे कर्मोंको जला देती है। यहाँ सारे कर्मका अर्थ संचित कर्म है; क्योंकि प्रारब्ध कर्म तो भोगसे अपने आप नाशको प्राप्त होता है। संचित कर्म जब नाशको प्राप्त होता है तो सूक्ष्म शरीरका अवलम्बन नष्ट हो जाता है, अर्थात् वह निर्बल बन जाता है; परंतु स्थूल शरीरको निभानेका कार्य कर सकता है। प्रारब्ध क्षय होनेपर स्थूल शरीर नष्ट हो जानेपर सूक्ष्म शरीर अकेला नहीं रह सकता और उसका पोषण बंद हो जानेपर वह टिक नहीं सकता, यानी विच्छिन्न हो जाता है और नाशको प्राप्त होता है।

ज्ञानी अन्तःकरणको निर्मल अर्थात् वासना-शून्य बनाता है। ऐसे विशुद्ध अन्तःकरणमें संशय-विपर्यय-रहित तत्त्वज्ञानका उदय होता है। अर्थात् 'मैं सत्-चित्-आनन्दरूप आत्मा हूँ, स्वभावसे निर्विकल्प—निर्विकार हूँ अर्थात् मुक्त हूँ।' ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाता है। इस प्रकारके ज्ञानके उदयसे अज्ञान नाशको प्राप्त होता है, उसी प्रकार जिस प्रकार दीपसे अन्धकारका नाश होता है। अज्ञानका नाश होनेपर कारण-शरीरका नाश हो जाता है। उसी क्षणसे ज्ञानी जीवन्मुक्त होकर विचरण करता है। जबतक प्रारब्धका क्षय नहीं हो जाता, तबतक उसके शरीरसे यथायोग्य व्यवहार होता रहता है, पर वे कर्म उसके बाधक नहीं होते। प्रारब्धका भोग समाप्त होनेपर स्थूल शरीर अपने आप नाशको प्राप्त होता है और सूक्ष्म शरीर अकेला न रह सकनेके कारण विच्छिन्न होकर अपने-अपने उपादानमें मिल जाता है। उसका प्राण महाप्राणमें मिल जाता है, यह बतलाते हुए श्रुति कहती है—

'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ते।'

अर्थात् ज्ञानीके प्राण फिर दूसरे शरीरमें प्रविष्ट नहीं होते।

अब हम इस लेखमें प्रारम्भमें आये प्रश्नकी ओर लौटते हैं। पहला प्रश्न यह था कि जन्म-मरण जो प्रत्यक्ष दीखता है, वह क्या है? इसका सहज उत्तर यह है कि स्थूल देह ही जन्मता है और यही नाशको प्राप्त होता है। स्थूल देहके नष्ट होनेपर सूक्ष्म देह तथा कारण देह नाशको प्राप्त नहीं होते।

दूसरा प्रश्न यह था कि जीव विभिन्न योनियोंमें भटकता है, यह क्या है? जब प्रारब्ध कर्म पूरा-पूरा भोग लिया जाता है, तब स्थूल देह अपने आप नाशको प्राप्त होता है। अर्थात् सूक्ष्म तथा कारण शरीर स्थूल देहको छोड़ देते हैं और नवीन प्रारब्धके अनुसार दूसरा स्थूल देह धारण करते हैं।

एक योनिसे दूसरी योनिमें भ्रमण होता है सूक्ष्म देहका; परंतु जीव अपना प्रतिबिम्ब अन्तःकरणमें देखकर भ्रान्तिसे अपनेको उसके साथ आवागमन करता हुआ मानता है । जो वस्तु सर्वव्यापक है, वह कहाँ और कैसे आ-जा सकती है ? अर्थात् कहीं आ-जा नहीं सकती । यहाँ यह समझने योग्य बात है कि अन्तःकरण जहाँ जाता है, वहाँ आत्माका प्रतिबिम्ब साथ-साथ रहता है । यह समझनेके लिये दर्पणका उदाहरण लेना पड़ेगा । दर्पण हाथमें लेकर उसे चित रखकर खुली जगहमें घूमे तो दर्पणमें आकाशका प्रतिबिम्ब पड़ेगा ही, घरमें चलें तो सिरके ऊपर छत या छप्पर जो कुछ होगा, उसका प्रतिबिम्ब पड़ेगा । उसको उलट दें तो जिस वस्तुके ऊपर दर्पण होगा उसका प्रतिबिम्ब उसमें पड़ेगा, भले ही बाहर हमें न दीखे । सारांश यह है कि जबतक दर्पण है तबतक उसमें प्रतिबिम्ब पड़ेगा ही । इसी प्रकार अन्तःकरण जहाँ रहेगा अथवा जहाँ जायगा वहाँ प्रतिबिम्बसहित ही रहेगा । इसी कारण, अर्थात् प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेकी अन्तःकरणकी इस शक्तिका कारण यह आत्माकी मुख्य उपाधि परिगणित होता है । कारण यह है कि अन्तःकरण इस प्रकार कार्य करता है मानो वह स्वयं चैतन्य हो । प्रस्तुत प्रसङ्गमें जीवके बदले आत्मा शब्द इसकी सर्वव्यापकता जतलानेके लिये ही व्यवहृत हुआ है । **(अतति व्याप्नोति इति आत्मा)** वस्तुतः भ्रम जीवको ही होता है ।

हमारा तीसरा प्रश्न था कि कर्मका फल भोगनेवाला कौन है ? स्पष्ट है कि जो कर्म करता है वही उसके अच्छे-बुरे फलको भोगता है । कर्म कोई करे और फल दूसरा भोगे—ऐसा अन्याय ईश्वरके राज्यमें नहीं होता । अतः अब यह देखना रहा कि कर्मका कर्ता कौन है । स्थूल शरीर तो बिल्कुल जड है, अतएव उसमें कर्तापन नहीं हो सकता । आत्मा अक्रिय और शान्त सत्तामात्र है, उसमें भी कर्तापन नहीं हो सकता । अब शेष रहा सूक्ष्म शरीर और यही कर्मका कर्ता है । आत्माके सांनिध्यसे शक्तिशाली बनकर अहङ्कारपूर्वक भले-बुरे कर्म सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीरके द्वारा सम्पादन करता है और इन कर्मोंके फलके रूपमें सुख-दुःख आदि भोग भी यही भोगता है और इस भोगको भोगनेके लिये अनेक योनियोंमें भ्रमण भी सूक्ष्म शरीर ही करता है । जीवात्मा तो केवल भ्रमसे अपनेको कर्ता मानता है और न होनेपर भी जन्म-मरणका अनुभव करता हुआ नाना प्रकारके सुख-दुःख भोगता है । सूक्ष्म शरीरसे भ्रमवश आत्माका तादात्म्य होनेसे वही जीव कहलाता है और इसी कारण वह सुख-दुःखका भोक्ता हो जाता है ।

हमने देखा कि शरीर तीन हैं । स्थूल शरीर लोहे और काष्ठके समान पूर्णतः जड है । कारण शरीर तो नाममात्र है, क्योंकि वह शरीर नहीं है । संसारचक्रको चलानेका कारणरूप होनेसे उसका नाम कारण शरीर है । इस संसारमें सारा तूफान मचानेवाला तो यह सूक्ष्म शरीर है और उसमें भी मुख्य है—अन्तःकरण । इस अन्तःकरणके प्रतापसे ही यह संसारका बगीचा दृष्टिगोचर हो रहा है । आत्मामें जीवभाव भी इस अन्तःकरणमें प्रतिबिम्बित होनेसे ही आता है । अपना प्रतिबिम्ब देखकर आत्मा अपनेको अन्तःकरण मान लेता है । यही पुरुषका 'प्रकृतिस्थ' होना है । फलतः दूसरेके सुख-दुःख और जन्म-मरणको स्वयं भोगने लगता है । जिस प्रकार कि 'गाड़ीका भार श्वान खींचता है ।'

अब मनुष्य-शरीरको देखिये । इसी शरीरमें रहकर नर नारायण हो सकता है । सारे मानव-शरीरकी बनावट एक-सी है । सब पञ्चमहाभूतके बने हैं । स्थूल शरीरमें रहकर उसे चेतन बनानेवाला सूक्ष्म शरीर भी सबका एक ही उपादानसे बना है । कारण शरीर अर्थात् अज्ञान भी सबमें एक-सा है । तथापि संसारमें व्यवहारकी विभिन्नता क्यों है, यह प्रश्न उठे बिना नहीं रहता । किसीका स्वभाव क्रूर है, किसीका शान्त । किसीको धर्म प्रिय है तो किसीकी पापाचरणमें रुचि है । कोई भोगमें आसक्त दीखता है, तो कोई त्यागमय जीवन पसंद करता है । कोई प्रवृत्तिपरायण है तो कोई निवृत्तिपरायण—इस प्रकार स्वभाव और आचरणमें विरोध और विभिन्नता दीख पड़ती है, वैसे ही सुख-दुःखके भोग भी विभिन्न दीख पड़ते हैं । इसका कारण यह है कि सबके अन्तःकरणके संस्कार विभिन्न हैं, अतएव रुचि भी विभिन्न है तथा प्रारब्धके भोग भी विभिन्न होने चाहिये । अतएव सुख-दुःखके भोगमें तारतम्य होना चाहिये और वैसा ही देखनेमें आता है ।

* * *

मनको संयत और एकाग्र करनेके उपाय

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

मनुष्यको यह शरीर अपना कल्याण करनेके ही लिये मिला है। मनुष्येतर जितनी भी योनियाँ हैं वे सभी भोगयोनियाँ हैं; उनमें यदि किसी प्राणीका कल्याण हो गया है तो वह एक अपवाद (रियायत) है। पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग आदि योनियोंमें तो बुद्धिकी मन्दताके कारण परमात्माके तात्त्विक यथार्थ ज्ञानको प्राप्त करनेकी योग्यता नहीं है और यथार्थ ज्ञान हुए बिना कल्याण होना सम्भव नहीं। कहा भी है—'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।' देवताओंमें बुद्धि तो तीक्ष्ण है, किंतु स्वर्गमें भोगोंकी बहुलता होने और देवताओंकी विषयोंमें आसक्ति होनेके कारण परमात्माको पानेके लिये रुचि तथा प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिये उनका कल्याण होनेमें कठिनाई है तथा उन्हें अधिकार भी प्राप्त नहीं है। पर मनुष्यका उसमें अधिकार है। ऐसे अधिकारको पाकर भी यदि मनुष्य कल्याणसे वञ्चित रहे तो यह उसका प्रमाद है और घोर पश्चात्तापका विषय है। श्रीरामचरितमानसमें बताया गया है—

बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा ॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा ॥
सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ ॥
(उत्तर० ४२। ४; ४३)

मनुष्यके कल्याणमें सबसे प्रधान बाधक बुद्धि, मन और इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंमें आसक्त होकर उन सबके अधीन हो जाना ही है; क्योंकि विषयोंमें आसक्तिवाले प्रयत्नशील विवेकी मनुष्यकी इन्द्रियाँ भी बलात्कारसे उसके मनको विषयोंकी ओर आकर्षित कर लेती हैं (गीता २। ६०)। इसलिये साधकको मनके द्वारा सभी इन्द्रियोंको वशमें करके परमात्माके शरण हो जाना चाहिये (गीता २। ६१)। जबतक मन वशमें नहीं होता तबतक परमात्माकी प्राप्ति होना बहुत ही कठिन है। भगवान् कहते हैं—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥
(गीता ६। ३६)

'जिसका मन वशमें किया हुआ नहीं है, ऐसे पुरुषद्वारा योग दुष्प्राप्य है और वशमें किये हुए मन-वाले प्रयत्नशील पुरुषद्वारा साधनसे उसका प्राप्त होना सहज है—यह मेरा मत है।'

अतः मनको अपने वशमें और स्थिर करनेके लिये शास्त्रोंमें जो बहुत-से उपाय बताये हुए हैं उनमेंसे किसी भी उपायके द्वारा मनको निगृहीत और स्थिर करना परम आवश्यक है। मनकी चञ्चलता तो प्रत्यक्ष है। अर्जुनने भी मनके चञ्चल होनेके कारण इसको वशमें करना कठिन बताया है (गीता ६। ३३-३४), किंतु भगवान् अर्जुनके कथनका समर्थन करते हुए मनको रोकना कठिन मानकर भी इसका उपाय बतलाते हैं—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥
(गीता ६। ३५)

'हे महाबाहो! निस्संदेह मन चञ्चल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है, परंतु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह अभ्यास और वैराग्यसे वशमें होता है।'

महर्षि पतञ्जलिने भी कहा है—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।
(योगद० १। १२)

'अभ्यास और वैराग्यसे चित्तवृत्तियोंका निरोध होता है ।'

अभ्यासका रूप बतलाते हैं—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः । (योगद० १ । १३)

'उन दोनोंमेंसे स्थितिके लिये जो प्रयत्न करना है, वह 'अभ्यास' है ।'

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः । (योगद० १ । १४)

'परंतु वह अभ्यास लंबे समयतक, निरन्तर (लगातार) और आदरपूर्वक साङ्गोपाङ्ग सेवन किया जानेपर दृढ़ अवस्थावाला होता है ।'

इस अभ्यासके अनेक प्रकार हैं । जैसे—

(१) जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँ ही परमात्माके स्वरूपका अनुभव करना और वहीं मनको परमात्मामें लगा देना; क्योंकि परमात्मा सब जगह सदा ही व्यापक हैं; कोई भी ऐसा स्थान या काल नहीं, जहाँ परमात्मा न हों ।

(२) मन जहाँ-जहाँ संसारके पदार्थोंमें जाय, वहाँ-वहाँसे उसको विवेकपूर्वक हटाकर परमात्माके स्वरूपमें लगाते रहना (गीता ६ । २६) ।

(३) विधिपूर्वक एकान्तमें बैठकर सगुण भगवान्‌का ध्यान करना । भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥
(६ । ११-१४)

'शुद्ध भूमिमें, जिसके ऊपर क्रमशः कुशा, मृगछाला* और वस्त्र बिछे हैं, जो न बहुत ऊँचा है और न बहुत नीचा; ऐसे अपने आसनको स्थिर स्थापन करके उस आसनपर बैठकर, चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको वशमें रखते हुए मनको एकाग्र करके अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये योगका अभ्यास करे । काया, सिर और गलेको समान एवं अचल धारण करके और स्थिर होकर अपनी नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर अन्य दिशाओंको न देखता हुआ, ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित, भयरहित तथा भलीभाँति शान्त अन्तःकरणवाला सावधान योगी मनको रोककर मुझमें चित्तवाला और मेरे परायण होकर स्थित होवे ।'

छठे अध्यायके इस चौदहवें श्लोककी गीतातत्त्वविवेचनी टीकामें ध्यानके लिये सगुण भगवान्‌के विभिन्न कुछ स्वरूपोंका निरूपण किया हुआ है उनको पढ़कर उनमेंसे अपनी श्रद्धा, विश्वास और रुचिके अनुरूप किसी भी एक स्वरूपका ध्यान ऊपर बतायी हुई विधिसे करना चाहिये ।

(४) एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही हैं—ऐसा दृढ़ निश्चय करके तीक्ष्ण बुद्धिके द्वारा उस आनन्दमय परमात्माका ध्यान करना । भगवान् गीतामें बतलाते हैं—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥
(६ । २१)

'इन्द्रियोंसे अतीत, केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा ग्रहण करने योग्य जो अनन्त आनन्द है उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित

---

* मृगचर्म अपनी मौतसे मरे हुए मृगका होना चाहिये, जान-बूझकर मारे हुए मृगका नहीं । हिंसासे प्राप्त मृगचर्म साधनमें सहायक नहीं हो सकता । पवित्र मृगचर्मके अभावमें ऊन और कुशाका आसन ही पर्याप्त है ।

वह योगी परमात्माके स्वरूपसे विचलित होता ही नहीं, (वह योग निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है)।'

इस प्रकार समझकर निर्गुण-निराकार परमात्माका ध्यान करनेसे परमात्माके यथार्थ तत्त्वका अनुभव होनेपर मन-बुद्धि अचल और स्थिर हो सकते हैं।

(५) पहले सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग करके, विवेकपूर्वक मनके द्वारा इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर, धीरे-धीरे उपरत होकर मनको एक सच्चिदानन्दघन निर्गुण निराकार ब्रह्ममें लगा देना।

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥
(गीता ६। २५)

'क्रम-क्रमसे अभ्यास करता हुआ उपरतिको प्राप्त हो तथा धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा मनको परमात्मामें स्थित करके परमात्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे।'

(६) निष्काम कर्मद्वारा पदार्थों और कर्मोंमें आसक्तिसे रहित एवं सम्पूर्ण संकल्पोंसे रहित हो जाना। भगवान् कहते हैं—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥
(गीता ६। ४)

'जिस कालमें न तो इन्द्रियोंके भोगोंमें और न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस कालमें सर्वसंकल्पोंका त्यागी पुरुष योगारूढ कहा जाता है।'

(७) कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग—कोई भी साधन क्यों न हो, उसमें मनुष्यका आहार-विहार, भोजन, क्रिया, सोना, जागना—सभी यथायोग्य और उचित होना चाहिये (गीता ६। १७)। ये सब यथायोग्य न होनेसे किसी भी योगकी सिद्धि सम्भव नहीं है और इनके यथायोग्य होनेपर जब योग सिद्ध हो जाता है तब मनुष्यका चित्त वैसे ही निगृहीत, अचल और स्थिर हो जाता है जैसे वायुरहित स्थानमें दीप-शिखा (गीता ६। १९)।

गीताके छठे अध्यायमें भगवान्ने आत्मा यानी शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धिके संयमके बहुत-से उपाय बताये हैं, इसीलिये इस अध्यायका नाम ही है आत्म-संयमयोग। उनमेंसे कुछ उपायोंका ऊपर दिग्दर्शन कराया गया है। इन उपायोंमेंसे कोई-सा भी उपाय करें तो मन संयत और स्थिर होकर परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। गीतादि शास्त्रोंमें और भी बहुत-सी युक्तियाँ हैं, उनको विवेकपूर्वक भलीभाँति समझकर काममें लाना चाहिये।

(८) अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर सबके द्वारा सब प्रकारसे ईश्वरके शरण हो जाना। योगदर्शनमें बताया गया है—

ईश्वरप्रणिधानाद् वा। (१। २३)

'ईश्वरकी शरणागतिसे भी (समाधिकी सिद्धि शीघ्र हो सकती है)।'

(९) प्राण और मनका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्राणोंके निरोधसे मनका निरोध हो जाता है और मनके निरोधसे प्राणोंका निरोध हो जाता है। इसलिये प्राणायामका साधन करना चाहिये। श्रीपतञ्जलिजी बताते हैं—

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य।
(योगद० १। ३४)

'प्राणवायुको बारंबार बाहर निकालने और रोकनेके अभ्याससे भी चित्त निर्मल होकर एकाग्र हो जाता है।'

भगवान् श्रीकृष्णने भी गीताके चौथे अध्यायके २९वें, ३०वें श्लोकोंमें यज्ञके रूपकसे प्राणायामको

परमात्माकी प्राप्तिका साधन माना है। इसके सिवा, वहाँ श्लोक २४ से २८ तक और भी दस साधन बताये हैं, जो सभी मनको एकाग्र और वशमें करनेके लिये परम लाभदायक हैं।

(१०) जैसे उन्मत हाथीको वशमें करना कठिन है उसी प्रकार मनको वशमें करना बड़ा कठिन है; फिर भी जैसे हाथी अङ्कुशसे वशमें हो जाता है वैसे ही यह मन साधनसे वशमें हो जाता है। मनपर विजय प्राप्त करनेके उपाय योगवासिष्ठमें इस प्रकार बतलाये गये हैं——

अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसङ्गम एव च।
वासनासम्परित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम्॥
एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल।
(उपशमप्रकरण, ९२। ३५, ३५½)

'अध्यात्मविद्याकी प्राप्ति, साधु-संगति, वासनाका सर्वथा परित्याग और प्राणस्पन्दनका निरोध——ये ही युक्तियाँ चित्तपर विजय पानेके लिये निश्चित रूपसे दृढ़ उपाय हैं।'

अभिप्राय यह कि अध्यात्मविषयक शास्त्रोंका मनन करके उनका ज्ञान प्राप्त करनेसे, अध्यात्मविषयके ज्ञाता श्रेष्ठ पुरुषोंका सङ्ग करके उनसे अध्यात्म और ध्यान आदिके विषयमें वार्तालाप करने और उनसे मनको रोकनेकी युक्तियाँ सुन-समझकर उनके अनुसार अभ्यास करनेसे, सांसारिक विषयभोगोंकी वासनाओंको अत्यन्त हानिकारक समझकर विचारद्वारा उनका भलीभाँति त्याग करनेसे तथा युक्तिपूर्वक प्राणायाम करनेसे मन वशमें और एकाग्र होता है।

ऊपर अभ्यासके कई प्रकार बतलाये गये। जैसे अभ्याससे मन वशमें होकर निरुद्ध हो जाता है इसी प्रकार संसारसे वैराग्य होनेपर भी हो जाता है। वैराग्यका रूप श्रीपतञ्जलिजीने इस तरह बतलाया है——

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।
(योगद० १। १५)

'देखे और सुने हुए विषयोंमें सर्वथा तृष्णारहित चित्तकी जो वशीकार नामक अवस्था है वह वैराग्य है।'

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्। (योगद० १। १६)

'पुरुषके ज्ञानसे जो प्रकृतिके गुणोंमें तृष्णाका सर्वथा अभाव हो जाना है वह 'परवैराग्य' है।'

संसारसे वैराग्य होनेके अनेक उपाय हैं—

(१) परमात्माका यथार्थ ज्ञान होनेपर स्वतः ही वैराग्य हो जाता है।

(२) जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख और दोषोंका बार-बार विचार करनेसे भी वैराग्य होता है——

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्।
(गीता १३। ८ का उत्तरार्ध)

श्रीपतञ्जलिजी कहते हैं——

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च
दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। (योगद० २। १५)

'परिणामदुःख, तापदुःख और संस्कारदुःख—ऐसे तीन प्रकारके दुःख सबमें विद्यमान रहनेके कारण और तीनों गुणोंकी वृत्तियोंमें परस्पर विरोध होनेके कारण विवेकीके लिये सब-के-सब कर्मफल दुःखरूप ही हैं।'

भाव यह कि संसारके पदार्थ, विषयभोग और शरीर——सभी प्रत्यक्ष ही दुःखरूप, परिणामी, क्षणभङ्गुर और विनाशशील हैं; स्त्री, पुत्र, पति, शरीर, धन, सम्पत्ति आदि सभी पदार्थ प्रत्यक्ष ही कालके मुखमें जा रहे हैं—ऐसा विवेक-विचारपूर्वक समझनेसे स्वाभाविक ही संसारसे वैराग्य हो जाता है। भगवान्‌ने गीतामें बतलाया है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥
(५ । २२)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।'

(३) वीतराग महापुरुषोंके सङ्गसे भी वैराग्य उत्पन्न होकर चित्त वशमें हो सकता है।

(४) संसारके पदार्थों और भोगोंमें रमणीयता और सुखबुद्धि न रहनेसे भी वैराग्य हो जाता है।

(५) जिनमें भगवान्के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यका एवं जगत्के यथार्थ स्वरूपका वर्णन हो उन सत्-शास्त्रोंके अनुशीलनसे भी वैराग्य हो सकता है।

(६) भगवान्के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला, धामके सम्बन्धमें श्रद्धा-भक्तिपूर्वक श्रवण, मनन और चिन्तन करनेसे भी भगवान्में प्रेम हो जानेपर स्वतः ही संसारसे वैराग्य हो सकता है।

इसी तरह अभ्यास और वैराग्यके और भी अनेक प्रकार हैं। जिस किसी प्रकारसे हो, कल्याणकामी मनुष्योंको अपने मनको वशमें करके परमात्मामें तत्परतासे लगाना चाहिये। व्यवहारकालमें तो यह मन चञ्चल रहता ही है, एकान्तमें आत्मकल्याणके साधनके लिये बैठनेपर भी मन इधर-उधर भटकता रहता है। अतः यदि इसके निग्रहका उपाय नहीं किया जायगा तो अनादिकालसे अबतक जिस तरह समय बीतता आया है वैसे ही भविष्यमें बीतता रहेगा। इससे यह मनुष्यजन्मका अमूल्य समय व्यर्थ चला जायगा। अतः मनुष्यजन्मके समयको सार्थक बनानेके लिये शीघ्र-से-शीघ्र इस मनके निग्रहका साधन करना आवश्यक है; क्योंकि अनादिकालसे जो अनन्त दुःखोंकी प्राप्ति होती आ रही है, वह साधन करनेसे ही दूर हो सकती है।

यह मन ही मनुष्यका मित्र है और मन ही शत्रु है। जीता हुआ मन तो मित्र है और जो मन जीता हुआ नहीं है वह शत्रु है। भगवान् भी गीतामें कहते हैं—

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥
(६ । ६)

'जिस मनुष्यद्वारा मन और इन्द्रियोंसहित शरीर जीता हुआ है, उस मनुष्यका तो वह आप ही मित्र है और जिसके द्वारा मन और इन्द्रियोंसहित शरीर नहीं जीता गया है उसके लिये वह आप ही शत्रुके सदृश शत्रुतामें बर्तता है।'

भगवान्के इस कथनपर भलीभाँति ध्यान देना चाहिये और अपने सुधारके लिये तत्पर हो जाना चाहिये। मनुष्यका अभ्यास बड़ा प्रबल होता है। वह दिनमें जैसा मनन करता है, उसके अनुसार रात्रिमें स्वप्नमें भी प्रायः वैसा ही मनन स्वाभाविक होता रहता है। इसलिये हर समय ही भगवान्के स्वरूपका मनन करनेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये। नहीं तो, मनुष्यके अधिकारमें जो भी कुछ सम्पत्ति, बल, बुद्धि आदि पदार्थ हैं वे फिर क्या काम आयेंगे। मृत्यु होनेके पश्चात् ये सब यहीं रह जायँगे। अतः उनको और अपने सर्वस्वको लगाकर भी जिस किस प्रकारसे भी हो, मनको वशमें करनेके लिये वैराग्ययुक्त चित्तसे कटिबद्ध होकर प्राणपर्यन्त तत्परतापूर्वक प्रयत्न करना चाहिये।

समस्त जीवन ही साधन है

एक महात्माके प्रवचनका कुछ मार्मिक अंश

[यथाश्रुत, यथागृहीत]

(संकलयिता—श्री'माधव')

किसीकी बुराई नहीं सोचना, नहीं चाहना और नहीं करना—यही सही कार्य करनेकी भित्ति है। इतिहास और अनुभव इसका साक्षी है। दूसरोंके द्वारा अपने प्रति बुराई हो जाती है या दूसरोंके साथ अपने द्वारा बुराई हो जाती है। परंतु जो सुख किसीके दुःखसे आता है वह कालान्तरमें घोर दुःखमें परिवर्तित हो जाता है और इसी प्रकार जो दुःख किसीके सुखसे आता है, वह कालान्तरमें महान् आनन्दका कारण बन जाता है। हमें अपने लिये कुछ नहीं चाहिये, हमें अपने लिये कुछ नहीं करना है—यही साधकका सही मार्ग है। सुने हुएमें आस्था, श्रद्धा और विश्वास करनेसे ही साधक अपने सही मार्गपर चल सकता है।

कर्तव्य-पथपर सही-सही चलनेके लिये साधक इस बातका स्मरण रक्खेगा कि मैं दूसरोंको बुरा नहीं समझूँगा। दूसरेको बुरा समझनेका किसी व्यक्तिको अधिकार भी नहीं है। सबसे बुरी बुराई दूसरोंको बुरा समझना है और सबसे बड़ी सेवा दूसरोंको भला समझना है। कोई भी व्यक्ति सर्वांशतः सब समय सबके लिये बुरा नहीं होता। सही काम न करके कोई सही आदमी नहीं बनता, सही आदमी बनकर सही काम ही करना होता है। सही आदमीसे सही कार्य होता है और गलत आदमीसे गलत काम होता है। सही काम तो कभी-कभी दम्भपूर्वक भी हो सकता है, परंतु सही आदमी दम्भसे नहीं होता। सही आदमी सत्सङ्गसे बनता है। सत्सङ्ग स्वाधीनतापूर्वक किया जा सकता है। दूसरेको बुरा नहीं मानने, बुरा नहीं चाहने और बुरा नहीं करनेमें प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र है। अहंकार, ममता, कामना छोड़नेमें सभी स्वतन्त्र हैं। किये हुएका फल विनाशी है परंतु हमारी माँग अविनाशी है। इसीलिये मुझे अपने लिये कुछ भी नहीं करना है। जिसे अपने लिये कुछ भी नहीं करना है उसे मिली हुई वस्तु और योग्यतासे कोई कामना नहीं रहती। अतएव वह राग, काम और अहङ्कारसे मुक्त हो जाता है। वहाँ योग है, बोध है, प्रेम है। यदि आप आस्था, श्रद्धा और विश्वासके साथ प्रभुसे मिलते हैं तो आप भक्त हैं। भक्ति भक्तका स्वभाव है। भक्तमें भक्ति अविभक्त होती है। भक्ति भगवान्को रस देती है।

सत्सङ्गसे साधनकी अभिव्यक्ति होती है और असाधनकी निवृत्ति होती है। सत्सङ्गसे कामकी निवृत्ति होती है और चिरशान्ति मिलती है। सत्सङ्गसे जिज्ञासाकी पूर्ति होती है और बोधकी प्राप्ति होती है। सत्सङ्गसे प्रेमकी प्राप्ति होती है और रसरूप जीवनकी अभिव्यक्ति होती है एवं सत्सङ्गसे स्वधर्मकी अभिव्यक्ति होती है। सत्सङ्ग ही स्वधर्म है।

जिसकी कोई माँग हो, जिसपर कोई दायित्व हो, वही मानव है। सत्सङ्गका अर्थ न जाननेके कारण ही व्यक्तिगत जीवनमें असफलता और सामाजिक जीवनमें संघर्ष है। आज मानवने अपनेको अपनी ही भूलसे सर्वथा पराधीन, दीन-हीन बना लिया है। सत्सङ्गके बिना साधनकी अभिव्यक्ति नहीं होती। सत्सङ्गका फल है—साधन-परायणता, अखण्ड शान्ति, अगाध आत्मीयता। प्रभुके सिवा जो कोई अन्यपर आस्था, श्रद्धा, विश्वास नहीं करता, वही ईश्वरवादी है। सुने हुएमें यदि आस्था, श्रद्धा और विश्वास नहीं है तो वह व्यक्ति ईश्वरवादी कैसे है? साधन और जीवनमें भिन्नता नहीं होती। समस्त जीवन ही साधन है। वह तब होता है जब सत्सङ्गको अपनाया जाय।

मानव होनेके नाते तुम्हारा क्या मूल्य है ? यही मौलिक प्रश्न है। क्या स्वाधीनतापूर्वक रहना तुम पसंद नहीं करते ? यदि करते हो तो तुम्हें जगत्के लिये, प्रभुके लिये उपयोगी बनना है। जो अपने लिये अनुपयोगी होता है वह कहीं भी उपयोगी नहीं हो सकता। जिसे पराधीनता भाती है वह अपने लिये अनुपयोगी होता है। अतएव वह जगत्पतिके लिये अनुपयोगी हो जाता है। प्रश्न है कि क्या हम स्वाधीन नहीं हो सकते ? स्वाधीनताकी आवश्यकताका अनुभव करते ही आज अभी तुम स्वाधीन हो सकते हो। स्वाधीनताका अर्थ है—अपने अधीन। अपनेका अर्थ 'यह' और 'वह' नहीं हो सकता। 'यह' माने बुद्धिकी सीमाके अंदर, 'वह' माने बुद्धिकी सीमाके बाहर। कोई किसीको नयी बातें कह सकता है यह पागलपन है। ज्ञानवाली बात सीखने-सिखानेकी नहीं होती। ज्ञान सीखने-सिखानेकी चीज नहीं है। वह पोथीसे नहीं मिलता। जो किसी औरके द्वारा प्राप्त हो, वह ज्ञान नहीं। यदि आप स्वाधीन बनना चाहते हैं तो पराधीन किसने बनाया ? स्वाधीनताका अर्थ है जब आपको अपने लिये कुछ नहीं करना पड़े, कुछ नहीं चाहें, कुछ नहीं रक्खें। यदि आपको स्वाधीनता चाहिये तो कुछ मत चाहो, कुछ मत करो, कुछ न रक्खो। स्वाधीन होनेके बाद जगत्के लिये कर्तव्यनिष्ठ और प्रभुके लिये आत्मीयता स्वीकार करो। पराधीन जगत्के काम नहीं आ सकता, परमात्मासे नहीं मिल सकता। कुछ न करे, कुछ न चाहे, कुछ न रक्खे—यही स्वाधीनता है। न करनेमें, सामान न रखनेमें और कुछ भी नहीं चाहनेमें आप पराधीन हो नहीं सकते। पराधीन होकर, धर्मात्मा, ईश्वरनिष्ठ भक्त कोई हो नहीं सकता, न वह जगत्के लिये उपयोगी हो सकता है। स्वाधीन ही भक्त, मुक्त, शान्त और कर्तव्यनिष्ठ होता है। जगत्को, प्रभुको आपकी आवश्यकता है और तभी आप स्वाधीन हैं। स्वाधीनताका उपाय है सत्सङ्ग। सत्सङ्ग सत्-चर्चा नहीं, वह सत्-चिन्तन भी नहीं है, न सत्-कर्म ही है। सत्-चिन्तन बुद्धिके अधीन है, सत्कर्म शरीरके अधीन है। अपनेमें अपना करके कुछ नहीं चाहो। शरीरको गङ्गामें फेंकनेकी क्या आवश्यकता है ? यह शरीर तुम्हारा है क्या ? क्या सृष्टिसे शरीरका विभाजन हो सकता है ? करनेवाली बात हर बहन-भाईकी अलग-अलग होती है। नहीं करनेवाली बात सबकी एक ही होती है। नहीं करनेवाली बात हो चुकनेपर आपकी रचनाके अनुरूप करनेवाली बातें अपने-आप होने लगती हैं। सत्सङ्गसे शक्ति, मुक्ति, ईश्वरपरायणता आयेगी। सत्सङ्ग ही पुरुषार्थ है, जीवन है, साधन है। स्वाधीन व्यक्तिमें ही साधनकी अभिव्यक्ति होगी। साधन है—मिला हुआ जो कुछ है तुम्हारा नहीं है—यह सत्य है। जब मिला हुआ शरीर, वस्तु, योग्यता अपना नहीं तो फिर देखा हुआ संसार तुम्हारा कैसे ? कुछ नहीं करनेसे, कुछ नहीं चाहनेसे और कुछ नहीं रखनेसे मिले हुएका दुरुपयोग नहीं होता और तभी तुम होते हो कर्तव्यनिष्ठ। तब तुम्हारे द्वारा सभीके अधिकार सुरक्षित हो जायँगे और तुम हो जाओगे अधिकार-लिप्सासे रहित। तुम्हारा मूल्य जगत्से अधिक हो जायगा। तब जगत्के लिये तुम उपयोगी हुए। जब समस्त दृश्योंसे तुमने अपनेको विमुख कर लिया तब 'उन' के सम्मुख हुए जिनके तुम दृश्य थे—जिसे मीराँने अपना पति, ईसाने अपना पिता और मुहम्मदने अपना दोस्त कहा था। जब तुम अपना दृश्य छोड़ते हो तो दृश्य तुममें विलीन होकर द्रष्टामें विलीन हो जाता है। जिसकी सत्ता है उसमें आस्था रक्खो। आस्था सबसे अच्छेमें की जाती है। उसीमें विश्वास होता है। आस्था, श्रद्धा और विश्वास—एकहीके तीन रूप हैं। तुम आस्था उसमें करो जिसके तुम दृश्य हो

और ममता-कामना उनकी छोड़ो जो तुम्हारे दृश्य हैं। यही सत्सङ्ग है जिसका फल—बोध, प्रेम, योग है। यह मिलता है मानवको। यही मानवकी महिमा है। जो अपनी कीमत औरके आधारपर आँकता है वह मानव नहीं। मानव वह है जिसकी माँग जगत्‌को है, जिसकी माँग प्रभुको है। ऐसे मानवका निर्माण प्रभुने किया। यह प्रभुकी दया है।

सही काम करनेवालोंके लिये जगत्‌में सर्वत्र माँग है। सही काम करे और कुछ नहीं चाहे तो उसका मूल्य कैसे आँका जाय ? और फिर वह करे प्रेम तो उसकी कीमत ईश्वर भी नहीं चुका सकते। इतने मूल्यवान् मानवको बनाया प्रभुने। अचाह होकर, निरहंकार होकर और निर्मल होकर तुम सच्चे मानव बनोगे। अचाहसे असङ्गता आती है और सच्चे कर्तव्यकी अभिव्यक्ति होती है। यह है मानवकी महिमा। यह है तुम्हारे रचयिताकी महिमा, प्रभुकी महिमा। यह प्रभुको भी मोहित करती है—जगत्‌को तो मोहित करती ही है।

मधुर

प्रियतम श्रीकृष्णके अमिलनके विषम विरहानलसे संतप्त श्रीराधिकाजी कुंजके अंदर बैठी हैं। वे अत्यन्त विरह-व्याकुल हैं, हृदय व्यथासे भरा है और उनके जीवनमें सर्वत्र सब ओर विषाद छाया है। पर इस घोर दुःखमें भी एक परम सुख उन्हें प्राप्त है—वह है—'नित्य-निरन्तर बनी रहनेवाली प्रियतमकी मधुरतम स्मृति।'

विरहाकुल अति व्यथित हृदय है,
छाया है सब ओर विषाद।
एक परम सुख है,—'प्रियकी
है बनी निरन्तर प्यारी याद॥'

इसी समय एक सखीने आकर यह मङ्गल सुखद समाचार सुनाया कि 'श्यामसुन्दर आ गये।' इतना सुनते ही राधाजीकी सारी हृदय-व्यथा मिट गयी और विषाद परम आह्लादके रूपमें परिणत हो गया। वे उठीं और दर्शनके लिये आर्त्त-विह्वल होकर प्रियतमकी ओर भाग चलीं। मैं कौन हूँ, कहाँ हूँ, क्यों भाग रही हूँ—प्रियतमके प्रेममें निमग्न होकर वे यह सब भूल गयीं।

'श्याम आ गये' इसी समय,
यह सखिने दिया सुखद संवाद।
सुनते ही, उर-व्यथा मिट गयी,
बना विषाद परम आह्लाद॥
उठी, दर्शनातुर विह्वल हो,
भाग चली प्रियतमकी ओर।
कौन, कहाँ, क्यों भाग रही मैं,
भूली होकर प्रेमविभोर॥

वह नशेमें चूर-सी डगमगाती हुई दौड़ी और तुरंत कुंजके द्वारपर जा पहुँची। वहाँ जाकर देखा प्राणधन श्रीनन्दकुमार श्यामसुन्दर खड़े मधुर-मधुर मुसका रहे हैं। दोनोंने परस्पर एक-दूसरेके उस सुख-सार अनुपम मुखचन्द्रको देखा, जो असंख्य चन्द्रमाओंको लजानेवाला था और दोनों ही प्रेम-सुख-रसके समुद्रमें निमग्न हो गये तथा दोनोंके ही नेत्रोंसे प्रेम-रसकी धारा बह चली।

मदमाती डगमगती दौड़ी,
पहुँची तुरत कुंजके द्वार।
देखा, खड़े मधुर मुसुकाते,
वहाँ प्रेमधन नन्दकुमार॥
देख परस्पर मुख-शशि अनुपम
अगणित विधु-निन्दक सुखसार।
हुए निमग्न प्रेम-सुख-रसनिधि
दृगसे बही प्रेम-रस-धार॥

इसी बीच तुरंत ही श्रीराधाजीमें सहज स्वाभाविक

(दैन्यरूप) अपनी अयोग्यता और प्रेमहीनताकी अनुभूति जाग उठी और उधर उन्हें दिखायी दिया कि अतुलनीय रूप-गुणोंके समुद्र श्रीश्यामसुन्दर पवित्र प्रेमसे अभिभूत हो रहे हैं। यह देखते ही राधाजीके मनमें बड़ा संकोच हुआ और प्रियतमके प्रति उनकी प्रियता विशेषरूपसे बढ़ गयी। उन्होंने सोचा—कहाँ तो ये अतुलनीय समस्त गुणोंके आश्रयरूप श्यामसुन्दर और कहाँ मैं सद्गुणके लेशसे भी सर्वथा रहित। मेरे प्रियतम श्यामसुन्दर कितने अपरिमित प्रेममय हैं, ये कितने सहज ही असीम उदार हैं जो मुझ मलिनासे मिलनेके लिये तुच्छता स्वीकार करके स्वयं पधारे हैं।

जगी तुरत अपनी अयोग्यता,
प्रेमहीनताकी अनुभूति।
दीखी उधर, रूप-गुण-निधिकी
अतुल पवित्र प्रेम-अभिभूति॥
उपजा मन संकोच, बढ़ी फिर,
प्रियता प्रियतमपर सविशेष।
कहाँ अतुल ये सर्वगुणाश्रय,
कहाँ हीन मैं सद्गुण-लेश॥
कितने अमित प्रेममय प्रियतम,
कितने सहज असीम उदार।
जो मिलने मुझ-सी मलिनासे
आये स्वयं तुच्छता धार॥

इतनेमें ही प्रियतम श्यामसुन्दरने (श्रीराधाकी विचित्र हर्षविषादमयी मुखाकृति देखकर) अपने स्नेह-भरे करकमलोंसे अपनी ओर खींच लिया और अत्यन्त निषेध (बार-बार ना ना) करते रहनेपर भी उन्हें अपने हृदयमें दबा लिया। प्रेममें मिलनेपर पवित्र निषेध होता है और अमिलनमें मिलनेकी तीव्र चाह हुआ करती है। इस पवित्र करनेवाले परम प्रेम-रस-समुद्रकी थाह किसीको भी नहीं मिलती।

इतनेमें प्रियतमने उसको
स्नेह भरे हाथोंसे खींच।
अति निषेध करते ही करते
लिया उसे निज उरमें भींच॥
मिलनेपर निषेध शुचि होता,
अमिलनमें मिलनेकी चाह।
पावन परम प्रेम-रस-निधिकी
मिलती नहीं किसीको थाह॥

तदनन्तर अत्यन्त मुदित हुए दोनों बैठ गये और परस्पर प्रेमालाप करने लगे। एक दूसरेका गुण देखना और गुण वर्णन करना—बस, कहीं इसका माप-तौल नहीं। दोनोंको ही अपनेमें असंख्य दोष दीखते हैं और दूसरेमें सद्गुणोंका अपार समुद्र लहराता दिखायी देता है, इससे कहीं भी कभी भी गर्व या अहंकार उत्पन्न ही नहीं हो पाता। इस प्रेमसिन्धुमें नित्य-निरन्तर प्रेम भरता ही रहता है, पर यह अभी पूरा भर ही नहीं पाता। दोनोंमें एक-दूसरेकी प्रेमवृद्धिकी ऐसी होड़ लगी रहती है कि उन्हें अपनेमें सदा प्रेमकी अपूर्णता ही दिखायी देती है।

अपने दोष दीखते अगणित,
उसका सद्गुण-सिन्धु अपार।
उदय नहीं हो पाता इससे,
कहीं कभी गर्वाहंकार॥
भरता रहता प्रेम-सिन्धु नित,
पर न कभी भर पाता पूर्ण।
प्रेमवृद्धिकी सहज होड़
दिखलाती अपना प्रेम अपूर्ण॥

धन्य इस मधुरातिमधुर पवित्र प्रेमको!

* * *

'नैराश्यं परमं सुखम्'

[आशा-त्यागकी आवश्यकता]

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

भगवान् रामका अपनी गीतामें श्रीलक्ष्मणजीसे कथन है कि तैत्तिरीयश्रुति (तैत्तिरीय आरण्यक १० । १०, अवधूतोपनिषद् १ । ५, कैवल्योपनिषद् ३, महानारायणोपनिषद् ८ । १४ इत्यादिमें प्रोक्त) **'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः ।'** के अनुसार धनसे नहीं, कर्मसे नहीं, त्यागसे ही ज्ञानियोंने अमृतत्व प्राप्त किया था—

'सा तैत्तिरीयश्रुतिराह सादरं
न्यासं प्रशस्ताखिलकर्मणां स्फुटम् ।'
(अध्यात्मरामायण, उत्तरकाण्ड रामगीता ५ । २१)

भगवान् शंकराचार्य भी बार-बार कहते हैं—

त्याग एव हि सर्वेषां मोक्षसाधनमुत्तमम् ।
त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक् परं पदम् ॥
(केनोप० ४ । ४ । ७ शां० भा० आदि)

शान्तिपर्व २३९ । ५ में व्यासजी भी कहते हैं—

नान्यत्र विद्यातपसोर्नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात् ।
नान्यत्र सर्वसंत्यागात्सिद्धिं विन्दति कश्चन ॥

गीता भी त्यागके बाद तुरंत शान्ति बतलाती है—

त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् । (१२ । १२)

नारदपरिव्राजकोपनिषद् भी यही कहती है—

त्यक्त्वा लोकांश्च वेदांश्च विषयानिन्द्रियाणि च ।
आत्मन्येव स्थितो यस्तु स याति परमां गतिम् ॥
(४ । १)

त्यागमें भी आशा-त्यागमें कुछ अधिक कठिनाई दीखती है । पर जबतक नामभरकी भी आशा है, तबतक वास्तविक सुखकी कल्पना नहीं की जा सकती—

जब लगि नहिं निज हृदि प्रकास, अरु बिषय-आस मन माहीं ।
तुलसिदास जग-जोनि भ्रमत तबलगि सपनेहुँ सुख नाहीं ॥
(विनयपत्रिका १२३ । ५)

तुलसी अद्भुत देवता आसा देवी नाम ।
सेवे सोक समरपई विमुख भए अभिराम ॥
(दोहावली १०७)

अब नाथहिं अनुराग, जाग जड़, त्याग दुरासा जीते ।

आशां छिन्धि विषोपमेषु विषयेष्वेषैव मृत्योः सृतिः ।
(विवेकचू० ३७८)

कामनाका तीव्र रूप तृष्णा, उसीकी विवशताका दुर्बल रूप आशा है । अतः इन तीनोंको ही समूल त्याग करनेमें ही कल्याण है—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥
(कठोप० ६ । १४, बृहदार० ४ । ४ । ७, शाट्याय० २१)

अन्यथा आशा-तृष्णा-कामनाओंका जो दास बनता है—वह किसका दास नहीं है—

जे लोलुप भए दास आसके ते सबहींके चेरे ।
प्रभु-बिस्वास आस जीती जिन्ह, ते सेवक हरि केरे ॥
(विनयपत्रिका)

आशाया ये दासास्ते दासाः सर्वलोकस्य ।
आशा येषां दासी तेषां दासायते लोकः ॥
(कवितामृतकूपः २७)

आशानाम मनुष्याणां काचिदाश्चर्यशृङ्खला ।
यया बद्धाः प्रधावन्ति मुक्तास्तिष्ठन्ति पङ्गुवत् ।
(स्कन्द० वेंकटाचलमा० २० । १८)

आकाशका अन्त लग सकता है, पर इस दुराशाका अन्त नहीं है—

गिरिर्महान् गिरेरब्धिर्महानब्धेर्नभो महत् ।
नभसोऽपि महद्ब्रह्म ततोऽप्याशा गरीयसी ॥

जनकराजकी विदेहनगरीमें निवास करनेवाली पिङ्गला नामकी वेश्याने जब इस दुराशाको छोड़ा तब वह सुखसे सो पायी—

आशा बलवती कष्टं नैराश्यं परमं सुखम् ।
आशामनाशां कृत्वा हि सुखं स्वपिति पिङ्गला ॥

(महा० शा० पर्व १७४ । ६५, भागवत ११ । ८ । ४४, सांख्यदर्शन ५)

आशागृहीता विकला भवन्ति
हतत्रपा व्यस्तगुणाभिमानाः ।
भ्राम्यन्ति मत्ता इव नष्टसंज्ञा
देहीति वाचस्तरलस्वभावाः ॥

योगवाशिष्ठमें इसकी बड़ी भर्त्सना है—

अज्ञस्याशाः प्रसूयन्ते सुकृष्टादिव शालयः ।
नरकश्रीरिहाज्ञानं दुष्कृतव्यालवेष्टितम् ॥
नेत्रलोलालिनी लोला स्फुरिताधरपल्लवा ।
मूर्खार्थमेव विकसत्यङ्गना विषवल्लरी ॥
(६ । ६ । ३८)

यावद् विषयभोगाशा जीवाख्या तावदात्मनः ।
अविवेकेन सम्पन्ना साप्याशा हि न वस्तुनः ॥
विवेकवशतो याता क्षयमाशा यदा तदा ।
आत्मा जीवत्वमुत्सृज्य ब्रह्मतामेत्यनामयः ॥
(६ । १२१ । १—२)

भगवान् रामके शब्दोंमें यह आशा विषवल्लरी महान् घोर कष्टकारक है—(योग० १ । २९ । १७)। भगवान् शंकराचार्य इस आशाको साक्षात् मृत्युकी सृति (रास्ता) कहते हैं (विवेकचू० ३७८)। पद्मपुराण उत्तरखण्ड (पूना) २३८ । ३०—३४ में निर्विण्ण प्रश्न ब्राह्मण कहता है—

कष्टाशा वर्तते यस्य विद्वानप्यपण्डितः ।
… … …
बलं तेजो यशश्चैव विद्यां मानमपि श्रुतम् ॥
तथैव सत्कुले जन्म आशा हन्त्यतिवेगतः ।
आशाभिभूता ये मर्त्या महामोहासवोद्धताः ॥
अवमानादिकं दुःखं न जानन्त्यल्पमप्यहो ।

इसी प्रकार स्कन्दपुराण वैष्णवखण्डके भूमिवाराहखण्ड (वेङ्कटाचलमाहात्म्य) के अन्तर्गत पापविनाशनतीर्थ-महिमामें भद्रमति ब्राह्मणकी कथा है । वह भी आशासे त्रस्त होकर कहता है—

अहो दरिद्रता दुःखं तत्राप्याशातिदुःखदा ।
आशाभिभूताः पुरुषा दुःखमश्नुवते क्षणात् ॥
आशाया ये दासास्ते दासाः सर्वलोकस्य ।
(२० । १६–१८)

योगवाशिष्ठ स्थितिप्रकरणके २४वें अध्यायमें आशाद्वारा होनेवाली हानियोंका बड़ा भयानक रूपक खींचा है । शान्तिपर्वके १२५ वें अध्यायमें युधिष्ठिरने भीष्मसे पूछा कि आशा कैसे उत्पन्न हुई ? इसपर भीष्मने सुमित्र राजाकी कथा कही । हैहयवंशी सुमित्र राजा शिकार खेलने गया था । उसका बाण एक आविद्ध मृग ले भागा । राजाने उसका पीछा किया, पर वह हाथ न आया । राजाको थका-माँदा देख ऋषियोंको दया आयी और उसके वन आनेका कारण पूछा । उसने मृगद्वारा अपनी आशाके भंग होनेका दुःख कहा और आशाका रहस्य पूछा । इसपर ऋषभ नामके एक मुनि कहने लगे कि बदरीवनमें नर-नारायणाश्रमके पास ही एक वैहायस सरोवर है । उस सरोवरमें एक बार मैं विधिवत् देव-ऋषि-पितृ-तर्पण कर आश्रममें गया । वहाँ मैंने अत्यन्त कृश एकतनु नामके ऋषिको देखा । उनकी मुटाई कानी अंगुलीसे अधिक न थी । लंबाई तो मनुष्यके बराबर ही थी । पर हाथ-पैर-गर्दन तो बहुत पतले थे । मैं उन्हें देखकर डर गया और उन्हें नमस्कार कर वहीं बैठ गया । वे कृशमुनि फिर कुछ ऋषियोंके बीचमें कथा कहने लग गये । इसी बीच वीरधूम्र नामका राजा अपने भूले हुए पुत्रको ढूँढता हुआ वहाँ पहुँचा । उसने भी अपनी व्याकुलता तथा आशाके दौर्बल्यके सम्बन्धमें मुनिसे प्रश्न

पूछे। कृशतनु मुनिने कहा कि 'आशासे दुबली तो कुछ भी नहीं है।' राजाने पूछा—'मुने ! क्या आशा आपसे भी दुबली है ?' इसपर मुनिने कहा कि एक पुत्रवाले पिताको पुत्रके भूल जानेपर (जिसका कुछ भी पता नहीं है) जो आशा लगी रहती है, वह मुझसे दुबली है। प्रसवके समय स्त्रीकी, बूढ़े होनेपर पुत्रोत्पत्तिकी तथा दरिद्रोंको धनी होने आदिकी आशा मुझसे दुबली है। फिर मुनिने अपने तपोबलसे उसके पुत्रको भी ला दिया तथा अपने दिव्य एवं सुन्दर रूपका भी दर्शन कराया तथा वनमें अन्तर्हित हो गये। (शा० १२८)

'मङ्कि' मुनि आशासे तंग आ गये थे। उनकी कथा शान्तिपर्व १७७ वाँ अ०, योगवाशि० निर्वाण उ० २३–२६ तथा पद्मपुराण उत्तरखण्ड १२६ (पूना) १४३ (वेंकटे०), (मोर) आदिमें आती है। उनकी धन कमानेकी आशा बार-बार भंग होती थी। तब भी एक बार खेतीके लिये दो बैल खरीदकर वे जुआठे चले जा रहे थे। मार्गमें एक ऊँट बैठा था। दोनों बैल उसके दो बगलसे जाने लगे, तबतक वह भड़क उठा और बैलोंको गर्दनपर लेकर भागने लगा। दोनों बैल इस प्रकार मर गये। इससे मङ्किकी आँखें खुल गयीं। उन्होंने कहा कि चाहे कोई कितना भी दक्ष (चतुर) क्यों न हो, अविहित (भाग्यानिर्दिष्ट) धन नहीं प्राप्त कर सकता—भोगोंको स्थिर तो कोई कर ही नहीं सकता'। अतः निराश तथा निर्विण्ण होना ही बुद्धिमानी है—

सुखं स्वपिति निर्विण्णो निराशश्चार्थसाधने। (१४)

इस दुर्दैवने मेरी बार-बार अप्रतिष्ठा की, पर मैंने आशा न छोड़ी। अरे ! यह मेरा कैसा अज्ञान है, जो अबतक मैं इस दुराशाका क्रीडामृग बना रहा। अरे काम ! तेरा हृदय तो वज्रसारसे भी अधिक दृढ़ है जो सैकड़ों अनर्थोंसे परिपूर्ण होकर भी शतधा विदीर्ण नहीं होता—

नूनं ते हृदयं काम वज्रसारमयं दृढम्।
यदनर्थशताविष्टं शतधा न विदीर्यते॥ (२३)

'तू तो पातालके समान दुष्पूर है। तेरा लक्ष्य ही एकमात्र मुझे दुःखमें डालना है; पर मैं अब तेरेद्वा आविष्ट नहीं होनेको हूँ। मैं परा निर्वृतिको प्राप्तकर अब कामनाकी बात नहीं सोचता। न मैं तुम्हें सोचूँगा और न तुम समूल (अङ्कुरित) ही होओगे। अरे दुष्ट शत्रो ! मैं तुम्हें अब सकाम—सफलमनोरथ कभी न होने दूँगा। अब मैं लोभ, आशा आदिको छोड़कर ब्रह्ममें प्रतिष्ठित हो रहा हूँ।' ऐसा कहकर मङ्कि मुनि परम शान्त, सुखी तथा पूर्णानन्दमें प्रतिष्ठित हो गये।

---

१. अर्थाः स्त्रियश्च निपुणैरपि सेव्यमाना नैवाप्तभावमुपयान्ति न च स्थिरत्वम्।' (भारतसावि० महाभा०)

२. कुछ विद्वानोंकी मान्यता है कि बौद्ध तथा जैनधर्मके प्रसिद्ध 'मंखलि गोसाल' ये ही 'मङ्कि' मुनि थे। जैन आगम (उवासगदसाओ) में इनका नाम 'गोसाल मंखलिपुत्त' आता है। संस्कृतमें यह 'मस्करि गोशालि पुत्र' हो जाता है। दिव्यावदान पृष्ठ १४३ में इसका इसी प्रकार उल्लेख है। भगवती सूत्र १५। १ उनके नामका कारण मंख मुनिका पुत्र होना बतलाया है। पहले भारतमें 'आजीवक' नामकी भी कोई दर्शनकी विचारधारा थी। इसके संस्थापक या प्रवर्तक ये मङ्कि मुनि ही कहे जाते हैं। कहते हैं 'पाणिनि'के (६ । १ । १५४) में आये हुए 'मस्करि' शब्दसे भी वे मङ्कि मुनि ही अभिप्रेत हैं। पाणिनिने (४ । ३ । ३५) में गोशाल शब्दकी भी व्युत्पत्ति लिखी है। किंतु ६।१।१५४के महाभाष्यमें 'मस्करि' शब्दकी व्याख्यामें तथा पाणिनिकी अन्य व्याख्याओंमें इसकी विशेष प्रशंसा नहीं है। (मा कृत कर्माणि मा कृत कर्माणि शान्तिर्यः श्रेयसीत्याहातो मस्करि परिव्राजकः। महाभा० ६ । १ । १५४) किंतु पद्म, योगवाशिष्ठ, महाभारतादिमें इसकी बहुत प्रशंसा है, इसलिये इन सभीकी एकतापर संदेह होना स्वाभाविक है। योगवाशिष्ठ पुरुषार्थप्रधान है, उसमें आजीवक या दैव सम्प्रदायकी प्रशंसाकी आशा नहीं की जा सकती।

श्रीकृष्णकी जन्मकालीन महानता

(लेखक—श्रीब्रिजलालजी बियाणी)

महानताका लक्षण है संकटोंसे संघर्ष करनेकी शक्ति या अन्यायोंके निवारणार्थ सतत प्रयत्न । संघर्ष या अन्यायनिवारणके प्रयत्नोंमें सफलता-प्राप्ति सफल महानता है । विश्वके इतिहासमें सफल-असफल दोनों प्रकारकी महानताओंके उदाहरण मिलते हैं । संघर्षकी जितनी विपुलता और व्यापकता या कठोरता, उतनी ही महानताकी तेजस्विता ।

हर महापुरुषके जीवनमें संघर्ष रहता है पर श्रीकृष्णके जीवनमें संघर्ष और संकटोंका आक्रमण जिस प्रमाणमें रहा है, उस प्रकार विश्वके किसी व्यक्तिके जीवनमें नहीं दिखायी देता ।

महापुरुषोंका जन्म सर्वसाधारण स्थितिमें होता है । जन्मके साथ उनकी महानताके दर्शन नहीं होते हैं; पर ज्यों-ज्यों जीवन विकसित होता है, संकटोंका और संघर्षोंका निर्माण होता है और महापुरुषोंकी प्रतीकार-शक्ति उनके जीवनको महान् बना देती है ।

श्रीकृष्णके जीवनमें संकटोंका आक्रमण उनके जन्मकालसे ही नहीं, पर उनके गर्भमें प्रवेश होनेके पूर्वसे ही प्रारम्भ हो गया । माता देवकीके गर्भसे कंसका विनाशकर्ता जन्म लेगा, इस ज्ञानसे संकटोंका आरम्भ हुआ । वसुदेव-देवकीको कारावासमें बंद किया गया । श्रीकृष्णका जन्म कारागृहमें हुआ । श्रीकृष्णके जन्मके साथ कुछ प्राकृतिक घटनाओंका सम्बन्ध है । उनका जन्म भाद्रपद कृष्णा अष्टमीको रात्रिमें १२ बजे हुआ । वर्षाऋतु, अन्धकारमय रात्रिका समय, बादलोंके कारण ताराओंके प्रकाशका अभाव, इस निविड़ अन्धकारके समय श्रीकृष्णने जन्म लिया । इसका अर्थ यही है, उस समय समाजमें चारों ओर अन्यायरूपी अन्धकार छाया हुआ था । इस अन्धकारमय स्थितिमें श्रीकृष्णने जन्म लिया । दूसरी प्राकृतिक घटना है कि अष्टमीके दिन रात्रिके १२ बजनेके पश्चात् अल्प समयके अनन्तर ही चन्द्रका उदय होता है । अर्थ यह है कि आकाशमें अल्प प्रकाश दिखायी दिया । मानो कृष्णजन्मके साथ समाजमें आशाकी मन्द किरण प्रकट हुई । जेलमें जीवन सुरक्षित नहीं, अतः जन्मदात्री माताकी गोदीसे तत्क्षण ही श्रीकृष्णको अलग होना पड़ा ।

उस जन्मावस्थामें ही उनके प्रभावके व्यापक परिणामस्वरूप कारागारके दरवाजे खुले और पिता वसुदेव नवजात शिशुको लेकर गोकुलकी ओर रवाना हुए । मार्गमें यमुना पार करना, यमुना जलसे भरी बह रही है, नदी पार करते समय यमुनाका प्रवाह बढ़ता गया मानो संकट बढ़ता गया हो । पर श्रीकृष्णके चरणका स्पर्श होते ही जल-संकट विलीन हो गया । यमुनाने रास्ता दिया और वसुदेवका मार्ग सुरक्षित हो गया । गोकुलमें नन्द-यशोदाके यहाँ बालिकाका जन्म । श्रीकृष्णको वहाँ लिटाना, बालिकाको वहाँसे उठाना । श्रीकृष्णको जन्मदाता माता-पिताको त्यागना पड़ा, माता-पिताका स्थान दूसरोंको देना पड़ा । जीवनके आरम्भ-कालसे ही कितना संकट । जीवनमें कितना परिवर्तन, पर जन्मके साथ ही महान् शक्तिका विकास, जिसके कारण सारे संकट निवारण और श्रीकृष्ण सुरक्षित । जन्मके साथ कितने संकट, कितनी शक्ति और कितनी महानता। इस प्रकारके जीवनका आरम्भ विश्वके इतिहासमें यही एक है ।

समस्त भारतमें जन्माष्टमी मनायी गयी । आज भारत संकटकी अवस्थामें है । चीनी आक्रमणके बादल भारतीय जीवनपर मँडरा रहे हैं । इस स्थितिमें श्रीकृष्ण-

की महन् शक्ति जो ज्ञान, क्रियाशक्ति और शत्रुओंके नाशमें सफल हुई है और जिसने गीता प्रदान कर महाभारतके युद्धमें पाण्डवोंको विजयी बनाया है, उस श्रीकृष्णकी शक्ति आजके भारतको नवजीवन दे और चीनी आक्रमणकी सम्भावनासे घिरे बादलोंसे रक्षा कर अन्यायका नाश करनेमें भारतको शक्ति दे।

श्रीकृष्णके जीवनमें शक्तिका संदेश है। भारतको आज उसी संदेशकी आवश्यकता है।

हमारी मुक्तिनाथ-यात्रा

(लेखक—श्रद्धेय श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

[गताङ्क—पृष्ठ ११६४ से आगे]

बुटवलमें

बुटवलकी शोभा, उसका महत्त्व, उसके दृश्य ठीक ऋषिकेशके समान हैं। मसूरी तथा गंगोत्री, यमुनोत्री आदिके पहाड़ोंको जो महत्त्व देहरादूनका है तथा बद्री, केदार, टिहरी आदिके लिये जो महत्त्व ऋषीकेशका है, वही ऊपरके पहाड़ों मुक्तिनाथतकके लिये बुटवलका है। उसे मुक्तिनाथका द्वार समझना चाहिये। दोनों पहाड़ोंकी श्रेणियाँ यहाँ आकर समाप्त होती हैं। दोनों ओर सुन्दर हरे-भरे शोभायुक्त पहाड़ोंकी श्रेणियाँ हैं। उनपर सीधे लंबे हरे-हरे वृक्ष खड़े हैं, सामने विस्तृत मैदान है। भैरवासे यहाँतक सड़क है। सड़क तो नाममात्रकी है, उसे दगड़ा ही कहना चाहिये। आते समय मोटरमें कितने हच्चे लगे, कितना कष्ट हुआ यह कहनेकी बात नहीं। भारत-सरकारकी सहायतासे नौतनवासे बुटवलतक एक सीधी सड़क बन रही है, अभी वह चालू नहीं हुई। उस सड़कके बन जानेसे रास्ता भी कम हो जायगा और यात्रियोंको भी सुविधा होगी। बुटवलकी भी अत्यधिक उन्नति होगी। मोटर आने-जानेसे अब बुटवल बहुत सुन्दर व्यापारिक मंडी बन गयी है। लाखोंका व्यापार होता है। कई गुना बड़ा नगर बन गया है। थोड़े ही दिनोंमें यह नैपाल राज्यकी तराईकी बहुत भारी मंडी बन जायगी।

बुटवल तिलोत्तमा नदीके दोनों ओर बसा है। उस पार पुरानी मंडी है पहाड़से लगी हुई। उसमें नैपाली धनिक व्यापारिक सेठ रहते हैं। इस पार साधारण बाजार था। सड़क आ जानेसे अब इसीपर बस्ती बढ़ रही है। सरकारी भवन इसी पार बन रहे हैं। नहर-विभाग, सार्वजनिक निर्माणविभाग, न्यायालय सब इसी पार बने हैं। बाजार भी बढ़ रहा है। मोटरें इसी पार खड़ी होती हैं। उस पार जानेको एक पुल है तो सही लोहेका, किंतु वह दूर है। तिलोत्तमा नदी छोटी-सी नदी है, तानसेनकी ओरसे आनेवाले तीन-चार नालोंके मिलनेसे यह बनी है। लोग वैसे ही पार हो जाते हैं। इसकी छोटी-छोटी दो-तीन धाराएँ हो गयी हैं। बरसातमें जल बढ़नेपर ये सब एक हो जाती हैं। उस समय यात्री पार नहीं कर सकते होंगे। पुलसे ही आते-जाते होंगे।

अभी हालमें ही इसी पार नदी-किनारे श्रीराधाकृष्णका मन्दिर तथा धर्मशाला चंदेसे बनी है हमारे प्रद्युम्नजीके उद्योगसे। प्रद्युम्नजी हरेराम-संकीर्तनमण्डलीकी ओरसे प्रचार करते हैं। संकीर्तनभवन झूँसी तथा संकीर्तनभवन वंशीवट वृन्दावनमें भी बहुत दिन रहे हैं। कविप्रसादजीके भेजे हुए चन्द्रमणि तथा दो आदमी और हमें गोरखपुरमें ही मिल गये थे। तीनों बुटवलतक आये। १०, १२ अखण्डकीर्तन करते हुए 'पोखरा' आये हुए थे। वे पोखरामें आठ दिनसे बैठे हमारी प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्हें आकाशवाणीसे सूचना दी। वे पोखरासे सीधे तातापानी आकर हमें मिले। चन्द्रमणिको तो साथ रख लिया। शेष दोको नैपालको विदा कर दिया।

हमारी यात्रा बुटवलसे ही आरम्भ होनेवाली थी। यहीं कुली तै करने हैं, यहींसे सब पैदल चलते हैं। कुलियोंकी मजदूरी बहुत तेज है। सामान घटाना है। बहुत ही आवश्यक सामान ले जाना है, शेषको बुटवल ही छोड़ना है। बुटवल तो अपना आश्रमकी ही भाँति था। हमारे आनेकी पहले ही सूचना थी। कीर्तनका प्रबन्ध था, खूब धूमधाम मन्दिरमें मच गयी। बुटवल लुम्बिनी अञ्चल (कमिश्नरी) में है। अब पहले नैपाल पूर्व-पश्चिम आदि नम्बरोंमें विभक्त था। अब उसे एक अञ्चलों (कमिश्नरियों) में विभक्त कर दिया है। एक-एक अञ्चलमें तीन-तीन चार-चार जिले हैं। एक-एक जिलेमें

जिलाधीश (बड़ा हाकिम) रहता है। उनके ऊपर एक अञ्चलाधीश (कमिश्नर) है।

लुम्बिनी-अञ्चलके अञ्चलाधीश बुटवल आये हुए थे। वे तराई दरभंगाके आस-पासके एक उपाध्याय थे। उन्होंने जब हमारे आनेकी बात सुनी तो अपने समस्त पंचायत, शिक्षा, नगरपालिकाके अधिकारी तथा सदस्योंको साथ लेकर मिलने आये। उनसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई। वे काशीके पढ़े हुए पण्डित थे। व्याकरणाचार्य तथा साहित्याचार्य थे। कलकत्तेकी न्यायवैशेषिक आदि कई विषयोंके 'तीर्थ' थे। ऐसे पण्डितको अञ्चलाधीशके रूपमें देखकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई। नैपालराज्यका समस्त कार्य देवनागरी लिपिमें लिखित नैपाली भाषामें होता है। उसमें क्रिया-विभक्ति ही कुछ पृथक् है; नहीं तो एक प्रकारकी हिंदी ही है। उसमें सत्तर-अस्सी प्रतिशत शब्द संस्कृतके हैं। अबतक वहाँ जिलाधीश-राज्यपाल सभी संस्कृत तथा नैपाली ही जाननेवाले होते हैं। अंग्रेजीका प्रचलन तो अभी चार-पाँच वर्षसे हुआ है। राज्यके समस्त कार्यालयोंमें बैंक, न्यायालय, डाकघर आदिमें समस्त कार्य नैपालीमें ही होते हैं। यद्यपि नैपाल-राज्यमें चालीस क्षेत्रीय भाषाएँ हैं और वे ऐसी भाषाएँ हैं जिनकी अपनी लिपि भी है और एक दूसरेकी भाषा नहीं समझते; किंतु नैपाली सभी जानते हैं, सभी बोलते हैं। राजकाज सभी नैपालीमें ही होते हैं। केवलमात्र संस्कृतके ही विद्वान्को अञ्चलाधीशके पदपर प्रतिष्ठित देखकर हमें आन्तरिक हर्ष हुआ। हमारे यहाँ कहनेको तो शास्त्रीको बी० ए० के, आचार्यको एम्० ए० के समकक्ष माना है। संस्कृतके तीन स्वतन्त्र विश्वविद्यालय बने हैं। वाराणसेय-विश्वविद्यालय, दरभंगा-विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र-विश्वविद्यालय। किंतु इनके निकले एक भी छात्रको कोई उच्च राजकीय सेवाका पद प्राप्त नहीं हुआ। एक भी किसी देशमें राजदूत बनाकर नहीं भेजा गया। उच्च राजकीय सेनाकी बात छोड़ दें। ये संस्कृत-विश्वविद्यालयके स्नातक हैं, इस नाते आजतक किसीको माध्यमिक या आरम्भिक विद्यालयोंके अध्यापकके पदपर भी नियुक्त नहीं किया गया। संस्कृत पाठशालाओंके पहिले जो निरीक्षक होते थे, संस्कृतके पण्डित ही होते थे, जो अंग्रेजीका एक अक्षर नहीं जानते थे। अब उनके लिये भी एम्० ए० उत्तीर्णता अनिवार्य कर दी है। वे प्रथमाका एक रूप भी सिद्ध नहीं कर सकते। पाठशालाओंमें अंग्रेजी पढ़ानेको ही व्यग्र रहते हैं। ऐसे अंग्रेजीप्रेमी शासनमें हिंदी या संस्कृतकी उन्नति असम्भव है। हमारे शासक जबतक अंग्रेजीका मोह नहीं छोड़ेंगे, भारतमें भारतीयता आ ही नहीं सकती।

अञ्चलाधीशजीने हमारी सुविधाओंके सम्बन्धमें पूछा। वे अपने पुराने परिचित निकले। झूँसी संकीर्तनभवनमें भी वे पहिले आ चुके थे। लोगोंको उन्होंने हमारे कुली आदि ठीक करनेके आदेश दिये। कुली यहाँ बड़ी कठिनाईसे मिलते हैं। बद्री, केदार, गंगोत्री तथा यमुनोत्रीकी भाँति यहाँ कोई यात्रा चालू तो है नहीं। विरक्त साधु ही प्रायः जाते हैं, जिनपर एक तूमाके अतिरिक्त कुछ नहीं होता। सामान लेकर यात्रा करनेवाले सालमें कोई १०-५ विरले ही होते हैं। हम सबने अपना सभी सामान बुटवलमें ही छोड़ दिया। बहुत ही आवश्यक सामान लिया। सबसे कह दिया जो अपना जितना सामान स्वयं ले जा सके, उतना ही ले। फिर भी छः कुली तो करने ही पड़े। यहाँ कोई कुलियोंकी आढ़त (एजेंसी) नहीं। कोई पंजीकरण (रजिस्ट्रेशन) नहीं। कई घटनाएँ ऐसी हुई हैं। कुली सामान लेकर भाग गये हैं, यात्री छटपटाते रह गये हैं। कुलियोंके करनेमें दो दिनसे बड़ा ही झंझट मच रहा था। किसी प्रकार दूसरे दिन दोपहरमें तै हुआ। नैपाली १९) रुपये रोजपर छः कुली तैयार किये।

यात्रा आरम्भ

कुली तै हो जानेपर हमलोगोंने अपने-अपने डंडे और जूते-छाते सम्हाले। पहाड़ी यात्रामें ये तीनों वस्तुएँ अत्यन्त आवश्यक हैं। कुलियोंके पीछे-पीछे आनेको ३-४ आदमी नियुक्त किये और हमने 'हरये नमः' कहकर यात्रा आरम्भ कर दी। एक बात पाठकोंको स्मरण रखनी चाहिये कि पहाड़ोंमें मार्ग नदी-नाले ही बनाते हैं। पहाड़ी जितने भी मार्ग होंगे, सब नदियोंके किनारे-किनारे ही होंगे। जहाँ नदी मुड़ जाय, दो पहाड़ोंके बीचमें मार्ग न हो, वहाँ एक पहाड़की चोटीपर चढ़कर उसे लाँघकर फिर उसी नदीके किनारे आना पड़ता है। यदि नदीके किनारे ही रास्ता मिलता जाय तो कोई असुविधा न हो। बीचमें ये पर्वत चढ़ना और फिर उतना ही उतरकर नीचे आना यही यात्रीको मार लेता है। पहाड़ोंमें यही बारंबार भूतकी भाँति करना पड़ता है कि पहाड़की चोटीपर चढ़ो फिर नीचे उतरो, फिर चढ़ो। इसीलिये कहा है **'नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण'** चढ़ो-उतरो, चढ़ो-उतरो, यही पहाड़ी यात्राका स्वरूप है। नीचे ऊपर, नीचे-ऊपर यही संसार-चक्र है।

बुटवलसे दोभान

ज्येष्ठ शुक्ला चतुर्थीको मध्याह्नोत्तर हमने बुटवलसे यात्रा आरम्भ की। भारत और अमेरिकाकी सहायतासे बुटवलसे तानसेनतक मोटरकी सड़क बन रही है। उसे तानसेनसे पोखरातक ले जानेका आयोजन है। बीचमें जहाँ बड़े-बड़े पहाड़ हैं उनका काटना शेष है, नदी-नालोंपर पुल बनने हैं। वैसे एक बार तानसेनतक सड़क बन गयी है। पर्वत कट जायँ, पुल बन जायँ, फिरसे सड़कका मलवा हटा दिया जाय तो सड़क तैयार हो जाय; किंतु पहाड़ी सड़क एक बरसात भी रह गयी तो उसका बनना न बनना बराबर है। फिर एक-सी हो जाती है। पहाड़ोंसे पानीके साथ मलवा बहकर उसे पाट देता है। न जाने क्यों आजकल सड़कका काम स्थगित है। यदि इस वर्षातक ऐसे ही रह गयी तो करोड़ों रुपयोंकी लागत बरबाद हो जायगी। पहाड़ोंको तोड़नेवाली गाड़ियाँ खड़ी थीं। एक पूरी जल गयी थी। बुटवलसे आगे चलते ही एक पहाड़ है, उसके टूटनेमें बड़ा परिश्रम है। कई आदमी मर गये। पहाड़ तोड़नेवाली गाड़ी जल गयी। अभीतक पहाड़ टूटा नहीं। वहाँ किसी सिद्ध बाबाकी तपःस्थली है। लोगोंका कहना है कि सिद्धबाबा सड़क नहीं बनने देता। सिद्धबाबाको न जाने सड़कसे ऐसी शत्रुता क्यों है, फिर भी बनानेवाले सिद्धबाबाकी बात मानेंगे थोड़े ही, बनाकर ही छोड़ेंगे। जब हम लौटे थे तब फिर एक पत्थर तोड़नेवाली गाड़ी पहाड़ोंको तोड़ रही थी; ऊपर-नीचे चढ़ते हुए हम आगे बढ़े। सैकड़ों पहाड़ी कुली सामान ले जा रहे थे, सैकड़ों आ रहे थे। इस सड़कपर तानसेन और बागलु—ये दो बड़े-बड़े नगर हैं। दोनों जिले हैं। इनके लिये समस्त विक्रीका लाखों-करोड़ोंका सामान कुलियोंके पीठपर बुटवलसे ही जाता है। मिट्टीका तैल, लालटैन, रंग-विरंगे कपड़े, जूते, छाते; सिगरेटोंके बक्स, चूड़ियाँ सभी आवश्यक सामान कुलियोंद्वारा जाता है। सिगरेटका पहाड़में अत्यधिक प्रचार है। स्त्री-पुरुष सभी पीते हैं। एक आदमीने मुझे बताया अकेले बुटवलमें ही ५०-५२ लाख रुपयेकी सिगरेट बिक जाती है। हम एक अजीब दुनियामें आ गये थे। सभीकी भाषा, भेष, भोजन, रहन-सहन भिन्न थी। कुली तो मन-मन दो-दो मन सामान माथेपर चौड़ा फीता लगाये ढो ही रहे थे, कोई ऐसा पहाड़ी यात्री नहीं था, जिसके ऊपर दस-बीस सेर बोझा लदा न हो। युवक-युवतियाँ सरस गीतोंको गाती जाती थीं। हमलोग तिलोत्तमाके तट-तट प्रकृतिका अनुपम सौन्दर्य निहारते हुए कभी ऊपर चढ़ जाते, कभी नीचे उतर आते। आगे चलकर दो नालोंका सुन्दर संगम है, लोहेका झूला है। उससे आगे दोभान ग्रामपंचायतका कार्यालय है। दोभान ग्राम बहुत बड़ा है। मीलोंतकके छोटे-छोटे ग्राम दोभानमें लगते हैं। अभी हम बुटवलसे लगभग ३-४ ही मील आये होंगे। सायंकाल हो गया, हमलोग अत्यन्त थक गये। प्रथम ही इतना चलनेका अवसर था। रात्रिमें हम पंचायतकी झोंपड़ीमें ही रह गये। सरपंचजीको अञ्चलाधीश-के द्वारा हमारे आगमनकी सूचना पहिले ही मिल चुकी थी। शौच, पूजा, पाठ, भोजनादि करके हमलोग सो गये। सरपंचने दूध भी भिजवाया किंतु सभी इतने थके थे कि सो गये, प्रातः पता चला। उसे छोड़कर सूर्योदयसे पूर्व ही चल दिये।

दोभानसे तानसेन

ज्येष्ठ शुक्ला पञ्चमीको प्रातः हम दोभानसे तानसेनको चले। कहनेको तो तानसेन यहाँसे ११ मील ही है, किंतु दो-दो मीलकी तीन चढ़ाई और दो उतराई हैं। उतराई चढ़ाईसे भी अधिक विकट है। महाराज पृथुजी! आपने इन समस्त पर्वतोंको उत्तरमें ही क्यों फेंक दिया? फेंकते तो भी इन्हें दुर्गम तो न बनाते! इन्द्रदेवने इन पर्वतोंके पंख काटकर गाँवोंको तो विपत्तिसे बचा लिया; किंतु इनके पंख होते तो हम इनके ऊपर चढ़कर प्रार्थना करते—'हे पर्वत-श्रेष्ठ! हमें मुक्तिनारायणतक पहुँचा दो।' तो सम्भव है हमारी प्रार्थना मानकर हमें श्रमसे बचा लेते। अब तो ये सब पंख-कटे आकाशसे न जाने क्या बातें करते रहते हैं। आज प्रातःकालसे ही चढ़ाई प्रारम्भ हुई। आठ बजते-बजते सभी क्लान्त हो गये। एक दुकानपर भुटमुरा मिला। सबको जलपान कराया। पूरी चढ़ाई चढ़ लेनेपर फिर कुछ दूर सम मार्ग मिला। हरे-भरे धान-मकईके खेत देखे। छोटे-छोटे गाँव बसे थे। फिर एक चढ़ाई आयी। निश्चय यह हुआ कि इस पूरी चढ़ाईको चढ़कर चोटीपर जो ग्राम है, उसमें मध्याह्नका भोजन बनेगा। जैसे-तैसे दस-ग्यारह बजेतक राम-राम करके उस गाँवमें पहुँचे; किंतु वहाँ पहाड़के ऊपर पानीका बड़ा अभाव था। साधुको भोजन भले ही न मिले, पानीके वह संनिकट ही बसना चाहता है, अब नीचे उतरना था। उतरते समय सबको छठीतकका दूध याद आ गया। वह कच्चा पहाड़ था। कुछ बूँदा-बूँदी भी हो गयी थी। सीधा पैर फिसल जाता। हमारे साथकी माताएँ अत्यन्त ही दुःखित हुईं।

लोग बैठ-बैठकर फिसल-फिसलकर उतर रहे थे। लोगोंने कहा आधे मीलपर नाला है, किंतु हम दो मीलतक चलते गये। नालेका पता ही नहीं। उतरते ही गये। दूरसे जलका कल-कल शब्द सुनायी दिया। दो नालोंका संगम भी दिखायी दिया; किंतु वहाँ आटा, दाल, चावल कुछ भी नहीं मिला। अनिच्छासे और आगे बढ़े, नालेके किनारे विशाल वट-वृक्ष मिला। एक नाममात्रकी झोंपड़ी भी पड़ी थी। वहीं हमने डेरा डाला। सबकी खिचड़ी बनी। मेरा फलाहार-का सब सामान तो कुलियोंपर रह गया था। अतः एक पेड़से पपीता तोड़कर उसीका साग बनाकर भगवान्‌का भोग लगाया और इस उदर-दरीको भरा।

एक बुटवलका पहाड़ी लड़का अपनी बहिनको तानसेन बालिका-विद्यालयमें पहुँचाने जा रहा था। दोनों भाई-बहिन हँसते-खेलते खटाखट उतरते हुए जा रहे थे। हमारे पूछनेपर उसने बताया—मैं बुटवलमें किसी सरकारी कार्यालयमें काम करता हूँ। बहिन तानसेनमें पढ़ती है। हम आज प्रातः बुटवलसे चले हैं, दोपहरका भोजन तानसेनमें करके मैं उसी समय लौट पड़ूँगा। कल मुझे अपने कामपर अवश्य पहुँचना है। हमें बड़ा आश्चर्य हुआ। जिस मार्गको हम कलसे चल रहे हैं और कल कहीं जाकर पहुँचेंगे, उसे ये पंद्रह-बीस वर्षके बच्चे प्रातःसे दोपहरमें ही तै कर लेंगे। पीछे हमें अनुभव हुआ कि अभ्यासके सामने कोई बात कठिन नहीं। जिस मार्गको हमने जाते समय तीन दिनमें पार किया था, एक महीने निरन्तर चलते रहनेके अभ्यासके कारण आते समय हम प्रातः तानसेनसे चले थे और मध्याह्नके दो बजे बुटवलमें ही आकर स्नान-पूजन किया था। एक महीनेमें हम पूरे तो नहीं, रुपयेमें कम-से-कम बारह आने तो पहाड़ी बन ही गये थे। वैसे ही लाठी लेकर दिनभर चलते। पहाड़ियोंकी तरह रूखा-सूखा, कच्चा-पक्का देशसे चौगुना खाते, वैसे ही कपड़े मैले हो गये थे। पैरोंपर, शरीरपर मैल जम गया था। जैसा देश वैसा वेष।

कुली अभीतक नहीं आये। प्रसाद पाकर थके हुए डंडा लेकर फिर चल पड़े। 'पांडे तोइ द्वारका जानो।' अब चढ़ाई नहीं थी। नालेके किनारे सुन्दर सीधा मार्ग था। इस पार पुरानी सड़क थी। उसपर नयी बन रही मोटरकी सड़क थी। तानसेनके नीचे खूब विस्तृत मैदान था, जिसमें हरे-हरे धानके खेत लहलहा रहे थे। इस पहाड़में इतना हरा-भरा विस्तृत मैदान देखकर बड़ा सुख हुआ; किंतु उस सुखको तानसेनकी विकट चढ़ाईने किरकिरा बना दिया। हमारे साथके पहाड़ी कहते—बस, अब एक ही मील और है, किंतु हम पहाड़ी मीलोंका अर्थ समझते हैं। रात्रि हो गयी थी, एक-एक पग चलना भारी था। तानसेनसे नीचे ही एक दुकानमें सो रहे। प्रातः उठे और डेढ़ मील चलकर तानसेनमें पहुँच गये। यहाँतक तो अभी मार्गका ही कष्ट था। भूख दुगुनी सब लोगोंकी हो गयी थी, पैर थक गये थे। आगे चलकर जब भूख चौगुनी हो जायगी और पैसा देनेपर भी खाने-पीनेका कोई भी सामान नहीं मिलेगा और चढ़ाईके पश्चात् चढ़ाई और उतराईके पश्चात् उतराई आती जायगी, इसका वर्णन पाठक-पाठिकाएँ क्रमशः आगे पढ़ेंगे। (क्रमशः)

रे मन !

(रचयिता—विद्यालंकार श्रीजगन्नाथजी मिश्र गौड़ 'कमल' वेदान्तरत्न)

(१)

ब्रह्ममें सकल साधना लीन।
साध प्रेम तू, अरे मूढ़ मन, रह न ग्रन्थि-आधीन॥
ठान ले, एक विनय-व्रत-नेम,
क्षणिक जीवनमें भर ले प्रेम,
साधन विनय सभी हैं निष्फल, प्रेम-मन्त्रसे हीन।
ब्रह्ममें सकल साधना लीन॥

(२)

प्रेमका है अखण्ड व्यापार,
प्रेमका कर निर्मित संसार,
भ्रमण उसीमें कर, जागेगी तुझमें ज्योति नवीन।
ब्रह्ममें सकल साधना लीन॥

(३)

विश्व तो है मायाका देश,
भूल जा अरे, यहाँका वेश,
वस्त्र त्यागका धारण कर ले, रख उतार प्राचीन।
ब्रह्ममें सकल साधना लीन॥

(४)

गूँथकर भक्ति-सुमनका हार,
पारकर सागर चल उस पार,
तप-पतंगकी ज्योति जगा ले, मानस कलुष-मलीन।
ब्रह्ममें सकल साधना लीन॥

जीवनमें नया परिवर्तन

(लेखक—डाक्टर श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

स्वर-विज्ञानकी नयी खोजें अद्भुत हैं । मनोवैज्ञानिकोंने सिद्ध किया है कि जो शब्द आपके मुखसे निकलते हैं, उनमें ऐसे-ऐसे गुप्त अर्थ छिपे हुए हैं, जिनका बल आपके जीवनको बदल डालनेकी सामर्थ्य रखता है ।

आपके मुखसे निकलनेवाला हर एक स्वर या शब्द, चाहे उसका कुछ भी अर्थ क्यों न हो, आपके मन, वाणी और सम्पूर्ण शरीरको चलायमान कर देनेकी ताकत रखता है ।

शब्द बोलते समय क्या होता है ? ध्यानसे देखिये, इससे हमारी समस्त नाड़ियाँ झंकृत हो उठती हैं । हमारे मुखमण्डलके अवयव विशेषरूपमें तनते या ढीले पड़ते रहते हैं । हमारे ओंठ हिलते हैं, पर साथ ही हमारे नेत्र, हमारे कपोल, हमारा मुखमण्डल एक विशेष प्रकारसे देदीप्यमान हो उठता है ।

प्रत्येक शब्दके साथ एक विशेष तथा अन्य छोटे-छोटे असंख्य भाव छिपे हुए हैं । जब हम अर्थ समझकर किसी भी शब्दका उच्चारण पूरी निष्ठा और एकाग्रतासे करते हैं, तो वे भाव हमारे मानसिक जगत्में तथा शरीरके रक्तके कण-कणमें फैल जाते हैं ।

हमारा सम्पूर्ण मानसिक वातावरण उसी स्वरसे आच्छादित हो उठता है । शरीरका अणु-अणु उसी शब्दके भाव तथा अर्थसे काँप उठता है या यों कहें वह उसी शब्दसे ढल जाता है ।

आप कोई शब्द पूर्ण विश्वास और एकाग्रतासे उच्चारण कीजिये और साथ ही दर्पणमें अपने मुँहकी आकृति भी देखिये । आप पायेंगे कि उस शब्दके भाव या अर्थके अनुसार ही आपकी आकृति भी बनती-बिगड़ती जा रही है ।

जैसे ही क्रोध, आवेश या उत्तेजनाका कोई शब्द आपके मुँहसे निकलता है, वैसे ही आपका चेहरा तन जाता है, ओंठ काँपने लगते हैं, सम्पूर्ण शरीरमें थरथराहट उत्पन्न हो जाती है, आपके नेत्र चढ़ जाते हैं। इन बाह्य परिवर्तनोंके अलावा आपके शरीरके अंदर समग्र मानसिक जगत्में एक अजीब कोलाहल, कसर और तेजी पैदा हो जाती है । जितनी देरतक क्रोधके शब्द आपके मुँहसे निकलते रहेंगे, उतनी देरतक आपके मानसिक संस्थानमें भी भयंकरता छायी रहेगी। वैसी ही अन्तःस्थिति बन जायेगी । आपके हृदयमें क्रोधाग्नि जलने लगेगी । दिलकी धड़कन बढ़ जायेगी। शरीरमें गरमी, खुश्की और वायु-प्रकोप प्रतीत होगा । देरतक क्रोधके शब्दोंका उच्चारण करनेसे सिरमें भारीपन आ जायगा। आप पायेंगे कि आपकी कमर दर्द करने लगी है ।

बुरे शब्दोंसे मनोरोग

स्वर-विज्ञान बतलाता है कि बुरे शब्दोंका उच्चारण करनेसे मनुष्य मानसिक बीमारियोंका शिकार बनता है। देरतक क्रोध, आवेश, भ्रम, संदेह, द्वेष, घृणाके शब्द बोलनेसे मानसिक बीमारियाँ उत्पन्न होती हैं।

प्रत्येक अच्छा या बुरा शब्द एक प्रकारका बीज है, जो बोलनेसे मनके गुप्त भागमें जड़ जमा लेता है। ये जड़ें बार-बार वही शब्द या वाक्य बोलनेसे बढ़कर वृक्ष बन जाती हैं और वैसे ही अच्छे या बुरे फल जीवनमें प्रकट करती हैं। बुरे शब्दोंसे स्वभाव कर्कश, उत्तेजक, क्रोधी, ईर्ष्यालु, दम्भी बन जाता है ।

मनोविज्ञानवेत्ता बतलाते हैं कि जो व्यक्ति या असभ्य जातियाँ मुँहसे कुशब्द, वासनासे सने गाने, गाली-गलौज इत्यादिका उच्चारण किया करती हैं, उनके बच्चोंके चरित्रोंके गिरानेमें इन कुशब्दोंका बड़ा हाथ होता है । अबोध बच्चे बिना उनका अर्थ समझे जैसे गंदे और अश्लील शब्द माँ-बाप, पास-पड़ोस और निकट वातावरणमें सुनते हैं, वे वैसा ही उचित समझकर उन्हें गुप्त मनमें बीजरूपसे जमा लेते हैं। सिनेमाके अश्लील गीत गुनगुनाया करते हैं । बड़े होनेपर उनका गंदा और विकृत मतलब समझकर वे उधर ही ढुलक पड़ते हैं । फिर उन मनमें बसे शब्दोंके अनुसार ही अपना जीवन ढालने लगते हैं और सदाके लिये पतनके मार्गपर पड़ जाते हैं ।

शब्द और हमारे संस्कार

हमारा प्रत्येक बोला हुआ शब्द हमारे गुप्त मनपर एक

प्रबल संस्कार छोड़ता है। उस संस्कारसे मनुष्यका स्वभाव, आदर्श और चरित्र बनते हैं। उन्हीं गुप्त संस्कारोंके बलपर वह समाजमें अनेक कार्य करता है। इन कर्मोंसे जीवन-निर्माण होता है। अतः हमारी जिह्वासे निकलनेवाले शब्दोंका दैनिक जीवनमें बड़ा महत्त्व है। शब्द ही मनुष्यके निर्माता है, संसार-संघर्षमें सफलता अथवा विफलता देनेवाले हैं।

हमारे मुखसे निकलनेवाले शब्द ही जीवनको सरस अथवा नीरस बनाते हैं। स्वस्थ और कल्याणकारी स्वरोंके च्चारणसे नूतन विचारों, भावनाओं और संस्कारोंका निर्माण ता है।

शान्त और पवित्र शब्दोंके निरन्तर साधन और संयस-ा मनुष्य जीवनकी कठिनाइयों और उत्तेजनाओंके अनेक में विजय पानेमें समर्थ हुआ है। विचारकों, कवियों, लेकों और उपदेशकोंके शब्द अनेक व्यक्तियोंके जीवनमें ा मोड़ पैदा करनेवाले हुए हैं। शब्द न हों तो मनुष्यका तित्व ही न रहे। उन्नति ही रुक जाय। तमके निगूढ़तम में कवियोंके शब्दोंद्वारा प्रकाशकी अभिनव प्रभाका उदय ता है।

शब्द-साधनासे सुप्त मानवी शक्तियाँ जागती हैं। नयी नात्मक शक्ति और अद्भुत सामर्थ्यका उदय होता है। व्यक्तिमें नयी जान और नये प्राण आते हैं। मूढ़ मन सशक्त शब्दोंके बार-बार उच्चारणसे विकसित हो जाता है।

भारतीय तत्त्ववेत्ताओंने इसीसे 'मन्त्र-विज्ञान' नामक क्रियाओंको जन्म दिया है। मन्त्र क्या है। वह चुने हुए क्त, तेजस्वी, स्वस्थ और अनेक गुणकारी शब्दों या नियोंका संग्रह है। ये वे शब्द हैं जो विशेष अर्थ रखते हैं और किसीके भी जीवनमें आधारभूत परिवर्तन करनेकी मता रखते हैं। ये मन्त्र हमारे आचार्योंने बड़े अनुभव और से बनाये हैं। अपने अनुभवोंका निचोड़ इनमें भर दिया । मन्त्रमें आये हुए शब्दोंका साकार हो जाना, जीवनमें तरह चरितार्थ हो जाना ही मन्त्रसिद्धि कहलाता है। जो मन्त्रोंपर चित्तको एकाग्र कर इन्हें जीवनमें उतार ता है, भारतीय पद्धतिके अनुसार उसके जीवनका काया-ट हो जाता है।

मन्त्रोंके जापसे अर्थात् पूरी श्रद्धा और निष्ठासे एकाग्र कर उच्चारण करनेसे नयी शक्ति प्राप्त होती है, नयी स्वस्थ मनःस्थितिकी प्राप्ति होती है। उत्तम शब्दोंमें महान् उत्पादक गुणकारी शक्ति भरी हुई है। इनके द्वारा एक अदृश्य वातावरणका निर्माण होता है, जो जीवनकी दिशाको बदल डालता है। शब्द आपके मनसे जुड़ा हुआ है। जो कुछ आप उच्चारण करेंगे, वैसा ही भाव आपके मन, हृदय तथा सम्पूर्ण शरीरमें, उसके कण-कणमें फैल जायगा। आपकी आत्माकी भी वैसी ही उच्च या निम्न स्थिति होगी।

एक विद्वान्ने मन्त्र-जापका मनोवैज्ञानिक रहस्य स्पष्ट करते हुए सत्य ही लिखा है—

'शब्द उच्चारण करने या मन्त्र जपनेका सबसे पहला प्रभाव मन्त्र जपनेवालेके शरीरपर पड़ता है, अर्थात् सबसे पहले शरीरके जीवन-परिमाणु गरम होकर प्रत्येक गुप्त और प्रकट नस, नाड़ी, तन्तु तथा इससे भी सूक्ष्म नासाजालमें गरमी पहुँचायेंगे, जिससे वे ठीक-ठीक स्वास्थ्यवर्द्धक क्रियाएँ करने लगेंगे। अधिक मन्त्र जपनेसे बाहरके जीवन-शक्ति-परमाणुओंमें धक्का लगना प्रारम्भ होगा और लगातार धक्का लगनेसे वे परमाणु और अधिक गरम हो जायँगे। अधिक-से-अधिक गरमी पहुँचनेसे वह गरमी अपने कारणमें लय होती है अर्थात् सूर्यकी गरमीकी ओर आकर्षित होती है और फिर सूर्यसे वह शक्ति जापकको वापस प्रदान होती है। जिस इच्छासे शब्द या मन्त्र उच्चारण किया गया है, वह इच्छा पूर्ण हो जाती है। जीवन उसके अनुसार ढल जाता है। प्रत्येक शब्दके उच्चारणकी ऐसी शुभाशुभ प्रतिक्रिया है।'

कहनेका मतलब यह है कि हमारे शास्त्रों, मुनियों और उपनिषदोंने बोले जानेवाले प्रत्येक शब्दके प्रति बड़ा सावधान रहनेका आदेश दिया है; क्योंकि शब्दमें नयी सृष्टिकी रचना करनेकी बड़ी प्रबल शक्ति है। जो काम हम वर्षोंमें नहीं कर सकते, उसको चुने हुए शब्दोंकी शक्ति कुछ क्षणोंमें ही कर दिखाती है। शब्दकी चुम्बकीय शक्तिद्वारा खिंचकर इच्छित वस्तु हमतक पहुँचती है।

अतः हम किन शब्दोंका प्रयोग करें ? उत्तर है—

'जिह्वा मे मधुमत्तमा'

(तैत्तिरीय० १ । ४)

हे ईश्वर ! मेरी यह जीभ मीठी वाणी बोले। मैं कभी कटु, कर्कश और कुवचन बोलकर अपनी वाणीको दूषित न करूँ।

हम सर्वदा, दैनिक जीवनमें, समाजमें, परिवार और व्यवहार-में उन्हीं शब्दोंका प्रयोग करें जो मृदु, सरस, उत्साहप्रद, मधुर

हितकारी हों। जो हमारी नीरसता दूर भगाकर मनमें नयी उमंग, नयी प्रसन्नता और हृदयके उल्लासकी अभिवृद्धि करें।

संतोंकी वाणियाँ, मधुर भगवद्भजन, आरती, भक्ति, संगीतका अथाह भंडार आपके हृदयमें उल्लासपूर्ण भावोंकी सृष्टि कर सकता है। मनको नयी प्रसन्नता और उत्साहसे भर सकता है। मधुर तथा उन्नतिशील भावोंके गीत और कविताओंका उच्चारण कीजिये।

मनको शान्त कर चुपचाप ऐसे शब्दोंका उच्चारण कीजिये जो मनको शान्त और संतुलित करें। आत्मश्रद्धाको बढ़ावें। कर्तव्यपथपर चलनेको प्रोत्साहित करें।

जैसे, आप कहिये, 'मेरा अन्तःकरण दृढ़ है। मैं शान्त और संतुलित हूँ। मेरे मनमें किसी प्रकारकी क्षुद्र चञ्चलता, व्याकुलता और बुराई नहीं ठहर सकती। मेरे अंदर साक्षात् ईश्वर विराजमान हैं। उन्हींकी शक्ति मुझमें कार्य कर रही है।'

'मैं परमात्माका अंश हूँ। मैं समस्त प्राणीमात्रमें अपनी ही परछाईं देखता हूँ। सबको प्रेम, दया और सहानुभूतिसे देखना चाहता हूँ। मैं सत्-चित्-आनन्दस्वरूप हूँ, मैं आत्मा हूँ, समस्त रोग और शोकसे रहित हूँ, मैं अपनी आत्माके गुणोंको ही जीवनमें प्रकट कर रहा हूँ।'

'मेरे हृदयमें अखण्ड प्रसन्नता, अखण्ड आनन्द और शाश्वत शान्तिदायक सद्विचारोंका दिव्य प्रवाह निरन्तर बहता रहता है। मेरी शान्तिको कोई भी भंग नहीं कर सकता। विपरीत स्थितिमें भी मेरी मनःशान्ति अक्षय बनी रहती है।'

'मैं अपने अंदर अनन्त शक्तिका अनुभव कर रहा हूँ। मेरे अंदर अखिल विश्वमें व्याप्त ईश्वरीय सत्ताका स्वरूप प्रकट हो रहा है। मेरा निर्माण भगवान्के सनातन शुद्ध अंशसे हुआ है। मैं अपने अंदर उसी मङ्गलमय भगवान्का दर्शन कर रहा हूँ। मैं हर प्रकारसे शुद्ध हूँ, सात्त्विक हूँ। मुझमें पूर्ण ज्ञान है। पूर्ण शक्ति है—प्रेम है, ईश्वर मुझमें है, मैं ईश्वरमें हूँ।'

अपने इच्छानुकूल सुन्दर सात्त्विक मन्त्र चुनिये। उनका अर्थ समझिये और प्रतिदिनकी पूजामें उन्हें बार-बार दुहराइये। ऊपर लिखे मानसिक संकेत बनाइये और रात्रिमें सोते समय तथा सुबह उठते ही उनका उच्चारण कीजिये। भक्तों, कवियोंके तथा नीति एवं उपदेशोंसे सने हुए भजन, गीत और कविताएँ श्रद्धापूर्वक उच्चारण कीजिये। कीर्तन कीजिये। निश्चय जानिये, सात्त्विक शब्दोंका रसायन आपके जीवनमें एक नया परिवर्तन ला देगा। हमारे यहाँ जप-नामकी जो धार्मिक क्रिया है, उसका मनोवैज्ञानिक आधार यही शब्द-शक्ति है। अच्छे मन्त्रोंके जपसे नये-नये गुण, ऋद्धि-सिद्धियाँ प्रकट होती हैं और शुभ प्रवृत्तियोंका विकास होता है।

हमारी यही कामना होनी चाहिये, 'हे ईश्वर! मेरी जिह्वा सदा मधुर, सत्य, कल्याणकारी, सर्वहितकारिणी वाणी ही बोले। मैं कभी कटु, कर्कश और कुवचन बोलकर अपनी वाणीको दूषित न करूँ। सात्त्विक शब्दोंसे अपने इर्द-गिर्द पवित्र वातावरणका निर्माण करूँ। मैं निरर्थक बकवादसे सदा बचता रहूँ। सारगर्भित, पवित्र और कल्याणकारी शब्दोंका ही प्रयोग करता रहूँ। मेरे मुँहसे 'ॐ शान्तिः', 'हरे कृष्ण', 'जय राम,' इत्यादि पवित्र नाम ही निकलें। मेरी वाणी सर्वहितकारिणी हो। मुझे आध्यात्मिक जीवनकी ओर ले चले।'

ॐ विश्वानि देव सवितुः दुरितानि परासुवः यद्भद्रं तन्न आसुवः।

'हे परमपिता, जगदीश्वर ! जो दुःखदायक वस्तुएँ हों उन्हें हमसे दूर हटा दीजिये। जिन शब्दोंसे हमें आत्मिक सुख प्राप्त हो, उन्हें ही हमारे मुखसे निकलने दीजिये।'

* * *

प्रभुकी अनुकम्पा

प्रभुकी अनुकम्पा परम छायी चारों ओर।
आत्यन्तिक सुख-शान्तिका मिलता ओर न छोर॥
कोई कैसी भी विषम, हो स्थिति अति प्रतिकूल।
चुभा नहीं सकती तनिक मेरे उरमें शूल॥
सभी परिस्थितियोंमें सदा रहती शाश्वत शान्ति।
हटती कभी न हृदयसे मोहनकी मुखकान्ति॥

सहनशक्ति बढ़ाइये

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

भारतीय ऋषियों, मुनियों और महापुरुषोंने तितिक्षा या सहिष्णुताको आध्यात्मिक उन्नतिके लिये बहुत ही आवश्यक माना है। बड़ा बनना या ऊँचा उठना अवश्य ही कष्टसाध्य है। जिसमें सहनशीलता नहीं, वह उन्नति नहीं कर सकता। आध्यात्मिक उत्थानकी बात छोड़ भी दें, व्यावहारिक जीवनमें भी इसकी अत्यन्त आवश्यकता है। प्रकृतिने भी हमें यह संदेश दिया है कि हम सहनशील बनें। कभी गरमी, कभी सर्दी, कभी लू, कभी वर्षा और कभी ओले गिरते हैं तो कभी भूकम्प होता है। कहीं तीखे काँटे पड़े रहते हैं तो कहीं नुकीले कंकड़; कभी भूख लगती है तो कभी प्यास। इसी प्रकारके अनेक कष्ट, प्रतिकूलताएँ प्रकृतिने ही पैदा की हैं। उन सबके सहन किये बिना जीवन चल नहीं सकता। सहिष्णुतासे ही मनुष्य आगे बढ़ता है और उसकी शक्तियाँ विकसित होती हैं।

इधर संसारमें अनन्त प्राणी हैं। उनकी रुचि, प्रकृति, योनि, आकृति, स्वभाव भिन्न-भिन्न प्रकारके हैं। बहुत-से तो एक-दूसरेके विरोधी भी हैं। अतः एक-दूसरेको जान या अनजानमें कष्ट देते हैं। वचनद्वारा, शरीरद्वारा बहुत-कुछ प्रतिकूलताएँ उपस्थित होती हैं और उनके सहन किये बिना चारा नहीं। यदि छोटी-छोटी बातोंके लिये उबल पड़ें, बरस पड़ें, झल्ला जायें और संघर्ष छेड़ दें तो जीना दूभर हो जायगा। अतः व्यावहारिक जीवनमें भी इसकी आवश्यकता है ही। पल-पलपर उसका आश्रय लेना पड़ता है।

प्रतिवाद करनेकी शक्ति न हो और अनिच्छासे सहना पड़े, वह सहिष्णुता नहीं है। पर अपनी इच्छासे, बिना किसी विषादके शान्ति और समभावके साथ जो कुछ भी प्रकृति, पुरुषों, पशुओं और देवोंद्वारा कष्ट आयें, प्रतिकूलताएँ हों, उन सबको सह लेना सच्ची सहिष्णुता है। सहिष्णु व्यक्ति घबराता नहीं, चिल्लाता नहीं, परवा नहीं करता। उसे तो कष्ट झेलनेमें आनन्द आता है। वह प्रतिकूलताओंको अपनी परीक्षाओंका अवसर मानता है, विचलित नहीं होता, डटा रहता है। द्रष्टा होकर देखता रहता है पर मुह्यमान नहीं होता। धीरज ही उसका संबल है। शक्ति ही उसके लिये उपास्य है। समभाव ही उसका आराध्य है। सब परिस्थितियोंमें वह एकरस हो जाता है। कोई मान करे, अपमान करे; कोई गाली दे, निन्दा करे, प्रशंसा करे; मारे-पीटे; झूठा कलंक दे और विपत्तियोंमें फँसाये, प्राणान्त कष्ट आ जाये—पर वह हँसते-हँसते सबको झेल लेगा। उफ् और टीसका एक भी शब्द मुँहसे न निकले, प्रतिरोध करनेकी मनमें भावना तक न जगे, वही सच्चा सहिष्णु है। आज हम इतने असहिष्णु बन गये हैं कि थोड़ेसे व्यंग्य या तीखे वाक्योंसे उबल पड़ते हैं, आपेसे बाहर हो जाते हैं, विवेक खो देते हैं। चाहे कोई कुछ बिगाड़ भी न करे, पर हम किसीके कहनेसे या गलत धारणा या भ्रमसे किसीको अपना विरोधी मान लेते हैं, तो मनमें कुढ़ने लगते हैं। बाहरसे कुछ न कह सकें, पर अंदर द्वेषकी आग भभक उठती है, क्रोधसे भौंहें टेढ़ी हो जाती हैं और आँखें लाल-सुर्ख हो जाती हैं; दाँत पीसने और किटकिटाने लगते हैं। जरा-सा मौका मिला कि विरोधीको पीट डालनेका संकल्प कर बैठते हैं। कहाँ हमारा प्राचीन आदर्श और कहाँ हमारी वर्तमान दैन्य स्थिति? आकाश और पातालका अन्तर हो गया है। कोई सामञ्जस्य ही दिखायी नहीं देता। पूर्वज क्या थे, हम क्या हो गये हैं। उन्होंने क्या रास्ता दिखाया, हम किधर जा रहे हैं। जरा गहराईसे, ठंढे दिमागसे सोचें तो अपनी बड़ी भूलका पता स्पष्ट चल जायगा।

और तो और, हमारे धर्म, जो हमें क्षमा, करुणा, मैत्री, तितिक्षाका संदेश देते रहते हैं, उन धर्मोंके मामलोंमें हमारी यह असहिष्णुता और भी अधिक दिखायी देती है। शान्तिका स्थान अशान्तिका अड्डा बन गया है। बहुत बार ऐसा लगता है कि पानीमें आग लग गयी, असम्भव सम्भव हो गया। बाड़ ही खेतको खा गयी, रक्षक ही भक्षक बन गये। पर्वतसे गिरे और पातालमें जा धँसे। आदर्श कितना ऊँचा, पर व्यवहार बड़ा नीचा। इस खाईको पाटनेका इलाज नहीं, यही खेद और आश्चर्य है। इसका इलाज हो भी क्या? भाई-भाई लड़ पड़े, बेटा-बाप लड़ पड़े, गुरु-चेले झगड़ पड़े। इस असहिष्णुताकी एक चपेटसे सब बावले हो गये। किसे कोई क्या कहे? कूएँमें भाँग पड़ी, कौन समझाये? सबके हृदयमें, मस्तिष्कमें, बोल-चालमें, प्रवृत्तिमें, व्यवहारमें असहिष्णुता छा गयी। आश्चर्य है कि इसके ताण्डव नृत्य

तथा कुफलके दुष्परिणामको देखकर भी हम चौकन्ने नहीं होते, जाग्रत् नहीं होते, विचार नहीं करते कि आखिर यह क्यों ? चंद दिनोंके मेहमान हम सब, फिर जीवनको अशान्ति और कलहका अड्डा एवं साम्राज्य क्यों बनायें ? अमृतकी जगह विष क्यों घोलें ? प्रेम और आनन्दका मजा क्यों न लूटें ?

विचार-भेद प्रकृतिका अटल नियम है । कभी ऐसा युग नहीं आया कि सबके विचार एक-से हो गये हों; क्योंकि सबमें अपना व्यक्तित्व है, चैतन्यकी छटा सबमें अलग-अलग छिटक रही है । धर्म सबके अलग-अलग हैं, प्रवृत्ति भिन्न-भिन्न है तो परिणाम भी भिन्न होंगे । पर याद रखिये, इन सब विविधताओंमें समानता भी है, भेदमें भी अभेद है, अनेकतामें एकता है । अशान्तिमें शान्ति भी है । विरोधमें मेल भी है, वैमनस्यमें साम्य भी है । हर रोगका इलाज है पर हमने भेदको ही बढ़ाया, अनेकताको ही आगे किया, छोटी-छोटी बातोंको बड़ा मान लिया । इसलिये हम सहिष्णुताका गुण छोड़ बैठे, असहिष्णुताके मिटानेका यही इलाज है, यही रामबाण औषध है कि हम समत्वकी ओर आयें और अभेदको बढ़ायें । विरोधीको भी अपना समझें । यदि कोई भाई—हमारा आत्मीय किसी गलत रास्तेपर चला गया है तो हम उसका अनुसरण न करें, हम भी भटक न जायँ, अपितु अपने सद्व्यवहारके द्वारा उसे रास्तेपर लायें । वह गलती कर रहा है तो हम उसे न दोहरायें ।

अहिंसा और आत्मीयता हमें भेद-बुद्धिसे खींचकर अभेद-वृत्ति तथा समन्वयकी ओर आगे बढ़ाती है । प्राणिमात्रमें अपनेपनका अनुभव करना, उसके कष्टको अपना कष्ट मानना यही अहिंसाकी मूल भित्ति है और विभिन्न विचारोंसे एकताका सूत्र खोलना, समन्वयका रास्ता ढूँढ़ निकालना—यही अनेकान्त है । सहिष्णुता इन दोनोंके मूलमें काम कर रही है । विरोधीके विचारोंको हम शान्तिसे सुनें, समझें, उनके दृष्टि-विन्दुको पकड़ लें, विचार-भेदका कारण ढूँढ़ निकालें और कोई हमें कष्ट देता है तो हम धैर्य रक्खें, उसे सह लें, पर प्रतिरोधकी भावना और वृत्ति न पैदा होने दें । यही सहिष्णुता है, यही अहिंसा है, अनेकान्त है, चाहे क्षमा कहिये, चाहे धैर्य कहिये, चाहे शान्ति कहिये, चाहे समता कहिये—ये सभी सहिष्णुताके ही अपर नाम हैं ।

विचार-भेद हैं और रहेंगे । हमें इन मत-भेदोंसे मन-भेद नहीं करना है । कोई भाई हमें कुछ कटु वाक्य कहता है या मार-पीट भी कर देता है तो उस अज्ञानी बन्धुके प्रति हमारा करुणाभाव हो । हमारे हृदयमें क्रोध और द्वेषकी ज्वाला न भड़के, प्रतिरोधकी भावना न जगे । विरोधका डिंडिमनाद न बजे, तब समझिये कि सहिष्णुताका पहला पाठ आप सीख चुके हैं । अभी इसके आगे एक और पाठ है, वह है शत्रुको भी मित्र मानना, कष्टदाताको भी सहायक मानना । मरणान्त कष्ट देनेवालेका भी उपकार मानकर उसके उद्धार करनेकी भावना एवं प्रवृत्तिको न मिटने देना ।

'जो तोकूँ काँटा बुवै, ताहि बोय तू फूल ।'

साधारण मनुष्योंकी पहली स्टेज है—'विरोधीके प्रति विरोधी भावना,' 'जैसेको तैसा,' 'शठं प्रति शाठ्यम् ।' उनके विचारमें या नीतिमें यह तर्क होता है कि हम किसीकी क्यों सहें ? सहता वह है जो निर्बल है । ताकत होते हुए भी जो आक्रमणका प्रतीकार नहीं करता, कोई मारने आये तो उसको मारनेके लिये सामने नहीं जाता, कोई अपनी बुराई करे तो उसको चुपचाप सह लेना, वे इसे कमजोरी समझते हैं और व्यवहारमें उनकी मान्यताके अनुसार आपत्ति आती है, दुष्टता बढ़ती है, अनीति पनपती है और भले आदमियोंका जीवन खतरेमें पड़ जाता है। इसीलिये दण्ड-व्यवस्था एवं कानून बने हैं ।

दूसरा स्तर है कि हम अपनेको सम्हाले रहें । दूसरा गलती करता है तो हम गलती क्यों करें ? एक व्यक्ति क्रोध करता है, हम आग-बबूला क्यों हों जब कि हम मानते हैं कि क्रोध बुरा है । किसीको कष्ट देना पाप है, तो हम उस बुराईको, पापको क्यों अपनायें ? एक व्यक्ति अज्ञानसे या स्वार्थसे कुछ अनुचित कर बैठता है तो दूसरा भी वही बर्ताव करे, इसमें अच्छाई क्या है, बड़प्पन क्या है ? इसीलिये हम समभाव रक्खें । दोषसे अपनेको बचाये रक्खें । कोई व्यक्ति हमें कुछ अनुचित कहता है, हमारा दोष प्रकट करता है तो उसके कारणका अनुसंधान करें और यदि वास्तवमें हमारी कुछ गलती है तो उसका सुधार करें । यदि हम निर्दोष हैं और विरोधी व्यक्ति भ्रम या अज्ञानसे गलती करता है तो उसे उसका भान करा दें । इसपर भी वह नहीं मानता है तो उदासीन हो जायँ और उपेक्षा कर दें; पर उसके प्रति मनमें द्वेष, घृणा, उसका बुरा करनेका भाव और उसके-जैसी भावना न रक्खें ।

इससे ऊँचा स्तर वह है जिसमें कोई विरोधी रहता ही नहीं। सबमें एक ही ब्रह्मका या ईशका निवास है। कोई पराया नहीं; सबमें वही भगवान् बस रहा है जो कि हममें है। वहाँ ऊँच-नीचकी, भेद-भावकी दीवारें मिट जाती हैं। सारा जगत् ब्रह्ममय, परमात्म-स्वरूप या अपना ही रूप दिखायी देता है। इस अवस्थामें असहिष्णुताका प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरे स्टेजतक ही उसकी आवश्यकता है। पहलेके लिये तो विशेष है। हमारे महापुरुषोंको कितने कष्ट मिले, पर सबको सहकर ही वे बड़े बने। हम भी उन्हींकी संतान हैं। उनका अनुसरण कर सहनशील, धीर और गम्भीर बनें। सारा जड-चेतन जगत् हमें सहिष्णुताका ही पाठ पढ़ा रहा है। पृथ्वी हमें संदेश दे रही है कि देखो मैं कितना सहिष्णु हूँ। नाना प्रकारके प्राणी नाना प्रकारके कष्ट मुझे देते हैं, मैं सब सह लेती हूँ, हर एकका उपकार ही करती हूँ, अपकार नहीं। विरोध करना मेरा धर्म नहीं; मैं सबकी माता जो हूँ। बच्चा बहुत बार जाने-अनजानेमें नुकसान कर देता है, पर माँ उन सबको सह लेती है। उसका प्रेम अनन्त है, असीम है। वह यदि उसको डाँटती है, मारती है, तो उसके हितके लिये ही। पुत्र कुपुत्र हो जाय पर माता कुमाता कभी नहीं होती। नारी भी सहिष्णुताकी मूर्ति है। वह घरवालोंके लिये, बाहरके लोगोंके दिये हुए भी कष्ट सहती जाती है। हम इन सबसे सहिष्णुताका सुन्दर पाठ ग्रहणकर अपने जीवनको आनन्दमय बनायें। यही मङ्गलमय कामना है। सहिष्णुताको अपनाकर शान्ति लाभ करें और उन्नत बनें।

* * *

भगवान्‌की दृष्टि

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

आरतीकी थालीमें निर्धन श्रद्धालुने नतशिर हो, पलक मूँदकर मैली-कुचैली एक भेंट चढ़ायी और धनिक प्रशंसाके लुब्धने इधर-उधर गर्वीली दृष्टि फेंकते हुए चमकती-दमकती एक स्वर्ण-मुद्रा।

पुजारीने—भोले भक्तोंके समूहने भी निर्धनको हेय-दृष्टिमें देखा और धनिकको सम्मान-दृष्टिसे !

निर्धन बेचारा सकुच गया। फूला धनिक और फूल गया !

परंतु यह क्या ?

सहसा आश्चर्यका धरती-आकाश एक हो गया। सबके देखते-देखते, विस्मय-विस्फारित नेत्रोंसे देखते-देखते थालीमेंसे निकलकर मैली-कुचैली पाई श्री-विग्रहके चरण छूती हुई उनके मस्तकपर जा चढ़ी और चमकती-दमकती स्वर्ण-मुद्रा चलकर चरणोंमें……..चरणोंतक भी न पहुँच पाकर निश्चल हो परे-परे ही पड़ी रह गयी !

ऐसा होना आश्चर्यजनक अवश्य था किंतु अकारण नहीं।

मैली-कुचैली पाईके साथ उसके भेंट-कर्ताका निर्मल हृदय भी तो भेंट हुआ था। उस सहृदय पाईको अन्तर्यामी सिरपर न चढ़ाते तो क्या करते। उधर चमकती-दमकती स्वर्ण-मुद्राके लिये, उसकी गतिके लिये उसके दाताका अभिमान ही व्यवधान बन गया था। सर्व-गर्वहारीके श्रीचरणोंका स्पर्श ही सहज उसकी पहुँचके बाहर था, शीशके और पहुँचनेकी तो बात ही क्या ?

भगवान्‌की दृष्टिकी बात ही और है। वह मर्ममें पैठती है, तहमें पहुँचती है। उसे धोखा नहीं दिया जा सकता; उसमें धूल नहीं झोंकी जा सकती।

उत्साह

(लेखक—डा० श्रीप्रकाशसिंहजी बी० एस्-सी०, एम्० बी० बी० एस्०)

जीवनमें सफलता प्राप्त करनेके सभी साधनोंमें उत्साहका अपना प्रमुख स्थान है। इसके बिना अपनी उन्नतिके किसी भी कार्यक्रममें आप सफल नहीं हो सकते या यों कहिये, उत्साहका सहारा लेकर अपने परिश्रमका आप पूर्ण लाभ उठा सकते हैं। जीवनमें आप जो कुछ भी करना चाहें, एकाग्रताका पाठ पढ़ना चाहें; अथाह शक्ति अर्जित करना चाहें अथवा आत्मोन्नति करना चाहें; सभीमें उत्साह आपको कार्यशील बनाता है, कार्यरत रखता है और उन्नतिकी ओर अग्रसर करता है। यह उत्साह क्षणिक नहीं बल्कि स्थायी होना चाहिये।

उत्साह बड़ा ही प्रेरणाप्रद है। बिना उत्साहके बड़े ही प्रभावशाली तर्क-वितर्क भी आपको कार्यशील नहीं बना सकते हैं। किसी भी कार्यमें यदि आप श्रेष्ठता प्राप्त करना चाहते हैं अथवा पदोन्नति करके शिखरपर पहुँचना चाहते हैं, चाहे वह आपका प्रिय व्यापार हो; आपका दैनिक कार्य हो या आपके अध्ययनका विषय हो; इसके लिये आपको पहले अपनेमें उत्साह उत्पन्न करना पड़ेगा और फिर उस तीव्र उत्साहको बनाये रखना पड़ेगा।

उत्साहको उत्पन्न करने और बढ़ानेके कितने ही नियम हैं। आप उन नियमोंको पालन करनेका प्रयत्न कीजिये, सफलता आपकी दासी बनकर रहेगी। अपने विषयमें विशेषज्ञ बननेका प्रयत्न कीजिये। आप विद्यार्थी हों तो अध्ययनसे, चिकित्सक हों तो रोगियोंसे और चिकित्सा-सम्बन्धी पुस्तकोंसे या गायक हों तो गान-विद्या-विषयक अभ्याससे अनुराग उत्पन्न कीजिये। अपने कार्यसे एकाकार हो जाइये। अपने विषयकी गहराइयोंमें प्रवेश कीजिये तो उत्साह बढ़ता ही जायगा। उत्साह आपकी योग्यता और चातुर्यके साथ बढ़ता ही जायगा। जैसे ही किसी विषयमें आपका उत्साह कम होने लगे, उस विषयकी सूक्ष्मताओंकी खोजमें लग जाइये।

जो भी कार्य कीजिये, उसमें नया जीवन फूँक दीजिये, हँसते हुए कीजिये, मुसकराते हुए कीजिये। सदा सर्वत्र आपके मुखपर आशा और उमंगकी छाप होनी चाहिये।

अपनी विफलताओंपर निराश न होइये, उनको [illegible] मस्तिष्कमें स्थान न दीजिये, विफलताएँ सफलताका रास्ता खोल देती हैं। अपनी सफलताओं और पूर्ण किये हुए कार्योंके विषयमें दूसरेसे बातचीत कीजिये, परंतु ध्यान रखिये कि अहंकारका भाव न आने पाये। अपने सौभाग्यके विषयमें दूसरोंको बताइये, अपनी विफलताओं और भूलोंके विषयमें दूसरोंको न बताइये। अपनी विफलताओं और भूलोंके विषयमें चुप परंतु सावधान रहिये। आपका उत्साह दिन दूना रात चौगुना बढ़ेगा।

बड़े महापुरुषोंकी जीवनी पढ़िये, उनके-जैसे चरित्रवान बननेका प्रयत्न कीजिये। नैपोलियनकी जीवनी पढ़िये जिसको आल्पस पर्वतने रास्ता दे दिया था और महाराजा रणजीतसिंहके जीवनसे प्रेरणा लीजिये जिनको बरसातमें चढ़ी हुई सिन्धु नदीने रास्ता दे दिया था। ये उत्साहके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

हमारी मानसिक स्थितिका प्रभाव हमारे शरीरपर पड़ता है और हमारी शारीरिक दशा हमारे मानसको प्रभावित करती है। उत्साह मुसकान, हँसी, लगन, शक्ति, ध्यान अथवा सावधानीके रूपमें प्रकट होता है। ये ही शक्तियाँ हमें सफलताकी ओर अग्रसर करती हैं। संसारके चित्रपटपर एक उत्साही पुरुषका अभिनय कीजिये। यथार्थ उत्साह स्वयमेव आपकी शक्तियोंको प्रकट कर देगा।

जीवनके हर पहलूमें उत्साह ही मनुष्यको सामान्य या विशिष्ट पुरुष बना देता है। एक विद्यार्थी, जिसके लिये विद्याध्ययन केवल कर्तव्य है, एक साधारण नागरिक ही बन पाता है, जब कि दूसरा विद्यार्थी अपना कार्य साहस और उत्साहके साथ करता है तो बड़ा राजनीतिज्ञ नेता या वैज्ञानिक बनता है।

उत्साह आपके कार्यको उस प्रसन्नता और सफलतामें बदल देगा जिसकी आप बहुत दिनोंसे आशा लगाये बैठे थे। उत्साह ही सफलताका रहस्य है जो कि आपके गुणोंमें चार चाँद लगा देता है।

रक्षकके लंबे हाथ

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'आज रक्षक भक्षक बन गया है। हम किसी प्रकार तुझे सेनामें जानेसे रोक नहीं सकते।' मेरी माताने कहा था। उस माताने जिसने जीवनके अस्सी बसंत देख लिये हैं। जो पिछले बाईस वर्षका अपना वैधव्यका जीवन एकमात्र अपने इस पुत्रके सहारे बिताती रही है। जिसकी भौंहोंके केशतक श्वेत हो चुके हैं। जिसके शरीरपर कालकी रेखाएँ झुर्रियोंके रूपमें सर्वत्र गिनी जा सकती हैं। जो इस बुढ़ापेमें भी घरके कामोंसे बचा समय अपने छोटे बगीचेमें पेड़ों-पौधोंको सींचने-गोड़ने तथा घास निकालनेमें बिता देती है। फलोंको कुतरनेवाली चिड़ियोंमें एवं गिलहरियोंको भी जो बुरा-भला कहनेके बदले चुगनेको दोनों समय नियमसे दाने डालती है। उसे किसीसे झगड़ते पूरे कस्बेमें किसीने कभी नहीं देखा। वह मेरी माँ रो रही थी। उसने मुझे विदा देते समय कहा था—'जहाँतक बन सके, अपने हाथ निरपराधोंके रक्तसे रंगनेसे बचना। परमात्मा तेरी रक्षा करेगा। बड़े लंबे हैं उस रक्षा करनेवालेके हाथ।'

प्रत्येक युवकको सैनिक शिक्षा लेनी ही पड़ती है हमारे देशमें और प्रत्येक सैनिक आयुका व्यक्ति इस युद्धके प्रारम्भमें ही सेनामें बुला लिया गया। मेरी माँको चाहे जितना दुःख हो—सहस्रों माताओंको ऐसा ही दुःख है; किंतु जर्मनीके फ्युहरर (हिटलर) के आदेशको कोई असहाय वृद्धा कैसे टाल सकती थी।

मुझे सैनिक-प्रशिक्षण पहले ही प्राप्त हो चुका था। अब कुछ महीनोंमें मैं पनडुब्बीपर काम करनेके लिये शिक्षित किया गया; क्योंकि मैं बहुत कुछ जल-सेनाके सैनिककी शिक्षा भी प्राप्त कर चुका था। जर्मनीकी जल-सेना छोटी है। ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिकाकी संयुक्त जलसेनाकी चर्चा तो दूर रही, अकेले ब्रिटेनकी जलशक्तिसे टक्कर लेनेकी बात भी सोची नहीं जा सकती, किंतु फ्युहररको अपनी पनडुब्बियोंपर भरोसा है। विपक्षीके जहाजोंको डुबाकर उसकी जलसेनाकी रीढ़ तोड़ दी जा सकेगी, यह कठिन भले हो, असम्भव नहीं लगता है और जर्मनीका शौर्य असम्भवको सम्भव बनानेसे ही कब हिचका है।

मेरा काम न यान-संचालन करना है और न तारपीडोंसे प्रहार करना। मैं यन्त्रकक्षका निरीक्षक हूँ। कभी-कभी रेडियो-संवाद लेने और सुननेका भी काम करता रहा हूँ। वैसे आप सम्भवतः नहीं जानते कि पनडुब्बीके प्रत्येक व्यक्तिको उसके संचालन, तारपीडो-प्रहार तथा यन्त्रोंके समस्त प्रयोगोंकी शिक्षा लेनी पड़ती है। कब कैसी दुर्घटना होगी और किस व्यक्तिके लिये कौन-सा काम अनिवार्य बन जायगा, यह कहा नहीं जा सकता।

आप कह सकते हैं कि मैंने किसी जहाजपर अपने हाथसे 'तारपीडो' नहीं चलाया, अतः हत्याके रक्तसे मैं बचा हूँ। किंतु मैं अपने-आपको धोखा कैसे दे सकता हूँ? मुझे ही सूचित करना पड़ता था अपने यन्त्रोंसे पता लगाकर कि विपक्षी जहाज कहाँ है, किस ओर जा रहा है। किस स्थानसे उसपर आघात करना ठीक रहेगा, यह निर्णय भले कप्तान करता हो; किंतु मेरा योग इस विनाशमें कम नहीं था। उन जहाजोंके सैनिक, मल्लाह तथा दूसरे लोग जिन्होंने हमारा कुछ नहीं बिगाड़ा; जिन्हें हम जानते तक नहीं। वे हमारे देशपर कभी आक्रमण करने न जायँ, यह भी तो हो सकता था; किंतु वे विपक्षके जहाजपर हैं—जब वे सर्वथा असावधान होते, हमारी पनडुब्बीसे उनकी मृत्यु दौड़ पड़ती उनकी ओर।

हमारी पनडुब्बीमें पर्याप्त पेट्रोल था। एक महीने हम बराबर समुद्रमें रह सकें, इतना ईंधन, भोजनका सामान और आघातके प्रचुर अस्त्र। हमने अफ्रिकाके दुर्गम पश्चिमी तटके एक स्थानपर कुछ खाद्य-पदार्थ और पेट्रोल छिपा रक्खा था। संकटके समय वह हमारे काम आता। दो बार बीचमें हम वहाँ उतरे भी थे।

कुल सात व्यक्ति थे हमारी पनडुब्बीमें सब युवक और साहसी। हमने ब्रिटेनके पाँच जहाज डुबाये, जिनमें तीन भारी सैनिक जहाज थे; किंतु इसका यह परिणाम हुआ कि ब्रिटेनके हवाई 'जहाज और विध्वंसकोंका पूरा दल हमारी खोजमें निकल पड़ा। वनमें जैसे किसी नरघाती चीतेको ढूँढ़ने शिकारी कुत्तोंका दल निकले—पश्चिम अफ्रिका तथा ब्रिटेनसे पश्चिमका महासागर वे चप्पा-चप्पा करके ढूँढ़ने लगे। सम्भव है, उन्होंने अपने लिये अन्वेषणके क्षेत्र बाँट लिये हों।

'बचने और भागनेकी नीति कायरोंकी नीति है।' हमने केन्द्रको परिस्थितिकी सूचना दी तो वहाँसे फटकार मिली—'आघात करो और शत्रुके अधिक-से-अधिक विध्वंसकोंको नष्ट कर दो! तुम्हारे दो सहयोगी और जा रहे हैं।'

हमारा कप्तान आवेशमें आ गया। केवल बारह घंटोंमें हमने विपक्षके तीन विध्वंसकोंको और जलसमाधि दे दी; किंतु इस उत्साहका दुष्परिणाम सम्मुख आ गया। हम घिर गये। ब्रिटिश पोतोंने इस प्रकार विस्फोटक फेंकने प्रारम्भ किये, जिससे मीलोंतक समुद्रका जल पूरी गहराईतक ऐसे उबलने लगा, जैसे चूल्हेपर चढ़ा पतीलीका पानी।

भयंकर विस्फोटका शब्द! मैं मूर्छित हो गया और फिर मुझे कुछ पता नहीं है कि मेरे साथियोंका, मेरी पनडुब्बीका अथवा हमें घेरेमें लेकर मौतकी वर्षा करनेवाले उन विपक्षके विध्वंसकोंका ही क्या हुआ। केवल अनुमान कर सकता हूँ कि पनडुब्बीके चिथड़े उड़ गये होंगे। मेरे साथी समुद्रके गर्भमें सो गये होंगे या समुद्री जन्तुओंने उन्हें पेटमें पहुँचा दिया होगा। जलके ऊपर तेलका प्रवाह जब तैर आया होगा, विपक्षी पोत अपनी सफलताका आनन्द मनाते लौट गये होंगे; किंतु मैं······'रक्षकके हाथ बहुत लंबे हैं' इसीलिये मैं यह सब लिखनेको बचा हुआ हूँ।

× × ×

जब मुझे चेतना प्राप्त हुई, तेज धूप थी। सूर्य आकाशमें सिरके ऊपर था। पीड़ासे मेरा पूरा शरीर फटा जा रहा था। शीघ्र ही वमन हुई। बहुत-सा खारा पानी निकला पेटसे। शरीर और सिरका दर्द कुछ कम हुआ। किंतु प्याससे कण्ठ सूखा जा रहा था। हिलनेकी शक्ति नहीं थी। मैं औंधेसे चित पड़ गया और पता नहीं कबतक पड़ा रहा। सम्भवतः मैं फिर मूर्छित हो गया था।

इस बार मुझे वर्षाकी बूँदोंने जगाया। बड़ी-बड़ी बूँदें बहुत तेज वर्षा; किंतु कुल आधे घंटेके पश्चात् फिर सूर्य निकल आया। कुछ पानी वर्षाका मैंने मुख खोलकर कण्ठतक पहुँचाया था। अब बैठकर मैंने कमीज खोल ली और उसे मुखमें निचोड़ने लगा।

थोड़ी शक्ति मिली जल पीकर। मैं चौंक गया; क्योंकि मैं जिस आधारपर पड़ा हूँ, वह स्थिर नहीं है। वह हिल रहा है और सम्भवतः चल भी रहा है। मैं उठकर खड़ा हो गया और देखने लगा कि मैं कहाँ हूँ।

चारों ओर अनन्त समुद्र है। सूर्य ढलने लगा है; अतः मैं केवल दिशाका अनुमान कर सकता हूँ; किंतु मैं इस समय कहाँ हूँ—यह जाननेका कोई उपाय नहीं। यह मैंने देख लिया है कि जिस आधारपर मैं इस समय हूँ, वह एक तैरता हिमखण्ड है—उत्तरध्रुवसे समुद्रमें तैर आनेवाला एक हिमखण्ड। जलमें वह कितना डूबा है, पता नहीं; किंतु ऊपर अब वह कुल दो-ढाई सौ गज लंबा है। इसका अर्थ है कि मैं उत्तरध्रुवसे चलनेवाली शीतल धारामें दक्षिण-अफ्रिकाकी ओर इस हिमखण्डपर बहता जा रहा हूँ। ऊपर एक भारी गिद्ध चक्कर लगा रहा है। वह मेरी मृत्युकी प्रतीक्षा करता होगा। यह समुद्री गीध अब दस-पंद्रह दिन मजेसे प्रतीक्षा करता साथ चल सकता है।

मृत्यु—मैं सिहर उठा। जेबोंको टटोलनेपर पेन्सिल, डायरी और कुछ गोलियाँ मिल गयी हैं। ये आहारकी गोलियाँ हैं। इनसे पेट नहीं भरता, क्षुधाका कष्ट नहीं मिटता; किंतु शरीरको पोषण मिल जाता है। काम करनेकी क्षमता बनी रहती है। हमारे वैज्ञानिकोंने विपत्तिमें पड़े सैनिकोंके लिये इनका आविष्कार किया था।

मैंने तीन गोली एक साथ खा ली हैं। शरीरमें अब स्फूर्तिका अनुभव करता हूँ। दर्द भी घटा है। किंतु यह तैरता हिमखण्ड—इन बहते हिमखण्डोंकी सूचना देनेवाला विभाग क्या इससे अनभिज्ञ है? क्या इसके उपेक्षणीय आकारतक गल जानेके कारण अब उसने इसका पता रखना और इसके सम्बन्धमें जहाजोंको सूचना देना बंद कर दिया है? क्या कोई जहाज मिलेगा मार्गमें? यह भी तो सम्भव है कि इसके प्रवाहकी सूचना दी गयी हो और इधरसे कोई जहाज आये ही नहीं।

अन्तिम सम्भावना ही अधिक है। इसका अर्थ जो कुछ है, जीवनके अन्तिम क्षणतक उसे लेकर आतंकित क्यों बनूँ। किंतु मैं यह सब क्यों लिखने बैठा हूँ? क्या उपयोग इसका! इस हिमखण्डपर बैठे-बैठे और कर भी क्या सकता हूँ। समय काटनेका साधन भी तो कुछ चाहिये।

रात्रिका अन्धकार फैलनेसे पूर्व एक दुर्घटना और हो गयी। मैं जिस हिमखण्डपर था, उसमें एक रेखा दीखी मुझे बालके समान पतली। शीघ्र ही वह दरार बन गयी और हिमखण्ड दो टुकड़ोंमें विभक्त हो गया। मैं जिस टुकड़ेपर बैठा था, वह बहुत छोटा हो गया था। कूदकर मैं दूसरे टुकड़ेपर आ गया।

रात्रि कैसे व्यतीत हुई—पूछिये मत ! सूर्यकी किरणोंको देरतक मेरा शरीर सेंकना पड़ा, तब कहीं मैं उठकर बैठने योग्य हुआ हूँ; किंतु यह सम्मुख क्या है ? हे भगवान् ! हे धाम ! यह तो पृथ्वी है, ये वृक्ष दीख रहे हैं समुद्रतटके। प्रभु ! तो तेरे लंबे हाथ मुझे बचाने यहाँतक बढ़ आये है। इतना समुद्र तो मैं अब सरलतासे तैर सकता हूँ।

× × ×

वर्षों पीछे कांगोके समुद्रतटपर एक डायरी मिली। में किसी जर्मन सैनिककी लिखी कुछ बातें हैं। अनुमान कि पनडुब्बीके डूबनेपर उसका मूर्छित शरीर लहरोंपर ता रहा और किसी बड़ी लहरने उसे उठाकर पानीमें तैरते खण्डपर फेंक दिया। लेकिन पृथ्वीपर पहुँचकर उसका हुआ, इसका कुछ पता नहीं है।

कांगोके सुदूर उत्तरी गहन जंगलीय भागमें अत्यन्त बर्बर बौने लोग रहते हैं। कांगोके सात फुट ऊँचे बाल्बा जातिके शूर भी उन बौनोंके नामसे काँपते हैं। कोई साहस नहीं कर सका अभीतक उस अञ्चलमें जानेका। सुना जाता है कि कोई गौरवर्ण तरुण उन बौनोंके मध्य रहता है। दूसरे दो-एक आखेटकोंने उसे देखा है। बौनोंके सम्पर्कमें आनेवाली जातिके मुखियाका कहना है—'वह बौनोंका देवता है। उसीके कारण बौने अत्यधिक निर्भय हो गये हैं और अब नरहत्या भी उन्होंने छोड़ दी है। वह देवता कहता है कि 'पूरे संसारका कोई स्वामी है और उसके रक्षा करनेवाले हाथ भले दीखते न हों, सब कहीं विपत्तिसे बचानेको बढ़ जाते हैं, किंतु प्राणियोंके मारनेवालेको वह रक्षक पसंद नहीं करता।'

सारथि

(लेखक—श्रीराजेन्द्रप्रसादजी जैन)

यात्री–तुम ऐसा करो, सारथि ! दोपहर होनेसे पूर्व ही अपने गन्तव्य स्थानपर पहुँच जायँ, नहीं तो कड़ी धूप रुभूमिका मार्ग है, बड़ा कष्ट होगा। अच्छा, यह क्या ! कितना सुन्दर उद्यान। मैं कुछ देर यहाँ रुकूँगा। ! मेरा मन नहीं मानता और मैं थक भी गया हूँ। विश्राम कर लूँ। तुम भी तो थक गये होगे, घोड़े भी गये होंगे। फिर कुछ गति बढ़ा देना।

सारथि–ऐसे तो बहुत-से उद्यान मार्गमें आयेंगे। इससे कहीं सुन्दर, इस प्रकार तो, यात्री ! तुम कभी भी गन्तव्य नपर नहीं पहुँच सकोगे।

यात्री–नहीं, अच्छे सारथि ! तुम मेरे ऊपर नहीं तो, मूक पशुओंपर ही दया करो तथा अपने ऊपर दया करो। देर विश्राम कर लो।

सारथि–मैं और मेरे घोड़े दिव्य हैं। हमें थकान नहीं । शीघ्र-से-शीघ्र यात्रियोंको उनके गन्तव्य स्थानपर पहुँचा ही हमारा उद्देश्य है। हमें विश्रामकी आवश्यकता नहीं।

सारथिकी बात सुनी-अनसुनी करके यात्री रथसे कूद , उद्यानके भीतर घुसा और वहाँका सौन्दर्य देखकर कुछ भूल गया। ऊँचे-ऊँचे सघन छायावाले पके फलोंसे वृक्ष, रंग-बिरंगे सुगन्धित पुष्प, मीठे निर्मल जलके स्रोत, पक्षियोंका कलरव—न जाने कितना समय बीत गया। सारथिने पुकारा—'यात्री ! चलो। अब विलम्बका समय नहीं।' यात्रीने उत्तर दिया, 'ठहरो, अभी चलते हैं।' बार-बार सारथि पुकारता, बार-बार यात्री कुछ देर और ठहरनेकी अनुमति माँगता। सारथिका पुकारना अब यात्रीको बुरा लगने लगा और एक बार वह झल्ला ही तो उठा, 'अब इस भरी दोपहरीमें चलनेका समय है ? मारोगे मुझे ?' सारथि अपना-सा मुँह लेकर रह गया।

कुछ समयके पश्चात् मालीने आकर यात्रीसे कहा, 'अब स्वामी अपनी स्त्रियोंसहित विश्रामके लिये उद्यानमें आनेवाले हैं। आप कृपा करके अन्यत्र चले जायँ।'

यात्री सुनते ही आपेसे बाहर हो गया, 'उस मूर्ख सारथिके बहकाये हुए जान पड़ते हो। मैं नहीं जाता। तुम्हारा स्वामी कैसा असभ्य है जो भरी दोपहरीमें यात्रियोंको आश्रय देनेके स्थानपर उन्हें बाहर सड़कपर धक्का देता है।'

मालीने बहुत समझाया, परंतु मूढ़ यात्रीपर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इसी बीचमें उद्यानका स्वामी आ गया। उसने धक्के-मुक्के दिलवाकर यात्रीको बलात् बाहर निकलवा दिया। यात्री हताश जलती दोपहरीमें सड़कपर पड़ा बिलबिलाने लगा। जब शोकका वेग कम हुआ तब उसने सारथिको याद किया। अपनी अवज्ञा और उसकी चेतावनीका

स्मरण करके वह पछताने लगा। आँख उठाकर देखा तो रथ और सारथि सामने खड़े थे। यात्रीने सारथिके चरणोंमें सिर रखते हुए कातर स्वरमें कहा, 'अच्छे सारथि! मुझे क्षमा करना, मैंने तुम्हारी अवज्ञा की।'

'मेरे यहाँ सबको क्षमा है, मैं अवज्ञासे अप्रसन्न नहीं होता।'

'नहीं अप्रसन्न होते तो मुझे इतना कठोर दण्ड क्यों दिलवाया?'

'मैं किसीको दण्ड नहीं देता। सीधे-से-सीधे और सरल-से-सरल मार्गद्वारा यात्रियोंको उनके गन्तव्य स्थानपर पहुँचा देना ही मेरा एकमात्र उद्देश्य है। बैठो रथमें। चलोगे?'

'हाँ चलूँगा सारथि! अवश्य। पर यह बताओ तुम मुझसे अप्रसन्न तो नहीं हो?'

'मैं किसीसे कभी अप्रसन्न नहीं होता।'

रथ चलने लगा, परंतु धूप और गरमीके कारण यात्री तिलमिला उठा, घबराकर सारथिसे बोला—'सारथि! तुम और तुम्हारा रथ दिव्य हैं, पर मैं दिव्य नहीं हूँ। ऐसा अनुग्रह करो, तुम्हारी अवज्ञा भी न हो और मेरे प्राण भी बच जायँ।'

'देखो, सामने एक और उद्यान है, उसमें दोपहर भर विश्राम कर लो, रम मत जाना। सूर्य ढलते ही चलेंगे। उद्यानके माली और स्वामीकी जितनी भी हो सके, सेवा करना, क्रोध और अहंकारके पास न फटकना तो वे प्रसन्न होकर तुम्हें आश्रय दे देंगे। आश्रय पानेवाले अभ्यागतकी तरहसे रहना, अभिमान मत बघारना। देखो, सावधान।'

यात्रीने सारथिकी आज्ञा शिरोधार्य की और अत्यन्त विनीत भावसे उद्यानके एक मालीसे आश्रयकी प्रार्थना की। मालीने विश्रामके लिये एक स्थान बतला दिया। दोपहरी ढली, सारथिने पुकारा। यात्रीने अगले दिन प्रातः चलनेके लिये कहा। सारथि चला गया। इसी बीचमें अपनी विनम्रता और अपने मधुर सम्भाषणसे यात्रीने उद्यानके स्वामीको भी प्रसन्न कर लिया। स्वामीने उसे ठहरनेके लिये एक सुन्दर स्थान दे दिया और उसके भोजनकी भी व्यवस्था कर दी।

प्रातः होते ही सारथि फिर आया और फिर यात्रीने अगले दिनपर टाल दिया। यही क्रम चलता रहा, प्रत्येक प्रातःकाल सारथि आता और प्रत्येक बार वह उसे अगले दिनपर टाल देता। इधर अपनी सेवा और विनम्रतासे यात्रीने उद्यानके स्वामी और समस्त कर्मचारियोंको बहुत ही संतुष्ट कर लिया। उसके दिन बड़े सुखसे कटने लगे और एक दिन उसने सारथिसे कह ही तो दिया—'सारथि! गन्तव्य स्थानमें क्या इससे भी अधिक सुख है, यदि हो तो भी मुझे उसकी आवश्यकता नहीं। मैं इसीमें बहुत संतुष्ट हूँ।'

सारथि चला गया और फिर नहीं आया।

दिन जाते देर नहीं लगती। यात्रीको वहाँ रहते कई वर्ष बीत गये और वह सारथि तथा गन्तव्य स्थानको बिल्कुल भूल ही-सा गया। परंतु अब कुछ दिनोंसे यात्रीको बेचैनी अनुभव होने लगी थी। उसके बढ़ते हुए प्रभाव और यशको देखकर कुछ लोग उससे जलने लगे थे। यात्रीने यह भी चाहा कि उसका प्रभाव और यश न फैले, केवल उसे शान्तिपूर्वक रहने दिया जाय, परंतु यह कैसे सम्भव है कि फूल खिले और उसकी सुगन्ध न फैले। यदि फूल अपनी सुगन्धको फैलनेसे रोकना चाहता है तो उसे चाहिये कि बस्तीमें न खिलकर वह किसी जंगलमें खिले; परंतु जंगलमें खिलनेके लिये वह तैयार न था। उस उद्यानमें इतना उसका मन रम गया था। एक दिन स्वामीके भोजनमें विष पकड़ा गया। यात्रीपर संदेह हुआ। वह पकड़कर बंदीगृहमें डाल दिया गया। 'हमारे स्वामीको मारकर स्वयं राजा बनना चाहता था—ऐसा लोग कहते थे और कहते थे कि 'राजा तो बन ही गया था, इसके सामने स्वामीकी कोई पूछ ही नहीं रह गयी थी, परंतु धीरज नहीं रक्खा, नाममात्रका भी आधिपत्य सहन नहीं हुआ। कहाँ स्वामीका उपकार कहाँ इसकी नीचता। कृतघ्न।'

यात्री अब बिलख-बिलखकर रो रहा था, सारथि और उसका रथ बार-बार याद आते थे। अर्द्धरात्रिके उपरान्त किसीने बंदीगृहको खोला, स्वामी सामने खड़े थे, कहा 'आगन्तुक! मुझे विश्वास है तुम निर्दोष हो, मैं तुम्हें बन्धन मुक्त करता हूँ; परंतु अब तुम यहाँ मत ठहरना एक क्षण भी। तुम जाओ, मेरी समस्त शुभ कामनाओंके साथ।'

स्वामीने यात्रीके बन्धन खोलकर उसे मुक्त कर दिया। दोनों बंदीगृहके बाहर आये। यात्रीने स्वामीके चरणोंमें सिर रखकर अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे क्षमा माँगी, स्वामीने उठाकर आलिङ्गन किया, बिदा दी।

यात्री रुक-रुककर जाने लगा, घनिष्ठ इष्ट-मित्रोंसे अन्तिम बिदा लेनेके लिये रुका। धीरे-धीरे बहुत बड़ी भीड़ इकट्ठी हो गयी, यात्रीके जानेसे सब दुखी थे; परंतु स्वामीने निर्दे

ाकर मुक्त कर दिया, इससे सब प्रसन्न भी थे। इतनेमें ही कोई बोल उठा, 'यह तो इधर-उधरकी बातें बनाकर बच गया; अब देखो किसपर विपत्ति आती है।' 'रातभर स्वामीके कान भरे हैं, देखो कौन-कौन फँसते हैं।' 'तभी तो स्वयं भागा जा रहा है।' 'पकड़ो, भागने न पाये, अन्तिम निर्णयतक' एक साथ बहुतसे कण्ठ चिल्ला उठे। राज्याधिकारियोंने बीचमें पड़कर यात्रीको निकल जाने दिया। फिर भी कुछ धौल-मुक्के तो उसपर पड़ ही गये।

उद्यानसे निकलकर एक स्थानपर बैठकर यात्री अपनी हारपर विलाप करने लगा—मुझे कहाँ जाना था, सारथिने ना कहा था, 'रम मत जाना' मैं क्यों उसका आदेश भूल गया, अब क्या होगा, न यहाँका रहा, न वहाँका रहा।

'वहाँके सदैव हो, हर समय हो, जब बनना चाहो तभी हो। यहाँके कभी नहीं हो चाहे कितना ही बननेका प्रयत्न करो। अपनेको यहाँका समझना केवल भ्रम है।'

'कौन, सारथि !, तुम आ गये, अबतक तुम कहाँ थे ? कबसे मैं तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हूँ, कबसे मैं तुम्हें पुकार रहा हूँ।'

'मैं यहीं था, मैं कहीं नहीं जाता। तुम्हीं बार-बार मुझे छोड़कर चले जाते हो। मेरी कोई प्रतीक्षा नहीं करता, मैं ही सबकी प्रतीक्षा करता हूँ। मुझे कोई नहीं पुकारता, मैं ही सबको पुकारता हूँ, जब भी कोई मेरी पुकार सुन ले।'

'सारथि ! अब मुझे ले चलो एक दम, शीघ्र, इसी समय। मैंने तुम्हारा आदेश नहीं माना, मैं रम गया। अब नहीं रमूँगा, अब नहीं रुकूँगा।'

रथ फिर यात्रीको लेकर चल निकला। 'सारथि ! गति बढ़ाओ, मुझसे कुछ अप्रसन्न हो क्या ? जहाँ तुम मुझे ले चलना चाहते हो उस स्थानके लिये आज मैं प्रथम बार इतना उतावला बना हूँ। सारथि ! अब प्रसन्न क्यों नहीं होते ?'

'मैं कभी अप्रसन्न नहीं होता, मैं कभी प्रसन्न नहीं होता। यात्रियोंको उनके गन्तव्य स्थानपर पहुँचा देना ही मेरा उद्देश्य है।'

'जो तुम्हारी आज्ञा शिरोधार्य करते हैं उन्हें सुखपूर्वक, जो तुम्हारी अवहेलना करते हैं और जितनी करते हैं उतने ही उन्हें कष्टों और आपदाओंके बीचसे फँसाकर।'

'मैं न तो किसीको सुख देता हूँ, न किसीको दुःख ही देता हूँ। जिसकी जैसी स्थिति होती है उसके अनुसार ही मैं उसका मार्ग निर्धारित करता हूँ। जो उस मार्गपर चलनेमें सुखका अनुभव करे उसे सुख है और जो दुःखका अनुभव करे उसे दुःख है।'

'ठीक है सारथि ! क्षमा करो, उस पथसे भटक जाना ही दुःख है। अब मैं उस पथसे नहीं भटकूँगा। गति बढ़ाओ, मैं शीघ्र-से-शीघ्र यात्रा पूरी करना चाहता हूँ।'

'किस गतिसे गन्तव्य मार्गकी ओर बढ़ना है इसका निर्णय भी मैं ही करता हूँ। धीमे-धीमे या द्रुतगतिसे, जैसे मैं उचित समझता हूँ उस गतिसे चलता हूँ।'

'नहीं, सारथि ! ऐसा मत कहो, तुम बहुत धीमे-धीमे चल रहे हो, बीचमें कोई और उद्यान दिखायी पड़ गया और मेरा मन रम गया तो क्या होगा। सारथि ! अब मैं धोखा नहीं खाऊँगा। इतनी द्रुतगतिसे चलो कि मार्गमें पड़नेवाला कोई दृश्य मुझे दिखायी न दे। गति, गति और गति, केवल गतिका ही ध्यान रहे। लो, तुम नहीं मानते, बहुत थक गये हो, कुछ देरके लिये भीतर बैठो। मैं रथ हाँकता हूँ।'

यात्रीने लपककर बाग अपने हाथमें ले ली, सारथि भीतर जा बैठा। अब घोड़े हवासे बातें करने लगे। गन्तव्य स्थान अब आया और अब आया, एकाएक रथ उलट गया, यात्री गिर पड़ा, उसका शरीर चूर-चूर हो गया। चेत होनेपर उसने फिर पुकारा, 'सारथि।'

'यात्री।'

'अब तुम्हीं रथ चलाओ, भूल हुई।'

'मैं बहुत मन्द गतिसे चलाऊँगा।'

'मन्द गतिसे चलाओ।'

'मैं बहुत तीव्र गतिसे चलाऊँगा।'

'तीव्र गतिसे चलाओ।'

'मैं नहीं चलाऊँगा।'

'मत चलाओ।'

एकाएक एक झपकीके साथ यात्रीने आँखें खोलकर देखा कि गन्तव्य स्थान आ पहुँचा !

हममें परिवर्तन क्यों नहीं होता ?

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

हबीब अजमी बहुत पैसेवाले थे ।

बसरेमें रहते—रुपया सूदपर उठाते ।

सोच रक्खा था उन्होंने कि सूदखोरीसे जो आमदनी होगी उसीसे अपना काम चलाऊँगा । मूलको छुऊँगा भी नहीं ।

जिस दिन सूद न मिलता उस दिन कर्जदारके घरसे खाने-पीनेकी कोई चीज ही उठा लाते और उसीपर वह दिन गुजार देते ।

किसीके यहाँ सूद आसानीसे न मिलता तो हबीब कड़ाई भी बरतते ।

एक दिन एक कर्जदारके यहाँ तकाजा करने पहुँचे तो पता चला कि वह घरपर ही नहीं है । उसकी बीबीने अपनी मजबूरी बतायी । मगर हबीब बिना कुछ लिये टलें कैसे !

लाचार खानेकी कुछ बची चीजें उठाकर उस बेचारीने इनके हवाले कर दीं ।

घर लौटे तो बीबी बोली—मियाँ, खाना पकानेके लिये न आटा है, न लकड़ी । आप फिर निकल पड़े और दूसरे कर्जदारोंको खटखटाकर लकड़ी और आटा ले आये । खाना बननेपर एक फकीर आया । हबीबने उसे यह कहकर वापस कर दिया—'जाओ जी, क्या रक्खा है हमारे पास । हमारे पास जो है वह दे देनेसे तुम तो अमीर बन नहीं जाओगे, हम अलबत्ता गरीब हो जायँगे ।'

बीबी जब सालन उतारकर परोसने बढ़ी तो वह चौंक पड़ी—यह क्या ! हाँड़ीमें तो सालनकी जगह खून-ही-खून भरा है ।

पतिकी कंजूसीसे तंग आ चुकी थी वह भी । बोली—'देखो, यह है तुम्हारी बदबख्तीका—तुम्हारे बुरे कामोंका नतीजा ।'

पत्थर पसीज उठा ।

हबीबने अपने कान पकड़े । कहा—'तुम गवाह हो कि आजसे मैं अपनी जिंदगी बदलनेका इरादा करता हूँ ।'

× × ×

दूसरे दिन था जुमा ।

हबीब घरसे निकला तो पासमें खेलनेवाले लड़के बोले—'देखो जी, वह आता है सूदखोर हबीब, हट जाओ रास्तेसे । कहीं ऐसा न हो कि उसकी धूल हमपर पड़ जाय और हम भी इसीकी तरह बदबख्त हो जायँ ।'

चोटपर चोट !

हबीब सीधे पहुँचा प्रसिद्ध सूफी संत हसन बसरीके पास । उसने उनसे दीक्षा ली और वहीं तोबा कर ली ।

लौटा तो सामनेसे उसका एक कर्जदार जा रहा था । उसे देखकर वह भागा । हबीबने कहा—'अब तुझे मुझसे नहीं भागना है, मुझे ही तुझसे भागना है ।'

हबीबने सोच लिया कि अब न तो मैं सूद लूँगा और न मूल ।

लौटते समय वे ही लड़के फिर खेलते मिले । लड़के इस दफा कह रहे थे—'हट जाओ जी, रास्तेसे । हबीब अब तोबा करके आ रहा है । ऐसा न हो कि हमारी धूल उसपर पड़ जाय और उसके कारण अल्लाह हमारा नाम गुनहगारोंमें लिख लें ।'

हबीबका दिल भर आया !

कितना दयालु है ईश्वर ! तोबा करनेकी देर नहीं कि उसने मेरा नाम नेकनामोंमें लिख लिया ।

हबीबने घर आकर घोषणा कर दी—'मैंने सबको कर्ज छोड़ा ।'

उसने अपनी सारी दौलत खुदाका नाम लेकर गरीबोंमें बाँट दी और नदी-किनारे जाकर एक झोंपड़ी डाल ली । वहीं रहकर साधना करने लगा ।

× × ×

एक दफा हसन बसरी दज्लाके किनारे खड़े थे । हबीबने पूछा—'कैसे खड़े हैं उस्ताद ?'

बोले—'नावके इंतजारमें हूँ ।'

हबीबने कहा—'हसद, ईर्ष्या और दुनियाकी मुहब्बतको दिलसे निकाल दीजिये, बलाओंको गनीमत समझिये और खुदापर यकीन करके पानीपर पैर रखते चले जाइये ।'

Your father was a student

You are a fool.

हबीबने खुद वैसा करके दिखा दिया ।

हसन बसरी यह देख बेहोश हो गये । होश आनेपर बोले—'हबीबने मुझसे ही ज्ञान सीखा और मुझे ही शिक्षा दी ।'

बादमें उन्होंने हबीबसे पूछा—'तुम्हें यह मर्तबा कैसे हासिल हुआ ?'

हबीबने जवाब दिया—'मैं दिल साफ करता रहा और आप कागज काला करते रहे !'

× × ×

फजील बिन अयाज डाकू थे ।

डाकू ही नहीं, डाकुओंके सरदार ।

लूटका माल साथियोंमें बाँट देते । अपनेको जो चीज पसंद आती, सिर्फ उतनी अपने लिये रख लेते ।

मगर तमाशा यह कि डाकू होते हुए भी बाकायदा नमाज पढ़ा करते, रोजा रखते—पूरी लगनके साथ ।

बात बेतुकी-सी लगती थी, फिर भी फजील डाकू थे । एक स्त्रीसे फजीलको प्रेम हो गया ।

लूटका अपना हिस्सा उसीके पास भेज देते । कभी-कभी उसके घर भी चले जाते ।

एक रातकी बात है । फजील अपनी प्रेमिकाके घरपर रुके थे ।

एक काफिला भी वहाँ आकर टिका । उस काफिलेके किसी आदमीने ऐसी एक आयत पढ़ी—

क्या नहीं आया ऐसा वक्त ईमानवालोंके लिये कि जिनके दिल अल्लाहके खौफसे डरें ?

फजीलको मानो तीर लगा ।

कहने लगे—'अफसोस, अबतक मैं लूट-मारमें अपनी जिंदगी बर्बाद करता रहा । अब वक्त आ गया है कि मैं उसकी राहपर चलूँ ।'

और उस दिनसे फजील डाकूसे साधु बन गये ।

× × ×

इब्राहीम बिन अदहम बलखके बादशाह थे ।

कहते हैं कि एक रातको सोते समय छतपर उन्हें कुछ खटका हुआ ।

आपने आवाज दी—'कौन है ऊपर ।'

जवाब मिला—'तेरा कोई जान-पहचानवाला ही है ।'

'क्या कर रहा है वहाँ ?'

'ऊँट खो गया है, उसीको ढूँढ़ रहा हूँ ।'

'तेरा ऊँट यहाँ महलकी छतपर मिलेगा ?'

इब्राहीमने ताना कसा ।

'बात तो तेरी ठीक है'—आवाज आयी—'पर शाही पोशाक पहनकर तख्तपर बैठनेसे तेरा खुदा तुझे मिल जायगा ?'

इब्राहीमको तीर लगा । बलखकी बादशाहत ठुकरा दी उन्होंने । नेशापुरकी गुफामें जाकर तपस्या करने लगे । हफ्तेमें एक दफा जंगलसे लकड़ियाँ ले जाकर बाजारमें बेचते । कुछ पैसा खैरात करते, बाकीसे अपना हफ्तेभरका काम चलाते । कभी खैरातसे कुछ न बचता तो उपवास करते ।

यह शाही लकड़हारा बहुत ऊँचा सूफी फकीर बना ।

× × ×

एक दिन इब्राहीमने देखा कि एक शराबी जमीनपर पड़ा है । उसका मुँह मिट्टीसे सना था । आप बोले—'जिस मुँहसे अल्लाहका जिक्र होता है उसे इस हालतमें नहीं रहना चाहिये ।'

आपने पानी लाकर उसका मुँह धो दिया ।

जब वह होशमें आया तो लोगोंने उसे बताया कि इब्राहीम साहब ऐसा कहकर तेरा मुँह धो गये हैं । उसपर इसका बहुत असर पड़ा । उसने तोबा की और वह ईश्वरकी आराधनामें लग गया ।

इधर इब्राहीमने सपना देखा कि फरिश्ते उनसे कह रहे हैं—'ऐ इब्राहीम ! तूने अल्लाहके वास्ते उस शराबीका मुँह धोया । अल्लाह तेरा दिल धो दिया ।'

× × ×

अबु हफ्स हदाद एक बाँदीपर लट्टू थे ।

पर अल्लाहकी इबादत फिर भी करते ही रहते थे ।

एक जादूगरसे उन्होंने अपने दिलकी बात कही । बोला—देखो जी, इबादत और जादूमें मेल नहीं बैठता । तुम चालीस दिन इबादत मत करो । तब मैं जादू करूँगा । चालीस दिन बाद जब ये उसके पास पहुँचे और वह जादू चलाने लगा तो उसका जादू कुछ असर ही न कर पाया ।

हैरान होकर बोला—‘इन चालीस दिनोंमें तुमने कोई नेक काम तो नहीं किया ? मेरा ज़ादू काम नहीं करता है ।’

हदाद बोले—‘नेक काम तो कुछ किया नहीं । सिर्फ इतना ही किया है कि रास्तेमें जाते समय कंकड़-पत्थर उठाकर एक तरफ रख देता था कि कहीं किसीको ठोकर न लगे ।’

जादूगर बोला—‘तुम भी क्या आदमी हो ? कितने अफसोसकी बात है कि तुम उस खुदाको याद नहीं करते जिसने इतनेसे मामूली नेक कामको कबूल करके मेरे जादूके असरको खतम कर दिया और उसने तुम्हारी चालीस दिनकी नाफर्मानीका कोई ख्याल नहीं किया ।’

हदादको बड़ी शर्म लगी ।

उनका ‘इश्के मजाजी’—दुनयवी प्रेम ‘इश्के हकीकी’—ईश्वरीय प्रेममें बदल गया ।

× × ×

हबीब हो या फजील, इब्राहीम हो या हदाद, वाल्मीकि हो या नामदेव, सूरदास हो या बेमन्ना—हम देखते हैं कि पापी-से-पापी व्यक्ति भी एक क्षणमें बदल जाता है । उसकी जिंदगी एकदम नया मोड़ ले लेती है । ऐसा मोड़ कि देखकर दाँतोंतले उँगली दबानी पड़ती है ।

कलतक जो आदमी रुपये-पैसेके लिये, धन-दौलतके लिये, भोग-विलासके लिये, नाना प्रकारकी वासनाओंकी पूर्तिके लिये पागल था—आज वह ईश्वरके लिये पागल हो उठता है !

और हम ? हममें कोई परिवर्तन क्यों नहीं होता ? हम ‘जस-के-तस’ बने रहते हैं—गोलमटोल पत्थर; क्योंकि हम या तो यह मान बैठे हैं कि हममें कोई दोष नहीं, या यह मान बैठे हैं कि हम तो जो हैं सो ही रहनेवाले हैं, या हम अपने दोष मिटानेका भरपूर प्रयत्न नहीं करते । कभी-कभी एकाध क्षणके लिये किसी बातको लेकर दिल उचटता है, पर वह श्मशान-वैराग्य होकर ही रह जाता है ।

बहुत हुआ तो हम शेखजीकी तरह अपनेको बहला लेते हैं—

हाथमें थी जामे मय—लबपर खुदाका नाम था,
दीनो दुनियासे तअल्लुक शेखजीका काम था ।

अथवा—

शामको ढाल ली औ सुबहको तोबा कर ली,
रिन्दके रिन्द रहे, हाथसे ज़न्नत न गयी !

पर ऐसी बातोंसे क्या होना-जाना है ?

हमारा जीवन गलत रास्तेपर चलता चले और कभी हम अपनेको फुसलानेके लिये ईश्वरका भी नाम लेते रहें—तो उससे क्या होगा ?

× × ×

सवाल है कि तब हम करें क्या ?

रास्ता उसका भी है । पर हम उस रास्तेपर चलना भी तो चाहें सच्चे दिलसे ।

उसके लिये हमें सबसे पहले बाहरके बजाय भीतरकी तरफ मुड़ना होगा ।

‘हम क्या हैं’—यह देखना होगा ।

ऊपरसे हम क्या दिखते हैं, यह सवाल नहीं । सवाल यह है कि भीतरसे हम क्या हैं । ठीक कहा है किसीने—

अपने ऐबोंपर नज़र कर अपने दिलको पाक कर ।
क्या हुआ गर खल्कमें तू पारसा मशहूर है ।

जरूरत है दिलको पाक करनेकी, दिलको माँजनेकी ।

घरकी संडासको जब मैं साफ करता हूँ, साइफनके पानीसे धोता हूँ, झाड़ू रगड़-रगड़कर उसकी काई और मैलको निकालता हूँ तो अकसर ही एक टीस निकल पड़ती है—‘काश, इस तरह मैं अपना दिल धो पाता ! मुँहसे गुनगुनाकर ही रह जाता हूँ—

क्या कायाको मल मल धोवे,
मनका मैल निकाल प्यारे !

मनमें तो राग और द्वेषका, मद और मोहका विषय और विकारका अपार मल भरा पड़ा है । कौन दिन होगा ऐसा जब मैं उसे साफकर सफेद बना पाऊँगा ? स्वच्छ, निर्मल, निष्कलंक । यह स्वच्छता, शुभ्रता, सफेदी भीतरकी चाहिये, ऊपरसे क्या !

खानए दिल है सफेद, इसकी सियाही दूर कर !
क्या सफेदीसे महल करता है तू अपना सफेद !

रामचरितमानसकी अन्तःकथाएँ

(लेखक—डा० श्रीवागीशदत्तजी पाण्डेय, एम्० ए० (हिंदी-संस्कृत), साहित्याचार्य, पी-एच्० डी०)

भक्तप्रवर नारदकी उत्पत्तिकी कथा

वाल्मीक नारद घट जोनी । निज निज मुखनि कही निज होनी ॥
(बालकाण्ड ३ । ३)

भक्तिके क्षेत्रमें महात्मा नारदका अद्वितीय स्थान है । भारतीय वाङ्मयके विविध युगोंमें विविध प्रकारसे इनकी यज्ञोगाथाका उल्लेख हुआ है । नारदमुनिका अथर्ववेदमें कई स्थानोंपर नामाङ्कन मिलता है[1] । ब्राह्मण तथा सूत्रकालमें भी आगे चलकर इनके चरित्रपर प्रकाश डाला गया है । ऐतरेय ब्राह्मण तथा सांख्यायन श्रौतसूत्रमें एक स्थानपर महात्मा नारद पर्वत मुनिके साथ तथा हरिश्चन्द्रके पुरोहितके रूपमें मिलते हैं[2] । छान्दोग्य उपनिषद्में इनकी सनत्कुमारसे भेंट दिखायी गयी है[3] । एक अध्यापकके रूपमें भी इनका परिचय ऐतरेय ब्राह्मण तथा मैत्रायणी-संहितामें उपलब्ध होता है[4] । सामविधान ब्राह्मणमें इनको बृहस्पतिका प्रिय शिष्य बताया है[5] । वेदमें इनको मन्त्रद्रष्टा ऋषि कहा है । ऋक्संहिताके आठवें मण्डलके तेरहवें सूक्त तथा नवें मण्डलके १०४-१०५ वें सूक्तके ये ऋषि कहे गये हैं ।

वैदिक साहित्यके इन उपर्युक्त स्थलोंके अध्ययनसे कोई भी इस तथ्यपर पहुँच सकता है कि भक्तप्रवर नारदका जन्म किसी उच्चकुलमें ही हुआ है; क्योंकि पुरोहित तथा अध्यापक आदिका कार्य ब्राह्मण-वर्गके अतिरिक्त किसी अन्य वर्गोंको उस समय नहीं दिया जाता था । मन्त्रद्रष्टा तथा ऋषित्व भी इनका ब्राह्मणत्व सिद्ध करता है । महात्मा तुलसीने अन्तःकथारूपमें इन्हें निम्नवंशमें उत्पन्न स्वीकार किया है । कारण स्पष्ट है—

वाल्मीक नारद घट जोनी । निज निज मुखनि कही निज होनी ॥

इस चौपाईमें नारदका उल्लेख वाल्मीकि और घटयोनि (अगस्त्य) के साथ हुआ है । अगस्त्य उर्वशीपुत्र थे, इनका उल्लेख ऋग्वेदके सातवें मण्डलके ३३ वें सूक्तकी १०-१३ ऋचाओंमें हुआ है । अप्सरा उर्वशीके वार-विलासिनी रूपका संकेत भी ऋग्वेदकी उपर्युक्त ऋचाओंमें उपलब्ध हो जाता है । कवि वाल्मीकिका सम्बन्ध भी किरातोंसे हो जाता है । अतः यह भी निम्नवंशसे सम्बन्धित सिद्ध होते हैं । अगस्त्य और वाल्मीकिके निम्न वंशमें उत्पन्न होनेपर भी भगवत्कृपासे ये दोनों कितने महान् और तेजस्वी हुए—यह सर्वविदित है । इन दोनों महापुरुषोंके साथ 'मानस' में नारदका उल्लेख जिस परिस्थितिमें हुआ है, वह भी नारदको निम्न वंशसे ही सम्पर्क सिद्ध करता है ।

सुनि आचरज करै जनि कोई । सतसंगति महिमा नहिं गोई ॥

इस चौपाईके बाद ही वाल्मीकि, नारद और अगस्त्यके जन्मोंका उल्लेख है । स्पष्ट है, सत्संगति तथा भगवत्-महिमाके द्वारा कौन क्या नहीं हो जाता, इसी माहात्म्य-प्रदर्शनके लिये इन तीन महापुरुषोंकी जीवन-गाथाओंकी ओर महात्मा तुलसीने संकेत दिया है । वैदिक स्थलोंके विवेचनसे इतना तो स्पष्ट ही है कि इस कथाके लिये महात्मा तुलसीने अपना उपजीव्य वैदिक साहित्य नहीं बनाया । श्रीमद्भागवत, ब्रह्मवैवर्तपुराण तथा वराहपुराणमें वर्णित नारदके जन्मकी कथा ही इनका आधार रही है; क्योंकि भागबतादिमें नारदको दासीपुत्र बताया है । दासीपुत्र नारद किस प्रकार भगबान्के प्रसादसे भक्तप्रवरों और श्रेष्ठ मुनियोंमें अग्रणी हुए, मात्र वैष्णब-धर्मके माहात्म्य-दर्शनके लिये भागबतमें नारदके जन्मका उल्लेख है और इसी उद्देश्यको लेकर महात्मा तुलसीने भी उपर्युक्त प्रसङ्गमें भक्त नारदकी जन्म-गाथाको अन्तःकथामें चित्रित किया है ।

वैसे पौराणिक साहित्यमें भी महात्मा नारदका महत्त्व कम नहीं दिखाया गया है । अनेक स्थलोंपर इनका माहात्म्य-वर्णन है । पुराणोंमें नारद शिबके बिबाहमें घटक-रूपसे, भगवान् वामनके उपनयनमें उद्योगी-रूपसे, ध्रुवकी तपस्यामें मन्त्रदाताके रूपसे तथा दक्षके शापको निष्फल बनानेमें महान् तपस्वीके रूपसे सभी जगह मिलते हैं । निगम और आगमके ज्ञाता-रूपमें भी नारदका चरित्र पुराणोंमें वर्णित है । श्रीमद्भागवतके अनुसार इन्होंने पञ्चरात्रागम तन्त्रका उपदेश सावर्णि मनुको किया है[1] । महाभारतके अनुसार इन्होंने नारायणतकको आत्मतत्त्वका बोध कराया है[2] । महाभारतमें इनकी सनत्कुमारसे ज्ञानविषयक वार्ता भी हुई है[3] । इन्होंने महात्मा

विस्तारसे देखिये—१. अथर्व० ५ । १९ । ९ तथा ७ । ४ । १८; २. ऐत० ब्रा० ७ । १३ तथा सांख्या० श्रौ० सू० १२ । १७; ३. छान्दो० उप० ७ । १ । १; ४. ऐत० ब्रा० ७ । ३४ तथा मैत्रा० सं० १ । ५ । ८; ५. साम० ब्रा० ३ । ९ ।

विस्तारसे देखिये—१. भाग० १ । ३८ तथा १ । ५ । १९ २. महाभा० शा० ३३९ । ३. महाभा० अनु० ३८

शुकदेवको ज्ञानोपदेश दिया[१]। वासुदेवको भागवत-धर्म बताया[२] तथा भक्त पुण्डरीकको नारायण-माहात्म्य सुनाया[३]। स्मृतिकार याज्ञवल्क्यने धर्मशास्त्रकारोंमें इनका भी उल्लेख किया है[४]। नारद-भक्तिसूत्र इनकी भक्तिविषयक ज्ञान-गरिमाको बता रहा है।

वैदिक साहित्यमें इनके जन्मका केवल संकेत मिलता है। कथारूपमें उसका निरूपण वैदिक साहित्यमें कहीं नहीं हुआ। पुराणोंमें इनकी उत्पत्तिके विषयमें विविध प्रकारकी धारणाएँ हैं। वहाँ इनको कहीं ब्रह्माका मानस-पुत्र कहा है[५] तो कहीं साक्षात् ब्रह्माका तीसरा अवतार ही बताया है[६]। एक अन्य स्थानपर इनको ब्रह्माकी जंघासे उत्पन्न कहा गया है[७]। ब्रह्माण्ड तथा ब्रह्मपुराणके अनुसार परमेष्ठिने दक्षपुत्रीसे इन्हें पैदा किया है[८]। देवीभागवतमें तो इन्हें वीरिणीसे साक्षात् दक्षका ही पुत्र बताया है[९]। वायुपुराणमें एक स्थान-पर इन्हें कश्यप प्रजापतिका पुत्र कहा है[१०]। भागवतमें इनको दासीपुत्र तथा वराहपुराणमें इन्हें सारस्वत ब्राह्मण बताया है[११]। ब्रह्मवैवर्तपुराणमें भी इनके कई जन्मोंकी कथाका उल्लेख है[१२]।

ऊपर पुराणोंमें वर्णित कथाकी समीक्षा की जाय तो महर्षि नारदकी उत्पत्ति मुख्यतः ब्रह्मासे, दक्ष या कश्यप प्रजापतिसे, किसी सारस्वत ब्राह्मणसे या किसी दासीसे इन चार रूपोंमें हुई है। पुराणोंमें मुनिके जन्म-सम्बन्धी ये विविध मान्यताएँ जैसा कि पुराणोंमें वर्णित कथासे स्पष्ट होता है, कल्पभेदसे मानी गयी हैं। फिर भी इतना स्पष्ट है कि किसी शापसे किसी कल्पमें जन्म-जन्मान्तर ग्रहण करनेपर भी महर्षि नारदका सम्बन्ध ब्रह्मासे जोड़ दिया गया है। इनमें भागवत तथा ब्रह्मवैवर्तपुराणको छोड़ कहीं भी मुनिको हेयजन्मा नहीं दिखाया है। गोस्वामीजीके उपजीव्य सम्भवतः ये दो ग्रन्थ ही हो सकते हैं। नीचे हम इन्हीं कतिपय पुराणोंका आधार लेकर महर्षि नारदके जन्म-जन्मान्तरोंकी गाथा संक्षेपमें प्रस्तुत कर रहे हैं।

श्रीमद्भागवत स्कन्ध १, अध्याय ५-६की कथाका सार

पूर्वकालमें नारद किन्हीं वेदाध्यायी ब्राह्मणोंकी सेवा करनेवाली किसी दासीके पुत्र थे। एक बार वर्षाऋतुमें कुछ योगी समीपमें ही चातुर्मास्य कर रहे थे। उन ब्राह्मणोंने नारदको योगियोंकी सेवामें नियुक्त कर दिया। अपने बाल्य-कालमें भी दासीपुत्र होते हुए नारद जितेन्द्रिय तथा कर्मठ थे। इसीलिये योगियोंका अनुग्रह उनपर बहुत अधिक था। योगियोंने उन्हें अनेक मनोहर कथाएँ सुनायीं, जिससे उनका हृदय शुद्ध हो गया और भगवान्‌की भक्ति उनमें उत्पन्न हो गयी। उनकी भक्ति-भावना देखकर उन योगियोंने जाते समय उन्हें गुह्यतम ज्ञानका उपदेश भी दिया, जिससे उन्होंने मायाके प्रभावको जाना।

महात्माओंके जानेके बाद उन्होंने अपना जीवन अधिक भगवदर्चनामें लगाया। वह अपनी दासी माँके अकेले पुत्र थे, अतः माँने उन्हें स्नेह-पाशमें जकड़ रखा था। योगक्षेमकी चिन्ता उस समय उनकी माँ ही करती थी। एक बार रात्रिमें गो-दोहनके लिये उनकी माँको घरसे बाहर आना पड़ा। संयोगसे मार्गमें उन्हें सर्पने डस लिया और इस प्रकार उनकी माँकी मृत्यु हो गयी। माँके मरनेपर वे भी ब्राह्मणोंका सामीप्य छोड़ अज्ञात उत्तर दिशाकी ओर चल पड़े। अनेक नदी, गाँव तथा लघु पर्वतोंको लाँघते हुए वे एक गहन वनमें पहुँचे। वहाँ नदीमें स्नान और जलपान कर वे एक अश्वत्थ वृक्षके नीचे समाधि लगाकर बैठ गये। भक्तिके वश भगवान् हृदयमें प्रकट हुए, पर सहसा ही वे अन्तर्हित भी हो गये। उन्होंने हृदयमें भगवद्दर्शनके लिये बहुत प्रयास किया, पर वे फिर उस छबिको नहीं देख सके। तब भक्तकी आतुरतापर आकाश-वाणीसे मधुर स्वरमें भगवान्‌ने कहा—'खेद है कि इस जन्ममें तुम मेरा दर्शन नहीं कर सकोगे; क्योंकि जिनकी वासनाएँ पूर्णतया शान्त नहीं हो जातीं, ऐसे उन अधकचरे योगियोंको मेरा दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है।' अनन्तर भगवान्‌की कृपासे उनकी जगत्सम्बन्धी आसक्ति मिट गयी और वे निःस्पृह हो गये। उन्होंने जीवनपर्यन्त अनासक्तभावसे अपनेको भगवद्भजनमें लगाया। अन्तमें मृत्यु होनेपर उन्होंने अपने इस पञ्चभूतमय स्थूल शरीरको त्यागा और सूक्ष्मरूपमें भगवान्‌के पार्षद बने। पुनः सृष्टिके विस्तारपर नारदरूपसे ब्रह्माके मानस पुत्र बनकर भगवान्‌के गुणोंका गायन करते हुए वे पृथ्वीपर भ्रमण कर रहे हैं।

---

१. महाभा० शान्ति० ३२९–३३२; २. भाग० ११. २; ३. महाभा० अनु० १८६ तथा पद्म० उत्तर० ८०; ४. याज्ञ० १। ४-५; ५. मत्स्य० ३। ६–८, ह० वं० १, वायु० २। ४. ९; ६. भाग० १।३।८; ७. भाग० ३।१२।२८; ८. ब्रह्माण्ड० ३।२।१८ तथा ब्रह्म० १२।१२–१५; ९. देवीभा० ७।१; १०. वायु० २।९।७८–८०; ११. भाग० १।५-६; वराह० ३; १२. ब्रह्मवै० ब्रह्म० ८–२१

भागवतमें अपने इस जन्मसम्बन्धी आख्यानको नारदने स्वयं ही महर्षि वेदव्यासको सुनाया है । यहाँ ब्रह्मपुत्र होनेसे पूर्व नारदको दासीपुत्र बताया है तथा भक्तिके प्रभावमें उन्हें भगवान्‌का पार्षद होना भी दिखाया है ।

ब्रह्मवैवर्त पुराणमें नारदके कई जन्मोंका वर्णन है । भागवतमें ब्रह्माका मानस-पुत्र बननेसे पूर्व नारदका दासीपुत्ररूपमें उल्लेख है, किंतु यहाँ नारदको पूर्वमें ही ब्रह्माका पुत्र बताया है । यहाँ पिता ब्रह्माके शापके कारण ही नारदको विभिन्न जन्मोंमें भटकना पड़ा है ।

ब्रह्मवैवर्तपुराण ब्रह्मखण्ड अ० ८–२१ की कथाका सार

सृष्टि-रचना करते हुए ब्रह्माने अन्य बहुत-से ऋषियोंके साथ नारदको भी उत्पन्न किया । ब्रह्माने उन सभीको सन्तान पैदा करनेकी आज्ञा दी । उन सभीने पिताकी आज्ञाका पालन किया, पर उनमेंसे नारदने भगवद्भक्तिको अमृत तथा विषयप्रवृत्तिको विष बता पिताके आदेशका विरोध किया । इसपर ब्रह्माने नाना जन्मोंमें और भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्म लेनेका नारदको शाप दिया । शापमें उन्होंने उन्हें स्त्रियोंके प्रति लोभी, लम्पट तथा शृङ्गाराभिलाषी होनेकी बात कही[1] । ब्रह्माजीके शापके कारण नारद प्रथम जन्ममें गन्धर्वकुलमें उपबर्हण नामसे, दूसरे जन्ममें शूद्रके यहाँ शूद्रा-पुत्र होकर तथा तीसरे जन्ममें पुनः ब्रह्माके पुत्र हुए । नारदके गन्धर्वकुलमें तथा दासीकुलमें जन्म लेनेकी कथा क्रमशः इस प्रकार है[2]—

'उपबर्हण गन्धर्वराजका पुत्र था । गन्धर्वराजने इस पुत्रको दिव्य सौ वर्ष शंकरकी उपासना करके प्राप्त किया था । उपबर्हणको गन्धर्वोंकी पचास पत्नियोंने प्रेमसे देखा । उन सभी स्त्रियोंने आसक्तिके योगसे प्राण छोड़ चित्ररथकी कन्याओंके रूपमें पुनः जन्म लिया । बड़ी होनेपर सभी उपबर्हणके साथ ब्याह दी गयीं । उपबर्हणने तीन लाख वर्षतक उनके साथ भोग किया । एक दिन ब्रह्मसभामें रम्भाके नर्तनको देख उपबर्हणका मन चञ्चल हो उठा । इससे ब्रह्माने उसे पुनः शूद्रयोनिमें जन्म लेनेका शाप दिया । उपबर्हणने योगसे अपना शरीर छोड़ा । यही उपबर्हण दूसरे जन्ममें ब्रह्माके शापसे शूद्राके गर्भसे उत्पन्न हुआ ।'

उपबर्हणके शूद्रकुलमें जन्म लेनेकी कथा इस प्रकार है—

'कान्यकुब्ज देशमें द्रुमिल नामका एक शूद्र राजा था । उसकी कलावती नामकी एक स्त्री थी जो बाँझ थी । वह पतिकी आज्ञासे काश्यप नारदके पास वीर्याधानका प्रस्ताव लेकर पहुँची । नारदने उस शूद्राको भली-बुरी बातें सुनायीं । इसी समय मेनका उधरसे निकली । इस अप्सराका सौन्दर्य देख काश्यप नारदका शुक्र स्खलित हुआ । कलावतीने उसे पी लिया । इसी गर्भसे एक बालकका जन्म हुआ । इस बालकको पाँच वर्षकी अवस्थामें ही अपने पूर्वजन्मकी स्मृति बनी हुई थी । वह भगवद्भक्त भी था । इसीसे इसका नाम नारद पड़ा । इस पुत्रको पाकर द्रुमिलका शरीर पवित्र हो गया और वह जीवन्मुक्त हो गया । तब पुत्रसहित वह कलावती शूद्रा किसी ब्राह्मणके घर रहने लगी । एक बार उस ब्राह्मणके यहाँ चार मुनि आये । संयोगसे उन मुनियोंका उच्छिष्ट भोजन उस बालकको मिला । मुनि उस बालककी भक्ति-भावना देखकर बड़े प्रसन्न हुए । उनमेंसे चौथे मुनिने बालकको कृष्णमन्त्र भी दिया । मुनियोंके जानेपर वह उनके बताये मार्गका अनुसरण कर भगवद्भजनमें जीवन-यापन करने लगा । एक बार उसकी माताको सर्पने काट लिया, जिससे वह मर गयी । अनन्तर मातासे वियुक्त उस बालकने गङ्गाके किनारे जाकर किसी अश्वत्थ वृक्षके नीचे दिव्य सहस्र वर्ष कृष्णमन्त्रका जाप किया । इससे उसे हरिदर्शन हुए, पर भगवान् शीघ्र ही अन्तर्हित हो गये । तब उसकी व्याकुलता देखकर आकाशवाणी हुई कि तुझे इस शरीरसे कृष्णदर्शन नहीं होंगे । तब धैर्यपूर्वक कृष्णमन्त्रका जाप करते हुए उसने अपना वह दासीपुत्रका शरीर त्यागा और इस प्रकार ब्रह्माके शापसे छुटकारा पाकर अन्तमें उसने श्रीकृष्णका सांनिध्य पाया ।'

'यही दासीपुत्र नारद बादमें सृष्टिके विस्तारपर पुनः ब्रह्माका मानसपुत्र हुआ और अनन्तर उन्होंने अपना जीवन भगवान्‌के यशोगानमें लगाया । इस पुराणमें यहाँ नारदके नामकी अनेक व्युत्पत्तियाँ भी दी गयी हैं[1] ।'

---

[1] ब्रह्मवै० ब्रह्म० ८. ६७.६८

[2] उपबर्हणकी कथा इसी पुराणके अध्याय १२–१८ में तथा दासीपुत्रकी कथा अध्याय २०–२१ में है ।

६—

---

[1] व्युत्पत्तियाँ इस प्रकार हैं—इस बालकके जन्म लेनेसे पूर्व देशमें अनावृष्टि थी, इसके जन्म लेते ही वर्षा हुई, इसीसे इसका नाम (नारं—जलं, ददाति इति नारदः) नारद पड़ा । इसने जन्म लेते ही अन्य बालकोंको ज्ञान दिया । इस प्रकार महाज्ञानी होनेसे (नारं—ज्ञानं ददाति इति नारदः) इसका नाम नारद पड़ा । यह काश्यप नारदके वीर्यसे उत्पन्न हुआ, अतः इसका नाम (नारदस्य अपत्यः पुमान् इति नारदः) नारद पड़ा । देखिये ब्रह्मवै० ब्रह्म० २१. ८–१० ।

स्पष्ट है शूद्रकुलमें नारदकी उत्पत्ति दिखाकर कथाकारने यहाँ भागवतका अनुसरण भी किया है, साथ ही उपबर्हणके जन्मकी घटनामें उसकी नवीन कथा भी है। उपबर्हणकी घटनामें लेखकका उद्देश्य चरित्ररक्षा प्रतीत होता है; क्योंकि चारित्रिक दूषणके कारण ही उपबर्हणको शूद्रकुलमें जन्म लेना पड़ा। शेष बादकी घटनामें भागवतकी भाँति यहाँ भी भक्तिका प्रभाव दिखाया गया है।

वराहपुराण—अध्याय ३

'पूर्वजन्ममें अवन्तीपुरीमें सारस्वत नामक कोई ब्राह्मण था। उसने एक बार विषय-सुखोंकी असारताको सोच तपके लिये प्रस्थान किया। उसने पुष्कर तालाबपर स्नान कर समाधि लगा विष्णुका ध्यान किया। भगवान् वहीं प्रकट हुए। तब उसने भगवान्के शरीरमें लय माँगा। भगवान् विष्णुने कहा—'प्रकृतिपूर्वक इस शरीरके त्यागनेपर दूसरे शरीरसे ही तुम मुझमें लय पा सकते हो।' भगवान्के वचनोंका आदर कर सारस्वतने समयपर भौतिक शरीर त्यागा। वही सारस्वत ब्राह्मण भगवान्की भक्तिसे ब्रह्माके दस मानस पुत्रोंमेंसे नारदरूपमें एक हुआ, जिसने उस जन्ममें भी भगवदर्चनामें ही जीवन लगाया।'

वराहपुराणकी इस कथामें भागवत आदिकी भाँति नारदको पूर्वमें दासीपुत्र नहीं दिखाया गया है, उनको ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न बताया है। भागवतादिकी भाँति यहाँ भी नारदजन्मपर भक्तिका प्रभाव स्पष्ट है।

* * *

दृष्टान्त-रहस्य

(लेखक—श्री ह० भ० प० चातुर्मास्ये महाराज)

प्रायः श्रीमद्भागवत एवं ज्ञानेश्वरी आदि ग्रन्थोंमें किसी सिद्धान्तको सिद्ध करनेके लिये जो दृष्टान्त दिये गये हैं, उनमें प्रथम दृष्टान्तमें कुछ न्यूनता होनेसे दूसरा दृष्टान्त दिया गया है, दूसरेमें त्रुटि होनेपर तीसरा, तीसरेमें कमी होनेसे चौथा। सारांश, जबतक दृष्टान्तमें पूर्णता नहीं आती, तबतक वह परम्परा चलती ही रहती है। श्रद्धालु भावुकोंकी ऐसी ही धारणा है और हमारी बुद्धि भी इसी सत्यपर पहुँचती है। प्रसंगवश हमें एक महत्त्वपूर्ण भागवत-श्लोकके दृष्टान्त-रहस्यपर विचार करना है। वह श्लोक इस प्रकार है—

अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्त्ताः ।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ॥
(श्रीमद्भागवत ६ । ११ । २६)

इसका सरलार्थ इस प्रकार है—'जिन्हें पंख नहीं जमे हैं, ऐसे छोटे-छोटे पक्षियोंके बच्चे अपनी माताकी जिस तीव्रतासे राह देखते हैं, क्षुधा-पीड़ित बालवत्स जिस प्रकार स्तन्यपान करनेके लिये गौकी प्रतीक्षा करते हैं, दूर-देशस्थ प्रिय पतिसे मिलनेके लिये पतिव्रता स्त्री जिस तरह उत्कण्ठित रहती है, वैसे ही हे कमलनयन ! मेरा मन तुमको देखनेके लिये लालायित है।' इस श्लोकमें मन भगवान्के लिये कैसे उत्कण्ठित है, यह बतलानेके लिये तीन दृष्टान्त दिये गये हैं। यहाँ विचार करना है कि पूर्व दृष्टान्तमें क्या त्रुटि देखकर उत्तरोत्तर दृष्टान्त दिये गये हैं। पहला दृष्टान्त पक्षियोंके उन बच्चोंका दिया गया है, जिनके अभीतक पंख नहीं जमे हैं। वे अपने आहारके लिये परमुखापेक्षी होते हैं। माता जब उनके मुखमें इधर-उधरसे लाकर दाने डालती है, तभी उनका पोषण होता है, अन्यथा नहीं। पंखके अभावमें स्वतन्त्ररूपसे या माताके साथ भी कहीं जाना उनके लिये असम्भव होता है। इसलिये जिस स्थानमें वे होते हैं, वहींसे आहारके लिये माताकी प्रतीक्षा करना उनके लिये अनिवार्य होता है। अर्थात् माताको अधिक समय

स्तनोंपर भूखके कारण जैसे उनकी उत्कण्ठा बढ़ती है, वैसे ही हे भगवन् ! मेरा मन तुम्हारे लिये छटपटाता है ।

अब इस बातपर विचार करना है कि प्रथम दृष्टान्तमें क्या त्रुटि देखकर दूसरा दृष्टान्त दिया गया । इस दृष्टान्तमें यह न्यूनता है कि बच्चोंका मातापर गौण प्रेम होता है। माता उनके लिये आहार जुटानेका साधनमात्र होती है, अतः उनका दानेपर मुख्य और मातापर गौण प्रेम होता है । इसलिये यह दृष्टान्त पूरा नहीं उतरा । दूसरे दृष्टान्तमें यह त्रुटि दूर कर दी गयी । दूसरे दृष्टान्तमें पहलेकी अपेक्षा यह वैशिष्ट्य है कि वत्सोंको उसके पालकद्वारा बाँधा जाता है। उनमें गौके साथ वनमें जानेकी शक्ति होनेपर भी उन्हें जबरदस्ती बन्धनमें रक्खा जाता है । पक्षियोंके बच्चोंमें माताके साथ जानेकी शक्ति ही नहीं रहती । इससे वत्सोंके दुःखकी तीव्रता अधिक होती है और उनका उपजीव्य भी प्रत्यक्ष गौ होती है । पहले दृष्टान्तकी भाँति अन्य पदार्थ नहीं होता । गोवत्सका स्तनके लिये लालायित होना मानो गौके लिये ही लालायित होना है । कारण, गौके स्तनोंमें और गौमें अवयव-अवयवि-भाव सम्बन्ध है । यद्यपि तार्किकोंने अवयव-अवयवी, जाति-व्यक्ति, क्रिया-क्रियावान् आदिमें समवाय-सम्बन्ध माना है, वेदान्त-शास्त्रने तो उनमें तादात्म्य अर्थात् अभेद सम्बन्ध ही माना है, इससे गौ और उसके स्तन एक ही वस्तु है । पक्षियोंकी भाँति उनका उपजीव्य अन्य पदार्थ न होनेसे वत्सोंका गौके प्रति मुख्य प्रेम होता है । इसके सिवा वत्सोंके लिये 'क्षुधार्ताः' विशेषण दिया गया, इससे भी उनके दुःखकी तीव्रता अधिक सिद्ध होती है ।

अब तीसरे दृष्टान्तके कारणपर विचार करेंगे । दूसरे दृष्टान्तमें यह कमी है कि गोवत्सोंका प्रेम कालके द्वारा मर्यादित है । गौके स्तनोंका दूध पी लेनेके बाद न तो वत्सोंको गौकी आवश्यकता रह जाती है, न गौका प्रेम ही वत्सोंपर उतना रह जाता है । अर्थात् दोनों ओर प्रेमकी अखण्ड धारा न होनेसे यह दृष्टान्त भी अपूर्ण ठहराया गया । तब तीसरा दृष्टान्त देकर यह न्यूनता भी पूर्ण कर दी गयी । तीसरे दृष्टान्तमें पतिव्रता स्त्रीका प्रेम अपने पतिपर आजीवन अखण्ड होता है । यह सत्य है कि आजकल कुछ प्रेम-विवाह करनेवाले थोड़े ही दिनोंमें परस्पर सम्बन्ध-विच्छेद कर लेते हैं; किंतु उनका विवाह-बन्धन केवल वैषयिक आकर्षणको लेकर ही होता है । पातिव्रत्यकी भावना उन ललनाओंमें नहीं होती । यदि ऐसा होता तो सम्बन्ध-विच्छेदकी परिस्थिति कैसे आती ? ऊँचे स्तरकी पतिव्रता नारी पति-निधनके बाद उसका सहगमन करती है अर्थात् उसमें पतिके प्रति आत्मसमर्पणका दिव्य भाव रहता है। साधकके लिये अधिकार-भेदसे जैसे कर्मयोग, अष्टाङ्गयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि साधन कहे गये हैं, वैसे ही स्त्रियोंके लिये शास्त्रने पातिव्रत्य योगका साधन कहा है । अर्थात् इस दृष्टान्तमें आत्मसमर्पणका भाव पूर्णतया अभिव्यक्त होनेसे इसके आगे कोई और दृष्टान्त नहीं दिया गया । पतिके प्रति आत्मसमर्पण करनेवाली पतिव्रता पत्नी पतिके दूर देशस्थ होनेपर उसको देखनेके लिये कितनी आतुर होती है, यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है । इस श्लोकमें भगवान्के लिये 'अरविन्दाक्ष' विशेषण देनेसे भक्त-जनमानसपर भ्रमरत्वका आरोप किया गया जान पड़ता है और 'मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्' इस वाक्यमें दिदृक्षा—देखनेकी इच्छा—रूप क्रियाका कर्ता अपनेको न बताकर मनको बताया गया है, इससे भगवद्दर्शनकी लालसाकी तीव्रता द्योतित की गयी है ।

क्षमाका जीवनमें स्थान

(लेखिका—श्रीमती पद्मारानी वैश्य)

दूसरोंके द्वारा जो सांसारिक हानि हमको यदा-कदा पहुँच जाती है, उसका ध्यान रखते हुए बदलेकी भावनाको बनाये रखना आध्यात्मिक आत्म-हत्या है। क्षमा-भावके उदयसे हृदयके अंदर आध्यात्मिक प्रकाशका उदय होता है और शान्त तथा सुखी जीवनका आरम्भ। जो व्यक्ति यह सोचता है कि अमुक व्यक्तिने उसका अपमान किया, अनादर किया, हानि पहुँचायी और उससे बदला लेनेकी तरकीबें सोचता रहता है, ऐसे व्यक्तिको स्वप्नमें भी मानसिक शान्ति नहीं मिल सकती। जिसमें प्रतिहिंसाके भाव भरे हुए हैं, जो बदलेकी भावनाके कारण अस्थिर है, ऐसे हृदयमें मानसिक शान्ति किस प्रकार रह सकती है।

प्रतिहिंसा एक तीव्र विष है, जो चित्तके अणु-अणुमें फैलकर उसे विकारयुक्त बना देता है। विकारयुक्त चित्तमें वैर-भाव अपना घर बना लेता है, जिसके कारण चित्तकी सब अच्छी वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। नाराज होना एक प्रकारकी अस्वास्थ्यकर कुटेव है, जो मनुष्योंके दया-रस और प्रेम-भावको सुखा देती है। वास्तवमें हृदय-हीन और क्षमा-भावरहित व्यक्तियोंको बहुत ही तीव्र मानसिक वेदना होती है। वह वेदना प्रायः निरन्तर बढ़ती ही रहती है; क्योंकि आकर्षण-सिद्धान्तके अनुसार ऐसे व्यक्तियोंका हृदय दूसरे मनुष्योंके प्रति हिंसक विचारोंसे बहुत प्रभावित होता है। हृदयका हृदय-हीन और कठोर हो जाना हृदयपर एक विचित्र प्रतिक्रिया पैदा करता है, जिसके कारण मानसिक अशान्ति और क्लेश बढ़ जाते हैं।

जब भी कोई व्यक्ति अपने किसी दृश्य अथवा अदृश्य कार्यसे हृदय-हीनता और क्षमा-हीनताका परिचय देता है तो वह स्वयं अपने अंदर निम्नलिखित पाँच प्रकारके मानसिक क्लेशोंका आह्वान करता है—

१—प्रेम-भावके नष्ट होनेका मानसिक क्लेश।

२—भ्रातृ-भावके नष्ट होनेका मानसिक क्लेश।

३—मानसिक अस्थिरतासे उत्पन्न हुआ मानसिक क्लेश।

४—खण्डित गर्व अथवा अतृप्त वासनासे पैदा हुआ मानसिक क्लेश।

५—दूसरोंके द्वारा दिया गया दण्ड और मानसिक क्लेश।

इसके विपरीत क्षमा-भावसे प्रेरित प्रत्येक कार्य करनेपर निम्नलिखित पाँच प्रकारके आनन्द-भा आशीर्वादस्वरूप प्राप्त होते हैं—

१—प्रेम-भावसे प्राप्त आनन्द।

२—भ्रातृ-भाव-बन्धन दृढ़ होनेका आनन्द।

३—शान्ति और स्थिर मनसे उत्पन्न हुआ आनन्द।

४—वासनाओंके शान्त होने और गर्वके जीते जा का आनन्द।

५—दूसरोंके द्वारा की गयी भलाइयोंका आनन्द।

क्षमाभावरहित मनुष्योंके हृदयमें अहंभावकी ग होना स्वाभाविक है। छोटी-छोटी बातोंपर बिगड़ उठ खीझ जाना, क्षणिक आवेशमें कुछ भी कह डालना। वास्तवमें बात यही है कि उस क्षमाहीन व्यक्ति अभिमानका नशा छाया रहता है। मिथ्याभिमानके का उसे ऐसा प्रतीत होता है कि सबके काम और सब विचार उसके प्रतिकूल हैं।

मिथ्या अभिमानको समूल नष्ट करना बहुत ह कठिन कार्य है, किंतु जितना भी प्रयत्न इस दिश किया जाय उतना ही प्रशंसनीय है। मिथ्या अभिम

को नष्ट करने और क्षमा-भावको सदैव बनाये रखनेके लिये यह आवश्यक है कि हम क्रोधको अपने पास न फटकने दें और दूसरोंकी बातसे नाराजगी और प्रतिहिंसाकी भावना मनमें उत्पन्न न होने दें । मिथ्याभिमान-को नष्ट करना ही क्षमा-शीलताको उत्पन्न करना है ।

दूसरोंको नाराज न करना और दूसरोंपर नाराज न होना—ये दोनों बातें साथ-साथ चलती हैं, जैसे मधुरभाषी एवं क्षमाशील मनुष्य वाणीद्वारा तो दूसरोंपर नाराज होते ही नहीं; वे अपने कार्योंद्वारा भी यही ध्यान रखते हैं कि दूसरोंको कष्ट या हानि न पहुँचे ताकि वे नाराज न हों । उनके हृदयमें प्रेम-भाव, दया-भाव और विनय-भावका प्रादुर्भाव सदैव वर्तमान रहता है। क्षमाशील व्यक्तिको इस बातकी चिन्ता नहीं रहती कि दूसरे मनुष्य उसके विरुद्ध क्या करेंगे या कहेंगे ? यदि दूसरे मनुष्य उसकी किसी दृष्टि अथवा कमजोरीको बताते हैं तो खुशी-खुशी वह उसपर मननके द्वारा अपनी त्रुटियोंको सुधारनेका सतत प्रयत्न करता है ।

यह एक अटल सत्य है कि ईर्ष्या ईर्ष्यासे नष्ट नहीं हो सकती, यह प्रेम और क्षमासे ही जीती जा सकती है । जहाँ प्रतिहिंसा और हृदय-हीनता घुटने टेक देती है, वहाँ क्षमा और प्रेम सफल होते हैं ।

विशुद्ध ईश्वरीय प्रेम-मन्दिरका एक द्वार क्षमा है । मन्दिरके अंदर प्रवेश करनेसे पहलेतक हमारा ध्यान क्षमा-द्वारकी ओर रहता है, किंतु अंदर प्रवेश करनेके बाद प्रेममय हो जाता है, फिर वहाँ क्षमा और प्रतिहिंसाका अस्तित्व ही मिट जाता है ।

विश्वास और श्रद्धाके प्रतीक देवालय

(लेखक—श्रीओंकारमलजी सराफ, संस्थापक, देवालय-संरक्षणसमिति*)

सनातनधर्मकी नींवमें युगोंसे संचित विश्वास और श्रद्धाकी ईंट तथा वज्रलेप लगा है । इस विश्वास और श्रद्धाकी रक्षा न केवल वैयक्तिक या सामूहिक तपश्चर्यासे होती रही है, बल्कि कोटि-कोटि बलिदानोंसे भी हुई है। सनातनधर्मका पूरा इतिहास बलिदान, समर्पण और साहचर्यसे लिखा गया है । इन तीनों आचारोंकी जड़में अटूट विश्वास और अखण्ड श्रद्धा संनिहित है ।

आज विश्वास टूट रहा है, श्रद्धा खण्डित हो रही है और धर्म प्राणिमात्रकी सुरक्षासे विमुख हो रहा है । कहीं-कहीं किसी-किसी मुखसे यह भी सुन लिया जाता है कि धर्म पण्डितों और पूँजीवादियोंका साम्राज्यवाद है, जो फासिस्ट ढंगसे भोली-भाली जनताके मस्तिष्कपर लाद दिया गया है । कहनेवाले कहा करते हैं—इसमें न तो कोई तथ्य है, न इसके पीछे कोई विचार-शक्ति । यह भी उन अनात्मवादियोंका अनियन्त्रित साम्राज्यवाद है, जो फासिस्ट ढंगसे भोली-भाली जनताके मस्तिष्कमें घुसेड़ा जा रहा है ।

कोई भी धर्म प्रचलित रूढ़ियों और अविवेकी प्रतिगामिताके विरुद्धमें प्रवर्तित हुआ है । कोई भी विचार बिना अपेक्षित विरोधाभासके सिद्धान्तरूपमें स्वीकार नहीं किया जाता । संघर्ष या द्वन्द्व सृष्टिकी गतिका कारण है । हिगेल और उसका अनुयायी कार्लमार्क्स इसके उदाहरण हैं । धर्मका द्वन्द्व सर्वदा अधर्मसे होता है । इसका स्थल व्यक्तिगत भी होता है और सामाजिक भी । धर्म सत्य और ऋतका समर्थक है और इन्हींके द्वारा अखण्ड चिदानन्दकी प्रतिष्ठापना करता है । अपेक्षा है धर्ममें हमारी श्रद्धा हो और विश्वास हो । बिना श्रद्धा-

---

* पता है—१२ चौरंगी रोड, कलकत्ता १३ ।

के आस्थाकी नींव डगमगाती दिखायी देती है और बिना श्रद्धाके आस्था तिलमिलाती है।

ईश्वरपर विश्वास और श्रद्धा लाना स्वयंपर विश्वास और श्रद्धा लाना है। धर्मपर भी विश्वास और श्रद्धा लाना अपने सुव्यवस्थित और आनन्दमय आचार-विचारपर श्रद्धा और विश्वास लाना है। नास्तिकवाद न केवल धर्म और ईश्वरके अस्तित्वपर आक्षेप करता है, बल्कि स्वयं आत्मापर भी उसका विश्वास नहीं होता। इसीलिये नास्तिकवाद उच्छृङ्खल और अनियन्त्रित होता है तथा लोकमें क्लेशका प्रतिपादक होता है। महर्षि चार्वाकने जहाँ अन्नको ब्रह्म मानकर शारीरिक और सांसारिक सुखोंकी मान्यता दी, वह भी आस्तिकवादकी एक प्रक्रिया है—स्वयंपर विश्वास और श्रद्धाका प्रतिरूप।

सनातन धर्म अर्पणकी वकालत करता है। अर्पण ही उसका रहस्य है और उसके सारे वाङ्मयका आदर्श भी। मन चञ्चल है। नानाविध शङ्काओं और अविश्वासोंकी जड़ है। अपने प्रत्येक चरणपर संदेहकी सृष्टि कर लेना उसका स्वभाव है। इसीलिये गीतामें भगवान्‌की घोषणा है—समर्पण करो और मेरी—सत्य और ऋत-स्वरूप भगवान्‌की आज्ञाको बिना संदेह, विश्वास और श्रद्धाके साथ अंगीकार करो। मैं तुम्हें सभी प्रकारके पापों और क्लेशोंसे विमुक्त कर दूँगा। किंतु यह तभी होगा जब तुम सारे धर्म अर्थात् मनकी सारी संदिग्ध और तर्कधर्मिताका परित्याग करोगे जो तुम्हारी प्रकृति है।

इसी समर्पणके आधारपर भक्ति या मुक्तिका आरोपण किया गया। भक्ति और मुक्ति भी विश्वास और श्रद्धाका परिणाम है। मैत्री आनन्दका चरमस्थल है जो श्रद्धा और विश्वासपर ही आधारित होती है। सनातनधर्मने अपने लोकोपयोगी सिद्धान्तों और विचारोंको बिम्ब-स्वरूप बनाया। देवी और देवताओंकी भावनामें आत्मार्थी दृष्टिका साकार निरूपण किया गया। ये अनुकरणीय हैं। इनकी पूजा, अर्चना, उपासना—हमारी श्रद्धा और विश्वासकी भावनाका धीरे-धीरे तादात्म्य होना है। सारे अन्तरोंका विलीनीकरण ही समर्पण है। इन्हीं अमृतोपम उद्देश्योंकी पूर्तिके लिये देवालयोंकी स्थापना हुई, जहाँ संस्कृति और धर्म केन्द्रित हुआ।

हम एक मन्दिरमें चलें। वहाँ भगवान्‌के श्रीविग्रहको देखें। पाषाण-प्रतिमामें मानवी श्रद्धा और विश्वासने जिस समर्पणकी भावनाका निरूपण किया है और वह अर्पण उस प्रतिमाके समक्ष जिस प्रकार तल्लीन होकर नाच उठता है—वह तर्ककी आँखोंसे नहीं, समर्पणकी आँखोंसे देखा और समझा जा सकता है। यही है सनातनधर्मकी चरम स्थिति। इसमें एकान्त तपस्या, भजन आदि भी सम्मिलित हैं।

किंतु आज आस्थाएँ टूट रही हैं, श्रद्धा तिरोहित हो रही है और देवालय उपेक्षित हो रहे हैं। संस्कृति जीर्ण हो रही है और आत्मा क्लेशोंमें डूब रही है। सारा मानव-समाज व्यथित है; क्योंकि उसे अब वह आवाज सुनायी नहीं दे रही है कि—'यह सारा विश्व ईश्वरद्वारा आच्छादित है। इसे त्यागपूर्वक भोगता जा। किसीके धनकी वासना न रख।'

आज विस्तारवादिताकी प्रमुखता है। यह विस्तारवाद वैयक्तिक भी है और अन्ताराष्ट्रीय भी। दोनों प्रकारकी विस्तारवादिताका निराकरण होना चाहिये। सीमाका उल्लङ्घन दुःख है, संयमका परित्याग उच्छृङ्खलता और अव्यवस्था है। किंतु प्रश्न उठता है—कौन उपदेश दे। दिग्भ्रमित युगको कौन शङ्खनाद सुनाये, कौन आरतीकी मधुर ज्योत्स्नामें सुमार्ग दर्शाये ! इनके केन्द्र देवालय तो मनुष्यकी आत्म-जीर्णताके साथ ही जीर्ण हो गये हैं, जहाँसे प्रत्येक सांध्य-उषामें आरतीका

मधुर प्रकाश छिटकता था, शङ्ख और घंटाका नाद होता था और युगको प्रतिपल सचेत किया जाता था। आज जो देशपर विदेशी आक्रमण होते हैं। हमें अरक्षित होनेका भय सताता है, इसके मूलमें भी श्रद्धा और विश्वासकी न्यूनता है। शस्त्रकी शक्तिसे अनेकगुणा शक्ति है आत्माके शस्त्रमें। हमारा आन्तरिक बल अनैतिकता और अविश्वाससे पराजित हो उठा है। हम व्यक्तिगत स्वार्थ पहले देख रहे हैं, इसीलिये संकटग्रस्त राष्ट्र हमारा दूसरा उद्देश्य बन गया और व्यक्तिगत स्वार्थ पहला। यहाँका राष्ट्र और धर्म एक दूसरेके पूरक हैं। धर्म राष्ट्रको सुरक्षा प्रदान करता है और राष्ट्र धर्मको आश्रय प्रदान करता है। जब-जब राष्ट्र धर्मसे विलग हुआ है तब-तब व्यक्ति स्वार्थवादी बना है। राष्ट्र और धर्मका सामञ्जस्य-माध्यम देवालय है जो एकको दूसरेके प्रति श्रद्धा और विश्वासके प्रतीक हैं।

इसी उद्देश्यसे देवालय-संरक्षण-समितिकी स्थापना की गयी थी कि आरतीके मधुर प्रकाशमें जन-युग अपना पथ निश्चित करे और जीर्णताका परित्याग कर सत्य और ऋतकी ओर अग्रसर हो। राष्ट्रकी दुर्गतिका प्रधान कारण है धर्म-निरपेक्षता। इस प्रकारका विचार भारतके राष्ट्रपति श्रद्धेय डा० राधाकृष्णनने भी अपनी पुस्तक धर्म और समाजमें प्रकट किया है। धर्मसापेक्ष राष्ट्र सतत उन्नति और अजेयताकी ओर प्रगतिशील होता है; क्योंकि प्रत्येक दिशामें मर्यादा पंथ बनती है। देवालयोंकी उपेक्षासे कभी भी हमारी समृद्धि नहीं हो सकती। देवालय शान्तिकालमें आत्म-विकासके केन्द्र हैं और संकटकालमें आत्म-रक्षाके दुर्ग।

देवालयोंकी दुर्व्यवस्था यह संकेत करती है कि हमारा विश्वास और हमारी श्रद्धा जीर्ण हो गयी है, जिसका पुनरुत्थान नितान्त आवश्यक है। विना विश्वास और श्रद्धाकी सबलताके हम सुरक्षा या विजयकी कामना करें, असम्भव है।

अतः सम्पूर्ण राष्ट्रजनको समिति आह्वान करती है कि वे एक बार अपनी ओर मुड़ कर देखें और भू-लुण्ठित श्रद्धा और विश्वासके साथ पुनः समृद्धिके मार्गपर बढ़ें। यदि इसी प्रकार देवालय और उपेक्षित हुए तो एक दिन इनकी समाप्तिके साथ ही हमारी संस्कृति भी नष्ट हो जायगी। किंतु संस्कृति नष्ट नहीं होगी, धर्म उन्मूलित नहीं होगा, सत्य और ऋतकी ध्वजा नहीं झुकेगी। विश्वास और श्रद्धाका पथ प्रशस्त ही रहेगा। एक बार हृदय-मन्थनकी आवश्यकता है।

समिति सनातनधर्म-प्रेमियोंसे आग्रह करती है कि वे अपना-अपना हृदय मन्थन करें और विश्वास तथा श्रद्धाका माप करें तथा उसका उत्तर अपने क्षेत्रके देवालयकी मूक अवस्थासे प्राप्त कर हमें सूचित करें। मुझे आशा है समिति इस ओर कुछ दिशा निर्धारित करनेमें सफल सिद्ध होगी।

* * *

रस-सुधाधारा

जन्म-मरण न दुःख-सुख कुछ हैं नहीं जिसमें कभी।
वह रही रस-सुधा-धारा नित्य प्लावित कर सभी॥
छा रहा आनन्द अनुपम परम अतुल सदा वहाँ।
नाचते रहते निरन्तर नीलमणि नित हैं जहाँ॥

विष्णुध्वज

(लेखक—डा० श्रीदेवसहायजी त्रिवेद एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

दिल्लीके पास मेहरौलीमें आपने एक विशाल मनार देखा होगा। स्टेशनसे उतरते ही ताँगेवाले पुकारते हैं—'कुतुब चलियेगा, कुतब।'

'कुतुब मनार' नाम होनेसे प्रायः लोग समझते हैं कि इस मनारको गुलामवंशी सुलतान कुतुबुद्दीन ऐबकने बनवाया था। हो सकता है कि कुतुबुद्दीनमनारको लोग संक्षेपमें कुतुबमनार कहने लगे। किंतु इतिहासमें कहीं प्रमाण नहीं मिलता कि इसे कुतुबुद्दीनने बनवाया था। कुतुबुद्दीनने केवल चार वर्ष राज्य किया (१२०६—१२१० ई०)। इतने कम समयमें ऐसे विशाल मनारका निर्माण नहीं हो सकता; क्योंकि एक इंजीनियरको इसके केवल ऊपरी खण्डके जीर्णोद्धारमें २५ वर्ष (१८००—१८२५ ई०) लग गये थे।

यह मनार क्यों बना। कुछ लोगोंका मत है कि यह जयस्तम्भ है। मुसल्मानोंकी भारतविजयका यह स्मारक है। किंतु कोई भी स्मारक जयस्तम्भ तथा कीर्तिस्तंभ झुका हुआ नहीं होता। अन्य मत है कि यह समीपस्थ मस्जिदका मजीना है, जिसपर चढ़कर आजान दिया जाता है। किंतु किसी भी मस्जिदमें केवल एक या तीन मजीना नहीं होता। यह मजीना सदा जोड़ा होता है न कि फूट। इस कमीको दूर करनेके लिये अलाउद्दीनने इसका जोड़ा बनवाना आरम्भ किया था सन् १३१२ई०में, किंतु वह पूरा न हो सका। किसी भी इस्लामी इमारतका प्रवेशद्वार काबाकी ओर होता है, न कि उत्तराभिमुखी या कैलासकी ओर। मजीना सदा मस्जिदके समीप एक कोनेपर होता है न कि उससे सुदूर। पहले मस्जिद बनती है, मजीना पीछे। मस्जिद ऊँचाईपर है तथा यह तथाकथित मजीना धरातलपर। अतः यह मस्जिदका मजीना नहीं हो सकता। हिंदुओंके मन्दिर इत्यादिका निर्माण धरातलसे ही आरम्भ हो जाता है, किंतु इस्लामी इमारत चबूतरे या प्लैटफार्मपर बनानेकी प्रथा है जो समीपस्थ अलाउद्दीनके अधूरे मजीना हेतु निर्मित मनारसे स्पष्ट है। अतः यह इस्लामी इमारत नहीं हो सकती। सर सैयद अहमदने १८४७ ई० में अपने असार-उल-सनारीदमें यह मत प्रकट किया था कि यह मनार किसी भी हालतमें मुसल्मानी इमारत नहीं हो सकती। वे इसके हिंदुत्वके हामी हैं।

इस मनारमें २३ जूनको १२ बजे छाया एकदम नहीं होती। यह दक्षिणकी ओर झुका है जिस प्रकार जन्तर-मन्तरमें मिश्र यन्त्रकी दीवाल पाँच अंश दक्षिणकी ओर झुकी है। अतः जिज्ञासा होती है कि यह मनार क्यों बनाया गया तथा इसे किसने बनवाया ?

इस मनारके पास ही एक कुब्बत-उल-इस्लाम मस्जिद है। इसके अंदर फारसीमें पत्थरपर लिखा है कि कुतुबुद्दीनने इस मस्जिदको सन् ११९२ ई०में बनवाया। उसने पासके सत्ताईस मन्दिरोंको तुड़वाकर उन्हींके ईंट एवं गारेसे इस मस्जिदको बनवाया। इन सत्ताईस मन्दिरोंको बनवानेमें प्रत्येक-पर २० लाख अर्थात् ५४० लाख व्यय हुआ था। ताज-उल-माशीर नामक समकालिक इतिहासग्रन्थमें लिखा है कि कुतुबुद्दीनने यहाँके २७ मन्दिरोंको तुड़वाकर उन्हींके हीरे-जवाहरातोंसे इस मस्जिदको सजाया। अब भी कुतुब मनारके निचले खण्डमें २७ खिड़कियाँ तथा दरवाजे हैं जिनसे हवा या रोशनी जाय। २७ संख्या शायद किसी विशेष अर्थका द्योतक है। हिंदुओंके २७ नक्षत्र प्रसिद्ध हैं। इससे ज्ञात होता है कि इस स्थानपर शायद २७ नक्षत्रोंकी विशाल वेधशाला थी।

इस वेधशालाका प्रधान मनार (कुतुब मनार) केन्द्रमें था। सबसे पहले यही मनार बना होगा जिससे नक्षत्रमण्डलका अध्ययन सुचारु रूपसे हो सके। यह मनार भी दक्षिणकी ओर झुका है।

वेधशालाका स्मारक

यह मनार मेहरौलीमें है। फारसीमें मेहर और संस्कृतमें मिहिर शब्दका एक ही अर्थ है—सूर्य। अतः मिहिरावलीका अर्थ होगा—सूर्यसमूह या नक्षत्रपुञ्ज। सम्भवतः वेधशाला होनेसे ही इस स्थानका नाम मिहिरावली या मेहरौली पड़ा। मिहिरावली या वेधशाला पर्यायवाची शब्द प्रतीत होते हैं। इस मनारमें १२ राशियोंके बारह पहलू और ७ स्वर्गके द्योतक सात खण्ड हैं। इसके प्रथम तीन खण्ड और ऊपरके शेष खण्डोंकी कारीगरीमें आकाश-पातालका अन्तर है। नीचेके खण्ड मजबूत हैं, वे एक पत्थरके बने प्रतीत होते हैं। इनमें कहीं भी जोड़ नहीं दिखता। किंतु ऊपरी खण्डोंमें सिमेंटकी जुड़ाई स्पष्ट है और उसमें दरारें दिखती हैं।

निर्माता

इस मनारको किसने बनाया—इस सम्बन्धमें विभिन्न मत हैं। इब्न बतूताके अनुसार इस मनारको बलबनके पोते कैकुबादने बनवाया। अबुलफिदा इसे दिल्लीके जामी मस्जिदका मजीना कहता है। शमसीराज कहता है कि सुल्तान शमसुद्दीन इल्तुतमशने पुरानी दिल्लीके जामी मस्जिदमें विशाल स्तम्भ खड़ा किया। अमीर खुशरू कहता है कि अलाउद्दीनने जामी मस्जिदके ऊँचे मनारका जोड़ा बनानेका विचार किया। अतः अबुलफिदा और मीर खुशरू इस मनारको केवल मजीना स्वीकार करते हैं। अतः इल्तुतमशसे इसका कोई भी सम्बन्ध नहीं बतलाते। शमसीराज शायद मानते है। किंतु फिरोजशाहके अनुसार इसे महम्मद गोरीने बनवाया। कुतुब मनार नाम होनेसे आधुनिक इतिहासकार अतः इसे कुतुबुद्दीनका बनाया मानते हैं। अन्य मत है कि इसके निचले भागको कुतुबुद्दीनने और ऊपरी भागको इसके दामाद अल्तमशने बनवाया। कुछ लोगोंका मत है कि इस मनारकी रचना अफगानिस्तानमें बगदादके पास एक फकीर ख्वाजा कुतुबुद्दीन बख्तियार काबीके नामपर हुई और अल्तमशने एक पत्थरसे दो पक्षी मार गिराया, जिसमें उसके प्रश्रयदाता तथा श्वसुर कुतुबुद्दीन सुल्तान तथा फकीर कुतुबुद्दीनका भी नाम चिरस्थायी हो। किंतु इस मनारमें फकीरके विषयमें एक अक्षर, शब्द या पंक्ति भी नहीं मिलती जबकि अल्तमशके चार अभिलेख इसपर अङ्कित हैं।

इस मनारपर नीचेसे ऊपरतक अनेक अभिलेख तथा कुरान शरीफके आयात अङ्कित हैं। यथा महम्मद गोरीके दो, कुतुबुद्दीनके एक, अल्तमशके चार तथा फिरोजशाह तुगलकके तथा सिकन्दर लोदी प्रत्येकके एक-एक अभिलेख हैं। इससे प्रकट है कि इस मनारके निर्माताके सम्बन्धमें कितना भ्रम है।

इस मनारपर २९ अभिलेख देवाक्षरमें भी हैं। इनमें से अभिलेख लिपिके आधारपर सप्तमी शती खिष्टका माना जाता है। १९५५-५६में मरम्मतके समय एक पत्थर धड़ामसे नीचे गिर पड़ा, जिसके एक ओर ब्राह्मीलिपिमें और दूसरी ओर अरबीमें कुछ लिखा है। वह अभीतक अप्रकाशित है। इन अभिलेखोंमें विभिन्न लोगों तथा राजाओंके नाम हैं, जिन्होंने इसकी मरम्मत करवायी। यथा—पृथ्वीराज, मलिकदीन, गोविन्दपाल, अलादीन, महम्मदशाह, 'फिरोजशाह इत्यादि। अलाउद्दीन इसे अपना जयस्तम्भ कहता है। इसमें सुल्तान महम्मद तुगलकका अभिलेख संवत् १३८२ (सन् १३२५) का है।

कुछ लोग इसे पृथ्वीराजका बनाया बतलाते हैं, किंतु पृथ्वीराज रासोमें कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं है कि इसे पृथ्वीराजने बनवाया, अपितु पृथ्वीराज तो अजमेरका राजा था न कि दिल्लीका।

अतः इस मनारके सम्बन्धमें विशेष खोजकी आवश्यकता है। क्या यह मनार मुसल्मानी राज्यके पहले था, यदि था तो अल्बेरुनी (१०३० में) ने इसका उल्लेख क्यों नहीं किया। अल्बेरुणी इस मनारका नाम नहीं लेता, किंतु कहता है कि 'हिंदू २७ नक्षत्र तथा १२ राशियोंका प्रयोग समानरूपेण करते हैं। नक्षत्रमण्डलकी स्थितिके सम्बन्धमें मैंने एक ग्रन्थ लिखा है।' पुनः वह प्रत्येक नक्षत्रका अक्षांश तथा देशान्तर लिखता है जो केवल दिल्लीको प्रकट कर सकता है। अतः इससे प्रकट है कि अल्बेरुनी इस वेधशालासे पूर्ण परिचित था।

भारतवर्षमें प्राचीन कालसे मकरध्वज, गरुडध्वज, वृषध्वज, विष्णुध्वजकी प्रथा चली आ रही है। यदि यह मनार इस्लामकी सत्ताके पूर्वका है तो इसका प्राचीन नाम क्या था तथा इसे किसने बनवाया। किसी भी विषयका अध्ययन एकाङ्गी नहीं किया जा सकता। हमें आँख फाड़कर देखना चाहिये चारों ओर।

इस मनारके समीप एक लौहस्तम्भ है। जिसपर संस्कृत भाषा एवं ब्राह्मीलिपिमें सात पंक्तियोंमें तीन शार्दूलविक्रीडित छन्द खुदे हैं। इसपर लिखा है कि इस लंबे विष्णुध्वजको बनानेवाला अब संसारमें नहीं है, किंतु उसकी कीर्ति शेष है। उसने सिन्धुनदके सात मुहानोंको पार कर बल्लख जीता, बंग एवं दक्षिण समुद्र उसकी कीर्तिसे लहराते हैं। वह शरीर छोड़कर चला गया; किंतु उसकी कीर्ति नहीं मिट रही है। उसने अपनी क्रोधाग्निमें शत्रुओंको भून डाला। उसने भुजबलसे राज्य हथियाया और चिरकाल एकछत्र राज्य किया। उसके समान प्रतापी अन्य राजा न हुआ। इतिहासकार इस विषयमें एकमत हैं कि भारतवर्षमें

ऐसा राजा केवल समुद्रगुप्त ही हुआ। इस लौहस्तम्भपर राजा चन्द्रका नाम लिखा है, समुद्रगुप्तका नहीं। चन्द्र—चन्द्रगुप्त द्वितीय समुद्रगुप्तका पुत्र तथा उत्तराधिकारी था। वह विष्णुका भक्त था। उसका मुख पूर्ण चन्द्रके समान था। उसने इस प्रांशु विष्णुध्वजकी स्थापना की।

संस्कृतमें विष्णु शब्दका अर्थ होता है सूर्य, ध्वजका अर्थ है पताका, मनार या गुम्बज। इससे प्रकट है कि यह विष्णुध्वज सूर्यघटिका या वेधशालाके रूपमें था, जिससे २७ मन्दिर २७ नक्षत्रोंके मन्दिर थे और यह उस वेधशालाका विशाल गुम्बज था, जिसके द्वारा नक्षत्रोंका अध्ययन होता था। जिस प्रकार मकान, तालाब, इमारत या कूप बनानेपर उसके बनानेवालेकी प्रशस्ति लिखी जाती है, उसी प्रकार इस महान् वेधशालाकी प्रशस्ति इस लौहस्तम्भपर लिखी गयी।

दिशासूचक गुम्बज

अरबी भाषामें कुत्ब और कुतुब दो शब्द हैं। कुत्ब शब्दका अर्थ है ध्रुवतारा या धुरी। आपने कुत्बनुमा सुना होगा जिससे दिशाका ज्ञान होता है और जिसकी सूई सदा उत्तरकी ओर रहती है। मीनार शब्द अशुद्ध है। मनार शुद्ध रूप है। मनारका अर्थ है दीयट, जिसपर रोशनी रक्खी जाती है। अतः कुत्बमनार शब्दका अर्थ है दिशासूचक गुम्बज या 'आवजरवेटरी टावर।' विष्णुध्वज शब्द भी इसी अर्थका द्योतक है। अतः यह कहा जा सकता है कि इस कुत्बमनारका प्राचीन नाम है—विष्णुध्वज। मुसलमानोंने इस नामका ही अनुवाद कर दिया और इसे कुत्बमनारके नामसे पुकारने लगे। बादमें कुतुब मीनार नाम अपभ्रंशरूपमें प्रचारित हुआ।

समुद्रगुप्तने ३२० खिष्टपूर्वसे २६९ खि० पूर्वतक राज्य किया। उसने इस विष्णुध्वजकी रचना खि० पू० २८० में की। इस वेधशालाकी प्रशस्ति इसके पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीयने खि० पू० २६८में लिखवायी।

जब हिंदू पराधीनताकी बेड़ीमें जकड़े थे और उनको जानके लाले पड़े थे, तब उन्होंने इस तुच्छ बातकी ओर ध्यान न दिया। अंग्रेजी राज्यके आरम्भमें लोग प्रायः इसे हिंदुओंका बतलाते थे। किसी भी फ़ारसी इतिहासकारने इस मनारका वर्णन नहीं किया; क्योंकि वे हिंदुओंकी इमारतोंसे दिलचस्पी नहीं रखते थे। अकबर द्वितीय (१८०९-३७ ई०) के मुंशी सैयद अहमदने सर्वप्रथम इसे इस्लामी इमारत बतलाया। पहले अंग्रेज भी हिंदुत्वके हामी थे, किंतु १८५७ ई० के स्वतन्त्रता-संग्रामके बाद उनका रवैया बदल गया और वे इसे इस्लामी रचना बतलाने लगे।

* * *

जीवन तुम्हारा लीलाधाम बन गया

हुआ जबसे मैं तुम्हारा भूलकर सम्बन्ध सारे।
तभीसे आने लगे क्रमशः सभी सद्गुण तुम्हारे॥
वस्तु जो विपरीत थी, या थीं विरोधी भाव-धारा।
मिटी अपने-आप सारी, रह गया कोई न चारा॥
सूर्यके शुभ उदयसे ज्यों नष्ट होता सब अँधेरा।
मिटा त्यों सञ्चित युगोंसे था तिमिर उरमें घनेरा॥
हुआ ज्यों खाली हृदय त्यों ही जला कूड़ा-कबाड़ा।
आ बिराजे तुम सदल-बल जम गया पूरा अखाड़ा॥
अब तुम्हारे इस भवनमें अन्य कोई आ न पाता।
छा रहे सर्वत्र तुम कोई यहाँ कैसे समाता ?॥
चल रही लीला तुम्हारी बना लीलाधाम जीवन।
दे रहा आनन्द सबको बना सबका सहज निज जन॥

इन्द्राक्षी-कवचका अद्भुत चमत्कार

(लेखिका—एक बहन)

करीब दो महीने पहलेकी बात है। मेरी आँखोंमें असीम पीड़ा हो रही थी। नेत्र लाल हो गये थे और उनसे निरन्तर जल बहता रहता था। काफी जलन भी थी। डाक्टरकी सलाहसे (Achromycin) 'एक्रोमाइसिन' नामक दवा रोज आँखमें डालती रही। किंतु इससे नेत्र-रोग दूर नहीं हुआ, वरं उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहा।

इसी बीच मैंने सौभाग्यवश 'इन्द्राक्षी-कवच'का स्तोत्र एक पुस्तिकामें देखा। तुरंत विभूतिमें कवचका यन्त्र लिखकर मैंने स्तोत्र-कवचका पाठ करना शुरू कर दिया। अन्तमें उस विभूतिको आँखोंकी पलकोंके ऊपर थोड़ा-सा डालकर हाथोंसे तीन बार उसे नीचेकी ओर झाड़ दिया। थोड़ी ही देरमें अधिकांश पीड़ा दूर हो गयी। अगले दिन विभूतिका दूसरी बार प्रयोग करनेपर आँखोंकी ललाई और जल बहना आदि दोष भी दूर हो गये। 'इन्द्राक्षी-कवच' से परकर्मसे—अभिचार आदि कुकर्मोंसे होनेवाली पीड़ाएँ, ज्वर, नेत्ररोग, क्षयरोग, कुष्ठरोग आदि-आदि शान्त होते हैं—ऐसा कहा गया है। मैंने यह तो अपने अनुभवसे देख लिया है कि इस कवचसे नेत्र-रोग बहुत जल्दी दूर होते हैं। सम्भवतः ऐसे ही अन्यान्य रोगोंका भी शमन होता होगा। पाठक आवश्यकतानुसार प्रयोग करके देखें।

इस कवचसे सभी लोग लाभ उठायें—इसी विचारसे 'इन्द्राक्षी-कवच' और 'इन्द्राक्षी-स्तोत्र' को नीचे दे रही हूँ। पहले विनायक-स्तोत्रको पढ़ लेना चाहिये—

मूषक-वाहन मोदक-हस्त
चामर-कर्ण विलम्बित-सूत्र।
वामनरूप महेश्वरपुत्र
विघ्नविनायकपाद नमस्ते॥

इन्द्राक्षी-यन्त्र

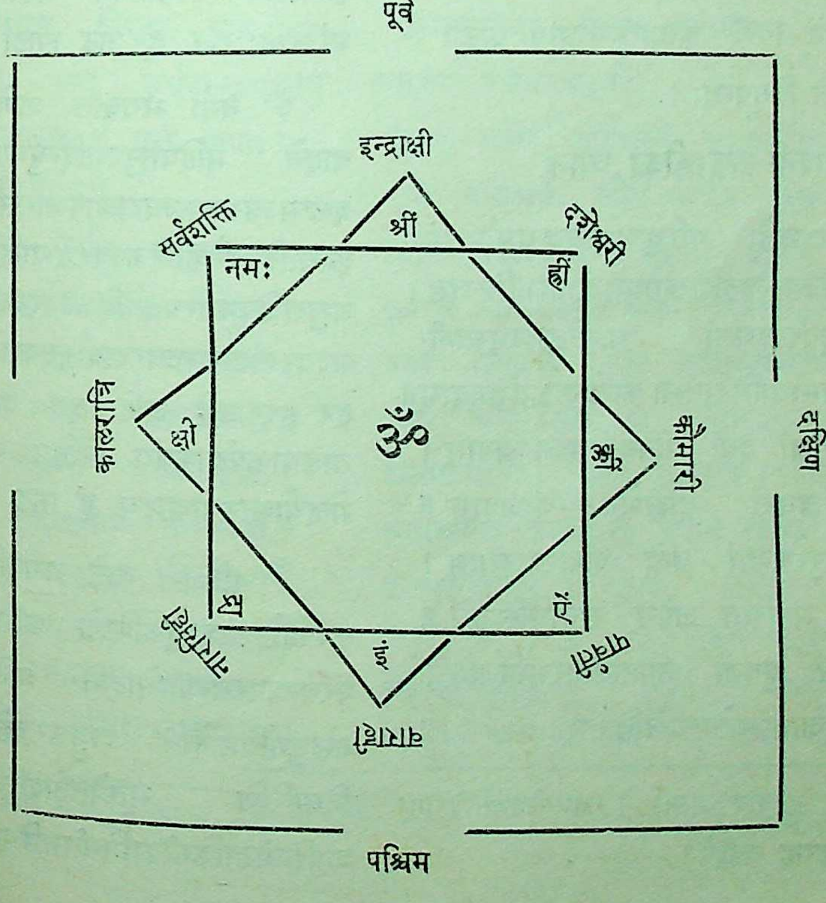

ऊपर लिखित यन्त्रको विभूतिमें लिखकर निम्नलिखित प्रकारसे जप करें—

ॐ अस्य श्रीइन्द्राक्षीस्तोत्रमहामन्त्रस्य शचीपुरन्दर ऋषिः। अनुष्टुप्छन्दः। इन्द्राक्षी दुर्गा देवता। लक्ष्मीर्बीजम्। भुवनेश्वरी शक्तिः, भवानीति कीलकम्, मम इन्द्राक्षीप्रसादसिद्ध्यर्थे जपे विनियोगः।

ॐ इन्द्राक्षीत्यङ्गुष्ठाभ्यां नमः। ॐ महालक्ष्मीरिति तर्जनीभ्यां नमः। ॐ माहेश्वरीति मध्यमाभ्यां नमः। ॐ अम्बुजाक्षीत्यनामिकाभ्यां नमः। ॐ कात्यायनीति कनिष्ठिकाभ्यां नमः। ॐ कौमारीति करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः।

*ॐ इन्द्राक्षीति हृदयाय नमः। ॐ महालक्ष्मीरिति शिरसे स्वाहा। ॐ माहेश्वरीति शिखायै वषट्। ॐ अम्बुजाक्षीति कवचाय हुम्। ॐ कात्यायनीति नेत्रत्रयाय वौषट्। ॐ कौमारीत्यस्त्राय फट्। ॐ भूर्भुवस्स्वरोमिति दिग्बन्धः।

भगवती इन्द्राक्षीका ध्यान

नेत्राणां दशभिश्शतैः परिवृतामत्युग्रचर्माम्बरां
हेमाभां महतीं विलम्बितशिखामामुक्तकेशान्विताम्।
घण्टामण्डितपादपद्मयुगलां नागेन्द्रकुम्भस्तनी-
मिन्द्राक्षीं परिचिन्तयामि मनसा कल्पोक्तसिद्धिप्रदाम्॥
इन्द्राक्षीं द्विभुजां देवीं पीतवस्त्रद्वयान्विताम्।
वामहस्ते वज्रधरां दक्षिणेन वरप्रदाम्॥
इन्द्रादिभिः सुरैर्वन्द्यां वन्दे शंकरवल्लभाम्।
एवं ध्यात्वा महादेवीं जपेत् सर्वार्थसिद्धये॥
इन्द्राक्षीं नौमि युवतीं नानालंकारभूषिताम्।
प्रसन्नवदनाम्भोजामप्सरोगणसेविताम् ॥

इन्द्र उवाच—

इन्द्राक्षी पूर्वतः पातु पात्वाग्नेय्यां दशेश्वरी।
कौमारी दक्षिणे पातु नैर्ऋत्यां पातु पार्वती॥
वाराही पश्चिमे पातु वायव्ये नारसिंह्यपि।
उदीच्यां कालरात्री मामैशान्यां सर्वशक्तयः॥
भैरव्यूर्ध्वं सदा पातु पात्वधो वैष्णवी सदा।
एवं दश दिशो रक्षेत् सर्वाङ्गं भुवनेश्वरी॥

इन्द्राक्षीकवचम्

ॐ नमो भगवत्यै इन्द्राक्ष्यै महालक्ष्म्यै सर्वजनवशंकर्यै सर्वदुष्टग्रहस्तम्भिन्यै स्वाहा।

ॐ नमो भगवति पिङ्गलभैरवि त्रैलोक्यलक्ष्मि त्रैलोक्यमोहिनीन्द्राक्षि मां रक्ष रक्ष हुं फट् स्वाहा।

ॐ नमो भगवति भद्रकालि महादेवि कृष्णवर्णे तुङ्गस्तनि शूर्पहस्ते कवाटवक्षःस्थले कपालधरे परशुधरे चापधरे विकृतरूपधरे विकृतरूपे महाकृष्णसर्पयज्ञोपवीतिनि भस्मोद्धूलितसर्वगात्रीन्द्राक्षि मां रक्ष रक्ष हुं फट् स्वाहा।

ॐ नमो भगवति प्राणेश्वरि पद्मासने सिंहवाहने महिषासुरमर्दिन्युष्णज्वरपित्तज्वरवातज्वरश्लेष्मज्वरकफज्वरालापज्वरसंनिपातज्वरकृत्रिमज्वरकृत्यादिज्वरैकाहिकज्वरद्व्याहिकज्वरत्र्याहिकज्वरचतुराहिकज्वरपञ्चाहिकज्वरपक्षज्वरमासज्वरषण्मासज्वरसंवत्सरज्वरसर्वाङ्गज्वरान् नाशय नाशय हर हर जहि जहि दह दह पच पच ताडय ताडयाकर्षयाकर्षय विद्विषः स्तम्भय स्तम्भय मोहय मोहयोच्चाटयोच्चाटय हुं फट् स्वाहा।

ॐ ह्रीं ॐ नमो भगवति प्राणेश्वरि पद्मासने लम्बोष्ठि कम्बुकण्ठिके कलिकामरूपिणि परमन्त्रपरयन्त्रपरतन्त्रप्रभेदिनि प्रतिपक्षविध्वंसिनि परबलदुर्गविमर्दिनि शत्रुकरच्छेदिनि सकलदुष्टज्वरनिवारिणि भूतप्रेतपिशाचब्रह्मराक्षसयक्षयमदूतशाकिनीडाकिनीकामिनीस्तम्भिनीमोहिनीवशंकरीकुक्षि-

---

* 'इन्द्राक्षीति हृदयाय नमः' से 'अप्सरोगणसेविताम्' तक दो बार जप करना चाहिये।

रोगशिरोरोगनेत्ररोगक्षयापस्मारकुष्ठादिमहारोगनिवारिणि मम सर्वरोगान् नाशय नाशय ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रैं ह्रौं ह्रः हुं फट् स्वाहा।

ॐ ऐं श्रीं हुं दुं इन्द्राक्षि मां रक्ष रक्ष, मम शत्रून् नाशय नाशय, जलरोगान् शोषय शोषय, दुःखव्याधीन् स्फोटय स्फोटय, क्रूरानरीन् भञ्जय भञ्जय, मनोग्रन्थिप्राणग्रन्थिशिरोग्रन्थीन् काटय काटय, इन्द्राक्षि मां रक्ष रक्ष हुं फट् स्वाहा।

ॐ नमो भगवति माहेश्वरि महाचिन्तामणि दुर्गे सकलसिद्धेश्वरि सकलजनमनोहारिणि कालकालप्रत्यनलेऽजितेऽभये महाघोररूपे विश्वरूपिणि मधुसूदनि महाविष्णुस्वरूपिणि नेत्रशूलकर्णशूलकुक्षिशूलपक्षशूलपाण्डुरोगकमलादीन् नाशय नाशय वैष्णवि ब्रह्मास्त्रेण विष्णुचक्रेण रुद्रशूलेन यमदण्डेन वरुणपाशेन वासववज्रेण सर्वानरीन् भञ्जय भञ्जय ब्रह्मराक्षसग्रहस्कन्दग्रहविनायकग्रहबालग्रहचौरकूष्माण्डग्रहादीन् निगृह्ण निगृह्ण, राजयक्ष्मक्षयरोगतापज्वरनिवारिणि मम सर्वज्वरान्नाशय नाशय सर्वग्रहानुच्चाटयोच्चाटय हुं फट् स्वाहा।

इन्द्राक्षी-स्तोत्रम्

इन्द्राक्षी नाम सा देवी दैवतैः समुदाहृता।
गौरी शाकम्भरी देवी दुर्गानाम्नीति विश्रुता॥
कात्यायनी महादेवी चन्द्रघण्टा महातपाः।
सावित्री सा च गायत्री ब्रह्माणी ब्रह्मवादिनी॥
नारायणी भद्रकाली रुद्राणी कृष्णपिङ्गला।
अग्निज्वाला रौद्रमुखी कालरात्री तपस्विनी॥
मेघस्वना सहस्राक्षी विकटाङ्गी जलोदरी।
महोदरी मुक्तकेशी घोररूपा महाबला॥
अजिता भद्रदाऽऽनन्दा रोगहर्त्री शिवप्रिया।
शिवदूती कराली च प्रत्यक्षपरमेश्वरी॥
इन्द्राणी इन्द्ररूपा च इन्द्रशक्तिः परायणा।
सदा सम्मोहिनी देवी सुन्दरी भुवनेश्वरी॥
एकाक्षरी परा ब्राह्मी स्थूलसूक्ष्मप्रवर्तिनी।
नित्यं सकलकल्याणी भोगमोक्षप्रदायिनी॥
महिषासुरसंहर्त्री चामुण्डा सप्तमातृका।
वाराही नारसिंही च भीमा भैरवनादिनी॥
श्रुतिः स्मृतिर्धृतिर्मेधा विद्या लक्ष्मीः सरस्वती।
अनन्ता विजयापर्णा मानस्तोकापराजिता॥
भवानी पार्वती दुर्गा हैमवत्यम्बिका शिवा।
शिवा भवानी रुद्राणी शंकरार्द्धशरीरिणी॥
ऐरावतगजारूढा वज्रहस्ता वरप्रदा।
भ्रामरी काञ्चिकामाक्षी क्वणन्माणिक्यनूपुरा॥
त्रिपाद्भस्मप्रहरणा त्रिशिरा रक्तलोचना।
शिवा च शिवरूपा च शिवभक्तिपरायणा॥
मृत्युंजया महामाया सर्वरोगनिवारिणी।
ऐन्द्री देवी सदा कालं शान्तिमाशु करोतु मे॥

भस्मायुधाय विद्महे रक्तनेत्राय धीमहि तन्नो ज्वरहरः प्रचोदयात्।

एतत् स्तोत्रं जपेन्नित्यं सर्वव्याधिनिवारणम्।
रणे राजभये शौर्ये सर्वत्र विजयी भवेत्॥
एतैर्नामपदैर्दिव्यैः स्तुता शक्रेण धीमता।
सा मे प्रीत्या सुखं दद्यात् सर्वापत्तिनिवारिणी॥
ज्वरं भूतज्वरं चैव शीतोष्णज्वरमेव च।
ज्वरं ज्वरातिसारं च अतिसारज्वरं हर॥
शतमावर्तयेद् यस्तु मुच्यते व्याधिबन्धनात्।
आवर्त्तयन् सहस्रं तु लभते वाञ्छितं फलम्॥
एतत्स्तोत्रमिदं पुण्यं जपेदायुष्यवर्द्धनम्।
विनाशाय च रोगाणामपमृत्युहराय च॥
सर्वमङ्गलमङ्गल्ये शिवे सर्वार्थसाधिके।
शरण्ये त्र्यम्बके देवि नारायणि नमोऽस्तु ते॥*

---

* माननीय बहनके द्वारा भेजे हुए कवच तथा स्तोत्रके पाठको कई प्रतियोंसे मिलाकर यथामति शुद्ध करके प्रकाशित किया गया है—सम्पादक—

सदाचार

(लेखक—श्रीचोडवरपु रामशेषय्या)

श्रुति-स्मृतियाँ सदाचारकी आवश्यकतापर अत्यन्त प्रभाव डालती हैं। मानव अन्य प्राणियोंसे अत्यधिक विवेकशील है। पर मनकी आसुरी प्रवृत्ति उसे पथच्युत करती रहती है। इसीलिये भगवान् कहते हैं—

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।

—भोगकी तृष्णा, ऐश्वर्यकी कामना उसके विवेकको आच्छादित करती हैं।—

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।

—इन्द्रिय, मन और बुद्धि कामनाके अधिष्ठान हैं। इसी कामनासे प्रेरित होकर मानव कर्तव्यच्युत होता है। वह सत्-असत्, धर्म-अधर्म और न्याय-अन्यायका विचार छोड़कर विषयसुख-प्राप्तिके अन्वेषणमें मग्न होता है। उसका आचरण अमानुषिक होता है, जो लोकके लिये विनाशक होता है। अतएव समय-समयपर महान् पुरुष मानवको प्रबोधित करते रहते हैं। पुराण आदि धार्मिक ग्रन्थोंके द्वारा वे वेदोंका विश्लेषण कर सदाचारकी ओर मानवको आकृष्ट करनेका प्रयत्न करते हैं और यह स्पष्ट कर देते हैं कि सदाचारके बिना मानव-कल्याण कदापि नहीं हो सकता।

वेदकथित धर्मका आचरण ही सदाचार है। धर्म कई प्रकारके होते हैं, किंतु मानवधर्म उन सबका आधारभूत है। जो सामान्य मानव-धर्मका पालन नहीं कर सकता, वह विशेष धर्मोंकी विशिष्टता नहीं जान सकता। मानवधर्म मानवके आचरणका विश्लेषण करता है, उसका गम्य स्थान निर्देशित करता है और उसके कर्तव्यका विवेचन करता है। जो कृति किसी भी प्राणिविशेषको हानि नहीं पहुँचाकर लाभ पहुँचाती है, वह सदाचार है। किसी सज्जनने पूछा कि हमारे चलते समय कितनी ही चींटियाँ हमारे पैरोंके नीचे दबकर मर जाती हैं; क्या यह प्राणहानि नहीं है? यह प्रश्न अत्यन्त उचित है। जो सज्जन अंधाधुंध न चलकर चींटीतककी रक्षाका भी विचार रखता है, वह उत्तम कहा जाता है। पर प्रश्न यह उठता है, जो सज्जन अपने पारिवारिक लोगोंके साथ भी मीठी छुरीका बर्ताव करता है, वह किस कोटिमें आता है? मानवका लक्ष्य निश्चित है। प्रत्येक व्यक्ति सुख चाहता है। पर यह सुख दूसरोंकी हानि करनेसे प्राप्त नहीं हो सकता। अपने कर्तव्यका पालन करनेपर ही आन्तरिक आनन्द प्राप्त होता है। वह कर्तव्य दया और धर्मपर निर्भर है।

सदाचार दया और धर्मके सुदृढ़ कूलोंके बीच शान्त प्रवाहित गङ्गाजीका प्रविमल प्रवाह है। प्राणिमात्रके प्रति दया रखना मानवका साधारण धर्म है। महर्षि वाल्मीकिका हृदय क्रौञ्च पक्षीके वधसे विगलित होकर बह चला था। तभी तो रामायण-जैसे परमोत्कृष्ट काव्यका उनके द्वारा सर्जन हुआ है। असहाय अनाथोंके आर्तनादपर जो हृदय आर्द्र नहीं होता, प्राणिमात्रकी विकल अवस्थापर जो हृदय विगलित नहीं होता, वह हृदय नहीं है, कठिन शिला है, वज्रसार है। जो प्रवाहमें डूबतों और पावककी ज्वालाओंसे आवेष्टितोंके रक्षणार्थ प्राणोंपर खेलकर कूद नहीं पड़ता और जो आततायियोंसे आक्रमित अबलाओंकी चीख सुनकर उन अत्याचारियोंपर टूट नहीं पड़ता, वह सामान्य धर्मसे भी हाथ धो बैठता है। दया हार्दिक है और धर्म कारणका कार्य है। दयासे प्रेरणा मिलती है, विवेक धर्मका पालन करनेपर विवश करता है। ये दोनों गुण जिस मानवमें पाये जाते हैं, वह सदाचारी है।

जनसाधारणका विश्वास है कि शिक्षासे सदाचार प्राप्त होता है; किंतु वाल्मीकि दस्यु था और रावण सकल शास्त्र-पारङ्गत। पूर्वकालके उस दस्युने हृदयविदारक क्रन्दनसे कोमल वृत्ति प्राप्त की थी और रावणने दया-को तिलाञ्जलि देकर अपनी मृत्युको अपने आप बुला लिया था। शिक्षाकी आवश्यकता विवेककी वृद्धिके लिये होती है। शिक्षासे विज्ञानकी प्राप्ति होती है, उसका मस्तिष्क विकसित होता है, जिससे उसको उचित-अनुचितका बोध होता है। इसीसे प्राचीन ग्रन्थोंमें पग-पगपर मानव-कल्याणका उपदेश मिलता है; किंतु आधुनिक शिक्षा मनुष्यको अपने मानवताकी ओर अग्रसर करानेके बदले उसको अनुचित आवश्यकताओंकी पूर्तिकी प्रेरणा देती है, और उसे आसुरी भावकी ओर ले जाती है। एम्० ए० पास होनेसे कोई मानव नहीं बन सकता। मानव बननेके लिये हृदय चाहिये। जिसके हृदय नहीं, वह शिक्षित होकर भी सदाचारी नहीं बन सकता। उसकी शिक्षा दूसरोंको वञ्चित कर अपना उल्लू सीधा करनेके लिये उपयोगी होती है। धर्ममें त्याग है, त्यागमें मानवता है। शिक्षा जब मानवताका विकास करनेमें समर्थ होती है, तभी उससे लोक-कल्याण होता है।

लोक-कल्याणकी भावना भक्तिमें होती है, जिसका सम्बन्ध हृदयसे है। ईश्वरका अर्चन भी सदाचारके अन्तर्गत ही तो है। सदाचारीको अपने कर्तव्यके पालनमें दुराचारीसे अनेक कष्ट प्राप्त होते हैं, जिससे उसका विकल हृदय सहज ही भगवान्की शरणके लिये लालायित होता है; किंतु आजकल प्रायः यह पाया जाता है कि धर्मके नामपर भी दुराचार किये जाते हैं। 'मुँहमें राम बगलमें छुरी' की कहावत इसीकी द्योतक है। वह मनसे दूसरोंकी बुराई चाहता ही नहीं, करता भी है। वह बात-बातमें भगवान्का नाम लेता है। सदाचारका ढोंग रचता है। वह सोचता है कि मैं दूसरोंकी आँखोंमें धूल झोंकनेमें नितान्त कुशल हूँ। पर यह भूल जाता है कि इससे शनैः-शनैः उसकी मानवताका ह्रास होता जा रहा है। किसी-किसीका विश्वास है कि पापका पहाड़ एक राम-बाणसे छिन्न-भिन्न हो जायगा। हाँ, यह सत्य है कि यदि वह हृदयपूर्वक रामकी शरण लेता है तो ईश्वर उसकी सहायता अवश्य करता है। पर जिसकी भक्ति मौखिक होती है, हार्दिक नहीं, उसका फल भी आनुषङ्गिक है। सदाचारमें अभिनयकी गुंजाइश नहीं। सद्भावनाकी आवश्यकता है। इसलिये भगवान् कहते हैं—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

दुराचारी कर्मेन्द्रियोंकी अवहेलना कर मनको भोगोंके चिन्तनमें लगाये रखता है।

इस यान्त्रिक युगने मनुष्यकी आवश्यकताएँ बढ़ा दी हैं। उनकी पूर्ति बिना धनके नहीं हो सकती। इसलिये मानव धनके उपार्जन और वृद्धि करनेमें मग्न हो जाता है। इसमें वह किसी प्रकारकी बाधा नहीं सह सकता। सारी बुद्धि लगा देता है। हृदयका मान नहीं रहता। वह सोचता है कि घोड़ा घाससे यारी करे तो खायेगा क्या? हाँ, वास्तवमें हर किसीको अपनी जीविकाकी चिन्ता तो होती है और अपने परिवारकी सदा शुभ-कामना भी बनी रहती है, यह उचित भी है। पर दूसरोंके मुँहका ग्रास छीननेका किसीको अधिकार नहीं। वह स्वयं अपनी शक्तिपर आप भरोसा रक्खे। वह जान गया है कि उसकी शक्ति सीमित है। इस यान्त्रिक युगमें मानसिक या शारीरिक शक्तिको बौद्धिक शक्तिके सामने सिर झुकाना पड़ता है। इसलिये मानव कल्पित विशिष्टता तथा कृत्रिम सभ्यताका आश्रय लेता

है। इन दोनों वृत्तियोंकी जड़ संदेह है। साधारणतया अपरिचितोंपर अविश्वास होता है। किंतु इस नवीन सभ्यतामें अपने परिचितोंपर ही नहीं, स्वजनोंपर भी संदेह करना स्वाभाविक हो जाता है। वह इस संदेहके कालकूटपर कृत्रिम मन्द हासका पर्दा डाले रखता है। उसकी हँसीमें पवित्रता नहीं होती, उसकी शिष्टतामें सज्जनता नहीं, धूर्तता होती है। उसकी धन-कामना या पद-कामना उसे पथच्युत कर देती है।

सदाचारमें सहृदयता, सज्जनता और उदारता अपना स्फुट रूप लिये प्रत्यक्ष होती हैं। सदाचारीको अपने प्रति पूर्ण विश्वास होता है। इसलिये उसमें दूसरोंपर संदेह करनेकी प्रवृत्ति नहीं पायी जाती। हिंस्र पशुकी भाँति दूसरोंकी हानिपर उसका जीवन निर्भर नहीं करता। उसमें आत्मगौरव है। वह अपने ही हककी कमाई खाता है। सूखी रोटी भी क्यों न हो, उसमें उसे आत्मिक आनन्द मिलता है। वह अपने साथी-संगियोंकी दीनावस्थापर अपनेको अर्पण करता है। उसके हृदय है।

केवल बौद्धिक शक्तिपर निर्भर रहनेवालेको यह सब बात मूर्खता ज्ञात होती है। वह परिहास करता है; किंतु शिष्ट शब्दोंमें। उसकी शिष्टता असत्यके अलकतरेमें रँगी रहती है। उसे आत्माभिमानकी आवश्यकता नहीं। वह हरिश्चन्द्रोंको समाजके कीड़े समझता है। उसके लिये असत्य वचनोंमें मिश्री घोलना कुशलता या आधुनिक कला है। वह कहता है कि कालकी गतिको रोकनेकी चेष्टा व्यर्थ है। दकियानूसी किसी कामकी नहीं। समयके अनुसार बर्तना ही सदाचार और समझदारी है। दया-धर्मकी गुंजाइश इस युगमें नहीं। कोई-कोई कहते हैं कि जो ईश्वर तुम्हें दया-धर्मकी शिक्षा देता है, वही हमें हिंसा और असत्यकी ओर प्रेरित करता है। इसमें हमारा कोई दोष नहीं, चूँकि वह इस जगका भार अपने सिर लेता है, इसीलिये धर्माधर्म उसीके हैं। ऐसे लोगोंके लिये भगवान् कहते हैं—**'न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति'** भूत-समुदायकी विषम-रचनाके कारणरूप वे कर्म मुझ ईश्वरको बन्धनमें नहीं डालते। अब विदित हो जाता है कि मानवकी प्रबल कामना तृष्णा ही उसे दुराचारी बनाती है। 'काम'की अपूर्तिमें क्रोध-मोह आदि दुर्गुण प्रसन्न होकर मानवताका विनाश करते हैं। परपीड़नको ही आत्मसुखका साधन बनानेकी प्रवृत्ति मानव-समाजके लिये बड़ी ही हानिप्रद है।

सदाचारके बिना संसार नहीं। भगवान्‌के लिये **'नानवाप्तमवाप्तव्यम्'**—तीनों लोकोंमें पाने योग्य कोई वस्तु नहीं—उन्हें अप्राप्त वस्तु नहीं प्राप्त करनी है। फिर भी वे **'वर्त एव च कर्मणि'**कर्मोंमें—सदाचारमें बर्तते हैं। लोक-कल्याण सदाचारपर अवलम्बित है। यान्त्रिक युगने मानवके हृदयको अभी पूरा लोहा नहीं बनाया है। अभी कुछ मृदुलता शेष है। इसीलिये मानव अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखनेको असत्यका आश्रय ले रहा है। उसका हृदय उसकी दुर्बलताको पग-पगपर प्रकट करता है। वह समाजकी आँखोंमें असत्य वचनोंकी धूल झोंकनेका व्यर्थ प्रयास करता है। जब वह यन्त्रका अनुसरण करना छोड़ देगा, तब उसकी हृत्तन्त्री सदाचारका मधुर राग अलापेगी।

* * *

श्रीभगवन्नाम-जप

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

भगवान्‌का नाम परम मङ्गलमय है, फिर यह षोडश नाम-मन्त्र तो सर्वार्थमय होनेके कारण सबके लिये लोक, परलोक, परमार्थके सर्वविघ्नोंका नाशक और सब प्रकारसे परम कल्याणका सरल साधन है।

बड़े ही आनन्दका विषय है कि 'कल्याण'में प्रकाशित निवेदनके अनुसार कल्याणके भगवत्प्रेमी पाठक-पाठिकाओंने बड़े चावसे भगवन्नामका जप किया है और दूसरोंसे करवाकर उनकी परम सेवा की है। इस वर्ष ११३७ स्थानोंसे आयी हुई सूचनाएँ दर्ज हुई हैं और इनके अनुसार सब मिलाकर ५४,९७,२९,६०० पूरे सोलह नामोंके मन्त्रका जप हुआ है। इनकी नाम-संख्या होती है—८,७९,५६,७३,६०० (आठ अरब उनासी करोड छप्पन लाख तिहत्तर हजार छः सौ)। पर जहाँतक अनुमान है—इस वर्ष कई विघ्न-बाधाओंके कारण सूचनाएँ पूरी दर्ज नहीं हो पायीं। अतएव जिनके स्थानका नाम नहीं छपा हो या नाम छपनेमें कुछ भूल हो गयी हो तो वे महानुभाव क्षमा करें। हमारी समझसे जप-संख्या इससे ड्योढ़ी होनी चाहिये।

स्थानोंके नाम इस प्रकार हैं—

अंकोला, अचलगुम्मा, अजनासिंगी, अक्कलकोट, अकछोर, अकबरपुर, अख्तियारपुर, अगवानपुर, अचलजामू, अचलापुरा, अछल्दा, अजमेर, अजयगढ़, अठेहा, अतरझोला, अतरी, अथगढ़, अमकुई, अमरवाड़ा, अमराही, अमलनेर, अमलापुरम्, अम्बडगट्टी, अम्बिकापुर, अरई, अरनोद, अरसारा, अरुणकापसी, अरुविक्करा, अलगाहाट, अल्मोड़ा, अलीगंज, अशोकनगर, असरगंज, असोई, अहमद्पुर, अहमदाबाद, अहिरी, अहिल्यापुर, आंतरी, आकोला, आखतवोड, आगरा, आत्रगिला, आबूरोड, आमीअकिलपुर, आयराखेड़ा, आरम्मा, आरोग्यवरम्, आर्वी, आलवाये, आलिमूड़, आष्टी, इंदी, इंदौर, इचाक, इच्छांपुर, इटारसी, इटावा, इटौंजा, इटौरा, एरनाकुलम्, इलाहाबाद, इसरी बाजार, ईडर, ईसरदा, ईसागढ़, उजानगंगौली, उज्जैन, उडुपि, उदईपुर, उदयपुर, उदयपुरा, उन्नाव, उबोल, उमधा, उमरिया, उमरेडी, उमराही, उमस्था, उमस्सा, उरदान, उब्बाला, ऊँझा, ऊँनगार, ऊना, ऊमरपुर, एकडंगा, एकमा, एटा, ५६ एत्मादपुर, ए० पी० ओ०, एरंडगाँव, ओमनगर, औरंगाबाद, औराखेड़ा, औरैया, औहर, कंटाग्राम, ककढ़ियाँ, ककवारा, कजरा, कटक, कटकी, कटघर, कटघरवा, कटनी, कटपाडी, कटरा प्रयाग, कटशरी, कटिहार, कठघरा, कठपुड़िया, कठौड़ा, कड़विन्धा, कड़लू, कनकगिरि, कनबाग, कर्नुल, कन्हईपुर, कपासन, कपिलेश्वरपुरम्, कपूरसिंह, कमलापुर, कमलिया, कमासी, कमासीन, करकंब, करनाल, करनूल, करमाटाँड़, करमाल, कराड, करेली, करोम, करोहन, कलकत्ता, कलाली, कल्याण, कल्याणपुरम्, कवढ़ल, कवर्धा, कवाली, कर्वी, कसरावद, कसारू, कहलगाँव, काँकरोली, कांकेर, कांचरापाडा, कांठ, काकवारा, काकीनाडा, कागुपाडु, काजीगाँव, काजीबाग, काठमाँडू (नेपाल), कानपुर, कामठी, कामदेवपुर, कालकाजी, कालिम्पोंग, काहनोवान, किछा, किटाना, किरारी, किशुनगंज, किसनगंज, कीरतपुर निमाना, कुंजरोद, कुंढेच, कुँवर कोटरी, कुड़ाना, कुमना, कुर्झा, कुर्माहाट, कुम्हेर, कुलकुलपल्ली, कुलटाबगहा, कृष्णनगर, कृष्णपुराकंपा, केटावन, केतान, केराला, कैथा, कैथाना, कैथौली, कोटा, कोंडर, कोचीन, कोचुरबुट्टक, कोचीकोड, कोटगीर, कोटडा, कोटभी, कोटा, कोटापल्ली, कोटेतरा, कोडरमा, कोतमा, कोत्तापल्ली, कोपडिया, कोमाँपेठ, कोयम्बतूर, कोयला, कोरोराघवपुर, कोशलु, कोहठा, कौंडल्यपुर, कौठ, कौलापुर, खंडेबल्लूर, खंभालिया, खगड़िया, खडेरटीकतपुरा, खपरायाली, खत्तिहाकला, खयार, खडगपुर, खरदा, खरीका, खरेला, खरोसा, खर्साङ्ग, खवासपुर, खवासा, खाँभोदर, खाखरवाडा, खानपुरचिपर्डा, खापाकला, खामखेडा, खालिसपुर डुहिया, खासपट्टी, खिद्दापुर, खिरसू, खीरवली, खुरजा, खुशनामपुर, खुशरूपुर, खेरागढ़, खैरवाया, खोकरा कलाँ, खोपली, खौरी, गंगापुर, गंगोह, गंडर्गा, गठपूरा, गढ़वा, गढ़ाकोटा, गढ़ीजौरी, गढ़ीपुरा, गनियारी, गमाना, गया, गरियाबंद, गरीफा, गरुडवड़ेत, गवाली, गाडरवारा, गातला, गातेगाँव, गादिया, गीगणी, गुजरा, गुंटूर, गुड़गावाँ, गुड़िहारी, गुडेबल्लूर, गुना, गुरदासपुर, गुरुवाजम, गुरुसहायगंज, गुल्बर्गा, गुलिविंडला, गेन्डोली,

गैरोली, गोंडल, गोंडा, गोढ़्य्या, गोदरा, गोनौन, गोरपार छोटी, गोविन्दगढ़, गोविन्दपुर, गोसीअमनौर, गोह, गौडावली, गौवरी, घाटकोपर, घाटपुर, घोंटा, चकराता, चकरियापल, चकिया, चकौंध, चतुरैया, चन्द्रपुरा, चन्दाडीह, चनपटिया, चनायनबान, चपहर, चम्पानगर, चमोली, चरियावरियारपुर, चाँद, चाँदराना, चाड़ी, चान्दपुरा, चामा, चिंगलपट, चिंचवड, चिकमागालुर, चिकुर्ती, चिखलठाणा, चिखली, चितेगाँव, चित्रकूट, चिरमिरि, चिलवरिया, चिह्नी, चुड़ियावाड़ा, चुनार, चेतां, चेला, चैनपुर, चोकड़ी, चोपन, चौथा, चौहट्टा, छतरपुर, छपकहिया, छपरा, छपारा, छाताटान्डबाजार, छापेवाडा, छितौनी, छिंदवाड़ा, छिबरामऊ, छींतडीहरा, छोटारावला, छौलापुर, जगदलपुर, जगदीश, जगदीशपुर, जगनेवा, जगाधरी, जटपुरा, जटेरी, जड़ोल, जण्डवाल, जबलपुर, जमशेदपुर, जमालपुर, जमुथरि, जयपुर, जरगवाँ, जरार, जरिगुम्मा, जरूवाडी, जरैला, जलालाबाद, जवल, जवाली, जसरापुर, जसेला, जहानाबाद, जागपुर, जाटुसाना, जाटूशाना, जानसठ, जामठी, जालंधर, जुधनगर, जुन्हैटा, जुहावदा, जूना धामनगाँव, जेऊर, जेतलपुर, जैतपुर कछमा, जैतीपुर कुरुआ, जोकबंध, जोजोहातु, जोधपुर, जोरावरडीह, जोरी गुम्मा, जौनपुर, जौराखेरा, झरी, झलोखर, झाँसी, झालरापाटन, झिकरिया, झिरिया, झींझर, झुँझनूँ, झूनिवावाली, झूँथरी, टंकारियापंथ, टड़वा, टन्डवा, टांगा, टिकरी माफी, टिकारी, टिटिलागढ़, टिमनपुर, टिमरनी, टीकमगढ़, टीला, टुटीकोरिन, टुण्डला, टेरही बाजार, टोलुम्बर, ठटिया, ठूटीवारी, डगावाशंकर, डडवाँ, डढ़ेला, डावहिलरोड, डिहरी-औन-सोन, डुभरयानी, डुमटहर, डुमरी, डूँगरपुर, डेंगपदर, डोंगरगढ़, डोम्हाटोला, डौंड़ी, ढखका, ढाणकी, ढालम्, ढीपरी, ढूँठीवारी, तमलूर, तरौनी, तलेगाँव, तालडीह, तिगिरिआ, तियरा (मनोहरपुर), तिरवा, तिरुपति, तिरुनेलवेली, तिरुमंगलम्, तिरोडी, तिलहर, तिलकपुर, तिलोकपुर, तुगाँव, तुतिहा, तुर्रा, तुलरही; तुलसीपुर, तेउस, तेन्तुलिखुंटि, तेल्हाड़ी, थातीधनारी, थान्जापुर, दमोह, दरबा (मुरा), दवयाना बंगला, दहीखेड़ा, दाड़ी (काँगड़ा), दातिया, दामोदरपुर, दारापुर, दालकी, दिगिग्राम, दिघवारा, दिनाजपुर, दिह्नी, दिह्नी छावनी, दीनदयालपुर, दीहाना, दुर्गाडीह, दुर्गावती, दुर्गागढ़ी, दुधपुरा, दुमका, दूदनी, देपालपुर,

देवगढ़, देवबन्द, देवरिया, देवरी, देवलहा, देवासि प्रसौनी, देहरादून, देहली, देहलीभगेसर, दोआबा, दौलेशवरम्, धनवाली, धनवाही, धनिगवाँ, धर्मक्षेत्रप्रमात, धरणगाँव, धबुलिया, धोत्रे, नन्दवाना, नन्दग्राम, नगेरक्वाइल, नयी दिह्नी, नरमण्ड, नरला, नरसिंहगढ़, नरसिंहपुर, नरायनपुर, नरी, नरेला, नहझलों, नवरंगपुर, नवहट्टा, नाऊरदेऊर, नागझरी, नागपुर, नागलपुर, नागेरकोइल, नागौद, नागौर, नान्देड, नान्दकार, नापासर, नारदीगंज, नासिक, नाहली, निमियाँ, निवार, निवादा, नीमाज, नीमौन, नुनियाही, नेचुआजलालपुर, नेदुनूर, नेपानगर, नेम्मिकूर, नैनी, नैनीताल, नोहझील, नोहर, नौगाँवा, पंजवारा, पटना, पच्चपोखरा, पटियाला, पट्टीसोयतकलां, पटेहरा, पठखौली, पड़रियां, पद्मावतीपुर, पनगाँव, पन्डाराखाली, पन्त्यूड़ी, पनहास, पपरेंदा, पयागपुर, परतेवा, परली बैजनाथ, परसदा, परसौनी देवासिर, परसौही, पलटा, पलासी, पवारखेड़ा, पसवाड़ा, प्रतापगंज गुलहरिया, प्रतापगढ़, प्रमाणपुर जागीर, पाँचोट, पाँचोरा, पाँचगनी, पाँगरखेड, पाँवशी कुडाल, पाउली, पाकल, पाटणवाव, पाठारिसिहोरा, पाडर्डा, पाडुछोली, पाण्डेगाँव, पाण्डेटोला, पात्रपुट, पाताबोझ, पानागढ़, पालखांड, पालघाट, पाली, पिपरहरी, पिपरिया, पिपरौली, पिरौधे, बड़ागाँव, पिलवासिनि, पीथापुरम्, पीपरगाँव, पीपरतराई, पीपरपाँती, पीपरी गहरवार, पीपलगाँव हरिहरेश्वर, पीपलरावा, पीपलवाड़ा, पीपलियागोधा, पीलीभीत, पुँना-पूरा, पुआरखेड़ा, पुखरायाँ, पुडुकोहाई, पुनासिया, पुरहिया, पुरी, पुरलिया, पुलगाँव, पुलियुर, पुवायाँ, पूजापुरा, पूठी, पूर्णिया, पूना, पेण्डरा, पेन्दुरती, पैंची, पैडगुमल, पोखरभिण्डा, पोरबन्दर, फकुली, फतेहपुर (जेसादा), फरइ, फरहदा, फागी, फारबिसगंज, फिरोजपुर छावनी, फिरोजपुर झिरका, फिल्लौर, फुलपराव, फुलवरिया, फुलहर, फुलौत, फैजपुर, बंगलौर, बंगीनोवाड़ी, बंडोल, बंधवारण्य, बक्सर, बकोरिया, बगडिया, बगड़ी सज्जनपुर, बजौरा, बटाला, बड़काचुम्बा, बड़गाँव, बड़वानी, बड़हरवा, बड़ी उकावद, बड़ी देथली, बड़ेरी, बड़ोदा, बड़ोली, बढ़ईयाटोला, बदायूँ, बद्रीनाथ, बन्धा, बनेड़ियाचारणान, बम्बई, बम्हनी बंजर, बरकतपुर, बरमंडल, बरीपाल, बरेली, बरौंधा, बलरामपुर, बलहापार, बसंतपुर, बस्ती, बसावनपट्टी, बसौली, बहेरकुआँकोट,

बाँकपाल, बामौरकलाँ, बारपली, बाराजीका गाँव, बाराद्वार, बाराबंकी, बारू, बाल-बंगरा, बालसमुद, बालाकोट, बालाघाट, बालोतरा, बालोन, बावल, बिछवाँ, बिरना लखनसेन, बिरैंची, बिलासपुर, बिसलपुर, बीकानेर, बीड़, बुढ़ाखेड़ा, बुधगाँव, बुधारा, बरुडगाँव, बुलन्दशहर, बेटमा, बेतिया, बेनकनहल्ली, बेमेतरा, बेलखरा, बेलगाँव, बेलमंडई, बेलर, बेल्लारी, बेहटा, बैतूलबाजार, बोचू (काश्मीर), बोधन, बोधापुर, बोवस, भऊखेड़ी, भगवतगढ़, भगवानपुरा, भटगाईं, भड्डू, भदेवाँ, भदौल, भवानीपुर, भमरहा, भरतपुर, भरथाँव, भरथा, भरथौली, भरावहा, भरौरी, भवानी, भवानीपुरबाजार, भागलपुर, भाटपारा, भालोद, भावनगर, भिकनूर, भिलाईबाजार, भिलावट, भिसकले, भीकनगाँव, भीमड़ास, भीलवाड़ा, भुरका, भुसनूर, भुसावल, भूपालगंज (भीलवाड़ा), भेड़ा, भृगुपुर, भोईपुरा, भोगावानिपानी, भोजया, भोपाल, भोलग-(कंगर), भौजनगर, भौरासी, मंगलवेढा, मंडला, मंडावद, मऊआइसा, मझारा, मटियारी, मडक्की माला, मढ़न, मण्डी, मत्तेपुर, मथुरा, मद्रास, मदुरा, मधवापुर, मनीमाजरा, मरीकुप्पम्, मलकापुर, मलणगाँव, मल्लेश्वरम्, मवड़ा, मस्की, महथी, महमदपुरबदल, महमूदखाँसराय, महरागाँव, महाराजगंज, महाराजपुरमंडला, महारानीपेठा, महाबीरपुर, महिदपुर, महीपविगहा, महुआँवा, महेन्द्रगढ़, महेश्वर, महोली, मांडई, मांडल, माटे, माढ, माधोपुरगोविन्द, माधौपाली, मान्ड्या, मान्धाता ओंकारेश्वर, मानपुरनगरिया, मानोरा, मानूरगंज, मायापुर, मालकोसनी, मिटेवानी, मिनावटा, मिरजागंज, मिसरोद, मीरजापुर, मीस्त्रीपारा, मुंडगाँव, मुगा, मुजफ्फरनगर, मुजफ्फरपुर, मुडिनापल्ली, मुरली, मुरादपुर, मुरार छावनी, मुलतानपुरा, मूंदी, मेंगराग्राम, मेंगलोर, मेदनीपुर, मेनसागी, मेरठ, मेल्लेमपुडी, मेंहदावल, मोकलवाड़ा, मोकाबाजार, मोठ, मोढ़ा, मोतीनगर, मोतीपुर, मोतीहारी, मोरटाकेवड़ी, मोरवड, मोवीया, मोहम्मदपुर मछनाई, मौदह चतुर, मौधिया, मौबेमुआँकी, यमुनानगर, यवतमाल, येवला, रंगवासा, रगजा, रणजितपुर, रतलाम, रतिया, रनियाँ, रवल, रवलपुरा, रसधान, रहमतपुर, रहली, रहावली उबारी, राँची, राजकोट, राजगढ़, राजनाँदगाँव, राजपुर, राजमंदरी, राजमहेन्द्रवरम्, राजाखेड़ा, राणेबन्नूर, राधापुर, रानीपुर, रानीपुल, रानीपूल, रानीबाग, रानेबेन्नूर, रामगलीमड़वा, रामनगर, रामपुर, रामपुरअहिरौली, रामपुरकला (A. P.), रामपुरचाय, रामपुर (छातापुर R. S.), रामपुरनट्टी, रामपुरहाट, रामानुजनगर, रायकुर, रायचुर, रायपुर, रावदियापीर, राविनूतला, रिताक, रींगनोट, रुड़की, रुपौला, रुपौली, रुड़की, रूपसागर, रूपाहेडा, रूहेरा, रेंका, रेन, रेनीगुण्टा, रोड्डम, रोंढा, रोहिणी, रोजा, लखनऊ, लखनपुरा, लखीसराय, लत्ता, लधौसी, लन्दन (इंगलैण्ड), लश्कर, लहरनिया, लहरीतिवारीडीह, लक्ष्मी, लँका, लाखागुड़ा, लाँघवोरो (इंगलैण्ड), लाडवा, लातेहार, लालगंज, लालपुर, लावनी, लासलगाँम, लाहान बाजार (नेपाल), लुआवद, लोखा, लोनावाला, लोलावास, लोहा, वगरौनी, वडनगर, वडरिया, वड़री, वर्डी, वणी, वनखेड़ी, वरहमपुर, वरहट, वरुअटा, वरौधा, वसवेखंड, वागडेहि, वादीपुरा, वानमौर, वामपुर, वामरा, वामोरीशाला, वराँव, वाराणसी, वाल्टीयर, वासौदा, विगह, विजयनगर, विजयवाडा, विजवार, विराल, विलोविहम, विष्णुपुर भलेगवाँ, विष्णुपुरवृत्त, विशाखापत्तनम्, विशाड़, विशाला, विशौनी, विहरा (मढ़िया), विहारशरीफ, वीकापुर, वीजापुर, वीरसिंहपुर, वीवापुर, वेंपल्ली, वेमावल, वेल्थरा रोड, वेल्लटुरु, वैगावल वसरवारी रोड, वैजापुर, वैसाडीह, वैहर, शंखलपुर, शंभुगढ़, शकुरबस्ती, शर्मिष्ठापुर, शरफुद्दीनपुर, शहपुर मिटौनी, शहरना, शाजापुर, शामदेव, शासन, शाहपुर-भगरौन, शिमला, शिरसोली, शिल्कोट, शिव, शिवगंज, शेगाँव, शेरभुक्का, श्रीनगर, श्रीरामपुर, श्रीविल्लीपुत्तुर, संखेड़ा, संगमनेर, संगसूर, संगेम, सगुनी, सठियाँव, सड़रा, सढ़वारा, सणसोली, सनकुई, सनेसवा, सप्तपोखर, सबलपुर, सब्बलपुर, सबैला, समदरड़ी, सम्भल, समलागोविंदपुर कोइलरी, समस्तीपुर, समेसर, समोधपुर, सरायभावसिंह, सरिया, सरोनिया, सरोरा, सलैया, सहारनपुर, सहिया, संबलपुर, साँचोर, साइपुरपिर्थीपट्टी, साँड़िया, साकेत, साकेवान, साजपानी, सातनपुरवा, सादूलपुर, सान्दौल्याँ, सामाना, सारनाथ, सारभ, साल्हल्ली, सावरकुंडला, साहवा, साहेबगंज, सिकन्दरपुर, सिकन्दराबाद, सिझोरा, सिधिताली, सिन्दरु, सिंदीजबलगा, सिधपुर, सिमलटोकी, सिरसिल्ला, सिलदर, सिलारी, सिवनी, सिवनीपेण्ड्रा, सिसदेवरी, सिंहेश्वर, सिंहेश्वरस्थान, सीकर, सीतापुर,

सीतामऊ, सीतारामपुर, सुजानयन, सुठालिया, सुन्दरपुर, सुपेड़ी, सुपोल, सुभवा, सुरहेड़ा, सुरेमनपुर, सूर्यननयानपुरम्, सुलतानपुर, सुलहतह पालमपुर, सेझी-कोटवा, सेन्दुरजना, सेलोटपार, सैदपुर, सैलवारा, सोंढ़, सोडपुर, सोनई, सोनगाँव, सोनवा, सोनवर्षा, सोनपै, सोनत, सोनाडीह, सोलन, सोलापुर, सोहन्दरहाट, सोहागपुर, सौण्डा, सौंदला, हंसकेर, हजारीबाग, हटनी, हथियर, हथिया, हनुमानगंज, हनुमानगढ़, हरजीपुर, हरदा, हरदी, हरदोई, हरपालपुर, हरसिंगपुर, हरसिल, हरसेर, हरिद्वार, हरिपुर, हरिमा, हरिहरपुर, हबीबपुर, हसनगंज, हसनगढ़, हाँफा, हाजीपुर, हाटी, हापुड़, हिंगोली, हिण्डौन, हिण्डोरिया, हिमगिरिगढ़, हिरदेनगर, हिस्यामपुर, हिसार, हुसैनपुर, हेडो, हैदरगढ़, हैदरनगर, हैदराबाद, होर्मा, होसाहीह।

नाम-जप-विभाग—**'कल्याण' कार्यालय, गोरखपुर**

बिना साबुन, बिना पानी निर्मल करनेवाले

(श्री 'दुर्गेश')

निंदक नियरे राखिये आँगन कुटी छवाय। बिनु साबुन पानी बिना निरमल करै सुभाय ॥

निंदक बुरे तो लगते ही हैं; क्योंकि वे दर्पणकी भाँति हमारे दुर्गुणोंको दिखा देते हैं। परंतु हमने कभी यह नहीं सोचा कि 'जब हमारी बुराईको बतानेवाले हमें इतने बुरे लगते हैं, तब वह बुराई तो हमें और भी अधिक बुरी लगनी चाहिये; अतः हम अपनी बुराइयोंको ही क्यों न दूर कर दें।' यह सत्य है कि स्वभाव पड़ा हुआ बड़ी कठिनतासे छूटता है पर हमें चेष्टा तो यही करनी चाहिये कि हमारा बुरा स्वभाव बदल जाय, बुराइयाँ निकल जायँ। यों अपना स्वभाव सुधारना चाहिये न कि दूसरेके प्रति बुरा भाव उत्पन्न करके उसे और भी बिगाड़ दिया जाय।

जैसे मुझे बहुत शीघ्र क्रोध आ जाता है; मैं प्रयत्न करके भी इस दुर्गुणको नहीं मिटा सकती। इस प्रकार जब मैं स्वयं अपने स्वभावपर नियन्त्रण नहीं रख सकती, तब दूसरोंके स्वभावपर बुरा माननेका या उसका विरोध करनेका मुझे क्या अधिकार है? जब स्वयं मैं भली नहीं हूँ तब दूसरोंको बुरा बताकर और मानकर उन्हें भला बननेके लिये कैसे दबाव डाल सकती हूँ?

मान लिया जाय कि मुझमें अमुक दोष नहीं है, झूठ-मूठ ही मुझपर लाञ्छन लगाया जाता है। इस अवस्थामें भी यह सोचना चाहिये कि मुझमें झूठा दोष देखकर भी वह वास्तवमें मुझे दोषरहित ही देखना चाहता है, सावधान तो करता ही है। अतः मेरा भला ही करता है। फिर सचाई तो सामने आ जायगी।

मैं वास्तवमें भली उसी समय हो सकती हूँ जब मैं दूसरोंकी बुराइयोंको पचा सकूँ और उनके गुणोंको देखूँ। निन्दा करनेवाला कितना अच्छा है कि वह स्वयं बुरा कहलाकर भी हमारे स्वभावकी गंदगीको धोकर साफ करता है। अतः निन्दा सुनकर हम क्रोध न करें, वरं अपने दोषोंकी ओर देखकर उन्हें दूर करनेकी चेष्टा करें और निन्दकको अपना हितैषी मानें।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

आदर्श अतिथि-सत्कार

हम देख-रहे हैं कि आजके इस भौतिकवादी आसुरी युगमें सच्ची मानवताका दिनोंदिन ह्रास होता जा रहा है। अतिथि-सत्कारकी भावनाकी जगह अतिथि-तिरस्कारकी भावना घर कर रही है। शिक्षित तथा उच्च घरोंमें अतिथि-सत्कारको कोई महत्त्व ही नहीं दिया जाता। परमार्थकी भावनाका लोप हो रहा है।

ऐसे समयमें निम्नलिखित आदर्श अतिथि-सत्कारकी सच्ची घटना मानवताका चिर नवीन कल्याणकारी संदेश सुनाती है। यह घटना बंगालके प्रसिद्ध लोकसेवी एवं परोपकारी महापुरुष ईश्वरचन्द्र विद्यासागरके जीवनसे सम्बन्धित है।

घटना उन दिनोंकी है जब विद्यासागर कलकत्तेके पास एक कस्बेमें नौकरी करते थे।

रात्रिका समय था, वर्षा हो रही थी। अन्धेरी रात्रि भयानक प्रतीत पड़ती थी। उसी समय दूरका एक पथिक उस कस्बेमें आया।

उसका दूरका कोई सम्बन्धी या मित्र भी उस कस्बेमें नहीं था जहाँ जाकर वह ठहरता। वह गाँवके मुखियाके पास गया और उससे रात्रिमें उसके यहाँ ठहरनेकी अनुमति माँगी; पर मुखियाने इन्कार कर दिया। वह अनेक व्यक्तियोंके पास गया, पर किसीने भी उसे आश्रय नहीं दिया। उसे चिन्ता हुई कि वह रात्रि कहाँ काटेगा। अन्तमें उसने एक व्यक्तिका द्वार खटखटाया। यह घर विद्यासागरका था। मकानका द्वार खुला और पथिकको लालटेन लिये हुए एक प्रसन्नवदन तेजस्वी व्यक्तिके दर्शन हुए। पथिक सर्दीसे ठिठुर रहा था और उसके सारे वस्त्र वर्षासे भीग गये थे।

विद्यासागरने उससे कहा—'आइये! अंदर बैठिये, बाहर खड़े क्यों हैं?'

सान्त्वनाभरे इन शब्दोंने उस व्यक्तिको हर्ष-विह्वल कर दिया। विद्यासागरने उसे अंदर ले जाकर चारपाईपर बिठलाया।

अतिथिने कहा—'महाशय! मैं आपके कस्बेके प्रत्येक व्यक्तिके पास गया पर मुझे किसीने आश्रय नहीं दिया और न कोई प्रेमके दो शब्द ही मुझसे बोला। आपके इन सान्त्वनापूर्ण शब्दोंने मेरा आधा कष्ट दूर कर दिया। आपने मेरे साथ बड़ा ही उपकार किया है।'

विद्यासागर बोले—'इसमें मैंने कौन-सा बड़ा कार्य किया है। यह तो गृहस्थीका धर्म है। **'अतिथिदेवो भव'** (अतिथि देवता है)। अतः अभ्यागतका सत्कार करना मेरा धर्म है।'

विद्यासागरने उसके गीले वस्त्र उतरवाये एवं अपने नये सूखे वस्त्र पहननेको दिये। वह ठंढसे काँप रहा था। विद्यासागरने कोयलेकी अँगीठी जलायी और उसके शरीरको ताप पहुँचाया। पथिकमें ताजगी आ गयी।

अतिथिके मना करनेपर भी उसके लिये भोजनका प्रबन्ध किया।

रात्रिमें उसके सोनेका पूरा प्रबन्ध किया। अनजान अतिथिने रात्रि सुखसे व्यतीत की। प्रातः जब उसने उनके घरसे प्रस्थान किया तो उसके नेत्रोंमें हर्षके आँसू थे।

उसने विद्यासागरसे कहा—'आप मनुष्य नहीं साक्षात् देवता हैं।' वास्तवमें यह आदर्श अतिथि-सत्कारका एक अनुपम उदाहरण है।

अतिथियों, दीन-दुखियों एवं विपत्तिग्रस्त व्यक्तियोंकी सेवा करना ही सच्ची मानवता है।

—प्रो० श्याममनोहर व्यास एम्० एस्-सी०

(२)

दरिद्रनारायणकी आदर्श दया

सरजू आज इस धरतीपर नहीं है; किंतु मेरी स्मृतिमें सदैवके लिये टँगा हुआ है। उसका वात्सल्यसे भीगा चेहरा जैसे आज भी स्वामी रामतीर्थके शब्दोंमें शब्द मिलाकर कह रहा है—'मनका अमृत कभी समाप्त हुआ है रे! दोनों हाथोंसे उलीचे जा पगले। कृपणता क्यों बरतता है?' अपने घरमें अँधेरा रखकर भी दूसरेके घरमें दीया चासना मैंने सरजूमें देखा!

मैं उस गाँवमें स्थानान्तरित होकर गया था। परीक्षामें बैठनेकी अनुमति मिल चुकी थी, किंतु वेतनका कुछ पता न

था। अनुमति वैसे ही विलम्बसे प्राप्त हुई थी, फिर, अब तो लेट फीस देकर भी फार्म भेजनेका समय पास आ रहा था। सोच रहा था यदि पैसोंके अभावमें फार्म न भरा गया तो एक वर्ष व्यर्थ चला जायगा। गाँवमें किसीसे जान-पहचान नहीं थी। उधार माँगनेमें आत्मग्लानि होती थी। चिन्तासागर-में डूबता-उतराता एक दिन बैठा था कि शालाका 'पार्ट टाइम सर्वेंट' सरजू जिसे उन दिनों झाड़ू-पानीके तीन रुपये माहवार मिलते थे, मेरे पास आया और अभिवादनके पश्चात् सामने धरतीपर बैठ गया। मुझे चुप देखकर उसने नेत्रोंमें ममताका अथाह सागर समेटे मुझसे चुप्पीका कारण पूछा और तब मैंने अटकते-अटकते उससे पैसोंके अभावकी बात कह दी।

एक-एक पैसेको मोहर समझनेवाला दुःख-दारिद्र्यकी साक्षात् प्रतिमा वह दरिद्रनारायण दूसरे दिन सुबह ही मेरे पास ५०) लेकर आया। अंधेको क्या चाहिये—दो आँखें। पैसे लेकर मैं भागा हुआ अजमेर आया और फार्म भर दिया।

रविके रथका पहिया घूमता रहा। काले और धौले चूहे जिंदगीको कुतरते रहे किंतु न तो वेतन आया और न मैं सरजूको रुपये दे पाया। एक दिन शामकी छुट्टी करके मैं घरकी ओर जा रहा था कि कुछ लोगोंको सामने पेड़ तले खड़े पाया। आवाजें आ रही थीं—'नहीं चुकाया जाता तो पैसे क्यों लिये ? 'लेत परम सुख ऊपजे लेके दियो न जाय,' 'अजी पूरा अमलदार है, ऐसे अमल खानेकी बजाय मिट्टी क्यों नहीं फाँकता।' आदि-आदि।

पास गया और जो देखा तो माथा घूम गया। आँखोंके आगे तिरमिरे तैरने लगे—एक फटे टाटपर एक मटकी पानी-की और एक मिट्टीकी हँडिया लिये सरजू बैठा है। लोगोंने बतलाया महाजनसे ५०) रु० तीन माह पहले पंद्रह दिनका नाम लेकर अपनी झोपड़ी और एक-दो काँसेके बरतन गिरवी रखकर लाया था, आजतक नहीं चुकाये। इससे महाजनने मकानसे निकाल बाहर किया और सामानको नीलाम कर दिया।

'सब कुछ समझ गया'—कहते हुए मैंने आगे बढ़कर सरजूकी बाँह थामी और कहा—'उठो सरजू, आजसे मेरे साथ रहना।' महाजनका हिसाब उसी रोज जैसे-तैसे बेबाक कर दिया गया।

पीछेसे गाँववाले कह रहे थे—'मास्टर साहब बड़े सज्जन, संत-महात्मा और न जाने क्या-क्या हैं।'

मैं कैसा था इसे किसीने नहीं जाना और सरजू कै
था, इसे भी शायद किसीने नहीं जाना।

—गोपालकृष्ण मि

(३)

दरिद्रनारायणकी सेवा

पौष महीनेकी प्राणहारिणी सर्दी थी। फिर, उसमें मह-बलेश्वर-जैसा हिल-स्टेशन। रातके लगभग दस बजे होंगे। लोग सब सो गये थे। झींगुरोंकी आवाज और गिरते पत्तों-की खड़खड़ाहटके अतिरिक्त सर्वत्र निस्तब्ध शान्ति छायी थी।

मैं मधुवनसे वापस लौट रहा था। मुझसे कुछ ही आगे एक युवक नखसिख गरम सूटसे लैस मजेमें गाता हुआ धीर गतिसे चल रहा था। वह अचानक एक जगह एक-दम रुक गया। उसने कान लगाये। रास्तेमें एक पेड़की जड़में सर्दीसे थरथर काँपता हुआ चिथड़े लपेटे एक भिखारी घुटने सिकोड़े पड़ा कराह रहा था। इतनेमें मैं भी उस युवकके समीप पहुँच गया। युवकने धीरेसे अपने शरीरपरसे ओवरकोट उतारा। भिखारीके पास जाकर उसको और बिना ही कुछ कहे-सुने उसके शरीरपर वह कोट पहना दिया, सिरपर अपना मफलर लपेट दिया और दो रुपये नोट उसके हाथपर रख दिये।

भिखारी एक बार तो हक्का-बक्का-सा रह गया। उसके मुरझाये होठ काँपते हुए खुले—'हे भगवान्! तेरी कैसी दया।' फिर युवकको सामने देखकर उसने कहा—'मेरे प्यारे! मैं तुझे क्या दूँ ? मेरे पास है ही क्या! लि दुआ।' यों कहकर उसने युवकके दोनों हाथ चूम लिये।

इस अनजान युवक और दरिद्रनारायणका यह पुनीत मिलन आज भी मुझमें आनन्दकी लहरें उत्पन्न कर रहा है। (अखण्ड आनन्द)

—दलपतभाई डा० श्री

(४)

बच्चोंके सूखा रोगकी अनुभूत दवा

दूध पीनेवाले छोटे बच्चोंको सूखेकी बीमारी हुआ करती है। माताका दूध हजम न होना, हरे-पीले ज्यादा दस्त होना, शरीरका खून यहाँतक सूख जाना कि जिससे चमड़ी तक चटकने लगे, शरीरका अत्यन्त कृश हो जाना, आँ

छोटी पड़कर अंदर घुसती हुई-सी दिखायी देना तथा बच्चेकी रोनेकी आवाजका बहुत धीमी पड़ जाना आदि लक्षण इस बीमारीमें प्रकट होते हैं।

मेरे घरमें बहुत बच्चे हैं। उनको यह बीमारी अक्सर हो जाया करती थी। अन्तमें पंजाबके एक महात्माने एक वा तथा उपचार बताया, उसके करनेसे बच्चोंका रोग मिट या। तबसे मैंने इसका बहुत बार प्रयोग करके सफलता ली है। 'कल्याण'के पाठकोंको भी इससे लाभ उठाना हिये। दवा और उपचार नीचे लिखे अनुसार हैं—

सफेद या पीले रंगकी गौकी [illegible]-डेढ़-सालकी बछड़ीका त्र चीनी या काँचके बरतनमें लेकर पंद्रह-बीस मिनट द उसे साफ कपड़ेसे छान लिया जाय। उस छने हुए मूत्रमेंसे बच्चेकी माता करीब एक तोला पी लें और फिर बच्चेको उसकी आयुके अनुसार तीनसे पाँच माशेतक दे। यों बिना नागा लगातार सात दिनतक माता और बा दोनों पीते रहें।

जिस दिनसे यह गोमूत्र पीना शुरू किया जाय, उसी से उगते हुए सूर्यकी सुहाती हुई धूपमें माता बच्चेको कर बैठ जाय। बच्चेकी पीठ सूर्यकी ओर रक्खे और नागवेलका पान लगा हुआ (—जिसमें सिर्फ कत्था, ना, सुपारी हो और जिसमें २॥ पत्ते चिरपोटणके पत्ते ले हुए हों।—) माता मुखमें लेकर चबाती रहे और च्चेके पीठकी रीढ़की हड्डीपर उस पानका पीक डालती र खूब मालिश करती रहे। यह पीकका मालिश भी सात नोंतक करना चाहिये।

चिरपोटण बरसातकी मौसमसे हर कहीं उगी मिलती । अन्य मौसिमोंमें साग-सब्

तथा बगीचोंमें

ो फुटतक बड़ा

झाँई-सी देती

समें इसमें

क जानेपर

यूनानीमें

उसके

उस

का

कल्य

'कल्याण'के पुराने विशेषाङ्क बहुत

जा सकते। अतः किन्हीं सज्जनके पास वे

देना चाहें तो कृपया कौन-से विशेषाङ्क तवे

सम्पाद

पड़ेगा। इससे भगवत्कृपासे बच्चा अवश्य स्वस्थ हो जायगा।

—ठाकुर श्रीहरीसिंह नरुका, पो० किशनगढ़ (अजमेर)
राजस्थान

(५)

अनोखा बर्ताव

जाड़ेकी कड़कड़ाती सर्दी। खून जम जाय, ऐसी सरसराती ठंढी हवा चल रही थी। ठंढी हवाका ऐसा झोंका आता था कि खेतोंकी रखवाली करनेवाले अपनी मचानपर जग जाते थे। ऐसा ही एक जबरदस्त ठंढा झोंका आया और खेतमें मचानपर सोया हुआ गोविन्द भगत जाग गया। उसके कानोंमें कानाफूसीकी आवाज आयी।

'अरे मगनजी, अब बस करो, बेचारे भगत आदमीका ज्यादा नहीं लेना चाहिये।'

'अब चुपचाप बीनता जा, ऐसे धानी जैसे बिनौले मिलनेका संयोग सहज ही हाथ नहीं आता।'

'अरे मोहन! तुझे ऐसी दया रखनी थी तो हमारे साथ नहीं आना चाहिये था।' तीसरे व्यक्तिने कहा।

'अरे लेकिन, प्रभात होनेको आया है, देख वह तारा भी तो उग गया है।' मोहन बोला।

'अरे मूर्ख! पूरा एक मन तो हो जाने दे।' पल्लेमेंसे ढेरमें डालते हुए मगनजीने कहा।

गाँवके तीनों नामी-चोर भगतको सोया समझकर बिनौले बीनते चले जा रहे हैं। दो-दो मन बिनौले बीने गये। पोटें बाँधकर तैयार कर लीं। इसी बीचमें पड़ोसके खेतका रखवाला, उसे घरमें दही मथना था, इसलिये जल्दी उठ गया। उसने मचानपर बैठे-बैठे ही बीड़ी सुलगायी। तीनोंकी हिम्मत हवा हो गयी। पहले दोनोंको मोहनजीने पोटें उठा दीं और वे चल दिये। मोहनजी पोट उठानेका जीतोड़ प्रयत्न करने लगा। इतनेमें ही आवाज आयी—

'भाई! परेशान मत हो, मैं उठा देता हूँ।' यों कहते हुए भगत मचानसे कूद पड़े और दौड़कर मोहनजीके पास आ पहुँचे। मोहन भागनेकी तैयारी करने लगा, परंतु वहाँ तो फिर मिठासभरे शब्द निकले—

'भागना मत भाई ! तेरे स्त्री-बच्चे भूखे होंगे, उठा ले जा ।'

मोहनके पैर रुक गये । वह थरथर काँपने लगा । इतनेमें तो भगतने उसका हाथ पकड़कर पीछेसे जोर लगाकर पोट उसके सिरपर उठा दी । मोहनजी पोट उठाकर चल दिया । भगत मचानपर जाकर सो गये ।

सबेरा हुआ, भगत उठे । चिलमका दम भरते हुए हाथमें लाठी लेकर घरकी ओर चल दिये । घर पहुँचते ही मोहनजीको पोट रक्खे अपने घरके बाहर बरामदेमें बैठे देखा । भगतको देखते ही वह सामने आकर भगतके चरणोंमें झुक गया । उसने कहा—'माफ करना भगत ! मैंने आपको पहचाना नहीं । बुरी संगतमें पड़कर खेतमें चोरी करने घुस गया । मुझसे यह बहुत बड़ी भूल हो गयी । इसका मुझे पछतावा हो रहा है ।'

भगतने हाथ पकड़कर उसे उठाया और कहा—'भाई ! तेरे स्त्री-बच्चे भूखे हों तो तू ले जा, इसमें कुछ भी पाप नहीं है । मनुष्यका उपजाया हुआ मनुष्य न खाय तो फिर कौन खायेगा ?'

उस दिनसे मोहनजीने चोरी करना छोड़ दिया और भगतके साथ उनके साथीकी तरह रहने लगा । आत्माने आत्माको पहचाना । मोहनजीका बुरी वृत्तिरूपी कीचड़ भगतके अमृत सिंचनसे धुल गया और उसका हृदय कंचनके समान साफ हो गया । वह स्वयं परिश्रम करके रोटी कमाना सीख गया । कैसा अनोखा बर्ताव ! कैसा संगका रंग ! (अखण्ड आनन्द)

—वालजी भाई ह०

* * *

जय वृषभानुकिशोरी

(१)

नेति नेति कह वेद गा रहे जिसकी महिमा भारी,
तव पदनखकी ज्योति ब्रह्म वह राधे कीर्तिकुमारी !
जिन्हें ढूँढ़ते सतत सिद्ध मुनि योगीश्वर व्रतधारी,
वे सतृष्ण श्रीकृष्ण चाहते केवल कृपा तुम्हारी ॥

(२)

अप्राकृत सच्चिदानन्दघनपरम-व्योमकी रानी,
मंजु तुम्हारी महिमा जानें क्या इस जगके प्रानी।
तव मधुवनके तृण-तरुवरका एक-एक भी पत्ता—
अपनेमें सीमित रखता है कल्पवृक्षकी सत्ता ॥

(३)

गौएँ तव गोलोकधामकी काम
नाम तुम्हारा मधुर चारु चिन्ताम
होता शोभित धाम तुम्हारा अखि
भक्तजनोंपर किंतु कृपाकर तुम

(४)

मोहनके मुखचन्द्र मधुरकी च
श्याम-सिंधुरस अवगाहनरत

झमें आनन्दका
)

—दलपतभाई डा० श्रीमाली

(४)

ोंके सूखा रोगकी अनुभूत दवा

नेवाले छोटे बच्चोंको सूखेकी बीमारी हुआ करती ाका दूध हजम न होना, हरे-पीले ज्यादा दस्त शरीरका खून यहाँतक सूख जाना कि जिससे चमड़ी चटकने लगे; शरीरका अत्यन्त कृश हो जाना; आँखें

विजयादशमी, दीपावली और गीता-जयन्ती

हमने चाहा था कि विजयादशमी तथा दीपावली देशभरमें सभी जगह एक ही तारीखोंको मनायी । हमने प्रयत्न भी किया था कि सब मिलकर कोई-सी एक तिथियाँ निश्चय कर लें; पर ज्योतिषी ओंका मतभेद नहीं मिट सका। अतः सब जगह एक ही तारीखोंपर ये पर्व नहीं मनाये जायँगे। यह की बात है। हमलोग तो वाराणसीके महामहोपाध्याय पं० श्रीगिरधरजी शर्मा तथा पूज्य श्रीश्रीकरपात्री-महाराज आदि विद्वानोंके मतानुसार विजयादशमी ता० २७ अक्टूबर, दीपावली ता० १५ नवम्बर तथा जयन्ती ता० २६ दिसम्बरको मना रहे हैं। सब लोग अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार मना सकते हैं।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समितिका पता पो० स्वर्गाश्रम (देहरादून) है

परीक्षा-समितिका कार्यालय बहुत वर्षों पहले यहाँसे गीताभवन, पो० स्वर्गाश्रम (देहरादून) जा चुका भी अभीतक उस सम्बन्धके पत्र यहाँ आते रहते हैं जिससे उनके काममें विलम्ब हो जाता है। है कि सही पतेपर पत्र-व्यवहार करना चाहिये।

पुस्तक-विक्रेताओंको सूचना

(१) गीता-दैनन्दिनी सन् १९६४ की इस बार भी गतवर्षकी तरह ही केवल बाइंडिंग क्लॉथवाली बनी है। मूल्य वही .६२ न० पै० हैं। .७५ नये पैसेवाली गोरखपुरी कपड़ेकी सजिल्द बनवानेकी नहीं है। अतः सजिल्दका आर्डर नहीं भेजना चाहिये।

विक्रेताओंको थोकके दामोंमें जो विशेष सुविधा कुछ वर्षोंसे मिलती है वह इस वर्ष भी चालू है।

(२) गीता-पञ्चाङ्ग—वि० सं०२०२१ का कार्यकी अधिकता आदि कारणोंसे इस वर्ष निकालनेका नहीं है। अतः इसके लिये भी किसीको आर्डर नहीं भेजना चाहिये।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

कल्याणके पुराने विशेषाङ्क

'कल्याण'के पुराने विशेषाङ्क बहुत सज्जन माँगा करते हैं; पर हमारे पास न होनेके कारण नहीं जा सकते। अतः किन्हीं सज्जनके पास केवल पुराने विशेषाङ्क, पूरे वर्षके अङ्क आदि हों और वे मूल्य देना चाहें तो कृपया कौन-से विशेषाङ्क तथा किस वर्षके फाइल हैं, सो लिखनेकी कृपा करें।

सम्पादक—**'कल्याण' पो० गीताप्रेस, गोरखपुर (उ० प्र०)**

12 OCT

रजि० सं० ए०

'कल्याण'का आगामी विशेषाङ्क

(संक्षिप्त लीला-प्रसङ्गसहित) श्रीकृष्ण-वचनामृत-अङ्क

(१) बहुत वर्षों पूर्व प्रातःस्मरणीय महामना मालवीयजी महाराजने भगवान् श्रीकृष्णके संग्रहके लिये कहा था । अन्यान्य बहुतसे पूज्य महानुभावोंका भी ऐसा आग्रह था और अब भी अबतक यह काम नहीं हो पाया था । इस बार 'कल्याण'के विशेषाङ्कके रूपमें भगवान् श्रीकृ हुए वचनोंका संग्रह प्रकाशित होने जा रहा है । इसमें प्रधानरूपसे श्रीमद्भागवत और महाभारतसे किया गया है । अन्यान्य ग्रन्थोंसे भी वचन लिये गये हैं । वचनोंके साथ ही लीला-प्रसङ्ग दिया गया है, जिससे विशेषाङ्ककी परम उपादेयताके साथ ही रोचकता तथा बड़े-बूढ़े-बालक, माता सभीके लिये रोचकता तथा प्रियता बढ़ गयी है ।

भगवान् श्रीकृष्णके कर्म, उपासना, ज्ञान, भक्ति, प्रेम, निष्काम कर्मयोग, योग, समाजनीति, सदाचार, कर्तव्य, त्याग आदि विविध विषयोंपर महत्त्वपूर्ण वचन मिलते हैं। इस उन सभी विषयोंके चुने हुए प्रसङ्गों तथा वचनोंका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपदेशप्रद, मनोरञ्जक, मनोहर, सर्वदुःखहर, शाश्वत शान्तिदायक संग्रह (मूल श्लोक हिंदी-अनुवादसहित) श्रीमद्भगवद्गीता और उद्धव-गीता सम्पूर्ण रहेगी । श्रीकृष्णके लीला-प्रसङ्गोंके रंगीन तथा सादे भी पर्याप्त संख्यामें रहेंगे, जिनसे अङ्क परम सुन्दर तथा आकर्षक हो जायगा।

(२) इस वर्ष महँगी तथा खर्च और भी बढ़ा है, अतः मूल्य बढ़ानेके प्रस्ताव भी आये मूल्य न बढ़ाकर वह ७.५० ही रक्खा गया है । पृष्ठ-संख्या भी वही ७०० के लगभग हो अङ्ककी बहुत अधिक माँग होनेकी सम्भावना है । अतएव पुराने ग्राहकोंको तुरंत ७.५० (सात पचास नये पैसे) मनीआर्डरद्वारा भेजकर ग्राहक बन जाना चाहिये । नये ग्राहकोंको भी अभीसे भेजकर अपना नाम दर्ज करा लेना चाहिये, अङ्क शीघ्र समाप्त हो जायगा और दूसरा संस्करण न तो प्राप्त होना सम्भव नहीं होगा ।

(३) रुपये भेजते समय मनीआर्डरके कूपनमें पुराने ग्राहक अपनी ग्राहक-संख्या लिखने कृपा अवश्य करें और नाम, पता, ग्राम, मुहल्लेका नाम, डाकघर, जिला, प्रदेश—सब बहुत साफ बड़े अक्षरोंमें लिखें । नये ग्राहक हों तो कूपनमें 'नया ग्राहक' लिखना कृपया न भूलें। मनीआर्डरद्वारा शीघ्र भेजें । मनीआर्डर-फार्म सेवामें भेजा जा रहा है । केवल विशेषाङ्कका मूल्य ७.५० है, अतः पूरे वर्षका ही ग्राहक बनना उचित है ।

(४) जिन पुराने ग्राहक महोदयोंको किसी कारणवश अगले वर्ष ग्राहक न रहना हो वे एक कार्ड लिखकर सूचना दे दें, जिससे डाकखर्चकी हानि न उठानी पड़े ।

(५) गीताप्रेसका 'पुस्तक-विभाग' तथा 'कल्याण-कल्पतरु-विभाग' कल्याण-विभागसे हैं । अतः पुस्तकोंके तथा 'कल्पतरु'के लिये उन-उनके व्यवस्थापकोंके नाम अलग पत्र-व्यवहार चाहिये और रुपये भी अलग-अलग उन्हींके नामसे भेजने चाहिये ।

(६) इस वर्ष भी सजिल्द अङ्क देनेमें कठिनता है और बहुत देरसे दिये जानेकी सम्भा है । यों सजिल्दका मूल्य ८.७५ (आठ रुपये पचहत्तर नये पैसे) हैं ।

(७) इस अङ्कमें लेख प्रायः नहीं जायँगे । इस अङ्ककी सामग्री भी कहीं बढ़ गयी तो अङ्कोंमें देनी पड़े । अतएव कोई महानुभाव लेख, कविता आदि कृपया न भेजें ।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) उ०

७७२०१

पुस्तकालय
गुरुकुल काँगड़ी

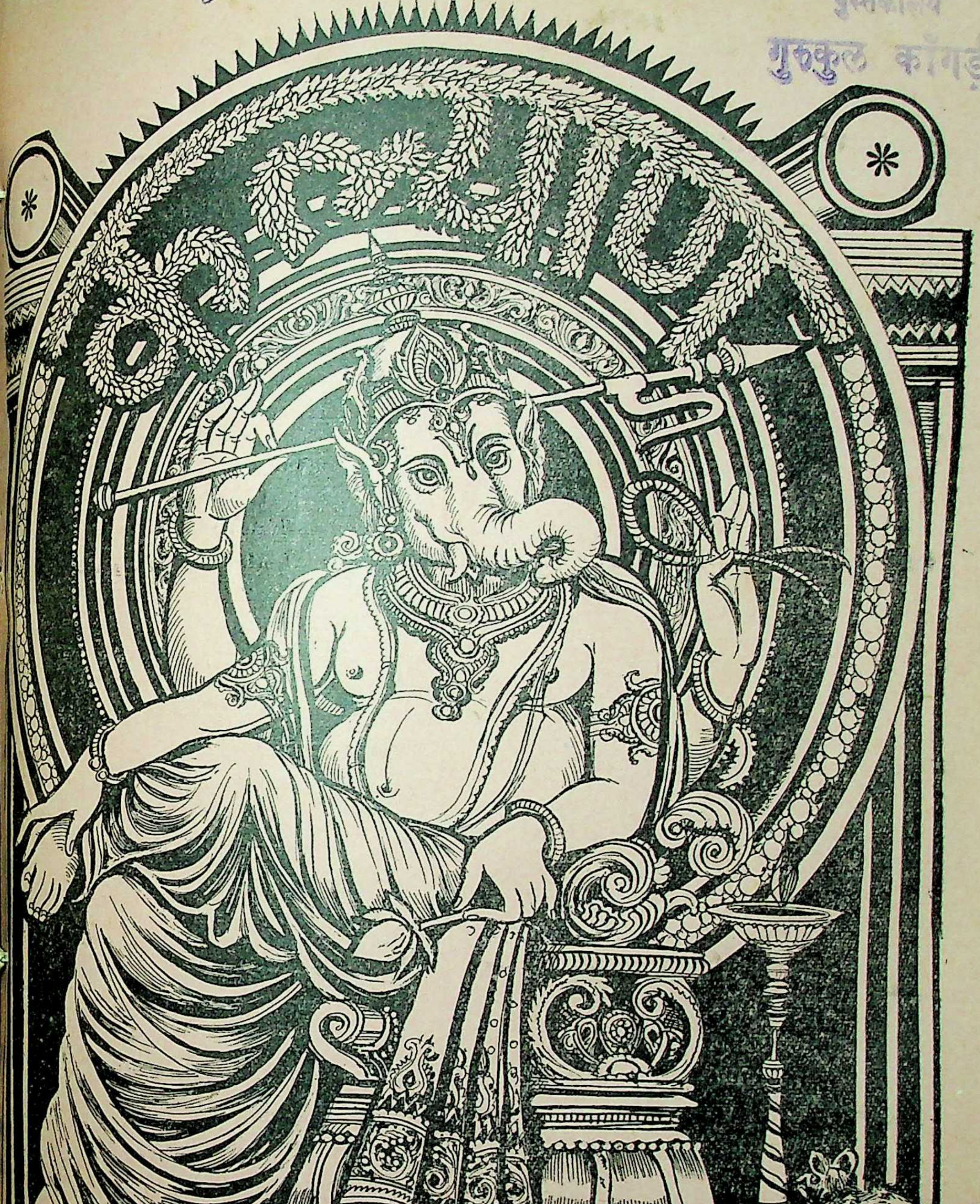
कल्याण
जगन्नाथ प्र: ग्रह

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे

संस्करण—१,३८,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर मार्गशीर्ष २०२०, नवम्बर १९६३

विषय — पृष्ठ-संख्या

१—मुनिमण्डलीद्वारा श्रीराम-लक्ष्मणका स्वागत [कविता] (संकलित—गीतावली) ... १२५९
२—कल्याण ('शिव') ... १२६०
३—ज्ञानका स्वरूप (श्रद्धेय स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज) ... १२६१
४—एक महात्माका प्रसाद (श्री'माधव'जी) ... १२६५
५—तुम्हारा पता [कविता] (विद्यालंकार श्रीजगन्नाथजी मिश्र गौड़ 'कमल' वेदान्तरत्न) ... १२६६
६—भगवत्प्राप्तिका सरल उपाय—अनन्य शरणागति (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... १२६७
७—पागलकी झोली (महात्मा श्रीठाकुर सीतारामदास ओंकारनाथजी महाराज) १२७३
८—बड़प्पनका मापदण्ड (श्रीअजयकुमारजी ठाकुर) ... १२७७
९—वेदान्तका श्रवण-मनन (ब्र० पूज्यपाद श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महात्मा श्रीनथुरामजी शर्मा; अनु०—श्रीसुरेश एम० भट) ... १२७८
१०—विश्वमें अशान्ति क्यों ? (महात्मा श्रीनिरञ्जनजीके विचार; प्रेषक—डा० सूर्यकान्त ठाकुर) ... १२८०
११—मधुर ... १२८१
१२—प्रभु सहज सुहृद् हैं [कविता] ... १२८३
१३—श्रीरामचरितमानसमें 'ब्राह्मण'की परिभाषा (डा० श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू, एम्० ए०, डी० लिट्०) ... १२८४
१४—प्रदक्षिणाकी महिमा और विधि (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ... १२८८
१५—संत कौन ? [कविता] (श्रीभगवतरसिकदेवजी) १२८९
१६—यह जादू भी अच्छा काम करता है, जरा प्रयोग करके देखिये (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्०डी०) ... १२९०
१७—मंगल सोचो, मंगल करो [कविता] ... १२९१
१८—हममें परिवर्तन क्यों नहीं होता ? (श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट) ... १२९२
१९—भगवत्कृपाकी नित्य वर्षा [कविता] ... १२९४
२०—सूरका वात्सल्य (श्रीदिनेश भ्रमरजी एम्० ए०, रिसर्च स्कालर) ... १२९६
२१—भगवान्‌के समान हितैषी भगवान् ही हैं [कविता] १२९७
२२—भक्तियोग (स्वामीजी श्रीभक्तिदीपक भारतीजी महाराज) ... १२९८
२३—इतनी कृपा करो [कविता] ... १२९९
२४—आध्यात्मिक धनकी श्रेष्ठता (पं० श्रीजयकान्तजी झा) ... १३००
२५—मानव-बुद्धि और ज्ञान (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') ... १३०२
२६—हमारी मुक्तिनाथ-यात्रा (श्रद्धेय श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी) ... १३०३
२७—प्रेमी भक्त श्यामानन्द (श्रीराधाकृष्णजी) १३०८
२८—हिंदू-संस्कृतिमें धर्म और राष्ट्र (श्रीगंगाप्रसादजी पाण्डेय) ... १३११
२९—महामना पं० मदनमोहन मालवीय सिरसे पैरतक हृदय-ही-हृदय थे (श्री एम्० जी० दीक्षित) ... १३१३
३०—श्रीभगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना (चिम्मनलाल गोस्वामी) ... १३१५
३१—पढ़ो, समझो और करो ... १३१७
३२—क्या जयपुरमें गोहत्या होती है और गोमांस बिकता है ? (डा० श्रीश्रीकान्त जैन, एम्० पी०) ... १३२२

चित्र-सूची

१—भगवान् गणपति ... ... (रेखाचित्र) ... मुखपृष्ठ
२—मुनिमण्डलीद्वारा श्रीराम-लक्ष्मणका स्वागत ... ... (तिरंगा) ... १२५९

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें .४५
विदेशमें .५६
(१० पैंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

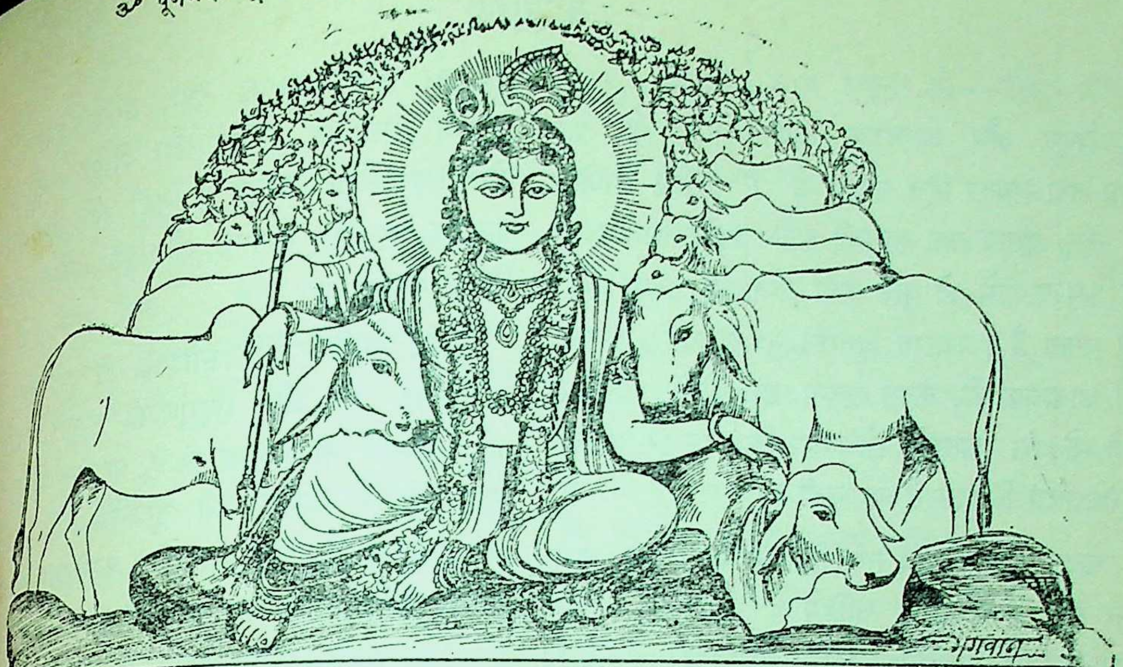

कल्याण

शुद्धतेजःस्वरूपं च भक्तानुग्रहविग्रहम् । अतीव कमनीयं च श्यामरूपं नमाम्यहम् ॥
परिपूर्णतमं शान्तं राधाकान्तं मनोहरम् । सत्यं ब्रह्मस्वरूपं च नित्यं कृष्णं नमाम्यहम् ॥

वर्ष ३७ } गोरखपुर, सौर मार्गशीर्ष २०२०, नवम्बर १९६३ { संख्या ११
पूर्ण संख्या ४४४

मुनिमण्डलीद्वारा श्रीराम-लक्ष्मणका स्वागत

मंजुल मंगलमय नृप-ढोटा ।
मुनि, मुनितिय, मुनिसिसु बिलोकि कहैं मधुर मनोहर जोटा ॥ १ ॥
नाम-रूप-अनुरूप बेष बय, राम लखनलाल लोने ।
इन्ह तें लही है मानो घन-दामिनि दुति मनसिज, मरकत, सोने ॥ २ ॥
चरन-सरोज, पीतपट कटितट, तून-तीर-धनुधारी ।
केहरि-कंध, काम-करि-करवर बिपुल बाहु, बल भारी ॥ ३ ॥
दूषन-रहित समय सम भूषन पाइ सुअंगनि सोहैं ।
नव-राजीव-नयन, पूरन बिधु-बदन मदन मन मोहैं ॥ ४ ॥
सिरनि सिखंड, सुमन-दल-मंडन बाल सुभाय बनाये ।
केलि-अंक तनु-रेनुपंक जनु प्रगटत चरित चोराये ॥ ५ ॥
मख राखिबे लागि दसरथ सों माँगि आश्रमहि आने ।
प्रेम पूजि पाहुने प्रानप्रिय गाधिसुवन सनमाने ॥ ६ ॥
साधन-फल साधक सिद्धनिके, लोचन-फल सबही के ।
सकल सुकृत-फल, मातु-पिताके, जीवन-धन तुलसी के ॥ ७ ॥

—गीतावली

याद रक्खो—जो मनुष्य मधुर, हितकर, सत्य, शुभ, विनम्र और आवश्यक वाणी बोलता है, वह अपना तथा सबका हित करता है । उसकी वाणीमें बल, तेज, प्रभाव तथा सत्यकी शक्ति बढ़ने लगती है और उस वाणीसे जो कुछ कहा जाता है, वह सत्य होने लगता है । अतएव अनर्गल न बोलकर जितना, जहाँ आवश्यक हो, केवल उतना ही बोलो और जो बोलो सो इस बातको सोचकर कि वह सत्य तथा दूसरेके लिये हितकर है या नहीं ।

याद रक्खो—सत्य तथा हितकर वचन भी शुभ, मधुर तथा विनम्र होने चाहिये । नहीं तो, उनके ग्रहण करनेमें लोग उपेक्षा करेंगे, कहीं-कहीं तो विरोध होने लगेगा और उनका प्रभाव नष्ट-सा हो जायगा ।

याद रक्खो—वाणीमें अभिमान, रूखापन, अपनी बड़ाई, दूसरोंकी निन्दा, दूसरोंके लिये अपमानजनक वाक्य, चुगली, झूठा हठ, व्यर्थकी बकवासके तथा अशुभ शब्द होंगे तो उनसे अपना भी अहित होगा तथा सुननेवालोंपर भी बुरा प्रभाव पड़ेगा । अतएव जहाँतक हो, कम-से-कम बोलो—आवश्यक होनेपर ही बोलो एवं उपर्युक्त दोषोंसे बचाकर ही शब्दोंका उच्चारण करो ।

याद रक्खो—वाणीमें मधुरता तथा नम्रता अवश्य होनी चाहिये, पर दम्भ, झूठी खुशामद तथा कपट नहीं होने चाहिये । सरल वचन हों और मूर्खताभरे व्यर्थ भी न हों । जिनसे प्रेम, विश्वास, परस्परमें सुख पहुँचानेका भाव, सेवा-भाव, त्याग और आत्मीयता बढ़ते हों, ऐसे वचन बोलो । पर व्यर्थकी ममता पैदा करके राग-द्वेष आते हों, ऐसे वचनोंसे भी सावधान रहो ।

याद रक्खो—कभी दो आदमियोंके बीचमें मत बोलो, उनके हितके लिये बोलना आवश्यक भी हो तो नम्रतापूर्वक उनसे पूछकर बोलो । किसीकी बातको काटो मत । यदि उसका मत भ्रान्त हो तो उसके गुणोंकी प्रशंसा करके उसे पहले अपना बनाओ, फिर नम्रतासे उसके मतका दोष, उसके विचारार्थ उसे बताओ । तब वह सुनेगा और विचार करके अपने दोषको हटा भी सकेगा । नहीं तो, तुम्हें विरोधी मानकर वह उस दोषको और भी अधिक जीवनसे चिपटा लेगा ।

याद रक्खो—ऐसे विनोदकी, जो शुद्ध तथा हर्ष बढ़ानेवाला हो और सद्गुणोंकी उत्पत्ति करनेवाला हो, जीवनमें आवश्यकता भी है, पर ऐसा विनोद कभी मत करो, जो किसीका जी दुखानेवाला हो, किसीपर आक्षेपमूलक हो, किसीका अहित करनेवाला हो और अपनी मूर्खता प्रकट करनेवाला हो ।

याद रक्खो—उस वाणीका विशेष आदर होता है, जो हितकर और मधुर होनेके साथ ही शुभ तथा गम्भीर होती हैं, अच्छे विचारक लोग भी उसपर सोचते हैं । पर जो वाणी छिछोरेपनको लिये होती है, वह व्यर्थ जाती है । अतः गम्भीरतासे अर्थयुक्त थोड़ेसे शुभ शब्दोंमें अपनी बात कहो ।

याद रक्खो—वाणी विषका संचार कर सकती है और वाणी ही सर्वत्र अमृतका विस्तार कर सकती है। वाणीसे सर्वत्र अमृतका विस्तार करो । जो वाणी सत्य, उत्साह तथा उल्लास बढ़ानेवाली, निष्कपट, मधुर तथा हितकर होगी, जिससे दैवी गुणोंका, भगवान्‌के पवित्र गुणानुवाद तथा नामका पवित्र मधुर सुधा-प्रवाह बहता होगा, वही वाणी सनातन दिव्य अमृतका विस्तार करेगी । अतएव सत्य, मधुर, हितकर, विनम्र, शुभ वाणी बोलो; वाणीको अनर्थ तथा व्यर्थ वचनोंके उच्चारणसे बचाकर उसे निरन्तर भगवन्नाम-जप, भगवन्नाम-कीर्तन, भगवद्गुण-कथनमें लगाये रक्खो । इसीमें वाणीका सदुपयोग है ।

याद रक्खो—मौनमें बड़ी शक्ति है, अतएव प्रतिदिन कुछ समयतक नियमित रूपसे मौन रहो । सप्ताहमें या महीनेमें एक दिनका मौन रक्खो और उस समयको सच्चिन्तन, आत्मचिन्तन या भगवच्चिन्तनमें ही लगाओ ।

'शिव'

ज्ञानका स्वरूप

(लेखक—श्रद्धेय स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज)

ज्ञानका स्वरूप अति संक्षेपमें तथा प्रभावोत्पादक ढंगसे यदि कहीं चित्रित किया गया है तो वह श्रीमद्भगवद्गीता-में है। गीताके तेरहवें अध्यायमें ज्ञेय पदार्थका—परमात्माका स्वरूप समझाते हुए उपसंहार करते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ।

'ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय तीनों सबके हृदयमें स्थित हैं।' तात्पर्य कहनेका यह है कि जिस ज्ञानके द्वारा परमात्माको जाना है, वह ज्ञेय पदार्थ आत्मा ही ज्ञानस्वरूप है। अर्थात् तात्त्विक दृष्टिसे ज्ञान और ज्ञेय अलग-अलग पदार्थ नहीं हैं। परमात्मा ही शरीरमें आत्मारूपमें जाना जाता है। यानी आत्मा और परमात्मा शब्द दो हैं; परंतु एक ही वस्तुके उपाधिभेदसे पृथक्-पृथक् नाम हैं। जैसे व्यवहारमें छोटा भाई अपने बड़े भाईको भाई कहे या बड़ा भाई कहे, है एक ही बात। बल्कि ज्ञानसे प्राप्त करने योग्य (ज्ञानगम्य) भी परमात्मा ही है, अर्थात् ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञानगम्य एक ही वस्तुके तीनों पृथक्-पृथक् नाम हैं। अब यदि ज्ञान-स्वरूप आत्माकी प्राप्ति करनी है तो उसको कहाँ ढूँढ़ें ? यह प्रश्न होता है। अतएव श्रीभगवान्ने पहले ही कह दिया है कि आत्मा प्राणीमात्रके हृदयप्रदेशमें विराज रहा है। चींटीसे लेकर हाथीतक सारे प्राणियोंमें तथा रजःकणसे लेकर हिमालयतक छोटे-बड़े सब पदार्थोंमें सर्वत्र व्याप्त है। उसको ढूँढ़नेके लिये कहीं देशान्तरमें तो जाना नहीं है; क्योंकि वह सब प्राणी-पदार्थोंमें सदा व्याप्त है और 'मैं' कहकर अपने अस्तित्वको प्रकट कर रहा है। इससे यह सिद्ध हुआ कि 'मैं आत्मा हूँ' यह निश्चय करना ही सच्चा ज्ञान है और इतना ही ज्ञानका स्वरूप है। (यहाँ शरीरको आत्मा नहीं कहा जाता है। आत्मारूपमें शरीरमें स्थित चेतन-तत्त्व ही आत्मा है।)

उपनिषदोंमें स्थान-स्थानपर ज्ञानके स्वरूपका वर्णन किया है। उन सबका सार निकालें तो इस प्रकार कहेंगे—

(१) ज्ञान स्वतःप्रमाण है। ज्ञानको सिद्ध करनेमें प्रमाता, प्रमेय और प्रमाणकी आवश्यकता नहीं; क्योंकि प्रमाणोंसे ज्ञानकी सिद्धि नहीं होती। बल्कि ज्ञानसे ही प्रमाण-प्रमेय आदि व्यवहार सिद्ध होते हैं।

(२) ज्ञान नित्य है अर्थात् उसे उत्पन्न नहीं करना पड़ता, वह शास्त्राभ्याससे उत्पन्न नहीं हो सकता। वह तो शाश्वत है। अन्तःकरण निर्मल होनेपर अविद्याका पर्दा हटनेपर वह उसी प्रकार अपने-आप प्रकाशित होता है, जैसे बादलके दूर हटनेपर सूर्य प्रकाशता है।

(३) ज्ञान पूर्ण है, उसमें सुधार या वृद्धि करनेका अवकाश नहीं। अतः अमुक मनुष्यमें ज्ञान कम है और अमुकमें अधिक है, यह कहना नहीं बनता। ज्ञान वस्तुतः जहाँ प्रकट होता है वहाँ पूर्णरूपमें ही प्रकट होता है। जैसे चींटीमें आत्मा पूर्ण है, वैसे हाथीमें भी पूर्ण है। शरीरके छोटा-बड़ा होनेसे आत्मा छोटा-बड़ा नहीं होता। इस प्रकार मनुष्यमें शास्त्राभ्यास न्यूनाधिक होनेसे ज्ञानमें कभी न्यूनाधिकता नहीं होती। वह तो पूर्ण ही रहता है।

(४) ज्ञान देश और कालसे परिच्छिन्न नहीं होता; क्योंकि वह नित्य होनेके कारण सर्वदेशमें तथा सर्वकालमें स्वतः सिद्ध है। कोई देश या कोई काल ऐसा नहीं हो सकता, जिसमें ज्ञानका अभाव हो; क्योंकि ज्ञानके बिना देश और कालकी प्रतीति ही नहीं हो सकती।

(५) ज्ञानमें ज्ञाता और ज्ञेयका भेद उपाधिको लेकर होता है। ज्ञानसे पृथक् ज्ञेय पदार्थकी उपस्थिति इसके साथ बनी रहती है और ज्ञेयके बिना ज्ञातृत्वके व्यवहारकी सिद्धि नहीं होती। ज्ञेय और ज्ञाताको एक दूसरेकी अपेक्षा रहती है, परंतु ज्ञान स्वयंसिद्ध होता है, अतएव उसकी सिद्धिके लिये किसीकी अपेक्षा नहीं होती। ज्ञेय ज्ञानसे पृथक् नहीं, यह सिद्ध हो जानेपर ज्ञाताकी कल्पना अपने-आप शान्त हो जाती है।

(६) संक्षेपमें ज्ञानके स्वरूपको अनिर्वचनीय कहकर उपनिषद् उपसंहार करते हैं; क्योंकि ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय एक ही परमात्माके उपाधि-भेदसे विभिन्न कल्पित स्वरूप हैं। श्रुति कहती है—**'प्रज्ञानं ब्रह्म'**—ज्ञान ही ब्रह्म है,

'अयमात्मा ब्रह्म'—यह आत्मा अर्थात् शरीरमें प्रकाशित प्रत्यगात्मा ही ब्रह्म है।

अब यदि उपनिषद्में निर्दिष्ट ज्ञानके स्वरूपकी आलोचना करें तो उसका सार इस प्रकार होगा—

(१) ब्रह्म ज्ञानस्वरूप ही है।

(२) प्रत्यगात्मा ब्रह्मस्वरूप है।

अर्थात् शरीरस्थ आत्मा ज्ञानस्वरूप है।

अतएव ज्ञानकी प्राप्तिका अर्थ है आत्माके स्वरूपको जानना। आत्माके ऊपर अविद्याका पर्दा पड़ गया है और इस कारणसे वह अपनेको जीव मानकर शरीरके धर्मोंको अपने भीतर कल्पित करके देहरूप हो गया है। यही पुरुषका **'प्रकृतिस्थ'** होना है। अतएव आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये अविद्याका पर्दा दूर करनेके सिवा और कुछ करना नहीं रहता।

यही बात पातञ्जल-योगदर्शनके एक सूत्रमें इस प्रकार कही गयी है—

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम्। (२ । २५)

अर्थात् अविद्याकी निवृत्ति करनेसे आत्माका देहाध्यास तुरंत छूट जायगा और तब आत्मा अपने स्वयंप्रकाश-स्वरूपमें प्रतीत होने लगेगा। फिर उसे चाहे ज्ञान कहो या मुक्ति।

ज्ञानके स्वरूपका भगवान्ने गीतामें (अ० ४। ३६–४० श्लोकोंमें) बहुत विस्तारपूर्वक वर्णन किया है, वह भी विशेष-रूपसे द्रष्टव्य है।

छत्तीसवें श्लोकमें ज्ञानकी महिमा बताते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥

'इस संसारमें यदि सब पापियोंमें तू महापापी होगा तो भी इस ज्ञान-नौकाके योगसे इस भवाब्धिको पार कर लेगा।' तात्पर्य यह है कि हे अर्जुन! थोड़ी देरके लिये मान लें कि तू सब पापियोंमें महापापी है, तथापि ज्ञानरूपी नौका ऐसा प्रबल साधन है कि इसके द्वारा जन्म-मृत्युमय पापरूप इस संसारको पार करनेमें तुझे कुछ भी देर न लगेगी। यहाँ श्रीभगवान्ने ज्ञानको भवसागर पार करनेका एकमात्र साधन बताया है।

सैंतीसवें श्लोकमें ज्ञानका कार्यक्षेत्र बताकर ज्ञान किस प्रकार भवसागर तरनेका साधन बनता है, यह समझाते हैं—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥

अर्जुन! जैसे लौकिक अग्नि काष्ठको जलाकर राख कर देती है, वह कहीं कच्चे-सूखे, छोटे-बड़े, मोटे-पतलेका भेद नहीं देखती, उसी प्रकार ज्ञानरूपी अग्नि भी कर्म-मात्रको जला डालती है। यहाँ 'कर्ममात्र' का अर्थ समस्त संचित-कर्म समझना चाहिये; क्योंकि प्रारब्ध-कर्म तो भोगके द्वारा अपने-आप नाशको प्राप्त होता है, उसको जलाना नहीं पड़ता। अतएव शेष संचित-कर्म जो जन्म-मरणके चक्रको चालू रखता है, उसको जलाना आवश्यक है। समस्त संचित-कर्मका भाव यह है कि अनिष्ट, इष्ट और मिश्रफलको उत्पन्न करनेवाले शुभ, अशुभ और मिश्र जो संचित-कर्म होते हैं, उन सबको ज्ञान जला डालता है। निःशेष जला डालता है। (अनिष्ट, इष्ट और मिश्र फलके लिये भगवद्गीता अ० १८ श्लोक १२ देखिये)

ऊपर ज्ञानके कार्यक्षेत्रको बताकर अब अड़तीसवें श्लोकसे श्रीभगवान् ज्ञानके स्वरूपका वर्णन करते हैं—

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥

इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र वस्तु कुछ नहीं है। योगके द्वारा चित्तकी शुद्धि होनेपर वह हृदयमें स्वयं स्फुरित होता है।

पहले श्रीभगवान् अर्जुनसे कह चुके हैं कि 'तू चाहे कितना ही बड़ा पापी क्यों न हो, ज्ञानरूपी नौकासे पापके समुद्रको सहज ही पार कर जायगा।' इसके अनुसंधानमें श्रीभगवान् कहते हैं कि पापको जलानेके लिये तो पवित्र वस्तुकी आवश्यकता है और ज्ञानके समान पवित्र वस्तु इस जगत्में दूसरी कोई नहीं है। अतएव पवित्र ज्ञान पापरूपी समुद्रको पार करनेमें उत्तम नौका है। ज्ञानकी ऐसी महिमा सुनकर अर्जुनको ज्ञानका स्वरूप समझानेकी जिज्ञासा हुए बिना नहीं रह सकती, ऐसा समझकर कहते हैं कि निष्काम-कर्मयोग या भक्तियोग या ज्ञानयोगकी

सिद्धि होनेपर अन्तःकरणके शुद्ध होते ही ज्ञान इनके साथ अपने-आप प्रकट होता है । उसको प्रकट करनेके लिये किसी भी योगके द्वारा चित्तको शुद्ध करनेके सिवा और कुछ करना नहीं पड़ता ।

इस प्रसङ्गमें गीताके पाँचवें अध्यायमें बहुत ही स्पष्टरूपसे जो कहा गया है, उसकी यहाँ आलोचना करना अप्रासङ्गिक न होगा । श्रीभगवान् कहते हैं—

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।
(गीता ५ । १५)

'अज्ञानसे ज्ञान ढँक गया है, इसी कारण प्राणियोंको मोह होता है ।' ज्ञान नित्य है तथा स्वयंभू है । तब फिर मनुष्य संसारमें मोहको प्राप्त होकर अन्धकारमें क्यों भटका करता है ? इसके उत्तरमें श्रीभगवान् कहते हैं कि ज्ञान नित्य है—यह सत्य है और इसको उत्पन्न नहीं करना पड़ता, यह भी उतना ही सत्य है । परंतु उस ज्ञानके ऊपर अज्ञानका, यानी अविद्या या मायाका पर्दा पड़ गया है और इस कारणसे मनुष्यको ज्ञानका प्रकाश नहीं मिलता और वह अन्धकारमें भटकता-फिरता है । केवल यह पर्दा हटाना आवश्यक है । यह बतलाते हुए श्रीभगवान् अगले श्लोकमें कहते हैं—

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥

'परंतु ज्ञानसे जिसका अज्ञान नष्ट हो गया है, उसको आत्मज्ञानसे ब्रह्मदर्शन होता है ।' परंतु जिसका यह अज्ञानरूपी पर्दा, अविद्याका पर्दा आत्मज्ञानके द्वारा छिन्न-भिन्न हो गया है, उसके हृदयमें सूर्यके समान परब्रह्मका प्रकाश प्रकटित होता है; जैसे बादलके हट जानेपर सूर्यका प्रकाश अपने-आप होता है, उसी प्रकार अन्तःकरणके शुद्ध होनेपर अज्ञानकी निवृत्ति होनेसे आत्मज्ञानका प्रकाश अपने-आप होता है ।

इसके बाद ज्ञानका प्रकाश प्राप्त करनेके लिये क्या करना चाहिये, यह समझानेके लिये श्रीभगवान् उनतालीसवें श्लोकमें कहते हैं—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

'श्रद्धासे, साधनकी तत्परतासे, वैराग्य आदि उपायोंसे जो ज्ञान होता है वह सद्योमुक्ति प्रदान करता है ।'

ज्ञानकी प्राप्तिके लिये श्रीभगवान्ने यहाँ तीन शर्तें रक्खी हैं—(१) श्रद्धा होनी चाहिये, (२) साधन करनेमें तत्परता होनी चाहिये । आलस्य-प्रमाद काम नहीं आते और (३) इन्द्रियोंके संयमके द्वारा वैराग्य होना चाहिये ।

श्रद्धा न हो तो तत्परता नहीं आती । साधनमें पूर्ण श्रद्धा होनेसे ही तत्परतासे साधन होता है । यदि श्रद्धा और तत्परता दोनों हों, परंतु वैराग्य न हो तो ये दोनों दीर्घकालतक टिक नहीं सकतीं । मन विषय-लोलुप हो जाय तो श्रद्धा डिग जाती है और यदि श्रद्धा ही डिग गयी तो बेचारी तत्परता कहाँ खड़ी रहेगी ? अतएव ज्ञानकी प्राप्तिके लिये प्रथम आवश्यकता वैराग्यकी है; क्योंकि इसके बिना श्रद्धा और तत्परता टिक नहीं सकतीं । अब ज्ञानका प्रकाश होनेपर क्या होता है, यह समझाते हुए कहते हैं कि ज्ञानका उदय होते ही तुरंत, उसी क्षण मनुष्य परम-शान्ति प्राप्त करता है । बड़ी-से-बड़ी जो अशान्ति होती है वह है जन्म-मरणके भयकी अशान्ति । अतएव परम शान्तिका अर्थ है—जन्म-मरणके भयकी निवृत्ति, अर्थात् मुक्ति या मोक्ष । इस श्लोकका तात्पर्य यह हुआ कि मुक्तिके लिये परम साधन ज्ञान है और ज्ञान तथा मुक्ति समकालीन होते हैं । जिस क्षण ज्ञान होता है उसी क्षण मनुष्य मुक्त हो जाता है ।

अब प्रश्न यह होता है कि ज्ञान क्यों प्राप्त किया जाय ? क्या ज्ञान प्राप्त किये बिना काम नहीं चल सकता ? इस प्रश्नके उत्तरमें अज्ञानकी स्थिति समझाते हुए श्रीभगवान् चालीसवें श्लोकमें कहते हैं—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥

मूर्ख, श्रद्धाहीन और संशयात्मा नाशको प्राप्त होते हैं, उनको इहलोक-परलोकमें कहीं सुख नहीं मिलता । जो मनुष्य मूर्ख है और शास्त्र, गुरु या ईश्वरमें श्रद्धा नहीं रखता, वह बीच समुद्रमें पड़ी बिना पतवारकी नौकाके समान है । मूर्खताके साथ सदा ही दुराग्रह और कुतर्क लगे रहते हैं । मूर्ख मनुष्य कुतर्क करता ही रहता है और साथ ही यह दुराग्रह भी रहता है कि वह जो समझता है, वही

ठीक है। ऐसी स्थितिमें संशयकी निवृत्ति कैसे हो सकती है? उसकी बुद्धि मन्द होती है यानी तमोगुणसे ढँकी होती है, अतः उसको उलटा ही दीखता है और वह पशुके समान विषय-सेवनमें ही जीवन गँवाता है। ऐसा मनुष्य यदि विनाशको न प्राप्त हो तो दूसरा कौन होगा? ऐसे मनुष्यको शास्त्र 'पामर' कहते हैं, अर्थात् वह शरीरसे तो मनुष्य होता है; पर उसका व्यवहार पशुका ही होता है।

बल्कि इस जगत्के सारे व्यवहार श्रद्धा और विश्वासके ऊपर ही चलते हैं। उदाहरणार्थ व्यापारीको ग्राहकके ऊपर विश्वास न हो और ग्राहकको व्यापारीके ऊपर विश्वास न हो तो व्यवहार रुक जाय। व्यापारी पैसा लिये बिना माल न दे और ग्राहक माल लेनेके पहले पैसा न दे तो सौदा किस प्रकार हो? यह एक साधारण दृष्टान्त हुआ। इसीलिये एक कहावत है कि 'विश्वासपर नौका चलती है।'

अब ऐसे मूर्ख मनुष्यको किसीके ऊपर श्रद्धा या विश्वास न हो तो इहलोकका व्यवहार भी बिगड़ ही जायगा। फिर जो इहलोकको न सुधार सका, वह परलोकको सुधारनेका क्या साधन कर सकेगा? इसी कारण श्रीभगवान् कहते हैं कि ज्ञान प्राप्त करना अति आवश्यक है; क्योंकि उसके बिना इहलोक या परलोकमें शान्ति और सुख नहीं मिलता।

इस श्लोकमें श्रीभगवान्ने ज्ञानप्राप्तिके मार्गके प्रतिबन्धकोंका निर्देश किया है। वे हैं—(१) कुतर्क, (२) दुराग्रह, (३) मन्द बुद्धि और (४) विषयासक्ति। अतः ज्ञानकी प्राप्तिके लिये इनमेंसे जो भी प्रतिबन्धक दीख पड़े, उसकी निवृत्ति करनी चाहिये। गुरुकी सेवा करनेसे गुरुके प्रसन्न होनेपर ये प्रतिबन्धक दूर हो सकते हैं।

इन पाँचों श्लोकोंका सार यही है कि चाहे कैसा ही पापी हो, उसका ज्ञानके द्वारा उद्धार हो सकता है। ज्ञानकी प्राप्ति किसी भी योगके द्वारा अन्तःकरणको शुद्ध करनेसे अपने-आप होती है। यहाँ किसी अप्राप्तको प्राप्त नहीं करना है, बल्कि ज्ञानके सामने अविद्याका जो पर्दा पड़ गया है, उसको हटाना है। मनुष्य-जीवनकी सार्थकता ज्ञान प्राप्त करके मुक्ति प्राप्त कर लेनेमें है। अतएव जो मनुष्य ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेता, वह न तो इहलोकमें सुख-शान्ति पाता है और न अपना परलोक ही सुधार सकता है। उसकी स्थिति तो 'मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति'-जैसी है।

अब ज्ञानका स्वरूप समझनेका प्रयोजन देखिये। जब पुस्तकोंकी सुविधा न थी, उस समय गुरुके मुखसे विद्याभ्यास किया जाता था और गुरु अधिकारके अनुसार प्रत्येकको विद्याभ्यास कराता था। परंतु अब इस प्रेसके युगमें अधिकारका प्रश्न ही उड़ गया। जिसके पास पैसा खर्च करनेकी सुविधा है, वही पुस्तक खरीदकर बाँचनेका अधिकार प्राप्त कर लेता है। ऐसी स्थितिमें पुस्तक बाँचनेका अधिकार बुद्धिकी योग्यताके ऊपर न होकर पैसा खर्च करनेकी शक्तिके ऊपर रहता है। ऐसी स्थितिमें लोग समझने लगे कि पुस्तकोंका बाँचना ही ज्ञान है और जिसने अधिक बाँचा है वह बड़ा ज्ञानी है। इससे शास्त्र-वासना बढ़ने लगी, और दूसरे क्षेत्रोंके समान इस क्षेत्रमें भी जैसे-जैसे अधिक बाँचते जाओ, वैसे-वैसे शास्त्र-वासना बढ़ती ही जाती है।

फलतः शास्त्र-वासनाकी प्रबलता सर्वत्र दीख रही है।

विशेषतः ज्ञानयोगके लिये अधिकारकी प्रथम आवश्यकता है। अधिकारके बिना केवल बाँचनेसे शास्त्र-वासना उत्तेजित होनेके सिवा और कोई लाभ नहीं होता। यह अधिकार है साधन-चतुष्टयसे सम्पन्न होनेका। (१) विवेक, (२) वैराग्य, (३) शम-दमादि षट् सम्पत्ति और (४) मुमुक्षुतासे युक्त हुए बिना प्रस्थानत्रयीका कोई भी ग्रन्थ बाँचनेका अधिकार वस्तुतः किसीको नहीं है, बल्कि ज्ञानयोगके लिये दूसरी भी तैयारी करनी पड़ती है। अन्तःकरणमें मल, विक्षेप और आवरण—ये तीन दोष होते हैं। निष्काम भाव और जप आदि साधनोंसे पहले सब दोषोंको निवृत्त करना चाहिये। पश्चात् सगुण और निर्गुण उपासनाके द्वारा विक्षेप अर्थात् चित्तकी चञ्चलतारूपी दोषको दूर करना चाहिये। इन दो दोषोंके दूर हो जानेके बाद ही आवरण-भङ्गके लिये ज्ञान-काण्डका अधिकार होता है, उसके पहले नहीं।

एक महात्माका प्रसाद

(संकलयिता—श्री'माधव'जी)

हम सब मानव हैं और मानव होनेके नाते साधक हैं। हममें जिज्ञासा है, माँग है, आस्था है। जिसकी कोई माँग होती है, उसपर दायित्व भी होता है। वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य यह जो कुछ भी हैं, सब-का-सब मिला हुआ है, 'उस'का है। निश्चय ही यह 'मैं' नहीं है। स्वीकृति भी 'मैं' नहीं, प्रतीति भी 'मैं' नहीं। 'मैं' वह है जिसकी माँग हो, जिसपर दायित्व हो। मिले हुएका दुरुपयोग न करना। मिला हुआ, किसीका दिया हुआ होता है। वह किसी औरका होता है और सुने हुएपर अश्रद्धा नहीं करना—यही साधकका कर्तव्य है। जो कुछ भी वस्तु, योग्यता और सामर्थ्य हमें मिले, उसका दुरुपयोग नहीं करेंगे, उसे अपना नहीं मानेंगे और मिला हुआ जो अनुभव है उसका अनादर नहीं करेंगे, जो सुना हुआ है उसमें अश्रद्धा नहीं करेंगे—तभी हमारा जीवन भूलरहित हो जायगा। जो अपना नहीं है उसे अपना करके नहीं मानो। मिला हुआ अपना नहीं है। उसपर हमारा अपना अधिकार नहीं है—ऐसा मानते ही निर्ममता आयेगी। जो मेरा नहीं है तो क्या मेरे लिये है? शान्ति, स्वाधीनता, परम प्रेमकी माँग इस मिले हुएसे नहीं होती। मेरा नहीं, मेरे लिये नहीं—ऐसा मानते ही मोह, दीनता, अभिमान आदि सब नष्ट हो जाते हैं। यदि हम अपनी भूलको निकाल दें तो अभी निर्विकार हो जायँगे। यह निर्विकारिता प्राकृतिक है। अनुभवसिद्ध ज्ञानका विरोध बातसे नहीं होता। श्रद्धासे अनुभवका विरोध नहीं होता। यदि आप अपने अनुभवका अनादर नहीं करें तो विषमता अपने-आप समाप्त हो जाय। सही कर्तव्य करनेसे साधक रागसे मुक्त हो जाता है। स्वीकृतिके अनुरूप जीवन होनेपर स्वीकृति नहीं रहती।

सत्सङ्ग मानव-जीवनका दायित्व है। सत्सङ्गसे साधनकी अभिव्यक्ति होती है और तभी साधन और जीवनकी एकता होती है। जीवनमें साधन और असाधनकी द्वन्द्वात्मक स्थिति रहती है और जबतक यह द्वन्द्वात्मक स्थिति रहती है, तबतक 'मैं' की अनुभूति होती है।

सत्के साम्राज्यमें श्रेणी-भेद नहीं होता। सभी मान्यताएँ निकाल देनेपर योग, विश्राम और अनन्त प्रेम स्वतः अभिव्यक्त हो जाता है—स्वतः प्राप्त हो जाता है। कर्तव्य, विश्राम राग-निवृत्तिका हेतु है। सही कामसे मनुष्य रागरहित हो जाता है। स्वीकृतिको अभिनयात्मक मान लेनेसे वासना अपने-आप नष्ट हो जाती है। सही काम करनेसे कार्यके अन्तमें शान्त हो जायँगे। उस शान्तिमें रमण न करनेसे अचाह हो जायँगे। तब 'किसी'से अभिन्न हो जायँगे। वही हमारा वास्तविक स्वरूप है। दासतासे रहित और प्रेमसे युक्त होनेपर तुमने स्वाधीनताको प्राप्त कर लिया। वह परम प्रियतम अभिलाषी है मानवका। यही मानवकी महिमा है।

सत्सङ्गसे योग, बोध, प्रेमकी प्राप्ति होती है। सत्सङ्गका अर्थ है जाने हुए असत्का त्याग और सत्की स्वीकृति। सत् माने सदैव रहना। जो सदैव है वह अब भी है। सत्सङ्गका अर्थ सत्-चर्चा या सत्-चिन्तन नहीं है, सत्सङ्गका अर्थ है—मौजूदका सङ्ग। सत्सङ्गके लिये श्रम अपेक्षित नहीं है। श्रमरहित सत्सङ्गसे ही किये हुए, भोगे हुएका चिन्तन उत्पन्न होगा। उस चिन्तनसे भयभीत होनेकी आवश्यकता नहीं। सत्सङ्गका अर्थ है

मिले हुएको अपना नहीं मानना, अपने लिये नहीं मानना और उसका दुरुपयोग नहीं करना। जबतक अपने लिये करते रहेंगे, तबतक रागकी निवृत्ति नहीं हो सकती। अपने लिये है विश्राम, दूसरोंके लिये है मिले हुएका सदुपयोग। मौजूदका सङ्ग करनेसे अहंकाररहित होनेके लिये सही काम करना होगा। सही काम करनेके लिये पहले अपनेको सही करना पड़ेगा। सही करनेका अर्थ है—अपनेको बुरा नहीं समझूँगा। बुराईके साथ अपनेको मिलाऊँगा नहीं।

मैं साधक हूँ। सत्सङ्ग मेरा दायित्व है। बोध, योग और प्रेम मेरी माँग है। साधक होनेके नाते हम जन्मजात सिद्धिके अधिकारी हैं। भावशक्ति, विवेकशक्ति और क्रियाशक्तिका सामञ्जस्य होनेपर ही मानवकी महिमा व्यक्त होती है।

* * *

तुम्हारा पता

दूर खोजने जाऊँ क्यों मैं, तुम तो मिलते पासमें।
मनके विमल विकासमें, और अटल विश्वासमें॥

× × ×

अपना भवन छोड़ क्यों जाऊँ अगम गहन कान्तारमें?
भवन सजा दूँ भावोंसे, तुम आ जाओगे प्यारमें॥

× × ×

जब न राग मिलता मानसको, प्रणय-वीन-झंकारमें।
तुम्हें खोज ही लेता है वह अपनी करुण पुकारमें॥

× × ×

राजमहलके सिंहासनपर, खोज थक गये कितने भूप।
देखा निवसन निराधारने, धूल-प्रयुक्त तुम्हारा रूप॥

× × ×

यौवन-पथिक खोजता तुमको, नव वसन्त-शृंगारमें।
तुम मिल जाते किंतु अचानक पतझड़-शुष्क-बयारमें॥

× × ×

कोई भूला खोज रहा है, वन-वन हरित रसालमें।
तुम बैठे हो कबसे छिपकर कल कदम्बकी डालमें॥

× × ×

पथिक खोजते फिरते तुमको, व्रजके वन-उद्यानमें।
तुम मिल जाते कोई खोजे वृंदावनके प्राणमें॥

× × ×

कीर्ति तुम्हारी छिपी हुई है, रामायण-आख्यानमें।
मूर्तिमान तुम रहे निरन्तर वैदेहीके ध्यानमें।

× × ×

अङ्कित है संदेश तुम्हारा अवधपुरीके भागमें।
जगमें किंतु तुम्हें पाया है, बन्धु भरतके त्यागमें॥

× × ×

तुम्हें देखना चाहे तितली मधुर मधुप-गुंजारमें।
तुम थे स्नेह-सलिल बरसाते, सूखे सुमन-कतारमें॥

× × ×

दौड़ा पवन तुम्हें पानेको, दूर स्वरोंके द्वारमें।
तुम थे पार किसीको करते, नाव पड़ी मँझधारमें॥

× × ×

चन्द्र सूर्य कहते हैं, तुमको छिपे किरणकी धारमें।
तम-परिश्रान्त पथिक पाते हैं, तुम्हें ज्योति-संचारमें॥

× × ×

तुम्हें खोजना कठिन नहीं है, सत्य-सुकीर्ति-प्रवाहमें।
सदा तुम्हारी ध्वनि गुंजारित करुणा-जनित-कराहमें॥

—विद्यालंकार श्रीजगन्नाथ मिश्र गौड़ 'कमल'

भगवत्प्राप्तिका सरल उपाय—अनन्य शरणागति

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

एकमात्र भगवान्के ही सब प्रकारसे शरण हो जाना—यह सभी मनुष्योंके लिये परमात्माकी प्राप्तिका बहुत ही सुगम उपाय है। किंतु जो मनुष्य ज्ञानयोग, कर्मयोग, अष्टाङ्गयोग आदि साधनोंको करनेमें असमर्थ हैं, उनके लिये तो एकमात्र भगवान्की ही शरण ग्रहण कर लेना सब प्रकारसे लाभदायक है; क्योंकि भगवान् परम प्रेमी, परम सुहृद् और बिना ही कारण दया करनेवाले हैं। वे अपने दासोंके दोषोंकी ओर कभी दृष्टिपात नहीं करते। श्रीभरतजी कहते हैं—

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ ॥

(रा० च० मा० उत्तरकाण्ड)

अतः जो मनुष्य भगवान्के शरण हो जाता है उसे भगवान् सबसे अभय कर देते हैं। स्वयं भगवान्के वचन हैं—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥

(वाल्मीकीय रा० यु० १८। ३३)

"जो मनुष्य 'मैं आपका हूँ' इस भावसे भावित होकर केवल एक बार अपनेको सब ओरसे मेरे अर्पण कर देता है—भलीभाँति मुझे सौंप देता है, उस सच्चे भावसे प्रार्थना करनेवाले भक्तको अपनाकर मैं सम्पूर्ण प्राणियोंसे सदाके लिये निर्भय कर देता हूँ। यह मेरा व्रत है।"

चाहे कोई कैसा भी पापी क्यों न हो, उसका भी भगवान् त्याग नहीं करते। रामचरितमानसमें भगवान्के वचन हैं—

कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू ॥

(सुन्दरकाण्ड ४४। १)

इसलिये जो सब साधनोंसे हीन है उस मनुष्यके कल्याणके लिये तो भगवान्की शरणमें जाना ही सुगम और सरल उपाय है। भगवान्ने गीतामें भी कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

(९। ३२)

'अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डाल आदि जो कोई भी हों वे भी मेरे शरण होकर परम गतिको ही प्राप्त होते हैं।'

चाहे वह नीची-से-नीची जातिका क्यों न हो, भगवान्की शरण (भक्ति)से परमपदको प्राप्त हो जाता है। भगवान्ने उद्धवसे कहा है—

भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात् ॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। २१)

'उद्धव! मैं संतोंका परम प्रिय 'आत्मा' हूँ। मैं एकमात्र श्रद्धा-भक्तिसे ही पकड़में आता हूँ। मेरी अनन्य भक्ति उन लोगोंको भी पवित्र कर देती है जो जन्मसे ही चाण्डाल हैं।'

इसी प्रकार जो शुभ आचरणसे भी हीन है, वह भी शीघ्र ही धर्मात्मा होकर परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥

(गीता ९। ३०)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही माननेयोग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है।'

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

(गीता ९। ३१)

'वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरे भक्तका विनाश नहीं होता ।'

फिर जिनकी उत्तम जाति और उत्तम आचरण हो उनका उद्धार हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है।

इसलिये मनुष्यको उन हेतुरहित प्रेम करनेवाले और परम दयालु एकमात्र भगवान्के ही सब प्रकारसे शरण होना चाहिये । सब प्रकारसे शरण होनेका स्वरूप गीतामें यों मिलता है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥
(९ । ३४)

'मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर । इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण हुआ तू मुझको ही प्राप्त होगा ।'

इस श्लोकमें भगवान्ने शरणके चार प्रकार बतलाये हैं । इनको समझना चाहिये । हमारे पास ये चार ही प्रधान साधन हैं—मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और शरीर । 'मन्मना भव' से मनको भगवान्में लगानेके लिये कहा गया है, जैसे व्रजकी गोपियाँ निरन्तर भगवान्का ही चिन्तन करती रहती थीं । श्रीमद्भागवतमें बतलाया गया है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥
(१० । ४४ । १५)

'जिनका चित्त निरन्तर भगवान् श्रीकृष्णमें ही लगा हुआ है, जिनकी बुद्धि भगवान्में ही अनुरक्त है, जिनका कण्ठ प्रेमाश्रुओंके कारण गद्गद हो रहा है और जो दूध दुहते, दही मथते, धान कूटते, घर लीपते, बालकोंको झूला झुलाते, रोते हुए बालकोंको चुप कराते, उन्हें नहलाते-धुलाते, घरोंको झाड़ते-बुहारते—सारे काम करते समय भगवान्के ही गुणोंका गान करती रहती हैं, वे व्रजकी गोपियाँ धन्य हैं ।'

इस प्रकार मनको भगवान्में लगा देना मनसे भगवान्के शरण होना है ।

'मद्भक्तो भव' से प्रधान रूपसे बुद्धिको भगवान्में लगानेके लिये कहा गया है । भगवान् ही मेरे परम सुहृद्, परम दयालु, परम प्रेमी और हितैषी हैं, उनके समान और कोई नहीं है । शरण लेने योग्य, आत्मीयताके योग्य, प्रेम करने योग्य एक भगवान् ही हैं । यों बुद्धिसे भगवान्के गुण-प्रभावके तत्त्व-रहस्यको समझकर एकमात्र भगवान्में ही अपनता करना एवं भगवान्में ही अनन्य और विशुद्ध प्रेम करना चाहिये, जैसे भक्तशिरोमणि प्रह्लादका भगवान्में अनन्य और विशुद्ध प्रेम था । भगवान्में अनन्य प्रेम होना ही असली भक्ति है । शाण्डिल्य-भक्तिसूत्रमें बतलाया गया है—'**सा परानुरक्तिरीश्वरे**' (सूत्र २)—'ईश्वरमें परम अनुराग (प्रेम) होना ही भक्ति है ।'

इस प्रकार बुद्धिको भगवान्में लगा देना बुद्धिसे भगवान्के शरण होना है ।

'मद्याजी भव' से भगवान्ने यह भाव दर्शाया है कि सम्पूर्ण यज्ञ, तप आदि कर्मोंका मैं ही भोक्ता हूँ—'**भोक्तारं यज्ञतपसाम्**' (गीता ५ । २९), मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूँ—'**अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः**' (गीता १० । २०) और मैं ही सबमें व्यापक हूँ—'**मया ततमिदं सर्वम्**' (गीता ९ । ४)—ऐसा समझकर मेरी पूजा करनी चाहिये । आगे भगवान्ने पूजाका प्रकार स्वयं बतला दिया है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥
(गीता १८ । ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है ।'

यहाँ पूजासे तात्पर्य है सब प्राणियोंमें भगवान्को समझकर भगवद्भावसे विनय और प्रेमपूर्वक सबके हितके लिये अपनी इन्द्रियोंसे सबको आदर-सत्कार-मान देते हुए स्वयं अभिमान और स्वार्थभावसे रहित हो सेवाद्वारा सबको सुख पहुँचाना । यही भगवान्की व्यापक पूजा है । इसमें प्रधान रूपसे सारी इन्द्रियोंको भगवान्में लगाना है । इसलिये यहाँ 'मद्याजी भव' का अभिप्राय इन्द्रियोंसे भगवान्के शरण होना है ।

'मां नमस्कुरु'से अपने शरीरको भगवान्के अर्पण करना बतलाया गया है । भाव यह कि एकमात्र भगवान्पर ही निर्भर हो जाय । अपने मनके अनुकूल या प्रतिकूल जो कुछ भी भगवान् करें यानी अनिच्छा (दैवेच्छा) या परेच्छासे जो कुछ भी अनुकूल या प्रतिकूल घटना, पदार्थ और परिस्थिति प्राप्त हो, उसको भगवान्का विधान (आज्ञा) या पुरस्कार समझकर प्रसन्न हो एवं भगवान्के उस विधानमें पद-पदपर दयाका दर्शन करता रहे । अपने शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, शास्त्र और सिद्धान्तके अनुकूल घटना, पदार्थ और परिस्थितिमें भगवान्की दयाका दर्शन होकर शान्ति मिलना तो स्वाभाविक है ही, पर जिसे प्रतिकूलतामें भी भगवान्की दयाका दर्शन होता रहता है, वही भगवान्की दयाके तत्त्व-रहस्यको यथार्थरूपसे समझता है । अनुकूलतामें जो प्रसन्नता—शान्ति रहती है वह तो सभीको रहती है, किंतु वह राजसी है । प्रतिकूलताको भी परमात्माकी प्राप्तिमें सहायक समझकर जो शान्ति रहती है, वही सात्त्विक शान्ति है । मनके प्रतिकूल बीमारी प्राप्त होनेपर या स्त्री, पुत्र, धन आदिका विनाश होनेपर यह भाव होना चाहिये कि यह घटना देखनेमें तो दुःखदायी है; किंतु भगवान्ने यह मेरे हितके लिये ही किया है । इससे कई लाभ हैं । दुःख भोगनेसे पापोंका नाश होता है, जिससे अन्तःकरण शुद्ध होता है । विपत्तिके समय मनुष्यको भगवान्की स्मृति होती है । यह दुःख पापका फल है—ऐसा समझनेसे पुनः पापकी ओर प्रवृत्ति नहीं होती । दुःख सहनेसे तितिक्षा बढ़ती है । इस प्रकार समझनेपर जो शान्ति मिलती है वह भी सात्त्विक शान्ति ही है । किंतु जो परमात्माकी प्राप्तिरूप शान्ति है अथवा तीनों गुणोंसे अतीत जो परम शान्ति है, वह इनसे भी विलक्षण है । जो इस तत्त्वको समझकर साधन करता है, वह किसी भी प्रकारकी अनुकूल या प्रतिकूल घटना, पदार्थ और परिस्थितिके प्राप्त होनेपर उसे भगवान्का विधान यानी भगवान्की आज्ञा मानकर भगवान्की प्रसन्नतामें ही प्रसन्न रहता है और शान्तिमें ही सदा-सर्वदा मग्न रहता है; वह परम शान्ति है । फिर उस मनुष्यका अनुकूलता-प्रतिकूलता—दोनोंमें समभाव रहता है और उसके चिन्ता-भय, हर्ष-शोक, राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि विकारोंका सर्वथा अत्यन्त अभाव हो जाता है और उसे पद-पदपर प्रसन्नता, शान्ति और आनन्दका सर्वत्र अनुभव होता रहता है ।

वह भगवान्का भक्त अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीरको सम्पूर्णरूपसे भगवान्के अर्पण कर चुका है, इसलिये उसके इस शरीरके द्वारा भी जो भी कुछ क्रिया होती है उसमें भी उसे भगवान्की दयाका ही अनुभव होता रहता है; क्योंकि उसमें कर्तापन नहीं है । इससे उसके द्वारा जो कुछ होता है वह भगवान्के संकेतके अनुसार ही होता है । भगवान्की जैसी इच्छा हो वैसे उससे कर्म करावें । वह उस क्रियासे होनेवाले फल—सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय—सभीमें सम होकर रहता है । जिसने अपना सर्वस्व भगवान्के अर्पण कर दिया है, उस मनुष्यके द्वारा जो कुछ कर्म होता है वह शास्त्रके अनुकूल ही होता है, शास्त्रके विरुद्ध और व्यर्थ

कर्म उसके द्वारा नहीं होता; क्योंकि उसकी सारी क्रिया भगवान्के द्वारा ही संचालित होती है । इसलिये उस मनुष्यकी सारी क्रिया भगवान्की लीलाके समान है । वह संसारके लिये भी बहुत लाभदायक होती है; क्योंकि वह आदर्श है । इसलिये दूसरे मनुष्य उसका अनुकरण करके ही मुक्त हो जाते हैं । ऐसे श्रेष्ठ महापुरुषके ही सम्बन्धमें भगवान्ने कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥
(गीता ३ । २१)

‘श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं । वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है ।’

निष्कर्ष यह समझना चाहिये कि उस मनुष्यको अनिच्छा (दैवेच्छा) या परेच्छासे जो घटना, पदार्थ, परिस्थिति आदि प्राप्त होते हैं और स्वेच्छासे भी उसके शरीरद्वारा जितने कर्म होते हैं, उन सबमें वह भगवान्की अनन्त अपार दयाका पद-पदमें दर्शन करता रहता है । वह सम्पूर्ण पदार्थोंमें भगवान्के स्वरूपका और सम्पूर्ण क्रियाओंमें भगवान्की लीलाका अनुभव करके भगवान्की असीम दयाका दर्शन करता रहता है एवं सभी परिस्थितियोंमें निर्विकार, सम, संतुष्ट, प्रसन्न और शान्त रहता है ।

इस प्रकार अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर सबको एकमात्र भगवान्में लगा देना ही भगवान्की अनन्य शरण है । भगवान्की अनन्य शरण कहें या अनन्य भक्ति—सिद्धान्तसे दोनों एक ही बात है । गीतामें जहाँ भगवान्ने शरणका वर्णन किया है वहाँ भक्तिको भी उसका एक प्रधान अङ्ग कहा है । जैसे, उपर्युक्त शरणागति-प्रतिपादक श्लोकमें ‘मद्भक्तो भव’ कहकर भक्तिका मुख्यरूपसे लक्ष्य कराया है । इसी प्रकार गीताके ग्यारहवें अध्यायके ५४-५५वें श्लोकोंमें भगवान्ने अनन्य भक्तिका वर्णन किया है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥

‘परंतप अर्जुन ! अनन्यभक्तिके द्वारा तो इस प्रकारके रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखा जा सकता हूँ, तत्त्वसे जाना जा सकता हूँ तथा प्रवेश अर्थात् एकीभावसे प्राप्त भी किया जा सकता हूँ ।’

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥

‘अर्जुन ! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको करनेवाला है, मेरे परायग है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और समस्त भूतप्राणियोंमें वैरभावसे रहित है, वह अनन्य भक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है ।’

यहाँ ५५वें श्लोकमें अनन्य भक्तिके स्वरूपका लक्ष्य करानेके लिये भक्तके लक्षणोंमें ‘मत्परमः’ कहकर शरणागतिको भक्तिका एक प्रधान अङ्ग बतला दिया है। इससे यह समझना चाहिये कि अनन्य शरण और अनन्य-भक्ति वस्तुतः एक ही है ।

इस तरह जो मनुष्य भगवान्के अनन्यशरण हो जाता है, वह भगवद्भक्त सर्वथा और सर्वत्र निर्भय हो जाता है। उसे किसीका भी भय नहीं रहता । यमदूत आदि उसके निकट भी नहीं आ सकते । श्रीविष्णुपुराणमें श्रीभीष्मजीके वचन हैं——

किङ्कराः पाशदण्डाश्च न यमो न च यातनाः ।
समर्थास्तस्य यस्यात्मा केशवालम्बनस्सदा ॥
(अंश ३ अ० ७ श्लो० ३८)

‘जिसका हृदय निरन्तर भगवान् केशवके परायण है उसका यम, यमदूत, यमपाश, यमदण्ड अथवा यमयातना कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकते ।’

इस प्रसंगमें पितामह भीष्मजीने महामना नकुलके

प्रति, यमराजके द्वारा अपने दूतोंको दिये हुए आदेशका वर्णन करते हुए भक्तोंके लक्षण कुछ विस्तारसे बतलाये हैं, वे वहाँ पढ़कर मनन और धारण करने योग्य हैं। ऐसे भगवद्भक्त जहाँ प्राणत्याग कर रहे हों, वहाँ यमराज और यमदूत दोनोंका ही जानेका अधिकार नहीं है। श्रीभीष्मजी कहते हैं—

स्वपुरुषमभिवीक्ष्य पाशहस्तं
वदति यमः किल तस्य कर्णमूले ।
परिहर मधुसूदनप्रपन्नान्
प्रभुरहमन्यनृणामवैष्णवानाम् ॥

'अपने अनुचरको हाथमें पाश लिये देखकर यमराजने उसके कानमें कहा—'भगवान् मधुसूदनके शरणागत प्राणियोंको तुम छोड़ देना; क्योंकि जो विष्णुभक्त नहीं ऐसे अन्य मनुष्योंका ही मैं स्वामी हूँ ।'

हरिममरवरार्चिताङ्घ्रिपद्मं
प्रणमति यः परमार्थतो हि मर्त्यः ।
तमपगतसमस्तपापबन्धं
व्रज परिहृत्य यथाग्निमाज्यसिक्तम् ॥

'जो भगवान्के सुरवरवन्दित चरणकमलोंको परमार्थ-बुद्धिसे प्रणाम करता है, समस्त पापबन्धनसे मुक्त हुए उस मनुष्यको तुम दूरसे ही उसी प्रकार छोड़कर निकल जाना, जिस प्रकार घृताहुतिसे प्रज्वलित प्रचण्ड अग्निको लोग छोड़कर निकल जाते हैं ।'

कलिकलुषमलेन यस्य नात्मा
विमलमतेर्मलिनीकृतस्तमेनम् ।
मनसि कृतजनार्दनं मनुष्यं
सततमवेहि हरेरतीवभक्तम् ॥

'जिस निर्मल-मतिका चित्त कलिकल्मषरूप मलसे मलिन नहीं हुआ और जिसने अपने हृदयमें सर्वदा भगवान् जनार्दनको बसा लिया है, उस मनुष्यको तुम भगवान्का अतीव भक्त समझो ।'

कनकमपि रहस्यवेक्ष्य बुद्ध्या
तृणमिव यः समवैति वै परस्वम् ।
भवति च भगवत्यनन्यचेताः
पुरुषवरं तमवेहि विष्णुभक्तम् ॥

'जो एकान्तमें पड़े हुए दूसरेके स्वर्णको देखकर भी उसे अपनी बुद्धिके द्वारा तृणके समान समझता है और निरन्तर भगवान्का अनन्यभावसे चिन्तन करता है उस नरश्रेष्ठको तुम विष्णुका भक्त जानो ।'

विमलमतिरमत्सरः प्रशान्तः
शुचिचरितोऽखिलसत्त्वमित्रभूतः ।
प्रियहितवचनोऽस्तमानमायो
वसति सदा हृदि तस्य वासुदेवः ॥
वसति हृदि सनातने च तस्मिन्
भवति पुमाञ्जगतोऽस्य सौम्यरूपः ।

'जो मनुष्य निर्मलबुद्धि, मात्सर्यरहित, प्रशान्त, शुद्धचरित्र, समस्त जीवोंका सुहृद्, प्रिय और हितकर वचन बोलनेवाला तथा अभिमान और माया (कपट) से रहित होता है, उसके हृदयमें भगवान् वासुदेव सदा विराजमान रहते हैं । एवं उन सनातन भगवान्के हृदयमें विराजित हो जानेपर मनुष्य इस जगत्के लिये सौम्यरूप (शान्तरूप) हो जाता है ।'

यमनियमविधूतकल्मषाणा-
मनुदिनमच्युतसक्तमानसानाम् ।
अपगतमदमानमत्सराणां
त्यज भट दूरतरेण मानवानाम् ॥

'हे दूत ! यम[1] और नियम[2]के द्वारा जिनकी पापराशि दूर हो गयी है, जिनका हृदय निरन्तर श्रीअच्युतमें ही

---

[1] अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।
(योगदर्शन २ । ३०)

'अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच 'यम' हैं ।'

[2] शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।
(योगदर्शन २ । ३२)

'बाहर-भीतरकी पवित्रता, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरशरण—ये पाँच 'नियम' हैं ।'

आसक्त रहता है तथा जिनमें गर्व, अभिमान और मात्सर्यका लेश भी नहीं रहा है, उन मनुष्योंको तुम दूरसे ही त्याग देना ।'

हृदि यदि भगवाननादिरास्ते
हरिरसिशङ्खगदाधरोऽव्ययात्मा ।
तदघमघविघातकर्तृभिन्नं
भवति कथं सति चान्धकारमर्के ॥

'यदि खड्ग, शङ्ख और गदा धारण करनेवाले अनादि अव्ययात्मा भगवान् हरि हृदयमें विराजमान हैं तो उन पापनाशक भगवान्‌के द्वारा उसके सभी पाप नष्ट हो जाते हैं । जहाँ सूर्य विद्यमान हैं वहाँ भला अन्धकार कैसे ठहर सकता है !'

सकलमिदमहं च वासुदेवः
परमपुमान् परमेश्वरः स एकः ।
इति मतिरचला भवत्यनन्ते
हृदयगते व्रज तान् विहाय दूरात् ॥

'यह समस्त जगत् और मैं एक परमपुरुष परमेश्वर वासुदेव ही हैं, हृदयमें भगवान् अनन्तके स्थित होनेपर जिनकी ऐसी स्थिरबुद्धि हो गयी है, उन्हें तुम दूरसे ही छोड़कर चले जाना ।'

कमलनयन वासुदेव विष्णो
धरणिधराच्युत शङ्खचक्रपाणे ।
भव शरणमितीरयन्ति ये वै
त्यज भट दूरतरेण तानपापान् ॥

'हे कमलनयन ! हे वासुदेव ! हे विष्णो ! हे धरणिधर ! हे अच्युत ! हे शङ्खचक्रपाणे ! आप हमें शरण दीजिये । जो लोग इस प्रकार पुकारते हों, उन निष्पाप व्यक्तियोंको तुम दूरसे ही त्याग देना ।'

वसति मनसि यस्य सोऽव्ययात्मा
पुरुषवरस्य न तस्य दृष्टिपाते ।
तव गतिरथ वा ममास्ति चक्र-
प्रतिहतवीर्यबलस्य सोऽन्यलोक्यः ॥

'जिस पुरुषश्रेष्ठके अन्तःकरणमें वे अव्ययात्मा भगवान् विराज रहे हैं उसका जहाँतक दृष्टिपात होता है, वहाँतक भगवान्‌के चक्रके प्रभावसे अपने बल-वीर्य परास्त हो जानेके कारण तुम्हारी अथवा मेरी गति नहीं है । वह महापुरुष तो अन्य वैकुण्ठादि लोकोंका अधिकारी है ।'

(विष्णुपुराण अं० ३ अ० ७ श्लो० १४, १८, २१, २२, २४, २४॥, २६, २७, ३२, ३३, ३४)

यह है अनन्य विशुद्ध भगवद्भक्ति (शरणागति) का महान् प्रभाव ! अतएव हमलोगोंको उपर्युक्त प्रकारसे अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर सबको एकत्र भगवान्‌में ही लगाकर पद-पदपर उनकी अपार दयाका दर्शन करते हुए उनकी प्रसन्नतामें ही अत्यन्त प्रसन्न और परम संतुष्ट रहना चाहिये । इससे बहुत शीघ्र परम पदकी प्राप्ति हो सकती है । इसीलिये योगीश्वर श्रीकविजीने कहा है—

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्याऽऽत्मना वानुसृतस्वभावात् ।
करोति यद् यत् सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत् तत् ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । २ । ३६)

'मनुष्य अपने शरीरसे, वाणीसे, मनसे, इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे, आत्मासे अथवा परम्परागत स्वभावसे जो-जो करे, वह सब परम पुरुष भगवान् नारायणके लिये ही है—इस भावसे उन्हें समर्पण कर दे ।' यह उनकी प्राप्तिका सरल-से-सरल उपाय है ।

पागलकी झोली

[कामिनी-काञ्चन]

(लेखक—महात्मा श्रीश्रीठाकुर सीतारामदास ओंकारनाथजी महाराज)

पागल—ओह, कैसा भीषण अन्धकार है ? मुझे कहाँ ले आये ? मेरा श्वास रुका जा रहा है, अरे ! मुझे किस नरकमें रखकर तुम कहाँ चले गये ? मैं तुम्हारा हूँ। मुझे बचाओ। क्या कहा ? भय नहीं है ? तब खोलूँ आँख ?

वाह-वाह ! यह तो बड़ा सुन्दर देश है। वृक्ष-लता सभी बड़े सुन्दर हैं। अहा ! कैसा सुन्दर है पक्षियोंका गान। प्रतीत होता है मानो नदीकी प्रत्येक तरङ्गमें लहर-लहरी खेल रही है। इस देशमें भी वैसे ही दिखायी देते हैं—मिट्टी, जल, आग, हवा और आकाश। यहाँ भी प्रत्येक प्रभातके समय पूर्वाकाशमें ज्योति फैलाते हुए दिनमणि उदय होते हैं। शशधर भी इस देशके लोगोंको अमृतधारासे अभिषिक्त करते हैं। नदीके किनारे-किनारे यह रास्ता है। चलूँ, इसी राहको पकड़कर चलूँ। वह एक आदमी क्या बोलता हुआ आ रहा है। 'हाँ भैया ! यह रास्ता कहाँतक जाता है ?'

आगन्तुक—अर्थ, अर्थ ही जगत्‌में साधनाका धन है। अर्थके बिना कोई काम नहीं होता। धर्म-कर्म कुछ भी क्यों न कहें, अर्थ हुए बिना कुछ भी नहीं होता। जिसके पास अर्थ नहीं है, वह कुत्ते-सियारसे भी हीन है। उसके माता-पिता उसकी सार-सँभाल नहीं करते। स्त्री-पुत्र उसके पास नहीं आते। आत्मीय-स्वजन, बन्धु-बान्धव अर्थहीनको देखकर दूरसे ही भाग छूटते हैं।

पागल—हाँ भैया ! यह रास्ता कहाँ जाता है ?

आगन्तुक—सुख कहो या शान्ति, अर्थ न होनेपर कुछ भी नहीं होता। जिसके पास अर्थ नहीं है, उसके तो मर जानेमें ही मङ्गल है। चाहिये अर्थ, चाहिये अर्थ ! चोरी, डकैती, ठगी, विश्वासघात—जैसे भी हो अर्थ-संग्रह करना होगा। अर्थ—अर्थ—अर्थ !

पागल—यह क्या ? यह आदमी पागल तो नहीं है ? मेरी बातका जवाब दिये बिना ही अर्थ-अर्थ चिल्लाता हुआ चला गया ! ये एक और सभ्य पुरुष आ रहे हैं—'हाँ, महाशय ! यह रास्ता कहाँ जाता है !'

सभ्य महाशय—जो अर्थ देता है, वह भंगी, चमार, चाण्डाल, विधर्मी कुछ भी क्यों न हो, वह प्रणामके योग्य है। जिसके पास अर्थ है, वही तो देवता है। जैसा समय-काल आ गया है, इसमें अर्थके बिना एक पैंड चलनेका भी उपाय नहीं है। गुलामी करके हो या जो कुछ भी करके हो—जो अर्थ उपार्जन कर लेता है, उसीका जन्म सार्थक है। अरे, यदि तू मनुष्य कहलाना चाहता है तो अर्थ संग्रह कर। अर्थ-अर्थ-अर्थ।

पागल—यह आदमी भी मेरी बात नहीं सुन सका। अर्थ-अर्थ पुकारता चला गया। ये देखो—एक ब्राह्मण पण्डित आ रहे हैं। शरीरपर रामनामी है, भालपर तिलक है—श्रीभगवान्‌का नाम लेते आ रहे हैं—अरे नहीं, नहीं; भगवान्‌का नाम नहीं, ये तो अर्थ-अर्थका जप कर रहे हैं। 'हाँ महाशयजी ?—

ब्राह्मण पण्डित—

'धनेन बलवाँल्लोके धनाद्भवति पण्डितः।'

'धनके द्वारा ही मनुष्य बलवान् होता है, धनके द्वारा ही मनुष्य पण्डित होता है।'

अर्थेन तु विहीनस्य पुरुषस्याल्पमेधसः।
क्रियाः सर्वा विनश्यन्ति ग्रीष्मे कुसरितो यथा॥

'ग्रीष्मऋतुमें जैसे छोटी नदी और पोखरी सूख जाती है, इसी प्रकार अर्थहीन व्यक्तिके समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं।'

यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः ।
यस्यार्थाः स पुमाँल्लोके यस्यार्थाः स हि पण्डितः ॥

शास्त्रकार जो कुछ कह गये हैं, अकाट्य सत्य है। जिसके पास अर्थ है—उसीके मित्र, बन्धु-बान्धव हैं। 'उसके हँसनेपर मोती झरते हैं और रोनेपर माणिक पड़ते हैं।' अर्थहीनके लिये जगत्‌में कोई नहीं है। जो धनवान् है—अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष—चतुर्वर्ग उसकी मुट्ठीमें है। जैसे भोजन करते ही भूख भाग जाती है, वैसे ही धन आते ही अशान्ति मिट जाती है। इस लोकमें ही यदि शान्ति नहीं मिली तो परलोकमें शान्ति मिलनेसे क्या होगा ?

न श्ववृत्त्या कदाचन—

ब्राह्मणको नौकरी नहीं करनी चाहिये—ये सब व्यर्थकी बातें हैं। वेदोंको बेचनेपर हो, नौकरी करनेपर हो; चोरी करने, झूठ बोलने, जाल बिछाने या बेईमानी करनेसे हो—जैसे भी हो धन मिलना चाहिये। यही शास्त्र है—मैं इसी धर्मका एकनिष्ठ सेवक हूँ। मेरा आदर्श है—'अर्थं अर्थं भावय नित्यम् !'

पागल—तेरा भला हो; ये पण्डितजी भी मेरी बातका कुछ भी उत्तर दिये बिना ही चले गये। सभीके मुँहसे एक ही बात—अर्थ-अर्थ ! यह क्या मामला है, क्या सभी पागल हैं यहाँ ? यह लीजिये—एक साधु बाबा आ रहे हैं—आहा ! कैसी सौम्य मूर्ति है। गेरुआ पहने हैं, बायें हाथमें कमण्डलु है, दाहिने हाथसे माला जपते-जपते इधर पधार रहे हैं। ओह हरि ! इनकी मालाका मन्त्र भी 'अर्थ' है !

साधु—अर्थ-अर्थ-अर्थ ! मैं अपने भोगके लिये नहीं कहता, अपने भोगके लिये नहीं माँगता, मेरी कुटियापर साधु वैष्णवोंकी चरण-धूलि पड़ती है—उनकी सेवाके लिये ही अर्थकी आवश्यकता है। यह देखो, मेरे गेरुआ वस्त्र, यह देखो मेरा कमण्डलु, यह देखो मेरी जप-माला;—मैंने सारे भोगोंको त्याग दिया है। मेरा सब कुछ दूसरोंके लिये है, मैं तीर्थयात्रा करूँगा; दो, मुझे अर्थ दो।

पागल—हरि हरि ! साधुजीने मेरी ओर एक बार देखा भी नहीं। 'लाओ अर्थ, दो अर्थ' पुकारते हुए ही चल दिये। भगवान् मुझे कहाँ ले आये ! यह कुछ दूरपर हरि-संकीर्तन सुनायी दे रहा है; मृदङ्ग-करतालकी ध्वनि आ रही है—अच्छा है 'हरिनाम-संकीर्तन-दल' इधर ही आ रहा है। जो कुछ भी हो, इसी दलमें शामिल होकर कुछ भगवान्‌का नाम लूँगा। हाय गुरुदेव ! यह कैसा हरि-संकीर्तन !

जपे जाओ—अर्थं अर्थं अर्थं अर्थं अर्थं अर्थं।
कहे जाओ—अर्थं अर्थं अर्थं अर्थं अर्थं अर्थं ॥
(बोलो भाई; अर्थं अर्थं महामन्त्र बोलो भाई।)

पागल—यह क्या हो गया ? सभीके मुखसे एक ही बात। सैकड़ों-सैकड़ों कण्ठोंसे केवल अर्थ-अर्थकी चिल्लाहट ! ये जो हजारों आदमी—अर्थ-अर्थ पुकारते बे-भान दौड़ रहे हैं, पड़ेंगे या मरेंगे, पता नहीं है। सभी जोरोंसे दौड़ रहे हैं, मैं ही केवल चुपचाप खड़ा देख रहा हूँ। ये सब पागल हैं या मैं पागल हूँ, समझ नहीं पा रहा हूँ। कोई है—एक बार बता तो दो मैं पागल हूँ या नहीं ? ओ मेरे तुम ! बोलो-बोलो-बोलो।

—'स्वप्नोऽयं स्थिरो भव'

स्वप्न ! हरि हरि, मैंने यह सबेरे-सबेरे खड़े-खड़े स्वप्न देखा ! रहने दो, इस रास्ते अब नहीं जाऊँगा। इस उल्टी राहको पकड़कर चलूँगा। यह जो एक सुन्दर युवक चला आ रहा है—'हाँ भाई, यहाँसे बस्ती कितनी दूर है ?'

युवक—मनुष्य रचा गया है मौज लूटनेके लिये। नशा-शराब न किया गया, रमणियोंको लेकर मौज-मजा न लूटा गया तो फिर मनुष्य क्यों बने ? फिर तो पशु-पक्षी ही बनना चाहिये था। भगवान्‌ने जब मनुष्य बनाया है, तो मजा लूटो। गाओ-बजाओ, नारियोंके साथ—आँख-कानोंको सार्थक करो !

पागल—माँ दुर्गा! यह एक नया उपसर्ग चला। यह भी मेरी बातका उत्तर न देकर ही चला गया। अबकी बार ये एक प्रौढ़ व्यक्ति आ रहे हैं—'हाँ महाशय! गाँवका रास्ता किधर है?'

प्रौढ़—इस विश्वकी रानी है नारी! जो नारीको संतुष्ट कर सका, उसीका जीवन सार्थक है, वही कृतकृत्य है, वही प्रातःस्मरणीय पुरुष है। पिता-माता आज नहीं तो कल मर ही जायँगे—उनकी सेवा करनेमें क्या लाभ! स्त्रीकी सेवा करो, वह तुम्हें चतुर्वर्ग फल देगी। फूल-तुलसी-चन्दन लेकर भगवान्की पूजा न करके नारीकी पूजा करो। नारीको कष्ट मत दो। इससे घरका कोई भी काम मत करवाओ। किसी अतिथिकी सेवा इसके द्वारा करवाकर इसे कष्ट मत पहुँचाओ। बड़े जतनसे चुपचाप नारीकी सेवा किये जाओ। नारी संतुष्ट हो गयी तो जगत् संतुष्ट होगा। नारी-नारी-नारी।

पागल—ये भले आदमी तो नारी-नारी पुकारते चले गये। मैं अब किस ओर जाऊँ? ये एक ब्राह्मण पण्डित इधर आ रहे हैं। रामनामी और तिलकमें तो अब मेरा विश्वास-भरोसा रहा नहीं बाबा! कुछ भी हो जरा पूछ तो लूँ। 'हाँ महाशय! गाँव कितनी दूर जानेपर मिलेगा?'

ब्राह्मण—सम्पर्क-सम्बन्धकी बात सोचनेपर काम नहीं चलता। भोगकी चीजको भोगते जाओ। किस दिन मौत आ जायगी—पता नहीं। जबतक जीवन है, भोग करो। भोग करो, भोग करो, भोग करो! ध्यान करना हो—मनोहर नारी-मूर्तिका ध्यान करो। जप करना हो तो 'नारी'-मन्त्रका जप करो। पूजा करनी हो तो नारीके चरणोंकी पूजा करो। दासत्व करना हो तो बस नारीका दासत्व करो।

पागल—'नारी, नारी' पुकारते ये ब्राह्मण देवता भी चले गये। यह सब क्या हो रहा है? मैं कहाँ चला आया। हजारों-हजारों बालक, वृद्ध, युवक 'नारी-नारी' चिल्लाते दौड़ रहे हैं। यह उस ब्रह्मचारीकी लीलास्थली पवित्र आर्यभूमि है या महाश्मशान है? ये सब मनुष्य हैं या भूत-प्रेत? कैसा भीषण प्रवाह है! बचाओ-बचाओ, रक्षा करो। मैं तुम्हारे शरणागत हूँ। जगत्की रक्षा करो। मुझे लगता है मैं पागल हो गया हूँ। सचमुच ऐसी ही बात है? यह क्या देख रहा हूँ बताओ तो!

—'किमत्र हेयम्? कनकं च कान्ता। द्वारं किमेकं नरकस्य? नारी।'

'उत्तिष्ठत जाग्रत! स्वप्नोऽयं स्थिरो भव।'

पागल—राम-राम! मैंने फिर स्वप्न देखा। अब कहीं नहीं जाऊँगा। जो हो भाग्यमें। अब तो यहीं बैठूँगा, ये एक रमणी आ रही हैं, अब मैं कुछ नहीं बोलूँगा। देखूँ ये क्या बोलती चली आ रही हैं?

रमणी—पुरुष पशु है, हमारे इशारेपर उठेगा, बैठेगा, हँसेगा, रोयेगा, नाचेगा। हमारी जो इच्छा होगी हम वही करेंगी। जगत्का ध्वंस करनेके लिये ही हमारी सृष्टि हुई है। हम नहीं होने देंगी अब देवसेवा, अतिथि-सेवा संसारमें। एकमात्र हमारी सेवा करके ही पुरुष कृतार्थ होगा। घरसे आत्मीय-स्वजनोंको निकालकर घरकी मालिकिन बनकर हम पतिरूप बंदरको गुलाम बनाकर रक्खेंगी। वह सब कुछ छोड़कर हमारी सेवा-परिचर्यामें लगा रहेगा। हमारा हँसमुख देखकर वह धन्य होगा। वह अपनी सारी शक्ति, सम्पूर्ण चेष्टाके द्वारा हमारी पूजा करेगा। उसके इहलोक-परलोकको बिगाड़ देनेके लिये ही हमारा जन्म हुआ है। जबतक पुरुष नारीका दासत्व नहीं करेगा, तबतक वह पशुके सदृश ही बना रहेगा।

पागल—ओह! यह सब क्या है? कैसी विश्वव्यापी भयानक चिल्लाहट है!! 'भोग करो, भोग करो—भोग करो। चार दिनोंके लिये संसारमें आये हो, भोग

कर लो ।' मानो पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग, वृक्ष-लता आदि सब कह रहे हैं—भोग करो । वायु मानो 'भोग करो, भोग करो' पुकारता हुआ बह रहा है, नदीकी तरङ्गें 'भोग करो, भोग करो' कहती हुई तटपर पछाड़ खा रही हैं ! बस, यही ? इतने बड़े मानव-जीवनका क्या यही उद्देश्य है ? मुझे बड़ी नींद आ रही है ! मैं मानो खूब छोटा-सा हो गया हूँ ! 'गोदमें लेकर स्तन्य पान कराना चाहती हो, कौन हो तुम ?'

—'मैं तेरी माँ हूँ। बेटा ! ले—स्तन-दुग्ध पी ले ।'

पागल—तुम कैसे मेरी माँ हो गयी ? मैं तो अभी-अभी इस देशमें आया हूँ । सभी मानो टूटा-टूटा-सा है, सभी गोलमाल-सा है ! मेरा मानो कोई एक अपना था, वह बहुत ही प्यार करता सदा । समुद्रमें जलकी बूँदके समान मैं उसके वक्षःस्थलपर मानो खेला करता । बड़ी नींद आ रही है । 'यह तुम और कौन हो ?'

'—मैं तुम्हारा पिता हूँ ।'

पागल—पिता ! पिता ! कौन-सी मानो एक बात याद नहीं आ रही है, याद करने जाकर भूला जा रहा हूँ । मेरा एक कोई अपना था, सदा वह मुझे छातीसे लगाये रखता ! 'अच्छा तो बताओ—तुम्हीं लोग बताओ, बताओ मैं क्या करूँ ?'

'—पढ़ना-लिखना चाहिये । पिता-माताकी सेवा करनी चाहिये और इसके लिये अर्थोपार्जन करना चाहिये ।'

पागल—बस यही ? मेरा वह कहाँ चला गया ? ओहो—बड़ी नींद आ रही है । 'अरी, तुम फिर कौन आ गयी ?'

'—मैं तुम्हारी स्त्री हूँ ।'

पागल—वही पुरानी बात—याद जो नहीं कर पा रहा हूँ; मेरा अपना एक कोई था । वह कहाँ चला गया ? ये सब कौन आ गये ? 'बताओ, मुझे क्या करना है ?'

'—मैं तुम्हारी स्त्री हूँ । मेरा भरण-पोषण करना चाहिये, मेरा आदर-सत्कार करना चाहिये, अर्थोपार्जन करना चाहिये और सुखभोग करना चाहिये ।'

पागल—माता, पिता, स्त्री—सभी अर्थकी ही बात कह रहे हैं । मुझे मानो एक स्वप्न-राज्यकी बात याद आ रही है । वह मानो बड़ा ही सुन्दर देश था, वहाँ 'वह' था और 'मैं' था । मैं भी मानो नहीं था । बड़ी नींद आ रही है । 'अरे—तुम सब इतने कौन हो ?'

'—हम हैं तुम्हारे पुत्र-कन्या, बन्धु-बान्धव, आत्मीय-स्वजन—तुमको हमारा पालन करना चाहिये, यों उदासीन रहना ठीक नहीं, अर्थोपार्जन करो ।'

पागल—रास्तेके बीचमें मेरे इतने लोग कहाँसे इकट्ठे हो गये ? सभी एक अर्थकी बात कह रहे हैं। अर्थका अत्यन्त प्रयोजन है—अच्छा यही करूँगा। अच्छा, वह कहाँ छिप गया ? वह जो मेरा कुछ लगता था । मुझे कितना प्यार करता !

अरे बाप रे यह क्या ? स्त्री एक साँप बन गयी, वह दौड़ा आकर मेरी छातीमें डँस रहा है। मरा-मरा—अरे माता-पिता, बन्धु-बान्धव, आत्मीय-स्वजन कहाँ हो तुम सब ? मेरी रक्षा करो—मैं मरा । अरे, देखते-ही-देखते ये सभी साँप बन गये—लड़का साँप बन गया, कन्याएँ साँप बन गयीं । चारों ओरसे लगातार मुझे डँस रहे हैं । मरा, मरा जल-भुनकर ! हाय रे विषकी ज्वालासे जलकर मरा ! कोई है ? मुझे बचाओ । मैं तुम्हारे शरण हूँ—मैं तुम्हारा हूँ, बचाओ-बचाओ ।

'त्राहि मां पुण्डरीकाक्ष हरे संसारसागरात् ।'

हरि ॐ—हरि ॐ—हरि ॐ

'—क्यों रे पागल ! मेरे इन रूपोंको देखकर तु डर गया था ? भय नहीं है—

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।

पागल—अहा, आ गये तुम ? ये सब क्या तुम्हारे ही रूप थे ? कौन हो तुम जो गुरुरूपसे मेरा उद्धार करने आये हो ? तब पुकारूँ—हरि ॐ, हरि ॐ, हरि ॐ ।

'—क्या रे पागल, नाच रहा है ?'

पागल—अब नाचूँगा नहीं ? तुम जब शब्दब्रह्म-रूपमें दर्शन दे रहे हो ! अब नाचूँगा नहीं ? केवल मैं ही नहीं नाच रहा हूँ । मेरे हाथ नाच रहे हैं, मेरे पैर नाच रहे हैं, जीभ नाच रही है, नस-नसमें कण नाच रहे हैं, मेरा अङ्ग-अङ्ग—रोम-रोम नाच रहा है। मैं नाचके सागरमें डूब रहा हूँ । हरि ॐ, हरि ॐ, हरि ॐ । खूब हो तुम !

'क्यों रे ? हरि ॐ, हरि ॐ, हरि ॐ ।'

पागल—ओहो हरि ! तुम्हीं सब सज रहे हो । तुम्हीं पिता-माता, स्त्री-पुत्र सब सजे थे। पर देखो, मैं तुम्हें तब भी नहीं पहचान सका। कैसी पीड़ा है ? तुम यदि इस पीड़ाका अनुभव करते तो ऐसा खेल नहीं खेलते । तुम तो, मालूम होता है, बहुरूपिया हो । अकेले तुम इतने वेष बना सकते हो । नर-नारी, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, वृक्ष-लता सब बनकर खेल करते हो। वाह, खूब ! यह बात पहले ही क्यों नहीं बता दी कि देखो सब कुछ मैं ही हूँ ।

'—इस देशमें आकर जो सो जाता है, वही स्वप्नमें पीड़ा प्राप्त करता है । तुम जगते रहो—सब कुछ मैं ही हूँ, यह ज्ञान स्थिर रहेगा ।'

पागल—बड़ी नींद जो आ रही है ।

'—जप करो । सदा 'हरि ॐ हरि ॐ हरि ॐ' जप करो । लगातार उच्चस्वरसे बोलते रहो—हरि ॐ, हरि ॐ, हरि ॐ । फिर, तुम्हें कैसे भी नींद नहीं आयेगी ? जो सो रहे हैं, तुम्हारी जोरकी चिल्लाहटसे उनकी भी नींद टूट जायगी । तुम्हारे स्वरमें स्वर मिलाकर वे भी गाने लगेंगे—हरि ॐ, हरि ॐ, हरि ॐ । **कितने ही भय क्यों न आवें—नाम मत छोड़ना ।'**

पागल—भय किस चीजका ? तुम हो और मैं हूँ ।

हरि ॐ, हरि ॐ, हरि ॐ ।

* * *

बड़प्पनका मापदण्ड

कोई कहता है कि मैं धनी हूँ, इसलिये बड़ा हूँ। कोई कहता है मैं पहलवान हूँ, इसलिये बड़ा हूँ। कोई कहता है मैं विद्वान् हूँ, इसलिये बड़ा हूँ। कोई कहता है मैं बुद्धिमान् हूँ, इसलिये बड़ा हूँ। कोई कहता है मैं उच्चपदाधिकारी हूँ, इसलिये बड़ा हूँ। कोई कहता है मैं कुलीन हूँ, इसलिये बड़ा हूँ; परंतु यह सब कुछ नहीं। इस तरहकी धारणा सीमित और अपूर्ग है। बुद्धि, बल, विद्या, धन, कुलीनता, उच्चपद आदि प्रतिभासे सम्पन्न हो जानेकी स्थितिमात्र बड़प्फनके सम्बन्धमें पर्याप्त नहीं है। मनुष्यका मूल्याङ्कन मानव-धर्मके आचरणपर अवलम्बित है। मानव-धर्मका आचरण करना ही बड़प्पनका सही मापदण्ड है। बड़प्पनकी अभिलाषाकी पूर्ति मानव-धर्मके आचरण करनेसे अवश्य हो सकेगी।

—श्रीअजयकुमार ठाकुर

वेदान्तका श्रवण-मनन

(लेखक—ब्र०पूज्यपाद श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महात्मा श्रीनथुरामजी शर्मा)

[अनुवादक—श्रीसुरेश एम० भट]

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ।

आत्मसाक्षात्कारके लिये वेदान्तके श्रवण, मनन और निदिध्यासनका विधान श्रुतिमें किया गया है । जीव-ब्रह्मके वास्तविक स्वरूपके अभेदका बोध करनेवाला वेदका जो उपनिषद्भाग है उसे वेदान्त कहते हैं । वेदान्तके प्रमाणभूत तीन ग्रन्थ हैं—शांकरभाष्यसहित ईश आदि दस उपनिषद्, शांकरभाष्यसहित श्रीभगवद्गीता और शांकरभाष्यसहित ब्रह्मसूत्र । इन प्रमाणभूत ग्रन्थोंका किसी श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ पुरुषद्वारा एकाग्र-चित्तसे आदरपूर्वक श्रवण करना ही वेदान्त-श्रवण है ।

अन्तःकरणकी योग्यताके बिना वेदान्तश्रवण मनुष्यके लिये लाभजनक नहीं होता । इसीलिये विवेकी मनुष्यको पहले अपने अन्तःकरणकी योग्यता बढ़ानी चाहिये । विवेक, वैराग्य, शमादि षट्सम्पत्ति और **मुमुक्षुता—इन चार साधनोंकी प्राप्ति होनेपर अन्तःकरणकी योग्यता बढ़ती है । इन चार साधनोंसे हीन मनुष्यके लिये वेदान्तश्रवण निरुपयोगी है ।**

भ्रमित अन्तःकरणसे उपनिषद् अथवा ऐसे ही अन्य ग्रन्थोंका श्रवण करनेसे यथोचित लाभ नहीं होता । इसीलिये अन्तःकरणको एकाग्र रखकर वेदान्त-श्रवण करनेका अनुरोध किया गया है ।

वेदान्तश्रवण पवित्र स्थानपर, एकाग्रतासे, एक आसनसे, वक्ताके सम्मुख बैठकर, सावधानता और परम प्रीति रखकर करना चाहिये तथा वेदान्तके विषयोंको अपने अन्तःकरणमें सुस्थिर करना चाहिये ।

जो मनुष्य वेदान्त-सिद्धान्तके मुख्य ग्रन्थोंको अर्थ-सहित नहीं समझता, जो सुन्दर युक्तियोंके द्वारा जिज्ञासुओंके मनका समाधान करनेमें असमर्थ है और जिसको ब्रह्मस्वरूपका दृढ साक्षात्कार नहीं हुआ है, **ऐसे पुरुषके द्वारा वेदान्तश्रवण करनेकी इच्छा जिज्ञासु—मुमुक्षुको नहीं रखनी चाहिये ।**

वेदान्त-सिद्धान्तके श्रवणद्वारा ब्रह्मभाव किंवा सर्वात्मभाव प्राप्त करना है । मनुष्यके संकुचित हृदयका आत्यन्तिक विकास हुए बिना वह सर्वात्मभावको प्राप्त नहीं कर सकता । वेदान्तश्रवण करनेवाले साधकको समस्त प्राणी-पदार्थोंके अधिष्ठानरूप ब्रह्मका दृढ साक्षात्कार करना है । अतः ऐसे जिज्ञासु-मुमुक्षुको समस्त प्राणी-पदार्थोंके प्रति विशुद्ध प्रेमभाव रखना और ऐसा ही बर्ताव करना चाहिये । किसीमें न तो द्वेषयुक्त दृष्टि रखनी चाहिये और न द्वेषयुक्त बर्ताव ही करना चाहिये । जो मनुष्य सच्चे अर्थमें वेदान्ती बनना चाहते हैं, उन्हें अपने अन्तःकरणको गर्व, द्वेष, ईर्ष्या, क्रूरता और असूया आदि दोषोंसे दूर रखना चाहिये तथा प्राणिमात्रके साथ स्वार्थरहित निर्दोष प्रेम रखना चाहिये । इतना ही नहीं, अपने सधर्मी बन्धुओंके साथ उन्हें अपने निकटके सम्बन्धियोंसे भी अधिक प्रीति रखकर उनका आदर करना चाहिये ।

पवित्र और एकाग्र अन्तःकरणयुक्त जिज्ञासु जब श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ पुरुषके द्वारा वेदान्तश्रवण करता है, तब उसे आत्मासे अभिन्न ब्रह्मका ज्ञान होता है। ऐसा ज्ञान होनेपर उसके आलोकसे दुःखोंका नाश होता है; क्योंकि भोक्ता और भोग्य दोनों मिथ्या हैं, यह बात उसकी समझमें आ जाती है । परलोकके सुख-दुःखकी चिन्ता ज्ञानी मनुष्यको नहीं होती। ज्ञानामृतसे तृप्त कृतार्थ—ज्ञानीके लिये कोई भी कर्तव्य नहीं है । ब्रह्मवेत्ताको सहज ही अभय, ब्रह्मभाव, सर्वदुःखोंके अभाव और सर्वात्मभावकी प्राप्ति होती है ।

जब मनुष्यका चित्त शुद्ध और विवेक आदि साधनोंसे सम्पन्न होता है और वह श्रद्धा, आदर और एकाग्रतासे श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महापुरुषोंद्वारा वेदान्तका श्रवण करता है तब उसे वेदान्तका मनन होता है । बाधक-साधक युक्तियोंके द्वारा स्वस्थतापूर्वक आदरसहित उपनिषद् द्वारा प्रतिपादित अद्वितीय ब्रह्मका चिन्तन करना ही

वेदान्त-मनन है। ब्रह्मस्वरूपका अनुभव करके कृतार्थ होनेकी इच्छा रखनेवाले मुमुक्षुको अपने चित्-स्वरूपका अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टिसे अवलोकन करना चाहिये।

वेदान्तमें जगत्के, ईश्वरके, आत्माके, ब्रह्मके एवं मोक्षके स्वरूपका तथा मोक्षके साक्षात् या परम्पराके साधनोंका निरूपण किया गया है।

नाम, रूप और क्रियाका समुच्चय ही जगत् है। ब्रह्मके आश्रयसे मायाशक्ति विविध जगत्का निर्माण करती है। ब्रह्ममें विवर्तरूपसे प्रतीत होता हुआ जगत् ...नी सर्वप्राणि-पदार्थ ब्रह्मरूप ही हैं और ब्रह्मसे अभिन्न हैं। जगत्के स्वरूपका मनन करते-करते भिन्न-भिन्न नाम-रूपोंसे युक्त पदार्थ भी अन्तमें एक ब्रह्मरूप ही हो जाते हैं। मुमुक्षुके हृदयमें यह निश्चय दृढ होनेपर 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस श्रुतिवाक्यकी सत्यताकी स्पष्ट धारणा हो जाती है।

जगत्के स्वरूपका मनन हो जानेपर मुमुक्षुको जीवके स्वरूप-सम्बन्धमें मनन करना चाहिये। जीवका वास्तविक स्वरूप सर्वव्यापक ब्रह्मसे अभिन्न है। जीवके स्वरूपका मनन करते-करते ऐसा निश्चय हो जाता है कि प्रत्येक जीवमें व्याप्त सद्रूप, चिद्रूप, परमानन्दरूप, व्यापक, असङ्ग और अक्रिय ब्रह्मतत्त्व ही समस्त जीवोंका वास्तविक स्वरूप है। जगत् और जीवके स्वरूपका मनन करनेके बाद ईश्वरके स्वरूपका मनन करना चाहिये। वस्तुतः शुद्ध चेतन या ब्रह्म ही ईश्वर है।

जीवमेंसे अविद्या एवं उनके धर्मोंका नाश होनेपर जो शुद्ध स्वरूप रह जाता है वही आत्मा है और वह आत्मा ही ब्रह्मस्वरूप है। देश, काल और वस्तुके परिच्छेदसे रहित तथा सजातीय, विजातीय और स्वगत आदि भेदोंसे रहित शुद्ध चैतन्यको ब्रह्म कहा जाता है। ब्रह्म सर्वदा सब प्रकारके दुःखोंसे अत्यन्त रहित और नित्य परमानन्दरूप है। आत्मासे अभिन्न इस ब्रह्मस्वरूपमें उत्थानरहित स्थिति करना ही मोक्ष है। यह मोक्ष ब्रह्मके दृढ़ अपरोक्ष ज्ञानसे होता है। ब्रह्मका दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान साधनसम्पन्न पुरुषको समर्थ सद्गुरुके ब्रह्मोपदेशसे होता है। जो अधिकारी अपनी बुद्धिके दोषसे ब्रह्मका दृढ़ साक्षात्कार करनेमें असमर्थ हैं, उनको सर्वसंशयोंकी निवृत्ति होनेतक सद्गुरुके उपदेशका आदरपूर्वक श्रवण-मनन करना आवश्यक है।

जिस मनुष्यके चित्तमें विवेक, वैराग्य, शम आदि षट्सम्पत्ति और मोक्षप्राप्तिकी इच्छा—ये चार साधन उत्पन्न नहीं हुए हैं, उसके चित्तमें सद्गुरुके उपदेशका आदरपूर्वक यथार्थ ग्रहण—धारण नहीं हो सकता। आदरपूर्वक प्रयत्न करके इन चार साधनोंका सम्पादन करना चाहिये। तभी श्रवण-मनन आदिके द्वारा कृतार्थ होना सहज होगा।

आलस्य-प्रमाद आदिका परित्याग कर अपने चित्तको पवित्र करके जो मनुष्य विवेक आदि साधनोंको सदाग्रहपूर्वक सम्पादन करता है। तत्पश्चात् वेदान्तका श्रवण और उनके मुख्य विषयोंका उपर्युक्त रीतिसे मनन करता है। वही मुमुक्षु निदिध्यासन या ब्रह्मध्यान करनेमें समर्थ है।

ब्रह्मका साक्षात्कार ही मोक्षकी प्राप्ति है। ब्रह्मका साक्षात्कार ब्रह्म-विचार या निदिध्यासनसे होता है। वेदान्तके मुख्य विषयोंका मनन करनेपर स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि एक और अद्वितीय ब्रह्म ही सत्य है, अन्य सब पारमार्थिक नहीं, बल्कि प्रातिभासिक सत्य है।

जो मननशील मुमुक्षु पुरुष वेदान्तका या सद्गुरुके उपदेशका आदरपूर्वक श्रवण-मनन करता है, वह समस्त शास्त्रोंके तर्कोंका त्याग करके एकमात्र ब्रह्मचिन्तनमें तत्पर होता है। ऐसा अधिकार प्राप्त किये बिना वास्तविक ब्रह्मचिन्तन या निदिध्यासन किसी भी पुरुषके द्वारा नहीं हो सकता। अतः उनके फलस्वरूप होनेवाला वास्तविक ब्रह्मसाक्षात्कार भी उनको नहीं हो सकता।

अन्तर्यामी ईश्वर सभी अधिकारी मुमुक्षु पुरुषोंको उपर्युक्त रीतिसे वेदान्तका श्रवण-मनन करनेका उत्तम सामर्थ्य प्रदान करें। हरि ॐ

विश्वमें अशान्ति क्यों ?

(लेखक—महात्मा श्रीनिरञ्जनजीके विचार)

[प्रेषक—डा० सूर्यकान्त ठाकुर]

जब मनुष्य प्रकृति-द्रौपदीके सामने मातृभावसे पेश न आकर दुःशासन बनता है तब उसीका परिणाम भीषण महाभारत होता है। जडवादी विज्ञानरूपी दुःशासन प्रकृति-द्रौपदीके आवरणोंको हटाना चाहता है। उसी अवाञ्छनीय मनोरथका परिणाम वर्तमान महायुद्ध है। आर्य-संस्कृतिका इतिहास कहता है कि भारतके प्राचीन चैतन्य विज्ञानियोंने मातृभावसे प्रकृति देवीके रहस्योंको जाननेका प्रयत्न किया था। आर्य-संस्कृतिके गम्भीर अध्ययनशील पुरुषोंसे उसका परिणाम छिपा हुआ नहीं है। मानवजाति सदा शान्ति चाहती है, परंतु अज्ञानवश अज्ञातरूपसे या अपने सीमित अभिमान और बुद्धिके भरोसे अपनी महत्त्वाकाङ्क्षाओंकी पूर्तिके उद्देश्यसे मनुष्य कुछ ऐसे काम कर बैठता है जो मानव-समाजके लिये अशान्ति और अकल्याणका कारण बन जाते हैं।

आर्य-संस्कृति केवल मानव-सृष्टिका ही नहीं, बल्कि समस्त प्राणिजगत्‌का कल्याण चाहती है। ठीक उसीके बिपरीत पाश्चात्त्य जड-संस्कृति है, जिससे प्रभावित होकर मनुष्य व्यक्तिगत स्वार्थशील, भोगविलासमें लिप्त और क्षुद्र वासनाओंकी तृप्तिका एकमात्र ध्येय अपने सामने रखकर अपनी समग्र शक्तियोंको उसी ओर लगा देता है। भूगर्भके खनिज पदार्थ रसायन इत्यादिका, जो पृथ्वीकी जीवनीशक्तिके आधारस्वरूप प्रधान वस्तुओंमें हैं, विनाश करनेमें मनुष्यकी पूरी शक्ति लगी हुई है। प्रकृति इस या इस प्रकारकी और कुप्रवृत्तियोंको सहन नहीं कर सकती। इन कामोंकी प्रतिक्रियाएँ विश्वके बाहरी वायुमण्डल और जड-चेतन पदार्थोंको दुःख, अशान्ति और विपत्ति उत्पन्न करनेवाली परिस्थितिमें डाल देती हैं। प्रकृतिका अगोचर हाथ पृथ्वीके पटपर शतरंजकी चाल शुरू कर देता है। गोटियाँ समझती हैं कि वे समझदारीसे एक दूसरेका मुकाबला कर रही हैं, परंतु वास्तवमें वे तो उसी छिपे हुए हाथकी कठपुतलियाँ हैं। विश्वके अणु-अणुमें फैली हुई मातृशक्ति जडवादद्वारा पैदा की हुई अव्यवस्थाको सुव्यवस्थित करना चाहती है। उस महाशक्तिका इरादा पूरा हो जाता है कि मनुष्यमें ऐसे प्रसङ्गोंके विरुद्ध, जिनको उसने पर्या महत्त्व दे रक्खा है, परंतु जो प्रकृतिके निस्सीम क्षेत्रोंकी तुलनामें नगण्य और क्षुद्रवत् हैं,—प्रतिक्रिया उत्पन्न हो जाती है, तब वहीं पृथ्वीको रक्तरञ्जित करनेवाला नाट्य-प्रयोग इतिश्रीके निकट पहुँचता है। जबतक वर्तमान विज्ञानकी प्रगति अध्यात्मवादकी ओर न झुक जाय, तबतक संसारमें शान्ति स्थापित होना अशक्य माल्रम पड़ता है। मनुष्य या मानव-समाजकी इच्छा हो या न हो, प्रकृतिदेवी उस परिस्थितिमें उसे बाध्य करके घसीट ले जाना चाहती है।

संसारकी समस्त संस्कृतियोंकी जननी सच्ची आर्य संस्कृति, मानव-समाजके कल्याणमें उपयुक्त हो सकती है। मनुष्यजाति जितने अंशमें इस संस्कृतिसे दूर भागेगी, उतने ही अंशोंमें उसे शान्तिसे दूर रहना पड़ेगा।

* * *

मधुर

प्रेमके प्रगाढ़भावसे अनुरक्त मनमें मिलनकी अत्यन्त उत्कण्ठाके उदय हो जानेपर जो एक विलक्षण व्याकुलता आ जाती है, मिलनकी पूर्वावस्थामें दर्शन-श्रवणादि विविध हेतुओंसे भावोंके उद्दीप्त होनेपर जो एक अनिर्वचनीय मिलन-व्यग्रता उत्पन्न हो जाती है, उसे 'पूर्वराग' कहते हैं। प्राकृत नायक-नायिकाओंका पूर्वराग मिलन-कामनाको लेकर होता है, परंतु भगवान् श्यामसुन्दर तथा स्व-सुख-वाञ्छा-विरहित श्रीगोपाङ्गनाओंका पूर्वराग विशुद्ध प्रेममय होता है। इस पूर्वरागकी उत्पत्तिके अनेक हेतु होते हैं। उनमें यहाँ आज 'साक्षात् दर्शन,' 'स्वप्नदर्शन,' 'श्रीकृष्ण-नामश्रवण', 'दूतीके द्वारा लीला-श्रवण' और 'लीलास्थली-दर्शन'—इन पाँच हेतुओंका संकेत बतानेवाले श्रीगोपाङ्गनाओंके द्वारा स्फुट कुछ भाव नीचेके पाँच पदोंमें दिये जाते हैं—

साक्षात् दर्शन

हौं जल भरन गई री सजनी !
चलि वा दिन कालिंदी कूल।
देखे तहँ ठाढ़े नटवर नँद-
लाल, गई सारी सुध भूल ॥
अंग अंग रस-सुधा बरस रहि,
नव किसोर लावन्य ललाम।
कुंचित कच, त्रिभंग तनु भंगिम,
सिर मयूर-चंद्रिका सुठाम ॥
चंचल दृग तिरछे अरुनारे,
स्रवत प्रेमरस की मधु धार।
बरबस, करषि लियौ मन मेरौ,
कोटि मनोज लजावनहार ॥
सुस्मित अधर, बदन मुनि-मनहर,
बरन नील, उर मुकता-पाँति।
मधुर मुरलि मधु-नाद-निनादिनि
हरत मदन-मानस सब भाँति ॥
जा दिन तें मोहि कछु न सुहावै,
काँपत सकल अंग दिन रात।
कब निरखौं हिय भरि मनमोहन,
कब परसौं सुचि पद-जलजात ॥

'सजनी ! उस दिन मैं जल भरनेके लिये चलकर यमुनाजीके तटपर गयी थी। वहाँ मैंने नटवर नन्दनन्दनको खड़े देखा, देखते ही मैं सारी सुध-बुध भूल गयी। उनके अङ्ग-अङ्गसे रस-सुधाकी वर्षा हो रही थी, नवीन किशोर वय था, ललित लावण्य था। घुँघराले केश, त्रिभंग भंगिमायुक्त मङ्गलविग्रह, सिरपर मोरपंखकी सुन्दर चन्द्रिका और अरुणिम चञ्चल नेत्र थे, जिनसे प्रेम-रसकी मधुर धारा बह रही थी। उन करोड़ों-करोड़ों कामदेवोंको लज्जित करनेवाले सौन्दर्यस्वरूपने मेरे मनको बलात् खींच लिया। उनके अधरोंपर मृदु हास्य खेल रहा था, उनका श्रीमुख मुनि-मन-हारी था, नीलश्याम वर्ण था, वक्षःस्थलपर मोतीकी लड़ियाँ सुशोभित थीं। वे मधुर नादका निनाद करनेवाली मुरली लिये थे। मदनके मनको भी सब भाँतिसे हरण कर रहे थे। जिस दिन इस रूपमें उनको देखा, उस दिनसे मुझे कुछ भी नहीं सुहाता। तबसे मेरे सारे अङ्ग काँपते रहते हैं। मैं कब उन मनमोहनको हृदय भरकर देखूँगी और कब उनके चरण कमलोंका स्पर्श करूँगी।'

स्वप्न-दर्शन

सोवत रही सखी ! मैं अति सुख !
कोटि भानु दुति राजत सीतल
प्रगट्यौ मधुर मनोहर श्रीमुख !
अधर मधुर मृदु मुसुकनि सोहनि,
ऋषि-मुनि-ज्ञानी-तापस मन-हर।
भ्रुकुटि कुटिल सुचि चंचल दृग-जुग,
मोहन बेनु विमल राजत कर ॥
मुक्ता-मनि-गुंजा-तुलसी-बन-
सुमन-हार सोभित सुंदर गल।
पग नूपुर छमकार चित्तहर,
बाजत कटि किंकिनि घूँघर कल ॥

पाय रूप-सौंदर्य-सुधा मैं
छकी, थकी-सी रही चकित मन।
भुजा पसार चली अति आतुर
बिह्वल तुरत चरन-जुग पकरन ॥
टूट्यौ सुपन जगी औचक, रहि
भौंचक दीखे नहिं नँदनंदन।
तब तें दारुन जरत जरनि जिय,
निसिदिन दहत रहत सखि ! मन-तन ॥

'सखी ! मैं अत्यन्त सुखसे सो रही थी। (मैंने स्वप्नमें देखा—) करोड़ों सूर्योंके शीतलतायुक्त प्रकाशसे सुशोभित मधुर मनोहर मुख प्रकट हो गया। उसके अधरोंपर मधुर मन्द मोहनी ऐसी मुसकान छिटक रही थी जो ऋषि, मुनि, ज्ञानी तथा तपस्वियोंके भी मनका हरण करनेवाली थी। (इतनेमें पूरे मङ्गलविग्रहके दर्शन होने लगे) उन श्रीश्यामसुन्दरकी भौंहें टेढ़ी थीं, पवित्र नेत्र-युगल चञ्चल थे, पवित्र हाथमें मोहन मुरली सुशोभित थी। गलेमें सुन्दर मोती, मणि, गुंजा, तुलसी तथा वनपुष्पोंके हार झूल रहे थे। पैरोंमें चित्त हरण करनेवाली नूपुरोंकी छम-छम-ध्वनि हो रही थी। कटि-प्रदेशमें किंकिणीके सुन्दर घुँघरू बज रहे थे। मैं इस रूप-सौन्दर्य-सुधाको पाकर छक गयी, मेरा मन आश्चर्यमें डूब गया। मैं थकी-सी रह गयी। फिर, मैं अत्यन्त आतुर होकर विह्वलताके साथ तुरंत ही भुजाएँ पसारकर उनके चरण-युगलोंको ग्रहण करने चली। इतनेमें स्वप्न टूट गया। मैं अचानक जग गयी, भौंचक-सी रह गयी, कहीं नन्दनन्दन नहीं दिखायी दिये। सखी ! उसी समयसे मेरे हृदयमें दारुण अग्नि जल रही है और मेरे मन-तन रात-दिन उससे धधकते रहते हैं।'

श्रीकृष्णनामश्रवण

भइ गति कैसी सुनु सजनी !
धुनी मनोहर कृष्ण नामकी,
जब तें मधुर सुनी ॥
अचरज, भरयौ अमृत हियमें,
तातें प्रगटी अगिनी।
बुझै न बिनु पाये यह दरसन-
सुधा दाह-समनी ॥
नित्य निरंतर तड़फत मन,
नहिं चैन दिवस-रजनी।
सार-हीन जीवन बिनु प्रियतम
सु-मिलन नीलमनी ॥
सखी ! सुदौसी लै चलु, हौं जहँ
माधव नाम-धनी।
नहिं उपकार बिसारूँ पल-छिन,
रहूँ कृतज्ञ-रिनी ॥

'सजनी ! सुनो, जबसे मैंने 'कृष्ण' नामकी मधुर मनोहर ध्वनि सुनी, तबसे मेरी कैसी गति हो रही है ! उस ध्वनिके आते ही हृदय अमृतसे भर गया, पर आश्चर्य है कि उस अमृतसे ही (मिलनेच्छाकी) आग भड़क उठी। यह अग्नि अब दाहको बुझानेवाले दर्शन-सुधाके पाये बिना कभी नहीं बुझेगी। मेरा मन नित्य निरन्तर तड़प रहा है। दिन-रातमें कभी मुझे चैन नहीं पड़ती। उन नीमलणिसे भलीभाँति मिले बिना मेरा जीवन सर्वथा निःसार है। सखी ! मुझको शीघ्र वहाँ ले चल, जहाँ (श्रीकृष्ण-) नामके धनी श्रीमाधव विराजमान हैं। मैं एक पल-क्षणके लिये भी तेरा उपकार नहीं भूलूँगी। जीवनभर कृतज्ञ तथा ऋणी बनी रहूँगी।'

दूतीके द्वारा रूप-गुणश्रवण

लग्यौ तब हिय मीठो आघात।
जब बनितोत्सव रूप-सीलकी
दूतीने कहि बात ॥
तब तें घाव हरौ ही है सखि !
पल-पल बढ़ती पीर।
देखन कौं वा रूप-सील-छबि
मैं अति भई अधीर ॥
नव-नीरद-दुति, नटवर सुंदर
मोरपिच्छ सिर सोह।
मुरली मधुर अधर पर सोभित
चिदानन्द-संदोह ॥

मृदु मुसकान, नैन-सौं बाँकी,
घन घुँघरारे केस ।
बिजुरी-बरन बसन तन राजत
सुर-मुनि-मोहन भेस ॥
कटि करधनि, पग नूपुर बाजत,
गल गुंजा-बनमाल ।
कैसे करि सखि ! सपदि बिलोकूँ
मैं वह रूप रसाल ॥
नाहिंतर, टीस मिटै नहिं कबहूँ
सूखै कबहुँ न घाव ।
विषम बेदनामें स्मृति-सुख अति
रहत बढ़ावत चाव ॥

जिस क्षण दूतीने प्रियतम श्यामसुन्दरके वनिता-वृन्दके उत्सव-स्वरूप रूप-सौन्दर्य तथा शील-स्वभावकी बात कही, उसी क्षण मेरे हृदयमें (मिलनेच्छाकी) एक मीठी चोट लग गयी । उस दिनसे सखी ! वह घाव हरा ही बन रहा है और उसकी पीड़ा प्रतिपल बढ़ रही है । उस रूप-शीलकी छवि देखनेके लिये मैं अत्यन्त अधीर हो रही हूँ । वह द्युतिमय नवीन नीरद-वर्ण, चिदानन्दसंदोह सुन्दर नटवर-रूप, शिरपर मयूरपिच्छ सुशोभित, अधरपर मधुर मुरली विराजित, मृदु मुसकान, टेढ़े नेत्र और भ्रुकुटि, घने घुँघराले केश, बिजली-वर्णका पीत वस्त्र शरीरपर शोभित, सुर-मुनि-मोहन वेष, कटिदेशमें करधनी, पैरोंमें बजते हुए नूपुर और गलेमें गुंजाकी तथा वनकुसुमोंकी मालाएँ ! सखी ! वह रसमय रूप मैं शीघ्र-से-शीघ्र कैसे, किस उपायसे देखूँ ! उसे देखे बिना तो सखी ! न घावकी यह कसक कभी मिटेगी और न कभी घाव सूखेगा ही ! इस विषम वेदनामें भी स्मृतिका अत्यन्त सुख प्राप्त हो रहा है, जो निरन्तर मिलनके चावको बढ़ा रहा है !

लीलास्थली-दर्शन

सखी ! मैं कहा कहूँ मन की ।
जागत बनै न सोवत मो तें
भइ बौरी, सनकी ॥
गई हुती वा दिन मैं बन कूँ
सुध बिसरी तनकी ।
जा पहुँची प्रेरित-सी लीला-
भुवि मनमोहन की ॥
देखी तहाँ बिचित्र बिलच्छन
सुषमा-श्री बन की ।
परस्यौ पवन तहाँ कौ तन भइ
संगति रज-कन की ॥
बे-सुध, फिरि आई मैं भूली
संज्ञा जीवन की ।
तब तें कछु न सुहावै, लगि रहि
ललक सु-दरसन की ॥

सखी ! मैं अपने मनकी क्या बताऊँ ? मुझसे न तो जगते बनता है, न सोते ही । मैं बावली हो गयी हूँ, सनक गयी हूँ । उस दिन मैं वनकी ओर चली गयी थी । शरीरकी स्मृति भूल गयी थी और किसीके द्वारा प्रेरित-सी मैं प्रियतम मनमोहनकी लीलास्थलीमें जा पहुँची । वहाँ उस मनोहर वनकी विचित्र विलक्षण शोभा-श्री मैंने देखी । वहाँके पवनका मेरे शरीरसे स्पर्श हुआ और वायुके द्वारा उड़े हुए रजःकणोंका मेरे शरीरको सङ्ग मिला । मैं बे-सुध हो गयी और उसी सुधहीन स्थितिमें लौट आयी । मैं जीवनकी संज्ञा तकको भूल गयी । सखी ! उस समयसे मुझे कुछ भी नहीं सुहाता । केवल उनके सुन्दर दर्शनकी ही ललक लग रही है ।

* * *

प्रभु सहज सुहृद् हैं

जिसने प्रभुसे कहा हृदयसे—‘मुझे बना लो तुम अपना’ ।
सहज उदार परम हरिने स्वीकार किया उसको अपना ॥
उसने मुँह मोड़ा, पर हरिने तजा न कभी बिरद अपना ।
उसके अपने बने, बनाये रक्खा उसे सदा अपना ॥

श्रीरामचरितमानसमें 'ब्राह्मण'की परिभाषा

(लेखक—डाक्टर श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू, एम्० ए०, डी० लिट्०)

(१)

एक बार मेरे निवास-स्थानपर श्रीरामचरितमानसकी कथा हो रही थी। लगभग बीस नगरके चुने हुए पूज्य मानस-प्रेमी तथा मानस-विद्वान् एकत्रित थे। श्रीरामचरितमानसकी कथामें प्रसंगवश ब्राह्मणोंकी चर्चा आयी, जिनके प्रति गोस्वामी तुलसीदासजीने विशेष आदरसूचक भाव प्रकट किया है। तब एक आदरणीय मानस-विद्वान्ने कहा कि स्वयं ब्राह्मण होनेके नाते गोस्वामीजीने ब्राह्मणोंका इतना आदर किया है और उनके ब्राह्मण-सम्बन्धी वाक्य आजकलके प्रजातन्त्रवादी समयके अनुकूल नहीं हैं। उनका कहना था कि यदि हम परमात्माको परम पिता मानें तो इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उस परमात्माकी दृष्टिमें सब समान हैं, सब पुत्रवत् हैं, चाहे ब्राह्मण हों या शूद्र; क्योंकि परमात्मा सत्य और न्यायकी मूर्ति हैं। इसलिये न्यायसंगत यही है कि परमात्माकी दृष्टिमें मानवमात्रको समान माना जाब और यदि विशेष अधिकार दिया भी जाय तो वह शूद्रोंको मिले। शङ्काकारका तर्क यह था कि चतुर्वर्णकी प्रणाली एक सामाजिक संगठनकी आवश्यकता थी और इसका विचार आध्यात्मिक चर्चामें करना अनुचित है।

पाई न केहिं गति पतितपावन राम भजि सुनु सठ मना।
गनिका अजामिल ब्याध गीध गजादि खल तारे घना॥
आभीर जमन किरात खस स्वपचादि अति अघ रूप जे।
कहि नाम बारक तेपि पावन होहिं राम नमामि ते॥

ऐसे पतितपावनके दरबारमें वर्णको स्थान देना न्यायसंगत नहीं दीख पड़ता और कम-से-कम इस छन्दसे तो ब्राह्मणोंकी श्रेष्ठता प्रतिपादित नहीं होती।

इस शङ्काका समाधान कई प्रकारसे हो सकता है; परंतु कविवर तुलसीदासजीकी जो शैली है, उसके अनुसार प्रत्येक शङ्काका समाधान श्रीरामचरितमानसमें ही मिल जाता है। इसलिये अधिक उपयुक्त यही होगा कि श्रीरामचरितमानसके शब्दोंमें ही इस शङ्काका समाधान ढूँढ़ा जाय।

(२)

काकभुशुण्डि जब गरुड़से अपना इतिहास वर्णन कर रहे थे, तब उन्होंने अपने पूर्वजन्म-प्रसंगमें कहा—

एक बार हर मंदिर जपत रहेउँ सिव नाम।
गुर आयउ अभिमान तें उठि नहिं कीन्ह प्रनाम॥
सो दयाल नहिं कहेउ कछु उर न रोष लवलेस।
अति अघ गुर अपमानता सहि नहिं सके महेस॥

काकभुशुण्डिके इस अनुचित व्यवहारका परिणाम यह हुआ कि रुद्र भगवान्ने काकभुशुण्डिको घोर शाप दे दिया।

हाहाकार कीन्ह गुर दारुन सुनि सिव साप।
कंपित मोहि बिलोकि अति उर उपजा परिताप॥
करि दंडवत सप्रेम द्विज सिव सन्मुख कर जोरि।
बिनय करत गदगद स्वर समुझि घोर गति मोरि॥

गुरुकी भक्तिसनी कोमल वाणीमें स्तुति सुनकर आशुतोष कृपाल प्रसन्न हो गये। उन्होंने गुरुको वरदान दिया। गुरुने शंकर भगवान्‌को प्रसन्न देखकर उनसे यह प्रार्थना की—

एहि कर होइ परम कल्याना। सोइ करहु अब कृपानिधाना।

इस प्रकार काकभुशुण्डिके गुरुकी आर्त प्रार्थनासे महादेवजीने काकभुशुण्डिके 'परम कल्याना'के निमित्त जो रहस्य बतलाया वह यह था—

सुनु मम बचन सत्य अब भाई। हरितोषन ब्रत द्विज सेवकाई॥

ज्ञान और भक्तिके गूढ़तम रहस्यको जाननेवाले शंकर भगवान्ने 'द्विज सेवकाई'के व्रतको 'हरितोषन व्रत' कहा। काकभुशुण्डिको यह संदेह न रहे कि वे 'द्विज' कौन हैं, जिनकी सेवासे हरि तृप्त हो जाते हैं इसलिये शंकर भगवान्ने ब्राह्मण-का अर्थ दूसरी ही पंक्तिमें स्पष्ट कर दिया। उन्होंने कहा—

अब जनि करहि बिप्र अपमाना।

क्योंकि—

जानेसु संत अनंत समाना।

अर्थात् संतको—विप्रको—अनन्तके समान, भगवान्‌के समान जानना। इस प्रकार विप्रकी शंकर भगवान्ने संतके साथ समानता प्रतिपादित की।

अब जनि करहि बिप्र अपमाना। जानेसु संत अनंत समाना॥

इस अर्धालीमें 'विप्र' और 'संत' शब्दोंका पर्यायवाची प्रयोग हुआ है। इसलिये विप्रके लक्षण जाननेके लिये संतके गुण जानने आवश्यक हैं।

श्रीरामचरितमानसके आरम्भमें संतोंके गुणोंकी चर्चा करते हुए भक्तवर तुलसीदासजीने कहा है--

संत सरल चित जगत हित···

और किस प्रकार संत जगत्-हित करते हैं यह समझाते हुए कविवर कहते हैं—

जो सहि दुख पर छिद्र दुरावा ।

संतोंका जीवन दूसरोंके कल्याणार्थ अर्पित होता है और विप्रोंका गुण भी यही है कि वे परहितरत हों । इसीलिये काकभुशुण्डिके गुरुकी शिष्यकल्याणरत वाणीको कविवर तुलसीदासजीने 'विप्र गिरा' कहा है; क्योंकि काकभुशुण्डिके गुरुकी गिरा दूसरेके हितका साधन कर रही थी ।

बिप्र गिरा सुनि पर हित सानी ।

गोस्वामीजीने उन गुरुके लिये 'विप्र' और 'द्विजवर' शब्दोंका प्रयोग किया है, जो काकभुशुण्डि-जैसे शिष्यसे सम्मानित होनेपर भी शिष्यके कल्याणकी ही प्रार्थना शंकर भगवान्से करते हैं ।

सुनि बिनती सर्बग्य सिव देखि बिप्र अनुरागु ।
पुनि मंदिर नभबानी भइ द्विजबर बर मागु ॥

गुरुको 'विप्र' और 'द्विजवर' शब्दोंसे सम्बोधन करनेका कारण यह है कि गोस्वामीजीके कथनानुसार ब्राह्मणको विशेष प्रकारसे क्षमाशील होना चाहिये । इसी आशयसे श्रीरघुनाथजीने धनुषभङ्गके उपरान्त कुपित परशुरामको स्मरण दिलाया था कि—

चहिअ बिप्र उर कृपा घनेरी ।

और जब यह ब्राह्मणोचित कृपाका गुण परशुराममें लुप्त हो गया, तब उनका ब्रह्मबल दुर्बल पड़ गया और वे अजेय ब्राह्मण—श्रेष्ठ होते हुए भी एक क्षत्रिय राजकुमारसे पराजित हुए ।

श्रीरामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें प्रजाको उपदेशवाले प्रसंगमें श्रीरघुनाथजीने सबको यह विश्वास दिलाया—

पुन्य एक जग महुँ नहिं दूजा । मन क्रम बचन बिप्र पद पूजा ॥
सानुकूल तेहि पर मुनि देवा । जो तजि कपटु करइ द्विज सेवा ॥

यहाँ प्रश्न यह होता है कि वे कैसे द्विज होने चाहिये, जिनकी सेवा करनेसे देवता भी प्रसन्न हो जाते हैं ? इसका उत्तर शंकर भगवान्के निम्नलिखित शब्दोंसे स्पष्ट है—

छमासील जे पर उपकारी । ते द्विज मोहि प्रिय जथा खरारी ॥

अर्थात् क्षमाशील ब्राह्मण, जो संतोंके समान पर-उपकारी हों वे ही खरारिके समान—श्रीरघुनाथजीके समान मुझे प्रिय हैं । शंकर भगवान्ने क्षमाशील संत-स्वभाव ब्राह्मणको देवताके समान पदवी दी ।

(३)

ब्राह्मणका धर्मपर अटल रहना उसका विशेष गुण है । धर्म भी ब्राह्मणका गोस्वामीजीके अनुसार वैदिक-धर्म होना चाहिये । जिस ब्राह्मणका ऐसा आचरण नहीं होता, उसकी गति गोस्वामीजी शोचनीय समझते हैं । मुनिवर वशिष्ठ कहते हैं—

सोचिअ बिप्र जो बेद बिहीना । तजि निज धरमु बिषय लय लीना ॥

इसी आशयसे शंकर भगवान्ने गिरिजाजीसे कहा—

धन्य सो द्विज निज धर्म न टरई ।

ब्राह्मणका धर्म यह है कि वह परमार्थ-तत्त्व ग्रहण करके लोगोंको भक्ति-पथपर अग्रसर करे । जब श्रीरघुनाथजी मुनि विश्वामित्रके आश्रममें जाकर रहे तब वहाँ—

भगति हेतु बहु कथा पुराना । कहे बिप्र जद्यपि प्रभु जाना ॥

विप्रका यही धर्म है कि वह स्वयं परमार्थी हो और दूसरोंको भी परमार्थ-पथपर ले चले । एक उत्कृष्ट विप्रका वर्णन करते हुए गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

बिप्र एक बैदिक सिव पूजा । करइ सदा तेहि काज न दूजा ॥
परम साधु परमारथ बिंदक । संभु उपासक नहिं हरि निंदक ॥

गोस्वामीजीका कथन है कि विप्रका एक ही कर्म है और वह यह कि विप्र सदा पूजा करता रहे; हर समय भगवत्-आराधनामें मग्न हो । विप्र साधु ही नहीं, बल्कि 'परम साधु' होता है; क्योंकि उसका सम्पूर्ण जीवन दूसरोंके कल्याणके लिये, परहितके लिये समर्पित रहता है । अतएव विप्र परम धार्मिक होता है; क्योंकि परहितमें तत्पर रहना धर्मका लक्षण है जैसा श्रीरघुनाथजीका वचन है—

पर हित सरिस धरम नहिं भाई ।

इस प्रकार परहितस्वरूप धर्ममें लगा हुआ विप्र परमार्थ-बिंदक—अर्थात् आत्मतत्त्ववेत्ता हो जाता है । कर्मसे 'वैदिक सिव पूजा करइ', मनसे 'परम साधु' और वचनसे 'नहिं हरि निंदक' तीनों प्रकारसे विप्र शुद्ध सात्त्विक होते हैं । ऐसे ही ब्राह्मणोंकी वन्दना गोस्वामीजीको अभीष्ट है । जब उन्होंने ब्राह्मण-वन्दना की और कहा—

बंदउँ प्रथम महीसुर चरना ।

तब उन्होंने ब्राह्मणकी परिभाषा भी स्पष्ट कर दी। उनके विचारसे महीसुर वे ही हैं, वन्दनीय ब्राह्मण वे ही हैं, जो जन्मसे ब्राह्मण होते हुए मोह-भ्रमनाशक भी हैं।

मोह जनित संसय सब हरना।

आत्मतत्त्ववेत्ता होना ही यथेष्ट नहीं है, केवल परमार्थ-ज्ञाता होनेसे ही काम नहीं चलता, परहितकारक होनेके नाते ब्राह्मणके लिये परमार्थ-ज्ञानसे दूसरोंका मोहजनित संशयहरण करना उसका धर्म है।

बिनु सतसंग बिबेक न होई।

बिना जिनके सत्संगके ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता और अविवेक नहीं मिट सकता, ऐसे ही संतस्वरूप द्विज सच्चे ब्राह्मण हैं, वे ही वन्दनीय हैं, जो परमार्थबिंदक होकर लोगोंके मोहजनित संशयको हरण करते हैं, अज्ञानरूप अन्धकारका हरण करते हैं। यही ब्राह्मणका धर्म है और यदि कोई ब्राह्मण इस धर्मको भूल जाय और विषय-लयलीन हो जाय तो निश्चय ही उसकी दशा बहुत शोचनीय है।

सोचिअ बिप्र जो बेद बिहीना। तजि निज धरमु बिषय लयलीना॥

ब्राह्मणको ब्रह्मकी जिज्ञासामें लीन रहना चाहिये, न कि विषय-भोगमें। 'परमार्थ बिंदक' होनेके नाते विप्र रामानुरागी होते हैं। ऐसा होना उनके लिये ठीक भी है; क्योंकि यदि विप्र रामानुरागी न हो तो पूजामें सदा लीन कैसे रहे? वैदिक पूजा करना ही विप्रका सबसे बड़ा और एकमात्र कार्य है।

तेहि काज न दूजा।

जो रामानुरागी होते हैं उनका यह स्वभाव होता है कि—

रमाबिलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥

रामभक्त, रामानुरागी रमाविलासको भी त्याज्य समझते हैं और उससे दूर रहते हैं। इसलिये गोस्वामीजीने ऐसे विप्रोंकी दशा शोचनीय बतलायी है जो रामानुरागी होनेके स्थानपर विषयानुरागी हों। सच्चे ब्राह्मण सदाचारके निकेतन होते हैं और दयालु-स्वभाव होते हैं।

द्विज दयाल अति नीति निकेता।

'नीतिनिकेता'से यहाँ राजनीति या लोकनीति अथवा व्यावहारिक नीतिके निकेत होनेका भाव नहीं है। शंकर भगवान्‌का वचन है—

नीति निपुन सोइ परम सयाना। श्रुति सिद्धांत नीक तेहिं जाना॥

'नीतिनिकेता'का अर्थ है 'श्रुतिसिद्धान्त'को ठीकसे जाननेवाला, इसलिये विप्रको श्रुति-सिद्धान्तके ज्ञानमें निपुण होना चाहिये। श्रुति-सिद्धान्तका तत्त्व क्या है जिसके जानने और समझनेकी निरन्तर लालसा विप्रको बनी रहती है, इसे गोस्वामीजीने पार्वतीजीके श्रीमुखसे स्पष्ट करवाया है। आर्त्त भावसे वे शंकर भगवान्‌से विनयपूर्वक कहती हैं—

बंदउँ पद धरि धरनि सिरु बिनय करउँ कर जोरि।
बरनहु रघुबर बिसद जसु श्रुति सिद्धांत निचोरि॥

अतएव—'श्रुति सिद्धांत नीक तेहिं जाना' जिन्होंने श्रीरघुनाथजीके गुणोंका निरन्तर गान करना सीखा। विप्र संत हैं, परहितरत हैं, जग-मङ्गल-अभिलाषी हैं तो इनके लिये श्रीरघुनाथजीके गुण-ग्रामके निरन्तर गानसे अधिक प्रिय कौन-सी वस्तु हो सकती है? सिवा श्रीरघुनाथजीके गुणोंके और कौन-सी वस्तु जग-मङ्गलकारक है?

जग मंगल गुन ग्राम राम के। दानि मुकुति धन धरम धाम के॥
सदगुर ग्यान बिराग जोग के। बिबुध बैद भव भीम रोग के॥
जननि जनक सिय राम प्रेम के। बीज सकल ब्रत धरम नेम के॥

ऐसे ही भक्त ब्राह्मणोंको गोस्वामीजीने श्रीरामचरितमानस-सरके रखवारोंकी पदवी दी है—

जे गावहिं यह चरित सँभारे। तेइ एहि ताल चतुर रखवारे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिन महीसुरोंको गोस्वामीजीने प्रथम वन्दनीय समझा, वे केवल जन्मसे ब्राह्मण होनेके कारण पूज्य नहीं थे। कलिकालके पथभ्रष्ट ब्राह्मणोंका वर्णन तुलसीदासजीने तीन स्थानोंपर इस प्रकार किया है—

(क) द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन।
(ख) बिप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ बृषली स्वामी॥
(ग) × × × द्विज चिह्न जनेउ उघार तपी।

कलियुगके पतित ब्राह्मणोंके सम्बन्धमें तुलसीदासजीने यह कहा है कि वे वेदोंको बेचनेवाले हैं अर्थात् वेदोंका श्रुतिसम्मत अर्थ न करके स्वार्थवश धनके लोभसे लोगोंको प्रसन्न करनेके लिये, उनकी हाँ-में-हाँ मिलानेके लिये अर्थका अनर्थ करते हैं। कहाँ तो गोस्वामीजीके कथनानुसार वैदिक पूजामें निरन्तर मग्न ब्राह्मण और कहाँ कलियुगके भ्रष्ट ब्राह्मण जो निगमकी आज्ञाका पालन ही नहीं करते। ऐसे भ्रष्ट ब्राह्मण अपढ़, लोभी, कामी, शुभाचारविमुख, मूर्ख और नीच जातिकी व्यभिचारिणी स्त्रियोंके स्वामी होते हैं। कलियुगमें द्विजका चिह्न जनेऊमात्र रह जाता है, जैसे नंगे बदन रहना तपस्वियोंका एकमात्र चिह्न है। इस प्रकार गोस्वामीजीने पथभ्रष्ट ब्राह्मणोंके अवगुणोंके वर्णनमें संकोच

नहीं किया है । निश्चय ही ऐसे अवगुणप्रधान असंत ब्राह्मणोंके लिये तुलसीदासजीने यह नहीं कहा—

बंदउँ प्रथम महीसुर चरना ।

क्योंकि वे मोहजनित संशयोंके हरणमें असमर्थ हैं । जिन द्विजोंको उन्होंने वन्दनीय माना, वे शुद्ध सात्त्विक, पर-उपकारी, शील, परमार्थविन्दक, श्रुति-सिद्धान्तके निचोड़रूप रामगुणके निरन्तर गायक, हर समय भगवदाराधनामें लीन पुरुष हैं । वे तपस्वी हैं; क्योंकि श्रीरामचरितमानसमें कहा है कि—

तपबल बिप्र सदा बरिआरा ।

तपबलसे ही ब्राह्मण सदा बलवान् रहते हैं ।

चित्रकूटमें जब गुरु वशिष्ठको, माताओंको, भरतको, अयोध्यावासियोंको और राजा जनक और उनके समाजको रहते कुछ दिन बीत गये तब एक दिन—

न्हाइ गुर पहिं रघुराई । बंदि चरन बोले रुख पाई ॥
भरतु पुरजन महतारी । सोक बिकल बनबास दुखारी ॥
सहित समाज राउ मिथिलेसू । बहुत दिवस भए सहत कलेसू ॥
उचित होइ सोइ कीजिअ नाथा । हित सबही कर रौरें हाथा ॥

गुरु वशिष्ठने यह स्नेह और शीलयुक्त श्रीरघुनाथजीके वचन राजाको सुनाये । राजा जनक श्रीरघुनाथजीके वचन सुनकर प्रेममग्न हो गये । उनका ज्ञान और वैराग्य छूट गया।

सनेहँ गुनत मन माहीं । आए इहाँ कीन्ह भल नाहीं ॥
रायँ कहेउ बन जाना । कीन्ह आपु प्रिय प्रेम प्रवाना ॥
हम अब बन तें बनहि पठाई । प्रमुदित फिरब बिबेक बड़ाई ॥
मुनि महिसुर सुनि देखी । भए प्रेम बस बिकल बिसेषी ॥

कविवर तुलसीदासजीने इस चौपाईमें 'महिसुर' को 'तापस' और 'मुनि' के साथ एक ही श्रेणीमें रखकर 'महिसुर' के वास्तविक रूपकी ओर संकेत किया है । यह रूप अयोध्याकाण्डके २४४ वें दोहेके बादके प्रसंगसे और भी स्पष्ट हो जाता है, जहाँ अयोध्यासे आये हुए लोगोंके साथ श्रीरघुनाथजीके मिलनेका प्रसंग है । माताओंसे मिलनेके समय दोनों भाइयोंने ब्राह्मणोंकी स्त्रियोंसहित गुरुपत्नी अरुन्धतीके चरणोंकी वन्दना की ।

गुरतिय पद बंदे दुहु भाईं । सहित बिप्रतिय जे सँग आईं ॥

इसके बाद नौ पंक्तियोंके पश्चात् महारानी श्रीसीताजी भी उन्हीं स्त्रियोंसे मिलीं, जिनसे श्रीरघुनाथजी और लखनलाल मिल चुके थे ।

सीय आइ मुनिबर पग लागी । उचित असीस लही मन मागी ॥
गुरपतिनिहि मुनि तियन्ह समेता । मिली प्रेमु कहि जाइ न जेता ॥

श्रीरघुनाथजी और लखनलाल जिन स्त्रियोंसे मिलते हैं वे 'गुरतिय' और 'विप्रतिय' हैं । और जब महारानी श्रीसीताजी उन्हीं स्त्रियोंसे मिलती हैं तब कविवर तुलसीदासजी 'गुरपतिनि' और 'मुनितिय' शब्दोंका प्रयोग करते हैं । 'गुरतिय' के स्थानपर 'गुरपतिनि' और 'विप्रतिय'के स्थानपर 'मुनितिय' का प्रयोग कविवरने किया है । इस प्रकार 'मुनि' शब्द 'विप्र'के पर्यायवाचीके रूपमें प्रयोग हुआ है । गोस्वामी तुलसीदासजीकी दृष्टिमें जो वन्दनीय महीसुर हैं, वे तापस और मुनिकी श्रेणीके हैं । वे उन ब्राह्मणोंके समान नहीं हैं जो केवल जनेऊधारी होनेके कारण अपनेको ब्राह्मण कहलानेके अधिकारी समझते हैं । ऐसे हरिभक्त, परकल्याणरत, धर्मात्मा, परमार्थवादी, मुनिसमान विप्रके प्रति गोस्वामीजीका इतना अधिक आदर था कि उन्होंने यहाँतक कह दिया कि शाप देता हुआ, मारता हुआ और कठोर वचन कहता हुआ भी ब्राह्मण पूज्य है—

सापत ताड़त परुष कहंता । बिप्र पूज्य अस गावहिं संता ॥

तुलसीदासजी यह नहीं कहते हैं कि यह बात मैं कह रहा हूँ और यह मेरा विचार है । वे कहते हैं कि यह बात मैंने संतोंसे बार-बार सुनी और विस्तारसे सुनी—'गावहिं संता ।' शंकर भगवान्का वचन है—

उमा जे रामचरन रत बिगत काम मद क्रोध ।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध ॥

गोस्वामीजीके मतानुसार जो वन्दनीय महीसुर हैं, वे रामानुरागी हैं, वे रामचरण-रत हैं । ऐसे मुनि-तुल्य संत कैसे किसीसे विरोध कर सकते हैं । भक्तवर तुलसीदासजीकी भाषामें विप्र कहलानेके अधिकारी वे ही हैं, जो पर-उपकारी, परमार्थी, विशद रामयशके निरन्तर गायक, विषय-त्यागी और तपस्वी हैं । और यदि ऐसा कोई महात्मा किसीको शाप देनेका, मारनेका, कठोर वचन कहनेका नाटक कर रहा है तो निश्चय ही इसमें कोई-न-कोई कल्याणप्रद रहस्य निहित है । इसलिये ऐसे कठोर कर्म करते हुए भी एक उत्कृष्ट संतस्वरूप विप्र पूज्य है ।

◆

प्रदक्षिणाकी महिमा और विधि

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

प्रदक्षिणा पूजाका एक भावपूर्ण आवश्यक अङ्ग है। इसके पग-पगमें अनन्त पाप नाश होते हैं। मनुने देवता, गौ, ब्राह्मण, चौराहे आदिकी प्रदक्षिणा करनेकी आज्ञा दी है। (४। ३९) दिलीपने नन्दिनी गौकी प्रदक्षिणा नहीं की, तो उन्हें पुत्र न उत्पन्न होनेका शाप लग गया *। गोवर्धन, चित्रकूट (कामदगिरि), काशी, व्रज आदिकी परिक्रमाएँ ही बनी हुई हैं। तन्त्रसार (चौखंबा सं०) पृ० ८२ के अनुसार विष्णुकी प्रदक्षिणाका पुण्य पृथ्वीदानके तुल्य बतलाया गया है—

वेदविद्भ्यो धरां दत्त्वा यत्फलं लभते नरः।
तत्फलं लभते भक्त्या कृष्णे कृत्वा प्रदक्षिणम्॥

स्कन्दपुराण, वैष्णवखण्डके मार्गशीर्षमाहात्म्यमें बतलाया गया है कि मार्गशीर्षमें विष्णुकी एक प्रदक्षिणा मानो सारी पृथ्वीकी ही प्रदक्षिणा है। तीन प्रदक्षिणाओंसे सात दिनके पाप नष्ट होते हैं। एक सौ आठ प्रदक्षिणासे सभी यज्ञोंका फल प्राप्त हो जाता है। माता, शालग्राम शिला तथा पृथ्वीकी परिक्रमा एक समान है—

अष्टोत्तरशतं येन कृता भक्त्या प्रदक्षिणाः।
तेनेष्टं क्रतुभिः सर्वैः समाप्तवरदक्षिणैः॥
मातुः प्रदक्षिणा तद्वद् भूतधात्रीप्रदक्षिणाः।
शालग्रामशिलायाश्च सममेतत्त्रयं स्मृतम्॥
(स्कं० वैष्णवखंड मार्ग० माहा० १०। १३, १८)

‘विश्वसारतन्त्र’ के अनुसार हाथमें शङ्ख लेकर प्रदक्षिणा करनी चाहिये—

शङ्खहस्तेन सर्वत्र दक्षिणं परिकीर्तितम्।

रुद्रयामलके अनुसार किसी भी देवताकी एक बार प्रदक्षिणा निषिद्ध है—

एकहस्तं प्रणामश्च एकं वापि प्रदक्षिणम्।
अकाले दर्शनं विष्णोर्हन्ति पुण्यं पुराकृतम्॥

पर शिवजीकी प्रदक्षिणा तो आधी ही की जाती है—

अर्द्धचन्द्रं महेशस्य पृष्ठतश्च समीरिता।
शिवप्रदक्षिणे मन्त्री अर्धचन्द्रक्रमेण तु॥
सव्यासव्यक्रमेणैव सोमसूत्रं न लङ्घयेत्।
(तन्त्रसार, रुद्रयाम

इसमें अर्धचन्द्रके क्रमसे सोमसूत्र (मन्दिरके पीछे ज निकलनेकी पतली नाली) तक जाकर पुनः वापस लौ आनेकी विधि है। मेरुतन्त्र, यामल, तन्त्रसार, कालिकापुराण आदिमें प्रदक्षिणाकी विधि इस प्रकार बतलायी गयी है—

प्रसार्य दक्षिणं हस्तं स्वयं नम्रशिरा पुनः।
दर्शयेद्दक्षिणं पार्श्वं मनसापि च दक्षिणः॥
त्रिधा च वेष्टयेत् सम्यग् देवतायाः प्रदक्षिणम्।
(कालिकापुराण अध्याय ७०।८

अर्थात् दाहिने हाथको फैलाकर, सिर झुकाकर, दाहि ओर देखते हुए, मनमें श्रद्धा रखकर, तीन बार देवता फेरी देना—वेष्टन करना प्रदक्षिणा कहलाती है।

प्रदक्षिणा कितनी बार ?

पूर्वोक्त यामलादिके वचनानुसार किसी भी देव (शिवको छोड़कर) की तीन बार ही परिक्रमाकी विधि है। प्राचीन ग्रन्थोंके अनुसंधानसे यही पद्धति समीचीन भी सिद्ध होती है। भागवतमें ब्रह्माजी वत्सोपहरण-लीलाके बाद जाते समय भगवान् श्रीकृष्णकी तीन बार परिक्रमा करते हैं—

इत्यभिष्टूय भूमानं त्रिः परिक्रम्य पादयोः।
नत्वाभीष्टं जगद्धाता स्वधाम प्रत्यपद्यत॥
(श्रीमद्भा० १०। १४। ४१)

वाल्मीकि, अध्यात्म आदि रामायणोंमें भी यही प्र दृष्टिगोचर होती है—

‘प्रदक्षिणं चापि चकार राघवम्’ ‘प्रदक्षिणात्रयं कृ दण्डवत् प्रणिपत्य तम्’ (अध्यात्म० २। १। ४०

शिवपुराण, कैलाससंहिता ११। ३६ में वामदेव कार्तिकेयजीकी तीन प्रदक्षिणाएँ करते हैं-

---

* इसी प्रकार काशीखण्ड ८८। ५५-५६ में कहा गया है कि भगवती सतीने दक्षयज्ञमें जाते समय शिवजीकी प्रदक्षिणा नहीं की थी, अतएव वे वापस न लौट पायीं—

न ननाम महादेवं न च चक्रे प्रदक्षिणम्।
अतएव हि सा देवी गता न पुनरागता॥
अप्रणम्य महेशानं अकृत्वापि प्रदक्षिणम्।
अद्यापि न निवर्तन्ते गताः प्राग्वासरा इव॥

इति स्तुत्वा वामदेवो देवं सेनापतिं प्रभुम् ।
प्रदक्षिणात्रयं कृत्वा प्रणम्य भुवि दण्डवत् ॥
(शिवपु० कैलाससं० ११ । ३६)

'ब्रह्मपुराण'में पुरुषोत्तमक्षेत्रके कल्पवृक्षवटकी तीन प्रदक्षिणा करनेका आदेश है—

कल्पवृक्षं ततो गत्वा कृत्वा तं त्रिः प्रदक्षिणम् ।
(५७ । १२)

वहीं श्रीजगन्नाथजीकी भी तीन प्रदक्षिणा निर्दिष्ट है—

प्रविश्यायतनं विष्णोः कृत्वा तं त्रिःप्रदक्षिणम् ।
(५७ । २१)

प्रदक्षिणं प्रकुर्वीत त्रिवारं सुसमाहितः ।
(६० । १४)

ऐसा ही क्रम शाकुन्तल, रघुवंश आदिमें दीखता है । जहाँ-तहाँ इसका अपवाद भी दीखता है । काशीखण्ड ५६ तथा ६१ । १२८ में भगवान् शिव तथा सूर्यकी प्रदक्षिणा करनेकी अनुमति है—

अष्टौ प्रदक्षिणा देयाः प्रत्यहं भक्तितत्परैः ।
नमनीयौ प्रयत्नेन भवानीशंकरौ सदा ॥
इत्यादि । (६१ । १२८)

नारदपुराण भागवततन्त्र, ६७ । १०५ में विष्णु, चन्द्र, सूर्य और गणेशकी क्रमशः चार, आधी, एक, तथा तीन परिक्रमाका विधान है—

नत्वा च दण्डवन्मन्त्री ततः कुर्यात् प्रदक्षिणाम् ।
विष्णूसोमार्कविघ्नानां वेदार्धेन्द्वद्रिवह्नयः ॥

अन्यत्र भी कहा गया है—

प्रदक्षिणा रवेः सप्त तिस्रः कुर्याद् विनायके ।
चतस्रः केशवे कुर्याच्छिवस्यार्द्धं प्रदक्षिणा ॥
इत्यादि ।

विभिन्न धर्मोंमें विकृत प्रथा

अन्य धर्मोंमें भी इसका कोई-न-कोई रूप अवश्य मिलता है । 'महानिवाणासूत्त' में आता है कि गौतम बुद्धके पाँच सौ शिष्योंने उनकी चिताकी प्रदक्षिणा की थी । चीन, जापानके भी बौद्ध-मन्दिरोंमें परिक्रमाएँ बनी हैं । यूनानी कवि होमरने लिखा है कि 'युद्धमें जाते समय अचलिसने सेनासहित पेट्रॉलिक्सकी प्रदक्षिणा की थी । एथेन्समें पहले प्रदक्षिणाकी प्रथा थी । अब भी बच्चा पैदा होनेपर लोग वहाँ चूल्हेकी प्रदक्षिणा करते हैं । रोमन कैथोलिक ईसाइयोंके कुछ सम्प्रदायोंमें विवाहके समय वर-वधू वेदीकी प्रदक्षिणा करते हैं । यह भारतीय सप्तपदी (भाँवरी) की ही नकल है । बाबरद्वारा बीमार हुमायूँकी प्रदक्षिणा इतिहास-प्रसिद्ध है । स्काटलैण्डवाले दिसम्बरकी अन्तिम रातमें अपने घर या खेतकी प्रदक्षिणा करते हैं । हज करनेवाले भी मक्कामें काबाकी प्रदक्षिणा करते हैं । इन सभीपर वस्तुतः भारतीय संस्कृतिकी ही छाप है ।

* * *

संत कौन ?

इतने गुन जामें सो संत ।
श्रीभागवत मध्य जस गावत श्रीमुख कमलाकंत ॥
हरिको भजन, साधुकी सेवा, सर्वभूतपर दाया ।
हिंसा लोभ दंभ छल त्यागै, विष सम देखै माया ॥
सहनसील, आसय उदार अति, धीरजसहित विवेकी ।
सत्य वचन, सबको सुखदायक गहि अनन्य व्रत एकी ॥
इंद्रीजित, अभिमान न जाके करै जगत कौं पावन ।
'भगवतरसिक' तासु की संगति तीनहु ताप नसावन ॥

(श्रीभगवतरसिकदेवजी)

यह जादू भी अच्छा काम करता है, जरा प्रयोग करके देखिये

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

औरंगजेब मुगल वंशका अन्तिम प्रभावशाली सम्राट् हुआ। वह सबसे छोटा भाई था अपने भाइयोंमें, उम्रमें सबसे कम, पर बुद्धिमें सबसे चतुर, चींटी-जैसा काममें चिपटा हुआ। उसने अपने पिताको छल-बलसे जेलखानेमें डाला और एक-एक करके सब भाइयोंकी हत्या कर डाली। धोखा, झूठ, कपट, छल, फरेब, हत्या, खूंरेजी—जो कुछ भी सम्भव था, वह उसने काममें लिया। इस प्रकार जो छोटा भाई कभी शाहंशाह न बनता, वह भारतका सम्राट् हुआ।

और उसने भारतपर अस्सी वर्ष राज्य किया। हिंदू उसके नामसे काँपते थे, मुसल्मानोंका भी वह प्यारा न बन सका। उसका घरेलू और पारिवारिक जीवन भी सुखी और शान्त न रह सका।

इस भारत-सम्राट्की मानसिक अशान्तिका क्या कारण था?

क्या उसके पास रुपये-पैसे, शान-शौकत, नौकर-चाकरोंकी कमी थी? क्या शरीरकी सेवा करने या चिकित्सा करनेवाले डाक्टर उसके पास न थे? या सांसारिक वैभवकी कमी थी? नहीं, इनमेंसे किसीकी कमी उसके पास न थी। उसे संसारके समस्त वैभव, सुख-सुविधाएँ प्राप्त थीं।

पर उसके मनमें सबके प्रति घोर अविश्वास था। वह अनेकोंको मारकर या सताकर भारतका शाहंशाह बना था। इसलिये सभीको अपने शत्रुरूपमें देखता था। किसीपर किसी तरहका भी विश्वास नहीं करता था।

खाने-पीनेमें उसे अपने रसोइयापर विश्वास न था। उसे सदा डर था कि कोई उसे जहर न दे दे। उसे अपने सैनिकों, फौजके अफसरों, कार्यकर्ताओं, पुत्र-पुत्रियों, मातहतों—किसीपर भी विश्वास न था। वह सभीको धोखेबाज, मक्कार, बेईमान, झूठे, फरेबी समझता था। उसके शासनकालमें अविश्वासका यह विषैला और दूषित वातावरण समग्र भारतमें विस्तृत होकर फैल गया। जनताको भी उसमें विश्वास न रहा। वे उससे घृणा करते रहे। औरंगजेब दमनसे काम लेता रहा। उसे यही डर रहता था कि न जाने किस ओरसे उसके प्रति विद्वेष, क्रान्ति और कटुताका ज्वालामुखी फूट पड़े। यह अविश्वास ही अन्ततः विशाल मुगल-साम्राज्यके क्षयका कारण बना। यह है अविश्वासका कुप्रभाव!

विश्वाससे विश्वास पैदा होता है, किंतु अविश्वाससे अविश्वासका ही वातावरण फैलता है।

जब पिता पुत्रपर, माता पुत्रीपर, पति पत्नीपर, भाई भाईपर, ग्राहक दूकानदारपर, अफसर मातहतपर अविश्वासकी काली छाया डालता है, तो उससे घर, परिवार, दफ्तर, महकमे या समाजका सौख्य, प्रेम, पारस्परिक सद्भाव सब नष्ट हो जाता है। घृणाका जन्म होता है। हर व्यक्ति दूसरेसे डरता है।

अविश्वाससे घरमें स्थान-स्थानपर ताले पड़े रहते हैं। हर एक सन्दूक तथा अलमारीका अलग ताला होता है। घरका स्वामी तालोंकी कुंजियोंको मजबूतीसे पकड़े रहता है। कोई उसके संदूकके पास भी जाता है, तो उसे संदेहकी नजरसे देखता है। रात्रिमें जरा-सा खटका होते ही उसकी नींद खुल जाती है।

अविश्वासके कारण प्रत्येक पारिवारिक सदस्य एक-दूसरेसे अनेक बातोंको छिपाता है, एक दूसरेसे पैसे-पैसेका हिसाब पूछता है। यदि संयोगवश कोई वस्तु यथास्थान न मिले तो चोरीका भ्रम उत्पन्न होता है। संदेहयुक्त व्यवहारसे कटुता उत्पन्न होती है।

अविश्वासके उत्तरमें दूसरा भी अविश्वाससे जवाब देता है। सम्पूर्ण वातावरण अस्वस्थ विचारोंसे बोझिल हो जाता है।

विश्वास एक आध्यात्मिक शक्ति है

इंग्लैंडका एक पादरी विश्वासकी आध्यात्मिक शक्तिमें प्रगाढ़ विश्वास करता था। वह प्रायः कहा करता था कि विश्वासके सही प्रयोगद्वारा बुरे आदमीमें भी सद्गुणों, सत्-प्रवृत्तियों और शुभ संकल्पोंको विकसित किया जा सकता है।

उसका द्वार सदा-सर्वदा यात्रियों, कष्टपीड़ितों, दीनहीन गरीबों अर्थात् हर किसीके लिये खुला रहता था। दिन क्या, राततकमें वह आतिथ्य करनेसे न चूकता था। जो कोई उसके घरमें एक बार आतिथ्य पा लेता था, उसके प्रेमभाव, सेवा, सहयोग और भलमनसाहतसे प्रभावित हुए बिना न रहता था।

एक बार कैदसे छूटा हुआ एक भयंकर अपराधी उसकी शरण लेनेके लिये उसी नगरमें इधर-उधर फिर रहा था।

उसे पादरीका द्वार खुला हुआ दीखा । अंदर रोशनी चमक रही थी । उसने उसमें प्रवेश किया ।

पादरी प्रेमकी साक्षात् प्रतिमा था । उसने बड़े प्यारसे उसका स्वागत किया । भोजन कराया, विश्रामके लिये चारपाई दी । रात्रिमें जब अपराधी सो रहा था, तब उसके मनमें फिर चोरीकी बात आयी । जब सब सो रहे थे, तब उसने पादरीके दो चाँदीके दीपदान चुरा लिये, किंतु जब वह भागकर जा रहा था, पुलिसके द्वारा वह पकड़ा गया । जब वह पादरीके सम्मुख लाया गया, तब उसने कहा—'ये मेरे प्रिय मित्र हैं । मैंने ये दीपदान इन्हें उपहारके रूपमें दिये हैं । आप इन्हें छोड़ दीजिये ।'

वह अपराधी छोड़ दिया गया, पर उसके मनमें धक्का लगा । उसके ज्ञानके नेत्र खुल गये । अपने पापपर उसे पश्चात्ताप हुआ । उसे चोरी, डकैती, अन्याय, झूठ, कपटसे घृणा हो गयी । उसकी जगी हुई आत्माने उसे न्याय, सत्य और धर्मके पथपर अग्रसर किया । उसने अच्छा नागरिक बननेका प्रयत्न किया और एक दिन आया जब वह बदलकर एक श्रेष्ठ भला नागरिक बन गया । यह था पादरीके भले व्यवहारोंका शुभ चमत्कार !

जब आप किसीको शुभ संकेत देते हैं, उसके साथ सद्व्यवहार करते हैं तो उसकी भलाईको जाग्रत् करते हैं । शुभ संकेतोंसे मनमें सोया हुआ देवत्व जाग उठता है । मनुष्यका नया जन्म होता है ।

दूसरोंके भले और उत्तम गुणोंको सक्रिय कीजिये । यदि आपको किसीमें कोई भली बात, कोई दैवी गुण, कोई श्रेष्ठता दिखायी देती है, तो उसकी जी खोलकर प्रशंसा कीजिये । आपके इस प्रोत्साहनसे उस व्यक्तिका दैवी पक्ष जाग उठेगा ।

संसारमें कोई व्यक्ति बुरा नहीं है । सबमें श्रेष्ठताएँ भरी हुई हैं । आवश्यकता एक ऐसे व्यक्तिकी है, जो अच्छाईको लगातार प्रोत्साहन देकर बढ़ाता रहे । कैसे दुःखकी बात है कि हम मनुष्यको उसकी त्रुटियोंके लिये तो सजा देते हैं, पर उसकी अच्छाईके लिये प्रशंसामें कंजूसी करते हैं ।

यदि आप विश्वासके साथ दूसरेको अच्छा कहें, तो निश्चय ही वह श्रेष्ठ बनेगा । मनको अच्छाईपर जमाइये, सर्वत्र अच्छाई ही बढ़ेगी । आपके तथा दूसरेके मनमें बैठे हुए देव जाग्रत् और चैतन्य होकर उसका देवत्व बढ़ेगा ।

स्मरण रखिये, दोषोंके चिन्तनसे हानि-ही-हानि है । अपने या दूसरोंके दोषोंका चिन्तन करने, बार-बार कहने या विचार करनेसे वे ही उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं । जो मनुष्य नित्य अपने-आपको गलत या कुवाक्य कहता है, वे चाहे झूठ ही क्यों न हों, मनमें सत्य जँचने लगते हैं । बार-बार कही हुई बात सत्य प्रतीत होने लगती है । इसलिये सदा सबके लिये शुभ ही उच्चारण कीजिये । जो निराश, दुखी और अपने विषयमें दीन-हीन विचार रखते हैं, उन्हें भी सदा शुभ संकेत दीजिये । जो आपके लिये अशुभ वचन बोलते हैं, उनके विषयमें भी शुभ विचार और शुभ विश्वास ही प्रकट कीजिये । जिसपर विश्वास करेंगे, वह विश्वास ही लौटायेगा ।

अपकारिषु यः साधुः पुण्यभाक् स उदाहृतः ।

(ब्रह्मपुराण ८० । ५५)

जो अपकार करनेवालेकी भी भलाई करता है, उसे पुण्यात्मा कहा है ।

* * *

मंगल सोचो, मंगल करो

करो न पर-दोषोंका चिन्तन-कथन कभी भी किसी प्रकार ।
करो न कुछ तन-मन-वाणीसे कभी किसीका भी अपकार ॥
देखो थोड़े-से गुणको भी, उसे बढ़ाओ कर सत्कार ।
प्रोत्साहन दो निज-परकी शुभ वृत्ति मात्रको सभी प्रकार ॥
मंगल ही सोचो नित मनमें, करो सभी मंगल-आचार ।
सोचो, करो वही, जिसमें हो दैवी सम्पद्का विस्तार ॥
कभी किसीका जी न दुखाओ, दो न किसीको भी दुत्कार ।
सबमें सदा विराजित ईश्वर, देखो उसे, करो सत्कार ॥

हममें परिवर्तन क्यों नहीं होता ?

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

हममें परिवर्तन न होनेके तीन कारण हो सकते हैं—

१. यह मान बैठना कि हममें कोई दोष है ही नहीं या हमारा दोष ही हमारा गुण है, हमारी विशेषता है, हमारी पर्सनेलिटी (व्यक्तित्व) है ।

२. यह मान बैठना कि हममें कोई परिवर्तन हो नहीं सकता ।

३. सच्चे हृदयसे हम अपनेमें परिवर्तन करनेके लिये प्रयत्नशील नहीं होते ।

× × ×

मन्दिरमें हम जाते हैं । वहाँ हम भावविभोर होकर गाते हैं—

'मो सम कौन कुटिल खल कामी !
पापी कौन बड़ो जग मोतें सब पतितनमें नामी !!···'

पर वहींपर, या बाहर निकलनेपर कोई ज़रा-सी ऐसी बात कह दे जिससे हमारे किसी दोषका जरा-सा भी संकेत मिलता हो, फिर देखिये, हमारा गुर्राना, फुफकारना और बिगड़ना !

अब कोई पूछे कि 'क्या हो गया भाई ! अभी तो आप ही कह रहे थे—**'पापोऽहं पापकर्माऽहम्'**·····!' और मैंने जरा-सा बता दिया कि जी हाँ आप ठीक कहते हैं, तो आप इतने लाल-पीले क्यों होते हैं ?'

हमारे पास इसका कोई जवाब तो नहीं है, परंतु हम शब्दोंका मुलम्मा लगाकर अपनी कुछ-न-कुछ सफाई जरूर दे देंगे ।

कारण ?

कारण यही है कि हम ऊपरसे भले ही अपनेको विनम्र, विनयावनत आदि कुछ भी कहें, पत्रोंमें अपनेको दासानुदास, चरणरज, खाकसार आदि कुछ भी लिखें—भीतरसे हम न तो अपनेको किसीसे नीचा मानते हैं, न किसीसे कम । अपनेमें कोई दोष हम मानते ही नहीं ।

हम झूठे हैं, आप हमें 'झूठा' कह तो देखिये ! हम बेईमान हैं, आप हमें 'बेईमान' कह तो देखिये ! हम चरित्रहीन हैं, आप हमें 'लफंगा' कह तो देखिये ! हम चोर हैं, आप हमें 'चोर' कह तो देखिये । इधरकी उधर लगानेमें हमें बहुत रस आता है, आप हमें 'माहिल' कह तो देखिये ! दूसरोंके घरमें आग लगानेमें हमें मजा आता है, आप हमें 'जमालो' कह तो देखिये ! दूसरोंकी निन्दा करनेमें हमारे २४ में कम-से-कम १८ घंटे बीतते हैं, आप हमें जरा टोक तो दीजिये !

हमारा बस चलेगा तो हम आपको फाड़ खायेंगे । आपको गाली देनेमें, आपपर हाथ चलानेमें, आपका अनिष्ट करनेमें हम कोई भी बात उठा नहीं रक्खेंगे ।

क्यों ?

इसलिये कि आप हमारे मर्मपर प्रहार करते हैं । आप वहीं दबा रहे हैं जहाँपर हमारा जूता काटता है ।

आपका 'मूड' यदि कुछ ठीक हुआ और आपको समझाकर कोई बात कही गयी तो भी आप इतना कहकर टाल देंगे—'क्या करूँ, यह मेरा स्वभाव है, मेरी आदत है, मेरा 'नेचर' है ! यह तो नहीं बदल सकता ।'

'क्यों नहीं बदल सकता आपका स्वभाव ? आपकी आदत किसी औरकी डाली हुई तो है नहीं । आपने ही तो डाली है । आप चाहें तो उसे बदल भी सकते हैं ।'—आपसे यदि ऐसा कह दिया जाय तो आप तुरंत उखड़ जायँगे ।

× × ×

ऐन मौकेपर आपकी किसी कमजोरीको कोई पकड़ ले, तो आप यह कहकर छूटनेकी कोशिश करेंगे कि जाने दीजिये । हर आदमीमें कुछ-न-कुछ कमजोरी होती है । अब तो मेरी यह कमजोरी मेरे जीवनका अङ्ग बन गयी है । अच्छा हूँ, बुरा हूँ, जो हूँ सो हूँ । मेरी इस कमजोरीको जानते हुए भी आपको निभाना चाहिये ।

तमाशा यह है कि आप मुझसे ही क्यों, सभीसे ऐसी अपेक्षा रखते हैं कि सब लोग आपकी कमजोरीको निभाएँ, मगर आप खुद ? आप किसीकी कमजोरीको निभाना नहीं चाहते, निभाते भी नहीं ।

तौलनेके कैसे दो बटखरे हैं हमारे ये !

× × ×

तो, जिन्हें अपने दोष दोष ही नहीं लगते, अपनी कमजोरियाँ क्षम्य लगती हैं, अपनी आदतें सही लगती

है, अपनी कमियोंसे प्यार होता है, उन्हें कौन सुधार सकता है! किसमें सामर्थ्य है जो उनमें कोई परिवर्तन कर सके ? सोते हुएको जगाया जा सकता है, जो जान-बूझकर आँखें बंद किये पड़ा है उसे कौन जगा सकता है ?

दोष किसमें नहीं होते ?

निर्दोष तो केवल एक परमात्मा है ।

जो लोग जान-बूझकर अपनी आँखोंपर पट्टी बाँधे हैं, उनको या तो अपने दोष दिखायी ही नहीं देते या दिखायी देते हैं तो वे उनकी तरफसे मुँह फेर लेते हैं। उनमेंसे अधिकांश लोग ऊपरसे पाक-साफ दीखनेकी कोशिश करते हैं, पर जबतक दिल साफ नहीं है, ऊपरी सफाईसे कहीं कोई काम हुआ है ! मौका आता है और उनकी कलई खुल जाती है। पर्दा फाश हो जाता है। लोग कह उठते हैं—

उसकी बातोंसे समझ रखा है तुमने उसे खिज्र ।
उसके पाँवोंको तो देखो कि किधर जाते हैं !!

विनोबा कहते हैं 'गीताप्रवचन'में—

'पानी ऊपर साफ दीखता है। परंतु उसमें पत्थर डालिये, तुरंत ही अंदरकी गंदगी ऊपर तैर आयेगी। वैसी ही दशा हमारे मनकी है। मनके अन्तःसरोवरमें नीचे घुटनेभर गंदगी जमा रहती है। बाहरी वस्तुसे उसका स्पर्श होते ही वह दिखायी देने लगती है। हम कहते हैं, उसे गुस्सा आ गया। तो वह गुस्सा कहीं बाहरसे आ गया ? वह तो अंदर ही था। मनमें यदि न होता तो वह बाहर दिखायी ही न देता।'

× × ×

यों हमारा पेट साफ ही मालूम होता है; पर एनिमा लेनेके बाद जब हम शौच जाते हैं, तब पता चलता है कि पेटमें कितनी गन्दगी भरी है। मनकी गन्दगीका भी तभी पता लगता है, जब हम विवेक और विचारके जलसे उसे धोते हैं।

हम जब देखेंगे और गौरसे देखेंगे तो यह बात साफ हो जायगी कि हमारे मनके भीतर गन्दगी-ही-गन्दगी भरी है। कभी भी मौका आता है कि वह खटसे बाहर फूट पड़ती है। काम और क्रोध, लोभ और मोह, मद और मत्सरकी गन्दगी रोज ही तो हमारी आँखोंके आगे आती रहती है—नाना रूपोंमें, नाना वेषोंमें। तटस्थ व्यक्तिकी तरह किसी भी दिन हम आत्मविश्लेषण करने बैठें तो तुरंत जाहिर हो जायगा कि इस दूधमें कितना पानी है !'

पर न तो हमें इतनी फुरसत है कि हम अपनी डायरी लिखने बैठें और न हम उसकी कोई जरूरत ही मानते हैं। कभी यदि अपने दोषोंपर नजर पड़ भी जाती है तो हम यह मानकर उन्हें दूर करनेकी बात भी नहीं सोचते कि 'बूढ़े तोते राम-राम नहीं पढ़ते।' हममें कोई परिवर्तन हो ही नहीं सकता। हम जो हैं सो ही रहेंगे।

× × ×

८ मई १९६० से ८ जून १९६० तक विनोबाने चम्बलके डाकूग्रस्त क्षेत्रकी यात्रा की। उस यात्रामें मैं भी था उनके साथ। २० डाकुओंने उनके समक्ष आत्मसमर्पण किया और यह प्रतिज्ञा की कि 'अबतक हमसे बहुत गलत काम हुए, अब हम ऐसी गलतियाँ न करेंगे।'

बीस डाकू, इश्तिहारी डाकू, जिनपर कई-कई हजारों रुपयोंके इनाम थे, विनोबाके चरणोंमें आकर गिरते हैं, अपनी बन्दूकें, गनें, स्टेनगनें, कारतूसें लाकर डाल देते हैं और प्रतिज्ञा करते हैं कि हम अब लूट-मारकी, डकैतीकी, हत्या और अत्याचारकी जिंदगी छोड़ते हैं। भविष्यमें हम पवित्र जीवन बितानेका प्रयत्न करेंगे। विद्यारामने कहा ही—'आज तें हमाई नई जिन्दगी है रही है।' (आजसे हमारा नया जीवन हो रहा है।)

दुनिया चौंक पड़ी। लुक्का और लच्छी, कन्हई और तेजसिंह-जैसे लोगोंने जब अपना जीवन बदलनेका संकल्प किया तो बड़े-बड़ोंने दाँतोंतले अँगुली दबायी।

पर हम तो हम ! हम तरह-तरहकी बातें कहने लगे। आखिर एक दिन अपने प्रवचनमें विनोबाको कहना पड़ा—

"बहुत-से लोग ऐसी बात करते हैं कि डाकुओंको रियायत मिली या मिलनेका भरोसा हुआ, इसीलिये वे शरण आये होंगे या पुलिसकी वजहसे पीड़ित हुए होंगे, इसलिये आये होंगे। ऐसा इसलिये होता है कि मनुष्यके मनमें यह भाव रहता है कि 'हमारा परिवर्तन तो हुआ नहीं, हम तो पापोंको छोड़ सके नहीं, दूसरोंने ऐसा कैसे किया होगा ?' लेकिन वे समझते नहीं कि अंदरका कारण और बाहरका कारण मिलकर ही काम बनता है।"

महात्मा तुकारामकी जिंदगीके ३१ साल संसारमें गये उनकी पत्नी मर गयी। तरह-तरहकी आपत्तियोंसे वे गुजरे। लेकिन आज महाराष्ट्रकी हर झोपड़ीमें 'ज्ञानवर तुकाराम'का

जप चलता है। भगवान्के नामसे उनका नाम मिल गया है। किंतु ये लोग क्या कहते हैं ? 'तुकारामपर आफत गुजरी, इसलिये वे संसारसे विरक्त हो गये। उन्हें वैराग्य हो आया !' ऐसा कहनेवाले यह खयाल नहीं करते कि उससे दस गुनी विपत्ति आनेपर भी बेशर्मीसे संसारमें फँसे रहनेवाले असंख्य लोग हैं।

ऐसा ही मान लिया जाय कि तुकारामको आपत्तिने परमेश्वरकी ओर ढकेल दिया। मैं मान लेता हूँ कि आपत्तिने डाकुओंको मेरे पास आनेकी प्रेरणा दी। गीतामें भगवान्ने कहा है, 'तू दुःखमय संसारमें आया है तो तू क्यों नहीं मेरी भक्ति करता ?' दुःखका उपयोग पश्चात्ताप होनेमें हुआ तो उस पश्चात्तापकी कीमत कम नहीं होती।'

किसीका लड़का मर गया, तो वह विरक्त होता है। भोगपरायणता छोड़ता है; लेकिन बहुत लोग ऐसे भी हैं, जिनका लड़का मर जाता है, तो कहते हैं, 'ठीक है, दूसरा होगा !' उन्हें विरक्ति नहीं होती।'

होता क्या है ? आज हम चाहते ही नहीं कि दुनियामें कोई सत्कार्य बने। इसलिये दूसरेमें विश्वास नहीं रखना चाहते। इसलिये नहीं कि हमारा हृदय खराब है, लेकिन हमारा अनुभव ही वैसा है। मैं मानता हूँ कि उन डाकुओंके मनमें परिवर्तन हुआ है। 'यह जिंदगी कुत्तेकी-सी है'—ऐसा मानकर ही उन्होंने समर्पण किया हो, तो भी समर्पण तो किया ! जितनी संख्यामें उन्होंने समर्पण किया, उतनी मात्रामें तो लोगोंको राहत मिली। यह सब परमेश्वरकी कृपा है।'

× × ×

दीनबन्धु एण्ड्रूज !

कालेज-जीवन समाप्त कर जा पहुँचे दक्षिण-पूर्वी लन्दनके उस हिस्सेमें, जहाँ रहते थे—चोर, जुआरी, शराबी, ठग और धूर्त। चार वर्ष लगाये आपने वहाँ इन दीन भाइयोंकी सेवामें।

इन्हीं लोगोंमें था एक ऐसा व्यक्ति, जिसे दुर्व्यसनों लत-सी पड़ गयी थी। वह शराब पीकर खूब उपद्रव मचाता। नतीजा यह होता कि पकड़कर जेलमें ठूँस दिया जाता।

जब-जब वह जेलसे छूटकर आता, एण्ड्रूज बड़े प्रेमसे उससे मिलते और उसके कल्याणके लिये प्रभुसे प्रार्थ करते।

अन्तमें एक दिन वह चिढ़कर बोल ही तो पड़ा—'आ क्यों पड़े हैं मेरे पीछे ? आप मुझे पक्का ईसाई बनाने तुले हैं ! पर मैं आपको साफ बता देना चाहता हूँ कि मुझे रत्ती भर विश्वास नहीं आपके भगवान्पर, आपके ईसापर !'

'भैया ! तुम भगवान्पर विश्वास करो या न करो, भगवान् तो तुमपर विश्वास करते हैं। वे तो तुमसे बराबर स्नेह करते हैं !'—कहते हुए एण्ड्रूजने हर बारकी तरह उसे चि चिपटा लिया गलेसे !

न जाने कौन-सा जादू था एण्ड्रूजके इन शब्दोंमें। उ व्यक्तिका जीवन एकबारगी ही पलट गया।

लोग हैरान थे उसका परिवर्तन देखकर।

उससे पूछा गया—'क्यों भाई, आजकल तुम्ह व्यवहार इतना ममतामय कैसे हो गया ? तुम्हारी वृत्ति ऐ शान्तिमयी कैसे हो गयी ?'

वह बोला—'जानते नहीं ? भगवान् मुझे प्रेम करते हैं फिर मुझे भी उनके विराट् प्रेमके उपयुक्त बनना चाहि न ?'

कुछ दिनों बाद वह चला गया अफ्रीका और व अनेक वर्षोंतक पादरीके रूपमें जनताकी सेवा करता रहा।

× × ×

इन सब लोगोंके लिये जीवनका यह परिवर्तन यदि सम्भव है तो हमारे लिये क्यों नहीं है ?

◆

भगवत्कृपाकी नित्य वर्षा

बरस रही है सबपर भगवत्कृपा, सहज ही नित्य निरंतर।
जीव मात्रके सहज स्वजन हरि, भरे सभीके बाहर-भीतर॥
सदा सभीके लिये वेगसे झरता कृपा-सुधाका निर्झर।
परमाश्रय वे प्राणिमात्रके भेदरहित वे परम सुहृद् वर॥

सूरका वात्सल्य

(लेखक—श्रीदिनेश भ्रमरजी एम्० ए०, रिसर्च स्कालर)

भक्ति-श्रृङ्गारकी मन्दाकिनी जो एक विशिष्ट सीमा-कूलों में प्रवाहित होती चली आ रही थी, उसे सूरदासने जनभाषाके व्यापक धरातलपर अवतरित करके संगीत और माधुर्यसे अभिमण्डित किया। भक्तिको भव्यता एवं उदात्तताका आभूषण पहनाते समय सूरने श्रृङ्गार एवं माधुर्यकी सार्वभौम पताका जैसा जयघोष अपने काव्यद्वारा किया, वैसा उनसे पूर्व किसी भी लोकभाषामें नहीं हुआ। साम्प्रदायिक भक्ति-सिद्धान्तोंके प्रति पूर्ण आस्था रखते हुए भी सूरदासने काव्यकी व्यापकताको अक्षुण्ण रक्खा है। उनके मनका क्षितिज इतना विस्तीर्ण था कि लोक-परलोककी चिन्ताके साथ रस-रंजनका अतुल वैभव जुटाकर वे अमर-काव्यकी सृष्टि करनेमें समर्थ सिद्ध हो सके। जन-मानसको विमुग्ध करनेवाला उनका काव्य भक्तिका नवनीत है, जो भवत्रस्त विपन्नजनको स्निग्ध-शान्त करता हुआ मोहनमें लीन करनेकी अद्भुत शक्ति रखता है। सूर-साहित्यमें भक्ति और काव्यका जैसा अपूर्व सम्मिश्रण हुआ है, वैसा विश्व-साहित्यमें बहुत कम देखनेको मिलता है। भक्तिके आवेष्टनमें ही कई रस-सरिताएँ उन्होंने प्रवाहित कीं, जिनमें एक वात्सल्य रस भी है?

वात्सल्यका 'वत्सल' स्थायी भाव है। माता-पिताका पुत्रादिपर जो स्वाभाविक एवं नैसर्गिक स्नेह होता है, उसे वात्सल्य रस कहते हैं। वात्सल्य रस, वत्ससे व्युत्पन्न और पुत्रादिविषयक रतिका पर्याय है। विश्वनाथके अनुसार—

स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।

—भोजराजने भी श्रृङ्गारको रसराज सिद्ध करनेके प्रसङ्गमें अन्य रसोंकी गणना करते हुए उनकी संख्या 'वत्सल' रसको मिलाकर दस बतलायी है। विश्वनाथके समयतक आते-आते इसको सर्वाङ्गरूपसे मान्यता प्राप्त हो गयी। परवर्ती कालमें केशवदास, चिन्तामणि, भिखारीदास आदि प्रायः समस्त प्रमुख रीतिकालीन आचार्योंने इसकी उपेक्षा की है। भारतेन्दुने 'वात्सल्य'की गणना की है।

वात्सल्य-रसको परिपूर्णता यदि मिली किसी कविद्वारा, तो वह कवि सूरदास हैं।

सूरदासद्वारा इस वात्सल्यभावका इतना विस्तार किया गया कि 'सूर-सागर'को दृष्टिमें रखकर वात्सल्यको रस न मानना एक विडम्बना-सा प्रतीत होता है। हरिऔधने मूलतः इसी आधारपर वात्सल्यको रस सिद्ध किया है।

सूरदास वात्सल्यके प्रधान एवं विलक्षण व्यक्तित्ववाले कवि हैं। सूरकी ख्याति हिंदी-साहित्यमें विशेषतः उनके मनोमुग्धकारी वात्सल्य-वर्णनको लेकर ही है। कालिदासने भी वात्सल्य-रससे एक छन्द अवश्य लिखा है, पर उसकी समता सूरकी कविताओंसे नहीं की जा सकती। आंग्ल साहित्यमें 'लांगफेलो'ने शिशुके गुणोंका उल्लेख अवश्य किया है; किंतु सूरकी-सी मार्मिकता या विदग्धताका सर्वथा अभाव है। आधुनिक युगमें रवीन्द्रनाथ ठाकुरने वात्सल्यरसको स्वाभाविकरूपसे प्रस्तुत करनेका एकमात्र प्रयास किया है। किंतु रविबाबूका शिशु प्रौढ़ताकी सीमापर खड़ा परिलक्षित होता है, जो शिशु-सुलभ स्वभावमें वैषम्य उत्पन्न करता है। वस्तुतः वात्सल्यकी जितनी मार्मिक एवं विशद व्याख्या सूरमें मिलती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। होमरने अपने 'ओडेसी'नामक महाकाव्यमें कदाचित् अत्यल्परूपमें ही वात्सल्यको उल्लिखित किया है, किंतु सूरके समक्ष उसका अस्तित्व लुप्तप्राय हो जाता है। सूरने मनोविज्ञानके साथ अभिव्यक्तिका अनुभूतिमय आधार लेकर जिस साहित्यकी सृष्टि की है, वह अमर है। उनका प्रत्येक वर्णन उनकी भावनाओंकी अनुभूतिसे अभिमण्डित है। डा० रामकुमार वर्माके मतानुसार वात्सल्यके अन्तर्गत विश्वव्यापी वृत्तियोंका परिदर्शन किया है; और जिसके आधारपर वे 'सूर-सागर'को 'विश्व-काव्य'की कोटिमें रखते हैं।

सूरने वात्सल्यका परिपाक बाल-लीला-वर्णनके प्रसंगमें ही किया है। सूरने बाल-भावोंका इतना स्वाभाविक चित्र प्रस्तुत किया है कि हम विस्मयाभिभूत हो जाते हैं।

'वस्तुतः नयनविहीन कविकी तीक्ष्ण मनोवैज्ञानिक दृष्टिने बालकके अन्तरतममें पैठ इस कदरसे उसके सुकुमार भावोंको शब्दोंके माध्यमसे प्रतिपादित किया है कि मानो स्वयं वीणापाणि भगवती सरस्वतीने उसकी जिह्वाको सरस वाणी प्रदान की है।' वियोगी हरिके शब्दोंमें—

तत्त्व-तत्त्व सूरा कही।

गजब थी उस अंधेकी सूझ। वात्सल्यरसकी जो विमल धारा प्रेमावतार सूरने बहायी, उसमें आज भी वीणापाणि भगवती सरस्वती अपनेको निमज्जित कर अपने सुख-सौभाग्य-

को सराहती है। वात्सल्य-रस सूरका इतना काव्याङ्गपूर्ण एवं प्रगल्भ रहा है कि अन्य कवियोंकी सरस सूक्तियाँ सूरकी जूठी जान पड़ती हैं। सूर-जैसा वात्सल्य-रसका चित्रकार—

'न भूतो न भविष्यति।'

ऐसा प्रतीत होता है कि सूरके मानस-घटमें वात्सल्य-रस चिरकालसे संचित हो, उसी रसकलशको उँड़ेलकर वात्सल्यकी आनन्ददायिनी मन्दाकिनी प्रवाहित की हो। आशय यह कि बाल-लीलाके अंशमें सूरकी प्रतिभा अप्रतिम है। साहित्यमें वात्सल्यको रसके अन्तर्गत परिगणित करानेका समस्त श्रेय सूरको प्राप्त है, अन्यथा वात्सल्य इसके पूर्व भावमात्र था।

सूरने जिस वात्सल्य-रसकी अभिव्यक्ति अपने काव्यके माध्यमसे की है, उसकी कई कोटियाँ हैं। व्रजकी वयस्क नारियाँ शिशु श्रीकृष्णके अभिराम रूप-सौन्दर्यसे प्रभावित होकर अपने सहज मातृत्वके अनुकूल उन्हें अपना निःस्वार्थ हार्दिक प्रेम प्रदान करती हैं, जो उनकी बाल-क्रीड़ा, विनोदपूर्ण चपलता तथा प्रिय स्वभावसे परिपुष्ट होता हुआ उत्तरोत्तर वृद्धि पाता है। असुरोंके उत्पातोंसे जब शिशु और बाल-कृष्ण खेलके क्रममें ही अपनी तथा व्रजकी रक्षा कर लेते हैं तो व्रज-नारियोंके मनमें सम्भ्रम एवं आतङ्कका समावेश हो जाता है, पर कालान्तरमें पुनः वह मूलभाव दृढ़ हो जाता है। यह वात्सल्यका उत्कट प्रमाण ही है कि श्रीकृष्णके कथनमात्रपर इन्द्रकी पूजाके बदले गोवर्धनकी पूजाके लिये व्रज-नारियाँ उद्यत हो जाती हैं।

वयस्क गोपोंके हृदयमें भी श्रीकृष्णके प्रति अनुकम्पा रति है। यदा-कदा श्रीकृष्णका अलौकिक कृत्य देखकर उनके अखण्ड वात्सल्यमें व्यतिक्रम उत्पन्न हो जाता है। वस्तुतः वात्सल्यकी अखण्ड, अबाध, गम्भीरतम निष्पत्ति यशोदाके भावमें ही हुई थी। यशोदाका स्नेह शुद्ध-हृदय मातृ-प्रवृत्तिपर आधारित है। सूरने यशोदाके भावको अतीन्द्रिय एवं स्वतःपूर्ण रूपमें चित्रित करके वात्सल्यभावमें भक्तिकी चरम अवस्थाकी व्यञ्जना की है। यशोदाके भावमें परिस्थितिके परिवर्तनसे भी परिवर्तन नहीं होता।

वात्सल्य-भाव श्रीकृष्णके बालरूप और उनकी बाललीलाओंपर आश्रित है। कविने प्रारम्भसे ही श्रीकृष्णलीलाके वातावरणमें ऐहिक भावनाओंकी प्रधानता रक्खी है। यही कारण है कि कविको श्रीकृष्णके प्रति सहज रूपमें रति उत्पन्न करानेमें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। गोकुलमें आकर हरिके प्रकट होनेपर जो आनन्दका सागर लहराया, उस उल्लासमय वातावरणके परोक्षमें सूरने वात्सल्य-भक्तिकी पुष्ट भूमिका तैयार की है, जिसमें व्रजके सभी नर-नारी समानभावसे श्रीकृष्णके प्रति अपना अनन्य स्नेह प्रकट करनेमें होड़-सी लगाते हैं।

कविने वात्सल्य-रसका प्रतिपादन प्रधानतया नन्द एवं यशोदाके माध्यमसे किया है। देवकी एवं वसुदेव आदिका स्नेह भी वात्सल्यसे आप्यायित है; किंतु उनमें यशोदा-जैसी तल्लीनता नहीं है। वे यशोदाकी भाँति श्रीकृष्णके माहात्म्यसे सर्वथा उदासीन नहीं रहतीं। यशोदाका 'वत्सल स्नेह' इतना अधिक तन्मयतापूर्ण है कि श्रीकृष्णके अतिलौकिक कार्योंको प्रत्यक्ष देखते हुए भी उसका भाव अक्षुण्ण रहता है। यशोदाके रूपमें वात्सल्यकी परम गम्भीरताका चित्रण करके कविने भक्तिकी महत्ता व्यञ्जित की है। अन्य व्यक्तियोंके वात्सल्यमें यशोदाकी अपेक्षा जो न्यूनता है, उसका कारण स्वयं उनकी मानसिक अनुभूतिका अन्तर है।

वात्सल्य एवं भाव-विस्तार

जो कवि जितने विविध रूपोंमें अपने व्यक्तित्वको उद्भासित करता है, उसका भाव-जगत् उतना ही सम्पन्न एवं क्रियाशील होता है। सूरके मानसकी विविध प्रवृत्तियों और विभिन्न भावोंके संयोगमें उनके प्रसार तथा प्रधान भावधाराओंका दर्शन हम करते हैं। वात्सल्यके अन्तर्गत जिन भावोंका प्रकाशन हुआ है, उनमें प्रथम कोटिके वे भाव हैं, जो हृदयमें उन्मुक्तता, विस्तार एवं उच्चताकी अनुभूति उत्पन्न करते हैं। यशोदा एवं नन्द आदिका हर्ष श्रीकृष्णके निरापद जीवनके लिये उनकी 'अभिलाषा' श्रीकृष्णके दर्शन आदिकी 'उत्सुकता', श्रीकृष्ण-जैसा पुत्ररत्न पाकर 'गर्व', श्रीकृष्णकी परिचर्यामें 'उत्साह'का वर्णन करके कविने मनुष्य-स्वभावके उस सरलतम पक्षका परिचय दिया है, जिसमें समस्त प्राप्य एवं वाञ्छनीय वस्तुओंकी सहज सुलभतासे उत्पन्न मनोदशा चित्रित हो गयी है।

कवि वात्सल्यकी प्रतीक यशोदाके द्वारा सुखकी इस चरम अनुभूतिको निरन्तर अक्षुण्ण रखनेकी चेष्टा करता है। माखनचोरीके उपालम्भोंको सुनते-सुनते यशोदाको श्रीकृष्णपर क्रोध आता है। इस प्रसङ्गमें यशोदाके भाव-द्वन्द्वका वर्णन करके कविने वात्सल्यकी तीव्रता व्यञ्जित की है। कभी-कभी यशोदाके सरल वात्सल्यमें क्षोभ भी उत्पन्न हो जाता है।

सूरने वात्सल्यका चित्र क्रमिक रूपमें विकसित किया है। उनके प्रायः सभी चित्र गत्यात्मक हैं। प्रवृत्ति-अङ्कनमें भी सूरको नैपुण्य प्राप्त है।

स्पर्द्धाभाव—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहि दूध पियत भई यह अजहूँ है छोटी॥

अथवा—

मैया! मोहि दाऊ बहुत खिजायो।
मोसों कहत मोलको लीन्हो तोहि जसुमति कब जायो॥

इन पंक्तियोंमें बालक कृष्णका क्षोभ प्रकट हुआ है। यही है सूरके वात्सल्यकी आत्मा।

श्रीकृष्णकी वचनविदग्धता भी कम लावण्यपूर्ण नहीं।

मैया मोरी मैं नहिं माखन खायो।
ख्याल परै, ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायो॥

कौन भावुक इस वचन-चातुरीपर मुग्ध नहीं हो जायगा। यही है सूरकी यशस्विनी लेखनीका चमत्कार। जिस भावका स्पर्श किया प्राणवत्ता आ गयी, जिस शब्दको जड़ दिया अर्थवत्ता आ गयी।

सूरका वात्सल्य-वर्णन एकाङ्गी नहीं कहा जा सकता। एक ओर जहाँ बाल मनोवृत्तियोंका सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्रण हुआ है, दूसरी ओर मातृ-हृदयकी व्यञ्जना भी बड़ी सरसताके साथ उद्घाटित हुई है। अगर हम कभी इस बातका अनुसंधान करें कि माताका हृदय विधाताने किन स्वर्गीय उपादानोंसे निर्मित किया है, तो पता चलेगा कि यशोदाका हृदय स्नेहका विस्तीर्ण पयोनिधि है।

सूरका वात्सल्य-वर्णन अधिक प्रभावोत्पादक बन पड़ा है—इसके कई कारण हैं।

प्रथमतः तो सूरने अपने नायकको तुलसीके समान सर्वथा लोकोत्तर नहीं बनाया।

द्वितीयतः, वातावरण भी सूरने उपयुक्त चुना है। सूरके श्रीकृष्ण, तुलसीके रामके सदृश राज-प्रासादमें नहीं पालित-पोषित होते, अपितु उनका विकास ग्राम्य वातावरणमें होता है, जो वात्सल्यके लिये सर्वथा औचित्यपूर्ण है।

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात है भक्ति-पद्धति। सूरकी भक्ति सख्य-भावकी भक्ति है। तुलसीकी भक्ति सेव्य-सेवक भावकी है। सूरको अपने आराध्यके प्रति जितना कहनेकी स्वतन्त्रता है, उतना तुलसीको नहीं।

अन्ततः हम कतिपय मान्य विद्वानोंका मत उपस्थित करते हुए इस निबन्धका अन्त करेंगे। डा० विजयेन्द्र स्नातक—'कृष्णलीलाके विविध रूपोंमें भावों और मनोविकारोंकी विविधताका यदि संधान किया जाय तो विदित होगा कि सूरकी अन्तर्दृष्टि मनके उन गुह्य स्तरोंतक गयी थी, जहाँ सामान्य मानवकी पहुँच नहीं हो सकती।'

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—'जितने विस्तृत एवं विशदरूपमें बाल्यजीवनका चित्रण इन्होंने किया है, उतने विस्तृतरूपमें अन्य किसी कविने नहीं किया।'

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—'बाल-स्वभावके वर्णनमें सूर बेजोड़ हैं। वे स्वयं वयःप्राप्त बालक थे।'

डा० शिवनन्दनप्रसाद—'मानव-हृदयकी भावुकताका विस्तार मानवेतर जगत्‌में देखना कल्पनाकी उर्वरताका ही नहीं, हृदयकी उदारताका भी परिचायक है। शाश्वत और उदात्त मानव-अनुभूतियोंको वाणी देनेके कारण सूरके काव्यका रस-प्रवाह सूखेगा नहीं और न हृदयको ऊँचा उठानेकी दृष्टिसे उसका महत्त्व ही कम होगा।'

भगवान्‌के समान हितैषी भगवान् ही हैं

हरि सम हरि ही हितू हमारो।
आश्रय एक दीन-पतितन को सहज सहाय सहारो॥
अवगुन-दोष गिनत नहिं एकहु सरनागतके भारी।
निज अवलंबन देय मिटावत जन की पीड़ा सारी॥
अभय करत निज दया दान दै, भय-विषाद हर सारे।
पठवत अन्त दिव्य निज धामहि निज सुभाव से हारे॥

भक्तियोग

(लेखक—स्वामीजी श्रीभक्तिदीपक भारतीजी महाराज)

देवर्षि नारद भक्तिका स्वरूप बतलाते हुए अपने भक्तिसूत्रमें कहते हैं—

सा कस्मै परमप्रेमरूपा ।

'भगवान्‌के चरणोंमें विशुद्ध प्रीतिको ही भक्ति कहते हैं ।'

संसारके लोगोंके प्रति जो प्रेम देखा जाता है वह यथार्थरूपमें भक्ति नहीं है; क्योंकि उसमें स्वार्थकी भावना निहित रहती है । अर्थात् उसमें केवल प्रेमास्पद-के सुखकी ही अभिलाषा न रहकर अपने सुखकी इच्छा बढ़ी हुई रहती है ! इस प्रकार विचार करके देखनेपर पिता-पुत्रका, भाई-बहनका, पति-पत्नीका तथा मित्रोंका पारस्परिक प्रेम स्वार्थसे भरा होता है। इस विषयमें एक छोटा-सा दृष्टान्त दिया जाता है । पिता अपने छोटे बच्चेको लेकर उसके कोमल कपोलको जब अपनी कटी हुई दाढ़ीवाले मुखसे रगड़ता है तो बच्चा रोने लगता है, परंतु पिताको उसमें सुखका अनुभव होता है । इसलिये वह बराबर रगड़ता है । अपने देह-सुखके लिये पति पत्नीसे तथा पत्नी पतिसे प्रेम करती है । इस प्रकार औरोंका भी प्रेम है ।

भगवान्‌के सच्चे प्रेमियों—भक्तोंका अपने इष्टदेव भगवान्‌के प्रति जो प्रेम होता है, उसमें प्रेमास्पद भगवान्‌के सुखकी इच्छाको छोड़कर अपने सुखकी इच्छा बिल्कुल ही नहीं रहती, इसलिये भगवान्‌ने कहा है—

मद्‌गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये ।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् ।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥
सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥
स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः ।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते ॥

(श्रीमद्भागवत ३ । २९ । ११-१४)

जिस प्रकार गङ्गाका प्रवाह अखण्डरूपसे समुद्रकी ओर बहता रहता है, उसी प्रकार मेरे गुणोंके श्रवण-मात्रसे मनकी गतिका तैल-धारावत् अविच्छिन्न रूपसे मुझ सर्वान्तर्यामीके प्रति हो जाना तथा मुझ पुरुषोत्तममें निष्काम और अनन्य प्रेम होना—यह 'निर्गुण भक्तियोग' का लक्षण कहा गया है । ऐसे निष्काम भक्त दिये जानेपर भी, मेरी सेवाको छोड़कर सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मोक्षतक नहीं लेते। भगवत्-सेवाके लिये मुक्तिका तिरस्कार करनेवाला वह भक्तियोग ही परम पुरुषार्थ अथवा साध्य कहा गया है। इसके द्वारा पुरुष तीनों गुणोंको लाँघकर मेरे भावको, मेरे प्रेमरूप अप्राकृत स्वरूपको प्राप्त हो जाता है।

श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभुके सम्प्रदायके आचार्यवर्य महानुभाव श्रील रूप गोस्वामी प्रभुने अपने 'भक्ति-रसामृतसिन्धु' ग्रन्थमें लिखा है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥

"श्रीकृष्ण और श्रीकृष्णभक्तिके अतिरिक्त सभी प्रकारकी कामनाओंका परित्याग करते हुए, ब्रह्मके साथ एक हो जानेकी इच्छा, भक्तिविरुद्ध सकाम कर्मादिसे रहित तथा भगवद्-भक्तिके अनुकूल आचारोंका पालन करते हुए जो अनुशीलन किया जाता है, उसे ही 'उत्तम भक्ति' कहते हैं ।"

भक्तिमें किसी प्रकारकी कामनाको स्थान नहीं है। किसी कामनाको लेकर जो भक्ति की जाती है वह शुद्ध भक्ति नहीं है । भक्तराज प्रह्लादकी निष्ठासे संतुष्ट होकर

भगवान् नृसिंहके रूपमें प्रकट हुए, प्रकट होकर वर माँगनेके लिये उन्होंने प्रह्लादसे कहा। प्रह्लादने कहा—

यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्।
यदि रासीश मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ।
कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम्॥
(श्रीमद्भागवत ७। १०। ४-७)

'जो सेवक आपसे अपनी कामनाएँ पूर्ण करना चाहता है, वह सेवक नहीं; वह तो लेन-देन करनेवाला बनिया है। हे वरदानि-शिरोमणि स्वामी! यदि आप मुझे मुँहमाँगा वर देना ही चाहते हैं तो यह वर दीजिये कि मेरे हृदयमें कभी किसी कामनाका बीज अङ्कुरित ही न हो।'

ब्रह्मके साथ एक हो जानेकी इच्छाका भक्तिके साथ विरोध है। भगवान्, भक्ति और भक्त—ये तीनों नित्य हैं। इहलोकमें तथा अप्राकृत भगवद्धाममें भी ये तीनों सदा वर्त्तमान रहते हैं। भगवद्भक्त भगवान्के नाम, रूप, गुण, लीलाको अप्राकृत जानकर उसीके श्रवण, कीर्तन तथा स्मरणादिमें समय व्यतीत करते हैं। जो कर्म या अनुष्ठान भगवान्की सेवाके अनुकूल है, उन्हींको वे ग्रहण करते हैं। भगवान्की सेवाके प्रतिकूल सकाम कर्मादि तथा शुष्क वैराग्यादिका भी वे आदर नहीं करते। भगवान् श्रीकृष्णके वचन हैं—

प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो मासकृन्मुनेः।
कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि॥
तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह॥
(श्रीमद्भागवत ११। २०। २९—३१)

'ऊपर बताये गये भक्तियोगके द्वारा बारंबार भजन करते हुए मेरे भक्तके,—मैं अन्तर्यामी, हृदयमें स्थित रहनेके कारण, हृदयके सारे काम-दोष नष्ट हो जाते हैं। मुझ सर्वान्तर्यामीका हृदयमें अनुभव हो जानेपर उसके हृदयकी ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, उसके सारे संशय मिट जाते हैं तथा कर्म-बन्धन सर्वथा क्षय हो जाते हैं। इसलिये मुझमें चित्त लगानेवाले, अनन्य भावसे मेरा ही भजन करनेवाले भक्तयोगियोंके लिये ज्ञान अथवा वैराग्य भी प्रायशः कल्याणकारी नहीं होते।'

उपर्युक्त श्रीमद्भागवतके श्लोकोंमें जो ज्ञान तथा वैराग्यको कल्याणकारी नहीं कहा गया है, वह निर्विशेष ब्रह्ममें एक हो जानेकी चेष्टा तथा भगवत्-सम्बन्धसे रहित शुष्क वैराग्यके लिये ही कहा है। भगवत्-तत्त्वका सिद्धान्त जाननेकी इच्छा तथा श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिये भोगोंका त्याग तो भक्तिमार्गमें आवश्यक है ही।

* * *

इतनी कृपा करो

किसी कामका नहीं जगत्में, हूँ मैं केवल भूका भार।
केवल एक विलक्षण है सौभाग्य, तुम्हारा पाया प्यार॥
पर यह है शुचि सहज तुम्हारा बिरद, तुम्हारा सहज सुभाव।
हो तुम सुहृद अहैतुक सबके, सबको देते मीठे भाव॥
इतनी कृपा करो अब मुझपर परम कृपामय हे सरकार।
मधुर तुम्हारा स्मरण बने बस, मेरा एक जीवनाधार॥
गान करूँ मैं सदा तुम्हारा, सुनूँ तुम्हारा ही गुणगान।
रोम-रोम नित जपे तुम्हारा नाम मधुर मेरे भगवान्!॥

आध्यात्मिक धनकी श्रेष्ठता

(लेखक—पं० श्रीजयकान्तजी झा)

जिस प्रकार भौतिक धन सांसारिक वस्तुओंका होता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक धन मनुष्यके सद् विचारोंका होता है। किसी मनुष्यके मनमें जबतक सद् विचार है और जहाँतक वह दूसरोंके हितकी कामना अपने मनमें रखता है, वहाँतक वह आध्यात्मिक दृष्टिसे धनी है। भौतिक धनकी वृद्धिसे मनुष्यमें अपने-आपके विषयमें चिन्ता करनेका अभ्यास बढ़ता है, किंतु आध्यात्मिक धनकी वृद्धि होनेपर वह अपने स्वार्थको विस्मरण करना सीखता है और दूसरोंको सुखी बनानेके लिये सदा चिन्तन करता रहता है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक दूसरोंके कष्ट-निवारणके लिये तत्पर रहता है, वह उतना ही आध्यात्मिक दृष्टिसे धनी है। महात्मा बुद्ध, सुकरात, स्वामी विवेकानन्द आदिके पास एक पैसा भी नहीं था, पर वे आध्यात्मिक दृष्टिसे धनी थे; क्योंकि वे अपने-आपको भूलकर संसारके दुःख-विनाशमें ही सदा लगे रहते थे।

भौतिक धन मनुष्यके पास कितना भी क्यों न हो, जबतक उसे इस धनकी चाह है, तबतक वह दीन-दरिद्र ही बना रहता है। इस धनके बढ़नेसे धनकी चाह कम नहीं होती, अपितु और भी बढ़ जाती है। वह सदा असंतुष्ट रहता है। उसका यह असंतोष उसे सदा दुःख दिया करता है। जो व्यक्ति धनी लोगोंकी खुशामद किया करते हैं अथवा उनसे ईर्ष्या-वैर करते हैं, वे भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही दृष्टियोंसे निर्धन हैं। धनी लोगोंकी निन्दा करनेवालोंको जब धन मिल जाता है, तब वे भी उसी प्रकार धनके गुलाम हो जाते हैं जिस प्रकार दूसरे धनी हैं। इससे यह स्पष्ट है कि निर्धन होना ही पुरुषार्थ नहीं। आध्यात्मिक धन तात्त्विक वस्तु है। इसके प्राप्त होनेपर ही मनुष्य अपनी निर्धन अवस्थामें भी प्रसन्नचित्त रहता है। वह अपने-आपको संसारके सम्राट्के समान सुखी और भाग्यवान् मानता है। इस धनकी एक पहचान यह है कि इस धनका स्वामी दूसरोंका प्यारा होता है। वे उसे हृदयसे चाहते हैं। भौतिक धनके स्वामीको अपने भाई, पुत्र और स्त्री भी हृदयसे नहीं चाहते। वह सदा उन्हें संदेहकी दृष्टिसे देखता है। इसके कारण वे भी उससे वहीं तक प्यार करते हैं जहाँतक धनका लाभ उन्हें उससे होता है। भौतिक धनके स्वामीका धन नाश होनेपर उसे कोई नहीं पूछता; पर आध्यात्मिक धनके स्वामीको अपने प्रेमियोंसे तिरस्कृत होनेका कोई भय नहीं रहता। मनुष्य जैसे विचार दूसरे व्यक्तिके पास भेजता है, उसे वैसे ही विचार उससे मिलते हैं। यदि हम वैर, द्वेष और संदेहके विचार दूसरे व्यक्तिके पास भेजेंगे तो हमें भी वैर, द्वेष और संदेहके ही विचार मिलेंगे और यदि हम प्रेम और विश्वासके ही विचार उनके पास भेजेंगे तो उनसे भी हमें प्रेम और विश्वासके ही विचार मिलेंगे। मनुष्य अभ्यासका दास है। जिस मनुष्यका अभ्यास जैसा हो जाता है, उसके पास वैसे ही विचार स्वभावतः आते हैं।

मनुष्यका आध्यात्मिक धन उसके अच्छे विचारोंका अभ्यास है। हमारे विचारोंका प्रवाह हमारे अभ्यासके ऊपर निर्भर करता है। जैसे विचार हम अपने मनमें सदा आने देते हैं, वैसे ही विचार बार-बार हमारे मनमें आते रहते हैं। जब हम किसी बुरे विचारको अपने मनमें लाते हैं, तब वह भी अपनी बुरी मनोवृत्तिके कारण उस समय हमें भला ही लगता है, पर वह हमारे मनको क्लेशित कर जाता है।

बार अपने मनमें बुरे विचारोंको लानेसे मन इतना निर्बल हो जाता है कि फिर यदि हम उन विचारोंका मनमें आना रोकना भी चाहें तो वे विचार रुकते नहीं। मानसिक रोगकी अवस्थामें रोगीके मनमें जब कोई अभद्र विचार घुस जाता है तो फिर वह रोकनेका प्रयत्न करनेपर भी नहीं रुकता। वह मनुष्यको बहुत भारी त्रास देता रहता है। ऐसी अवस्थामें सुखकी सभी बाह्य सामग्री उपस्थित रहनेपर भी वह व्यक्ति उनका उपभोग नहीं कर पाता। इस प्रकारके विचारोंको रोकनेके लिये कई दिनोंतक उसके विपरीत अभ्यास करना पड़ता है। दूसरोंके विषयमें कुचिन्तन करनेसे मनुष्यकी आध्यात्मिक शक्तिका ह्रास हो जाता है। इसके ह्रास हो जानेपर फिर मनुष्य अपने ही विषयमें कुचिन्तन करने लगता है। उसके विचार आत्म-विनाशक बन जाते हैं। अतएव हर समय अपने विचारोंको देखते रहना आवश्यक है। अपने मनके दरवाजेपर हमें सदा-सर्वदा एक सावधान और नित्य जाग्रत् पहरेदार बैठा देना चाहिये जो बुरे विचारोंका आना रोके और भले विचारोंका प्रवेश कराये एवं सतत हमारे आध्यात्मिक धनकी रखवाली करे।

भौतिक धन जैसे बहुत-से मकान, घोड़े, हाथी, मोटर आदि तो दृष्टिगोचर हैं; पर आध्यात्मिक धन पहचानना इतना सरल नहीं है। यदि कहा जाय कि जिस व्यक्तिके पास भौतिक धन नहीं है, वह आध्यात्मिक दृष्टिसे धनी है तो यह ठीक नहीं होगा। फिर तो प्रत्येक गरीब, भिखारी आध्यात्मिक धनका प्रभु मान लिया जायगा। ऐसा ही होता तो आध्यात्मिक धनकी प्राप्तिके लिये सतत प्रयत्नकी कोई आवश्यकता न होती। सभी निर्धन, निकम्मे व्यक्ति आध्यात्मिक दृष्टिसे धनी मान लिये जाते। पर यह वस्तुतः बात नहीं है। जिन लोगोंके पास न तो भौतिक धन होता है और न आध्यात्मिक ही, वे भौतिक धनवालोंसे डाह करते हैं और उनका विनाश करना चाहते हैं। वे वास्तवमें आध्यात्मिक दृष्टिसे सर्वथा निर्धन हैं। आध्यात्मिक दृष्टिसे धनी तो वे लोग हैं जिन्हें भौतिक धनकी तनिक भी स्पृहा नहीं है और यदि संयोगसे उन्हें भौतिक धन प्राप्त हो ही जाय तो वे उसे लोगोंमें अनायास बाँट देते हैं और सदा-सर्वदा आत्म-संतोषकी अनुभूति करते रहते हैं। इस प्रकारके धनके स्वामी इने-गिने ही होते हैं और उनको पहचानना कठिन होता है; क्योंकि वे जो कुछ करते हैं, सब सहजस्वभावसे ही करते हैं—विज्ञापनके लिये नहीं। ऐसे व्यक्ति अपने निन्दकोंको प्यारकी दृष्टिसे देखते हैं। जिन्हें सामान्य लोग शत्रुके रूपमें देखते हैं, उन्हें वे अपना मित्र समझते हैं। श्रीकबीरदासजी कहते हैं—

> **निंदक नियरे राखिये आँगन कुटी छवाय।**
> **बिनु पानी साबुन बिना निरमल करै सुभाय॥**

इस प्रकार सभी लोगोंको कल्याणकारी मानकर आध्यात्मिक धनके प्रेमीको किसीके भी प्रति बुरी भावना नहीं होती। जिस प्रकारका सतत प्रयत्न भौतिक धनके उपार्जन, संचय और संरक्षणके लिये संयमके रूपमें करना पड़ता है, उससे कहीं अधिक प्रयत्न आध्यात्मिक धनके संचयमें करना पड़ता है। जिसे किसी भौतिक लाभकी चाह नहीं, जो संसारके धनी लोगोंकी निन्दा नहीं करता और न उनका विनाश ही चाहता है, वरं उन्हें दयाका पात्र समझता है, वही आध्यात्मिक धनका स्वामी कहा जा सकता है। आध्यात्मिक धनका स्वामी धन प्राप्त होनेपर प्रसन्न न होकर उसे एक प्रकारकी झंझट समझता है। एक बार एक साधुके पास, जो जंगलमें अपनी कुटियामें अकेला रहता था और जो गाँवके लोगोंकी दी हुई रोटी खाकर अपना जीवन-निर्वाह करता था, एक धनी व्यक्ति आया। उसने चाहा कि वह उस साधुकी कई दिनोंके लिये भोजनकी व्यवस्था कर दे। अतः उसने एक अशरफी निकालकर साधुको देना चाहा। साधु अशरफी

देखकर बोला—'इसकी आवश्यकता मुझे नहीं है। इसे तुम किसी गरीबको दे दो।' साधुके वचन सुनकर धनी व्यक्ति चकित हो गया कि इससे अधिक गरीब और कौन होगा? उसने साधुसे पूछा—'महाराज! मैं किस गरीबको इसे दूँ?' साधुने जवाब दिया—'एक गरीब नित्य प्रति इधरसे जाता है, उसीको यह अशरफी दे देना।' इतनेमें वहाँ राजाकी सवारी आ निकली। साधुने संकेत किया कि वह गरीब आ गया। उस धनी व्यक्तिने राजाको जब अपने हाथमें अशरफी रख कर दिखायी, तब उसने भेंट समझकर उसे ले लिया। सारांश यह कि भौतिक धन मनुष्यके पास कितना ही क्यों न हो, किंतु जबतक उसे इस धनकी चाह है, तबतक वह गरीब ही बना हुआ है। इसके विपरीत आध्यात्मिक धनका स्वामी अपने आपको संसारके बादशाहके समान सुखी और सम्पन्न समझता है। ऐसे ही लोगोंके बारेमें श्रीकबीरदासजीने कहा है—

चाह गई चिंता गई मनुआ बेपरवाह।
जिनको कछू न चाहिये, सो जग शाहंशाह॥

अतः जबतक मनुष्य दैन्य-भावसे मुक्त नहीं होता, तबतक उसे आध्यात्मिक दृष्टिसे धनी नहीं माना जा सकता। आध्यात्मिक धनवाले व्यक्तिको सदा भौतिक धन देनेकी इच्छा रहती है, लेनेकी नहीं। वह दूसरोंकी सेवा धन-प्राप्तिके लिये नहीं वरं उनका हित करनेमात्रके लिये ही करता है। अतएव हमें आध्यात्मिक धनकी सतत वृद्धि करनेके लिये हर समय अपने विचारोंका निरीक्षण करते रहना आवश्यक है, जिससे बुरे विचारोंका आना रुके और भले विचारोंका सदा स्वागत होता रहे।

मानव-बुद्धि और ज्ञान

ज्ञानकी गरिमापर मुग्ध और स्वयंकी क्षुद्रतासे क्षुब्ध मानव-बुद्धिने कुछ झुँझलाते, कुछ गिड़गिड़ाते हुए ज्ञानसे कहा—

'ज्ञान दे ज्ञान! यह क्या पागलपन है? मैं पागल हुई जा रही हूँ तेरे पीछे—तुझे आत्मसात् करनेके लिये और तेरे भावें ही नहीं। तू तो निकला-भागा ही जा रहा है।'

ज्ञानने अपनी गरिमाके अनुरूप सहज गम्भीर स्वरमें, किंतु कुछ चुटकी-सी भी भरते हुए उत्तर दिया—

'पागलको सब पागल सूझते हैं बुद्धिरानी! तेरा दोष नहीं; परंतु भोली! इतना तो जाना होता कि किसीको आत्मसात् करनेके लिये किसीके आत्मसात् हुआ भी जाता है।'

बात पतेकी थी। मानव-बुद्धिकी 'मैं' पर चोट पड़ी, जिससे एक बार तो वह बुरी तरह तिलमिलायी' फिर कुछ संयत हो, उसकी मीमांसा करते गहरे गोतमें उतरती गयी—फीकी पड़ती गयी।

उबारा ज्ञानने भी उसे इस अवस्थासे। चुटकनेकी झाईंको भी दूर रख, गाम्भीर्य-गरिमामें परम आत्मीयताकी सहज पुट देकर आत्मसात् होता करता-सा बोला वह—

'चिन्ता न कर पगली! तू मुझमें आत्मसात् न हुई तो क्या हुआ! मैंने तुझको अपनेमें आत्मसात् कर लिया है और इस तरह मैं अपनी अनन्तता-सहित स्वयं भी तुझमें आत्मसात् हो गया हूँ।'

और इस तरह मानव-बुद्धि ज्ञान-प्रसाद पाकर चिन्ता-गोतसे निकलकर खिल उठी। खिली-खिली वह आकाशसे भी परेकी ऊँचाइयाँ पातालसे भी नीचेकी गहराइयाँ छूने-नापने लगी। अनन्त ज्ञानकी अनन्त किरणें उसमेंसे विकीर्ण होकर समस्त भूमण्डलको ज्ञान-प्रकाशसे व्याप्त करने लगीं, कर रही हैं आजतक—करती रहेंगी भविष्यमें भी!

— हरिकृष्णदास गुप्त 'हरि'

हमारी मुक्तिनाथ-यात्रा

(लेखक—श्रद्धेय श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

[गताङ्क पृष्ठ १२१७ से आगे]

पृथिव्यां यानि तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च ।
तत् फलं समवाप्नोति विष्णोर्नामानुकीर्तनात् ॥
तस्मादेव नदी श्रेष्ठा कृष्णाभा सा घटोद्भव ।
परिवारैः समं स्वांशैर्विष्णुना नित्यसेविता ॥
सर्वदेवमयो विष्णुः सर्वतीर्थमयीव सा ।
गौरीस्वेदोद्भवा स्नानात् कोटितीर्थगुणं फलम् ॥ *
(स्कन्द० पु० हिमवतखण्डे)

छप्पय

नारायनको नाम अखिल अघ हरिबे वारो ।
बनिकैं सालिगराम रूप प्रभु धारयो कारो ॥
नित्य गंडकी सलिल बसैं श्रद्धा तैं सेवैं ।
मनवांछित फल सतत सलिलसे विनिकूँ देवैं ॥
जेठ सुरनिमें विष्णु ज्यों, त्यों सरितनि महँ गंडकी ।
[illegible] गंगा सलिल सित, उद्गम है आनंद की ॥

पहले हम बता चुके हैं कि पर्वतीयोंको छोड़कर हम चलनेवालोंके लिये मुक्तिनाथका सरल सीधा मार्ग गोरखपुरसे रास्ता होते हुए बुटवलसे है। बुटवल ही यात्राका मुख्य स्थान है, जैसे बद्रीनाथ यात्राका आरम्भ-स्थान ऋषिकेश है। समस्त पहाड़ी मार्ग किसी नदी-नालेके किनारे-किनारे होते हैं, मुक्तिनाथ गंडकी नदीके उद्गमपर है, अतः गंडकी नदीके किनारे-किनारे ही उनतक पहुँचा जा सकता है। गंडकी बिहारके सोनपुर हरिहरक्षेत्रके समीप पटनाके सामने उस पार श्रीगङ्गाजीमें मिली हैं। अतः जहाँसे भी सुविधा हो वहींसे गंडकीका किनारा पकड़ना चाहिये। गंडकीका जल काला है, इसलिये इनका नाम कृष्णाभा या कालीगङ्गा भी है। उधर सभी इन्हें कालीगङ्गा ही कहते हैं। भगवान् नारायण (शालग्रामरूपसे) इनमें नित्य निवास करते हैं, अतः इनका नाम नारायणी भी है। गंडकी, कालीगङ्गा या नारायणीका ही आश्रय लेकर मुक्तिधाम पहुँचा जा सकता है। हरिहरक्षेत्रसे तो ये बहुत ही टेढ़ी-मेढ़ी दुर्गम स्थानोंसे बही हैं अतः जहाँतक सवारीकी सुविधा हो वहाँतक सवारीसे जायँ। जहाँ सवारीकी सुविधा समाप्त हो जाय, वहाँसे सीध बाँधकर गंडकीकी शरण ले लें। अब बुटवलसे हमें गंडकीका किनारा पकड़ना है। बड़ोंके पास जानेको प्रथम छोटोंका आश्रय लेना पड़ता है। छोटोंके ही सहारे बड़ोंतक पहुँचा जा सकता है। बुटवलमें छोटी नदी तिलोत्तमा है। अतः उसीका सहारा लेकर हम चले। तिलोत्तमा कई नालोंके मिलनेसे बनी है। उसका मूल नाला तानसेनके पर्वतके समीप है। अतः बुटवलसे हमें तानसेन जाना आवश्यक है। इसीलिये हम बुटवलसे पैठेगाँव होकर दोभान ग्राममें पहुँचे। यहीं दोभान नालेमें झूमसा नाला मिला है। आगे वही तिलोत्तमा नदी हो गयी है, झूमसाके किनारे-किनारे अनेक पहाड़ोंको लाँघते हम गौड़ेवास, रानीबासा मरके, शिशिनीखोला होते हुए मश्यांग नामक ग्राममें पहुँचे। जो लोग रुरुक्षेत्र (रीडी) होकर जाना चाहते हैं उनके लिये रीडीको यहींसे मार्ग जाता है। उनको तानसेन नहीं जाना पड़ता। रुरुक्षेत्र बालखिल्यों-की तपोभूमि बतायी जाती है। महाराजा युद्धशमसेरने वानप्रस्थ जीवन बितानेको यहाँ एक स्थान गंडकी तटपर बनाया था, किंतु घटनाचक्रके अनुसार उन्हें देहरादूनमें आकर रहना पड़ा और वहीं उनकी मृत्यु हुई।

जो लोग रुरुक्षेत्र न जाकर रानीघाट होकर जाते हैं उन्हें तानसेन होकर ही जाना पड़ता है। हमें रानीघाटसे ही जाना था। अतः मश्यांगसे कोकलछाप, बाँसतारी, परबस होते हुए तानसेनमें पहुँच गये। मार्गमें हरे-भरे नयनाभिराम धानके खेतोंकी शोभा अवर्णनीय थी। तानसेन तकका वृत्तान्त हम पिछले लेखमें दे चुके हैं, अब तानसेनसे आगेकी कमनीय कहानी सुननेकी कृपा कीजिये।

तानसेन

पहाड़में यह एक सुन्दर समृद्धिशाली सुहावना शहर है। राणाओंके कालमें जब समस्त नैपाल नंबरोंमें बँटा था—नं० १

---

* श्रीकार्तिकेयजी महामुनि अगस्त्यजीसे कह रहे हैं—हे मुने! भूमण्डलमें जितने भी तीर्थ, मन्दिर तथा पुण्यस्थल हैं, उनके सेवनसे जो फल मिलता है, वह फल तो (शालग्रामस्वरूप) विष्णुके नामसंकीर्तनमात्रसे ही मिल जाता है, इसलिये सर्वश्रेष्ठ विष्णु ही हुए। उन विष्णु (शालग्राम) को भी जो गंडकी अपने [illegible] धारण करती है और अपने अंशरूप जो देवादि हैं उनके [illegible] श्रीविष्णु भी जिनका नित्य सेवन करते हैं। इससे सिद्ध हुआ श्रीविष्णु सर्वदेवमय हैं और उन्हें नित्य धारण करनेवाली [illegible] गंडकी सर्वतीर्थमयी है। यह गंडकी गौरीजीके पसीनेसे उत्पन्न हुई है, अतः यह करोड़ों तीर्थोंसे अधिक फल देनेवाली है।

नं० २ नं० ३ ऐसे। उस समय तानसेनमें एक राज्यपाल गवर्नर रहता था। सरकारी फौज भी रहती थी। फौज तो थोड़ी-बहुत अब भी रहती है, किंतु अब यह प्रान्त न रहकर एक जिलामात्र रह गया है। बड़ा हाकिम (कलेक्टर) यहाँ रहता है। यहाँ पहाड़के ऊपर एक बड़ा ही सुन्दर मैदान है। यह सैनिकोंके अभ्यासका स्थल है। तोपखाना भी है। नैपाल महाराज इसे हवाई अड्डा बनाना चाहते थे। इसके आस-पासके पेड़ भी कटा दिये गये। पीछे पता चला स्थान हवाई अड्डा बनानेको कम है, इससे यह योजना स्थगित हो गयी। बहुत ही सुहावना स्थान है। पहले यहाँका स्वतन्त्र राजा था। १५०, २०० वर्ष पूर्व। नैपालवालोंने उसे हराकर इस राज्यको नैपालमें मिला लिया। यहाँका जलवायु बड़ा सुन्दर है। नैपालमें अमेरिकन ईसाई मिसनरियोंका बड़ी ही तेजीसे बड़ा व्यापक योजनापूर्ण प्रचार हो रहा है। तानसेनसे लगभग दो-तीन मील दूर ईसाइयोंने कई लाख रुपये लगाकर अपने बड़े सुन्दर-सुन्दर दिव्य भवन बनाये हैं। एक क्षय-चिकित्सालय (टी० बी० अस्पताल) विशाल पैमानेमें बना रक्खा है। नैपाली भाषामें बाइबिलका एक सुन्दर अनुवाद छापा है, उसे नाममात्रके मूल्यपर (मूल्य तो कहनेको है उसे एक प्रकारसे बिना मूल्य ही) वितरित किया जाता है। ईसाइयोंने इस विशाल नगरको अपने 'प्रचार'का गढ़ बना रक्खा है।

यहाँ नारायणका एक विशाल मन्दिर है। नैपाल-राज्यके जो मन्त्री थापा हैं, उनके ही वंशज किन्हीं थापाने इसकी स्थापना की थी। इसमें छोटे-छोटे ७०, ८० गाँव लगे हैं, जिनसे हजारों मन धान आता है। मन्दिर विशाल है, उसका एक विशाल बगीचा है। पर्वोपर उत्सव होते हैं, नैपाली तथा संस्कृतकी पाठशाला है, आगत अतिथियोंको नित्य सदावर्त मिलता है। यहाँके लोगोंमें अभी देशकी हवा कम लगी है, सीधे-सादे भोले-भाले धर्मनिष्ठ हैं। यहाँ नगरपालिका है, पानीके लिये नल लगे हैं। बिजली अभी यहाँ नहीं आयी। हम जब लौट रहे थे तब ४०, ५० आदमी कंधोंपर रखकर बिजलीका यन्त्र (जनरेटर) ले जा रहे थे। आशा है अबतक तानसेनमें भी बिजली लग गयी हो। इस स्थानकी शोभा देखकर चित्त प्रसन्न हुआ। हमारे कुली अभीतक नहीं आये थे, अतः हमें एक दिन तानसेनमें ठहरना पड़ा।

तानसेनसे वीरधा

(ज्येष्ठ शु० ८, ३० मई)

तानसेनसे प्रातःकाल ही हमलोग चल दिये। कुछ दूर तो हल्की-सी एक मीलकी चढ़ाई थी। फिर जो उतराई आरम्भ हुई वह रानीघाट गंडकीके किनारे ही समाप्त हुई। मार्ग बड़ा ही सुन्दर हरा-भरा था। खेतोंमें धान लग रहे थे। राणाओंके शासनमें यहाँके राज्यपाल श्रीखड्ग समसेर बहादुर राणा यहाँ रहते थे। रानीघाटमें गंडकीके बिल्कुल तटपर उन्होंने एक बहुत ही भव्य भवन बनवाया था। वह छोटा-मोटा किला ही है। तानसेनसे रानीघाटतक उन्होंने पुराने ढंगकी सड़क बनवायी थी। उसपर बीच-बीचमें पुल भी बने हैं। सड़कके दोनों ओर वृक्ष लगवाये गये हैं। पहले इस देशमें वापी, कूप, तड़ाग, आराम तथा पेड़-पौधे लगानेकी, धर्मशाला बनवानेकी बड़ी प्रथा थी। जो विधवा चक्की पीस-पीसकर सौ, दो सौ रुपये इकट्ठे कर लेती थी, उसकी भी यही इच्छा होती थी मेरे नामकी छोटी-सी धर्मशाला बन जाय। कुआँ ही बन जाय। जो धनवान् होते थे, वे बड़े-बड़े तालाब, धर्मशाला, पाठशाला, सदाव्रत लगाते थे। अंग्रेजी-कालमें ये सब होते थे। लोग लाखों करोड़ों रुपये इन मन्दिर-पाठशालाओंमें लगाते थे। बहुतसे लोग आमके एक-एक लाख पेड़ लगाकर उन्हें सर्वसाधारणके लिये छोड़ देते थे, उनके फलोंको चाहे जो खायें। इन्हें लखोरी बाग कहते थे। ऐसे बहुत-से बाग हमने देखे हैं। उनमें बैठकर भरपेट आम खाये हैं। हमारे प्रयागके पास एक छोटी-सी रियासत है (है क्या थी), उसमें १ लाख आमके पेड़ लगाकर सर्वसाधारणको छोड़ दिये थे। इसीलिये उस रियासतका नाम नौलखा है। पहले दूध, पूत और फल बेचना महापाप माना जाता था। नदियोंके पानीको, वृक्षोंके फलोंको, कपड़ोंसे फाड़कर पेड़ोंपर लटकायी गयी चीरोंको जो चाहे सो ले जाय। तभी तो भागवतमें कहा है—क्या रास्तोंमें पहिननेको चीर नहीं है? क्या परोपकारी वृक्ष खानेको फल नहीं देते? क्या पीनेको नदियोंका जल सूख गया! क्या पहाड़ोंकी गुफा रहनेको नहीं हैं, क्या वे रुद्ध हो गयीं! क्या भगवान् अपनी शरणमें आये हुओंका पालन नहीं करते? यदि यह सब है तो धन पाकर जो दुर्मद हो गये हैं ऐसे धन-दुर्मदान्ध व्यक्तियोंकी कविगण क्यों लल्लो-चप्पो करते हैं, क्यों उनकी चाटुकारितामें लगे रहते हैं*!

---

* चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्तु भिक्षां
नैवाङ्घ्रिपाः परभृतः सरितोऽप्यशुष्यन्।
रुद्धा गुहाः किमजितोऽवतु नोपसन्नान्
कस्माद् भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान्॥

इससे स्पष्ट हो जाता है कि वृक्षोंके फलोंको कोई बेचता नहीं था, व्यवसायी माली भले ही बेचते हों। पहले-पहल जब मैं बद्रीनारायणकी यात्रामें गया था—तबतक ऋषिकेशसे आगे कोई सवारी नहीं जाती थी। तब मैंने वहाँ आमोंके पेड़ोंके नीचे हजारों पके फल सड़ते देखे। हमने भरपेट खाये। हम आश्चर्यमें रहे,—यहाँ फलोंको कोई खाता क्यों नहीं! खाय कहाँतक, वहाँ तो सभी वृक्षोंमें इतने फल लगते थे कि लोगोंसे खाये नहीं जाते। दुबारा जब बद्रीनाथ गया तो एक पैसेके आठ फल बिकने लगे। अब तो हमारे शहरोंकी भाँति वहाँ भी तौलकर बिकते हैं। अब हम असभ्यसे सभ्य जो हो गये! अपनी सभ्यताको हमने बद्रीनाथके पहाड़ियोंको भी सिखा दिया; किंतु अभीतक हमारी सभ्यता तानसेनसे आगे नहीं पहुँची। वहाँ सड़कके किनारे लाखों आमके पेड़ खड़े थे। नीचे आम पड़े थे, कोई लेनेवाला नहीं। पहले तो हमलोगोंने लालचमें आकर खूब आम बटोर लिये, जब देखा, उत्तरोत्तर अच्छे आम आने लगे और रानीघाटमें तो आमोंकी भरमार थी, तब हमलोगोंको अपने लालचपर पश्चात्ताप हुआ। उन दिनों आम कच्चे थे, आप चाहें हजारों मन आम तोड़ लायें, आपको कोई रोकनेवाला नहीं। हमलोग तानसेनसे आगे बरान्दी खोलाके किनारे-किनारे मार्गके मनोरम दृश्योंको देखते प्रपातोंके पुनीत पयका प्रेमपूर्वक पान करते हुए पथमें पड़े रसाल आम्रोंके कच्चे फलोंको बटोरते हुए, धानके लहलहाते हरे-भरे खेतोंकी नयनाभिराम शोभा निहारते हुए, प्रचण्ड धूपमें सघन पादपोंकी सुखद छायाके सुखको अनुभव करते हुए रानीघाट गंडकीके सुखद तटपर आ ही तो गये। ज्येष्ठकी प्रचण्ड गरमी पड़ रही थी, पहाड़ी मार्ग और तिसपर भी पाँच मीलकी खड़ी उतराईके कारण थक गये थे। शरीर पसीनेसे लथपथ हो गया था। गंडकीके सुखद सलिलके स्पर्शसे परम शान्ति मिली। भूखके मारे आँतें कुड़ुड़-कुड़ुड़ कर रही थीं। सभी एक दूसरेसे खानेकी वस्तु माँग रहे थे, कोई चना-[illegible]की खोज कर रहे थे, कोई नहाकर पूजा कर रहे थे और बीच-बीचमें देखते भी जाते थे, कि चूल्हा चेता या नहीं?

रानीघाटमें कोई बस्ती नहीं, गाँव नहीं। एक ही छोटी-सी दूकान है। उसमें कठिनतासे दाल-चावल मिले। सब लोगोंने कृष्णसलिला गंडकीमें डुबकी लगायी। किसीने माला सरकायी, किसीने घंटी बजायी, किसीने खिचड़ी चढ़ाई, किसीने कच्चे आमोंकी चटनी बनायी। सबने मिलकर प्रेमपूर्वक यथेच्छ खिचड़ी खायी और तब सबने सुखपूर्वक पेड़ोंकी शीतल छायामें लेट लगायी।

मैं रानीघाटके महलोंको देखने गया। कितने भारी-भारी कमरे थे। पचासों छोटे-बड़े सदन, सभाभवन, मनोहर मण्डप, विशाल बगीचा, कितनी चातुरीसे ये तिमंजले, चौमंजले भवन बनाये गये होंगे। जिस समय राणा परिवारके अधिकारी इसमें रहते होंगे, उस समय वायु भी यहाँ बिना आज्ञाके प्रवेश न कर सकती होगी। आज वे महल खंडहर पड़े हैं, कोई गिर गया है, किसीकी दीवार गिर गयी है, किसीकी खोटकड़ी सड़ गयी है। बिना मरम्मतके यह इतना भारी भवन जंगलमें सुनसान खड़ा है। खड़ा क्या है अपने पूर्व वैभवको स्मरण करके रो रहा है। इसे देखकर मुझे भर्तृहरिके इस श्लोकका भाव स्मरण हो आया। कोई वृद्ध किसी युवकसे कह रहा है—'देखो भैया! यह जो तुम्हें सामने टूटा-फूटा-सा खेड़ा दिखायी दे रहा है, यहाँ एक बड़ी रमणीक नगरी थी, उसमें एक बड़ा राजा रहता था, उसमें बड़े-बड़े सामन्त आते-जाते रहते थे। यहाँकी चन्द्रानना रमणियोंके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या, ऐश्वर्यके मदसे मदमत्त शारीरिक बलके कारण इठलाते हुए राजकुमारोंका समूह क्रीड़ा करता रहता था। बंदीगण प्रातःकालसे ही विविध वाद्योंके साथ ताल-स्वरमें राजवंशका गुणगान करते रहते थे। ये सब वस्तुएँ जिनके कारण केवल स्मृति-पटलपर एक धुँधली-सी रेखा छोड़कर न जाने कहाँ विलीन हो गयीं, उन कालदेवको बारंबार नमस्कार है।*

मैंने राणाओंके सुनहरे दिवस देखे हैं। उनके वैभवका अवलोकन किया है। नैपालमें तो नहीं, अन्यत्र उनका आतिथ्य ग्रहण किया है, आज उस वैभवको स्मरण करके और इन खंडहरोंको देखकर वे अतीतकी स्मृतियाँ नूतन हो जाती हैं। उस इतने भारी विशाल महलमें एक-दो नौकर होंगे। राणाओंके शासनके अन्तमें जनताने यहाँके अधिकारी-को भी भागनेके लिये विवश कर दिया। राणा तो भाग गया, छोड़ गया इन खंडहरोंमें अपनी कसक भरी स्मृतियाँ!

---

* भ्रातः कष्टमहो महान् स नृपतिः सामन्तचक्रं च तत्
पार्श्वे तस्य च सा विदग्धपरिषत् ताश्चन्द्रबिम्बाननाः।
उद्रिक्तः स च राजपुत्रनिवहस्ते वन्दिनस्ताः कथाः
सर्वं यस्य वशादगात् स्मृतिपथं कालाय तस्मै नमः॥
(भर्तृहरि वै०)

हाँ, तो खा-पीकर हम आगे बढ़े। यहाँ गंडकी चञ्चल नहीं, शान्त है। ऐसा लगता है वह बाल्यकालको पार करके प्रौढ़ा हो गयी है। यहाँ देशकी भाँति शान्तभावसे बह रही है। इसीसे यहाँ नौका चलती है, नौका भी यहाँकी दर्शनीय। जीवनमें सर्वप्रथम ऐसी नौका देखी। वह काठके पटरोंसे या टीनसे बनी नहीं, एक मोटे वृक्षका तना खोखला करके पानीमें डाल दिया है, उसमें लोहेकी बबौड़ी भी नहीं। एक मोटी लकड़ीसे मल्लाह खेते हैं, पानीको काटते हैं। हमलोग उस नौकासे उस पार हुए। पार होते ही चढ़ाई आरम्भ हो गयी। लगभग तीन मीलकी सीधी चढ़ाई। यहाँ गंडकी एक पहाड़के तीनों ओरसे बहती है। उस पहाड़के ऊपरके गाँववाले बड़े गर्वसे कहते हैं, हम तो गंडकीके गर्भमें निवास करते हैं। एक ओर तनिक खुला है, नहीं तो चारों ओरसे गंडकी उसकी परिक्रमा देकर बह रही है। हमलोग चढ़ते ही गये, चढ़ते ही गये। बीचमें नाना प्रकारके वृक्ष मिलते थे। नाना प्रकारके वेष-भूषामें पहाड़ी पुरुष तथा महिलाएँ कृषिका कार्य करते हुए मिलती थीं। एक बुढ़िया अकेली घास काट रही थी। कानमें सोनेके कर्णफूल पहिने थी। हमने पूछा—'ये असली सोनेके हैं?' वह बड़े गर्वसे बोली—'बिल्कुल असली सोनेके हैं, तीन तोलेके हैं!' उसके भोलेपनको देखकर हमें हँसी आ गयी। जब चढ़ते-चढ़ते पहाड़की चोटीपर आ गये। चढ़ाई समाप्त हो गयी, तो हमें एक छोटा-सा गाँव पड़ा। उसमें दो दुकानें थीं। ३-४ घर। चढ़ते-चढ़ते इतने थक गये थे कि हमने यहीं रात्रि बितानेका निश्चय किया। इस गाँवका नाम था ओइधा भुस्टुंग। जब हमने पूछा—पानी कहाँ है तब दुकानदारने कहा—यहाँसे थोड़ी दूरपर एक कुआँ है। कुआँ पहाड़में भला कहाँ? किसी पानीके छोटे-से सोतेको खोदकर गड्ढा कर लेते हैं, उसीको कुआँ कहते हैं। साधुको और चाहे कुछ हो-न-हो, उसे विपुल पानी अवश्य चाहिये। हमने पूछा—'आगे गाँव कितनी दूर है?' दुकानदारने कहा—एक मील ही नीचे ही वीरघा बड़ा गाँव है, वहाँ पानी आदिका बड़ा सुपास है। हमने सोचा—एक मील क्या बात है, फिर चढ़ाई नहीं उतराई। इसीलिये हमारे साथी जो पीछे रह गये थे, उनकी बिना ही प्रतीक्षा किये रामराज, वंशीवाला और दो आदमियोंके साथ हम चल दिये। उतराई ऐसी खड़ी कि मानो कोई बलात् ढकेल रहा हो। एक मील उतरकर मकईकी ऐसी हरी-भरी खेती आ गयी कि मन प्रसन्न हो गया। पहाड़के बीचमें इतना विस्तृत मैदान और मक्काकी इतनी सुन्दर खेती देखकर हम आश्चर्यचकित रह गये। हमने सोचा—जैसे हमारे यहाँ छोटे-छोटे गाँव होते हैं, ऐसे ही वीरघा कोई एक मीलपर गाँव होगा। किंतु वह ग्राम न होकर एक ग्रामसमूहका नाम वीरघा है। लगभग तीन-चार मील लम्बी बस्तीका नाम वीरघा है। पहाड़में ऐसे ही ग्रामसमूह एक नामसे पुकारे जाते हैं। जैसे १०–१२ मीलकी बस्तीका नाम प्रयाग है। हम चलते ही गये पानीका सुपास ढूँढ़ते-ढूँढ़ते। एक-एक मील कर तीन-चार मील चल दिये। तानसेनसे चले-चले थक गये थे। बादल हो रहे थे, अँधेरी रात्रि मक्काके खेतोंमें होकर छोटी-सी पगडंडीसे जाना जिससे ठहरनेको पूछें, वही कह दे आगे जाओ, आगे जाओ। अन्तमें रात्रिके आठ-नौ बजे एक दुकानपर पहुँचे। उससे बहुत अनुनय-विनय की। उसने इस शर्तपर स्थान दिया कि हमसे खानेको मत माँगना। इसे स्वीकार कर लेनेपर उसने अपना घर खोल दिया। जिस पानीकी आशासे रात्रिमें इतने दौड़कर आये वह पानी भी वहाँ नहीं था। साथी पीछे भटक रहे थे। चिल्ला रहे थे। हम इधरसे पूरी शक्तिसे चिल्ला रहे थे 'हे नाथ नारायण वासुदेव'। 'नाथ नारायण वासुदेवने टेर सुन ली। नौ-दस बजे तक सभी साथी इकट्ठे हो गये। भूखके मारे सब व्याकुल थे; किंतु यहाँ पैसा देनेपर भी कोई भी सामान आटा, दाल, चावल नहीं मिला। चना-चबैना-गुड़ कुछ भी नहीं। मन मारकर सब सो गये।

वीरघासे श्वेतबैंनी

(ज्येष्ठ शु० ९, ३१ मई)

प्रातःकाल उठे। कलकी चढ़ाईने नसें ढीली कर दी थीं। अङ्ग-प्रत्यङ्गमें पीड़ा हो रही थी; किंतु मुक्तिनारायणके दर्शनोंकी लगन जो लगी थी। चल पाँडि तुझे तो द्वारका जाना ही है। 'मुक्तिनाथकी जय' बोलकर चल दिये। मक्काके खेतोंमें होकर छोटी-सी पगडंडीसे हमारी छोटी-सी यात्रियोंकी सेना मुक्तिनाथकी चढ़ाईके लिये चल रही थी। मार्गमें जो भी गाँव मिलते, वहीं हमारे साथी पूछते कहीं चना मिलेगा, गुड़ मिलेगा, चावल मिलेंगे; किंतु यहाँ सबके मुखपर एक ही उत्तर था छैईना (है नहीं)। रास्तामें न चढ़ाई थी, न उतराई। देशकी भाँति सुन्दर मार्ग था। मेरी-मेरी गाँव होकर मोहन डांडामें आये। यहाँ थोड़ी उतराई है। वहाँसे गंडकीपर पुल (झूला) है, नये ढंगका बना हुआ। वहाँसे

आगे आदिधारा गङ्गा और गंडकीका संगम है। पार होकर हम संगम-स्नानको गये। एकदम सितासित संगम था। प्रयागराजका दृश्य था। स्नान करके बड़ी प्रसन्नता हुई। फिर ऊपर चढ़कर चले। मार्ग तो बहुत चढ़ाईका नहीं था; किंतु सभीको इतनी जोरकी भूख लगी थी कि पग-पग भारी हो रहा था। अन्नका स्वाद तो ऐसी यात्रामें ही आता है। कैसा भी रूखा-सूखा सड़ा-गला अन्न मिल जाय, वह अमृतोपम प्रतीत होता है। सबकी भूख चौगुनी हो गयी थी। एक छोटा-सा घर कहो, गाँव कहो, मिला। भले ही उसे दूकान भी कह लो। घरवालेने कहा—यहाँ दाल-चावल मोल मिल जायगा। पानी वहाँसे दूर था, घरकी बुढ़ियाने आश्वासन दिया, मैं पानी भी ला दूँगी। वहीं डेरा डाला। बुढ़ियाके यहाँ मोल दूध भी मिल गया। मानो अमृत मिल गया हो, जिसके हाथ पड़ गया वही पी गया। मट्ठा मिला सो ही उड़ा गये। फिर बनी खिचड़ी। पाठकोंमेंसे कोई होता और वह पत्तलोंपर परसी खिचड़ीको देखता तो सोचता क्या इतनी खिचड़ीको एक आदमी खा सकता है? किंतु हमारे साथी खाते थे और एक बार नहीं दो-दो बार। मिल जाता तो तीन बार भी। बुढ़ियाको आटा-दाल-चावल, मट्ठा, दूध, लकड़ीके दाम चुकाये और पानी लानेके पैसे देने लगे तो उसने कहा—'मैं पानी लानेके पैसे नहीं लूँगी। नहीं तो, आप देशमें जाकर कहोगे—'नैपालके लोग पानीके भी पैसे ले लेते हैं।' हमें उसकी इस बातपर बड़ा हर्ष हुआ कि इसे अपने देशकी प्रतिष्ठाका कितना ध्यान है।

वहाँसे भोजन करके आगे बढ़े। लगभग दो मील आगे ही श्वेतवैनी-तीर्थ है। वहाँ श्वेत-गङ्गा और गंडकीका सुन्दर संगम है। कल गङ्गा-दशहरा है। आज संगमपर आ गये। यह स्थान बड़ा ही मनोहर है। चारों ओर पहाड़ोंसे घिरा है। दूकानोंपर सभी सामान मिलता है। यहाँ चना-चबैना भी मिलता है। इससे आगे मुक्तिनाथतक दाल-चावलको छोड़कर और कोई वस्तु नहीं मिलती। यहाँ मुक्तिनाथके यात्री साधु-संतोंको सदावर्त भी मिलता है। कोई साधु चन्द्रगिरिजी हो गये हैं। उन्होंने ही इस सदावर्तको आरम्भ किया था, अब उनकी एक शिष्या टीकागिरि उसे चला रही हैं। एक संस्कृत-पाठशाला भी है। एक नैपाली संत उसे चलाते हैं। विद्यार्थियोंको पाँच रुपये मासिक छात्रवृत्ति देते हैं। निम्बार्क सम्प्रदायका एक श्रीकृष्ण भगवान्का मन्दिर भी है। पहाड़में यह एक सुन्दर स्थान है। हमलोगोंने यहीं शामका भोजन बनाया। सदावर्तसे सामान लिया।

श्वेतवैनीसे फाकसैंनी

(ज्ये० शु० १०, १ जून)

श्वेतवैनीमें एक लाख शालग्रामकी शिला है। सुनते हैं ये शिलाएँ बहते-बहते यहाँ स्थित हो गयीं। उसमें शालग्राम-ही-शालग्राम हैं। संगमका दृश्य मनोहर है। हमने प्रातः गङ्गा-दशहराका स्नान यहीं संगमपर किया। स्नान करके चल दिये। आगे ठाढ़ीचोरेमें दोपहरका भोजन हुआ। भोजन करके चल दिये। यहाँ लोगोंको पता नहीं, मील क्या है, कोस क्या है? इतना ही जानते हैं एक दिनका मार्ग है; दो दिनका मार्ग है। जिस स्थानको लोग एक कोस बता देते, वह हमारे यहाँके ७-८ मीलसे कम न होता। हमें एक गाँव दो मील बताया गया; किंतु हम चलते ही गये—रात्रि हो गयी। वह गाँव फिर भी दो मील। अन्तमें मुक्तिनाथबाबाने मार्गसे दूर एक फाकसैंनी गाँव बताया। जैसे-तैसे उस गाँवमें पहुँचे। पानी वहाँसे बहुत दूर। बड़ी ही असुविधा हुई। घरवालेसे पानीके पीछे कुछ कहा-सुनी भी हो गयी। इधरके लोग अत्यन्त ही रूखे हैं, वे न तो आतिथ्य करना जानते हैं, न किसीकी किसी प्रकारकी सहायता ही करनेको उत्सुक हैं। यहाँ लोग आते भी नहीं। कुछ फक्कड़ साधु मात्र ही आते हैं। जैसे-तैसे रात्रि काटी। रात्रिमें पानी भी आ गया। भोजन बननेका कोई डौल-डाल नहीं था, अतः सब सो गये।

(क्रमशः)

प्रेमी भक्त श्यामानन्द

(लेखक—श्रीराधाकृष्णजी)

सोलहवीं शताब्दी आधीसे अधिक बीत चुकी थी। बंगाल और उड़ीसाके अध्यात्मसिन्धुमें भगवान् श्रीचैतन्यकी भावतरङ्गोंके ज्वार-भाटे आ रहे थे। बर्दवानके अम्बिका-कालनाके गौर-मन्दिरमें आरतीके बाद आचार्य हृदयचैतन्य भगवान्की लीला-कथा कहनेमें लीन थे कि इसी समय एक नवयुवक आकर उनके चरणोंमें लोट गया। करुण-कातर स्वरमें बोला—'प्रभो! मेरा जीवन धन्य करें। मुझे दीक्षा देकर अपना शिष्य स्वीकार कर लें।'

हृदयचैतन्यने उसे बैठाकर उसके सिरपर प्रेमसे हाथ फेरा। स्नेहपूर्वक उससे पूछने लगे—'बेटा! तुम कौन हो? कहाँसे आ रहे हो? तुम्हारा परिचय क्या है?'

उत्तरमें उस नवयुवकने अपना परिचय बतलाया।

'बहुत दूर उड़ीसाके धरेंदापुरमें उसका निवास-स्थान है। उतनी दूरसे जंगल और पहाड़ोंमें भटकता हुआ, नदियोंको लाँघता हुआ, पैदल चला आ रहा हूँ आपके पास अम्बिका-कालनामें। आकाङ्क्षा एकमात्र यही है कि आप मुझे अपने शिष्यके रूपमें स्वीकार कर लें—मुझे दीक्षा दे दें। फिर तो मेरा जीवन धन्य हो जायगा।' आचार्य हृदयचैतन्यने देखा कि दीर्घ-यात्राके फलस्वरूप युवकके पैर फट-फट गये हैं, वहाँसे खून निकल रहा है। थकावटके कारण शरीर शिथिल, अवसन्न। दोनों आँखोंमें क्लान्ति भरी है और उसके भीतरसे भक्तिकी आकुलता झाँक रही है।

'बेटा! तुमने अपना नाम तो बतलाया नहीं।'

'नाम है मेरा दुखी!'

'दुखी!··ऐसा न कहो बेटा, तुम दुखी नहीं।' आचार्य हृदयचैतन्यने कहा—'तुम्हें आश्रय मिलेगा, तुम्हें दीक्षा मिलेगी। इसी गौर-विग्रहके सामने मैं तुम्हें दीक्षा दूँगा। अबसे तुम्हारा नाम होगा—'दुखी कृष्णदास।' विश्वास रक्खो, मैं तुम्हें जो कुछ दे सकता हूँ, दूँगा।'

और वह नवयुवक 'दुखी'से कृष्णदास कहलाया। दीक्षा मिल गयी।

चलने लगी एक क्रमसे गौड़ीय वैष्णव पंथकी साधना। दिन आने लगे, रात जाने लगी······।

इसी उम्रमें वह असाधारण था। उसने वैष्णव-शास्त्रों मन्थन किया था। विद्यामें कमी नहीं, बुद्धिमें कमी नहीं निष्ठा और भक्तिमें कमी नहीं। उपयुक्त शिष्यको उपयुक्त गुरु मिले थे। बड़ी निष्ठा थी, बड़ी भक्ति थी। साधनामें वह तन्मय रहता।

जातिका वह गोप था। पिताका नाम था श्रीकृष्ण मंडल, माँ थी दुरिका। संतानें तो कई हुईं, मगर टिकी एक भी नहीं। जो जन्म लेते थे, अकाल ही काल-कवलित हो जाते थे। भगवान्का ऐसा कोप! क्या करें? पिता दुखी थे, माँ दुखी थी। ऐसे ही समयमें माँकी गोदमें एक बालक आया। दुखी माता-पिताने उसका भी नाम रख दिया 'दुखी'।

माँ-बाप चाहते थे कि बेटा विद्वान् बने, सुनाम अर्जन करे। दुखीको संस्कृत-टोलमें पढ़नेके लिये भेजा गया। क्या छात्र है! विचित्र थी उसकी मेधा। अद्भुत थी उसकी प्रतिभा। बड़ी शीघ्रताके साथ वह पाठ-पर-पाठ समाप्त कर गया और थोड़े ही दिनोंमें शास्त्रके दुरूह ग्रन्थोंका अध्ययन मनन करने लगा। किशोरावस्थासे ही मनमें वैराग्यने घर बना लिया था। निताई-गौराङ्गके नाम उसके हृदयमें तरङ्गित होते रहते। संसारमें क्या रक्खा है? सब क्षणभङ्गुर। इसे पाया तो क्या पाया? पाना तो उसे है जो अनश्वर है। लेना तो वह है जो कभी नष्ट न हो। अगर वह गृह-त्याग न करे तो क्या करे? यहाँ मन नहीं लगता। हृदयचैतन्यका नाम वह बार-बार सुनता आ रहा है। वह उनके पास ही जायगा, उनसे ही दीक्षा लेगा।'······

और एक दिन वह घर-द्वार, माता-पिताका मोह त्यागकर चल खड़ा हुआ। वह चलता जा रहा है, चलता जा रहा है। बहुत दूर जाना है उसे। बर्दवानके अम्बिका-कालनामें जाना है। वहाँ गौर-विग्रहका मन्दिर है। वहीं हृदयचैतन्य रहते हैं। उनके चरणोंमें जाकर ही वह कृतार्थ होगा। वह चला जा रहा है, चला जा रहा है।······

गौर-विग्रहकी सेवा-पूजामें दुखी कृष्णदास रम गये। वैष्णव आचार और निष्ठाकी तपस्या चलने लगी। स्नानके लिये बहुत दूर जाकर गङ्गाजल लाना पड़ता है। घड़ा भी बहुत बड़ा है। इतने बड़े घड़ेमें जल भरकर इन्हें

दूर लाना। हो नहीं पाता, फिर भी कृष्णदास अपने काममें लगा हुआ है। घड़ेको ढोते-ढोते सिरमें बहुत बड़ा घाव हो गया है। अब असहनीय है। किसी तरह भी जल लाया नहीं जाता! फिर भी निष्ठा है। इस तनको क्या सोचे; वह गौर-विग्रहको सोचता है, उनकी पूजाके बारेमें सोचता है, उनकी सेवाके बारेमें सोचता है। कार्यक्रम उसी प्रकार चलता जा रहा है, घाव भी उसी प्रकार बढ़ता जा रहा है।

एक दिन आचार्यने स्नेहपूर्वक उसके सिरपर हाथ फेरा तो सिहर उठे, चकित रह गये। 'इतना बड़ा घाव! यह कैसे?'

'गुरुदेव! घड़ा भारी है और स्नान-आचमनके लिये गङ्गाजीका जल लाना आवश्यक है।'

'परंतु इतना बड़ा घाव होनेपर भी तुमने गङ्गाजल लाना छोड़ा नहीं?'

'गुरुदेव! यदि ऐसा करता तो भगवान्‌की सेवामें बाधा होती।'

शिष्यकी इस निष्ठाने गुरुको भी चकित-स्तम्भित कर दिया।

'बेटा! तुम्हारे आध्यात्मिक जीवनका भविष्य महान् है। तुम चले जाओ वृन्दावन। वहाँ श्रीजीव गोस्वामीके पास जाकर मेरा नाम लेना। मैं उन्हें पत्र भी दे रहा हूँ। वहाँ रहकर उनके आश्रयमें रहना और वैष्णव-शास्त्रोंका अध्ययन करना।'

हृदयचैतन्यने श्रीजीव गोस्वामीके नाम पत्र लिख दिया और उसे लेकर दुखी कृष्णदास चल पड़े। श्रीधाम, नवद्वीप, गया, काशी, प्रयाग और एक दिन वृन्दावनमें आ उपस्थित हुए। वहाँ जाकर उन्होंने रघुनाथ गोस्वामीका नाम सुना। पूरे व्रजमण्डलमें रघुनाथ गोस्वामीका सुयश प्रकाशकी भाँति फैला हुआ था। प्रेम-भक्तिका ऐसा समर्थ साधक न देखा गया, न सुना गया। राधाकुण्डके किनारे उनकी कुटियामें भक्तोंकी भीड़ लगी रहती थी।

दुखी कृष्णदासको जाना था श्रीजीव गोस्वामीके पास; परंतु पहुँच गये वे रघुनाथ गोस्वामीकी कुटियामें। जाकर उन्हें प्रणाम किया।

रघुनाथदासने कहा—'बेटा! तुम्हें श्रीजीव गोस्वामीके पास जाना है। मेरे पास क्यों आये हो? जाकर उनकी शरण लो और शास्त्र तथा साधनामें मन लगाओ।'

रघुनाथदासने एक आदमीको साथ कर दिया। दुखी-कृष्णदास श्रीजीव गोस्वामीकी कुटियापर पहुँचे। अपने गुरुका पत्र उन्हें दे दिया। श्रीजीव गोस्वामी मुस्कराने लगे।

दुखी कृष्णदास वहाँ वर्षों रह गये। बीच-बीचमें जन्मभूमि उड़ीसा जाते रहते, वैष्णवधर्मका प्रचार करते रहते। सब होता; परंतु वृन्दावन गये बिना जी न मानता। उड़ीसासे घूम-फिरकर वे वृन्दावन पहुँच ही जाते; जहाँ भगवान श्रीकृष्णने विहार किया था, जहाँके चप्पे-चप्पेपर उनकी लीलाओंका मधुर इतिहास अङ्कित है।

उन्होंने वृन्दावनके निकुञ्ज-मन्दिरमें झाड़ू देनेका काम ले लिया। रोज वहाँ झाड़ू लगाकर मन्दिर साफ करते और भगवान्‌की लीलाओंका स्मरण करते हुए आनन्दमें मग्न रहते। मनमें एक आशा बलवती होती जा रही थी कि 'यहाँ रहकर क्या कभी राधा-गोविन्दकी निकुञ्ज-लीला भी देख पाऊँगा?'

एक दिन·······प्रभात होनेहीवाला था। दुखी कृष्णदासकी नींद टूटी और वे अपने काममें लग गये। झाड़ू देते हुए सहसा उन्होंने देखा कि मन्दिरके बाहरी प्राङ्गणमें कोई चीज चमक रही है। समीप गये। देखा वह सोनेका नूपुर था। उससे एक दिव्य छटा निकल रही है। उन्होंने उसे उठा लिया। सहसा उनका हृदय भी उसी दिव्य छटासे आलोकित हो उठा। 'अरे, बड़ा भाग्यशाली है तू कृष्णदास, तुझे राधाप्यारीके चरणोंका नूपुर मिल गया!···'

दुखी कृष्णदासकी आँखोंसे अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी।

इसी समय एक अनुपम रूपवाली किशोरी वहाँ पहुँचती है और कृष्णदाससे पूछती है—'भैयाजी, तुम्हें एक सोनेका नूपुर मिला है?'

कृष्णदासने कहा—'हाँ; मिला तो है किंतु वह है किसका?'

'एक राजकुमारी मेरी सखी है। वही मेरे साथ मन्दिरमें आयी थी। उसीका सोनेका नूपुर गिर गया। वह तरुणी है, राजकुमारी है, किसीके सामने नहीं आती। लनेके लिये मुझे भेजा है।'

दुखी कृष्णदासने युक्ति लगायी। बोले—'परंतु मैं यह कैसे जानूँ कि तुम सच कहती हो या नहीं। जिसका नूपुर है, उसीको बुला लाओ तो जानूँ। मैं स्वयं तुम्हारी सखीके

चरणोंमें पहनाकर देखूँगा कि नूपुर उन्हें ठीक-ठीक आता है या नहीं। यह भी तो देख लेना होगा।'

'ऐसे नहीं दोगे ?'

'कह तो दिया।'

किशोरीने देख लिया कि यह आदमी अपनी बातसे नहीं टलेगा। चली गयी राजकुमारीको बुलाने। थोड़ी देरके बाद ही मन्दिरके उस प्राङ्गणमें रूपमाधुर्यका आलोक जगमगा उठा। किशोरीको साथ लिये हुए वह तरुणी अपना नूपुर लेनेके लिये आयी थी।............'मैं सब जानता हूँ। मुझे छलो मत। तुम श्रीराधारानी हो, राधारानी! तुम नूपुरके उद्धारके लिये नहीं, इस अधम कृष्णदासके उद्धारके लिये आयी हो। मालूम है, मुझे मालूम है।' कृष्णदासका तन पुलकित, आँखोंसे अविरल अश्रुधारा; कण्ठ गद्गद। धन्य भाग्य, आज ब्राह्ममुहूर्तमें श्रीराधाजीके दर्शन हो गये।.........

फिर भी कृष्णदासने पूछा—'तुम दोनों सखियाँ निभृत रातमें मन्दिरमें आयी थीं क्यों ?'

अमृतमें घुली हुई मीठी वाणी सुनायी पड़ी—'क्या आना और क्या जाना है वैष्णव! यह मेरा ही निकुंज-मन्दिर है। तुम्हें जो जानना था, वह स्पष्ट बतला दिया। अब लाओ, मेरा नूपुर दे दो।'

मनका पर्दा खुलता जा रहा है। कृष्णदासको देहका भान नहीं। उनकी आँखोंसे अश्रुधारा बह रही है। अवाक् हैं वे, निष्पन्द हैं, चुप हैं।......

'देखो वैष्णव! हठ न करो। प्रातः हो आया। मेरा नूपुर वापस करो।'

कृष्णदासने रोते-रोते कहा—'मैं सब जानता हूँ। जानता हूँ कि तुम राधारानी हो। मुझपर कृपा करो। अपने वास्तविक रूपमें मुझे दर्शन दो।'

राधारानी बोलीं—'इन आँखोंसे तुम मेरा चिन्मय रूप नहीं देख सकोगे।'

मगर कृष्णदास कातर थे, रो रहे थे, बिलख रहे थे। तब राधारानीकी सखी ललिताजीने कहा—'जब ऐसी बात है तो भक्तपर थोड़ी-सी कृपा और कर दो। इन्हें दर्शन करनेकी शक्ति भी दे दो।'

और क्षणमात्रमें ही सारा संसार बदल गया। दुखी कृष्णदासने क्या देखा, इसे कौन कह सकेगा और कौन जान सकेगा ?

अपना रूप दिखलाकर राधारानीने कहा—'तुम्हारी भक्ति और निष्ठाने मुझे आकृष्ट किया है। मेरी कृपाका चिह्न तुम अपने मस्तकपर धारण कर लो।'

और राधारानीने अपना नूपुर दुखी कृष्णदासके मस्तकसे छुला दिया।

उसके बाद कहाँ राधारानी और कहाँ ललिता! दोनों अन्तर्धान हो गयीं। भक्त कृष्णदास सुध-बुध खोकर मूर्च्छित हो गये।

चेत होनेपर वे रोते हुए श्रीजीव गोस्वामीके पास पहुँचे। सारा हाल कहा और फिर रोने लगे। राधारानीको देखा, उनकी सखी ललिताको देखा। राधारानीने कृपापूर्वक अपना दर्शन दिया, अपने स्वर्ण-नूपुरको मेरे मस्तकसे छुला दिया। यह देखिये, ललाटपर उसका चिह्न।

श्रीजीव गोस्वामीने कहा—'भाग्यवान् हो वत्स! तुम्हें राधारानीके दर्शन सुलभ हो गये। अब तुम्हें दुखी कृष्णदास कौन कहेगा ? अबसे तुम गोस्वामी श्यामानन्द हो गये।'

और तबसे वे श्यामानन्द कहे जाने लगे। व्रजमण्डलमें धूम मच गयी। राधारानीने दुखी-कृष्णदासको अपना दर्शन दिया, चिन्मय रूप दिखाया और अपने नूपुरका तिलक उनके ललाटपर लगा दिया। अब वे श्यामानन्द हैं। हर्षित होकर श्रीजीव गोस्वामीने उन्हें यह नाम दे दिया है।

बात दूर-दूरतक फैली। बंगालमें बैठे हुए आचार्य हृदयचैतन्यने भी सुना। सुना कि 'आपके शिष्यने आपका दिया हुआ नाम छोड़ दिया, आपका वैष्णवी तिलक छोड़ दिया। वह बिल्कुल परिवर्तित है। उसने दूसरा गुरु भी कर लिया।'

क्रोध आना स्वाभाविक था। हृदयचैतन्यने श्रीजीव गोस्वामीको पत्र लिखा—'दुखी कृष्णदासको मेरे पास अविलम्ब वापस भेज दीजिये—तत्काल!'

श्यामानन्द कालना आ गये।

गुरुदेवने क्रुद्ध होकर पूछा—'क्यों रे, तेरी ऐसी स्पर्धा! तूने मेरा दिया हुआ नाम बदल दिया ? तूने गौड़ीय वैष्णवका तिलक मिटा दिया ? तेरा इतना साहस! बोल, जवाब दे ?'

'गुरुदेव ! यह आपकी कृपासे ही सम्भव हुआ !'

'कैसे ?'

श्यामानन्दने सारा हाल बतलाया । अपनी सारी बात कह गये । मगर क्रोधके सामने क्या तर्क और क्या विवेक ! हृदयचैतन्यने कहा—'छोड़—छोड़ यह अपना ढकोसला; रख अपना प्रपञ्च । मैंने जो तुझे नाम दिया है, उसे रख; फिरसे गौड़ीय वैष्णवोंका तिलक ललाटपर धारण कर । तू गुरुकी आज्ञा भी नहीं मानेगा ?'

श्यामानन्दने कहा—'प्रभो ! ललाटपर यह नवीन तिलक मुझे प्रसादमें मिला है । मैं इसे अपने हाथों नहीं मिटा सकता । मिटाना हो तो आप ही इसे अपने हाथसे मिटा दीजिये ।'

ठाकुर हृदयचैतन्यने अपने वस्त्रसे रगड़कर तिलकको मिटा देना चाहा । परंतु कहाँ ! तिलक तो मिटता नहीं ! गुरु मिटाते-मिटाते हार गये हैं, किंतु तिलक ज्यों-का-त्यों, जैसा-का-तैसा है । बार-बार मिटाना चाहते हैं, लेकिन नहीं मिट पाता । कौन कहता है कि यह तिलक साधारण है ? सचमुच इसके ललाटका यह तिलक अलौकिक है, दिव्य है । यह मिटनेवाला नहीं; मिटेगा भी नहीं !

गुरुने पुलकित होकर अपने शिष्यको गलेसे लगा लिया ।

× × ×

इन्हीं श्यामानन्दके बारह शिष्योंने उड़ीसामें वैष्णवपंथकी बारह शाखाएँ चलायीं । स्वर्णरेखा नदीके तीर गोपीवल्लभपुरमें श्यामानन्दी-सम्प्रदायका प्रधान केन्द्र स्थापित हुआ । उड़ीसाकी संस्कृति और आध्यात्मिक विचारधारापर श्यामानन्दका प्रभाव उसी प्रकार अमिट है, जिस प्रकार श्रीराधारानीका दिया हुआ तिलक उनके ललाटपर अमिट था ।

हिंदू-संस्कृतिमें धर्म और राष्ट्र

(लेखक—श्रीगंगाप्रसादजी पाण्डेय)

हिंदू-संस्कृतिकी धार्मिक सदाशयताके कारण यहाँ विश्व-धर्मोंका एकत्र दर्शन किया जा सकता है । अनादिकालसे यहाँ यही बताया जाता रहा है कि सत्य और ज्ञानतक पहुँचनेके लिये, 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' के अनुसार अनेक पन्थोंके उत्पन्न होनेपर आश्चर्य नहीं करना चाहिये । सच तो यह है कि 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' एक ही सत्य-शक्तिको ज्ञानीजन कई रूपोंमें कहते हैं । इसके फलस्वरूप हिंदू-संस्कृतिकी धार्मिक सदाशयताको इस रूपमें भी कहा जा सकता है कि वह सदासे सर्व-समन्वयात्मक और सर्वग्राह्य रही है । उसका दर्शन-शास्त्र विश्वजनीन है, जिसकी कोई परिमित सीमा-रेखा नहीं खींची जा सकती । वह हर क्षेत्रमें आरूढ़ है और अपनेको सर्वकल्याणमयी समयानुसारी स्थितियोंमें ढाल देनेकी अद्भुत क्षमता भी रखता है । हिंदूधर्मकी इसी सदाशयताकी व्याख्या करते हुए एक बार अमेरिकाकी किसी सभामें स्वामी विवेकानन्दजीने कहा था—'हिंदूधर्मके अनुसार उसका उपासक किसी भी मन्दिर, मस्जिद या गिरजाघरमें अपने उपास्यकी उपासना कर सकनेमें स्वतन्त्र है । उसका कर्मकाण्ड, आदेश, विधियाँ यथाकाम संग्रथित होती हैं । जाति, भाषा, राजनीतिक गठन, सामाजिक परम्पराओं और परिस्थितियोंकी भिन्नतासे संस्कृतिका मूल रूप नहीं बदलता । हिंदू-संस्कृतिका निवास आत्माकी अजरता-अमरतामें है, जड देहके क्षणिक-विनाशमें नहीं, डा० राधाकुमुद मुकर्जीने इस सदाशयताको अपने 'हिंदू सभ्यता' नामक ग्रन्थमें बड़े सजीव ढंगसे व्यक्त किया है—'यह (हिंदू-संस्कृति) निष्प्राण वस्तुओं या ईंट-पत्थरोंका अजायबघर नहीं, बल्कि प्राणवन्त मानव-जाति और आध्यात्मिक विचारोंका, जो अपने-अपने ढंगसे विकसित होते रहे हैं, महान् कोष है ।'

जैन, बौद्ध, सिक्ख, ईसाई कोई भी इस सदाशयतापर अंगुली नहीं उठा सकता । सर्वशक्तिमान्‌की प्रतिमाके समक्ष बैठा हुआ उपासक अपने उपास्यको सबके उपास्य-रूपमें देखता है—'हे विश्वभावन प्रभु ! तुम्हीं शैवोंके लिये शिव, वैष्णवोंके लिये विष्णु, वेदान्तियोंके ब्रह्म, बौद्धोंके बुद्ध, जैनियोंके अर्हत और मीमांसकोंके कर्मरूप होकर भी मेरे लिये हरि हो । मुझे मेरा वाञ्छित फल प्रदान करो ।' इस प्रकार वैचारिक और भौगोलिक परिस्थितियोंसे उत्पन्न व्यावहारिक भिन्नताओंके बाद भी संस्कृतिके पनपानेवाले मानदण्ड समूचे भारतके लिये सदासे एक रहे हैं । विशृंखलतासे बचाये रखनेके लिये, राष्ट्र-स्वरूपको निर्धारित करते हुए उसके सात भिन्न-भिन्न भागोंमें सप्त पुरियोंकी स्थापना की गयी है—अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, काञ्ची, अवन्तिका और द्वारावती । वैष्णव, शैव, शाक्त सबके अपने-अपने अलग तीर्थस्थान हैं जो पूरे भारतको एकप्राण बनाये रखनेमें बड़े प्रयत्नशील रहे हैं । सभी सम्प्रदायोंमें हर अन्य सम्प्रदायके तीर्थस्थानपर जाने और उनका सम्मान करनेकी पूरी छूट है । इस प्रकारकी धार्मिक सहिष्णुताने समूचे राष्ट्रके लिये जीवित, जाग्रत् प्रेम पैदा करनेमें अद्भुत योग दिया है ।

देशके चारों कोनोंमें अपने मठोंद्वारा जगद्गुरुने इस कार्यको और सराहनीय कर दिया है। एक प्रसिद्ध अंग्रेजी विद्वान्के अनुसार 'हिंदुओंके लिये भारतवर्ष न केवल एक सत्तासे शासित इकाई है, बल्कि वह उनकी आध्यात्मिक संस्कृतिका मूर्त्त-रूप अथवा मातृदेवी है। उसमें उसने अपनी आत्माको उँडेल दिया है। उसके विचारानुसार उसकी आत्माका महान् रूप ही उसकी मातृभूमि है।'

भारतवर्ष और हिंदू-धर्मका सम्बन्ध आत्मा और शरीरकी तरह अभिन्न रहा है। इसी भावनाने ही देशकी सांस्कृतिक एकताको इतिहासकी अनेक राजनीतिक उथल-पुथलोंके बीच भी अटूट रक्खा है। इस ऐक्य-सूत्रको दृढ़ बनानेमें सबसे अधिक कार्य किया है संस्कृत भाषाने। मोनियर विलियमने इसके सहयोगकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा है—'यद्यपि भारतवर्षमें पाँच सौसे अधिक बोलियाँ हैं पर धार्मिक भाषा केवल एक है, जिसमें उसके समस्त धार्मिक साहित्यकी सर्जना की गयी है, जिसे हिंदूधर्मके सभी अनुयायी, जाति, पाँति, बोली, सामाजिक परिस्थितियों और भौगोलिक भिन्नताओंके उपरान्त भी मानते हैं और श्रद्धासे पूजते हैं। वह भाषा संस्कृत और साहित्य भी संस्कृत है। वही वेद या विश्वजनीन ज्ञानका सर्वमान्य कोष है। सभीका एकमात्र साधन है। केवल वही एक ऐसा दर्पण है जिसमें हिंदुओंके सभी मत-मतान्तर, विचार, रीति-रिवाज और प्रथाएँ पूर्णरूपेण प्रतिबिम्बित हैं, या वही ऐसी खान है, जहाँसे सभी देशी भाषाओंको भी उन्नत करनेकी सामग्री उपलब्ध होती है।'

इस प्रकार सदाशयताकी धरतीपर पनपी हिंदू-संस्कृतिने, समूचे राष्ट्रको एकताकी मजबूत डोरमें बाँध दिया। देश और संस्कृति परस्पर अविभाज्य हैं, इस विचारधाराने इस एकताको और दृढ़ बना दिया। धीरे-धीरे देशका भौगोलिक रूप उसके आध्यात्मिक रूपमें विलीन होता गया और अजनाभ, सप्तसिंधु, ब्रह्मर्षि देश, ब्रह्मावर्त, आर्यावर्त, जम्बूद्वीप और भारतवर्ष आदि अनेक नाम-सोपानोंसे उतरते हुए उसने अपनी प्रबल समन्वयात्मक अनुप्राणनकी शक्तिसे कालान्तरमें एक बृहत्तर भारतकी सर्जना की। इसकी वैचारिक संस्थाएँ श्याम, कम्बोडिया, जावा, सुमात्रा, बाली, बोर्नियो क्रमशः (कम्बोज, यवद्वीप, सुवर्णद्वीप, बलिद्वीप, वारुणद्वीप) तक फैलती गयीं। आर्ष-ग्रन्थोंमें वर्णित अगस्त्य और कौण्डिन्य ऋषियोंको इसका सबसे अधिक श्रेय है। इन देशोंके साहित्य, मन्दिरों, स्तूपों, कलाकृतियों, लोकवार्ताओं और जनश्रुतियोंपर हिंदू-संस्कृतिकी छाप स्पष्ट दर्शनीय है।

राजनीतिक विषमताओंके परे हिंदू-संस्कृतिकी सबसे प्रमुख ऐतिहासिक विशेषता यह रही है कि देशको शासनकी छोटी-छोटी इकाइयों और प्रादेशिक राज्य-व्यवस्थाओंसे सर्वथा अछूता रक्खा गया। उसके एकप्राण रूपपर कभी आँच नहीं आयी। आजतक समस्त भारत विचार और जीवनके आदर्शोंमें एक ही मूल शक्तिसे प्रेरित होकर, एक-जैसे राष्ट्रीय आदर्श और एक-जैसी मूलभूत योजना-संस्थाओंके उदय और उन्नयनमें विश्वास करता आया है। यही कारण है कि अनेक घातों-प्रत्याघातोंके बीच भी उसकी आत्मिक-शक्ति सूर्यके प्रकाशकी भाँति ही प्रभविष्णु रही। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीने इसकी इस महत्ताको बड़े ही रमणीय ढंगसे व्यक्त किया है। 'हमारे धर्मशास्त्रोंने और वेदके अङ्ग कहे जानेवाले लोक-व्यवहारकी यथार्थता बतानेवाले शास्त्रोंने भारतीय विचार-परम्पराके एक मेरुदण्डका निर्माण किया है। हिमालयकी ऊँचाईसे लेकर समुद्रमें सँकरी भूमिके रूपमें लीन हो जानेवाले अन्तरीप कन्याकुमारीतकके विभिन्न धार्मिक विश्वासों और पुण्यग्राही अनुष्ठानोंके अन्तरालमें भारतीय विचार-परम्पराका यह मेरुदण्ड शक्ति और दृढ़ताका सहारा बना हुआ है। इस प्रकार हमारे आचारसमूहोंके ऊपरसे भिन्न और बहुमुखी दीखनेवाले जंजालके भीतर भी एक प्रकारकी दृढ़ एकता प्रतिष्ठित है। परवर्ती कालोंमें जो कुछ भी लिखा या सोचा गया है उसकी आधार-शिला यही है।'

वैदिक सूक्तियोंके द्वारा, वेदोंसे निर्गमित, कालान्तरके शास्त्रोंसे पोषित हिंदू-चिन्तन-प्रणालीका मर्म काफी स्पष्ट हो जाता है। (संगच्छध्वं संवदध्वं) एक साथ मिलकर चलते और बोलते हुए हम सब (स्वस्य पन्थानमनुचरेम्) अपने-अपने कल्याणमार्गपर चलें। (उपसर्प मातरम् भूमिम्) मातृभूमिकी सेवा करते हुए, स्वराज्यके लिये प्रयत्नशील हों (स्वराज्ये यतेमहि)। (अहमिन्द्रेन पराजिग्ये) मैं आत्मा हूँ, मुझे कोई पराजित नहीं कर सकता, जैसे निडर संकल्पवाला व्यक्ति ही अपनेमें सुख और कल्याणमय संकल्प, ज्ञान और कर्मको धारण करनेकी स्पृहा करता है—(भद्रं भद्रं क्रतुमस्मासु धेहि)। इस प्रकार सोचता हुआ व्यक्ति सम्पूर्ण विश्वको एक ही परमात्मशक्तिसे संचालित और स्थिर मानता है—(तस्मिन् ह तस्थु भुवनानि विश्वाः)। अतः वह सभी प्रजामें ओतप्रोत विभुसे (स ओतप्रोतश्च विभुः प्रजासु) कामना करता है कि 'हे परमेश्वर ! हम तेरे मित्रभावसे दुखी और विनष्ट न हों—(अग्ने सख्ये मारिषामा वयं तव) इस प्रकारकी निःस्वार्थ चिन्तन-प्रणालीमें केवल विभुसे ही कहनेभरकी प्रार्थना की जाती हो, ऐसी बात नहीं, अपितु प्रत्येक ब्यक्तिके हृदय-मन्दिरमें परस्परावलम्बन तथा सहानुभूति का प्रदीप प्रज्वलित करनेका विधान है। सब एक ही प्रजापतिकी संतान तो हैं, फिर अपने ही भाईके लिये प्रमाद

और शत्रुभावकी धारणा क्यों ? (मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे) हम सब परस्पर एक-दूसरेके साथ मित्रवत् व्यवहार करते हुए आगे बढ़ें। हिंदू-संस्कृतिका यह एक सूत्र और दृढ़ हो पाता !

महामना पं० मदनमोहन मालवीय, सिरसे पैरतक हृदय-ही-हृदय थे

(लेखक--श्री एम्० जी० दीक्षित)

स्वनामधन्य स्वर्गीय महामना पण्डित मदनमोहनजी मालवीयको एक सच्चे देशसेवी तथा अग्रगण्य राष्ट्रीय नेताके रूपमें सभी जानते हैं; परंतु कम लोगोंको पता है कि राजनीति तथा वकालतके क्षेत्रमें अनुपम ख्याति अर्जित करनेवाले मालवीयजीका अन्तर अनेक रसमयी भावनाओंसे आप्लावित एक सहृदय कविका अन्तर था। उनके दैनिक क्रिया-कलापोंमें तथा उनके द्वारा समय-समयपर रचित साहित्यमें उनके अन्तरकी रसमयी भावनाओंके दर्शन होते थे। उनकी प्रभावशाली तथा सुमधुर वाणी भी उनके कवि-हृदयकी ही देन थी।

सिरसे पैरतक हृदय

प्रयागसे प्रकाशित अंग्रेजी दैनिक 'लीडर' के यशस्वी सम्पादक स्वर्गीय सी० वाई० चिन्तामणि महामनाके निकट सम्पर्कमें रहे थे। उनके व्यक्तित्वकी व्याख्या करते हुए एक बार श्रीचिन्तामणिने कहा था—'मालवीयजी सिरसे पैरतक हृदय-ही-हृदय हैं।' यह एक छोटा-सा वाक्य ही मालवीयजीके भावनाशील व्यक्तित्वका सम्पूर्ण चित्र उपस्थित करनेके लिये पर्याप्त है। मालवीयजी कितने दयालु और दूसरोंके दुःखसे द्रवित हो जानेवाले थे, यह तथ्य उनके अनेक जीवन-प्रसंगोंसे भलीभाँति स्पष्ट है। इनमेंसे कुछका यहाँ उल्लेख किया जाता है।

एक बार वे एक आवश्यक मीटिंगके कार्यमें बुरी तरह व्यस्त थे। तनिक-सा अवकाश मिलनेपर द्वारपर आये तो देखा कि एक गरीब-सा दिखायी देनेवाला युवक आशापूर्ण नेत्रोंसे उनकी ओर देख रहा है। उन्हें देखते ही उसने एक प्रार्थना-पत्र उनकी ओर बढ़ा दिया, जिसमें उसने अपनी दीनदशाका वर्णन करते हुए फीस माफ कर दिये जानेकी प्रार्थना की थी। मालवीयजीने अपनी व्यस्तताकी तनिक भी न परवा करते हुए और तनिक-सी भी खीझ न प्रदर्शित करते हुए तुरंत उस प्रार्थना-पत्रपर रजिस्ट्रारके नाम संदेश लिख दिया कि यदि हो सके तो इस विद्यार्थीकी फीस माफ कर दी जाय। रजिस्ट्रारने इतना लिखा पाकर उसकी फीस माफ कर दी और वह विद्यार्थी निहाल हो गया।

यह केवल एक उदाहरण है। मालवीयजीके दैनिक जीवनमें ऐसे अनेक उदाहरण मिलते थे। उनका घर हर छोटे-बड़े आदमीके लिये खुला था। सबकी कहानी वे ध्यानपूर्वक सुनते थे और यथाशक्ति उनकी सहायता करनेका प्रयत्न करते थे। उस दशामें भी जब कमजोरीके कारण डाक्टरोंने उन्हें मुलाकातियोंकी संख्या कम-से-कम रखनेकी सलाह दी थी, वे किसीको भी अपने द्वारसे निराश नहीं लौटाते थे।

मनुष्य ही नहीं, पशुपर भी दया

केवल मनुष्य ही उनकी दयाके पात्र नहीं थे, बल्कि पशुओंको भी वे दुखी नहीं देख सकते थे। एक बार वे कहींसे आ रहे थे। रास्तेमें एक कुत्तेकी चीख-पुकारने उनका ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने देखा कि कुत्तेके कानके पास एक घाव हो गया है जिसपर मक्खियाँ लगी हुई हैं। मालवीयजी जल्दीमें थे, फिर भी वे तुरंत डाक्टरके पास गये और उनसे उस घावपर लगानेकी दवाकी जानकारी कर तुरंत वह दवा ले आये। रास्तेमें ही खड़े होकर उन्होंने बाँसमें बँधे हुए कपड़ेको दवामें तर किया और कुत्तेके घावपर उसे लगाया। जबतक कुत्ता आरामकी नींद सो नहीं गया, उन्हें चैन नहीं मिला।

मानवमात्र दयाका पात्र

मालवीयजीमें धार्मिक सहिष्णुता कूट-कूटकर भरी थी। उनकी दृष्टिमें हिंदू, मुसल्मान, सिख, ईसाई आदिका कोई भेद नहीं था। उनके लिये तो सभी परमात्माकी संतान थे और सबको जीनेका समान अधिकार था। पंजाबके हिंदू-मुस्लिम दंगोंके समय एक ओर जहाँ उन्होंने अत्याचार करनेवाले मुस्लिम गुंडोंकी लानत-मलामत की थी, वहीं अल्पसंख्यक मुसल्मानोंपर अत्याचार करनेवाले हिंदुओंको भी माफ नहीं किया था। स्त्री-पुरुषोंपर हुए जघन्य अत्याचारोंकी करुण कहानी सुनकर तो वे रो पड़े थे।

अपने अन्तिम समयमें जब वे चलने-फिरनेसे असमर्थ होकर मृत्युशय्यापर पड़े हुए थे, तभी उन्हें नोआखालीके समाचार मिले; जिन्होंने उनका हृदय हिला दिया और जो उनकी शीघ्र मृत्युका कारण बने। वहाँ होनेवाले अत्याचारोंकी कहानी सुनकर मालवीयजी फूट-फूटकर रोये थे और अपनी चारपाईसे न उठ सकनेकी विवशतापर आर्त्तनाद कर उठे थे। उसी समयका लिखा उनका अन्तिम लेख 'कल्याण' में प्रकाशित हुआ था।

वाणीमें दयाभाव

मालवीयजीकी वाणी बड़ी प्रभावशालिनी थी। वे संस्कृत, हिंदी और अंग्रेजीके अच्छे ज्ञाता थे और तीनों भाषाओंमें धाराप्रवाह बोलते थे। हिंदी बोलते समय बहुधा वे संस्कृतके तत्सम शब्दोंका प्रयोग किया करते थे, फिर भी उन्हें यह ध्यान रहता था कि ऐसे शब्द न बोले जायँ, जिनका अर्थ सरलतासे समझमें न आ सके। बोलचालमें प्रचलित शब्दोंकी भी उनके भाषणोंमें भरमार रहती थी। यही कारण है कि जनता उन्हें सुनकर मुग्ध हो जाती थी।

भाषण देते समय बहुधा मालवीयजीको भावावेश होता था। भारतीय जनताकी दुर्दशाका वर्णन करते समय तो उनकी आँखोंसे आँसुओंकी झड़ी लग जाती थी। खुद भी रोते थे और साथ-साथ श्रोताओंको भी रुलाते थे। जिस किसीको एक भी बार उनका भाषण सुननेका अवसर प्राप्त हुआ है, वह उनकी भावुकतासे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका है। बनारस हिंदूविश्वविद्यालयके लिये धन एकत्रित करते समय उन्होंने जो भाषण दिये, उन्होंने जनताके हृदयको छू लिया और उस तंगीके समयमें देशके दरिद्र होते हुए भी अपने प्रभावके बलपर ही मालवीयजी एक करोड़ रुपये विश्वविद्यालयके लिये संग्रह करनेमें सफल हुए। उनकी वाणीमें इतना प्रभाव था कि जो भी उनसे मिलता था, विश्वविद्यालयके लिये कुछ-न-कुछ देकर ही जाता था। जनताके प्रत्येक वर्गने यथाशक्ति उन्हें सहायता दी। यहाँतक कि कई जगह लोगोंने शरीरपरके वस्त्रतक उतारकर विश्वविद्यालय-कोषमें दे दिये।

सौम्यस्वरूप और परिधान

मालवीयजीके दयामय स्वभावकी झलक उनके सौम्य-स्वरूप और परिधानमें भी देखनेको मिलती थी। वे बहुधा श्वेत वस्त्र धारण करते थे। पैरोंमें चमड़ेका जूता पहनना, उन्होंने उसी दिन छोड़ दिया था जिस दिन उन्हें पता लगा कि इसके लिये पशुओंकी निर्ममतासे हत्या की जाती है। अतः जीवनभर उन्होंने चमड़ेके जूतेके स्थानपर कपड़ेका जूता पहना। उनके वस्त्र सादे और स्वच्छ तथा भारतीय-परम्पराके अनुकूल रहते थे। बहुधा वे ढीला पायजामा और अंगरखा धारण करते थे। गलेमें पण्डिताऊ ढंगका दुपट्टा और सिरपर श्वेत पगड़ी रहती थी। मुखपर सदा मन्द मुस्कान खेलती रहती थी।

मालवीयजीके सामने जानेमें या उनसे बातें करनेमें किसीको भी भय या रोबदाबका भान नहीं होता था। यह मालवीयजीकी अपनी विशेषता थी। छोटे-से-छोटे लोगोंसे वे परम आत्मीयताके साथ मिला करते थे। विश्वविद्यालय घूमने-आनेवाले लोगोंसे सवा रुपया या एक रुपया तकका दान विश्वविद्यालय-कोषके लिये खुद अपने हाथोंसे बिना किसी संकोचके स्वीकार करते लोगोंने उन्हें देखा था। लोगोंको उनके पास जाकर इतनी छोटी-सी रकम उन्हें भेंट करनेमें कोई संकोच नहीं होता था। वे उनसे निर्भय होकर मिलते थे और मालवीयजीके स्नेहकी गहरी छाप उनके मनपर पड़ती थी।

भारतीय-परम्परामें ऐसे ही लोगोंको महान् कहा गया है, जिनके सामने आनेपर क्षुद्र-से-क्षुद्र व्यक्ति भी बड़प्पन महसूस करे और उनसे निर्भय होकर वार्तालाप करे।

मालवीयजीमें अपने बड़प्पनके प्रति घमंडकी भावना बिल्कुल ही नहीं छू गयी थी। रास्ते चलते किसी भिक्षुककी करुण पुकार सुनकर उसके पास बैठते और उसका हालचाल पूछते उन्हें कोई संकोच नहीं होता था। घरमें भाँति-भाँतिके पक्षी उन्होंने पाल रक्खे थे और अपने व्यस्त जीवनमेंसे उन्हें खाना खिलानेके लिये समय वे निकाल ही लिया करते थे। उनकी कृपासे कितने निर्धन विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त कर जीवनमें सफल हुए, कितनोंको मुसीबतोंसे छुटकारा मिला और कितनोंने संघर्षोंसे लड़नेके लिये आत्मविश्वास प्राप्त किया, इसकी कोई गिनती नहीं है।

यह उनके नवनीत-हृदयका ही परिणाम था कि वे अपनी दिन-प्रतिदिन उन्नतिशील वकालत छोड़कर देशकी पुकारपर कंटकाकीर्ण पथपर चल पड़े। उनके दयालुस्वभावने ही अनेक बाधाएँ सामने आनेपर भी अपने मानवकल्याण और सेवाके मार्गपर दृढ़ रहनेकी प्रेरणा दी। बनारस-हिंदू-विश्वविद्यालयके लिये धन एकत्रित करते समय उन्हें न केवल संकटोंका सामना करना पड़ा, किंतु उपहास और तिरस्कारका शिकार भी बनना पड़ा। स्वयं उनके कई सहयोगियोंने उनके निश्चयकी हँसी उड़ायी और उन्हें 'पागल' कहा। फिर भी वे तनिक भी विचलित न होकर अपने मार्गपर आगे बढ़ते गये और हिंदू-विश्वविद्यालयके रूपमें उन्होंने जनहितका ऐसा कार्य किया, जिसकी मिसाल आनेवाली अनेक पीढ़ियों तक कायम रहेगी।

उनके दयालु व्यक्तित्वकी विशेषताओंको ध्यानमें रखकर ही स्वर्गीय डा० सच्चिदानन्द सिनहाने उनकी प्रशंसामें अँगरेजीमें निम्न शब्द कहे थे—

> ही वाज़ वर्दी, फुल आफ पावर
> जैन्टिल, लिबरल-माइंडेड ग्रेट
> कान्सिस्टेंट बियरिंग आल दैट वेट
> आफलर्निंग लाइटली लाइक ए फ्लावर।

श्रीभगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

राम नाम मनिदीप धरु जीह देहरीं द्वार। तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजियार॥

साधक नाम जपहिं लय लाएँ। होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएँ॥
जपहिं नाम जन आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी॥

राम नाम नर केसरी कनककसिपु कलिकाल। जापक जन प्रहलाद जिमि पालिहि दलि सुरसाल॥

आजके इस आधि-व्याधि, रोग-शोक, द्रोह-द्वेष, स्पर्धा-कलह, वैर-हिंसा, वैषम्य-दारिद्र्य, तमसाच्छन्न बुद्धि-अहंकार, दुर्विचार-दुर्गुण तथा दुष्क्रिया आदि उपद्रवोंसे पीड़ित; अकाल, अवर्षा, अतिवर्षा, अग्निदाह, भूकम्प, महामारी आदि दैवी प्रकोपोंसे पूर्ण; अनाचार, अत्याचार, भ्रष्टाचार, दुराचार, असदाचार, व्यभिचार और स्वेच्छाचार तथा भगवद्विमुखतारूप दुर्भाग्यसे संयुक्त अशान्तिपूर्ण युगमें विश्व-प्राणीको इन सभी उपद्रवों, प्रकोपों तथा दुर्भाग्यसे मुक्त कर सर्वाङ्गीण सुखी बनानेके लिये तथा मानव-जीवनके चरम तथा परम लक्ष्य मोक्ष या परम प्रेमास्पद भगवान्के प्रेमकी प्राप्ति करानेके लिये एकमात्र 'भगवन्नाम' ही परम साधन है। सभी श्रेणियोंके, सभी जातियोंके सभी नर-नारी मङ्गलमय भगवन्नामका जप कर सकते हैं। भगवन्नाम-जपमें कोई खास प्रयास भी नहीं है, न कोई अधिकार भेद है। भगवन्नामका फल है महान्। लोक-परलोक, स्वार्थ-परमार्थ—सभी क्षेत्रोंमें भगवन्नाम अमोघ है। इस समय चारों ओर अशान्तिके बादल छाये हैं, युद्धकी घटाएँ घुमड़ी आ रही हैं, आये दिन भयानक बाढ़, भूकम्प और दुर्घटनाओंके कारण धन-जनका भयंकर विनाश होनेके समाचार मिल रहे हैं। मनुष्य भगवान्को भूलकर राक्षस हुआ जा रहा है। इन सारी आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक विपत्तियोंके निवारणके लिये भगवन्नाम ही परम साधन है। इसीलिये 'कल्याण'के भगवद्विश्वासी पाठक-पाठिकाओंसे प्रतिवर्षकी भाँति प्रार्थना की जाती है कि वे कृपापूर्वक स्वयं प्रेमके साथ अधिक-से-अधिक नाम-जप करें तथा प्रेमपूर्वक प्रेरणा करके दूसरोंसे करायें। यही परम हित है। गत वर्षकी भाँति इस वर्ष भी—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—इस उपर्युक्त १६ नामवाले परम पवित्र मन्त्रके २० (बीस) करोड़ जपके लिये ही प्रार्थना की जाती है। नियमादि इस प्रकार हैं—

१-यह श्रीभगवन्नाम-जप जपकर्ताके, धर्मके, विश्वके—सबके परम कल्याणकी भावनासे ही किया-कराया जाता है।

२-इस वर्ष इस जपका समय कार्तिक शुक्ला १४, शनिवार (३० नवम्बर १९६३) से आरम्भ होकर शुद्ध चैत्र शुक्ला १५, रविवार (२६ अप्रैल १९६४) तक रहेगा। जप इस समयके बीच किसी भी तिथिसे करना आरम्भ किया जा सकता है, पर इस प्रार्थनाके अनुसार उसकी पूर्ति शुद्ध चैत्र शुक्ला १५ सं० २०२१ को समझनी चाहिये। पाँच महीनेका समय है। उसके आगे भी जप किया जाय, तब तो बहुत ही उत्तम है। करना चाहिये ही।

३-सभी वर्णों, सभी जातियों और सभी आश्रमोंके नर-नारी, बालक-वृद्ध-युवा इस मन्त्रका जप कर सकते हैं।

४–एक व्यक्तिको प्रतिदिन 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥' इस मन्त्रका कम-से-कम १०८ बार (एक माला) जप तो अवश्य करना चाहिये। अधिक कितना भी किया जा सकता है।

५–संख्याकी गिनती किसी भी प्रकारकी मालासे, अंगुलियोंपर अथवा किसी अन्य प्रकारसे रक्खी जा सकती है।

६–यह आवश्यक नहीं है कि अमुक समय आसनपर बैठकर ही जप किया जाय। प्रातःकाल उठनेके समयसे लेकर रातको सोनेतक चलते-फिरते, उठते-बैठते और काम करते हुए—सब समय इस मन्त्रका जप किया जा सकता है।

७–बीमारी या अन्य किसी कारणवश जप न हो सके और क्रम टूटने लगे तो किसी दूसरे सज्जन-से जप करवा लेना चाहिये। पर यदि ऐसा न हो सके तो स्वस्थ होनेपर या उस कार्यकी समाप्तिपर प्रतिदिनके नियमसे अधिक जप करके उस कमीको पूरा कर लेना चाहिये।

८–घरमें सौरी-सूतकके समय भी जप किया जा सकता है।

९–स्त्रियाँ रजोदर्शनके चार दिनोंमें भी जप कर सकती हैं, किंतु इन दिनोंमें उन्हें तुलसीकी माला हाथमें लेकर जप नहीं करना चाहिये। संख्याकी गिनती किसी काठकी मालापर या किसी और प्रकारसे रख लेनी चाहिये।

१०–इस जप-यज्ञमें भाग लेनेवाले भाई-बहिन ऊपर दिये हुए सोलह नामोंके मन्त्रके अतिरिक्त अपने किसी इष्ट-मन्त्र, गुरु-मन्त्र आदिका भी जप कर सकते हैं। पर उस जपकी सूचना हमें देनेकी आवश्यकता नहीं है। हमें सूचना केवल ऊपर दिये हुए मन्त्र-जपकी ही दें।

११–सूचना भेजनेवाले लोग जपकी संख्याकी सूचना भेजें, जप करनेवालोंके नाम आदि भेजनेकी भी आवश्यकता नहीं है। सूचना भेजनेवालोंको अपना नाम-पता स्पष्ट अक्षरोंमें अवश्य लिखना चाहिये।

१२–संख्या मन्त्रकी होनी चाहिये, नामकी नहीं। उदाहरणके रूपमें यदि कोई 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥' इस मन्त्रकी एक माला प्रतिदिन जपे तो उसके प्रतिदिनके मन्त्र-जपकी संख्या एक सौ आठ (१०८) होती है, जिनमेंसे भूल-चूकके लिये आठ मन्त्र बाद देनेपर १०० (एक सौ) मन्त्र रह जाते हैं। अतएव जिस दिनसे जो बहिन-भाई मन्त्र-जप आरम्भ करें, उस दिनसे चैत्र शुक्ला पूर्णिमातकके मन्त्रोंका हिसाब इसी क्रमसे जोड़कर सूचना भेजनी चाहिये।

१३–सूचना प्रथम तो मन्त्र-जप आरम्भ करनेपर भेजी जाय, जिसमें चैत्र-पूर्णिमातक जितना जप करनेका संकल्प किया गया हो, उसका उल्लेख रहे तथा दूसरी बार चैत्र-पूर्णिमाके बाद, जिसमें जप प्रारम्भ करनेकी तिथिसे लेकर चैत्र-पूर्णिमातक हुए कुल जपकी संख्या हो।

१४–जप करनेवाले सज्जनोंको सूचना भेजने-भिजवानेमें इस बातका संकोच नहीं करना चाहिये कि जपकी संख्या प्रकट करनेसे उसका प्रभाव कम हो जायगा। स्मरण रहे—ऐसे सामूहिक अनुष्ठान परस्पर उत्साहवृद्धिमें सहायक बनते हैं।

१५–सूचना संस्कृत, हिंदी, मारवाड़ी, मराठी, गुजराती, बँगला, अंग्रेजी अथवा उर्दूमें भेजी जा सकती है।

१६–सूचना भेजनेका पता—'नाम-जप-विभाग,' 'कल्याण'-कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

प्रार्थी–चिम्मनलाल गोस्वामी
सम्पादक–'कल्याण' गोरखपुर

पढ़ो, समझो और करो

(१)

डाक्टरकी सत्यप्रियता और दयालुता

डाक्टर साहब अपनी विद्यामें पारंगत थे और भगवान्‌की कृपासे उनके हाथ बड़ा यश था। डाक्टर साहबकी दवा अमृतका-सा काम करती। डाक्टरकी यह कीर्ति दूर-दूरतक फैली थी। इससे उनके यहाँ रोगियोंकी भीड़ लगी रहती। अमीर-गरीब बीमार सभी होते हैं इसलिये अमीर-गरीब सभी उनके पास आते भी। वे सबसे समान व्यवहार करते, उन्हें आश्वासन देते और भगवत्कृपापर विश्वास करके, भगवान्‌का नाम लेकर दवा देते और इसी प्रकार भगवत्कृपापर विश्वासके साथ भगवन्नाम लेकर ही दवा सेवन करनेके लिये कहते। यह भगवत्कृपा तथा भगवन्नामका ही प्रभाव होगा कि उनके रोगी प्रायः शीघ्र अच्छे हो जाते। रोगीके अच्छे होनेपर वे दवा चालू न रखकर उसे संयम-नियमसे रहने तथा भगवन्नामका विशेष आश्रय लेनेकी सम्मति देते।

उस समय जमींदारी कायम थी और सर्वत्र जमींदारोंका प्रभाव था। जमींदारोंसे जहाँ बहुत सेवा-उपकारधर्मके काम होते, वहाँ उनमेंसे कई लोगोंके द्वारा मदकी प्रबलतासे बुरे काम भी बहुत बनते।

डाक्टर साहबके गाँवके जमींदार अच्छे आदमी थे। डाक्टर साहबसे उनका बड़ा प्रेम भी था। घरमें खुला आना-जाना था और उनसे डाक्टर साहबको आर्थिक लाभ भी कम नहीं था। जमींदारका लड़का बदचलन था और स्वाभाविक ही उसके साथी-संगी भी ऐसे ही थे। बड़े आदमियोंके लड़कोंसे अपना स्वार्थ-साधन करनेके लिये आवारा लोग उनकी सेवा-खुशामद करके उन्हें पतनके गर्तमें गिराया करते हैं। यहाँ भी ऐसी ही बात थी। एक कुलीन गृहस्थकी पुत्र-वधूके सम्बन्धमें साथी-संगियोंने जमींदारके लड़केको उकसाया। उन्होंने हर तरहकी सहायता देनेका वादा किया। जमींदारका लड़का तैयार हो गया। बहुत-सी अनुचित कार्रवाइयाँ हुईं। अन्तमें इसी दुष्प्रयत्नके सिलसिलेमें जमींदार-पुत्रके द्वारा उस लड़कीके पिता सद्‌गृहस्थका खून हो गया। मामला सच्चा था। पर डाक्टरकी रिपोर्टपर निर्भर करता था। डाक्टरसे जमींदारने कहा कि 'इसे आत्महत्या सिद्ध कर दिया जाय'। पर डाक्टरने बड़ी विनयके साथ उत्तर दिया—'आपके तथा आपके लड़केके साथ मेरी बड़ी सहानुभूति है, मैं आपके दुःखसे दुखी हूँ। आपके रोनेके साथ मुझे भी रोना आता है; पर मैं जानता हूँ कि यह आत्महत्या नहीं है, हत्या है और इसका करनेवाला आपका पुत्र है। तब मैं कैसे दूसरी बात लिखूँ'। जमींदारने बहुत दबाया। अन्तमें एक लाख रुपयेका लालच दिया और न माननेपर अपनी जमींदारीके बलसे बरबाद कर डालनेकी धमकी भी दी। पर डाक्टरने अपने सत्यको नहीं छोड़ा। सच्ची रिपोर्ट लिखकर जमी-जमाई डाक्टरी तथा आमदनीको लात मारकर गाँव छोड़कर दूसरी जगह चले गये। गाँवमें रहनेपर जमींदार तंग करता।

डाक्टर सत्यके हिमायती, न्यायपरायण होनेके साथ ही दयालु भी थे। उन्होंने रिपोर्टके साथ ही कलेक्टरको एक पत्र इस आशयका लिख दिया जो सत्य था कि लड़केने आवेशमें यह हत्या की है, उम्र छोटी है, जमींदारका एक मात्र लड़का है और गतवर्ष ही विवाह हुआ है, अतएव सरकार इसपर दयापूर्ण भावसे विचार करे। उस समय कलेक्टर ही सर्वेसर्वा होते थे। लड़केपर मुकद्दमा चला, पर सरकारकी इच्छाके अनुसार उसे केवल दो सालकी ही सजा हुई। डाक्टरकी सत्यप्रियता और दयाशीलताका ही यह सुपरिणाम था।

—देवनारायण तिवारी

(२)

काँटेके बदले फूल

रविवार संध्याका समय था। डाक्टर क्लब जानेकी तैयारीमें थे। इतनेमें एक वृद्धने दीनतासे कहा—'डाक्टर साहेब ! मेरा बच्चा मर रहा है।'

'कल सबेरे आना।'

'साहेब ! छः तो चले गये, यह अन्तिम भी चला जायगा। कृपा करो……'

सुनी-अनसुनी करके डाक्टर मोटरमें बैठ गये। वृद्ध निराश-मुँह वापस लौट गया। उसी रात्रिको उसका सात वर्षका लड़का संसारसे कूच कर गया !

कुछ वर्ष बीत गये इस बातको। डाक्टरने बड़ा यश कमाया। उन्होंने अपने इकलौते बेटेको खूब पढ़ाया।

एक दिन वह मित्रोंके साथ सैरको गया था। उसके पैरके नीचे कोई चीज दबी, देखा तो काला नाग था। घर लानेपर तो उसे देखकर डाक्टर व्याकुल होकर रो पड़े। ओझा आया, लेकिन लड़केकी प्रतिक्षण बिगड़ती हालतको देखकर मन्त्र पढ़नेकी उसकी हिम्मत ही नहीं हुई। डाक्टर निराश हो गये!

शहरके किनारे नन्हीं-सी झोंपड़ीमें बूढ़ा-बूढ़ी आग ताप रहे थे। इतनेमें बाहरसे आवाज आयी—'भगत! जाग रहे हो क्या? डाक्टरके बच्चेको साँपने काट खाया है!'

'किसको? डाक्टरके लड़केको? वह डाक्टर जो छावनीके बँगलेमें रहता है?'

'हाँ, हाँ, वही। चलते हो? बड़ी भलाईका काम होगा।'

भगतने कठोरतासे सिर धुना—'जाय मेरी बला! अब उसे पता लगेगा कि बेटेके मरनेका दुःख कैसा होता है।'

बुढ़िया बड़बड़ाई, 'इतनी रातको इस कड़ाकेकी सर्दीमें कौन जाय?'

'अरे, दुपहरी होती और मोटर लेकर आया होता तो भी मैं नहीं जाता। मेरे मंगल बेटेका मुँह अब भी मेरे सामने तैर रहा है। बच्चेका मरना कितना दुःखदायी होता है? दुनिया मुझे भले ही निर्दयी कहे।' भगतने कहा।

भगतके लिये किसीको साँप काटनेकी खबर सुनकर न जाना—यह उसके जीवनमें पहला ही प्रसंग है।

चारपाईपर पड़े-पड़े उसने कितनी ही करवटें बदलीं, पर नींद नहीं आयी, उसने दरवाजा खोला।

'कहाँ जा रहे हो?' बुढ़ियाने पूछा।

'कहीं नहीं, यह तो देख रहा था कि कितनी रात बाकी है। नींद नहीं आ रही है।'

'कहाँसे आती? तुम्हारा मन तो चला गया है उस डाक्टरके यहाँ, पर गये तो देखना······'

'नहीं भाई, मैं मूर्ख नहीं हूँ जो काँटेके बदलेमें फूल दूँ?'

परंतु न जाने क्यों उसका हृदय मान नहीं रहा था। एक पलका विलम्ब भी सहन नहीं हो रहा था। उसने धीरेसे दरवाजा खोला। राह चलते चौकीदारसे पूछा—'कै बजे हैं?' 'एक बजा है भगत! उस डाक्टरका बेटा मर रहा है। सुना है वह बचानेवालेको दस हजार रुपये देगा।'

भगत बड़बड़ाया—'दस लाख क्यों नहीं देता?'

चौकीदार चल दिया। पीछे-पीछे भगत खिंचे-से चले।

आधे रास्ते पहुँचकर भगत रुके। 'इस कड़ाकेकी सर्दीमें मुझे मरनेकी क्या जरूरत थी? आरामसे सोया क्यों नहीं! नींद न आती तो दो-चार भजन ही गा लिये जाते। यह व्यर्थकी दौड़-धूप किस लिये? दुनियामें ऐसे तो कितने मरते हैं·········ना-ना, जाऊँगा तो जरूर। देखना है बड़े आदमी भी छोटोंकी तरह ही रोते-पीटते हैं क्या?'

और वह आगे बढ़े। भगतकी चाल तेज हो गयी। कुछ ही क्षणमें तो वे मुट्ठी बाँधकर दौड़ने लगे। इतनी उम्रमें कभी ऐसे नहीं दौड़े।

हाँफते-हाँफते डाक्टरके घर पहुँचे। दो मिनटतक शून्यमनस्क-भावसे बच्चेकी तरफ देखते रहे। फिर बोले—'झटपट पानी भरकर लाओ'। पता नहीं, कितने घड़े पानी भगतने बच्चेके सिरपर उँड़ेले। मन्त्र पढ़े, जड़ी-बूटी सुँघायी और उषाके आगमनके साथ-साथ बच्चेने आलस मरोड़ा। डाक्टर तो आनन्दके अतिरेकमें कुछ बोलचाल ही न सके। बातको हवा उड़ा ले गयी—'डाक्टरके मरते बच्चेको भगतने बचा दिया।'

भगतको सब ढूँढ़ रहे थे, पर वे तो गायब! जिस तेजीसे दौड़े आये थे, उससे भी ज्यादा तेजीसे दौड़ चले थे। बुढ़ियाके जगनेसे पहले ही उन्हें चारपाईपर जो पहुँच जाना था। 'अखण्ड आनन्द'

—कान्ति

(३)

आदर्श ईमानदारी

कलकत्ता बड़ाबाजारमें पचास वर्ष पहले शिवलाल तकतमल नामक एक नापासरका फर्म था। संवत् १९८१ में उस फर्मपर कुछ दूसरे फर्मोंके रुपये रह गये, जिनको उस समय उन्होंने चार आने (२५ प्रतिशत) चुकाया था; क्योंकि रुपये थे नहीं। फर्म बंद हो गया था। रुपये पानेवालोंको शेष रुपये मिलनेकी आशा तो क्या, कल्पना भी नहीं रह गयी; पर शिवलाल तकतमलने, जिनके रुपये देने थे, उनकी सूची रुपयोंकी संख्या-समेत रख ली थी। कुछ वर्षों बाद इस फर्मका परिवार कई भागोंमें बँटकर उसके कई परिवार हो गये। इनमें एक परिवारकी हालत आगे चलकर

कुछ ठीक हुई तो उन्होंने अपने हिस्सेके रुपये चुका दिये । इधर व्यवसाय अच्छा चला तो उसी एक परिवारने पूरे (शिवलाल तकतमल) फर्मके रुपये गत चैत्र-वैशाखमें चुका दिये । रुपयोंकी संख्या अस्सी हजारसे एक लाखके लगभग होगी । फर्मको बंद हुए चालीस साल हो गये, इस अवधिमें पानेवाले कितने ही फर्म उठ गये, कोई कहीं चले गये । ऐसे लोगोंके कुछ रुपये अभी देने शेष हैं । उनका पता लगाकर रुपये देनेकी चेष्टा चालू है । घरवालोंने कई बार पूछा, पर जिन भाईने रुपये चुकाये, उन्होंने पूरी बात नहीं बतायी । न वे इस घटनाको प्रकाशित ही करना चाहते हैं । इसीसे उनका नाम नहीं लिखा गया है । पर इस ईमानदार परिवारका यह काम है आदर्श और अनुकरणीय तथा प्रशंसनीय, कम-से-कम इस भयानक आजके युगमें ।

—नरसिंहप्रसाद शर्मा

(४)

प्रभु-कृपाका प्रत्यक्ष अनुभव

लगभग चौबीस-पचीस वर्षकी बात है । उन दिनों हम लाहौरमें रहते थे । मेरी धर्मपत्नीको कुछ खाँसी-जुकामकी शिकायत हुई । चिकित्सा की गयी । दस-बारह दिन व्यतीत हो गये, पर आराम न हुआ । उन दिनों उसके पिता [illegible]के पास एक स्थान राजड़में रहते थे । वहाँ वे सरकारी कर्मचारी थे । वहाँ खुली जगह थी और जलवायु अच्छा था । उसके पिताने उसे वहाँ बुला लिया । वहाँके डाक्टरकी चिकित्सा प्रारम्भ की गयी । थोड़े दिनोंके बाद बड़े दिनों (क्रिसमिस) की छुट्टियाँ आ गयीं । मैं भी उन छुट्टियोंमें अपनी धर्मपत्नीके पास राजड़ चला गया । वहाँ उसकी चिकित्सा चल रही थी । खाँसीकी शिकायत तो थी ही, साथ ही अब हल्का-हल्का ज्वर भी आने लग गया था । मुझे तीन-चार दिन वहाँ गये हुए थे कि जिस डाक्टरका इलाज था, उसने मुझे अलग बुलवाया और कहा—'मैं तुम्हारी धर्मपत्नीकी चिकित्सा कर रहा हूँ । मैंने उसका बड़ी अच्छी तरह तीन-चार बार निरीक्षण किया है । उसका बायाँ फेफड़ा कुछ खराब हो गया है । पर घबरानेकी कोई बात नहीं । अभी पहिली स्टेज ही है । ध्यान करनेसे ठीक हो जायगी । पर देख-भाल बड़ी अच्छी तरह करनी होगी ।' जब मैंने यह सुना तो मेरे पाँव-तलेकी जमीन निकल गयी । स्वभावतः ही मुझे बहुत चिन्ता हुई। डाक्टरका इलाज जारी रहा और मैं छुट्टियाँ समाप्त होनेपर लाहौर लौट आया । वहाँ मैं हर समय बहुत चिन्तित रहने लगा । न खाना अच्छा लगता, न पीना और न किसी काममें ही मन लगता । इस प्रकार कुछ दिन व्यतीत हो गये ।

मुझे दफ्तर जाते हुए कभी-कभी दफ्तरके कामसे ही रास्तेमें सरकारी बैंक जाना पड़ता था । उस दिन जिस रास्तेसे मैं दफ्तर जाता था, उस रास्तेपर एक गिरजाघर पड़ता था । उस गिरजाघरके बाहर एक बड़े बोर्डपर प्रति सप्ताह एक वाक्य (सम्भवतः बाइबिलमेंसे कोई उद्धरण) बड़े मोटे अक्षरोंमें लिखा होता था । मैं जब कभी उधरसे जाता, वह वाक्य अवश्य पढ़ता । ये वाक्य बड़े प्रेरणात्मक तथा आत्माको उठानेवाले होते थे । प्रायः घर आकर मैं उन्हें नोट भी कर लेता था । मुझे लाहौर वापिस आये हुए दस-बारह दिन हुए होंगे कि एक दिन मैं जब दफ्तरसे चला तो उसी रास्ते मुझको घर जाना था । उस दिन मेरा मन विशेषरूपसे अवसाद और चिन्ताग्रस्त था । चलते समय मैंने मन-ही-मन भगवान्से बड़े कातर भावसे प्रार्थना की—'प्रभो ! अब मैं इस चिन्ताको अधिक सहन नहीं कर सकता । ऐसी कृपा करो कि आज वहाँ जो वाक्य लिखा हो, उसके माध्यमद्वारा मुझे कोई ऐसा उपदेश, आशीर्वाद दो, जिससे मेरी चिन्ता दूर हो और मेरे मनको शान्ति मिले ।' जब मैं उस स्थानपर पहुँचा तो बड़ी अधीरतासे मैंने उस दिनके वाक्यको पढ़ा । लिखा था—'Don't worry; it may never happen' 'मत चिन्ता करो, ऐसा नहीं होगा' । यह बिल्कुल मेरी मानसिक स्थितिके अनुकूल था । ऐसा मालूम होता था—भगवान्ने मेरी प्रार्थनाके उत्तरमें मुझे ही यह आदेश दिया था । यह वाक्य पढ़कर मेरी जो अवस्था हुई, मैं उसे शब्दोंमें व्यक्त करनेमें असमर्थ हूँ । मुझे ऐसा भान हुआ कि यह कागजपर लिखा वाक्य नहीं, स्वयं भगवान्की ओरसे ही मेरे लिये यह आकाशवाणी हुई है । एकदम मेरी चिन्ता, पता नहीं, कहाँ भाग गयी और मेरा मन बिल्कुल स्वस्थ, शान्त और हल्का हो गया एवं मस्तक प्रभुके आगे झुक गया । मुझे निश्चय हो गया कि मेरी धर्मपत्नीको वह रोग (टी० बी०) नहीं है जो डाक्टरने बतलाया है । जब घर पहुँचा तो मेरे श्वसुरका मेरे नाम एक पत्र आया हुआ मिला । उसमें लिखा था कि 'मेरे वहाँसे चले आनेके पश्चात् डाक्टरने तीन-चार बार 'फिर मेरी

धर्मपत्नीका अच्छी तरह निरीक्षण किया था, पर अब उसे उसके फेफड़े बिल्कुल ठीक लगे हैं। उस प्रकार (टी० बी०) का कोई दोष उनमें दिखायी नहीं दिया और वैसे भी उसका स्वास्थ्य अब पहलेसे काफी सुधर गया है। इसलिये मुझे किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये'। साथमें उन्होंने मेरी पूरी तसल्ली और विश्वासके लिये डाक्टरके अपने हाथका लिखा मेरे नामका एक पत्र भी भेजा था, जिसमें डाक्टरने अपने शब्दोंमें वही बातें लिखी थीं जो मेरे श्वसुरने लिखी थीं। साथ ही लिखा था कि 'पहले शायद फेफड़ोंपर बलगम रहा हो जिसके कारण ऐसी आवाज आती थी और जिससे उन्हें टी० बी०का अनुमान हुआ था'। यह पत्र पढ़कर मुझे ऐसा नहीं लगा, जैसे यह कोई नयी बात हो। मुझे ऐसा लगा कि इसका तो मुझे पहले ही पता लग चुका था। हाँ! प्रभुके चरणोंमें मेरा मस्तक एक बार फिर झुक गया और आँखोंमें कृतज्ञताके आँसू आ गये। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इसके थोड़े दिनों पश्चात् ही मेरी धर्मपत्नीका स्वास्थ्य बिल्कुल ठीक हो गया। यह है प्रभु-कृपाका प्रत्यक्ष अनुभव—प्रमाण!

—लाजपतराय

(५)

अतिथि-सेवाका फल

अतिथि-सेवा हमलोगोंके धार्मिक दैनिक कर्तव्योंमें मुख्य है। इसकी महिमा सभी स्मृति तथा पुराणोंने गायी है। एक समय था कि हमारे भारतमें किसी भी बटोहीको भोजन तथा विश्रामकी अपनी यात्रामें चिन्ता नहीं रहती थी। भोजनके समय सभी सद्गृहस्थ चाहते थे कि कोई अतिथि भोजन कर ले तो उनका भोजन बनाना सुफल हो।

जीवमात्रमें हमारे आराध्यदेव विराज रहे हैं, यह भावनामात्र नहीं है किंतु ध्रुव सत्य है। निष्काम भक्तिकी यह एक उच्च अर्चना-पद्धति है कि प्रभुकी पूजा एक ऐसे व्यक्तिमें की जाय जिससे हम न तो परिचित हैं और न जिससे हमारा कोई सम्बन्ध है। केवल ईश्वरीय भावनासे ही सेवा की जाय। हमारे प्रभु तो भावके भूखे हैं। जिस भावसे कोई उनकी आराधना करता है, उसीके अनुसार उसको फल मिलता है। यह घटना साठ-पैंसठ वर्ष पुरानी है, पर है सत्य। परम पूज्य श्री स्वामी अभयानन्दजी आत्मदर्शी कैलाश-वासीने बतायी थी।

हाथरसके समीप मैण्डू नामक एक छोटा-सा स्थान है। वहाँ एक सज्जन रहते थे, जो किसी मिडल स्कूलके हेडमास्टर थे; किंतु किसी कारणवश उनकी नौकरी छूट गयी थी और वे अपने घरपर रहकर ही बड़े कष्टसे जीवन-निर्वाह कर रहे थे। बहुत समयसे वे नौकरीके लिये प्रयत्न कर रहे थे, किंतु भाग्यवश उनको सफलता नहीं मिलती थी। इसलिये वे निराश तथा दुखी थे।

उनका घर सड़कके किनारे ही था और द्वारके आगे एक लिपा-पुता चबूतरा था; जहाँ संध्याके समय दो-चार पड़ोसी आ बैठते थे और विविध चर्चासे मनोरञ्जन करते थे।

ज्येष्ठका महीना था, दिनके दो बजे होंगे। चिलचिलाती धूप और भाड़-सी गरम लूसे शरीर जला जाता था। हेडमास्टर साहब और उनकी धर्मपत्नी सभी खिड़की दरवाजे बंद किये आराम कर रहे थे। इतनेमें चबूतरेपर किसीके धम्मसे गिरनेकी आवाज आयी। मास्टरजीने किवाड़ खोलकर देखा तो उन्होंने एक फटेहाल व्यक्तिको पड़े पाया। मास्टरजीने उसको उठाया और सहारेसे भीतर ले आये। उनकी पत्नीने एक बड़ा शरबतका ठंडा ग्लास पिलाया, जिससे उसको बड़ी शान्ति मिली और वह स्वस्थ होकर बैठ गया। गृहिणीने उस नव आगन्तुकके लिये भोजन बनाया और उसको बड़े प्रेमसे खिलाया। भोजनोपरान्त उसको खाटपर आराम करनेको कहा और पति-पत्नी उसको पंखा झलने लगे। वह शीघ्र ही निद्रादेवीके वशीभूत हो गया।

सोते-सोते वह उठकर बैठ गया और मास्टरजीसे कहने लगा—'तुम्हें सवा सौ रुपये वेतनकी हेडमास्टरी मिल गयी है और परसों तुम्हें इसकी सूचना मिल जायगी।' इतना कहकर वह फिर सो गया। जागनेपर उससे जब मास्टरजीने पूछा तो उसने कहा कि 'मुझे इस बातका किंचित् भी [illegible] नहीं कि मैंने आपसे कुछ कहा था। मैं तो एक दुखिया मारा चमार हूँ। मैंने तीन दिनोंसे अपने पुत्रकी [illegible] कारण कुछ भी खाया-पीया नहीं था और भीषण गरमीके कारण आपके द्वारपर बेहोश हो गया था।' अतिथि तो [illegible]

और चला गया। किंतु मास्टरजीको सवा सौ रुपये महीनेकी नौकरी लग जानेकी सूचना नियत समयपर मिल गयी। स्वामीजी कहा करते थे कि यह भगवान्‌का आवेशावतार था, जो चमारके मुखसे बोला था और मास्टरजीके लिये था यह अतिथि-सेवाका फल!

—निरञ्जनदास धीर

(६)

सत्संगके एक वाक्यका चमत्कारी फल

(सफेद झंडा फहराया)

गुजरातके कवीश्वर दलपतराम डाह्याभाईके साथ प्रसिद्ध सुधारक डाह्याभाई धोलशाजीकी किसी कारण अनबन हो गयी थी और पत्रोंमें परस्पर चर्चाकी मिर्चें उड़ाकर जीवनमें भी जलन बढ़ायी जा रही थी। इस प्रकार कई वर्षोंतक दोनोंमें वैमनस्य चलता रहा।

एक दिन 'सत्संग-सभा' में किसी संतका व्याख्यान होता था। उसे सुनने डाह्याभाई धोलशाजी वहाँ गये हुए थे। प्रवचनमें उन्होंने ऐसा एक वाक्य सुना—'बुढ़ापेमें मनुष्यको सारा वैर-जहर भूलकर सुलह-प्रेमकी प्रतिष्ठा करनी चाहिये। दो पशु आपसमें सींगोंसे लड़ते हैं तो वे परस्पर क्षमा चाहें, ऐसा हृदय ही ईश्वरने नहीं दिया। परंतु मनुष्यको तो प्रभुने विवेकशील हृदय दिया है।'

यह वाक्य सुनते ही डाह्याभाईके हृदयपर एक चोट लगी और मन-ही-मन उन्होंने सोचा कि 'बात तो सच है, बुढ़ापा तो आशीर्वाद है; परंतु बुढ़ापेके दोष अभिशाप हैं। मनुष्यको जवानीकी भूलें बुढ़ापेमें सुधार लेनी चाहिये। कड़वी नीबोलीमें भी पकनेपर मिठास आ जाती है।' इससे कविके साथ चलते झगड़ेका अन्त करनेकी उन्हें प्रेरणा मिली और सभा समाप्त होते ही वे सीधे कवि दलपतरामके घर पहुँच गये।

दलपतरामके आँगनमें जाकर डाह्याभाई सिर झुकाये खड़े रहे। दलपतराम इस समय घरमें हिंडोलेपर बैठे झूल रहे थे। वहींसे उनकी नजर डाह्याभाईपर पड़ी। वे कुछ क्षणोंके लिये आश्चर्यमें पड़ गये—'मैं जग रहा हूँ या स्वप्न देख रहा हूँ!' दलपतरामको लगा कि जरा भी पीछे पैर न रखनेवाला यह योद्धा आज शस्त्र त्यागकर मेरे आँगनमें कहाँसे आ गया! कवीश्वर हिंडोलेसे उतरकर डाह्याभाईके पास पहुँचे।

'भाई! आप मेरे यहाँ!' कवीश्वरने गद्‌गद कण्ठसे कहा। कविका प्रेमोद्गार स्वीकार करते हुए डाह्याभाईने कहा—'हाँ भाई! अंदर चलिये। अपने दिलकी बातें करें।'

और दोनों अनुभवी वृद्ध घरमें जाकर हिंडोलेपर बैठ गये।

'युद्धमें यदि एक पक्ष सफेद झंडा फहरा देता है तो युद्ध रुक जाता है और सुलह हो जाती है। क्यों; यह बात ठीक है न?' डाह्याभाईने कवीश्वरसे पूछा।

'हाँ भाई, सुलहके लिये ही सफेद झंडा फहराया जाता है।'

डाह्याभाईने सिरकी पगड़ी उतारकर कविके पास रख दी और सिरकी सफेद चोटी दिखाकर कहा—'प्रकृतिकी दी हुई इस सफेद झंडीकी उपेक्षा करके हमलोग कबतक लड़ते रहेंगे। ऐसा विचार मनमें आते ही मैं कवि-हृदयकी क्षमा-याचना करने आपके द्वारपर चला आया।' डाह्याभाईने कहा।

इसका उत्तर कवीश्वरने जीभसे नहीं, उनकी आँखोंसे झरझर झरते हुए आँसुओंने ही दिया। दोनों वृद्ध राम-भरतकी तरह चिपट गये और जबतक जीवित रहे, पवित्र मैत्री भावसे ही रहे। 'अखंड आनंद'

—धैर्यचन्द्र बुद्ध

(७)

गौओंको महामारीसे बचानेका सरल साधन

पुष्यार्क (रविवार—पुष्यनक्षत्र या गुरुवार—पुष्य नक्षत्रके दिन) शुद्धतापूर्वक भोजपत्रपर अनारकी कलमसे गोरोचन या अष्टगन्धके द्वारा अर्जुनके—अर्जुन, किरीटी, गुडाकेश, धनञ्जय, पार्थ, भारत, सव्यसाची, कपिध्वज, कौन्तेय, कुरुनन्दन, पाण्डव, कुरुप्रवीर, कुरुश्रेष्ठ, कुरुसत्तम, परंतप, पुरुषर्षभ, भरतर्षभ, भरतसत्तम—इन अठारह नामोंको लिखकर गुगुल वगैरहका धूप देकर लाल कपड़ेमें बाँधकर जानवरोंके आने-जानेवाले दरवाजेके ऊपर लटका दें। पर्वके समय धूप कर दिया करें। रविवार पुष्य या गुरुवार पुष्यनक्षत्रका मौका न लगे तो जब भी पुष्यनक्षत्र हो, रविके होरामें यह प्रयोग कर सकते हैं, विश्वास रखिये—निश्चय सफलता मिलेगी।

—सुरजमल भुतड़ा, आनदी (रायपुर)

क्या जयपुरमें गोहत्या होती है और गोमांस बिकता है ?

(लेखक—डा० श्रीश्रीकान्त जैन एम० पी०)

कुछ दिनों पहलेकी घटना है। जयपुरमें बेचनेके लिये गोमांस लाते हुए कुछ मांसाहारी लोग रँगे हाथों पकड़े गये थे। पुलिसको उनके पास गोमांस मिला था और पुलिसने उनके विरुद्ध कार्यवाही करके उन्हें पकड़ लिया था।

स्थानीय जनताकी धारणा है कि जयपुरमें गोहत्या करने तथा गोमांसका व्यापार करनेवाले व्यक्तियोंका संगठित समूह है, जो पिछले कुछ समयसे यह अपराध कर रहा है।

पुलिसने इन बड़े अपराधियोंके विरुद्ध अभीतक कोई कानूनी कार्यवाही नहीं की, यह बड़े आश्चर्यकी बात है। साथ ही जो लोग प्रच्छन्नरूपसे गोमांस बेच रहे हैं और होटलोंके मालिक गुप्तरूपसे पर खुले हाथों गोमांसका खाद्यसामग्रीके रूपमें प्रयोग कर रहे हैं, उनके विरुद्ध भी ऐसी कोई कानूनी कार्यवाही नहीं की गयी, जिससे इन नराधमोंकी अक्ल ठिकाने आती। होटलोंके मालिक खुले आम गोमांस पकायें, मांसाहारीलोग उसे खायें और लोग देखते रहें, पर इस अराजकताको रोकनेका नैतिक साहस न दिखा सकें, यह सचमुच आश्चर्यकी (दुःखकी) बात है। पुलिसने अबतक इस तरहके व्यापार करनेवाले तथा होटलोंके मालिकोंके नाम भी प्रकट नहीं किये हैं। पुलिसकी इस प्रकारकी पक्षपातपूर्ण नीतिसे जनता कई तरहकी अटकलें लगा रही है। पुलिसका आचरण दिनोंदिन संदेहास्पद होता जा रहा है।

जो लोग व्यवसायके रूपमें गोहत्या करते हैं, वे तो अपराधी हैं ही, पर वे लोग इनसे भी अधिक अपराधी हैं जो इस प्रकारके नीच कार्यको प्रोत्साहन दे रहे हैं। गोमांस बेचनेवाले लोगोंके विरुद्ध सख्त कानूनी कार्यवाही न करके पुलिसविभाग देखी-अनदेखी करे और मौन साधे रहे वहाँ मानवता कैसी! इन लोगोंके विरुद्ध कठोर कार्यवाही करनी चाहिये। जिन लोगोंको सचमुच मांस बेचनेका लाइसेंस मिला है या मिलनेवाला है, उसे रद्द करानेके लिये 'अहिंसा परमो धर्मः'के पुजारियोंको कमर कस लेनी चाहिये। जनता जानना चाहती है कि अबतक पुलिसविभागने ऐसे कितने लोगोंके विरुद्ध कार्यवाही की है, जो बकरे मांसके साथ गोमांस बेच रहे हैं।

जनता उन होटलोंके नाम भी जानना चाहती है जिनमें अधिक-से-अधिक गोमांस पकाया जाता है और अनजान लोगोंको खिलाकर उनका धर्म भ्रष्ट किया जाता है। ऐसे होटलोंके नामोंकी जानकारी जनताकी दृष्टिमें बहुत आवश्यक है। ऐसे होटलोंपर मामला चलानेके साथ ही उन्हें बंद करानेकी भी अनिवार्य आवश्यकता है। बढ़ती हुई बुराईको तुरंत रोकनेमें ही सबका हित समाया है। आज सबसे अधिक वे अपराधी हैं जो क्षुद्र स्वार्थके लिये जनताके धर्मके साथ खेल रहे हैं। जयपुर राजस्थानकी राजधानी है। वहाँ अहिंसक जैनों (तथा वैष्णवों) की विशाल संख्या है। क्या उन्हें इस पापका पता नहीं है? और पता है तो वे किसलिये न्यायकी माँग नहीं करते ?' 'जीव दया' *

* * *

---

* उपर्युक्त समाचार सत्य है तो बड़े ही दुःख तथा लज्जाकी बात है। राजाओंके राज्यमें राजस्थानमें कहीं भी न तो गोहत्या होती थी, न कहीं गोमांस ही बिकता था। अब यदि जनताकी सरकारके राज्यमें ये पाप राजस्थानमें होने लगे हैं तो राजस्थानियोंके लिये डूब मरनेकी बात है। मैं राजस्थान सरकारके संचालकोंसे सविनय अनुरोध करता हूँ कि वे तुरंत इस पापका पता लगायें और यदि यह पाप होने लगा हो तो तुरंत इसे बंद करके अपना कलङ्क मार्जन करें। —सम्पादक

॥ श्रीहरिः ॥

'कल्याण'के आजीवन ग्राहक बननेके नियम

(१) एक साथ एक सौ रुपये देनेवाले सज्जन 'कल्याण'के आजीवन ग्राहक बनाये जाते हैं। जो लोग जिस वर्षका वार्षिक मूल्य रु० ७.५० भेज चुके होते हैं, वे उस वर्षमें ९२.५० और भेजकर आजीवन ग्राहक बन सकते हैं।

(२) जो सज्जन प्रतिवर्ष सजिल्द विशेषाङ्क लेना चाहें, उन्हें १२५.०० (एक सौ पचीस रुपये) भेजने चाहिये।

(३) भारतवर्षके बाहर (विदेश) के महानुभावोंके लिये आजीवन-ग्राहक-मूल्य १२५.०० या १० पौंड है। सजिल्दका १५०.०० या १२ पौंड है।

(४) आजीवन ग्राहक बननेवाले जबतक रहेंगे और जबतक 'कल्याण' चलता रहेगा, उनको प्रतिवर्ष 'कल्याण' मिलता रहेगा। उनके पीछे उनके उत्तराधिकारियोंको नहीं मिलेगा और किसी कारणवश 'कल्याण' बंद हो जानेपर भी नहीं मिलेगा। दोनों ही हालतमें रुपये 'गीताप्रेस'के स्थायी कोषमें सम्मिलित हो जायँगे और प्रकारान्तरसे यह उनके द्वारा गीताप्रेसके सत्साहित्य-प्रचारकार्यमें सहायता हो जायगी।

(५) मन्दिर, आश्रम, पुस्तकालय, मिल, कारखाना, उत्पादक या व्यापारी-संस्था, क्लब या अन्यान्य संस्था तथा फर्मको भी आजीवन ग्राहक बनाया जा सकता है।

व्यवस्थापक—'कल्याण' पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

'गीता-पञ्चाङ्ग'का प्रकाशन बंद

'गीता-पञ्चाङ्ग' का प्रकाशन बंद किये जानेके समाचारसे कुछ सज्जनोंने ऐसा अनुमान लगाया है कि 'गीता-पञ्चाङ्ग' के निर्माता वयोवृद्ध विद्वान् पं० श्रीसीतारामजी महाराजके साथ मतभेद होने या उनका र्य पसंद न होनेके कारण 'गीता-पञ्चाङ्ग' बंद किया गया है, पर यह कारण सर्वथा नहीं है। पण्डितजीके र्यसे पूरा संतोष था और है; एवं उन्होंने इतने वर्षोंतक गीता-पञ्चाङ्गका निर्माण करके जो महान् सेवा है, इसके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं। 'गीता-पञ्चाङ्ग'का प्रकाशन बंद करनेका प्रधान कारण तो कार्यकी कता है, कुछ दूसरे गौण कारण भी हैं, पर उनका पण्डितजीके पञ्चाङ्ग-निर्माण-कार्यसे कोई सम्बन्ध ी है। 'गीता-पञ्चाङ्ग' इन्हीं सब हेतुओंसे अनिश्चित समयके लिये बंद किया गया है। इससे जिन सज्जनों-ष्ट पहुँचा है, हम उनकी कृपाके लिये कृतज्ञता प्रकट करते हुए उनसे क्षमा-प्रार्थना करते हैं।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

आवश्यक सूचना

पिछले दिनों भाई श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार अस्वस्थ रहे थे, इससे काम पूरा नहीं कर पाते थे। अब भी की यह स्थिति है कि वे पत्रोंका उत्तर न तो लिख पाते हैं, न लिखा ही सकते हैं। उनके नाम आये हुए ड़ों पत्र बिना उत्तरके पड़े हैं। इसके लिये वे सभी पत्र-लेखकोंसे हाथ जोड़कर क्षमा चाहते हैं और से प्रार्थना करते हैं कि बहुत आवश्यक होनेपर ही उन्हें पत्र लिखें एवं उत्तर देरसे पहुँचे या पहुँचे तो कृपापूर्वक क्षमा करें।

व्यवस्थापक—'कल्याण' पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

'कल्याण'के कृपालु तथा प्रेमी ग्राहकों और पाठकोंसे निवेदन

(१) यह 'कल्याण'के ३७वें वर्षका ११वाँ अङ्क है। अगले दिसम्बरका १२वाँ अङ्क निकलनेपर यह वर्ष पूर्ण हो जायगा। ३८वें वर्षका पहला अङ्क 'संक्षिप्त लीला-प्रसङ्गसहित श्रीकृष्णवचनामृत-अङ्क'—विशेषाङ्क होगा। इसमें भगवान् श्रीकृष्णके विविध विषयोंके महत्त्वपूर्ण वचनोंका संग्रह मूल तथा हिंदी अनुवादसहित रहेगा। भगवद्गीता, उद्धवगीता अर्थसहित पूरी रहेगी तथा उत्तरगीता, वैष्णव-धर्मोपदेश आदिके भी चुने हुए अंश रहेंगे। बहुसंख्यक सुन्दर चित्रोंसे सुशोभित लीला-प्रसङ्गोंके साथ रहनेसे अङ्क बहुत ही रोचक और चित्ताकर्षक होगा। भगवान्‌के वचनामृतकी तो महिमा ही अलौकिक है।

(२) इस बहुमूल्य विशेषाङ्कका मूल्य ७.५० ही रहेगा। पृष्ठ-संख्या भी पूर्ववत् लगभग ७०० होगी। अतएव पुराने ग्राहकोंको तुरंत मनीआर्डरद्वारा ७.५० (सात रुपये पचास नये पैसे) भेजकर ग्राहक बन जाना चाहिये। मनीआर्डर-फार्म गत अङ्कमें भेजा जा चुका है। नये ग्राहकोंको भी शीघ्र रुपये भेजकर अपना नाम लिखवा लेना चाहिये। श्रीकृष्णवचनामृत-संग्रहके लिये सर्वसाधारणके साथ ही बहुत बड़े-बड़े लोगोंकी माँग है, अतएव ऐसा अनुमान है कि यह अङ्क शीघ्र समाप्त हो जायगा।

(३) रुपये भेजते समय मनीआर्डरके कूपनमें पुराने ग्राहक अपनी ग्राहक-संख्या अवश्य लिखनेकी कृपा करें और नाम, पता, मुहल्लेका नाम, ग्राम, डाकघर, जिला, प्रदेश आदि बड़े-बड़े साफ अक्षरोंमें लिखें। नये ग्राहक हों तो कूपनमें 'नया ग्राहक' लिखनेकी कृपा अवश्य करें। रुपये मनीआर्डरद्वारा भेजने-भिजवानेमें जल्दी करनी चाहिये। केवल विशेषाङ्कका मूल्य भी ७.५० है। इसलिये वर्षभरका ग्राहक बननेमें ही लाभ है।

(४) जिन पुराने ग्राहकोंको किसी कारणवश ग्राहक न रहना हो, वे कृपापूर्वक एक कार्ड लिखकर सूचना अवश्य दे दें, जिससे व्यर्थ वी० पी० भेजनेमें समय और डाकखर्चका अपव्यय न हो।

(५) गीताप्रेसका पुस्तक-विभाग तथा 'कल्याण-कल्पतरु' विभाग कल्याण-विभागसे पृथक् हैं। अतः पुस्तकोंके तथा 'कल्पतरु'के लिये उन-उनके व्यवस्थापकके नाम ही अलग-अलग आदेश तथा रुपये भेजें।

(६) इस वर्ष भी सजिल्द अङ्क देनेमें कठिनता है और बहुत देरसे दिये जानेकी सम्भावना है। यों सजिल्दका मूल्य ८.७५ (आठ रुपये पचहत्तर नये पैसे) हैं।

(७) सभी कृपालु ग्राहक-अनुग्राहक तथा प्रेमी पाठक-पाठिकागण कम-से-कम दो-दो नये ग्राहक बनाकर देशमें सद्भावोंका प्रसार करनेमें सहायक बनें। यह विनीत निवेदन है।

(८) इस अङ्कमें लेख प्रायः नहीं जायँगे। इस अङ्ककी सामग्री भी कहीं बढ़ गयी तो अगले [illegible] पड़ेगी। अतएव कोई महानुभाव लेख, कविता आदि कृपया न भेजें। जिन्होंने भेजे हों, वे सज्जन न छपनेपर कृपया अप्रसन्न न हों।

व्यवस्थापक—कल्याण, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) उ० प्र०

गुरुकुल कांगड़ी

कल्याण

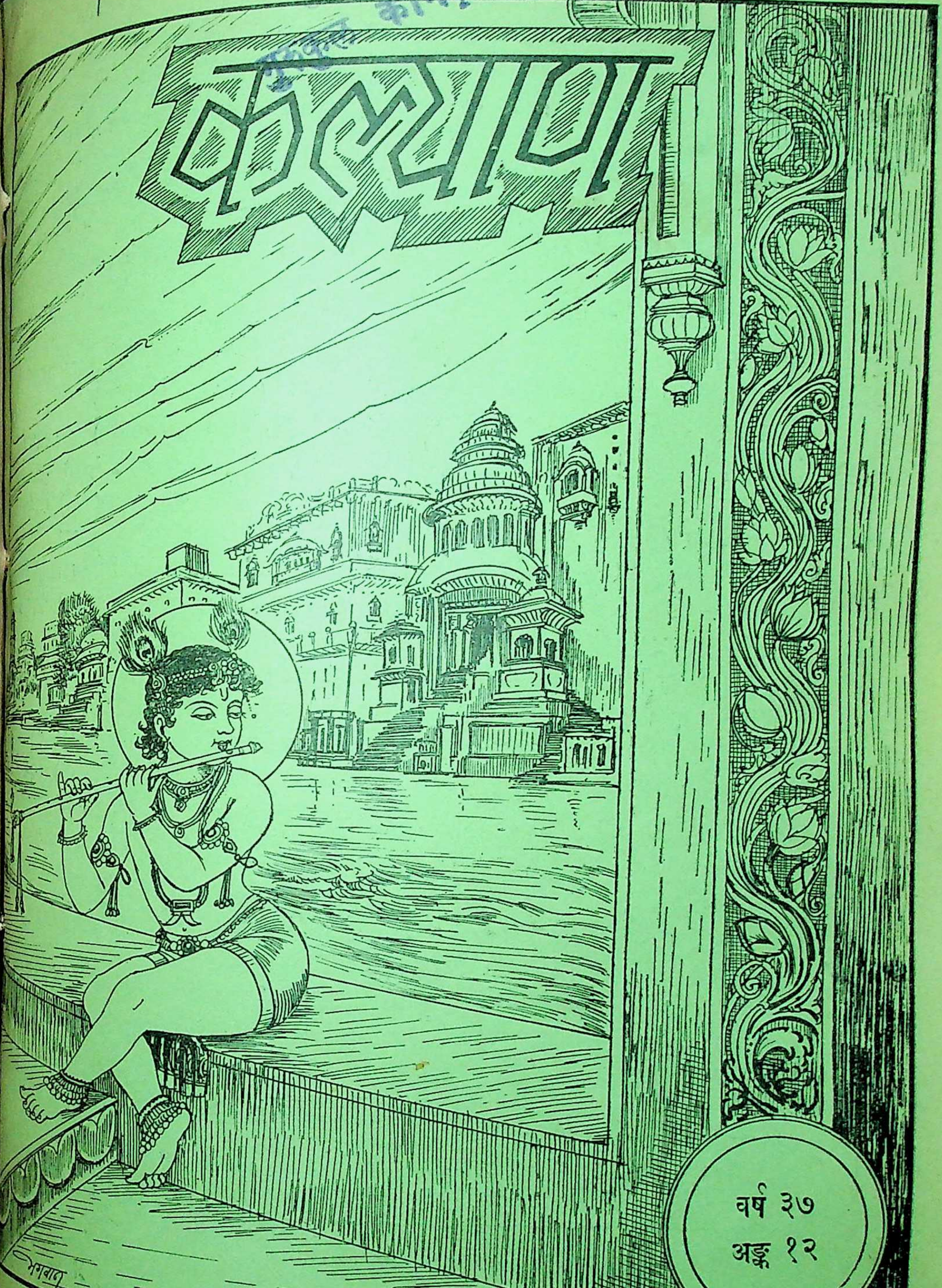

वर्ष ३७
अङ्क १२

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ।

संस्करण—१,३८,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर पौष २०२०, दिसम्बर १९६३

विषय … पृष्ठ-संख्या

१–सिखवति चलन अँगुरियाँ लाये [कविता] (संकलित—गीतावली) … १३२३

२–कल्याण ('शिव') … १३२४

३–मानव-जीवन कैसा हो ? (अनन्त-श्रीविभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य श्रीकृष्ण-बोधाश्रमजी महाराजका सदुपदेश; प्रेषक—श्रीगोकुलचन्द गोयल एम्०ए०, साहित्यरत्न) … १३२५

४–ज्ञानका स्वरूप (श्रद्धेय स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज) … १३२६

५–मिथ्या ज्ञानी [कविता] … १३२९

६–भगवन्नामजपका प्रभाव (श्रद्धेय श्रीजय-दयालजी गोयन्दका) … १३३०

७–एक महात्माका प्रसाद (संकलयिता और प्रेषक—श्री 'माधव'जी—यथाश्रुत-यथागृहीत) … १३३६

८–तपस्वी [कविता] (श्रीगुलाबरत्नजी वाजपेयी 'गुलाब') … १३३८

९–मधुर … १३३९

१०–आस्थाकी माँग (श्रीबालकृष्णजी बलदुवा बी० ए०, एल्-एल्० बी०) … १३४१

११–देववृत्तियोंको जगाये रखिये (डा० श्री-रामचरणजी महेन्द्र, एम्०ए०, पी-एच्० डी०, विद्याभूषण, दर्शनकेसरी) … १३४२

१२–सत्सङ्गसे ही प्राप्तव्यकी प्राप्ति (मानस-तत्त्वान्वेषी पं० श्रीरामकुमारदासजी रामायणी) … १३४५

विषय … पृष्ठ-संख्या

१३–भरतका देवपूजन (श्रीब्रह्मेश भटनागर एम्० ए०) … १३४७

१४–हमारी मुक्तिनाथ-यात्रा (श्रद्धेय श्री-प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी) … १३४९

१५–निर्मोही [कविता] (प्रो० श्रीगोपालजी 'स्वर्णकिरण') … १३५५

१६–उत्तर और दक्षिणकी शाश्वत एकता (श्रीअशोक महाजन) … १३५६

१७–मानवधर्म (मुनि श्रीसंत बालजी) … १३५८

१८–चञ्चल मनके प्रति (श्री'दुर्गेश') … १३६४

१९–वैज्ञानिक प्रगति और धर्म (पं० श्री-रामप्रतापजी शास्त्री, नव्य-व्याकरणाचार्य) १३६५

२०–व्यवहार [कविता] … १३६६

२१–मैं क्या बनूँ ? (डा० श्रीतीर्थराजजी शर्मा एम्०काम०, पी-एच्० डी०) १३६७

२२–जगत्—प्रियतमका पत्र (श्रीहरिकृष्णदास-जी गुप्त 'हरि') … १३७०

२३–संस्कृतभाषाका टीकासाहित्य (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) … १३७१

२४–श्रद्धाकी जय [कहानी] (श्री 'चक्र') १३७४

२५–तुलसीका सुराज (डा० श्रीगोपीनाथजी तिवारी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) १३७७

२६–संस्कृति और श्रीअरविन्द (डा० श्री-इन्द्रसेनजी, श्रीअरविन्दाश्रम, पांडिचेरी) १३७९

२७–प्रभुसे सच्चे प्रेमके लिये प्रार्थना [कविता] … १३८१

२८–पढ़ो, समझो और करो … १३८२

चित्र-सूची

१–कालिन्दी-तटपर मुरलीकी तानमें मस्त कन्हैया (रेखाचित्र) … मुखपृष्ठ

२–सिखवति चलन अँगुरियाँ लाये (तिरंगा) … १३२३

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें .४५
विदेशमें .५६
(१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

शुद्धतेजःस्वरूपं च भक्तानुग्रहविग्रहम् । अतीव कमनीयं च श्यामरूपं नमाम्यहम् ॥
परिपूर्णतमं शान्तं राधाकान्तं मनोहरम् । सत्यं ब्रह्मस्वरूपं च नित्यं कृष्णं नमाम्यहम् ॥

वर्ष ३७ } गोरखपुर, सौर पौष २०२०, दिसम्बर १९६३ { संख्या १२
पूर्ण संख्या ४४५

सिखवति चलन अँगुरियाँ लाये

ललित सुतहि लालति सचु पाये ।
कौसल्या कल कनक अजिर महँ सिखवति चलन अँगुरियाँ लाये ॥
कटि किंकिनी, पैजनी पाँयनि बाजति रुनझुन मधुर रेंगाये ।
पहुँची करनि, कंठ कठुला बन्यो केहरि-नख मनि-जरित जराये ॥
पीत पुनीत बिचित्र झँगुलिया सोहति स्याम सरीर सोहाये ।
दँतियाँ द्वै द्वै मनोहर मुखछबि, अरुन अधर चित लेत चोराये ॥
चिबुक कपोल नासिका सुंदर, भाल तिलक मसिबिंदु बनाये ।
राजत नयन मंजु अंजनजुत, खंजन कंज मीन मद नाये ॥
लटकन चारु भ्रुकुटिया टेढ़ी मेढ़ी सुभग सुदेस सुभाये ।
किलकि किलकि नाचत चुटकी सुनि, डरपति जननि पानि छुटकाये ॥
गिरि घुटुरुवनि टेकि उठि अनुजनि तोतरि बोलत पूप देखाये ।
बालकेलि अवलोकि मातु सब मुदित मगन आनँद न अमाये ॥
देखत नभ घन ओट चरित मुनि जोग समाधि बिरति बिसराये ।
तुलसिदास जे रसिक न यहि रस ते नर जड़ जीवत जग जाये ॥

—गीतावली

कल्याण

याद रक्खो—तुम्हारे जीवनका एक-एक क्षण अमूल्य है और भगवत्-प्राप्तिका सुअवसर-रूप है । मरते समय भगवान्‌में मन रहेगा तो भगवान्‌की प्राप्ति होगी और नरकमें मन रहेगा तो नरककी । भोग-लालसा-युक्त भोग-स्मृति नाना प्रकारकी चिन्ताओं और दुःखोंसे भरी है, अतएव नरकरूप ही है । इसलिये तुम निरन्तर भगवान्‌का स्मरण करनेका प्रयत्न करो और भोगका विस्मरण करो, पता नहीं किस क्षण तुम्हारी मृत्यु आ जायगी । मृत्युके समय तुम भगवान्‌का स्मरण करते होओगे तो निस्संदेह भगवान्‌की ही प्राप्ति होगी—तुम्हारा जीवन सफल हो जायगा ।

याद रक्खो—मनुष्य-जीवनकी विशेषता भगवच्चिन्तन-परायण रहकर भगवान्‌की सेवा करनेमें ही है । भोगचिन्तन तो पशु-पक्षी सभी करते हैं । जो मनुष्य भगवच्चिन्तन-परायण न रहकर भोगचिन्तन करता है, उसका सर्वनाश होता है—पतन होता है और वह मनुष्य मानव-शरीरधारी होनेपर भी वास्तवमें पशुसे भी निकृष्ट है; क्योंकि भोगपरायण मनुष्यकी मृत्यु उसे बार-बार आसुरीयोनि एवं नरकोंकी प्राप्ति करानेवाली होती है; वह जिस पुण्यकी पूँजीको लेकर मानव-शरीरकी प्राप्तिका अधिकारी हुआ था, उस पुण्यपुञ्जको समाप्त कर वह अपने दुष्कर्मोंके फलस्वरूप अधोगतिमें जा रहा है ।

याद रक्खो—पशु-पक्षी मनुष्येतर जीवोंकी मृत्यु होती है—प्रगतिके लिये । वे पशु-पक्षी अपने जीवनमें अपने पूर्वकृत असत्कर्मोंका फल भोगकर उनसे मुक्त होकर आगे बढ़ते हैं, वहाँ मनुष्य-शरीरधारी जीव नये-नये असत्कर्म करके उनका संग्रह करके ले जाता है पुनः नारकी योनि प्राप्त करके दुःख भोगनेके लिये । अतएव वह अवनतिकी ओर जाता है ।

याद रक्खो—मनुष्य बने हो तो मनुष्यताकी रक्षा करो, मनुष्यत्वका संवर्धन करो और मानव-जीवनके परम लक्ष्य परमात्माको प्राप्त करनेके लिये परमात्माकी सेवाकी भावनासे इन्द्रिय-मनको नियन्त्रणमें रखकर उनके द्वारा वे ही कर्म करो, जिनसे तुम्हारा मानव-जीवन सुरक्षित रहे और सफल हो ।

याद रक्खो—तुम इन्द्रियोंके तथा मनके दास नहीं हो । तुम हो निर्विकार निरीह सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वर इन सबके स्वामी । ये सब तुम्हें मिले हैं—तुम्हारी—तुम्हारे आत्मस्वरूप भगवान्‌की सेवाके लिये । तुम्हारे स्वामी बनकर तुमसे मनमानी सेवा लेनेके लिये नहीं । अतएव अपने स्वरूपको समझकर तुम अपने मनको तथा इन्द्रियोंको उनके मनमाने कार्योंमें न लगने देकर आत्मकल्याणके कार्यमें—भगवान्‌की सेवामें लगाओ । भगवान्‌में लगे हुए मन-इन्द्रिय तुम्हारे कल्याणके साधन बनेंगे और उच्छृङ्खल भोगोंमें लगे हुए तुम्हारे पतन तथा सर्वनाशके ।

याद रक्खो—मानवजीवन क्षणभंगुर है, प्रतिक्षण मृत्युके प्रवाहमें तुम्हारा यह जीवन बहा जा रहा है । कब समाप्त हो जायगा, पता नहीं । इसलिये बड़ी सावधानीसे जीवनके एक-एक पलको भगवान्‌की सेवामें लगाओ । जरा भी प्रमादमें मत लगने दो ।

याद रक्खो—तुम्हारा भविष्य तुम्हारे ही हाथोंमें है । अपने कल्याणके तुम स्वयं ही साधन हो । बुरे सङ्गसे बचे रहकर नित्य-निरन्तर सत्सङ्ग करो, सत्को बटोरो, सत्का चिन्तन करो, सत्कर्म करो और सत्को ही प्राप्त हो जाओ । वास्तवमें 'सत्' भगवान् ही हैं । भगवान्‌के सिवा सभी कुछ असत् है ।

'शिव'

मानव-जीवन कैसा हो ?

[अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शङ्कराचार्य श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराजका सदुपदेश]

(प्रेषक—श्रीगोकुलचन्द गोयल एम्० ए०, साहित्यरत्न)

जिस प्रकार हम पुराना वस्त्र त्यागकर नवीन वस्त्र धारण करनेमें प्रसन्नताका अनुभव करते हैं, उसी प्रकार वह आत्मा भी नवीन शरीर धारणकर प्रसन्न होता है। किंतु मृत्युके समय मनुष्य रोता क्यों है ? उसे भय और कष्ट क्यों सताते हैं ? इसका कारण मृत्युके समय जीवनभर किये पापोंका चित्र खिंच जाना है। मनुष्य चिन्ता करता है कि अब क्या गति होगी ? परंतु घबराना नहीं चाहिये। धैर्यपूर्वक अन्तिम समयपर भी स्मरणसे अजामिलकी भाँति प्रभु-शरण प्राप्त हो सकती है। अतः रामनामका जप करना चाहिये।

आज विज्ञानका युग है। प्रत्येक बातमें 'क्यों' ऐसे प्रश्न जोड़े जाते हैं। रामनामसे क्या होगा, यह भी प्रश्न किया जाता है। परंतु स्वामी विवेकानन्दके शब्दोंमें प्रेमके कारण नहीं ढूँढ़े जाते। प्रेम तर्कसे परे है। उन्होंने भक्तियोगमें कहा है—The Love has no bargaining. The Love has no fear. The Love has the highest ideal. दैवीशक्तिका उपासक भयसे दूर रहता है। होली-दहन-प्रसङ्गमें भक्त प्रह्लाद रामनामके प्रभावसे निर्भय रहा। लोग शङ्का करते हैं कि अग्निसे वह जला कैसे नहीं ? परंतु गर्भमें शिशु माँके पेटकी जठराग्निमें भी सकुशल रहता ही है।

मृत्यु अवश्यम्भावी है। भगवान्‌की शरणमें रहनेवाला निर्भय रहता है और जीवनके अन्तिम क्षणतक क्रियाशील रहता है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष (पुरुषार्थ-चतुष्टय) मनुष्य-जीवनकी सफलताके आधार हैं। गार्हस्थ्यमें अर्थ एवं काम आवश्यक हैं, किंतु इनकी सीमाएँ हैं। न्यायपूर्वक धनार्जन शास्त्रसम्मत है। किंतु धर्मात्मा धनवान् न होकर अपनेको सर्वथा संतुष्ट करनेकी सामर्थ्य रखता है। पहले, राजाओंके कोषका धन उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं होता था। आज मनुष्य धनके पीछे स्वाभिमान एवं चरित्रशून्य होकर पागल-सा हुआ फिरता है। दुर्वचन सुनकर भी पैसा चाहता है।

आज मनुष्य धर्म-कर्म भुलाता जा रहा है। बिना नित्यकर्म, संध्या-भजन लोग पैसोंकी कमाईपर चले जाते हैं। ऐसे पैसेको लात मारनी चाहिये। परंतु आज मनुष्य अज्ञानी होता जा रहा है। इसीलिये प्रतिदिन मुकदमा, दवा आदिमें उसे सब कमाई खोनी पड़ती है। न्यायपूर्वक धनार्जन कर उसे उचित कार्योंमें व्यय करना चाहिये।

मनुष्य धर्मसे मुँह मोड़ता है। सम्पन्न होकर भी दान नहीं देता। धनी व्यक्तिके द्वारपरसे भी गरीब भिक्षुक लौट जाते हैं। किंतु मानो भिक्षुक धनी व्यक्तिको प्रत्यक्ष उपदेश देता है कि दान न देनेसे ही उसकी यह दशा हुई है। अतः धर्म मानव-जीवनका मुख्य अङ्ग बनना चाहिये। धार्मिक प्रवृत्तिसे मनुष्यको सच्चा आत्मिक सुख एवं परम संतोष प्राप्त होता है। सुकर्म करनेवालेका मस्तक गौरवान्वित रहता है।

काम सृष्टिका मूल है। ऋतुदान आवश्यक है। गृहस्थके लिये धर्मयुक्त संतान भी आवश्यक है। भगवान् स्वयं सबसे बड़े गृहस्थ हैं। मनुष्यके तो दो-चार संतानें होती हैं, भगवान्‌के ८४ लाख योनियोंमें असंख्य संतान हैं। परंतु स्वपत्नीके अतिरिक्त सभीको माँ, बहिन, पुत्री मानना चाहिये। कहा भी है—

'मातृवत् परदारेषु ………।'

भगवान् राम चौदह वर्षके लिये वनमें गये। सीता साथ गयीं, परंतु जैसे गये वैसे ही लौट आये। आज युवक विदेश जाते हैं और वहाँसे केवल पत्नी (Lady) ही नहीं, बच्चा (Baby) भी साथ लाते हैं। अतः मनुष्यको मर्यादामें रहकर ही जीवनके इस अङ्गको व्यवहारमें लाना चाहिये।

पाण्डवोंके हिमालय-प्रयाणके समय कुत्ता साथ गया था। एक-एक करके सब पाण्डव गिर गये। क्यों? द्रौपदी क्यों गिरी? वह अर्जुनको सब भाइयोंकी अपेक्षा अधिक प्यार करती थी। सहदेव क्यों गिरे? बुद्धिका अभिमान था उन्हें। नकुलको रूपका तथा अर्जुनको शक्तिका अभिमान था। भीमने जब युधिष्ठिरसे स्व गिरते समय कारण पूछा तो धर्मराजने कहा—'तुम खा अधिक थे'। अब केवल कुत्ता और युधिष्ठिर रह गये। इन्द्र आये और युधिष्ठिरको रथपर चढ़ाने लो, प युधिष्ठिरने कहा—'हम तो कुत्तेको साथ लेकर जायँगे।' अपने साथ आये कुत्तेके प्रति भी युधिष्ठिर कितने दयालु थे। कुत्ता और कोई नहीं, स्वयं धर्मराज थे। युधिष्ठिरकी धर्मनिष्ठासे प्रसन्न हो वे अपने असली रूपमें प्रकट हो गये और महाराज युधिष्ठिर स्वर्गमें गये।

वेद-शास्त्रोंके निर्देशानुसार विद्वानोंद्वारा निर्दिष्ट मार्गपर ही चलना मनुष्यमात्रका परम कर्तव्य है।

* * *

ज्ञानका स्वरूप

(लेखक—श्रद्धेय स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज)

[गताङ्क पृष्ठ १२६४ से आगे]

इस विषयमें श्रुति भगवती कहती है कि अन्तःकरणको शुद्ध किये बिना केवल बाँचनेसे या शास्त्राभ्याससे आत्मज्ञान नहीं होता। इस विषयको कठोपनिषद्का यह मन्त्र कहता है—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥
(२।१।२४)

जबतक विषयोंसे युक्त दुर्गुण तथा दुराचारका त्याग नहीं किया तथा जबतक चित्तका विषयोंमें भटकना बंद नहीं होता और जबतक इन्द्रियोंका निरोध नहीं किया तथा जबतक मनका संकल्प बंद नहीं हुआ, तबतक बहुत शास्त्राभ्याससे अथवा बहुत श्रवण या तर्कसे आत्मज्ञान नहीं होता। श्रुतिके कथनका तात्पर्य यह है कि ज्ञानकी प्राप्तिके लिये अन्तःकरणको वासना-शून्य करना चाहिये; क्योंकि जबतक एक भी भोगवासना अन्तःकरणमें पड़ी रहेगी, तबतक ज्ञान स्थिर न हो सकेगा।

गीतामें अधिकारकी आवश्यकता बतलाते हुए श्रीकृष्ण भगवान्ने अर्जुनसे कहा है कि 'पहले ऐसी योग्यता प्राप्त कर लो, इसके बाद मैं तुझको ज्ञानका उपदेश करूँगा।'

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥
(गीता ७।१)

'मुझमें मनको जोड़कर मेरा आश्रय लेकर रहो। फिर मेरा स्वरूप जाननेके लिये तुझको क्या करना पड़ेगा, मैं तुझे कहूँगा।' पहले तो 'मय्यासक्तमनाः' होनेको कहते हैं। अर्थात् जगत्के भोगपदार्थमेंसे आसक्ति हटाकर मुझमें मनको जोड़ दो। दूसरी है 'योगं युञ्जन्'—किसी भी योगके द्वारा अन्तःकरणको शुद्ध कर लो। तीसरी है 'मदाश्रयः' हो जाओ। मेरे सिवा दूसरे किसीका आश्रय न रक्खो। इसमें—

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'

अर्थात् सब धर्मोंको छोड़कर तुम मेरी शरणमें आ जा (गीता १८।६६) का भाव है। इतनी योग्यता प्राप्त करनेके बाद अर्जुन! तुम संशयरहित होकर पूर्णरूपसे जान सकोगे। जो ज्ञान संशयरहित होता है, वही 'ज्ञान' कहलाने योग्य है। संशययुक्त ज्ञान तो केवल कथनमात्र है। गिरा कहते हैं

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥
(गीता ७ । २)

'अब मैं ज्ञानके साथ सम्पूर्ण विज्ञान कहता हूँ, जिसको ज्ञान लेनेपर कुछ जानना शेष नहीं रहता ।'

इस श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि अब मैं तुमको ज्ञानका स्वरूप समझाता हूँ, जिसके जाननेके बाद दूसरा कुछ जाननेके लिये बच नहीं रहता । यह ज्ञान केवल पाँच श्लोकोंमें समझाया गया है । उनके आगेके तेईस श्लोक इन पाँच श्लोकोंके विस्तार हैं । यहाँ भगवान्‌ने भी यह कहा है कि ज्ञानके लिये बहुत पोथी बाँचना जरूरी नहीं है, बल्कि योग्यता प्राप्त करनेकी आवश्यकता है ।

अब लौकिक क्षेत्रका एक उदाहरण लीजिये । वैद्यक शास्त्रमें कायाकल्पका प्रयोग लिखा है । यह प्रयोग करनेके पहले पञ्चकर्मसे शरीरको शुद्ध करना पड़ता है । इस प्रयोगमें कठिनसे कठिन यदि कोई वस्तु है तो वह है—पञ्चकर्मसे शरीरको शुद्ध करना । इसके करनेमें महीना, सवा महीना लग जाता है और रोगी हिम्मत हार जाता है । परंतु यदि पञ्चकर्मसे शरीरकी शुद्धि ठीक तौरपर न हो तो ओषधि लाभ न करे । यही नहीं, कभी-कभी तो अशुद्धि रह जानेसे शरीरमें विकार उत्पन्न हो जाता है । अतएव चाहे कष्ट कितना भी हो, शरीर-शुद्धि तो कर ही लेनी चाहिये ।

इसी प्रकार ज्ञानरूपी महारसायन लेनेके पहले अन्तःकरणको शुद्ध करना चाहिये । ऐसा करनेमें परिश्रम बहुत होता है और साधक लाचार हो जाता है, परंतु हिम्मत रखकर चित्त-शुद्धि तो करनी ही चाहिये । चित्त शुद्ध न हो और ऊपरसे ज्ञान उँड़ेला जाय तो ज्ञान स्थिर नहीं रहेगा । इतना ही नहीं, कभी-कभी वह विकृत हो जायगा । आजकलके हमें विद्वानोंमें तथा ज्ञानियोंमें स्वेच्छाचार देखनेमें आता है । इसका कारण यही है कि अन्तःकरण शुद्ध करनेके पहले पढ़ना शुरु हो जाता है और जानकारीको ही ज्ञान समझकर अपने-आपको ज्ञानी समझकर 'को विधिः को निषेधः' (ज्ञानीके लिये विधि क्या और निषेध क्या ?)—इसका अर्थ बिना समझे अपनेको विधि-निषेधसे परे मानकर स्वेच्छाचार करते हैं ।

अब यहाँ 'जानकारीको ही ज्ञान मानकर'—इस वाक्यांशका अर्थ समझना अप्रासङ्गिक न होगा । माताने कहा कि गुड़ मीठा होता है । पुत्रने माना कि गुड़ मीठा होता है । यह हुई जानकारी, इसका उपयोग दूसरोंको कहनेमें हो सकता है, परंतु जब माता गुड़की भेली हाथमें देती है और पुत्र उसे खाता है, उसके स्वादको अनुभव करता है, तब वह अनुभवयुक्त ज्ञान या विज्ञान कहलाता है ।

इसी प्रकार पञ्चदशीमें हम 'प्रत्यक् तत्त्वविवेक' प्रकरण पढ़ते हैं । वहाँ 'श्रवण'की व्याख्या देखकर, 'मनन'की व्याख्या समझकर 'निदिध्यासन'से लेकर 'समाधि-दशा' तकके श्लोकोंको पढ़कर हम कण्ठस्थ कर लेते हैं । अब इसको हम ज्ञान कहें तो ठीक नहीं । यह तो जानकारी मात्र है । जो बात पुस्तकमें थी, वह बुद्धिमें बैठ गयी । परंतु जब एकाध महावाक्यको लेकर पञ्चदशीके उपदेशानुसार श्रवण, मनन और निदिध्यासन करें और उसका अनुभव हो तब वह ज्ञान कहलायेगा । ऐसा ज्ञान होनेपर साधक मुक्त हो जाता है ।

श्रीशंकराचार्यने कहा है कि **'माण्डूक्यमेकलं मुमुक्षूणां विमुक्तये'** । अर्थात् मुमुक्षु पुरुषोंकी मुक्तिके लिये एक माण्डूक्य उपनिषद् पर्याप्त है । 'मुमुक्षु' बाँचे तो उसकी अवश्य मुक्ति हो जाय । इसमें किसी बातकी शङ्का नहीं है । परंतु यहाँ तो बाँचनेवालेमें मुमुक्षुता आदि कोई अधिकार ही नहीं होता । केवल लोग कुतूहल-वृत्तिको पोषण करनेके लिये बाँचते हैं, तब फिर उनको एक उपनिषद्‌से क्या तृप्ति होगी ? पश्चात् दस उपनिषद् बाँचते हैं । उनसे तृप्तिका अनुभव न होनेपर अट्ठाईस उपनिषद् बाँचते हैं और फिर बाँचनेकी वासना प्रबल होनेपर जो मिलता है उसे ही बाँचने लगते हैं ।

इस प्रकारके वाचनका व्यसन दूर करनेके लिये आज हम वाचनके द्वारा मिलनेवाली जानकारी या समाचार, विद्वत्ता या पाण्डित्यका स्वरूप क्या है, सच्चे ज्ञानका स्वरूप क्या है तथा इन दोनोंके बीच क्या अन्तर है, इसका तुलनात्मक विचार करेंगे ।

यथार्थज्ञान या तत्त्वज्ञान और विद्वता या पाण्डित्यके बीच बड़ा अन्तर है, यह बात विशेषरूपसे ध्यान देने योग्य है, अतएव ज्ञानी और विद्वान्‌के बीच भी बड़ा भेद रहता है । एक मनुष्य षड्दर्शनका अभ्यासी है, इसलिये वह ज्ञानी भी है, यह नहीं कहा जा सकता । इसी प्रकार एक मनुष्य ज्ञानी है, पर वह विद्वान् होगा ही—ऐसा नहीं कह सकते । दोनोंका सुयोग विरल ही होता है । विद्वत्ताका पार नहीं है, आजतक विद्याका पार कोई नहीं पा सका, न भविष्यमें पार

कर सकेगा। इस पृथ्वीपरके सब सागरोंको इकट्ठा करें तो भी वे विद्याके सागरके बराबर नहीं होंगे। **'अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रम्'** अर्थात् शास्त्र या विद्याको पढ़कर कोई पार नहीं पा सकता।

इस बातको श्रीशंकराचार्य इस प्रकार कहते हैं—

शब्दजालं महारण्यं चित्तभ्रमणकारकम्।
अतः प्रयत्नाज्ज्ञातव्यं तत्त्वज्ञैस्तत्त्वमात्मनः॥

अर्थात् शब्दशास्त्र अथवा पुस्तकोंका वाचन एक घोर अरण्यमें पैठनेके समान है। जिस प्रकार अरण्यमें भूल जानेपर चित्त भ्रमित हो जाता है, उसी प्रकार वाचनरूपी अरण्यसे कोई बाहर नहीं निकल सकता, इससे चित्त भ्रमित हो जाता है। अतएव श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि बुद्धिमान् मनुष्यको शब्दजालमें न फँसकर अपने साधनके अनुकूल जितना हो उतना ही बाँचना चाहिये और जैसे हो वैसे ही आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिये, इसीमें मानवजीवनकी सार्थकता है।

अतः जहाँ विद्वत्ताका अन्त नहीं है, वहाँ ज्ञान बस बिल्कुल जरा-सा है, बहुत ही थोड़ा है। संतवाणीमें कहें तो कह सकते हैं, **'तलभर ताळुं अने रज भर कुंची' (तिलभरका ताला, रजभरकी कुंजी)**। धीर पुरुषके शब्दोंमें कहें तो, 'तरणा ओथे डुंगर रे, डुंगर कोई देखे नहिं'——ऐसा कह सकते हैं। विद्वत्ताकी उपमा सात समुद्रसे दें तो ज्ञान एक चम्मचमें आ जा सकता है। 'अहं ब्रह्मास्मि'—'मैं ब्रह्म हूँ'—यह ज्ञान हुआ। सहज रीतिसे कहें तो, 'मैं आत्मा हूँ'—यह ज्ञान है। खूब स्पष्ट करके कहें तो, 'मैं यह शरीर नहीं हूँ, बल्कि इसका नियमन करनेवाला आत्मा हूँ'—यह है ज्ञान। इससे अधिक ब्योरेवार कहें तो 'मैं शरीर नहीं, मन नहीं, बुद्धि नहीं, इन्द्रियाँ नहीं तथा इन सबका समूह नहीं; परंतु मैं आत्मा हूँ और शरीर, मन, बुद्धि आदि जड पदार्थोंका नियमन करनेवाला हूँ।' ऐसा कह सकते हैं।

पञ्चदशीमें श्रीविद्यारण्यने यह बात इस प्रकार कही है—

मुक्तिस्तु ब्रह्मतत्त्वस्य ज्ञानादेव न चान्यथा।
स्वप्रबोधं विना नैव स्वस्वप्नो हीयते यथा॥

'मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ'—ऐसा यथार्थ ज्ञान होनेका नाम मोक्ष है। इसके सिवा मुक्तिका दूसरा कोई स्वरूप नहीं। दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि स्वप्नका नाश करनेके लिये—स्वप्नका अन्त लानेके लिये निद्रासे जागनेके सिवा अन्य कोई उपाय नहीं। इसी प्रकार मुक्तिका दूसरा कोई स्वरूप नहीं। ज्ञान ही मुक्ति है।

जहाँ ज्ञानसे मुक्ति होती है, अविचल सुख मिलता है, वहाँ विद्वत्ता भुक्ति प्रदान करती है यानी जगत्में प्रतिष्ठा बढ़ाती है, यश, धन, मकान, ऐश्वर्य आदि शरीरके सुखके साधन प्रदान करती है, अर्थात् मायिक पदार्थोंको प्रदान करती है, मोक्षसुख नहीं प्रदान करती। बल्कि बहुत पुस्तकें बाँचनेसे और कण्ठस्थ करनेसे शास्त्र-वासना बढ़ती है और भी कुछ हूँ'—इस प्रकारका अनर्थकारी अहंकार खड़ा हो जाता है।

इस भावका वर्णन श्रीशंकराचार्यने इस प्रकार किया है—

वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम्।
वैदुष्यं विदुषां तद्वद् भुक्तये न तु मुक्तये॥

अर्थात् वाणीका जिसमें अस्खलित प्रवाह चलता है, ऐसे भाषणसे, अथवा शास्त्रोंके पढ़ने-पढ़ानेकी कुशलतासे, तथा विद्वान् पुरुषकी विद्वत्तासे मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती, केवल संसारके मायिक भोग प्राप्त हो सकते हैं।

विद्वत्ता और ज्ञानके बीच एक दूसरा महान् अन्तर यह है कि विद्वत्ता श्रमसाध्य है, प्रयत्न करके पुरुष उसे प्राप्त कर सकता है। सतत अभ्यास और परिश्रमके फलस्वरूप वह प्राप्त हो सकती है। परंतु ज्ञान कृपासाध्य है, जब ईश्वरकी और गुरुकी कृपा होती है तभी विशुद्ध अन्तःकरणमें ज्ञान स्वयं स्फुरित होता है। ज्ञान स्वयंभू है और विद्वत्ताकी परिश्रमके द्वारा प्रतिष्ठा करनी पड़ती है।

भगवती श्रुति भी कहती है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥
(कठ० १। २। २३)

प्रथम दो चरणोंमें कहते हैं कि आत्मज्ञान या तत्त्वज्ञान पुरुषार्थ-साध्य नहीं है और अन्तिम दो चरणोंमें कहते हैं कि वह कृपा-साध्य है। मन्त्रका भाव यह है कि आत्माकी प्राप्ति यानी अपने स्वरूपका ज्ञान बहुत शास्त्राभ्याससे नहीं होता। बल्कि केवल सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा ही होता है। उसी प्रकार बहुत श्रवणसे भी नहीं होता, अर्थात् पुरुषके प्रयत्नसे नहीं होता। तब ज्ञान होता है कैसे? इसका

उत्तर देते हुए कहते हैं कि जब साधक पूर्ण आत्मसमर्पण करता है और उसके ऊपर ईश्वरकी कृपा होती है, तब यह ज्ञान अपने-आप प्रकट होता है और ईश्वर अपना स्वरूप उसे यथार्थतः दिखाते हैं या समझाते हैं।

तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये किसी प्रबल पुरुषार्थकी या बहुत-सी पुस्तकोंके बाँचनेकी आवश्यकता नहीं। केवल अन्तःकरणको निर्मल करके दृष्टिको सम बनाना है।

श्रीशंकराचार्यजी कहते हैं—

देहात्मज्ञानवज्ज्ञानं देहात्मज्ञानबाधकम्।
आत्मन्येव भवेद्यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते॥

कैसी सरल बात है? कैसा अमोघ उपदेश है? इसका अनुभव करके, ऐसा ही करनेमें लग जाय तो ईश्वरकी कृपासे साक्षात्कार हो जायगा। साधन तो करनेकी वस्तु है, बाँचने, सुनने या चर्चा करनेकी वस्तु नहीं। करनेसे होता है। भोजनकी माला फेरनेसे पेट भरनेवाला नहीं तथा चले बिना कोई गन्तव्य स्थानमें नहीं पहुँच सकता। इसलिये अभ्यासमें लगना आवश्यक है। 'मैं प्रवीणराय हूँ'—यह ज्ञान कितना दृढ़ है? गहरी नींदमें हो और कोई जोरसे पुकारे 'प्रवीणराय!' तो तुम चट नींदसे जगकर हुंकारी देते हो। स्वप्नमें या नींदमें कभी भी 'मैं प्रवीणराय हूँ'—इस विषयमें तुम्हें कोई शङ्का नहीं हुई।

यह ज्ञान जैसा दृढ़ और संशयरहित है, ऐसा ही दृढ़ ज्ञान हो जाय कि 'मैं आत्मा हूँ, मैं यह शरीरादि नहीं हूँ, बल्कि इनका नियन्ता चेतन स्वरूप आत्मा हूँ'—तो फिर तुम उसी क्षणसे मुक्त हो जाओगे।

इस श्लोकका चौथा चरण है—**'स नेच्छन्नपि मुच्यते।'** अर्थात् 'पुरुषकी इच्छा न हो तो भी आत्मज्ञान होनेपर वह मुक्त हो जाता है।' इसका भाव यह है कि 'मैं आत्मा हूँ'—ऐसा यथार्थ ज्ञान होनेका नाम ही मुक्ति है। तत्त्वज्ञान और मुक्ति दो पृथक् पदार्थ नहीं हैं, जो ज्ञानके बाद मुक्तिके लिये अलग प्रयत्न करना पड़े। 'मैं देह हूँ और देहके सम्बन्धसे ये प्राणी-पदार्थ मेरे हैं'—इस प्रकारके विपरीत ज्ञान (विपर्यय) का नाम बन्धन है और 'मैं देह नहीं, बल्कि इसका नियन्ता चेतनस्वरूप आत्मा हूँ'—ऐसा यथार्थ ज्ञान (तत्त्वज्ञान) ही बन्धनसे निवृत्ति अर्थात् मुक्ति है।

यह बात अष्टावक्र मुनिने इस प्रकार कही है—

यदि देहं पृथक् कृत्वा चिति विश्राम्य तिष्ठसि।
अधुनैव सुखी शान्तो बन्धमुक्तो भविष्यसि॥

श्रीअष्टावक्र मुनि राजा जनकसे कहते हैं कि हे राजन्! यदि तुम 'मैं देह नहीं हूँ'—ऐसा निश्चय करके तीनों देहोंसे पृथक् हो जाओ और 'मैं आत्मा हूँ'—ऐसा दृढ़ निश्चय करके अपने आत्मस्वरूपमें स्थिर हो जाओ तो इसी क्षण तुम जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त होकर सुखी और शान्त हो जाओगे।

बस, ज्ञानका स्वरूप इतना ही है। ज्ञानकी प्राप्तिके लिये आवश्यक है केवल अधिकार-सम्पन्न होनेकी, बहुत ग्रन्थ बाँचनेकी या अभ्यास करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

इस प्रसङ्गको श्रीशंकराचार्यने बड़ी सुन्दरतासे स्पष्ट किया है, उसका यहाँ उल्लेख कर लेख समाप्त किया जाता है।

अविज्ञाते परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला।
विज्ञाते तु परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला॥

परतत्त्वके ज्ञान बिना, है शास्त्राभ्यास अनर्थक।
परतत्त्वका ज्ञान हुआ, फिर शास्त्राभ्यास अनर्थक॥

तात्पर्य यह है कि शास्त्राभ्यास तभीतक आवश्यक है, जबतक तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है। उससे यदि तत्त्वज्ञानका उदय नहीं होता तो उस शास्त्राभ्यासको निरर्थक समझो। शास्त्राभ्यासके बिना भी यदि आत्मज्ञान हो गया तो फिर शास्त्राभ्यासकी आवश्यकता नहीं रहती।

◆

मिथ्या ज्ञानी

नाम-रूपका बना हुआ है जिनके अंतरमें अध्यास।
जिनके मनमें वर्तमान है भोगासक्ति, भोग-अभिलाष॥
वाचिक ज्ञानयुक्त जो मानव करते मनमाना आचार।
विधि-निषेधसे परे मान, वे हैं अज्ञानी मिथ्याचार॥

भगवन्नामजपका प्रभाव

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

इस मनुष्य-जन्मकी सार्थकता भगवान्‌की प्राप्तिमें ही है। भगवान्‌में प्रेम होनेसे भगवान्‌की प्राप्ति होती है—यह बात गीता, रामायण, भागवत आदि ग्रन्थोंमें जगह-जगह बतलायी गयी है। गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
(११।५४)

'हे अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा तो इस प्रकार रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखा जा सकता हूँ, तत्त्वसे जाना जा सकता हूँ तथा प्रवेश अर्थात् एकीभावसे प्राप्त भी किया जा सकता हूँ।'

श्रीरामचरितमानसमें श्रीशिवजीके वचन हैं—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥
(बाल० १८४।३)

श्रीमद्भागवतमें श्रीकपिलदेवजी कहते हैं—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यद् ब्रह्मदर्शनम्॥
(३।३२।२३)

'भगवान् वासुदेवके प्रति किया हुआ भक्तियोग तुरंत ही संसारसे वैराग्य और ब्रह्मसाक्षात्काररूप यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति करा देता है।'

यही नहीं, स्वयं भगवान्‌ने भी भक्त उद्धवसे कहा है—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥
भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्॥
(श्रीमद्भा० ११।१४।२०-२१)

'उद्धव! योग-साधन, ज्ञान-विज्ञान, धर्मानुष्ठान, जप-पाठ और तप-त्याग मुझे प्राप्त करनेमें उतने समर्थ नहीं हैं, जितनी दिनोंदिन बढ़नेवाली अनन्य प्रेममयी मेरी भक्ति। मैं सत्पुरुषोंका प्रियतम आत्मा हूँ; मैं एकमात्र अनन्य श्रद्धा-भक्तिसे ही प्राप्त होता हूँ। मेरी अनन्य भक्ति उन लोगोंको भी पवित्र कर देती है जो जन्मसे ही चाण्डाल हैं।'

इस प्रकार प्रेमसे ही भगवान्‌की प्राप्ति बतलायी गयी है। वह प्रेम प्राप्त होता है सत्सङ्गसे।

बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग॥
(रा० च० मा० उत्तर० ६१)

तथा जैसे विषयोंका चिन्तन करनेसे विषयोंमें प्रेम हो जाता है, वैसे ही भगवान्‌का चिन्तन करनेसे भगवान्‌में प्रेम हो जाता है। भगवान्‌में अनन्य और विशुद्ध प्रेम हो जानेपर भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन और भगवान्‌के नामका जप अपने-आप ही होता रहता है। फिर वह भगवान्‌को भूल ही नहीं सकता। गोपियोंका भगवान्‌में अनन्य प्रेम था; अतः वे भगवान्‌को कभी नहीं भूलती थीं। श्रीमद्भागवतमें बतलाया गया है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥
(१०।४४।१५)

'जो गौओंका दूध दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, आँगन लीपते समय, बालकोंको पालनेमें झुलाते समय, रोते हुए बच्चोंको लोरी देते समय, घरोंमें जल छिड़कते समय और झाड़ू देने आदि कर्मोंको करते समय प्रेमपूर्ण चित्तसे आँखोंमें आँसू भरकर गद्गद वाणीसे श्रीकृष्णके नाम और गुणोंका गान किया करती हैं—इस प्रकार सदा श्रीकृष्णमें ही चित्त लगाये रखनेवाली वे व्रजवासिनी गोपियाँ धन्य हैं।'

जिस प्रकार भगवच्चिन्तनसे भगवत्प्रेम प्राप्त होता है वैसे ही केवल भगवन्नामजपसे भी भगवान्‌में प्रेम हो जाता है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदयँ सनेह बिसेषें॥
(राम० च० मा० बाल० २०। ३)

श्रीतुलसीदासजीने तो भगवान्‌से भी बढ़कर भगवान्‌के नामकी महिमा गायी है—

राम भगत हित नर तनु धारी। सहि संकट किए साधु सुखारी॥
नामु सप्रेम जपत अनयासा। भगत होहिं मुद मंगल बासा॥
राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥
भंजेउ राम आपु भवचापू। भवभय भंजन नाम प्रतापू॥
दंडक बन प्रभु कीन्ह सुहावन। जन मन अमित नाम किए पावन॥
निसिचर निकर दले रघुनंदन। नामु सकल कलि कलुष निकंदन॥
सबरी गीध सुसेवकन्हि सुगति दीन्हि रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल बेद बिदित गुन गाथ॥
(रा० च० मा० बाल० २३। १—४; २४)

श्रीतुलसीदासजीने अपने ग्रन्थोंमें 'राम' नामकी विशेष महिमा कही है, इसी प्रकार वेदोंमें और योगदर्शनमें 'ॐ' की, भागवत आदिमें 'कृष्ण' की, शिवपुराणमें 'शिव' की, विष्णुपुराणमें 'विष्णु', 'हरि' आदिकी, गीतामें 'ॐ', 'तत्', 'सत्' नामोंकी,* कुरानशरीफमें 'अल्लाह', 'खुदा' की, बाइबिलमें 'गॉड' की, जैनग्रन्थोंमें 'अर्हन्त' और 'ॐ' की, आर्यसमाजके ग्रन्थोंमें 'ॐ' की विशेष महिमा कही गयी है। इसी तरह अन्यान्य सभी सम्प्रदायोंके महानुभावोंने अपने-अपने इष्टदेवके नामकी विशेष महिमा कही है। अतः समझना चाहिये कि राम, कृष्ण, गोविन्द, वासुदेव, हरि, विष्णु, शिव, ॐ, तत्, सत्, अल्लाह, खुदा, गॉड आदि परमात्माके जिस नाममें जिस मनुष्यकी रुचि, श्रद्धा, विश्वास हो, उसके लिये वही सबसे बढ़कर है। इसलिये उसको उसी नामका श्रद्धा, प्रेम और निष्काम भावसे तत्परतापूर्वक जप करना उचित है।

वाणीके द्वारा जोरसे उच्चारण करके जो जप किया जाता है उसे 'वाचिक' जप कहते हैं, उससे वह उपांशु जप श्रेष्ठ है जो होठ और जीभसे दूसरोंको सुनायी न दे, ऐसे मन्दस्वरमें धीरे-धीरे उच्चारण करके किया जाता है; किंतु उससे भी बढ़कर मानसिक जप है।

श्रीमनुजीने तो यज्ञसे भी नामजपकी महिमा बहुत अधिक बतायी है—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥
(मनु० २। ८५)

'विधियज्ञ (अग्निहोत्र आदि) की अपेक्षा उच्चारण करके किया हुआ जपयज्ञ दसगुना श्रेष्ठ है और उपांशु जप सौगुना श्रेष्ठ है तथा मानस जप हजारगुना श्रेष्ठ है।'

गीतामें भगवान्‌ने 'यज्ञ' के नामसे बहुत-से साधन बताये हैं, उन साधनोंमें जपयज्ञको अपना स्वरूप यानी साध्य बतलाया है—'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' (गीता १०। २५ का तीसरा चरण) 'सब प्रकारके यज्ञोंमें जपयज्ञ मैं हूँ।'

जो नामजप मनसे—मन लगाकर किया जाता है वह मानसिक जप है। मानसिक जपके कई भेद हैं। जैसे—

(१) जिसमें मनुष्यका विशेष प्रेम होता है वह वस्तु बिना याद किये भी अपने-आप याद आती है और उसको वह भुलानेपर भी भूल नहीं सकता; इसी प्रकार बलात् भगवान्‌के नामकी स्मृति निरन्तर होना—यह सबसे बढ़कर मानसिक जप है।

---

* ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥
(गीता १७। २३)

'ॐ, तत्, सत्—ऐसे यह तीन प्रकारका सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका नाम कहा गया है, उसीसे सृष्टिके आदिकालमें ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादि रचे गये।'

(२) जिस प्रकार मनमें भगवान्‌के स्वरूप, गुण, प्रभाव, चरित्र, लीला आदिकी स्मृति होती है, वैसे ही भगवन्नामकी मनमें बार-बार स्मृति होना——यह भी मानसिक जप है ।

(३) दीवालपर लिखे हुए अक्षरोंकी भाँति भगवान्‌के ललाटपर भगवान्‌का नाम लिखा हुआ है ऐसा मानकर मनसे ही उसे बार-बार पढ़ना——यह भी मानसिक जप है ।

(४) हृदय, कण्ठ, भ्रुकुटी आदि स्थानोंमें नाड़ीकी चालके साथ नामजपकी भावना करनेसे उसके द्वारा नामजप होता हुआ प्रतीत होता है, उसका मनसे बार-बार अनुभव करना——यह भी मानसिक जप है ।

(५) रात्रिमें सोनेके समय स्वाभाविक ही कानोंमें एक प्रकारका शब्द सुनायी देता रहता है, उसमें राम, शिव, ॐ आदि अल्पाक्षरोंके भगवन्नामकी भावना करनेसे वह नाम स्वतः ही सुनायी देता है । इसका दृढ़ अभ्यास हो जानेपर चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते भी मनसे उस नामका सुनायी देना——यह भी एक प्रकारका मानसिक जप ही है ।

इसके सिवा, जीभ और होठ बंद करके श्वास-प्रश्वासके द्वारा (श्वासके आने-जानेके साथ) जो नामजपका अभ्यास किया जाता है, उसमें अभ्यास हो जानेपर नामका उच्चारण कण्ठसे स्वाभाविक होता रहता है । यह श्वासद्वारा होनेवाला जप उपांशुसे भी श्रेष्ठ है; क्योंकि यह मरणकालपर्यन्त वाणी और नाड़ीकी गति बंद होनेपर भी हो सकता है । किंतु यदि इसके साथ मनको लगा दिया जाय तब तो यह भी मानसिक जपकी गणनामें शामिल हो जाता है ।

भगवन्नामजपके साथ उस नामका अर्थ जो नामी——भगवान् हैं, उनका स्मरण रखनेसे वह जप बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण और कल्याणकारक हो जाता है । योगदर्शनमें बताया गया है——

तस्य वाचकः प्रणवः । (योग० १ । २७)

‘उस ईश्वरका वाचक (नाम) प्रणव (ॐकार) है ।’

तज्जपस्तदर्थभावनम् । (योग० १ । २८)

‘उस ॐकारका जप और उसके अर्थस्वरूप परमेश्वरका चिन्तन करना चाहिये ।’

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च । (योग० १ । २९)

‘उक्त साधनसे विघ्नोंका अभाव और परमात्माके स्वरूपकी भी प्राप्ति हो जाती है ।’

गीतामें भगवान् भी कहते हैं——

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥
(८ । १३)

‘जो पुरुष ‘ॐ’ इस एक अक्षररूप ब्रह्मको उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मुझ निर्गुण ब्रह्मका चिन्तन करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है ।’

किंतु नामजप यदि परम श्रद्धा-प्रेमपूर्वक किया जाय तो उसकी महिमा तो कोई गा ही नहीं सकता; क्योंकि श्रद्धा-प्रेम होनेसे जप निरन्तर तो अपने-आप ही होने लगता है । फिर यदि किसी भी प्रकारकी कामना न रखकर निःस्वार्थ-भावसे केवल कर्तव्य समझकर नामजप किया जाय तो उसके तुल्य तो कोई भी साधन नहीं है । इस प्रकार नाम-जप करनेवाले साधकको तो तुरंत भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है । उच्च कोटिका विशुद्ध प्रेम निष्कामभाव होनेपर ही होता है । इसीको अनन्य विशुद्ध परम प्रेम कहते हैं, जिसके प्राप्त होनेपर भगवत्साक्षात्कार होनेमें क्षणभरका भी विलम्ब नहीं हो सकता ।

किंतु याद रखना चाहिये कि उस सच्चे प्रेममें दिखाऊपन कभी नहीं रहता। सच्चा प्रेमी 'मैं प्रेमी हूँ' ऐसा कहता-कहलाता नहीं, बल्कि स्वयं वैसा बनता है। जो मनुष्य संसारमें 'मैं प्रेमी हूँ' ऐसा प्रचार करता है, वह सच्चा विशुद्ध प्रेमी नहीं है; क्योंकि मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा और कञ्चन-कामिनी, भोग-आरामका इच्छुक पुरुष ही लोकदिखाऊ प्रेम किया करता है। परंतु प्रेम न करनेसे तो ऐसा सकाम प्रेम करना भी अच्छा है; क्योंकि कभी आगे जाकर वही प्रेम सकामसे निष्काम हो सकता है। पर स्मरण रखना चाहिये कि निष्काम और अनन्य प्रेम होनेपर ही भगवान् अपना दर्शन देनेके लिये विशेष बाध्य होते हैं (गीता ११।५४)। यदि भगवान् निष्काम प्रेम न होनेपर भी अनन्य भक्तिसे दर्शन दे दें तो यह उनकी विशेष उदारता है।

श्रीरामचरितमानसमें भगवान् स्वयं निष्काम भजन करनेवाले भक्तकी विशेषता बतलाते हैं—

बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम॥

(अरण्य० १७)

जो नामोच्चारण अकेले या बहुत व्यक्ति मिलकर बाजेके साथ या बिना बाजेके उच्चस्वरसे सामूहिक रूपमें किया जाता है, उसे 'कीर्तन' कहते हैं। उस नाम-कीर्तनकी महिमा भी अपार है। किंतु उसमें भी प्रधानता श्रद्धा-प्रेमकी ही है। जितना ही अधिक श्रद्धा-प्रेम और निष्कामभाव होता है, उतना ही वह अधिक मूल्यवान् है। श्रीनारदजी, श्रीतुलसीदासजी, श्रीसूरदासजी, श्रीनरसिंह मेहता, श्रीगौराङ्ग महाप्रभु एवं मीराँबाई आदि बहुत-से भक्त कीर्तन-प्रेमी माने जाते हैं।

किंतु श्रीमद्भागवतमें तो यहाँतक बतलाया गया है—

अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत्।
संकीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः॥

(६।२।१८)

'जिस प्रकार अग्नि ईंधनको जला देता है उसी प्रकार पवित्रकीर्ति श्रीहरिके नामका संकीर्तन, जानकर किया जाय अथवा बिना जाने, पुरुषके सम्पूर्ण पापोंको भस्म कर डालता है।'

श्रीशुक्राचार्यजीने भगवान्से कहा है—

मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं देशकालार्हवस्तुतः।
सर्वं करोति निश्छिद्रं नामसंकीर्तनं तव॥

(श्रीमद्भा० ८।२३।१६)

'प्रभो! मन्त्रोंकी, अनुष्ठानपद्धतिकी, देश, काल, पात्र और वस्तुकी सारी भूलें आपके नाम-संकीर्तनसे सुधर जाती हैं। आपका नाम सारी त्रुटियोंको पूर्ण कर देता है।'

यही नहीं, भगवन्नामजपका बड़ा भारी प्रभाव है। नामजपके प्रभावसे तो स्वयं भगवान् ही उस जापकके वशमें हो जाते हैं—

सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥

(राम० च० मा० बाल० २५।३)

भक्त हनुमान्जीकी भगवान्के नाममें परम निष्ठा थी। अध्यात्मरामायणमें समुद्रोल्लङ्घनके समय वे कहते हैं—

प्राणप्रयाणसमये यस्य नाम सकृत् स्मरन्॥
नरस्तीर्त्वा भवाम्भोधिमपारं याति तत्पदम्।

(सुन्दर० १।४-५)

'प्राण निकलते समय जिन भगवान्के नामका एक बार स्मरण करनेसे ही मनुष्य अपार संसारसागरसे तरकर उनके परमधामको चला जाता है।'

राज्याभिषेकके पश्चात् जब श्रीरामचन्द्रजी हनुमान्जीकी भक्तिसे प्रसन्न हो उन्हें वर माँगनेको कहते हैं तब श्रीहनुमान्जी अत्यन्त हर्षित हो यही वर माँगते हैं—

त्वन्नाम स्मरतो राम न तृप्यति मनो मम॥
अतस्त्वन्नाम सततं स्मरन् स्थास्यामि भूतले।

(अध्यात्म० युद्ध० १६।१२-१३)

'हे रामजी ! आपका नाम-स्मरण करते हुए मेरा मन तृप्त नहीं होता है; इसलिये मैं सदा-सर्वदा आपका नाम स्मरण करता हुआ ही इस पृथ्वीपर स्थित रहूँ ।'

भगवान् श्रीरामने उनकी इच्छाके अनुसार उन्हें वर दिया ।

श्रीमद्भागवतमें भी कहा गया है—

यन्नामधेयं म्रियमाण आतुरः
पतन् स्खलन् वा विवशो गृणन् पुमान् ।
विमुक्तकर्मार्गल उत्तमां गतिं
प्राप्नोति यक्ष्यन्ति न तं कलौ जनाः ॥
(१२ । ३ । ४४)

'मनुष्य मरते समय, आतुर-अवस्थामें, गिरते या फिसलते समय विवश होकर भी यदि भगवान्‌के नामका उच्चारण कर ले तो वह सारे कर्मबन्धनोंसे छूटकर उत्तम गतिको प्राप्त कर लेता है । ऐसा होनेपर भी घोर कलियुगमें मनुष्य उन भगवान्‌की उपासना तत्परतासे नहीं करते हैं ।'

इतना ही नहीं, मनुष्य कैसा भी पापी क्यों न हो, नामजपके प्रभावसे उसके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं और उसका कल्याण हो जाता है ।

अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ । भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ ॥
चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका । भए नाम जपि जीव बिसोका ॥
नाम कामतरु काल कराला । सुमिरत समन सकल जग जाला ॥
(राम० मा० बा० २५ । ४; २६ । १,३)

किसी कविने भी कहा है—

जबहिं नाम हिरदै धर्यो भयो पापको नास ।
मानो चिनगी आगकी परी पुराने वास ॥

गीतामें भी भगवान् कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥
(९ । ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने-योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है । वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है । हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता ।'

श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌के पार्षदोंके वचन हैं—

सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम् ।
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः ॥
(६ । २ । १०)

'सभी पापियोंके लिये इतना ही सबसे बड़ा प्रायश्चित्त है कि भगवान्‌के नामोंका उच्चारण किया जाय; क्योंकि भगवन्नामोंके उच्चारणसे मनुष्यकी बुद्धि भगवान्‌के गुण, लीला और स्वरूपमें रम जाती है और स्वयं भगवान्‌की उसके प्रति आत्मीयबुद्धि हो जाती है ।'

श्रीशुकदेवजी परीक्षित्‌से कहते हैं—

म्रियमाणो हरेर्नाम गृणन् पुत्रोपचारितम् ।
अजामिलोऽप्यगाद् धाम किं पुनः श्रद्धया गृणन् ॥
(श्रीमद्भा० ६ । २ । ४९)

'अजामिल-जैसे पापीने मरते समय पुत्रके निमित्तसे भगवान्‌के नामका उच्चारण किया था, किंतु उसे भी परम धामकी प्राप्ति हो गयी; फिर जो लोग श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भगवन्नामका उच्चारण करते हैं, उनकी तो बात ही क्या है !'

श्रीसूतजीने कहा है—

पतितः स्खलितश्चार्त्तः क्षुत्त्वा वा विवशो ब्रुवन् ।
हरये नम इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात् ॥
(श्रीमद्भा० १२ । १२ । ४६)

'जो मनुष्य गिरते-पड़ते, फिसलते, दुःख भोगते वा छींकते समय विवशतासे भी ऊँचे स्वरसे बोल ता है—'हरये नमः', वह सब पापोंसे मुक्त हो ता है ।'

श्रीनारदपुराणमें श्रीसनकजी नारदजीके प्रति ते हैं—

रे केशव गोविन्द वासुदेव जगन्मय ॥
र्तयन्ति ये नित्यं न हि तान् बाधते कलिः ।
(पूर्व० ४१ । ९९-१००)

'जो लोग प्रतिदिन हरे ! केशव ! गोविन्द ! व ! जगन्मय ! इत्यादि भगवान्के नामोंका उच्चारण ते हैं, उन्हें कलियुग बाधा नहीं पहुँचाता ।'

और भी कहते हैं—

हो चित्रमहो चित्रमहो चित्रमिदं द्विज ।
रिनाम्नि स्थिते लोकः संसारे परिवर्तते ॥
(नारद० पूर्व० ३४ । ४८)

'ह्मन् ! यह बड़े आश्चर्यकी बात है, बड़ी अद्भुत है और बड़ी विचित्र बात है कि भगवान् विष्णुके के रहते हुए भी लोग जन्म-मृत्युरूप संसारमें चक्कर ते हैं ।'

न् भुञ्जन् व्रजंस्तिष्ठन्नुत्तिष्ठंश्च वदंस्तथा ।
येद्यो हरेर्नाम तस्मै नित्यं नमो नमः ॥
(नारद० पूर्व० ३९ । ६)

'ो सोते, खाते, चलते, ठहरते, उठते और ते हुए भी भगवान् विष्णुके नामका चिन्तन करता से नित्य बारंबार नमस्कार है ।'

हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम् ।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥
(नारद० पूर्व० ४१ । ११५)

'भगवान् विष्णुका नाम ही, नाम ही, नाम ही मेरा जीवन है । कलियुगमें दूसरी कोई गति है ही नहीं, है ही नहीं, है ही नहीं ।'

श्रुति भी कहती है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥
(कठ० १ । २ । १६)

'यह अक्षर (ॐ) ही तो ब्रह्म है और यह अक्षर ही परब्रह्म है । इसलिये इसी अक्षरको जानकर जो जिसको चाहता है, उसको वही मिल जाता है ।'

इस प्रकार शास्त्रोंमें जगह-जगह नामकी भूरि-भूरि महिमा गायी गयी है । यहाँ तो कुछ साधारण दिग्दर्शन कराया है । वस्तुतः नामकी महिमा कोई गा ही नहीं सकता; क्योंकि गाना तो वाणीसे ही होता है; किंतु वाणी परिमित है और भगवन्नामकी महिमा अपरिमित है । अतः उसकी महिमा मनुष्य कहाँतक गा सकता है । यह कथन भी कोई अनुचित नहीं कि भगवान्के नामकी महिमा भगवान् भी नहीं गा सकते—

कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई । रामु न सकहिं नाम गुन गाई॥
(रामचरितमानस बाल० २५ । ४)

इसलिये हमलोगोंको भगवान्में परम प्रेम होनेके लिये अनन्य विशुद्ध श्रद्धा-प्रेमपूर्वक मनसे हर समय भगवान्के नामका जप करनेका प्रयत्न करना चाहिये ।

एक महात्माका प्रसाद

दिव्य जीवन

(संकलयिता और प्रेषक—श्री'माधवजी'—यथाश्रुत, यथागृहीत)

मानवमात्र दिव्य जीवनका जन्मजात अधिकारी है। दिव्य जीवनका अर्थ है—ऐसा जीवन, जो किसीके लिये अनुपयोगी न हो, अपितु सबके लिये उपयोगी हो। जिसका जीवन सबके लिये उपयोगी है, वही मानव है। दिव्य जीवनकी प्राप्तिका उपाय है—सत्सङ्ग। सत्सङ्गका उपाय है—अपना जाना हुआ असत् नहीं रहे। सत्सङ्ग कोई ऐसी चीज नहीं है, जिसे हर भाई-बहन स्वाधीनतापूर्वक न कर सकें। हर व्यक्तिको बुराईका ज्ञान है। उस बुराईको जीवनमें नहीं रखना ही सत्सङ्ग है। जानी हुई बुराईका अर्थ है—सबलसे हम रक्षाकी आशा करते हैं, परंतु अपनेसे निर्बलकी रक्षा नहीं कर पाते। जीवनमें ईमानदार, योग्य परिश्रमी साथी खोजते हैं, पर स्वयं वैसा नहीं बन पाते। कोई भी व्यक्ति बेईमान साथी नहीं चाहता।

राष्ट्र और मजहबने बेईमानीको रोकनेका प्रयास किया। राष्ट्रने कानूनके बलपर और मजहबने समझा-बुझाकर; परंतु समाजसे बेईमानी नहीं गयी। सभी सम्प्रदाय अपनी-अपनी महिमा गाते हैं, परंतु वास्तविक समाजका निर्माण नहीं कर पाते। करनेवाली बात सबके लिये समान हो नहीं सकती; क्योंकि रुचि, परिस्थिति और योग्यतामें भेद है। भेद तो सहोदर बन्धुओंमें, पति-पत्नीमें भी है। इस तथ्यको सामने रखनेपर करनेवाली बात सबके लिये समान हो नहीं सकती। इसी भूलके कारण धर्म, इज़्म, सम्प्रदाय असफल हो जाता है। अतएव करनेसे पहले न करने योग्य बातोंपर विचार करें। ईश्वरवादीको क्या नहीं करना चाहिये? ईश्वरवादीमें अन्यके प्रति विश्वास, श्रद्धा नहीं होनी चाहिये। ईश्वर कैसा है? यह बात है। ईश्वर दो होते तो हम सोचते कि वह है। अगर उन्हें तुम छोड़ सकते तो सोचते कि कैसा होता है? ईश्वरवादी ईश्वरको छोड़ नहीं सकते ईश्वर दो है नहीं। जिसने ईश्वरको स्वीकार उसका दायित्व है कि उसका किसी दूसरेमें न हो। किसी औरसे सम्बन्ध न हो। चिन्तन नहीं होनेपर अखण्ड स्मृति जाग्रत् होगी—मनमें नहीं, इन्द्रियोंमें नहीं, प्राणोंमें नहीं, अपने-आपमें जागेगी। तुम चाहते हो स्मृतिको मनमें जगाना मनको भगवान्में लगाना—कैसी बेतुकी बात अपना सम्बन्ध जोड़ दिया तनसे, मनसे, वस्तुओंसे, और मन लगाना चाहते हैं भगवान्में यह हो तो कैसे? मन उसीमें लगता है जिसे अपना मानते हैं तथा जिसकी आवश्यकताका करते हैं। बार-बार हठपूर्वक मनको भगवान्में हैं परंतु वह अपने-आप भाग जाता है। मनका स्वभाव यह है कि वह जिसमें लग जाता है, वैसा ही बन जाता है। यदि मन प्रभुमें लग गया तो नहीं सकता; फिर दुनियामें लग भी नहीं सकता होता यह है कि मन है आपके अधीन और हैं वस्तुके अधीन। इसीसे मन भगवान्में नहीं लगता जो ईश्वरको स्वीकार कर लेते हैं, उन्हें जगत् नहीं पड़ता; क्योंकि एक साथ दो विरोधी ठहर नहीं सकती। दिव्य जीवनमें अभाव नहीं नीरसता नहीं आती। मान-भोग दिव्य जीवन है। भोगी कभी स्वाधीन नहीं होता। यह अनुभव है। जो स्वाधीन नहीं, वह दिव्य

कैसे पायेगा ? जीवनमें पराधीनता नहीं हो, दिव्य जीवनका शुभारम्भ है । पराधीन प्राणी दिव्य जीवनमें प्रवेश नहीं पाता । स्वाधीनताका अर्थ है—मुझे अपने लिये कुछ नहीं करना है और मिले के द्वारा दूसरेके लिये उपयोगी होना है । मिला 'किसी'का दिया हुआ है और उसने इस दिया है कि जो कुछ हमें मिला है, उसके उसीकी सेवा करें । जो कुछ मिला है, सबको देते हुए बदलेमें न चाहें, तब फिर आपका दिव्य जीवनमें होगा । अपने लिये अपना कुछ है । सामर्थ्य, वस्तु, योग्यता, पद, शरीर, मन, बुद्धि सब कुछ मिला हुआ है । इसके द्वारा अभाव नहीं हो सकता । मिला हुआ नहीं है । वह दूसरोंकी सेवाके लिये है, भगवान्‌की लिये है । अपने सुखके लिये हम किसीको नहीं पहुँचायेंगे । मानव होनेके नाते जो- ना चाहिये, करनेमें हम स्वतन्त्र हैं । जिसे मानना या जिसे जानना चाहिये, उसे मानने या पराधीन नहीं हैं । बुराईके ज्ञानसे बुराईकी होती है । यदि आप अपनी तस्वीर देखेंगे तो कुरूपता प्रकट हो जायगी । उसके कारणका भी हो जायगा और ज्ञान हो जानेपर कुरूपता होकर सुरूपता आ जायगी । हम सभी रामके पुत्र चाहते हैं, परंतु दशरथ-जैसे पिता नहीं । सीता-जैसी पत्नी चाहते हैं, परंतु राम-जैसे नहीं बनते । हम दूसरेके बारेमें सोचते हैं, अपने नहीं सोचते । हम अपना सोचा हुआ जब अपने में नहीं लाते, तब हमारे सगे-सम्बन्धी उसे काम- लायेंगे ? आवश्यकता इस बातकी है कि धर्म अपने गुरुके द्वारा अपनेको सुन्दर पायें । संसार सुन्दरताका पुजारी है । संसार अधिकारी है । हम धर्मका गुण गा-गाकर सम्मानपूर्वक स्थान चाहते हैं, परंतु ऐसा हो नहीं सकता । जीवन और अनुभवको एक हो जाना चाहिये । ईश्वरवादीके जीवनमें 'प्रभु मेरा है'—इसकी छाप लग जाती है । उसे सर्वत्र ईश्वर ही दीखता है । शरीर, मन, प्राण, बुद्धि, परिवार, साधन, संसार—सब कुछ-पर अपने प्यारे प्रभुकी मुहर लगा लें । संसारपर भगवान्‌की मुहर लगनेपर संसार साधक हो जाता है, बाधक नहीं । बाधक तो अपना मन ही है । यदि प्रभुसे मन लगाना चाहते हो तो हर चीजपर प्यारे प्रभुकी 'सील' लगा लो और निश्चिन्त हो जाओ । प्रभुके हो जानेपर चिन्ता किस बातकी ? मिलकियतपर मालिककी चिन्ता होती है । 'उनकी' दी हुई वस्तु, उनकी दी हुई योग्यता और उनके दिये हुए साधन आदिका उपयोग उन्हींके नाते विवेकरूपी प्रकाशके सामने करना है । हमारा कोई भी कर्म विवेक-विरोधी नहीं होना चाहिये । प्रभुके लिये, प्रभुके नाते जो कुछ भी कर्म होगा, उससे उन्हींकी पूजा होगी । पूजा होनी चाहिये अखण्ड ।

अखण्ड—बोलना-सुनना, खाना-पीना, उठना-बैठना, सोना-जागना, सब कुछ पूजा-ही-पूजा । जो अनावश्यक अशुद्ध कर्मोंको छोड़ देता है, वही पूजा कर सकता है । जो नहीं रखना चाहते, जो नहीं कर सकते, उसे छोड़कर जो कुछ कर सकते हैं, प्रभुके नाते करें । प्रभुकी आत्मीयतासे जाग्रत् जो प्रीति होती है, उसी भावसे हमें वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म सामर्थ्यद्वारा विवेकके अनुरूप प्रभु-प्रेमकी जागृतिके लिये ही करना चाहिये । प्रश्न प्रभु-प्राप्तिका नहीं है । प्रश्न है—प्रभु-प्रेमका । ईश्वरकी कृपाका ज्वलन्त उदाहरण आकाश, जल, वायु, पृथ्वी, तेज—सभीको प्राप्त है, परंतु फिर ईश्वर अप्राप्त क्यों है ? एकमात्र इसमें हेतु है कि ईश्वरसे प्रेम नहीं है । प्रेम न होनेसे ईश्वर कहाँ है, कैसा है, कितनी दूर है ? ऐसे सारे प्रश्न उठते हैं । यदि उसे अपना स्वीकार कर लें तो प्रभु-प्रेमकी प्राप्ति हो सकती

है। अपना माननेकी बड़ी जबरदस्त कीमत है—उसे जब अपना मानना है तो फिर औरको क्यों अपना नहीं मान सकते और प्रभुसे कुछ माँग नहीं सकते। मोक्षार्थी और भोगार्थी प्रभुको नहीं पा सकते। जिसे न भोग चाहिये और न मोक्ष चाहिये, वही प्रभुको अपना मान सकता है। जिसे कुछ भी नहीं चाहिये उसे पराधीनता, जडता, अशान्ति कहाँ है? चिरशान्ति, चिन्मयता, स्वाधीनता—यही दिव्य जीवन है। दिव्य जीवनका अर्थ है—'कुछ नहीं चाहो।' निष्कामता हर परिस्थितिमें समान रूपसे हो सकती है, परंतु आज दशा यह है कि ईश्वरको मानते हैं परंतु निष्काम नहीं। अपने लिये, परिवारके लिये, समाजके लिये, जगत्‌के लिये निष्कामता अनिवार्य है। निष्काम बिना संयम कैसे और संयम बिना शरीरकी सेवा कैसे। किसी भी सेवाके लिये निष्काम होना अनिवार्य आवश्यक है। निष्कामतासे प्राप्त शान्तिमें रमण नहीं करनेसे प्रेमकी जागृति होती है। प्रेमकी जागृति होने दिव्य जीवन होगा; क्योंकि प्रेम ही दिव्य है। प्रे जगत्‌को और जगत् पतिको भाता है। यही एक त है जिसका कभी नाश नहीं होता, कभी पूर्ति नहीं होती, क्षति नहीं होती और निवृत्ति नहीं होती। प्रेमकी जागृति सत्सङ्गसे होती है। सत्सङ्गका अर्थ है 'मेरा कुछ नहीं,' 'मुझे कुछ नहीं चाहिये।' प्रेम जाग्र होगा आत्मीयतासे। अस्तु, निःसङ्गता, उदारता और आत्मीयता—यही दिव्य जीवन है।

* * *

तपस्वी

(रचयिता—श्रीगुलाबरत्नजी वाजपेयी 'गुलाब')

(१)

इस सुन्दर तप काननमें,
हे ऋषि! हे वल्कलधारी!
यह फैल रही है कैसी?
आनन्द-ज्योति अति प्यारी।

(२)

आश्चर्य भावमें भूले,
अनुराग-बागके माली,
क्यों ध्यानमग्न तुम बैठे?
भर कर फूलोंसे डाली।

(३)

आकाश ओ३म्‌से झंकृत,
अलि-दल पराग रस पीता;
है गूँज रही त्रिभुवनमें,
ऋषिराज! तुम्हारी गीता।

(४)

सुन्दर फूलोंकी फुहियाँ,
झर-झर तुमपर झरती हैं,
नतमस्तक वृक्ष खड़े हैं,
पत्तियाँ पवन करती हैं।

(५)

यह भक्ति, मुक्तिकी पूजा,
हैं सूर्य-चन्द्रमा किंकर;
आरती प्रकृति करती है,
गोधूलिरूप धारण कर।

(६)

हैं खेल रहे बालक-सा,
मृग शिष्य विनोद खिलौना,
आकाश श्वेत अम्बर है,
दूर्वा-दल दिव्य बिछौना।

(७)

फिर जटा-जाल फैला कर
भगवान भक्त हुलसाओ;
हम लोट रहे चरणोंपर,
गुरुवर! गुरु-मन्त्र सुनाओ।

(८)

वह सत्य प्रदीप जला दो,
हो अन्त न कविता—'लौ' का;
भिड़ जाय सिन्धुके तटपर—
कविकी यह जर्जर-नौका।

मधुर

अखिलरसामृतसिन्धु अचिन्त्यानन्त-नित्य-युगपत् परस्पर-विरोधी-धर्मगुणाश्रय-स्वरूप भगवान् श्यामसुन्दर और परम त्यागमयी प्रेममूर्ति श्रीकृष्ण-प्राणा श्रीगोपाङ्गनाओंके विशुद्ध प्रेममय पूर्वरागके हेतुओंका संकेत बतानेवाले पाँच पद गताङ्कमें छपे थे। यहाँ 'मुरलीध्वनि,' दूरसे श्रीकृष्ण-वाणी-श्रवण, गुणश्रवण, बन्दीजनद्वारा गुणश्रवण, सखीद्वारा गुणश्रवण——इन पाँच हेतुओंका संकेत बतानेवाले पद दिये जाते हैं——

मुरली-ध्वनि

गयो मन मेरो, सब कछु त्याग।
मुरलीकी सुनि मधुर तान मन
उमग्यो अति अनुराग॥
अधर-सुधा-रस-सनी सुनाई
गाय मधुरतम राग।
मधुर दिव्य रस भर्‌यौ हृदयमें,
अग-जग छयौ बिराग॥
बिनसे सोक-मोह-मद-लज्जा-
गर्व, चल्यौ भय भाग।
मिटी सकल ममता, अभिलाषा,
भुक्ति-मुक्ति की माँग॥
मधुर मिलन की एक लालसा
उठी तीव्रतम जाग।
दै दरसन कृतार्थ करिहैं कब
मनमोहन बड़भाग॥

'मुरलीकी मधुर तान सुनते ही मनमें अत्यन्त अनुराग उमड़ आया और मेरा मन सब कुछ त्यागकर चला गया (मुरली बजानेवालेके पास)। उसने अपने अधर-सुधा-रससे सनी हुई मधुरतम राग मुरलीमें गाकर सुनायी, जिससे मेरा हृदय दिव्य मधुर रससे भर गया और सारे जगत्प्रपञ्चके प्रति वैराग्य छा गया। शोक, मोह, मद, लज्जा और गर्व नष्ट हो गये और भय भाग छूटा। जगत्के पदार्थोंकी सारी ममता, सारी अभिलाषा और भोग-मोक्षकी माँग मिट गयी। बस, प्रियतम श्यामसुन्दरके मधुर मिलनकी एकमात्र अत्यन्त तीव्र लालसा जाग उठी। वे बड़भागी मनमोहन दर्शन देकर कब मुझे कृतार्थ करेंगे।'

दूरसे श्रीकृष्ण-वाणी-श्रवण

सुनि सहसा सुर मधुर भई हौं बावरी।
बिंध्यौ प्रेमको बान भयो हिय घाव री॥
मधुर कसक कमनीय भर्‌यौ रस-भाव री।
मिट्यौ सकल अभिमान, गयौ सब ताव री॥
भोग-राग मिटि गयौ, न रह्यौ झुकाव री।
भयौ समरपन निराबरन, न दुराव री॥
मन-गति सूधी भई, न रहे पड़ाव री।
भय-बिषाद-लज्जा को भयो अभाव री॥
जाग्यौ अमिट अमाय मिलनको चाव री।
सखि! अब मोकूँ माधव बेगि मिलाव री॥

'एक दिन अचानक मैंने श्यामसुन्दरकी मधुर वाणीका स्वर सुन लिया और उसी क्षण बावली हो गयी। मेरा हृदय प्रेमबाणसे बिंध गया और उसमें घाव हो गया। तबसे वह घाव रस और भावसे भरा है और उसमें सदा वाञ्छनीय मीठी-मीठी पीड़ा हो रही है। मेरा सारा अभिमान मिट गया है और सारा ताव जाता रहा है। भोगासक्ति नष्ट हो गयी है, मनका कहीं भी कोई झुकाव नहीं रह गया। श्रीश्यामसुन्दरके प्रति मेरा निरावरण समर्पण हो चुका। कहीं कुछ भी छिपाव नहीं रह गया। मनकी गति सीधी उनकी ओर ही हो गयी, कहीं भी बीचमें रुकने——टिकनेके स्थान नहीं रह गये। मेरे भय, विषाद, लज्जाका सर्वथा अभाव हो गया और प्रियतम श्यामसुन्दरसे मिलनेकी अक्षय अपार मीठी-मीठी अभिलाषा जाग उठी। सखि! अब तू मुझको उन प्यारे माधवसे शीघ्र मिला दे।'

गुण-श्रवण

स्याम बिमल गुन सुनत गोपिका
तन-धन सकल भुलानी हो।
मन हर लियौ स्याम-गुन ताको,
सो बिनु मोल बिकानी हो॥
रंग-भरे, रस-भरे, गुन-भरे
मोहन रसके खानी हो।
करी ताहि सब भाँति अकरमी,
दुख-सुख रहित दिवानी हो॥
रोवत कबहुँ, हँसत, बिलपत अति
निरतत, रहत चुपानी हो।
कबहुँ प्रेमरस बरनत बहु बिधि
भाव निमग्न सयानी हो॥
कबहुँ असम्बद्ध बोलत बहु
करत प्रलाप, परानी हो।
भई बिचित्र दसा गोपी की
प्रेम-समुद्र समानी हो॥
पूर्वराग के परम प्रेम की
मूरति प्रिय-मन मानी हो।
धन्य धन्य रसमयी गोपिका
दिव्य प्रेम सहदानी हो॥

'प्रियतम श्यामसुन्दरके निर्मल गुणोंको श्रवण करते ही गोपी अपने तनको, धन-सम्पत्तिको (घर, सम्पत्ति, गाय-भैंस, आत्मीय-स्वजन) सबको भूल गयी। श्यामसुन्दरके गुणोंने उसके मनको हर लिया और वह बिना ही मोल बिक गयी। वे मोहन लीला, रस और गुणोंसे परिपूर्ण रसकी खान हैं, उनके गुणोंने उसे सब प्रकारसे कर्मरहित, दुःख-सुखरहित पगली बना दिया। वह कभी रोती है, कभी हँसती है, कभी अत्यन्त विलाप करती है, कभी नाचती है, कभी चुप रह जाती है और कभी भावमें डूबी हुई सयानी बनकर बहुत प्रकारसे प्रेम-रसका व्याख्यान करने लगती है एवं कभी असम्बद्ध बोलती हुई बहुत प्रकारसे प्रलाप करने लगती है तथा कभी भाग जाती है। उस गोपीकी विचित्र दशा हो गयी है, वह प्रेम-समुद्रमें समा गयी है। वह पूर्वरागके परम प्रेमकी साक्षात् मूर्ति हो गयी है, प्रियतमके मनको भा गयी है। वह रसमयी गोपी है, धन्य है, जो दिव्य प्रेमकी पहचानरूप है।'

वन्दीजनद्वारा गुण-श्रवण

बंदीजन आये गुन गावत।
मोद भरे मन मोहन-प्रिय गुन-
रूप रुचिर बहुभाँति सुनावत॥
अतुलनीय गुन-रूप-सुधानिधि
कितहुँ न कछु उपमा कबि पावत।
बिबिध बिचित्र बिमल गुन बरनत
करत, सबनि को मोद बढ़ावत॥
भाग्यवान् उन बंदीजन कूँ
देखि मधुरतम रस बरसावत।
प्रेम-अगिनि प्रगटी उर अंदर
भोग-राग-अभिलाष जरावत॥
मधुर रूप-गुन निधि कौं सुनि, मो
लगी न बेर हृदयमें लावत।
कर एकाधिपत्य मो मनसें
आय बसे प्रिय हँसत-हँसावत॥
तब ते सखि ! मैं भई बावरी
रही न सुध कछु करत-करावत।
कब वे मिलैं प्रानधन मोकूँ,
सरस हृदय सौं हिय सरसावत॥

'उस दिन वंदीजन आकर प्रसन्नतासे भरे हु मनसे प्रियतम मोहनके रुचिर गुणों-रूपोंको भाँति-भाँतिसे गाने और सुनाने लगे। वे प्रियतम गुण-रूप-सुधाके अतुलनीय समुद्र हैं। कविगण उनके लिये कहीं कुछ भी उपमा नहीं ढूँढ़ पाते। वंदीजन उनके विवि विचित्र निर्मल गुणोंका वर्णन करके सबका मोद बढ़ाने लगे। उन सौभाग्यवान् वन्दीजनको इस प्रकार र बरसाते देखकर मेरे हृदयमें भोगासक्ति तथा भोग-कामना-को जलाती हुई प्रेमकी अग्नि प्रकट हो गयी। फिर उ मधुर रूप-गुण-समुद्र श्यामसुन्दरको (भोगासक्ति कामनासे शून्य) हृदयमें लाते मुझे जरा भी देर न लगी। वे प्रियतम स्वयं हँसते और मुझे आनन्दमें हँसाते हु

ही एकाधिपत्य करके मेरे मनमें आ विराजे । वे अंदर तो विराज गये, पर सखि ! मैं तबसे बावली गयी, क्या करती हूँ—क्या कराती हूँ, इसकी भी स्मृति नहीं रह गयी और यही चाह लगी कि कब वे मेरे प्राणधन (बाहर भी) अपने हृदयसे मेरे हृदयको सरसाते हुए मिलेंगे ।'

सखीसे गुण-श्रवण

सखी सौं सुनि वा दिन गुन-गान ।
रूप-रस-जस परिपूरन
रसिकराज रसखान ॥
दिनतें उर बसी माधुरी
मूरति मोद-निधान ।
खात, सोवत, जागत नित,
पल न परत व्यवधान ॥
! तुम कहौ सबइ मेरे हित,
चहौ सदा कल्यान ।
किंतु बिबस, मोहि सुधि न रही कछु,
रह्यौ न जग कौ ध्यान ॥
बिसरी लोक-बेद-मरजादा
ममता कुलकी कान ।
मिलिबै को अति आतुर मन, पल
बीतत जुगनि समान ॥
मोहि न मुक्तिकी बांछा सजनी !
नहीं नरक भय-भान ।
अब तौ मिलौं स्याम-प्रिय निधरक
गाय, बजाय निसान ॥

'उस दिन उन लीला, रूप, रस, यश आदिसे परिपूर्ण रसिकराज रसखान श्रीश्यामसुन्दरके गुणोंका गान सखीके मुखसे सुना, सुनते ही उसी दिनसे वह अनन्त आनन्दनिधि माधुरी-मूर्ति मेरे हृदयमें बस गयी । चलते, खाते, सोते, जगते—सभी समय वह विराजित रहती है । एक पलके लिये भी उससे जरा भी व्यवधान नहीं होता । सखि ! तुम सब मेरे हितके लिये ही मुझे कह रही हो (मुझको समझा रही हो); क्योंकि तुम सदा ही मेरा कल्याण चाहती हो । परंतु मैं विवश हूँ । मुझे कुछ भी सुध-बुध नहीं रही है, जगत्का जरा भी ध्यान नहीं रह गया है । लोक-वेदकी सारी मर्यादा मुझे भूल गयी है, न किसी प्राणी-पदार्थमें ममताकी स्मृति है और न कुलकी लाजकी ही । मेरा मन उन प्रियतमसे प्रत्यक्ष मिलनेके लिये अत्यन्त आतुर हो रहा है । एक-एक पल युगोंके समान बीत रहा है । सजनी ! मुझे न मुक्तिकी इच्छा है और न नरकके भयका ही भान है । अब तो सखि ! मैं प्रियतम श्यामसुन्दरसे बेधड़क गाती और धौंसा बजाती हुई मिलूँगी ।'

समर्पणकी पराकाष्ठा है ।

आस्थाकी माँग

मेरे हित-अनहितका ज्ञान मुझसे कहीं अधिक तुझे है,
क्यों कि—
मेरे ज्ञानकी परिधिमें तो केवल अतीत और वर्तमान हैं,
जब कि—
भविष्य-ज्ञानकी परिधि तुझमें ही है
इसीलिये—
आस्थाकी माँग है;—
जो कुछ हो रहा है उससे विचलित न होनेकी; कर्त्तव्य-कर्म किये जानेकी—अडिग, निःशंक, सफलतापर दर्प दिखाये बिना; विफलतापर खीझे-चिल्लाये बिना ।

—बालकृष्ण बलदुवा

देववृत्तियोंको जगाये रखिये

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्०ए०, पी-एच्०डी०, विद्याभूषण, दर्शनकेसरी)

आप एक महान् व्यक्ति हैं

हमारे शरीर, मन तथा परिस्थितियोंके सम्बन्धमें हमारी बहुत-सी क्रियाएँ हमारी प्रत्यक्ष इच्छाके बिना ही अज्ञातरूपसे हुआ करती हैं। जिन क्रियाओंको हम समझते हैं कि हम अपनी इच्छासे ही करते हैं, वे भी प्रायः किसी-न-किसी आवेगके वश ही की जाती हैं।

उदाहरणस्वरूप—जब कोई गवैया किसी बाजेको अच्छी तरह सीख लेता है, तो फिर उसे इस बातकी आवश्यकता ही नहीं रहती कि उस बाजेको बजाते समय अपनी प्रत्येक अँगुलीकी गतिपर ध्यान दे। यदि उसका चित्त उन शब्दोंमें लगा हुआ हो, जिन्हें वह बाजेपर गा रहा है, तो उसकी अँगुलियाँ स्वयमेव ही ऐसी योग्य गतिसे बाजेपर पड़ेंगी कि उसमेंसे रागके अनुकूल ही स्वर-ताल निकलेंगे। ऐसी ही गति हमारी सब क्रियाओंकी होती है। यह सब कार्य हमारे गुप्त-मनद्वारा होता है। किसी सुपरिचित कार्यके करते समय बाह्य मन भ्रमण भी करने लगता है, तो भी गुप्त मनके प्रभावसे चुपचाप क्रिया स्वयं होती रहती है।

अपने जीवनमें हम प्रतिक्षण कुछ-न-कुछ नया कार्य करते रहते हैं, जिनका हमें ज्ञान भी नहीं होता। उनमेंसे कुछ आदतें तो अच्छी होती हैं और कुछ बुरी। पहले तो उनका ज्ञान न होनेसे उनका प्रभाव बहुत थोड़ा होता है, पर समय पाकर जब वे गहरी जड़ें कर लेती हैं, तो उनसे छुटकारा पाना कठिन हो जाता है। पान खाने, बीड़ी-सिगरेट पीने, मांस-भक्षण, सिनेमा देखनेकी गंदी आदतें, कड़े-रूखे और अभिमान-भरे वचन मित्रोंमें तथा समाजमें अति सूक्ष्मरूपोंमें शुरू होती हैं, किंतु समय पाकर वे गहराईसे शरीरमें जड़ पकड़ लेती हैं। बच्चोंमें चोरी, अपराधकी वृत्ति या युवकोंमें व्यभिचारकी दुष्प्रवृत्तियाँ धीरे-धीरे जमकर बढ़ती जाती हैं। पहले छोटेसे कार्यसे एक गंदी आदत या विषैले विचारका प्रारम्भ होता है, पर उसीके बढ़ जानेपर उससे छुटकारा पाना असम्भव-सा हो जाता है।

उन्नति करना अपने वशकी बात है

अच्छे विचारों, अच्छी आदतों या शुभ संकल्पोंको ग्रहण करना हमारे वशकी बात है। देववृत्तियाँ जब सोने लगती हैं, तभी दुष्ट अशुभ वृत्तियाँ जागती हैं। असुर हमारे अंदर सोये पड़े रहते हैं। या यों कहिये कि हमारे मनमें बसने और सदा जाग्रत् रहनेवाले देवता उन्हें दबाये रहते हैं। देववृत्तियाँ उन विषैले राक्षसोंको दबाये या शक्तिहीन बनाये रखती हैं। यदि हम वास्तविक सुख-शान्ति चाहें, तो हमें देववृत्तियों—जैसे प्रेम, दया, सहानुभूति, सेवा, विनय आदिको सतत जाग्रत् और विकासोन्मुख रखना चाहिये। यदि शुद्ध-वृत्तियाँ या आपके मनोराज्यमें सोये हुए देवता लगातार जागते रहें, अपना देवोचित कार्य सजगतासे करते रहें, तो असुर-वृत्तियोंको पनपनेका अवसर ही प्राप्त नहीं होता और मनुष्य भव्य मार्गोंमें बढ़ता चला जाता है।

शुभ संकल्पोंको ग्रहणकर कार्यरूपमें परिणत करना हमारे हाथमें है। यदि हम सदैव सावधान रहें और विवेकसे अच्छी आदतोंको ही चुनें, तो बहुत कुछ उन्नति कर सकते हैं। हम अपना चरित्र जैसा चाहें, बना सकते हैं। सत्-संकल्पकी शक्ति स्वाभाविकरूपसे मनुष्यमें छिपी हुई है। स्वयं आपमें भी यह देवशक्ति है। इसको खोजकर और इसको उन्नत कर, निरन्तर इसका उपयोग कर हम इसे जितना चाहें, बढ़ा सकते हैं।

दिव्य शक्तियोंके उपयोगसे उन्हें विकसित कीजिये

याद रखिये, आपकी शक्तियाँ उत्तरोत्तर उपयोगसे ही बढ़ती हैं। यदि उनसे काम न लिया जाय, तो वे ने या क्षय होने लगती हैं। प्रत्येक कार्यका कारण ार है। हम अपने मानसिक साम्राज्यके स्वतन्त्र हैं।

यह मानसिक राज्य भी कैसा विचित्र राज्य है। विचित्र कल्पनाएँ और दुनियाभरकी देखी, सुनी, देखी सभी बातें होती हैं। इस राज्यमें स्वयं आपके अतिरिक्त किसी दूसरेकी पहुँच नहीं है। यह राज्य है जहाँ किसी स्थूलकी गति नहीं है। यह राज्य में स्थापित है और वह शून्य साकार—गणितका नहीं, परंतु निराकार है। वहाँ वायुकी भी नहीं है।

अपने मानसिक, कल्पनात्मक राज्यमें आप पूर्ण हैं और सब नियमोंके निर्माता आप स्वयं ही । सब कुछ आप ही हैं। असम्भवको सम्भव बना ते हैं। यह आपका ऐसा गुप्त राज्य है, जिसे न कोई देख सकता है और न कोई जान सकता है न आपके विचारोंसे किसी व्यक्तिको किसी प्रकार-आपत्ति हो सकती है।

स्मरण रखिये, कठिनाई और सरलता, असफलता और सफलता, लाभ और हानि, उन्नति और अवनति—आपके मनके अनुसार ही आपके जीवनमें प्रति- होती हैं।

निराश कभी मत होइये। उन्नतिके लिये, अच्छी के लिये, अपने शुभ संकल्पोंकी सिद्धिके लिये प्रयत्न करते रहिये। बार-बार प्रयत्न करनेसे ही उत्साह मिलेगा। सफलता मिलेगी। आपके कार्य सरल होते जायेंगे। प्रत्येक प्रयत्न, आपकी छोटी-सी सफलता आपका आत्मबल बढ़ानेवाली हैं। भविष्यमें आप कठिनतर कार्य भी हँसते-हँसते कर सकेंगे। जीवनमें सबसे आवश्यक अपने शुभ संकल्पोंकी सिद्धिके लिये सावधान रहकर प्रयत्न करना ही है। इस आत्मबलकी आवश्यकता युवकोंको ही नहीं, किंतु वृद्धोंके लिये भी है।

सफलता एक आदत है

सफलता एक आदत है। छोटेपनसे ही सफलताकी आदत बनाइये। मनुष्यके मनमें ऐसी अद्भुत शक्तियोंका भण्डार है, जिसकी कल्पना स्वयं मनुष्य नहीं कर सकता। नैपोलियन बोनापार्ट संसारका एक वीर शक्तिशाली व्यक्ति समझा जाता है। वह एक निर्भीक नेता था। उसके वीरतापूर्ण और साहसिक कार्योंके कारण ही संसारके इतिहासमें उसका नाम अमर हो गया है। जब हम उसके प्रारम्भिक जीवनपर ध्यान देते हैं तो हमें आश्चर्य होता है कि किस प्रकार नैपोलियन इतनी उन्नति कर सका।

'क्या वह किसी धनी पूँजीपतिका पुत्र था ?'

'बिल्कुल नहीं ? उसका जन्म कोर्सिका नामक द्वीपमें एक गरीब परिवारमें हुआ था।'

'क्या उसे शिक्षा और जीवनकी सुविधाएँ प्राप्त थीं ?'

'नहीं, बेचारे नैपोलियनकी शिक्षाकी कुछ भी व्यवस्था न हो सकी थी।'

'क्या बचपनमें वह आराम और शानसे रहा ?'

'नहीं, उसका बचपन अन्धकारमय था। वह अपने बाल्यकालसे ही मंद बुद्धिवाला लड़का था। उस समय उसका स्वास्थ्य भी ठीक नहीं था। साथ-ही-साथ वह अत्यन्त दुर्बल एवं कृश शरीरका व्यक्ति था।

इतनी मुसीबतों, कठिनाइयों, विरोधोंके बावजूद अपने आत्मबल और उच्च संकल्पशक्तियोंके बलपर नैपोलियनने उन्नति की थी।

वह गरीब, अल्पशिक्षित होकर भी फ्रांसका शासक बना। यह शासक अपने बचपनके नैपोलियनसे बिल्कुल भिन्न था। नैपोलियन एक साधारण सैनिकसे फ्रांसका सेनापति बना। अनेक यूरोपीय देशोंको पराजित करके उसने अपने राज्यमें मिलाया। उसकी आश्चर्यजनक उन्नतिका कारण उसका आत्मविश्वास था। वह अपने मनोराज्यमें सदा यही सोचा करता था कि वही संसारका एक वीर पुरुष है। उसे बचपनसे ही अपनी वीरता और महानतापर विश्वास जम गया था। उसका कहना था कि संकल्पबलकी सहायतासे संसारमें कोई वस्तु असम्भव नहीं है। वह प्रारम्भसे ही अपने मनोराज्यमें विश्वपर शासन करनेका स्वप्न देखता था।

अपनी महानतामें अखण्ड विश्वास रखिये

अपनी महानतामें सदा विश्वास रखिये। मनुष्यके मनमें ऐसी अद्भुत शक्तियोंका भण्डार है, जिसकी कल्पना स्वयं मनुष्य भी नहीं कर सकता।

मनकी प्रधानता होनेके कारण ही इस शरीरका नाम मनुष्य है। विकसित मनवाले व्यक्तिको ही मनुष्य कहना चाहिये। जीवनमें प्रत्येक पलपर मनका प्रभाव देखा जाता है। मनुष्य अपने विचारोंके कारण ही बन्धन अथवा मोक्षमें पड़ता है। विचारोंको एक उद्देश्यपर केन्द्रित करनेसे ही शक्ति उत्पन्न होती है। अतः जैसे विचारोंका मनन, चिन्तन या मनमें निवास होगा, वैसी ही इच्छा-शक्ति उत्पन्न होगी।

यदि आपके विचार नीचे स्तरके, विषय-वासना, व्यर्थ खेल-कूद, मनोरंजन, शौक-सपाटा,—क्षणिक आनन्दके हैं, तो शक्ति भी वैसी ही होगी। जिनके विचार क्षण-क्षण बदलते रहते हैं, वे भला कैसे आगे बढ़ेंगे ?

आप शरीर नहीं, सर्वशक्तिमान् आत्मा हैं

जहाँ विचार दृढ़ और संशयरहित है, वहाँ शक्ति प्रबल और तीव्र होती है। विचारोंमें स्थिरता और टिकाऊपन दृढ़ता और श्रद्धासे होता है।

जरा विचार कीजिये, आप कौन हैं ? क्या आप शरीर हैं ? क्या आप हाड़, मांस, रक्त, चमड़ा आदि दुर्गन्धयुक्त घृणोत्पादक पदार्थोंसे बने हुए पुतले हैं ! नहीं, आप हाड़, मांस, रक्त कुछ नहीं हैं। आप एक देवमूर्ति हैं। जब शरीरपर कोई थप्पड़ मारता है, तब आप कहते हैं कि 'मुझे मारा'। यह भूल करते हैं। विचारो, आपको मालूम होगा कि आप शरीर नहीं हैं, किंतु स्वयं विचार हैं। स्वयं शक्ति हैं। 'You are what you think' आप वैसे ही हैं, जैसा आप वस्तुतः विचार करते हैं। यदि आप अपने-आपको शरीर समझते हैं, तो शरीरमात्र हैं। यदि आप अपने-आपको आत्मा, महान् आत्मा, उन्नत महत्तर आत्मा, सर्वशक्तिमान् आत्मा समझते हैं, तो वास्तवमें सर्वशक्तिमान्, सर्वगुणसम्पन्न, योद्धा, धीर-वीर नर-पुङ्गव हैं। आप दिव्यमूर्ति हैं। अपने संकल्पसे आप जो चाहें बन सकते हैं।

आप बलवान्, स्वस्थ, तेजस्वी होनेके जन्मसिद्ध प्रकृत अधिकारी हैं। कभी मत कहिये कि 'मैं दुखी हूँ, अशक्त हूँ, गरीब हूँ, निम्न जातिका हूँ, वृद्ध हूँ, बीमार हूँ, निर्बल हूँ, ज्वर-ग्रस्त हूँ।' ये सब बातें ऊपरी हैं—शरीर-सम्बन्धी हैं।

आप शरीरसे ऊँचे हैं। आप मन हैं, बुद्धि हैं, आत्मा हैं। दैवी शक्तिके नायक हैं। सबके स्वामी हैं। मनपर पूर्ण अधिकार कीजिये। उसे बलवान् बनाइये। शरीर भी मनकी आज्ञा मानेगा। फिर दुःख, चिन्ता, निर्बलता, वृद्धावस्था या असफलताका अस्तित्व न रहेगा। निर्बलता छोड़ दीजिये। भ्रमके अन्धकारसे ज्ञानके प्रकाशमें जागिये।

यदि 'अगर-मगर', यदि ऐसा होता, तो मैं भी उन्नति करता, मेरी सिफारिश होती तो मैं तरक्की करता;·······मगर ऐसा नहीं हुआ; योग्यताकी कोई पूछ नहीं—आदि कायरपनके शब्दोंका व्यवहार अपनी बातोंमें कदापि न कीजिये। ये शब्द आपको निर्बल बनाते हैं। हृदय और मनमें दुःख, शोक, रोग, पीड़ा,

हानि तथा निर्बलता एवं आपत्तिकी बातोंको स्थान मत दीजिये। इनसे आपकी सामर्थ्य शिथिल होती है, अधिकार भ्रष्ट होता है और आप दासताको प्राप्त होते हैं।

लोकलज्जाको अपने ऊँचे ध्येयकी पूर्त्तिके आगे मत लाइये। यह विचार आपको उन्नति करनेसे रोकता है। आपके पैर पकड़ लेता है। 'लोग हँसेंगे, टीका-टिप्पणी करेंगे, जगत-हँसाई होगी, निन्दा होगी', इसकी परवा मत कीजिये। उन्नतिका मार्ग कठोर और दुरूह होता है। संसारको पसंद नहीं आता। वे उस व्यक्तिसे ईर्ष्या करते हैं, जो उन्नति कर रहा है। यदि आप जगत्‌की व्यर्थ बातोंकी परवा करेंगे, तो सदैवके लिये निराशाके गढ़ेमें गिरकर सदा एक ही स्थितिमें सड़ते रहेंगे। कूप-मण्डूक बनकर बाहरका संसार न देख सकेंगे। ये दुर्बलताके विचार आपकी संकल्प-शक्तिकी परीक्षाके लिये आते हैं। अतः इनसे विचलित न होकर अपनी दृढ़ताका परिचय दीजिये। असमर्थता मत दिखाइये। दृढ़ प्रतिज्ञा, आत्म-विश्वास और निरन्तर अभ्याससे असाध्य भी सुसाध्य हो जायगा। भगवान्‌की अहैतुकी कृपा और आत्मशक्तिपर विश्वास करके सतत आगे बढ़ते रहिये।

वेदोंने पुकार-पुकार कर कहा है—

'उद्यानं ते पुरुष नावयानम्'

'आत्मानं नावमन्येथा नात्मानमवसादयेत्'

'अदीनाः स्याम शरदः शतम्'

आत्माका तिरस्कार न होने दो, आत्माकी अवज्ञा न होने दो। अपने अन्तर्वासी, आत्मदीपकी सदा प्रज्वलित शिखाको मन्द न होने दो।

हम मानव संसारके कोलाहलमें इस अमृतवाणीको सुनकर भी अनसुना कर देते हैं।

सत्सङ्गसे ही प्राप्तव्यकी प्राप्ति

(लेखक—मानसतत्त्वान्वेषी पं० श्रीरामकुमारदासजी रामायणी)

सदलकीशपतीशसुरक्षकं
सबलरावणशीर्षकतक्षकम् ।
समलभक्तभयार्तिविमर्दकं
नमत वानरराजमिहाद्भुतम् ॥

जीवमात्रकी स्वाभाविक इच्छा होती है कि मेरी मति सर्वश्रेष्ठ हो (मैं सर्वज्ञ हो जाऊँ), मैं कीर्तिमान् होऊँ (मेरी कीर्ति दिग्दिगन्तव्यापिनी हो, मेरा सुयश सर्वभुवनव्यापी हो), मुझे सतत—सर्वकाल सब प्रकारके ऐश्वर्योंकी प्राप्ति अक्षुण्णरूपेग होती रहे, मेरी सर्वविध भलाई अर्थात् शारीरिक सुख, स्वास्थ्य-सौन्दर्यादिकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहे और शरीरान्तके बाद मैं सम्पूर्ण मायिक बन्धनोंसे सर्वथा मुक्त होकर परम गतिको प्राप्त करूँ।

इसके लिये सत्सङ्गको सर्वश्रेष्ठ साधन मानते हुए प्रायः सभी सुमनीषियोंने कहा है—

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति ।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं
सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम्॥
दूरीकरोति कुमतिं विमलीकरोति
चेतश्चिरन्तनमघं चुलुकीकरोति ।
भूतेषु किंच करुणां बहुलीकरोति
सङ्गः सतां किमु न मङ्गलमातनोति ॥
बुद्धिं वर्द्धयति श्रियं वितनुते वैदग्ध्यमामुञ्चति
श्रेयः पल्लवयत्यघानि दलयत्युन्मीलयत्युन्नतिम् ।
विज्ञानं परिशोधयत्युपचिनोत्युच्चैः कलाकौशलं
किं किं नारभते हरेरिव कथामजय सतां सङ्गतिम् ॥

प्रातःस्मरणीय गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराजने भी अपने महाकाव्य श्रीरामचरितमानसमें उपर्युक्त पाँचों वस्तुओंके शाश्वत प्राप्त होने और होते रहनेका अत्यन्त सरल, परम सुन्दर एवं सर्वश्रेष्ठ अथच शास्त्र-

सम्मत साधन सत्सङ्ग ही बतलाया है। यह नहीं कि किसी अन्य साधनको भी सत्सङ्गके बराबर माना हो और कहा हो कि उपर्युक्त पाँचों वस्तुएँ किसी एक ही अन्य साधनसे भी मिलती हैं और सत्सङ्गसे भी मिलती हैं। नहीं, नहीं, ऐसा नहीं है। आप तो डंकेकी चोट वैदिक हवाला देते हुए कहते हैं कि उक्त पाँचों वस्तुएँ एक साधन—एकमात्र सत्सङ्गसे ही मिलती हैं, किसी अन्य एक ही साधनसे तो मिल ही नहीं सकतीं। आजतक किसीने भी किसी अन्य एक साधनसे पाँचों प्राप्तव्य वस्तुओंको पाया ही नहीं और जिस किसीने कभी एक ही साधनसे पाया हो तो केवल सत्सङ्गसे ही—

जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीव जहाना ॥
मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहु बेद न आन उपाऊ ॥

यहाँ जलचरने मति, थलचरने कीर्ति, नभचरने गति, जड़ने भूति और चेतनने भलाई पायी। अर्थ करना तो प्रसङ्गोपात्त नहीं है; क्योंकि जलचरमें भी जड और चेतन घनेरे जीव हैं, थलचरमें भी जड और चेतन जीव हैं और नभचरमें भी जड और चेतन बहुत जीव हैं—

जे जड चेतन जीव घनेरे ॥

अत: यह कहा जा सकता है कि जलचरमें समुद्रकी सत्सङ्गतिसे जड (पर्वत) मैनाक सुधरा—

जलनिधि रघुपति दूत बिचारी। तैं मैनाक होहि श्रम हारी॥

जलचरोंमें चेतन मकर, उरग, झषादि—

देखन कहँ प्रभु करुना कंदा। प्रगट भए बहु जलचर बृंदा ॥

× × × ×

अपर जलचरन्ह ऊपर चढ़ि चढ़ि पारहिं जाहिं ॥

थलचरमें जड़—

सब तरु फरे रामहित लागी।

थलचरमें चेतन शबरी, कोल-किरातादि—

कोल किरात [illegible]

इसी तरह नभचरमें जड—मेघ, वायु आदि—

किए जाहिं छाया जलद सुखद बहइ बर बात।

नभचरमें चेतन—सम्पाती, काकभुशुण्डि

परंतु त्रिस्थाननिवासी उभयविध जीवोंको

प्राप्त थे। इसका एक दृष्टान्त मानससे ही दिया

है। चित्रकूटकी भूमि सब दिनसे महात्माओंकी

स्थली रही आयी है और बहुत कालसे—

अत्रि आदि मुनिबर बहु बसहीं। करहिं जोग जप तप तन

अत: वहाँके सभी जलचर, थलचर, नभचर

प्रकारके चराचर (जड-चेतन) जीवमात्रको

प्राप्त था। एतदर्थ उन्हें पाँचों प्राप्तव्य पदार्थ किस

प्राप्त थे, इसे श्रीगोस्वामीजीके श्रीमुखसे ही सुनिये—

चित्रकूट के बिहँग मृग बेलि बिटप तृन
'पुन्य पुंज' सब 'धन्य' अस कहहिं देव दिन
'नयनवंत' रघुबरहिं बिलोकी। पाइ नयनफल होहिं
परसि चरन रज 'अचर' सुखारी। भए 'परमगति' के अधि

नभचर=विहँग। पक्षी जलचर और थलचर

प्रकारके ही होते हैं। जैसे जलचर विहँग—

बोलहिं जल कुक्कुट कलहंसा।

थलचर विहँग—

चातक कोकिल कीर चकोरा ॥

नभचरमें विहँग चेतन हैं और जड मेघ

वायुकी बात ऊपर कही जा चुकी है।

थलचरमें चेतन मृग, पशु, मनुष्यादि और जड—

बेलि बिटप तृन जाति।

—एवं पर्वत आदि। उद्भिज्ज भी दो तरहके होते हैं

थलचर उद्भिज्ज अनेक तृण, लता, गुल्म, वृक्ष,

ओषधि और वनस्पति आदि तथा जलचर उद्भिज्ज

कुमुद आदि।

—ध्यानपूर्वक स्मरण रखनेकी एक विशेष बात

है कि जिस तरह मति, कीर्ति आदि पाँचों पदार्थ

एक साथ प्राप्तिका एकमात्र साधन सत्सङ्ग कहा गया है, इसी तरह पाँचोंके एक साथ ही विनष्ट होनेका एकमात्र कारण परस्त्री-गमनकी चेष्टाको ही बतलाया गया है—

जो आपन चाहै कल्याना। सुजसु सुमति सुभ गति सुख नाना ॥
सो परनारि लिलार गोसाईं। तजउ चउथि के चंद कि नाईं ॥

उदर्कभूतिमिच्छद्भिः सद्भिः खलु न दृश्यते ।
चतुर्थीचन्द्रलेखेव परस्त्रीभालपट्टिका ॥
(प्रसन्नराघवनाटक ७ । १)

तात्पर्य यह कि उपर्युक्त पाँचोंका एक साथ प्रापक एकमात्र सबसे प्रबल एवं श्रेष्ठतम साधन सत्सङ्ग ही है और पाँचोंका एक साथ नाशक एकमात्र सबसे प्रबल एवं निकृष्टतम कुसाधन परस्त्रीमें दुर्भावना मात्र है। अतएव समस्त मुमुक्षु किंवा बुभुक्षु जीवमात्रको सदैव सत्सङ्ग करना चाहिये और परस्त्री-गमनकी कल्पना तकका त्याग।

* * *

भरतका देवपूजन

(लेखक—श्रीब्रजेश भटनागर एम० ए०)

राजकुमारी जानकीके विवाहोत्सवको होते हुए कई मास बीत गये। समस्त नगर हर्ष और उल्लासके सागरमें आकण्ठ डूबा हुआ बेसुध-सा हो रहा था। अन्तमें पाणिग्रहणका अभिलषित माङ्गलिक दिवस आ गया। आजकी शोभा अवर्णनीय थी। ऋद्धियों-सिद्धियोंने मैथिलीके आदेशसे प्रसन्न हो नगरकी साज-सज्जामें चार चाँद लगा दिये। तो मिथिलाका ऐश्वर्य और सौन्दर्य स्वर्गमें ईर्ष्याका बन गया। साधारण-से-साधारण आवासको देखकर राजको अपने भव्य प्रासाद श्रीहीन प्रतीत होने लगे और विवाहमण्डपके निर्माणमें जहाँ श्रीराम-जानकीका विवाह हो रहा था, मिथिलाके शिल्पकारोंने अपनी कलाका सफल प्रयोग कर दिया था। साक्षात् सुषमा भी उसकी लजा रही थी।

वर-वधू मण्डपमें विराजमान थे। एक ओर अवधपति बरातियोंसहित सुशोभित थे और दूसरी ओर मिथिला-अपने स्वजन बन्धु-बान्धव तथा नगरके गण्यमान्य व्यक्तियोंसहित आसीन थे। दोनों नरेश अपनी-मङ्गलकामना-लताको पल्लवित-पुष्पित देखकर फूले नहीं रहे थे। वेदोंकी ऋचाएँ गा-गाकर महर्षिगण पाणिग्रहण-करा रहे थे और उस स्निग्ध वातावरणमें माधुर्यका करता हुआ गूँज रहा था गाती हुई मैथिली रमणियों-मधुर कोमल गीत-स्वर।

महलके एक प्रकोष्ठसे आते हुए सुकेशीने कहा, 'चित्रा! आज तो रघुवंशियोंके छकानेकी मैंने एक अपूर्व योजना बनायी है।'

'छकानेकी योजना!' विस्मयसे उसने पूछा।

'अरी हाँ।' और उसने चित्राके कानमें कुछ अस्फुट स्वरमें कहा। वह मुस्करा उठी। 'बड़ा आनन्द आयेगा केशी! जबतक नाक न रगड़वा लेंगी, मानेंगी नहीं।' मृदुला-को आते देखकर सुकेशीने पूछा—'संस्कार सम्पन्न होनेमें कितना विलम्ब है देवि!'

'अधिक नहीं! महर्षिगण स्वस्तिवाचन कर रहे हैं। कोहबरकी व्यवस्था ठीक है न?'

'सब व्यवस्थित है। आप चिन्ता न करें। वर-वधूके आनेके पूर्व हमें सूचना देना न भूलें।'

'अवश्य!' और वह मन्दगतिसे मण्डपकी ओर चली गयी।

'मुझे भय है सुकेशी! इस योजनामें हमें मुँहकी न खानी पड़े।' गम्भीर स्वरसे नन्दाने कहा।

'कैसी बात कह रही है नन्दा! हम उन्हें सरलतासे नहीं छोड़ेंगी!'

'वह साँवला कुमार बड़ा जादूगर है। कलकी ही तो घटना है। चक्रवर्तीजी अपने चारों कुमारों एवं बरातियोंके सहित भोजन कर रहे थे। हास और परिहासका सिन्धु हिलोरें मार रहा था। अट्टहासका [illegible] स्वर वातावरणको कभी-

कभी प्रकम्पित कर जाता था। गवाक्षोंमें बैठी नारियाँ अवधेशको मधुर गालियाँ सुना रही थीं और अवधपति उनका रसास्वादन ले-लेकर खिलखिला उठते थे। मेरी वाणी सबसे तीव्र थी। मेरी स्वर-लहरी अजस्र रूपसे फूट रही थी। साँवले कुमार जब अधिक न सह सके तो उन्होंने कनखियोंसे पिताकी दृष्टि बचाकर मेरी ओर देखा। न जाने चित्रा! उस दृष्टिमें क्या था? क्या सम्मोहन था? कैसा आकर्षण था कि मैं सुधबुध भूल गयी और उमंगसे गाने लगी।

'अबकी बार तीव्र अट्टहास बरातियोंमें गूँज उठा और उधर मुझे टोकते हुए रम्भाने कहा, 'क्या गा रही है पगली? क्या अपने महाराजको गाली दे रही है? सुनती नहीं? अवधेशके स्थानपर मिथिलेशको स्वपक्षियोंद्वारा गाली देनेपर ही तो बराती लोग खिलखिला रहे हैं।' और मैं लजाकर भाग गयी। क्या सोचेंगे श्रीमहाराज?'

× × ×

'सूर्यकुलभूषण राजराजेन्द्रकी जय!' जय-घोष गूँज उठा। परिचारिकाने आकर कहा—'देवि! महादेवीका आदेश है कि चारों कुमार वधुओंसहित कोहबरमें पधार रहे हैं। आप प्रस्तुत हैं न?'

'हाँ!' केशीने कहा।

दासियाँ मार्गप्रदर्शनके लिये पुष्पोंके पाँवड़े बिछाने लगीं और सखियाँ आरतीका थाल लेकर प्रतीक्षा करने लगीं। चारों युगल जोड़ियोंको गीत गाती हुई नारियाँ कोहबरमें ले आयीं। लाल कपड़ोंमें सुसज्जित देवताके समक्ष चारों कुमारोंको बैठा दिया।

राघवेन्द्रकी ओर इङ्गित करते हुए सुकेशीने कहा—'राघव! पहले कुलदेवताको नतमस्तक हो प्रणाम करो।'

वे देवताका निराला रूप देखकर समझ गये कि देवताकी आड़में मूर्ख बनानेका कार्यक्रम है। किंचित् हास्यसे बोले—'यदि मैं प्रणाम न करूँ तो?'

'तो शेष रीतियाँ स्थगित।'

'और यदि मेरा कोई अनुज इस रीतिको निभा दे?'

'तो कोई आपत्ति नहीं।'

राघवने अनुजकी ओर देखकर कहा—'सौमित्रे! कार्य तुम्हीं सम्पन्न कर दो।' लक्ष्मण ऊहापोहमें पड़ गये। अवश्य कुछ दालमें काला है। नहीं तो, यह कर्तव्य निभाने का आदेश मुझे न मिलता। सौमित्रिने कुमार शत्रुघ्नकी ओर देखा। 'भैया! मेरा दायित्व तुम्हीं पूरा कर दो।'

छोटे कुमारके समक्ष धर्मसंकट था। अस्वीकार करें तो कैसे? और यदि पालन करते हैं तो कहीं उपहासका भाजन न बनना पड़े। सहसा उन्हें एक युक्ति सूझी। अनुनयके स्वरमें भरतभद्रसे याचना करते हुए कुमारने कहा—'अग्रज! आपके होते हुए यह दायित्व मैं वहन करूँ, उचित नहीं प्रतीत होता।'

भरतलाल तो देवताकी छबिपर मुग्ध हो रहे थे। दायित्व पाकर फूले नहीं समाये।

'तुम चिन्ता न करो कुमार!' अपने स्थानसे उठते हुए उन्होंने कहा। देवताके समक्ष नतमस्तक प्रणामकर वे गद्गद स्वरमें बोले—'मेरे जन्म-जन्मान्तरके देवता! न जाने कितने युगोंसे तुम्हारे दर्शनोंके लिये मेरे नयन तड़प रहे थे। आज इस रूपमें पाकर मैं निहाल हो गया।'

देवताको उठाकर भरतने धीरे-धीरे उन्हें निरावरण किया। देवताके स्थानमें जानकीजीकी चरणपादुकाओंको देखकर सखियोंके समूहमें हास्य मुखरित हो उठा। तीनों कुमारोंके मुखपर मुसकान बिखर गयी। किंतु उधर भरतकी दशा विलक्षण थी। नयनोंसे अश्रुधारा बह रही थी। माँकी पादुकाओंको बार-बार मस्तकपर धर रहे थे। 'माँ!' उनका स्वर उस कोलाहलमें गूँज उठा। 'करुणामयी! मेरा अहोभाग्य है जो आज तुम्हारी पादुकाओंको मस्तकपर रखनेका सुअवसर इस दासको मिला है। चिरसंचित इच्छा पूर्ण हो गयी। आशीर्वाद दो माँ! इन पावन पादुकाओंका सदा दास बना रहूँ' और खड़े होकर वे नृत्य करने लगे—

जनकसुता जग जननि जानकी। अतिसय प्रिय करुनानिधान की॥
ताके जुग पद कमल मनावउँ। जासु कृपाँ निरमल मति पावउँ॥

उधर नृत्य हो रहा था और इधर सखियाँ अपनी योजनाको सम्पूर्ण असफल देखकर लज्जावनत हो रही थीं।

हमारी मुक्तिनाथ-यात्रा

(लेखक—श्रद्धेय श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

[गताङ्क पृष्ठ १३०७ से आगे]

फाकसैनीसे फलेवास

ज्येष्ठ शुक्ल ११ (ता० २ जून)

फाकसैनीसे प्रातः चले। मार्ग सीधा था, न चढ़ाई न उतराई। चारों ओर मकईकी खेती-ही-खेती दिखायी देती थी। हम रानीघाटसे गंडकीके किनारे-ही-किनारे चल रहे हैं। जहाँ गंडकी बहुत नीची रह जाती हैं, वहीं जलका कष्ट हो जाता है। जहाँ गंडकी या दूसरा कोई खोला समीप मिलता है, वहाँ पानीका सुपास हो जाता है। फाकसैनीसे चलकर ...भामें दोपहरका भोजन हुआ। वहाँ एक दूकान भी थी। गंडकी भी समीप ही हैं। यहाँ दाल, चावल, आलू भी मिल गये। प्रसाद पाकर फिर चले। मार्ग बिल्कुल देशका-सा, न चढ़ाई न उतराई। ऐसा लगता था मानो हम रुड़कीसे देहरादून जा रहे हैं। आगे फलेवास मिला। वहाँके विस्तृत मैदानको देखकर तो मनमयूर नृत्य करने लगा। वहाँकी भूमि बड़ी उपजाऊ। तीन फसलें वहाँ वर्षमें होती हैं। एक बार धान, फिर मकई, फिर कोदो आदि। ...र भी एक विशाल मैदान बिना बोये-जोते पड़ा था। हमारे पूछनेपर बताया गया कि यह गोचरभूमि है, इसे कोई जोतता नहीं। कैसी विशुद्ध धर्मभावना है। पहिले यहाँ भी गाँव-गाँवमें गोचरभूमि थी। पर अब लोग लोभ-...चमें आकर उसे जोतने लगे। पहाड़के बीचमें हरी-भरी इस समतल भूमिको देखकर मनमें बड़ा आह्लाद हुआ। ...में स्थान-स्थानपर वट और पीपलके दो-दो विशाल वृक्ष लगे हुए हैं। तानसेनसे मुक्तिनाथतक यह क्रम एक-सा है। ये वृक्ष किसी संस्थाने या नैपाल-राज्यने नहीं लगाये, वहाँके लोगोंने धर्मभावनासे प्रेरित होकर पूरे मार्गमें लगाये हैं। ये वृक्ष धर्मशालाओंसे बढ़कर कार्य करते हैं। यात्री इनके नीचे सुखसे बैठते हैं, इनके चबूतरोंके सहारे कुली अपना बोझा उतारते हैं। फलेवासमें तो इन वृक्षोंकी भरमार है। यहाँकी सड़क लगभग पचास फुट चौड़ी होगी। दोनों ओर पंक्तिबद्ध वृक्ष और फिर थोड़ी-थोड़ी दूरपर पीपल-...के ...ुम वृक्षोंके चबूतरे। गाँवमें जिसके पास भी चार पैसे हो जायँगे, पथमें हमारे दो वृक्ष लग जायँ। पीपल-वटके दो वृक्ष लगायेंगे। दोनोंका विवाह कर देंगे, चबूतरा बना देंगे। कैसी सुन्दर प्रथा है। पहिले हमारे यहाँ भी यह प्रथा थी। जिला परिषदोंने तथा कलिकाल-देवने यह प्रथा समाप्तप्राय कर दी। बहुतसे वट-पीपलके वृक्ष तो कई सौ वर्षके पुराने थे, जिनकी छायामें दो-चार हजार आदमी सुखसे बैठ जायँ। फलेवास गाँव भी लगभग कोस भरमें बसा होगा। आम, पपीता, केला तथा अन्यान्य वृक्षोंकी यहाँ भरमार है। फलोंका आवास-स्थान होनेसे इसका नाम 'फलावास' रहा होगा। पीछेसे फलेवास हो गया होगा। यहाँका दृश्य हमें सबसे सुन्दर लगा; किंतु यहाँ भी जलका बड़ा कष्ट है। गंडकी यहाँसे बहुत नीचे है। पानीका स्रोत मीलों दूर है। रात्रिमें हमें अत्यन्त कष्टसे पहाड़ोंसे उतरकर पानीके लिये जाना पड़ा। हमारे श्रमित-थकित साथी एक-एक घूँट पानीके लिये तरस गये। एक चिलवाराम लड़का घड़ा लेकर नीचे पानी लेने गया, एक बैलने उसे टक्कर मार दी। बेचारा गिर गया, घड़ा लुढ़क गया। पासमें खड़े जलार्थी उसे उठाने तो गये नहीं, घड़ेको उलट-पलटकर देखते रहे कि इसमें कुछ पानी बचा है या नहीं। इन स्थानोंमें सामान्य-सा नल लग जाय, जलकी व्यवस्था हो जाय तो ये भू-स्वर्ग बन जायँ। अभी इधर नल आदिका प्रवेश ही नहीं। नैपाल-सरकार कर उगाहनेके अतिरिक्त कुछ भी नहीं करती थी। नदियोंपर झूले, धर्मशालाएँ, सड़क बनाना, उनमें पत्थर लगाना, पेड़ लगाकर उनपर चबूतरे बनाना—ये सब काम गाँवके जमींदार या गाँवकी पंचायतें मिल-जुलकर करती थीं। जहाँके जमींदार धार्मिक होते थे, उनके यहाँ वृक्षोंकी, धर्मशालाओंकी, पानीके स्थानोंकी भरमार रहती थी। फलेवासके पास भी कोई बड़े धर्मात्मा जमींदार थे। कुछ महाजन थे। उन्होंने ही ये सहस्रों छायादार पेड़ लगवाये, मध्यवैनीपर पुल बनवाया। और भी बहुत-से धर्मके काम किये। अब उनका देहान्त हो गया। उनके पुत्र हैं, उनमें वैसी धर्मभावना भी नहीं है और भारतकी देखा-देखी यहाँ भी जमींदारी समाप्त हो रही है। यहाँ भी अन्तर्जातीय विवाह, जाति-पाँति-परित्यागकी प्रथा

प्रारम्भ हो गयी है। राज्यने भी विधान बनाकर पुरानी सभी वर्णाश्रमकी प्रथाओंको समाप्त कर दिया है।

हम फलेवाससे भी आगे जाना चाहते थे, किंतु वर्षा आ गयी। इसलिये यहीं एक मकानमें ठहर गये, खाने-पीनेकी कोई भी वस्तु नहीं मिली। जलका भी कष्ट था, इसलिये सभी थके-थकाये तो थे ही, पड़ते ही सो गये और प्रातः जब कौओंने काँय-काँय की, तब कहीं उठकर बैठे।

फलेवाससे सहस्रधारा

ज्येष्ठ शु० १२ (३ जून)

फलेवाससे प्रातः उठकर हम बिना ही नित्यकर्मोंसे निवृत्त हुए चल दिये। यह मार्ग चालू है। जैसे तानसेन बड़ा नगर तथा जिला है, वैसे ही इससे आगे बागलूम एक बड़ा नगर है। वह भी नैपाल-राज्यका एक जिला है। बागलूममें सब चीजें कुलियोंकी पीठपर लदकर ही बुटवलसे आती हैं। अतः सैकड़ों कुली अपनी पीठोंपर मिट्टीके तेल तथा सरसोंके तेलोंके कनस्टर, रंग-बिरंगे कपड़ोंकी गाँठें, लालटेनें, सिगरेटके बक्स, छाते, जूते तथा समस्त जीवनोपयोगी सामग्रियोंको लादे बहुत-से तो बुटवलसे बागलूम जा रहे थे; बहुत-से तानसेनसे आ रहे थे। एक-एक कुलीपर दो-दो, ढाई-ढाई मन बोझ था और वे सुखपूर्वक हँसते-खेलते गीत गाते बातें करते जा रहे थे, मानो उनका यह सहज कार्य है। हम सभ्यतामें पले खाली हाथों केवल चलनेसे ही थक जाते हैं। बड़े-बड़े वृक्षोंके बृहद् वितान बने थे। सड़कके दोनों ओर मकईके खेत खड़े थे। कहीं-कहीं गहरे नीले रंगके धान वायुमें सरररर करते हुए लहरा रहे थे। आगे एक बड़ा भारी वटका और दूसरा जाने किसका वृक्ष मिला। उसके नीचे एक दूकान थी। वहींसे उतराई आरम्भ हो गयी। उतराईमें किसीने पक्की पत्थरोंकी सीढ़ियाँ-सी बनवा दी हैं। इससे उतरनेमें विशेष कष्ट नहीं होता। लगभग एक मील उतरकर अब हम गंडकीके किनारे पहुँच गये। किनारे-किनारे चलते-चलते सामने हमें मधुबैंनीका संगम दिखायी दिया। असलमें सप्त गंडकी हैं। ये जहाँ कृष्णागंडकीमें मिली हैं, वहीं परम पावन तीर्थ बन गया है। जहाँ भी दो पुण्यप्रदा नदी मिलती है, वहीं गुप्तरूपसे सरस्वती भी आकर मिल जाती है। इसीलिये दो नदियोंके मिलनेके स्थानको 'संगम' प्रयाग या बैंनी कहते हैं। स्त्रियाँ जो बैंनी गूँथती हैं, वे बालोंके तीन भाग करके उसे मिलाती हैं। वे भाग तो तीन होते हैं; किंतु गूँथनेपर दिखायी देते हैं दो ही। इसीलिये सरस्वती संगमोंमें सदा गुप्त रहती है। प्रयागराजमें जहाँ त्रिवेणी हैं वहाँ गङ्गा-यमुनाकी दो धारा तो प्रत्यक्ष दीखती हैं, सरस्वती गुप्त हैं। यहाँ गंडकीमें ऐसी मध्य बैंणी हैं। पीछे आदि बैंणीका तो हम वर्णन कर ही चुके हैं। यह मध्यबैंणी हैं। मध्यबैंणीको ही मधबैंनी कोई मधुबैंनी कहते हैं। यहाँका दृश्य बड़ा ही सुन्दर है। मध्यगङ्गा जब कृष्णा-गंडकी गङ्गासे मिलती हैं तो ऐसा लगता है मानो दो प्रत्यक्ष एक नीली साड़ी ओढ़े, एक सफेद साड़ी ओढ़े छाती-से-छाती भिड़ाकर मिल रही हों। दोनोंके नेत्रोंसे फव्वारेकी भाँति आनन्दाश्रु बह रहे हों। हमें सामने ही संगमके दर्शन हो रहे थे; किंतु मध्यबैंणीमें पहुँचनेको अभी हमें घूमकर लगभग एक मील जाना था। वहाँके दृश्योंको देखते, पानीकी पनचक्कीमें पिसते हुए आटेको निहारते हुए नालोंको पैरोंसे पार करके लकड़ीके पुराने बने हुए हिंडोलेकी भाँति हिलते हुए पुलपर होकर हम मध्यबैंनीमें पहुँच गये।

ठीक संगमके ऊपर निम्बार्क-सम्प्रदायके साधुओंका एक बड़ा ही सुन्दर आश्रम है, हमलोग जब गये थे आश्रममें श्रीमद्भागवतका सप्ताह हो रहा था। छोटी-छोटी कुटियाएँ बनी थीं, स्थान-स्थानपर तुलसीके बिरवे लगे हुए थे। आश्रममें दस-बीस भक्त-भक्तानी रहते हैं। हमारे आनेकी उनको पहले ही सूचना मिल चुकी थी, ठहरनेको स्थान दिया। गङ्गाके संगमपर साधुओंके खुले आश्रमपर आकर परम सुखका अनुभव हुआ, मानो अपने आश्रममें आ गये। आज व्रतकी एकादशी थी। मेरा तो सदा ही व्रत रहता है। तीसों वर्षसे फलाहार ही लेता हूँ। आज तो सबके लिये फलाहार बनना था। यहाँ नैपालमें तो चावलको छोड़कर गेहूँकी रोटी, मक्काकी रोटी सभी फलाहार मानी जाती हैं। एकादशीके व्रतमें ये लोग गेहूँकी रोटीका फलाहार करते हैं। हमारे पास कूटूका कुछ आटा था, उसीमें आलू मिलाकर सबके लिये रोटी-साग बना। सबने पेट भरके फलाहार किया। संगम-स्नानमें जो सुख हुआ, जो आनन्द आया, वह वर्णनातीत है। यहाँतक अभी खूब गरमी पड़ती है। इस स्थानको छोड़कर जानेकी इच्छा तो नहीं होती थी। रात्रिमें यहीं निवासकी इच्छा थी, किंतु मुक्तिनाथजी हमें शीघ्र ही बुला रहे थे, हमें भी उनके दर्शनोंकी चटपटी लगी थी, अतः हम प्रसाद पाकर थोड़ा आराम करके आगे चल दिये।

हम आज बागलूम जाकर रहना चाहते थे । किसीने हमें बताया—'आप बागलूम जाकर क्या करेंगे । बागलूम कोई तीर्थ तो है नहीं । बड़ा शहर है । एक मीलकी चढ़ाई; फिर एक मीलकी उतराई । इससे आप उस पार बागलूम न जाकर सीधे इसी पार किनारे-किनारे बैंनी बाजार क्यों नहीं जाते । इससे चढ़ाई-उतराईसे भी बच जायँगे और दो मीलका चक्कर भी बच जायगा ।'

इस यात्रामें हमें चढ़ाई-उतराईसे ही बड़ा भय लगता था। फिर दो मीलका फेर भी बचे 'अन्धे तुझे क्या चाहिये ? केवल दो आँख' 'चुपड़े और दो-दो' 'मीठा और भर कठौता' हमने बागलूम जानेका विचार छोड़ दिया और मधुबैंनी या मध्यबैंनीसे इसी किनारे-किनारे बैंनी बाजारकी बाटसे वेगपूर्वक बढ़े ।

मार्गमें हमें कुछ भारतीय अधिकारी मिले, जो तिब्बत और नैपाल सीमाके विवादको तै करने गये थे । बात यह थी कि मुक्तिनाथजीसे आगे तीन दिनका मार्ग है—दामोदरकुण्ड-[illegible]। उससे भी आगे तीन-चार दिनके मार्गमें कुछ प्रदेश पड़ता है । वहाँ कोई बस्ती तो है नहीं हिम प्रदेश है । चीन-सरकारका कहना था, यह तिब्बतकी भूमि है, नैपाल-सरकारका कहना था, यह नैपालकी भूमि है । इसीलिये दोनों ओरके अधिकारियोंकी एक बैठक हुई थी । नैपाल-सरकारने भारतसरकारसे सर्वे कार्यमें दक्ष कुछ अधिकारी माँगे थे । भारतसरकारने नैपालकी माँगपर उधारमें इन्हें भेजा था । वे लोग गये । चीन-सरकारके अधिकारियोंसे परामर्श किया । इन्होंने अपने सब प्रमाण उपस्थित किये । चीन-सरकारने नैपाल-सरकारके दावोंको स्वीकार किया और उसे नैपालकी ही भूमि मान लिया । इतने विकट स्थानमें पहाड़ोंके बीच आने यहाँके आदमियोंको देखकर बड़ी आत्मीयता हुई । हमारे साथ जो वृन्दावन चार सम्प्रदायके श्रीरामदास शास्त्री थे, उनसे जब उन्हें मालूम हुआ कि ये वे ही ब्रह्मचारीजी हैं जिन्होंने नेहरूजीके विरुद्ध चुनाव लड़ा था, तब तो वे बड़े प्रसन्न हुए । कहने लगे—'तब हम कॉलेजमें पढ़ते थे । बड़ा हल्ला होता था । ब्रह्मचारीजीको वोट दो, ब्रह्मचारीजीको वोट दो । हमें स्वप्नमें भी आशा नहीं थी, उनके यहाँ दर्शन होंगे ।' ये लोग अलीगढ़ जिलेके सासनी नामक ग्रामके रहनेवाले थे, जो वृन्दावनसे बहुत ही निकट है । वे लोग पीछे चले गये, हम आगे बढ़ गये ।

आगे चलकर 'सहस्रधारा' नामका एक बड़ा ही मनोहर स्थान आया । इधरका वह तीर्थ ही है । सैकड़ों स्थानोंसे जलकी धाराएँ बह रही हैं । गंडकी यहाँ, जैसे प्रयागमें यमुना शान्त है, वैसे ही शान्तिके साथ बहती है । यह स्थान समतल है । पहाड़-जैसा लगता ही नहीं । मधुबैंनीसे यहाँतक कहीं विशेष चढ़ाई-उतराई नहीं । घोर जंगलमें जलकी ये इतनी धाराएँ क्यों बह रही हैं ? किसके लिये इतना पानी उड़ेल रही हैं ? क्यों ये निरन्तर रात्रि-दिन बहती ही रहती हैं ? क्यों कभी ये विश्राम नहीं लेतीं ? इन प्रश्नोंका उत्तर कौन दे । यही कहना पड़ता है, बहते रहना इनका स्वभाव है । इनकी यह सहज प्रकृति है ।

यहाँसे थोड़ी दूरपर एक मठ है । रामानुजी-सम्प्रदायके लोग हैं । इन वैष्णव सम्प्रदायके आचार्योंने कितना भारी कार्य किया है । कितनी भारी इनकी तपस्या है । जहाँतक मानवकी पहुँच है, वहाँतक इन्होंने भागवतधर्मका संदेश पहुँचाया है । दो ही सम्प्रदायोंका इधर विशेष प्रचार दृष्टिगोचर हुआ—एक तो निम्बार्क-सम्प्रदायके तीन मन्दिर, आश्रम दीखे या फिर रामानुज-सम्प्रदायके अनुयायी । गुसाइयोंकी तो नैपालमें भरमार ही है । स्थान-स्थानपर गुसाईं तथा गुसाईं माइयाँ मिलीं । यहाँ भी एक साधु मिले । दो-एक पशुपालकोंका पशु बाँधनेके गोष्ठ थे । यहाँ दूध भी मोल मिल गया । रात्रि यहीं गंडकीके तटपर बितायी ।

सहस्रधारासे गलेश्वर

ज्येष्ठ शु० १२ (४ जून)

प्रातःकाल 'सहस्रधारा' से गंडकीके किनारे-किनारे चले । गङ्गाके किनारे देशकी भाँति बालू बिछी थी । न बहुत चढ़ाई, न उतराई । कहीं-कहीं गंडकीके बढ़नेसे वर्षा होनेसे ऊपरका मार्ग कट गया था । मकईके खेतोंकी भरमार थी, जहाँतक दृष्टि जाती, मक्काके खेत-ही-खेत दिखायी देते । धान अभी कहीं-कहीं थे । लगभग दो-तीन मील चलकर खेन्या घाटकी बस्ती मिली । कोई कहते हैं—खेन्नीके पेड़ होनेसे इसका नाम 'खेन्या' पड़ा । कोई कहते हैं कन्याघाटसे खेन्याघाट हुआ । बस्ती अच्छी है । सभी उपयोगी सामग्री मिलती हैं । एक स्थानपर बेलाके खूब फूल फूल रहे थे । भगवान्के लिये फूल लिये । इससे आगे गंडकीपर आधुनिक ढंगका झूला (पुल) है । इसी पुलको पार करके बागलूम

जाना होता है। लगभग एक मील ऊँचेपर बागलूम नगर बसा है। उसके पास ही मैदान है। नैपाल-सरकारकी सेना यहाँ रहती है। इस मैदानमें सैनिक अभ्यास करते हैं। दूरसे ही बंदूकोंकी आवाज सुनायी दे रही थी। बागलूमसे उतरकर उसके किनारे-किनारे एक सड़क बैंनीबाजारको जाती है। इस पार भी बैंनीबाजारको रास्ता है, हम इसी पारसे गये। आगे चलकर फरसे घाट है। तब आगे बैंनीबाजार है। यहाँ भी दो गङ्गाओंका संगम है। बैंनीबाजार अच्छी बस्ती है। यहाँ एक मन्दिरमें प्राइमरी पाठशाला है, एक सर्वोदय पुस्तकालय है। सुन्दर बाजार है। जीवनोपयोगी सभी सामग्रियाँ मिलती हैं। एक गोरखा लड़का मिल गया, जो चार-पाँच वर्ष कलकत्तेमें दरवानगी कर आया था। उससे बहुत सहायता मिली। मार्गमें यहीं हमें दो-तीन प्रकारके साग मिले। भली प्रकार भोजन मिला। सभीने आज खूब तृप्तिसे भोजन किया। यहाँ एक नवदुर्गाओंका मन्दिर भी है। प्रतीत होता है नवदुर्गाओंकी उत्पत्ति यहीं हुई है; क्योंकि मंगला, काली, कपालिनी, दुर्गा, स्वधा, स्वाहा और नारायणी—ये सब नदियाँ यहाँपर हैं। प्रसाद पाकर हम यहाँसे आगे बढ़े। यहाँ गंडकीपर एक पुराने ढंगका बहुत ही जीर्ण-शीर्ण झूला (पुल) है। उसे देखते ही भयसे शरीर काँपने लगता है। नीचेकी लकड़ी सड़ी हुई है। दोनों हाथोंसे दोनों ओरके तार पकड़कर फूँक-फूँक पैर रखने पड़ते हैं। पहाड़ी कुली तो दो-दो मनका बोझा लेकर इसे सरलतासे पार कर लेते हैं। हमलोग खाली हाथों भी इसे पार करनेमें भयभीत होते थे। एक-एक करके जो पार हो जाता, वही समझता मृत्युके मुखसे बच आये। उस पार लगभग एक मील चलकर गलेश्वर शिवजीका अति प्राचीन मन्दिर मिला। यह वही स्थान है जहाँ जडभरतजीने तपस्या की थी। मङ्गला, गङ्गा और गंडकीका बड़ा ही सुन्दर संगम है। यहाँकी छटा निराली है। गलेश्वरके सामने उस पार जडभरतजीका आश्रम है, जो पुलहाश्रमके नामसे पुराणोंमें प्रसिद्ध है।

गलेश्वरजीका बड़ा ही सुन्दर गंडकीके तटपर मन्दिर है। कोई कहते हैं जलेश्वरसे गलेश्वर हो गया। कोई कहते हैं शिवजीपर यहाँ हर समय जल टपकता रहता है। किंतु मेरा अनुमान है कि गणेश्वरसे गलेश्वर हुआ है। राजा रहूगणने यहीं तपस्या की थी। उन रहूगणके नामसे ये गणेश्वर शिवजी हैं। घाटका नाम राहू घाट है। गाँवका नाम राहू है। इस प्रकार यहाँ राजा रहूगणकी स्मृतिमें गाँव, घाट और शिवजी हैं। यहाँपर पुलह तथा पुलस्त्य दोनों ऋषियोंके आश्रम थे। रावण, कुम्भकर्ण और विभीषणके जन्म यहीं हुए थे। यहींसे जाकर कुबेरको हराकर रावण लंकाका राजा हुआ और उनसे पुष्पक विमान छीन लिया। पुष्पक विमानसे वह यहाँ अपने पिताके दर्शनोंको आया करता था। कैसी हमारी संस्कृति है, कहाँ एकदम उत्तरमें पैदा हुआ और एकदम दक्षिणमें राजा हुआ। ब्राह्मण ऋषिका पुत्र अपने कर्मोंसे राक्षस हो गया।

गलेश्वरजीके दर्शन करके हम नीचे उतरे। एक मील लगभग चलकर मंगला नदीको पुलसे पार करके हम मंगला और गंडकीके ठीक संगमपर स्थित जडभरतजीके आश्रमपर गये। यहाँ आजकल एक पहाड़ी ब्रह्मचारी आश्रम बनाकर रहते हैं। उनके आश्रमको देखकर और ब्रह्मचारीजीसे मिलकर बड़ी ही प्रसन्नता हुई। आश्रममें सर्वत्र सात्त्विकता टपक रही थी, बड़ा ही शान्त वातावरण था। ब्रह्मचारीजी अकेले ही यहाँ अठारह-बीस वर्षसे रहते हैं। अपने हाथों ही उन्होंने यहाँ एक छोटा-सा बगीचा लगा रक्खा है, जिसमें आम, अमरूद, केला, नीबू, नारंगी आदि वृक्ष हैं। अपने हाथों बहुत ही छोटी कच्ची दो कुटिया बना ली है, जिनमें एक आदमी पैर फैलाकर सो भी नहीं सकता। किसीसे याचना नहीं करते, कहीं जाते नहीं, आकाशवृत्तिसे जो आता है उससे मुक्तहस्त होकर परोपकार करते हैं। मुक्तिनाथ जानेवाला जो भी यात्री आ जाय—साधु हो, गृहस्थ हो, कुली हो, सबको भोजन देते हैं। कितने भी आ जायँ, किसीको मना नहीं। वैसे तो यहाँ आता ही कौन है किंतु यात्राकालमें दस-बीस साधु प्रायः नित्य ही आते हैं। महात्मा सबका सत्कार करते हैं। भगवान् न जाने कहाँसे उन्हें दे देते हैं। बड़ी निर्मुक्त हँसी हँसते हैं। स्वभाव जैसे बच्चोंका-सा। आलस्यका तो नाम नहीं। जितनी बार जो वस्तु माँगो, तुरंत उठकर जाते हैं, उस वस्तुको लाकर देते हैं। देनेमें संकोच नहीं, कृपणता नहीं, खीझ नहीं, बड़े उल्लाससे बड़ी उदारतासे निरालस्य होकर देते हैं। हम गये, बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। हम उस पार ठहरे थे। २५-३० आदमी थे। आश्रममें स्थान नहीं था। हमें स्वयं अपने हाथों बथुयेका साग तोड़ कर दिया। बड़ी देरतक बातें करते रहे। वे हमारी आधुनिक सभ्यतासे बहुत दूर हैं। एक लंगोटी लगाये सम्पूर्ण शरीरमें रज लपेटे बालकोंकी भाँति हँसते हुए, फुदकते हुए बड़े ही अच्छे लगते थे। उनसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई। इतनी आत्मीयतासे इस यात्रामें ये ही महात्मा

मिले। मानो हमें जडभरत ही मिल गये हों। अवस्था ६०। ७० की होगी, किंतु आलस्य उनके शरीरमें तनिक भी नहीं था। कुछ त्रिफला आदि पीसकर गोली बनाकर उन्हें पुडियोंमें रख लेते हैं। जो पहाड़ी आते हैं, उन्हें दे देते हैं। लोग चावल, दाल, आटा उन्हें दे जाते हैं, वे परोपकारमें उसे लगा देते हैं। उनसे मिलकर हम इस पार आ गये। स्नान-पूजनसे निवृत्त होकर मंगलाके तटपर एक नव निर्मित भवनकी तीसरी मंजिलपर सो गये।

गलेश्वरसे टिपलिंग

ज्येष्ठ शुक्ला १३ (५ जून)

मंगलाके पुलको राहूघाटसे पार करते ही चढ़ाई आ गयी, साँस फूलने लगी। छठी तककी याद आ गयी। चढ़ते ही गये, चढ़ते ही गये। रारहू गाँवमें पहुँच गये। वहाँसे आगे क्षाभिर है। इससे आगे एक झूला (पुल) है बहुत ही जीर्ण-शीर्ण अवस्थामें। नीचेके पटरे भी सड़ गये हैं। लोग अब इसपर क्यों नहीं ध्यान देते? बैंनीबाजारके पास तो एक आधुनिक ढंगका नैपाल-सरकारकी ओरसे पुल बन रहा है। इन छोटे-छोटे पुलोंकी ओर भी सरकारको ध्यान देना चाहिये। पुल पार करके टिपलिंग एक छोटा-सा गाँव आता है। हमलोगोंने यहीं आज मध्याह्नका भोजन बनाया। नैपालमें घर-घरमें मुर्गियाँ रहती हैं। मुर्गियोंके बच्चे घरभरमें घूमते रहते हैं। स्यात् ब्राह्मण तो अभीतक मुर्गी नहीं पालते। शेष सभी पालते हैं। वे सब अन्न-जलमें मुँह दे देती हैं। क्या करें, विवश थे। हमें मुर्गियोंके बीच ही शयन, भोजन करना पड़ता था। यहाँ एक बगीचामें पूजा की, प्रसाद पाया। प्रसाद पाकर कुछ लोग तो आगे चल दिये, किंतु हमारे कुली आये ही नहीं। कुलीके साथ रहनेवालोंने सूचना दी, कुली इसलिये आगे जा नहीं सकते। अतः हम सब लोग रात्रिमें यहीं एकके छोटे-से घरमें अंडे-मुर्गोंके बीच सो गये।

टिपलिंगसे दाणा

ज्येष्ठ शुक्ला १४ (६ जून)

हमलोग तो रात्रिमें टिपलिंगमें ही रह गये थे, किंतु रामप्रकाश ब्रह्मचारी वंशीवाले तथा और दो-तीन आदमी पहले ही दिन चलकर तातापानी पहुँच गये थे। वहाँ उन्हें वहाँसे लौटते हुए स्वामी हीरानन्दजी पहाड़ी मिल गये। उनसे यात्राकी सब बातें मालूम हो गयीं। हमलोग प्रातः चले। दुवाखोला होकर घारखोला पहुँचे। खोला छोटी नदीको कहते हैं। गंडकीमें ऐसे सैकड़ों खोले आकर मिले हैं। जहाँ बड़ी गङ्गा मिलती है वह बैंनी कहलाता है। घारखोलासे थोड़ी दूरपर तातापानी है। यहाँतक तो अपने देशकी ही भाँति गरमी पड़ती है। यहाँतक हमें एक दिन भी गरम कपड़े ओढ़नेकी आवश्यकता नहीं पड़ी। यही नहीं, मार्गमें चद्दर ओढ़नेपर भी पसीनेसे लथपथ हो जाते थे। इसलिये नंगे शरीर ही चलते थे। तातापानीसे कुछ सर्दी आरम्भ हो गयी। ऋतु बदल गयी। देश बदल गया, सभ्यता बदल गयी। यहाँसे आगे अब गरम वस्त्रोंकी आवश्यकता अनुभव होने लगी। यहाँतक तो वर्णाश्रमी ब्राह्मण-क्षत्रिय मिलते थे। यहाँसे आगे भी ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य कुछ-कुछ हैं; किंतु अधिकांश बौद्ध-धर्मको माननेवाले हैं। बौद्धोंके चैत्य-मन्दिर भी मार्गमें मिलने आरम्भ हो जाते हैं। टुकचासे आगे तो सब बौद्ध-ही-बौद्ध हैं। तातापानीमें गंडकीके समीप एक कुंड है, जिसमें गंधकका गरम जलका स्रोत है। जलमें गंधककी गंध आती है। घुसकर स्नान नहीं कर सकते। यहाँ गंडकीपर आधुनिक ढंगका बना सुन्दर पुल है। नैपाल-सरकारने इस मार्गपर यही एक सुन्दर पुल तैयार किया है। अब स्थान-स्थानपर नये पुल बन रहे हैं। यहींसे नैपाल जानेके लिये पोखराका मार्ग है। इससे चार-पाँच दिन पूर्व ही नैपालके महाराजाधिराजके छोटे भाई अपने मामाके साथ मुक्तिनाथकी यात्रा करके गये थे। उनके स्वागतके लिये सजायी हुई ध्वजा-पताका अभीतक लगी थीं। यहीं हमें नैपालके गोरखनाथ मठके सुप्रसिद्ध मठाधीश योगी नरहरिनाथजी भी मिल गये। वे नैपालके जननेता हैं। बहुत-से ग्रन्थ लिखे हैं। एक पत्रिका भी निकालते हैं। अच्छे नामी विद्वान् हैं। आप कई बार हमारे झूसी आश्रममें भी आ चुके हैं। यहाँ मिलकर उन्होंने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की।

नैपालसे अखण्ड कीर्तन करते हुए जो दस-बारह भक्त आये थे और पोखरामें हमारी प्रतीक्षामें आठ-नौ दिन ठहरे रहे और समाचार मिलनेपर हमारे साथ होनेको पोखरासे पैदल कीर्तन करते हुए आ रहे थे, वे भी यहीं मिल गये। अब हमारी मंडली पूरी बन गयी। हम चालीस-एकतालीस आदमी हो गये। अखण्ड कीर्तन साथ-साथ होनेसे यात्राकी शोभा बढ़ गयी। हम सब लोगोंने तातापानीमें भोजन-प्रसाद बनाया। गरम जलमें स्नान किया। फिर भोजनादिसे निवृत्त होकर आगे चल दिये।

तातापानीसे आगे बड़ा सुन्दर सुहावना मार्ग है। मार्गमें पादानीका जंगल ही खड़ा है। इस स्थानका

नाम जल-थल है। एक महात्मा मिले, उन्होंने अपने खेतसे निकालकर ताजा आलू दिये। आगे चलनेपर पानी बरसने लगा। सब लोग भागने लगे। पानी जोरोंसे बरस रहा था। हम भागते-भागते दाणागाँवमें पहुँच गये। एक बड़ेसे घरमें घुस गये। घरकी स्वामिनीने बड़े प्रेमसे हमें आसन दिया। अखण्ड कीर्तन हो रहा था। एक बड़ी ही सरल सात्त्विक प्रकृतिकी कन्याने आकर हमें प्रणाम किया। उसकी माँने बताया—बालकपनसे ही इसकी रुचि भजनमें है। यद्यपि घरके सभी लोग मांस-अंडा खाते हैं, किंतु यह मांस-अंडा छूतीतक नहीं। हमलोगोंके हाथका खाती भी नहीं। स्वयं भोजन बनाकर भगवान्‌को भोग लगाकर खाती है। दिनभर भजन करती रहती है। व्रत-उपवास करती रहती है। इस मांस-मदिरा-प्रधान देशमें भी ऐसी सात्त्विक प्रकृतिकी लड़की मिल सकती है, हमें बड़ा ही आश्चर्य हुआ। वह ऐसी मिल गयी मानो हमारा जन्म-जन्मान्तरसे उसका सम्बन्ध हो। रात्रिभर वह भजन-कीर्तनमें संलग्न रही। सभी लोग वहाँ रहकर बड़े प्रसन्न हुए।

दाणासे लेते

ज्येष्ठ शु० पूर्णिमा (७ जून)

प्रातःकाल दाणासे हम चले। कुमारी मीराँबाईने तथा उसकी माता, बहिन तथा समस्त परिवारने हमें विदाई दी। दाणासे थोड़ी दूरपर कोटचेपानी गाँव है। यहाँकी प्राकृतिक शोभा वर्णनातीत है। मार्गमें छोटे-छोटे ढाक (पलास) के वृक्ष खड़े थे, जिनपर लाल-लाल पुष्प लगे थे। हमारे यहाँ ढाकके वृक्ष बड़े-बड़े वृक्षके समान होते हैं, उनपर छोटे-छोटे पत्ते आते हैं, किंतु यहाँके ढाकके वृक्ष तो बहुत ही छोटे-छोटे थे, किंतु उनके पत्ते इतने बड़े-बड़े कि दो आदमी भोजन कर लें। कमलके पत्तोंसे भी बड़े। इतने बड़े ढाकके पत्ते तो आजतक हमने देखे नहीं। यहाँ गंडकीकी दो धारा हो जाती है। दोनोंपर ग्रामीण लोग काठके पटरे डालकर पुल बाँध देते हैं। वर्षामें जब पुल बह जाते हैं तो दो-तीन मीलका चक्कर खाकर दो-तीन मीलकी चढ़ाई चढ़कर उस पारसे जाना पड़ता है। हम जब पहुँचे तब एक धाराका पुल तो सुरक्षित था, दूसरा पुल बह गया था। उस समय उसे हमने कैसे पार किया, इसका स्मरण करके अब भी रोमाञ्च हो आता है। वैसे पानी तो कमर-कमर ही था, किंतु धारा इतने वेगकी थी कि तनिक पैर फिसले कि फिर पता नहीं कितनी दूर बह जायँ। सबसे अधिक कठिनाई ठंडे पानीकी थी, वह जल शूलकी तरह चुभता था। अग्निकी भाँति जलाता था। पैर सुन्न पड़ जाते थे, उनमेंसे जीवनी-शक्ति नष्ट हो जाती थी। हमलोग तो लाठीके सहारे किसी तरह पार हो गये। हमारे साथकी माताओंको बड़ा कष्ट हुआ। किसी प्रकार पकड़-पकड़कर उन्हें पार किया। इस पार आकर प्रायः सभी आधे बेहोश-से हो गये। जब शरीरमें कुछ चेतना हुई तब आगे बढ़े। कोटचेपानी, काभ्रे तथा तालबगर होते हुए हमलोग घासा पहुँचे। घासा अच्छा गाँव है। नैपाल-सरकारकी ओरसे एक पाठशाला है। बिल्कुल एकान्तमें ऊँची पहाड़ीपर। चारों ओर चीड़-देवदारुके वृक्ष हैं। हम उसी पाठशालामें गये। किंतु वहाँ पानीका बड़ा कष्ट था, नीचेसे लाना पड़ता था, इसलिये नीचे पानीके पास एक घर था। घरवाले सब खेतोंमें काम करने चले गये थे। उस सूने खुले घरमें हमने डेरा जमाया। स्नान-पूजा हुई। प्रसाद बना। यहाँ जौका सत्तू और गुड़ भी बाजारमें मिल गया। खिचड़ी प्रसाद उन्होंने बनाया। कमला-उर्मिलाने ऊपर फलाहार बनाया। यहाँ जल समीप था, दूकानें भी पास थीं। कुछ असुविधा नहीं हुई। प्रसाद पाकर फिर चल दिये। आजकल हमलोगोंको चलनेकी ही धुन सवार थी। कब मुक्तिनाथके दर्शन हों, कब लौटकर चलें, कब यह विकट यात्रा समाप्त हो। यही एकमात्र सबकी चिन्ता थी। यहाँसे आगे प्रायः सब बौद्ध-ही-बौद्ध हैं। मार्गमें स्थान-स्थानपर बौद्धोंके चैत्य (चबूतरे), बौद्धोंके मन्दिर, बौद्धोंकी ही ॐ माने पंमे हुँ (ॐ मणि पद्मे हुं) यही मन्त्र लिखी चरखियाँ रक्खी थीं। उन चरखियोंके घुमानेसे मानो मन्त्रका जाप हो गया। यहाँसे बरफके पहाड़ दिखायी देते थे। ठंड भी पड़ने लगी थी। अब ओढ़कर चलना पड़ता था। वर्षा भी प्रायः नित्य ही होती। चलनेका भी अब अभ्यास हो गया था। चढ़ाई-उतराईमें तो कष्ट होता था। शेष समतल चढ़ाईमें कुछ भी असुविधा प्रतीत नहीं होती थी। यहाँके दृश्योंको देखकर तो यही मन होता था कि यहीं रम जायँ, किंतु विषयोंकी वासनाएँ हमें लौटनेको प्रेरित करती थीं। स्थान-स्थानपर बहुत-से नदी-नाले खाले आ-आकर कृष्णा गंडकीमें मिल रहे थे। लेता-खोलाका जहाँ संगम है, वहाँसे आगे लेता बाजार है। घासाकी यह चढ़ाई अत्यन्त विकट है। लोगोंका कहना है जिसने घासाकी चढ़ाई पार कर ली, मानो उसने मुक्तिनाथके दर्शन कर ही लिये। अब तो इस घासाकी चढ़ाईको पार कर ही आये हैं। अब तो हमें विश्राम

हो ही गया कि मुक्तिनाथ भगवान्‌के दर्शन मिल ही जायँगे। चलते-चलते, चढ़ाई चढ़ते-चढ़ते हमें रात्रि हो गयी। जैसे-तैसे राम-राम करके हम लेते गाँवमें पहुँचे। गाँव बड़ा है। इसमें एक जमींदारका घर है। हमलोग उन्हींके घर पहुँचे। पहले तो गृहस्वामिनीने ना-ना किया, किंतु हमने डेरा डाल ही दिया, चिमटा गाढ़ ही दिया। गृहस्वामिनीने कहा— रहनेको तो रह जाओ, किंतु जल मत माँगना। जल यहाँ एक मील नीचेसे आता है। हमलोग पानीके घड़े लेकर पानी भरने तथा नित्य-कर्मसे निवृत्त होने चले। अँधेरी रात्रि, घोर जंगल, पहाड़ी विकट मार्ग, उस दृश्यको स्मरण करते हैं तो अब भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं। गृहस्वामिनीने मार्ग दिखानेको एक दासीको हमारे साथ भेजा। ऊबड़-खाबड़ पत्थरों-चट्टानोंको पार करते हुए कृष्णा गंडकीके एक छोटे झरनेमें पहुँचे। कृष्णागंडकीका जल तो काला काली बालू उसमें मिली थी। अतः गाँववाले दूसरे झरनोंका जल पीते हैं। रात्रिमें लोगोंने भोजन भी बनाया। कीर्तनकी ध्वनिसे सर्वत्र महामन्त्र गूँजता रहा, रात्रिभर रहे।

लेतेसे टुकचा बाजार

(आषाढ़ कृ० १, ८ जून)

प्रातःकाल लेतेसे चले। आगे कालापानी नामक स्थान आया। बड़ा ही मनोमोहक दृश्य था। हजारों-लाखों छोटी-छोटी पाषाण-शिलाएँ वहाँ पड़ी थीं। उन्हींपर पैर रखकर चलना था। यहाँ गंडकी फैल-फूट कर बह रही है। मीलों लंबा-चौड़ा मैदान था, जिसमें बालू बिछी हुई थी। ऐसा प्रतीत होता था मानो इसीसे हम त्रिवेणीसंगमपर बालू-बालू जा रहे हैं। मील, डेढ़ मील चलकर हलकी-सी चढ़ाई आयी। उसे चढ़कर किनारे-किनारे चले। अब यहाँ मक्काकी खेतीके स्थानमें धानकी खेती दिखायी देने लगी। जहाँ देखो वहीं धानकी खेती दिखायी दे रही है। इधर स्त्रियोंका ही प्राधान्य है। पुरुष तो केवल कमा लाता है। नहीं तो, घरका खेती-बारीका सभी काम स्त्रियाँ ही करती हैं। कई छोटे-मोटे पुलोंको पार करते हुए, कहीं पानीसे, कहीं बालूसे और कहीं सूखे मार्गसे निकलते हुए हम देवथान या देवस्थान नामक ग्राममें पहुँचे। यह बौद्धोंका गाँव है। बहुत बड़ा गाँव है। बौद्धोंका मन्दिर है। स्थान-स्थानपर चैत्य-चबूतरे बने हुए हैं, जिनमें बहुत-सी फिरनियाँ लगी हुई हैं। उनके दायें-बायें दोनों ओर सड़कें हैं। लोग आने-जानेवाले इन पूजा-चबूतरोंको दायीं ओर करके जाते हैं। ऊपर मकान बने हैं। मकानोंके नीचे-नीचे मार्ग है, सड़क है। गंदगीका तो फिर कहना ही क्या! स्त्री-पुरुष सब गंदे कपड़े पहिने हुए, मार्ग भी गंदे। किंतु मनमें छल-कपट नहीं, इतनी भगवान्‌की कृपा है।

हमलोग देवथानसे होते हुए दोपहरके लगभग टुकचे-बाजार पहुँच गये। टुकचा पहुँच गये मानो मुक्तिनाथ पहुँच गये। टुकचा बड़ा स्थान है। एक प्रकारकी पहाड़ी मण्डी ही है। यह मुक्तिनाथकी सीमा है, जैसे बद्रीनाथजीकी सीमा जोशीमठ। मुक्तिनाथजीकी रेख-देख यहाँ टुकचेके ही टकाली लोग विशेषरूपसे करते हैं। अतः यहाँ पहले टुकचाका परिचय कराके तब आगे बढ़ेंगे। पाठक अभी कुछ देर टुकचाकी शोभा निहार लें। यहाँका परिचय प्राप्त कर लें, तब मुक्तिनाथजीके दर्शनोंके लिये आगे चलें। (क्रमशः)

* * *

निर्मोही !

(रचयिता—प्रो० श्रीगोपालजी 'स्वर्णकिरण')

जितनी दूरी कम होती है, उतनी मंजिल बढ़ती जाती।
गीली-गीली राह सँपीली,
साँस-साँस की आशा ढीली;
मनका दर्द न उड़ पाता है,
छन्द न बनती पीर पनीली;
जितनी देह सूखती जाती, उतनी धूप विकस मुस्काती।
जितनी दूरी……

ता बनाती काया चंचल,
चू पड़ता है कभी दृगंचल;
शून्य कुहासा दिनमें करता,
हृदय सूखता, किस्मत निश्चल!
नी चाल बदलती जाती, उतनी छलना खुशी मनाती।
जितनी दूरी……

भीगी ध्वनि मोती-सी लगती,
नई प्रेरणा-बूँद न जगती;
झिलमिल मृग-मरीचिका निष्फल,
जड़िमामें ममता न उमगती;
जितनी घड़ी बीतती जाती, उतनी ही श्रद्धा मुरझाती।
जितनी दूरी……

उत्तर और दक्षिणकी शाश्वत एकता

(लेखक—श्रीअशोक महाजन)

आज कुछ लोग एक झूठा नारा लगाकर एकात्म भारतमें विभेदकी दीवारें खड़ी करना चाहते हैं। वे कहते हैं कि 'उत्तर दक्षिणपर आधिपत्य करना चाहता है।' यह झूठ है। उत्तर और दक्षिणका पर्दा मायाका पर्दा है। वास्तवमें दोनोंमें अपनी-अपनी विशिष्टता है, पर दोनोंकी मूल प्रतिभा एक-दूसरेसे आबद्ध है—संस्कृतिमें, धर्ममें, आचारमें, साहित्यमें, इतिहासमें, कलामें, रीति-नीति और भाषा तकमें समस्त भारतकी आत्मा एक है।

मनु और संत तिरुवल्लुवर

भारतीय एकताके आदि संस्थापकोंमें मनु और तिरुवल्लुवरका नाम विशेषरूपसे लिया जा सकता है। मनु उत्तरके थे और तिरुवल्लुवर दक्षिणके। पर दोनोंके विचारोंमें आश्चर्यजनक साम्य था। समाज-व्यवस्था, नियम और अनुशासन-सम्बन्धी जो निर्देश मनुने 'मनुस्मृति' में दिये, वही तिरुवल्लुवरने 'तिरुकुरल' में दिये। मनुने कहा है—

> वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः।
> मांसानि च न खादेद् यस्तयोः पुण्यफलं समम्॥
> (मनुस्मृति ५। ५३)

अर्थात् कोई वर्ष-प्रतिवर्ष सौ-सौ अश्वमेध यज्ञ करे, किंतु वह जो मांस खाता ही नहीं, उसे विना यज्ञ किये ही सौ अश्वमेध यज्ञोंका फल प्राप्त होता है। तिरुवल्लुवर इसी तथ्यको इस प्रकार कहता है—'जो प्राणी मांसको नहीं छूता, हिंसा नहीं अपनाता, वह महान् सुख प्राप्त करता है।' अतः इस प्रकार स्पष्ट है कि आदिकालमें, उत्तर दक्षिणकी संस्कृतिसे प्रभावित था और दक्षिण उत्तरकी संस्कृतिसे।

इसके बाद दक्षिणपर जैनधर्मका प्रभाव पड़ा। उत्तरके जैन प्रचारक दक्षिणमें आये। 'नमो अर्हन्तम्' आदि पाँच नमस्कार-मन्त्रोंका उन्होंने प्रचार किया। तभी सहसा वहाँ एक विराट् आध्यात्मिक क्रान्ति हुई। दक्षिणके संत वागीश और गौडपादाचार्य उत्तरकी ओर बढ़े। शैव संत अप्पट सुन्दरार और अव्वई असत्य और अधर्मका खण्डन करनेके लिये निकल पड़े। दक्षिणमें ज्ञानके दीप जल उठे। उत्तरने उन दीपोंकी ज्योतिमें समन्वय और एकताका पाठ पढ़ा।

भूमिकी प्रतिष्ठासे ऐक्य-भावना

करीब १२०० साल पहलेकी बात है। केरलके आचार्य शंकर अपनी कुटीमें यात्राकी तैयारी कर रहे थे। वे वेदान्तके पारदर्शी विद्वान् श्रीगोविन्द भगवत्पादके पास बदरीनाथ जा रहे थे। धुर दक्षिणका आचार्य, हिमालयकी ओर उन्मुख!

शंकर चलते-चलते थक गये थे। मैसूरमें एक तालाबके पास वे विश्रामके हेतु बैठ गये। उसके किनारे छोटे-छोटे मेढक खेल रहे थे। शंकर उनकी क्रीड़ा देखने लगे। तभी एक विचित्र घटना हुई। धूपसे पीड़ित होकर एक मेढक 'टर्र टर्र' कर रहा था और लगता था जैसे सहायताके लिये किसीको पुकार रहा हो। इतनेमें एक काले साँपने आकर उसके ऊपर अपना फन पसार दिया।

मेढक तो सर्पका भोज्य है, फिर यह क्या हुआ!

शंकरने दाँतों-तले अँगुली दबा ली। उन्होंने दौड़कर तालाबके किनारे बनी एक कुटीमें प्रवेश किया। शंकरने कुटीके स्वामीको यह घटना सुनायी। उसने तत्काल ही उत्तर दिया कि 'यह ऋषि शृंगीका पवित्र आश्रम है, इसीलिये यहाँके जीव आपसी वैर त्यागकर प्रेमके साथ निवास करते हैं।'

उसकी बात सुनकर विद्युत्की भाँति आचार्य शंकरके मनमें एक विचार कौंध गया। भूमिकी प्रतिष्ठासे यदि हिंसक जीवोंमें ऐक्यकी कल्पना सम्भव है तो जनताकी एकता भूमिकी प्रतिष्ठाके द्वारा क्यों नहीं स्थापित की जा सकती! घूम गया हिमालयसे कन्याकुमारीतकका यह विस्तृत देश शंकरकी आँखोंके सामने। यदि दक्षिणका जनसमुदाय हिमालयको उतनी ही श्रद्धा दे, जितनी कि उत्तरी जनता; और उत्तरकी जनता रामेश्वरम्को उसी श्रद्धासे पूजे, जिस श्रद्धासे, जिस आस्थासे एक बार स्वयं रामने पूजा की थी।

शंकरने मन-ही-मन संकल्प किया—जबतक इस महादेशमें एक दर्शनकी स्थापना न हो जायगी, तबतक मैं विश्राम नहीं करूँगा।

बस, इसी संकल्पको पूरा करनेके लिये आचार्य शंकरने समस्त भारतका पैदल भ्रमण किया। उत्तरमें बदरीनाथसे

मीप, दक्षिणमें रामेश्वरम्‌के समीप, पूर्वमें जगन्नाथपुरीके मीप और पश्चिममें द्वारिकापुरीके समीप उन्होंने मठ स्थापित कर एकताके कार्यमें बड़ा सहयोग दिया। परिणाम यह हुआ कि एक नादान—गँवार भारतीय भी, जो भूगोलके मार चाहे कुछ भी न जानता हो, उत्तरके बदरी-केदार, दक्खिनके बाबा रामेश्वर, पूरबके जगन्नाथ स्वामी और श्चिमके द्वारकाजीको खूब अच्छी तरह जानता है। जब ह अलकनंदामें दूसरे व्यक्तिकी देह-से-देह भिड़ाकर न करता है तो उसे होश नहीं रहता कि वह उत्तरका है या दक्षिणका। वह समस्त भेदभावोंको भूल जाता है और एकताके सूत्रमें खुद-ब-खुद बँध जाता है।

संघर्षकी जड़ राजनीति

राजनीति विभेदकी दीवारें उठाती है, आपसमें विभाजन करती है, संस्कृति ये दीवारें गिराती हैं, आपसमें ल कराती हैं। आज भाषाके नामपर उत्तर और दक्षिणमें मालिन्य और द्वेष-भाव व्याप्त हो गया है। कुछ क्षुद्र तिज्ञोंके षड्यन्त्रसे भाषाकी आड़में आज प्रादेशिकताको वा मिल रहा है। इतिहास साक्षी है कि प्राचीन भारतमें के नामपर कोई विवाद नहीं था। भारतमें उत्तरकी संस्कृत ही सर्वत्र पूज्य थी। उसकी किसीसे कोई न थी। प्राचीन आर्यग्रन्थोंमें दक्षिणकी 'पञ्चद्राविड़' ओंका नाम आदरपूर्वक लिया गया है। 'कन्नड़' कर्नाटक अन्य शब्द आदि प्राचीन ग्रन्थोंमें सम्मानार्थ प्रयुक्त हैं। महाभारतके 'सभापर्व'में 'कर्णाटकाश्च कूटाश्च जलाः सतीनराः' प्रभृति-विवरण मिलता है। तेलुगु द्रविड़की होते हुए भी उत्तरकी आर्यभाषाओंसे पर्याप्त द्ध रही है। तेलुगु भाषा-भाषी आन्ध्र जाति आर्यावर्तमें श्रद्धा और सम्मानकी दृष्टिसे देखी जाती रही है। ऐतरेय ब्राह्मण (७ । ६ । ३३) में कहा गया है—

तस्य ह विश्वामित्रस्यैकशतं पुत्रा आसुः पञ्चाशदेव ज्यायांसो मधुछन्दसः पञ्चाशत्कनीयांसः, तद्ये ज्यायांसो न ते कुशलं मेनिरेताननु व्याजहारान्तान्वः प्रजा भक्षीष्टेति त एतेऽन्ध्राः पुण्ड्राः शबराः पुलिन्दा मूतिबा इत्युदन्त्या बहवो वैश्वामित्रा दस्यूनां भूयिष्ठाः।

इसी प्रकार तमिळ, मलयालम और दक्षिणकी अन्य भाषाओंका उत्तरसे पर्याप्त मधुर सम्बन्ध रहा है। यह सुनकर पाठकोंको आश्चर्य होगा कि दक्षिणमें तुलसीकी हिंदी-रामायणका प्रचार एक तमिळभाषीने किया था। इस प्रकार उत्तर-दक्षिणकी आत्मा सदा एक रही।

उत्तर दक्षिणका ऋणी है

उत्तर दक्षिणके अनेक उपकारोंसे दबा हुआ है। दक्षिणके रामानुजके शिष्य रामानन्दने भक्तिमार्गका प्रचार कर हिंदीको दो महान् परम ज्ञानी परम भक्त, कवि दिये—कबीर और तुलसी। हिंदीका एक अन्य महान् कवि 'सूर' आन्ध्रके विचारक वल्लभाचार्यके पुष्टिमार्गके अष्टछापका सदस्य था। स्थानाभावके कारण यहाँ दक्षिणके समस्त उपकारोंका तो उल्लेख नहीं किया जा सकता, पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि जब-जब उत्तरमें आध्यात्मिक अग्नि मन्द हुई, दक्षिणने महापुरुषोंको जन्म देकर उत्तरको प्रदीप्त किया; जब-जब उत्तरके नभपर संकट छाया, दक्षिणमें उत्तरकी रक्षार्थ शक्तिकी अधिष्ठात्री माँ चण्डीका पूजन हुआ। अभी पिछले दिनों उत्तरपर चीनका जब हमला हुआ तो दक्षिणमें पञ्चदिवसीय महायज्ञ हुआ। यदि उत्तर और दक्षिणके बीच सचमुच कोई भेदभाव होता तो दक्षिणमें इतना बड़ा यज्ञ न होता।*

---

* कुछ वर्षों पूर्व हमलोग एक स्पेशल तीर्थयात्रा ट्रेनसे दक्षिणके तीर्थदर्शनार्थ गये थे। दक्षिणके प्रायः सभी प्रसिद्ध मन्दिरों, देवस्थानों तीर्थोंके दर्शन-स्नानका तथा वहाँके विद्वानोंके साथ ही साधारण जनसमुदायसे भी मिलनेका सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ था। हमने भी उत्तर-दक्षिणका कोई भेद नहीं पाया। एक संस्कृति, एक धर्म, एक शास्त्र, एक भगवान्। वहाँके लोगोंने हमलोगोंके प्रति प्रेम-सम्मानका व्यवहार किया, जैसा आदर्श आतिथ्य किया, वह हमारे जीवनमें चिरस्मरणीय रहेगा। उन्होंने बताया कि आजकल जो क्षिण-उत्तरका विवाद खड़ा किया जा रहा है, वह बड़े नगरोंमें ही है, गाँवोंमें नहीं। राजनीतिक लोगोंमें ही है, साधारण जनतामें नहीं। भगवान्‌के अधिकांश अवतार—सर्वप्रमुख श्रीराम और श्रीकृष्ण उत्तरमें हुए, जिनको दक्षिणवाले वैसे ही मानते हैं, जैसे उत्तरवाले। ज्ञान-भक्तिके महान् आचार्य श्रीशंकर, श्रीरामानुज, श्रीमध्व, श्रीवल्लभ सब दक्षिणमें हुए, जिनका पूजन और अनुकरण उत्तरवाले दक्षिण-जैसा ही, बल्कि कहीं-कहीं तो इससे बढ़कर करते हैं। वहाँ आर्य-अनार्यका झगड़ा भी बिल्कुल आधुनिक है। रावण अनार्य नहीं, आर्य कुलके थे—जो नेपालराज्यके गलेश्वर महादेवके 'राह' नामक स्थानमें उत्पन्न थे, पीछे [illegible] कर्मोंके कारण राक्षस हो गये।—सम्पादक

मानवधर्म

(लेखक—मुनि श्रीसंत बालजी)

आज जगह-जगह 'मानवधर्म' की बड़ी चर्चा है। हमें इस बारेमें स्पष्ट और व्यापक दृष्टिकोणसे विचार कर लेना चाहिये; क्योंकि मानवधर्म मानवजीवनकी नींव है। वह मजबूत नहीं होगी तो आखिर जिंदगीको हम टिकायेंगे किस आधारपर? और यदि मानवधर्मको अपनाये विना ही कोई जैसे-तैसे अपनी जिंदगी बितानेकी बात करता है तो उस जिंदगीका मूल्य ही क्या है? ऐसी जिंदगी पशुओं-जैसी जिंदगी होती है। उसमें जिंदगीका कोई मूल्याङ्कन या कोई महत्त्व नहीं होता, न कोई उत्कर्षका विचार होता है, जब कि मानव-जीवनमें उपर्युक्त सभी बातें आवश्यक होती हैं।

हमारे देशमें आये दिन धर्म और अध्यात्मकी बड़ी-बड़ी बातें होती हैं; किंतु आज हमारे देशवासियोंकी यह स्थिति है कि वे जीवनकी छोटी-छोटी समस्याएँ, नगण्य प्रश्न और छोटी-छोटी समस्याओंका धर्म और अध्यात्मकी दृष्टिसे समाधान नहीं कर पाते। इसका मूल कारण यह है कि हम बुनियादको सुदृढ़ किये बिना ही महल खड़ा करनेका प्रयास करते हैं। हर क्षेत्रमें आज हम पिछड़े हुए हैं और तप-त्याग-संयमके सही रास्तेसे कतराकर आसान रास्ता—जिसमें कुछ करना-धरना न पड़े, खोजते रहते हैं। इस सस्ते नुस्खेकी खोजने हमें विलासी, स्वार्थी, दुर्बल, असंयमी, ईर्ष्यालु और असहिष्णु बना दिया है। अतः हमें ऐसा मार्ग खोजना चाहिये, जिसमें चाहे हमें थोड़ा तप, त्याग या संयम करना पड़े, पर यथार्थ सुख और शान्ति स्थायी रूपसे मिले। वह मार्ग है—'मानवधर्म।'

मानवजीवनमें दो चीजें महत्त्वपूर्ण हैं—(१) जीवनको सुरक्षित रखनेका प्रयत्न करना और (२) सुरक्षामें जहाँ बाधाएँ आयें, न्याय प्राप्त करना हो, वहाँ संघर्षके लिये जीवनको तैयार रखना, उसे नया मोड़ देना।

पहली चीज हर प्राणीमें पायी जाती है। छोटे-से-छोटा प्राणी भी अपने जीवनको टिकाये रखनेके लिये सतत पुरुषार्थ करता रहता है; परंतु दूसरे प्राणियोंके जीवन टिकानेकी और मनुष्यके जीवन टिकानेकी दृष्टिमें अन्तर है। दूसरे प्राणी प्रायः अपने या अपने आसपासके स्वजातीय प्राणियोंतकका ही विचार करते हैं, जब कि मनुष्य अपने आसपासके स्वजातीय प्राणियोंके अतिरिक्त अपने पड़ोस, गाँव, नगर, प्रान्त, राष्ट्र एवं अन्य राष्ट्रोंके मानवोंका ही नहीं; प्राणिमात्र तकका—विशेषतः उपकारी प्राणियोंका—विचार करता है। इसलिये खाने-पीने, रहने आदिका विचार पशु जैसे अपना या अपनेतकका ही करता है, वैसे मनुष्य नहीं करता। वह व्यापक पैमानेपर, दूसरोंका भी विचार करता है। यही मानवधर्म कहलाता है, जो मनुष्यका विशेष गुण है।

परंतु इतनेमें ही मानवधर्मकी इति—समाप्ति नहीं हो जाती। मनुष्यको खाने, पीने, रहने आदिके सिवा न्याय, सुरक्षा, आरोग्य और शिक्षण-संस्कार आदिकी भी आवश्यकता रहती है। मनुष्यको खाने-पीनेको अच्छा मिलता है परंतु उसपर कोई अन्याय करता है या उसपर प्रहार करता है तो उसका जीवन दुःखमय बन जाता है। उसे मन-ही-मन वह दुःख, अपमान और भय कचोटता रहता है। अतएव न्याय और सुरक्षाके लिये उसका संघर्ष जारी रहता है। कई बार संघर्ष करते-करते उसके मनको यथार्थ शिक्षा और संस्कार नहीं मिले होनेसे वह क्रुद्ध होकर चाहे जिसपर प्रहार करनेको उतारू हो जाता है, उसे हर एक व्यक्तिके प्रति शंका रहती है कि यह दुष्ट है, यह मेरे साथ धोखा करेगा, अन्याय करेगा या मुझे मारेगा। इसीसे कई लोग रास्ते चलते हुए साँप या बिच्छूको देखते हैं तो उसे शत्रु समझकर तुरंत ही उसे मारनेके लिये टूट पड़ते हैं। यह नहीं सोचते कि जैसे हमें जीनेका अधिकार है, ठीक वैसे ही उसे भी जीनेका अधिकार है। वे इसी दृष्टिकोणसे सोचते हैं कि इसे जीवित रहने देकर क्या करना है? यह मुझे नहीं काटेगा, तो किसी दूसरेको काटेगा। किंतु जैसे हमारे अंदर परमात्माका अंश है, वैसे उसके अंदर भी परमात्माका अंश है। इस दृष्टिसे हम आत्मीय हैं, सम आत्मतत्त्ववाले हैं। इस दृष्टिसे सोचा जाय तो सोचनेका ढंग ही बदल जायगा। जैसे मैं जीता हूँ, वैसे वह भी जीये। इस दृष्टिसे सोचनेमें ही मानवता और सब प्राणियोंके साथ आत्मीयता रही हुई है। इसीलिये सभी धर्मोंके ग्रन्थोंमें सर्वप्रथम मानवधर्म या मानवताके विचारको विकासका प्रथम चरण माना गया है। यदि मानवता नहीं है और केवल मानव-शरीरका ढाँचा है तो उसे इतना महत्त्व नहीं दिया गया है। जैनागमोंमें देखिये—

चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जंतुणो ।
माणुसत्तं सुइ सद्धा संजमम्मि य वीरियं ॥

इस जगत्में प्राणियोंके लिये चार बातें बड़ी दुर्लभ हैं, उनमें सर्वप्रथम मनुष्यत्व। फिर क्रमशः श्रवण, श्रद्धा और संयमाचरणमें पुरुषार्थ।

बाइबिलमें भी यही बात कही गयी है—

'Humanity is the great gift of God.'

'मानवता ईश्वरकी सबसे बड़ी देन है।' इस्लामधर्ममें इन्सानियत आला दर्जेकी चीज बतायी है। वैदिकधर्ममें तुलसीरामायणमें इसी बातको सरल शब्दोंमें कहा है—

नरतन सम नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत एही॥
नरग नरक अपबर्ग निसेनी। ग्यान बिराग भगति सुख देनी॥

अभिप्राय यह है कि चर-अचर चौरासी लाख जीव-योनिमें सबसे महान् प्राणी मनुष्य है। परंतु इसकी महत्ता केवल शरीर-सुख बढ़ाने, धन-वैभव बढ़ाने, बुद्धि बढ़ाने या सत्ता बढ़ानेमें नहीं है। उसकी महत्ता मनुष्यता बढ़ानेमें है। जो सर्वाधिक महान् होता है, उसकी जिम्मेवारी भी उतनी ही महान् होती है। अर्थात् मनुष्यपर सबसे अधिक जिम्मेदारी यह है कि वह अपने जीवनमें मनुष्यताकी ज्योति जगाये; क्योंकि मानवधर्मके बिना स्वर्ग या मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती। वेदान्तके महान् दार्शनिक एवं संन्यास-संस्थाके पुनरुद्धारक श्रीशंकराचार्यने विवेकचूडामणिमें मुमुक्षुत्वके पहले मनुष्यत्वका होना अनिवार्य बताया है—

दुर्लभं त्रयमेवैतद् देवानुग्रहहेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः॥

मनुष्यत्वकी भूमिका तैयार हुए बिना मोक्षत्व-प्राप्तिकी भूमिका तैयार नहीं हो सकती। अतः सभी धर्मग्रन्थोंका निचोड़ यही है कि सर्वप्रथम मानवधर्म प्राप्त करो। इसे प्राप्त नहीं करोगे तबतक आत्मा, परमात्मा और वेदान्तकी बड़ी-बड़ी बातें व्यर्थ हैं, राखपर लीपनेके समान हैं।

मानवधर्मकी कसौटी दो प्रसंगोंपर होती है—जीवन सुरक्षित रखनेमें और न्याय तथा सुरक्षाके लिये संघर्ष करनेमें। इन दो प्रसंगोंपर उसकी जिंदगीको नया मोड़ न मिले, सही संस्कार न मिलें और दृढ़तापूर्वक मानवधर्मके सिद्धान्तोंपर टिकनेकी क्षमता न हो तो वह हार जाता है, थक जाता है, क्रूर बन जाता है या वह जडताकी प्रतिमूर्ति बन जाता है अथवा विलासी बन जाता है। यह मानवजीवनकी सबसे बड़ी हार है।

आप कहेंगे कि आत्माको टिकानेकी बात न कहकर शरीरको टिकानेकी बातपर क्यों जोर दिया जाता है? इसका उत्तर यही है कि यद्यपि शरीर साधन है, साध्य नहीं है; किंतु जबतक आत्माके साथ वह संलग्न है, तबतक उसके द्वारा साध्य-प्राप्तिका प्रयत्न किया जाना चाहिये।

'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'

शरीर प्रथम धर्मका साधन है। मानव शरीरद्वारा धर्म-साधना करके उद्देश्य प्राप्त कर सकता है। इसीलिये इसको स्वस्थ, सुरक्षित एवं सुसंस्कारित रखना अत्यावश्यक है और ऐसे धर्मसाधनायोग्य शरीरसे जीविका, न्याय, सुरक्षा आदिके लिये संघर्षके समय मानवधर्मको सुरक्षित रखना और बढ़ाना चाहिये। अब हम इस विषयको स्पष्ट करनेके लिये क्रमशः कुछ उदाहरण देते हैं—

घटना लगभग पचीस साल पहलेकी है। एक दिन एक तीन दिनका भूखा आदमी एक साधनसम्पन्न सेठके द्वारपर आया। सेठ गद्दीपर बैठे मुखवास ले रहे थे। इसी समय वह क्षुधापीड़ित व्यक्ति क्षणभर सेठकी ओर, दूसरे क्षण बाहरकी ओर झाँक रहा था। भूखसे वह घबराया हुआ था; पर उसके पैर अंदर घुसनेके लिये उठ नहीं रहे थे। कई दिनोंसे वह किसी काम-धंधेकी तलाशमें था; पर काम न मिला। जहाँ जाता वहाँसे इन्कार ही मिलता। **'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्'** इस उक्तिके अनुसार भूखे व्यक्तिके मनमें कई बुरे विचार भी आ जाते हैं। पर इसके मनमें यही विचार आये कि इस साधनसम्पन्न व्यक्तिके पास जाकर कोई काम माँगूँ, यदि काम न देंगे तो रोटी तो जरूर दे देंगे। आजतक उसने किसीके आगे हाथ नहीं पसारे थे। उसका स्वाभिमान उसे सेठजीको कुछ कहनेसे इन्कार कर रहा था। इतनेमेंही सेठकी दृष्टि उसपर पड़ी। सेठने भ्रुकुटि चढ़ाते हुए कहा—'कौन है?' उसने कहा—'मैं मनुष्य हूँ।' सेठ बोले—'मनुष्य है यह तो मैं भी जानता हूँ, पर कौन और किसलिये यहाँ आया है?' वह बोला—'मैं एक तीन दिनसे भूखा आदमी हूँ। आपके द्वारपर कुछ आशा लेकर आया हूँ।' सेठ गरजते हुए बोले—'तू तो **हट्टाकट्टा है, काम कर सकता है, फिर भी काम नहीं करता और मुफ्तमें खाना चाहता है।'**

हाय ! सुखचैनमें रहनेवाला मनुष्य दुखियाके दर्दको नहीं महसूस कर सकता । इस संसारमें जो दुखी है, वही पर-दुःखका अनुभव कर सकता है । 'घायलकी गति घायल जाने और न जाने कोय !' सेठजीको क्या पता कि भूख कैसी भयानक चीज होती है ? क्योंकि उन्होंने कभी भूखमें दिन नहीं बिताये थे ।

सेठजीको उत्तरमें उसने यही कहा—'मैंने काम ढूँढ़नेके लिये बहुत प्रयत्न किया; परंतु काम नहीं मिला । मेरे पेटमें पानीके सिवा तीन दिनसे कुछ नहीं पड़ा । इससे शरीरमें इतनी ताकत कहाँ कि वह काम कर सके ! मुझे कुछ खानेको मिले तो मैं अवश्य ही काम करनेको तैयार हूँ ।' पर सेठजीकी मानवता मर चुकी थी । वे तुरंत बोले—'जाओ, चले जाओ यहाँसे ! मैं तुम्हारी यह बहानेबाजी सुननेको तैयार नहीं ।' बुभुक्षित व्यक्तिने फिर भी साहस करके कहा—'सेठजी ! मैं भी एक दिन साधनसम्पन्न था । बीस-पचीस आदमी मेरे यहाँ काम करते थे । आज मेरे बुरे दिन आये हैं, इसलिये बहुत संकोचसे मैं आपके पास आया हूँ । मैं भिखारी नहीं हूँ ।' सेठजीका पारा गरम हो गया । वे कहने लगे—'बस-बस, बंद करो अपनी यह शेखी ! माँगने तो आया है, फिर भी इतनी शेखी बघारता है । जाओ, कुछ नहीं मिलेगा ।'

तुलसी कर पर कर करो कर तर करो न कोय ।
ना दिन कर तर कर करो वा दिन मरन भलोय ॥

इस उक्तिके अनुसार बेचारे उस व्यक्तिका स्वाभिमान मर चुका था । वह एक दम बाहर निकल गया और सोचने लगा—'अब मैं क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? इस सेठको पता नहीं है कि मुझे कहीं कुछ मिला नहीं है, तभी इनके द्वारपर आया था । सेठजी मानव होकर भी सही ढंगसे कुछ विचार नहीं करते ।' कहा है—

'विचार बिन नर है पशु समान'

यह सोच ही रहा था—इतनेमें एक आदमी मिला । उसने सलाह दी—'भाई ! तुम इन सेठजीके पास ही दुबारा जाओ । इनकी आदत है कि ये पहले डाँटते हैं, फिर काम देते हैं ।' इस बार फिर बड़ी आशासे वह अंदर घुसा । पर सेठजी उसे देखते ही आगबबूला होकर अपने नौकरसे कहते हैं—'अरे ! जाओ, इस आदमीको मार भगाओ । ये ऐसे धूर्तलोग हैं कि दिनमें सब देख जाते हैं और रातको चोरी करते हैं ।' नौकरके पास आनेसे पहले ही वह बाहर हो गया । उसके स्वाभिमानको बहुत बड़ी चोट लगी । सोचने लगा—'बस, अब इस संसारमें मेरा कोई नहीं है । इससे तो अच्छा यही है कि मैं अपना जीवन समाप्त कर दूँ, जिससे सदाके लिये भूख न सताये । मेरे बिना इस संसारका कौन-सा काम अटका है ?'

मनुष्य स्वाभिमान नष्ट होनेपर जीना हराम समझता है । वह भाई भी शीघ्र रेलगाड़ीकी पटरीपर जाकर सो गया । थोड़ी देरमें छुक-छुक करती रेलगाड़ी आयी । ड्राइवरने देखा नहीं, उसके शरीरपरसे गाड़ी चली गयी । बस क्या था । उसका सिर धड़से अलग जा पड़ा । सारा अङ्ग लोहूलुहान हो गया । थोड़ी दूर जानेपर ड्राइवरको पता चला कि एक्सीडेंट (दुर्घटना) हो गया है । उसने ट्रेन रोकी । कई यात्री यह देखनेके लिये उतरे कि क्या हुआ ? इस दुर्घटनामें कौन मरा ? लोग मृत व्यक्तिकी ओर करुणापूर्ण नेत्रोंसे देख रहे थे । अभागे मृतककी जेबमेंसे एक चिट्ठी बाहर गिर पड़ी थी । लोगोंने उसे उठाकर पढ़ा तो वे इसका रहस्य पा गये कि यह दुर्घटना नहीं हुई । आत्महत्या की गयी है । भावुक यात्री कहने लगे—'आह ! यह संसार कैसा है ? लोग आत्महत्या क्यों कर लेते हैं ? पता नहीं इसमें उन्हें क्या स्वाद मिलता है !' यों थोड़ी देर बिचार-विनिमय करके वे एक-एक करके सब अपने डिब्बोंमें चले गये और खाने-पीनेमें मशगूल हो गये । वे सेठजी जिनके यहाँ यह अभागा मृत भाई काम माँगने और खाना माँगने गया था, इस समय इस घटनास्थलपर पहुँचे । सारी परिस्थिति देखी, चिट्ठी पढ़ी और उनके सामने कल घरपर आये हुए और भूखसे पीड़ित व्यक्तिका चेहरा घूमने लगा । सेठजीकी आँखोंसे टप-टप आँसू गिरने लगे । लोगोंने सेठजीसे कहा—'सेठजी, यह क्या ? आपकी आँखोंमें आँसू ! क्या यह आपका कोई रिश्तेदार होता है ?' सेठजीने आँसू पोंछते हुए उत्तर दिया—'भाइयो ! इसकी आत्महत्याका निमित्त मैं हूँ । मुझसे बहुत बड़ी गलती हो गयी है । कल यह भाई मेरे यहाँ आया था, काम माँगता था, कोई भी काम ! किंतु मैंने इसे डाँटा । न इसे काम दिया और न खाना ही ।'

इन सेठजीने शीघ्र ही सारी घटना आद्योपान्त श्रीकिशोरलालभाई मश्रुवालाको लिखी और पत्रद्वारा पूछा कि मेरे जीवनमें यह कैसी दुःखद घटना घटी है, जो मेरे मनको

दुःखित कर रही है। मैं इसका क्या प्रायश्चित्त करूँ ? मैंने नामवरीके लिये बहुत दान दिया, पर एक मरते हुए मानवको बचानेके लिये मानवताके नाते कुछ नहीं दिया । पर अब क्या हो सकता है, जब कि वह भूखा इन्सान तो अपना दम तोड़ चुका है ?' किशोरलालभाईने उस पत्रका आवश्यक अंश 'नवजीवन'में प्रकाशित किया और उसपर इस आशयकी टिप्पणी लिखी, जो उन सेठजीके पत्रके उत्तर-रूपमें थी—'भाई ! आजकल भिखारियोंकी समस्या यहाँ बढ़ गयी है । हमारा देश पहले ही गरीब है । हम सभीको दें तो भिखारीपन बढ़ता है । परंतु इतना अवश्य होना चाहिये कि अगर किसी व्यक्तिको हमें थोड़ा देना हो या कुछ भी न देना हो तो हाथ जोड़कर नम्रतासे कह देना चाहिये । किसी व्यक्तिको डाँट-डपटकर उसका अपमान नहीं करना चाहिये ।'

पर ऐसा कौन करेगा ? जिसमें मानवधर्मका दीपक जल रहा होगा, मानवता जाग्रत् होगी । जिसकी इन्सानियत मर चुकी होगी, वह ऐसा नहीं सोचेगा । मानवधर्म जिसमें जाग्रत् होगा, वह प्रत्येक पदपर विचार करेगा कि जैसे मुझे मीठे शब्द प्रिय लगते हैं, वैसे ही दूसरोंको भी प्रिय लगते हैं। जैसी मुझे भूख लगती है, वैसी ही दूसरोंको लगती है । मैंने खाना खा लिया, पड़ोसी भूखा तो नहीं है ? गाँवमें कोई भूख या अभावसे पीड़ित तो नहीं है ? गाँबमें किसको रोजी नहीं मिली है ?

यह समस्या केबल इस देशकी ही नहीं, सारे संसारकी है। यदि मानवधर्म सुरक्षित रखकर यह समस्या सुलझायी जाय तो शान्तिसे सुलझ सकती है । परंतु मानवधर्मको तिलाञ्जलि दी जायगी और केवल धर्मोंके आश्रित क्रियाकाण्डोंका आडम्बर किया जायगा तो समस्या सुलझेगी नहीं और आखिर साम्यवाद वहाँ आकर खड़ा हो जायगा । धर्मगुरु उस समय समस्याको नीति-धर्मकी दृष्टिसे सुलझानेके बजाय यही कहते रहें कि 'संसार असार है, हमें 'संसारके पचड़ेमें पड़नेसे क्या मतलब ? जो होना होगा, सो होकर ही रहेगा। हमारे पुरुषार्थसे क्या होता है ? आदि ।' तो वे अपनी आँखोंके सामने जीता-जागता प्रलय देखेंगे और तिब्बतमें लामाओंकी जो दुर्दशा हुई, उसीकी पुनरावृत्ति यहाँ होगी ।

एक विदेशी विद्वान्ने तो यहाँतक कहा है कि 'जहाँ एक भी अच्छा संत रहता होगा, वहाँ अनिष्ट पैदा हों तो भी वे टिक नहीं सकते; क्योंकि धर्ममें सभी अनिष्टोंको धोनेकी ताकत है ।' पर हमारे धर्मगुरुओंकी प्रायः यह हालत है कि वे मानवजीवनके किसी भी क्षेत्रमें कोई अनिष्ट होगा तो कदाचित् व्याख्यानमें उसकी सामान्य चर्चा कर देंगे, या उस अनिष्टकी निन्दा कर देंगे, पर उस अनिष्टको दूर करनेके लिये तप-त्यागका कार्यक्रम अपनानेके लिये कहा जायगा तो कहेंगे—'यह हमारा काम नहीं है ।' महात्मा गाँधीजीने जब राजनीतिके क्षेत्रको शुद्ध करनेका कदम उठाया तो उनसे कहा गया—'आप इतने आध्यात्मिक होकर राजनीतिकी गंदगीमें क्यों पड़े ?' उन्होंने सचोट उत्तर दिया—'जहाँ गंदगी है, वहीं सफाई करना आध्यात्मिकका काम है। माँ बच्चेकी टट्टी देखकर दूर भागे, साफ न करे तो कौन करेगा ? धर्ममें तो इतनी शक्ति है कि वह पापी-से-पापी व्यक्तिको पवित्र कर सकता है, तो फिर समाजके अनिष्टों—गंदगीसे वह क्यों घबराता और भागता है ?' सारा संसार डूब रहा हो तो उसे तिराकर बादमें स्वयं पार होना यही तो धर्मगुरुका कर्तव्य है। जो स्वयं मरकर दूसरोंको जिला नहीं सकता, वह अहिंसक वीर साधु कैसे कहा जा सकता है ?

हाँ तो, मैं कह रहा था कि साधुता तो बहुत दूरकी चीज है, पहले मनुष्यता होनी चाहिये; क्योंकि मनुष्यता मोक्षकी नींव है। मकानकी नींव न हो और वृक्षका मूल न हो तो—ये दोनों कैसे टिकेंगे ?

इसीलिये 'मानबधर्म'में दो बातोंको मुख्यता दी गयी। पहली बात यह है कि अपने साथ-साथ दूसरोंकी जिंदगी और जीविकाका भी बिचार करो और दूसरी बात—सामूहिक न्याय और सुरक्षाके लिये तैयार रहो। यदि मनुष्य केवल अपने ही जीवनका विचार करे तो वह स्वार्थी कहलायेगा। मुझे एक माताका उदाहरण याद आ रहा है।

एक माता थी; वह अपने बच्चोंको प्यार तो करती थी, पर अपनी स्वाद-लोलुपताके कारण अच्छा-अच्छा भोजन बच्चोंसे छिपाकर अपने लिये एक डिब्बेमें ताला बंद करके रख देती थी और बच्चे इधर-उधर चले जाते, तब खाती थी। कई दिनोंतक उसका यह क्रम चलता रहा । एक दिन एक बच्चेने देख लिया कि माँ स्व अच्छा खाना खा रही है। उसने अपने भाई-बहनोंसे यह बात कह दी। दूसरे बच्चोंने कहा—'यह माता तो है, पर हमें अच्छा खाना नहीं खिलाती ।' अब क्या था ? एक दिन माता कहीं बाहर गयी हुई थी, सब बच्चोंने मिलकर खानेके

डिब्बेका ताला तोड़ डाला और उसमें रक्खा हुआ सारा भोजन साफ़ कर दिया। माता घर आयी और उसने खानेका डिब्बा सँभाला तो खाना नदारद ! उसे बच्चोंपर शक हुआ। तुरंत ही पड़ोसियोंके पास जाकर हो-हल्ला मचाया—'हाय ! हाय ! कलियुग आ गया है। बच्चे कैसे हो गये हैं। माताकी बात नहीं मानते और ताला तोड़कर खाना खा जाते हैं।' पड़ोसिनने कहा—'तू बच्चोंको अच्छा खाना खिलाती है कभी ?' उसने कहा—'इन्हें अच्छा खाना खिलानेसे इनकी आदत जो बिगड़ जायगी।' पड़ोसिनने कहा—'बस रहने दे, तेरी फिलोसाफी ! हमें तो इसमें दोष तेरा ही लगता है, बच्चे बेचारे और क्या करते, जब तू उनसे छिपाकर स्वयं अच्छा खाती है और उन्हें नहीं खिलाती ?'

जैसे भोजन परोसनेवाला पहले सबको खिलाकर बादमें स्वयं खाता है। वही धर्म माताका है और वही धर्म व्यापारीका समझना चाहिये। व्यापारी समाजको यथायोग्य चीजें परोसनेवाला है। उसके पास संग्रह इसीलिये होता है कि वह समाजमें यथायोग्य वितरण करे और बचे हुएका स्वयं उपभोग करे। इसीलिये व्यापारीको 'महाजन' कहा गया है। पुराने जमानेके महाजन गाँवमें कोई भूखा होता तो उसे खिलाये बिना स्वयं तबतक भोजन नहीं करते थे। व्यापारियोंने तो अपना मानवधर्म भूतकालमें सुरक्षित रक्खा था। वे अपनेको धनका ट्रस्टी समझते थे। जब समाजको जरूरत होती तो उसके चरणोंमें अर्पित कर देते थे।

भालप्रदेशके हडाला गाँवका खीमाशाह देदराणी इसी प्रकारका गुजरातका प्रसिद्ध व्यापारी हो गया है। गुजरातमें जब भयंकर दुष्काल पड़ा और लोग अन्नके दानेके लिये तरस रहे थे, पशु मर रहे थे, उस समय गुजरातके व्यापारियों (शाहों) ने अपना कर्तव्य समझकर सारे गुजरातमें दौरा करके तिथियाँ लिखना शुरू कर दिया। एक महीनेमें सारा काम निपटाना था। एक दिन प्रभातबेलामें वे हडाला गाँवके बाहरसे होकर जा रहे थे कि खीमाशाहने उन्हें देख लिया और पहिचान लिया। वह बड़ी मुश्किलसे बहुत आग्रहपूर्वक उन्हें नाश्ता करनेके बहाने अपने घरपर लाया। स्वस्थ हो जानेके बाद उसने मूल बात छेड़ी और समझ गया कि ये गुजरातके दुष्काल-निवारणके लिये अन्नकी तिथियाँ लिखनेके हेतु दौरा कर रहे हैं। तत्काल अपने पिताजीकी सम्मति लेकर खीमाशाहने तिथियाँ अंकित थीं, उस पन्नेको हाथमें लेकर ३६५ तिथियाँ लिख दीं। शाहोंने समझा 'शायद ये पढ़े-लिखे कम होंगे, भूलसे ऐसा लिख दिया होगा।' उन्होंने स्पष्टीकरण किया तो उनका अनुमान गलत निकला। खीमाशाहने उनकी शंकाका समाधान करनेके लिये अपने अन्नके भंडार तथा सोने-चाँदी एवं जवाहरातके ढेर बताये। लोग आश्चर्यचकित होकर उन्हें धन्यवाद देने लगे। खीमाने कहा—'यह सम्पत्ति मेरी नहीं, समाजकी है, मैंने इसे समाजसे प्राप्त की है। हाँ, मैंने पुरुषार्थ जरूर किया है।'

यह है मानवधर्मका ज्वलन्त उदाहरण !

भारतमें एक दिन मानवधर्मका डंका बजता था। लोगोंको मानवधर्मके पालनका उपदेश नहीं देना पड़ता था। वह उनके जीवनमें ताने-बानेकी तरह सहज ओत-प्रोत था। आज भी इसके नमूने गाँवोंमें मिलते हैं; क्योंकि भारतकी संस्कृतिमें माता, पिता, गुरु और अतिथि—इन चारोंको देवता मानकर चलनेका विधान है। फिर मानवधर्म तो इसमें आ ही जाता है।

अमेरिकासे भारतका प्रवास करनेके लिये एक महिला आयी। वह मेरे पास मिलने आयी तो मैंने उससे पूछा—'आपने भारतमें क्या विशेषता देखी ?' उसने कहा—'मुझे यहाँ अतिथिके लिये अपना सब कुछ दे देनेकी वृत्ति दिखायी दी। जहाँ जाती, वहाँ आँखोंमें प्यार झलकता देखा। यूरोप-अमेरिकामें सम्पत्तिकी कमी नहीं है, पर वहाँ ऐसा प्रेम नहीं है। वहाँ कुत्तेके साथ अवश्य प्यार किया जाता है; पर मनुष्यको प्यार नहीं मिलता।' मैंने कहा—'यह तो आपने अच्छाईका पहलू बताया। खटकनेवाली चीज क्या देखी ?' उसने कहा—'मैंने सुना था कि हिंदुस्तान गाँधीजीका पुजारी देश है; पर यहाँ मैंने देखा कि लोग खादी बहुत पहनते हैं, पर गाँधीजीके विचारोंपर नहीं चलते। जहाँकी ८५ प्रतिशत गाँवोंमें बसनेवाली जनता बेकार-बेरोजगार हो, वहाँ खादी पहनकर इने-गिने लोग कारोंमें घूमते-फिरें, यह चीज शोभा नहीं देती।'

हाँ तो, अमेरिकन बहिनके मुँहसे ऐसी लज्जाजनक बात सुनकर भी आप धार्मिक होनेका दावा करें और आपके अन्नदाता ग्रामीण भाई भूखों मरें, फटे-हाल रहें, यह आपके मानवधर्मको बहुत बड़ी चुनौती है।

अब मानवधर्मके दूसरे अङ्गपर विचार कर लें। जब कभी न्याय और सुरक्षाके लिये संघर्ष आये, उस समय

टिके रहना बड़ा ही कठिन है। महाकवि सेक्सपियरने एक बार कहा था—'मनुष्य स्वार्थके लिये भी परमार्थ करता है।' इस युक्तिमें कितना तथ्य है। मनुष्यको अपना जीवन सुख-शान्तिपूर्वक बितानेके लिये, अपने जीवनके साथ समाज-जीवनमें सुव्यवस्था लानेके लिये भी 'मानवधर्म'का पालन करना अनिवार्य हो जाता है। मान लीजिये, आपके गाँवकी एक बहनकी कोई गुंडा छेड़खानी करने, उसपर बलात्कार करके उसका शील हरण करनेको उतारू हो जाता है, उस समय आप यही सोचें कि यह हमारे कुटुम्ब, जाति, समाज, धर्म-सम्प्रदाय या प्रान्तकी तो नहीं है, हमें इससे क्या मतलब! तो कलको आपकी बहन-बेटीपर कहीं ऐसी ही वारदात हो रही होगी, उस समय दूसरे कुटुम्ब, जाति, धर्म-सम्प्रदाय, समाज या प्रान्तका व्यक्ति भी ऐसा ही सोचने लगे तो क्या हाल होगा? फिर तो कहीं भी किसी बहन-बेटीकी इज्जत सही-सलामत नहीं रह सकेगी। ऐसी ही बात समाजमें अन्यायियों, अत्याचारियों, शोषकों या अनीतिमानोंद्वारा प्रचलित अन्याय, अत्याचार, शोषण, अनीति, धोखा, बेईमानी आदि अनिष्टोंके समय आपके और दूसरे कुटुम्ब, जाति, समाज, धर्म-सम्प्रदाय या प्रान्तवालोंको सोचनी है। यदि उस समय उनमें मानवधर्मका भान हो तो वे उक्त अनिष्टोंसे अनिष्ट-पीड़ितोंकी सुरक्षा किये बिना रह ही नहीं सकते। पर हम ऐसे मौकोंपर क्या सोचते हैं—इसके सिरपर चोटी नहीं, यह हमारा नहीं, या इसके मुँहपर दाढ़ी नहीं हो तो वह पराया है। अथवा नमाज पढ़ता हो तो हमारा है या तिलक लगाता हो तो हमारा है! यह सोचनेका सही ढंग नहीं है। कोई भी, कहीं भी, किसी देश-वेष और प्रान्तका क्यों न हो यदि वह मानव विपत्तिमें पड़ा है तो हमें मानवताके नाते उस समय धर्म, जाति, देश, प्रान्तके लेबलोंसे परे होकर उसकी सहायता करनेको कूद पड़ना चाहिये। ऐसे [illegible] जीवनके असली मूल्योंको निभाते हुए जीना ही जिंदगी है और मानवधर्मका आचरण है।

हिंदुस्तान और पाकिस्तानके विभाजनके समय हमारे मानवधर्मकी कसौटी हुई। पर हम उसमें असफल हुए; क्योंकि हिंदुओंकी बहन-बेटियोंके शीलपर पाकिस्तानके कुछ गुंडोंने आक्रमण किया तो हिंदूलोग या मुस्लिमलोग [illegible] तरह कायर होकर देखते रह गये। उन्होंने इन्सानियतका गला अपने ही हाथोंसे घोंट डाला।

सौराष्ट्रका एक प्रसंग है। एक महिला एक हाथमें अपने बच्चेको लिये हुए और दूसरे हाथमें सामानकी पोटली लेकर रेलगाड़ीसे उतरी। उसका पति पीछे-पीछे चला आ रहा था। सहसा एक अंग्रेज उस युवतीके सौन्दर्य-को देखकर मोहित हो गया। शायद वह शराबके नशेमें था। वह तुरंत डिब्बेमेंसे उतरा और एक हाथमें रिवालवर तानते हुए उसने दूसरे हाथसे उक्त बहनका हाथ पकड़ लिया और खींचकर उसे ले जाने लगा।

दिनदहाड़े यह दुष्कार्य हो रहा था। प्लेटफार्मपर सैकड़ों आदमी खड़े थे, पर किसीकी हिम्मत नहीं हुई कि इस अंग्रेजके फंदेसे युवतीको छुड़ाये और उसे कुछ कहे। सबको अपने प्राणोंकी चिन्ता थी। उस बहिनका पति, जो शरीरमें तगड़ा था, वह भी यह सब अपनी आँखोंसे देखते हुए भी चूँ न कर सका। बहिन 'बचाओ—बचाओ' चिल्ला रही थी।

इतनेमें ही दूसरी गाड़ीमेंसे एक भाईने यह सब देखा और वह मर्दका बच्चा अपना माल-असबाब ज्यों-का-त्यों छोड़-कर दौड़ पड़ा और एक ही झटकेमें उस बहिनको अंग्रेजके हाथसे छुड़ा लिया। उस भाईने भी अपनी जेबमेंसे तमंचा निकाला। अंग्रेज सिर नीचे किये तमंचा ताने खड़ा था। उसने उसे खूब फटकारा। अंग्रेज चला गया। बहन प्रसन्न हुई, हृदयसे आशीर्वाद देने लगी। इतनेमें प्लेटफार्मपर खड़े तमाशबीन लोग उस वीरको धन्यवाद देने आये। पर उसने उन्हें साफ-साफ सुना दिया—'आप धन्यवाद देने आये हैं। अबतक कहाँ गये थे। मैं ऐसे नामर्दोंका धन्यवाद नहीं चाहता।'

सहसा वह बहिनके पतिकी ओर मुड़ा और एक थप्पड़ उसके गालपर जमाया। कहा—'अरे नामर्द! जब तू अपनी औरतकी रक्षा नहीं कर सकता तो तूने शादी क्यों की? तेरा शादी करनेका अधिकार नहीं। तेरा कर्त्तव्य था कि तू इसके सुख-दुःखमें, परेशानीमें, आफतमें साथ रहता।' युवक पति झेंप गया और शर्मके मारे नीचा मुँह किये खड़ा रहा।

इतनेमें तो वह अंग्रेज पुलिस चौकीपर पहुँचा और उसने रिपोर्ट लिखायी कि 'मेरा खून करनेका उक्त भाईका इरादा था।' पुलिस आयी और बिना कुछ कहे-सुने स्त्रीको बचानेवाले उस भाईको गिरफ्तार कर लिया। उसने पुलिससे कहा—'मेरे बयान तो सुनो, बादमें मेरा अपराध हो तो

पकड़ना ।' पर पुलिसवालोंने कहा—'तुम्हारा कोई गवाह है, इस किस्सेमें ?' प्रत्यक्षदर्शी साक्षी तो प्लेटफार्मपर बहुत-से खड़े थे और धन्यवाद देने भी आये थे । परंतु जब उस जवाँमर्द भाईने गवाहीके लिये उनकी ओर नजर दौड़ायी तो सभी छूमंतर हो गये थे, यहाँतक कि धन्यवाद देनेवाले भी गायब थे । आखिरकार वह भाई पुलिसके पंजेसे छूट तो गये; पर उनके मनमें कसक रह गयी और मेरे पू० गुरुदेवके पास आकर कहने लगे कि आप धर्म और अध्यात्मकी लम्बी-चौड़ी बातें कहने और उपदेश करनेके बजाय सर्वप्रथम मानव-धर्मकी बात अपने अनुयायियोंसे कहिये और उनमें मर्दानगी भरिये ।

जहाँ मानवधर्म विदा हो जाता है, वहाँ तो हैवानियत या शैतानियत आकर डेरा डाल देती है ।

इसीलिये आज मानवधर्मके पालनकी स्वार्थ और परार्थ दोनों दृष्टियोंसे अत्यन्त आवश्यकता है ।

मैंने आपके सामने मानवधर्मके दो पहलू रक्खे—(१) पहला पहलू है खुद जीते हुए दूसरोंको जिलाना । अपने पास जो कुछ भी है, उसमें दूसरेका भी हिस्सा है । जैसे एक माँको यह कहना नहीं पड़ता कि तेरे बच्चेको भूख लगी है, दूध पिला। वह तो स्वयं स्फुरणासे बच्चेकी भूख-प्यास मिटाती है । वैसे ही साधनसम्पन्न व्यक्ति भी माताकी तरह स्वयं स्फुरणासे समाजकी भूख-प्यास मिटायें । समाजकी जिंदगी टिकाये रखनेका प्रयत्न करें । (२)दूसरा पहलू है—न्याय और सुरक्षाके लिये जब संघर्षका अवसर आये तब मानव-मूल्योंको सुरक्षित रखते हुए अपने सुसंस्कारवश हम स्वयं तैयार हों । यानी मृत्युका भय छोड़कर भी इन दोनों तत्त्वोंकी सुरक्षा करें ।

ये दोनों पहलू मिलनेसे मानवधर्म सर्वाङ्गपूर्ण बनता है । यदि यह सर्वप्रथम जीवनमें नहीं आया तो धर्म, अध्यात्म आदि बिना एकके शून्य-जैसे हैं । दस बिन्दियाँ लगी हों, किंतु उनके पहले एक न हो तो उनकी कोई कीमत नहीं होती । वैसे ही मानवधर्म न हो तो अध्यात्मकी बातें शून्यवत् हो जाती हैं ।

आशा है, आप इस विषयपर गहराईसे सोचेंगे और मानवधर्मको अपने जीवनमें चरितार्थ करनेका प्रयत्न करेंगे।

चञ्चल मनके प्रति

रे मन ! चञ्चल तू धोखा मत दे ! ऐ मेरे साथी ! तू वैरी मत हो ।

'प्रभु-स्मरणको अवकाश नहीं'—यह एक बहाना है । क्या हरि-चिन्तनको भी निश्चित समय चाहिये ! नहीं-नहीं, यह तो हर-पहर, हर-घड़ी, हर-क्षणका काम है ।

क्या मुस्कराता हुआ सुमन, चुभता हुआ काँटा, जलता हुआ दीपक और पड़ता हुआ काजल—हरि-चिन्तनका सहायक नहीं है ? क्या वह कुमारी चक्की पीसते समय भी ध्यानस्थ नहीं रहती थी ? व्रजबालाओंका तो सारा गृह-कार्य श्रीकृष्ण-चिन्तनके साथ ही चलता था ।

क्या समय मना करता है कि खाते समय भगवान्‌की याद न करो, या चलते-फिरते हरिकी याद न आ जाय ?

मेरे प्यारे मन ! तू बहाना मत कर । मुझे हर समय हरि-चिन्तनमें मदद दे । मेरे सहायक मन ! सरिताकी तरल तरङ्गोंमें, उठते बादलोंमें, तपते तपनमें और राकापतिकी शीतल किरणोंमें—तू मुझे मेरे प्रभुकी झाँकी करा ।

रे मन ! तू मेरा सहायक बन जा ।

—'दुर्गेश'

वैज्ञानिक प्रगति और धर्म

(लेखक—–पं० श्रीरामप्रतापजी शास्त्री, नव्य-व्याकरणाचार्य)

विश्वके समस्त प्राणी सुख चाहते हैं तथा इसके लिये वे यथासम्भव प्रयत्न करते भी देखे जाते हैं। मनुष्यके प्रबल परिश्रमने ही विज्ञानके द्वारा दुःखको कम करनेकी बहुत-सी विधियाँ हमारे समक्ष उपस्थित की हैं। विज्ञानने बहुत सीमातक दुःखोंके दूरीकरणके प्रयासमें अभूतपूर्व सहयोग प्रदान किया है, जिसके लिये हम बिना कृतज्ञता-ज्ञापनके नहीं रह सकते। परंतु दुःख है कि विज्ञानसे संसारका दुःख कम न हुआ। जहाँ विज्ञानने सुविधा-हेतु द्रुतगामी अनेकानेक यन्त्र बनाये, वायुयान बनाये, मनुष्यको अन्यान्य भौतिक उपकरणोंसे सुविधाएँ प्रदान कीं, वहीं उसने परस्पर देशोंके अस्त्रास्त्रोंके निर्माण और परीक्षणकी होड़के बढ़ते हुए दौरके द्वारा विश्वको विनाशके द्वारपर ला खड़ा किया है।

आज विज्ञानके नये-नये आविष्कारोंसे मानव विलासिताकी ओर अग्रसर हो रहा है। नवीन यन्त्रोंके आविष्कारके परिणामस्वरूप ही वह अकर्मण्य, आलसी बनता जा रहा है। वह पूर्वकालकी भाँति अब स्वस्थ नहीं है। यहाँतक कि आजके युवकोंको थोड़ी दूरके लिये पैदल चलना भी कठिन हो गया है। इसीको आजकल प्रगतिकी संज्ञा दी जा रही है। परंतु यह 'प्रगति' नहीं। प्रगति जाननेके लिये मनुष्यको सर्वप्रथम अपने जीवनका लक्ष्य निश्चित करना होगा। जबतक लक्ष्य निश्चित नहीं होगा कि उसे कहाँ पहुँचना है, तबतक अथक चलकर भी वह कहाँ पहुँचेगा ? यह वह भी नहीं जान सकता।

मनमानी बुद्धिके अनुसार बिना किसी सुनिश्चित ध्येयके समयके प्रवाहमें बहते जाना प्रगति न होकर विनाशके गर्तमें पहुँचानेवाली अधोगति ही हो सकती है। यह तो मानवका स्वभाव है कि तत्क्षण सुखकर प्रतीत होनेवाली वस्तुकी ओर उसका आकर्षण हुआ करता है। परंतु ऐसी परिस्थितिमें हमें विचार करना चाहिये कि उधर हमारा श्रेय कहाँतक सम्भव है और तभी इस विचारके लिये एक आधारशिलाकी आवश्यकता आ पड़ती है, वही आधार-शिला मानवके लिये सुविचारित धर्मशास्त्र है। जिसके आधारपर मानव अनुचित कार्योंमें होनेवाले स्वाभाविक आकर्षणसे अपना नियन्त्रणकर निश्चित ध्येयके अनुसार अपने गन्तव्यकी ओर जब प्रवृत्त होता है, तभी वस्तुतः 'प्रगति'का प्रारम्भ कहा जा सकता है।

अतएव सबसे पहले हमें यह देखना है कि अनादिकालसे प्रारम्भ हमारी इस जीवनयात्राका गन्तव्य स्थान कौन-सा है ? साथ ही यह भी सोचना है कि वह ऐसा हो जहाँ पहुँचकर हमें पूर्ण विश्राम मिल सके, फिर कभी वहाँसे हटना न पड़े। ऐसा स्थान भगवान्‌के शब्दोंमें भगवान् ही हैं। भगवान् कहते हैं मुझको (भगवान्‌को) प्राप्त होनेपर वे परम सिद्ध महात्मा फिर इस अनित्य तथा दुःखालय पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होते।

> मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
> नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥

भगवान् श्रीकृष्णके शब्दोंमें हमारा यही कर्तव्य है कि —इस अनित्य और सुखरहित लोकको प्राप्त होकर हम भगवान्‌का भजन करें।

> अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।

ईश्वर, सत्-चित्-आनन्द=सच्चिदानन्दस्वरूप है, अतः 'सत्' उसका पहला अंश है। संसारकी प्रत्येक वस्तु अपने अस्तित्वके लिये उस 'सत्' रूपी परमात्माकी अपेक्षा करती है। किसीके विकासकी सच्ची रूप-रेखा भी तो यही होती है कि उसका 'सत्' (परमात्मा) के लिये उपयोग हो। ऐसे 'सदुपयोग' के बलपर ही भौतिक विज्ञान सर्वदा सुस्थिर रह सकता है, अन्यथा उसका वह क्षण दूर नहीं, जब कि वह अपने जन्मदाता मानवको ध्वंस करके स्वयं ही नष्ट हो जाय। विज्ञानका स्थायित्व इसी 'सत्'—अध्यात्मवादके संरक्षण और नियन्त्रणपर निर्भर है। नहीं तो, उसका कार्य केवल पाशविक बुभुक्षाको तीव्र बनाकर आन्तरिक संघर्षको बढ़ावा देनेके अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता।

किसी समय जब मनुष्यने वेदों एवं तन्मूलक शास्त्रोंको अपनी आत्यन्तिक उन्नतिका एकमात्र आधार मानकर व्यष्टि-जीवनसे लेकर समष्टि-जीवन तककी प्रगतिका माप धर्मसे कर रक्खा था, तब मनुष्यके जीवनके सर्वाङ्गोंमें सुन्दर सामञ्जस्यकी स्थापना, आत्माके लक्ष्य 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' स्वरूपकी प्राप्तिको ही मुख्य प्रयोजन मानकर विश्वमें मानव-जीवन सुख-शान्तिमय-रूपमें सुप्रतिष्ठित था और विश्व-कल्याणकी कामनासे प्रेरित होकर ही उसका सहज जयघोष था—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिः ।

× × × ×

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत् ॥

आपके समक्ष दो कोटियाँ हैं—एक पशुता और दूसरी मानवता । मानवमें यदि मानवता सुप्रतिष्ठित है तो वह पशुतासे ऊपर अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है और यही उसकी वास्तविक 'प्रगति' है । शास्त्रोंके आधारपर पशुतासे मानवताको उच्चतम स्थान प्राप्त करनेमें एक ही विशेष हेतु है, जिसे 'धर्म' कहते हैं । आहार, निद्रा, भय और मैथुन आदि तो मनुष्यों और पशुओंमें समान रूपसे विद्यमान हैं । मानवमें एक 'धर्म' ही ऐसा है जो पशुओंमें नहीं । यदि मनुष्य धर्मसे हीन हो गये तो वे पशुओंके समान हैं—

आहारनिद्राभयमैथुनं च
सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥

मनुष्यके लिये धर्म ही सर्वस्व माना गया है और धर्मके द्वारा ही वह ऐहिक, पारलौकिक समस्त श्रेयकी प्राप्ति कर परम सिद्धि प्राप्त कर सकता है । जब उसकी दृष्टिमें वेद-शास्त्रद्वारा निर्धारित स्वकर्म—स्वधर्मका पालन एवं रक्षण ही सर्वोच्च कर्तव्य हो—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।

स्वकर्म—स्वधर्मकी प्रमुखतामें यही एक निष्कर्ष है कि समस्त जगत्के समस्त क्षेत्रोंमें अपने क्रिया-कलापोंको शास्त्रीय नियन्त्रणमें रखनेका पूर्ण अभ्यास कर हम एक ही 'सत्'—परमात्माकी उपलब्धि करें । जिसके लिये हमें यह ध्यान रहे कि समस्त प्राणिवर्ग, भगवान्का विराट् विश्वमय शरीर हैं, इसके प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्गको उन्होंने ही विशिष्टता प्रदान की है तथा पृथक्-पृथक् कर्माधिकार दिये हैं और इस विभिन्नताके मध्य नित्य अभिन्न एकत्वको ही उन्होंने प्रमुखता प्रदान की है । विश्वरूपमें उस एक परमात्माकी अभिव्यक्ति समझकर अपने-अपने कर्मोंद्वारा उन सर्वान्तर्यामी सर्वरूप भगवान्की सेवा करना है । अतएव मनुने आजसे बहुत समय पूर्व धर्मकी बड़ी सुन्दर व्याख्या की थी—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

धृति, क्षमा, मनका निग्रह, अस्तेय, शौच, इन्द्रियदमन, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध—ये दस धर्मके लक्षण हैं ।*

हम देखें कि आज इन्हीं गुणोंकी कमीके कारण समय विकराल रूप धारण कर रहा है । यदि हम धर्मको प्रत्येक कार्यमें साथ लेकर चलें तो शनैः-शनैः ये सब उपद्रव दूर हो जायँ और मानव इन्हीं सद्गुणोंको धारण करता हुआ, स्वकर्म—स्वधर्मका पालन करता हुआ, विश्व-कल्याणकी भावनाको साथ लेकर अग्रसर हो सके । अतएव इस दिशामें हमारा और आपका, सभीका प्रयत्न तीव्र संवेगके साथ होना अनिवार्य है; क्योंकि जबतक शरीर स्वस्थ है, बुढ़ापा नहीं आया, इन्द्रियोंकी शक्ति बनी हुई है, आयुके दिन शेष हैं तभीतक बुद्धिमान् मनुष्यको अपने कल्याणके लिये महान् प्रयास कर लेना चाहिये । घरमें आग लग जानेपर कुआँ खोदनेसे क्या लाभ होगा—

यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत् क्षयो नायुषः ।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ॥

—श्रीभर्तृहरि

व्यवहार

अपने लिये चाहते सबसे तुम, जो कुछ, जैसा व्यवहार ।
वैसा ही, तुम करो सभीसे, सदा सजग रहकर व्यवहार ॥
विनय-मधुरभाषण-सुख-हितमय सत्य करो, सबसे व्यवहार ।
बदलेमें तुम कई गुना पाओगे, वैसा ही व्यवहार ॥
प्रभुको सबमें देख, करो तुम सेवामय सबसे व्यवहार ।
सेवारूप बने जीवनके एक-एक पलका व्यवहार ॥

---

* धर्मके इन दस लक्षणोंकी व्याख्यारूपमें 'मानवधर्म' नामक एक पुस्तिका गीताप्रेससे प्रकाशित है ।

मैं क्या बनूँ ?

(लेखक—डा० श्रीतीर्थराजजी शर्मा एम्०काम०, पी-एच्० डी०)

देश स्वतन्त्र हुआ और उसीके साथ शासकीय ढाँचा बदल गया। नयी भावनाएँ एवं नया उत्साह दिखलायी पड़ने लगा। प्रजातन्त्रपर आधारित देशका आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक ढाँचा तैयार होने लगा। सभी देशवासी एक ओर स्वातन्त्र्यके आनन्दकी अनुभूति करने लगे तो दूसरी ओर अपने कर्तव्यों तथा अधिकारोंको समझनेकी चेष्टा करने लगे। मनुष्योंके दृष्टिकोणमें परिवर्तन हो गया और प्रत्येक मनुष्य अपने-आपको विदेशी भारसे मुक्त समझकर नवजीवन एवं नवीन आदर्शोंकी प्राप्तिकी रूपरेखा तैयार करने लगा।

यह हुआ परिवर्तन। साथ-ही-साथ राष्ट्रीय सरकार भी अपने स्वाधीन एवं नये आदर्शोंका आश्रय लेकर देश-निर्माणके कार्यमें जुट गयी। वह ऋषि-महर्षियोंके इस पुराने देशकी छिन्न-विच्छिन्न स्थितिको देखकर यह निश्चय करने लगी कि किस प्रकार भारतवर्ष अपने प्राचीन गौरवको प्राप्त कर सके तथा किस प्रकार संसारमें अपना प्राचीन स्थान प्राप्त कर सके? आदर्श रक्खे गये एवं योजनाएँ तैयार की गयीं, ताकि देशके आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं प्रत्येक क्षेत्रमें विकास-कार्य किया जा सके। प्रथम योजना तैयार हुई। इसी प्रकार द्वितीय योजना तैयार हुई एवं पूरे पाँच वर्षतक कार्य करनेके पश्चात् वह सन् १९६१में पूर्ण हुई। अब तृतीय पञ्चवर्षीय योजना चल रही है और निश्चित क्षेत्रोंमें विकास-कार्य हो रहा है। यह रहा मोटे तौरसे राष्ट्रीय प्रक्रियाका चक्र, जो चल रहा है और चलता रहेगा।

पर मैं क्या बनूँ? यह प्रश्न बड़ा गम्भीर है। राष्ट्रकी रामलीला हो रही है। यों तो प्रतिवर्ष रामलीला देशभरमें स्थान-स्थानपर होती है और दशहराके दिन रावण भी मारा जाता है। सभी पात्र अपना-अपना कार्य भी करते हैं, पर इससे कहीं भिन्न राष्ट्रकी रामलीला है। इस बड़ी रामलीलामें कौन क्या बने? यह प्रश्न बड़ा सरल दिखलायी पड़ता है। परंतु है अत्यन्त कठिन। मैं किसीकी क्यों सोचूँ। मेरा तो यही प्रश्न है कि मैं क्या बनूँ?

हाँ, उत्तरकी तलाश करना चाहता हूँ और प्रयत्न भी कर रहा हूँ, पर अभी समाधान नहीं हो पा रहा है कि मैं क्या कार्य करूँ। मैं रामलीलामें किस पात्रका स्थान ग्रहण करूँ और उसी प्रकार जीवनका कर्तव्य निर्धारित करता हुआ राष्ट्रनिर्माणके कार्यमें आवश्यक योग दे सकूँ।

उत्तर मिला,—'मैं राम बनूँ।' बात बड़ी सीधी एवं सरल है। पर राम बनूँ कैसे? यह बात कठिन है। हृदय कहता है कि राम-जैसे गुणोंकी मुझमें बिल्कुल कमी है। जब वे गुण नहीं, वह स्वभाव नहीं, वह पराक्रम नहीं, वह देशभक्ति नहीं, तो फिर राम कैसे बनूँ? रामको मर्यादा-पुरुषोत्तम कहते हैं। वे अवतार माने जाते हैं। तुलसीदासजीके शब्दोंमें वे—

तात राम नहिं नर भूपाला। भुवनेस्वर कालहु कर काला॥
ब्रह्म अनामय अज भगवंता। ब्यापक अजित अनादि अनंता॥

यह कैसे भी सम्भव नहीं है कि मैं राम बनूँ। क्या मैं शरणागतकी रक्षा कर सकता हूँ? क्या शरणागत विभीषणको, जो रावणका भाई था, एकाएक अपनानेकी क्षमता कभी मुझमें आ सकती है? उत्तर है, कदापि नहीं। मुझे तो यही बात याद आती है कि—'कहाँ राम राम, कहाँ टाँय टाँय।'

राम जनसेवी थे। जनहित-जनताकी सेवा करनेके लिये एवं पृथ्वीको राक्षसोंके भारसे मुक्त करनेके लिये उनका अवतार हुआ था। उनको 'गो सुर धेनु बिप्र हितकारी। कृपासिंधु मानुष तनु धारी॥' कहा गया है। इस दृष्टिकोणसे भी मैं अपने आपको शक्तिहीन मानता हूँ। जनताकी सेवा आजके युगमें प्रत्येक प्राणीका परम कर्तव्य होना चाहिये। मुझे भी वही मार्ग अपनाना चाहिये। पर कैसे? देशमें अनेक ऐसे व्यक्ति हैं जो जनसेवाका नारा बुलन्द करते हैं और उसके साथ धोखा करते हैं। क्या शासनमें, और क्या बाहर—सर्वत्र, ऐसे ही विचारोंका बोलबाला है। उन्हें देखकर उनपर क्रोध आनेके स्थानपर तरस आता है। जनता-जनार्दनकी सेवाका वचन देनेवाले अपने-आपको धोखा देते हैं और चरित्र-भ्रष्ट हो जाते हैं। नहीं, नहीं, मुझसे ऐसा नहीं हो सकता। फिर मैं क्या करूँ? यदि ऊँची बातें न करूँ तो संसारमें कोई पूछनेवाला नहीं, और यदि किसीके विरुद्ध जबान खोलूँ तो फिर खैर नहीं। पता चलता है कि इस रामलीलाका स्वरूप ही भिन्न हो चला है। मायाका राम बनकर कार्य किया जाय। पर इससे तो आत्मिक शान्ति नहीं मिल सकती।

आखिर क्या हो ? हाँ, उत्तर यही सरल-सा प्रतीत होता है कि मैं राम नहीं बन सकता। तो फिर क्या ? चलो कुछ और सोचा जाय।

पर फिर क्या बनूँ ? अच्छा लक्ष्मण बना जाय। विचार वही कि क्या लक्ष्मण-जैसे लक्षण अपने अंदर हैं। लक्ष्मण रामके सेवक और एक बड़े राष्ट्रभक्त थे। तुलसीदासजीने यही तो कहा था—

लच्छन धाम राम प्रिय सकल जगत आधार।
गुरु बसिष्ट तेहि राखा लछिमन नाम उदार॥

लक्ष्मण गुणवान् थे। श्रीराम तथा सीता वन जानेकी तैयारी कर रहे थे। लक्ष्मण स्वयं वन जानेकी इच्छा प्रकट करते हुए रामके सम्मुख व्याकुल हो जाते हैं और बड़ी कठिनाईके साथ वे भगवान् रामको उन्हें साथ ले चलनेके लिये राजी कर पाते हैं। डरते-डरते माता सुमित्रासे आज्ञा लेते हैं और सुमित्रा लक्ष्मणजीकी भावनाका स्वागत करती हुई कहती है—

तात तुम्हारि मातु बैदेही। पिता रामु सब भाँति सनेही॥
अवध तहाँ जहँ राम निवासू। तहँइ दिवसु जहँ भानु प्रकासू॥

ऐसी वे माता और लक्ष्मण-जैसे पुत्र। लक्ष्मण वीर थे, गुणवान् थे, जनसेवक थे और वे चौदह वर्षतक भगवान् श्रीरामकी सेवामें निरन्तर रहकर जनता-जनार्दनकी सेवा करते रहे। माता सुमित्राकी उनको यादतक नहीं आयी। अपनी पत्नी उर्मिलाके विषयमें उन्होंने कभी भी विचार नहीं किया। तुलसीदासजी भी रामायणमें उर्मिलाके लिये अधिक नहीं लिख पाये। यही तो कि—

'गए लखनु जहँ जानकिनाथू।'

कुछ भी सही, लक्ष्मण-जैसा पात्र रामायणमें अपने ढंगका अनूठा ही है। जिन्होंने बराबर रामकी सेवा की। राम सोते हैं, लक्ष्मण जगकर पहरा देते हैं। श्रीरामचन्द्रके पीछे सीता चलती हैं, लक्ष्मणजी उनकी रखवाली करते हुए पीछे-पीछे चलते हैं। कहाँ है वह त्याग और तपस्याकी भावना ? क्या करूँ ? लक्ष्मणके सामने मैं पासंग भी नहीं। राष्ट्रकी सेवामें किस प्रकार सब कुछ छोड़कर आगे बढ़ूँ ? मैं अपने-आपको बहुत-सी बातोंमें तुच्छ पाता हूँ। ऐसी बात नहीं कि मैं स्वयंके विषयमें सोचता हूँ। सोचता हूँ बराबर, पर पाता यही हूँ कि अपने अंदर वे गुण नहीं हैं और हों भी कैसे ? फिर क्या बनूँ। अच्छा तो फिर कुछ और सोचा जाय।

तो फिर भरत बनना ठीक है। तुलसीदासजीके अनुसार भरतजी—भरत नाम देना इसलिये हुआ कि भरत विश्वका पालन करनेवाले थे।

बिस्व भरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई॥

भरतका सेवा-भाव और उनकी तपस्वी-वृत्तिसे कौन परिचित नहीं है ? जब चौदह वर्षतक भगवान् राम वनमें निवास करते हैं तो भरत उसी प्रकार निरन्तर तपस्वी-वेषमें अयोध्यापुरीसे अलग कुटी बनाकर रहते हैं और भगवान् श्रीरामकी चरण-पादुकाको अयोध्याके सिंहासनपर विराजित कर देते हैं। सदैव यही प्रतीक्षा करते हैं कि वह कौन-सा दिन आयेगा जब भगवान् राम लौटकर अयोध्या आयेंगे और नर-नारियोंको शान्ति प्रदान करेंगे। जब संजीवनी ले जाते हुए हनुमान्‌जीसे अयोध्याके निकट भरतका मिलन होता है तो भरतजी यही कहते हैं कि—

अहह दैव मैं कत जग जायउँ। प्रभु के एकहु काज न आयउँ॥

पूर्ण त्याग तथा राम-सेवामय जीवन होकर भी भरतजीका अपनेको ऐसा मानना उनके परम शीलका द्योतक तथा सबके लिये अनुकरणीय है। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने कई बार यह कहा है कि भरतको राजमद नहीं हो सकता। आजके संसारमें पहले तो वह सेवाभाव नहीं मिलता और दूसरे ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं दीखता जिसमें मद न हो। जब मैं अपने-आपको इस दृष्टिसे देखता हूँ तो पता चलता है कि मैं भरत-जैसा तपस्वी और सेवक नहीं बन सकता और यही कहकर चुप होना पड़ता है कि मेरे लिये भरत बनना बिल्कुल ही असम्भव है। फिर क्या किया जाय ?

तो फिर शत्रुघ्न बनूँ ? लेकिन—

जाके सुमिरन तें रिपु नासा। नाम सत्रुहन बेद प्रकासा॥

इस प्रकार शत्रुघ्न अपने शत्रुओंको नाश करनेवाले थे और श्रीरामके मूक सेवक थे। उनके गुण और शीलके अनुसार कठिन प्रतीत होता है कि मैं शत्रुघ्न बन सकूँ। चारों भाइयोंमें छोटे और सबके सेवक शत्रुघ्न एक ऐसे महापुरुष थे कि जिनकी उपमा मिलनी कठिन है। मुझे अपनी ओर देखकर शत्रुघ्न-जैसे पात्रका स्थान ग्रहण करना अत्यन्त कठिन कार्य प्रतीत होता है।

तो फिर क्या बनूँ ? यदि सीता बनता हूँ तो सीता-जैसी नारी आजके संसारमें नहीं मिलती है। जिनके नित्य सुमिरन करनेसे आजके मनुष्य अपने-आपको शुद्ध मानते हैं। क्यों-

उस लंकामें निरन्तर रहते हुए भी सीता भगवान् श्रीरामका पुण्य स्मरण करती रही और हनुमान्‌जीके शब्दोंमें—

नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट ।
लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहि बाट ॥

इस प्रकार नित्य-निरन्तर भगवान् श्रीरामका ध्यान रखना और किसी भी प्रकार विचलित न होना माता सीताका ही कार्य था। यह मुझसे सम्भव नहीं। आजके संसारमें कोई भी मनुष्य विचलित हुए विना नहीं रह सकता है। तो फिर मैं क्या करूँ ?—

अच्छा तो मैं हनुमान् बनूँ। लेकिन हनुमान्‌जीकी-सी निःस्वार्थ सेवा कहीं दिखलायी नहीं पड़ती। सीताजीकी खबर लानेमें, लक्ष्मणजीकी मूर्छा जगानेमें, राम-लक्ष्मणको अहिरावणके चंगुलसे निकालनेमें एवं राम-रावण-युद्धमें रामको विजयी बनानेमें जो योग हनुमान्‌जीने दिया, वह किसी औरने नहीं दिया। इसी कारण सारे भारतमें हनुमान्‌जीके बल, पराक्रम और गुणोंकी पूजा होती है। मैं हनुमान्‌जी नहीं बन सकता; क्योंकि मुझमें वे गुण नहीं जो हनुमान्‌जीमें थे। अतः अब 'बुद्धिहीन तनु जान के, सुमिरौं पवन कुमार।'—कहकर ही चुप हो जाना पड़ता है। इसके अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग मेरे सामने नहीं है।

तो फिर क्या रावण बनूँ ? लेकिन रावण-जैसा राजनीतिज्ञ एवं विद्वान् आजके संसारमें नहीं मिलता। कहा जाता है कि स्वयं भगवान् श्रीरामने लक्ष्मणको राजनीति सीखनेके लिये रावणके पास भेजा था। विद्वान् होनेके साथ-साथ वह अपार दूरदर्शी था। शूर्पणखासे खर-दूषणके मरनेका समाचार सुनकर उसने यह निश्चय कर लिया था कि भगवान्‌का अवतार हो चुका और उनसे मुझे द्वेष करना चाहिये। जिससे मैं शीघ्र ही अपना कल्याण कर सकूँ। उसने कहा था—

खर दूषन मो सम बलवंता। तिनहिं को मारै बिनु भगवंता ॥

उसने यह भी कहा था—

सुररंजन भंजन महि भारा। जौं भगवंत लीन्ह अवतारा ॥
तौ मैं जाइ बैर हठि करिहउँ। प्रभु सर प्रान तजें भव तरिहउँ ॥

इस प्रकार रावण पहलेसे ही समझ गया था कि भगवान् रामका अवतार हो गया है और उनसे वैर बढ़ाकर मुझे अपना तथा अपने परिवारका उद्धार करना चाहिये। रावण ऐसा महारथी था कि उसने श्रीरामकी सम्पूर्ण सेनाके छक्के छुड़ा दिये और स्वयं रामको भी उसे मारनेमें विभीषणकी सहायता लेनी पड़ी। अतः यह सम्भव नहीं दीखता कि मैं रावण-जैसा राक्षस भी बन सकूँ।

तब फिर राष्ट्रकी रामलीलामें क्या बनूँ ? मेरे लिये बड़ा या छोटा कोई ऐसा पात्र नहीं, जिसका अनुकरण करके मैं इस रामलीलामें अपना सहयोग दे सकूँ। मेरे प्रश्नका हल अभी नहीं मिल रहा है। अच्छा कोई छोटा पात्र देखूँ और उसका अनुकरण करना सीखूँ। तो क्या अहल्या बनूँ जो कि भगवान् रामके चरणोंकी रजको स्पर्श करके तर गयी थी।

मुनि तिय तरी लगत पग धूरी। कीरति रही भुवन भरि पूरी ॥

पर मुझमें ऐसे गुण दिखलायी नहीं पड़ते कि गौतमकी स्त्री अहल्याकी तरह कभी राम आकर अपने चरणोंकी रजसे मेरा उद्धार करेंगे। फिर क्या हो, इस समस्याका समाधान नहीं हो पाया।

फिर क्या किया जाय। कुछ कार्य नहीं किया जायगा तो मनुष्यका जीवन सार्थक नहीं होगा। साथ ही रामायणमें भी कोई ऐसा छोटा-सा पात्र दिखलायी नहीं पड़ता, जिसका स्थान लेकर जीवन सफल किया जा सके। विचार आता है कि मैं गिलहरीका स्थान ग्रहण करूँ, जो समुद्र पार होते समय पुल बनानेमें बराबर सहायता करती रही। बात ऐसी है कि भगवान् राम बंदरोंके सहित समुद्र-पार जानेकी तैयारी कर रहे थे और नल, नील, हनुमान् इत्यादि बंदर बड़े-बड़े पत्थर ला-लाकर पुल बना रहे थे। उसी समय एक गिलहरी इस राष्ट्र-सेवाके पुनीत कार्यमें अपना योग देना चाहती है और पुल बनानेमें सहायता करती है। वह समुद्रके जलमें अपना शरीर भिगो लेती है और किनारेकी धूलमें शरीर लपेटकर फिर समुद्रमें जाकर नहा लेती है। यह गिलहरी पत्थर लानेके योग्य नहीं थी, लेकिन धूल लाकर पुल बनवानेके कार्यमें हाथ बढ़ाती है। यह था उसका सेवाभाव और उसकी कर्तव्यनिष्ठा। इससे यह स्पष्ट होता है कि रामलीलाके कार्यमें छोटेसे जीवने भी अपनी शक्तिके अनुसार सहयोग किया था। इस गिलहरीका उदाहरण यह बतलाता है कि उस रामलीलामें प्रत्येक प्राणीने बड़ी ऊँची भावना और निष्ठाके साथ कार्य किया था। तो फिर क्या मैं गिलहरी बनूँ। किंतु यह भी नहीं हो सकता; क्योंकि मुझमें गिलहरी-जैसी लगनकी कमी दिखलायी पड़ती है। फिर क्या किया जाय ?

तो क्या मेरा प्रश्न अधूरा ही रहेगा ? और जब प्रश्नका उत्तर नहीं तो फिर राष्ट्रकार्य कैसा ? जिस भारतभूमिमें

जन्म लिया, उसमें रहकर क्या मैं उसकी कुछ सेवा नहीं कर सकूँगा ? जनता-जनार्दनकी सेवाकी दुहाई लगानेवाले सैकड़ों नेता, राजनीतिज्ञ और भद्रपुरुष अपने आस-पास दिखायी पड़ते हैं। वे किसी भावनाके सहारे कार्य कर रहे हैं अथवा उनकी सेवाके पीछे उनका स्वार्थ निहित है। यह मैं नहीं समझ पा रहा हूँ और समझनेकी बात भी नहीं है। फिर मैं समझूँ क्यों ? मेरा तो वही प्रश्न है कि 'मैं क्या बनूँ ?' जिससे कि अपने जीवनके सबसे बड़े ध्येय ("Leave the circumstances better than I found them.") की पूर्ति इसी जीवनमें कर सकूँ' यह मेरी आकांक्षा है।

◆

जगत्-प्रियतमका पत्र

बुरी तरह पकड़ाईमें आये हैं नटखट इस बार। देखूँ अब कैसे जाते हैं मुझे छोड़कर……मुझसे पल्ला छुड़ाकर ?

उस दिन लगनकी डोरमें उलझा, रसकी आँख-मिचौनीमें पलक झँपा, मुझे छोड़कर दूर—पास जाने कहाँ छिप गये वे नटखट प्रियतम ?

चेतमें आ, पलक खोलते ही मेरे हाथोंके तोते उड़ गये। प्रीतिके हाथों बिकी मैं आकुल-व्याकुल हो-होकर उन्हें याद कर-करके विलाप करने लगी; बावली बनकर बावलगत बखेरती जहाँ-तहाँ उन्हें खोजने लगी।

पर वे सहज हाथ कहाँ आते हैं ? चप्पा-चप्पा रौंद डाला—छान डाला, किंतु व्यर्थ निष्फल। समूचा जगत् मेरे समक्ष था; परंतु कोरे कागज टूक-सा निस्सार, थोथा, निरर्थक। कहीं……किसी स्थानपर भी उनकी झाँई-परछाँई तकसे भेंट नहीं हुई।

श्वास फूली, मैं निराशाकी सीमापर पहुँचकर दम तोड़ रही थी कि सहसा नवजीवन प्रदान करता वायुका एक झोंका आया……अलौकिक बोध-वायुका। और मैं जी उठी; मेरे—मेरे मनचीते हो गये।

वायुके झोंकेने कागजको पलट दिया था। कागजपर……कोरे कागजपर अब कुछ लिखा हुआ पढ़नेमें आ रहा था।

हर्षाश्चर्यसे चकित रह गयी मैं……विह्वलता-विभोर हो उठी मैं उसे पढ़कर, उसमें रमकर। वह तो प्रियतमका पत्र था—वह पत्र जिसके एक-एक अक्षरमें……अक्षर-अक्षरके एक-एक कणमें प्रियतम-छवि अङ्कित थी……छवि क्या अङ्कित थी, स्वयं प्रियतम ही थे।

सुध-बुध खोई-सी मैंने पत्रको छातीसे चिपटा लिया। पत्र नहीं, प्रियतम छातीसे चिपटे थे। अद्भुत मिलनामृत पान कर मैं निहाल हो गयी, हो रही हूँ, हुई जा रही हूँ, होती रहूँगी, हुई चली जाऊँगी चिरकाल तक।……जगत्‌रूपमें सदा-सदाके लिये युग-युगके छलिया……छल-छटा बखेरते प्रियतमको छातीसे लगा एवं स्वयं उनकी छातीसे सतत लगी रहकर। मेरा इससे बढ़कर और क्या सौभाग्य होगा।……जीवनमें इससे बढ़कर और क्या रसोपलब्धि होगी।

हाँ तो बुरी तरह पकड़ाईमें आये हैं नटखट इस बार। देखूँ अब कैसे जाते हैं मुझे छोड़कर……मुझसे पल्ला छुड़ाकर ?

—हरिकृष्णदास गुप्त 'हरि'

◆

संस्कृतभाषाका टीकासाहित्य

(लेखक--पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

अर्थमें ही तत्त्व है। केवल शब्द जाननेसे विशेष लाभ नहीं है। अतः अर्थ जाननेके लिये प्रायः सभी भाषाओंमें कोश-टीका आदिका प्रवन्ध है। पर इस दृष्टिसे संस्कृतभाषाके सामने संसारकी सभी भाषाएँ दरिद्र-सी जँचती हैं। संस्कृतमें सूर्य, विष्णु, देवी आदिके सहस्रनाम मिलते हैं। सुवर्ण आदि शब्दोंके लिये भी सैकड़ों पर्याय तथा उनकी अनेक व्युत्पत्तियाँ हैं। पर अंग्रेजी आदि भाषाओंमें Sun, moon, gold आदिके अतिरिक्त कोई शब्द नहीं मिलता। ऐसा ही हुआ तो किसीके लिये दो शब्द मिल जाते हैं। व्युत्पत्ति भी उनके यहाँ अनावश्यक-सी है। उनके यहाँ जैसे जीवनमें पवित्रता अनावश्यक है, वैसे ही शब्दोंकी साधुताकी भी आवश्यकता नहीं मानी गयी। पर समयका ही यह कुछ विचित्र प्रभाव रहा कि शासनके प्रभावसे उनकी भाषाका भी खूब हो-हल्ला तथा आदर-सा हुआ। पर अब उनके यहाँके विद्वान् भी संस्कृतभाषाका महत्त्व मानने लगे हैं। देखें, भारतवासियोंको अपनी इस संस्कृतभाषामें कब अनुराग होता है। अस्तु !

शास्त्रोंमें शब्दार्थ न जाननेवालेकी बड़ी निन्दा है। कहा गया है—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूत्
अधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञस्य इत्सकलं भद्रमश्नुते
नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥

(निरुक्त)

यस्तित्याज सचिविदं सखायं
न तस्य वाच्यपि भागोऽस्ति।
यदी शृणोत्यलकं शृणोति
न हि प्रवेद सुकृतस्य पंथाम् ॥

(ऋग्वेद १०।७१।६, ऐत. आर. ३।१०; तैत्ति. आ. १।३।१)

अर्थज्ञानविहीनं शब्दोच्चारणं फलति।
भस्मनि वह्निविहीने न प्रक्षिप्तं हविर्ज्वलति ॥
अर्थमजानानां नानाविधशब्दमात्रपाठवताम्।
उपमेयश्चक्रीवान् मलयजभारस्य वोढैव ॥
पुरुषार्थानिच्छद्भिः पुरुषैरर्थाः परिज्ञेयाः।
अर्थानादरभाजां नैवार्थः प्रत्युतानर्थः ॥

(वरिवस्यारहस्य २। ५४--५६)

यथा खरश्चन्दनभारवाही
भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य।
एवं हि शास्त्राणि बहून्यधीत्य
चार्थेषु मूढाः खरवद्वहन्ति ॥

(सुश्रुतसूत्रस्थान ४। ३)

यो हि वेदे च शास्त्रे च ग्रन्थधारणतत्परः।
न च ग्रन्थार्थतत्त्वज्ञस्तस्य तद्धारणं वृथा ॥
भारं स वहते तस्य ग्रन्थस्यार्थं न वेत्ति यः।
यस्तु ग्रन्थार्थतत्त्वज्ञो नास्य ग्रन्थागमो वृथा ॥

(महा० शान्ति० ३०५। १३--१५)

अर्थात् विना समझे हुए शास्त्रज्ञान तो गदहेके चन्दन-भारके तुल्य है। पुरुषार्थ-सिद्धिके लिये अर्थज्ञान आवश्यक है और इसी अर्थज्ञानके लिये ग्रन्थोंकी अनेकानेक टीकाएँ हैं। काव्यप्रकाश ग्रन्थपर प्रायः १३० संस्कृत टीकाएँ हैं। (द्र. बालबोधिनी टीकाकी भूमिका–भण्डारकर पूना सं०) इस बालबोधिनी टीकामें ही प्रायः बीसों टीकाओंका नामसहित सार संगृहीत है। गीता तथा भागवत ग्रन्थपर भी बहुत-सी टीकाएँ संस्कृतमें प्राप्त हैं। भगवद्गीतापर गुजराती प्रिंटिंग प्रेससे एक साथ ही १९ टीकाएँ प्रकाशित हैं। इसी तरह वाल्मीकिरामायणपर प्रायः पचासों संस्कृत टीकाएँ हैं। (द्र० भूमिका वाल्मीकिरामायण, गीताप्रेस)। कालिदासके रघुवंश एवं श्रीहर्षके नैषधपर भी प्रायः सैकड़ों संस्कृत टीकाएँ लिखी गयी हैं। इनमें निर्णयसागर संस्करणके प्रायः दोनों ही ग्रन्थोंमें ७ टीकाओंका सार संगृहीत है। मनु-याज्ञवल्क्यादि स्मृतियों, दुर्गासप्तशती आदि स्तोत्र-ग्रन्थोंपर भी बहुत-सी टीकाएँ प्राप्त हैं। बादरायणके ब्रह्मसूत्रपर प्रायः १००से अधिक भाष्य एवं टीकाएँ हैं। वेदोंकी भी अगणित व्याख्याएँ थीं, जो अधिकांश लुप्त हो गयी हैं। पर जो प्राप्त हैं, वे भी बहुत हैं। उपनिषद्-भागकी टीकाएँ तो अब भी बहुत हैं।

टीकाओंकी उपयोगिता

संस्कृत ग्रन्थोंकी टीकाएँ बहुत ही उपयोगी हैं। कई टीकाएँ इतनी सुन्दर हैं कि मूल ग्रन्थसे भी बाजी मार ले गयी

हैं। कई टीकाएँ तो इतनी महत्त्वपूर्ण हैं कि उनके बिना सम्भवतः मूल ग्रन्थ ही खटाईमें पड़ गये होते। कई टीका ग्रन्थ मूल ग्रन्थकी नीरसताको दूर कर उसमें अमृतोपम माधुर्यका संचार करते हैं। उदाहरणार्थ सांख्यकारिकाकी माठरवृत्ति (जिसे माठर भाष्य भी कहते हैं), मुहूर्तचिन्तामणिकी पीयूषधारा व्याख्या, भगवान् शंकराचार्यका ब्रह्मसूत्र भाष्य[1] (इनके सभी भाष्य—गीताभाष्य, उपनिषद्भाष्य, सनत्सुजातीय भाष्य आदि महामहत्त्वपूर्ण तथा प्राणप्रद एवं परम श्रेष्ठ ज्ञानप्रद[2] हैं। पर ब्रह्मसूत्र भाष्य इनमें भी श्रेष्ठतम है।) नवीन टीकाओंमें काव्यप्रकाशकी बालबोधिनी बहुत श्रेष्ठ हुई है। इसी प्रकार हिंदीके रामचरितमानसकी मानसपीयूष[3] टीका भी बहुत अच्छी है।

टीकाओंके भेद

संस्कृत साहित्यमें टीकाओंके भी अनेक प्रकार हैं। उदाहरणार्थ भाष्य, वृत्ति, वार्तिक, विवरण, विवृति, व्याख्या, व्याख्यान, टीका, तिलक आदि उनके अनेक नाम हैं। इनके नामोंके विशेष कारण भी हैं। उदाहरणार्थ भाष्यके लक्षण इस प्रकार बतलाये गये हैं—

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥

प्रायः भाष्य सूत्र या शास्त्र ग्रन्थोंपर होता है। शास्त्रमें दर्शनोंके अतिरिक्त व्याकरण अर्थशास्त्र, कामशास्त्र और कुछ धर्मसूत्र (धर्मशास्त्र) आते हैं। मोक्षशास्त्रसे वेदान्तादि दर्शन शास्त्र ही अभिप्रेत हैं। शास्त्रग्रन्थोंकी परिभाषा भी इस प्रकार की गयी है—

विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्।
प्रयोजनं च पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं विदुः॥

अर्थात् विषय, संशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष तथा निष्कर्ष (सिद्धान्त)—ये शास्त्रोंमें ५ अधिकरण-भेद आते हैं। प्रत्येक अधिकरणमें ही ये पञ्चाङ्ग होते हैं। व्याकरणमहाभाष्य, ब्रह्मसूत्रभाष्य, न्यायभाष्य, अर्थशास्त्र (कौटिलीय), वात्स्यायन-कामसूत्रादिमें इन अधिकरणोंका सर्वत्र उल्लेख हुआ है। इस तरह दुरूह विषयोंको समझने-समझानेमें बड़ी सरलता हो जाती है। भाष्योंमें वेदभाष्य, दर्शनभाष्य, व्याकरणमहाभाष्य, उपनिषद्भाष्य आदि विशेष महत्त्वके हैं।

व्याख्या—टीकाका दूसरा भेद व्याख्या या व्याख्यान है। भाष्यके बाद इसीको सबसे बड़ा माना गया है। इसका लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है—

पदच्छेदः पदार्थश्च विग्रहो वाक्ययोजना।
आक्षेपश्च समाधानं व्याख्यानं षड्विधं मतम्॥

वस्तुतः यह सब लक्षण भाष्य-जैसे ही हैं। प्रायः इन लक्षणोंवाली व्याख्याको कहीं-कहीं भाष्य भी कह दिया गया है। उदाहरणार्थ—मनुस्मृतिका मेधातिथिकृत 'मनुव्याख्यान' ऐसा ही है, जिसे भाष्य नाम भी दे दिया जाता है। मुहूर्त-चिन्तामणिकी पीयूषधारा व्याख्या भी इसी प्रकारकी है। सांख्यकारिकाकी सांख्यकौमुदी नामक व्याख्या भी इसी प्रकारकी है। कभी-कभी संस्कृत ग्रन्थोंमें टीकाओंकी भी टीका होती है। भाष्योंकी व्याख्याएँ तो बहुत हैं। जैसे महाभाष्यकी कैयटकृत प्रदीप व्याख्या और उसकी नागेशकृत उद्योत टीका। इसी प्रकार ब्रह्मसूत्र-भाष्यपर भामती व्याख्या और उसपर वेदान्तकल्पतरु, परिमल, आभोगादि अनेक व्याख्याएँ हैं[1]।

अब थोड़ा वृत्ति आदि टीकाओंका परिचय दिया जाता है—

---

[1] पीछेके सभी भाष्योंपर इनकी पूरी छाप है। अधिकांश तो इनकी नकलमात्र है।

[2] प्रायः इनके सभी भाष्यादि ग्रन्थ गीताप्रेसद्वारा प्रकाशित हैं।

[3] यह गीताप्रेससे ६०.०० में प्राप्त है। इसके लेखक हैं महात्मा श्रीअंजनीनंदनशरणजी। इधर ये विनयपत्रिकापर विस्तृत व्याख्या विनय-पीयूष भी छपा रहे हैं। यह ग्रन्थ भी बहुत सुन्दर हुआ है। विशेष जानकारीके लिये उन्हींसे पत्र-व्यवहार करें। पता है—करुणानिधानकुंज, ऋणमोचनघाट, अयोध्या। हिंदी ग्रन्थोंकी टीकाएँ बहुत कम हैं। केवल चौरासी तथा २५२ वैष्णवनकी वार्तापर गुसाँई हरिरायजीकी भावप्रकाशटीका, साहित्य-लहरीपर सरदार कविकी टीका, भक्तमालपर प्रियादासजीकी टीका तथा बिहारी सतसईपर कुछ टीकाएँ हुई हैं। हाँ, गोस्वामीजीके मानसपर तथा विनयपत्रिका आदिपर अवश्य ही बहुत टीकाएँ हुई हैं। —सम्पादक

[1] इस प्रकारकी टीकाएँ प्रायः सभी सम्प्रदायोंकी बहुतेरी अलग-अलग हैं।

वृत्ति—प्रायः सूत्र[1] या गद्य ग्रन्थोंकी संक्षिप्त टीकाका नाम है। अल्पग्रन्था 'वृत्तिरारभ्यते' (कठ-बृहदारण्यक शां० भाष्य) पाणिनि सूत्रोंकी काशिका (वामनजयादित्यरचित), निरुक्तकी 'ऋज्वर्थी,' योगदर्शनकी 'भास्वती' आदि वृत्तियाँ प्रसिद्ध हैं।

वार्तिक—'उक्तानुक्तदुरुक्तार्थव्यक्तिकारि तु वार्तिकम्[2]' (हेमचन्द्रकोश)। वार्तिक ग्रन्थ (कात्यायनादिको छोड़) प्रायः श्लोकोंमें प्राप्त होते हैं। न्यायवार्तिक आदि कुछ सामान्य हैं। पर श्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक, तैत्तिरीयभाष्य-वार्तिक, बृहदारण्यकभाष्य वार्तिक आदि बड़े विस्तृत हैं। इनमें अनुक्त तथा दुरुक्त (अस्पष्ट कथित) अर्थोंको खोल दिया जाता है।

कारिका—यह भी एक प्रकारकी पद्यबद्ध टीका है। सांख्यकारिका, नाट्यकारिका, माण्डूक्यकारिका, बौद्धविद्वान् नागार्जुनकी युक्तिषष्ठिका, विग्रहव्यावर्तिनी, शून्यतासप्तति आदि कारिकाएँ ही हैं। इनमें कुछ स्वतन्त्र व्याख्यान भी होता है। भरतकारिका, काव्यप्रकाशकी कारिकाएँ कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ भी हैं।

विवृति—यह कुछ विस्तृत टीका है। इसी प्रकार व्याख्या, तिलक, टिप्पणी आदि अनेक टीकाभेद हैं। पर इनमें भाष्य सबसे बड़ा समझा जाता है।

टिप्पणी-आलोचना—कहीं-कहीं टीकाकार मूलग्रन्थोंकी आलोचना भी करता है। जैसे नागेशभट्टद्वारा रसगंगाधर-की आलोचना और पुनः टिप्पणीकारद्वारा नागेशकी कड़ी आलोचना। रामाश्रमीटीकाके १०२ पृष्ठपर भानुजि दीक्षित भी अमरसिंहपर आक्षेप करते हैं।

अनेकार्थ—कहीं-कहीं टीकाकार किसी एक पद या वाक्यके अनेक अर्थ करता है। यह पद्धति प्राचीन ही है। निरुक्तादिमें 'चत्वारि शृङ्गाः' मन्त्रके अनेक अर्थ हैं। प्रायः इस मन्त्रको सभी शास्त्रकार लिखते तथा अपने अनुकूल अर्थ करते हैं। महाभाष्यकार इसे व्याकरणपरक, उव्वटादि यज्ञपरक, कोई धर्मपरक तो कोई ज्योतिषपरक अर्थ करते हैं। (द्र० निरुक्त परिशिष्ट पृ० ७, काशीखण्ड ६८। ७७, मीमांसादर्शन पूना पृ० १५५) कुमारिलभट्टने इसका ज्योतिषपरक अर्थ किया है।

अनुकृतिमें भूल

प्रायः कई बार एक टीकाकार दूसरेकी नकल करते हैं। इसमें भूलकी भी आवृत्ति होती है। उदाहरणार्थ—वाल्मीकिरामायण बालकाण्ड ६४। १३ का 'ब्राह्मणः सुमहातेजाः'का देखादेखी अर्थ सभीने वशिष्ठ किया है। पर वस्तुतः यह शेष कथा स्कन्दपुराण ब्राह्मखण्ड १। ३९। ४९ में है। वहाँ विश्वामित्रके शापसे शिला बनी हुई रम्भाको श्वेतनामक मुनि वायव्यास्त्रसे अंगारका राक्षसीपर संधान करते हैं। इससे वह रामेश्वरतीर्थके अन्तर्गत कपितीर्थमें गिरकर रम्भारूपको प्राप्त करती है। ध्यान देनेकी बात है। यहाँ वाल्मीकिरामायणके कुछ श्लोक ज्यों-के-त्यों मिल जाते हैं। अन्तमें 'शिलारूपं परित्यज्य रम्भारूपमुपेयुषी' आता है।

इसी तरह रघुवंश (५। १) की टीकामें मल्लिनाथ एवं धर्मभेरु आदिने कौत्सको वरतंतुका शिष्य लिखा है। पर वास्तवमें स्कन्द० वैष्णव० अयोध्यामाहात्म्य ४-५ के अनुसार कौत्स विश्वामित्रके ही शिष्य हैं। इसी प्रकार काव्यप्रकाश ७। २३३ 'अप्राकृतस्य' इत्यादि महावीरचरित (२। ३९) के श्लोककी टीका करते हुए महेश्वर, कमलाकर, नागेशभट्ट, भीमसेन, वैद्यनाथ आदि इसे जनककी उक्ति लिखनेकी भूल करते हैं। वास्तवमें यह परशुरामकी ही उक्ति है। यह प्रसङ्ग तथा मूल ग्रन्थसे सुस्पष्ट है। इसी प्रकार महाभारतव्याख्याकार नीलकंठकी भी भूलें बहुत हैं। इन्हें अब सुधार लेना चाहिये।

* * *

---

[1] शुक्रनटीकोपोद्घातमें सूत्रके भी ४ भेद बतलाये हैं—एकीयसूत्र, गुरुसूत्र, शिष्यसूत्र तथा प्रतिसंस्कृतसूत्र।

[2] पराशर-पुराणमें यह श्लोक इस प्रकार है—

उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते। तं ग्रन्थवार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः॥

वार्तिकको अन्य विद्वान् भाष्यसूत्र (महाभाष्यदीपिका पृ० ४८), अनुतन्त्र (वाक्पदीय ब्रह्म पृ० ३५ लाहौर संस्करण) और अनुस्मृति आदि भी कहते हैं। यहाँ कात्यायनवार्तिकसे **विशेष** तात्पर्य है।

श्रद्धाकी जय

[कहानी]

(लेखक——श्री'चक्र')

आजकी बात नहीं है; किंतु है इसी युगकी बात। क्या हो गया कि इस बातको कुछ शताब्दियाँ बीत गयीं। कुलान्त-क्षेत्र (कुलू प्रदेश) वही है, व्यास और पार्वतीकी कल-कल-निनादिनी धाराएँ वही हैं और मणिकर्णका अर्धनारीश्वर क्षेत्र तो कहीं आता-जाता नहीं है।

कुलूके नरेशका शरीर युवावस्थामें ही गलित कुष्ठसे विकृत हो गया था। पर्वतीय एवं दूरस्थ प्रदेशोंके चिकित्सक व्याधिसे पराजित होकर विफलमनोरथ लौट चुके थे। क्वाथ-स्नान, चूर्ण-भस्म, रस-रसायन कुछ भी तो कर सका होता।

नरेश न उच्छृङ्खल थे, न भोगपरायण। उनके पूर्व पुरुषोंने कुलान्तक्षेत्रके दिव्य त्रिकोण [व्यास नदीके उद्गम, पार्वती नदीके उद्गम और दोनोंके संगम स्थलकी मध्यभूमि] को भगवान् उमा-महेश्वरकी विहार-भूमि मानकर उसे अपने निवाससे अपवित्र करना उचित नहीं समझा। मनुष्य रहेगा तो उसके साथ उसके प्रमाद, त्रुटियाँ भी रहेंगी ही। अतः उन्होंने व्यासके दक्षिणतटपर अपनी राजधानी बनायी, जो आज कुलू कही जाती है। यों इस त्रिकोणमें उनके वंशधरोंने पीछे एक निवास बना लिया था नगारमें और वही आज पुरानी राजधानीके नामसे जाना जाता है।

इतने भावप्रवण कुलमें जिनका जन्म हुआ, उनके रक्तमें वासनाकी वृद्धिके लिये आहार कहाँसे मिलता। नरेश बचपनसे अत्यन्त श्रद्धालु थे और श्रीरघुनाथजीके उपासक थे। शरीरमें रोगके लक्षण प्रकट होते ही चिकित्साके साथ पण्डितोंके अनुष्ठान प्रारम्भ हो गये थे।

प्रारब्ध प्रबल होता है, तब पुरुषार्थ सहज सफल नहीं होता। वर्षाकी उमड़ती नदीमें बाँध बनानेके प्रयत्न सफल हों, असीम शक्ति और साधनकी अपेक्षा है। ग्रहशान्ति, देवाराधन और चिकित्साके प्रयत्न प्रारब्धको रोक नहीं सके थे। नरेशके सर्वाङ्गमें कुष्ठ फूट पड़ा था।

'यह घृणित रोग'——नरेशको देहका मोह नहीं रहा था; किंतु उन्हें आन्तरिक व्यथा थी कि अब न वे सत्पुरुषों——संतोंके चरणोंपर मस्तक रखने योग्य रहे और न कथा-सत्संगमें बैठने योग्य। किसी तीर्थमें, पुण्यक्षेत्रमें कैसे जाया जा सकता है ? अपने रोगका संस्पर्श दूसरोंको प्राप्त हो, बड़ी सावधानीसे नरेश इसे बचाते थे। पत्नीतकको उन्होंने पद-वन्दनासे वञ्चित कर दिया था। उस साध्वीको भी अपने आराध्यकी आज्ञा स्वीकार करके दूरसे ही दर्शन करना पड़ता था।

'यह संस्पर्शसे फैलनेवाला संक्रामक रोग है। किसी भी पावन तीर्थमें यह भाग्यहीन अब स्नानके योग्य नहीं रहा।' महाराज अत्यन्त दुःखित रहने लगे थे। 'किसी मन्दिरमें प्रवेशका अधिकार नहीं रहा मुझे। पतितपावन प्रभु भी रूठ गये मुझसे।'

अन्तमें राजपुरोहितने नरेशको मणिकर्णमें निवासकी सम्मति दी। मणिकर्ण-क्षेत्रका उष्णोदक सम्भव है, नरेशके रोगको दूर कर सके। राजपुरोहितकी यह आशा सर्वथा निराधार नहीं थी। उष्ण जलस्रोत पृथ्वीपर बहुत हैं—भारतमें भी बहुत हैं; किंतु प्रायः सर्वत्र उनमें एक गन्ध है और वे स्वादमें कषाय न भी हों, परंतु स्वादिष्ट नहीं हैं। मणिकर्णके क्षेत्रमें खौलते जल-स्रोतका विस्तार मीलोंमें है। लगभग पूरा मणिकर्ण ग्राम घर-घरमें इस जलको अपने कुण्डोंमें रोककर उससे भोजन सिद्ध कर लेता है। जल निर्गन्ध है, स्वादिष्ट है और अब भी अनेक रोग—चर्मरोग विशेषतः उससे दूर होते हैं।

नरेशने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। उनकी दृष्टि दूसरी थी। शरीर जाता ही हो तो उमा-महेश्वरकी गोदमें ही जाय ! भगवती हिमवान्-सुताका साक्षात् भौतिक रूप है—पार्वती नदी और उनकी धाराको अंकमाल देते चलनेवाला खौलता उष्णोदक स्रोत साक्षात् शिवका ही तो रूप है। मणिकर्ण, क्षेत्रका प्राकट्य तो शम्भु-उमाकी क्रीड़ामें हुआ है। वहाँ कहीं भी स्नान किया जा सकेगा, मुख्य स्थलसे कुछ नीचे हटकर। जन-सम्पर्कका प्रश्न ही वहाँ नहीं उठता।

राज्यका भार वैसे भी अब मन्त्रियोंपर था। आजके ग्रामान भुन्तरके समीप व्यासपर सेतु नहीं था। रस्सियोंको बाँधकर किसी प्रकार पर्वतीय जन व्यासको पार करते थे।

नरेशके लिये कुछ अच्छा सेतु बना। व्यास-पार्वतीके संगममें स्नान करके वहाँसे दस कोस ऊपर मणिकर्ण-क्षेत्रमें नरेशका शिविर पड़ा। गिने-चुने सेवक थे साथमें और तब मणिकर्ण गाँवका कोई अस्तित्व नहीं था। केवल पर्वके समय वहाँ कुछ लोग आ जाते थे।

'इस क्षेत्रमें पाण्डु-पुत्रोंने निवास किया था। इसके पूर्वीय भागमें ही धनञ्जयने तप करके चन्द्रमौलिकी आराधना की और अपने पराक्रमसे उन पिनाकपाणिको संतुष्ट किया। भगवान् गंगाधर अर्जुनपर कृपा करनेके लिये यहाँ किरात-वेशमें विचरण कर चुके हैं। भगवती जगदम्बा पार्वतीके शबरकन्या-वेशमें श्रीचरण यहाँ पड़े हैं।' नरेश इस क्षेत्रमें आकर अपने को—अपनी व्यथाको विस्मृत हो गये। वे दूरसे चमकते वर्ण इलावर्त शिखरको प्रणिपात करते, उष्णोदकमें स्नान करते और प्रायः भाव-विह्वल रहते।

'श्रीराम जय राम जय जय राम।'

जिह्वापर यह नाम तो उनके बचपनसे बसा था। अब इस क्षेत्रमें आकर उन्होंने अन्न और दूध भी त्याग दिया था। उनका राज्य स्वादिष्ट फलोंका आकर है; किंतु उनके लिये वे फल भी अब अग्राह्य बन गये थे। वनमें मिलनेवाला चावल [कहा जाता है कि यह पाण्डवोंकी तीर्थयात्राके समय की हुई कृषिका अवशेष है], जंगली गोभी और कुछ ऐसे ही शाक—इनको मणिकर्णके उष्णोदकमें उबाल लिया जाता और दिनमें एक बार नरेश उसे ग्रहण करते। अब तो यह चावल-गोभी मणिकर्णसे चौदह मील ऊपर गंगाक्षेत्रके वनमें ही उपलब्ध हैं।

आस-पासके क्षेत्रोंमें भी नरेश हो आते थे। तप, जप और भावना—उनके देहकी बाह्यावस्था कुछ भी हो, उनका हृदय इलावर्त शिखरपर जमे हिमके समान उज्ज्वल हो गया था, इसमें संदेह नहीं।

× × ×

सहसा एक दिन राजधानीमें संदेश आया कि नरेश लौट रहे हैं। राजसदन सजाया गया। प्रजा प्रसन्न ही हुई। उनके प्रजावत्सल नरेश रोगी सही, उनके मध्यमें तो रहें।

गगनचुम्बी हिमगौराकृति पर्वतशिखर उन ज्योतिर्मय-के दर्शनोंतक भी नहीं था। कह नहीं सकता कि द्वितीयाका चन्द्र उनके भालपर था या क्षितिजपर; किंतु पिंगल जटा-जूटका अन्त दृष्टि नहीं पाती थी।' लौटकर नरेशने एकान्तमें राजगुरुको जो कुछ बतलाया, वह यही था—'मणिकर्णके उष्णोदकसे उठती वाष्पराशि स्पष्ट नहीं देखने देती थी और संध्याकालका अन्धकार भी प्रारम्भ हो गया था; किंतु लगता था हिमशीतल पार्वतीकी धारासे एक पाटल गौर मूर्ति उठ खड़ी हुई है और उसे वामभागमें किये कर्पूरगौर, अमित तेजोमय अहिभूषण भवानीनाथ स्वयं सम्मुख खड़े हैं।'

गद्गदकण्ठ, अश्रु झरते नयन नरेश कह रहे थे 'प्रभुकी मूर्ति, लगता था, क्षणमें प्रकट होती है, फिर अदृश्य हो जाती है अथवा जलमें परिणत हो जाती है। उन्होंने मुझे आदेश दिया—'अयोध्यासे अपने श्रीरघुनाथको ले आ। उनका स्नानोदक लेकर स्नान कर—तेरा शरीर स्वस्थ हो जायगा।'

नरेशने बताया कि रात्रिमें उन्होंने स्वप्नमें अयोध्याकी वह छोटी-सी श्रीरघुनाथ-जानकीकी श्रीमूर्ति देखी है। उसका स्थान देखा है और उन मर्यादापुरुषोत्तमने भी इस पर्वतीय प्रान्तको अपने पदार्पणसे धन्य करनेका वचन दिया है।

राजपुरोहितको तो जैसे निधि प्राप्त हुई। मार्ग मिल गया तो लक्ष्य भी मिलकर ही रहेगा। स्वयं राजपुरोहितने अयोध्या जानेका निश्चय किया। सेवक, सचिव आदि सबको आदेश दे दिये गये।

यह समूह पैदल यात्रा करके अयोध्या पहुँचा। उसे निर्दिष्ट स्थलपर श्रीरघुनाथजीकी उस मूर्तिके दर्शन भी हो गये; किंतु त्रिभुवनके स्वामीको अपने घर ले जानेके पूर्व उनके सत्कारकी प्रस्तुति भी तो चाहिये। राजपुरोहित पूरे एक वर्ष अयोध्या रहे। उन्होंने प्रत्येक दिन, प्रत्येक पर्वपर जैसी, जिस विधिसे सेवा श्रीरघुनाथजीकी होती थी, उसका सावधानीपूर्वक निरीक्षण किया और उस सबको लिखते गये।

एक वर्ष पश्चात् योजना बनाकर एक रात्रिमें राजपुरोहित-के नेतृत्वमें यह पर्वतीय लोगोंका समूह मन्दिरसे उस श्रीमूर्ति-को लेकर चल पड़ा। प्रातःकाल जब मन्दिरमें मूर्ति नहीं मिली, अयोध्यामें हुई हलचलका आप अनुमान कर सकते हैं।

अयोध्याके लोग पीछा करेंगे, यह बात तो निश्चित थी। उन्होंने पीछा किया; किंतु राजपुरोहित इसके लिये प्रस्तुत थे। क्रोधसे उबलते अवधवासी जब समीप आये, राजपुरोहित अपने पूरे समाजके साथ हाथ जोड़े, सिर झुकाये

खड़े थे। उन्होंने कहा—'आप मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरघुनाथजीके अपने जन हैं। हमारे परमादरणीय हैं और हम पर्वतके पापी-अपराधी प्राणी हैं। आप हमें दण्ड देंगे तो हम पवित्र ही होंगे। किंतु श्रीरघुनाथजीको हम उनके आज्ञानुसार लाये हैं। वे विश्वनाथ पर्वतोंकी यात्रा करने निकले हैं। यदि वे लौटना स्वीकार करें, तो आप उन्हें प्रसन्नतापूर्वक ले जाइये।

अयोध्याके लोग क्रुद्ध तो बहुत थे; किंतु प्रतिवादके ईंधनके स्थानपर नम्रताका जल पड़े तो क्रोधाग्नि कबतक जलती रह सकती है। सबसे अद्भुत बात यह हुई कि वह कुछ तोलेकी श्रीरघुनाथजीकी श्रीमूर्ति किसीके उठाये उठती नहीं थी। सब प्रयत्न करके थक गये और अन्तमें अयोध्यासे आगतोंको कहना पड़ा—'जब प्रभु ही जाना चाहते हैं, तो उन्हें रोकनेवाले हम कौन होते हैं। किंतु श्रीरघुनाथजीके आराधकोंका एक परिवार उन्हें छोड़कर लौट जानेको तैयार नहीं था। वह परिवार श्रीरघुनाथजीके साथ ही कुल्लू आया और अभी कुछ वर्ष पूर्वतक उस परिवारके वंशधर कुल्लूमें थे।

पूरे मार्गमें विधिपूर्वक श्रीरघुनाथजीकी पूजा-अर्चा होती आयी थी। केवल विश्रामके कुछ समयमें ही उनकी पालकी यात्रा करती थी। मार्गमें ही वे पर्वोत्सव भी मनाये गये जो उस समय पड़े।

कुल्लूमें श्रीरघुनाथजीके पहुँचनेसे पूर्व ही उनके मन्दिरका निर्माण पूरा हो गया था। धूम-धामके साथ श्रीरघुनाथजी कुल्लू पधारे और मन्दिरमें उन्हें विराजमान कराया गया। नरेशने मन्दिरमें प्रवेश नहीं किया; किंतु श्रीरघुनाथजीके पधारते समय दूरसे उनकी पालकीको साष्टाङ्ग प्रणिपात कर लिया था।

उत्तम मुहूर्तमें श्रीरघुनाथजीका विधिपूर्वक महाभिषेक सम्पन्न हुआ। अभिषेकका जल स्वयं राजपुरोहित सेवकोंद्वारा लिवाकर राजाके पास आये और उल्लसित स्वरमें बोले—'आप चौकीपर विराजें। अब आपका अभिषेक सम्पन्न हो।'

'आप भी ऐसी अनुचित आज्ञा देंगे, ऐसी आशा मुझे नहीं थी।' नरेश दोनों हाथ जोड़कर दूर खड़े रोते-रोते कह रहे थे—'यह मेरे आराध्यके अभिषेकका परमपावन ज है। इसे क्या इस कुष्ठसे अपवित्र देहपर डाला जा सकता है? यह मेरा वन्दनीय है। मैं कैसे यह कर सकता हूँ कि इसका कोई कण मेरे पैरोंतक जाय?'

दो क्षण राजपुरोहित हतप्रभ खड़े रह गये। अन्तमें बोले—'भगवान् शंकर और स्वयं रघुनाथजीका ही तो यह आदेश है। श्रीगङ्गाजी भगवान्का पादोदक ही हैं और उनमें स्नान करना शास्त्र-संत सभी परम सौभाग्य मानते हैं।'

'मैं अज्ञ प्राणी हूँ। तर्क करनेकी क्षमता मुझमें नहीं है।' नरेशने लगभग गिड़गिड़ाते हुए कहा—'उमा-महेश्वर तो माता-पिता हैं हम पर्वतीय जनोंके। वे स्नेहसे शिशुको गोदमें लें या मस्तकपर बैठावें; किंतु जब शिशुमें अपनी कुछ समझ आ जाय—अपनी अधूरी-पूरी, भ्रान्त या ठीक समझसे वह जो कुछ सम्मान व्यक्त करनेका प्रयत्न करता है, वही तो पूजा है।'

राजपुरोहितको बड़ा खेद हुआ। राजाको वे समझा सकेंगे, ऐसी आशा उन्हें नहीं थी और नरेशको स्वस्थ देखनेकी भी दूसरी युक्ति सूझती नहीं थी। अन्ततः उन्हें वह अभिषेकजल लेकर लौटना पड़ा। स्वस्तिपाठके साथ केवल कुछ जलकण वे अपने नरेशके मस्तकपर डाल सके थे और एक कलश जल नरेशने अपने पीनेके लिये रख लिया था।

'श्रीरघुनाथकी जय!' राजपुरोहित अभी उस कक्षके द्वारतक पहुँचे थे कि उन्हें पीछेसे नरेशकी भावविह्वल जय-ध्वनि सुनायी पड़ी। वे पीछे मुड़े, इससे पूर्व नरेश दौड़कर उनके सम्मुख साष्टाङ्ग गिर गये थे—सुन्दर, स्वस्थ, युवा, निर्मल देह नरेश!

दो क्षण फिर चकित थकित राजपुरोहित हर्षविह्वल अपने यजमानकी सम्पूर्ण स्वस्थ कायाको देखते रहे और तब उनके कण्ठसे अस्पष्ट गद्गद स्वर निकला—'श्रद्धाकी जय!'

× × ×

कुल्लूके श्रीरघुनाथ-मन्दिरमें आज भी अयोध्यासे आ श्रीरघुनाथजीका वही श्रीविग्रह विराजमान है। देवताओंकी इस घाटीके वे अध्यक्ष हैं। विजयादशमीको घाटीके सब देवता उनका अभिवादन करने कुल्लू आते हैं।

तुलसीका सुराज

(लेखक—डा० श्रीगोपीनाथजी तिवारी एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

स्वराज्य तो आ गया, परंतु अभी 'सुराज' निकट नहीं आया है। अब हमें 'सुराज'को और पास लाना है। तुलसी-के 'सुराज' और 'रामराज्य'में कोई अन्तर नहीं। तुलसीने 'सुराज'की प्रशंसा सर्वत्र की है। देशमें सुख-समृद्धि 'सुराज' से ही होती है। सुराजमें ही प्रजा निरन्तर हर्ष एवं सुख पाती है और सुराजसे ही उसका कल्याण है। इस सुराजमें सज्जन सुख पाते हैं और दुष्ट दुःख भोगते हैं। राज्यका आदर्श होना भी यही चाहिये कि सज्जन सुख पायें और दुर्जन दुःख। जहाँ एक ओर राज्य अच्छे आदमियोंको सुविधापूर्वक जीविका दे, वहाँ दुर्जनोंसे दण्ड भी। तुलसीदासजी कहते हैं—

'पाइ सुराज सुदेस सुखारी।'
'सुखी प्रजा जनु पाइ सुराजा।'
'जनु सुराज मंगल चहुँ ओरा।'

इस सुख-समृद्धि और मङ्गलमय 'सुराज'में प्रजा वृद्धि पाती ही है—

'बढ़ै प्रजा जिमि पाइ सुराजा।'

फिर ऐसे 'सुराज'में दीन-दरिद्र नहीं रह सकता, कोई भूखा न भटकेगा। पेट भर खाना तो मिलेगा ही।

'मुदित छुधित जनु पाइ सुनाजू।'

हाँ, दुखी होनेवाले हैं केवल दुर्जन।

'जिमि सुराज खल उद्यम गएऊ।'

रामराज्य इसी 'सुराज'का उदाहरण है। सुराजमें और सुख-सम्पदा रामकी प्रजाको पूर्णरूपसे प्राप्त है।

'रामराज्य कर सुख संपदा। बरनि न सकहिं फनीस सारदा ॥'
'सहस सेष नहिं कहि सकहिं जहँ नृप राम बिराज ॥'

राम वे ही कार्य करते थे जिनसे प्रजा सुख-समृद्धि पा सके।

'जेहि बिधि सुखी होहिं पुर लोगा।
करहिं कृपा निधि सोइ संजोगा ॥'

परिणाम हुआ—

'[illegible] सदा पावहिं सुखहिं नहिं भय सोक न रोग।'

उनकी प्रजा कल्याणमय है। यहाँतक कि न वहाँ अल्प-मृत्यु है, न रोग।

'अल्प मृत्यु नहिं कवनिउ पीरा।
सब सुंदर सब बिरुज सरीरा ॥'

रामके इसी सुराजमें न कोई दीन है, न दरिद्र—

'नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना।'

जब दीन-दरिद्र नहीं तो भूखा कोई सोयेगा क्यों? रामके सुराजमें यदि कोई जंगलमें भी पहुँच जायेगा तो भूखा न रहेगा वहाँ भी—

'लता बिटप मागें मधु चवहीं।'
'फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन।'

इसी प्रकार पृथ्वी खेतीसे सम्पन्न है—

'ससि संपन्न सदा रह धरनी।'

राम राजा रामके 'सुराज'में दुखी रहा तो पापी, चोर, जुआरी एवं वह जो घमंडी है, दूसरोंसे जलता है।

'अघ उलूक जहँ तहाँ लुकाने।'
'मत्सर मान मोह मद चोरा।
इन्ह कर हुनर न कवनिहुँ ओरा ॥'

इस प्रकार हमने देखा कि तुलसीके 'सुराज'की सभी विशेषताएँ सुख-समृद्धि, कल्याण, क्षुधा-हीनता एवं दुष्टोंकी अवनति रामराज्यमें पायी जाती है। रामका राज्य सुराज्य ही था।

इस सुराजका अवलम्ब तुलसीदास राजाको मानते हैं। भारतवर्षमें 'यथा राजा तथा प्रजा' वाला दृष्टिकोण रहा है। भारत ही नहीं, सर्वत्र बड़ोंके पीछे छोटे चलते हैं। इस सुराजको लानेवाला है—सुराजा। सुराजा वही है जो नीति-निपुण है। परंतु इस नीतिका अर्थ 'अर्थनीति' नहीं, 'धर्मनीति' है। अर्थनीतिको पालनेवाला केवल दिखानेके लिये नीतिका पालन करता है, जब कि धर्मनीति-पालक हृदयसे निभाता है। नीतिनिपुण राजाका राज्य सुराज है। उसके राज्यमेंसे दुष्टोंका पलायन उसी प्रकार होता है, जैसे शरद् ऋतुमें कीचड़ गायब हो जाती है। जो राजा

नीतिनिपुण नहीं होगा, उसकी प्रजा कष्ट पायेगी। ऐसा राजा शोचनीय है।

'पंक न रेनु सोह असि धरनी। नीति निपुन नृप की जस करनी॥'
'सोचिअ नृपति जो नीति न जाना। जेहिं न प्रजा प्रिय प्रान समाना॥'

नीतियुक्त राजा अग्निकी तरह तपकर दुष्टोंको जलाता है। वह सूर्य मित्र बनकर प्रजाको सुख पहुँचाता है। वह मालीकी नाईं प्रजाकी देखभाल करता है। परंतु ऐसे 'सुराजा' कलियुगमें कम ही होंगे।

माली भानु कृसानु सम नीति निपुन महिपाल।
प्रजा भाग बस होहिंगे कबहुँ कबहुँ कलिकाल॥

यह नीति क्या है? तुलसीदासजीने ऐसी दो नीतियोंकी ओर संकेत किया है। यदि कोई भी राजा इन दोनों नीतियोंको अपनायेगा, वह 'सुराज' स्थापित कर सकेगा, प्रजाको सुख दे सकेगा।

पहली है—प्रजासे कर लेकर उसे वापिस देना। जो राजा सीधे प्रजासे धन ले और प्रजाको उसपर संदेह हो जाय कि यह हमपर पूरा खर्च नहीं करता है तो संघर्ष अवश्य होगा। असंतोषकी आगमें राजा-प्रजाका सुख जल जायेगा। संसारमें सब झगड़ा धनका है। तुलसीदासजी एक सुन्दर नीति बताते हैं। यदि राजा इसका पालन करे तो प्रजा उस राजापर प्राण न्यौछावर करेगी। वह प्रजासे सीधे कर न ले। उस राजाके राज्यमें सब अप्रत्यक्ष कर लेंगे। प्रत्यक्ष करोंमें प्रजाकी जेबसे रुपया उसकी आँखोंके सामने जाता है और खलता है। जब कोई मनुष्य दो गज खरीदे कपड़ेपर बिक्री-कर देता है, ४००) रुपये जो पसीने बहाकर कमाये हैं उसपर आय-कर देता है, धूप-शीतमें खून काला कर फसल उगाता है और कृषि-करके रूपमें रुपया देता है तो उसे झुँझलाहट होती है, उसका दिल दुखता है पर वह देता है; क्योंकि देना पड़ता है। परंतु यदि कर उसकी आँखोंके सामने न लिया जाय और उसकी सुख-सुविधाओंपर रुपया व्यय होता दिखायी पड़े तो वह राजाके गुण गानेमें सबसे आगे होगा। उससे कर तो लिया जाता है पर आँखोंके पीछे, पर्देकी ओटमें। विदेशी वस्तुओंपर बंदरगाहमें उतरते ही कर लग जाता है, ग्राहकपर उसका भार तो है पर सामने नहीं। यदि बिक्रीपर सीधे, ग्राहक रुपया न दे और जिस कारखानेसे माल चला है वहीं कर ले लिया जाय तो ग्राहक नहीं जानेगा कि रुपया उससे लिया गया है। ऐसे उपायोंसे उगाहा रुपया अप्रत्यक्ष कर है। जनताको अनुभव नहीं होता कि उससे कर लिया जा रहा है। हाँ, जब जनताके लिये जल-कल बन रही है, उसकी सुविधाके लिये पुल बन रहे हैं, उसकी शिक्षाका उचित प्रबन्ध हो रहा है, उसकी रक्षाकी सुन्दर व्यवस्था है, तो वह प्रसन्न होकर उस राज्यकी सराहना करती है। ऐसा राज सुराज है। ऐसा राजा सूर्यके समान हितकारी है। सूर्य अपने हाथोंसे जल खींचता है। पर किसे पता चलता है? परंतु जब वह जल बरसाता है तो सब उससे लाभ उठा नाच उठते हैं। इसीलिये तुलसीदासजीने कहा—

बरषत हरषत लोग सब करषत लखय न कोय।
तुलसी भूपति भानु सम प्रजा भाग बस होय॥

सूर्य सुराजा है। वह पानी खींचनेमें परिश्रम करता है। फिर जगत्को जल देकर उसकी पालना करता है। स्वयं ही उस जलको नहीं पी जाता है। इसी नीतिको दूसरे रूपमें गोसाँईजीने व्यक्त किया है—

मुखिआ मुख सो चाहिए खान पान कहुँ एक।
पालै पोसै सकल अँग तुलसी सहित विवेक॥

राजा मुखके समान है। खानेके चबानेमें वह बड़ा परिश्रम करता है, चक्की पीसता है। कष्ट स्वयं सह रहा है। परंतु उसी खानेसे समस्त शरीराङ्गोंको पालता है, पुष्ट करता है। अङ्गोंको खाना देकर, खानेसे बने रक्तको देकर, पुष्ट करता है। देनेमें पक्षपात नहीं, अन्याय नहीं। जितनेको जितना चाहिये उतना देता है। कष्ट स्वयं सहता है, आनन्द पहुँचाता है प्रजाको।

दोनों दोहोंमें राजाके लिये दो शब्द प्रयुक्त हैं—'भूपति' और 'मुखिया'। उस कालमें राजा भूपति था, सबमें मुख्य था। आजके परिवर्तित युगमें भूपति है राष्ट्रपति या प्रधान-मन्त्री और वही है मुखिया, सबमें मुख्य!

दूसरी नीति भी प्रजाको संतुष्ट एवं आनन्दित करनेवाली है। राजा प्रजाका मुख नहीं बंद करता। किसीके बोलनेपर वह उसे जेल नहीं ठूँस देता। इस सुराजमें भाषण-स्वतन्त्रता है। प्रजा भगवान् रामके सुराजमें राजाकी नीतिकी आलोचना कर सकती थी। वह राज्य-नीतिमें गुण-दोष बता सकती थी। प्रजाके बुद्धिमान् प्रतिनिधि राजाको उसकी नीतिकी त्रुटियाँ बता सकते थे। परंतु एक सीमा थी। वह

गुण-दोषविवेचन नीति-निर्धारणका था, कार्यका नहीं। जबतक राजा नीति बना रहा है, तभीतक वे उसके गुण-दोष बता सकते थे। जहाँ कार्य होने लगा, फिर कोई कुछ न कह सकेगा। कार्य होते समय भी यदि राजा सुनता जाय, तो कभी सम्यक् प्रकारसे कार्य न कर सकेगा। उसके राज्यमें सुव्यवस्था न जम सकेगी। इसी नीतिको तुलसीदासजीने भगवान् रामके मुखसे कहलाया है।

जौं अनीति कछु भाखौं भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥'

बड़ी उपादेय नीति है। राम कहते हैं—यदि मैं कुछ अनीति कहूँ तो मुझे निर्भय हो रोक दो। इतनी स्वतन्त्रता होनी चाहिये सुजनमें। पर यह स्वतन्त्रता असीम नहीं, इसकी एक सीमा है। स्वतन्त्रता सीमासे बाहर बहुत दुखदायी होती है। प्रजाके प्रतिनिधि—गुरु, द्विज, मुनि रामको रोक दें, यदि वे अनीति कह रहे हों। प्रजा अनीतिकी आलोचना करे, दोष बताये। परंतु यह नहीं कि अच्छे कामोंमें भी दोष देखे और व्यर्थमें मनुष्य नुक्ताचीनी करते फिरें। हाँ, जब अनीति कही जा रही है तो दोष बतायें। इसमें 'भाखौं' शब्दपर बल है। राम कहते हैं---जब मैं नीति बता रहा हूँ और वह अनीति मालूम हो तो मुझे रोक दो। परंतु जब एक बार मौन हो नीतिको स्वीकार कर लिया तो कार्यके समय; प्रबन्धके समय, कुछ नहीं कहना है।

ये दो नीतियाँ जहाँ बरती जायेंगी, वहाँ सुराज होगा, वहाँ प्रजा फूलेगी, फलेगी और दूध-पूतों नहायेगी, इसमें क्या संदेह है ?

◆

संस्कृति और श्रीअरविन्द

(लेखक— डा० श्रीइन्द्रसेनजी, श्रीअरविन्दाश्रम, पांडिचेरी)

संस्कृति वास्तवमें मनुष्यकी मुख्य अभिरुचि, उसकी उच्चतम साधना, उसकी महत्तम प्राप्ति है। कह सकते हैं कि यह उसके जीवनका सम्पूर्ण योगफल, उसकी आन्तरिक अनुभूतियों और अपने बाह्य वातावरणके साथ विभिन्न सुसंगतताओंका योगफल ही है। इसके अंदर ही समाविष्ट हो जाते हैं उसके दर्शनशास्त्र, कला और साहित्य, उसके विज्ञान, तकनीकी और उद्योगादि, उसके सामाजिक संगठन और राजनीतिक जीवन। जीवनमात्रको वृद्धिंगत, विकसित और अधिकृत करनेके अपने प्रयत्न, संघर्ष और अभीप्साके फलस्वरूप व्यक्तिगत तथा सामाजिकरूपसे जो कुछ मनुष्य बन सका है वही है संस्कृति। पशु स्वाभाविक जीवन जीता है उसे संस्कृति नहीं है। किंतु मनुष्य संघर्ष करता, अभीप्सा करता और वातावरणपर आधिपत्य जमाता है और उसे परिवर्तित करता है। वह जीवनके आदर्शों एवं अन्तिम परिपूर्णताका अन्वेषण करता है। वह विकास करता हुआ आगे बढ़ता है, यहाँतक कि वह अधिक-से-अधिक भिन्न बनता जाता है। इस क्रममें जो कुछ वह बन चुका है और जो कुछ बननेकी ओर अभिमुख है वही है उसकी संस्कृतिका गुण और मात्रा।

किंतु मानव-व्यक्तित्व एक जटिल वस्तु है। विविधतामें रचनाका प्रतिरूप है यह। भौतिक शरीर, पशुके प्राणावेग, मानवके चिन्तनशील मन और निरपेक्ष जीव मिलकर इसको निर्मित और घटित करते हैं। इसके प्रधान अवयव होते हैं शरीर, प्राण, मन और आत्मा। प्रारम्भिक अवस्थामें व्यक्तित्व तो प्रायः शरीर, प्राण और मनका ही संगठित रूप होता है, जिसमें आत्मा अज्ञात सत्ताके रूपसे पीछे अवस्थित रहता है और इन तीनोंमेंसे कोई एक अथवा तीनोंका कुछ खास भाग इस औसत व्यक्तित्वपर शासन करता है। इस तरह मनुष्यके सांस्कृतिक विकास या प्रतिफल वास्तवमें अत्यधिक विभिन्न हो सकते हैं।

यूनानी संस्कृतिने मानव-व्यक्तित्वके बौद्धिक तथा सौन्दर्यात्मक भागोंका विस्तार किया। इसकी प्राथमिक प्रेरणा ही बौद्धिक तथा सौन्दर्यात्मक रही और तदनुसार ही संस्कृतिकी अभिव्यक्ति और बाहरी रूपरेखा भी उन्हीं भागोंकी गवेषणाओंको अधिकाधिक प्रश्रय देती रही।

यूरोपने विगत ४०० वर्षोंके क्रममें वैज्ञानिक शोध और अनुसंधानके मार्गदर्शनानुसार जिस सभ्यताको उद्भूत और विकसित किया है और जो सारे जगत्पर फैल चुकी है, वह हमारी वर्तमान संस्कृति मुख्यरूपसे अभावोंकी संतोषप्रद पूर्ति या सुखविलासका स्तर ही, जिसे अच्छी तरह जीना कहते हैं, अभीष्ट रखती है। इसकी प्रेरणा ही प्राणिक है और यह संतोष-प्राप्तिपर ही बल देती है। उदाहरणस्वरूप

हमारे प्राणावेगों, भोजन, गृहादिकी तृप्ति आदि । बौद्धिक, नैतिक और सौन्दर्यात्मक खोजें विशेषतः हमारी प्राणिक तृप्तिके अन्तर्गत हैं ।

अतः वर्तमान समयके विशाल वैज्ञानिक विकाससे अपेक्षाकृत यूनानी संस्कृति ही स्पष्टतया उच्चतर मानी जायगी । यह प्रधानरूपसे बौद्धिक और सौन्दर्यमूलक थी, इसने मानव-व्यक्तित्वमें जो कुछ उच्चतर है, उसके विस्तार और विकासपर बल दिया था । लेकिन जब हम मानव-इतिहासके वर्तमान कालको सर्वोत्तम समझते हैं, तो हम जीवनकी विषयगत प्राप्तियों, जैसे रेलवे, वायुयान, रेडियो आदि-आदिसे भ्रमित हो जाते हैं । ये सब प्राप्तियाँ मिलकर अधिक-से-अधिक सभ्यताकी एक अवस्था निर्मित करती हैं जो अत्यधिक विशद और विकसित हो सकती है । किंतु ये वास्तवमें प्रकृतिको जीतनेके लिये 'जीवन'के स्रोत और उत्साहसे आगे बढ़ गयी हैं और 'जीवन'को अच्छे और सुखद ढंगसे जीनेके लिये सलाह देती हैं । आवश्यक यन्त्रके रूपमें बुद्धिका उपयोग विशद रूपसे किया गया है । इसके विपरीत, यूनानी संस्कृतिने बौद्धिक और सौन्दर्यात्मक भावपर ही मुख्यरूपसे बल दिया था जो हमारे व्यक्तित्वके उच्चतर तत्त्व हैं और इसीलिये मानवजीवन तथा व्यक्तित्वके प्रधान गुणके अनुसार यूनानी संस्कृति उच्चतर स्वीकृत की ही जायगी ।

तथापि बुद्धि और सौन्दर्यभाव भी हमारे व्यक्तित्वकी उच्चतम वस्तु नहीं है । भारतके प्राचीन ऋषियोंने, जिन्होंने भारतीय संस्कृतिकी नींव डाली है, अपने गम्भीर आन्तरिक अनुसंधानोंके क्रममें मनसे भी महत्तर प्रकाशका आविष्कार किया था, जिसे उन्होंने 'आत्मा' कहकर पुकारा । उन ऋषियोंने इसे 'जीवन'के प्राणिक उत्स और उत्साहसे अधिक शक्तिशाली पाया । फलतः आत्मा और उसकी अनुभूति जीवनकी साधनाओंका सच्चा लक्ष्य बना, जिसे उन्होंने व्यक्तिगत जीवनकी योजनामें चरितार्थ करना चाहा । इसी योजनाके प्रमाणस्वरूप चार अवस्थाएँ—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास—निर्धारित की गयी हैं । सामाजिक जीवनमें भी इसकी चरितार्थताके निमित्त चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रका संगठन स्पष्टतः पाया जाता है । प्रत्येक वर्ण अपना कर्तव्य पालन करता हुआ एक ही सर्वसामान्य परम श्रेष्ठ कल्याणको प्राप्त करता है । जीवनकी मौलिक आध्यात्मिकताके विशेषतर प्रमाणस्वरूप हम व्यक्तिगत और सामाजिक जीवनके लिये चतुर्विध पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ, काम और मोक्षपर बल देते हैं और इसी चतुर्विध पुरुषार्थके आधारपर भारतीय ऋषिगणने भारतीय संस्कृतिको निर्मित एवं स्थापित किया । यही कारण है कि भारतीय संस्कृति स्वभाव और आचरणमें वस्तुतः आध्यात्मिक कही जाती है ।

किंतु जो संस्कृति आत्मा और उसकी अनुभूतिको अपना मूल लक्ष्य बनाती है, क्या वह उन अन्यान्य संस्कृतियोंसे आवश्यकरूपेण उत्तम नहीं है, जो तार्किक विचार सौन्दर्यात्मकभाव, नैतिकता या सुखद जीवनको ही अपनी केन्द्रीय धारणा मानती हैं ? संस्कृति तो निश्चय ही व्यक्तित्वका विस्तार है और इस साधनामें व्यक्तित्वके सर्वोच्च और सर्वोत्तम भागको ही स्पष्टतः महत्तम अनुशीलन प्राप्त होना चाहिये । जीवात्मा अपनी वास्तविक अनुभूतिके स्वरूप तथा स्वभावसे ही सबल तात्त्विक मूल्योंका धाम है और साथ ही स्वयं मार्गदर्शन, स्वयं संचालन और स्वयं सत्ताके हेतु समर्थ है । अतएव वह मन, प्राण और शरीरसे, जो स्वभावतः बाह्यरूप—आश्रित और सापेक्ष—हैं, महत्तर और उच्चतर तत्त्व है और व्यक्तित्वका सच्चा सर्वनियन्ता मूल तत्त्व है । जो संस्कृति लघुतर तत्त्वको ही अपना प्राथमिक लक्ष्य मानती है, वह व्यक्तित्वके वास्तविक सत्यसे तथा इस तरह अपने विस्तारकी सम्भावनाओंसे वञ्चित रह जाती है ।

आध्यात्मिक जीवनके कुछ ऐसे मत हुए हैं जो जीवात्माको ही ऐकान्तिक रूपसे चाहते हैं । उन मतोंने हमारे व्यक्तित्वके अन्य भागों, मन, प्राण और शरीरको अस्तित्वका भी अधिकार नहीं दिया है । भारत और यूरोपकी मध्यकालीन आध्यात्मिकता निःसंदेह इसी प्रकारकी थी । इसने जगत् और जगत्के जीवनका त्याग कर दिया था ।

किंतु श्रीअरविन्दने सर्वाङ्गीण आध्यात्मिकताका स्वरूप हमें प्रदान किया है, जिसके अनुसार हमारे व्यक्तित्वका प्रमुख तत्त्व जीवात्मा हमारे अन्यान्य भागोंकी शक्तियोंका पूर्ण नियन्त्रण और संचालन करनेमें समर्थ है और इसे ऐसा चरितार्थ करनेका अवसर अवश्य देना चाहिये । तदनन्तर ही सर्वाङ्गीण व्यक्तित्वका सर्वोत्त

मूल्य प्राप्त होगा और सामान्य जीवन वस्तुतः रूपान्तरित होगा। यदि जगत्से दूर जीवात्माको प्राप्त करनेकी चेष्टा हो तो जगत्के लिये कुछ विशेष आशा शायद ही रहे; क्योंकि तब जगत्पर मनके विभक्त चिन्तनों और प्राणकी द्वन्द्वात्मक वासनाओं और शरीरकी आलस्यान्वित जडताका ही शासन चलता रहेगा। आध्यात्मिक चेतनाका सर्वाङ्गीण एवं परिपूर्ण प्रकाश ही इन्हें रूपान्तरित कर सकता है और उसे ही जगत् तथा इसके संघर्षोंके ठीक बीचमें लाकर कार्यान्वित करना पड़ेगा।

वास्तवमें श्रीअरविन्दके दर्शनमें ही हम रूपान्तरित जीवनकी झलक पा रहे हैं, वह जीवन जो खण्डित धारणाओं और द्वन्द्वमूलक वासनाओंके द्वारा नहीं, वरं आत्माके समग्र प्रकाशके द्वारा परिचालित होगा। आजके साधारण अहंकारमूलक व्यक्तित्वके स्थानपर सर्वाङ्गीण आध्यात्मिक व्यक्तित्वका दर्शन है यह। तब तो सांस्कृतिक जीवन स्पष्टतः एक नूतन दिशा ग्रहण करेगा। अपने-अपने मनके द्वारा आज हम एकता, राष्ट्रीय जीवनमें एकता, अन्ताराष्ट्रीय जीवनमें एकता करनेकी चेष्टा करते हैं, किंतु इस तरहकी एकताएँ सदा ही दुर्बल रचनाएँ होती हैं। जिन-जिन विरोधी तत्त्वोंको एकताओंके सूत्रमें बाँधना चाहते हैं, वे सभी तत्त्व अपनी ही ओर विशेष रूपसे बल देते हैं और अन्य तत्त्वोंका बहिष्कार करते हैं। फलस्वरूप इस तरहकी एकताएँ सदा ही छिन्न-भिन्न हो जानेवाली प्रतीत होती रहती हैं। किंतु सर्वाङ्गिणीकृत व्यक्तित्वके लिये एकता उतनी ही निश्चित और सहज हो जायगी जितनी कि हमारे लिये विभिन्नता है। अतएव सर्वाङ्गिणीकृत व्यक्तित्वसे संचरित वह सांस्कृतिक जीवन मानव-जातिके सांस्कृतिक जीवनमें एक नवीन प्रस्थान होगा। मानव-जीवनमें एकताके प्रत्यक्ष अनुभवके आधारपर यह आगे बढ़ेगा और विभिन्न तथा जातियोंके समृद्ध एवं बहुविध जीवनका निर्माण करेगा। आजके अनेकानेक धर्मसम्प्रदाय और विभिन्न राष्ट्रीय चरित्र मानवजीवनकी समृद्ध एकताके व्यक्तिगत स्वत् प्रकट होना प्रारम्भ करेंगे।

श्रीअरविन्दकी दृष्टिमें ऐसा विकास मानवजीवनकी आवश्यक ऊँचाई है। विकासात्मक अनिवार्यता भी है यह। अतीतकालमें सर्वाङ्गीण व्यक्तित्वके उज्ज्वल उदाहरण निश्चय ही पाये जाते हैं, किंतु वे विशुद्ध रूपसे व्यक्तिगत प्राप्त थे। श्रीअरविन्दके गुह्य दर्शनके अनुसार अब समय परिपक्व हो चला है जब कि आध्यात्मिक जीवन, सर्वाङ्गीण व्यक्तित्वका तत्त्व सामान्य मूल्यके रूपमें स्थापित हो जाना चाहिये। श्रीअरविन्द कहते हैं कि विकास-प्रक्रियामें अभीतक सत्ताके तीन प्रधान तत्त्वों—जड, प्राण और मनको अनावृत किया है, किंतु मन अपने स्वभावसे ही विकासकी अन्तिम सीमा नहीं है। वास्तवमें यह संक्रमणशील तत्त्व है जो अपनेसे परे, स्वयंसमाहित चेतना, गीताकी स्थितप्रज्ञाकी ओर निर्देश कर रहा है। यही है वह उच्चतर चेतना, जिसे श्रीअरविन्द अतिमानस कहते हैं और विकासात्मक अनिवार्यताके अनुसार मनके अनन्तर इसका स्थापन और कार्यान्वयन होना ही चाहिये। मनकी असंख्य असुविधाओं और असमर्थताओंका संकेत भी स्पष्टतः इसी ओर है।

श्रीअरविन्द कहते हैं कि मानव समस्याओंका वर्तमान विशालकाय संकट, प्राचीन मूल्याङ्कनोंका पतन तथा नवीन मूल्याङ्कनोंकी तीव्र और भ्रमित खोज ही अपने गुह्य तथ्यके कारण मानवजीवनके विकासमें अतिमानसके प्रादुर्भावके लिये उपयुक्त अवस्था है। श्रीअरविन्दका पूर्णयोग और उनके आश्रममें हो रहे कार्य इस प्रादुर्भावसे मूलतः सम्बन्धित हैं। मानव-स्तरपर विकास सचेतन और संकलित हो जाता है और यदि मानव प्रकृतिके रहस्यको देखे तथा उसके साथ सहयोग करे तो प्रगतिकी गति तीव्रतर हो सकती है। अतएव श्रीअरविन्द मनुष्योंका आह्वान करते हैं प्रकृतिके सच्चे रहस्यको देखनेके लिये, उसके साथ सहयोग करनेके लिये और नूतन जगत्, नूतन चेतना, सर्वाङ्गीण व्यक्तित्वके प्रकटीकरणमें सहायता देनेके लिये। इससे एक नूतन एवं समृद्धतर सांस्कृतिक जीवनका स्तर निर्धारित होगा और उसी सांस्कृतिक जीवनमें मानव-एकताकी मौलिक अनुभूति रहेगी।

प्रभुसे सच्चे प्रेमके लिये प्रार्थना

प्रभु! मोहि देउ साँचौ प्रेम।
भजौं केवल तुमहि, तजि पाखंड झूँठे नेम॥
जरै बिषय-कुबासना मन जगै सहज बिराग।
होय परम अनन्य तुम्हरे पद कमल अनुराग॥

पढ़ो, समझो और करो

(१)

भगवान् जो करते हैं, परम मङ्गलके लिये करते हैं

कुछ वर्षों पहलेकी बात है। मेरे एक सुपरिचित मित्र थे। बहुत अच्छे सज्जन थे। भगवद्विश्वासी थे। व्यापारमें घाटा लगनेसे हाथ कुछ तंग हो गया था और इसी कारण उनकी सयानी लड़कीके विवाहकी व्यवस्था नहीं हो पा रही थी। उनका बड़ा ऊँचा खानदान था और कुछ ही वर्षों पहलेतक वे बड़े सम्पन्न थे। अतः लड़कीके लिये योग्य वर खोज रहे थे। बड़ी कठिनतासे एक जगह सम्बन्धकी बात पक्की हुई। लड़का पढ़ा-लिखा, सुन्दर और कमानेवाला था। दो-तीन सौ रुपये मासिक वेतनपर एक व्यापारी फर्ममें काम करता था। यद्यपि खानदानकी तथा पैसेकी दृष्टिसे घर उनके योग्य नहीं था, पर लड़की बड़ी हो गयी थी, तथा बड़े दहेजके लिये उनके पास पैसे नहीं थे। दहेज बिना अच्छा घर मिलता नहीं था, इससे स्वीकार करना पड़ा। विवाहकी तिथि निश्चित हो गयी। पर विवाहकी तिथिके दो-तीन दिन पहले लड़केके पिताकी ओरसे अकस्मात् एक दूसरे व्यक्तिकी मारफत संदेश मिला कि 'उनको एक अन्य लड़कीवाला बीस हजार रुपये नकद दे रहा है और सब मिलाकर पचास हजार रुपये लगानेको तैयार है। उनको दुःख तो बहुत है और वे चाहते भी थे कि आपकी लड़कीसे ही सम्बन्ध हो, पर अब उनके घरके लोग तथा लड़का भी तैयार नहीं है, इसलिये लाचारी है।' इस संदेशने वज्रपातका-सा काम किया। लड़की १८ वर्षकी हो गयी थी। लड़कीकी माताको इतना दुःख हुआ कि वे बेहोश हो गयीं। कोई उपाय तो था ही नहीं। लड़कीके पिता अत्यन्त विषादग्रस्त थे। वहीं एक मेरे दूसरे परिचित सज्जन थे, जो भगवान्में बहुत विश्वास रखते थे, बड़े मनस्वी थे तथा इनके मित्र थे। कुछ दवा आदि भी जानते थे। पत्नीको होश आनेपर लड़कीके पिता उन मित्रके पास गये और उनको सारी बातें उन्होंने सुनायीं। वे तुरंत साथ इनके घर आये और लड़कीकी मातासे बोले—'तुम तो भगवान्में विश्वास रखती हो, फिर इतनी निराश क्यों होती हो? विश्वास रक्खो—किसी बड़े मङ्गलके लिये ही भगवान्ने यह व्यवस्था की है।' वह बहुत दुखी थी; पर इनके समझाने-बुझानेसे वह कुछ शान्त हो गयी।

ठीक सातवें दिन उसी नगरके एक बड़े धनी व्यापारीके एकमात्र बीस वर्षके निःसंतान लड़केकी स्त्रीका अकस्मात् देहान्त हो गया। अभी छः ही महीने पहले उसका विवाह हुआ था। उन्होंने हमारे सुपरिचित इन मित्रकी लड़कीसे अपने लड़केका सम्बन्ध करनेके लिये अनुरोध किया। दहेज न लेनेकी उनकी प्रतिज्ञा थी। सम्बन्ध हो गया और कुछ दिनों ही बाद अक्षयतृतीयाको विवाह सम्पन्न हो गया। लड़की बहुत अच्छे धनी तथा सुसंस्कृत खानदानमें चली गयी।

वह विवाह हो जाता तो यह सम्बन्ध नहीं मिलता। अतः भगवान् जो करते हैं, उनके मङ्गल विधानसे जो कुछ होता है, परम मङ्गलके लिये ही होता है। हम अदूरदर्शी, इसपर विश्वास न करके कोई भी बात मनके प्रतिकूल होनेपर—जो कुछ ही दिनों बाद हमारे सामने महान् मङ्गलके रूपमें प्रकट होकर हमें आश्चर्य और आनन्दमें डुबो देती है—अकारण दुखी हो जाते हैं। भगवान्के मङ्गल विधानपर विश्वास कीजिये और नित्य आनन्दमें रहिये।

—मदनमोहन शर्मा

(२)

इस हाथ दे, उस हाथ ले

(मौनाभिशाप)

'साधु अवग्या तुरत भवानी। कर कल्यान अखिल कै हानी॥'

गोस्वामी तुलसीदासजीकी इस वाणीकी अक्षरशः आँखों-देखी सत्यताका वर्णन उस दिन भाई गणेशदत्तजी वैद्यने किया, जिसे सुनकर रोमाञ्च हो आया। कल्याणकामियोंकी सजगताके लिये नीचे उसका उल्लेख किया गया है।

भाई गणेशदत्तजीने कहा—बारह वर्ष पूर्वकी घटना है। तब मैं काशीमें पढ़ता था और प्रतिदिन सीधाके लिये रामनगर अपने चौदह साथियोंके साथ जाया-आया करता था। एक दिनकी बात है—नाव खुलनेमें देर हुई, जिससे विलम्बसे आनेवाले यात्रियोंसे नाव ठसाठस भर गयी। नाव खुलते-खुलते दो पुलिसके सिपाही आ धमके। नावको बेतरह भरी देख, नाविकोंने नाव खोल दी। सिपाही डाँटने-धमकाने लगे। पर नाव रुकी नहीं, बढ़ चली। मल्लाह चीखते रहे—

दूसरी नाव तुरंत खुलनेवाली है, आपलोग उसीसे आइयेगा, यह नाव बिल्कुल भरी है, अधिक बोझ होनेसे डूबनेका भय है।' किंतु सिपाहियोंने एक न सुनी और वे कूदकर नावमें आ गये। उन्होंने नाव बढ़ानेसे नाविकोंको रोका और यात्रियोंपर दृष्टि दौड़ायी। देखा अधिकांश विद्यार्थी ही हैं, कुछ सम्भ्रान्त व्यक्ति और दो साधु-वेषधारी बाबाजी। संसारके सुखोपभोगसे उदासीन साधुलोग उनकी मदान्ध-दृष्टिमें अति तुच्छ और दुर्बल प्रतीत हुए। अतएव वे लगे उन्हें नावसे नीचे उतारने। साधु इसके लिये तैयार नहीं थे। निदान एक सिपाहीने एक साधुको—निरपराध साधुको एक सिपाहियाना चाँटा जमा दिया। सभी यात्री सिपाहीको घूरने लगे। साधुबाबा मौन हो गये। नाव बढ़ चली।

नावके अत्यधिक बोझिल हो जानेसे नाविक भयभीत थे। हवा तेज थी। रह-रहकर जलमग्नताकी आशङ्का होती थी। राम-राम कर बीच धारासे नाव बाहर निकली, पर साधुने मौन भङ्ग न किया। उसके दूसरे साथी संतने कहा—'महात्माजी, कुछ बोल तो दो, कुछ छोटा-मोटा शाप ही दे दो। मौन क्यों हो गये? क्या इस गरीबको ले ही डूबोगे?' सिपाही संतकी बातोंपर हँसते और मजाक करते। यात्रियोंको बुरा लगता। वे उत्सुकतासे परिणाम देखते रहे। पर महात्मा मौन रहे, मौन; नितान्त मौन।

नाव तटके समीप आ गयी। मल्लाहोंका भय दूर हुआ। बाबाजी मानो मूर्तिमान् कोप बने बैठे रहे और सिपाही [illegible]। सहसा धारा तेज हो गयी, कारण घाटकी रक्षाके लिये महाराजाने तटबन्ध बनवाये थे और लोहेके बड़े-बड़े नुकीले छड़ गङ्गाजीमें गड़वा रक्खे थे। तट-बन्धसे गङ्गाकी स्वाभाविक धारामें व्याघात पहुँचनेके कारण तीव्रता आ गयी थी। नाव दो ही चार मिनटके बाद उतारकी जगह लगती; पर सिपाहियोंमें इतनी सब्र कहाँ कि किनारा पकड़े। नाव नीचे ठहरावपर जा रही थी कि एक सिपाही नावसे कूदकर छड़ोंके घेरेको पार कर गया। दूसरा जो कूदा तो निशाना चूक गया और ठीक बरछी-से नुकीले एक छड़पर ही मुँहके बल गिरा और गङ्गाकी वेगवती धारामें लगा विरनई-सा नाचने। छड़ छाती छेदकर पार कर गया। यात्रियोंने आँखें बंद कर लीं। कहना न होगा यह वही सिपाही था, जिसने साधु-अवज्ञा की थी, जिसका फल उसे हाथों-हाथ मिल गया।

—श्रीबनारसीलाल साहित्यरत्न, विद्याभूषण रामडिहरा (शाहाबाद)

(३)

तीर्थयात्राका महत्त्व और परलोकवादकी सत्यता

आधुनिक कालमें जन-समुदायका विश्वास तीर्थ-यात्रा और परलोकवादसे उठता जा रहा है। परंतु यहाँ एक ऐसी घटनाका वर्णन दिया जा रहा है, जो केवल सत्य ही नहीं है वरं जिसकी साक्षीके रूपमें राजस्थान राज्यके भीलवाड़ा जिलेके कई व्यक्ति आज भी विद्यमान हैं। जिला भीलवाड़ा, तहसील मांडलमें, राजपुरा नामक एक ग्राम है। यह ठाकुर श्रीईश्वरीसिंहजी राठौरके अधिकारमें था। इनके ज्येष्ठ पुत्र भीमसिंहका जन्म विक्रमी संवत् १९४१ भाद्रपद कृष्ण ७ को हुआ था। जब इनकी आयु पंद्रह वर्षकी हुई, इन्होंने भी अपने पिताश्रीके साथ सौरमजी (सूकरक्षेत्र), मथुरा, वृन्दावनकी यात्रा की।

यात्रासे लौटते हुए विक्रमी संवत् १९५५ के फाल्गुन शुक्ल ११ को कासगंज (उत्तरप्रदेश) के निकटवाहिनी कालिन्दी नदीमें भी इन्होंने स्नान किया। वहाँ अन्नपूर्णा-देवीके दर्शन किये। पुष्कर होते हुए ये अपने निवास-स्थान राजपुरा आये।

राजपुरा आनेके दो वर्ष पश्चात् कार्तिक शुक्ल ११ विक्रमी संवत् १९५७ को भीमसिंहकी मृत्यु हो गयी। मृत्युके उपरान्त शवको दाह-संस्कारके लिये श्मशान-भूमि ले जानेकी तैयारी शुरू हुई। परंतु मृत्युके दो घंटे पश्चात् भीमसिंहके शवमें पुनः प्राणोंका संचार होना लक्षित हुआ और वे स्वस्थ हो गये।

तभी भीमसिंहने अपने परलोकगमनके समाचार इस तरह वर्णित किये—'गौरवर्णके चार दूत, जिनके चार-चार भुजाएँ थीं, जिनके ललाटपर श्वेत चन्दनके ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक थे, जो बड़े देदीप्यमान प्रतीत हो रहे थे, जिनके चरण पृथ्वीको स्पर्श नहीं करते थे, जिनके दो-दो हाथ ऊपर उठे हुए थे, बड़ी शीघ्रतासे मुझे एक काष्ठके तख्तेपर सुलाकर उत्तरकी तरफ उड़ा ले गये।

काफी दूर जानेके बाद एक विशाल भवन दृष्टिगोचर हुआ। दूत मुझे भीतर ले जानेको ही थे कि ऐसा कहा गया—'इस जीवकी मृत्यु इस समय नहीं है। इसकी तो अभी बहुत उम्र बाकी है। इसे शीघ्र ही अपनी देहमें वापस पहुँचा दो। अन्यथा इसकी देह जला दी जायगी। मृत्यु

तो देवरिया ग्रामनिवासी भीमसिंहकी है। उसको ले जानेके लिये ये काले दूत भेजे जा रहे हैं और इस भीमसिंहने गङ्गा-स्नान, व्रजयात्रा और कालिन्दी नदीमें स्नान किया है। अतः यह वापस तुम्हारे ही ले जाने योग्य है।' यह सुनते ही उसी तख्तेपर वे ही चारों दूत मुझे यहाँ पहुँचाकर अन्तर्धान हो गये और वापस चेतना प्राप्त होनेसे मैं अब स्वयंको स्वस्थ अनुभव कर रहा हूँ।'

उपर्युक्त भीमसिंहके पिताश्रीने इस बातके सत्यकी परीक्षा करनेके लिये, तत्काल ही मङ्गलसिंह नामके घुड़सवारको राजपुरासे पाँच मील दूर स्थित देवरिया ग्राम भेजा। वहाँवाले भीमसिंहका उसी दिन कुछ समय पहले देहावसान हो चुका था और वह घुड़सवार उसके दाह-कर्ममें शरीक होकर वापस आया और ठाकुर ईश्वरीसिंहजीको सब हाल निवेदन किया।

ठा० भीमसिंहजी इस समय भी विद्यमान हैं। यदि उनसे कोई सज्जन पत्र-व्यवहार कर जानकारी हासिल करना चाहें तो उनका पता निम्नलिखित है—

श्रीठाकुर भीमसिंहजी, मुकाम राजपुरा,
मार्फत वकील श्रीहरिश्चन्द्रजी,
पो० मांडल, जिला—भीलवाड़ा (राजस्थान)

उपर्युक्त घटनासे तीर्थ-यात्राका महत्त्व और परलोकवादकी सत्यता स्पष्ट प्रतीत होती है।

—जटाशङ्कर जोशी

(४)

वेदपाठका प्रभाव

सन् १९३४ में बरहज बाजार (जिला देवरिया) में 'महाविष्णु-यज्ञ' हुआ था। यज्ञके आचार्य भारतप्रसिद्ध विद्वान् महामहोपाध्याय पं० श्रीविद्याधरजी महाराज थे और मैं जनताके प्रतिनिधिरूपमें यज्ञका 'यजमान' था।

बरहज बाजारके यज्ञमें आचार्य श्रीविद्याधरजी महाराजकी वेदमन्त्रोंके प्रति सच्ची निष्ठा और विश्वासका प्रत्यक्ष चमत्कार देखनेका अवसर प्राप्त हुआ था। बरहजमें सरयूतटपर 'महाविष्णु-यज्ञ' हो रहा था। यज्ञके पाँचवें दिनकी बात है। दिनमें चार बजे यज्ञ-हवनकुण्डमें अग्निदेव प्रचण्ड रूपमें प्रज्वलित होकर वैदिक विद्वानोंके द्वारा विधिवत् हव्य ग्रहण कर रहे थे। उस समय यज्ञशालामें दिवंगत पूज्य बाबा श्रीराघवदासजी महाराज भी उपस्थित थे। यज्ञशालाके चारों ओर यज्ञप्रेमी जनताकी अपार भीड़ थी। अकस्मात् भयंकर कोलाहल सुनायी दिया कि 'सरयूजीकी आधी धारातक बड़े वेगसे आँधी आ चुकी है और वह यदि इस पार यज्ञशालातक आ गयी, तो निश्चित ही यज्ञाग्निकी ज्वाला भीषण रूप धारण कर यज्ञशालाको भस्मीभूत कर देगी, जिससे यज्ञमें बहुत बड़ी बाधा उपस्थित हो जायगी और यज्ञ-विरोधी जनताको ननु-नच करनेका अवसर मिल जायगा।' इस बातको विचारकर सभी लोग भयभीत हो रहे थे। जनताकी घबराहट देखकर यज्ञके श्रीआचार्यजीने बड़ी दृढ़तासे कहा—'आपलोग तनिक भी न घबरायें। वेद-मन्त्रोंके पाठसे तत्काल आँधीका वेग शान्त हो जायगा।' इतना कहकर श्रीआचार्यजीने वेदपाठ प्रारम्भ कर दिया। वेदपाठके प्रभावसे पाँच ही मिनटमें आँधीका प्रबल वेग शान्त हो गया और आँधी जहाँ-की-तहाँ रुक गयी अर्थात् वह आँधी सरयूजीकी आधी धारातक ही रहकर विलीन हो गयी।

श्रीआचार्यजीके वेदपाठके तात्कालिक प्रत्यक्ष प्रभावको देखकर सभी लोगोंने श्रीआचार्यजीकी सच्ची निष्ठा तथा वेदपाठके प्रभावकी बार-बार प्रशंसा की।

—दिवंगत बाबा सत्यव्रतजी, बरहज (देवरिया)

(महामहोपाध्याय श्रीविद्याधर गौडस्मारक ग्रन्थसे उद्धृत)

(५)

बुराईका बदला भलाई करके लेना चाहिये और विष देनेवालेको भी अमृत देना चाहिये

कई वर्ष पहलेकी सत्य घटना है। मुजफ्फरपुरसे पूर्व एक गाँवमें एक प्रसिद्ध धनी महाजन थे, उनके तीन लड़के थे और उनके छोटे भाईके केवल एक लड़का था। संयोगकी बात, लड़का जब तीन वर्षका हुआ तो उसके पिता मर गये और उसके एक वर्षके बाद ही माता भी मर गयी। अब उस मातृपितृहीन बालकके जीवन तथा पालन-पोषणका भार उस लड़केकी दादीपर ही पड़ा। दादी उसे जी-जानसे पालने लगीं, किंतु चाचाजी उस भतीजेको अपने हृदयसे नहीं चाहते थे। इसका प्रबल कारण यह था कि उनके तीन लड़के थे और इधर कारोबार आधी सम्पत्तिके ये तीन हिस्सेदार थे और इधर

सम्पत्तिका आधा अधिकारी केवल वह मातृ-पितृहीन एक ही लड़का होनेवाला था ।

एक दिन उस निर्दयी चाचाने अपनी स्त्रीसे सलाह करके दुपहरके समय उस लड़केके भोजनमें विष मिला दिया; किंतु

जाको राखे साइयाँ मारि सकै नहिं कोय ।

भोजनकी थाली रक्खी है । लड़का खानेके लिये आ रहा है, इतनेमें एक कौआ आया और उस थालीमेंसे कुछ भात चोंचमें भरकर भागा, किंतु आँगनमें जाते-जाते वह लोटपोट हो गया । लड़केकी दादीको यह देखकर मनमें संदेह उत्पन्न हो गया । उसने वह भात उस लड़केको नहीं खाने दिया और एक कुत्तेको बुलाकर उसे खिलाया । भात खाते ही कुत्ता भी तुरंत मर गया । कुछ ही समयमें यह बात बिजलीकी तरह सारे गाँवमें फैल गयी । गाँववालोंने बहुत कुछ जाँच-पड़तालके बाद लड़केके चाचाको दोषी ठहराया और उस लड़केकी रक्षाका सारा भार पक्की लिखा-पढ़ीके साथ उसके ऊपर देकर इस बातको आगे बढ़ने न दिया ।

कुछ दिनोंके बाद लड़का जब बालिग हुआ, तब अपने जानके डरसे उसने अपने चाचासे अलग रहनेका विचार किया, किंतु धनलोलुप चाचाने उस लड़के (भतीजे) को आधा हिस्सा न देकर चारोंको बराबर-बराबर बाँटनेका विचार किया । इसपर भतीजेने कहा कि 'चाचाजी ! मेरा पालन-पोषण आपने किया है, इसके एवजमें मैं अपनी आधी सम्पत्तिमेंसे केवलमात्र आपको दो आने हिस्से देनेके लिये तैयार हूँ । आपके लड़कोंको नहीं ।' चाचाने इस बातको कबूल नहीं किया ।

जब चाचाने इस बातको नहीं पसंद किया तो भतीजेने हारकर कोर्टमें बँटवारेका मुकदमा दायर कर दिया । पंचोंसे भतीजाको आधा हिस्सा मिल गया । चाचाजीकी मनोकामना पूर्ण न हो सकी, किंतु उदारचित्त भतीजेने अपने आठ आने हिस्सेमेंसे दो आने उस दुष्ट चित्तवाले चाचाको देकर संतुष्ट किया । यह जानकर उस (भतीजे) की स्त्रीने कहा कि 'एक बार विष देनेपर तो आपने अपनी आधी सम्पत्तिमेंसे चाचाजीको दो आने हिस्सा दे दिया । अब दूसरी बार कहीं चाचाजीकी कृपा हो जाय तो आप अपने घरद्वारसमेत सारी सम्पत्ति ही दे देंगे ।' इसपर उसने कहा कि 'तुम नहीं समझती हो बुराईका बदला भलाई करके लेना चाहिये और विष देनेवालेको भी अमृत देना चाहिये ।' स्त्री भी उत्तम कुलकी थी । पढ़ी-लिखी और अच्छी समझवाली थी । अपने पतिदेवकी उदारतापर वह हृदयसे प्रसन्न थी । अतः उसने भी इस काममें किसी प्रकारका विघ्न नहीं किया ।

कुछ दिनोंके बाद चाचाजीके पापके फल-भोगका समय आ गया । चाचाजीके तीनों लड़के पृथक्-पृथक् हो गये । दिन-रात बाप-बेटोंमें झगड़ा होने लगा । अब तो चाचाजीको खाने-पीनेमें भी तकलीफ होने लगी । जिस जायदादके लिये चाचाजीने बड़े-बड़े पाप किये थे, उसी जायदादको अब कौड़ीके दामोंपर बेचना शुरू किया । जब उस सुयोग्य भतीजेने देखा कि घर बरबाद होनेपर है तो उसने उन तीनों भाइयोंसे कहा कि 'चाचाजी बहुत दुखी हो गये हैं । आपलोग इनको किसी प्रकारसे तकलीफ मत दीजिये और इनसे कोई जमीन न ले सके, इसके लिये कोर्टमें एक दरखास्त दे दीजिये ।'

उसके कथनानुसार करनेसे बाकी जायदाद बच गयी । परंतु पूर्ववत् स्थितिमें आना उन लोगोंके लिये आकाश-कुसुमवत् हो गया । उदार भतीजेने समय-समयपर आर्थिक तथा शारीरिक सहायता देकर अपने चाचाजीकी प्रतिष्ठा-मर्यादाको कुछ भी कम न होने दिया । उनकी आर्थिक स्थिति कमजोर होनेपर भी खान-पान, विवाह आदि सारे कार्य पूर्ववत् ही चलते रहे । —पं० रामविलास मिश्र

(६)

भगवान्‌की निर्भरता

श्रीगङ्गाजीके पार जानेके लिये नावमें कुछ स्त्री-पुरुष बैठे हुए थे । जब नाव गङ्गाजीके बीचमें पहुँची तो बहुत जोरसे आँधी आयी । नाव हिलने-डुलने लगी और जल भरने लगा । जब नाव डूबनेको हुई तो नावमें बैठे हुए स्त्री-पुरुष घबरा गये । कोई-कोई तो रोने भी लगा । परंतु एक पुरुष बिल्कुल निर्भय बैठा हुआ हँस रहा था और मन-ही-मन राम-नामका जप कर रहा था । भगवान्‌की कृपासे आँधी बंद हो गयी और नाव डूबनेसे बच गयी । जब नाव पार पहुँच गयी तब जो पुरुष निर्भय बैठा हँस रहा था, उसकी पत्नीने पूछा—'जब आँधी आयी, नावमें जल भरने लगा और नाव डूबनेको हो गयी, उस समय सब घबरा गये, कोई-कोई तो रोने भी लगा । परंतु आप निर्भय बैठे हँस रहे थे, इसका क्या कारण था ?'

इतनी बात सुनकर उसके पतिने अपनी पत्नीका हाथ पकड़कर गङ्गाजीकी ओर खींचा और कहा 'तुझे अभी गङ्गाजीमें डुबाऊँगा।' यह सुनकर उसकी पत्नी हँसने लगी और बिल्कुल नहीं घबरायी। उसके पतिने पूछा—'मैं तुझे गङ्गाजीमें डुबानेको खींच रहा हूँ परंतु तू हँस रही है और घबरायी भी बिल्कुल नहीं। इसका क्या कारण है ?' उसकी पत्नीने कहा—'आप मेरे पति (मालिक) हैं। मैं आपकी बन चुकी हूँ, आप ही मेरे शरीरके रक्षक तथा पालन-पोषण करनेवाले हैं। मैं आपके ऊपर निर्भर हूँ, तब आप क्या मुझे डुबा सकते हैं ?' उसके पतिने कहा—जैसे तुम मेरे ऊपर निर्भर होकर निर्भय हो। वैसे ही मैं अपने भगवान् श्रीरामजीके ऊपर निर्भर होकर निर्भय हूँ, वही मेरे मालिक हैं, मैं उनका बन चुका हूँ, मेरे रक्षक तथा पालन-पोषण करनेवाले वही हैं, एकमात्र वही हैं। वे मुझे इस गङ्गामें ही डूबनेसे ही नहीं, भव-सरितामें डूबनेसे भी बचायेंगे। उन्होंने श्रीनारदजीसे कहा है।

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा।
भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी।
जिमि बालक राखइ महतारी॥
(श्रीरा० च० अरण्यकाण्ड)

यह सुनकर उसकी पत्नी बहुत प्रसन्न हुई और राम-राम कहती हुई अपने पतिके चरणोंमें गिर पड़ी।

—सोनादेवी सालवन

(७)

एकान्तरा ज्वरकी रामबाण दवा

जंगलों-खेतोंमें होनेवाली हमारी जड़ी-बूटियोंमें असीम चमत्कारपूर्ण गुण भरे हैं, हम उनका उपयोग जानते नहीं, न करते ही हैं, इसीसे उस लाभसे वञ्चित रहते हैं विदेशी पद्धतिसे बनी विषपूर्ण ओषधियोंका सेवन करके अपने धन एवं जीवनको बरबाद करते हैं। यहाँ अपामार्गके एक विलक्षण गुणका उल्लेख किया जा रहा है। इसके प्रयोगसे कैसा भी एकान्तरा (एक दिन बीचमें छोड़कर आनेवाला) ज्वर नष्ट हो जाता है। विधि यह है—

जिस रविवारको पुष्य नक्षत्र हो, उसके पहले दिन शनिवारको सायंकाल सूर्यास्तसे पहले अपामार्ग वनस्पतिके पास जाकर उसे जलसे स्नान करावे, फिर रोरी (कुंकुम) चढ़ावे, तदनन्तर जौ-तिल-चावल चढ़ावे। इसके बाद उसकी मूल (जड़) में रँगे सूत (नाल) का लंबा-सा रक्षासूत्र बाँध दे और यह निवेदन करके निमन्त्रण देकर लौट आवे कि 'मैं अपने कार्यकी सिद्धिके लिये कल प्रातःकाल आपको लेने आऊँगा।' दूसरे दिन पुष्य नक्षत्रयुक्त रविवारके प्रातःकाल सूर्योदयके समय जाकर मूल (जड़) ले आवे और साथ ही उसमें बाँधा हुआ रक्षासूत्र भी ले आवे। यह ध्यान रहे, लाते समय कोई टोकाटाकी न करे कि तुम यह क्या कर रहे हो ?

इस विधिसे लायी हुई अपामार्गकी जड़को घरमें सुरक्षित रक्खे और जब भी जरूरत हो, उसका उपयोग करे। इस प्रकार एक बार लायी हुई जड़ वर्षोंतक काम दे सकती है। पर यह काम लोभ-लालचसे न करे। विशुद्ध सेवाभावसे ही करे। मेरा तीस वर्षका अनुभव है। यह एकान्तरा ज्वरकी रामबाण दवा है।

रोगीको जिस दिन जिस समय ज्वर आनेकी पारी हो, उस दिन उस समयसे एक-दो घंटे पहले थोड़ी-सी मूल (जड़) उसी रक्षासूत्रसे बाँधकर सात गाँठ दे दे और फिर गुग्गुल या गोघृतकी धूप देकर रोगीके दक्षिण हाथमें (स्त्री हो तो बायें हाथमें) या कण्ठमें बाँध दे। उसी दिन आराम हो जायगा। कदाचित् उस दिन न बंद हुआ तो बहुत जोरसे ज्वर आयेगा, इससे घबराये नहीं। दूसरी पारीमें बिल्कुल नहीं आयेगा। यह परीक्षित है।

—पं० छोटेलाल जगन्नाथ चक्कीवाला। श्रीसुदर्शन फ्लावर फैक्टरी, रायपुर दरवाजा, कांकरिया रोड, अहमदाबाद (गुजरात)

भूल स्वीकार

'कल्याण'के गत नवम्बरके अङ्कमें 'पढ़ो, समझो और करो' शीर्षकके नीचे 'काँटेके बदले फूल' नामक एक घटना छपी है। यह घटना अहमदाबादके प्रसिद्ध गुजराती मासिकपत्रसे अनुवादित है। पता लगा है कि यह 'मन्त्र' शीर्षक स्वर्गीय 'प्रेमचन्दजी'की लिखी पुरानी कहानी ही है, जो काट-छाँटकर दे दी गयी है। वास्तवमें 'कल्याण'में तो इसे सच्ची घटना समझकर ही छापा गया था। हमें खेद है कि जानकारी न होनेके कारण यह भूल हो गयी। भविष्यमें हम विशेष ध्यान रक्खेंगे। जिन सज्जनोंने हमें यह भूल सुझायी, उनके हम कृतज्ञ हैं।

—सम्पादक

श्रीहरिः

कल्याण

[भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र]

वर्ष ३७

संवत् २०१९–२०२० वि०
सन् १९६३ ई०

की

निबन्ध, कविता

तथा

चित्र-सूची

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार] ※ [प्रकाशक—मोतीलाल जालान

कल्याण-कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

वार्षिक मूल्य ७.५० (सात रुपये, पचास नये पैसे)
विदेशोंके लिये १०.०० [१५ शिलिंग]
आजीवन ग्राहक शुल्क १००)
प्रतिसंख्या ·४५ (पैंतालीस नये पैसे)

निबन्ध-सूची

विषय पृष्ठ-संख्या

१–अधर्म और पापसे सावधान रहिये (श्रीराम माधव चिंगले एम्० ए०) ... ९६६
२–अधिक सुन्दर बनिये (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०, दर्शन-केशरी, विद्याभूषण, साहित्यरत्न) ... ९५५
३–अनन्य भक्तिसे भगवत्प्राप्ति (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... ६९५
४–अन्तःकरणशुद्धि [परम पूज्यपाद पं० श्रीपुरुषोत्तम नारायण नागरजी महाराजका सदुपदेश] (श्रीभगवानदास झा 'विमल' एम्० ए०, बी० एस्-सी०, एल्० टी०, साहित्यरत्न) ८६२
५–अन्ताराष्ट्रीय चेतना एवं भारतीय संस्कृति (डा० श्रीनरेन्द्रकुमार सेठी, एम्० ए०, एम्० बी० ए० (न्यूयार्क), पी-एच्० डी० (न्यूयार्क), एम्० आर० ए०, यस्०, एम्० बी० एच्०, साहित्यरत्न, विशारद, धर्मरत्न, प्रोफेसर, लाङ्ग आईलेण्ड विश्वविद्यालय, न्यूयार्क एवं प्रतिष्ठापक, भारतकेन्द्र, न्यूयार्क) ... ७०८
६–आत्मनाश–एक नशा (श्रीशेषनारायणजी चन्देले) १०८८
७–आत्मोद्धारकी प्रधान-प्रधान दो-दो बातें (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... १०१३
८–आध्यात्मिक धनकी श्रेष्ठता (पं० श्रीजयकान्तजी झा) १३००
९–आपमें छिपा हुआ चमत्कारी विद्युत्प्रवाह—आत्मतेज (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ... ७०९
१०–आस्थाकी माँग (श्रीबालकृष्णजी बलदुवा बी० ए०, एल्-एल्० बी०) ... १३४१
११–इन्द्राक्षी-कवचका अद्भुत चमत्कार (एक बहन) १२४५
१२–ईश्वर कब हँसता है ? (श्रीराजेन्द्रप्रसादजी एम्० ए०) ७७३
१३–ईश्वरमें विश्वास (श्रीलक्ष्मणस्वरूपजी माहेश्वरी, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०) ... ८५९
१४–उत्तर और दक्षिणकी शाश्वत एकता (श्रीअशोक महाजन) १३५६
१५–उत्साह (डा० श्रीप्रकाशसिंहजी बी० एस्-सी०, एम्० बी० बी० एस्०) ... १२२४
१६–एक महात्माका प्रसाद (श्री-'माधव'जी) १२६५, १३३६

विषय पृष्ठ-संख्या

१७–एकादशीका उपवास (मूल मराठी-लेखक श्री पं० श्रीदा० सातवलेकरजी; अनु०—श्रीश्रुतिशीलजी शर्मा, तर्कशिरोमणि) ९५९, १०२२
१८–ऐसा भी कभी होगा ? (श्री'दुर्गेश') ... ९५८
१९–ओ मेरे मन ! गुणगान करो 'श्रीसीताराम'का (डा० श्रीरवीन्द्रप्रताप राव, आर्गेनिक केमिस्ट्री डिपार्टमेंट, यूनिवर्सिटी ऑव् ऐडेलायड, साउथ आस्ट्रेलिया) ... ११०१
२०–कल्याण ('शिव') ६८४, ७४८, ८१२, ८७६, ९४०, १००४, १०६८, ११३२, ११९६, १२६०, १३२४
२१–कालिय-मर्दन और ताण्डव-नृत्य (श्रीव्यौहार राजेन्द्रसिंहजी) ९८१
२२–किसने पुकारा ? (श्रीहरिश्चन्द्रजी अष्ठाना 'प्रेम') ११६४
२३–(श्री) कृष्णकी जन्मकालीन महानता (श्रीवृजलालजी बियाणी) १२११
२४–(श्री) कृष्ण-जन्माष्टमी (भाद्रपद-कृष्णाष्टमीके महोत्सवपर गोरखपुरमें हनुमानप्रसाद पोद्दारका प्रवचन) ११११
२५–केवल निष्काम कर्मसे भगवत्प्राप्ति (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... १०३१
२६–कैसा साहित्य चाहिये ? (गोरखपुरमें अनुष्ठित 'निखिल-भारत बंग-साहित्य-सम्मेलनके ३८वें अधिवेशनमें स्वागत समितिके अध्यक्ष श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारके बँगला स्वागत-भाषणके कुछ भागका अनुवाद) ७२८
२७–कौन सोचता है ? कौन व्यथित है ? (श्रीसुन्दरलालजी बोहरा) ... ७८१
२८–क्या आप किसी मानसिक दुःख या रोगसे पीड़ित हैं ? (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ... ८९६
२९–क्या जयपुरमें गोहत्या होती है और गोमांस बिकता है (डा० श्रीश्रीकान्त जैन, एम्० पी०) १३२२
३०–क्या हम बुद्धिमान् हैं ? ... ९३०
३१–क्षमाका जीवनमें स्थान (श्रीमती पद्मारानी वैश्य) १२३८
३२–खान-पानमें भयानक अशुद्धि ... ११८१
३३–गोस्वामी तुलसीदास और अहंकार (श्रीसद्गुरुशरणजी अवस्थी) ७१२

३४–चञ्चल मनके प्रति (श्री 'दुर्गेश') ··· १३६४
३५–जगत्—प्रियतमका पत्र (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') ··· ··· १३७०
३६–जन्तु-जगत्की विशेषताएँ (डा० श्रीरामदयालजी भार्गव) ··· ··· ७९९
३७–जब पाण्डव हार गये (श्रीउपेन्द्रनाथ राय एम्० ए०, शास्त्री) ··· ११२६
३८–जीवकी कल्याण-साधना (श्रीगोपालजी भट्ट एम्० ए०) ··· ··· ११०७
३९–जीवनमें नया परिवर्तन (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ··· १२१८
४०–जीवनमें सफलताकी कुञ्जी (प्रो० श्रीहंसराजजी अग्रवाल, एम्० ए०, पी० ई० यस्०) ··· ७३९
४१–जीवन-यज्ञ (आदरणीया बहिन श्रीरैहाना तैयबजी) ··· ··· ८९९
४२–ज्ञानका स्वरूप (श्रद्धेय स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज) ··· १२६१, १३२६
४३–तुम और मैं (श्री'स्वर्णकिरण') ··· ९९७
४४–तुलसीका सुराज (डा० श्रीगोपीनाथजी तिवारी एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ··· १३७७
४५–तुलसीदासजीकी सौन्दर्य-भावना (श्रीपरमलालजी गुप्त) ··· ··· १०३६
४६–त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् (पं० श्रीदेवदत्तजी मिश्र काव्य-व्याकरण-सांख्य-स्मृति-तीर्थ) ··· ११४८
४७–दवाओंसे बचिये (श्रीधर्मचन्द्रजी सरावगी) १०५३
४८–दानशीलता (श्रीरघुनाथप्रसादजी पाठक) ११०५
४९–दिल्लीके संत कवि महात्मा चरणदास (श्रीफतहचन्द्रजी शर्मा 'आराधक') ··· ७४०
५०–दीपावली-विज्ञान (श्रीरणछोड़दासजी 'उद्धव') ८४९, ९०३, ९६३
५१–दीर्घसूत्रीसे ! (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') ८०१
५२–दुर्वचन (विद्यावाचस्पति पं० श्रीगणेशदत्तजी शर्मा 'इन्द्र') ··· ··· १११७
५३–दृष्टान्त-रहस्य (श्रीह० भ० प० चातुर्मास्ये महाराज) ··· ··· १२३६
५४–दैववृत्तियोंको जगाये रखिये (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०, विद्याभूषण, दर्शनकेसरी) ··· १३४२
५५–द्वादशाक्षर मन्त्र और गीता (श्रीगोविन्दराम पं० हूँदराजजी बोधा [यजुर्वेदी]) ··· ७७९
५६–धर्मकी हानि और पापकी वृद्धिके निवारणके उपाय (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ९४५
५७–धर्मक्षेत्र (श्रीलक्ष्मीकान्तजी मिश्र एम्० ए०, साहित्यरत्न) ··· ··· ७६१
५८–'धर्मयुद्ध—भगवत्प्राप्तिका साधन' ··· ६८५
५९–धर्मप्राण संस्कृति और देवालय (श्रीओंकारमलजी सराफ) ··· ··· १०५९
६०–धर्म, सम्प्रदाय, सदाचार और ईश्वर (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) १०८३, ११८४
६१–निराश हृदयकी जीवन-ज्योति (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०, साहित्यरत्न, विद्याभूषण, दर्शनकेसरी) ··· १०९१
६२–'नैराश्यं परमं सुखम्' (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ··· ··· १२१०
६३–न्यायोपार्जित धनसे ही शान्ति मिलती है (श्रीभगवानदासजी चौधरी) ··· ८०२
६४–पढ़ो, समझो और करो ७४२, ८०५, ८७१, ९३३, ९९८, १०६१, ११२७, ११९१, १२५५, १३१७, १३८२
६५–पागलकी झोली (महात्मा श्रीठाकुर सीतारामदास ओंकारनाथजी महाराज) ··· १२७३
६६–पारिवारिक जीवनकी दृढ़ भित्तियाँ—प्रेम, सहिष्णुता और सेवा (श्रीअगरचन्दजी नाहटा) ७८६
६७–पुराणोक्त धर्म-वंशका रहस्य (सर्वदर्शनाचार्य तत्त्वचिन्तक अनन्तश्री स्वामी अनिरुद्धाचार्य वेंकटाचार्यजी महाराज) १०४७, ११३७
६८–पुष्टिमार्गीय समाराधनामें संगीत-योग (पं० श्रीगोपालभट्टजी एम्० ए०) ··· ९८९
६९–प्रकाशका देश (महात्मा श्रीश्रीसीतारामदास ओंकारनाथजी महाराज) ७०२, ७५७
७०–प्रतीक्षा (श्रीहरिश्चन्द्रजी अष्ठाना 'प्रेम') ··· ७२१
७१–प्रदक्षिणाकी महिमा और विधि (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ··· १२८८
७२–प्रेमी भक्त श्यामानन्द (श्रीराधाकृष्णजी) ··· १३०८
७३–बड़प्पनका मापदण्ड (श्रीअजयकुमारजी ठाकुर) ··· ··· १२७७
७४–बिना साबुन, बिना पानी निर्मल करनेवाले (श्री'दुर्गेश') ··· ··· १२५४
७५–भक्ति (ब्र० पूज्यपाद श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महात्मा श्रीनथुरामजी शर्मा—अनु० श्रीसुरेश एम्० भट) ८९४
७६–भक्ति (डा० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल) ९५४

७७–भक्तियोग (स्वामीजी श्रीभक्तिदीपक भारतीजी महाराज) १२९८
७८–भगवत्प्राप्तिका सरल उपाय—अनन्य शरणागति (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... ११६७
७९–भगवत्प्राप्तिके विविध साधन (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... ७४९
८०–(श्री) भगवन्नाम-जप (नामजप-विभाग—'कल्याण' कार्यालय, गोरखपुर) ... १२५१
८१–भगवन्नामजपका प्रभाव (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) १३३०
८२–(श्री) भगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना (चिम्मनलाल गोस्वामी) ... १३१५
८३–भगवान्की दृष्टि (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') १२२३
८४–भगवान्के स्वभावका रहस्य (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... ८१९
८५–भद्राचलम्—भगवान् श्रीरामके चरणोंसे पावन (श्रीवेंकटलालजी ओझा) ... ९९५
८६–भरतका देवपूजन (श्रीब्रह्मेश भटनागर एम्० ए०) १३४७
८७–(श्रीमद्) भागवत—एक अनुशीलन (जगद्गुरु श्रीरामानुजाचार्य आचार्यपीठाधिपति स्वामी श्रीराघवाचार्यजी महाराज) ... ९४१
८८–(श्रीमद्) भागवतकी मौलिकता और उसके महापुराण होनेमें प्रमाण (पण्डित श्रीगोपालदत्तजी शर्मा, ज्योतिषशास्त्री) ... १०३३
८९–भारतीय मूर्तियाँ और चित्र आपको प्रेरक शान्ति-संदेश देते हैं (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी० साहित्यरत्न, विद्याभास्कर) ८३४
९०–भारतीय संस्कृतिमें पशु-पक्षियोंका महत्त्व (श्रीइन्द्रलालजी शास्त्री विद्यालंकार) ... ७३१
९१–भोजनशुद्धि ९८६
९२–मधुर ७०७, ७६७, ८३१, ९०९, ९५३, १०२०, १२०८, १२८१, १३३९
९३–मन एवं इन्द्रियोंसे सावधान ! (प्रो० श्रीशैलजानन्दजी झा 'अंगार' एम्० ए०) ... ११२३
९४–मनको संयत और एकाग्र करनेके उपाय (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... १२०१
९५–मनको सदा कल्याणकारी विषयोंमें लगाइये(डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०) १०४२
९६–महामना पं० मदनमोहन मालवीय सिरसे पैरतक हृदय-ही-हृदय थे (श्रीएम्० जी० दीक्षित) १३१३
९७–महाराजा जनकके चरित्रका एक पक्ष (डा० श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू, एम्० ए०, डी० लिट्०) ९७१
९८–माका खेल (प्रे०–श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय) ८६७
९९–मानव-जीवन कैसा हो ? [अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराजका सदुपदेश] (प्रेषक—श्रीगोकुलचन्द गोयल एम्० ए०, साहित्यरत्न) ... १३२५
१००–मानव-देह किसलिये ? (श्रीलक्ष्मीनारायणजी 'अलौकिक') ८३०
१०१–मानवधर्म (मुनि श्रीसंत बालजी) ... १३५८
१०२–मानव-बुद्धि और ज्ञान (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') १३०२
१०३–मानसकारका दार्शनिक दृष्टिकोण (श्रीप्राणनाथजी पंकज एम्० ए०) ... ९०५
१०४–मानसरोग (श्रीगोपालदत्तजी सारस्वत) ... ७१५
१०५–मानसिक विश्लेषण (श्रीविश्वेश्वरनारायणजी) ९८०
१०६–मितव्ययिताका आदर्श (श्रीरमाकान्तजी मिश्र) १०४१
१०७–मैं क्या बनूँ ? (डा० श्रीतीर्थराजजी शर्मा एम्० काम०, पी-एच्० डी०) ... १३६७
१०८–मैं प्रस्तुत हूँ (श्रीबालकृष्णजी बलदुवा बी० ए०, एल्-एल्० बी०) ... ८६६
१०९–मोक्ष-साधन-रहस्य (श्रीस्वामी प्रेमानन्दजी महाराज) १०४८
११०–मोहमेघाच्छन्नता (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') ८२१
१११–मौनं चैवास्मि गुह्यानाम् (श्रीभगवानदीनजी मिश्र एम्० ए०) ८६४
११२–यह जादू भी अच्छा काम करता है, जरा प्रयोग करके देखिये (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ... १२१०
११३–(श्रीश्री) राधा-प्राकट्य-महोत्सव—श्रीराधा-जन्माष्टमी (सं० २०२०) पर हनुमानप्रसाद पोद्दारके गोरखपुरमें प्रवचन) ... ११७४
११४–श्रीराम (श्रीहरेशचन्द्रजी अग्रवाल एम्० ए०, बी० टी०) ... ७६८, ८२४
११५–रामका अन्याय ?(श्रीराजेन्द्रप्रसादजी जैन) ... ११२१
११६–रामचरितमानसकी अन्तःकथाएँ (डा० श्रीवागीशदत्तजी पाण्डेय, एम्० ए० (हिंदी-संस्कृत), साहित्याचार्य, पी-एच्० डी०) ८४५, १२३१

११७–रामचरितमानसमें नारीका स्थान (आचार्य पं० श्रीकेदारनाथजी मिश्र, एम्० ए०, एल्० टी०) ११६९
११८–(श्री) रामचरितमानसमें ब्राह्मणकी परिभाषा (डा० श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू; एम्० ए०, डी० लिट्०) … … १२८४
११९–राम-महिमा (प्रो० श्रीदेउलगाँवकर चन्द्रकान्त) ७७४
१२०–राम-लक्ष्मण—दो शरीर एक प्राण (श्रीदूधनाथसिंहजी) … … ११९०
१२१–वनवासी बन्धुओंके बीचमें (श्रद्धेय श्रीप्रभुदत्त-जी ब्रह्मचारी महाराज) … ९१७
१२२–विज्ञानके आलोकमें शक्तिका स्वरूप (डा० श्रीकैलाशनाथजी मिश्र एम्० डी०, एम्० बी०, एच्० ए०) … … ८४०
१२३–विपत्तिको पराजित करनेकी रीतियाँ (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ११५५
१२४–विवेकानन्द और भारतीय धर्म तथा संस्कृति (श्रीशशिधरजी शर्मा शास्त्री, सर्वदर्शनाचार्य एम्० ए०) … … ८५२
१२५–विश्वमें अशान्ति क्यों ? [महात्मा श्रीनिरञ्जन-जीके विचार] (प्रेषक—डा० सूर्यकान्त ठाकुर) १२८०
१२६–विश्वास और श्रद्धाके प्रतीक देवालय (श्री-ओंकारमलजी सराफ, संस्थापक देवालयरक्षण-समिति) … … १२३९
१२७–विष्णुध्वज (डा० श्रीदेवसहायजी त्रिवेद एम्० ए०, पी-एच्० डी०) … १२४२
१२८–वेदमें अवतारवाद (महामहोपाध्याय पं० श्रीगिरिधरजी शर्मा चतुर्वेदी) … १०११
१२९–वेदान्तका श्रवण-मनन (ब्र० पूज्यपाद श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महात्मा श्रीनथुरामजी शर्मा; अनु०—श्रीसुरेश एम्० भट) … १२७८
१३०–वैज्ञानिक-आध्यात्मिक अनुभव-ज्ञान (श्रीशिवमूर्तिजी) … … ९५१
१३१–वैज्ञानिक प्रगति और धर्म (पं० श्रीरामप्रतापजी शास्त्री, नव्य-व्याकरणाचार्य) … १३६५
१३२–व्यवहार … … १००२
१३३–शक्तिकी उपासनाके दार्शनिक रहस्य (आचार्य पं० श्रीसूर्यमणिजी शास्त्री) … ९७८
१३४–शक्ति-प्रकटनका महत्त्वपूर्ण उपाय—अभ्यास (श्रीअगरचन्दजी नाहटा) … ९०१
१३५–शरीर-मीमांसा (स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज) … ११३३, ११९७
१३६–षोडशनाम महामन्त्रके विस्तृत विविध अर्थ (परमहंस श्रीमद्भक्तिमयूख भागवत गोस्वामीजी महाराज) … ११००
१३७–संग्रहका सुख भ्रम है (श्रीगणेशलालजी कर्ण) ९२९
१३८–संन्यास-तत्त्व (श्रद्धेय स्वामीजी श्रीचिदानन्द-जी सरस्वती महाराज) … … ६९२
१३९–संस्कारकी बात (श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा) … ८०३
१४०–संस्कृतभाषाका टीकासाहित्य (पं० श्रीजानकी-नाथजी शर्मा) … … १३७१
१४१–संस्कृति और श्रीअरविन्द (डा० श्रीइन्द्रसेनजी, श्रीअरविन्दाश्रम, पांडिचेरी) … १३७९
१४२–संस्कृतिका भारतीय तत्त्व (डा० श्रीनरेन्द्र-कुमारजी सेठी, एम्० ए०, पी-एच्० डी० न्यूयार्क) … … ८३०
१४३–'सगुन जान नहिं कोइ' (पं० श्रीज्ञानशंकरजी पाण्डेय, एम्० ए०) … १०९६
१४४–सच्चा मित्र (राष्ट्रपति डा० श्रीराधाकृष्णन्‌द्वारा कथित एक लघुकथा) … ८८६
१४५–सत्सङ्गका प्रसाद (डा० श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र 'माधव' एम्० ए०, पी-एच्० डी०) … १०१०
१४६–सत्सङ्गसे ही प्राप्तव्यकी प्राप्ति (मानसतत्त्वान्वेषी पं० श्रीरामकुमारदासजी रामायणी) … १३४५
१४७–सदाचार (श्रीचोडवरपु रामशेषय्या) … १२४८
१४८–सब अनर्थोंके मूलभूत राग-द्वेषके नाशके उपाय (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ११४१
१४९–सबका कल्याण कैसे हो ? (स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजका एक भाषण) १०२७
१५०–समस्त जीवन ही साधन है (श्री'माधव') १२०६
१५१–सम्राट् अकबरद्वारा गोवध-निषेध-आज्ञा (श्रीगोवर्धनलालजी पुरोहित, एम्० ए०) … ९१५
१५२–सरकारसे प्रार्थना … … ९३८
१५३–सर्वधर्मान् परित्यज्य (डा० कैलाशनाथजी मिश्र, एम्० डी०, एम्० बी० एच्० ए०) ७३४
१५४–सहनशक्ति बढ़ाइये (श्रीअगरचन्दजी नाहटा) १२२१
१५५–साधनकी सफलताके उपाय (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) … ८८७
१५६–साधन-विचार (श्रद्धेय स्वामीजी श्रीचिदानन्द-जी सरस्वती महाराज) १००५, १०६९
१५७–सारथि (श्रीराजेन्द्रप्रसादजी जैन) … १२२७
१५८–सुन्दरता कहुँ सुन्दर करई (डा० श्रीहरिहरनाथ-जी हुक्कू एम्० ए०, डी० लिट्०) … ७७७

१५९–सुन्दरता क्या है ? (स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज) … … ७९४
१६०–सुशासनका साक्षात्कार (पण्डित श्रीसूरजचन्दजी सत्यप्रेमी 'डाँगीजी') [प्रेषक—श्रीसत्यपालजी शर्मा] … १०५५
१६१–सूरका वात्सल्य (श्रीदिनेश भ्रमरजी एम्० ए०, रिसर्च स्कालर) … १२९५
१६२–सूरदासका भ्रमर-गीत (याज्ञिक-सम्राट् पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड़, वेदाचार्य) … ९८७
१६३–सूरदासकी सगुण भक्ति (श्रीहरनारायणजी टंडन 'स्वामीजी') … ८५७
१६४–सूरदास मदनमोहन (श्रीगोकुलानन्दजी तैलंग 'साहित्यरत्न') … १११३
१६५–सूर्य-रथ और उसके सात घोड़े (सर्वदर्शनाचार्य तत्त्वचिन्तक अनन्तश्री स्वामी श्रीअनिरुद्धाचार्य वेंकटाचार्यजी महाराज) … ८८२
१६६–सौन्दर्य कहाँ ? (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') ९५८
१६७–स्वनामधन्य व्याख्यान-वाचस्पति (स्व०) पं० दीनदयालु शर्मा … … ९२५
१६८–स्वयंके अतिरिक्त (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') … … ११५०
१६९–हममें परिवर्तन क्यों नहीं होता ? (श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट) १२३०, १२९२
१७०–हमारा धर्म—धर्मयुद्ध (श्रीजीत्तूरामजी मौर्य) … ७२३
१७१–हमारा महान् शत्रु—आलस्य (श्रीअगरचन्दजी नाहटा) … … १०४६
१७२–हमारी मुक्तिनाथ-यात्रा (श्रद्धेय श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी) ११५८, १२१४, १३०३, १३४९
१७३–हिमालय-संरक्षण, देवालय-संरक्षण (श्रीओंकारमलजी सराफ) … … ७९५
१७४–हृदयमें मधुर गान रखकर आनन्दित होइये (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०) … … ७८३
१७५–हिंदू-दर्शन (श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय एम्० ए० महोदय) … ८१३, ८७७
१७६–हिंदू-संस्कृतिमें धर्म और राष्ट्र (श्रीगंगाप्रसादजी पाण्डेय) … … १३११

पद्य

१–अनुपम रूप-सौन्दर्य … … ११९५
२–अब मैं केवल जोग तुम्हारे (डा० श्रीहरिवंशरायजी 'बच्चन') … १०१९
३–अमित रूपसे राम सबसे मिले … ९३९
४–इतनी कृपा करो … … १२११
५–उपमान तथा उपमेय (चतुर्वेदी श्रीउमरावसिंहजी पाण्डेय, प्रेम-विशारद) … ९५०
६–करुण-प्रार्थना … … ७८८
७–किंचित् भी दोष नहीं देखते … ७१९
८–कौंध रहे वे क्षण (प्रो० 'स्वर्णकिरण') … १०१०
९–गुरु द्रोण और कौरव-पाण्डव बालक … ८७१
१०–जय वृषभानुकिशोरी (पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम') … … १२५८
११–जीवन तुम्हारा लीलाधाम बन गया … १२४४
१२–तपस्वी (श्रीगुलाबरत्नजी वाजपेयी 'गुलाब') … १३३८
१३–तुम्हारा पता (विद्यालंकार श्रीजगन्नाथजी मिश्र गौड़ 'कमल' वेदान्तरत्न) … १२६६
१४–तुम्हारा प्यार चाहता हूँ (पाण्डेय श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम') … ८९८
१५–दुःख-सुख, सम्पत्ति-विपत्ति और मानापमान … ९७१
१६–दो युगोंमें (डा० श्रीहरिवंशरायजी 'बच्चन') ७२०
१७–धनुष-टङ्कारसे ज्वाला भड़की … ६८३
१८–निर्मोही (प्रो० श्रीगोपालजी 'स्वर्णकिरण') … १३५५
१९–पता नहीं … … ७३८
२०–'पाञ्चजन्य लो हाथमें' (पाण्डेय पण्डित श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम') … ६११
२१–पाप त्यागकर सदाचरण करो … ९७०
२२–प्रभुका बल … … ७२७
२३–प्रभुकी अनुकम्पा … … १२२०
२४–प्रभुकी कृपा … … १०२६
२५–प्रभु प्रकाशसे भर देते हैं … ८०२
२६–प्रभु सहज सुहृद् हैं … … १२८३
२७–प्रभुसे सच्चे प्रेमके लिये प्रार्थना … १३८१
२८–प्रलय-नृत्य … … ११३१
२९–प्रियतम-सुख … … १०५८
३०–प्रेयसकी गन्ध महकाओ फिर (प्रो० श्रीगोपालजी 'स्वर्णकिरण' एम्० ए०) … ८४८
३१–भगवत्कृपाकी नित्य वर्षा … १२९४
३२–भगवान्के समान हितैषी भगवान् ही हैं … १२९७
३३–मंगल सोचो, मंगल करो … १२३१
३४–मिथ्याचार (गीता ३ । ६ के आधारपर) … १००३
३५–मिथ्या-ज्ञानी … … १३२१
३६–रस-सुधा-धारा … … १२४
३७–रुद्रका तीसरा नेत्र खुला … … ८११
३८–रे मन ! (विद्यालङ्कार श्रीजगन्नाथजी मिश्र गौड़ 'कमल', वेदान्तरत्न) … १२१७
३९–लक्ष्मीनारायण, लक्ष्मी, सरस्वती … ७४७

४०–वन्दना (श्रीजगन्नाथजी मिश्र गौड़ 'कमल' … … ७९८
विद्यालंकार) … … १३६६
४१–व्यवहार … ८३३
४२–सबमें सब ओर श्यामसुन्दर
४३–समर्पण (पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी … … ७९१
शास्त्री 'राम')
४४–सांख्ययोगी और निष्काम कर्मयोगी (गीता ५ । … १०६७
५ के आधारपर)
४५–सुना दे कविवर ऐसा गान (श्रीयुगलसिंहजी
खीची, एम्० ए०, बार-ऐट-लॉ) … ८१८
४६–स्वार्थ-परमार्थ एक हो गये … ९२८
४७–हृदयंगम (श्रीबालयोगी प्रेमवर्णीजी) … १०३९
४८–हे राम ! (श्रीजगन्नाथजी मिश्र गौड़ 'कमल' … … १०३५
विद्यालंकार)

संकलित पद्य

१–अनन्य प्रेम ही सर्वोत्तम भजन है … १०४३
२–करता राम सनेही (संत नामदेवजी) … १०७८
३–भक्तिके बिना सुख कहाँ ? (गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी) … १०७३
४–मुनिमण्डलीद्वारा श्रीराम-लक्ष्मणका स्वागत (गीतावली) … … १२५९
५–संत कौन ? (श्रीभगवतरसिकदेवजी) … १२८९
६–सिखवति चलन अँगुरियाँ लाए (गीतावली) … १३२३

कहानी

१–अवतार (श्री'चक्र') … १०२४
२–कलियुगके अन्तमें (,, ,,) … ९११
३–कोप या कृपा (,, ,,) … ८३८
४–जिन्हें दोष नहीं दीखते (,, ,,) … ७१७
५–तीर्थ (,, ,,) … ७९२
६–परमयोग (,, ,,) … ११८७
७–रक्षकके लम्बे हाथ (,, ,,) … १२२५
८–श्रद्धाकी जय (,, ,,) … १३७४
९–सत्य समदर्शन (,, ,,) … १०९४
१०–साँड़ देवता (,, ,,) … ९८२

चित्र-सूची

रंगीन

१–अनुपम रूप-सौन्दर्य … ११९५
२–धनुष-टङ्कारसे ज्वाला भड़की … ६८३
३–प्रभुका ऐश्वर्य … ९३९
४–प्रलय-नृत्य … ११३१
५–बालकोंके सामने आचार्य द्रोणका कुएँसे गेंद निकालना … … ८७५
६–मिथ्याचार … … १००३
७–मुनिमण्डलीद्वारा श्रीराम-लक्ष्मणका स्वागत … १२५९
८–रुद्रका तीसरा नेत्र खुला … ८११
९–लक्ष्मीनारायण, लक्ष्मी, सरस्वती … ७४७
१०–सांख्ययोगी और निष्काम कर्मयोगी … १०६७
११–सिखवति चलन अँगुरियाँ लाए … १३२३

इकरंगा

१–भद्राचलम्-मन्दिर … … ९९६

रेखा

१–कालिन्दी-तटपर मुरलीकी तानमें मस्त कन्हैया … … बारहवें अङ्कका मुखपृष्ठ
२–गिलहरीको प्यार देते हुए सर्वजीव-सुहृद् राम … … पाँचवें अङ्कका मुखपृष्ठ
३–दशरथराजकिशोर … चौथे अङ्कका मुखपृष्ठ
४–धर्मरथीको भगवान्‌का वरदान … तीसरे अङ्कका मुखपृष्ठ
५–भक्तको भगवती सरस्वतीका दर्शन … सातवें अङ्कका मुखपृष्ठ
६–भगवती अन्नपूर्णा … दसवें अङ्कका मुखपृष्ठ
७–भगवान् गणपति … ग्यारहवें अङ्कका मुखपृष्ठ
८–मुरलीकी तान … आठवें अङ्कका मुखपृष्ठ
९–लक्ष्मणके प्रति रामका उपदेश … नवें अङ्कका मुखपृष्ठ
१०–वनवासी राम-लक्ष्मण … छठे अङ्कका मुखपृष्ठ
११–वृषभारूढ़ हर-पार्वती … दूसरे अङ्कका मुखपृष्ठ

श्रीमद्भगवद्गीता (सानुवाद श्रीधरस्वामिकृत व्याख्यासहित)

अनुवादक—श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका

आकार डिमाई आठपेजी, पृष्ठ-संख्या ५२२, एक तिरंगा चित्र, मू० २), सजिल्द २.५०, डाकखर्च १.२५ कुल अजिल्दका ३.२५, सजिल्दका ३.७५ ।

भगवान् शंकराचार्यके मतका पूर्णतः आदर रखते हुए भी श्रीधरस्वामीने अपनी व्याख्यामें स्वतन्त्र दृष्टिकोणका भी परिचय दिया है । व्याख्याकारने इस टीकाका नाम सुबोधिनी रक्खा है और उनका विश्वास है कि इसका पाठ करनेमात्रसे गीताका भाव अनायास ही समझमें आ सकता है । गीताप्रेमियोंसे इससे लाभ उठानेकी प्रार्थना है ।

रामकथा-मन्दाकिनी (स्वरकार श्रीमती गोदावरीबाई साठे)

पृष्ठ-संख्या २४२, बढ़िया कागज, आकार डिमाई आठपेजी, मू० २.०० डाकखर्च १.५, कुल ३.५।

गोस्वामी तुलसीदासजीकी रामचरितमानस तथा कवितावलीके चुने हुए पदोंपर रचित यह शास्त्रीय संगीतकी राम-कथा-मन्दाकिनीका सस्वर प्रवाह संगीतज्ञ भक्तजनोंके लिये अत्यन्त आनन्ददायक वस्तु है ।

भगवद्भक्ति (१२ पृष्ठकी एक छोटी-सी पुस्तिका) मूल्य दो नये पैसे,

ब्र० परमहंस स्वामीजी श्रीमंगलनाथजी महाराजके 'कल्याण'में प्रकाशित दो लेख भक्तोंके अनुरोधसे पुस्तिकाके रूपमें प्रकाशित किये गये हैं ।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

'कल्याण'के आजीवन ग्राहक बननेके नियम

(१) एक साथ एक सौ रुपये देनेवाले सज्जन 'कल्याण'के आजीवन ग्राहक बनाये जाते हैं । जो लोग जिस वर्षका वार्षिक मूल्य रु० ७.५० भेज चुके होते हैं, वे उस वर्षमें ९२.५० और भेजकर आजीवन ग्राहक बन सकते हैं ।

(२) जो सज्जन प्रतिवर्ष सजिल्द विशेषाङ्क लेना चाहें, उन्हें १२५.०० (एक सौ पचीस रुपये) भेजने चाहिये ।

(३) भारतवर्षके बाहर (विदेश) के महानुभावोंके लिये आजीवन-ग्राहक-मूल्य १२५.०० या १० पौंड है । सजिल्दका १५०.०० या १२ पौंड है ।

(४) आजीवन ग्राहक बननेवाले जबतक रहेंगे और जबतक 'कल्याण' चलता रहेगा, उनको प्रतिवर्ष 'कल्याण' मिलता रहेगा । उनके पीछे उनके उत्तराधिकारियोंको नहीं मिलेगा और किसी कारणवश 'कल्याण' बंद हो जानेपर भी नहीं मिलेगा । दोनों ही हालतमें रुपये 'गीताप्रेस'के स्थायी कोषमें सम्मिलित हो जायँगे और प्रकारान्तरसे यह उनके द्वारा गीताप्रेसके सत्साहित्य-प्रचारकार्यमें सहायता हो जायगी ।

(५) मन्दिर, आश्रम, पुस्तकालय, मिल, कारखाना, उत्पादक या व्यापारी-संस्था, क्लब या अन्यान्य संस्था तथा फर्मको भी आजीवन ग्राहक बनाया जा सकता है ।

कल्याणके पुराने अङ्क

'कल्याण' के पुराने अङ्कोंके सम्बन्धमें सूचना निकली थी, तदनुसार कई सज्जनोंके पत्र आये हैं। पर हिंदू-संस्कृति-अङ्क, शिवपुराणाङ्क, ब्रह्मवैवर्त्तपुराणाङ्क, मानवताङ्क और संतवाणी-अङ्क तो 'कल्याण'-कार्यालयमें स्टाकमें हैं। ग्राहक महोदय इनके विज्ञापन समय-समय पढ़ते ही हैं । पहलेके भी साधारण फुटकर अङ्क नहीं चाहिये । केवल विशेषाङ्क या विशेषाङ्क सहित पूरे फाइल आवश्यक हैं । इनमें भी श्रीकृष्णाङ्क, शिवाङ्क, शक्ति-अङ्क, साधनाङ्क, योगाङ्क, भागवताङ्क, मानसाङ्क, महाभारताङ्क, नारी-अङ्क, गो-अङ्क, तीर्थाङ्क और योगवासिष्ठाङ्ककी विशेष माँग है । ये अङ्क अच्छी हालतमें जिनके पास हों और जो लागत मूल्यपर देना चाहते हों, वे कृपया डाकसे, या अधिक अङ्क हो तो रेलपारसलसे भेज दें । मूल्य लिख दें । मूल्य और डाक या रेलखर्च यहाँसे अङ्क मिलनेपर भेज दिया जायगा । इनके अतिरिक्त दूसरे अङ्कोंको बिना पूछे कृपया न भेजें ।

हनुमानप्रसाद पोद्दार 'कल्याण'-कार्यालय, गोरखपुर

श्रीगीता-जयन्ती-महोत्सव

भगवान् श्रीकृष्णने भगवद्गीतामें अर्जुनसे कहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् । स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ (१८ । ४६)

'जिस परमात्मासे समस्त चराचर प्राणि-जगत्की उत्पत्ति हुई है तथा जो परमात्मा सारे जगत्में व्याप्त है, उस परमात्माकी अपने कर्मके द्वारा पूजा करके मनुष्य सिद्धिको—जीवनकी सफलताको प्राप्त करता है।'

आजका मानव इस भगवत्पूजाको भूलकर भोग-पूजामें प्रवृत्त है, इसीसे वह निरन्तर भोगचिन्तनमें लगा हुआ क्रमशः भोगासक्ति, काम, क्रोध, (लोभ), मोह, स्मृतिनाश, बुद्धिनाशको प्राप्त होता हुआ अपना सर्वनाश कर रहा है। भौतिक विज्ञानकी इतनी उन्नति होनेपर भी मनुष्य आज भयभीत, संत्रस्त और दुखी है। मानवको इस दयनीय दशासे यदि मुक्ति मिल सकती है, यदि वह समस्त जगत्के हितके कार्यमें लगकर अपना हितसाधन कर सकता है तो इसका परम साधन है—भगवान्के श्रीमुखसे निकली हुई भगवद्गीता-सुधाका यथार्थरूपमें प्रचार-प्रसार। यह गीता अर्जुनको भगवान्ने जिस दिन सुनायी थी, उसी दिनको 'गीता-जयन्ती'के नामसे मनाया जा रहा है।

इस वर्ष श्रीगीता-जयन्तीका वह महापर्व मार्गशीर्ष शुक्ल क्षय होनेके कारण पौष शुक्ल ११, बृहस्पतिवार तारीख २६ दिसम्बर सन् १९६३ को है। इस पर्वपर जनतामें गीताप्रचारके साथ ही श्रीगीताके अध्ययन—गीताकी शिक्षाको जीवनमें उतारनेकी स्थायी योजना बननी चाहिये। आजके किंकर्तव्यविमूढ़ मोहग्रस्त मानवके लिये इसकी बड़ी आवश्यकता है। इस पर्वके उपलक्षमें श्रीगीतामाता तथा गीतावक्ता भगवान् श्रीकृष्णका शुभाशीर्वाद और उनसे दिव्य शक्ति प्राप्त करनेके लिये नीचे लिखे कार्य यथासाध्य और यथासम्भव देशभरमें सभी छोटे-बड़े स्थानोंमें अवश्य करने चाहिये—

(१) **गीता-ग्रन्थका पूजन।**

(२) **गीताके महान् वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण तथा गीताको महाभारतमें ग्रथित करनेवाले भगवान् व्यासका पूजन।**

(३) **गीताका यथासाध्य व्यक्तिगत और सामूहिक पारायण।**

(४) **गीता-तत्त्वको समझने-समझानेके लिये, गीता-प्रचारके लिये, समस्त विश्वको दिव्य ज्ञानचक्षु देकर सबको निष्कामभावसे कर्तव्यपरायण बनानेकी महान् शिक्षाके परम पुण्य दिवसका स्मृति-महोत्सव मनानेके लिये सभाएँ, प्रवचन, व्याख्यान आदिका आयोजन, भगवन्नाम-संकीर्तन आदि।**

(५) **महाविद्यालयों और विद्यालयोंमें गीतापाठ, गीतापर व्याख्यान, गीता-परीक्षामें उत्तीर्ण छात्र-छात्राओंको पुरस्कार-वितरण।**

(६) **प्रत्येक मन्दिर, देवस्थान, धर्मस्थानमें गीताकथा तथा अपने-अपने इष्ट भगवान्का विशेषरूपसे पूजन।**

(७) **जहाँ किसी प्रकारकी अड़चन न हो, वहाँ श्रीगीताजीकी शोभायात्रा।**

(८) **सम्मान्य लेखक और कवि महोदय, गीतासम्बन्धी लेखों और सुन्दर कविताओंके द्वारा गीता-प्रचार करें।**

* * *

गीता-दैनन्दिनी सन् १९६४ ई० (तीसरा संस्करण, मू० .६२ नये पैसे, डाकखर्च अलग।)

एक लाख पंद्रह हजार प्रतियोंके दो संस्करण हाथोंहाथ बिक गये। ग्राहकोंके विशेष आग्रहके कारण विशेषाङ्ककी छपाईके काममें असुविधा होते हुए भी १५,००० प्रतियोंका तीसरा संस्करण छापा गया है, जिसके भी अतिशीघ्र समाप्त हो जानेकी आशा है। जिन्हें लेनी हो वे अपने निकटवर्ती पुस्तक-विक्रेतासे प्राप्त करनेका प्रयत्न करें। यहाँसे मँगवानेवालोंको डाकखर्च सहित एक प्रतिके लिये १.४० दोका २.२५ तथा तीनका ३.५ भेजना चाहिये।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

रजि० सं० ए० १७

सम्मान्य ग्राहकों और पाठकोंको सूचना तथा प्रार्थना

१–इस अङ्कमें 'कल्याण'का ३७ वाँ वर्ष पूर्ण हो रहा है। अब अड़तीसवें वर्षका प्रथम अ 'श्रीकृष्णवचनामृताङ्क' प्रकाशित होगा। इसमें भगवान् श्रीकृष्णके विविध प्रसङ्गोंपर कहे हुए विभिन्न विषयोंके वचनामृतोंका अभूतपूर्व संग्रह होगा। साथ ही उन प्रसङ्गोंका भी बड़ा सुन्दर संक्षिप्त परिच रहेगा। रंगीन तथा सादे बहुत-से मनोहर भावपूर्ण चित्र रहेंगे। पृष्ठ लगभग सात सौ होंगे।

२–कागजोंके तथा अन्यान्य सामग्रियोंके दाम तथा कर्मचारियोंका वेतन विशेष बढ़ जानेपर भी 'कल्याण'का वार्षिक मूल्य ७.५० ही रक्खा गया है। आप वार्षिक मूल्य मनीआर्डरसे भेजकर तुरंत ग्राहक बन जाइये। इस अङ्ककी माँग विशेष होनेकी सम्भावना है। रुपये भेजते समय पुराने ग्राहक मनीआर्डर-कूपनमें अपनी ग्राहक-संख्या अवश्य लिखें। नाम, ग्राम या मुहल्ला, डाकघर, जिला, प्रदेश आदि साफ अक्षरोंमें लिखनेकी कृपा करें। नये ग्राहक हों तो कूपनमें 'नया ग्राहक' अवश्य लिखें।

३–'ग्राहक-संख्या' न लिखनेसे आपका नाम नये ग्राहकोंमें लिखा जा सकता है। इससे विशेषाङ्क नये नम्बरोंसे और पुराने नम्बरोंसे वी० पी० द्वारा दुबारा जा सकता है। यह भी सम्भव है कि आप उधरसे रुपये कुछ देरसे भेजें और पहले ही यहाँसे आपके नाम वी० पी० चली जाय। दोनों ही स्थितियोंमें आप कृपापूर्वक वी० पी० वापस न लौटाकर नये ग्राहक बना दें और उनका नाम-पता साफ-साफ लिखनेकी कृपा करें। ऐसा करके आप अपने 'कल्याण'-कार्यालयको व्यर्थकी हानिसे बचायेंगे।

४–सभी ग्राहक पाठक महानुभावोंसे तथा ग्राहिका देवियोंसे निवेदन है कि वे प्रयत्न करके 'कल्याण'के दो-दो नये ग्राहक बनाकर उनके रुपये मनीआर्डरद्वारा शीघ्र भिजवानेकी कृपा करें। इससे उनके 'कल्याण'के प्रचार-प्रसारमें बड़ी सहायता मिलेगी और वे एक महान् पुण्यके भागी होंगे।

५–जिन पुराने ग्राहकोंको किसी कारणवश ग्राहक न रहना हो, वे कृपापूर्वक एक कार्ड लिखकर सूचना दे दें, जिससे व्यर्थ ही 'कल्याण'-कार्यालयको हानि न सहनी पड़े।

६–किसी अनिवार्य कारणवश 'कल्याण' बंद हो जाय तो विशेषाङ्क और उसके बादके जितने अङ्क पहुँच जायँ, उन्हींमें पूरे वर्षका मूल्य समाप्त हुआ समझ लेना चाहिये; क्योंकि अकेले विशेषाङ्क-का मूल्य ही ७.५० (सात रुपये पचास नये पैसे) है।

७–गीताप्रेसका पुस्तक-विभाग तथा 'कल्याण-कल्पतरु' (अंग्रेजी-) का विभाग 'कल्याण'-विभागसे पृथक् है। इसलिये 'कल्याण'के मूल्यके साथ पुस्तकोंके लिये तथा 'कल्याण-कल्पतरु'के लिये रुपये न भेजें; किंतु चेक या ड्राफ्ट सभी गीताप्रेसके नामसे भेजना चाहिये। गोरखपुरके बाहरके चेकोंमें १) बैंक-चार्ज जोड़कर भेजना चाहिये। पुस्तकोंके आर्डर 'व्यवस्थापक गीताप्रेस'के नामसे तथा 'कल्याण-कल्पतरु'के रुपये 'व्यवस्थापक—कल्याण-कल्पतरु'के नामसे भेजें।

८–इस वर्ष भी सजिल्द अङ्क देनेमें बड़ी कठिनता है और बहुत देरसे दिये जानेकी सम्भावना है। यों सजिल्दका मूल्य ८.७५ (आठ रुपये पचहत्तर नयें पैसे) है।

९–इस अङ्कमें शायद ही बाहरसे लेख, कविता जा सके। अतः कोई महानुभाव लेख आदि कृपया न भेजें। जिन्होंने भेजे हों, वे सज्जन न छपनेपर कृपया क्षमा करें।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)उ० प्र

कल्याण

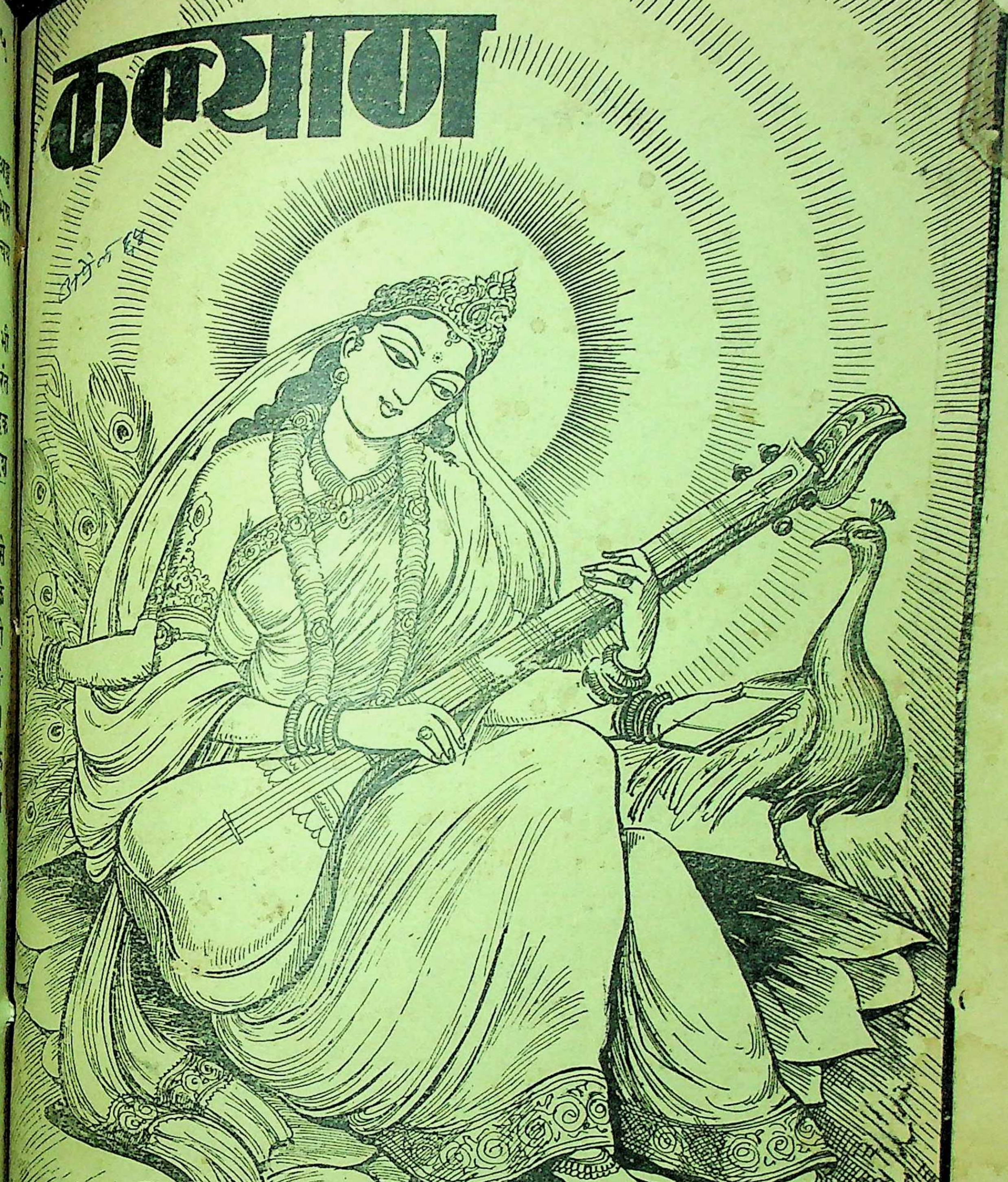

वर्ष ३८]

[अङ्क ४

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ।

संस्करण—१,३८,०००

विषय-सूची

कल्याण सौर वैशाख २०२१ अप्रैल १९६४

विषय — पृष्ठ-संख्या

१–भक्तवत्सल भगवान्के द्वारा अश्वोंकी परिचर्या [कविता] … ८२१
२–कल्याण ('शिव') … ८२२
३–परमार्थ-पत्रावली (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र) … ८२३
४–किसीके कुछ कहनेपर क्रोध आना अपने ही भीतरके मलका उभरकर बाहर निकलना है [कविता] (डॉ० श्रीरामदयालजी भार्गव) … ८२८
५–हमारी मुक्तिनाथ-यात्रा (श्रद्धेय श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी) … ८२९
६–बवंडर—सूखे तिनके [कविता] (प्रो० श्रीगोपालजी 'स्वर्णकिरण') … ८३२
७–मधुर … ८३३
८–समय बीतने दीजिये, आपके दुःख स्वयं दूर होंगे (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, विद्याभूषण, मानसशास्त्री, दर्शनकेसरी) … ८३५
९–मुक्ति जो बन्धन बने, उस मुक्तिको ले क्या करूँगा ? (श्रीरामनाथजी 'सुमन') ८३९
१०–पुनर्जन्म [कहानी] (श्री'चक्र') … ८४२
११–'सत्'में सुस्थित रहो [कविता] … ८४५

विषय — पृष्ठ-संख्या

१२–जगदम्बा श्रीसीताजी (श्रीहरेशचन्द्रजी अग्रवाल, एम्० ए०) … ८४६
१३–अर्थ या अनर्थ ? (एक त्यागी संतके आदेशानुसार लिखित) … ८५१
१४–नाम-साधनापर एक दृष्टि (पं० श्रीजयकान्तजी झा) … ८५७
१५–युगधर्म (श्रीश्रीप्रकाशजी दुबे, एम्० ए०) ८६०
१६–फागुनके आम (श्रीगङ्गादत्तजी शास्त्री, साहित्यरत्न) … ८६२
१७–वायुके झोंकेमें दीपक (डा० श्री वि० ए० शणै बी० एस्-सी०, पी-एच्० डी०)… ८६७
१८–गौ-रहस्य (ठा० श्रीमानसिंहजी के० एस्०) ८६९
१९–गोभक्तिका चमत्कार (श्रीरामेश्वरदयालजी श्रीमाली बी० ए०, साहित्यविशारद)… ८७२
२०–अवतारोंका कालक्रम (श्रीविश्वम्भरनाथजी द्विवेदी) … ८७३
२१–बसो मोरे नैननमें नँदलाल [कविता] (संकलित] … ८७५
२२–मत्स्यावतार [कविता] (साहित्याचार्य पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम')… ८७६
२३–'वैशाखके दो महान दिवस' (श्रीगौरीशंकरजी गुप्त) … ८७७
२४–पढ़ो, समझो और करो … ८८०

◆

चित्र-सूची

१–वीणापाणि सरस्वती देवी (रेखाचित्र) … मुखपृष्ठ
२–भक्तवत्सल भगवान्के द्वारा अश्वोंकी परिचर्या (तिरंगा) … ८२१

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण
भारतमें
विदेशमें
(१०

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

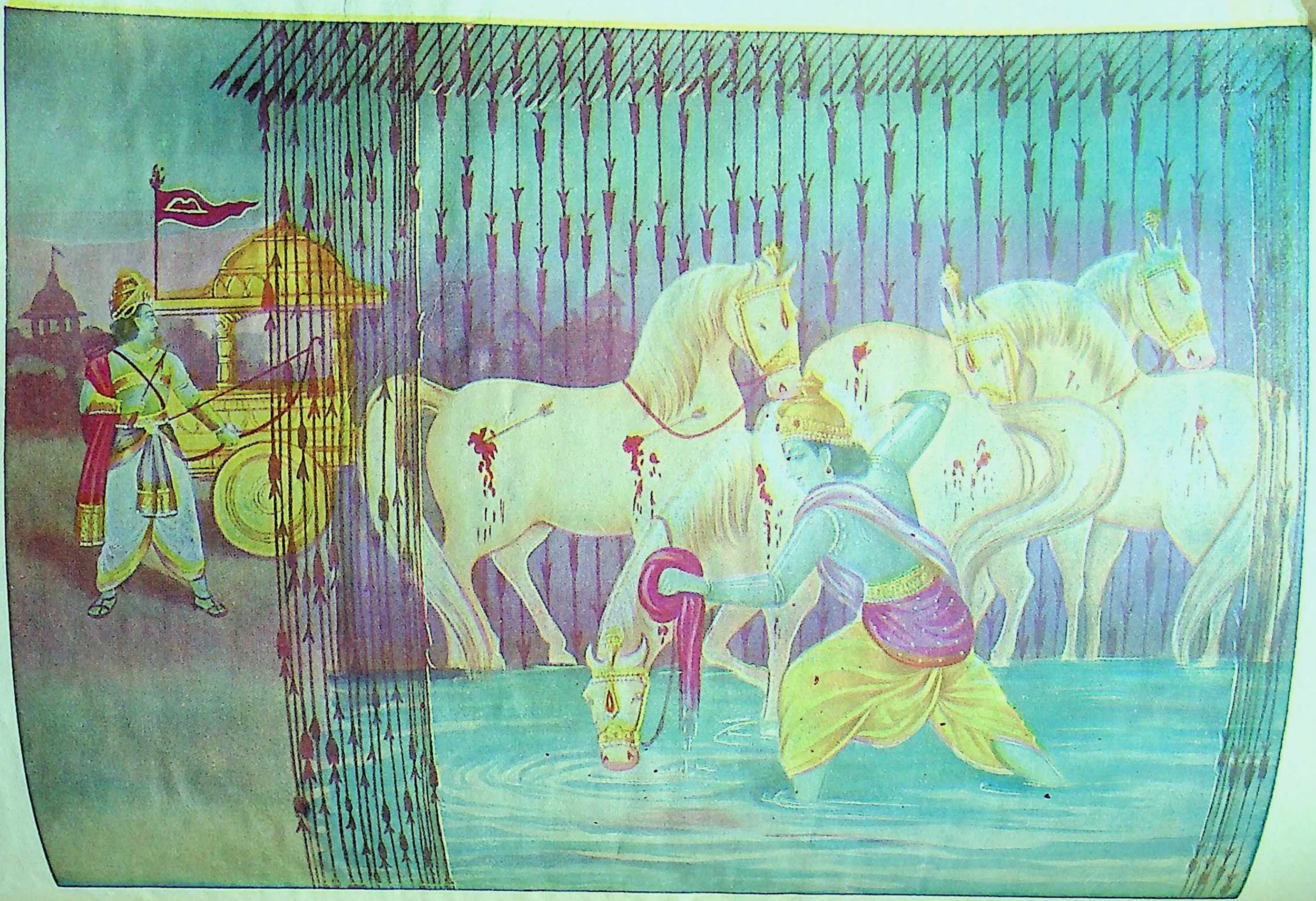

भक्तवत्सल भगवान्‌के द्वारा अर्जुनके अश्वोंकी परिचर्या

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

सर्वारिष्टहरं सुखैकरमणं शान्त्यास्पदं भक्तिदं स्मृत्या ब्रह्मपदप्रदं स्वरसदं प्रेमास्पदं शाश्वतम् ।
मेघश्यामशरीरमच्युतपदं पीताम्बरं सुन्दरं श्रीकृष्णं सततं व्रजामि शरणं कायेन वाचा धिया ॥

वर्ष ३८ } गोरखपुर, सौर वैशाख २०२१, अप्रैल १९६४ { संख्या ४
पूर्ण संख्या ४४९

भक्तवत्सल भगवान्‌के द्वारा अश्वोंकी परिचर्या

बढ़ते चले, शूर-मद मर्दन करते पार्थ जयद्रथ-ओर ।
कुरु-दल-दर्प-दलन द्रुत करते समरांगण रण दारुण घोर ॥
उतर पड़े रथसे, जब देखा अश्वोंको घायल अति श्रान्त ।
रोक लिये एकाकी सहसा सभी शूर भूपति दुर्दान्त ॥
किया प्रकट जलपूर्ण सरोवर कर पृथ्वीपर अस्त्राघात ।
रचा रुचिर परिचर्यागृह अश्वोंका, बाणोंसे विख्यात ॥
करने लगे चिकित्सा-सेवा स्वयं भक्तवत्सल भगवान ।
अश्व हुए अक्षत, उत्साहित, पुनः पूर्ववत् शक्तिनिधान ॥

याद रक्खो—जो सदा सर्वत्र एकमात्र परमात्माको ही व्याप्त देखता है और जगत्में होनेवाली प्रत्येक छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी घटनाको परमात्माका ही लीला-विलास या परमात्माका ही प्रकाश समझता है, वह जगत्के द्वन्द्वोंसे कभी प्रभावित नहीं होता। जगत्में दिखायी देनेवाले सुख-दु:ख, लाभ-हानि, जय-पराजय, मान-अपमान, प्रिय-अप्रिय, शुभ-अशुभ, स्तुति-निन्दा आदिमें उसे अनुकूलता-प्रतिकूलताकी अनुभूति नहीं होती, उनमें राग-द्वेष नहीं होता; वह समभावसे केवल परमात्माका ही सर्वत्र सदा अनुभव करता है।

याद रक्खो—परमात्मा एक है, अनन्त है, महान् है। वह सदा सर्वत्र व्याप्त है। ये सारे उसीके आविर्भाव हैं; वस्तुत: सर्वत्र सदा वही वह है। उसके सिवा अन्य किसीका भी कोई अस्तित्व नहीं है। इस प्रकार जानना ही वास्तविक जानना है और जो ऐसा जान लेता है, इस परम सत्यमें परिनिष्ठित हो जाता है, वह सदा ही मोह-भय-विषादसे मुक्त रहता है।

याद रक्खो—इस विक्षुब्ध, परिवर्तनशील, अनित्य असत् प्रपञ्चके रूपमें सदा शान्त, सम, नित्य, सत्य परमात्मा ही अभिव्यक्त है। महासागरकी अनन्त तरङ्गें जैसे प्रशान्त महासागर ही हैं, उसी प्रकार यह सब परमात्माका ही स्वरूप है। तरङ्गोंका स्वभाव ही है उठना-मिटना; इससे न तो महासागरकी शान्तिमें कोई बाधा पड़ती है, न उसके स्वरूपमें ही कोई परिवर्तन होता है। इसी प्रकार परमात्मामें दीखनेवाला यह परिवर्तनशील प्रपञ्च परमात्म-स्वरूपकी सत्ता, चेतनता, आनन्दमयता, समता और एकतामें कोई भी परिवर्तन नहीं लाता। इस तत्त्वका अनुभव करना ही परमात्माके स्वरूपको जानना है।

याद रक्खो—जो परमात्माके इस स्वरूपको जान लेता है, वह स्वयं परमात्मस्वरूप ही हो जाता है; क्योंकि वहाँ परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसी सत्ताकी कल्पना ही नहीं रह जाती।

याद रक्खो—इस प्रकार परमात्माको जाननेवाले तथा परमात्मामें स्थित पुरुषके व्यवहार-कालमें सब कार्य होते दीखनेपर भी वह हर्ष-उद्वेगसे सदा मुक्त रहता है। व्यवहार-जगत्में उसके द्वारा सारे कार्य होते दीखते हैं अथवा उसके व्यवहारमें राग-ममता आदिकी कल्पना भी होती है, पर वह वस्तुत: सर्वथा रागरहित, ममतारहित होता है, इससे उसके द्वारा होते दिखायी देनेवाले कार्य भी राग और ममतासे रहित होते हैं। व्यवहारमें उसके द्वारा नाटकके पात्रके अभिनयकी भाँति यथायोग्य सारे आचरण होते हैं। यथासमय उसमें विभिन्न रसोंकी चेष्टाएँ देखी जाती हैं, पर वह सब उसका खेल होता है, लीलामात्र होती है; और वह खेल, वह सारी लीला उस खिलाड़ी—लीला करनेवाले अभिनेताकी ही अभिव्यक्ति होती है। वस्तुत: खेलनेवाला ही खेल बनता है। दर्शक उसके अभिनयको देखकर भयभीत, चकित, हर्षित, क्षुब्ध, शान्त, अशान्त होते हैं, पर वह सदा स्वरूपस्थित निर्विकार रहता है, इसी प्रकार वह परमात्माके तत्त्वको जाननेवाला परमात्मामें स्थित पुरुष भी नित्य स्वरूपस्थित शान्त रहता है।

याद रक्खो—परमात्मज्ञानी यदि प्रवृत्तिमय व्यवहार-जगत्में है तो उसके द्वारा विभिन्न क्रियाएँ होती देखी जाती हैं, पर वे सारी क्रियाएँ स्वाभाविक ही सर्वहित, सर्वकल्याण करनेवाली हैं। उसके द्वारा उसी प्रकार किसीका कभी अकल्याण नहीं होता, जैसे अमृतके द्वारा कोई मरता नहीं।

याद रक्खो—व्यवहार-जगत्में ऐसे महापुरुषका अस्तित्व जगत्का—जगत्के समस्त प्राणियोंका परम कल्याण करनेवाला होता है, वह सबका पथप्रदर्शक होकर सभीको परमात्माके स्वरूपकी उपलब्धि करानेमें सहायता करता है। वह स्वयं तो मुक्त होता ही है, अन्य अनेकोंकी मुक्तिका निमित्त बनता है।

'शिव'

परमार्थ-पत्रावली

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

प्रेमपूर्वक हरि-स्मरण । आपका पत्र मिला । समाचार विदित हुए । आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है——

(१) भगवान्‌के दर्शन भगवान्‌की कृपासे होते हैं; उनकी कृपापर श्रद्धापूर्वक दृढ़ विश्वास होना आवश्यक है। विश्वासपूर्वक भगवान्‌को अपना सर्वस्व मान लेनेपर जब उनसे सम्बन्ध हो जाता है, तब उनकी मधुर स्मृति जाग्रत् होकर प्रेम प्रकट हो जाता है । भजन-ध्यान प्रभुसे सम्बन्ध जोड़कर विश्वासपूर्वक करना चाहिये एवं प्रभुकी कृपाके बलपर उनके दर्शनोंकी प्रतीक्षा करते रहना चाहिये । जब साधक उनको देखनेके लिये अतिशय व्याकुल हो जाता है, प्रेममें अधीर हो जाता है और उनसे मिलनेकी उत्कट इच्छा उत्पन्न हो जाती है, तब प्रभुको दर्शन देना ही पड़ता है ।

(२) भगवान्‌के लिये कोई छोटा-बड़ा नहीं है । अतः यह शङ्का उठनी ही नहीं चाहिये कि वह हम-जैसोंको दर्शन दे सकते हैं या नहीं । जो जितना नीचा है, जिसके पास जितना अभाव है, वह उतना ही उनके दर्शनका अधिक पात्र है, पर दर्शनकी विशेष लालसा होनी चाहिये । आपको भगवान्‌ने दर्शन नहीं दिये——इसका कारण देखनेसे आपको ज्ञात हो सकता है । आप उनके लिये विशेष व्याकुल नहीं हुए होंगे ।

(३) चार-पाँच साल पहले जब आप नियमोंके पाबंद रहते थे, तब सम्भव है किसी सुख या मान-बड़ाईकी इच्छा आपके मनमें रही होगी । उसकी पूर्ति न होनेके कारण अब उन नियमोंमें रुचि नहीं रही होगी, मानसिक स्थितिको बलपूर्वक रुचिके विरुद्ध आपने दबाया होगा, उनका महत्त्व जानकर उन नियमोंका पालन नहीं किया होगा । यदि आपको उनके महत्त्वका परिचय होता तो उन नियमोंका पालन आपके द्वारा स्वाभाविक ही होने लगता; फिर उनका त्याग आपसे नहीं होता ।

भगवान्‌ने कृपा करके आपको ऐसी परिस्थिति दी, जिससे आप सचेत हुए । अब फिर कभी नियमोंको भंग करनेका संकल्प मनमें न आने दें ।

प्रभुकी कृपाके बलपर सब प्रकारके भोगोंकी कामनाका त्याग करनेसे मन और इन्द्रियाँ सहज ही वशमें हो सकते हैं । यह मन तभीतक परेशान करता है जबतक आप स्वयं इसके द्वारा सुख भोगना चाहते हैं । आपकी स्थिति ठीक रहनेपर मनकी स्थिति अपने-आप हर समय ठीक रह सकती है । मनका कोई दोष नहीं है । यह तो जो कुछ करता है, आपका बल पाकर ही करता है ।

(४) × × × × । सत्सङ्गके समाचार ऊपर लिखे ही हैं ।

(५) भगवान्‌में प्रेम होनेपर उनका चिन्तन-स्मरण अनायास ही हर समय रह सकता है ।

(६) अनात्मामें जो आत्मभाव कर रक्खा है, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदिके समुदायमें जो 'मैं'भाव और 'मेरा'भाव है, इसके त्यागसे ही आत्मज्ञान हो सकता है ।

(७) चित्त शुद्ध होनेपर ही स्थिर और शान्त हो सकता है । बुरे और व्यर्थ संकल्पोंका त्याग करने अर्थात् किसीका बुरा न चाहनेसे और सांसारिक भोगोंकी आशाका त्याग करनेसे भी चित्त शुद्ध हो सकता है । चित्तकी शुद्धिसे ही आत्माका उद्धार होता है । भावकी शुद्धि ही सर्वोपरि साधन है ।

(२)

सादर हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । समाचार विदित हुए । उत्तर क्रमसे इस प्रकार हैं—

(१) गायत्री-जपका आरम्भ सूर्योदयसे पहले करना तो बहुत ही अच्छा है, परंतु सूर्योदयके बाद भी करना कोई दोष नहीं है। स्नान-संध्यादिसे शरीर-शुद्धि करके चाहे जिस समय जप किया जा सकता है। अन्य सब नियमोंकी बात ज्ञात हुई । एक बात खास याद रखनी चाहिये कि किसीका भी किसी प्रकार कभी अहित करनेकी इच्छा नहीं करना ।

(२) शामको भी संध्या करके कम-से-कम एक माला गायत्री-जप अवश्य करना चाहिये । मध्याह्नकालमें न किया जाय तो कोई खास बात नहीं है ।

(३) सुबह नित्यकर्मके बाद सूर्य भगवान्‌को अर्घ्य देना ठीक ही है । जल प्रदान करते समय एक पैरसे खड़े होनेमें कष्ट होता हो तो दोनों पैरसे खड़े होकर भी अर्घ्य दिया जा सकता है ।

(४) श्रीशिवजीपर जल चढ़ाना, तुलसीपर जल चढ़ाना, पीपलको जल चढ़ाना—यह सब अच्छा है, पर ये सब काम प्रभुके आज्ञा-पालनके रूपमें उन्हींकी प्रसन्नताके लिये ही करने चाहिये । इन सबसे किसी प्रकारकी कामना नहीं करनी चाहिये ।

(५) भगवान्‌का प्रेम तो उनके साथ सम्बन्ध स्थापन करनेपर, उनको श्रद्धा-विश्वासपूर्वक अपना मानकर भजन-ध्यान करनेपर ही हो सकता है। प्रभुकी कृपासे ही प्रभु-प्रेम मिलता है । अतः उनकी कृपाके बलपर प्रेमकी प्रतीक्षा करनी चाहिये और जबतक प्रेम प्राप्त न हो, उसके लिये व्याकुल हो जाना चाहिये ।

(६) पत्नीको क्या करना चाहिये, उसका क्या कर्तव्य है—यह बात पतिके देखनेकी नहीं है; पतिको तो अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये । अपने साथीके कर्तव्यपर दृष्टि रखनेवाला मनुष्य अपना कर्तव्य-पालन नहीं कर पाता तथा वह क्षोभ और अशान्तिसे भी नहीं बच सकता ।

पत्नी यदि अपना कर्तव्य जानना चाहती हो तो कहा जा सकता है कि उसे पतिकी आज्ञाका पालन करना चाहिये और हर प्रकारसे पतिको प्रसन्न रखना चाहिये । पतिके पैर छूकर उनको प्रणाम भी करना चाहिये और हर प्रकारसे अपने पतिकी सेवा करनी चाहिये ।

(३)

सादर हरि-स्मरण । आपका पत्र मिला । समाचार विदित हुए । आपने लिखा कि मैं श्रीहनुमान्‌जीका ध्यान उनका चित्र सामने रखकर करता हूँ सो अच्छी बात है।

रातमें रामायणका पाठ करना आरम्भ किया, यह भी अच्छी बात है । श्रीशंकरके विवाहका प्रसङ्ग पढ़ते समय अधिक आनन्द क्यों आता है और दूसरे प्रसङ्गोंमें क्यों नहीं आता ? इसपर विचार करना चाहिये।

प्रश्नोंके उत्तर क्रमसे इस प्रकार हैं—

(१) किसी भी वस्तुकी याचना न तो भगवान्‌से करनी चाहिये, न हनुमान्‌जीसे और न अन्य किसीसे भी; क्योंकि जो वस्तु शास्त्रीय विधानके अनुसार मिलनेवाली है, वह बिना याचनाके भी अपने-आप मिले बिना नहीं रहती । प्रतिकूल परिस्थितिकी कोई याचना नहीं करता, पर वह आती अवश्य है ।

याचना करनेपर भी जो आपकी इच्छा पूरी नहीं हुई, यह हनुमान्‌जीकी कृपा है । यदि वे आपकी इच्छा पूरी कर देते तो आपके मनमें नयी-नयी इच्छाएँ उत्पन्न होने लगतीं और वे कभी समाप्त नहीं होतीं ।

(२) आप हनुमान्‌जीके भरोसेपर सांसारिक काम

करते हैं, यहींसे गलती आरम्भ होती है। आपको विचार करना चाहिये कि क्या यह मामूली पूजा-उपासनाका लोभ देकर हनुमान्जीसे अपना मतलब गाँठना नहीं है? क्या उनको ठगनेका उपक्रम नहीं है? इस तरहकी ठगाईमें भला, हनुमान्जी-जैसे प्रभु-भक्त कैसे आ सकते हैं?

(३) हनुमान्जी प्रभुके भक्त हैं, इसलिये वे किसीका बुरा करें—यह तो सम्भव ही नहीं है। वे तो उपासकका हित ही करते हैं। अपने इष्टको अपशब्द कहना तो बन ही कैसे सकता है?

आपको ध्यान करते-करते जो श्रीहनुमान्जीपर क्रोध आ जाता है, यह आपकी बहुत ही बे-समझी है। क्रोधका कारण उनसे कामनापूर्तिकी आशा करना और उसका पूर्ण न होना है, जो सर्वथा अनुचित है। अपने इष्टका अनादर करना तो उनकी महिमाको न जानना सिद्ध होता है।

(४) आपने जो पद लिखे हैं, वे 'शिवमहिम्नः-स्तोत्रके नहीं हैं। भगवान् शंकरने किस समय और कहाँ हरिणका वेष धारण किया था, यह मुझे पता नहीं है।

भगवान् राम श्रीशंकरको अपना इष्ट इसलिये मानते हैं कि शंकर श्रीरामको अपना इष्ट मानते हैं। भगवान्का यह नियम है कि जो जिस भावसे मुझे भजता है, मैं भी उसे उसी भावसे भजता हूँ। भगवान् शंकर श्रीरामके कामनारहित भक्त ठहरे; अतः राम उन्हें किसी वस्तु देकर तो संतुष्ट कर नहीं सकते। निष्कामी भक्तको तो प्रेमके बदलेमें प्रेम ही दिया जा सकता है।

(४)

सादर हरि-स्मरण। आपका पत्र मिला। समाचार ज्ञात हुए। आप अपनेको ईश्वरभक्त मानते हैं, यह बड़े सौभाग्यकी बात है। आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) आपकी रुचि संस्कृत पढ़नेकी प्रबल है और आपके पिताजी दूसरी भाषा पढ़नेके लिये बाध्य करते हैं, इस परिस्थितिमें आपको घबराना नहीं चाहिये। ऐसा समझकर कि पिताजीकी आज्ञाका पालन करके उनके मनकी बात पूरी करनेसे मुझे प्रभुकी प्रसन्नता, उनका प्रेम प्राप्त होगा, अपने मनका आग्रह छोड़कर पिताजीके आज्ञानुसार पढ़ना चाहिये। इस कमजोरीको मनसे उठा देना चाहिये कि मैं कर ही क्या सकता हूँ। प्रभुकी कृपासे आप सब कुछ कर सकते हैं, तो भी आपको करना वही है, जो इस समय प्रभु कराना चाहते हैं। इस भावनामें ही आपका परम हित है। यदि प्रभु चाहेंगे, वे समझेंगे कि संस्कृत पढ़ना आवश्यक है तो अपने-आप वैसी परिस्थिति आपको प्रदान कर सकते हैं और बहुत थोड़े कालमें उस विद्याका आपको वह ज्ञान हो सकता है, जो दस-बारह वर्ष अभ्यास करनेवाले अच्छे-अच्छे आचार्य-परीक्षोत्तीर्ण वैयाकरणोंको नहीं होता। अतः जब आपने अपनेको प्रभुका सेवक मान लिया तो फिर चिन्ता किस बातकी?

(२) घर-बार छोड़कर हिमालयमें जानेमात्रसे कोई योगी नहीं बन सकता। वहाँ भी सब प्रकारके मनुष्य रहते हैं; वहाँ रहनेवाले सब योगी हों—ऐसी बात नहीं है।

संसारको असार समझनेकी सार्थकता तो इसीमें है कि उसमें अभिमान और ममता न रहे, उससे सुखकी आशा न की जाय, उसे साधनकी सामग्री समझकर उसके द्वारा समस्त प्राणियोंमें विराजमान अपने प्रभुकी कर्तव्य समझकर सेवा करता रहे। बदलेमें उनसे कुछ चाहे नहीं। हर परिस्थितिमें अपने प्रभुका स्मरण करते हुए उसके प्रेममें निमग्न रहे। गीताके छठे अध्यायमें बतलाये हुए 'योग' के लिये हिमालयमें जाना आवश्यक नहीं है। गीताके छठे अध्यायका पहला श्लोक देखिये और उसपर विचार कीजिये।

घरवाले आपका विवाह करना चाहते हैं तो धर्मानुकूल विवाह करनेमें कोई बुराई नहीं है । गृहस्थ-सुखकी आसक्ति मिटानेके लिये विवाह भी साधन बन सकता है ।

(३) आपके घरवाले यदि ऐसा भोजन करते हों, जिसमें प्राणियोंकी हिंसा या समाजका अहित होता हो तो उनसे विनम्र प्रार्थना कर देनी चाहिये कि इस प्रकारके भोजनमें मेरी रुचि नहीं है । राजसी और तामसी भोजन आप स्वयं न करें—यह बहुत ही अच्छा है । पर घरवाले जो वैसा भोजन करते हैं, उनको अपनेसे नीचा न समझें, उनकी बुराई या निन्दा न करें, अपनेमें अच्छेपनका अभिमान न करें । किसी भी अच्छाईका अभिमान सब प्रकारके दोषोंको उत्पन्न करनेवाला है । अपवित्रताको हटानेके लिये रसोई बनानेवालोंसे विनम्रभावसे प्रार्थना करें । वे न सुनें तो उस दिन भोजन न करें, पर इस बातके कारण किसीपर क्रोध न करें । पूछनेपर नम्रतासे कह दें कि 'क्या करूँ, मेरी रुचि ऐसे भोजनपर नहीं होती; अतः मेरी धृष्टताको आप क्षमा करें ।' ऐसे करनेसे न तो आप नीचे गिरेंगे, न आपकी मानसिक, बौद्धिक और शारीरिक हानि ही होगी ।

(४) भगवान्में प्रेम, जगत्में वैराग्य और गीता-पाठ एवं भजन-स्मरणमें अधिक समय लगानेके कारण जो घरके लोग आपपर क्रोध करते हैं, इसमें भी आपको प्रभुकी कृपाका ही दर्शन करना चाहिये । समझना चाहिये कि प्रभुने मेरे प्रेमको सुदृढ़ बनानेके लिये कृपा करके यह परिस्थिति उपस्थित की है । यदि घरवाले मेरा आदर करते तो मैं अपनेको भक्त मानकर अभिमान करने लगता । भगवान्का दास न बनकर मान-बड़ाईका दास बन जाता और मेरी इच्छा पूरी करनेवालोंमें मेरी आसक्ति हो जाती । इन सब विघ्नोंसे बचानेके लिये ही भगवान्ने ऐसा किया है । अतः घरवालोंको जो आप अपने मार्गमें कण्टक समझते हैं, यह मान्यता ठीक नहीं है । उनका कोई दोष नहीं समझना चाहिये । आप भक्त प्रह्लादके चरित्रपर ध्यान दीजिये । क्या आपके घरवाले हिरण्यकशिपुके समान आपके विरोधी हैं? क्या प्रह्लादने कभी स्वप्नमें भी अपने पिता और गुरुओं क्रोध किया ? उनको अपने मार्गमें कण्टक समझा ? कभी नहीं; वे तो हर हालतमें उनका हित ही चाहते रहे ।

(५) माता-पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये आप विवाह कराना स्वीकार कर सकते हैं पर ऐसा काम नहीं करना चाहिये, जिसमें धर्मका विरोध हो, जिसे भगवान् न चाहते हों । इसके सिवा सभी करने योग्य कार्योंमें उनकी आज्ञा मानना बहुत उपयोगी है । भक्त प्रह्लादने न तो विवाहसे इन्कार किया और न विद्या पढ़नेसे ही, पर प्रभुकी भक्तिका त्याग किसी हालतमें करना स्वीकार नहीं किया । इसे सामने रखकर विचार करना चाहिये ।

(६) भगवान् ही सबके परम गुरु हैं । उनके सम्मुख हो जाना, अपनेको उनके समर्पण करके एकमात्र उन्हींको अपना मान लेना ही गुरुके सम्मुख होना है । जब आप अपनेको प्रभुके भक्त मानते हैं, तब यह नहीं मानना चाहिये कि मैं गुरुके सम्मुख नहीं हुआ । जो लोग कहते हैं कि गुरुके सम्मुख हुए बिना मुक्ति नहीं होती, वे इस रहस्यको नहीं समझते कि सचमुच गुरुके सम्मुख होना क्या है । अतः उनके कहनेका कोई मूल्य नहीं है । आप यदि शूद्र जातिमें उत्पन्न हैं तो आपको यज्ञोपवीत आवश्यकता नहीं है । भगवद्भक्तिमें सभी जाति अधिकार है । भगवान्के लिये तो सब एक हैं; जो उन प्रेम करना चाहते हैं, उन्हींको वे अपना लेते हैं ।

(७) नीच कुलमें जन्म होनेके कारण जो आ मनमें तरस आती है, यह भूल है । इसका तत्का कर देना चाहिये । यह समझना कि मैं ऊँचे कु उत्पन्न होता तो मुझे भगवत्प्राप्तिमें विशेष सहायता मि

ह भ्रम है; क्योंकि ऊँचे कुलमें जन्म होनेसे जातिका अभिमान हो सकता है, जो कि भक्तिमार्गमें विघ्न है। कबीरदास, रैदास, शबरी आदि अनेकों भक्तोंने ऊँचे कुलमें उत्पन्न न होकर भी बड़ी सुगमतासे प्रभुका दर्शन किया है और बड़े-बड़े ऋषिलोग उच्च कुलमें उत्पन्न होकर अभिमानवश नीचे गिर गये। अतः वास्तवमें बड़ा ही है, जो अपने वर्णधर्ममें स्थित है, अपने कर्तव्यका न करता है और उसके द्वारा अपने प्रभुकी सच्ची करता है। इसलिये आपको सर्वथा निश्चिन्त और रहित रहना चाहिये।

(५)

सादर हरि-स्मरण। आपका पत्र मिला। समाचार त हुए। आपके प्रश्नोंके उत्तर क्रमसे इस प्रकार हैं—

(१) एक गृहस्थको वर्षभरमें कितने त्यौहार मनाने ये, कितने व्रत पालन करने चाहिये—इसका सबके एक विधान नहीं हो सकता; क्योंकि सबकी श्रद्धा, और योग्यता समान नहीं होती। अतः इसके विषय- ही मानना ठीक है कि जिस उत्सव और व्रतमें जितनी श्रद्धा, विश्वास और रुचि हो, जिसे वह किसी प्रकारकी कठिनाईके कर सकता हो, वही निष्कामभावसे उत्साहपूर्वक करना चाहिये। उसमें बड़ाईकी कामना नहीं होनी चाहिये।

व्रत-पालनके दिन—(क) किसी भी प्राणीको ओरसे किसी प्रकार भी कष्ट नहीं देना चाहिये। दोष नहीं देखने चाहिये। किसीपर क्रोध नहीं चाहिये। मनसे भी किसीका अहित नहीं चाहना ये। सत्य, प्रिय और हितकारक वचन बोलना ये। मौन रहकर प्रभुका स्मरण और नाम-जप चाहिये। सद्ग्रन्थका अध्ययन करना चाहिये। नहीं बोलने चाहिये, जो किसीके मनमें उद्वेग हों, जो कठोर हों और जो अप्रिय हों।

(ख) किसीकी वस्तुका अपहरण नहीं करना चाहिये। किसीसे कुछ लेनेकी न तो कामना करनी चाहिये, न स्वीकार ही करना चाहिये। जहाँतक हो सके, निष्कामभावसे सेवा करनेका भाव रखना चाहिये।

(ग) ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये। स्त्री और पुरुषको किसी प्रकारकी भी काम-वासनाका उदय नहीं होने देना चाहिये। उस विषयकी पुस्तक आदि नहीं पढ़नी चाहिये, चित्र नहीं देखने चाहिये। खेल-तमाशा, नाटक-सिनेमा आदि नहीं देखना चाहिये। इस विषयकी परस्पर किसीसे बातचीत भी नहीं करनी चाहिये। विषय-भोगकी सामग्रीके सम्बन्धका त्याग करना चाहिये।

ये सब तपके ही अङ्ग हैं। इनके पालनसे चित्त शुद्ध होता है। व्रत, उपवास आदिका विधान चित्त-शुद्धिके लिये परम आवश्यक है।

(२) श्रीरामचन्द्रजी जब वनमें थे, तब हरिणोंको कभी नहीं मारते थे। जो हिंसक पशु ऋषि-मुनियोंको वनमें कष्ट देते थे एवं वनके अन्य मनुष्यों और पशुओंको मार डालते थे, उन्हीं पशुओंको वे मारते थे। यह क्षत्रियोंका धर्म है। 'मृग' शब्द सभी वनमें रहनेवाले पशुओंका वाचक है, केवल हरिण-जातिका ही वाचक नहीं है। यह बात तुलसीकृत रामायणमें राजा प्रतापभानुकी शिकारयात्राके प्रसङ्गमें स्पष्ट है। उस यात्रामें उन्होंने जिस सूअर रूपधारी-राक्षसका पीछा किया था, वह हरिण नहीं था, पर उस प्रसङ्गमें उसको चार बार 'मृग' कहकर पुकारा गया है।

(३) साधारण गृहस्थमें पत्नीका कर्तव्य है पतिकी सेवा करना, उनसे प्रेम करना, उनकी आज्ञा मानना, उनके हितमें रत रहना, उनपर क्रोध न करना, उनको सब प्रकारसे सुख देना तथा उनसे किसी प्रकारके सुखकी कामना नहीं करना—इत्यादि। इसी प्रकार पतिका

कर्तव्य है अपनी पत्नीको अपनी अर्धाङ्गिनी मानना, उसकी आवश्यकताको समझकर यथाशक्ति पूरी करना, हर प्रकारसे उसे सुख देना, उसका अपमान न करना, कठोर वचन न कहना, उसपर क्रोध न करना, उसे घरकी स्वामिनी समझना, हर-एक गृहस्थके कार्योंमें मित्रकी भाँति उससे सलाह करना एवं घरके सभी व्यक्तियोंका यथावश्यक पालन-पोषण करना।

गृहस्थमें सुख-शान्ति सुरक्षित रखनेके लिये हर-एक व्यक्तिको चाहिये कि अपने-अपने कर्तव्यका पालन करे, दूसरेकी भूल न देखे, अपनी भूलको समझकर उसका सुधार करे, अपने अधिकारका त्याग करे और दूसरेके अधिकारका आदर करे।

घरके अन्य कुटुम्बीजनोंको यदि कष्ट हो तो उसे दूर करना पति और पत्नी दोनोंका ही कर्तव्य है। पतिको हर प्रकारसे पत्नीको उसके कर्तव्य-पालनमें मदद देनी चाहिये, उसी प्रकार पत्नीको भी पतिके कर्तव्य-पालनमें मदद देनी चाहिये। घरकी आर्थिक कठिनाईमें मदद देनेके लिये यदि पत्नी स्त्री-वर्गके साथ रहकर किसी प्रकारका परिश्रम करके न्याययुक्त अर्थोपार्जन कर सके तो मेरी समझमें कोई बुराई नहीं है, प्रत्युत अच्छा ही है।

(४) ×

× ×

(५) प्रभु अपने कर्तव्यमें कभी नहीं चूकते—यह दृढ़ विश्वास रखना चाहिये और उनसे कभी निराश नहीं होना चाहिये। निराश होना चाहिये संसारसे। उसकी की हुई इच्छा कभी पूरी नहीं होती। जिसको सुखकी चाह नहीं और दुःखसे भय नहीं, वह किसीके दुःखमें कारण नहीं बन सकता तथा यदि किसीको कष्ट होता है तो उसके दुःखसे वह दुखी हो जाता है और शक्ति-भर उसके दुःख-निवारणमें सहयोग देता है, यही उसका कर्तव्य है।

आप यदि स्वयं किसीको दुःख देना नहीं चाहते और अपनी ओरसे किसीको दुःख देते भी नहीं, उस परिस्थितिमें यदि कोई अपने दुःखका कारण आपको बतावे तो इस बातको सुनकर आपको दुःख नहीं मानना चाहिये, बल्कि उनको दुखी देखकर आपको दुःख होना चाहिये।

किसीके कुछ कहनेपर क्रोध आना अपने ही भीतरके मलका उभरकर बाहर निकलना है

(रचयिता—डॉ० श्रीरामदयालजी भार्गव)

नीरमस्वच्छतां याति निर्मले वै सरोवरे।
पाषाणं क्षेपितं यस्मिन्नुपर्यायाति तन्मलम्॥
पाषाणवद्धि वाक्येन क्रोधाक्रान्तो भवाम्यहम्।
सोऽपि नूनं विकारो मे हृदयाद् बहिरागतः॥
कथं दोषः कुवाक्यस्य मलं येन प्रदर्शितम्।
उपकारं मन्यमानो यतिष्ये तन्निवारणे॥
समुद्रवत् तु गम्भीरं सहिष्णुं पृथिवीमिव।
निर्मलं चन्द्रवत् कुर्याद् इति मे प्रार्थनानिशम्॥

निर्मल नीर सरोवरमें जब पत्थर फेंका जाता है।
अन्तर्मल ऊपर आ जाता जल अस्वच्छ हो जाता है॥
पत्थर सदृश कठोर शब्दोंसे मुझे क्रोध जो आता है।
अंदर छिपा हृदय-मल मेरा ही ऊपर आ जाता है॥
कुवचनका क्या दोष जो अन्तर्मल निकाल दिखलाता है।
मैं उपकार मानता जो यों मलको दूर हटाता है॥
सागरवत् गंभीर बना दो, क्षमी सहिष्णु धरित्रि समान।
विधुसम विमल बना दो, मेरी यही नित्य विनती भगवान॥

हमारी मुक्तिनाथ-यात्रा

(लेखक—श्रद्धेय श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

[पृष्ठ ७८५ से आगे]

मुक्तिनाथसे दामोदरकुण्ड

मुक्तिनाथसे ही दामोदरकुण्डको जाते हैं। इसी कुण्डसे नारायणीगण्डकी निकलती है, जो काकबैंनीमें कालीगण्डकी-से मिलती है। मुक्तिनाथसे दामोदरकुण्डका मार्ग बड़ा ही विकट है। बड़ा ऊबड़-खाबड़ बताते हैं, मार्गमें कोई ग्राम नहीं—ठहरनेका स्थान नहीं। साधु-संत वहाँ जाते हैं। हमारी बहुत इच्छा थी, दामोदरकुण्ड जायँ; किंतु इतने आदमियोंको लेकर जा नहीं सकते थे। इन्हें छोड़कर जाना भी न्यायसंगत नहीं समझा। अतः हमने वहाँका जाना स्थगित कर दिया। वैसे दोतीन आदमी ऐसे हों, जिन्हें घर-द्वारकी चिन्ता न हो, जो 'आगे नाथ न पीछे पगहा'—इस कहावतके अनुसार स्वतन्त्र हों तो दामोदरकुण्ड-यात्रा कोई कठिन नहीं है। मुक्तिनाथ-जीसे कुल तीन दिनोंका ही रास्ता बताते हैं। मुक्तिनाथसे नरसिंहखोला फिर तांक्यागाँव, तदनन्तर धूसीवास स्थान मिलता है। वहाँसे आगे नकली दामोदरकुण्ड, फिर उससे आगे सकली दामोदरकुण्ड है। दामोदरकुण्डमें सूखी तुलसी डाल दो तो वह डूब जाती है। कहते हैं यहाँ भगवान्‌की आज्ञासे विश्वकर्मा ही काले कीटके रूपमें रहते हैं। वे या तो सुवर्ण खाते हैं या तुलसी। शालग्रामके भीतर सुवर्ण होता है, उसे खानेको ही ये कीट उसमें चक्र बनाते हैं और चक्र बनाकर वहीं मर जाते हैं। बहुत-से भोटिया शालग्रामको तोड़-फोड़कर सुवर्ण निकालते हैं। वैसे नैपाल सरकारकी ओरसे एक पत्थरपर आज्ञापत्र खुदा है कि जो शालग्रामको तोड़कर सुवर्ण निकालेगा, उसे राज्य भारी-से-भारी दण्ड दे सकता है; किंतु कौन मानता है इस आज्ञाको। वहाँ कोई पुलिस-फौज तो बैठी ही नहीं है। दामोदरकुण्डके आसपास गजेन्द्रमोक्ष-सरोवर, चक्र-सरोवर, देवह्रद, विष्णुकुण्ड आदि बताते हैं। जलज शालग्राम यहीं नरसिंहखोला, दामोदरकुण्ड तथा चालग्रामीमें मिलते हैं। स्थलज शालग्राम इन पर्वतोंमें गण्डकीमें जो भी शिला गिरती है, सभी शालग्राम हैं। थाकटुकचेतक सब शालग्राम-ही-शालग्राम हैं। चक्राङ्कित कठिनतासे मिलते हैं। दामोदरकुण्डकी यात्रा करके फिर मुक्तिनारायण ही लौटना पड़ता है। हम तो दामोदरकुण्ड गये ही नहीं। मुक्तिनारायणसे ही लौट आये। अतः आगे संक्षेपमें लौटनेका ही वृत्तान्त सुनिये।

मुक्तिनाथसे झुमसा

(आषाढ़ कृष्ण ६, १३ जून)

दो रात्रि हम मुक्तिनाथजीमें रहे। आषाढ़ कृष्ण ६ को प्रातः श्रीमुक्तिनाथजीके दर्शन करके उनसे विदा लेकर जो उतरे, तो मानो कोई ढकेल रहा हो। दो दिन विश्राम ले लिया। मुक्तिनारायणजीके दर्शन हो गये, संकल्प पूरा होनेसे मनमें प्रसन्नता थी, उत्साह था। एक ही साँसमें नीचे आ गये। रात्रिकी खीरको गंगादत्त बचा लाया था, उसकी लोगोंने मुझसे शिकायत की। हँसी होती रही। अब काकबैंनी तो जाना नहीं; सीधे ही चले और चलते ही गये। झट झुमसा आ गये। अपने भारतीय पुलिसके बन्धु मिल गये। आज नैपाल महाराजके जन्मदिनका उत्सव था। नैपाली कैप्टन राणाजीने हमें विशेष अतिथिके रूपमें अपनी सेनामें आमन्त्रित किया।

हमलोगोंके पास खर्च समाप्त हो गया था। नैपाल राज्यमें द्रव्यादेश (मनीआर्डर) बीमा, चेक कुछ भी नहीं आता। हमने भारतीय पुलिसद्वारा काठमाण्डू दूतावासको बिना तारके द्वारा सूचना दी। उन्होंने गीताप्रेस, गोरखपुर-को तारद्वारा सूचना दी। गीताप्रेसवालोंने अपना आदमी बुटवल भेजकर हमें द्रव्य दिया।

रात्रिमें सैनिकोंका सांस्कृतिक कार्यक्रम देखने गये। सैनिकोंमेंसे ही सभी पात्र बने थे। बहुत देरतक मनोरञ्जन होता रहा। अर्धरात्रि बीतनेपर हम उठकर झुमसामें सो गये।

झुमसासे कालापानी

(आषाढ़ कृष्ण ७, १४ जून)

झुमसासे चलकर थाकटुकचामें भोजन-प्रसाद बना। अपना रक्खा सामान लिया और भोजनोपरान्त चल दिये। दिन डूब गया, कहीं रहनेको स्थान ही नहीं मिला।

कालापानीमें जैसे-तैसे एक सैनिकके प्रयत्नसे आश्रय मिला। कुली सामान लेकर नहीं आ सके। अग्निके सहारे जैसे-तैसे रात्रि काटी। प्रातः पुनः चल दिये।

कालापानीसे काप्रा ग्राम

(आषाढ़ कृष्ण ८, १५ जून)

कालापानीसे चलकर घासामें पाठशालाके सम्मुख उसी स्थानमें मध्याह्न-भोजन करके चल दिये। पहले जिस आधे टूटे पुलको कठिनतासे पार करके आये थे, अब वह पूरा टूट गया। अब तो बहुत बड़े विकट रास्तेसे चलना था। पग-पगपर गिरनेका भय। मीलों नीचे गण्डकी बह रही थी। तरवारकी धारके समान पहाड़की पगडंडीसे चल रहे थे। इस रास्तेसे पुल टूटनेपर ही पहाड़ी यात्री जाते हैं। राम-राम करके काप्रा गाँवमें आकर रह गये। बड़ी कठिनाईसे ठहरनेको स्थान मिला। सामान मोल मिल गया। भोजन बना। खाकर सो गये।

काप्रेसे तातापानी

(आषाढ़ कृष्ण ९, १६ जून)

प्रातः काप्रेसे चले। आज एक बड़ी विकट घटना घट गयी। पहाड़का रास्ता आगे चलकर बाढ़से कट गया था। हमलोग कटे स्थानतक पहुँचे। नीचे २५-२० शिला थी, नीचे गिर जाय तो मर जायँ। पहाड़में तो एक हाथ-भरकी भी बचत हो जाय तो यात्री प्राणकी बाजी लगा देता है। पहाड़ी मना कर रहे थे, किंतु हम माने ही नहीं; लाठीके सहारेसे एकका हाथ पकड़कर कूद गये। भगवान्‌ने ही बचाया। नहीं तो, वहीं गण्डकीमें समाधि हो जाती। केवल कोई समाचार भले ही दे देता।

अब हमें चिन्ता हुई कि पीछेवाले कहीं ऐसा दुस्साहस न कर बैठें। हम एक शिलापर बैठ गये। पीछे पाँच-छः आदमी थे, हम जोरोंसे चिल्लाये—'हे नाथ नारायण वासुदेव, लौट जाओ लौट जाओ।' किंतु पुजारीजी गंगादत्त तथा रामदास शास्त्री, तो कूद आये। शेष सभी लौट गये। भगवान्‌ने लाज रख दी। नहीं तो, उस दिन मृत्यु चार ही अंगुल रह गयी थी। वहाँसे चलकर तातापानी आ गये। वर्षा होनेसे रात्रिमें भी यहीं रह गये।

तातापानीसे गलेश्वर

(आषाढ़ कृष्ण १०, १७ जून)

तातापानीसे आज प्रातः चले। आज बहुत ही कारुणिक दृश्य था। कुछ लोग तातापानीसे पोखरा जाकर वहाँसे हवाई जहाज द्वारा काठमाण्डूमें भगवान् पशुपतिनाथका दर्शन करना चाहते थे। अखण्ड कीर्तनकार, जो १२—१४ नैपाली भक्त थे, उनकी भी विदाई यहींसे थी। उर्मिलाकी बड़ी मौसी रमादेवी, सरस्वती, लाला द्वारकाप्रसाद, उनकी पत्नी—ये लोग सब रोते-रोते विदा हुए। नैपाली सभी भक्त ढाढ़ मारकर रोते जाते थे। कीर्तन करते जाते थे। उनका आग्रह था, हमें छोड़िये नहीं। प्रयाग, वृन्दावन जहाँ चाहें ले चलिये। किंतु परिस्थिति ऐसी ही थी। वज्रहृदय करके उनको विदा देनी पड़ी। मेरा भी हृदय भरा हुआ था। दृश्य अत्यन्त कारुणिक हो गया था। मैं अपनी लाठी उठाकर चल दिया। वे बेचारे रोते ही रहे। आज हम चलते ही गये, चलते ही गये। बीचमें तिपलिंगमें भोजन करके अत्यन्त भयानक चढ़ाई-उतराई पारकर बहुत रात्रिमें गलेश्वर स्वामी ईश्वरानन्दजी ब्रह्मचारीके आश्रमपर पहुँच गये। ब्रह्मचारीजीने अत्यन्त स्नेहसे हमारा सत्कार किया। बारी-बारीसे जो आता गया, वही भोजन बनाता, खाता गया। रात्रिभर ब्रह्मचारीजीकी कुटियापर ही निवास किया।

गलेश्वरसे सहस्रधारा

(आषाढ़ कृष्ण ११, १८ जून)

अब अधिक वर्णन क्या करें? गलेश्वरसे सहस्रधारा, सहस्रधारासे फलेवासमें निवास। हाँ, फलेवाससे आगे एक पहाड़ीके साथ चले। आगे दो नदियोंका संगम था। नदी बहुत बढ़ गयी थी। किसीका भी साहस नदीको पार करनेका नहीं हुआ। तब एक दूसरे पहाड़पर चढ़कर किनारे-किनारे बहुत-दूर निकलकर किसी बहुत प्राचीन पुराने मार्गसे आये। यदि भगवान्‌के रूपमें वह पहाड़ी न आता तो न जाने हम कहाँ भटकते रहते। फिर श्वेतवैनी वीरधा होते हुए रात्रि ओगहामें एक मन्दिरमें बितायी। प्रातः उठकर जो चले, सो रानीघाट नौकासे पार करके तानसेनमें ही विश्राम किया। तानसेनसे प्रातः उठे और चलते ही गये चलते ही गये। जो मार्ग आते समय तीन दिनमें तै किया था, उसे आधे ही दिनमें पार कर लिया। दिनके दो बजे

आषाढ़ शुक्ला द्वितीया (ता० २३ जून) को रथयात्राके दिन बुटवलमें पहुँच गये । मानो देशमें लौट आये ।

—बोल दे मुक्तिनाथ भगवान्की जय ।'

उपसंहार

बुटवलमें हम तो दिनके दो बजे पहुँचे और लोग कोई दो घंटे पश्चात्, कोई चार घंटे पश्चात्, रात्रिके १० बजेतक सभी आ गये । सबको विश्वास था, अब कलसे तो चलना ही न पड़ेगा । अतः पूरा साहस बटोरकर सभी चले आये ।

(आषाढ़ शु० ३, २४ जून)

आज सभी सुखपूर्वक निश्चिन्त होकर प्रगाढ़ निद्रामें सोये । एक ही दिनमें यात्राके सब कष्टोंको भूल गये । गीताप्रेस गोरखपुरसे तार मिलनेपर आदमी खर्च लेकर आ गया था । कुलियोंका चुकता किया । खीरका भण्डारा हुआ । सबने आवश्यक वस्तुएँ खरीदीं । बुटवलसे आगे पहाड़ नहीं हैं । एक महीनेतक पहाड़ोंमें चलते-चलते निरन्तर पहाड़ोंमें बंद रहनेसे पहाड़ोंको ही देखते रहनेसे ऐसा लगता था कि हम पहाड़ोंकी चहारदिवारीकी जेलमें बंद हैं । आज खुला विस्तृत आकाश देखा, मानो जेलसे निकल आये हों । दिनभर बुटवलमें ही रहकर आराम किया ।

दूसरे दिन श्यामप्रकाश, शिवानन्द, कला, उर्मिला, झाँसीवाले तथा और भी लोग प्रयागके लिये चले । रामदास शास्त्री, रामलखनदासजी पुजारी, आत्माराम गौतम—ये लोग वृन्दावनके लिये चले । ईश्वरदास तथा और लोग गोरखपुरको । सब लोग गोरखपुरतक साथ गये । हम, रामराज, जगदेव तथा नैपाली चन्द्रमणि—ये चार आदमी भैरवासे पोखरा होते हुए काठमाण्डू नैपाल महाराजसे श्रीमुक्तिनाथ मन्दिरके प्रबन्धके सम्बन्धमें मिलने गये ।

नैपालमें हम श्रीकविप्रसादजी गौतमकी कुञ्जमें ठहरे । स्थान-स्थानपर भक्तोंने कीर्तन-उत्सवके आयोजन किये थे । उनमें सम्मिलित हुए । नैपाल महाराजसे मिलनेकी अनुमति माँगी, उन्होंने तुरंत अनुमति दे दी और बिलकुल एकान्तमें अकेले मिलनेकी इच्छा प्रकट की । मैं अकेला श्रीज्योतिप्रसाद गौतमको साथ लेकर महाराजके महलमें मिला । बहुत भव्य प्रासादमें वे अकेले ही खड़े थे । बड़े प्रेमसे मिले । मैंने लिखित रूपसे श्रीमुक्तिनारायणजीके सम्बन्धमें उन्हें सब बताया और यह भी कहा 'नैपाल-जैसे धार्मिक राजाके राज्यमें इतने बड़े महत्त्वपूर्ण प्रसिद्ध तीर्थकी ऐसी उपेक्षा हो, यह बड़े ही दुःखकी बात है ।' अन्तमें मैंने निम्न सुझाव दिये ।

(१) श्रीमुक्तिनाथके सेवा-प्रबन्धके सम्बन्धमें एक समिति बनायी जाय, उसमें थाकटुकचेके थकाली तथा और भी प्रतिष्ठित लोग रहें । एक सरकारी आदमी रहे । वह मन्दिरकी पूजा आदिकी देख-रेख रक्खे ।

(२) धौलागिरि अञ्चलाधीश (कमिश्नर) के अधीन एक विशेष अधिकारीकी नियुक्ति हो जो पूजा-प्रबन्ध तथा मार्गके सम्बन्धमें देख-रेख करे तथा पदेन समितिका भी सदस्य हो ।

(३) जो लोग सदावर्ती गूँठके गाँवोंके धानको नहीं देते हैं उनसे कानूनके द्वारा कड़ाईसे धान वसूल किया जाय और उसे पूजा तथा सदावर्तके कार्योंमें व्यय किया जाय ।

(४) लाताके आगे नैपाल सरकारका शासन नहींके ही बराबर है । वहाँ न डाकखाने हैं न पुलिस-चौकी । झुमसाके आगे दो पुलिस-चौकी स्थापित की जायँ । जो यात्रियोंको भी लूटपाटसे बचावें तथा विशेष अधिकारीको धानकी उगाहीमें सहयोग दें ।

(५) मार्ग, जहाँ टूटा-फूटा है, उसकी सरकारी तौरसे मरम्मत की जाय ।

(६) जो झूले या पुल टूट गये हैं, उनकी मरम्मत की जाय, उन्हें आधुनिक रूप दिया जाय ।

(७) टूटी हुई धर्मशालाओंकी मरम्मत की जाय, जहाँ पानी नहीं है, वहाँ पाइप लगाकर पानीका प्रबन्ध किया जाय । भारतके धार्मिक लोगोंको नयी धर्मशाला, विश्रामगृह बनानेको प्रोत्साहित किया जाय ।

(८) मार्गमें दूकानोंका प्रबन्ध किया जाय, जिनमें उचित मूल्यपर जीवनोपयोगी सभी सामग्री मिल सकें ।

(९) मार्गमें जहाँ-जहाँ पेड़ उखड़ गये हैं या उनके चबूतरे टूट गये हैं, जहाँ-जहाँ पेड़ नहीं हैं वहाँ नये पेड़ लगाये जायँ और चबूतरोंकी मरम्मत करायी जाय ।

(१०) झुमसाका हवाई अड्डा चालू किया जाय, मुक्तिनाथकी यात्राका भारतमें प्रचार किया जाय । जिससे बद्रीनाथकी भाँति यहाँ भी यात्री प्रतिवर्ष अधिक-से-अधिक संख्यामें आया करें ।

इस प्रकार यदि प्रचार किया जायगा, तो बद्रीनाथकी भाँति यहाँ भी हजारों-लाखों यात्री प्रतिवर्ष जाया करेंगे और मन्दिरको भी लाखों रुपयोंकी आय होगी। पहले बद्रीनाथकी यात्रामें भी लोग ऐसे ही जाते थे। टिहरी महाराजने देवप्रयागी पण्डाओंके द्वारा देशभरमें प्रचार कराया था और सब प्रबन्ध किया था। इससे सैकड़ों यात्री जाने लगे। जब कच्ची सड़क अंग्रेजी कालमें बन गयी तो हजारों यात्री जाने लगे। जबसे मोटर आदिकी सुविधा हुई, चार-पाँच लाख यात्री प्रतिवर्ष जाते हैं और अनुमानतः बद्रीनाथ-मन्दिरको वर्षमें पाँच-छः लाख रुपयेकी आय होती है।

नैपाल महाराजने मेरी सभी बातोंको बड़े धैर्यसे ध्यानपूर्वक सुना और मुझे आश्वासन दिया कि मैं अपने अधिकारियोंसे इस सम्बन्धमें सलाह करूँगा और जो कर सकूँगा, अवश्य करूँगा तथा आपको भी इसकी सूचना दिलाऊँगा। मैंने यह भी कहा—यदि महाराज हमारे लिये छोटे वायुयान (हेलीकाप्टर) का झुमसातक विशेष प्रबन्ध कर दें तो एक बार इसी वर्ष दशहरेपर फिर मेरी इच्छा मुक्तिनाथ जानेकी है। महाराजने कहा—इसकी भी मैं सूचना आपको दूँगा।

अभीतक तो मुझे नैपाल-राज्यकी ओरसे कोई सूचना मिली नहीं कि श्रीमुक्तिनाथकी पूजा-अर्चाके प्रबन्धके सम्बन्धमें राज्यने क्या किया। मेरी महाराजासे पुनः प्रार्थना है, इस आवश्यक प्रश्नपर विशेष ध्यान दे करके इस महाधामकी उसकी प्रतिष्ठाके अनुरूप पूजा-अर्चाकी समिति बनाकर उसी प्रकार व्यवस्था कर दें जैसी कि श्रीपशुपतिनाथजीके मन्दिरमें है।

नैपालसे दो दिन प्रयत्न करनेपर भी मौसमकी खराबीसे हमें हवाईजहाज नहीं मिल सका। अन्तमें हमने हवाईजहाजकी टिकटें वापिस कीं और मोटरद्वारा रक्सौल आये। वहाँसे पटना होते हुए आषाढ़ शुक्ला द्वादशीको झूसी आ गये। इस प्रकार हमारी यह श्रीमुक्तिनाथकी यात्रा समाप्त हुई।

छप्पय

मुक्तिनाथ भगवान दासको बन्ध छुड़ाओ।
भटकि रहे भव माहिं दया करि पार लगाओ॥
आसा त्रिस्ना लगीं भूतिनी पीछे तनके।
काम क्रोध मद लोभ मोह मत्सर अरि जनके॥
प्रभो! छुटाओ सबनि तैं, करो बिलम्ब न नाथ अब।
जब होवे क्षय मोहको, मुक्तिनाथ सचु नाम तब॥

बवंडर—सूखे तिनके

(रचयिता—प्रो० श्रीगोपालजी 'स्वर्णकिरण')

बछरुओं की चिन्ता में
आस्था की गायें राँभ रही हैं।
भीतरी उफान बरसाती कुकुरमुत्तों की तरह
उठती चली आ रही है।

पत्थर या अवरोधक के बिना भी
आवाजें टकराकर लौट रही हैं।
समानान्तर पटरियों पर
चिग्घाड़ती हुई रेल बढ़ रही है,
लदा हुआ बोझ कुछ रुकावट सी डालता है,
पर कुंठित विवेक सर नहीं उठाता॥
अजब संयोग यह
कहीं व्यवधान नहीं,
लाल सिगनल नहीं,
मरम्मत होती हुई पटरियों के सामने की
लाल झंडी टूटकर गिर गयी हो जैसे॥
भैंसों की उछलन
और चरवाहों की कातर पुकार,
और सूअरी का चिल्लाना,
रह-रहकर दर्द उठा देता है॥
सिराएँ ऐंठ जाती हैं?
उजाले में रोशनी की जरूरत क्या?
सत्ता के उन्माद का कोई उपचार नहीं।
रोड़ों की टक्कर से आग निकल जाती है॥
झरबेरी के बेर
धूप या कि छाया में सीझते हैं।
बकरियाँ छटपटाती हैं
बढ़ी हुई घासों को चरने को,
चुभते हुए काँटे उन्हें रोक नहीं पाते हैं॥
बवंडर की चपेटमें
सूखे हुए तिनके ही आते क्या?
पत्थर के टुकड़े तो निर्भय-से रहते हैं
शंका की तितलियाँ भी उड़ कर चल जाती हैं।
कौन-सा कारण है
कि रजनीगंधा दिनमें गमकती नहीं॥

मधुर

नित्य-अनन्त-अचिन्त्य परम प्रेममयी श्रीराधाजी परम प्रियतम श्यामसुन्दरके वियोगमें अत्यन्त विषण्ण रहती थीं। एक दिन कहींसे बड़े सुन्दर स्वरमें परम मधुरातिमधुर 'श्याम' नाम सुनायी दिया। वह श्याम नाम श्रीराधाके श्रवणरन्ध्रोंमें प्रवेश करके हृदयमें पहुँच गया और वे उस 'श्याम' नामका अवलम्बन लेकर विषम वियोगकी स्थितिको बिताने लगीं। पर बीच-बीचमें उनका हृदय तथा नेत्र-मधुकर श्याममुख-सरोज-रस-पानके लिये व्याकुल हो उठते थे। उसी व्याकुलतामें एक दिन बड़ी ही सुन्दर घटना घटी। उसीका वर्णन यहाँ दिया जा रहा है।

जबसे सुना सुधामय सुन्दर
'श्याम' नाम अतिशय सुखधाम।
हुए मुग्ध मन-बुद्धि-प्राण सब
चलने लगा नाम अविराम॥
नाम-माधुरीने प्राणोंमें
कर दी जाग्रत् दर्शन-प्यास।
हुआ चित्त उत्कंठित आकुल
चला सुतप्त दीर्घ निश्वास॥

श्रीमती राधिकाजीने जबसे सुधामय सुन्दर आत्यन्तिक सुखधाम श्रीश्याम नाम सुना, तभीसे उनके मन-बुद्धि-प्राण मुग्ध हो रहे हैं और 'नाम' का रटन बिना विराम लगातार चलने लगा है। परंतु श्याम नामके माधुर्यने सहज ही चित्तमें श्यामसुन्दरके दर्शनकी पिपासा जाग्रत् कर दी। इससे श्यामदर्शनके लिये चित्तमें उत्कण्ठा उत्पन्न हो गयी। चित्त व्याकुल हो गया और श्रीराधाजीके गरम-गरम लम्बा श्वास चलने लगा।

स्नेहमयी शुचि सखी विशाखा
देख राधिकाको बेहाल।
चित्रकला-निपुणा, अंकित कर
लाई श्याम-चित्र तत्काल॥

निरख चित्र अति मधुर मनोहर
नख-शिख रूप परम रमणीय।
मानो मिले मदन-मद-हर मन-
मोहन प्राणकान्त कमनीय॥
हुई हर्षविह्वल विस्मित-मन
करने लगी गभीर विचार।
नहीं त्रिकाल—तीन लोकोंमें
ऐसा दिव्य रूप रस-सार॥

श्रीराधाको इस प्रकारकी बुरी स्थितिमें देखकर उनकी पवित्र स्नेहमयी सखी विशाखाको बड़ी मनोवेदना हुई, वे चित्रकलामें अत्यन्त निपुण थीं। श्रीराधा अभी श्यामसुन्दरके दर्शन करना चाहती हैं, अत: वे उसी समय श्यामसुन्दरका एक सुन्दर चित्र अङ्कित करके उनके पास ले आयीं। श्रीराधाको उस चित्रमें श्यामसुन्दरका मधुर मनोहर नखसे शिखातक परम रमणीय रूप देखकर बड़ा ही सुख मिला, मानो मदन-मदका हरण करनेवाले मनमोहन परम कमनीय प्राणवल्लभ श्रीश्यामसुन्दर ही उन्हें मिल गये। वे हर्षविह्वल हो गयीं। फिर विस्मित-हृदयसे गम्भीर विचार करने लगीं—तीन काल तीनों लोकोंमें ऐसा दिव्य रस-सार रूप और कहीं है ही नहीं।

जिसके क्षुद्र एक कणको के
सुमनोंका सारा संसार।
सबको सुख दे रहा अमित, कर
रूप-माधुरीका विस्तार॥
जिसके कोटि अंशका लेकर
एक अंश शुचि नीलाकाश।
विश्व विमोहित करता विधुमुख
भरकर रूप-सुधामय हास॥
जिसकी एक बूँद-सुषमासे
प्रकृति-सुन्दरी कर शृंगार।
अगणित विश्व सजाती रहती
संतत विविध विचित्र प्रकार॥

अतल रूप-सागर जिसमें नित
उठती अतुल अनन्त तरंग।
है न्यौछावर जिसके एक एक
कणपर नित अमित अनंग॥

जिसके एक क्षुद्र-से कणको लेकर समस्त पुष्प-जगत् अपनी रूपमाधुरीका विस्तार करके सबको अपरिमित सुख दे रहा है, जिसके करोड़वें अंशका एक अंश लेकर पवित्र नील गगनमें चन्द्रमा अपने मुख-किरणोंमें रूप-सुधाकी मधुर हँसी भर समस्त विश्वको विमोहित कर रहा है और जिस सुषमा-समुद्रकी एक बूँद सुषमा लेकर प्रकृति-सुन्दरी अपना शृङ्गार करती है और असंख्य विश्व-ब्रह्माण्डोंको निरन्तर विविध विचित्र प्रकारोंसे सजाती रहती है। जो रूपसौन्दर्यका अतल समुद्र है और जिसमें अनन्त अतुलनीय सौन्दर्य-तरङ्गें उठती रहती हैं, जिसके एक-एक कणपर नित्य अपरिमित कामदेव न्योछावर हैं।

कैसे किया सुअंकित उसको
लघुतम पटपर सखिने आज?
कैसे एक एक अवयवपर
सजा सकी वह सुन्दर साज?॥
कैसे द्रवित न हृदय हो गया?
कैसे रहा धैर्यका बन्ध?
कैसे खसी न हस्ततूलिका
पाकर श्याम-रूप-संबन्ध?॥
कैसे क्षुद्र तूलिकामें वह
आया रूप-समुद्र महान?
मन अतीत नित बुद्धि अगोचर
कैसे उसे सकी सखि जान?॥

उस विशाल रूपराशिको छोटेसे पटपर सखी विशाखाने आज कैसे अंकित कर दिया? कैसे वह एक-एक अङ्ग-अवयवको सुन्दर शृङ्गार-द्रव्योंसे सजा सकी? उन अङ्गोंकी मोहिनीको देखकर कैसे उसका हृदय द्रवित नहीं हो गया और कैसे उसके धैर्यका बाँध सुरक्षित रहा—टूट न गया? श्याम-रूपका सम्बन्ध प्राप्त करके भी कैसे उसके हाथकी तूलिका खिसक न गयी? एवं कैसे मेरी वह सखी उस मनसे अतीत, बुद्धिसे अगोचर प्रियतम श्यामसुन्दरको जान सकी?

जाग उठी सुस्मृति, उर अन्तर
लगा दीखने रूप ललाम।
जो चिर अंकित था, अब प्रकटी
पूर्ण मिलन-इच्छा अभिराम॥
पर, न हो सकी पूर्ण सदिच्छा,
असित यन्त्रणा बढ़ी तुरंत।
बड़वानल अति विषम जल उठा,
उठी हृदयमें हूक दुरंत॥
हुआ युगों-सा एक एक पल
रहा न रंचक धैर्य-विवेक।
सूखा हृदय, अश्रु-दृग सूखे,
एकमात्र प्रिय दर्शन-टेक॥

यों विचार करते-करते ही श्रीराधाके हृदयमें पुरानी सुन्दर स्मृति जाग उठी। उन्हें अपने हृदयमें चिरकालसे अङ्कित श्याम-रूपके ललित दर्शन होने लगे। ऐसा होते ही अब पूर्ण मिलनकी मनोहर इच्छाका उदय हो गया। पर प्रत्यक्ष मिलनके अभावमें उस सदिच्छाकी जब पूर्ति नहीं हुई, तब उनकी हृदय-यन्त्रणा असीम रूपमें बढ़ गयी। हृदय-रस-समुद्रमें भयङ्कर अग्नि जल उठी, हृदयमें प्रचण्ड पीड़ा उठ खड़ी हुई। एक-एक पल युगोंके समान हो गया, तनिक भी धैर्य और विवेक नहीं रहा। हृदयकी आगने हृदयके तमाम रसको सुखा दिया। आँखोंके आँसू भी सूख गये। एकमात्र प्रियतम-के दर्शनकी टेक रह गयी।

सहसा प्रकट हो गये प्रियतम
अनुपम मधुर लिये मुसुकान।
चकित प्रहर्षित लगी देखने,
उमड़ा सुख-समुद्र निर्मान॥

इतनेहीमें अकस्मात् प्रियतम श्यामसुन्दर प्रकट हो गये। उनके मुखपर अनुपमेय मधुर मुसकान खेल रही थी। राधाजी आश्चर्यचकित हुई अत्यन्त हर्षके साथ उनकी ओर देखने लगी। अपरिमाण सुखका सागर उमड़ पड़ा!

समय बीतने दीजिये, आपके दुःख स्वयं दूर होंगे

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, विद्याभूषण, मानसशास्त्री, दर्शनकेसरी)

आज आप बेहद दुखी हैं और समझते हैं कि हमारा यह दुःख कभी कम न होगा। हमें सदा-सर्वदाके लिये तोड़-फोड़कर रख देगा।

विषम-से-विषम समस्या शायद आज ही आ गयी है। हम इसके साथ ही नष्ट हो जायँगे। संसार-सागरके थपेड़े हमें सदाके लिये चूर-चूर कर देंगे।

हमारे प्रिय बन्धु-बान्धवोंकी मृत्यु हो गयी है। हम आठ-आठ आँसू रो रहे हैं। हमें कल नहीं पड़ रही है। लोग रोकते हैं, पर हम मरनेको तुले बैठे हैं।

एक महाशयको व्यापारमें बड़ा नुकसान रहा है। वे दुःखसे व्याकुल होकर बड़े ही कारुणिक स्वरमें कह रहे हैं, 'हे ईश्वर! मुझे उठा ले। कैसी आत्म-सम्मानको चोट लगी है। मैं पापी हूँ, नीच हूँ जो मेरी दुर्दशाको भगवान् भी देखकर दया नहीं करता। अब कौन दिन होगा कि प्रभु मेरे नुकसानकी पूर्ति करेंगे। मुझे थोड़ा-सा चैन तो मिलेगा। अब क्या करूँ? इतना आवेश आ रहा है कि जीवनका अन्त कर दुःखोंसे छुटकारा पा लूँ। कर्जदारीने मुझे खा रक्खा है। हे प्रभु! मुझे अब न रुला। मेरे आँसू न देख प्रभु!'

एक सज्जन अपनी नौकरी छूटनेसे परेशान हैं। उनका न तो कोई निकट सम्बन्धी है, न मकान, जहाँ वे रहकर नौकरी ढूँढ़ सकें। होटलमें नौकर थे और वहीं रहते थे। नौकरीसे अलग हो भूखे चिन्तित हो रहे हैं। कहते हैं—'हे ईश्वर! अब क्या होगा। मुझे तथा मेरे बच्चोंको भोजन कहाँसे मिलेगा। मैं क्या करूँ? किससे अपने मनकी व्यथा कहूँ।'

सास-बहूकी तनातनी सभीको विदित है, पर दुःखके एक झटके-से भावुक बहू इतनी उद्विग्न हो उठती है कि जीवनका क्षणभरमें अन्त हो जाता है। पति-पत्नीकी, मालिक-नौकरकी और पूँजीपति-मजदूरोंकी खटपट चलती ही रहती है।

इस प्रकारके एक नहीं, सैकड़ों दुःख हैं। हम अपनी झमेलोंमें डूबे हैं और समझते हैं कि हमारे दुःखोंका अन्त नहीं होगा। हमारा सारा जीवन इसी प्रकार विपत्तियोंमें गुजरेगा।

दुःखसे छूटनेकी अचूक दवा

दुःखके कारणोंको जान लेना चाहिये—

तृष्णार्तिप्रभवं दुःखम्। (शा० प० २५। २२)

तृष्णाकी पीड़ा ही दुःखका भारी कारण है। तृष्णाको तुरंत त्याग दीजिये।

दुःखं चानिष्टसंवासः। (शा० प० १३९। ६४)

अर्थात् अप्रिय अर्थात् बुरे संगसे दुःख होता है। अतः सत्संग करना चाहिये। अच्छे व्यक्तियों तथा पवित्र विचारों, आशावादी विचारोंमें रमण करनेसे लाभ होता है।

अपध्वस्तस्त्ववमतो दुःखं जीवति जीवितम्।
(शा० प० १२३। २०)

अर्थात् तिरस्कृत और अपमानित जितने समय जीता है, दुखी ही जीता है। ऐसे बुरे कार्य (चोरी, निन्दा, हिंसा, मद्यपान, व्यभिचार, मांसभक्षण, रिश्वत) नहीं करने चाहिये कि व्यर्थ ही तिरस्कृत होना पड़े।

दुःखमिष्टवियोजनम्। (शा० प० १३९। ६४)

अर्थात् प्रियका अलग हो जाना दुःखका कारण होता है। हम सबको एक दूसरेसे कभी-न-कभी बिछुड़ना ही है। कोई देर कोई सबेर सभी विलग होनेवाले हैं। अतः इसमें कोई दुःख न मनाकर मनको संतुलित रखना चाहिये।

नास्ति रागसमं दुःखम्। (शा० प० १७५। ३५)

अर्थात् विषयोंमें आसक्ति, सांसारिक भोग-पदार्थोंमें आकर्षण दुःखका प्रधान कारण होता है। त्याग-सरीखा दूसरा कोई सुख नहीं है। अनासक्ति ही कल्याणका मूल कारण है।

प्रसृतैरिन्द्रियैर्दुःखी। (शा० प० २१०। १०)

अर्थात् इन्द्रियोंके क्षुद्र विषयोंमें फँसे रहनेसे मनुष्य दुखी रहता है। इन्द्रियोंके आकर्षणसे बचना; अपने विकारों-

को संयमद्वारा वशमें रखना, अपनी आवश्यकताओंको कम करना दुःखसे बचनेका उपाय है।

सुखं दुःखान्तमालस्यम्। (शा० प० १७३ । ४०)

अर्थात् आलस्य करते हुए बाहरसे सुख मिलता हुआ तो दीखता है, पर वह अन्तमें हमेशा दुःखका ही कारण बनता है। इसलिये सदैव कर्मरत रहना चाहिये। अपनी पारिवारिक, सामाजिक और नैतिक जिम्मेदारियोंको आलस्य त्यागकर पूर्ण करते रहना चाहिये।

भैषज्यमेतद् दुःखस्य यदेतन्नानुचिन्तयेत्।
(शा० प० २०३ । २)

अर्थात् दुःखकी यही अचूक दवा है कि मनुष्य दुःखका कदापि चिन्तन न करे अर्थात् दुःखमें व्याकुल-विह्वल न हो। उसे धैर्यपूर्वक दूर करनेका प्रयत्न करे।

दुःखान्तप्रभवं सुखम्। (शा० प० २५ । २५)

स्मरण रखिये, दुःखके बाद सुख आया ही करते हैं। ऐसा कभी नहीं हुआ कि कोई आदमी या परिवार सदा दुखी-ही-दुखी रहे। धैर्य धारण कीजिये! सब्र कीजिये आपके दुःख स्वयं दूर होनेवाले हैं। इसलिये—

सुखं वा यदि वा दुःखं प्रियं वा यदि वाप्रियम्।
प्राप्तं प्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजितः॥
—व्यास

अर्थात् सुख हो या दुःख हो, प्रिय हो या अप्रिय हो, जब-जब आये, तब-तब अपराजित हृदयसे ही उसका सामना करना चाहिये। समयके बीतनेके साथ खुद ही दुःख कम होते जाते हैं।

समयका ओषधिरूप

आजके युगमें नाना प्रकारकी ओषधियोंका आविष्कार हो रहा है। डाक्टर लोग नित नये-नये इन्जेक्शनों और दवाइयोंके प्रयोगोंसे लोगोंको भला-चंगा स्वस्थ कर रहे हैं। बड़े-बड़े डाक्टर दवाइयोंके निर्माणमें रात-दिन प्रयोगशालाओंमें लगे हुए हैं। शहरोंमें दवाइयोंके स्टोरोंकी भरमार है। डाक्टर, हकीम और वैद्योंकी आमदनी दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही है।

किंतु एक ओषधि ऐसी है, जो पुराने युगसे आजतक वैसी ही अचूक और चमत्कारिणी बनी हुई है।

हम उस ओषधिको जानते नहीं किंतु प्रयोग अवश्य करते हैं और लाभ उठाते हैं। यदि ईश्वरकी दी हुई यह दवा न होती, तो मनुष्यका जीवन दूभर हो जाता और वह क्रोध, द्वेष, आवेश या विक्षोभके मानसिक आघातके एक झटकेमें ही मर जाता। उस ओषधिका नाम सुनकर आप आश्चर्य करेंगे।

यह है—'समय'।

समय और सो भी एक ओषधि! आप आश्चर्यमें डूबे हुए हैं। पर बात ठीक है। समय एक प्रवाह है। एक शान्तिदायक विस्मृतिमूलक निर्झर है।

समयकी गति तीव्र है। इसकी गतिसे मनुष्यके बड़े-बड़े दुःख, क्षोभ, चिन्ताएँ स्वतः दूर होती हैं। बड़े-बड़े घाव भरते हैं। ज्यों-ज्यों शोकादि, दुःख, मृत्युके क्लेश अधिक दिन बीतनेपर पुराने होते जाते हैं, त्यों-त्यों मन और शरीरपर उनका प्रभाव कम होता जाता है और कालान्तरमें एक समय ऐसा आता है, जब वे कटु दर्दनाक बातें, वे भयावह घटनाएँ, बड़ी-बड़ी मौतें, मानहानि, घबरा देनेवाली स्मृतियाँ, कुटुम्बोंमें रहनेवाले द्वेष, विरोधियोंमें चलनेवाले संघर्ष बिल्कुल भुला दिये जाते हैं।

समयके चक्रके गुजरनेके साथ बड़ी-बड़ी खाइयाँ पट जाती हैं। वक्त कटनेके साथ कुटुम्बोंमें रहनेवाली कटुताएँ दूर हो जाती हैं। समयका प्रवाह शान्तिदायक है। मृदु मरहम जैसा है। झगड़ोंके अन्धकारपर इन्द्रधनुषी रंग छिटक जाते हैं।

समय बीतनेपर मनके स्मृतिपटलपर बने कटुता, द्वेष, तनाव और खण्डित अहंके स्थानपर फिर नयी दूब उग उठती है। आशाकी तितली चमकने लगती है। हम जिस दुर्घटना या मृत्युको असह्य और घातक समझते हैं, वही न जाने विस्मृतिके गर्भके कहाँ, किस कोनेमें विलीन हो जाती है।

समयके प्रवाहसे मनका क्लेश कम होता है, उद्वेग और चित्तकी चञ्चलता दूर हो जाती है। बड़ी-बड़ी कुण्ठाएँ अदृश्य हो जाती हैं और जीवनके नये-नये अनुभवोंको सम्हालनेके योग्य आत्मशक्ति आ जाती है।

आवेश एक प्रकारके तूफान हैं

क्रोध और क्षोभ एक प्रकारके तूफान हैं। ये हमारे जीवनमें बड़े झोंकोंके रूपमें आते हैं। उस समय मानसिक

क्षोभका आघात इतना अधिक होता है कि यदि समय न बीते, तो आदमी आत्महत्या ही कर डाले, दूसरेका वध कर दे, आँखें फोड़ डाले, नाक काट ले या किसीको पंगु ही कर दे।

लेकिन यदि कोई व्यक्ति तनिक ठहर जाय और कुछ समय गुजर जाने दे, तो उसमें उस संकटको झेलनेकी गुत आत्मशक्ति आ जाती है। समय बीतनेसे मानसिक संतुलन ठीक होने लगता है। जैसे-जैसे समय आगे बढ़ता है, मानसिक संतुलन ठीक होता जाता है। कुछ दिनों बाद उसमें मानसिक आघात सम्हालनेकी पूरी ताकत आ जाती है।

समय एक स्वच्छ प्रवाह है। बहता हुआ पानी स्वास्थ्यका सूचक है। जैसे नदीकी धारा लगातार बहती रहती है और आसपासकी भूमि तथा जलके ऊपरी भागकी गंदगीकी सफाई करती रहती है, इसी प्रकार समयकी धारा मनुष्यके मनको स्वास्थ्य और संतुलन प्रदान देती रहती है। गँदला पानी दूर होकर फिर स्वच्छता आ जाती है, जलमें चाँदी-जैसी धवलता एक बार फिर दिखायी देने लगती है।

समयकी निरन्तर गतिको देखकर ठीक ही कहा है—

सदा न बागी बुलबुल बोले,
सदा न बाग बहारैं।
सदा न राजे राज करिन्दे,
सदा न महफिल यारैं॥

याद रखिये, बागमें सदा बुलबुल नहीं बोलती। दुःख और कष्टोंके दिन भी आते हैं, पतझड़ भी आता है। मौसम निरन्तर बदलता है। खुश्कीके बाद हरियाली आती है। के साथ चारों ओर हरियाली छा जाती है। बागकी बहार सदा एक-सी नहीं रहती। कभी बहार यौवनपर होती है, तो कभी पतझार भी आता है। बड़े-से-बड़े राजाओंके राजतक एक-से नहीं रहते, बदलते रहते हैं। मित्रोंकी महफिलें भी सदा स्थिर नहीं रहतीं। समयकी गति निरन्तर अविच्छिन्न है। सतत परिवर्तन ही इस जगत् और जीवनका नियम है।

याद रखिये, समय एक ओषधिरूप है। बड़े-बड़े घाव समयकी गतिसे भर जाते हैं।

आपको याद है जब भगवान् श्रीरामचन्द्रजी अयोध्याको छोड़ अपनी धर्मपत्नी और भाई श्रीलक्ष्मणके साथ वन जा रहे थे, तब उनकी माताएँ कारुणिक विलाप कर रही थीं। राजा दशरथका बुरा हाल था। वे सोच रहे थे, श्रीरामके बिना जीवन कैसे चलेगा? सब प्रजाजन श्रीरामसे बहुत प्रेम करते थे।

धीरे-धीरे उनके वनगमनका समय समीप आया। वल्कल-वस्त्र धारणकर वे वनकी ओर चले। वियोगके मानसिक आघातसे राजा दशरथ पछाड़ें खाकर गिर पड़े। चारों दिशाएँ विरह-वेदनासे विह्वल चीत्कार कर उठीं।

माताएँ रोने लगीं। अयोध्याके प्रजाजन भी पागल-से प्रभुके साथ-साथ चलने लगे। भक्ति, प्रेम और करुणासे सने वे बहुत दूरतक इसी प्रकार चलते गये। नगर खाली हो गया। अन्तमें बड़ी कठिनतासे वे लौटकर आये। सबपर वियोगका आघात बड़ा गहरा था।

किंतु समय बड़ी ओषधि है। धीरे-धीरे समय बीता, कार्य फिर चलने लगे। दिन, सप्ताह, महीने और वर्ष बीतने लगे। समयकी गतिने घाव भर दिये। दशरथ तो वियोगमें चल बसे, पर माताएँ मानसिक आघातको सहन कर गयीं। वे चौदह वर्षोंतक जीवित रामके आगमनकी प्रतीक्षा करती रहीं। समयकी गतिने सबके घाव भर दिये।

इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण जब गोकुलसे मथुरा गये, तब गोपियाँ विरहमें व्याकुल हो उठीं। उनके मानसिक कष्टोंका क्या ठिकाना था। गोपियोंके विरहका वर्णन करनेमें महाकवि सूरकी स्याही आजतक नहीं सूखी है। वह अश्रुधारा आज भी ज्यों-की-त्यों बह रही है।

लेकिन कालके प्रवाहमें वह दुःख बह गया। समय चला जाता है। यह किसीके लिये नहीं रुकता। रुकना उसका स्वभाव नहीं है। अच्छा हो, या बुरा, समयकी सरिता अविराम, अविच्छिन्न चलती ही जाती है। यह लाभदायक भी है। यदि समयके साथ हम कष्टों, दुःखों, व्यापारिक हानियोंको न भूलें, तो आधी दुनिया मानसिक आघातसे नष्ट हो जाय।

अथर्ववेदकी इस सूक्तिमें मनको शान्त और हृदयको सान्त्वना देनेकी बड़ी शक्ति भरी हुई है—

मा गतानामा दीधीथाः। (८।१।८)

अर्थात् गुजरे हुओंके लिये कदापि दुःख-शोक मत करो। इस संसारकी सब वस्तुएँ समयके मुखमें हैं। जो अवश्यम्भावी है, जिसे तुम नहीं रोक सकते, उसके लिये भला रोना क्या?

ईश्वरकी दी हुई सबसे मूल्यवान् शक्ति यह है

ईश्वरने मनुष्यको दुःखोंसे छुटकारेके लिये जो शक्तियाँ दी हैं, उनमेंसे कष्टोंको भूलनेकी शक्ति बड़ी मूल्यवान् है। समय बीतनेपर दुःख स्वयं ही दूर हो जाते हैं। मनका क्लेश वक्त बीतनेपर खुद हलका होने लगता है।

एक समय होता है। विशेषतः बचपन और यौवनमें। जब यह जो करता है कि जो कुछ एक बार पढ़ लिया जाय, या सीख लिया जाय, सुन लिया जाय, वह हमेशा याद रहे। हमारी स्मरणशक्ति कभी कम न हो।

पर जैसे-जैसे अवस्था बढ़ती है और कटु प्रसंग आते हैं, तो यह अनुभव होता जाता है कि विस्मरणशक्ति अर्थात् भूलनेकी शक्ति स्मरणशक्तिसे अधिक मूल्यवान् है। यदि सभी कटु, दर्दनाक, मृत्यु या हानिकी बातें मनुष्यको याद रह जायँ, तो उसका मस्तिष्क कूड़े, करकट, काँटों और झाड़-झंखाड़से भर जायगा। मनुष्यके जीवनमें नित्य ही ऐसी बातें गुजरती हैं, जिनसे हृदयको बड़ा आघात पहुँचता है। उनमेंसे थोड़ी-सी भी बातें अगर हमेशा याद आती रहें, तो उसका समस्त भावी जीवन शूलमय, कण्टकपूर्ण और वेदनामय हो जाय।

इसलिये जब निकट सम्पर्कमें रहनेवाले सगे-सम्बन्धी मित्र स्वर्गवासी हो जायँ, तो धीरे-धीरे उनकी याद भी भूल जाना जरूरी है। उन्हें भूलकर ही मनुष्य सुखी और स्वस्थ जीवन बिता सकता है। ईश्वरकी यह बड़ी भारी देन है।

मनको शीतल होने दीजिये

यदि आप किसी आकस्मिक दुर्घटना, मृत्यु, शोक, हानि, चिन्ता, कलह या और किसी भयंकर कष्टसे पीड़ित हैं, तो जल्दी आवेशमें कोई काम मत कर बैठिये। मनको शान्त, शीतल और संतुलित होने दीजिये। ठंडे मनसे विचार करनेपर बुद्धि निर्विकार हो जाती है। आवेश, चिन्ता और उद्वेग मस्तिष्कको पंगु कर देनेवाले विकार हैं।

कानूनमें फैसला तुरंत ही नहीं हो जाता, वरं सबूत इकट्ठा करनेमें महीनों और वर्षों लग जाते हैं। दोनों पक्ष समयकी रफ्तारसे ठंडे पड़ जाते हैं। समयकी इस गतिसे आवेशमें होनेवाले बहुत-से झगड़े-टंटे स्वतः शान्त हो जाते हैं। लड़ने-झगड़नेवाले दोनों पक्ष अपनी भूलका अनुभव कर लेते हैं और अनेक बार तो समझौता स्वतः हो जाता है। कोई महत्त्वपूर्ण निर्णय करनेसे पूर्व कुछ समय अवश्य व्यतीत हो जाने दीजिये। ऐसा करनेसे आवेशका तूफान बुद्धि और निर्णयशक्तिको मन्द नहीं होने देगा।

आप निराश कदापि न हों

आपके जीवनमें ऐसे-ऐसे संकट आयेंगे कि ऐसा प्रतीत होगा मानो अन्त निकट आ गया है, बचनेका कोई मार्ग ही नहीं है। चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार दिखायी देगा। प्रकाशकी एक क्षीण रेखातक नजर न आयेगी।

फिर भी आप निराश न हों। हिम्मत न हारें। समय बीतने दें। बस, कुछ दिन ठहर जायँ। विस्मरण वह मृदु मरहम है, जो आपके जख्मोंपर दवाका काम देगा और आपको पूर्ण स्वस्थ कर देगा। समय बीतनेपर आप अपने कष्टों और विपत्तियोंको खुद ही भूल जायँगे।

समय सर्वोपरि है। वह हमें वे शक्तियाँ देता है, जिनसे हमारे मनका भार हलका हो जाता है। अंदरके दुर्भाव खुद दूर हो जाते हैं।

फारसके एक राजाने अपनी अंगूठीपर ये शब्द खुदवाये थे—

'यह स्थिति भी नहीं रहेगी।'

अर्थात् अच्छी स्थिति आयेगी। समय सदा एक-सा नहीं रहता। गति ही जीवनका लक्षण है। हम न किसी विषम स्थितिसे चिन्तित हों, न तनिक-से लाभसे फूल उठें। अच्छी या बुरी जैसी स्थिति हो हम धैर्यसे समयको बीतने दें। समय आयेगा जब हमारी विषम-से-विषम स्थिति अच्छाईमें बदलेगी।

मुक्ति जो बन्धन बने, उस मुक्तिको ले क्या करूँगा ?

प्राचीन बनाम आधुनिक नारी

(लेखक—श्रीरामनाथजी 'सुमन')

राजनीति एवं समाज-सुधारके क्षेत्रमें कभी मैंने कुछ काम किया था, इसलिये बहुत-से कृपालु मित्र जब-तब मुझसे कहते और लिखते रहते हैं कि तुम्हारा वह यौवनोन्मेष आज कहाँ गया है; तुम्हारी वाणी अब क्रान्तिके गान नहीं गाती; अब तुम नारीको मुक्तिका संदेश नहीं देते, दकियानूसी ढंगकी बातें करते हो। यह तुम्हें हो क्या गया है ?

मैंने बहुत विचार किया है, एकान्तमें शान्त चित्तसे विचार किया है किंतु मैं निर्णय नहीं कर पाया कि 'कुछ हो' उन्हें गया है या मुझे। क्रान्तिके गान तो मैं आज भी गाता हूँ नारीको मुक्तिका संदेश भी देता हूँ किंतु पहले जहाँ वह क्रान्ति रूपगत थी, अब आत्मगत, अन्तर्गत हो गयी है और मुक्ति जो केवल शरीर-स्वच्छन्दताकी मुक्ति थी, अब सात्त्विक मुक्ति हो गयी है;—एक मायाविनी, ऐन्द्रजालिक, मोहकारिणी, कृत्रिम, **'विषकुंभं पयोमुखं'**, ऊपरसे आकर्षण-मयी परंतु अंदरसे सड़ी और घिनौनी सभ्यताके मायाजालसे मुक्ति; अन्तरका शोधन करनेवाली और भीतरसे भी सुन्दर बनानेवाली मुक्ति।

नारीको मैं समस्त मानव-सभ्यताकी कुंजी मानता हूँ; वही है उसकी प्रेरक शक्ति; वही है उसकी संस्थिति एवं विकासकारिणी देवी। भारतके लिये तो यह और भी सत्य है, क्योंकि समस्त भारतीय संस्कृति मातृबोधकी संस्कृति है। मातृत्वसे ही हमने अपने समस्त संस्कार ग्रहण किये हैं—उसमें देवताके आविर्भावका संस्कार, समर्पणका संस्कार, त्याग दानका संस्कार। इसीलिये मुझे अपनी बहिनों एवं भाइयोंका इतना लाड़ है। मैं उन्हें गौरवके स्तम्भसे गिरते देख रो देता हूँ। भाईको गिरते देख क्रोध आता है; बहिन-को गिरते देख रोना आता है। यह मेरी विवशता है।

शुरूसे मैं कहता रहा हूँ कि नारीके पाँवकी बेड़ियाँ काट दो, उन्हें अपनेमें विकसित होने दो; अपनेमें जगने दो। परंतु आज मेरा स्वर भीड़से कुछ अलग पड़ गया है। मैं देखता हूँ कि आज जो लोग आधुनिकताके नामपर नारीकी मुक्तिका गान गाते हैं वे सबसे ज्यादा नारीसे चिपटकर उसका बोझ बढ़ाये हुए हैं और उसे चलने नहीं देते। वे उसकी स्वाभाविक मुक्ति नहीं चाहते, उसे अपने मार्गपर चलानेमात्रके लिये स्वतन्त्रता चाहते हैं। और मैं देखता हूँ कि जो नारी पुरुषकी परतन्त्रतासे मुक्त होनेका जितना ही बड़ा नारा लगाती है, वह उनके चंगुलमें उतनी ही फँसी हुई है, वह उतनी ही विवश है—यह अलग बात है कि 'क'से मुक्ति पाकर 'ख' के बन्धनमें जा पड़ी हो। शिक्षित समाजमें यह स्थिति विशेष है। आधुनिक नारी अधिक शरीरधर्मी होनेके कारण शरीर-सुखकी अधिक सुविधाओंके लोभमें अपनेको अधिकाधिक शृङ्गारप्रिय, अधिकाधिक आकर्षक, पुरुषके लिये मोहिनी बननेकी चेष्टाके कारण उसके प्रशंसा-वाक्योंकी भूखी, उसकी कृपादृष्टिकी प्यासी, उसके आलम्बन-के लिये कहीं अधिक आतुर और फलतः दिन-दिन उसकी अधिक दासी होती जाती है।

हमने उसे उस पुरातन दाम्पत्यसे बाहर निकालनेका बीड़ा उठाया, जिसमें वह अपने परिवारकी समृद्धिमें अपनेको खो देती थी; अपने पति, संतति, सास-ससुर तथा अन्य स्वजनोंकी सेवामें उसका समय जाता था और एक छोटा-सा समाजवादी समाज उसके आँचल-तले पनप उठता था—वह जो एक-दूसरेके लिये दृढ़ ममत्वके बन्धनमें बँधा था; वह नारी जो सास-ससुर, पति, संततिको पहले खिलाकर खाती थी, उनकी प्रसन्नतासे प्रसन्न होती थी। वह नारी जो कुछ दे सकती थी—दूसरोंको भी, अपनेको भी—वह अपनेको देकर, अपनेको खोकर दूसरोंको जिलाती हुई चलनेवाली नारी! क्या वह दीन-हीन थी ? वह जो जितना ही देती है उतना ही मानो पाती है, उतनी अंदरसे प्रफुल्ल, विकसित, होती है;—वह जो सबमें समाकर भी अपनी है; जिसका अपना गढ़न है, अपना निर्माण है—निर्माण वह जो नकल नहीं है; क्योंकि आत्मविसर्जन नकल केवल चल नहीं सकता।

आश्चर्य होता है जब आजकी आत्यन्तिक व्यक्तिनिष्ठाको लेकर चलनेवाले लोग समाजवादी होनेकी बात करते हैं। जहाँ केवल अपना सुख, अपना ही विकास मुख्य है; जो एक छोटे परिवारके लिये अपना कुछ देनेको तैयार नहीं,

जो पाँच-दस आदमियोंके समाजमें अपना संतुलन एवं सामञ्जस्य नहीं स्थापित कर पाती है, वह एक बृहत्तर समाजकी सेवामें अपनेको कैसे संतुलित कर सकती है ? आजकी शिक्षा एक ओर अत्यन्त व्यक्तिधर्मी प्राणियोंकी सृष्टि करती चली जा रही है, जब सामाजिक प्रेरणाएँ मनुष्यके समाजधर्मी होनेकी बात करती हैं। व्यक्ति एवं समाजके इसी अन्तर्विरोधके विषदंशसे आजका सार्वजनिक जीवन असफल, विकृत, मूर्छित है।

परिवार इसी व्यक्ति एवं समाजकी मिलनस्थली थी। वह प्रायोगिक समाजवादकी एक अत्यन्त प्राकृतिक शिक्षणशाला, प्रयोगशाला थी, जहाँ व्यक्ति व्यक्ति होकर भी दूसरोंमें समाहित था और समाज समाज होकर भी व्यक्तिकी स्वतन्त्र चेतनाके विकासमें बाधक न था। आधुनिक सभ्यताका अभिशाप समस्त विश्वमें यही है कि उसने प्राकृतिक समाजतत्त्वकी इस 'नर्सरी'—परिवारको विच्छिन्न कर दिया है। इसीलिये बातें वह चाहे जितनी बड़ी करे; किंतु उसका स्वप्न भङ्ग होता जा रहा है; जीवनके प्रत्येक खण्डमें अन्तर्विरोध, कराह, आह और असंतोष बढ़ता जा रहा है। आज मनुष्य मशीन न होकर भी जो मशीन बननेको विवश होता जा रहा है, उसीमें है मानवताका वास्तविक संकट।

तब जिस पुरातन दाम्पत्यकी शृङ्खलासे नारीको मुक्त करनेका दम्भ लेकर हमने समाज-सुधारका नारा लगाया था, देखता हूँ उसमें फिर भी कुछ था,—कुछ सत्त्व था, कुछ ओज था। माना, कन्या संकुचित लक्ष्य लेकर एक गृहके आँगनमें प्रवेश करती थी; किंतु उसके हृदय-मकरन्दसे वह घर तो मधुमय हो उठता था। वह प्राणोंमें आत्मदानकी एक परम्परा, एक स्वप्न लिये आती थी। तमसाच्छन्न गृहमें स्नेह और आस्थाका वह दीप जलानेवाली नारी आज कहाँ है ? बाहरी वायुके झकोरोंको घुड़ककर अपने आँचलसे गृहके प्रकाशको न बुझने देनेवाली वह नारी आज कहाँ है ? सास-ससुर, देवरों, भौजाइयों एवं ननदोंको अपने स्पर्शसे जगा देनेवाली वह नारी आज कहाँ है ? माना, वह उतनी पढ़ी न थी; माना, वह पुरातन-पंथी थी किंतु एक पंथ तो उसका था, जब आज तो कोई भी पंथ हमारे जीवनमें नहीं है। वह पुरातन नारी अपने भरण-पोषणपर जितना व्यय कराती थी उससे अधिक अपने श्रमसे परिवारको लौटा देती थी। आजकी एक शिक्षिता आधुनिका वह है जिसके 'मेकअप' एवं परम व्यक्तिधर्मी प्रेरणाओंको कायम रखनेके लिये कुटुम्बका कर्त्ताके द्वारा हर तरहके उचित-अनुचित काम किये जानेपर भी 'पूछा' नहीं पड़ता। व्यय ही इस नारीके आभिजात्यका मानदण्ड है।

तो क्या पहलेकी गृहिणी खर्च नहीं करती थी ? करती थी किंतु उसका अधिकांश पहले तो सारे परिवारपर होता था; फिर तीर्थयात्रा, सत्सङ्ग, व्रत-पूजा, उत्सवपर होता था। धनका वितरण दूरतक होता था; विश्वासके साथ होता था। वह लड़कियोंको देती थी, बहुओंको देती थी, पुत्रोंको देती थी, पुरोहित-साधु-संतोंको देती थी, दीन-दुखियों, भिखारियों-अनाथोंको देती थी। और बड़ी होती तो मन्दिर, कुँओं, धर्मशालाओं, पौसलों, घाटों, क्षेत्रोंके निर्माणके लिये देती थी;—सैकड़ों उसके वैभवमें सम्मिलित होते थे। इसके अतिरिक्त परिवारपर कष्ट पड़नेपर जो कुछ उसके पास होता था, वह भी निकालकर सामने रख देती थी। आज भी देती है—पर आज वह सिनेमामें देती है, क्लबमें देती है, फैंसी ड्रेस बालमें देती है, 'ब्यूटीकल्चर', फैशन एवं प्रसाधन-सामग्रीकी दुकानोंमें देती है, और सब देकर भी हाथसे घरका काम-काज करना पिछड़ापन या दुर्भाग्य समझती है! माना, बहुतोंको करना पड़ता है किंतु वह स्वभाववश, धर्म समझकर प्रसन्नतासे नहीं, खीझके साथ, अभावका रोना रोते-रोते, करती है।

मेरी आँखोंके सामने नाच-नाच जाता है बम्बईका एक अत्यन्त सम्पन्न मारवाड़ी परिवार, जिसमें मैं अपनी पत्नीके साथ ठहरा हुआ हूँ। समुद्रकी उत्तुङ्ग तरङ्गें उनके घरसे टकरा-टकरा जाती हैं। नौकर-चाकर हैं, मोटरगाड़ी है, किंतु गृहिणी ५ बजे प्रातः नहा-धोकर चौकेमें महाराजके काममें सहायता करती, हमारे लिये जलपान बनानेमें लगी है। मैं घूमकर आता हूँ तो उनको इतने सुबह व्यस्त देखकर आश्चर्यसे खड़ा रह जाता हूँ। वह पूजा भी कर चुकी हैं। उनके मुखपर ओज है, जीवन मानो खेल रहा है, कर्त्तव्यको ऊर्जस्वित करता। सुना, कुछ-न-कुछ वह प्रतिदिन अपने हाथसे बनाती हैं, और बराबर रसोइयेको बताती, उसे सहायता करती, काम लेती रहती हैं। भोजनके समय मैंने उनसे साथ बैठनेको कहा—तो बोलीं—'आप हमारे अतिथि हैं, देवता हैं न ? पहले आपको खिलाकर तब खाऊँगी।' मेरी आँखोंमें आँसू आ गये। मनने कहा—'यह है भारतकी देवी।'

और तभी याद आ जाता है, अपने बचपनके एक मित्रका, जो अब भारत-सरकारके एक बड़े अधिकारी हैं। बहुत वर्षों बाद

एक शहरमें सहसा भेंट हो गयी। जबर्दस्ती हमें अपने यहाँ ले गये। मनमें शायद अपनी पत्नीको दिखानेका लोभ था—यह अहंकार भी कि देखो, हमें स्वर्गकी मेनका मिल गयी है। दूसरे दिन सुबह जरा देरसे घूमकर लौटा तो नौकरने बताया कि 'साहब तो बीबीजीके साथ सिनेमा गये हैं और वहीं किसी होटलमें खाकर लौटेंगे, आप जो कहें आपके लिये बना दूँ।' शामको मालूम हुआ कि दोनों क्लब गये हैं, रातको देरसे आयेंगे—ऐसा अक्सर ही होता है। एक क्षण वहाँ रहनेका मन न हुआ किंतु विवशता थी; तीन दिन रहा किंतु एक दिन भी आधुनिका कमलिनीका सुवास हमें न मिला। एक दिन मुश्किलसे 'चाय' के समय वह दिखायी पड़ीं और नौकरको दो-चार सुनाकर फिर गायब हो गयीं। मेरे मनने कहा—'हे भगवान्! यह भी क्या घर है ?'

पत्नीके लिये हमारे यहाँ सहधर्मिणी, अर्द्धांगिनी, कामिनी, प्रमदा इत्यादि अनेक शब्द हैं। पुरानी नारी भी कामिनी थी, प्रमदा थी; किंतु वह सहधर्मिणी भी थी, अर्द्धांगिनी भी थी। आधुनिका सहधर्मिणी नहीं है, अर्द्धांगिनी नहीं है; क्योंकि वह पतिसे भिन्नमनस्का है; उसके अपने विचार हैं, अपना व्यक्तित्व है—यही नहीं, यह धर्मभेद, मतभेद ही उसका गौरव है, इसीपर उसे अभिमान है। अभिजात वर्गकी आधुनिकाको घरके काम पसंद नहीं; घर उसके लिये कैदखाना है, भोजन संकट—ड्रेजरी है। पतिकी आयके सहारे घरको नौकर सँभालते हैं। उसमें उसका तन नहीं, मन नहीं, तन हो भी तो मन नहीं। पति किसी कार्यालयमें या व्यवसाय-प्रतिष्ठानमें काम करते हैं, इसलिये उनके काममें तो वह शरीक हो ही नहीं सकती। अब देखिये: पतिके जिस कार्यकी आयसे उसका घर चल रहा है उसमें वह शरीक नहीं, घर चलानेमें भी उसकी देन प्रायः नहीं-सी है; किंतु व्ययमें वह न केवल शरीक है, बल्कि इस विषयमें वही 'सीनियर पार्टनर' है—व्यय मुख्यतः उसीको लेकर है। अब सहधर्म क्या है ? व्यक्तित्वमें स्वतन्त्र, मानस-जगत्में विच्छिन्न आजके उच्चवर्गीय आधुनिक शिक्षित दाम्पत्यमें पति-पत्नीका सम्बन्ध क्या है ? दोनोंको जोड़नेवाली चीज क्या है ? क्या शरीर-सुखमात्र नहीं ? और इन्हींका कहना है कि पुरानी स्त्री क्या थी, एक बिकी हुई पुरुषके मनोरंजनकी गुड़िया !

हस्तश्रम, शरीरश्रमसे पलायन वह कोढ़ है जिसमें गल-गलकर बिखर जानेके लिये आजकी सभ्यता उसमें हमें तेजीसे ढकेल रही है। इसकी जगह निम्नवर्गको देखिये जो अपने पेशोंको अपनाये हुए हैं। मजदूरोंको देखिये, किसानोंको देखिये, पतिकी आयके साधनके जितने भी पेशे हैं, ये स्त्रियाँ किसी-न-किसी रूपसे उनमें भाग लेती हैं। नाई, लुहार, कुम्हार, धोबी, दर्जी, ग्वाला, मुराई, जुलाहा, किसान, कुनबी—मतलब जितनी भी दस्तकारियाँ या श्रमसाध्य पेशे हैं, उनमें पतिके काममें बराबर पत्नी गृहकार्योंको पूरा करनेके बाद भी सम्मिलित है। वह बँगलोंमें रहनेवाली और नारी-उद्धारका नारा बुलंद करनेवाली स्त्रियोंसे अधिक आत्मनिर्भर है; क्योंकि गृहकार्यके अलावा भी वह पतिके जीवनधर्ममें बराबर भाग लेती है।

मैं मानता हूँ कि काल स्वयं एक धर्म है। समयके अनुसार न बदलनेवाली जातियाँ नष्ट हो जाती हैं, इसलिये मैं नारीकी पूर्ण मुक्तिका समर्थक हूँ। क्या है उसकी मुक्ति ? यही कि प्रकृतिने उसको जो सौख्य, जो ममत्व, जो संस्कार, जो शक्ति, जो नारीत्व दिया है उसका अर्थ वह समझे और पुरुषका पदानुसरण न करके अपनी महिमाको देखे, अपने स्वरूपको पहचाने।

पाश्चात्य विचारक रूसोने एक जगह लिखा है कि 'स्त्री पुरुषको जो बनाती है वही वह बनता है।' आज स्त्री अपना यह कार्य भूल गयी है। इसीलिये हम गिर रहे हैं। जिस दिन हमारे गृहके निर्जन कक्ष मातृत्वके गर्भपूर्ण स्नेहाञ्चलके नीचे सुरक्षित दीपक-से जल उठेंगे, उसी दिन हम आदमी होंगे; जिस दिन वह कह देगी कि मेरा पति कायर न होगा या मेरा बेटा मेरे दूधको न लजायेगा, उसी दिन हमारे पौरुषके हुंकारसे पृथिवी काँप उठेगी। जिस दिन वह अन्तर्मधु ओठोंमें लिये मुस्करायेगी, उसी दिन हमारे निरानन्द कक्ष, जहाँ आज केवल कृत्रिम प्रेमका अभिनय होता है, सच्ची प्रेमल ज्योतिसे जगमग हो उठेंगे। कवि ! यदि तुम सचमुच नारीकी मुक्तिका गान गाते हो तो उसमें इस मातृत्व-बोधको जगा दो; सुधारक ! यदि तुम उसकी शृङ्खलाओंको सचमुच काटना चाहते हो तो उसे अपने नहीं, उसीके पैरों चलने दो; तुम अपनी बात मत कहो, उसीको बोलने दो; उसे आत्मदर्शन करने दो।

इतने राजनीतिक वाद हैं; इतने आन्दोलन हैं; इतनी सभाएँ—संस्थाएँ हैं; इतना उपदेश—उद्बोध है; इतनी योजनाएँ हैं, फिर भी तन मूर्च्छित है, मन मूर्च्छित है, उल्लास सो गया

है और हृदय तो मानो है ही नहीं। ऐसा ही होगा, ऐसा ही रहेगा। जबतक कि हमारे गृहोंमें दाम्पत्यकी अभिन्नताका शंख नहीं बजेगा; जबतक हमारे गृह मातृपूजासे अभिनन्दित न होंगे; जबतक नारीमें, कामिनीमें माँ नहीं बोलेगी—आत्मदानमयी माँ, सर्वस्वार्पणकारी माँ, महिमामयी माँ, आत्मशक्तिसे जीती माँ।

इतना ही मैं कहता रहा हूँ; इतना ही फिर आज कह रहा हूँ। मुक्ति जो बन्धन बने, उस मुक्तिको ले क्या करूँगा।

पुनर्जन्म

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

डा० ह्यूम वॉन एरिच जीवाणु-वैज्ञानिक हैं मुख्य रूपसे। वैसे आज विज्ञानकी अनेक शाखाएँ परस्पर उलझ गयी हैं। रसायन-विज्ञान और परमाणु-विज्ञानके बिना आज जीवाणु-विज्ञानमें प्रगति नहीं की जा सकती। स्वभावतः डा० एरिचने इन विज्ञानकी शाखाओंमें भी अच्छा अध्ययन किया है। उनका प्रयोग चल रहा है और उन्हें लगता है कि मनुष्यमें आनुवंशिकता अङ्कित करनेवाली जो प्रकृतिकी लिपि है, उसमें परिवर्तन करनेकी कुंजी सैद्धान्तिक रूपमें उनके हाथ आ गयी है।

किंतु डा० एरिच अपनी शोधमें आगे बढ़ें, इससे पहले उनके सम्मुख एक नवीन समस्या आ खड़ी हुई है। उनका पाँच वर्षका पुत्र कल शामको सहसा एक विचित्र भाषा बोलने लगा। कठिनाईसे डा० एरिचको पता लगा कि वह शुद्ध संस्कृत बोल रहा है। यह भी पता इसलिये लगा कि डाक्टरका सहकारी किसी कामसे उनके पास घरपर आया था और वह संस्कृत जानता—समझता तो नहीं; किंतु इतना समझ सकता है कि यह संस्कृत-भाषा है।

डाक्टर एरिचके पूर्वपुरुष इटलीसे अमेरिका आये थे। उनकी पत्नी भी इटालियन हैं। जहाँतक डाक्टरकी जानकारी है, दम्पतिमेंसे किसीकी चार-छः पीढ़ियोंमेंसे कोई संस्कृत जाननेवाला नहीं हुआ था। तब बच्चेको यह संस्कृतका ज्ञान कहाँसे मिला? समस्या जटिल थी। डाक्टर इसके अतिरिक्त क्या कर सकते थे कि बच्चेकी बातको टेप रिकार्ड कर लें और उसका अनुवाद प्राप्त करनेका प्रयत्न करें।

बच्चा स्वयं अपनी बातका अनुवाद अपने पिताको बतला रहा था और जब संस्कृतमें बोली उसकी बातोंका टेप रिकार्ड अनुवादके लिये भेजा गया, तब अनुवाद होकर आनेपर इस बातकी पुष्टि हो गयी कि बच्चा अपना अनुवाद ठीक करता है।

'मैं एक भारतीय योगी हूँ। मेरा नाम ज्ञाननाथ है। काँगड़ा (भारत) से थोड़ी दूरपर मेरी कुटी है। एक बार दो अमेरिकन यात्री मिले थे मुझे। उनके संगसे अमेरिका देखनेकी इच्छा हुई। यह इच्छा बनी रही और शरीर छूट गया। मुझे यहाँके दो-चार बड़े नगर दिखा दो। फिर मैं भारत जाकर अपनी साधना पूरी करूँगा।' बच्चेकी सब बातोंका यही सारांश था।

बच्चेको वैज्ञानिकों—मनोवैज्ञानिकों तथा शरीर-विशेषज्ञोंकी देखरेखमें रक्खा गया। संस्कृतके ज्ञाताओंने उससे पूछताछ की। बच्चा काँगड़ाके आसपासके स्थानों, निवासियों, रीति-रस्मोंका ठीक-ठीक वर्णन करता था। वह कहता था कि उसने काशीमें संस्कृत पढ़ी है। उसके पिताके घर कोई नहीं है। नाथमार्गके किसी योगीसे उसने दीक्षा ली थी। सबसे विचित्र बात यह

कि वह अब बड़े सवेरे—अँधेरा रहते ही स्नान करना चाहता था। स्नान करके भारतीय योगियोंके समान नीचे फर्शपर बैठकर आँखें बंद करके पता नहीं क्या करता रहता था। देरतक और कभी-कभी जोरसे चिल्लाकर बोलता था—'अलख !'

× × ×

माता-पिताके द्वारा जब प्रथम दिन बालक गर्भमें आता है; केवल एक कलल होता है माताके उदरमें। उसमें सोलह कोशिकाएँ पितासे और सोलह मातासे आयी होती हैं। इन कोशिकाओंके केन्द्रक (न्यूक्लियस) होते हैं।

इन केन्द्रकोंके घेरेमें होते हैं गुणसूत्र (क्रोमोसोम) और इन गुणसूत्रोंमें स्थान-स्थानपर गाँठें होती हैं। इन गाँठोंको संस्कारकोष (जीन) कहते हैं। इन संस्कारकोषोंकी संख्या एक कोशिकामें अरबोंमें है। वस्तुतः ये कोष एक ऐंठी सीढ़ीके आकारमें हैं और कुण्डली मारकर गाँठ-जैसे बन गये हैं। इनको फैला दिया जाय तो यह सीढ़ी मनुष्यके पूरे शरीरकी लंबाईके दो तिहाईसे अधिक होती है।

एक संस्कारकोषमें प्रकृतिके एक अरब अक्षरोंमें यह लिखा होता है कि गर्भस्थ शिशुकी आकृति, रंग, कद आदि कैसा होगा ? प्रकृतिके इन अक्षरोंको वैज्ञानिक एमिनो एसिड कहते हैं जो विभिन्न क्रमसे लगे होते हैं। डाक्टर एरिच दीर्घकालसे परमाणु-विकिरण तथा विषाणु-के द्वारा इन नैसर्गिक अक्षरोंके क्रममें परिवर्तनकी चेष्टामें लगे हैं। एक सीमातक वे सफल हो गये हैं।

'एक कललमें स्थित सभी गुणसूत्रोंके संस्कारकोषोंमें भिन्न लिपि नहीं है।' डाक्टर एरिचने यह नवीन खोज की है। 'लगता है—शरीरके विभिन्न अङ्गोंकी [illegible]के आदेश विभिन्न संस्कार-कोषोंमें हैं।'

'इन संस्कार-कोषोंके अनेक आदेश कई-कई पीढ़ियों-तक अक्रिय पड़े रहते हैं और कभी किसी समय सक्रिय हो सकते हैं।' ऐसा क्यों होता है ? अभी इसका कोई उत्तर विज्ञानके पास नहीं है।

किंतु यह सब तो माता-पिताद्वारा प्राप्त आनुवंशिकता-की बात है। वैज्ञानिक इसे समझते हैं और इस आनुवंशिकताको आज नहीं तो, कुछ वर्षों बाद इच्छानुसार परिवर्तित कर लेनेकी उन्हें आशा है। यद्यपि लक्ष्य दूर है और अनेक उलझन-भरे प्रश्न सुलझानेको अभी अछूते पड़े हैं।

यह बच्चेका संस्कृत बोलना क्या है ? यह उसका पुनर्जन्म ? डाक्टर एरिचकी समझमें यह बात एकदम नहीं आ रही है। साथ ही इसे आनुवंशिकता कह देनेका भी कोई कारण नहीं दीखता।

वैज्ञानिक हठधर्मी नहीं होता। वह सत्यका शोधक होता है। डाक्टर एरिचको लगा कि उनके बच्चेके सम्बन्धमें शोध करनेके लिये भौतिकविज्ञानके वर्तमान साधन पर्याप्त नहीं हैं। परलोकवादियोंकी सहायता उन्हें अपेक्षित है।

× × ×

'पुनर्जन्म कैसे होता है ?' एक परलोक-विद्याके अमेरिकन ज्ञाताने बच्चेसे पूछा।

'इनमेंसे किसी टुकड़ेको पकड़ो।' बच्चेने अपना प्लास्टिकके खिलौनेका वह बक्स उलट दिया, जिसके टुकड़ोंसे वह अक्षर बताया करता था।

'इस टुकड़ेसे जो टुकड़े जुड़ सकें, उनसे एक अक्षर बनाता है।' झटपट बच्चेने एक अक्षर बनानेवाले टुकड़े जोड़ दिये और बोला—'अब ऐसे ढंगसे इससे मिलाते अक्षर जोड़ते जाता है कि कम-से-कम अक्षर बनाकर हम 'म' तक पहुँच सकें।'

'तुम खेलमें लग गये। मेरे प्रश्नका उत्तर तुमने दिया नहीं।' प्रश्नकर्तानि बच्चेको रोका।

'मैं आपको उत्तर ही दे रहा हूँ। मैं एक भारतीय साधु हूँ। साधु खिलौनोंसे खेला नहीं करते।' बच्चा तनिक अप्रसन्न हुआ—'तुम क्या कुछ समझते नहीं हो ?'

'हम सचमुच कुछ नहीं समझ सके।' नम्रतापूर्वक प्रश्नकर्तानि स्वीकार किया।

'मनुष्य मरते समय जो कामना करता है, वह उस टुकड़ेके समान है, जिसे तुमने पहले उठाया था। मनुष्यके पास उसके वर्तमान जीवन और पहलेके अनेक जन्मोंके लाख-लाख संस्कार होते हैं। यहाँ तो ये थोड़ेसे टुकड़े हैं।' बच्चेने उन टुकड़ोंको एक बार हाथसे उलट-पलट दिया।

'मरनेके समयकी अन्तिम कामनासे मेल करनेवाले संस्कार भी अनेक प्रकारके प्रारब्ध बना सकते हैं; किंतु ध्यान यह रखना पड़ता है कि ऐसा प्रारब्ध बने, जिससे मेल खाते दूसरे प्रारब्ध बनते चले जायँ और 'म' तक पहुँचनेके लिये प्रारब्धोंकी छोटी-से-छोटी जंजीर बने।' बच्चेनें इस भावसे देखा, जैसे वह अपनी पूरी बात समझा चुका है।

'म' तक पहुँचनेकी बात ही क्यों ?' प्रश्नकर्तानि पूछा।

'मनुष्यका प्रारब्ध ही अन्तिम प्रारब्ध होता है। केवल मनुष्यके मरनेपर प्रारब्ध श्रृङ्खला बनती है और मनुष्य-जन्मका प्रारब्ध बनाकर वह पूरी हो जाती है।' बच्चेने बताया—'दूसरे प्राणी तो उस श्रृङ्खलाके बीचके प्रारब्धोंसे उत्पन्न होते हैं। मनुष्य ही साधन करके मुक्त हो सकता है।'

'यदि आप अपने साधनको इस जीवनमें भी पूर्ण न कर सके।' प्रश्नकर्ता बच्चेको आदरपूर्वक ही सन्तोषित कर रहा था; क्योंकि वह जानता था कि उपेक्षा प्रद होनेपर बच्चा असंतुष्ट हो जायगा।

'मैं इस बार अवश्य पूर्णत्व प्राप्त करूँगा।' बच्चा तनिक उत्तेजित हुआ और तुरंत शान्त भी हो गया। 'मान लो तुम्हारी ही बात ठीक निकले, ऐसा सम्भव नहीं है। तब भी कुछ हानि नहीं है। मैं सावधान रहूँगा कि जीवनमें साधनके विरोधी भाव न आवें। कुछ प्रमादवश आ गये तो वे अगले प्रारब्ध बनते समय संचितमें चले जायँगे और मैं फिरसे साधनमें आगे बढ़ूँगा। साधकका पतन नहीं होता। वह जितना चल चुका, अब उससे आगे ही उसे चलना रहता है।'

'संचित क्या ?' प्रश्नकर्ताकी समझमें यह बात आयी नहीं थी।

'ये टुकड़े जिनका हमने उपयोग नहीं किया, संचितके समान हैं।' बच्चेने बताया—'जिन कर्म-संस्कारोंका उपयोग प्रारब्ध-श्रृङ्खलाके निर्माणमें नहीं हुआ, उनकी राशिका नाम संचित है।'

'उनका उपयोग कब होगा ?'

'अगली बार प्रारब्ध बनते समय। यदि मनुष्य जीवनमें मुक्त न हो जाय।' बच्चेने कहा—'मुक्त पुरुषका संचित भस्म हो जाता है और यह याद रखो कि साधनके संस्कार संचितमें कभी फेंके नहीं जाते। वे सदा प्रारब्ध बनानेके लिये चुने जाते हैं।'

यह सब व्यवस्था कौन करता है ?'

प्रश्नकर्ता देरसे यह बात पूछनेको उत्सुक थे। 'ईश्वर ही यह सम्पूर्ण व्यवस्था करता है ?'

'ईश्वर करता है, ऐसा कह सकते हैं।' बच्चा बहुत गम्भीर हो गया। 'वस्तुतः यह व्यवस्था ईश्वरका विधान करता है। हम उस कर्म-विधानके नियन्ताको यमराज

कहते हैं । मैं नहीं जानता कि दूसरे लोग उसे क्या कहते हैं । वैसे यमराजके सम्बन्धमें मुझे कुछ अधिक पता नहीं है ।'

'मृत्युके पश्चात् और जन्मसे पूर्व आपकी जो अवस्था थी, उसके सम्बन्धमें आप कुछ बतायेंगे ?' प्रश्नकर्ताने अपना अन्तिम प्रश्न किया ।

'परमात्मा नहीं चाहता कि यह रहस्य जीवोंपर प्रकट हो ।' बच्चेने कोई उत्सुकता व्यक्त नहीं की। बड़ी कठिनाईसे अनेक बार पूछनेपर उसने कहा—'आपको इससे कोई लाभ नहीं होगा । देहत्यागके पश्चात् जीव केवल जीव नहीं होता । कारण-शरीर और सूक्ष्म-शरीर अर्थात् मन और बुद्धि तो उसके यहींके होते हैं। एक आतिवाहिक शरीर भी उसे मिल जाता है, जिसकी आकृति प्रायः उसके भौतिक स्थूल-शरीर-जैसी होती है। वह भावलोक है, जहाँ उस आतिवाहिक देहमें जाना पड़ता है । अतएव जिसकी जैसी भावना जीवनमें होती है, उस प्रकार ही उसे वह भावलोक दीखता है ।'

बच्चा थक चुका था। उस दिनका प्रश्न-कार्य रोक देना पड़ा ।

× × ×

'मुझे अमेरिका देखना है । पहले मुझे यहाँके मुख्य-मुख्य स्थान दिखला दो ।' बच्चेने हठ पकड़ लिया। वह किसीके प्रश्नोंका उत्तर देता नहीं था । डाक्टर एरिचको उसका हठ रखना पड़ा । अपनी प्रयोगशाला सहकारीको सौंपकर पत्नी और पुत्रके साथ वे यात्राके लिये निकले ।

डाक्टर एरिचका पुत्र सामान्य बालकोंसे नितान्त भिन्न था । वह केवल फल-मेवे खाता और दूध पीता था । अनेक बार संस्कृत बोलने लगता था । किसी भी द्रव्यके प्रति उसने कोई विशेष आकर्षण प्रकट नहीं किया ।

यात्रा अधिक दिन चली भी नहीं । बच्चा बार-बार हठ कर रहा था कि उसको भारत भेजनेकी व्यवस्था कर दी जाय । वह अपनी मातासे अनेक बार पूछ चुका था कि भारत जानेका मार्ग क्या है और वहाँ जानेके लिये क्या करना पड़ता है ?

डा० एरिच देशसे बाहर जानेको प्रस्तुत नहीं थे । उनकी प्रयोगशालाका काम अधूरा पड़ा था । बच्चेको अकेले भेजनेकी बात सोची नहीं जा सकती थी। पत्नीने अवश्य प्रस्ताव किया था कि यदि डाक्टर छः महीने बाद भारत आनेका वचन दें तो वह पुत्रको लेकर जा सकती है और वहाँ पतिकी प्रतीक्षा करेगी ।

यह सब कुछ करना नहीं पड़ा । अभी पासपोर्टके लिये निवेदन भेजा ही गया था कि बच्चा एक दिन सबेरे स्नान करके आसन लगाकर बैठा और कुछ क्षण पीछे 'अलख' की उच्चध्वनिके साथ उसने देह त्याग दिया । सम्भवतः उसका देह अमेरिका-दर्शनकी कामनाका ही परिणाम था । कामना पूर्ण होते ही देह पूरा हो गया ।

‘सत्’में सुस्थित रहो

सत्ता कभी न ‘असत्’की, ‘सत्’का नहीं अभाव ।
‘सत्’में नित सुस्थित रहे, हो न असत्‌में भाव ॥
‘द्वन्द्व’ जानकर ‘असत्’ सब, करो न हर्ष-विषाद ।
नित्य सत्य हरिका सदा अनुभव करो प्रसाद ॥

जगदम्बा श्रीसीताजी

(लेखक—श्रीहरेशचन्द्रजी अग्रवाल, एम्० ए०)

सीता चरन प्रनाम करि, उरहिं सुमिरि रघुनाथ।
बरनउँ मातु चरित्र को, पावन करन सनाथ॥

भारतीय धर्मके क्षेत्रमें कौन ऐसा है जो जगज्जननी जगदम्बा, सती साध्वी, पतिव्रता रामभार्या श्रीसीताजीके गुणोंका वर्णन कर सके ! भारतीय स्त्रियोचित जितने भी गुण—पातिव्रत्य, त्याग, शील, निर्भयता, शान्ति, क्षमा, सौहार्द, सहनशीलता, धर्मपरायणता, नम्रता, संयम, सेवा, सदाचार, व्यवहारपटुता, साहस, शौर्य आदि हैं, सभी उनमें साक्षात् रूपमें मूर्तिमान् थे। उनके सदृश पवित्र जीवन वेद, पुराण, इतिहास आदि भारतीय ग्रन्थोंके पात्रोंमें मिलना दुर्लभ है। ठीक ही कहा गया है—

सब गुन अवधि न दूसर पटतर लायक।

रामायणके अन्तर्गत, जन्मके उपरान्त सर्वप्रथम जनकनन्दिनी गौरीपूजा-हेतु जनकवाटिकामें जाती हुई दृष्टिगोचर होती हैं, परंतु वह भी माताकी आज्ञासे और सखियोंके साथ हैं, जिससे समाजकी मर्यादाका उल्लङ्घन न हो।

तेहि अवसर सीता तहँ आई। गिरिजा पूजन जननि पठाई॥
संग सखीं सब सुभग सयानी। गावहिं गीत मनोहर बानी॥
—मानस

जनकपुरीमें श्रीरामके आगमनके कारण जो हलचल मची हुई थी, उससे परिचित होनेपर भी उनके अंदर वैसी जिज्ञासा उत्पन्न नहीं हुई जैसी नगरके अन्यान्य सभी बाल-वृद्धोंमें पायी जाती थी। श्रीराम-लक्ष्मणको देखनेकी इच्छा उस समय जाग्रत् होती है, जब एक सखी उन्हें वाटिकामें ही फूल तोड़ते देख मोहित हो, आकर कहती है—

स्याम गौर किमि कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥
—मानस

साधारण स्त्रियोंके समान श्रीसीताजी, राम-दर्शनके लिये व्यग्र नहीं होतीं, बल्कि अपने मनकी उत्कण्ठा मनमें ही छिपाये हुए हैं। यदि उनके अंदर दर्शनकी अभिलाषा है तो उसका कारण है—

चलीं अग्र करि प्रिय सखि सोई। प्रीति पुरातन लखइ न कोई॥
—मानस

श्रीसीताजीकी यह पुरातन प्रीति भी स्वतः जाग्रत् नहीं हुई है, बल्कि त्रिकालदर्शी भगवद्भक्त नारदजी इसके कारण थे। उनका प्रेम वासनारहित था—

सुमिरि सीय नारद बचन उपजी प्रीति पुनीत।
चकित बिलोकति सकल दिसि जनु सिसु मृगी सभीत॥
—मानस

इसी 'पुनीत प्रीति' के निर्वाह-हेतु ही श्रीसीताजी व्यग्र हैं—

चितवति चकित चहूँ दिसि सीता। कहँ गए नृपकिसोर मनु चिंता॥
लता ओट तब सखिन्ह लखाए। स्यामल गौर किसोर सुहाए॥
थके नयन रघुपति छबि देखें। पलकन्हिहूँ परिहरीं निमेषें॥
—मानस

इसके पश्चात् जब अन्तमें जनकललीसे नहीं रहा गया और श्रीरामको अपनाना अनिवार्य हो गया, उस समय उन्होंने उचित ही किया—

लोचन मग रामहिं उर आनी। दीन्हें पलक कपाट सयानी॥

इस प्रकार उन्होंने अपने जीवननाथपर अधिकार कर अपने प्रेमको स्थायित्व देनेके विचारसे गौरी-मन्दिरमें जाकर गौरीसे प्रार्थना की—

मोर मनोरथ जानहु नीकें। बसहु सदा उर पुर सबही कें॥
—मानस

और तब जगज्जननी गौरी प्रकट होकर कहती हैं—

सुनु सिय सत्य असीस हमारी। पूजिहि मन कामना तुम्हारी॥
नारद बचन सदा सुचि साचा। सो बरु मिलिहि जाहिं मनु राचा॥
—मानस

इसके पश्चात् जनकपुरीकी रङ्गभूमिमें आनेपर भी जनकनन्दिनीका ध्यान श्रीरामकी ओर लगा हुआ है—

सीय चकित चित रामहि चाहा। भए मोहबस सब नरनाहा॥
तब रामहि बिलोकि बैदेही। सभय हृदयँ बिनवति जेहि तेही॥
मनही मन मनाव अकुलानी। होहु प्रसन्न महेस भवानी॥
करहु सफल आपनि सेवकाई। करि हितु हरहु चाप गरुआई॥

नीकें निरखि नयन भरि सोभा। पितु पनु सुमिरि बहुरि मनु छोभा॥
कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा॥

—मानस

इस अवसरपर मन एवं हृदयमें उथल-पुथल होनेपर भी वे धैर्य धारण करके कहती हैं—

तौ भगवानु सकल उर बासी। करिहि मोहि रघुबर कै दासी॥
जेहि कें जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू॥

श्रीरामके धनुष तोड़नेके उपरान्त श्रीसीताकी दशा विचारने योग्य है—

सीय सुखहि बरनिअ केहि भाँती। जनु चातकी पाइ जलु स्वाती॥
तन सकोचु मन परम उछाहू। गूढ़ प्रेमु लखि परइ न काहू॥

—मानस

सीता स्वर्णमयीं मालां गृहीत्वा दक्षिणे करे।
सितवस्त्रा स्वर्णवर्णा सर्वाभरणभूषिता॥
मुक्ताहारैः कर्णपत्रैः क्वणच्चरणनूपुरा।
दुकूलपरिसंवीता वस्त्रान्तर्व्यञ्जितस्तनी॥
रामस्योपरि निक्षिप्य स्मयमाना मुदं ययौ।
ततो मुमुदिरे सर्वे राजदाराः स्वलंकृताः॥

—अध्यात्मरामायण

'तत्पश्चात् सर्वालङ्कारविभूषिता, स्वर्णवर्णा श्रीसीताजी अपने दाहिने हाथमें स्वर्णमयी माला लिये मन्द-मन्द मुसकाती हुई वहाँ आयीं। वे मुक्ताहार, कर्णफूल और झमझमाते हुए पायजेब आदि आभूषणोंसे विभूषिता थीं तथा शरीरमें श्वेत उत्तम साड़ी पहिने हुए थीं, जिसमेंसे उनके पयोधर झलक रहे थे। सीताजी नम्रतापूर्वक मुसकाते हुए वह जयमाला श्रीरामके ऊपर डालकर प्रसन्न हुईं।'

इसके पश्चात् विवाहके अवसरपर भी श्रीसीताजीका मन श्रीरामरूपी कमलपर भौंरा बन उनके रूपका रस ले रहा है—

दूलह श्रीरघुनाथु बने दुलही सिय सुंदर मंदिर माहीं।
गावति गीत सबै मिलि सुंदरि बेद जुवा जुरि बिप्र पढ़ाहीं॥
राम को रूपु निहारति जानकी कंकनके नग की परछाहीं।
यातें सबै सुधि भूलि गईं कर टेकि रहीं पल टारत नाहीं॥

—कवितावली १। १७

विवाहके उपरान्त, अयोध्या आनेपर श्रीराम और सीताके परस्पर प्रेमकी झलक यह थी—

रामश्च सीतया सार्धं विजहार बहूनृतून्।
मनस्वी तद्गतमनास्तस्या हृदि समर्पितः॥
तया स राजर्षिसुतोऽभिकामया
समेयिवानुत्तमराजकन्यया।
अतीव रामः शुशुभे मुदान्वितो
विभुश्रिया विष्णुरिवामरेश्वरः॥

—वाल्मीकिरामायण

'श्रीराम सदा सीताके हृदय-मन्दिरमें विराजमान रहते थे तथा मनस्वी श्रीरामका मन भी सीतामें ही लगा रहता था। श्रीरामने सीताके साथ अनेक ऋतुओंतक विहार किया। श्रेष्ठ राजकुमारी सीता श्रीरामकी ही कामना रखती थीं और श्रीराम भी एकमात्र उन्हींको चाहते थे; जैसे लक्ष्मीके साथ देवेश्वर भगवान् विष्णुकी शोभा होती है उसी प्रकार उन सीतादेवीके साथ राजर्षि दशरथनन्दन श्रीराम परम प्रसन्न रहकर शोभा पाने लगे।'

उपर्युक्त वर्णनमें आरम्भिक अवस्थासे ही जनकदुलारी सीताके पातिव्रत्य-धर्मके निर्वाहकी एक झलक मिल जाती है और यह निश्चित हो जाता है कि वे किसी भी दशामें भविष्यमें श्रीरामका साथ न छोड़ अपने धर्म एवं प्रेमका निर्वाह करेंगी जो एक भारतीय नारीका परम धर्म है। दोनोंके हृदय शुद्ध और पवित्र थे तथा उनमें प्रेमबेलि शनैः-शनैः पल्लवित होकर मकरन्दपूर्ण सुन्दर सुगन्धित पुष्प धारण कर रही थी।

इसके पश्चात् घटना-चक्र आगे बढ़ा और श्रीरामको राज्याभिषेकके स्थानपर वन-गमनकी तैयारी करनी पड़ी। उनका यह वन-गमन एकाकी न होकर संयुक्त था; क्योंकि श्रीरामके साथ वनवासकी आज्ञा न होते हुए भी सीता और लक्ष्मणको भी वनकी ओर प्रस्थान करना पड़ा था। जानेके पूर्व जब श्रीरामने पतिव्रता सीताको समझाना प्रारम्भ किया और उनपर यह भार डाला कि वे अयोध्यामें ही रहकर सास-ससुरकी सेवा करें तो अधिक उचित होगा। तब कुल-मर्यादाकी रक्षा तथा पातिव्रत्य धर्मका पालन करती हुई सीता बोलीं—

अहमग्रे गमिष्यामि वनं पश्चात्त्वमेष्यसि।
इत्याह मां विना गन्तुं तव राघव नोचितम्॥

—अध्यात्मरामायण

'पहले मैं वनको जाऊँगी, उसके पीछे आप आना। हे राघव! मुझे छोड़कर आपको वनमें जाना उचित नहीं है।'

न पिता नात्मजो नात्मा न माता न सखीजनः।
इह प्रेत्य च नारीणां पतिरेको गतिः सदा॥
यदि त्वं प्रस्थितो दुर्गं वनमद्यैव राघव।
अग्रतस्ते गमिष्यामि मृद्नन्ती कुशकण्टकान्॥
(वाल्मीकिरामायण अयो० २७। ६-७)

'स्त्रियोंके लिये इस लोक और परलोकमें एकमात्र पति ही सदा आश्रय देनेवाला है। पिता, पुत्र, माता, सखियाँ तथा यह अपना शरीर भी उसका सच्चा सहायक नहीं है। रघुनन्दन! यदि आप आज ही दुर्गम वनकी ओर प्रस्थान कर रहे हैं तो मैं रास्तेके कुश-कण्टकोंको कुचलती हुई आपके आगे-आगे चलूँगी।'

इसीके साथ स्त्रीधर्मकी रक्षा, पातिव्रत्य-धर्मकी मर्यादा तथा कुलवधूकी लीककी स्थापना करती हुई जगन्माता सीताजीने पुनः सूर्यकुल-उजागर श्रीरामसे कहा—

तनु धनु धाम धरनि पुर राजू। पति बिहीन सबु सोक समाजू॥
भोग रोग सम भूषन भारू। जम जातना सरिस संसारू॥
प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहुँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं॥
जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी॥
खग मृग परिजन नगरु बनु बलकल बिमल दुकूल।
नाथ साथ सुरसदन सम परनसाल सुख मूल॥
—मानस

इस प्रकार श्रीसीताजीने उस अवसरपर पतिके प्रति प्रेमपूर्ण अनेक वचन कहे, किंतु अपने निश्चयसे तनिक भी विचलित नहीं हुईं। पति-सेवाके सम्मुख संसारके सारे सुखोंको तुच्छ समझती हुई, उन्होंने तत्कालीन दुःखपर विजय प्राप्त करनेका पूर्ण साहस प्रदर्शित किया जिससे श्रीरामको भी श्रीसीताके वनगमनके लिये कटिबद्ध होनेका निश्चित पता लग गया। वे श्रीरामके द्वारा घर रहनेकी बातपर कोई भी परवा नहीं करतीं।

श्रीरामजीने कहा—

कुस कंटक मग काँकर नाना। चलब पयादेहिं बिनु पदत्राना॥
कंदर खोह नदीं नद नारे। अगम अगाध न जाहिं निहारे॥
भालु बाघ बृक केहरि नागा। करहिं नाद सुनि धीरजु भागा॥
नर अहार रजनीचर चरहीं। कपट बेष बिधि कोटिक करहीं॥
हंस गवनि तुम्ह नहिं बन जोगू। सुनि अपजसु मोहि देइहि लोगू॥

सहज सुहृद गुर स्वामि सिख जो न करइ सिर मानि।
सो पछिताइ अघाइ उर अवसि होइ हित हानि॥
—मा

श्रीरामके इतना सब कहने-सुनने और माता कौसल्याके समझानेपर भी वे कहती हैं—

मैं पुनि समुझि दीखि मन माहीं। पिय बियोग सम दुख जग नाहीं॥
प्राननाथ करुनायतन सुंदर सुखद सुजान।
तुम्ह बिनु रघुकुल कुमुद बिधु सुरपुर नरक समान॥

फलस्वरूप श्रीसीताजीके प्रेम तथा धर्मकी उचित परीक्षा हो जानेपर श्रीरामको बाध्य होकर कहना पड़ा—

कहेउ कृपाल भानुकुलनाथा। परिहरि सोचु चलहु बन साथा॥
—मानस

अयोध्यासे वनकी ओर गमन करनेके पश्चात् मार्गमें अपने धर्मका पालन करती हुई रघुकुलवधू श्रीसीताजी पतिके साथ ही भूमिपर शयन करती हैं—

बिबिध बसन उपधान तुराईं। छीर फेन मृदु बिसद सुहाईं॥
तहँ सिय रामु सयन निसि करहीं। निज छबि रति मनोज मदु हरहीं॥
ते सिय रामु साथरीं सोए। श्रमित बसन बिनु जाहिं न जोए॥

इस सम्बन्धमें श्रीसीताजीके बारेमें और अधिक क्या कहा जा सकता है—

पिता जनक जग बिदित प्रभाऊ। ससुर सुरेस सखा रघुराऊ॥
रामचंदु पति सो बैदेही। सोवत महि बिधि बाम न केही॥
—मानस

गङ्गा-तटसे पुनः अयोध्याकी ओर लौटनेके लिये मन्त्री सुमन्त्रके कहनेपर श्रीसीताजी कहती हैं—

पितु बैभव बिलास मैं डीठा। नृप मनि मुकुट मिलित पद पीठा॥
सासुर चक्कवइ कोसलराऊ। भुवन चारिदस प्रगट प्रभाऊ॥
कोल किरात कुरंग बिहंगा। मोहि सब सुखद प्रानपति संगा॥

श्रीसीताजीके ऐसा कहनेपर तथा उन्हें दृढ़प्रति समझकर सुमन्त्र निरुत्तर हो लौट जाते हैं। मातामें सम कमी नहीं। लक्ष्मणके लिये उनका प्रेम माताके प्रेमसे भी बढ़कर है, इसका लक्ष्मणजी स्वयं अनुभव प्राप्त कि हुए हैं—

जलको गए लक्खनु; हैं लरिका, परिखौ पिय ! छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े ।
पोंछि पसेउ बयारि करौं, अरु पाय पखारिहौं भूभुरि डाढ़े ॥
—कवितावली

आज सीताके समान कौन-सी ऐसी भाभी होगी, जो लक्ष्मण ऐसे देवरके सुख-दुःखका ख्याल रक्खेगी ? इसके अतिरिक्त अयोध्यासे दूर तथा सास-ससुरके प्रभावसे स्वतन्त्र होने एवं पति-देवरके साथ होनेपर भी वे भारतीय नारी-धर्मका पालन करती हैं। मार्गकी स्त्रियोंके पूछनेपर भी श्रीरामके बारेमें मुँहसे कुछ न कहकर केवल नेत्र और भौंहोंके संकेतसे कहती हैं—

पूछति ग्रामबधू सिय सों, कहौ, साँवरे-से सखि रावरे को हैं ।
सुनि सुंदर बैन सुधारस-साने, सयानी हैं जानकी जानी भली ।
तिरछे करि नैन, दे सैन, तिन्हैं समुझाइ कछू मुसुकाइ चलीं ।
—कवितावली

इसके पश्चात् वाल्मीकि मुनिके संकेतानुसार श्रीराम चित्रकूटमें मन्दाकिनीके तटपर अपनी कुटी बना वन-विहार करते हुए तपस्या करने लगे तथा जगदम्बा सीताजी भी आनन्दमय जीवनको धन्य बनानेके हेतु कुटीके चारों ओर पेड़-पौधोंको जीवन-सहचर मान उनका पालन-पोषण करती हुई गुनगुनाने लगीं——

औरोंके हाथों यहाँ नहीं पलती हूँ,
अपने पैरोंपर खड़ी आप चलती हूँ,
श्रमवारि बिन्दुफल स्वास्थ्य शुक्ति फलती हूँ,
अपने अञ्चलसे व्यजन आप झलती हूँ,
तनु-लता-सफलता-स्वाद आजु ही आया ।
मेरी कुटियामें राजभवन मन भाया ॥
—साकेत

श्रीसीताजीके गुनगुनानेपर भावोंसे भर श्रीराम भी कहते हैं—

आमोदिनि, तुमको कौन छिपा सकता है ?
अन्तरको अन्तर अनायास तकता है ।
बैठी है सीता सदा रामके भीतर ।
जैसे विद्युद्द्युति घनश्यामके भीतर ॥—साकेत

इस प्रकार कोसलराज्यके प्रासादोंमें विचरण और क्रीड़ा करनेवाली विदेहनन्दिनी दुःखको सुख मानकर वनमें निवास किया करतीं एवं हृत्तन्त्रीके उलझे-पुलझे तारोंको सुलझाकर आनन्द-राग निकाला करती थीं। भरतजीके यह कहनेपर—

जो कोसलेश्वरी हाय ! वेश ये उनके ?
मण्डन हैं अथवा चिन्ह शेष ये उनके ?—साकेत

श्रीसीता माता कहती हैं—

देवर न रुलाओ आह, मुझे रोकर यों,
कातर होते हो तात, पुरुष होकर यों ?
स्वयमेव राज्यका मूल्य जानते हो तुम,
क्यों उसी धूलमें मुझे सानते हो तुम ?
सौ-सौ रत्नोंसे इसे अधिक तुम लेखो ।
शत चन्द्रहार उस एक अरुणके आगे,
कब स्वयं प्रकृतिने नहीं स्वयं ही त्यागे ?
—साकेत

इस प्रकार जनकदुलारी सीताजी जीवनदर्शनसे पूर्ण परिचित थीं और उसीके प्रकाशमें निज समस्याओंको सानन्द सुलझाया करती थीं। इसके अतिरिक्त सीताजीकी शीलता एवं लज्जा भी कम नहीं। चित्रकूटमें उनके आचार-व्यवहार-पर विचार कर ही परम तत्त्वज्ञानी महान् योगी विदेहराजने ठीक ही कहा था—

पुत्रि पबित्र किए कुल दोऊ। सुजस धवल जगु कह सबु कोऊ ॥
जिति सुरसरि कीरति सरि तोरी। गवनु कीन्ह बिधि अंड करोरी ॥
—मानस

इसीके साथ श्रीसीताका रात्रिमें माता-पिताके पास न रहकर सासुओंकी सेवामें रहनेका निश्चित करना कितना महत्त्वपूर्ण है जो सहजमें ही उन्हें वधू-धर्मके साधारण धरातलके ऊपर उठा देता है जो अन्य वधुओंके लिये भी अनुकरणीय है—

कहति न सीय सकुचि मन माहीं। इहाँ बसब रजनी भल नाहीं ॥
—मानस

इसके पश्चात् चित्रकूटको छोड़ वनमें आगे बढ़ने तथा अत्रि मुनिके आश्रमपर पहुँचने एवं सती साध्वी तपस्विनी अनसूयाजीसे मिलनेपर जो परस्पर सम्भाषण हुआ है, उससे श्रीसीताजीके विचार सुनने और मनन करनेयोग्य हैं—

मातु पिता भ्राता हितकारी। मितप्रद सब सुनु राजकुमारी ॥
अमित दानि भर्ता बयदेही। अधम सो नारि जो सेव न तेही ॥

यद्यप्येष भवेद् भर्ता अनार्यो वृत्तिवर्जितः।
अद्वैधमत्र वर्तव्यं तथाप्येष मया भवेत्॥

—वाल्मीकिरामायण

सीताजी बोलीं—'देवि ! मेरे पतिदेव यदि अनार्य (चरितहीन) तथा जीविकाके साधनोंसे रहित (निर्धन) होते, तब भी मैं बिना किसी दुविधाके उनकी सेवामें लगी रहती।'

प्रकृतिरूपा श्रीसीताजीके इन वचनोंसे स्पष्ट है कि उन्हें अपने पातिव्रत्य-धर्मका पूर्ण ज्ञान था और प्रतिक्षण उसीके पालनपर उनका ध्यान केन्द्रित रहता था; क्योंकि स्त्रीका यही आभूषण है। इसी आधारपर प्रभावित हो सती अनसूयाजीने उन्हें दिव्य वस्त्र-आभूषण आदि उपहाररूपमें भेंट किये थे और जिन्हें देखकर श्रीराम भी बड़े प्रसन्न हुए थे।

यहाँपर पातिव्रत्य-धर्मके सम्बन्धमें श्रीसीताजीके प्रति सती अनसूयाजीके वचन मननयोग्य हैं—

धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपद काल परिखिअहिं चारी॥
बृद्ध रोगबस जड़ धन हीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना॥
ऐसेहु पति कर किएँ अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना॥
एकइ धर्म एक ब्रत नेमा। कायँ बचन मन पति पद प्रेमा॥

—मानस

उपर्युक्त उदाहरणोंसे स्पष्ट है कि श्रीसीताजीके मनमें श्रीरामजीके प्रति हर समय एक ही भाव रहता था। वे प्रतिक्षण तन, मन, धनसे पतिसेवामें ही लीन रहती थीं। वन-पथमें दण्डकारण्यकी ओर जाते हुए भी, पतिके कल्याण-हेतु उनके तापसवेश एवं क्षत्रिय-धर्मपर विचार करती हुई कहती हैं—'हे महाबाहु ! इसमें संदेह नहीं कि इस संसारमें कामसे उत्पन्न होनेवाले तीन ही ऐसे व्यसन हैं, जिनसे मनुष्यका बचना अनिवार्य है—मिथ्याभाषण, परस्त्रीगमन और बिना शत्रुताके ही दूसरोंके प्रति क्रूरताको धारण करना। इसमेंसे प्रथम दो आपके पास फटक नहीं सकते, क्योंकि आप धर्मनिष्ठ, सत्यप्रतिज्ञ और पितृ-आज्ञा-पालक हैं; किंतु दूसरोंके प्राणोंके लेनेके सम्बन्धमें मुझे कुछ संदेह है; क्योंकि आपने ऋषियोंकी रक्षाहेतु राक्षसोंके वधका प्रण किया है। इसके अतिरिक्त मेरे संदेहका एक कारण और है—

क्षत्रियाणामिह धनुर्हुताशस्येन्धनानि च।
समीपतः स्थितं तेजोबलमुच्छ्रयते भृशम्॥

—वाल्मीकिरामायण

'जैसे आगके समीप रक्खे हुए ईंधन उसके तेजरूप बलको अत्यन्त उद्दीप्त कर देते हैं, उसी प्रकार जहाँ क्षत्रियोंके पास धनुष हो तो वह उनके बल और प्रतापको उद्दीपित कर देता है।'

अपराधं विना हन्तुं लोको वीर न मंस्यते।

—वाल्मीकिरामायण

'वीरवर ! बिना अपराधके ही किसीको मारना संसारके लोग अच्छा नहीं समझेंगे।'

श्रीसीताजीके इन सिद्धान्तयुक्त वचनोंसे स्पष्ट है कि वे साधारण पत्नीमात्र ही नहीं थीं; बल्कि प्राणिमात्रके कल्याण-हेतु चारों धर्मों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) का पूर्ण अध्ययन किये हुए थीं और समयानुसार अपनी प्रज्ञाका प्रयोग भी करती थीं, जिससे उनके धर्मकी हानि न हो।

शूर्पणखा-काण्ड तथा खर-दूषण आदि राक्षसोंके वधके उपरान्त स्थितिपर विचारकर श्रीराम मायारूपिणी जगज्जननीसे कहते हैं—

सुनहु प्रिया ब्रत रुचिर सुसीला। मैं कछु करबि ललित नरलीला॥
तुम्ह पावक महुँ करहु निवासा। जौं लगि करौं निसाचर नासा॥
जबहिं राम सब कहा बखानी। प्रभु पद धरि हियँ अनल समानी॥
निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता। तैसइ सील रूप सुबिनीता॥

—मानस

इस प्रकार अग्निमें प्रवेश कर जानेपर मायाकी सीतामें वह विशेषता नहीं रह गयी, जो पराशक्तिरूपिणी श्रीसीता मातामें थी और जिसका प्रदर्शन उन्होंने जनकपुरीमें महाराज दशरथके आगमनके समय किया था—

जानी सियँ बरात पुर आई। कछु निज महिमा प्रगटि जनाई॥
हृदयँ सुमिरि सब सिद्धि बोलाईं। भूप पहुनई करन पठाईं॥

—मानस

श्रीसीताजीके इस रूपमें भी शील, रूप और विनीत व्यवहार उपस्थित हैं, क्योंकि वे भगवान् श्रीरामकी आह्लादिनी शक्ति भी तो हैं।

(शेष अगले अङ्कमें)

अर्थ या अनर्थ ?

[धनपर एक समीक्षात्मक दृष्टि]

(एक त्यागी संतके आदेशानुसार लिखित)

सामान्य दृष्टिमें धन बड़ा ही आकर्षक पदार्थ है। साहित्यमें भी धनकी प्रचुर प्रशंसा है। भारतको छोड़कर प्रायः दूसरे देशोंके साहित्यमें इसकी समीक्षा प्रायः नहीं मिलती; किंतु अपने यहाँ इसके उभयात्मक पक्षोंपर पूर्ण विवेचन प्राप्त होता है। एक ओर जहाँ इसे पुरुषार्थोंमें प्रथम स्थान दिया गया है और भगवान् श्रीकृष्ण तथा देवर्षि नारदतकके—

धनमूलाः क्रियाः सर्वा यत्नस्तस्यार्जने मतः।

—जैसे वचन प्राप्त होते हैं, वहाँ दूसरी ओर 'धिगर्थान् क्लेशकारिणः' **'धिग् धिग्धनं तद् बहु'** जैसे वचन भी प्राप्त होते हैं। यहाँ संक्षेपमें उसके उभयात्मक पक्षोंपर विचार करते हुए अन्तमें उसके आवश्यक शुद्ध रूप तथा अर्जन-प्रणालीपर भी विचार प्रस्तुत किया जायगा।

तत्त्वज्ञोंकी दृष्टि

वास्तवमें ज्ञान-वैराग्यपूर्ण तत्त्व-चिन्तकोंकी शुद्ध सत्त्वमयी दृष्टि ही मान्य एवं यथार्थ दृष्टि है। उनके मतसे तो धनमात्र ही हेय तथा अशुद्ध है। उनके मतसे तो—

अनर्थो ब्राह्मणस्यैष यदर्थनिचयो महान्।

(पद्म० स्वर्ग० ५७। ७१)

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

प्रायेणार्थाः कदर्याणां न सुखाय कदाचन।
इह चात्मोपतापाय मृतस्य नरकाय च॥
यशो यशस्विनां शुद्धं श्लाघ्या ये गुणिनां गुणाः।
लोभः स्वल्पोऽपि तान् हन्ति श्वित्रो रूपमिवेप्सितम्॥
अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये।
नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम्॥
स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च॥
एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम्।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत्॥
भिद्यन्ते भ्रातरो दाराः पितरः सुहृदस्तथा।
एकास्निग्धाः काकिणिना सद्यः सर्वेऽरयः कृताः॥
अर्थेनाल्पीयसा ह्येते संरब्धा दीप्तमन्यवः।
त्यजन्त्याशु स्पृधो घ्नन्ति सहसोत्सृज्य सौहृदम्॥
स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं प्राप्य लोकमिमं पुमान्।
द्रविणे कोऽनुषज्जेत मर्त्योऽनर्थस्य धामनि॥

(११। २३। १५–२१, २३)

"प्रायः देखनेमें आता है कि कृपणोंको धनसे कभी सुख नहीं मिलता। यहाँ तो वे धन कमाने और उसे बचानेकी चिन्तासे जलते रहते हैं और मरनेपर (धनके लिये किये हुए पापोंके कारण) नरकमें गिरते हैं। जैसे थोड़ा-सा सफेद कोढ़ सुन्दर रूपको बिगाड़ देता है, वैसे ही तनिक-सा भी लोभ यशस्वियोंके शुद्ध यश और गुणोंके प्रशंसनीय गुणोंको नष्ट कर देता है। धनके कमानेमें, कमा लेनेपर उसके और बढ़ानेमें, उसकी रक्षामें, खर्च करनेमें, नाश और उपभोगमें सदा ही परिश्रम, भय, चिन्ता और भ्रमसे ग्रस्त रहना पड़ता है। चोरी, हिंसा, असत्य-भाषण, दम्भ, काम, क्रोध, गर्व, अहङ्कार, भेद-बुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्धा, लम्पटता, जूआ और शराब—ये पंद्रह अनर्थ मनुष्योंमें धनके कारण ही माने गये हैं। इसलिये कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको उचित है कि वह स्वार्थ और परमार्थके विरोधी इस 'अर्थ' नामक 'अनर्थ' का दूरसे ही त्याग कर दे। भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र, माता-पिता, सगे-सम्बन्धी—जो स्नेहबन्धनमें बँधे बिल्कुल एक बने रहते हैं, वे ही (धनके लोभसे) एक-एक कौड़ीके लिये इतने मन-फटे हो जाते हैं कि तुरंत एक-दूसरेके वैरी बन जाते हैं। वे थोड़े-से धनके लिये भी क्षुब्ध और क्रुद्ध हो जाते हैं, सारा सौहार्द-सम्बन्ध क्षणोंमें छोड़ देते हैं और द्रोह रखते हुए एक-एकके प्राण लेने-देनेपर उतारू हो जाते हैं और परस्पर सर्वनाश कर डालते हैं। यह मनुष्य-शरीर मोक्ष और स्वर्गका द्वार है, इसे प्राप्त करके भी कौन ऐसा बुद्धिमान् पुरुष है जो अनर्थोंके धाम इस 'अर्थ'—धनमें आसक्त रहे ?"

जानत अर्थ अनर्थ रूप तम कूप परब एहि लागे।
उभय प्रकार प्रेतपावक ज्यों धन दुखप्रद स्रुति गायो॥*

(विनयपत्रिका)

---

* गोस्वामीजीका यह कथन सम्भवतः पञ्चम वेद महाभारत शान्तिपर्व १७७। २०—४० के आधारपर है।

मन्ये महानस्य कृतो ह्यनुग्रहो
विभ्रंशितो यच्छ्रिय आत्ममोहनात् ।
(श्रीमद्भागवत ८ । २२ । १६)

तं भ्रंशयामि सम्पद्भ्यो यस्य चेच्छाम्यनुग्रहम् ।
(श्रीमद्भागवत १० । २७ । १६)

ब्रह्मन् ! यमनुगृह्णामि तद्विशो विधुनोम्यहम् ।
(श्रीमद्भागवत ८ । २२ । २४)

हरिष्ये तद्धनं शनैः । (श्रीमद्भागवत १० । ८८ । ८)

तस्मात्प्रायेण न ह्याढ्या मां भजन्ति सुमध्यमे ।
(श्रीमद्भागवत १० । ६० । १४)

नमोऽकिंचनवित्ताय ।

—इत्यादि तत्त्वज्ञोंके विशुद्ध सात्त्विक वचनोंके अनुसार धन सर्वश्रेयोविघातक तथा भक्ति-ज्ञान आदिका बाधक ही सिद्ध होता है ।

स्त्रीधननास्तिकवैरिचरित्रं न श्रवणीयम् ।
(नारदभक्तिसूत्र)

दरिद्रस्यैव युज्यन्ते साधवः समदर्शिनः ।
(श्रीमद्भागवत १० । १० । १७)

तद्धि तस्य परं तपः ।

'परम अकिंचन प्रिय हरि केरे ।'
'एहि दरबार दीन को आदर ।'

—आदिमें अकिंचनताको ही सुखकर माना है । वैराग्यके विशुद्ध आनन्दोद्रेकमें आकर सर्वश्री भर्तृहरि, जैनकवि पद्मानन्द, अप्पय्य याजी दीक्षित तथा गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने विभिन्न वैराग्य-संदीपनी आदि स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे थे, उनके उन दूसरे ग्रन्थोंमें भी शतशः वैराग्यसूक्तियाँ भरी हैं। श्रीमद्भागवत आदि पुराणोंमें भिक्षुगीत आदि अनेक वैराग्यपूर्ण गीताएँ हैं । अकेले महाभारतके शान्तिपर्वमें ही इस प्रकारकी प्रायः बीस गीताएँ हैं । जिनमें शम्पाकगीता, मङ्किगीता, बोध्यगीता, अश्मगीता आदि तो विशुद्ध धननिन्दापरक ही हैं । यहाँ उनमेंसे कुछके ही सारभूत वचन दिये जा रहे हैं ।

विविध गीतासार

शान्तिपर्वमें शम्पाकका कथन है—

अकिंचनः सुखं शेते समुत्तिष्ठति चैव ह ।
आकिंचन्यं सुखं लोके पथ्यं शिवमनामयम् ॥
अनमित्रपथो ह्येष दुर्लभः सुलभो मतः ।
अकिंचनस्य शुद्धस्य उपपन्नस्य सर्वतः ॥
अवेक्षमाणस्त्रींल्लोकान् न तुल्यमिह लक्षये ।
आकिंचन्यं च राज्यं च तुलया समतोलयम् ।
अत्यरिच्यत दारिद्र्यं राज्यादपि गुणाधिकम् ॥
आकिंचन्ये च राज्ये च विशेषः सुमहानयम् ।
नित्योद्विग्नो हि धनवान् मृत्योरास्यगतो यथा ॥
नैवास्याग्निर्न चारिष्टो न मृत्युर्न च दस्यवः ।
प्रभवन्ति धनत्यागाद् विमुक्तस्य निराशिषः ॥
तं वै सदा कामचरमनुपस्तीर्णशायिनम् ।
बाहूपधानं शाम्यन्तं प्रशंसन्ति दिवौकसः ॥
धनवान् क्रोधलोभाभ्यामाविष्टो नष्टचेतनः ।
तिर्यगीक्षः शुष्कमुखः पापको भ्रुकुटीमुखः ॥
निर्दशन्नधरोष्ठं च क्रुद्धो दारुणभाषिता ।
कस्तमिच्छेत्परिद्रष्टुं दातुमिच्छति चेन्महीम् ॥
तमतिक्रान्तमर्यादमाददानं ततस्ततः ।
प्रतिषेधन्ति राजानो लुब्धा मृगमिवेषुभिः ॥
नात्यक्त्वा सुखमाप्नोति नात्यक्त्वा विन्दते परम् ।
नात्यक्त्वा चाभयः शेते त्यक्त्वा सर्वं सुखी भव ॥
(१७६ । ७—१५, १९, २२)

अर्थात् इस संसारमें अकिंचनता ही आनन्दकर है। अकिंचन व्यक्ति सुखसे सोता तथा जागता है । आकिंचन्य बड़ा मङ्गलमय, सुखकर, अनामय, निरापद तथा निष्कण्टक मार्ग है । यदि तीनों लोकोंपर शुद्ध दृष्टि डालकर देखा जाय तो अकिंचन एवं विशुद्ध विरक्त पुरुषकी तुलनामें कोई भी नहीं दीखता । तराजूपर तौले जानेपर राज्य भी इसके सामने तुच्छ होता है; क्योंकि धनवान् पुरुष प्रायः सदा इस प्रकार घबराया रहता है, मानो वह मौतके ही मुँहमें पड़ा हो । पर जो धनका मोह छोड़कर सर्वथा निश्चिन्त हो गया है, उसे आग, पानी, ग्रह, दुःख, चोर या मौतका भी कोई भय नहीं रह जाता । उस सदा स्वच्छन्द गतिसे चलनेवाले तथा बाहुके सहारे बिना बिछावनके ही सो जानेवाले व्यक्तिकी देवता भी पूजा-स्तुति करते हैं ।

इधर धनवान् व्यक्ति क्रोध तथा लोभका मारा हुआ सदा बेहोश रहता है । उसका मुँह सूखा, आँख टेढ़ी तथा भौंहें तनी रहती हैं। वह क्रोधसे ओठ काटता तथा कटु भाषण करता रहता है । अधिक क्या, वह यदि सारी पृथ्वी भी देनेको तैयार हो जाय तो उसकी ओर देखनेका मन नहीं होता।

शान्तिपर्वके २६ वें अध्यायमें ययातिगीता तथा यज्ञगीता आती है। इन्हींके प्रसङ्गमें युधिष्ठिरने कहा था—

यज्ञाय सृष्टानि धनानि धात्रा
धनं न कामाय हितं प्रशस्तम्॥
धनहेतोर्य ईहेत तस्यानीहा गरीयसी।
ये वित्तमभिपद्यन्ते सम्यक्त्वं तेषु दुर्लभम्।
द्रुह्यतः प्रैति तत्प्राहुः प्रतिकूलं यथातथम्॥
अल्पेन तृषितो द्रुह्यन् भ्रूणहत्यां न बुध्यते॥
देवस्वमुपगृह्यैव धनेन न सुखी भवेत्॥

(शान्ति० २६ । २५, १८, २०, २१, २३)

अर्थात् धन यज्ञ-दानादिके लिये है, उपभोगके लिये नहीं। जो धनके पीछे पड़े हुए हैं, उनमें सौजन्य नहीं रह सकता; क्योंकि बिना द्रोहादि अधर्म—पापके कोई भी धनी नहीं हो सकता। लोभी मनुष्य तनिक-तनिक धनके लिये भ्रूणहत्या-जैसे पापको भी करनेमें नहीं हिचकता।

नाच्छित्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्म दुष्करम्।
नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम्॥

(यह श्लोक महाभारतमें पाँच बार आया है)

दृश्यते हि युवैवेह विनश्यन् वसुमान्नरः।
अकिंचनाश्च दृश्यन्ते पुरुषाश्चिरजीविनः॥
प्रायेण श्रीमतां लोके भोक्तुं शक्तिर्न विद्यते।
काष्ठान्यपि हि जीर्यन्ते दरिद्राणां च सर्वशः॥

(शान्ति० २८ । २७—२९)

इसी पर्वमें धनाशासे निर्विण्ण मङ्किकी गाथा बड़ी सुन्दर है। मङ्कि ब्राह्मणने धन-प्राप्तिके लिये बार-बार व्यापार, नौकरी, मन्त्राराधन, देशाटन तथा रसायन एवं निधिविद्या आदिके प्रयोग किये। उन सबके व्यर्थ होनेपर वे बैलोंकी एक जोड़ी खरीदकर खेती करने चले। रास्तेमें एक ऊँट बैठा था। बैल उसके दोनों बगलसे होकर जाने लगे। इतनेमें ऊँट भड़ककर खड़ा हो गया। अब दोनों बैल उसके दोनों कंधोंपर आ गये और वह घबराकर इधर-उधर दौड़ने लगा। इसी बीच बैलोंके मर जानेसे मङ्कि महाराजकी सारी पूँजी समाप्त हो गयी और वे स्तब्ध तथा निर्विण्ण होकर कहने लगे—

मणीवोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम।
शुद्धं हि दैवमेवेदं हठेनैवास्ति पौरुषम्॥
मा मां योजय लोभेन वृथा त्वं वित्तकामुक॥

नूनं ते हृदयं काम वज्रसारमयं दृढम्।
यदनर्थशताविष्टं शतधा न विदीर्यते॥
ईहा धनस्य न सुखा लब्ध्वा चिन्ता च भूयसी।
लब्धनाशो यथा मृत्युर्लब्धं भवति वा न वा॥
धने सुखकला या तु सापि दुःखैर्विधीयते॥
धनमस्येति पुरुषं पुरो निघ्नन्ति दस्यवः।
क्लिश्यन्ति विविधैर्दण्डैर्नित्यमुद्वेजयन्ति च॥
अर्थलोलुपता दुःखमिति बुद्धं चिरान्मया।
यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

—इत्यादि

(वही अ० १७७का सारांश)*

इसी प्रकार आश्वमेधिकपर्वमें महाराज अम्बरीषकी गायी हुई गाथा है। राजा अम्बरीष सभी दोषोंपर विजय प्राप्त कर चुके थे, किंतु राजा होनेके कारण उनमें स्वाभाविक लोभांश रह गया था। उनका कहना था—

भूयिष्ठं विजिता दोषा निहताः सर्वशत्रवः।
एको दोषो वरिष्ठश्च वध्यः स न हतो मया॥
यत्प्रयुक्तो जन्तुरयं वैतृष्ण्यं नाधिगच्छति।
तृष्णार्त इह निम्नानि धावमानो न बुध्यते॥
अकार्यमपि येनेह प्रयुक्तः सेवते नरः।
स लिप्स्यमानो लभते भूयिष्ठं राजसान् गुणान्॥
तदवाप्तौ तु लभते भूयिष्ठं तामसान् गुणान्।

---

* काम! तू अब मुझे व्यर्थ धनके लोभमें न डाल। तेरा हृदय निश्चय ही अत्यन्त दृढ़ वज्र-जैसा बना हुआ है, तभी तो तू सैकड़ों भयङ्कर अनर्थोंसे परिपूर्ण होनेपर भी शतधा विदीर्ण नहीं हो जाता। धनेच्छामें दुःख, उसके मिलनेपर रक्षा आदिकी सैकड़ों चिन्ताएँ, फिर नष्ट हो जानेपर तो मौत भी तुच्छ जान पड़ती है। धनमें जो सुखका नाम या लेश है, वह बड़े ही दुःखसे सम्पन्न होता है। धनीको डाकू आदि बड़ी पीड़ा देकर सामने ही मार डालते हैं अतः धनेच्छा घोर दुःख है।

१. मैंने बहुत-से दोषोंपर विजय पायी और शत्रुओंको भी नष्ट कर डाला; किंतु जो सबसे बड़ा दोष लोभ है, वह तो अभी रह ही गया। इस लोभके कारण ही प्राणीको वैराग्य नहीं होता। लोभीकी प्रवृत्ति सदा अशुद्ध कर्मोंकी ओर होती है और इससे मद, तृष्णा आदि अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

स तैर्गुणैः संहतदेहबन्धनः
पुनः पुनर्जायति कर्म चेह ते ।
जन्मक्षये भिन्नविकीर्णदेहो
मृत्युं पुनर्गच्छति जन्मनैव ॥
(महा० आश्वमेधिक० ३१ । ७-११)

'इच्छति शती सहस्रम्'

इसी तरह आदिपर्वमें ययातिराजाकी एक विस्तृत गाथा है, जिसका एक वचन इस प्रकार है—

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
नालमेकस्य पर्याप्तं इति मत्वा शमं व्रजेत् ॥'[1]
(महा० आदिपर्व ८५ । १३)

ब्रह्मवैवर्तपुराण, प्रकृतिखण्डमें देवराज इन्द्रकी एक गाथा है, जिसका सार अंश इस प्रकार है—

ऐश्वर्यं विपदां बीजं प्रच्छन्नाज्ञानकारणम् ।
मुक्तिमार्गार्गलं दार्ढ्यं हरिभक्तिव्यपायकम् ॥
जन्ममृत्युजरारोगशोकदुःखाङ्कुरं परम् ।
सम्पत्तितिमिरान्धश्च मुक्तिमार्गं न पश्यति ॥[2]
(प्रकृतिख० ३६ । ४७-४९)

इस विषयमें महाभारत शान्तिपर्व २७१वें अध्यायमें भी एक बड़ी सुन्दर कथा आती है। इसमें कहा गया है कि एक बार एक निर्धन ब्राह्मणने धन-प्राप्तिकी कामनासे कुण्डधार मेघकी आराधना की। पूजाके बाद थक जानेसे उस ब्राह्मणको वहीं कुशासनपर निद्रा आ गयी। उसने स्वप्नमें मणिभद्र नामक यक्षको देवताओंके सामने अनेक पदार्थ बाँटते हुए देखा। इतनेमें ही उस ब्राह्मणका आराध्य मेघ भी उस यक्षके सामने आकर लेट गया। मणिभद्रने उससे कहा कि 'दण्डधार! तुम क्या चाहते हो?' मेघने कहा कि 'यह ब्राह्मण हमारा भक्त है। यदि आप तथा देवतालोग मुझपर प्रसन्न हैं, तो इसपर भी कुछ कृपा कराना चाहता हूँ, जिससे इसे भी कुछ प्राप्त हो जाय।' पितर-देवताओंकी सम्मति पाकर मणिभद्र उस मेघसे कहने लगा कि 'मेघ! उठो, उठो, तुम्हारा काम बन गया है। इसे तुम जितना भी धन दिलाना चाहते हो, दिला दो।' किंतु कुण्डधार कहने लगा 'नहीं, मैं अपने भक्तको संतोषभरी पृथ्वी या कोई विशाल धनराशि नहीं देना चाहता, मैं तो यही चाहता हूँ कि यह धार्मिक हो जाय तथा इसकी बुद्धि एकान्त तपमें लग जाय।'

धर्मप्रधानो भवतु ममैषोऽनुग्रहो मतः ॥ (२७१ । २१)

जगनेपर ब्राह्मणको वैराग्य हो गया। अब वह वनमें रहकर निरन्तर तप करने लगा। कठोर तप करनेके बाद उसे दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गयी। बादमें उसे वह शक्ति भी प्राप्त हो गयी जिसे किसीको कह देनेपर राज्य आदि भी मिल जाता। इसी बीच एक दिन कुण्डधार उसके सामने प्रकट होकर कहने लग गया—'ब्राह्मणश्रेष्ठ! तुम्हें निर्मल दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गयी है। अब तुम इनके द्वारा प्राप्त होनेवाली राजाओं तथा धनियोंकी दुर्गति तथा विविध लोकोंको भी देख लो।' ब्राह्मणने देखा कि हजारों राजा भीषण नरकमें पड़े हुए हैं। कुण्डधारने कहा कि 'एक बार तुम पुनः इन्हें भली प्रकार देख लो। भला कहो, यदि तुम्हारी पूजाके बदलेमें यदि तुम्हें धन दिलाकर इसी प्रकार मैं दुर्गतिमें डाल देता तो तुम्हारा क्या उपकार होता? पता नहीं, प्राणी भोगोंकी लालसा क्यों करता है? इससे उसके लिये स्वर्गका द्वार तो सदाके लिये ही बंद ही हो जाता है।'

स्वर्गद्वारं हि संरुद्धं मानुषेषु विशेषतः ॥
(२७१ । ४६)

बाइबिल न्यू टेस्टामेन्ट मैथ्यू १९ । २४ का—'It is easier for a camel to go through the eye of a needle than for a rich man to enter into the kingdom of heaven."*

कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय ।
वह खाये बौरात जग यह पाये बौराय ॥

[1] पृथ्वीमें जितना भी अन्न, धन, सुवर्ण, पशु एवं स्त्रियाँ आदि हैं, वे तो एक व्यक्तिके भी लोभ या तृष्णाको दूर या तृप्त करनेमें समर्थ अथवा पर्याप्त नहीं हैं (अर्थात् तृप्तिका मार्ग तृष्णापूर्ति या भोगाभ्यास नहीं; भोग-तृष्णादिका त्याग है), अतः उपशमको ही प्राप्त होना चाहिये।

[2] ऐश्वर्य सारी विपत्तियोंका बीज है। वह प्रच्छन्न अज्ञानका कारण तथा मुक्तिमार्गके द्वारका तो दृढ साँकल ही है। भगवद्भक्तिको तो वह समाप्त ही कर देता है। धन जन्म, मरण, जरा, रोग, शोक तथा अन्यान्य सभी क्लेशोंका अङ्कुर है। सम्पत्तिरूप अँधेरेमें पड़ा हुआ बेचारा अन्धा मुक्तिमार्गको किसी भी प्रकार देख नहीं पाता।

* सूईके छेदमेंसे ऊँट चाहे निकल जाय, पर धनी आदमीका स्वर्ग-(भगवद्-) राज्यमें प्रवेश तो उसकी अपेक्षा भी बहुत कठिन है

(बहुतोंका यह अनुमान है कि ईसाने भारतसे ही शिक्षा पायी थी ।)

यह वचन भी इसका अनुवादमात्र है, बादमें उस ब्राह्मणको जल, आकाश आदिमें चलनेकी शक्ति तथा संकल्पसिद्धि भी प्राप्त हो गयी और उसे धर्ममें महान् आनन्द आने लगा ।

प्रतिग्रह भी दोषपूर्ण

मनु आदि तत्त्ववेत्ताओंने प्रतिग्रह (दान लेने) को भी दोषयुक्त बतलाया है । वे कहते हैं—

प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसङ्गं तत्र वर्जयेत् ।
प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति ॥
न द्रव्याणामविज्ञाय विधिं धर्म्यं प्रतिग्रहे ।
प्राज्ञः प्रतिग्रहं कुर्यादवसीदन्नपि क्षुधा ॥
हिरण्यं भूमिमश्वं गामन्नं वासस्तिलान् घृतम् ।
प्रतिगृह्णन्नविद्वांस्तु भस्मीभवति दारुवत् ॥
हिरण्यमायुरन्नं च भूर्गौश्चाप्योषतस्तनुम् ।
अश्वश्चक्षुस्त्वचं वासो घृतं तेजस्तिलाः प्रजाः ॥
अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः ।
अम्भस्यश्मप्लवेनैव सह तेनैव मज्जति ॥

(मनुस्मृति ४ । १८६—१९०)

अर्थात् दान लेनेमें जो व्यक्ति तप-विद्यादिसे समर्थ हो, उसे भी दान नहीं लेना चाहिये; क्योंकि दान लेनेसे उसका ब्रह्मतेज तुरंत नष्ट होने लगता है और मूर्ख व्यक्ति तो दान लेकर पत्थरकी नावपर चढ़ने-जैसे उसीके साथ डूब ही जाता है । सोनेका दान लेना आयु-नाशक, अन्न, पृथ्वी, गौका प्रतिग्रह शरीरको, अश्वका प्रतिग्रह नेत्रको, वस्त्रका दान-ग्रहण चमड़ीको, घीका तेजको तथा तिलका प्रजा-संततिको नाश करता है । जैन विद्वान् श्रीसोमप्रभाचार्यने भी अपनी सूक्ति-मुक्तावलीमें प्रतिग्रहकी बड़ी आलोचना की है । वे इसे सभी दोषोंकी जड़ बतलाते हैं—

कलहकलभविन्ध्यः क्रोधगृध्रश्मशानं
व्यसनभुजगरन्ध्रं द्वेषदस्युप्रदोषः ।
सुकृतवनदवाग्निर्मार्दवाम्भोदवायु-
र्नयनलिनतुषारोऽत्यर्थमर्थानुरागः ॥४२॥
निःशेषधर्मवनदाहविजृम्भमाणे
दुःखौघभस्मनि विसर्पदकीर्तिधूमे ।
बाढं धनेन्धनसमागमदीप्यमाने
लोभानले शलभतां लभते गुणौघैः ॥४५॥

गुन सागर नागर नर जोऊ । अलप लोभ भल कहै न कोऊ ॥
जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई ॥

'लोभः प्रतिष्ठा पापस्य' आदि ।

पद्मपुराण सृष्टिखण्ड अध्याय १९; स्कन्दपुराण नागर-खण्ड अध्याय ३२ तथा महाभारत अनुशासनपर्व अध्याय ९३ में प्रायः एक ही प्रकारके श्लोकोंमें सप्तर्षियोंके प्रतिग्रह-वैमुख्यका एक बड़ा सुन्दर प्रसंग प्राप्त होता है । एक बार सारे विश्वमें बड़ा भीषण अकाल पड़ गया था । उस समय सभी बड़े कष्टमें पड़ गये थे । उस समय वृषादर्भी नामका एक राजा बड़ा सम्पन्न था । उसने क्षुधापीड़ित सप्तर्षियोंको दान देना चाहा । उनके अस्वीकार करनेपर उसने उनके मार्गमें गूलरके फलोंमें अशर्फियाँ छिपाकर रखवा दीं । पर महर्षि अत्रि उनमेंसे एकके उठाते ही उसका वजन देखकर राजाकी करतूतको भाँप गये । उन्होंने कहा कि 'मैं गूलरका वजन भलीभाँति समझता हूँ । इसमें अवश्य ही सोना भरा हुआ है । एक तो प्रतिग्रह ही बड़ा भयानक है । दूसरे राजाका प्रतिग्रह तो अत्यन्त घोर होता है । फिर वह यदि धार्मिक न हुआ तो कहना ही क्या ? ब्राह्मणोंका तो धर्मानुष्ठानके लिये भी किया गया प्रतिग्रह अनुचित है; क्योंकि कीचड़में हाथ सानकर उसे धोनेसे कीचड़का न लगाना ही भला है ।'

धर्मार्थमपि विप्राणां संचयोऽर्थस्य गर्हितः ।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम् ॥

(पद्म० सृष्टि० १९, २३०; स्कन्द० नागर० ३२, ३८; महाभारत अनु० ९३, ३३; पंचतन्त्र २, १६५; हितोपदेश १ । १८१)

इसी प्रसङ्गमें महर्षि कश्यपने तो यहाँतक कह दिया था कि धनसे प्राप्त होनेवाला धर्म भी क्षयिष्णु तथा सामान्य है । वास्तविक धर्म तो तप तथा ज्ञानादिके द्वारा ही प्राप्त होता है । मोक्ष भी उसीसे साध्य है—

योऽर्थे न साध्यते धर्मः क्षयिष्णुः स प्रकीर्तितः ।
यः पुनस्तपसा साध्यः स मोक्षायेति मे मतिः ॥

इसके बाद उदाहरणमें सक्तुप्रस्थीय मुद्गल ब्राह्मणका उदाहरण दिया जा सकता है । जिसके स्वल्प सत्तूमें सनकर नेवलेका वर्ण सोनेका हो गया था, किंतु महाराजा युधिष्ठिर-जैसे हरिदासवर्य तथा अजातशत्रु राजाके महान्

यज्ञके अवशेषांशोंमें लाख बार लोटनेपर भी उसे कोई लाभ नहीं हो रहा था। पद्मपुराण स्वर्गखण्डका तो यहाँतक कथन है कि धनके लोभ तथा प्रतिग्रहके चक्करमें पड़ा हुआ ब्राह्मण अधोगतिको प्राप्त होता है। साथ ही उसका ब्राह्मणत्व भी समाप्त हो जाता है, जो किसी अन्य प्रकारसे प्रायः नहीं नष्ट होता।

वृत्तिसंकोचमेवेच्छेन्नेहेत धनविस्तरम्।
धनलोभे प्रसक्तस्तु ब्राह्मण्यादेव हीयते॥
वेदानधीत्य सकलान् यज्ञांश्चावाप्य सर्वशः।
न तां गतिमवाप्नोति संतोषाद्यामवाप्नुयात्॥
प्रतिग्रहरुचिर्न स्याच्छूद्रान्न तु समाहरेत्।
स्थित्यर्थादधिकं गृह्णन् ब्राह्मणो यात्यधोगतिम्॥

(आनन्दाश्रम पूनाका संस्करण ५७। ७०—७२)

लक्ष्मी तथा दरिद्राका एक विचित्र संवाद

धनसे होनेवाले दोषोंके सम्बन्धमें ब्रह्मपुराणमें एक लक्ष्मी तथा दरिद्राका विचित्र संवाद प्राप्त होता है। यद्यपि संवादके अन्तमें भगवती गोदावरीद्वारा लक्ष्मीको ही विजयश्री प्रदान की गयी है तथापि धनसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंको आँखें खोलकर यहाँ देख लेना भला ही होगा। इसमें दरिद्रा देवीका कहना था—

कामः क्रोधश्च लोभश्च मदो मात्सर्यमेव च।
यत्राहमस्मि तत्रैतो न तिष्ठन्ति कदाचन॥
सुखं न तादृक् त्वत्प्राप्तौ पश्चात्तापो यथा गुरुः।
न तथा जायते पुंसां सुरया दारुणो मदः।
त्वत्संनिधानमात्रेण यथा वै विदुषामपि॥
सदैव रमसे लक्ष्मीः प्रायस्त्वं पापकारिषु।
अहं वसामि योग्येषु धर्मशीलेषु सर्वदा।
शिवविष्ण्वनुरक्तेषु कृतज्ञेषु महत्सु च॥
सत्सु विद्वत्सु शूरेषु कृतबुद्धिषु साधुषु।
ब्राह्मणेषु शुचिष्मत्सु व्रतचारिषु भिक्षुषु॥
निर्भयेषु वसिष्यामि लक्ष्मीस्त्वं शृणु ते स्थितिम्।
राजवर्तिषु पापेषु निष्ठुरेषु खलेषु च॥
पिशुनेषु च लुब्धेषु विकृतेषु शठेषु च।
अनार्येषु कृतघ्नेषु धर्मघातिषु सर्वदा॥
मित्रद्रोहिष्वमित्रेषु भग्नचित्तेषु वर्तसे।

(अ० १३७।६।२८)

उपसंहार

यहाँ बहुत संक्षेपमें ही विशिष्ट स्थलोंका सार-सार संगृहीत है। विभिन्न वैराग्यशतकोंका तो कोई अंश भी नहीं लिया गया। इन्हें मूलग्रन्थोंमें ही देख उनसे लाभ उठाकर सदा संतुष्ट रहनेका प्रयत्न करना चाहिये। शास्त्रोंका तात्पर्य मनुष्यको शोक-मोह, चिन्ता-दुःखसे मुक्त कर पूर्ण शान्ति प्रदान करनेमें ही है। अतः अकिञ्चन व्यक्तिको परम प्रसन्न होकर अपना सौभाग्य मानना चाहिये तथा अपनेको भगवत्कृपाका विशेष पात्र और बहुत ही भाग्यशाली मानकर विशेष भजन करना चाहिये। जब दीनबन्धु उसके सच्चे बन्धु हो जाते हैं, तब उसे भला और क्या चाहिये? शास्त्रोंके अनुसार दीन-हीन-अकिञ्चनको दानादि न दे सकनेका प्रत्यवाय भी नहीं प्राप्त होता। उसका स्वाभाविक जीवन ही परम तपोमय माना जाता है—

कृच्छ्रं यदृच्छयाऽऽप्नोति तद्धि तस्य परं तपः।

(श्रीमद्भागवत १०।११।११)

और यदि वह एक कौड़ीका भी दानादि करता है, तो उसकी महान् महिमा होती है; क्योंकि उसमें त्याग होता है। सक्तुप्रस्थीय मुद्गलादिके धर्मकार्य इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

धनमें महान् दुर्गुण और दोष भरे हैं, परंतु धनके बिना आजकल जीवन-निर्वाह कठिन हो गया है। इसलिये धन कमाना आवश्यक होनेपर भी अन्याय, असत्य, चोरी,

---

* जहाँ मैं रहती हूँ वहाँ काम, क्रोध, मद, मात्सर्य आदि दोष नहीं पनप सकते। लक्ष्मी देवी! तुम्हारी प्राप्तिमें जितना हर्ष नहीं होता, उससे अधिक क्लेश होता है और चले जानेपर जो पश्चात्ताप होता है, उसका क्या कहना। मेरा निवास तो शिव-विष्णुके भक्तों, ब्रह्मचारी, संन्यासी, साधु-संतों, विद्वानों, शूरों तथा पवित्र ब्राह्मणोंमें ही होता है, जो तुम्हारा स्पर्श भी नहीं करते, पर तुम तो प्रायः कृपण, शठ, खल, दुष्ट, निन्दक, लोभी, कुटिल, कृतघ्न, धर्मघाती, मित्रद्रोही तथा चुगलखोर राजसेवियोंके पास ही रहती हो।

तुलसीदासजी कहते हैं—

रमा बिलास राम अनुरागी। तजत बमन इव नर बड़भागी॥

रामप्रेमी बड़भागी मनुष्य लक्ष्मीके विलासका वमनकी भाँति त्याग कर देते हैं, वे उसकी ओर झाँकते भी नहीं।

परायाहरण आदिका आश्रय न लेकर सदा सत्यतापूर्वक धर्मसम्मत मार्गसे शुद्ध धनार्जनका प्रयत्न करना चाहिये। जिनके पास धन है, उनको धनका स्वामी अपनेको न मानकर भगवान्‌का सेवक मानना चाहिये और धनपर भगवान्‌का ही शामिल मानते हुए ईमानदार सच्चे सेवककी भाँति उसे भगवान्‌की सेवामें ही लगाना चाहिये। धनहीन गरीबोंको तुच्छ न मानकर उन्हें भगवत्स्वरूप मानते हुए भगवद्बुद्धिसे ही उनकी सत्कारपूर्वक धनादिके द्वारा सेवा करनी चाहिये। श्रीमद्भागवतमें आये हुए देवर्षि नारदजीके इन शब्दोंको याद रखना चाहिये—

> यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
> अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥
>
> (श्रीमद्भागवत ७। १४। ८)

'जितनेसे अपना पेट भरे केवल उतने ही धनपर मनुष्यों-का अधिकार है, इससे अधिकको जो अपना मानता है, वह चोर है और उसे दण्ड मिलना चाहिये।'

* * *

नाम-साधनापर एक दृष्टि

(लेखक—पं० श्रीजयकान्तजी झा)

> पापानलस्य दीप्तस्य मा कुर्वन्तु भयं नराः।
> गोविन्दनाममेघौघैर्नश्यते नीरबिन्दुभिः॥
>
> (गरुडपुराण)

'हे मनुष्य! प्रदीप्त पापाग्निको देखकर भय मत करो। गोविन्दनामरूप मेघोंके जलबिन्दुओंसे इसका नाश हो जायगा।'

हम अटल, अखण्ड और आत्यन्तिक सुख चाहते हैं, परंतु सुखकी मूलभित्ति धर्मका सर्वनाश करनेपर तुले हुए हैं। ऐसी स्थितिमें सुखके स्वप्नसे भी जगत्‌को निराश रहना पड़ता है। हमारी इस दुर्दशाको महापुरुषों और भगवद्भक्तोंने पहलेसे ही जान लिया था, इसीसे उन्होंने दया-परवश हो हमारे लिये एक ऐसा उपाय बतलाया जो इच्छा करनेपर सहजहीमें काममें लाया जा सकता है; परंतु जिसका वह महान् फल होता है जो कल्पोंमें बड़े-बड़े यज्ञ, तप और दानसे भी नहीं होता था, वह है श्रीहरिनामका जप, कीर्तन और स्मरण। वेदान्तदर्शनके निर्माता भगवान् वेदव्यासरचित श्रीमद्भागवतमें ज्ञानिश्रेष्ठ शुकदेवजी महाराज शीघ्र ही मृत्युको आलिङ्गन करनेके लिये तैयार बैठे हुऐ राजा परीक्षित्‌से पुकारकर कहते हैं—

> **कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।**
> **कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥**
> **कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।**
> **द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥**

'हे राजन्! इस दोषोंसे भरे कलियुगमें एक महान् गुण यह है कि केवल श्रीकृष्णके नाम-कीर्तनसे ही मनुष्य कर्म-बन्धनसे मुक्त होकर परमात्माको प्राप्त कर सकता है। सत्ययुगमें ध्यानसे, त्रेतामें यज्ञोंसे और द्वापरमें परिचर्यासे जो पद प्राप्त होता था, वही कलियुगमें केवल श्रीहरिनाम-कीर्तनसे प्राप्त होता है।'

भगवन्नाममें सर्वार्थ-साधनकी क्षमता निहित है। श्रद्धा, भक्ति और ऐकान्तिक निष्ठाके साथ उस नामका जप करते-करते क्षमताका विकास होता है। भोजन करते समय जैसे ध्यान रहता है व्यञ्जनकी ओर, स्वाद-की ओर, किंतु प्रत्येक ग्रासके साथ-ही-साथ क्षुधानाश, देह और इन्द्रियोंकी शक्तिवृद्धि तथा स्वादका सुख—तीनों अपने-आप मिलते जाते हैं, उसी प्रकार नाम-जपके समय चित्त तो संलग्न रहता है नाम-नामीके अभिन्नस्वरूप मन्त्रमें, किंतु प्रतिबारके नामोच्चारणके साथ-ही-साथ अलक्षित रूपमें अनित्य विषय-भोग-वैराग्य, नित्य

सत्य चिदानन्दस्वरूप मन्त्रात्मा भगवान्‌में प्रेमभक्ति एवं सर्वार्थसिद्धिमयी भगवदनुभूति और तज्जनित अतीन्द्रिय सुख हृदयके अंदर विकास पाता रहता है। भोजनके फलस्वरूप ग्रास-ग्रासमें पुष्टि और क्षुधा-निवृत्ति इत्यादिके सम्पन्न होते रहनेपर भी जैसे वे प्रतिग्रासमें दिखायी नहीं देते——अनेक ग्रासोंका फल संचित होनेपर ही पता लगता है, उसी प्रकार नाम-जपके अत्याश्चर्यजनक फलको भी प्रतिबारके नामोच्चारणके साथ-साथ अस्वच्छबुद्धि साधक समझनेमें समर्थ नहीं होता। दीर्घकालके निरन्तर साधनसे अन्तःकरणमें संचित आध्यात्मिक सम्पत्ति अपनी ज्योतिसे ऊपरी मलको दग्ध करके बुद्धि और हृदयके सम्मुख जब प्रकाशित होती है तभी इसका अनुभव होता है। बुद्धि और हृदय जब स्वच्छ हो जाते हैं, तभी नामके भीतर निहित अचिन्त्य भाव-सम्पत्तिका प्रतिबारके नाम-स्मरणमात्रमें आस्वाद प्राप्त होने लगता है।

नाममें अक्षर-बुद्धि रखना शास्त्रोंमें महान् अपराध माना गया है। नाम प्राणवान् होता है और होता है आध्यात्मिक तेजका आधार। साधक जितना ही दिन-पर-दिन, क्षण-पर-क्षण नामकी सेवा करता रहता है, उतना ही नामका माहात्म्य साधकके विशोधित अन्तःकरणमें प्रकाशित होता रहता है एवं नाम-निहित शक्ति साधकके अंदर ज्ञान, भाव, रसादि ऐश्वर्योंको स्वयं प्रकट करके साधकको कृतार्थ कर देती है। साधकको सर्वाङ्गीण कल्याणपर पहुँचानेके लिये जिन-जिन वस्तुओंका प्रयोजन होता है, वे सभी नाम-साधनासे सुलभ हो जाती हैं। शास्त्रीय विचारके द्वारा नाम-तत्त्वको हृदयङ्गम करके उसकी अचिन्त्य शक्तिमें अविचल विश्वास रखना आवश्यक होता है। ऐसी धारणा बनाये रखनी चाहिये कि नाम और नामी दोनों एक-मूर्ति हो नामरूप चिन्मय देह धारण करके अपनी कृपासे हमारे हृदयमें विराजमान हैं, अतः सर्वदा सतर्क, अप्रमत्त और भक्तिपूत-चित्त होकर उनकी सेवामें सम्पूर्ण शक्तियोंका लगाना ही हमारा कर्तव्य है। नित्य-निरन्तर प्रेमके साथ नाम-स्मरण-चिन्तन एवं निदिध्यासन ही हमारा अभीष्ट होना चाहिये। यही नाम-साधना है। इसीसे सर्वार्थसिद्धि होती है।

‘जपात्सिद्धिर्जपात्सिद्धिर्जपात्सिद्धिर्न संशयः।’

नामके उच्चारण या स्मरणमात्रसे नामीका स्वरूप चित्तपटपर उदित होता है। अतः नामका अर्थ है ‘नामी’। नामीके स्वरूपके साथ जितना घनिष्ठ परिचय संस्थापित होता है, नामका अर्थ उतना ही स्पष्ट होता जाता है। नामका विश्लेषण करके उसके प्रत्येक अक्षर और प्रत्येक मात्राके अर्थ एवं उनकी समष्टिके शाब्दिक अर्थकी शब्दशास्त्र और युक्तितर्ककी सहायतासे बुद्धिद्वारा यथासम्भव निपुणताके साथ पर्यालोचना करनेपर भी नामके वास्तविक अर्थका यथार्थ ज्ञान नहीं होता। किसी एक नये मनुष्यसे भेंट होनेपर, उसके सम्पूर्ण अङ्ग-प्रत्यङ्गोंके आकार-संनिवेश और गतिविधिका विशेषरूपसे निरीक्षण करनेसे, अथवा बाहरसे उसकी कितनी ही बातें सुनकर या कार्योंको देखकर या उसकी वंशावलीका परिचय जाननेसे भी उस मनुष्यको यथार्थ रूपसे जाना या पहिचाना नहीं जाता। मनुष्यके साथ नाना प्रकारकी अवस्थाओंमें बार-बार संग करते-करते उसके कार्य-कलाप, वार्तालाप, हावभाव इत्यादिके भीतरसे उसके अन्तर्जीवनकी प्रकृतिके सम्बन्धमें जितना घनिष्ठ परिचय प्राप्त होता है, मनुष्यकी चिन्ताधारा, भावधारा, कर्मधारा, ज्ञान-विज्ञान, शक्ति-सामर्थ्य और सुख-दुःख इत्यादिके साथ जितना योग संस्थापित होता है, उतना ही उसको पहचाना जाता है, समझा जाता है और उसके साथ एक सम्बन्ध प्रतिष्ठित हो जाता है। उसी प्रकार नाम-देहके अङ्ग-प्रत्यङ्गके संनिवेशको [illegible] खोजनेपर भी उसके सम्बन्धमें कोई वास्तविक ज्ञान प्राप्त नहीं होता और तत्त्वतः नामका अर्थ अज्ञात ही रहता

है । नामके वास्तविक अर्थका यथार्थ परिचय प्राप्त करनेके लिये नित्य-निरन्तर विचारशील चित्तसे नामकी सेवा करना आवश्यक है । श्रद्धा, भक्ति और एकाग्रताके साथ विचारपूर्वक नामका संग और सेवा करते-करते नाम-रूपमें अवतीर्ण भगवान्का स्मरण, चिन्तन और कीर्तन करते-करते—देह, मन और बुद्धि जितनी निर्मल, विक्षेपरहित एवं प्रेम-रस-सिक्त होगी, उतना ही नामके अन्तर्जीवनके साथ साधकका परिचय होगा, उतना ही नाम और नामीके बीचका प्राकृतिक व्यवधान तिरोहित होगा, नामके भीतर भगवान्का प्रकाश भी उतना ही समुज्ज्वल होगा और विश्वगुरु भगवान् अपने सम्पूर्ण ऐश्वर्यके साथ नामके भीतरसे अपनेको प्रकट करके साधकको कृतार्थ कर देंगे और तभी नामका सम्यक् अर्थ जाना जायगा । नामके अर्थको समझ सकना या नामी भगवान्के स्वरूपकी उपलब्धि कर लेना एक ही बात है । भगवान्को पहचानना ही नामको पहचानना है, भगवान्के साथ परिचय होना ही नामसे परिचय होना है । सुदृढ विश्वास और अनुरागके साथ नाम-भजन करते-करते जितनी ही नामकी अर्थोपलब्धि होगी, अर्थात् नामके साथ परिचय होगा, उतना ही नामका प्रत्येक अक्षर, प्रत्येक मात्रा चिन्मय जान पड़ेगी एवं नाम-स्मरण-मात्रसे चित्त भगवान्में समाहित हो जायगा । अतः साधकको आरम्भसे ही 'नाम'को चिन्मय, अचिन्त्य शक्तिसम्पन्न और भगवान्के साथ स्वरूपतः अभिन्न मानकर विश्वास रखना चाहिये ।

निरन्तरका नाम-जप ही प्रकृष्ट साधन है । खाते, सोते, बात करते, रास्ता चलते, काम करते—सर्वदा सभी अवस्थाओंमें नाम-स्मरणकी चेष्टा बनी रहनेपर शीघ्र-शीघ्र उन्नति होती चली जाती है । प्रत्येक श्वास-प्रश्वासके साथ नाम-जप करना ही श्रेयस्कर है । ऐसा विश्वास रखना चाहिये कि श्वास लेनेके साथ-साथ अचिन्त्यशक्ति-समन्वित नाम भीतर प्रवेश करके शरीर, इन्द्रिय और मनके प्रत्येक रन्ध्र-रन्ध्रमें प्रवेश कर जाता है, एवं सम्पूर्ण सत्ताको भगवद्भावभावित और भगवद्-भक्ति-रससे प्लावित कर देता है । नाम-जप इस प्रकार करना आवश्यक है कि नाम-जप करनेमें किसी विशेष आयोजन या प्रयत्नकी आवश्यकता न पड़े—अपने अनजानमें भी मन स्वभावसे ही नाम-जपमें लगा रहे । नामकी शक्तिसे मनका धर्म बदल जाता है—नित्य-निरन्तर भगवद्भावाविष्ट होकर रहना ही उसका स्वभाव बन जाता है । शरीर यदि अपवित्र हो, इन्द्रियाँ यदि चञ्चल रहें, मन यदि कुत्सित चिन्तामें डूबा हो, तो भी नामको नहीं छोड़ना चाहिये । नामको किसी प्रकार अपवित्र नहीं किया जा सकता, नामका माहात्म्य किसी प्रकार नष्ट नहीं किया जा सकता, नाम नित्य-शुद्ध, नित्यमुक्त, महाशक्तिका आधार है । सभी अवस्थाओंमें नामका संग करते-करते, नाम ही देहेन्द्रिय-मन-बुद्धिकी पवित्रता, स्थिरता और आत्मनिष्ठता सम्पादन करके अपने स्वरूपको प्रकाशित करेगा । नित्य-निरन्तर नाम-साधनका अभ्यास करनेसे और किसी साधनका प्रयोजन नहीं होता, किसी शक्ति या प्रक्रियाकी सहायता लेनेकी आवश्यकता नहीं होती ।

इस प्रकार ऐकान्तिकनिष्ठ और अनुरागके साथ नाम-जप करते-करते प्राणका कार्य अपने-आप नियमित हो जाता है, चित्त नामानन्दरसके आकर्षणसे विषय-विमुख होकर भगवत्स्वरूपमें धारणा करनेकी योग्यता प्राप्त कर लेता है एवं क्रमशः भगवान्में निश्चला निष्काम-भक्ति प्राप्त कर लेता है । अतः ऐसे सुगम एवं सर्वश्रेष्ठ साधनके द्वारा ही हमें अपना जीवन कृतार्थ करना अभीष्ट है ।

* * *

युगधर्म

(लेखक—श्रीओमप्रकाशजी दुबे, एम्० ए०)

सभी युगोंका एक 'धर्म' होता है, परंतु सभी युग 'धार्मिक युग' नहीं होते। युगधर्म और धर्मयुगमें उतना ही अन्तर है, जितना वैद्यराज और राजवैद्यमें। धर्म मानवजीवनका वह तत्त्व है जिससे उसका जीवन संयमित, संतुलित एवं संचालित होता है। मनुष्यके शरीर-धारण करनेका क्या उद्देश्य है? उस उद्देश्यकी प्राप्तिके कौन-कौनसे साधन हैं और लक्ष्य प्राप्त होनेके उपरान्त किस प्रकारका व्यवहार हो, ये सारी बातें धर्ममें बतायी जाती हैं।

आजके युगमें 'धर्म' शब्दको तथाकथित शिक्षितवर्ग हेय दृष्टिसे देखता है। अपनेको किसी धर्मके अन्तर्गत न मानना एक फैशन होता जा रहा है। पर क्या आदमी बिना धर्मके रह सकता है? 'धर्म' से मेरा तात्पर्य हिंदू, मुसलमान, ईसाई, जैन, बौद्ध, सिख, पारसी इत्यादिसे नहीं। धर्मका अर्थ बड़ा व्यापक और विस्तृत है। अंग्रेजी भाषामें तो इसके अर्थको प्रकट करनेवाला कोई उपयुक्त शब्द ही नहीं है। जिस प्रकार मनुष्यके लिये भोजन, वस्त्र आदि अत्यावश्यक है, उसी प्रकार धर्म भी। धर्मके कारण ही हम 'मनुष्य' बने हैं, नहीं तो पशु और हममें कोई अन्तर नहीं—

आहारनिद्राभयमैथुनं च
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

आधुनिक युग मुख्यतया विज्ञानका युग है। प्रज्ञावाद (Intellectualism) आजका मुख्य दर्शन है। आध्यात्मिक विचारधाराएँ अब कुण्ठित-सी होती जा रही हैं। धर्मका ह्रास होता जा रहा है। प्रज्ञावादके चक्करमें आकर मनुष्य मशीन हो गया है। जब बुद्धितत्त्व प्रधान होता है, तो हृदयतत्त्व गौण हो जाता है। परंतु बुद्धिकी भी एक सीमा होती है। वहाँतक पहुँचनेके बाद बुद्धि 'अज्ञात'की कठोर मारोंसे ऊबकर लौट आती है, तब हृदय-पक्षका प्राधान्य होता है। धर्मका सम्बन्ध बुद्धिकी अपेक्षा हृदयसे अधिक है। यद्यपि बुद्धि मानवमात्रके लिये वरदान है, परंतु भस्मासुरकी भाँति बुद्धिने इस वरदानका 'परीक्षण' प्रारम्भ कर दिया है। एटम बम, हाइड्रोजन बम आदिके परीक्षण बुद्धितत्त्वके प्रलयंकारी नृत्य हैं, जिन्हें शिव—(अर्थात् कल्याणकारी) शक्तिके द्वारा ही शमित किया जा सकता है। बुद्धिकी मदिरामें प्रमत्त आज विश्वरूपी मानव युद्धके कगारपर खड़ा झूम रहा है, उसके पद विचलित हो रहे हैं। स्थितिकी भयानकता बढ़ती जा रही है और यदि कोई उसे चेतनामें लानेका प्रयास नहीं करेगा तो विनाश निश्चित है।

आखिर इस मदिराको बनानेवाले कौन हैं और कहाँ है वह स्थान जहाँ यह बनती है? इस 'मधु' का निर्माण करनेवाले हैं आजके वैज्ञानिक। मधुशाला है वैज्ञानिक प्रयोगशाला और पिलानेवाली 'मधुबाला' है—आजका राजनीतिकवर्ग। लगभग पिछले पचास वर्षोंसे मानव (चाहे वह पश्चिमका हो या पूर्वका) विज्ञानके नशेमें चूर है और धर्मको भूलता जा रहा है। आजके नवीनतम वैज्ञानिक आविष्कार उसके नशेको और उद्दीप्त करनेवाले नृत्य-गायनका लालच दे रहे हैं।

धर्मके ह्रासका एक और कारण है। वह है—विचार-स्वातन्त्र्य। यहाँ एक प्रतिवाद उठ सकता है कि विचार-स्वातन्त्र्य तो मानवकी विभूति है, यदि इसकी वजहसे धर्मका ह्रास होता है तो हो। यदि धर्म विचार-स्वातन्त्र्यपर प्रतिबन्ध लगाता है तो वह धर्म नहीं वरं अधर्म है। विचारोंकी दुनियामें स्वतन्त्रता तो सबके लिये अपेक्षित है। परंतु यह स्वतन्त्रता नियन्त्रण न पाकर उच्छृङ्खलता, उद्दण्डता और बर्बरतामें परिणत हो जाती है। पतंग जबतक डोरसे युक्त रहती है, तबतक तो ठीकसे उड़ती है, परंतु जब डोर टूट जाती है तब वह 'अवारा' हो जाती है जिसका न कोई पथ है न लक्ष्य। अतः स्वतन्त्रताको 'अतन्त्रता' में बदल जानेसे रोकनेके लिये धर्मरूपी डोरकी आवश्यकता होती है।

संयोगकी बात है कि अब दुनियाकी वे शक्तियाँ जो मदान्ध होकर एक दूसरेको युद्धके लिये ललकार रही थीं, कुछ-कुछ होशमें आ रही हैं। विगत दो महायुद्धोंकी विभीषिकाएँ यह सिद्ध कर चुकी हैं कि हिंसक प्रवृत्तिसे मानवताका संहार हो जायगा, विश्वका विनाश हो जायगा। अहिंसासे ही जीव और जगत्की रक्षा हो सकती है। तो क्या

अहिंसा ही 'युगधर्म' है, जिसे होशमें आकर मनुष्यने समझा है! हाँ, अहिंसा ही 'युगधर्म' है। अभी थोड़े ही दिन हुए विश्वकी महान् शक्तियोंने आपसमें अहिंसात्मक संधि की है कि वे यथासम्भव युद्ध न करेंगी। वास्तवमें यदि इतिहासपर दृष्टिपात किया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि युद्ध या हिंसासे किसी समस्याका समाधान नहीं हो पाया है। अहिंसा ही वह शक्तिशाली अस्त्र है, जिससे सभीपर विजय पायी जा सकती है।

इस युगधर्म 'अहिंसा' का पाठ विश्वने भारतसे पढ़ा है। इस अहिंसारूपी अमृतका निर्माण करनेवाले हैं—भारतके ऋषि, महर्षि; निर्माणस्थल है भारत, मधुशाला है सम्पूर्ण विश्व और मधुबाला है भारत-भूमिमें जन्म लेनेवाला जनसमुदाय। भारत सदासे गुरुओंका देश रहा है। सिकंदर जब भारत-विजयके लिये आने लगा, तब उसके भी गुरु अरस्तूने उससे भारतका एक 'ज्ञानी गुरु' लानेको कहा। ज्ञानकी किरणें 'पश्चिम'को 'पूर्व' से ही जाती हैं। गुरुओंका देश होनेके साथ-ही-साथ भारत धर्मोंका भी देश रहा है। यह अनेक धर्मोंकी जन्मभूमि है। हिंदू, जैन, बौद्ध, सिख इत्यादि धर्म भारतमें ही उत्पन्न होकर अन्य स्थानोंपर फैले हैं। विश्वके अन्य किसी भी देशको अनेक धर्मोंकी जन्मभूमि होनेका श्रेय नहीं प्राप्त है। यहींसे भगवान् बुद्धके मध्यममार्ग और भगवान् महावीरके अहिंसा-संदेश दूर-दूरतक फैले। यहींसे भगवान् श्रीकृष्णके निष्काम कर्मवादको दुनियाके लोगोंने सीखा और समझा।

स्वतन्त्रताप्राप्तिके पश्चात् भारतमें जब अपनी सरकार बनी तो इस युगधर्मके आधारपर ही भारतकी अन्ताराष्ट्रीय नीति निर्धारित हुई। पञ्चशीलके सिद्धान्तोंको भारतने पुनः नया स्वरूप दिया और अनेक देशोंने इन सिद्धान्तोंको अपनाना शुरू किया। स्वतन्त्र भारतका यह सोलहवाँ साल था। इसी किशोरावस्थामें इसने वयके अनुरूप खेल खेलना प्रारम्भ किया। यह खेल भी सामान्य खेल नहीं था। भारतकी परम्परा और गरिमाके अनुरूप था। यह खेल था कबूतर उड़ानेका। शान्ति और अहिंसाके प्रतीक श्वेत कपोतोंको भारतने नेहरूके प्रतिनिधित्वमें उड़ाया। ये कबूतर विश्वके आकाशमें काफी दिनोंतक और काफी ऊँचाईतक उड़ते रहे। परंतु एक खूनी बाज (चीन) ने इन्हें देख लिया और उसके लिये इनका उड़ना असह्य हो गया। उस बाजने शान्ति कपोतके दोनों पंख (नेफा और लद्दाख) को नोच डाला। कबूतर आसमानसे नीचे गिरकर छटपटाने लगा, करुण चीत्कार करने लगा। फलस्वरूप दुनियाके प्रायः सभी देश इसकी सहायताके लिये आगे बढ़े। कबूतरकी मरहम-पट्टी हुई और वह सब ठीक हो रहा है। वह अब शक्ति संचित कर रहा है, उस खूनी बाजका मुँह तोड़ देनेके लिये। पर यह शक्तिसंचय भी अहिंसात्मक ही है।

अहिंसाका अर्थ भी धर्मकी भाँति विस्तृत है। अहिंसाका अभिप्राय दुर्बलताके कारण, असमर्थताके कारण हिंसासे दूर रहना नहीं, वरं सशक्त होकर भी हिंसा न करना है। हिंसकको अपने बलसे समाप्त कर देना भी अहिंसा है। दुष्टोंका दलन, श्रेष्ठोंका सम्मान, स्वाभिमानकी रक्षा, दूसरोंपर आक्रमण न करना, शान्तिपूर्वक समस्याओंका हल इत्यादि सारी बातें अहिंसाके अन्तर्गत आती हैं। समाचारपत्रों और पत्रिकाओंमें कभी-कभी यह पढ़नेको मिला कि भारत अपनी पुरानी अहिंसात्मक नीतिसे डिग रहा है; क्योंकि वह चीनसे संघर्षके लिये युद्धकी तैयारियाँ कर रहा है। परंतु मेरे मतमें तो रक्षाके लिये युद्ध हिंसा नहीं है, आक्रामक हिंसक होता है। रक्षार्थीकी रक्षा करनेके प्रयासमें यदि हिंसा हो जाय, तो वह हिंसा नहीं है। श्रीकृष्णद्वारा प्रेरित महाभारतका युद्ध इसी भारतमें पाण्डवोंके द्वारा आत्मरक्षाके लिये किया गया था। आज भी भारत और चीनमें एक महाभारतकी सम्भावना है। परंतु भारत अभी भी शान्तिपूर्ण समझौतेके लिये तैयार है। पर इस संधिमें स्वाभिमानकी रक्षाकी एक शर्त है। जो इस शर्तको नहीं मानेगा, उससे निपट लेनेको भारत तैयार है। उसके पास अहिंसा-जैसी शक्ति वर्तमान है, जिसने बड़े-बड़े सिंहासनोंको हिलाना सीखा है।

जिस प्रकार वाद (नियम) अपवादके बाद भी बना रहता है, उसी प्रकार अहिंसाका सिद्धान्त भी हिंसोपरान्त स्थिर रहता है। आजके युगकी पुकार है कि अहिंसापूर्वक जीओ और जीने दो। जो इस युगधर्मकी अवहेलना करता है, वह मानव नहीं दानव है और उसको मानव बनानेके लिये देवताओंको आवश्यकतानुसार शस्त्र धारण भी करना पड़ेगा ही।

* * *

फागुनके आम

(लेखक—श्रीगंगादत्तजी शास्त्री, साहित्यरत्न)

फागुनका महीना था। होलीमें अभी दस-बारह दिन शेष थे। एक दिन सबेरे मेरी दादीने दादासे आकर कहा—'क्या अबकी होलीपर रामदेवी घर न आयेगी ?'

'आयेगी क्यों नहीं।' दादाने अन्यमनस्कतासे उनकी ओर देखकर कहा। दादी इस खिन्नताका कारण जानती थीं! वे उदास नेत्रोंसे नीचे देखने लगीं।

एक क्षण बाद आत्मस्थ होकर तत्परतासे दादाने कहा—'एक लड़का होता, तो वही यह काम करता। मैं क्यों इस झंझटमें पड़ता? मैं तो लड़कीके घरकी हवा भी शरीरको नहीं लगाना चाहता। पर क्या करूँ? भाग्यका भोग अटल है।'

'तो, कब जायँगे ?' माँकी ममताने एक अज्ञात-सी साँस भरकर पूछा।

'कल ही' दादाने उन्मुक्तभावसे कहा—'सोमवार पञ्चमी है। योगिनी बायें और चन्द्रमा सामने रहेगा। कल उषा-कालमें यात्रा करूँगा।'

'ठीक है। नहीं तो, दो दिन बाद 'होलाष्टक' लग जायेगा।'

'मुझे वहाँ रुकना थोड़े ही है। कल गया, परसों सबेरे बिदा करा लाया बस।'

'तो, सामानकी तैयारी करूँ न ?' 'हाँ-हाँ' दादी चली गयीं।

मेरे दादा गौर-वर्ण लम्बी कायावाले तेजस्वी पुरुष थे। उनमें अनासक्त गृहस्थ और सरस साहित्यिकका ऐसा विलक्षण समन्वय था कि उनका व्यक्तित्व बड़ा ही आकर्षक बन गया था। लोग कहते हैं कि उन्हें स्यात् हस्ताक्षर करना भी नहीं आता था। कदाचित् लिपिका ज्ञान ही उन्हें न हो; किंतु हिंदी साहित्यके उन्हें इतने ग्रन्थ कण्ठाग्र थे, मानो वे नराकार वाणीके अवतार हों। मेरी समझमें, वे वस्तुतः प्रातिभ पुरुष थे। जिस प्रकार आदिकालमें बिना पढ़े ही ऋषियोंको पूर्वतपोऽर्जित प्रतिभाद्वारा वेदविद्याका दर्शन हुआ था; उसी प्रकार निसर्गतः दादाको सरस्वतीका वरदान प्राप्त था।

'रामायण' तो उनका इष्ट-ग्रन्थ ही था। वह तो उन्हें कण्ठाग्र होना ही था। इसके अतिरिक्त गोस्वामीजीके अन्य ग्रन्थोंके हजारों पद, सूर, केशव, देव, कबीर, सेनापति और भारतेन्दु एवं अन्य अनेक कवियोंकी सैकड़ों पदावलियाँ, कवित्त, सवैये तथा बारहमासियाँ उन्हें कण्ठस्थ थीं। जिस समय वे उन्हें अपने उदात्त मधुर सुरसे गाने लगते थे, उस समय मानो समा बँध जाता। श्रोतागण रससागरमें गोते खाने लगते। अपनी इसी भगवद्भक्ति और काव्यप्रभुताके कारण उनका अधिकांश समय बाहर सुभाषित-गोष्ठियोंमें ही बीतता। लोग उन्हें शीघ्र छोड़ते ही न थे।

एक बार 'पंकजराय' नामक एक 'भाट (चारण)' जो अपनेको 'आशु कवि' कहता था, गाँवके मन्दिरमें आकर ठहरा। मन्दिरके अध्यक्ष ठाकुर साहब, जो गाँवके जमींदार भी थे, बड़े काव्यप्रेमी, गुण-ग्राहक और दानी पुरुष थे। पंकजरायके आनेका उद्देश्य ठाकुरसाहबको अपने काव्य-कौशलसे प्रसन्न कर कुछ दान-दक्षिणा प्राप्त करना था। ऐसे लोग उस समय जब-तब आते रहते थे और ठाकुरसाहब उनका यथोचित आदर-सत्कार करते थे। ठाकुरसाहब दादा-जीके शिष्य तो थे ही, भक्त भी थे। फलतः, अपने गौरवकी रक्षाके लिये, ऐसे आगत लोगोंमें दादाकी मुठभेड़ होती रहती। ठाकुरसाहबने दादाको सादर सूचित किया और रायसे उनका परिचय कराया। दूसरे दिन दोनोंकी काव्य-प्रतियोगिता होनी निश्चित हुई। भट्टका यह आनुवंशिक पैतृक धंधा ठहरा। उसे अपनी काव्य-सम्पदापर गर्व और विश्वास था। उसने स्वयं पण्डितम्मन्य नम्रताके साथ मुसकराकर 'दादा'को वाग्युद्धके लिये आमन्त्रित किया।

दूसरे दिन पूजा-पाठसे निवृत्त हो, अपने इष्टदेवोंको मनाकर दोनों काव्य-कलामें मन्दिरके मैदानमें अपने-अपने आसनपर विराजे। श्रोताओंकी भीड़का क्या ठिकाना। जिस रसका, जिस छन्दका पद्य भट्ट पढ़ता, उसी कविके उसी ढंगका पद दादा प्रत्युत्तरमें पढ़ते। यह कोई साधारण काम न था। स्मृति-शक्ति और प्रत्युत्पन्न-बुद्धिकी पूर्ण कसौटी थी। ठाकुरसाहब इस कलाके पूरे रसिक और पारखी थे। उनके रसावेशका क्या कहना। वायुमण्डलमें शोर और सन्नाटा दोनों थे। लोग दोनोंको यथोचित सराहते। दव

बड़े दिनसे यह काव्य-स्पर्धा आरम्भ होकर शामको एक घंटाके लिये रुकी। नित्यकृत्य और व्यालूसे निपटकर दोनों महारथी फिर डट गये। आधी राततक पदोंकी प्रतियोगिता होनेके बाद भट्ट बोला—'महाराज! अब बारहमासियाँ हों।' दादा उछल पड़े। उनको भी यही इष्ट था। किंतु भट्टकी ओरसे आरम्भ होनेके कारण वह अपनी ओरसे किसी प्रकारकी रियायत न चाहते थे। सूर्योदयतक यहाँ वाग्युद्ध चला। अन्तमें भट्ट उठा, उसने दादाके चरण छुए और अपनी पगड़ी उनके पैरोंके पास रख दी। दादाने उसे हृदयसे लगाकर बार-बार उसकी काव्य-सम्पत्तिकी सराहना की और विशेष आदर-दानपूर्वक उसकी 'विदायी' करवायी। इसी प्रकार प्रायः उनकी काव्यप्रतिभा और भगवद्भक्तिके आगे प्रतिद्वन्द्वी सानन्द पराजय स्वीकार करके अपनेको कृतकृत्य मानते और दादा उन्हें और भी सत्कृत करते-कराते थे।

उनका यह तीसरा विवाह था। अवस्था चालीसके कुछ ऊपर। पहलेकी दो पत्नियाँ जब एक-एक करके निःसंतान ही दिवंगत हो गयीं, तब वंश-रक्षा और पितरोंकी जलाञ्जलिके अर्थ ही केवल पुत्र-लालसासे उन्होंने यह तीसरा विवाह कर लिया था। दादीके पिता भागवतके विद्वान् पण्डित थे। दादाकी भक्ति और पाण्डित्यपर मुग्ध होकर अपनी कन्या उन्होंने विवाही थी। इस विवाहसे केवल एक लड़की उत्पन्न हुई। नवें वर्ष ही उसका विवाह कर दिया गया। पुत्रके लिये दोनों चिन्तातुर थे। दादाके यहाँ एक-दो गायें सदा रहतीं। हल तो हमारी वंशपरम्परामें किसीने छुआ ही नहीं। स्यात्, यह विद्या आती ही न थी। थोड़ी-बहुत खेती बटाईपर उठा दी जाती, धरती खाने भरको दे देती। न भी देती, तो ठाकुरसाहबके सत्कार-पात्र होनेके कारण किसी प्रकारका कष्ट दादाको न था—केवल पुत्रकष्टको छोड़कर। इस विषयमें सामान्यतया मनुष्य प्रायः असमर्थ है। ठाकुर बेचारे क्या करते? वे स्वयं संतानहीन थे।

दादाजीको भजनकी लगन, शतरंजकी लत और काव्य-रचनाओंका चाव था। उनका सारा समय अधिकांश इन्हीं तीनों कामोंमें बीत जाता। गोघृतमिश्रित अरहरकी दाल-भात उनका प्रिय भोजन था। दोपहरतक डटकर पूजा-पाठ करते, दोपहरको बस एक बार भोजन करते। तीसरे पहरतक शतरंज खेलते। इसके बाद रातके दस बजेतक रामायण-महाभारतकी कथा-वार्ता एवं काव्यचर्चा होती रहती। उठते ही प्रातः, दोपहरको भोजनके बाद और सोते समय वे तम्बाकू पीते थे। उनकी चिलम निजी थी। न दूसरेकी पीते न पिलाते। अपनी इकलौती बेटीसे वे बहुत प्रेम करते थे; किंतु पुत्रका काम तो वह नहीं दे सकती थी। खूब चाहकर भी वे लड़कीके यहाँ जाना न चाहते थे। कट्टर सनातनी ब्राह्मण थे। लड़कीके घरकी हवासे भी घबराते। इसीलिये पुत्रका अभाव उन्हें और भी खलता। किंतु क्या करें? पुत्री-प्रेम और कर्तव्यसे विवश होकर उन्हें जाना पड़ता था।

(२)

दूसरे दिन सूर्योदयसे पूर्व ही दादाने कूच कर दिया। कंधेपर खुर्जी, बायें हाथमें बाँसकी लाठी और दायें हाथमें जप-थैलीके भीतर सुमरिनी (माला)—यही उनकी प्रस्थान-कालिक सजधज थी। खुर्जीमें पुत्रीको देनेके लिये कुछ वस्तुओंके अतिरिक्त उनकी एक विशेष खाद्यसामग्री थी, जो कच्चे गोदुग्धमें शक्करके साथ आटा माँड़कर गोघृतमें पकाई पूड़ियाँ थीं। यात्रामें उनका यही प्रिय पाथेय खाद्य था। मार्ग तय करने लगे। दो सौ सुमरिनियोंका उनका मन्तव्य था। एक मीलमें स्यात् वे अपने इष्ट-मन्त्रकी दस मालाएँ जप लेते थे। वे कोस भरको बीस सुमरिनी-मार्ग कहते थे। बुआ (उनकी लड़की) की ससुराल पश्चिमकी ओर दस कोस दूर 'शिवनगर' नामक ग्राममें थी। दादा इसी प्रकार जपी हुई मालाओंकी दरसे पथकी दूरी नापते थे। शिवनगरके मार्गमें दोहा नामकी नदी और एक छोटा-सा जंगल पार करना पड़ता था। शिवनगर जब कोस भर रह जाता, तब नदी उतरनी पड़ती। वह अधिक गहरी न थी। नदीके दोनों किनारोंपर आधे-आधे मीलतक ढाक, बबूल, जंगली जामुन और सरपतसे भरा जंगल था। जिसमें जगह-जगह अखेरी, हींस, इन्द्रायन आदि भाँति-भाँतिकी बनैली बेलें फैली हुई थीं। इस वनमें सिंह तो नहीं, किंतु भेड़िये, वराह, हरने आदि कभी-कभी दिखायी दे जाते थे। नदीकी निचली तराईमें देशी रईस और कभी अंग्रेजी अफसर भी शिकार खेलने आया करते।

नदीके घाटसे शिवनगरकी ओर जो सैर (रहट्का पथ) जाता था, वह भी घने वृक्ष-लताओं और कँटीले गुल्मोंसे दोनों ओरसे घिरा था। जंगलके निकासपर दस-बारह झोपड़ियोंवाली पासी पंखियोंकी एक बस्ती थी। बस्तीके उत्तर

ओर लता-वृक्षोंकी बाड़के बीच एक कच्ची मड़ी और कुइँया थी। जहाँ कभी-कभी कोई बिरला फकीर ही ठहर सकता था या फिर जंगली जानवर या लुटेरे।

इस बस्तीसे शिवनगर लगभग आधा कोस दूर था। दादा प्रायः इसी मड़ीपर कुछ विश्राम करते। स्नान-भोजनसे वहीं निपटकर सूरज डूबनेसे पहले ही वे शिवनगर पहुँच जाते। चलते समय वे इसी बस्तीसे चिलमके लिये आग और कुछ उपले संग्रह कर लेते थे। कोई भी वस्तु वे शिवनगरकी उपभोगमें न लाते थे।

तीसरा पहर समाप्ति पर था। दादाने कुछ विश्राम कर नदी पार कर ली। बोले 'जय सीताराम, अब अपने रामको बीस सुमरिनी मार्ग ही शेष है। आ गये। जय सीताराम।' उनका विचार, आधे मीलका जंगल पारकर, पहलेके समान मड़ीपर स्नान-भोजनकर शिवनगर जानेका था।

नदीकी लहरोंसे शीतल, करौंधी और भटारकी पुष्प-गन्धसे व्याप्त वसन्तकी वन्यवायु उनकी भगवद्भक्तिको और भी उद्भासित करने लगी। कृष्ण-गर्भ आरक्त पलाश-पुष्पोंसे आच्छादित वरुणदिशोन्मुख वनस्थली, वारुणी-उन्मुख सूर्यदेवकी अरुण-सुनहरी आभासे मढ़कर किसी रहस्यमय दिव्य रागकी रंगमंच-सी लगने लगी। आनन्दमयकी नान्दी-वनी-सी कोकिल वनीके पार्श्वसे जब-तब कूक उठती। काव्य-प्रेमी दादा इस निसर्ग-सुषमासे आत्मविस्मृत होकर घाटके चढ़ावपर धीरे चलने लगे। हाथ उनका सुमरिनीपर और मन इष्टके चरणोंमें था। अभी दो-चार पग ही चले होंगे कि किसीने कर्कश स्वरमें पुकारा—

'कौन है ? खड़ा रह।' किंतु दादा तो अपनेमें थे ही नहीं।

'अरे सुनता नहीं। बहरा है क्या ? या मौत आयी है ?' स्वरमें कठोरताकी ललकार और बढ़ी।

अब वे चौंककर ठिठक गये। उन व्युत्पन्न-बुद्धिको समझते देर न लगी कि इस सुनसान मार्गमें इस प्रकार पुकारनेकी परिपाटी किन लोगोंकी हो सकती है ? उन्होंने घबराकर देखा। दायें ओर कोई पंद्रह गजकी दूरीपर, सरपतके झुरमुटसे निकलकर दो मनुष्य खड़े हैं। उनका स्वर, कमरसे बँधी कृपाण, हाथमें लंबे भाले और बड़ी-बड़ी दाढ़ीवाले मुखोंपर बँधे ठाठोंके ऊपर चमकती विषधर-सी भयंकर आँखें उनके स्वभाव और व्यवसायका पूरा परिचय दे रही थीं। दादा क्षणभरको भयसे भौचक्के रह गये।

'इधर आ, किधर जाता है ?' उनमेंसे एकने कुछ आगे बढ़कर हाथसे संकेत किया। किंतु मौत भले ही आ जाय; उसकी ओर जान-बूझकर कौन बढ़ता है! दादा जहाँके तहाँ खड़े रहे, उन्हें न आगे बढ़नेका साहस हुआ न पीछे हटनेका। तबतक वह और पास आ गया।

बाबाका वैष्णवी तिलक, हाथकी सुमरिनी और उनकी निरीह तपोमयी शान्त मुद्रा। वह कई पलतक अपलक देखता रहा। वह समझ गया कि जिसे उसने मोटा शिकार समझा था, वह तो एक निरीह साधु है। शान्त ब्रह्म-तेजके आगे उसका भाव बदला, दृष्टि बदली और स्वर भी बदल गया।

'क्यों बाबा, कौन हो ? कहाँ जाना है ?' उसने सहज स्वरमें पूछा, तबतक दूसरा दस्यु भी पास आ गया। बोला—

'कोई पंडाजी लगते हैं। किसी जिजमानसे माल मारकर लाये होंगे। इनका आड़ा लो' और वह 'हो-हो' कर हँस पड़ा। दादा तबतक स्वस्थ हो चुके थे। बोले—'भैया! मैं तो एक गरीब ब्राह्मण हूँ। लड़कीको लिवाने जाता हूँ। तुम्हें क्या चाहिये ?'

'इस झोलेका माल' कहकर दूसरा दस्यु फिर हँसा। दादाने कंधेसे खुर्जी उतारकर जमीनपर रख दी। बोले—

'इसमें लोटा-डोर और कुछ खाना है। लड़कीके लिये एक धोती और कुछ अन्न है। तुम चाहो तो तुम्हीं इसे ले सकते हो।' मानो डाकू और बेटीमें उनके लिये कोई अन्तर ही न हो।

'नहीं बाबा, आप जायँ।' पहलेने आदरपूर्वक मृदु स्वरमें कहा। दादा स्वस्तिकी साँस लेकर चल पड़े।

तबतक नदीकी निचली खड्डुसे निकलकर, वैसा ही एक दस्यु वहाँ आकर बोला। 'क्यों कौन था ? कुछ निकला नहीं ?'

'एक गरीब ब्राह्मण था। लड़की बुलाने जा रहा है। उसके पास खाना और लोटा-डोरके सिवा और क्या होना है!'

'अच्छा' उसने कुछ निराश होकर कहा—'आड़ा नहीं लिया, उसे जरा रोको तो।' 'क्यों ?'

'उससे कुछ खाना लेंगे । हमारा सरदार भूखा है और हम भी।' इतना कहकर वह दौड़ा। वे दोनों साथ हो लिये।

'किंतु ब्राह्मणका छीना हुआ खाना तो हमारा सरदार छुएगा भी नहीं' पहलेने पूछा ।

'छीनेंगे क्यों ? माँग लेंगे । बदलेमें मूल्य दे देंगे' और उसने पुकारा 'महाराज, जरा ठहरना !' दादा फिर असमंजसमें खड़े हो गये । भला इन डाकुओंका क्या भरोसा ।

'बाबा, थोड़ा खाना देंगे ? हमारा सरदार भूखा है ।' पहले दस्युने, जिसकी वाणीमें अब ललकार नहीं, विनीत प्रार्थना थी, कहा । किसी भूखेकी प्रार्थनापर, चाहे वह डाकू ही क्यों न हो, ब्राह्मण भला पासका खाना न दे ? दादा तो दयाकी मूर्ति थे ।

'ले जाओ भाई' कहकर वे झोला उतारकर खाना निकालने लगे ।

'नहीं, महाराज, आपको हमारे सरदारके पास चलना होगा । यदि कहीं उन्हें व्यर्थ संदेह हो गया कि हम ब्राह्मणसे खाना छीन कर लाये हैं; तो वे हमारी जान ले लेंगे और खाना भी न छुयेंगे ।'

'हमारे सरदार सामने खड्डवाली झाड़ीके पास ठहरे हैं । यदि आपकी मर्जी हो तो वहाँतक चलनेकी तकलीफ करें । कोई जबरदस्ती नहीं है ।' तीसरेने विनयसे कहा । दादाका भय घोर कौतूहलमें बदल गया । ऐसे धर्मप्राण मर्यादाव्रती डाकूको देखनेका उन्होंने निश्चय कर लिया । पीछे आया हुआ दस्यु सम्भवतः परिस्थितिका परिचय कराने, तेजीके साथ अपने सरदारके पास चला गया । शेष दो दादाको लेकर उसी ओर चले ।

तीन ओर घनी कँटीली झाड़ियोंसे घिरे एक छोटे-से स्थानमें, घोड़ेकी जीन बिछाये एक दीर्घकाय तेजस्वी पुरुष बैठा था । उसके गल-मुच्छोंके ऊपर अरुणाभ आँखोंमें सिंह-जैसी दीप्ति उसके स्ववीर्य-वृत्तित्व और स्वव्रतकी अनन्यनिष्ठाको पूर्णतया प्रकट करती थी । दादा उस नरसिंहको देखते ही समझ गये कि वह प्रताप, शिवा और बंदा-जैसे महापुरुषोंका लघु संस्करण है । विकासके साधन उसे भी उक्त राष्ट्र-विभूतियोंके निकट ले जा सकते हैं ।

दादाको देखते ही वह आसनसे उठ बैठा । सस्मित श्रद्धा-विनम्र नेत्रोंसे उनकी ओर देखकर, दोनों हाथ जोड़कर उसने अभिवादन किया । फिर सरदारके संकेतपर उसके एक साथीने अपना दुशाला दादाके लिये बिछा दिया । आशीर्वचन कहकर दादा बैठे । सरदार भी अपने स्थानपर बैठ गया । उसके शेष साथी चौकन्ने होकर खड़े रहे ।

'महाराज, आपको हमने कष्ट दिया । क्षमा करें ?' कुछ सलज्ज स्वरमें सरदार बोला—'ऐसे चक्रमें हम फँस गये हैं कि कलसे भोजन हाथ ही न लगा । जो दो आदमी भोजनका प्रबन्ध करने गये थे, वे न जाने कहाँ अटक गये……' कहते-कहते वह ठहर गया ।

'इसीलिये तो भगवान्ने मुझे इधर भेजा है । उसे कोई नहीं अटका सकता । वह सबको देता है । आपलोग संकटमें लगते हैं । शीघ्र भोजन कर लें और अपनी रक्षाका प्रयत्न करें ।' दादा आत्मीयतासे बोले ।

'हाँ, महाराज, किंतु ब्राह्मणका अन्न हम कैसे खा सकते हैं ?'

'भैया, भोजन ब्राह्मणका नहीं, भगवान्का है । उसीने ब्राह्मणके हाथ भेजा है । किसी-न-किसी बहानेसे वही सबको खिलाता है । उठो, अब देर न करो' और वह भोजन निकालने लगे ।

कुछ जोरकी भूख और कुछ दादाके सहृदय अनुरोधसे सरदार राजी हो गया । चारों ओर मुँहकर सावधानीसे वे लोग खाने बैठे । दादाने पत्तोंपर भोजन परोस दिया ।

और आपी आप भी तो खाने बैठिये ।

'हम आगे चलकर खा-पी लेंगे । हमें मजबूरी भी क्या है ?'

'वाह देवता ! ब्राह्मणके होते बिना उसे खिलाये हम कैसे खा सकते हैं ?' और सरदार आसनसे उठने लगा । दो दिनसे भूखे इस डाकूमें ऐसी धर्मनिष्ठा देखकर दादा और विस्मित हुए । उन्होंने नदीमें नहाकर उस दस्यु-मण्डलीके साथ भोजन किया । भोजन पौष्टिक, स्वादिष्ट और पर्याप्त था । सब संतुष्ट हो गये ।

भोजनके बाद सरदारने पाँच रुपये और शेष तीनोंने दो-दो रुपये दादाको दिये । सरदार बोला—'बाबा, मेरी ओरसे बेटीजूको इन रुपयोंकी कोई वस्तु लेकर भेंट कर देना' और वह पास बँधे अपने घोड़ेकी ओर बढ़ा ।

'नहीं, मैं ये रुपये तो न ले सकूँगा।' 'क्यों?' घूमकर साश्चर्य स्वरमें खिन्नतासे सरदार बोला।

'आपलोगोंको भोजन कराकर मुझे बड़ा आनन्द हुआ—बदलेमें रुपये लेते ग्लानि होती है—और…।'

'क्या डाकुओंका धन छूते ग्लानि होती है?' उसने व्यंग्यसे पूछा।

'नहीं, भैया, तुम्हारा यह सब व्यवहार देखकर तुम्हें 'डाकू' कौन कह सकता है? राम! राम!' यह बात नहीं।

'नहीं, देवता! हम डाकू तो हैं, किंतु आततायी शासन और अर्थपिशाचीके समाजके लिये,—जिन्होंने हमें डाकू बननेपर विवश किया है? आप-जैसे संतोंके तो हम सेवक ही हैं। अपना अन्न मुफ्तमें खिलाकर हमें क्या नरकमें गिराना चाहते हैं?' दादा अवाक् हो गये। सरदार घोड़ेतक गया। वहाँसे सुनहरी किनारीकी कीमती साड़ी लाकर उसने दादाको दी और बोला—'यह साड़ी लूटकी नहीं है, मेरे घरकी है। मेरी बेटी भी इधर ही विवाही है।' उसका स्वर रुद्ध हो गया।

'तो भैया, उसीको देना। एक बेटीकी साड़ी (वस्तु) दूसरीको क्यों दी जाय?' दादाने वेदनापूर्वक कहा।

'इसीलिये तो मैं इधर आया, पर उससे मिल न सका।' उसकी आँखें छलछला आयीं।

'क्यों?'

विस्मित दादा उस धर्मवत्सल महात्मा दस्युकी ओर मुग्ध होकर देखते रहे।

'वहाँ गुप्तचरविभाग सब ओर घूम-फिर रहा है।' बेटीने अपनी सौगंध दिलाकर कहलवाया है कि 'बाबा (मैं) इधर न आयें अभी।'

'तो मुझे बेटीका पता बताइये, मैं दे आऊँगा' दादा द्रवित हो गये।

'उसीको तो देनेके लिये दी है। बेटी-बेटीमें कहीं भेद होता है?' वह उदारतासे हँसा। फिर साड़ीसहित रुपये बरबस दादाकी खुर्जीमें रखकर वह दस्युनामधारी महात्मा अपने साथियोंसहित अश्वारूढ हो देखते-देखते वहाँसे अदृश्य हो गया। दादा कुछ देर संज्ञाशून्य-से खड़े रहे, फिर एक गहरी साँस लेकर आगे बढ़े। × × ×

(४)

दादाजी जब मढ़ीपर पहुँचे तब थोड़ी-सी चमक रह गयी थी। उनका विचार अब वहाँ रुकनेका न था। जरूरत भी नहीं थी। उन्होंने कुछ उपले बटोरे, आग ली और मढ़ीके पाससे होकर निकले कि उनके कानमें सुनायी पड़ा 'बच्चा, जय सीताराम।' जिस इष्टमन्त्रका वे निरन्तर जप करते थे, उसी नामकी त्रैलोक्य-पावन ध्वनि सुनकर वे घूम पड़े। देखा, मढ़ीसे उत्तर एक वट-वृक्षके नीचे एक संत बैठे हैं। दादा परम साधुसेवी व्यक्ति थे। 'बाबा, जय सीताराम' कहते हुए वे साधुकी ओर आदरसे बढ़े।

दादा साधुके पास जाकर प्रणाम कर बैठे तो सही, पर पूर्व घटनाका प्रभाव उनपर नशेकी तरह छाया हुआ था। उसमें तन्मय—विभोर होनेके कारण वे साधुकी ओर विशेष उन्मुख न होकर चुप-चाप माला जपते रहे।

'बच्चा, तू कुछ चिन्तित-चकित-सा जान पड़ता है' संतने पूछा।

'हाँ, महाराज, अभी ऐसी विलक्षण घटना घटी कि मैं विमूढ बन गया।'

'क्या विलक्षणता देखी बच्चा, सिंहके रूपमें गाय देखी या आदमी—आदमीके भेषमें भूत देखा?'

'नहीं-नहीं' साधुकी बातसे दादाको हँसी आने लगी।

'तो बच्चा, डाकूके भेषमें कोई महात्मा देखा होगा?'

'साधुके वेशमें ठगको तो देख ही रहा है। रोज बहुतेरे देखता होगा।' अब चौंककर दादाने साधुकी ओर देखा। उनके मुखपर रहस्यमय हास्य था। दादाको घोर आश्चर्य हुआ।

'पर बच्चा, साधुके पास तो भय, स्मय-विस्मयको झाड़-पोंछकर शान्त मनसे बात करनी चाहिये। ब्राह्मणके पुत्रको इतनी विमुग्ध-व्यग्रता शोभा नहीं देती।' दादा स्तब्ध बने सुनते रहे।

'बच्चा, श्रेष्ठ साधकको किसी भी संसारी घटनासे मुह्यमान नहीं होना चाहिये। क्या लड़कीके यहाँ जा रहा है?' आखिर दादाका मुँह खुला।

'हाँ, महाराज, आपने यह सब कैसे जाना?' संत हँसे।

'कोई पुत्र नहीं है न?' 'हाँ, प्रभो! मैं अभागा-अधम।'

'व्याकुल मत हो। यह तेरी तीसरी स्त्री ही तो है?'

'हाँ, महाराज।'

'तूने डाकूके रूपमें उसकी साधु-लीला देख ली। तुझे अब साधु-वेशमें मेरी ठग-विद्या भी देख।

विलक्षणता बहुत भाती है न ?' कहकर संतने झोलीमें हाथ डालकर दो आम निकाले। दादाको देकर बोले—'स्त्रीसहित इन फलोंको खाना, तेरे दो पुत्र उत्पन्न होंगे' कहकर कुछ विधि-निषेधके नियम उन्होंने दादाको बताये और सावधानीसे उनके पालनका आदेश दिया। दादा भावविह्वल हो कृतज्ञतासे संतके चरणोंपर झुक गये।

'तू ब्रह्मपुत्र है, मैं मुराउका बालक, मुझे पायमें मत डाल' कहकर उन विनम्र सिद्धपुरुषने उन्हें उठाकर खड़ा किया। कमण्डलु उठाया और जंगलकी राह ली। दादा श्रद्धा-मुग्ध डबडबायी आँखोंसे उन्हें देखते रहे।

(५)

आज लगभग ८० वर्ष बाद मैं यह पावन संस्मरण लिख रहा हूँ। उन्हीं संतकी प्रसादी (आम) के फलस्वरूप मेरे पितृदेव और पितृव्यदेवकी उत्पत्ति हुई। वे सब चले भी गये। उनकी पवित्र गाथासे मुझ अभागेका कुछ पाप धुले, कुछ उद्धार हो, इसी आशासे मैं इसे लिख रहा हूँ। यदि उन दिव्य आमोंका मुझमें भी कुछ अंश हो, तो वे स्वर्गस्थ संत मुझपर कुछ कृपा करें।

ठाकुरसाहबने जब यह घटना सुनी, तब उन्हें संतके दर्शनकी तीव्र उत्कण्ठा हुई। हाथी सजवाया गया। दादाको साथ लेकर वे उस स्थानपर पहुँचे। कई दिनोंतक वनका पत्ता-पत्ता छान डाला; किंतु संतके दर्शन न हुए। संत कहीं खोजनेसे मिले हैं ! और मिलते भी हैं तो नंगे पैर 'राम-राम, रटते रमते रामोंको ही; हाथीके हौदेपर बैठकर आनेवालोंको नहीं !

असलमें ऐसे सिद्धपुरुष तो प्रभुकी प्रेरणासे बल्कि आदेशसे प्राप्त होते हैं। **'लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव'**

'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता।'

वायुके झोंकेमें दीपक

(लेखक—डा० श्री वि० ए० शणै बी०एस्-सी०, पी-एच्०डी०)

प्राचीन भारतके ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् आदि धर्मग्रन्थोंके रचयिता ऋषीश्वरोंने सूत्र-साहित्यनिर्माण-कार्यमें अत्युन्नत प्रौढता प्राप्त की थी। भावको दुरूह न करते हुए केवल थोड़े शब्दोंमें अनेक विषयोंका प्रतिपादन करना सूत्र-साहित्यका मूल सूत्र है। ऐसा प्रचलित है कि महर्षियोंको इन धर्मग्रन्थोंके प्रणयनके समय सूत्रोंको अति संक्षिप्त बनानेके प्रयासमें एक अक्षर कम होनेपर पुत्रलाभ-जैसा अति आनन्द होता था। लेकिन सूत्रोंमें संक्षिप्तरूपसे छिपे हुए गूढ़ तत्त्वोंको सर्वसाधारण लोगोंको समझानेके लिये भाष्य-साहित्य-निर्माण करनेकी आवश्यकता प्रतीत होने लगी। उदाहरणस्वरूप अनेक विद्वानोंने श्रीमद्भगवद्गीता, उपनिषदों, नारद-भक्तिसूत्र, शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र इत्यादि धर्मग्रन्थोंपर अनेक भाष्य लिखे। भाष्य-साहित्यका बाहुल्य सूत्रोंका गौरव और महत्त्व दिखाता है।

साढ़े चार सौ वर्ष पूर्व भारतवर्षके कर्नाटक प्रान्तमें संत पुरन्दरदास नामके एक भक्त हुए। वे कर्नाटकके भक्तिपन्थके एवं दास-पन्थके आचार्यवरेण्य थे। इस हरिभक्तने अनेक कीर्तन लिखे और कई कीर्तनोंमें सूत्ररूपमें बहुत-से तत्त्वोंका प्रतिपादन किया तथा इन सूत्रोंकी व्याख्या भी की। संत पुरन्दरदासजीद्वारा रचित एक सूत्रकी व्याख्या करनेका प्रयत्न इस प्रबन्धमें किया जा रहा है।

संत पुरन्दरदासजीने अपने एक कीर्तनमें सूत्ररूपमें कहा है कि 'मनुष्यजीवन वायुके झोंकेमें रक्खे हुए एक दीपककी तरह है।' वायुके झोंकेमें रक्खे हुए दीपक—इस सूत्रमें छिपे हुए तत्त्वोंका प्रतिपादन अनेक प्रकारसे किया जा सकता है।

सबसे प्रथम इस सूत्रकी सर्वसाधारण और प्रचलित व्याख्या देखें। एक दीपककी ज्योति कितनी ही छोटी हो, फिर भी इस बातको न भूलना चाहिये कि दीपक गूढ़ अन्धकारमें भी प्रकाश करके अन्धकारको दूर करनेमें समर्थ है; किंतु अन्धकारमें हमें बाह्य-ज्ञान देनेमें सहायक होनेवाले साधनरूपी दीपकको तेज वायु बुझानेमें सफल हो सकता है। परंतु हम ऐसा नहीं कह सकते कि वायुके झोंकेसे प्रत्येक दीपक बुझ ही जाता है; क्योंकि दीपका बुझना या जलते रहना वायुके वेग और दीप-ज्योतिकी विशालतापर निर्भर है। यह दीप-ज्योति चारों ओरसे काँचसे ढकनेपर नहीं

बुझती। अतएव इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि बिना रक्षणके (चारों ओर काँच) और वायुमें रक्खे हुए दीपकी ज्योति अस्थिर और नश्वर है।

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि वायुके वेगमें रखनेसे दीपक बुझता है, तो उसको वायुरहित स्थानमें ले जानेसे क्यों नहीं रक्षा हो सकती ? परंतु रसायन-शास्त्रका अध्ययन हमें बताता है कि दीपकके जलनेके लिये वायुमें निहित ऑक्सीजन (Oxygen) का होना अनिवार्य है। वही वायु अधिक मात्रामें होनेसे उसकी मृत्युका कारण बन सकती है। इसलिये वायुका आवश्यक परिमाणमें ही होना उचित है, उससे अधिक नहीं।

दूसरे प्रकारसे यह भी कहा जा सकता है कि मानव-जीवन दीपककी भाँति और निद्रा, आहार इत्यादि नित्य कर्म वायुके झोंकेके समान है। जिस प्रकार दीपज्योतिकी स्थिरताके लिये उचित परिमाणमें वायुका होना आवश्यक है, ठीक उसी प्रकार मानवजीवन (दीपक) में निद्रा, आहार इत्यादि कर्मों (वायु) का उचित मात्रामें होना अनिवार्य है। अगर इसके विपरीत, मानव-जीवनमें इन अनिवार्य कर्मोंको आवश्यकतासे अधिक स्थान दिया जाता है तो मृत्यु निःसंदेह है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मानव-जीवनमें निद्रा-आहार इत्यादिका उपयोग उचित मात्रामें अवश्य होना भी चाहिये; क्योंकि इनके बिना सामान्य मनुष्य-जीवनरक्षा भी सम्भव नहीं है।

मनुष्यके स्वभावका नियन्त्रण त्रिगुण—सत्त्व, रज तथा तमके समुचित मिश्रणद्वारा होता है। इनमेंसे किसी भी विशिष्ट गुणकी प्रधानता होनेसे, मानव-स्वभाव भी वैसा ही बनता है। अतः कुछ मनुष्योंमें सत्त्वगुण प्रधान होता है, कुछमें रजोगुण दूसरे दोनों गुणोंसे अधिक मात्रामें होता है तथा शेषमें तमोगुण मुख्य रहता है। मनुष्यका आचार, विचार एवं व्यवहार भी इन गुणोंकी मात्रापर निर्भर रहता है तथा इन्हींके कारण आशा, निराशा, ममता, मोहजाल इत्यादिसे ग्रसित होकर मनुष्यको विविध व्याधियोंके द्वारा पीड़ित होना पड़ता है, जिसके फलस्वरूप वह कभी-कभी बड़े दुर्भाग्यमें फँस जाता है। ऐसे समयमें मनुष्यमें निहित सत्त्वगुण थोड़ी मात्रामें होनेपर भी, चेतावनी देता रहता है; परंतु मनुष्यका इस चेतावनीको मानना या न मानना दूसरे रज और तमोगुणकी मात्रापर निर्भर रहता है। इस प्रकार यदि सात्त्विक प्रवृत्ति (दीपक) को आशा, प्रत्याशाके वायुके झोंकेमें रख दिया जाय, तो उसका परिणाम क्या हो सकता है ?

परमार्थके पथपर चलनेवाले साधकको विषयोपभोगके वायुके झोंकेके बीच रहकर विवेकरूपी काँचसे अपनी जीवन-ज्योतिकी रक्षा करते हुए अपने गन्तव्य पथपर आगे बढ़ते रहना चाहिये। विवेक साथ रहनेपर पतनका—नाशका डर नहीं रहेगा।

एक और ढंगसे विचार करनेसे यह भलीभाँति प्रतीत होता है कि दीपकके जलते रहनेके लिये केवल उचित परिमाणमें वायुकी और प्रचण्ड वायुसे बचनेकी ही आवश्यकता नहीं है, उसके साथ-साथ तेलकी भी उतनी ही परम आवश्यकता है। जैसे-जैसे तेल समाप्त होता जाता है, वैसे-वैसे ही दीप-प्रभाको जीवित रखनेके लिये अधिक तेलकी आवश्यकता होती है। ऐसा करनेसे वह दीपक रोशनी देता रहेगा तथा अपने नामको सार्थक करेगा। परमार्थपथके मार्गपर अग्रसर होनेवाले पथिकको भी अपनी जीवन-ज्योतिको जलाते रहनेके लिये लगातार साधनारूपी तेलकी आवश्यकता है। ऐसा साधनसम्पन्न साधक अपने अमूल्य ज्ञान-प्रकाशसे स्वयं तो अपने जीवनको ज्ञानज्योतिसे उद्दीप्त करता ही है, वह उस ज्ञानका समस्त संसारमें प्रसार करता है। इतना होनेपर भी प्रकृतिके अनिवार्य नियमानुसार काल-पुरुषके हाथसे एक-न-एक दिन वह ज्योति अवश्य बुझेगी। पर ज्योतिधाराको कायम रखनेके लिये इसके बुझनेसे पहले ही इसीके समान अन्य प्रकाशमान दीपोंको प्रज्वलित करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे ज्योति-परम्पराकी रक्षा हो सकती है और ज्योति (जीवन-ज्योति) शाश्वत-सी प्रतीत होती है।

उपसंहारमें हम यह कह सकते हैं कि संत पुरन्दरदास जीके द्वारा कथित इस छोटेसे सूत्रमें मानव-जीवनमें, मानव-जीवनके विश्लेषणमें, मानव-जीवनकी उपयोगितामें और मानव-जीवनके मार्गदर्शनमें बड़ी सहायता मिलती है और यही 'गागरमें सागर' भरनेकी सूत्रसाहित्यकी परम्परा है।

गौ-रहस्य

(लेखक—ठा० श्रीमानसिंहजी के० एस०)

गो शब्द अनेकार्थी है । उसका प्रयोग अनेक रूपोंमें पाया जाता है । जैसे—गौ, गोचर, गोरस, गोरख, गोरखी, गोरमी; गोहद इत्यादि-इत्यादि । तुलसीदासजीने गो शब्दको इन्द्रियके अर्थमें भी प्रयुक्त किया है—

विप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार ।
निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार ॥

अंग्रेजीमें भी गो (Go) शब्द है, जो इसी प्रकारका अर्थ रखता है ।

जहाँतक हमने समझा है, वेद सारे विश्वको 'गो-मय' कहते हैं । जब आदिपुरुष अपने-आपमें स्थित रहता है तब 'गो' नामकी कोई वस्तु नहीं है । जब शक्तिके कारण उसमें स्पन्दन होता है तब चेतनशक्ति समस्त दिशाओंका निर्माण करती है । उस स्पन्दनके साथ ही एक ध्वनि होती है जो अनन्त ब्रह्माण्डोंकी रचना करती, स्वयं सूक्ष्मातिसूक्ष्म आवरणमें विद्यमान रहती है । स्पन्दनके साथ उत्पन्न हुआ शब्द और दिशाओंका जो विस्तार है, वही आदि गौ है ।

वेदोंमें कथा आती है कि प्रथम गौ ब्यायी और उसका बछड़ा रँभाया । देवगण तत्क्षण ही उस ध्वनिकी खोजमें तत्पर हो गये, किंतु आजतक वे उस ध्वनिका आदि और अन्त न पा सके । यहाँ गौ ब्यानेका अर्थ है—सम्पुटका तुलना और यह ध्वनि वही 'अनाहत नाद' है, जिसकी महिमा वेदोंमें नित्य और अनन्त कहकर गायी गयी है ।

कबीर साहबने अनाहत नादकी जो सूक्ष्मातिसूक्ष्मा ध्वनि है, इसीको 'नित्य' कहा है—

जाप मरै अजपा मरै अनहदहूँ मरि जाय ।
सुरति समानी शबद में, ताहि काल नहिं खाय ॥

वेदोंमें कथा आती है कि एक बार देवासुर-संग्राम हुआ । जिसमें देव पराजित हो गये । स्वर्ग तो देवोंको छोड़ना ही पड़ा, पृथ्वीपर भी वे स्थान न पा सके । पातालमें भी राक्षसोंने उनका पीछा न छोड़ा । अन्ततः वे इस गो-वत्सकी ध्वनिको पकड़कर उसमें गुप्त हो गये । वहाँ दानवोंकी गति न होनेसे उनकी रक्षा हुई । तभीसे देवगण इस ध्वनिका अनुसंधान करते रहे हैं और यह ध्वनि उनके गोपन होनेकी एवं संरक्षणकी आधार बन गयी । तात्पर्य यह है कि परम-पुरुष और आदि प्रकृतिके संघर्षसे ही यह सृष्टि उत्पन्न हुई और साथ-ही-साथ पैदा हुई एक ध्वनि; जिसे 'प्रणव' कहते हैं । प्रणव दो प्रकारका है—आहत और अनाहत । आहत प्रणवका आदि और अन्त होता है, किंतु अनाहतका नहीं । जिन ऋषि, मुनि और योगियोंने काम, क्रोध, मद, मत्सर आदि विषयोंसे घबराकर मनसहित प्रणवकी शरण ली और उसमें लय हुए, वे सदा-सर्वदाके लिये इन राक्षसोंके भयंकर जालसे मुक्त हो गये । इस सम्बन्धमें हम वेद और उपनिषद्के प्रमाण देते हैं—

पाकः पृच्छामि मनसाविजानन्देवानामेना निहिता पदानि ।
वत्से बष्कयेऽधि सप्त तन्तून् वि तत्निरे कवय ओतवा उ ॥
(अथर्ववेद ९ । ९ । ६)

मैं अपरिपक्व बुद्धि और सच्चे मनसे पूछता हूँ; क्योंकि देवताओंके इन लोकोंको मैं नहीं जानता । आप ज्ञानी सर्वज्ञ हैं । सबके आधारभूत कालमें, कपड़ा बुननेके सदृश सात तन्तुओंको बुनते हैं । अर्थात् सात छन्दोंसे ओतप्रोत वेदोंका पाठ करते रहते हैं । ये सप्त ध्वनि आदिकालसे अनादि हैं ।

इह ब्रवीतु य ईमङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वेः ।
शीर्ष्णः क्षीरं दुह्रते गावो अस्य वव्रिं वसाना उदकं पदापुः ॥
(अथर्ववेद ९ । ९ । ५)

'यहाँ उपस्थित आप बतायें, आपमेंसे जो कोई भी अरे ! जानता हो उस नागदेव (चेतनशक्ति) रूपी प्राप्तव्यके गुप्त पदको ! शिरवत उस उत्कृष्ट देवकी गायें दूध देती हैं और उस देवके रूपको उनसे छिपाये हुए हैं और आप लोगोंकी तर्पणादि उदक-क्रियाओंसे पानी पीते हैं ।'

इसका भावार्थ यह है—

ब्रह्म वरेण्य है, परंतु अपनी शक्तिमें छिपा है । यह शक्ति देवी चेतन है, अचेतन नहीं । उनकी किरणरूपी गायें (गो-रश्मि) अर्थात् शक्तियाँ जो संसारके सब भोग-रूपोंमें दूध दुहती हैं और मनुष्योंके तर्पणसे पानी पीकर मानो तृप्त होती हैं, उस ब्रह्मका गुप्त पदका साक्षात्कार करायें । (जिज्ञासु शिष्य गुरुसे पूछते हैं ।)

युक्ता मातासीद्धुरि दक्षिणाया अतिष्ठद्गर्भो वृजनीष्वन्तः ।
अमीमेद्वत्सो अनु गामपश्यद्विश्वरूप्यं त्रिषु योजनेषु ॥

(अथर्व० ९ । ९ । ९)

यह जगज्जननी यथेष्ट सृष्टि उत्पन्न करनेकी दक्षताको धारण करनेमें युक्त हुई । उसका गर्भ अन्तरिक्षमें ठहरा । वत्सने शब्द किया और फिर देखा कि वह शब्द तीनों योजनाओंके लिये विश्वरूप था ।

तिस्रो मातॄस्त्रीन्पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्त ।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदो वाचमविश्वविन्नाम् ॥

(अथर्व० ९ । ९ । १०)

तीन माताओं और तीन पिताओंको धारण करनेवाला यह पुत्र सर्वोत्कृष्ट रूपमें स्थित हुआ । उन माताओं-पिताओंने उसकी असली माँको ग्लानि नहीं पहुँचायी । अबतक दिव्य लोकोंमें उस वाणीका जो सर्वार्थपूर्ण है, अल्पार्थ लगाकर देव विचार-विमर्श किया करते हैं ।

भावार्थ यह है—

तीन माताएँ—इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति एवं तीन पिता तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुण कहे जा सकते हैं । यह बालक समष्टि प्राणरूप हिरण्यगर्भ है । इसकी वाणी प्रणवसहित वेद है, जो सर्वज्ञानपूर्ण है । किंतु सब लोग अपनी अल्प बुद्धिके अनुसार अपना अलग-अलग अर्थ लगाते हैं और समझनेके लिये विचारविमर्श करते हैं । चित्-शक्ति आदिशक्ति है, जिसमें तीन गुणके अनुसार तीन शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं—तमोगुणसे इच्छा, रजोगुणसे क्रिया और सत्त्वगुणसे ज्ञान । पहले शब्दकी, फिर उससे रूपात्मक जगत्की सृष्टि होती है ।

पुराणोंमें गौका अर्थ भगवान् श्रीकृष्ण और गो-लोकका अर्थ उनका वृन्दावन लेते हैं । कृष्णोपनिषद्में कृष्ण शब्दका अर्थ है—कृष्ण अर्थात् बंसीकी ध्वनिसे सारे विश्वकी चिति—चैतन्य शक्तिको जो आकर्षित करे वह । बंसीकी ध्वनिसे आकर्षित होनेवाली चैतन्य-धाराएँ ही गौ हैं और इस आकर्षणके द्वारा जो आनन्दकी अनुभूति करता है वही एक मानेमें मन—गोप है । सूक्ष्म इन्द्रियाँ, जिनके द्वारा ये अनुभूतियाँ सम्भव हैं, वे ही गोपियाँ हैं । श्रीकृष्णका वह गोलोक अथवा वृन्दावन जिसमें श्रीकृष्णकी रासलीलाका वर्णन है, नित्य है, अनन्त है, इसीलिये वह सत्य है । राधा आदिशक्ति हैं । जो कभी कृष्णसे भिन्न नहीं हैं । जिनकी आराधना श्रीकृष्ण करते हैं और वे श्रीकृष्णकी अनन्य आराधिका हैं ।

राधाकी उपासनाके बिना गोलोककी प्राप्ति असम्भव है। ऐसा 'राधोपनिषद्' कहता है । अर्थात् यह राधा ही परम आह्लादिनी प्रेमानन्दस्वरूप भगवान्की आदिशक्ति हैं। शक्तिके द्वारा ही शक्तिमान्की प्राप्ति सम्भव है, इसीलिये प्रथम शक्तिकी उपासना करनी पड़ती है। उपनिषदोंमें कथा आती है कि 'एक बार देवासुर-संग्राम हुआ, जिसमें देव विजयी हुए। विजयोत्सव मनाते हुए इन्द्रने एक सभा बुलायी। उसमें प्रत्येक देवसे विजयमें उसका क्या सहयोग रहा यह पूछा । देवगण विजयमदसे मत्त थे । अतः प्रत्येकने सत्यकी मर्यादाका उल्लङ्घन कर आत्मप्रशंसा की । भगवान् परम कृपालु हैं । अपने प्रियपात्र देवोंका यह मानसिक पतन देखकर वे उस स्थानमें एक यक्षके रूपमें उपस्थित हुए। देवराजने उनका पता लगानेके लिये पहले अग्निको, फिर पवनको भेजा । पवनके पूछनेपर प्रत्युत्तरमें उनका नाम पूछा । पवनने गर्वोक्ति की कि वह त्रिलोकमें प्रसिद्ध पवन है और बड़े-से-बड़े पर्वतको क्षण-मात्रमें उड़ा सकता है । यक्ष हँसा और एक तृण फेंककर उसे उड़ानेको कहा । पवन अपनी समस्त शक्तियाँ लगाकर हार गये किंतु तृणको न उड़ा सके। पवन मौनमुख लौटे और अपने स्थानपर जा बैठे । इन्द्रके पूछनेपर केवल इतना कहा कि यह यक्ष कुछ बतलाता नहीं है। एकके बाद एक करके सब देवता गये और असफल होकर लौट आये। किसीने भी अपनी पराजयकी बात स्वीकार न की, ऐसा हो उठा था उनका दम्भ । अन्तमें देवराज स्वयं गये और तब यक्ष अन्तर्धान हो गया एवं भवानी माँ अपनी परम पुनीत आभाके साथ देवराजके सम्मुख प्रकट हुईं । उन्होंने देवराज इन्द्रको बताया कि यह यक्ष स्वयं भगवान् थे और चूँकि स्वयं इन्द्र भी उनके साक्षात्कार करनेकी पात्रता नहीं रखते थे अतएव माँने उन्हें अनुगृहीत किया है । उन्होंने देवोंको बुलाकर उनके अहंकारकी भर्त्सना की । देव लज्जित हुए और उन्होंने अपनी भूल स्वीकार की ।' तात्पर्य यह है कि भगवान्से मिलनेके लिये इस आद्याशक्तिका अनुग्रह आवश्यक है।

राधास्वामीमतप्रवर्तक कहते हैं—

सत नाम धुनि अब कहुँ खोली । बीन बाँसरी ध्वनि जहँ बोली ॥

और कहते हैं—

बोल री राधा-प्यारी बंसी, क्यों तरसावत जान।

जहाँ यह ध्वनि है, वही वृन्दावन, गोलोक अथवा सतलोक है। जो इस रहस्यकी अनुभूति करता है, वही अन्तमें आत्मासे एकतत्त्व होता है और ऐसा पुरुष ही देहरूपसे जगत्‌के लिये गुरु है। एक जगह और कहते हैं—

हे राधा तुम गति अति भारी।
हे स्वामी तुम धाम अपारी॥

महात्मा चरणदास कहते हैं—

हम हैं दासी कृष्ण की; राधा हमरा नाम।
स्वामी कृष्णा जब मिलें, तब पावें बिश्राम॥

एक और महात्माने लिखा है—

निरंजन वनमें साधू एक रमता है॥
पर्वत ऊपर गऊ चरावै उसका दही जमाता है।
माखन माखन आपहि खावे छाछ जगतको देता है॥
कागदकी एक पुतली बनाई उसका नाच नचाता है।
आपहि गावे आप बजावे आपहिं तान लगाता है॥
निरंजन वनमें साधू एक रमता है॥

इसी गोलोकके सम्बन्धमें लेखकने करीब ३० वर्ष पूर्व पद्य लिखा था, जो पाठकोंके अवलोकनार्थ प्रस्तुत है। पद्य जून-जुलाई १९६१ को चरित्रनिर्माण-नामक पत्रिकामें काशित हो चुका है—

बस भेदी भेद बतावेंगे ये गली कहाँको जाती है।
दो प्राणोंको एकहि नारी, को कौन कहाँपर खाती है।
गोकुलकी गली निराली है, एक गऊ जहाँपर ब्याती है।
गगनामें अजब बदरिया इक, जो अमृत रस बरसाती है।
बिन बदन जहाँ उठती बानी, बहरी सुन मस्ताती है।
अंधी नित रास जहाँ देखे, प्रीतमके संग जुराती है।
माँ मार बापको मारै जो, हत्या नहीं उसको आती है।
यम कर्म कालकी है न जहाँ, इनको तो आती पाती है।
अनुभवकी गतियाँ 'मान' कहैं, जग बतियाँ नाहिं बताती है॥

ऐसे परम रहस्यमय गोलोककी प्राप्तिके लिये मानव-शरीर ही कारण है, बिना सात्त्विक जीवनके वृत्ति अन्तर्मुखी नहीं होती और सात्त्विकता ही मनुष्यता है। सात्त्विक जीवनके लिये गोरस अद्वितीय है। वेदमें इसका वर्णन इस प्रकार आया है—

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम्।
(ऋग्वेद १०।४२।१०)

गौओंका सहारा लेकर हम दुःख-दारिद्र्यका निवारण कर सकें और गौओंके द्वारा प्राप्त अन्नसे हम अशेष क्षुधाका निवारण करें।

अस्मे धेहि यवम् गोमादिन्द्र
कृधो धिय जरित्रे वाजरत्नानाम्।

'हे इन्द्रदेवता! मुझ स्तोताको आप गौ और जौसे युक्त सम्पत्ति दो। अन्न-धनसे सम्पन्न बनाओ।

आयुर्वेदमें गायके दूध, दही, घृत और मूत्रकी बड़ी महिमा गायी है। इन्हें अमृत कहा गया है। योगशास्त्रियोंका कथन है कि सप्तसागर और सप्तपर्वत मानव-शरीरमें ही हैं। सप्तसागरोंमें एक सागर क्षीरसागर है। इसको आचार्य बताते हैं कि यह वीर्यमें है। इसी वीर्यकी मनके अन्तर्मुखी होनेपर ऊर्ध्वगति हो जाती है, तभी महामाया कुण्डलिनी स्थायीरूपसे चक्रोंका वेधनकर शिवमें अवस्थित होती है। यही वह क्षीरसागर है, जिसमें भगवान् विष्णुका वास है। गोरस साधनके उत्कर्षमें अद्वितीय है। इस प्रकार गो हमारी संस्कृति, हमारे बल और विज्ञानका प्रतीक है।

ये तो हुईं सूक्ष्म बातें। बाह्य स्थूलरूपसे भी देखा जाय तो गोमाताके हमपर बड़े उपकार हैं। परम स्नेहमयी; अनन्त धैर्यशीला, पृथ्वी माँकी तुलना गौसे की गयी है। तुलसीदासजी लिखते हैं—

सुर मुनि गंधर्बा मिलि करि सर्बा गे बिरंचि के लोका।
सँग गो तनु धारी भूमि बिचारी परम बिकल भय सोका॥
ब्रह्माँ सब जाना मन अनुमाना मोर कछू न बसाई।
जा करि तैं दासी सो अबिनासी हमरेउ तोर सहाई॥

गायके बछड़ेका उपयोग हम खेतीमें करते हैं। गोरस, दही, घृतका भोजनमें, गोमूत्रका आयुर्वेदकी कई ओषधियोंमें उपयोग होता है। गोबरसे खाद बनता है। इतना ही नहीं, गायके मरनेके बाद उसके चमड़ेका उपयोग जूते बनानेमें होता है। तो जिसके ऐसे अनेकों उपकार हैं, उसका वध

परम कृतघ्नता है और रक्षा परम धर्म। वेद भी गोवधका निषेध करते हैं—

सूयवसाद् भगवती हि भूया अथो वयं भगवन्तः स्याम ।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती ॥

भाग्यशाली धेनु ! तू तृणका सेवन करनेवाली है। हमको भाग्यशाली बना। तू घास खाकर निर्मल जल पीनेवाली है।

उपर्युक्त मन्त्रमें गौको हिंसाके अयोग्य बताया है। नीचेके मन्त्रमें हिंसा न करनेका आदेश है—

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः।
प्र नु वोचं चिकित्तुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट॥

जो गोदेवी आदित्योंकी भगिनी, रुद्रोंकी माता, वसुओंकी पुत्री और पयस्विनी है, उसकी हिंसा मत करना। यह बात मैंने मेधावी (बुद्धिमान्) मनुष्योंसे कही थी। अतः सारा विश्व गोमय होकर पृथ्वी गोरूप धारण करती है और अन्तमें हमारी गौ तो हमारा धन-धान्य-दुग्धादिसे पोषण करती है। यह बाह्य गौ उसी विश्वरूप गोका छोटा स्वरूप होकर सनातन धर्मकी माता है और सदैव रक्षा करने योग्य है। जो आसुरी दुर्गुणोंसे रहित तथा दैवी गुणोंसे युक्त है।

गोभक्तिका चमत्कार

(लेखक—श्रीरामेश्वरदयालजी श्रीमाली बी० ए०, साहित्यविशारद)

वर्तमानकालमें भौतिकताकी ओर प्रवृत्त मानव यद्यपि गो-सेवाकी महिमाको नहीं समझते, तथापि इधर जो अनुभव हुए हैं, उनके आधारपर गोके शरीरमें सभी देवताओंका निवास मानना पड़ता है।

आयुर्वेदप्रवीण वैद्यराज लक्ष्मणसिंहजीकी धर्मपत्नी श्रीमती गंगाकौरका देहावसान ५ अक्तूबर १९६० को हुआ। देहावसानके छः मास पूर्व इन्होंने वैद्यराजजीको बता दिया कि यद्यपि शारीरिक रूपसे मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ, तथापि मेरा अन्तिम समय निकट है। वैसे तो वैद्यराजजी परम धार्मिक हैं, परंतु पत्नीकी इस बातपर वे पूर्ण विश्वास नहीं कर पाये।

मृत्युके दो मास पूर्व श्रीमती गंगाकौरने पुनः अपनी मृत्यु-तिथि बतलायी और स्वयं पूर्णतः हरिभक्ति और गो-सेवामें लग गयी। २३ सितम्बर ६० को किसी बातके प्रसङ्गमें यही बात फिर दोहरायी गयी। मृत्युके दो दिन पूर्वसे राम और ॐका पाठ चलता रहा।

निश्चित समयपर श्रीमती गंगाकौर चेतनाशून्य हो गयी। वैद्यजीने कस्तूरी आदि ओषधियोंकी सहायतासे उन्हें पुनः चैतन्य-अवस्थामें लाकर पूछा—'देवि! योगी-यतियोंके लिये भी दुर्बोध मृत्युके आगमनका पूर्वाभास तुम्हें कैसे हुआ ?'

श्रीमती गंगाकौरने उत्तर दिया—'यह सब गो-सेवाका प्रताप है। मुझे ऐसा आभास हो रहा है कि मैं सीढ़ियोंपर जा रही हूँ। कुत्ते और कुत्तों-जैसे प्राणी मुझपर झपट रहे हैं और गो-समुदाय घेरा बनाकर मेरी रक्षा कर रहा है। एक प्राणी मुझे कह रहा है कि गायें तेरी रक्षा कर रही हैं, इसलिये तू जा और तेरे पतिकी शङ्का-निवारण कर आ।'

ऐसा कहकर उन्होंने आथणी (दही जमानेकी हाँडी) मँगवायी और वह सारा दही गोकी पुत्री (वत्सा) को खिलानेका आदेश दिया। फिर उन्होंने कहा कि मेरी माताजी आयेंगी और विकल होकर रोयेंगी। आप उन्हें रोने-कलपनेसे मना कर दीजिये और कहिये कि वे 'राम' या 'ॐ' नामका पाठ करें।

गायका दही खाते-खाते वे चिर-निद्रामें लीन हो गयीं।

अवतारोंका कालक्रम

(लेखक—श्रीविश्वम्भरनाथजी द्विवेदी)

अनेक लोगोंको यह भ्रम है कि मत्स्यावतार प्रथमावतार है और इसी भ्रान्त धारणाके कारण अवतारोंमें भी विकासवादकी अनर्गल कल्पना लोग करते हैं। अतएव आवश्यक है कि हम यह समझ लें कि पुराणोंके अनुसार भगवान्‌का कौन-सा अवतार कब हुआ है।

वर्तमान समयमें ब्रह्माका द्वितीय परार्ध चल रहा है और उसका यह श्वेतवाराह कल्प चल रहा है। पचास वर्षकी आयुको एक परार्ध कहा जाता है। ब्रह्माजीका एक दिन मनुष्योंके चार अरब बत्तीस करोड़ वर्षका होता है। इसमें लगभग ७२ चतुर्युगी होते हैं। इतनी ही बड़ी ब्रह्माकी रात्रि भी होती है। ब्रह्माजीके दिनके समय सृष्टि रहती है और रात्रिके समय प्रलय हो जाता है, लेकिन इस प्रलयमें पृथ्वी-सूर्यादि ग्रहोंका नाश नहीं होता। केवल प्राणि-सृष्टिको ब्रह्मा अपनेमें अन्तर्हित कर सो जाते हैं। इस प्रकारके ३६० दिन-रातका ब्रह्माका एक वर्ष होता है और ऐसे सौ वर्षोंकी ब्रह्माकी आयु होती है। ब्रह्माकी आयु पूर्ण होनेपर जब ब्रह्माका लय होता है, तब महाप्रलय होता है अर्थात् पञ्चभूत अपने कारणमें लय हो जाते हैं और प्रकृति साम्यावस्थामें स्थित हो जाती है।

यह ब्रह्माका द्वितीय परार्ध है—इसका अर्थ है कि अबतक ब्रह्माकी आयुके ५० वर्ष बीत चुके हैं। इसका यह भी अर्थ हुआ कि अबतक ब्रह्माके सोलह हजार दिन बीते हैं और ब्रह्माकी उत्पत्तिसे अबतक सोलह हजार बार सृष्टि तथा प्रलय हो चुकी है।

वर्तमान कल्प जो ब्रह्माकी आयुके इक्यावनवें वर्षका प्रथम दिन है श्वेतवाराह कल्प है। इसमें भी २७ बार सत्ययुग, द्वापर, त्रेता, कलियुग आये और गये। यह अट्ठाईसवीं चतुर्युगीका कलियुग चल रहा है। इसमें भी तीन युग बीत चुके हैं। अभीतक ब्रह्माके इस चालू दिनका दोपहर नहीं हुआ है।

अवतारोंका क्रम समझनेके लिये समयका यह विवरण ध्यानमें रखना अत्यन्त आवश्यक है। इस विवरणके ध्यानमें रहनेपर यह भ्रम किसीको नहीं होगा कि प्रलय समुद्रमें होनेवाला अवतार ब्राह्मी सृष्टिके आदिमें ही होना चाहिये। वह तो ब्राह्मी सृष्टिसे अबतकके होनेवाले किसी भी प्रलयके समय सम्भव है और उसका समय पुराणोंमें दिया हुआ है।

महाप्रलयके पश्चात् भगवान् नारायणके नाभि-नालसे ब्रह्माजीकी उत्पत्ति हुई। भगवान् नारायण, ब्रह्मा, शिव, महाशक्ति और गणेश—ये एक ही सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वरेश्वर सगुण ब्रह्मके पाँच स्वरूप हैं। पाँच होते हुए भी परस्पर अभिन्न हैं। अतएव इन पाँचोंमें अवतार और अवतारीका भेद शास्त्र नहीं मानता।

१. ब्रह्मपुत्र—[सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार और नारद]—ये पाँचों ब्रह्माजीके मानसपुत्र हैं। यद्यपि ब्रह्माजीके मानसपुत्र और भी हैं कर्दमादि, किंतु ये पाँच आजन्म ब्रह्मचारी ज्ञान एवं भक्तिपरम्पराके प्रवर्तक हैं। भगवान्‌ने ही इन रूपोंमें अवतार धारण किया है। इस प्रकार आदिसृष्टिका प्रथमावतार इन पाँच रूपोंमें है।

२. हंस—सनकादिकोंको तत्त्वके विषयमें कुछ संदेह हुआ और उन्होंने ब्रह्माजीसे प्रश्न किया। सृष्टिकर्म-व्यग्र-चित्त ब्रह्माजी उस प्रश्नका समाधान नहीं कर सके। उस समय भगवान्‌ने हंसरूपमें अवतार लेकर सनकादि कुमारोंका समाधान किया।

३. वाराह—यह अवतार दो हुए हैं—एक ब्राह्मी सृष्टिके प्रथम कल्प (पाद्मकल्प) के प्रारम्भमें और दूसरा वर्तमान कल्पके प्रारम्भमें। पाद्मकल्पके प्रारम्भमें होनेवाला अवतार नील वाराहका है और इस कल्पके आरम्भमें होनेवाला अवतार श्वेतवाराहके रूपमें है। नील वाराहने ही पृथ्वीका उद्धार और हिरण्याक्षका वध भी किया था। श्वेतवाराहसे इन कथाओंका सम्बन्ध नहीं है।

४. यज्ञ—ब्रह्माजीके मानसपुत्र प्रजापति रुचि और स्वायंभू मनुकी पुत्री आकूतिसे भगवान्ने यज्ञके नामसे अवतार लिया था। यही स्वायंभू मन्वन्तरका मन्वन्तरावतार है। मनु जब अपनी पत्नी शतरूपाके साथ तपस्या कर रहे थे, उस समय असुरोंके आक्रमणसे उनकी रक्षा भगवान् यज्ञने ही की थी।

५. कपिल—ब्रह्माके मानसपुत्र महर्षि कर्दम और मनुपुत्री देवहूतिसे तत्त्वप्रसंख्यानके लिये भगवान्ने कपिलके रूपमें अवतार धारण किया।

६. नर-नारायण—धर्मकी पत्नी मूर्ति (महर्षि कर्दमकी कन्या) से नर और नारायण इन दो रूपोंमें भगवान्का अवतार धर्म और साधनाकी नित्य सुरक्षाके लिये है। इन दोनों रूपोंसे भगवान्ने बदरिकाश्रममें प्रलयान्त तप किया।

७. दत्तात्रेय—महर्षि अत्रि ब्रह्माजीके मानसपुत्र हैं और उनकी पत्नी अनुसूया महर्षि कर्दमकी पुत्री हैं। इस दम्पतिकी तपस्यासे प्रसन्न होकर त्रिदेव ही इनके यहाँ पुत्ररूपमें अवतरित हुए। इनमेंसे भगवान् विष्णुके अंशसे दत्त, ब्रह्माके अंशसे चन्द्रमा और शिवके अंशसे महर्षि दुर्वासाका प्राकट्य हुआ। अत्रि-पुत्र होनेके कारण दत्त ही 'दत्तात्रेय' कहलाते हैं।

८. नृसिंह—आदिदैत्य हिरण्यकशिपुको मारकर प्रह्लादको परित्राण देनेवाले भगवान् नृसिंहकी कथा प्रसिद्ध है।

९. ध्रुवके लिये—ध्रुवकी तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवान्ने उन्हें दर्शन दिया।

१०. ऋषभ—स्वायंभू मनुके पुत्र प्रियव्रतके पौत्र हुए महाराज नाभि। उनके पुत्र होकर भगवान्का जो अवतार हुआ, उन्हें ऋषभदेव कहते हैं। यह अवतार वैराग्यकी चरम सीमाका आदर्श प्रदर्शित करनेके लिये हुआ था।

११. पृथु—प्रथम पाद्मकल्पके स्वायंभू मन्वन्तरकी प्रथम चतुर्युगीके त्रेतायुगके प्रारम्भमें ध्रुवके वंशमें भगवान्का यह अवतार हुआ। इस अवतारको आदिराज कहते हैं; क्योंकि पृथुने ही नगर-ग्राम आदिकी व्यवस्थित योजनाको जन्म दिया तथा राज्यकी स्थापना की एवं पृथ्वीको बराबर करके खेतीका प्रारम्भ किया।

नोट—यहाँतक भगवान्के अवतार पाद्मकल्पके प्रथम मन्वन्तर स्वायंभुव मन्वन्तरमें हुए हैं। इनका क्रम जो ऊपर दिया गया है, प्रायः वही है।

१२. हरि—पाद्मकल्पके चौथे तामस नामक मन्वन्तरमें हरिमेधा ऋषिकी पत्नी हरिणीसे भगवान्का यह अवतार हुआ। इस अवतारमें भगवान्ने गजेन्द्रको ग्राहके पाशसे मुक्त किया।

१३. कूर्म—पाद्मकल्पके छठे मन्वन्तरमें वैराज ऋषिकी पत्नी सम्भूतिसे भगवान्का एक अवतार अजित नामसे हुआ था। यह अंशावतार है। इन्होंने ही समुद्रमन्थनके समय कच्छपरूप धारण करके मन्दराचलको अपनी पीठपर रक्खा। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि समुद्र-मन्थनके समय असुरोंके स्वामी प्रह्लादके पौत्र दैत्यराज बलि थे। इसलिये कूर्मावतारका क्रम जो लोग नृसिंहसे पहले मानते हैं, वे भूल ही करते हैं।

१४. धन्वन्तरि—समुद्रमन्थनके अन्तमें भगवान् स्वयं क्षीरसमुद्रसे अमृतकलश लिये धन्वन्तरिके रूपमें प्रकट हुए थे।

१५. मोहिनी–दैत्योंको मोहितकर देवताओंको अमृत पिलानेके लिये भगवान्‌ने मोहिनी रूप धारण किया था।

१६. वामन–दैत्यराज बलिसे तीन पद भूमि माँगकर उन्हें विराट् रूपसे बाँध लेनेवाले कश्यपनन्दन भगवान् वामनको ही उपेन्द्र भी कहा जाता है।

नोट–यहाँतकके सब अवतार सृष्टिके प्रथमकल्प ब्राह्मकल्पमें स्वायम्भुव मन्वन्तरके बाद हुए हैं।

१७. मत्स्य–चाक्षुषकल्पके अन्तमें ब्रह्माजीके सो जानेपर ब्राह्मी रात्रिके प्रारम्भ होनेपर प्रलय-समुद्रमें भगवान्‌का मत्स्यावतार हुआ और राजा सत्यव्रतको उन्होंने इस प्रलय-समुद्रसे बचाया। यही राजा सत्यव्रत इस श्वेतवाराहकल्पमें वैवस्वतमनु हुए। ब्रह्माके मुखसे निकले वेदोंका हरण हयग्रीव नामक दैत्यने कर लिया था और प्रलय-समुद्रमें छिप गया था। भगवान् मत्स्यने उसे मारकर वेदोंका उद्धार किया।

१८. हयशीर्ष–हयग्रीवके द्वारा वेदोंका हरण होनेपर ब्रह्माजी जब दूसरी सृष्टिके प्रारम्भमें जगे तब उन्हें वेद विस्मृत हो गये थे। उन्होंने भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये यज्ञ प्रारम्भ किया। इस यज्ञमें हयशीर्षरूपसे भगवान् प्रकट हुए, जिनके श्वाससे वेदवाणी व्यक्त हुई।

नोट–आगेके अवतार वर्तमान श्वेतवाराह-कल्पके वैवस्वत-मन्वन्तरमें हुए हैं।

१९. परशुराम–इसी वैवस्वत मन्वन्तरके प्रथम चतुर्युगीके त्रेतायुगमें भगवान् परशुरामका अवतार हुआ।

२०. श्रीराम–वैवस्वत मन्वन्तरके वर्तमान अट्ठाईसवीं चतुर्युगीके त्रेतायुगमें मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामका अवतार हुआ।

२१. श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास–इस कलियुगके प्रारम्भसे कुछ पूर्व द्वापर युगमें वेदोंका चतुर्धा विभाग करनेवाले पुराणोंके प्रणेता भगवान् व्यासका अवतार हुआ है।

२२. श्रीबलराम व श्रीकृष्ण–श्रीकृष्णावतार स्वच्छन्दावतार है। यह कब होगा कोई नियम नहीं होता। द्वापरान्तका युगावतार श्रीबलरामका अवतार है। यह संयोगकी ही बात थी कि इसी कलियुगके प्रारम्भसे पूर्व लगभग ५००० वर्ष पहले भगवान् श्रीकृष्ण बलरामजीके साथ पृथ्वीपर पधारे थे।

२३. बुद्ध–यद्यपि यह विवादका विषय है कि पुराणोंमें जिस बुद्धावतारका वर्णन है वह गौतमबुद्ध ही हैं। लेकिन गीतगोविन्दके कर्ता जयदेवने गौतमको ही बुद्धावतार माना है।

२४. कल्कि–इस कलियुगके अन्तमें कल्कि अवतार होगा। कलियुगकी आयु चार लाख बत्तीस हजार वर्ष है। वर्तमान कलि संवत् ५०६५ है। अर्थात् कल्कि अवतार होनेमें अभी चार लाख छब्बीस हजार नव सौ पैंतीस वर्ष शेष हैं।

* * *

बसो मोरे नैननमें नँदलाल

बसो मोरे नैननमें नँदलाल॥
मोहनी मूरति साँवरि सूरति नैणा बने बिसाल।
अधर सुधारस मुरली राजत उर बैजंती-माल॥
छुद्र घंटिका कटि तट सोभित नूपुर सबद रसाल।
मीरा प्रभु संतन सुखदाई भगतबछल गोपाल॥

मत्स्यावतार

(१)

प्रलय पयोधिमें विलीन तीन लोक हुए
तैरती थी राख कहीं दर्भ था न दूबा था,
चारों ओर ऊर्मियोंका आहव मचा था, बचा—
कालके हबाहबमें साहब न सूबा था।
चिन्तामग्न मनुका भविष्यत् नरत्व बीज
वह अमरत्व वहाँ जिंदगीसे ऊबा था,
गिरिगण मेरु डूबे, वरुण कुबेर डूबे
नाक वहीं डूबा मयनाक वहीं डूबा था॥

(२)

हिमकी हवेली अलबेली वसुधाके संग
खाँड गुड़-भेली-सी गली है घुल करके,
पानीमें मिली है, युग-युगकी पुरानी सृष्टि
सोच रहे मनु लोचनोंमें अश्रु भर के।
तुङ्ग गिरि शृङ्ग-सी तरङ्गोंसे समावृत हो
डूब चले ज्यों ही वह मार्गमें अधरके,
भक्त को बचाने त्यों ही धाये करुणाके सिन्धु
दीनबन्धु पीन महामीन रूप धर के॥

(३)

चीर तमतोम सिन्धु-नीरमें प्रकट मत्स्य
कोटि सोम रविका प्रकाश ले अतुल था,
था कि व्योमचुम्बिनी विशाल जलराशिपर—
पथ छायापथका ही व्यक्त बिलकुल था।
पार करनेको या अपार पारावार वहाँ
दीप्तिमान् स्वर्णका महान् कोई पुल था,
था कि महासागर अथाह थाहनेके हेतु
रक्षित असान मानदण्ड सुविपुल था॥

(४)

मथ उठा सिन्धु मीन-शृङ्ग मन्दराचलसे
पुच्छका प्रहार ज्वार जोरसे उठाता था,
क्षुब्ध मच्छ-कच्छपादि जलचर जन्तुओं-सा
शैलोंका समूह डूबता था उतराता था।
खोई मेदिनी पता पातालका रहा न कोई
नागोंसे तिमिङ्गलोंका दल टकराता था,
चार आननोंसे चतुरानन सुनाता स्तुति
मुखसे हजार शेषनाग गुन गाता था॥

(५)

देख अब्धि मन्दिरमें रूप इन्दिराका रम्य
आँखें महामीनकी पलक हीन हो गईं,
स्वागत सुवेषमें समागत पियाका कर
नत नयनोंसे वे पुलक पीन हो गईं।
कम्पको छिपाया हरिने था पुच्छ चालनमें
स्वेदकणिकाएँ शीकरोंमें लीन हो गईं,
स्पर्शसे प्रियाके हो अमंद गति मंद गई
मति महानन्द सिन्धुमग्न मीन हो गई॥

(६)

मौका जान व्यक्त हुई दिव्य एक नौका वहाँ
ऊर्मिने उठाके जहाँ मनुको बिठाया है,
सात ऋषियोंके साथ जीव-जीविकाके बीज
लेकर उन्होंने शीश प्रभुको झुकाया है।
सर्परज्जुओंसे बँधी नाव महामीन शृङ्ग
आगे बढ़ी मनुने विहार-मोद पाया है,
प्रश्नोंका उन्हींके समाधान जो महान् मिला
ज्ञान वही 'मत्स्य'का 'पुराण' कहलाया है॥

—साहित्याचार्य पं० रामनारायणदत्त शास्त्री

वैशाखके दो महान् दिवस

(लेखक—श्रीगौरीशंकरजी गुप्त)

(१)

अक्षयतृतीया परशुराम-जयन्ती

वैशाख त्योहारोंका महीना है। इस मासमें गङ्गासप्तमी, नृसिंहचतुर्दशी आदि पर्वोंके साथ ही अक्षयतृतीया और परशुराम-जयन्तीका भी विशेष महत्त्व है। वैशाखके शुक्लपक्षकी तृतीया ही अक्षयतृतीया और परशुराम-जयन्ती दिवसके रूपमें प्रसिद्ध है। इसे 'युगादि तृतीया' भी कहते हैं। इसी तिथिको सत्ययुगका आरम्भ हुआ था।

अक्षयतृतीया सारे पापोंका नाश करनेवाली है। इसे पूर्वाह्णव्यापिनी (दोपहरके पूर्वकी तिथि) लेने या ग्रहण करनेका विधान है। मन्वादि तथा युगादि तिथि होनेके कारण इस दिन गङ्गास्नान, जप तथा हवनादि करनेसे अनन्त फलकी प्राप्ति होती है और इससे प्राप्त होनेवाला फल वा पुण्य अक्षय होता है। अक्षयतृतीया नाम पड़नेका यही कारण है। देव तथा पितर—इन दोनोंसे सम्बन्धित कृत्योंमें कृष्णपक्षकी तृतीया अपराह्णव्यापिनी ली जाती है; किंतु शुक्लपक्षकी तृतीया अपराह्णव्यापिनी लेनेसे हव्यको देवता और कव्यको पितर ग्रहण नहीं करते।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने युधिष्ठिरसे अक्षयतृतीयाके सम्बन्धमें कहा था कि 'इस पुण्यतिथिको पूर्वाह्णमें स्नान, जप, तप, हवन, स्वाध्याय, पितृ-तर्पण तथा दान आदि जो भी शुभ कृत्य किये जाते हैं, उनका अक्षय पुण्यफल प्राप्त होता है।' इस सम्बन्धमें उन्होंने एक कथा भी सुनायी थी कि प्राचीन कालमें एक दरिद्र किंतु सत्यवादी तथा श्रद्धालु वैश्यने अक्षयतृतीयाके माहात्म्यको श्रवणकर उस दिन गङ्गास्नान, देवपूजन, पितृतर्पण आदि करके अपनी शक्तिके अनुसार ब्राह्मणोंको सत्तू, दही, पंखा तथा मिष्ठान्न आदि सामग्रियाँ दानमें दी थीं। इसके परिणामस्वरूप उसे अगले जन्ममें क्षत्रियके घरमें जन्म मिला और उसे प्रचुर धनधान्यकी प्राप्ति हुई। साथ ही उसकी वृत्ति पूर्ववत् धार्मिक बनी रही। ऐसा विलक्षण प्रभाव है इस अक्षयतृतीयाका।

अक्षयतृतीयाको लक्ष्मीसहित भगवान्का सविधि पूजन करना चाहिये। इस दिन ओलेके लड्डू और पंखे दान करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है और गङ्गास्नान करनेसे प्राणी सभी पापोंसे मुक्त हो जाते हैं। गङ्गास्नानके अनन्तर पितृ-तर्पण; देव (वासुदेव-) पूजन करना चाहिये। भोजन एक बार करना चाहिये। यव (जौ) से हवन, यवसे ही विष्णुका पूजन किया जाता है। ब्राह्मणोंको गेहूँ, जौ और चनेका सत्तू, जलपूर्ण घट, ओले, सर्व रस, पंखे, दही तथा ग्रीष्मोपयोगी चीजें दान देनेसे शिवलोककी प्राप्ति होती है। घटदान करते समय—**'एष धर्मघटो दत्तो ब्रह्मविष्णुशिवात्मकः।'** से **'पितृभ्योऽक्षय्यमुपतिष्ठतु'** तक यह मन्त्र पढ़ना चाहिये।

धार्मिक दृष्टिकोणसे किये जानेपर भी यह पर्व सर्वव्यापी है। मन्दिरोंमें इस दिन भगवान्को सत्तूका भोग लगता है और उन्हें श्वेत वस्त्र धारण कराये जाते हैं। इसी दिनसे प्याऊ जल पिलाने बैठ जाते हैं और स्थान-स्थानपर पौसरे चलने लगते हैं। कहीं-कहीं तो ठण्डा शर्बत भी पिलाते हैं। वैशाखसे आषाढ़ मासपर्यन्त प्रायः नदी, तालाब, कुएँ—सभीमें जल कम होने लगता है—सूख जाता है। पशु-पक्षी और मनुष्य सभी प्राणी पिपासा और धूपसे व्याकुल होकर सुध-बुध खो बैठते हैं। ऐसे समयमें प्याऊ या पौसरेकी व्यवस्थासे सचमुच महान् पुण्य और उपकार होता है।

परशुराम-जयन्ती—भी इसी दिन मनायी जाती है। विष्णुके असंख्यावतारोंमें प्रमुख दशावतार शास्त्रकारोंने माने हैं। भगवान् परशुराम छठे अवतार माने गये हैं।

वैशाख शुक्लपक्षकी तृतीयाको एक प्रहर रात्रि व्यतीत होनेपर भगवान् परशुरामका जन्म हुआ था। उस समय पुनर्वसु नक्षत्रमें स्वग्रही होकर छहों ग्रहोंसे युक्त मिथुनराशिपर राहु स्थित था। इसी समय हैहयवंशके तत्कालीन पापी क्षत्रियोंके संहारार्थ रेणुकाके गर्भसे परशुरामका अवतरण हुआ। यह तिथि प्रदोष या प्रथम प्रहरव्यापिनी ग्रहण की जाती है और इसी समय परशुरामका पूजन करके निम्नलिखित मन्त्रसे उन्हें अर्घ्य प्रदान किया जाता है—

जमदग्निसुत वीर क्षत्रियान्तकर प्रभो।
गृहाणार्घ्यं मया दत्तं कृपया परमेश्वर॥

भगवान् परशुरामका नाम तो केवल 'राम' था; किंतु परशु धारण करनेके कारण वे परशुरामके नामसे प्रसिद्ध हुए। जमदग्निपुत्र होनेके कारण वे जामदग्न्य भी कहे जाते हैं। परशुरामजीमें ब्राह्मण होनेपर भी, क्षत्रियोचित गुणोंका भण्डार था। उनका क्रोध तो सर्वविदित ही है। जनकपुरमें

धनुषयज्ञके अवसरपर लक्ष्मण तथा रामचन्द्रसे हुआ परशुराम-संवाद कितना रोमाञ्चकारी है ।

एक बार विप्रद्रोही हैहयनेता कार्तवीर्य सहस्रार्जुन जंगलमें सदल-बल शिकार खेलते-खेलते महर्षि जमदग्निके आश्रमपर पहुँच गये । महर्षिने उनका समुचित स्वागत-सत्कार किया । उनके पास नन्दिनी नामकी एक ऐसी विलक्षण गाय थी, जिससे जंगलमें भी मङ्गल होता था । कार्तवीर्यका स्वागत भी इसी गायके माध्यमसे हुआ । यह देखकर कार्तवीर्यमें लोभ उत्पन्न हुआ और उसने नन्दिनीका अपहरण कर लिया । क्षुब्ध होकर परशुरामने कार्तवीर्यका पीछा किया । अन्ततोगत्वा परशुरामकी विजय हुई और कार्तवीर्य सेनासहित मारा गया । जब महर्षि जमदग्निने यह बात सुनी, तब वे अत्यन्त दुखी हुए और परशुरामके पराक्रमकी सराहना करते हुए उन्होंने देवताके प्रतिनिधिस्वरूप मान्य राजाका वध करनेके अपराधमें प्रायश्चित्तस्वरूप तीर्थयात्रा करनेकी परशुरामको आज्ञा दी ।

पिताकी आज्ञा शिरोधार्यकर परशुराम चल पड़े; किंतु इधर कार्तवीर्यके पुत्रोंने अपने पिताका बदला लेनेकी तैयारी की । महर्षि जमदग्नि हवन कर रहे थे । उसी समय उन लोगोंने उनके मस्तकका छेदन कर डाला । परशुरामकी माता रेणुकाने आहें भरते हुए परशुरामको पुकारा और इक्कीस बार अपनी छाती पीटी । दैवात् परशुराम वहाँ आ पहुँचे और उन्होंने हैहयवंशके क्षत्रियोंसे पृथ्वीको इक्कीस बार शून्य कर डालनेका कठोर व्रत लिया ।

यह भी प्रसिद्ध है कि अश्वमेधीय यज्ञके अश्वकी खोजमें घूमते हुए कुछ क्षत्रिय राजकुमारोंने जमदग्निका अपमान किया था । इसी कारण परशुरामने इक्कीस बार पृथ्वीसे क्षत्रियोंका संहार किया । जो भी हो उस युगका वातावरण बहुत दूषित हो चुका था, परशुराम तो निमित्त बन गये । क्षत्रियोंका नाश स्वयं उनकी करनीके कारण ही हुआ । एक बार परशुरामने क्रुद्ध पिताकी आज्ञासे अपनी माताके मस्तकको काट डाला था और पुनः पितासे वर प्राप्तकर माता रेणुकाको जीवित भी कर दिया था । ऐसे थे परशुराम ।

शास्त्रोंमें परशुराम-जयन्ती मनानेका आदेश मिलता है; किंतु श्रीरामनवमी तथा श्रीकृष्णजन्माष्टमीकी भाँति इसका उतना प्रचार नहीं है । यद्यपि दशावतारोंमें गणना होनेके कारण भारतके सभी मन्दिरोंमें परशुराम-जयन्ती मनायी जाती है; किंतु मथुरा तथा पतितपावनी हमारी काशीमें इसका व्यापकस्वरूप देखा जाता है । कहते हैं कि आसामके आगे—जहाँ प्रसिद्ध कामाख्या देवी हैं, उस प्रदेशमें महर्षि जमदग्निका आश्रम है । वहाँ परशुरामके मन्दिर भी हैं और लोगोंमें उनके प्रति विशेष आस्था देखी जाती है । दक्षिणके कोंकण नामक स्थानमें ऐसी प्रसिद्धि है कि वहाँ परशुरामने अपने बाणोंसे समुद्रको पृथ्वीके रूपमें बदल दिया था । यही कारण है कि परशुरामक्षेत्रके नामसे यह स्थान आज भी प्रसिद्ध है । यह भी सत्य है कि वहाँ कभी अकाल नहीं पड़ता । दक्षिणदेशीय अनेक ब्राह्मण परशुरामके भक्त हैं । रत्नागिरी जिलेमें भी परशुरामका एक विशाल मन्दिर है । जहाँ प्रतिवर्ष परशुराम-जयन्ती बड़े समारोहसे मनायी जाती है ।

(२)

नृसिंह-जयन्ती और वैशाखी पूर्णिमा

वैशाख मासके अन्तिम दो दिन नृसिंहचतुर्दशी और वैशाखी पूर्णिमाके रूपमें प्रसिद्ध हैं । उक्त चतुर्दशी भगवान् नृसिंहसे सम्बन्धित है और पूर्णिमा भगवान् गौतमबुद्धसे । इन दोनों प्रमुख सांस्कृतिक पर्वोंका अपना महत्त्व है और इस लेखमें हम इसी विषयपर कुछ कहना चाहते हैं ।

वैशाख शुक्ल चतुर्दशी भगवान् नृसिंहका जन्मदिन है । इसी तिथिको स्वाति नक्षत्र और प्रदोषकालमें सोमवारको नृसिंहावतार हुआ था । नृसिंहावतार और हिरण्यकशिपुकी कथा आबालवृद्ध सभी जानते हैं । हिरण्यकशिपुको यह वरदान प्राप्त था कि वह किसी भी समय और किसी भी प्रकार मारा नहीं जा सकता । किंतु वह कट्टर नास्तिक तथा तामसी प्रकृतिका था और उसका पुत्र प्रह्लाद भगवान्का अनन्य भक्त । अतः पारस्परिक विरोध स्वाभाविक था और यही कारण है कि हिरण्यकशिपुने प्रह्लादको अनेक कष्ट दिये । उसे विषपान कराया गया, पहाड़से ढकेला गया, होलिकाग्निमें बैठाकर जलाया गया; किंतु उसका एक बाल भी बाँका न हो सका । अन्तमें निराश और क्रुद्ध होकर हिरण्यकशिपुने प्रह्लादको धमकाया और कहा—‘बुला अपने भगवान्को! कहाँ है वह !’ प्रह्लादने उत्तर दिया—वह सर्वव्यापी है । खम्भकी ओर संकेतकर हिरण्यकशिपुने पूछा—‘क्या वह इसमें भी है !’ उत्तर मिला—‘हाँ ।’ और जब हिरण्यकशिपुने खम्भपर वेगपूर्वक तलवार चलायी, तब खम्भके दो टुकड़े हो गये और उसमेंसे भगवान् नृसिंह प्रकट हुए और इस प्रकार उन्होंने दैत्यराजका वध कर भक्तराजकी रक्षा की ।

नृसिंहचतुर्दशीका व्रत सभी वर्णके लोग कर सकते हैं। इससे समस्त पाप तथा असंख्य अहिंसा-दोष मिट जाते हैं और सौ कल्पोंतक स्वर्गवास मिलता है। यह व्रत करनेवालोंको मध्याह्नके स्वच्छ जलमें (नदीमें) वैदिक मन्त्रोंसे स्नान करनेके पश्चात् नृसिंह भगवान्‌को स्मरण करते हुए घर वापस आना चाहिये। घर आकर पृथ्वीको गोबरसे लीपकर और अष्टदलीय कमल बनाकर उसपर कलशस्थापनकर उसमें ताम्र तथा रत्न डालना चाहिये। उस कलशपर बाँसकी एक डलियामें चावल भरकर रखना चाहिये और भगवान् नृसिंह तथा लक्ष्मीजीकी मूर्ति स्थापितकर उसे पञ्चामृतमें स्नान कराना तथा वैदिक एवं पौराणिक मन्त्रोंसे षोडशोपचार पूजना चाहिये। यदि व्रत कामनापरक हो तो स्वर्ण, भूमि, गौ, तिल तथा वस्त्रसहित शय्यादान भी करना चाहिये। पूर्वोक्त दोनों मूर्तियाँ स्वर्णमयी हों, यह भी कहा गया है। तदनन्तर ब्राह्मणको भोजन कराना और उनको यथाशक्ति दक्षिणा अवश्य देनी चाहिये। अन्तमें प्रार्थना करनेके बाद आचार्यको उसकी दक्षिणाके साथ उक्त स्वर्णमयी मूर्तियाँ देनेका विधान है और मध्याह्नकालके अनन्तर बन्धु-बान्धवोंके साथ भोजन करनेका विधान भी।

भगवान् नृसिंह वा नरसिंह विष्णुके अवतार माने जाते हैं। उन्हें हम शक्ति तथा पराक्रमके प्रतीक देवता कह सकते हैं। विजयनगरके महान् पराक्रमशाली नरेशोंने भगवान् नृसिंहकी मूर्त्तिको अपना राज्यचिह्न बनाकर अनेक विशाल नृसिंहमन्दिरोंकी स्थापना की थी। मद्रासके घँटासाल तथा हम्पी नामक स्थानोंमें नृसिंहके अनेक विशाल मन्दिर हैं और वहाँ प्रतिवर्ष दूर-दूरके असंख्य यात्री पहुँचकर अपनी मान्यताएँ पूर्ण करते हैं। वहाँके अनेक ब्राह्मण तथा अन्य जातिके लोग नृसिंहको अपना कुलदेव मानकर उनकी आराधना करते हैं। दक्षिणभारतके वैष्णवमतके प्रवर्त्तकाचार्योंद्वारा स्थापित विष्णुके मन्दिरोंमें भी नृसिंहचतुर्दशी बड़े समारोहसे मनायी जाती है। वहाँ दीपोत्सव होता है और भगवान्‌की सवारी पालकीमें गायन-वादनके साथ निकलती है। मुलतान नगरमें भी मुख्य रूपसे यह उत्सव मनाया जाता है। कहते हैं कि हिरण्यकशिपु यहींका राजा था और वर्त्तमान प्रह्लादगढ़ी उसका राजमहल था। जयपुरके खण्डेला नामक स्थानमें भगवान् नृसिंहकी बारह भुजाओंवाली एक अद्भुत मूर्त्ति है। रामलीला और रासलीला आदिकी भाँति हमारे तीर्थस्थानोंमें नृसिंहलीला भी होती है और मालवामें भगवान् नृसिंहकी सवारी पालकीमें निकलती है। नृसिंहलीला मुख्य रूपसे हमारी पुण्यपुरी काशी (वाराणसी), अयोध्या और मथुरा नगरीमें होती है। काशीमें प्रह्लादघाटपर नृसिंहचतुर्दशीके लगभग यह आयोजन प्रतिवर्ष होता है। इस पर्वसे हमें जहाँ ईश्वरकी अद्भुत शक्तिका स्मरण होता है, वहीं अधर्म और अनाचारसे बचकर कर्त्तव्यपथपर अग्रसर होनेकी प्रेरणा प्राप्त होती है।

दूसरे दिन वैशाखी पूर्णिमा या बुद्धजयन्तीका महान् पर्व पड़ता है। इसी दिन भगवान् गौतम बुद्धका जन्म हुआ था, इसी दिन उन्होंने बुद्धगयामें बोधिवृक्षके नीचे बुद्धत्व प्राप्त किया और इसी दिन उनका महानिर्वाण हुआ।

बौद्धजगत्में वैशाखी पूर्णिमाका यह महान् पर्व बड़े पुण्य और महत्त्वका माना जाता है। भगवान् बुद्धके अतिरिक्त इस तिथिका सम्बन्ध महानगरी लंकासे भी है। इसी दिन लंकाके अनेक बौद्ध-मन्दिरों, स्तूपों तथा मठोंकी स्थापना हुई और वहाँके अनेक नरेशोंका राज्याभिषेक हुआ। अन्य बौद्ध देशोंकी अपेक्षा लंकाके लिये इस तिथिका विशेष महत्त्व इसलिये भी है कि इसी दिन वहाँ दीपोत्सव मनाया जाता है। वहाँ कार्त्तिककी अमावस्याको दीपावली नहीं मनायी जाती। लंकाकी वैशाखी पूर्णिमा अवर्णनीय ही है। वैशाख मासमें जब भारतमें लूका साम्राज्य रहता है, तब लंकानिवासी समुद्र-तटकी उत्तुंग लहरोंसे वायुका स्पर्शानुभवकर अत्यन्त आनन्दित होते हैं। वैशाखकी शीतल और सलोनी वायुके प्रभावसे वे झूमने लगते हैं। हरी-भरी पुष्प-बेलों तथा नारियल और सोपारीके विशाल वृक्षोंवाले बगीचोंसे सुशोभित उसकी छटा वैशाखी पूर्णिमाके दिन निराली ही होती है। नारियलके पत्तोंसे निर्मित लघु झोपड़ियोंसे लेकर महान् अट्टालिकाएँ, मठ और मन्दिर—सभी जगमगा उठते हैं। रात्रिके समय एक भी कोना प्रकाशहीन नहीं रहने पाता। वहाँ बिजलीकी सजावट भी दर्शनीय होती है। वहाँके उल्लासमय वातावरण और आनन्दका अनुभव कर हम यह कह सकते हैं कि वस्तुतः बौद्धदेशोंपर भारतीय संस्कृतिका कितना अधिक और व्यापक प्रभाव पड़ा है।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

हेनरी जेम्स और आँसू

नवयुगके अंग्रेजी उपन्यासकारोंमें हेनरी जेम्स (१८४३–१९१६) का स्थान सर्वोच्च माना जाता है। संयोगवश उनका अपने एक पड़ोसीसे मनमुटाव हो गया, जो यहाँतक बढ़ा कि आपसी बोलचाल, दुआ-सलाम सब बंद हो गयी। कभी भूलसे एक दूसरेके सामने आ भी जाते, तो मुँह फेर लेते थे। एक दिन उस पड़ोसीके किसीकी मृत्यु हो गयी। लोगोंने आश्चर्यसे देखा हेनरी जेम्स सारे भेद-भावको भुलाकर अपने पड़ोसीको सान्त्वना देनेके लिये उपस्थित थे। एक महाशयसे न रहा गया। उन्होंने चकित होकर पूछा, 'जेम्स ! तुम कहाँ ?' 'जहाँ आँसू वहीं मैं' जेम्सने उत्तर दिया—'यह कैसे सम्भव है कि आँसू गिरें और जेम्स पोंछने न जाय।'

(२)

अनजानमें कम कीमतपर वस्तु बेच देना मूर्खता है तो जानकर कम कीमतपर खरीद लेना अपराध है

हेनरी थोरो (१८१७–१८६२) अमेरिकाके प्रधान चिन्तक एवं विचारक माने जाते हैं। इन्हींका एक निबन्ध है—Civil Disobedience (सविनय आज्ञाभङ्ग), जिसमें इन्होंने सत्याग्रहकी रूप-रेखा दी है। महात्मा गान्धी थोरोसे बहुत प्रभावित थे और इन्हींके निबन्धके आधारपर उन्होंने अपने १९३० वाले आन्दोलनका नाम (Civil Disobedience Movement) सविनय आज्ञाभङ्ग आन्दोलन रक्खा था।

थोरो स्वयं भारतीय विचारधारासे बहुत प्रभावित थे। उन्होंने अपने निबन्धोंमें जगह-जगह कालिदास, विष्णुपुराण, हरिवंशपुराण इत्यादिके उद्धरण दिये हैं। भारतीय विचारधारासे ही प्रभावित होकर वे लगभग दो वर्षतक जंगलमें आश्रम बनाकर रहे। इन्हीं दिनों उन्होंने एक किसानसे कुछ जमीन खरीदी। सौदा बहुत लाभका था। किसानको इससे पश्चात्ताप हुआ कि उसकी जमीन सस्ते दामोंमें निकल गयी। वह अगले दिन रात्रिमें थोरोके पास आया और गिड़गिड़ाते हुए कहने लगा—'महाशय ! वह जमीनका सौदा वापिस कर दें। मेरी स्त्री बहुत नाराज हो रही है।' 'कहीं बिका हुआ सौदा वापिस होता है ?' थोरोने उत्तर दिया। 'महाशय ! आप उचित हर्जाना ले लें। मैं गरीब आदमी हूँ। मेरे पास इससे अधिक नहीं है।' दस डालर थोरोकी ओर सरकाते हुए किसानने कहा।

'जब तुम गरीब हो तो ये दस डालर क्यों दे रहे हो ?'

'अपनी मूर्खताका दण्ड। अनजानेमें बाजारभावसे कमपर अपनी चीज बेच देना मूर्खता नहीं तो और क्या है।' किसानने कहा। 'अनजानेमें बाजारभावसे कमपर अपनी चीज बेच देना मूर्खता है तुम्हारी निगाहमें, तो फिर बताओ जान-बूझकर उचित मूल्यसे कममें कोई चीज ले लेना क्या है ? कृषक ! तुम जो कुछ कहते हो वह सर्वांशमें तो ठीक नहीं है, फिर भी मैं समझता हूँ कि मैंने जान-बूझकर उचित मूल्यसे कममें तुम्हारी जमीन लेकर अपराध किया है। धन्यवाद ! तुम्हारी जमीनका सौदा वापिस और तुम अपने ये दस डालर भी लेते जाओ। गलती मेरी और हर्जाना तुम दो ?' थोरोने उत्तर दिया।

—राजेन्द्रप्रसाद जैन

(३)

एक अन्नदाता

बात उस समयकी है, जब देशमें अनाज-बंदी जारी थी। हमारा परिवार काफी बड़ा था। रसदकी दूकानसे सप्ताहमें एक बार अनाज मिलनेकी व्यवस्था थी। एक सप्ताहके लिये हमें जो अनाज मिलता, वह हमारी आवश्यकताको देखते बहुत ही कम होता था। बड़ी कठिनाईसे तीन-चार दिन चलता। शेष दिन अत्यन्त अभावमें गुजरते। पेटके लिये बाध्य होकर ब्लैक मार्केटकी शरण लेनी पड़ती थी। दुगुने दाम देकर भी काम बन जाय तो बड़ा भाग्य—ऐसी अवस्था थी। पर वैसा भी कठिनतासे हो पाता था।

दिन-प्रतिदिन पैसोंका मूल्य घटता जा रहा था। बदलेमें अनाजके भाव बढ़ते जा रहे थे। भूखसे मरनेवाले मनुष्योंका रुपयोंसे पेट नहीं भरता। उन्हें तो आवश्यकता है एकमात्र अन्नदेवकी। अतएव मुँहमाँगे दाम देकर भीं सहजमें पेट-पालन नहीं होता था। पर ब्लैक-मार्केटसे अनाज मिलनेमें भी विघ्न आने लगे। कुछ समय बाद पैसा भी अन्न-प्राप्ति करवानेमें असमर्थ होने लगा। अन्तमें एक दिन वह समय आ ही गया, जिसका भय मेरे मनमें पहलेसे ही बना हुआ था। उस दिन हमारे घरमें अनाजका एक दाना भी न था। राशनका अनाज किसी तरह कलतक चला था। अब बिना सप्ताह बदले वहाँ अन्न मिलनेकी गुंजाइश नहीं थी। ब्लैकवालोंके पास भी अन्नका अभाव हो गया था। अतः सुबहसे ही अनाजकी खोज जारी कर दी गयी, पर जो भी बाहर जाता, निराश होकर खाली हाथ लौट आता। दोपहरतक कुछ बनते न देखकर संध्याको कुछ-न-कुछ मिल ही जायगा,—इस निराधार आशासे जी कड़ा करके दोपहरका समय बिना भोजनके निकाल दिया।

सुबह जो हवा थी, वही संध्याको भी कायम है। इस बातका निश्चय करनेके लिये हमें कुछ कम प्रयास नहीं करने पड़े। किंतु अब कलेजा मुँहको ओर आने लगा। सब लोग भूखसे व्याकुल होने लगे। किस प्रकार अन्न प्राप्त करें? इस विकट प्रश्नने हमें चक्करमें डाल दिया। इसी समय—

स्व० श्रीशिवाजी लाड—जिनसे हमारा वर्षोंसे घनिष्ठ सम्बन्ध था, अकस्मात् हमारे घर आये। पिताजीसे अपने पूर्वजीवनकी कुछ जूनी-पुरानी बातें करनेमें उन्हें विशेष आनन्द आता और इसीलिये वे कभी-कभी पिताजीसे बातें करने चले आया करते थे। इनकी धार्मिक कार्योंके प्रति भी विशेष रुचि थी। इसीका परिणाम यह हुआ था कि आर्थिक अवस्था साधारण होनेपर भी आप द्वारका और बद्री-केदार—दोनों धामोंकी यात्रा कर चुके थे। एवं शेष दोनों धामोंकी यात्रा करनेके विचारमें थे।

घरकी खेती होनेके कारण इनका अपना कारोबार ठीक था। लड़के भी कमानेवाले और समझदार थे। किसी बातकी चिन्ता करने-जैसी अवस्था न थी।

उन्होंने घरमें प्रवेश किया। हमारे बहुत-कुछ मना करनेपर भी, घरकी वर्तमान कहानीको हमारे मुरझाये चेहरोंने, उनकी तजुर्बेकार आँखोंके सामने प्रकट कर दिया। वे तुरंत वापस लौट गये।

कुछ ही मिनटोंके बाद देखते हैं, श्रीलाड महोदय स्वयं अनाजकी गठरी उठाये हमारे घरमें पुनः उपस्थित हैं। यह दृश्य देखकर हम सब एक ही साथ आश्चर्य और उनकी उदारताके प्रति श्रद्धामें डूब गये।

उनसे माँगनेपर अन्न मिल जायगा, यह तो हम पहलेसे ही जानते थे। इसके पूर्व अनेकों बार उनके द्वारा हम लाभ भी उठा चुके थे। किंतु अन्नकी तंगीके इस जमानेमें सुहृदोंको बार-बार कष्ट देना ठीक नहीं,

यह विचारकर उनको धर्म-संकटमें डालना हम उचित नहीं समझते थे। इसीसे उनसे कुछ कहा नहीं था। आज वे स्वयं ले आये। हमें भी अनाजकी अत्यावश्यकता थी ही। अतः हमने गठरी रखवा ली। कृतज्ञताके भावसे हमारे सिर झुक गये थे। अन्न वैसे बहुत अधिक नहीं था, पर इस समय तो एक-एक दाना बहुमूल्य था। इस अद्भुत दाताकी ओर देखें भी तो कैसे ? हमारे मस्तक हार्दिक कृतज्ञतासे झुक रहे थे।

अनाज माप लिया और पिताजी बाजार-भावसे उसकी कीमत देने लगे। ब्लैक मार्केटकी कीमत चुकाना उनसे दुराव दिखाने-जैसा था। हमारे सारे परिवारको, जिसने उपकृत किया, उसका अपमान भला हम कैसे कर सकते थे ?

पर बात यहीं समाप्त नहीं हो गयी। हमारे इस दाताने एक ऐसा खेल दिखाया कि जिसे देखकर हम तो दंग रह गये। पिताजी जब उन्हें पैसे देने लगे तब उन्होंने कहा—'मैं व्यापारी तो हूँ नहीं जो आपसे कीमत लूँ। अनाज बेचना मेरा धर्म नहीं है। यह तो मैंने केवल अपने कर्तव्यका पालन किया है।'

देवदूतके इस वाक्यका उत्तर हम साधारण मानवी दें भी तो क्या दें ? उनका औदार्य और सौहार्द हमारे मनको साक्षात्कारकी ओर ले जा रहा था।

—नामदेव वाडेकर नवापुर

(४)

आदर्श मानवता

एक अमेरिकन नागरिक व्यापारीको अपने काममें एक दिन कुछ ऐसा कड़ा अनुभव हुआ कि जिससे उनके मनमें क्षोभ हो गया। वे उसी क्षुब्धावस्थामें सूने-से घूमते हुए शीघ्रताके साथ समुद्र-तटकी ओर जाने लगे।

उधरसे निकलते हुए एक दूसरे धनी व्यापारीने उन्हें देखा। उनमें समवेदना जगी और उन्होंने समझा कि ये कोई जीवनसंग्राममें ऊबे हुए दुखी नागरिक हैं, जो समुद्रमें कूदकर जीवनका अन्त करनेके लिये दौड़े जा रहे हैं। उन धनी व्यापारीको दया आयी, उन्होंने बिना ही गहरा विचार किये अपनी जेबसे दो डालर निकाले और साथ ही अपने नाम-पतेवाला कार्ड निकालकर कहा—'लीजिये भाई ! यह मेरा कार्ड है, इसमें मेरे आफिसका पता छपा है। इस कार्डके साथ कल मुझसे मिलियेगा। मैं यथासमय उस समय आपकी सहायता करूँगा।' यह कहकर उन्होंने दो डालर और अपना कार्ड उन नागरिकके हाथमें दे दिया और अपना रास्ता पकड़ा। वे नागरिक भी लौट आये। प्रसंगकी बात अस्पष्ट ही रही।

अमेरिकन नागरिकने सोचा—'इस व्यापारीसे मेरी कोई जान-पहचान नहीं है। ये दयालु प्रतीत होते हैं, इन्होंने मुझे क्या समझा होगा ? मैं गरीब हूँ, यही माना होगा ? और मैं आत्महत्या करनेके लिये कहीं समुद्रमें कूदनेवाला हूँ, यह समझकर मुझे बचानेके उद्देश्यसे इन्होंने दो डालर दिये होंगे ! भगवान्की मुझपर दया है। मैं तो केवल आवेशमें आकर ही समुद्र-तटपर शान्तिके लिये गया था। खैर, जो हुआ, अच्छा ही हुआ।'

वे नागरिक भी करोड़पति थे। दिन-पर-दिन बीतने लगे। वह नाम-पतेवाला कार्ड उन्होंने अपनी टेबलपर ही रख छोड़ा। रोज कृतज्ञतासे उस कार्डके दर्शन करते हैं; पर उनसे मिलनेके लिये वे उनके आफिसमें नहीं जा सके।

एक दिन वे नागरिक अपनी पत्नीके सहित टेबलके सामने बैठे थे। अचानक एक दैनिक समाचार-पत्र आया। नागरिक पहला पृष्ठ देखने लगे। उसमें बड़े-बड़े टाइपोंमें वह कार्डवाला नाम-पता छपा

था और नीचे लिखा था—घाटा लगनेके कारण यह फार्म फेल हो गया है, पावनेदार आज तकाजा कर रहे हैं। फार्मके मालिकका पता नहीं है। इस सम्भ्रान्त कुटुम्बपर बहुत बड़ी विपत्ति आ गयी है। हजारों रुपयोंको दान करनेवाले इस कुटुम्बपर भगवान्की कृपादृष्टि हो तो बड़ा अच्छा हो।'

पढ़नेवाले नागरिक इतना पढ़ते ही गद्गद हो गये, अचानक उठ खड़े हुए। दूसरी ओर जाकर अपने मुनीमसे मिले और इतना ही बोले—'चलो, अभी मेरे साथ, मोटर तैयार करवाओ। तुरंत चलना है; बात करनेके लिये अवकाश नहीं है।'

यों कहकर वे अपनी तिजूरीके पास गये। कर किताब-जैसी कोई चीज निकालकर उसे कोटके रकी जेबमें सरका दिया। मुनीम और मोटर तैयार। मोटर कार्डपर छपे नाम-पतेवाले स्थानपर जा पहुँची। नागरिकने उक्त फार्मके मुनीमको अलग ले जाकर —'भाई! मालिक कहाँ हैं? मुझे उनसे अभी काम है, जल्दी करो, तुरंत बताओ, देर मत।'

परंतु मुनीम मालिकका पता कहाँसे बतलाता? मुनीमने समझा—'ये भी पावनेदारोंमेंसे कोई होंगे। मालिकका पता बता दूँगा तो ये वहाँ पहुँचकर अपनी के लिये उन्हें हैरान करेंगे।' अतः उसने कहा—मालिकका पता नहीं है।'

उस नागरिकने कहा—'भाई! तुमको जो पता वही मुझे बताओ। मैं तुम्हारे मालिकका पावनेदार हूँ। उनकी विपत्तिमें हिस्सा बँटानेकी मेरी इच्छा बताओ भाई! जल्दी बताओ।'

अन्तमें नागरिकने कहा—'बताओ मुनीमजी! कितनी रकमकी जरूरत है? तुम बताओ, उतनी मैं चेक लिख दूँ, फिर क्या बात है?'

इतना सुनते ही मुनीम—उक्त धनी सद्गृहस्थके पवित्र हृदयके भावको समझ गया और उसने उनको मालिकका पता बता दिया। पता मिलते ही वे अपने मुनीमके साथ वहाँ जानेके लिये मोटरपर सवार हो गये।

उन विपत्तिग्रस्त व्यापारीको दूरसे अपनी ओर आती एक मोटर दिखायी दी। उनका दिल धड़कने लगा—कोई पावनेदार आ रहा है; परंतु अच्छी तरहसे देखनेपर उसे कोई परिचित-सा दिखायी दिया।

मोटर समीप आ गयी थी। नागरिक और मुनीम दोनों उनके पास जा पहुँचे। नागरिकने उनके सामने उस नाम-पतेवाले कार्डको रख दिया। सारी चीजें साफ हो गयीं।

उक्त व्यापारीने कहा—'भाई! मैंने आपको यह कार्ड दिया था और मुझसे मिलनेके लिये भी आपसे कहा था; पर इस समय तो मेरी स्थिति बदल गयी है। आप उस समय आये होते तो मैं अवश्य कुछ सहायता करता।'

हमारे वे आगन्तुक नागरिक तो व्यापारीकी यह बात सुनकर तथा उनकी भावना देखकर मुग्ध हो गये। उन्होंने उनको बीचमें ही रोककर कहा—'महाशयजी! इस समय मैं आपसे कुछ लेनेकी इच्छासे नहीं आया हूँ; पर अपने एक सहृदय और मानवतापूर्ण मित्रके दुःखमें हिस्सेदार होने आया हूँ। आप जरा भी घबरायें नहीं। बताइये—आपको कितनी रकमकी आवश्यकता है? आप संकोच मत कीजिये। जितनी रकम चाहिये—बताइये। यह लीजिये—चेकबुक, लिखिये इसपर।' यों कहकर उन्होंने अंदरकी जेबसे चेकबुक निकालकर उक्त व्यापारीके हाथमें दे दी।

विपत्तिग्रस्त व्यापारीने सकुचाते-सकुचाते चेकबुकपर लिखा—४०,००,००० (चालीस लाख) डालर। तुरंत ही उस नागरिकने चेकपर अपनी सही कर दी

और उसे फाड़कर नागरिक व्यापारीके हाथमें दे दिया।

नमन करके, आभारके शब्द सुननेसे पहले ही वे अपने मुनीमके साथ बँगलेसे नीचे उतरे और मोटरमें बैठकर चले गये। इधर विषादग्रस्त वातावरणमें आनन्दकी तरङ्गें लहराने लगीं। (अखण्ड आनन्द)

—उमियाशंकर ठाकर

(५)

गणेशजीकी अनुकम्पा

हमारे जीवनमें कई अलौकिक घटनाएँ घटती हैं, जिन्हें हम अपनी अज्ञानताके कारण ईश्वरीय चमत्कार न समझकर केवल संयोग समझ लेते हैं।

निराशाके अन्धकारमें ईश्वरीय श्रद्धा किस प्रकार आशा एवं सफलताकी किरणें बिखेरती है इसका ज्वलन्त उदाहरण मेरे साथ घटा है।

गतवर्ष मैं राजस्थानके एक कालेजमें प्राध्यापक था। वह नियुक्ति अस्थायी तौरपर थी। वर्ष व्यतीत होनेपर पद त्यागना पड़ा। ग्रीष्मके अवकाशमें कई जगह नियुक्तिके लिये प्रार्थनापत्र भेजे; पर नियुक्ति कहीं भी नहीं हुई। जुलाईका पूरा मास निकल गया। एम्० एस्-सी०में प्रथम श्रेणी तथा विश्वविद्यालयमें विशेष स्थान प्राप्त कर सफलता पानेपर भी नियुक्ति न होना आश्चर्यजनक बात थी। मेरे मित्रों तथा सम्बन्धियोंको भी आश्चर्य हुआ। उन दिनों मैं सवाई माधोपुरमें अपने अग्रज भ्राताके पास था। मेरे आराध्यदेव प्रारम्भसे ही भगवान् गणेश रहे हैं।

रणथम्भौर दुर्ग सवाई माधोपुरसे नौ मील ही दूर है। अभेद्य दुर्ग रणथम्भौरके गणेशजी राजस्थानमें ही नहीं, भारतमें प्रसिद्ध हैं। मैंने कई बार गणेशजीके दर्शन किये थे। धर्मप्रेमी श्रद्धालु जनताकी उनमें पूरी आस्था है। वे सबकी मनोकामना पूर्ण करते हैं। भाद्र शुक्ल चतुर्थीको वहाँ एक बड़ा मेला भी लगता है।

मन्दिर अति प्राचीन है। राणा हमीर देवके समयका कहा जाता है।

अस्तु, एक दिन मैं सपरिवार भगवान् गणपतिके दर्शनको गया।

कहीं भी नियुक्ति न मिलनेसे मनमें निराशा थी। मैंने अपनी जटिल समस्या भगवान् विघ्नविनाशकके सामने रक्खी।

दर्शन कर पुनः घर लौटा। पहुँचनेपर नौकरने मुझे एक लिफाफा दिया, जो उसी समय डाकसे आया था। मैंने उसे खोला। वह नियुक्ति-पत्र था। मेरी नियुक्ति राजस्थानके ही एक कॉलेजमें प्राध्यापकके पदपर हो गयी थी। आप इसे केवल संयोगमात्र ही कहेंगे; पर मुझे विश्वास है कि यह भगवान् एकदन्तकी ही कृपाका परिणाम था, जिससे मेरी जटिल समस्या सुलझी। यही नहीं, इसके पश्चात् तीन और लगातार अन्य प्रान्तोंसे नियुक्ति-पत्र मिले।

भगवान् गणेशने हमारी और भी अनेक समस्याओंको सुलझाया है। कई बार उन्होंने मुझे मृत्योन्मुख रोगोंसे बचाया है। उनकी कृपासे अनेक विपत्तियाँ समाप्त हुईं। गणेशचालीसा एवं गणेश-स्तोत्रके पाठसे आध्यात्मिक एवं मानसिक शान्ति मिली। वास्तवमें भगवान् गणेश विघ्नविनाशक हैं।

—प्रो० श्याममनोहर व्यास एम्० एस्-सी०

श्रीगोयन्दकाजीके सम्बन्धमें आवश्यक सूचना

श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका स्वास्थ्य ठीक न रहनेके कारण उनका ३१ मार्चतक गीताभवन, ऋषिकेश जाना नहीं हो सकेगा। स्वास्थ्य ठीक रहा तो शायद १५ अप्रैलतक वे जा सकते हैं। इसी कारण पत्रोंका उत्तर लिखनेमें भी उन्हें असुविधा होती है। अतएव सबसे निवेदन है कि बहुत आवश्यक होनेपर ही उन्हें पत्र लिखें। उनके स्वास्थ्यके सम्बन्धमें पूछ-ताछ करनी हो तो 'श्रीमोहनलाल गोयनका, गोयनका हाउस, बाँकुड़ा'के नामसे या मेरे नामसे पत्र लिखनेकी कृपा करें।

बजरंगलाल चाँदगोठिया
व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, गोरखपुर**

श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके लेखोंकी एक नयी पुस्तक

आत्मोद्धारके साधन

आकार डबलक्राउन सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या ४७०, चार सुन्दर बहुरंगे चित्र, मूल्य १.२५, डाकखर्च १.०५, कुल २.३०।

श्रीगोयन्दकाजीके जो लेख समय-समयपर 'कल्याण' मासिकपत्रमें निकलते हैं, उनके पुस्तकाकार संग्रहके लिये प्रेमी सज्जनोंका सदा ही आग्रह रहता है। ऐसे ही कुछ भाइयोंके विशेष आग्रहसे 'कल्याण'के ३७ वें वर्षतक प्रकाशित २९ लेखोंके साथ 'मासिक महाभारत' में प्रकाशित 'महाभारतमें जीवनको उन्नत बनानेवाले कुछ शिक्षाप्रद प्रसङ्ग' शीर्षक लेखको सम्मिलित करके यह एक नवीन संग्रह प्रकाशित किया गया है।

प्रस्तुत संग्रहमें मानवमात्रकी सर्वविध उन्नतिके लिये गुरु-भक्ति, मातृ-पितृ-भक्ति, ईश्वरभक्ति, पातिव्रत, तप, सत्य, न्याय, वर्णाश्रम-धर्म, तीर्थमहिमा, अतिथियों और गौओंकी सेवा, निष्काम कर्म, भक्ति, प्रेम, ज्ञान, सदाचार, संयम, वैराग्य आदि साधनोंकी अवश्यकर्तव्यता, सफलताके उपाय, साधनके विघ्न आदि विषयोंके अतिरिक्त भगवान् और महात्माओंके स्वरूप, प्रभाव और स्वभाव आदिका दिग्दर्शन है।

* * *

☞ पुस्तकोंका आर्डर यहाँ देनेके पहले अपने शहरके पुस्तक-विक्रेताओंसे प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये। विक्रेतागण प्रायः हमारी पुस्तकोंपर छपे हुए दामोंपर ही पुस्तकें बेचते हैं; क्योंकि उन्हें कमीशन, यथाधिकार विशेष कमीशन तथा रेलभाड़ा यहाँसे दिया जाता है। अतः उनके यहाँसे लेनेपर आपको भारी डाकखर्च एवं समयकी बचत हो सकती है।

निम्नलिखित स्थानोंपर गीताप्रेसकी निजी दूकानें हैं, जहाँ कल्याण तथा कल्याण-कल्पतरुके ग्राहक भी बनाये जाते हैं।

१-**कलकत्ता**—श्रीगोविन्द-भवन-कार्यालय, पता—नं० १५१, महात्मा गाँधी रोड तथा नं० ३०, बाँसतल्ला गली।
२-**दिल्ली**—गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान, पता—नं० २६०९, नई सड़क।
३-**पटना**— ,, ,, ,, पता—अशोक राजपथ।
४-**कानपुर**— ,, ,, ,, पता—नं० २४।५५ बिरहाना रोड।
५-**हरिद्वार**— ,, ,, ,, पता—सब्जी मंडी, मोतीबजार।
६-**वाराणसी**—गीताप्रेस कागज एजेंसी, पता—नं० ५९।९, नीची बाग।
७-**स्वर्गाश्रम**—गीता-भवन, मुनिकी रेती, ऋषिकेशके सामने गंगापार।

दिल्ली, कानपुर, गोरखपुर, हरिद्वार तथा वाराणसी—इन पाँच स्थानोंपर तो रेलवे-स्टेशनोंपर हमारे निजी पुस्तक-स्टाल भी हैं।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

रजि० सं० एल० १०

'कल्याण'के ग्राहक महानुभावोंकी सेवामें कुछ स्पष्टीकरण

(१) वर्षके आरम्भमें निकलनेवाला विशेषाङ्क (बड़ा अङ्क) ही जनवरीका अङ्क होता है। उसके अतिरिक्त जनवरीका कोई अलग छोटा अङ्क नहीं होता।

(२) नये-पुराने सभी ग्राहकोंकी सेवामें, चालू वर्षका—जनवरीका विशेषाङ्क तथा फरवरीसे दिसम्बरतकके ११ साधारण छोटे अङ्क प्रतिमास भेजे जाया करते हैं।

(३) विशेषाङ्क रजिस्ट्री अथवा वी० पी० से ही भेजा जाता है, अतएव विशेषाङ्कको समस्त ग्राहकोंकी सेवामें पहुँचाते-पहुँचाते प्रायः फरवरी महीना बीत जाता है। कारण डाकघरके अधिकारी प्रतिदिन सीमित संख्यामें ही रजिस्ट्री एवं वी० पी०के पैकेट लेते हैं। फिर वी० पी०से भेजे गये अङ्कोंका रुपया कार्यालयको प्राप्त होनेमें, उन्हें ग्राहकोंके रजिस्टरोंमें चढ़ानेमें तथा जमा-खर्च होने एवं अन्य व्यवस्था करनेमें पर्याप्त समय लग जाता है। विलम्ब होनेके कुछ अन्य अनिवार्य कारण भी होते हैं। अतः विशेषाङ्कके बाद फरवरी और मार्चके अङ्क, हम चाहते हुए भी, सभी ग्राहकोंको यथासमय नहीं भेज पाते। हम जानते हैं कि नियमित पाठकोंको समयपर अङ्क न मिलनेसे आतुरता एवं जिज्ञासा होनी स्वाभाविक है; परंतु परिस्थितिजन्य हमारी विवशताको हृदयङ्गम कर वे हमें कृपापूर्वक क्षमा करेंगे।

(४) प्रत्येक पुराने ग्राहकको चाहिये कि वे अपने पत्रोंमें तथा मनीआर्डर-कूपनपर अपनी ग्राहक-संख्या अवश्य लिखें; जिससे उनका कार्य होनेमें सुगमता एवं सरलता हो। मनीआर्डरपर ग्राहक-संख्या न रहनेसे कई बार ग्राहकोंके रुपये नयी ग्राहक-संख्यापर जमा हो जाते हैं, फलतः उनके पास पुरानी ग्राहक-संख्यासे वी० पी० भी चली जाती है और नयी ग्राहक-संख्यासे रजिस्ट्री भी। जिससे हमें तथा स्वयं उनको पर्याप्त परेशानी, कष्ट एवं व्यय उठाना पड़ जाता है। अतः उनसे ग्राहक-संख्या अवश्य लिखनेकी प्रार्थना की जाती है।

(५) नाम, पता, डाकखाना एवं जिला, अंग्रेजी और हिंदी दोनोंमें बड़े तथा साफ अक्षरोंमें लिखना चाहिये, जिससे ठीक पतेपर आपको 'कल्याण' मिलनेमें तथा पत्रोंका उत्तर प्राप्त करनेमें कठिनाई न हो।

व्यवस्थापक—

'कल्याण' पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

गुरुकुल कांगड़ी

कल्याण

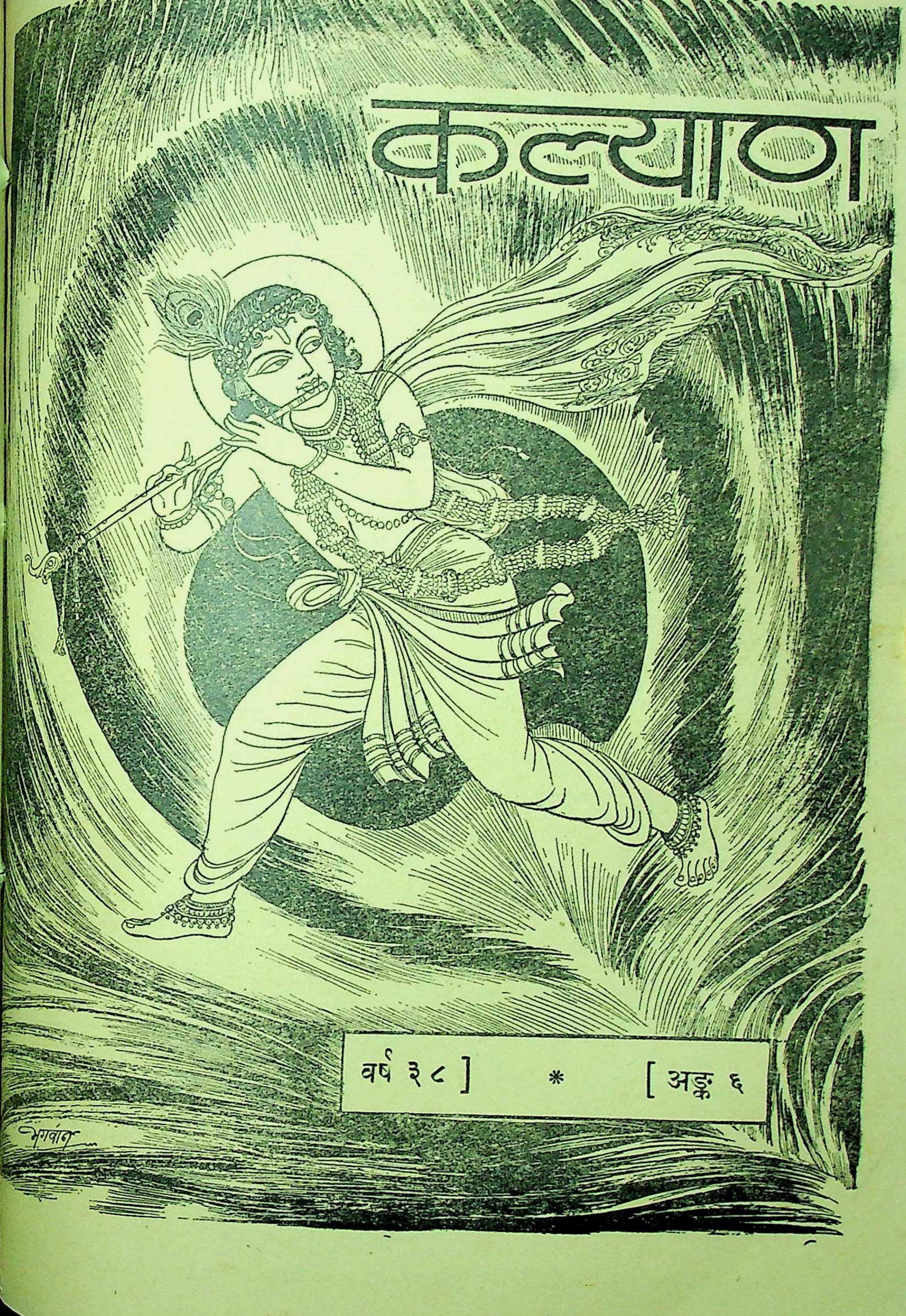

वर्ष ३८] * [अङ्क ६

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

संस्करण—१,२८,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर आषाढ़ २०२१, जून १९६४

विषय — पृष्ठ-संख्या

१—गोमाताके अङ्ग-अङ्गमें देवताओंका निवास [कविता] ९४९
२—कल्याण ('शिव') ९५०
३—यदि सुख चाहते हो तो (अनन्तश्रीविभूषित ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य श्रीस्वामी कृष्णबोधाश्रमजी महाराजका प्रसाद) ९५१
४—सबसे भगवद्बुद्धिपूर्वक समान और निष्काम प्रेम करनेसे भगवत्प्राप्ति (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... ९५२
५—एक महात्माका प्रसाद [संकलित] ('माधव') ९५६
६—मधुर ९५८
७—ब्रह्मवेत्ता पुरुषके लक्षण (ब्र० पूज्यपाद श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महात्मा श्रीनथुरामजी शर्मा; अनुवादक श्रीसुरेश एम्० भट०) ९५९
८—शांकर-वेदान्तमें मुक्तिका स्वरूप (डाक्टर श्रीराममूर्तिजी शर्मा, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, शास्त्री) ९६१
९—धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा (आचार्य श्रीरामप्रतापजी शास्त्री) ... ९६४
१०—आश्रमधर्मका रहस्य (श्रीदयाशंकरजी पाण्डेय 'हरीश' एम्० ए०, बी० एड०) ९६६
११—हममें परिवर्तन क्यों नहीं होता ? (श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट) ... ९७१
१२—सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय सत्सङ्ग है (श्रीअगरचन्दजी नाहटा) ९७३
१३—दानवीर दधीचि (डा० श्रीहरिनन्दनजी पाण्डेय) ९७५
१४—टूटते हुए घर (श्रीरामनाथजी 'सुमन') ९७७
१५—भाग्य-भोग [कहानी] (श्री'चक्र') ९८१
१६—पाकिस्तानी षड्यन्त्र (श्रीमधुसूदनजी वाजपेयी) ९८४

विषय — पृष्ठ-संख्या

१७—अर्जुनकी दुविधा (अनुवादक—श्रीबा० रा० बझे बी० ए०) ९८५
१८—शिक्षामें धर्मनिरपेक्षता या धर्मविमुखता ? (प्राध्यापक श्रीजे० पी० पाण्डेय एम्० एस्-सी०, बी० एड०, एल्-एल्० बी०, विशारद) ९८६
१९—निंदक नियरे राखिये (डा० श्रीसुरेशचन्द्रजी गुप्त, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ... ९९०
२०—चिकना घड़ा [कहानी] (श्रीमती बलबीर 'वीर') ९९१
२१—जय श्रीकृष्ण हरे ! [कविता] (विद्यालङ्कार श्रीजगन्नाथजी मिश्र गौड़ 'कमल' वेदान्तरत्न) ९९३
२२—यन्त्र-शक्तिके अलौकिक चमत्कार (श्रीअरुणकुमारजी शर्मा) ... ९९४
२३—प्रगति या अधोगति ? ... ९९६
२४—भगवान्का हृदयमें नित्यनिवास [कविता] ९९७
२५—अद्भुत चमत्कारी बजरंग-बाण (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, विद्यालंकार, दर्शनकेसरी) ... ९९८
२६—त्याग, संयम, साधन एवं तपके मूर्तिमान् स्वरूप संत श्रीसेवारामजी(पं० श्रीहरिप्रसादजी) १००२
२७—मैं गोपी गोपीनाथकी [कविता] (पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम' साहित्याचार्य) ... १००४
२८—शोकके क्षणोंमें (श्रीविलियम ए० क्लफ, अमेरिका) १००५
२९—मृत्यु बनकर तुम्हीं आते हो [कविता] १००८
३०—पढो, समझो और करो १००९
३१—मानवकी मानवता [कविता] मुखपृष्ठ ४
३२—मानवकी पशुता-प्रेतता-पिशाचता [कविता] „ ४

चित्र-सूची

१—मुरलीकी मस्ती ... ... (रेखाचित्र) ... मुखपृष्ठ
२—गोमाताके अङ्गोंमें देवताओंका निवास ... (तिरंगा) ... ९४९

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

नेहरूजीके प्रति श्रद्धाञ्जलि

भारतके प्रधान मन्त्री लोकनायक पण्डित जवाहरलालजी नेहरूके आकस्मिक देहावसानसे केवल भारतमें ही नहीं, विश्वके प्रायः सभी राष्ट्रोंमें शोककी एक संतप्तकारिणी लहर बह गयी है। भारतका यह गौरव है कि इस भीषण कलह-युगमें भी यहाँ ऐसे एक महान् पुरुषका उदय हुआ जो अखिल विश्वमें प्रेमकी प्रतिष्ठा चाहता था, जो सबके कल्याणका अभिलाषी और इसके लिये जागरूकताके साथ सदा सचेष्ट था, जो नर-संहारकारी युद्धोंका विरोधी तथा शान्ति एवं सद्भावका सच्चा संदेशवाहक था, जो बिना किसी भेदभावके मानवमात्रमें समानरूपसे विश्वास करना लाभप्रद समझता था, जो अपने सिद्धान्तका दृढ़ विश्वासी तथा अपने आदर्शका पक्का ईमानदार था और जिसका जीवन त्याग और बलिदानकी पवित्र झाँकियोंसे जाज्वल्यमान था, ऐसे सर्वमान्य विश्व-मानवके भौतिक शरीरका वियोग सहज ही सबके हृदयोंपर आघात पहुँचानेवाला होगा ही। पर भगवान्‌के अपरिहार्य विधानको स्वीकार करना ही पड़ता है, यहाँ मनुष्य सर्वथा निरुपाय है और वस्तुतः भारतीय ऋषियोंकी अनुभूतिके अनुसार आत्मा नित्य अमर है और भौतिक देह निश्चयरूपसे ही अनित्य विनाशी है। 'जातस्य ध्रुवो मृत्युः'। भगवान् कहते हैं—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥ (गीता २।१३)

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
(गीता २।२०)

'जीवके इस देहमें जैसे कुमार, युवा और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही देहान्तरकी प्राप्ति होती है। इस विषयमें धीर पुरुष मोह नहीं करते।' और 'आत्मा कभी न जन्मता है, न मरता है, न होकर फिर होनेवाला ही है। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और सनातन है, शरीरके नाश होनेपर इसका नाश नहीं होता।' अतएव भगवान्‌के मतानुसार शोक करना मोहका ही परिणाम है। श्रीजवाहरलालजी अपने आदर्शों, भावों और कीर्तिके रूपमें सदा ही जीवित हैं। उनमें जो सद्गुणोंका भण्डार था,—अपने-अपने क्षेत्रमें चाहे वह किसी भी विचारका हो,—उन गुणोंका सम्पादन और आदरके साथ पालन करना चाहिये। यही अपने इन दिवंगत महान् युगपुरुषके प्रति हमारी सच्ची श्रद्धाञ्जलि है। विश्वात्माके रूपमें हम उनका सदा सादर श्रद्धापूर्ण हृदयसे अभिनन्दन करते हैं।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

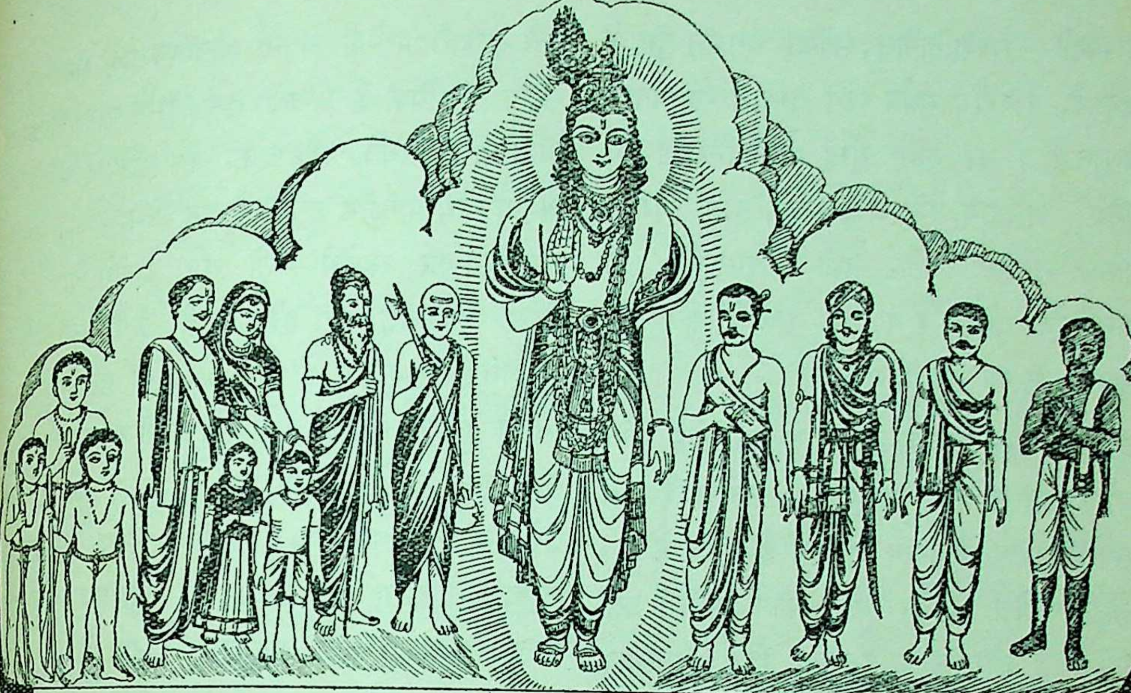

कल्याण

सर्वारिष्टहरं सुखैकरमणं शान्त्यास्पदं भक्तिदं स्मृत्या ब्रह्मपदप्रदं स्वरसदं प्रेमास्पदं शाश्वतम् ।
मेघश्यामशरीरमच्युतपदं पीताम्बरं सुन्दरं श्रीकृष्णं सततं व्रजामि शरणं कायेन वाचा धिया ॥

वर्ष ३८ | गोरखपुर, सौर आषाढ़ २०२१, जून १९६४ | संख्या ६
पूर्ण संख्या ४५१

गोमाताके अङ्ग-अङ्गमें देवताओंका निवास

हरि-हर-विधि, शशि-सूर्य, इन्द्र, वसु, साध्य, प्रजापति, वेद महान् ।
गिरा, गिरिसुता, गङ्गा, लक्ष्मी, ज्येष्ठा, कार्तिकेय भगवान् ॥
ऋषि, मुनि, ग्रह, नक्षत्र, तीर्थ, यम, विश्वेदेव, पितर, गन्धर्व ।
गोमाताके अङ्ग-अङ्गमें रहे विराज देवता सर्व ॥

कल्याण

याद रक्खो—सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर भगवान् तुम्हारे परम सुहृद् हैं, वे सदैव सर्वत्र स्वयं तुम्हारी सहायताके रूपमें प्रस्तुत हैं। जब कभी तुम्हें मनमें निराशा हो, तुम अपनेको असहाय, निराश्रय, सबके द्वारा उपेक्षित और अकेले समझने लगो—तभी विश्वासपूर्वक उन अपने भगवान्‌को पुकारो। वे तुरंत तुम्हारी सहायताके लिये तुम्हारे पास आ खड़े होंगे।

याद रक्खो—भगवान्‌के लिये न तो कोई जीव छोटा-बड़ा है और न कोई काम ही छोटा-बड़ा है। वे सबके सबसे अधिक निकटस्थ आत्मीय हैं—अपने हैं। न तो छोटेसे छोटा बनकर छोटा काम करनेमें उन्हें लज्जा-संकोच है और न वे दूसरोंके लिये असम्भव, महान्‌से महान् विशाल अत्यन्त कठिन कार्य सम्पन्न करनेमें असमर्थ हैं। तुम अपनेको उनपर छोड़ दो—केवल उन्हींपर छोड़ दो, वे तुम्हारे सारे अभावोंकी पूर्ति कर देंगे या अभावकी अनुभूति ही पूर्णरूपसे समाप्त कर देंगे। तुम परम सुखी हो जाओगे।

याद रक्खो—भगवान्‌के लिये कुछ भी असम्भव नहीं है। वे सर्वभवनसमर्थ हैं और 'कर्तुमकर्तुमन्यथा-कर्तुम्—समर्थः' हैं। तुम अडिग तथा पूर्ण विश्वासके साथ अपनेको सर्वतोभावेन उनपर छोड़ दो। तुम्हारे मार्गके सारे अवरोध दूर हो जायँगे, सारे बड़े-से-बड़े विघ्न हट जायँगे, सारी कठिनाइयोंके किले अनायास ही टूट जायँगे। तुम्हें पाथेययुक्त तथा सच्चे प्रिय संगीके सहित प्रशस्त पद मिल जायगा और तुम बिना ही परिश्रमके सुखपूर्वक हँसते-हँसते अपने लक्ष्यपर पहुँच जाओगे।

याद रक्खो—भगवान् तुम्हारी प्रत्येक परिस्थितिमें और तुम्हारी प्रत्येक यथार्थ आवश्यकताके समय तुम्हारे सहज सहायक हैं। जब तुम दूसरे सारे आश्रयोंका त्याग करके उनके सौहार्दकी ओर दृष्टिपात करोगे और अपना सारा योगक्षेम उन्हींको मान लोगे—यदि सचमुच तुम ऐसा कर सकोगे—तो तुम देखोगे कि तुम्हारा हृदय अकस्मात् हरा हो गया है, ऊँचा उठ गया है, तुम्हारी निराशा नष्ट हो गयी है, तुम्हें प्रत्यक्ष सहायता मिलने लगी है, तुम्हारे साथ एक कभी न हटनेवाला—कभी साथ न छोड़नेवाला मित्र आ खड़ा हुआ है। तुम उपेक्षित नहीं हो—बड़ी प्रीतिके साथ समादरपूर्वक तुम्हारी देख-रेख की जा रही है और एक कोई वरद हस्त सदा-सर्वदा तुम्हें अभयदान दे रहा है।

याद रक्खो—तुम भगवान्‌पर विश्वासपूर्वक पूर्ण निर्भर नहीं करते, उनके नित्य अपनेपनपर दृढ़ विश्वास नहीं करते, उनकी सुधामयी शक्तिमयी सहज कृपाकी ओर दृष्टिपात नहीं करते—इसीसे अपनेको असहाय, निराश्रय और निराश पाते हो; इसीसे भय, चिन्ता और विषादके बादलोंसे घिरे रहते हो। इस संदेहभरी डावाँडोल स्थितिसे अपनेको अलग कर लो, फिर देखोगे—तुम्हारी प्रत्येक यथार्थ आवश्यकताके समय सर्वदाता भगवान् तुम्हारे सहायकके रूपमें खड़े हैं।

याद रक्खो—भगवान् तुम्हारे हैं, तुम भगवान्‌के हो। इस नित्य सत्य अचल स्थितिको भूलकर ही तुम संशय-सागरके नये-नये दुःखोंकी तरंगोंके आघातसे घायल हो रहे हो। यह मिथ्या स्थिति है। भगवान्‌पर विश्वास करो—पूर्ण विश्वास करो। यह असत् संशय-सागर तुरंत सूख जायगा और तुम अपनेको भगवान्‌की सत्य नित्य-सुखद गोदमें पाओगे।

'शिव'

यदि सुख चाहते हो तो

[अनन्तश्रीविभूषित ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य श्रीस्वामी कृष्णबोधाश्रमजी महाराजका प्रसाद]

(प्रेषक—श्रीगोविन्दप्रसादजी चतुर्वेदी शास्त्री, बी० ए०, विद्याभूषण)

विश्वमें दो शक्तियाँ हैं—दैवी तथा आसुरी। बृहदारण्यक उपनिषद्में लिखा है—'**कनीयसः देवः ज्येष्ठः असुरः**' इस सम्बन्धमें भगवान् आद्य शंकराचार्य कहते हैं—अन्तःकरणकी काम-क्रोधादि वृत्ति ही असुर हैं तथा दया, क्षमा, शान्ति देवता हैं।

प्रत्येक मनुष्यमें जिस प्रकार काम, क्रोध, लोभ आदि हैं, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्यमें दया, क्षमा, अकार्पण्य आदि आठ गुण भी हैं, परंतु बहुधा मनुष्यके हृदयमें काम, क्रोध, लोभादिकी वृत्ति प्रबल रहती है। इससे स्पष्ट है कि हमारे ऊपर असुरोंका प्रभाव विशेष रहता है।

सद् ज्ञानकी शिक्षाके लिये गुरु, पाठशालाओं आदिकी व्यवस्था है, फिर भी लोग सद् ज्ञानको ठीकसे नहीं समझ पाते, परंतु काम, भोग, वासना आदि बिना शिक्षणके ही मनुष्योंको ज्ञात हो जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि आसुरी प्रवृत्ति प्रबल है।

इसीलिये भक्त भगवान्से कहते हैं कि 'भगवन्! मेरे द्वारा आपके चरणोंमें अपना मन भेंट किया जाता है; परंतु कामरूपी शत्रु मेरे मनको आपके चरणोंसे बाहर निकाल ले जाता है।'

अतः मनुष्यको काम, क्रोध, लोभपर विजय प्राप्त करनी चाहिये। जिसने काम, क्रोध, लोभको वशमें नहीं किया—उसीको कष्ट है। नरकोंके भरनेका भी यही कारण है। नरकमें जानेके काम, क्रोध, लोभ—ये तीन ही द्वार हैं। मानवको इनसे बचनेका उपाय सीखना चाहिये। इनको जीतनेवाला सूर्य-मण्डलको भी जीत लेता है। इन कामादिको जीतनेका एकमात्र उपाय है—भगवान्के चरणारविन्दका आश्रय।

लौकिक उपाय सिद्ध नहीं हैं, ऐकान्तिक उपायकी सिद्धि भगवान्की शरण जानेसे ही मिल सकती है। भगवान्से सम्बन्ध स्थापित करना चाहिये। वे प्रभु हैं। 'प्रभु' शब्दका अर्थ ही समर्थ है। अतः समर्थ ही दे सकता है। प्रभुको कुछ नहीं चाहिये, परंतु जीवको सब कुछ चाहिये।

भगवान् करुणावरुणालय हैं। उन्हें जीवको दुखी देखकर दया आती है। उन्होंने गीतामें कहा है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

वेदोंमें कहा है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

भगवान् हमारे सखा हैं, जैसे मित्रको देखकर मित्रको दया आती है, वैसे ही हमें देखकर भगवान्को दया आती है। वे आत्माराम हैं, आत्मकाम हैं।

अतः नित्य दान-पुण्य करके प्रभुके अर्पण करो। जो दान करोगे वही मिलेगा। द्रौपदीका उदाहरण इसका प्रमाण है। इससे शिक्षा ग्रहण करो। गीतामें भी कहा है—

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥

भगवान् बिम्ब हैं, हम उनके प्रतिबिम्ब हैं। जिस प्रकार जिसका जैसा रूप है, वैसा ही रूप दर्पणमें दिखलायी देता है। बिम्बको हँसानेसे प्रतिबिम्ब हँसता है, उसी प्रकार प्रतिबिम्बको वही वस्तु मिलती है जो बिम्बको दी जाती है। इससे स्पष्ट है जो दान करोगे, वही मिलेगा।

भगवान् शंकराचार्य कहते हैं कि यह संसार मरुभूमि है। इस मरुभूमिमें भी सुख चाहते हो तो भगवान्की शरणमें रहो। उनकी शरणमें ही आयु, श्री एवं सांसारिक सुखकी प्राप्ति हो सकती है, उनकी कृपासे मरणधर्मा भी अमर हो जाता है। यही दैवी सम्पत्ति है। इसकी प्राप्तिके हेतु भगवान्की शरणमें जाना चाहिये।

सबसे भगवद्बुद्धिपूर्वक समान और निष्काम प्रेम करनेसे भगवत्प्राप्ति

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

श्रीभगवान् प्रेमस्वरूप और चिन्मय हैं। यद्यपि प्रेम, प्रेमास्पद और प्रेमी—इनके नाम और स्वरूप अलग-अलग कहे जाते हैं; किंतु वास्तवमें एक भगवान् ही तीनों रूपोंमें प्रकट हैं। भगवत्प्रेमी पुरुष जब भगवान्को प्राप्त हो जाता है तब वह भगवान्में ही तद्रूप हो जाता है; फिर वह भगवान्से अलग नहीं समझा जाता। सबके प्रेमास्पद एक भगवान् ही हैं और प्रेम तो भगवान्का स्वरूप है ही। चाहे यों समझें कि प्रेम, प्रेमास्पद और प्रेमीके रूपमें प्रेम ही प्रकट हुआ है अथवा यों समझें कि भगवान् ही इन तीनों रूपोंमें हैं—दोनों एक ही बात है। जैसे सोनेके कुण्डल, कंठी, कड़े आदिके नाम-रूप अलग-अलग हैं किंतु वस्तुसे वह सब एक सोना ही है—

यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातꣳस्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम्। (छान्दोग्य उप० ६।१।५)

(अपने पुत्र श्वेतकेतुके प्रति उद्दालकने कहा—)

'सोम्य! जिस प्रकार एक लोहमणि (सुवर्ण) का ज्ञान होनेपर सम्पूर्ण सुवर्णमय पदार्थ जान लिये जाते हैं; क्योंकि विकार वाणीपर अवलम्बित नाममात्र है, सत्य केवल सुवर्ण ही है।'

वैसे ही कहनेके लिये तो प्रेम, प्रेमास्पद, प्रेमी—इनके नाम-रूप पृथक्-पृथक् हैं, किंतु वस्तुतः एक प्रेम ही है और यह प्रेम भगवत्स्वरूप, चिन्मय और दिव्य है। जो लौकिक प्रेम होता है, वह इस प्रेमस्वरूप भगवान्के एक अंशका प्रतिबिम्बमात्र है। इसलिये उसको प्रेम न कहकर आसक्ति या स्नेह कहना चाहिये।

श्रीभगवान्में अनन्य और विशुद्ध प्रेम होनेपर भगवान्की प्राप्ति शीघ्र होती है। 'अनन्य' का अभिप्राय है भगवान्के सिवा अन्य किसीमें भी प्रेम न हो और 'विशुद्ध'का अभिप्राय है अन्य किसी भी प्रकारकी कामना न हो—पूर्ण निष्कामभाव हो। इस असली प्रेमकी प्राप्तिके लिये साधकोंको सबमें भगवद्बुद्धि करनी चाहिये। गीतामें भगवान्ने बतलाया है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥
(गीता ७।१९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें यथार्थ ज्ञानको प्राप्त पुरुष, 'सब कुछ वासुदेव ही है'—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

यदि 'सभी भगवान्का स्वरूप है'—यह बुद्धि न हो तो 'सबमें भगवान् हैं'—यह निश्चय करना चाहिये।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
(गीता ६।३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।'

यदि यह निश्चय भी न हो तो 'सब कुछ भगवान्का' समझकर सबकी सेवा करनेसे भी प्रेम होकर भगवान्की प्राप्ति हो जाती है।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(गीता १८।४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है

और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है ।'

इसलिये भगवान्‌की प्राप्तिके उद्देश्यसे सबके साथ समभाव रखते हुए निष्काम प्रेम किया जाय तो वह भगवान्‌से ही प्रेम करना है । जो उच्चकोटिके महापुरुष होते हैं, उनका तो सबमें स्वाभाविक समभाव रहता है और साधकके लिये वही साधन है । अतः साधकको उन महापुरुषोंका अनुकरण करना चाहिये । गीतामें महापुरुषोंके समभावका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥
(गीता ५ । १८)

'वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समदर्शी ही होते हैं ।'

यहाँ 'समदर्शन' का अभिप्राय 'समभावसे अनुभव करना' है । श्लोकमें 'समदर्शन' है 'समवर्तन' नहीं; क्योंकि सबके साथ समान बर्ताव हो भी नहीं सकता । बर्ताव तो यथायोग्य ही हो सकता है । दूध तो गौका ही पीया जा सकता है, हथिनी और कुतियाका नहीं; सवारी हाथीकी की जाती है, गौ और कुत्तेकी नहीं; पाखानोंकी सफाई चाण्डाल (मेहतर) से ही करायी जा सकती है, ब्राह्मणसे नहीं । घास हाथी और गौको खिलाया जा सकता है, कुत्ते, चाण्डाल और ब्राह्मणको नहीं । एवं जैसे हम अपने मस्तकसे ब्राह्मण-जैसा, हाथोंसे क्षत्रिय-जैसा, जङ्घासे वैश्य-जैसा और पैरोंसे शूद्र-का बर्ताव करते हैं, किसीका विशेष आदर करना होता है तो उसके चरणोंमें मस्तक नवाते हैं अथवा हाथ जोड़ते हैं और किसीके भूलसे भी हमारा पैर लग जाता है तो हाथ जोड़ते हैं, क्षमा-याचना करते हैं । इस प्रकार सारे अङ्गोंका व्यवहार भिन्न-भिन्न होते हुए भी सारे अङ्गोंमें अपनापन और प्रेम समान ही है—उसमें कोई भेद नहीं रहता । इसी प्रकार सबसे यथायोग्य भिन्न-भिन्न बर्ताव करते हुए भी सबमें आत्मभाव, भगवद्भाव, प्रेमभाव समानरूपसे होना चाहिये । महापुरुषोंका तो यावन्मात्र सभी प्राणियोंमें स्वाभाविक ही समभाव रहता है, अतः वे ही प्रशंसनीय हैं—

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥
(गीता ६ । ९)

'सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी समान भाव रखनेवाला अत्यन्त श्रेष्ठ है ।'

साधारण मनुष्योंका वैरीमें द्वेष और मित्रमें प्रेम होता है । सुहृद्में प्रेम और द्वेष्यमें द्वेष होता है । धर्मात्मामें प्रेम और पापीमें द्वेष होता है । बन्धु-बान्धवोंमें प्रेम और अन्य लोगोंमें द्वेष या उपेक्षाबुद्धि होती है । किंतु भगवत्प्राप्त महापुरुषोंका तो सदा ही सबमें समान भाव रहता है, किसीमें भी कभी भेदभाव नहीं रहता । अतः हमलोगोंको सबके प्रति समान और निष्काम भावसे प्रेम करना चाहिये ।

भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार, भगवत्प्राप्ति या भगवत्प्रीति अथवा भगवान्‌के ही लिये जो किसीके साथ भी निष्काम भावसे प्रेम किया जाता है उसका फल भगवत्प्राप्ति ही है । अतः सबको भगवान्‌का स्वरूप समझना या सबमें भगवान्‌को व्यापक समझना अथवा सब कुछ भगवान्‌का समझना—इन तीनोंमेंसे जो भाव जिसके अनुकूल हो, जिसमें जिसकी श्रद्धा-रुचि हो वही उसके लिये सबसे बढ़कर है । उसीको अपनाकर सबके साथ प्रेम करना चाहिये ।

कुछ काल पूर्व तो यह देखा जाता था कि कितने ही साधक दूसरे साधकको देखकर खुश हो जाते, मग्न

हो जाते, हरे-भरे हो जाते और उसमें गुणबुद्धि करते थे। दोषबुद्धि तो उनकी कभी होती ही नहीं थी। अपनेसे एक-दूसरेमें भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सद्गुण और सदाचार अधिक दीखते एवं ये सब मुझमें आवें—ऐसी आकाङ्क्षा रखते; किंतु आजकल तो कई लोग दूसरेमें दोषबुद्धि करके उसमें अवगुण-ही-अवगुण देखते हैं, यह प्रत्यक्ष पतनका मार्ग है। इसी कारण अधिकांश साधकोंकी उन्नति नहीं होती।

यह सारा संसार भगवान्‌का ही संकल्प होनेसे भगवान्‌का ही स्वरूप है। अतः सबमें भगवद्भाव करके हम निरभिमान और निष्काम भावसे सबकी सेवा करें तो यह बहुत ही उत्तम साधन है। किंतु ऐसा भाव न हो तो आकाशकी भाँति भगवान् सबमें व्यापक हैं—यह तो युक्तिसंगत और शास्त्रसंगत है ही, इसलिये हमारा यह भाव तो प्राणिमात्रमें, जड-चेतन सभीमें स्वाभाविक ही होना चाहिये। जिसका ऐसा भाव हो जाता है उसके द्वारा दूसरेका अनिष्ट तो कभी हो ही नहीं सकता, वरं सबमें स्वाभाविक ही समता और प्रेम बढ़ने लगता है। यह निश्चित है कि दूसरेमें दोषबुद्धि होनेसे ही द्वेषभावकी वृद्धि होती है और गुणबुद्धि होनेसे स्वाभाविक ही प्रेम होता है। मनुष्यकी तो बात ही क्या, हमारे सम्मुख कोई भी प्राणी आवे, उसमें भगवान्‌को व्यापक समझकर हमें प्रसन्न होना चाहिये। दोष तो अपने सुधारके लिये केवल अपनेमें ही देखना चाहिये। अपने दोषोंको देखनेपर वे दोष ठहरते नहीं। दूसरोंमें तो सभीमें गुणबुद्धि ही होनी चाहिये, दोषबुद्धि तो होनी ही नहीं चाहिये। दूसरोंमें दोषबुद्धि करनेसे बड़ी भारी हानि है। दोष तो मलके समान है। मलके साथ किसी वस्त्र या अङ्गका स्पर्श हो जाता है तो वह गंदा हो जाता है। यदि हम दूसरेके दोषोंको नेत्रोंसे देखते हैं तो हमारे नेत्र गंदे हो जाते हैं, कानोंसे सुनते हैं तो कान गंदे हो जाते हैं, वाणीसे किसीके दोषकी चर्चा करते हैं तो वाणी गंदी हो जाती है और मनसे परदोषचिन्तन करते हैं तो मन गंदा हो जाता है। इस तरह दोषोंके सङ्गसे मनुष्य मलिन होकर उसका पतन हो जाता है।

यही नहीं, दूसरोंके दोषोंका कथन, श्रवण, दर्शन और चिन्तन करनेमें और भी अनेक दोष हैं—

(१) दूसरोंमें अवगुणबुद्धि होनेसे उसके प्रति घृणा होती है और अपनेमें अच्छेपनका अभिमान बढ़ता है जो महान् हानिकर है।

(२) दूसरोंकी निन्दा करने और सुननेसे जिसकी हम निन्दा करते या सुनते हैं, उसे बड़ा दुःख होता है तो यह भी हमको पाप लगता है।

(३) दूसरोंके दोषोंके चिन्तन, दर्शन, श्रवण और कथनसे उनके संस्कार बीजरूपसे हमारे अन्तःकरणमें जमते हैं, जो भविष्यमें वृक्षरूप होकर हमें भी वैसा ही दोषी बना देते हैं।

(४) किसीके भी दोषोंकी आलोचना करने, सुनने और कहनेसे उस पापीके पापके अंशका भागी बनना पड़ता है यानी आंशिकरूपसे उस पापका फल-भोग हमें भी करना पड़ता है।

इन सब बातोंको विचारकर मनुष्यको उचित है कि दूसरोंके अवगुण, दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसनको न कभी देखे, न आलोचना करे, न संकल्प करे, न कहे और न सुने; क्योंकि ये सभी कर्म पापमय, महान् हानिकर एवं पतनकारक हैं। अतः कल्याणकामी मनुष्यको इनसे सर्वथा बचकर रहना चाहिये; क्योंकि इन दोषोंके रहते हुए सबमें प्रेम होना तो दूर रहा, उल्टे द्वेषकी ही वृद्धि होती है। प्रेम तो सबमें गुणबुद्धि करनेसे होता है।

यदि मनुष्य स्वार्थभावसे भी किसीसे प्रेम करे तो इसके फलस्वरूप इस लोकमें उसके स्वार्थकी सिद्धि

होती है, कीर्ति होती है और मरनेके बाद उसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है । किंतु यदि सबसे निष्काम और समान भावसे प्रेम किया जाय तब तो उसे परमात्माकी प्राप्ति ही हो जाती है ।

अपने साथ कोई प्रेम करे तो उसके साथ तो प्रेम करना ही चाहिये; क्योंकि मनुष्यकी तो बात ही क्या, शु-पक्षी भी अपने साथ प्रेम करनेवालेसे प्रेम करते हैं; तु साधकोंको तो सभीसे प्रेम करना चाहिये । जो उनके साथ प्रेम न करें, उनके साथ भी उन्हें प्रेम करना हिये । बल्कि जो उनके साथ द्वेष करें, उनके साथ उन्हें प्रेम ही करना चाहिये ।

सबसे प्रेम होनेके लिये और प्रेमकी वृद्धिके लिये रभिमान और निष्काम भावसे उनकी सेवा करना, क प्रकारसे उनको सुख पहुँचाना और उनमें गुण- द्धि करके उनके गुणोंका ही दर्शन, आलोचना, ण और गायन करना चाहिये । इससे ऊँचे-से-ऊँचे नीचे-से-नीचे व्यक्तिमें भी प्रेम हो सकता है । हम वान्‌की सेवा करें, उनका गुणगान करें तो भगवान्‌में, पुरुषोंकी सेवा और गुणगान करें तो महापुरुषोंमें किसी साधारण पुरुषकी सेवा और गुणगान करें तो साधारण पुरुषमें स्वाभाविक ही प्रेम हो जाता है । तक कहा जाय, यदि हम दुष्ट, पापी और नीचकी वा-शुश्रूषा करें, उसे सुख पहुँचावें और उसके गुणोंका कथन करें तो उसमें भी प्रेम हो जाता र औरोंकी तो बात ही क्या है । यही नहीं, हमारे साथ असद् व्यवहार करे, हमारा अनिष्ट या त करे, उसका भी हमें हित ही करना चाहिये । धृतराष्ट्रने कुन्तीको वारणावत नगरमें पुत्रोंसमेत का प्रबन्ध किया और बारम्बार उसके साथ बुरा र किया किंतु कुन्तीने उनके दुर्व्यवहारको भूलकर और धृतराष्ट्रकी आजीवन सेवा ही की (देखिये महाभारत आदिपर्व १४४ से १४७; आश्रमवासिक-पर्व १-२, १५-१९)। हमें भी कुन्तीके इस आचरण-को आदर्श मानकर अहित करनेवालेके साथ भी हित ही करना चाहिये ।

कोई भी मनुष्य हमारे सम्मुख उपस्थित हो, हमारी किसीसे भी भेंट हो, हमें 'उसका हित कैसे हो'— यह सोचकर उसकी निष्कामभावसे सेवा करनी चाहिये, उसके गुणोंको देख-देखकर मुग्ध होना चाहिये, प्रसन्न होना चाहिये, हरा-भरा हो जाना चाहिये और गुणग्राही बनना चाहिये । संसारमें ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं, जिसमें दोष ही दोष हो, कोई गुण न हो और ईश्वर एवं महात्माको छोड़कर ऐसा भी कोई व्यक्ति नहीं जिसमें गुण ही गुण हो, कोई अवगुण न हो ।

अतएव मनुष्यको सिद्धान्तरूपसे अपना यह उद्देश्य बना लेना चाहिये कि सबके साथ समान और विशुद्ध निष्काम प्रेम हो । ऐसा लक्ष्य बनाकर अभिमान और स्वार्थसे रहित हो सबके साथ विनय और प्रेमपूर्ण व्यवहार करना चाहिये । किसीसे भी जो भगवत्प्रीतिके लिये प्रेम किया जाता है, वह भगवान्‌के साथ ही है । अतएव साधकोंको उचित है कि सबको भगवत्स्वरूप या सबमें भगवान्‌को व्यापक अथवा सब कुछ भगवान्‌का समझकर सबके साथ भगवत्प्रीत्यर्थ निष्काम प्रेम बढ़ावे, इससे सारे दोषोंका सर्वथा अभाव होकर परम प्रेमस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है ।

इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णने अपने प्रेमी भक्त उद्धवके प्रति कहा है—

मामेव सर्वभूतेषु बहिरन्तरपावृतम् ।
ईक्षेतात्मनि चात्मानं यथा खममलाशयः ॥
इति सर्वाणि भूतानि मद्भावेन महाद्युते ।
सभाजयन् मन्यमानो ज्ञानं केवलमाश्रितः ॥
ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिङ्गके ।
अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक् पण्डितो मतः ॥

नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात् ।
स्पर्धासूयातिरस्काराः साहंकारा वियन्ति हि ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २९ । १२-१५)

‘शुद्धान्तःकरण पुरुष आकाशके समान बाहर और भीतर परिपूर्ण एवं आवरणशून्य मुझ परमात्माको ही समस्त प्राणियोंके और अपने हृदयमें स्थित देखे। निर्मलबुद्धि उद्धव ! जो साधक केवल इस ज्ञानदृष्टिका आश्रय लेकर सम्पूर्ण प्राणियों और पदार्थोंमें मेरे स्वरूपका अनुभव करता है और उन्हें मेरा ही रूप मानकर आदर-सत्कार करता है तथा ब्राह्मण और चाण्डाल, चोर और ब्राह्मणभक्त, सूर्य और चिनगारी एवं कृपालु और क्रूरमें समान दृष्टि रखता है, वही सच्चा ज्ञानी माना गया है। जब निरन्तर सभी नर-नारियोंमें मेरी ही भावना की जाती है तब शीघ्र ही साधकके चित्तसे अहंकारसहित स्पर्धा, ईर्ष्या, तिरस्कार आदि सारे दोष दूर हो जाते हैं।’

एक महात्माका प्रसाद

हे मानव ! तू अपनी महिमा पहचान

(संकलयिता—‘माधव’) [यथाश्रुत, यथागृहीत]

सत्सङ्गका आयोजन जीवनके अभावका अभाव करनेके लिये होता है। सत्सङ्गका अर्थ है प्रभुका सङ्ग, अपने रचयिताका सङ्ग। सृष्टिका कर्त्ता हम सबका अपना अवश्य है। किसी भी कृतिके पीछे उस कर्ताकी सत्ता रहती है। इस दृष्टिसे यह सत्य है कि कोई हम सबका अपना है, जिसके सम्बन्धमें संतोंसे, शास्त्रोंसे सुना तो है, पर जिसे देखा नहीं है। जो कुछ हमारे देखनेमें आया है, उससे प्रतीत हुआ कि मिले हुए-पर हमारा अधिकार नहीं है।

सत्सङ्ग हम अपने द्वारा नहीं करते, इसीसे भूल हो जाती है। जो मिला है या दिखायी देता है, उसे कुछ तो दुःखरूप मानते हैं, कुछ ‘नहीं’ मानते और कुछ प्रभुकी लीला मानते हैं। मिला हुआ जब जैसा दिखायी देता है, वह वैसा है नहीं, उसपर हमारा कोई अधिकार नहीं है। हम अपने ज्ञानका अनादर करते हैं, इसीसे दुःख पाते हैं।

सत्कर्म, सत्-चर्चा और सत्-चिन्तन सत्सङ्ग नहीं हैं। यह तो सत्सङ्गका परिणाम है। मिला हुआ रहेगा नहीं, मिले हुए रहेंगे नहीं, इतना ही तो ज्ञान है। फिर ममता और कामना कहाँ रहेंगी ? मिले हुए पदार्थोंसे मिले हुए व्यक्तियोंकी सेवा करना, यही ज्ञानका क्रियात्मक रूप है। सत्सङ्ग कोई अभ्यास नहीं है। सत्यको स्वीकार कर लेना ही सत्सङ्ग है। सत्सङ्ग मानवमात्र स्वाधीनतापूर्वक अपने-आप कर सकता है। ममतारहित, कामनारहित, सुने हुएमें विश्वास, यही तो सत्सङ्ग है। हमारे रचयिताने हमें यह सारी शक्ति देकर भेजा है। उसने ज्ञान देकर स्वाधीन बना दिया। उसकी करुणाका क्या वारापार है ? श्रद्धा विश्वास प्रदान करती है, विश्वास आस्था लाता है। सामर्थ्य, श्रद्धा, ज्ञान सबको प्राप्त है। प्रभुने समस्त साधनसामग्री दी है, ताकि आपकी जय-जयकार हो। सुने हुएपर विश्वास, मिले हुएका सदुपयोग, ज्ञानका आदर—यही सत्सङ्गकी महिमा है। कर्म-सामग्री, भाव-शक्ति सभी प्रात हैं। ज्ञानका अनादर तो हम स्वयं करते हैं। ईश्वर क्या है ? यह तो ईश्वर ही जानता है। फिर हम उसपर क्या हुकूमत चलायें! माननेका एक मात्र उपयोग प्रभुपर ही हो सकता है। अलग होनेके लिये मिले हैं, मरनेके लिये जन्मे हैं। यह जानते ही हम निर्मम, निष्काम और असङ्ग होकर समता, चिर-शान्ति और निर्विकारताको अपने-

आप अपने अंदर विकसित होते पायेंगे । जहाँ समता है, वहीं योग है; जहाँ निर्विकारता है, वहीं सौन्दर्य है और जहाँ शान्ति है, वहीं सरसता है । सत्सङ्गके द्वारा हम कर्तव्यनिष्ठ, असङ्ग शरणागत हो सकते हैं । जब हम अपने सत्यको स्वयं ठुकराते हैं, तभी हम दुखी होते हैं ।

जिस किसीको जो कुछ वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य मिली है, वह जगत्के लिये है । जो श्रद्धा-विश्वास मिला है, वह प्रभुके लिये है और जो ज्ञान है, वह अपने लिये है । भजनका अर्थ है निरभिमानता, उदारता, प्रियता। ईश्वरवाद कहता है——'ईश्वर प्यारका सागर है ।' अद्वैतवाद कहता है 'ईश्वर ज्ञानका सागर है और भौतिकवाद कहता है 'ईश्वर सम्पूर्ण ...ओंका केन्द्र है ।' अपने द्वारा जाने हुए असत्का त्याग और सत्यको स्वीकार करें । इसीके द्वारा आप अपने ...ने रचयिताको अपना सकते हैं ।

सत्सङ्ग मानवमात्रका स्वधर्म है । स्वधर्मके सम्पादन-में हम सभी स्वाधीन हैं । सत्सङ्गका फल है——साधनकी अभिव्यक्ति और असाधनका नाश । सत्सङ्गसे साधनकी उपलब्धि होती है । साधनसे साध्यकी प्राप्ति होती है। साध्य वही है जो आपका जीवन है । साधन और साध्य—दो चीजें नहीं हैं । भोगके क्षेत्रमें साधन, साध्य अलग हैं, परंतु सत्सङ्गमें वैसा नहीं । साधन और जीवनमें विभाजन नहीं हो सकता । योगसे योगी-का, ज्ञानसे ज्ञानीका और प्रेमसे प्रेमीका विभाजन नहीं हो सकता । जिसका विभाजन नहीं हो सकता, वह साधन । साधन उपाय हो, साध्य फल हो, ऐसा भी नहीं । साधन सत्सङ्गका फल है । साधन ही जिसका स्वभाव हो वही साध्य है । साधन जिसकी ...हो, वही है साधक । जैसे प्रेमी और प्रेमास्पद एक हैं, वैसे ही साधन और साध्य एक हैं । प्रत्येक व्यक्ति सत्सङ्ग करने और सत्सङ्गी होनेमें स्वाधीन है । साधन मानवका स्वधर्म है ।

सुने हुएमें श्रद्धा, मिले हुएका उपयोग और जाने हुएका आदर, यही स्वधर्म है । सत्सङ्गमें प्राणी पराधीन नहीं है । सत्सङ्गसे सत्-चिन्तन होने लगता है, सत्कर्म होने लगता है । मिले हुएका उपयोग हम अपने आप नहीं कर सकते, एक विधानके अनुसार कर सकते हैं । यही है कर्म-विधान। वह विधान सबमें मौजूद है । जब रुचिपर विधान विजयी होता है तभी होते हैं धर्मात्मा । रुचिपर विधानकी पराजय ही पतन-का लक्षण है । रुचि और विधानकी एकता ही वास्तविक जीवन है । विधानके अधीन रुचिको बनाओ, रुचिके अधीन विधानको नहीं। रुचिकी उत्पत्ति होती है पराधीनताके सुखके भोगसे । विधानका ज्ञान होता है योगसे, रुचि उत्पन्न होती है भोगसे । विधान प्रगतिका लक्षण है, रुचि पराधीनताका । योगसे विधानको जानें, भोगसे उत्पन्न रुचिपर विजयी हो जायँ, इसके दो उपाय हैं——धर्म-विज्ञान और योग-विज्ञान ।

धर्म और योग एक ही सिक्केके दो पहलू हैं । सही करनेसे प्रवृत्तिका नाश होता है । भोगका आरम्भ भूलसे होता है । भूल कबसे हुई, पता नहीं । परंतु अभी मिट सकती है । भूल मिटानेका सबसे सुन्दर उपाय है——अपने जीवनमें अपनी भूल जाननेके लिये कुछ काल आराम करनेका समय निकालें । भूलका ज्ञान भूलके नाशका हेतु है । भूलके नाशका जो उपाय है, वही सत्सङ्ग है ।

कर्म परिस्थितिके अनुसार होता है । वस्तु, परिस्थिति, योग्यता, सामर्थ्य आदिका सम्बन्ध है । ऐसा काम न करें जो औरोंके लिये अहितकर हो जाय, किसीके विनाश और अवनतिका कारण बन जाय । हम वह नहीं करेंगे जो औरोंके लिये अहितकर हो ।

प्रेमीकी प्रत्येक चेष्टा स्वाभाविक ही प्रेमास्पदके सुखके लिये ही होती है और होती है वह सर्वस्व समर्पण करके अत्यन्त सुचारुरूपसे । पर वह प्रेमी न अपनेमें सेवाकी योग्यता देखता है और न अपने पास सेवाके योग्य सामग्री पाता है । वह यही मानता है कि 'मेरे प्रेमास्पदका शील ही ऐसा है कि मेरे प्रति अनुराग होनेके कारण वे स्वाभाविक मेरी प्रत्येक अस्तव्यस्त चेष्टाओंको अपनी परम सेवा ही मानते हैं ।' इसी भावसे भावित श्रीराधाका परम प्रियतम भगवान् श्रीकृष्णके सम्बन्धमें एक प्रसंग है ।

श्रीराधाजी कहती हैं—

नहीं शक्ति, सामर्थ्य न कुछ भी,
नहीं योग्यता, नहीं पदार्थ ।
नहीं भाव कुछ, त्याग न कुछ भी,
भरा मन्द जीवनमें स्वार्थ ॥
तन मन मलिन, न शोभा-सुषमा,
नहीं कहीं सुन्दरता-लेश ।
कैसे क्या देती तुमको मैं ?
दीन हीन अति, तुम सर्वेश ॥

न तो मुझमें सेवा करनेकी शक्ति है, न कुछ भी सेवा-सामर्थ्य है, न सेवाकी योग्यता है, न सेवाके योग्य कोई पदार्थ है, न सेवाके भाव हैं और न तनिक-सा भी त्याग है । समस्त जीवन नीच स्वार्थसे पूर्ण है । मेरा मन और तन सभी मलिन है, न शोभा-सुषमा ही है, न कहीं तन-मनमें सौन्दर्यका ही लेश है । इस अवस्थामें मैं तुमको कैसे क्या देकर सेवा करती ? मैं अत्यन्त दीन-हीन हूँ और तुम सर्वेश्वर हो !

सेवाका उपकरण न कुछ भी,
नहीं हृदयमें कुछ भी चाव ।
तो भी मान रहे तुम सेवा,
परम विचित्र तुम्हारा भाव ॥
गुण वर्णन करते न अघाते,
देते बार बार सम्मान ।
बारंबार ऋणी बनते तुम,
षड्-ऐश्वर्य-पूर्ण भगवान ॥

न मेरे पास सेवाके योग्य कुछ सामग्री है, न मेरे हृदयमें जरा भी चाव है; तो भी तुम सेवा मान रहे हो । यह सब तुम्हारा परम विचित्र स्वभाव ही है । तुम अपने इस स्वभाववश मेरा गुण वर्णन करते-करते नहीं अघाते, बारंबार सम्मान प्रदान करते रहते हो और स्वयं समग्र षड्-ऐश्वर्य (ऐश्वर्य, शक्ति, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य) से सम्पन्न होनेपर भी तुम बारंबार मेरे ऋणी बनते हो ।

मेरी सेवासे ही चलते
मानो सभी तुम्हारे काम ।
मुझसे सेवा लिये बिना
तुम पाते नहीं पलक विश्राम ॥
मेरे लिये तुम्हारा ऐसा
है कुछ शुचि अचिन्त्य अनुराग ।
देख रहे इससे तुम मेरी
हर कृतिमें सेवा बड़भाग ॥

तुम्हारे इस प्रकारके बर्ताव-व्यवहारको देखकर ऐसा लगता है मानो तुम्हारे सारे काम मेरे द्वारा की हुई सेवासे ही चलते हैं । मानो मुझसे सेवा प्राप्त किये बिना तुम्हें एक पलके लिये भी विश्राम नहीं मिलता । वास्तवमें मेरे प्रति तुम्हारे मनमें ऐसा कुछ पवित्र और अचिन्त्य मनसातीत अनुराग है । इसीसे तुम मेरी प्रत्येक क्रियाको महान् भाग्यवान् सेवा समझते हो ।

देख तुम्हारा यह पवित्र
अप्रतिम अनोखा शील अमान ।
नहीं समझ पाती मैं कैसे
तुम्हें कराऊँ अपना ज्ञान ॥
कहाँ नगण्य, नित्य सेवासे
विरहित, मैं अति तुच्छ, गवाँर ।
कहाँ विलक्षण तुम 'महान्'का
मेरे प्रति यह अतुलित प्यार ॥

तुम्हारा यह पवित्र, अनुपम, अनूठा, अभिमानरहित शील देखकर मैं समझ नहीं पाती कि तुमको अपने गुणरहित स्वरूपका परिचय कैसे कराऊँ ? कहाँ तो सेवाभाव तथा सेवाशक्तिसे सर्वथा शून्य अत्यन्त तुच्छ, गँवार, नगण्य मैं और कहाँ तुम महान् महिमामयका मेरे प्रति यह अतुलनीय प्रेम !

छिपी इसीसे रहती मैं नित,
रहती सदा गुप्त आवास।
निजको, अपनी हर चेष्टाको,
सदा छिपाती कर आयास॥
पर यदि कभी तुम्हारे सम्मुख,
मैं आ पड़ती प्रेमागार!
करने लगते कैसे क्या तुम,
मानो दबे विपुल ऋणभार॥
गड़ जाती मैं तब लज्जासे
भर जाता उरमें संकोच।
देख तुम्हारी अति उदारता,
निजकी देख परिस्थिति पोच॥
तब तुम हे अनन्त! कैसे क्या,
देते फूँक कान (हृदय) में मंत्र।
उन्मादिनी तुरत हो जाती,
अस्वतन्त्र बन जाती यंत्र॥

इसीलिये मैं सदा छिपी रहती हूँ और सदा गुप्त-स्थानमें निवास करती हूँ, अपनेको तथा अपनी प्रत्येक चेष्टाको सदा प्रयत्नपूर्वक छिपाती रहती हूँ, परंतु यदि कभी हे प्रेमनिधान! मैं तुम्हारे सामने आ पड़ती हूँ तो तुम मुझे देखते ही जैसे कोई ऋणके भारसे दबा हुआ मनुष्य अपने ऋणदाताके सामने कैसा (क्या विनय-संकोच, कृतज्ञता एवं लज्जापूर्ण) व्यवहार करने लगता है, वैसा ही करने लगते हो। तब मैं तुम्हारी इस आत्यन्तिक उदारता और अपनी नीच परिस्थितिको देखकर लज्जाके मारे गड़ जाती हूँ और मेरा हृदय संकोचसे भर जाता है। इसी समय हे अनन्त! तुम मेरे कानमें किस प्रकारका क्या जादू-भरा मन्त्र फूँक देते हो, हृदयको कैसे किस परमाकर्षक मधुर रससे परिपूर्ण कर देते हो कि मैं तुरंत ही उन्मादिनी हो जाती हूँ एवं सर्वथा स्वतन्त्रतारहित एक यन्त्र बन जाती हूँ।

◆

ब्रह्मवेत्ता पुरुषके लक्षण

(लेखक—ब्र० पूज्यपाद श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महात्मा श्रीनथुरामजी शर्मा)

[अनुवादक—श्रीसुरेश एम्० भट०]

परिपूर्ण, व्याप्त और सम्पूर्ण प्राणिपदार्थोंके स्वरूपभूत ब्रह्मका जिन महापुरुषके पवित्र, एकाग्र तथा वेदान्त-विचारयुक्त अन्तःकरणने सर्वसंशय-विपर्ययरहित अभेद-रूपसे अनुभव किया है, उन्हीं महापुरुषको ब्रह्मवेत्ता, ब्रह्मवित्, ब्रह्मज्ञानी, ब्रह्मदर्शी या ब्रह्मानुभवी कहते हैं।

अचल श्रद्धा और उत्साहके साथ विवेकादि साधन-सम्पन्न जो अधिकारी पुरुष अपने सद्गुरु और सत्-शास्त्रके उपदेशानुसार धैर्य, दृढ़ता और सावधानताके साथ सतत प्रयत्नशील रहता है, वही ब्रह्मज्ञानके भूत और वर्तमान प्रतिबन्धकोंको निःशेष दूर करके ब्रह्मज्ञानी हो जाता है।

दम्भ, आलस्य, प्रमाद, दीर्घसूत्रता, कर्तव्याकर्तव्यके विवेकसे हीन, परनिन्दा, अश्रद्धा, असहनशीलता और तृष्णा आदिसे युक्त मनुष्यको सदाग्रहसे अपने अन्तःकरणादिकी अपात्रताको दूर करनेके लिये धैर्य, सावधानता, दृढता और उत्साहके साथ सतत प्रयत्नशील रहना चाहिये। जिसने निष्कामकर्म, सद्गुरुकी सेवा, अपने प्राप्त व्यवहारका निर्दोष रीतिसे सेवन करनेके द्वारा अन्तःकरणको मलिन विचारोंसे रहित कर लिया हो, अन्तःकरणकी चञ्चलताको मिटा दिया हो, विवेक-वैराग्य-शमादि षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुता—इन चार ब्रह्मज्ञानके साधनोंको यथासामर्थ्य प्राप्त किया हो, ब्रह्मवेत्ता सद्गुरुके द्वारा ब्रह्मोपदेशका श्रवण करके उसका यथाविधि मनन और निदिध्यासन किया हो, वही पुरुष ब्रह्मवेत्ता बन सकता है। ऐसा अधिकार प्राप्त किये बिना कोई भी ब्रह्मवेत्ता नहीं हो सकता।

जो मनुष्य सत्ता, द्रव्य किंवा विद्यादिके मदसे युक्त है, वह श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ एवं परम कारुणिक सद्गुरुकी

शरणमें जाकर ब्रह्मका उपदेश प्राप्त करनेमें असमर्थ है । अन्तःकरणकी सम्पूर्ण विशुद्धि किये बिना सबके अधिष्ठानभूत ब्रह्मका कोई भी मनुष्य साक्षात्कार नहीं कर सकता । इसीलिये विवेकी मनुष्यको सदा अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये प्रयत्नवान् रहना चाहिये ।

ब्रह्म असङ्ग, अक्रिय, व्यापक, परमपवित्र, अभोक्ता, सर्वदुःखरहित, सर्वविषयोंकी तृष्णासे रहित और परमानन्दरूप है । ब्रह्मवेत्ता पुरुषको, ऐसे स्वभावसे युक्त ब्रह्म ही उसका अपना वास्तविक स्वरूप है—ऐसा सब प्रकारके संशय-विपर्ययसे रहित स्पष्ट अनुभव होता है ।

अन्तःकरणमें शुद्ध सत्त्वगुणकी स्थिरता होनेपर ही ब्रह्मभावना या निदिध्यासन करनेवाले साधकको अन्तःकरणमें ब्रह्मज्ञानका आविर्भाव होता है । जब शुद्ध सत्त्वगुणसम्पन्न अन्तःकरणको परम सत्यरूप परमानन्दका अनुभव होता है, तब उसका अनादि-कालका परिताप दूर हो जाता है और वह परमानन्दरूप बनकर परम शान्त और परम तृप्त हो जाता है ।

ब्रह्मवेत्ता पुरुषके अन्तःकरणमें आत्माका सुस्पष्ट साक्षात्कार होनेसे उसको यह जगत् सर्वथा असत् प्रतीत होता है । मनुष्यके अन्तःकरणकी जाग्रदवस्थामें प्रतीत होते हुए ये प्राणी-पदार्थ और क्रियाएँ ब्रह्ममें प्रवेशित नहीं हैं । ऐसी अनुभूति विशुद्ध और सूक्ष्मबुद्धियुक्त ब्रह्मवेत्ताको होती है ।

अन्तरात्मासे अभिन्न ब्रह्मकी अनुभूति करनेवाले ब्रह्मवेत्ता अविद्या, काल, कर्म तथा कर्मके सुख-दुःखरूप परिणामके वश नहीं रहते; वे सबसे सर्वदा निर्लेप और स्वतन्त्र ही रहते हैं । ब्रह्मवेत्ता अपने अन्तःकरणको तथा उसके सुख-दुःखादि धर्मोंको अपने ब्रह्मस्वरूपसे भिन्न और मिथ्या समझता है । इसीलिये ऐसा पुरुष अनुकूल विषयकी प्राप्तिमें हर्ष और प्रतिकूल विषयकी प्राप्तिमें उद्वेगके वश न होकर सर्वदा समभावयुक्त अथवा प्रसन्न रहता है ।

जिसने अपने समर्थ सद्गुरुके ब्रह्मोपदेशरूप अलौकिक अमृतका परमादरपूर्वक पान करके देवलोकके अमृतका अनादर किया है, उस ब्रह्मवेत्ताके इहलोक-परलोक एवं ज्ञानप्राप्ति तथा मोक्षप्राप्तिके लिये कोई कर्तव्य अवशेष नहीं रह गया है । मनोनाश और वासनाक्षयकी उत्तरोत्तर वृद्धि होनेपर ऐसा ब्रह्मवेत्ता जीवन्मुक्त, महामुक्त और अतिमुक्त आदि नामोंसे प्रसिद्ध होता है ।

जिसका चित्त परमसुख और परमज्ञानके महासागररूप परब्रह्ममें लीन हो गया है, वह ब्रह्मवेत्ता अपने लौकिक कुलको पवित्र करनेवाला अपने स्थूलशरीरके माता-पिताको अपनी अद्भुत स्थितिसे संतोष प्रदान करनेवाला एवं अपने निवास और परिभ्रमणसे पृथ्वीको पवित्र करनेवाला होता है । ऐसा परमपूज्य, प्रातःस्मरणीय, वन्दनीय और विश्वका श्रेष्ठ अलंकाररूप ब्रह्मवेत्ता देहादि जड पदार्थोंमें आत्मपनकी बुद्धि तथा दृश्य पदार्थोंमें ममता आदि नहीं रखता । सर्वदा निर्भय, दृढ़निश्चयी, प्राप्त सुख-दुःखको मिथ्या समझकर सर्वदा प्रसन्न रहनेवाला, शुभ-अशुभ ऊँच-नीच आदि संसारके सर्व विकल्पोंसे रहित, अन्तःकरणको आत्माभिमुख रखनेमें समर्थ एवं प्राकृत मनुष्योंके समूहमें तथा सम्मानमें अप्रीति रखनेवाला ब्रह्मवेत्ता सर्वदा समादरका अधिकारी है ।

संसारकी अत्यधिक निवृत्तिके लिये जिसने ब्रह्मोपदेष्टा सद्गुरुकी परमादरपूर्वक आराधना करके उनकी असीम कृपासे अपने अन्तःकरणकी अन्तर्मुखताके द्वारा अपने ब्रह्मस्वरूपका यथार्थ अनुभव किया है, ऐसा कृतार्थ ब्रह्मवेत्ता केवल हृदयमें, देवप्रतिमामें, अग्निमें किंवा तीर्थमें ही ब्रह्मका अनुभव नहीं करता, वह सर्वत्र ही सच्चिदानन्दरूप ब्रह्मका अनुभव करता है ।

जिस स्थानमें दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति है, जहाँ अपवित्रताका चिह्न भी नहीं है, जहाँ माया और उनके

कार्यरूप प्राणिपदार्थोंका अत्यन्त अभाव होनेसे सर्वदा एकान्त है, जहाँ जडता आदि तमोगुणके धर्म, चञ्चलता आदि रजोगुणके धर्म तथा सुखाभिमानादि मलिन सत्त्वगुणके धर्म नहीं हैं, जहाँ केवल चैतन्य और उपाधिरहित स्वाभाविक आनन्द-ही-आनन्द है, जहाँ परमनिश्चलता और परमगम्भीरताका ही प्रसार है, जहाँ तेजका अधिकरणरूप कोई पदार्थ नहीं है तथा जिस स्थानका वाणीसे निरूपण करना कठिन है, ऐसे स्थानमें जिन पुरुषोंके चित्त अधिष्ठानमें लीन हो गये हैं, वे ब्रह्मवेत्ता पुरुष अभेदभावसे निवास करते हैं।

जो अपनेको मुमुक्षु मानते हैं, उन्हें अपने जीवनकी क्षणभंगुरताका निश्चय करके अपने हृदयस्थ श्रद्धा-विश्वासके अनुसार वर्तमान जन्ममें ही ब्रह्मवेत्ता बन जा सकें, ऐसा दृढ़ प्रयत्न करना चाहिये।

शांकर वेदान्तमें मुक्तिका स्वरूप

(लेखक—डाक्टर श्रीराममूर्तिजी **शर्मा**, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, शास्त्री)

ब्रह्मकी जीवरूपताका मूल कारण अविद्या है। अविद्याके द्वारा ही जीवमें कर्तृत्वादिका अभिमान उत्पन्न होता है। विद्याकी उत्पत्ति एवं अविद्याकी निवृत्ति होनेपर जीव अपने स्वरूपका बोध कर लेता है। यह आत्मबोध ही मुक्ति है। मुक्ति प्राप्त होनेपर जीवका जीवत्व नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार अविद्यावश जबतक रज्जुका सर्परूपेण ज्ञान होता है तबतक सर्पजन्य भय आदि बन्धन बने रहते हैं; परंतु जब वास्तविकतारूप रज्जुका ज्ञान हो जाता है तब भ्रान्तिकालीन सर्पके नष्ट होनेपर तज्जन्य भयादि बन्धन भी स्वतः ही नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार कूटस्थ ब्रह्मात्मताके बोधके द्वारा जीवका जीवत्व नष्ट होनेपर जीवके सुख-दुःखादि बन्धन भी स्वतः नष्ट हो जाते हैं।[1] इस प्रकार बन्धन और मोक्षका व्यवहार भी मायिक ही है।[2] ब्रह्म स्वभावसे नित्य शुद्ध एवं मुक्त है। मुक्तिकी विस्तृत चर्चाका यही आधार है।

श्रीशंकराचार्यने मोक्षका स्वरूप निश्चित करते हुए लिखा है कि मोक्ष पारमार्थिक, कूटस्थ, नित्य, व्योमवत्, सर्वव्यापी, सर्वविकाररहित, नित्य तृप्त, निरवयव एवं स्वयंप्रकाश स्वभाववाला है। इस अवस्थामें धर्म और अधर्म अपने कार्य—सुख-दुःखसे त्रिकालमें भी सम्बन्ध नहीं रख सकते। ऐसी शरीररहित स्थिति मोक्ष है।[3] जिस प्रकार शुक्ल स्फटिक मणिमें रक्त-नीलादि उपाधियोंके कारण स्फटिक शुद्ध रूपमें नहीं दिखायी देता। फिर उन उपाधियोंके हट जानेपर शुद्ध रूपका ज्ञान हो जाता है; उसी प्रकार जीवको भी देहादि उपाधिके कारण आत्मस्वरूपका ज्ञान नहीं होता, परंतु विवेकके द्वारा उसे आत्मस्वरूपका ज्ञान हो जाता है। यही आत्मस्वरूपकी बोधावस्था मुक्तावस्था है। मोक्षकी उपादेयता बन्धनकी निवृत्तिमात्र है। इस मुक्तावस्थामें ही आत्मानन्दकी प्राप्ति होती है। आचार्य चित्सुख अनवच्छिन्नानन्द प्राप्तिको ही मोक्ष कहते हैं।[4] आत्मा स्वरूपतः चिदानन्दघन है। उसका यह रूप अविद्याकी आवरणशक्तिके द्वारा बाधित होनेके कारण नहीं जाना जाता। मुक्तिके सम्बन्धमें इस प्रश्नका उठाना स्वाभाविक है कि मुक्त पुरुषका इस धराधामके प्रपञ्चके साथ क्या सम्बन्ध है ! मुक्त पुरुषके लिये इस प्रपञ्चरूप जगत्की सत्ता रहती है या नहीं ! इसके उत्तरमें यह कहा जायगा कि मुक्त पुरुषके लिये यह प्रपञ्चरूप जगत् उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार अग्निके द्वारा घृतका काठिन्य नष्ट हो जाता है। यदि मोक्षका आशय प्रपञ्चरूप जगत्के विनाशसे हुआ होता तो सर्वप्रथम मुक्त पुरुषके होनेपर ही जगत्का विनाश हो गया होता। मुक्त पुरुषके लिये भी इस द्वैत जगत्का विनाश न होकर 'ज्ञाते द्वैतं न विद्यते' के अनुसार केवल द्वैतबुद्धिका नाश हो जाता है। जगत्के

---

[1] मुण्डकोपनिषद् २।२।८।

[2] बन्धमोक्षोपदेशादिव्यवहारोऽपि मायया। (मानसोल्लास ५६, अड्यार मद्रास)

[3] ब्रह्मसूत्र शा० भा० १।१।४।

[4] सि० ले० सं० पृ० ५२८।

[5] एकेन चादिमुक्तेन पृथिव्यादिप्राविलयः कृत इदानीं पृथिव्यादिशून्यं जगदभविष्यत्। (ब्र० सू० शा० भा० ३।२।२१)।

प्रति उसकी **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** की अनुभूति होती है। ब्रह्मवेत्ताका जगत्‌के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता। ब्रह्मज्ञानी स्वयं ब्रह्मरूप हो जाता है।

मुक्तावस्था एवं बद्धावस्थामें यही अन्तर है कि मुक्त पुरुषके लिये अविद्याकी निवृत्ति हो जानेपर मिथ्याभिमान एवं भ्रम-जन्य दुःखाद्यनुभूति नहीं रहती; क्योंकि दुःखाद्यनुभूतिका कारण मिथ्याभिमान ही है। अविद्याजन्य मिथ्याभिमानके कारण ही पुत्र-मित्रादिके मरनेपर संसारी पुरुषोंको मरणजन्य शोककी अनुभूति होती है। अविद्याभिमानसे रहित सच्चे परिव्राजक इस प्रकारकी दुःखाद्यनुभूतिके भाजन नहीं बनते[1]।

श्रीशंकराचार्यके मुक्तिसम्बन्धी मतका समर्थन करते हुए सुरेश्वराचार्यने लिखा है कि जिस प्रकार निद्राभङ्ग होनेपर द्रष्टा स्वप्नमें दृष्ट पदार्थोंको पुनः नहीं देखता है, उसी प्रकार ज्ञानी सम्यग्ज्ञान होनेपर इस विश्वको नहीं देखता[2]। विश्वकी इस स्वप्नमात्रताका यही भाव है कि आत्मैकत्व प्राप्त हो जानेपर बन्ध-मोक्षादि समस्त व्यवहारोंकी परिसमाप्ति हो जाती है।[3] यही माण्डूक्योपनिषद्‌में वर्णित 'प्रपञ्चोपशमत्वं'की स्थिति है।[4]

मुक्त पुरुषके लिये किसी अन्य ब्रह्मलोकका अथवा स्वर्ग-लोककी कल्पना करना भी शांकर दर्शनके प्रतिकूल है। **'कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः'** सूत्रमें बादरायणद्वारा उद्धृत आचार्य बादरिके मतकी पुष्टि करते हुए कहा गया है कि सगुण ब्रह्म अर्थात् ईश्वरमें गन्तव्यत्वकी उपाधि होनेके कारण उपासक ईश्वरकी प्राप्ति कर सकता है; परंतु परब्रह्ममें गन्तृत्व, गन्तव्यत्व या गतिकी कल्पना नहीं हो सकती; क्योंकि ब्रह्म सर्वगत एवं गमन करनेवालोंका प्रत्यगात्मा है।[5] मुक्त पुरुष स्वयं ब्रह्मरूप ही होता है। अद्वैत मतमें ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ भी सत्य नहीं है। इसलिये मुक्त पुरुषके लिये कोई गन्तव्य स्थान न होनेके कारण किसी लोकान्तरकी प्राप्तिका प्रश्न उपस्थित नहीं होता।

मुक्तिकी अवस्थाएँ स्वर्गादिकी अनेकविधताके समान अनेक नहीं हैं। ब्रह्म ही मुक्तिकी अवस्था है। ब्रह्मका एक निश्चित स्वरूप होनेके कारण उसके अनेक रूप नहीं हो सकते।[6] अतएव मुक्तिके सम्बन्धमें की गयी भेद-व्यवस्था भी निरर्थक है। मुक्त पुरुष **'नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा** (छा० उ० ७। २४। १) श्रुति-वाक्यके अनुरूप व्यवहारकालके दर्शनादि व्यवहारोंसे सम्बन्धित नहीं होता। मुक्तके लिये आत्माका एकत्वरूप ज्ञान प्राप्त होनेपर समस्त जागतिक विभेद नष्ट हो जाता है। ब्रह्मज्ञानी या मुक्तकी यह स्थिति नितान्त शून्यताकी स्थिति नहीं है। प्रत्युत ज्ञानीके लिये आत्मैकत्व हो जानेपर जगत्‌की भिन्न प्रतीति न होकर समानरूपसे ही प्रतीति होती है।[7]

मुक्तके आत्मैकत्वके सम्बन्धमें भी विद्वानोंकी भिन्न-भिन्न धारणाएँ हैं। जैमिनि आचार्यका विचार है कि मुक्तात्मा सर्वज्ञत्व आदि धर्मोंसे युक्त होता है।[8] इसके विपरीत आचार्य औडुलोमि जीवोंके चैतन्यस्वरूप होनेसे चैतन्यरूपमें अवस्थित मुक्त ब्रह्ममें सर्वज्ञत्वादि शब्दोंकी योजना व्यर्थ ही मानते हैं।[9]

बादरायणका मत है कि पारमार्थिक चैतन्यमात्रके स्वीकार कर लेनेपर भी ब्रह्मस्वरूपके सर्वज्ञत्वादि व्यवहार होनेसे मुक्तात्माके सप्रपञ्चत्व और निष्प्रपञ्चत्वका विरोध नहीं है।[10]

मुक्तात्मा शरीरपात होनेपर पुनः शरीरको धारण करता है अथवा मुक्त होनेपर जन्म ग्रहण करनेके बन्धनसे छूट जाता है? इस समस्यापर विचार करना भी अपेक्षित है। प्राचीन इतिहासमें मुक्तात्माओंके शरीर धारण करनेकी अनेक कथाएँ मिलती हैं। अपान्तरतमा नामके आचार्यने विष्णुकी आज्ञासे कलि और द्वापरकी संधिमें कृष्णद्वैपायनरूपसे जन्म ग्रहण किया था। ब्रह्माके मानसपुत्र वसिष्ठने भी निमिके शापसे पूर्व देहका त्याग करके ब्रह्माके आदेशसे मित्रावरुणके रूपमें जन्म ग्रहण किया था। इस प्रकारके दृष्टान्तोंके सम्बन्धमें यह

---

[1] पुत्रो मृतो मित्रं मृतमित्येवमाद्युद्घोषितं येषामेष पुत्र-मित्रादिमत्त्वाभिमानः, तेषामेव तन्निमित्तं दुःखमुत्पद्येत, नाभिमान-हीनानां परिव्राजकादीनाम्। (ब्र० सू० शा० भा० २। ३। ४६)

[2] निद्रया दर्शितानर्थान्न पश्यति यथोत्थितः। सम्यग्ज्ञानोदयादूर्ध्वं तथा विश्वं न पश्यति। (मानसोल्लास १। १२)

[3] ब्र० सू० शा० भा० १। २। ६।

[4] मा० उ० ७।

[5] ब्र० सू० शा० भा० ४। ३। ७

[6] ब्रह्मैव हि मुक्त्यवस्था, न च ब्रह्मणोऽनेकाकारयोगोऽस्ति। (ब्र० सू० शा० भा० ३। ५। ५२)

[7] मुक्तस्यापि सर्वैकत्वात् समानो द्वितीयाभावः। (शा० भा० छा० उ० ८। १२। ३)

[8] ब्र० सू० शा० भा० ४। ४। ५।

[9] वही ४। ४। ६।

[10] ४। ४। ७।

कहा जायगा कि अपान्तरतमा आदि लोकमर्यादाके अर्थ वेद-प्रवर्तन आदि अधिकारमें नियुक्त हुए थे। अतः उनकी स्थिति अधिकाराधीन है। जिस प्रकार '**अथ तत ऊर्ध्वं उदेत्य नैवोदेता नास्तमेतैकल एव मध्ये स्थाता**' (छा० उ० ३। ११। १) श्रुतिवाक्यके अनुसार सूर्य सहस्र युगोंतक जगत्का अधिकार चलाकर उसकी समाप्ति होनेपर उदय और अस्तसे रहित होनेपर कैवल्यका अनुभव करता है और जैसे आज भी ब्रह्म-वेत्ता आरम्भ-भूति कर्मोंके भोगके क्षीण होनेपर कैवल्यानुभूतिको प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार परमेश्वरके द्वारा तत्-तत् अधिकारोंमें नियुक्त हुए अपान्तरतमा आदि कैवल्य हेतु—सम्यक्-तत्त्व-ज्ञानके होनेपर भी कर्मोंके क्षीण न होनेसे अधिकारपर्यन्त रहते हैं। कर्मोंके क्षीण होनेपर ही कैवल्यप्राप्ति होती है।

शंकराचार्यके परवर्ती अद्वैतवादमें मुक्तिके सम्बन्धमें अनेक मत-मतान्तर प्राप्त होते हैं। सर्वज्ञात्म गुरु जीवन्मुक्तिको ही अस्वीकार करते हैं। इनके मतमें अविद्याके विरोधी ब्रह्मज्ञान-रूप तत्त्व-साक्षात्कारके उदित होनेपर अविद्याकी अनुवृत्ति लेशमात्ररूपसे भी सम्भव नहीं है। इसलिये ये जीवन्मुक्तिके प्रतिपादक शास्त्रको श्रवण आदि विधिका केवल अर्थवाद-मात्र मानते हैं; क्योंकि जीवन्मुक्तिके प्रतिपादनमें शास्त्रका प्रयोजन नहीं प्रतीत होता। सर्वज्ञात्म गुरुका कथन है कि जिस पुरुषने निदिध्यासन किया है, उस पुरुषको ब्रह्म-साक्षात्कारके उदयमात्रसे विलास और वासनाके साथ अविद्याकी निवृत्ति हो जाती है।[1] आनन्दबोधाचार्य अविद्या-की अनिर्वचनीयताके अनुरूप ही अविद्याकी निवृत्तिको भी अनिर्वचनीय नहीं मानते हैं।[2] जैसा कि कहा जा चुका है कि आचार्य चित्सुख अनवच्छिन्न (शुद्ध) आनन्दकी प्राप्तिको ही मुक्ति मानते हैं; क्योंकि दुःखाभावके स्वतः पुरुषार्थ न होनेसे संसाररूप दुःखकी निवृत्ति भी अविद्या-निवृत्तिके समान सुखका अङ्ग है।

मुक्त पुरुषके सम्बन्धमें इस शङ्काका होना स्वाभाविक है कि मुक्त पुरुष शुद्ध चैतन्यरूपको प्राप्त होता है अथवा ईश्वररूपको ? इसका समाधान यह है कि एकजीववादके मतमें तो केवल जीवके एक अज्ञानसे कल्पित जीव और ईश्वरके विभाग आदि समस्त प्रपञ्चका उस जीवकी विद्याका उदय होनेपर विनाश होनेसे निर्विशेष चैतन्यरूपसे ही जीवका अवस्थान होता है। अनेकजीववादके सिद्धान्तके अनुसार जिस पुरुषका ज्ञान उदय हुआ है, उसीके लिये अविद्यादि समस्त प्रपञ्चका विलय होगा। परंतु अन्य बद्ध पुरुषोंकी अविद्यासे जीव तथा ईश्वर-विभाग आदि प्रपञ्चकी अनुवृत्ति होनेपर जीवके समान ईश्वरके भी प्रतिबिम्बविशेष होनेके पक्षमें मुक्त पुरुष बिम्बभूत शुद्ध चैतन्यरूपसे ही अवस्थित रहता है; क्योंकि अनेक उपाधियोंमें एक ब्रह्मचैतन्यके प्रतिबिम्ब होनेपर एक उपाधिके विलयसे उस प्रतिबिम्बका बिम्बभावसे अवस्थान उचित ही है।

जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति

जैसा कि साधारणतया समझा जाता है जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति मुक्तिके दो भेद नहीं हैं। इस संदेहकी निवृत्तिके लिये शंकराचार्यने अपने भाष्यमें—

मुक्तावस्था हि सर्ववेदान्तेष्वेकरूपैवावधीयते।
(ब्र० सू० शा० भा० ३। ४। ५)

—कहकर मुक्तिपरक अवस्थाभेदका स्पष्ट निषेध किया है। जीवन्मुक्तिके लिये अविद्याकी निवृत्ति एवं ब्रह्मबोध होनेपर कर्मबन्धन. समाप्त हो जाता है; परंतु जिस प्रकार छोड़े हुए बाणकी निवृत्ति वेगका क्षय होनेपर होती है, उसी प्रकार जिस कर्मका फल प्रवृत्त हो चुका है, उसकी निवृत्ति शरीरपात होनेपर ही होती है। जबतक प्रारब्धकर्मोंका भोग समाप्त नहीं हो जाता है, तबतक मुक्त पुरुषको भी जीवन धारण करना पड़ता है। मुक्त पुरुषके जीवन धारण करनेकी समस्या कुम्भकारके चक्रके दृष्टान्तसे स्पष्टतया समझी जा सकती है। जिस प्रकार एक बार चलाया गया कुम्भकारका चक्र तबतक नहीं रुकता, जबतक कि उसका वेग समाप्त नहीं हो जाता; उसी प्रकार मुक्त पुरुषको भी प्रवृत्त फलवाले गत कर्मोंके भोगके लिये जीवन धारण करना ही पड़ता है।[3]

यदि जीवन्मुक्त प्राणी संसारमें रहता है तो मुक्त एवं अमुक्तके बीच क्या अन्तर है ? क्या मुक्त पुरुष भी अमुक्त-की तरह कर्म करता रहता है अथवा वह हाथ-पर-हाथ रखकर बैठ जाता है ? इत्यादि प्रश्नोंका होना स्वाभाविक है। इन शङ्काओंके समाधानके लिये यह कहा जायगा कि जिस प्रकार जादू देखनेवाला पुरुष जादूको मिथ्या समझता है। उसी प्रकार जीवन्मुक्त भी मांस, मल-मूत्रादिके पात्र शरीर,

---

[1] सिद्धान्तलेशसंग्रह पृ० ५१४।
[2] वही चतुर्थ परि० ५१६।
[3] ब्र० सू० शा० भा० ४। १। २५।

बन्धत्वादिके भाजन इन्द्रियसमूह और शोक-मोह आदिके पात्र अन्तःकरणसे पूर्ववासनाके कारण किये जाते हुए कर्मों तथा आरब्ध किये जाते कर्मोंके मुक्त फलोंको देखता हुआ भी परमार्थदृष्टिसे नहीं देखता ।[1] इस प्रकार जीवन्मुक्त पुरुष सब कुछ देखते हुए भी नहीं देखता और सुनते हुए भी नहीं सुनता । इसके विपरीत अमुक्त अथवा बद्धके समस्त क्रियाकलाप कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अभिमानजन्य होते हैं । बद्ध पुरुषकी शुभाशुभ कर्मोंमें आसक्ति होती है; परंतु जीवन्मुक्त पुरुष शुभाशुभ कर्मोंके प्रति उदासीन होता है । शुभ वासनाओंके अनुरूप जीवन्मुक्तकी प्रवृत्ति शुभ कर्मोंमें ही होती है । जीवन्मुक्तावस्थामें जीवन्मुक्त पुरुष आत्मानुभवमें लीन रहता है । जीवन्मुक्त स्वेच्छाकृत, परेच्छाकृत एवं अनिच्छाकृत कर्मोंसे उत्पन्न सुख-दुःखोंका अनुभव करता हुआ भी अपने ज्ञानके द्वारा सब कुछ तात्त्विक दृष्टिसे देखता है । जब प्रारब्ध कर्मोंके नष्ट हो जानेपर प्राणादि विलीन हो जाते हैं, तब अज्ञान एवं तज्जन्य संस्कारोंके नष्ट हो जानेपर ब्रह्ममात्र अवशिष्ट रह जाता है ।[2] यही विदेहमुक्तिकी अवस्था है । जिस प्रकार घटादि उपाधिके नष्ट हो जानेपर आकाशमात्र अवशिष्ट रह जाता है, उसी प्रकार कैवल्यावस्थामें ब्रह्ममात्र अवशिष्ट रह जाता है ।

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा

(लेखक—आचार्य **श्रीरामप्रतापजी** शास्त्री)

'धर्म' संस्कृत-वाङ्मयका एक ऐसा शब्द है, जिसका यथार्थ पर्याय न अंग्रेजी भाषामें है और न विश्वकी किसी अन्य भाषामें । अतः अन्य भाषाओंमें धर्मके पर्यायरूपसे जो शब्द प्रचलित हैं, उनकी कल्पनाके आधारपर हम धर्मका अर्थ नहीं समझ सकते । धर्म शब्द 'धृ' धातुसे सिद्ध होता है, जिसका अर्थ है धारण, पोषण करना । वैशेषिक-दर्शनके अनुसार धर्म वह है जिससे ऐहिक-पारलौकिक अभ्युदय तथा निःश्रेयस (मोक्ष) की सिद्धि हो—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ।

परंतु यह परिभाषा धर्मके कार्यको बताती है, उसके स्वरूप और साधनको नहीं । धर्माचरण कारण है, अभ्युदय और निःश्रेयस उसके कार्य । धर्म शब्दके अर्थका निर्भ्रान्त-ज्ञान हमें महर्षि जैमिनिके ही अनुसार हो सकता है । उनके अनुसार विधि-निषेधात्मक वेद-वाक्योंद्वारा बोधित अर्थ ही धर्म है—

चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ।

वेद धर्मकी जड़ है । वेदविद् लोगोंके लिये मन्वादि स्मृतियाँ धर्मका प्रमाण हैं । शील, आचार और साधुजनोंकी आत्मतुष्टि भी धर्मका प्रमाण है । श्रुति, स्मृतिमें कही बातोंका पालन करनेसे मनुष्य इस लोकमें कीर्ति और परलोकमें अपवर्गका उत्तम सुख पाता है । श्रुति माने वेद और स्मृति माने धर्मशास्त्र—इनमें कही बातोंके प्रतिकूल तर्क निषिद्ध है; क्योंकि इन्हीं दोनोंसे धर्मका उदय होता है।

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ॥

किसी समय जब मनुष्योंने वेदों एवं तन्मूलक शास्त्रोंको अपनी आत्यन्तिक उन्नतिका आधार मानकर व्यष्टि जीवनसे लेकर समष्टि जीवनतककी प्रगतिका माप धर्मसे कर रक्खा था, तब मानव-जीवनके सर्वाङ्गोंमें सुन्दर सामञ्जस्यकी स्थापना, आत्माके लक्ष्य 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' स्वरूपकी प्राप्तिको ही मुख्य प्रयोजन मानकर विश्वमें मानव-जीवन सुख-शान्तिमय रूपमें सुप्रतिष्ठित एवं सुव्यवस्थित था और तभी विश्वकल्याणकी कामनासे ओतप्रोत होकर उसका उद्घोष था—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ॥

सब सुखी हों, सभी नीरोग हों, सभीकी अच्छी दृष्टि हो, कोई भी दुखी न हो । शास्त्रोंके आधारपर पशुतासे मानवताको उच्चतम स्थान प्राप्त करनेमें एक ही विशेष हेतु है—जिसे धर्म कहते हैं । मनुष्यके लिये धर्म

---

[1] वेदान्तसार ३५ । [2] वेदान्तसार ३८ ।

ही सर्वस्व माना गया है और तभी वह ऐहिक-पारलौकिक समस्त निःश्रेयसकी प्राप्ति कर परम सिद्धि प्राप्त कर सकता है, जब उसकी दृष्टिमें वेद-शास्त्रद्वारा निर्धारित स्वकर्म, स्वधर्मका पालन एवं रक्षण ही सर्वोच्च कर्त्तव्य हो।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

कोई समय था जब शासक यह घोषित करता था कि—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

अर्थात् 'मेरे राष्ट्रके अन्तर्गत चोर, मद्यप, कर्त्तव्य-पराङ्मुख, मूर्ख एवं व्यभिचारी पुरुष ही नहीं हैं तब भला व्यभिचारिणी स्त्रियाँ कहाँसे सम्भव हैं।' क्या यह सच्ची प्रगति नहीं है? यदि यह सच्ची प्रगति है तो इसे लानेके लिये कोरा विज्ञान एवं कोरी समाज-व्यवस्था सर्वथा अनुपयुक्त है।

भारतीय प्राचीन व्यवस्थाके संदर्भमें हम लिखितके आदर्शको कभी नहीं भूल सकते। शङ्ख और लिखित दो सहोदर भ्राता थे, मनीषी और यशस्वी थे। स्मृतियोंके प्रणेतारूपमें उनकी प्रख्याति थी। कभी लिखितने भ्रम-वश शङ्खके बगीचेसे एक फल तोड़कर खा लिया। दूसरोंकी वस्तु बिना उनकी स्वीकृतिके उपयोगमें लाना चोरी ही अपराध है; यह समझकर उन्हें अत्यन्त दुःख हुआ और अपने भाई शङ्खसे सारी स्थिति बताकर उन्होंने दण्डकी याचना की। शङ्खने कहा—'दण्ड राजा दे सकता है, अतः राजाके पास जाओ।' उस समय राजा सुद्युम्न थे। उनके पास लिखित पहुँचे। राजा उनका स्वागत करनेके लिये उनसे कुछ दूर आकर मिले; पर लिखितने स्वयं अपनेको अपराधी घोषित किया और दण्डकी माँग की। राजाने बहुत ही समझाया; पर लिखितने स्पष्ट कहा—'राजा आदेश देनेका अधिकारी नहीं, वह तो केवल दण्ड देनेका ही अधिकारी है। मैं अपराधी हूँ, मुझे दण्ड अवश्य दो।' बाध्य होकर राजाने यथाविधान लिखितका हाथ कटवा दिया। यह है प्राचीन भारतके अस्तेय-धर्म—चोरी न करनेकी पराकाष्ठा। यही सच्ची प्रगतिका शुभ लक्षण है। यम, नियम, तप आदि वैयक्तिक धर्मके पालनसे लिखितने अपनी प्रवृत्तिका ऐसा शोध कर रक्खा था कि स्वयं अपराधका समीक्षण कर और उसका उचित दण्ड प्राप्त करनेमें वे सोत्साह प्रवृत्त हुए। यहाँपर सच्ची मानवता निखर आती है। प्राचीन भारतके हृदयका यदि निष्पक्ष होकर समीक्षण किया जाय तो यही स्पष्ट होता है कि उस समय शरीरको क्षणभङ्गुर समझते हुए लोकैषणा, वित्तैषणा आदिको धर्मके सामने तुच्छ समझना ही मानवताका मेरुदण्ड था।

अस्तु! संसार धर्मपर प्रतिष्ठित है। धर्मसे ही मानव-जीवनकी सार्थकता है। अबतक यही माना गया है। परंतु अब कुछ दिनोंसे दुनियामें एक नयी लहर चली है। जहाँ धर्मको जीवनकी उन्नतिका परम साधन समझा जाता था, वहाँ अब कुछ लोग धर्मको अधःपतनका कारण बताने लग गये हैं। आजकल अधिकांश लोगोंका यह विचार बन गया है कि जैसे भी हो प्राचीन व्यवस्थाको नष्ट कर दिया जाय। इसके मूलमें उनका यही दृष्टिकोण है कि नयी समाज-व्यवस्था ही, जिसपर विज्ञान पूर्णरूपसे हावी है, सुख-शान्तिकी प्रतीक है। इसलिये जो कुछ प्राचीन है, वह चाहे धर्म हो, सभ्यता हो, उसे सदाके लिये समाप्त कर दिया जाय और उसके स्थानपर नये वैज्ञानिक युगको प्रतिष्ठित किया जाय, तभी प्रगति सम्भव है। परंतु मानव-जीवनके शाश्वत मूलकी खोज धर्मने ही की है, विज्ञानने नहीं। सत्य, न्याय, दया, परोपकार आदि जिन भावोंसे मनुष्य पशुओंकी अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है, वे उसके लिये धर्मकी ही देन हैं; विज्ञानने तो केवल भोग-सामग्री या संहारकारी अस्त्र-शस्त्र ही समर्पित किये हैं। भौतिकवादकी आँधीमें जीवनके आध्यात्मिक मूल्योंको नष्ट तो किया गया, पर नवकल्पित मूल्य उनका स्थान लेनेमें समर्थ न हुए। फलतः मानव-समाजमें एक शून्यता-सी आ गयी। वस्तुतः मानव-समाज सुख और शान्तिके लिये आज अन्धकारमें भटक रहा है। निःसंदेह वेद-शास्त्र-प्रतिपादित धर्मके ही यथाधिकार पालनसे मनुष्यको सुस्थिर सुख और शान्ति प्राप्त होगी।

◆

आश्रमधर्मका रहस्य

(लेखक—श्रीदयाशंकरजी पाण्डेय 'हरीश' एम्० ए०, बी० एड०)

हमारे पूर्वजोंने मानवमात्रको शतायु होनेकी मङ्गल-कामना की है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत शतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

अर्थात् हे नर ! कर्म करते हुए इस संसारमें सौ वर्ष-तक जीवित रहनेकी कामना करो । तुम्हारे लिये इससे अन्यथा कोई पथ नहीं है । कर्ममें लिप्त न होना पड़े—ऐसा कोई पथ नहीं है ।

वस्तुतः यह संसार कर्म-प्रधान है । यहाँ प्रत्येक प्राणी कर्मके बन्धनमें बँधा हुआ है । व्यक्ति अपने संस्कारोंसे प्रेरित होकर जैसा अच्छा-बुरा कर्म करता है, उसके अनुरूप फल उसे भोगना ही पड़ता है । जीवनमें अनेक प्रकारके कर्म करके हम सब जो संस्काररूपी सम्पत्ति जोड़ते हैं, उसके बाद जैसे नींदसे उठकर हम फिर अपने कार्योंमें लग जाते हैं, उसी प्रकार मरणके बाद हमारे पूर्वजन्मके संस्कारोंकी पूँजी हमें फिर मिल जाती है । मृत्युका अर्थ है एक लंबी नींद । गीताके आठवें अध्यायमें भगवान्ने बतलाया है कि जो विचार मरते समय वर्तमान रहता है, वही अगले जन्ममें बलवत्तर सिद्ध होता है । इसी पाथेयको साथ लेकर जीव आगे यात्राके लिये निकलता है । जैसे नींदके बाद हम आज दिनकी कमाई लेकर कलका दिन आरम्भ करते हैं, उसी प्रकार इस जन्मकी जमापूँजी लेकर मरणरूपी नींदके बाद फिर हमारी यात्रा आरम्भ हो जाती है । अतः सिद्ध हुआ कि इस जन्मका जो अन्त है वही अगले जन्मका आरम्भ है । इस प्रकार हमारा वर्तमान जीवन हमारे पूर्वजीवनके साथ कर्मोंकी डोरसे बँधा हुआ है ।

मनुष्यके इस कर्ममय जीवनको व्यवस्थित करने तथा उसके व्यक्तित्वको पूर्णता प्रदान करनेके लिये हमारे शास्त्रकारोंने आश्रम-व्यवस्थाका विधान किया है । दिन जिस प्रकार चार स्वाभाविक अंशों—पूर्वाह्न, मध्याह्न, अपराह्न और सायाह्न—में विभक्त है, उसी प्रकार भारतीय मनीषियोंने समाजको चार वर्णोंमें बाँटकर और व्यक्तिके जीवनको चार आश्रमोंमें विभक्त कर हमारी संस्कृतिकी समन्वयवादिता, ज्ञानकी उपयोगिता तथा जीवनकी चरम सार्थकताका सुन्दर परिचय प्रस्तुत किया है ।

ये विभाग वास्तवमें मानवकी शक्ति और उसके स्वभावको ही अनुसरण करके किये गये हैं । जिस प्रकार दिनमें आलोक और उत्तापकी क्रमशः वृद्धि और फिर क्रमशः ह्रास होता है, ठीक उसी प्रकार मनुष्यकी इन्द्रिय-शक्तिकी भी क्रमशः उन्नति तथा क्रमशः अवनति स्पष्ट परिलक्षित होती है । कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुरके शब्दोंमें—'इस स्वाभाविक क्रमका अवलम्बन करके भारतवर्ष जीवनके आरम्भसे लेकर जीवनके अन्ततक एक अखण्ड तात्पर्यको वहन कर ले गया है । ब्रह्मचर्याश्रममें पहले विद्योपार्जन या शिक्षा, फिर गृहस्थाश्रममें संसार-लीला अर्थात् व्यक्तिगत सौख्यके साथ सामाजिक एवं धार्मिक कर्तव्योंका पालन, फिर वानप्रस्थ आश्रममें मायाके बन्धनोंको शिथिल करना तथा मनको प्रवृत्तिकी ओरसे निवृत्तिकी ओर मोड़ना और अन्तमें पूर्णतया निवृत्ति-मार्गका अवलम्बन कर अपनी आत्माके साथ मानवात्माका योग और विश्वात्मामें आत्मनिवेदन । इस प्रकार इस आश्रम-व्यवस्थाका उद्देश्य मानवजीवनमें श्रेय और प्रेयका समन्वय स्थापित कर उसे पूर्णत्व प्रदान करता है।'

भारतीय संस्कृतिमें मानवजीवनका चरम लक्ष्य पुरुषार्थ-चतुष्टयकी सिद्धि माना गया है और उपर्युक्त चारों आश्रम इन चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धिमें सहायक अथवा सोपानरूप हैं । पुरुषार्थचतुष्टय अर्थात् धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षकी सिद्धिके लिये इनका समुचित ज्ञान अनिवार्य है । यह ज्ञान ही ब्रह्म है, अतः हमारे देशकी शिक्षा थी—ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्म (ज्ञान) में संचरण करना । इसके लिये मनुष्यकी पूर्णायुके चौथाई अंशको विद्याध्ययन एवं ज्ञान-प्राप्तिके लिये निर्धारित किया गया था और अध्ययन-मननद्वारा ज्ञान-प्राप्तिकी इस निर्धारित अवधि या अवस्थाको ब्रह्मचर्याश्रमकी संज्ञा दी गयी थी ।

ब्रह्मचर्याश्रम

ब्रह्मचर्याश्रमका आरम्भ उपनयन-संस्कारके साथ होता था । इस संस्कार-विधानके अनुसार बालकोंको एक निश्चित अवधितकके लिये योग्य एवं आदर्श आचार्योंके

संरक्षणमें भेज दिया जाता था। जहाँ उन्हें संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए विविध शास्त्रों तथा ज्ञानकी अनेकानेक शाखाओंके साथ जीवन और जगत्की पूर्ण जानकारी करायी जाती थी और अन्तमें भावी जीवनमें मनुष्यत्व लाभ कर संसारमें सुख-सम्मानपूर्वक जीवन व्यतीत करने तथा मानवोचित सद्वृत्तियोंद्वारा जनकल्याण करनेके लिये दीक्षा दी जाती थी।

इस ब्रह्मचर्याश्रमका विधान केवल द्विजातियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) के लिये था। साधारणतः ब्राह्मण बालकका उपनयन आठवें वर्षमें, क्षत्रिय बालकका ग्यारहवें वर्षमें और वैश्य बालकका उपनयन बारहवें वर्षमें होता था। इन ब्रह्मचारियोंको आश्रमके कठोर नियमोंका पालन करना होता था। इस प्रकार पचीस वर्षतक कठोर ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन कर लेनेके बाद अन्तमें समावर्तन-संस्कार सम्पन्न कर ब्रह्मचारी घर लौट आता था और गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेका अधिकारी होता था। ऐसे ब्रह्मचारीको उपकुर्वाणक कहते थे।

संक्षेपमें ब्रह्मचर्य-पालन, विद्याध्ययन, व्यायाम एवं स्वास्थ्यसाधन तथा जीवनके लिये उपयोगी और अनिवार्य शिक्षा-दीक्षाके लिये मनुष्यजीवनकी यह प्रथम अवस्था उसके भविष्य जीवनके उत्कर्षकी विधायक होती थी। आयुके इस प्रथम भागमें ब्रह्मचर्य-पालनके द्वारा ब्रह्मचारीकी इच्छा-शक्तिको उसकी यथाविहित सीमामें सहज संचरण करनेका जो अभ्यास कराया जाता था, उसके फलस्वरूप विश्व-प्रवृत्तिके साथ उसकी मानस प्रवृत्तिका सुर अनायास सुन्दर भावसे बँध जाता था। इस प्रकार सर्वप्रथम ब्रह्मचर्याश्रमका यथोचित पालन कर लेनेके बाद ही व्यक्ति प्रवृत्ति-मार्गपर चलनेका अधिकारी माना जाता था।

गृहस्थाश्रम

ब्रह्मचर्याश्रम (संयम और शिक्षाकाल) पूरा करनेके बाद लोग संसार-धर्मके निमित्त गृहस्थाश्रममें प्रवेश करते थे। इसके लिये शास्त्रका आदेश है—

ब्रह्मचर्यं समाप्याथ गृहधर्मं समाचरेत्।
ऋणत्रयविमुक्त्यर्थं धर्मेणोत्पादयेत् प्रजाम्॥

अर्थात् ब्रह्मचर्यके चौबीस वर्ष पूरे करनेके बाद युवावस्थामें गृहस्थ-धर्ममें प्रवेश कर देव, ऋषि तथा पितृ-ऋणसे मुक्त होनेके लिये धर्म-विधिसे सुसंतान उत्पन्न करे।

इस गृहस्थाश्रमके तीन मुख्य प्रयोजन बतलाये गये हैं, यथा—१. संतान-प्राप्ति; २. रति-सुख-प्राप्ति; ३. धर्म-पालन। ये तीनों ही प्रयोजन धर्मपत्नीके बिना पूरे नहीं होते। अतः गृहस्थाश्रमके अभिलाषीको उत्तम गोत्रवाली सुलक्षणा कन्याके साथ विवाह करनेकी सलाह दी गयी है। विवाहके अवसरपर सप्तपदी-मन्त्रद्वारा वर और कन्यासे कहलाया जाता है कि हम दोनों आनन्दमय होनेके लिये प्रजा (संतान) के लिये तथा धर्मका पालन करनेके लिये पाणिग्रहण करते हैं। इस प्रकार यह गृहस्थाश्रम अनेक प्रयोजनोंको पूरा करनेके कारण चारों आश्रमोंमें सर्वोच्च माना गया है। बौधायनधर्म-सूत्रमें कहा गया है कि वास्तविक आश्रम केवल गृहस्थाश्रम है। गौतमने इसे अन्य सब आश्रमोंका मूल बतलाया है। विष्णु, वशिष्ठ, शंख तथा दक्ष आदि ऋषियोंने भी इस आश्रमकी श्रेष्ठता स्वीकार की है। महर्षि मनुने इसका महत्त्व प्रतिपादित करते हुए लिखा है—

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥

अर्थात् जिस प्रकार सब नदी-नद समुद्रमें जाकर आश्रय पाते हैं, उसी प्रकार सभी आश्रमोंके लोग गृहस्थाश्रममें आश्रय पाते हैं।

वस्तुतः मानवके विकासमें गृह या परिवार पहली और सबसे महत्त्वपूर्ण इकाई है। सही अर्थोंमें यह नागरिक जीवनकी पहली पाठशाला है और इसीकी नींवपर समाजका विशाल भवन खड़ा है। यहाँ हमें मातृत्वका चिरन्तन त्याग; पिताका अक्षय वात्सल्य, पुत्रकी कर्तव्य-निष्ठा, पुत्रीका सतत आत्मार्पण, पतिका अनुरक्त प्रेम और पुरुषके रूपमें उसका कठोर कर्तव्य, पत्नीका चिर साहचर्य एवं शुभाकांक्षा; भाईका स्नेह, भगिनीका सरल सौहार्द—सभी कुछ सहजभावसे सुलभ होता है।

संसारमें गृह ही वह स्थान है जहाँ मनुष्य अपने दुःखकी घड़ियोंमें वाञ्छित आश्वासन प्राप्त करता है। जीवनकी कष्ट-साध्य यात्रामें थके-प्यासे यात्रीके लिये गृह मरुभूमिमें मिलनेवाली हरियाली एवं जल-स्रोतके समान है। इस निरन्तर चलते रहनेवाले जीवनमें गृह वस्तुतः सुन्दर विश्रामस्थल है। साथ ही यह व्यक्ति और समाजका मिलन-स्थल भी है।

यहाँसे ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी तथा संन्यासी—सभी पोषण पाते हैं। इस प्रकार गृहस्थाश्रम सम्पूर्ण समाजका आधार होनेके कारण सभी आश्रमोंसे श्रेष्ठ है। गृहस्थाश्रम धन्य है—धन्यो गृहस्थाश्रमः।

चूँकि ब्रह्मचर्याश्रममें ब्रह्मचारीके मनकी इच्छा-शक्तिको उसकी यथाविहित सीमामें सहज संचरण करनेके निमित्त साधन कराया जाता था, अतः उसके फलस्वरूप गृहस्थाश्रमी अपने गृहस्थजीवनमें उस स्वरमें अपनी सामर्थ्य एवं इच्छाके अनुसार कोई भी रागिनी क्यों न बजावे, उससे सत्यके स्वरको, मङ्गलके स्वरको, आनन्दके स्वरको कहीं भी कोई आघात-व्याघात नहीं पहुँचता था।

संक्षेपमें गृहस्थाश्रम प्रेय और श्रेयका मिलन-स्थल है। गृहस्थाश्रमी इन दोनोंसे अपना मनोयोग कर पूर्णत्वकी ओर अग्रसर होता है। उपनिषदोंमें रति-सुखको परमानन्द अथवा ब्रह्मानन्द-सहोदर माना गया है। गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने स्वयंको धर्मके अविरुद्ध काम कहा है। मनु महाराज भी एक स्थानपर कहते हैं—

न तथैतानि शक्यन्ते संनियन्तुमसेवया।
विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः॥

विषयकी सेवा किये विना वैसा संयम नहीं किया जा सकता जैसा विषयमें नियुक्त रहकर ज्ञानके द्वारा नित्यशः किया जा सकता है। अर्थात् विषयमें नियुक्त हुए बिना ज्ञान पूर्णता प्राप्त नहीं करता और जो संयम ज्ञानके द्वारा लब्ध नहीं है, वह पूर्ण संयम नहीं है। वह जड अभ्यास अथवा अनभिज्ञताका अन्तरालमात्र है। वह प्रकृतिके मूलगत नहीं बल्कि बाह्य है। इस प्रकार गृहस्थाश्रम विषय अथवा प्रेयके द्वारा अन्तमें श्रेय अथवा मोक्षकी ओर जानेका एक मार्ग या सोपान है।

इस प्रकार गृहस्थाश्रम केवल सुखोपभोगके लिये नहीं है। बल्कि इसका एक प्रधान प्रयोजन धर्मपालन एवं संचयन भी है। गृहस्थाश्रममें प्रवेश करते ही गृहस्थाश्रमीपर तीन ऋणोंका बोझ तथा पञ्चमहायज्ञोंका दायित्व अनायास आ पड़ता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक गृहस्थको नित्य, नैमित्तिक और काम्य—इन तीन प्रकारके कर्मोंको अनिवार्यरूपसे करनेका विधान बतलाया गया है—

नित्यं नैमित्तिकं काम्यमिति कर्म त्रिधा मतम्।
(व्यासस्मृति)

इस विधानके अनुसार प्रत्येक गृहस्थको नित्य श्राद्ध आदि करके पितरोंको, यज्ञ आदिके द्वारा देवताओंको, धन, भोजन तथा आश्रय आदि देकर अतिथियोंको, स्वाध्यायके द्वारा ऋषियोंको, संतान उत्पन्न करके प्रजापतिको, अन्न-फल आदिकी आहुति देकर भूतादिको तथा दया, स्नेह आदि उदात्त भावोंके द्वारा सम्पूर्ण चराचर जगत्को सुखी और संतुष्ट करना चाहिये। प्रत्येक गृहस्थाश्रमीका कर्तव्य है कि वह भिक्षाभोगी, परिव्राजक, ब्रह्मचारी, पर्यटक तथा साधु-जनोंका स्वागत करे, उनसे मधुर वचन बोले, उन्हें आसन, जल-भोजन तथा शय्या देकर संतुष्ट करे; किसी प्रकारसे भी उनका अपमान अथवा अहित न करे। धर्मानुकूल आचरण करते हुए जीविकोपार्जन करे और धर्मानुकूल रति-सुख तथा संतान-सुख भोगते हुए परिवार तथा परिवारके बाहरके लोगोंका पालन करे। इतना महान् दायित्व होनेके कारण ही गृहस्थाश्रमको सब आश्रमोंसे श्रेष्ठ बतलाया गया है।

वानप्रस्थ-आश्रम

वानप्रस्थका अर्थ है गृह छोड़कर वनके लिये निकल पड़ना। ५० वर्षकी अवस्थातक अपनी गृहस्थी भली प्रकार जमा लेने तथा अपनी संतानोंको शास्त्रानुकूल दे लेनेके बाद उनका विधिवत् विवाह कर और उन्हें भली प्रकार गृहस्थाश्रममें प्रतिष्ठितकर, अन्तमें अपनी गृहस्थीका भार उन्हें पूरी तौरपर सौंप और स्वयं पारिवारिक झंझटोंसे निवृत्त होकर, अपनी पत्नीको पुत्रोंके सहारे छोड़कर अथवा साथमें रखकर, घरसे निकल पड़ना और नगरके बाहर एकान्त निवास करना वानप्रस्थीकी चर्या होनी चाहिये। मनुके अनुसार पौत्रका मुँह देख लेनेपर इस तीसरे आश्रममें प्रवेश करना चाहिये।

इस प्रकार आयुके द्वितीय भागको संसार-धर्ममें लगानेके बाद शरीरका तेज जब ह्रास होने लगे तब गृहस्थाश्रमीको यह अनुभव करना चाहिये कि इस क्षेत्रमें उसके कार्य-व्यापार-की समाप्तिका संवाद आ गया, किंतु हमारा सब कुछ गया—ऐसा मानकर हमें इसे अनुशोचनाका कारण नहीं बनाना है; बल्कि इस सत्यका अनुभव कर कि अब इससे और भी बड़ी परिधि तथा और भी बड़े दायित्वोंके क्षेत्रमें प्रवेश करना है, हमारे पूर्वज बड़े संतोष, विश्वास और प्रसन्नताके साथ जीवनकी तीसरी अवस्थामें इस मार्गकी ओर अभिमुख होते थे।

इस तीसरी अवस्थामें पहुँचकर इस सत्यकी अनुभूति

होनी चाहिये कि जो क्षेत्र दैहिक बलका था; इन्द्रियशक्ति और प्रवृत्ति-संचालनका था, वह पीछे दूर गया अथवा उसका कार्य समाप्त हो गया; वहाँ जो कुछ फसल बोया और पैदा किया; उसे काटकर खलिहान कर खत्तीमें भरकर रख दिया; अतः अब निश्चिन्त हो जानेका समय है। अब जीवनकी संध्या आ पहुँची, अतः अब गृहस्थजीवनकी, सांसारिक प्रपञ्चोंकी चहारदीवारी छोड़कर धर्मके राजमार्गपर चलना है—ऐसा विचारकर हमारे पूर्वज प्रसन्नतापूर्वक अपना कमाया हुआ धन-जन सब कुछ त्यागकर अपने ही हाथों बनाये घरसे खाली हाथ अकेले अथवा केवल अपनी अर्धाङ्गिनीको साथ लेकर वनपथकी ओर निकल पड़ते थे।

नगरके कोलाहलसे दूर एकान्त सेवन करते हुए तथा इस आश्रमके लिये निर्धारित कठोर नियमोंका सतर्कतासे पालन करते हुए वह विचार करते थे कि उनका वास्तविक घर तो कहीं और है, जहाँ पहुँचे बिना वास्तविक शान्ति नहीं मिल सकती। वे इस सत्यका अनुभव करते थे कि यहाँ अबतक जो कुछ सुख-दुःख सहा, जो कुछ मिहनत-मजदूरी की, आखिर किस लिये? घरके लिये ही तो? और यह घर ही भूमा है, यह घर परमानन्दका निवासस्थल है। उसी परमानन्दसे हमारी उत्पत्ति हुई है और वही हमारा एकमात्र विश्रामस्थल है। इस प्रकार गृहस्थाश्रमके सम्पूर्ण दायित्व सौंपकर और गृह-संसारका समस्त भार पुत्रोंको समर्पित कर भारतीय आर्य इस तीसरी अवस्था (वानप्रस्थ आश्रम) में उस एकमात्र राजमार्ग अथवा ईश्वरके मार्गपर चलनेकी तैयारी करते थे जो हमारा एकमात्र गन्तव्य और हमारे जीवनका चरम लक्ष्य है। इस प्रकार बाहरकी खुली हवामें जाकर मुक्त आकाशके आलोकमें आत्मदृष्टिको अन्तर्मुखकर और आत्मशरीरके समस्त रोमकूपोंको प्रज्वलित कर उस प्रभुकी, उसके घरकी खोज करते थे। इस प्रकार इस संसारका नाटक खेल चुकनेके बाद, उसका पटाक्षेपकर, प्रसूति-गृहकी नाड़ीको सही अर्थमें काटकर और सब प्रकारसे बन्धन-मुक्त होकर आर्यजन एक नये जगत्में स्वाधीन संचरणका अधिकार प्राप्त करते थे।

कवीन्द्र रवीन्द्रके शब्दोंमें—'जिस प्रकार शिशु माताके गर्भसे जन्म लेकर पृथ्वीपर आनेके बाद भी, सम्पूर्ण स्वाधीन होनेके पूर्व कुछ समयतक माँके पास ही रहता है। वियुक्त होकर भी युक्त रहता है और सम्पूर्ण वियुक्त होनेके लिये प्रस्तुत होता है, उसी प्रकार संसारके गर्भसे निष्क्रान्त होनेपर भी बाहरकी ओरसे संसारके साथ इस तृतीय आश्रमधारीका योग रहता है। बाहरकी ओरसे वह संसारको अपने जीवनमें संचित ज्ञानका फलदान करता है और संसारसे स्वयं भी सहायता लेता है; किंतु यह दान वह संसारीकी तरह एकान्तरूपसे नहीं लेता, मुक्तरूपसे ही ग्रहण करता है।'

श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें वर्णाश्रम-चर्याकी व्याख्या करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'जो गृहस्थ वानप्रस्थी होना चाहे वह अपनी पत्नीको समर्थ पुत्रोंके हाथमें सौंपकर अथवा अपने साथ ही रखकर शान्त एवं संयमित भावसे अपनी आयुका तीसरा भाग वनवासमें व्यतीत करे। वहाँ विशुद्ध कंदमूल तथा वनके फल खाकर रहे, मूँछ-दाढ़ी और जटा बढ़ाये रहे, धरतीपर शयन करे; अपने पास आये अतिथियोंका सत्कार करे, मृगचर्म तथा कुशासनका प्रयोग करे, तीनों काल संध्यावन्दन तथा देवताओंका अर्चन करे, हवन तथा यज्ञ करे और निरन्तर ज्ञानकी साधना करते हुए तपस्या एवं तितिक्षा (भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख) सहन करनेकी शक्ति प्राप्त करे।'

इस प्रकार वास्तविक वानप्रस्थी वही है जो परिवारकी मर्यादित आसक्ति त्यागकर सम्पूर्ण मानव-समाजकी सेवामें जुट जाय; किंतु यह दुःख और दुर्भाग्यका ही विषय है कि आज हमारे समाजमें सही अर्थमें कोई भी वानप्रस्थी नहीं है। समाजमें अज्ञान तथा भौतिकवादकी कुछ ऐसी हवा चल पड़ी है कि लोग मरते दमतक न तो पुत्र-कलत्र और धनका मोह त्याग पाते हैं और न उन्हें अपने वास्तविक घरकी ही अनुभूति हो पाती है।

संन्यास-आश्रम

वानप्रस्थ-आश्रममें तप तथा ईश्वर-चिन्तनमें मन सध जानेपर आयुके चतुर्थ और अन्तिम भागमें एक दिन ऐसा आता है, जब प्राणीको संसारके शेष बन्धनोंको भी त्यागकर एकाकी ही उस परम एकके सम्मुखीन होना पड़ता है। तब निर्मल मन तथा मङ्गल कर्मोंके द्वारा संसारके समस्त बन्धनोंका पूर्ण परित्याग कर उस एकमात्र आनन्दरूपके साथ चिरन्तन सम्बन्ध प्राप्त करनेके लिये प्रस्तुत हो जानेका अवसर आ गया—ऐसा अनुभव होना चाहिये।

जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री दिनभर घर-संसारके नाना लोगोंके साथ नाना सम्बन्धोंका पालन करती हुई, नाना कर्म-व्यापार कर लेनेके बाद अन्तमें केवल पतिदेवका ही कार्य

करती है, अपने पतिके ही सम्बन्धको एकान्तभावसे स्वीकार करती है; दिन समाप्त हो जानेपर कामकी चीजें उठाकर, नहा-धोकर, कपड़े बदलकर, कर्मक्षेत्रके चिह्नोंको पोंछकर, निर्मल वेशमें एकाकिनी एकमात्र पतिके साथ पूर्ण सम्बन्धका अधिकार ग्रहण करनेके लिये एकान्त कक्षमें प्रवेश करती है, ठीक उसी प्रकार समाप्त-कर्म पुरुष भी अपनी आयुके इस चौथे और अन्तिम भागमें कर्म-जीवनकी समस्त खण्डताओंको मिटाकर उस असीमके साथ मिलनेके लिये प्रस्तुत होकर अन्तमें एकाकी ही उस एक (परमात्मा) के सम्मुख जा खड़ा होता है और अपने सम्पूर्ण जीवनको इस परिपूर्ण समाप्तिमें अखण्ड सार्थकता दान करता है।

जीवनकी तीसरी अवस्था व्यतीत हो जानेपर वानप्रस्थीको चाहिये कि वह अपनी पत्नीसे भी अपना सम्बन्ध तोड़ ले और आहवनीय अग्नियोंको अपनेमें लीनकर संन्यास ग्रहण कर ले। संन्यासकी महिमा बतलाते हुए संत विनोबा लिखते हैं—'मानवीय बुद्धिने, मानवीय विचारने अबतक जो ऊँची उड़ानें मारी हैं, उन सबमें ऊँची उड़ान संन्यासतक पहुँची है। इसके आगे अभीतक कोई उड़ान नहीं मार सका। संन्यासकी व्याख्या है—सब कर्मोंको छोड़ना। संन्यासी सभी कर्मोंका त्याग कर देता है; किंतु उसके भीतर सम्पूर्ण संसारको कर्ममें प्रवृत्त करनेकी अपूर्व और प्रचण्ड प्रेरक-शक्ति होती है, ठीक जिस प्रकार भाप अवरोध पाकर प्रचण्ड कार्य करती है, जैसे सूर्य कुछ न करके भी अनन्त उपकार कार्य करता है।'

प्राचीनकालमें सिर मुड़ाकर गेरुआ वस्त्र धारण कर तथा दण्ड-कमण्डलु लेकर संन्यास-धर्मकी दीक्षा ली जाती थी। भारतीय समाजमें संन्यासीके लिये यह विधान था कि वह केवल एक लँगोटी धारण करे और शीतसे बचनेके लिये यदि ऊपरसे कुछ ओढ़ना चाहे तो केवल उतना ही वस्त्र ओढ़े जिससे नीचेका शरीर ढका रहे। संन्यासीको आपत्कालके अतिरिक्त सर्वदा केवल दण्ड-कमण्डलु ही पास रखना चाहिये और कुछ भी नहीं; क्योंकि वह संन्यास लेते समय सर्वस्व त्याग चुकता है। संन्यासीका यह भी कर्तव्य था कि वह सब प्रकारका लोभ, मोह, मद, मत्सर तथा सभी सांसारिक प्रपञ्चोंका त्याग कर प्राणिमात्रके साथ मित्र-भाव रक्खे। मन, वचन तथा कर्मसे किसी प्राणीका अनिष्ट न करे। इस प्रकार मानवमात्रका कल्याण-साधन करता हुआ निर्भय एवं निःस्पृह भावसे सम्पूर्ण पृथ्वीपर विचरण करे तथा ईश्वराराधन एवं योग-साधनद्वारा मोक्ष-प्राप्तिके लिये यत्नशील हो।

श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें ही भगवान् श्रीकृष्ण संन्यासधर्मकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—'संन्यासीको चारों वर्णोंमें भिक्षा माँगनेका अधिकार है, किंतु पतित, हत्यारे तथा जातिच्युत लोगोंके यहाँ भिक्षा लेना निषिद्ध है। जब गृहस्थके घरके चूल्हे ठंडे हो जायँ, तब बस्तीमें जाकर केवल शरीरका पोषण करनेके लिये अनिश्चित सात घरोंसे भिक्षा माँगना और उनमें जो कुछ मिले, उतनेसे ही संतुष्ट रहना चाहिये। भिक्षा कर चुकनेपर गाँवके बाहर एकान्तमें किसी जलाशयके किनारे जाकर, पहले उस स्थानपर जल छिड़ककर उसे पवित्र करना चाहिये। फिर अपने हाथ-पैर धोकर कुल्ला करके मौन भावसे अन्न खाना चाहिये। आगेके लिये बचाकर नहीं रखना चाहिये। भोजन करनेके अवसरपर यदि कोई प्राणी आकर भोजन माँग बैठे तो उसे बाँटकर भोजन करना चाहिये। संन्यासीको पाँच रातसे अधिक एक स्थानपर नहीं रहना चाहिये। संगहीन, जितेन्द्रिय, आत्माराम, आत्मलीन, धीर और समदर्शी होकर उसे अकेले इच्छानुसार पृथ्वीका पर्यटन करना चाहिये। संन्यासीको चाहिये कि वह निर्जन और निर्भय स्थानमें बैठकर विशुद्ध भक्तिसे निर्मल होकर रहे। हृदयमें ईश्वरको अपने (आत्मा) से अभिन्न देखे और विचारे। इस प्रकार संन्यासीको सदा-सर्वदा ज्ञाननिष्ठ होकर आत्माके बन्धन और मोक्षका विचार करना चाहिये।'

संन्यासियोंके अनेक भेद अथवा कोटियाँ हैं। यथा त्रिदण्डी, अवधूत, हंस, परमहंस आदि। विष्णु-स्मृतिमें मुख्यरूपसे चार प्रकारके संन्यासी बतलाये गये हैं—

चतुर्विधा भिक्षुकाः स्युः कुटीचकबहूदकौ।
हंसः परमहंसश्च पश्चाद् यो यः स उत्तमः॥

अर्थात् संन्यासी मुख्यतः चार प्रकारके होते हैं—कुटीचक, बहूदक, हंस तथा परमहंस। इनमें क्रमशः एक दूसरेसे उत्तम हैं। मौनरूप वाणीका दण्ड अर्थात् दमन और अनीहा (काम्य-कर्मत्याग) रूप शरीरका दण्ड एवं प्राणायामरूप मनका दण्ड धारण करनेके कारण संन्यासी त्रिदण्डी कहलाता है। केवल दिखानेके लिये बाँसके दण्ड लिये रहनेसे कोई त्रिदण्डी नहीं होता। जिसने काम-क्रोधरूप छः शत्रुओंके दलको शान्त नहीं किया, जिसके बुद्धिरूप सारथिको प्रचण्ड इन्द्रियरूप घोड़े इधर-उधर घसीटते फिरते हैं, जिसके हृदयमें ज्ञान-विज्ञानका लेश भी नहीं है ऐसा जो

मनुष्य केवल जीविकाके लिये दण्ड-कमण्डलु लेकर संन्यासीके वेशमें पेट पालता फिरता है, वह पतित एवं धर्मघातक है। उसका मनोरथ पूर्ण नहीं होता। वह अपने आपको, इस संसारको तथा सर्वान्तर्यामी भगवान्‌को ठगता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस आश्रम-व्यवस्थाका उद्देश्य मनुष्यके जीवनके लिये वाञ्छित श्रेय और प्रेयमें समन्वय एवं सामञ्जस्य स्थापितकर उसे पूर्णत्व प्रदान करना है। हमारी संस्कृतिमें मानव-जीवनके जिस मुख्य लक्ष्य—सुख और शान्तिका निर्देश किया गया है और जिसकी उपलब्धिके लिये पुरुषार्थ-चतुष्टयकी साधनापर बल दिया गया है, उसकी सिद्धिके लिये आश्रम-व्यवस्था सहायक सोपानस्वरूप है—इसमें संदेहकी जरा भी गुंजाइश नहीं।

हममें परिवर्तन क्यों नहीं होता ?

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

[नवम्बर १९६३ के अङ्कसे आगे]

'माँ इतने दिन हो गये। मुझे तेरे दर्शन नहीं हुए! क्या करूँगा ऐसे अधम शरीरको जीवित रखकर ?'

यह कहकर उसने मन्दिरमें लटकती तलवार उतार ली। उससे वह अपनी गर्दन उड़ाने जा ही रहा था कि कहते हैं कि माँ कालीने प्रकट होकर उसका हाथ पकड़ लिया।

रामकृष्ण परमहंसकी यह तीव्रता ही उनकी साधनाका मूल आधार थी।

× × ×

छतपर एक युवतीको नग्न देखकर उसका मन डोल गया! छिः छिः यह क्या ? मनकी यह लंतरानी ? अब या तो मैं मरूँगा या मनको मारूँगा!

'मरूँगा या मनको मारूँगा'—हृदयपरिवर्तनकी इस तीव्रताने ही तीर्थरामको 'रामतीर्थ' बना दिया।

× × ×

वासनाके झकोरोंको उसने कई-कई बार पलक मारते निष्फल बना दिया था।

युवतियाँ प्रयत्न करके भी उसे डिगा नहीं सकी थीं। पर, एक दिन भोजन बनाते समय उसका चित्त प्रयत्न करनेपर भी वशमें नहीं आ रहा था। विवेक उसका साथ नहीं दे रहा था।

वह बार-बार चेष्टा करता, पर मन बार-बार उसे छोड़नेका प्रयत्न करता।

'नहीं मानता तो ले!'—यों कहकर जलते तवेपर बैठ ही तो गया वह।

भारी-भारी फफोले पड़ गये। कई महीने दवा चली। पर कामवासनाको विवेकानन्दने परास्त करके ही दम ली।

किसीने लिखा कि 'आप इतने दिनोंसे ब्रह्मचर्यकी तीव्र साधना कर रहे हैं; फिर भी आपको कभी-कभी गंदे स्वप्न आ जाते हैं तो हम-जैसोंके लिये क्या आशा ?'

गांधीने जवाब दिया—संसारके लिये इतना जानना ही क्यों यथेष्ट नहीं कि मैं सच्चा शोधक हूँ, पूर्ण जाग्रत् हूँ; सतत प्रयत्नशील हूँ और विघ्न-बाधाओंसे डरता नहीं ? ऐसी दलील ही क्यों दी जाय कि मेरे-समान व्यक्ति जब बुरे विचारोंसे न बच सका तो दूसरोंके लिये कोई आशा ही नहीं है ? ऐसा क्यों न सोचा जाय कि वह गांधी जो एक समय कामवासनामें डूबा हुआ था, आज यदि अपनी पत्नीके साथ भाई या मित्रके समान रह सकता है और संसारकी सर्वश्रेष्ठ सुन्दरियोंको भी बहिन या बेटीके रूपमें देख सकता है, तो नीच-से-नीच और पतित व्यक्तिके लिये भी उठनेकी आशा है। यदि ईश्वरने इतने विकारोंसे भरे हुए व्यक्तिपर दया दिखायी तो निश्चय ही वह दूसरोंपर भी दया दिखायेगा ही।

× × ×

परिवर्तनके लिये आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य शर्त है—

तीव्रता। अपनी गलत आदतोंको, गलत वासनाओंको पूरी लगनसे सुधारनेकी तीव्रता।

'मैं प्राणपणसे अपनेको सुधारूँगा, अपनेको सन्मार्गपर ले चलूँगा, अपने निश्चयमें रत्तीभर भी ढिलाई बर्दाश्त नहीं करूँगा'—ऐसी लगन जब हमारे भीतर रात-दिन, आठ पहर चौंसठ घड़ी लगी रहे--तो कौन है ऐसा जिसमें परिवर्तन नहीं हो सकता ?

काम हो या क्रोध, लोभ हो या मोह, मद हो या मत्सर, कोई भी विकार केवल तभीतक हमपर हावी रहता है, केवल तभीतक हमें नचाता है, जबतक हममें उसे परास्त करनेकी तीव्रता नहीं है।

सूरदासने अपनी आँखें फोड़ लीं। क्यों ? उसमें तीव्रता थी अपना परिवर्तन करनेकी। चम्बल-क्षेत्रके २० डाकुओंने बंदूकें फेंक दीं और अपने अपराधोंका दण्ड भोगनेके लिये जेल जाना स्वीकार कर लिया। क्यों ? उनमें तीव्रता थी अपना परिवर्तन करनेकी। गांधीने बैरिस्टरीपर लात मार दी। क्यों ? उनमें तीव्रता थी सत्यपर चलनेकी, अपना परिवर्तन करनेकी।

संसारके किसी भी महापुरुषका, किसी भी संतका जीवन उठाकर देखिये, उसमें पग-पगपर इस बातके उदाहरण मिलेंगे कि उनके जीवनमें तीव्रता-ही-तीव्रता भरी है। वे जिस आदर्शतक पहुँचनेका निश्चय कर लेते हैं, उस आदर्शको पानेके लिये कोई भी बात उठा नहीं रखते। जरा भी रियायत नहीं, जरा भी ढुलमुलपना नहीं।

× × ×

साफ है कि हममें कोई परिवर्तन इसीलिये नहीं होता कि या तो हम अपनेमें कोई परिवर्तन करना नहीं चाहते, या हम यह मान बैठे हैं कि हममें कोई परिवर्तन हो ही नहीं सकता या अपनेमें परिवर्तनके लिये हम भरपूर प्रयत्न नहीं करते।

हम सच्चे हृदयसे प्रयत्न करें तो हम निश्चय ही अपने आपमें मनमाना परिवर्तन कर सकते हैं और जरूर कर सकते हैं।

योगवाशिष्टमें ठीक ही कहा है:—

अत्रैकं पौरुषं यत्नं वर्जयित्वेतरा गतिः।
सर्वदुःखक्षयप्राप्तौ न काचिदुपपद्यते॥

संसारके दुःखोंके निवारणका एक ही उपाय है और वह है——पुरुषार्थ।

हमारा उद्धार हमारे ही हाथमें है। भगवान् बुद्ध कहते हैं——

यो सहस्सं सहस्सेन सङ्गामे मानुसे जिने।
एकं च जेय्यमत्तानं स वे सङ्गामजुत्तमो॥

हजारों आदमियोंको लड़ाईमें जो हजार बार जीत ले, उससे भी बढ़कर योद्धा वह है जो अपने-आपको जीत ले।

भगवान् महावीर कहते हैं:—

अप्पाणमेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण बज्झओ।
अप्पाणमेव अप्पाणं जइत्ता सुहमेहए॥

'हे पुरुष ! तू अपनी आत्माके साथ ही युद्ध कर। बाहरी शत्रुओंसे क्यों लड़ता है ? आत्मासे आत्माको जीतनेसे ही सच्चा सुख मिलता है।'

आइये, हम भी आजसे निश्चय करें अपनेको बदलनेका, अपनी गलत आदतें सुधारनेका, अच्छी आदतें डालनेका। हम सच्चा प्रयत्न करें तो हमारा भी जीवन पवित्र, सुन्दर, उज्ज्वल और आदर्श बनकर रहेगा। प्रभुका वरद कर हमारे मस्तकपर है ही। जरूरत है सिर्फ इतनी कि हम सच्चे हृदयसे कह दें—

अबलौं नसानी, अब न नसैहौं।
राम-कृपा भव-निसा सिरानी, जागे फिरि न डसैहौं॥
पायेउँ नाम चारु चिंतामनि, उर कर तें न खसैहौं।
स्यामरूप सुचि रुचिर कसौटी, चित-कंचनहिं कसैहौं॥
परबस जानि हँस्यो इन इंद्रिन, निज बस ह्वै न हँसैहौं।
मन-मधुकर पनकै तुलसी रघुपति-पद-कमल बसैहौं॥

बस, बेड़ा पार है।

सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय सत्सङ्ग है

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

यह विश्व प्रधानतया विरोधी द्वन्द्वरूप दुविधाओंसे भरा हुआ है। इसमें जीव और अजीव यानी चेतन और जड—ये दो प्रकारके द्रव्य ही भरे हुए हैं । प्रत्येक द्रव्यका एक बाहरी स्वरूप होता है, तो एक आन्तरिक । प्रत्येक द्रव्यमें गुण होता है तो पर्याय भी । नर और नारी इस विश्वके संचालनके मुख्य केन्द्र हैं । इनमें अच्छाई और बुराई—दोनों बातें पायी जाती हैं । पाप और पुण्यके द्वारा सद्गति और असद्गति मिलती है । अच्छी वस्तुओंके संयोग और सत्सङ्गसे दूसरोंमें भी अच्छाई आती है और बुरी बातों या बुरे लोगोंके सम्पर्कसे बुराई ।

सभी मनुष्य चाहते हैं कि हम अच्छे बनें, गुणी बनें, लोग हमारा आदर करें और हमें सद्गति प्राप्त हो । पर अच्छे बननेके साधनोंको सब लोग ठीकसे जानते नहीं और कुछ लोग जानते हैं, पर उन्हें अपनाते नहीं ।

इस संसारमें बुराइयों और बुरे लोगोंकी अधिकता है । सद्गुणों और सद्गुणियोंकी बहुत कमी है । यह प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है कि अच्छे बननेके लिये सत्पुरुषोंकी संगति और सद्गुणोंके प्रति आकर्षण एवं आदर होना अत्यावश्यक है और बुरे लोगोंसे बचे रहना भी उतना ही जरूरी है । अनुभवी व्यक्तियोंका कहना है कि 'जैसा संग, वैसा रंग' । इसलिये सत्सङ्गका माहात्म्य संत पुरुषोंने विशेषरूपसे गाया है। महात्मा तुलसीदासजीने भी कहा है—

एक घड़ी आधी घड़ी, आधीमें पुनि आध ।
तुलसी संगत साधु की, कटे कोटि अपराध ॥

पर सत्पुरुषोंकी पहचान होना भी सरल नहीं है; क्योंकि बाहरसे भले दिखनेवाले व्यक्ति अंदरसे काले—बुरे निकल जाते हैं । इसलिये एकाएक किसीकी बाहरी वेष-भूषा या मीठी वाणीसे प्रभावित न होकर अधिक निकट सम्पर्कमें आकर उसके अन्तरको टटोलना चाहिये । विकार या कषायके कारण उपस्थित होनेपर भी जिनमें विकार और कषाय उत्पन्न न होते हों या जो अपनेको सँभाले हुए रख सकते हों, विपत्ति आदिमें भी जो सत्यमार्गसे विचलित न होते हों, किसीके कष्ट देने या निन्दा करनेपर भी जिनकी शान्ति भङ्ग न होती हो तथा सदा आत्मा और परमात्माके चिन्तनमें मग्न हों, वे ही सत्पुरुष हैं और उन्हींके अधिक सम्पर्कमें रहना 'सत्सङ्ग' है । उनका प्रभाव दो तरहसे पड़ता है, एक तो उनके आचरणद्वारा, दूसरा उनके उपदेशद्वारा । उनकी शान्त और सौम्य आकृतिको देखते ही देखनेवालेके चित्तमें परम शान्ति और आह्लादका अनुभव होता है । उनके आचार एवं विचारको देख और सुनकर मनुष्यको कल्याण एवं अकल्याणके मार्गोंका बोध होता है । उसकी वृत्ति एवं प्रवृत्तिमें अद्भुत परिवर्तन होने लगता है । बुरे कार्योंकी ओर उसका मन अग्रसर नहीं होता । यदि संस्कार या अभ्यासवश कोई बुरा कार्य हो भी जाता है तो उसका पश्चात्ताप हुए विना नहीं रहता । संतपुरुष अपने सम्पर्कमें आनेवाले व्यक्तियोंको सदा यह सत्प्रेरणा देते रहते हैं कि बुरे कार्योंको करना तो दूर, मनमें भी न आने दो और अच्छे कार्योंमें प्रयत्नपूर्वक आगे बढ़ो । अपने सम्पर्कमें आनेवाले व्यक्तियोंमें, उन्हें जो भी दोष दिखायी देते हैं, उन्हें दूर करानेका वे प्रयत्न करते हैं; जितने भी कल्याण-मार्ग हैं, उनको बतलाते हुए उनमें अधिकाधिक प्रवृत्त होनेकी प्रेरणा देते रहते हैं । यही सत्पुरुषोंकी संगतिका महान् फल है ।

विश्वमें सत्पुरुषोंकी संख्या विरल होती है । उनको पहचानना और उनके सत्सङ्गका लाभ मिलना तो और भी कठिन है । इसलिये सत्सङ्गकी प्राप्ति बड़े पुण्योदयसे ही हो सकती है । सर्वत्र और सब समय सत्पुरुषोंका मिलना सम्भव नहीं, इस कठिनाईको ध्यानमें रखते हुए महापुरुषोंने एक सुगम उपाय ही बतला दिया है कि सत्पुरुष प्राप्त न हों तो भी उनकी वाणी तो सर्वत्र और सब समय प्राप्त हो सकती है । इसीलिये उसीका स्वाध्याय करते रहो, उनके रचित पद-भजन, बड़ी मस्तीमें गाकर आनन्द प्राप्त करो । उनके उपदेशों और अनुभवोंके संग्रह-स्वरूप जो भी ग्रन्थ हों, उनका नियमित स्वाध्याय करो । जहाँतक सम्भव हो, उसके लिये एक नियत समय रक्खो । उस समय एवं उतने समयतक तो सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय करो ही, पर अन्य समय भी, जब भी और जितना भी अवकाश मिले, स्वाध्याय, चिन्तन, मनन, निदिध्यासनमें लगो । इससे जीवनमें एक अद्भुत क्रान्ति होगी । बुरे कार्योंसे क्रमशः घृणा होती चली जायगी और अच्छे कार्योंके करनेमें उत्साह बढ़ेगा । इससे आत्मोन्नति—आत्मकल्याण होना सहज हो जायगा ।

वैसे तो आजकल शिक्षाका प्रचार बहुत हो रहा है और लोग पुस्तकोंको भी काफी संख्यामें पढ़ते रहते हैं; पर उनमेंसे अधिकांश अध्ययन आत्माको पतनोन्मुखी बनानेवाला है। जिन ग्रन्थोंको पढ़नेसे विषयवासना और बुरी बातोंकी ओर आकर्षण बढ़े, उन ग्रन्थोंको पढ़नेसे अकल्याण ही होता है। और आज-कल जगह-जगह ऐसी ही पुस्तकें ही अधिक संख्यामें पढ़ी जाती हैं और इसीलिये अनैतिकता अग्निकी तरह बढ़ी जा रही है। अमूल्य समयकी बर्बादी और बुरे विचारों तथा कार्योंकी ओर प्रवृत्ति बढ़ना मानव-जन्मको बेकार खोना ही नहीं, उसका मजाक करना और अपना भविष्य बिगाड़ना है। ऐसे ग्रन्थोंके पढ़नेकी अपेक्षा तो नहीं पढ़ना ही अच्छा है। इसलिये हमें ऐसे ग्रन्थोंको ही पढ़ना चाहिये जो जीवनमें सत्कार्योंकी प्रेरणा दें। ऐसे ग्रन्थोंका स्वाध्याय ही सत्सङ्गका एक अङ्ग माना जाता है। महात्मा गांधीकी एक पुस्तक 'मेरे जेलके अनुभव' गत वर्ष ही प्रकाशित हुई है। उसमें दक्षिण अफ्रीकाके सन् १९०९-१० के जेल-यात्राके अनुभव प्रकाशित हुए हैं। वे लिखते हैं—

'जेल और सत्याग्रहसे मुझे अनेक लाभ हुए हैं। उनमेंसे एक इस अवधिमें मुझे पुस्तकें पढ़नेका जो अवसर मिला वह भी है। मुझे स्वीकार करना चाहिये कि शुरूके दिनोंमें मैं कुछ विचारमें पड़ जाता था, दुःखसे ऊब उठता था। बार-बार मैं अपने मनको अंकुशमें लाता था और वह बार-बार बंदरकी तरह चञ्चल हो जाता था। ऐसी स्थितिमें आदमी अक्सर पागल-जैसे हो जाते हैं। पुस्तकोंने मेरी बड़ी रक्षा की। भारतीय भाइयोंके समागमकी कमी बहुत अंशमें पुस्तकोंने पूरी की। मुझे रोज पढ़नेके लिये लगभग तीन घंटे मिल जाते थे। एक घंटा सुबह मिलता था। मैं उस समय खाता नहीं था। इसलिये वह बच जाता था। शामको भी ऐसा ही होता था। दोपहरको खाते समय मैं पढ़नेका काम भी करता था। शामको मैं थका न होता तो बत्ती जलनेके बाद भी पढ़ता था। शनिवार और रविवारको तो बहुत समय मिलता था। इस कालमें मैंने लगभग तीससे ज्यादा पुस्तकें पढ़ीं और उनमेंसे कुछपर विचार किया। ये पुस्तकें अंग्रेजी, हिंदी, गुजराती, संस्कृत और तामिल भाषाओंकी थीं। अंग्रेजी पुस्तकोंमें उल्लेखनीय टालस्टाय और कार्लाइलकी थीं। पहली दो धर्मसम्बन्धी थीं। इनके साथ मैंने बाइबिल भी पढ़ी। वह जेलसे ही ली थी। टालस्टायकी रचनाएँ बहुत सरल और सरस हैं और किसी भी धर्मको माननेवाला उन्हें पढ़कर उनसे लाभ उठा सकता है।

'फ्रेंच-क्रान्तिपर लिखी हुई कार्लाइलकी रचना असर-कारक है। उसे पढ़कर मुझे विश्वास हो गया कि हिंदुस्तानकी दुर्दशा मिटानेका उपाय हमें गोरी जातियोंसे नहीं मिलेगा। मेरी मान्यता है कि फ्रेंच प्रजाको क्रान्तिसे आम लाभ नहीं हुआ। मेजिनीका भी यही विचार था।'

'गुजराती, हिंदी और संस्कृत पुस्तकोंमें मैंने स्वामीजी-की ओरसे भेजी गयी पुस्तक वेद-शब्द संज्ञा, केशवराम भट्टके भेजे हुए उपनिषद्, श्रीमोतीलाल दीवानकी भेजी हुई मनुस्मृति, फिनिक्समें छपी हुई रामायण, पातञ्जलयोगदर्शन, नथुरामजीकी बनायी हुई आह्निकप्रकाश और प्रोफेसर प्रमानन्दकी दी हुई संध्याकी गुटिका, गीताजी तथा स्वर्गीय कवि श्रीराजचन्दकी रचनाएँ पढ़ीं। इन पुस्तकोंको पढ़नेसे मुझे विचार करनेके लिये बहुत कुछ मिला। उपनिषदोंके वाचनसे मुझे बहुत शान्ति मिली। उसका एक वाक्य मेरे मनपर अंकित हो गया है। उसका सार यह है कि 'तू जो भी कर वह आत्माके कल्याणके लिये ही कर।' यह बात जिन शब्दोंमें कही गयी है वे बहुत ही सुन्दर हैं। उनमें और भी बहुत-सी बातें विचारणीय हैं; परंतु सबसे ज्यादा संतोष मुझे कवि श्रीराजचन्दकी रचनाओंसे मिला। उनकी रचनाएँ* मेरी रायमें तो ऐसी हैं, जो सबको मान्य हो सकती हैं। उनकी जीवन-चर्या टालस्टायकी तरह उच्चकोटिकी थी। उनकी रचनाओंमेंसे और संध्याकी पुस्तकमेंसे कुछ हिस्सा मैंने कण्ठस्थ किया था। रातको जब भी जागता तब-तब मैं उसका रटन करता था और सुबहका आधा घंटा हमेशा उन्हीं विचारोंके मननमें बिताता था।'

* * *

---

* श्रीमद्राजचन्दकी समस्त रचनाएँ 'श्रीमद्राजचन्द' नामक ग्रन्थमें प्रकाशित हो चुकी हैं। उनका हिंदी अनुवाद भी परमाश्रुतप्रभावक मण्डल बम्बईसे छप चुका है। श्रीमद्का महात्मा गांधीपर बहुत प्रभाव पड़ा था। श्रीमद्राजचन्दके सम्बन्धमें 'कल्याण' एवं साप्ताहिक हिंदुस्तानमें कुछ वर्ष पूर्व अच्छे लेख प्रकाशित हो चुके हैं।

दानवीर दधीचि

(लेखक—डा० श्रीहरिनन्दनजी पाण्डेय)

गिरिराज हिमालयके तुषारमण्डित धवल शिखरकी तलहटीमें संसारके कोलाहलसे दूर पुण्यसलिला भागीरथीके तटपर महर्षि दधीचिकी पर्णकुटी थी। आश्रममें आनन्द एवं शाश्वत शान्तिका साम्राज्य था। दुःख, दैन्य, ईर्ष्या, क्रोध, छल-प्रपञ्च आदिका प्रवेश निषिद्ध था। चतुर्दिक् प्रेम-भावकी निर्मल निर्झरिणी प्रवाहित होती रहती थी। पर्णकुटीको पुष्प-लताओंने आच्छादित कर रक्खा था। साथ ही सघन तरु-पुञ्ज अपने अमृतोपम सुस्वादु एवं सुपक्व फलोंसे आश्रमवासियोंकी क्षुधाकी तृप्ति करते। विविध विहंगावलियाँ अपने काकली-स्वरोंसे उस तपोवनके अणु-अणुको मुखरित किये रहतीं। रसलोलुप मधुप अपने हृदयमें अपरिमित उल्लास लिये फूल-फूलपर अठखेलियाँ करते। आश्रममें समरसता थी और ऊँच-नीचका भेदभाव नहीं था। आश्रमवासियोंको न तो सुखसे आनन्दकी अनुभूति होती थी और न दुःखसे पीड़ा। न निन्दासे क्रोध होता था और न स्तुतिसे प्रसन्नता ही। यही कारण था कि विधाताने इस भू-भागपर अलौकिक सौन्दर्य बिखेर रक्खा था। साथ ही आश्रम ऋषियों एवं शिक्षार्थियोंके कलकण्ठसे निःसृत 'हरिः ॐ तत्सत्' की कर्णप्रिय ध्वनिसे सदैव प्रतिध्वनित होता रहता था। सुदूर प्रान्तोंके ज्ञान-पिपासु व्यक्ति महर्षिके श्रीचरणोंमें बैठकर अध्यात्मकी शिक्षा प्राप्त करते थे। महर्षि आगत ज्ञान-पिपासुओंसे यही कहते थे कि जगत्में सिवा ब्रह्मके और कुछ नहीं है; ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है। उनका यह भी कहना था कि इस शून्य जगत्में सत्य ही शाश्वत है; जो शिव भी है और सुन्दर भी। आप यह भी कहते थे कि जिस भाँति पेड़ पाषाण आदिसे प्रताड़ित होकर भी आक्रामकको अपना सुस्वादु फल भेंट करते हैं और जिस भाँति दीपक स्वयं जलकर दूसरेको प्रकाश देता है, उसी भाँति मानवका भी पावन कर्त्तव्य है कि वह प्राणिमात्रकी सेवाके हेतु अपना सर्वस्व उत्सर्ग कर दे; क्योंकि परोपकारी जीवोंके हाथों मृत्यु सर्वथा पराजित होती रही है।

ऐसी ही सुनहली सीख भारतका वह तपःपूत विश्वको देता था। इस महाप्राणके त्याग, प्रकाण्ड पाण्डित्य, अलौकिक दानशीलता एवं निःस्वार्थ सेवाके समक्ष मानव-जातिकी कौन कहे, स्वयं देवराज नतमस्तक रहते थे। यों तो अमरपुत्रोंकी नगरी होनेके कारण स्वर्ग नाना भाँतिकी सम्पदाओंसे परिपूर्ण था, परंतु उस महामानवकी उस वन-स्थलीकी अलौकिक सुन्दरताके आगे वह (स्वर्ग) श्रीहीन प्रतीत होता था।

(२)

अमरपुत्र वासना, कर्त्तव्यहीनता, निष्क्रियता और विविध दूषणोंके वशीभूत हो चले थे। सुरा और सुरबालाके व्यामोहमें पड़कर वे कर्तव्यच्युत होते जा रहे थे। स्वार्थ-सिद्धिमें ही उनका समय बीतने लगा। नन्दनपुरीके निवासी सोमपान और सुरबालाओंके मादक आलिङ्गनमें ही अपने जीवनकी सार्थकता अनुभव करने लगे। कोकिलकण्ठी अप्सराओंकी मादक स्वर-लहरियों एवं उनके नूपुरोंसे सेवित चरणोंपर सुरलोकतक चढ़ाया जाने लगा।

उधर दानवोंने जब देखा कि अमरपुत्र पथ-भ्रष्ट हो रहे हैं; अपने धर्मसे विमुख हो चले हैं, तो एक दिन युद्ध-घोषणा कर दी। युद्ध-घोषसे अमरपुत्र थर्रा उठे। फिर क्या था, विधवाके कष्टपूर्ण जीवनके समान यह देव और दानवका युद्ध अनन्त कालतक चलता रहा। अमरपुत्रोंकी पराजय-पर-पराजय होने लगी और एक दिन आत्म-समर्पणकी घड़ी भी आ पहुँची। निदान, भगवान् शचीपति व्याकुल होकर पितामह (ब्रह्मा) की शरणमें गये और करबद्ध प्रार्थना करने लगे—'हे जगत्पते! आज दानवोंके समक्ष हमारा अस्तित्व लुप्त होने जा रहा है। आज हमें इसका भान हुआ है कि हम कितने दुर्बल, कितने व्यसनी और कितने अधार्मिक हो गये हैं। फिर भी हम आपके हैं और आप हमारे हैं। प्रभो! सुरगणोंकी लज्जा अब आपके हाथमें है। हे दयासिन्धु! आप रक्षा करें। त्राहि माम्।' दूसरे ही क्षण सुरराजके नेत्र आर्द्र हो उठे।

विधाताने किंचित् क्रोधपूर्ण वाणीमें कहा—'मुझे दुःख है कि इस लोकमें किसीमें भी इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह दानवोंको पराजित कर सके। मैं विवश हूँ।'

इसपर देवराजने साश्चर्य पूछा—'यह मैं क्या सुन रहा हूँ, जगत्पते! आप तो निखिल विश्वके सृजनहार हैं, फिर ऐसा क्यों बोल रहे हैं?'

'मैं सत्य कहता हूँ, सुरेश! दानवोंको पराजित करनेका मात्र एक ही मार्ग है और इसके लिये तुम्हें मर्त्यलोककी

शरण लेनी पड़ेगी। मानवीय-साहाय्यके अभावमें अमरपुत्रोंकी विजय कठिन ही नहीं, असम्भव भी है।'

'समझमें नहीं आ रहा है कि आज आप क्या बोल रहे हैं, भगवन्! भला जिस कार्यको अमरपुत्र नहीं कर सकते, उसे करनेकी क्षमता मानवोंमें कैसे होगी ?'

'देवराज! कोई जन्म लेनेसे ही उच्च नहीं होता, कर्तव्यसे ही महानताकी प्राप्ति होती है। यदि मर्त्यलोकके एक नश्वर मानवमें दयाशीलता, परोपकारिता, दानशीलता और बन्धुत्वकी भावना हो, तो वह इन गुणोंसे रहित अमरपुत्रोंसे कहीं महान् है, कहीं पूज्य है। प्रमाणस्वरूप, उसे देखो। हिमालयकी तलहटीमें वह जो हाड़-मांसका पुतला दृष्टिगोचर हो रहा है न, उस महामानवमें हमसे अधिक शक्ति संनिहित है।

'देवेन्द्र! शारीरिक शक्ति आत्मशक्तिके समक्ष तुच्छ होती है। जिसके पास आत्म-बल है, वही बली है। शारीरिक शक्ति तो पशुओंमें भी होती है। तुम्हें ज्ञात होना चाहिये कि आज निखिल विश्व उस महाप्राणकी आत्मिक शक्तिके समक्ष नतमस्तक है। अतः उसकी अस्थिसे यदि अस्त्रका निर्माण किया जाय, तो देवताओंकी विजय हो सकती है। क्या तुम उस महामानवकी अस्थि प्राप्त करनेमें समर्थ हो सकते हो ?'

'कार्य तो कठिन है, महाप्रभु! फिर भी मैं यथाशक्ति प्रयास निश्चय ही करूँगा। आप आशीर्वाद दें, यही कामना है।' इन्द्रने निवेदन किया।

'भगवान् देवाधिदेव तेरी सहायता करें।'

(३)

'श्रीचरणोंमें मेरा प्रणाम स्वीकार हो, महामुने!' 'कौन ? क्या देवराज इन्द्रकी वाणी है ?' महर्षिने जिज्ञासा की।

'हाँ! आपका अनुमान अक्षरशः सत्य है, महर्षि! परंतु, देवराज आज महाप्रभुके चरणोंमें एक याचकके रूपमें उपस्थित हैं। जो हाथ हमेशा देते ही रहे हैं, वे ही आज श्रीमान्‌के समक्ष झोली लिये खड़े हैं।'

इन्द्रकी इस याचनासे भूतलके कण-कणमें 'जय दधीचि' 'जय भारत'के नारे लगने लगे।

सुरेशने पुनः प्रार्थना प्रारम्भ की—'दानवीर! यह तो विदित ही होगा कि दानवोंके अत्याचार और पापाचारसे सत्यका ह्रास प्रारम्भ हो गया है, निखिल विश्वमें हाहाकार मचा हुआ है, सुरपुरमें घोर आतङ्क व्याप्त है और हिंसाकी भीषण ज्वालामें तप और पुण्य धू-धू कर जल रहे हैं।'

'मुझे ज्ञात है, देवराज! परंतु, इसका निराकरण कैसे होगा, इसपर भी आपने सोचा है ?' महर्षिने गम्भीर होकर पूछा।

'हाँ! एक ही संबल शेष है। पापियोंके विनाशार्थ एवं धर्म-संस्थापनार्थ एक महामानवको अपने जीवनकी आहुति देनी होगी। बस, यही निराकरणका एकमात्र उपाय है।'

वह कौन भाग्यवान् मानव है, जिसकी बलिसे अमरपुत्रोंकी एवं धर्मकी रक्षा हो सकती है, सुरराज!' महर्षिने गद्‌गद होकर तत्क्षण जिज्ञासा की।

'वह महामानव महर्षि दधीचि हैं, जिनकी अस्थिसे वज्र प्रस्तुत किया जायगा, जो दानवोंका संहार करेगा। महात्मन्! बस, इसीमें जन-हित संनिहित है। इसी लोकहिताय भावनाने श्रीचरणोंके दर्शन कराये हैं।' तत्पश्चात् इन्द्र अपलक नेत्रोंसे महर्षिके मुखपटपर अंकित होनेवाले मनोभावोंका सूक्ष्म अन्वेषण करने लगे।

सुरराजके वचनोंपर महर्षि मुस्कराये, फिर दृढ़ स्वरमें बोले—'सुरेश! वह तन धन्य है, जो किसीके काम आये। शरीर तो नश्वर है ही, फिर इसके लिये चिन्ता कैसी ? विषाद कैसा ? मानव-शरीरकी सार्थकता इसीमें है कि यह दूसरेके हितमें उत्सर्ग हो जाय। पुष्प क्या अपने लिये खिलते हैं ? पादप क्या अपने फलोंको स्वयं भक्षण करते हैं ? क्या सरिताएँ अपने जलोंको स्वयं पान करती हैं ? जब जड़-पदार्थोंमें इतनी जन-हितकी भावनाएँ हैं, तो हम मानव इससे वञ्चित क्यों हों ? देवराज! मेरा यह पार्थिव शरीर सादर एवं सप्रेम समर्पित है। कृपया इसे स्वीकार कर मुझे कृतार्थ करें।'

फिर दूसरे ही क्षण दानवीरने यौगिक-क्रियाद्वारा श्वास रोक लिया और उनका नश्वर शरीर तत्क्षण भू-लुण्ठित हो गया!

महर्षि दधीचिके इस अनुपम त्याग, उनकी अलौकिक दानशीलता, उनकी परहितभावना आदि गुणोंको स्मरण कर देवताओंने आकाशसे पुष्प-वर्षा की और वसुन्धराके अणु-अणु 'दानवीर दधीचिकी जय' बोल उठे।

टूटते हुए घर

(लेखक—श्रीरामनाथजी 'सुमन')

जब मैं छोटा था तब विद्यालयोंकी संख्या कम थी; पढ़ाईका यह भेड़ियाधसान न था जो आज है। वही पढ़ते थे जो सचमुच पढ़ना चाहते थे। विद्याका सम्मान था—कम-से-कम आजसे अधिक था। हाँ, यह अवश्य था कि पैसा और वेतन उसकी कोई कसौटी न थी। सभाएँ-संस्थाएँ भी कम थीं। समाचारपत्र कम थे; पत्रिकाएँ कम थीं। पुस्तकें कम लिखी जाती थीं। मंच कम थे; व्याख्यान कम होते थे, व्याख्याता कम थे, श्रोता अधिक;—आजकी तरह नहीं कि श्रोता कम, व्याख्याता ही अधिक हैं। यह तो जरूरी नहीं था कि जो कहा जाय उसे ही मान लें, परंतु लोग गुरुजनों, विद्वानोंकी बातोंपर विचार अवश्य करते थे; सुनते भी थे और गुनते भी थे।

परिवार समाजकी सबसे महत्त्वपूर्ण संस्था थी। कहनेको वह आज भी है; उस समय सचमुच थी। व्यक्तिका अपना व्यक्तित्व तो था ही और वह सदा ही रहेगा, परंतु गृहका—परिवारका भी अपना एक व्यक्तित्व होता था। हर गृहकी अपनी एक विशेषता होती थी। सबसे मुख्य बात यह थी कि परिवारमें जो भी होते थे, एक-दूसरेके लिये जीते थे—केवल अपने लिये नहीं। और जब हम दूसरोंके लिये जीते हैं तभी हम वस्तुतः जीते हैं; तब हमारे स्वार्थकी सीमा हमारे निजत्वको लाँघ-लाँघकर चलती है;—एक संकुचित परिधि बड़ी और बड़ी होती जाती है। हमारे हृदय जुड़ते हैं; विचार-भेद होते हुए भी जुड़ते हैं। तब हम दूसरोंके लिये जीनेमें आनन्दका अनुभव करते हैं; उदारता, एक-दूसरेको समझने और अपनेसे दूसरेको जोड़ लेने, निबाह लेनेकी भावनाके वातावरणमें जीते हैं। तब दूसरोंको अपनाना सहज होता है। इस तरह आरम्भ होती थी हमारी एकसे विराट्की यात्रा; एकसे अनेक होते और फिर अनेकमें भी एकको देखनेकी साधना।

और भी एक बात थी। चिरकालसे हमारी सभ्यताकी धारा गुरुजनोंके आशीर्वाद और पथदर्शनमें बहती रही है। यही थी हमारी संस्कृति। मैं देखता था कि जो घरका बड़ा होता था, वह कम पढ़ा और कम कमाऊ होनेपर भी सबके सम्मानका पात्र था; सबका श्रद्धाभाजन था। उसकी बात साधारणतः अन्यथा नहीं की जा सकती थी। 'सूत्रे मणिगणा इव' वह सबके जीवनमें व्याप्त होता था। वह सबको देखता था, सबको लेकर चलता था और सब उसकी इज्जत करते थे। लोग अलग-अलग ठीक होते हुए भी उसकी बात मान लेते थे; वह मानो इतनी आत्माओंके समन्वयका प्रतीक था—सब उसमें थे और वह सबमें था। प्रत्येक सदस्य अपना कर्तव्य करके सब कुछ मानो उसे समर्पित कर देता था और वह परिवारकी समष्टिगत उपलब्धिके रूपमें सबको लेकर सबको कृतार्थ करता एवं स्वयं भी कृतार्थ होता चलता था। इस प्रकार परिवार व्यक्तिकी सुरक्षाकी गारंटी होनेके साथ ही मानो व्यक्तिमें समाजका विकास करनेमें भी तत्पर था।

इसीलिये कर्ता सबको खिलाकर तब खाता था; माँ अपने बच्चोंके लिये और उन्हींकी होकर जीती थी। परिवारकी नैतिक संहितामें कर्ता एवं गृहिणीके हाथ परिवारका स्वामित्व था परंतु यह स्वामित्व केवल इसलिये था कि वे सबसे ज्यादा उत्सर्ग करते थे; वे मानो गृहमें ब्राह्मण-धर्म या संन्यास-भावनाके प्रतीक थे; वे अपने लिये सबसे कम लेते थे और देते भरपूर थे—श्रमसे, प्रेमसे, सेवासे, धनसे, अनुभवसे। उनका जो कुछ था सबका था, सम्पूर्ण परिवारके लिये था।

सास घरमें आनेवाली बहू या बहुओंके लिये केवल सास न थी; वह उनकी माँ भी थी। अपनी जननीकी गोद छोड़कर आनेवाली बहूको वह अंकमें भर लेती थी, दिलमें बिठाती थी; परंतु वह भी चाहती थी कि बहू केवल बहू बनकर न रह जाय, वह अपनी कोखसे जनी और पराये घर जानेवाली कन्याका स्थान भी ले ले। इसलिये बहूके लिये सास जहाँ सासके साथ माँ भी थी तहाँ सासके लिये भी बहू बहूके साथ बेटी थी। बहू केवल अपने पतिकी पत्नी न थी; वह गृहलक्ष्मी थी—सारे घरकी थी; अपने देवरकी भाभी और जीवनकी डाँवाडोल मंजिलोंपर प्रेमसे उसे आगे बढ़ानेवाली, ननदकी भौजाई—जिसके साथ स्नेहालाप और विनोद-वार्तामें घर चमक-चमक उठता है, खिलखिला पड़ता है।

मैं यह नहीं कहता कि सास सदा अच्छी होती थी, या यह कि बहुएँ सब देवियाँ ही होती थीं; सास-बहूका

प्रश्न तब भी था, पर सब कुछ होनेपर भी घरके सब लोग यह मानकर चलते थे कि घर सबका है—उसकी इज्जत सबकी इज्जत है। इसलिये लड़-भिड़कर भी सब एक हो जाते थे; अलगावकी भावना वातावरणमें न थी। अलगाव तब भी होता था किंतु वह कोई सामान्य क्रम न था—जब भी होता था तब आश्चर्यकी भाँति, एक अनहोनी दुर्घटनाके रूपमें ग्रहण किया जाता था। लोगोंको उससे गहरी चोट लगती थी। लोग उसकी मिसाल देते और उससे सावधान होते थे। कभी औरतोंमें कुछ बात हो भी जाती तो घरके पुरुष उसपर कान न देते थे। आगको घी क्या लकड़ी भी न मिलती थी; स्वभावतः वह बुझ जाती थी; झगड़ा पनप नहीं पाता था। देवरानियों-जेठानियों, ननदों-भौजाइयोंमें कभी दो-दो हो भी जाती थी किंतु भाईके सामने भाईकी आँख न उठती थी। बड़ोंका ऐसा लिहाज था कि उनके सामने हम बोल न पाते थे; झगड़े होते थे तो भाई भाईके लिये रोता था; जैसे अलग होनेमें उसका हृदय फट जायगा; जैसे वह सब कल्पनाके परे हो।

सब मिलाकर बहू घरका केन्द्र थी। परिवारकी समस्त अपेक्षाएँ नयी आनेवाली बहूमें सिमटी होती थीं—मानो वह हाथमें दीपक लिये अँधेरे घरमें प्रवेश करती थी। हाथ ही क्यों, उसके हृदयमें भी एक दीपक होता था; वह हृदय-दीप आज स्नेहके अभावसे बुझ गया है या बुझता जा रहा है; और हाथका दीपक प्रकाश कम दे रहा है, जला अधिक रहा है। जिस दीपकसे घर प्रकाशित होता है उसीसे वह जल भी जाता है। तब बात दीपककी उतनी नहीं रह जाती जितनी उसके उचित प्रयोगकी रहती है।

हाँ, तो मैं कह यह रहा था कि यह छोटी-सी दुनियासे अपरिचित बालिका गृहलक्ष्मी बनकर घरमें प्रवेश करती थी। उसका अभिराम नयनोन्मीलन पतिके प्रकोष्ठको सुषमासे भर देता था; उसकी मीठी मुस्कान समस्त घरपर छा जाती थी; उसके परिहासमें देवर उमग-उमग उठते थे; उसका विनोद ननदोंको गुदगुदा देता था; उसकी प्रणति सास-ससुरको मुग्ध कर देती थी। उसके पाँव पड़ते ही मानो सारा घर प्राणोन्मेषक रससे भर जाता था।

यदि वह घरमें कोई दरार देखती तो अपने कलेजेके खूनसे गारा बनाकर उसे भर देती थी; उसके कारण बिछुड़ते भाइयोंके कदम रुक जाते थे; उसकी मीठी बोलीमें ननदोंके भारी मनका भार उतर जाता था। वह ऐसी सीमेंट थी जिसके द्वारा परिवारके सब सदस्य एक-दूसरेसे जुड़े रहते थे। वह सचमुच गृह-लक्ष्मी थी।

मैं यह नहीं कहता कि हर लड़की जो ससुरालके आँगनमें प्रवेश करती थी, देवी ही होती थी। नहीं, चण्डिकाएँ भी दुर्लभ न थीं—चण्डिकाएँ जो जहाँ जाती हैं घर उजाड़ देती हैं, दिलोंके टुकड़े कर देती हैं; जिनकी एड़ीसे आग निकलती है और जिनकी जिह्वा केवल डँसना जानती है; परंतु चूँकि इन स्त्रियोंका मूल्य पुरुष समझते थे, इसलिये उनकी बातोंको बहुत ज्यादा महत्त्व न प्राप्त होता था—सौमें एक स्त्रैण पति ऐसा होता था जिसके मातृ-प्रेम, जिसकी पितृभक्ति, जिसकी भ्रातृत्व-भावनापर पत्नीकी कँटीली जीभकी चोटें उभर आती थीं। बाकीके सामने हवाकी तरह, बात आयी-गयी हो जाती थी।

पहिले भी घर टूटते थे; मुकदमेबाजी होती थी परंतु बड़ी मुश्किलसे यह सब होता था। कुटुम्ब, परिवार एक संस्था थी और संस्था चले इसलिये व्यक्ति आत्मदान कर देता था। जहाँ नहीं कर पाता था, वहाँ भी बड़ी वेदनाके साथ प्रायः चुप-चाप अपनी खीझ और कराह लेकर नीची निगाह किये अलग होता था और अलग होकर भी उस मातृ-संस्थाके प्रति गर्व और गौरवका भाव रखता था—कुछ ऐसा कि हम उसी वृक्षके टूटे फूल हैं। इस भावनाके कारण घर टूटता था पर कम टूटता था, कभी-कभी ही टूटता था और टूटकर भी नहीं टूट पाता था।

परंतु आज जब आदमी दम्भपूर्वक कहता है कि संसार समाजवादकी ओर जा रहा है और जब अपने देशमें भी हम बार-बार घोषणा करते हैं कि हम समाजवादी प्रजातन्त्रकी सृष्टि करके रहेंगे तब अत्यन्त आश्चर्यके साथ हम देखते हैं कि जीवनदृष्टि घोर व्यक्तिवादिनी होती जा रही है; अपनी बात रखने, अपनी सनकोंके लिये हम व्यक्तिसे बड़े, अनेक व्यक्तियोंके हित-संघटन, कुटुम्ब और परिवारको तोड़ देते हैं, प्रजातन्त्रकी मौलिक इकाइयोंको विध्वस्त कर देते हैं। सबसे आश्चर्यजनक तो होती है हमारी वह जल्दबाजी जिसमें अपनी दृष्टिपर पुनर्विचार करनेकी तैयारीतक नहीं है। जो कमाऊ सदस्य है, कमाई आज उसीकी है और मुख्यतः उसीके लिये या उसीकी सनकके अनुसार खर्च होनी चाहिये; उसीकी धौंस चलनी चाहिये। इसीलिये पत्नीको

जरा ज्यादा काम करना पड़ा कि आजके व्यक्तिवादी अपनेमें केन्द्रित पतिको झट बुरा लगता है; वह कुढ़ता है और कुढ़ती हुई पत्नीको शह देता है या फिर उसके सामने शीघ्र आत्मसमर्पण कर देता है। वह कुटुम्बका सामूहिक हित नहीं देखता; यह भी नहीं समझता कि उसकी पत्नी किसीकी पुत्रवधू है, किसीकी भाभी है, किसीकी जेठानी-देवरानी है, वह बस इतना देखता-समझता है कि वह उसकी पत्नी है।

स्वभावतः जब व्यक्ति अपनी स्वार्थ-सुविधामें समाहित है तब टकरायेगा और टकरायेगा। यही होता है। पहिले काठ हो रहे हृदयसे धुवाँ निकलता है, फिर अनुकूल वायु मिलते ही लपटें निकलने लगती हैं; देखते-देखते सब स्वाहा हो जाता है। अलग होकर जिस स्वर्गकी सृष्टिकी कल्पना थी वह भी मृगजल ही निकलता है—तब फिर आह है और कराह है; टूटनेका सिलसिला मौततक चलता रहता है!

घर टूट रहे हैं, नित्य टूट रहे हैं; हमारे आगे-पीछे, दाहिने-बायें चारों ओर टूट रहे हैं!

एक चिनगारी बड़े-बड़े महलोंको जलाकर राख कर देती है। स्त्री भी चिनगारी ही है। उचित स्थितिमें रहकर वह अनेक सुखकर योग उपस्थित करती है, बड़े काम आती है; स्थानभ्रष्ट होकर ज्वाला बन जाती है। तभी एक स्त्री घरको बनाती है, दूसरी उसे बिगाड़ देती है। एकके वरदानसे श्मशान स्वर्ग बन जाते हैं; जब दूसरीके फूत्कारसे स्वर्ग श्मशान हो जाते हैं। एक आती है तो उसके आते सारा घर हँस पड़ता है, सूखी टहनियोंमें भी जीवनकी कोंपलें फूटती हैं; दूसरी आती है तो हँसता घर सहम जाता है।

आज घर टूट रहे हैं—तेजीके साथ टूट रहे हैं; अनेक घरौंदे टूट रहे हैं। सबसे भयानक बात तो यह है कि प्रायः हम समझ बैठते हैं कि यह टूटना ही शुभ है; यही उचित है। जीवनमें उदार संस्कारोंका अभाव होता जा रहा है। हम कहते और मानते तो यह हैं कि आज हम अपने जैसे इस क्षेत्रमें आगे हैं, संसारसे जुड़ गये हैं, दूर-दूर देशोंके अत्याचार-अभाव-उत्पीड़न—कष्ट हमें छूते हैं। हम उनकी सहायता भी करते हैं। किंतु सब कुछ भौतिक स्तर-पर होता है, राजनीतिक दृष्टिसे होता है। हृदय-रसकी बूँदें स्रवित होकर जो दूसरे हृदयोंको आर्द्र कर देती हैं, दूसरोंको जो अपनेमें समेट लेती हैं—उस धड़कते हृदयके रससे यह सब परिप्लावित नहीं होता—एक यान्त्रिकतामें आबद्ध, नियतिके हाथ बेबस करना ही है। इसलिये करते हैं या ऐसा न करना अराजमर्मज्ञताकी—'अनडिप्लोमैटिक'— बात होगी, इसलिये करते हैं; अपने बड़प्पनके प्रदर्शनके लिये भी करते हैं। इसीलिये तो हम परदेशोंके प्रति मैत्रीकी संस्थाएँ चलाते हैं, दूर-दूरतक मैत्रीका संदेश भेजते हैं, परंतु अपने ही भाई, अपनी ही बहिन, अपने ही माता-पिताके प्रति खीझ-दुराव और बिखरावसे भरते जाते हैं; हम डालियोंको सींचते हैं परंतु जड़ काट देते हैं!

जब मैं यह सब लिख रहा हूँ तब मेरी आँखोंके सामने बरबस दो चित्र नाच-नाच उठते हैं, दोनों चित्र एक ही परिवारके हैं; मेरा मतलब है कि दो भाई जो अलग हुए बिना भी आजके आर्थिक दबावके कारण दूर-दूर हो गये हैं, उन्हींसे सम्बद्ध। एक भाईको 'क' कह लीजिये, दूसरे को 'ख'। 'क' बड़े विचारवान् व्यक्ति हैं, विद्वान् हैं, उनका बाहर बड़ा सम्मान है। अपने बच्चोंको पेट काट-कर पढ़ाया-लिखाया, संस्कार दिये; कभी अपने बच्चोंपर हाथ नहीं उठाया। 'क'की पत्नी सीधी-सादी हिंदू पत्नी हैं बच्चोंपर जान देनेवाली। बड़ी साधसे बड़े लड़केका विवाह किया। सासने ललककर बहूको हृदय लगाया, देवरोंने अपनी भाभीका हार्दिक स्वागत किया। एक ही ननद थी, उसने बड़े चावसे अपनी भाभीको देखा; परंतु शीघ्र ही हँसते घरसे धुवाँ निकलने लगा, दरारें पड़ीं, उन्होंने मुँह खोला और फिर इन दरारोंका मुँह कभी भरा न जा सका—वे चौड़ी ही होती गयीं; सबकी आशाएँ—आकांक्षाएँ उसमें समाती गयीं। पिता 'क' का दिल टूट गया। माँकी उमंगें मर गयीं। देवरोंके उभरते सीने बैठ गये। चञ्चल ननद एकाकिनी और गम्भीर हो गयी।

बात इतनी-सी थी कि जो बहू आयी वह अपनेमें आत्यन्तिक रूपसे केन्द्रित थी। वह शुरूसे ही अपना और पतिका एक अलग घर बसानेकी कामना लेकर आयी। वह बड़ी गर्विता थी। दूसरे क्या चाहते हैं, इसकी उसे परवा न थी। उसे परिवारके हितकी परवा न थी। वह मुँह चबाकर बोलती थी। बात-बातपर तिनकती-खीझती थी।

झमककर चलती थी। विनय, शिष्टता-जैसी चीजका उसमें नाम भी न था। उसे यह परवा न थी कि ससुर क्या खाते हैं, कब खाते हैं। ननदने कभी प्रेममें सनी बोली उसके मुँहसे नहीं सुनी। सास बहूके मुँहसे 'माँ' शब्द सुननेके लिये तरसती रह गयी। देवर घरसे भाग खड़े हुए। उसके पति यदि कभी माँके पास बैठकर खा लेते तो यह भी वह सह नहीं पाती थी। उसका बच्चा उसकी दादी-दादाके पास जाय या रहे, यह भी उसे सहन नहीं होता था। वह अपने पति एवं पुत्रपर सोलह आने अपना, केवल अपना अधिकार चाहती थी। अपनेसे बाहर उसकी आँख ही न खुलती थी। उसकी समझसे बाहर था कि जिस माँने पाल-पोसकर उसके पतिको इतना बड़ा किया है और इतने दिनोंतक उसकी सेवा-सहायता, देख-रेख की है, उसका भी उसपर कुछ अधिकार हो सकता है। वह घर, जिसकी ओर लोग नैतिक आदर्शोंके लिये देखते थे, देखते-देखते ढह गया, विघटित हो गया। लोग छिन्न-भिन्न हो गये। 'क'ने बड़ी साधोंसे यह पौधा लगाया था। उससे उन्हें बड़ी आशाएँ थीं; किंतु नियतिकी एक ठोकरमें सब चूर हो गयीं। उन्होंने अपनी मर्यादासे झुककर भी बहूको बहुत तरहसे समझाया, अनेक करुणपत्र लिखे पर उसपर कोई असर नहीं हुआ। फलतः उन्होंने स्वयं ही बहूको प्रणाम कर लिया। यहाँ सबके सदाशय होते हुए भी एक स्त्री मानो पूरे घरको खा गयी।

'क' के भाई 'ख' एक शान्तिपरायण संस्कारवान् व्यक्ति हैं। उनके यहाँ भी एक दिन बहू आयी—चंदा-सी बहू और उसके आते ही घर 'झक'से प्रकाशित हो उठा। 'ख'के पुत्रको पत्नी तो मिली ही—एक जीवन-सखी और अपने प्रेमकी चाँदनीमें सब कुछ उजला कर देनेवाली पत्नी, पर उससे भी ज्यादा सासको मानो एक बेटी और मिल गयी। ननदको स्नेहमयी भाभी मिली। 'ख'का मन तृप्त हो गया है; वह अपने भविष्यके प्रति आश्वस्त हैं। साधोंसे पाली गयी लड़की परंतु काम यों करती है मानो सेविका हो, पर काम करती है सेविकाकी तरह नहीं—अपनेको गृहिणी समझकर। वह घरमें, परिवारमें व्याप्त हो गयी है और उसकी सेवाकी भाषा स्नेह एवं मृदुताके तरल बिन्दुओंसे सदा आर्द्र रहती है। यह स्नेहमें भीगा-भीगा, जीवनकी कठिनाइयोंको चुनौती देनेवाला घर—घर जिसपर दुर्दिनकी बदली कभी छा भी गयी तो एक फूँकमें उड़ जाती है। आशासे गदराया, मंजुल स्नेह-रश्मियोंसे प्रकाशित, अंदरसे उमगा-उमगा घर।

मैं जानता हूँ कि आज बहुत-से घर अर्थ-संघर्षके कारण टूट रहे हैं; परंतु ये चित्र उस कोटिमें नहीं आते। दोनों घरोंकी आर्थिक स्थिति एक-सी है; बल्कि पहिलेकी कुछ अच्छी ही होगी। जीवनकी कठिनाइयाँ दोनोंमें कुछ वैसी नहीं हैं; किंतु अन्तर इतना ही है कि जब 'क' की पुत्रवधू केवल अपने लिये जन्मी, केवल अपनेतक सीमित है, तब 'ख' की पुत्रवधू सम्पूर्ण घरकी है—बल्कि घरकी पहले है, पतिकी बादमें। उसे अपने घरपर गर्व है; वह समझती है कि घरका भविष्य ही उसका भविष्य है; घरका भाग्य ही उसका भाग्य है। वह सबको लेकर चलेगी, सबको लेकर जियेगी, सबको लेकर ही सुखी होगी। परिणाम स्पष्ट है, 'ख' का घर फल-फूल रहा है; हँस रहा है; कष्ट आते हैं, आँधियाँ आती हैं, पर उन सबके बीच सब आश्वस्त हैं। मन उमङ्गोंसे भरा, अंदरसे रस-पूरित है।

इन विषमताओंका कारण कुछ तो स्वभाव है। पहलीमें आर्द्रता, लचीलापन, उदारता, दूसरोंके लिये जीनेका संकल्प था ही नहीं; दूसरीमें ये बातें थीं, इसलिये पहिली चण्डिका और दूसरी देवी—गृहलक्ष्मी बन गयी। किंतु स्वभावके अतिरिक्त पतिकी दृष्टि और दृढ़ता भी ऐसे विषयोंमें महत्त्वपूर्ण अभिनय करती है। जहाँ पतिमें शुरूसे दृढ़ता होती है वहाँ विषम पत्नियाँ घरमें कोलाहल तो पैदा कर सकती हैं किंतु उसे विघटित नहीं कर पातीं। मेरे एक मित्र घी और अनाजके थोक व्यापारी हैं। उनके लड़कोंमें बड़ा भ्रातृ-प्रेम था। जब विवाहके बाद उनकी पत्नियाँ आयीं तो प्रत्येक लड़केने अपनी पत्नीको शुरूमें ही चेतावनी दे दी कि और चाहे जो करना, पर मेरे कानोंपर घरके झगड़े या शिकायत न ले आना। इतना गाँठ बाँध लो कि हम तुम्हें अलग कर देंगे परंतु भाई-भाई अलग न होंगे। फल यह हुआ कि विघटनकारी प्रवृत्तियोंको कहींसे शह न मिली। कपड़े-लत्ते जो भी चीजें आतीं, सबके लिये एक-सी आतीं, जरा भी घट-बढ़ नहीं। परिणामतः घर सुखी है; फूल-फल रहा है।

स्वर्ग-जैसे, कई प्राणोंकी सम्मिलित शक्तिके प्रतीक-समान, जीवनकी थकानको अपने स्पर्शसे मिटा देनेवाले घर, प्रेरणाके निर्झर-से घर, हौंस और उमंगोंपर तैरते घर मिटते जा रहे हैं; हमारे देखते-देखते मिटते जा रहे हैं। वह नारी जो

सौन्दर्यकी अञ्जलिमें प्रेमका वरदान लिये आती थी, अँधेरे कक्षमें दीपक जलाने आती थी, जिसके आँचल-तले मातृत्वकी गरिमा मचलाती थी, जिसके दृगंचलसे स्नेहके बिन्दु चूते थे, जिसके स्नेहमें मातृत्व अपनी सार्थकताकी छाया देखता था, मिट रहा है ! इस क्रमको सर्वथा बंद तो नहीं किया जा सकता; क्योंकि यान्त्रिकताका यह दानवी युग ही उसके विपरीत है, किंतु इसे एक सीमातक रोका जा सकता है; विघटनके क्रमको शिथिल किया जा सकता है । एक नया वातावरण पैदा किया जा सकता है—उदारताका वातावरण, दूसरोंके लिये जीनेका वातावरण, दूसरोंको जिला लेनेका वातावरण, पारिवारिक स्नेहका वातावरण ।

यह लगभग असम्भव कार्य है, फिर भी करना होगा; करना होगा । यदि हम वास्तविक सुख चाहते हैं; अपनी संस्कृतिको जीवित देखना चाहते हैं, हिंदू नारीमें अब भी जो सत् शेष है, अब भी जो आत्मार्पण है, अब भी स्नेहकी जो साधना है, चिरमङ्गलका जो दान है, उसकी ओर हम आशाके साथ देख सकते हैं । वह उठेगी तो घर भी उठेंगे; वह गिरेगी तो घर भी बैठ जायँगे ।

* * *

भाग्य-भोग

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

'भगवन् ! इस जीवका भाग्य-विधान ?' कभी-कभी जीवोंके कर्मसंस्कार ऐसे जटिल होते हैं कि उनके भाग्यका निर्णय करना चित्रगुप्तके लिये भी कठिन हो जाता है । अब यही एक जीव मर्त्यलोकसे आया है । इतने उलझनभरे इसके कर्म हैं—नरकमें, स्वर्गमें अथवा किसी योनि-विशेषमें कहाँ इसे भेजा जाय, समझमें नहीं आता । देह-त्यागके समयकी इसकी अन्तिम वासना भी [जो कि आगामी प्रारब्धकी मूल निर्णायिका होती है] कोई सहायता नहीं देती । वह वासना भी केवल देहकी स्मृति—देह रखनेकी इच्छा है । ऐसी अवस्था आनेपर चित्रगुप्तके पास एक ही उपाय है, वे अपने स्वामीके सम्मुख उपस्थित हों ।

धर्मराजने चित्रगुप्तसे उस जीवका कर्मलेख लिया और उसे लगभग बिना पढ़े ही उसके आगामी प्रारब्धके तीनों कोष्ठक भर दिये । चित्रगुप्तने देखा जातिके कोष्ठकमें लिखा है—मनुष्य-श्वपच, आयुके कोष्ठकमें उदारतापूर्वक १०२ की संख्या है; किंतु भोग-भोगका विवरण देखकर चित्रगुप्तको लगा कि आज संयमनीपति विशेष क्रुद्ध हैं ।

चित्रगुप्त कभी नहीं समझ सके कि जीवका जो कर्म-विधान उनको इतना जटिल लगता है, धर्मराज कैसे उसका निर्णय बिना एक क्षण सोचे कर देते हैं । यम एक मुख्य भागवताचार्य हैं और भक्तिका—भक्तिके अधिष्ठाताका रहस्य जाने बिना, उसकी कृपाकोरकी प्राप्तिके बिना कर्मका—धर्माधर्मका ठीक-ठीक रहस्य-ज्ञान नहीं होता, यह बात चित्रगुप्तजी नहीं समझेंगे । वे तो कर्मके तत्त्वज्ञ हैं और कर्माकर्मकी कसौटीपर ही सब कुछ परखना जानते हैं; किंतु जब उनकी कसौटी उन्हें उलझनमें डाल देती है—यमराज कर्मके परम निर्णायक हैं । उनके निर्णयकी कहीं अपील नहीं, अतः वे बिना हिचके निर्णय कर देते हैं । यह चित्रगुप्तजीके चित्तका समाधान है; किंतु धर्मके निर्णायकको आवेशमें तो निर्णय नहीं करना चाहिये ।

'यह अभागा जीव !' यमपुरीके विधायक, यमराजके मुख्य सचिव चित्रगुप्त—उन्हें किसी जीवको नरकका आदेश सुनाते किसीने हिचकते नहीं देखा और आज वे क्षुब्ध हो रहे थे—'कैसे सहन कर सकेगा यह इतने दारुण दुःख ? इतना दुःखदायी विधान एक असहाय प्राणीके लिये !'

'संयमनीके मुख्य सचिव प्राणीके सुख-दुःखके दाता कबसे हो गये ?' चित्रगुप्त चौंक उठे । उन्होंने अपनी चिन्तामें देखा ही नहीं था कि देवर्षि नारद उनके सामने आ खड़े हुए हैं । उन्होंने प्रणिपात किया देवर्षि !

'धर्मराजको स्रष्टाने केवल जाति, आयु और भोगके निर्णयका अधिकार दिया है ।' देवर्षिने अपना प्रश्न दुहराया—'स्थूल शरीरतक ही कर्म अपना प्रभाव प्रकट कर सकते हैं, किंतु देखता हूँ; धर्मराजके महामन्त्री अब जीवके सुख-दुःखकी सीमाके स्पर्शकी स्पर्धा भी करने लगे हैं ।'

'ऐसी धृष्टता चित्तमें न आवे आप ऐसा अनुग्रह करें ।' चित्रगुप्तने दोनों हाथ जोड़े—'किंतु इतना दारुण भोग प्राप्त करके भी जीव दुखी न हो, क्या सम्भव है ?'

'असम्भव तो नहीं है। शरीरकी व्यथा प्राणीको दुखी ही करे—आवश्यक नहीं है।' देवर्षिने चित्रगुप्तजीके सम्मुख पड़ा कर्म-विधान सहज उठा लिया।

'स्वयं धर्मराजने यह विधान किया है!' चित्रगुप्त डरे। परम दयालु देवर्षिका क्या ठिकाना, कहीं इतना कठोर विधान देखकर वे रुष्ट हो जायँ—उनके शापको स्वयं स्रष्टा भी व्यर्थ करनेमें समर्थ नहीं होंगे।

'कुब्ज, कुरूप, बधिर, मूक, शैशवसे अनाथ, अनाश्रय, उपेक्षित, उत्पीड़ित, मान-भोग-वर्जित, नित्य देहपीड़ा-ग्रस्त मरुस्थल-निर्वासित···।' देवर्षिके साथ डरते-डरते चित्रगुप्त भी उस जीवके भोगके कोष्ठकमें भरे गये विधानको पुनः पढ़ते जा रहे थे मन-ही-मन। कहीं तो उसमें कुछ सुख-सुविधा मिलनेका कोई संयोग सूचित किया गया होता।

'अतिशय दयालु हैं धर्मराज।' चित्रगुप्तकी आशाके सर्वथा विपरीत देवर्षिके मुखसे उल्लास व्यक्त हुआ—'इस प्राणीको एक साथ स्वच्छ कर देनेकी व्यवस्था कर दी उन्होंने। विपत्ति तो वरदान है श्रीनारायणका।'

अब भला इन ब्रह्मपुत्रसे कोई क्या कहे और इन्हें ही इतना अवसर कहाँ कि किसीकी बात सुननेको रुके रहें। चित्रगुप्तके कर्म-विधानका पोथा पटका उन्होंने और उनकी वीणाकी झंकार दूर होती चली गयी।

× × ×

महाराजाकी सवारी निकली थी नगर-दर्शन करने। यह भी कोई बात है कि उनके सामने राजपथपर कोई कुबड़ा, गूँगा, काला, कुरूप चाण्डाल बालक आ जाय। राजसेवकोंने उसे पीट-पीट कर अधमरा कर दिया और घसीटकर मरे कुत्तेके समान दूर फेंक दिया।

'कौन था यह?' महाराजाने पूछा।

'एक श्वपचाका पुत्र!' मन्त्रीने उत्तर दे दिया।

'इसके अभिभावक इसे पथसे दूर क्यों नहीं रखते?' महाराजाका क्रोध शान्त नहीं हुआ था।

'इसका कोई अभिभावक नहीं।' कुछ देर लगी पता लगानेमें और तब मन्त्रीने प्रार्थना की—'माता-पिता इसके तब मर गये, जब यह बहुत छोटा था, अब तो यह इसी प्रकार भटकता रहता है।'

'नगरका अभिशाप है यह!' महाराजाको कौन कहे कि गर्वके शिखरसे नीचे आकर आप देखें तो वह भी आपके समान ही सृष्टिकर्ताकी कृति है; किंतु धन, अधिकारका मद मनुष्यकी विवेक-दृष्टि नष्ट कर देता है। महाराजने आदेश दे दिया—'इसे दूर मरुस्थलमें निर्वासित कर दिया जाय। राजधानीमें इतनी कुरूपता नहीं रहनी चाहिये।'

छोटा-सा अबोध बालक। वैसे ही वह दर-दरकी ठोकरें खाता फिरता था। कूड़ेके ढेरपरसे छिलके उठाकर उदरकी ज्वाला शान्त करता था। लोग दुत्कारते थे। बच्चे पत्थर मारते थे। वृक्षके नीचे भी रात्रि व्यतीत करनेका स्थान कठिनतासे पाता था और अब उसे नगरसे भी निर्वासित कर दिया गया। हाथ-पैर बाँधकर ऊँटपर लादकर एक राजसेवक श्वपच उसे मरुभूमिमें ले गया और वहाँ उसके हाथ-पैर उसने खोल दिये।

अङ्गमें लगे घाव पीड़ा करते थे। मरुस्थलकी रेत तपती थी और ऊपरसे सूर्य अग्निकी वर्षा करते थे। आँधियाँ मरुभूमिमें न आयेंगी तो आयेंगी कहाँ; लेकिन मृत्यु उस बालकके समीप नहीं आ सकती थी। उसके भाग्यने उसे जो दीर्घायु दी थी—कितनी बड़ी विडम्बना थी उसकी वह दीर्घायु।

जब प्याससे वह मूर्छित होनेके समीप होता, कहीं-न-कहीं रेतमें दबा मतीरा उसे मिल जाता। खेजड़ीकी छाया उसे मध्याह्नमें झुलस जानेसे बचा देती थी। मतीरा ही उसकी क्षुधा भी शान्त करता था। वैसे उसे मरुस्थलके मध्यमें एक छोटा जलाशय मिल गया बहुत शीघ्र और वहाँ कुछ खजूरके वृक्ष भी मिल गये, किंतु खजूर बारहमासी फल तो नहीं है।

इस भाग्यहीन बालकका स्वभाव विपत्तियोंको भोगते-भोगते विचित्र हो गया था। बचपनमें तो वह रोता भी था; किंतु अब तो जब कष्ट बढ़ता था तो वह उलटे हँसता था—प्रसन्न होता था। अनेक बार उसे मरुस्थलके डाकू मिले और उन्होंने जी भरकर पीटा। वह उस पीड़ामें खूब हँसा—मानो उसे पीड़ामें सुख लेनेका स्वभाव मिल गया हो।

वह क्या सोचता होगा? वह जन्मसे मूक और बधिर था। शब्दज्ञान उसे था नहीं। अतः वह कैसे सोचता होगा, यह मैं नहीं समझ पाता हूँ। लेकिन वह कुछ काम करता था। दिन निकलता देखता तो सूर्यके सम्मुख पृथ्वीपर बार-बार सिर पटकता। आँधी आती तो उसे भी इसी प्रकार प्रणाम करता और कभी आकाशमें कोई मेघखण्ड आ जाता

हो उसे भी। खेजड़ीके वृक्षको, जलाशयको और यदि कभी कोई दस्युदल आ जाय तो उन लोगोंको तथा उनके ऊँटोंको भी वह इसी प्रकार प्रणिपात किया करता था।

दूसरा काम वह प्रायः प्रतिदिन यह करता कि खेजड़ीकी एक डाल तोड़ लेता और विभिन्न दिशाओंमें दूर-दूरतक एक निश्चित दूरीपर उसके पत्ते टहनियाँ तबतक डालता जाता—जबतक मध्याह्नकी धूप उसे छायामें बैठ जानेको विवश न कर देती। अनेक बार उसके डाले इन पत्तोंके सहारे मरुस्थलमें भटके यात्री एवं दस्यु उसके जलाशयतक पहुँचे थे। अनेक बार उन दस्युओंने उसे पीटा था। बहुत कम बार किसी यात्रीने उसे रोटीका टुकड़ा खानेको दिया। लेकिन उसने खेजड़ीके पत्ते डालनेका काम केवल तब बंद रक्खा, जब वह ज्वरसे तपता पड़ा रहता था।

मरुस्थलमें एकाकी, दिगम्बर, असहायप्राय भूख-प्याससे संतप्त रहते वर्ष-पर-वर्ष बीतते गये उसके। बहुत बीमार पड़ा और बार-बार पड़ा; किंतु मरना नहीं था, इसलिये जीवित रहा। बालकसे युवा हुआ और इसी प्रकार वृद्ध हो गया। उसकी देहमें हड्डियों और चमड़ेके अतिरिक्त और था भी क्या। अनेक बार यात्री उसे प्रेत समझकर डरे थे।

दुर्भाग्य ही तो मिला था उसे। एक अकालका वर्ष आया और वह नन्हा जलाशय सूख गया जो वर्षोंसे उसका आश्रम रहा था। खेजड़ीमें पत्तोंके स्थानपर काँटे रह गये। उसे वह स्थान छोड़कर मरुस्थलमें भटकना पड़ा।

अंधड़से रेत नेत्रोंमें भर गयी। प्यासके मारे कण्ठ सूख गया। गलेमें काँटे पड़ गये और अन्ततः वह मूर्छित होकर गिर पड़ा।

सहसा आकाशमें उत्तङ्क मेघ प्रकट हुए जो केवल राजस्थानकी मरुभूमिमें कभी-कभी—कुछ शताब्दियोंके अन्तरसे प्रकट होते हैं। बड़ी-बड़ी बूँदोंकी बौछारने उसके संतप्त शरीरको शीतल किया। उसने नेत्र खोलनेकी चेष्टा की; किंतु उनमें रेत भर गयी थी। देहमें भयंकर ताप था। वह जीवनमें पहिली बार वेदनासे चीखा—मूककी अस्पष्ट चीत्कार उसके कण्ठसे निकली।

उत्तङ्क. मेघ उसके लिये तो नहीं आये थे। मरुकी गोदमें शतियोंसे समाधिस्थ महर्षि उत्तङ्क उठे थे समाधिसे। उनकी तृषा शान्त करनेके लिये मेघ आते हैं। महर्षिने अपने समीपसे आयी वह चीत्कार-ध्वनि सुनी और आगे बढ़ आये।

कृष्णवर्ण, कुब्ज, श्वेत केश, कंकालमात्र एक मानवाकार प्राणी रेतमें पड़ा था। अब भी वह अपने नेत्रोंसे रेत ही निकालनेके प्रयत्नमें था। महर्षिकी दृष्टि पड़ी। वे सर्वज्ञ—उन्हें कहाँ सूचित करना था कि उनके सम्मुख पड़ा प्राणी बोलने और सुननेमें असमर्थ है। लेकिन महर्षिका संकल्प तो वाणीकी अपेक्षा नहीं करता। उनकी अमृत दृष्टि पड़ी उस सम्मुखके प्राणीपर और फिर वे अपनी साधना-भूमिकी ओर मुड़ गये।

× × ×

कुछ मास [क्योंकि देवताओंका दिन मनुष्योंके छः महीनेके बराबर होता है और उतनी ही बड़ी होती है उनकी रात्रि] व्यतीत हुए होंगे, चित्रगुप्तजीके और एक दिन पुनः देवर्षि नारद संयमनी पधारे।

‘आपके उस अतिशय भाग्यहीन जीवकी अब क्या स्थिति है ?’ धर्मराजका सत्कार स्वीकार करके जाते समय देवर्षिने सहसा चित्रगुप्तसे पूछ लिया—‘जीवनमें भाग्यका भोग उनको कितना दुखी कर सका, यह विवरण तो आपके समीप होगा नहीं।’

‘आपका अनुग्रह जिसे अभय दे दे; कर्मके फल उसे कैसे उत्पीड़ित कर सकते हैं ?’ चित्रगुप्तने नम्रतापूर्वक बताया—‘वे महाभाग देहकी पीड़ा, अभाव, असम्मानसे प्रायः अलिप्त रहे।’

‘अनुग्रह तो उनपर किया था धर्मराजने।’ देवर्षिने सहजभावसे बतलाया—‘भोग-विवर्जित करके संयमनीके स्वामीने उन्हें अनेक दोषोंसे सुरक्षित कर दिया था। आपत्तियोंने उन्हें निष्काम बनाया। विपत्तिका वरदान पाये बिना प्राणीका परित्राण कदाचित् ही हो पाता है।’

‘महर्षि उत्तङ्कके अनुग्रहने उनके निष्कलुष वासनारहित चित्तको आलोकित कर दिया।’ चित्रगुप्तजीने बताया—‘अब हमारे विवरणमें केवल इतना ही है कि उनका परम पवित्र देह धरा देवीने अपनी मरुराशिमें सुरक्षित कर लिया है।’

जिसके सम्बन्धमें श्रुति कहती है—

‘न तस्य प्राणाश्चोत्क्रामन्ति तत्रैव प्रविलीयन्ते।’

उस मुक्तात्माके सम्बन्धमें इससे अधिक विवरण चित्रगुप्तजीके समीप हो भी कैसे सकता है ?

पाकिस्तानी षड्यन्त्र

[सत्रहवर्षीय देशघातक, जातिघातक, धर्मघातक गुप्त षड्यन्त्रका रहस्योद्घाटन]

(लेखक—श्रीमधुसूदनजी वाजपेयी)

भारतमें मुस्लिम-अमुस्लिम समस्या विभाजनसे पूर्व जितने अंशोंमें केवल एक साम्प्रदायिक समस्या थी, विभाजनके बाद उतने ही अंशोंमें दो राष्ट्रोंकी समस्या भी बन गयी है—उतने ही अंशोंमें जितने अंशोंमें यहाँके मुस्लिमनिवासी अपने आपको भारतकी अपेक्षा पाकिस्तानके अधिक निकट अनुभव करते हैं—तथा उन दो राष्ट्रोंकी समस्या जिनके परस्पर सम्बन्धोंमें प्रारम्भसे ही जो शत्रुता है वह उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। और इन दो समस्याओंके मिल जानेसे एक और एक ग्यारह समस्याओंवाली भयंकर स्थिति हो गयी है जिसके सामने प्रधान मन्त्री पण्डित नेहरू-तक अपनेको असहाय-जैसा अनुभव कर रहे हैं—वह नेहरू जो सत्रह वर्षसे अधिनायक-जैसे प्रभावके साथ इस समस्याको सुलझानेमें अपने ढंगसे प्रयत्नशील रहे हैं। ऐसी स्थितिमें अब समय आ गया है कि कम-से-कम अठारह वर्ष पुराने पाकिस्तानी षड्यन्त्रका रहस्योद्घाटन कर दिया जाय ताकि उसकी पृष्ठभूमिमें प्रतिभा और त्यागके धनी देशभक्त सुलझा सकें।

इन पंक्तियोंके द्वारा मैं समस्त एकतावादी देशभक्तोंका ध्यान आज पहली बार पाकिस्तानी नेताओं तथा साहित्यकारोंके एक बहुत पुराने तथा बहुत भयंकर षड्यन्त्रकी ओर आकर्षित कर रहा हूँ जो एकदम खुला होनेपर भी आसुरी मायाके कारण अबतक पूर्णरूपसे गुप्त रहा है। यह षड्यन्त्र, जो पाकिस्तानके जन्मकालसे ही चल रहा है, मज़हबके नामपर भारतवासी मुसल्मानोंमें देशद्रोहकी भावनाओंको उत्पन्न करनेका दुष्प्रयत्न है।

षड्यन्त्र यह है कि विभाजनके समय भारतसे जो मुसल्मान पाकिस्तान गये, उनका नाम 'महाजर' रक्खा गया जो इस्लामके इतिहासका वह शब्द है जिसका प्रयोग इस्लामके प्रवर्तक हज़रत मुहम्मद साहबके लिये उस समय किया गया था जब वे अपने साम्प्रदायिक विरोधियों (पुराने सम्प्रदायावलम्बियों) के कारण अपनी मातृभूमि मक्का छोड़कर कुछ समयके लिये मदीना चले गये थे। उनके इस प्रयाणको 'हिज्र'* या 'हिजरत' कहा गया था और उसी समयसे हिजरी सन् चल रहा है। परंतु उनका यह प्रयाण वापसी सैनिक अभियानकी तैयारीके लिये था, जो बादमें किया गया और इस्लामके प्रवर्तकने मक्काके देवस्थान काबामें स्थित ३६० देवमूर्तियोंका ध्वंस कर उसे विशुद्ध मस्जिदमें परिणत किया। इस मक्का-विजयमें मक्का-वासी मुस्लिम स्वभावतः अपने पैगम्बरके सहयोगी थे। सर्वविदित तथ्य है कि हज़रत साहबकी 'हिजरत' में तथा भारतसे गये मुसल्मानोंकी 'रुख्सती' (बिदाई) में आकाश-पातालका अन्तर है। अतः दोनोंको समान या एक ही वस्तु बताना जान-बूझकर किया गया एक भयंकर षड्यन्त्र है। प्रश्न है कि पाकिस्तानी नेता जिस भावी भारत-पाक-युद्धकी रोज बातें करते हैं, उसको छेड़नेके लिये क्या वे इसी विश्वासपर तुले हैं कि भारतसे गये मुसल्मान उसी मज़हबी (साम्प्रदायिक) जोशसे जिहाद (मज़हबी युद्ध) करेंगे तथा भारतमें वापस लौटे हुए तथा पहलेसे बसे हुए उनके कितने ही सगे-सम्बन्धी तथा हममज़हब उस जिहादमें उनकी भरपूर सहायता करेंगे (क्योंकि 'जिहाद' इस्लामके पाँच आधार-भूत तत्त्वोंमेंसे एक है) ?

यह एक भयंकर साम्प्रदायिक-राजनीतिक षड्यन्त्र है जिसकी जड़ें बहुत गहरी तथा व्यापक हैं। विभाजनोत्तर अवशिष्ट भारतकी अखण्डताकी रक्षाके लिये हमें पृथक्त्ववादके इस प्रकारके विषवृक्षोंको अवश्य तथा शीघ्र और सदाके लिये उखाड़ फेंकनेके लिये कृतसंकल्प होना है।

(अप्रकाशित 'एकताके प्रतीक राजर्षि टंडन'से)

* * *

---

* हिज्र—अस्थायी वियोग; महाजर—अस्थायी वियोगी

अर्जुनकी दुविधा

(अनुवादक—श्रीबा० रा० वझे बी० ए०)

युद्ध या शान्ति ?

पाण्डुराज एवं धृतराष्ट्रके लड़के हस्तिनापुरमें द्रोणाचार्यके शस्त्रविद्या-विद्यालयमें पढ़ रहे थे।

एक बार अनायास ही अर्जुनने कर्णसे पूछा—'कर्ण! युद्ध अच्छा है या शान्ति ?'

'शान्ति' कर्णने उत्तर दिया।

'तुम यह कैसे कह सकते हो ?' अर्जुनने पुनः प्रश्न किया। कर्णने उत्तर दिया—'मान लो यदि कल युद्ध हो जाता है तो मैं तुम्हें ऐसी सजा दूँगा कि उससे तुम्हें तो दुःख होगा ही, साथ-ही-साथ मेरा हृदय कोमल होनेके कारण मुझसे भी वह देखा नहीं जायगा। अर्थात् हम दोनों दुखी होंगे। इसलिये मैं कहता हूँ कि शान्ति अच्छी।'

अर्जुनने कहा—'देखो कर्ण! मैं तुम्हें हम दोनोंके बारेमें नहीं पूछ रहा हूँ। सर्वसाधारण रूपसे युद्ध श्रेष्ठ है या शान्ति—इस सम्बन्धमें तुम्हारे जो विचार हों, मुझे बताओ।'

कर्ण बोला—'यह मैं एकाएक नहीं बता सकता।'

इस बातसे अर्जुनको क्रोध आ गया और मन-ही-मन उसने कर्णको मार डालनेका निश्चय किया। फिर अर्जुन अपने गुरु द्रोणाचार्यके पास गया और हाथ जोड़कर नम्रतासे उनसे यही प्रश्न किया। इसपर द्रोणाचार्यने हँसकर कहा—'बेटा! युद्ध श्रेष्ठ है।'

'लेकिन क्यों ?' अर्जुनने पूछा।

द्रोणाचार्यने कहा—'देखो अर्जुन! युद्धमें हम शत्रुओंको मारकर या पराजित कर सम्पत्ति तो प्राप्त करते ही हैं, साथ-ही-साथ कीर्ति एवं विजय भी प्राप्त करते हैं। परंतु ये बातें शान्तिके समय असम्भव-सी हैं।'

पश्चात् अर्जुन भीष्माचार्यके पास गया और बोला, 'युद्ध और शान्तिमें कौन-सा श्रेष्ठ है ?'

भीष्माचार्यने उत्तर दिया 'बेटा अर्जुन! शान्ति हर स्थितिमें श्रेष्ठ है।'

अर्जुनने कहा—'सो कैसे ?'

भीष्माचार्यने हँसकर कहा—'युद्धमें अधिक-से-अधिक क्षत्रिय-वंश समृद्ध होगा, किंतु शान्तिपूर्ण स्थितिमें सारा संसार समृद्ध रहेगा। अतः शान्ति ही श्रेष्ठ है।'

परंतु अर्जुन इससे सहमत नहीं हुआ। उसकी शंकित मुद्रा देखकर भीष्माचार्य बोले—'लेकिन अर्जुन! तुम यह मुझसे क्यों पूछ रहे हो ?'

अर्जुन बोला—'उसका कारण यह है कि जबतक शान्ति है, तबतक धनुर्विद्यामें कर्ण मुझसे श्रेष्ठ माना जायगा और मैं उससे कम शक्तिशाली समझा जाऊँगा। परंतु यदि युद्ध होगा तो संसारके सम्मुख सत्य प्रकट हो जायगा।'

भीष्माचार्यने कहा—'बेटा अर्जुन! संसारमें धर्म सदैव श्रेष्ठ है। फिर वह युद्ध हो या शान्ति। अतः तुम कर्णके प्रति अपना क्रोध त्याग दो। अखिल मानव-जाति तुम्हारे लिये बन्धु-भगिनीके समान है। संसारमें प्रत्येकको एक दूसरेसे प्रेम करना चाहिये तथा बन्धुत्व एवं सहिष्णुताका संगोपन करना चाहिये। इसीमें मानव जातिका कल्याण है। अतः सबसे प्रेम करना सीखो।'

यह कहते समय वृद्ध पितामह भीष्माचार्यकी आँखोंसे अनजानमें दो आँसू नीचे टपक पड़े।

कुछ दिनों पश्चात् व्यासमुनि घूमते-घामते अचानक हस्तिनापुर आये, तब अर्जुनने प्रश्न किया—'मुनिवर्य! **संसारमें क्या श्रेष्ठ है, युद्ध या शान्ति ?'**

व्यास महर्षिने सोचकर कहा—'सच कहा जाय तो दोनों बातें अच्छी हैं और दोनों ही बातें खराब हैं। परंतु यह इस बातपर निर्भर है कि हम उसका उपयोग किसलिये कर रहे हैं।'

अर्जुनको मुनिवर्यका वह दुविधात्मक उत्तर जँचा नहीं।

कुछ वर्षों बाद पाण्डवोंके अज्ञातवासके समय श्रीकृष्ण पाण्डवोंसे मिलने आये। उस समय अर्जुनने श्रीकृष्णसे प्रश्न किया—

'भगवन्! एक बातकी शङ्काका समाधान कीजिये। संसारमें क्या श्रेष्ठ है? युद्ध या शान्ति?'

श्रीकृष्णने कहा—'अर्जुन! वर्तमान परिस्थितिमें शान्ति अच्छी है; क्योंकि युद्ध करनेसे निभ नहीं सकेगा अतएव मध्यस्थता करके शान्ति स्थापित करनेके लिये मैं हस्तिनापुर जा रहा हूँ। युद्ध एवं शान्तिकी श्रेष्ठता प्राप्त परिस्थितिपर निर्भर है।'

यह सुनकर अर्जुन संतुष्ट हो गया। व्यास महर्षिकी बातका मर्म अब उसके ध्यानमें आ चुका था।

शिक्षामें धर्मनिरपेक्षता या धर्मविमुखता?

(लेखक—प्राध्यापक श्री जे० पी० पाण्डेय एम एस्०-सी०, बी० एड०, एल्-एल्० बी०, विशारद)

'धर्म' और 'धार्मिक'—ये पुनीत शब्द मानो आज शिक्षालयके शब्दकोशसे लुप्त ही हो गये और यदि इन्हें कोई शब्दकोशसे लुप्त हुए न माने तो उसे कम-से-कम इस बातपर अवश्य विश्वास करना होगा कि ये शब्द जहाँ 'कल' शिक्षा-व्यवस्थाके इर्द-गिर्द ताने-बानेकी तरह लिपटे-चिपटे हुए थे, वहाँ 'आज' उस व्यवस्थामें इनका मानो कोई मूल्य ही नहीं रहा—आजकी शिक्षा-व्यवस्था तथा शिक्षालयोंमें व्याप्त वातावरणको देखकर कुछ ऐसा महसूस होने लगा है, जैसे शिक्षासे इनका कोई सरोकार नहीं—मानो शिक्षा एकदम इनसे बाहरकी कोई वस्तु है। भारतका अतीत जो स्वर्णाक्षरोंमें देदीप्यमान है और जहाँ समय-समयपर कई महान् आत्माओंने जन्म लेकर सम्पूर्ण मानवजीवनको—गर्भाधानसे लगाकर अन्त्येष्टितक—धर्म और धार्मिक सुकृत्योंसे अत्यन्त जकड़कर कस दिया था, वहाँ आज अधार्मिक प्रवृत्तियों और झूठे दम्भों तथा मिथ्या आचरणोंसे वही मानवजीवन इतना जीर्ण-शीर्ण और जर्जरित हो उठा है कि आज उसकी भीतरी आत्मा नैतिक पतनसे दबी, कराहती हुई उस आस्था और आशासे भरे अतीतके जीवनको पुनः प्राप्त करनेके लिये अंदर-ही-अंदर तड़प रही है। अग्निका धर्म जलना है, प्रज्वलित होना है। यदि वह अपने धर्मसे विघटित हो जाय तो फिर उसे अग्नि कौन कहेगा? मानवजीवन और पशुजीवनमें यदि कोई अन्तर है तो वह धर्माचरणका है; पशु वास्तवमें इसीसे इतना निकृष्ट प्राणी होता है कि उसको 'धर्म' सम्बन्धी कोई ज्ञान नहीं होता।

यह हमारा बड़ा सौभाग्य है कि यह पुण्य पवित्र भारतीय भूमि जहाँ शस्य-श्यामला एवं उर्वरा रही है, वहाँ यह विविध धर्म तथा मतमतान्तरकी जन्मभूमि भी रही है। उस पुरातन आर्य-कालमें हिंदू-धर्म यहाँ प्रस्फुटित तथा पल्लवित हुआ; उस समयके समाजशास्त्रियोंने समाजको चार वर्णाश्रमोंमें विभाजित कर प्रत्येक वर्ण-विशेषके कर्तव्योंको परिभाषित किया। उस अगोचर, अनन्त, निराकार, सर्वकालीन और सर्वशक्तिमान् परमात्माके स्वरूपको उपलब्धकर अन्तमें उसीमें समा जानेके विधि-प्रदत्त अगम्य ईश्वरीय विधानको स्पष्ट किया। बड़े-बड़े ख्यातिप्राप्त ऋषि-मुनियों तथा तपस्वियोंने अपने जप-तपद्वारा इस भौतिक देहको महान् कष्ट देकर जनसाधारणके सम्मुख मानवजीवनके मूल्यों एवं उसके महत्त्वको बड़े-बड़े ग्रन्थ रचकर शब्दबद्ध किया।

फिर जमाना बदला, मनुष्य धर्मच्युत होने लगे। उनकी दानवीय वृत्ति उभर आयी तब जैनधर्म और बुद्धधर्म—इन नये नामोंके साथ, नये विचारों और नये विश्लेषणोंमें समेटा-लिपटा वही सनातनधर्म नयी ही प्रकारसे परिभाषित होकर प्रस्फुटित हुआ, जिसकी लहर भारततक ही सीमित नहीं रही, पर दूर-दूर लंका, जापान, चीन और मध्य एशियातक पहुँची। वे दिन कितने अच्छे, सुवासित एवं सुन्दर रहे होंगे, जब बौद्धधर्मको राजकीय धर्म घोषित कर 'राज्य' जैसी धर्म-निरपेक्ष संस्थाने भी इसके प्रसार और प्रचारमें कोई कसर उठा न रक्खी थी—राज्यका प्रत्येक कार्य धर्मकी

कसौटीपर कसा जाता था। यद्यपि शिक्षाव्यवस्था उस समय इतनी मजबूत एवं दृढ़ न थी, फिर भी धार्मिक ग्रन्थोंका पढ़ना और उनपर मनन कर आचरण करना तथा धर्मके मूल तत्वोंको जनसाधारणतक पहुँचाना प्रत्येक पढ़े-लिखे व्यक्तिका कर्तव्य समझा जाता था।

देशने फिर करवट ली—अत्यधिक धार्मिक श्रद्धा तथा शिक्षा-प्रसारकी समुचित व्यवस्थाके अभावसे अधार्मिक प्रवृत्तियाँ जहाँ-तहाँ उभड़कर समाजके सामने आने लगीं। परिणामस्वरूप भारतीय समाजमें फूट और आपसी वैमनस्य तथा कटुता बढ़ने लगी। फिर मध्यकालीन युगमें मुसल्मानोंका आगमन हुआ, वे भी अपने साथ अपना मुस्लिमधर्म लेकर आये। वहाँ मुस्लिम शासकोंके द्वारा वही मुस्लिम मजहब राजकीय धर्म बना। वैसे अन्य प्राचीन धर्म और धर्मसंस्थापक पूर्णरूपसे भारतीय तो थे ही; पर उनके द्वारा संस्थापित नये नामोंसे सम्बोधित वे नये धर्म लगते थे नये-नये, पर थे वास्तवमें उसी पुरातन हिंदूधर्मके रूपान्तर ही—इसीलिये ये धर्म यहाँपर वहाँकी हिंदू-संस्कृतिमें घुल-मिल गये; पर यह मुस्लिम धर्म, जिसकी संस्कृति ही अलग थी, यहाँकी परिस्थितियों तथा धार्मिक भावनाओंमें न जम सका। इसी कारण लाख प्रयत्न करनेपर भी इसके माननेवालोंकी जमात अलग ही रही।

फिर धीरे-धीरे क्रिश्चियन धर्मका आगमन हुआ। विदेशी शासकोंका यह धर्म उतना कट्टर और कठोर न था। इसमें उदारताके साथ अन्य लोगोंको तुरंत ही क्रिश्चियन बना देनेका विधान और छूट होनेसे हिंदू-धर्मकी कठोरता और अत्यधिक कट्टरताके कारण कई क्षुब्ध हिंदूलोग क्रिश्चियन बनने लगे—और फिर उनको ऊपरसे कई राजकीय प्रलोभन भी मिल जाते थे।

अस्तु, कुछ भी हो, आर्यकालसे लगाकर आजतक भारतीय जनता सामूहिकरूपसे किसी-न-किसी धर्ममें बँधी अवश्य अनुभव करती रही—भले ही भारतीय समाज इन कई धर्मों या धार्मिक गुटोंमें अलग-अलग विभाजित क्यों न हो गया हो। पर फिर भी उनकी शालाएँ अपने-अपने गुटके अनुसार धार्मिक शिक्षाकी व्यवस्था करती थीं। हिंदुओंके बच्चे पाठशालाओंमें, मुसल्मानोंके मकतबोंमें तथा ईसाइयोंके मिले-जुले स्कूलोंमें जहाँ एक ओर पढ़ना-लिखना सीखते थे, वहीं दूसरी ओर धार्मिक ग्रन्थोंका पठन-पाठन भी आवश्यक समझा जाता था। उन बालकोंसे न केवल यही अपेक्षित था कि वे अपने धर्म-ग्रन्थोंकी सूक्तियोंको कण्ठस्थ करें, वरं उनसे यह भी पूर्ण आशा की जाती थी कि उन सूक्तियोंका वे अपने दैनिक जीवनमें कितना परिपालन करते हैं ? उनके जीवनकी शुद्धता, पवित्रता तथा नैतिकता उनके हर चारित्रिक व्यवहारमें—उनके हर आचरणमें झलकती थी। अनुशासन-सम्बन्धी कोई समस्या ही नहीं थी—समाजमें पूर्ण व्यवस्था थी। लोग अपने-अपने धर्मको जानते थे तथा स्वेच्छासे उसका पालन करते थे। उनके जीवनमें सात्विकता थी, मिठास थी, एक दूसरेके दुःख-दर्दको वे जानते थे एवं उसका निराकरण करना सभी अपना कर्तव्य समझते थे।

विद्यार्थियोंको भी उस 'सत्ता' में विश्वास था। 'गोविन्द' के प्रति सच्ची लगन होती थी। अपने गुरुओंमें श्रद्धा और विश्वास था—उनका सम्मान और आदर करना वे अपना पवित्र कर्तव्य समझते थे; यही नहीं, वे गुरुओंको गोविन्दसे भी बढ़कर मानते थे। उनकी हर बातपर विश्वास प्रकट करते थे। यद्यपि शालाएँ प्रायः गुरुओंके घरोंतक ही सीमित थीं तब भी वे अपना मानसिक तथा शारीरिक विकास पूरी तौरपर कर सकते थे। शिष्टता और सभ्यता उनमें कूट-कूटकर भरी होती थी। समाजमें कहीं भी उच्छृङ्खलताके तत्त्व वर्तमान न थे। लोगोंमें भगवान्‌का भय बना रहता था। पाप और पुण्यको वे समझते थे—शरीरको नश्वर मानकर आत्माके अमरत्वमें पूरी आस्था रखकर मृत्युके बाद स्वर्गमें जा बसनेकी तीव्र भावना उन लोगोंमें विद्यमान थी। शालाएँ तथा शालीय पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकें सभी धार्मिक तथ्योंपर आधारित था—यही नहीं, राम-कृष्ण, सीता-सावित्री, सत्यवान-सिद्धार्थ आदि अनेक नरश्रेष्ठोंके आदर्श जीवनको उदाहरणार्थ पाठ्यपुस्तकोंमें प्रदर्शित किया जाता था। विद्यार्थी उन जीवन-कहानियोंसे न केवल प्रेरणा ही पाते थे, पर दूने जोश एवं उत्साहसे सुन्दर जीवन जीनेको सदा उत्साहित भी रहते थे। धर्म उस समयके मानवजीवनके प्रत्येक छोटे-से-छोटे व्यापारमें प्रवेश पाता था। घरपर बालकके जन्म लेनेके अवसरसे लगाकर उसके जीवनपर्यन्त कई धार्मिक संस्कारोंसे समय-समयपर उसको सुसंस्कृत किया जाता था। बाहर मन्दिरों तथा सत्कथाओंके बखानोंसे ओतप्रोत धार्मिक वातावरणका तीव्र प्रभाव उन सुकोमल बालकोंके मस्तिष्कोंमें अङ्कित हो जाता था—परिणामतः बालक मानवीय गुणोंको अपने जीवनमें पनपते—प्रस्फुटित होते देखते थे। शिक्षा भी

वास्तविक ज्ञानका स्वरूप लेकर अन्तमें धार्मिक प्रवृत्तियोंको और उभाड़नेमें बहुत सहायक होती थी । धर्मविमुखता एक अपराध समझा जाता था और समाज ऐसे व्यक्तिको दण्ड देता था जो समाजमें प्रचलित और सम्मानित धार्मिक भावनाओंको कारण-अकारण ही ठेस पहुँचाता था या उन भावनाओंके विपरीत आचरण करता था । विवाह भी मनुष्यका एक पवित्र धार्मिक संस्कार था । इसके भी अनेकों विधान निश्चित किये गये । कई नियम बनाकर इसको भी बड़ा कठोर कर दिया गया, जिससे यह सम्भव न हो कि मनुष्य अपनी पाशविक वासनाओंके वशीभूत होकर उस पवित्र बन्धनको भी विच्छिन्न करनेको बात-बातपर तैयार हो जाय । इससे समाजमें सुव्यवस्था थी, स्थिरता थी—एक सुन्दर संगठन था । मानसिक उलझनें न थीं । स्त्री-पुरुषमें प्रेम स्वाभाविक रीतिसे बढ़ता था, जिसको धर्मके नामपर निभाना और अन्ततक निभाना एक दूसरेका पवित्र कर्तव्य समझा जाता था । वह स्त्री हजारगुनी सौभाग्यवती और पुण्यात्मा एवं पतिव्रता समझी जाती थी, जो अपने जीवनके तीन आश्रम पूरे कर अपने पतिसे पहले स्वर्ग सिधार जाती थी । नैतिकता एवं सदाचार और धर्म-संहितापर आधारित यह समाजव्यवस्था, जो एक मिली-जुली परिवार-प्रणालीको प्रश्रय देती थी, कितनी अच्छी तथा सुदृढ़ थी कि जिसकी आज कल्पना ही की जा सकती है ।

आज—आज इस बीसवीं सदीमें स्थिति बहुत ही विपरीत दृष्टिगोचर हो रही है । आज कुछ अजीबसे जीवन-मूल्य निर्धारित हो रहे हैं और दिनोंदिन इसी भारतीय भूतलपर उच्छृङ्खलता, छल-कपट तथा धर्मविमुखताको उत्साहपूर्वक प्रश्रय मिल रहा है । चरित्रपतनकी भी कोई सीमा होती है, पर आज उसकी भी कोई सीमा नहीं रह गयी है । क्या बड़े और क्या छोटे, कुछ अजीब-सा तथा अटपटा-सा निरा पशुवत् व्यवहार करते भी न तो उस सर्वद्रष्टासे डरते हुए मालूम पड़ते हैं और न अपने आपसे ही । हाँ, माना—आज भारत आजाद है । उसमें विशुद्ध गणतन्त्रका प्रयोग सफल हुआ जा रहा है, पर जहाँ राज्यने अपने-आपको धर्मनिरपेक्ष घोषित किया, वहाँ लगा जनताने अपने-आपको धर्मविमुख हो जानेका बिगुल बजा दिया । जहाँ राज्यने कई राजनीतिक परिस्थितियोंके कारण शिक्षाको धर्मसे अछूती बना रखनेका निर्णय लिया, वहाँ जनताने समझा—धर्म-कर्मकी अब कोई जरूरत ही नहीं; उनकी पशु-प्रवृत्तिको उभाड़नेका अवसर मिला । इधर राज्यने पाठ्य-पुस्तकोंसे राम-कृष्णके सच्चरित्र, सीता-सावित्रीका आदर्श जीवन-यापन तथा धार्मिक सूत्रोंको निकाल बाहर किया तो उधर समाजने इन्हें अपने पारिवारिक जीवनसे भी पूर्णरूपसे बहिष्कृत करनेकी ठान ली । विज्ञानप्रदत्त नये-नये सत्वर गतिसे चलनेवाले यातायातके साधनोंका जाल बिछा तो उनके साथ पश्चिमकी भौतिक चमचमाहट तथा भौतिक ऐश्वर्यों और भोग-विलासोंकी अतृप्त वासनाएँ भी आयीं जो सुरा-सुन्दरियोंमें जीवनका अन्तिम ध्येय समझकर उनमें ही अपने आपको खो देनेको प्रवृत्त करने लगीं—यही नहीं, चित्रपटपर नाचने-गानेवाली और अपने अङ्गो-अयवयोंका प्रदर्शन करनेवाली ये आजकी नर्तकियाँ पाशविक प्रवृत्तिको उभाड़नेमें अत्यधिक सहायक हुईं । आजकी कलियुगी सरकार जिसने केवल धन-दौलतपर, बड़े-बड़े राजकीय अधिकारी अपने मानव-जीवनको न्यौछावर करते हुए-से लगे—इनसे भरपेट अपनी आमदनी बढ़ानेमें इतनी मदान्ध हो चली कि उसे आज यह भी ध्यान नहीं आता कि ये चित्रपट-कंपनियाँ कैसी-कैसी विचित्र भारतीयतासे परे, उच्छृङ्खलताओंसे भरी और पाशविकताको पोषित करनेवाली कहानियाँ नित नयी-नयी नये-नये कामपरक नामोंसे निकाल रही हैं ? इन कुछ कहानियोंके नाम तो इतने भद्दे और अश्लीलतर होते हैं कि पुत्र अपने पितासे, पुत्रियाँ अपनी माँ एवं भाइयोंसे खुलकर कह ही नहीं सकतीं और जहाँ ऐसे नामोंसे चित्र गढ़े जा रहे हैं, जिनमें नये-नये युवक एवं युवतियाँ जाते ही हैं तो फिर उनमें जाने-अनजाने उच्छृङ्खलता तथा अश्लीलताके पनप जानेमें आश्चर्य ही क्या है ? शालाओंमें अंग्रेजी प्रेम-कहानियाँ पढ़ना तथा उनके चरित्रोंपर टिप्पणियाँ लिखना और चित्रपटोंमें वैसे ही उच्छृङ्खल, धर्म-कर्मसे दूर अधार्मिक चित्र देखना—यदि इनसे आजकी पौधेमें उच्छृङ्खलता और अधार्मिकता न पनपेगी तो क्या होकर रहेगा ? आज राष्ट्रके सामने नैतिक पतनका प्रश्न बड़ा जटिल और उलझा-उलझा-सा मुँह फाड़े खड़ा है । बड़ा आश्चर्य है, रेलके डिब्बेमें एक सुसभ्य पढ़े-लिखे और अच्छे परिधानोंमें सजे-सजाये युवकके साथ एक भले घरकी बहन-बेटी अपने-आपको सुरक्षित नहीं समझती जितना वह गाँवके अनपढ़ किसी व्यक्तिके साथ सुरक्षित समझ सकती है । क्यों ? क्या शिक्षासे युवक इतने गिर जाते हैं ? इतना उनका नैतिक पतन हो जाता है ? वे इतने चरित्रहीन हो

जाते हैं ? यदि हाँ, तो उस शिक्षाको धिक्कार ! उस शिक्षालयको धिक्कार ! उस समाजको धिक्कार जो अपने-आपको सभ्य एवं पढ़ा-लिखा घोषित करता है !

आज शिक्षालयों और शिक्षकोंमें जितनी चरित्रभ्रष्टता देखी जाती है, उतनी और कहीं नहीं । स्त्री-पुरुषोंमें केवल स्त्री और पुरुषका सम्बन्ध माननेवालेमें कॉलेजी पढ़े-लिखे लोग यह भूल जाते हैं कि स्त्री जहाँ एक ओर किसी-की बहिन है तो किसीकी माँ भी । यदि ऐसा ही एक-सा ही सम्बन्ध इस समाजमें प्रतिष्ठापित हो जाय तो निश्चय ही यह समाज मनुष्योंका नहीं, पशुओंका बनकर रह जायगा ।

बड़ी कठिनाई है—दर्द तो पेटमें है और आँखोंका इलाज किया जा रहा है । कुव्यवस्था तो शिक्षामें आ गयी है, जहाँ न केवल पाठ्यपुस्तकें ही दोषी हैं, पर वह सम्पूर्ण विधान—वह सम्पूर्ण व्यवस्था ही दूषित है, जिसके कारण यह रोग दिन-दूना रात-चौगुना बढ़ता ही जा रहा है। मनुष्यजीवन और धर्म—मानो अब दो अलग-अलग वस्तु हो गयी हैं। शिक्षाको भी धर्मसे कोई सरोकार नहीं । सुनते हैं और पढ़ते हैं कि सरकार आजकी इस उच्छृङ्खलता तथा अनुशासनहीनतासे बहुत ही चिन्तित है । तभी तो कभी वह राष्ट्रस्तरपर अनुशासनकी कई नयी-नयी योजनाएँ प्रारम्भ करती है तो कभी प्रान्तीय सरकारोंको आदेश देती है कि एन. सी. सी. ए. सी. सी. को और सख्त किया जाय । पर मैं सोचता हूँ क्या यह रोग इनसे जाता रहेगा ? एक ओर शिक्षाको धर्म-निरपेक्षताके नामपर धर्मसे अलग रक्खो, दूसरी ओर कामुकताको उभाड़नेवाली अश्लील नामोंके चित्र देखनेकी छूट दो, तीसरी ओर प्रेमपत्र लिखवानेकी शालाओंमें शिक्षा दो, चौथी ओर नवयुवक और नवयुवतियोंको एक-सी अधार्मिक शिक्षासे शिक्षित करो, पाँचवीं ओर वैसी ही शिक्षासे दीक्षित अध्यापकोंके मत्थे उन नवयुवक एवं नव-युवतियोंको स्वतन्त्रतासे छोड़ दो······तो फिर परिणाम क्या होगा ? चाहे कितनी ही अनुशासन एवं जीवनमें व्यवस्था लानेके लिये राष्ट्रीय स्तरकी योजनाएँ चला लीजिये और चाहे कितनी ही राज्य सरकारें आदेश निकाल-निकालकर शालाओंको कसती रहें, यह पाशविक और नैतिक दुराचरणका रोग बढ़ता ही जायगा !

जैसा कि इस लेखके प्रारम्भमें बताया गया है कि प्राचीन कालमें यद्यपि शिक्षाकी इतनी समुचित व्यवस्था न थी, इतने साधन-साज उपलब्ध न थे, तथापि शिक्षा धर्म-प्राण थी । शिक्षाका मूल उद्देश्य उस समय यह समझा जाता था कि मनुष्य शिक्षित होकर इस लोकमें शुद्ध आचारवान् बनकर त्यागवृत्ति धारण करे और अपने परलोकको सुधारे । परलोकको सुधारनेकी जितनी तीव्र इच्छा उस समयके मनुष्योंमें थी, उतनी ही आज इस जीवनमें जितने भौतिक सुखोंकी उपलब्धि एवं भोग कर सको, करो—हो गयी है । लोगोंके आचरणपर कोई धार्मिक अङ्कुश नहीं रहा । असत्य भाषण, झूठ-कपट, राग-द्वेषका बर्ताव—एक दूसरेको नीचा दिखानेकी कुत्सित भावना, अंधी होड़, पाप-पुण्यके भेदको न समझना और इन्द्रिय-सुख—सभी मानो इन्हींमें अपने-आपको खोये चले जा रहे हैं; अपने इस अमूल्य मानव-जीवनको माटीके मोलका समझकर पुनः प्राप्त हो; न हो—इस भावनाके वशीभूत होकर जो इस भूभागपर अन्धी दौड़ दिखायी पड़ रही है, वह इस समाजको कहाँ ले जाकर रख देगी ? 'जैसा राजा, वैसी प्रजा'के स्थानपर अब 'जैसे नेता, वैसी जनता' ढलती जा रही है । यदि नेताओंमें 'नैतिकता' होती, धर्मके प्रति कुछ आस्था होती, उनके जीवनमें सुरा-सुन्दरियोंका प्रवेश निषिद्ध होता, भौतिक ऐश्वर्योंमें उनकी आँखें उलझी-उलझी न होतीं । कुर्सी प्राप्त करनेकी उलटी-सीधी, झूठ-कपटकी बात कहनेकी सत्रह आने कोशिश न होती—तो कुछ सम्भव था; उनकी जनता उनके भीतरसे निकली अन्तरात्माकी पुकारपर कुछ चिन्तन करती; कुछ मनन करती और थोड़ी सोचती कि उनके बालक-बालिकाओंकी शिक्षा-व्यवस्थामें धार्मिक पुट अवश्य होना चाहिये, जिससे धर्म-निरपेक्षताकी ओटमें धर्म-विमुखता न पनप पाती और न ऐसे उच्छृङ्खल तत्त्व ही समाजमें दिखायी देते ।

ऊपरसे, विज्ञानके ज्ञानकी चमचमाहट और जाज्वल्य-मान प्रकाशने आजके युवकको इतना चौंधिया दिया है कि वह उसके पार उस विशुद्ध, सत्य, सनातन, आदिपुरुष, अगम्य, अगोचर—उस सर्वशक्तिमान, सर्वत्र व्यापक, इस ब्रह्माण्डका नियन्त्रण करनेवाले प्रभुको कभी देख ही नहीं सकता और न उसकी कल्पना ही कर सकता है !

* * *

निंदक नियरे राखिये

(लेखक—डा० श्रीसुरेशचन्द्रजी गुप्त, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

संत कबीरने एक दोहेमें बड़े मर्मकी बात कही है—

निंदक नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय।
बिन पानी साबुन बिना, निर्मल करै सुभाय॥

इस दोहेका भाव यह है कि निन्दकको अपने पास रक्खो—उसके लिये अपने आँगनमें कुटी बनवा दो; क्योंकि वह पानी और साबुनका प्रयोग किये बिना भी स्वभावको निर्मल बना देता है। जैसे कपड़ेपर किसी भी वस्तुका दाग तुरंत पड़ जाता है, उसी प्रकार मन-रूपी वस्त्रपर भी जगत्के दुष्प्रभाव पड़ते रहते हैं। मन एक ऐसे दर्पणकी भाँति है जिसमें प्रत्येक वस्तुका प्रतिबिम्ब पड़ता है। कुछ बिम्ब ऐसे होते हैं, जिन्हें सुरक्षित रखनेकी आवश्यकता होती है और कुछको उपेक्षाकी दृष्टिसे देखना होता है।

जगत्में नानाविध पदार्थ और कार्य-व्यापार होते हैं। मन उन सभीके प्रति आकर्षित होता है और साधारणतः हमारी यह प्रवृत्ति नहीं होती कि हम आत्मविश्लेषण करके अपने मनोभावोंमें ग्राह्य-अग्राह्यका विवेक रक्खें। मनकी इस दुर्बलताका यह फल होता है कि गुणोंकी तुलनामें दोष मनुष्यको अधिक आकृष्ट करते हैं। किंतु मन यह स्वीकार करना नहीं चाहता कि उसकी प्रवृत्ति दोषोंकी ओर है। दोषोंके विघातक रूपकी ओरसे आँखें बंद करके हम उनके मोहक रसका आनन्द लेते रहते हैं।

मानव-मनकी उपर्युक्त प्रवृत्तिका मूल कारण यह है कि हम अहंवादी हैं—अपने सामने किसीको कुछ नहीं गिनते। इसका ही एक अन्य फल यह होता है कि हमें अपनेमें गुण-ही-गुण दिखायी देते हैं और हम दूसरोंको दोषोंका भंडार समझते हैं। बहुत कम लोग हैं जो आत्मप्रशंसाके इस रोगसे मुक्त रह पाते हैं। पर, जैसे हमें दूसरोंकी निन्दा करनेमें रस मिलता है, वैसे ही हमारी निन्दा करना भी कुछ लोग अपना परम धर्म मानते हैं। कबीरने ऐसे व्यक्तियोंसे संत्रस्त न होनेकी प्रेरणा दी है—वे तो हमारे भाई हैं, हितू हैं, मुक्तिदाता हैं। उन्हें सिर-आँखोंपर बिठाइये और खोद-खोदकर पूछिये कि उन्हें आपमें कौन-कौन-से दुर्गुण दिखायी देते हैं।

कहते हैं कि कच्चा बर्तन जरा-सी आँच पाकर तड़क जाता है। शीशेको जमीनपर डालिये, तुरंत चकनाचूर हो जायगा। ध्यान रखिये कि आपमें ऐसा अधैर्य अथवा असंयम नहीं होना चाहिये। अपनी निन्दा सुनकर न तो कुपित होना चाहिये और न ऐसी बातोंको अनसुना ही करना चाहिये। उन्हें ध्यानसे सुनिये और उनपर मनन कीजिये। हाँ, हम यह अवश्य कहेंगे कि ऐसे लोगोंके लिये आँगनमें कुटी बनवाने और वहाँ रहनेकी प्रार्थना करनेके दिन अब नहीं रहे। अपने ही रहनेका ठिकाना नहीं हो पाता, उनके लिये व्यवस्था कहाँसे करें? हाँ, आप उन्हें चाय पीनेके लिये आमन्त्रित कर सकते हैं और अपने दुर्गुणोंकी कुनैनको चायकी हर घूँटके साथ मधुर बनाकर ग्रहण कर सकते हैं।

चिकना घड़ा

[कहानी]

(लेखिका—श्रीमती बलबीर 'बीर')

मेरे पतिका एक विचित्र स्वभाव यह है कि यदि कोई उनसे अपनी दुःख-दर्दभरी बात सुनाकर सहायताके लिये कहता है तो उनका हृदय एकदम पिघल जाता है और उसके दुःख-निवारणके लिये वे इतने उतावले हो जाते हैं कि जबतक उसका कोई हल ढूँढ़ न लें, उन्हें चैन नहीं आती। ऐसा करनेमें कई बार उन्होंने रुपये-पैसोंके अतिरिक्त उनके कपड़े तक उतारकर लोगोंको दे दिये हैं।

उनके ऐसे व्यवहारके कारण मैं कई बार उनसे उलझ पड़ती थी और कहा करती—'हम गृहस्थी हैं, त्यागी नहीं हैं। इस तरह करते रहनेसे हमारा घर उजड़ जायगा, लेकिन मालूम नहीं आपके अंदर यह कमजोरी क्यों घर कर चुकी है। इसका अन्त अच्छा नहीं होगा। इस तरह अपने आपको लुटाते रहना बुद्धिमत्ता नहीं है।'

बार-बार ऐसा समझानेपर भी उनपर कुछ असर नहीं होता था और मेरी फटकारको हँसीमें उड़ाते हुए वे कह देते—'तुम पगली हो! सुनो! जब मैं पैदा हुआ था तो अपने साथ कुछ भी लेकर नहीं आया था और जब मैं बहुत छोटा ही था, तभी मेरे माँ-बापकी छाया मेरे सिरसे उठ गयी थी और तब मैं अनाथ रह गया था। अब··अब·····कई साधु सज्जनोंकी दयाके कारण ही मैं इतना बड़ा हो गया ··भगवान्‌ने मुझे कितना बड़ा व्यापारी बना दिया है··· ये सब चीज़ें मेरी नहीं हैं···भगवान्‌की ही देन हैं। इसलिये भगवान्‌के बंदोंका इनमें थोड़ा-बहुत अधिकार होना ही चाहिये।'

संसारमें रहकर मुझे उनकी ऐसी साधुओं-सरीखी बातें बड़ी बुरी लगा करती थीं। विशेषकर इसलिये कि मैं इसे उनकी मानसिक कमजोरीके सिवा और कुछ नहीं समझती थी। मैं इसीलिये उनके ऐसे विचारोंसे कभी सहमत नहीं होती थी और सदैव विरोधमें कहती—'हमारे भी बाल-बच्चे हैं, उनकी भी चिन्ता करनी है। आप हैं कि जो भी आता है, उसके लिये पागल हो उठते हैं। इस तरहका आदमी मैंने आजतक कोई नहीं देखा। यदि आप ऐसे ही बने रहें तो इसका बहुत बुरा परिणाम भोगना पड़ेगा। संसारमें रहकर व्यावहारिकताको हाथसे नहीं खो देना चाहिये।'

मेरा ऐसा तर्क सुनकर वे तड़प उठते और झल्लाकर कहते—'क्या तुम्हारा यह मतलब है कि बस मेरा संसार मेरे घरके इर्द-गिर्द ही घूमते-घूमते समाप्त हो जाना चाहिये? यह तुम्हारी तंगदिली है। चूँकि इन्सान अभीतक अपने दायरेसे बाहर निकलना सीख नहीं पाया है, यही कारण है कि दूसरे इन्सानोंका दुःख-दर्द जाननेवाले संसारमें कम नज़र आते हैं। स्वार्थपरताका जोर बढ़ रहा है और मानव मानवको बचानेके बजाय उसका गला काटता जा रहा है······तुम्हें मेरे साथ रहकर कुछ सीखना होगा।'

'सीखने-सिखानेकी भी कोई हद होती है।' मैं जल-भुनकर कहती—'आपने कभी न यह देखा है, न सोचा है कि जो आपके पास आ रहा है, वह असलमें अधिकारी भी है या नहीं। लोगोंको आपकी दयालुता कहूँ या कमजोरी—उसका ज्ञान हो चुका है और वे उसका लाभ उठाते चले जाते हैं।'

मैं सैकड़ों बार उन्हें इस तरह समझा-समझाकर थक-सी गयी थी; परंतु वे एक थे जैसे चुपड़ा हुआ घड़ा। रोज अपनी आँखोंसे ऐसा होते देखकर आखिर मैंने सोचा कि लड़ाई-झगड़ा करनेसे तो ये अपनी आदत बदलते नहीं हैं, इसलिये अब इन्हें अपनी शपथ दिलाऊँगी। मुझे पता था कि मेरी शपथका किसी हालतमें भी ये उल्लङ्घन नहीं कर पायेंगे; क्योंकि इनकी जबानसे प्रायः मैंने यह कहते हुए सुना था—'यह सब तुम्हारा ही प्रताप है। तुम्हारे कदम पड़नेपर ही लक्ष्मी मेरे ऊपर प्रसन्न हुई थी। यदि तुम मुझे न मिलतीं तो मेरा जीवन मिट्टीमें मिल जाता। तुम्हारे लिये मैं सब कुछ करनेको तैयार हूँ' और मुझे अपने अन्तिम हथियारको आजमानेका संयोग भी जल्दी ही मिल गया।

नवम्बरका महीना था। वे कामपर जानेकी अभी तैयारी कर ही रहे थे कि नीचेसे किसीने घंटी बजायी। मैंने खिड़कीसे झाँका। एक साँवले रंगका नौजवान खड़ा था। उसने पूछा—'क्या बाबूजी घरपर हैं?'

एकाएक मेरे मनमें एक शंका उत्पन्न हुई। सोचा, कुछ माँग लेकर आया होगा। मनमें आया कह दूँ कि वे घरपर नहीं हैं। मैं अभी ऐसा करनेकी बात सोच ही रही थी कि इन्होंने झटसे नीचे ताका और जोरसे पुकारा—'देवेन्द्र! आ जाओ!'

वह कमरेमें आकर बैठ गया। मैं कमरेसे चली गयी, लेकिन दीवारके साथ खड़ी होकर उनकी बातें सुनती रही।

देवेन्द्र कह रहा था—'बाबूजी ! आपकी कृपाओंका मैं बहुत आभारी हूँ । आपकी कृपासे और आपकी सहायतासे, जो आप मेरी फीसके सम्बन्धमें करते रहे हैं, मैं आज बी.ए.की परीक्षामें पास हो गया हूँ ।'

उन्होंने उसकी पीठ ठोंकी और उसे प्रोत्साहन देते हुए कहा—'अब तुम्हारा कष्ट कट गया समझो । कहीं नौकरी लग जायगी । कोशिश करो ।'

'बाबूजी,' देवेन्द्रने नम्रतापूर्वक कहा, 'आपकी बात तो ठीक है, परंतु नौकरी भी तो बिना सिफारिशके नहीं लगती ।'

'चिन्ता मत करो । भगवान् करे तुम्हें नौकरी भी शीघ्र मिल जाय । मैं तुम्हारी किसी अच्छी-सी जगहपर सिफारिश कर दूँगा······तुम मुझे मिलते रहना ।'

देवेन्द्रने आँखोंमें कृतज्ञता लाते हुए कहा—'मैं आपका धन्यवाद किन शब्दोंसे करूँ बाबूजी !'

'इसमें धन्यवाद करनेकी क्या बात है । तुम मेरे प्रिय हो, जहाँतक मुझसे हो सकेगा, मैं तुम्हारी अवश्य सहायता करूँगा ।'

'मैं आपको याद दिलाता रहूँगा । आपके बिना मेरा अमृतसरमें और कोई भी तो नहीं है । सब रिश्तेदार अपने-आपमें मस्त हैं । बेशक वे सब खाते-पीते हैं, लेकिन कभी किसीने मेरी सहायता नहीं की । आपने जो मेरी सहायता आजतक की है, मैं जीवनभर भूल नहीं सकूँगा और सारी उम्र आपका पानी······।'

इन्होंने उसकी बात काटते हुए कहा—'ऐसी बातें नहीं सोचनी चाहिये । मैं कौन हूँ जो किसीको मदद कर सकूँ । सब चक्र ऊपरवाला ही चलाता है ।'

देवेन्द्रने जानेसे पहले कहा—'बाबूजी ! एक······ अर्ज करूँ ।'

'हाँ, हाँ ! झिझक किस बातकी ?'

देवेन्द्रने रुकते-रुकते कहा—'मेरे पास जो रजाई थी, वह चार-पाँच साल हुए बनवायी थी······और अब बिलकुल फट चुकी है······उसमें मैं आजकल इस सख्त सर्दीमें अकड़ जाता हूँ······एक रजाई अगर मिल जाय······तो इस सर्दीसे बच जाऊँगा······नहीं तो······।'

एक क्षण कुछ सोचकर उन्होंने कहा—'कल दोपहरको दूकानपर आना, मैं तुम्हारे लिये रजाईका प्रबन्ध कर दूँगा ।'

देवेन्द्र जब चला गया तो मैंने इस विषयपर उनसे काफी नोक-झोंक की, लेकिन वे हारनेवाले कब थे । आखिर मैंने अन्तिम तीर चलाया । अपनी कसम दिलायी । उन्होंने उत्तरमें मुझे आश्वासन दिलाते हुए कहा—'मैं तुम्हारी कसम खाता हूँ कि बाजारसे रजाई खरीदकर नहीं दी जायगी ।'

मुझे उस दिन पहली बार अपनी विजयपर खुशी हुई थी, परंतु उन्होंने जो कसम खायी थी, वह तो मुझे बादमें पता चला कि वह एक ऐसी शरारत थी जो वकील लोग बातें करते समय किया करते हैं । देवेन्द्रके आनेके दूसरे दिन हमलोगोंको दिल्ली उनके बड़े भाईकी लड़कीके विवाहमें जाना था । मैं दोपहरको सब सामान तैयार करके बिस्तर वगैरह बाँधकर अपने मैके मिलने जब गयी तो रास्तेमें इनको कहती गयी कि आप शामको घरपर जल्दी आ जाना । मैंने देखा कि देवेन्द्र उस समय उनके पास बैठा था । उसे देखकर न मालूम मुझे उसपर क्यों क्रोध आ गया था ।

दिल्ली पहुँचकर जब रातको बिस्तर लगाये गये तो इनकी रजाईका वहाँ कुछ पता न चला, काफी लोग आये हुए थे । मैंने सबकी रजाइयाँ एक-एक करके उलट-पुलट करके देखीं, लेकिन इनकी रजाई सचमुच गुम थी । मैं बड़ी हैरान हो रही थी । मैंने खुद ही तो इनका बिस्तर तैयार किया था, फिर रजाई गुम कैसे हो गयी ! रास्तेमें बिस्तर हमने खोले ही नहीं थे । जो कम्बल हमारे पास थे, उन्हींसे रास्तेमें गुजारा हो गया था । मैं घबरायी कि इनको जब अपनी रजाई नहीं मिलेगी, तो ये मुझपर नाराज होंगे । एक शंका पैदा हुई—'शायद मैं जल्दी-जल्दीमें अमृतसर ही भूल आयी हूँगी ।'

रातको जब इनके भाईके घरसे नयी रजाई लेकर इनके बिस्तरपर रक्खी तो सोते समय इन्होंने मुझसे सरलतापूर्वक पूछा—'मेरेवाली रजाई कहाँ है ?'

मैंने डरते-डरते उत्तर दिया—'बिस्तर बाँधते समय शायद मैं अमृतसर ही भूल आयी हूँ ।'

'वाह ! तुम भी बहुत होशियार औरत हो !' उन्होंने भोले भावसे कहा—'मेरे साथ तर्क-वितर्क करनेमें तो कभी भूल नहीं करती हो और इतनी बड़ी रजाई वहाँ कैसे भूल गयी ?'

मैं हारे हुए सिपाहीके सदृश थी, क्या उत्तर देती । सहसा मेरे मुँहसे निकल गया—'जरूर इसमें आपकी शरारत होगी ।'

'मेरी शरारत ! इस तरह थोड़े ही जीता जा सकता है ?' उन्होंने मुस्कराते हुए कहा ।

मैं अभी कुछ उत्तर दे ही नहीं पायी थी कि जेठजी आ गये और मैं चुपकेसे वहाँसे खिसक गयी ।

विवाहकी भीड़-भाड़में रजाईकी बात मेरे दिमागसे उतर-

सी गयी थी। विवाहके बाद बाहरसे आये हुए लोग जा रहे थे। भीड़भाड़ कम हो रही थी। एक दोपहरको पोस्टमैन कुछ चिट्ठियाँ फेंक गया। उनमें एक चिट्ठी इनके नाम भी थी। मैंने उसे खोल लिया। जब मैंने उसे पढ़ा तो मेरे विस्मयकी कोई सीमा न रही। पत्र देवेन्द्रका था। लिखा था—

'पूज्य पिताजी! मुझे विश्वास है कि आप सब राजी-खुशी दिल्ली पहुँच गये होंगे। बहुत दिनोंके बाद मैं अब रातको आरामसे सोया करता हूँ। आपकी दी हुई रजाईसे मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे मैं आपके साथ ही सोता हूँ और आप मुझे थपकियाँ दे-देकर सुलाते रहते हैं। इस समय भी मैं इस बेजान रजाईके तार-तारमें आपके दर्शन कर रहा हूँ। ऐसा हो भी क्यों न! आपकी मेरे प्रति प्रीति सदा ही मिलावटसे दूर रही है। यह रजाई आपके दिलकी भीतरी भावनाओंकी जीती-जागती तस्वीर है—।'

पत्र समाप्त करते-करते न मालूम क्यों और कैसे मेरे नेत्रोंमें अलौकिक आनन्द और शान्तिके अश्रु छलछला आये, जिन्होंने मेरे हृदयके अन्तरतम तारोंको झकझोर कर जन्म लिया था। उनकी रजाईने एक गरीब प्राणीको कितना बड़ा सुख पहुँचाया था, यह सोचते-सोचते मेरी आत्मा उनकी महानताके आगे झुक-सी गयी।

जब वे घर आये, तो मैंने वह पत्र उनको दे दिया। पत्र पढ़कर उन्होंने मुझसे हँसते हुए कहा—'अब तो खोई हुई रजाई मिल गयी है न?'

मेरी आँखोंमें अपार प्रसन्नता थी, फिर भी मैं उन्हें उनके सामने उठा न सकी। केवल इतना ही कह पायी—'आजसे मैंने निश्चय कर लिया है कि कभी आपका विरोध नहीं किया करूँगी।'

मेरा उत्तर सुनकर वे मुसकरा कर बोले—'जो काम मैं अभीतक कर नहीं पाया था, मुझे प्रसन्नता है कि देवेन्द्रके एक पत्रने ही वह कर दिखाया है।'

जय श्रीकृष्ण हरे!

[रचयिता—विद्यालङ्कार श्रीजगन्नाथजी मिश्र गौड़ 'कमल' वेदान्तरत्न]

जय श्रीकृष्ण हरे।
जय मुकुन्द मधुसूदन माधव,
मुरली अधर धरे!!

× × ×

बनमाला धारे बनमाली, तुझे देख है मुग्ध बनाली।
कालिंदीके कलित कूल पर, तू किल्लोल करे।
जय श्रीकृष्ण हरे॥

× × ×

जब निशीथके सूने क्षणमें, बजती मुरली बृंदाबनमें,
मधुर गीत गुंजित हो भवमें, तन्द्रा-दुरित हरे।
जय श्रीकृष्ण हरे॥

× × ×

चढ़ सौन्दर्य-समीरण-रथमें, बिखराता कलियाँ वन-पथमें,
जब तू कुसुमित वन कुंजोंमें, नटवर नृत्य करे।
जय श्रीकृष्ण हरे॥

× × ×

नखत-प्रदीप-पुंज ले रजनी, कर-कुंकुम ले ऊषा सजनी,
तेरी नित आरती-अर्चना, सज-सज थाल करे।
जय श्रीकृष्ण हरे॥

× × ×

पावस-ऋतुमें मेघ-किन्नरी, हरित कलित छबि-रागसे भरी,
धो-धो कर तेरे चरणोंको, निज मन मोद भरे।
जय श्रीकृष्ण हरे॥

× × ×

माधवका स्वर लेकर कोयल, कूक-कूक कुंजोंमें प्रतिपल,
ब्रज-नागरियोंके मानसमें, मोहन-विरह भरे।
जय श्रीकृष्ण हरे॥

× × ×

कालिंदीकी लहरें चंचल, फिर-फिर, तिर-तिर करतीं कल-कल,
स्मृतिकी किरण चमकतीं उनमें माधव-रूप धरे।
जय श्रीकृष्ण हरे॥

× × ×

मेरे जीवन की यह यमुना, प्लावित हो पा तेरी करुणा,
तेरे चरणों पर नयनोंका आँसू-कुसुम झरे।
जय श्रीकृष्ण हरे॥

यन्त्र-शक्तिके अलौकिक चमत्कार

(लेखक—श्रीअरुणकुमारजी शर्मा)

मेरा पिछले सोलह वर्षोंसे योग और तर्कशास्त्र खोज एवं अनुसंधानका विषय रहा है। इस सिलसिलेमें मुझे योग एवं तन्त्रके प्राचीन तथा दुर्लभ ग्रन्थोंकी उपलब्धिके अतिरिक्त तन्त्रके अनेक शक्तिशाली चमत्कारोंको प्रत्यक्ष देखने और अनुभव करनेका भी अवसर मिला। केवलमात्र पुस्तकीय ज्ञानके आधारपर तन्त्रकी गूढ़ता एवं रहस्यमयतासे परिचित नहीं हुआ जा सकता। वस्तुतः यह क्रियात्मक ज्ञान है। साधना एवं उपासनाकी भित्तिपर तन्त्रकी असीम शक्तिका पूर्णतया अनुभव किया जा सकता है। अस्तु,

तन्त्रकी यावत्-साधनाका मूल केन्द्र एकमात्र 'ॐ' है। पिछले वर्ष मैं 'गिरिनार' स्थित एक महात्माके दर्शनके लिये गया था। उनसे मुझे 'तन्त्रभास्कर' और 'तन्त्रसारसर्वस्व' नामक दो अति प्राचीन और अलभ्य ग्रन्थोंकी प्राप्ति हुई। 'तन्त्रभास्कर' के अनुसार नाभिमण्डलके मध्यमें 'अग्निकुण्ड' है। जिसके चतुर्दिक् ज्योतिमण्डल है। इस मण्डलसे जो विद्युत्-छ्टा निकलती है, वह तीव्र गतिसे एक वृत्त बनाती है। वृत्त प्रकाशमय है। इस प्रकाशमय वृत्तको 'प्रभामण्डल' कहते हैं। अतः इन तीनों मण्डलोंके अधिष्ठातृ देवता क्रमशः सूर्य, अग्नि और चन्द्र हैं। मण्डलोंसे सामूहिक रूपमें जो कम्पन उत्पन्न होता है, उससे 'अ' 'उ' 'म' इन वर्णत्रयकी उत्पत्ति हुई। अकार, उकार, मकार आदिवर्ण हैं। क्रमशः इनका सम्बन्ध देवत्रयसे माना गया है और यही समस्त मन्त्रोंके साथ देवताओंके सम्बन्धका 'कारण' है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि 'अ' शिवका प्रतीक और 'ह' शक्तिका प्रतीक वर्ण है। 'अ' से 'ह' तक वर्ण 'गुणत्रय' से युक्त हैं। मन्त्रके अक्षरोंके संयोजनके समय 'गुणत्रय' पर विशेष ध्यान दिया जाता है। प्रत्येक मण्डलसे जो कम्पन उत्पन्न होता है, उसमें अति सूक्ष्म भेद है। 'अग्निकुण्ड' अर्थात् सूर्य-मण्डलसे उत्पन्न कम्पन एक सेकेंडमें ११,००,००० बार होते हैं। इसे प्रथम स्पन्दन कहते हैं। ज्योतिमण्डलके कम्पन एक सेकेंडमें ९,००,००० बार होते हैं। इसी प्रकार चन्द्र-मण्डल यानी 'प्रभामण्डल' का कम्पन ९,००,००० से कुछ सौ न्यून है। इन दोनों स्पन्दनोंको द्वितीय और तृतीय स्पन्दन कहते हैं। इस दूसरे स्पन्दनसे अष्ट प्रकृति-कम्पन-प्रधान अष्ट बीजकी उत्पत्ति हुई।

बीजमन्त्रास्त्रयः पूर्वे ततोऽष्टौ परिकीर्तिताः।
गुरुबीजं शक्तिबीजं रमाबीजं ततो भवेत्॥
कामबीजं योगबीजं तेजोबीजमथापरम्।
शान्तिबीजं च रक्षा च प्रोक्ता चैषां प्रधानता॥

(तन्त्रभास्कर मन्त्र-७०)

बीजमन्त्र प्रथम तीन और तदनन्तर आठ हैं। गुरुबीज, शक्तिबीज, रमाबीज, कामबीज, योगबीज, तेजबीज, शान्तिबीज और रक्षाबीज।

कामबीज—क, ल, ई और म। (क्लीं)
योगबीज—क, र, ई और म। (क्रीं)
गुरुबीज—आ, ए और म। (ऐं)
शक्तिबीज—ह, र, ई और म। (ह्रीं)
रमाबीज—श, र, ई और म। (श्रीं)
तेजबीज—ट, र, ई और म। (ट्रीं)
शान्तिबीज—स, त, र, ई और म। (स्त्रीं)
रक्षाबीज—ह, ल, ई और म। (ह्लीं)

और इसी प्रकार अष्टबीजोंसे नौ अङ्क और ० शून्यका भी अनुभव होता है। कामबीजसे १, ५, २। गुरुबीजसे ३, ७, ९। शक्तिबीजसे ४, ६, ८। रमाबीजसे ५, ७, ९। तेजबीजसे ८, ६, २। शान्तिबीजसे ८, ७, ० शून्य। रक्षाबीजसे ०, ५, २, ७ और योगबीजसे ९, ५, ३, २ और ७ का ज्ञान होता है। एक प्रकारसे वर्णोंका सम्बन्ध अष्टबीजोंके द्वारा अङ्कोंसे है। वस्तुतः वर्णबीजोंकी जो सार शक्ति है, वह अङ्कोंमें स्थित है। इसलिये मन्त्रोंकी अपेक्षा यन्त्र अति शीघ्र सिद्ध और फलकारक बन जाते हैं। जिस प्रकार धातु और रासायनिक पदार्थोंके विचार और मात्रापूर्वक मिश्रणसे विद्युत्-शक्ति उत्पन्न होकर प्रकाश देती है—उसी प्रकार मन्त्रोंमें अक्षर और यन्त्रोंमें अङ्कोंका मिश्रणकर उनसे असीम सूक्ष्म शक्ति उत्पन्न की जाती है। इस सूक्ष्म शक्तिके द्वारा ही वर्णाक्षरों एवं अङ्काक्षरोंके स्वाभिमानी देवगण फल देते हैं; किंतु वह सूक्ष्म शक्ति तभी सक्रिय होती है जब कि प्राणशक्ति, अन्तःकरणकी शुद्ध-शक्ति, भावशक्ति, संयमशक्ति, संकल्पशक्ति,

ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति, इच्छाशक्ति और मनःशक्ति नामक नौ महाशक्तियोंका उसमें योग होता है। यह भी जान लेना चाहिये कि ९ महाशक्तियाँ ही ९ दुर्गा हैं और इस ९ में शून्यकी प्रतिष्ठा करके तन्त्रशास्त्रमें 'दश महाविद्या' बतलायी गयी हैं। इन शक्तियोंके माध्यमसे जिन मन्त्रोंकी साधना होती है, वे निश्चय ही अपूर्व शक्तिशाली हो जाते हैं। ऐसे मन्त्र मनुष्यको क्या, देवता तकको वशीभूत कर लेते हैं—**'मन्त्रसाधनतो देवा देव्यः संयान्ति वश्यताम्।'**(तन्त्रभास्कर)

'यन्त्रचूड़ामणि' नामक तन्त्रग्रन्थके अनुसार यन्त्र चार प्रकारके हैं। प्रथम प्रकार वह है— जिसमें एकाङ्कका प्रयोग होता है।

उदाहरणार्थ—

८	१	६
३	५	७
४	९	२
ृ०	क०	तु०

इस यन्त्रके प्रत्येक कोष्ठमें एक-एक अङ्क है। सबसे नीचेके तीन कोष्ठोंमें वृश्चिक, कर्क और तुला राशि हैं। यानी इन तीन ाशिवाले मनुष्योंको केवल यन्त्र फल देगा। यह पंद्रहा न्त्र है। फारसीमें इसे 'खाकी' कहते हैं। इस यन्त्रके ावसे शत्रु वशीभूत, शारीरिक बाधाका निवारण, लक्ष्मी-ति, मनःकामनाकी पूर्ति एवं परिवारके समस्त कष्टोंका वारण होता है। ये 'पंद्रहा'यन्त्र चार प्रकारके हैं। जो रहों राशियोंके मनुष्योंके लिये चार भागोंमें विभक्त हैं; तु फल चारोंका एक समान है। फारसी तन्त्रोंमें इन त्रोंका अत्यधिक महत्त्व है। उसमें इन्हें खाकी, बादी, बी और 'आतिशी' कहते हैं।

दूसरा यन्त्र वह है, जिसमें दो अङ्कोंका प्रयोग होता है। प्रत्येक कोष्ठमें दो-दो अङ्क साथ होते हैं। उदाहरणार्थ—

[illegible]	७४	३६
[illegible]	३८	४७
[illegible]	८२	९२

यह मनःकामनापूर्ति यन्त्र है। जो चमत्कारी और सिद्ध है। तीसरा यन्त्र वह है जिसके कोष्ठकोंमें एकाङ्क और द्वयाङ्क दोनों रहते हैं।

उदाहरणार्थ

२३	३०	२	८
७	३	२७	२६
२८	२४	९	१
४	६	२५	२८

इस यन्त्रके किसी कोष्ठकमें दो अङ्क हैं तो किसीमें केवल एक। यह वशीकरण यन्त्र है। सात दिनके अंदर यह सिद्ध हो जाता है। चौथा यन्त्र वह है, जिसमें केवल बीजाक्षर होते हैं। इसका एक दूसरा भेद भी है। जिसमें बीजाक्षरोंके साथ एकाङ्क या द्वयाङ्क भी रहते हैं।

उदाहरणार्थ—

ॐ	ॐ	ॐ	ॐ
सं	सं	सं	सं
लं	वं	यं	ह्रीं
सां	ऐं	ॐ	क्लीं

यह यन्त्र है, जिसका किसी भी रुष्ट व्यक्तिको बुलाने और वशमें करनेके लिये प्रयोग किया जाता है। इसमें केवल बीजाक्षरोंका प्रयोग किया गया है। बीजाक्षरों एवं अङ्काक्षरोंका सम्बन्ध नक्षत्रों एवं राशियोंसे भी घनिष्ठ है। किन नक्षत्रों और राशियोंसे किस यन्त्रका सम्बन्ध है, यह एक पृथक् विषय है। जिस प्रकार यन्त्र और मन्त्र नक्षत्र और राशिके बन्धनमें हैं—उसी प्रकार 'समय' और 'ओषधि' से उनका समीपका सम्बन्ध है। इन सबपर ध्यान दिये विना जो यन्त्र और मन्त्र प्रयोगमें लाये जाते हैं, वे कदापि सफल नहीं हुआ करते।

प्रत्येक मन्त्रकी सिद्धि, साध्य वस्तुपर भाव-शक्तिके द्वारा केन्द्रीकरण (Focus) होनेसे तभी हो सकती है। विश्वमें दो ही ऐसी भाषाएँ हैं, जिनके प्रत्येक अक्षरके भीतर सूक्ष्म भावपूर्ण अर्थ है। एक संस्कृत और दूसरी हिब्रू। अतः इनके अक्षरोंके युक्तियुक्त मिलनके द्वारा चमत्कारी प्रभाव उत्पन्न हो जाता है। यही यन्त्र और मन्त्रका मूल रहस्य है। जो इस रहस्यसे परिचित हो जाते हैं—वे इसका उपयोग कर जीवनकी अनेक जटिल समस्याओंका सहजमें निराकरण कर लिया करते हैं।

* * *

प्रगति या अधोगति ?

आजकल भारत-राष्ट्रको समाजवादी राष्ट्र बनानेकी बड़ी चेष्टा चल रही है। इस प्रसंगमें इंग्लैंडमें समाजवाद (सोशियलिज्म) के प्रवर्तक मनीषी लार्ड बेवरिज (Lord Beveridge) का कथन ध्यान देने योग्य है।

अपनी मृत्युसे कुछ पहले लार्ड बेवरिजने अपने अन्तरङ्ग बन्धु इटालीके अध्यापक श्रीबलडी (Prof. Baldi) से बड़े दुःखके साथ कहा था कि 'भाई! मैं बड़ी ही भूल कर बैठा, अच्छा करने जाकर बुरा कर गया।' अहंकारकी विषम बाधाको लाँघ जाना सहज नहीं है। 'भगवान्‌को छोड़कर अपनी बुद्धिसे काम करनेपर सारी चेष्टा व्यर्थ हो गयी। उन्होंने मृत्युसे पूर्व इसे स्वीकार करके कहा—'इसके फलस्वरूप पुत्र-कन्याएँ अपने वृद्ध माता-पिताका त्याग करनेमें प्रवृत्त हो गयी हैं।'

कैसा बुरा परिणाम हुआ है, इसका अनुमान इंग्लैंडके प्रसिद्ध पत्र 'स्पेक्‌टेटर' (Spectator) में प्रकाशित (ता० २५। ५। ६२ के) लेखके नीचे उद्धृत अंशसे लगाया जा सकता है। उसमें लिखा है—

"ब्रिटेनमें सैकड़ों-सैकड़ों वृद्ध माता-पिताओंका यह करुण विलाप 'मौत आ जाय तो बचें'—किसीके कानतक भी नहीं पहुँचता। परित्यक्त या उपेक्षित वृद्ध माता-पिताओंकी संख्या क्रमशः बढ़ती चली जा रही है।"

इस दुर्बुद्धिका फल कितना भयानक हो रहा है, इसका अनुमान इंग्लैंडके डाक्टरी पत्र ब्रिटिश मेडिकल जर्नल (British Medical Journal) में प्रकाशित १९। १। ६३ के नीचे उद्धृत अंशसे लगाइये।

इंग्लैंडके बहुत-से अस्पतालोंमें जितने रोगी हैं, उनमें प्रायः आधे मानसिक रोगोंसे पीड़ित हैं। १९४६ ईसवीमें इनकी संख्या ५४,४२१ थी, बढ़ते-बढ़ते १९५१ में ९,४४,०४३ हो गयी थी। (अब तो और भी बढ़ी होगी)

बूढ़े माता-पिताको उनके लड़के एक 'आफत' समझते हैं और वे जरा-सा भी कहीं कटु बोल जाते हैं तो उसी सूत्रसे लड़के उनके लिये पागलपनकी सर्टिफिकेट ले आते हैं और उन्हें मानसरोगोंके अस्पतालमें दाखिल करा देते हैं।

कोरोनर डा० मिल्नेने लन्दन नगरके एक गिर्जामें कहा था—'गतवर्ष मैंने ७०० शवों (मृत शरीरों) की परीक्षा की, उनमें १८० आत्महत्याके कारण मरे हुए थे। वृद्धावस्थामें पुत्रोंके द्वारा त्याग किये हुए लोग असहाय अवस्थामें जीवन बितानेके भयसे आत्महत्या कर लेते हैं। मैं ऐसे वृद्धोंको जानता हूँ जो इसी दुःखके कारण अंधे और हृद्रोगग्रस्त हो गये थे। xxx

यही हाल यूरोपके अन्यान्य देशों तथा—अमेरिकाका है। इन पाश्चात्य देशोंमें दारुण मानसिक कष्टके परिणामस्वरूप आत्महत्या और पागलोंकी संख्या दिनों-दिन बढ़ रही है।

इसी प्रसंगमें एक बार हमारे हिंदू-समाजके उस पवित्र चित्रका भी स्मरण कीजिये—

संयुक्त परिवारमें बीसों-पचीसों आदमी एक साथ रहते थे। एकके दुःखको सभी अपना दुःख मानकर उसके प्रतीकारकी चेष्टा करते थे। सभी अपनी कमाईके पैसे घरके बड़े या प्रधान व्यक्तिको देते और उसीके आदेशसे खर्च करते। किसी एककी आय कम होती तो कोई हानि नहीं होती। जो अधिक कमाईका काम नहीं कर सकता, वह घर-खेत आदिके काम अधिक देखता। कोई भी गड़बड़ी नहीं होती। देव-द्विजोंमें भक्ति,

गुरुजनोंके चरणोंमें प्रणाम और उनकी आज्ञाका पालन देवपूजनके समान कर्तव्य समझा जाता था। प्रतिदिन मन्दिरोंमें जाना होता, उनमें पर्वादिपर व्रत-पूजा आदि विधिवत् होते। पिता-माताकी सेवाको बड़ा सौभाग्य और पुण्य समझा जाता। सभीका विश्वास था कि इससे इस लोकमें सुख और परलोकमें सद्गतिकी प्राप्ति होगी।

केवल परिवार ही नहीं, शहरोंमें मुहल्ले तथा छोटे गाँवोंमें सारा गाँव मानो एक ही परिवार था। जमीदार या धनी लोग मन्दिर, कुएँ, तालाब, धर्मशाला आदि बनाते, पेड़ लगाते और दान-पुण्य करते। गरीब भाइयोंसे निरभिमान मिलते और उनके सुख-दुःखमें हिस्सा लेते। दूसरोंके दुःखसे दुखी होनेकी शिक्षा सबको कथाओंसे मिला करती। 'दान-पुण्य करनेपर अपना कल्याण होगा'—सभीकी यह धारणा थी, घरकी बड़ी-बूढ़ी स्त्रियाँ फुरसतके समय महाभारत-रामायणकी पुरानी कथाएँ अपनी बहू-बेटियोंको सुनाया करतीं, जिससे उन्हें कर्तव्यका ज्ञान होता। सभी लोग पाप करते डरते।

हिंदुओंमें यह एक साधारण शिक्षा थी, गाँवके लोग भी कहते कि सबमें भगवान् हैं, अपने-अपने कर्मका फल सभी भोगते हैं। अतः सब सबसे अच्छा बर्ताव करना चाहते। कड़ी जबान बोलनेमें तथा अन्याय-पूर्ण काम करनेमें लोगोंको धर्म, परलोक और दुर्गतिका डर लगता।

छोटी जातिके भी बड़े-बूढ़ोंका ऊँची जातिवाले भी सम्मान करते, उन्हें चाचा, ताऊ, बाबा, दादी आदि सम्बोधन करते। सभी अपने-अपने कामके द्वारा सबकी सहायता करते। धर्मका भाव सुदृढ़ रहनेके कारण बिना किसी जाति-भेदके बड़ोंके प्रति सम्मान-श्रद्धा, बराबरकी उम्रवालोंके प्रति सौहार्द, छोटोंके प्रति स्नेह, दीन-दुखियोंके प्रति दया और सबकी भलाईकी सहज भावना रहती।

हिंदु-समाजका यह समाजवाद (सोशियलिज्म) ही वास्तविक समाज-कल्याणकर समाजवाद है। ईश्वर तथा धर्मरहित समाजवादसे तो प्रगतिके नामपर अधोगति ही होगी! (भारताजिर)

भगवान्‌का हृदयमें नित्यनिवास

बसे निरन्तर मेरे अन्तर सदा सर्वदा श्रीभगवान्।
सहज परम कल्याणरूप प्रभु पूर्ण सच्चिदानन्द महान्॥
नित्य समुद सेवन करते जो रहते नित प्रभुहीके पास।
हुआ सहज उन दैवी गुणों-विचारोंका मम मनमें वास॥
इससे काम-क्रोध, लोभ-मद, भय-चिन्ता, विषाद-अभिमान।
द्वेष-द्रोह, वैर-हिंसाको नहीं रह गया तनिक स्थान॥
ममता रही एक प्रभुमें ही, अहं बसा प्रभुपद स्वच्छन्द।
छाये नित्य निरन्तर रहते समता-शान्ति, परम आनन्द॥
अब न किसीका, कभी न होता तनिक अकल्याण-अपमान।
क्योंकि, सर्वहित सर्वसुखाकर यहाँ बसे रहते भगवान्॥

अद्भुत चमत्कारी बजरंग-बाण

(लेखक—डॉक्टर श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०, विद्याभूषण, दर्शनकेसरी)

आप भी काममें लाया करें

'ठहरिये, मैं तीन मिनिटकी माफी चाहता हूँ !'

'क्यों, क्या कीजियेगा ?' मैंने आश्चर्यसे पूछा। ''इन्टरव्यू' में अब आपकी ही बारी आनेवाली है और आप अब मन्त्र पढ़ने जा रहे हैं। क्या यह पूजनका समय है ?'

'भाई साहब, कुछ नहीं, एक मनोवैज्ञानिक सिद्धि करूँगा। यह ऐसे ही महत्त्वपूर्ण समयके लिये चमत्कारी सिद्धि है। पुराने लोग करते और लाभ उठाते आये हैं। बस, अभी आता हूँ। ज्यादा समय नहीं लूँगा।'

यह कहकर मेरे मित्र बागके एक कोनेमें फुर्तीसे चले गये। इन्टरव्यू चल रहा था। अनेक उम्मीदवार इन्टरव्यूके लिये तैयार होकर परीक्षा दे रहे थे। न जाने क्या-क्या पूछा जायगा ? कहीं हम घबरा न जायँ ! मनका संतुलन न बिगड़ जाय। आत्मविश्वास ढीला न हो जाय ? आदि सैकड़ों चिन्ताएँ परीक्षार्थियोंके चेहरोंपर उभरी हुई थीं। अंदरसे सबके मन धड़क रहे थे। घबराहटके कारण उनके मुँहपर हवाइयाँ उड़ रही थीं।

इतनेमें हमारे मित्र लौट आये। अब उनका रूप ही कुछ दूसरा था। घबराहटके स्थानपर उनका मन शान्त और संतुलित था। चेहरेपर आत्मविश्वास लहरा रहा था। उनके मनकी चञ्चलता दूर हो चुकी थी। ऐसा प्रतीत होता था मानो उनमें कोई नयी शक्ति और उत्साह आ गया हो ?

नतीजा यह हुआ कि उस दिन इन्टरव्यूमें उन्होंने कमाल कर दिया। वे निडर रहे। शान्त और संतुलित-रूपमें पूछे गये प्रश्नोंके उत्तर देते रहे। ऐसा लग रहा था जैसे वे घरमें बैठे अपने मित्रोंसे प्रेमपूर्वक बातचीत कर रहे हों।

मुझे उनकी शक्तिके गुप्त रहस्यपर बड़ी जिज्ञासा हुई। आखिर, उस दिन उस छोटे-से पूजनमें उन्होंने क्या किया था ?

बड़ी कृपापूर्वक वे बोले, 'मैं एक गुप्त मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया जानता हूँ। हमारे धर्ममें ऐसे-ऐसे असंख्य मन्त्र भरे पड़े हैं, पर मैं तो इसीसे संकटोंको दूर किया करता हूँ। इसने अनेक मुसीबतोंमें मुझे नयी शक्ति, नया साहस, नये प्राण और कष्टनिवारक शक्ति दी है। जब-जब मेरे मनमें घबराहट उत्पन्न होती है, तब-तब मैं इसी मन्त्रको पूरे आत्मविश्वाससे दुहराता हूँ। उससे एक नयी शक्ति और आत्मविश्वास मेरे गुप्त मनमें उत्पन्न हो जाता है। यह आध्यात्मिक शक्ति मुझे सहायता करती है। मैं जब किसी महत्त्वपूर्ण कार्यकी सिद्धिके लिये जाता हूँ, तो पहले अपने इस प्रिय मन्त्रका जाप करके दूसरी गुप्त शक्तिसे भरकर जाता हूँ। इसीकी वजहसे मेरी सदा विजय होती रही है। रोग, शोक, कष्ट, विपत्ति और परीक्षाओंकी स्थितियोंमें मैंने इस मन्त्रसे बड़ा लाभ उठाया है।'

ऐसा कहकर उन्होंने प्रसन्नताका अनुभव किया।

मनुष्यके मनोविज्ञानका प्रेमी होनेके कारण मुझे इस रहस्यको जाननेकी बलवती इच्छा हुई। मैंने पूछा, 'हमें भी बतलाओ मित्र ! कौन-सा मन्त्र है वह आपका ! हम भी उससे फायदा उठायेंगे।'

वे बोले, 'अच्छी चीज चाहे किसी भी धर्मसे सम्बन्धित हो, सबको ही जाननी चाहिये। फायदा उठाना चाहिये।'

मैं बोला, 'आप उसे किस नामसे पुकारते हैं ?'

वे बोले, 'हम उसे 'बजरंग-बाण' कहा करते हैं।'

मैं बोल उठा, 'बजरंगबली हनुमान्‌के पास न धनुष था, न बाण। फिर 'बजरंग-बाण' यह कौन-सा तीर है? कुछ अटपटा-सा नाम लगता है।'

वे बोले, 'बाणका अर्थ है कोई जो वार करे, जो निशानेपर लगे। यह ऐसा दिव्य मन्त्र है जिसमें महाबली, शक्तिशाली, हनुमान्‌जीकी सिद्धिसे संकटोंपर निशाना लगता है। वे संकट तुरंत कम हो जाते अथवा बिल्कुल दूर हो जाते हैं। हनुमान्‌जीकी समस्त शक्ति मनुष्यके मनमें उतर आती है। यह ऐसा बाण है, जिसे मारकर दुःख और संकट दूर किये जा सकते हैं। इस 'बजरंग-बाण' के शब्द-शब्दमें अपूर्व शक्ति भरी हुई है। मैं तो जैसे-जैसे परम श्रद्धासे इसका उच्चारण करता हूँ, वैसे-वैसे शक्तिशाली बनता जाता हूँ। इसके द्वारा मुर्दा दिलोंमें भी शक्ति आती है और संकट टल जाता है।

यह मेरा 'बजरंग-बाण'से पहला परिचय था। कुछ दिन पूर्व मेरी बुआजी मथुरासे पधारीं। उनसे इस विषयपर चर्चा चली, तो उन्हें भी इसका प्रेमी पाया।

वे बोलीं, मैंने जबसे होश सम्हाला है, तबसे ही इस उपकारी मन्त्रसे मैं काम ले रही हूँ। मैंने तो दैनिक पूजामें ही 'बजरंग-बाण'को सम्मिलित कर लिया है। इसकी वजहसे मेरा पूरा दिन बड़ी प्रसन्नता, साहस और आत्मविश्वासपूर्वक व्यतीत होता है। जैसे किसी ताकतकी दवाईसे शरीरमें सारे दिन शक्ति रहती है, वैसे ही बजरंग-बाणके पाठसे मेरा मन सारे दिन आध्यात्मिक शक्तिसे परिपूर्ण रहता है। यह मन्त्र मनके समस्त दुःखों और संकटोंको दूर करता है।'

'ऐसा आखिर क्यों होता है?' मैंने पूछा।

वे बोलीं, 'हमारे धर्ममें बल और शक्तिके प्रतीक हैं बजरंगबली हनुमान्‌जी। अर्जुनके विजयी झंडेपर हनुमान्‌जी विराजते हैं। इस चिह्नसे अर्जुनको हर स्थानपर विजय ही प्राप्त हुई थी। इसे देख-देखकर वे हनुमान्‌की शारीरिक और आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त करते थे।'

'महावीर हनुमान्‌की क्या विशेषताएँ आप मुख्य मानती हैं?'

वे बोलीं, 'बजरंगबली हनुमान्‌में शक्तियाँ भरी पड़ी हैं। यही कारण है कि आज भी असंख्य मनुष्य उन्हें स्मरण करते हैं, उनका पूजन और प्रातःकाल ही दर्शन करते हैं। उनमें अपार शारीरिक बल है। उनकी विशाल देह है। वे सदा ब्रह्मचर्यसे दीप्तिमान् रहते हैं। वे दुष्टोंका दमन करनेवाले हैं। ज्ञानियोंमें अग्रगण्य हैं। इस प्रकार शारीरिक, नैतिक और आध्यात्मिक गुणोंसे परिपूर्ण बजरंगबली आज भी नयी शक्ति देनेवाले हैं। हनुमान् भगवान्‌के प्रिय भक्तोंमेंसे हैं। इस बजरंग-बाणकी सिद्धि-साधनासे मनुष्यमें उनके समस्त गुण प्रकट होने लगते हैं। अर्जुन सदा-सर्वदा हनुमान्‌जीके इन गुणोंका अनुसरण करना चाहते थे। इसीलिये उन्होंने अपनी ध्वजापर हनुमान्‌जीका स्वरूप रक्खा था।'

उनके इन तर्कोंसे मैं प्रभावित हुआ और हनुमान्‌जीकी विशेषताओंपर बहुत दिनोंसे विचार करता रहा हूँ। वास्तवमें हनुमान्‌जी हिंदूधर्मके एक महान् शक्ति-केन्द्र रहे हैं। उनकी विभूतियाँ भी बहुत बढ़ी-चढ़ी थीं।

हनुमान्‌जीकी विशेषताएँ

महावीर हनुमान् शारीरिक शक्तिके प्रतीक हैं। वे अतुल बलवान् और पराक्रमी हैं। सोनेके पर्वत-जैसी उनकी सुदृढ़ देह है। असुरों अर्थात् समस्त दुष्ट शक्तियों, हर प्रकारके राक्षसत्व, पशुत्वको दूर करनेवाले हैं। इसी कारण इन्हें हिंदूधर्ममें 'महावीर' कहा गया। दुष्ट उनकी शारीरिक शक्तियोंके सामने ऐसे ही दब जाते हैं, जैसे पर्वतके नीचे क्षुद्र तिनका।

हनुमान् वायुपुत्र (पवनपूत) के नामसे प्रसिद्ध हैं। उनका चिह्न ध्वजापर धारण कर अर्जुनने वायु अर्थात् प्राणोंपर विजय प्राप्त की थी। प्राण चञ्चल हुआ, तो मन चञ्चल हो जाता है। प्राण स्थिर होनेसे मन

स्थिर हो जाता है । हनुमान्‌जीकी कृपा प्राप्त हो जानेपर मन और प्राण स्थिर होते हैं और शक्ति बढ़ जाती है ।

मनोविज्ञानका यह अटल सिद्धान्त है कि मनुष्य जिन विचारों या भावोंको पूरी निष्ठा और संकल्पसे बार-बार दोहराता है या जिस मानसिक स्थितिमें देरतक निवास करता है, वही मानसिक स्थिति सदाके लिये उसकी आदत और स्वभाव बन जाता है । प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक लेखक जुंगके मतानुसार मनुष्यकी नैतिक भावनाओंकी जड़ उसके अचेतन मनमें हैं । अचेतन मनसे ही हमारी गुप्त शक्तियोंका विकास हमारे चेतन या प्रत्यक्ष मनमें होता है ।

'बजरंग-बाण' में पूरी श्रद्धा रखने और निष्ठापूर्वक उसके संकेत देनेसे (बार-बार दुहरानेसे) हमारे अचेतन मनमें हनुमान्‌जीकी शक्तियाँ जमने लगती हैं । शक्तिके विचारोंमें रमण करनेसे शरीरमें वही शक्तियाँ बढ़ती हैं । शुभ विचारोंको मनमें जमानेसे मनुष्यकी भलाईकी शक्तियाँ, उसका सत्-चित्-आनन्द स्वरूप खिलता जाता है । मामूली कष्टों और संकटोंके निरोधकी शक्तियाँ विकसित हो जाती हैं । साहस और निर्भीकता आ जाती हैं । इस प्रकार बजरंग-बाणमें विश्वास रखने और उसे काममें लेनेसे कोई भी कायर मनुष्य बदलकर निर्भय और शक्तिशाली बन सकता है ।

बजरंग-बाणके श्रद्धापूर्वक उच्चारण कर लेनेसे मनुष्य शक्तिके पुंज महावीर हनुमान्‌को स्थायी रूपसे अपने मनमें धारण कर लेता है । उससे उसके सब संकट अल्पकालमें ही दूर हो जाते हैं ।

साधकको चाहिये कि वह अपने सामने हनुमान्‌जीकी मूर्ति या कोई बड़ा चित्र रक्खे और उसपर पूरे आत्म-विश्वास और निष्ठाभावसे मानसिक ध्यान करे । मनमें ऐसी धारणा करे कि हनुमान्‌जीकी दिव्य शक्तियाँ धीरे-धीरे उसके अंदर प्रवेश कर रही हैं । हमारे अन्तर तथा चारों ओरके वायुमण्डल आकाशमें स्थित संकल्पके परमाणु उत्तेजित हो रहे हैं । ऐसे सशक्त वातावरणमें निवास करनेसे हमारे मनकी शक्ति बढ़नेमें सहायता मिलती है । जब यह मूर्ति मनमें स्थायी रूपसे उतरने लगे, अंदरसे शक्तिका स्रोत खुलने लगे, तभी बजरंग-बाणकी सिद्धि समझनी चाहिये । श्रद्धायुक्त अभ्यास ही पूर्णताकी सिद्धिमें सहायक होता है । पूजनमें हनुमान्‌जीकी शक्तियोंपर एकाग्रताकी परम आवश्यकता है ।

पूजा कैसे प्रारम्भ करें ?

सबसे पहले अपने सामने हनुमान्‌जीकी मूर्ति अथवा चित्र रखिये और चन्दन, पुष्प, धूप आदिसे पूजनकर ध्यानसे उसे देखिये । श्रद्धाके साथ उन्हें प्रणाम कीजिये । फिर श्रद्धापूर्वक यह स्तुति दुहराइये—

अतुलितबलधामं हेमशैलाभदेहं
दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम् ।
सकलगुणनिधानं वानराणामधीशं
रघुपतिप्रियभक्तं वातजातं नमामि ॥

'आप महावीर हैं । आपमें अतुल बल है । आपके बलको कौन तौल सका है । आप शारीरिक, आध्यात्मिक, नैतिक और हर प्रकारके उच्चतम बलकी साक्षात् मूर्ति हैं । आपकी यह पुष्ट सशक्त देह पर्वतके समान है । आपमें स्वर्णिम तेज देदीप्यमान है । आपकी देह वीर्यबलसे ऐसी दीप्तिमान् है, मानो सोनेका पर्वत चमक रहा हो । आप शक्तिमें राक्षसों (और समस्त आसुरी शक्तियों) के वनको जलानेके लिये भयंकर दावानलके समान हैं । आप ज्ञानियोंमें अग्रणी हैं । सकल शुभ दैवी गुणोंसे भरे हुए हैं । आप वानर-सेनाके अधीश्वर हैं । भगवान् रामके प्रिय भक्त हैं । आप स्फूर्तिमें पवन-जैसे हैं, पवनपुत्र ही हैं । अतः मैं कार्यसिद्धिके लिये, आपकी शक्ति प्राप्त करनेके लिये आपको नमस्कार करता हूँ ।'

इस प्रकार हनुमान्‌जीका श्रद्धापूर्वक ध्यान करके निम्नलिखित 'बजरंग-बाण' का प्रेमपूर्वक उच्चारण करना

चाहिये । बार-बार दोहरानेसे यह याद हो जाता है और अधिक समय नहीं लगता ।

यह है वह चमत्कारी बजरंग-बाण । आप इसके शब्दों और अर्थोंपर गौर कीजिये और प्रेमसे पढ़िये । प्रतिदिन दोहराइये ।

बजरंग-बाण*

निश्चय प्रेम प्रतीति ते, बिनय करै सनमान ।
तेहि के कारज सकल सुभ, सिद्ध करैं हनुमान ॥
जय हनुमंत संत-हितकारी ।
सुनि लीजै प्रभु बिनय हमारी ॥
जन के काज बिलंब न कीजै ।
आतुर दौरि महासुख दीजै ॥
जैसे कूदि सिंधु के पारा ।
सुरसा बदन पैठि बिस्तारा ॥
आगे जाय लंकिनी रोका ।
मारेहु लात गई सुरलोका ॥
जाय बिभीषन को सुख दीन्हा ।
सीता निरखि परम-पद लीन्हा ॥
बाग उजारि सिंधु महँ बोरा ।
अति आतुर जमकातर तोरा ॥
अछय कुमार मारि संहारा ।
लूम लपेटि लंक को जारा ॥
लाह समान लंक जरि गई ।
जय जय धुनि सुरपुर नभ भई ॥
अब बिलंब केहि कारन स्वामी ?
कृपा करहु उर अंतरजामी ॥
जय जय लखन प्रान के दाता ।
आतुर ह्वै दुख करहु निपाता ॥
जय हनुमान जयति बल-सागर ।
सुर-समूह-समरथ भट-नागर ॥
ॐ हनु हनु हनु हनुमंत हठीले ।
बैरिहि मारु बज्रकी कीले ॥
ॐ हीं हीं हीं हनुमंत कपीसा ।
ॐ हुं हुं हुं हनु अरि उर-सीसा ॥
जय अंजनिकुमार बलवंता ।
संकरसुवन बीर हनुमंता ॥
बदन कराल काल-कुल-घालक ।
राम-सहाय सदा प्रतिपालक ॥
भूत, प्रेत, पिसाच, निसाचर ।
अगनि बेताल काल मारी मर ॥
इन्हें मारु, तोहि सपथ राम की ।
राखु नाथ मरजाद नाम की ॥
सत्य होहु हरि सपथ पाइ कै ।
रामदूत धरु मारि धाइ कै ॥
जय जय जय हनुमंत अगाधा ।
दुख पावत जन केहि अपराधा ॥
पूजा जप तप नेम अचारा ।
नहिं जानत कछु दास तुम्हारा ॥
बन उपबन मग गिरि गृह माहीं ।
तुम्हरे बल हौं डरपत नाहीं ॥
जनकसुता-हरि-दास कहावौ ।
ता की सपथ, बिलंब न लावौ ॥
जय-जय-जय-धुनि होत अकासा ।
सुमिरत होय दुसह दुख-नासा ॥
चरन पकरि, कर जोरि मनावौं ।
यहि औसर अब केहि गोहरावौं ॥
उठ, उठ, चलु, तोहि रामदोहाई ।
पायँ परौं, कर जोरि मनाई ॥
ॐ चम चम चम चम चपल चलंता ।
ॐ हनु हनु हनु हनु हनु-हनुमंता ॥
ॐ हं हं हाँक देत कपि चंचल ।
ॐ सं सं सहमि पराने खल-दल ॥
अपने जन को तुरत उबारौ ।
सुमिरत होय अनंद हमारौ ॥
यह बजरंग-बाण जेहि मारै ।
ताहि कहौ फिरि कवन उबारै ॥
पाठ करै बजरंग-बाण की ।
हनुमत रच्छा करैं प्रान की ॥
यह बजरंग-बाण जो जापैं ।
तासों भूत-प्रेत सब काँपैं ॥
धूप देय जो जपै हमेसा ।
ता के तन नहिं रहै कलेसा ॥
उर प्रतीति दृढ़, सरन ह्वै, पाठ करै धरि ध्यान ।
बाधा सब हर, करैं सब काम सफल हनुमान ॥

---

* कई प्रतियोंको देखकर आवश्यक सुधारके साथ छापा जा रहा है ।

—सम्पादक

उपर्युक्त बजरंग-बाणको कण्ठस्थ कर लेना चाहिये और कुछ दिनोंतक महाबली हनुमान्के चित्रके सामने श्रद्धापूर्वक उच्चारण करना तथा उनके गुणोंपर मनको केन्द्रित करना चाहिये। धीरे-धीरे ऐसा अनुभव होगा कि शरीरके अणु-अणुमें नये प्राण और नवीन चेतना फैल रही है, नयी शक्ति आ रही है। मानो शरीरमें साक्षात् हनुमान् ही विराज रहे हैं। यह अपनी शक्तियोंको विकसित करनेका आध्यात्मिक उपाय है।

कष्ट और संकटके समय, रात्रिमें शान्त निद्राके लिये, बच्चोंकी नजर उतारने, भूत-बाधा दूर करने, अकारण भयको नष्ट करनेके लिये और निर्विघ्न दिन व्यतीत करनेके लिये इस चमत्कारी बजरंग-बाणका प्रयोग किया जा सकता है। किसी महत्त्वपूर्ण कार्यपर जानेसे पहले इसे स्मरण करना सिद्धिमें सहायक होता है।

* * *

त्याग, संयम, साधन एवं तपके मूर्तिमान् स्वरूप संत श्रीसेवारामजी

आप लगभग तीस वर्षोंसे राजस्थान बीकानेरके समीप नापासरमें विराजते थे। गाँवमें प्रवेश नहीं करते, गाँवके एक ओर बाहर एक बाड़ामें रहते थे। कंचन-कामिनी दूर-दूर, आप धातुमात्रका भी स्पर्श करनेमें संकोच करते थे। कमण्डलुमें भी पीतलकी नलीकी जगह आपने लकड़ीकी नली लगवा रक्खी थी। आहार बहुत ही संयमित एवं कम मात्रामें करते थे। इधर बहुत वर्षोंसे रात-दिनके चौबीस घंटोंमें दो तोलेसे लेकर सवा पाँच तोलेतकका गेहूँके आटेकी बनी चीज खाते थे। भगवच्चर्चाके सिवा दूसरी बात न कहते, न सुनते। कभी कोई पुरुष अन्य प्रसङ्ग छेड़ देते तो उसे बंद करवा देते। आपने रामस्नेही-सम्प्रदायमें दीक्षा ली थी। आपके गुरुका नाम श्रीभूरारामजी था, जो बहुत अच्छे संत थे। वर्षोंसे उन्होंने अन्नका त्याग कर दिया था। स्वामी सेवारामजीको एकान्त बहुत ही प्रिय था। आपका श्रीमद्भगवद्गीताके 'युक्ताहारविहारस्य····(६। १७) इस श्लोकके अनुसार जीवन चलता था। एक-एक मिनट समयका ध्यान था। दृष्टि-संयम तो इनके-जैसा बहुत ही कम देखनेमें आता है। चलते समय भी वे प्रायः सीमित देशमें देखकर चलते थे। पाँच-सात हाथसे आगे उनकी दृष्टि नहीं जाती थी। गीतामें वर्णित संत भक्तोंके लक्षणोंकी तो आप प्रत्यक्ष चल मूर्ति ही थे। अद्वेष्टा सर्वभूतानां····आदि गीतोक्त १२। १३-१४ श्लोकोंके लक्षण आपमें प्रायः पूरी तौरसे घटते थे। पातञ्जलोक्त अष्टाङ्गयोगपर आपकी श्रद्धा थी और साधन भी उसीके अनुसार करते थे। श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके नौ योगेश्वरोंका प्रसङ्ग, श्रीभगवान्का उद्धवजीके प्रति उपदेश एवं श्रीमद्भगवद्गीता आपके अत्यन्त प्रिय ग्रन्थ थे। शास्त्रोंका उपदेश ही आपका उपदेश था। सबमें भगवान् हैं, सब भगवद्रूप हैं—यह सिद्धान्त आपको बड़ा प्रिय था।

सबमें प्रभु-बुद्धि, माता-पिताकी, बड़े-बूढ़ोंकी, बीमारोंकी तथा अनाथोंकी सेवा, प्रभुके नामका हर समय जप, भगवान्के अवतारों और भक्तोंका स्मरण करके तीनों समय नमस्कार, सूर्यनारायण आदि विभूतियोंको साक्षात् प्रभु मानकर प्रणाम करना—यही सब आपके उपदेशोंका सार था। आप व्याख्यानदाता नहीं थे। जो-जो बातें लोगोंके हितकी समझते, उन्हें याद करके कह दिया करते। जितनी कहनी होती, उतनी ही कहते; समय थोड़ा दीखता तो कह देते 'आज तो इतनी ही याद की हुई थी, सारे पूरी हो गयी'। कोई कुछ प्रश्न करते तो उसका उत्तर प्रायः दो-चार दिन बाद ही देते। समझमें नहीं आता तो कह देते श्रीसेठजी (श्रीजयदयालजी गोयन्दका), श्रीभाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) या श्रीस्वामीजी (श्रीरामसुखदासजी महाराज) से पूछो; मेरी समझमें नहीं आया।

नापासरमें आप सर्वप्रिय थे। आप किसी मतका खण्डन नहीं करते। प्रिय बात प्रिय शब्दोंमें बड़ी नम्रतासे

कहते। दूसरोंको मान देना आपका सहज स्वभाव बन गया था। देहावसानके लगभग बीस-पचीस मिनट पहले उनसे मिलनेके लिये एक सज्जन पधारे थे। उन्हें साथ लेकर मैं गया और उनसे कहा कि आपसे मिलने अमुक सज्जन पधारे हैं। सुनते ही आप अन्तर्वृत्तिसे बाह्यवृत्ति करके उनके सामने झाँके, हँसे और हाथ जोड़कर आपने नेत्र मूँद लिये। अन्त-समय आप सचेतन अवस्थामें थे। हृद्रोगके कारण दुर्बलता एवं व्यथा बहुत थी, पर उनकी सहनशीलतासे तो वह कम ही थी। उतनी व्यथामें वृत्ति प्रभुमें लगाना प्रभुके प्यारे भक्तोंको छोड़कर दूसरोंके लिये सुलभ नहीं। एक दिन मैंने पूछा, 'अब आपका शरीर कृश हो गया, अन्त-समय निकट-सा प्रतीत होता है। कुछ अखण्ड-कीर्तन, भागवत-पाठ या गीताजीके पारायणकी व्यवस्था करायी जाय क्या?' तो बोले—'नहीं। भीतर गीताजी चालू है।' देहावसानसे कुछ ही दिनों पूर्व भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार एवं परम पूजनीय स्वामीजी श्रीचक्रधरजी महाराज स्वामीजीसे मिलने पधारे थे, तो उनका मिलाप बड़ा ही विलक्षण हुआ। हमलोग तो समझ ही नहीं पाये। श्रीभाईजीने कहा—'यह मूक सत्सङ्ग हो रहा है—

'समुझइ खग खग ही कै भाषा'

सत्सङ्गमें आनेवाले लोगोंसे आप कहते—"शास्त्रोंकी बातें, श्रीजी महाराज (भगवान्) की बातें सुलभ नहीं। ये तो भगवान्की कृपासे ही मिल रही हैं। कहाँ प्रभुके वचन? इनको पढ़ो, समझो, पालन करो। करोगे, उतना ही लाभ है। आपलोग कहें कि 'हम तो गृहस्थ हैं, पालन नहीं होते' तो बतायी हुई बातें थोड़ी-थोड़ी ही पालन करो, स्वभाव तो पड़ेगा। बहुत तरहकी बातें हैं। एक-एक बातपर ध्यान देकर उसे जीवनमें उतारनेकी चेष्टा करो। आज अभी अमुक तिथि है, अमुक समय है—कल यहाँ आओ, तबतक 'सबमें भगवान् हैं, सर्वत्र भगवान् हैं'। इस नियमपर जोर लगाओ—चेष्टा करो।" दूसरे दिन फिर सत्सङ्गी आते तो उनसे पूछते कि किस-किसने चेष्टा की और कैसा परिणाम रहा? सब अपनी-अपनी परिस्थिति बतलाते। तब आप उनसे कहते कि 'अच्छा, अबसे लेकर कल यहाँ आओ, तबतक भगवच्चर्चाका नियम पालन करो। अन्य चर्चा चले तो उसे तुरंत छोड़ दो'। ऐसे उन्होंने बहुत-से नियम बना रक्खे थे, जिनका सत्सङ्गियोंसे पालन करवाते थे। उन नियमोंमें कुछ निम्नलिखित हैं—

सर्वत्र भगवद्भाव, भगवच्चर्चा, निरन्तर नाम-जप, शरणागति, शरीरके दोषोंका त्याग, वाणीके दोषोंका त्याग, मनके दोषोंका त्याग, किसीके बीचमें न बोलना, नेत्रोंका संयम, कानोंका संयम, आर्जव, क्रोध-त्याग, सबपर दया, ह्री—बुरे कामोंमें लज्जा, अचापल, क्षमा, शौच, अमानित्व, अदम्भित्व, मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा, निर्ममता, निरहंकारता, घृणाका त्याग, अमर्षका त्याग, असूयाका त्याग, विवादका त्याग, हँसी-मजाकका त्याग, आलस्यका त्याग, कृतघ्नताका त्याग, दोष-दर्शन तथा दोष-कथनका त्याग, कृपणताका त्याग, प्रेमभाव, सेवाभाव, श्रद्धा, आज्ञापालन, विधिवत् शयन, विधिवत् दाँतुन, विधिवत् कुल्ला, विधिवत् स्नान, विधिवत् भोजन, विधिवत् बैठना, विधिवत् चलना, युक्ताहार-विहार-शयन-जागरण—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

—श्लोकपर पूरा ध्यान, नमस्कार, ध्यान, संतोष, सदा प्रसन्नता, समता आदि।

इन विलक्षण मूर्ति महात्माका गत दिनाङ्क १७ अप्रैल, शुद्ध चैत्र शुक्ल ६, शुक्रवारको दिनमें लगभग ११॥। बजे देहसे सम्बन्ध छूट गया। संत वहीं पधार गये—'जहाँ संत सब जायँ।' अन्त समयकी आपकी मुद्रा बड़ी विलक्षण थी। भयावनी तो क्यों होती? आकर्षक एवं मनोहर मूर्ति थी।

—पं० हरिप्रसाद

मैं गोपी गोपीनाथकी

(रचयिता—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम' साहित्याचार्य)

जाने कबसे भटक रही थी भ्रान्ति-भँवरमें भूलमें !
बहती रुकती ठहर न पाती मझधारामें कूलमें ।
फूल समझती थी काँटेको काँटा देखा फूलमें ,
मधुर अमृत फल खोज रही थी अरणी और बबूलमें ॥
संत-कृपा ! ध्वनि पड़ी कानमें प्रियतमके गुण-गाथकी ,
सहसा आयी याद अहो ! मैं गोपी गोपीनाथकी ॥

मैं ही केवल नहीं संगिनी ! तुम भी गोपकिशोरिका ,
गोप एक गोपीवल्लभ हैं, बाकी सब हैं गोपिका ।
प्रेममार्गकी अनन्यताके व्रतकी हम सब रोपिका ,
सावधान ! इस मर्यादाकी बनो नहीं तुम लोपिका ॥
याद रहे—'हम सब चेरी हैं, उन अनाथके नाथकी ।
मैं गोपी गोपीनाथकी ॥

भूल गयीं तुम अरी गोपियो ! अपने प्रेम-प्रबन्धको ,
अपने उस स्वरूपको भूलीं अपने उस सम्बन्धको ।
अन्धकूप है घोर सामने, ठहरो ठहरो बावली !
तुम अंधी-सी चली जा रहीं बना अग्रणी अन्धको ॥
डिगने दो मत पाँव कभी ! तुम रख लो लज्जा माथकी ।
मैं गोपी गोपीनाथकी ॥

याद करो—उस परम व्योमको सच्चित् सुखमय धामको ,
विरजातटको, गोवर्धनको, गौओंको, घनश्यामको ।
रसिक प्रिया-प्रियतमको उनकी लीला ललित ललामको ,
अष्टयाम सेवाको उनकी उनके पावन नामको ।
प्राणसँघाती वे हम सबके हम हैं उनके साथकी ॥
मैं गोपी गोपीनाथकी ॥

जगके वैभव-भोग लुभाते ? भोग नहीं ये रोग हैं !
प्रेमधामसे दूर सदा ही भवके भोगी लोग हैं ।
योगी जाते सिर्फ वहाँपर प्रेम वहाँका योग है ,
जिससे सुलभ युगल प्रियतमकी सेवाका संयोग है ॥
सूत्रधार हम-सबके वे, हम पुतली उनके हाथकी ।
मैं गोपी गोपीनाथकी ॥

शोकके क्षणोंमें

(श्रीविलियम ए० क्लफ, अमेरिका)

अभी हालहीमें मुझे अपनी एक धर्मबहिनका पत्र मिला है, जिसमें उसने अपने एक प्रियजनकी मृत्युसे हुए शोक एवं सूनेपनका उल्लेख किया है । वह लिखती है—'मुझे बड़ा सूनापन अनुभव हो रहा है । मैं उसके बिना कैसे जीवित रह सकती हूँ ?'

इस प्रकारके शोकके उद्गार हृदयको बहुत स्पर्श करते हैं और स्वजन ऐसे शोकाकुल व्यक्तियोंको सान्त्वना एवं सहानुभूतिके शब्द भेजते हैं । अपने किसी प्रियजनके भौतिक सहवाससे सदाके लिये वञ्चित हो जानेसे उत्पन्न सूनेपन एवं शोकका जिनको जीवनमें कुछ अनुभव है, वे लोग ऐसे शोकाकुल व्यक्तियोंकी व्यथाका अनुभव कर पाते हैं ।

हम सभीके जीवनमें दुःखोंके अवसर आते हैं और इनमें अवस्था एवं स्थानकी अपेक्षा नहीं होती । दुःख सबके लिये अवश्यम्भावी नहीं है; किंतु सामान्यतः सभीको दुःख प्राप्त होता है । अपने स्वजनकी मृत्युसे उत्पन्न शोकके अवसर ही अधिक आते हैं और निश्चय ही मानवजीवनकी समस्याओंमें शोकका महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

किंतु जैसे प्रत्येक छोटी-बड़ी समस्याका कुछ-न-कुछ समाधान है, वैसे ही शोकपीड़ित प्रत्येक हृदयके लिये सान्त्वना, क्षतिपूर्ति एवं आनन्दकी व्यवस्था है । प्रत्येक वियुक्त एकाकी व्यक्तिके लिये तथा प्रत्येक दुखी मनुष्यके लिये संतोंके ये शब्द बड़े आश्वासनके हैं—'शोकप्राप्त व्यक्ति भाग्यशाली हैं; क्योंकि उन्हें भगवान्‌की ओरसे सान्त्वना प्राप्त होती है' । संत ऐसा नहीं मानते कि मनुष्यको 'शोक प्राप्त नहीं होता' प्रत्युत उनका कथन है—'शोकमें उसे भगवान्‌की ओरसे सान्त्वना प्राप्त होती है ।'

शोक प्राप्त होना दुर्बलता नहीं है; क्योंकि महान्-से-महान् व्यक्ति भी शोकसे भीषण स्थितिको प्राप्त हुए हैं । किंतु उन्होंने अपनी महानताका परिचय इसमें दिया कि शोकको पराभूत करके वे उससे ऊपर उठ गये और अपने स्वरूप—आनन्दको अपना लिया । शोक मानवीय है, आनन्द दैवी; शोक मानवीय स्वभावका एक दुर्बल अङ्ग है, जब कि आनन्द दैवीस्वभावका सुदृढ़ लक्षण । शोक आगन्तुक है और आनन्द स्वरूप ।

मैं अपने किसी स्वजनसे यह नहीं कह सकता—'आपको शोक प्राप्त नहीं करना चाहिये, ऐसा करना भूल है ।' मैं उसे यही कह सकता हूँ—'आपको शोक करते नहीं रहना चाहिये; क्योंकि यह आपके लिये हानिप्रद सिद्ध होगा ।' जो शोकप्राप्त हैं, वे भाग्यशाली हैं; क्योंकि भगवान्‌की ओरसे आनेवाली सान्त्वना उनके शोकको हटाकर उन्हें एक उच्च स्तरपर ले जाकर खड़ा कर देती है, जहाँपर उनकी दृष्टि अधिक स्वच्छ एवं दृष्टिकोण अधिक व्यापक हो जाता है । ईश्वरकी ओरसे आनेवाली सान्त्वनाको अपनानेमें असफल सिद्ध होना अनुचित है ।

दीर्घकालतक शोकसे संतप्त होते रहना यह सूचित करता है कि उसमें हमारा अपना बहुत अधिक लगाव है । वस्तुतः उस दशामें हम मृतात्माके लिये संतप्त न होकर अपने लिये संतप्त होते हैं । अंग्रेजीमें शोकका समानार्थ शब्द Mourning है । यदि इसमेंसे U अक्षर निकाल दिया जाय तो यह Morning हो जायगा, जिसका अर्थ है—'नवीन दिवसका प्रभात ।'

संतोंके जीवनमें भी शोकके अवसर आये हैं; किंतु शोकका प्रभाव उनपर क्षणिक ही रहा है । उन्होंने शोककी अल्पकालीन रात्रिके पश्चात् महान् प्रभातके ही दर्शन किये हैं ।

आप पूछते हैं कि 'मैं अपने शोकपर किस प्रकार विजय प्राप्त करके उससे ऊपर उठ सकता हूँ ?' जैसे उपर्युक्त धर्मबहिनने पूछा है—'मैं उनके बिना कैसे जीवित रह सकती हूँ ?'

शेक्सपियरने कहा है—'सभी शोकपर विजय प्राप्त कर सकते हैं, केवल उस व्यक्तिको छोड़कर जो शोकसे घिरा है ।' (Everyone can master a grief but he that has it.) इसी प्रकार किसी शोक-संतप्त व्यक्तिके प्रश्नका उत्तर देते चलना विडम्बना-

मात्र है, जबतक हम स्वयं उनकी परिस्थितिका अनुभव न कर लें।

मैं अपनेको अपनी धर्मबहिनके स्थानपर अनुभव करना चाहता हूँ। मैं यह अनुभव करनेका प्रयत्न करता हूँ कि उस समय मुझे कैसा लगेगा जब मेरी पत्नी एवं इकलौता पुत्र मुझसे छीन लिये जायँगे। क्या उस समय मैं अपने शोकको पराभूत करके जीवनका कोई नवीन या उच्च अर्थ लगा पाऊँगा ? क्या उस समय शोककी रात्रिके पीछे प्रभातका प्रकाश देख पाऊँगा ? इन सब प्रश्नोंका उत्तर मैं 'हाँ'में दूँगा; क्योंकि मैं जानता हूँ कि मेरे स्वजन—पत्नी एवं पुत्र—मुझसे छीने नहीं जा रहे हैं और न वे मुझसे पृथक् ही हो रहे हैं। मैं यह मानता हूँ कि भगवान् शोकमेंसे मुझे किसी उच्च आध्यात्मिक स्तरपर ले जायँगे और उस उच्च स्तरपर मेरे स्वजन मुझसे अधिक निकट तथा मेरे लिये अधिक प्यारे होंगे, जैसे कि वे कभी नहीं रहे। मैं उन्हें आत्माकी दृष्टिसे देखूँगा और इस नाते मैं उनकी प्रत्यक्ष उपस्थितिका अनुभव करूँगा।

इस लेखको आरम्भ करनेके पूर्व मुझे अपनी एक धर्मबहिनके चल बसनेका समाचार मिला है, जिसने मातारूपमें दो छोटे बच्चे तथा पत्नीरूपमें पतिको छोड़ा है, जो सामान्य पतियोंकी अपेक्षा अत्यधिक मात्रामें उसपर आश्रित था। पति एक मन्त्री है और उन दोनोंका जीवन जन-कल्याणमें तत्परतासे संलग्न था।

सम्भव है वह अपने आघातके समय कहे, जैसा कि मैं-आप भी कह सकते हैं—'यह आघात मुझपर क्यों हुआ जब मैं अपनी जानमें सर्वोत्तम कार्य कर रहा था ?' किंतु मैं जानता हूँ, शोककी अपेक्षा श्रद्धाका तत्त्व उसमें प्रबल है। लौकिक सहारा टूट जानेसे, जैसे-जैसे वह भगवान्पर अधिक निर्भर करेगा, वैसे-वैसे वह महान् शुभकी ओर बढ़ता जायगा।

मेरे पूज्य पिताजी एवं माताजीका वैवाहिक सम्बन्ध करीब पचास वर्ष पूर्व हुआ था और जब मेरे पूज्य पिताजी जीवन-यात्राकी समाप्तिपर पहुँचे तो मेरी माँ महीनोंतक रात-दिन उनकी सेवामें संलग्न रहीं; किंतु वह कभी भी हतोत्साह नहीं हुई और न कभी उसने आँसूकी एक बूँद, कम-से-कम हमलोगोंकी उपस्थितिमें, बहायी।

उसने कहा—'मैं जानती हूँ कि वे अपनी कब्रमें ठंडे एवं अकेले नहीं हैं, वे किसी उच्च स्तरपर गये हैं, जहाँ उनमें उष्णता है और वे पुनः स्वस्थ हो गये हैं। वे अब भी मेरे समीप हैं। मैं उनके लिये शोक नहीं करूँगी।'

यह न तो इच्छाशक्तिका चमत्कार है और न कोई मिथ्या कल्पना है, जो उसके उत्साहको बनाये हुए है; न उसमें भावुकताका ही अभाव है, वह बड़ी भावुक है। यह उसका विश्वास, दृढ़ स्थिर विश्वास है। यह वह शक्ति है जो उस असीम उद्गमसे प्राप्त होती है। यही जीवनका वास्तविक आधार है। वह अपनी अनुभूतिकी गहराईमें ऐसा विश्वास करती है कि भगवान्के संरक्षणमें वह और उसके पतिदेव दोनों सुरक्षित हैं।

वर्षों बाद जब वह स्वयं इस भौतिक स्तरको छोड़कर उच्च स्तरमें गयी तो वह बपौतीके रूपमें हमारे लिये शोक नहीं छोड़ गयी थी। वह सदा विजयी विश्वासका आदर्श ही हमारे लिये छोड़कर गयी है।

जो भी उसके आशीर्वादकी परिधिमें आये हैं, उनपर वह आत्माकी अमरताका संदेश छोड़ गयी है। यह प्रभाव उन लोगोंपरसे न हटता है और न कभी हटेगा ही। जब हमसे कोई वियुक्त नहीं हुआ तो शोकके लिये कोई कारण नहीं—

मृत्यु एक खुला द्वार है,
हम एक कक्षसे दूसरे कक्षमें जाते हैं,
जीवन एक शाश्वत कड़ी है,
न मृत्यु है, न जीवनकी अन्त्येष्टि है।

जैसे भगवान् भगवान् है, वैसे ही चेतन आत्मा सदा चेतन आत्मा ही है; फिर उसके सम्बन्धमें हमारी धारणा चाहे कुछ भी क्यों न हो।

जीवन-संगीतकी भौतिक तन्त्री आस्तिकता है, चाहे इस लौकिक जीवनकी बात हो या पारलौकिक

जीवनकी । जन्म और मृत्यु दोनोंके तथाकथित रहस्योंके सम्बन्धमें, अमरताके सम्बन्धमें, दिवंगतोंमें तथा हमलोगोंमें रहनेवाले अविनाशी आत्मतत्त्वके सम्बन्धमें तथा भगवान्‌के निर्दोष संकल्पके सम्बन्धमें स्वीकारात्मक उत्तर ही आस्तिकताका स्वरूप है ।

हम अपने परिचित समुदायमें दृष्टि डालें तो हमें स्वजनकी मृत्युपर होनेवाली विभिन्न प्रतिक्रियाओंके दर्शन होते हैं । कुछ लोग शोकको अपनेपर छा जाने देते हैं, जब कि दूसरे लोग अपने विश्वासके द्वारा उसे धो-बहाते हैं ।

मैं दो स्त्रियोंको जानता हूँ जिनकी अवस्था प्रायः समान है । दोनों ही अपने छोटे बच्चोंसहित वैधव्यकी शिकार हुईं । एक चिन्ता-सागरमें डूब गयी और निरन्तर अपनी क्षतिका एवं जिन कठिनाइयोंमें जीवन बीत रहा है, उनका बखान करती रही, वह अपने बच्चोंकी ठीकसे सँभाल करनेकी अपनी असमर्थताके लिये रोती रहती और अपने सम्बन्धियोंसे बिना कुछ कृतज्ञता प्रकट किये ही आर्थिक सहायता स्वीकार करती । वह जीवनकी कठिनाइयोंसे संघर्ष करती हुई हताश-जीवन व्यतीत करती । उसके बच्चे अपेक्षाकृत कम संरक्षण एवं सुविधामें ही पल रहे थे । जीवनकी कटुता एवं दुःखके कारण वह अवस्थासे पूर्व ही वृद्ध हो गयी ।

दूसरी महिलाने दुःख पड़ते ही उसको एवं उससे उत्पन्न जिम्मेदारियोंको साहसपूर्वक अपनाया । वह प्रार्थना और अध्ययनमें लगी और थोड़े दिनोंमें उसने थोड़े समयके लिये अध्यापनका कार्य प्राप्त कर लिया, वह सामाजिक एवं धार्मिक सुधारमें सहयोग देने लगी और उसके कारण लोगोंमें भी अच्छाई भरने लगी । साथ ही वह परिवारको भी ठीकसे चलाने लगी । उसने भगवद्-विश्वासको अपना आधार बनाया और उससे उसको बल एवं सान्त्वना मिली ।

दोनों महिलाओंके सामने एक-सी कठिनाई थी—एकने निराशा और आत्महीनताका तथा दूसरीने आस्तिकता और आत्मविश्वासका जीवन अपनाया ।

भगवान्‌पर विश्वास एवं कर्ममें संलग्नता बड़े-से-बड़े शोकको तिरोहित कर देते हैं । हम भगवान्‌की संतान हैं और भगवान्‌की ओरसे अपनी संतानके लिये केवल सुखकी ही व्यवस्था है । भगवान् कभी हमारे लिये दुःख-विषाद नहीं भेजते, अपितु जब कभी हम अपनेपर दुःखको बुलाते हैं या किसी अप्रत्याशित कारणसे हमें दुःख प्राप्त होता है तो भगवान् उसे अवश्य दूर करते हैं । वे हमारे पीड़ित हृदयको सान्त्वना देते हैं ।

भगवद्विश्वास दुःखकी तीव्रताके समय हठात् हमारे मुखसे निकले प्रश्नोंका उत्तर है । भगवद्विश्वास सदा विजयी है । भगवद्विश्वास हमें यह बताता है कि आत्मा अमर है तथा प्रेम मृत्यु एवं समयका अतिक्रमण कर नित्य रहता है । भगवद्विश्वास हमें बताता है कि मृत्यु भयावह नहीं है और न यह जीवनका अन्तिम महान् संकट है, जैसा कि हम बहुधा मानते हैं । भगवद्विश्वास बताता है कि मृत्यु नवीन-जीवनका द्वार है, अबाध आध्यात्मिक उत्थानकी एक अवस्थामात्र है ।

आपका बिछुड़ा हुआ प्रेमपात्र जीवित है और आत्माकी भाषामें, प्रेमकी भाषामें आत्माके साथ वार्तालाप कर सकता है । हम नहीं जानते कि यहाँसे जानेके बाद जीव क्या स्वरूप ग्रहण करता है । इसके लिये सिद्धान्त अवश्य निश्चित हैं, पर हमें वे ज्ञात नहीं । हम केवल एक बात जानते हैं—जीवन भगवान्‌के साथ नित्य गतिशील है, आत्मा अमर है ।

मैं नहीं जानता कि कल अथवा आगामी क्षण मेरे लिये क्या लेकर आयेंगे ? किंतु मैं जानता हूँ कि मुझे उससे भयभीत होनेकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि भगवान् उसमें हैं । मैं नहीं जानता मृत्युके बाद कैसा जीवन प्राप्त होता है, परंतु मेरा विश्वास है कि वह शुभ है; क्योंकि शाश्वत पिता उसमें विद्यमान हैं । मैं नहीं जानता कि जब मेरी आत्मा इस शरीरको छोड़कर जाती है तो उसकी क्या दशा होती है, किंतु मेरा विश्वास है

कि यह भगवदीय नियमके अनुसार ही गतिशील हैं और मृत्युके बाद भी यह विद्यमान रहती है।

संतोंने आत्मजीवनकी शाश्वततापर बहुत जोर दिया है। भगवान्की इच्छासे ही हमें जीवन—पूर्ण जीवन प्राप्त होता है। हम अज्ञानके कारण ही जीवनकी एक झाँकीको अधिक महत्त्व देकर उसके अन्तकी झूठी कल्पना कर बैठते हैं। वस्तुतः जीवन शाश्वत है और किसी भी परिवर्तनसे उसमें बाधा नहीं आती।

आपके प्रेमपात्र जीवित हैं, गौरवके साथ जीवित हैं। उनके लिये शोक करते रहनेकी आवश्यकता नहीं है। उनकी भव्य मुखाकृतिके सामने आप अपनी दुखी विषादयुक्त मुखाकृति उपस्थित न करें। आप अपने और अपने प्रेमपात्रके बीच शोकका पर्दा डालकर उन्हें पृथक् न करें।

भगवान्पर विश्वास करें और उनकी प्रार्थनाकी शरण लें। अनुभव करें कि आपके बिछुड़े प्रेमी प्रेम, कृतज्ञता और समादरके साथ परम पिताके पास हैं, यद्यपि उनका यह जीवन परिवर्तित हो गया है, पर इस परिवर्तनका उनपर कुछ भी प्रभाव नहीं है। भगवान्के प्रकाशकी ओर अपना मुख कीजिये। अपने प्रेमीको अदृश्य परमात्म-शक्तिकी सन्निधिमें रहनेवाले समुदायमें देखिये। आशाको अपनाइये, यह भगवद्विश्वासका गुण है, अनुभव कीजिये—मेरा प्रेमपात्र भगवान्के संरक्षणमें है। मैं ईश्वरके संरक्षणमें रहता हुआ जीवन-संग्रामको पूरा करूँगा।

मैं अपने भावी जीवनके लिये चिन्तित नहीं हूँ; क्योंकि मैं सच्चे हृदयसे मानता हूँ कि महान् शाश्वत अनुभूति ही जीवन है, जिसका एक अंश प्रकट है, दूसरा अप्रकट, और सम्पूर्ण जीवन भगवान्की निर्धारित अवधिमें प्रकट हो जायगा।

जब कभी मेरा कोई प्रियजन इन भौतिक आँखोंसे ओझल होता है और जीवनके उस पार यात्रा आरम्भ करता है, तो मैं भगवद्विश्वासकी अन्तर्दृष्टिसे अनुभव करता हूँ कि वह जीवित है, अच्छी अवस्थामें है और नित्य भगवान्के साथ है। ('युनिटि'से)

मृत्यु बनकर तुम्हीं आते हो

मृत्युरूप बन तुम ही आते मेरे नित्य परम प्रिय नाथ !
वेश बदल देते बाहरका, पर न छोड़ते पल भर साथ ॥
दूर समीप कहीं ले जाते नरक स्वर्ग इच्छा अनुसार।
सुखी बनाते रहते, देते निज आलिंगन बारंबार ॥
मृत्यु-साजमें भी देखूँगा मैं प्रिय मधुर रूप अभिराम।
निर्भय, सुखमय आलिंगन पा बन जाऊँगा मैं सुखधाम ॥
डरते रोते हैं वे ही, जो सकते नहीं तुम्हें पहचान।
भीषण मरण-साज सज तुम ही आते मधुर मंजु भगवान ॥
जीवन-मरण सभी नित प्रियतम मधुर तुम्हारे ही हैं खेल।
सबमें ही है नित्य तुम्हारा परमानन्द-सुधामय मेल ॥
जगत्, जगत्के परिवर्त्तन सब हैं अभिव्यक्ति तुम्हारी नाथ !
तुमसे बने, बने तुमही हो सब, तुम ही हो रहते साथ ॥
जगमें दो ही वस्तु सत्य हैं—लीलामय, लीला निर्मान।
लीला-लीलामय अभिन्न हैं नित सच्चिदानन्द भगवान ॥

पढ़ो, समझो और करो

(१)

भगवन्नामका अमोघ परिणाम

करीब दो साल पहलेकी बात है। मेरे मकानके सामने एक पंजाबी सज्जन रहते थे। रातको दो बजे मुझे बुलाने आये, बोले—'मेरा दौहित्र बीमार है और उसकी हालत बहुत खराब है।' मैं तुरंत गया। लड़का छः-सात सालका था। स्थिति शोचनीय थी। मैं भी हताश हो गया। क्या किया जाय, क्या दवा दी जाय, कुछ समझमें नहीं आया। इतनेमें ही धन्वन्तरि भगवान्के ये वचन याद आ गये—

अच्युतानन्तगोविन्दनामोच्चारणभेषजात् ।
नश्यन्ति सकला रोगाःसत्यं सत्यं वदाम्यहम्॥

मैंने घरके सब लोगोंको हटा दिया और लड़केका हाथ अपने हाथमें लेकर 'अच्युत, अनन्त, गोविन्द'—इन भगवन्नाम-मन्त्रोंका मन-ही-मन जप करने लगा। एक घंटे भर जप चला था कि लड़का उठ बैठा और हँसने लगा। सब लोग आ गये। मैंने कहा—'भगवान्की कृपासे लड़का अच्छा हो गया'। यह लड़का अब भी जीवित है और सकुशल है।

इस मन्त्र—'अच्युत, अनन्त, गोविन्द'को सिद्ध कर लेना चाहिये। सिद्ध करनेकी विधि यह है—आश्विन मासमें धनत्रयोदशीके दिन स्नानादिसे पवित्र होकर आसनपर बैठ जाय और शुद्ध घीका दीपक जलाकर उपर्युक्त मन्त्रका १२८००० (एक लाख अट्ठाईस हजार) जप पूरा कर ले। एक दिनमें न हो तो दूसरे दिन दूध पीकर कर ले। जप पूरा होनेपर इसी मन्त्रसे कुछ होम करे और यथाशक्ति एक या अधिक पवित्र ब्राह्मण या संतोंको भोजन करा दे। बस, मन्त्र सिद्ध हो गया। इस मन्त्रका प्रयोग कभी पैसेके लिये न करे।

—एक वृन्दावनवासी बाबा

(२)

ग्रामीण चमारिनकी ईमानदारी

लगभग दो महीने पूर्व चखनी (बगहाके पास) के पादरी साहब बेतिया बैंकसे २८०००) रुपयेका भुगतान लेकर मोटर-साइकिलसे लौरिया पिरोडसे जा रहे थे। भूलसे उनका मनी-बैग शनीचरी चौकसे कुछ दक्षिण ही गिर पड़ा, जो तत्काल उन्हें मालूम भी न हो सका। बहुअरआ ग्रामकी एक बुढ़िया चमारिनने उसे पाया और वह अपने घर ले गयी। वहाँ उसने खोलकर देखा तो उसमें नोट-ही-नोट भरे थे। बुढ़ियाने पादरी साहबको जाते देखा था। अतः वह समझ गयी कि यह उन्हींका है। वह तुरंत ही फिर सड़ककी ओर इस अभिप्रायसे आयी कि वे लौटें तो उनसे यह बात कह दूँ।

किंतु कुछ दूर आगे जानेपर जब पादरी साहबको बैग गिर जानेका ध्यान आया तब वे शीघ्र ही वापस लौटे तथा बुढ़ियाके फिर सड़कपर आनेसे पहले ही वे बेतियाकी ओर चले गये। वहाँ (बेतिया) थानेमें इसकी इत्तला दी और लौरिया थानेमें भी फोन करवाया। यह सब करके वे फिर वापस लौटे, तबतक बुढ़िया उनकी प्रतीक्षामें सड़कपर बैठी रही। उन्हें आते देख उसने रोका और सब हाल कह सुनाया। पादरी साहब उसके साथ उसके घरतक गये। बुढ़ियाने उनका बैग उन्हें सौंप दिया। उन्होंने देखा तो सब रुपये ठीक थे। पादरी साहब तीन हजार रुपये उसे देना चाहते हैं, जिसकी जमीन ठीक होनेपर उस बुढ़ियाके नातीके नामसे खरीदी जायगी; क्योंकि उसका दूसरा कोई वारिस नहीं है। सुना है—उसके घर (झोंपड़ी) की भी मरम्मत उनके द्वारा करायी गयी है!

इस घोर कलिकालमें भी कुछ ऐसी शुचिता-सम्पन्न (ईमानदार) आत्माएँ विद्यमान हैं, जो कठोर प्रलोभनकी

स्थितिमें भी अपने मानवीय कर्तव्योंको कथमपि नहीं भुला पातीं; यद्यपि आधुनिक शिक्षित सभ्य-नामधारी समाजमें उन्हें अशिक्षित तथा असभ्य ही समझा जाता है। भगवान् करें कि वह कुशिक्षा ही यहाँसे सर्वथा दूर हो, जो आत्मा-जैसी अमूल्य निधिको लुटाकर नश्वर क्षणिक सुख-विलासोंकी ओर अग्रसर होनेकी प्रेरणा देती है। किसी कविने ठीक ही लिखा है——

जन्मैव वन्ध्यतां नीतं भवभोगोपलिप्सया।
काचमूल्येन विक्रीतो हन्त चिन्तामणिर्मया॥

—नन्दकिशोर झा

(३)

सेठकी सुहृदता

कुछ वर्षों पहलेकी बात है। राजस्थानके एक कस्बेमें एक सेठके पास एक अपरिचित सज्जन बहुत आवश्यक होनेपर बहुत अधिक कीमतकी हँसली बंधक रखकर सात सौ रुपये उधार लेने आये। सेठने उनके प्रति सहानुभूति प्रकट करके कहा——'सात सौ रुपये ले जाइये, हँसलीकी कोई आवश्यकता नहीं है।' पर वे नहीं माने। तब हँसली रखकर उन्हें सात सौ रुपये दे दिये गये। सेठने हँसली अपनी पुत्रवधूके पास रखवा दी। हँसलीके साथ ही उन सज्जनका नाम-पता लिखा था।

इसके बाद काफी समय बीत गया। वे सज्जन रुपये देकर हँसली छुड़ाने नहीं आये। इधर सेठ बीमार रहने लगे। उनके एक अङ्गपर लकवा मार गया। अब सेठ बड़ी चिन्तामें पड़े और सोचने लगे कि उक्त सज्जनके पास सात सौ रुपयेकी व्यवस्था नहीं हो सकी होगी, इससे वे हँसली लेने नहीं आये। हँसली ज्यादा कीमतकी है। वे बेचारे हँसलीसे वञ्चित हो जायँगे तो उनका बड़ा नुकसान होगा। सेठको उन सज्जनका नाम-पता तो याद रहा नहीं, पर वे बार-बार उनकी याद करके बड़ा दुःख प्रकट करते। एक दिन पुत्रवधूने उनकी बात सुनकर कहा कि 'उनका नाम-पता तो हँसलीके साथ ही मेरे पास लिखा है'। यह जानकर सेठको बड़ी प्रसन्नता हुई और वे लकवाकी बीमारीकी हालतमें ही मोटरपर सवार होकर हँसली लेकर उक्त सज्जनके गाँव पहुँचे। उन्होंने वहाँ जाकर उनसे कहा——'आप अपनी हँसली ले लीजिये, रुपयेकी व्यवस्था नहीं हो सकी तो कोई भी संकोचकी बात नहीं है।' वे बेचारे तो यह देख-सुनकर आश्चर्य-चकित हो गये। उन्होंने हँसली लेनेसे इनकार किया। पर सेठ माने नहीं, उन्हें हँसली देकर ही आये और इससे उन्हें बड़ा संतोष प्राप्त हुआ। वे सज्जन तो गद्गद हो गये।

—एक जानकार

(४)

कुछ अनुभूत अमोघ दवाएँ

१. आधाशीशी—रात्रिको सोनेसे पूर्व एक छटाँक चीनी या चीनीका बूरा पावभर पानीमें घोलकर ढककर रख दे। ऐसा ढके जिसमें चींटी आदि न लग जाय। प्रातःकाल सूर्य-उदयसे एक घंटा पहले जलको अच्छी तरह हिलाकर पी जाय। बस, आधाशीशी गयी। यह अनुभूत है।

२. तिजारी (एकान्तरा) ज्वर—आनेके दिन दो घंटे पहले, रोगीको थोड़ा-सा गुड़ लेकर अपने पास बुला ले; फिर थोड़ी-सी भुनी हुई फिटकरी गुड़में डालकर भगवान्‌के नामका उच्चारण करते हुए उसकी गोली बनाकर रोगीको खिला दे। ऊपर थोड़ा-सा जल पिला दे। इससे एकान्तरा नष्ट हो जाता है।

३. उदररोग—प्रतिदिन प्रातःकाल गाय (काली गौ हो तो सर्वोत्तम) का पहली दफेका मूत्र मिट्टी, काँच या चीनी माटीके बरतनमें लेकर उसमेंसे छानकर केवल एक छटाँक गोमूत्र पी ले। चालीस दिनोंतक नियमित पीना चाहिये। इससे पेटके सारे रोग दूर होते हैं।

४.(क) **उदरशूल**—कच्ची फिटकरी दो माशा एक तोला शुद्ध शहदमें बारीक पीसकर उसे चटा दे। १५ मिनटमें आराम हो जाता है।

(ख) **नाभिके नीचेका शूल (वृक्-शूल)** एक मुनक्का लेकर उसमेंसे बीज निकाल दे और बीजकी जगह एलुवा रखकर उसे रोगीको निगलवा दे। ऊपरसे थोड़ा-सा जल पिला दे। पाँच ही मिनटमें आराम होता है।

—श्रीराधेश्याम मौनी बाबा वंशीवाला, वंशीवट, बृन्दावन।

(५)

नायलोनका बुरा फल

हमारे एक सम्बन्धीकी बहिन अंकलेश्वरमें जल गयी थी। तार मिलते ही मैं वहाँ गयी। नायलोनकी साड़ी पहने बहिन रसोई बना रही थी, स्टोव जमीनपर था। किसी चीजको लेने गयी थी कि साड़ीके एक छोरको आगने पकड़ लिया। फिर तो नायलोन जलकर सारे शरीरके चिपट गया। जलनेके बाद पुकार मचाती बहिन बाहर दौड़ी आयी, तबतक तो नायलोनकी साड़ी शरीरसे ऐसी चिपक गयी कि अस्पतालमें जब उसका पोस्ट-मार्टम किया गया तो चिमटीसे खींच-खींचकर नायलोनके टुकड़े शरीरसे निकाले गये। यह दृश्य इतना करुण था कि मेरी तो आँखें तिरमिरा गयीं। नायलोन जितना सुन्दर तथा सुविधा-भरा है, उतना ही हानिकारक और प्राणहारी है।

दूसरा प्रसंग यह है कि मेरे गलेमें दर्द होनेके कारण मैं एक दिन बंबई अस्पतालमें गयी थी। वहाँ एक बहिनको देखा, जिसकी छाती और हाथ बुरी तरह जले हुए थे। गरदनके ऊपरकी चमड़ी और गाल भी जले थे। गरदनकी नसें जलकर छोटी हो गयी थीं। पूरा मुँह नहीं खुल पाता था। पूछनेपर पता लगा कि वह बहिन नायलोनकी चोली पहनकर बाहर जा रही थी। इतनेमें दूधवाला आ गया। दूध गरम करनेको रक्खा। उतारते समय सँड़सीके बदले बहिन साड़ीसे ही तपेली उतारने लगी। इसीमें एक छोर जल उठा और बहुत प्रयत्न करनेपर भी नायलोनकी चोली शरीरसे उतरी नहीं। शरीरसे नायलोन चिपका था, इसीसे वह इतनी जल गयी। सुन्दर नायलोनके पीछे कितनी करुणा भरी है। एक बहिन नायलोनके मोजे सदा पहने रहती, इससे उसको चर्मरोग हो गया। —देवल सरैया

(६)

व्यापारमें उदारता

कुछ वर्षों पहलेकी बात है। जयपुर महाराजके महलको सजानेके लिये बंबईकी दो प्रसिद्ध फर्मोंको फर्नीचर लगानेका आर्डर दिया गया। दोनों ही फर्में फर्नीचर बनानेमें निपुण तथा एक दूसरेसे बढ़ी-चढ़ी थीं। संयोगवश फर्नीचरको पालिश करने तथा फिटिंग करनेके लिये दोनों ही फर्मोंके कारीगर एक ही साथ जयपुर पहुँच गये और अपने-अपने जिम्मेके अलग-अलग कमरोंके सजानेका काम धड़ाकेसे चलाने लगे। प्रतिद्वन्द्वीकी तरह दोनों फर्मोंके कारीगर एक दूसरेके कामकी शिकायत महलके मास्टरसे करते और मास्टरके द्वारा बात महाराजा तक पहुँच जाती।

एक दिन सबेरे स्वयं महाराजा फर्नीचर देखने आये। उस समय एक फर्मके मालिक भी आये हुए थे। उन्होंने अपने मालकी बड़ी प्रशंसा करते हुए दूसरी फर्मके लिये कहा कि उसने लकड़ी बहुत हल्के दर्जेकी बरती है। यों महाराजके कानमें जहर भर दिया। महाराजाने उस फर्मको पत्र लिखा कि वह अपना फर्नीचर वापस ले जाय और एडवांसमें दिये हुए रुपये लौटा दें। पत्र पढ़कर उक्त फर्मके मालिक बहुत दुखी हुए। उसी रात्रिको वे जयपुरके लिये चल निकले। व्यापारमें जीवनभर कभी धोखा न करनेपर भी यह लाञ्छन लग गया; इसके लिये वे ईश्वरसे माफी माँगने लगे।

स्टेशनसे वे सीधे ही महलमें पहुँचकर महाराजासे मिले। वहाँ प्रतिद्वन्द्वी फर्मके मालिकको उपस्थित देखकर उन्होंने परिस्थितिका सारा रहस्य समझ लिया। उनकी उपस्थितिमें ही उन्होंने महाराजाको एडवांसका चेक वापस देते हुए कहा—'सरकार! आपने आर्डर रद्द कर दिया, इसका हमें कोई खास विचार नहीं है, परंतु यह तो हमारी इज्जतका सवाल है। प्रत्येक फर्नीचरमें हमने शर्तके मुताबिक सागवानकी लकड़ीको ही काममें लिया है। इसकी तसल्लीके लिये मैं मशीन साथ लाया हूँ, आप अपने शहरके किसी अच्छे जानकारको बुलाकर जाँच करा लें। वे जाँच करके आपको निश्चित बात बता सकेंगे।'

इसी बीच प्रतिद्वन्द्वी फर्मके मालिक धीरेसे खिसक गये। महाराजाने शहरके पारखीको बुलाकर जाँच करवायी, तब निश्चय हो गया कि लकड़ी ठीक सागवानकी ही लगी है और काम भी बहुत अच्छा किया गया है।

महाराजाने आर्डर रद्द करनेका आदेश वापस ले लिया और उस फर्मके मालिकका आभार मानते हुए काम चालू रखनेको कहा। इसीके साथ महाराजाने दूसरी फर्मका फर्नीचर कैसा है, यह जाननेके लिये उनसे पूछा। उन्होंने कहा—'सरकार! हम अपना माल कैसा है, केवल यही बता सकते हैं। दूसरेकी चीजके विषयमें सम्मति देकर उसे नीचा या हलका बतलाना हमारे सिद्धान्तमें नहीं है।' दोनोंका काम पूरा हुआ और रकम चुका दी गयी। इनमें इस फर्मका काम सहज ही सबको बहुत सुन्दर लगता था।

बहुत दिनों बाद महाराजाके एक मित्र धनी मारवाड़ी सेठ महाराजासे मिलने आये और महलके सुन्दर फर्नीचरको देखकर अपने बंगलेके लिये वैसा ही फर्नीचर बनानेके लिये उन्होंने फर्नीचरवाले फर्मका नाम-पता लेकर उसको पत्र लिखा। महाराजने, जिसकी शिकायत की गयी थी, पर जिसका काम सच्चा और बढ़िया हुआ था, उसी फर्मका नाम-पता बतलाया था। मारवाड़ी सेठने उनको लिखा कि 'वे उक्त फर्मको एक लाखका काम देंगे, वे तुरंत ही बंगला देखने जयपुर आ जायँ।' चौथे दिन उस फर्मका उत्तर मिला—लिखा था,—'आपने महाराजा साहेबके कथनानुसार हमलोगोंको आर्डर देनेके लिये बुलाया, इसके लिये हम आभारी हैं। पर इस समय हमारे हाथमें बहुत अधिक काम होनेके कारण हम आर्डर स्वीकार नहीं कर सकेंगे, इसके लिये क्षमा करें। हम आपसे सिफारिश करते हैं कि आप अपना काम नीचे लिखी फर्मको दे दें, वह बहुत अच्छा फर्नीचर बहुत सावधानीसे बना देगी।' यों लिखकर नीचे उसी प्रतिद्वन्द्वी (महाराजाको झूठी शिकायत करनेवाले) फर्मका नाम-पता लिख दिया।

मारवाड़ी सेठने उस दूसरी फर्मको लिखा कि 'बंबईकी अमुक फर्मने बढ़िया फर्नीचर बनानेके लिये आपका नाम बतलाया है। अतः आप आकर बंगला देख लें और आर्डर ले जायँ।' जिस फर्मकी स्वयं शिकायत की थी, उसीने अच्छा काम करनेके लिये हमारा नाम बतलाया है, यह जानकर उस फर्मके मालिक बहुत ही शर्मिंदा हो गये और जयपुरसे अच्छीसी रकमका आर्डर लेकर जब वापस बंबई लौटे तो सीधे उस फर्मकी दूकानपर जाकर उन्होंने झूठी शिकायत करनेके लिये गद्गद कण्ठसे उनसे माफी माँगी और भविष्यमें कभी ऐसा न करनेका वचन दिया।

आज भी वे दोनों फर्में प्रेमसे हिल-मिलकर काम करती हुई बंबईमें नामके साथ दाम भी कमा रही हैं।

—शान्तिलाल बोले

(अखंड आनन्द)

'कल्याण'के आजीवन ग्राहक बननेके नियम

(१) एक साथ एक सौ रुपये देनेवाले सज्जन 'कल्याण'के आजीवन ग्राहक बनाये जाते हैं। जो लोग चालू वर्षका वार्षिक मूल्य रु० ७.५० भेज चुके होते हैं, वे ९२.५० और भेजकर आजीवन ग्राहक बन सकते हैं।

(२) जो सज्जन प्रतिवर्ष सजिल्द विशेषाङ्क लेना चाहें, उन्हें १२५.०० (एक सौ पचीस रुपये) भेजने चाहिये।

(३) भारतवर्षके बाहर (विदेश) के महानुभावोंके लिये आजीवन ग्राहक-मूल्य १२५.०० या १० पौंड है। सजिल्दका १५०.०० या १२ पौंड है।

(४) आजीवन ग्राहक बननेवाले जबतक रहेंगे और जबतक 'कल्याण' चलता रहेगा, उनको प्रतिवर्ष 'कल्याण' मिलता रहेगा। उनके पीछे उनके उत्तराधिकारियोंको नहीं मिलेगा और किसी कारणवश 'कल्याण' बंद हो जानेपर भी नहीं मिलेगा। दोनों ही हालतमें रुपये 'गीताप्रेस'के स्थायी कोषमें सम्मिलित हो जायँगे और प्रकारान्तरसे यह उनके द्वारा गीताप्रेसके सत्साहित्य-प्रचारकार्यमें सहायता हो जायगी।

(५) मन्दिर, आश्रम, पुस्तकालय, मिल, कारखाना, उत्पादक या व्यापारी-संस्था, क्लब या अन्यान्य संस्था तथा फर्मको भी आजीवन ग्राहक बनाया जा सकता है।

सन् १९६३ में प्रकाशित नयी पुस्तकें

१—**उत्तराखण्डकी यात्रा**—(चौंतीस चित्रोंसहित) ले०—सेठ श्रीगोविन्ददासजी एम० पी०, श्रीमती कुमारी देवी तथा श्रीगोविन्दप्रसादजी श्रीवास्तव, पृष्ठ-संख्या ३१०, मूल्य २.००।

२—**कर्मयोगका तत्त्व**—लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ-संख्या ४२०, चित्र दो तिरंगे, तीन दे, मूल्य १.१२।

३—**श्रीमद्भगवद्गीता**—(सानुवाद श्रीधरस्वामिकृत व्याख्यासहित) डिमाई आठपेजी, पृष्ठ-संख्या २२, सचित्र, मूल्य २.००, सजिल्द २.५०।

४—**राम-कथा-मन्दाकिनी**—(स्वरकार श्रीमती गोदावरी बाई साठे) पृष्ठ-संख्या २४२, बढ़िया ज, आकार डिमाई आठपेजी, मूल्य २.००। यह गोस्वामी तुलसीदासजीकी रामचरितमानस तथा कवितावलीके हुए पदोंपर रचित शास्त्रीय संगीतकी स-स्वर पुस्तक है।

५—**भगवद्भक्ति**—मूल्य दो नये पैसे, ब्र० परमहंस स्वामीजी श्रीमंगलनाथजीके कल्याणमें प्रकाशित खोंकी एक छोटी-सी पुस्तिका।

बड़ी पुस्तकोंके पुनर्मुद्रण

ामचरितमानस मोटा टाइप—बृहदाकार संस्करण, २२×२९ चारपेजी, भाषाटीकासहित, पृष्ठ ९८४, सजिल्द मूल्य १५.००

ामचरितमानस—सटीक ७.५० वालीका मोटे टिकाऊ कागजोंका संस्करण मूल्य ... ११.००

न्दोग्योपनिषद्—सानुवाद शांकरभाष्यसहित, ९ चित्र, पृष्ठ ९६८, सजिल्द मूल्य ३.७५।

श्रीमद्भगवद्गीता—तत्त्वविवेचनी टीकासहित, पृष्ठ ६८४, रंगीन चित्र ४, साधारण संस्करण, मूल्य ४.००,

(बढ़िया मोटे टिकाऊ कागजपर, मूल्य ६.००।)

सभी पुस्तकोंका डाकखर्च अलग।

यहाँसे मँगवानेके पहले अपने शहरके पुस्तक-विक्रेतासे प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

अ.नि. 645 JUN 1964

रजि० सं० एल० १७५

मानवकी मानवता

मानवका है चरम परम शुचि एक लक्ष्य केवल भगवान।
लगे साधनामें जो इसकी, वही सत्य-मानव मतिमान॥
होता मंगलमय मानवताका शुभ तभी यथार्थ प्रकाश।
दैवी मानव-गुण-समूहका होता तभी विशुद्ध विकास॥
मानव ही क्यों, सकल चराचर पाते उनसे सुख-विश्राम।
अखिल विश्वकी सहज सुसेवा शुचि उनसे होती अविराम॥
होते पूजन-रूप नित्य उनके सारे आचार-विचार।
नित स्वकर्मसे करते वे, केवल प्रभु-सेवाका व्यापार॥
होते सर्वभूतहित, इन्द्रियविजयी, प्राप्त-ज्ञान-विज्ञान।
छूते नहीं उन्हें फिर मिथ्या-माया-ममता-मद-अभिमान॥
हर्षामर्ष-शोच-आकांक्षा-रहित सहज समता सम्पन्न।
सर्वहितमयी धारा उनसे नित होती रहती उत्पन्न॥
यों प्रभुके शुचि सेवनसे वे करते परम 'अभ्युदय' प्राप्त।
प्रभु-पद-प्राप्ति-रूप 'निश्रेयस'को फिर वे पा जाते आप्त॥

मानवकी पशुता-प्रेतता-पिशाचता

लक्ष्य भूल मानव-जीवनका बनते जो भोगोंके दास।
सहज मोहवश बँध जाते वे ममता-राग-द्वेषके पाश॥
'काम-क्रोध-लोभ'वश करते वे नित अवाञ्छनीय दुष्कर्म।
'अर्थ' और 'अधिकार' मात्र बस, बन जाते उनके प्रिय धर्म॥
भूल 'त्याग' 'कर्त्तव्य'-ज्ञानको तजकर 'सत्य-अहिंसा-प्रेम'।
मूढ़ चाहते तमोगुणी आसुर-साधनसे 'योगक्षेम'॥
मोह-मान-मद-कपट-कुटिलता पूर्ण दुष्कृतोंसे वे भ्रान्त।
ज्यों-ज्यों सुख-साफल्य चाहते, त्यों त्यों होते असफल, क्लान्त॥
दुखी बनाकर सब जीवोंको, स्वयं चाहते सुख-संभार।
चिन्ता-भय-विषाद-व्याकुलता-दुख पाते वे बारंबार॥
खोकर दुर्लभ मानवता, वे बन जाते पशु-प्रेत-पिशाच।
पशुओं, प्रेत-पिशाचोंकी ज्यों लड़ते, करते नंगा नाच॥
इसे मानते जागृति, उन्नति, प्रगति, सभ्यता उच्च विकास!
मानव जन्म नष्ट कर, करते मरकर भीषण नरक-निवास!!

सितम्बर

कल्याण

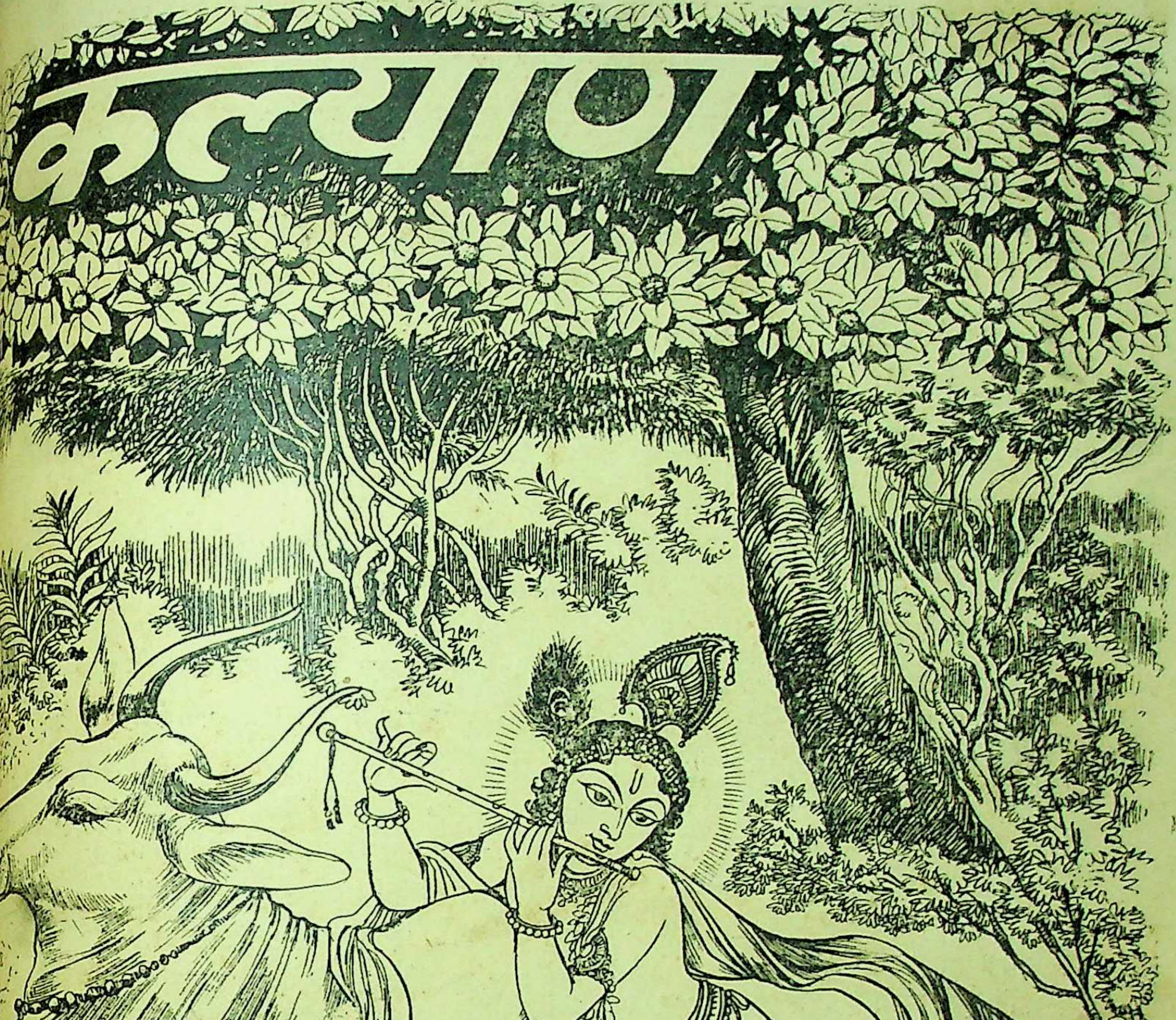

३८]   ❋   ❋   ❋   [अङ्क १

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

संस्करण—१,३८,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर आश्विन २०२१, सितम्बर १९६४

विषय पृष्ठ-संख्या

१–द्वन्द्वातीत जडभरत [कविता] ... ११४१
२–कल्याण ('शिव') ... ११४२
३–एक महात्माका प्रसाद (श्री'माधव') ११४३
४–उदारता तथा विशालताका दर्शन (साधु-वेषमें एक पथिक) ... ११४४
५–अन्तरके शिवत्वको जाग्रत् और विकसित करें (श्रीराधेश्याम) ... ११४६
६–वामन और विष्णु (डा० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल एम्० ए०, पी-एच्०डी०) ११४८
७–रासपञ्चाध्यायीमें दिव्य प्रेम (कविराज पं० श्रीहरिवक्षजी जोशी काव्य-सांख्य-स्मृतितीर्थ) ११५२
८–सुरभि ! सदा अभिनन्दन तेरा [कविता] (डा० श्रीहरिशंकरजी शर्मा डी० लिट्०) ११५७
९–मथुराजीकी यात्राका अनुभव (दि० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास) ... ११५८
१०–मधुर ११६०
११–कामके पत्र ११६२
१२–भगवान् ही अपने हैं ... ११६८
१३–दीपावली पर्व (श्रीरामप्रसादजी सनाढ्य, वेदान्ताचार्य, बी० ए०, एल्० टी०) ११६९
१४–त्याग [कहानी] (श्रीकृष्णगोपालजी माथुर) ११७२
१५–जीभपर अमृतका झरना (श्रीरामनाथजी 'सुमन') ११७५

विषय पृष्ठ-संख्या

१६–रामचरितमानसकी अन्तःकथाएँ (डा० श्रीवागीशदत्तजी पाण्डेय एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ... ११७८
१७–आत्मोद्धारके सरल उपाय (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... ११८१
१८–हमारा लक्ष्य और साधन (ज्योतिर्विद् श्रीविश्वनाथजी मेहरोत्रा) ... ११८५
१९–विद्वान् संत-महात्माओंको दान (श्रीरामनिरीक्षणसिंहजी एम्० ए०, काव्यतीर्थ) ११८८
२०–आजके युगकी विशेषता—अर्थ एवं अधिकार (प्राध्यापक श्रीजे० पी० पाण्डेय, एम्० एस्-सी०, बी० एड्०, एल्-एल्० बी०, विशारद) ११९०
२१–भगवन्नामके चमत्कार (डा० श्रीगोकुलप्रसादजी त्रिपाठी एम्० ए०, पी-एच्० डी०, एल्० टी०, साहित्यरत्न) ... ११९२
२२–आध्यात्मिक दृष्टिकोण धारण करनेसे सुख, शान्ति और समृद्धि (श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, विद्याभूषण, दर्शनकेसरी) ... ११९३
२३–लक्ष्यवेध [कहानी] (श्री'चक्र') ... ११९७
२४–पढ़ो, समझो और करो ... १२००
२५–श्रीकृष्ण केवल प्रेम-रूप [कविता] ... १२०४

चित्र-सूची

१–गोप्रेमी गोपाल ... ... (रेखाचित्र) मुखपृष्ठ
२–द्वन्द्वातीत जडभरत ... ... (तिरंगा) ... ११४१

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति
भारतमें .४५
विदेशमें .५६
(१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

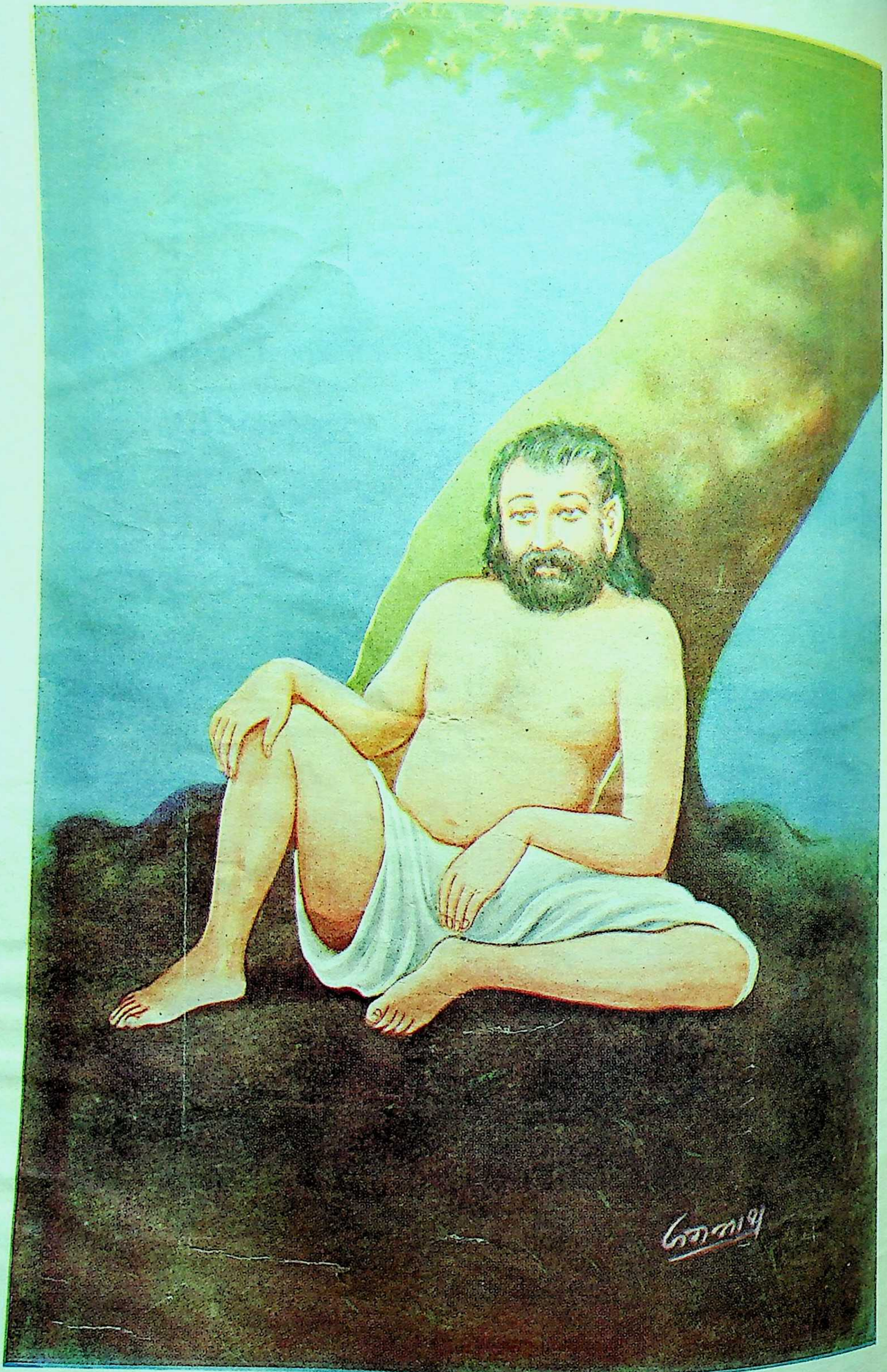

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

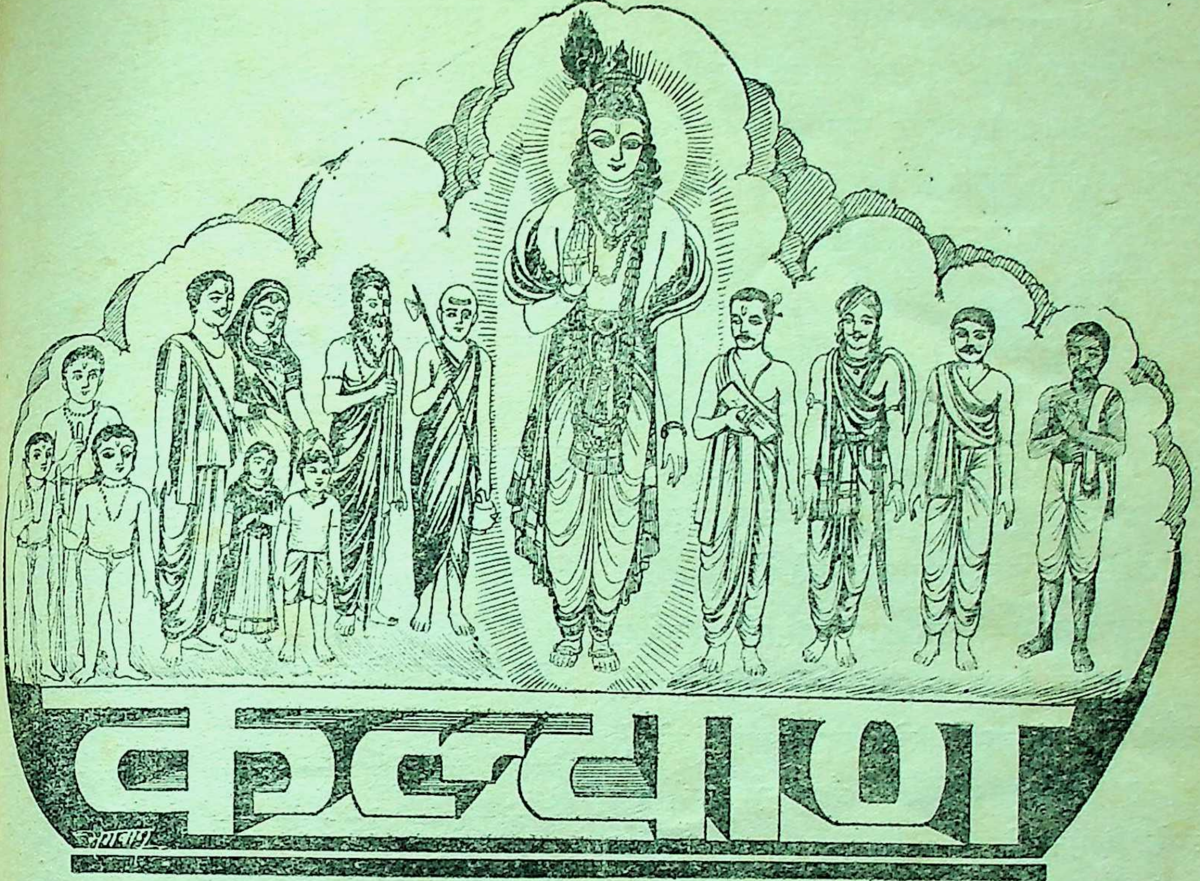

कल्याण

सर्वारिष्टहरं सुखैकरमणं शान्त्यास्पदं भक्तिदं स्मृत्या ब्रह्मपदप्रदं स्वरसदं प्रेमास्पदं शाश्वतम् ।
मेघश्यामशरीरमच्युतपदं पीताम्बरं सुन्दरं श्रीकृष्णं सततं व्रजामि शरणं कायेन वाचा धिया ॥

वर्ष ३८ }
गोरखपुर, सौर आश्विन २०२१, सितम्बर १९६४
{ संख्या ९
पूर्ण संख्या ४५४

द्वन्द्वातीत जडभरत

शीत-उष्ण, सुख-दुःख, शुभाशुभ, जीवन-मरण, मान-अपमान ।
स्तुति-निन्दा, प्रिय-अप्रिय द्वन्द्वोंमें समस्त नित समतावान् ॥
राग-द्वेष-कामके त्यागी विगत मोह-ममता-अभिमान ।
परम शान्त जडवत् आचारी ज्ञानमूर्ति जडभरत महान् ॥

कल्याण

याद रक्खो—जगत्में सभी अभावग्रस्त हैं। जगत्के प्राणि-पदार्थोंकी प्राप्तिसे अभावकी पूर्ति नहीं होती वरं अभावोंकी संख्या बढ़ती है। अतएव जो जगत्के पदार्थोंसे अभावोंकी पूर्ति चाहता और उनकी प्राप्तिके लिये सतत प्रयत्न करता है, उसे सदा निराशा ही मिलती है।

याद रक्खो—प्रकृति अभावमयी है, परमात्मा भावरूप हैं। अतः जो जागतिक भावोंकी पूर्ति न चाहकर परमात्माको प्राप्त करना चाहते हैं, वे सदा भावयुक्त होते चले जाते हैं और सहज ही अभावोंकी ज्वालासे छुटकारा पाते रहते हैं।

याद रक्खो—जिसके पास संसारके पदार्थोंका नितान्त अभाव है, जो धन, जन, मान, मकान आदिसे सर्वथा रहित है पर जिसके मनमें भगवान् बसे हैं, वह सर्वथा सर्वदा भावमय है और परम सुखी है। इसके विपरीत जो विपुल धन, जन, मान-वैभवका स्वामी है, इहलोक और परलोकके भोगोंसे सम्पन्न है, देवराज इन्द्रके पदको प्राप्त है; पर जो भगवान्को भूला हुआ है, वह सदा अभावग्रस्त है। अतः परम दुखी है। वह इन्द्रियोंके सारे भोग-सुखोंके प्रचुर मात्रामें होनेपर भी नित्य जलता रहता है। उसे कभी शान्ति मिल ही नहीं सकती; क्योंकि उसके पास जो कुछ है, सभी अपूर्ण, अनित्य और विनाशी है।

याद रक्खो—मनुष्यकी अशान्ति, चिन्ता, दुःख और उसके द्वारा होनेवाले पापोंमें मुख्य हेतु है संसारके प्राणि-पदार्थोंकी—भोगोंकी कामना ही। भोगोंकी कामना इसलिये है कि मनुष्य भूलसे भोगोंके द्वारा अभावकी ज्वालासे मुक्त होना चाहता है। इसीलिये वह नित्य नये प्रयत्नमें, नित्य नयी भोगलिप्सा और उसकी पूर्तिके साधन जुटानेमें ही अपना जीवन व्यतीत करता रहता है। इसीसे वह इच्छित वस्तुके प्राप्त होनेपर लोभ और अभिमानके वश होता है। एवं इच्छित वस्तुकी प्राप्ति न होनेपर क्रोध और क्षोभके द्वारा आक्रान्त होता है। फलतः उसका जीवन कष्टमय, हिंसामय और दुःखमय हो जाता है और वह इसी प्रकार दिन-रात चिन्तानलमें जलता हुआ मर जाता है, इससे केवल मानव-जीवन व्यर्थ ही नहीं होता, नये-नये पापोंके संचयसे उसका भविष्य अन्धकारमय तथा दुःखमय होता है। जन्मान्तरमें उसे आसुरी पापयोनियोंकी और नरकोंकी पीड़ा भोगनी पड़ती है।

याद रक्खो—मानव-शरीर भोग-देह नहीं है, यह मिला है आध्यात्मिक साधना और उसके फलस्वरूप भगवान्को प्राप्त करनेके लिये। मानव-जीवनका यही एकमात्र परम और चरम उद्देश्य है। इसको भूलकर जो लोग केवल भोग-अर्जन और भोग-सेवनमें लगे रहते हैं, वे कामोपभोगपरायण आसुर-मानव अपनी तो हत्या करते ही हैं, दूसरोंको भी अपने आचरणोंके द्वारा आत्म-हत्यामें लगाकर नरकोंमें ढकेलते हैं।

याद रक्खो—तुम्हारे सच्चे हितैषी, बन्धु, आत्मीय, प्रिय, श्रेष्ठ वे ही हैं, जो तुम्हारे मनको भोगोंसे हटाकर भगवान्में लगाते हैं, विषयोंके प्रलोभनसे मुक्त करके भगवान्के चरणोंमें तुम्हारी आसक्ति बढ़ाते हैं। भोगोंमें लगाकर राग-द्वेष बढ़ानेवाले लोग, चाहे वे घरके हों, बाहरके हों, नेता हों, अधिकारी हों, मिनिस्टर हों, गवर्नर हों, आचार्य हों, साधु हों, महात्मा हों, भक्त हों या अपनेको तुम्हारा परम आत्मीय बतानेवाले हों, वस्तुतः तुम्हारे हितैषी नहीं हैं। वास्तविक अपने नहीं हैं। वे स्वयं भूले हुए हैं और तुम्हें भी भूलमें डाल रहे हैं। उनसे सावधान रहो।

'शिव'

एक महात्माका प्रसाद

[यथाश्रुत यथागृहीत]

(संकलयिता—श्री'माधव')

रागकी यह महिमा है कि जिससे हो जाता है उसके दोषका दर्शन नहीं होता और बेचारा प्राणी उसीके अधीन हो जाता है जिससे राग है। राग ऐसा मधुर बन्धन है कि सुदृढ़ शृङ्खलामें बँधा प्राणी भले ही छूट जाय पर रागमें आबद्ध मनुष्य जबतक उसका त्याग न कर दे, छूट ही नहीं सकता। रागका बन्धन तो रागीको स्वयं तोड़ना पड़ता है। इस दृष्टिसे रागका अन्त करना प्रत्येक साधकके लिये अनिवार्य है। जिससे राग है उसका त्याग स्वाभाविक है। बेचारा रागी रागको अपनेमें भले ही सुरक्षित रक्खे और उसके कारण पराधीन बना रहे, पर जिससे उसका राग है वह तो रह ही नहीं सकता। भला ऐसी दशामें रागसे क्या लाभ ?

रागने ही भोगकी रुचि उत्पन्न की है। भोगकी रुचिने ही बेचारे प्राणीको भोगवासनाओंमें आबद्ध किया है। भोगवासनाओंने ही प्राणीको नित्य योगसे विमुख किया है और नित्य योगकी विमुखताने ही चित्तको अशुद्ध कर दिया है।

जो अपने ही हैं, अथवा जो अपनेसे भिन्न नहीं हैं उनसे प्रेम हो सकता है और जिनसे मानी हुई एकता है अथवा जो अपनेसे भिन्न हैं उनकी सेवा की जा सकती है, उनसे ममता नहीं की जा सकती। अस्तु, समस्त साधन दो ही भागोंमें विभाजित हैं—प्रेम और सेवा। सेवा उसकी जो पर है, प्रेम उससे जो पर नहीं है। समस्त कर्तव्य सेवाके प्रतीक हैं और विवेक प्रेमकी भूमि है। सेवासे विद्यमान रागकी निवृत्ति और सुन्दर समाजका निर्माण होता है। विवेकसे अमरत्वकी प्राप्ति तथा प्रेमका प्रादुर्भाव होता है। जिनकी सेवा की जाय उनसे ममता न हो और जिससे प्रेम किया जाय उससे कोई चाह न हो, तभी चित्त शुद्ध हो जाता है। ममतायुक्त सेवा और कामनायुक्त प्रेम तो चित्तको अशुद्ध ही करता है।

जिनसे नित्य योग है, जो सब प्रकारसे अपने ही हैं, उनसे प्रेम हो, पर किसी प्रकारकी चाह न हो। अचाह हुए बिना प्रेमके साम्राज्यमें प्रवेश ही नहीं होता और स्वार्थभावका अन्त किये बिना सेवा सिद्ध ही नहीं होती।

चित्तकी शान्ति तो वास्तविक विश्राममें है। विश्राम तीन प्रकारसे उपलब्ध होता है—(१) वर्तमान कार्यको पवित्र भावसे पूरी शक्ति लगाकर लक्ष्यपर दृष्टि रखकर करनेसे, (२) विवेकपूर्वक चाहरहित होनेपर और (३) विश्वासपूर्वक अनन्तकी अहैतुकी कृपाके आश्रित होनेसे। विश्रामकालमें चित्त स्थिर, शान्त तथा शुद्ध तो हो ही जाता है, उसके अतिरिक्त आवश्यक शक्तिका विकास भी होता है। ऐसा कोई सामर्थ्य है ही नहीं, जिसका उद्गम-स्थान विश्राम न हो। 'श्रमसे सामर्थ्यका सद्व्यय हो सकता है और विश्रामसे आवश्यक सामर्थ्यकी प्राप्ति होती है'—इस दृष्टिसे श्रमके अन्तमें विश्राम अपेक्षित है अथवा यों कहो कि विश्रामसे ही श्रमकी उत्पत्ति होती है और विश्राममें ही श्रम विलीन हो जाता है; क्योंकि श्रमके आदि और अन्तमें विश्राम ही है। इस रहस्यको जो साधक जान लेता है वह बड़ी ही सुगमताके साथ चित्तको शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ कर लेता है। चित्तके स्वस्थ, शान्त होनेपर किसी भी दशामें न तो शान्तिभङ्ग होती है और न

अशुद्धि आती है और चित्तको जिसमें लगना चाहिये उसमें वह स्वभावसे ही लग जाता है और जिससे हटना चाहिये उससे हट जाता है; अथवा यों कहो कि प्रवृत्तिकालमें चित्त अनासक्त और निवृत्तिकालमें चिन्मय जीवनमें विलीन हो जाता है। इतना ही नहीं; आगे-पीछेका व्यर्थ चिन्तन सदाके लिये मिट जाता है। प्रत्येक दशामें शान्ति, प्रसन्नता तथा निर्भयता सुरक्षित रहती है। ॐ आनन्द आनन्द आनन्द।

उदारता तथा विशालताका दर्शन

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

अनन्तकी इस सृष्टिमें मानव-समाजके अन्तर्गत चार प्रकारके अन्तःकरणवाले व्यक्ति दीख पड़ते हैं—कृपण, अनुदार, उदार और विशाल। इन्हींको विद्वानोंने अधम, निकृष्ट, मध्यम और उत्तम शब्दोंसे सम्बोधित किया है। मानव-आकृतिमें कुछ ऐसे भी राक्षसी और पशु-स्वभावके व्यक्ति देखे जाते हैं जो अकारण ही दूसरोंको कष्ट देते हैं, हानि पहुँचाते रहते हैं; यहाँ उनकी चर्चा न कर हमें परमेश्वरकी उन विभूतियोंका मनन करना है जिनके व्यवहारमें उदारता और विशालताका दर्शन मिलता है। उदार मतिवाले मानव स्वाधिकारगत सुन्दर, पवित्र, अनूठी और प्रिय वस्तुका सुपात्र अथवा अभाव-पीड़ितको दान देते हैं, उनके हृदयमें उदारताके साथ जब विशालता आती है तब सुपात्रको दान देने, दीन-दुखीकी सहायता करनेके साथ-ही-साथ वे कुपात्र, पतित और दलितको यथास्थान आश्रय भी देते हैं। अनुदार मनुष्य मिली हुई वस्तु, योग्यता तथा सामर्थ्यका भोग करते हैं। कृपण व्यक्ति तो भोग भी नहीं कर पाते, वे तो प्राप्त वस्तु, योग्यता और सामर्थ्यके अभिमानी बने रहते हैं तथा धन-संचयके लोभी होते हैं। उदारमतिवाले मानव प्राप्त वस्तु, योग्यता और सामर्थ्यद्वारा दूसरोंका हित करनेमें तत्पर रहते हैं; किसीकी निन्दा, अनादर या अपमान करना तथा कठोर वाक्य कहना उन्हें महान् दुःखदायी दीखता है। निन्दा करनेवालोंकी निन्दा न करना, बुराई करनेवालोंकी बुराई न करना, अपने प्रति अपराध करनेवालेको क्षमा कर देना, किसीकी निन्दा अथवा दोष-चर्चा सुनकर मौन रहना उदार मतिवाले सज्जनका सहज स्वभाव होता है।

उदारताके साथ हृदयमें विशालता आनेपर मानवमें दिव्यता आ जाती है। वह बुराई करनेवालोंकी भी भलाई करता है, निन्दकोंमें भी गुण-दर्शन करता है, वह दानी-निरभिमानी होनेके साथ ही सभी प्राणियोंमें एक सत्‌चित्‌-स्वरूप आत्माका अनुभव करते हुए कहीं भी घृणा, द्वेष और हिंसा न करते हुए सभीके प्रति दया, करुणा और स्नेह-सम्मान-दानके लिये सावधान रहता है। कृपण मनुष्य पशुके समान लोभादि पाशोंसे बँधा रहता है, अनुदार मनुष्य आसुरी प्रकृतिसे दबा रहता है। उदार मतिवालेमें मानवताका दर्शन मिलता है तथा विशाल हृदयवाला पुरुष दिव्य महात्मा-पद प्राप्त करता है। कृपण अन्धा होता है, वस्तु पकड़नेके अतिरिक्त उसके द्वारा जो कर्तव्य है, वह उसे नहीं दीखता। अनुदार व्यक्ति मन्द दृष्टिवाला होता है, उसे भोगजनित सुख प्रतीत होता है, पर उसका परिणाम नहीं दीखता। उदार मतिवाला पुरुष दूरदर्शी, दीर्घदर्शी तथा परिणामदर्शी होता है तथा विशाल हृदयवाला महामानव सत्यदर्शी-आत्मदर्शी होता है। उसकी बुद्धि आत्मामें स्थिर होती है, उसकी प्रीति सब प्रकार परमात्मासे ही होती है। कृपण व्यक्ति विशेषरूपसे लोभी-मोही होता है; अनुदार मनुष्य अधिकतर विलासी, आसक्त तथा अभिमानी होता है; उदार मानव संयमी, त्यागी तथा दैवीसम्पत्तियुक्त दानी और विवेकी होता है और उदारताके साथ विशालता आनेपर वही पुरुष निष्काम प्रेमी और ध्यानी होता है। धन आदि भोगी रहते कोई उदार नहीं हो पाता। धन आदि वस्तुओंके लोभसे उनकी दासता, विलासिता और लोभकी

वृद्धि होती है तथा व्यक्तियोंके संयोग-भोगसे मोह-ममता तथा आसक्ति दृढ़ होती है। अधिकतर पदाधिकारकी सीमामें मानके भोगसे अभिमान-अहंकार बढ़ता जाता है, किसी प्रकारके भोगमें आसक्त प्राणीको परिणामका प्रायः ज्ञान नहीं होता।

धन; भोग और मानकी तृष्णा अच्छे-अच्छे बुद्धिमानों और विद्वानोंको दरिद्र बनाये रखती है। धनकी तृष्णामें मनुष्य अंधा बना रहता है, उसे धनके अतिरिक्त धर्म और ईश्वरका ज्ञान नहीं रहता; इसी तरह पदाधिकारके मदमें मानकी तृष्णा अहंकारको इतना स्थूल बना देती है, उसमें इतनी जड़ता आ जाती है कि वह अपने आपको पदाधिकारके अतिरिक्त कहीं झुका नहीं पाता, नमनशीलता—कोमलता रह ही नहीं जाती। अनुदार भोगीमें उदारता, सहिष्णुता, गम्भीरता, सात्त्विक प्रसन्नता, निर्भरता, निश्चिन्तता तथा क्षमाशीलता और प्रीति आदि दैवी गुणोंका आविर्भाव नहीं होता। कुसंग एवं कुसंस्कार ही हमें मोही, लोभी, अभिमानी तथा कामी बनाते हैं। सुसंग तथा सुसंस्कारके प्रभावसे हम उदार, निरभिमानी, निष्काम प्रेमी तथा विशाल हृदयवाले बन सकते हैं।

जितने अंशमें हममें मानवताका विकास हुआ है, उतने अंशमें हम साधक हैं। साधक ही सिद्धि करता है। आत्मनिरीक्षण करनेपर यह दीखता है कि हम साधकोंके जीवनमें प्रायः ऐसे अवसर आते रहते हैं जिनके सदुपयोगसे हम अपने-आपमें आसुरी भावका दमन करके दिव्यता धारण कर सकते हैं; पर अनुदारताके कारण इस सुन्दर निर्माणसे हम वञ्चित होते आ रहे हैं। अनुदार होनेके कारण ही हम दूसरोंके तिलमात्र दोषको ताड़ बनाकर देखते-दिखाते हैं, दूसरोंकी निन्दा करते मन नहीं भरता; जिससे द्वेष हो जाता है उसकी अपकीर्ति, अपमानकी कल्पनामात्रसे हमारे मनमें बहुत संतोष होता है। अनुदार होनेके कारण ही हम साधक कहलाते हुए सेवा, त्याग, प्रेमकी भावनासे विमुख रहकर स्वार्थ, राग और द्वेषकी पुष्टि करते आ रहे हैं। अनुदार होनेके कारण ही हमारे द्वारा अनेकों दानके अवसर खो दिये गये। जहाँ क्षमा करना था, वहाँ क्रोध करते हुए हम अपराधी बन गये; जहाँ सहन करना आवश्यक था, वहाँ हम उत्तेजित होकर जो न कहना था वह कहते रहे; जहाँ प्रसन्न और शान्त रहकर अपने द्वारा प्रसन्नता और शान्तिका वातावरण बना सकते थे, वहाँ खिन्न तथा क्षुब्ध और अशान्त होकर अपने निकटवर्तियोंको अपनी विषाक्त भावनाओंसे हम प्रभावित करते रहे।

गुरु-विवेकद्वारा यह समझमें आया कि कृपण होना तथा अनुदार होना आसुरी प्रकृतिको पुष्ट करना है और उदारमति तथा विशाल हृदयवाला होना जीवनको ईश्वरमय अर्थात् दिव्य बना लेना है। संसारमें ऐसा कौन मनुष्य है जो दूसरोंसे अपने लिये उदारता और विशालताकी अपेक्षा न रखता हो। जब हम किसी प्रकारके अभावसे पीड़ित होते हैं तब उसकी पूर्तिके लिये किसीकी उदारतापर ही अवलम्बित होते हैं; जब हमसे कोई पाप या अपराध बन जाता है तब दण्ड न चाहते हुए उदारतापूर्वक क्षमाकी ही याचना करते हैं; जब कभी हम सभी ओरसे तिरस्कृत होते हैं तब हमारी आँखें किसी उदार और विशाल हृदयकी खोजमें दौड़ने लगती हैं।

यद्यपि कोई भी बुद्धिमान् मनुष्य अपने-आपमें उदारता और विशालता लानेके लिये स्वतन्त्र है तथापि प्रत्येकको इन ईश्वरीय गुणोंकी महत्ताका ज्ञान नहीं है। दैवी उदारता तथा विशालताका दर्शन उस पतिव्रता सती नारीमें मिलता है जिसकी बुद्धिमें प्रेमपात्र पतिदेवके लिये सर्वस्वका दान ही परम कर्तव्य दीखता है और जिसके हृदयमें पतिके पतित होनेपर भी घृणा, द्वेषादि विकारोंके लिये स्थान नहीं मिलता। इस दैवी उदारताका तथा विशालताका परिचय किसी स्वामिभक्त अथवा देशभक्त सेवकमें भी मिलता है। जिसने

सेव्यकी सेवा करते हुए अपना सब कुछ दे डाला है और किसी प्रकारकी प्रतिकूलता तथा अपवादके आनेपर सेवासे मुख नहीं मोड़ा है। कोई भी मानव परमेश्वरके इन दिव्य गुण—उदारता और विशालताकी उपासना बुद्धि और हृदयसे करते हुए महात्मा-पद प्राप्त कर सकता है। कोई भी सद्गृहस्थ इनकी उपासनासे सद्गति प्राप्त कर सकता है। कोई भी साधक इन्हें धारण कर सिद्ध हो सकता है। कोई भी नेता केवल उदार तथा विशाल हृदयके द्वारा ही जन-जनपर नेतृत्व स्थापित करते हुए सेवाके कठोर धर्ममें पूर्णत्व प्राप्त कर सकता है। किसी भी मनुष्यको परस्पर किसी भी सम्बन्धीसे उतने ही अंशमें तृप्ति मिलती है, उतने ही अंशमें सुख मिलता है जितने अंशमें उदारता और विशालताका सुयोग होता है।

किसी भी अनित्य वस्तुसे लोभ तथा किसी व्यक्तिसे मोह और अधिकारका अभिमान तथा राग-द्वेषके रहते उदारता अथवा विशालता पूर्ण नहीं हो पाती। परापेक्षी सुखोंके प्रति आसक्ति, परदोष-दर्शन, असहिष्णुता, कठोरता, अदूरदर्शी बुद्धि, विवेककी कमी, असत्संग, तृष्णा, भय तथा क्रोध आदि विकार जबतक स्थान पाते रहते हैं तबतक उदारता और विशालता पूर्ण नहीं होती। पापसे बोझिल मनुष्य हृदयको उदार और विशाल नहीं बना पाते। पुण्योंके संचित होनेपर उदारता तथा भगवत्कृपासे विशालता आती है। सात्त्विक श्रद्धा और सरल विश्वाससे बुद्धि तथा हृदय शुद्ध होता है। शुद्धके स्मरण, चिन्तन और ध्यानसे शुद्धि आती है। हमें शुद्ध—पवित्रका ही स्मरण, चिन्तन और ध्यान करना चाहिये।

* * *

अन्तरके शिवत्वको जाग्रत् और विकसित करें

गोस्वामी तुलसीदासजीके मनमें एक बड़ी मधुर, एक बड़ी मङ्गलमयी कामना थी भगवान् श्रीरामके निर्मल गुणोंके गायनकी। भगवान् श्रीरामके निर्मल गुण अनन्त हैं, उनका निर्मल चरित्र अथाह है, उनका निर्मल स्वभाव अवर्णनीय है। उस अवर्णनीय निर्मलताके वर्णन करनेकी मङ्गलकामना गोस्वामीजीके मनमें बार-बार आने लगी और मनमें बार-बार आने लगी इसी उद्देश्यसे कि 'राम कथा जग मंगल करनी।' रामकी कथासे जगका मङ्गल होगा, जन-जनके मनके मैलका नाश होगा। पावन उद्देश्यसे प्रेरित होकर भी तुलसीदासजीमें रघुपतिके चरित्रको कहनेका साहस नहीं हो रहा था। कहाँ तो अपार चरित्र और कहाँ सांसारिक बुद्धि? पद-पदपर गोस्वामीजीको अपनी लघुता, अपनी दीनताका स्मरण होने लगा। इसीलिये—

समुझत अमित राम प्रभुताई। करत कथा मन अति कदराई॥

गोस्वामीजीके मनमें संकोच अवश्य था, पर कामना तो मङ्गलमयी थी, जग-मङ्गलकी भावनासे ओत-प्रोत थी। उन्होंने भगवान् भवानी-शंकरका स्मरण किया, उन्हें प्रणाम किया, उनकी स्तुति की, उनसे विनती की और उनका प्रसाद पाकर परम चावभरे चित्तसे श्रीरामचरितका वर्णन आरम्भ किया।

गुरु पितु मातु महेस भवानी। प्रनवउँ दीनबंधु दिन दानी॥
सो उमेस मोहि पर अनुकूला। करिहिं कथा मुद मंगल मूला॥
सुमिरि सिवा सिव पाइ पसाऊ। बरनउँ रामचरित चित चाऊ॥

भगवान् शिवकी कृपासे गोस्वामी तुलसीदासजीमें ऐसी सुमतिका विकास हुआ, जिसके फलस्वरूप वे श्रीरामचरितमानसके कवि कहलाये। श्रीरामचरितमानस ऐसा ग्रन्थ है जो पुण्य-रूप है, पापहारी और कल्याणकारी है, विज्ञान-भक्तिको देनेवाला और माया-मोह-मलको हटानेवाला है। ऐसे 'मानस'की रचना की

तुलसीदासजीकी शिवमयी कामनाने और ऐसे 'मानस' की रचना हुई भगवान् शिवकी कृपाके आश्रयसे।

संभु प्रसाद सुमति हियँ हुलसी। रामचरित मानस कबि तुलसी॥

भगवान् शिवका आश्रय लेनेसे तुलसीदासजीके अन्तरका जागा हुआ 'शिव' सशक्त हो उठा और उनकी लेखनीसे शिवकारी 'मानस'की रचना हुई। जो शिव गोस्वामी तुलसीदासजीके अन्तरमें था, वही प्रत्येक नर-नारीके अन्तरमें है। प्रत्येक मानवके मनमें उसी शिवका निवास है। हम प्रत्येक उसी ईश्वरके अंश हैं।

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥

ईश्वरके अंशरूप होनेके कारण सभीके मनमें मङ्गल-कामना उठती है, पर चेष्टाओंमें उतर नहीं पाती। तुलसीदासजीके समान जाग्रत् होकर भी कोई-न-कोई भय या दुर्बलता, बाधा या प्रलोभन अथवा असुरता उसको अभिव्यक्त नहीं होने देती। किंतु भगवान् रामसे की गयी प्रार्थना सम्पूर्ण बाधाओंको दूर करके मङ्गल-कामनाको अभिव्यक्त होनेका अवसर देती है। कहीं-कहीं तो यह शिवत्व सोया ही रहता है, जगता भी नहीं। किंतु हम भगवान् रामके अंश हैं, जिन अनन्त गुणोंसे वे सम्पन्न हैं, वे गुण अंशरूपमें हममें भी वर्तमान हैं। श्रीरामचरितमानसमें आरम्भसे अन्ततक—

धरम धुरीन धीर नय नागर। सत्य सनेह सील सुख सागर॥

—भगवान् रामके अनन्त गुणोंका वर्णन है, उनके सारे-के-सारे गुण किसी-न-किसी अंशमें हमारे अंदर रहे हैं। वे गुण यदि सोये हैं, उनको जाग्रत् करें और यदि जग उठे हैं, उनको विकसित होने दें। जिस दिन जिस क्षण हमारी रुचि होगी कि हमारा जीवन मङ्गलकर हो, हमारी चेष्टाएँ स्नेह-सनी हों, पड़ोसीके प्रति प्यार हो, सभीके प्रति प्रीति हो, उसी दिन उसी क्षण भगवान् राम उस रुचिको पूर्ण कर देंगे। वे अपने सेवक, अपने आश्रितपर अत्यधिक प्रीति और ममता रखते हैं। भगवान् रामने कहा है—ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसे वे अपने जनको नहीं दे सकें।

राम सदा सेवक रुचि राखी। बेद पुरान साधु सुर साखी॥
जन कहुँ कछु अदेय नहिं मोरें। अस बिस्वास तजहु जनि भोरें॥

हम अपने अन्तरकी भावनाओंको उन्मुक्त करें। 'स्व'के सीमित दायरेको तोड़ दें। हम यह कामना करें कि हमारी चेष्टाएँ, हमारा जीवन सभीके लिये मङ्गलकारी हो, स्नेहपूर्ण हो। भगवान्के मनसे अपने मनका संस्पर्श होने दें, भगवान्की संनिधिमें अपने जीवनको आने दें। अवश्य ही हमारे बाहर-भीतरका सारा जीवन भगवदीय गुणोंसे भरपूर हो जायगा। भगवान् रामके पावन स्पर्शको पाते ही जड अहल्या सचेतन हो गयी। भगवान् रामके हाथमें आते ही कठोर धनुष कोमल हो गया। भगवान् रामके सहवाससे वनके वासियोंका क्रूर स्वभाव मृदुल हो गया। भगवान् रामकी शक्तिसे सम्पन्न होकर साधारण वानर-भालू अजेय हो गये। भगवान् रामकी छायामें विभीषणकी असुरता दिव्यतामें परिणत हो गयी। क्या जड, क्या चेतन, क्या पशु और क्या मनुष्य, भगवान् रामका पावन संस्पर्श पाते ही उनका रामत्व जग उठा, उनका शिवत्व साकार हो गया और सभी-के-सभी स्वयंके लिये तथा संसारके लिये मङ्गलकारी हो गये।

भगवान्के उसी पावन संस्पर्शको प्राप्त करनेकी कामना हम करें, स्नेहिल स्पर्श होने दें, बिन्दुका सिन्धुसे सम्मिलन होने दें। बिन्दु सिन्धु ही हो जायेगा। सिन्धुके गुण बिन्दुमें सिन्धुवत् उमड़ पड़ेंगे। जिस प्रकार भगवान् रामके शील और स्नेहसे राजा दशरथका राजमहल, अवधकी नगरी, दण्डकारण्यका प्रदेश, दक्षिणकी भूमि सुरभित हो गयी, सभी सुन्दर हो गये, उसी प्रकार हमारे अन्तरका शिवत्व जाग्रत् और विकसित होकर सारे परिवारको, पड़ोसको, प्रदेशको, देशको सुरभित और सुन्दर बना देगा। जाग्रत् सूर्यसे विश्व प्रकाशित

और विकसित पुष्पसे वाटिका सुरभित होती ही है। शिवत्वसे विश्वमें दिव्यता विकसित होगी और असुरता विनष्ट होगी, प्रेम विजयी होगा और मलिन कामना विजित होगी। हमारे अन्तरका शिवत्व, हमारे जीवनका रामत्व जाग्रत् हो, विकसित हो—इसकी कामना करें, भगवान् रामसे इस मङ्गलकामनाके लिये प्रार्थना करें। अवश्य भगवान् राम इस मङ्गलकामनाको पूर्ण करेंगे, हमारे जीवनके माध्यमसे मङ्गल-कार्य करेंगे और हमारा राममय जीवन सारे जगत्को शिवमय बना देगा। चारों ओर मङ्गलका प्रकाश मङ्गलकी सुरभि छिटक जायेगी।

(लेखक—श्रीराधेश्यामजी)

* * *

वामन और विष्णु

(लेखक—डा० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल)

वामनपुराणके अध्याय ३१ में वामनके जन्म लेनेकी कथा है। ब्रह्माने उपस्थित होकर बाल-नारायणकी स्तुति की और जय-स्तोत्रका पाठ किया, जिसमें अनेक बार 'जय' शब्द आया है। यह उस प्रकारका विशेष स्तोत्र था, जिसमें 'जितम्' शब्दका कई बार उच्चारण किया जाता था। अतएव इसका नाम 'जय-स्तोत्र' पड़ा (वा० ३० । १८–३१)। विष्णु प्रसन्न हुए और उन्होंने ब्रह्माको वचन दिया कि वे असुरोंके पराभव तथा देवोंकी जयमें सहायता करें और इन्द्रको त्रिलोकीके अधिपति-पदपर स्थापित करें। तदनन्तर वामनने वैदिक ब्रह्मचारीका रूप धारण किया और देवोंने उन्हें विविध उपकरण दिये—जैसे कृष्ण मृगचर्म, दण्ड, कमण्डलु, उपवीत, कुश, आसन, पीताम्बर और वस्त्र-युगल। वेद एवं सांख्य-योग आदि शास्त्र वामनकी स्तुति करनेके लिये उपस्थित हुए। वामनने पल्लीकी चारों दिशाओंमें अपने तेजसे सबको आक्रान्त करते हुए समेट लिया। अन्ततः वे राजा बलिकी यज्ञभूमिमें आये।

वामनरूपमें नारायणकी उपस्थितिका गुह्य प्रभाव समस्त यज्ञभूमि और असुरोंपर छा गया। बलिने व्यामोहित होकर शुक्राचार्यसे पूछा कि 'हे आचार्य! क्या कारण है कि पृथ्वी पर्वत और समुद्रके साथ क्षुब्ध हो रही है? क्या कारण है कि अग्नि असुरोंद्वारा दिये हुए यज्ञभागको स्वीकार नहीं कर रही है।' शुक्राचार्यने उत्तरमें कहा कि स्वयं भगवान् नारायण वहाँ उपस्थित हुए हैं, इससे शक्तिका ह्रास हो गया है। शुक्रने बलिको सावधान किया कि वह दानके लिये किसीकी छोटी-सी याचनाको भी स्वीकार न करें। इस सलाहकी बलिके मनपर एक बहुत बड़ी उदात्त प्रक्रिया हुई। उसने कहा कि 'यदि यज्ञभूमिमें मुझसे कोई शिरोदान भी माँगेगा तो उसे स्वीकार करनेमें मुझे हिचक न होगी।'

यज्ञेऽस्मिन्यदि यज्ञेशो याचते मां जनार्दनः।
निजमूर्द्धानमप्यस्मै दास्याम्येवाविचारितम्॥
(वा० ३१ । २३-२४)

स मे वक्ष्यति देहीति गोविन्दः किमतोऽधिकम्।
नास्तीति यन्मया नोक्तमन्येषामपि याचताम्॥
(वा० ३१ । २४-२५)

यहाँ बलिने दानकी प्रशंसा की और कहा कि 'उनके राज्यमें धर्मका प्रचार दानरूपी बीजका ही फल था।'

(दानबीजफलम्)

मद्राज्ये नासुखी कश्चिन्न दरिद्रो न चातुरः।
नाभूषितो न चोद्विग्नो न प्रसादविवर्जितः॥
हृष्टस्तुष्टः सुगन्धी च तृप्तः सर्वगुणान्वितः।
जनः सर्वो महाभाग किमुताहं सदा सुखी॥
एतद्विशिष्टमत्राप्तं दानबीजफलं मया॥
(वा० ३१ । २७-२९)

एतद्बीजवरं दानबीजं पतति चेद् गुरो।
जनार्दने महापात्रे किं न प्राप्तं ततो मया॥
(वा० ३१ । ३०)

उपभोगाच्छतगुणं दानं सुखकरं स्मृतम्।
(वा० ३१ । ३१)

दानबीज-फल इस नये शब्दकी ओर जो गुप्तकालमें प्रचलित हुआ, ध्यान देना योग्य है। उस समय कल्पना की गयी कि विभिन्न पुण्यकर्मोंके बीज यदि जीवनकी भूमिमें बोये

जायँ तो उनसे विभिन्न पुण्यफलोंका जन्म होता है। ब्रह्मपुराणमें इन पुण्यफलोंकी सूची दी गयी है, जिसमें दानबीज-फलका भी उल्लेख है, जैसे—

१–धर्म, अर्थ, काम, मोक्षका महाफल।
२–तपका फल।
३–सर्वदान-फल।
४–सर्वयज्ञ-फल।
५–तीर्थयात्रा-फल।
६–गुरुसेवा-फल।
७–देवताराधन-फल।
८–स्वाध्याय-फल।
९–नानाव्रत-फल।
१०–नानाशास्त्र-फल।
११–अहिंसादि-फल।
१२–सर्वातिवाञ्छित-फल।
१३–ब्रह्मचर्य-फल।
१४–गार्हस्थ्य-फल।
१५–वनवास-फल।
१६–संन्यास-फल।
१७–इष्टापूर्ति-फल।
१८–अन्यशुभ-कर्म-फल (ब्रह्मपु० २७। ७२–७७)

प्रत्येक फल अपने-अपने वृक्षपर फलता है, जिसके लिये उपयुक्त बीज बोना आवश्यक है। इसका मूल विचार यह था कि भारत कर्मभूमि है, वहाँ इन सब पुण्यफलोंके बीज जीवनकी सचाई है। अतएव उस समय भारतके विषयमें कहा गया है कि उसमें सर्वबीज-फल देखे जाते थे।

तदेतद् भारतं वर्षं सर्वबीजं द्विजोत्तमाः।
(ब्रह्म० पु० २७। ६६)

उन्हींमेंसे दानरूपी एक बीजका यहाँ उल्लेख है, जिसके फलस्वरूप सारे राज्यमें सुख-समृद्धि छा गयी। बलिने यह विचार प्रकट किया कि दानरूपी बीजको नारायणके हाथोंमें बो दिया जाय तो उससे सहस्रगुणी फल-निष्पत्ति उत्पन्न होगी।

एतद्बीजवरं दानं बीजं पतति चेद् गुरो।
जनार्दने महापात्रे किं न प्राप्तं ततो मया॥
(वामन० ३१। ३०)

बलिने अवसरके अनुकूल अपने व्यक्तित्वको उदार बनाते हुए कहा कि 'उसका परम सौभाग्य था कि नारायण स्वयं उसके यज्ञमें पधारे।' जब विष्णु वामनरूपमें आये तब बलिने हर्षोत्फुल्ल भावसे उनका स्वागत किया। अनेक विधिसे उन्हें अपनी प्रणामाञ्जलि अर्पित की और बहुत-सी दान-दक्षिणा दी।

बलिकी इस विनम्रतासे वामनने हँसते हुए यह याचना की—'हे राजन्! मुझे अपनी अग्निशालाके लिये तीन पैर पृथ्वी चाहिये। ये स्वर्णरत्नादि आप अपने याचकोंको दीजिये।

ममाग्निशरणार्थाय देहि राजन् पदत्रयम्।
सुवर्णग्रामरत्नादि तदर्थिभ्यः प्रदीयताम्॥
(वामन० ३३। ४९)

बलिने आश्चर्यसे कहा कि 'तीन पैर भूमि तो कुछ भी नहीं है। मैं आपको सहस्र पैर भूमि दे सकता हूँ।' वामनने उत्तरमें कहा कि 'उनका उद्देश्य केवल तीन पैर पृथ्वीसे ही पूरा हो जायगा।' उसपर बलिने उनकी प्रार्थना स्वीकार की। जैसे ही दानके संकल्पका जल वामनके हाथमें डाला गया, उन्होंने अपना विराट्रूप प्रकट किया।

पाणौ तु पतिते तोये वामनोऽभूदवामनः।
सर्वदेवमयं रूपं दर्शयामास तत्क्षणात्॥
(वामन० ३१। ५३)

विष्णुके त्रिविक्रमरूपमें सब देवोंका अन्तर्भाव है, जैसे—सूर्य और चन्द्र उनके नेत्र हैं, द्युलोक मस्तक है और भूमि पैर हैं। अनेक यज्ञ उनका शरीर है और सूर्यकी रश्मियाँ उनके केश हैं। सब नक्षत्र उनकी दृष्टि हैं। अर्थात् विराट्-रूपकी दृष्टि अनन्त अपार आकाशमण्डलमें भरे हुए दूरतम नक्षत्रमण्डलोंको देखती है। अवान्तर दिशाएँ उनकी भुजाएँ और दिशाएँ उनके श्रोत्र हैं। दो अश्विनीकुमार उनके श्रवण हैं। वायु उनकी नासिकाका प्राण है। धर्म उनका मन है, सत्य उनके वाक् हैं, सरस्वती जिह्वा है, देवमाता अदिति ग्रीवा है। सभी विद्याएँ उनके वलय (भुजबंद)। त्वष्टा और पूषा उनकी दो भौंहें हैं। वैश्वानर अग्नि उनका मुख है। परब्रह्म उनका हृदय है। मुनि कश्यप उनके पुंस्त्व हैं। वसु उनका मेरुदण्ड है। मरुद्गण शरीरकी संधियाँ हैं। रुद्र वक्षःस्थल हैं। महार्णव उनके धैर्य या विधृति है। गन्धर्व

२—

उनके उदर हैं। वे देव सर्वज्योति और महान् तपकी मूर्ति हैं। देवोंके देव ब्रह्माका उत्तम तेज प्रादुर्भूत हुआ। वेद उनके शरीरकी कुक्षि और महायज्ञ उनके जानु (घुटने) हैं। भगवान् विष्णुके सर्वदेवमय रूपको देखकर महाबली दैत्य चकित रह गये। विष्णुने अपने उस महाकायरूपसे सब असुरोंका हनन किया और त्रिलोकीको जीतकर इन्द्रको राजा बनाया—

जित्वा लोकत्रयं कृत्स्नं हत्वा चासुरपुंगवान्।
पुरंदराय त्रैलोक्यं ददौ विष्णुरुरुक्रमः॥
(वामन ३१। ७०)

तदनन्तर वामनने प्रसन्न होकर बलिको वरदान दिया कि 'वे सावर्णि नामक आठवें मन्वन्तरमें इन्द्र-पदवी धारण करें और उस समयके आनेतक वे पातालमें राज्य करें।'

वामन और विष्णुकी कथाका भी उल्लेख ऋग्वेदमें पाया जाता है और उसीको पुराणोंने अपना लिया। विष्णुका महान् पराक्रम तीन पैरोंसे तीन लोकोंको नापना है।

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्।
समूळ्हमस्य पांसुरे।
त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः।
अतो धर्माणि धारयन्॥
(ऋ० १। २२। १७–१९)

यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा।
य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थमेको विममे त्रिभिरित्पदेभिः॥
यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति।
य उ त्रिधातु पृथ्वीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा॥
(ऋ० १। १५४। २–४)

यः पार्थिवानि त्रिभिरिद्विगामभिरुरुक्रमिष्टोरुगायाय जीवसे॥
(ऋ० १। १५५। ४)

यह विश्व गतिसे मापित हुआ है और गतिका प्रतीक पाद या विक्रमण है। विश्वकी रचना त्रिकमूलक है। अतएव इसे विष्णुके तीन चरणोंमें समाविष्ट कहा गया है। जो विश्वका रचनात्मक बल है, उसीका त्रेधा विन्यास त्रेधाविश्व है। विश्वमें जो अनेक प्रकारके त्रिक हैं, उनमेंसे ही एक त्रिलोकी है। प्रतीकोंकी उसी शृङ्खलामें तीन देव, तीन अग्नियाँ, तीन गुण, तीन पुरुष, तीन वेद आदि हैं। ब्रह्मा, विष्णु, शिव—ये त्रिदेव विश्वके उस त्रेधा-स्वरूपके प्रतिनिधि हैं। उनके बिना यहाँ किसी कार्यका संचालन सम्भव नहीं। यह वैदिक विद्याका मौलिक आधार था और विष्णुके त्रेधा चरण-विन्यासका संकेत इसी ओर था।

त्रिविक्रम विष्णुके इस प्रतीकमें प्राण या हिरण्यगर्भ ही मुख्य शक्ति है। जो विराट् विश्वमें गति, आगति और स्थितिमें स्पन्दनका मुख्य हेतु है और जो व्यष्टि-केन्द्रमें प्राण, अपान, व्यानके समंचन, प्रसारण या संकोच-विकासका हेतु है। शतपथ-ब्राह्मणमें प्राणकी यही परिभाषा दी गयी है। **(प्राणो वै समंचन प्रसारण, श० ब्रा०)**।

इससे इस स्पन्दनको आनाजाना (प्रेत्यै एत्यै, यजुर्वेद २७–४३) भी कहा गया है। इसे ही शतपथमें प्रेति च एति च कहा है—यही केन्द्रबहिर्मुखी और केन्द्राभिमुखी गति है, जो केन्द्रके प्रतिष्ठा-तत्त्वपर संतुलित होती है। आगति और स्थितिके सम्मिलनसे विष्णुके तीन पद बनते हैं—

वामनो विष्णुरास (श० ब्रा० १। २।५।५)
स हि वैष्णवो यद् वामनः (ब० ब्रा० ५। २।५।४)
वैष्णवो वामनः (श० ब्रा० १३। २।२।९)
वैष्णवा वामनम् आलभन्ते (तै० ब्रा० १। २।५।१)

जो वामन है, वह नाभि, हृदय एवं केन्द्र है और जो विराट् है, वह महिमा है। वामन आभ्यन्तर और महिमा बाह्य रूप है। जो भी सृष्टि-पदार्थ है, वह चाहे एक लघुकोश परमाणु अथवा महान् नक्षत्र है। अथवा स्वयं विराट् ब्रह्माण्ड ही सबके जीवन या प्राणका नियम एक समान है। वामन और विष्णुका नियम अणु और महान् दोनोंके लिये एक-सा है। सबका स्रोत अदृश्य और सूक्ष्म होता है एवं उनका दृश्य रूप महिमा भाव या विराट् रूपमें व्यक्त होता है।

विष्णुके तीन चरणोंके बिना अथवा गति-तत्त्व या स्पन्दनके बिना कोई भी अव्यक्त भाव व्यक्तरूपमें नहीं आ सकता। अतएव सबके लिये यही नियम है कि प्रत्येक वस्तु विष्णुके आदेशके अनुसार अपने-अपने धर्ममें प्रतिष्ठित होती है। अर्थात् सबसे गति, आगति और स्थितिका नियम पिरोया हुआ है।

विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि (ऋ० १। १६४।३६)

यह त्रेधा गति देश और कालमें सत्य है। यह पृथ्वी,

अन्तरिक्ष और देशके और भूत, भविष्य, वर्तमान कालके त्रेधा विभाग है।

लोक-सृष्टिमें जिसे हम पृथ्वी कहते हैं, भौतिक सृष्टिकी संज्ञा है और वह भौतिक मर्त्यलोककी संज्ञा है। द्यौ अमृतदेव तत्त्वकी संज्ञा है और अन्तरिक्ष द्युलोक और पृथ्वी इन दोनोंकी संधि है, जिसे हम चेतनाका मध्यबिंदु कह सकते हैं। अर्थात् मर्त्यभावापन्न है, उसमें चेतना नहीं है और द्युलोक केवल अमृतदेवोंका लोक है। उसमें भौतिक अभिव्यक्ति नहीं है; किंतु अन्तरिक्षमें दिव्य अमृतकी भौतिक धरातलपर अभिव्यक्ति होती है। प्रत्येक प्राणी अन्तरिक्षका ही रूप है, जिसमें द्यौ पिता और पृथ्वी माताके अंश मिलते हैं।

असुरोंके राजा वलि पृथ्वीके अधिपति हैं। विष्णु तीन चरण न्यासके लिये उन्हींके पास जाते हैं। बलि नामसे ही स्पष्ट है कि वह गति या विकासके तत्त्वको जकड़कर रखना चाहता है। अतएव जबतक बलयति गति उन्मुक्त भावमें न आवे तबतक सृष्टि नहीं हो सकती। पृथ्वी मातृत्वका प्रतीक है। वह सीमित पार्थिव पिण्डकी सूचक तो है ही, किंतु उसके अतिरिक्त समस्त ब्रह्माण्ड या लोक-लोकान्तरोंकी जो माता है, वह भी पृथ्वी ही है। विष्णु या गति-तत्त्व या (सन्दन) के बिना वह पृथ्वी फलवती नहीं होती। पुराणोंमें विष्णुको भूदेवीका पति कहा है। अथवा भूदेवीको विष्णुकी पत्नी माना है। इसका अभिप्राय यह है कि नारायणके बिना पृथ्वीकी सत्ता नहीं है। विश्वकी मातृत्व-शक्तिका विष्णुके तीन चरण-न्यास या गतितत्त्वसे संयोग होना ही चाहिये। सर्वप्रथम वामनरूपधारी विष्णु अग्निकी यज्ञशालाके लिये तीन पैर पृथ्वी माँगते हैं। (**ममाग्निशरणार्थाय देहि राजन् पदत्रयम्**) (वामन० ३१ । ४९)

विष्णुका यज्ञ समस्त विश्व है। यज्ञकी वेदी समस्त पृथ्वीके विस्तारकी द्योतक है (**इयं वेदिः परमन्तम् पृथिव्याः** ऋ० वे० १ । १६४ । ३४)। भ्रातृत्वकी शक्तिको असुरोंके विघ्नसे मुक्त करनेके लिये विष्णुके वामनावतारकी आवश्यकता है। यज्ञकी तीन अग्नियाँ विष्णुके तीन चरण-न्यासके प्रतीक हैं।

ऋग्वेदमें वामन और विष्णुका उल्लेख करते हुए वामनको युवा कुमार और विराट् विष्णुको बृहद्-शरीर कहा गया है।

बृहच्छरीरो विमिमान ऋक्वभिर्युवा कुमारः प्रत्येत्याहवम्

(ऋ० १ । १५५ । ६)

वह नियम जिसके द्वारा वामन विराट् होता है या अणु महिमाभावमें आकर या केन्द्र विष्कम्भभावमें प्राप्त होता है, उसे रिक्वन् कहा गया है। रिक्वन् छन्दित गतिकी क्रिया है।

इस छन्दोमयी गतिके प्रभावसे केन्द्र व्यासरूपमें विकसित होता है और उसके दोनों ओर विन्दु-विन्दुपर एक मण्डल बनता है और प्रत्येक मण्डलके उदरमें एक स्वस्तिकका निर्माण होता है, जिसमें ९०-९० के चार समकोण होते हैं। इन कोणोंको नाम या नमन और ९० को नवति कहा जाता है।

चतुर्भिः साकं नवतिं च नामभिश्चक्रं
न वृत्तं व्यतींरवीविपत्।

(ऋ० १ । १५५ । ६)

वामन विष्णु बलिके सामने प्रकट होनेवाले विष्णु विराट्के रूपधारी थे, जो वामन थे वही विराट् बन गये। देवकी माता अदिति यह अनन्त प्रकृति है। अदितिके गर्भमें ही वामनका आधान या विकास होता है, जिसका अर्थ यह है कि त्रेधाविचक्रमणका नियम अव्यक्त स्रोत या गर्भमें विद्यमान रहता है और वहींसे वह महिमाभावमें आता है। अग्नि, वायु, आदित्य—ये तीन महिमा देव हैं, जो पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौ—इन तीन लोकोंके संचालक प्राण हैं। उन्हींके प्राणात्मक स्पन्दनसे प्राणसृष्टि या लोकसृष्टि हो रही है। इस महिमा-सृष्टिका विस्तार पृथ्वीसे द्युलोक तक है।

* * *

रासपञ्चाध्यायीमें दिव्य प्रेम

(लेखक——कविराज पं० श्रीहरिवक्षजी जोशी, काव्य-सांख्य-स्मृतितीर्थ)

[गताङ्क पृष्ठ १०९६ से आगे]

रतिके चार भेद

शुद्धरति

शुद्धरति, कामजरति, सम्बन्धजरति और भयजरति। इनमें शुद्धरति निरुपाधिक रति है। इसमें काम, सम्बन्ध और भयकी उपाधि नहीं रहती। केवल भगवान्‌के अनन्त परमानन्ददायक गुणगणोंसे आकर्षित होकर जो भगवद्विषयक निष्काम प्रीति स्वाभाविकतया अनिश बनी रहती है, वह शुद्धरति है, जैसा कि सनकादिकी रति।

कामजरति

काम, सम्बन्ध और भयसे उत्पन्न होनेवाली रति सोपाधिक रति कहलाती है। काम विशुद्ध प्रेम तथा रमणेच्छाका नाम है। श्रीमद्भागवतमें गोपियोंका विशुद्ध प्रेम ही कामशब्दसे अभिहित है। अतः गोपियोंकी रतिको 'कामजरति' कहते हैं। केवल रमणेच्छाजन्य कामजरति तो कुब्जाकी ही थी।

सम्बन्धजरति

इस रतिके दो भेद हैं—वात्सल्य और सख्य। बालरूप भगवान्‌को अपना बालक समझनेके कारण नन्द-यशोदाका प्रेम जो पाल्यपालक-भावरूप था, उसे वत्सलकरति कहते हैं।

जो लोग भगवान्‌को न तो अपनेसे बड़ा समझते हैं न छोटा। वे उन्हें समानरूपमें अपना सखा समझते थे, जैसे श्रीदाम-सुबल आदि। उनकी इस रतिका नाम 'सख्यरति' है।

भयजरति

इस भयको सिंह-व्याघ्रादिके भयके समान उद्वेग करनेवाली मनोवृत्ति नहीं समझना चाहिये; किंतु दास जैसे स्वामीकी सेवामें चूक न पड़ जाय, इस बातसे डरता है, कुलीन अनुशिष्ट सत्पुत्र जैसे पिताकी तथा शिष्य गुरुके आज्ञापालनमें कहीं त्रुटि न हो जाय, इस बातसे डरता है—ऐसी ही मनोवृत्तिका नाम ही यहाँ भय है। भगवान्‌की सेवामें किसी प्रकारकी त्रुटि न हो जाय, इस भयसे सर्वदा भगवान्‌की सेवामें सन्नद्ध रहना ही भयजरति है।

चार प्रकारकी रतिसे पाँच रसोंका उद्गम

शुद्धरतिसे शान्तरस, भयजरतिसे दास्यरस, सम्बन्धरतिसे सख्य और वात्सल्यरस, एवं कामजरतिसे शृङ्गाररसका उद्गम होता है। व्रजदेवियोंमें चारों प्रकारकी रति थी। अतः उनको पाँचों रसोंका एक साथ प्रपानक रसके समान एक अत्यन्त विलक्षण रसका आनन्दानुभव होता था। इस अनुभूतिका नाम ही परम रस है।

एकदा यद्यपि व्यक्तमिदं रतिचतुष्टयम्।
तदा तु पानकरसन्यायेन परमो रसः॥

(भक्तिरसायन २। ७०)

जब सब प्रकारकी रसोद्भावक कारणसामग्री एक ही आश्रयमें एक साथ उपस्थित हो जाती है तो पाँचों रसोंका मिश्रण होकर एक अलौकिक अद्भुत आनन्दका अनुभव, प्रपानक (शर्बत या ठंडाई) की तरह विलक्षण रसका जनक हो जाता है। जैसे इलायची, बादाम, केशर, गुलकन्द, काली मिर्च, जल, मिश्री—इन सब वस्तुओंका अपना-अपना स्वाद पृथक्-पृथक् होता है, परंतु सबको घोंटकर एक साथ मिला देनेपर जो पेय (ठंडाई) तैयार होता है, वह एक विलक्षण स्वादवाला बन जाता है। ऐसे ही शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, श्रृंगारका पृथक्-पृथक् आनन्द है, पर जहाँ इन सब रसोंका एक साथ अद्भुत मिश्रण हो जाता है, उस आनन्दका वर्णन तो लेखनी और जिह्वाकी वर्णनशक्तिसे अतीत है। एकमात्र गोपाङ्गनाओंको ही इस परम रसका अनुभव हुआ था। अन्य किसीको हुआ ही नहीं।

अतः गोपाङ्गनाओंके चित्तका आलम्बन करो। गोपाङ्गनाओंके चरित्रका प्रेम और श्रद्धाके साथ अध्ययन करनेसे अन्यान्य पुरुषोंके चित्तको भी उनके चित्तके साथ मिल जानेके कारण उसी परम रसकी अनुभूति हो सकती है।

व्रजदेवीषु च दृष्टं स्पष्टं रतिचतुष्टयम्।
तच्चित्तालम्बनेनैव स्वचित्तं तादृशं भवेत्॥

(भक्तिरसायन २। ७२)

'व्रजदेवियोंके चित्तमें—ये चारों प्रकारकी रतियाँ स्पष्ट देखी ती हैं। उनके चित्तके साथ अपने चित्तको मिला देनेपर हमारा चित्त भी वैसे ही आनन्दका अनुभव करनेवाला हो जायगा। चित्तको ध्येयमें स्थिर करनेकी विधि भी योगदर्शनमें महर्षि तञ्जलिने यही बतलायी है—

वीतरागविषयं वा चित्तम्।

वीतराग पुरुषके चित्तका आलम्बन करनेसे चित्त ध्येयमें िर हो जाता है।

रसरूप भगवान्‌की उपासना

रासपञ्चाध्यायीमें रसरूप भगवान्‌की उपासनाकी ही धानता है। श्रुतिमें भगवान्‌के स्वरूपका वर्णन करते हुए ही तो कहा है—

'रसो वै सः, रसꣳह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।'

रस ही भगवान् है, यह जीव रसरूप भगवान्‌को प्राप्त रके ही आनन्दवान् होता है। यद्यपि साहित्यशास्त्रमें रसके ंगार, वीर, करुणादि नौ भेद माने हैं और वे सभी आनन्द- प हैं, पर सूक्ष्म दृष्टिसे विचार किया जाय तो रस एक ही जो परमानन्द-स्वरूप है। उसीकी अभिव्यञ्जनाके नौ प्रकार । इन सब अभिव्यञ्जक प्रकारोंसे जो अभिव्यक्त होता है, रस तो केवल एक ही है। आनन्द-प्राप्तिके हेतु अनेक सकते हैं, पर उन हेतुओंसे प्राप्त होनेवाला निर्विशेष नन्द तो एक ही है। अतएव अग्निपुराणमें रसका रूप न करते हुए व्यासजीने लिखा—

अक्षरं ब्रह्म परमं सनातनमजं विभुम्।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्॥
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिस्तदा हि सा तस्य चमत्काररसाह्वया॥

'जिसको वेदान्तशास्त्रों अर्थात् उपनिषदोंमें अक्षर, ब्रह्म, सनातन, अज, विभु, एक, अद्वितीय और ज्योतिः- ईश्वर कहा है, उसका सहज आनन्द कभी महान् लसे जीवके हृदयमें अभिव्यक्त होता है।' परमानन्दकी अभिव्यक्तिका नाम ही 'रस' है। पण्डितराज जगन्नाथने आवरणरहित चित् (चितिशक्ति) को ही रस माना है।

अनावृता चिद् रसः।

तात्पर्य यह है कि आत्मा ही आवरणोंसे रहित होनेपर है, रस ही आनन्द है। अतएव श्रुति कहती है—

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन।

ब्रह्मके आनन्दको जाननेवाला ही सब ओरसे निर्भय होता है। अस्तु!

रसराज भक्तिरसका मूल शान्तरस है, शान्तरसका आविर्भाव हुए बिना भक्तिका उद्गम ही नहीं हो सकता। बिना विवेकके वैराग्य कहाँ, वैराग्यके बिना शान्ति कहाँ। विरक्तिरहित अनुरक्ति अपूर्ण है और अनुरक्तिरहित विरक्ति निस्सार है। जबतक असत् (विषयों) का त्याग नहीं किया जाता, सत् (परमात्मा) में निष्ठा नहीं हो सकती। वास्तवमें असली शान्ति भगवन्निष्ठामें ही होती है। अतएव उद्धवके प्रति भगवान्‌ने कहा, '**शमो मन्निष्ठता बुद्धेः**' 'भगवान्‌में बुद्धिकी एकनिष्ठताका नाम ही शम है।'

यह शान्तरस ही दास्य, सख्य, वात्सल्य आदि रसोंमें क्रमशः परिणत होता हुआ रसराज (मधुररस) दिव्य शृंगार बन जाता है, यही अप्राकृत शृंगार रासमें पूर्णता प्राप्त करता है।

जिस प्रकार आकाशादि महाभूतोंके गुण उत्तरोत्तर भूतोंमें आ जाते हैं—जैसे आकाशमें एक गुण शब्द है, वह आकाशसे ही उत्पन्न हुए वायुमें आ जाता है, अतः वायु शब्द और स्पर्श गुणयुक्त हो जाता है। वायुसे उत्पन्न अग्निमें रूप स्वगुण है और शब्द, स्पर्श अपने कारणभूत पूर्ववर्ती महाभूत आकाश और वायुके गुण भी रहते हैं। इसी प्रकार अग्निसे उत्पन्न जलमें रसगुण स्वकीय है और शब्द, स्पर्श, रूप पूर्ववर्ती महाभूतोंके गुण अनुवर्ती रहते हैं। ऐसे ही जलसे उत्पन्न पृथ्वीमें अपना गुण गन्ध और शब्द, स्पर्श, रूप, रस—पूर्ववर्ती महाभूतोंके गुण मिलकर पाँच गुण एकत्र हो जाते हैं। इसी प्रकार मधुररस (कान्ताभाव-) में शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य आदि भावोंके आनन्द सम्मिलित होनेपर एक अपूर्व आनन्द उद्गत हो जाता है। बस, यहाँ सब प्रकारके भावोंकी और रसोंकी परिपूर्णता हो जाती है। यही परमानन्द है, इसीको वेदान्तकी भाषामें 'मोक्ष' कहते हैं। '**आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन**' इस ब्रह्मानन्दको जो जान लेता है, वह निर्भय अभयपदको प्राप्त हो जाता है। '**अभयं वैजनक! प्राप्तोऽसि**' बस, जीवकी यही कृतकृत्यता है, यही पूर्णता है।

द्रुत चित्तमें ही परमानन्दका प्राकट्य होता है

वेदान्तशास्त्र चित्तको द्रव्य मानता है, जो पञ्चमहाभूतोंके सूक्ष्म सात्त्विक अंशोंसे बना है और वह लाखकी तरह

पिघलने एवं कठिन होनेवाला द्रव्य है। तापक विषयोंका योग होनेपर यह पिघल जाता है, नहीं तो कड़ा रहता है। काम, क्रोध, भय, स्नेह, हर्ष, शोक, दया आदि भाव चित्तद्रव्यको तपाकर गीला (तरल) कर देते हैं, इन भावोंकी शान्ति होनेपर वह चित्त फिर कठोर हो जाता है; क्योंकि यह स्वभावसे कठिन है।

चित्तद्रव्यं हि जतुवत् स्वभावात् कठिनात्मकम्।
तापकैर्विषयैर्योगे द्रवत्वं प्रतिपद्यते॥
कामक्रोधभयस्नेहहर्षशोकदयादयः।
तापकाश्चित्तजतुनस्तच्छान्तौ कठिनं तु तत्॥

(भक्तिरसायन १। ४-५)

कामादि भावोंसे द्रुत हुए चित्तमें जो भाव प्रविष्ट हो जाता है, वह उसमें घुल-मिलकर एकात्म हो जाता है, फिर वह न तो कठोर होनेपर निकलता न फिर पिघलाकर उसमेंसे निकालना चाहें तो भी निकलता—जैसे हिंगलूका रंग लाक्षामें मिल जानेपर लाख प्रयत्न करनेपर भी नहीं निकलता—चाहे उसे तपायें या छानें, वह तो उसकी द्रुत और अद्रुत अवस्थामें भी उसीमें मिला ही रहता है। इसी प्रकार भगवद्विषयक काम-क्रोधादि भावोंसे द्रुत हुए चित्तमें प्रविष्ट भगवदाकाररूप परमानन्दमय, रसराज भगवान् स्वयं जब द्रुत हुए चित्तमें प्रवेश कर जाते हैं तब फिर वे निकालनेपर भी नहीं निकलते।

स्वयं निकलना चाहें तो भी नहीं निकल सकते—

भगवान् परमानन्दस्वरूपः स्वयमेव हि।
मनोगतस्तदाकाररसतामेति केवलम्॥

भक्तिरसमें स्वयं भगवान् परमानन्द-रसरूप मनोगत हो जाते हैं। फिर वे कभी भी भक्तके मनको त्यागकर नहीं जा सकते। ऐसे भक्तको ही महाभागवत, या भागवतप्रधान कहा गया है।

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षा-
द्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः
स भवति भागवतप्रधान उक्तः॥

(श्रीमद्भागवत ११। २। ५५)

चित्तकी द्रवावस्थाका नाम ही यहाँ प्रणय है, जो भगवत्-पादारविन्दको बाँधनेमें रज्जुका काम करता है, इसीलिये वह प्रणयरशना (प्रेमरज्जु) कही गयी है। अवश अवस्थामें भी हरिका नाम (जिस महाभागके) मुखसे निकल जाता है; उसके पापपुञ्जोंका नाश कर देता है, ऐसे हरि जिस पुरुषके हृदयको प्रेमकी रस्सीसे बँधकर नहीं छोड़ सकते, वह भगवद्भक्तोंमें प्रधान है।

चित्तकी द्रवावस्था हुए बिना भक्तिरसका आविर्भाव ही नहीं होता

कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना।
विनाऽऽनन्दाश्रुकलया शुद्ध्येद् भक्त्या विनाऽऽशयः॥

(श्रीमद्भागवत ११। १४। २३)

जबतक भगवान्के यशोनिबन्धन गुण-नामको सुनकर रोमहर्ष नहीं होता और हृदय पिघलकर पानी-पानी नहीं हो जाता, एवं आनन्दके अश्रु आँखोंसे नहीं झरने लगते, तबतक हृदय शुद्ध ही नहीं होता और अशुद्ध हृदयमें, परमानन्द-रसरूप भगवान्का आविर्भाव भी नहीं हो सकता।

द्रुत हुए चित्तकी भगवदाकार वृत्ति ही भक्ति है

द्रुतस्य भगवद्धर्माद् धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते॥

(भक्तिरसायन १। ३)

भगवान्के गुण-कर्म-यशके श्रवणसे द्रवित हुए चित्तकी सर्वेश्वर भगवान्में धारावाहिक वृत्तिका नाम ही भक्ति है। चित्तकी द्रवताके हेतु अनेक हो सकते हैं, परंतु उन हेतुओंसे निरन्तर भगवदाकार जो वृत्ति होती है उसमें भेद नहीं होता।

नारदजीने यही तत्त्व युधिष्ठिरको समझाया है—

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥

(श्रीमद्भागवत १०। २९। १५)

गोप्यः कामाद्भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।
सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विभो॥

(श्रीमद्भागवत ७। १। ३०)

काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य आदि भावोंमें किसी भावको जो नित्य-निरन्तर भगवान्में रखते हैं वे भगवन्मय हो जाते हैं। गोपियोंने कामसे, कंसने भयसे, शिशुपालादि राजाओंने द्वेषसे, वृष्णियोंने सम्बन्धसे, तुम पाण्डवोंने स्नेहसे

और हम नारदादि ऋषियोंने भक्तिसे भगवान्‌को प्राप्त किया है।

अतएव किसी भी हेतुसे क्यों न हो, मनको भगवान्‌में ला देना चाहिये। भगवान् केवल मनके ग्राहक हैं—स्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्'। मनकी वृत्ति गवदाकार होनी चाहिये, फिर चाहे वह प्रेमसे हो या ते। दोनोंका एक ही फल भगवत्प्राप्ति हो जाता है। र्य यह है कि कामादि भावोंसे द्रुत हुए चित्तमें जो वान्‌का आकार प्रविष्ट होता है वही परम रस है।

भगवान् परमानन्दस्वरूपः स्वयमेव हि।
मनोगतस्तदाकाररसतामेति पुष्कलम्॥

(भक्तिरसायन १। १०)

परमानन्दस्वरूप भगवान् ही द्रुत हुए चित्तमें स्वयं त होकर स्थायी भावको प्राप्त होकर ही स्वयं रसरूप जाते हैं। बस, इसीका नाम 'रसोपासना' है, जो पञ्चाध्यायीमें पूर्णताको प्राप्त हुई है और जो सब कारकी भक्तियोंमें सर्वश्रेष्ठ मानी गयी है। इसीका नाम ति, प्रेमाभक्ति या फलरूपा भक्ति है, प्रेमाभक्तिके बिना वान्‌का साक्षात्कार असम्भव है, भगवान् भावके वश हैं। र्युक्त पाँच प्रकारके भावोंमें मधुरभाव–कान्ताभाव है। पतिव्रता पत्नी जैसे निष्कामभावसे अपना सर्वस्व चरणोंमें अर्पित कर देती है, ऐसे ही भगवान्‌के णोंमें भक्तका आत्मसमर्पण ही कान्ताभाव है। का उदय श्रीकृष्णकी कृपासे ही हुआ करता है। यह गोपियोंमें ही पूर्णताको प्राप्त हुई है। अन्य उद्धवादि तो इस रतिकी कामना ही करके कृतकृत्य होते हैं, करनेका तो साहस ही नहीं करते।

एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो
गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः।
वाञ्छन्ति यद्भवभियो मुनयो वयं च
किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य॥

(श्रीमद्भागवत १०। ४७। ५८)

संसारमें वास्तवमें सफल-शरीर धारण करनेवाली तो गोपियाँ ही हैं। जिनका रूढाख्य महाभाव केवल न्दमें ही है। इस महाभावको प्राप्त करनेकी वाञ्छा मुक्त अर्थात् भयभीत-मुमुक्षु और हम उद्धवादि भक्त करते अहो! जिसको अनन्तकी कथामें रस आता है वह भी दिके जन्मको पसंद नहीं करता। फिर महाभावके अभिलाषयुक्त भक्त तो ब्रह्मादिके शरीरकी प्राप्तिकी वाञ्छा ही कैसे करेंगे?

गोपाङ्गनाएँ स्वकीया थीं या परकीया?

यह एक प्रश्न है जो प्रेमभक्तिके रहस्यसे अनभिज्ञ बहिर्मुख प्राणी किया करते हैं। इसका सीधा-सादा उत्तर यह है कि निखिल ब्रह्माण्डनायक चराचरात्मा सर्वव्यापक सर्वकारणकारण भगवान्‌से अतिरिक्त कोई वस्तु ही नहीं, अतः गोपियाँ ही क्या, सब भक्त-अभक्त, देव-दानव-मानव भगवान्‌के स्वकीय ही हैं, परकीय कोई है ही नहीं। किंतु रतिकी दृष्टिसे यहाँकी रस-लीलामें श्रीगोपाङ्गनाओंकी रति परकीया भावसे ही भगवान्‌में थी; क्योंकि परकीया भावमें प्रियतमसे मिलनेके लिये जो कष्ट सहन करना पड़ता है, लोक-परलोक बिगड़नेकी जो परवा छोड़नी पड़ती है तथा प्रियतमसे मिलनेकी जो परम व्याकुलता—तीव्र तड़पन हृदयमें होती है, स्वकीया भावमें उसका शतांश भी नहीं होता। रागानुगा भक्तिमें प्रभुसे मिलनेके लिये जितने भी कष्ट हों, वे सब सुखरूप ही प्रतीत होते हैं। रागका लक्षण ही यह है—

दुःखमेवाधिकं चित्ते सुखत्वेनैव व्यज्यते।
यत्तस्तु प्रणयोत्कर्षात्स राग इति कीर्तितः॥

परकीया भावमें ही रागानुगा भक्ति और रसराज मधुर रसका परिपूर्ण परिपाक होता है।

अत्रैव परमोत्कर्षः शृङ्गारस्य प्रतिष्ठितः।

शृङ्गार रसका परमोत्कर्ष इसी भावमें होता है। जैसे परकीया नारी अपने घरके काममें दिनभर लगी रहनेपर भी अपने अन्तःकरणमें उसी अपने वल्लभके सङ्गका आस्वादन करती रहती है। वैसे ही संसारके समस्त कार्योंमें रत रहते प्रभुका अपने अन्तरमें आलिङ्गन करते रहना ही परकीया भाव है।

परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मसु।
तमेव स्वादयत्यन्तर्नवसङ्गरसायनम्॥

हमें श्रीगोपियोंके इस परकीया भावसे यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

परम भावका स्वरूप

'योषा जारमिव प्रियम्' ऋग्वेदकी ऋचाका यह एक अंश है। जिसका तात्पर्य है कि ईश्वरके प्रति मनुष्यके प्रेमका आवेग, परकीया नारीके उपपतिके प्रति प्रेमके आवेगके समान होना चाहिये। परम भावकी यही तात्त्विक

मीमांसा है। प्रेमका पूर्णतः परिपाक वास्तवमें परकीयामें ही होता है। स्वकीयामेंसे यह नियन्त्रण होकर आत्मबोधका सहायक बन जाता है। प्रकृतिमें जो मिथुनभाव चल रहा है, सभी स्त्री-पुरुषमें जो परस्पर आकर्षण है—साहित्यमें उसे रतिभाव तथा साधन-क्षेत्रमें मधुरभाव कहते हैं। ब्रह्माने सब वेदोंका तीन बार अपनी मनीषासे विचार करके अन्तमें यही निर्णय किया कि मनुष्यके कल्याणका हेतु--केवल परमात्मरति ही है।

भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया।
तदध्यवस्यत् कूटस्थो रतिरात्मन् यतो भवेत्॥
(श्रीमद्भागवत २।२।३४)

रासपञ्चाध्यायीके प्रेमपूर्वक नित्य पाठ करनेसे गोपियोंकी चित्तवृत्तियोंके साथ अपनी चित्तवृत्तिको मिलानेका अभ्यास बढ़ाना है। गोपियोंकी भक्ति रागात्मिका थी। उनके चरित्रोंका मनन करनेसे ही रागानुगा भक्तिकी उपलब्धि होती है। अन्य किसी साधनसे रागानुगा भक्तिका उदय ही नहीं होता—इसीलिये तो उद्धवने इसे मुनियोंको भी दुर्लभ बताया।

दिष्ट्या प्रवर्तिता भक्तिर्मुनीनामपि दुर्लभा॥

यही कारण है कि रासपञ्चाध्यायीको आधार बनाकर जितना साहित्य प्रेमी भक्तोंके द्वारा भारतकी विविध भाषाओंमें प्रकाशित हुआ है, संसारमें उसकी तुलना अन्यत्र दुर्लभ है और इससे अधिक लोकप्रिय साहित्य भी दूसरा नहीं है। आबाल-वृद्ध, वनिता-पुरुष सभीके मानसिक भावोंको पूर्ण आनन्द देनेकी क्षमता एकमात्र इसी साहित्यमें है। मूर्खसे मूर्ख, पण्डित, ज्ञानी, अज्ञानी, भक्त और अभक्त, योगी और भोगी सभीको आनन्द और शान्ति प्रदान करनेमें यह पूर्णतया समर्थ है।

हमारे भीतर जो अपूर्णता है, वह हमें चैन नहीं लेने देती और पूर्णको प्राप्तकर उसमें पूर्णतया स्थित हुए बिना दूर नहीं होती। शान्तभावमें भी जो आनन्दानुभूति है, वह भी द्वैतमूलक है। इसमें हमारी रतिभावनाका प्रस्फुरण नहीं हो पाता। इसी प्रकार दास्य, सख्य, वात्सल्यमें क्रमसे रति उत्तरोत्तर प्रगाढ़ होती जाती है, पर मधुर भावके बिना वह अपूर्ण ही रहती है; क्योंकि मधुर भावके बिना सब भावोंमें किसी-न-किसी अंशमें द्वैतभावना बनी ही रहती है। दोका एकमें लय होनेकी क्रमव्यवस्था ही प्रेम और आनन्दकी मूल प्रेरणा है। भक्तिमार्ग और ज्ञानमार्ग दोनोंका लक्ष्य दोको एक करना ही है। दोनों साधन भिन्न-भिन्न हैं। ज्ञानमार्गमें **'तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि'** आदि महावाक्योंके सम्यक् श्रवण-मनन, निदिध्यासनके द्वारा साधक अद्वैत निष्ठामें स्थित होता है। जो बुद्धिके चरम विकासका फल है और भक्तिमार्गमें स्नेह, मान, प्रणय, राग-अनुराग, भाव-महाभावके क्रमसे अद्वैतावस्था प्राप्त होती है। इस क्रमसे प्राप्त अद्वैतावस्थाका नाम ही मधुर भाव, कान्ताभाव या महाभाव है। यह भाव हृदयकी द्रवताके बिना उत्पन्न ही नहीं हो सकता। परंतु दोनों मार्गोंका फल दोको एक बना देना ही है—प्रेममार्गमें दोकी एकताका वर्णन करते हुए भगवान् व्यासजीने लिखा है—

ता नाविदन्मय्यनुषङ्गबद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेदम्।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे॥
(श्रीमद्भागवत ११।१२।१२)

समाधि-अवस्थामें जैसे मुनिजन भगवान्में मिल जाते हैं, नदियाँ जैसे समुद्रमें मिलकर अपने नाम-रूपको खोकर समुद्र बन जाती हैं, वैसे ही रासविहारमें भगवान्में सर्वात्मना लीन हुई गोपियाँ अपने शरीर, मन, बुद्धि तथा इस लोक और परलोककी सारी सुध-बुध भूलकर भगवन्मय हो गयीं।

यहाँ यह नहीं भूलना चाहिये कि परमात्माके प्रति हृदयमें प्रेमका उद्गम भी प्रभुकी अनुकम्पा और प्रेरणासे ही होता है—

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।
सो जानत जेहि देहु जनाई।
नानुग्रहं तव विना त्वयि भक्तियोगः।

इत्यादि। वेद और भक्तोंकी अनुभवपूर्ण उक्तियाँ इसमें प्रमाण हैं।

इस महाभावरूप रस-प्रवाहका एकमात्र रसराजके साथ मिलकर नित्य होनेवाला परम दिव्य परमानन्द-नृत्य ही रासविहार है।

महाभावस्वरूपा श्रीराधा

इस रासमें प्रवेश पानेके तथा रसमयी महाभावकी उपासनाके अधिकारी वही हो सकते हैं, जिनकी आत्मा समस्त आवरणोंसे रहित होकर शुद्ध-सच्चिदानन्दस्वरूप हो जाती है। चिन्मयकी चिन्मयी गोपिकाओंके साथ होनेवाली चिन्मयी लीलामें भला जड प्रकृतिसे आवृत विषयी पामर पुरुष कैसे प्रवेश पा सकते हैं। **'देवो भूत्वा देवान् यजेत'** का अटल सिद्धान्त है। देव बने बिना देवकी पूजाका कोई अधिकारी ही नहीं होता।

वस्तुतः भगवान्की ह्लादिनी शक्ति ही रति है, यह

रस पक्षमें स्थायिभावस्वरूपा है और श्रीकृष्णपक्षमें महाभावस्वरूपा श्रीराधा हैं। रति महाभावकी जननी है, कार्य और कारणमें अभेद होनेसे रतिको ही महाभाव कहते हैं। महाभावरूपा रति ही श्रीराधा हैं। उज्ज्वलनीलमणिकारने श्रीराधाको महाभावस्वरूपा माना है—

तयोरप्युभयोर्मध्ये राधिका सर्वतोऽधिका ।
महाभावस्वरूपेयं गुणैरतिवरीयसी ॥
ह्लादिनी या महाशक्तिः सर्वशक्तिवरीयसी ।
तत्सारभावरूपेयमिति तन्त्रे प्रतिष्ठिता ॥

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी श्रीराधाको महाभावस्वरूपा ही अङ्कित किया गया है—

कृष्णे भगवता ज्ञान संवितेरसार
ब्रह्मज्ञानादिक सब ताँर परिवार
ह्लादिनीर सार प्रेम, प्रेम-सार भाव,
भावेर परम काष्ठा नाम महाभाव,
महाभावस्वरूपा श्रीराधा ठाकुरानी
सर्वगुण खानि श्रीकृष्णकान्ताशिरोमणि ।

श्रीमद्भागवतमें—

अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः ।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः ॥
(१० । ३० । २८)

श्रीशुकदेवजीने इस पद्यमें एक प्रकारसे श्रीराधाका ही संकेत किया है। सब सखियोंको त्यागकर भगवान् जिसको अपने साथ एकान्तमें ले गये थे, वह राधाके अतिरिक्त अन्य कौन हो सकती है ? इसीलिये तो भावुक टीकाकारोंने 'राधया सहितः राधितः' यह अर्थ किया है। अस्तु, श्रीमद्भागवतकी प्राणस्वरूपा रासपञ्चाध्यायीमें हमें परमानन्दकन्द श्रीकृष्ण और उनकी ह्लादिनी शक्ति श्रीराधाके दिव्य भावपूर्ण दिव्य विहार, दिव्य लीलाका दिव्य रसास्वादन प्राप्त होता है।

श्रीगोपाङ्गनाएँ इन्हीं श्रीराधाजीकी काव्यव्यूहरूपा प्रेममूर्तियाँ हैं। राधासहित इन गोपाङ्गनाओंके परम दिव्य प्रेमरूप रास-विहारका ही परम दिव्य वर्णन रासपञ्चाध्यायीमें है। श्रीकृष्णार्पणमस्तु !

सुरभि ! सदा अभिनन्दन तेरा

(रचयिता—डॉ० श्रीहरिशंकरजी शर्मा डी० लिट्०)

जय जन-जननी, जय जन-जीवन,
जय गोकुल-गरिमा, जय गोधन,
जय सुखदा-शुचिदा सुख-दर्शन,
भक्ति सहित वर वन्दन तेरा—
सुरभि ! सदा अभिनन्दन तेरा।

तेरे वीर बली वृष बालक,
धोरी-धनी, धवल, कृषि-चालक,
वाहन-वाहक, पुर-प्रतिपालक,
मिटा रहे दुर्गति-दुख-डेरा—
सुरभि ! सदा अभिनन्दन तेरा।

घृत, नवनीत, दूध-दधि खाते,
सन, तृण, तेल, अन्न-पट पाते,
पूतों फलते, दूधों न्हाते,
सुखमय तेरा वास-बसेरा—
सुरभि ! सदा अभिनन्दन तेरा।

घूम-घूम तिनके चरती है,
दुख हरती, पर-हित करती है,
जीते-जी वैभव भरती है,
मरकर भी उपकार घनेरा—
सुरभि ! सदा अभिनन्दन तेरा।

गोमय, मूत्र रोग-संहारक,
विष-मारक, शुभ स्वास्थ्य-प्रसारक,
उपले-खाद आदि हितकारक,
गुण-गौरव वर्णित बहुतेरा—
सुरभि ! सदा अभिनन्दन तेरा।

मथुराजीकी यात्राका अनुभव

(लेखक—दि० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास)

शुभ कार्यमें भगवान्‌की दया खूब दीख पड़ती है। यात्राके संकल्पको भी प्रभुने ही पूरा किया और इस कारण यात्रामें पग-पगपर उन्हींको मदद करनी पड़ी। मोटरमें, गाड़ीमें, रास्तेमें—जहाँ गये, अनुकूलता, आदर, सहायता और दया प्रत्येक मनुष्य देता रहा। गाड़ीमें आरामसे सोनेकी जगह मिली। पर्वका दिन होनेके कारण भीड़ थी, फिर भी गाड़ीमें सोनेको मिला। स्नान करनेमें, देव-दर्शनमें भीड़-भाड़ मालूम ही न हुई। यात्रासे बहुत लाभ है। भगवान्‌ने एकादश स्कन्धमें जिन-जिन वस्तुओंसे पुरुषके मनपर असर पड़ता है, उनमें जल, पृथ्वी, सूर्य, प्राणी और स्थानकी गणना की है। आर्योंने यात्राके स्थान निश्चित कर दिये हैं। जिस स्थानका वातावरण प्राकृतिक स्वास्थ्यप्रद हो, जहाँ नदी, जंगल या पहाड़से परमात्माकी निरामय मायाकी सुन्दर कृतिका दर्शन होता हो, वैसे सुन्दर और मनोहर तथा चित्तको स्थिर करनेवाले स्थानका मनके ऊपर बहुत अच्छा असर होता है। जैसे बुरे सहवाससे मन मलिन होता है, वैसे ही निर्जन तीर्थस्थानोंके सहवाससे मनमें सहज ही पवित्रता आती है। इसके अतिरिक्त यदि उन स्थानोंमें पवित्र पुरुषोंका वास हो तो जिस जगहपर उन पुरुषोंने तप या ईश्वरभजन किया हो, वह जगह विशेषरूपसे मनको लाभ पहुँचाती है, क्योंकि वह सबको पवित्र करती है। पवित्र उसे कहते हैं, जो अपवित्रको पवित्र करे। इस प्रकारके पवित्र तीर्थ हैं। श्रीपुष्कर क्षेत्र अजमेरसे सात-आठ मील दूर पहाड़ोंके बीचमें है। रास्ता प्राकृतिक सौन्दर्यसे भरपूर है। वहाँ जाते ही मनके विकार शान्त हो जाते हैं। मन सहज ही निर्विचार अवस्थामें आ जाता है। शहरोंमें जो मन अनेक प्रयत्न करनेपर भी शान्तिका अनुभव नहीं करता, वही मन इस स्थानमें आते ही सुख, शान्ति और आनन्दका अनुभव करने लगता है। अतः जान लो कि मनके ऊपर जगत्‌के सारे प्राणिपदार्थोंका असर पड़ता है। परंतु वह स्थायी नहीं होता। स्थायी प्रभाव ज्ञानका ही होता है। बिना फलकी कामनाकी भक्तिसे होता है। तीर्थोंसे मन शान्त और निर्विकार होता है। उस अवस्थाका उपयोग उस समय हो तो उसका स्थायी प्रभाव होता है; परंतु यदि उसका सदुपयोग न हो और यात्रामें भोग-विलास और स्वादिष्ट भोजन ही होता हो तो कोई लाभ नहीं। लोहेको अग्निमें तपाते हैं और तप्त हो जानेपर उसे घनसे पीटकर उसे जिस आकारका चाहें बना ले सकते हैं; बिना घनसे पीटे केवल तपानेसे जैसा आकार बनाना चाहें, वैसा नहीं बन सकता। यही दशा मनकी है। मन सात्त्विक संयोगके सेवनसे नरम बने तो उस समय निष्काम भक्ति, ज्ञान, विचार, आत्मविचारके अभ्याससे जीवका अवश्य उद्धार हो जायगा। तीर्थ मनको सात्त्विक बनानेमें बहुत मदद करता है। तीर्थमें जाकर शान्त बैठकर भगवान्‌का भजन-ध्यान करे, आत्मविचार करे तथा एकान्तमें बैठकर अपने स्वरूपका शोधन करे, निश्चय करे। यदि ज्ञाननिष्ठ और चारित्र्यवान्, भक्ति-ज्ञान और कर्मके विवेकी पुरुष मिलें तो उनके पास बैठकर अपनी शङ्काओंका समाधान करके निश्चय करे।

पवित्र तीर्थमें भगवान्‌का नाम-स्मरण खूब करे, कीर्तन करे, जहाँ भगवान्‌की मूर्ति हो वहाँ जाकर देरतक दर्शन करे, पीछे आँखें मूँद कर उसी मूर्त्तिका ध्यान करे, फिर दर्शन करे। अनेक मूर्त्तियोंका अनेक बार दर्शन करनेकी ममता न रक्खे, बल्कि जो मूर्त्ति तेजस्वी, सुन्दर और अपने मनको हरनेवाली हो, उसीका दर्शन एकटक करता रहे, सामने खड़ा रहे। अनुकूल हो तो वहाँसे न हटे। जो मूर्ति स्थापित होती है, उसके साथ स्थापना करनेवालेका तप, उसके सुकृत तथा भक्ति आदि सब उस मूर्तिके साथ विद्यमान होते हैं; और इसके साथ मूर्तिके प्रति या उस निमित्त होनेवाली प्रत्येक क्रियाका उस मूर्तिके आसपास वातावरण जमा रहता है, वह वातावरण हमारे मनके लिये बहुत लाभप्रद है। अतएव उस मूर्तिका दर्शन, स्पर्श आदि जितनी देरतक हो, जितनी बार हो, करना चाहिये। यात्रामें बार-बार या बहुत कसकर भोजन न करना चाहिये। हलका, अल्प, सात्त्विक भोजन हो। यात्रामें सत्सङ्ग करना चाहिये। आज-कलके कुसमयमें भी तीर्थोंमें सत्सङ्ग होता है और वह प्राप्त है। यद्यपि अधिकांश तीर्थ आज दुर्जनोंसे दूषित हो गये हैं, तथापि पहले तीर्थों और अन्य शहरोंमें जो अन्तर था, वह अन्तर आज भी है। पहले शहरोंमें सत्पुरुषोंसे जो पवित्रता थी, वह आज नहीं है; तीर्थोंमें भी जो पवित्रता पहले थी, वह आज नहीं है। पतन दोनोंका हुआ है और वह समान है। इसलिये शहरके रहनेवालोंको जैसे तीर्थ पवित्र करते थे, आज भी वैसे ही पवित्र करते हैं; क्योंकि शहरनिवासियोंकी

अपेक्षा तीर्थनिवासी आज भी अनेक दृष्टिसे श्रेष्ठ हैं; तीर्थ चाहे जैसे हों, वे अनर्थ नहीं करते । बुरा सङ्ग न करके तीर्थको स्वाभाविक रीतिसे पवित्र मानते हुए जप-तप, तितिक्षा और सत्सङ्गके उग्र पुरुषार्थको अपनाकर तीर्थसेवन करनेकी आवश्यकता आज भी है ।

पुष्कर तीर्थमें एक बड़ा मन्दिर है । कहते हैं कि उसके निर्माणमें बीस लाख खर्च हुआ है । दर्शन करके निकलनेपर मन्दिरके फाटकके पास मन्दिरके निर्माता बैठे हुए मिले, जिनके मुँहपर चार-पाँच दिनोंकी हजामत बढ़ी थी । शरीरपर एक बंडी पहने सादे वेषमें थे । मैंने पास जाकर पूछा—'सेठजी ! यह मन्दिर आपने बनवाया है ?' तो उत्तर दिया कि 'भगवान्‌ने बनवाया है ।' मैंने पूछा, 'खर्च कितना हुआ ?' वे बोले, 'खर्च होता जा रहा है ।' उनके साथ बात करनेमें उनका सादापन, विवेक और निरभिमानता झलक रही थी । भाई ! विचार करके देखिये—जिसने एक मन्दिर बनवानेमें बीस लाख रुपये खर्च कर दिये, उसकी हैसियत कितनी होगी ? और उसका प्रबन्ध करनेमें कितनी चिन्ता, कितनी सावधानी करनी पड़ती होगी । धनका मद नहीं, धनकी रक्षाकी चिन्ता नहीं । साधुके जीवनकी अपेक्षा इस गृहस्थका जीवन कहीं अधिक शिक्षाप्रद है । हम थोड़ेमेंही अकड़, अभिमान और दम्भके शिकार बन जाते हैं; इनको देखनेपर अपना सारा गुमान कूचकर हो जाता है ।

सत्सङ्गसे सारा कार्य सिद्ध होता है । कैसा ही गृहस्थ और कैसा ही वेषधारी साधु हो, अभिमानसे ही उसका पतन होता है । यह अभिमान और किसी उपायसे नहीं जाता, केवल निरभिमानीके सङ्गसे दूर होता है । जीवके जो दोष हैं, वे दोष अपने विरोधी गुणवाले पुरुषके सङ्गसे ही शमनको प्राप्त होते हैं । इसके सिवा दूसरा उपाय नहीं है । इसी कारण सत्सङ्गकी महिमाका गुणगान होता है । सत्सङ्गके बिना अन्तःकरणका संताप दूर नहीं होता, सत्सङ्गके बिना अन्तःकरणके दोष नहीं मिटते । सत्सङ्गके बिना प्रभुमें भक्ति नहीं होती । जबतक सत्सङ्गसे चित्त सात्त्विक नहीं होता, तबतक उसका प्रभाव नहीं पड़ता । अतएव तीर्थ चित्तको सात्त्विक बनाता है, अतएव इस तीर्थके संयोगमें सत्सङ्गसे उसे रंग दे । लोहा गरम हो, तभी उसे पीटना चाहिये । ठंडा होनेपर पीटना मुश्किल हो जाता है । उसी प्रकार चित्त जिस समय सात्त्विक हो, उस समय उसको ज्ञान, भक्ति, सत्कर्म, हरिकथा और सत्सङ्गमें लगा दे ।

साधुवेषधारीका सङ्ग ही सत्सङ्ग नहीं । चरित्रवान् व्यक्तिको ही साधु समझना चाहिये । जिसके सेवनसे परिणाममें दुःख प्राप्त होता हो, उसका त्याग करे; और जिसके सेवनसे परिणाममें सुख मिले, वह साधु है । ऐसा पूर्ण साधु न मिले तो जिसमें जिस-जिस अंशतक साधुता हो, उस-उस अंशतक उसका सेवन करे और लाभ उठाये । कुछ लोगोंमें दानवृत्ति प्रबल होती है, कुछमें दया; कहीं विनय, किसीमें भक्ति, किसीमें निरभिमानता, किसीमें इन्द्रियजय, कहीं अक्रोध, कहीं सत्य—इस प्रकार विभिन्न गुणोंका समावेश विभिन्न व्यक्तियोंमें होता है । जो गुण जहाँ मिले, वहीं उससे ग्रहण करके लाभ उठाये । इसीका नाम सत्सङ्ग है और ऐसा सत्सङ्ग तीर्थमें सुलभ होता है; क्योंकि ऐसे पुरुष अपना कल्याण-साधन करनेके लिये तीर्थ-जैसी एकान्त पवित्र भूमिको ही निवासस्थानके रूपमें पसंद करते हैं । इसलिये तीर्थमें जाकर इस प्रकारके सत्सङ्गकी खोज करे । पवित्र पुरुष, परमात्माका भक्त कौन है और कहाँ है—इसका पता लगाकर उसकी शरणमें जाना चाहिये । अपनी शङ्काओंका समाधान विनय और विवेकसे करना चाहिये । कभी भी विशेष विवाद नहीं करना चाहिये ।

शङ्काएँ दो प्रकारकी हैं—एक अपना कल्याण-साधन करनेके विषयमें शङ्का होती है; वह सच्ची शङ्का है और उसका निराकरण सत्पुरुष या गुरुके पास जाकर कर ले । दूसरी शङ्काएँ विनोद तथा पुस्तककी शङ्काएँ हैं, वे बेकार हैं । तीर्थमें दूसरी आवश्यक बात यह है कि जो लोग कल्याण-साधनमें विघ्नरूप जानकर अपनी आजीविकाके लिये धन कमानेका उद्योग छोड़कर, गृहस्थ या साधुवेषमें ईश्वरके आधारपर जीवन बिताते हैं, उनकी अपनी शक्तिके अनुसार धन या साधनके द्वारा सेवा करे । यही सत्पात्रको दान देना कहलाता है । यह श्रेष्ठ दान है, इसका बहुत फल होता है । ईश्वरके सहारे रहनेवाले व्यक्तिकी आवश्यकताओंकी पूर्ति जिस दानसे होती है, उसकी महिमाका पार कोई नहीं पा सकता ।

हरिः ॐ तत्सत्

मधुर

विप्रलम्भ और सम्भोग या विरह और मिलन पवित्र प्रेमराज्यके दो अङ्ग हैं। दोनोंमें ही प्रेम-रसका पवित्र प्रवाह समानरूपसे बहता रहता है। श्रीराधा-माधव तो वास्तवमें एक ही तत्त्वस्वरूपके दो लीलास्वरूप हैं। लीलामें भी वस्तुत: उनमें वियोग-विछोह नहीं होता, रसोत्कर्ष तथा रसास्वादनके लिये ही वियोग-लीला होती है। एक बार श्रीराधाजी वियोग-दशामें बैठी वियोगकी लीलामयी अग्निमें जल रही थीं।

विरह-व्यथा पीड़ित, विषाद मुख
बैठी निज एकान्त निकुञ्ज।
प्रियतम-स्मृति-रत, विरत जगत् सब,
विस्मृत सकल विषय-सुख-पुञ्ज॥
श्याम-वियोग-अनल जलते सब
अङ्ग, अनलसे उपजा जल।
बही अश्रुधारा अजस्र अति
उष्ण, जलाती सारा स्थल॥
उदय हुआ उच्चाट घोर उर,
निकली मुखसे करुण पुकार—
"हा प्राणेश! प्राणवल्लभ, हे
प्राण-प्राण, हा प्राणाधार॥"
बचन रुद्ध हो गया अचानक,
सूखे नेत्र, स्तब्ध सब अङ्ग।
हुए, तभी दीखे मनमोहन,
विजयी अमित अनन्त अनङ्ग॥

एक बार श्रीराधाजी अपनी एकान्त निकुञ्जमें बैठी थीं, विरहकी व्यथासे पीड़ित थीं और मुखपर विषाद छाया था। वे प्रियतम श्रीकृष्णकी स्मृतिमें लीन थीं, सारा जगत् मनसे हट गया था और सारे विषय-सुख-समूहोंकी विस्मृति हो गयी थी। श्यामसुन्दरके वियोगानलसे सब अङ्ग जल रहे थे। (तत्त्वोंमें अग्निसे ही जलका प्राकट्य होता है, इसी प्रकार) उस विरहाग्निसे जल प्रकट हो गया और श्रीराधाजीके नेत्रोंसे अत्यन्त गरम आँसुओंकी धारा अजस्ररूपसे बह चली, वह उष्ण अश्रुधारा समस्त भूभागको—राधाजीके सारे अङ्गोंको बाहरसे भी जला रही थी। उनके हृदयमें भयानक उच्चाटन उत्पन्न हो गया और सहसा उनके श्रीमुखसे करुण पुकार निकल पड़ी—'हा प्राणेश्वर! हा प्राणवल्लभ! हे प्राणोंके प्राण! हा प्राणाधार!' फिर अचानक ही वाणी रुक गयी, नेत्र सूख गये और सारे अङ्ग निश्चेष्ट हो गये। ठीक इसी समय उन्हें अपरिमित अनन्त कामदेवोंपर विजय प्राप्त करनेवाले मनमोहन श्रीश्यामसुन्दर दिखायी दिये। (वे वहाँ थे ही, सामने प्रकट हो गये।) वे कैसे हैं?

मधुर-सुमधुर, मधुर उससे भी,
परम मधुर, उससे भी और।
मधुर, मधुरतम, नित्य निरन्तर
वर्द्धनशील मधुर सब ठौर॥
अङ्ग-अङ्ग माधुर्य-सुपूरित,
मधुर अमृतमय पारावार।
अखिल विश्व सौन्दर्य, मधुर
माधुर्य सकलके मूलाधार॥

वे मधुरसे सुमधुर, उस मधुरसे भी परम मधुर तथा उससे भी और मधुर मधुरतम हैं। उनका 'मधुर' सब जगह—सारे अङ्गोंमें नित्य निरन्तर बढ़ता ही रहता है। उनका अङ्ग-अङ्ग माधुर्यसे परिपूरित है, वे मधुर अमृतमय समुद्र हैं। समस्त विश्व-सौन्दर्य और समस्त मधुर माधुर्यके वे मूल आधार हैं (बीज हैं, मूलस्रोत हैं)।

नील कमल कमनीय कलेवर
सहज सौरभित मधुर अपार।
नेत्रद्वय, मुख, नाभि, करद्वय,
चरणद्वय द्युति-सुषमागार॥
विविध वर्ण, सौरभ विभिन्न युत
अष्ट कमल ये अति अभिराम।
यों विकसित नव कमल मिलित हो
अनुपम शोभा हुई ललाम॥

उनका नीलकमलरूप सुन्दर कलेवर है और वह

सहज ही अपार मधुर सुगन्धसे भरा है। फिर दो नेत्रकमल, एक मुखकमल, एक नाभिकमल, दो करकमल और दो चरणकमल—जो तेज और शोभाके भंडार है, जिनके (अरुण, हरित आदि) पृथक्-पृथक् वर्ण हैं और जिनमें विभिन्न प्रकारकी मधुर सुगन्ध फैल रही है—बड़े ही सुन्दर हैं। एक नीलकमलके साथ ये आठों विभिन्न वर्णोंके कमल और नीलकमलकी सुगन्धके साथ इन आठ कमलोंकी विभिन्न विचित्र सुगन्ध——सबके संयोगसे श्रीश्यामसुन्दरकी एक परम सुन्दर श्रेष्ठ अनुपम शोभा हो रही है।

देख छबीली छटा, देख
छरहरा बदन, छाया आनन्द।
छकी, लुभाई, लगी देखने
अपलक अति अतृप्त अद्वन्द ॥
उमड़ा उर आनन्द सुधा निधि,
बही नेत्र शीतल रस-धार।
देख अतुल छवि, माधव मृदु हँस,
बोले अमृत वचन सुखसार ॥

श्रीराधाजीने इस छबीली छटाको और छरहरे श्रीविग्रहको देखा। उनपर आनन्द छा गया। वे छक गयीं, पर तत्क्षण ही मन लुभाया और वे अपलक नेत्रोंसे अतृप्त भावसे अनन्य-वृत्तिसे उन्हें देखने लगीं। उनके हृदयमें आनन्दामृतका समुद्र उमड़ पड़ा और उनके नेत्रोंसे शीतल रसकी (विरहके गरम आँसुओंकी नहीं, मिलनानन्दरसकी) धारा बह चली। राधाजीकी इस अतुलनीय शोभाको देखकर प्रियतम श्रीमाधव मृदु मुसकानके साथ सुखके साररूप अमृतमय वचन बोले—

प्रिये ! तुम्हारा तन-मनका यह
दिव्य अतुल लीला विस्तार।
सहज निरीहरूप मुझमें भी,
करता इच्छाका संचार ॥
परमानन्दरूप मैं पाता
इसे देख अतिशय आनन्द।
इसीलिये मैं छिप-छिपकर
अविरत देखा करता स्वच्छन्द ॥
परमसिद्ध योगीन्द्र, ब्रह्म-
वेत्ता मुनीन्द्र, शुचितम सब संत।
छू सकते न तुम्हारी छाया,
पा सकते न भावका अन्त ॥
ललचाते नित रहते, कहते
धन्य ! धन्य !! गोपी-जन भाव।
चरणधूलि कण सदा चाहते,
सेवाका अति रखते चाव ॥
इसीलिये वे पशु-पक्षी-द्रुम
बन व्रजमें लेते अवतार।
पद-रज-कण ले गोपीजनका
होते धन्य सिरोंपर धार ॥

प्रिये राधिके ! तुम्हारा शरीर तथा मनका यह लीला-विस्तार दिव्य और अतुलनीय है। (न इसमें लौकिकता है और न इसकी कहीं तुलना है।) मैं सहज स्वरूपसे ही इच्छारहित हूँ, पर यह मुझमें देखनेकी इच्छाका संचार कर देता है। मैं स्वरूपसे ही परमानन्द हूँ, पर मैं इस तुम्हारे लीला-विस्तारको देखकर अतिशय आनन्द प्राप्त करता हूँ। यह परमानन्दस्वरूपको भी अतिशय आनन्द प्रदान करनेवाला है। इसीलिये मैं छिप-छिपकर स्वच्छन्दरूपसे सदा-सर्वदा तुम्हारे इस लीला-विहारको देखा करता हूँ। परमसिद्ध योगीन्द्र, ब्रह्मवेत्ता मुनीन्द्र और परम पवित्रतम सब संतगण तुम्हारी छायाको भी नहीं छू सकते, न वे तुम्हारे भावका अन्त ही पा सकते हैं। वे सदा ललचाते रहते हैं और तुम्हारे तथा तुम्हारी कायव्यूहरूपा गोपाङ्गनाओंके भावोंको धन्य-धन्य कहते रहते हैं। वे सदा तुम सबके चरण-धूलि-कणकी इच्छा करते और तुम्हारी सेवाका अत्यन्त चाव मनमें रखते हैं। इसलिये वे हमारी प्रकट लीलाके समय व्रजमें पशु-पक्षी या वृक्षलताके रूपमें अवतरित होते और गोपीजनके पद-रजकणको अपने मस्तकोंपर धारण करके धन्य होते हैं।

कामके पत्र

(१)

साधनकी महत्ता और आवश्यकता

सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । आपके प्रश्नोंका संक्षिप्त निम्नलिखित उत्तर है । जैसे बिना नींवके मकान नहीं बन सकता और यदि बना दिया जाय तो शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार पारमार्थिक क्षेत्रमें साधनके बिना साध्यकी प्राप्ति नहीं होती । 'अष्टाङ्गयोग'में पहले 'यम-नियम' आवश्यक हैं । 'अद्वैत-ज्ञान'की सिद्धिमें 'साधन-चतुष्टय' आवश्यक है । धर्मके पालनमें मनु महाराजकथित 'दस मानव-धर्म' आवश्यक हैं और भगवत्प्रेमकी प्राप्तिमें 'समर्पणयुक्त भजन' अत्यन्त आवश्यक है । हमलोग यहीं भूल करते हैं—साध्यकी बात करने लगते हैं, परंतु साधनकी उपेक्षा करते हैं । होना चाहिये यह कि साधनको ही साध्य बना लिया जाय तो साध्य अपने-आप उतर आता है ।

मनुष्य कर्मयोनि है । बिना कर्मके वह एक क्षण भी नहीं रह सकता । इसलिये उसे निरन्तर अच्छे कर्ममें उत्तरदायित्वके साथ नियुक्त रहना चाहिये । सत्कर्मका परित्याग कर देनेपर मन-इन्द्रियाँ निकम्मी रहेंगी नहीं, वे प्रमाद-कर्म करेंगी । इसीलिये त्यागी वैष्णव संतोंने तीन-तीन लाख नाम-जपका नियम रक्खा है कि जिससे दूसरी बात सोचनेके लिये, करनेके लिये अवकाश ही न मिले । संक्षेपमें साधकको निम्नलिखित बातोंको ध्यानमें रखना चाहिये—

(१) परचर्चा, परनिन्दा, परदोष-कथन और परदोष-श्रवण—ये सब करके मनुष्य व्यर्थ ही पाप-संस्कारोंका संग्रह करता है । केवल जीवनका समय ही नहीं खोता, उसे अनर्थके सेवनमें लगाता है ।

(२) आलस्य-प्रमादमें एक क्षण भी न खोना । नाम-जप, पूजन, स्वाध्याय, सेवा इत्यादिमें नियमित रूपसे एक-एक क्षणको लगाये रखना ।

(३) कभी भी यह नहीं सोचना चाहिये कि बिना साधन किये दूसरा कोई हमें भगवान्के धाममें पहुँचा देगा । संत या गुरु मार्ग बताते हैं । चलना अपनेको ही पड़ता है । दूसरा क्या करता है, क्या कहता है—इसकी ओर न देखकर अपने गुरूपदिष्ट मार्गपर सावधानीके साथ चलते रहना ।

(४) जहाँतक बने काम, क्रोध, वैर, हिंसा, द्वेष, द्रोह, अभिमान तथा गर्वको आश्रय न देना । दम्भ कभी न करना । भगवान्को हम किसी प्रकार भी छल नहीं सकते । जो भगवान्को ठगना चाहता है, वह आप ही ठगाता है ।

(५) मनसे, वाणीसे, शरीरसे कभी भी किसी प्रकार भी कुसङ्गमें न पड़ना । जिससे संसारके प्रपञ्चोंमें रुचि बढ़ती हो, इन्द्रिय-संयम घटता हो, त्यागके बदले भोग-भावना बढ़ती हो, आसुरी सम्पत्तिकी ओर वृत्ति जाती हो, भगवान्का भजन कम होता हो और भगवान्की लीला आदिमें रुचि घटती हो, वे सब-के-सब कुसङ्ग हैं और बड़ी सावधानीसे उनका त्याग करना चाहिये ।

(६) धारणा, ध्यान, समाधि—ये पीछेकी चीजें हैं । सबसे पहले तो भगवान्में हमारी रुचि हो, इसके लिये संसारका भजन कम-से-कम करके भगवान्का भजन करना चाहिये और भगवान्को जो प्रिय हैं, इस प्रकारके 'दैवी आचरणोंका आश्रय लेना चाहिये । जगत्की बातें कहने-सुननेसे अधिक-से-अधिक बचना चाहिये ।

इन सब बातोंपर यदि ध्यान रक्खा जायगा तो साधनामें सचमुच मनुष्य अग्रसर होगा। अपनेको साधक, प्रेमी, भक्त, ज्ञानी, निष्काम-कर्मयोगी, संत इत्यादि मान लेनेसे अथवा किसीके कहनेसे उसे स्वीकार कर लेनेसे ही वास्तवमें यह सब नहीं हुआ जाता। जीवनमें जो चीज मूर्तिमान् होती है, वही उसका वास्तविक स्वरूप होता है। शेष भगवत्कृपा।

प्रिय महोदय !

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपने जो कुछ लिखा, वह आपके मनकी धारणा है। पर सच्ची बात तो यह है कि अपनेको जितना मैं जानता हूँ, उतना आप नहीं जानते; और जब मैं अपनी ओर देखता हूँ तो सारा जीवन ही त्रुटियों और कमजोरियोंसे भरा हुआ दिखायी देता है। बचपनमें और फिर तरुणावस्थामें भी जिस प्रकारके पवित्र भावोंका प्रवाह बहता था, वह आज नहीं दिखायी देता। मनुष्यको सदा सीखनेवाला बनना चाहिये, सिखानेवाला नहीं। सिखानेवालेसे सीखनेवाले कहीं अधिक श्रेष्ठ होते हैं, यह मेरे जीवनका अनुभव है। अतएव मेरे सम्बन्धमें आपकी धारणा जो कुछ भी हो, शास्त्रके वचनोंको लेकर आपको अपना जीवन सात्त्विक बनाना चाहिये। इसीमें आपका लाभ है। वास्तवमें दूसरेका जीवन हमें कोई लाभ नहीं पहुँचा सकता, यदि उसके अच्छे जीवनका हम अनुकरण न करें; और जो मनुष्य अपनेमें अच्छापन देखता है एवं दूसरेमें बुराई देखता है, वह वास्तवमें अच्छा नहीं है। अपनी ही बुराई दूसरेमें दीखती है। जो सबमें भगवान्को देखता है, उसके लिये सभी भगवान् हैं; पर जो संसारमें ईसाइयोंके सहित शैतानको देखता है, वास्तवमें उसके मनकी ग्लानी ही जगत्में शैतानका दर्शन कराती है। प्रथम तो दूसरेकी ओर देखे ही नहीं—न गुण देखे, न दोष। भागवतमाहात्म्यमें आया है—

अन्येषु दोषगुणचिन्तनमाशु मुक्त्वा।

'दूसरोंके दोष-गुण-चिन्तनसे तुरंत ही छूट जाय'। पर यदि देखना ही हो तो दूसरोंके गुण देखे। गुण सबमें रहते हैं, देखनेवालेकी आँखें होनी चाहिये। सबमें भगवान् देखे जायँ, तब तो कहना ही क्या है।

मनुष्य अहंकारवश ही यह मानता है कि 'मेरे द्वारा जगत्की सेवा हो रही है, जगत्का कल्याण हो रहा है और मेरे न रहनेपर पता नहीं क्या होगा।' यह सब व्यर्थ ही भगवान्के आसनपर बैठनेका कुप्रयास है, जो मनुष्यको गिरानेवाला ही है। सारी अच्छाइयाँ भगवान्में हैं और भगवान्से आती हैं। हम कहीं अच्छाईमें निमित्त बनते हैं, यह भगवान्की कृपा है; अभिमानकी कोई वस्तु नहीं। मनुष्यको सर्वथा अपनेको दीन मानकर दीनबन्धुकी शरणमें रहना चाहिये। शेष भगवत्कृपा।

(२)

जीवनमें भगवद्भाव लानेकी चेष्टा कीजिये

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। इस समय सारे जगत्में भोगवादकी प्रधानता हो रही है। सब मनुष्योंको भोजन-वस्त्र, स्थान मिलना चाहिये और उसकी प्राप्ति करवानेमें जो लोग सचेष्ट हैं, वे निश्चय ही आदरणीय हैं। इस दृष्टिसे साम्यवाद (कम्यूनिज्म), समाजवाद (सोशलिज्म) निस्संदेह प्रशंसाके योग्य हैं; परंतु वास्तवमें मानव-सेवाकी भावना भोगवादके सामने टिक नहीं पा रही है। कोई वाद (इज्म) हो, सभी लोग भोगोंके अर्थात् अर्थ और अधिकारके पीछे उन्मत्त हैं। समाजवाद हो या पूँजीवाद, सभीको अर्थ चाहिये और अधिकार चाहिये। इस 'अर्थ' और 'अधिकार'की लिप्साने मानव-जीवनमेंसे त्याग और कर्तव्यके पवित्र भावोंको निकालकर उसे असुर या राक्षस बना दिया है और जबतक भोगवाद जीवनका

लक्ष्य रहेगा, तबतक किसी भी देशमें और किसी भी वादमें लोगोंको वास्तविक सुख-शान्ति और प्रेम नहीं मिलेगा । हमारा भारतवर्ष ही, जो किसी जमानेमें त्यागमय जीवनका आदर्श रखनेवाला था, भोगवादकी प्रबलतासे आज इतना नीचे गिर गया है कि सभी तरफ संकुचित स्वार्थको लेकर बुरे-से-बुरे आचरण हो रहे हैं। अमुक पार्टी अच्छी नहीं, अमुक अच्छी—यह कहते नहीं बनता । कांग्रेसी, समाजवादी, पूँजीपति, व्यापारी, अफसर, मन्त्री, अधिकारी, मजदूर आदि सब हमीं तो हैं । परस्पर कलह, एक दूसरेको धोखा देनेकी प्रवृत्ति, दलबंदी, हिंसा आदि चीजें क्यों हो रही हैं ? इसीलिये हो रही हैं कि सबको आज अधिकार और अर्थ चाहिये । कर्तव्य और त्यागसे कोई सरोकार नहीं । जैसे अभावग्रस्त लोगोंके अभावकी पूर्तिकी चिन्ता न करके विलासितामय खर्चीला जीवन बिताना पाप है, वैसे ही लोक-सेवाके नामपर अपनेको लोक-सेवक, नेता आदि बताकर स्वार्थ-साधन करना भी पाप है । दूसरेका दोष हम सभी देखते हैं, पर वही दोष अपने अंदर दूसरेकी अपेक्षा अधिक है, इसको नहीं देखते ।

आप पापको नगर बसावत, सहि न सकत पर खेरो ।

—तुलसीदासजीने यह बहुत सत्य कहा है ।

अतएव जब कभी भी हो, जीवके भगवान्के अभिमुखी होकर त्याग और कर्तव्यको जीवके स्वभावमें लाये बिना कानूनोंसे, व्याख्यानोंसे और बहुत कड़े दण्ड-विधानसे भी वास्तविक सुधार नहीं होगा । इसलिये प्रसार होना चाहिये भगवद्भावोंका और भगवद्भावमें सदाचार, मन-इन्द्रियोंका संयम, सेवा, सर्वभूतहित, निज स्वार्थका त्याग, सबमें आत्मोपम दृष्टि और प्राणिमात्रमें भगवान्को देखकर सबकी सेवा करना और सबका हित करना अनिवार्य है । जहाँतक बने, प्रत्येक व्यक्तिको अपने लिये ही इस प्रकारका बननेकी चेष्टा करनी चाहिये । दूसरे लोग भगवद्भाववाले बनें और हम भोगवादी ही रहें—यों यदि सभी सोचने लगें, जैसा कि सोच रहे हैं, तो किसीका भी कल्याण नहीं होगा और कोई भी भगवद्भाववाला नहीं बनेगा। इसके बदले यह निश्चय करें कि दूसरा कोई बने या न बने, मुझको तो भगवद्भाववाला बनना ही है । यों यदि सबका निश्चय हो जाय तो सभी भगवद्भाववाले बन जायँ । अतएव दूसरेकी ओर न देखकर, दूसरेकी समालोचना न करें, दूसरे हमारे लिये क्या कहते हैं, इसकी चिन्ता न करें और अपने जीवनमें भगवद्भाव लानेकी पूरी चेष्टा करें । यही आपके सारे प्रश्नोंका एकमात्र उत्तर है । शेष भगवत्कृपा ।

(३)

एक साधुके प्रति सम्मति

सम्मान्य महोदय, सादर प्रणाम । आपका कृपापत्र प्राप्त हुआ । वास्तवमें यथार्थ संत बहुत थोड़े ही होते हैं, और कौन संत हैं, कौन नहीं—इस बातको हम प्रायः जान भी नहीं सकते । संत स्वयं ही अपनी स्थितिको जानते हैं। मैं तो अपने-जैसोंके लिये यही निर्णय किया करता हूँ कि जिनके सङ्गसे अपने जीवनमें दैवी सम्पत्तिका उदय और संवर्द्धन हो, निषिद्ध कर्मोंका त्याग और भोगोंसे वैराग्य हो, भगवान्की ओर चित्तवृत्ति लगे और जगत्से हटे, हमारे लिये तो वही संत हैं—चाहे वे संत न कहलाते हों; और जिनके सङ्गसे आसुरी सम्पत्तिकी वृद्धि हो, पापोंमें रुचि और भोगोंमें आसक्ति बढ़े और जगत्की ओर आकर्षण हो, वे चाहे परम संत ही हों, पर हमारे लिये उनका सङ्ग लाभदायक नहीं है । संत-असंतकी पहचान करनेके लिये परीक्षण करने दौड़ना आवश्यक नहीं है । अपनेको सँभालना आवश्यक है । परीक्षणमें हम बड़ी भूल कर सकते हैं । बाहरी दृष्टिसे संतके आभ्यन्तरिक जीवनका पता नहीं लग

सकता । जैसे पत्थर और लोहा तौलनेके काँटेपर हीरा नहीं तुल सकता, वैसे ही हमारी वैषयिक बुद्धिके द्वारा गुणातीत संतकी पहचान नहीं हो सकती । रही संतोंके गिरनेकी बात, तो संत तो वास्तवमें गिरते ही नहीं । पर उनमें भी सङ्गदोषके फलसे व्यवहारमें इन्द्रिय, मन इत्यादि रहनेके कारण दोष आ सकता है; निरहंकार होनेके कारण भले ही वह उनपर लागू न हो । इसीलिये संतोंको परम विरक्त, जनसमूहसे अलग, नित्य ध्यानपरायण रहनेकी बात कही गयी है । जो साधक हैं और संत कहलाते हैं, उनको तो विशेष सावधान रहना है । इन्द्रियाँ और मन बड़े प्रबल हैं । मन धोखा देकर लोक-कल्याणकी भावनासे भी अशुभ कर्ममें प्रवृत्त करा देता है । जहाँतक मेरा अपना अनुभव है, मेरे सामने उदाहरण है और मैंने यही समझा है कि साधु-संतोंको, भक्तोंको उनके सरलमति भक्त और चेले ही बिगाड़ते हैं । इन लोगोंके द्वारा प्राप्त त्यन्त आदर, सब प्रकारकी सेवा, बढ़िया आरामकी जें, विविध स्वादिष्ट पदार्थ, उनके मतका आग्रहपूर्ण ार, उनके गुणोंका और चमत्कारोंका प्रचार आदिसे णाममें उन संतोंमें यह अभिमान पैदा हो जाता है कि हम ऐसे हैं । फिर वे अपनेको इसी प्रकारका सिद्ध ने, चमत्कारादि दिखलाने तथा परम ज्ञानस्वरूपताका रिचय देने लगते हैं । इन बाह्य चेष्टाओंके अनुरूप त्विक स्थिति न होनेसे बर्ताव-व्यवहारमें सावधानी नेपर भी दोष प्रकट हो जाते हैं । इससे लोगोंमें द्धा घटने लगती है, तब उन्हें और भी प्रपञ्च रचने ते हैं । जीवन साधन-क्षेत्रसे हटकर प्रपञ्चके में आ जाता है । फिर जो उनको वैसा संत हीं मानते या विरोध करते हैं, उनके प्रति अन्तर्मानसमें ष पैदा हो जाता है और अनुकूल माननेवालेके प्रति राग हो जाता है । जहाँ राग-द्वेष प्रत्यक्ष रूपसे आये कि फिर तीव्रताके साथ परमार्थ-पथसे च्युति होने लगती है और भगवत्पूजाके स्थानपर भगवत्पूजाके नामसे ही जानमें या अनजानमें अहंकारवश व्यक्ति-पूजन होने लगता है और वे संत कहलानेवाले सच्चे साधक भी पतित हो जाते हैं । इसलिये संतको बहुत अधिक सावधान रहना चाहिये ।

आप साधु हैं और मैं गृहस्थ । अतएव साधुको किसी प्रकारका उपदेश देनेकी न तो मुझमें शक्ति है, न योग्यता और न मेरा अधिकार ही है । आप प्रेमसे पूछते हैं, अतएव मेरी यह नम्र सम्मति है कि जहाँ तक बने आप लोकालयसे अलग रहें । शिष्य-भक्तोंसे विशेष सावधान रहें । अर्थ और स्त्री—इन दोनोंके साथ—परोपकार और सेवाकी बुद्धिसे भी—सम्पर्क न आने दें । इनसे सर्वथा अपनेको अलग रक्खें । आपसी पंचायतका काम न करें । चमत्कार न दिखलायें । भविष्यवाणी न करें । किसीके भी उद्धारका जिम्मा भगवान्‌पर ही रहने दें, स्वयं न लें । अधिक समयतक मौन रहें और अपने पास आनेवाले भक्तोंके साथ केवल भगवच्चर्चा या अध्यात्मचर्चा ही करें ।

आपने भक्तोंको उपदेश देनेके विषयमें पूछा, सो संक्षेपमें तीन ही उपदेश दें—

(१) पाप-कर्मका सर्वथा परित्याग ।

(२) विश्वासपूर्वक भगवान्‌का नाम-जप, और

(३) भगवान्‌के अनुकूल दैवी-सम्पत्तिके कर्मोंका आचरण ।

केवल ऊँची बातों और अद्वैतज्ञान तथा विशुद्ध प्रेमके तत्त्व-निरूपणसे कोई लाभ नहीं । घर पहुँचनेपर अपने-आप ही घर पहुँचा हुआ आदमी घरको देख लेता है । असलमें तो बात होनी चाहिये उस मार्गको जाननेकी

और उसपर लक्ष्यको ध्यानमें रखते हुए चलनेकी, जो निर्विघ्नतापूर्वक सीधा ले जाकर गन्तव्य स्थानपर पहुँचा दे। इसीलिये साधनकी आवश्यकता है। प्रेम और ज्ञानके नामपर इन्द्रिय-मनका संयम करनेवाले, सेवामें प्रवृत्ति करानेवाले और भजनमें लगानेवाले साधनोंका परित्याग करना बहुत बड़ी भूल है। इस भूलमें न स्वयं पड़ना चाहिये और न औरोंको ही डालना चाहिये। श्रीरामकृष्ण परमहंसके पास एक महात्माने आकर पूछा—'आप ध्यान क्यों करते हैं ?' उन्होंने कहा—'अन्तर्मलका नाश करनेके लिये। लोटा रोज न माँजा जाय तो उसपर दाग पड़ जाते हैं।' इसपर उन महात्माने पूछा—'लोटा यदि सोनेका हो तो फिर तो उसपर दाग नहीं पड़ते। फिर उसे माँजनेकी क्या आवश्यकता है ? अर्थात् भगवत्प्राप्त सिद्ध पुरुषको साधनाकी क्या आवश्यकता है।' तब परमहंसजीने उत्तर दिया—'सबके पास सोनेके लोटे हैं नहीं। सोनेके लोटेवाला उसे यदि माँजना बंद कर दे तो उसकी देखा-देखी पीतल-ताँबेके लोटेवाले भी बंद कर देंगे। अतः वह उनके लोटोंमें दाग लगानेवाला बनेगा।' इसलिये जबतक लोकालयमें हैं, तबतक लोग उसकी देखा-देखी करके न गिरें, इसलिये भी संतको—सिद्ध संतको भी तन-मन-वचनसे विशुद्ध आदर्श आचरण और व्यवहार करना चाहिये।

अतएव इन सब बातोंपर विचार करके आप अपनेको विषय-जगत्से अलग रख सकें तो बड़ा अच्छा है। जब श्रद्धेय स्वामीजी श्री×××××× दिवङ्गत हुए तब ×××× ××× ×××××× और ×××××××× दोनों मेरे पास आये थे। उन्होंने बड़े प्रेमसे पूछा था कि 'हमलोग अब लोक-कल्याणार्थ प्रचारमें लगें या एकान्तमें भगवान्का भजन करें।' मैंने उन दोनोंसे ही विनम्र प्रार्थना की थी कि 'मेरी समझसे तो एकान्तमें भजन करना अधिक उपयोगी है।' इसके बाद, जहाँतक मैंने सुना, कुछ दिनोंतक तो वे अलग भजनमें प्रवृत्त रहे, किंतु फिर वे लोक-कल्याणके कार्योंमें प्रवृत्त हो गये और आज उनके बड़े-बड़े आश्रम चल रहे हैं। उनके ये आयोजन उत्तम हैं, इसमें कोई संदेह नहीं; परंतु मेरी समझसे एकान्त भजनसे उनको और जगत्को जो महान् लाभ होता, वह इन बाहरी आयोजनोंसे नहीं हो सकता। प्रपञ्चमें राग-द्वेष आये बिना नहीं रहते और राग-द्वेष परमार्थ-पथके परम शत्रु हैं। भगवान्ने कहा है—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥
(गीता ३। ३४)

प्रत्येक इन्द्रियके प्रत्येक विषयमें राग-द्वेष व्यवस्थित हैं। उनके वशमें न होना। वे बटमार हैं। परमार्थके धनको लूट लेते हैं और यही होता है।

इन सब उदाहरणोंको सामने रखकर मेरी समझसे तो आप विरक्त रूपमें साधुका धर्म पालन कीजिये और 'सच्चे साधुके अस्तित्व मात्रसे जगत्का परम कल्याण होता है'—इस सिद्धान्तको सत्य करके दिखाइये। शेष भगवत्कृपा।

(४)

भोगोंकी दुःखमयता और अनित्यता

सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। उत्तर देरसे जा रहा है, सो कोई विचार न कीजियेगा। धर्मराज युधिष्ठिरने यक्षके प्रश्नके उत्तरमें कहा था—'रोज-रोज प्राणी मर रहे हैं, उनको मरते देखकर भी शेष रहे हुए लोग चाहते हैं, हम कभी न मरें, यह सबसे बड़ा आश्चर्य है।'

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम्।
शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥

पर मोहवश हमलोगोंकी भोगोंमें आस्था हो रही है। दूसरोंको समझाने-सिखानेमें हम कोई कसर नहीं रखते, परंतु स्वयं ऐसे व्यामोहमें फँसे हुए हैं कि भोगोंसे सुखकी आस्था जरा-सी भी नहीं हटती। देखते हैं, भोग दुःखमय हैं। अपने जीवनमें भी बार-बार इसका अनुभव होता है तथापि उसी मार्गसे जीवन चला जा रहा है। आपसे क्या कहा जाय? मृत्युको निकट समझकर, हो सके तो, निरन्तर भगवान्‌में चित्त लगानेका प्रयत्न करना चाहिये। दूसरे क्या करते हैं और क्या कहते हैं, इसकी ओर देखनेकी आवश्यकता नहीं। भोगोंका बहुत अभाव हो या प्रचुर संग्रह हो, इससे वास्तवमें हमारे आत्मजीवनका कोई सम्बन्ध नहीं है। राजा, रंक, फकीर सभी मृत्युके ग्रास बनते हैं और ममताकी सारी वस्तुएँ यहीं रह जाती हैं। हो सके तो भगवान्‌में अनन्य ममता कीजिये। तुलसीदासजी महाराजने एक ही दोहेमें बड़ा सुन्दर उपदेश दे दिया है—

तुलसी ममता राम सों, समता सब संसार।
राग न रोष न दोष दुख, दास भए भवपार॥

भगवान् रामके चरणोंमें अनन्य ममता हो, जगत्‌के तमाम द्वन्द्वोंमें समता हो, तो राग-द्वेष रहेगा नहीं। राग-द्वेषके अभावमें पाप बनेगा नहीं। पापके अभावमें दुःख नहीं रहेगा और मनुष्य सहज ही भवसागरसे पार हो जायगा। यह सम्मति जो आपके लिये मैं दे रहा हूँ वास्तवमें अपने लिये ही दी जानी चाहिये। आपकी सरलता, साधुता और मेरे प्रति जो सद्भावना है, उसके लिये मैं आपका कृतज्ञ हूँ। शेष भगवत्कृपा।

(५)

एकान्तस्थित महात्मासे विश्वकल्याण

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपके प्रश्नोंका संक्षिप्त उत्तर निम्नलिखित है—

(१) एकान्तमें रहकर या मौन रखकर मनुष्य यदि साधनामें मन लगा सके तो उसके द्वारा उसका अपना और जगत्‌का जितना उपकार होता है, उतना उपदेशकों, व्याख्यानदाताओं और प्रचारकोंके द्वारा कदापि नहीं होता। प्रचारककी बाह्य वृत्ति रहती है, उसमें यदि पहलेकी कुछ शक्ति संगृहीत होती है तो वह प्रचारके क्षेत्रमें बाहर निकल-निकलकर समाप्त हो जाती है। नया संग्रह होता नहीं और फिर प्रचारका काम पल्ले बँध जानेसे पूँजी समाप्त हो जानेपर उसे दम्भ करना पड़ता है। इसलिये भी एकान्तमें रहकर मौन-साधना करना उत्तम है। दूसरे एक महात्मा यदि परम सिद्ध और शक्ति-सम्पन्न हों तो वे कहीं एकान्तमें मौन रहकर भी अपने शक्ति-भण्डारमेंसे नित्य-निरन्तर अपने आप जगत्‌को जितना देते हैं, वे जितना विश्वका महान् कल्याण करते हैं, उतना कोई भी बाह्य समर्थ तथा सच्चा प्रचारक भी नहीं कर सकता।

'गुरुस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः'

(२) साधन अच्छा हुए बिना साध्य अच्छा नहीं हो सकता। बीजके अनुसार ही फल होगा। जो मनुष्य भगवान्‌के विरोधी निषिद्ध कर्मोंको करता हुआ भी भगवान्‌की प्रसन्नता चाहता है, वह वैसा ही है, जो आकका बीज बोकर आम चाहता है। अतएव न तो साध्यके विषयमें कोई तर्क करना चाहिये, न साध्य वस्तुको प्राप्त महापुरुषोंके समान अपनेमें बिना हुए ही बाहरसे अपनेको दिखाना चाहिये। जो लोग मिथ्या ही अपनेको सिद्ध पुरुष मानकर साधनको छोड़ देते हैं, वे तो बहुत ही नीचे गिरे हुए होते हैं। वे केवल अपना ही नुकसान नहीं करते, उनकी देखा-देखी उनमें श्रद्धा रखनेवाले लोग भी साधन छोड़कर गिर जाते हैं।

इस सम्बन्धमें भगवान् श्रीकृष्णके गीतामें कहे हुए अध्याय ३ के २१वें से २६वें श्लोकतकके वाक्योंका मनन करना चाहिये । जिनमें भगवान्ने अपने लिये भी यह कहा है कि 'मुझे न तो कुछ प्राप्त करना है और न मेरा कहीं कोई कर्तव्य है तथापि मैं सावधानीके साथ इसलिये आदर्श व्यवहार और कर्मका आचरण करता हूँ कि जिससे मेरी देखा-देखी लोग सत्कर्मोंका परित्याग करके नष्ट न हो जायँ ।' बल्कि महात्माओंका तो यह कहना है कि साध्य मिलनेपर भी साधन न छोड़ो । भगवान्के मिलनेपर भी भगवान्की पूजा और भगवान्का नाम, भगवान्की सेवाका कार्य करते जाओ ।

(३) नाम-जपमें और मन्त्र-जपमें इतना ही अन्तर है कि मन्त्रमें विधिकी प्रधानता होती है और नाममें श्रद्धाकी । नाम किसी प्रकार भी विधि-अविधिपूर्वक लिया जाय, तो लाभदायक होता है और मन्त्रका अविधिपूर्वक जप करनेसे कहीं-कहीं उससे हानि भी हो जाया करती है । शेष भगवत्कृपा ।

(६)

साधन ही साध्य बनता है

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला । उत्तर देरसे जा रहा है । क्षमा कीजियेगा । साध्यके अनुसार ही साधन होना चाहिये । हम हरद्वार जाना चाहें और आसामकी ओर जायँ तो हरद्वार नहीं पहुँच सकते । जहाँ जाना है, उसीके मार्गपर चलना है, इसीका नाम साधन है । साधन-कालमें जो साधनके रूपमें किया जाता है, सिद्धका वही लक्षण होता है । 'सिद्धस्य लक्षणं यत्स्यात् साधनं साधकस्य तत् ।' अतएव आप सच्चिदानन्दघन सर्वगुणातीत भगवान्को प्राप्त करना चाहते हैं तो भगवान्के अनुकूल मार्गपर चलिये । इन्द्रियोंके वशमें होकर विषयोंमें आसक्त रहना, विषय-भोगोंमें ही जीवनका समय व्यतीत करना, उन्हींका चिन्तन करना और भगवान्की प्राप्ति भी हो जाय, यह सम्भव नहीं है । दैवीसम्पत्ति, यम-नियम आदिका पालन कीजिये, भगवान्के नामका जप कीजिये, भगवान्के चरित्रोंका अध्ययन और उनके आदेशोंका पालन कीजिये और इस साधनको फुर्सतकी चीज नहीं, सबसे बढ़कर सबसे पहले करनेका काम समझिये, तो आप भगवान्की ओर अग्रसर हो सकेंगे, इसमें कोई संदेह नहीं । और ज्यों-ज्यों आगे बढ़ेंगे, त्यों-त्यों आपको वैसे ही शान्ति और सुखका अनुभव होता चला जायगा, जैसे हिमालयकी ओर बढ़नेवालेको ठंढकका अनुभव होता है । शेष भगवत्कृपा ।

भगवान् ही अपने हैं

तुम्हारा वास्तविक सम्बन्ध भगवान्से ही है, जगत्के सारे सम्बन्ध कल्पित और केवल यहाँ भरके लिये ही हैं । यहाँ न तुम्हारा कोई अपना है, न पराया; न बन्धु है न वैरी । यह सब मायाका खेल है । इसमें सत्यताका अनुभव करना ही भ्रम है । सत्य एकमात्र भगवान् हैं, उन्हींसे तुम्हारा सच्चा सम्बन्ध है, वही तुम्हारे अपने हैं । अतएव उन्हींमें मन लगाओ, उन्हींमें बुद्धिका अर्पण करो, सारी इन्द्रियोंको उन्हींकी सेवामें समर्पण कर दो । जगत्से सम्बन्ध रहे तो उन्हींके नाते रहे और जगत्के प्राणियोंकी सेवाके रूपमें उन्हींकी सेवाके लिये रहे ।

दीपावली पर्व

(लेखक—श्रीरामप्रसादजी सनाढ्य, वेदान्ताचार्य, बी० ए०, एल्० टी०)

'दीपावली' शब्द इतना सरल और सार्थक है कि नाम सुनते ही प्रत्येक मनुष्यके मनमें प्रकाशकी पंक्तियों-का एक चित्र खिंच जाता है। भारतवर्षमें यह त्यौहार भी होलीके समान ही प्रसिद्ध त्यौहार है। यह भी एक बड़ा आनन्दवर्द्धक पर्व है। भारतीय त्यौहार पर्व इसलिये कहलाते हैं कि उन्हें तत्त्वदर्शी पुरुषोंने प्राकृतिक परिस्थितियोंके आधारपर निश्चित किया है। त्यौहारके दिन सब लोग आनन्द मनाते हैं। आनन्द बढ़ानेके लिये मनुष्य-जातिने अनेक साधन निकाल रक्खे हैं। कोई भोजन और वस्त्रोंमें आनन्द मानते हैं, कोई नाटक और सिनेमा आदि देखनेमें आनन्द मानते हैं। कोई गाने-बजाने और नाच-कूदमें आनन्द मानते हैं। परंतु प्यारे भाइयो! चिन्तारहित आनन्द मिलना दुर्लभ है। हमारे यहाँके त्यौहारोंका लक्ष्य तो चिन्तारहित आनन्द मनाना है। दैहिक, दैविक, भौतिक—तीनों प्रकारकी चिन्ताएँ जिस समय नहीं होतीं, वही वास्तविक आनन्द है और वही सुकाल कहा जाता है। 'जो मन चंगा तो कठौतीमें गंगा' यह कहावत भारतवर्षमें प्रसिद्ध है। वास्तवमें देखा जाय तो मन ही एक ऐसा माध्यम है, जिसको प्रसन्न रखनेसे शरीर भी हृष्ट-पुष्ट रहता है और आत्मा भी स्वस्थ माल्रम होता है। यद्यपि ईश्वर-अंश होनेसे आत्मा स्वतः ही आनन्दस्वरूप है; फिर भी मनकी प्रसन्नताके समय ही यह बात माल्रम पड़ती है। जब मनमें चिन्ता या शोकका लेश होता है, तब बाहरी संसार भी चिन्ता और शोकमय दिखायी देता है। चिन्तारहित स्थिति मनुष्यके लिये दुर्लभ होती है, हर समय नहीं मिलती। इसलिये कुछ ऐसे पर्व नियत किये गये हैं, जिनमें मनुष्य ऐसी परिस्थितिका अनुभव कर सके!

भारतवर्ष एक कृषिप्रधान देश है। इसलिये किसानों-की सुविधाके विचारसे ही प्रायः सभी त्यौहार निश्चित किये गये हैं। विद्या या ज्ञानप्राप्ति और जीविका या धनप्राप्तिके लिये सभी मनुष्योंको पुरुषार्थ करना पड़ता है। कामनापूर्ति और मोक्षप्राप्ति तो इन्हीं दो साधनोंके आधारपर सम्भव हैं। भारतीय ऋषियोंने विद्या-प्राप्ति और जीविका-प्राप्तिके विचारोंको ध्यानमें रखते हुए सालभरमें कई पर्व निश्चित किये हैं। गुरुपूजा, श्रावणी और प्रबोधिनी एकादशी इत्यादि विद्या-सम्बन्धी पर्व हैं। होली और दीवाली किसानोंके जीविका-सम्बन्धी यज्ञ-प्रधान पर्व हैं। [प्राचीनकालमें कुछ गुरुकुल आषाढ़ी पूर्णिमाको और कुछ श्रावणी पूर्णिमाको खुला करते थे। गुरुकुलोंके खुलनेपर ही 'ज्ञानयज्ञ' का त्यौहार मनाया जाता था, जिसमें वेदानुशासनकी शिक्षा दी जाती थी और यम-नियमोंके पालन करनेके लिये प्रतिज्ञा करायी जाती थी।] आजकल भी विद्यालय प्रायः आषाढ़में खुलते हैं; परंतु गुरुपूजा और ज्ञानयज्ञ-का तो प्रायः लोप ही हो गया है। श्रावणी पूर्णिमाके साथ 'श्रवणकुमार' के आदर्श चरित्रकी भावना बादमें सम्मिलित की गयी है, जिससे विद्यार्थी उपदेश ग्रहण कर सकें। 'दीपावली' कार्तिककी अमावास्याको और 'होली' फाल्गुनकी पूर्णिमाको मनाये जानेवाले जीविका-सम्बन्धी यज्ञ-प्रधान पर्व हैं। ये त्यौहार आजतक बराबर होते चले आ रहे हैं।

कृषिके विचारसे रबी या चैत्रकी फसल सबसे उत्तम

और सबसे पहली फसल मानी जाती है और खरीफ या कार्तिककी फसल वर्षकी अन्तिम फसल गिनी जाती है; क्योंकि प्राचीनकालमें मार्गशीर्ष या अगहनसे नया वर्ष प्रारम्भ होता था। गीतामें भी इसी विचारसे 'मासानां मार्गशीर्षोऽहम्' कहकर इस महीनेकी मान्यता स्वीकार की गयी है। एक तो संवत्सरका प्रथम मास होनेसे, दूसरे ऋतुकी उत्तमतासे यह महीना सबसे श्रेष्ठ माना गया है। आजकल चैत्रकी अमावास्याके बाद विक्रमी संवत्सर प्रारम्भ होता है। कार्तिकतक किसानोंके घर भिन्न-भिन्न प्रकारके सब अन्न इकट्ठे हो जाते हैं। तब अमावास्याको प्राचीनकालसे चला आया 'दर्श' या आदर्श यज्ञ किया जाता है। भारतीय त्यौहारोंकी यही विशेषता है कि उनमें यज्ञ, दान और तपका पुट लगा रहता है। ऐसा करनेसे सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है और मनुष्योंका मन पवित्र और प्रसन्न रहता है। आधे या पूरे दिन व्रत रक्खा जाता है। यह तपका चिह्न है। यज्ञके समाप्त होनेपर भुने हुए धानकी खील और बताशे मिलाकर प्रसाद बाँटा जाता है। यह दानका चिह्न है। व्रत करनेसे शरीर और दान करनेसे मन पवित्र होता है। अमावास्याके बाद प्रतिपदाको अन्नाग्रयण यज्ञ होता था। आजकल इसे अन्नकूट कहते हैं, जिसमें अनेक प्रकारके अन्नोंसे अनेक प्रकारके भोज और व्यञ्जन तैयार किये जाते हैं। प्राचीनकालमें गरीब लोगों, विद्यार्थियों और साधु-संतोंको अन्नदान किया जाता था। आजकल लीक तो पीटी जा रही है, परंतु दान तो नाममात्र रह गया है।

अमावास्याकी रात्रिमें दीपदान या रोशनी करनेकी प्रथा चली आ रही है। कुछ विद्वान् कहते हैं कि कार्तिककी अमावास्याके दिन श्रीरामचन्द्रजी महाराज वनवासके बाद लंका जीतकर अयोध्यामें लौटे थे। उस दिन रातके समय महादीपावली मनायी गयी थी। वही प्रथा अबतक चली आ रही है। परंतु यह नहीं कहा जा सकता कि दीपदानकी प्रथा पहले नहीं थी; क्योंकि प्राचीनतम वैदिक साहित्यसे पता चलता है कि अग्नि और दीपक जलानेकी प्रथा अनिश्चित अनादिकालसे चली आ रही है। विचारदृष्टिसे भी मालूम होता है कि अग्नि प्रकट करनेकी रीति सबसे पहले चली होगी। उसी कालके मध्य या कुछ पश्चात् अग्निकी जलती हुई 'लौ' को स्थायी रखनेके लिये दीपकका आविष्कार हुआ होगा। कुछ विद्वानोंका मत है कि ऋषियोंने अँधेरी रात्रिमें 'पटवीजना' के समूहको खेतोंमें जगमगाते हुए देखकर रात्रिमें विशेष प्रकाश करनेके लिये दीपकोंकी पंक्तियाँ लगायी थीं। उसीके अनुसार बस्तीके लोगोंने दीपावली लगानेकी प्रथा चलायी है। कुछ भी हो, दीपकको या दीपककी पङ्क्तियोंको देखनेपर बच्चोंसे लेकर बड़ोंतक सबका मन प्रसन्न होता है। इसलिये हम कह सकते हैं कि आनन्द बढ़ानेके साधनोंमें यह प्रथा भी सम्मिलित की गयी है। रामविजयके उत्सवने कार्तिककी अमावास्याकी रातमें दीपावलीकी प्रथाको सोनेमें सुहागेके समान महत्त्व प्रदान किया होगा। इसी आधारपर दशहराके दिन रामविजयकी और कार्तिककी अमावास्याको अयोध्या लौटनेकी खुशी आजतक मनायी जाती है, इसमें कोई संदेह ही नहीं है। प्रकाश एक ऐसा तत्त्व है, जिसको देखकर कीट-पतंग तो अपना जीवनतक न्यौछावर कर देते हैं। वे ऐसे आनन्दविभोर हो जाते हैं कि उन्हें अपने शरीरकी सुधि-बुधि कुछ नहीं रहती, फिर मनुष्योंके आनन्दका तो कहना ही क्या है।

दीपावलीके त्यौहारकी मान्यता सब त्यौहारोंसे अधिक हो गयी है । इसके कई कारण हैं—

(१) यह त्यौहार वर्षाकालके अन्तमें पड़ता है और वर्षका अन्तिम त्यौहार माना जाता है । इसलिये घरों और बस्तियोंकी पूरी-पूरी सफाई और पुताई इत्यादि की जाती है । इस कामकी आवश्यकता तो हर त्यौहारपर होती है । परंतु वर्षाकालके पश्चात् तो सफाई और पुताई करना अनिवार्य हो जाता है । वर्षाका पानी बहनेसे घरोंकी दीवारें मैली हो जाती हैं और विषैली कीचड़ गलियोंमें जमा हो जाती है । वर्षाकालमें बादलोंके घिरे रहनेके कारण सूर्यकी तीव्र किरणें न मिलनेसे अनेक प्रकारके रोग फैलानेवाले जीवाणु पैदा हो जाते हैं । इसलिये दूषित पदार्थोंका दूर करना अति आवश्यक होता है । कलईद्वारा या कलईमें तूतिया इत्यादि मिलाकर पुताई करनेसे रोग फैलानेवाले जीवाणु नष्ट हो जाते हैं । मक्खी और मच्छरतक भाग जाते हैं ।

(२) अन्न ही किसानोंकी सम्पत्ति है । सालभरकी फसलोंका अन्न जमा हो जानेपर यज्ञ और दान इत्यादि करना भी अच्छा माल्रम होता है और चिन्तारहित आनन्द भी तभी मनाया जा सकता है, जब घरमें सब साधन सुलभ हों ।

(३) विद्याप्राप्तिके लिये श्रीगणेशजीकी पूजा की जाती है और यह पूजा तो प्राय: सभी कामोंके आरम्भमें की जाती है; परंतु इस त्यौहारपर तो विशेषरूपसे पूजा की जाती है ।

(४) जीविका या धनप्राप्तिके लिये श्रीलक्ष्मीजीकी पूजा की जाती है । पूजाके बाद घरकी आमदनी बढ़ानेके लिये लक्ष्मीजीसे प्रार्थना की जाती है और उनके सामने अगले वर्षमें आमदनी बढ़ानेके लिये किसी साधनको अपनानेके लिये संकल्प किया जाता है और उसे पालन करनेकी प्रतिज्ञा की जाती है ।

(५) वर्षके अन्तमें अपने-अपने घरकी आय-व्ययका हिसाब-किताब पूरा किया जाता था और तीन दिनके लिये राजकीय बैंक भी बंद रहते थे । यह प्रथा अबतक चली आ रही है । साहूकार लोग अपनी आय-व्ययका हिसाब पूरा करते हैं और तीन दिनतक लेन-देन बंद रखते हैं । कहा जाता है कि इस त्यौहारपर कोई किसीका कर्जदार नहीं रहता । अति लाचारीकी दशा दूसरी है ।

(६) जैसे होलीके त्यौहारको आसुरी प्रकृतिने बिगाड़ा है, इसी प्रकार दीपावलीके त्यौहारको भी आसुरी प्रकृतिने अछूता नहीं छोड़ा है । लक्ष्मीकी हविश रखनेवाले लोगोंने 'जुआ' खेलना प्रारम्भ किया और उसे भी त्यौहारका एक अङ्ग मानने लगे । धीरे-धीरे यह प्रथा ऐसी फैली कि यह त्यौहार जूआ-प्रधान ही बन गया । लक्ष्मीके लिये पता नहीं कितने लोगोंके प्राण गये; परंतु वह किसीको नहीं मिली । मिली भी तो तुरंत ही मालिक बननेवालेके हाथोंसे निकल गयी । अन्तमें वह हाथ मलता रह गया । लक्ष्मी तो वस्तुत: किसी संतोषी और त्यागी पुरुषके पास ही रह सकती है । इसीलिये बतलाया गया है कि लक्ष्मीने विष्णुभगवान्को ही अपना स्वामी माना है । यह बात यथार्थ ही है । संतोष और त्याग इत्यादि उत्तम गुण ही लक्ष्मीके पात्र होते हैं । शास्त्रमें बतलाया गया है कि लक्ष्मी पुण्यसे तथा पुरुषार्थसे प्राप्त होती है । इसलिये पुण्य एवं पवित्र कर्म कीजिये, परिश्रम करके जीविका प्राप्त कीजिये, चिन्तारहित आनन्द तभी प्राप्त हो सकता है । इसलिये हमारी यही प्रार्थना है कि भगवान् सबको सुबुद्धि दें, जिससे यह त्यौहार आनन्दमय बना रहे ।

त्याग

[कहानी]

(लेखक—श्रीकृष्णगोपालजी माथुर)

(१)

रामधुनसे आस-पासके वातावरणको ध्वनित करते हुए बाबू दीनानाथने रिमझिम वर्षामें आफिस जाते समय एक करुण क्रन्दन सुना । विलम्बसे पहुँचनेपर वेतन कटने तथा अधिकारीकी फटकार सुननेका भय उनके सामने आया; किंतु परोपकारका काम सर्वप्रथम करना है, यह निश्चय करके दीनानाथने कराहते हुए एक वृद्धको, जो सड़कके पास एक खड्डमें कीचड़से सना पड़ा था, तुरंत ही जाकर सम्हाला । देखा, उसके शरीरमें कई जगह चोटें लगी हैं और उनसे रक्त प्रवाहित हो रहा है, जिससे असह्य वेदना हो रही है । बातचीतके दौरानमें मालूम कर लिया कि यह तो महामहोपदेशक पण्डित सूर्यकान्त द्विवेदीके पिता हैं । फिर पूज्यभावसे पूछा—'पिताजी ! आप यहाँ ?'

'दिनोंका फेर है भैया ! एक ट्रककी टक्करसे गिर पड़ा हूँ । ट्रकवाला ठहरा भी नहीं, सपाटेसे अपने ट्रकको दौड़ा ले गया ।'

'राम-राम, किंतु मैं जानना चाहता हूँ कि घरवालोंने आपको कैसे निकलने दिया । आपके परम विद्वान् पुत्र सूर्यकान्तजी एक प्रतिष्ठित संस्थाकी ओरसे महोपदेशक हैं । कल बजरंग बाजारमें उनका हजारों श्रोताओंके बीच 'माता-पिताकी सेवा करना परम धर्म है' इस विषयपर बड़ा ही ओजस्वी भाषण हुआ था ।'

वृद्ध जैसे चैतन्य हो उठे । बोले—"भैया, 'पर उपदेस कुसल बहुतेरे' वाली बात है । घरमें जो-जो कष्ट हमें हैं, उन्हें हमारा हृदय ही जानता है । खास तौरपर आपके उन्हीं महोपदेशकजीके कठोर वचन मेरी सहनशक्तिके बाहर हो जाते हैं । अगत्या मैंने घर छोड़ देना ही मुनासिब समझा ।"

दीनानाथने सर्वप्रथम अपने रूमालसे वृद्धके घावोंसे बहते रक्तको पोंछा । जब रूमाल रक्तसे तर हो गया, तब अपनी कमीजके एक भागको फाड़कर उससे सभी रक्त पोंछकर साफ़ किया और पास ही पलासके पत्तोंके दोनेमें बहते झरनेका पानी लाकर चोटोंको धोया और विचार करने लगे कि 'इन्हें घरपर कैसे ले जाऊँ। यहाँ निर्जन मार्गपर कोई सवारी भी नहीं मिलती। कंधेपर इतनी दूर मुझसे ले जाना बनेगा नहीं ।'

इतनेमें ही पुलिसकी एक जीप सरसराहट करती हुई वहाँ आकर रुकी; मानो भगवान्ने ही ऐसे जनशून्य स्थानमें उसे दयापूर्वक भेजा हो । एक मोटे-ताजे महाशय खुशी-खुशी जीपसे उतरे । उनके मनमें हो रहा था—'सम्भव है, ये दोनों डाकू ही हों, तब तो काम बन जाय ।' किंतु ज्यों ही उन्होंने दीनानाथकी ओर देखा, उनके आश्चर्यकी सीमा नहीं रही । बोले—'ओहो, जँवाईजी साहब ! आप यहाँ कैसे, यह क्या मामला है ?'

पुलिस इन्स्पेक्टर लादूराम दयालु प्रकृतिके प्रेमी भक्त थे । सारी परिस्थिति उन्होंने जान ली । दीनानाथ और रामचरणको वे अपनी जीपमें बैठाकर सूर्यकान्तके घर ले गये ।

पण्डित सूर्यकान्त बड़े दुखी हो रहे थे । उन्होंने

पिताजीकी चारों ओर आस-पास, गाँवमें यहाँतक कि आदमियोंको दूर-दूर भेजकर खोज करायी, किंतु कोई पता न लगनेसे उन्होंने दो दिनतक भोजन नहीं किया। घरके अन्य लोगोंने भी केवल चाय पीकर दो दिन बिताये।

अब पिताजीको पाकर उनके हर्षकी सीमा नहीं रही। अपने हाथोंसे पिताजीके घावोंपर मरहम-पट्टी की और अपने पूर्वमें कहे हुए कटुवचनोंके लिये क्षमा माँगते हुए वे पिताके चरणोंमें गिर पड़े। आँखोंसे अविरल अश्रुधारा बह रही थी। सभी घरवाले प्रेमाश्रु बहा रहे थे। एक कारुणीक दृश्य उपस्थित हो गया था। दीनानाथके अश्रु भी रोके नहीं रुक रहे थे।

(२)

उधर विलम्बसे आफिसमें पहुँचनेके कारण दीनानाथको उनके उग्र अधिकारीने नौकरीसे अलग कर दिया। प्राइवेट कम्पनीके अधिकारी थे, जो चाहें सो होता था। दीनानाथकी कातर वाणी और विनीत अनुनय-विनयपर उन्होंने जरा भी ध्यान नहीं दिया।

नौकरी छूट जानेसे हृदयपर एक गहरी चोट लगी दीनानाथके; किंतु उस समय उन्हें परम हर्ष इस बातका मनमें हो रहा था कि 'आज मेरे हाथोंसे कुछ तो मानव-सेवा हो सकी।'

'आपके सिरपर जो हमेशा परोपकार सवार रहता है। अब बालकोंको क्या खिला-पिलाकर जीवित रक्खूँगी। दूधवाला, गेहूँवाला, मसालेवाला, लकड़ीवाला रोज तकाजे-पर-तकाजे करते हैं। उनसे कहाँतक झूठे वायदे करती हूँ।' पत्नीने बड़े ही रुष्टभावसे कहा।

दीनानाथ बड़े मधुर शब्दोंमें बोले—'प्रिये! चिन्ता मत करो। भगवान् दूसरी जगह स्थान दिलायेंगे। रिजक-रोटीके देनेवाले वे ही हैं। उनके हजार हाथ हैं। वे छप्पर फाड़कर देते हैं। कोई उनके राज्यमें भूखा नहीं रहता। चींटीको कण, हाथीको मन भोजन देनेवाले वे ही सर्वान्तर्यामी सर्वशक्तिमान् हैं। उन्हींपर भरोसा रक्खो।'

दीनानाथने कई दफ्तरोंमें आवेदन-पत्र दिये, स्वयं भी गये; किंतु द्वारपर लिखा मिला—'स्थान खाली नहीं' वहाँके अधिकारियोंसे भी यही उत्तर मिलता था। रोजगार बहुत प्रयत्न करनेपर भी नहीं मिल पाया। अबतक घरकी वस्तुओंको बेचकर गुजर चलाया, किंतु अब वे भी सब बिक गयीं। भूखे रहनेकी नौबत आ गयी। बालकोंका रुदन देखा नहीं जाता था।

अचानक डाकियेने एक लिफाफा लाकर दिया। अन्यमनस्क मनसे दीनानाथ उसे खोलकर पढ़ने लगे। एक बड़ी बैंकमें खजांचीकी जगहपर उन्हें नियुक्त करनेकी स्वीकृति उसमें थी; किंतु साथ ही यह भी लिखा था कि ५००) रुपयोंकी नकद जमानत देनी होगी।

हर्ष और शोकके साथ पत्रको हाथमें लेकर दीनानाथ वहीं बैठ गये। यहाँ तो पाँच पैसेका भी प्रबन्ध नहीं है।

पत्नी रुक्मिणी आयी बोली—'आज आपको क्या हो गया है, भजन-पूजन अभीतक नहीं किया?'

'प्रिये! यह लो पत्र। नौकरी तो मिल गयी पर नकद जमा कराना क्या सरल समझती हो?'

'हाँ, सरल हो जायगा। जिस हजार हाथवाले दाताने यह सुयोग बैठाया है, वही आगेकी दुर्गम घाटी भी पार करायेगा। आपने ही तो कहा था कि उसीपर भरोसा रखना चाहिये।'

'आज दोनों कैसे उदास बैठे हो ?' सेठ कजोड़ीमलने आते ही प्रश्न किया ।

'क्या करें ! नौकरी तो मिल गयी पर उसमें एक ऐसी बाधा उपस्थित है कि जिसे हम कभी पूरी नहीं कर सकते । यही उदासी है ।'

सेठ कजोड़ीमलने जब जाना कि इनकी जमानतके ५००) रुपये नक़द जमा कराये बिना इन्हें नौकरीपर नहीं लिया जा सकेगा, तो ये दृढ़तापूर्वक तत्काल बोल उठे—'इसमें उदासीकी क्या बात है ! यह लो मुझसे पाँच सौ रुपये और इन्हें जमा कराकर अपने स्थानका काम करना शुरू करो ।'

दीनानाथने कुछ दबे हुए शब्दोंमें कहा—"सेठजी साहब ! मेरे ऊपर पहले ही आपका बहुत-सा ऋण है—मेरा किया हुआ और पिताजीके समयका । उसे मैं चुका नहीं पा रहा हूँ । फिर यह नया भार मैं कैसे सहन कर सकूँगा । मेरे पास शब्द नहीं हैं कि जिनके द्वारा आपकी इस अयाचित उदारताकी प्रशंसा कर सकूँ । किसी शायरने कहा है कि 'आदमी जुल्मका मारा तो पनप जाता है, महरबानीसे मिटाते हो यह क्या करते हो ।' मैं आपकी कृपाके भारसे दबा जा रहा हूँ ।"

"मुझे अन्तःप्रेरणा हो रही है । इसीसे रुपये देनेको उतावला हो रहा हूँ । कहा है कि 'नीयत जैसी बरक्कत, रूह जैसे फरिश्ते ।' मैं आपकी ईमानदारी, सचाई, कष्टसहिष्णुता और भूखे रहकर भी ऋण चुकानेकी लगनको वर्षोंसे भलीभाँति जानता हूँ । अतः यह रुपया आपको देकर मैं सुखका अनुभव करूँगा । अतः आप इनको अवश्य स्वीकार करें । आपके यह गरीबीके दिन रहने नहीं हैं । मेरे कर्ज चुकानेकी चिन्ता थोड़ी भी न करें । व्यापारमें प्राप्त धनको यदि हम ऐसे सत्कार्यमें न लगावें, तो वह पड़ा-पड़ा लोहा बन जाता है, यह निश्चय जानिये ।"

'नहीं, मेरी आत्मा यह रुपया लेनेको आज्ञा नहीं दे रही है । कर्ज-पर-कर्ज, भोजन-पर-भोजन भला कैसे पच सकता है ?'

'दीनानाथजी ! मैं शपथपूर्वक कहता हूँ कि यह रुपया आपसे कभी नहीं माँगूँगा । आपको विश्वास न हो तो पहलेसे ही यह लिखकर लिखे देता हूँ ।'

यह कहकर सेठ कजोड़ीमल कागज-कलम लेकर दीनानाथपर सभी ऋणकी रसीद लिखने लगे । किंतु दीनानाथने हाथ पकड़ लिया ।

'तो फिर आपको यह रुपया लेना होगा ।' कजोड़ीमल गम्भीर भावसे बोले ।

दीनानाथके मुखमण्डलपर लज्जाकी एक सिकुड़न थी । वे अपने दोनों हाथोंको धीरे-धीरे पीछेकी ओर सिकोड़ रहे थे । किंतु कजोड़ीमल उनकी तरफ रुपये बढ़ानेमें संलग्न थे । कुछ क्षण इसी प्रकार आग्रह-निषेधमें बीत गये । अन्तमें सेठ कजोड़ीमलने दीनानाथकी हथेलियोंको बरबस अपनी ओर खींचकर उनपर ५००) रु० के नोट रख ही दिये ।

उस समय आकाशमें सूर्य भगवान् मानो इस अद्भुत दृश्यको देखनेके लिये घने बादलोंसे बाहर निकल आये थे !*

---

* इसमें आये हुए नाम सभी कल्पित हैं—लेखक

जीभपर अमृतका झरना

(लेखक—श्रीरामनाथजी 'सुमन')

बचपनमें बूढ़ी नानीसे एक कहानी सुनी थी। कहानी-का तत्त्व यह था कि साँपका डँसा हुआ भी जी जाता है किंतु जीभका डँसा बुरी तरह तड़प-तड़पकर, रिस-रिसकर, बिन्दु-बिन्दु मरता है। तब समझ नहीं पाया; अचेत था। किंतु ज्यों-ज्यों उम्र होती गयी, दुनियामें घूमने-फिरनेके अवसर मिले। आँखें खोलकर देखना पड़ा, तब समझमें आया कि जीभ भी डँसती है और डँसती ही नहीं, ऐसा डँसती है कि उससे आहतक नहीं निकलती और शरीर-मन सब जलकर क्षार हो जाता है।

कहते हैं, प्रकृतिने जीभपर अमृतका लेप किया था। पशुओंको चोट लग जाती है, घाव हो जाता है तो वे उसे जीभसे चाट-चाटकर अच्छा कर लेते हैं। किंतु मनुष्य तो पशुका स्वामी ठहरा, वह भला पशुसे क्यों सीखने लगा? शायद इसीलिये हमारी जीभका अमृत-लेप सूखता जा रहा है। जीभपर अमृतका एक झरना था, अब सूख गया है। स्वभावतः तीखे काँटोंसे क्षेत्र भर गया है और झरनेके आस-पास जो कलियाँ खिलती थीं और फिर चटखकर फूल बन जाती थीं, वे फूल मुँहसे झरते थे और गृहको सुगन्धसे भर देते थे, वह सब तेजीसे स्वप्न होता जा रहा है।

पहले छुटपनसे बच्चोंको बोलना सिखाया जाता था—किससे कैसे बोलना चाहिये, कब बोलना चाहिये। गुरुजनों-के प्रति विनीत होकर श्रद्धापूर्वक बोलना, अपनेसे छोटोंके प्रति गहरे स्नेह एवं करुणाके साथ बोलना और बराबरवालों-से मैत्रीभावसे बोलना। एक क्रूर विद्रोहकी वाणी उन सबको निगल गयी है। हमारा तरुण वर्ग समझता है कि जैसे यह उसकी बहुत बड़ी सफलता है, बड़ी उपलब्धि है; क्योंकि उसकी दृष्टिसे जो कुछ जीर्ण है वह तो मिटनेके लिये है ही और जब उसे एक दिन मिटना ही है तो लात मार-कर उसे तोड़ देना, मिटा देना ज्यादा अच्छा है। बाढ़ जब आती है तो कूल—कछारोंकी परवा नहीं करती। जो है उसे तोड़ती, डुबाती चलती है।

कौन कहे इनसे कि शतियोंके प्रयत्नके बाद यदि मानवने केवल मिटाना ही सीखा है और यह भी न जाना कि कालके सत्यमें न प्राचीन कुछ है, न नवीन कुछ है, तो समझिये कि कुछ न जाना, कुछ न सीखा। यह पुराना और नया मानवकृत कृत्रिम भेद है। सत्यकी स्पृहा जहाँ है, शिवकी जिज्ञासा जहाँ है, मङ्गलकी साधना जहाँ है—वहाँ पुराना-नया-जैसा कुछ नहीं है! इन्द्रियजन्य ज्ञान और प्रेरणा तथा अनुभवसे मनुष्य सीखता है। नया केवल पुरानेका संस्कार-मात्र है; शरीरमात्र नया होता है, प्राणशक्ति, अन्तःप्रेरणा पुरानी ही होती है—यही है मानवकी निरन्तरता। इन्द्रियाँ नयी, आत्मा पुरानी—इसीलिये कभी पुरानी नहीं। परिवेश नया, प्रेरणा पुरानी; शैली नयी, विचार पुराने; अभिव्यक्ति नयी, प्रवृत्ति पुरानी। इसीसे कालको लाँघती हुई संस्कृति-की निरन्तरता, संस्कृतिकी धारा अक्षुण्ण रहती है— मङ्गल-के लिये मानवकी साधनाकी निरन्तरता; यही शिवकी मानसी पूजा है।

हाँ, तो मैं कहना यह चाहता हूँ कि आजके जीवनमें जो संघर्ष है, अपनेको भी बार-बार काट देना है, आत्म-अस्वीकृति है, वह कुछ तो परिस्थिति-वश है और कुछ अपनी बनायी हुई;—आदमीके अपने ऊपर नियन्त्रण न रह जानेके कारण है। अपनी विवशताकी अनुभूतिके कारण है। आश्चर्य तो यह है कि जब आधुनिक मानवताके चरणों-में विज्ञानने शक्तिके अगणित उपहार रख दिये हैं तब मानव मानसिक धरातलपर दीन एवं पंगु बन गया है। उसकी खीझ यही अपनेको अंगीकार न कर सकनेके कारण है।

जो कठिनाइयाँ हमारे मनकी हैं, हमारी पैदा की हुई हैं, स्वभावगत हैं, उन्हें दूर करना ही मानवका पुरुषार्थ है। हम दूर न जाकर जब अपने ही चतुर्दिक् अपने परिवारोंमें देखते हैं तो ऐसा लगता है कि आज वाणीके असंयमके कारण जीवनका सौख्य लुप्त होता जा रहा है। पुरुषने अपनेको परिस्थितिकी धारामें डाल दिया है; जीवन-संघर्ष प्रबल हो जानेके कारण और अपने मनका व्यवहार जीविका-क्षेत्रमें न पानेके कारण वह खीझसे भरा, दमित अहंसे अस्थिर, अतृप्तिसे पीड़ित है। उसके मनकी इस अतृप्तिका आंशिक समाधान गृह है, जहाँ एक अनुगता एवं सहधर्मा नारी, एक प्रेममयी माँ, एक स्नेहार्द्र सहोदराकी कल्पनाने उसके लिये एक शान्ति-लोक, एक स्वर्ग, एक विश्राम-कक्ष-की रचना की है। क्या होगा यदि यह स्वर्ग नरकके रूपमें बदल जाय? क्या होगा यदि शान्ति-लोकसे विषभरी ज्वालाएँ उठने लगें? क्या होगी मनोदशा यदि प्यारके रससे भरी धरती उसके चरणोंके नीचेसे हट जाय और दुनियामें उसे क्षणभर ठहरकर दम मारनेकी जगह भी न रहे?

अगणित गृह जीभके विष-दंशसे मिट्टीके ढेर मात्र रह

गये हैं; अगणित हृदय—उमंगोंसे भरे हृदय, सम्भावनाओंसे पूर्ण हृदय, शुभ कामनाओंसे प्रेरित हृदय, सूखकर काष्ठ-जैसे कठोर हो गये हैं। जीभके विषमें बुझे एक बाणने मानवको देवतासे क्रूरकर्मा राक्षस बना दिया है; देखते-देखते हरी-भरी, यौवन एवं जीवनके रससे प्लावित गृहस्थियाँ चिताकी भाँति धू-धू करके जल गयी हैं और आदमी बस देखता रह गया है—सम्मोहित निष्प्राण !

संसारके रथकी वल्गा नारीके हाथ है। वही है उसे चलानेवाली। वही है गृहस्थ-जीवनकी अधिष्ठात्री देवी; वही है सतत दानमयी अन्नपूर्णा। दानकी वृत्ति उसमें सहज है—पालनकी वृत्ति उसमें सहज है। प्यारके लिये, सेवाके लिये दान—सर्वस्व दान भी उसके लिये सहज है और इसी दानसे, यही अपनेको देकर वह बर्बर असंस्कृत अहंमें डूबे बाधा-बन्ध-विहीन पुरुषको पालतू, ग्रहणशील, संयत, नियन्त्रित बना पाती है। मधुर भाव ही नारीका सर्वस्व है। अमृतका दान ही उसकी प्रवृत्ति है और प्रणत होकर शिरोभूषण बन जाना ही उसकी कला है। पुरुषके पराक्रमसे जब नारीकी करुणा, नारीकी ममता, नारीकी सतत स्नेह करनेकी शक्तिका विनियोग होता है, तब गृह स्वर्ग बन जाता है।

जो नारी बोलनेमें शर्बत घोलती है और हँसनेमें जिसके मुँहसे फूल झड़ते हैं, वह लक्ष्मी-स्वरूपा है, नारायणी है, कल्याणी है। उसको पाकर गृह धन्य हो उठता है। पुरुषके मन एवं वाणीके काँटे उसकी अमृत-धारामें बह जाते हैं, कर्दम एवं मल सब धुल जाता है; उसके चतुर्दिक्‌का वातावरण हलका, उमंगोंसे भरा, स्फूर्तिदायी हो उठता है।

मैं जानता हूँ कि किस प्रकार लक्ष्मीनारायणकी स्वर्ग-सी गृहस्थी वाणीके विषसे देखते-देखते राख हो गयी। किन साधोंसे वह घरमें पुत्रवधू लाये थे। बहूमें गुण कम न थे। पाककलामें पारङ्गत, सीने-पिरोने, कसीदे इत्यादिकी कलामें कुशल, गा भी लेती थी। किंतु बड़ी तुनुक-मिजाज, रह-रहकर भभक उठनेवाली, बात-बातमें ससुरालपर व्यंग और अपने मायकेकी बड़ाई। कभी सासने सामान्य भावसे कह दिया कि बहू ऐसा कर लेना, यह बना लेना। बस, वह बोल उठती— 'करूँगी क्यों नहीं अम्माजी, लौंडी बनकर तो आयी ही हूँ। बापने बेच दिया है, बस, आज्ञाका पालन करना तो मेरे भागमें है ही।' और दिनभरकी खीझ वह सीधे-सादे यूनिवर्सिटीके अध्यापक पतिपर, जो प्रतिष्ठित सामाजिक कार्यकर्ता भी थे, उतारती—'व्याख्यान तो आप बहुत देते हैं कि औरतोंके साथ यह होना चाहिये, वह होना चाहिये, पर जब वक्त आता है, भीगी बिल्ली बन जाते हैं। मैं क्या जानती थी कि हाथीके दाँत खानेके और दिखानेके और होते हैं। आप मुझे घरकी दासी बनानेके लिये ही लाये थे ?' ऐसी बातें सुनते और पति महोदय सहम कर रह जाते। इस तरहकी बातें जब-तब होती रहीं। नतीजा यह हुआ कि सबके दिल एक-दूसरेसे फट गये। सदिच्छाओंके होते हुए, स्नेहके होते हुए, सुविधाओंके होते हुए भी लोगोंने दुर्भाग्यके आगे कंधे डाल दिये।

मैं पूछना चाहता हूँ कि क्या मिला इस नारीको ? क्या दिया उसने पतिको ? जिस घरमें वह आयी थी और जिसकी मालकिन बन सकती थी, जिसकी रानी हो सकती थी, अपनी मुस्कानमें जिसमें चाँदनी भर सकती थी, अपने हृदयके रससे सींचकर जिस घरको अटूट, अभेद्य बना सकती थी; जिसे लेकर स्वयं निर्मित हो सकती एवं दूसरोंका निर्माण कर सकती थी; उसे अपनी विषैली जिह्वाके डंक मार-मारकर उसने समाप्त कर दिया—खुद मर गयी और दूसरोंको मार दिया। मैं उसे मरना ही कहूँगा, ऐसा जीवन जिसमें उमंगें नहीं, निराशाओंके गर्तमें सदाके लिये डूबी घिसटती जिंदगी; जिंदगी जिसमें पग-पगपर काँटे हैं, लू है, तपन है, खीझ है, पतझड़ है परंतु जहाँ वसंतका कोकिल एक बार भी नहीं बोलता, जहाँ फूल कभी नहीं खिलते, जहाँ दक्षिण पवन कभी नहीं बहता—मौतसे भी भयानक, अंदरसे सुल्गती हुई जिंदगी। जरा-सी अकड़, जरा-सी असावधानी, तीखे दो बोल, जिह्वाके डंकने कितना महँगा सौदा कर लिया। उसके पति अन्तमें यक्ष्माके शिकार हुए। किंतु वह जीते रहते तो भी स्थितिमें कोई अन्तर न पड़ता। सर्वनाशिनी जिह्वा सब कुछ चाटकर ही शान्त होती !

यदि लक्ष्मीनारायणका मामला व्यक्तिगत होता तो शायद मैं उसकी चर्चा भी न करता, परंतु उनके घर जो दुर्घटना घटी, आज एक सामान्य बात हो गयी है। यह जहर घर-घर फैलता जा रहा है।

किंतु ऐसा भी नहीं है कि दुर्भाग्यकी इस अँधियारीमें सौभाग्यकी चाँदनी कहीं है ही नहीं। आज भी सैकड़ों घरोंमें नारीके गृहलक्ष्मी और कल्याणी रूपके दर्शन होते हैं; लक्ष्मी, सीता एवं अन्नपूर्णाएँ आज भी अस्तित्वहीन नहीं हो पायी

है। मरुभूमिमें सैकड़ों घर हरित शाद्वलकी भाँति, स्वर्गोपम बने हुए हैं।

बड़ा गरीब था सक्सेना! बाप बचपनमें मर गये थे, घरमें दो छोटे भाई, दो बहिनें और माँ। कोई चारा नहीं, सहारा नहीं। परंतु दृढ़ निश्चयके पगोंकी गति कौन रोक सकता है? पुस्तकालयसे किताबें ले-लेकर उसने पढ़ाई की; ट्यूशन करके इधर-उधर काम करके बहिन-भाइयोंको भी पढ़ाता रहा वह। कालान्तरमें सब कष्ट दूर हो गये। बहिनें अच्छे घर गयीं; भाई भी कामसे लग गये हैं। उसने डरते-डरते अपनी शादी की किंतु बहू क्या आयी कि घरके भाग्य खुल गये—अँधेरेमें जैसे बिजलीकी कौंध हो। उसके पिता भी उसे बहुत छोटी छोड़कर मर गये थे। मामाके यहाँ पली। पढ़ा-लिखा, फिर अध्यापन-कार्यसे कई हजार रुपये एकत्र किये। इन्हीं रुपयोंसे मामाने उसका विवाह कर दिया। बोलती तो ऐसा लगता कि मुँहसे शब्द नहीं, रसगुल्ले टपक रहे हैं। सासके चरणोंमें ऐसी चिपटी मानो उसे अपनी खोयी माँ मिल गयी। दिन-रात घरके काममें लगी रहती। इतना परिश्रम करती कि लोग देखकर दाँतों-तले उँगली दबाते। एक दिन सक्सेनाने कहा—'मुझे बड़ा दुःख होता है कामिनी, कि जबसे मेरे घर आयी हो, तुम्हें चैन नहीं, जरा भी विश्राम नहीं।' कामिनी बोली—'आप कहते क्या हैं! मैं तो कुछ जानती-वानती भी नहीं। परंतु यह मेरा घर है। मैं इसे ठीक न रखूँगी, मैं न करूँगी तो कौन करेगा? आपको और अम्माको जरा भी सुखी कर पाती हूँ तो आनन्दसे मन भर जाता है। यही है मेरी शक्ति। मैं कभी नहीं थकती।' सदा रससे भरी-भरी, उमगी-उमगी। कभी यह किया, कभी वह किया। घरमें, घरके प्रत्येक व्यक्तिमें समा गयी है। जहाँ देखो, वही है। घर उसके हृदय-रससे छलकता रहता है, कामिनी थोड़ी देरके लिये भी कहीं चली जाती है तो हर एक उसके अभावका अनुभव करता है। हर आदमी उससे खुश है; क्योंकि वह हर एकसे खुश है। हर आदमी अनुभव करता है कि उसके घर गृहदेवी आ गयी है। रससे छकी, प्रेममें पगी, उमंगोंमें रँगी कामिनीको पाकर घर धन्य हो गया है।

यह घर लक्ष्मीनारायणजीके घरकी अपेक्षा गरीब, सामान्य-सा घर था—परिस्थितिका मारा। सुविधा-सुखकी सामग्रीके नामपर यहाँ कुछ न था, परंतु जहाँ पहले घरमें सब कुछ होकर भी प्राण ही न था, तहाँ इस घरका कंकाल गहरी प्राणवत्तासे पनप उठा था। हर बात मार्दवमें सनी, हर चीज रसमें डूबी, मानो गृहदेवीकी मुस्कराहटमें द्वार एवं दीवारें गद्गद हो उठी हों; मानो उसकी मधुर वाणीमें दैन्य, दुःख, अभाव, अतृप्तिके कुश-कण्टक गल गये हों।

आपने कभी मुस्कानका सम्मोहन देखा है? आपने कभी प्यारकी वाणी सुनी है? यदि देखी और सुनी हो तभी आप उसका रस ग्रहण कर सकते हैं। मृतक जी उठता है; जीर्ण रोगी स्वस्थ हो जाता है। दूसरेके लाभके अतिरिक्त मृदुला जिह्वाकी स्वामिनी स्वयं सबसे अधिक लाभमें रहती है। पहले तो वही जीती है, तब दूसरेको जिलाती है। पहले वही आशासे तरंगित होती है, प्रेमसे भर उठती है, रससे उमड़ती है। उसमें शक्तिकी धारा फूटती है। स्प्रिंगपर जैसे बड़ा भार भी तुल जाता है, वैसे ही मृदुल हृदयके रससे धुलकर काँटे भी फूल हो जाते हैं? प्रेमकी सबसे बड़ी सार्थकता भी तो यही है कि वह कभी घटता नहीं, कभी थकता नहीं, कभी रिक्त नहीं होता; और न यही देखता है कि दूसरा उसे क्या देता है, उसके लिये क्या करता है। उसका आनन्द अपनेको देने, अपनेको उँडेलनेमें है, दूसरेका दान ग्रहण करनेमें नहीं। नारी तर्कसे नहीं, अन्तःप्रेरणासे इसे समझ पाती है और जो समझ पाती है वह अपने इंगितमात्रसे चतुर्दिक् स्वर्गकी रचना करती चलती है।

जीवनपर मरणका अन्धकार छा गया है। काल-भुजंगके फूत्कार-सी आँधियोंमें मन अस्थिर है। कटुताकी बाढ़ आ रही है। मानव-संस्कृतिकी सम्पदाएँ विचलित हैं। ऐसे समय दो मीठे बोल, प्राणोंके रसमें डूबे बोल सुननेके लिये प्राण विकल हैं। ऐसे संकट-कालमें घर-घर जगज्जननीकी कलाओंमें व्यक्त होकर तुम उठो। जीभपर अमृतका झरना बहने दो; गृहको पावन होने दो, नरकको स्वर्ग बनने दो, मरुस्थलीमें फूल खिलने दो—यही है तुम्हारा गौरव; यही है तुम्हारी सार्थकता, यही है तुम्हारे जीवन-शब्दका अर्थ। हृदयका अमृत जीभपर उमड़ने दो। झरनेके ऊपरसे कठोरताके शिलाखण्डको, आवरणको हटा दो। अब देखो, तुममें कितना रस है, कितना जीवन है, कितना अमृत है।

रामचरितमानसकी अन्तःकथाएँ

(लेखक—डॉ० श्रीवागीशदत्तजी पाण्डेय एम० ए०, पी०-एच्० डी०)

(१)

[हिरण्याक्ष और वराह]

'मानस' में इस कथासे सम्बन्धित दो चौपाइयाँ हैं—एक अयोध्याकाण्डमें और दूसरी लंकाकाण्डमें । चौपाइयाँ इस प्रकार हैं:—

सोक कनकलोचन मति छोनी । हरी बिमल गुन गन जगजोनी ॥
(राम० अयो० दो० २९७ चौ० ३)
अति बल मधु कैटभ जेहि मारे । महाबीर दितिसुत संघारे ॥
(राम० लं० दो० ६, चौ० ७)

विषय-वस्तुकी दृष्टिसे यह कथा 'देवता परिकर' के अन्तर्गत आती है; क्योंकि अवतारवादके महत्त्वको दिखानेके लिये ही इस प्रकारकी प्रासङ्गिक कथाओंका सृजन 'मानस'में हुआ है। जहाँतक उद्देश्यका सम्बन्ध है, उपर्युक्त कथाको हम 'धार्मिक वर्ग'के अन्तर्गत ही मानते हैं। धर्मका बड़ा ही विस्तृत क्षेत्र है। धर्म सामूहिक भी होता है और व्यक्तिगत भी। सामूहिक धर्ममें लोकोपकारकी भावना निहित होती है तथा व्यक्तिगत धर्ममें आत्मकल्याणके संस्कार कार्य करते हैं। 'मानस'की अन्तःकथाओंमें भक्तिमूलक जितने भी आख्यान हैं, वे सब धर्मकी व्यक्तिगत साधनाकी कोटिमें आते हैं तथा जिन आख्यानोंमें लोकमङ्गलकी कामनासे भगवान्‌के अवतारवादकी चर्चा है, वे सभी सामूहिक धर्म साधनाकी कोटिके अन्तर्गत हैं। दैत्येन्द्र हिरण्याक्षसे पीड़ित पृथ्वीकी रक्षाके लिये भगवान्‌को वराहरूपमें अवतीर्ण होना पड़ा; लोकमङ्गलकी भावना कथातन्तुओंसे स्वतः ही स्पष्ट है।

इस कथाके दो रूप हैं—एक तैत्तिरीय संहितामें वर्णित है और दूसरा महाभारतमें उल्लिखित है[१]। तैत्तिरीय संहितामें स्वयं प्रजापति ब्रह्माद्वारा ही वराह-रूप धारणकर जलके मध्यसे पृथ्वी-उद्धारकी कथा मिलती है। इस ग्रन्थमें पृथ्वी-उद्धारकी कथा अवश्य वर्णित है, लेकिन प्रजापतिसे हिरण्याक्षके युद्धका कोई प्रसङ्ग उल्लिखित नहीं है। इसके विपरीत 'महाभारत'में विष्णुद्वारा पृथ्वी-उद्धारकी कथाका वर्णन है और इसी ग्रन्थमें सर्वप्रथम हिरण्याक्षके वधके लिये विष्णुका प्रयास दिखाया गया है। हिरण्याक्षका नाम भी हमें सर्वप्रथम महाभारतमें ही मिलता है। महाभारतकी कथाका अनुकरण आगे चलकर अनेक पुराण-ग्रन्थोंमें किया गया[२]; जब कि तैत्तिरीय संहिताका प्रभाव विष्णु, वायु, कूर्म तथा ब्रह्माण्ड पुराणोंमें ही देखनेको मिलता है[३]। दोनों ही कथा इस प्रकार हैं—(अ) तैत्तिरीय संहितासे प्रभावित कथा—'महाप्रलय हो जानेपर जब समस्त सृष्टि जलमय थी, उस समय ब्रह्मामें सृष्टि-रचनाकी आकाङ्क्षा उत्पन्न हुई। उन्होंने वायुका रूप धारणकर जलमें डूबी हुई पृथ्वीकी खोज की। क्षणमें ही उन्हें पृथ्वीका एक किनारा दिखायी दे गया। उन्होंने तत्काल ही वराहका रूप धारण किया और पृथ्वीको दाँतोंसे पकड़कर उसे जलके ऊपर स्थिर कर दिया। बादमें उन्होंने पृथ्वीको कई रूपोंमें विभक्तकर सृष्टि रचना की[४]।' विष्णुपुराणमें भी यह कथा इसी रूपमें मिलती है, जहाँ ब्रह्माने ही वराहका रूप धारणकर पृथ्वीका उद्धार किया है। विष्णुपुराणमें तो यहाँतक लिखा है कि ब्रह्माने वराह अवतारसे पूर्व मत्स्य और कूर्म-रूप भी धारण किया था[५]। कूर्मपुराण पूर्वार्द्ध अ०६ में इस घटनाको नाटकीयतासे आबद्ध कर दिया है। वहाँ कथा इस प्रकार है—'महाप्रलय हुआ, जिसमें पृथ्वीवासी स्थावर-जङ्गम पदार्थ सभी नष्ट हो गये। तब ब्रह्माको पृथ्वीके उद्धार और पुनः सृष्टि-रचनाकी चिन्ता हुई। वह चिन्तित हुए ही थे कि सहसा उनकी नासिकासे अङ्गुष्ठमात्रका एक लघु शूकर निकला। ब्रह्माके देखते-ही-देखते वह शूकर महाविशालकाय हो गया। ब्रह्मा कुछ सोच भी नहीं सके कि सहसा वह शूकर जलमें कूद पड़ा। क्षणमात्रमें वह दाँतोंपर पृथ्वीको उठाये हुए जलसे बाहर निकला और पृथ्वीको जलपर स्थितकर अन्तर्धान हो गया।' यहाँ वराहको ब्रह्मरूप न मानकर ब्रह्मासे उत्पन्न दिखाया गया है। ब्रह्माण्डपुराणमें भी वराहको ब्रह्माकी नासिकासे ही उत्पन्न बताया है। स्पष्ट है पृथ्वी-उद्धारमें वराहका पूर्ण योगदान दिखाकर भी तैत्तिरीय संहितासे प्रभावित इस कथाप्रसङ्गमें यहाँ वराह-द्वारा हिरण्याक्ष-वधकी ओर कोई संकेत नहीं है। महात्मा तुलसीने इस अन्तःकथामें वराहद्वारा हिरण्याक्ष-वधकी चर्चा की है[६]। निश्चित है तुलसीका आधार तैत्तिरीय संहिता या

---

[१] विस्तारके लिये देखिये—तैत्ति० सं. ७।१।५।१ तथा महाभा० वन० १४४।२९; शान्ति० २०७।६।

[२] पद्म० सृष्टि० ७३; शिव० रुद्र० ४३; भाग० ३।१५; देवीभा० ८।२ तथा अग्नि० ४।

[३] वायु० ६. विष्णु० १. ४; कूर्म० पूर्व० अध्याय ६ तथा ब्रह्माण्ड० पूर्व० प्रक्रिया० अ० ५।

[४] वायु० ६ अ०। [५] बिष्णु० १।४।७-८।

[६] रामा० लं० ६।७।

उससे प्रभावित ये उपर्युक्त पुराण-ग्रन्थ नहीं, अपितु महाभारत या उससे प्रभावित पुराण-ग्रन्थ ही हैं। महाभारतमें यह कथाप्रसङ्ग इस प्रकार है—

(आ) ‘हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष महर्षि कश्यपके औरस दितिके पुत्र थे। ये पूर्वजन्ममें विष्णुके पार्षद जय-विजय थे, लेकिन सनकादिके शापसे इनको राक्षस-योनिमें आना पड़ा। हिरण्याक्ष बल-दर्पसे पृथ्वीको उठाकर पातालमें ले गया। देवता विष्णुकी शरण गये। विष्णुने देवताओंको अभय दे वराहका रूप धारण किया और पृथ्वीको दाँतोंपर उठा शेषके मस्तकपर स्थिर किया। अनन्तर उन्होंने युद्धमें हिरण्याक्षका वध किया[1]।’ महाभारतसे प्रभावित होकर यह कथा मुख्यतः पद्म, शिव, भागवत, देवीभागवत, अग्नि, लिङ्ग तथा सौर आदि पुराणोंमें मिलती है।[2] महाभारतके अनुसार वराहने जिस स्थानपर पृथ्वीका उद्धार किया, उसे वराहतीर्थ कहते हैं।[3] वराह पुराणके आधारपर वराह क्षेत्र बंगालमें कोकामुख क्षेत्रमें तथा गङ्गाके किनारे सोरों क्षेत्रमें प्रसिद्ध है।[4] वराहद्वारा हिरण्याक्षका वध इन उपर्युक्त पुराणोंमें कहीं-कहीं नृसिंहद्वारा हिरण्यकशिपुके वधसे पूर्व,[5] तथा कहीं-कहीं उसके वधके उपरान्त किया गया है।[6]

(२)

[राजा हरिश्चन्द्रकी कथा]

राजा हरिश्चन्द्र मान्धातृ-वंशमें त्रिशंकुके पुत्र थे। इनकी सत्यवादिता और धार्मिक प्रवृत्तिका जो स्वरूप परवर्त्ती साहित्यमें मिलता है, वह वैदिक-साहित्यमें उपलब्ध नहीं होता। वैदिक ग्रन्थोंमें इन्हें सामान्यतः मानव-प्रकृतिकी कमियोंसे ही दिखाया है। ‘हरिश्चन्द्रके राज्यासीन होनेतक कोई पुत्र नहीं था। उन्होंने वरुणसे प्रतिश्रुत होकर रोहितको पाया। इस प्रतिज्ञामें उन्हें रोहितकी बलि वरुणको देनी थी; पर पुत्र-मोहके कारण वह ऐसा नहीं कर सके। प्रतिज्ञा-भंग होनेपर वरुणने उन्हें अनेक कष्ट दिये। तब वरुणको प्रसन्न करनेके लिये उन्होंने शुनःशेपको खरीदा। जिस समय यज्ञभूमिमें रोहितके बदले शुनःशेपकी बलि दी जा रही थी उस समय विश्वामित्रने आकर शुनःशेपको बचाया।’ ऋग्वेदमें इस कथाका इतना विस्तार तो नहीं मिलता, किंतु शुनःशेपद्वारा वरुणके प्रति की गयी अपनी बन्धन-मुक्तिकी प्रार्थना-सम्बन्धी ऋचाएँ अवश्य मिल जाती हैं, जिनमें निर्विवाद इस कथाका मूल रूप सुरक्षित है[8]। विस्तारसे आगे चलकर यह प्रपञ्च ऐतरेय ब्राह्मण, तैत्तिरीयसंहिता, काठकसंहिता, मैत्रेयोपनिषद् तथा सांख्यायन श्रौत-सूत्रमें भी मिल जाता है[9]। इस प्रकार स्पष्ट है, वैदिक-साहित्यमें राजा हरिश्चन्द्रकी मिथ्यात्व प्रकृतिका ही परिचय मिलता है। इनकी सत्य-निष्ठाका विकास तो परवर्त्ती पुराण-ग्रन्थोंमें ही हुआ है, यद्यपि ब्रह्म०, पद्म० आदि पुराणोंमें वैदिक-कालिक कथाकी झलक भी मिल जाती है। भागवतमें इस कथाके दोनों रूपोंकी झाँकी है। स्कन्ध ९ अध्याय ७ में भागवतपर वैदिक-आख्यानका प्रभाव है, किंतु अध्याय ८ में प्राप्त कथाप्रसङ्गसे हरिश्चन्द्रकी धार्मिक प्रवृत्तिका भी परिचय मिल जाता है। जिसमें वह राजसूय यज्ञके अवसरपर दक्षिणास्वरूप विश्वामित्रको अपना सर्वस्व दान देते हैं। एक ही ग्रन्थमें दोनों घटनाओंका उल्लेख इस बातका साक्षी है कि शुनःशेपवाली घटनासे सम्बन्धित हरिश्चन्द्र और सत्यवादी हरिश्चन्द्र दोनों एक ही व्यक्ति हैं। भागवतके बाद देवीभागवतमें स्कन्ध ७ अध्याय १४–२७में बड़े विस्तारसे इस कथाका निरूपण हुआ है। अध्याय १४–१७ में यहाँ भी शुनःशेप और रोहितकी कथाका वर्णन है और इसके बाद अध्याय १८–२७ तक हरिश्चन्द्रकी सत्यवादितासे सम्बन्धित कथाका उल्लेख है।

महात्मा तुलसीने मानसकी निम्न चौपाइयोंमें हरिश्चन्द्रकी कथाका संकेत दिया है—

सिबि दधीचि हरिचंद कहानी। एक एक सन कहहिं बखानी॥
(अयो० ४८। ५)

तथा

सिबि दधीचि हरिचंद नरेसा। सहे धरम हित कोटि कलेसा॥
(अयो० ९५। ३।

इसमें पूर्वकी चौपाईमें सामान्य रूपमें हरिश्चन्द्रकी कथाका उल्लेख है, जब कि बादकी चौपाईमें हरिश्चन्द्रकी धार्मिक सत्यवादी प्रकृतिकी ओर स्पष्ट संकेत है। पूर्वकी चौपाईमें भी हरिश्चन्द्रकी कथाका उल्लेख राजा शिवि और महर्षि दधीचिके साथ हुआ है। राजा शिविकी दानशीलता और महर्षि दधीचिकी त्यागवृत्ति उनकी धार्मिक प्रवृत्तिकी द्योतक है, अतः निश्चित है कि राजा हरिश्चन्द्रका शिवि और

---

[1] महाभारत वन० १४४। २९ तथा शान्ति० २०७।

[2] पद्म० सृष्टि० ७३; शिव० रुद्र० ४२; भाग० ३। १५; देवीभा० ८। २; अग्नि० ४; लिङ्ग पू० ९४; तथा सौर० २९।

[3] महाभा० वन० ८१। १८।

[4] वराह० १४०।

[5] पद्म०, भाग०, देवीभा०, लिङ्ग तथा शिव० वही।

[6] अग्नि तथा सौर० वही।

[7] विस्तारसे देखिये ब्रह्मपुराण अ० १०४ पद्म० सृष्टि० अ० ८।

[8] ऋग्० १। २४।

[9] दे० ऐत० ब्रा० ७। १३–१८; तैत्ति० सं० ५। २। १। ३; का० सं० १९। ११; मैत्रे० उप० १। ४ तथा सां० सू० १५। १७–२०

दधीचिके साथ उल्लेख करनेमें तुलसीकी दृष्टि उनके धार्मिक और सत्यवादी अंशकी ओर ही है। अयोध्याकाण्डकी ही दोहा ९५, चौपाई ३ की पंक्ति तुलसीके उपर्युक्त दृष्टि-कोणको और भी बल दे रही है। अतः नीचे हम देवी-भागवतके आधारपर हरिश्चन्द्रकी सत्यप्रियताकी कथाका ही संक्षेपमें निरूपण कर रहे हैं।

''राजा हरिश्चन्द्रने एक बार राजसूय यज्ञका अनुष्ठान किया। उसने वसिष्ठको इस यज्ञमें द्रव्यादिसे अति पूजित किया। यज्ञसूत्र बाँधे हुए वसिष्ठ इन्द्रकी सभामें गये। वहाँ विश्वामित्र-से उनकी भेंट हुई। महर्षि वसिष्ठने विश्वामित्रसे हरिश्चन्द्रके दान-कर्म, सत्यवादिता तथा धैर्य आदिका उल्लेख किया। उन्होंने तो उनसे यहाँतक कह दिया कि 'हरिश्चन्द्रके समान न कोई हुआ है और न होगा ही।' इसी बातपर दोनोंमें बहस हो गयी। विश्वामित्रने कहा—'यदि बहुत शीघ्र ही इसे मैं असत्यप्रिय न सिद्ध कर दूँ तो मेरा सारा पुण्य क्षय हो जाय।' इस प्रकार शर्त लगाकर विश्वामित्र पृथ्वीपर वापिस आये। इसी बीच हरिश्चन्द्र एक बार शिकार खेलने वनमें गये। वहाँ उन्होंने रोती हुई किसी स्त्रीको देखा। उन्होंने स्त्रीको अभय दे विश्वामित्रके तपमें विघ्न किया। इस घटनासे विश्वामित्र उसपर और भी अधिक रुष्ट हो गये।

''एक बार विश्वामित्रने एक दानवको हरिश्चन्द्रके यहाँ भेजा। वह दानव शूकर-रूपमें वहाँ गया और उसने राजा-का तमाम उपवन उजाड़ दिया। मालियोंकी पुकारपर राजाने उसका पीछा किया। वह राजाको घने वनमें ले जाकर अदृश्य हो गया। वहीं एक नदी-तटपर ब्राह्मण-रूपमें विश्वामित्रसे उसकी भेंट हुई। विश्वामित्रने गान्धर्वी मायासे एक लड़का और एक लड़की राजाको दिखा, उनके विवाहके लिये राजासे दानका संकल्प ले लिया। अनन्तर राजाके राज्यमें पहुँचनेपर विश्वामित्रने वरके दहेजके लिये राजासे समस्त राज्य ले लिया। उन्होंने राज्यके अतिरिक्त दक्षिणा भी माँगी। इस दक्षिणाको चुकानेके लिये राजा, रानी और पुत्र तीनोंको काशीमें बिकना पड़ा। स्वयं विश्वामित्रने ब्राह्मणका रूप धारणकर स्त्री और पुत्र दोनोंको खरीद लिया तथा धर्मने चाण्डालका रूप धारणकर हरिश्चन्द्र-को खरीदा। हरिश्चन्द्रको श्मशान-घाटपर काम दिया गया।

''एक दिन रोहित ब्राह्मणके लिये लकड़ी, समिधाएँ आदि उखाड़ रहा था कि विश्वामित्रकी प्रेरणासे उसे किसी विषधर सर्पने डँस लिया, जिससे वह वहीं मर गया। साथके लड़कोंने दासी शैव्याको यह समाचार बताया। शैव्या बड़ी दुखी हुई। वह पुत्रके समीप जाने लगी, लेकिन ब्राह्मणने उसे छुटकारा नहीं दिया। अनन्तर अर्द्धरात्रिमें वह रोहितके समीप जा सकी। शैव्याने पुत्रके समीप बड़ा विलाप किया। उसका रुदन सुन पड़ोसके व्यक्ति जाग गये। उन्होंने शैव्याको पिशाची जाना। नागरिकोंने उसे बहुत पीटा और पकड़कर उसे चाण्डालके पास पहुँचा दिया। उसने हरिश्चन्द्रको उसके वधकी आज्ञा दी। रानीने पुत्रके मृत्यु-संस्कारके बाद अपना वध करनेकी आज्ञा माँगी। इसी बीच रानी राजाका नाम लेकर विलाप करने लगी। तब हरिश्चन्द्रने पुत्र और पत्नीको पहचाना। मृत पुत्रको देख राजाको भी बड़ा दुःख हुआ। अनन्तर वे रोहितको चितापर लिटा स्वयं पत्नीसहित भस्म होनेको उद्यत हुए। इसी समय इन्द्रादि देवता प्रकट हो गये। उन्होंने रोहितको जिला दिया और पति-पत्नी दोनोंको स्वर्ग चलनेके लिये कहा। तब राजा बोले—'मैं चाण्डालका दास हूँ, अतः उसकी अनुमतिके बिना स्वर्ग नहीं जा सकता।' तभी धर्मने प्रकट हो अपना रहस्य खोला। अन्तमें राजाने अपना पुण्य अयोध्यावासियोंमें बाँटा और रोहितको राज्यपर अभिषिक्त कर वृद्ध नागरिकोंसहित सपत्नीक उन्होंने स्वर्गको प्रस्थान किया।''

यह कथा मार्कण्डेय पुराण अध्याय ७–८ में भी दो-तीन घटनाओंको छोड़कर देवीभागवतके समान ही मिलती है। भिन्न स्थल इस प्रकार हैं—

१. यहाँ विश्वामित्र और वसिष्ठकी शर्तका कोई उल्लेख नहीं; केवल आर्त्त स्त्रियोंकी रक्षाके लिये हरिश्चन्द्रद्वारा विश्वामित्रके तपमें विघ्न डालनेका वर्णन है।

२. यहाँ शूकरद्वारा राजाके छलनेकी भी घटना नहीं मिलती।

३. यहाँ विश्वामित्रने किसी लड़का-लड़कीके दहेजके लिये नहीं, अपितु स्वयंके लिये राजासे दान लेकर उसे राज्यसे च्युत किया।

४. राजा मृत पुत्रके समीप विलाप करती हुई शैव्यासे कर लेनेके उद्देश्यसे ही उसके समीप गया और तभी उसने पुत्र और पत्नीको पहचाना। यहाँ हरिश्चन्द्रकी रोहित और शुनःशेपवाली घटनाका भी कोई उल्लेख नहीं। इस प्रकार मार्कण्डेय पुराणमें हरिश्चन्द्रकी केवल सत्-प्रवृत्तिका ही वर्णन मिलता है।

* * *

---

१. देवीभा० १८–२७ अध्याय।

आत्मोद्धारके सरल उपाय

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

बहुत-से साधक भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार आदि साधनोंको करना चाहते हैं; किंतु उनसे साधन भलीभाँति बन नहीं पाता। इसपर उन्हें गहराईसे विचार करना चाहिये कि साधन क्यों नहीं बन पाता। विचार करनेपर यही प्रतीत होता है कि अन्तःकरणमें राग-द्वेष, अहंता-ममता और कामना आदि अनेक दोष भरे हुए हैं जिनके कारण अन्तःकरण अपवित्र हो रहा है, इसीसे साधनमें बाधा हो रही है। अतः अन्तःकरणको शुद्ध करनेके लिये निष्काम भावसे शौचाचार, सदाचार, जप, तप, सात्त्विक भोजन और सत्य व्यवहार आदिकी बहुत आवश्यकता है क्योंकि ये आत्मकल्याणमें परम सहायक हैं।

आजकल लोग शौचाचार, सदाचार, सात्त्विक भोजन और सत्य व्यवहारकी अवहेलना करने लगे हैं। यह उनके लिये घोर पतनकारक है। खयाल करना चाहिये कि इनके पालनमें न तो अधिक पैसोंका खर्च है, न अधिक परिश्रम है, न अधिक समय ही लगता है और इससे लाभ अत्यन्त महान् है। इसलिये मनुष्यको इनके पालनके लिये विशेषरूपसे प्रयत्न करना चाहिये।

(१) विधिपूर्वक मिट्टी और जलके द्वारा शौच-स्नानादिसे शरीरको पवित्र रखना तथा वस्त्र और स्थान आदिको स्वच्छ रखना चाहिये।

(२) नित्य प्रातःकाल बड़ोंके चरणोंमें निष्काम भावसे आदरपूर्वक नमस्कार करना चाहिये।

(३) नित्य निष्काम भावसे बलिवैश्वदेव करके ही भोजन करना चाहिये। बलिवैश्वदेवमें पञ्चमहायज्ञ आंशिक रूपसे आ जाते हैं। अग्निमें जो पाँच आहुतियाँ दी जाती हैं, वह (होम) 'दैवयज्ञ' है। पितरोंके लिये जो अन्न दिया जाता है, वह 'पितृयज्ञ' है। मनुष्यादिके लिये जो अन्न दिया जाता है, वह 'मनुष्ययज्ञ' है। ऋषियोंके वचन सुनकर वेदमन्त्रोंका उच्चारण किया जाता है, वह 'ऋषियज्ञ' है तथा सम्पूर्ण भूतप्राणियोंको अन्न दिया जाता है वह 'भूतयज्ञ' है। बलिवैश्वदेवका अर्थ ही है सारे विश्वको अन्न देकर फिर स्वयं भोजन करना। इससे बड़ा भारी लाभ है।

(४) अपने अधिकारके अनुसार संध्योपासन और गायत्री-जप करना बहुत ही उत्तम है। इतना न बने तो कम-से-कम श्रीसूर्य भगवान्‌को अर्घ्य दिये बिना तो मनुष्यको भोजन ही नहीं करना चाहिये। भगवान् सूर्यको अर्घ्य शूद्र भी दे सकता है। सभीके लिये सूर्यार्घ्यका पौराणिक मन्त्र यह है—

एहि सूर्य सहस्रांशो तेजोराशे जगत्पते।
अनुकम्पय मां भक्त्या गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते॥

(५) अपना खान-पान सब प्रकारसे शुद्ध और सात्त्विक रखना चाहिये। वर्तमान समयमें लोगोंका खान-पान भ्रष्ट हो जानेसे उनका पतन हो गया और हो रहा है। बहुत-से लोग होटलोंमें भोजन और मदिरा, मांस, अंडा आदि अपवित्र घृणित अखाद्य वस्तुओंको खाने लगे हैं। यह महान् पाप है। इससे अन्तःकरण दूषित होता है और अपवित्रताकी वृद्धि होकर आत्माका पतन हो जाता है। अतः इनका कतई त्याग कर देना चाहिये। अंडा, मांस, मदिराकी तो बात ही क्या, मनुष्यको लहसुन-प्याज भी नहीं खाना चाहिये। राजसी और तामसी भोजनका सर्वथा त्याग करना चाहिये। राजसी भोजनका वर्णन गीतामें यों बताया गया है—

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥

(१७। ९)

'कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक और दुःख, चिन्ता तथा रोगोंको उत्पन्न करनेवाले आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ राजस पुरुषको प्रिय होते हैं।'

तामसी भोजनका लक्षण यह है—

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥

(१७। १०)

'जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र भी है वह भोजन तामस पुरुषको प्रिय होता है।'

अतः इनका कतई त्याग कर देना चाहिये ।

(६) खेल-तमाशा देखना, जुआ खेलना, हँसी-मजाक करना, अश्लील कामोत्तेजक पुस्तकें पढ़ना और क्लब-थियेटर, बायस्कोप-सिनेमा आदिमें स्वयं जाना तथा निर्लज्ज हो अपनी स्त्रीको साथ ले जाना—ये महान् हानिकर हैं । इनसे मनुष्यका पतन हो जाता है । अतः इनका भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ।

(७) अन्यायपूर्वक धनोपार्जन करनेसे भी अन्तःकरण दूषित होता है, इसलिये झूठ, कपट, चोरी-बेईमानी, छल-विश्वासघात आदिको छोड़कर सचाईके साथ न्यायपूर्वक पैसा पैदा करना चाहिये ।

(८) आमदनीसे अधिक खर्च लगाना भी मनुष्यके पतनमें हेतु होता है । अधिक खर्च करनेवाला मनुष्य धनका दास हो जाता है और फिर वह झूठ-कपट, चोरी-बेईमानी, छल-विश्वासघातसे धन कमाने लगता है । किंतु जो खर्च कम लगाता है, सादगीसे रहता है, उसको धनका दास नहीं बनना पड़ता । जब वह धनको महत्त्व नहीं देता तब वह पाप क्यों करेगा ?

(९) वर्तमान समयमें लोगोंको अन्नके बिना महान् कष्ट हो रहा है । अन्नके भाव बहुत अधिक हो जानेके कारण लोगोंको अपना जीवन-निर्वाह करनेमें बड़ी कठिनाई हो गयी है । अतः इस समय लोगोंके हितके लिये तन, मन और धनसे अपनी शक्तिके अनुसार अन्नके द्वारा उनकी सेवा करना सबसे उत्तम धर्म है । श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई ।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ॥

(१०) वैश्यका परोपकार-बुद्धिसे क्रय-विक्रयरूप व्यापार करना कर्तव्य है । गीतामें भगवान्ने बताया है—

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥
(१८ । ४४)

'खेती, गोपालन और क्रय-विक्रयरूप सत्य व्यवहार—ये वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं तथा सब वर्णोंकी सेवा करना शूद्रका भी स्वाभाविक कर्म है ।'

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥
(१८ । ४५)

'अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंमें तत्परतासे लगा हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है । अपने स्वाभाविक कर्ममें लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकारसे कर्म करके परम सिद्धिको प्राप्त होता है, उस विधिको तू सुन ।'

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥
(१८ । ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है ।'

तुलाधार वैश्यका केवल न्यायपूर्वक सत्य व्यापारसे ही कल्याण हो गया था । (देखिये महाभारत शान्तिपर्व अ० २६१ से २६४)

अतः वर्तमान अन्न-संकटके समय यदि अनाज खरीदकर बिना मुनाफाके ही कर्तव्यबुद्धिसे सबमें भगवद्भाव करके लोगोंको कम-से-कम दाममें निष्कामभावसे अन्न दिया जाय तो वह बहुत ही श्रेष्ठ है ।

(११) संसारके पदार्थोंको, धन-सम्पत्तिको और विषय-भोगोंको क्षणभंगुर, नाशवान् और दुःखरूप मानकर मनको उनसे हटाना चाहिये । उन्हींमें रचे-पचे नहीं रहना चाहिये । गीतामें भगवान् कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥
(५ । २२)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं । इसलिये हे अर्जुन ! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता ।'

इसलिये वैराग्यपूर्वक संसारके ऐश-आराम और विषय-भोगोंका त्याग करके सत्य व्यवहार, सत्यभाषण, दूसरोंकी सेवा और ब्रह्मचर्यका पालन आदि सदाचारका निष्कामभावसे सेवन करना चाहिये । इससे अन्तःकरण बहुत शीघ्र शुद्ध होता है ।

(१२) काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर आदि दुर्गुण और झूठ-कपट, चोरी-व्यभिचार, अभक्ष्यभक्षण आदि दुराचार

अन्तःकरणको अधिकाधिक अपवित्र और दूषित बनानेवाले हैं। अतः इन सबका तो कतई त्याग कर देना चाहिये।

(१३) दुर्गुण-दुराचारकी अपेक्षा भी दूसरोंकी निन्दा करना-सुनना, दूसरोंके दोषोंको देखना और मनसे उन दोषोंका चिन्तन करना महान् हानिकारक है। इससे पाँच दोष होते हैं—

(क) दूसरोंके दोषोंको यदि कोई कानसे सुने, वाणीसे कहे, नेत्रोंसे देखे और मनसे मनन करे तो उस पापरूपी मलसे ये कान, वाणी, नेत्र और मन—सभी दूषित हो जाते हैं और उन दोषोंके संस्कार चित्तपर अङ्कित हो जाते हैं, जो भविष्यमें उससे भी वैसे ही पाप करानेमें सहायक हो जाते हैं।

(ख) दूसरोंकी निन्दा करने-सुननेसे उनकी आत्माको दुःख पहुँचता है, उसका पाप लगता है।

(ग) दूसरेका दोष देखनेसे उसके प्रति घृणाबुद्धि हो जाती है, यह भी पाप है जो अन्तःकरणको विशेष दूषित करनेवाला है।

(घ) दूसरेके दोष देखनेसे अपनेमें अच्छेपनका अभिमान बढ़ता है, यह भी महान् पतनकारक है।

(ङ) पापीके पापकी चर्चा करनेसे उस पापीके पापका अंश उस चर्चा करनेवाले व्यक्तिको भोगना पड़ता है।

अतः आत्माका उद्धार चाहनेवाले मनुष्यको इन सबसे बहुत दूर रहना चाहिये।

उपर्युक्त सभी साधन निष्काम भावसे करनेपर मनुष्यका परम कल्याण करनेवाले हैं और यदि भगवदर्पण या भगवदर्थ-बुद्धिसे किये जायँ तब तो कहना ही क्या है। फिर तो बहुत ही शीघ्र कल्याण हो जाता है।

अर्पणके सम्बन्धमें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे बताया है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
(गीता ९। २७)

'हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है वह सब मेरे अर्पण कर।'

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥
(गीता ९। २८)

'इस प्रकार जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्के अर्पण होते हैं—ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा।'

इसी प्रकार भगवदर्थ कर्मके सम्बन्धमें भगवान्ने कहा है—

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि॥
(गीता १२। १०)

'यदि तू उपर्युक्त योगके अभ्यासमें भी असमर्थ है तो केवल मेरे लिये कर्म करनेके ही परायण हो जा। इस प्रकार मेरे निमित्त कर्मोंको करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही प्राप्त होगा।'

इस प्रकार भगवदर्पण या भगवदर्थ-बुद्धिसे साधन करना चाहिये।

संसारमें मुख्यरूपसे दो ही बातें सार हैं—(१) अपनेपर किसी घटना, परिस्थिति आदिका प्राप्त होना, (२) स्वयं कोई भी कर्म करना। इनमेंसे (१) जो कुछ भी अनुकूल या प्रतिकूल सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय आदि आकर प्राप्त हो, उसे कर्मयोगके अनुसार अपने पूर्वकृत कर्मोंका फलरूप प्रारब्धका भोग मानकर हर्षके साथ निष्कामभावसे स्वीकार करे। ज्ञानयोगके अनुसार उसे स्वप्नवत् मिथ्या मानकर निर्विकार रहे और भक्तियोगके अनुसार उसे भगवान्का विधान या भगवान्की लीला या भगवान्का भेजा हुआ पुरस्कार मानकर परम प्रसन्न रहे। तथा (२) जो नया कर्म करना है, उसे सिद्धि-असिद्धिमें समभाव रखते हुए आसक्ति और फलकी इच्छाका सर्वथा त्याग करके शास्त्रविधिके अनुसार निष्कामभावसे करे—यह कर्मयोगका साधन है और सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे नित्य स्थित रहते हुए ही, सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं ऐसा समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरके द्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर उन शास्त्रविहित कर्मोंको करे— यह ज्ञानयोगका साधन है। एवं सब कुछ भगवान्का समझकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक मन, वाणी और शरीरसे सब प्रकार भगवान्के शरण होकर उनके स्वरूपका निरन्तर चिन्तन करते हुए उनकी प्रसन्नताके लिये उनकी आज्ञाके अनुसार उनकी सेवाके रूपमें समस्त शास्त्रविहित कर्मोंको करे—यह भक्तियोगका साधन है।

मनुष्य कर्मफलभोगमें सर्वथा परतन्त्र है, किंतु कर्म करनेमें परतन्त्र होते हुए स्वतन्त्र भी है। इसलिये किये जानेवाले कर्मोंको बहुत सावधानीके साथ करना चाहिये। भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥
(गीता २ । ४७)

'अर्जुन! तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें कभी नहीं। इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो।'

निष्कर्ष यह कि जो कुछ आकर प्राप्त हो, उसमें हर समय परम प्रसन्न रहे और किये जानेवाले कर्तव्यकर्मको बहुत सावधानीसे न्यायपूर्वक निष्काम भावसे करे तो शीघ्रातिशीघ्र भगवत्प्राप्ति हो सकती है; किंतु जो अपने शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मका त्याग करके मनमाना आचरण करता है, उसे कहीं भी सुख नहीं।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
(गीता १६ । २३)

'जो पुरुष शास्त्रविधिको त्यागकर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है, वह न सिद्धिको प्राप्त होता है, न परमगतिको और न सुखको ही।'

इसलिये मनुष्यको सावधान होकर अपने शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मका निष्कामभावसे आचरण करना चाहिये।

ऊपर जो ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग आदि बहुत-से उपाय बताये गये हैं, उन सभीको गीतादि शास्त्रोंमें सरल, सुगम और सर्वोत्तम बताया गया है तथापि वर्तमान कलियुगमें भक्तियोगकी बहुत प्रशंसा की गयी है और उसे अत्यन्त सुगम बताया गया है। श्रीवेदव्यासजीने कहा है—

यत्कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन तत्।
द्वापरे तच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत्कलौ॥
तपसो ब्रह्मचर्यस्य जपादेश्च फलं द्विजाः।
प्राप्नोति पुरुषस्तेन कलिः साध्विति भाषितम्॥
ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्॥
(विष्णुपुराण ६ । २ । १५—१७)

'हे द्विजगण! जो फल सत्ययुगमें दस वर्ष तपस्या, ब्रह्मचर्य और जप आदि करनेसे मिलता है, उसे मनुष्य त्रेतामें एक वर्ष, द्वापरमें एक मास और कलियुगमें केवल एक दिन-रात साधन करनेसे प्राप्त कर लेता है। इसी कारण मैंने कलियुगको श्रेष्ठ कहा है। जो फल सत्ययुगमें ध्यानसे, त्रेतामें यज्ञोंके अनुष्ठानसे और द्वापरमें देवपूजासे प्राप्त होता है, वही कलियुगमें केशवके नाम-गुणोंका कीर्तन करनेसे मिल जाता है।'

महामुनि पराशरजी कहते हैं—

अत्यन्तदुष्टस्य कलेरयमेको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत्॥
(विष्णुपुराण ६ । २ । ३९)

'इस अत्यन्त दुष्ट कलियुगमें यही एक महान् गुण है कि इस युगमें केवल भगवान् श्रीकृष्णके नाम-गुणका संकीर्तन करनेसे ही मनुष्य संसारबन्धनसे मुक्त हुआ परमपदको प्राप्त कर लेता है।'

इसीसे मिलता-जुलता श्लोक श्रीमद्भागवतमें भी आता है—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥
(१२ । ३ । ५१)

'परीक्षित्! यह कलियुग दोषोंका खजाना है, परंतु इसमें एक बहुत बड़ा गुण है। वह गुण यही कि कलियुगमें भगवान् श्रीकृष्णका संकीर्तन करने मात्रसे ही सारी आसक्तियाँ छूट जाती हैं और परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।'

श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥
कलिजुग केवल नाम अधारा। सुमिरि सुमिरि भव उतरहु पारा॥

इस प्रकार शास्त्रोंमें कलियुगके समय भगवान्‌की भक्तिकी बड़ी भारी महिमा गायी गयी है।

इन सब बातोंपर ध्यान देकर हमलोगोंको कटिबद्ध हो तत्परतासे साधन करना चाहिये। समय बीता जा रहा है। मनुष्यको शीघ्र सचेत हो जाना चाहिये। नहीं तो, समय शनैः-शनैः बीत जायगा और मृत्यु अचानक आ प्राप्त होगी तो फिर पहलेके अभ्यासके बिना उस समय कुछ भी साधन

नहीं बन सकेगा और उस समय पश्चात्ताप करनेसे कोई लाभ न होगा। इसलिये हजार काम छोड़कर उस कामको पहले करना चाहिये जिसके लिये यह मनुष्य-शरीर मिला है। यह मनुष्यशरीर आत्माके उद्धारके लिये ही मिला है। इसको जो मनुष्य विषय-भोगोंमें बिता देगा उसे घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई॥

जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

इसलिये मनुष्यशरीर पाकर विषयभोगोंमें मन न लगाकर भगवान्‌में ही मन लगाना चाहिये।

सबसे बढ़कर सार बात यह है। इसमें न पैसा खर्च होता है, न परिश्रम है और न समय ही लगता है। हरेक मनुष्य इसे कर सकता है एवं यह निश्चय ही कल्याण करनेवाली है। वह बात है—हर समय भगवान्‌को स्मरण रखना। भगवान्‌ने गीतामें बताया है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
(८। १४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है; उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

हमारा लक्ष्य और साधन

(लेखक—ज्योतिर्विद् श्रीविश्वनाथजी मेहरोत्रा)

मनुष्य-जीवनका परम लक्ष्य है श्रीभगवान्‌की प्राप्ति। इसीको मुक्ति कहते हैं। आवागमन फिर नहीं होता। श्रीमद्भागवतके सिद्धान्तानुसार वास्तवमें आवागमन एवं अवस्था मनका भ्रम ही है। सदा सर्वत्र सच्चिदानन्द ही है, अन्य कुछ भी नहीं।

श्रीपरमात्मा जीवमात्रके निरन्तर परम हितैषी हैं। जीव उन्हें भूला रहता है तो सुख-दुःखमें डूबता-उतराता है। जब जीव उन्हें स्मरण करता है तो फिर संसारके सुख-दुःखको सुख-दुःखकर मानता ही नहीं। अगली सीढ़ी भी आती है, जब वह भगवत्स्मरणको ही परम सुख मानता और भगवद्विस्मरणको दारुण दुःख—'तद्विस्मरणे परमव्याकुलता'। ऐसा भगवत्स्मरण होने लगता है कि फिर उन्हें विस्मृत करनेमें अत्यन्त कष्टका अनुभव करता है। ऐसा जीव इस संसारमें रहता हुआ भी इससे निर्लिप्त रहता है। उसका योगक्षेम श्रीभगवान्‌की परम कृपामयी शक्ति स्वयमेव वहन करती है।

भगवत्स्मरण कर सकना सरल नहीं है। भगवत्स्मरण कर सकनेवाले जीवकी इन्द्रियाँ ही पृथक् प्रकारकी हो जाती हैं। उसकी श्रवणेन्द्रिय भगवान्‌के गीत और नाम ही सुनती है, अन्य कुछ नहीं। उसकी आँखें सदा सर्वत्र श्रीभगवान्‌को रमते हुए देखती हैं। उसकी नासिकामें श्रीभगवान् ही प्राणरूपसे निरन्तर प्रवेश करते हैं और प्रत्येक प्रश्वास श्रीभगवान्‌के चरणोंमें प्रणाम लेकर जाता है या वह निरन्तर भगवान्‌के दिव्य अङ्ग-सुगन्धका सेवन करता रहता है। उसकी जिह्वा श्रीकृष्णनामामृतका स्वाद चखकर परम तृप्ति पा जाती है। श्रीकृष्णका प्रसाद ही उसका भोज्य है। जो कुछ स्पर्शनीय बाह्य जगत् है, उसमें उसे अपने परमप्रेमीके स्पर्शका आनन्दानुभव पग-पगपर पल-पलमें मिलता है। वह गद्गद रहता है। उसकी दोनों आँखोंके बीचमें तृतीय नेत्रके स्थानपर उसके प्रभु विराजमान रहते हैं और वह उनसे निरन्तर संयोगका अनुभव करता है।

वह अवस्था दिव्य है। वह भगवत्कृपासे ही प्राप्य है। जिसे इस प्रकारकी अवस्था एक क्षणके लिये भी प्राप्त हो जाय, वह उसे पकड़ थामनेके लिये विकल हो जाता है। श्रीनारदजीको उस प्रभुने अपनी मोहिनी मूर्तिका साक्षात्कार एक क्षणके लिये ही दिया था। उसी क्षणने श्रीनारदजीको सदा-सर्वदाके लिये उसे पानेको विवश कर दिया। वे आर्द्र होकर प्रार्थना करने लगे। परम कृपालु परमेश्वरने उन्हें

अपनी प्राप्तिके लिये साधन करनेका मार्ग समझाया । श्रीनारदजी स्वयं भगवान्‌को पाकर श्रीकृष्णमय हो गये ।

बहुत जन्मोंमें जन्मते-मरते जब जीव दूसरे जीवको हानि पहुँचानेसे बचता रहता है तो वह श्रीभगवान्‌का कृपाभाजन हो जाता है । उसे शान्ति मिलती है। बादमें वह दूसरे जीवोंकी सेवा करता है, तब उसे और अधिक शान्ति मिलती है । फिर वह अन्तर्मुखी होता है । वहाँ उसे आत्मानन्दका अनुभव होता है । धीरे-धीरे श्रीभगवान् उसे अपनी ओर खींचकर अपना परम सेवक बना लेते हैं ।

मनुष्य धर्मका आडम्बर करता है, किंतु दूसरे जीवोंको हानि पहुँचाता है । तब परम कृपालु परमेश्वरकी महान् शक्ति उसे दण्ड देती है । वह श्रीभगवान्‌का वास्तविक स्मरण नहीं कर पाता और न उसके लिये लालायित ही होता है । वह जन्म-मरणके चक्करमें फँसा रहता है। झूठे सुखमें इतराता है। भगवान्‌की सृष्टिका अद्भुत राक्षसस्वरूप देवता—दुःख उसे उठाकर चट्टानसे टकरा देता है । वह कराह उठता है । तब उसे उस भगवान्‌की स्मृति आती है जिसे उसने पहले कभी नहीं याद किया । वह मन-ही-मन अपने दुःखके नाशके लिये उनकी शरण जाता है । भगवान्‌की परम कृपाशक्ति तब मुस्कराती है। वह उसे बताती है कि अपने दुष्कर्मोंका फल भोगे बिना मुक्ति नहीं है । अब वह घबराता है दुष्कर्मोंसे । किसीको हानि पहुँचानेसे डरता है । उसका जीवन सुधरने लगता है । भगवान्‌की कृपाका उसे अनुभव होता है ।

क्रम-क्रमसे साधन करके ही मनुष्य दिव्य अवस्थाको पाता है । दिव्य अवस्था प्राप्त होनेमें समयका कोई निश्चित बन्धन नहीं है । जिसका हृदय जितना शुद्ध हो, वह उतनी त्वरित गतिसे उस अवस्थाको पाता है । श्रीभगवान्‌के स्मरणमें जो आनन्द मिलता है, उसे पानेका वह अधिकारी हो जाता है । इसमें शीघ्र सफलताके लिये विद्वत्ताकी नहीं, सरलताकी—भावकी आवश्यकता है ।

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा ॥

ऐसा भी हो सकता है कि जीवनभर दुष्कर्म करनेवाला उन प्रभुको तत्काल पा जाय और वर्षों साधन करनेवाला कई जन्मोंके बाद उन्हें पा सके । जिसके चित्तमें अपने पापोंके प्रति ग्लानि हो, चित्त विगलित हुआ जा रहा हो, संसार विषवत् अनुभवमें आ रहा हो, जो इस सत्यका साक्षात्कार कर चुका हो कि जलते प्राणोंको शान्ति देनेवाला कोई एक घनश्याम ही है, एकमात्र वही है–ऐसा मानकर जो अनन्यभावसे उसके शरण हो रहा हो, जो उसके लिये तड़पने लगा हो, वह उसे तत्काल पा जायगा । यह 'तड़पन' ही उस श्रीकृष्णको पानेका सोपान है । जैसे जलमें डूबता हुआ व्यक्ति श्वास लेनेके लिये तड़पता है, वैसी ही तड़पन उस प्रभुके लिये जिस क्षण होती है, वह शीघ्र अपने वरदहस्त फैला देता है । जो लोग अपनी पूर्वावस्थामें अत्यन्त कामी होते हैं, उन्हें इस 'तड़प' का ज्ञान होता है । भगवान्‌की महामाया जब उन्हें एक आघात पहुँचा दे तो वे शीघ्र सच्चे प्रेमीको पानेके लिये विकल हो जाते हैं और तब उनकी पूर्व-अभ्यस्त 'तड़प' उन्हें त्वरित सिद्धि देती है । वे भगवान्‌को अतिशीघ्र वरण करते हैं । एक व्यक्ति अत्यन्त परिश्रमसे एक-एक पैसा कमाकर स्वबुद्धिके उपयोगसे उसे लाखों-करोड़ोंमें बढ़ाता है । उसकी सारी सम्पत्ति यदि अकस्मात् उससे छिन जाय तो उसे जैसी तड़प होती है, वैसी ही तड़प, जिस क्षण सारे खजानोंके मूल्यसे भी अनन्तगुण मूल्यवान् श्रीप्रभुके पदनख-मणिकी प्राप्तिके निमित्त उत्पन्न हो जाय, वह तत्क्षण भगवत्प्राप्तिरूप सिद्धिका लाभ करता है ।

जो जिस भाव और रूपको इष्ट बनाकर उस प्रभुको भजता है, प्रभु उसीके अनुरूप दर्शन देकर उसे कृतकृत्य करते हैं । वह जीव उस अद्भुत विलासीकी अनन्त लीलाओंमें अपने भावके अनुरूप ही अपना स्थान ग्रहण करता है । ऐसे समय एक जीव स्वयंको प्रभुवत् ही मानने लगता है । प्रभु उसकी इस इच्छाको भी पूर्ण कर देते हैं । वे सब कुछ करनेमें अकेले ही समर्थ हैं । वे जीवके जीवत्वका भाव न रहनेपर उसे अपने अंदर ही खींच लेते हैं ।

शिव, गणेश, सूर्य, विष्णु, सरस्वती, श्रीराधा, गोपी, भक्त, गुरु, काली आदि जितने भी स्वरूप हैं, सब उ परमात्माके ही हैं । अलख निरञ्जन, निर्गुण निराकार, अल्ला रहमान, गॉड आदि जितने भी भाव हैं, सब उसीके निमि से हैं । जैन, बुद्ध, सनातन, वैदिक, तान्त्रिक, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, पारसी, संसारके अन्य हजारों, जितने भी मजहब हैं, स उसीकी यशोगाथा गा-गाकर उसे कृपालु बनाना चाहते हैं वह तो स्वभावतः ही परमकृपालु और जीवमात्रका अ हितैषी है—

'सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ।'

'वह हमारा अहैतुकी कृपालु परम सुहृद् है और सभी-ा परम सुहृद् है' यह भाव जगाना ही प्रत्येक धर्मका कार्य है। उसकी अहैतुकी सुहृदताका जब जीवको विश्वास हो ता है, तब वह सुखी हो जाता है ।

मानवजीवन अन्य समस्त चौरासी लक्ष योनियोंमें प्रमुख ना जाता है । हम मानव देखते हैं कि हमारा भी जीवन ी सुखी नहीं है । हम अनुभव करते हैं कि इस जीवनको ी सुखी बनाना हमारा कर्तव्य है । दिन-रातमें, श्रम एवं राममें, भोग और त्यागमें, विविध मार्गोंमें चलकर हम नुभव करते हैं और कभी-कभी दूसरोंसे अपनी कहानी भी नाते हैं । संसार सर्वतोमुखी प्रगतिके मार्गपर बढ़ चला है । गति वे ही कर सके हैं जो एकलक्ष्य होकर बढ़े हैं । जो स्त इच्छाओंकी पूर्तिका साधन है, जो समस्त इच्छाओंकी र्तिसे बढ़कर भी कोई विशिष्ट सुख देनेमें समर्थ है, जो एक-त्र प्रेम करने योग्य है, जो अनन्त सौन्दर्य एवं अनन्त श्वर्यका स्वामी है, उसीको—उसीके दिव्य स्वरूपको जीवनका क्ष्य जानकर जो 'एकलक्ष्य' हो चुके हैं, वे ही धन्य हैं । न्हींका सङ्ग कर, उन्हींके जीवनका अध्ययन कर, उनकी कहानी नकर, उनके अनुभवोंसे लाभ उठाकर हमें भी स्वतःको सी लक्ष्यपर स्थिर कर देना चाहिये । प्रेम ही हमारा साधन हो र प्रेम ही उस साधनकी सिद्धि हो ।

'साधन सिद्धि रामपद नेहू'

श्रीरामकृष्ण परमहंसदेवने अपना अनुभव सुनाते हुए या है कि संसारमें जितने भी जीव हैं, वे सभी श्रीकृष्णको नेके अधिकारी हैं । पर उन सबका भगवान्को पानेका मार्ग क ही हो, ऐसा आवश्यक नहीं है । अपनी-अपनी योग्यता में अपने अन्तःस्थ भगवान्की प्रेरणाके अनुरूप प्रत्येक व्यक्ति-ो साधनमें जुट जाना चाहिये । साधन कौन-सा करें इसके िये बहुत सोचने-विचारनेकी आवश्यकता नहीं है । जिस भी धनमें हमारी स्वाभाविक रुचि सबसे अधिक हो, उसीको ण करना चाहिये । चाहे भगवान्के नामका जप करें, चाहे उनकी लीलाओंका गान करें, चाहे उनके रूपमाधुर्यका न करें, चाहे उन्हें वशीभूत करनेके लिये सात्त्विक-तान्त्रिक योगोंका सहारा लें या चित्तकी वृत्तियोंको अन्तर्मुखी कर में भगवान्के दर्शनके निमित्त तड़पन जाग्रत् करें, उनकी शरणमें हो जायँ, 'वे हमारे अपने हैं'—इसी भावको हृदयंगम कर जकड़े रहें, 'वे हमारे प्रियतम, सखा, स्वामी या सर्वस्व हैं'—यही मानें, 'वे सर्वव्यापी एवं सबके अन्तःस्थ हैं'—समझें, यम-नियमादि अष्टाङ्गयोगका साधन करें, नमाज़ पढ़ें, प्रार्थना करें, दर्शन करें, व्रत करें, तीर्थभ्रमण करें, दान दें या प्राणीमात्रकी सेवा करें—इनमेंसे कोई भी एक, अनेक अथवा इनसे पृथक् जिस किसी भी साधनके निमित्त अन्तःस्थ प्रभु प्रेरित करें, उसी साधनको अपनायें । साधन करते समय मनमें सात्त्विक भाव स्वतः जाग्रत् हो जाता है । जो भगवान्की ओर एक कदम बढ़ते हैं, भगवान् उन्हें पानेके निमित्त दस कदम आगे बढ़ते हैं । साधन करते-करते विश्वासकी उत्पत्ति स्वयमेव हो जाती है । साधकके जीवनमें भला या बुरा जो कुछ भी होता है, वह उसके अन्तःस्थ प्रभु-की देन होनेसे वास्तवमें केवल भला ही होता है और उससे साधनमें लगन बढ़ती ही जाती है । दुर्दैवसे साधन छूट भी जाय तो आत्मा स्वयंको कोंचती रहती है और एक दिन साधन पुनः प्रारम्भ हो जाता है । जब साधक अपनेमें दूसरे प्राणियोंकी अपेक्षा श्रेष्ठताका बोध करता है तो शीघ्र ही उसके पतनकी सम्भावना होती है ।—इस प्रेमके घरमें प्रवेश करनेवालेको समस्त अभिमान छोड़ देना पड़ता है ।

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ।

—छुरेकी धारके समान तीखी धारवाला यह मार्ग है । इसपर सब कुछ त्याग कर ही मनुष्य बढ़ सकता है । त्यागकी वह शक्ति तो महामायाके प्रसन्न होनेपर ही आती है । अपने स्वामीके प्रति सच्चा प्रेम देखकर ही वह प्रसन्न होती है ।

साधन सच्चा है, ठीक मार्गपर हम बढ़ रहे हैं—इसे पहचाननेकी कसौटी सिर्फ एक है । वह है—

'साधन सिद्धि रामपद नेहू ।'

—यदि भगवद्विरोधी विचारों, कर्मोंसे चित्त हट रहा है, भगवान्के चरणकमलोंमें प्रीति हो रही है, भगवान्के सांनिध्यके लिये उत्कण्ठा तीव्रतर है तो हमारा साधन सफल है । यदि हम इस कसौटीपर खरे नहीं उतरते हों तो हमें अपने-आपको सँवारना चाहिये और भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये कि वे अपने पादपद्मोंमें निर्मल भक्तिका वर दें ।

* * *

विद्वान् संत-महात्माओंको दान

(लेखक—श्रीरामनिरीक्षणसिंहजी एम्० ए०, काव्यतीर्थ)

देशमें अधिकतर लोगोंको अन्न-वस्त्रके अभावसे दुखी रहनेपर भी साधारणतया लोगोंमें धार्मिक प्रवृत्तिका क्रम चलता ही रहता है और अच्छे धार्मिक कृत्योंमें लोग बराबर दान देते रहते हैं । उन प्रतिग्रहीताओंमें अधिकतर विद्वान् संत-विरागी महात्मा ही रहते हैं । गतवर्ष अष्टग्रहीकी शान्तिके लिये सम्पूर्ण देशमें यज्ञानुष्ठान तथा संकीर्तनकी जो लहर चली थी, वह लोगोंकी स्मृतिमें अभी नूतन उदाहरण है । बहुतेरे राजनीतिक नेताओंने उसमें अपार धनराशिके व्ययकी भूरि-भूरि निन्दा की थी तथापि अनन्तकालसे प्रचलित वह प्रथा रुकनेवाली नहीं है और कदाचित् कभी रुके भी नहीं, जबतक आर्यलोग और सनातनधर्म इस धरापर विद्यमान रहेंगे ।

समय विकराल बीत रहा है । बढ़ते हुए शासन-व्ययकी पूर्तिके लिये आये दिन करोंकी भरमार होती जा रही है, भोज्य एवं भोग्य पदार्थोंकी मूल्य-वृद्धिसे लोग कराह रहे हैं । ऐसी हालतमें भी देशमें जहाँ-तहाँ धार्मिक कथा-प्रवचन, कीर्तन, रामार्चा आदि चलता ही रहता है । योग्य विद्वान्, गृहस्थ, विरागी एवं संन्यासी कथा-वाचक और व्याख्याता रहा करते हैं । गृहस्थलोग ऐसे विद्वानोंके मुखसे धर्मचर्चा सुनकर अपना परलोक सुधारनेकी आशासे अपनी गाढ़ी कमाईमेंसे थोड़ा-बहुत द्रव्य इन विद्वानोंके चरणोंपर सहर्ष अर्पित करते हैं । यहाँतक सब कुछ ठीक है, परंतु दिनानुदिन कुछ ऐसे कथावाचकों और व्याख्यानदाताओंकी संख्या बढ़ रही है जो कचहरीके वकीलों तथा वैद्य-डाक्टरोंकी फीसकी तरह बलात् श्रोताओंसे मनमाना रुपया वसूलते हैं । वे सनातन सामाजिक परिपाटीको धूलिमें मिला रहे हैं । उनके इस अनुचित वर्तावसे विचारवान् गृहस्थोंको इस परिपाटीसे घृणा बढ़ रही है और आशंका है कि कालक्रमसे इस पवित्र परिपाटीको भारी धक्का लगेगा । तीर्थ-स्थानोंमें पण्डे-पुजारी तो प्रायः मनमाना करते ही हैं । ग्रामोंमें आमन्त्रित होकर ये कथा-वाचक लोग अनुचितरूपसे जो द्रव्य बटोरनेका क्रम चला रहे हैं, यह शोचनीय है । धर्मोपदेशमें क्रय-विक्रयकी परिपाटी इस देशके लिये नयी बात है । विद्या-प्रचारमें भृत्य-अध्यापनकी परिपाटी विदेशी शासनकालसे स्कूल-कॉलेजोंमें शताधिक वर्षोंसे चल ही रही है और उस शिक्षाका जैसा कुपरिणाम व्यक्ति और समाजपर पड़ा है और पड़ रहा है, यह किसीसे छिपा नहीं है, सारी शिक्षा-पद्धति अर्थोपार्जनके योग्यता-सम्पादनके आधारपर अवलम्बित कर दी गयी है, जिससे देशमें शिक्षित समाजमें बढ़ती हुई अर्थ-लिप्सा अथच भोग-लिप्साका प्रवाह चल रहा है और भ्रष्टाचारकी तरङ्गमें समाज बहता हुआ नजर आ रहा है । लाख प्रयत्न करनेपर भी इसमें कोई कमी नहीं हो रही है । यह निश्चित सिद्धान्त है कि जबतक शिक्षाको अर्थकरी नहीं मानकर मानवोत्पादक नहीं बनाया जायगा तबतक देशमें शान्ति नहीं विराजेगी और पढ़े-लिखे मानव-नामधारी लोगोंकी संख्या बढ़ती ही जायगी । संत-महात्माओंका जीवन इसी अर्थमें समाजके लिये मार्गदर्शक है कि वे शुद्ध और सादा परोपकारपरक जीवन बितानेवाले समझे जाते हैं । पेटके लिये, विलासिताके लिये और अनेकानेक सांसारिक झंझटोंके लिये तथा प्रमादके लिये पाप करनेवाले असंख्य लोग गृहस्थाश्रममें तो हैं ही, फिर ये वेषधारी संत-महात्मा गृहस्थोंको क्यों भटकाने चले हैं ? अयोध्या, काशी, प्रयाग, मथुरा, ऋषिकेश आदि-आदि तीर्थ-स्थानोंमें करोड़ोंकी सम्पत्ति हिंदुओंने पूर्वसे ही लगा रक्खी है और प्रतिवर्ष करोड़ों रुपये ये वहाँ जा-जाकर चढ़ौवेके रूपमें अर्पित कर रहे हैं । ऐसी अवस्थामें भी उन स्थानोंसे ये महात्मा लोग निकल-निकलकर दूर देहातोंमें अपने ज्ञानका प्रकाश प्रसारित कर धन बटोरते हैं । वहाँके असंख्य दीक्षा-गुरु लोग प्रतिवर्ष अपने शिष्योंसे गुरु-दक्षिणाके रूपमें बड़ी धनराशि ले जाया करते हैं । इनमें अधिकतर लोग तान्त्रिक मन्त्रोंके विषयमें कोरे होते हैं और छलना ही उनकी करामात है । इस मूर्खता और स्वार्थ-परताको रोकना अत्यन्त आवश्यक है । वर्तमान समयमें हिंदुओंमें धार्मिक भावनाके ह्रासके साथ-साथ अन्धविश्वास भी घटता जा रहा है और समाजको इस स्थितिसे लाभ उठाना चाहिये ।

हिंदूधर्मका सदासे यह एक अङ्ग रहा है कि विद्वान् लोग समाजमें निर्लोभ होकर ज्ञानका प्रचार करते आये हैं । पिता अपने पुत्रोंसे प्रतिज्ञा कराते थे कि वे इसको पितृ-ऋण समझकर धार्मिक प्रवचन करें । स्व० पं० मदनमोहन मालवीयके पूज्य पिता कथा-वाचक थे और उन्होंने मालवीयजीसे इस क्रमको बनाये रखनेकी प्रतिज्ञा करायी थी । यद्यपि मालवीयजी व्यासगद्दीपर बैठकर समयाभावसे ऐसा नहीं कर सके, पर अपने अगणित उपदेशपरक व्याख्यानोंसे उन्होंने इस

ऋणको सूदसहित चुकाया, इसमें संदेह नहीं । प्राचीन कालमें इस देशमें साक्षरता बहुत कम थी, सीमित थी और गाँवोंमें योग्य विद्वानोंके द्वारा कथासे ही सदाचार तथा धर्मका प्रचार होता था । श्रद्धालु गृहस्थ सपरिवार चतुर्दिक् बैठकर धर्मोपदेश तथा महाभारत आदि पुराणोंमें वर्णित महापुरुषोंके जीवन-चरितका श्रवण करते थे । रामायणमें वर्णित भगवान् रामकी मातृ-पितृभक्ति तथा भ्रातृस्नेहको हृदयंगम करते थे, हनुमान्‌की स्वामिभक्ति, ब्रह्मचर्य और वीरताकी कथाको सुनकर उछल पड़ते थे, उधर महाभारतके युधिष्ठिरकी सत्य-निष्ठा, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन आदि पाण्डवोंकी मातृभक्ति, वीरता तथा भ्रातृस्नेहसे गद्गद हो जाते थे । पिताके सुखके लिये संसारके इतिहासमें अतुलनीय त्याग करनेवाले भीष्म-पितामहकी भीषण प्रतिज्ञाका श्रवण करके किस आर्य संतानका सिर ऊँचा नहीं होता था । उधर दुर्योधनकी राज्य-लिप्सा तथा उसके द्वारा भरी सभामें अपने कुलकी वधू द्रौपदीको नग्न करनेके घृणित प्रयासकी कथा सुनकर कथा-स्थलमें छी-छीका शोर मच जाता था । यह था महत्त्व प्राचीन कालमें कथा-प्रवचनका । प्रवक्ताको लोग श्रद्धासे स्वयं योग्य द्रव्य देकर तृप्त करते थे, आजकी तरह मोल-तोल या रोजगारी वृत्तिका अभाव था । गृह-त्यागी और विरागी लोगोंकी बात छोड़िये, सनातनधर्मके चार आश्रमोंमेंसे पिछले दो आश्रमों—वानप्रस्थ और संन्यासका यही उद्देश्य था कि इस लंबे समयको लोग घरसे अलग रहकर केवल आत्मसाधन तथा सहज परोपकारमें व्यतीत करते थे । अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार लोग शारीरिक तथा मानसिक परिश्रमसे समाजकी सेवा करते थे । कथा-प्रवचन भी उनमेंसे एक महत्त्वपूर्ण काम था । उस क्रमको पुनरुज्जीवित करनेकी आज बड़ी आवश्यकता है । हम चाहते हैं कि कथा-वक्ताको यदि लोग दान दें तो उस द्रव्यका सदुपयोग दाताओंकी रुचिके अनुकूल उन-उन स्थानोंकी जनताकी सेवामें किया जाय । सरकारके द्वारा जनहितका जो-जो आवश्यक कार्य नहीं किया जा सके, उन-उन कामोंकी सिद्धिमें इस प्रकारसे उपार्जित द्रव्य लगाया जाय । इससे तथाकथित महात्माओंके चक्करसे सीधे-सादे गृहस्थोंका पिण्ड छूट जायगा और हर गाँवमें पकारिणी समितियोंके द्वारा पिछड़े हुए भाइयोंका महान् कार होगा । सरकारी चार पैसेसे जितना काम होगा, ना काम दो पैसेमें अपने भाइयोंके हाथसे होगा, सामूहिक सहयोगकी शिक्षाका महत्त्व जनताके बीचमें व्यापकरूपसे दीख पड़ेगा । सरकार जहाँ-तहाँ मोद-मण्डलियोंको आर्थिक सहायता दिया करती है । ग्रामीण जनोंके मनोरञ्जनके लिये इस द्रव्यका भी बहुत अंशोंमें दुरुपयोग हो रहा है । उपदेश और मनोरञ्जनको अन्योन्याश्रित किया जाना चाहिये ।

आज बहुत-से संस्कृतके प्रौढ़ विद्वान् जीविकाके बिना निरवलम्ब जीवन बिता रहे हैं और बहुत धनराशि व्यय करनेपर भी संस्कृत-पाठशालाओंके द्वारा संस्कृत-शिक्षाका प्रचार नहीं हो रहा है । क्या ही अच्छा हो कि इन विद्वानोंको निश्चित मासिक वृत्ति देकर उनके द्वारा जनतामें कथा-प्रवचन और व्याख्यानोंके द्वारा सदाचार तथा धर्मोपदेशका प्रचार कराया जाय । इससे ठगीपर उतरे हुए लोगोंकी—नकली साधु-महात्माओंकी पूछमें कमी होगी । जीवनके किसी भी विभागमें योग्य व्यक्तियोंकी बड़ी कमी है और योग्य व्यक्तियोंकी योग्यता कभी छिपी नहीं रह सकती । स्वतन्त्रता-प्राप्तिके बादसे देशोन्नतिके जितने कार्य आरम्भ किये गये हैं, उनमें एक मौलिक त्रुटि चली आ रही है । योग्य व्यक्तिको उचित स्थान नहीं मिल रहा है । मताधिकारके इस युगमें भेड़ियाधसानकी भाँति लोग बहुमतकी धारामें बहे जा रहे हैं, जिसमें योग्यताका कोई स्थान नहीं है ।

श्रीगुलजारीलाल नन्दाका भ्रष्टाचारके उन्मूलनके सम्बन्धमें जो अभियान आरम्भ हुआ है, उसमें भी यही त्रुटि काम कर रही है । इस अभियानमें भी अधिकतर भ्रष्टाचारी लोग ही सम्मिलित हो रहे हैं । जबतक शासनका व्यय घटाकर लोगोंमें धर्ममय सादा जीवन बितानेका वातावरण देशमें नहीं तैयार किया जायगा, जैसा कि गान्धीजीका मार्ग था, तबतक कोई सुधार होना नहीं है । वास्तविक भूखे लोग ही चोरी नहीं किया करते, अधिक सुखकी खोजमें ही अधिकतर लोग अधिक पाप-कर्म करते हैं । देहात्मवाद तथा भोग-लिप्साका यह विषम परिणाम अभी देशमें सर्वत्र व्याप्त है । इसका निराकरण करना है । भर्तृहरिका यह श्लोक सब लोगोंके लिये विचारणीय है—

वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं दुकूलैः
सम इह परितोषो निर्विशेषो विशेषः ।
स तु भवतु दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः ॥

आजके युगकी विशेषता—अर्थ एवं अधिकार

(लेखक—प्राध्यापक श्रीजे० पी० पाण्डेय एम्० एस-सी०, बी० एड्०, एल्-एल्० बी०, विशारद)

प्रत्येक युगकी अपनी-अपनी विशेषताएँ होती हैं, जिनसे वह सम्बोधित होता है, जाना जाता है। इस प्रचलित युगको कई लोग जहाँ अणु-युग कहते हैं, वहाँ कई अन्य इसे 'डालडा-युग' कहकर भी मखौल उड़ाते हैं। बहुत-से इसे राकेट-युग कहकर इस युगको विश्वके इतिहासमें सर्वश्रेष्ठ बतानेका दावा भी करते हैं। पर वस्तुतः भारतमें यह वर्तमान युग 'अर्थ और अधिकार'का मतवाला युग ही कहा जाना चाहिये; क्योंकि आजके इस युगमें जितनी दौड़ और होड़ अर्थ और अधिकारको लेकर चल पड़ी है, सम्भव है विश्वके इस भूभागके सदियोंसे चले आनेवाले इतिहासमें ऐसी कभी नहीं रही होगी। हाँ! त्रेता और सत्ययुगमें भी 'सत्ता'का अस्तित्व था, उसके लिये कशमकश थी, युद्ध भी होते थे; पर वे सब राजा-महाराजाके संकुचित दायरेमें ही सीमित थे—जनताको उससे इतना सरोकार न था। राजघरानेमें 'सत्ता'के लिये बड़े-बड़े चक्रव्यूह रचे जाते थे, सेनाको मजबूत और विशाल बनाकर राजमदमें मस्त राजा लोग जो कुछ भी करते थे, उसका प्रभाव सीधेरूपसे जनतापर कभी न गिरने देते थे और जनता भी अपने राजामें ईश्वरका आभास एवं अस्तित्व मानकर जो कोई भी उस राजसिंहासनको ग्रहण करता था, उसीकी अनुगामिनी बनकर अपनी देशभक्तिका परिचय देती थी। जब कभी कोई सैन्य-क्रान्ति हुई, या राजा पलटे, तब भी जनताके मध्य उसका सीधा कोई प्रभाव नहीं पड़ा। राजनीति राजघराने या उससे सम्बन्धित व्यक्तियोंतक ही सीमित थी—उसमें प्रथम तो छल-कपट, राग-द्वेष, झूठ-प्रपञ्च होते ही न थे; यदि होते भी तो उसी संकुचित दायरेमें होकर तुरंत ही इस ओर या उस ओर घटना घटनेके बाद वे लुप्त हो जाया करते थे। पर आजकी स्थिति और है। मानव-जीवनके प्रत्येक अङ्गपर आज लोकतन्त्र छाया हुआ है, राजतन्त्रमें तो यह कूट-कूटकर भरा है। इसमें तो आज जितना अधिक लोकतन्त्र है, उतना सम्भव है विश्वके किसी भी कालमें यहाँ न रहा होगा।

लोकतन्त्रका सिद्धान्त सिद्धान्ततः अपने-आपमें बुरा नहीं है—इसका वास्तविक अर्थ तो मानवजीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें—राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक आदि सभीमें अधिक-से-अधिक लोगोंका सहयोग प्राप्तकर सबके हितके लिये कार्य करना तथा उनकी सुख-सुविधाओंके साधन जुटाना है। राजनीतिक क्षेत्रमें लोकतन्त्र राजकीय सत्ताका एक विशुद्ध विकेन्द्रीकरण है जहाँ राज्यके एक छोटे-से-छोटे ग्रामीण सदस्यकी राय और मतका उतना ही महत्त्व है जितना किसी महान् लक्ष्मीपतिके मतका; फिर भी वास्तविकता कुछ विचित्र ही दृष्टिगोचर होती है। ये जनताके सेवक जनताके नेतृत्वका भार सँभाले अपनेको 'नेता'के रूपमें ढालकर राज्यकी विधान-सभाओं या जिला-परिषदोंके प्रमुखोंके पदोंको सुशोभित करनेको इतने आतुर लगते हैं कि जिसे देखकर लगता है कि आजका युग 'अधिकार'के पीछे कितना बावला—मतवाला होकर येन-केन प्रकारेण 'अर्थ' अर्जन करनेके लिये लंबी दौड़ लगा रहा है; मानो जीवनमें 'अर्थ' और 'अधिकार' ही सब कुछ है। जो स्वार्थलोलुपता, ईर्ष्या, राग-द्वेष उस बीते मध्यकालमें राजा या उसके राजघरानेकी परिधिमें ही दृष्टिगोचर होते थे, आज वे घर-घरकी वस्तु बन गये हैं। यहाँतक कि अपने मताधिकारके प्रयोगके लिये न केवल भाई-भाईमें ही फूट है वरं बाप-बेटेमें, भाई-बहनमें—और तो और क्या, पति-पत्नीतकमें वह घुस आयी है। बड़ा आश्चर्य है—पतिको परमेश्वर समझनेवाली भारतकी जो नारी सदियोंसे गृहलक्ष्मीका पद सुशोभित किये रही है, उस नारीका हाल देखिये—आज यदि पति कांग्रेसी है तो उसकी पत्नी समाजवादी; क्योंकि उसे वहाँ 'अर्थ' और 'अधिकार' प्राप्त होता है। अपने पिताको सब कुछ समझने तथा उसकी सेवामें अपना तन-मन-धन निछावर कर देनेवाले श्रवणके इस देशमें आज पिता जनसंघका सदस्य है तो बेटा कम्युनिस्ट—एक जागीरदारी प्रथाका हामी है तो दूसरा 'सब कुछ समाजका है' में विश्वास रखनेवाला। इससे स्पष्ट है—आजका लोकतन्त्र जहाँ एक ओर सत्ताको विकेन्द्रितकर प्रत्येक मनुष्यको, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, उस राजयन्त्रका पुर्जा बनाता है जिससे उसे उसके फलस्वरूप 'अर्थ' और 'अधिकार' प्राप्त होते हैं, वहाँ दूसरी ओर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और तज्जनित उच्छृङ्खलताको बढ़ावा

देकर भी पद-पदमें कम्युनिस्ट, कांग्रेसी तथा अन्यान्य दलोंकी बड़ी-बड़ी कगारें भी खड़ी करता है । आज टूटते हुए घरोंकी दयनीय पारिवारिक घटनाएँ इस स्थितिको बहुत स्पष्ट करती हैं ।

अब हम शासन-व्यवस्थाको आँकें और देखें कि आजके राजकीय अधिकारी अपने अधिकारोंपर अधिक गर्व करते हैं या अपने कर्तव्योंपर । यह तो एक सर्वमान्य राजनीतिक सिद्धान्त है कि जहाँ अधिकारोंकी प्राप्ति होती है, वहाँ कर्तव्य अपने आप उभर आते हैं । कर्तव्य एवं अधिकार एक दूसरेके पूरक हैं । पर आज स्थिति क्या है ? आज राज्यका छोटे-से-छोटा अधिकारी भी अपने अधिकारोंका स्वेच्छानुकूल निरङ्कुशतासे उपभोग करना चाहता है । उसे अपने कर्तव्योंका कोई भान नहीं है । राज्यके उच्च अधिकारियोंका तो कहना ही क्या—उनके श्रीमुखसे निकला हुआ एक-एक शब्द 'न्याय' बन जाता है, चाहे वह राज्यद्वारा प्रतिपादित उन्हीं नियमोंके विपरीत होता हो, जिनको स्वयं उसीने अपनेमें निहित राजकीय सत्ताके कारण बनाये हैं । बड़ा आश्चर्य और कभी-कभी तो बड़ी हैरानी तब होती है कि जब राज्यके बड़े-बड़े अधिकारी अपने अधिकारोंका खुलकर दुरुपयोग करते हैं । और यह निश्चित है—जहाँ इन अधिकारोंका इस प्रकार दुरुपयोग होने लगता है, वहाँ 'अर्थ'का जमा होना और उल्टे-सीधे रास्तोंसे आना भी आसान हो जाता है । आज जितनी कर्तव्य-विमुखता तथा 'अर्थ'के पीछे अंधी उन्मत्तता इस राज्यके अधिकांश बड़े-बड़े अधिकारियोंमें देखी जाती है, उतनी और किसीमें नहीं; राष्ट्र आज यदि कमजोर है तो इसी नैतिक पतनके कारण है, जिससे न केवल राज्य-प्रशासनमें भ्रष्टाचार फैलता है; अपितु जनताके जिम्मेदार लोग भी बिगड़ते हैं ।

सामाजिक व्यवस्थामें भी आज जितनी जातियों या वर्ण-व्यवस्था या इनके द्वारा उत्पन्न ऊँच-नीचकी नहीं बन आती, उतनी 'अधिकार' और 'अर्थ'की बन आती है । आज स्पष्ट तौरपर समाज दो बड़े-बड़े दलोंमें विभाजित हुआ-सा लगता है—इस 'अर्थ' और 'अधिकार'ने मानो मानव-जातिमें दो नयी जातियोंका निर्माण कर दिया है। यह तो स्पष्ट है कि जहाँ 'अधिकार और अर्थ' है, वहाँ मान-मर्यादा और प्रतिष्ठा भी है । आज भी व्यक्तिविशेषकी योग्यता और उसकी मान-प्रतिष्ठा उसमें समापन्न 'अधिकार' और 'अर्थ' पर आधारित मानी जाती है । आज भी जीवनके भौतिक सुखोंके उपकरणोंका जमघट सही और उच्च जीवनके मापदण्ड बने हुए हैं । जबतक मानवमें पायी जानेवाली मानवता और भ्रातृत्व तथा समानताके सर्वश्रेष्ठ गुणोंको भौतिक ऐश्वर्योंकी चमक-दमकसे कईगुना ऊपर नहीं समझा जायगा; तबतक समाजमें 'अर्थ' और 'अधिकार' सब कुछ समझे जाते रहेंगे । आज इस नये युगमें जितनी भी नयी-नयी समस्याएँ समाजके सामने हल होनेको अपना मुँह फैलाये खड़ी हैं, वे सभी 'अर्थ' और 'अधिकार'के द्वारा जनित समाज-व्यवस्थाके कारण उत्पन्न हुई हैं । घरपर पारिवारिक जीवनमें भी इनका प्रवेश बड़ा गम्भीर रूप धारण किये हुए है—पिताको आज वही पुत्र अपने प्राणोंसे भी अधिक प्यारा लगता है, जो ऊँचा अधिकारी है या सबसे अधिक अर्थका उपार्जन करता है तथा वह एकमात्र पुत्र भी उसकी आँखोंसे गिर जाता है, जो अर्थ अर्जन करनेमें उतना दक्ष नहीं है । पति और पत्नीमें भी आये दिन इसीलिये कशमकश चलती रहती है कि वे भी एक दूसरेके प्रति अपने कर्तव्योंके प्रति उतने सजग न होकर आज अपने-अपने अधिकारोंका खुलकर बड़े जोर-शोरसे प्रदर्शन करते हैं तथा वे दोनों 'अर्थ'के पीछे ही अपना ऐसा सम्बन्ध जोड़ते और तोड़ते हैं । विवाह पहले धर्मपर आधारित था; पर आज यह 'अर्थ'के चहुँओर ताने-बानेकी तरह गुँथता चला जा रहा है—जितना अधिक अर्थ मिलता है, उतना ही अच्छा लड़का प्राप्त हो जाता है। यही नहीं, कहीं-कहीं तो विवाह—एकके बाद एक—केवल इसीलिये किये जाते हैं कि इनसे बराबर धनकी प्राप्ति होती रहे ।

बड़ी विडम्बना है इस युगकी कि आज ज्यों-ज्यों विज्ञान-प्रदत्त भौतिक सुख-सुविधाएँ बढ़ती जाती हैं, त्यों-त्यों मानव बेतहाशा 'अर्थ' और 'अधिकार'को प्राप्त करनेके लिये बौखलाया हुआ इधर-उधर और अधिक भटकता हुआ-सा लगता है । यह स्वयं पतन है और अधिक पतनका साधन है ।

* * *

भगवन्नामके चमत्कार

(लेखक—डा० श्रीगोकुलप्रसादजी त्रिपाठी एम्० ए०, पी-एच्० डी०, एल्० टी०, साहित्यरत्न)

जून १९६४ के कल्याणमें 'भगवन्नामका अमोघ परिणाम' शीर्षकसे प्रकाशित पू० वृन्दावनवासी बाबाका अनुभव पढ़कर मुझे भगवन्नामके अचूक प्रभावसे सम्बन्धित अपने अनुभवोंको प्रकाशित करानेकी प्रेरणा हुई। यह लेख उसीका परिणाम है।

भगवान् धन्वन्तरिका जो वचन पू० बाबाने उद्धृत किया है, उसे मैं 'अच्युत-मन्त्र' कहा करता हूँ। मैंने सर्वप्रथम इसे कहाँ पढ़ा था, यह तो स्मरण नहीं; किंतु उसमें 'नामोच्चारण' के स्थानपर 'नामस्मरण' पाठ था। पढ़ते ही भगवान्के इस कथनमें मेरी श्रद्धा दृढ़ हो गयी थी। मुझे इसके प्रभावका जो अनुभव हुआ, वह निम्नलिखित है—

मई १९६३ की बात है, अपनी एक पुस्तकके प्रूफ-रीडिंगके लिये मैं प्रयाग गया था। वहाँ जाते समय मेरे कनिष्ठ द्विवर्षीय पुत्र आनन्दको साधारण-सा ज्वर था। मुझे प्रयागमें चार-पाँच दिन ही हुए थे और उतना ही मुझे वहाँ और ठहरना भी था, कि एकाएक मुझे घरपर चिन्ताजनक स्थिति होनेका आभास मिला। 'आनन्दका ज्वर बिगड़ गया होगा' इस आशङ्काके प्रतीकाररूपमें बालककी मङ्गलकामनासे मैंने अवकाशके समय अच्युत-मन्त्रका—

अच्युतानन्तगोविन्दनामस्मरणभेषजात् ।
नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ॥

—भगवान् धन्वन्तरिके इस वचनका अनवरत उपांशु जप प्रारम्भ किया। पाँच दिन बाद जब घर लौटा, तो आनन्दको मृत्युके मुखमें पड़ा हुआ पाया। उसे १०४ टायफाइड ज्वरके साथ भयंकर कामला रोग भी था। नेत्र, नख, मूत्र इत्यादि बिल्कुल पीले पड़ गये थे। वह अत्यन्त क्षीण हो गया था और आँखें बहुत भीतर धँस गयी थीं। उस अवस्थामें भी वह मेरे लिये व्याकुल था। मुझे—

औषधं जाह्नवीतोयं वैद्यो नारायणो हरिः।

—के अतिरिक्त और कोई उपाय उस समय नहीं सूझा। गङ्गाजल साथमें लाया ही था। वह जब-जब पानी माँगता, मैं गङ्गाजल पिलाता और उसे गोदमें या कंधेपर लिये निरन्तर मनमें अच्युतमन्त्रका जप करता रहता। भगवत्कृपासे दो-तीन दिनमें ही उसकी हालत सुधरने लगी और धीरे-धीरे वह बिल्कुल स्वस्थ हो गया।

इस अच्युतमन्त्रका श्रद्धा-विश्वासपूर्वक निरन्तर स्मरण करनेसे न केवल शारीरिक अपितु मानस-रोग भी निस्संदेह नष्ट होते जाते हैं—काम-क्रोधादि षट्विकारों और राग-द्वेषादि पञ्च क्लेशोंकी निवृत्तिमें भी इस मन्त्रसे सहायता मिलती है—ऐसा मेरा अनुभव है।

श्रीविष्णुसहस्रनामके अन्तर्गत आनेवाली—

अमृतांशूद्भवो भानुः शशबिन्दुः सुरेश्वरः।
औषधं जगतः सेतुः सत्यधर्मपराक्रमः॥

—इस भगवन्नामावलीका श्रद्धा-विश्वासपूर्वक जप करके भी मैंने अनेक बार अपने परिवारके लोगोंको वेदना-शान्ति एवं आरोग्य-लाभका अनुभव कराया है। सन् १९५१ में मैं एक छोटे-से गाँवके मिडिल स्कूलमें अध्यापक था। वहाँ न कोई मातृसदन और शिशुमङ्गल-केन्द्र था, न घरपर मेरे अतिरिक्त और कोई सँभाल करनेयोग्य व्यक्ति था। एकाएक रात्रिको दो बजे मेरी पत्नीको प्रसववेदना प्रारम्भ हुई और मैं गाँवकी दाईको बुला लाया; किंतु आसन्नप्रसवाकी अत्यन्त दुर्बलता और गाँवकी साधारण दाईकी अनुभवहीनताके कारण प्रसवमें बहुत ही कष्ट और विलम्ब हो रहा था। उस समय मैंने इसी 'अमृत-मन्त्र' का भक्ति-भावसे जप किया और थोड़े समय बाद ही अनायास पुत्र-प्रसव करके प्रसूता सुखकी नींद सो गयी।

ॐ नमो नारायणाय ।

—इस अष्टाक्षर मन्त्रकी सर्वार्थसाधिका शक्तिका भी मैंने अनेक बार प्रत्यक्ष अनुभव किया है । प्राइवेट परीक्षार्थी होकर भी बी० ए० परीक्षामें प्रथम श्रेणीमें द्वितीय स्थान प्राप्त करनेसे लेकर पी-एच्० डी० होनेतक मैं भगवन्नामस्मरणका ही चमत्कार मानता हूँ । इतना अवश्य है कि चमत्कार देखनेके लिये मैंने कभी भगवन्नामका जप नहीं किया । सहज, स्वाभाविक श्रद्धा-विश्वास और अनुरागसे ही जप, स्मरण आदि होता रहा है और जो भी चमत्कार अनुभवमें आये हैं, वे भी भगवन्नामके प्रभावसे जीवनमें आनेवाली तदनुकूलता तथा पात्रताकी प्रतिष्ठा होनेपर ही आये हैं । दूसरे शब्दोंमें भगवन्नामसे होनेवाले चमत्कार 'बाजीगरीके करिश्मे' नहीं, जीवनमें अनुकूल परिवर्तन लानेकी अदृश्य प्रेरणा एवं प्रभावसे सम्पन्न भागवत-शक्तिके स्वाभाविक लीलाविलास हैं ।

मैं अपना आशय और अधिक स्पष्ट कर देना चाहता हूँ । साधारण मनुष्यके मनमें कामना या सूक्ष्म-वासना होना स्वाभाविक है । किंतु वैसा होनेपर भी फलके चिन्तनको छोड़कर भगवन्नामस्मरणमें ही अपना सारा ध्यान केन्द्रित करनेका प्रयत्न किया जा सकता है और ऐसा करनेसे सकाम भावकी कृपणता मिटकर आशासे अधिक सुफल प्राप्त होनेकी सम्भावना बढ़ती है । जैसे-जैसे भगवन्नामस्मरण जीवनका बनता जाता है (जीवनमें स्वाभाविक रूपसे घुलने-मिलने लगता है,) वैसे-ही-वैसे उससे असंख्य चमत्कार जीवनमें प्रकट होने लगते हैं । उसे एक पृथक् ऊपरी साधन माननेवाले सकाम साधकको भगवन्नामकी उस अप्रमेय एवं अप्रतिहत शक्तिका अनुभव नहीं हो सकता, जिसे महर्षि वाल्मीकिने या गोस्वामी तुलसीदासजीने अपने जीवनमें प्रत्यक्ष अनुभव किया था ।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण धारण करनेसे सुख, शान्ति और समृद्धि

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०, विद्याभूषण, दर्शनकेसरी)

एक महात्मा राजाके एक मनोरम उद्यानमें आनन्दमुद्रामें बैठे वातावरण, प्रकृति तथा पुष्पोंका आनन्द ले रहे थे । राजकीय उद्यान बड़े व्ययसे सजाया गया था । हरित लतिकाएँ और नाना रंग-बिरंगे विहँसते पुष्प, मादक सुगंध, हरी-भरी घास, शीतल-मंद समीर तथा समीप ही प्रवाहित की सुषमा महात्माजीको आनन्दविभोर कर रही थी । वे तन-मन विस्मृतकर बेसुध प्रकृतिकी रूपमाधुरीका पान कर रहे थे ।

राजाको उनकी यह निश्चिन्तता अखरी । उनके उद्यानमें कोई साधारण व्यक्ति क्यों ऐसे आ बैठे ? वे कुछ क्रुद्ध होकर महात्माके समीप आये और बोले—

'जानते हो, यह किसका उद्यान है ?'

महात्मा वैसे ही निश्चिन्त बैठे रहे । उनके मुखपर शान्ति और आनन्द अब भी पूर्ववत् खेल रहे थे । उन्होंने उत्तर दिया—

'यह उद्यान मेरा है । मैं ही इसका आनन्द ले रहा हूँ' यह कहकर वे और भी फैलकर बैठ गये और निश्चिन्त प्रकृतिको निहारते रहे ।

राजा—'क्या तुम नहीं जानते हो कि यह राजकीय उद्यान है ? मैं राजा हूँ, इस प्रदेशका स्वामी । यह मेरा उद्यान है । इसपर मेरा अधिकार है । इसके पुष्प, बेल, पौधे, वृक्ष तथा अन्य सुन्दर वस्तुएँ सब मेरी हैं । मेरे आनन्दकी वृद्धिके लिये राज्यकी ओरसे इनपर असाधारण व्यय किया गया है । इसमें एक-एक वृक्ष बहुमूल्य है । दूर-दूरसे उन्हें मँगवाया गया है । उन्हें लगाने और पुष्पित करनेमें राज्यका अमित व्यय हुआ है । इतने सबपर तुम-जैसा गेरुआ वस्त्र पहिने अधनंगे शरीर और दो पसलियोंवाला निर्धन, निराश्रित व्यक्ति कहता है कि यह उद्यान मेरा है । जो व्यक्ति अपने पेट और शरीरकी मामूली-सी आवश्यकताएँ पूर्ण नहीं कर सकता, वह भला, क्या इस उद्यानका मालिक हो सकता है ?'

महात्मा शान्तभावसे राजाकी मदभरी गर्वोक्ति सुनते रहे । फिर मधुर मुसकान बिखेरते हुए बोले—

'राजन् ! इस उद्यानकी हरी-भरी लतिकाओं, पुष्पों, वृक्षों तथा अन्य सामग्रीका जितना आनन्द मैं ले रहा हूँ, उतना आप अपनी तमाम राजसी सुविधाओंके बावजूद भी नहीं ले रहे हैं । इसपर इतना व्यय करने, अनेक नौकरोंद्वारा इसकी

देख-भाल, संरक्षण आदि करानेके बाद भी मेरे-जितना आनन्द न ले पाना इस बातका द्योतक है कि यह उद्यान वस्तुतः आपका नहीं है। यहाँ प्रकृतिका सुन्दर स्वरूप खुला पड़ा है। जिसकी इन्द्रियोंमें उसका सुख भोग करनेकी शक्ति है, जिसकी संवेदना प्रकृतिके रसपानके लिये सूक्ष्म है, जो तन्मयतापूर्वक अपना प्रकृतिसे तादात्म्य कर सकता है, वही उसका मालिक है। सुन्दरता और आनन्द हृदयके विषय हैं। केवल सहृदय व्यक्ति ही इनका रसास्वादन कर सकते हैं। अन्य व्यक्ति इनपर चाहे कितना ही धन व्यय करें, इनके मालिक नहीं हो सकते। सुन्दर और आनन्ददायक वस्तुएँ वास्तवमें उन्हीं सहृदय संवेदनशील व्यक्तियोंकी सम्पत्ति हैं, जो उनसे सुख और आह्लाद प्राप्त करते हैं। मैं इस उद्यानके सौन्दर्यका रसपान कर रहा हूँ। अतः यह मेरा ही है।'

यह सुनकर राजा सोचमें पड़ गया। महात्माकी उक्तिमें गहरी सत्यता छिपी थी। यह सत्य था कि उसने उद्यानकी सजावट और संरक्षणमें अनगिनत धन व्यय किया था। वह पौधोंकी देख-भाल तथा संग्रहमें उदारतापूर्वक व्यय करता था। परंतु प्रकृतिकी उस चित्रशालाका आनन्द लेनेके लिये उसके पास उन्मुक्त हृदय नहीं था। वह उद्यानमें टहलते हुए भी राज्यकी नाना चिन्ताओंमें डूबा रहता था। उसका मन अनेक गुत्थियोंमें उलझा रहता था। प्रकृतिके उस सुन्दर वातावरणमें भी उसे राजनीतिकी उखाड़-पछाड़ अशान्त रखती थी। उद्यानमें टहलना उसके लिये वैसा ही था, जैसे दरबारमें बैठकर राज्यकी समस्याएँ सुलझाना। दरबारमें नाना व्यक्ति इसके समक्ष प्रस्तुत होते, बागमें ये सब उसके मानस-नेत्रोंसे दिखायी देते रहते। उस सुन्दर उद्यानका होना, न होना राजाके लिये बराबर था।

वास्तवमें उक्त दृष्टान्तमें आनन्दका एक महान् रहस्य निहित है। आनन्द और सुन्दरताकी अनुभूतियाँ हमारे हृदयकी वस्तुएँ हैं। एक गुलाबका पुष्प या रंगीन बादल, उगता हुआ बालरवि या संगीतकी मञ्जुल ध्वनि, मनोहर चित्र, जिसे हम सुन्दर समझते हैं, सम्भव है दूसरे व्यक्तिकी दृष्टिको उसमें कुछ भी सौन्दर्य प्रतीत न हो। उसे देखकर वह आनन्दकी उपलब्धि न कर सके। पर यदि आपके पास सौन्दर्यके पारखी नेत्र, मधुर ध्वनिका रस लेनेवाले कान, सहानुभूति और प्रेमसे सराबोर हृदय है तो निश्चय जानिये—दूसरोंकी वस्तुओंमें उनकी अपेक्षा आपको अधिक आनन्द प्राप्त होगा।

आनन्द और सौन्दर्य व्यक्तिगत भावनाएँ हैं। प्रत्येक व्यक्तिकी संवेदना-शक्ति और आनन्द प्राप्त करनेकी सूक्ष्मता पृथक्-पृथक् है। कोई सुन्दर वस्तु समीप रखनेका तात्पर्य यह नहीं है कि वह व्यक्ति उससे उसी अनुपातमें आनन्द और प्रेरणा भी प्राप्त कर रहा है, जितना सहृदय कर सकता है।

इसके विपरीत एक संवेदनशील व्यक्ति केवल अपने दर्शनकी सूक्ष्मता, अनुभूतिकी गहराई और उदार दृष्टिकोणकी शक्तिसे दूसरोंकी अनेक वस्तुओंका आनन्द ले सकता है। जो व्यक्ति बाग लगाते हैं, आप उनके बागमें जाकर प्रकृतिका आनन्द ले सकते हैं। धनी-मानी सज्जनोंके मकानोंमें बने हुए चित्रोंकी कलाको परखकर आप कलाके भव्य प्रदेशमें प्रवेश कर सकते हैं। उनके घरमें बजनेवाले वाद्य-संगीतका आनन्द ले सकते हैं। दूसरोंकी पुस्तकें लेकर पढ़ सकते हैं और आनन्द लाभ कर सकते हैं। दूसरोंके हर्षमें हर्षित और दुःखमें सम्मिलित होकर अपनी आत्माकी परिधिका विस्तार कर सकते हैं। दूसरोंके बाल-बच्चे आपके बाल-बच्चे हैं। प्रत्येक व्यक्ति आपसे सम्बन्धित आपका मित्र एवं हितैषी है।

वास्तवमें आनन्द और सौन्दर्य वस्तुओंमें नहीं है, देखनेवालेके मनमें है। हमारे आनन्द और सौन्दर्यका मापदण्ड हमारे मनकी ऊँचाई और चौड़ाईपर निर्भर है। जिसकी रुचि जितनी परिष्कृत है, हृदय जितना संवेदनशील और उदार है, वह उतना ही आनन्द और सौन्दर्य पान करता है। मनुष्यका दृष्टिकोण ही आनन्द देनेवाला है। संसार जिस भौतिक आनन्दके लिये अशान्त है, उसमें आनन्द लेशमात्र भी नहीं है। वास्तविक आनन्द तो हमारे अंदर हमारी आत्मामें है।

यह सोचकर मत विक्षुब्ध हूजिये कि आप बड़े-बड़े उद्यानों, महलों अथवा विशाल अट्टालिकाओंके मालिक नहीं हैं। कल्पना कीजिये कि यदि ये वस्तुएँ आपकी होतीं भी, तो भी आप इन्हें कहीं उठाकर नहीं ले जा सकते थे। उनका मालिक होनेपर भी वे आपसे दूर-दूर ही रहतीं। केवल मनके अंदर एक स्वार्थमयी भावना यह रहती कि हम इन वस्तुओंके स्वामी हैं, दूसरोंका इनपर अधिकार नहीं है। आप कल्पनाद्वारा इन सब वस्तुओंको अपना मानकर उस स्वार्थमयी भावनासे मुक्त रह सकते हैं, जो इन वस्तुओंके मालिकोंके हृदयको संकुचित कर देती है।

प्रत्येक सांसारिक वस्तुको अपना ही मानकर आनन्द

लीजिये। परमेश्वरने सब कुछ आपके लिये ही, आपकी आत्माको सुख-शान्तिमें निमग्न करनेके लिये, आपकी सहायताके लिये विरचित किया है। हरे-भरे उद्यान, असीम उल्लाससे कलकल बहती हुई सरिताओंके तट, वृक्षोंकी शीतल छाया, पुष्प, स्निग्ध सुखद समीर, सार्वजनिक स्थान, मठ-मन्दिर—सब आपके हैं। आप जिस मन्दिरमें पूजन, चिन्तन, भजन इत्यादिके लिये प्रविष्ट होते हैं, उसे अपना ही मानकर चलिये। यदि आप ही उसके मालिक होते तो कैसे उसे स्वच्छ-सुन्दर रखते, कितनी देख-भाल करते, सावधानियाँ रखते—यह आप अब भी कर सकते हैं। आप सार्वजनिक धर्मशाला अथवा पुस्तकालयमें जाते हैं। प्रत्येक धर्मशालाके जिस कमरेमें आप ठहरते हैं, उसे अपना ही समझकर स्वच्छ रखिये। पुस्तकालयकी पुस्तक अथवा समाचार-पत्रको इस सावधानीसे पढ़िये मानो आपकी ही हों। जैसे आप अपनी वस्तुको सावधानीसे काममें लेते हैं, वैसा ही आत्मभाव इनमें रखिये।

आप जितना ही इन सार्वजनिक वस्तुओंसे तादात्म्य करेंगे, उतना ही आनन्द प्राप्त होगा। आत्मभावका दायरा विस्तृत हो जानेसे अनेक जड वस्तुओं, पशु-पक्षियों, पुष्प-वृक्षों, उद्यानों, सार्वजनिक स्थानोंमें अपनत्वकी सरसता प्राप्त होगी। प्रत्येक वस्तु आपकीही है, परमेश्वरने आपके लिये ही निर्मित की है, आप उसका आनन्द प्राप्त कर सकते हैं—यह भाव मनमें रखिये। एक पग और आगे रखिये और सोचिये कि इस असत् जगत्के आनन्दोंसे भी ऊँचा, अधिक परिष्कृत पूर्ण एक और आनन्द-स्रोत है। वह अनन्त आनन्द और सुख-सागररूप आपकी आत्माका आनन्द है। उस आत्मिक जगत्में प्रवेश करनेसे परम शान्ति और सुखका अनुभव होता है। यह वह दिव्य आनन्द है, जहाँ मृत्युकी कुटिल छाया तक प्रविष्ट नहीं हो सकती। इस क्षेत्रके आनन्दोंमें रमण करनेसे हम मृत्यु-तकसे अभय हो जाते हैं और उस अनन्त जीवन और अनन्त शक्तिमय ईश्वरतत्त्वमें तन्मय हो जाते हैं। इस निर्विकार अवस्थाको प्राप्त कर लेनेपर हमें प्रतिकूल प्रसङ्ग और प्रतिकूल परिस्थितियाँ अशान्त नहीं कर सकतीं।

मत समझिये कि आप दीन-हीन हैं या अनेक वस्तुओंके स्वामी नहीं हैं। अभाव-जैसी कोई वस्तु आपकी चिन्ताका विषय नहीं बननी चाहिये। ईश्वरकी इस परम समृद्ध विपुला सृष्टिमें अभाव नहीं है। सर्वत्र आपके लिये समृद्धि है। अनेक प्रकारकी वस्तुएँ भविष्यमें आपके लिये भरी पड़ी हैं। आज नहीं तो कल, ये समृद्धियाँ आपको प्राप्त होनेवाली हैं। विपुलताकी अभावपर, पुण्यकी पापपर, सत्यकी झूठपर अवश्य विजय होगी। संकुचितता सृष्टिमें नहीं, स्वयं आपके मनमें है। उसके स्थानपर अपनी आत्माके विपुल विस्तारपर चिन्तन करना चाहिये।

आपकी आत्मामें अभाव-जैसी कोई वस्तु नहीं है। उसमें सर्वत्र विस्तार है। जो तत्त्व परमेश्वरसे आपको प्राप्त हुआ है, इस समग्र सृष्टिमें जिसका प्रकाश दृष्टिगोचर हो रहा है, वह आपके शरीरमें रहनेवाला आत्मतत्त्व ही है। मनुष्यको अपने महान् तेज एवं सामर्थ्यका तबतक ज्ञान नहीं होता, जबतक उसे आत्मभावकी चेतना अथवा आत्मतत्त्वका बोध न हो जाय। जीवनमें आध्यात्मिक दृष्टिकोण ग्रहण कर लेनेके उपरान्त मनुष्यके जीवनमें एक महान् परिवर्तन होता है। सर्वत्र उसे अपनी दिव्य आत्माके अंश दिखायी देने लगते हैं। प्रत्येक व्यक्ति, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, जड पदार्थोंतकमें वह अपनत्वकी झलक देखता है। संकुचितता छूट जाती है और उदारता उसके मनमें प्रविष्ट हो जाती है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण अपनानेसे उसे ऐसा प्रतीत होता है मानो वह अन्धकारसे दिव्य प्रकाशमें आ गया हो, अथवा स्वप्नावस्थासे जाग्रतिके राज्यमें आ गया हो। जिन क्षुद्र अभावोंपर सांसारिक व्यक्ति नित्यप्रति दुःख-क्लेश भोगते हैं, वे आत्मवादी सिद्धको वस्तुतः अत्यन्त तुच्छ, क्षुद्र तथा सारहीन प्रतीत होते हैं। कारण, वह अपनी सत्-चित्-आनन्दमयी आत्माके विकासके कारण विक्षेप-रहित, शान्त तथा उद्वेगसे मुक्त रहता है और अपने ईश्वरत्वके वातावरणमें निवास करता है।

आध्यात्मिक दृष्टिकोणको सिद्ध करने और सनातन सुख प्राप्त करानेवाला एक संक्षिप्त साधन है—वह है अपनी आत्माको पहचानकर विश्वमें उसकी छाया देखना। हममें वे सब दैवी सिद्धियाँ हैं, जो ईश्वरमें हैं। सांसारिकता, तृष्णा और तुच्छ स्वार्थको तिलाञ्जलि देकर अपनी आत्माकी दिव्य शक्तियोंकी अभिवृद्धि करनेका प्रत्येक व्यक्तिको पूर्ण अधिकार है। मैं वास्तवमें आत्मा हूँ, अविनाशी हूँ। मेरी इन्द्रियाँ मेरे मनके अधीन रहती हैं। मैं निर्भय होकर संसारमें विचरण करता हूँ। चाहे कैसा भी बाह्य संघर्ष हो;

विपदाएँ या विरोध हों, प्रतिकूल प्रसङ्ग हों, मेरी आत्माको उनसे कोई हानि होनेवाली नहीं है। मैंने अपने मनकी बागडोर अपने मनके हाथमें दे दी है। स्वार्थ, संकुचितता, निर्धनता, अभाव—मेरे आत्म-राज्यमें विद्रोह नहीं खड़ा कर सकते। मेरा मन दृढ़ आत्मसंकल्पयुक्त हो गया है।'—इस प्रकारके विचार मनमें रखनेसे हमें अनुभव होने लगता है कि परमात्माने अपने पुत्रोंको किसी भी वस्तुसे वञ्चित नहीं किया है, जो वास्तवमें उनके लिये उपयोगी हो।

तुम अनन्त सामर्थ्योंसे भरे पड़े हो। ज्यों-ज्यों अन्तरात्मामें स्थित सामर्थ्योंको प्रकट करोगे, आत्मभावका अभ्यास करोगे, अपने-आप पैदा की हुई संकुचित मनःस्थितिसे मुक्त होते जाओगे, त्यों-त्यों विकारमय जीवन दूर होता जायगा और इन्द्रियाँ उच्च प्रकारके आनन्दोंका पान करने लगेंगी। विश्वास कीजिये—सब अभाव, पाप, दुःख, क्लेश, भय और सांसारिक चिन्ताएँ स्वयं आपकीही पैदा की हुई हैं। आपकी आत्मामें ये बन्धन नहीं हैं। इन्हें छोड़कर पृथक् हो जाइये और उस आत्मप्रदेशमें प्रविष्ट हूजिये जहाँ पूर्ण सुख, परम आनन्द और परमशान्ति मिलती है।

आपके प्रेमकी शक्ति, परोपकारकी शक्ति, सहानुभूति, दया, करुणाकी नाना शक्तियाँ, भगवत्प्रेमकी अनेक दिव्य शक्तियाँ आपके अन्तर्मनमें सुप्त पड़ी हैं। आपने अज्ञानवश उनका विकास नहीं किया है। अखण्ड विश्वास और सतत अभ्यासद्वारा उन्हें जाग्रत् भर करनेकी आवश्यकता है। ध्यान तथा मननसे इनको दृढ़ किया जा सकता है। परम प्रभुका ध्यान, उसीमें एकाग्रता, जपद्वारा पुनः-पुनः स्मरण द्वारा हम अपनी आत्माकी शक्तियाँ बढ़ा सकते हैं।

कितने ही व्यक्ति अज्ञानवश यह समझ बैठे हैं कि हम सुखशान्ति या दिव्यता नहीं प्राप्त कर सकते। प्रतिभा, सिद्धियाँ और शक्तियाँ ईश्वरदत्त प्रसाद हैं। क्या आप भी यही सोचते हैं? यदि ऐसा है तो यह भ्रम मनसे आज ही निकाल दीजिये। प्रकृतिने आपको भी यथेष्ट साधन और सामर्थ्य प्रदान किये हैं। ज्यों-ज्यों विशुद्ध आत्मिक भाव तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोण बढ़ता जायगा, त्यों-त्यों ज्ञानरूपी दीपकका प्रकाश, दिव्य सामर्थ्य और मनोबल भी बढ़ते जाते हैं। भौतिक क्षणिक सुख और विकारजनित मोह-तिमिर नष्ट हो जाता है। मनकी वृत्तियोंका भयंकर उत्पात, निरन्तर चापल्य, दारुण प्रहार शान्त हो जाते हैं। बाह्य जगत्के मिथ्या प्रपञ्चों, थोथे प्रतिबन्धोंसे मुक्त होकर मनुष्य अलभ्य दैवी सामर्थ्य प्राप्त करता है।

तुम निज आत्मामें प्रवेश करो। वही तुम्हारा वास्तविक सत्-चित्-आनन्द, परम विशुद्ध स्वरूप है। वह ऐसा प्रदेश है जहाँ पूर्ण सुख, परम आनन्द एवं परम शान्ति प्राप्त होती है। भ्रान्तियों तथा अज्ञान-जन्य निश्चयोंसे मुक्ति दिलानेवाला आत्मतत्त्व ही है। उसीमें वृत्तियोंको अन्तर्मुख करनेपर शान्ति प्राप्त होती है।

आत्मदृष्टिकी प्राप्तिपर रोग, दुःख, शोक, अभाव, जय, पराजय, मान-अपमान, तृष्णा, क्षुधा, हर्ष-शोक हमें परीशान नहीं कर सकते। हमारी आत्माको ये सब बन्धनमें नहीं बाँध सकते। आत्माको जाननेपर जाननेके लिये और कुछ भी शेष नहीं रह जाता।

जो सनातन सुख है, जो समग्र विश्वमें प्रतिच्छाया रूपसे वर्तमान है, जो अपनी उन्मुक्ततासे सर्वत्र प्रशान्त प्रकाश विकीर्ण करता है, जो अन्धकारके गहन कूपसे निकालकर हमें अद्वितीय परम आत्माका दर्शन कराता है, वह मनःस्थिति प्राप्त कर लेना ही आध्यात्मिक दृष्टिकोण है। यही परम शाश्वत एवं अटल सत्य है। आत्मामें प्रवेश करनेसे ज्ञानचक्षु खुलते और समस्त बन्धन और अभाव दूर हो जाते हैं।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥

(कठोपनिषद्)

'तू आत्माको रथका स्वामी जान, शरीरको रथ जान और बुद्धिको सारथि जान और मनको लगाम जानकर व्यवहार कर।'

एक ही देव सब भूतोंमें छिपा हुआ है, सबमें व्यापक है, सब भूतोंका अन्तरात्मा है, कर्मोंका अधिष्ठाता है, सब भूतोंका वास-स्थान है, साक्षी है, चेतन है, अकेला है और निर्गुण है।

लक्ष्यवेध

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥

आज चरणाद्रि (चुनार) के राजकुमार ऋतक्रथुका समावर्तन-संस्कार था । राजकुमार पूरे बारह वर्ष महर्षि भरद्वाजके आश्रममें रहे हैं । शास्त्र एवं शस्त्र दोनों विद्याओंके पारंगत महर्षिके चरणोंमें रहकर राजकुमारने जहाँ धनुर्वेदमें निपुणता प्राप्त की है, वहीं नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा श्रुतिका भी उन्होंने पर्याप्त अच्छा अध्ययन किया है ।

बारह वर्ष जटा-वल्कल एवं मौञ्जी-मेखलाधारी ब्रह्मचारी राजकुमारके शरीरपर आज कौशेयवस्त्र तथा रत्नाभरण आये हैं। आज उसके केश सुलझे हैं और उनमें सुगन्धित तैल पड़ा है । राजकीय रथ आज अपने राजकुमारको लेने आया है ।

अधीतविद्य राजकुमारने महर्षिको आग्रहपूर्वक गुरु-दक्षिणा दी है । आश्रमसे विदा होते समय सहाध्यायियोंको अङ्कमाल देकर जब राजकुमारने रथारूढ़ होनेसे पूर्व महर्षिके चरणोंमें मस्तक रक्खा, महर्षिका दक्षिण हस्त राजकुमारके मस्तकपर आ गया और उनकी आशीर्वाद-वाणी गूँजी 'लक्ष्यवेध प्राप्त करो वत्स !'

'लक्ष्यवेध प्राप्त करो !' राजकुमार किंचित् चौंके थे। महर्षिकी सेवामें रहते हुए, अपनी शिक्षाके मध्य उनका बाण कभी लक्ष्यच्युत हुआ हो, यह उन्हें स्मरण नहीं। अपने सहाध्यायियोंमें अकेले वे शब्दवेध कर सकते थे। महर्षिने स्वयं उनके हस्तलाघवकी तथा लक्ष्यवेधकी प्रशंसा की है अनेक बार । ऐसी दशामें महर्षिका यह आशीर्वाद ?

राजकुमार विनयशील हैं । वे जानते हैं कि देवता परोक्षप्रिय होते हैं । महर्षि सर्वज्ञ हैं । अपने शिष्यकी दैहिक एवं बौद्धिक शक्ति उनसे अज्ञात नहीं है । चलते-चलते उन्होंने यह आशीर्वाद दिया है, इसका अर्थ ही है कि वे नहीं चाहते कि उनसे उनका शिष्य आशीर्वादका स्पष्टीकरण ले। अवश्य इसका कुछ गम्भीर तात्पर्य है और अब महर्षि समझते हैं कि उनका अन्तेवासी अपने चिन्तनसे उस तात्पर्यतक पहुँचनेमें सक्षम है, चिन्तन ही करना चाहिये ।

आज समावर्तनका दिन है । चरणाद्रिका उत्तरदायित्व अब आनेवाला है राजकुमारके कंधोंपर । अतः उन्होंने सोचना प्रारम्भ कर दिया कि उनके राज्यका, उनके कुलका लक्ष्य क्या है । ऐसी कौन-सी महत्त्वाकाङ्क्षा है, जिसे चरणाद्रिके उनके पूर्व-पुरुष अबतक प्राप्त नहीं कर सके हैं । राज्यकी सीमाका विस्तार ? शत्रुका प्रतिशोध ? कोई अपूर्ण कृति ? किसी मित्रके उपकारका प्रत्युपकार ? अनेक बातें ध्यानमें आयीं । राजकुमार अभी अपने राज्यके विषयमें अधिक जानते भी कहाँ हैं । वे जब केवल सात वर्षके थे, महर्षिके आश्रममें आये थे । चरणाद्रि समीप है प्रयागसे । आश्रममें अनेक बार राजपुरुष महर्षिके दर्शन करने आते थे; किंतु इस प्रकार प्राप्त विवरण पूर्ण तो नहीं हैं ।

राजसदन लौटनेपर जो समारोह होता था, पूरे उत्साहसे हुआ । नीतिनिपुण राजकुमारने राज्यके कार्य सम्हालने प्रारम्भ कर दिये । महाराजका, महामन्त्रीका और प्रजाका सहयोग एवं स्नेह अर्जित करनेमें उन्हें अधिक समय नहीं लगा । वृद्ध महाराजने जब वानप्रस्थ-ग्रहणका निश्चय किया, राजकुमार चरणाद्रिके सिंहासनपर अभिषिक्त हुए ।

× × ×

समय किसीकी प्रतीक्षा कहाँ करता है । फल लगता है, बढ़ता है, पकता है और टपक पड़ता है । भगवान् काल प्रत्येक परिपक्व फलको खा लेते हैं । जो राजकुमार थे, नरेश हुए, विवाह किया, संतानें हुईं और श्वेतकेश हो गये । चरणाद्रि-नरेश ऋतक्रथुको श्वेत केशोंने कालभगवान्का संदेश दिया—'अब यह देहरूपी फल उनका ग्रास बननेके समीप है ।'

जिसने बाल्यकालमें संयमका अभ्यास किया हो, यौवन उसे प्रमत्त नहीं कर पाता । उसके भोग धर्मके नियन्त्रणमें रखते हैं और जब यौवनमें भोग उच्छृङ्खल न बना सकें,

वार्धक्य देहकी चिन्ता नहीं दे पाता । जो भोगमें संयत रहा है, क्षीयमाण देहकी आसक्ति उसे अपनी शृङ्खलामें घेरनेमें असमर्थ रहती है ।

चरणाद्रि-नरेशने अपने शासनकालमें राज्यकी कोई महत्त्वाकाङ्क्षा अपूर्ण नहीं रहने दी । अब देहका, भोगका मोह उन्हें किसलिये हो सकता था । पुत्रको सिंहासनपर बैठाया, पत्नीका भार पुत्रपर छोड़ा और एकाकी, निराभरण, नंगे पैर राजसदनसे निकले वे ।

नरेशने चित्रकूटके दिव्य क्षेत्रमें वानप्रस्थका काल व्यतीत करनेका निश्चय किया था । चरणाद्रिसे चलते हुए वे प्रयाग आये और त्रिवेणी-स्नान करके गुरुदेवके आशीर्वादकी आकाङ्क्षा उन्हें महर्षि भरद्वाजके आश्रममें ले आयी ।

कितनी स्मृतियाँ साथ हैं इस आश्रमकी । यह जाह्नवी एवं कालिन्दीकी धाराओंसे धौत प्रयागकी परम पावन अन्तर्वेद-भूमि । यहाँ बाल्यकालका वह गुरुकुलवास, वे समिधा-हरण, हवन, अध्ययनके पुनीत दिवस । आज फिर देह निराभरण है । मस्तक मुण्डित है । कटिमें कौपीन है और हाथमें कमण्डलु है । कुछ अधिक उपकरण हैं, अग्नि साथ है । अन्ततः वे अब वानप्रस्थ हैं । किंतु बार-बार लगता है—जैसे वह दिन फिर आ गया है, जब उपनयन-संस्कारके पश्चात् वे इस आश्रममें आये थे ।

'आज हमारा आतिथ्य स्वीकार करो वत्स !' महर्षि भरद्वाजने आशीर्वादके अनन्तर अर्घ्यपात्र जब उठाया, बड़ा संकोच—बड़ा विचित्र लगा ऋतक्रथुको । किंतु महर्षि कह रहे थे—'अब न तुम यहाँके अन्तेवासी हो और न चरणाद्रिके नरेश । तपोवनको जाते गृहत्यागी वानप्रस्थका आतिथ्य करना चाहिये मुझ-जैसे आश्रमस्थको । अतिथि व्यक्ति नहीं होता । वह भगवान् नारायणका साक्षात् स्वरूप होता है । तुम्हारे लिये संकोचका कोई कारण नहीं है ।'

महर्षिका आदेश टाला नहीं जा सकता था । यह अनुग्रह किया उन्होंने कि अतिथि-अर्चनका कार्य अपने छात्रोंपर छोड़ दिया । महर्षिकी अग्निशालामें रात्रि-विश्राम किया ऋतक्रथुने और प्रातः त्रिवेणी-स्नान करके, आह्निक कृत्योंकी समाप्तिके पश्चात् प्रस्थानसे पूर्व जब उन्होंने महर्षिके श्रीचरणोंमें मस्तक रक्खा, महर्षिका दक्षिण हस्त मस्तकपर आ गया । उनकी वही आशीर्वाद-वाणी गूँजी—'लक्ष्यवेध प्राप्त करो वत्स !'

ऋतक्रथु फिर चौंके, जैसे वर्षों पूर्व समावर्तन-संस्कारके दिन वे चौंके थे । महर्षिने आज भी प्रस्थानके समय यह आशीर्वाद दिया है । अपने शिष्यकी प्रज्ञामें उन्हें आज भी उतनी ही आस्था है । उनके आशीर्वादका तात्पर्य पूरे शासनकालमें भले उनका शिष्य समझ नहीं सका; किंतु सर्वज्ञ महर्षि जब उसे इसे समझने योग्य मानते हैं, समझना ही होगा उसे ।

उस समय अधिक अवकाश नहीं था । आज कोई राजरथ ऋतक्रथुको लेने नहीं आनेवाला था । उन्हें पैदल यात्रा करनी थी, अपने अग्नि तथा अग्निहोत्रके उपकरण स्वयं उन्हें ले जाने थे और त्रिकाल-संध्या, स्नान, हवनादि करते ही चलना था उनको ।

× × ×

चित्रकूट क्षेत्रमें ऋतक्रथुने गुप्त गोदावरीकी गुफाको अपना अग्निगृह बनाया । आसपास उस समय न कोई ग्राम था और न आजके समान कुटीरें थीं । घोर वन, वन-पशु और बीहड़ प्रदेश । लेकिन गुफाके मध्यसे निकलती कलकल करती जलधारा—वानप्रस्थ तपस्वीको अग्नि-रक्षामात्रके लिये छाया तथा आह्निक-निर्वाहके लिये जलका सामीप्य—बस, इतनी सुविधा ही तो चाहिये ।

वनमें बिल्व, आमलकी तथा कुछ कन्द मिल जाते हैं । उनका संग्रह गुफामें सुरक्षित रहता है । मुन्यन्न घासके बीजोंकी अपेक्षा ऋतक्रथुको नहीं थी । अग्निहोत्रके अतिरिक्त वे गुफामें जाते नहीं थे । शीतकालके दिन जलधारा गिरनेवाले कुण्डमें वे ध्यानस्थ रहते और ग्रीष्मकी लू तथा वर्षाकी झड़ियाँ शिलातलपर बैठे उस तापसका सत्कार करती थीं ।

'लक्ष्यवेध प्राप्त हो !' महर्षि भरद्वाजका आशीर्वाद ऋतक्रथुके मननका सूत्र बन गया था । शस्त्रका न्यास करके वनको प्रस्थान करनेवाले तपस्वीको दिया गया यह आशीर्वाद—कोई भौतिक लक्ष्यवेध उसका तात्पर्य नहीं हो सकता, यह बहुत स्पष्ट बात थी । ऋतक्रथुको कोई विलम्ब नहीं हुआ था यह समझनेमें कि महर्षिका तात्पर्य क्या है ।

'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।'

यह श्रुति शीघ्र स्मृतिमें आ गयी और उन्होंने यह समझ लिया कि महर्षिने आशीर्वादके रूपमें उन्हें प्रणवकी साधनाका आदेश दिया है ।

'तज्जपस्तदर्थभावनम् ।'

ऋतक्रथु प्रणवके अर्थके निदिध्यासनमें ही आजकल लगे रहते हैं ।

× × ×

बड़ा कठोर है वानप्रस्थाश्रम । ठीक ही इसका निषेध स्मृतिने कलिमें किया है । दुर्बल देह, क्षीणप्राण, हीनसत्त्व कलिके मानव वानप्रस्थके कठोर तपका कैसे आचरण कर सकते हैं ? पूर्वयुगोंमें भी यह अत्यन्त दुस्सह था । द्वादशवर्ष तो अधिक-से-अधिक अवधि है, अन्यथा पाँच, तीन या एक—जितनी अपनेमें शक्ति लगे, केवल उतने समयका संकल्प करके यह आश्रम त्रेतादिमें भी स्वीकार किया जाता था ।

कोई अपवाद नहीं । शरीर रोगी है, देहमें तपकी, त्रिकाल स्नानकी शक्ति नहीं; किंतु वानप्रस्थ आश्रममें तो नियम-त्यागकी विधि नहीं है । नियम पालन करो, और न कर सको तो अनशन करके या अग्निमें देहकी आहुति देकर प्राण त्याग करो । विश्राम, ओषधि, तप-विरतिके लिये कोई स्थान नहीं यहाँ !

ऋतक्रथुने पूरे द्वादश वर्षका नियम लिया था । नियम पूरा हो जाता; किंतु प्रारब्ध जब अनुकूल न हो, प्राणी कर क्या सकता है । केवल कुछ दिन शेष रहे थे संकल्पित अवधि पूर्ण होनेके और देहको ज्वरने अपना आखेट बना लिया ।

'लक्ष्यवेध प्राप्त नहीं हुआ ।' प्राणका मोह तपस्वीको नहीं होता । जीवन रखना वह चाहे, जो देहको भोग दे रहा हो । किंतु ऋतक्रथुको क्लेश यह था कि जीवनका लक्ष्य प्राप्त नहीं हुआ ।

'महर्षिकी वाणी असत्यका स्पर्श नहीं करती, उनका आशीर्वाद व्यर्थ नहीं जा सकता ।' ऋतक्रथु अभीतक ज्वराक्रान्त रहते भी नियमपालनमें शिथिल नहीं हुए हैं । आज लगता है कि अब आसनसे उठना कदाचित् सम्भव न हो और इसीसे वे विशेष चिन्तित हैं । आज मनोमन्थन प्रबल हो उठा है—'कहीं त्रुटि है । कहीं प्रमाद हो रहा है गुरुदेव !'

आर्त प्राणीकी पुकार यदि व्यर्थ जाने लगे, विश्वात्माको कौन सर्वज्ञ और सकरुण कहे ? सहसा ज्योति आ गयी तपस्वी ऋतक्रथुके मुखपर । वे स्वयं बोल उठे—'तू क्षत्रिय है । धनुर्धर रहा है और ज्या चढ़ाये बिना शिथिल धनुषसे तू लक्ष्यवेध करनेका प्रयत्न कर रहा है ? इतनी सीधी बात तेरी समझमें नहीं आती कि ज्या पहिले चढ़नी चाहिये ।'

प्रणवका धनुष । अकार, उकार और मकार इनका एकीभाव 'प्रणव' । अकार और मकार इस धनुषकी दो कोटि (नोकें) और उकार इसकी प्रत्यञ्चा । अकारसे उठकर मकारतक पहुँचनेमें उकारको खींचकर उठाये चलती प्राणोंकी प्रत्यञ्चा यदि शिथिल हो, प्रणवकी साधना सम्यक् पूर्ण कहाँ हुई ।

ऋतक्रथु तपस्वी, त्यागी, वासना-वर्जित शम-दम, उपरति-तितिक्षा-सम्पन्न श्रेष्ठतम अधिकारी हैं । उनके चित्तमें मल तो तब भी नहीं था, जब वे तपोवन आये थे । पूरे बारह वर्ष होनेको आ रहे हैं । विक्षेप क्या होता है—उनका मन यह बात भी भूल चुका है । अब ऐसे अधिकारीका आवरण कबतक टिका रह सकता था ।

बात ध्यानमें आयी नहीं, विलम्ब इतना ही था । शरीर कुछ और सीधा हो गया । मूलाधारसे उठकर मूर्धातक गूँजता दीर्घ घण्टानादके समान प्रणवका नाद प्राणोंने उठाया उसे प्रथम, यह ठीक है; किंतु आवृत्ति दसतक पहुँचे, उससे पूर्व ही वह अनाहतके मेघगर्जनसे एक हो गया ।

नाद—केवल नाद ! त्रिमात्रा नादमें लीन हो गयीं और चन्द्राकार अमृतोज्ज्वल दिव्यनाद चलता रहा—चलता रहा नाद और कब बिन्दुमें वह लय हुआ, कोई साक्षी पृथक् रह गया हो तो यह बतावे ।

स्थिर, निष्कम्प, प्रकाशपुञ्ज देह ऋतक्रथु । जिसका बिन्दुवेध—लक्ष्यवेध हो चुका, उससे कौन कहेगा कि अब स्नान-संध्याका समय हो गया । उसके लिये तो श्रुतिने भी घोषणा कर रक्खी है—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते ।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

सद्व्यवहारका फल

जब मैं बारह वर्षकी थी, तब वे दोनों दो वर्षके होंगे । पर ऐसा अनुमान होता था कि वे मुझसे अधिक आयुके हैं । मैं उनपर आसक्त—न्यौछावर हो चुकी थी । वे मुझे पतनकी ओर ले जायँगे, मुझे यह ध्यान ही न था । मैं सदा उन्हें अपने साथ रखती थी स्कूल घर-बाहर सभी जगह । शयनागारमें भी मैं उनका साथ नहीं छोड़ती । दो तरफ वे दोनों और बीचमें मैं ।

मुझे इसमें बड़ा आनन्द आता । पर मेरा यह आनन्द जब कभी पिताजीके सामने स्पष्ट हो जाता तो वे ऐसे देखते जैसे सिंह गायको देखता है; पर मुझे किसीकी बात माननी नहीं थी । मैं न मानी । अब तो सबके सामने वे दोनों प्रत्यक्ष रूपमें मेरे साथ रहने लगे । एक क्षणके लिये भी मेरे पास वे न होते तो ऐसा लगता कि मैं किसी ऐसी अमूल्य वस्तुको खो बैठी हूँ, जिसके बिना मेरा जीवन बेकार है ।

तीन सौ साठ दिन बीते। मैं तेरह वर्षकी हुई और घरसे मेरा हुआ निष्कासन, मैं दूसरे घर गयी । बेटीसे बहू बनी, पत्नी बनी, गृहिणी बनी । स्वतन्त्रताके मुँह-खोल वातावरणसे घूँघटमें आयी । और मग्न हो गयी उसी संसारमें, किंतु इतनेपर भी मुझे कोई भय नहीं था । मैं अपने उन दोनों साथियोंको साथ ही लायी और साथ ही रखने लगी । मेरी सेवासे मेरे सास-ससुर सभी प्रसन्न थे, इसलिये वे कुछ बोलते नहीं थे ।

मुझे डर था केवल उनका । एक दिन उन कल्याण-प्रेमीने कहा—'शान्ति ! मेरे साथ रहकर तुम्हें यह शोभा नहीं देता । अतः इन दोनोंको यहाँसे भगा दो ।' कभी-कभी मैं हँसकर टाल देती, कभी उत्तर न देती और कभी खीझकर कह देती—'जाइये आप ! मैं नहीं छोड़ सकती । ये मेरे बचपनके दोस्त हैं ।' मेरी इन बातोंसे उनके हृदयपर चोट लगती होगी, किंतु वे बिना कुछ कहे सुन लेते ।

एक दिन फिर यों ही उन्होंने कहा—'शान्ति ! छोड़ दो इन्हें ।' उस समय मैं खीझ गयी । और बोली—'नहीं छोड़ती, जाओ, जो करना हो सो करो । रोज यही छोड़ दो, छोड़ दो, छोड़ दो की रट लगी रहती है ।' यों कहती हुई मैं दूसरे कमरेमें चली गयी । वे चुपचाप कुछ क्षण खड़े रहे, फिर हँसकर बाहर चले गये । उस दिनसे मैं नाराज हो गयी । मैंने बोलना बंद कर दिया । किंतु वे मौन नहीं रहे । वही प्रेम, वही बर्ताव, होठोंपर वही मुसकान नाचती रही । छोड़ दो कहनेकी जगह अब वे स्वयं उन दोनोंका पूर्ण प्रबन्ध भी करने लगे । मुझे तो बोलना था नहीं, सो मैं नहीं बोली एक माह । माताजीसे बात छिपी न रह सकी । एक दिन पूछ ही तो लिया उनसे—'बेटा ! तेरे पाँव एक महीनेसे घरमें नहीं जमते । क्या बात है ? झगड़ा कर लिया है क्या तुमलोगोंने ?' उत्तरमें उन्होंने कहा—'नहीं माँ, झगड़ा कैसा । मैं एक दूसरे काममें लगा रहता हूँ, इसलिये घरमें कम बैठता हूँ ।' मैं सुनकर चकित हो गयी । पर मेरे बर्तावमें कोई अन्तर नहीं पड़ा ।

एक दिन उनके कई मित्र घरपर आये । बात चल पड़ी । एक मित्रने कहा—'भाई ! तुम तो सुपारी-तम्बाकू अभियान चला रहे हो, दूसरोंको रोक रहे हो, पर तुमने कभी अपने घरपर भी दृष्टि डाली है ? मैंने तुम्हारे कहनेसे बीड़ी छोड़ दी ।' किसीने कहा 'सिगरेट छोड़ दी', किसीने कहा 'तम्बाकू छोड़ दी ।' एकने कहा, 'मैंने तुम्हारे कहनेसे गाँजातक छोड़ दिया । किंतु तुम्हारी शान्तिने तो अपने दोनों दुर्व्यसन—सुपारी-तम्बाकूको अपना ही रक्खा है । इसका तो यही अर्थ होता है कि वह तुम्हारी बात नहीं मानती ।'

मैं किवाड़की आड़में खड़ी सब सुन रही थी । उत्तरमें उन्होंने कहा—'ऐसी बात नहीं है, वह तो बड़ी सीधी, शुद्ध बुद्धिकी भोली-भाली प्रेमप्रतिमा है । मुझे न जाने क्या समझकर मेरी इतनी सेवा करती है कि मैं उसका वर्णन नहीं कर सकता । इस विषयमें मैंने आजतक उससे कुछ कहा ही नहीं । तुमलोग विश्वास रक्खो । यदि मैं उससे एक बार भी कह दूँ तो वह अवश्य छोड़ देगी । अवसर आने दो, वह भी कर दिखाऊँगा ।'

पञ्चायत समाप्त हुई । सब लोग चले गये । किंतु वे बैठे सोच रहे थे, क्या ? सो कैसे कहूँ । पर उनकी उपर्युक्त बातोंपर मेरा हृदय टूक-टूक हो गया । जिससे मैं बोलती नहीं, वह मेरी बड़ाई करता है; जिससे मैं क्षमा नहीं माँगती, वह

ते प्रेम करता है; मेरा जीवन-साथी है; जिसे मैं हर क्षण न-कुछ कह ही दिया करती हूँ, वह हँसकर मुझे कितने ष आदर तथा प्यारभरे शब्दोंसे सम्बोधित करता है। मेरा देवता है। मेरी नैयाका कर्णधार है और मैं नी दुष्टा हूँ कि उसकी एक बात भी नहीं मान सकती।'

उसी क्षण मैं उनके पैरोंमें गिर पड़ी और बोली—'मुझे कर दें। मैं वचन देती हूँ कि आजसे मैं तम्बाकू-सुपारी नहीं खाऊँगी।' जीवनमें यह बड़ा सौभाग्यशाली दिन जिस दिन मैं उनकी बातों तथा 'कल्याण' के उपदेशों- विश्वासकर इन दुर्व्यसनोंसे मुक्त हुई।

—शान्ति देवी शर्मा

(२)

दयालु देवीमाई

नासिकमें 'देवीमाई' नामका अस्पताल है। इस नामके कुछ इतिहास है। देवीके पतिकी मृत्यु हो गयी। उसके में इस युवावस्थामें वैधव्यका आघात लगना लिखा था। के ससुरालमें उसके ननदोई थे, वे भी तत्काल जाते और ननद बहुत बीमार पड़ गयी। सब कहने लगे 'यह ही सबको खाये जा रही है।' वह पीहर गयी तो उसकी बहिन बहुत बीमार हो गयी···देवीके प्रति शङ्का बढ़ने । सभी उसे सर्वभक्षी राक्षसी-बलकी प्रतिनिधिरूप ने लगे।

ऐसे वातावरणमें कभी तो देवीको अपना जीवन भाररूप ता। कभी जीवनका अन्त कर डालनेकी उसके मनमें ती। कोई भी उसके प्रति क्षणभरके लिये भी सहानुभूति दिखाता। हाँ, उसका एक भाई अवश्य उसका रखता।

आखिर इस भाईने उसे नर्सके ट्रेनिंग स्कूलमें भर्ती करा । देवी नर्सकी शिक्षा प्राप्त करके एक छोटे-से प्रसूति- नियुक्त हो गयी। इस प्रसूतिगृहकी मुख्य संचालिका अंग्रेज-महिला थी।

एक बार एक नीची जातिकी बहिन प्रसूतिगृहमें भर्ती । रातको उसके पेटमें दर्द शुरू हुआ। उसे पाखानेमें नेकी स्थिति नहीं थी, पर अस्पतालमें पाखानेका टब मोड) केवल अंग्रेजों और यूरोपियनोंके लिये ही था। इस नियमका भङ्ग किया और कमोडको वह उस के पास ले गयी।

दूसरे दिन इस बातका पता लगनेपर उस अंग्रेज-महिलाका पारा चढ़ गया। उसने देवीके साथ बहुत कड़ाईसे बातें कीं। इतनेपर भी देवीने सहज स्वरमें इतना ही कहा—'ऊँच-नीचका भेद तो हमलोगोंने बना लिया है। धर्मकी दृष्टिसे तो सभी एक कुटुम्बकी संतान हैं।'

अंग्रेज-महिलाने देवीको प्रसूतिगृहसे निकाल दिया। परंतु अब देवीका जीवनकार्य सँभल चुका था। अब उसे जीवनमें कहीं निराशा या असहायपन नहीं भासता था। देवीने अंग्रेज-महिलाका अस्पताल छोड़नेके बाद बचाये हुए वेतनके पैसोंसे तथा भाईकी मददसे पाँच-छः खाटवाले एक कमरेका अस्पताल शुरू किया। इस कमरेकी व्यवस्था उसके भाईने कर दी थी।

अब देवी केवल रोगियोंकी चारपाईके पास रात-दिन रहकर खड़े पैरों सेवा करने लगी। अठारह-अठारह, बीस-बीस घंटे लगातार वह मातृहृदयकी सजीव उर्मियोंके साथ रोगियोंका दुःख हल्का किया करती और निःस्वार्थ देख-भाल करती। अन्तमें उसके जीवनकार्यकी सुगन्ध अपने-आप ही सब ओर फैलने लगी। अखबारोंमें विज्ञापन और फोटो छपानेकी उसे जरूरत नहीं पड़ी। उसकी इस उत्कृष्ट सेवाभावनाके कारण अब वह केवल 'देवी' न रहकर लोगोंकी 'देवीमाई' बन गयी।

देवीमाईकी एक कोठरीके नन्हेंसे अस्पतालको चारों ओरसे सहायता मिलने लगी। धीरे-धीरे वह एक भव्य बृहत् अस्पतालके रूपमें परिणत हो गया। इस अस्पतालकी इतनी ख्याति हुई कि उपर्युक्त अंग्रेज-महिला, जो एक समय देवीबाईकी स्वामिनी थी, उसके इस अस्पतालको देखने आयी।

बाहर मिलनेवालोंकी कतार लगी थी, उसीमें वह अंग्रेज-महिला भी खड़ी थी। इस नये अस्पतालका कार्य देखकर उसे बड़ी प्रसन्नता हो रही थी, इसलिये वह इस अस्पताल-की संचालिकाको धन्यवाद देने आयी थी। उसे यह पता नहीं था कि एक समय जिस बहिनको उसने अपमान करके अपने अस्पतालसे निकाल दिया था, वही इस अस्पतालकी मुख्य संचालिका देवीमाई है।

इतनेमें देवीमाई बाहरसे आयी और ज्यों ही वह अंदर जानेको पैर उठा रही थी कि उसकी नजर उस अंग्रेज-महिलापर

पड़ी। देवीमाईको याद आयी कि इसी बहिनके पास मैंने पहले नर्सका काम किया था। देवीमाई अंग्रेज-महिलाको अंदर केबिनमें ले गयी। अंग्रेज-महिला बोलनेमें रुक-सी रही थी, आखिर वह बोली—

'देवी! तुझे धन्य है। तेरे कामको आज मैंने अस्पतालके हर एक हिस्सेमें घूम-घूमकर देखा है। तैंने एक महान् सफलता प्राप्त की है। मानवजातिके दुःखोंको दूर करनेकी तेरी यह रात-दिनकी सतत चिन्ता तेरे सामने—सबके मस्तक झुका देती है। तू मुझे अपनी भूलका प्रायश्चित्त करने देगी?'

तदनन्तर अंग्रेज-महिलाने अपने पर्समेंसे डायरी निकालकर कुछ लिखकर दिया और कहा—'इसको स्वीकार करके मेरी भूलको सुधारनेका अवसर मुझे दे, यही मेरी प्रार्थना है।'

देवीमाईने कागज खोलकर देखा—उसमें उस अंग्रेज-महिलाने लिखा था—'मेरी सारी सम्पत्ति मैं इस अस्पतालको भेट कर रही हूँ—देवीमाईके भव्य जीवनकार्यके प्रति एक तुच्छ नम्र अञ्जलिके रूपमें।' (अखण्ड आनन्द)

—लल्लुभाई बकोरभाई पटेल

(३)

ईमानदारी

एक बार इन्हें अपने दरवाजेके समीप संध्याके समय एक बंडल मिला मानो कोई अदृश्य शक्ति इनकी परीक्षा ले रही हो। इन्होंने घरके भीतर आकर उसे खोला तो देखा उसमें पूरे पंद्रह सौके नोट हैं जो सभी भीगे हैं। उनको स्टोपके सहारे सुखाया, समेटा, फिर तकियेके नीचे रखकर सो गये। पर बगलके मकानमें हल्ला-गुल्ला सुनकर तुरंत जग गये। बगलके मकानमें एक ठेकेदार साहब रहते थे, जातिके मुसलमान थे। जोर-जोरकी आवाज सुनकर ये उधर गये। ऐसा लगा कि अंदर मार-पीट-सी हो रही है। अड़ोस-पड़ोसके कई और लोग भी जुट गये। किंवाड़ खोलकर किसी प्रकार भीतर गये। देखा, बाप-बेटे बेतरह उलझ रहे हैं। एक दूसरेपर डेढ़ हजार रुपये चुरानेका आरोप लगा रहे हैं। बात बहुत बढ़ गयी है। इन्होंने सबकी उपस्थितिमें ही उनसे कहा, 'आपलोग एक दूसरेपर संदेह करके व्यर्थ आपसमें क्यों लड़ रहे हैं? आपलोगोंमेंसे किसीने रुपये नहीं चुराये हैं। रुपये तो हमारे घरमें हैं, लाकर देता हूँ। डेढ़ हजार रुपयेका एक बंडल कुछ देर पहले मुझे आपके मकानके पास ही बाहर पड़ा मिला था।' इन्होंने घर जाकर तुरंत रुपये लाकर दे दिये। सब लोग आश्चर्यचकित रह गये और एक स्वरसे इनकी मानवताकी सराहना करने लगे। ठेकेदार साहबका गृह-कलह ही नहीं समाप्त हो गया, पिता-पुत्र पश्चात्ताप करने लगे और उनका एक दूसरेपर अपूर्व विश्वास जाग्रत् हो गया। उन लोगोंने आनन्दातिरेकमें रुपये लेनेसे इन्कार किया और कहा कि इनसे सबको भोजन कराया जाय। वे किसी प्रकार न माने तब मुहल्लेवालोंने पाँच सौ रुपये और मिलाकर सब लोगोंको दावत दी। सभी इन सज्जनकी ईमानदारीपर हर्ष प्रकट कर रहे थे। (नाम प्रकट करनेकी अनुमति नहीं है)

—डा० रामेश्वरप्रसाद 'विशारद'

(४)

आश्चर्य घटना

घटना अभी एक वर्षके भीतरकी ही है। मेरे पड़ोसी वाराणसीमें रेलवे कर्मचारी हैं। उनके पुत्र रामभरोस वर्मा सिलाई-मशीन रखकर वाराणसीमें ही रहते हैं। दोनों बाप-बेटेके निवासस्थानमें चार फर्लांगका अन्तर है। दोनों रेलवे लाइनके दोनों ओर रहते हैं। परंतु रामभरोस दोनों समय अपने पिताके क्वार्टरपर भोजन करने जाते हैं। एक दिनकी बात है कि रामभरोसके पिताने दोपहरको रामभरोससे कहा कि 'शामको हमें दस रुपये जरूर मिलने चाहिये, नहीं तो बड़ा हर्ज होगा।' रामभरोस अपने किसी ग्राहकसे अपनी मजदूरीके दस रुपये लेकर शामको भोजन करने अपने पिताके क्वार्टरपर जा रहे थे। वाराणसी स्टेशनपर पुलके द्वारा लाइन लाँघकर प्लेटफार्मपर पहुँचे तो देखा कि एक युवतीको कुछ रेलवे कर्मचारी बहुत परेशान कर रहे हैं। रामभरोस भी वहाँ खड़े हो गये। पता लगा कि उस युवतीके पास टिकट नहीं है और वह अपने साथियोंसे अलग होकर भूलसे वाराणसी स्टेशनपर पहुँच गयी है। रेलवे बाबूने उस लड़कीको गाली दी, रामभरोस इसे सहन न कर सके। उन्होंने कहा 'आप-लोग गाली क्यों देते हैं?' इतना सुनते ही गाली देनेवाले उस रेलवे बाबूने बिगड़कर कहा, 'यह बिना टिकटके उतरी है, आप ही चार्ज दे दीजिये। आठ रुपये कुछ पैसे होते हैं।' भगवत्-कृपासे रामभरोसको आवेश आ गया और वही दस रुपयेका नोट, जो अपने पिताको देने ले जा रहे थे, रामभरोसने

कर दिया और उनसे रसीद लेकर लड़कीको जहाँ जाना वहाँका टिकट खरीदकर दे दिया ।

इससे रामभरोसको बड़ा आत्मसंतोष हुआ, पर वे सोचने कि यदि मैं भोजन करने घर जाऊँगा तो पिताजी पैसेके नाराज होंगे । यों सोचते हुए भूखसे व्याकुल वे प्लेट- रेलकी पटरीकी ओर अपनी नजर लगाये हुए टहल रहे थे इनको सहसा नीचे एक चमकीला कागज (सिगरेटकी), जिसपर किसीने पान खाकर थूक दिया था, दिखायी । इन्होंने क्या वस्तु है यह जाननेके लिये उसे उठा । इनके आश्चर्यका ठिकाना ही नहीं, उस चमकीले के नीचे एक कागजमें सुरक्षित दस रुपयेका एक नोट था । इन्होंने उसे उठा लिया और सहसा मुखसे निकला बाबा विश्वनाथकी नगरीमें मैं बिना भोजन किये कैसे । मन-ही-मन भगवान्का गुण गाते हुए वे अपने पिताके गये और अपने पिताजीको रुपये दे दिये । तदनन्तर करके अपनी दूकानपर लौट आये ।

उस युवतीने रामभरोससे इनका पता पूछकर नोट कर था । घटनाके तीसरे दिन शूटबूटसे सज्जित एक सज्जन भरोस टेलर मास्टरको पूछते हुए उनकी दूकानपर आये इनको परसोंकी बीती बातोंकी याद दिलाकर इनको दस देते हुए बोले कि 'वह मेरी बहिन थी ।' रामभरोसने कि 'भाई साहेब, मुझे तो उसी दिन रुपये मिल गये ।' सारी बातें बतलायीं । तब आगन्तुकने कहा कि 'यह आपको भगवान्ने पुरस्काररूपमें दिया है' और वह नमस्ते चले गये । रामभरोसने घर आनेपर मुझको ये सब बतलायीं ।

—श्रीसाहबशरण लाल शर्मा

(५)

मार्ग भूली बहिनको सचमुच मानो भगवान् मिल गये

एक बार एक अधेड़ उम्रकी बहिन मेरे यहाँ आयी, सामने खड़ी होकर बोली—'भाई ! आपके पड़ोसी भाईने मुझे आपके पास कुछ सलाह पूछनेके लिये है ।'

'अच्छी बात है, आइये, बैठिये ।' मेरे यों कहनेपर वह सामने बिछी हुई शतरंजीपर बैठ गयी और बोली—'भाई, मैं एक दुखियारी विधवा हूँ । एक समय मैं सुखी थी, सगे-सम्बन्धी थे, पैसे थे, घर था; पर आज इनमेंसे कुछ भी नहीं है । मैं जिनको अपना कह सकती हूँ, वे मेरे सामने भी नहीं देखते । किंतु भाई, एक प्रकारसे कहूँ तो इसमें दोष मेरा है, मैं अपने ही दोषसे दुखी हुई हूँ ।'

यों कहते-कहते उसकी आँखोंमें आँसू भर आये । मैंने उसे धीरज देनी चाही, पर दसेक मिनट तक वह सुबक-सुबक कर रोती रही, फिर शान्त हुई । तदनन्तर उसने अपनी सारी बातें पेट खोलकर मुझे सुनायीं ।

उसकी बातोंका सार यह था कि वह एक सुखी पिताकी पुत्री और सुखी पतिकी पत्नी थी । पतिके घरमें आनन्दसे दिन बिता रही थी । दुर्भाग्यसे यौवनमें विधवा हो गयी । संतान थी नहीं । घर तथा पैसा था । वह कुछ स्वार्थी सगे-सम्बन्धियोंके द्वारा फुसलाई जाकर लूटी जाने लगी । दूसरी ओर वह पतिके स्वार्थी मित्रोंके फंदेमें पड़ी । थोड़ेमें कहें तो वह बहिन अपने यौवन, घर, धन तथा पीहर-ससुरालके स्वजनोंकी ममता—सबसे हाथ धो बैठी । उम्र अधेड़ हुई और शेष जीवनमें कठिनाइयाँ दिखायी दीं, तब उसके मनमें भविष्यकी चिन्ता जाग्रत् हुई । उसके पास सात-आठ हजार रुपये थे । इन रुपयोंसे वह सुखपूर्वक कैसे अपना जीवन निर्वाह कर सकती है, यही सलाह उसे पूछनी थी ।

मैंने कहा—'आप मुझसे सलाह पूछ रही हैं, इस प्रकार दूसरे किसीकी सलाह भी तो आपने ली होगी । अपने सगे-सम्बन्धियों-हितैषियोंसे भी तो पूछा होगा ?'

'मैं बहुत जगह ठगायी जा चुकी हूँ । इससे किसीपर भी मेरा विश्वास नहीं रहा । भाई ! कुछ सगे-सम्बन्धी तो मेरी ओर देखते ही नहीं । एकने मुझे सलाह दी कि 'तू हमारी फर्ममें रुपये जमा करा दे तो हम तुम्हें अच्छा ब्याज दे दिया करेंगे, जिससे तुम्हें रोटी हो जायगी ।' एक परिचित सज्जनने कहा—'तेरे पैसोंमेंसे मेरे मकानपर एक घर बनवा ले, तू उसमें रहा कर और बचे पैसोंसे कोरकसर करके जीवन चलाया कर ।' इस प्रकार सभीके हाथका ग्रास उनके अपने मुँहकी तरफ ही जाता है । अतः उनपर मुझे कैसे विश्वास हो ?'

बहिन सचमुच बड़े असमंजसमें पड़ी थी, यह मैंने देखा । उसने अपनी इज्जत खो दी थी । इससे कोई भला

आदमी उसके साथ बात भी नहीं करता, फिर उसके काममें तो वह सहयोग देता ही कैसे ? ऐसी विकट स्थितिमें पड़ जानेके कारण ही वह मेरे-जैसे अनजान आदमीके सामने पेट खोलकर बातें करने और सलाह लेने आयी थी।

उसे सच्चे रास्तेपर चलानेके लिये मुझसे जो कुछ बन सके करना चाहिये—यह मुझे अपना कर्तव्य प्रतीत हुआ। वह शहरसे दूर एक मुहल्लेमें एक छोटी-सी कोठरी किरायेपर लेकर उसमें रहती थी। मैंने तुरंत तो उसे इतनी ही सलाह दी कि 'तुम्हारे पास जो रुपये हैं, कोर-कसरके साथ खर्च चलानेके लिये उसमेंसे थोड़ेसे रखकर बाकी सब रुपये बैंकमें बँधी मुद्दत (Fixed deposit) के रूपमें करा दो। इसके बाद सोचकर कोई अच्छा रास्ता बताऊँगा। नगद रुपयोंको साथ लिये घूमोगी तो फिर कहीं फँस जाओगी और रहा-सहा पैसा भी खो दोगी।'

मैंने साथ जाकर उसके रुपये बैंकमें जमा करवा दिये। फिर सोचनेपर मुझे एक मार्ग दिखायी दिया। एक छोटी-सी हाउसिंग सोसायटी बन रही थी, उसमें जमीनके साथ दस हजार रुपये अंदाज लगानेपर मकान बनाया जा सकता था। उस समय जमीनमें तथा मकान बनवानेमें इतनी महँगी नहीं थी। और उसपर कुछ लॉन (उधार) भी मिल सकता था। मैंने साथ रहकर बहिनका यह काम करवा दिया। अब वह मकानकी मालकिन बन गयी। एक हिस्सेमें वह रहने लगी, और शेष हिस्सोंको किरायेपर उठाकर मासिक ८०-८५ रुपये कमाने लगी। इन रुपयोंमेंसे लॉनका ब्याज तथा किस्त चुकानेके बाद जो कुछ बचता, उससे उसका पोषण-खर्च निकलने लगा।

पाँच-सात वर्षोंमें वह बहिन ऋणसे मुक्त हो गयी और उसके मनमें उत्साह आया। अब सगे-सम्बन्धियों तथा परिचितोंके बीचमें पूर्ववत् रहनेका उसका मन हुआ। सोसायटीमें अनजान किरायेदारों तथा पड़ोसियोंके साथ रहना उसे अखरता था। उसने मुझसे यह बात कही और इसीके साथ, शहरमें एक छोटा मकान पंद्रह-सोलह हजारमें मिल रहा है, यह सूचना दी। मैंने इसका पता लगाया और उधर सोसायटीवाले मकानका ग्राहक भी खोज निकाला। इस मकानकी जितनी कीमत मिली, उतनेमें ही शहरवाला मकान मिल गया। अब वह उमंगके साथ शहरवाले मकानमें आकर रहने लगी। यहाँ भी उसे भाड़ेकी आमदनी ठीक-ठीक होने लगी।

आज वह बहिन साठपर पहुँच गयी है और न्यात-जातमें उसकी प्रतिष्ठा पुनः पूर्ववत् होने लगी है। इससे उसको आनन्दका अनुभव होता है। वह कभी-कभी मेरे यहाँ आया करती है और चाय-पानीके बाद मैं जब उसे संतोषकी डकार लेते देखता हूँ, तब मुझे भी संतोष हुए बिना नहीं रहता।'

यह वृत्तान्त एक सेवाभावी और व्यवहारकुशल वृद्ध मित्रने मुझे सुनाया। तब मेरे मुँहसे सहज ही उद्गार निकला—इस मार्गभूली बहिनको मानो सचमुच आप भगवान् ही मिल गये। (अखण्ड आनन्द)

—चु० व० शाह

श्रीकृष्ण केवल प्रेम-रूप

शुद्ध प्रेमरूप हैं केवल प्रियतम परम मधुर श्रीकृष्ण।
देते प्रेम सर्वथा अविरत लेते सदा प्रेम श्रीकृष्ण॥
कहते सुनते सदा सूँघते केवल एक प्रेम श्रीकृष्ण।
प्रेम देखते चखते करते स्पर्श प्रेम केवल श्रीकृष्ण॥
करते प्रेम-कार्य ही केवल पावन प्रेम-प्राण श्रीकृष्ण।
रहते सदा प्रेमके चाकर, नित्य प्रेम-स्वामी श्रीकृष्ण॥

× × × ×

प्रेम हटा देता दूरीको, प्रेम मिटा देता व्यवधान।
प्रेम भुला देता प्रपञ्च सब, प्रेम मिला देता भगवान॥

श्रीगीता और रामायणकी आगामी परीक्षाएँ

श्रीगीता और रामचरितमानस—ये दो ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनको प्रायः सभी श्रेणीके लोग विशेष आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। इसलिये समितिने इन ग्रन्थोंके द्वारा धार्मिक शिक्षा-प्रसार करनेके लिये परीक्षाओं-की व्यवस्था की है। उत्तीर्ण छात्रोंको योग्यतानुसार पुरस्कार भी दिया जाता है। गत वर्षसे रामायण-परीक्षाओंमें पुरस्कारोंकी संख्या एवं धनकी वृद्धि भी की गयी है। परीक्षाओंके लिये स्थान-स्थानपर लगभग ०० केन्द्र भी स्थापित हैं तथा और भी नियमानुसार किये जा सकते हैं।

आगामी गीता-परीक्षाएँ रविवार, सोमवार दि० २२-२३ नवम्बर १९६४ को एवं रामायण-परीक्षाएँ दि० ३-४ जनवरी १९६५ को होनेवाली हैं। विशेष जानकारीके लिये पत्र लिखकर नियमावली मँगवा सकते हैं।

व्यवस्थापक—**श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति, गीता-भवन, पो० स्वर्गाश्रम (देहरादून)**

बहुत दिनोंसे अप्राप्य पुस्तकका नया संस्करण

श्रीरामचरितमानस (सचित्र), मूल-मोटा टाइप, पाठभेदवाली

आकार डिमाई आठपेजी, पृष्ठ-संख्या ८००, मूल्य ३ रुपये डाकखर्च १ रु० ८० न० पै० कुल रु० ४.८०

प्रस्तुत ग्रन्थके अन्तिम ४८ पृष्ठोंमें मानसका एक विस्तृत व्याकरण दिया गया है, जिससे श्रीगोस्वामीजीके मानसका विचारपूर्वक परिशीलन करनेमें सहायता मिल सकती है। इस ग्रन्थकी पाद-टिप्पणीमें मानसके प्रसिद्ध क्कीस संस्करणोंके मुख्य-मुख्य पाठभेद भी दिये गये हैं।

गीता-दैनन्दिनी सन् १९६५ ई०

आकार २२×२९ बत्तीसपेजी, पृष्ठ ४१६, मूल्य साधारण जिल्द ६२ न० पै०, बढ़िया जिल्द ७५ न० पै०, डाकखर्च ७५ न० पै० अलग।

इसमें हिंदी, अंग्रेजी, पंजाबी और नये भारतीय शक-संवत्की तिथियोंसहित पूरे वर्षमें दैनिक क्रमसे सम्पूर्ण श्रीमद्भगवद्गीता, तिथि, वार, घड़ी और नक्षत्रका संक्षिप्तपत्रक, अंग्रेजी तारीखोंका वार्षिक लेंडर, गीतामाहात्म्य, चेतावनी, नित्य गीताका मनन करें, सब समय आनन्द, कलियुगमें नाम-कीर्तनकी शेष महिमा, निश्चिन्त हो भजनमें लग जाओ, भक्तशिरोमणि प्रह्लादका उपदेश, नीति-सूक्ति, कुछ जानने-ग्य उपयोगी बातें—जैसे रेल, डाक, तार, इन्कमटैक्स, सुपरटैक्स, मृत्युकर, पुराने-नये पैसे तथा ट्रिक माप-तोल आदिकी परिवर्तनसारिणी, दैनिक वेतन तथा मकान-भाड़ेका नकशा, अनुभूत घरेलू वाओंके प्रयोग, स्वास्थ्य-रक्षाके सप्त सूत्र, ध्यान और आरती भी दी गयी है।

☞ **गीता-दैनन्दिनीके विक्रेताओंको विशेष रियायत मिलती है। यहाँ आर्डर देनेके पहले पने यहाँके पुस्तक-विक्रेतासे माँगिये। इससे आपका समय तथा पैसे बच सकते हैं।**

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

रजि० सं० एल्० १७५

॥ श्रीहरिः ॥

‘कल्याण’का आगामी विशेषाङ्क

भगवन्नाम-महिमा और प्रार्थना-अङ्क

‘कल्याण’का सबसे पहला विशेषाङ्क (द्वितीय वर्षके प्रथम अङ्कके रूपमें) ‘भगवन्नामाङ्क’ लगभग सौ पृष्ठोंका निकला था और वह बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुआ था। तबसे भगवन्नाम और प्रार्थनासम्बन्धी चर्चा ‘कल्याण’में बराबर होती रही है। परंतु वर्तमान युगमें, जहाँ आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक संकटोंसे समस्त विश्व आक्रान्त है तथा मानव-जीवनकी सफलताके अभिलाषी परमार्थ-साधक भी सफलताका कोई सरल साधन नहीं पा रहे हैं,—भगवन्नाम और प्रार्थनाकी ओर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक समझा गया। भगवन्नाम तथा प्रार्थना अमोघ साधन हैं, सभी इनके अधिकारी हैं और इनके द्वारा असम्भव भी सम्भव होता है, ऐसा संतोंका अनुभव है। अतएव इस बार ‘कल्याण’का आगामी विशेषाङ्क ‘भगवन्नाम-महिमा और प्रार्थना-अङ्क’ निकालना निश्चय हुआ है।

सदाकी भाँति लगभग सात सौ पृष्ठोंकी सर्वहितकारी सामग्री, सुन्दर रंगीन तथा सादे चित्र तथा परम उपयोगी निबन्ध रहेंगे। नीचे लिखे विषयोंपर तथा और भी ‘नाम’ तथा ‘प्रार्थना’ सम्बन्धी उपयोगी विषयोंपर इस अङ्कमें चर्चा की जायगी। लेखोंका चयन और सम्पादन आरम्भ हो गया है।

निवेदक, सम्पादक **‘कल्याण’**

१—कलियुगमें भगवन्नामका आश्रय ही परम साधन है
२—भगवत्प्रेम और तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिमें भगवन्नाम प्रधान साधन
३—भगवन्नामसे सर्वार्थसिद्धि तथा परम कल्याण
४—भगवत्प्रार्थनासे लौकिक-पारलौकिक सिद्धि तथा परम कल्याण
५—भगवन्नाम भगवान् ही है
६—भगवन्नाम भगवान्‌से भी बढ़कर है
७—योगसाधना और भगवन्नाम एवं प्रार्थना
८—भक्तिमें भगवन्नामका तथा प्रार्थनाका स्थान
९—तपमें भगवन्नामकी आवश्यकता
१०—वेदोंमें भगवन्नाम तथा प्रार्थना (स्तवन)
११—दर्शनोंमें भगवन्नाम तथा प्रार्थना
१२—उपनिषदोंमें भगवन्नाम तथा प्रार्थना
१३—इतिहास-पुराणोंमें भगवन्नाम तथा प्रार्थना
१४—तन्त्रोंमें भगवन्नाम तथा प्रार्थना
१५—विश्वके विभिन्न धर्मों-सम्प्रदायोंमें भगवन्नाम तथा प्रार्थनाकी महिमा
१६—आयुर्वेदमें नामका चमत्कार-निरूपण एवं प्रार्थना-स्तवन, मन्त्र तथा आराधनाका स्थान
१७—भगवन्नाम सर्वोत्तम प्रायश्चित्त
१८—भगवन्नाम तथा प्रार्थनामें सबका अधिकार
१९—नाम-जप-कीर्तनमें सदाचार तथा वैराग्यकी आवश्यकत
२०—मालाका स्वरूप और उपयोग
२१—नाम-जपमें विधिकी अप्रधानता
२२—नाम-कीर्तनके विविध प्रकार
२३—प्रार्थनाका स्वरूप
२४—प्रार्थनाके चमत्कार
२५—प्रार्थनाका फल और प्रभाव
२६—ऋषि-मुनियों और मुक्त महात्माओंके द्वारा नाम-गुणगान
२७—भगवन्नामसे सर्वपाप-नाश और नवीन प्रारब्धका निर्माण
२८—भगवत्प्रार्थनासे सर्वपाप-नाश और नवीन प्रारब्धका निर्माण
२९—नामका दुरुपयोग
३०—किसीके अहितके लिये नामका तथा प्रार्थनाका प्रयोग महान् अपराध
३१—विश्व-संकट-निवारण तथा विश्व-कल्याणके लिये नाम-जप-कीर्तन तथा प्रार्थनाकी उपयोगिता
३२—व्यक्तिगत और सामूहिक प्रार्थना
३३—व्यक्तिगत और सामूहिक नाम-कीर्तन
३४—विभिन्न देशोंके नाम-प्रेमी तथा प्रार्थना-प्रेमी अनुभवी भक्त
३५—नामप्रेमी तथा भगवत्-स्तुतिप्रेमी अनुभवी प्राचीन तथा अर्वाचीन भारतीय भक्तोंके चरित्र
३६—भगवान् शिव-विष्णुकी एकता और परस्पर एक-दूसरेकी नामोपासना
३७—भगवन्नाम और वर्णाश्रमधर्म
३८—ज्ञान तथा भक्तिके महान् आचार्योंका भगवन्नाम-प्रेम

कल्याण

अक्टूबर 64

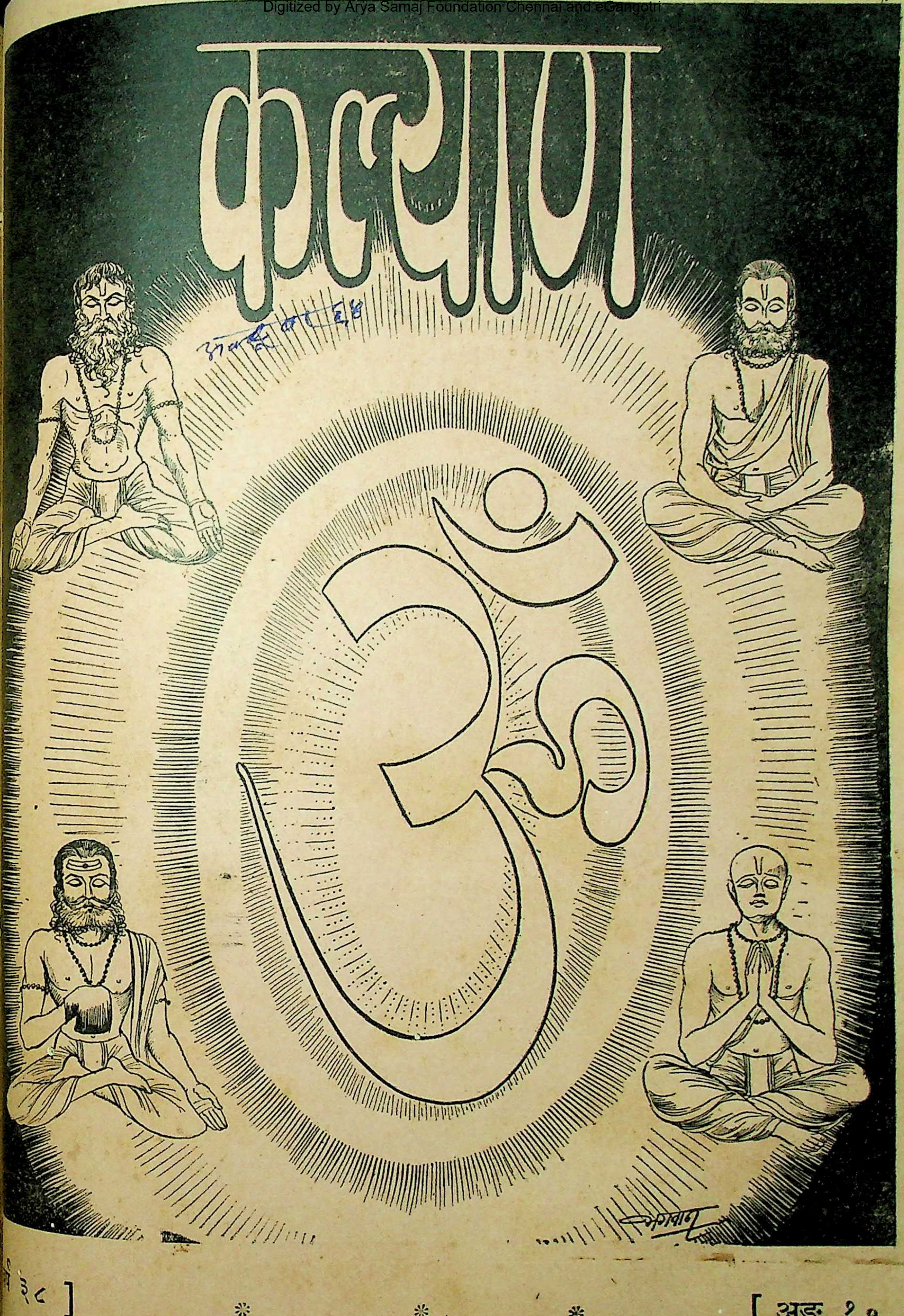

र्ष ३८] * * * [अङ्क १०

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

संस्करण—१,३८,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर कार्तिक २०२१, अक्टूबर १९६४

विषय	पृष्ठ-संख्या
१–नमस्कार [कविता] …	१२०५
२–कल्याण (शिव) … …	१२०६
३–भागवतकी भूमिका (अध्यापक श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय एम्० ए०) …	१२०७
४–परमार्थ-पत्रावली (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र) … …	१२१४
५–रस-समुद्रका प्रवाह [कविता] …	१२१९
६–अखिलरसामृत-मूर्ति भगवान् श्रीकृष्णका आविर्भाव (श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी-महोत्सव-पर गोरखपुरमें हनुमानप्रसाद पोद्दार-का प्रवचन) … …	१२२०
७–इच्छा-त्याग (दि० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास) … …	१२२५
८–'अन्य विलक्षण' [कविता] …	१२२६
९–तुलसीके शब्द (डाक्टर श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू एम्० ए०, डी०लिट्०) …	१२२७
१०–पञ्चम पुरुषार्थ [कहानी] (श्री'चक्र')	१२२९
११–श्रीराधाके तत्त्व-स्वरूप-लीलाका पुण्य स्मरण (श्रीराधा-जन्माष्टमी-महोत्सव (सं० २०२१) पर हनुमानप्रसाद पोद्दारके गोरखपुरमें दो प्रवचन) …	१२३२
१२–पण्डित और मूर्ख (आचार्य 'प्रवासी' एम्० ए०) … …	१२४४
१३–मनु और याज्ञवल्क्यकी दृष्टिमें स्त्रियोंका स्थान (आचार्य श्रीचन्द्रभालजी ओझा एम्० ए०) … …	१२४७
१४–कर्मफल [कहानी] (श्रीविजयजी 'निर्बाध') …	१२५०
१५–अवकाशके समयका सदुपयोग (श्रीअगरचन्द्रजी नाहटा) …	१२५१
१६–स्नेहकी शक्ति सर्वश्रेष्ठ है (श्रीराधेश्यामजी) …	१२५३
१७–एक अँगरेज भक्त (श्रीकुबेर भाई) …	१२५४
१८–ब्रह्मकी सर्वरूपता (श्रीशिवमूर्तिजी) …	१२५६
१९–अनुभवके कुछ क्षण (श्रीविश्वेश्वरनारायणजी) …	१२५७
२०–क्या किसीने आपकी कोई हानि की है ? (श्री ए० डी० हेफ्ले, अमेरिका) …	१२५८
२१–अकारण निन्दा, आलोचना और घृणा मिलनेपर हम क्या करें ? (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी०-एच्० डी०, विद्याभूषण, दर्शनकेसरी) …	१२६०
२२–पढ़ो, समझो और करो …	१२६४
२३–श्याम-श्यामाका उदार निर्जन निकुञ्ज …	१२६८

चित्र-सूची

१–ध्यानयोग … …	(रेखाचित्र)	मुखपृष्ठ
२–नमस्कार … …	(तिरंगा)	१२०५

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति
भारतमें ४५ पै०
विदेशमें ५६ पै०
(१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

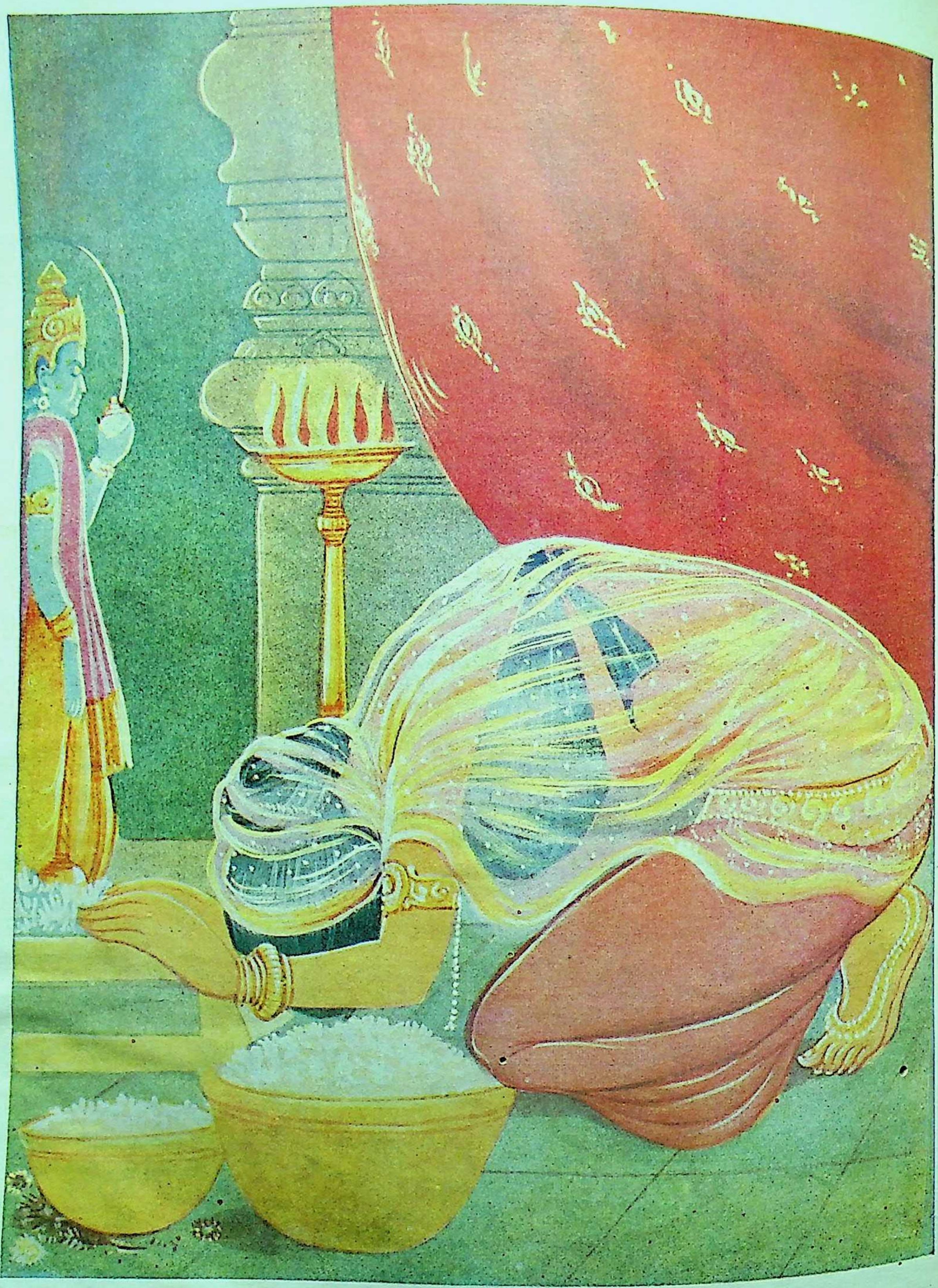

नमस्कार

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

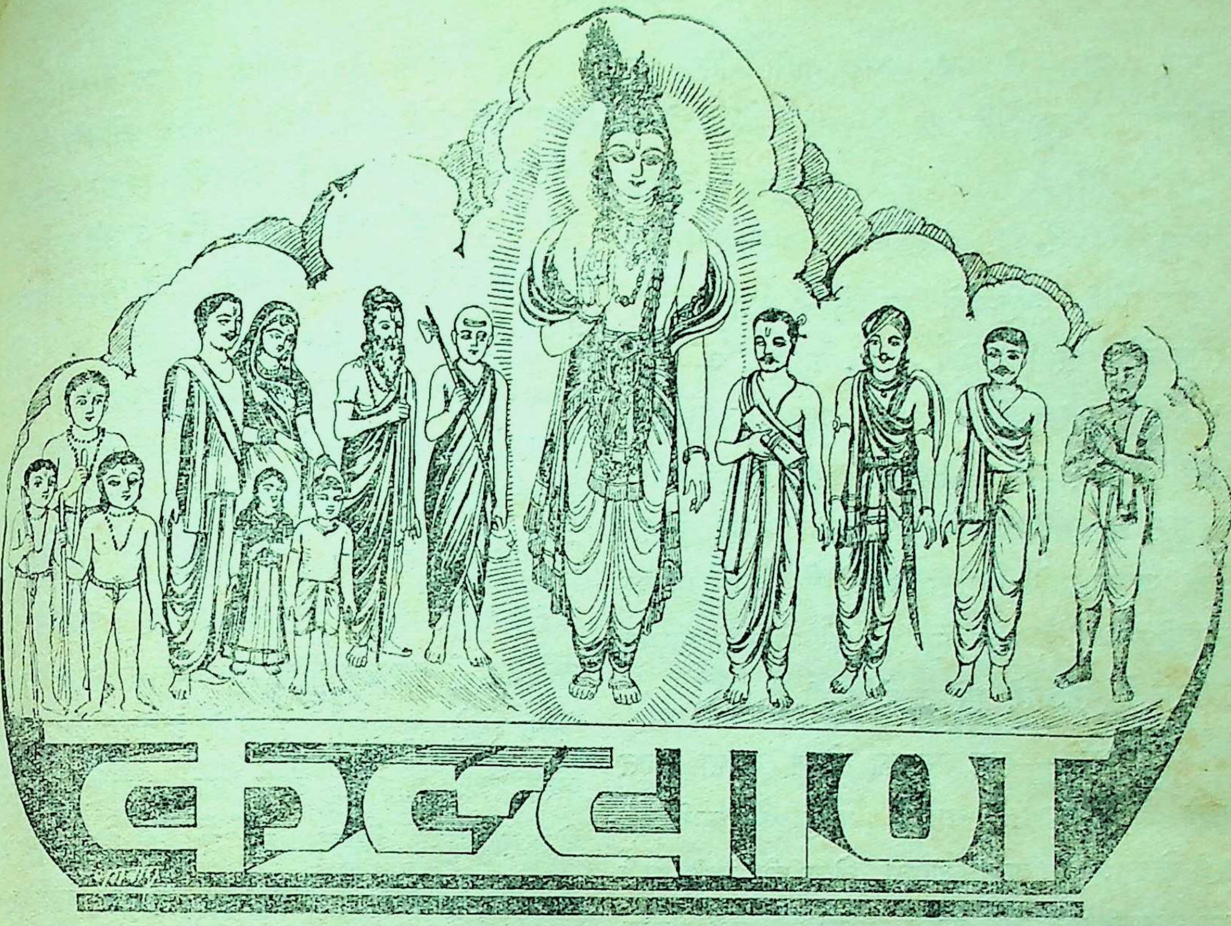

कल्याण

सर्वारिष्टहरं सुखैकरमणं शान्त्यास्पदं भक्तिदं स्मृत्या ब्रह्मपदप्रदं स्वरसदं प्रेमास्पदं शाश्वतम् ।
मेघश्यामशरीरमच्युतपदं पीताम्बरं सुन्दरं श्रीकृष्णं सततं व्रजामि शरणं कायेन वाचा धिया ॥

वर्ष ३८ } गोरखपुर, सौर कार्तिक २०२१, अक्टूबर १९६४ { संख्या १०
पूर्ण संख्या ४५५

नमस्कार

दृढ़ रति, मन विश्वास अति, श्रद्धा सरल सुभाव ।
माधव-विग्रह-अर्चना करती मन अति चाव ॥
प्रतिदिन नियमित समय पर ले पूजा-सम्भार ।
सरस-हृदय नित पूजती समुद विविध उपचार ॥
नमस्कार करती सदा, कर पूजा सम्पन्न ।
सर्व-समर्पण भाव शुचि होता मन उत्पन्न ॥

याद रक्खो—जो भला बनना नहीं चाहता, पर भला कहलाना चाहता है, वह तो स्वयं अपनेको धोखा देता ही है, पर जो किसी अंशमें भला बनकर उसका अभिमान करता है, वह भी हानि ही उठाता है ।

याद रक्खो—मनुष्यको हर क्षेत्रमें भला बननेकी निरन्तर चेष्टा करनी चाहिये, परंतु भलाईका अभिमान कभी नहीं करना चाहिये । अभिमान आते ही उससे कई बुराइयाँ पैदा हो जाती हैं । अभिमान दूसरोंका अपमान-तिरस्कार करता है । अभिमानीमें लोग बुराई ढूँढ़कर उसके अभिमानको मिटाना चाहते हैं, इससे परस्पर कलह-द्वेष होता है और मनुष्यकी भले बननेकी साधना परस्परके द्वेष-साधनमें परिणत हो जाती है ।

याद रक्खो—सदा सत्यका सेवन करना बहुत अच्छा है, करना ही चाहिये । परंतु 'मैं कभी झूठ नहीं बोलता, मैं कभी असत्य बोला ही नहीं' ऐसी अभिमानभरी बात नहीं करनी चाहिये । मैं कभी असत्य बोला ही नहीं—विचार करके देखनेपर पता लगेगा कि इसमें भी असत्य है । सावधान रहते-रहते भी भूलसे कभी-कभी असत्य बोला ही जाता है । भगवान्की कृपासे सत्यका पालन करते हुए भगवत्कृपाको ही श्रेय देना चाहिये ।

याद रक्खो—जो मनुष्य अभिमानसे यह कहता है कि मुझसे कभी भूल होती ही नहीं, वह बहुत बड़ी-बड़ी भूलें किया करता है । जो कहता है कि मुझे कभी क्षोभ होता ही नहीं, वह बहुत जल्दी क्षुब्ध हो जाया करता है । अपनी कमजोरियोंके लिये भगवान्से बल माँगते हुए प्रयत्नशील रहना चाहिये, जिससे मन क्षुब्ध न हो ।

याद रक्खो—जिन लोगोंके दोष बतानेवाले कम और प्रशंसा करनेवाले अधिक होते हैं, उनको बहुत जल्दी क्षोभ होता है; क्योंकि वे आलोचना सुननेके अभ्यस्त ही नहीं हैं । ऐसी स्थितिमें क्षोभके आवेशमें ऐसी बातें बोली जाती हैं, जिनको विचार आनेपर वे स्वयं अच्छी नहीं समझते और फिर अपनी दुर्बलताको छिपानेके लिये उनको नयी-नयी बातें गढ़कर मिथ्याका आश्रय लेना पड़ता है ।

याद रक्खो—मनुष्यकी इन्द्रियाँ बहिर्मुखी हैं, मन संसारकी मायासे ग्रस्त है, सदा ध्यान रखनेवालोंसे भी भूल हो जाती है । अतएव मनुष्यको कभी यह मानकर निश्चिन्त नहीं हो जाना चाहिये कि मेरे जीवनसे सारे दोष-दुर्विचार सर्वथा निकल गये हैं और न कभी अभिमान ही करना चाहिये । वरं भगवान्के सामने सदा विनम्र रहते हुए अपने जरा-से दोषके लिये भी पश्चात्ताप करना तथा अपनेको दोषी मानना चाहिये । भगवद्विश्वासी मनुष्य जितना ही अपनेको दोष-दुर्बल और साधनहीन मानता है, उतना ही वह परम करुणासागर भगवान्का अधिक आश्रय प्राप्त करता है एवं उतनी ही उसके दोषोंकी समाप्ति होती है ।

याद रक्खो—स्वयं भगवान् भी अभिमानीके साथ द्वेषीका-सा बर्ताव करके उसके अभिमानको मिटाकर उसे पवित्र-जीवन बनाना चाहते हैं । इसीसे भगवान्को दैन्य प्रिय है ।

याद रक्खो—भगवान्का अनुयायी, उनका प्रेमी, उनपर विश्वास करनेवाला सदा ही विनम्र और अभिमान-शून्य होता है । वह अपनेको सर्वथा निर्बल, देखता है और भगवान्के अपार अपरिसीम बलका आश्रय ग्रहण कर उस बलसे तमाम दोषोंको नष्ट करनेमें समर्थ होता है ।

याद रक्खो—अभिमान भगवान्से दूर करता है और दैन्य भगवान्के चरणोंमें पहुँचा देता है ।

'शिव'

भागवतकी भूमिका

(लेखक--अध्यापक श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय एम्० ए०)

(१)

आचार्यप्रवर श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजीने अति प्राचीन कालसे विचित्र धारामें प्रवाहित भारतीय साधनाका समन्वय करने, विभिन्न श्रेणियों, उपश्रेणियोंमें विभक्त हिंदूजातिको संघबद्ध करके एक महाजातिमें परिणत करने, इस विशाल महादेशके सब प्रदेशोंमें विचित्र-प्रकृतिविशिष्ट असंख्य नर-नारियोंमें एक महान् मानवधर्मके आदर्शका प्रचार करनेके लिये अपना सुदीर्घ जीवन व्यतीत किया था। वृद्धावस्थामें वे बदरिकाश्रममें समाधिस्थ होकर ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करनेके लिये तैयार हो रहे थे, परंतु उनके हृदयमें एक बाधा आ उपस्थित हुई। उनको ऐसा लगा मानो उनका कर्मजीवन, आचार्य-जीवन अभी पूर्णतः सार्थक नहीं हुआ है, जिस महान् उद्देश्यको लेकर भारतमें युगसंधिके समय भगवान् श्रीकृष्णके एक अनन्य साधारण लीलासहचरके रूपमें वे अवतीर्ण हुए थे, वह उद्देश्य सर्वाङ्गसुन्दर रूपमें सिद्ध नहीं हुआ। उनके विशुद्ध अन्तःकरणमें भीतर-ही-भीतर अपनी अकृतार्थताका बोध होने लगा।

जागतिक जीवनमें समस्त कर्तव्योंका सम्यक् रूपमें सम्पादन होनेपर तथा जीवनके सारे कर्म-बन्धनसे मुक्त होनेपर, हृदयमें जैसी पूर्णता और स्वच्छताका अनुभव होना ऐसे महामना और महाप्राण पुरुषके लिये स्वाभाविक है, वैसा न होनेके कारण उनके मनमें विषाद और अस्वस्थता उत्पन्न हो गयी; परंतु उनकी समझमें ठीक-ठीक नहीं आ रहा था कि उनके जीवनका कौन-सा विशेष आवश्यक कर्म बाकी रह गया है। भारतीय संस्कृति और सभ्यताको सुप्रतिष्ठित करना, सब श्रेणियोंके नर-नारियोंके इहलौकिक और पारलौकिक कल्याणके लिये भारतके प्राचीन और आधुनिक श्रेष्ठतम मनीषियोंके साधनोपलब्ध सत्योंके संकलन तथा शिक्षा-दीक्षाके द्वारा सर्वत्र प्रचारकी व्यवस्था करना, शिक्षित-अशिक्षित, भद्र-अभद्र, ऊँच-नीच, सभी स्तरोंके मनुष्योंके लिये धर्म और मोक्षका पथ तथा धर्मानुकूल काम और अर्थके पथको प्रदर्शन करना, सारे भारतवर्षमें एक जीवनादर्श, एक धर्मचक्र, एक सभ्यता और संस्कृतिका राजत्व स्थापित करना, आर्य-अनार्य, ब्राह्मण-चाण्डाल, भोगी-तपस्वी, गृही-संन्यासी सबको एक सार्वजनिक आध्यात्मिक आदर्शद्वारा अनुप्राणित करके एक अखण्ड हिंदूसमाजमें गठित करना और उनकी विभिन्न प्रकारकी जीवनधाराकी विशेषताकी रक्षा करते हुए एक ही चरम लक्ष्यकी ओर सबकी जीवनधाराको प्रवाहित करना, भारतकी सारी जाति, सारे वर्ण, सारे सम्प्रदायोंमें एक सुदृढ़, चिरस्थायी एकताकी सृष्टि करना और उनकी आपात-विभिन्नमुखी साधन-पद्धतियोंको एक ही योगसूत्रमें बाँधना ही उनके कर्मजीवनका व्रत था। अपने ज्ञान और विश्वासके अनुसार इस सुमहान् व्रतका सम्पादन उन्होंने सुचारु रूपसे किया था।

वेद, उपनिषद्, स्मृति और आगमोंको एक सूत्रमें ग्रथित करके, वेदान्तदर्शन, महाभारत और पुराणसंहिताओंकी रचना करके, देश-काल और अवस्थाके भेदसे नियमितरूपसे सबके अध्ययन-अध्यापन तथा बहुल प्रचारकी व्यवस्था करके एक ही जीवनदर्शनके अनुयायी विभिन्न वर्गोंके मनुष्योंकी पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, ऐहिक, पारलौकिक और आध्यात्मिक जीवनकी नाना प्रकारकी समस्याओंके युक्तिपूर्ण समाधानका पथ-प्रदर्शन करके, नाना प्रकारकी विरोधी शक्तियोंमें अशान्ति पैदा करनेवाले वाद-विवादके निराकरणमें अपनी प्रतिभा और प्रभावका उपयोग करके अपने आचार्यत्वके सारे कर्मोंका सुचारुरूपसे सम्पादन किया था।

उन्होंने वेद और उपनिषद्के विधि-निषेधात्मक और तत्त्व-प्रतिपादक वाक्योंका जैसा समन्वय प्रदर्शित किया है, महाभारत और पुराणोंमें, विचित्र रुचि एवं बुद्धिसम्पन्न तथा विभिन्न परिस्थितिमें निपतित नर-नारियोंके जीवनको परम कल्याणके पथपर संचालित करनेके उद्देश्यसे जिस प्रकार सबके जीवनादर्शकी एकता और प्रत्येकके व्यावहारिक स्वधर्मकी विचित्रताका निर्देश किया है, अनार्य साधनाको आर्यसाधनाके साथ, शूद्र-साधनाको ब्रह्मण-साधनाके साथ, कर्मसाधनाको ज्ञानसाधनाके साथ, विभिन्न देवताओंकी उपासनाको अद्वय ब्रह्मतत्त्वके अनुसंधानके साथ, सारे जातीय कर्तव्योंके अनुष्ठानको नैष्कर्म्यके साथ जिस प्रकार निपुणतापूर्वक उन्होंने जोड़ दिया है, उससे किसीके किसीके साथ धर्म और परमार्थके सम्बन्धमें विरोधकी सम्भावना ही नहीं रह गयी है। शूद्र,

चण्डाल, व्याध आदि भी ऐकान्तिक निष्ठापूर्वक अपने-अपने कर्तव्यकर्मके भलीभाँति सम्पादनद्वारा तथा अन्तःकरणमें भगवद्भक्तिके अनुशीलनके द्वारा भगवत्कृपासे तत्त्वज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, मोक्षके अधिकारी हो सकते हैं तथा ब्राह्मण और संन्यासी गुरुपदपर आसीन हो सकते हैं—यह प्रदर्शित करके सब जातियोंके नर-नारियोंमें उन्होंने मनुष्योचित आत्मगौरव जाग्रत् किया है तथा उच्च कुलोत्पन्न और उच्च-शिक्षाभिमानी नर-नारियोंके मनुष्यत्व-विघातक और मोक्ष-विरोधी अभिमानको चूर-चूर करके उनका परम कल्याण-साधन किया है।

कर्मकाण्डकी जटिलता और आडम्बरकी अपेक्षा मनुष्य-जीवनमें सत्य, सरलता, अहिंसा, अस्तेय, त्याग, संयम, ब्रह्मचर्य, अमानित्व, अदम्भित्व, क्षमा, अक्रोध, प्रेम, पवित्रता आदि व्रतोंके अधिकाधिक महत्त्व, दान, सेवा, परहितमें आत्मोत्सर्ग आदि सत्कर्मोंके श्रेष्ठत्व और भगवान्में ऐकान्तिकी भक्ति तथा सब जीवोंमें आत्मवत् प्रेमकी अतुलनीय गरिमाकी स्पष्ट और बारंबार घोषणा करके उन्होंने धर्मको विश्वजनीन भित्तिपर प्रतिष्ठित किया है। इस प्रकार उन्होंने सनातन मानवधर्मका विचित्र अवयवसम्पन्न एक सर्वाङ्गसुन्दर, समुज्ज्वल आदर्श मानव-समाजके सामने समुपस्थित किया है। आचार्यसे इससे बढ़कर और किस महान् कर्मकी आशा की जा सकती है? प्राचीन कालसे भारतमें असंख्य आचार्योंका आविर्भाव हुआ है, परंतु श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासका आचार्यत्व अपूर्व था। आज भी वे सारे भारतमें सब सम्प्रदायोंके सर्वश्रेष्ठ गुरुके रूपमें पूजित हैं। भारतीय साधना और संस्कृतिके वे सर्वश्रेष्ठ आचार्य हैं।

(२)

यह सब कुछ करके भी उनके चित्तको शान्ति नहीं मिली। महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायन बहुत सोचनेपर भी इसका कारण निश्चय न कर सके। ऐसे समयमें भगवत्प्रेरणासे देवर्षि नारद उनके पास स्वयं आकर उपस्थित हो गये। व्यासजीको किंचित् चिन्ताग्रस्त देखकर देवर्षिने इसका कारण पूछा। व्यासजीने अपने हृदयकी समस्या देवर्षिसे निवेदन करके कहा, 'मैं इस अशान्ति और अपूर्णताका कारण नहीं समझ पा रहा हूँ। आप सर्वान्तर्दर्शी और सर्वज्ञ हैं, आप इसका कारण समझा दें तथा इससे निष्कृतिका उपाय बतला दें।' भागवत-धर्मके महान् गुरु भगवत्पार्षद देवर्षि नारद भारतीय साधनाके प्रधान आचार्य श्रीकृष्णद्वैपायनकी आन्तरिक समस्याको दिव्यदृष्टिसे देखकर ही बदरिकाश्रममें उपस्थित हुए थे तथा उनके आचार्यत्वका जो कृतित्व शेष रह गया था, उसके सम्बन्धमें उपदेश देनेके उद्देश्यसे ही उनके सामने प्रकट हुए थे। नारदजीने आचार्यको समझाया कि अबतक उन्होंने जिस रूपमें धर्म-प्रचार किया है, उससे मानवधर्मका सम्यक् प्रचार तो हुआ है, परंतु भागवत-धर्मका यथार्थ प्रचार नहीं हुआ है। अतएव उनके कार्यका प्रधान अंश अवशिष्ट रह गया है।

विश्वजनीन सनातन धर्मके साधन-क्षेत्रमें दो भावधाराएँ सतत प्रवाहित रहती हैं, एक मानवधर्मके और दूसरा भागवतधर्मके नामसे प्रसिद्ध है। मानवधर्मके अनुशीलनमें मनुष्य अपनेको, अपनी अहमिकाको ही सब प्रकारकी साधनाका केन्द्र बनाकर अपने उद्देश्यकी सिद्धिके पथमें अग्रसर होता है तथा भागवतधर्मके अनुशीलनमें मनुष्य शुरूसे ही भगवान्‌को अपने जीवनके केन्द्रमें प्रतिष्ठित करके साधनामें प्रवृत्त होता है। ये दोनों उसी प्रकार होते हैं, जैसे ज्योतिष शास्त्रके अनुशीलनमें पृथिवीकेन्द्रिक और सूर्यकेन्द्रिक आलोचना होती है। मानवधर्म और भागवत-धर्म दोनों मार्गोंमें धर्मके सारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग विद्यमान हैं तथा प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्गकी आवश्यकता है। परंतु दोनोंके दृष्टिकोणमें महान् अन्तर है। जीवनको योग-युक्त करना, कर्म-ज्ञान और भक्तिका समन्वय करके, तमोगुण और रजोगुणके प्रभावसे देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धिको मुक्त करके समस्त जीवनको विशुद्ध सत्त्वगुणसे युक्त करना, ऐहिक जीवनके ऊपर आध्यात्मिक जीवनका आधिपत्य स्थापित करना—ये सब दोनों ही भावधाराओंमें समानरूपसे आवश्यक हैं तथापि मानव-धर्मकी और भागवतधर्मकी विचारधारा और अनुशीलन-प्रणाली ठीक एक-जैसी नहीं है।

(३)

मानव-धर्मका मूल स्रोत है मनुष्यकी प्रकृति तथा पुरुषार्थ, स्वभाव और प्रयोजन। सीमाबद्ध देह-इन्द्रिय-मन और बुद्धि-विशिष्ट मनुष्य स्वभावतः जीवित रहना चाहता है, सुखभोग करना चाहता है, जीवन और सुखको दीर्घ-कालव्यापी बनानेके उद्देश्यसे तथा जीवन-विकास और

सुख-सम्भोगकी सामग्री उत्तरोत्तर वर्द्धित करनेके उद्देश्यसे धन-सम्पत्ति अर्जन करना और संचित करना चाहता है; इस उद्देश्यसे समाजमें प्रतिष्ठा, राष्ट्रमें प्रतिष्ठा तथा पराक्रम, ऐश्वर्य और प्रभाव जमाना चाहता है; परस्पर पारिवारिक, राष्ट्रीय और सामाजिक नाना प्रकारके सम्बन्धोंसे युक्त रह-कर तथा पारस्परिक सहयोगिताके प्रतियोगी आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक शक्तियोंके साथ जीवन-संग्राममें विजयी होकर इस नश्वर जगत्में अमरत्व प्राप्त करना चाहता है । इस प्रकारकी प्रेरणा मानवके लिये स्वभावसिद्ध होनेपर भी इतना ही उसके स्वभावका परिपूर्ण स्वरूप नहीं है । उसके भीतर एक उचित-अनुचित-बोध है, श्रेय और प्रेयके भेदका बोध है, धर्माधर्म और पुण्य-पापकी अनुभूति है, सांसारिक प्रयोजनके ऊपर आदर्शकी अनुप्राणना है, सुख-स्वच्छन्दमय जीवनके ऊपर कल्याणमय महत्तर जीवनकी आकाङ्क्षा है । मनुष्य स्वभाववश देहेन्द्रिय आदिके प्रयोजनकी ताड़नामें, जो कुछ चाहता है और जो कुछ करता है, वह चाहना ठीक है या नहीं, करना उचित है या नहीं—यह प्रश्न मनुष्यके अन्तःकरणमें विवेक-बुद्धिके सामने अपने-आप उदित होता है । यह उचित-अनुचित-बोध ही मानवधर्मकी भित्ति है । यही बोध मनुष्यकी स्वाभाविक आकाङ्क्षा, प्रवृत्ति और कर्मके ऊपर अपना प्रभुत्व स्थापित करके इनको नियन्त्रित करता है । इस मानवधर्मको कोई-कोई सम्प्रदाय विधि-निषेधात्मक बतलाते हैं; किंतु उचित-अनुचितका मापदण्ड क्या है ? किसकी विधि और निषेधके अनुसार, किस आदर्शके अनुसार, किस कल्याणकी प्राप्तिकी प्रेरणासे, मनुष्यमात्रकी आकाङ्क्षा, प्रवृत्ति और कर्मके सुनियन्त्रित होनेपर यथार्थ धर्मसाधना होगी, मानव-जीवन कृतार्थ हो सकेगा ? विभिन्न मनुष्योंके उचित-अनुचित तथा आदर्श-सम्बन्धी धारणा उनकी स्वाभाविक वासना, कामना तथा पारिपार्श्विक अवस्थाके प्रभाव और शिक्षा-दीक्षाके प्रकार-भेदके द्वारा प्रभावित होती है । इसी कारण आचार्य लोग कहते हैं कि वासना-कामना-रहित शुद्धचित्त ऋषियोंके हृदयमें स्वयं आविर्भूत कल्याणके आदर्श, अभ्युदय और निःश्रेयसके आदर्श तथा विधि-निषेधकी नीति साधारण लोगोंके उचित-अनुचित या कर्त्तव्याकर्त्तव्यके सम्बन्धमें नियामक मानी जाती हैं । इस आदर्श और नीतिको वेद या शास्त्रके रूपमें मानव-समाज ग्रहण करता आ रहा है । वेद-निर्दिष्ट उचित मार्ग अथवा श्रेय पथका अनुसरण और अनुचित मार्ग अथवा प्रेयपथका परित्याग ही धर्म है ।

परंतु पुनः प्रश्न उठता है कि मनुष्य उचित कर्मोंका सम्पादन करके और अनुचित कर्मका परिहार करके, श्रेय या कल्याणपथका अनुसरण करके तथा उसके निमित्त त्यागनिष्ठ होकर और क्लेश वरण करके अन्तमें किस उद्देश्यको प्राप्त करें ? मानव-जीवनका चरम लक्ष्य क्या है ? किस वस्तुकी प्राप्तिसे उसकी पानेकी चाह समाप्त हो जायगी ? इस प्रश्नका उत्तर ढूँढ़कर मनीषियोंने बतलाया है कि मानव-जीवनका चरम लक्ष्य निःश्रेयस या मुक्ति है, सब प्रकारके दुःख-दैन्य, सब प्रकारके बन्धन और पराधीनता, सब प्रकारके अभाव और अपूर्णताके बोधसे आत्यन्तिक निष्कृति लाभ करना है । मुक्तिके प्राप्त होनेसे ही मानव-जीवनके सारे प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं, परम कल्याणकी प्राप्ति होती है और जीवन परिपूर्ण हो जाता है । मुक्तिको लक्ष्य करके इसकी प्राप्तिके उपायके रूपमें मनुष्यको धर्म-साधना करनी पड़ेगी । श्रेयपथमें क्लेशका बाहुल्य होनेपर भी उसका अनुसरण करना पड़ेगा और आपातरमणीय होनेपर भी अश्रेयपथका त्याग करना पड़ेगा । परंतु इस संसारमें देह, इन्द्रिय और मनके सम्यक् व्यवहारद्वारा ही जब मनुष्यको धर्म-साधना और मुक्ति-प्राप्तिकी चेष्टा करनी पड़ती है, तब स्वास्थ्य, सुख, अर्थ आदिकी पूर्णतः उपेक्षा करके मोक्षकी ओर अग्रसर होना सम्भव नहीं । अतएव परिवार, समाज, राष्ट्र आदिके सम्बन्धमें भी पूर्णरूपसे उदासीन होनेसे काम न चलेगा । अतएव मोक्षके अनुकूल धर्म, धर्मके अनुकूल अर्थ तथा जीवन-धारणके अनुकूल सुखभोग भी मानवीय साधनाके अङ्ग माने गये हैं । मोक्ष (अर्थात् जीवनकी सम्यक् और चिरस्थायी परिपूर्णताकी अनुभूति), तदनुकूल धर्मसाधना (अर्थात् जीवनके प्रत्येक विभागको उस परम कल्याणके पथमें परिचालित करना), तदनुकूल या तद्विरोधी अर्थ-साधना (अर्थात् व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवनमें यथासम्भव सुप्रतिष्ठा-प्राप्तिकी प्रचेष्टा) एवं तदनुकूल काम (अर्थात् देह और इन्द्रियोंके सुख-सम्भोगके लिये सुनियन्त्रित प्रयत्न)—ये ही मनुष्यकी जीवन-साधनाके चतुर्वर्ग हैं । इस चतुर्वर्गका समन्वय सिद्ध हुए बिना मानव-जीवन पुरुषार्थसे भ्रष्ट हो जाता है ।

(४)

अतएव मानव-धर्ममें मानवके पुरुषार्थ-साधनके लिये ही धर्मशास्त्रोंमें सारे विधि-निषेध और सारे उपदेश वर्णित हैं। हम ऐहिक और पारलौकिक सुख-सम्पदाको भोगकर, जीवनको सर्वतोभावेन कल्याणमय, वीर्य और ऐश्वर्य-सम्पन्न, सौन्दर्य और माधुर्यमय तथा आनन्दमय करके, अन्तमें सारे बन्धनोंसे मुक्त होकर सच्चिदानन्दघन स्वरूपमें सदाके लिये प्रतिष्ठित हो जायँ, इस उद्देश्यसे हमारा बाह्य और आन्तरजीवन किस प्रणालीसे नियन्त्रित होना चाहिये, हमारा पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय विधान कैसा होना सुसंगत होगा, हमारे कर्म, भक्ति और ज्ञानका अनुशीलन कैसा होना उचित है, ये ही मानव-धर्मके क्षेत्रमें विचारणीय विषय हैं। इस क्षेत्रमें जिस प्रकार कर्म-साधना हमारे जीवनकी सार्थकताके लिये है, उसी प्रकार ज्ञानसाधना और भक्तिसाधना भी हमारे जीवनकी सम्यक् सार्थकताकी सिद्धिके लिये है। हमारी पराशान्तिकी प्राप्तिके उद्देश्यसे ब्रह्मतत्त्वका श्रवण, मनन और निदिध्यासन है, हमारे जीवनको परम कल्याणमय बनानेके लिये ही ब्रह्मज्ञान, ब्रह्मध्यान और ब्रह्मानन्द-रस-पानका अनुशीलन है। हमारे हृदयमें प्रेम और सौन्दर्यके पूर्ण विकासके लिये विश्वके स्रष्टा, पालक, नियन्ता और संहर्त्ता श्रीभगवान्‌की अनन्त प्रेममय, सर्वसौन्दर्य-निलय, आनन्दलीलाविहारी रसराजरूपमें उपलब्धि करके उनके साथ विशेष सम्बन्ध स्थापित करनेकी चेष्टाके उद्देश्यसे ही भगवान्‌की विचित्र लीला-कहानीका श्रवण, कीर्तन, स्मरण और आस्वादन है। ये सब हमारे स्वार्थके लिये हमारे पुरुषार्थकी प्राप्तिके उपायके रूपमें वर्णित हैं। अतएव ये सभी मानव-धर्मके अङ्ग हैं, आचार्यप्रवर श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासने इन सबकी अपने द्वारा संकलित, प्रणीत और प्रचारित शास्त्रोंमें विशदरूपसे पर्यालोचना करके मानव-समाजका परम कल्याण किया है।

(५)

तथापि आचार्यप्रवरके कर्तव्यकर्म पूर्णताको प्राप्त नहीं हुए तथा उनका आचार्य-चित्त सम्यक्‌रूपसे आत्मतुष्टि प्राप्त न कर सका। सारे साधन-भजन, सारे कर्त्तव्याकर्त्तव्य, सारी तत्त्वालोचना, सारा कर्म-ज्ञान और भक्तिका अनुशीलन, समस्त लीलास्वादनको यदि एक अन्य दृष्टिकोणसे देखें तो धर्मका एक अभिनव रूप प्रकटित होता है तथा इसके सारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग वृद्धिको प्राप्त होते हैं। यह दृष्टि भागवती दृष्टि है। इस दृष्टिका अवलम्बन करके मानवीय अभिज्ञताके राज्यमें सब विषयोंको देखने तथा मानवीय साधनाके सब विभागोंका नियन्त्रण करनेकी शिक्षा आचार्यप्रवरने मुख्य रूपसे प्रदान नहीं की थी। वह भागवत धर्म था।

भगवान् इस विश्वब्रह्माण्डकी सृष्टि, स्थिति और प्रलयके कर्ता हैं। सब मनुष्य, सब जीव-जन्तु, सब स्थावर-जंगम पदार्थ भगवान्‌की ही सृष्टि हैं। भगवान्‌ने ही सबको पृथक्-पृथक् विशेष रूप, प्रकृति, गुण और शक्ति देकर सृजन किया है। जड-जगत्‌में, जीव-जगत्‌में, मानव-जगत्‌में जो नियम-प्रणाली और कार्य-कारण-शृङ्खलाका राजत्व देखा जाता है, जो प्राकृतिक और नैतिक विधान विश्व-ब्रह्माण्डके विभिन्न विभागोंको प्रशासित करके सर्वत्र साम्य और व्यवस्थाकी रक्षा कर रहे हैं, उन सब नियमों और विधि-व्यवस्थाओंके प्रणयनकर्ता श्रीभगवान् हैं। इन सबके भीतर उनकी अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान, अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त माधुर्यकी स्वाभाविक अभिव्यक्ति हो रही है। वे ही सब जीवोंके भीतर अन्तर्यामीरूपमें विराजित हैं और बाहर विश्व-नियन्तारूपमें प्रकटित हैं। वे ही विभिन्न जीवोंको विशिष्ट प्रकृति, शक्ति और प्रवृत्ति प्रदान करते हैं। वे ही उनके द्वारा विभिन्न प्रकारके कार्य कराते हैं और वे ही उनको कर्मानुसार सुख-दुःखमय फल प्रदान करते हैं तथा इन सब कर्मों और कर्मफलोंके नियत विधानके द्वारा उनका क्रमोत्कर्ष साधन करते हुए उनको सम्यक् परिपूर्णताकी ओर खींच ले जाते हैं। उन्होंने ही मनुष्यके मन और इन्द्रियोंको बहिर्मुख करके सिरजा है, उन्होंने ही इसके मन और इन्द्रियोंको सुशासित रखनेके लिये और अभीप्सित पथमें परिचालित करनेके लिये उचितानुचितबोध, सदसद्विवेक और 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की आकाङ्क्षाके साथ इसके स्वभावके भीतर बुद्धि-शक्ति और इच्छाशक्तिको निहित किया है, वे ही शास्त्ररूपमें, गुरुरूपमें, उन्नततर महापुरुषके रूपमें उसके कल्याणका पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं। भगवान् ही सर्वकर्ता और सर्व-नियन्ता हैं। हम मानवीय दृष्टिसे इस जगत्‌में जो घात-प्रतिघात, हिंसा-द्वेष, अत्याचार-अविचारादि प्रलयकाण्ड देखते हैं, सब भगवान्‌का विधान है।

इनमें मनुष्यका स्वतन्त्र कर्तृत्व कहाँ है, मनुष्यका स्वतन्त्र पुरुषार्थ कहाँ है ? मनुष्यका कर्तव्य ही क्या है अथवा वक्तव्य ही क्या है ? सब कुछ तो भगवान्‌का कार्य है। मनुष्य भी तो अन्यान्य प्राणियोंके समान भगवान्‌के द्वारा सृष्ट और नियन्त्रित जीवमात्र है। वे जैसे चलाते हैं, हम वैसे चलते हैं, वे जिस मार्गसे ले जाते हैं, हम उसी मार्गसे जाते हैं, वे जिस लक्ष्यको सामने रखकर जिस प्रणालीसे हमारे जीवनका विकास करते हैं, उसी लक्ष्यकी ओर उसी पथसे हमारे जीवनका विकास होता है। अतएव स्वतन्त्र साधक यदि कोई है तो वह स्वयं भगवान् हैं, जो सबके भीतर साधकरूपमें हैं। उनके ही प्रयोजनकी सिद्धिके लिये उनके द्वारा निर्दिष्ट प्रणालीसे, उनके अभीप्सित पथसे उनकी ही शक्तिद्वारा परिचालित होकर मनुष्यादि सारे जीव और विश्व-ब्रह्माण्डके सारे पदार्थ उत्पन्न हो रहे हैं, परिणामको प्राप्त हो रहे हैं, नाना प्रकारके संघर्षोंमें पड़े हैं और विलीन होते जा रहे हैं।

परंतु इसका प्रयोजन क्या है ? वे किस उद्देश्यसे प्रेरित होकर, किस प्रेरणाके वशीभूत होकर इस जीव-जगत्‌में सृष्टि, स्थिति और प्रलय आदिके व्यापारमें लगे हैं ? यदि वे किसी प्रयोजन, उद्देश्य या प्रेरणाके अधीन होकर यह सब कर रहे हैं ऐसा मान लिया जाय तो क्या वैसी दशामें वे स्वतन्त्र, स्वराट् और स्वयं पूर्ण भगवान् कहला सकते हैं ? प्रयोजन या उद्देश्यद्वारा कर्म संचालित हो तो उसके मूलमें अभावकी विद्यमानता अवश्य स्वीकार करनी पड़ेगी। वैसी दशामें सृष्टि आदि कर्मोंके सम्पादनमें वे पूर्ण स्वतन्त्र हैं— यह कहना कैसे बन सकता है ? वे अपने आपमें परिपूर्ण हैं, अपने सच्चिदानन्दस्वरूपमें नित्य विराजमान हैं— इस बातकी तब कोई सार्थकता न रहेगी। इस प्रकार उनकी भगवत्ताके विषयमें संदेह उठ खड़ा होता है।

वस्तुतः सर्वकारणकारण भगवान्‌के सृष्टि-पालन-ध्वंसादि व्यापारमें किसी प्रयोजन, हेतु या उद्देश्यकी बात उठ ही नहीं सकती। यह उनका नित्य स्वभाव, उनकी भगवत्ता है। उनके स्वभावके ऊपर अन्तःस्थित या बहिःस्थित कोई दूसरी शक्ति नहीं है; किसी कारण, प्रयोजन या उद्देश्यका प्रभाव नहीं है; इसीलिये वे सम्पूर्ण स्वाधीन, सम्पूर्ण स्वतन्त्र और स्वराट् हैं। उनके सारे कर्म अपने नित्यस्वभावके अबाध आत्मप्रकाश हैं। वे परिपूर्ण ज्ञान-इच्छा-शक्तिमय सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। उनकी ज्ञानशक्तिके सामने कोई सत्य अज्ञात और ज्ञेयरूपमें विद्यमान नहीं है; उनकी इच्छाशक्तिके सामने कोई मङ्गल या पुरुषार्थ अप्राप्त या अभीप्सित रूपमें कल्पनीय नहीं है। उनकी सम्भोग-शक्तिके सामने कोई सुन्दर वस्तु अनास्वादित आस्वाद्यरूपमें चिन्तनीय नहीं है। उनके स्व-स्वरूपसे पृथक् कोई ज्ञेय या ध्येय, प्राप्य या आस्वाद्य, ग्राह्य या त्याज्य कुछ भी नहीं है, न उनके भीतर है और न उनके बाहर है। इसी कारण उनको सत्यस्वरूप और ज्ञानस्वरूप, आप्तकाम और पूर्णकाम, अभिन्नशक्ति-शक्तिमान्, अप्रच्युत-स्वभाव, एक अद्वितीय आनन्दघन कहकर तत्त्वदर्शी लोगोंने निर्देश किया है। वे स्वयं स्व-स्वरूपमें ज्ञाता और ज्ञेय, कर्ता और कार्य, सम्भोक्ता और सम्भोग्य हैं। उनके अपने स्वरूपके भीतर यह युगलभाव नित्य विराजमान है। यह युगलभाव एक साथ अभिन्न भावमें परस्परको आलिङ्गन करके उनके स्वभावमें विद्यमान है, अतएव वे अनन्त ज्ञानमय, अनन्त कल्याणमय, अनन्त आनन्दमय और पूर्ण सत्तामय हैं। अन्यथा वे केवल जड, अव्यक्त अथवा शून्यरूपमें ही सत्तायुक्त रहते।

भगवान् अपनेको ही नित्य उपलब्ध कर रहे हैं; अपने स्वभावमें निहित अनन्त ऐश्वर्य और माधुर्यको अपने ही सामने विचित्ररूपमें उपस्थित करके स्वयं उसका सम्भोग कर रहे हैं। यह विश्व-व्यापार उनके इस नित्य आस्वादनका बहिःप्रकाश है। उनका देश-कालातीत नित्य आत्मसम्भोग उनकी ही अनिर्वाच्य माया-शक्तिसे देश-कालमें विचित्ररूपमें स्तर-स्तरमें प्रकटित हो रहा है। इसीका नाम लीला है। लीलातत्त्वकी ही प्रकट मूर्ति देशकालातीत परम दैशिक और कालिक आविर्भाव है। भगवान् अपने आपको अनन्त कालमें, अनन्त देशमें, अनन्त भावमें, अनन्त नाम और रूपमें प्रकट कर रहे हैं; और वे सबका अतिक्रम करके उनके कर्ता, नियन्ता, द्रष्टा और सम्भोक्ताके रूपमें भी नित्य अविकृत भावसे स्वरूपानन्दमें विराजमान हैं। असंख्य मनुष्य, असंख्य प्राणी, असंख्य जड पदार्थ उनकी ही लीलाके प्रकाश हैं और उनके ही सम्भोग्य हैं। वे ही बिना प्रयत्न, बिना कारण, बिना प्रयोजन अनादि अनन्त काल विचित्र रूपमें, विचित्र भावसे अपने आपको सुन्दर और

सम्भोग कर रहे हैं। यही उनका लीलाविलास है—**'स्वभाव एष देवस्य।'**

(६)

मनुष्यकी विशेषता यह है कि वह ज्ञानपूर्वक और प्रेमपूर्वक अनन्त-ज्ञान-प्रेममय भगवान्‌के इस आत्मास्वादनमें योगदान करनेका अधिकारी है; अपने भीतर और बाहर, सर्वदा और सर्वत्र भगवान्‌की इस विचित्र लीलाका सम्भोग करनेमें वह समर्थ है। उसके देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धिको भगवान् अपने सम्भोग्यरूपमें इस प्रकार गढ़ देते हैं। तत्सम्बन्धी जितने व्यापार हैं, उनको भगवान् अपने आनन्द-आस्वादनके उपकरणके रूपमें नियन्त्रित करते हैं। उनके साथ जितने लोगोंका जितने प्रकारका सम्बन्ध स्थापित होता है, अन्यान्य प्राणियोंके साथ और जड प्रकृतिके साथ उनका जितने प्रकारके सम्बन्धका उद्भव और विलय हो रहा है, उन सब सम्बन्धोंके भीतर उनके साथ आदान-प्रदान और घात-प्रतिघातके भीतर उनके जितने प्रकारके सुख-दुःखके भोग और जितने प्रकारके पुरुषार्थ और भावावेशके संचार हो रहे हैं, वे सब भगवान्‌के रस-सम्भोगके उपादान हैं तथा उनके रस-सम्भोगके लिये ही सबका विकास हो रहा है। इस महान् सत्यकी भीतर-ही-भीतर उपलब्धि करनेका अधिकार ही मनुष्यत्व है और इसकी उपलब्धिमें मानव-जीवनकी सार्थकता है। इस तत्त्वकी उपलब्धि और तदर्थ साधनकी चेष्टाके आकारमें मानवजीवनमें भगवान्‌का लीला-विलास है। जिस मनुष्यको इस सत्यकी उपलब्धिकी योग्यता प्राप्त होती है, वह अपने देहके साथ, प्रत्येक इन्द्रियके साथ, प्रत्येक मनोवृत्तिके साथ, प्रत्येक अनुकूल और प्रतिकूल वेदनाके साथ भगवान्‌का साक्षात् योग अनुभव करके आनन्दमें अपने आपको भूल जाता है। रसराज भगवान् इनमेंसे प्रत्येकका प्रेमके साथ सम्भोग करते हैं, इसे उपलब्ध करके वे अपनी अहंवृत्तिका पूर्णरूपसे परित्याग कर अपनी सत्ताको प्रेमसे उसकी सत्तामें विलीन कर देते हैं। वह भीतर-बाहर प्रेममय होकर, अपनी सारी विषम वृत्तियोंको प्रेममें समरस करके, प्रेमानन्दमें अपने अभिमानको पूर्णतः विलीन करके, अपनी सारी पुरुषार्थ-साधन-बुद्धिका परित्याग करके, अनन्त प्रेमरसके आधार भगवान्‌में पूर्णरूपसे आत्मसमर्पण करता है। यह उसके सारे पुरुषार्थोंके परे परम पुरुषार्थ है। वह अभिमान परित्याग करके जितना ही प्रेमभावमें भावित होकर भगवान्‌में आत्मसमर्पण करता है, उतना ही भगवान्‌की सौन्दर्य-माधुर्य-ऐश्वर्यमय स्वरूपास्वादनमें विभोर रसराज-मूर्ति उसे दृष्टिगोचर होती है, उतना ही भगवान् उसके प्रेमपूत हृदयमें आत्मप्रकाश करके उसके आस्वाद्य बनते हैं; उसके जीवनको आनन्दसे भरपूर कर देते हैं।

यही भागवती दृष्टिका अनुशीलन है, अपने जीवनके प्रत्येक व्यापारमें और सारे जगत्‌के प्रत्येक व्यापारमें भगवान्‌की आत्मप्रकाश और आत्मसम्भोगकी लीला आस्वादन करनेकी साधना है, इसीका नाम भागवतधर्म है। इसमें साधनाके प्रारम्भसे ही भगवान्‌को केन्द्र करके जीवन विकसित होता है। इस धर्म-साधनाके आदिमें भगवान्, मध्यमें भगवान् और अन्तमें भगवान् रहते हैं। इस धर्मकी दृष्टिमें, जहाँतक अहंबुद्धि है, जहाँतक अपने पुरुषार्थ-लाभकी आकाङ्क्षा है, जहाँतक अपनेको केन्द्र करके पुरुषार्थकी चेष्टा है, वहाँतक मायाकी अधीनता है, अविद्याका प्रभाव है। मोक्ष-प्राप्तिकी आकाङ्क्षाके मूलमें जो अहंबुद्धि है, उसमें भी इस दृष्टिसे अविद्याका बीज सूक्ष्म भावमें निहित है। अहंको भगवत्-चरणोंमें सम्यक् रूपसे समर्पण करना और तदुद्देश्यसे अहैतुकी भक्ति और प्रेमका अनुशीलन करना ही इस क्षेत्रकी साधना है।

इस साधनाके क्षेत्रमें भगवान्‌की लीलाका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, मनन और निदिध्यासन प्रधान अङ्ग है; स्वाभाविक मानवीय बुद्धिसे जहाँ पहले केवल जड प्राकृतिक नियम या जडशक्तियोंका संघर्ष अथवा जीवसमष्टि या जीवविशेषके कार्य, किंवा मनुष्यविशेष, सम्प्रदाय या जातिविशेषके कार्य दीख पड़ते थे, भागवतधर्मकी साधनामें उन सब स्थानोंमें दृष्टि-परिवर्तन करके भगवान्‌के लीलाविलासको देखनेका अभ्यास करना पड़ेगा। इस दृष्टिके अनुशीलनके लिये, सारे व्यापारोंमें भगवान्‌के लीला-विलासको हृदयंगम करनेके निमित्त, प्रधान ऐतिहासिक घटनाओं, प्राकृतिक घटनाओं, नर-नारियोंके जीवनचरित, युगसंधिकालके विप्लवकी प्रधान कहानियाँ, जन-साधारणमें प्रचलित आख्यान—सबकी भगवान्‌की लीलाबुद्धिसे बारंबार आलोचना करना, चिन्तन करना, विचार करना, कीर्तन करना आवश्यक है। ऐसा करते-करते दृष्टि शुद्ध होती है और प्राकृतिक दृष्टिको

अभिभूत करके क्रमशः भागवत दृष्टि प्रधानताको प्राप्त करती है।

इस अनुशीलनके साथ-साथ यह भी अनुभूति होती है कि भगवान्का हमारे ऊपर कितना प्रेम है। भगवान्की प्रत्येक लीला-कहानीके भीतर जीवके प्रति भगवान्का असीम प्रेम झलकता है। उनकी सारी लीला प्रेम-लीला है, उनके प्रेमानन्दस्वरूपका आत्म-प्रकाश और आत्मसम्भोग है। हमारे पार्थक्य-बोधके समक्ष हमारे प्रति उनकी सारी लीलाएँ उनके प्रेम और करुणाकी अभिव्यक्तिके रूपमें प्रकट होती है। अपने प्रति भगवान्के अहैतुक प्रेमको स्मरण करते-करते भावतः भगवान्के प्रति हमारा प्रेम जाग्रत् हो सकता है। पश्चात् वही प्रेम क्रमशः बढ़ते-बढ़ते सारी मनोवृत्तिको अभिभूत और अनुरञ्जित कर डालता है। भगवान्की प्रेम-लीलाके श्रवण-मननादि जितने ही व्यापक और गम्भीर होते हैं, भगवान्के प्रति हमारा प्रेम भी उतना ही अधिक बढ़ता जाता है तथा इस प्रेमवृद्धिके साथ-साथ अहं-बुद्धिका नाश और भीतर-बाहर सर्वत्र भगवान्के रस-स्वरूपकी उपलब्धि भी उतनी-ही-उतनी व्यापक और गम्भीर होती है। भगवान् अपनी स्वकीया स्वस्वभावभूता ह्लादिनी शक्तिको मनुष्यके अन्तरात्माके भीतर सदा प्रतिष्ठित रखते हैं। अपनी समस्त ताको, व्यावहारिक जीवनके सारे विभागको इसी ह्लादिनी शक्तिके प्रकाशके रूपमें उपलब्ध करना और प्रेमानन्दमय रूपमें आस्वादन करना ही मनुष्यकी साधना है।

(७)

मानव-समाजमें भागवत धर्मकी शिक्षा देनेके लिये भगवान्की लीला-कथा, मनुष्यादि सब जीवोंके प्रति भगवान्के प्रेम और करुणाकी कथा मुख्यरूपसे उपस्थित करना तथा समाजमें सर्वत्र इन कथाओंके प्रचारकी व्यवस्था करना प्रधान कार्य है। यह धर्म मानवमात्रका सहज है; क्योंकि प्रेम मनुष्यके लिये स्वभावसिद्ध है और मनुष्य जिससे प्रेम प्राप्त करता है, उसका प्रेम भी भावतः उसीकी ओर प्रवाहित होता है। भगवान्को जब हम सर्वापेक्षा प्रेमिकके रूपमें देखते हैं, तब हमारी अन्तर्निहित प्रेमवृत्ति सहज ही उनकी ओर दौड़ती है अतएव मानव-समाजमें भगवान्की लीलाका प्रचार आचार्यका एक मुख्य कर्म था।

देवर्षि नारदने आचार्य कृष्णद्वैपायनको समझाया कि उन्होंने मानवधर्मका समाजमें प्रचार किया है, परंतु भागवतधर्मका मुख्य रूपसे प्रचार नहीं किया; भगवान्के प्रेमानन्द-स्वरूपकी कथा तथा विश्व-प्रपञ्चमें उनके विचित्र रसान्वित लीला-विलासकी कथाका प्रधानतया जगत्में प्रचार नहीं किया। अतएव सत्य और धर्मकी एक प्रधान दिशामें सुविहित शिक्षा देनेकी व्यवस्था उन्होंने नहीं की, इसी कारण उनका आचार्य-भावविशिष्ट चित्त शान्ति अनुभव नहीं कर रहा है। किस विधिसे मानव-समाजमें भगवान्के लीलातत्त्वकी शिक्षा देनी चाहिये, इस सम्बन्धमें देवर्षि नारदने आचार्य कृष्णद्वैपायनको संक्षेपमें उपदेश दिया और समाधिस्थ होकर उस तत्त्वके सम्यक् अनुसंधानमें लग जानेके लिये आदेश दिया। आचार्य कृष्णद्वैपायनके समाधि-निष्ठ चित्तमें भगवान् अपनी लीला स्वयं विस्तृतरूपमें प्रकट करेंगे—यह आशीर्वाद देकर भागवतधर्मके गुरु देवर्षि नारदने उनको भागवत-शास्त्र-प्रणयनका आदेश देकर वहाँसे प्रस्थान किया। आचार्यका चित्त प्रसन्न हो गया। वे समाधिस्थ होकर भागवती लीलाको प्रत्यक्ष करके उसका वर्णन करनेमें प्रवृत्त हो गये। भागवत-शास्त्रका प्रणयन तथा सारे मानव-समाजमें उसके प्रचारकी व्यवस्था करके महामुनि श्रीकृष्णद्वैपायनने अपने आचार्यकृत्यको समाप्त किया तथा अपने अन्तःकरणमें परम शान्तिका अनुभव किया। उन्होंने अपने अलौकिक, सर्वजनविनिर्मुक्त पुत्र शुकदेवजीको इस भागवतधर्मके प्रति आकर्षित करके उनको भागवतधर्मके मुख्य आचार्यके रूपमें वरण किया। महाराज परीक्षित्के सामने खुली सभामें शुकदेवजीका उपदेश ही भागवतधर्मके मुख्य शास्त्रके रूपमें प्रचारमें आया।

* * *

परमार्थ-पत्रावली

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपने मुझसे मिलनेकी इच्छा लिखी सो आपके प्रेमकी बात है; पर मेरा शरीर बहुत दिनोंसे अस्वस्थ चल रहा है। आप कलकत्तामें रहते हैं सो ठीक है; किंतु अभी तो मेरा कलकत्ता जानेका कोई प्रोग्राम नहीं है।

युक्त आहार करनेमें और भगवान्‌का भजन करनेमें तो मनुष्य हरेक परिस्थितिमें स्वतन्त्र है। अतः निराश नहीं होना चाहिये। भजन-स्मरणका सम्बन्ध मानसिक भावसे है, परिस्थितिसे नहीं। हरेक कामको भगवान्‌का काम समझकर तथा अपने-आपको भगवान्‌का समझकर इनसे मिलनेकी लालसा तीव्र होनेसे हरेक परिस्थितिमें भगवान्‌का भजन-स्मरण श्रद्धा-प्रेमपूर्वक हो सकता है।

उपदेश देनेकी तो मेरी सामर्थ्य नहीं है, सद्ग्रन्थोंसे जो बात समझमें आयी, वह आपसे निवेदन कर दी है। वही बात लेखों और पुस्तकोंमें लिखी जाती है।

साधकको चाहिये कि वह दूसरेके दोष न देखे, किसीको बुरा न समझे, किसीका अहित न करे, किसीका बुरा न चाहे। मनमें बुरे संकल्प न उठने दे। हर समय भगवान्‌का भजन-स्मरण श्रद्धा-प्रेमपूर्वक करता रहे। आगे-पीछेकी घटनाका चिन्तन न करे। सदैव प्रसन्न रहे। सावधानीके साथ कर्तव्य-पालन करते हुए सबके हितके लिये भगवान्‌के आज्ञानुसार उनकी प्रसन्नताके लिये सबकी सेवा करे। किसीसे अपना स्वार्थ सिद्ध करनेकी इच्छा न रक्खे।

(२)

सादर प्रणाम। आपका पत्र मिला। मेरा शरीर अस्वस्थ ही चल रहा है। आपका पत्र बहुत विस्तारयुक्त है। इस कारण उत्तरमें समय अधिक लग जाता है। आपकी भतीजी करीब दो सालकी थी, उसका देहान्त हो गया लिखा, सो शरीर अनित्य है, इसका नाश होना अनिवार्य है। उसकी क्या गति हुई, यह मैं नहीं जानता; क्योंकि मैं सर्वज्ञ नहीं हूँ। उसके मोहसे चिन्ता करना सर्वथा भूल है। इसमें किसीका कुछ भी लाभ नहीं है। उसके माता-पिताको भी समझाकर धैर्य और सान्त्वना देनी चाहिये। एक शरीरको छोड़कर चले जाना ही मृत्यु है। जीव पहलेके शरीरका त्याग करके कर्म-फल-भोगके लिये दूसरे शरीरमें आता है और उसकी आयु समाप्त होनेपर उसे भी छोड़कर अन्यत्र कर्मानुसार चला जाता है। उस पूर्वशरीरसे फिर उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। स्वर्ग-नरक अपने-अपने स्थानमें हैं, पृथ्वीमें नहीं हैं। जीव अपने कर्मोंका फल ही सुख-दुःखके रूपमें भोगता है। आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

१—अबोध शिशु, पशु-पक्षीको अन्तकालके समय भगवान्‌का नाम और गीता आदिका पाठ सुनाना अच्छा है। सुनानेवालेका और अन्य सुननेवालोंका भी हित है तथा मरनेवालेका भी हित है; पर इससे उसकी मुक्ति हो जाती है, यह युक्तिसंगत नहीं; क्योंकि मुक्तिका सम्बन्ध मरनेवालेके भावसे है। यही बात तस्वीर और मूर्ति आदिके सम्बन्धमें भी समझनी चाहिये।

मुक्ति, मोक्षप्राप्ति, परमपद, ईश्वरप्राप्ति आदिमें कोई अन्तर नहीं है। सब एक ही बात है। उसके बाद पुनर्जन्म नहीं होता। भगवान्‌के नाम-जप और गुण-कीर्तनको भी भजन कहते हैं। पर जपकी अपेक्षा स्मरणका दर्जा ऊँचा है। स्मरण मनसे होता है, जप वाणीसे भी होता है। कीर्तन भी एक प्रकारका जप ही है। चिन्तनमें स्थिरता होती है। उसीको ध्यान भी कहते हैं। स्मरण-चिन्तनमें अनन्यता होनेसे उसका फल भगवान्‌की प्राप्ति या मुक्ति हो सकता है। (गीता अध्याय ९ श्लोक २२ देखें)

२—प्राण तो वायु है। जीव, जीवात्मा और आत्मा चेतन जीवको ही कहते हैं, जो शरीरमें ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता है। परमात्मा परमेश्वरको कहते हैं, वह सर्वव्यापी और एक है। वह सबका स्वामी, सर्वज्ञ और सर्वसमर्थ है। जीव अल्पज्ञ है। यमराज और धर्मराज एक ही देवताके नाम हैं। अन्तरिक्ष आकाशको कहते हैं। उसीमें पक्षी उड़ते हैं।

३—देवता इन्द्र आदि अनेक हैं। पितरलोग पितृलोकमें रहते हैं। भूत-प्रेत और बेताल आदि तामसी योनियाँ हैं। ये योनियाँ मनुष्यसे नीचे दर्जेकी हैं। ईश्वर सबका स्वामी है।

इन सबका स्वरूप और शक्ति भिन्न-भिन्न प्रकारकी होती है। भूत-प्रेत होना मनुष्यके बुरे भाव और आचरणोंका फल है। किस कर्मके फलमें कौन-सी योनि मिलती है, इसका विवरण चिट्ठीमें नहीं समझाया जा सकता। कर्मफल शेष होनेपर उस योनिसे छुटकारा हो जाता है। काम-क्रोध आदिके संचित जो संस्कार हैं, वे ही पाप करवाते हैं। सब शरीरोंमें जीवात्मा भिन्न-भिन्न है, एक नहीं है; परमात्मा एक है, वह सर्वव्यापी है। जीवात्मा जब शरीरको त्यागकर इन्द्रियाँ, अन्तःकरण और प्राणोंके सहित निकल जाता है, तब वह शरीर मर जाता है। (गी० अ० १५ श्लोक ८ देखिये)

४–वाल्मीकिजीने रामायण रामावतारके पहले लिखी थी, ऐसी बात नहीं है; क्योंकि रामावतार हरेक त्रेतायुगमें होता है। श्रीरामचन्द्रजीका जो अन्तिम अवतार हुआ था, उसके पहले शायद वाल्मीकिजीने रामायण लिखी होगी।

५–मरनेके बाद सूक्ष्मशरीरका कोई आकार नहीं रहता। कर्मफल भोगनेके लिये जीव जहाँ-जहाँ जाता है, वहाँ जैसे शरीरकी जरूरत होती है, वैसा उसे मिल जाता है। सूक्ष्मशरीर इन्द्रियोंका विषय नहीं है, इसलिये दिखायी नहीं देता। आत्मा तो इन्द्रियोंका विषय है ही नहीं।

६–जो कर्मफलका भोक्ता है, वही ज्ञाता है। वह कहाँसे आया है, इसका किसीको पता नहीं है। इसका आना कर्मोंका फल भोगनेके लिये है। इसका जाना भी कर्मानुसार ही होता है। ईश्वर और जीवका अन्तर पहले बता दिया गया। मनुष्यका शरीर परमात्माको प्राप्त करनेका साधन करनेके लिये मिलता है, पर वह अपना अमूल्य समय भोगोंके भोगनेमें खो देता है। यह भूल नहीं करनी चाहिये। निरन्तर भजन-स्मरण ही करना चाहिये। यही जीवनका परम कर्तव्य है, यही सब प्रकारकी कठिनाइयोंसे पार होनेका उपाय है।

७–अपने कर्तव्यका पालन करना ही धर्म है। उसके विपरीत दूसरोंका अहित करना अधर्म या पाप है। धर्मसे सुख और पापसे दुःख मिलता है। पूजा-पाठ, ईश्वर-चिन्तन तथा परमार्थ-साधन परमात्माकी प्राप्तिके लिये किये जाते हैं। मूर्तिपूजा, आरती, उनकी स्तुति आदि अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये की जाती हैं।

८–अपने परिवार, जाति, देश, समाज आदिके प्रति स्वार्थत्यागपूर्वक सबका हित करना, सबकी सेवा करना कर्तव्य है। मुक्ति निष्कामभावसे मिलती है। नहीं तो संसारमें कीर्ति होती है। वीरगति मुक्ति नहीं है। स्वर्गप्राप्ति कह सकते हैं। सभी वर्णोंको मिल सकती है। मुक्तिके सिवा हरेक गतिके बाद पुनर्जन्म होता है। मनुष्य-जन्म, धन, विद्या, बल, पद आदिकी सार्थकता उनके सदुपयोगमें है। अभिमानसे और स्वार्थसे हानि है। समस्त देशमें मृत शरीरकी भस्म छिड़कानेमें मेरी समझमें कोई लाभ नहीं है। पं०नेहरूजीका क्या आशय था, यह वे ही जानें। मुझे पता नहीं है। उनकी मुक्तिके विषयमें मुझे कुछ भी ज्ञात नहीं है।

९–सब धर्मोंका उद्देश्य तो परम आनन्दकी प्राप्ति ही होना चाहिये; पर प्रकृतिके भेदसे मनुष्योंकी मान्यता और मत-मतान्तरसे नाना प्रकारके भेद हो गये हैं। इसी कारण स्वार्थवश आचरण एक दूसरेके विपरीत हो गये हैं। गीताके 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' का विस्तृत भाव गीतातत्त्वविवेचनी टीकामें पढ़ना चाहिये। सभी वर्णोंके लोग ईश्वरभक्तिको अपनाकर उसकी पूजा अपने-अपने कर्मोंद्वारा करते हुए ईश्वर-प्राप्ति कर सकते हैं (गीता अ० १८। ४५-४६ देखें)। गीता, रामायण आदि सद्ग्रन्थोंको सभी पढ़ सकते हैं और उनमें बताये हुए मार्गका अवलम्बन कर सकते हैं। इसमें कोई हानि नहीं है। कर्म-अकर्म, ज्ञान-अज्ञान तथा शुभ-अशुभका तत्त्व 'गीतातत्त्वविवेचनी' टीकामें देखना चाहिये। चिट्ठीमें अधिक विस्तार नहीं किया जा सकता।

१०–किसी जीवित या मृतक प्राणीके लिये मनुष्य अपने किये हुए धार्मिक शुभ कर्मोंका फल समर्पण कर सकता है। इससे कर्ताको त्यागका फल मिलता है, न कि उन कर्मोंका। इसमें दोनोंका हित अवश्य होता है, जैसे सेवा करनेसे प्रत्यक्ष देखा जाता है। किसी जीवके निमित्त किये जानेवाले कर्मोंका फल उसे भगवान्के विधानसे उसी प्रकार मिलता है, जैसे मनुष्यको अपने किये कर्मोंका फल मिलता है। भोजन आदि पितर आदिके लिये निकालनेसे तृप्ति विधानके अनुसार होती है।

अपने कर्मोंको भगवान्के समर्पण कर देनेसे मनुष्य कर्म-बन्धनसे छूट जाता है (गी० अ० ९। २७-२८ देखें)। अशुभ कर्म भगवान्की आज्ञाके विपरीत हैं, उनको तो करना ही नहीं चाहिये। अशुभ कर्म समर्पण नहीं किये जा सकते।

११–ज्योतिषियोंकी सब बातें सत्य नहीं होतीं; क्योंकि वे वास्तवमें जानते नहीं, अनुमान करते हैं।

१२–मनुष्य परमात्माको प्राप्त करना चाहता है, परंतु अन्यान्य चाहोंको नहीं छोड़ता तथा यथाशक्ति प्रयत्न भी नहीं करता। दर्शन न होनेका कारण श्रद्धा-विश्वासकी तथा प्रेम और आवश्यकताकी कमी ही है। भगवान्‌की प्राप्ति श्रद्धा-प्रेमपूर्वक तीव्र चाह होनेपर सभी वर्ण-आश्रमोंमें हो सकती है। भगवान्‌की कृपासे सब विघ्न-बाधाओंका नाश हो जाता है। इस विषयमें विशेष जानकारीके लिये गीता, ईशादि नौ उपनिषद् और वेदान्त-दर्शन देख सकते हैं। भगवत्प्राप्त पुरुषके लक्षण गी० अ० १२ श्लोक १३ से १९ तक तथा अ० १४ श्लोक २२ से २५ तक देख लें।

१३–अन्तःकरण शुद्ध होनेपर अज्ञानका नाश होनेसे आत्म-साक्षात्कार हो सकता है। अन्तःकरण अशुद्ध होनेसे मनुष्य उसके विकारोंका आरोप भ्रमसे आत्मामें कर लेता है। भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग आदि साधनोंके द्वारा अन्तःकरण दोषोंसे मुक्त होकर शुद्ध हो जाता है। पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि योनियाँ भोगयोनियाँ हैं, उनमें साधन नहीं हो सकता।

१४–परमार्थ-साधनमें निष्कामभावकी, वैराग्यकी और भगवान्‌के स्मरणकी ही विशेषता है। इन्हींसे मनुष्य-जीवन सफल हो सकता है। विषय-भोगकी कामना ही साधनमें बाधक है। साधनमें नींद आनेका कारण श्रद्धा-प्रेमकी कमी है, उसका सुधार विश्वाससे और प्रभु-शरणागतिसे हो सकता है। वैराग्य ही आत्मसंयमका सरल उपाय है।

१५–गर्भमें जीव स्थूलशरीरके साथ रहता है, मरनेके बाद सूक्ष्म शरीरके साथ रहता है। इन दोनों अवस्थाओंमें वह सर्वथा शरीर-रहित नहीं होता। श्रीगीताजीमें जो उपदेश है, वह भगवान् श्रीकृष्णका ही दिया हुआ है। अर्जुन, धृतराष्ट्र, संजय तथा व्यासजी तो निमित्तमात्र हैं। यह बात सत्य है कि इसकी श्लोकोंमें रचना व्यासजीने ही की है। जो उपदेश भगवान्‌ने दिया है, वही भगवान्‌की वाणी है।

१६–काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि जितने भी विकार और दुर्गुण हैं, इन सबका कारण विषय-आसक्ति है और उसका कारण अज्ञान है। इन सबका नाश करनेके लिये भगवान्‌ने मनुष्यको विवेक दिया है; परंतु मनुष्य उसके अनुसार नहीं चलता। इसी कारण उसे अपनेमें असमर्थता प्रतीत होती है। इसके नाशका उपाय विवेकके अनुसार चलना और भगवान्‌के शरण होना है।

१७–यदि कोई नास्तिकताकी बात करे तो बिना राग-द्वेषके उपराम हो जाना चाहिये—न तो उसे बुरा समझना चाहिये, न क्रोध करना चाहिये और न उसकी निन्दा ही करनी चाहिये तथा अपनेमें आस्तिकताका अभिमान भी नहीं करना चाहिये। शान्त और सर्वथा निर्विकार रहना चाहिये।

१८–ईश्वर तथा देवी-देवताओंकी तस्वीरें मनुष्य अपनी भावनाके अनुसार बनाता है, उनका वास्तविक स्वरूप इन्द्रियगोचर नहीं होता। उनका स्वरूप दिव्य है। चित्र और मूर्तियाँ तो उनकी स्मृतिके लिये निमित्तमात्र हैं। प्रधानता भावकी है। भगवान्‌के किसी भी नाम-रूपकी उपासना भगवान्‌की उपासना है। उससे सभी देवी-देवता प्रसन्न रहते हैं; क्योंकि सब उन्हींके अंश हैं।

१९–पशु-पक्षियोंका शरीरमें अभिमान रहता है, इस कारण मरण-भय स्वाभाविक है। विवेक नहीं है, इस कारण वे भोगासक्त होकर दूसरोंकी हिंसामें प्रवृत्त हो जाते हैं। शिशुका विवेक जाग्रत् नहीं है; पर मनुष्य अपने विवेकके अनुसार आचरण न करके न करने योग्य कर्म करता है, इसलिये वह पापका भागी होता है। कर्तापनके अभिमानको लेकर किये जानेवाले कर्म ही नये कर्म हैं। उनका फल कर्त्ताको अवश्य मिलता है।

२०–साधकको सबके साथ अच्छे-से-अच्छा व्यवहार करना चाहिये। किसीके साथ सद्भावपूर्वक किया हुआ उत्तम व्यवहार उच्छृङ्खलता या अनिष्ट करनेकी भावनाको बढ़ानेवाला नहीं होता, बल्कि उसके स्वभावको सुधारनेमें हेतु होता है। परस्पर बुरा करनेकी भावनासे राग-द्वेष बढ़ते हैं, उनकी कमी नहीं होती। सेरको सवासेर मिलने आदि कहावतें बेसमझोंकी कही हुई हैं, सब ऐसा नहीं करते। अकारण कोई दुष्टता नहीं करता, उसमें साधकको अपनी गलतीकी खोज करके उसका सुधार करना चाहिये और प्रतिपक्षीके प्रति बुरा भाव नहीं करना चाहिये। अपनेमें अच्छाईका अभिमान करके उसको बुरा नहीं समझना चाहिये। किसीके साथ बुराई करनेवाला पहले स्वयं अपना अहित करता है; क्योंकि स्वयं बुरा बनकर ही मनुष्य बुराई कर सकता है। अतः वह दयाका पात्र है, न कि क्रोध या द्वेषका। बदला न लेनेवालेकी कभी बेइज्जती नहीं होती।

हृदयमें जलन रहनेका कारण द्वेष है, न कि बदला न लेना । प्रतिशोधकी भावनासे मन अपवित्र होता है । इस भावनाका त्याग करनेसे शान्ति मिलती है । खटमल, मच्छर, मक्खियाँ तथा साँप आदिसे सावधान रहना चाहिये, ताकि वे शरीरकी हानि न कर सकें । इतनेपर भी उनके द्वारा कोई हानि हो जाय तो उसे प्रारब्धका फल मानना चाहिये । उन क्षुद्र जीवोंपर न तो क्रोध करना चाहिये और न उनका अहित ही करना चाहिये । साँपको भी मारनेसे पाप ही होता है । जो सुना जाता है, वह ठीक नहीं है । कर्म-फल-भोग पूरा होनेसे ही योनिसे छुटकारा होता है ।

२१–तड़प-तड़पकर शरीर त्यागनेवाले जीवकी सेवा करना उसको शान्ति देना ही कर्तव्य है, न कि मार डालना । किसीको भी मार डालना न्याय नहीं है । मुखसे श्वास लेनेवालेका मुख बंद करना या पैरके अँगूठेकी अँगुली बाँधना अनुचित है । ऐसा न करनेसे मरनेवालेकी भूत बननेकी कोई सम्भावना नहीं है ।

२२–देवी-देवता किसीकी बलि लेना नहीं चाहते । लोग मूर्खता और स्वार्थवश बलिदान करते हैं । यह प्रथा लोगोंका भाव शुद्ध होनेपर ही रुक सकती है । सरकारको इसके बंद करनेकी आवश्यकताका ज्ञान नहीं है । हमें दूसरोंपर क्रोध न करके सद्भावपूर्वक उनके सुधारके लिये प्रार्थना करनी चाहिये ।

२३–किसीके द्वारा मारे हुए पशु-पक्षी, मछली आदिको खरीदनेवाला तथा चोरीकी वस्तुको खरीदनेवाला भी पापी होता है । मारी हुई गौके चमड़ेका जूता पहनना पाप है । स्वयं मरी हुई गौके चमड़ेका जूता पहनना पाप नहीं है । पर इसका निर्णय कठिन है । इसलिये चमड़ेका त्याग ही अच्छा है ।

२४–निराकार-साकार और निर्गुण-सगुण परमात्मा भिन्न नहीं हैं । एक ही परमात्माके अनेक रूप हैं । सदा जिस किसीकी उपासना करे, वही अच्छा है । सद्गुरुका निर्णय करना बड़ा कठिन है । अतः परमात्माको ही अपना परम गुरु मानकर उसके दिये हुए विवेकके अनुसार साधन करके अपने जीवनका सुधार करना चाहिये । मेरा न तो गुरु बननेका अधिकार है और न मेरी सामर्थ्य ही है तथा न मैं किसीका गुरु बनता ही हूँ ।

२५–भगवान्‌के श्रद्धा-विश्वास और प्रेमकी प्राप्ति उनकी कृपासे होती है; अतः भगवान्‌के सामने एकान्तमें करुणा-भावपूर्वक उनके शरण होकर स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये तथा उनकी प्राप्तिकी उत्कट और अनन्य लालसा रखनी चाहिये । इसमें क्रियाकी प्रधानता नहीं है, आन्तरिक भावकी है । साधन छोड़ना नहीं है, भावकी जागृति करनी है । कल्कि अवतार सम्भवतः कलियुगके अन्तमें हो सकता है । कब और कहाँ होगा, पता नहीं है । उसका स्वरूप ज्ञात नहीं है ।

२६–मनुष्यका शरीर नरक नहीं है; साधनधाम है । बाहरी शुद्धि तथा अन्तःकरणकी शुद्धि दोनों ही साधनके अङ्ग हैं । इनका अभिमान हानिकारक है । दूसरोंमें घृणा करना भी हानिकारक है । भाग्यमें कर्मफलका भोग लिखा जाता है, नया कर्म पहलेसे निश्चित नहीं होता । उसके करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र भी है । इसीलिये उसे पापका फल भोगना पड़ता है ।

२७– क, ख, ग, घ, ङ, च—में जो पद लिखे, उनका शब्दार्थ तो स्पष्ट है । ढाई अक्षर प्रेमके हैं । भगवान्‌के नामका प्रेमपूर्वक स्मरण करना । पत्थरको पूजनेसे भगवान् नहीं मिलते, मूर्तिको प्रतीक मानकर भगवान्‌में प्रेम करनेसे भगवान् मिलते हैं, मूर्ति तो निमित्तमात्र है । अपने साथ बुरा व्यवहार करनेवालेका भी हित ही करना चाहिये, यही काँटेके बदलेमें फूल बोना है । सब भोग और मान-प्रतिष्ठा आदिको मिथ्या समझकर सबसे असङ्ग होकर भगवान्‌में मन लगाना चाहिये । भोगोंके भोगनेमें जन्म व्यतीत करना महान् भूल है । शरीर-निर्वाहकी चिन्ता व्यर्थ है, प्रभु सबका पालन-पोषण करनेवाला है । यही इन सब दोहोंका भाव है ।

साधकको अपने जीवनका पूरा समय यथार्थ साधनमें ही लगाना चाहिये । हरेक कर्तव्यकर्म भगवान्‌के आज्ञानुसार निष्काम भावसे करके उसे साधन बना लेना चाहिये । सब झंझट तभीतक है, जबतक साधक भगवान्‌का नहीं हो जाता और अपनेमें बल-बुद्धिका अभिमान रखता है । शिक्षाप्रद पुस्तकोंके पढ़नेको छोड़ना नहीं है, पर केवल पाठ ही नहीं करना है, उसके उपदेशानुसार अपना सुधार करना चाहिये । मूर्तिपूजाको निमित्तमात्र समझकर जिसकी वह मूर्ति है, उसमें प्रेम करना चाहिये । अनेक साधनोंमें न

भटककर प्रभुका आश्रय लेना ही सरल साधन है। श्रद्धा-विश्वास और प्रेम होना चाहिये।

२८–भुखमरी, पराधीनता, लाचारी आदिका दुःख मनुष्योंकी अपनी भूलका परिणाम है। सद्भावपूर्वक अपने कर्तव्यका पालन ही इनसे छूटनेका उपाय है। भगवान् सर्वज्ञ हैं, जब उचित समझेंगे अवतार लेंगे; २४ अवतारोंके नाम भागवतमें देख लेने चाहिये।

२९–दोनों दोहोंका आशय ठीक है। दुष्टके पास कोई गुण हो तो उसे ले लेना चाहिये, पर उसका सङ्ग नहीं करना चाहिये। विद्याके लालचमें पड़कर नुकसान नहीं उठाना चाहिये। साँपमें जो मणि है, वह तो ले लेनेके लायक है; पर उसकी आशामें साँपका शिकार नहीं बनना है। सावधानीसे काम लेना है।

३०–दोनों दोहे ठीक हैं और सत्य हैं। कोई भी व्यर्थ नहीं है। कुसङ्गका प्रभाव अवश्य पड़ता है। इसलिये कुसङ्ग नहीं करना चाहिये; परंतु जो स्वयं कुसङ्ग नहीं करता, प्रसङ्गवश बुरा सङ्ग हो जानेपर भी उससे अपना स्वार्थ सिद्ध करनेकी इच्छा नहीं रखता, उसपर कुसङ्गका प्रभाव नहीं पड़ता। चन्दनका वृक्ष सर्पोंका संग करनेके लिये नहीं जाता, न उससे कुछ लेता ही है; इस कारण उसपर उनके विषका असर नहीं होता। संसारमें सब कुछ है, पर मनुष्यको उसके कर्मफलके अनुसार ही पदार्थ मिलते हैं—यह ठीक ही है।

३१–ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद—ये चार वेद हैं। वेदान्तदर्शन, सांख्यदर्शन, न्यायदर्शन, वैशेषिक-दर्शन, योगदर्शन और पूर्वमीमांसादर्शन—ये छः दर्शन-शास्त्र हैं। पुराण १८ हैं। इनके नाम शास्त्रोंमें लिखे हैं। इनके मिलनेके ठिकाने अलग-अलग हैं, इनमें जो कुछ विशेष उपयोगी पुस्तकें हैं, वे सब गीताप्रेस गोरखपुरमें और उसकी दूकानोंमें जगह-जगह मिलती हैं। श्रीमद्भगवद्गीतापर तत्त्व-विवेचनी टीका है। उसका दाम ४) रुपया है।

३२–ब्रह्माकी पूजा करनेकी परिपाटी प्रचलित नहीं है। इस कारण उनके मन्दिर प्रायः नहीं बनते। इसमें खास कारण श्रद्धाका ही है। निराहार और आहारयुक्त व्रतादि अपनी-अपनी श्रद्धाके अनुसार करना चाहिये। असली व्रत तो यम-नियमोंका पालन करना है। व्रतोंका फल अन्तःकरणकी शुद्धि है। सूर्यकी तरफ मुख करके मल-त्याग और लघुशङ्का करनेसे तेज घटता है और सूर्यका अपमान होता है। सूर्य देवता हैं, उनका आदर-सत्कार करना मनुष्यका कर्तव्य है।

३३–बकरेको काटने आदि पापोंके फलका भोग फल-दाताके विधानके अनुसार समयपर मिलता है। उसी जीवके द्वारा ही परलोकमें बदला लिया जाय, यह कोई खास नियम नहीं है। जितना अधिक मनुष्य पाप करता है, उतना ही अधिक दण्ड पाप करनेवालेको अनेक जन्मोंमें भोगना पड़ता है।

३४–यदि आपका यज्ञोपवीत-संस्कार नहीं हुआ है तो विवाह होनेके बाद १६ वर्षकी अवस्थाके बाद यज्ञोपवीत लेनेका अधिकार नहीं रहता; फिर भी कोई ले तो हम बुरी बात नहीं समझते। यज्ञोपवीत-संस्कारमें विशेष धन खर्च करना आवश्यक नहीं है। अकेले मनुष्यको भी संस्कार करानेका अधिकार है, कोई अड़चन नहीं। यज्ञोपवीत न होनेसे संध्या, गायत्री-जप तो नहीं करना चाहिये, पर भगवान्के नामका जप और भगवान्का स्मरण सभी कर सकते हैं। फलमें कोई भेद नहीं है। भगवान्में श्रद्धा और प्रेम होना चाहिये। हरेक वर्ष स्वर्गाश्रम, गीताभवनमें बहुत-से बालकोंका यज्ञोपवीत-संस्कार प्रायः कराया जाता है। धनका खर्च बहुत मामूली है। गायत्री-मन्त्र अलग है। महामृत्युंजयका मन्त्र अलग है। दोनोंके जपके विधान अलग-अलग हैं। आपने मन्त्र लिखे सो ठीक है।

३५–संध्या और गायत्री-मन्त्रकी १ मालामें करीब आधा घंटासे कम ही लगता है। तीन घंटेका कोई काम नहीं है। सबेरे सूर्योदयसे पहले तथा सायंकाल सूर्यास्तसे पहले, तीसरी बार दोपहरमें १२ बजे—इस प्रकार तीन बार संध्या-गायत्रीका विधान है; पर सबेरे-सायंकाल दो बार तो अवश्य करना चाहिये। कुल एक घंटा प्रतिदिन लग सकता है। आप ९ घंटा कैसे समझते हैं, विचार करें।

३६–आपके मनमें जो घर छोड़कर एकान्तमें जानेके भाव उठते हैं, यह मनका धोखा है। साधनमें प्रेम होनेसे वह हरेक जगह हो सकता है। उसके बिना हरेक जगह विघ्न सामने आ सकते हैं। भगवान्की कृपापर भरोसा रखना चाहिये। भजन-ध्यान करनेमें शर्म नहीं आनी चाहिये, शर्म तो

बुरे काम करनेमें आनी चाहिये। शादी-विवाह आदिमें, प्रमादमें समय नहीं खोना चाहिये। मित्र-सम्बन्धी आ जायँ तो उनका आदर-सत्कार कर्तव्य समझकर करना चाहिये। व्यर्थ बातें नहीं करनी चाहिये। उनको मना करनेकी कोई जरूरत नहीं है।

३७–पूर्णरूपसे सावधान रहते हुए जो चलते-फिरते और कर्तव्य-कर्म करते समय चींटी आदि सूक्ष्म जीवोंकी मृत्यु हो जाती है, वह उन जीवोंका प्रारब्ध-भोग है; अतः उनका पाप नहीं लगता। करने योग्य कर्मोंका त्याग भूल है। मृत्युकी इच्छा करना भी भूल है; क्योंकि मनुष्य-शरीरमें ही भगवान्‌की प्राप्तिका साधन बन सकता है, अन्य योनिमें नहीं। भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है कि अत्यन्त दुराचारी पापीका भी मेरी भक्तिसे सुधार और उद्धार हो सकता है। (गी० अ० ९ श्लोक ३०-३१ देखें)

३८–अपने आपपर या दूसरे जीवोंपर क्रोध करना भूल है। नालीके गंदे पानीमें तथा अन्य अवस्थामें जो क्षुद्र जीवोंकी मृत्यु होती है और उनको कष्ट होता है, यह उनके प्रारब्धका भोग है। इसे देखकर चिन्ता-शोक या क्रोध नहीं करना चाहिये। उन जीवोंको नालीसे बाहर निकालकर भी आप सुखी नहीं कर सकते। लोगोंके हँसी-मजाक करनेकी परवा करके साधनमें ढिलाई नहीं आने देनी चाहिये तथा साधनके बदलेमें सम्मानकी इच्छा भी नहीं करनी चाहिये। अपने मनकी हरेक बात किसीके सामने गुणरूपमें प्रकट भी नहीं करनी चाहिये। साधनको गुप्त रखना ही अच्छा है।

३९–दुनियामें किसीको भी अपना नहीं समझना चाहिये; परंतु सबका हित करनेकी अवश्य चेष्टा रखनी चाहिये। जो कोई अपनी निन्दा करे, कठोर शब्द कहे, उनको न तो अपना दुश्मन समझना चाहिये न उनके प्रति द्वेष या घृणा ही करनी चाहिये; बल्कि ऐसा समझना चाहिये कि मेरे प्रिय प्रभुकी प्रेरणासे मेरा अभिमान नाश करनेके लिये ही ये लोग ऐसा व्यवहार करते हैं, इनमें इनका कोई दोष नहीं है। हृदयमें जलन रहना भूल है। इससे सम्मानकी और इज्जतकी कामना स्पष्ट ही दिखायी देती है।

४०–आपसमें एकता सभीको रखनी चाहिये। लोग न रक्खें तो भी आपको सबसे प्रेम रखना चाहिये।

४१–दूसरोंको वे ही पुस्तक पढ़नेके लिये देनी चाहिये, जिनके वापस न आनेसे दुःख न हो। परिणाममें क्रोधसे या किसीसे कड़ा व्यवहार करना पड़े, उसमें लाभ नहीं है।

४२–सब ब्रह्मचारी हो ही नहीं सकते, फिर इस प्रकारकी कल्पना ही क्यों करनी चाहिये। दूसरोंके दोषोंको नहीं देखना चाहिये। हर समय प्रभुके स्मरणमें मस्त रहना चाहिये।

* * *

रस-समुद्रका प्रवाह

बहुत दूर तुम, बहुत पास तुम, दूर-पास दोनोंसे दूर।
तुममें नित्य बसी मैं, मुझमें तुम सब ओर, सदा भरपूर॥
एक पृथक्‌का प्रश्न बने तब, जब हो कभी भिन्न अस्तित्व।
एक रहस्यपूर्ण रसमय है नित्य अभिन्न सत्त्व-चित्तत्त्व॥
तब भी अनुभव करते दोनों, दोनोंका संयोग-वियोग।
मिलन परम अचिन्त्य सुख देता, अमिलन परम दुःख-संयोग॥
बढ़ती पल-पल मिलनाकाङ्क्षा, जाती नित अनन्तकी ओर।
रस-समुद्र शुचि बहने लगता, सहज छोड़ मर्यादा-छोर॥

* * *

अखिलरसामृतमूर्ति भगवान् श्रीकृष्णका आविर्भाव

[श्रीकृष्णजन्माष्टमी-महोत्सवपर गोरखपुरमें हनुमानप्रसाद पोद्दारका प्रवचन]

मुखजितशरदिन्दुः केलिलावण्यसिन्धुः
करविनिहतकन्दुर्वल्लवीप्राणबन्धुः ।
वपुरुपसृतरेणुः कक्षनिक्षिप्तवेणु-
र्वचनवशगधेनुः पातु मां नन्दसूनुः ॥
उत्तरङ्गदङ्गरागसंगमातिपिङ्गल-
स्तुङ्गशृङ्गसङ्गिपाणिरङ्गनालिमङ्गलः ।
दिग्विलासिमल्लिहासिकीर्तिवल्लिपल्लव-
स्त्वां स पातु फुल्लचारुचिल्लिरद्य वल्लवः ॥

आज नित्य अजन्माके दिव्य जन्मका महामहोत्सव-दिवस है। समस्त प्रकृतिको धन्य करते हुए आज स्वयंरूप दिव्य नराकृति भगवान् प्रकट हुए हैं। भगवान्‌के अनेक विभिन्न अवतार होते हैं—पुरुषावतार, लीलावतार, गुणावतार, मन्वन्तरावतार, युगावतार, आवेशावतार, कल्पावतार, कलावतार, अर्चावतार आदि। और भगवान् स्वरूपतः नित्य-सत्य-परिपूर्णतम होनेके कारण उनका प्रत्येक रूप ही नित्य, शाश्वत, सच्चिन्मय, हानोपादानरहित, परानन्दसंदोह और पूर्णतम है; तथापि लीलाकी दृष्टिसे शक्तिके प्रकाशके तारतम्यानुसार भेद दिखायी देता है।

पूर्तिः सार्वत्रिकी यद्यप्यविशेषा तथापि हि ।
तारतम्यं च तच्छक्तेर्व्यक्त्यव्यक्तिकृतं भवेत् ॥
(प्रमेयरत्नावलि १ । १४)

पर जब भगवान् स्वयं अपने पूर्णरूपसें प्रकट होते हैं, तब वे सर्वावतारमय होते हैं। स्वयं-भगवान् श्रीकृष्ण प्रतिकल्पमें स्वयंरूपमें प्रकट होते हैं और वे प्रकट होते हैं मधुर मनोहर नर-वपुरूपमें। इसीसे भगवान्‌के सर्वभूतमहेश्वर सर्वरूपके तत्त्वको न जाननेवाले मूढलोग भगवान्‌के इस मानुषरूपको देखकर उनको पाञ्चभौतिक-देहविशिष्ट मनुष्य मान लेते हैं—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥
(गीता ९ । ११)

वास्तवमें स्वयं-भगवान्‌की यह नराकृति नरलोकके नर-शरीरोंके आदर्शपर बनी हुई नहीं है, यह नित्य है। वस्तुतः भगवद्देहके आदर्शपर नर-शरीरका निर्माण है। भगवान्‌का शरीर दिव्य, अप्राकृत, देह-देहि-भेदसे रहित, जन्म-मृत्युसे रहित, सर्वकारणकारण, नित्यसिद्ध, निर्विकार, अनादि, सर्वादि, सच्चिदानन्दघनस्वरूप है। और नरलोकका नर-शरीर रक्त-मांसादिसे गठित, खण्डित, जन्म-मृत्युशील, पञ्चभूतनिर्मित, आत्मा (देही) और देहके भेदसे युक्त तथा विनाशी है। भगवद्-विग्रह स्वेच्छामय विशुद्ध भगवत्स्वरूप है—

स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि ।
(श्रीमद्भागवत)

उसका प्रारब्ध-परवश निर्माण, कर्मभोग तथा विनाश नहीं होता; वह नित्य, सत्य, सनातन तथा दिव्यकर्मा है। भगवत्स्वरूपा प्रकृतिमें अधिष्ठित होकर अपनी ही स्वरूपभूता लीलारूप मायासे प्रकट और अप्रकट होता है।

तन्त्रशास्त्रमें कहा गया है—

निर्दोषपूर्णगुणविग्रह आत्मतन्त्रो
निश्चेतनात्मकशरीरगुणैश्च हीनः ।
आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः
सर्वत्र च स्वगतभेदविवर्जितात्मा ॥

भगवान्‌का दिव्य शरीर मोह, तन्द्रा, भ्रम, रूक्षता, काम, क्रोध, असत्य, आकाङ्क्षा, आशङ्का, रोग, जरा, भय, विभ्रम, विषमता, परापेक्षा, परिवर्तनशीलता, अनित्यता, विनाश आदि दोषोंसे सर्वथा रहित तथा सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, सत्यविज्ञानानन्दरूपता, सर्वैश्वर्य, असमोर्ध्व माधुर्य आदि गुणोंसे परिपूर्ण है। वह काल-कर्मादिके अधीन नहीं है, पाञ्चभौतिक शरीरके जडत्व आदिसे रहित है; उसके हाथ, पैर, मुख, उदर आदि और सभी एकमात्र दिव्य—चिन्मयानन्दरूप हैं।

उसमें—वृक्षमें पत्र-पुष्प-फलादिकी भाँति स्वगत, दूसरे फलके वृक्षके रूपमें सजातीय तथा शिला आदिके रूपमें विजातीय भेद नहीं है; वह केवल भगवद्रूप ही है।

भगवान्के अवतारके तीन हेतु माने गये हैं—'साधुओंका परित्राण', 'दुष्कृतकारियोंका विनाश' और 'धर्मका संस्थापन'। स्वयं भगवान्के इस स्वयंरूपावतारमें अन्यान्य अवतारी रूपोंका समावेश होनेके कारण भगवान्के द्वारा पापात्मा राजाओंके रूपमें प्रकट असुरोंका, अन्यान्य विविध रूपोंमें प्रकट असुरोंका तथा उनके अनुगामी आसुरभावापन्न दुष्कृतकारियोंका विनाश, इन सब क्रूरकर्मा दुराचारपरायण दुष्टप्रकृतिवालोंके द्वारा सताये हुए सदाचारी साधु-प्रकृति पुरुषोंका परित्राण और जघन्य पापप्रवृत्तिमय असुर मानवोंके द्वारा प्रचारित अधर्मका विध्वंस करके विशुद्ध सनातन धर्मका भलीभाँति संस्थापन——ये तीनों मङ्गलमय महान् कार्य सुसम्पन्न होते हैं—इसमें कोई संदेह नहीं। अतएव जो लोग इन निमित्तोंसे भगवान्का अवतरित होना मानते हैं, वे ठीक ही मानते हैं।

परंतु स्वयं भगवान्का परिपूर्ण स्वयंरूपावतार गुणावतारोंकी भाँति केवल धर्मग्लानि और अधर्मकी वृद्धि होनेपर साधुपरित्राण, दुष्ट-विनाश और धर्मसंस्थापनके लिये ही नहीं होता। वह तो उनके निज प्रेम-स्वरूप-वितरणके लिये—स्वरूपानन्द-आस्वादनरूप विनोदके लिये ही होता है। इसीसे श्रीमद्भागवतमें ब्रह्मादि देवताओंने श्रीदेवकी-गर्भस्तुतिमें कहा है—

न तेऽभवस्येश भवस्य कारणं
विना विनोदं बत तर्कयामहे।
भवो निरोधः स्थितिरप्यविद्यया
कृता यतस्त्वय्यभयाश्रयात्मनि॥

(१०।२।३९)

इसका भावार्थ यह है कि 'हे ईश! सर्वनियन्ता! आप अजन्मा हैं। आपके इस दिव्य जन्मका हेतु विनोद (स्वरूपानन्दास्वादन) के सिवा अन्य कुछ भी नहीं हो सकता। (जगत्‌की सृष्टि, स्थिति, लय आदि आपके इस आविर्भावमें हेतु नहीं हैं;) क्योंकि आप सर्वाश्रय हैं। आपकी आश्रिता मायाशक्तिके द्वारा ही ब्रह्मा-रुद्र आदि आपके गुणावतार इन कार्योंको सम्पन्न करते रहते हैं। आप अभय हैं। आपके नाम-कीर्तन-स्मरणाभाससे ही कंस आदि असुरोंके भयसे पूर्णतया रक्षा हो सकती है। इन असुरोंका वध करके धर्मसंस्थापन करनेके लिये आपके स्वयं आविर्भूत होनेकी आवश्यकता नहीं है।'

अतएव इस दृष्टिसे उपर्युक्त 'साधुपरित्राण', 'दुष्कर्मियोंके विनाश' और 'धर्मसंस्थापन'का एक दूसरा रूप होता है और उसीके लिये स्वयं-भगवान्का अवतरित होना प्रेमी भक्तगण मानते हैं—'स्वयं-भगवान् अपने इस अखिल रसामृतमूर्ति, अचिन्त्य-अनिर्वचनीय परस्पर-विरुद्ध गुण-धर्माश्रयस्वरूप, घनीभूत परम प्रेमानन्द-सुधामय मधुर मनोहर दिव्यातिदिव्य चिन्मय नित्य लीला-विग्रहका दर्शन-दान करके उन साधुओंका परित्राण करते हैं, जो अपने परम प्रियतम भगवान्के नित्य मङ्गलमय, दिव्य प्रेमरसमय और परमानन्दरसमय दर्शनकी तीव्रतम उत्कण्ठासे अतुलनीय विरह-वेदनाका अनुभव कर रहे हैं और अपने जीवनके एक-एक पलको भीषण विरहानलकी भयानक ज्वालासे दग्ध होते बिता रहे हैं। यही उनका साधु-परित्राण है।

इसी प्रकार स्वयं-भगवान् उन दुष्कृतकारियोंके, उन परम सौभाग्यशाली असुरोंके देहका वियोग करके उन्हें सहज ही अपने ऋषि-मुनि-योगि-दुर्लभ दिव्य परम कल्याण-रूप परमधाममें पहुँचा देते हैं, जो केवल भगवान्के ही मङ्गलमय दिव्य करकमलोंद्वारा देहत्याग करके भगवान्के दिव्यधाममें पहुँचनेके अधिकारी बन चुके हैं। भगवान्के स्वहस्तसे निहत होकर वे सदाके लिये पृथ्वीका परित्याग

करके भगवद्धाममें चले जाते हैं, अतएव वस्तुतः इसीसे पृथ्वीका भार-हरण होता है। भगवान्‌का यह 'निग्रह' भी 'परम अनुग्रह'-रूप होता है। इसमें भगवान् उन असुरोंका वध नहीं करते, परंतु स्व-स्वरूप-दान करके उन्हें कृतार्थ करते हैं। यही दुष्कर्मियोंका विनाश है।

एवं धर्म-संस्थापनका अभिप्राय यह है कि भगवान् उस काम-कलुषित मोहविजृम्भित विषयसेवनरूप अधर्मके अभ्युत्थानका ध्वंस करके भुक्ति-मुक्तिकी वाञ्छाके सहज सर्वत्यागसे सुसम्पन्न, परम उत्कृष्ट, असमोर्ध्व मधुर विशुद्ध गुणातीत प्रेमधर्मकी स्थापना करते हैं।

स्वयं-भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण ऐश्वर्यस्वरूप हैं। वे सर्वरसमय हैं। उन पूर्णैश्वर्यमय भगवान्‌में जो माधुर्य है, वह पूर्णैश्वर्यमय स्वरूपमें ही भगवत्स्वरूप मधुरताकी नित्य अभिव्यक्ति है। ऐश्वर्यरहित मधुरता वास्तविक माधुर्य नहीं है। वह तो आपातमधुर विष-सदृश है (अग्रेऽमृतोपमं परिणामे विषमिव ।) नराकृति सच्चित्-माधुर्यरूप भगवान्‌में और विषयगत मिथ्या-माधुर्य-युक्त मनुष्यमें सभी कुछ भिन्न है। भगवान्‌का माधुर्य सत्य, अप्राकृत, चिदानन्दघन है और मनुष्यका माधुर्य मिथ्या, प्राकृत—जड और विनाशमय है।

भगवान्‌के माधुर्यका अर्थ है—नित्य पूर्ण ऐश्वर्यमय भगवान्‌का गूढतम नर-विग्रह और उनकी दिव्यानन्दमयी नरलीला। इस लीलामें अशेष सौन्दर्य, लालित्य, चारुता, मधुरता और वैदग्ध्यादि गुणोंका वह अतुलनीय विलक्षण समूह होता है, जो चराचर समस्त जगत्—चतुर्दश-भुवनके साथ ही स्वयं सर्वाकर्षक भगवान् श्रीकृष्णके चित्तको भी आकर्षित करता है। उन नराकृति परब्रह्मके नर-विग्रहके असमोर्ध्व सौन्दर्य, माधुर्य, वैचित्र्य और वैदग्ध्यादि गुणोंका वर्णन करते हुए उसमें चार प्रकारकी विशेष माधुरीका नित्य वर्तमान रहना बतलाया है। वे हैं—रूपमाधुरी, वेणुमाधुरी, प्रेममाधुरी और लीलामाधुरी। यही माधुर्य-चतुष्टय श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णकी विशेषता है।

स्वयं लीला-विस्तार करके इस माधुर्य-स्वरूपका विस्तार करना ही प्रेमी भक्तोंके मनमें श्रीकृष्णके आविर्भावका एकमात्र मुख्य कारण है। इस लीलामें भगवान् गोपवेश, वेणुकर, नवकिशोर नटवर रूपमें लीलायमान रहते हैं। यही मधुरलीला-तत्त्व है। भगवान्‌के स्वयंरूप अवतारमें इसकी प्रधानता होनेके कारण ही वे कंसके कारागारमें ऐश्वर्यमय चतुर्भुज देवरूपमें प्रकट होकर तुरंत ही द्विभुज बालरूपमें बदल गये और वसुदेवको प्रेरित करके मधुर लीलानन्दका रसास्वादन करने-कराने मधुर व्रजमें पधार गये।

श्रीकृष्णमाधुर्यके पूर्णतम प्रकाशका क्षेत्र एकमात्र व्रज ही है। वहाँ ऐश्वर्य सर्वथा छिपा रहता है। कहीं प्रकट होता है तो माधुर्यकी सेवाके लिये ही। व्रजमें ही विशुद्ध ममतायुक्त किंतु स्वसुखवाञ्छा-विहीन प्रेम-माधुर्यकी सरिता बहती है। भगवान्‌के तीन रूप हैं—ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्। ब्रह्म निश्चय ही आनन्दस्वरूप है। परब्रह्ममें शक्तिकी अभिव्यक्ति नहीं है। अन्तर्यामी परमात्मामें चिच्छक्तिका आंशिक विकास है, अतएव ह्लादिनी शक्तिका भी अस्तित्व अभिव्यक्त है; पर वह बहुत सूक्ष्म परिमाणमें ही है। ऐश्वर्य-प्रधान भगवान्‌में शान्त भक्तको माधुर्यकी कुछ अनुभूति होती है, पर वह भगवदैश्वर्यज्ञानको छिपा नहीं सकती। व्रजके गोपीवल्लभ भगवान् श्रीकृष्णमें पूर्ण माधुर्यका प्रकाश है। इसीसे यहाँ पूर्णतम माधुर्यास्वादनमें ऐश्वर्यादिका अनुभव सम्पूर्णरूपसे तिरोहित रहता है। यही विशुद्ध प्रेम है।

श्रुतिमें कहा है—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

भगवत्-स्वरूपतत्त्व नित्य, एक और परिपूर्णतम है।

उसमें जीव तथा जड पदार्थोंकी भाँति न खण्डता है न अपूर्णता है, न परस्पर पृथक्ता या प्रतियोगिता ही है। तथापि अखिलरसामृतमूर्ति भगवान् श्रीकृष्ण माधुर्यके प्रकाशकी विशेषताके कारण व्रजमें पूर्णतम रसिकशेखर हैं।

शक्तिरैश्वर्यमाधुर्यकृपातेजोमुखा गुणाः ।
शक्तेर्व्यक्तिस्तथाव्यक्तिस्तारतम्यस्य कारणम् ॥

'ऐश्वर्य, माधुर्य, कृपा, तेज आदि गुणोंको शक्ति कहते हैं। शक्तिकी न्यूनाधिक अभिव्यक्ति ही तारतम्यमें कारण है।'

इस व्रजधाममें भी प्रेमके तारतम्यके अनुसार माधुर्यके अनुभवमें भी तारतम्य रहता है। दास्यरसके प्रेमकी अपेक्षा सख्यरसके प्रेममें, सख्यरसकी अपेक्षा वात्सल्यरसके प्रेममें और वात्सल्यरसकी अपेक्षा भी गोपाङ्गनाओंके माधुर्यानुभवमें उत्तरोत्तर विशेष उत्कर्ष है। गोपाङ्गनाओंमें भी महाभावस्वरूपा श्रीराधाका प्रेम तथा उनका माधुर्यानुभव सर्वापेक्षा अधिक और सर्वथा अतुलनीय है।

यहाँ भगवान् नित्यनवकिशोररूपसे श्रीगोपाङ्गनाओंके परममधुर दिव्यरसका आस्वादन करते हैं। श्रीगोपाङ्गनाओंका प्रेम सर्वथा निरुपाधिक, निरावरण और विशुद्ध है। उसमें ऐश्वर्यज्ञान, धर्माधर्मज्ञान, भावोत्पादनके लिये रूप-गुणादिकी अपेक्षा, स्वसुखका अनुसंधान—यहाँतक कि रमण-रमणीबोधकी भी अपेक्षा नहीं है। यह रमण-रमणीबोध मधुररस मात्रका या कान्ताभावका जीवन-स्वरूप है। इसके बिना उस जीवनमें कोई सार ही नहीं समझा जाता। परंतु श्रीराधामुख्य गोपाङ्गनाओंके विशुद्ध प्रेममें इसकी भी कोई अपेक्षा या सार्थकता नहीं है। महाभाग्यवती श्रीकृष्णप्रिया परम सती गोपाङ्गनाएँ नित्य विशुद्ध प्रेम-सुधा-रसके उमड़े हुए सागरके प्लावनमें सर्वथा निमग्न हैं। वे एकमात्र प्रियतम-सुखके अतिरिक्त सर्व-विस्मृत हैं। उनकी सम्पूर्ण गतिविधि, सारी चेष्टा-क्रिया एकमात्र श्रीकृष्णसुखमय अनुरागकी ही अभिव्यक्ति है। श्रीराधा इन सबकी मूल उत्स-स्वरूपा प्रेमपराकाष्ठा महाभावमयी हैं। इस महाभावके साथ रसराजका—श्रीराधाके साथ श्रीमाधवका नित्य परमोज्ज्वल रसोल्लास ही व्रजकी अमूल्य तथा अतुल परमार्थ-निधि है।

इस व्रजमें भी 'हतारि-गतिदायक' भगवान्की असुर-वध-लीला होती है। परंतु उस लीलाका प्रभाव व्रजवासी प्रेमियोंके मनपर ऐश्वर्यकी छाया नहीं ला सकता। वे उसमें अपने प्रिय श्रीकृष्णके किसी ऐश्वर्यका अनुभव नहीं करते, बल्कि उससे श्रीकृष्णके प्रति उनका सहज प्यार-दुलार और भी बढ़ता है।

आज इस परम माधुर्यावतारका मङ्गल दिवस है। जिन लोगोंको पञ्चम पुरुषार्थ भगवत्प्रेमकी प्राप्तिकी इच्छा हो, उन्हें भगवान्के इस मधुर स्वरूपकी उपासना करनी चाहिये।

व्रजके बाद भगवान्की ऐश्वर्यलीलाका क्रमशः विशेष प्रकाश होता है और मथुरा-द्वारकामें असुरोद्धारकी लीला चलती है। वहाँ भी माधुर्य छिपे-छिपे अपना प्रभाव अक्षुण्ण रखता है। इसीसे रणाङ्गणमें कही हुई भगवान्की गीतामें भी माधुर्यकी प्रत्यक्ष ज्योत्स्ना दिखायी देती है—

प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ।

सारी मथुरालीला और द्वारकालीलामें यत्र-तत्र माधुर्यके बड़े विलक्षण दर्शन होते हैं, पर साथ ही वहाँ निष्कामभावकी महत्ताके साथ भगवान् अपने आदर्श चरित्रके द्वारा लोकसंग्रहकी लीला प्रधानरूपसे करते हैं। इस लीलामें स्वयं-भगवान्के साथ ही कहीं-कहीं उन्हींमें रहकर लीला करनेवाले ऐश्वर्यस्वरूपोंकी प्रधानता होती है।

यहाँ भगवान् निरीह प्रजाको दुराचारी राजाओंसे छुटकारा दिलाते हैं—कंस, शिशुपाल, जरासंध, शाल्व, नरकासुर, बाणासुर आदि असंख्य असुरभावापन्न राजाओंका दमन करते हैं, पर स्वयं कहीं भी राज्य ग्रहण न करके निष्कामभावका प्रत्यक्ष प्रमाण उपस्थित करते हैं।

जबतक संसारमें धर्मभीरु, श्रद्धासम्पन्न, भगवद्विश्वासी, भोगोंमें अनासक्त, सर्वभूतहिताकाङ्क्षी, सदाचारपरायण, असंग्रही मनुष्योंकी संख्या अधिक रहती है, जबतक मनुष्यमें कर्तव्यपरायणता और त्यागवृत्तिकी प्रधानता रहती है, तबतक सुख-शान्ति रहती है। मानवकी जीवनयात्रा अपने परम लक्ष्य भगवान्‌की ओर चलती है। परस्पर सुख पहुँचाने तथा हित करनेकी भावनासे ही सारे कार्य होते हैं——इससे प्रेमकी वृद्धि होती है। पर जब मनुष्य कामोपभोगपरायण होकर शास्त्रवर्जित, संयमहीन स्वेच्छाचार करने तथा धर्मकी मर्यादाको नष्ट करने लगता है, त्यागके स्थानपर अर्थ-लालसा तथा भोग-लालसा एवं कर्तव्यके स्थानपर अधिकारलोलुपता छा जाती है, सहिष्णुताके स्थानपर प्रतिशोधकी भावना, निष्काम सेवाके स्थानपर तुच्छ स्वार्थपरता, संयमके स्थानपर पशुवत् आचार आ जाता है तथा पर-सेवा एवं परहितके स्थानपर परपीडन एवं दुर्बलोंपर अत्याचार होने लगते हैं, सत्यके स्थानपर असत्यका साम्राज्य हो जाता है, जिस किसी प्रकारसे परस्वापहरण ही मनुष्यके स्वभावगत हो जाता है, तब मनुष्यकी सर्वथा अधोमुखी भोग-प्रवृत्ति हो जाती है, वह मनुष्यके रूपमें ही पशु-पिशाच-राक्षस बन जाता है और सर्वत्र अशान्ति तथा दुःखकी प्रबल धारा बहने लगती है। ऐसे दुस्समयमें यदि उस देशमें भगवद्विश्वासी भक्त होते हैं तो वे भगवान्‌को पुकारते हैं और उनका करुण आर्तस्वर सुनकर दयासिन्धु भगवान् उनका दुःख दूर करनेके लिये अवतरित होते हैं।

द्वापरमें यही स्थिति हो गयी है। कंस-जरासंध आदि आसुरभावापन्न प्रभावशाली राजाओंके दुर्दमनीय शासनसे धर्मभीरु प्रजा पीडित और महान् दुखी हो रही थी और आसुरीभावोंका प्रबलताके साथ विस्तार हो रहा था। लोग लौकिक दुःखोंके साथ ही, साधनाके क्षेत्रमें भी अत्यन्त दुखी थे। उनके पास साधनमार्गको सुरक्षित रखने, शान्तचित्तसे साधन करने, जप-तप-कीर्तनादि साधना करनेकी सारी सुविधाएँ छीन ली गयी थीं। वे जबर्दस्ती साधनासे वञ्चित रखे जाते थे। देवमाता गौ तथा वर्णप्रधान ब्राह्मण, अत्यन्त दुखी थे। इसी समय भगवान्‌के विश्वासी भक्तोंने आर्त पुकार की और भगवान्‌ने प्रकट होकर सबका दुःख-निवारण किया। इस प्रकार जो भगवान्‌का स्वरूप ऐश्वर्य-प्रधान मानते हैं, वे अपने भावानुसार सेवक-भावसे उन जगत्पिता, सबके माता-धाता-पितामह, सर्वशरण्य, दयासिंधु, करुणा-सागर, अहैतुक प्रेमी, परम सुहृद् भगवान्‌की उपासना करके अपने लौकिक तथा साधनासम्बन्धी दुःखोंको हटायें।

जो लोग भगवान् श्रीकृष्णको भगवान्‌का अवतार न मानकर परम योगेश्वर, ब्रह्मप्राप्त महात्मा, आदर्श लोकसंग्रही और सर्वगुणसम्पन्न महामानव मानते हैं, उनके लिये भी आजका यह भाद्रकृष्ण अष्टमीका दिवस महान् मङ्गलमय एवं आदरणीय है। विश्वके इतिहासमें सर्वगुणसम्पन्न, सभी क्षेत्रोंमें अपनी आदर्श गुणावलियोंके द्वारा प्रकाश तथा शक्तिका विस्तार करनेवाले श्रीकृष्णके सदृश कोई महापुरुष कभी प्रकट ही नहीं हुए। ऐसे महामानवके मङ्गलमय प्राकट्य-दिवसपर सभीको आनन्द——परमानन्दमें मग्न होकर उनके मधुर, मनोहर, सर्वकल्याणमय नाम-गुणोंका स्मरण करना चाहिये और उनके आदर्श एवं आदेशके अनुसार अपना जीवन बनाकर मानवताको सफल करना चाहिये।

नवीननीरदश्यामं नीलेन्दीवरलोचनम्।
वल्लवीनन्दनं वन्दे कृष्णं गोपालरूपिणम्॥

जय नँदनन्दन जय गोपाल। जय मुरलीधर नयन-विशाल॥
राधा-मानस मंजु मराल। जय वसुदेव-देवकी-लाल॥

इच्छा-त्याग

(लेखक—दि० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास)

सारे ब्रह्माण्डमें जो-जो प्राणी-पदार्थ हैं, सब विकारी और विनाशी हैं । सब मायाके बनाये हैं । माया परमात्माकी शक्ति है । अर्थात् परमात्माने अपनी शक्तिसे जगत्के प्राणी और पदार्थोंको बनाया है । जैसे जादूगर अपनी शक्तिसे अनेक पदार्थ उत्पन्न करता है और वे उत्पन्न किये हुए पदार्थ प्रेक्षकके देखनेके लिये होते हैं, उनकी दूसरी कोई आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार इस जगत्के प्राणी-पदार्थोंसे जीवात्माको सच्चा सुख, सच्ची तृप्ति नहीं होती; परंतु इन पदार्थोंकी खूबी यह है कि जो इनको देखता है, सुनता है, इनका मनसे ध्यान करता है, उसको ये आकर्षित करते हैं और वह प्राणी इन प्राणी-पदार्थोंसे मोहित होता है, इनको प्राप्त करनेके लिये छटपटाता है । परंतु प्राप्त करनेपर उसे सुखके बदलेमें दुःखका अनुभव होता है । अर्थात् बादमें आधा तो उसको छोड़कर चला जाता है और आधा खड़ा होकर जैसे ही उसको देखता है, वैसे ही वह अनुभूत दुःखको भूलकर उसमें सुख-बुद्धि करके आकर्षित होता है । फिर प्राप्त होता है और फिर दुःख पाता है, इस प्रकार मायाका चक्र, जन्म-मरणका चक्र चलता ही रहता है । जन्म-मरणके चक्रसे छूटनेकी इच्छा करनेवाले एक बारके अनुभवसे निश्चय कर लें और फिर उसका सङ्ग न करें । जैसे मिट्टीके एक घड़ेके सम्बन्धमें निश्चय होता है कि घड़ा मिट्टीका है, तब उसके ऊपरसे मिट्टीके तमाम बर्तनोंके गुण-दोषका पता चल जाता है । इसी प्रकार मायाके एक पदार्थके अनुभवसे, उसके द्वारा होनेवाले दुःखके आधारपर सारे मायिक पदार्थोंमें होनेवाली सुख-बुद्धिको दूर करके उसको दुःखरूप जानना और उसका सङ्ग छोड़ना चाहिये और फिर उसको पानेके लिये आकुल न होना चाहिये । छोड़े हुए दुराचार, छोड़े हुए व्यसन सामने खड़े होकर अपने और अपने सङ्गीका सङ्ग करनेके लिये आकर्षित करते हैं और मनुष्य इससे परेशान होता है । इसलिये त्यागे हुए विषयका सङ्ग कदापि न करे । जैसे-जैसे मनुष्य प्राणी-पदार्थके ऊपर दृष्टि स्थिर करता है, उसके विषयमें कान लगाकर सुनता है, भावसे उसके विषयमें विचार करता है, वैसे-वैसे वह उसके वशमें होता चला जाता है । उदाहरणार्थ, यदि स्त्रीके ऊपर दृष्टि डालता है तो उसका चित्त उधर आकर्षित होता है । काञ्चन-कामिनी और मायिक पदार्थोंके सांनिध्यमें रहकर उसके सङ्ग क्रीड़ा करते हुए मनुष्य यदि समझता है कि वह उससे मुक्त है तो वह ठग है, मूर्ख है । जगत्में करोड़ोंमें किसी एकने जनकके समान आचरण किया । उसका दृष्टान्त देकर दम्भी और ठगलोग जगत्को और अपने आपको ठगते हैं । मुमुक्षु तो जैसे हो तैसे, मायिक पदार्थोंका सङ्ग त्याग करनेके लिये यत्नशील रहता है । भोग-त्याग किये बिना मुक्ति कदापि नहीं होती ।

जैसे इस जगत्में केवल सुख या केवल दुःख नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्माण्डमें एक भी ऐसा लोक नहीं है जहाँ केवल सुख या केवल दुःख हो । कम-बेश प्रमाणमें सुख-दुःख सर्वत्र होता है । दुःख और कालसे मुक्त कोई देह नहीं है, कोई लोक नहीं है । अतएव किसी भी अवतार या लोककी इच्छाके लिये यत्न न करे । केवल सुख, केवल आनन्दके लिये इच्छा करे; इसीका नाम मुक्तिकी इच्छा है । मुक्तिका अर्थ है दूसरे शरीरकी अप्राप्ति; मुक्तिका अर्थ है केवल सुख, केवल आनन्द, दुःखमात्रका अभाव ।

सुख-दुःखका मिश्रण अच्छा है कि केवल सुख अच्छा है ? सबको केवल सुख ही अच्छा लगता है । अतएव मुमुक्षु केवल मुक्तिकी इच्छा करे । मुक्तिकी इच्छाका अर्थ है, उसके सिवा सारी इच्छाओंका त्याग । सब इच्छाओंका त्याग करनेपर केवल मुक्तिकी इच्छा ही रह जाती है । मुक्तिकी इच्छाका सेवन करे, अर्थात् प्राणपनसे अन्य सारी इच्छाओंका त्याग करे । जिस प्रमाणमें जगत्के किसी भी प्राणी-पदार्थकी इच्छाका सेवन होगा, उसी प्रमाणमें मुक्तिकी इच्छा निष्फल होगी; जिस प्रमाणमें अन्धकारका सेवन होगा, उसी प्रमाणमें प्रकाशसे वञ्चित होना पड़ेगा । मुक्तिकी इच्छा और भोगेच्छाका त्याग—ये दोनों एक ही वस्तु हैं । अन्तःकरणमें जो इच्छा होती है, वही फलती है । मुखसे सभी मुक्तिकी इच्छाकी बात कहते हैं, परंतु भीतर अनेक प्रकारकी इच्छाएँ होती हैं; इस कारण जीवात्माको मुक्ति नहीं मिलती, उसको अखण्ड शान्ति नहीं होती । मनुष्य जो कुछ शुभ कर्म करता है, उसका फल उसके मनमें होनेवाली इच्छाओंकी पूर्तिमें मिल जाता है । अतएव मुखसे मुक्ति प्राप्त करनेकी बात करनेकी कहते हुए भी भीतरमें भोगकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य जो-जो शुभ कर्म करता है, वे सारे

कर्म भोग प्रदान करते हैं, सुख-दुःखका भोग प्रदान करते हैं, और केवल सुख—सच्ची शान्तिसे वह विमुख रहता है ।

जैसे कल्पवृक्षके नीचे बैठा हुआ मनुष्य जो मनमें कल्पना करता है, वह तुरंत पा जाता है, उसी प्रकार जीव जो मनसे कल्पना करता है और उसके लिये श्रमके द्वारा जितनी एकाग्रताका साधन करता है, उसी प्रमाणमें वह वस्तु उसे मिलती है ।

सुख और दुःखका मिश्रण सारा संसार है । इसमें खूबी यह है कि हजार सुख देनेवाली वस्तुओंमें कहीं एक भी दुःख देनेवाली वस्तु हो तो वह जीवको सालती रहती है और उस सालनेमें नौ सौ निन्यानवे वस्तुओंके सुखका अनुभव वह नहीं कर पाता । इसलिये मानो उन हजारों वस्तुओंका दुःख हो, ऐसा दुःख उसे अनुभव होता रहता है । अतएव जिज्ञासु पुरुष सारी इच्छाओंका त्याग करके मुक्तिकी इच्छाका सेवन करे और ऐसी भावना करे कि जो कुछ कर्म हो वह मुक्तिके लिये हो । तब कहीं प्रयत्नमें लगे रहनेपर वह कालक्रमसे मुक्ति प्राप्त कर सकता है ।

जबतक 'यह शरीर मैं हूँ, अथवा मैं जीव हूँ, या मैं भोगी हूँ'—इस प्रकारका ज्ञान होता रहता है, तबतक भोगेच्छा नहीं छोड़ती तबतक भीतरसे मुक्तिकी इच्छा नहीं होती । आत्माका स्वरूप, मैं कौन हूँ—इसका विचार करता रहे । विचार करनेपर समझमें आता है कि मैं चेतन हूँ, मैं असङ्ग हूँ और जैसे-जैसे यह समझ पक्की होती जाती है वैसे-वैसे चेतनके सुख-स्वरूप होनेके कारण इच्छाका त्याग होता जाता है । जबतक देह भोक्ता या जीवरूप बना है, तबतक मन इच्छा करता है । चेतनरूप होनेके साथ-साथ इच्छाओंका शमन होता जाता है, अतएव स्वस्वरूपके विचार तथा इच्छामात्रके त्यागसे मुक्ति मिलती है । इस कारण समझमें आता है कि स्वस्वरूप समझनेमें चेतन सदा मुक्त है । पीछे तो मुक्तिकी भी इच्छा नहीं रहती । परंतु जबतक मुमुक्षुको इच्छा बनी है, तबतक मुक्तिकी इच्छाका ही सेवन करे । स्वस्वरूपके विचारसे आत्माको नित्यमुक्त-स्वरूप जानकर इच्छामात्रका त्याग करे । यह सांख्ययोग है और कर्ममात्रके फल मुक्तिकी इच्छा करते हुए मुक्ति-मार्गपर चलनेका नाम कर्मयोग है । इन दोनों मार्गोंके पृथक्-पृथक् होनेपर भी दोनोंका फल एक मुक्ति ही है । मुक्ति एक ही है । मुक्तिके बिना शाश्वत सुख नहीं है, मुक्तिके बिना शान्ति नहीं है । मनसे इच्छामात्रका त्याग किये बिना स्थायी शान्ति या सुख नहीं होता । इसलिये मुक्तिकी इच्छाका सेवन करते हुए सारी इच्छाओंके त्यागके अभ्याससे, आत्मस्वरूपके विचारसे कर्म करते हुए उसके फलसे मुक्ति हो—इस इच्छाके सेवनसे मुमुक्षु आत्यन्तिक शान्तिको प्राप्त करता है ।

* * *

'अन्य विलक्षण'

दिनकर उगता, रजनी आती, कालचक्र चलता अविराम ।
जीवमात्र सब निज-निज रुचिके करते भले-बुरे सब काम ॥
पर जाती न वृत्ति अंतरकी काल-कर्म-कर्त्ताकी ओर ।
रहती नित्य एक ही रसके आस्वादनमें मत्त-विभोर ॥
सोते जगते होते रहते सहज प्रकृतिवश सारे काम ।
किंतु बसा रहता मनमें कुछ 'अन्य विलक्षण' आठों याम ॥
नहीं हटाया हटता पलभर, नहीं छूटता किसी प्रकार ।
दुःख परम शुचि नित्य परम सुख देता रहता वह अविकार ॥

* * *

तुलसीके शब्द

(लेखक—डाक्टर श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू एम्० ए०, डी० लिट्०)

अङ्गद, हनुमान् आदि वानर जब विभीषणको करुणानिधान श्रीरघुनाथजीके पास ले गये, तब विभीषणने अपना परिचय प्रभुको इस प्रकार दिया—

नाथ दसानन कर मैं भ्राता । निसिचर बंस जनम सुरत्राता ॥

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि विभीषणने अपने भाईके लिये 'दसानन' शब्दका प्रयोग क्यों किया, लङ्कापतिको और किसी नामसे सम्बोधित क्यों नहीं किया । 'दसानन'से अधिक क्रूर नाम तो 'रावण' है, जिसका अर्थ है 'लोकोंको रुलानेवाला' ।

मानसकी एक विशेषता यह है कि उसमें सब लोग सजग हैं—आँख खोलकर, कान खोलकर रहते हैं । मन्थराने जो रानी कैकेयीको शिक्षा दी थी—

काज सँवारेहु सजग सबु सहसा जनि पतिआहु ।

—वह केवल कैकेयीके लिये ही नहीं थी । मानसमें हम 'सहसा जनि पतिआहु' का प्रमाण स्थान-स्थानपर पाते हैं । उदाहरणार्थ, पार्वतीजीकी तपस्या अनुपम थी ।

देखि उमहि तप खीन सरीरा । ब्रह्म गिरा भै गगन गभीरा ॥
भयउ मनोरथ सुफल तव सुनु गिरिराज कुमारि ।
परिहरु दुसह कलेस सब अब मिलिहहिं त्रिपुरारि ॥
अस तप काहुँ न कीन्ह भवानी । भए अनेक धीर मुनि ग्यानी ॥

निश्चय ही आराध्यदेव शंकरभगवान्को इस तपस्याकी बात ज्ञात थी; क्योंकि 'राम कृतग्य कृपाला' स्वयं प्रकट हुए थे और उन्होंने—

अति पुनीत गिरिजा कै करनी । बिस्तर सहित कृपानिधि बरनी ॥

इसपर भी जब सप्तऋषि शंकरभगवान्के पास आये, तब त्रिपुरारि बोले—

पारबती पहिं जाइ तुम्ह प्रेम परीच्छा लेहु ।

ऋषियोंने किस प्रकार पार्वतीजीकी प्रेम-परीक्षा ली, यह सबको विदित है ।

दूसरा उदाहरण मुनीश्वर भरद्वाजका है । वे प्रयागमें रहते थे ।

……………तिन्हहि राम पद अति अनुरागा ॥
तापस सम दम दया निधाना । परमारथ पथ परम सुजाना ॥

परंतु ऐसे मुनीश्वरको भी बिना परीक्षा लिये 'जागबलिक मुनि परम बिबेकी' ने रामकथा नहीं सुनायी । जब याज्ञवल्क्य मुनिने देखा कि—

संभु चरित सुनि सरस सुहावा । भरद्वाज मुनि अति सुख पावा ॥
बहु लालसा कथा पर बाढ़ी । नयनन्हि नीरु रोमावलि ठाढ़ी ॥

तब याज्ञवल्क्य ऋषि बोले—

प्रथमहिं मैं कहि सिव चरित बूझा मरमु तुम्हार ।

और इसके बाद उन भरद्वाज मुनिको अधिकारी जानकर रामचरित सुनाना आरम्भ किया ।

जब राजा जनकको राजा दशरथके स्वर्गवासका समाचार मिला, तब उन्होंने—

……………पठए अवध चतुर चर चारी ॥
बूझि भरत सतिभाउ कुभाऊ । आएहु बेगि न होइ लखाऊ ॥

भरत-ऐसे भाईके मनकी परीक्षा लेने गुप्तचरोंको भेजा !!

भरद्वाज मुनि यह जानते थे कि—

तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू । धरें देह जनु राम सनेहू ॥

फिर भी उन्होंने भरतजीके रामानुरागकी परीक्षा ली । ऋद्धि-सिद्धिको आज्ञा देकर—

बिधि बिसमय दायकु बिभव मुनिबर तपबल कीन्ह ।

जहाँ—

रितु बसंत बह त्रिबिध बयारी । सब कहँ सुलभ पदारथ चारी ॥
स्रक चंदन बनितादिक भोगा । देखि हरष बिसमय बस लोगा ॥

परंतु—

संपति चकई भरतु चक मुनि आयस खेलवार ।
तेहि निसि आश्रम पिंजराँ राखे भा भिनुसार ॥

भरतजीके रामानुरागकी यह परीक्षा थी; क्योंकि—

रमा बिलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥

इसी प्रकार विभीषणने भी करुणानिधानकी परीक्षा लेना आवश्यक समझा। हनुमान्‌जीने विभीषणसे कहा था—

सुनहु बिभीषन प्रभु कै रीती। करहिं सदा सेवक पर प्रीती॥

और यह भी कहा—

अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर।
कीन्ही कृपा सुमिरि गुन भरे बिलोचन नीर॥

तब विभीषणके मनमें यह शङ्का उत्पन्न हुई कि 'क्या मेरे-ऐसेको सेवक-रूपसे प्रभु ग्रहण करेंगे ? क्या मेरे-ऐसे अधमपर भी प्रभुकी कृपा होगी ?' इस परीक्षाके लिये उन्होंने 'दसानन कर मैं भ्राता' कहकर अपना परिचय दिया।

नाथ दसानन कर मैं भ्राता। निसिचर बंस जनम सुरत्राता॥

रावणके नाम बहुत-से हैं, लेकिन लंकापतिके और किसी नामको न लेकर बुद्धिमान् विभीषणने 'दसानन' नाम ही क्यों लिया ? इसका एक कारण था। करुणानिधान श्रीरघुनाथजीने 'दसानन' नाम एक विशेष संदर्भमें पहली बार सुना था। रावणका 'दसानन' नाम प्रभुके कानमें पहले-पहल तब पड़ा, जब नटवर श्रीरघुनाथजी 'मनहुँ महा बिरही अति कामी' का नाटक कर रहे थे और विकलावस्थामें जानकीजीको खोजते-खोजते वियोग-उन्माद-मत्त होकर 'लता तरु पाँती' से पूछते-पूछते वनमेंसे जा रहे थे कि इतनेमें उन्होंने—

आगें परा गीधपति देखा।

भक्तकी दीन दशा देखकर प्रभु अपना नाटक भूल गये और—

कर सरोज सिर परसेउ कृपासिंधु रघुबीर।

दीनदयालु प्रभुको भक्तकी रक्तप्लावित दशा देखकर उसका अङ्ग-भङ्ग शरीर देखकर बहुत दुःख हुआ। वे 'महा विरही अति कामी' से एकदम करुणानिधान बन गये। करुणाकी अतिके कारण उनके मुँहसे कोई शब्द न निकला। तब गीधराज बोले—

नाथ दसानन यह गति कीन्ही।

'यह गति' कि जिसे देखकर प्रभु जानकीजीके विरहको भूल गये !

नाथ दसानन यह गति कीन्ही। तेहिं खल जनकसुता हरि लीन्ही॥
लै दच्छिन दिसि गयउ गोसाईं। बिलपति अति कुररी की नाईं॥

जो अत्यन्त करुण विलाप करती हुई सीताजीको बरबस दक्षिण दिशामें ले गया, अति सुकुमार जानकीजीके आँसुओंसे जिसका दिल न पिघला, वह राक्षस 'दसानन' !! और जब मैंने उसे इस अधर्म-कार्यसे रोका तब नाथ ! उस दसाननने मेरी यह गति कर दी, मुझे अङ्ग-भङ्ग कर दिया, मेरे टुकड़े-टुकड़े कर दिये, मुझे मृत-प्राय कर दिया !!

प्रभुने रावणका लोकोंके रुलानेवाले रावणका, 'दसानन' नाम सर्वप्रथम इस संदर्भमें सुना था। 'दसानन' वह था, जिसने उनकी प्रियतमाका हरण करके उनको असह्य वियोग-पीड़ा पहुँचायी; 'दसानन' वह था जिसने उनके वर्षों पुराने उस मित्रकी अत्यन्त दयनीय दशा कर दी थी, जिसके साथ उन्होंने 'बहु बिधि' प्रीति बढ़ायी थी और जिसे करुणानिधान श्रीरघुनाथजी पिताके समान आदर करते थे। इसी क्रूर दसाननके नाशकी प्रतिज्ञा करुणानिधान प्रभुने की थी।

सीता हरन तात जनि कहहु पिता सन जाइ।
जौं मैं राम त कुल सहित कहिहि दसानन आइ॥

प्रभुने केवल दसाननके वधकी ही प्रतिज्ञा नहीं की थी, बल्कि कुलसहित दसानन-वधकी !!

इसलिये विभीषण इस दृश्यकी और इस प्रतिज्ञाकी स्मृति दिलाकर उनके शरणागतवत्सल होनेकी परीक्षा लेनेके लिये करुणानिधान प्रभुसे कहते हैं—

'नाथ दसानन कर मैं भ्राता'

हे नाथ ! हे 'दीनदयालु बिरद संभारी' शरणागतवत्सल प्रभो ! मैं उसी दसाननका भाई हूँ !!!

इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसीके एक-एक शब्दकी भाव और अर्थ-परम्परा है और जबतक हम इन परम्पराओंके बिना समझे मानसका अर्थ करेंगे, तबतक हमारे सामने न मानसका यथार्थ अर्थ खुलेगा और न उसका पूरा आनन्द ही हमको मिलेगा।

पञ्चम पुरुषार्थ

[कहानी]

(लेखक—**श्री** 'चक्र')

'हरि नारायण गोविन्द । माधव मोहन मुकुन्द ।' देवर्षिकी वीणा-झंकार आयी और गन्धर्वोंके वाद्य मूक हो गये । अप्सराओंके नृत्यचपल पद रुद्ध हुए । महेन्द्र शीघ्रतासे उठे अपने आसनसे और उन्होंने पारिजातके सुमनोंकी अञ्जलि ली ।

देवर्षि ऐसे तो नहीं हैं कि किसीको अर्चाका पूरा अवकाश दें । उन्हें इसकी अपेक्षा तो क्या रहेगी, दृष्टि भी इधर नहीं देते कि किसने कब उनके पदोंमें प्रणिपात किया । सुरपति एक सुमनाञ्जलि उनके श्रीचरणोंमें अर्पित कर लें, इतना ही सौभाग्य कम नहीं है ।

'देखता हूँ शतक्रतु अब भी सावधान नहीं हैं, जब कि अमरावतीका ऐश्वर्य किसी क्षण उनसे छीन लिया जा सकता है ।' पुष्पपरागके मृदुल आस्तरणपर प्रणतिके पश्चात् सुर एवं सभासद् बैठें, इसके पूर्व ही देवर्षिकी वाणीने सबको आतङ्कित कर दिया । 'इतना प्रमाद देवधानीके अधीश्वरको शोभा नहीं देता ।'

'क्या हुआ ? कोई असुर आ रहा है ? दैत्येन्द्र बलि तो रसातलमें हैं और अभी तो यह केवल अट्ठाईसवीं चतुर्युगी है । उनके इन्द्रासनपर आनेका समय तो इस मन्वन्तरके पश्चात् होगा । उनका कोई आश्रित ! कोई अन्य दानव, राक्षस ! मयने तो कोई नवीन त्रिपुर नहीं बना डाला ? उसके लिये कुछ असम्भव नहीं है ।'

'कोई तपस्वी ? धरापर तो कलियुग चल रहा है । अन्नगत-प्राण हैं आजकल मर्त्यलोकके निवासी । वहाँ न आज दीर्घकालीन तप सम्भव है और न अश्वमेध-यज्ञोंकी अविच्छिन्न परम्परा ।'

देवता, गन्धर्व, किंनर, अप्सराएँ कोई बोल नहीं रहा था; किंतु देवता संकल्पकी भाषामें बोलते हैं । वाणीके मूक रहते भी वहाँ एक व्याकुल कोलाहल उनके अंदर व्याप्त हो रहा था ।

'भारतकी पुण्य धराके प्रति सुरपति सावधान नहीं रहेंगे तो किसी क्षण अमरावतीसे निष्कासित कर दिये जा सकते हैं ।' आसनपर बैठते-बैठते देवर्षिने चेतावनी दी । 'जहाँ नारायणको बार-बार आनेको विवश कर दिया जाता है, वहाँ सुरपतिका सेव्य कब, कौन, कहाँ है—इस सम्बन्धमें सावधानी रखनी चाहिये । अधिकारीकी उचित सेवा नहीं होगी तो क्या सर्वेश्वर इन्द्रको लोकपालाधिप बने रहने देंगे ?'

'कौन हैं वे महाभाग ?' सहस्राक्ष तो प्रयत्न करके भी धरापर—भारतीय धरापर भी ऐसा कोई नवीन तपस्वी, कोई त्यागी अथवा अग्निहोत्री नहीं देख पाते । कलापग्रामके महायोगियों अथवा भगवान् दत्तात्रेयके आश्रितोंसे उन्हें कोई भय नहीं है । जो थोड़े-से अमर पुरुष—ऋषि आदि हैं, उनसे वे परिचित हैं । उनका आशीर्वाद प्राप्त है पाकशासनको । अब यह नवीन विपत्ति किधरसे आयी है, वे कुछ समझ नहीं पाते ।

'देवेन्द्र केवल योग, तप, यज्ञ और त्याग ही देख पाते हैं ।' देवर्षिने आक्षेप किया । 'जगदीश्वर भावाधीन हैं, यह वे प्रायः भूल जाते हैं । भगवती भक्तिदेवीके वरद पुत्रोंकी अचिन्तनीय शक्तिपर देवराजकी दृष्टि जाती ही नहीं ।'

'वे तो स्रष्टाके भी वन्दनीय हैं ।' इन्द्रने हाथ जोड़कर मस्तक झुकाया । 'किंतु वे नित्यनिष्काम एवं अहैतुक कृपालु—उनकी सेवा शतक्रतु क्या करेगा और उनसे किसीको भी क्या भय हो सकता है ।'

'वे कब क्या करेंगे, यह भी कैसे कहा जा सकता है ।' देवर्षिने कहा—'अब इस जगद्धात्रीके साधक ताराकान्तको ही ले लो । कब उसके मनमें क्या इच्छा होगी, किस कामनाको वह झिड़क देगा और किसे पकड़ लेगा—देवी वीणापाणि भी बता सकती हैं क्या ?'

भगवती सरस्वती कुछ क्षण पूर्व ही सुरसभामें पधारी थीं और देवराजने उनकी अर्चा की थी । देवर्षिने इस बार उनकी ओर संकेत किया ।

'वह पराशक्तिका स्नेहलालित शिशु ।' वाणीकी अधीश्वरी-का स्वर भी वात्सल्यविभोर हो उठा—'उसे तो प्यास लगे तो भी मचलकर पुकार सकता है निखिलेश्वरीको । उसका रोष, उसका मचलना—वह कहाँ निष्काम है । किंतु उसकी कामनाने जो आश्रय लिया है—किसकी शक्ति है जो उस हृदयकी छायाका स्पर्श कर सके ।'

'वह सकाम है तो सुरोंके लिये आतङ्क बन नहीं सकता ।' महेन्द्रकी दृष्टि मन्मथकी ओर उठी ।

'मुझे आशा करनी चाहिये कि इस कुसुम-कलेवर देवता-को उधर भेजनेकी अज्ञता देवाधीश नहीं करेंगे ।' उठते-उठते देवर्षिने चेतावनी दी । 'वह कोई योगी, तपस्वी नहीं है कि वासनाके उत्थानसे उसकी अर्जित साधन-सम्पत्ति क्षीण होगी । कहीं अप्सराओंको देखकर उसके मनमें स्वर्ग भोग लेनेकी इच्छा आ गयी—कल छिनती अमरावती अभी छिन जायगी । वह 'माँ !' कहकर मचलेगा तो महेश्वरी सौ अश्वमेधकी मर्यादा भूल जायँगी । उसमें कामनाका उत्थान न हो, देवधानी वहींतक निश्चिन्त रह सकती है ।'

देवर्षि तो परिव्राजक हैं । वे कहीं जमकर बैठना जानते नहीं । वे चले गये; किंतु कितनी बड़ी आशङ्का दे गये । सृष्टिमें एक ऐसा साधक हो गया है, जो इच्छा करते ही इन्द्रपदपर आ धमकेगा और उसे अवरुद्ध करनेका कोई उपाय सुरोंके समीप नहीं है । केवल उसकी सद्भावनापर निर्भर रहना है । कितनी असहाय स्थिति है यह ।

'मैं कोई सहायता सुरपतिकी नहीं कर सकती ।' देवराज कुछ कहें, इससे पूर्व ही भगवती सरस्वतीने उन्हें निराश कर दिया । 'कोई माता अपने शिशुका किंचित् अहित सोच भी नहीं सकती । सुरेश जानते हैं कि महाशक्तिकी ही ज्योति रमा, उमा और मुझमें प्रतिफलित है और जहाँ उनका वात्सल्य सक्रिय होता है, हमारा स्नेह वहाँ सहज प्रवाहित होता है ।'

× × ×

'वे सुरपतिके सेव्य हैं ।' देवेन्द्रको एक मार्ग मिल गया देवर्षिके कहे वचनोंमेंसे । जहाँ दण्ड और भेदकी नीति न चल सकती हो, साम और दान वहाँ दुर्बलके आश्रय हैं । महेन्द्रको यह उचित लगा कि उन महाभागसे परिचय कर लिया जाय । उन्हें यदि किसी प्रकार कृतज्ञ बनाया जा सके, अमरावती निःशङ्क हो जायगी उनकी ओरसे ।

'वरं ब्रूहि ! सुप्रसन्नोऽस्मि !' ताराकान्त अपनी आह्निक अर्चा समाप्त करके आसनसे उठनेवाले ही थे कि उनका उपासना-कक्ष प्रकाशसे पूर्ण हो गया । उनके सम्मुख दिव्याम्बरधारी, रत्नकिरीटी, वज्रधर इन्द्र प्रकट हो गये थे ।

'आपके आयुधके कारण मैं समझता हूँ कि आप देवराज हैं । इस मानवका अभिवादन स्वीकार करें ।' ताराकान्तने दण्डवत् प्रणिपात तो नहीं किया, किंतु हाथ जोड़कर मस्तक झुका लिया । 'आप आ ही गये हैं तो अतिथिके समान मेरी अर्चा स्वीकार करें ।'

अर्घ्य, पाद्य आदि देवराजने स्वीकार कर लिया; किंतु आसनपर वे आसीन नहीं हुए । देवता भूमिका स्पर्श कहाँ करते हैं । अर्पित नैवेद्य भी रक्खा रहा; क्योंकि देवता तो गन्धमात्र ग्रहण करते हैं । नरके साथ आकर उसके उपहार-का उपभोग तो नरके नित्य सखा नारायण ही करते हैं ।

'वरं ब्रूहि !' देवराजने अर्चाके उपरान्त पुनः आग्रह किया ।

'आप जानते ही हैं कि मैंने आपका आवाहन नहीं किया था । मैं आपका आराधक नहीं हूँ ।' ताराकान्तके स्वरमें अतिशय नम्रताके साथ अद्भुत दृढ़ता थी—'मैं कंगाल नहीं हूँ कि याचना करूँगा । भिक्षाजीवी मैं नहीं हूँ ।'

'आप स्वतः पधारे, आपने मुझ मानवको कृपा करके दर्शन दिया—आपके औदार्यसे, आपकी कृपासे मैं अनुगृहीत हुआ ।' ताराकान्तने देवराजको बोलनेका अवकाश ही नहीं दिया । वे कह रहे थे—'मैं उन जगद्धात्रीका पुत्र हूँ, जिनके भ्रूभङ्गसे कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड बनते और मिटते रहते हैं । महाकाल जिनके भयसे कम्पित होता रहता है, रमा जिनकी कृपाकी कामना दूर करबद्ध खड़ी होकर करती है, उनके शिशुको आप वरदान देंगे ?'

देवराजकी अङ्गकान्ति म्लान हो उठी । उन्हें लगा, कहीं यह अद्भुत व्यक्ति मेरे इस प्रयत्नको अपना अपमान

मानकर रुष्ट न हो जाय, कोई भिक्षुक यदि सम्राट्से कहे कि मुझसे कुछ माँग लो तो भिक्षुकका अहंकार क्या सम्राट्का अपमान नहीं है। सम्राट् असंतुष्ट हो उठें—उन्हें दोष कैसे दिया जा सकेगा।

'आप मुझे वरदान देने पधारे, इस आपके भोलेपनसे मुझे प्रसन्नता हुई है।' ताराकान्तकी वाणीने इन्द्रको आश्वस्त किया। 'आप पधारें! जिनके शिशुको आपने प्रसन्न करनेका प्रयत्न किया, वे कृपामयी आपको पुरस्कृत करेंगी।'

पुरस्कार तो महेन्द्रको मिल चुका। वे यह आश्वासन लेकर अमरावती लौट रहे हैं कि इस महामानवसे उन्हें कोई भय नहीं है। इन्द्र-जैसे देवताके तुच्छपदकी कामना उसके अन्तरमें कभी उठेगी, इसकी कोई सम्भावना नहीं है।

× × ×

'भगवन्! मैं अभय लेकर आया धरासे; किंतु उन महाप्राणको समझ नहीं पाता हूँ।' देवराजने बृहस्पतिके समीप पहुँचकर प्रार्थना की। 'वे नितान्त निष्काम भी नहीं लगे मुझे और उनकी सकामता भी मेरी प्रज्ञा ग्रहण नहीं करती।'

मनुष्यके पुरुषार्थ चार ही हैं—अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष। अर्थ और कामकी उपलब्धि संसारमें जिस सीमातक सम्भव है, लोकपालाधिप महेन्द्रकी कृपा उसे सहज दे सकती है। और धर्मसे, यज्ञ-यागादिसे, तप-त्यागसे जिस स्वर्गकी उपलब्धि होती है, उसके वे स्वामी ही हैं। वे स्वयं वरदान देने पहुँचे और उपेक्षित कर दिये गये। त्रिवर्ग ही तो ठुकराया उस महाभागने।

अपवर्गकी बात भी इन्द्र नहीं समझ पाते। अपवर्गके लिये चित्तमें कामनाका लेश भी नहीं होना चाहिये। ताराकान्तका चित्त निष्काम नहीं है, यह देवराज देख सकते हैं। कामनाएँ मिटें, घटें—निष्काम उपासना ही महाशक्तिकी की जाय, ऐसा भी कोई प्रयत्न उस साधकमें नहीं है। त्रिवर्ग ठुकराया गया और मोक्षका साधन नहीं है। कैसा है यह साधक? क्या होना है उसका?

'उनकी कामनाएँ कामनाएँ नहीं हैं शक्र!' देवगुरुने समझाया। 'भुने बीज उगा नहीं करते। परात्परतत्त्वसे युक्त होकर कामना कामना नहीं रह जाती।'

'किंतु लौकिक कामनाएँ चित्तमें उठती हैं·····।' इन्द्र अपनी बातको स्पष्ट नहीं कर पाते, यह वे अनुभव कर रहे हैं।

'पतिव्रता पत्नी पतिसे कुछ न चाहे, ऐसा तो कोई नियम नहीं है।' देवगुरु कह रहे थे। 'वह अपना परम कल्याण भी पतिसे चाहती है और अन्न-वस्त्र-आभूषण भी। उसकी लौकिक कामना भी उपासना है। उसकी लौकिक इच्छा भी अपने प्रियको संतुष्ट करने, उनकी सेवाके लिये है। उसकी इच्छापूर्ति करके उसके प्रियको आह्लाद होता है। कामना ही हो उसकी—वह उस कामनाको लेकर भटकती कहाँ है। वह कामना भी तो उसे सेव्यके समीप ही ले जाती है।'

'जब कोई परात्पर परमतत्त्वको अपना मान लेता है, वह माता-पिता, भाई-स्वामी कुछ भी उसे स्वीकार करके सर्वथा उसीपर निर्भर हो जाता है, तो वह पूर्णतत्त्व उसका हो जाता है।' देवगुरुने अत्यन्त स्नेहपूर्वक समझाया। 'पूर्णतत्त्वसे युक्त होकर तो द्वेष, काम, भय आदिकी वृत्तियाँ भी मुक्तिदायिनी हुई हैं। कंस, शिशुपालादिकी मुक्तिका रहस्य तुम जानते हो वत्स! चित्त उस आनन्दघनमें लगा हो, यही तो अपेक्षित है।'

इन्द्रने मस्तक झुका लिया। उनका यही क्या कम सौभाग्य है कि वे ऐसे महापुरुषके साथ प्रत्यक्षके कुछ क्षण व्यतीत कर आये हैं। असुर भी मुक्त होते हैं जिनसे द्वेष करके, उनसे प्रेम करनेवालेकी सकामताका परीक्षण करनेकी आवश्यकता भला, सुरेन्द्रको क्या हो सकती है।

'तुम चतुर्वर्गकी सीमामें सोच रहे थे, यही भ्रमका कारण था।' देवगुरुने स्नेहपूर्वक दृष्टि उठायी। 'भक्ति मानवका पञ्चम पुरुषार्थ है—ऐसा सार्वभौम पुरुषार्थ कि उसके अङ्कमें केवल शेष पुरुषार्थ ही नहीं, पुरुषोत्तम स्वयं समा जाता है।'

श्रीराधाके तत्त्व-स्वरूप-लीलाका पुण्यस्मरण

[श्रीराधा-जन्माष्टमी महोत्सव (सं० २०२१) पर हनुमानप्रसाद पोद्दारका गोरखपुरमें प्रवचन]

(दिनका प्रवचन)

यत्पादपद्मनखचन्द्रमणिच्छटाया
विस्फूर्जितं किमपि गोपवधूष्वदर्शि ।
पूर्णानुरागरससागरसारमूर्तिः
सा राधिका मयि कदापि कृपां करोतु ॥

आजका यह मङ्गल दिवस सभीके लिये परम मङ्गलमय, सर्वथा आदरणीय एवं परम सौभाग्यसूचक है; क्योंकि सच्चिदानन्दघन भगवान्की ह्लादिनी शक्ति, नित्य लीलामयी, वृषभानुनन्दिनी, कीर्तिदाकुमारी स्वामिनी श्रीराधाजीकी प्राकट्यलीला आजके दिन इस मङ्गलमय मध्याह्नके समय ही अपने ननिहाल रावल ग्राममें हुई थी । जैसे श्रीकृष्ण नित्य सच्चिदानन्दस्वरूप, समस्त अवतारों तथा भगवत्स्वरूपोंके मूल, प्राकृत प्रपञ्चसे अतीत दिव्य गुण-शक्तिमय तथा सौन्दर्य-माधुर्यके अनन्त निधि हैं, वैसे ही श्रीराधाजी भी नित्य सच्चिदानन्दस्वरूपा, लक्ष्मी-सरस्वती आदि समस्त देवियोंकी आदि मूलस्वरूपा, प्राकृत प्रपञ्चसे अतीत दिव्य गुण-शक्तिमय तथा ऐसे अनुपम अनन्त सौन्दर्य-माधुर्यकी समुद्र हैं जो सर्वाकर्षक श्रीकृष्णको भी नित्य आकर्षित किये रहते हैं । वस्तुतः श्रीकृष्ण और श्रीराधामें शक्तिमान् तथा शक्तिके सदृश नित्य अभेद है । एक ही तत्त्व नित्य दो स्वरूपोंमें लीलायमान है ।

ये श्रीराधाजी न तो साहित्यकारों या कवियोंकी कल्पना हैं, न श्रद्धालुओंके श्रद्धाचित्तके द्वारा निर्मित वस्तुविशेष हैं और न आध्यात्मिक तत्त्वविशेषका रूपक ही हैं । ये नित्य सत्य सनातन भगवान्की अपृथक् आनन्दशक्ति—ह्लादिनी हैं । 'सर्व प्रथम साहित्य-जगत्में इनकी कल्पना हुई और उस कल्पनामें क्रमविकास होते-होते ये श्रद्धास्पदा शक्ति-विशेष बनकर अन्तमें भगवान् श्रीकृष्णकी परमाराधिका और परमाराध्या बन गयीं ।' इस प्रकार राधाके सम्बन्धमें भाँति-भाँतिकी कल्पना-जल्पना की गयी है—यह सत्य है; अनुभवशून्य साहित्यकारोंने श्रीराधाके सम्बन्धमें विविध विचित्र कल्पनाएँ की हैं और लौकिक शृङ्गारी कवियोंने भी अपनी मनोवृत्तिके अनुसार रचना करके श्रीराधाके परमदिव्य अत्युज्ज्वल कल्याण-स्वरूपको निम्न स्तरपर लानेका प्रयास किया है । पर ऐसी किसी भी कल्पना-जल्पनासे न तो परमेश्वरी सच्चिदानन्दमयी भगवान्की नित्य ह्लादिनीशक्ति, नित्य-निकुञ्जेश्वरी, रासेश्वरी, श्रीकृष्णमयी श्रीराधाजीके अप्रतिम, अलौकिक, दिव्य स्वरूप-तत्त्वमें ही किसी प्रकारकी त्रुटि आयी या आ सकती है और न अनुभवकी आँख रखनेवाले प्रेमियोंके हृदयोंपर कोई प्रभाव पड़ा है; क्योंकि सत्य किसीकी स्वीकृतिकी अपेक्षा नहीं रखता । वह तो है ही, नित्य है ही—कोई मानें या न मानें । अवश्य ही न माननेवाले परम लाभसे वञ्चित रह जाते हैं और अभिमानवश विरोध या खण्डन करनेवाले महान् दुष्कर्म करते हैं । श्रीराधारानी अपने सहज कृपालु-स्वभावसे उन्हें क्षमा करें । श्रद्धासम्पन्न प्रेमी साधकों तथा भक्तोंको इन जल्पनाओंपर ध्यान न देकर श्रीराधारानीको नित्य, सत्य, श्रीकृष्णानुरागमयी, साक्षात् दर्शन देकर कृतार्थ करनेवाली परमशक्ति मानकर नित्य-निरन्तर साधनामें संलग्न रहना चाहिये । श्रीराधारानीकी कृपासे स्वयं ही उनके अन्तश्चक्षु खुलेंगे और वे राधारानीके प्रत्यक्ष दर्शन करके समस्त संदेहोंसे अतीत चिन्मयी भूमिकामें पहुँच जायँगे ।

पवित्र प्रेमकी प्राप्तिके लिये जिस त्यागकी आवश्यकता है, उससे भी कहीं अधिक त्याग श्रीराधामें स्वाभाविक है । वास्तवमें श्रीराधाजी दिव्य प्रेमस्वरूपा ही हैं, पर

आदर्शके लिये उनका त्याग परमोज्ज्वल है और श्रीगोपाङ्गनाएँ भी उसीका अनुकरण करती हैं । श्रीकृष्णका सुख ही उनका जीवन है । उन्हें न त्यागका भय है न त्यागकी आकाङ्क्षा; इसी प्रकार न वे भोग-वासना रखती हैं और न वे किसी निज कल्याण-कामनासे भोग-त्याग करती हैं । उनका अपना न कोई काम है, न उनके लिये कोई काम्य वस्तु है । वे केवल और केवल अपने श्यामसुन्दरको जानती हैं और अपने सर्वस्व-समर्पणद्वारा अनवरत उनको सुख पहुँचाया करती हैं । यही उनका जीवन-सार है—

र्वत्यागमय पूर्ण समर्पण, दोष-बुद्धि-विरहित व्यवहार ।
ोग-मोक्ष-इच्छा-विरहित प्रियतम-सुख केवल जीवन-सार ॥

इस परम मधुरतम प्रेममें मोक्षसुखकी इच्छाको भी 'काम' माना जाता है । अतः उसका भी सहज त्याग हो जाता है, फिर जगत्के तुच्छ भोगोंकी तो बात ही क्या है । इस प्रेम-सुधाकी पवित्र मधुर धारा प्रतिक्षण बढ़ती हुई असीमकी ओर प्रवाहित होती रहती है ।

न पवित्र परम उज्ज्वल, जो काम-कलुषसे रहित उदार ।
ाधर-कला सदृश प्रतिपल ही बढ़ता रहता सहज अपार ॥
हीं कभी भी, किसी हेतुसे हो सकता उसका प्रतिरोध ।
हीं कभी उसका कर सकता कोई लौकिक भाव विरोध ॥
न-जन-तन, बहुभोग-जनित सुख, दुःख प्रबलका तनिक प्रभाव ।
हीं कभी होता प्रेमाप्लावित मनपर, रहता सद्भाव ॥
हीं नरकका भय रहता कुछ, रहता नहीं स्वर्गका काम ।
वन-मरण प्रेम-रसमें नित डूबे ही रहते अभिराम ॥
तम प्रभु बन स्वयं मधुरतम प्रेम-सुधा-रस-पारावार ।
ते परम मनोहर अपनेमें ही आप विचित्र विहार ॥
ठतीं ललित लहरियाँ उसमें अनुपम, अमल, अमित अविराम ।
हीं सतत अनन्त कालतक सुख शुचि, नित्य-नवीन, ललाम॥
-पर रहता नहीं, नहीं रहता अनित्य दुखमय संसार ।
ता नहीं मोक्ष-सुखका भी मनमें किंचित् काम-विकार ॥
े प्रियतम सुख-सच्चिन्मय छाये एक सदा सर्वत्र ।
ो अमृतरस-वर्षा होती सुर-मुनि-दुर्लभ परम पवित्र ॥

श्रीराधामें इस प्रेम-समर्पणकी पूर्णता है । इसीसे वे परम अनुरागके मधुर सागरमें डूबी हुई, नित्य-निरन्तर प्रियतम श्रीकृष्णमें नित्य नये-नये सौन्दर्य-माधुर्यका अनुभव करती हैं ।

इस मधुररसमें अनुराग ही स्थायी भाव है । जो राग नित्य-निरन्तर नये-नये रूपमें परिणत होता हुआ सर्वदा अनुभूत, सदा मिलित प्रेमास्पदको देखते ही उसमें प्रतिक्षण नये-नये सौन्दर्य-माधुर्यका दर्शन कराता है, ऐसे बढ़े हुए रागको अनुराग कहते हैं । श्रीराधा और गोपसुन्दरियोंको इसीसे प्रियतम श्यामसुन्दरमें प्रतिपल नये-नये सौन्दर्य-माधुर्यके दर्शन होते हैं। एक दिनकी बात है । अखिल विश्वविमोहन श्रीकृष्ण राधिकाजीके समीप विराजमान थे । उनके विलक्षण सौन्दर्य-माधुर्यको वे सदा ही देखती आयी हैं, पर वह उन्हें नित्य ही पूर्वापेक्षा बहुत अधिक सुन्दर मधुर प्रतीत होता है। आज उन्हें देखते ही श्रीराधाजी वृन्दासे बोलीं—'ये कौन हैं ?' वृन्दाने कहा—'श्रीकृष्ण हैं !' यह सुनते ही श्रीराधारानी आश्चर्यचकित होकर कहने लगीं—'प्रियतम श्यामसुन्दर तो न जाने कितनी बार मेरे नेत्रोंको सुख दे चुके हैं; परंतु आज मैं जैसा अपूर्व अतिशय माधुर्य देख रही हूँ, वैसा तो पहले कभी नहीं देखा था । अहा ! इस समय तो इन प्रेममयके एक-एक अङ्गके एक-एक रोमसे शोभाश्रीकी ऐसी सुधाधारा बह रही है कि उसके एक बूँदके आस्वादन करनेकी भी शक्ति मेरे नेत्रोंमें नहीं है ।

प्रतीकेऽप्येकस्य स्फुरति मुहुरङ्गस्य सखि या
श्रियस्तस्याः पातुं लवमपि समर्था न दृगियम् ॥

सखी री, यह अनुभवकी बात ।
प्रतिपल दीखत नित नव सुन्दर, नित नव मधुर लखात ॥

× × ×

कछुवै होत न बासी कबहूँ, नित नूतन रस बरसत ।
देखत-देखत जनम सिरान्यौ, तऊ नैन नित तरसत ॥

राधा-प्रेम-समुद्रमें नित्य नयी तरङ्गें उठती रहती हैं । यहाँ उन तरङ्गोंमेंसे दो-एककी झाँकी कीजिये—

एक बार बातचीतके प्रसङ्गमें श्रीराधाके सामने ललिताजीके मुखसे 'कृष्ण' नामका उच्चारण हो गया। बस, उसे सुनते ही श्रीराधाजी अत्यन्त विवश होकर कहने लगीं—

'सखि, यह कैसा मधुर नाम है, इसने तो मेरे कानोंमें प्रवेश करते ही मेरे सारे धैर्यका हरण कर लिया। बता, यह किसका नाम है? वह कृष्ण कौन है?' ललिताने श्रीराधाकी यह बात सुनकर कहा—'अरी रागान्धे राधे! तुम यह कैसी अज्ञताकी-सी बात कह रही हो? तुम तो नित्य ही उन श्रीकृष्णके वक्षःस्थलपर क्रीड़ा करती हो!' राधाजीने कहा— 'सखि! परिहास न करो।' तब ललिताजी बोलीं—'पगली! अभी-अभी तो मैंने तुमको उनके हाथोंमें समर्पण किया था।' तदनन्तर श्रीराधारानी बहुत देरतक सोचनेके बाद सिर हिलाती हुई बोलीं—'हाँ सखि! सत्य है। इन कृष्णको बस, अभी आज ही देखा है; सो भी जन्मभरमें एक बार केवल बिजली कौंधनेकी भाँति—

सत्यं सत्यमसौ दृगङ्गनमगादद्यैव विद्युन्निभः॥

एक दिन निकुञ्जमें श्रीराधारानीकी प्रिय श्यामसुन्दरके साथ प्रेमचर्चा हो रही थी—तब उन्होंने कुछ ऐसी बातें कहीं, जिन्हें सुनते-सुनते श्यामसुन्दर गद्‌गद हो गये। राधाजीने जो कुछ कहा, उससे पवित्र प्रेम-राज्यमें वे किस भूमिकापर स्थित हैं और प्रेम तथा प्रेमलीलाका क्या स्वरूप होता है—विचार करनेपर इसका कुछ अनुमान लग सकता है। वे बोलीं—

मेरे तुम, मैं नित्य तुम्हारी, तुम मैं, मैं तुम, सङ्ग असङ्ग।
पता नहीं, कबसे मैं तुम बन, तुम मैं बने कर रहे रङ्ग॥
होता जब वियोग, तब उठती तीव्र मिलन-आकांक्षा जाग।
पल-अमिलन होता असह्य तब, लगती हृदय दहकने आग॥
चलती मैं रस-सरि उन्मादिनि विह्वल, विकल तुम्हारी ओर।
चलते उमड़ मिलाने निजमें तुम भी रससमुद्र तज छोर॥
लीला-रस-आस्वादनहित तुम-मैं बनकर वियोग-संयोग।
धर अनेक रस-रूप रमण-रमणी करते नव-नव संभोग॥
किंतु मैं न रमणी, न रमण तुम; एक परम चिन्मय रस-तत्त्व।
आश्रय-विषयालम्बन बन नित लीला रत रुचि सुचितम तत्त्व॥

प्रियतम श्यामसुन्दर! तुम मेरे हो, मैं नित्य तुम्हारी हूँ। तुम मैं हो, मैं तुम हूँ। हम दोनों साथ रहते हुए भी असङ्ग हैं। पता नहीं कबसे मैं तुम और तुम मैं बने हुए खेल कर रहे हैं। जब वियोग होता है, तब अत्यन्त तीव्र मिलनाकाङ्क्षाका उदय हो जाता है, फिर एक-एक पलका अमिलन असह्य हो उठता है और हृदयमें ज्वाला धधक उठती है। उस समय मैं रस-सरिता उन्मादिनी और विह्वल-विकल होकर तुम्हारी ओर चल पड़ती हूँ, उधर तुम रससमुद्र भी कूल-किनारा त्यागकर मुझे अपनेमें मिला लेनेके लिये उमड़ चलते हो। वस्तुतः हम दोनोंमें कभी अलगाव या वियोग-विछोह होता ही नहीं, पर लीलारस-आस्वादनके लिये तुम और मैं स्वयं ही वियोग और संयोग बनकर, रमण-रमणीरूप अनेक रसविग्रह धारणकर नये-नये सम्भोगका सेवन करते हैं। वस्तुतः न मैं रमणी हूँ और न तुम रमण ही हो, हम दोनों ही एक परम चिन्मय रसतत्त्व हैं और हमीं दोनों सुन्दर पवित्रतम तत्त्व परस्पर आश्रयालम्बन और विषयालम्बन बनकर नित्य लीला-विलास करते रहते हैं।

एक दिन व्रजेन्द्रनन्दन अखिलरसामृत-मूर्ति श्रीश्यामसुन्दरको देखकर राधाजी चमत्कृत हो जाती हैं और विशाखासे कहती हैं—

सौन्दर्यामृतसिन्धुभङ्गललनाचित्ताद्रिसम्प्लावकः
कर्णानन्दिसनर्मरम्यवचनः कोटीन्दुशीताङ्गधः।
सौरभ्यामृतसम्प्लवावृतजगत्पीयूषरम्याधरः
श्रीगोपेन्द्रसुतः स कर्षति बलात् पञ्चेन्द्रियाण्यालि मे॥
(गोविन्दलीलामृत)

'सौन्दर्य-सुधा-समुद्रकी तरङ्गोंसे जो ललनाओंके (प्रेम-भक्ति-साधकोंके) चित्तरूप पर्वतको पूर्णरूपसे प्लावित कर देते हैं, जिनके हास्यपूर्ण मनोहर सुवचन कर्णकुहरोंको आनन्दसे पूर्ण कर देते हैं, जिनका अङ्ग

कोटि-शरदिन्दुकी ज्योत्स्नाके सदृश शीतल है, जिनका अधरामृत साक्षात् दिव्य पीयूष है और जिनके अधरोंके सौरभरूप सुधा-समुद्रसे विश्वब्रह्माण्ड सम्प्लावित है—सखि! वे गोपेन्द्रतनय—व्रजेन्द्रनन्दन मेरी समस्त इन्द्रियोंका बरबस आकर्षण कर रहे हैं।'

श्यामसुन्दर श्रीराधा-मुखारविन्दके निरीक्षणानन्दमें ुग्ध थे, उन्हें देखकर विशाखाने श्रीराधासे कहा—

कोटि-कोटि-कंदर्प-दर्पहर हैं माधव सौन्दर्यनिधान।
तुम्हें देखते ही बढ़ आयी इनमें सुन्दरता सुमहान॥
माधव हैं सौन्दर्य अतुल, माधुर्य-रस-सुधा-पारावार।
शशि-ज्योत्स्नासे सागरकी ज्यों उठती आनन्दोर्मि अपार॥
देखो! कैसे विह्वल हो ये भूल स्वरूपानन्द पवित्र।
तव मुख-कमल-निरीक्षण-सुखमें खड़े विभोर लिखे-से चित्र॥

एक बार किसीने श्रीराधाके पास आकर श्रीकृष्णमें रूप-सौन्दर्यका और सद्गुणोंका अभाव बतलाया और हा कि 'वे तुमसे प्रेम नहीं करते।' विशुद्ध प्रेम स-गुणकी तथा बदलेमें सुख प्राप्त करनेकी अपेक्षा नहीं रता— **'गुणरहितं कामनारहितम्'**……और वह ना किसी हेतुके ही प्रतिक्षण सहज ही बढ़ता रहता —**'प्रतिक्षणवर्धमानम्'**। श्रीराधाजी सर्वश्रेष्ठ विशुद्ध मकी सम्पूर्ण प्रतिमा हैं, अतः वे बोलीं—

असुन्दरः सुन्दरशेखरो वा
गुणैर्विहीनो गुणिनां वरो वा।
द्वेषी मयि स्यात् करुणाम्बुधिर्वा
श्यामः स एवाद्य गतिर्ममायम्॥

'हमारे प्रियतम श्रीकृष्ण असुन्दर हों या सुन्दर-रोमणि हों, गुणहीन हों या गुणियोंमें श्रेष्ठ हों, मेरे ति द्वेष रखते हों या करुणावरुणालयरूपसे कृपा करते ; वे श्यामसुन्दर ही मेरी एकमात्र गति हैं।'

महाप्रभु चैतन्यने कहा है—

आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मा-
मदर्शनान्मर्महतां करोतु वा।
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो
मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः॥

'वे चाहे मुझे हृदयसे लगा लें या चरणोंमें लिपटी हुई मुझे पैरोंतले रौंद डालें अथवा दर्शनसे वञ्चित रख मर्माहत कर दें। सारांश, वे लम्पटतावश जैसे चाहें वैसे करें; मेरे प्राणनाथ तो वे ही हैं, दूसरा कोई नहीं।'

प्रेम वास्तवमें देना जानता है, लेना जानता ही नहीं; उसमें लेन-देनका सौदा नहीं है। प्रेमास्पदके दोष प्रेमीको दीखते ही नहीं, वह सदा उसमें गुण ही देखता है और समझता है कि प्रेमास्पद सदा मुझे सुख देते ही रहते हैं। निरन्तर देते रहनेपर भी देनेका भान न हो और अपनेको लेनेवाला ही माना जाय; केवल माना न जाय, ठीक ऐसा ही अनुभव हो—त्यागकी ऐसी पराकाष्ठा जहाँ है, वहीं विशुद्ध प्रेम है। इस विशुद्ध प्रेमकी प्राप्तिके लिये हृदयका द्रवित होना आवश्यक है और इसके लिये श्रीरूपगोस्वामी महोदयने ये साधन बतलाये हैं। वास्तवमें प्रेम साधन-साध्य नहीं है, वह तो कृपासाध्य ही है; पर इन साधनोंसे प्रेम-प्राप्ति करानेवाले भगवत्कृपा-लाभकी सम्भावना हो जाती है। वे कहते हैं—

शान्तिरव्यर्थकालत्वं विरक्तिर्मानशून्यता।
आशाबन्धः समुत्कण्ठा नामगाने सदा रुचिः॥
आसक्तिस्तद्गुणाख्याने प्रीतिस्तद्वसतिस्थले।
इत्यादयोऽनुभावाः स्युर्जात भावाङ्कुरे जने॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु)

सहनशीलता या बुरा करनेवालेका भी भला करनेकी प्रचेष्टा; भगवच्चर्चा, भगवत्सेवा, सत्सङ्ग, सदाचरणमें लगे रहना—व्यर्थ समय तनिक भी न खोना; भोग-विषयोंमें आसक्ति न रहना; अभिमानशून्यता; भगवत्कृपा एवं भगवत्प्रेमकी प्राप्ति अवश्य होगी—ऐसी दृढ़ बद्धमूल आशा, भगवान्से मिलनेकी उत्कट लालसा, भगवान्के मधुर नाम-गानमें सदा रुचि, भगवान्के गुण-लीला-

श्रवण-कथनमें आसक्ति और भगवान्‌के लीला-स्थलोंमें प्रीति—जिसके आचरणमें इन भावोंका उदय हो, समझना चाहिये भगवान्‌के प्रेमका अङ्कुर उसके हृदयमें उत्पन्न हो गया है। अकारण कृपा करनेवाली श्रीराधारानीसे हम सबकी विनीत प्रार्थना है कि वे ऐसी कृपा करें जिससे हम सबके जीवनमें उनकी चरण-रजके प्रति अहैतुकी प्रीति उत्पन्न हो।

बंदौं श्रीराधाचरन पावन परम उदार।
भय-विषाद-अग्यान हर प्रेमभक्ति-दातार॥

(२)

(रात्रिका प्रवचन)

उज्जृम्भमाणरसवारिनिधेस्तरङ्गै-
रङ्गैरिव प्रणयलोलविलोचनायाः।
तस्याः कदा नु भविता मयि पुण्यदृष्टि-
र्वृन्दाटवीनवनिकुञ्जगृहाधिदेव्याः॥
वृन्दावनेश्वरि तवैव पदारविन्दं
प्रेमामृतैकमकरन्दरसौघपूर्णम्।
हृद्यर्पितं मधुपतेः स्मरतापमुग्रं
निर्वापयत्परमशीतलमाश्रयामि॥

आज श्रीश्रीराधा-जन्माष्टमीके पुण्यपर्वपर श्रीराधामाधवके तत्त्व-स्वरूप-लीलाका यत्किंचित् चिन्तन-स्मरण करके अपने जीवनके क्षणोंको धन्य करनेके लिये आप सब सुविज्ञ-विद्वान् प्रेमी महानुभावोंके सामने कुछ निवेदन कर रहा हूँ। धृष्टताके लिये करबद्ध क्षमाप्रार्थी।

परात्पर परतत्त्वस्वरूप समग्र भगवान् सच्चिदानन्द हैं। ब्रह्म, परमात्मा आदि उन्हींके विभिन्न अभिन्न स्वरूप हैं। सत्-चित्-आनन्द उनके स्वरूप-भूत गुण या उनकी नित्य स्वरूपा-शक्ति हैं। शक्ति और शक्तिमान्‌में नित्य अभेद है। एकके बिना दूसरेकी सत्ता संदेहमें पड़ जाती है। शक्ति नहीं है तो शक्तिमान् कोई वस्तु नहीं और शक्तिमान् न हो तो शक्तिका निवास कहाँ हो। शक्तिके दो स्वरूप नित्य सिद्ध हैं—अमूर्त और मूर्त। अमूर्त स्वरूपमें शक्ति शक्तिमान्‌में तिरोहित है। वहाँ पर-तत्त्व भगवान् अपनी आनन्दस्वरूपा ह्लादिनी आदि शक्तियोंके साथ निर्विशेष निर्भेदरूपमें बाह्य-लीलारहित लीलामें स्थित हैं। इस अद्वैत-तत्त्व-अवस्थामें प्रत्यक्ष लीलाविलास नहीं है। पर इसीके साथ युगपत् परतत्त्व भगवान्‌की निज स्वरूपभूता वे ही ह्लादिनी आदि शक्तियाँ लीला-रसास्वादनके लिये मूर्तरूपमें भी प्रकट रहती हैं। यहाँ शक्तियोंके साथ परतत्त्व शक्तिमान् भगवान् भिन्न-भिन्न रूपोंमें लीलायमान रहते हैं। परस्वरूपके तत्त्वतः एक होनेपर भी अनादिकालसे दोनों रूपोंमें लीला-रसका आस्वादन चलता रहता है। भगवान्‌की स्वरूपा-शक्तियोंमें आनन्द या ह्लादिनी ही सर्वप्रधान है। वह ह्लादिनी-शक्ति 'भाव'रूपा है और शक्तिमान् भगवान् 'रस'रूप हैं। ह्लादिनी-भावकी पूर्ण परिणति 'महाभाव' है और भगवान् 'रसराज' हैं। महाभावरूपा श्रीराधाके बिना रसराज श्रीकृष्णकी और रसराज श्रीकृष्णके बिना महाभावरूपा श्रीराधा और उनकी कायव्यूहरूपा गोपसुन्दरियोंकी एवं इन दोनोंके बिना उत्तरोत्तर दिव्य परमानन्दकी नित्य आनन्दवर्धक सत्ता सिद्ध नहीं होती।

विना राधां कृष्णो न खलु सुखदः सा न सुखदा
विना कृष्णं द्वाभ्यामपि बत विनान्या न सरसाः।
विना रात्रिं नेन्दुस्तमपि न विना सा च रुचिभाग्
विना ताभ्यां जृम्भां दधति कुमुदिन्योऽपि नितराम्॥

'श्रीराधाके बिना श्रीकृष्ण सुखद नहीं हैं और श्रीकृष्णके बिना राधा सुखदा नहीं हैं और इन दोनोंके बिना अन्य सखियाँ भी रसमयी नहीं हैं। जैसे रात्रिके बिना सुधांशु शोभायुक्त नहीं और सुधांशुके बिना रजनी शोभामयी नहीं है और इन दोनोंके बिना कुमुदिनी प्रमुदित नहीं होती।'

श्रीगोपाङ्गनाएँ भगवदानन्दस्वरूपा श्रीराधाकी ही स्वरूप-विस्तार हैं। साधारणतः श्रीकृष्णप्रेममयी

गोपाङ्गनाओंके दो भेद हैं—'नित्यसिद्धा' और 'साधनसिद्धा'। इनमें नित्यसिद्धा गोपियाँ नित्य ही सच्चिदानन्दस्वरूपा हैं। वे कभी प्राकृत मानवरूपा नहीं हैं। वे भगवान्‌की स्वरूपा-शक्तियाँ हैं। श्रीराधाकी इन कायव्यूहरूपा नित्यसिद्धा गोपियोंके साथ श्रीकृष्णका लीला-स्वरूप दिव्य प्रेम-रमण अनादि-अनन्त है। साधनसिद्धा गोपाङ्गनाओंके तीन भेद हैं—श्रुतिचरी, ऋषिचरी और देवकन्याएँ। इनमें दण्डकारण्यवासी महर्षि, जो श्रीकृष्णके प्रति प्रेयसीभाव-सम्पन्न थे और जिन्होंने रमणी-देह प्राप्त करके गोपियोंके घरोंमें जन्म ग्रहण किया था, 'ऋषिचरी' हैं। नित्यसिद्धा गोपियोंके भावसे प्रलुब्ध जो श्रुतियाँ गोपियोंमें ही गोपीरूपसे प्रकट हुई थीं, वे 'श्रुतिचरी' हैं। स्वयं ब्रह्मविद्याने भी तप करके गोपी-रूपमें जन्म ग्रहण किया था। श्रुतियोंका गोपीरूपमें प्रकट होना श्रीमद्भागवतकी वेदस्तुति (१० । ८७ । २३) में संकेतरूपसे प्रमाणित है। वहाँ श्रुतियाँ कहती हैं—'हम गोपरमणियोंके समान भाववाले गोपीविग्रहको और तुम्हारे श्रीचरण-सांनिध्यको प्राप्त करके कृतार्थ हो गयी हैं।' देवाङ्गनाएँ तो श्रीकृष्णकी परमप्रिया श्रीराधाकी सेवाके लिये ही प्रकट हुई थीं। ब्रह्माजीने कहा था—

वसुदेवगृहे साक्षाद् भगवान् पुरुषः परः।
जनिष्यते तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः॥

(श्रीमद्भागवत १० । १ । २३)

'परमपुरुष साक्षात् भगवान् वसुदेवके घरमें प्रकट होंगे। तुम देव-रमणियाँ उनकी प्रिया (श्रीराधा आदि) की सेवा करनेके लिये जन्म ग्रहण करो।' ये सभी गोपाङ्गनाएँ लौकिक कामरागसे सर्वथा रहित श्रीकृष्णप्रेम-रसमयी हैं। इसीसे स्वयं ब्रह्माजीने भी इन श्रीगोपरमणियोंकी चरणरजका स्पर्श प्राप्त करनेके लिये व्रजमें किसी भी जड-चेतन योनिमें प्रकट होनेकी कामना की थी—

तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥

(श्रीमद्भागवत १० । १४ । ३४)

श्रीउद्धवजीने इनकी चरण-रज पानेके लिये गुल्म-लता-ओषधि बनकर व्रजमें प्रकट होना चाहा था। अतः इन सब स्वसुख-वासना-लेश-गन्ध-विहीन कृष्ण-सुख-विग्रहा श्रीगोपाङ्गनाओंकी महिमा अनन्त, अनिर्वचनीय और अचिन्त्य है। इनमें इन सबकी मूल आधाररूपा, आत्मरूपा, गोपीप्रेमकी मूल उत्सरूपा हैं—महाभावमयी श्रीराधिकाजी। श्रीराधा रसराज श्रीकृष्णकी वही स्वरूपभूता ह्लादिनी शक्ति हैं, जिसके द्वारा स्वरूपानन्दी श्रीकृष्ण स्वयं विलक्षण स्वरूपानन्दका विशेष आस्वादन करते तथा प्रेमियोंको करवाते हैं। यही भगवान् श्रीकृष्णकी आनन्दमयी स्वरूपाशक्ति प्रेमसाम्राज्यके नित्य पवित्र क्षेत्रमें प्रेमका—भक्तिका बाना धारणकर क्रमशः प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभावरूपसे ख्यात होती है और मूर्तविग्रहरूपमें 'महाभाव' नामक प्रेमरससे विभावित राधारूपमें प्रकट रहती है। श्रीराधाजी श्रीकृष्णप्रेमकी ही प्रगाढ़तम स्थिति मादनाख्य महाभावस्वरूपा हैं। यह मादनाख्य महाभाव ह्लादिनी शक्तिकी चरम परिणति होनेपर भी उत्तरोत्तर नव-नव रूपमें विकसित होता रहता है। यही प्रेम-विलास है। वस्तुतः विशुद्ध प्रेमके ही लीलायमान होनेपर भोग-वासनाविहीन अप्राकृत प्रेमी-प्रेमास्पदके अप्राकृत मनोंमें जिन परम पवित्र प्रिय-सुख-हैतुक मानसिक अवस्थाओंका उदय होता है, उन्हींको प्रेमविलास कहते हैं।

एक-से-एक बढ़कर विघ्नों—अन्तरायोंके आनेपर भी जब मधुर रति (प्रेम) अभेद्य, अखण्ड, अक्षुण्ण और अविचलित ही नहीं, वरं स्नेह-मान-प्रणयादि रूपोंमें उत्तरोत्तर विकसित होती हुई उच्च-से-उच्च स्तरपर चढ़ती चली जाती है, तभी यथार्थ 'प्रेमविलास' सिद्ध

होता है । प्रेम-सूर्यका उदय होनेपर उसके तापसे चित्त-नवनीत द्रवित होकर उत्तरोत्तर उत्कर्षको प्राप्त होता हुआ महाभावरूपतक पहुँच जाता है । इस प्रकार विशुद्ध प्रेमके विविध विचित्र रूपोंमें लीलायमान होनेपर प्रेमी-प्रेमास्पदमें जिन मानसिक अवस्थाओंका आविर्भाव होता है, वह प्रेम-विलास ही है ।

श्रीराधा नित्य निर्गुणरूपा—प्राकृत गुणोंसे रहित, प्रियतम श्रीकृष्ण-सुखकी आधाररूपा हैं और श्रीकृष्ण भी निर्गुण—प्राकृत गुणोंसे शून्य (राधा-प्रेमसमुद्रमें नित्य निमज्जित) हैं । श्रीराधा-कृष्णका नित्य लीलाविहार परम प्रेममय, सकल सरस सम्पूर्ण परमानन्दस्वरूप है । परम भागवत परमहंसोंका तो वही जीवन है । राधाप्राणवल्लभ श्रीकृष्ण अपने अतुल असमोर्ध्व दिव्य सौन्दर्य, माधुर्य, सौशील्य, सौगन्ध्य आदि स्वरूप-गुणोंसे सुशोभित हैं । उनके सौन्दर्य-लेशसे अनन्त अनङ्गोंके सौन्दर्यका विकास और विस्तार होता है । उनका मधुर माधुर्य-लेश ही विश्वब्रह्माण्डमें अनादिकालसे अनन्तकालतक नानाविध मधुर रूपों तथा भावोंमें विकीर्ण है । उनके सौशील्यकी छाया-कल्पनासे जगत्‌में सुशीलताका आदर्श स्थिर है और उनके सुगन्ध-लेश-स्पर्शसे ही पुष्पादिसे परम आनन्दवर्धक विविध विचित्र सौरभका प्रसार होता है । ये श्रीकृष्ण ही विभिन्न अवतारोंके अवतारी हैं । इसी प्रकार समस्त सौन्दर्य, माधुर्य, सौशील्य और सौगन्ध्यकी जो अनन्त आकररूपा हैं, वे ही स्वरूपाशक्ति श्रीराधा हैं । ये प्रियतम श्रीकृष्णकी परम प्रेयसी और वरद वल्लभा हैं । विश्वब्रह्माण्डमें विभिन्न रूपोंमें प्रकाशित तथा पूजित दुर्गा, काली आदि शक्तियाँ इन्हींकी अंश-स्वरूपा हैं । प्रेमानन्दमयी श्रीराधा और प्रेमानन्दरूप श्रीकृष्णके दिव्य युगल विग्रहोंमें भौतिकताका कल्पना-लेश तक नहीं है, तथापि श्रीराधासे ही श्रीकृष्णमें मधुर लीला-स्फूर्ति, लीला-कार्य-सम्पादन और लीला-सुखका उदय होता है । ये श्रीराधा सुरासुर-मानव, दिव्यलोकादिनिवासी सिद्ध, भगवद्धामनिवासी प्रेमीगण—सभीके परमाराध्य साक्षात् भगवान्‌की नित्य आराधना करती हुई, प्रियतम भगवान्‌को सुख-रसास्वादन कराती हुई उनमें उत्तरोत्तर रस-लुब्धताका उदय कराती हैं । ये नित्य ही दिव्य माधुर्य, ओज और प्रसादादि समस्त गुणोंसे सुसम्पन्न, सर्वदिव्याभूषणोंसे सुविभूषित, रस और भावोंकी उत्तरोत्तर वर्धमान उज्ज्वल निधि हैं । एक महात्माने कहा है—ये भगवत्-प्रेमोद्यानकी स्वर्ण-केतकी हैं, माधुर्य-सुधा-जलधरकी विद्युत्-मञ्जरी हैं, सौन्दर्य-निकषकी स्वर्ण-रेखा हैं, परमानन्द-ज्योति-रस-सुधामय शशधरकी दिव्य ज्योत्स्ना हैं, लावण्यसमुद्रकी सार-श्री हैं, वसन्त-गर्वकी हास्य-सुषमा हैं, सकल दिव्य ललित कलाओंकी अनन्त आकर हैं, समस्त सद्‌गुण-समूहरूप दिव्य मणियोंकी अनन्त असीम खान हैं । श्रीराधाजी गौरी होकर भी सहस्र गौरियों (पार्वती) की अपेक्षा अधिक उत्कर्षमयी अथ च श्यामा (सर्वश्रेष्ठ अनुपम रमणी) हैं । ये नित्य अनादि होकर भी नित्य किशोरी हैं, सुरूपा होकर भी प्रिय सखियोंके लिये असुरूपा (प्राणरूपा) हैं । ये स्वतन्त्र असमोर्ध्व माधुर्य और सौन्दर्यरूपा होकर भी प्रियतम श्रीकृष्णके सौन्दर्य-माधुर्य-रसके आस्वादनके लिये नित्य पिपासु और लालायित रहती हैं ।

प्रेमविलास-रूप श्रीराधाकृष्णकी विलक्षण स्वरूपभूत लीला श्रीराधाकृष्णमें ही अभिव्यक्त रहती है । दोके समरुचि और समवासनावाले मन एकाकार हो जाते हैं । इस प्रेमविलासमें सम्पूर्ण तन्मयता होनेके कारण स्वरूपाशक्ति और स्वरूप-शक्तिमान् शृङ्गार-रसघन-मूर्ति श्रीकृष्ण और महाभावघन-मूर्ति श्रीराधाकी जो एकात्मता होती है, वह जीव-ब्रह्मके अभेद-ज्ञानके समान नहीं है । यहाँ एक आत्मा होनेपर भी दो रहते हैं, और ऐसी रसराज-महाभावकी पृथक्ता रहते हुए ही एकात्मता है । इसमें परस्पर विलास और रसास्वादन है, परंतु श्रीराधा-कृष्णकी तात्त्विक एकता अक्षुण्ण रहनेके साथ ही श्रीराधा

और श्रीकृष्णके प्रेमके सर्वातिशायी होने तथा परस्पर एक दूसरेके आश्रयालम्बन तथा विषयालम्बन बने एक दूसरेके सुखमें ही सुखी होनेकी समचित्त सत्ताके कारण वैसे भी कोई पृथक्ता नहीं रहती । इस प्रेमविलासमें भी विवर्त होता है—यहाँतक कि श्रीराधाको श्यामसुन्दरके ंयोगमें भी वियोगका अनुभव होता है । उन्हें घरमें वन, नमें घर; क्षणकालमें दीर्घकाल, दीर्घकालमें क्षणकाल; सुखमें दुःख, दुःखमें सुख; गरमीमें सरदी और सरदीमें रमीका अनुभव होता है । कभी-कभी वे अपनेको ‘कान्त’ (श्रीकृष्ण) और श्रीकृष्णको ‘कान्ता’ (राधा) मानकर दनुरूप व्यवहार करने लगती हैं । पर यह रज्जु-र्पवाला भ्रमरूप विवर्त नहीं है । यह प्रेमराज्यकी एक विलक्षण वाञ्छनीय प्रेमवैचित्त्य स्थिति है ।

इस मधुरतम प्रेमविलासमें कवियोंकी भाषामें ‘नायक-यिका’ नाम आनेपर भी वस्तुतः श्रीराधा-कृष्ण दिव्य हाभाव और रसराज हैं । प्राकृत नायक सर्वथा नश्वर, र्मपरवश, प्राकृत गुणोंसे आबद्ध और विषय-रसका भोगी होनेके कारण यथार्थ रससे सर्वथा शून्य है । भौतिक रसका वर्णन और विश्लेषण करनेवाले लौकिक ज्ञ कविगण अपने लौकिक काव्यादिमें प्राकृत पाञ्चभौतिक श्वर-शरीरधारी भोगविलासरत मोहावृत नायक-यिकाओंके आधारपर जो रसनिष्पत्तिके दृष्टान्त देते हैं, वे सब उन कवियोंकी केवल वर्णनचातुरी मात्र है । विचार करके देखा जाय तो इससे विभावकी रूपताके कारण यथार्थ रसके विपरीत घृणित रस—रसका ही उदय होता है; क्योंकि कृमि, विष्ठा और म ही जिस शरीरके परिणाम हैं, ऐसे प्राकृत शरीरवाले कोंका तो सब कुछ अनित्य, असुख, दुःख-योनि गोंपर ही अवलम्बित है । उनके द्वारा अखण्ड, द्य, नित्य, निरवद्य भगवत्स्वरूप रसका यथार्थ आस्वादन हीं होता और न उनसे आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति और आनन्दकी प्राप्ति ही होती है । वस्तुतः विनाशी भोगजगत् सर्वथा कुरस, विरस और अरस-रूप ही है । उसमें कुत्सित रस, विपरीत रस और भगवदानन्दस्वरूप रसका अभावरूप ‘अरस’ ही परिपूर्ण हैं । परमरसरूप व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही रस-समुद्र रसशेखर हैं और श्रीराधामुख्या श्रीगोपसुन्दरियोंका विशुद्ध प्रेम ही रसोल्लास-की पराकाष्ठा है । यह परम मधुर-रस भोगोंमें तो है ही नहीं । स्वरूपगत तात्त्विक भेद न होनेपर भी निर्विशेष ब्रह्ममें भी यह रसमयता अनभिव्यक्त है और अन्तर्यामी परमात्मामें आंशिक विकास होनेपर भी उनके साक्षिरूपमें उदासीनताकी लीलामें प्रवृत्त रहनेके कारण वे भी इस रसके रसिक नहीं हैं । इसी प्रकार अन्यान्य भगवद्-रूपोंमें भी रसकी अनभिव्यक्ति है । एकमात्र व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही पूर्ण पूर्णतम अखिलरसामृतमूर्ति हैं ।

इसीसे इस रसकी साधना करनेवाले साधक तथा उसे प्राप्त सिद्ध भक्तगण मुक्तिकी कभी वाञ्छा तो करते ही नहीं, उसे देनेपर भी स्वीकार नहीं करते—‘दीयमानं न गृह्णन्ति’ । भगवान्‌की सेवा करनेपर उनके दिव्य लोकादिकी प्राप्तिरूप प्रेम-सेवोत्तरा मुक्तिका स्वीकार करना भी वे प्रेममें कलङ्क ही मानते हैं । वे कहते हैं कि इस पवित्र भगवत्-प्रेमरूप परमधर्ममें किसी प्रकारके भी मोक्षकी अभिसंधि रखना कैतव (कपट) है; क्योंकि मुक्तिमें भी ‘स्व’को बन्धन-मुक्त करनेकी इच्छाके रूपमें स्व-सुख-वासना रहती है, जो इस पवित्र प्रेमके क्षेत्रसे सर्वथा बहिष्कृत है । इसीसे व्रजके लोग कहा करते हैं—‘मुक्तिहू लौन-सी खारी लागै ।’ प्रेमी भक्तोंके वचन हैं—

निर्वाणनिम्बफलमेव रसानभिज्ञा-
श्चूषन्तु नामरसतत्त्वविदो वयं तु ।
श्यामामृतं मदनमन्थरगोपरामा-
नेत्राञ्जलीचुलुकितावसितं पिबाम ॥

‘विशुद्ध दिव्य रससे अनभिज्ञ लोग निर्वाण (मोक्ष)-रूप निम्बफल चूसते रहें । प्रियतमके नाम-रस-तत्त्वको जाननेवाले हम लोग तो अप्राकृत मदनके आवेशमें मन्थर

गतिसे चलती हुई श्रीगोपाङ्गनाओंके नेत्ररूपी अञ्जलिके द्वारा पान करते समय गिरे हुए (उच्छिष्ट) श्यामामृतका ही पान करेंगे ।'

इस मधुर प्रेमराज्यमें ममता और रागका परित्याग नहीं है, वरं उनका सर्वतोभावेन प्रियतम श्रीनन्दनन्दनमें नियोजन है । प्रेमियोंमें जो त्याग-वैराग्य देखा जाता है, वास्तविक होनेपर भी है वह अद्वितीय विषयालम्बन श्रीकृष्णमें परमानुरागका आनुषङ्गिक फल ही । उनका यह वैराग्य संसार-बन्धनसे मुक्त होकर स्वयं मुक्तिसुख प्राप्त करनेके लिये नहीं है, वह है केवल 'श्रीकृष्ण-सुखार्थ'—'श्रीकृष्ण-प्रीत्यर्थ' । विषय-विराग वस्तुतः प्रेम-रस-कल्पवृक्षका मूल नहीं है । भगवच्चरणोंमें अनन्य अनुराग ही मूल है । इसलिये प्रेमी रसिकजन न तो स्व-सुखार्थ किसी वस्तु या स्थितिका स्वीकार करते हैं और न त्याग ही करते हैं । उनके लिये प्रेम-रसमें बाधक जो कुछ भी कुरस, विरस, अरस है, वह सहज ही हेय, घृणित, अनावश्यक, अरुचिकर तथा सर्वथा त्याज्य है ।

इसीसे इस प्रेम-राज्यमें शान्तरसका प्राधान्य तो है ही नहीं, उसका विशेष आदर भी नहीं है; क्योंकि यहाँ ममता, राग, विषय-संग्रह आदि सभी कुछ हैं । अवश्य ही वह सारी ममता, आसक्ति है—परम प्रियतम नन्दनन्दन श्रीकृष्णमें ही और सारे विषय भी उन्हींके सेवनके लिये हैं । यहाँ श्रीकृष्णकी भगवत्ता या उनके परमेश्वरत्वकी कोई पूछ नहीं है । यहाँ तो बस, एक ही वस्तु है—'श्रीकृष्ण ही हमारे हैं, केवल वे ही हमारे हैं ।' यों सारी ममता उन्हींमें केन्द्रित है । यहाँ दास्य, सख्य, वात्सल्य उत्तरोत्तर विकसित रूपमें हैं; पर उनमें भी सारा ममत्व केवल श्रीकृष्णमें ही समर्पित है । मधुर-रसकी जीवन-प्रतिमा श्रीराधामुख्या गोपाङ्गनाओंमें तो इस भावका अतुलनीय असीम पूर्ण प्रकाश है ।

श्रीनारदपञ्चरात्रमें प्रेमका लक्षण बतलाया गया है—

अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेमसंगता ।
भक्तिरित्युच्यते भीष्मप्रह्लादोद्धवनारदैः ॥

'जिस भक्तिमें सम्पूर्ण सांसारिक प्राणि-पदार्थोंकी ममता दूर होकर एकमात्र श्रीभगवान्‌में ही अनन्य ममता हो जाती है, श्रीभीष्मपितामह, प्रह्लाद, उद्धव और देवर्षि नारद आदि महात्माओंने उसीको प्रेम कहा है ।'

तुलसीदासजी कहते हैं—

जननी जनक बंधु सुत दारा । तनु धन भवन सुहृद परिवारा ॥
सब कै ममता ताग बटोरी । मम पद मनहि बाँध बरि डोरी ॥

'माता, पिता, भाई, पुत्र, स्त्री, तन, धन, मकान, सुहृद्, परिवार—सबकी ममताके धागोंको एक जगह बटोर लो और उसकी एक ही मजबूत डोरी बँट लो; फिर अनन्य ममतारूपी उस डोरीसे अपने मनको मेरे चरणोंके साथ बाँध दो ।' ममताकी इस अनन्यता और आत्यन्तिकतासे समृद्ध प्रीति ही प्रगाढ़ प्रेम है। ऐसे प्रेमका आविर्भाव होनेपर 'सर्वत्याग' अपने-आप ही हो जाता है और फिर प्रेमभङ्गके बड़े-से-बड़े प्रत्यक्ष हेतु भी उस प्रेमको तनिक भी क्षीण नहीं कर सकते ।

सर्वथा ध्वंसरहितं सत्यपि ध्वंसकारणे ।
यद्भावबन्धनं यूनोः स प्रेमा परिकीर्तितः ॥

'ध्वंसका प्रत्यक्ष कारण उपस्थित होनेपर भी जिसका किसी प्रकार भी ध्वंस नहीं होता, ऐसे सुदृढ़ भावबन्धनको ही 'प्रेम' कहा जाता है ।'

यही विशुद्ध प्रेम स्व-सुख-वाञ्छा-कल्पना-रहित महाभावमयी श्रीराधा तथा उनकी कायव्यूहरूपा श्रीगोपाङ्गनाओंका स्वरूप या स्वभाव है । इसीसे इस मधुर प्रेम-राज्यमें उनके द्वारा प्रियतम नन्दनन्दन श्रीकृष्णकी मधुरतम कान्तभावसे सेवा-आराधना होती है । भगवान् श्रीकृष्णका ऐश्वर्य-ज्ञान श्रीराधा एवं गोपसुन्दरियोंके परम मधुरातिमधुर देहातीत प्रेमको किसी कालमें किंचित् भी स्पर्श नहीं कर सकता । वे अपना सारा प्रेम, अपनी सारी ममता श्रीकृष्णको समर्पितकर

श्रीकृष्ण-सुखके लिये ही श्रीकृष्णका सेवन करती हैं। न वे श्रीकृष्णके ऐश्वर्यको जानती-मानती हैं, न उसे देखनेकी कभी उनमें इच्छा ही जागती है। उन्हें श्रीकृष्णके ऐश्वर्यकी कोई स्मृति ही नहीं है। वरं श्रीकृष्णके ही चतुर्भुजरूपको देखकर वे डरकर संकोचमें पड़ जाती हैं और श्रीराधाजीके सामने तो श्रीकृष्ण इच्छा करनेपर भी अपने ऐश्वर्यका किंचित् भी प्रकाश नहीं रख सकते या यों कहना चाहिये कि भगवान् श्रीकृष्ण विशुद्ध माधुर्यभाव-मण्डित प्रेमके अधीन हैं। अतएव उनका ऐश्वर्य भी उस विशुद्ध प्रेमके ही अनुगत रहता है, उसकी सेवामें अपनेको लगाये रखना चाहता है। जहाँ विशुद्ध माधुर्यका ही विकास है, वहाँ भी—लीलारसकी पुष्टिके लिये तथा लीलारसास्वादनमें विशेषता लानेके लिये भगवान्‌की इच्छा-शक्तिका संकेत पाकर प्रायः उनको बिना ही जनाये ऐश्वर्यशक्ति प्रकट होकर माधुर्यकी सेवा कर जाती है। पूतना-तृणावर्त-उद्धार, यमलार्जुन-उद्धार, कालिय-दमन, गोवर्धनधारण, इन्द्रमान-भङ्ग, ब्रह्ममोह और रासलीलामें असंख्य श्रीकृष्णस्वरूपोंका प्राकट्य आदि उनके ऐश्वर्यकी ही लीलाएँ थीं। पर इससे व्रजके उस समयके लीलासङ्गियोंपर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ा, वे श्रीकृष्णमें किसी भी प्रकारके ऐश्वर्यकी आंशिकरूपसे भी विद्यमानता न मानकर उन्हें सतत अपना प्यारा-दुलारा व्रजेन्द्रनन्दन कन्हैया ही मानते रहे। प्रत्यक्ष ऐश्वर्यलीला देखकर भी शुद्ध माधुर्यवश उन्हें उसमें ऐश्वर्य नहीं दिखायी देता और जहाँ जरा भी ऐश्वर्यरूप दिखायी दिया, वहीं वे अपने ही प्रियतम श्यामसुन्दरको श्यामसुन्दर न मानकर अन्य कुछ मानने लगे। ऐसा ही एक लीलाप्रसङ्ग आता है—

एक बार वसन्तकालमें श्रीकृष्ण गोवर्धनपर समस्त श्रीगोपसुन्दरियोंके साथ रास-विहार कर रहे थे। इसी समय श्रीकृष्णके दिव्य मनमें गोपीसमूहकी मूल-स्वरूपा श्रीराधाजीके साथ एकान्त विहार करनेकी स्वरूपमयी स्फुरणा हुई। वे श्रीराधाको अपना अभिप्राय बताकर रासस्थलीसे सहसा अन्तर्धान हो गये और एक निभृत निकुञ्जमें जाकर राधाकी प्रतीक्षा करने लगे। इधर गोपाङ्गनाओंने जब श्रीकृष्णको वहाँ नहीं देखा, तब वे आकुल होकर उन्हें ढूँढ़ने चलीं। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उसी निकुञ्जके अंदर जाकर दूरसे देखा तो एक कुञ्जमें उन्हें श्रीकृष्ण बैठे दिखायी दिये। इधर श्रीकृष्णने गोपियोंको देखा तब वे सोचने लगे कि 'मैं सबको छोड़कर रासस्थलीका परित्याग करके इस निभृत निकुञ्जमें अकेला क्यों बैठा हूँ—गोपियोंके इस प्रकार पूछनेपर मैं क्या उत्तर दूँगा?' और गोपाङ्गनाएँ इतनी निकट आ गयी थीं कि दूसरे कुञ्जमें जाकर छिपनेका भी उनके लिये अब अवकाश नहीं रह गया था। तब वे सोचने लगे कि 'यदि मेरे दो हाथ और होते तो मैं चतुर्भुज होकर अपनेको छिपा सकता, पर दो हाथ कहाँसे आयें?' इस प्रकार सोचनेका यह अर्थ नहीं समझना चाहिये कि भगवान्‌में वहाँ स्वरूपभूत ऐश्वर्यका अभाव हो गया था। वहाँ भी पूर्ण ऐश्वर्य है और उसकी वहाँ अनुभूति भी हैं; किंतु विशेषता यही है कि वहाँ वह ऐश्वर्य माधुर्यकी आड़में छिपा है। प्रियतम श्रीश्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन व्रजमें स्वयं तो प्रायः प्रत्यक्षरूपमें ऐश्वर्यको अङ्गीकार नहीं करते, पर उनकी ऐश्वर्यशक्ति ऐसे अवसरपर सेवाका लाभ उठानेसे नहीं चूकती। यहाँ भी वह भगवान्‌के संकल्पाभासका ही सुयोग पाकर क्रियाशील हो गयी और उसने उसी क्षण भगवान् श्रीकृष्णको शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज बना दिया। इसी समय गोपाङ्गनाएँ वहाँ आ पहुँचीं और आते ही वे कुञ्जमें अपने प्राणवल्लभ नवीन-नीरद-कान्ति द्विभुज मुरली-मनोहरको न देखकर हताश-उदास हो गयीं। उन्होंने चतुर्भुज नारायणको देखा, इससे तुरंत ही उनका उछलता हुआ कान्ताभाव संकुचित हो गया एवं वे हाथ जोड़कर श्रीनारायणकी स्तुति-विनती करके

श्रीकृष्णको खोजनेके लिये दूसरी निकुञ्जकी ओर चली गयीं। इसके पश्चात् पूर्वसंकेतानुसार श्रीराधाजी वहाँ पहुँचीं। श्रीकृष्ण निर्विघ्न-निर्बाध एकान्तमें राधाको देखकर प्रफुल्लित हो गये और 'मैं आज चार हाथोंसे श्रीराधाके साथ विनोद करूँगा'—यह विचार आनेपर उन्हें और भी आनन्द आया। परंतु वे यह देखकर आश्चर्य करने लगे कि श्रीराधा जितना ही समीप आ रही हैं, उतनी ही शीघ्रतासे दोनों हाथ विलुप्त हुए जा रहे हैं। उन्होंने चतुर्भुज बने रहनेका प्रचुर प्रयास भी किया, पर स्पष्टरूपसे श्रीराधाकी दृष्टि पड़नेसे पूर्व ही उनके दोनों हाथ अन्तर्धान हो गये और वे पूर्ववत् द्विभुज ही रह गये।

यह महाभावस्वरूपा श्रीराधाके अप्रतिम माधुर्यका ही एक विलक्षण प्रभाव है कि उसके सामने भगवान्‌की ऐश्वर्य-शक्ति किसी प्रकार भी अपनेको प्रकटरूपमें नहीं रख सकती। अन्यान्य गोपसुन्दरियोंका भाव भी शुद्ध माधुर्यमय ही था, तथापि श्रीराधाके भावकी अपेक्षा उसमें कुछ न्यूनता थी। इसीसे किसी अंशमें ऐश्वर्य-शक्ति उनके सामने अपनेको अभिव्यक्त रख सकी और श्रीकृष्णकी इच्छा-शक्तिका संकेत पाते ही इस सुयोगका लाभ उठानेकी इच्छासे उसने द्विभुज श्यामसुन्दरको चतुर्भुज नारायणके रूपमें प्रकट कर दिया। परंतु राधाका भाव अत्यन्त प्रबल और सर्वातिशायी होनेके कारण इतना प्रभावशाली था कि जैसे करोड़ों सूर्योंके उदय होनेपर सामान्य जुगनूका कहीं पता ही नहीं लगता, वैसे ही श्रीराधाके माधुर्यपूर्ण प्रेमके सामने तत्काल ही ऐश्वर्यको छिपना पड़ा। इस लीलाकी बात श्रीवृन्दादेवीने श्रीपौर्णमासीसे कही थी। इस प्रसङ्गका ललित माधवका एक श्लोक है—

गोपीनां पशुपेन्द्रनन्दनजुषो भावस्य कस्तां कृती
विज्ञातुं क्षमते दुरूहपदवीसंचारिणः प्रक्रियाम्।
आविष्कुर्वति वैष्णवीमपि तनुं तस्मिन् भुजैर्जिष्णुभि-
र्यासां हन्त चतुर्भिरद्भुतरुचिं रागोदयः कुञ्चति॥

'गोपाङ्गनाओंके पशुपेन्द्रनन्दन (नन्दनन्दन)-निष्ठ और दुरूह मार्गपर चलनेवाले भावकी प्रक्रियाको (एकमात्र व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही गोपियोंके इस कान्ता-प्रेमके विषयालम्बन हैं—इस भावकी पद्धतिको) समझनेमें कौन कृती व्यक्ति समर्थ है? क्योंकि आश्चर्यका विषय है कि अपने द्विभुज रूपको छिपानेके लिये स्वयं श्रीनन्दनन्दन ही यदि अपने शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी विजयशील चार भुजाओंके द्वारा सुशोभित अपनी ही विष्णुमूर्ति प्रकट करते हैं तो उससे भी गोपाङ्गनाओंके अनुरागका उल्लास—कान्ताभावका प्रेम संकुचित हो जाता है।'

किसी कल्पमें एक समय श्रीकृष्णके विरहसे अधीर होकर श्रीराधाजी यमुनामें कूद पड़ी थीं; यह देखकर विशाखादि सखियाँ भी यमुनामें कूद गयीं। तब सूर्यसुता यमुनाजी उनको सूर्यलोकमें ले जाकर सूर्यदेवताकी देख-रेखमें छोड़ आयीं। वहाँ भी श्रीकृष्णके वियोगमें राधाजी अत्यन्त व्याकुल हो गयीं। तब सूर्यपत्नी छायाने श्रीराधाको सान्त्वना प्राप्त करानेके लिये एक उपाय सोचा। छायादेवीने विचार किया कि 'सूर्यमण्डल-मध्यवर्ती श्रीनारायण स्वरूपतः श्रीकृष्णसे अभिन्न हैं। अतः सूर्यमण्डल-स्थित नारायण ही श्रीराधाके प्रियतम हैं, उनसे मिलते ही श्रीराधाको सान्त्वना प्राप्त हो जायगी।' ऐसा सोचकर उन्होंने राधासे कहा—'राधे! तुम व्याकुल मत होओ, तुम्हारे प्राणवल्लभ इस सूर्यमण्डलमें ही स्थित हैं।' छायादेवीकी बात सुनकर राधा-सखी विशाखाने छायासे जो कुछ कहा था, वही उपर्युक्त श्लोकमें है। विशाखाने इससे छायादेवीको यह समझाया कि 'तुम समझती हो कि विष्णुमूर्तिके दर्शन करते ही श्रीराधाकी विरह-व्यथा शान्त हो जायगी; पर यह तुम्हारी भ्रान्त-धारणा है। इस ऐश्वर्यमयी विष्णुमूर्तिकी बात तो दूर, स्वयं व्रजेन्द्रनन्दन भी कौतुकवश अपने व्रजके सारे माधुर्यको

ज्यों-का-त्यों बनाये हुए ही यदि चतुर्भुज रूप धारण कर लेते हैं तो उस पूर्ण-माधुर्यमय चतुर्भुज रूपको देखकर ही श्रीराधाका कान्ताभाव संकुचित हो जाता है। वरं राधाके सामने ऐश्वर्यप्रधान चतुर्भुज रूप ठहर ही नहीं सकता। वस्तुतः वे वेणुकरधारी गोपवेश नवकिशोर नटवर श्यामसुन्दरके सिवा अन्य किसी रूपको देखना जानतीं ही नहीं, तब विष्णुस्वरूपकी क्या बात है।'

महाभावरूपा श्रीराधा प्रेममयी हैं, श्रीकृष्ण-प्रेममें वे अपनेको सदा भूली रहती हैं। वे अपने तन, मन, वचन, प्राण, आत्मा——सभीसे मुरलीमनोहर व्रजेन्द्रनन्दन एकमात्र परम प्रियतम नव-नीरद-नील द्विभुज श्रीश्यामसुन्दरका ही नित्य सेवन करती हैं। उन्हींमें उनका पूर्णानुराग है और वे अपनेको एक ओर परम दीन-हीन मानती हुई भी दूसरी ओर प्रियतम श्रीकृष्ण-धनका धनी मानती हैं। उनके भाव-समुद्रमें नित्य-निरन्तर नयी-नयी रसमयी तरङ्गें उठा करती हैं। प्रेम-सरिताके संगम और विरह——सम्भोग और विप्रलम्भ——ये दो तट हैं। यद्यपि श्रीराधा-माधवकी स्वरूपतः नित्य एकता है, तथापि मिलनकी इच्छा स्वाभाविक रहती है और मिलनमें महान् आनन्दकी अनुभूति भी होती है। किंतु श्रीकृष्ण-सुखेच्छामयी श्रीराधा कहती हैं——

चाहता मन है नित संयोग। इसीसे लगता दुखद वियोग॥
नहीं पर तनिक स्वसुख की चाह। इसीसे मुझे न कुछ परवाह॥
मिलन हो या हो नित्य विछोह। किसी भी स्थितिमें रहा न मोह॥
ही बस, एक लालसा जाग। बढ़े नित नव तुममें अनुराग॥
दुःख गुरु हो या सुख सुविशाल। तुम्हारे सुखसे रहूँ निहाल॥
हो तुम सदा परम सुखरूप। मुझे सम है छाया या धूप॥
नरकका डर न स्वर्गकी चाह। न जाती कभी मुक्तिकी राह॥
प्रेम-बन्धन नित रहे अटूट। भले संकटसे मिले न छूट॥
नहीं प्रतिकूल, न कुछ अनुकूल। तुम्हारा सुख ही सब सुख मूल॥
तुम्हें यदि सुख हो, हे हृदयेश!। विरह-दुख देगा दुःख न लेश॥
तुम्हारा वदन प्रफुल्लित देख। दुःखकी नहीं रहेगी रेख॥
करो तुम अपने मनकी, नाथ। छोड़ दो, चाहे रक्खो साथ॥
लगेगा शीतल दारुण दाह। नहीं निकलेगी मुखसे आह॥
एक अनुभवयुत दृढ़ विश्वास। सदा तुम रहते मेरे पास॥
दिखाई पड़ो, रहो या गुप्त। कभी होते न पाससे लुप्त॥
छा रही सुखकी मुख मुसकान। यही बस, मेरे सुखकी खान॥
देख तुम रहे सभी सब काल। सुखी मैं हूँ कि नहीं, हर हाल॥

एक बार उन्होंने अपनी एक अन्तरङ्ग सखीसे अपनी स्वरूपस्थिति बतलाते हुए कहा——

दूर रहें या पास; नित्य ही रहते एक साथ निर्बाध।
लहराता अनन्त सागर है; भरा प्रेम-रस-अमृत अगाध॥
उठती रहतीं विविध भाँतिकी ऊपर लहरें क्षुद्र महान।
लोग देखकर उन्हें लगाते दूर-पासका मन अनुमान॥
हम दोनों नित एकरूप हैं, एक तत्त्व हैं, नित संयोग——
नित्य मिलन रहता अटूट; हो चाहे विप्रलम्भ-सम्भोग॥
नित्य मिलन, नित रस-आस्वादन, नित्य अतृप्ति, नित्य नव चाह।
मिलन विरहमय, विरह मिलनमय, लीलोदधि विचित्र अवगाह॥
मोद-विषाद, हास्य, मृदु, रोदन, निपट निराशा अति उत्साह।
परम मधुरतम, परम दिव्य, शुचि-लीलारस-माधुरी-प्रवाह॥

जैसे परमानन्द-महार्णव भगवान् युगपत् नित्यानन्त-अचिन्त्यानिर्वचनीय-विरुद्ध-गुण-धर्माश्रय हैं, वैसे ही उनकी शक्ति श्रीराधाजी एवं इन दोनोंका मधुर 'लीलाप्रेम-विलास' भी नित्य अचिन्त्य-अनिर्वचनीय है।

श्रीराधा-माधवके इस मधुर लीला-प्रेम-विलासके परम दिव्य साम्राज्यमें पहुँचना और दिव्य प्रेमरसके द्वारा श्रीराधा-माधवके चरणोंका नित्य प्रक्षालन-पूजन करना ही जीवका पञ्चम पुरुषार्थ है। यही परम साधना है, यही परम प्रेम है और यही परम साध्य है——'साधन सिद्धि राम पग नेहू।'

इस परमानन्दमय परमरसमय दिव्य सौन्दर्य-माधुर्य-समुद्रमें अवगाहन करनेके लिये आवश्यकता है स्व-सुख-वाञ्छा-कल्पनासे सर्वथा रहित श्रीराधा-माधव-सुख-सेवा-स्वरूपिणी मञ्जरियोंके परमत्यागका आदर्श भाव ग्रहण करके उनका अनुकरण करते हुए अनन्य साधना करनेकी। इन मञ्जरियोंकी कृपा-प्राप्तिके लिये सारे

संदेह-भ्रमोंसे दूर रहकर श्रीराधा-माधवको प्रसन्न करनेवाले नाम-लीला-गुण-श्रवण-कीर्तन करते हुए कातरभावसे श्रीराधारानीसे प्रार्थना करनी चाहिये । श्रीराधा रानीकी कृपासे उनके चरणोंका प्रेम प्राप्त होना सहज है ।

श्रीराधा रानीके तत्त्व, स्वरूप तथा लीलाके सम्बन्धमें यहाँ आज (दिनमें और अभी) जो कुछ कहा गया है, इसमें शास्त्र तथा प्रातःस्मरणीय प्रेमी महात्माओंके वचनोंका तो पूर्णरूपसे आश्रय लिया ही गया है; पर यह कोई साहित्यिक आलोचना नहीं है, न निरी श्रद्धा-भावुकता ही है । कुछ ऐसे प्रत्यक्ष-प्राप्त अनुभव भी इसके साथ हैं, जिनका युक्तियुक्त खण्डन किये जानेपर भी, परम सत्य होनेके कारण, जो नित्य अक्षुण्ण हैं और रहेंगे । अन्तमें श्रीराधा रानीके श्रीचरणोंमें हम प्रार्थना करें—

श्रीराधारानी-चरन बंदौं बारंबार।
जिनके कृपा-कटाच्छ तें रीझैं नंदकुमार॥
जिनके पद-रज-परस तें स्याम होयँ बेभान।
बंदौं तिन पद-रज-कननि मधुर रसनि के खान॥
जिनके दरसन हेतु नित बिकल रहत घनस्याम।
तिन चरननि में बसै मन मेरौ आठौं जाम॥
जिन पद-पंकज पै मधुप मोहन-दृग मँडरात।
तिनकी नित झाँकी करन मेरौ मन ललचात॥
'रा' अच्छरके सुनत ही मोहन होत बिभोर।
बसै निरंतर नाम सो 'राधा' नित मन मोर॥

बोलो श्रीश्रीवृषभानुनन्दिनी कीर्तिदाकुमारीकी जय !

पण्डित और मूर्ख

(लेखक—आचार्य 'प्रवासी' एम्० ए०)

जो दयाशील, क्षमाशील, उदार और निष्कपट हैं, वे धरतीके देवता हैं । उनका स्वर्ग कहीं अन्यत्र नहीं, इसी धरापर है । वे पण्डित हैं । इसके विपरीत जो काल्पनिक स्वर्गके लिये पापकी कमाईका दान करते हैं, दिखानेके लिये दया करते हैं, क्षमा उन्हींको करते हैं जो अपने हैं और अपने कपट-व्यवहारपर परदा डालनेके लिये उदारताका बाना धारण करते हैं, वे इस धरतीपर नरककी सृष्टि करते हैं; वे नारकीय मूर्ख हैं ।

अन्तःकरणकी वाणी कभी धोखा नहीं देती, वह प्राणीको सदैव 'सत्'की ही प्रेरणा देती है । जो इस ईश्वरीय प्रेरणाको ही अपने जीवनके समस्त कर्मों और व्यवहारोंकी सूत्रधारिणी मानता है, वह पण्डित है; किंतु जो जगत्की विषाक्त समृद्धि और झूठे यश-सम्मानके फेरमें पड़कर अपने अन्तरकी सच्ची और निष्कपट प्रेरणाकी अवहेलना करता है—उसे दबाता है, वह अन्ततः दुःख उठाता है, प्रतारणाओंका शिकार बनता है और भ्रष्ट होता है । वह निस्संदेह मूर्ख है ।

जो अग्निके समान मनके कलुषको जलाकर उसे (मनको) तेजोमय बना लेता है, दिव्य और भव्य बना लेता है, वह मनस्वी पुरुष पण्डित है; किंतु जो जीवनभर मनमें वासनाओंके कूड़ेका संग्रह करता है, जिसके अन्तस्में कभी ज्ञानकी एक चिनगारीतक नहीं पड़ी, वह कूड़मगज अवश्य मूर्ख है !

जो साहसी है, उसे सम्बलकी आवश्यकता नहीं, वह अपने अदम्य उत्साह और अप्रतिम तेज (शौर्य) से अनायास ही सब बाधाओंपर विजय प्राप्त करता जाता है । वह पण्डित है । किंतु जो सफलताके लिये परिस्थितियोंकी अनुकूलताकी प्रतीक्षा करता है, साधन और सम्बलके लिये चिन्तित तो रहता है, पर क्रियाशील नहीं, वह मूर्ख है ।

'सफलताएँ मिलतीं नहीं, प्राप्त की जाती हैं' जो इस रहस्यको आत्मसात् कर लेता है, उसे जीवन-रणमें कभी पीछे नहीं हटना पड़ता । वह अदम्य उत्साह और तडित्-गतिसे प्रगतिकी ओर गतिशील (उन्मुख) रहता है । वह पण्डित है । किंतु जो अपनी सफलताके लिये दूसरोंपर आश्रित रहता है उसे सफलताके स्वप्नमात्रसे संतोष करना पड़ता है, सफलता जिसके लिये केवल मृगमरीचिका बनी रहती है, ऐसा परमुखापेक्षी मूर्ख है ।

जो 'सत्'का प्रतीकार असत्से नहीं करता; ज्ञाता

और दाताको ईश्वरके तुल्य मानता है, कृतज्ञताज्ञापनके लिये जिसकी वाणी ही नहीं, हृदय भी उमड़ पड़ना चाहता है, अपने हितैषीके लिये जिसका रोम-रोम कृतज्ञ है, वह पण्डित है; किंतु जो अकृतज्ञ अपने प्रति किये गये उपकारको भूल जाता है, जिसकी वाणी कृतज्ञताज्ञापनके दो शब्दोंके लिये कुण्ठित है, जिसका हृदय उपकारीकी परिस्थितियोंको उपकारका क्षेत्र देता, वह पशुसे भी हीन और मूर्ख है ।

जो दुष्टोंकी दुष्टताका प्रतीकार न करके उसे धैर्यपूर्वक सहन करता है, वह बहुत शीघ्र उस (दुष्ट) के हृदयगत कलुषको धो डालता है । पशुओं (दुष्टों) को मनुष्य बनानेवाला ऐसा क्षमाशील सत्पुरुष (संत) पण्डित है, किंतु जो कुत्तेके काट लेनेपर उसे काटने-(मारने) दौड़ता है, वह किसी प्रकार भी उस (दुष्ट)से कम नहीं है; वह उद्विग्नमना अविवेकी पुरुष मूर्ख है ।

जो अन्धकारसे प्रकाशकी ओर बढ़ता है, अपूर्णतामें पूर्णता लाना चाहता है, वह पण्डित है; किंतु जो अन्धकारके मायावी वातावरणको ही वरदान समझकर पापोंमें लिप्त रहता है, जीवनके महत्त्वको भुलाकर उसके निरन्तर क्षयको नहीं देखता, वह मूर्ख है ।

'जो व्यक्ति अपने व्यवहारसे जीवनके उच्चादर्शोंको प्रतिफलित करता है, वह श्रेष्ठ पुरुष पण्डित है; किंतु जो केवल खानेके लिये जीता है, वह पशु निरा मूर्ख है ।

जिसके नेत्र नहीं हैं, फिर भी जो दयार्द्र है, आँखोंके न रहनेपर भी दूसरोंकी वेदनाको अपनी संवेदन-शक्तिसे पहचान लेता है, वह अन्तर्द्रष्टा पण्डित है; किंतु आँखोंके सामने अत्याचार होते, किसीको पीड़ित या प्रताड़ित होते देखकर जिसकी आँखें शीतल होती हैं, वह निर्दयी दुष्ट मूर्ख है ।

जो अपने दोषोंको सहजभावसे स्वीकार करता है, उन्हें दूर करनेके लिये निरन्तर जी-तोड़ प्रयत्न करता है, वह निर्दोष बनकर रहता है; ऐसा व्यक्ति पण्डित है । किंतु जो अपने दोषोंको छिपाता है, उसमें अनेक दोष (झूठ-कपट) उत्पन्न हो जाते हैं, उसके हृदय और मनमें पापोंकी बाढ़-सी आ जाती है; ऐसा अज्ञानी व्यक्ति मूर्ख है ।

जिसका लक्ष्य परमार्थ है, उसका स्वार्थ स्वतः ही पूरा हो जाता है; उसकी दृष्टिकी व्यापकतामें सभी कुछ (अपनत्व-भाव) परिव्याप्त हो रहता है । अतः वह पण्डित है । किंतु जो मात्र स्वार्थसिद्धिके लिये कृतसंकल्प है, उसकी चारों (हृदयकी और बाहरकी) आँखें फूट गयी हैं; वह 'राम' से ही नहीं, 'माया'से भी वञ्चित रह जाता है । अतः वह मूर्ख है ।

जो जीवमात्रके हितकी कामना करता है, हित-साधनका संकल्प करता है, हितकर कार्य करता है, हितपूर्ण व्यवहार करता है, वह प्रियदर्शी पण्डित है; किंतु जो इतर प्राणियोंको संदेहकी दृष्टिसे देखता है, उनसे ईर्ष्या करता है, परस्पर घृणा फैलानेवाला व्यवहार करता है, वह मूर्ख है।

जो रूपका नहीं, गुणोंका ग्राहक है, वह निश्चित ही पण्डित है; किंतु जो रूपकी ज्वालाके तेजको तो देखता है पर उसकी दाहकताको नहीं, वह रूपान्ध अपंग हो जाता है, क्षयग्रस्त होता है और अन्ततः अपनी ही करनीसे नष्ट हो जाता है । अतः वह मूर्ख है ।

जो कुरूप होते हुए भी स्वच्छ हृदयवाला है, वह पण्डित है; किंतु जो रूपवान् होकर भी दिलका काला है, वह अपने अन्तस्की विष-वल्लरीसे दूसरोंके साथ अपनेको भी लपेटकर नष्ट हो जाता है; अतः वह मूर्ख है ।

जो शरीरको आत्मोन्नतिका साधनमात्र मानकर आत्मकल्याण और विश्वकल्याणके लिये ही शरीर और उसकी क्षमता-शक्तियोंका उपयोग करता है, वह पण्डित है; किंतु जो साधनको साध्य बनानेकी कुचेष्टा करता है, शारीरिक सुखोपभोगको ही जीवनका चरम लक्ष्य मानकर अनेक उचितानुचित कार्य करता है, वह पामर (विषयी) अवश्य मूर्ख है ।

जो अपने स्वभावको परिस्थितियों एवं पड़ोसियोंके अनुसार ढाल लेता है, वह पण्डित है; किंतु जो स्वभावकी स्वाभाविकताके नामपर दृढ़ और दुराग्रहको पालता रहता है वह पशु मूर्ख है ।

जो आदर्शोंका निर्माण केवल दिखानेके लिये नहीं, उन्हें जीवनमें उतारनेके लिये करता है, वह पण्डित है; किंतु जो आदर्शोंके रुपहली पर्देकी झिलमिलसे दूसरोंको भुलावेमें रखकर अपने क्षुद्र स्वार्थोंकी ही पूर्ति करता है, वह वञ्चक मूर्ख है ।

जो कूदनेसे पहले (सब कार्यका श्रीगणेश करनेसे पूर्व) शक्तिको तौलता है, दूरीका विचार करता है, लक्ष्यपर दृष्टि गड़ाता है, साहसपूर्वक अपनेको उसके लिये तैयार करता है,

वह दूरदर्शी, संयमी और ज्ञानी पुरुष निश्चय ही सफलता प्राप्त करता है; वह पण्डित है। किंतु जो अपनी क्षमताओंसे अनभिज्ञ रहकर कोरी डींग मारता है, अविवेकपूर्ण निश्चय करता है, बिना सोचे-विचारे कुछ भी कर बैठता है, वह लक्ष्य-भ्रष्ट पत्तोंकी भाँति हवा (परिस्थितियों)के झोंकोंके अनगिनत थपेड़े खाता है, जहाँ-तहाँ मारा-मारा फिरता है और दुर्भाग्यका शिकार होता है; वह आत्मघाती मूर्ख है।

जो उच्चमनाओंद्वारा संस्थापित आदर्शोंको जीवनमें ढालनेके लिये कृतसंकल्प है, वह पण्डित है; किंतु जो आदर्शकी बढ़ी-चढ़ी बातें करता है; किंतु उन्हें अपनानेमें प्रमाद करता है, दिखावा ही जिसकी मात्र पूँजी है, उसका आडम्बर धुएँके मायावी वातावरणकी तरह क्षणस्थायी होता है। उसके पाखण्ड कोढ़की तरह उभरकर उसकी ही दुरवस्था नहीं करते, दूसरोंमें भी घृणाका संचरण करने लगते हैं। ऐसा मायावी पामर निस्संदेह मूर्ख है।

जो नामके लिये नहीं बल्कि अन्तःप्रेरणासे प्रेरित होकर कोई कार्य करता है, वह पण्डित है; किंतु जो कामका नहीं नाम (यश) का भूखा है, 'राम' का नहीं, 'चाम' का ग्राहक है, वह पापी और मूर्ख है।

जो आत्मान्वेषण और आत्मशोधमें कभी अतत्परता नहीं दिखाता, आलस्य नहीं करता, आत्मतोष ही जिसकी सम्पत्ति है, आत्मोन्नति ही जिसका साध्य है, वह साधु (संत) पण्डित है; किंतु जो पारिवारिक-सामाजिक कलहमें दिन-रात लगा रहता है, केवल स्वार्थसे संचालित है, वह मात्र पाप बटोरता है। वह आत्मघाती मूर्ख है।

जो आशा-निराशासे ऊपर उठकर केवल प्रयत्नमें विश्वास रखता है, वह निराशाको आशामें, हानिको लाभमें, अशुभको शुभमें बदल देता है। वह भाग्यतकको बदल सकनेकी सामर्थ्य अपनेमें रखनेवाला पण्डित है। किंतु जो आशा-निराशाको विधिका खेल समझकर शतरंजके गोटकी तरह निर्जीव बना अपनेको दूसरोंके हाथोंका खिलौना बननेके लिये छोड़ देता है, आशा-निराशा उसे यत्र-तत्र नचाती हैं। जीवनके रहस्य (संघर्ष) को न समझनेवाला वह जीव निश्चित ही मूर्ख है।

दुःखकी काली डरावनी और दुःखद रात्रिके बाद सुखका उज्ज्वल और प्रेरक प्रभात आता है। जो इस सत्यको जानकर निर्विकारभावसे कर्तव्यरत रहता हुआ अपनेको व्यस्त और क्रियारत रखता है, वह पण्डित है; किंतु जो दुःखको देवका अभिशाप समझकर हाय-हाय करता है, वह मतिहीन अपने दुःखको द्विगुणित कर देता है। जिसे सुखके नवल प्रभातमें विश्वास नहीं, वह दुःखकी काली निशामें ही यमका ग्रास बन जाता है। ऐसा व्यक्ति वस्तुतः मूर्ख ही है।

जो लोक-कल्याणकी भावनासे मङ्गल-पथपर आगे बढ़ता जाता है, वह दूसरोंके साथ अपना भी कल्याण करता है। वह सबका शुभेच्छु पण्डित है। किंतु जिसे शुभाशुभ, उचितानुचितका ज्ञान नहीं, क्षुद्र वासनाओंके उज्ज्वल किंतु विषाक्त फलको खाना ही जिसके जीवनका एकमात्र लक्ष्य है, वह असमय ही मृत्युका आहार बनता है; अतः वह मूर्ख है।

जो इतना ही (पेटभर) संचय करता है, जिससे उसके जीवनकी गाड़ी चलती रहे, वह पण्डित है; किंतु जो आवश्यकतासे अधिक (पेटी भर) का संग्रह करता है, वह दूसरोंके हाथका ग्रास छीनता है। उस पापीका जीवन उसके लिये ही भार हो जाता है, वह सामाजिक अपराधी और मूर्ख है।

जो दूसरोंकी परवशताको प्रसन्नतामें बदलनेके लिये अपना सब कुछ दे देने तकको सदैव प्रस्तुत रहता है, उसने परमात्माको पा लिया है; वह पण्डित है। किंतु जो दूसरोंकी विवशताका लाभ उठाकर अपने ही स्वार्थकी पूर्ति करता है, अपना ही पेट पालता है, वह दूसरोंपर तो अत्याचार करता ही है, स्वयं भी उसका शिकार हुए बिना नहीं रहता; अन्ततः उसकी भी दुर्दशा ही होती है। वह इस दुनियासे ले क्या जाता है। अतः वह अविवेकी मूर्ख ही है।

मेरे कारण किसीको पीड़ा या कष्ट न हो, ऐसा जो अपना जीवन और व्यवहार बना लेता है, वह पण्डित है; किंतु जिसके कारण सब दुखी हो जाते हैं, जो ईर्ष्यालु और क्षुद्र-हृदय है, सबकी दुर्भावनाओंका केन्द्र वह अभिशप्त पुरुष सबकी आँखोंका काँटा बनकर जीता है। उसे कोई चाहनेवाला नहीं। जिसकी छायातकसे सब डरें, ऐसा व्यक्ति सचमुच मूर्ख है।

जो जीवमात्रपर दया करता है, सबका विश्वास करता है, सबका हित करता है; वह समद्रष्टा ऋषि पण्डित है; किंतु जो पद-पदपर क्रूरताका व्यवहार करता है, हर व्यक्तिपर संदेह करता है और सबका अहित सोचता है, वह दूसरोंका हृदय नहीं जीत सकता; वह मूर्ख है।

जो अपने हृदयमें उमड़नेवाले स्नेहके निर्बाध स्रोतमें प्राणिमात्रको आकण्ठ निमग्न देखता और कर देता है, वह सर्वहितचिन्तक पण्डित है; किंतु जो इन्द्रियोपभोगकी लालसासे प्राणियोंका जीवनतक ले लेता है, वह क्रूर मूर्ख है।

जो दूसरोंको संकटमें देखकर हँसता नहीं, वरं तत्परतापूर्वक सहायताका हाथ बढ़ाता है, सत्परामर्श देता है, वह पण्डित है; किंतु जो संकटापन्न व्यक्तिको देख प्रसन्न होता है, अनेक जटिल परिस्थितियोंको उत्पन्न कर उसे और भी जकड़ देनेकी चेष्टा करता है, सहानुभूतिके स्थानपर व्यंगका आश्रय ले जलेपर और भी नमक छिड़कता है, वह मानवताका शत्रु पिशाच है, मूर्ख है।

जो भँवरमें पड़े मनुष्यको उबारनेके लिये अपने प्राणोंकी चिन्ता न करके स्वयं उस भँवरमें कूद पड़ता है। विवेक, साहस और शक्तिसे उस आसन्न विपत्तिग्रस्त मनुष्यकी रक्षा करता है, वह धीर, वीर, दयाका सागर उद्धारक पण्डित है; किंतु जो ऐसी परिस्थितिमें शक्ति रखते हुए भी कापुरुष बन टुकुर-टुकुर देखा करता है, वह निर्दयी पुरुष मूर्ख है।

जो अपनी पीड़ाकी अनुभूतिसे दूसरेकी वेदनाका अनुमान कर पीड़ित होता है, उसे दूर करनेके लिये यथासाध्य चेष्टा करता है, वह पीड़ितकी पीड़ाका हरण ही नहीं करता, उसका हृदय भी जीत लेता है; अतः वह पण्डित है; किंतु अपनी पीड़ाको ही कष्टदायिनी और दूसरोंकी पीड़ाको नगण्य समझकर जो किंकर्त्तव्यविमूढ बना रहता है, वह नितान्त मूर्ख है।

मनु और याज्ञवल्क्यकी दृष्टिमें स्त्रियोंका स्थान

(लेखक—श्रीचन्द्रभालजी ओझा एम्० ए०)

हिंदुओंके पूर्व-ऐतिहासिक सामाजिक जीवनकी झाँकियाँ महाभारत, रामायणमें मिलती हैं; किंतु उनमें कविताकी भाषा और कहीं-कहीं अतिशयोक्ति अलंकार होनेसे आजकल उसे ऐतिहासिक सामग्रीकी कोटिमें रखनेमें कुछ लोग हिचकते हैं। किंतु धर्मशास्त्रकारोंने तो अपने समयके समाजकी आवश्यकताओंको देखते हुए अपने समयके समाज और आनेवाली पीढ़ियोंको मर्यादित रखने और उसकी बुराइयोंको रोकनेके लिये नियम बनाये। अतः तत्कालीन सामाजिक स्थितिको जाननेके लिये इनमें अधिक विश्वसनीय और प्रामाणिक सामग्री मिल जाती है। स्मृतियोंके टीकाकारोंने भाष्य करते हुए अपने समयकी सामाजिक माँग देखकर टीकाओंमें मूल रचनासे सर्वथा कुछ नया दृष्टिकोण रखते हुए नया विचार किया है। जैसे मनुने अपुत्र मरनेवालेकी सम्पत्तिमें पत्नी या लड़कीको हक नहीं दिया है; किंतु टीकाकार कुल्लूक भट्टने अपुत्रकका अर्थ यह लगाया है 'वह व्यक्ति जो मरते समय न पुत्र, न लड़की, न स्त्री छोड़ गया हो।' इस तरह कई टीकाकारोंने सर्वथा नवीन सुझाव दिये हैं। यद्यपि मनुस्मृतिके अलावा और भी कई स्मृतियाँ हैं, जो सामाजिक नियमकी रचनामें महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं, फिर भी मनुका स्थान सर्वोपरि है। मनुके बाद ही याज्ञवल्क्यका स्थान है। ऐसे स्मृतिकारोंकी दृष्टिमें नारीकी समाजमें क्या स्थान था, यह जानना बड़ा लाभप्रद होगा—विशेषकर इसलिये कि उनके एक श्लोकके एक चरणने (न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति), आधुनिक शिक्षित स्त्री-समाज अत्यधिक उद्वेलित है। परंतु इन आलोचकोंने मनुस्मृतिमें यत्र-तत्र बिखरे हुए नारीके सम्मानमें कहे हुए वाक्योंको एकत्रकर सम्भवतः नहीं पढ़ा है। नहीं तो, 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' ऐसे वचनोंके उपस्थित रहते मनुको नारीके विषयमें हेय दृष्टि रखनेवाला कभी नहीं समझते।

जैसा कि विख्यात विधिज्ञ सर हेनरी मैन तथा महान् विचारक स्टुअर्ट मिलका कहना है—'किसी समाज या कालकी सभ्यताका सबसे उत्तम मापदण्ड उस समाज और समयमें स्त्रियोंकी उच्च या नीची स्थिति है; जिस परिमाणमें स्त्रियोंको स्वतन्त्रता और समताका अधिकार दिया है समाजने, वह उतना ही प्रगतिशील समझा जायगा।'* यद्यपि यह व्याख्या सर्वमान्य नहीं है, तथापि इस दृष्टिसे भी हमें अपने शास्त्रकारोंपर रोष करनेका कोई कारण नहीं है। आगे चलकर हम यह भी दिखायेंगे कि मनुके बाद आनेवाले याज्ञवल्क्य ऋषिने स्त्रियोंके बारेमें क्या मत व्यक्त किया था।

मनुने समाजमें स्त्रीको बड़े सम्मानका स्थान दिया है और ऐसा कार्य सौंपा है, जो उसकी प्रकृति, शारीरिक बनावट और गुणोंके सर्वथा अनुकूल है।

---

* Early History of Institutions by Sir Henry Mann तथा Subjection of Women by Stuart Mill page 48.

मनु तो कहते हैं कि मनुष्यकी लोकयात्रा ही स्त्रीकी सहायता और सहकारितापर अवलम्बित है ।

उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् ।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्री निबन्धनम् ॥

(मनु० ९ । २७)

अर्थात् 'संतान उत्पन्न करना, उत्पन्न हुए संतानका लालन-पालन और नित्यप्रतिके गार्हस्थ्य-जीवनकी देख-भाल करना स्त्रीके ऊपर आश्रित है।' साथ ही वे उसे उचित मात्रामें पिता, पति, भाईके प्रेम और स्नेहकी अधिकारिणी बताते हैं, उनके द्वारा उनका सम्मान और भूषण प्राप्त होनेकी व्यवस्था देते हैं ।

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥

(मनु० ३ । ५५)

'पिता, भाई, पति और देवर आदि जो अपना कल्याण चाहते हैं, उन्हें चाहिये कि वे पुत्री, भगिनी, पत्नी और भाभी आदिके रूपमें नारीका आदर करते रहें, मधुर भाषण, भोजन-वस्त्र, आभूषण आदिसे उन्हें प्रसन्न रक्खें ।'

फिर ५६ वें श्लोकमें कहते हैं—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥

'जिस घरमें नारियोंका सत्कार होता है, वहाँ देवता सुखसे निवास करते हैं । जहाँ ऐसा नहीं है, वहाँ सब काम निष्फल होते हैं ।'

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्वदा ॥

(मनु० ३ । ५७)

'जिस कुलमें स्त्रियाँ (पुरुषोंके दुर्व्यवहारसे) दुखी रहती हैं, वह कुल शीघ्र नष्ट हो जाता है । जहाँ ये दुखी नहीं रहतीं, उस कुलकी सदा समृद्धि होती है ।'

फिर आगे कहते हैं—

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥

(मनु० ३ । ५९)

अर्थात् 'ऐश्वर्य चाहनेवाले पुरुषोंको चाहिये कि विवाह आदि शुभ अवसरोंपर आभूषण, वस्त्र और खानपानसे नारियोंका सत्कार करके उन्हें प्रसन्न रखनेका प्रयत्न करें ।'

संतुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥

(मनु० ३ । ६०)

'जिस गृहमें पति-पत्नी परस्पर संतुष्ट रहते हैं, वहाँ निश्चय ही कल्याण स्थायी रहता है ।'

फिर कहते हैं—

यदा भर्ता च भार्या च परस्परवशानुगौ ।
तदा धर्मार्थकामानां त्रयाणामपि संगतम् ॥

'जहाँ पति और पत्नी परस्पर वशमें रहते हैं, वहाँ धर्म, अर्थ और काम एकत्र हो जाते हैं ।'

परंतु कहीं-कहीं इस विचारधाराके विपरीत इङ्गित करते हुए कुछ श्लोक मनुस्मृतिमें मिलते हैं । जैसे—

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥

(मनु० ९ । ३)

तथा दूसरे ऐसे वाक्य जिसमें स्त्रियोंकी शारीरिक बनावटके कारण, उनकी आवश्यकताओंको देखकर, उनपर कुछ प्रतिबन्ध-सा लगा दिखायी पड़ता है। 'पिता उनके कौमार्यके समय उनकी रक्षा करे, विवाह हो जानेपर युवावस्थामें पति तथा बुढ़ापेमें पुत्र रक्षा करें । स्त्रीको अकेला स्वच्छन्द नहीं छोड़ देना चाहिये ।' अब इसीमें श्रीतुलसीदासजीकी चौपाई 'जिमि स्वतंत्र होइ बिगरहिं नारी' जोड़कर लोग समझते हैं कि स्त्री-जातिको चहारदीवारीमें कैद रखनेका फतवा है यह। परंतु यहाँ 'रक्षति' शब्दकी सार्थकतापर ध्यान देना आवश्यक है; फिर 'रक्षन्ति स्थविरे पुत्राः ।' बुढ़ापेमें माताकी रक्षाका बोझ पुत्रोंपर डाल देनेकी क्या सुन्दर व्यवस्था है ।

फिर स्त्रीको बच्चा होनेसे कुछ पहले, बच्चा होते समय, बच्चा होनेके बाद किसी दूसरेकी सहायताकी आवश्यकता पड़ती है । उसकी शारीरिक रचनाके कारण ही उसे अकेला नहीं रक्खा जा सकता । परंतु नारीके प्रति मनुके भाव कितने कोमल हैं, यह निम्नलिखित श्लोकसे पता चलता है। मनु कहते हैं—अतिथि आ जायँ तो उन्हें प्रेमपूर्वक सत्कारके साथ उत्तम भोजन करायें; किंतु यदि कोई गर्भिणी स्त्री हो, रोगिणी हो, नयी आयी वधू हो (जो लज्जाके मारे कुछ कह न सकती हो), तो उसको खिलाकर अतिथिको खिलाये। कहीं ऐसा न हो कि अतिथियोंके खिलानेमें भोजन शेष न रह जाय और ये सब समयसे भोजन न पायें । रोगिणी स्त्री

वा रोगी पुरुष और गर्भिणी स्त्रीका तो समयपर भोजन न मिलनेसे बुरा हाल होगा ही, नयी विवाहिता दुलहिन भी अस्वस्थ हो जायगी ।

सुवासिनीः कुमारीश्च रोगिणो गर्भिणीस्तथा ।
अतिथिभ्योऽग्र एवैतान्भोजयेदविचारयन् ॥
(मनु० ३ । ११४)

याज्ञवल्क्यजी भी कहते हैं—

बालस्ववासिनीवृद्धगर्भिण्यातुरकन्यकाः ।
सम्भोज्यातिथिभृत्यांश्च दम्पत्योः शेषभोजनम् ॥
(आचाराध्याय श्लोक १०५)

अर्थात् 'बच्चोंको, वृद्धको, स्ववासिनीको, (अर्थात् जिस कन्याका विवाह हो गया है किंतु अभी गौना नहीं हुआ है, उसे), गर्भिणी स्त्रीको, रोगीको, कन्याओंको तथा अतिथियों और नौकरको खिलाकर गृहस्वामी और स्वामिनी भोजन करें ।'

यदि किसी कन्यासे कोई पुरुष बलात्कार करता है तो मनुकी आज्ञा है कि राजा या समाज उस मनुष्यको बाध्य करे कि उससे विवाह कर ले और कुछ नकद भी उसे दे । किंतु यह तभी समीचीन माना जायगा, जब लड़की भी राजी हो । यदि लड़की उसको नहीं चाहती तो वह किसी अन्यसे विवाह कर सकती है । इस तरह लड़कीको यह सुविधा देकर मनुने स्त्रीके ऊपर अधिक उदारता दिखायी है ।

याज्ञवल्क्यजीने भी मनुकी ही भाँति स्त्रियोंके लिये कहा है—

रक्षेत्कन्यां पिता विन्नां पतिः पुत्राश्च वार्धके ।
अभावे ज्ञातयस्तेषां न स्वातन्त्र्यं क्वचित्स्त्रियाः ॥
(आचाराध्याय ८५)

अर्थात् 'कन्यावस्थामें वे पिताकी देख-रेखमें रहें, विवाह होनेपर पतिकी, बुढ़ापेमें पुत्रोंकी और जब कोई न हो तो जाति-बिरादरीवालोंकी देख-रेखमें रहें । वे अकेले अपने भरोसे नहीं छोड़ी जा सकतीं ।' इसीको और स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

पितृमातृसुतभ्रातृश्वश्रूश्वशुरमातुलैः ।
हीना न स्याद्विना भर्त्रा गर्हणीयान्यथा भवेत् ॥
(आचाराध्याय ८६)

अर्थात् 'स्त्रीको पिता, माता, पुत्र, भाई, सास, ससुर और मामामेंसे किसीके संरक्षणमें रहना ही चाहिये । ऐसा न होनेपर निन्दा होनेकी आशङ्का है ।' इसमें माता और श्वश्रू शब्द बड़े सार्थक हैं । वस्तुतः इसमें अपने-अपने स्थानपर सबको बाध्य किया गया है कि वे हर अवस्थामें स्त्रीकी रक्षा करें । इससे यह प्रकट होता है कि श्लोक स्त्रीके हितके लिये कहा गया है, उसको पुरुषसे नीचा स्थान देनेके लिये कदापि नहीं ।

मनुकी ही भाँति याज्ञवल्क्यजी भी कहते हैं—

भर्तृभ्रातृपितृज्ञातिश्वश्रूश्वशुरदेवरैः ।
बन्धुभिश्च स्त्रियः पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ॥
(आचाराध्याय ८२)

'पति, भाई, पिता, सास, ससुर और देवर तथा जाति-बिरादरी और पट्टीदारोंद्वारा स्त्रियोंका सत्कार होना चाहिये और उनको भोजन, वस्त्र तथा आभूषण मिलना चाहिये ।' ये स्मृतियाँ अत्यन्त प्राचीन हैं । इनसे पता लगता है पुराने युगमें भी हिंदुओंमें स्त्रीका कितना अधिक सम्मान था और उसकी सुख-सुविधाके लिये कितना ध्यान रक्खा गया था । उस समयकी स्त्रियोंमें भी सज्जा-शृङ्गार आदिका प्रयोग होता था । इसीलिये मनुजीको कहना पड़ा—

अभ्यञ्जनं स्नापनं च गात्रोत्सादनमेव च ।
गुरुपत्न्या न कार्याणि केशानां च प्रसाधनम् ॥
(मनु० २ । २११)

अर्थात् 'ब्रह्मचारीको चाहिये कि तैलमर्दन, नहलाना, शरीरकी मालिश, बाल सँवारना—ये कार्य गुरुपत्नीके न करे ।' याज्ञवल्क्यजीने भी दूसरे सम्बन्धमें इसी प्रकार कहा है कि जिस स्त्रीका पति विदेश गया हो, वह—

क्रीडां शरीरसंस्कारं समाजोत्सवदर्शनम् ।
हास्यं परगृहे यानं त्यजेत्प्रोषितभर्तृका ॥
(आचाराध्याय ८४)

—'स्त्री कोई खेल न खेले (टीकाकारने कन्दुक-क्रीड़ा लिखा है), उबटन, चन्दनादि लगाकर शरीरका संस्कार न करे, न कहीं मेले-ठेले या उत्सवमें जाये । हँसी-ठट्ठा न करे । दूसरेके घर न जाय ।

मनुने गृहस्थके जीवनमें गृहिणीको एक बड़ा आदरणीय और महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है । वे कहते हैं कि संतान उत्पन्न करनेवाली भाग्यशालिनी गृहलक्ष्मी जो घरकी प्रकाश है, उसमें और लक्ष्मीदेवीमें कोई अन्तर नहीं है । मनु फिर कहते हैं कि संतानोत्पत्ति, धर्मकार्य, सेवा-परिचर्या, अत्यन्त उत्कृष्ट, विवाहित जीवनका आनन्द और स्वर्गकी प्राप्ति स्त्रीके द्वारा ही सम्भव हैं।

कर्मफल

[कहानी]

(लेखक—श्रीविजयजी निर्बोध)

ननिहालसे घर लौटनेपर राजकुमार शैलेन्द्रको ज्ञात हुआ कि युवराज धर्मेन्द्रको सम्राट्ने कुपित होकर साम्राज्यसे निष्कासित कर दिया है और राजकुमारको राजसिंहासनका उत्तराधिकारी बनाये जानेकी घोषणा कर दी है। सम्भवतः कोई और होता तो निश्चित ही उसका हृदय गद्गद हो उठता; परंतु धर्मपरायण राजकुमारने जब यह समाचार सुना तो उनका हृदय शोक-संतप्त हो उठा। मन-ही-मन अग्रजको लौटा लानेका संकल्प उन्होंने कर डाला और अन्ततः पिताकी अनुमति प्राप्त करके युवराजकी खोजमें वे घरसे निकल पड़े।

उधर युवराज वन-प्रान्तरमें भटकते हुए एक झरनेके निकट आ निकले। अञ्जलि भरकर जलपान किया और किनारेपर खड़े एक सघन वृक्षकी छायामें वे लेट गये। शीतल-मन्द समीरके मधुर स्पर्शसे बरबस ही उन्हें नींद आ गयी। पत्नीने देखा कि पतिकी कटार उनकी करवटमें आयी हुई उनकी सुख-निद्रामें बाधक सिद्ध हो रही है, अतः उसे कमरसे निकालकर एक ओर रखनेके लिये ज्यों ही कटारकी मूँठ पकड़कर उसने खींची कि कटार युवराजके पेटको चीरती हुई म्यानसे बाहर आ गयी। अपने ही हाथों युवराज्ञीका सौभाग्य लुट गया—अनहोनी होनीमें पलटकर रह गयी।

अकस्मात् ही युवराज्ञीकी दृष्टि दूरसे आते हुए राजकुमार शैलेन्द्रपर पड़ी। पतिके शवको चादरसे ढककर युवराज्ञी राजकुमारके पास जा पहुँची और सम्पूर्ण समाचार जाननेके उपरान्त उनसे बोली—'कई दिनोंकी थकानके कारण उन्हें तनिक नींद आ गयी है। उस झरनेके किनारे खड़े आम्र-वृक्षके नीचे वे सो रहे हैं। तुम जाकर उनके पास बैठो, मैं भी अभी वहाँ पहुँचती हूँ।'

अभी वापस आनेका आश्वासन देकर गयी हुई युवराज्ञी पर्याप्त प्रतीक्षाके उपरान्त जब लौटी तो उसके साथ राज-कर्मचारी थे, जो युवराज्ञीकी शिकायतपर राजकुमारको युवराजकी हत्या कर देनेके आरोपमें बंदी बना लेनेके लिये वहाँ आये थे।

सम्राट्की राजसभा आज खचाखच भरी थी। सर्वत्र शोकका वातावरण छाया हुआ था। राजकुमार शैलेन्द्र निर्दोष होते हुए भी अभियुक्तके रूपमें पिताके सामने खड़े थे और युवराज्ञी रह-रहकर करुणाभरी वाणीमें न्यायकी माँग कर रही थी। अन्ततः न्यायमन्त्रीके परामर्शपर सम्राट्ने घोषणा की—'यद्यपि हत्याका दण्ड मृत्यु होना चाहिये; फिर भी युवराजकी हत्याके उपरान्त यदि राजकुमारको भी मृत्यु-दण्ड दे दिया गया तो यह सिंहासन उत्तराधिकारि-विहीन हो जायगा। अतः राजकुमारका दायाँ हाथ, जिससे उन्होंने युवराजकी हत्या की है, काट दिये जानेका दण्ड उन्हें दिया जाता है।' और देखते-ही-देखते निरपराध युवराजका दायाँ हाथ जल्लादोंने काट डाला।

उस रात युवराजको नींद नहीं आयी। एकके बाद एक प्रश्न-चिह्न उनके सामने उभर-उभरकर आने लगे। क्या यही है विधाताका न्याय? उनका हृदय ग्लानिसे भर उठा। तभी त्रिकालदर्शी ज्योतिषी चन्द्रसेनका स्मरण उन्हें हो आया। तत्काल उनके निवासस्थानकी ओर वे चल पड़े। प्रातःकाल जब वे ज्योतिषी चन्द्रके घर पहुँचे तो ब्राह्मण हवनपर बैठ चुका था और उसकी पत्नीकी कर्कश-वाणी रह-रहकर उसके इस पुण्यकार्यमें बाधा डाल रही थी। राजकुमार ज्योतिषीकी प्रतीक्षामें द्वारपर ही बैठ गये। साक्षात्कार होनेपर अपनी बातसे पहले ज्योतिषीकी बात ही वे पूछ बैठे। उत्तरमें त्रिकालदर्शी ज्योतिषीने कहा—पिछले जन्ममें मेरी सहधर्मिणी तपस्विनी थी और मैं राक्षस… उस जन्ममें मैं उसके तपको भङ्ग किया करता था, इस जन्ममें वह मेरे तपको भङ्ग करती है।

राजकुमारकी बातका उत्तर देते हुए ज्योतिषीने कहा—'तुम्हारे अग्रज पूर्वजन्ममें बधिक थे, तुम्हारी भाभी गाय थी और तुम एक ग्वाले थे। एक दिन वह बधिक उस गायका वध करनेके लिये जा रहा था कि वह उससे छूटकर भाग निकली और जब जंगलमें तुम्हें गायें चराते देखकर उस बधिकने अपनी गायके सम्बन्धमें पूछा तो तुरंत ही दायाँ हाथ उठाकर तुम बोले—वह रही, देखो, वह रही। तुम्हारी

भाभीने अपने उस जन्मके वधका बदला तुम्हारे अग्रजसे ले लिया और उस जन्ममें एक पापकर्मके लिये दायाँ हाथ उठानेके कारण इस जन्ममें तुम्हारा दायाँ हाथ काट लिया गया। विधाताका न्याय सचमुच बड़ा विचित्र है। कर्मफलसे किसी भी स्थितिमें मनुष्य बच नहीं सकता।

अवकाशके समयका सदुपयोग

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

संसारमें यदि कोई सबसे मूल्यवान् वस्तु है तो वह है समय! जो समय बीत जाता है, उसे वापस प्राप्त नहीं किया जा सकता। प्राणियोंके जीवनका समय सीमित है। उसका एक-एक पल बड़ी तेजीसे छीजता जा रहा है। अञ्जलिके जलकी तरह प्रतिक्षण छीजते हुए समयका एक दिन अन्त आ ही जाता है और हमारे सारे मनोरथ यहीं धरे रह जाते हैं। वैसे भी लोगोंकी प्रायः शिकायत रहती है कि क्या-क्या करें, काम तो बहुत करने हैं, पर समय नहीं मिलता। बहुत-से काम, जिन्हें हम बहुत ही महत्त्वके एवं उपयोगी समझते हैं, करना चाहते हुए भी समयाभावसे नहीं कर पाते। सूक्ष्म समयका मूल्य आँकना बड़ा ही कठिन है। क्षणभरके प्रमाद, आलस्य या देरीसे हम बहुत बार महान् लाभसे वञ्चित रह जाते हैं।

वैसे तो मनुष्य हर समय किसी-न-किसी प्रवृत्तिमें लगा ही रहता है; पर सभी प्रवृत्तियाँ आवश्यक, उपयोगी एवं लाभप्रद नहीं होतीं। जीवन-यापनके लिये कुछ प्रवृत्तियाँ तो अनिवार्य होती हैं; पर विचार करनेपर लगता है कि अनावश्यक और असत् प्रवृत्तियोंमें ही हम बहुत समय खो देते हैं। हर मनुष्य काम ही करता हो, ऐसी बात भी नहीं है। हमारा बहुत-सा समय बेकार और निकम्मा भी जाता है।

काम करते-करते या काम पूरा कर लेनेके बाद विश्रामकी आवश्यकता होती है, जिससे काम करनेकी शक्तिका पुनः संचय होता है। प्रकृतिने ही ऐसा विधान बना रक्खा है। दिनमें काम करें और रातमें नींद लेकर विश्राम भी करें, जिससे दिनभरके किये हुए कामकी थकावट दूर हो जाय और दूसरे दिन पूरी ताजगीके साथ पुनः काममें जुट जायँ। प्रवृत्तियाँ भी सब समय मनुष्य एक ही न करके अनेक प्रकारकी करता है—कोई व्यक्ति खड़ा-ही-खड़ा नहीं रह सकता, थोड़े समय बाद बैठनेकी भी आवश्यकता हो जाती है। कुछ समय खेल-कूदमें बीतता है, कुछ समय बातचीतमें। इस तरह मन, वचन और शरीरका अर्थात् इन्द्रियोंका उपयोग विविध प्रकारसे होता रहता है। कुछ समयतक तो आँखें निरन्तर देखनेका काम करती हैं, पर थोड़े समय बाद हमें नेत्रोंको बंद करने यानी विश्राम देनेकी आवश्यकता हो जाती है। इस तरह काम और विश्राममें समय बीतता जाता है। पर विश्राम आलस्यके या निठल्लेपनके लिये नहीं, विश्राम कामकी शक्ति बढ़ानेके लिये ही है।

प्रकृतिके साथ-साथ मनुष्यने भी अपनी सुविधाके लिये कामके साथ अवकाशका समय भी निकाल रक्खा है। जैसे सप्ताहमें छः दिन काम करके रविवारको छुट्टी मनायी जाती है, ताकि मनुष्य कामसे उकता न जाय और अपने बचे हुए अन्य प्रकारके काम छुट्टीके दिन पूरे कर सके। मनोरञ्जन, मिलना-जुलना, कहीं आना-जाना, आवश्यक सामान खरीदना आदि कार्य, जिन्हें वह छः दिनोंमें नहीं कर सका, सातवें छुट्टीके दिन कर सके। इसी तरह बहुत-से और भी छुट्टीके दिन होते हैं, जिन दिनोंमें उसे निश्चित कार्योंसे अवकाश मिलकर अन्य कार्य करनेकी सुविधा मिल जाती है। विद्यार्थियोंको परीक्षासे पहले कुछ दिन परीक्षाओंकी अच्छी तैयारी करनेके लिये छुट्टियाँ मिलती हैं। इसी तरह परीक्षाके बाद भी लंबी छुट्टियाँ मिलती हैं, ताकि परीक्षाके दिनोंमें उन्हें जो अधिक श्रम करना पड़ता है, उसकी थकावट दूर हो जाय, इधर परीक्षा-पत्रोंको जाँचकर परीक्षाओंका परिणाम घोषित करनेके लिये अध्यापकों आदिको भी समय मिल सके। इसी तरह इतने वर्षोंतक कार्य कर लेनेके बाद सरकारकी ओरसे भी उसे अवकाश—निवृत्ति मिल जाती है।

अब प्रश्न यह रहता है कि हम अवकाशके दिनोंमें समयका उपयोग किन कामोंमें करें। चार आश्रमोंमें विभाजित भारतीय जीवनमें इसकी सुन्दर व्यवस्था मिलती है। बाल्यावस्थामें विद्याध्ययन अर्थात् योग्यताकी प्राप्ति करके गृहस्थाश्रममें अपने कौटुम्बिक जीवनके सुसंचालनमें लगें। इसी तरह

अर्थोपार्जन, संतानोत्पादन करनेके बाद वानप्रस्थ स्वीकार किया जाय, जिसमें सेवामय जीवन दूसरोंके लिये लाभप्रद हो। साथ ही अपनी आध्यात्मिक उन्नति भी करें। संकुचित कुटुम्बकी ममतासे अपनेको ऊपर उठाकर विश्ववात्सल्यके भावको जाग्रत् करें और सबके हितमें अपने जीवनका समर्पण कर दें। वास्तवमें अवकाशके समयका उपयोग भी हमें अपनी आध्यात्मिक उन्नति और आत्मकल्याणमें ही करना उचित है। विद्यार्थी अपनी छुट्टियोंके दिनोंमें आसपासके अशिक्षित लोगोंको शिक्षित बनानेका प्रयत्न करें। व्यर्थ ही इधर-उधर घूमने, गप्पें मारने तथा खेलने आदिमें समय बरबाद न करें। अच्छे-अच्छे ग्रन्थोंके स्वाध्यायसे अपने ज्ञानको परिपुष्ट करें और दूसरोंको ज्ञानका दान करें। आज हम देखते हैं कि लंबी-लंबी छुट्टियोंसे विद्यार्थियोंका जीवन बरबाद-सा होता है। इन दिनोंमें कई बुरी आदतें डाल लेते हैं। इससे घरवाले भी परेशान होते हैं और स्वयंका जीवन भी बिगड़ता है। वास्तवमें उनके सामने कोई ध्येय या आदर्श नहीं होता कि इन छुट्टियोंका उपयोग किस तरहसे करें।

अबसे कुछ वर्षों पहले शिक्षालयोंमें छुट्टियाँ बहुत ही कम होती थीं। हम जब पढ़ते थे तब केवल प्रतिपदाको ही छुट्टी होती थी। इसके बाद महीनेमें चार छुट्टियाँ होने लगीं। पर ग्रीष्मावकाश आदिकी लंबी छुट्टियाँ तो इधर कुछ वर्षोंमें ही बढ़ी हैं, इससे विद्यार्थियोंका तनिक भी लाभ नहीं हुआ, अपितु बहुत हानि हुई है। आजकल वर्षमें चार-छः महीने छुट्टियोंमें ही बीत जाते हैं। यदि इतने समयमें मनोयोगपूर्वक पढ़ाई की जाय तो जिस श्रेणीमें पहुँचनेके लिये आज आठ वर्ष लगते हैं, वह चार-पाँच वर्षोंमें पूरी हो सकती है। तीन वर्षोंके बचतका भावी जीवनमें बड़ा भारी महत्त्व है। शिक्षाका स्तर तो पूर्वापेक्षा बहुत गिर चुका है। पहलेके पढ़े पाँचवीं कक्षाके विद्यार्थी आजके आठवीं कक्षाके विद्यार्थियोंसे बहुत तेज होते हैं। इस तरह विद्यार्थियोंके अमूल्य जीवनकी बरबादीको रोकनेका राष्ट्रीय सरकार एवं उसके हितैषी माता-पिता एवं अध्यापकोंका परम कर्तव्य होना चाहिये।

औद्योगिक क्षेत्रमें भी हम देखते हैं कि रविवार आदि छुट्टियोंके दिनोंका उपयोग मजदूर शराब पीने, सिनेमा देखने आदि बुरी बातोंमें ही करते हैं। उनको भी अपने अवकाशके समयका सदुपयोग अपनी योग्यताके विकासमें करना और नये-नये कामोंको सीखना चाहिये। उस समय सबको सम्मिलित होकर अपने परिवार, देश और राष्ट्रकी उन्नति कैसे हो, उत्पादन कैसे बढ़े, बरबादी कैसे मिटे—इस सम्बन्धमें विचार-विमर्श करना चाहिये। संत-समागम, प्रार्थना, ईश्वर-भजन, कीर्तन, अच्छे ग्रन्थोंका पढ़ना, अपने बच्चोंको कुसंस्कारसे दूरकर सुसंस्कारकी ओर प्रेरित करना, पीड़ित एवं दुखी व्यक्तियोंकी सेवा करके समयका सदुपयोग करना चाहिये। अवकाशप्राप्त व्यक्तियोंको भी इसी तरह स्व-पर-कल्याणमें लग जाना चाहिये। जीवनका एक क्षण भी प्रमाद एवं बुरे कामोंमें नष्ट न हो इसका पूरा विवेक रखना ही मानव-कर्तव्य है।

अपने सभी काम नियत समयपर करके अपना एवं दूसरोंका बहुमूल्य समय बचाइये, व्यर्थकी बातोंमें थोड़ा समय भी बरबाद नहीं करना चाहिये। व्यवस्थित ढंगसे काम करके हम अपने कार्योंमें समयके अपव्ययको बचा सकते हैं।

जीवन थोड़ा है और कार्य अनेक करने हैं। आयुष्य प्रतिक्षण छीजता जा रहा है और न जाने कब पूरा हो जाय। अतः भगवान् महावीरके महान् उद्‌बोधक संदेशको सदा ध्यानमें रखिये। **'समयं गोचया पमाचए'** अर्थात् हे गौतम! एक क्षण भी प्रमाद न कर। जैन दर्शनमें कहा है कि समय बहुत ही सूक्ष्म होता है। हमें पूर्ण जागृतिके साथ उसके एक-एक पलका सदुपयोग करके जीवन सार्थक करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

जो व्यक्ति वर्षोंतक काम करके अवकाश ग्रहण करते हैं, उनके वर्षोंके अनुभवका लाभ नवयुवकोंको मिलना चाहिये। अतः जिन व्यक्तियोंने जिन-जिन कार्योंमें कुशलता प्राप्त की हो, अवकाश ग्रहण करनेके बाद उन्हें दूसरोंको योग्य बनानेमें समय लगाना चाहिये; क्योंकि आजके बालक और युवक ही भावी राष्ट्रके कर्णधार होते हैं, उनके विकासमें अपना सहयोग देना राष्ट्रीय कर्तव्यका पालन तथा समयका सदुपयोग है।

स्नेहकी शक्ति सर्वश्रेष्ठ है

ईश्वर स्नेहमय हैं, वे प्रेमस्वरूप हैं। उनके स्नेहने सम्पूर्ण विश्वको, विश्वके प्रत्येक प्राणीको, अपितु एक-एक कणको एक सूत्रमें बाँध रक्खा है। स्नेहके वशीभूत होकर ही ईश्वर समय-समयपर अवतार धारण करते हैं। ईश्वरके द्वारा इस भूतलपर लोकके रक्षण और रञ्जनके लिये ऐसे-ऐसे कार्य हुए हैं, जो साधारण मानवके लिये असम्भव हैं। इन सम्पूर्ण कार्योंके मूलमें स्नेह ही कार्य कर रहा है। इतना ही नहीं, जिस मानवका मन ईश्वरीय स्नेहसे परिपूर्ण है, उसके द्वारा भी ईश्वर लोकहितके आश्चर्यजनक कार्य सम्पन्न करवा लेता है। प्रेमस्वरूप भगवान्‌को प्रेम ही प्रिय है। और जिस मानवका मन ईश्वरीय स्नेहसे सरस है, उसका साधु-समाजमें बड़ा सम्मान है।

रामहि केवल प्रेम पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥
राम सनेह सरस मन जासू। साधु सभाँ बड़ आदर तासू॥

भगवान्‌ने कहा है—

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥

और भगवान्‌का अनुशासन यह है—

'प्रीति सदा सज्जन संसर्गा।' 'पर दुख दुख सुख सुख देखे पर॥'

सदा सज्जनोंके सङ्गमें रहो, जिससे मनको पोषक तत्त्व मिलते रहें और सदा सबसे प्रीति करो, दूसरेके दुःखमें दुःखका तथा सुखमें सुखका अनुभव करो। जिस प्रकार भगवान् सबके स्वार्थरहित सखा हैं (स्वारथ रहित सखा सब ही के), सर्वभूतोंके परम सुहृद् हैं (सुहृदं सर्वभूतानाम्); वैसे ही हम भी हों, निःस्वार्थ स्नेह और परम सौहार्द हमारे जीवनमें हो। निःस्वार्थ स्नेहके अनुशासनको यदि हम ईमानदारीसे अपने नित्यके जीवनमें उतारें, अवश्य ही हमारी सम्पूर्ण जागतिक बाधाएँ दूर हो जायँगी।

हमारे नित्यके जीवनमें निःस्वार्थ स्नेह किस प्रकारसे समाविष्ट हो, इसके लिये भगवान् रामका जीवन एक सुन्दर उदाहरण है। भरतजीने कहा—'खेलमें भी भाई रामने कभी अप्रसन्नता प्रकट नहीं की। उन्होंने कभी मेरे मनको भङ्ग नहीं किया और यह सब केवल इसीलिये कि मुझपर उनका विशेष स्नेह था।' उन्हीं रामके जीवनका एक और तथ्य है, स्नेह-सदन भगवान् रघुनाथने कभी अरिका अनभल नहीं किया। चित्रकूटके वनवासी स्वभावसे जड हैं, जीवघाती हैं, कुटिल-कुमति हैं; किंतु जबसे स्नेह-मूर्ति रघुनन्दनका वहाँ वास हुआ, वन मङ्गलमय हो गया। वनवासियोंका स्वभाव बदल गया। उनके दुस्सह दुःख-दोष मिट गये। यह था रामके स्नेहिल स्वभावका, प्रेमिल जीवनका प्रभाव।

हम भी अपने परिवारमें, अपने पड़ोसमें अपने अकारण प्यारका अबाध वितरण करें। निःस्वार्थ स्नेह सम्पूर्ण बाधाओंसे मुक्तिका राजमन्त्र और सम्पूर्ण सुविधाओंकी प्राप्तिका राज-मार्ग है। शत्रुको स्नेह दें, अहित करनेवालेका भला करें, शाप देनेवालेको वरदान दें, तिरस्कार करनेवालेके मङ्गलकी कामना करें। इन अनुशासनोंके पालनसे जीवनमें स्नेहकी वह शक्ति प्रस्फुटित होगी, जो पास-पड़ोसको सौरभसे भर देगी। क्रोध और घृणाके स्थानपर स्नेहसे असुरतापर विजय प्राप्त करें। असुरता अन्धकार है और स्नेह प्रकाश। अन्धकारसे अन्धकार नहीं मिटाया जा सकता। अन्धकारसे तो अन्धकार अधिकाधिक बढ़ेगा। प्रकाशके आते ही अन्धकार स्वयं नष्ट हो जायगा, अन्धकार रह नहीं सकता। स्नेहके सामने असुरता टिक नहीं सकती। हम अपने जीवनमें स्नेहका निर्मल प्रकाश बिखरने दें। हमारा जीवन, हमारा जगत् निर्मल प्रकाशसे प्रकाशित हो जायगा—निर्मल स्नेहसे सरस हो जायगा। स्नेह हमारे

पारिवारिक जीवनको, व्यापारिक सम्बन्धोंको, शारीरिक स्वास्थ्यको, तन-मनको सुखसे प्लावित कर देगा ।

अपना वास-स्थान पूछनेपर महर्षि वाल्मीकिने भगवान् रामको बताया—'आप उनके हृदयमें निवास करिये, जो सबके प्रिय और सबके हितकारी हैं ।

'तिनके हृदय बसहु रघुराया।' 'सब के प्रिय सब के हितकारी ॥'

स्नेहकी शक्ति इसीलिये सर्वश्रेष्ठ है कि वह कण-कणमें सर्वत्र और समान रूपसे व्यापक हरिको उसी प्रकारसे अभिव्यक्त कर देती है, जैसे लकड़ी आगको। इसीलिये—

प्रीति की रीति न जाति बखानी ॥

बस, स्नेहकी इस सर्वश्रेष्ठ और अतुल शक्तिको अपने जीवनमें जाग्रत् करें, विकसित करें, जो सम्पूर्ण सुखका मूलस्रोत है ।

—श्रीराधेश्याम

एक अँगरेज भक्त

(लेखक—श्रीकुबेर भाई)

कुछ वर्षों पहले प्रसिद्ध उदासीन संत श्रीरामेशचन्द्र-जी महाराजने अपनी कथामें एक दिन एक अंग्रेज इंजीनियरके जीवनकी बड़ी ही आश्चर्यजनक अद्भुत सत्य घटना सुनायी, जिसे सुनकर सभी लोग गद्गद हो गये ।

उन्होंने कहा एक अंग्रेज मुझको बिहारमें साधुवेषमें विचरता हुआ मिला था और उसने मुझको देखते ही कहा था—

'मेरे प्यारे, कृपाकर श्रीसीताराम कहो' (My dear, please say Shri Sita Rama). एक विदेशी और विधर्मी अंग्रेजके मुखसे भगवान्‌का नाम सुनकर एवं उनको एक वैष्णव साधुके वेषमें देखकर मुझे बड़ा ही आश्चर्य हुआ। मैंने उनको अपने पास प्रेमसे बैठाकर पूछा—'आपके जीवनमें यह अद्भुत परिवर्तन एकदम कैसे हुआ और आपने सब पदार्थोंपर लात मारकर साधुवेष कैसे धारण किया तथा इस प्रकार भगवान् श्रीसीतारामजीके परम भक्त कैसे बने ?' इसके उत्तरमें वह अंग्रेज एक लंबी गहरी साँस लेकर फूट-फूटकर रोने लगा और बोला, 'हाय ! मैंने भारतमें जन्म नहीं लिया, मेरा इतना समय व्यर्थ ही सांसारिक प्रपञ्चमें व्यतीत हो गया और मुझसे श्रीसीतारामजी महाराजका भजन नहीं हुआ ।' फिर उसने कहा कि "मैं एक इंजीनियर था और इंग्लैंडसे बिहारमें एक डैम (बाँध) बनानेके लिये बुलाया हुआ आया था । मैं ही उसका इन्चार्ज भी था । वर्षा बड़ी भयंकर होनेसे बाँधके टूटनेका भारी खतरा पैदा हो गया, बाँधमें दरारें भी पड़ गयीं। मैं बाँधके टूटनेपर अपनी एवं अपने देशकी बदनामीके डरसे बहुत ही उदास और हताश हो गया। एक दिन मैं बड़ा चिन्तित होकर उस बाँधपर घूम रहा था, कि मैंने देखा बाँधपर काम करनेवाले पूर्वी मजदूरे भगवान्‌के नामका कीर्तन कर रहे हैं । मैंने पहले कभी कीर्तन नहीं देखा था । इसलिये मैं उन मजदूरोंके पास गया । पूछनेपर उन लोगोंने बताया कि यह हमारी पूज्य श्रीसीताजी महारानीका मन्दिर है, इस समय हम उनके सामने उन्हींका कीर्तन-भजन कर रहे हैं—जो कोई भी हमारे इस मन्दिरमें श्रीसीताजी महारानीके सामने खड़ा होकर सच्चे मनसे इनसे किसी बातकी भी प्रार्थना करता है तो श्रीसीतारामजी महाराजकी कृपासे

उसकी सारी मनोकामना पूर्ण हो जाती है । मैंने उन लोगोंसे कहा कि आप मेरी ओरसे भी अपनी देवी श्रीसीताजीसे प्रार्थना कर दें कि यदि मेरा बाँधा हुआ बाँध टूटनेसे बच गया तो मैं एक बहुत ही सुन्दर श्रीसीतारामजी महाराजका मन्दिर अपनी ओरसे पैसे खर्च करके बनवा दूँगा । मजदूरोंने कहा—ठीक है, और उन मजदूरोंने मेरी ओरसे भी प्रार्थना कर दी ।

"फिर मुझसे कहा कि 'अच्छा साहब, अब आप जाओ और विश्वास रक्खो कि आपका काम अवश्य पूरा होगा । अब यह बाँध नहीं टूट सकेगा ।' तब मैं वापस अपनी कोठीपर चला आया । उसी शामको बड़े जोरसे फिर वर्षा प्रारम्भ हो गयी, फिर तो मैं बहुत घबरा गया और मेरे मनमें पूरा निश्चय हो गया कि अब बाँध अवश्य टूट जायगा । किसी प्रकार बच नहीं सकता और यदि ऐसा हुआ तो मेरे करे-धरे सबपर पानी फिर जायगा । इन्हीं विचारोंके परिणामस्वरूप मेरे मनमें आत्महत्या करनेका विचार पैदा हो गया । मैंने उसी समय अपने ही हाथोंसे एक वसीयत लिख डाली, उसमें यह भी लिखा था कि 'मैं अपनी ही इच्छासे अपनी आत्महत्या कर रहा हूँ, इसमें दूसरे किसीका भी दोष नहीं है ।' उस लेख-पत्रको अपनी मेजपर रखकर मैं बाँधकी ओर चल पड़ा । मैंने यह मनमें निश्चय कर लिया कि बाँधके साथ ही मेरी भी मृत्यु हो जायगी । इस प्रकारका विचार करके जब मैं उस जोरोंकी वर्षामें बाँधपर चढ़ गया । वहाँ जाकर मैं क्या देखता हूँ कि वर्षामें एक साँवला और एक गोरा दो बालक बाँधके नीचे खड़े हैं और बाँधमें पड़ी दरारोंको अपने हाथोंसे मिट्टी लगाकर बंद कर रहे हैं । यह घटना देखकर मैंने उन मजदूरोंको बड़े जोरसे आवाज देकर बुलाया । वे आये तो मैंने उनसे कहा कि 'देखो यह बाँध अभी-अभी गिरनेवाला है, इसके नीचे दो सुन्दर बालक खड़े हैं, इनको जल्दी यहाँसे हटा दो, नहीं तो ये दोनों बाँधके नीचे दबकर मर जायँगे ।' तब उन मजदूरोंने देखा तो उनको बालक दिखायी नहीं पड़े, उनके पूछनेपर मैंने बालकोंका हुलिया बतलाया कि वे दोनों बालक अत्यन्त सुन्दर हैं, उन दोनों गौर-श्याम बालकोंके सिरोंपर बड़े ही सुन्दर मुकुट बँधे हुए हैं और दोनोंकी भुजाओंमें धनुष-बाण हैं । मेरी इस बातको सुनकर मजदूरोंने कहा कि 'ये दोनों बालक कोई साधारण बालक नहीं हैं । ये तो परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीराम-लक्ष्मणजी हैं । आप बड़े ही भाग्यशाली हैं जो आपको साक्षात् प्रभुके दर्शन हो गये, अब आपका बाँध कदापि नहीं टूटेगा । आप बिल्कुल निश्चिन्त हो जायँ, आपने जिन भगवती श्रीसीताजी महारानीके सामने बाँधकी रक्षाके लिये खड़े होकर प्रार्थना करायी थी, आज उन्हींके स्वामी स्वयं अपने हाथोंसे आपके बाँधके बचानेकी कोशिश कर रहे हैं । फिर, भला यह कैसे टूट सकता है ।' इतना सुनते ही उसी समय मैं बेहोश हो गया, तब मुझे कुछ लोग उठाकर मेरी कोठीमें पहुँचा आये । कुछ देर बाद होश आनेपर मैंने विचार किया कि जिन प्रभु श्रीराम-लक्ष्मणजीने मेरे लिये अपने हाथोंसे बाँधका काम किया और बाँध टूटनेसे बिल्कुल बच गया तो अब उन्हींका होकर रहना है, मेरा इन संसारी धंधोंमें फँसे रहना व्यर्थ है । मैंने उसी समय अपना कोट, बूट, टोप, पतलून और सब मालमत्ता छोड़कर तुरंत साधुवेष धारण कर लिया और जंगलको चल दिया । अब मैं श्रीसीतारामजी महाराजका भजन किया करता हूँ और जो कोई मिलता है उससे भी भगवान् श्रीसीतारामजीका भजन करनेके लिये प्रार्थना करता हूँ, उसके द्वारा सीतारामजी कहनेसे मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है ।"

अच्छा, बोलो श्रीसीतारामजी महाराजकी जय !

ब्रह्मकी सर्वरूपता

(लेखक—श्रीशिवमूर्तिजी)

आकाश (गगन) का गुण शब्द परा-अपरा दो प्रकारके होते हैं, जिसमेंसे एक वास्तविक, दूसरा अवास्तविक होता है। अवास्तविक शब्दान्तर्गत पश्यन्ती, वैखरी, मध्यमा वाणी होती है, जिनका उच्चारण स्वर-व्यञ्जनके संयोगद्वारा होता है।

स्वरकी ही सहायता एवं व्याप्तिसे व्यञ्जन उच्चरित होते हैं अन्यथा व्यञ्जन (शव) की भाँति अनुच्चरित रहते हैं, केवल दृष्टिगोचर होते हैं—जैसे वाक्।

यह स्वर ही परा शब्दको प्रकट करता है, जो आकाशका आकार है, जो समस्त तत्त्वोंमें व्याप्त रहता है और वही सबका आदि-अन्त है। ब्रह्म (गगन) सदृश अक्षरोंमें स्वर माना जाता है। यही ब्रह्मकी सर्वव्यापकताका प्रमाण है, जिसके सांनिध्यसे इस मायिक (अवास्तविक) काल्पनिक संसारका आभास प्राप्त होता है, जो व्यञ्जनाक्षर है।

जब स्वर व्यञ्जनमें प्रविष्ट होता है, तब उसकी अक्षरता व्यञ्जनमें निहित हो जाती है और व्यञ्जनाक्षर हो जाते हैं। इसी भाँति काल्पनिक (असत्) क्षर सृष्टि भी ब्रह्मकी सत्ताके आधारपर सत्यवत् होने लगती है, यही सत्के आधारपर असत्की टिकानका दृष्टान्त है।

कल्पना चेतन प्राणियोंके अतिरिक्त दूसरा कर ही नहीं सकता और कल्पनाएँ भी जड होती हैं; क्योंकि वे स्वयं कार्यान्वित नहीं होतीं, जबतक कि कल्पना करनेवाला उसे कार्यान्वित न करे। इसके अतिरिक्त कल्पनाओंमें एवं कार्यान्वित कल्पनाओंमें भी परिवर्तन होता रहता है, जिसे क्षति भी कहते हैं। जैसे स्व-धन, स्व-प्राणी, स्व-शरीर आदिकी क्षतिसे अपनी ही क्षति मानकर दुःखका अनुभव होता है, यद्यपि वास्तवमें उसकी क्षति नहीं होती; क्योंकि वही पुनः धन-प्राणी एवं नवीन शरीर उत्पन्न कर सकता है और करता भी है। अल्पज्ञताके ही कारण यह अनुभव होता है।

रूपान्तरण यानी परिवर्तनके तीन ही क्षेत्र होते हैं—स्थूल, सूक्ष्म, कारण, जिनमें केवल स्थूलान्तरण प्रत्यक्षाभासिक होता है। सूक्ष्मान्तरण तो सूक्ष्मदर्शी यन्त्रोंद्वारा एवं वैज्ञानिक प्राणियोंके द्वारा ज्ञात होता है और कारण तो केवल महात्माओंके ही द्वारा ज्ञात होता है।

प्रत्यक्षाभासित होनेके कारण दो-दो प्रकारकी सत्ताओंको मान्यता देनी पड़ती है—जैसे सत्-असत्, चित्-अचित्, सुख-दुःख, प्रकाश-अन्धकार आदि। एक ही ब्रह्म अथवा पदार्थमें दो प्रतिकूल सत्ताओंके आभाससे ब्रह्म एवं पदार्थ (माया) को अनिर्वचनीय मानना पड़ता है।

सत्की सत्ता एवं असत्का अभाव दोनों ही सत्य होते हैं। इसी प्रकार चित्की चेतना, अचित्की जडता, अक्षरकी अमरता, क्षरका नाश, प्रकाशकी ज्योति, अन्धकारका तमादि भी सत्य होते हैं और ब्रह्मके अतिरिक्त कोई 'सत्' होता ही नहीं, वही सच्चिदानन्द है।

कथित दो-दो भाँतिकी परिस्थितियोंका द्रष्टा-नियन्त्रक, स्व-सत्तासूचक चेतनात्मा ही होता है—जैसे नेत्र ही समस्त संसार एवं पदार्थोंको देखते हैं, अन्य कोई नहीं देख सकता।

अब निर्वचनके सम्बन्धमें विचार कीजिये। इस प्रत्यक्ष आभासित पिण्ड एवं ब्रह्माण्डका ही पूर्ण निर्वचन नहीं किया जा सकता, तब निराकार ब्रह्मको अनिर्वचनीय मानना ही पड़ता है।

ब्रह्म इस संसारके समस्त पदार्थों एवं प्राणियोंमें 'ज्ञान-शक्ति, तेज-ऐश्वर्य, बल-वीर्यादि' आकारोंमें व्याप्त रहता है और उन्हींकी विभूतिसे इसका ज्ञानाभास प्राप्त होता है; किंतु प्राणियोंके भिन्न-भिन्न स्वभाव होनेसे **'पिण्डे पिण्डे मतिर्भिन्ना'** उस ब्रह्मको कोई **'आत्मवत्**

पश्यति कश्चिदेनम्' शरीरको ही आत्मा कहते हैं। कोई आत्माको **'शून्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्'** शून्यवत् मानते हैं। कोई विश्वको—**'ब्रह्मवत् पश्यति कश्चिदेनम्'**.... कोई ब्रह्मको—**'विश्ववत् पश्यति कश्चिदेनम्'**। अतः महात्माओंने यह निष्कर्ष निकाला है कि—

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥

यही ब्रह्म एवं ब्रह्माण्डकी अनिर्वचनीयताका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

अनुभवके कुछ क्षण

(लेखक—श्रीविश्वेश्वरनारायणजी)

हम जहाँ भी हों, संसारके किसी भी कोनेमें वास करते हों, हमारा हर कार्य, हर व्यवहार भगवान्के सम्मुख होना चाहिये। हम यह सदैव स्मरण रक्खें कि भगवान्की दिव्य मनोहर झाँकी सदा सर्वत्र हमारे सम्मुख है, हमारे सामने है। हम जिस किसी भी व्यवहार या कार्यको करते हों, यह सदैव स्मरण रक्खें कि यह कार्य हमारे प्यारे—प्रभुका उन्हींकी प्रीतिके लिये है। हम उनके सेवक बनकर, उनके कर्मचारी बनकर उनके कार्योंको सँभाल रहे हैं। हम यदि कोई उत्सव मनाते हों या मनोरञ्जन करते हों, तो हमें सदैव यह स्मरण रहे कि भगवान्की दिव्य झाँकी लगी है। वह उत्सव, वह मनोरञ्जन-कार्य हमारे प्रभुका ही उत्सव और मनोरञ्जन है और उनकी ही प्रसन्नताके लिये हम इसे कर रहे हैं। धर्म-सम्मेलन, जैसे—हरिनाम-यश-संकीर्तन-सम्मेलन इत्यादि, विवाहोत्सव या कोई भी वार्षिक उत्सव मनाते हों, सबमें हमारी यही भावना परिपक्वरूपसे बनी रहे कि हम उस उत्सवको भगवान्की झाँकीके, उनके दिव्य आनन्दमय दरबारके सम्मुख कर रहे हैं, भगवान् स्वयं प्रत्यक्षरूपसे हमारे कार्योंको देख रहे हैं और प्रसन्न हो रहे हैं।

इतना ही मात्र न रहे, हम और भी आगे बढ़ें। जब हम जल पी रहे हों, उस क्षण समझना चाहिये कि भगवान्का दिया हुआ अमृत-जल है, उनका चरणोदक है, उसमेंसे स्वयं भगवान्का दिव्य रस टपक रहा है। उसी तरह अन्न-ग्रहण करते समय समझें यह हमारे प्यारे प्रभुका दिव्य प्रसाद है। भगवान्का राजभोग लगा हुआ है और हम उसीका प्रसाद पा रहे हैं। धूपमें बैठे हों तो समझना चाहिये, हम भगवान्के दिव्य आलोक—प्रकाशपुञ्जका आनन्द प्राप्त कर रहे हैं। स्वयं हमारे प्रभु ही भुवन-भास्कर होकर अपना दिव्य प्रकाश-पुञ्ज फैला रहे हैं। हमारे अंदर जीवन—नव-जीवनका रस-संचार कर रहे हैं। हम जब टहलने निकलें या जो कुछ हमें हवाका संचार मिले, उसमें भी शीतल-मन्द-सुगन्ध भगवान्का ही नित्य नवीन अनुभव करते रहें। हम यह समझें कि स्वयं भगवान् ही पवन बनकर हमारे चारों ओर सिहरनका आनन्द फैला रहे हैं। पुष्पोंमेंसे सुगन्ध ला हमारे चारों ओर फैलाते जा रहे हैं।

इस प्रकारके अनुभवमें भगवान्की इस रसानुभूतिमें सचमुच बड़ा ही आनन्द है। जीवन भगवत्-सेवामय बन जायगा, भगवान्के दिव्य प्रेम-रससे सराबोर हो जायगा, आवश्यकता है मन, बुद्धि, चित्त, अहंकारको एकाकार करके भगवान्के चरणकमलोंमें समर्पण कर देनेकी।

* * *

क्या किसीने आपकी कोई हानि की है ?

(लेखक—श्री ए० डी० हेफ्ले, अमेरिका)

ईसामसीहने कहा—'अपने शत्रुको प्यार करो ।' पीछे अब्राहम लिंकनने यही विचार दूसरे शब्दोंमें व्यक्त किया—'किसीके प्रति द्वेष न रखो, सबके प्रति उदारताका भाव बढ़ाओ और इस प्रकार राष्ट्रके घावोंकी पूर्ति करो ।'

इस प्रकार संसारके दो महान् पुरुषोंने, जिनमें एक ईसाईधर्मके प्रवर्तक हैं और दूसरे एक देशके महान् नेता हैं, जिन्होंने परस्पर झगड़ते हुए अपने देशवासियोंमें शान्ति एवं सद्भावनाका प्रसार करनेका प्रयत्न किया, संसारकी दो महान् विरोधी शक्तियों—प्रेम और घृणाका महत्त्व ठीकसे अनुभव किया। प्रेम एवं घृणाका यह संघर्ष आज भी उसी प्रकार गतिमान् है ।

विश्व-इतिहासके इन दो महान् पुरुषोंद्वारा दी गयी चेतावनीपर विभिन्न राष्ट्रोंके नर-नारी ध्यान क्यों नहीं देते तथा क्यों नहीं इसे अपने जीवनमें उतारते ? दूसरेके प्रति घृणा करना, विरोधी विचारोंको हृदयमें स्थान देना तथा अपने स्वार्थको प्रधानता देना आध्यात्मिक दृष्टिसे आत्महत्या करना है । ईसामसीह इस बातको ठीकसे अनुभव करते थे । इसीसे उन्होंने पारस्परिक प्रेमको प्रधानता दी । महान् विजेता लिंकन क्रोध, द्वेष और घृणाके विनाशकारी प्रभावको जानते थे; क्योंकि ली (Lee) की सेनाके आत्म-समर्पण करनेपर उन्होंने अपने सेनानायकको वहाँके निवासियोंके साथ दया और प्रेमका व्यवहार करनेका आदेश दिया । लिंकनके इस महान् दयापूर्ण व्यवहारसे यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य अपने शत्रुओंके प्रति भी प्रेम कर सकता है ।

इतिहासमें एक भी उदाहरण नहीं है, जहाँ घृणा और प्रतिशोधके द्वारा किसी अच्छे कार्यकी सिद्धि हुई हो । द्वेषपूर्ण विचार या भावना मनुष्यकी मानसिक शान्ति और आनन्दको नष्ट कर डालती है । असंयत नकारात्मक भावनाओंसे मनुष्यका व्यक्तित्व संकुचित हो जाता है, उसकी निर्णय करनेकी शक्ति कुण्ठित हो जाती है, उसका विवेक लुप्त हो जाता है और वह अपनेको अपने वास्तविक रूपमें देखनेमें असमर्थ हो जाता है । ये भावनाएँ विज्ञानद्वारा आविष्कृत भीषणसे भीषण जहरसे अधिक हानिप्रद हैं; क्योंकि इनका मनुष्यके शरीर, मन एवं आत्मा—तीनोंपर विनाशकारी प्रभाव पड़ता है । जिसके प्रति घृणा की जाती है, उस व्यक्तिकी उतनी हानि नहीं होती, जितनी घृणाको अपने हृदयमें स्थान देनेवालेकी ।

डा० फ्रैंक क्रेन (Dr. Frank Crane) ने लिखा है—'प्रतिशोधकी भावना सबसे घातक मनोभाव है, जो मनुष्यको अपना गुलाम बनाता है । जब तुम अपनेको आघात पहुँचानेवालेको आघात पहुँचाना चाहते हो तो तुम्हारी कामना ऐसी वस्तुके लिये है, जो चाहके समय तुम्हें उत्तेजित करती है, जो मिलनेपर तुम्हें निराश बना देती है और जब सारा खेल समाप्त हो जाता है तब स्वयं अपनी ही दृष्टिमें तुम्हें हीन अनुभव कराती है ।'

संसारमें युद्धकी विभीषिकाओंसे संत्रस्त क्षत-विक्षत नर-देह मानवकी घृणा एवं प्रतिशोधकी भयंकर प्रवृत्तिके ही घृणित रूप हैं ।

अब यह देखना है कि मानवकी इस उन्मादभरी प्रवृत्तिसे किस प्रकार निपटा जाय ? इस पैशाचिक मनोवृत्तिका, जिसने इतने कालसे मानवको अपना गुलाम बना रखा है, किस प्रकार उन्मूलन किया जा सकता है ? प्रतिशोध एवं घृणाके भावको कोई भी अपने हृदयमें स्थान देकर सुखी नहीं हो सकता ।

क्या आप अपने शत्रुको मित्रके रूपमें बदलना चाहते हैं ? यदि हाँ, तो उसके प्रति भलाईका श्रीगणेश कीजिये, उसमें कम-से-कम एक सद्गुण खोजनेका प्रयत्न कीजिये । आपको आश्चर्य होगा कि आप उसमें अनेकों सद्गुण प्राप्त कर सकते हैं; शर्त केवल इतनी है कि आप उस प्रसङ्गको भूल जायँ, जिसको लेकर आपके मनमें उसके प्रति वैमनस्य उत्पन्न हुआ है । आप अपनी भावनासे अपने उस कल्पित शत्रुको उस निर्मल रूपमें देखिये जिस रूपमें आप उसे देखना चाहते हैं । आप उसे भगवान्‌की सर्वोत्तम कृतिके रूपमें, जिसके जीवनमें भगवान्‌की इच्छा ही सक्रिय हो रही है, देखिये ।

यह भय मत कीजिये कि आपका सत्प्रयत्न व्यर्थ होगा । आपके शुभ विचार वातावरणमें फैल जायँगे और आपमें तथा आपके शत्रुमें शान्ति एवं मैत्री हो जायगी । सत्य अपना प्रभाव आपमें तथा आपके माध्यमद्वारा दूसरोंमें अवश्य प्रकट करेगा । सत्य आपके सम्मुख वह सरल स्थिति उत्पन्न करेगा, जिससे आप अपने शत्रुको प्यार करना सीख जायँगे ।

घृणाकी भावनापर विजय प्राप्त करनेकी प्रथम सीढ़ी है क्षमा । आरम्भमें क्षमाका आचरण कठिन अनुभव हो सकता है, परंतु क्षमा मनुष्यके लिये परम आवश्यक है । महापुरुषोंने बताया है कि जिस प्रकार चेचक, राजयक्ष्मा तथा ऐसे ही संक्रामक भीषण रोगोंकी रोक-थाम हो सकती है, वैसे ही घृणाके भावोंका भी प्रतीकार सम्भव है । निःसंदेह घृणाके भावका प्रतीकार एवं परिशोधन न केवल शारीरिक स्वस्थता प्रदान करते हैं, अपितु एक अभूतपूर्व मानसिक शान्ति उत्पन्न करते हैं ।

स्वस्थ मस्तिष्क किसीको हानि पहुँचाने, नष्ट करने अथवा प्रतिशोध लेनेकी इच्छा नहीं करता । आनन्द एवं शिव मानव-जातिकी अमूल्य निधियाँ हैं और इनका सक्रिय रक्षण होना चाहिये । वास्तवमें सुन्दर एवं शिवका इस जगत्में अभाव नहीं है । भगवान्ने हमारी सुख-सुविधा एवं आनन्दके लिये आवश्यक प्रत्येक वस्तु प्रचुरतासे हमें दी है, आवश्यकता केवल उन्हें अपनानेकी है ।

पक्षियोंका सुमधुर गान, उषाकी स्वर्णिम अरुणिमा और वर्षाकी बूँदोंका रिम-झिम रूपमें बरसना—ये सब हमारे सुखके साधन हैं । अपने चारों ओरकी छोटी-छोटी वस्तुओंसे आनन्द लेने तथा उनपर गम्भीरतापूर्वक विचार करनेमें हम अपने सम्पूर्ण जीवनको लगा सकते हैं और इस प्रकार विनाश एवं निराशाके विचारोंके लिये हमारे पास अवकाश ही नहीं रह सकता ।

क्या किसीने आपकी कोई हानि की है ? यदि हाँ, तो उसपर ध्यान न दीजिये; क्योंकि आपको बहुत कार्य करने हैं । चपत लगानेवालेके सामने अपना दूसरा गाल कर देना केवल ईसाकी आज्ञाका पालन मात्र नहीं है, इसके द्वारा हम आनन्द एवं मानसिक शान्तिके बीज डालते हैं । बुराईके बदले भलाई करना केवल असम्भाव्य आदर्श मात्र नहीं है, यह तो क्रियारूपमें आनेवाली नित्यप्रतिकी चीज है ।

क्या यह सम्भव है कि कोई मनुष्य अपनी गोदमें अंगारे लिये रहे और जले नहीं ? क्या घृणा करनेवाला दूसरोंसे घृणा पाये बिना रह सकता है ? अपवित्रता, पाप, पीड़न तथा इनसे उत्पन्न अस्वाभाविक परिस्थितियों एवं परिणामोंपर ही अपने मनको लगाये रहना ठीक नहीं है ।

जब मनुष्यका मन भगवान्की ओर जाता है, तब वह घृणा एवं प्रतीकारके विचारोंसे मुक्त हो जाता है । जब वह भगवान्की संनिधिकी अनुभूतिका अभ्यास करता है, तब उसको भगवान् नित्य साथ अनुभव होने लगते हैं और समस्त असद् विचार तत्क्षण विलीन हो जाते हैं । मनुष्य कभी भी एक साथ दो विरोधी वस्तुओं—शुभ एवं अशुभको अपने हृदयमें स्थान नहीं दे सकता ।

‘भगवान् नित्य मेरे साथ हैं’—इस सत्यकी अनुभूति जहाँ एक बार मनुष्यको हुई कि अद्भुत-अद्भुत बातें उसके जीवनमें आने लगती हैं । हमारे हृदय एवं मनकी गति ऊर्ध्वमुखी हो जाती है और हमारा विश्वास सजीव शक्तिका रूप ग्रहण कर लेता है । हमारे सम्पर्कमें आनेवाले साथी एवं मित्र लोग भी उस महान् शक्तिसे प्रभावित होते हैं, जो हमारे जीवनको नया रूप दे देती है ।

जब मनुष्यका मन भगवान्के मनके साथ मिलकर चलता है, तब ऐसे-ऐसे चमत्कार सामने आते हैं, जो सांसारिक मनके लिये कभी सम्भव ही नहीं । परमार्थकी ओर दृष्टि रखनेवाला कभी बीते हुए जीवनकी असफलताओं, कष्टों, प्रतिकूलताओं तथा अपमानोंका विचार नहीं करता । पाल (Paul) हमारे सामने आदर्श उपस्थित करते हैं—‘गये दिनोंकी बातोंका विस्मरण करके तथा सामने दीखनेवाली अच्छाइयोंके लिये प्रयत्नशील होता हुआ मैं उत्साह एवं तत्परतापूर्वक अपने लक्ष्यकी ओर बढ़ रहा हूँ ।’

प्रेम जहाँ दूसरोंका हृदय लेता है, घृणा दूसरोंका जीवन । अपने शत्रुको प्यार करनेकी पहली सीढ़ी क्षमा-भाव है । ईसामसीहने आश्वासन दिलाया है—‘यदि तुम दूसरोंसे प्राप्त प्रतिकूलताओंके लिये उन्हें क्षमा कर दोगे तो परमपिता परमात्मा भी तुमको तुम्हारे अपराधोंके लिये क्षमा कर देंगे । ईसामसीहके इन शब्दोंमें एक ओर आश्वासन है तो दूसरी ओर यह चेतावनी है कि अपने जीवनकी निरन्तर होनेवाली भूलोंके लिये तुम्हें बराबर क्षमा-प्राप्तिकी अपेक्षा है और तुम्हें यह क्षमा-दान तभी प्राप्त होगा, जब तुम स्वयं दूसरोंके प्रति क्षमाका वितरण करोगे ।

जरा क्रॉसपर स्थित ईसामसीहका स्मरण कीजिये । वातावरण कितना भयावह है ! रोमन सिपाहियोंके सांघातिक क्रूर भाले चारों ओरसे उनके शरीरके मांसको छेद रहे हैं और नर-पशुओंकी भीड़ नृशंस रूपमें फूत्कार मार रही है, बीभत्स हँसी हँस रही है तथा व्यंगबाण छोड़ रही है; परंतु हमारे ईसामसीहकी मुखमुद्रापर क्या इन उत्तेजक भीषण चेष्टाओंका कुछ प्रभाव है ? नहीं, उनकी मुखमुद्रा शान्त,

गम्भीर एवं दयापूर्ण है । हमलोग इस घटनाको अपने सामने रखें तो हमें अपनी छोटी-छोटी असुविधाओं, प्रतिकूलताओं और विरोधोंकी—जिनमें बहुत-से केवल कल्पनामात्र हैं—स्वाभाविक विस्मृति हो जायगी ।

चारों ओरसे आते हुए उस भीषण हृदय दहलानेवाले शोर-गुलमें ईसामसीहने केवल इतने शब्द कहे—‘परम पिता ! इन सबको क्षमा-दान दीजिये’ और अपने पास खड़े हुए जल्लादको, जिसने भगवान् और मानव-जाति—दोनोंके प्रति घोर अपराध किया है, आश्वासन दिया—‘आज तुम भी मेरे साथ स्वर्गमें निवास करोगे ।’

यदि हम संसारसे घृणाभावको विलीन कर देना चाहते हैं तो यह प्रेमके द्वारा सम्भव हो सकता है; इसका कोई और उपाय नहीं है । ‘परम पिता ! इन सबको क्षमा-दान दीजिये—’इन शब्दोंद्वारा ईसामसीहने इस बातका आदर्श उपस्थित किया है ।

प्यार करनेवालेको प्यार करना मानवताका सामान्य धर्म है । ऐसा करके हम कोई बड़ा कार्य सम्पन्न नहीं करते । परंतु घृणा और द्वेष करनेवालोंको प्यार करना दैवी गुण है । जब केवल घृणाके शब्द मिल रहे हों, उस समय दया और प्रेमसे भरी वाणी बोलना, जब व्यक्तिगत आघात हो रहा हो, उस समय सामनेवालेकी भलाई करना—यह शुभ विवेकका परिणाम है और इसका पुरस्कार भगवान् अपने प्रेमके रूपमें देते हैं ।

युद्ध, स्वार्थ एवं लोभ—ये ईश्वरीय विधानके प्रतिकूल हैं और इनका जन्म मनुष्यके हृदयमें छिपी घृणासे होता है । हमारे विचार ही क्रियाका रूप धारण करते हैं । अतः इनको अपनाकर हमें ईश्वरीय विधानका उल्लङ्घन नहीं करना चाहिये ।

(‘युनिटि’से)

अकारण निन्दा, आलोचना और घृणा मिलनेपर हम क्या करें ?

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, विद्याभूषण, दर्शनकेसरी)

एक महिलाकी अजीब समस्या है । लिखती हैं—

‘मैं एक असहनीय मानसिक वेदनासे अंदर-ही-अंदर घुटी जा रही हूँ । यह दुःख मुझे गुप्त मनमें बार-बार कचोटता रहता है । लोग अकारण ही मेरी निन्दा, कटु आलोचना करते और घृणा दिखला रहे हैं, जब कि मेरा कसूर कुछ भी नहीं है । इस नैतिक अन्यायके कारण मेरी आत्मा चीत्कार कर रही है ।

कुछ महीनोंसे मैं एक ऐसे घरेलू संकटमें फँस रही हूँ कि मेरी आत्मा और गुप्त मनमें प्रतिक्षण एक ज्वाला धधकती रहती है । मुझे डर लगता है कि इस असहनीय वेदनाको सहन करनेमें असमर्थ होकर कहीं मैं मानसिक संतुलन न खो बैठूँ, पागल न हो जाऊँ अथवा उत्तेजनामें आत्महनन-जैसा भयानक पाप न कर बैठूँ ।’

उनकी समस्या

लेखिकाकी आयु ५२ वर्षके लगभग है । वृद्ध हो चुकी हैं । उन्होंने विस्तारसे अपनी आपबीती घटना इस प्रकार लिखी है—

‘लगभग एक वर्ष होने आया कि मेरे देवरके पुत्रकी बहू (जो मेरी बहिनकी पुत्री भी है और जिसे मैं प्राणोंसे अधिक प्यार करती रही हूँ) का तीन हजार रुपयेकी लागतका जेवर चोरी हो गया । वह रातकी गाड़ीसे पटियालासे मेरठ गयी थी । यहाँसे जाते हुए उसने अपने ट्रंकको नहीं देखा था । दोपहरको १२ बजे ट्रंक लगाया था । तभी उसमें जेवरोंका बक्स भी छिपाकर रख दिया था । मेरठ पहुँचनेपर उसे पता लगा कि उसका जेवर गायब है । दुर्भाग्यकी ठोकर कहिये या बदकिस्मती कहिये, उस लड़कीने इस जेवरकी चोरीका इल्जाम मेरे ऊपर लगा दिया । यह बिल्कुल झूठा आरोप है । मेरे साथ अन्याय है । सरासर गलत अकारण आरोप है । मैं ५३-५४ वर्षकी वृद्धा स्त्री हूँ, जिंदगीके अनेक उतार-चढ़ाव देख चुकी हूँ ।

अच्छा-बुरा, उचित-अनुचित, पाप-पुण्य सबको समझती हूँ। मैं आरोप लगानेवाली उस कन्याको इतना प्यार करती हूँ जितना कोई अपने पेटकी पुत्रीको भी प्यार न करता होगा । मैंने अपने हृदयका पवित्रतम निःस्वार्थ स्नेह देकर इसे पाला-पोसा और बड़ा किया है····।

दुर्भाग्यकी ठोकर है कि वही लड़की मुझे ही चोर समझकर अब घृणा, निन्दा और आलोचना करने लगी है। यही नहीं, हर किसीसे मेरी बदनामी करती है, मुझे चोर बताकर अपमानित करती है । यह मेरी आत्मा स्वीकार नहीं करती । मैं अकारण अपमानित और तिरस्कृत जीवनसे मौत बेहतर समझती हूँ ।···· उफ़ ! मुझे अकारण ही कैसा बुरा, सो भी इस बड़ी उम्रमें, लाञ्छन लगा है। आप बताइये, मैं क्या करूँ ? कैसे उस लड़कीपर असलियत प्रकट करूँ ?

भगवान् तो अन्तर्यामी हैं, न्यायकारी हैं । फिर भी वे मेरा न्याय क्यों नहीं करते ? मैंने तो अपने जीवनमें भूलकर भी कोई ऐसा घृणित काम नहीं किया, जिसमें पाप हो और किसीके मनको जरा-सा भी दुःख पहुँचे । मेरी आत्मा चीत्कार करती है और कहती है कि संसारका दुर्व्यवहार एवं कपट है । बताइये, संसार आदमीकी योग्यताओं और चरित्रका सही मूल्याङ्कन क्यों नहीं करता ? मैं हर समय समाजकी इस निन्दावृत्तिकी अग्निमें धधकती रहती हूँ । जेवर तो जिसने चुराया है, वह वापस नहीं देगा । मैं कैसे उन लोगोंका संदेह दूर करूँ ? मेरी तो समझमें कुछ नहीं आता है। मन इस घृणा और आलोचनासे बड़ा ही अशान्त, निराश और दुखी रहता है । कृपया मेरी समस्याका हल बताइये ।'

इस बहिनका पत्र बड़ा लंबा है, जिसमें बहुत-सी घरेलू बातें लिखी हुई हैं । मूल समस्या यही है कि अकारण निन्दा, व्यर्थकी झूठी आलोचना और घृणा मिलनेपर. हम क्या करें ? लोग हमें बुरा कहते हैं, हमारी टीका-टिप्पणी करते हैं, हममें झूठे दोष निकालते हैं, तो हम क्या करें ?

ऊपर जिन बहिनकी समस्या दी गयी है, उन्होंने वास्तवमें कुछ भी नहीं किया। उन्हें अकारण ही निन्दा, घृणा और आलोचना मिल रही है । उनके पत्रमें सच्चे हृदयके उद्गार हैं । उनकी आत्मा सचाई स्पष्ट कर रही है ।

हमारी आत्मा सत्-चित्-आनन्दस्वरूप है । वह सर्वथा निष्कलुष है, निर्विकार है । आत्माकी आवाज़ ईश्वरकी आवाज़ है । हर व्यक्तिमें यह सचाई प्रकट करती है, मनुष्यका मार्ग-दर्शन करती है ।

हम जिसे पवित्रतम मानते हैं, हमारा जो उच्चतम लक्ष्य है, उसमें तनिक-सी रुकावट पड़ते ही, आत्माके रूपमें ईश्वर बोलते हैं, मार्ग दिखाते हैं । यह आत्मा-द्वारा मार्गदर्शन ही धर्मकी प्रधान शक्ति है ।

जब हमसे कोई पाप या अधार्मिक कार्य होता है, तब आत्मा हमें रोकती है और पवित्र मार्ग दिखाती है । भले कामोंको करनेमें भी एक दैवी आनन्द है । यह उस दृष्टिसे हमें मिलता है, जो हमें संतोष देता है । यह हमारी आत्माका ही आनन्द है । आत्मा ही स्थायी देव है ।

जिसका जीवन निष्पाप है, जिसका जीवन पाप-मुक्त है, जो सत्कार्योंमें लगा हुआ है, दैवी कार्य कर रहा है, जिसकी वृत्तियाँ शुभ हैं, सात्विक हैं, उसपर झूठा कलंक लगनेसे मानसिक आघात लगना स्वाभाविक है ।

सम्भव है लोग आपको भी बुरा-बुरा कहते हैं, व्यर्थ ही अकारण निन्दा या आलोचना करते हैं । भाई-बहिन, निकट सम्बन्धी, मुहल्लेवाले, समाज या जनता आपको नहीं समझते और निन्दा ही करते हैं, कलङ्क लगाते हैं, खराबियोंका बखान करते नहीं थकते । यह झूठी निन्दा बुरी जरूर लगती है, किंतु आप क्या करें ?

जो स्थिति आपकी है, वह संसारमें अनेक महापुरुषों, नेताओं, समाजसुधारकों और संत-महात्माओं-

की रही है । समाज उन्हें नहीं समझा; क्योंकि वह तो विचार एवं शिक्षा-प्रगतिमें पिछड़ा हुआ है । इन महापुरुषोंका घोर विरोध और कहीं-कहीं अपमान भी हुआ है । पर वे आत्मासे धैर्य और मनका संतुलन ही पाते रहें ।

वे प्रतिकूलतामें भी स्थितप्रज्ञ रहे, संतुलित रहे । स्थितप्रज्ञके क्या लक्षण हैं ? गीतामें कहा गया है कि जो व्यक्ति अति कामनाओंका त्याग करता है, आत्मतुष्ट रहता है, दुःखोंकी प्राप्तिमें उद्वेगरहित रहता है, सुखोंकी प्राप्तिमें स्थिर रहता है, राग, भय, क्रोध जिसके पूरी तरह वशमें हैं, शुभ तथा अशुभ व्यवहारको पाकर न प्रसन्न होता है, न द्वेष करता है, उसीकी बुद्धि स्थिर है । वही सुखी रह सकता है ।

इनपर भी निराधार कलङ्क लगा था

क्या आप जानते हैं कि माता सीतापर व्यर्थका कलङ्क लगा था, जिसके कारण उन्हें वनवासकी कठोर यातनाएँ सहनी पड़ी थीं । टीका-टिप्पणी करनेवाला एक मूर्ख धोबी था, निपट अशिक्षित आदमी था ! वह अपनी बुद्धिको बड़ी प्रखर समझता था । उसने परम साध्वी सीतामें बहुत-सी कमजोरियाँ निकाल डाली थीं । उनकी आफतोंकी कमी नहीं थी । तनिक कल्पना कीजिये, एक महारानीको गर्भावस्थामें वनवास, निवास और भोजनकी शत-शत असुविधाएँ·······पर सीताजी तो दूधके समान पवित्र थीं । उनमें धैर्य था । उन्हें ज्ञात था कि एक दिन उनकी यशःकीर्ति सूर्यके समान चमकेगी । वे स्थिरबुद्धि रहीं । अन्तमें पुण्य चरित्रकी ही विजय हुई । अन्तमें व्यर्थका कलङ्क लगानेवालोंको लज्जित होना पड़ा ।

महात्मा ईसाका चरित्र, उद्देश्य तथा कार्य अत्यन्त उच्च थे । वे शुभ और सात्त्विक युग लाने और लोगोंमें सदाचारवृत्तिको फैलानेका पवित्र कार्य कर रहे थे । लोग अधिकतर पाशविक वृत्तियोंके होते हैं । अविकसित बुद्धिवाले आदमी उनके ऊँचे उद्देश्यों तथा अच्छे संस्कारोंको न समझे । विरोध होना शुरू हुआ । निर्णय भी उनके विरुद्ध ही हुआ । महात्मा ईसाको मृत्युदण्ड दिया गया । कीलें गाड़कर सूलीपर तिल-तिलकर मरनेको लटका दिया गया । घोर अत्याचार था·······पर ईसाने क्या किया ?

वे बोले, 'हे ईश्वर ! इन अज्ञानियोंको क्षमा करना । ये अविकसित हैं, अविवेकी हैं । इनकी बुद्धि ठीक कार्य नहीं कर रही है । ये अबोध नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं ।'

ईसाकी आत्मा साफ थी । इसलिये क्रोधके स्थानपर उन्होंने शत्रुओंको क्षमा ही करना उचित समझा । मरते हुए भी उनके मनमें गलती करनेवाले भ्रमित मूर्खोंके लिये दया और करुणाकी ही भावना थी । उन्होंने क्षमासे ही मनका संतुलन कायम रखा था ।

स्वामी दयानन्द आर्यसमाजके प्रवर्तक, भारतके महान् नेता, सुधारकोंके सिरमौर थे । अपनी समझसे हिंदू-जातिको व्यर्थके ढोंग और अन्धविश्वासोंसे मुक्त करनेमें उन्होंने बड़ी सेवाएँ की थीं ।

किंतु दुनिया मूर्खों, अशिक्षितों और बहुतसे बुरे विचारके लोगोंसे भरी हुई है । स्वामीजीकी हत्याके लिये हत्यारोंने काँच पीसकर पिला दिया था !

कैसा जघन्य अन्याय था ! कैसी घृणा, अकारण वैर था !!

काँचका विषैला प्रभाव उनके शरीरमें फैलता गया । स्वामीजीके सारे शरीरपर छाले उभर आये थे । उनकी साँस रुक-रुककर चल रही थी । जलनसे उनका सम्पूर्ण शरीर बुरी तरह जल रहा था । जीवन-संध्या निकट थी, दीपक बुझनेवाला था । उनकी परम पवित्र आत्मा नश्वर शरीरको छोड़नेकी तैयारीमें थी; परंतु स्वामीजी सत्य, न्याय, पुण्य, नीति और सदाचार-पर दृढ़ रहनेके कारण तृप्त थे । मृत्युके मुखमें भी चुपचाप आरामसे लेटे हुए थे ।

एक भक्तने पूछा, 'स्वामीजी ! तबियत कैसी है ?

आपके साथ तो अकारण अन्याय हुआ है। व्यर्थ ही घृणा मिली है और अकारण आलोचना की गयी है।'

स्वामीजीने धैर्यपूर्वक उत्तर दिया—'तबियत ठीक है। प्रकाशकी ओर जा रहा हूँ।'

वे वेदमन्त्रोंका उच्चारण करने लगे।

मरते हुए दिव्य ज्योतिकी किरणें छोड़ते हुए बोले—

'हे दयामय! हे सर्वशक्तिमान्!! तेरी यही इच्छा है। मैं आत्माके सुखमें प्राण त्याग रहा हूँ। मैंने सदा अपनी आत्माकी आवाजके अनुसार ही कार्य किया है! हे परमात्मदेव! इन अज्ञानियोंको क्षमा कीजियेगा।'

....

इस समाजमें मूर्ख अभी बहुत हैं। वे आपकी नीति-रीति नहीं समझते। आप उनकी परवा न करें। अपनी आत्माकी आवाज सुनें। यही ईश्वरकी आवाज है। इसीके अनुसार कार्य करें। प्रतिकूलतामें आगे बढ़ें।

संसार कुछ कहता रहे, आप उसीको मानकर संतोष कीजिये जो आपकी आत्मा कहती है। आत्मा ही आपको सही सलाह देती है। यही हमें पाप-कर्मोंसे बचानेवाली है। उसीका मार्ग न्यायपूर्ण है, सदाचारसम्पन्न है।

आत्मामें स्थिर होना ही परम तीर्थ है। सब पवित्रताओंमें आत्माकी पवित्रता ही मुख्य है। आत्मा ही हमें न्यायपूर्ण मार्ग दिखाती है।

राजा हरिश्चन्द्र, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, महात्मा गांधीजी, नेहरूजी आदि सभी विचारक आत्माकी आवाजमें पूर्ण आस्था रखते रहे हैं। उनके न जाने कितने विरोधी रहे होंगे, पर उन्होंने कदापि किसी विरोधकी परवा नहीं की; वे भूले हुए समाजकी थोथी और निस्सार आलोचनाओंसे कभी परेशान न हुए थे। घोर विरोधोंमें भी उनका पूर्ण मानसिक संतुलन बना रहा था।

आत्माके आदेशपर टिके रहनेसे मनुष्यमें आत्मश्रद्धाका विकास होता है। यह आत्मश्रद्धा वरदान है। श्रद्धावान् प्रतिपलपर सफलताके दर्शन करता है। श्रद्धाहीनको ही असफलता मिलती है। आत्मश्रद्धा-विहीन व्यक्ति निष्प्राण ही है।

जब आप अन्धकारमें भटक रहे हों, रास्ता नजर न आता हो, संगी-साथी कोई सलाह न दे, तो आप कृपया आत्माकी आवाज सुनें और उसपर दृढ़ रहें। यह आत्मा ईश्वरका रूप है। सही मार्ग दिखानेके लिये सदा-सर्वदा आपके साथ है।

पाप कहाँ है?

जो बात आपकी आत्मामें चुभे, जिस बातका आपकी आत्मा विरोध करे, वही पाप है। कोई व्यर्थ ही घृणा करे तो करने दीजिये। कुछ परवा नहीं। व्यर्थकी आलोचनाओंसे परेशान होनेकी तनिक भी आवश्यकता नहीं है। बस, आत्मा आपके साथ रहे, यह ध्यान रखिये।

जिनकी आत्मा चुप है, जिन्होंने उसकी आवाजकी परवा नहीं की है, वे ही अभागे हैं। आत्मा निष्पाप है। आप भी निर्मल हैं। फिर कोई कुछ कहता, इससे आपको क्या प्रयोजन?

तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।

(मुण्डकोपनिषद् २।२।१०)

अर्थात् आत्माके प्रकाशसे ही यह सब जगत् भासित होता है।

निधानं सर्वशक्तीनां तेजस्तेजस्विनां तथा।
नात्मानमवमन्येथा भ्रातर्मोहवशं गतः॥

'हे भाई! अज्ञानवश होकर अपनी आत्माका अपमान न करो; क्योंकि वह सारी शक्तियोंका आश्रय है और सूर्य आदि तेजस्वी पदार्थोंका तेज है।'

पढ़ो, समझो और करो

(१)

आनन्दके आँसू

'हार नहीं मिल रहा है। किसीसे कुछ कहते भी बहुत डर लगता है। अभी तीन ही दिन ससुराल आये हुए हैं, एकदम नयी जगह है। किसी प्रकार भी मन नहीं लग रहा है। रुलाई आ रही है; ससुरालवाले समझते हैं पीहरकी याद आती होगी, इसीसे बहूरानीकी रोनी-सी सूरत हो रही है।'

सुशीला पहले-पहल गौना करवाकर कलकत्ते आयी थी। पढ़ी-लिखी सयानी समझदार है। गहना-कपड़ा बहुत सामान साथ लायी है। ससुरालमें बड़ा आदर-सत्कार हो रहा है। सब ओर प्रसन्नता छायी है। सभी नयी बहूका लाड़-प्यार करते हैं। कलतक बहू भी खूब हँस-खेल रही थी। कल शामसे ही उसके गलेका हीरेका हार नहीं मिल रहा है। हार बहुत कीमती है, पर सुशीलाको कीमतकी उतनी चिन्ता नहीं है। वह अपने पिताजीकी लाड़िली बेटी है, पिताजी उससे भी अधिक मूल्यका हार नया बनवा देंगे और उसको हार खो जानेके बाबत कुछ कहेंगे भी नहीं। पर यह बात तो पिताजीसे मिलनेपर न होगी। अभी तो वह ससुरालमें है। कलको सासको पता लग जाय, वह पूछेगी—'हार कहाँ है?' तो वह क्या उत्तर देगी। इसीसे वह बड़ी परेशान है।

कल दुपहरके बाद वह बहुत-सी समवयस्का स्त्रियोंसे घिरी हुई थी। वे सब बहुत प्यार कर रही थीं। उसके गहने-कपड़े देख रही थीं। उसे खिलाती-पिलाती थीं। सुशीला इस आनन्दोल्लासमें भूली थी। शामको उसने देखा तो गलेमें हार नहीं है। तभीसे वह उदास है।

किसी तरह रात निकली। उसने अपने मानस-कष्टकी बात किसीसे नहीं कही। दूसरे दिन प्रातःकालसे ही सुशीलाकी उदासी और बढ़ गयी। मानसिक वेदनाके प्रभावसे उसके सिरमें भयानक दर्द हो गया। इधर आनन्दोत्सवमें लोग मस्त थे, उधर वह अंदर जाकर सिर पकड़े बिछौनेपर उल्टी पड़ गयी। बड़ा भय था, अभी बात खुल जायगी तो मुझे लोग क्या कहेंगे।

इसके कुछ ही देर बाद 'सागरमल ब्राह्मणकी पत्नी' नामसे ख्यात एक ब्राह्मणी आयी। वह घरमें बराबर आया करती थी। सबके साथ उसका सद्भाव था। बहुत गरीब थी, पर थी बड़ी ही नेक और हँसमुख। वह सीधी नयी बहूके कमरेमें चली गयी। बहू तो सिर पकड़े पड़ी थी। ब्राह्मणीने उससे पूछा तो वह इतना ही कह सकी कि 'सिरमें बड़ी पीड़ा है।' ब्राह्मणीने अपनी अँगियामेंसे एक हार निकालकर बहूसे कहा—'बहू! तेरा सिर तो दुखता है, पर मैं कामसे आयी हूँ। कल जब तूने नहानेके समय शामको कपड़े-गहने उतारकर रक्खे थे, उस समय तेरा हार तो बाहर नहीं रह गया था न? सीढ़ियोंमें एक हार कूड़ेके साथ पड़ा था। मैं जब जा रही थी तो मैंने देखा और उठा लिया। कल तेरे गलेमें मैंने ऐसा हार देखा था। अतः मैं उसी समय यहाँ आ रही थी। पर घरसे लड़की बुलाने आ गयी। उसके पिताजीको ज्वर हो गया था, इससे मैं चली गयी ×××।' एक ही श्वासमें ब्राह्मणी इतनी बात कह गयी। सुशीला तो हारका नाम सुनते ही अकस्मात् उठ बैठी। उसके सिरका दर्द जाता रहा और ब्राह्मणीकी बात पूरी होनेके पहले ही वह बोल उठी—'बाईजी! कहाँ है वह हार?' ब्राह्मणीने हार उसके हाथपर रख दिया। अब तो सुशीलाके आनन्दका पार नहीं रहा। उसके नेत्रोंमें आनन्दाश्रु आ गये। घरमें हार खोनेकी बातका सुशीलाके सिवा किसीको भी अबतक पता ही नहीं था। और इसी बीच ब्राह्मणीने हार लाकर सुशीलाको दे दिया। सुशीला इसके इनाममें उसे क्या दे? वह पैर पकड़कर रोने लगी। कृतज्ञता प्रकट करनेके लिये उसके पास शब्द नहीं थे। कुछ समय बाद आश्वस्त होनेपर सुशीलाने अपनी हालत सुनायी और पाँच हजारके नोट लाकर ब्राह्मणीके चरणोंपर रख दिये। ब्राह्मणीने बड़े आदर-स्नेहसे नोट वापस करते हुए कहा—'मुझे तो पता भी नहीं था कि तेरा हार गिर गया है। सब लोग आनन्दोल्लासमें थे। तुझे भी पता नहीं था। हार कहीं नीचे गिर गया होगा और कूड़ेके साथ नौकरने उसे गिरा दिया। बड़ा अच्छा हुआ, भगवान्ने कृपा की कि मैंने देख लिया। अब तेरी खुशी देखकर ही मैं तो निहाल हो गयी। मुझे भारी इनाम मिल गया। फिर इसमें इनामका काम ही क्या है? दूसरेकी चीजपर मन चलाना बेईमानी है और दण्ड पानेका काम है। दूसरेकी चीज उसको दे देना तो

सहज कर्तव्य है। फिर इसमें तो तुझको इतनी प्रसन्न देखनेका बड़ा पुरस्कार मुझे मिल गया है।' सुशीला गद्गद हो गयी। ब्राह्मणी भी आनन्दाश्रु बहाने लगी!

—गिरधारीलाल

(२)

कर्मवीर जोला

एमील जोला (१८४०–१९०२) फ्रांसके प्रथम श्रेणीके उपन्यासकारोंमें माने जाते हैं। उनका प्रारम्भिक जीवन बड़ी दरिद्रावस्थामें कटा। 'ला एसोमॉ' नामक उनके उपन्यासके छपते ही उनपर चारों ओरसे धन और यशकी वर्षा होने लगी और उनकी गणना फ्रांसके प्रमुख नागरिकोंमें होने लगी, परंतु जोलाको समारोह एवं सार्वजनिक जीवनमें कोई रुचि नहीं थी। वे एकान्तमें बैठकर साधना करनेवाले साहित्यसेवी थे। एक बार ऐसा हुआ कि उनकी कुम्भकर्णी निद्रा भङ्ग हुई और उन्हें खुलकर सार्वजनिक जीवनमें भाग लेना पड़ा।

ऐसा हुआ कि १८९४में फ्रांसके कुछ गोपनीय सैनिक तथ्य उसके प्रधान शत्रु जर्मनीके हाथ लग गये। संदेह ड्रेफ़स नामक एक तोपखानेके यहूदी कप्तानपर हुआ। ड्रेफ़सका कोर्टमार्शल हुआ और उन्हें आजीवन कालेपानीका दण्ड मिला। फ्रांस उन दिनों अपने कालेपानीके दण्डितोंको डेविलके द्वीपमें भेजा करता था, जहाँकी भयानक गरमी सहन न कर सकनेके कारण बंदी कुछ वर्षोंमें ही तड़प-तड़पकर मर जाते थे।

फ्रांसके कुछ साहित्यकोंका विश्वास था कि ड्रेफ़स निर्दोष है, परंतु म्याऊँका ठौर कौन पकड़े। राज्य, अधिकारी और जनता तीनों ही बुरी प्रकारसे उत्तेजित थे। जिस समय ड्रेफ़सका कोर्टमार्शल हो रहा था उस समय जनता अदालतके बाहर चीख-चीखकर चिल्ला रही थी, 'देशद्रोहीको प्राणदण्ड', 'ये यहूदी हैं', 'यहूदी विश्वासघाती होते हैं' इत्यादि-इत्यादि। ऐसे विकट समयमें जोला कमर कसकर न्यायकी रक्षाके लिये कूद पड़े। उनके आन्दोलनसे प्रभावित होकर एक उच्च सैनिक अधिकारी मेजर पिकार्ट चुपचाप गुप्तरूपसे मामलेकी छानबीन करने लगे और इस निष्कर्षपर पहुँचे कि ड्रेफ़स निर्दोष है। असली अपराधी मेजर एस्टरेजी नामका एक उच्च अधिकारी है। फलतः एस्टरेजीका कोर्टमार्शल हुआ; परंतु धन एवं सत्ताके बलपर वह निर्दोष छोड़ दिया गया और फ्रांसीसी जनताने कचहरीमें ही गगनभेदी नारे लगाये, 'एस्टरेजी जिंदाबाद', 'फ्रांस अमर है', 'यहूदियोंका नाश हो', 'देशद्रोहियोंका मुँह काला'।

जोलाने सुना तो तड़पकर रह गये। दो दिन बाद ही १३ जनवरी सन् १८९८ को पेरिससे निकलनेवाले 'ला आरोरे' नामक समाचार-पत्रमें उनका 'सम्पादकके नाम पत्र-स्तम्भ'में एक पत्र छपा जो फ्रेंच साहित्यमें एक अमर स्थान रखता है। जिसने भी उस पत्रको पढ़ा; तड़प उठा। फलतः जोलापर मानहानिका अभियोग चला। वे दण्डित हुए; परंतु अपीलमें छूट गये। छूटते ही दूसरा अभियोग चला और लक्षण ऐसे थे कि अबकी बार जोलाको कठोर दण्ड मिलेगा और अपीलमें भी वे नहीं छूट सकेंगे। फलतः मित्रोंके सुझावके अनुसार वे फ्रांस छोड़कर भाग गये और एक वर्षसे भी ऊपर समयतक इंग्लैंडमें ठोकरें खाते फिरते रहे। फ्रांसकी सरकारने उनका नाम सम्मानित व्यक्तियोंकी सूचीसे काट दिया; परंतु जोला विचलित नहीं हुए। वे परदेशसे बराबर आन्दोलन चलाते रहे। अन्ततः फ्रांस-सरकारको झुकना पड़ा। जोलाके विरुद्ध अभियोग वापस लिये गये और वे ४ जून १८९९ को फिर अपनी जन्मभूमिको लौटे। एक दूसरा कोर्टमार्शल बैठा, जिसने ड्रेफ़सको बंदी-गृहसे मुक्त किया। उन्हें न केवल सेनामें अपना पुराना पद फिर मिला, बल्कि उनकी पदोन्नति भी की गयी। एस्टरेजी दण्डित किया गया और जिन अधिकारियोंने ड्रेफ़सके विरुद्ध जाल रचा था, वे सब अपने पदसे पृथक् किये गये।

इस कठोर परिणामके कारण जोलाकी मृत्यु २९ सितम्बर सन् १९०२ को हो गयी।

—श्रीराजेन्द्रप्रसाद जैन, तिस्सा

(३)

अशिक्षित; किंतु सुसंस्कृत

ग्रीष्मकी जलती दोपहरीमें धूलिका बवंडर उड़ाती एस० टी० बस मानो दौड़कर थक गयी हो तथा असह्य तापसे संत्रस्त हो गयी हो, इस प्रकार कोड़ियाखाड़ गाँवके समीप नीमकी शीतल छायामें एक भारी फूत्कार छोड़कर ऐसे खड़ी हो गयी, जैसे थकावट उतारने खड़ी हुई हो।

इस बसके आनेकी प्रतीक्षामें ही खड़ा हो, इस प्रकार

एक मनुष्य वहाँ स्वच्छ चमकते प्याले तथा शीतल जलका डोल लिये पहिलेसे खड़ा था। बसके रुकते ही प्यास तथा गरमीसे व्याकुल यात्री पानीकी माँग करने लगे। वह पानी पिलानेवाला व्यक्ति पहिलेसे ही इस परिस्थितिसे परिचित हो, इस प्रकार शान्त था और जितनी शीघ्रता सम्भव थी, उस शीघ्रता तथा तत्परतासे पानी पिला रहा था। वह इसलिये दौड़-धूप कर रहा था कि बसमें ठंडा पानी पिये बिना कोई छूट न जाय।

सदाकी रीतिके अनुसार कुछ यात्री पानी पीनेके पश्चात् पानी पिलानेवालेको कुछ सिक्के देने लगे; किंतु उसने नम्रतापूर्वक कुछ भी लेना अस्वीकार कर दिया। यह देखकर मैं विचारमें पड़ गया। असह्य मँहगाईके इस जमानेमें थोड़ा-सा काम करके बदलेमें बहुत पानेकी आशा करनेवाले लोगोंकी कमी नहीं है। ऐसी अवस्थामें श्रमका बदला मिलता हो, उसे भी लेना अस्वीकार करनेवाले इस मनुष्यका व्यवहार आश्चर्यजनक था। इसलिये यात्री जो कुछ प्रसन्नतासे दे रहे हैं, उसे ले लेनेकी सलाह मैंने उसे दी।

मुझे उस पानी पिलानेवालेने उत्तर दिया—'साहब! मैं, मेरी पत्नी और एक कन्या—ये केवल तीन सदस्य मेरे परिवारमें हैं। मैं ग्राम-पञ्चायतमें चपरासीका काम करता हूँ। उससे हम तीनोंका भरण-पोषण हो, इतना मुझे मिल जाता है। अब अधिक पानेका लोभ मुझे किसलिये करना चाहिये?'

इस बातचीतके समयमें मानो मोटरकी थकावट दूर हो गयी हो, इस प्रकार वह दौड़ने लगी। पानी पिलानेवाला भी दोनों हाथ जोड़कर ऐसे खड़ा रहा, जैसे यात्रियोंको विदाई कर रहा हो, उसके सम्बन्धमें मुझे अधिक जाननेकी उत्कण्ठा थी। बसमें बैठे यात्रियोंसे पूछनेपर एकने बताया कि पिछले पाँच वर्षसे बिना किसी वेतनके केवल आत्म-संतोषके लिये ये भाई पानी पिला रहे हैं। इनका यह प्याऊ रात-दिन चलता है। दोपहरको बस आनेके समय तो वे अवश्य उपस्थित रहते हैं।

यह सुनकर केवल सेवामें संतोष माननेवाले, सेवाव्रती, अयाचक, अपरिग्रहव्रती, ग्रामीण, अशिक्षित; किंतु सुसंस्कृत मानवकी मैंने मन-ही-मन वन्दना की। (अखण्ड आनन्द)

—मणिभाई आर० सोलंकी

(४)

कृपालुकी असीम माया

गत दिसम्बर ६२ की बात है। छुट्टियोंके दिन थे। मैं अपने घरके स्त्री-बच्चोंके साथ विश्वविख्यात 'जोगफाल्स' देखने गया। 'जोगफाल्स' प्रकृतिनिर्मित भू-स्वर्ग है। यहाँ शरावती नदी शरवेग-गामिनी बनकर ९०० (नौ सौ) फुट ऊँचाईके एक पहाड़से नीचे गिरती है। प्रकृति माताकी इस अनुपम सौन्दर्य-सुधाका पान करनेके लिये देश-विदेशके सैकड़ों यात्री यहाँ आते रहते हैं। हमलोग सागर (जोगफाल्ससे २२ मील दूरपर स्थित एक छोटा-सा आबादीवाला शहर) से निकलकर बसद्वारा दुपहरको जोगफाल्स पहुँचे। वहाँके दर्शनीय स्थानोंको देखते-देखते रात हो गयी। वापस लौटनेके लिये कोई सवारी-वाहन न मिलनेके कारण हमें रातको वहीं ठहरना पड़ा।

क्रिसमसके दिन थे। यात्रियोंसे स्थान भरा था। हमने बहुत देरतक होटलोंमें तथा अतिथि-भवनोंमें जगहकी तलाश की; पर हमें ठहरनेके लिये कहीं जगह नहीं मिली। हम बड़ी परेशानीमें पड़ गये। हमारे साथ सिर्फ बच्चे और औरतें थीं। वे सब कीमती गहने पहने थीं। रातभर निराश्रित बनकर रास्तेपर पड़े रहकर बिताना था।

रातके ११ बज गये। हम सब अत्यन्त निराश-उदास हो गये। ठंड बहुत लग रही थी। शहरसे अलग फाल्सके नजदीक एक सरकारी विशाल अतिथिशाला थी। जब हम अत्यन्त ही निराश तथा उदास होकर आखिरी आशासे वहाँ पहुँचे तो दरवाजे सब बंद थे और बाहर आँगनमें भी बहुत लोग सो रहे थे। हमारे पास बिछौना भी नहीं था। किसी प्रकार रास्तेके किनारे बैठे-बैठे जागरण करनेकी नौबत आ गयी। इधर-उधर भटकने-फिरनेसे हाथ-पैर थक गये थे। बच्चे रो रहे थे। इस करुणामय स्थितिमें एक ओर बैठकर मैं मन लगाकर भगवान्‌से प्रार्थना करने लगा। 'अनाथो देवरक्षितः'। उस प्रभुकी लीलाको कौन जान सकता है। कुछ ही क्षण बीते होंगे कि एक सज्जन मोटरसे उतरकर हमारे पास आये और उन्होंने हमारी सारी हालत सुनी। तदनन्तर वे हमलोगोंको अपनी मोटरमें बिठाकर बड़ी

उदारतासे अपने भवन ले गये । वहाँ पहुँचकर उन्होंने हम सबकी कितने सदाग्रहसे अतिथि-सेवा की, इसे लिखनेमें मैं बिल्कुल असमर्थ हूँ । उन्होंने हमारा स्नेहपूर्ण हृदयसे ऐसा आदर-सत्कार किया मानो हमलोग उनके कोई खास आदरणीय आत्मीय हों ।

पूछनेपर मालूम हुआ कि वे सद्गृहस्थ उस शहरके होटल-संघके मालिक हैं तथा एक बड़ा होटल स्वयं चला रहे हैं ।

निश्चय ही भगवान्‌की अहैतुकी कृपा अति विस्मयकारी है। पर साथ ही उन गृहस्थका यह बर्ताव कितना आदर्श और अनुकरण करनेयोग्य है । हमलोग निराश्रय-से थे, उनसे अपरिचित थे, हमारी उनसे कोई माँग भी नहीं थी, उन्होंने स्वयं आकर हमें आश्रय-दान दिया। उनकी इस सहृदयताका अनुकरण करनेसे बहुतोंको सुखी किया जा सकता है ।

—एल० टि० गणपति एम्० एल्० हल्लि (सागर)

(५)

जिसका है उसीको मिलना चाहिये

बसो निवासी स्व० भाईलाल भाई व्यासके जीवनके ये दो प्रसङ्ग हैं—

एक समय वे सूरतसे कोई प्रदर्शनी देखने बड़ौदा गये थे। वहाँसे लौटते समय समाचार मिला कि अहमदाबादसे मेल-ट्रेन खचाखच भरी आ रही है, इसलिये सूरतकी टिकट नहीं मिलेगी। इसी मेल-ट्रेनसे उन्हें सूरत अवश्य लौटना था, अतः जो भी परिणाम हो सकता था (बिना टिकट ट्रेनमें चलनेका) उसका पूरा विचार करके वे मेलमें बैठ गये । सूरतमें उन्हें किसीने रोका नहीं, वे सुविधापूर्वक घर पहुँच गये। तब क्या उन्होंने टिकटकी चोरी की ? नहीं । उन्होंने दूसरे दिन सबेरे उठकर पहला काम यह किया कि स्टेशन जाकर और सूरतसे बड़ौदाका टिकट लेकर उसे फाड़कर फेंक दिया ।

उनसे जब पूछा गया कि टिकटके जो पैसे बचे थे, उसे किसी संस्थाकी सहायता करनेके बदले सामान्य दृष्टिसे अटपटा लगनेवाला यह कार्य आपने क्यों किया ? तो उन्होंने बताया—'जिसका जो अधिकार है, उसीको वह मिलना चाहिये ! रेलवेका पैसा मेरेपर ऋण निकला । वह मुझे एक या दूसरी किसी भी रीतिसे उसे लौटाना चाहिये था । मैं किसी संस्थाकी सहायता इससे कैसे कर सकता था । ऐसा करनेकी सम्मति मुझे रेलवे अधिकारियोंने तो दी नहीं थी। इस प्रकार एकका धन उसकी सम्मतिके बिना दूसरेको देकर मैं दुगुने पापका भागी बना होता ।'

× × ×

एक बार उनके बड़े पुत्रने उनके छोटे पुत्र (अपने छोटे भाई) को कार्ड लिखा । छोटे पुत्रने कार्ड पढ़ा, उसे लगा कि यह पत्र पिताजी भी पढ़ लें तो अच्छा । इसलिये उसने अपने नामको रखकर शेष पता काट दिया और अपने पिताजीका नाम-पता नीचे लिख दिया । जैसे वह अपने पिताके पास हो और कार्ड उसे उस पतेपर मिलनेवाला हो । यह करके कार्ड उसने डाकमें डाल दिया । ऐसा करनेका उसका तात्पर्य यह था कि उसे दूसरा पोस्टकार्ड खर्च न करना पड़े और पिताजी सब समाचार जान लें ।

श्रीभाईलाल भाई व्यासजीको जैसे ही यह कार्ड मिला, उन्होंने पता देखा और तुरंत कार्डके मूल्यका टिकट पोस्ट-आफिससे खरीदकर उन्होंने फाड़ दिया । फिर उन्होंने अपने पुत्रको लिखा—'तुमने जो पोस्टकार्ड भेजा, वह मुझे मिल गया । लेकिन अब कभी आगे ऐसा मत करना । ऐसा करना पोस्टकार्डकी चोरी कही जाती है । मैंने पोस्टकार्डके मूल्यका टिकट लेकर फाड़ दिया है । मुझे यह कार्ड पढ़नेके लिये भेजनेकी इच्छा ही थी तो दूसरे कार्डपर उसकी प्रतिलिपि करके अथवा कार्डको लिफाफेमें डालकर तुम भेज सकते थे । इसलिये अब ध्यान रखना फिर ऐसी भूल न हो ।'

(अखण्ड आनन्द)

—लल्लूभाई ब. पटेल

(६)

गो-रोगनाशक मन्त्र और दवा

सेवामें गो माताके लिये एक सिद्ध साबर मन्त्र लिखकर भेज रहा हूँ, आशा है उपकारार्थ अपने 'कल्याण'में प्रकाशित

करेंगे—मन्त्रमें जरा भी हेर-फेर नहीं करके अविकल छाप देना चाहिये—

मन्त्र—

ॐ पर्वत ऊपर परसी गाँव तहाँ बसैं पहलू पाँडे नाँव,
पहलू पाँडेके सात पुत्र खँगा खोरा उरका घुरका घुमरी छाव छय—
पठाईं दोहाई पहलू पाँडेकै जोई दुख रहे तो तोहराँके पाप होय ॥

विधि—इस मन्त्रको रविवारके सूर्योदयके पहले तोड़े हुए पीपलके पत्तेपर काली स्याही और कलम (देसी कलम नरकट या सरहरीकी लोहेकी कलमसे नहीं) से लिखकर गूगुलका धूप देना, पश्चात् गायके बायें और बैलके दाहिने सींगमें नये श्वेत वस्त्रमें लपेटकर बाँध देना—इससे गाय, भैंस, भेंड़-बकरी इत्यादि सभी जानवरोंकी बीमारी दूर हो जाती है।

दूध बिगड़ने (खून-सरीखे दूध निकलने) जानवरों (गायों-भैंसों) के दूध निकालते समय कूदने-छटकने-मारनेको दौड़ने इत्यादि रोगोंके लिये एक विचित्र गुणकारी ओषधि (जड़ी) है, जो नैपालकी तराईके जिलों (गोरखपुर-बस्ती-चम्पारन इत्यादि) में मिलती है। उस जड़ीका एक टुकड़ा दतुअँन-सरीखा एक इंचका लेकर धूप देकर दूध देनेवाली गाय-भैंसोंके सींगमें बाँधनेसे जानवर कुछ देरमें ही अच्छा हो जाता है। उस जड़ीका नाम 'गँभार' है। आम-महुआ-सरीखा पेड़ होता है। इसका पत्ता पान-सरीखा होता है। देहातके लोग इस जड़ीको अच्छी तरहसे जानते हैं।

—शिवचैतन्य ब्रह्मचारी, महेश्वर (नेमाड़)

(७)

बिच्छूकी सिद्धौषध

जिस जगह बिच्छू काटा हो, उस जगहपर दो तोले गुड़में आधा तोला नमक, एक रत्ती फिटकरी और एक रत्ती पोटैशियम परमैंगनेट मिलाकर बाँध देनेसे कुछ ही देरमें जहर उतर जाता है। हमने बहुत लोगोंपर प्रयोग करके देख लिया है। अनुभवका अनादर ही अज्ञान है।

—पां० भी० देवरड्डि, कम्बूर (बेलगाँव)

* * *

श्याम-श्यामाका उदार निर्जन-निकुञ्ज

तुम छाये आ उरमें जबसे कर उस पर निज पूर्णाधिकार।
तबसे सब भय-भ्रम भाग गये, मर गये मान-मद-अहङ्कार॥
मिट गये भोग-सुख-काम, सूख सब गये विषय-आराम वाम।
हो गये ध्वंस सब दुरित-दोष, जल गयीं ईषणा दुःखधाम॥
फैला प्रकाश अतिशय उज्ज्वल प्रगटे सब सद्गुण दिव्य साज।
लीला नित होने लगी ललित लावण्यसार प्रगटा समाज॥
हो गया दिव्य जीवन, मधुमय बह चली अमित रस-सुधाधार।
प्लावित कर सारे देश-काल, हो गया मग्न सब आर-पार॥
छा गया नित्य बढ़ता सुन्दर चिन्मय सुषमामय लतापुञ्ज।
बन गया श्याम-श्यामाका यह अन्तस् उदार निर्जन निकुञ्ज॥

* * *

'कल्याण' के आजीवन-ग्राहक बनिये और बनाइये

[आपके इस कार्यसे गीताप्रेसके सत्साहित्य-प्रचार-कार्यमें सहायता मिलेगी]

(१) प्रतिवर्ष 'कल्याण'का मूल्य भेजनेकी बात समयपर स्मरण न रहनेके कारण वी० पी० द्वारा ल्याण' मिलनेमें देर हो जाती है, जिससे ग्राहकोंको क्षोभ हो जाता है; इसलिये जो लोग भेज सकें, उन्हें एक ाथ एक सौ रुपये भेजकर 'कल्याण'का आजीवन ग्राहक बन जाना चाहिये।

(२) जो लोग प्रतिवर्ष सजिल्द विशेषाङ्क लेना चाहें उन्हें १२५.०० रुपये भेजना चाहिये।

(३) भारतवर्षके बाहर (विदेश) का आजीवन ग्राहक-मूल्य अजिल्दके लिये १२५.०० रुपये या दस पौण्ड और सजिल्दके लिये १५०.०० रुपये या बारह पौंड है।

(४) आजीवन ग्राहक बननेवाले जबतक रहेंगे और जबतक 'कल्याण' चलता रहेगा उनको प्रतिवर्ष ल्याण' मिलता रहेगा।

(५) मन्दिर, आश्रम, पुस्तकालय, मिल, कारखाना, उत्पादक या व्यापारी संस्था, क्लब या अन्यान्य ंस्था तथा फर्म भी आजीवन-ग्राहक बनाये जा सकते हैं।

चेक या ड्राफ्ट 'मैनेजर, गीताप्रेस' के नामसे भेजनेकी कृपा करेंगे।

व्यवस्थापक—**'कल्याण', गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

बहुत दिनोंसे अप्राप्य पुस्तकका नया संस्करण

श्रीराधा-माधव-चिन्तन (दूसरा संस्करण)

ग्रन्थकार—श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार

आकार डिमाई आठपेजी, पृष्ठ-संख्या ७७६, चित्र ११ तिरंगे, ४ सादे, पूरे कपड़ेकी जिल्द, ऊपर ुन्दर रैपर, मूल्य ४ रुपया, डाकखर्च रु० १.८०, कुल रु० ५.८०।

तीन साल पहले इस ग्रन्थका प्रथम संस्करण निकला था जिसे प्रेमी महानुभावोंने बहुत पसंद किया। स बार पुस्तकमें कई महत्त्वपूर्ण प्रवचन और जोड़े गये हैं अतः कलेवरमें ११२ पृष्ठ बढ़े हैं; इसलिये ूल्य ५० न० पै० बढ़कर पूरा ४ रुपया हो गया है। अनेक संत-महात्माओं एवं साहित्य-महारथियों और व्रज-ाहित्यके मर्मज्ञोंने प्रशंसात्मक सम्मतियाँ भेजी हैं, जिन्हें पुस्तकके अन्तमें दे दिया गया है।

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीरचित

विनय-पत्रिका और गीतावलीके मूल्यमें २५ न०पै०की कमी

श्रीतुलसी-ग्रन्थावलि-प्रचार-निधिकी ओरसे उपर्युक्त दोनों पुस्तकोंके मूल्यमें २५ नये पैसे प्रति पुस्तककी मी की गयी है। अतः इस समय इनका मूल्य एक रुपयेके बदले ७५ नया पैसा हो गया है। गीताप्रेस-ी सभी दूकानों तथा स्टेशन-स्टालोंपर ये पुस्तकें घटे हुए मूल्यपर मिल सकेंगी। बाहरके ग्राहकोंको डाक-र्च अलगसे लगेगा।

गीता-दैनन्दिनी सन् १९६५

आकार २२×२९ बत्तीसपेजी, पृष्ठ ४१६, मूल्य साधारण जिल्द ६२ न० पै० तथा बढ़िया जिल्द न० पै०, डाकखर्च ७५ न० पै० अलग।

सन् १९६५ की दैनन्दिनीका एक लाख प्रतियोंका प्रथम संस्करण बहुत शीघ्र समाप्त हो गया, इसलिये ीस हजार प्रतियोंका दूसरा संस्करण छापना पड़ा। आर्डर इतने अधिक आ रहे हैं कि उसके भी बहुत शीघ्र ाप्त हो जानेकी आशा है।

☞ दैनन्दिनीके विक्रेताओंको विशेष रियायत मिलती है, अतः यहाँ आर्डर देनेके पहले अपने यहाँके क-विक्रेताओंसे प्राप्त करनेका प्रयत्न करनेकी कृपा करें। इससे आपका समय तथा पैसे बच सकते हैं।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

रजि० सं० एल० १७५

'कल्याण'का आगामी विशेपाङ्क

भगवन्नाम-महिमा और प्रार्थना-अङ्क

(१) 'कल्याण'का आगामी विशेपाङ्क 'श्रीभगवन्नाम-महिमा और प्रार्थना-अङ्क' निकलेगा। इस अङ्कमें भगवन्नाम तथा प्रार्थनाके सम्बन्धमें बहुत बड़े-बड़े साधु-महात्माओं, आचार्यों, विद्वानों तथा अनुभवी महापुरुषोंके निबन्ध रहेंगे। भगवन्नाम तथा प्रार्थनासे होनेवाली चमत्कारमयी घटनाएँ रहेंगी। वर्तमान युगमें, जहाँ आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक संकटोंसे सारा संसार ग्रस्त है तथा मानव-जीवनकी सफलताके अभिलाषी परमार्थ-साधक भी सफलताका कोई सरल मार्ग नहीं पा रहे हैं—इस 'भगवन्नाम-महिमा और प्रार्थना-अङ्क'से उन सभीको सफल प्रकाश प्राप्त होगा। इसमें सदाकी भाँति लगभग सात सौ पृष्ठोंकी सामग्री, सुन्दर रंगीन तथा सादे चित्र रहेंगे।—छपाई शीघ्र आरम्भ होने जा रही है।

(२) इस वर्ष महँगी तथा खर्च और भी बढ़ा है, अतः मूल्य बढ़ानेके प्रस्ताव भी आये; परंतु मूल्य न बढ़ाकर वह रु० ७.५० ही रक्खा गया है। पृष्ठ-संख्या भी वही ७००के लगभग होगी। इस अङ्ककी बहुत अधिक माँग होनेकी सम्भावना है। अतएव पुराने ग्राहकोंको तुरंत रु० ७.५० (सात रुपये पचास नये पैसे) मनीआर्डरद्वारा भेजकर ग्राहक बन जाना चाहिये। नये ग्राहकोंको भी अभीसे रुपये भेजकर अपना नाम दर्ज करा लेना चाहिये, अङ्क शीघ्र समाप्त हो जायगा और दूसरा संस्करण न छपेगा तो प्राप्त होना सम्भव नहीं होगा।

(३) रुपये भेजते समय मनीआर्डरके कूपनमें पुराने ग्राहक अपनी ग्राहक-संख्या लिखनेकी कृपा अवश्य करें और नाम, पता, ग्राम, मुहल्लेका नाम, डाकघर, जिला, प्रदेश—सब बहुत साफ-साफ बड़े अक्षरोंमें लिखें। नये ग्राहक हों तो कूपनमें 'नया ग्राहक' लिखना कृपया न भूलें। रुपये मनीआर्डरद्वारा शीघ्र भेजें। डाक-तार-विभागके महानिर्देशक (D. G. P & T) के परिपत्र क्रम-सं० १८ दि० १९-८-६४ के अनुसार जिन मनीआर्डर फार्मोंपर पानेवाले या भेजनेवाले किसीका भी नाम-पता छपा हो वे फार्म पहलेसे बिना मोहर लगे दि० ३१ दिसम्बर १९६४ तक किसी भी डाकखानेमें लगाये जा सकते हैं। अतः छपा हुआ मनीआर्डर-फार्म साथ जा रहा है। केवल विशेपाङ्कका मूल्य भी रु० ७.५० है, अतः पूरे वर्षका ही ग्राहक बनना उचित है।

(४) जिन पुराने ग्राहक महोदयोंको किसी कारणवश अगले वर्ष ग्राहक न रहना हो वे कृपया एक कार्ड लिखकर सूचना दे दें, जिससे डाकखर्चकी हानि न उठानी पड़े।

(५) गीताप्रेसका 'पुस्तक-विभाग' तथा 'कल्याण-कल्पतरु-विभाग' 'कल्याण-विभाग'से पृथक् हैं। अतः पुस्तकोंके तथा 'कल्पतरु'के लिये उन-उनके व्यवस्थापकोंके नाम अलग पत्र-व्यवहार करना चाहिये और रुपये भी अलग-अलग उन्हींके नामसे भेजने चाहिये।

(६) इस वर्ष भी सजिल्द अङ्क देनेमें कठिनता है और बहुत देरसे दिये जानेकी सम्भावना है। यों सजिल्दका मूल्य रु० ८.७५ (आठ रुपये पचहत्तर नये पैसे) हैं।

व्यवस्थापक—'कल्याण' पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) उ० प्र०

दिसम्बर

कल्याण

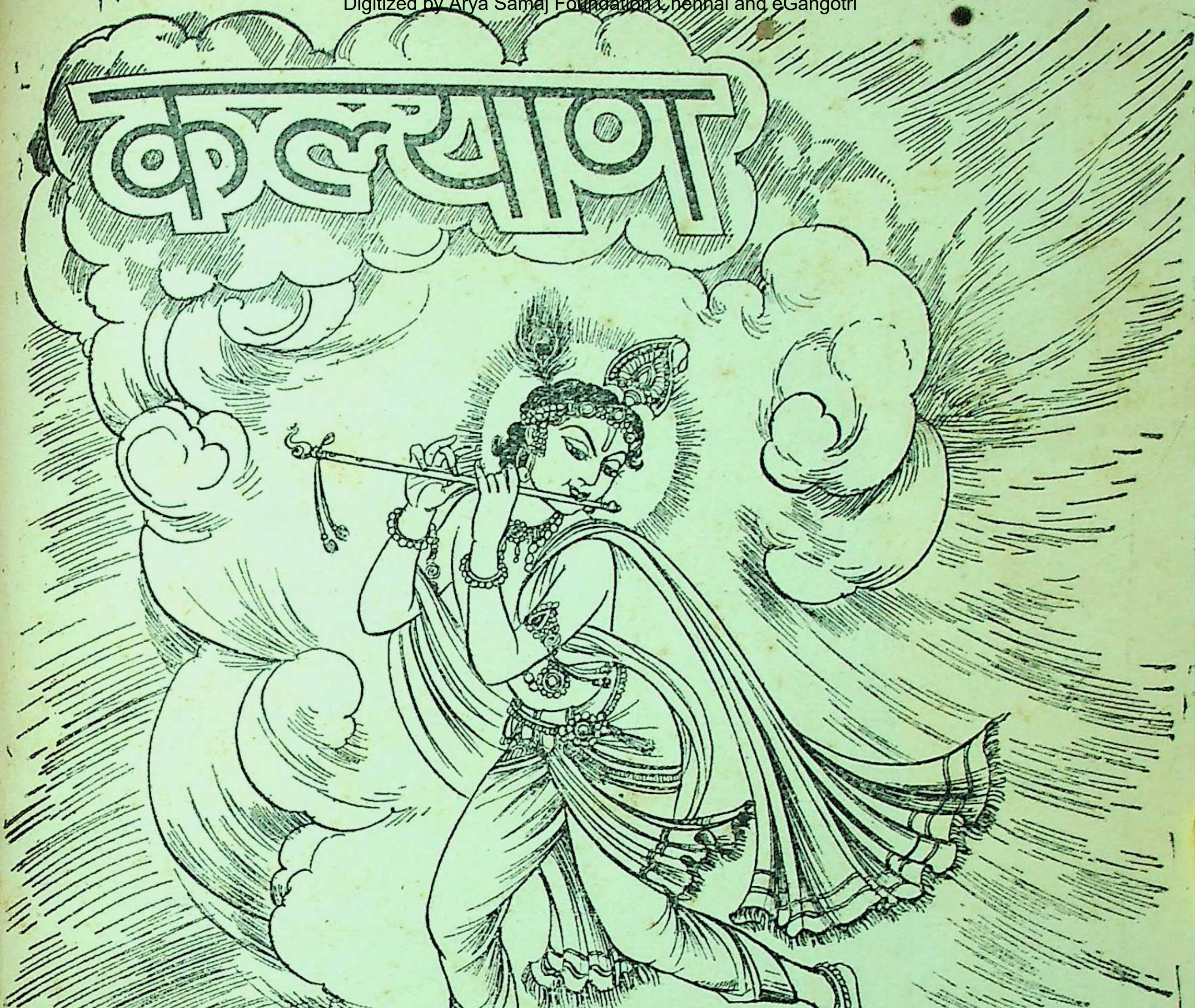

वर्ष ३८] * * * [अङ्क १२

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण १,२८,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर पौष २०२१, दिसम्बर १९६४

विषय पृष्ठ-संख्या

१–विरक्त भक्त श्रीशुकदेव [कविता] ··· १३३३
२–कल्याण ('शिव') ··· १३३४
३–एक महात्माका प्रसाद (श्री 'माधव') ··· १३३५
४–इच्छा-त्यागमें ही परम सुख है (स्व० मगनलाल हरिभाई व्यास) ··· १३३६
५–मानवजीवनका अनुपम लक्ष्य [कविता] १३४०
६–मधुर ··· १३४१
७–हमारा 'ब्राह्मण'-साहित्य (पं० श्रीगंगा-प्रसादजी पाण्डेय) ··· १३४२
८–श्रीसत्यनारायणव्रत-कथा और उसका महत्त्व (याज्ञिकभूषण पं० श्रीराधाचरणजी शर्मा एम्० ए०, साहित्यरत्न) ··· १३४५
९–जगत्के जीवन, धन, अधिकार प्रत्यक्ष क्षणभंगुर और दुःखद हैं [कविता] ·· १३४८
१०–दुर्भिक्षका कारण और निवारण (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ··· १३४९
११–संस्कार और संस्कृति (श्रीअगरचंदजी नाहटा) १३५५
१२–घृणाके मनोवैज्ञानिक दुष्परिणाम (पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०, बी० टी०) ··· १३५७
१३–मन जीता—जग जीता (श्रीहरिकृष्णदास-जी गुप्त 'हरि') ··· १३५८
१४–सहानुभूति (श्रीअनन्तबिहारीजी 'मृदुल') १३५९
१५–संगठन [कहानी] (श्री 'चक्र') १३६१
१६–हार नहीं मानता (श्रीराधेश्यामजी) १३६६
१७–जब बैंक टूटा (श्रीराजेन्द्रप्रसादजी जैन) १३६८
१८–सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा (पं० श्रीसुनहरीलालजी शर्मा) ··· १३७२

विषय पृष्ठ-संख्या

१९–स्वाध्याय (डॉक्टर श्रीनरेन्द्रकुमार सेठी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, साहित्यरत्न) ··· १३७५
२०–गोपीकी पुकार [कविता] (पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम' साहित्याचार्य) ··· १३७५
२१–ऐश्वर्य और माधुर्य [कविता] (स्वामी श्रीजयरामदेवजी) ··· १३७६
२२–मानव-जीवनकी सफलता (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) १३७७
२३–विषयासक्ति और भगवत्प्रेममें भेद (स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजके प्रवचनसे) ··· १३७९
२४–मुनेशके पुनर्जन्मकी घटनाका विवरण (प्रोफेसर श्रीहेमेन्द्र बनर्जी) १३८०
२५–तुलसीके शब्द (डॉक्टर श्रीहरिहर-नाथजी हुक्कू एम्० ए०, डी० लिट्०) १३८२
२६–मुक्त-विचार (प्रवासी) ··· १३८४
२७–मुँह-दिखायी (श्रीब्रह्मेश भटनागर एम्० ए०) ··· १३८५
२८–आर्ष सिद्धान्तोंकी उदारता (पं० श्रीगौरीशंकरजी भट्टाचार्य) १३८७
२९–राम-वन-गमन [कविता] (विद्यालंकार श्रीजगन्नाथजी मिश्र गौड़ 'कमल' वेदान्तरत्न) ··· १३९०
३०–पढ़ो, समझो और करो ··· १३९१
३१–साधनोंकी पवित्रता आवश्यक (श्रीगोविन्द शास्त्री, साहित्यरत्न) १३९६

* * *

चित्र-सूची

१–वंशीका वैभव ··· (रेखाचित्र) ··· मुखपृष्ठ
२–विरक्त भक्त श्रीशुकदेव ··· (तिरंगा) ··· १३३३

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ४५ पै०
विदेशमें ५६ पै०
(१० पैंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री

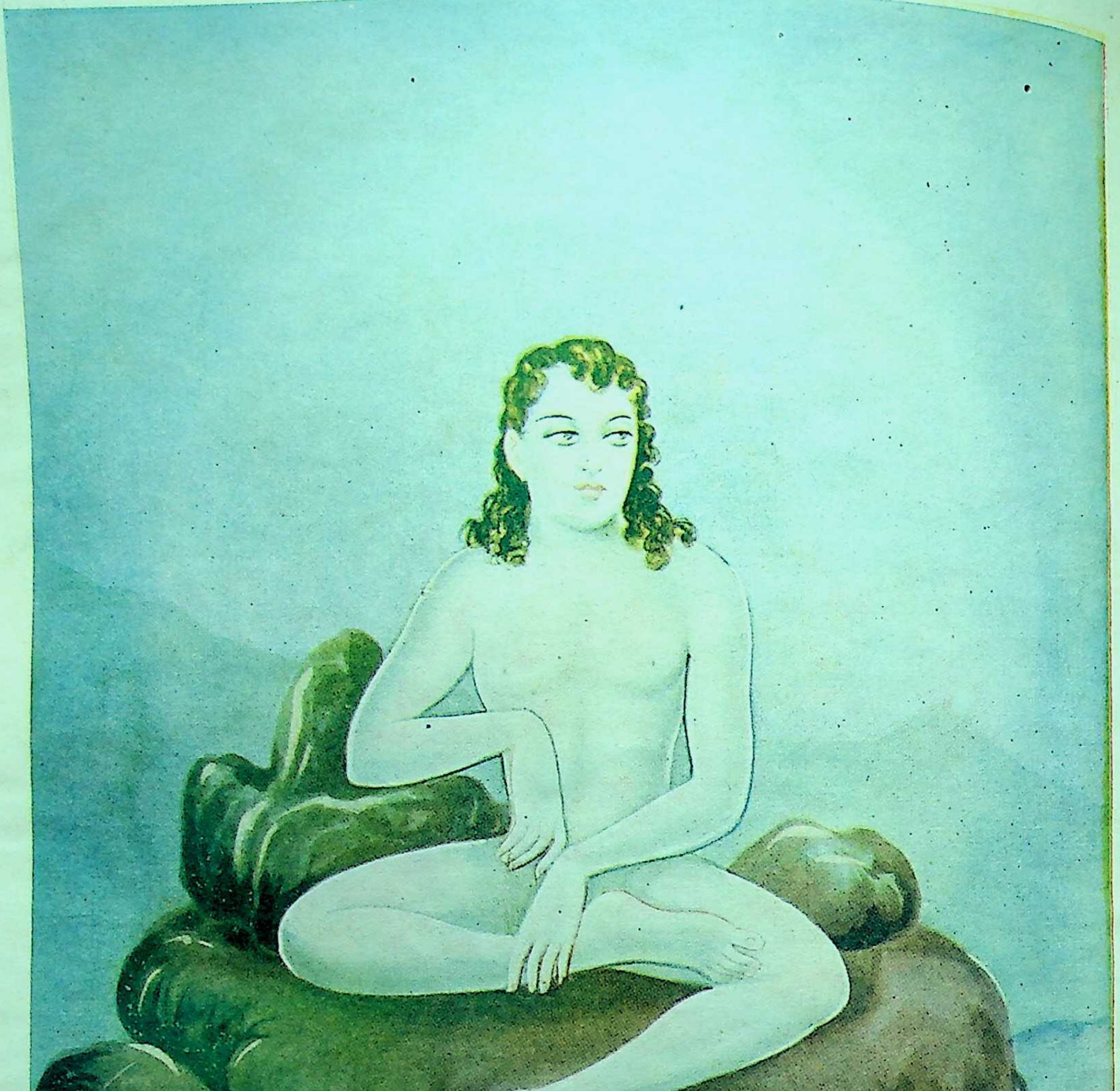

विरक्त भक्त श्रीशुकदेव

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

सर्वारिष्टहरं सुखैकरमणं शान्त्यास्पदं भक्तिदं स्मृत्या ब्रह्मपदप्रदं स्वरसदं प्रेमास्पदं शाश्वतम् ।
मेघश्यामशरीरमच्युतपदं पीताम्बरं सुन्दरं श्रीकृष्णं सततं व्रजामि शरणं कायेन वाचा धिया ॥

वर्ष ३८ } गोरखपुर, सौर पौष २०२१, दिसम्बर १९६४ { संख्या १२
पूर्ण संख्या ४५७

विरक्त भक्त श्रीशुकदेव

भेदरहित सम ब्रह्मद्रष्टा ब्रह्मरूप वर परम विरक्त।
परम-तत्त्व-परिनिष्ठित-प्रज्ञा दृश्य-प्रपञ्च सहज परित्यक्त॥
भगवत्-लीला-रसिक भक्तवर निर्मल भगवद्भावासक्त।
मुनि शुकदेव भागवतवक्ता ज्ञानप्रेम मूर्त अभिव्यक्त॥

याद रक्खो—तुम विकारी और विनाशी क्षणभङ्गुर पाञ्चभौतिक जड़ शरीर नहीं हो। तुम हो नित्य-शुद्ध-बुद्ध सत्-चित्-आनन्दस्वरूप। जन्म-मृत्यु आदि विकार शरीरमें हैं—तुम आत्मामें नहीं हैं। जगत्-प्रपञ्चरूप दृश्य असत् है और मायासे सत्-सा दीखनेपर भी उसकी अनित्यता—मरता तो प्रत्यक्ष है। तुम सत् और नित्य अमर हो। अपने स्वरूपको समझो और जगत्के सुख-दुःख, लाभ-हानि आदि द्वन्द्वोंसे अतीत सदा आनन्दमय बने रहो।

याद रक्खो—जैसे स्वप्नमें देखे प्राणि-पदार्थ, तथा अनुभूत सुख-दुःख वास्तवमें असत् हैं, वैसे ही जाग्रत्के ये समस्त प्राणि-पदार्थ एवं सुख-दुःख भी असत् हैं। ये सब अज्ञानके ही असत् परिणाम हैं। इनसे तुम आत्मस्वरूपका न कोई सम्बन्ध है और न इनके आने-जानेमें—उत्पत्ति-विनाशमें तुम्हारा कुछ बनता-बिगड़ता ही है।

याद रक्खो—भक्तोंकी अनुभूतिमें ये सब लीलामय भगवान्के लीला-समुद्रकी विविध मृदु—तीव्र लीलातरङ्गें हैं। स्वयं भगवान् ही लीलारूपमें अभिव्यक्त या लीलायमान हैं। अतएव इनमें सदा-सर्वदा भगवान्के मङ्गल-दर्शन करो और नित्यनिरन्तर लीलाके रूपमें प्रकट लीलामयके दर्शनकर परम सुखमय लीलानन्दका अनुभव करते रहो।

याद रक्खो—जन्म-मृत्यु, लाभ-हानि, सुख-दुःख, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा, मित्र-शत्रु, दिन-रात, सर्दी-गरमी आदि सारे द्वन्द्व माया हैं या भगवान्की लीलाके ही विविध प्रकाश हैं। इनको या तो देखो ही मत, अथवा देख-देखकर इनकी आड़में छिपे हुए परमप्रेमास्पद लीलामय प्रभुके नित्य प्रफुल्लित, नित्य मधुर-मृदु-हास्य-समन्वित मुखकमलके दर्शनकर परमानन्द-सागरमें डूबते-उतराते रहो।

याद रक्खो—जब तुम इस प्रकार सभी प्राणि-पदार्थोंमें, प्राकृतिक परिवर्तनोंमें, भाव-विचारोंमें केवल प्रियतम भगवान्का अनुभव करोगे, तब तुम्हारे लिये जगत्का रूप ही बदल जायगा। जहाँ इस समय तुम द्वन्द्वात्मक अनित्य विनाशी प्राणी-पदार्थोंको देखकर ममता-आसक्तिके कारण सुखी-दुखी होते हो, वहाँ फिर तुम विविध खेलों तथा खेलनेवालोंके रूपमें अभिव्यक्त एक नित्य सत्य अविनाशी अपने आत्माके भी आत्मा नित्य सच्चिदानन्दमय भगवान्को देखोगे। तुम्हारा जीवन फिर विनाशी, भयविषादयुक्त, शोक-मोह-व्यथित नहीं रहेगा। वह बिल्कुल बदल जायगा—अविनाशी अभय आनन्दमय नित्य-सत्य, नित्य परम मधुर, नित्य नव सौन्दर्यसम्पन्न भगवान्के लीलाभिनयके एक आनन्द-स्वरूप अभिनेताके रूपमें।

याद रक्खो—इस संसारको कोई असत् न भी माने तो भी इस अनित्य परिवर्तनशील संसारमें कुछ भी नित्य और स्थिर तो है ही नहीं। इस अवस्थामें यहाँ कोई भी किसी नित्य स्थिर वस्तुकी या स्थितिकी आशा रक्खेगा, तो वह सदा निराश ही रहेगा। यहाँकी आशा परम दुःखदायिनी है। यहाँ कभी किसीकी कोई आशा कभी पूर्णरूपसे सफल हुई ही नहीं, न कभी हो ही सकती है। तुम एक आशा करोगे तो उस एकसे हजारों-हजारों आशाएँ फूट-फूटकर निकलेंगी और तुम उनके पाशमें इतने जकड़ जाओगे कि फिर उनसे छूटना ही अत्यन्त कठिन हो जायगा। अभी यही तो हो रहा है। हजारों-हजारों आशा-पाशोंसे आबद्ध मनुष्य उनकी पूर्तिके लिये विवेकभ्रष्ट होकर काम-क्रोधपरायण हो रहा है और प्रत्याशित वस्तु-स्थितिकी प्राप्तिके लिये अन्याय्य—असत् साधनोंको अपनाकर दुःखभारको उत्तरोत्तर बढ़ा

रहा है । अतएव मिथ्या अनित्य सुखोंकी आशाका सर्वथा त्याग करो । संसारकी असारता और दुःखमयता, अनित्यता और असत्यताका अनुभव करो । अपने नित्य-सत्य आनन्द-चेतनस्वरूपमें स्थित होओ या लीलामय भगवान्के लीलाभिनयके अभिनेता बनकर भगवदानन्दको प्राप्त करो ।

'शिव'

एक महात्माका प्रसाद

गोपी-प्रेम

(संकलयिता—श्री'माधव')

गोपी-प्रेमकी बात वही कह सकता है जिसको गोपीभाव प्राप्त हो गया हो । सुननेका अधिकारी भी वही है । जबतक स्थूल, सूक्ष्म या कारण किसी भी शरीरमें अहंभाव है, तबतक मनुष्यको गोपीभाव नहीं प्राप्त होता; अतः वह गोपी-प्रेमका अधिकारी नहीं है ।

उद्धव-जैसे ज्ञानी और योगी, जो भगवान् श्रीकृष्णके सखा थे, जब व्रजमें गये तब गोपियोंके प्रेमको देखकर ज्ञान और योगको भूल गये । उलटा अपने स्वामी और सखा श्रीकृष्णको हृदयहीन और कठोर बताने लगे एवं उन गोपियोंके प्रेमकी प्रशंसा करने लगे । यहाँतक कि व्रजके लता-पत्ता बननेमें अपना सौभाग्य मानकर गोपियोंकी चरणरजकी कामना करने लगे । ऐसी गोपियोंके प्रेमको भला कोई साधारण मनुष्य कैसे समझ सकता है ?

जबतक मनुष्यको शरीरका अभिमान रहता है, तबतक उसको किसी-न-किसी प्रकारके संयोगजनित सुखका लालच रहता है । गोपीभावकी प्राप्तिमें वस्तुके संयोग और क्रियाजन्य सुखकी तो कौन कहे, चिन्तनतकके सुखका भी त्याग हो जाता है । अतः गोपीभाव प्राप्त करनेके लिये स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरका तथा उनसे सम्बन्ध रखनेवाले समस्त भोगोंका सङ्ग विवेकके द्वारा छोड़ना पड़ता है । इसका त्याग सत्सङ्गसे ही हो सकता है । विवेकका आदर ही सत्सङ्ग है । सब प्रकारकी चाहका अन्त होनेपर ही सत्का सङ्ग अर्थात् भगवत्प्रेमकी लालसा उत्पन्न होती है ।

जब भगवान् श्यामसुन्दरके प्रेमकी लालसा समस्त भोगवासनाओंको खाकर सबल हो जाती है, तब साधकका व्रजमें प्रवेश होता है । उसके पहले तो व्रजमें प्रवेश ही नहीं होता । यह उस व्रजकी बात नहीं है, जहाँ लोग टिकट लेकर जाते हैं । यह तो उस व्रजकी बात है जो प्रकृतिका कार्य नहीं है; जहाँकी कोई भी वस्तु भौतिक नहीं है, जिसका निर्माण दिव्य प्रेमकी धातुसे ही हुआ है । जहाँकी भूमि, ग्वाल-बाल, गोपियाँ, गायें और लता-पत्ता आदि सब चिन्मय प्रेमरूप हैं । जहाँ जडता और भौतिक भावकी गन्ध भी नहीं है । उस व्रजमें प्रवेश हो जानेके बाद भी गोपीभावकी प्राप्ति बहुत दूरकी बात है । दासभाव, सख्यभाव और वात्सल्यभावके बाद कहीं मधुर गोपी-भावकी उपलब्धि होती है । फिर साधारण मनुष्य उस गोपीप्रेमकी बात कैसे समझ सकते हैं और कैसे कह सकते हैं ?

अतः जिस साधकको गोपीप्रेम प्राप्त करना हो, उसे चाहिये कि 'पहले मुक्तिके आनन्दतकका लालच छोड़कर व्रजमें प्रवेशका अधिकार प्राप्त करे और उसके बाद भगवान्की कृपापर निर्भर होकर गोपीभावको प्राप्त करे ।'

इच्छा-त्यागमें ही परम सुख है

(लेखक—स्व० मगनलाल हरिभाई व्यास)

शरीर, चित्त और चेतन—इन तीनोंमें शरीर और उसकी इन्द्रियोंसे कर्म होते हैं। परंतु वह स्वभावसे जड है, अतएव चित्त उसको प्रेरित करता है। इससे कर्तृत्व चित्तमें है। चेतन असंग होनेके कारण न कुछ करता है और न कुछ कराता है। तथापि शरीर और चित्त दोनोंको सत्ता और शक्ति उस चेतनसे ही प्राप्त होती है।

सुख-दुःखका अनुभव करनेवाला चित्त है। जन्म-मरणका अनुभव करनेवाला भी चित्त है। नाना प्रकारके शरीरोंमें भटकनेवाला भी चित्त है। अनेक इच्छाएँ करनेवाला और विकारी चित्त ही है।

चित्त जो अनुभव करता है, उसका उसको सुख-दुःख होता है। निद्रालु मनुष्यका शरीर चाहे राजाकी शय्यापर क्यों न हो, यदि उसका चित्त स्वप्नमें भिखारीकी शय्याका अनुभव करता है तो उसको उसीका सुख मिलेगा, राजाकी शय्याका सुख उसे नहीं मिलेगा। जागते हुए कोई भी आदमी किसी काममें लीन हो, दूसरा उसका मजाक करता हो और तीसरा उससे पूछे कि क्या तुम्हें पता नहीं, इसने तुम्हारा मजाक किया है? तो वह उत्तर देगा, 'नहीं भाई, मेरा चित्त दूसरे काममें फँसा था।' जागते या सोते चित्तकी वृत्ति जिसके साथ तद्रूप होती है, उसीका अनुभव चित्त करता है, दूसरेका नहीं।

बालकका चित्त खेलमें लीन रहता है। वह भूखा हो तो भी भूखके दुःखका अनुभव नहीं करता, बल्कि खेलके आनन्दका ही अनुभव करता है। चित्तका अनुभव करना, न करना उसके अभ्यासके ऊपर निर्भर करता है, चित्तके अनुभवकी दो दिशा है—एक है जगत्का भोग और दूसरा है आत्मानन्द। जैसे एक राजाकी दो पत्नियाँ हैं और वह चाहे जिसके साथ सुख मान सकता है। उसी प्रकार चित्त चाहे तो संसार-सुखका अनुभव करे और चाहे तो आत्मसुखका अनुभव करे। क्या अनुभव किया जाय, इसका निर्णयकर्त्ता वह स्वयं है।

चित्तको संसार-सुखका अनुभव करना हो तो इसके लिये शरीर (इन्द्रियोंके साथ) और भोगपदार्थ आदिको उत्पन्न करना पड़ता है। चित्त जितना स्वयं उत्पन्न करेगा, उतना ही भोग सकेगा। जैसे पतिव्रता स्त्रीको परपुरुष भोगके काम नहीं आता, उसी प्रकार चित्तको दूसरोंसे उत्पन्न अशेष भोग काम नहीं आते। मनुष्य यदि वह सोचता है कि उसको कोई साधु कुछ दे देगा, कोई देवी-देवता दे देंगे, तो यह उसकी बड़ी भूल है। अपनी साधनाके बिना कुछ भी नहीं मिलता, फिर वह साधना चाहे इस जन्मकी हो या पूर्वजन्मकी। देवता और साधु प्रसन्न होकर जो कुछ देते हैं, वह भी अपनी साधनाका ही फल होता है; क्योंकि हम उनको प्रसन्न करनेके लिये भी कुछ पुरुषार्थ करते हैं। इसलिये भाई! साधन-श्रम किये बिना कुछ भी प्राप्त करनेकी आशा छोड़ देनी चाहिये।

कितना अधिक परिश्रम करके चित्त जगत्में भोगका शरीर तथा भोग प्राप्त करता है, जो शरीर विनाशी और विकारी है तथा भोग भी वैसे ही हैं। इसलिये श्रम करनेपर जो मिलता है उससे हर्ष होता है और उसमें विकार तथा विनाश होनेसे शोक होता है। अतएव चित्त भोग और शरीरको पाकर हर्ष और शोकसे कभी मुक्त नहीं हो सकता। हर्ष और शोककी परम्परा चालू ही रहती है। जन्म-मरण चलता ही रहता है।

चींटीसे लेकर ऊँचे लोकोंतक सारे ब्रह्माण्डमें पाँच ही भोग हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। इनमें

मुख्यतः रस और स्पर्श-सुखके पीछे कितने ही देवता, राक्षस और राजा बर्बाद हो चुके हैं ।

इसी कारण पूरे परिवारके साथ रावण लङ्काको जलाकर स्वयं भस्मीभूत हो गया । इन्द्र बर्बाद हो गये । महाभारतकी अठारह अक्षौहिणी सेना स्वाहा हो गयी । यदि यह कहें तो अत्युक्ति न होगी कि अनेकों युद्ध केवल स्त्रीके कारण हुए हैं । देवता, दानव, मानव ही नहीं, बड़े-बड़े ऋषि-मुनि, योगी-तपस्वी, सभी इस जगत्के पाँच भोगोंमेंसे—मुख्यरूपसे जीभ और उपस्थके पीछे अनेक जन्मोंके श्रमको बलि दे चुके हैं, तथापि उससे तृप्ति नहीं मिली । सभी भोगमें सुख मानकर श्रम करते हुए मर गये और उन्हें अन्तमें निराश होना पड़ा ।

जीभका भोग-पदार्थ चाहे जो हो, जीभके नीचे उतरते ही वह विष्ठा हो जाता है । स्त्री-सुख चाहे जितना हो, स्त्रीका शरीर चाहे कितना ही सुन्दर हो, एक-एक अङ्गपर चाहे जितनी उपमा दी जाय, परंतु सारा शरीर वस्तुतः बना होता है केवल हाड़, मांस, रुधिर और चामका ही । वह विकारी और विनाशी होता है । भोग भोगनेके बाद सभीको ग्लानि और तेजहीनता ही हाथ लगती है । हम सब अपनेको बुद्धिमान् मानते हैं; पर हैं मूर्खशिरोमणि । अनेक श्रमसे—अनेक पुण्य, जप-तप, दान और योगको खोकर स्त्रीकी प्राप्ति करते हैं, तो वह क्षणभरके स्पर्श-सुखके लिये ! इतना होनेपर भी चित्त उससे विराम नहीं लेता—यही माया है, यही अज्ञानता है । इसीके निवारणके लिये शास्त्रों और संतोंके उपदेशकी आवश्यकता है । हमारी कितनी बड़ी मूर्खता है कि हम जिस भोगशरीरका फल सर्वथा क्षणिक, विकारी और विनाशी है, उसीकी प्राप्तिके लिये तो अनेक जन्मोंतक पुरुषार्थ करते हैं और जिस सनातन आत्मामें वृत्ति लगानेसे अखण्ड अनुपम अविनाशी आनन्द मिलना है और जो सहज प्राप्त है उसकी चाह भी नहीं करते !

चित्तकी वृत्ति आलम्बनके बिना नहीं रहती । या तो वह भोगकी ओर जायगी या आत्माकी ओर । जिस प्रकार जीव शरीरके बिना जी नहीं सकता, उसी प्रकार चित्त विषयानन्द या आत्मानन्दके बिना नहीं रह सकता । विषयानन्द भूलनेपर आत्मानन्दका अनुभव होता है और आत्मानन्दके भूलनेपर विषयानन्दका । चित्त बाहर अनुभव नहीं करता, वह अपने भीतर अनुभव करता है । बाहरसे पूँजीपति कहलानेवाला जो व्यापारी अंदरसे दिवालिया है, वह जैसे धनका अनुभव न करके दिवालियापनका अनुभव करता है, उसी प्रकार चित्तके भीतर जो कुछ होता है, उसीका वह अनुभव करता है ।

सुख या दुःखका अनुभव चित्तसे ही होता है । जिस प्रकार लड्डू चाहे कितना ही अच्छा हो, जब वह जीभपर आता है, तभी उसका अनुभव होता है; और यदि जीभ रोगग्रस्त हो तो लड्डूका यथार्थ स्वाद उसे नहीं मिलता । इसी प्रकार चित्तमें जो चिन्ता, भय, क्लेश, क्रोध, इच्छा आदि भरे होते हैं, उन्हींका अनुभव वह करता है; दूसरी वस्तुओंका अनुभव नहीं करता । पुत्रका व्याह कराने गये हुए पिताको यदि उसका समधी कठोर वचन कह दे और उससे वह खिन्न हो जाय तो उसका चित्त उस अवसरके बाजे, गीत, स्वादिष्ट भोजन, वार्तालाप आदि किसी वस्तुमें सुखका अनुभव नहीं करता, उसके चित्तको तो समधीके वाग्बाण ही व्याकुल किये रहते हैं ।

मनुष्य धन-धाम, स्त्री-पुत्र और पद-वैभवकी प्राप्तिके पीछे पागल है । पर इन सबके प्राप्त होनेपर भी जिसके चित्तमें चिन्ता, भय और क्रोध हो, उसको ये सब कभी सुख नहीं दे सकते; वह तो चिन्ता, भय और क्रोधमें ही डूबा रहता है । अपना घर चित्त है । अनेकों प्रकारके विकार, भय, क्रोध, ईर्ष्या, रोग आदि—सबका मूल इच्छा है । प्रत्येक इच्छासे ही प्रत्येक दुर्गुण

और प्रत्येक दुःखका उत्पादन होता है । इच्छाका अर्थ है—प्राणी-पदार्थसे सुख प्राप्त करनेकी चाह । चित्तमें चाह उत्पन्न होते ही सारे सुखोंका नाश हो जाता है । सारे चिन्ता-दुःखोंका मूल यह चाह ही है ।

'चाह गई चिंता गई मनवा बेपरवाह ।'

चित्तमें जब कुछ भी नहीं रहता, तभी पूर्णताकी प्राप्ति होती है। जैसे, जिस जगह कुछ नहीं होता, वहाँ आकाश रहता है; वैसे ही, चित्तमें जब कुछ नहीं रहता, तब वहाँ आत्मा या परमात्माका निवास होता है । आत्माका ही अर्थ है—शान्ति, आनन्द और पूर्णता ।

जब किसी प्रकारकी भी इच्छा नहीं होती, तब आत्मानन्दका अनुभव होता है । इच्छाके होते ही इच्छित वस्तुकी अप्राप्तिका दुःख अनुभव होने लगता है । इच्छासे ही दुःखकी शुरुआत होती है ।

जहाँ कोई वस्तु होती है, उस देशविशेषमें वायु और आकाश नहीं होता, उसी प्रकार जहाँ इच्छा होती है वहाँ आनन्द नहीं होता। इच्छा होनेपर इच्छित वस्तुकी अप्राप्तिका दुःख अनुभव होने लगता है और यह एक ऐसा रोग है कि इसके सामने हजारों प्राप्त वस्तुओंका सुख हवा हो जाता है । केवल अप्राप्त वस्तुका दुःख ही अनुभवमें आता है । अप्राप्त वस्तुकी इच्छा खड़ी होते ही वह सारे चित्तमें व्याप्त हो जाती है, इसी कारण अन्यान्य प्राप्त वस्तुओंमें सुखका अनुभव नहीं हो पाता ।

सीताको प्राप्त करनेके दुराग्रहके कारण रावणको मन्दोदरी-जैसी अनेकों सुन्दरियोंका सुख, पुत्र-सुख, राज्य-सुख, ऐश्वर्य-सुख—सुख देनेवाले नहीं रहे । मानो वे सारे सुख कुछ थे ही नहीं, उसको केवल सीताकी अप्राप्तिके दुःखने ही घेर रक्खा था ।

भोजन करते समय अनेकों प्रकारके व्यञ्जन सामने हों, पर यदि दाल खानेकी इच्छावालेकी दालमें नमक अधिक पड़ गया तो उसका चित्त दुःखमें मग्न हो जाता है, फिर उसे दूसरे व्यञ्जनोंका सुख अनुभव नहीं होता। इच्छा ही दुःख है। यही क्लेशका मूल है । प्राप्त वस्तुका सदुपयोग करो, अप्राप्त वस्तुकी इच्छा ही मत पैदा होने दो । सुखी रहोगे । इच्छाको पैदा करना ही सारे सुखोंका नाश करना है ।

इच्छा चेतनके लिये होती है या शरीरके लिये अथवा चित्तके लिये होती है । सो चेतन तो परिपूर्ण है, उसके लिये कोई इच्छा होती ही नहीं । शरीर केवल जीनेकी इच्छा करता है, उसको पोषणकी और रक्षणकी जरूरत है । शेष तरङ्गें उठाकर चित्त ही अपनेको दुःख प्रदान करता है ।

चित्तकी विशेषता ही यही है कि अप्राप्तके पीछे पागल होकर वह स्वयं परेशान होता है और दूसरोंको भी परेशान करता है । 'मैं मरूँगा और तुझे राँड़ बनाऊँगा'—इस कहावतके अनुसार वह अनेक जन्म धारण करता है और शरीर तथा आत्माको घसीटता है।

सुखका सागर आत्मानन्द तो प्राप्त ही है, पर उसके नित्य प्राप्त रहनेपर भी चित्त विषयानन्दके लिये किस प्रकार भटकता है, यह स्पष्ट हो गया ।

निगृहीत चित्त आत्मारूपी कल्पवृक्षके समीप जाता है और उस निगृहीत अवस्थामें वह जो चाहता है उसे प्राप्त होता है । निगृहीत चित्त ही सबका मूल है।

इच्छामात्रका त्याग करनेसे चित्त स्वयं मर जाता है। इसीका नाम मोक्ष है । इच्छामात्रके अभावका नाम मोक्ष है । चित्तका इच्छा करना बंद हो जाय तो जन्म-मृत्युका चक्कर चालू नहीं रह सकता । अपनी इच्छासे ही यह शरीर प्राप्त हुआ है और अपने इच्छानुसार ही हम दूसरा शरीर धारण करते हैं ।

बन्ध या मोक्ष अपने हाथमें है । भोगेच्छा ही बन्धन है । भोगेच्छाका त्याग ही मोक्ष है । शरीरसे कर्म तो होंगे । अतः शरीरसे शुभ कर्म करे, यज्ञ-दान और तप आदि स्वधर्म-कर्म करता जाय; परंतु उसके फलस्वरूप भोगकी इच्छा न करे तो मोक्ष ही है । भोगकी इच्छा करनेपर तो जीवका जन्म-जन्मान्तरका भ्रमण चालू ही रहेगा; क्योंकि इच्छावाला कर्म जन्म-मृत्युरूप फल देनेवाला ही होता है ।

जैसे मेहनतानेके बिना स्वेच्छासे सेवा करनेवाला मनुष्य आनन्दसे सेवा करता है । उसको शुरूमें, मध्यमें और अन्तमें कभी निराशा नहीं होती, सदा आनन्द ही रहता है; क्योंकि वह मेहनतके फलस्वरूप कोई इच्छा नहीं करता । इसी प्रकार हम कर्म करते हुए उसके फलकी इच्छा न करें तो सदा आनन्द है । आनन्दको नष्ट करनेवाली तो इच्छा है, आनन्दको खा जानेवाली आशा है । आशा परम दुःखरूपा है—'आशा हि परमं दुःखम्' आशा अथवा इच्छा ही पराधीनता है । पराधीनतामें सुख या आनन्द नहीं होता । जिसको इच्छा है ही नहीं, जो नित्य निराशी है, वह सदा परम आनन्दमें मग्न रहता है—'नैराश्यं परमं सुखम् ।' वही मुक्त है, वह बेपरवाह और मस्त रहता है, जो आशा, इच्छा या चाहसे रहित है । वह शाहनशाहोंका भी शाहनशाह है ।—'जिसको कछू न चाहिये सो जग शाहनशाह ।' इच्छा अथवा आशा उसको दीन बनाते हैं, पराधीन करते हैं । आनन्दमात्रको स्वाहा कर देते हैं । इतना समझनेपर भी यदि हम भोगेच्छा नहीं छोड़ सकते, यही हमारा अज्ञान है, यही तो महामोह है ।

जैसे फिटकरी मिश्री-जैसी दीखती है, परंतु खानेपर स्वादिष्ट नहीं लगती, जैसे बालू चीनी-जैसी दीखती है, परंतु खानेपर मीठी नहीं लगती । जैसे लकड़ीके बुरादेका लड्डू देखनेमें लड्डू-जैसा लगता है पर वह खाया नहीं जाता । उसी प्रकार भोग-पदार्थ देखनेमें सुखद जान पड़ते हैं, पर वे सुख नहीं देते; बल्कि श्रमके कारण दुःखद ही होते हैं । लकड़ीका बना आम ऊपरसे रसीला दीखनेपर भी नीरस होता है, इसी प्रकार भोग सुखरूप दीखनेपर भी वस्तुतः दुःखरूप ही है । सारांश यह कि चित्तको अनेक जन्मोंमें अनेक बार भोगोंमें सुखके बदले दुःख अनुभव हो चुका है, तथापि भोगमेंसे उसकी सुख-बुद्धि दूर नहीं होती । वर्तमान कालमें जिस भोगके लिये चित्त आकुल रहता है, भोगकालमें वह उस भोगसे सुखी नहीं होता । यह जानते हुए भी चित्तको यह इच्छा होती है कि अमुक भोगसे सुख मिलेगा । इसीका नाम 'माया' है, अपने प्राप्त भोगसे हम सुखी नहीं हुए, यह अनुभव करनेपर भी इसको छोड़ नहीं सकते । यही अज्ञान है, यही माया है ।

जैसे जागते जीवको स्वप्नका स्त्री-भोग तृप्त नहीं कर सकता, उसी प्रकार चेतन आत्माको इस जगत्‌का कोई भी भोग तृप्त नहीं कर सकता । हम शरीर नहीं हैं, हम चित्त नहीं हैं, हम तो निर्विकार चेतन हैं । अतएव चित्तके द्वारा कल्पित कोई भी भोग-पदार्थ हमारे इच्छा करनेयोग्य नहीं है, इसलिये कोई भी क्रिया जो शरीर या चित्तसे होती है, उसके फलके भोगकी इच्छा करना जन्म-मृत्युके प्रवाहमें, दुःखके सागरमें गिरना है । स्व-स्वरूपका बोध हुए बिना, भोगसे कभी सुख-बुद्धि नहीं मिटती । और जगत्‌के प्राणी-पदार्थमें सुख-बुद्धिके दूर हुए बिना जन्म-मरण मिटनेवाला नहीं है ।

सारे भोग क्रियासाध्य हैं । भोग अर्थात् एक क्रियाके नाशसे दूसरीकी उत्पत्ति, इस प्रकार क्रिया करते-करते जीवनका नाश हो जाता है ।

भोगसे शरीरका नाश होता है, पर चित्तका नाश नहीं होता। चित्तका शरीर इच्छा है। इच्छासे ही वह टिका है। इच्छाके मरनेपर मर जाता है।

भोगसे यद्यपि चित्तकी भोग उत्पन्न करनेवाली शक्ति घटती है, तथापि इच्छा मौजूद रहती है। इससे उसमें दीनता और दुःख आता है। भोगमात्रकी, सब इच्छाओं और सब सुखोंकी इच्छा-आशा छोड़े बिना किसी कालमें जन्म-मरण मिटनेवाला नहीं है।

सत्सङ्ग, विचार, स्वरूप-ज्ञान और वैराग्यसे चित्त शान्त होता है, तब मोक्षकी प्राप्ति होती है। चित्तमें इच्छाकी उत्पत्तिका नाम ही दुःखकी उत्पत्ति है। चित्तमें इच्छामात्रके अभावका नाम है——परमानन्दकी प्राप्ति। कोई भी दुःख हो तो जान लो कि चित्त-मन्दिरमें इच्छादेवीका आगमन हो गया है। उसीके परिवार क्रोध, भय और लोभ आदि हैं। चित्तमें भोगकी इच्छा रखते हुए मोक्षकी इच्छा ही नहीं होती।

समुद्र-जैसे नदीके जलको अपने भीतर ले लेता है, उसी प्रकार प्राप्त भोग भोग ले, उसमें जरा भी हर्ष या आसक्ति न रक्खे और न अप्राप्त भोगके लिये तनिक-सी कामना ही करे।

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमाँश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥

'जो समस्त कामनाओंको छोड़कर चाहमात्रका त्याग करके तथा ममता और अहंकाररहित होकर विचरता है, वह शान्तिको प्राप्त होता है।'

सारी कामनाओंका त्याग करो और ईश्वरका भजन करो, परमात्मा तुम्हारा भला करेगा।

* * *

मानवजीवनका अनुपम लक्ष्य

जबतक यह आस्था है मनमें, देंगे 'मनवाञ्छित सुख' भोग।
तबतक भोगकामनाका नित प्रबल रहेगा चालू रोग॥
भोगकामना देगी नित्य निरन्तर दुःख, बनेंगे पाप।
पापोंका फल होगा भीषण कष्ट, नरक, अतिशय संताप॥
सदा अपूर्ण भोग हैं निश्चित क्षणभंगुर, दुःखोंके खेत।
इनमें जो सुख मान, चाहता इन्हें, मूर्ख वह मनुज अचेत॥
मानव-जीवनका है शुचितम पावन परम एक ही काम।
भवबन्धनसे मुक्ति-प्राप्ति-हित, करना नित्य भजन निष्काम॥
इससे भी ऊँचा है अनुपम लक्ष्य 'प्रेम' पञ्चम पुरुषार्थ।
बड़े-बड़े ज्ञानी मुनि करते कठिन तपस्या जिसके अर्थ॥

मधुर

श्रीराधारानीने जबसे 'कृष्ण' नाम सुना, तभीसे वे प्रेमविह्वल हो रही हैं। उनकी विचित्र स्थिति नित्य बनी रहती है। उनकी ऐसी स्थिति देखकर एक दिन एक अन्तरङ्ग सखी उनको समझाने लगी। राधारानीने कुछ धैर्य धारण करके कहा—

प्रियतम कौ अति मधुर मनोहर
'कृष्ण' नाम जब सुन्यो ललाम।
भर्यो अमिय रस तबहिं हृदय में,
भरत रहत तब तें सुखधाम॥

'सखी! जिस क्षण मैंने प्रियतमका अत्यन्त मधुर मनहारी परम सुन्दर 'कृष्ण' नाम सुना, उसी क्षण मेरा हृदय एक विलक्षण अमृत-रससे भर गया। पर भरनेपर भी वह खाली ही जान पड़ता है और उसी समयसे वह सुखका धाम अमृतरस लगातार भरता ही चला जा रहा है।'

अग-जगके बिसरी मैं तब तें
सगरे मीठे खारे नाम।
कृष्ण नास धुनि मंजु गूँज रहि
सब दिसि सकल काल अभिराम॥

'सखी! तभीसे मैं जगत्के सारे मधुर तथा कटु नामोंको भूल गयी। सब दिशाओंमें और सभी समय एकमात्र 'कृष्ण' नामकी ही मंजुल ध्वनि सदा गूँजती रहती है।'

सज्जन-सेवित वेद-लोककी
मिटी सकल मरजादा-लाज।
पिघल्यौ हियौ, बही दृग धारा
अधर नाम सुचि रह्यौ विराज॥

'वेदकी जिस मर्यादा तथा लोककी जिस लज्जाका सज्जनगण सदा सेवन—संरक्षण करते हैं, वही वेदकी मर्यादा और लोककी लाज मेरे जीवनसे मिट गयी। मेरा हृदय द्रवित हो गया, आँखोंसे धारा बहने लगी और मेरे अधर-ओष्ठपर पवित्र 'कृष्ण' नाम सदाके लिये विराजित हो गया।'

रही न सुधि कछु कहन-करन की
समुझि न परत कहा यह रोग।
'कृष्ण' नाम-रस उपजावत हिय
नित नूतन बियोग-संयोग॥

'तभीसे सखी! न तो मुझे कुछ कहनेकी बात याद रही और न कुछ करनेकी ही। न मैं यही समझ पाती हूँ कि मेरे यह क्या रोग लग गया है। बस 'कृष्ण' नामका रस मेरे हृदयमें नित्य नयी-नयी प्रियतमके वियोग और संयोगकी—बिछुड़ने और मिलनेकी अनुभूति कराता रहता है।'

कबहुँ हँसावत, कबहुँ रुलावत
कबहुँ करावत करुन पुकार।
चेत अचेत करावत पुनि पुनि
कबहुँ मौन कबहूँ चीत्कार॥

'वह 'कृष्ण' नाम मुझे कभी हँसाता है, कभी रुलाता है, कभी मुझसे करुण पुकार करवाता है, कभी मुझे होशमें ला देता है और कभी बिल्कुल बेहोश कर देता है। कभी सर्वथा मौन करा देता है और कभी चीत्कार कराने लगता है। बस, पुनः-पुनः ऐसी स्थिति होती रहती है।'

कहा करूँ, जाऊँ कहँ मैं अब
पाऊँ जहँ प्राननि के प्रान।
मिलूँ हृदय भर तिन्ह तें मैं सखि!
पाऊँ तुरत दुःख ते त्रान॥

'सखी! अब मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ जहाँ मुझे अपने प्राणोंके प्राण प्रियतमकी प्राप्ति हो और मैं उनसे हृदयभरके मिलूँ, जिससे तुरंत ही मैं सारे दुःखोंसे त्राण पा जाऊँ।'

सखि समुझावन लगी सुनौ हे
राधा ! धरौ हृदय में धीर ।
स्वयं कृष्ण मिलि सपदि हरेंगे
सगरी तुम्हरे हिय की पीर ॥

'यह सुनकर सखी समझाने लगी—'राधा ! सुनो, हृदयमें धैर्य धारण करो, स्वयं श्रीकृष्ण शीघ्र ही तुमसे मिलेंगे और तुम्हारे हृदयकी सारी पीड़ाको हर लेंगे ।'

इतने ही में सहसा प्रगटे, वे
राधाप्रिय हरि प्रेमाधार ।
बिह्वल परी चरन राधा ली
तुरत उठाय, भरी अँकवार ॥

'इसी बीच सहसा राधाके प्रियतम तथा प्रेमके आधार हरि प्रकट हो गये, उन्हें देखते ही विह्वल होकर राधा चरणोंमें गिर पड़ी और तुरंत ही श्रीकृष्णने उनको उठाकर अपने हृदयसे लगा लिया !'

हमारा 'ब्राह्मण'-साहित्य

(लेखक—पं० श्रीगंगाप्रसादजी पाण्डेय)

महर्षि आपस्तम्ब्रके अनुसार मन्त्र और ब्राह्मण दोनोंका नाम वेद है—**'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् ।'** गुह्य या रहस्यमय कथनकी संज्ञा 'मन्त्र' है और सामान्यतः यह किसी देवताकी स्तुतिमें प्रयुक्त होनेवाले अर्थका स्मरण करानेवाला कोई पद्यमय वाक्य होता है । इन्हीं पद्यमय वाक्यों (मन्त्रों-)के संग्रहको संहिता कहते हैं । इसके अतिरिक्त वेदके 'ब्राह्मण' रूपमें यज्ञ और कर्मकाण्डोंका प्रतिपादन किया गया है, जिनमें मन्त्रोंकी अर्थमीमांसा और यज्ञानुष्ठानोंका विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है । इन्हीं ब्राह्मणोंका ही एक भाग आरण्यक और एक उपनिषद् कहलाता है । एक ओर जहाँ आरण्यकोंमें वानप्रस्थियोंके यज्ञ, होत्र और महाव्रतोंका विवेचन मिलता है, वहीं दूसरी ओर उपनिषदोंमें अध्यात्मज्ञान या ब्रह्मविद्याका वैज्ञानिक प्रतिपादन । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि संहिताओंका स्थूल कर्मकाण्ड आरण्यकोंके मानसिक कर्मकाण्डके पथसे होता हुआ क्रमशः उपनिषदोंके आत्मिक ज्ञानकी संज्ञामें बदल उठा है ।

विष्णुधर्मोत्तरके अनुसार मन्त्रोंके अर्थज्ञानके लिये ही ब्राह्मणोंका प्रवचन किया गया है—

'मन्त्राः सब्राह्मणाः प्रोक्तास्तदर्थं ब्राह्मणं स्मृतम् ।'

इन ब्राह्मणोंमें मन्त्रोंका विनियोग बताया गया है; इसीलिये आचार्योंने ब्राह्मणकी व्युत्पत्ति करते हुए कहा है—

'ब्रह्मणां वेदानामिमानि व्याख्यानानि ब्राह्मणानि'

अर्थात् वेदार्थोंके व्याख्यान करनेवालेको 'ब्राह्मण' कहते हैं । वैदिक साहित्यमें यह तो स्पष्ट ही है कि स्वर्गादि स्पृहणीय लोकोंकी प्राप्तिके लिये धर्म ही एकमात्र साधन है और उसका सम्यक् बोध वेदोंसे ही होता है । यागादि उनकी प्राप्तिके धार्मिक साधन हैं । इसीलिये इनका ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें सविस्तर वर्णन किया गयां है और ऐतरेय ब्राह्मणमें इस आशयको व्यक्त करते हुए ऋषिने कहा भी है—

'स्वर्गमेव तं लोकं रोहति य एवं वेद ।'

भट्टभास्करने इन ब्राह्मणोंको दो प्रकारका कहा है—एक कर्म-ब्राह्मण और दूसरा कल्प-ब्राह्मण । पहलेमें कर्मोंका विधान, मन्त्रोंके प्रयोग और उनके उपयोगमें लाये जानेवाले स्थानोंका निरूपण किया गया है और दूसरे कल्प-ब्राह्मणोंमें मन्त्रोंका पाठ मात्र भर ही दिया है । हमारा सर्वाङ्ग वैदिक साहित्य अबतक नहीं प्राप्त हो पाया है । अबतक चारों वेदोंके अन्तर्गत प्राप्य

ब्राह्मणोंकी संख्या लगभग सोलह है । ऐतरेय और कौषीतिकी नामक दो ऋग्वेदीय ब्राह्मण-ग्रन्थ प्राप्त होते हैं । चालीस अध्यायवाले प्रथम ऐतरेय-ब्राह्मणमें पाँच-पाँच अध्यायोंकी आठ पंक्तिकाएँ हैं । इसका प्रवक्ता महीदास ऐतरेय है । पाश्चात्त्य प्राच्य-विद्या-विशारद कीथ महोदयके अनुसार यह अन्य ब्राह्मण-ग्रन्थोंकी अपेक्षा सबसे पुराना है और उसका सर्वाधिक प्रचार आज भी ऋग्वेदीय आश्वलायन शाखाध्यायी ब्राह्मणसमाजमें मिलता है । इस शाखाके ब्राह्मणोंका प्रचुर आवास सह्य पर्वतसे लेकर आन्ध्रतक बिखरा हुआ मिलता है ।

कौषीतिकी ब्राह्मणमें कुल तीस अध्याय हैं । इसमें पैंग ऋषियोंके मतोंका संकलन किया गया है । इसके वास्तविक प्रवक्ताकी ठीक-ठीक जानकारी नहीं मिलती, किंतु इसकी परम्परासे प्रतीत होता है कि इसकी रचना किसी शांखायन या कौषीतिकी नामक ऋषिने की थी । सम्भवतः इसीलिये ऋग्वेदीय शांखायन शाखामें इसका प्रचार भी बहुत मिलता है । इसके प्रचारके मुख्य केन्द्र उत्तर गुर्जरदेशकी ओर संकेत करते हुए महार्णवने लिखा भी है—

उत्तरे गुर्जरे देशे वेदो बह्वृच ईरितः ।
कौषीतिकि ब्राह्मणं च शाखा शाङ्खायनी मता ॥

इसमें पुनर्जन्मसम्बन्धी सिद्धान्तोंका सूक्ष्म विवेचन किया गया है । हिंदू-जीवनपर इस सिद्धान्तका बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा है । पिछली शताब्दीमें पंडितोंमें यह सहज विश्वास हो गया था कि जहाँ कहीं भी पुनर्जन्मका सिद्धान्त मिलता है, वह भारतीय ऋषियोंकी देन है । विलियम जोन्स, कोलब्रुक, गार्बे, हापकिंग प्रभृति विद्वानोंके अनुसार सुप्रसिद्ध ग्रीक दार्शनिक पाइथागोरसने अपने पुनर्जन्मका सिद्धान्त किसी भारतीय पण्डितसे ही प्राप्त किया था । इसका प्रभाव केवल हमारे धार्मिक जीवनपर ही हावी होकर रह गया हो, ऐसी बात नहीं, अपितु यह सम्पूर्ण भारतीय साहित्यकी नस-नस तकमें समा गया है ।

यजुर्वेदीय ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें शतपथ-ब्राह्मण सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है । इसमें चौदह काण्ड हैं और कुल अध्यायोंकी संख्या सौ है । यह माध्यन्दिनी शाखाका ग्रन्थ कहलाता है । इसमें अन्य अनेक रुचिकर आख्यानोंके साथ-ही-साथ शाण्डिल्य आदि रहस्यमयी विद्याओंका पूर्ण विवेचन मिलता है । इसे वेदार्थोंके रहस्यकी कुंजी कहा गया है । यह वेदोंके मुख्य प्रतिपादित विषयोंका सम्यक् विवेचन करता है और साथ ही वैदिक ऐतिह्यका प्रामाणिक वर्णन भी । इसमें उस मोक्षका भी निरूपण किया गया है, जिसे प्राप्त कर यजमान आवागमनके बन्धनसे मुक्त हो जाता है—

'किं तदग्नौ क्रियते येन यजमानः पुनर्मृत्युमपजयति ।'

इस ब्राह्मण-ग्रन्थका ऐतिहासिक और लौकिक महत्त्व भी कुछ कम नहीं है; क्योंकि इसमें कई राजाओं और ऋषियोंका जो वर्णन मिलता है वह काफी विश्वसनीय है । वाजसनेय माध्यन्दिन शतपथ-ब्राह्मणके प्रचारके सम्बन्धमें एक उक्ति प्रचलित है—

'अङ्गवङ्गकलिङ्गाश्च कानीनो गुर्जरस्तथा ।'

ठीक इसीके ही अनुरूप एक काण्व-शतपथ भी है । कृष्णयजुर्वेदीय-ब्राह्मणका नाम तैत्तिरीय है, इसमें अश्वमेधादि यागोंका वर्णन मिलता है । इसे तैत्तिरीय-संहिताका परिशिष्ट समझना चाहिये । सामवेदसे सम्बन्धित ब्राह्मणमें वाण्डय मुख्य है । इसका प्रचार नर्मदा नदीके उत्तर भागमें विशेषरूपसे मिलता है । इसमें सोम यज्ञोंका विवेचन प्राप्त होता है । इसी तरह षड्विंश ब्राह्मणमें सायं और प्रातःकालीन संध्याओंका विधान मिलता है, जो अन्यत्र नहीं मिलता । सृष्टिकी महती शक्तिके उपासकके लिये इन दोनों संधि-बेलाओंमें यह उपासना अत्यन्त आवश्यक कही गयी है । इसके

अनन्तर यास्कका उपजीव्य ग्रन्थ दैवतब्राह्मण भी आता है, जिसमें छन्दोंका वर्णन और शब्दोंका निर्वचन है। इनके अतिरिक्त आर्षेय, साम-विद्या, संहितोपनिषद् तथा वंश आदि अत्यन्त छोटे-छोटे ब्राह्मण-ग्रन्थ भी मिलते हैं। कृष्णद्वैपायन व्यासके परम शिष्य जैमिनी तथा उनके शिष्य तलवकारद्वारा सम्पादित जैमिनीय-ब्राह्मण नामक एक विशेष उल्लेखनीय ग्रन्थ मिलता है, जिसका विशेष प्रचार कर्नाटकमें है। अथर्ववेदसे सम्बन्धित एक गोपथ-ब्राह्मण भी मिलता है जो गुजरातमें अधिक प्रचलित है। महर्षि पतञ्जलिके भाष्यानुसार कालापक और काठक नामक दो और प्रसिद्ध ब्राह्मण-ग्रन्थ थे, जिनका कभी अतीत भारतके प्रत्येक गाँवमें पाठ हुआ करता था।

दुर्भाग्यवश हमारे 'ब्राह्मण'-साहित्यके अनेक अनमोल रत्न काल-कवलित हो गये हैं। जाबाल, कंकति, गालव, मन्त्रायणी श्वेताश्वतर, शांखायन आदि अनेक ब्राह्मण-ग्रन्थोंका उल्लेख अनेक ग्रन्थोंमें मिलता है। ये ब्राह्मण-ग्रन्थ आर्योंकी वैचारिक प्रगतिके व्यापक प्रतीक कहे जा सकते हैं।

इन ब्राह्मण-ग्रन्थोंके माध्यमसे इनके प्रवक्ता ऋषि चाहते थे कि प्रत्येक यजमानका आवास वेदवाक्योंसे गूँजता रहे; नानाविध यज्ञों, स्वाहा और स्वधासे नित्य पवित्र होता रहे। इनसे रहित यजमानका घर शोक-दायी श्मशानके समान होता है।

'स्वाहास्वधाकारविवर्जितानि
श्मशानतुल्यानि गृहाणि तानि।'

इनके प्रतिपादित विषयोंमें, आधिदैविक तत्त्वोंका विवरण, पुनर्जन्मवाद, अस्तित्ववाद, जीवनको आदर्श और संयमित बनानेके विधानोंका पूर्ण उल्लेख मिलता है। इनमें जिन कर्मकाण्डोंका विधान मिलता है, उन्हें सम्पन्न करके कोई भी यजमान सौ वर्षसे पूर्व देह-पात नहीं कर सकता। इनमें आश्रमधर्मोंका भी यथावत् विधान है। हमारा लोक-जीवन कैसे सुखी, सम्पन्न और सदाचारमय हो सकता है, स्त्री-पुरुषके क्या कर्त्तव्य हैं—ब्राह्मण-ग्रन्थ इन सबपर प्रकाश डालते हैं। ये यजमानकी गृहिणीकी महिमाका उद्घोष करते हुए कहते हैं—**'श्रिया वा एतद्रूपं यत्पत्न्यः'** अर्थात् यह पत्नी ही लक्ष्मी है। इनमें विवाहके प्रकारों और उनके आदर्शोंका भी विवेचन किया गया है। अतिथि-सत्कार और सत्यकी गरिमापर प्रकाश डाला गया है—**'अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति।'** इनमें पुण्य और पापके साथ ही उनके कर्मोंके स्वरूपकी परिगणनाएँ भी की गयी हैं।

इनके अनुसार सभी धर्मोंका आधार गृहस्थ-धर्म है। उसकी सम्पन्नता ही हमारी लौकिक और पारलौकिक सुख-प्राप्तिका कारण बनती है। इसीलिये इनमें ऐसे कर्मकाण्डोंका विधान किया गया है, जिनसे हमारा वातावरण शुद्ध बनता है। वैदिक ऋषियोंने यज्ञको ही वह सर्वश्रेष्ठ कर्म कहा है, जिससे हमारा लौकिक जीवन श्रीसम्पन्न होता है—**'यज्ञो हि श्रेष्ठतमं कर्म।'** यज्ञनिष्पन्न धूम्र उन पर्जन्योंको जन्म देता है जो अपनी सरस जलधारासे सृष्टिमें प्राणोंकी बहिया लाता है। सम्भवतः ऐसे ही यागजन्य मेघोंके सम्बन्धमें महाकवि कालिदासने कहा होगा—

'धूमज्योतिस्सलिलमरुतां संनिपातः क्व मेघः।'

इसमें दो मत नहीं कि हमारा ब्राह्मण-साहित्य वैदिक मनीषाका एक शाश्वत किंतु एक व्यावहारिक प्रयोग रहा था।

* * *

श्रीसत्यनारायणव्रत-कथा और उसका महत्त्व

(लेखक—याज्ञिकभूषण पं० श्रीराधाचरणजी शर्मा, एम्० ए०, साहित्यरत्न)

श्रीसत्यनारायण-व्रतकथाका उल्लेख स्कन्दपुराणान्तर्गत रेवाखण्डमें मिलता है । पुराणोंमें दिव्य मङ्गलमय भगवच्चरित्रोंका वर्णन एवं भक्ति, ज्ञान, वैराग्य एवं तन्त्र-मन्त्रोंका साङ्गोपाङ्ग वर्णन है । आजके इस ध्वंसात्मक युगमें पौराणिक साहित्यका महत्त्व और भी बढ़ गया है । हमारे धर्मनिष्ठ मनीषियोंने अपने धर्मग्रन्थोंके द्वारा मानवमात्रको उदाहरण प्रस्तुत कर प्रेम, दया, शान्ति, सदाचारिता, सत्यपालन, परोपकार, विश्वबन्धुत्व आदिका पाठ पढ़ाकर सन्मार्गपर अग्रसर किया है । परंतु आज उसी साहित्यको, जिसने भारतको विश्वका गुरु बनाया, शङ्काकी दृष्टिसे देख रहे हैं, कितना लज्जास्पद विषय है ।

दुर्भाग्यसे जबसे हमारी संस्कृति एवं सभ्यताका पाश्चात्त्य सभ्यताके साथ सम्मिश्रण हुआ है, तबसे हमारी सारी शिक्षाप्रणाली ही परिवर्तित हो गयी है । अधिकांशत: यहाँकी जनता शास्त्रों तथा पुराणादिसे अनभिज्ञ है और अपनी शास्त्रीय धार्मिक बुद्धि खो बैठी है । अत: गौ, ब्राह्मण तथा धर्मशास्त्रोंकी बातोंको भी शङ्काकी दृष्टिसे देखती है । मनुजी महाराजने धर्मके दस लक्षण बतलाये हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

'धैर्य, क्षमा (सहनशीलता), मनको वशमें रखना, चोरी न करना, बाहर-भीतरकी पवित्रता, इन्द्रियोंको वशमें रखना, सात्त्विक बुद्धि, सात्त्विक ज्ञान, सत्य बोलना एवं क्रोध न करना—ये दस लक्षण धर्मके हैं ।'

इन धर्मके दस लक्षणोंमेंसे **'सत्यान्नास्ति परो धर्मः'** सत्यसे बढ़कर संसारमें दूसरा धर्म नहीं है ! वेद कहते हैं—**'सत्यं वद, धर्मं चर,'** (सत्य बोलना चाहिये, तथा धर्मसे चलना चाहिये ।) **'सत्यान्न प्रमदितव्यम्'** (सत्यसे प्रमाद नहीं करना चाहिये ।) **'असत्यं न वदेत्'** (झूठ न बोले) **'एष वैदिकसनातनो धर्मः'** (ऐसा वेदोक्त सनातन धर्म है) ।

सत्यव्रत पालन करनेसे धर्मके सभी लक्षण मनुष्यमें उसी प्रकार आकर मिलने लगते हैं, जैसे महानदमें लघुसरिताएँ ! ऐहिक, पारलौकिक सुखका मूल साधन 'सत्यव्रत-पालन' है । आजकल यह कठिन कलिकाल चल रहा है । यद्यपि मुक्तिसाधन एवं भगवत्-प्राप्तिके पुराणोंमें नाना प्रकारके विधान वर्णित हैं, किंतु कलिकालमें उनका पालन करना अत्यन्त कठिन है । अत: इन्हीं सारी कठिनाइयोंको देखते हुए कलिकालमें सत्यव्रतका विशेष महत्त्व है ।

विशेषतः कलियुगे लघूपायोऽस्ति भूतले ।

'विशेषकर कलिकालमें भूमिपर यही सरल उपाय है ।' मनुष्य सदैव सत्यव्रतका पालन बिना सतत अभ्यासके नहीं कर सकता, किंतु एक दिन तो वह ब्रह्मचर्यसे रहकर सत्यव्रतका पालन कर सकता है और अपने विगत जीवनके विषयमें चिन्तन भी कर सकता है । यदि एक दिन भी सत्य बोलना कठिन दीखता हो तो **'मौनान्नास्ति परं तपः'** उस दिन मौनव्रत धारण करके सत्यव्रतका पालन कर सकता है । जैसे किसी पदको प्राप्त करनेके लिये अनेक परीक्षाओंको उत्तीर्ण करना पड़ता है, अनेक वर्षोंका समय उन परीक्षाओंकी तैयारीमें लगाना पड़ता है, तब कहीं सतत प्रयत्नसे—अभ्याससे उस पदको प्राप्त कर पाता है । इसी भाँति मनुष्य एक दिन सत्यव्रतका पालन करे, भगवान् नारायणसे प्रार्थना करे कि वे मेरी इस प्रतिज्ञामें सहायता दें और इस तरह वह नित्यप्रति अपने जीवनमें सत्यपूर्ण व्यवहार लानेकी चेष्टा

करे। जैसे भुवनभास्कर भगवान् श्रीसूर्यदेवके उदय होनेपर तिमिरकी सम्भावना नहीं रहती, उसी प्रकार हृदयमें सत्यव्रत पालन करनेकी धारणा कर लेनेपर तथा ईश्वरकृपाको ध्यानमें रख लेनेपर फिर कभी भी असत्यपूर्ण वातावरण रहनेकी सम्भावना नहीं रहती और इस प्रकार वह धर्मनिष्ठ सत्यव्रतका पालन करते हुए अपने लक्ष्य मोक्षको प्राप्त कर लेता है। उसकी इहलौकिक एवं पारलौकिक यात्राएँ सुखमय हो जाती हैं; क्योंकि—

सत्यं व्रतं तपः शौचं सत्यं विसृजते प्रजाः ॥
सत्येन धार्यते लोकः स्वः सत्येनैव गच्छति ।
(ना० पूर्व० ४३ । ८१-८२)

'सत्य ही व्रत, तपस्या तथा पवित्रता है; सत्य ही प्रजाकी सृष्टि करता है; सत्यसे यह लोक धारण किया जाता है तथा सत्यसे ही मनुष्य स्वर्गलोकको जाता है।'

असत्य तमोगुणस्वरूप होता है, जो मनुष्यको नरककी ओर ले जाता है। तमोगुणसे लिप्त हो जानेके कारण मनुष्य ज्ञानमय प्रकाशको नहीं देख पाता।

इसी सत्यव्रतका पालन करते हुए भगवान् नारायणका पूजन है। नर और नारायणका अभिन्न सम्बन्ध है। भगवान् नारायणकी उदारता, भक्तवत्सलताका वर्णन नारदपुराणमें मिलता है।

पूजितो नमितो वापि संस्मृतो वापि मोक्षदः ।
नारायणो जगन्नाथो भक्तानां मानवर्द्धनः ॥
(ना० पू० ३८ । ५७)

'भक्तोंका मान बढ़ानेवाले जगदीश्वर भगवान् नारायण पूजन, नमस्कार अथवा स्मरण कर लेनेपर ही जीवको मोक्ष प्रदान करते हैं।'

भगवान् विष्णुसे परे कोई भी वस्तु नहीं है।

धर्माणि विष्णुश्च फलानि विष्णुः
कर्माणि विष्णुश्च फलानि भोक्ता ।
कार्यं च विष्णुः करणानि विष्णु-
रस्मान्न किंचिद् व्यतिरिक्तमस्ति ॥
(ना० पूर्व० १३ । ५०)

'भगवान् विष्णु ही धर्म हैं, धर्मके फल भी भगवान् विष्णु ही हैं। इसी प्रकार कर्म और कर्मोंके फल और उसके भोक्ता भी भगवान् विष्णु ही हैं। कार्य भी विष्णु हैं, कारण भी विष्णु ही हैं। उनसे भिन्न कोई भी वस्तु नहीं है।'

इस समस्त ब्रह्माण्डके नायक भगवान् विष्णु ही हैं।

विष्णोः सकाशादुद्भूतं जगत्तत्रैव च स्थितम् ।
स्थितिसंयमकर्तासौ जगतोऽस्य जगच्च सः ॥
(वि० पु० १ । १ । ३१)

'यह जगत् विष्णुसे उत्पन्न हुआ है, उन्हींमें स्थित है। वे ही उसकी स्थिति और लयके कर्ता हैं तथा यह जगत् भी वे ही हैं।'

इस सत्यनारायण-व्रत-कथाके पात्रोंमें श्रीशौनकजी महाराज एवं श्रीनारदजीका प्रमुख स्थान है। आज हमें जो भी पौराणिक साहित्य उपलब्ध हो रहा है, यह सब इन्हींकी कृपाका फल है। इन्होंने सर्वजनसुखाय, सर्वजनहितायकी कामना सामने रखकर इस पौराणिक साहित्यका निर्माण कराया है। तभी भगवान् नारायण भी श्रीमुखसे इनकी प्रशंसा करते हैं।

'साधु पृष्टं त्वया वत्स लोकानुग्रहकाङ्क्षया।'

'अरे नारद! आज तुमने संसारवासियोंके ऊपर कृपा करके उनकी भलाईके लिये बड़ा ही सुन्दर प्रश्न पूछा है।' आदि।

जहाँतक इस सत्यनारायण-व्रत-कथाके कथासाहित्यका सम्बन्ध है, यह हमारी वर्णव्यवस्थाकी ओर संकेत करता है। व्यतीत हुई घटनाओंके क्रमबद्ध इतिहासको ही कथा कहते हैं। शतानन्द जातिका ब्राह्मण था, लकड़हारा शूद्र था, साधु वणिक् वैश्य था और उल्कामुख एवं तुङ्गध्वज राजा क्षत्रिय थे। अर्थात् इस व्रतके अधिकारी सभी वर्णके नर-नारी हैं। एक-एक वर्णका एक-एक उदाहर प्रस्तुत कर इस व्रतकी महत्ता

बतलायी गयी है। ब्राह्मण, वैश्य, क्षत्रिय एवं शूद्रके क्या कर्तव्य हैं, चारों वर्णोंके विषयमें वेदमें कहा है ।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याꣳ शूद्रो अजायत ॥
(य० ३१ । ११)

'राष्ट्ररूपी विराट्स्वरूपके चारों वर्ण चार अङ्गरूप हैं । ब्राह्मण राष्ट्रका मस्तक (मस्तिष्क) है, क्षत्रिय भुजा है, वैश्य ऊरु है और शूद्र पाँव है ।'

जैसे सम्पूर्ण शरीरकी रक्षा मस्तक, हस्त, उदर और चरण—इन चार अङ्गोंद्वारा होती है । उसी प्रकार चारों वर्णोंको अपने राष्ट्ररूपी शरीरकी रक्षामें तत्पर रहना चाहिये ।

शतानन्द जातिका ब्राह्मण है । ब्राह्मणोंका कर्तव्य है—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥
(मनु० १ । ८८)

शमो दमस्तपः शौचं संतोषः क्षान्तिरार्जवम् ।
ज्ञानं दयाच्युतात्मत्वं सत्यं च ब्रह्मलक्षणम् ॥
(श्रीमद्भा० ७ । ११ । २१)

'वेद पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना-कराना, दान देना, दान लेना तथा मनको वशमें रखना, इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे रोकना, तप करना, पवित्र रहना, संतोष रखना, क्षमा करना, सरलता, विवेक, दया, भगवन्निष्ठा और सत्य—ये सब ब्राह्मणोंके लक्षण हैं ।'

किंतु शतानन्द हमें एक दीन भिक्षुकके रूपमें दिखायी पड़ता है । अतः उसको उसका कर्तव्य बतानेके हेतु भगवान् नारायण बूढ़े ब्राह्मणके वेषमें आते हैं और पूछते हैं—

'किमर्थं भ्रमसे विप्र महीं नित्यसुदुःखितः ।'

'अरे ब्राह्मण ! इस पृथ्वीपर नित्यप्रति दुखी होकर तुम क्यों विचरण करते हो ?' एक तो इस पङ्क्तिका यह सीधा-सा अर्थ है । एक अर्थ और भी है जिसके द्वारा भगवान् उसके कर्तव्यका उसको बोध कराना चाहते हैं । वह यह है, 'किम्+अथ भ्रमसे विप्र महीं नित्यं सुदुःखितः ।' अरे 'विप्र' ! 'किम्', यानी क्या तुम 'अर्थ'-धनके लिये भ्रमण कर रहे हो ? यदि धनके लिये भ्रमण कर रहे हो तो ब्राह्मणोंका कर्तव्य भिक्षा माँगनेका नहीं है और यदि धनकी कामना भी तुम्हारे हृदयमें है तो वह अब पूर्ण हो चुकी है; क्योंकि लक्ष्मीपति नारायणके सम्मुख आ जानेपर तो दरिद्रता रह ही नहीं सकती । परंतु शतानन्द उस भावको नहीं पहचान पाता । भगवान्‌के बताये हुए विधानसे सत्यव्रत पालन करनेसे शतानन्दके सारे दुःख दूर हो जाते हैं और अन्तमें वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है ।

चाहे ब्राह्मण हो या शूद्र, बिना सत्याचरणके किसीका भी जीवन सुखमय नहीं हो सकता । शूद्रोंका धर्म है ।

शूद्रस्य संनतिः शौचं सेवा स्वामिन्य मायया ।
अमन्त्रयज्ञो ह्यस्तेयं सत्यं गोविप्ररक्षणम् ॥
(श्रीमद्भा० ७ । ११ । २४)

'नम्रता, स्नानादिसे शुद्धता, निष्कपट भावसे स्वामीकी सेवा करना, चोरी न करना, सत्य बोलना और गो-ब्राह्मणकी रक्षा करना—ये शूद्रोंके लक्षण हैं ।'

लकड़हारा लकड़ियाँ काटकर सेवाकार्य कर रहा है । शतानन्दद्वारा सत्यनारायण-व्रत-महिमाको सुनकर अपना ऐहलौकिक एवं पारलौकिक जीवन सँभाल लेता है ।

राष्ट्रकी रक्षाका भार क्षत्रिय-समाजपर रहता है । प्रत्येक नरेशके अंदर इन लक्षणोंका होना आवश्यक है—

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥
(मनु० १ । ८९)

शौर्य वीर्यं धृतिस्तेजस्त्याग आत्मजयः क्षमा ।
ब्रह्मण्यता प्रसादश्च रक्षा च क्षत्रलक्षणम् ॥
(श्रीमद्भा० ७ । ११ । २२)

'प्रजाकी रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, वेद पढ़ना, विषयमें मन न लगाना, शूरता, प्रभाव, धीरज, तेज, उदारता, मनको वशमें रखना, क्षमा, साधु-ब्राह्मणोंका सत्कार और न्याय करना—ये क्षत्रियोंके लक्षण हैं ।' उल्कामुख राजा जितेन्द्रिय, सत्यवादी, देवताओं और ब्राह्मणोंके प्रति श्रद्धालु है । एक शासकके अंदर जो गुण होने चाहिये, वे इसमें विद्यमान हैं । तुङ्गध्वज राजाको अपने पदका दर्प था, अतः उसे कष्ट उठाने पड़े । भगवान्‌के सम्मुख सभी वर्गके नर-नारी समान अधिकार रखते हैं । राजा श्रद्धालु गोप-ग्वालोंका प्रसाद तिरस्कृत कर दे और दुःख न पाये, यह कैसे सम्भव हो सकता था । अतः तुङ्गध्वज नृपका चरित्र दर्पी पुरुषोंको चुनौतीस्वरूप है ।

वैश्य राष्ट्ररूपी नौकाके कर्णधार हैं । व्यापार-सम्बन्धी सारा कार्य उन्हींपर आधारित है । ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यस्त इन्हींपर आश्रित हैं । इनके कर्तव्य हैं—

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥
(मनु०)

देवगुर्वच्युते भक्तिस्त्रिवर्गपरिपोषणम् ।
आस्तिक्यमुद्यमो नित्यं नैपुण्यं वैश्यलक्षणम् ॥
(श्रीमद्भा० ७ । ११ । २३)

'गौ आदि पशुओंकी रक्षा करना, कृषि करना, दान देना, यज्ञ करना, वेद पढ़ना, वाणिज्य करना, देवता-गुरुके प्रति भक्ति रखना, धर्म, अर्थ, काम—इस त्रिवर्गके द्वारा संतुष्ट होना, आस्तिकता, नित्य उद्योग और चतुरता—ये वैश्योंके लक्षण हैं ।'

इन लक्षणोंके विपरीत जब साधु चलता है अर्थात् मिथ्या भाषण करता है और कन्याके जन्मोत्सवके पश्चात् विवाहोत्सवके समयपर सत्यनारायण भगवान्‌का पूजन करनेको कहा जाता है एवं तब भी पूजन नहीं करता, तो फलस्वरूप वह नाना प्रकारकी यातनाएँ भोगता है । अन्तमें सत्यव्रतके पालन एवं नारायणके पूजनसे ही उसका उद्धार होता है ।

अतः कलिकालमें श्रीसत्यनारायण-व्रत-कथासे बढ़कर अन्य कोई सुलभ उपाय नहीं है, जिससे मनुष्यको ऐहलौकिक एवं पारलौकिक सुख प्राप्त हो सके । सभी वर्णोंको सत्यनारायण-व्रत-कथाका महत्त्व समझकर अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये ।

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं
सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये ।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥
(श्रीमद्भा० १० । २ । २६)

जगत्‌के जीवन, धन, अधिकार प्रत्यक्ष क्षणभङ्गुर और दुःखद हैं

क्षणभङ्गुर प्रत्यक्ष जगत्‌के सारे जीवन, धन, अधिकार ।
इनके लिये कामना करना, पाना इन्हें सभी बेकार ॥
सुख न कभी होगा इनसे, ये दुःखोंके हैं पारावार ।
बड़ी मूर्खता है जो इनमें कुछ भी रखना ममता-प्यार ॥
इन सबका आना-जाना है सब प्रभुका मायाविस्तार ।
इनमें रहो असङ्ग, भजो नित मायापतिको सभी प्रकार ॥

दुर्भिक्षका कारण और निवारण

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

भिक्षायाः प्रायो दुर्लभत्वं—निष्फलत्वमिति दुर्भिक्षम् ।
इति अव्ययीभावसमासः ॥
(शब्दकल्पद्रुम)

जिस समय भिक्षा भी दुर्लभ हो जाय—निष्फल हो जाय, उस समयको 'दुर्भिक्ष'* कहा जाता है । विभिन्न शास्त्रोंमें इसके अनेक कारण बतलाये गये हैं । रघुनन्दन भट्टके ज्योतिषतत्त्वके अनुसार प्रमाथी, व्यय, क्षय आदि संवत्सरोंके आनेपर दुर्भिक्ष होता है—

राष्ट्रभङ्गं च दुर्भिक्षं तस्करैरुपपीडनम् ।
जानीयाद् विग्रहं घोरं प्रमाथिनि वरानने ॥
दुर्भि ं जायते घोरं सर्वोपद्रवसंयुतम् ।
अनावृष्टिः समाख्याता व्यये संवत्सरे प्रिये ॥
दुर्भिक्षं शर्वरीवर्षे व्यवहारो विपर्ययः ।
देशभङ्गं च दुर्भिक्षं क्षये संवत्सरे प्रिये ॥
—इत्यादि

अद्भुतसागरमें असमयमें वृक्षोंके फल-फूल लगना, कुत्ते, सियार, गिद्ध, कौओं आदिका मांस-हड्डी लेकर श्मशानसे गाँव-घरकी ओर जाना—ये दुर्भिक्षके लक्षण कहे गये हैं—

मांसास्थीनि समादाय श्मशानाद् गृध्रवायसाः ।
श्वा शृगालोऽथवा मध्ये पुरस्य प्रविशन्ति चेत् ॥
विकिरन्ति गृहादौ च श्मशानं सा मही भवेत् ।
संग्रामश्च महाघोरो दुर्भिक्षं मरणं तथा ॥
अकाले फलपुष्पाणि देशविद्रवकारणम् ।

मन्वादिने दुर्भिक्षके ये कारण कहे हैं—

यद्राष्ट्रं शूद्रभूयिष्ठं नास्तिकाक्रान्तमद्विजम् ।
विनश्यत्याशु तत्कृत्स्नं दुर्भिक्षव्याधिपीडितम् ॥
(मनु० ८ । २२)

अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूज्यपूजाव्यतिक्रमः ।
त्रीणि तत्र प्रजायन्ते दुर्भिक्षं मरणं भयम् ॥ †
(स्कन्द० माहेश्वर० केदार० ३ । ४८)

अर्थात्—जब जहाँ नास्तिकताकी वृद्धि होती है, सदाचारी विद्वान् ब्राह्मणोंकी अवहेलना—तिरस्कार-बहिष्कार तथा अज्ञानी शूद्रादिका विशेष आदर-स्वागत होने लगता है, तब वहाँ भय, दुर्भिक्ष, राष्ट्रभङ्ग आदि होते हैं । इसी प्रकार विद्वान् ब्राह्मणसे कर लेने, उसकी जीविका आदिकी व्यवस्था न करनेसे भी दुर्भिक्षकी बात कही गयी है—

यस्य राज्ञस्तु विषये श्रोत्रियः सीदति क्षुधा ।
तस्यापि तत्क्षुधा राष्ट्रमचिरेणैव सीदति ॥
(मनु० ७ । १३४)

म्रियमाणोऽप्याददीत न राजा श्रोत्रियात् करम् ।
न च क्षुधास्य संसीदेच्छ्रोत्रियो विषये वसन् ॥
(मनु० ७ । १३३)

कलियुगमें प्रायः ये कारण साधारण होते हैं । दुःस्वप्न-शकुनादि प्रकृतिप्रदत्त लक्षणोंको बार-बार सत्य देखते हुए भी धर्मकी अवहेलना करना—यही कलियुगकी विशेषता है । अतः ऋषियों, महात्माओंने इसमें बार-बार अकाल-दुर्भिक्ष पड़नेकी बात कही है—

कलि बारहिं बार दुकाल परै । बिनु अन्न दुखी बहु लोग मरै ॥

(छान्दोग्योपनिषद् १ । १०; १—७) में भी कुरुदेशमें किसी एक भारी दुर्भिक्षमें उषस्तिके महावतसे माँगकर उच्छिष्ट उड़द खानेकी बात आयी है । वाल्मीकीय रामा० बालकाण्ड ९-१० सर्गोंमें भी अंगदेशमें दुर्भिक्ष पड़ने तथा शृंगीऋषिके आनेपर उसे निवृत्त होनेकी बात आयी है ।‡ महाराज दशरथके राज्यमें शनिद्वारा

---

* पहले प्रत्येक आदमी ब्रह्मचारी, विद्यार्थी, संन्यासी, योगी आदिको भिक्षा देकर ही खाता था । न भिक्षा देनेवाला निन्द्य नजरोंसे देखा जाता था—

'अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्' (मनु० ३१।१८) भिक्षाके लिये शास्त्रकारोंकी दृढ़ आज्ञा है—

'भिक्षां वै भिक्षवे दद्याद् विधिवद् ब्रह्मचारिणे ।'

(कूर्मपुराण १७, मनु० ३ । ९४, याज्ञवल्क्य० १ । १०८, रीत० ४ । ६०, व्यास० ३ । ४४) इत्यादि ।

† (३ । ४५—मोर तथा वेंकटे० संस्क०)

‡ महाभारत, वनपर्व ११० । ४१–४८में भी इस घटना-का उल्लेख है । इसमें ब्राह्मणोंका कोप ही कारण निर्दिष्ट है ।—

रोहिणी-शकटके भेद तथा भीषण अकालकी बात पद्मपुराण उत्तरखण्ड १२४वें अध्याय (मोर तथा वेंकटेश्वर प्रेसका संस्करण) में भी एक बड़े भयङ्कर दुर्भिक्षकी चर्चा महर्षि वसिष्ठने की है—

द्वादशाब्दं पुरा राजन् न ववर्ष बलाहकः ।
तेनोद्विग्नाः प्रजाः क्षीणाः गताः सर्वा दिशो दश ॥ (९४)

उस समय १२ वर्षोंतक एक बूँद भी वर्षा न हुई । सारा भूमण्डल जल, फल, मूल, अन्नसे शून्य हो रहा था । इसी प्रकारके दुर्भिक्षकी चर्चा 'योगवाशिष्ठ'में लवणराजाके राज्यमें कहीं उत्तरापाण्डवके सुदूरवर्ती क्षेत्रमें पड़ा था—

अवृष्टिदुःखमभवद् भीषणं भग्नमानवम् ।
महतानेन दुःखेन सर्वे ते ग्रामका जनाः ॥
विनिर्गत्य गता दूरं सर्वे पञ्चत्वमागताः ॥
(योगवाशिष्ठ ३ । १२१ । २-३)

भवग्रहोग्राशनिदग्धदेशे ....
हा पुत्रि पुत्रावृतसर्वगात्रे
दिनत्रयाभोजनजर्जराङ्गि ।
कृत्वासिना वर्मणि जीर्णदेहाः
कथं क्व मुक्ता भवतास्ववस्ते ॥

'तुमने दुर्भिक्षसे जले देशमें तीन दिन उपवास रहकर जर्जर अङ्गोंमें तलवार घुसेड़कर अपने प्राण कैसे छोड़े ?'

महाभारत शान्तिपर्वके १४१ तथा ब्रह्मपुराणके ९३वें अध्यायमें त्रेता-द्वापरकी संधिमें पड़े एक भीषण दुर्भिक्षका उल्लेख वेदव्यासजीने किया है । उन दिनों बादलोंकी कौन पूछे, कुहरों तकका भी दर्शन नहीं हुआ । उस समयकी स्थिति सर्वाधिक भीषण थी और ग्रहयोग भी भयंकर हो गये थे—

त्रेताविमोक्षसमये द्वापरप्रतिपादने ।
न ववर्ष सहस्राक्षः प्रतिलोमोऽभवद् गुरुः ॥
जगाम दक्षिणं मार्गं सोमो व्यावृत्तलक्षणः ।
नावश्यायोऽपि तत्राभूत् कुत एवाभ्रजातयः ॥
बभूवुः क्षुधिता मर्त्याः खादमानाः परस्परम् ॥

स्थिति यहाँतक बिगड़ गयी थी कि विश्वामित्रको कुत्तेके मांसके लिये चाण्डालके घरमें चोरी करनेकी नौबत पहुँच गयी (वनपर्व १४१) । ब्रह्मपुराणके अनुसार मरी कुतिया वहीं शिष्योंको पड़ी मिल गयी । उसीसे हवनकी तैयारीपर इन्द्रने वर्षा की (९३) ।

महाभारत अनुशासनपर्व (९३ । २४) में भी एक ऐसे ही भीषण दुर्भिक्षकी बात है, जिसमें सप्तर्षियोंको कमलनाल खाना पड़ा, तथापि वृषादर्भि राजाके भोजन-प्रतिग्रह आदिको उन लोगोंने स्वीकार नहीं किया था । यह कथा पद्मपुराण सृष्टिखण्ड १९ । २३० तथा स्कन्द० नागरखण्ड ३२ आदिमें भी आती है । मनुस्मृति १० । १०५—१०८ में भी ऐसे दुर्भिक्ष-संकटकी बातें हैं । भागवतादिमें राजा वेनके राज्यान्तमें भी भीषणतम दुर्भिक्ष पड़नेकी बात विस्तारसे मिलती है । मार्कण्डेयपुराण देवीमाहात्म्य ११ । ४१ में एक सौ वर्षकी अनावृष्टि तथा दुर्भिक्ष पड़नेकी बात है—

'शतवार्षिक्यामनावृष्ट्याम्'

श्रीरमेशचन्द्र दत्तके द्वारा प्रस्तुत 'दुर्भिक्ष-कमीशनकी रिपोर्ट'में भी इधरके भीषण दुर्भिक्षोंका वर्णन है । ई० पू० ४३६में इटलीमें भारी दुर्भिक्ष पड़ा था । उसमें हजारों आदमी टाइबर नदीमें भूखसे छुटकारा पानेके लिये डूब मरे थे । भारतमें ६५०, ८७९, ९४१, १०२२, १०३३ में भारी दुर्भिक्ष पड़े । ८७९का दुर्भिक्ष विश्वव्यापी था । ११४८—५९ तक भारतमें व्यापक दुर्भिक्ष था । १३९६—१४०७ का भारतीय दुर्भिक्ष 'दुर्गादेवी'के नामसे विख्यात रहा है । १८८९-९० में चीनमें भीषण दुर्भिक्ष था । १८९१—९२ में रूसमें दुर्भिक्ष पड़ा था । १९४५-४६में बंगालमें अकालसे बीसों लाख आदमियोंकी मृत्यु हुई ।

चढ़ते हुए विचित्र भाव

कहा जाता है कि पृथु, राम आदि राजाओंके राज्यमें अन्न-वस्त्रादिका कोई मूल्य न था—

'यत्प्राप्यते वस्तु विनार्वतो हि ।' (सत्यसंहिता)

'बस्तु बिनु गथ पाइये ।' (रा० मा०)

महाभारतकालमें चावल आदिका भाव दो पैसे मनका प्राप्त है । भविष्यपुराण तथा कौटल्यके अनुसार मूल्य तथा अदला-बदलीका भाव स्थिर करनेपर जोर है । कौटल्यके

न ववर्ष सहस्राक्षस्ततोऽपीड्यन्त वै प्रजाः ।
···कुपितास्तव राजेन्द्र ब्राह्मणा निष्कृतिं चर ॥

अंगदेशमें इन्द्रने १२ वर्षोंतक वर्षा नहीं की । प्रजा बहुत पीड़ित हुई । पुरोहितने कहा 'राजन् ! तुम्हारे ऊपर ब्राह्मण रुष्ट हैं, अतः उसका प्रायश्चित्त करो ।'

समय चावल एक आने मन था। घी १२ आने मन था। (अर्थशास्त्र पृ० २३५ लाहौरका संस्करण) साधारण श्रमिककी ।।) तथा लेखकोंकी आय ५)से १०) मासिकतक थी।* (मेगास्थनी-यात्रा-विवरण)। फाहियान आदिके समय भी यही मूल्य रहा। साईस्ता खाँके जमानेमें चावल १) का ८ मन था। इब्न बतूताने बंगालका भाव, १४वीं शतीमें प्रायः इसका ड्योढ़ा बतलाया। 'आइने अकबरी' तथा मोरलैंडके 'India at the death of Akbar' अनुसार अकबरके समय बढ़िया चावल ११ आने मन, घी ५ रुपये मन था। गाय ८ आने तकमें मिलती थी। १७२९ में 'फोर्ट विलियम रेवेन्यू कन्सटेशन' के अनुसार बंगालके मुर्शिदाबाद जिलेमें चावल १२ आने मन बिकता था। १८१० में अकबर हैमिल्टनके अनुसार चावल १।) मन था। १९३९ तक चावल २॥) मन था। १९३०—४० तक विद्यार्थियोंको दाम, कौड़ी-रोड़ी, बौड़ी, फौड़ीमें अन्नके भावपर हिसाब बतलाया जाता था। मनुके अनुसार अर्थलोभ तथा नास्तिकताकी वृद्धि ही मूल्य-वृद्धिका प्रधान कारण है। ज्योतिषके अनुसार पाश्चोक्त शनि आदि ग्रहोंका रोहिणी-शकट-भेदना आदि भी कारण है। गत अष्टग्रहीयोग, क्षयमासादि भी हैं—

भानुर्भौमो भृगुश्चैव शनिक्षेत्रं समाश्रिताः।
यदा निशापतिस्तत्र तदा दुर्भिक्षतो भयम् ॥
रोहिणीशकटं राहुर्भिंद्यात् सौरोऽथवा कुजः।
यदा तदा जगत्सर्वं संक्षयं यात्यसंशयम् ॥
सप्त ग्रहा यदैकत्र गोलयोगस्तदा भवेत्।
दुर्भिक्षं राष्ट्रपीडा च तस्मिन् योगे न संशयः ॥

अर्थात् सूर्य, भौम, शुक्र, चन्द्र—ये शनिके घरमें एकत्र हों अथवा राहु-शनि रोहिणी-शकट बेधें, सात ग्रह एकत्र हो जायँ तो दुर्भिक्ष होता है। ये सभी योग प्रायः गत अष्टग्रही-के समय थे ही; पर क्या ये ही ग्रह मनमाना एकत्र हो जाते हैं, अथवा इन दुश्शकुनों एवं ग्रहसंचारके भी कुछ कारण होते हैं। विचारनेपर ज्ञात होता है कि नास्तिकताकी वृद्धि, अर्थ-कामकी प्रधानता, वर्णधर्म तथा ईश्वरकी अवहेलना ही इन ग्रहयोगों आदि सभी क्लेशोंके भी कारण हैं। यथा—

दुर्भिक्षादेव दुर्भिक्षं क्लेशात्क्लेशं भयाद् भयम्।
मृतेभ्यः प्रमृता यान्ति दरिद्राः पापकर्मिणः ॥
व्यालकुञ्जरदुर्गेषु सर्पचौरभयेषु च।
हस्तावापेन गच्छन्ति नास्तिकाः किमतः परम् ॥
पुलाका इव धान्येषु पूत्यण्डा इव पक्षिषु।
मशका इव मर्त्येषु येषां धर्मो न कारणम् ॥

(महाभारत शान्ति० ३२२। ३, ५, ७)†

अर्थात् नास्तिक, पापी, धर्महीन प्राणी दुर्भिक्षसे दुर्भिक्षको, क्लेशसे क्लेशको, भयसे भयको और मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होते तथा दरिद्रता भोगते हैं। वे सर्प, चोर, हाथी, वन आदिके भयसे पीडित होते रहते हैं। जिनका उद्देश्य धर्म-पालन नहीं है, ऐसे मनुष्य मानव-समाजके भीतर वैसे ही समझे जाते हैं, जैसे धानोंमें थोथा धान और पक्षियोंमें सड़ा हुआ अंडा। ठीक इसके विपरीत सदाचारी धर्मात्माओंकी स्थिति सर्वदा सुख-आनन्दमय होती है—

उत्सवादुत्सवं यान्ति स्वर्गात् स्वर्गं सुखात् सुखम्।
श्रद्दधानाश्च दान्ताश्च धनस्थाः शुभकारिणः ॥
प्रियदेवातिथेयाश्च वदान्याः प्रियसाधवः।
क्षेम्यमात्मवतां मार्गमास्थिता हस्तदक्षिणम् ॥

(महाभारत शान्ति० ३२३। ४, ६)

---

* मनुस्मृति आदिमें यह वेतन प्रदिष्ट है—

प्रत्यहं कल्पयेद् वृत्तिं स्थानं कर्मानुरूपतः ॥
पणो देयोऽवकृष्टस्य षडुत्कृष्टस्य वेतनम्।
षाण्मासिकस्तथाच्छादो धान्यद्रोणस्तु मासिकः ॥

(मनु० ७। १२५-२६)

कार्यके अनुसार वेतन निश्चित कर दे। साधारण कर्मकरको प्रतिदिन एक पण (२ तोले वजनकी ताम्र-मुद्रा), उत्तम दासको ६ पण दे। ६ महीनेपर वस्त्राच्छादन तथा १ द्रोण अन्न प्रतिमास दे। उत्कृष्टको ६ गुना अधिक दे।

उत्कृष्टस्य तु भृतिरूपाः षट् पणा देयाः। अनयैव कल्पनया षाण्मासिकानि षड् वस्त्रयुगानि देयानि। प्रतिमासं षण् मास्या द्रोणा देयाः। मध्यस्य मध्यमः। (कुल्लूक भट्ट)

गौतम धर्मसूत्र (२। १। २०—४० तक) में वेतन-क्रम इससे अधिक है।

विशेष द्रष्टव्य 'माडर्न रिव्यू' भाग ६८ अङ्क १०में श्रीदेवज्योति वर्मनका लेख।

† महाभारत शान्तिपर्वकी कुंभकोणम् तथा मद्रासकी प्रतियोंमें ७७। २८ के बाद ये श्लोक भी इस विषयमें ध्येय हैं—

नारीणां व्यभिचाराच्च अन्यायाच्च महीक्षिताम्।
विप्राणां कर्मदोषाच्च प्रजानां जायते भयम् ॥
अवृष्टिर्मारको रोगः सततं क्षुद्भयानि च।
विग्रहश्च सदा तस्मिन् देशे भवति दारुणः ॥

अर्थात् स्त्रियोंके व्यभिचारसे, राजाओंके अन्यायसे और ब्राह्मणोंके कर्मत्यागसे प्रजाको भय होता है। वहाँ रोग, अकाल, युद्ध होते हैं।

अर्थात् श्रद्धालु, आस्तिक, सदाचारी, सात्त्विक, पुण्यकर्मा साधु पुरुष सदा ही एक श्रेयसे दूसरे श्रेय, एक उत्सवसे दूसरे महोत्सव, एक आनन्दसे दूसरे आनन्द, सुख तथा ऐश्वर्यमें जाते रहते हैं। उनकी मनःस्थिति बड़ी संतोषयुक्त रहती है। अतः बाहर भी उन्हें सब ठीक दीखता है तथा वे परिस्थितियोंको भी सुधारते चलते हैं। जो देवता-अतिथिप्रिय, मधुरभाषी, सत्समागम तथा साधुप्रिय हैं, वे परम कल्याणके मार्गपर आरूढ़ होते हैं।

निराकरणका उपाय

दुर्भिक्षके निदानमें एक प्रकारसे इसके निराकरणका उपाय भी आ ही गया है तथापि सुस्पष्ट रूपसे यह समझना है कि आस्तिकता अर्थात् भगवान्‌का भजन-कीर्तन-ध्यान दुर्भिक्षनिवृत्ति तथा सुभिक्षका सर्वश्रेष्ठ उपाय है। नास्तिक वेनके राज्यमें घोर दुर्भिक्ष हो गया था, किंतु पृथुने भगवद्भक्तिप्राप्त योगशक्तिसे उसे सर्वथा दूर कर दिया—

प्रजा निरन्ने क्षितिपृष्ठ एत्य क्षुत्क्षामदेहाः पतिमभ्यवोचन् ॥
वयं राजञ्जाठरेणाभितप्ता यथाग्निना कोटरस्थेन वृक्षाः ।

(श्रीमद्भा० ४ । १७ । ९-१०)

तन्नो भवानीहतु रातवेऽन्नं क्षुधार्दितानां नरदेवदेव ।

(श्रीमद्भा० १०, ब्रह्मपुराण, महाभा० आदि)

देहि नः क्षुत्परीतानां प्रजानां जीवनौषधीः ॥

(विष्णुपुराण १ । १३ । ६८)

उनमें योगद्वारा पृथ्वीपरकी सारी सामग्री तथा प्रजाके भी धारण कर लेनेकी शक्ति थी—

'आत्मयोगबलेनेमा धारयिष्याम्यहं प्रजाः ।'

(श्रीमद्भा० ४ । १७ । २७)

सर्वश्री प्रह्लाद, ध्रुव, अम्बरीष, गय, प्रियव्रत, मान्धाता, जनक, युधिष्ठिर, सौभरि, भरद्वाज आदि राजा, राजर्षि तथा मुनि-महात्माओंमें ऐसी शक्ति देखी गयी थी। महर्षि सौभरिके वैभवको देखकर चक्रवर्ती सम्राट् मान्धाता चकित हो गये थे (विष्णुपुराण)। महर्षि भरद्वाजने भरतकी चित्रकूट जा रही सारी सेनाको खिलाकर इस प्रकार तृप्त किया, कि वह अयोध्या या चित्रकूट कहीं भी जाना नहीं चाहती थी। सेनाके लोग कहने लगे कि सुखसे रहें राम और सकुशल रहें भरत। हम तो न अब चित्रकूट ही जायँगे और न अयोध्या ही वापस जायँगे—

नवायोध्यां गमिष्यामो न गमिष्याम दण्डकान् ।
कुशलं भरतस्यास्तु रामस्यास्तु तथा सुखम् ॥

(वाल्मीकि० २ । ९१ । ५९)

भरद्वाजके इस प्रभावको देखकर भरतको लोकपतियोंके दिव्यलोक भी शुष्क, नीरस, तुच्छ, फीके और निस्सार जान पड़े थे—

मुनि प्रभाउ जब भरत बिलोका। सब लघु लगे लोकपति लोका॥
सुरभि फूल फल अमिअ समाना। बिमल जलासय बिबिध बिधाना॥
असन पान सुचि अमिअ अमी से। देखि लोग सकुचात जमी से॥
सुर सुरभी सुरतरु सबही कें। लखि अभिलाषु सुरेस सची कें॥

नारदपुराण २-७३, शिवपुराण कोटिरुद्रसंहिता २५ से २७ तथा देवीभागवतके १२ । ९ अध्यायोंमें एक भीषण अकालकी चर्चा है। इसमें बारह वर्षोंतक महर्षि गौतमने सभी ऋषि-मुनियोंको, साधु-संतोंको अपने दिव्य योगबल तथा गायत्री-भक्तिसे प्राप्त तपः-शक्तिद्वारा अन्न प्रदान किया था—

कदाचिदथ काले तु दशपंचसमाश्च विभो ।
प्राणिनां कर्मवशतो न ववर्ष शतक्रतुः ॥
अनावृष्ट्याऽतिदुर्भिक्षमभवत्क्षयकारकम् ।
गृहे गृहे शवानां तु संख्या कर्तुं न शक्यते ॥
केचिदश्वान् वराहान् वा भक्षयन्ति क्षुधार्दिताः ॥

(देवीभाग० १२ । ९ । १-३)

इस समय महर्षि गौतमने गायत्रीदेवीकी प्रार्थना की थी। (देवीभाग० १२ । ९ । १५–२१) उस समय भगवती गायत्रीने उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन देकर एक पूर्णपात्र दिया। उसमेंसे पर्वतके तुल्य अन्नोंकी राशि-राशियाँ उत्पन्न हो जाती थीं—

नमो देवि महाविद्ये वेदमातः परात्परे ।
……………

इति स्तुता जगन्माता प्रत्यक्षं दर्शनं ददौ ॥
पूर्णपात्रं ददौ तस्मै येन स्यात् सर्वपोषणम् ।
……………

अन्नानां राशयस्तस्मान्निर्गताः पर्वतोपमाः ॥

---

* शिवपुराणके अनुसार यह अकाल १५ नहीं, पूरे १०० वर्षोंका था। उस समय पृथ्वीपर कहीं हरा पत्ता भी नहीं बच रहा था। उस समय महर्षि गौतमने ६ मासकी कठिन तपस्यासे वरुणदेवको प्रसन्न करके एक अक्षय जलभण्डार प्राप्त कर लिया था। आगे चलकर उसीका नाम त्र्यम्बकेश्वर–गौतमकुण्ड पड़ा। (शिवपुराण, कोटिरुद्र० २४ । १ । १५)

षड्रसा विविधा राजन् तृणानि विविधानि च।
यद्यदिष्टमभूद्राजन् मुनेस्तस्य महात्मनः॥
तत्सर्वं निर्गतं तस्माद् गायत्रीपूर्णपात्रतः।
यत् किंचित् त्रिषु लोकेषु सुन्दरं वस्तु दृश्यते॥
तत्सर्वं तत्र निष्पन्नं गायत्रीदत्तपात्रतः।
नित्योत्सवः प्रववृते मुनेराश्रममण्डले॥
न रोगादिभयं किञ्चिन्न च दैन्यभयं क्वचित्।
स मुनेराश्रमो जातः समन्ताच्छतयोजनः॥

(देवीभागवत १२। ९। १६--३३)*

उस समय उनका यश स्वर्गमें इन्द्रादि देवता भी गाते थे। इसी प्रकार द्रौपदीके पास एक सूर्यप्रदत्त हाँड़ी थी। उसे महाराज युधिष्ठिरने सूर्यकी आराधनासे प्राप्त किया था। जबतक द्रौपदी नहीं खाती थी, उसमेंसे अन्न निकलता रहता था और अगणित लोगोंकी उससे तृप्ति होती रहती थी। एक बार उसमें अन्न चुकनेके बाद (अर्थात् द्रौपदीके भोजन कर लेनेपर) महर्षि दुर्वासा अपने दस हजार शिष्योंके साथ भोजन करनेके लिये युधिष्ठिरके यहाँ पधार गये। द्रौपदीने इस संकटसे त्राण पानेके लिये भगवान्‌की पुकार लगायी और श्रीकृष्णने तुरंत उस वनमें पहुँचकर अपनी यौगिक शक्तिसे त्रिलोकीको ही तृप्त कर दिया। मुनि लोगोंको अकस्मात् अजीर्णताके उद्गार आये और वे नदीके जलमें गोते लगा-लगाकर मीलों दूर निकल भागे और वनमें विलीन हो गये--

'शाकान्नशिष्टमुपभुज्य यतस्त्रिलोकीं
तृप्ताममंस्त सलिले विनिमग्नसंघः॥'

(श्रीमद्भा० १। १५। ११)

इससे भगवत्प्रार्थना-नामजपका प्रभाव प्रत्यक्ष दृष्ट है। इसके अतिरिक्त भी सद्भावना तथा धर्म-प्रेमका प्रभाव होता है। दुर्भिक्षमें भिक्षा देने तथा अन्नदान करनेकी बड़ी भारी महिमा है—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ।
दातान्नस्य तु दुर्भिक्षे सुभिक्षे वस्त्रहेमदः॥

(अग्निपुराण, आह्निकतपोऽध्यायः)

क्षुधिते यः प्रयच्छेत अन्नं श्रद्धासमन्वितः।
ब्रह्मणः भवने सोऽपि ब्रह्मणा सह मोदते॥

(पद्मपुराण)

यों भी 'अन्नदान' को ही सभी दानोंमें श्रेष्ठ माना गया है—

'अन्नदानसमं दानं न भूतं न भविष्यति।'

(संवर्तस्मृति ८२; वृद्धगौतमस्मृति ६। २७, अग्निपुराण १११। ४४, वायुपुराण ८०। ५७, देवीभाग० ९। ३०। ३, ब्रह्मवै० प्रकृति० २९। ३)

'नान्नदानसमं पुण्यं त्रिषु लोकेषु विद्यते।'

(ब्रह्मपुराण ८३। २१, आनन्दाश्रम पूना एवं मोर संस्करण)*

---

* इसी प्रकार शताक्षी तथा शाकम्भरीदेवीका वर्णन देवीपुराण, ालिकापुराण, मार्कण्डेयपुराण, देवीमाहात्म्य आदि (११। ४१) आता है। एक बार जब १०० वर्षका दुर्भिक्ष पड़ा तो देवीने पने शरीरसे शाक उत्पन्न कर विश्वकी रक्षा की थी। तब उनके ये ाम पड़े थे--

ततोऽहमखिलं लोकमात्मदेहसमुद्भवैः।
भरिष्यामि सुराः शाकैरावृष्टेः प्राणधारकैः॥

शाकम्भरीकी स्तुति करनेसे अब भी भिक्षा, शाक, अन्न, ल, फल सर्वत्र सुलभ होता है--

शाकम्भरीं स्तुवन् ध्यायन् जपन् सम्पूजयन्नमन्।
अक्षय्यमश्नुते शीघ्रमन्नपानामृतं फलम्॥

(मूर्तिरहस्य १७)

* 'अन्नदः पापकर्माणि पूतः स्वर्गे महीयते।' (रघुनं० शुद्धितत्त्व)

अन्नस्य हि प्रदानेन नरो याति परां गतिम्।
सर्वकामसमायुक्तः प्रेत्य चेहाधिकं शुभम्॥

(ब्रह्मपुराण)

गोलोको ब्रह्मलोकश्च सर्वे चान्ने प्रतिष्ठिताः।

(पद्मपुराण सृष्टिखं० १९। २९३)

यहाँ १९। ३०६--३०९ श्लोकोंमें अन्नदानकी महिमाके श्लोकोंके सुननेकी भारी महिमा कही गयी है।

यावतो ग्रसते ग्रासान् विद्वान् विप्रः सुसंस्कृतः।
अन्नप्रदस्य तावन्तः क्रतवः परिकीर्तिताः॥

(विष्णुधर्मोत्तर)

'···यदन्नमुपदीयते। तत्प्रीणयति पात्राणि मां च···'।

(यमस्मृति)

अन्नानि येन दत्तानि श्रद्धापूतेन चेतसा।
सोऽपि तृप्तिमवाप्नोति विनाप्यन्नेन वै तदा॥

(मार्कण्डेयपु० १०। ५२)

अपि कीटपतङ्गानां शुनां चाण्डालयोनिनाम्।
दत्त्वान्नं लोकमाप्नोति प्राजापत्यं समासतः॥

(नन्दिपुराण)

इस तरह संख्या तथा रुपयेका महत्त्व-मोह छोड़कर अन्नकी महिमा समझनी चाहिये—

'ओऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्ते' (छान्दोग्य० ७ । ९ । २)

—इत्यादिमें अन्नको साक्षात् परमेश्वर माना गया है। यह ध्यान देनेकी बात है कि धन-निन्दाके प्रकरण शास्त्रोंमें बिखरे पड़े हैं। इनका संक्षिप्त संग्रह इसी वर्षके 'कल्याण'के तीसरे अङ्कमें देखा जा सकता है। किंतु अन्नकी निन्दाको पाप माना गया है और उसकी कहीं भी आलोचना नहीं है। अन्नकी प्रशंसामें प्रायः प्रत्येक पुराण, स्मृति, निबन्धोंमें प्रकरण-के-प्रकरण, अध्याय-के-अध्याय भरे पड़े हैं। यहाँकी टिप्पणीमें उनमेंसे थोड़े-से चुने हुए सारभूत वचनोंको दिया गया है। बल्लालसेनके दानसागर, हेमाद्रिके दानखण्ड, वीरमित्रोदय, अपरार्क, अनुशा० दानधर्म, भविष्यपुराणके दानप्रकरण आदिमें इसकी बड़ी श्रद्धासे प्रशंसा की गयी और महत्त्व दिखलाया गया है। ऐसा अनुमान होता है कि भारतके इतिहासकी विशाल काल-परम्परामें कभी इस प्रकारका भौतिकवादी अर्थप्रधान युग भी अवश्य आया होगा, जब लोग ईश्वर, धर्म, सदाचार, सौजन्य, गौ-ब्राह्मण, गव्य-अन्नादिकी प्रतिष्ठा न कर केवल अर्थ, कामासक्त, यन्त्रपरायण हो गये होंगे।* अनुमानतः राजा वेन, हिरण्यकशिपु आदिका युग इसी प्रकारका दीखता है।†

अन्ने श्रितानि भूतानि अन्नं प्राणमिति श्रुतिः ।
तस्मादन्नं प्रदातव्यमन्नं हि परमं हविः ॥
हुतेन शाम्यते पापं हुतमन्नेन शाम्यति ।
अन्नं दक्षिणया शान्तिमुपयातीति नः श्रुतिः ॥

—(बौधायनधर्मसूत्रं प्रश्न २ । ३ । ६८-६९)

··········अन्ने जीवः प्रतिष्ठितः ।
इन्द्रियाणि च बुद्धिश्च पुष्यन्तेऽन्नेन नित्यशः ।········ ।
तेजो बलं च रूपं च सत्त्वं वीर्यं धृतिर्मतिः ।
ज्ञानमेव तथायुश्च सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम् ॥···
चतुर्विधानि भूतानि जङ्गमानि स्थिराणि च ।
अन्नाद्भवन्ति राजेन्द्र श्रुतिरेषा सनातनी ॥
विद्यास्थानानि सर्वाणि सर्वयज्ञाश्च पावनाः ।
अन्नाद्यस्मात्प्रवर्तन्ते तस्मादन्नं परं स्मृतम् ॥
देवा रुद्रादयः सर्वे पितरो मुनयस्तथा ।
यस्मादन्नेन तुष्यन्ति तस्मादन्नं विशिष्यते ॥
गोसहस्रप्रदानेन यत्पुण्यं समुदाहृतम् ।
अध्वश्रान्ताय विप्राय क्षुधितायान्नकांक्षिणे ।
देशकालमियाताय दीयते पाण्डुनन्दन ।

—इत्यादि (वृद्धगौतमस्मृति ६ । १६ से ४५ तक)

दशानडुत्समं यानं दशयानसमो हयः ।
हयदानसहस्रेभ्यो गजदानं विशिष्यते ॥
गजदानसहस्राणां स्वर्णदानं च तत्समम् ।
स्वर्णदानसहस्राणां विद्यादानं च तत्समम् ॥
विद्यादानात्कोटिगुणं भूमिदानं विशिष्यते ।
भूमिदानसहस्रेण गोप्रदानं विशिष्यते ॥
गोप्रदानसहस्रेभ्यो ह्यन्नदानं विशिष्यते ।
अन्नाधारमिदं प्रोक्तं तस्माद्देयं तु कार्तिके ॥

(स्कन्दपुराण, वैष्णवखं०, कार्तिकमा० २ । १२–१६)

हस्त्यश्वरथदानानि दासीदासगृहाणि च ।
अन्नदानस्य सर्वाणि कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥

(अग्निपुराण २११ । ४५)

अन्नदानं च विप्राय यः करोति तु भारते ।
अन्नप्रमाणवर्षं च शिवलोके महीयते ॥

(देवीभा० ९ । ३० । २, ब्रह्मवै० प्रकृ० २९ । २)

न पृच्छेद् गोत्रचरणं स्वाध्यायं देशमेव च ।
भिक्षितो ब्राह्मणेनेह दद्यादन्नं च यत्नतः ॥
अन्नदानं हि शूद्रे च ब्राह्मणे च विशिष्यते ।
अपि श्वपाके शुनि वा न तद्दानं प्रणश्यति ॥
आशंसन्ते हि पितरः सुवृष्टिमिव कर्षकाः ।
अस्माकमपि पुत्रो वा पौत्रो वान्नं प्रदास्यति ॥
···अन्नं भुवं दिवं खं च सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम् ।
···अन्नप्रणाशे भिद्यन्ते शरीरे पञ्चधातवः ॥
आवाहाश्च विवाहाश्च यज्ञाश्चान्नमृते तथा ।
प्राणान् ददाति भूतानां यो दद्यादन्नमर्थिने ॥

(महाभा० अनुशा० ६३ वाँ अध्याय)

इन सभी श्लोकोंका प्रायः एक ही भाव है। इनमें अन्नदानसे श्रेष्ठ लोक प्राप्त होने, सभी देवताओंके प्रसन्न होनेकी बात है। अन्नदान बिना गोत्र-चरण पूछे मनुष्य क्या कुत्ते आदि जानवरोंको भी दे तो श्रेष्ठ फल होता है। पितृगण अन्नदानकी प्रतीक्षा करते हैं। अन्नदाता—प्राणदाता ही है।

* सर्वाकरेष्वधिकारो महायंत्रप्रवर्तनम् ।

(मनु० ११ । ६३)

अर्थात् सभी खानों आदिका राष्ट्रीयकरण, कारखानों—महायंत्रोंका निर्माण आदि उपपातक है।

† (क) न यष्टव्यं न दातव्यं न होतव्यं द्विजाः क्वचित् ।
इति न्यवारयद्धर्मं भेरीघोषेण सर्वशः ॥

(श्रीमद्भा० ४ । १४ । ६)

फिर तत्काल प्रह्लाद-पृथु आदिके राज्यकालमें इसके कुफलको देखकर ईश्वर, धर्म, सौजन्य, सदाचार, अन्न, गौ, संत आदिकी महत्ता आँकी गयी । इसका आधार वर्णधर्म है । वर्णधर्म नियमित न कर उसे तोड़कर सर्वत्र दुर्बलतोत्पादक शिक्षा तथा नौकरीका प्रचार करना भी एक प्रकारसे महर्घता तथा दुर्भिक्षको निमन्त्रण देना है । इसीलिये भारतमें कृषिपर अधिक जोर दिया गया और 'वर्ण-धर्म-रक्षण' को ही राजाका प्रधान कर्तव्य माना गया ।* इस सम्बन्धमें यह भी एक प्रबल समर्थक प्रमाण प्राप्त होता है कि सभी धर्मशास्त्रोंमें आपद्धर्ममें 'कृषि'को सबके लिये निरापद तथा निर्दोष मान लिया गया है ।

जो हो; प्राचीन भारतीय समाज-व्यवस्थाके आधारभूत धर्मशास्त्र तथा निबन्ध-ग्रन्थ बहुत ही सोच-समझकर बनाये गये हैं । वे आध्यात्मिक भी हैं । अतः उनकी अवहेलनासे लोक-कल्याण सम्भव नहीं दीखता । अतः इस समय सभीको उधर सावधानीसे ध्यान देना चाहिये ।

भगवन्नाम-जप तथा प्रार्थनाको तो सभी धर्म—मजहब श्रेयस्कर मानते हैं । अतः उनका आश्रय लेनेमें तो कोई विचार ही नहीं करना है । भगवान्की शक्ति बड़ी अद्भुत है । उनके स्मरणसे बहुत बड़ा परिवर्तन हो जाता है । यह सब क्यों और कैसे हो जाता है, यह भी एक आश्चर्यमय रहस्यकी ही बात है, पर है सर्वथा सत्य । अतः इसे तो सभीको अविलम्ब प्रारम्भ कर ही देना चाहिये ।

संस्कार और संस्कृति

(लेखक—श्रीअगरचंदजी नाहटा)

आजकल 'संस्कृति' शब्दका प्रचार बहुत अधिक हो रहा है एवं दिनों-दिन बढ़ता ही जा रहा है । संस्कृति किसे कहते हैं, इस सम्बन्धमें भी अनेक विद्वानोंने अपने विचार प्रकट किये हैं । संस्कृत साहित्यमें 'संस्कृति' शब्दका प्रयोग नहीं मिलता, इसलिये यह शब्द प्राचीन नहीं है । अंग्रेजी 'कल्चर' शब्दके समानार्थक शब्दके रूपमें संस्कृति शब्दका व्यवहार होने लगा है । संस्कृतिके भावको व्यक्त करनेवाला भारतीय ग्रन्थोंमें कौन-सा शब्द प्रयुक्त है ? इसके सम्बन्धमें भी कई विद्वानोंने अपने विचार प्रकट किये हैं । कुछ विद्वानोंकी रायमें 'संस्कृति' शब्द जितना व्यापक है उतना व्यापक शब्द प्राचीनकालमें केवल 'धर्म' ही था । भावोंकी दृष्टिसे चाहे यह बात ठीक हो, पर संस्कृति शब्दपर हम गहराईसे विचार करते हैं तो संस्कृत साहित्यमें उनके निकटवर्ती शब्द संस्कार और संस्कृतको ही पाते हैं । संस्कारोंका भारतीय जीवनमें बड़ा महत्त्व है । इसलिये मेरी रायमें संस्कृति शब्दसे सबसे निकटवर्ती सम्बन्ध संस्कारका ही माना जाना चाहिये । संस्कृत और हिंदीके कोष-ग्रन्थोंमें 'संस्कार' शब्दके कई अर्थ दिये हैं—शुद्धि, परिष्कार, सुधार, मन, रुचि, आचार-विचारको परिष्कृत तथा उन्नत करनेके कार्य, मनोवृत्ति या स्वभावका शोधन, पूर्व-जन्मकी वासना या पूर्व-जन्म, कुल-मर्यादा, शिक्षा-सभ्यता आदिका मनपर पड़नेवाला प्रभाव । वैसे 'संस्कृत' शब्दका अर्थ भी संस्कार शब्दसे मिलता-जुलता है । कोष-ग्रन्थोंमें इसका अर्थ शुद्ध किया हुआ, परिमार्जित, परिष्कृत, सुधारा हुआ, ठीक किया हुआ, सँवारा हुआ आदि किया गया है । इन अर्थोंपर विचार करनेसे ऐसा लगता है कि मनुष्यमें जो दोष हैं, उनका शोधन करनेके लिये और उन्हें सुसंस्कृत करनेके लिये ही संस्कारोंका विधान किया गया है । इसलिये सुसंस्कार मानव-जीवनके उत्थानके लिये बहुत ही आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है ।

संस्कारकी प्रारम्भिक भूमिकापर विचार करनेसे मालूम होता है कि उसका प्रारम्भ अभ्याससे होता है । बहुत बारके अभ्यासके बाद हम किसी भी कार्य करनेके आदी हो जाते हैं । तब उसे अभ्याससे आदत कहा जाता है । आदतके

(ख) अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः । मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति ॥
स महीमेखलां भुञ्जन् राजर्षिप्रवरः पुरा । वर्णानां संकरं चक्रे कामोपहतचेतनः ॥

(मनु० ९ । ६६-६७)

अर्थात्—राजा वेनने भेरी-घोषसे यज्ञ, दान, हवन रोक दिये थे । विधवा-विवाहादि भी चलाकर वर्णसांकरकी सृष्टि कर डाली थी ।

* द्रष्टव्य—गौतमधर्मसूत्र २ । १ । १४, रघुवंश १४ । ४०, मार्कण्डेयपुराण २४ । आदि

बाद जब वह प्रवृत्ति हमारे जीवनके साथ ओतप्रोत हो जाती है तब उसे 'संस्कार'की संज्ञा मिलती है और संस्कारके बाद जब वह कार्य सहज प्रवृत्तिमें परिणत हो जाता है तब उसे 'स्वभाव' कहते हैं ।

'संस्कार' डालना पड़ता है; क्योंकि दोषोंका शोधन प्रयत्नपूर्वक ही होता है; पर 'स्वभाव' व्यक्तिकी सहज क्रिया है और उससे छूटना बहुत ही कठिन होता है । इसीलिये हम कहते हैं कि क्या करें ? हमारा तो स्वभाव ही ऐसा पड़ गया है कि इसे बदल नहीं सकते । आदत भी डाली जाती है और उसका छूटना भी कठिन होता है, पर स्वभाव-जितना नहीं । आदत बुरी और अच्छी दोनों प्रकारकी होती है । यद्यपि आगे चलकर संस्कारको भी अच्छा और बुरा मानते हुए कुसंस्कार और सुसंस्कार शब्द प्रचलित हो गये । पर जब हम संस्कार शब्दकी मूलप्रकृतिपर विचार करते हैं तो लगता है कि उसके साथ 'कु' और 'सु' लगानेकी आवश्यकता नहीं; क्योंकि उसका अर्थ ही शुद्धि और दोषोंका परिष्कार है । इसलिये कुसंस्कार कहनेकी अपेक्षा बुरा अभ्यास कहना अधिक उचित है और संस्कार शब्दका व्यवहार अच्छाईके लिये ही होना चाहिये ।

जीवनके साथ संस्कारोंका घनिष्ठ सम्बन्ध है । वर्तमान जीवनसे पहले भी इस जीवके साथ संस्कार थे, जिन्हें हम पूर्वसंस्कार या पूर्वजन्मके संस्कार कहते हैं । और इस जीवनके समाप्त होनेके बाद भी संस्कारोंकी परम्परा अगले जन्म-जन्मान्तरोंतक चलेगी । एक व्यक्तिका संस्कार केवल उसीके जीवनसे ही सम्बन्धित नहीं है, पर उसके कुटुम्ब या कुलपर भी उसके संस्कारोंका प्रभाव पड़ता है, जिसे हम कुल-परम्परा या कुल-संस्कार कहते हैं । इस तरह हम देखते हैं कि संस्कारकी परम्परा एवं उसका प्रभाव बहुत ही व्यापक है और गहरा भी ।

प्राणियोंका जीवन दोषों और गुणोंसे मिला-जुला चेतन प्रवाह है, इसलिये दोषोंका परिहार और गुणोंका विकास करना अत्यावश्यक है । यद्यपि सम्पूर्ण दोषोंसे रहित होना तो बहुत ही कठिन है और प्रयत्न करनेपर बहुतसे दोष दूर किये जा सकते हैं । इसी प्रकार सम्पूर्ण गुणोंसे सम्पन्न होना भी अत्यन्त कठिन है । पर प्रयत्न करनेसे गुणोंका अधिकाधिक विकास किया जा सकता है और संस्कारोंका उद्देश्य एवं कार्य भी यही है । जहाँ दोषोंकी अधिकता होगी, वहाँ गुणोंका विकास बहुत ही कम और कठिनाईसे होगा और गुणोंके समुचित विकासके बाद बहुतसे दोष तो अपने-आप मिट जायँगे । जो थोड़ेसे बच जायँगे, उनका प्रभाव भी मंद पड़ जायगा अर्थात् वे दबे हुए-से रहेंगे ।

प्रयत्नपूर्वक दोषोंका परिष्कार या परिहार करनेकी सम्भावना सबसे अधिक मनुष्यजीवनमें ही है; क्योंकि दोषों और गुणोंका विवेचन जितना गहराईके साथ मनुष्य कर सकते हैं, पशु-पक्षी आदि अन्य प्राणी नहीं कर सकते। हम विचारोंसे ही बनते हैं और बिगड़ते हैं; इसलिये विचारोंकी शुद्धि या चित्तशुद्धिकी बहुत आवश्यकता है और सारे धार्मिक अनुष्ठान चित्तशुद्धिके लिये ही किये जाते हैं ।

संस्कारोंका सबसे अधिक महत्त्व चित्तशुद्धिमें है । मनकी मलिनता ही सबसे अधिक दुःखदायी है । कायाकी मलिनता तो पानी एवं साबुनसे दूर भी की जा सकती है; पर मन तो न जाने कहाँ-कहाँ भटकता रहता है और प्रतिपल अशुभ चिन्तनके द्वारा वह दूषित होता रहता है । इन्द्रियोंका प्रेरक भी वही है, इसलिये उसीकी शुद्धिका निरन्तर ध्यान एवं प्रयत्न करना चाहिये । योगसूत्रमें 'चितवृत्तिनिरोध' को 'योग' कहा गया है, पर निरोध करना सहज कार्य नहीं है; इसलिये पहले चित्तको अशुभसे हटाकर शुभ प्रवृत्तियोंमें लगाना उचित है; क्योंकि चित्तको कुछ-न-कुछ अवलम्बन तो चाहिये ही । यदि उच्च आदर्श एवं ध्येयमें हम लगे रहेंगे तो बुरी आदतोंकी ओर हमारा ध्यान ही नहीं जायगा। और यदि कभी गया भी तो बुरा करनेके लिये समय ही न मिलेगा । गीतामें कहा है—जहाँतक जीवन है कुछ-न-कुछ प्रवृत्ति तो करनी ही पड़ेगी, पर आसक्तिका त्याग कर दें तो विष निकल जानेसे हमें नुकसान नहीं पहुँच सकेगा । आत्म-निरीक्षण प्रतिपल नहीं तो, प्रतिदिन तो करना जरूरी है ही। उसके द्वारा जो दोष हमारेमें हों उनका निवारण कर एवं जिन गुणोंकी कमी है, उनकी पूर्ति करते जायँ यही संस्कृति है ।

स्व० भगवानदीनजीने 'संस्कृति'का अर्थ 'माँजना' किया है । अर्थात् आत्माके दोषोंका परिमार्जन, परिष्कृति एवं गुणोंका विकास ही संस्कृति है । जिन कार्यों या प्रवृत्तियोंसे हमारा उत्कर्ष हो, हृदयकी शुद्धि हो, उन्हें ही संस्कृतिका कार्य कहना चाहिये, न कि वर्तमानमें कहे जानेवाले नाच-गान आदि ।

घृणाके मनोवैज्ञानिक दुष्परिणाम

(लेखक—पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम०ए०, बी०टी०)

आधुनिक मनोविज्ञानकी खोजोंसे पता चलता है कि हमारी किसी विशेष व्यक्ति अथवा वस्तुके प्रति घृणाका प्रमुख कारण हमारे ही अंदर रहता है। प्रायः देखा जाता है कि जो व्यक्ति जिस प्रकारके लोगोंसे घृणा करता है, वह स्वयं कुछ कालके अनन्तर उन्हीं व्यक्तियोंके घृणित गुणोंको अपना लेता है। हम जिस किसी वस्तु अथवा गुणसे घृणा करते हैं, उसकी मूल बुराइयाँ हमारे खुदके ही भीतर रहती हैं। हमारी घृणाकी मनोवृत्ति इन बुराइयोंका आरोपण मात्र होती है। इस प्रकार अपनी बुराइयोंका दूसरोंपर आरोपण करके हम स्वयं अपने-आपमें इनकी उपस्थितिकी आत्मस्वीकृतिसे बचना चाहते हैं। हमारा अचेतन मन बहुत स्वाभिमानी है। वह किसी भी कमजोरीको जल्दी स्वीकार नहीं करता। इसी आत्मस्वीकृतिकी प्रवञ्चनासे मुक्ति पानेके लिये वह अपनी बुराइयोंका घृणाकी भावनाके रूपमें दूसरोंमें आरोपण कर देता है। अत्यधिक आलोचनाकी प्रवृत्ति स्वयंकी हीनताकी द्योतक होती है। यह एक प्रकारसे अपने आन्तरिक अवगुणोंके बाह्यीकरणका एक विशेष मार्ग है, जिसका अनुसरण हमारा आन्तरिक मन किया करता है।

घृणाकी मनोवृत्ति किसी विशेष प्रकारको हमारे मस्तिष्कमें बैठा देती है। संवेगोंके उत्तेजित होनेपर कभी-कभी यही विचार बाह्य विचारका रूप धारण कर लेते हैं और जितना ही अधिक हम उनको भूलना चाहते हैं, उतने ही वे हमारे मनको जकड़ते जाते हैं और अन्तमें मानसिक रोगका रूप धारण कर लेते हैं। हमारा मन अचेतनावस्थामें जिस किसी विचारको मस्तिष्कमें लाता है, वही विचार कुछ समयके पश्चात् हमारी विशेष प्रकारकी मनोवृत्तियोंमें परिणत हो कार्यरूपमें प्रदर्शित होने लगता है। मान लीजिये, कोई आदमी एक कोढ़ीको देखता है और उससे उसके हृदयपर गहरा प्रभाव पड़ता है तो वह उसीके सम्बन्धमें विचार करने लगेगा। ये विचार धीरे-धीरे दृढ़तर होते जाते हैं और इनपर ध्यान केन्द्रित करनेकी इच्छा न रखते हुए भी वह व्यक्ति इनका आना रोकनेमें अपने आपको असमर्थ पाता है और यही स्थिति काफी दिनोंतक रही तो इस बीमारीके चिह्न उसमें भी प्रकट होने लगते हैं और अन्तमें वह भी कोढ़ी बन जाता है। अतएव जब हम किसी ऐसे व्यक्तिको देखें, जिसके कारण हमारे मनमें घृणाकी भावनाका उदय हो तो तुरंत ही हमें उसके प्रति सहानुभूतिकी भावना लानी चाहिये। इससे घृणाकी भावना और तत्सम्बन्धी बाह्य विचारोंसे हम बहुत कुछ अंशमें मुक्ति पानेमें सफल हो सकेंगे। हमको बहुत-सी मानसिक और शारीरिक बीमारियाँ केवल इसी कारण होती हैं कि हम उनसे स्वभावतः घृणा करते हैं या उनसे डरते हैं। अगर कोई व्यक्ति किसी कुरूप व्यक्तिको सदा घृणाकी दृष्टिसे देखता है तो वह प्रत्यक्षमें तो उससे बचनेकी चेष्टा करता है, किंतु कभी-कभी जब घृणाकी भावना बलवती होती है तो वह स्वप्नमें ही उस व्यक्तिको देखने लगता है और अन्तमें स्वयं ही कुरूप बन जाता है। यह सब इसलिये होता है कि घृणाका भाव एक प्रकारके आत्मनिर्देशमें बदल जाता है और इस आत्मनिर्देशसे प्रभावित हो हम घृणित गुणोंको अपने-आपमें ही चरितार्थ करने लगते हैं।

यदि हम चाहें तो दूसरे लोगोंकी कमियोंको निर्लिप्त भावसे देख सकते हैं। इससे हमारे मनपर कोई भी बुरा प्रभाव नहीं पड़ने पाता। किंतु जैसे ही हम किसीके दुर्गुणोंपर संवेगात्मकरूपसे विचार करने लग जाते हैं तो हमारे विचार अपना बुरा प्रभाव हमारे मनपर डालना प्रारम्भ कर देते हैं। साधारणतया किसी व्यक्तिके दुर्गुणोंके सम्बन्धमें बार-बार सोचनेसे हमारे विचार संवेगात्मक रूप धारण कर लेते हैं। अतएव इस प्रकारके विचार सदैव हानिकारक होते हैं। इसी सिद्धान्तको ध्यानमें रखते हुए संसारके सभी महापुरुषोंने अपराधीको क्षमा करनेका उपदेश दिया है। अपराधीको क्षमा करके हम अपनी घृणाकी भावनाको सहानुभूतिके द्वारा नष्ट कर देते हैं।

घृणाकी मनोवृत्तिका मूल कारण हमारे मनमें स्थित कोई ग्रन्थि होती है। हमें इस ग्रन्थिको पहचानकर सुलझानेकी कोशिश करनी चाहिये। ग्रन्थिको सुलझाते ही हमारी घृणाकी मनोवृत्ति भी अपने-आप नष्ट हो जायगी। साधारणतः हम अपनी बुराइयोंको स्वीकार करना नहीं चाहते। किंतु आध्यात्मिक नियमके अनुसार हमें एक-न-एक दिन अपनी बुराइयोंको स्वीकार करनेके लिये बाध्य होना पड़ता है। हमारी

प्रकृति धीरे-धीरे हमें आत्मस्वीकृतिकी ओर ले जाना आरम्भ करती है। पहले हम अपने इन दुर्गुणोंको दूसरोंमें देखने लगते हैं और फिर इन्हींपर विचार करते-करते स्वयं इनके शिकार बन जाते हैं। वास्तवमें ये दुर्गुण कहीं बाहरसे नहीं आते। ये तो पहलेसे ही हमारे भीतर मौजूद रहते हैं। हम उनकी उपस्थिति स्वीकार नहीं करते, अतएव प्रकृति टेढ़े-मेढ़े रास्तेसे उनकी आत्मस्वीकृति कराती है। अगर प्रारम्भमें ही हम इन दुर्गुणोंको मान लें तो उनसे छुटकारा पा जायें। किंतु जब प्रकृति जबरदस्ती उन्हें स्वीकार कराती है तो वे हमें जकड़ लेते हैं। फिर उनसे छुटकारा पाना उतना सरल नहीं होता।

हमारे विचारोंका दूसरोंपर उसी समय प्रभाव पड़ता है, जब कि उसकी मानसिक स्थिति उन विचारोंको ग्रहण करनेके योग्य होती है। यही बात हमारे स्वयंके विचारोंके सम्बन्धमें भी सत्य है। हमारे मनमें अच्छे-बुरे जैसे भी विचार उठते हैं, सबकी पृष्ठभूमि हमारे ही अंदर होती है। किसी व्यक्तिके सम्बन्धमें बुरे विचारोंका कारण भी हमारे ही मनमें होता है। वास्तवमें अज्ञातरूपसे वे दुर्गुण हममें उपस्थित रहते हैं। किंतु प्रकाशनका उचित मार्ग न पा वे दब-से जाते हैं और समय पाकर दूसरोंकी नुक्ताचीनीकी आदतमें वे फूट पड़ते हैं। यही हाल हमारे दूसरोंके प्रति श्रद्धाके भावका भी है। वास्तवमें हमारे मनमें ही उस श्रद्धाके योग्य गुणोंकी पृष्ठभूमि रहती है। हमारा मन भी उन्हीं सद्‌गुणोंको ग्रहण करनेकी योग्यता रखता है, इसलिये वह इन गुणोंका सम्मान करनेको हमें प्रेरित करता है। उदार-चित्त मनुष्यके विचार सदा उदार रहते हैं। इस प्रकारके मनुष्य दूसरोंमें सदा भलाई ही देखा करते हैं। उनकी दृष्टि किसी भी बुराईपर जल्दी नहीं पड़ती।

हमारे मनपर दूसरोंके विचारोंका गहरा प्रभाव पड़ता है। दूसरे हमारे बारेमें जैसा सोचते हैं, वैसा ही हमारा चरित्र भी अज्ञातरूपसे बनता जाता है। यदि हमारे आस-पास हमसे प्रेम करनेवाले व्यक्ति होते हैं तो हममें भी प्रेमकी भावनाका उदय होता है। जब हम किसी व्यक्तिके दुर्गुणों अथवा गुणोंपर बार-बार विचार करते हैं, तो हमारे विचार उनके लिये निर्देश बन जाते हैं। उसपर इन निर्देशोंका गहरा प्रभाव पड़ता है। उस व्यक्तिमें धीरे-धीरे वही गुण अथवा बुराइयाँ स्थान पा लेती हैं। इस प्रकार दोनों तरफसे घृणाकी भावना घातक होती है। यह एक तरफ घृणा करनेवाले व्यक्तिके मन और विचारोंको बर्बाद करती है और दूसरी ओर घृणित व्यक्तियोंमें उन बुराइयोंको और भी दृढ़ कर देती है। यदि हमारी घृणा काल्पनिक हुई तो भी उस व्यक्तिमें कुछ दिनोंके बाद बुराइयाँ आ ही जाती हैं।

* * *

मन जीता—जग जीता

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदास गुप्त हरि)

दुनिया दासोंकी बस्ती है। जगत्‌में जिधर देखो, उधर ही गुलाम-ही-गुलाम भरे पड़े हैं।

ले-देकर यहाँ सबका स्वामी······सबका राजा एक है। वह है और कोई नहीं, एकमात्र मन······प्रत्येकके लिये प्रत्येकका अपना मन।

अतः हारी-बाजी जीतनी है, दासताके चंगुलसे छूटना है, गुलामीकी जंजीरें काटनी हैं तो मनको जीतना होगा।

मन जीत लिया, तो जग जीत लिया। करनेका सब कुछ कर लिया। राजाओंके राजा हो गये।

परंतु मनको जीता कैसे जाय ?

आत्म-निरीक्षण, स्वयं-परीक्षण और संयम-साधनाके द्वारा अपना; और त्याग, प्रेम एवं सेवाकी आराधनाके द्वारा अन्य सबका······सतत-सदैव, एकनिष्ठ एवं सक्रिय आराधनाके द्वारा।

इतना करते ही—मनके जीतते ही वह लहर-बहर होगी कि जिसका नाम; वहाँ पहुँच जायँगे आप जिसे कहते हैं परमधाम······करना चाहना भूल, सहज होकर अकर्त्ता, आप्तकाम।

कहिये, और चाहिये ही क्या !

सहानुभूति

(लेखक—श्रीअनन्तविहारीजी 'मृदुल')

सहानुभूतिके सम्बन्धमें ह्विटमैनने कहा है—'मैं किसी घायल व्यक्तिसे यह नहीं पूछता कि तुम्हें कैसा अनुभव हो रहा है, बल्कि मैं तो स्वयं घायल बन जाता हूँ।' बात कुछ ऐसी है भी। सहानुभूतिका यही तो सच्चा रूप है। सच ही किसी दुखी प्राणीसे उसकी पीड़ा और कष्टके बारेमें पूछ-ताछ करना एक तरहकी निर्दयता है। सच्ची सहानुभूति तो तब कही जायगी, जब दूसरोंके दुःखको देखकर किसीका हृदय पिघल जाय और वह हर तरहसे सहायता करनेको तैयार हो उठे।

यदि कोई व्यक्ति अपने घरमें जोर-जुल्म करता है—पत्नीको डाँट-फटकार बताता रहता है, बच्चोंको मारता-पीटता है या नौकरको गालियाँ देता है अथवा अपने पड़ोसीको कटु आलोचनाद्वारा चोट पहुँचाता है, तो फिर बाहरके लोगोंके प्रति इस झूठी भावुकता दिखानेको सहानुभूति कैसे माना जायगा और अपने चारों ओरकी दुनियाँके अन्याय और पाषाण-हृदयताके विरुद्ध उसके घृणायुक्त एवं उथले भाव-प्रदर्शनमें क्या सार्थकता होगी? ऐसे लोगोंको इमर्सनने कहा है—'जाओ, अपने बच्चोंसे प्रेम करो, अपने लकड़हारेसे प्रेम करो, अपने स्वभावको मधुर और विनम्र बनाओ, मनकी गरिमाको प्राप्त करो एवं अपनी अनुदार महत्त्वाकाङ्क्षाको हजारों मीलकी दूरीपर स्थित काले लोगोंके लिये अविश्वसनीय कोमलताके रूपमें प्रकट मत करो। दूरके लोगोंके प्रति तुम्हारा प्रेम घरके प्रेमपर व्याघात है।' मनुष्यके वर्तमान कार्य ही उसकी सचाईकी कसौटी बनते हैं, न कि उसकी निरर्थक भावुकता। उसके कर्ममें यदि स्वार्थपरता और कटुता है तथा यदि घरके लोग उसके आगमनसे भयभीत होते हैं, उसके प्रस्थानसे प्रसन्न होते हैं, तो फिर दीन-दुखियों और पददलितोंके प्रति थोथी सहानुभूति प्रकट करनेमें क्या सार्थकता है?

एक बात और। सहानुभूतिका वृत्त सीमित एवं संकुचित नहीं होना चाहिये। जीवमात्रके प्रति सहानुभूति होनी चाहिये। हमें यह न सोचना चाहिये कि पुरुष और स्त्री-समाज ही नहीं, बल्कि पशु-पक्षी आदि भी सहानुभूतिके सुयोग्य पात्र हैं। अंग्रेजीके एक रोमांटिक कवि शेलरिजने अपनी एक कवितामें पशुओं और पक्षियोंको भी सहानुभूतिकी परिधिमें लानेकी शिक्षा दी है।

जब सहानुभूति दर्शानेवालेकी दिव्य दृष्टिमें जड-चेतन, स्त्री-पुरुष, ऊँच-नीच, अशक्त-बलवान् आदिका भेद-भाव तिरोहित हो जाय, तभी सहानुभूतिको पूर्ण, निश्चल एवं सतत माना जायगा।

सहानुभूति एक गहन, मौन और अव्यक्त कोमलता है। जो हमें अपने स्वार्थोंकी ओरसे उदासीन बनाती है और हमारे चरित्रमें भद्रता उत्पन्न करती है।

सहानुभूतिसे हमारे व्यक्तित्वमें पूर्णताका भाव आता है। इसी गुणके आधारपर सहानुभूति दर्शानेवाला अपनी निजतामें अनेक आत्माओंका प्रतीक बन जाता है। दूसरेकी दृष्टिसे वह देखता है, दूसरेके कानोंसे वह सुनता है, दूसरोंके मनसे सोचता है और दूसरोंके हृदयके द्वारा ही अनुभूति प्राप्त करता है।

अपनी इसी खूबीके चलते वह अपनेसे भिन्न लोगोंके मनोभावोंको समझ सकता है। दूसरोंके जीवनका अर्थ उसके आगे स्पष्ट हो जाता है तथा दूसरोंके साथ वह एकाकारिताका भाव अनुभव करता है। बालजकका कहना है—'गरीबोंके प्रति मैं खिंचता हूँ। उनकी भूख मेरी भूख है, मैं उनके साथ रहता हूँ, उनकी वञ्चनाओंकी पीड़ा मैं सहता हूँ, एक भिखारीके फटे-चिथड़ोंका स्पर्श मैं अपने शरीरपर कर सकता हूँ, उतने समयके लिये मैं एक गरीब और ठुकराया हुआ प्राणी बन जाता हूँ।' दूसरे किसी औरने कहा है—'दीन-दुखियोंके लिये किया गया कर्म उस परम सत्ताकी उपासनामें किया गया कर्म होता है।'

इस तरह सहानुभूति हमें दूसरोंके हृदयोंतक पहुँचाती है। इस तरह हम उनसे एकात्मभावका अनुभव करते हैं और यदि पीड़ा उन्हें होती है तो वेदना हमें महसूस होती है, उन्हें खुशी होती है तो उसका उन्मेष हमारे अन्तरमें होता है। जब उन्हें धिक्कार और यातनाएँ दी जाती हैं, तो हम भी उनके साथ अपमान और यातना सहते हैं। जिसके अन्तरमें सहानुभूतिका यह एकात्मकारी तत्त्व है, वह कभी दूसरोंकी भर्त्सना नहीं कर सकता और अपने सहवर्ती जनोंके प्रति विचारशून्य और हृदयशून्य घोषणाएँ नहीं कर सकता; क्योंकि अपने कोमल हृदयके कारण वह उनकी पीड़ासे तादात्म्य-भावका अनुभव करता है।

इसके विपरीत सहानुभूतिके अभावसे अभिमान पैदा होता है। सच्ची सहानुभूति प्रेमके रूपमें प्रकट होती है। अभिमानकी जड़में अज्ञान है। अभिमान उन्हीं लोगोंके मनमें

पनपता है ज़ो यह सोचते हैं कि उनका अस्तित्व दूसरोंसे अलग है और उनका लक्ष्य भी दूसरोंसे अलग है एवं केवल उन्हींका रास्ता सही है, दूसरोंका नहीं। सहानुभूति मनुष्यको भिन्न और आत्मकेन्द्रित जीवनसे ऊँचा उठाती है और लोगोंके हृदयमें उसके लिये जगह बनाती है। तभी वह दूसरोंके विचारों और अनुभूतियोंमें सम्मिलित होता है।

कवियों और दूसरे प्रकारके कलाकारोंमें तो सहानुभूति असीमित एवं अक्षय कोटिकी होती है। इसके अभावमें कविता-कामिनीको रिझाना ही असम्भव है। जितना महान् कवि या कलाकार, उतनी महान् एवं यथेष्ट उसकी सहानुभूति !

सहानुभूति एक ऐसी सार्वभौम आत्मिक भाषा है, जिसे सभी लोग यहाँतक कि पशु भी नैसर्गिक रूपसे समझते और पसंद करते हैं।

सहानुभूति सफलताके मार्गमें कभी भी बाधा नहीं बन सकती। यह जितना हृदयको विशाल बनाती है, उतना ही प्रभाव-क्षेत्रको भी बढ़ाती है और इस तरह मनुष्यके आत्मिक एवं पार्थिव दोनों हितोंकी समानरूपसे साधना करती है।

सहानुभूति और उसकी अभिव्यक्ति हृदयके बंद दरवाजे खोलती है, पत्थरमेंसे भी जलके झरने बहाने लगती है।

सहानुभूति एक ऐसा पारस पत्थर है जो जिंदगीके लोहेको सोनेमें बदल देता है, मानवके सम्बन्धमें संगीतका माधुर्य और इन्द्रधनुषका सौन्दर्य भर देता है।

सच्ची सहानुभूति या प्रशंसाके शब्द निकालनेमें हमारी एक कौड़ी सी खर्च नहीं होती, पर उनका उच्चारण करते समय लगता है जैसे हमारी जायदाद ही जा रही हो या प्राण ही निकल रहे हों। कितनी सस्ती चीज है, पर कितनी दुर्लभ।

प्रसिद्ध अमरीकी विचारक इमर्सनका कथन है—'आपके मीठे, सहानुभूतिभरे शब्दोंसे आपके मित्रका सम्पूर्ण व्यक्तित्व खिल उठेगा। उसके जीवनमें एक ऐसा मधुर परिवर्तन होने लगेगा जो किसी डाक्टरके बूतेकी बात नहीं।

सहानुभूति जादू-सा भी कार्य करती है। देखते-ही-देखते पराया अपना लगने लग जाता है, कुरूप भी रूपवान् दीखने लगता है। शत्रु भी मित्र-जैसा दिखायी देता है, बुद्धिहीन भी बुद्धिमान् प्रतीत होने लगता है, निराशा आशाका रूप ले लेती है, पाप पुण्यकी संज्ञासे अभिभूत हो जाता है, कोमलता कठोरताकी जगह ले लेती है और क्रोधका आवेश शान्तिकी स्थिरतामें बदल जाता है। सहानुभूतिपूर्ण व्यक्ति किसीको भी मूलतः मूर्ख, शठ, धूर्त, चरित्रहीन, लम्पट और लोलुप नहीं समझता। वह भलीभाँति जानता है कि दोष तो उस परिस्थितिका है, जिसने किसीको चोरी या कोई बुरा काम करनेके लिये विवश किया।

सहानुभूति चरित्र-निर्माणके तत्त्वोंमेंसे एक श्रेष्ठतम तत्त्व है। अनेकतामें एकता और भेदमें अभेदका आभास जिसने पा लिया, उसकी सहानुभूति तो अपरिमित एवं दृढ़तम हो जाती है। हम दूसरोंको जबतक अपना नहीं समझते, तभी-तक सहानुभूति हमारे हृदयमें अपनी जगह नहीं बनाती और हमारी धमनियोंमें प्रवाहित नहीं होती। जब हम यह जान लेते हैं कि सागरकी लहरोंकी तरह हम सभी एक ही परम तत्त्वमेंसे निकलते हैं और उसीमें हमें विलीन हो जाना है, तब हमारे हृदयकी सोयी सहानुभूति द्रवित एवं आन्दोलित होने लगती है।

दैनिक जीवनके साधारण कार्य-व्यापारमें भी सहानुभूति एक आवश्यक तत्त्व है। लोग बहुधा सत्य और नेति-नेति कहनेवालोंके बदले मृदुभाषी और दयालु लोगोंसे ही सम्पर्क रखना चाहते हैं।

प्रत्येक क्षेत्रमें जहाँ व्यक्तिगत सम्पर्कको महत्त्व दिया जाता है, वहाँ अधिक योग्य किंतु सहानुभूतिहीन लोगोंकी जगह कम योग्य किंतु अधिक सहानुभूतिपूर्ण लोगोंको ही अधिक सफल होते देखा गया है।

यह सहानुभूतिका ही चमत्कार है कि प्रत्येक व्यक्ति इसे प्राप्त करना चाहता है। बच्चा चोट लगने या कट जानेपर सहानुभूति पानेके लिये बड़े चावसे उसका प्रदर्शन करता है और कभी-कभी तो इसके लिये स्वयं भी ऐसा घाव बना लेता है। जवान और प्रौढ़ लोग भी इसी भावनासे प्रेरित होकर अपनी घटनाओं, बीमारियों, नस्तर आदिके ब्योरोंका वर्णन किया करते हैं। वास्तविक या कल्पित दुःखोंके लिये अपनी गरीबी प्रकट करनेकी बात मनुष्यमात्रमें पायी जाती है।

तो ऐसी हालतमें हम भी क्यों न सहानुभूतिपूर्ण मानव बनें ?

संगठन

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

अपने देशके जो सैनिक पिछले दिनों कांगोसे लौटे, उनमेंसे एकसे मिलनेका अवसर मुझे मिला है। एक यात्रामें रेलकी दूसरी श्रेणीके डिब्बेमें हम दोनों बैठे थे। मेरा स्वभाव परिचय पूछनेका नहीं है। मैंने पूछा नहीं; किंतु मेरे बिना पूछे उस सैनिकने जो कुछ बताया, उतना मुझे ज्ञात है। उसका नाम तथा पता भी उसने बताया था। वह सब मैं भूल गया। बातोंके चलते उसने कुछ कागज मुझे दिखाये। उन कागजोंमें कुछ ऐसी बातें थीं कि मेरी रुचि हो गयी उनमें और अपने सहयात्रीकी अनुमतिसे मैंने कागजोंकी प्रतिलिपि कर ली।

उस सैनिकका कहना था कि कांगोके अपने काममें उसे एक बार उस देशके मध्यभागमें जाना पड़ा था। वहाँ एक छोटा-सा पक्का बंगला उसे ठहरनेको दिया गया। उस घोर वन्यप्रदेशमें वह अकेला पक्का मकान था, जो भारतीय टुकड़ीका कई दिन सैनिक शिविर बना रहा। उस बंगलेकी दशा ऐसी थी, जैसे उसमें वर्षोंसे कोई रहा न हो। भारतीय सैनिकोंने ही उसे स्वच्छ किया। इस सफाईमें एक डायरी मिली। डायरी फ्रेंचमें लिखी गयी थी। उसमें बीचमें बहुत-से पृष्ठ कोरे थे।

उस डायरीको वहाँसे लौटनेके पश्चात् सैनिकने एक संयुक्त राष्ट्रसंघके कर्मचारीको दिखाया। डायरीको उन्होंने रख लिया; किंतु सैनिकके अनुरोधपर डायरीका अंग्रेजी अनुवाद करके उन्होंने उसे दे दिया। मुझे जो कागज देखनेको मिले, वे उस अंग्रेजी अनुवादका हिंदी ाषान्तर था। इसमें हिंदी करनेवालेने कहीं-कहीं पनी टिप्पणी भी सम्मिलित कर दी है। मैं उसीको हाँ उद्धृत कर रहा हूँ; क्योंकि मुझे देश तथा समाजके लिये इस डायरी-लेखककी बातें उद्बोधक लगती हैं। डायरी पहली अप्रैलसे प्रारम्भ होती है।

१ *अप्रैल*—आज यहाँ मूर्खता-दिवस मनाया जा रहा है। कोई मुझे भी मूर्ख बना सकता है; किंतु मैं तो स्वयं मूर्ख बन गया हूँ। वैसे इंग्लैंडके लोग सभ्य हैं। एक विदेशीके साथ बड़ा विनम्र व्यवहार करते हैं। पराजित फ्रांसके नागरिक होनेके नाते मेरे साथ प्रायः सभी सहानुभूति प्रदर्शित करते हैं। पराजित फ्रांस—हृदय जैसे सोचते ही टुकड़े-टुकड़े हो जाता है। हमारी मेगनो लाइन कागजकी किलेबंदी सिद्ध हुई। हिटलरके एक धक्केने—लेकिन हिटलरने उसे धक्का कहाँ दिया, उसे तो स्वदेशके पञ्चमांगियोंने परास्त किया। आपसकी फूट, दलबंदी, सत्ता हथिया लेनेका लोभ और स्वार्थीजनोंका विश्वासघात फ्रांसको ले डूबा। लेकिन फ्रांस अजेय है। फ्रांस विजयी होगा अन्तमें, फ्रांस अमर रहे।

२ *अप्रैल*—थोड़ी अंग्रेजी जानना मेरे बहुत लाभका सिद्ध हुआ। अच्छा ही हुआ कि जब जर्मन-सेनाएँ फ्रांसमें प्रवेश कर रही थीं, मैं यहाँ निकल आया। स्पेन होकर न आता तो क्या जर्मन खूँखार कुत्तोंसे बच पाता। लेकिन यहाँ बैठे रहना व्यर्थ है। आह! सिर बहुत दर्द कर रहा है। भागते समय बमसे उड़ा जो छोटा टुकड़ा सिरमें लगा था, उसका प्रभाव अबतक गया नहीं है। मस्तिष्क घूमता रहता है। अद्भुत विचार मनमें आते हैं। मैं पागल तो नहीं होने जा रहा हूँ?

३ *अप्रैल*—नहीं, ब्रिटेन मेरी सहायता नहीं कर

सकता । हिटलरके दारुण अत्याचारका स्वयं यह देश आखेट हो रहा है । हिटलरके पास शैतानकी शक्ति है । उसे पराजित करनेके लिये कोई अलौकिक उपाय चाहिये। मैं अपने देशके लिये क्या कुछ नहीं कर सकता हूँ ?

४ *अप्रैल*—कल डायरीमें मैं यह अलौकिक उपायकी बात क्या लिख गया ? अलौकिक उपाय सम्भव है क्या ? सुना तो है कि भारतके योगियोंको ऐसी बहुत-सी शक्तियाँ प्राप्त होती हैं । भारत अभी स्वयं पराधीन है । ऐसी शक्ति होती हो तो देश पराधीन क्यों रहे ? किंतु योगी, सुना है कि संसारसे कोई सम्बन्ध ही नहीं रखते । कुछ भी हो एक बार भारत जाकर प्रयत्न करना है । यहाँ पड़े-पड़े भी तो मैं कुछ कर नहीं रहा हूँ ।

५ *अप्रैल*—आज बहुत दौड़-धूप की है । ब्रिटेनका इंडिया हाउस कहता है—'इन संकटके दिनोंमें भारत-यात्राकी शीघ्र व्यवस्था वह नहीं कर सकता ।' लेकिन यहाँका उपनिवेश विभाग कहता है कि मेरे दक्षिण अफ्रीकाके उपनिवेशोंमें जानेकी व्यवस्था वह इसी सप्ताह कर सकता है । वहाँसे भारत जाना अधिक निरापद होगा और वहाँसे सुविधा भी शीघ्र हो जायगी । अफ्रीका सही, मैं अब यहाँ रहते-रहते ऊब गया हूँ । कहीं भी जाऊँ, इतना संतोष तो रहेगा कि कुछ प्रयत्न कर रहा हूँ ।

इसके आगे बहुत दिनोंका विवरण नहीं था । पता नहीं, वह डायरीमें था ही नहीं, या अनुवादकोंमें किसीने छोड़ दिया था । आगे विवरण इस प्रकार प्रारम्भ होता है ।

२६ *जून*—भूमध्य-रेखापर स्थित यह प्रदेश इतना उष्ण है कि मुझे लगता है, जलती भट्ठीमें डाल दिया गया होऊँ । दिन डूबनेके बाद भी गर्मी बहुत रहती है । दिनमें तो कहीं बाहर जाना सम्भव ही नहीं है । यहाँके शासक बहुत सज्जन हैं । उन्होंने बताया है कि कोई भारतीय साधु इन दिनों यहीं इस उपनिवेशकी राजधानीमें हैं । भारत जानेसे पहले उनसे मिलकर आवश्यक जानकारी प्राप्त कर लेना अच्छा होगा ।

२७ *जून*—घुटा सिर, लाल कपड़ेमें लिपटा शरीर—पहली बार एक भारतीय साधुसे मिला हूँ । मैं पहुँचा ही तब, जब उनका प्रवचन चल रहा था । अपने पल्ले उपदेशकी कोई बात नहीं पड़ी । मुझे उपदेश चाहिये भी नहीं । मुझे तो अपने देशके शत्रुओंका विनाश करनेका उपाय चाहिये । कल सबेरे आठ बजे साधुने समय दिया है । देखूँगा कि वह मुझे कोई उपयोगी सूचना दे पाता है अथवा नहीं ।

२८ *जून*—रातसे ही वर्षा हो रही है । वर्षामें ही गाड़ी करके साधुके यहाँ गया । अच्छा आदमी है वह । खूब फर्राटेकी अंग्रेजी बोलता है । मैं समझ तो लेता हूँ; पर अच्छी अंग्रेजी बोल नहीं पाता । लेकिन उसे बीच-बीचमें अपनी भाषा (सम्भवतः संस्कृत) के पद्य (श्लोक) बोलनेका व्यसन है । मेरी बात उसने बहुत ध्यानसे सुनी । लेकिन आजका समय तो उसने मुझे समझानेमें व्यर्थ नष्ट कर दिया । ये भारतके लोग कैसे हैं ? देश पराधीन है और इन्हें धर्म एवं ईश्वरकी चिन्ता ही लगी है । ये तो संतोषका पाठ ही मुझे भी पढ़ाना चाहते हैं । किंतु यह साधु अच्छा है । इससे अपने कामकी सूचना पानेकी आशा मुझे है । कल फिर मिलूँगा ।

२९ *जून*—आज भारतीय साधुने मुझे दो घंटे समय दिया । वह पता नहीं, मनुष्यके क्या चार लक्ष्य बताता है और उसमें चौथेको ही सबसे बड़ा कहता है । उसका कहना है कि चौथेको समूहमें, समाजमें नहीं पाया जा सकता । केवल वही व्यक्तिका अकेले चलनेका मार्ग है । भारतके योगी उसीको श्रेष्ठ मानते हैं । उसीपर चलते और दूसरोंको चलाते हैं । योगियोंके

पास जाकर भी कोई संसारकी वस्तु माँगना अच्छा नहीं। ऐसा करनेवालेको वे अपने पास टिकने नहीं देते। तब मेरे लिये भारत जाना व्यर्थ रहेगा। मुझे कोई और उपाय सोचना होगा। लेकिन इस साधुसे एक बार और मिलकर पूरा स्पष्टीकरण कर लेना है।

अनुवादककी टिप्पणी––अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष–ये चार ही मनुष्यके पुरुषार्थ हैं। इनमें परम पुरुषार्थ मनुष्यका मोक्ष ही है और मोक्ष अन्तर्मुख होनेपर प्राप्त होता है। अतएव मोक्षका साधन सामूहिक नहीं हो सकता। व्यक्तिके लिये अपनी रुचि तथा अधिकारके अनुसार यह साधन पृथक्-पृथक् होगा तथा सर्वथा वैयक्तिक होगा।

३० *जून*– -भारतीय साधु कहता है–धर्म, धन और भोग–ये तीनों बातें मनुष्यको सामाजिक प्राणी बनाती हैं। इनकी उन्नति एवं सुरक्षा समाजके सुदृढ़ संगठन तथा परस्पर सहयोगसे ही सम्भव रहती है। समाजके सदस्य पूरे समाजके लिये अपना सर्वस्व तथा प्राण देनेको उद्यत रहें, तभी समाजके सब सदस्योंकी स्वाधीनता सुरक्षित रहेगी। जहाँ स्वार्थ, दलबंदी, पदलिप्सा फैली है, वहाँ स्वाधीनताका भी कुछ अधिक अर्थ नहीं है। यहाँ दुर्बल निरन्तर उत्पीड़ित होते रहेंगे और सबल भी सशङ्क ही रहेंगे कि दूसरे उन्हें पदच्युत न कर दें। मैं आज इस साधुके उपदेशसे ऊब गया हूँ। यह दूसरेकी उत्सुकताकी चिन्ता किये बिना अपनी ही बात कहता जाता है। अब भारत जाना व्यर्थ लगता है। कौन जाने कितने इसी प्रकारके उपदेश देनेवाले साधु वहाँ मिलेंगे। इन लोगोंको देशकी ही चिन्ता होती तो क्या नका अपना देश आजतक पराधीन होता ?

१ *जुलाई*––आज एक नवीन बातका मेरे यहाँ काम करनेवाले हब्शीसे पता लगा है। अफ्रीकाके घने नमें बसनेवाले लोग बहुत-सी जड़ी-बूटियाँ जानते हैं। उन्हें ऐसे-ऐसे विष ज्ञात हैं कि अग्निमें उसे डाल दो तो जिधर वायु चले, उधरके प्राणी प्राणशून्य हो जायँगे। वे लोग रोग फैला सकते हैं। वे अग्नि और वर्षाके वेगको बाँध सकते हैं। अपने शत्रुओंको केवल जादूसे वे नष्ट कर देते हैं। लेकिन ये अशिक्षित जंगली, पता नहीं, कितनी बातें मिथ्या विश्वासके आधारपर कहते हैं। इस हब्शीकी बातोंमें कितनी ठीक हैं, कहा नहीं जा सकता/।

२ *जुलाई*––यहाँका अंग्रेज कलक्टर तनिक भी चकित नहीं हुआ, जब मैंने उसे अपने हब्शी नौकरकी बातें बतलायीं। वह कहता है कि उसने भी ऐसी बातें बहुत सुनी हैं। उसका विश्वास है कि इन बातोंमें बहुत अधिक सच्ची हैं। कुछ थोड़ी बातें झूठी हो सकती हैं। लेकिन ये जंगली लोग किसी बाहरके व्यक्तिको अपनी कोई जड़ी-बूटी बतलाते नहीं। मन्त्र-तन्त्र तो ये अपने लोगोंको भी नहीं सिखलाते, केवल जातिका मुखिया उसे जानता है। इसीके साथ, ये अत्यन्त निर्दय हैं। किसीको मार देना इनके लिये साधारण बात है। अब भी भीतरी अफ्रीकाके वनोंमें मनुष्यभोजी जातियाँ हैं।

यहाँ फिर पर्याप्त समयतक डायरीके उद्धरण नहीं हैं।

५ *अक्टूबर*––बेल्जियम कांगोके अधिकारी भी मेरी ही भाँति हिटलरसे क्रुद्ध हैं। इनके देशको भी तो नाजियोंके बूटोंने रौंद रक्खा है। मेरे साथ यहाँके अधिकारियोंकी पूरी सहानुभूति है; किंतु जिससे कहता हूँ, वही मुझे हतोत्साहित करता है। मध्य कांगोमें, बौने लोगोंके मध्य मैं जाना चाहता हूँ, यह सुनते ही सब चौंकते हैं। इस प्रदेशके सात फुट ऊँचे दैत्याकार लोगोंमें भी अबतक कोई मेरा मार्गदर्शक बननेको प्रस्तुत नहीं है। अन्ततः बौने क्यों इतने दुर्धर्ष हैं ? मुझे वही युक्ति तो चाहिये ? मृत्युके भयसे मैं रुक जाऊँ तो मेरा अबतकका सब उद्योग ही व्यर्थ है।

६ *अक्टूबर*——परमात्मा दृढ़ संकल्पका साथी है। मेरा साईस आज रातमें एक व्यक्तिको मेरे पास ले आया। देखनेमें वह बड़ा भयानक लगता था। उसके नेत्र हिंसक पशुओं-जैसे लाल थे। मोटे ओठ, घुँघराले केश, बढ़े नख, नंगा शरीर—यह सब तो यहाँ साधारण बात है। मैं अब इस दृश्यका अभ्यस्त हो चुका हूँ। वह व्यक्ति सरकारद्वारा घोषित अपराधी है। उसे वैसे भी अपनी जीवन-रक्षाके लिये भीतरी वनमें रहना है। मेरा नौकर कहता है कि उसका वनमें रहनेवाली जातियोंमें बहुत सम्मान है। क्या वह विश्वसनीय है? वह कहीं 'माऊ-माऊ'का सदस्य या नेता तो नहीं है?

७ *अक्टूबर*——मैं आज रात्रिमें परमात्माका नाम लेकर चल रहा हूँ। रात्रिमें इसलिये कि दिनमें मेरा मार्गदर्शक प्रत्यक्ष किसीके सामने आना नहीं चाहता। मैं भी यहाँसे छिपकर ही निकल जाना पसंद करता हूँ। पता लगनेपर स्थानीय अधिकारी मुझे वनमें जानेकी अनुमति नहीं देंगे।

आगे विवरण बहुत लम्बे समयतक नहीं है और अन्तमें जो कुछ है, उसे उपसंहार ही कहा जाना चाहिये; क्योंकि उसके बाद इस डायरीके लेखकका क्या हुआ, यह कुछ पता नहीं है। सैनिकने बताया कि या तो उसे बौनोंने मार डाला, अथवा किसी हिंस्र पशुका वह आखेट हो गया। कांगोमें किसीके प्राणोंका ऐसा मूल्य नहीं है कि वह न मिले तो उसका अन्वेषण किया जाय। कोई करना भी चाहे तो अगम्य वनोंके कारण ऐसा करना सम्भव नहीं होगा। डायरीका यह अन्तिम भाग बिना किसी तिथिके ही प्रारम्भ हुआ है।

——मुझे पता नहीं है कि आज कौन-सी तारीख है। तारीखका पता लगानेका कोई साधन भी नहीं है। कितने दिन मूर्छित रहा हूँ, यह भी मुझे पता नहीं है। स्मृति ठीक काम नहीं कर रही है। मस्तिष्कमें जैसे हथौड़े चल रहे हैं। इस समय जो कुछ स्मरण आ रहा है, वही लिपिबद्ध कर रहा हूँ। वह क्रमशः ही लिखा जायगा, इसका आश्वासन मुझे अपने-आप भी नहीं है।

मैं अधिक भीतर जाना चाहता था वनमें; किंतु मौसम अनुकूल होनेकी प्रतीक्षा करना आवश्यक था। मेरा मार्गदर्शक सचमुच अनेक जंगली जातियोंमें सम्मानित था। वह मेरा गुरु बन गया। उससे केवल ओष्ठ हिलाकर बातचीत करना सीखनेमें मुझे दो महीने लगे। इसके बिना इन जंगली लोगोंके मध्य रहना असम्भव है। इनमें प्रत्येक जातिकी पृथक् भाषा है; किंतु मूक रहकर ओष्ठ हिलानेकी भाषा तो सब समझते हैं। मुझे वन-पशुओंके स्वभाव तथा उनसे बचनेकी युक्तियोंका भी बहुत कुछ ज्ञान अपने मार्गदर्शकसे ही हुआ है। उसने थोड़ी जड़ी-बूटियाँ भी बतायी हैं।

मेरा मार्गदर्शक भी आगे साथ नहीं देता। वह भी मुझे बौनोंके प्रदेशमें जाने नहीं देना चाहता था। लेकिन मैं केवल फूसकी झोपड़ीमें यहाँ घोर वनमें जीवन व्यतीत करने तो नहीं आया था। मैं आगे जाता ही, लेकिन ईश्वरको जब वह स्वीकार होता तब तो……।

उस दिन मेरा मार्गदर्शक भी कहीं चला गया था। मैं जंगली लकड़ीसे एक मजबूत छड़ी बनानेमें लगा था। अचानक लगा कि आँधी आ रही है। दृष्टि दौड़ानेपर भी किसी ओर वृक्ष हिलते नहीं दीखे। मैं सोचने लगा कि यह शब्द कैसा आ रहा है। सहसा चार-पाँच चींटियाँ मुझे दिखायी पड़ीं और मेरे प्राण सूख गये। ये साधारण चींटियोंसे भिन्न चींटियाँ हैं। इनके सम्बन्धमें मैंने जंगली लोगोंसे बहुत सुना है। कई फर्लांग मार्ग घेरकर जब इनकी असंख्य सेना निकलती है, मार्गमें पड़नेवाले वृक्षतक ये चाट जाती हैं। मनुष्य,

पशु अथवा ऐसा कोई पदार्थ जो ये खा सकती हैं, बचता नहीं। अवश्य आज इनका अभियान इधर हुआ है। इनके दलके चलनेका शब्द आ रहा है। वे उस दलकी जासूस चींटियाँ हैं। आगे मार्ग कैसा है, इसका पता दलको देते रहना इनका काम है।

ये जासूस चींटियाँ खड़ी हो गयी थीं। इधर-उधर मूँछ हिलाकर कुछ सूँघ रही थीं। मैंने कमरसे चमड़ेकी पेटी खोलकर उनमेंसे चारको मार दिया। एक सम्भवतः बच गयी और भाग निकली। अवश्य वह मेरी दृष्टिको धोखा दे गयी थी। मैंने दौड़कर पहला काम यह किया कि अपने घोड़ेको खोल दिया। पशु मनुष्यकी अपेक्षा विपत्तिका आभास पहले पा लेते हैं। छूटते ही घोड़ा तीरकी भाँति एक ओर भाग गया। उसने इतना भी अवसर मुझे नहीं दिया कि मैं उसकी पीठपर जीन डालकर बैठ पाता।

मेरा कुत्ता देरसे भूँक रहा था। अबतक मैंने उसकी ओर ध्यान ही नहीं दिया था। कुत्तेको भी मैंने जंजीरसे मुक्त कर दिया। लेकिन यह स्वामिभक्त प्राणी मेरे आस-पास ही घूमता और भूँकता रहा। पता नहीं उसकी क्या दशा हुई होगी।

इतनेमें मेरे कानके पास भयंकर वेदना हुई। जैसे किसीने सुई चुभा दी हो। हाथ वहाँ गया और एक चींटी मसल गयी। यह पहली चोट मुझपर थी। मैं इससे सँभलूँ, तबतक तो मुख, पीठ, हाथ—लगभग पूरे शरीरमें सुइयाँ चुभने लगीं। चमड़ेकी पेटी मैंने पटकना प्रारम्भ किया; किंतु शीघ्र समझ आ गयी। जहाँतक मैं देख सकता था, केवल चींटियाँ-ही-चींटियाँ थीं। भूमि, दरवाजा, खम्भे सर्वत्र चींटियाँ लदी थीं। सब कुछ काला हो गया था। मैं पेटी फेंककर भागा। दोनों हाथोंसे कपड़े उतारता, फेंकता, शरीर पीटता मैं चींटियोंके झुंडोंको रौंदता प्राण बचानेके लिये पूरे वेगसे भागा जा रहा था।

मेरे शरीरका प्रत्येक भाग चींटियोंसे ढक चुका था। शरीरका एक-एक रोम उनके दंशनसे बिंध रहा था। कुछ दूर एक दलदल था और वही मेरी आशाका आधार था। मुझे स्वयं पता नहीं है कि मैं दलदलतक कैसे पहुँचा और कैसे उसके कीचड़ भरे पानीमें गिर गया। कबतक उस जलमें पड़ा रहा, यह भी जाननेका उपाय नहीं है।

मेरा मार्गदर्शक कहता है कि चींटियोंके आक्रमणका पता उसे तब लगा, जब उनका दल मेरी झोंपड़ीको घेरकर आगे बढ़ चुका था। अन्यथा वह जहाँ गया था, उस गाँवमें एक चींटियोंका पुजारी रहता था। वह प्रार्थना करके चींटियोंको मार्ग बदलनेपर विवश कर देता है। उसने अपने गाँवको इसी प्रकार बचाया था। लेकिन मेरी ओरसे वे लोग निराश हो चुके थे।

चींटी-दल रात्रिके मध्यतक वहाँसे जा चुका था। दूसरे दिन मार्गदर्शक कुछ दूसरे लोगोंके साथ आया तो झोंपड़ीका फूसतक वे चींटियाँ चाट गयी थीं। वे लोग तो मेरा कंकाल ही इधर-उधर ढूँढ़ रहे थे; किंतु मैंने जो वस्त्र फेंके थे, उनके बटन दृष्टि पड़ गये। वस्त्र तो चींटियोंका भोजन हो चुका था। बटनसे अनुमान करके वे लोग दलदलतक पहुँचे।

अब भी मेरे पूरे शरीरमें चेचकके समान गड्ढे हैं। घाव कितने दिनमें अच्छे हुए, कौन जाने। मुझे इस स्थानपर—इस पक्की कोठरीमें वही लोग ले आये हैं। कभी यह एक पादरीके लिये यहाँके शासकोंने बनवायी थी। उस पादरीको भी चींटियोंने ही खाया था और तबसे फिर कोई इधर आनेका साहस नहीं कर सका।

चलने योग्य हो जाऊँ तो यहाँसे चला जाऊँगा। जो बात उस भारतीय साधुके कहनेसे समझमें नहीं

आयी थी, वह चींटियोंने समझा दी। मुझे अब फ्रांस जाना है। शत्रुके उन्मूलनका सूत्र मुझे मिल गया है। वह सूत्र है—संगठन। जो देश, जो समाज ऐसे सदस्य रखता है, जो प्रत्येक सदस्य अपने समाजके लिये आगा-पीछा सोचे बिना आत्मार्पण कर सकें, वही विजयी होगा। उसीको जीवित रहनेका अधिकार है। स्वार्थलोलुप, पदलोलुप, कापुरुष लोगोंका समाज कबतक बना रह सकता है। मेरे देशको संगठन चाहिये—स्वार्थत्यागी, स्वात्मदानी साहसी लोगोंका संगठन।

अनुवादककी अन्तमें एक टिप्पणी है—मेरे अपने देशको, अपनी जातिको भी इससे सीखना है। ऐसा संगठन नहीं बनता तो देश एवं समाजकी दुर्दशा दैव भी रोक नहीं सकता।

हार नहीं मानता

(लेखक—श्रीराधेश्यामजी)

प्रजापति त्वष्टाके पुत्र त्रिशिरा बड़े ही तपस्वी, मृदु, जितेन्द्रिय तथा धर्मतत्पर थे। त्रिशिराके अतुलित तेज, तपोबल और सत्यको देखकर सुरपति इन्द्रका मन इन्द्रासनके अपहृत और अधिकृत कर लिये जानेकी शङ्कासे आकुल हो उठा। इन्द्रद्वारा अप्सराएँ भी भेजी गयीं, किंतु त्रिशिराको व्रत-भ्रष्ट करनेमें वे सफल नहीं हो सकीं। भयभीत इन्द्रने वज्र-प्रहारसे त्रिशिराका अन्त कर दिया। त्रिशिराकी मृत्युसे पिता त्वष्टाको बड़ा क्षोभ हुआ। उन्होंने क्रुद्ध होकर इन्द्रके जीवन-नाशके लिये हवनाग्निसे वृत्रासुरको उत्पन्न किया, किंतु इन्द्रने विश्वासघात और छल-कपटके द्वारा वृत्रासुरका भी वध कर डाला। इन्द्र शत्रुके भयसे निःशङ्क हो गये, फिर भी त्रिशिराके वधसे लगी ब्रह्म-हत्याके कारण इन्द्र मन-ही-मन बहुत अशान्त और क्लान्त रहने लगे। अन्तमें वे प्रायश्चित्तद्वारा अपने पापोंका परिमार्जन करनेके लिये सम्पूर्ण लोकोंकी सीमापर जलमें जाकर छिप गये।

इन्द्रलोक सूना हो गया। पर इन्द्रपद रिक्त तो रह नहीं सकता। सभी देवताओंकी दृष्टि मृत्युलोकके सर्वश्रेष्ठ नृपति नहुषपर गयी। नहुष बड़े तेजस्वी, यशस्वी और धार्मिक राजा थे। देवताओं तथा ऋषियोंके अनुरोधपर नहुषने इन्द्र-पद स्वीकार कर लिया और उस पदपर अभिषिक्त होकर वे स्वर्गका शासन सुव्यवस्थित रूपसे करने लगे। ढीले पड़े हुए तन्त्र पुनः तानसे दिये गये। प्रबन्ध-क्रम पूर्ववत् ही था, फिर भी नया-नया-सा लगने लगा। देवर्षि नारदने भी आकर नर-साधनाकी प्रशंसा की और नव देवेन्द्र नहुषको साधुवाद दिया, जिनके पुरुषार्थकी शुभाराधना इन्द्रपदने भी की—

नारायण नारायण धन्य नर साधना।
इन्द्र पदने भी की उसीकी शुभाराधना॥

मृत्युलोक कर्म-भूमि है तो देवलोक भोग-भूमि है। अपने किये पुण्योंका भोग ही वहाँ होता है। धर्म-परायण नहुष भी स्वर्गके सुख-ऐश्वर्यमें डूब गये। वे समस्त देव-उद्यानोंमें, नन्दनवनमें तथा हिमालय आदि पर्वतोंपर तरह-तरहकी क्रीड़ाएँ करने लगे। सुरपुरके समस्त देवनद उनके विहारस्थल थे, समस्त देवाङ्गनाएँ अपने गीत-वाद्यसे, नृत्य-कृत्यसे, विहार-विलाससे उनका रञ्जन करती थीं। देवकाननके समस्त फूल, समस्त फल सुखके झूलेमें उन्हें झुलाते थे। देवलोकका समस्त ऐश्वर्य नहुषके चरणोंपर था।

एक दिन देवलोकविहारी नहुष अप्सराओंके साथ जल-विहारके लिये सुरसरिताके तीरपर आये,

किंतु देखा क्या ? कल्पनाके लोकमें यथार्थता। सुषमाकी सृष्टिमें अद्भुतता। उस अद्भुत यथार्थताको···· शचीको, जो पूर्व इन्द्रकी पत्नी थी, उस शचीको राजा नहुष देखता-का-देखता रह गया। सुन्दरी शची सुरसरितासे स्नान करके निकली ही थी और वस्त्र-परिवर्तनके उपरान्त अपने वास-स्थानको चली गयी। 'इन्द्राणीकी जय हो' जय-घोषने स्वतः नहुषको उसका परिचय दे दिया। नहुष आत्मभाव होकर तादात्म्यभावको प्राप्त हो चुका था।

नहुषने लौटकर देव-महलको पवित्र करनेके लिये दूतीद्वारा शचीसे प्रार्थना की। सुनते ही शची अवाक् हो गयी। क्या अब धर्मरक्षा भी सम्भव नहीं ?

'त्यागो शचीकान्त बननेकी पाप-वासना।'

—का प्रत्युत्तर दूतीको देकर पागल-सी डोलती हुई शची देवगुरु बृहस्पतिके चरणोंके समीप गयी। यथोचित शिष्टाचारके उपरान्त धर्मसंकटसे रक्षा करनेके लिये पुनः-पुनः गुहार करने लगी। तभी नहुषका दूत भी आया। शचीके पाससे लौटकर दूतीने शचीका उत्तर नहुषको सुना दिया और उसे सुनकर नहुषके पास और साधन ही क्या था ? नहुषने भी दूतके द्वारा अपनी समस्याको देवगुरु बृहस्पतिके सामने रख दिया। दूत नहुषके प्रस्तावका निवेदन करके मौन हो गया। तबतक देवगण भी एकत्र हो चुके थे। उपस्थित परिस्थितिपर परस्परमें विचार होने लगा। नहुषके तर्क भी सबल थे। प्रथम, वह देवलोकाधिपति है, अतः देवलोककी प्रत्येक वस्तु उसकी भोग्य है। दूसरे, एक इन्द्र और एक इन्द्राणी, अतः दोनों वियुक्त क्यों ? किंतु यह भी सत्य था कि इन्द्राणीका इन्द्र प्रायश्चित्त-हेतु अन्यत्र तपमें रत है। स्थिति विषम थी। देवताओंको कोई राह नहीं सूझ पा रही थी। अन्तमें यही तय हुआ कि नहुष शचीको प्राप्त करें और शर्त यह लगा दी गयी कि डोला सप्तर्षियोंके कंधोंपर रखवाकर नहुष आवें। यही संदेश नहुषको कहला दिया गया।

कामातुर क्या नहीं करता ? ऋषि-यानका प्रस्ताव भी नहुषको स्वीकृत था। उसकी आज्ञासे ऋषियोंने डोला उठाया और शचीके भवनकी ओर चले। वासना-व्यथित नहुषको ऋषियोंकी तेज चाल भी मन्द लगी। 'सर्प-सर्प'—'शीघ्र चलो, शीघ्र चलो' का आदेश देते हुए उसने एक ऋषिपर पदप्रहार कर दिया। यही आगमें घीकी आहुति थी। देवमण्डल तथा ऋषिगण पहलेसे ही नहुषके आचरणसे आग-बबूला हो रहे थे। किंतु इस चरण-प्रहारने शेषकी भी पूर्ति कर दी। तुरंत ही ऋषियोंने शाप दिया—'जा, सर्पयोनिमें गिर।'

शापने सत्यपरसे आवरण उठा लिया। सारा नशा समाप्त हो गया। कामका ज्वार उतर चुका था। स्थिति स्पष्ट हो गयी। वास्तविकता सामने आ गयी। वासनाका नग्न रूप दिखलायी देने लगा। स्वयंके दोष दृष्टि-पथपर आने लगे। अब स्वर्गसे उसका पतन होनेवाला है। समस्त देववर्ग, ऋषिगण, देवगुरु बृहस्पति, देवर्षि नारद, शची, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर आदि सभी वहाँ उपस्थित हो गये। उस दुःखमें राजा नहुषने सभीके सामने अपनी भूल स्वीकार करते हुए क्षमा माँगी। उसने स्पष्ट कहा—

'मानता हूँ; भूल हुई, खेद मुझे इसका।'

शचीसे भी साफ-साफ कहा—

मानता हूँ आड़ ही ली मैंने स्वाधिकारकी।
मूलमें तो प्रेरणा थी कामके विकारकी॥

नहुषको सबसे अधिक दुःख था नारदके उपदेशके विस्मरणका········

मानता हूँ भूल गया नारदका कहना,
'दैत्योंसे बचाये यह भोग-धाम रहना।'

अपनी वर्तमान दशापर नहुषको अत्यधिक आन्तरिक वेदना है —

मानता हूँ आप लज्जा पाप अविनयमें,
आ घुसा असुर हाय मेरे ही हृदयमें॥

नहुष आदिसे अन्ततक अपनी एक-एक भूलको, अपने एक-एक दोषको स्वीकार कर रहा है और उन सबके लिये उसने क्षमा भी माँगी। उसने सभी कुछ मान लिया, अपनी वासनाविमुग्धता, अपनी आसुरी भावना, अपनी इन्द्र-पद-मदान्धता, अपनी वर्तमान अधोमुखता। अपना सभी कुछ मानकर भी बस एक चीज नहीं मानी। हार नहीं मानता…………

मानता हूँ और सब, हार नहीं मानता।
अपनी अगति नहीं आज भी मैं जानता॥
चलना मुझे है बस अन्त तक चलना।
गिरना ही मुख्य नहीं, मुख्य है सँभलना॥
गिरना क्या उसका उठा ही नहीं जो कभी।
मैं ही तो उठा था आप गिरता हूँ जो अभी॥
फिर भी उठूँगा और चढ़के रहूँगा मैं।
नर हूँ पुरुष हूँ, चढ़के रहूँगा मैं॥

नहुषकी यह उक्ति प्रकाशका स्तम्भ है, जो सदा प्रकाश छिटकाती रहेगी। इन शब्दोंमें वह शक्ति है जो फिसलतेको सहारा देती है। ये शब्द क्या हैं, स्फूर्तिकी लहरियाँ हैं। इन शब्दोंमें उत्साहका सागर है जो सदा लहराता रहेगा। निराशाकी निशा सभीके जीवनमें आती है और यही निशा नहुषके जीवनमें भी आयी। राजा नहुषके जीवनमें उत्थान भी आया और पतन भी आया। प्रकाशके बाद अन्धकार आया, पर अन्धकारके सामने घुटने नहीं टेक दिये। गिरनेके बाद भी उठनेके निश्चयने नहुषके जीवनमें सौरभ बिखेरा है। नहुषका चरित्र दुर्बल होकर भी उज्ज्वल है। न जाने कितने स्खलितोंके लिये शक्तिका केन्द्र और स्फूर्तिका स्रोत है। जिस प्रकार हल्दीघाटीकी हार प्रतापके शौर्य एवं पराक्रमके ही गीत गाती है, उसी प्रकार स्वर्गसे पतनोन्मुख नहुषकी फिर-फिर उठनेकी भावना मानव-चरित्रकी महत्ता ही प्रतिष्ठित करती है।

जब बैंक टूटा

(लेखक—श्रीराजेन्द्रप्रसादजी जैन)

आज बैंक-मैनेजरका व्यवहार कुछ बदला हुआ था। काम पकड़नेकी अपेक्षा कुछ टालनेका प्रयत्न कर रहे थे। हुंडी तो किसीकी ली ही नहीं, ऋण भी किसीको नहीं दिया। कह दिया, रुपया भेजनेके लिये हेड आफिसको तार दिया है, इस समय कैशकी कमी है। कुछ समयके पश्चात् वे अपने कमरेसे चलकर वहाँ आये, जहाँ क्लर्क लोग काम कर रहे थे और आकर एकाउंटेंटकी मेजके पास खड़े हो गये,—'ठीक दो बजे काम बंद कर देना' यह कहा। काममें व्यस्त एकाउंटेंटने बिना सिर उठाये खड़े होनेका प्रयत्न किया और चपरासीको आवाज लगायी, 'ठाकुर! डेढ़ बजा है। फाटक बंद करो। किसी नये आदमीको मत आने दो।'

मैनेजर साहब और एकाउंटेंटकी वाणी सारे बैंकमें गूँज गयी। क्लर्कोंके चेहरे प्रसन्नतासे खिल गये। ग्राहक अधिक व्यस्त नजर आने लगे। ढाई बजेतक बैंक ग्राहकोंसे साफ हो गया। कामको निपटानेमें आज मैनेजर साहब भी क्लर्कोंकी सहायता कर रहे थे और ४ बजेतक सब काम समाप्त हो गया। तब सब लोग मैनेजर साहबके कमरेमें इकट्ठे हुए और उत्सुकतासे उनके मुँहको देखने लगे। बड़े धीमे और स्पष्ट स्वरमें मैनेजर साहबने कहा, 'भाई! हमारा बैंक टूट गया। कोई खतरेकी बात नहीं है, दूसरे बैंकमें विलय हो गया है। सबका रुपया वापस होगा।'

'और हमारी नौकरी?'

'जिसको जहाँ मिले ढूँढ़ लो। मैं फौरन रिलीव कर दूँगा। नोटिस पीरियडवाली शर्त नहीं।'

'कहाँ ढूँढ़ लें। सारी जवानी तो इस बैंकमें खपा दी। अब बुढ़ापेमें कहाँ जायँ?'

'कटोरा हाथमें लो और भीख माँगो।'

'उसके विरुद्ध भी तो कानून बननेवाला है, अब वह भी नहीं मिलेगी।'

चेहरोंपर मुर्दनी छा गयी। कुछके कम, कुछके ज्यादा; परंतु श्रीवास्तव, अरजरिया और कुँअरके चेहरोंपर वही पूर्ववत् मस्ती और सबसे अधिक कुँअरपर।

कुछ देरकी निस्तब्धताके पश्चात् मैनेजर साहबने कहा—'भाई श्रीवास्तव! तुम्हें तो कोई चिन्ता नहीं। तुम्हारे पिता होम मिनिस्टरके पुराने लंगोटिया यार हैं। तुम्हें तो कहीं-न-

कहीं चिपकवा ही देंगे । हम गरीबोंका भी ध्यान रखना ।'

'चिन्ता कैसे नहीं मैनेजर साहब ! चिन्ता तो है ही । बड़े आदमियोंका क्या ? सुनें न सुनें ।' इसके अतिरिक्त श्रीवास्तव और क्या उत्तर देता ?

'चिन्ता हमारे पण्डित अरजरियाको भी नहीं । पुराने पुरोहित हैं । ब्राह्मण होते हुए भी यहाँके सबसे बड़े धनाढ्य हैं । इनके बाबा बड़े पक्के ज्योतिषी थे । बड़ा रुपया कमाया उन्होंने । भृगुसंहिता थी उनके पास ऐसा सुना गया था ।'

'यह तो अपना-अपना स्वभाव है । रुपया होता तो यहाँ नौकरी करने आते ? देखो कुँअरको, कितनी मौज ले रहा है ?' अरजरियाने उत्तर दिया ।

'अजी हाँ, बिना रुपयेसे मस्ती आ सकती है ? कुँअरको तुम क्या समझो । छुपे रुस्तम हैं । नाम ही जो कुँअर ठहरा । पुराने जमींदारका लड़का है । लाख दो लाख तो होगा इनके पिताजीके पास ।'

इसपर सब हँसे, परंतु हँस नहीं सके । कुँअरके चेहरेसे विश्वास टपक रहा था । क्या अबतक हम धोखेमें ही रहे, सचमुच कुँअर छुपा रुस्तम है ?

'सच बताओ कुँअर ! तुम्हारी पहुँच है या तुम्हारे पास लाख दो लाखकी पुड़िया है ?'

'मेरी पहुँच भी है और मेरे पास न सही, मेरे पिताके पास रुपया भी है । मुझे रोजगारकी कोई चिन्ता नहीं ।'

'कहाँतक है तुम्हारी पहुँच ? मिनिस्टर तक ?'

'उससे भी आगे ।'

'चीफ मिनिस्टर तक ।'

'उससे भी आगे ।'

'भारतके प्रधानमन्त्री तक ।'

'उससे भी आगे ।'

सब खिलखिलाकर हँस पड़े । मैनेजरका चेहरा कुछ गम्भीर हो गया ।

'खैर पहुँच न सही, पर कुँअरके पिताजीके पास रुपये तो लाख दो लाख अवश्य होंगे । क्यों कुँअर कितना होगा ?'

'बहुत है, अथाह है ।'

'दस बीस लाख ?'

'कह रहा हूँ, अथाह है ।'

'दस-बीस करोड़ ?'

'अथाह ! अथाह ! अथाह ।'

'चालीस-पचास करोड़, अरब दो अरब, सौ अरब, संख महासंख ।'

'अथाह ! अथाह ! अथाह !'

फिर कुछ लोगोंने हँसनेका प्रयत्न किया और कुछ गम्भीर हो गये ।

(२)

कुँअरकी एक छोटी साली थी ग्रेजुएट, बहुत सुन्दर और सुसंस्कृत । कुँअरका उसपर बहुत स्नेह रहा है, परंतु दोनोंकी विचारधारा नहीं मिलती । कुँअरके प्रति रम्मीके हृदयमें बहुत आदर है, परंतु वह उसे व्यवहारपटु नहीं मानती । इसलिये छोटी होते हुए भी वह कुँअरको ठीक मार्गपर लगानेका प्रयत्न करती रहती है । कुँअरके नौकरीसे हट जानेका समाचार सुनकर वह अपने पतिके साथ वहाँ आयी थी ।

दोनों पति-पत्नी कुँअरको सदुपदेश देनेके अवसरकी खोजमें थे कि इसी बीचमें भूतपूर्व मैनेजर साहब पधारे । बड़े हर्षके साथ उन्होंने समाचार दिया कि उन्हें बैंकके स्वामियोंने अपने किसी दूसरे उद्योगमें एक बहुत अच्छा पद दे दिया है, जिन-जिनसे प्रसन्न थे, उन सब कर्मचारियोंको काम दे रहे हैं और कुँअर यदि प्रयत्न करे तो उसे भी कोई काम अवश्य मिल जायगा । रम्मी और उसके पतिको इस समाचारसे बड़ी प्रसन्नता हुई । रम्मीने कहा—'भैया ! अब कोशिश कर लो । सेठजीके पास जानेभरकी देर है । मैंने सुना है वे तुमसे बहुत प्रसन्न हैं ।'

'मैं सेठजीके पास नहीं जाऊँगा ।'

'तो क्या बेकार बैठोगे ? आजकल रोजगार बड़ी कठिनाईसे मिलता है । ऐंठ मत दिखाओ भैया ! बड़े आदमी अपनेसे कितने ही प्रसन्न क्यों न हों, बिना कहे वे भी कुछ नहीं करते । क्यों करें बेचारे, इतनी भीड़ रहती है उनके पास ।'

'मेरा सेठ तो बिना कहे भी सब कुछ करता है । कितनी ही भीड़ हो, वह अपने सेवकोंको नहीं भूलता ।'

'तो अब क्यों भूल गया ?'

'अबतक मैंने उसकी सेवा की कब ? अभीतक तो मैंने सेठजीकी सेवा की है ।'

'तो मतलब यह कि अब कुछ नहीं करोगे । हाथपर हाथ धरके बैठे रहोगे ।'

'हाथपर हाथ धरके क्यों बैठूँगा ? कोई-न-कोई रोजगार ढूँढूँगा ।'

'मैं कह रही हूँ रोजगार मिलना बड़ा कठिन है । देशमें बड़ी भयंकर बेकारी है ।'

'जिस देशमें करनेके लिये इतना बड़ा काम पड़ा हुआ हो वहाँ बेकारी कैसी ? क्या जनताको आज भरपेट अनाज, शुद्ध और पर्याप्त घी, दूध, तेल, यहाँतक कि ओषधि और शहद मिलना भी सम्भव है ? क्या यह काम कुछ कम है कि जनताको उसकी आवश्यकताके अनुसार पर्याप्त और शुद्ध पदार्थ मिल सकें ?…'

'तो भैया अब घोसीका काम करेंगे । जनताको शुद्ध घी और दूध सप्लाई किया करेंगे ।'

'सर्राफेमें कितनी लूट-खसोट है । क्या लोगोंको उनकी इच्छाके अनुसार खरे सोने-चाँदीके आभूषण मिल सकते हैं ।'

'अब भैया सर्राफा सीखोगे ?'

'क्या सारा देश शिक्षित है ? क्या आज हमारे देशमें सभी रोगियोंकी चिकित्साकी समुचित व्यवस्था है ? क्या शिक्षित जनताको विशेषतः ग्रामीण जनताको सुरुचिपूर्ण साहित्य पढ़नेको मिल सकता है ?'

'अब भैया अध्यापक बनेंगे, डाक्टर बनेंगे, ओह ! मैं भूलती हूँ—वैद्य बनेंगे, बुकसेलर बनेंगे ।'

'जनताके लिये ।' रम्मीके पतिने ताल लगाते हुए कहा ।

'और जनता—गुस्ताखी माफ हो—सिरमें ईंट मारेगी ।'

'मैं कहता हूँ रम्मी, हमारे देशमें बेकारी या बेरोजगारी नहीं है । बेकारी या बेरोजगारी तो स्वर्गमें हो सकती है, जहाँ सारी आवश्यकताएँ अपने-आप पूरी हो जाती हैं । पृथ्वीतलपर नहीं, जहाँ इतना सब कुछ करनेको पड़ा हुआ है ।'

'तुम्हें भी शब्दोंकी खींचतान करनेकी आदत पड़ गयी है, कुँअर !' रम्मीके पतिने गम्भीर होते हुए कहा—'प्रत्येक शब्दके प्रचलित अर्थ लेने चाहिये । बेकारी या बेरोजगारीसे अर्थ है ऐसे काम, जिनके बदलेमें अर्थकी प्राप्ति न हो । अनाज, शुद्ध घी, दूध, शहद, ओषधि और तेलके व्यवसायमें यदि आर्थिक लाभ नहीं होगा, तो तुम हानि कबतक उठाओगे ? वे सब काम तुम्हें बंद करने पड़ेंगे । अध्यापन, चिकित्सा, साहित्य-सृजन अथवा वितरणमें आर्थिक हानिका कोई भय नहीं है, परंतु इन सबसे जब कुछ प्राप्ति नहीं होगी तो तुम्हारा और तुम्हारे परिवारका भरण-पोषण कैसे होगा ? और वह स्थिति बेकारी व बेरोजगारीकी ही कहलायगी, भले ही तुम रात-दिन काममें व्यस्त रहो ।'

'और यदि मैं सेठजीकी खुशामद करके उनके यहाँ नौकर हो जाऊँ तो मेरा और मेरे परिवारका भरण-पोषण कौन करेगा ?'

'सेठजी करेंगे ।'

'क्यों ?'

'क्योंकि तुम सेठजीकी सेवा करोगे ।'

'और जब मैं उसकी सेवा करूँगा तो क्या वह मेरा और मेरे परिवारका भरण-पोषण नहीं करेगा ? मैं जनताकी सेवा नहीं करना चाहता, जनताके माध्यमसे उनकी सेवा करना चाहता हूँ । इसलिये यदि जनता मेरे सिरमें ईंट मारेगी तो मुझे कोई दुःख नहीं होगा, यदि वह मेरेसे प्रसन्न रहा । मैं जनसेवक नहीं, ईश्वर-सेवक बनना चाहता हूँ । बैंकमें काम करते हुए हम व्यापारियोंके हानि-लाभका नहीं, सेठजीके हानि-लाभका ध्यान रखते थे । यद्यपि हमारी सेवाओंसे व्यापारियों और व्यवसायियोंको बहुत लाभ पहुँचता था; परंतु वह सेठजीके नौकरकी हैसियतसे हम उन्हें लाभ पहुँचाते थे, अपनी स्वतन्त्र सत्तासे नहीं और जब कभी बैंक और व्यापारियोंके स्वार्थमें टकराव होता था तो हम व्यापारियोंके स्वार्थ और उनकी अप्रसन्नताकी चिन्ता नहीं करते थे । इसलिये हम व्यक्तिगत रूपसे किसी व्यापारीसे यह आशा भी नहीं करते थे कि वह हमारी सेवाओंके बदलेमें किसीको भी कुछ देगा । जो कुछ हमें माँगना होता था हम सेठजीसे ही माँगते थे ।'

'बेकारी और बेरोजगारीके प्रचलित अर्थ मैं जानता हूँ, परंतु मैं उन्हें बदलना चाहता हूँ । वास्तविकता तो यह है कि मनुष्य कभी निठल्ला नहीं बैठ सकता । वह हर समय कुछ-न-कुछ करता रहता है । परंतु जब अपने समस्त कार्यकलापोंके फलस्वरूप वह अर्थोपार्जन नहीं कर पाता तो उसे हमें बेकार या बेरोजगार कहते हैं । प्रत्येक युगमें और प्रत्येक समाजमें कुछ कार्योंके बदले अर्थकी प्राप्ति होती है और कुछके बदले नहीं । जो लोग ऐसे कार्य करते हैं और जिनसे अर्थकी प्राप्ति हो, वे उद्यमी कहलाते हैं और

जो ऐसे काम करते हैं जिनसे अर्थकी प्राप्ति नहीं वे बेकार या निरुद्यमी कहे जाते हैं। इसमें श्रम; योग्यता और समाजसेवाका कोई महत्त्व नहीं है। प्रत्येक युगमें उद्यमी और उद्यमहीनोंकी लक्षणा बदलती रहती है। मुसल्मानोंमें ब्याज लेना निषिद्ध माना जाता है और यदि आज संसारमें शरीयतका विधान लागू हो जाय तो अपनेको उद्यमी और पुरुषार्थी कहनेवाले बहुत-से लोग बेकारों और निठल्लोंकी श्रेणीमें आ जायँ। जमींदारी समाप्त होते ही वे बड़े-बड़े जमींदार निठल्लोंकी श्रेणीमें आ गये जो अपने द्वारपर खड़े हुए भिखारीको यह कहकर भगा दिया करते थे कि 'अरे, कमाकर नहीं खाया जाता?' कम्यूनिस्ट देशोंमें वही दशा बड़े-बड़े पूँजीपतियोंकी हुई है। वास्तवमें निठल्ला वह है जिसके समस्त कार्य-कलापोंसे समाजको कोई लाभ नहीं, भले ही उसे आर्थिक लाभ प्रचुर मात्रामें होता हो। बदनी, फाटका, घुड़दौड़, सुगम वर्गपहेली, अश्लील और निरर्थक साहित्य और चलचित्र—ये सब निठल्लेपनके चिह्न हैं। लक्ष्य सेवा होना चाहिये न कि आर्थिक लाभ। जब हम अधिक-से-अधिक सेवा करना चाहेंगे तो सेवाके लिये हमें सदैव अधिक-से-अधिक व्यापक क्षेत्र मिलता रहेगा। वहाँ कभी भी बेकारी या बेरोजगारी-जैसे शब्द सुननेको नहीं मिलेंगे। जब हम अर्थसंचय करना चाहेंगे तो चाहे कैसी ही आर्थिक व्यवस्था बना लें—कम्यूनिस्ट, समाजवादी, पूँजीवादी, गान्धीवादी—बेकारी वहाँसे जा नहीं सकती। आज हमारे दृष्टिकोणमें कितना परिवर्तन हो गया है। हम धर्मकी, देशकी, जनताकी और ईश्वरकी किसीकी भी सेवा करना नहीं चाहते। बस—अर्थ, अर्थ, अर्थ। चारों ओर यही पुकार है। साहित्यमें भी यही नारा है। समाचार-पत्रोंपर अब यह लिखा जाने लगा है कि हमारा पत्र वही पढ़े जो इसे खरीदकर ले। उधार लेकर न पढ़े। एक पत्र जो बीस भाइयोंकी सेवा कर सकता था, वह केवल एककी ही करे। हम अर्थके लोभमें अपनी सेवा करनेकी शक्तिको पङ्गु करते जा रहे हैं। दोनों दृष्टिकोणोंमें कितना अन्तर है। एक सम्पादक अपने पाठकोंकी संख्या देखता है, दूसरा ग्राहकोंकी। किसी भी पत्रके जैसे-जैसे पाठक बढ़ते हैं, वैसे-ही-वैसे ग्राहक बढ़ते हैं। हमारी नास्तिकता इस चरम सीमापर पहुँच गयी है कि हम व्यापारके सिद्धान्तोंको भी भूलते जा रहे हैं।

Where is the life we have lost in
living ?*
Where is the wisdom we have lost
in knowledge ?

'यह सब तो ठीक है भैया, परंतु इस मार्गपर चलनेके लिये बड़े ईश्वर-विश्वासकी आवश्यकता है।'

'मार्ग यदि ठीक है तो उसके लिये साधन जुटाने चाहिये। ईश्वर-विश्वास ऐसी पूँजी है जिसे हर एक जुटा सकता है।'

'पुरुषार्थ क्या बिल्कुल छोड़ दिया जाय? मेरा आशय है ऐसा पुरुषार्थ जिसपर समाज और राज्यकी मुहर लगी हुई हो।'

'यदि ऐसा पुरुषार्थ न किया जाय तो हम नष्ट हो जायँगे क्या? देखो रम्मी! मानव-जीवनमें सबसे बड़ी महत्त्वपूर्ण घटना हमारा जन्म है; यदि हमारा जन्म ही न हुआ होता तो हम पुरुषार्थ कहाँसे करते?'

'यह ठीक है और वह जन्म हमारे हाथमें नहीं। वह दूसरोंके हाथमें था। मनुष्य अपने भाग्यका विधाता हो सकता है, परंतु अपने जन्मका विधाता नहीं। जैसे मकान दूसरेने बना दिया हो और उसके तोड़ने-फोड़ने और सजानेभरका अधिकार हमें हो।'

रम्मीके पति फिर तन गये। 'आप व्यक्तिगत दृष्टिसे बात कर रहे हैं, समष्टिरूपसे बात कीजिये। यह ठीक है कि मनुष्य अपने भाग्यका विधाता नहीं, पुरुषार्थकी शक्ति सीमित है; परंतु यह तभी है जब हम व्यक्तिगत दृष्टिसे सोचते हैं। सामूहिक दृष्टिसे सोचिये। हमारा जन्म हमारे माता-पिताके हाथमें था, उनका जन्म उनके माता-पिताके हाथमें और उनका उनके माता-पिताके हाथमें। हम जो कुछ हैं, वह केवल हमारे ही कर्मोंका फल नहीं, बल्कि हमसे पहले होनेवाली हजारों-लाखों पीढ़ियोंके कर्मोंका फल भी उसमें सम्मिलित है। यदि हम ठीक कर्म करेंगे तो उसका अच्छा फल न केवल हमें मिलेगा, बल्कि आनेवाली संततियोंको भी प्राप्त होगा। निरसंदेह हमारा जन्म हमारे हाथमें तो नहीं था, परंतु हमारे माता-पिताके हाथमें था। था तो मनुष्यहीके हाथमें।'

'और सबसे पूर्व किसके हाथमें था? जब सृष्टि ही नहीं थी, तब किसके हाथमें था? जब भूतलपर मनुष्य अवतीर्ण नहीं हुआ था, तब किसके हाथमें था?'

---

* भोगोंके पीछे इतने पड़े कि हमारे सारे भोग नीरस हो उठे। चतुराईके पीछे इतने पड़े कि स्वयं अपने हानि-लाभका भी ज्ञान नहीं रहा—इलियट।

'देखिये आप डार्विनको पढ़िये । पहले हमारी पृथ्वी आगका गोला था । यह धीरे-धीरे ठंडी हुई । फिर वनस्पति उत्पन्न हुए; फिर जलचर, फिर पशु, फिर बंदर, फिर मनुष्य ।'

'तो क्या इस पृथ्वीने ठंडा होनेके लिये कुछ पुरुषार्थ किया था ? किसके पुरुषार्थसे यह ठंडी हुई और किसके पुरुषार्थसे जड धीरे-धीरे मानवरूपमें आ गया । क्या जडने जलचर बननेके लिये और जलचरने पशु और पशुने मनुष्य बननेके लिये कोई पुरुषार्थ किया था ? जिस अदम्य शक्तिने एक जलते हुए गोलेको ठंडा करके बिना हमारे किसी पुरुषार्थके जडको धीरे-धीरे मानव-रूपमें परिवर्तित कर दिया, वह अब क्या मानवको भूल जायगी ? या उससे डरकर भाग जायगी ? वह शक्ति—वे सृष्टि और प्रकृतिके अटल नियम तो अब भी मौजूद हैं । वे नष्ट नहीं हुए और न मनुष्य उनकी पकड़के बाहर ही है ।

Life you may evade but death you shall not.*

(३)

लगभग पाँच वर्ष बीत गये, आज यकायक मैनेजर साहब—भूतपूर्व मैनेजर महोदय बैंक—कुँअरके पास आये। बहुत परेशान और बेचैन !

कुँअरने पूछा, 'कुशल तो है ।'

'मेरी नौकरी फिर छूट गयी । शेष सब कुशल है । पैसा आजकी महँगाईके समयमें बचता ही नहीं । गृहिणीके आभूषण बेच-बेचकर खा रहा हूँ ।'

'सेठजीसे नहीं मिले ?'

'मिला था । सेठजीका दिवाला खिसक गया है । मुझे मालूम था । मैं नौकरीकी खोजमें नहीं गया था, फिर भी बड़े कातर स्वरमें कहने लगे, 'तुमलोगोंकी बड़ी चिन्ता है, तुम्हारा क्या होगा ? बैंक क्या टूटा, मैं भी टूट गया ।'

'मेरा वह तो नहीं टूटा ।' कुँअरने कहा ।

'वह नहीं टूटता । वह नहीं टूटता ।' मैनेजर साहबने कई बार दुहराया ।

सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा

(लेखक—पं० श्रीसुनहरीलालजी शर्मा)

आस्तिक और नास्तिक सभी इस तथ्यको स्वीकार करते हैं कि प्रभुकी सृष्टिमें मानवका स्तर सबसे ऊँचा माना गया है । मानवमें कुछ ऐसी विलक्षणताएँ हैं, जो अन्य प्राणियोंमें नहीं हैं । इन्हींके कारण वह इतर प्राणियोंपर एवं प्रकृतिपर आधिपत्यका दावा कर रहा है । मनुष्य अपने बुद्धियोगसे अक्षुण्ण सुखकी प्राप्ति कर सकता है, इसी सुखप्राप्तिके निमित्त ही सम्पूर्ण जगत् है । वेद, शास्त्र, पुराण, रामायण आदि सब मानव-लक्ष्यका अनेक प्रकारसे प्रतिपादन करते हुए निरतिशय सुखकी ओर इसे ले जाते हैं । अतएव यदि मानव अपने लक्ष्यकी ओर अग्रसर नहीं होता तो वह मानव कहलानेका अधिकारी नहीं ।

मानवको मानवोचित मर्यादाके जीवनदानके लिये गोस्वामी तुलसीदासजीद्वारा मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामके पावन, जगत्-पावन, त्रैलोक्यपावन चारु चरित्रका चित्रण हुआ । रामचरितमानस तथा अन्यान्य ग्रन्थोंके द्वारा उन्होंने सनातनधर्ममें आस्था रखनेकी सुन्दर सीख दी । उनका कथन है कि—

स्वारथ साँच जीव कहुँ एहा ।
मन क्रम बचन राम पद नेहा ॥
सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा ।
जो तनु पाइ भजिअ रघुबीरा ॥

उपर्युक्त अर्धालीमें जो 'स्वारथ साँच' शब्दोंपर विचार किया जाय तो यह विदित होता है कि क्या झूठा स्वार्थ भी होता है ? तो उत्तर यह है कि धनधान्य भोग-ऐश्वर्य आदि सब ऐसे ही स्वार्थ हैं; क्योंकि इनसे

---

* जीवनभर तुम अपने ऊपर गर्व कर सकते हो; परंतु मृत्युके समय तुम्हें अवश्य अनुभव होगा कि तुमसे भी बड़ी कोई सत्ता है ।—इलियट

जीवका कल्याण नहीं होता वरं इनके कारण भवमें भ्रमण करना पड़ता है। सच्चा स्वार्थ वही है, जो भवबन्धनको सदाके लिये काट दे और जिससे भगवच्चरणारविन्दमें प्रेम हो जाय। यही परम परमार्थ भी है—

सखा परम परमारथ एहू। मन क्रम बचन राम पद नेहू॥

इसीलिये नीचेकी अर्धालीमें कहते हैं—

सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा। जो तन पाइ भजिअ रघुबीरा॥

उपर्युक्त चौपाईका तात्पर्य यह है कि ऐसे शरीरधारी, जो भगवान् श्रीरामके चरणोंमें प्रेम करते हैं, पावनकर्ता हैं, दर्शनीय हैं। उनके दर्शन और स्पर्शसे पाप-ताप नष्ट हो जाते हैं।

ऐसा मानव जिस स्थानपर रहता है, जिस कालमें विचरण करता है, जिन पुरुषोंके बीचमें विचरण करता है—वह स्थान, काल और वे पुरुष भी पवित्र हो जाते हैं।

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था
वसुन्धरा भाग्यवती च धन्या।
स्वर्गे स्थिता ये पितरोऽपि धन्या
येषां कुले वैष्णवनामधेयम्॥

इतना ही नहीं, उनके दर्शन-स्पर्शसे सारी पापराशि ष्ट हो जाती है।

जेहि दरस परस समागमादिक पापरासि नसाइये।

शरीर क्षणभङ्गुर है, पता नहीं किस क्षण मृत्यु हो ाय। इसलिये आलस्य-प्रमादका परित्याग करके जो गवत्-प्राप्तिकी साधनामें प्रवृत्त होता है, वही सच्चा ानव है। मानव-जीवनका एक-एक क्षण अमूल्य है। से आलस्य-प्रमादमें तथा व्यर्थ चर्चामें या क्रियामें खो देना ीवनका बहुत बड़ा दुरुपयोग है।

आज भौतिक विज्ञानकी तिमिरमयी रजनीमें मानवता च्छल पथपर लाठी टेक-टेककर ऊपर चढ़नेकी चेष्टा र रही है। दोनों ओर खाइयाँ हैं और अन्धकारमें पैर िसलनेका डर है। ऐसे समयमें हमें ज्ञानरश्मिकी आवश्यकता है। इसके लिये हमें महापुरुषोंके पदचिह्नोंका अनुसरण करना होगा। मानवताके विकासके लिये हमें समय, शक्ति तथा प्राप्त सामग्रीका सदुपयोग करना आवश्यक है। समयका एक क्षण भी, शक्तिका एक कण भी तथा प्राप्त साधन-सामग्रीका एक अणु भी व्यर्थ नहीं जाना चाहिये।

सुरदुर्लभ मानव-शरीर जिसे प्राप्त हुआ है, वह बड़ा भाग्यशाली जीव है। इस शरीरके समान और कोई शरीर नहीं। चराचर जगत्के जीव यह चाह करते हैं कि उन्हें मानव-शरीर प्राप्त हो जाय तो वे संसारके पाप-तापसे छुटकारा पाकर परम शान्तिको प्राप्त कर लें।

वस्तुतः मानव-शरीरका प्राप्त होना ही कठिन है। अनेकों पुण्योंके फलस्वरूप प्रभुकृपासे इसकी प्राप्ति होती है। इतना होनेपर भी मानव-शरीर क्षणभङ्गुर, नाशवान् तथा रोगग्रस्त होनेके कारण दुःखदायी बन जाता है। इसलिये बुद्धिमान् मनुष्यको इसके नष्ट होनेसे पहले ही परमात्माकी प्राप्तिका उपाय करना चाहिये।

जिस भाँति गङ्गाके प्रवाहसे वह देश तथा भूमि, पातिव्रतके द्वारा स्त्री धन्य होती है, उसी प्रकार रघुवीरपरायण पुरुषके उत्पन्न होनेसे कुल धन्य हो जाता है, एक भी भगवत्परायण भक्त कुलमें उत्पन्न हो गया तो वह जगत्पूज्य तथा सुपुनीत बन जाता है। जिस भाँति अपने धर्ममें अटल रहनेवाला ब्राह्मण जगत्पूज्य होता है, उसी भाँति रघुवीरपरायण कुल भी पूज्य है। जैसे दानसे धन, कर्मयोगसे बुद्धि, सत्सङ्गसे समय तथा द्विजभक्तिसे शूद्र पुनीत और परम पवित्र हो जाता है, उसी प्रकार रामभक्तसे वह कुल, जिसमें वह उत्पन्न होता है, पवित्र हो जाता है। यथा—

तुलसी भगत श्वपच भलो, भजै रैन दिन राम।
ऊँचो कुल केहि काम को जहाँ न हरि को नाम॥

जगद्गुरु श्रीशंकराचार्यने लिखा है—

दुर्लभं त्रयमेतद् वै देवानुग्रहहैतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः॥

मानवता, मोक्षप्राप्तिकी इच्छा और महापुरुषोंका समाश्रय—ये तीन वस्तुएँ भगवत्कृपासे ही मिलती हैं। इसलिये मानव-शरीरसे हमें भगवान्को प्राप्त करनेका प्रयत्न करना है। मनुष्य-जीवन निरुद्देश्य नहीं है। इसका यही एक महान् लक्ष्य है जिसे प्राप्त करनेमें ही मानव-जीवनकी सफलता है।

हृदयमें रामभक्तिका सूर्योदय होते ही हमारे मनोविकारोंका, हमारी कामनाओं और वासनाओंका अन्धकार देखते-ही-देखते छूमंतर हो जाता है। जीवनके समस्त दुर्गुण दूर हो जाते हैं और अनायास ही सब सद्गुणोंका हमारे हृदयमें उदय हो उठता है। गोस्वामीजीके शब्दोंमें भगवान् श्रीराम कहते हैं—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं।
जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

यहाँतक कि भगवद्भक्तके लिये जड प्रकृति भी आनन्द देनेवाली बन जाया करती है।

किएँ जाहिं छाया जलद सुखद बहइ बर बात।
तस मग भयउ न राम कहुँ जस भा भरतहि जात॥

रामभक्तकी सेवा साक्षात् भगवान्की पूजा है; क्योंकि संसारका प्रत्येक प्राणी इस विराट् भगवान्का अंश है। भगवान् जब समस्त प्राणियोंमें सदा वर्तमान हैं, तब सबकी पूजा, सबको सुख पहुँचाना ही भगवान्की पूजा है। इसी प्रकार किसी भी प्राणीसे द्रोह करना भगवान्से ही द्रोह करना है।

भगवान्के श्रीचरणोंके प्रेमकी प्राप्तिके लिये लिया जानेवाला एक नाम भी महान् कल्याणकारक होता है। खेतमें डाले गये सभी बीज नहीं जमते। न एक वाटिकामें लगाये गये सभी वृक्ष पल्लवित होते हैं; परंतु एक बार लिया हुआ भगवान्का नाम कभी व्यर्थ नहीं जाता।

गोस्वामीजीके शब्दोंमें—

जाय सो सुभट समर्थ पाइ रन रारि न मंडै।
जाय सो जती कहाय, विषय-वासना न छंडै॥
जाय धनिकु बिनु दान, जाय निर्धन बिनु धर्महि।
जाय सो पंडित पढ़ि पुरान जो रत न सुकर्महि॥
सुत जाय मातु पितु भगति बिनु, तिय सो जाय जेहि पति न हित।
सब जाय दास तुलसी कहै जो न राम पद नेहु नित॥

उस समर्थ वीर योद्धाका जीवन व्यर्थ है, जो संग्रामका अवसर पाकर युद्ध नहीं करता। उस संन्यासीका जीवन व्यर्थ है जो संन्यासी कहलाकर भी विषय-वासनाओंको नहीं छोड़ता। जो धनवान् होकर दान नहीं करता तथा जो निर्धन धर्मका आचरण नहीं करता उसका जीवन व्यर्थ है। जो पण्डित पुराण पढ़कर सत्कर्मोंमें रत नहीं, वह भी व्यर्थ है। माता-पिताकी भक्तिसे रहित पुत्र और पतिहितमें न लगी हुई स्त्रीका जीवन व्यर्थ है। और यदि श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें नित्य निरन्तर प्रेम न हुआ तो इस मनुष्य-जीवनमें सभी कुछ व्यर्थ है।'

बस, यही मानव-जीवनका सार है, सच्ची मानवता है। इसी कार्यको पूरा करनेके लिये मानव-शरीर मिला है। मानव ही सृष्टिका श्रेष्ठ प्राणी है। परंतु हरि-भजनके बिना उसके इस श्रेष्ठत्वका कोई मूल्य नहीं। अतः श्रीगोस्वामीजीका यह कथन सर्वथा यथार्थ है—

सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा।
जो तनु पाइ भजिअ रघुबीरा॥

यही मानव-जीवनका परम कर्तव्य है। इसके सिवा कल्याणका दूसरा कोई मार्ग नहीं।

'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'

* * *

स्वाध्याय

(लेखक—डाक्टर श्रीनरेन्द्रकुमारजी सेठी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, साहित्यरत्न)

चिन्तन और मनन आत्मशक्तिके दो अमर तत्त्व हैं। चिन्तन बाह्य उपकरणको आत्मसात् करता है और मनन आन्तरिक जिज्ञासाको पवित्र दिशाकी ओर उन्मुख करता है। दोनों वृत्तियोंके सम्मिश्रणसे स्वाध्यायका उदय होता है जो सम्पूर्ण मानव-व्यक्तित्वको उन्नयनकी ओर केन्द्रित करनेमें समर्थ है।

भारतीय ऋषियों तथा आराधकोंने स्वाध्यायकी महिमाका सर्वत्र गान किया है। ब्रह्माण्डमें व्याप्त ज्ञानकी गरिमाको केवल स्वाध्यायके द्वारा ही ग्राह्य बनाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त ऊर्ध्वशक्तिकी पावनता तथा व्यापकताका आभास भी स्वाध्यायके द्वारा ही सम्भव है।

स्वाध्याय-तत्त्वमें जिज्ञासुकी स्वाभाविकता और निष्कपट तटस्थताकी ओर संकेत है। इसमें अन्य पुरुष, केन्द्र या वृत्तिकी अपेक्षा नहीं, जो जिज्ञासुकी अध्ययनशीलताको दिशा दे सके। यहाँ तो 'स्व' पर ही सम्पूर्ण चेतना स्थिर है। स्वाध्यायशील मनुष्य अपनी चिन्तन एवं मननवृत्तियोंका स्वयं ही विकास करता है।

स्वाध्याय एक अत्यन्त निर्मल प्रक्रिया है। एकाग्रताके कारण स्वाध्यायरत व्यक्तिमें सात्त्विकताका उदय होता है। तटस्थताके कारण विवेककी प्राप्ति होती है। आत्मिक चेतनाके कारण ज्ञानज्योतिका दिव्य आलोक प्रकट होता है। इस प्रकार स्वाध्यायके प्रत्येक कर्म-सूचक 'अङ्गसे' किसी-न-किसी पुनीत भावनाका आविर्भाव सम्भव है।

स्वाध्यायका मूल उद्देश्य है—ब्रह्मज्ञान और प्राणीकी पारस्परिक दूरीको दूर करना। वे एकाग्रचित्त क्षण महान् और दिव्य हैं, जो सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्माकी असीम शक्ति एवं व्यापकताके आध्यात्मिक साहचर्यमें व्यतीत होते हैं। वे पुण्यक्षण वस्तुतः परम पुनीत और सनातन हैं, जो ब्रह्माण्डमें व्याप्त 'ॐ' के चरम निनाद और उद्घोषके मननमें व्यतीत होते हैं। यही स्वाध्यायका चरम उत्कर्षमय स्वरूप है।

गोपीकी पुकार

आइये बेगि बिहाल भईं हम, लालन ! काल वितीत न कीजियेः
राखिये रीति बड़ेन की बालम ! ऐसी इतै अनरीत न कीजिये।
नीति निबाहिये नेह की प्रीतम ! जो न निबाहिये प्रीत न कीजिये,
हारक हो भवभीति के आप, हमैं बन मैं भयभीत न कीजिये ॥

आँगन आइ सँजोग दियो जिन्हैं ताहि वियोग की आगि न जारौ,
कल्पसमान लगै पल अल्पहू आर्त-उवारनहार ! उबारौ।
पावत आपको सोइ कृपा करि जाकौं कवौं सरकार सकारौ,
धारन कीजै दया उर मैं गिरिधारन प्रान-अधार ! पधारौ ॥

पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री 'राम' साहित्याचार्य

ऐश्वर्य और माधुर्य

(रचयिता—स्वामी श्रीजयरामदेवजी)

धनि-धनि श्रीरघुपतिकी लीला ।
एक ओर ऐस्वर्य अपरिमित, एक ओर माधुर्य रसीला ॥
पूरन ब्रह्म परात्पर बैभव, अगुन अजन्मा बेद बतावै ।
सो प्रभु घुटुरुन चलत अवधमें, मातु पलँगपर चढ़ि नहिं पावै ॥
धरि द्वैरूप प्रगट भोजन करि, दीन्हों रूप बिराट दिखाई ।
कौसल्या कर पकरि चलावति, प्रभु सों नेकु चल्यो नहिं जाई ॥
नाम अजेय बखानत सुर मुनि, कबहूँ कहूँ न जीते जाहीं ।
सो प्रभु खेलत गेंद सखन सँग, बार बार हारत हरषाहीं ॥
जिनकी प्रबल शक्ति सों नाचत, सकल जगत अरु रबि ससि तारे ।
सो प्रभु कौसल्याके आँगन, नाचत निज प्रतिबिम्ब निहारे ॥
जिनके चरन कमल ब्रह्मादिक, ध्यावत निसि-दिन ध्यान न आवैं ।
सो प्रभु गुरु-पद-पदुम पलोटत, प्रेम समेत भाव दरसावैं ॥
जिनको ध्यान धरत मन जय करि, मुनिजन देत मनोज निवारी ।
सो प्रभु कंकन किंकिनि धुनि सुनि, करत मदन भय सुधिहिं बिसारी ॥
महा बिसाल संभु धनु तोरचौ, सब्द भयो जिमि पर्बत टूट्यो ।
सो प्रभु ब्याह समय मिथिलामें, कंपत कर कंकन नहिं छूट्यो ॥
जाकी माया बस सब लोकप, भ्रमत निरंतर जग भ्रम छायो ।
सोई मायापति परमेश्वर, मायामृगके पाछे धायो ॥
आयीं जबहिं सती सिय तनु धरि, लियो तुरत पहिचानि खरारी ।
सो सर्वज्ञ प्रिया बिन बिलपत, पूछत पंछिन बिपिन मझारी ॥
जाको नाम लेत ही छूटत, जमबंधन भवबंधन भारी ।
सो प्रभु रन महँ ब्याल पास बस, भये न आपु सकत निरुवारी ॥
रावनादि राच्छस संहारे, अस्तुति करत संभु सुरपालक ।
ब्रह्म कह्यो आपु मम स्वामी, बोले प्रभु हम नरके बालक ॥
भक्तन हेत ललित लीला करि, अपनो प्रभु ऐस्वर्य छिपावैं ।
किमि बरनै 'जयरामदेव' गुन, गूढ़ चरित मन-ही-मन भावैं ॥

मानव-जीवनकी सफलता

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

मनुष्य-जन्म बड़ा ही दुर्लभ है । इसकी प्राप्ति भगवान्‌की कृपासे भगवान्‌की प्राप्तिके लिये ही होती है । इस रहस्यको न समझकर जीवनके अमूल्य समयको जो लोग भोगोंके भोगनेमें और उनकी प्राप्तिकी चेष्टामें व्यर्थ खो देते हैं, यह उनकी बड़ी भारी भूल है; क्योंकि भोगोंके संग्रहमें और उनके भोगनेमें वस्तुतः सुख नहीं है, अज्ञानसे ही सुखकी प्रतीतिमात्र होती है । भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥

(९ । ३३ वेंका उत्तरार्द्ध)

'इसलिये तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर ।'

अतः साधकको चाहिये कि पूरी तरह सावधान होकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्काम भावसे अपने मनको निरन्तर भगवान्‌के भजन-ध्यानमें लगावे । मृत्युका कोई भरोसा नहीं । इस शरीरका अचानक किसी भी क्षणमें नाश हो सकता है । फिर पश्चात्ताप करनेपर भी कार्यकी कोई सिद्धि नहीं होती । अतः न तो इसे सुखरूप समझकर विषयोंमें फँसना चाहिये और न इसे नित्य समझकर भगवत्प्राप्तिके साधनमें विलम्ब ही करना चाहिये । तत्काल श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे भजन-स्मरणमें निरन्तर लग जाना चाहिये । नहीं तो, बड़ी भारी हानि हो सकती है । श्रुति कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥

(के० उ० २ । ५)

'यदि इस मनुष्य-शरीरमें ही परमात्माको जान लिया तब तो बहुत ठीक है; यदि इस शरीरके रहते-रहते उसे नहीं जान पाया तो महान् विनाश है । यही सोचकर धीरपुरुष प्राणिमात्रमें परमात्माको समझकर इस लोकसे प्रयाण करके अमृतस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं ।'

प्रजाको उपदेश देते समय भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने भी मनुष्य-शरीरकी दुर्लभताका और इसकी महिमाका वर्णन करते हुए कहा है—

बड़े भाग मानुष तनु पावा । सुर दुर्लभ सदग्रंथन्हि गावा ॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा । पाइ न जेहिं परलोक सँवारा ॥

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ ॥

एहि तन कर फल बिषय न भाई । स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई ॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं । पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं ॥

अतएव मनुष्य-शरीरका महत्त्व समझकर साधकको अपने जीवनका सदुपयोग करना चाहिये । गया हुआ समय फिर किसी प्रकार भी वापस नहीं आ सकता ।

जो लोग काल, प्रारब्धकर्म और ईश्वरपर दोष लगाते हैं, उनका वह दोष लगाना सर्वथा मिथ्या है; क्योंकि कलियुगके समान कोई उत्तम काल नहीं है । तुलसीदासजी कहते हैं—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास ।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास ॥

इसी प्रकारसे प्रारब्धके विषयमें भी श्रीतुलसीदासजीने कहा है कि बड़े भाग्यसे मनुष्यका शरीर मिलता है जो कि देवताओंके लिये भी दुर्लभ है । यही बात सत्-शास्त्रोंमें आयी है । और ईश्वरपर दोष लगाना तो बड़ी भारी मूर्खता है ही ।

कबहुँक करि करुना नर देही । देत ईस बिनु हेतु सनेही ॥

अतः संसारसागरसे उद्धार न होनेमें स्वयं अपना ही दोष है और इसका सुधार भी अपने आपको ही करना चाहिये ।

आत्माके उद्धारके लिये भारतभूमि सर्वोत्तम देश है, कलियुगका समय सर्वोत्तम काल है, मनुष्यका शरीर सर्वोत्तम योनि है तथा सत्पुरुषोंका और सत्-शास्त्रोंका सङ्ग ही सर्वोत्तम सङ्ग है । इन सबको पाकर भी जो अपना कल्याण नहीं करता, उसे बहुत भारी पश्चात्ताप करना पड़ेगा । श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ ।
सो कृत निंदक मंद मति आत्माहन गति जाइ ॥

साधकको अपनी दशाका अध्ययन करना चाहिये तथा अपने भूतकालके आचरणोंकी तरफ देखकर निराश और निरुत्साहित नहीं होना चाहिये । नीच-से-नीच प्राणी भी यदि प्रभुपर विश्वास करके उनका आश्रय लेकर भगवान्‌के भजन-स्मरणमें तत्परतासे लग जाय तो उसका भी शीघ्र ही सुधार होकर उद्धार हो सकता है । भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥
(गीता ९ । ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है । अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है ।

'वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परमशान्तिको प्राप्त होता है । हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता ।'

इसलिये साधकको श्रद्धा, विश्वास और प्रेमपूर्वक शीघ्र-से-शीघ्र तत्परताके साथ भगवान्के भजन-चिन्तनमें लग जाना चाहिये । अपने जीवनके एक क्षणको भी व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिये । हर एक काम भगवान्के आज्ञानुसार उनकी ही प्रसन्नताके लिये करना चाहिये । अपने वर्ण, आश्रम और जातिकी हीनताकी ओर ख्याल करके भी साधकको किसी प्रकार निराश नहीं होना चाहिये; क्योंकि मनुष्य चाहे किसी भी वर्ण, आश्रम और जातिका क्यों न हो, प्रभुकी शरण लेकर उस शरणागतिके प्रभावसे उसका शीघ्र उद्धार हो सकता है । जैसा कि श्रीगीताजीमें भगवान्ने स्वयं कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥
(९ । ३२)

'हे अर्जुन ! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परमगतिको ही प्राप्त होते हैं ।' भगवान्की भक्तिमें किसी प्रकारकी कठिनाई या असमर्थता भी नहीं है । हर एक मनुष्य हर एक परिस्थितिमें भक्तिका साधन कर सकता है । भगवान्की भक्तिका मार्ग बहुत ही सुगम है । भगवान्ने स्वयं कहा है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥
(९ । २६-२८)

'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र-पुष्प-फल-जल आदि अर्पण करता है उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ । हे अर्जुन ! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है वह सब मेरे अर्पण कर । इस प्रकार जिस साधनमें समस्त कर्म मुझ भगवान्के अर्पण होते हैं, ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा ।'

इस प्रकार भगवान्की भक्तिकी महत्ता और सुगमताको समझकर साधकको भगवान्से अपना नित्य सम्बन्ध जानकर सर्वथा उनका हो जाना चाहिये और निरन्तर उनका चिन्तन करना चाहिये । निरन्तर उनका चिन्तन करनेसे भगवान्की प्राप्ति सुगम है । भगवान्ने श्रीगीताजीमें कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥
(८ । १४)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ ।'

विचार रखना चाहिये कि भगवान्की भक्तिके समान अपने कल्याणके लिये दूसरा कोई भी उत्तम साधन नहीं है । गीतामें कहा है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥
(६ । ४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है ।' थोड़ा विचार करनेपर मनुष्य

समझ सकता है कि परिस्थिति, अवस्था, पदार्थ आदि जो कुछ प्राप्त है, सभी अनित्य हैं। उनका आधार लेनेवाला, उनको अपना माननेवाला कोई भी मनुष्य साधनमें तत्पर नहीं हो सकता। ये सब भगवान्‌के विधानके अनुसार मिलते और नष्ट होते रहते हैं। प्रभुकी प्रसन्नताके लिये उन पदार्थोंका सदुपयोग करते रहना चाहिये। उनसे सम्बन्ध जोड़कर उनके द्वारा सुख भोगनेकी इच्छा करना पतनका मार्ग है; क्योंकि उनमें सुख है ही नहीं। उनमें जो सुखकी प्रतीति होती है वह भ्रान्तिसे होती है। अतः उनमें ममता-आसक्ति नहीं करनी चाहिये। उनमें ममता और आसक्ति रखनेवाला कोई भी मनुष्य शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। अतः साधकको इनमें राग, द्वेष, ममता, भय और कामनाका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। इन सबका त्याग करके श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवान्‌के भजन-स्मरणमें तत्परताके साथ हमलोगोंको लग जाना चाहिये। जो कुछ भी पदार्थ भगवान्‌की कृपासे मिले हैं, उन सबको हमें केवल भगवान्‌की ही सेवामें लगाना चाहिये। सबकी सेवा भगवान्‌की ही सेवा है। सबको भगवान्‌का स्वरूप समझकर या सबमें भगवान्‌को व्यापक समझकर सबकी सेवा करना भगवान्‌की ही सेवा करना है। गीता अध्याय ७ श्लोक १९ में भगवान्‌ने कहा है कि 'सब मेरे ही स्वरूप हैं।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष, सब कुछ वासुदेव ही है—इस प्रकार मुझको भजता है; वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।' भगवान् सबमें व्यापक हैं। यह बात गीता आदि शास्त्रोंमें जगह-जगह बतलायी गयी है। जैसे गीता अध्याय ८ श्लोक २२वेंमें बताया गया है और गीता अध्याय १८ श्लोक ४६वेंमें भी कहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

इसलिये सबमें भगवान्‌को व्यापक समझकर अपने-अपने कर्त्तव्य कर्मके अनुसार सबकी सेवा, पूजा, आदर-सत्कार करना भगवान्‌की ही पूजा है। अतः सबमें भगवद्-भावसे सबकी सेवा करना बहुत उत्तम साधन है। इसलिये जो कुछ भी किया जाय, स्वार्थसे रहित होकर सबके हितके उद्देश्यसे और निष्काम भावसे करना चाहिये। इसीमें जीवनकी सफलता है।

विषयासक्ति और भगवत्प्रेममें भेद

(स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजके प्रवचनसे)

आसक्ति	प्रीति
१ अनित्य	नित्य
२ उत्पन्न	अनुत्पन्न
३ अविवेकसिद्ध	विवेकसिद्ध
४ घटती, बढ़ती, मिटती है	केवल बढ़ती ही है
५ सीमित	असीम
६ परिच्छिन्न	अपरिच्छिन्न
७ बाँधती है	मुक्त करती है
८ मृत्यु देती है	अमर करती है
९ पराधीन करती है	स्वाधीन करती है
१० एकतामें अनेकता दिखाती है	अनेकतामें एकता दिखाती है
११ रोना	हँसना
१२ अप्रसन्नता	प्रसन्नता
१३ दुःख	सुख
१४ अशान्ति	शान्ति
१५ भयदा	अभयदा
१६ आदि-अन्तमें नीरस	सदा रसवर्द्धिनी
१७ सबसे निरादर कराती है	भगवान्‌से भी आदर कराती है
१८ मलिनता	शुद्धि
१९ चिन्ता देती है	निश्चिन्त करती है
२० पतन करती है	उत्थान
२१ औरोंके लिये भी दुःखद	यह भगवान्‌के लिये भी सुखद
२२ सदोष	निर्दोष
२३ लेना-ही-लेना	देना-ही-देना
२४ अप्राप्त	प्राप्त
२५ कृत्रिम	सहज
२६ जड़ता	चिन्मयता

मुनेशके पुनर्जन्मकी घटनाका विवरण

पैरासाइकोलाजी विभाग, राजस्थान-विश्वविद्यालय, जयपुर पुनर्जन्मकी घटनाओंका अध्ययन एवं संग्रह करता है। पुनर्जन्मकी प्रस्तुत घटना कई विशेषताओंके कारण विशेष उल्लेखनीय है। यह घटना आश्चर्यचकित करनेवाली कई बातोंपर प्रकाश डालती है। बालक मुनेश अपने पूर्व-जन्मके व्यक्तित्व भजनसिंहसे बहुत अधिक समानताएँ रखता है और दावा करता है कि वह वास्तवमें भजनसिंह ही है, मुनेश नहीं। भजनसिंह और उसकी धर्मपत्नीके वैवाहिक जीवनकी गुप्त बातें एवं उसके परम मित्र भगवतीके साथ हुई उसकी बातें बताना और उसकी पत्नीद्वारा बातोंका समर्थन किया जाना इस बातके पक्षमें है कि यह घटना पुनर्जन्मकी ही है।

घटनाका विवरण

अलीगढ़ जिलेके इटर्नी नामक ग्राममें आजसे प्रायः १२ वर्ष पूर्व साँभरसिंहके पुत्र भजनसिंहकी मृत्यु ज्वरके कारण हो गयी थी। उधर चाँदगढी नामक ग्राममें श्रीवीरेन्द्रपालसिंहके परिवारमें एक बालकने जन्म लिया। बालकका नाम मुनेश रक्खा गया। जब वह प्रायः ४ वर्षका था, तो वह अपने साथियोंसे अठ्ठनी नामक ग्रामका जिक्र किया करता था। एक दिन उसे नहलाते समय उसकी माँने उसको एक चाँटा मारा, जिसपर वह बोला 'माँ! मुझे मत मारो। मैं अपने गाँव अठनी चला जाऊँगा। मेरा नाम भजनसिंह है, मैं उस गाँवका रहनेवाला हूँ। मेरे घरपर मेरी माँ, पत्नी, भाई और एक लड़की है। मेरा एक मकान, एक कुआँ, एक बाग और एक खेत है।' उसकी माँने बालककी बातोंपर कोई ध्यान नहीं दिया और मार-पीटकर बालकको शान्त करा दिया। जब वह अठ्ठनी आदि कहता था तो उसके घरवाले उसकी बातोंका कोई अर्थ न समझ सके। उसकी बातोंपर गौर करनेपर पता चला कि उसका मतलब 'इटर्नी' ग्रामसे है। बालक होनेके कारण गाँवका नाम वह सही-सही न बता सका।

बड़े होनेपर वह कहता था कि वह इटर्नी ग्रामका रहनेवाला है। उसका नाम भजनसिंह है। उसकी पत्नी और एक लड़की है। उसके मित्र उसकी बातें सुनकर हँसा करते थे।

चेचकसे ठीक होनेपर एक दिन ग्रामको वह अपनी चाचीके मकानमें एक बिस्तरेपर लेटा था। जब उसके बाबा वहाँ आये, तो वह उनसे बोला—'बाबा! मेरी माँ मुझे मारती है। मैं अपने घर जाऊँगा।' पूछे जानेपर उसने अपने ग्रामका नाम इटर्नी बताया। रातको जब बालकके दूसरे बाबा ठाकुर नेत्रपालसिंह आये, तो बालकने वही बातें उनसे भी कहीं।

उधर नानूके पुलपर नबीपुरनिवासी ठाकुर क्षेत्रपालसिंहको मुनेशने देखा। उस दिन नानूके पुलपर पैंठ भरी हुई थी। कहा जाता है कि बालकने उन्हें तुरंत पहचान लिया और उनका नाम लेकर उन्हें आवाज दी तथा नमस्ते की। संयोगवश अलीगढ़में ठाकुर नेत्रपालसिंह ठाकुर क्षेत्रपालसिंहसे मिले और पूछा कि 'क्या वे भजनसिंह नामक नवयुवकको जानते हैं जो नबीपुरमें प्राइमरीतक पढ़ा था और जो बादमें आगरामें इन्टर तक पढ़ा था?' मुनेशने भजनसिंहके बारेमें जो-जो बातें बतायी थीं, वे सभी बातें उन्होंने श्रीक्षेत्रपालसिंहको बतायीं। उन्होंने यह भी कहा कि उन्हें बालकने नानूके पुलपर पहचाना था।

ठाकुर क्षेत्रपालसिंह कुछ देरतक याद करते रहे और फिर बोले कि उन्हें कुछ-कुछ याद पड़ता है कि एक लड़का भजनसिंह नामका नबीपुरमें प्राइमरीतक पढ़ता था, लेकिन यह नहीं मालूम कि वह इन्टरतक बादमें आगरामें पढ़ा था या नहीं। उन्होंने बताया कि भजनसिंहके जीवनके विषयमें उन्हें और कुछ मालूम नहीं है। उन्होंने वादा किया कि वे अपने गाँव पहुँचकर भजनसिंहके बारेमें और अधिक जानकारी भिजवायेंगे। लेकिन पंचायतके चुनावोंके कारण क्षेत्रपालसिंह ऐसा न कर सके।

इधर ठाकुर नेत्रपालसिंहको किसी निजी कामसे जमालपुर जाना था। जमालपुर जाते हुए मार्गमें इटर्नी ठहरना उन्होंने ठीक समझा। रास्तेमें उन्होंने मुनेशद्वारा कही गयी बातोंकी जाँच करनेका निश्चय किया। चाँदगढीसे चलते समय उनके साथ उनके भतीजेके साले भी थे। हंसायन पहुँचकर उन्होंने इटर्नीका रास्ता पूछा; क्योंकि उन्हें रास्ता मालूम नहीं था। जब वे रास्ता पूछ रहे थे तो उन्हें एक ब्राह्मणका लड़का मिला जो उन्हें गाँव ले गया और उसने भजनसिंहका मकान दिखा दिया; क्योंकि उनके मकानमें कोई पुरुष न था। इसलिये नेत्रपालसिंहको भजनसिंहके भाई थानसिंहकी

दूकानपर जाना पड़ा। नेत्रपालसिंहने थानसिंहसे कहा कि 'उनके परिवारके एक बालकने अपने-आपको भजनसिंह कहा है।'

कुछ दिनोंके बाद भजनसिंहके भाई भूरेसिंह और उसके साले चाँदगढ़ी गये। मुनेशको स्कूलसे बुलवाया गया। उसने तुरंत अपने भाई भूरेसिंहको पहचान लिया और नमस्ते की; लेकिन दूसरे व्यक्तिकी ओर देखा तक नहीं। बालक शोकसे विचलित हो गया और उसकी आँखोंमें आँसू भर आये। भूरेसिंहने अपने सम्बन्धियोंके विषयमें उससे कई प्रश्न पूछे, जिनका मुनेशने सही-सही उत्तर दिया। उसने अपने मित्र भगवतीके विषयमें भी बताया। मुनेशने यह भी बताया कि उसका एक मकान है। भूरेसिंहने नेत्रपालसिंहसे आग्रह किया कि उस बालकको इटर्नी ले जाया जाय।

कुछ दिनोंके बाद भजनसिंहकी पत्नी और उसकी दौरानी डिब्बोदेवी चाँदगढ़ी गयी। वे दोनों घूँघटमें थीं। गाँवके काफी लोग वहाँ जमा थे। मुनेशसे उन दोनों महिलाओंमें अपनी माँको पहचाननेके लिये कहा गया। मुनेशने उत्तर दिया कि 'उसकी माँ उनमें नहीं है; अपितु इशारा करते हुए वह बोला कि 'उनमें उसकी पत्नी और उसकी भाभी हैं।' बालकको दोनों महिलाओंके साथ मकानके अंदर ले जाया गया। भजनसिंहकी पत्नी अयोध्यादेवी मुनेशको एक एकान्त स्थानमें ले गयी और उससे किसी ऐसी गुप्त बात कहनेके लिये कहा जो कि केवल उन दोनोंके बीचमें हुई हो और जिसके बारेमें किसी भी बाहरके या परिवारके लोगोंको पता न हो। मुनेशने बताया कि 'वह जब आगरेसे इन्टरकी परीक्षा देकर आया था तो उसकी माँ और पत्नीमें झगड़ा हुआ था, जिसके फलस्वरूप नाराज होकर उसने 'रई'से प्रहार किया था जिसके कारण रईका ऊपरी भाग टूट गया था और पत्नीके हाथमें निशान पड़ गया था।' अब अयोध्यादेवीको पक्का विश्वास हो गया कि वह वास्तवमें उसका पति ही है।

दूसरे दिन इटर्नी जाते समय दोनों महिलाओंने प्रार्थना की कि बालकको उनके साथ भेज दिया जाय। बालकको अनुमति दे दी गयी। हंसायन पहुँचकर एक ताँगा किया गया, जिसे इटर्नीसे तीन फर्लांग दूर छोड़ दिया गया। बालकसे कहा गया कि 'यदि वह भजनसिंह है तो वह अपने घर ले जाय और रास्ता और मकान पहचान ले।' बालक सीधा घर पहुँच गया और वहाँ पहुँचकर अपनी माँकी गोदमें बैठ गया। वहाँ उसने अट्टा, अपनी किताबें, अलमारी, मकानके कमरे, कुँआ और खेत आदि पहचान लिये। कुछ दिन वहाँ रहनेके बाद वह चाँदगढ़ी लौट आया।

मुनेशने भजनसिंहकी ससुराल जानेका आग्रह किया, लेकिन उसे नहीं जाने दिया गया। कुछ दिनोंके बाद जब उसका भाई भूरेसिंह वहाँ आया तो पूछनेपर मालूम हुआ कि मुनेशद्वारा बताया गया ससुरालका पता ठीक था। मुनेशको भजनसिंहकी ससुराल बिसारा भी ले जाया गया; जहाँपर उसने भजनसिंहकी सास और दूसरे सम्बन्धियोंको तथा गाँवके अन्य लोगोंको पहचाना। भजनसिंहके मरनेके बाद घरमें जो परिवर्तन किये गये थे, उसने उनका भी जिक्र किया।

जब टुडंलासे भजनसिंहकी बहिन आयी तो उसने उसको भी पहचान लिया। मुनेश अब भी अपनी पत्नी और पुत्रीसे घनिष्ठ प्रेम करता है और चाँदगढ़ीको छोड़कर इटर्नी जाना चाहता है।

मुनेश और भजनसिंहके व्यवहारमें आश्चर्यजनक समानताएँ हैं। यद्यपि उसे कई बार पीटा गया और ऐसा कहनेके लिये मना किया गया; किंतु बालकने एक न सुनी। भजनसिंहके भाई भूरेसिंहको देखते ही उसकी आँखोंमें आँसू भर आये और वह उसे पहुँचाने नानूके पुलतक गया। भजनसिंहकी पत्नी और भाभीके आनेपर उसने भावपूर्ण व्यवहार किया और रातको अयोध्यादेवीके साथ सोनेपर उसने वैसी ही चेष्टाएँ कीं, जैसी उसके पति भजनसिंह किया करते थे। पत्नीके इटर्नी लौटते समय वह उसके साथ जानेको तैयार हो गया।

घटनाओंकी खोज

पैरासाइकोलाजी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर पूर्वाग्रह होकर वैज्ञानिक रीतिसे इस समस्याके व्यावहारिक पक्षका अध्ययन कर रहा है। विभाग इस प्रकारकी घटनाओंसे सम्बन्धित मत-मतान्तरोंके प्रति किसी प्रकारका आग्रह नहीं रखता है। अतः फिलहाल इस प्रकारकी घटनाओंको पुनर्जन्मकी घटनाएँ कहना अधिक उपयुक्त न समझकर 'अति-मस्तिष्क स्मृति' (Extra-Cerebral Memory) की घटनाएँ कहना अधिक अच्छा समझता है। जबतक इस प्रकारकी अनेक घटनाओंके

अध्ययनके फलस्वरूप किसी निष्कर्षपर नहीं पहुँचा जाता, तबतक यह कहना कठिन है कि ये घटनाएँ क्यों और कैसे होती हैं। इस समस्याका और भी पूर्णरूपसे अध्ययन किया जाय, इसके लिये जरूरी है कि पाठकोंद्वारा विभागके पास अधिक-से-अधिक घटनाओंकी सूचना भेजी जाय एवं घटनाओंके अध्ययनके लिये पर्याप्त साधन उपलब्ध हों। अतः पाठक महानुभावोंसे निवेदन है कि वे घटनाओंकी सूचना निम्न पतेपर भेजनेका कष्ट करें—

(प्रोफेसर हेमेन्द्र बनर्जी, संचालक, पैरासाइकोलाजी विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर 'राजस्थान')

तुलसीके शब्द

(लेखक—डाक्टर श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू एम्० ए०, डी० लिट्०)

(२)

[गताङ्क पृष्ठ १२२८से आगे]

शब्दोंका एक अपना ही संसार है। उसमें रंग है, रस है, स्मृतियाँ हैं, स्वप्न हैं, उमंगें हैं, भाव-चञ्चलता है, प्यार है, योग है तथा वियोग है। जैसे रत्नहारकी सुन्दरता रत्नोंके रंग या उनके पानी अथवा उनके पहलुओंपर ही निर्भर नहीं करती, बल्कि इस बातपर भी निर्भर करती है कि वे रत्न एक दूसरेकी सुन्दरताको किस प्रकार निखारते हैं, कैसे उनके रंग, उनकी बनावट और उनको जड़नेका ढंग एक दूसरे रत्नकी सौन्दर्य-वृद्धि करता है। वैसे ही शब्दोंका अर्थ-मूल्य समझनेके लिये यह जानना आवश्यक है कि किसने वे शब्द कहे और किस स्थितिमें। उदाहरणार्थ एक छोटा-सा वाक्य लीजिये—एक तीन शब्दोंका वाक्य—'कान्हा नहीं आये।' अगर दोपहरका समय है और नन्दबाबा कहते हैं 'कान्हा नहीं आये' तो बस, यही सीधा-सा अर्थ होगा कि दोपहर हो गया, कान्हा आये नहीं, खैर आते होंगे। अगर रात्रि ढल चली है और कृष्ण पक्ष है और यशोदा रानीके मुँहसे ये शब्द निकले 'कान्हा नहीं आये' तो इनके अर्थमें बेचैनी होगी, चित्तका उद्वेग होगा, घबराहट होगी, माँके दिलकी धड़कन होगी। 'क्या बात है, गोधूलि बेलामें आनेवाले प्यारे कान्हा अभीतक नहीं आये !!' अगर गागर लिये कुँएपर किसी गोपीके मुँहसे ये शब्द निकलें—'कान्हा नहीं आये' तो इसमें इंतजारका मीठा मजा है, जिसमें मग्न होकर, डूबकर, वह भोली गोपी पानी भरना भी भूल गयी !! अगर चाँदनी है, अर्द्धरात्रि निकल चुकी है, कुंजमें गोपी अकेली खड़ी प्रतीक्षा करते-करते थककर आह भरकर बोल उठी, 'कान्हा नहीं आये' तो इसमें प्रतीक्षा अन्त न होनेका दुःख होगा, वियोगकी वेदना होगी, बार-बार विश्वासघात करनेवाले कान्हाके प्रति उलाहना होगा—'आखिरकार कान्हा धोखा दे ही गये, नहीं ही आये।' यदि यमुना-तीरपर श्यामसुन्दरकी प्रतीक्षामें गोपियाँ खड़ी हैं और राधा आती हैं—मुस्कराती हुई—जिसमें नटखटपनकी झलक है और बेचैन गोपियोंकी शिकायतपर राधा मुस्कराकर कहती हैं 'कान्हा नहीं आये' और फिर हँस देती हैं तो इसका अर्थ होगा कि 'कान्हा आयेंगे कैसे ? मैंने उनकी बाँसुरी ऐसी छिपायी है कि लाला ढूँढ़ते-ढूँढ़ते परेशान न हो जायँ तो मेरा नाम राधा नहीं' और अगर पूर्णिमा है, अमृत बरस रहा है, सघन कुंज है, कभी किसी गोपीके गानका स्वर सुनायी देता है, कभी किसी गोपीके मंजीरेके मधुर स्वर और कभी एकदम सब चुप हो जाती हैं और रात्रिका सन्नाटा सबको अपने अंकमें समेट लेता है। बस, श्यामसुन्दरकी प्रतीक्षा है और एक गोपी दौड़ती हुई आती है और कहती है कि, श्याम अन्य गोपियोंके साथ दूसरे कुंजमें रास कर रहे हैं, तब अगर राधाके मुँहसे ये शब्द निकलें 'कान्हा नहीं आये' और यह कहकर वे बेहोश हो जायँ तो इस समयके राधाके इन तीन शब्दोंकी तीव्र भावनाको कौन समझा सकता है ? इनमें विरहकी अति होगी, मानिनीकी मान-हानिका अकथ दुःख, कान्हाके वचन-भङ्गकी निष्ठुर कहानी !!

इस प्रकार हम देखते हैं कि शब्द वे तीन ही हैं परंतु बोलनेवालेकी स्थितिके कारण उनके अर्थमें बड़ा अन्तर पड़ जाता है। इसका विचार मानस-जैसे अद्वितीय काव्यमें रखना आवश्यक है, जहाँ शब्दोंके अर्थ राम-कहानीको वैसे ही रञ्जित करते रहते हैं, जैसे क्षितिजको उषाके रंग।

उदाहरणार्थ सुन्दरकाण्डकी एक अर्धाली ले लीजिये—

कहहु तात केहि भाँति जानकी । रहति करति रच्छा स्वप्रान की ॥

ये वचन रघुनाथजीके हैं । जब—

पवन तनय के चरित सुहाए । जामवंत रघुपतिहि सुनाए ॥

तब पवनसुतकी करनी तो रघुनाथजीको मालूम हो गयी; परंतु सीताजीका हाल जाम्बवन्त नहीं कह सके; क्योंकि जाम्बवन्त स्वयं लंका नहीं गये थे और न उनका साक्षात्कार सीताजीसे हुआ था । सीताजीका आँखों-देखा हाल पवनसुत ही कह सकते थे । इसलिये रघुनाथजीने पवनतनयसे सीताजीका कुशल-समाचार पूछा । परंतु किष्किन्धाकाण्डमें जब विप्ररूप धरकर पवनतनय श्रीराम और लक्ष्मणसे यह जाननेके लिये मिले कि ये 'पुरुष जुगल बल रूप निधाना'—कौन हैं, तब रघुनाथजीने सीताजीके लिये 'बैदेही' शब्दका प्रयोग किया था ।

इहाँ हरी निसिचर बैदेही । बिप्र फिरहिं हम खोजत तेही ॥

लेकिन सुन्दरकाण्डमें सीताजीका कुशल-प्रश्न करते समय श्रीराघवेन्द्रने 'जानकी' शब्द व्यवहार किया । अगर यहाँ भी 'बैदेही' कह देते तो क्या हानि थी ? 'जानकी' का उपयोग यहाँ किस कारणसे हुआ ?

इसका रहस्य समझनेके लिये यह ध्यानमें रखना होगा कि श्रीराघवेन्द्रकी इस समय मानसिक दशा क्या थी ? करुणानिधान प्रभु सीता महारानीका कुशल-प्रश्न कर रहे हैं परंतु इस कुशल-प्रश्नकी भूमिका क्या है ? यह जाननेके लिये हमें किष्किन्धाकाण्ड जाना होगा । जब लक्ष्मणके साथ सुग्रीव रघुनाथजीके पास आये और विनम्रभावसे प्रभुके कार्य-विस्मरणकी क्षमा-याचना की—

तब रघुपति बोले मुसुकाई । तुम्ह प्रिय मोहि भरत सम भाई ॥
अब सोइ जतन करहु मन लाई । जेहि बिधि सीता कै सुधि पाई ॥
एहि बिधि होत बतकही आए बानर जूथ ।
नाना बरन सकल दिसि देखिअ कीस बरूथ ॥
कह सुग्रीव सबहि समुझाई ।
राम काजु अरु मोर निहोरा । बानर जूथ जाहु चहुँ ओरा ॥
जनकसुता कहुँ खोजहु जाई ।...

परंतु इसके बाद कुछ चुने हुए व्यक्तियोंको कपिराजने अपने पास बुलाया—

सुनहु नील अंगद हनुमाना । जामवंत मति धीर सुजाना ॥
सकल सुभट मिलि दच्छिन जाहू ।

जब कपीश उन्हें समझा-बुझा चुके; तब वे—

आयसु मागि चरन सिरु नाई । चले हरषि सुमिरत रघुराई ॥

इन गिने-चुने व्यक्तियोंमेंसे भी प्रभुने पवनतनयको विशेष प्रकारसे निकट बुलाया ।

परसा सीस सरोरुह पानी । कर मुद्रिका दीन्ह जन जानी ॥

और निज 'जन' जानकर ही पवनतनयसे अपने हृदयकी बात कही और सीताजीके लिये गुप्त संदेश भी दिया । और अन्तमें कहा—

बहु प्रकार सीतहि समुझाएहु । कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आएहु ॥

यहाँ दो शब्द ध्यान देने योग्य हैं 'बिरह' और 'बेगि' । श्रीराघवेन्द्र विरही प्रेमीकी लीला कर रहे हैं । प्रियाके विरहमें वे जल रहे हैं—रात-दिन जल रहे हैं । उनका कहना है—

नव तरु किसलय मनहुँ कृसानू । कालनिसा सम निसि ससि भानू ॥
कुबलय बिपिन कुंत बन सरिसा । बारिद तपत तेल जनु बरिसा ॥
जे हित रहे करत तेइ पीरा । उरग स्वास सम त्रिबिध समीरा ॥

इस विरह-प्रज्वलित दशामें वे यही चाहते हैं कि सीताजीकी सुधि लेकर, उन्हें रघुनाथजीका संदेश सुनाकर और इसका उत्तर लेकर पवनसुत जल्दी-से-जल्दी वापस आवें । इसीलिये उन्होंने कहा—

'बेगि तुम्ह आएहु'

प्रियतमाका विरह नटवर श्रीराघवेन्द्रको असह्य हो रहा है ।

उपर्युक्त दूत-प्रेषण-प्रसङ्गमें रघुनाथजीने जनकसुताका 'सीता' नाम ही प्रयोग किया है—'सीता' राम-वल्लभाके अर्थमें । परंतु जब पवनतनय लंकामें सीताजीका पता लगा आये, उनसे साक्षात्कार कर आये, प्रभुकी सहदानी मुद्रिका उन्हें दे आये और सीताजीका संदेशा लाकर रघुनाथजीके सम्मुख उपस्थित हुए, तब करुणानिधानके हृदयमें जनकसुताके प्रति प्रेम उमड़ पड़ा, उनकी प्रियतमाकी याद भड़क उठी, उनका अपना अकथ प्रेम-प्लावित संदेश भेजना याद आया और उन विरह-प्रज्वलित नटवरको याद आयीं 'जानकी' जो थीं—

अतिसय प्रिय करुनानिधान की ॥

जिनसे उनका जनक-वाटिकामें मधुर मिलन हुआ था और जिनके सुमन-वाटिकासे जानेपर—

प्रभु जब जात जानकी जानी। सुख सनेह सोभा गुन खानी॥
परम प्रेममय मृदु मसि कीन्ही। चारु चित्त भीतीं लिखि लीन्ही॥

जो चित्र हृदय-भीतिपर अटल, अमिट और अमर हो गया था। 'जानकी' शब्दमें श्रीराघवेन्द्रके बालपनके प्रेमकी स्मृति है। लंकासे आये पवनतनयको देखकर राघवको अपना प्रेम-संदेश याद आया, प्रियतमा याद आयीं, वह 'सुख सनेह सोभा गुन खानी' याद आयीं जो 'नव रसाल बन बिहरन सीला' थीं, जिनके 'चरन कमल मृदु मंजु' ने प्रेमवश वनके 'कुस कंटक मग काँकर नाना' का तिरस्कार किया था और जिन्हें एक निर्दयी राक्षस हरण कर ले गया और वे रह गयीं—

'बिलपत अति कुररी की नाइ।'

बस, एकदम श्रीराघवेन्द्रके मुखसे 'जानकी' नाम निकला—

कहहु तात केहि भाँति जानकी।

वह जानकी जिन्हें स्वयंवरमें धनुष-भङ्गके कुछ ही क्षण पूर्व रघुनाथजीने अत्यन्त विकल देखा था और उनकी विशेष प्रीति देखकर करुणानिधान पुलकायमान हो गये थे।

अस जियँ जानि जानकी देखी। प्रभु पुलके लखि प्रीति बिसेषी॥

वह जानकी जो राघवके प्रेममें इतनी मग्न थीं कि विरहके डरसे वे अपनी बाँह नहीं हिलने देती थीं।

निज पानि मनि महुँ देखिअति मूरति सुरूपनिधान की।
चालति न भुजबल्ली बिलोकनि बरह भय बस जानकी॥

वह जानकी जिनको भयंकर वनके दोष-गुण समझाकर श्रीराघवेन्द्रने घरपर ही रहनेको कहा था।

'लगे प्रबोधन जानकिहि प्रगटि बिपिन गुन दोष'—

लेकिन जिन्होंने कहा था—

'राखिअ अवध जो अवधि लगि रहत न जनिअहिं प्रान।'

अगर 'जानकी' के स्थानपर 'बैदेही' शब्द होता और अर्धाली यों होती—

तात कहहु कस अहि बैदेही।

तो इसमें वह रस और रंग न आता जो 'जानकी' शब्दके होनेसे इस अर्धालीमें है—

कहहु तात केहि भाँति जानकी।

'जानकी' के तीन अर्थ हैं—(१) जनकसुता, (२) जगजननी और (३) 'अतिसय प्रिय करुनानिधान की।' कहाँ कौन-सा अर्थ उपयुक्त है, वह बोलनेवालेकी मानसिक स्थिति और मनोवैज्ञानिक दशापर निर्भर है। अतएव तुलसी-जैसे अनुपम कलाकारके शब्दको समझनेके लिये उस शब्दकी भाव और अर्थ-परम्पराके साथ-साथ उसको बोलनेवालेकी स्थितिपर, उसके संदर्भपर भी ध्यान देना आवश्यक है।

मुक्त-विचार

क्या मेरी श्वासोंका कोई हिसाब है ?
क्या मेरी क्रियाओंका कोई लेखा है ?
क्या मेरी कामनाओंका कहीं अन्त है ?
क्या मेरी चेष्टाओंकी कोई सीमा है ?
यद्यपि मैं···केवल एक क्षुद्र जीव हूँ।
और वह·······················,
जिसकी श्वासें वायुकी अनन्त लहरियाँ हैं,
जिसकी क्रिया यह चिरन्तन सृष्टि है,
जिसकी इच्छामात्रसे अनेक सृष्टियाँ बनती-मिटती हैं।
जिसकी चेष्टाओंसे कण-कण चेतन है,
उसे कहाँ खोजूँ ?
वह कहाँ है ??
और कहाँ नहीं है वह ???

—प्रवासी

मुँहदिखायी

(लेखक—श्रीब्रजेश भटनागर एम्० ए०)

बरात आ गयी ! मिथिलासे कुमारोंकी बरात लौटकर आ गयी। अयोध्याके शान्त वातावरणमें कोलाहल गूँजा। चेतनाकी लहर फैल गयी । नर-नारी उमड़ पड़े । हर्षका सिन्धु हिलोरें ले उठा । तोरण-पताकाओंसे मुख्य-मुख्य बाजार तथा विशिष्ट द्वार सुशोभित हो गये । वीथियाँ चन्दन-अरगजासे सिञ्चित हो गयीं । भवनोंकी सज्जा अपूर्व थी । ध्वज फहरा रहे थे । माङ्गलिक कलशोंसे गृहद्वारोंकी शोभा विकीर्ण हो रही थी । चारों ओर कलात्मक चौक पूरे गये । राजभवनका श्रृंगार अवर्णनीय था । ऐसा लगता था ऋद्धि-सिद्धि, सुख, ऐश्वर्य और काव्यवर्णित सगुन साकार उमंगसे भरे भव्य प्रासादमें विद्यमान हों ।

नारियाँ अट्टालिकाओंपर चढ़कर झरोखोंसे देखने लगीं । पुष्पोंके थाल भरे सुन्दरियाँ राजपथमें स्वागतको प्रस्तुत हो गयीं । जलपूरित कलश लिये नारियाँ सिंह-द्वारपर बरातकी प्रतीक्षा करने लगीं । विभिन्न वाद्योंका तुमुल मधुर स्वर राजपथको मुखरित करता हुआ आगे बढ़ा ।

'चक्रवर्ती महाराज दशरथकी जय !' 'गुरु भगवान् महर्षि वसिष्ठकी जय !' अवधेशके साथ कुलगुरु वसिष्ठजी रथारूढ़ निकले । मार्गमें पुष्प बिखेरती हुई सुन्दरियाँ चलने लगीं । फिर चारों कुमार अपने चञ्चल तुरंगोंको नचाते हुए आये । चारों कुमारोंकी 'जय'का घोष उठा । नारियोंने ऊपरसे पुष्प बरसाये । प्रसूनमालाओंसे राजकुमार आकण्ठ लद गये । कलश नीचे झुके । मुद्राएँ डालकर वे आगे बढ़े । दास-दासियोंसे घिरी राजवधुओंकी शिविकाएँ आयीं । उत्सुकताकी दृष्टियाँ बिखर गयीं । वधुओंका जयकार गूँजा । प्रासादके समक्ष आकर सब अपने यानोंसे उतर पड़े । माताएँ उल्लासपूरित हृदयसे द्वारपर आकर आरती उतारने लगीं । शिविकाएँ रुक गयीं और साथ ही मचल उठीं वधुओंके सौन्दर्य-सुधाका पान करने लालायित पागल नेत्रोंकी दृष्टियाँ । वृद्धाएँ लोभसंवरण न कर सकीं । वे शिविकाओंके पट उघाड़कर बलैयाँ लेकर बलिहारी जा रही थीं । वधुएँ उतरीं । पुष्प बिखेरती हुई दासियाँ मार्ग-प्रदर्शन करने लगीं । माताओंने आरती उतारी और सब महलमें प्रविष्ट हुए ।

एक विशाल कक्षमें वधुओंके मुख-प्रदर्शनका आयोजन किया गया । माताएँ अपने कल्पतरुको साकार फलान्वित देखकर मुग्ध हो रही थीं । लाड़ली वधुओंके चन्द्रमुख देखनेके लिये वे ज्यों ही प्रस्तुत हुईं, एक उच्चस्वर उल्लसित वातावरणमें निनादित हो उठा । 'ठहरो !' आगे बढ़ते हुए चक्रवर्तीजीने कहा । रानियाँ वहीं जड़वत् हो गयीं ।

'मुख-प्रदर्शन ऐसे न होगा ।'

'तो फिर ?' महारानी कौसल्याने उत्सुकतासे पूछा ।

'वही देख सकेंगी जो दुलारी वधुओंपर अपनी अमूल्य अलभ्य वस्तु न्यौछावर कर सकें ।'

एक समस्या उठ खड़ी हुई । महारानी संकोचमें पड़ गयीं । 'क्या दूँगी अपनी लाड़लीको ? मुझ अकिञ्चनाके पास कुछ भी तो नहीं है ।'

कैकेयी अम्बा आगे बढ़ीं । मैथिलीका अवगुण्ठन उठाकर मस्तकपर चुम्बन अंकित करते हुए कहा—'तुम्हारे श्वशुरने कनकमहल मुझे दिया था । वही आज मैं सहर्ष तुम्हें दे रही हूँ बहू रानी ! सोल्लास जीवनका प्रवेश करो । प्रभु तुम्हें सुख-सौभाग्य दें ।' मैथिलीने चरणोंका स्पर्श किया !

देवी सुमित्राने अपनी वस्तुओंपर अन्तर्दृष्टि डाली । इस अपूर्व-रूपसुधाके समक्ष सभी फीकी लगीं । कोई भी अनुरूप न ठहरी । अकस्मात् एक अलभ्य वस्तुकी स्मृति मस्तिष्कमें कौंध गयी । प्रसन्नताकी रेखा उनके चिन्तातुर मुखपर खिंच गयी । अपने मस्तकसे मणि-माणिक्योंसे निर्मित दिव्य चूड़ामणि उतारकर उन्होंने जानकीका मुख देखा । ममताकी छाप वधूके कपोलोंपर लगाते हुए मस्तकमें चूड़ामणि पहना दी और गद्गद होकर बोलीं—'तुम्हारे श्वशुरने देवासुर-संग्राममें विजयी होकर सौभाग्य-चिह्नके रूपमें यह चूड़ामणि मुझे उपहारमें दी थी, वही तुम्हें देकर कृतकृत्य हो रही हूँ वैदेही !' सीता छोटी माँके चरणोंमें नत हो गयी ।

उधर स्तम्भित-सी कौसल्या अम्बा, खड़ी सोच रही

थीं । 'मैं पाटमहिषी होकर भी निरुपाय हूँ । क्या दूँ अपनी लाड़लीको ? सास बनकर मैं अपनी दुलारी वधूका मुख न देख सकूँगी । हाय री विडम्बना ! नरेश, कैसी बाधा खड़ी कर दी ? मेरे हर्षके सागरमें यह बाँध कैसा बाँध दिया अवधेशने ? उन्हें प्रत्येक वस्तु तुच्छातितुच्छ लग रही थी । नेत्रोंमें आँसू झाँक उठे । कुछ क्षण स्तब्धतामें बीते ।

मैथिली प्रतीक्षामें थी । अब कौसल्या अम्बा मुख देखेंगी । उन्हें आगे बढ़ते न देखकर वह संकुचित हो गयी । वीणा-विनिन्दित स्वरमें जनकनन्दिनीने निवेदन किया—'माँ ! क्या मैं आपके दुलारसे वञ्चित रह जाऊँगी ?'

'महारानी मौन थी । एक अक्षमता उनके मानसको मथ रही थी । पंखकटे पक्षीकी भाँति वे तड़प रही थीं । 'कैसे कहूँ लाड़ली ? सुधाका पात्र मिलनेपर भी मैं पान नहीं कर सकती । कल्पतरु पाकर अभागिन, छायाका स्पर्श नहीं कर सकती । कैसी विवशता है ?' वे विचारोंमें डूबी हुई वैसी ही खड़ी रहीं ।

'आप कुछ न दीजिये माँ ! मुझे सब कुछ मिल गया ।'

'नहीं-नहीं बहूरानी । मैं महाराजकी आज्ञाकी अवज्ञा न कर सकूँगी । मैं अपना अधिकार त्याग सकती हूँ, किंतु हास्यास्पद नहीं बनूँगी ।'

'आप यदि नहीं देखेंगी तो मैं अपना अवगुण्ठन स्वयं उठाती हूँ ।'

वह मन-ही-मन अपने रामसे प्रार्थना कर रही थी । 'अब तुम्हारे हाथ लाज है । मेरे लाला डूबती नैयाको अपनी कृपावल्लीसे तुम्हीं तो पार लगाते हो ! फिर इस समस्याको क्यों नहीं सुलझाते ? तो क्या मुझे सबके समक्ष लज्जित होना पड़ेगा ? तुम्हारी माँ होकर दूसरोंकी दयाकी पात्री बनूँगी ? तुम्हारी जननी बननेका गौरव पाकर भी सबकी दृष्टिमें उपेक्षणीया और दीना-हीना समझी जाऊँगी ? क्या सोचती होगी जानकी ?' उनकी पुतली जलावरण हो गयी ।

'माँ !' मैथिलीने पुकारा ! वह वैसी ही सोचती रही ! 'मुझे माँ मत कह सीता ! यदि मैं माँ होती तो क्या अपने अधिकारसे वञ्चित होती ? तुझे प्रतीक्षाकी घड़ियाँ गिननेका अवसर देती ?' धुँधले नेत्रोंसे उन्होंने अपने चारों ओर देखा । सहसा रामको मन्द-मन्द मुसकाते देख वे मन-ही-मन बुद्बुदा उठीं ! 'मेरे राम ! मेरे राघव ! आओ; जननीकी गौरव-गरिमाकी रक्षा करो ।'

'माँ अम्बे ! जानकीका स्वर सुनायी दिया !

'राघव ! मेरे राम ! मेरे लाल !' माँने करुण स्वरमें पुकारा ।

'माँ, तुम दुखी हो ? इस अवसरपर आँसू ?' राम चरणमें नत थे !

'कुछ नहीं राम !' माँने उन्हें छातीसे लगा लिया । 'अब तुम मिल गये । समस्या हल हो गयी ! गुत्थी सुलझ गयी । नाव मझधारसे पार हो गयी मेरे केवट !'

'क्या कह रही हो अम्ब ?'

'प्रसन्नताकी पराकाष्ठाने मुझे बेसुध कर दिया है । आज तुम्हारी जननी पागल हो रही है राघव !' महारानीकी दृष्टि मैथिलीपर पड़ी । वह घूँघट उठानेको उद्यत हो रही थी । 'ठहर ! मेरी लाड़ली एक क्षण ठहर जा । अभी करती हूँ मुँहदिखायी ! अपनी कामना-लताको निराशाके झोंकेसे मुर्झाने न दूँगी । उपहारमें ऐसी वस्तु दूँगी जो अलभ्य, अमूल्य, अपूर्व और अकल्पनीय होगी । तू निहाल हो उठेगी वैदेही !'

समस्त ममता उँडेलते हुए माँने वात्सल्यभरे स्वरमें पुकारा—'राघवेन्द्र ! मुझे अपना कर दो ।' रामने माँकी आज्ञाका पालन किया । सीताका अवगुण्ठन उठाते हुए कौसल्या अम्बाने कहा, 'तुम्हें माँका हृदय सौंप रही हूँ मैथिली ! मेरे लाड़ले रामसे बढ़कर अलभ्य वस्तु और क्या हो सकती है ? वही आज तुम्हें उपहारमें दे रही हूँ । मेरी थातीका जीवनभर ध्यान रखना ।' सीताके हाथमें रामका हाथ दे दिया । दोनों माँके चरणोंमें गिर पड़े । किंतु माँ-ने दोनोंको बीचमें उठाकर ही हृदयसे लगा लिया और प्रेमविभोर हो गयीं ! उधर हर्षोल्लासके स्निग्ध वातावरणमें नारियोंका मधुर स्वर गूँज रहा था ।

सीताराम मनोहर जोरी । (श्री) दशरथ नन्दन जनक किशोरी ॥

आर्ष सिद्धान्तोंकी उदारता

(लेखक—पं० श्रीगौरीशंकरजी भट्टाचार्य)

वर्तमान युगकी असंस्कृतज्ञ शिक्षित जनताके श्रीमुखसे प्रायः यह अभियोग सुना जाता है कि 'प्राचीन भारतीय आचार्योंके सिद्धान्त और मतवाद सर्वथा अनुदार, संकीर्ण एवं एकदेशीय हैं। जिन विषयोंके प्रति उनका अनुकूल मनोभाव रहा, उनके प्रति उन्होंने श्रद्धा-प्रकाशकी पराकाष्ठा दिखायी है और जिन विषयोंके प्रति उनका प्रतिकूल मनोभाव रहा, उनके प्रति विद्वेष-प्रकाशकी भी हद कर दी है। इस प्रकार उनके अनुशासनोंकी कठोरता अथवा उनमें शिथिलताके अभावके कारण वे सर्वथा अग्राह्य ही हैं।' पर आधुनिकोंकी यह धारणा पूर्णतया निराधार है—यह बात संस्कृत-साहित्यके व्यापक और सूक्ष्म अध्ययनसे भलीभाँति ज्ञात होती है। जो असंस्कृतज्ञ जन पूर्वोक्त मतके पोषक हैं, वे अज्ञतावश ही ऐसा कहते हैं। यदि कोई संस्कृतज्ञ जन भी ऐसा कहें तो समझना पड़ेगा कि आचार्योंके सिद्धान्तोंको समझनेमें उन्होंने अल्पबुद्धिका परिचय दिया है। वर्तमान लेखमें हम पूर्वाचार्योंकी सैद्धान्तिक उदारताका सप्रमाण विवेचन करेंगे।

भारतीय आचार्योंने अहिंसाको सर्वधर्मका मूल कहा है। **'अहिंसा परमो धर्मः'**—इस आठ अक्षरके वाक्यका ज्ञान सम्भवतः भारतवर्षके किसी निरक्षर व्यक्तिको भी है। भारतमें शाकाहारियोंका संख्याधिक्य सम्भवतः इसी वाक्यके प्रभावसे है। भगवान् मनुने कहा है—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
एतत्सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥
(१० । ६३)

अर्थात् अहिंसा, सत्य, अचौर्य, शौच और इन्द्रियसंयम—संक्षेपतः ये पाँच ही सार्ववर्णिक धर्म हैं।

इस मनूक्तिमें हम देखते हैं कि अहिंसाको सार्ववर्णिक धर्मोंमें प्राथमिकता मिली है। भगवान श्रीकृष्णने तो यहाँ-तक कहा है कि—

प्राणिनामवधस्तात सर्वज्यायान्मतो मम ।
अनृतां वा वदेद् वाचं न तु हिंस्यात्कदाचन ॥
(महाभारत, कर्णपर्व ९९ । २३)

अर्थात् 'सर्वविध प्राणियोंका वध न करना, अर्थात् उनके प्रति अहिंसक मनोभावका अवलम्बन करना ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है। भले ही मिथ्याभाषण क्यों न करना पड़े तो भी हिंसा नहीं करनी चाहिये।' जिन श्रीकृष्णने श्रीगीतामें अर्जुनको क्षात्रधर्मका आश्रय लेकर रक्तसे धरतीको सींचनेके लिये पुनः-पुनः प्रेरणा दी थी, वे ही श्रीकृष्ण उसी अर्जुनके सम्मुख पूर्वोक्त सिद्धान्तका व्याख्यान भी कर रहे हैं। हिंसा-अहिंसाका कितना अद्भुत सामञ्जस्य है। महाभारतमें परम धार्मिक महाराज युधिष्ठिर पुनः-पुनः यह खेद प्रकट कर रहे हैं कि क्षत्रियोंके लिये इससे बढ़कर और क्या दुर्भाग्य होगा कि प्राणिवध करना ही उनका वर्णविहित धर्म है। इस प्रकार अहिंसा-वृत्ति आर्यधर्मका मूल तत्त्व है। परंतु इस अहिंसाके सम्बन्धमें भी किसी प्रकारकी भ्रान्तिकी सृष्टि न होने पाये—इस ध्येयसे भगवान् मनु कह रहे हैं—

नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ॥

'आततायीके वध करनेसे किसी भी प्रकारका दोष नहीं लगता।' इस उक्तिसे किसी भी कट्टर अहिंसासेवीकी आँखें अनायास खुल सकती हैं। वस्तुतः सापराध प्राणियोंके प्रति जो हिंसा की जाती है, वह क्रियागत दृष्टिकोणसे हिंसा होते हुए भी नीतिगत दृष्टिकोणसे हिंसा-पदवाच्य नहीं है। सच्ची अहिंसा तो उसे कहा जायगा, जो निरपराध प्राणियोंके प्रति अहैतुकी अनुकम्पाके रूपमें प्रकाशित की जाती है। अहिंसक प्राणियोंकी रक्षारूप अहिंसाकी प्रतिष्ठाके लिये भी कभी-कभी हिंसा की जाती है।

आधुनिक शिक्षितोंका प्रायः ऐसा अभियोग है कि प्राचीन भारतीय आचार्योंने मुख्यतया मुनि-ऋषि, संन्यासी, परिव्राजक आदिकी ही विशेष प्रशंसा की है। उन्होंने अन्य श्रेणीके मनुष्योंकी प्रशंसा करनेमें कार्पण्यका ही परिचय दिया है। अतः उनकी विचार-पद्धति एकदेशीय है। परंतु एक योद्धा, जिसका कर्म या धर्म केवल शोणितसे धरतीको सींचना ही है—उसकी प्रशंसा करनेमें भी वे पीछे नहीं रहे। सुनिये, शुक्रनीतिकार क्या कह रहे हैं—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ ।
परिव्राड योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ॥
मुनिभिर्दीर्घतपसा प्राप्यते यत्पदं महत् ।
युद्धाभिमुखनिहतैः शूरैस्तत् प्रागवाप्यते ॥

(अध्याय ४)

अर्थात् इहलोकमें दो श्रेणीके पुरुष ही सूर्यमण्डलको भेदकर ऊर्ध्वलोकको चले जाते हैं—पहला योगयुक्त परिव्राजक एवं दूसरा रणाङ्गणमें निहत योद्धा । ऋषि-मुनिगण दीर्घकालीन तपस्याके फलस्वरूप जिस महान् पदकी प्राप्ति करते हैं, सम्मुख समरमें निहत शूरवीर क्षणभरमें उसी पदकी प्राप्ति अनायास कर लेते हैं ।

इस उक्तिमें दो बातें ध्यान देने योग्य हैं । एक तो ऋषि-तुल्य उच्चपदकी प्राप्ति उन्हीं योद्धाओंको होगी, जो सम्मुख समरमें निहत हुए हों । रणाङ्गणसे पलायन करते हुए योद्धाकी यदि शत्रुद्वारा हत्या की जाय, तो उसे वीर नहीं, कापुरुषोंकी गति ही प्राप्त होगी । दूसरी बात यह है कि योद्धाओंकी ऋषितुल्यता क्योंकर हो सकती है ? दीर्घकालीन ध्यान, धारणा, यम, नियम, आसन, समाधि, प्राणायाम, प्रत्याहार आदिके सेवनसे जिस उच्चपदकी प्राप्ति होती है, वह पद रणाग्निमें केवल प्राणाहुति देने मात्रसे मिल कैसे सकता है ? इस प्रश्नका संक्षिप्त उत्तर तो यही होगा कि ऋषि-मुनियोंकी समग्र तपस्याका अन्तिम लक्ष्य या फल यही होता है कि शरीरके प्रति अहंभाव और ममत्वका पूर्णतया लोप हो । जो योद्धा शरीरकी आसक्तिको त्यागकर रणाग्निमें प्राणोंकी आहुति देता है, उसकी क्षणभरमें शरीरके प्रति ममता या अहंभावका नाश हो जाता है । अतः समग्र तपस्याका सम्पूर्ण फल उसे क्षणभरमें ही प्राप्त हो जाता है । योद्धाओंके साथ ऋषि-मुनियोंकी तुलना करना और तुलनाके पश्चात् दोनोंको समान ठहराना—यह एक उदाहरण ही आर्ष दृष्टिकोणकी असीम उदारताको सिद्ध करनेके लिये पर्याप्त है । भारतवर्षकी वर्तमान परिस्थितिमें उन युवकोंका ध्यान इन उक्तियोंके प्रति आकृष्ट करना आवश्यक है, जो देशकी सुरक्षाके उद्देश्यसे अपना रुधिर बहानेके लिये कटिबद्ध हैं ।

आधुनिक शिक्षितोंका प्राचीन भारतीय आचार्योंके विरुद्ध सबसे बड़ा अभियोग यह है कि उन लोगोंने अपने अनुशासनोंद्वारा मनुष्य-मनुष्यमें भेदभाव फैलाया है—ऊँच-नीचके मनोभावको बढ़ावा दिया है । यह भी कहा जाता है कि चूँकि शास्त्रप्रणेता जातिसे ब्राह्मण ही थे; अतः वर्णानुसार कर्मविभाजनमें उन्होंने पक्षपातपूर्ण विचारपद्धतिसे ही काम लिया है । ब्राह्मणोंके लिये उत्कृष्ट कर्म विहित किये गये तथा ब्राह्मणेतर वर्णोंके लिये अपकृष्ट कर्म—विशेषतया शूद्रोंके प्रति बड़ा ही अविचार किया गया ।

इस प्रकारके सर्वविध अभियोगोंके उत्तरमें हम यही कहेंगे कि ये उक्तियाँ सर्वथा अज्ञताप्रसूत, निराधार एवं भ्रान्त हैं । वर्णविभाजनानुसार कर्म-विभाजन कर आचार्योंने कदापि ऊँच-नीचके मनोभावको बढ़ावा देनेकी चेष्टा नहीं की । उन्होंने सदैव मनुष्य-मनुष्यमें साम्य-भाव फैलानेके लिये ही अपनी लेखनीका सदुपयोग किया । भगवान् मनु कहते हैं—

ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणम् ।
वैश्यस्य तु तपो वार्ता तपः शूद्रस्य सेवनम् ॥

(११ । २३५)

‘ब्राह्मणका वर्णविहित कर्म ज्ञान (वेदस्वाध्यायादि) ही उसके लिये तप है, क्षत्रियका वर्णविहित कर्म प्रजारक्षण ही तप है, वैश्यका वर्णविहित कर्म वार्ता (कृषि, पशुपालन, वाणिज्य आदि) ही तप है और शूद्रका वर्णविहित कर्म द्विजशुश्रूषा ही उसके लिये तप है ।’

आधुनिक शिक्षितजन यदि इस मनूक्तिपर थोड़ा मनन-चिन्तन करें, तो उनके सर्वविध अभियोगोंका उत्तर स्वतः मिल जायगा । परंतु इन अभियोगोंके उत्तर मिलनेके पश्चात् भी एक प्रश्न बाकी ही रह जाता है कि वर्णविभागानुसार कर्मविभाजन करनेकी सार्थकता क्या है ? जिसकी जिस कर्ममें अभिरुचि हो, वह वही करे, तो आपत्ति क्या ? इसके द्विविध उत्तर हो सकते हैं । पहला, मानवसमाजका कर्मचक्र सुचारुरूपसे चलता रहे, उसमें कोई विकलता न आने पाये, इस उद्देश्यसे वर्णविभाजनानुसार कर्मविभाजन किया गया है । दूसरा यह हो सकता है कि आचार्योंने मानव-मानसका मनोवैज्ञानिक अध्ययन कर ऐसा अनुभव किया हो कि ब्राह्मणोंमें स्वाध्यायादिके

प्रति स्वाभाविक प्रवणता है, क्षत्रियोंमें युद्धादिके प्रति स्वाभाविक प्रवणता है, ठीक उसी प्रकार वैश्य-शूद्रादिमें स्व-स्व वर्णविहित कर्मके प्रति ही स्वाभाविक प्रवणता है। यह सिद्धान्तकी बात है कि मनुष्यकी जिस विषयके प्रति स्वाभाविक प्रवणता रहती है, उसीमें वह अधिकतर सफल हो सकता है, सम्भवतः इसीलिये वर्णविभागानुसार कर्मविभाग किया गया हो। एक बात और है—कर्ममें श्रेष्ठ-निकृष्टकी जो बात कही जाती है, उस विषयमें कहना यह है कि मूलतः सभी कर्म शुचि और निर्दोष हैं—चाहे वह कर्म वेदाध्ययन हो या मल-मूत्र साफ करनेका ही कर्म हो। न्यायका आश्रय लेकर जो भी कर्म किया जाता है, वह सर्वथा शुचि और निर्दोष ही है। इसके विपरीत अन्यायका आश्रय लेकर यदि वेदपाठादि-सदृश उत्कृष्ट कर्म भी किया जाय, तो वह सदोष और अशुचि हो जाता है।

सत्यकी प्रशंसाके लिये भारतीय आचार्योंने अपनी लेखनीसे जितनी मसी (स्याही) का उपयोग किया है उसका यदि एकत्र संग्रह किया गया होता, तो वह सम्भवतः अष्टम समुद्र बन जाता। यहाँ दो-चार उक्तियाँ ही उद्धृत की जा रही हैं। आचार्य भर्तृहरिने कहा है—**'सत्यं चेत्तपसा च किम्।'** अर्थात् यदि कोई मनुष्य सत्यकी रक्षा कर सके, तो उसे और किसी भी प्रकारकी तपस्यासे प्रयोजन है ही नहीं अर्थात् सत्यसे बढ़कर और कोई तपस्या नहीं है। इतिहास-पुराणादिमें हम देखते हैं कि ऋषि-मुनियोंके श्रीमुखसे प्रायः एक वाक्य उचरित हुआ है कि—**'अनृतं नोक्तपूर्वं मे स्वैरेष्वपि कदाचन।'**—अर्थात् हँसी-मजाकमें भी मैंने कदापि मिथ्याभाषण नहीं किया। यह सत्य-प्रेम या अनृत-द्वेष ही ऋषिके ऋषित्व और मुनिके मुनित्वका मूल बीज है। पितृ-सत्यके रक्षणार्थ श्रीरामचन्द्रका राज्यत्याग और वनगमन तो भारतीयोंके लिये शाश्वत प्रेरणाका एक उत्स है। 'सत्यवादी' विशेषणके साथ महाराज युधिष्ठिरका नाम इतना जुड़ गया है कि वे स्वयं सत्यवादिताके रक्तमांसमय मूर्त विग्रहके समान माने जाते हैं।

सत्य या सत्यवादिताकी एवंविध गौरवमयी परम्पराके धारक भारतीय आचार्य ही कह रहे हैं—

अर्थात् 'प्राणसंशय, विवाह एवं धर्म और अर्थकी रक्षाके लिये—यदि प्रयोजन हो—तो सत्यका त्याग कर मिथ्याभाषण भी करना चाहिये।' (महाभारत, शान्तिपर्व १० से १९) थोड़ेसे मिथ्याभाषणसे यदि अपनी या किसी दूसरेकी प्राणरक्षा हो; अथवा पुत्र-कन्याके विवाहके तथा स्वधर्म और अर्थ अर्थात् जीविकाकी रक्षाके लिये यदि कहीं किंचित् मिथ्याभाषण करना पड़े तो वह निर्दोष होता है। महाभारतमें किस अवसरपर सत्यका त्याग कर मिथ्याभाषण करना चाहिये—इसके उदाहरणमें एक छोटी-सी कथा है। किसी समय कौशिक नामके एक तपस्वी ब्राह्मण किसी निर्जन वनमें रहते थे। एक दिन डाकुओंके भयसे कुछ पथिक उसी वनमें आकर छिप गये। तदनन्तर डाकू भी उनका पीछा करते हुए आये और उन्होंने कौशिक ब्राह्मणसे पूछा कि 'वे लोग किधर गये हैं?' सत्यवादी कौशिकने जैसा देखा था, कह दिया। फलतः डाकुओंने पथिकोंका पता लगाकर उनकी हत्या कर डाली। परंतु इस हत्याके दोषका भागी कौशिकको भी होना पड़ा; क्योंकि उनके सत्यभाषणके फलस्वरूप ही पथिक बेचारे मारे गये। अतः यहाँ मिथ्याभाषण ही धर्म था।

भारतवर्षके जो नागरिक यथार्थतः देशप्रेमी हैं, जिनके जीवनका अन्तिम लक्ष्य देशका सर्वात्मक अभ्युदय है, जो अपनी मातृभूमिको प्राणाधिक प्रिय समझते हैं, वे इतना समझ लें कि भारतभूमिकी सर्वाङ्गीण उन्नति तबतक सम्भव नहीं, जबतक देशमें सर्वत्र आर्षविद्याका अधिकाधिक प्रचार-प्रसार न हो। परम्पराओंके प्रति द्वेष, घृणा या उनके त्यागकी भावना सर्वथा विपज्जनक है। परम्पराओंके त्यागद्वारा नहीं, प्रत्युत उनकी रक्षाके द्वारा ही किसी भी देशकी सर्वतोमुखी उन्नति हो सकती है।

* * *

राम-वन-गमन

चले राम बनने वनबासी ।
आज अवधके कण-कणमें है छायी घोर उदासी ॥
प्राण पिताके हैं अकुलाते,
माताके न अश्रु रुक पाते,
परिजन-पुरजन शोक मनाते,
आज राम कानन हैं जाते,
बिलख रहे हैं दास महलके और बावली बन सब दासी ।
चले राम बनने वनबासी ॥ १ ॥

व्यथित सखा-गण हैं पुकारते,
राम ! हमें तुम क्यों बिसारते,
तुम्हें देख हम प्राण पालते,
क्या न भाव यह राम जानते ?
प्रजाजनोंका कौन रहेगा, प्रणतपाल विश्वासी ।
चले राम बनने वनबासी ॥ २ ॥

सूना भवन, महल आँगन है,
चला जा रहा जीवन-धन है,
मिट्टी-सा लगता कंचन है,
म्लान बना केसर-चन्दन है,
रामहीन वन तुल्य अवध है, जहाँ राम वह पावन काशी ।
चले राम बनने वनबासी ॥ ३ ॥

दीप महलका बुझ-बुझ जाता,
है प्रकाश अब स्नेह गँवाता,
कौन पिताको धैर्य बँधाता,
क्षण-क्षण हृदय कराह दबाता,
वचन पिताका एक बन रहा घातक और विनाशी ।
चले राम बनने वनबासी ॥ ४ ॥

गुंजित राम-रामकी वाणी,
दुःखद यह वनवास कहानी,
धीरज भूले योगी ज्ञानी,
मरण तुल्य है प्राणी-प्राणी,
कैसे सुतको भेज रहे वन, दशरथ प्रथित प्रशासी ।
चले राम बनने वनबासी ॥ ५ ॥

चूम रहे पग झुक-झुक तरुवर,
तड़प रहे सरितामें जलचर,
आगे चलते बहकर निर्झर,
चरणोंपर झरनेको झर-झर,
पथसे चुन-चुन ले जाते जन, पद-रज मुक्ति-प्रकाशी ।
चले राम बनने वनबासी ॥ ६ ॥

त्याग अवध उड़ चले विहग-दल,
छाया फैलाये बादल-दल,
राम किये निज मनको निश्चल,
चले दिखाने सत्-आत्मिक बल,
पत्नि-बन्धुने साथ दिया, जिनका यश है अविनाशी ।
चले राम बनने वनबासी ॥ ७ ॥

राम-राम ध्वनि है गुंजारित,
नभमें, पवन-प्रवाह-प्रसारित,
पथमें शिला हुई उद्धारित,
केवट-प्राण सहज निस्तारित,
चित्रकूटमें अभी खोजते, पद-रज पथिक प्रवासी ।
चले राम बनने वनबासी ॥ ८ ॥

पथमें खड़ी गाँवकी गोरी,
छूकर चरण लगाती रोरी,
सीता तुम सुकुमारी गोरी,
वनमें होती नारी-चोरी,
क्यों आयी हो तुम काननमें, राम महलके हैं अधिवासी ?
चले राम बनने वनबासी ॥ ९ ॥

यदि न राम काननमें जाते,
तपसी-योगी वेश बनाते,
तो न धर्मकी लाज बचाते,
राम-राज्य धरतीपर लाते,
रह जाती निराश कितने भक्तोंकी आँखें दर्शन-प्यासी ।
चले राम बनने वनबासी ॥ १० ॥

भाईने बन्धुत्व निभाया,
सीताने पतिव्रत-पद पाया,
तुलसिदासने गुण-गण-गाया,
वाल्मीकिमें विद्-बल आया,
यह वनवास-कहानी है, युग-युग करुण कथा-सी ।
चले राम बनने वनबासी ॥ ११ ॥

—विद्यालंकार श्रीजगन्नाथ मिश्र गौड़ 'कमल' वेदान्तरत्न

पढ़ो, समझो और करो

(१)

'मकरुजको नज़ात नहीं'

(ऋणीकी मुक्ति नहीं)

बात सत्तर वर्षसे कुछ ही कम समयकी है ।

मेरे पिताजी एक दफ्तरमें नौकरी करते थे । अवकाशके बाद कटड़ा चड़तसिंह (अमृतसर) में एक दोस्तके यहाँ चले जाते थे । वह कोरा रेशम फेरनेवाला एक दूकानदार था । उसकी यह दूकान एक चौवारेमें थी, जहाँ उसके और भी कई कारीगर उसके लिये मजदूरीपर रेशम फेरते थे । रेशम फेरनेवालोंको 'नकाद' कहा जाता था और दूकानदारको 'उस्ताकार' कहा जाता था । उस्ताकारका नाम शायद रामरत्न था ।

रामरत्नकी ऊपरकी मंजिलमें जूआ होता था । मेरे पिताजी खुद जूआ नहीं खेलते थे । वे जुआरियोंमें साहूकारा करते थे । टोटेके समय जुआरी उनसे उधार ले लेते थे । दाँव पड़ता था तो एकके बदले दो दे देते थे । अधिक भी दे देते थे । जो दाँव पड़नेपर भी नहीं देते थे, उनसे हमारे पिताजीको ले लेना आता था । वे प्रायः हर एकसे अपनी पाई-पाई अवश्य वसूल कर लेते थे । उनका नाम लाला राजाराम था । शरीर कोई अधिक बना हुआ नहीं था, पर साहस बड़ा था । खाने-पीनेके शौकीन और दिलके दरिया थे । दो-चार चपरगट्टू अपने साथ रखते थे ।

अमृतसरमें महामारी पड़ी और वे मर गये । मैं और मेरा छोटा भाई रामजस उन दिनों बम्बईमें थे ।

हमारी माँ पहले मर चुकी थी । हमारे पिताजीने दूसरी शादी नहीं की थी । हमें हमारी नानीके सुपुर्द कर दिया था । वे हमें लेकर अपने बेटेके पास बम्बई गयी हुई थीं ।

हम सब अमृतसरमें लौट आये और प्रायः स्थायी रूपसे रहने लगे ।

जून-जुलाईका महीना था । सन्-संवत् तो याद नहीं । हम दोनों भाई अभी छोटे-छोटे ही थे । नानीके पास बैठे हुए थे । किसीने दरवाजा खटखटाया । नानीने आवाज दी 'कौन है ?' देखा कड़कती धूपमें एक बहुत बूढ़ा मुसलमान लाठी टेके खड़ा ऊपरकी तरफ देखता हुआ उत्तरकी प्रतीक्षा कर रहा है । उसकी कमर झुकी हुई थी । बाल तमाम सफेद थे ।

आवाजके बदलेमें आवाज सुनकर उसने कहा—'राजारामके बेटे यहीं रहते हैं ?' मेरी नानीने कहा—'हाँ भाई ! क्या बात है ?' वह बोला—'उन्हें लेकर जरा नीचे आ जाइये ।' पहले तो मेरी नानी डरी कि कहीं कोई गुंडा-बदमाश न हो । राजारामसे बदला लेने न आया हो ।

उसने फिर कहा—बेबेजी ! घबरायें नहीं । मैं राजारामका दोस्त हूँ, दुश्मन नहीं ।

मेरी नानी हम दोनोंको लेकर नीचे चली गयी । उसने कहा—बैठ जाइये । हम तीनों थड़ेपर बैठ गये । उसने बांसहरीसे जितने रुपये थे, निकालकर हमारे सामने रख दिये और कहा—'बेबे ! यह रुपये तुम उठा लो । पूरे पच्चीस हैं । इन्हें इन बच्चोंके काममें ले लीजियेगा ।'

मेरी नानीने कहा—'बाबा ! यह रुपये कैसे हैं ?'

वह बोला—'कोई खैरात नहीं, कर्जा है, जो लाला राजारामका देना था ।

मैं जूएमें टोटेके समय उनसे दस-बीस-पचासतक उधार ले लेता था, जब दाँव पड़ता था दे देता था ।

इसी तरह एक बार उनसे पचीस रुपये लिये । मैं बड़ा उचक्का, बदमाश और खूँखार था । रोज किसी-न-किसीसे टक्कर ले लेता था । एक बार एक टक्करमें मेरे हाथों किसीका खून हो गया । मुझे घटनास्थलपर पकड़नेकी किसीकी हिम्मत न पड़ी । मशहूर थानेदार प्रेमसिंह भी मौजूद था । मैं भाग गया । बादमें एक मित्रके धोखा देनेसे, विश्वासघात करनेसे मैं पकड़ा गया और मुझे आजन्म कालेपानीकी सजा हुई । कालेपानीमें जाकर भी मैं गुंडागर्दीसे बाज न आया । वहाँ भी कोई-न-कोई उद्दण्डता कर ही देता । फलतः मुझे माफी एक दिनकी भी न मिली । मैं पूरे बीस साल काटकर अभी पिछली साल ही आया हूँ ।

मैं बहुत बूढ़ा हो गया हूँ । मौतके किनारे हूँ । सोचा, राजारामका कर्जा सिरपर उठाये मरनेसे नज़ात नहीं मिलेगी । मैं मुसलमान हूँ । मेरे कुरआन-शरीफमें लिखा है

कि मकरूजको (कर्जदारको) नजात (मुक्ति) नहीं मिलता ।

मैंने मजदूरी करके धीरे-धीरे ये पचीस रुपये जमा किये हैं । इन्हें उठा लो और बच्चोंसे कहला दो—'बाबा ! मुनाफा माफ किया ।' मेरी नानीने रुपये उठाकर हम दोनोंसे ऐसा ही कहला दिया और बूढ़ा सलाम-दुआ करता खुशी-खुशी चला गया ।

—गुराँदित्ता खन्ना

(२)

आदर्श सहनशीलता

बंगालके प्रसिद्ध विद्वान् श्रीविश्वनाथ शास्त्रीके जीवनसे सम्बन्धित घटना है । एक बार किसी महत्त्वपूर्ण विषयपर दो पक्षोंके विद्वानोंमें शास्त्रार्थ हो रहा था । इनमें एक ओरका नेतृत्व कर रहे थे—श्रीविश्वनाथ शास्त्री ।

दोनों ओरसे अपनी-अपनी समझसे अकाट्य युक्तियाँ दी जा रही थीं । दोनों ओरके पण्डित यही समझ रहे थे कि विजय उनकी ही होगी, परंतु विश्वनाथ शास्त्रीके तर्कोंका खण्डन करना आसान काम नहीं था । आखिर उनके तर्कोंके सामने विपक्षी विद्वान् ठहर नहीं सके । सभी निरुत्तर हो गये । है तो यह दुर्बलता ही, पर होता यही है कि हारनेवाले क्रोधमें भर जाते हैं । अतः जब शास्त्रार्थमें विपक्षियोंको अपनी हार स्पष्ट दिखायी देने लगी, तब उनमेंके एक पण्डितने सूँघनेकी तम्बाकूकी अपनी डिबिया खोली और सारी तम्बाकू श्रीविश्वनाथजीके सिरपर उँड़ेल दी ।

श्रीविश्वनाथजीके स्थानपर अन्य कोई होते तो इस प्रकारके बर्तावको न सहकर लड़ बैठते । लड़ाई होने लगनेपर शास्त्रार्थकी बात छूट जाती और कौन पक्ष हारा, कौन जीता—इसके निर्णयका अवसर ही नहीं रह पाता । पर श्रीविश्वनाथजी बड़े धैर्यवान्, गम्भीर तथा सहिष्णु विद्वान् थे । उन्होंने क्रोधका उत्तर क्रोधसे नहीं दिया । वरं हँसकर तम्बाकू फेंकनेवालेसे कहा—'पण्डितजी ! अबतक तो हम प्रसङ्गवश अन्य विषयोंपर बातचीत कर रहे थे । अब हमें मूल विषयपर आना चाहिये । आपने तम्बाकू फेंककर व्यर्थ ही अपना नुकसान किया ।'

मूल विषयपर वे क्या आते । हार तो चुके थे पहले ही । मौका खोज रहे थे—लड़कर हारसे बचनेका । पर श्रीविश्वनाथजीकी सहिष्णुताने वह अवसर ही नहीं आने दिया । वे सब पानी-पानी हो गये । हार तो गये थे प्रतिभासे ही । अब उनकी सहनशीलतासे तो सर्वथा लज्जित और पराजित हो गये । सबने आदरपूर्वक विश्वनाथजीका अभिवादन किया ।

—प्रो० श्याममनोहर व्यास, एम्० एस-सी०

(३)

मैं घूस नहीं लेता

हमारे मकानके सामने एक वृद्ध रहते थे । वे निवृत्त-जीवन बिताने आये थे । जीवनमें उपयोगी हों, ऐसे बहुत-से अनुभवके प्रसङ्ग उनसे सुननेको मिलते । उन्हींमेंसे एक प्रसङ्ग उन्हींके शब्दोंमें यहाँ उपस्थित किया जा रहा है—

विश्वयुद्धका समय था । मैं कराचीमें अपने बोहरे हिस्सेदारके साथ ठेकेका काम करता था । सरकारी कण्ट्राक्टका आठ लाख रुपयेका काम हमने आरम्भ किया था । इसमें बहुत मुनाफेकी सम्भावना नहीं थी । अवश्य ही अंग्रेज इंजिनियर कुछ रिश्वत लेकर कामको बहुत अच्छा बतला दे तो लाख-डेढ़-लाख रुपये मिलनेकी सम्भावना थी । मैंने और मेरे हिस्सेदारने सलाह करके चौदह हजार रुपये अंग्रेज इंजिनियरको देनेका निश्चय किया ।

एक दिन हम दोनों फलकी टोकरी और चौदह हजार रुपये लेकर अंग्रेज इंजिनियरके मकानपर पहुँचे । औपचारिक बातचीतके बाद 'फलकी टोकरी आपकी भेंटके लिये लाये हैं'—ऐसा हमलोगोंने कहा । उन्होंने टोकरीमेंसे सिर्फ तीन केले लेकर कहा—'बाकीके सारे फल मेरी ओरसे अपने बच्चोंको बाँट दीजियेगा ।' इसके बाद उन्होंने हमारे आनेका कारण पूछा । मैं संकोचमें पड़ गया । बगलमें बैठे हुए अपने हिस्सेदारको मैंने इशारेसे रुपये देनेकी बात समझायी । उसने चौदह हजारका बंडल टेबलपर रखकर कहा—'यह भी थोड़ी-सी आपकी भेंट है, इसे स्वीकार कीजिये ।' और इसके बादके दृश्यको मैं कभी नहीं भूल सका । गोरा इंजिनियर लाल-पीला हो गया और उसने 'रास्कल' तथा 'नॉनसेन्स' कहकर हमारी अभ्यर्थना की तथा चौदह हजारके बंडलको टेबलसे फेंक दिया; फिर तुरंत ही हमें बाहर निकल जानेका आदेश दिया ।

हमलोग अपराधी थे । घबराये हुए थे । अतएव निराशमुखसे रुपये लेकर वापस लौटे । कुछ ही दूर गये

थे कि इंजिनियरका आदमी—'आपको साहब बुला रहे हैं ।' कहकर हमें वापस मकानपर ले गया ।

इस समयका दृश्य पहलेकी अपेक्षा भी विशेष चढ़ा-बढ़ा था । गोरे इंजिनियरने हमसे माफी माँगी और उसका कारण यह बताया कि 'उसने हमलोगोंके साथ अनुचित बर्ताव किया था ।' फिर उसने कहा—'मैं रिश्वत नहीं लेता, मुझे इतनी ही बात आपलोगोंको जनानी थी । इसकी जगह मैं बहुत ही अनुचित बोल गया और आवेशमें सज्जनताको भूल गया ।'

इसके बाद हमलोगोंके साथ ही उसने चाय पिया । फिर बातचीतके दौरानमें कहा—'भाई ! मैं रिश्वत नहीं लेता । मुझे सरकार दो हजार रुपये मासिक देती है । मेरे कुटुम्बके लिये यह रकम बहुत ज्यादा है । जाओ, आपलोग ईमानदारीसे सब काम करो, जरूर सफल होओगे ।' इसके बाद हमलोगोंने विदा ली ।

चौदह हजार रुपयेकी बड़ी रकमको ठुकरा देनेवाले गोरे इंजिनियरने हम-जैसे अपराधियोंके साथ जिस सौजन्य और उदारताका बर्ताव किया, उसे मैं कभी नहीं भूल सकता । (अखण्ड आनन्द)

—भगवतीप्रसाद

(४)

अमोघ ओषधि 'नारायणकवच'

तीन साल पहलेकी बात है । मेरे घुटनेमें अचानक भयानक दर्द होने लगा । मैंने साधारण रोग समझकर ग्रामीण जड़ी-बूटियोंसे प्राथमिक उपचार किया, परंतु दर्द कुछ भी कम नहीं हुआ । वरं उत्तरोत्तर बढ़ने लगा । यहाँतक कि चलने-फिरनेमें लाठीका सहारा लेनेपर भी कठिनता होने लगी । इसके बाद मैं शहरी डाक्टरोंकी शरणमें गया । बहुत-से डाक्टरोंने रोगकी परीक्षा की । किसीने कालान्तरमें कैन्सरकी सम्भावना बतायी तो किसीने हड्डीमें टी० बी० । किसीने एक-डेढ़ साल लगातार इंजेक्शन दिलानेकी सलाह दी तो किसीने पाँव कटवाने तककी राय दी । पचास-साठ इंजेक्शन भी लगातार लगाये गये । परंतु दर्द तो कम हुआ ही नहीं, नये-नये रोगोंने ताण्डव करना शुरू किया । शायद इंजेक्शनकी प्रतिक्रिया थी । कुछ भी हो, अन्ततोगत्वा मैं हताश होकर पड़ा रहने लगा ।

एक दिन मेरे गुरु, जिनसे मैंने व्याकरण आदि पढ़े थे, आये और उन्होंने कहा कि "तुम अब इन सब डाक्टरी प्रपञ्चोंको छोड़कर श्रीमद्भागवत षष्ठ स्कन्धस्थ 'नारायण-कवच'का पाठ करो । भगवान्‌की कृपासे तुम्हें लाभ होगा" इस उपदेशके अनुसार मैंने 'नारायणकवच'का पाठ शुरू किया । यथाशक्ति स्नान-संध्याके बाद एक आवृत्ति पाठ मैं प्रतिदिन करने लगा । क्रमशः रोग भी क्षीण होने लगा । तबसे प्रायः छः महीने बीत गये । आज भी मेरा पाठका नियम चल रहा है और मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ । दर्द किस स्थानमें था, इसका भी पता नहीं है । इसीसे मैं 'कल्याण'के द्वारा सभी भाइयोंसे हाथ जोड़कर प्रार्थना करता हूँ कि वे भी आवश्यक होनेपर इस सर्वभय-व्याधिनाशक 'नारायणकवच'का पाठ करें और परम दयालु परमात्मा नारायणके शरण होकर सारी आधि-व्याधिसे मुक्त हों ।

—भवनाथ ढकाल

(५)

विश्वासका फल

सन् १९२०-२१ की बात है । मैं नापाड ग्रामका निवासी हूँ । नापाड ग्राम आणन्दसे थोड़ी दूरपर बसा हुआ है । उस समय नापाडसे आणन्द आने-जानेके लिये मोटर-बस या किसी दूसरी सवारीकी सुविधा न थी । अच्छी सड़क भी नहीं थी । पगडंडियोंसे अथवा कच्ची सड़कपर बैलगाड़ियोंसे आना-जाना होता था ।

एक बार मैं किसी कामसे नापाड गया था । वहाँसे प्रातः लगभग ९-१० बजे आणन्द लौटते समय, मेरे ही नापाड ग्रामकी वोहरा जातिकी एक विधवा बहिन उरबाई अपने भाईके साथ बैलगाड़ीसे आणन्द आ रही थी । उनका और मेरा साथ हो गया । वे दोनों भाई-बहिन पहुँची हुई उम्रके थे और कमजोर भी ।

अचानक मैंने उरबाईसे पूछा—'क्यों उरबाई ! आणन्द दवा करवाने जा रही हो ?' उरबाईने उत्तर दिया—'नहीं, भाई ! मैं दवाखाने नहीं जा रही हूँ । मैं तो अपने घरका दस्तावेज अपने इस भाईके नाम करवाने जा रही हूँ । इधर मेरा शरीर ठीक नहीं रहता । देहका क्या भरोसा ? मेरे मरनेके बाद मेरे सगे-सम्बन्धी मेरे इस भाईको हैरान न करें, इसलिये पहलेसे पक्का दस्तावेज

करवा देना अच्छा है। कचहरीमें सनाख्त* के लिये मुखियाजीने साथ आनेकी बात कही थी, पर वे न आ सके। दो दिन बाद आनेका वादा किया है। किंतु ये गाड़ीवान भाई गाड़ी लेकर आ गये। इनको मना कैसे करती; इनका तो सारा दिन ही बिगड़ जाता। मैंने सोचा—सनाख्तके लिये—खुदा-सरीखे मालिक हैं,—तो कोई-न-कोई मिल ही जायँगे। आओ भाई, तुम भी इस गाड़ीमें बैठ जाओ। क्यों आणन्द ही जा रहे हो न ?'

मैंने कहा—'हाँ, मुझे आणन्द ही जाना है। चलो, अच्छा साथ मिल गया।' यह कहकर मैं गाड़ीमें सवार हो गया।

उस समय श्रीभाईलाल भाई व्यास नामक एक सज्जन सब-रजिस्ट्रार थे। आणन्दमें रहनेके कारण उनसे मेरा अच्छा परिचय था। मुझे अचानक ईश्वरीय प्रेरणा हुई कि 'इस बाईकी भगवान्‌पर अडिग श्रद्धा है। कहीं भगवान्‌ने ही तो इसके कार्यमें हाथ बँटानेके लिये मुझे यहाँ नहीं भेजा है ? मैं ही इस बाईके साथ कचहरीमें जाकर सनाख्त करके दस्तावेज रजिस्टर्ड करवा दूँ तो क्या हर्ज है ?'

मनमें इस विचारके आते ही मैंने बाईसे कहा—'तुम सनाख्तकी चिन्ता न करना। सब-रजिस्ट्रारके साथ मेरा परिचय है। मैं तुम्हारे साथ चलूँगा और आशा है, भगवान्‌की इच्छासे तुम्हारा काम सरलतासे हो जायगा।' मेरे इस प्रस्तावको सुनते ही उरबाई और उसके भाई आनन्दमें भर गये। उनके चेहरोंपर चिन्तामुक्तिजनित उल्लासकी रेखाएँ उभर आयीं और अचानक उरबाईके मुखसे ये शब्द निकले—'वाह ! अल्लाह कितना दयालु है !'

अन्तमें बैलगाड़ी कचहरी पहुँची। दस्तावेज लिखवाकर सब-रजिस्ट्रार महोदयके सामने पेश किया गया। भगवान्‌की इच्छासे उस दिन दस्तावेज करवानेवाले व्यक्तियोंकी भीड़ भी अधिक न थी। इतनेमें पुकार हुई और हम तीनों सब-रजिस्ट्रारके सामने उपस्थित हुए। मैंने सनाख्त की और दस्तावेज नोट करनेका काम पूरा हो गया।

तदनन्तर सब-रजिस्ट्रारने मुझसे पूछा—'तुम इस बाईके साथ कहाँसे आ गये ? तुम्हें तो अपनी सिलाईके कामसे ही फुरसत नहीं मिलती।' मैंने कहा—'मैं गतकल नापाड गया था। लौटते समय मुझे रास्तेमें यह बाई मिली और इसने मुझे गाड़ीमें बैठा लिया और सब बातें कहीं। मैंने सोचा—बाईका काम पूरा करनेके बाद ही दूकान जाना उचित होगा।'

इसके पश्चात् सब-रजिस्ट्रार साहेबने वृद्धा भाई-बहिनकी कमजोरीकी ओर देखकर कहा—'लल्लूभाई ! तुमने अच्छा काम किया। अब यदि यह बाई आध-पौन घंटा यहाँ और रुक जाय तो इनके दस्तावेजकी नकल भी मैं आज ही अभी करवा दूँ, जिससे नकल लेनेके लिये इन्हें फिर न आना पड़े। खर्च भी बच जाय और काम भी आज ही निपट जाय। देखो न, दोनों कितने अशक्त हैं।'

उन दिनों अबकी तरह दस्तावेजोंकी फोटो लेनेके लिये उन्हें पूना नहीं भेजा जाता था। कचहरीके आदमी ही उनकी नकल कर देते थे। मैंने सब-रजिस्ट्रारकी बात उरबाईसे कही और सुनते ही उसे बड़ा आनन्द हुआ। उसने कहा—'मैं ठहर जाऊँगी' और वह खुदाको याद करने लगी।

आधे घंटेमें ही नकल हो गयी। दस्तावेज मिल गया। दस्तावेज लेते समय दोनों भाई-बहिन सब-रजिस्ट्रारको मूक आशीर्वाद दे रहे थे और सलाम कर रहे थे। दयालु सब-रजिस्ट्रार भी उनकी इन भावनाओंका उत्तर मन-ही-मन नमस्कार करके दे रहे हों, ऐसी उनकी सौम्य मुद्रा थी।

बाहर आनेके बाद सनाख्त करनेके बदले उरबाई मुझे दो रुपये देने लगी। मैंने कहा—'बाई ! मैं सनाख्त करनेके पैसे नहीं लेता। मनुष्यको मनुष्यका काम करना ही चाहिये। फिर, तुम्हारा यह काम तो खुदाने करवाया है।' यह सुनते दोनों भाई-बहिन मुझे अन्तरसे आशीर्वाद देने लगे। सब-रजिस्ट्रारकी दयालुता और बोहरा भाई-बहिनका भगवान्‌के प्रति विश्वास—ये दोनों बातें मुझे आज भी याद आ रही हैं। मेरा अनुमान है कि आधे घंटेमें दस्तावेजकी नकल होकर किसीको मिल जाय—देश-विदेशकी अदालतोंमें ऐसी घटना शायद ही कहीं हुई या होती हो।

—लल्लूभाई पटेल, नापाडवाला

---

* किसी भी दस्तावेजकी रजिस्ट्री करवाते समय सब-रजिस्ट्रार दस्तावेज करने और करवानेवाले दोनोंके किसी परिचित व्यक्तिसे, जिसको सब-रजिस्ट्रार भी स्वयं पहचानते हों, सनाख्त करवा लेनेके बाद ही रजिस्ट्री करते हैं।

(६)

महात्माकी समता

आगरासे कुछ दूरीपर जो इटावा है, वहाँसे एक महात्मा प्रतिवर्ष घूमते हुए शिमला पधारा करते हैं। इस बार भी वे काश्मीर श्रीअमरनाथ-यात्रा जानेसे पूर्व आये थे। उन्होंने बतलाया कि कुछ वर्षों पहलेकी बात है, वे घूमते-घूमते वृन्दावन जा निकले। वहाँसे कुछ ही दूर एक प्रसिद्ध महात्माकी जंगलमें एकान्त कुटिया थी। उनका यह नियम था कि वे प्रतिदिन कुछ साधुओंको भोजन करवाकर फिर स्वयं भोजन किया करते। कई वर्षोंसे यह नियम चला आ रहा था। दैववश वे एक बार कुटियासे बाहर कहीं घूमने गये थे। पीछेसे किसी धूर्तने उनके पीतलके बर्त्तन चुरा लिये। वे जब लौटे तो उन्हें इसका पता लगा। वे पुलिस-थानामें रिपोर्ट करने गये। वहाँके रपट लिखनेवाले मुंशीने पूछा—'क्या बात है?' इन्होंने कहा—'बर्तन चोरी हो गये हैं। आप रपट लिख लें और हो सके तो पता लगा दें।' मुंशीने कहा कि 'बिना कुछ लिये मैं रपट नहीं लिखूँगा। तुम्हारे पास ५) हों तो दे दो, नहीं तो यहाँसे भाग जाओ।' महात्माने कहा—'भाई! हमारे पास रुपये देनेको कहाँसे आये?' मुंशीने उत्तर दिया कि 'आखिर तुमने बर्त्तन भी कहींसे माँगकर ही खरीदे होंगे, फिर किसीसे माँग लेना। चलो, हटो यहाँसे। मुफ्तमें मेरा समय नष्ट न करो। मेरे पास इतना अवकाश नहीं कि मैं तुम्हारी व्यर्थकी बातें सुनता रहूँ।' बेचारे अपना-सा मुँह लेकर वापस लौट आये।

समय व्यतीत होता गया। एक दिन वही मुंशी किसी कार्यसे जहाँ महात्माकी कुटिया थी, उस गाँवमें गया। वहाँ लोगोंसे उन महात्माकी भी चर्चा सुनी। लोगोंने बतलाया कि 'इन महात्माके नाम हर महीने, पता नहीं कहाँसे मनीआर्डर आते हैं और इनका नियम है कि ये कई साधु-महात्माओंको भोजन करवाकर फिर स्वयं खाते हैं। ये न तो गाँवमें कभी भिक्षा करते हैं और न किसीसे एक कौड़ी कभी लेते हैं।' यह सब सुनकर मुंशीके मनमें उत्सुकता उत्पन्न हुई कि 'मैं भी ऐसे महात्माके दर्शन करता चलूँ।' वह कुटियामें गया और उनको देखकर जरा संकोचमें पड़ गया; क्योंकि ये वही थे, जिनकी रपट लिखनेसे उसने इन्कार कर दिया था और पाँच रुपये माँगे थे। वह प्रणाम करके बैठ गया और पूछने लगा कि 'महात्माजी! क्या आपके शिष्यगण हैं जो आपको मनीआर्डरसे रुपये भेजते हैं? नहीं तो यह नित्य साधु-भोजन कैसे चलता है?' महात्माने उत्तर दिया 'भाई! ईश्वर ही सब कुछ करता है। मेरे न तो कोई शिष्य है और न मुझे कोई अन्य व्यक्ति ही मनीआर्डरसे रुपये भेजता है, न मैं मण्डलेश्वर ही हूँ, जो मुझे कहींसे किरायेके रुपये आते हों एवं न मेरा किसी मन्दिरपर ही अधिकार है कि जहाँसे चढ़त-चढ़ावा आता हो।' फिर महात्माजीने कहा—'भाई! तुम इतनी पूछ-ताछ क्यों कर रहे हो? अपना कार्य करके वापस जाओ।' मुंशीने कहा कि 'मुझे आश्चर्य हो रहा है कि आपका यह अन्नपूर्णाका काम कैसे चल रहा है। कृपा करके मेरे संशयको मिटाइये।' उसके हठ करनेपर महात्मा कहने लगे—'भाई! मनीआर्डर मेरे लड़केके यहाँसे आते हैं, जो आजकल सेशन जज है।' यह सुनते ही मुंशी घबराकर बोला—'तो महाराज! आप संन्यासी होनेके पूर्व क्या करते थे?' महात्माने कहा—'मैं सुपरिण्टेण्डेण्ट पुलिस था। मनीआर्डरसे मेरी पेन्शनके रुपये भी आया करते हैं। इसी पूँजीसे महात्माओंकी सेवा होती है।' यह सुनते ही मानो उसके पाँवके नीचेसे जमीन निकल गयी। वह दण्डवत् प्रणाम करके गद्गद स्वरसे बोला—'प्रभो! मुझे क्षमा करना। मेरेसे बड़ी भूल हुई थी, जब मैंने आपकी रपट लिखनेके लिये पाँच रुपये माँगे थे। मेरे-जैसे व्यक्ति तो, जब आप पदपर थे, आपके बूट पालिश करते होंगे। परंतु आपने यह बात, जब रपट लिखाने आये थे, तब, क्यों नहीं बतलायी?' महात्मा कहने लगे 'भाई! मैं पुलिस-कप्तान था तब था। अब तो मैं संन्यासी हूँ, केवल प्रभुका सेवक हूँ। तुमने रपट लिखनेसे इन्कार कर दिया और मैं चुपचाप वापस आ गया।'

भगवान्ने श्रीमद्भगवद्गीतामें संन्यासीके जैसे लक्षण बतलाये हैं, इन महात्मामें ठीक वही दिखायी देते हैं—

(१) जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥
(६ । ७)

'जिसने मन-इन्द्रिय आदिके संघातरूप इस शरीरको अपने वशमें कर लिया है और जो प्रशान्त है,

जिसका अन्तःकरण सदा प्रसन्न रहता है, उस संन्यासीको भली प्रकारसे सर्वत्र परमात्मा प्राप्त है। वह सर्दी-गरमी, सुख-दुःख एवं मान-अपमानमें यानी पूजा और तिरस्कारमें भी (सम हो जाता) है।'

(२) समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥
(१२ । १८)

'जो शत्रु-मित्रमें और मानापमानमें, अर्थात् सत्कार और तिरस्कारमें समान रहता है, एवं शीत-उष्ण और सुख-दुःखमें भी सम भाववाला है तथा सर्वत्र आसक्तिसे रहित हो चुका है।'

(३) मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥
(१४ । २५)

'जो मान और अपमानमें समान तथा मित्र और शत्रु-पक्षके लिये तुल्य है एवं जो सारे आरम्भोंका त्याग करनेवाला है, वह पुरुष 'गुणातीत' कहलाता है।'

पाठकजन! श्रीमद्भगवद्गीतामें कहे हुए इन लक्षणोंकी तुलना करके देखेंगे कि महात्मामें प्रायः ये सब गुण दिखायी देते हैं। कहाँ पुलिसकी कप्तानीका जोम और कहाँ एक मामूली मुंशीके द्वारा अपशब्दसे तिरस्कार किये जानेपर भी शान्त हृदय रहना और चुपचाप चले आना। धन्य हैं ऐसे महात्माजन!

—योगेन्द्रराज भण्डारी बी० ए०

साधनोंकी पवित्रता आवश्यक

एक दिन मैंने देखा, एक नौकर गंदे हाथोंसे प्लेट साफ कर रहा था, किंतु साफ किये प्लेट फिर गंदे हो जाते थे। उसके हाथ जो गंदे थे। × ×

हम भी आदर्शवादके आवरणमें व्यवहार करते हैं परंतु साधनोंमें आदर्शात्मकता नहीं आने देते। उच्च आदर्शोंके और पवित्र साध्योंके लिये साधनोंकी उत्तमता और पवित्रता प्राथमिक आवश्यकता है। जबतक हम साधनोंको नहीं माँज लेते, उपकरणोंको शुद्ध नहीं बना लेते, साध्यमें उत्तमता तथा पवित्रता नहीं आ सकती।

करना यह है कि हम साधन वे ही अपनावें जो स्वरूपतः शुद्ध हों, सर्वतोभावेन पवित्र हों, जिससे हमें परिणामकी शुद्धता—पवित्रताका निश्चय हो जाय। अन्यथा हम साध्यको वाणीसे कितना ही शुद्ध बतलावें, वह शुद्ध नहीं हो सकता। वाणीसे पहले हृदयका शुद्ध होना अपेक्षित है। हृदयके शुद्ध, दिव्य प्रेम-प्रवण होनेसे ही साधन शुद्ध होंगे और तभी सिद्धि भी तद्रूप ही होगी—साध्य भी परम शुद्ध ही होगा, निश्चय ही होगा।

हृदयके भावानुसार ही सारा शरीर परिचालित होता है। अतः उसको शुद्ध रखना आवश्यक है। कर्म चाहे किसी भी दिशामें किये जायँ, उनको प्रेरणा देनेवाली हृदयकी मूलभूत धारणा विशुद्ध होनी चाहिये।

जब हृदय ही कलुषित है, तब बाहरी साधन उज्ज्वल—विशुद्ध कैसे होंगे? और फिर साध्य भी कल्याणस्वरूप कैसे हो सकेगा?

—श्रीगोविन्द शास्त्री, साहित्यरत्न

श्रीहरिः

कल्याण

[भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र]

वर्ष ३८

संवत् २०२०-२०२१ वि०

सन् १९६४ ई०

की

निबन्ध, कविता

तथा

चित्र-सूची

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार] * [प्रकाशक—मोतीलाल जालान

कल्याण-कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

वार्षिक मूल्य रु० ७.५० (सात रुपये पचास नये पैसे) } आजीवन ग्राहक-शुल्क रु० १००)
विदेशोंके लिये रु०१०.०० [१५ शिलिंग] } प्रतिसंख्या ४५ (पैंतालीस नये पैसे)

निबन्ध-सूची

विषय पृष्ठ-संख्या

१–अकारण निन्दा, आलोचना और घृणा मिलनेपर हम क्या करें ? (डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०, विद्याभूषण, दर्शनकेसरी) १२६०
२–अखिलरसामृत-मूर्ति भगवान् श्रीकृष्णका आविर्भाव (श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी-महोत्सवपर गोरखपुरमें हनुमानप्रसाद पोद्दारका प्रवचन) १२२०
३–अद्‌भुत चमत्कारी बजरंग-बाण (डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०, विद्यालंकार, दर्शनकेसरी) ... ९९८
४–अनुगीता और अनासक्ति (डॉ० श्रीकन्हैयालालजी सहल, एम्० ए०) ... १२९३
५–अनुभवके कुछ क्षण (श्रीविश्वेश्वरनारायणजी) १२५७
६–अन्तरके शिवत्वको जाग्रत् और विकसित करें (श्रीराधेश्यामजी) ११४६
७–अपनी सभ्यताके प्रति अनादर (श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा) ८०५
८–अभी कुछ नहीं बिगड़ा (श्रीराजेन्द्रप्रसादजी जैन) १२९४
९–अर्जुनकी दुविधा (अनु०–श्रीबा० रा० बझे, बी० ए०) ९८५
१०–अर्थ या अनर्थ ? (एक त्यागी संतके आदेशानुसार लिखित) ... ८५१
११–अवकाशके समयका सदुपयोग (श्रीअगरचन्दजी नाहटा) १२५१
१२–अवतारोंका कालक्रम (श्रीविश्वम्भरनाथजी द्विवेदी) ८७३
१३–आजके युगकी विशेषता—अर्थ एवं अधिकार (प्राध्यापक श्री जे० पी० पाण्डेय, एम्० एस्-सी०, बी० एड्०, एल्-एल्० बी०, विशारद) ११९०
१४–आज हम किधर बहके जा रहे हैं ? (प्राध्यापक श्री जे० पी० पाण्डेय, एम्० एस्-सी०, बी० एड्०, एल्-एल्० बी०) ... ७४१
१५–आत्महत्या करनेवाले मूर्ख कष्टमय रौरव नरकके कष्ट भोगते हैं (डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, विद्याभूषण, दर्शनकेसरी) १०३२
१६–आत्माका निवास-स्थान हृदय-प्रदेश (श्रद्धेय स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज) ... ११००
१७–आत्मानमुपमां कृत्वा (श्रीरामकृष्ण) ... ७३६
१८–आत्मोद्धारके सरल उपाय (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... ११८१
१९–आदमीका बड़प्पन इस प्रकार नापा जाय ! (डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०, विद्याभूषण, दर्शनकेसरी) ९२०
२०–आध्यात्मिक दृष्टिकोण धारण करनेसे सुख, शान्ति और समृद्धि (डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, विद्याभूषण, दर्शनकेसरी) ... ११९३
२१–आर्ष सिद्धान्तोंकी उदारता (पं० श्रीगौरीशंकरजी भट्टाचार्य) ... १३८७
२२–आश्रम-धर्मका रहस्य (श्रीदयाशंकरजी पाण्डेय, 'हरीश', एम्० ए०, बी० एड्०) ९६६
२३–आसुरी संस्कृतिका प्रभाव (श्रीआचार्य सर्वे) १११३
२४–इच्छा-त्याग (दि० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास) १२२५
२५–इच्छा-त्यागमें ही परम सुख है (स्व० मगनलाल हरिभाई व्यास) ... १३३६
२६–ईश-स्तवन (डॉ० श्रीवसन्तकुमार चट्टोपाध्याय एम्० ए०) १२८१
२७–उत्तरदायी कौन ? (श्रीसुन्दरलालजी बोहरा) १०५६
२८–उदारता तथा विशालताका दर्शन (साधुवेषमें एक पथिक) ११४४
२९–उन्नतिमें घोर बाधक 'ईर्ष्या' (श्रीअगरचन्दजी नाहटा) १०६५
३०–उपनिषदोंकी भावधारा (श्रीचारुचन्द्र चट्टोपाध्याय एम्० ए०) ... ८९४
३१–ॐ क्या है ? (श्रीडाह्या भाई मोती भाई पटेल, बी० एस्-सी०, लंदन) ... १०८२
३२–एक अँगरेज भक्त (श्रीकुबेर भाई) ... १२५४
३३–एक महात्माका प्रसाद (संकलनकर्ता-'माधव') ... ९५६, ११४३, १३३५
३४–कटती हुई जड़ोंकी चुनौती (श्रीरामनाथजी 'सुमन') १११०
३५–कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो (श्रीराजेश्वरप्रसादजी चतुर्वेदी एम्० ए०, बी० एस्-सी०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०) ... १२८३

३६–कम-से-कम आवश्यकता—सुख-शान्तिका सच्चा एवं अनुभूत उपाय (श्रीअगरचन्दजी नाहटा) १२८७
३७–कल्याण ('शिव') ६९४, ७५८, ८२२, ८८६, ९५०, १०१४, १०७८, ११४२, १२०६, १२७०, १३३४
३८–कामके पत्र ··· ११२२, ११६२
३९–काम-क्रोध-मद-लोभ सब नाथ नरकके पंथ (डा० श्रीएल० एन० सक्सेना) ··· ९२६
४०–(श्री) कृष्ण-जन्मस्थान, मथुरा (पं० श्रीदेवधरजी शर्मा, मन्त्री—श्रीकृष्ण-जन्म-स्थान-संघ) ··· १३२०
४१–क्या किसीने आपकी कोई हानि की है (डॉ० श्रीए० डी० हेफ्ले, अमेरिका) ··· १२५८
४२–क्या मांस-मद्य-अंडा-भक्षण-प्रचार भी लोक-कल्याण है ? (श्रीकस्तूरमलजी बाँठिया) ··· ९३१
४३–क्षयरोग और उसकी चिकित्सा (स्वर्गीय डॉ० श्रीकुन्दनलालजी अग्निहोत्री एम्० डी० (लन्दन, मेडिकल आफिसर टी० बी० सेनेटोरियम; प्रेषक—श्रीवीरेन्द्र अग्निहोत्री एम्० ए०, १६, केलाबाग, बरेली) ··· १०६२
४४–गुरुपूजनका पावन पर्व (श्रीगौरीशंकर गुप्त) ११२६
४५–गोपाष्टमी-महोत्सवपर गोरक्षा-राष्ट्रीय सप्ताहका देशव्यापी आयोजन ··· १३२५
४६–गोभक्तिका चमत्कार (श्रीरामेश्वरदयालजी श्रीमाली बी० ए०, साहित्य-विशारद) ··· ८७२
४७–गौ-रहस्य (ठा० श्रीमानसिंहजी के० एस्०) ८६९
४८–घृणाके मनोवैज्ञानिक दुष्परिणाम (पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०, बी० टी०) ··· ··· १३५७
४९–चक्र कैसे थमे ? (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') ··· ··· ९३०
५०–चन्दन बनो (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') ··· ··· ८०२
५१–चिन्तन (आचार्य सर्वे) ··· ७९२
५२–जगदम्बा श्रीसीताजी (श्रीहरेशचन्द्रजी अग्रवाल, एम्० ए०) ··· ८४६, ९०१
५३–जब बैंक टूटा (श्रीराजेन्द्रप्रसादजी जैन) ··· १३६८
५४–जीभपर अमृतका झरना (श्रीरामनाथजी 'सुमन') ··· ··· ११७५
५५–ज्ञानके अमोघ साधन (दि० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास) ··· ··· १०७९
५६–टर्कीमें बालक इस्माइलके पुनर्जन्मकी घटना (प्रोफेसर श्रीहेमेन्द्रनाथ बनर्जी, डाइरेक्टर पैरासाइकोलॉजी-विभाग) ··· १२९०
५७–टूटते हुए घर (श्रीरामनाथजी 'सुमन') ९७७
५८–तन्त्रोपचारका रहस्य (पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०, बी० टी०) ··· १२९५
५९–तम्बाकू या धूम्रपान (श्रीरवीन्द्रजी अग्निहोत्री एम्० ए०, बी० टी०) ··· ८०७
६०–तुम और मैं (महात्मा श्रीसीतारामदास ओंकारनाथजी महाराज) ··· १०१५
६१–तुलसीके ब्रह्म राम (डॉ० श्रीगोपीनाथजी तिवारी एम्० ए०) ··· ··· ९०७
६२–तुलसीके शब्द (डॉ० श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू एम्० ए०, डी० लिट्०) १२२७, १३८२
६३–त्याग, संयम, साधन एवं तपके मूर्तिमान् स्वरूप संत (श्रीसेवारामजी) ··· १००२
६४–त्रिगुण-विजय (श्रीमती डॉ० स्वर्णलता अग्रवाल, एम्० ए०, पी०-एच्० डी०) १३०१
६५–दानवीर दधीचि (डा० श्रीहरिनन्दनजी पाण्डेय) ··· ··· ९७५
६६–दीपावली-पर्व (श्रीरामप्रसादजी सनाढ्य, वेदान्ताचार्य, बी० ए०, एल्० टी०) ··· ११६९
६७–दुर्भिक्षका कारण और निवारण (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ··· १३४९
६८–दैनिक जीवनमें स्वर-विज्ञान (श्रीशशिप्रकाश-जी शर्मा एम्० ए०, बी० कॉम०, विशारद) ··· ८०३, १३२३
६९–धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा (आचार्य श्रीरामप्रतापजी शास्त्री) ··· ९६४
७०–नाम-साधनापर एक दृष्टि (पं० श्रीजयकान्त-जी झा) ··· ··· ८५७
७१–निंदक नियरे राखिये (डॉ० श्रीसुरेशचन्द्रजी गुप्त, एम्० ए०, पी०-एच्० डी०) ··· ९९०
७२–नित्य आदर्श युगपुरुष राम (श्रीपरमेश्वरी-शरणजी वर्मा) ··· ··· १०४९
७३–निदिध्यासन (ब्र० पूज्यपाद श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महात्मा श्रीनथुरामजी शर्मा, अनु०—श्रीसुरेश एम्० भट) ··· ··· ७५९
७४–निर्गुण-निराकार परमात्माकी उपासना (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· ७०८

७५–पढ़ो, समझो और करो ७५२, ८१६, ८८०, ९४४, १००९, १०७२, ११३७, १२००, १२६४, १३२९, १३९१
७६–पण्डित और मूर्ख (आचार्य 'प्रवासी' एम्० ए०) ... १०६७, १२४४
७७–परमार्थ-पत्रावली (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र) ८२३, १०१७, १२१४
७८–परस्पर सहयोग (श्रीगोवर्धनलालजी पुरोहित, एम्० ए०, बी० एड्०) ... ११३६
७९–पाकिस्तानी षड्यन्त्र (श्रीमधुसूदनजी वाजपेयी) ९८४
८०–पुराणोंमें दिव्य उपदेश ... ११३४
८१–प्रगति या अधोगति ... ९९६
८२–फागुनके आम (श्रीगङ्गादत्तजी शास्त्री, साहित्यरत्न) ८६२
८३–फूल बननेके लिये (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') १०८६
८४–ब्रह्मकी सर्वरूपता (श्रीशिवमूर्तिजी) ... १२५६
८५–ब्रह्मवेत्ता पुरुषके लक्षण (ब्र० पूज्यपाद श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महात्मा श्रीनथुरामजी शर्मा, अनुवादक—श्रीसुरेश एम्० भट्ट) ... ९५९
८६–ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या (पं० श्रीदेवदत्तजी मिश्र, काव्य-व्याकरण-सांख्य-स्मृति-तीर्थ) १०४४
८७–ब्राह्मणके लिये त्रिसंध्या परम कर्तव्य (महात्मा श्रीसीताराम ओंकारनाथजी महाराज) १२७८
८८–भक्त कवि जयदेव (श्रीराधाकृष्णजी) ... ७७१
८९–भक्त विभीषणके चरित्रका विकास (डॉ० श्रीगोपीनाथजी तिवारी एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ११०५
९०–भगवन्नामके चमत्कार (डॉ० श्रीगोकुलप्रसादजी त्रिपाठी एम्० ए०, पी-एच्० डी०, एल्० टी०, साहित्यरत्न) ... ११९२
९१–(श्री) भगवन्नाम-जप (नाम-जप-विभाग, कल्याण-कार्यालय, गोरखपुर) ... १३०५
९२–(श्री) भगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना १३२७
९३–भगवान् ही अपने हैं ... ११६८
९४–भयानक पशुवध ! (मन्त्री, भारत गोसेवक-समाज, दिल्ली) ९३६
९५–भागवतकी भूमिका (आचार्य श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय एम्० ए०) ... १२०७
९६–भारतीय ज्यौतिषशास्त्र और भगवान् (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) १०४७
९७–भारतीय राजनीति तबकी और आजकी (श्रीरामनिरीक्षणसिंहजी, एम्० ए०, काव्य-तीर्थ) १३१७
९८–भेड़ियाधसान विज्ञान-प्रवृत्ति (स्वर्गीय श्रीविश्वामित्रजी वर्मा) ९३१
९९–भोजनमें प्रसाद-बुद्धि (संकलयिता—'श्रीमाधव') १०७१
१००–मथुराजीकी यात्राका अनुभव (दि० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास) ... ११५८
१०१–मधुर ... ७१९, ७७०, ८३३, ८९८, ९५८, १०३०, १०८७, ११६०, १२८२, १३४१
१०२–मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् (प्राध्यापक श्रीजगन्नाथप्रसादजी मिश्र एम्० ए०) ... ९१२
१०३–मन जीता–जग जीता (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') १३५८
१०४–मनु और याज्ञवल्क्यकी दृष्टिमें स्त्रियोंका स्थान (आचार्य श्रीचन्द्रभालजी ओझा एम्० ए०) १२४७
१०५–मनुष्यके स्थूल-सूक्ष्म शरीर (श्रीनिरञ्जनदासजी 'धीर') १०३५
१०६–महान् पुरुषोंकी यह विशेषता अपने स्वभावमें विकसित करें (डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०, साहित्यरत्न, विद्याभास्कर) ७७८
१०७–महाभारतके पात्रोंकी सत्यप्रियता (डॉ० श्रीरामसरूपजी एम्० ए०, एम्-एस्-एल्०, पी-एच्० डी०) ... ७३०
१०८–महाभारतमें श्रीकृष्ण-महिमा ... ६९५
१०९–मांस-अंडेका भोजन और चमड़ेका व्यवहार तुरंत त्याग करें ११३३
११०–माँ ! हाथ पकड़ लो (श्रीहरिश्चन्द्रजी अष्ठाना 'प्रेम') ९१५
१११–माता लक्ष्मीजीके कृपापात्र बनकर आर्थिक मुसीबतोंसे यों बचिये (डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, विद्याभूषण, दर्शनकेसरी) ... ७३८
११२–मानव-जीवनकी सफलता (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... १३७७
११३–मानवताके बिखरे मोती (संकलनकर्ता—श्रीश्रीराम माधव चिंगले, एम्० ए०) ... १०५३

११४–मुँह-दिखायी (श्रीब्रह्मेश भटनागर एम्० ए०) ··· १३८५
११५–मुक्त-विचार (प्रवासी) ··· १३८४
११६–मुक्ति जो बन्धन बने उस मुक्तिको ले क्या करूँगा ? (श्रीरामनाथजी 'सुमन') ··· ८३९
११७–मुनेशके पुनर्जन्मकी घटनाका विवरण (प्रोफेसर श्रीहेमेन्द्रनाथ बनर्जी) ··· १३८०
११८–मोक्षका स्वरूप और उसके लिये कर्तव्य (श्रद्धेय स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी महाराज) ७१४
११९–यदि सुख चाहते हो तो (अनन्तश्रीविभूषित ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य श्रीस्वामी कृष्णबोधाश्रमजी महाराजका प्रसाद) ९५१
१२०–यन्त्र-शक्तिके अलौकिक चमत्कार (श्रीअरुण-कुमारजी शर्मा) ··· ९९४
१२१–यान्त्रिक कसाईखाने ! (श्रीरवीन्द्रजी अग्नि-होत्री एम्० ए०) ··· ११२९
१२२–युगधर्म (श्रीश्रीप्रकाशजी दुबे एम्० ए०) ८६०
१२३–(श्री)राधाके तत्त्व-स्वरूप-लीलाका पुण्यस्मरण (श्रीराधा-जन्माष्टमी-महोत्सव (सं० २०२१) पर हनुमानप्रसाद पोद्दारके गोरखपुरमें दो प्रवचन) ··· ··· १२३२
१२४–(श्री) राम-कर-कंज (मानसतत्त्वान्वेषी पं० श्रीरामकुमारदासजी रामायणी) ··· ७६७
१२५–रामचरितमानसकी अन्तःकथाएँ (डॉ० श्रीवागीशदत्तजी पाण्डेय एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ··· ··· ११७८
१२६–(श्री) रामचरितमानसमें श्रीसतीकी अनन्त महिमा (मानसकेसरी श्रीकृपाशंकरजी रामायणी) ··· ··· १०२६
१२७–'राम तें अधिक राम कर दासा'(पं० श्रीसुनहरी-लालजी शर्मा) ··· ··· ७९८
१२८–राष्ट्र-लक्ष्मी (डॉ० श्रीरवीन्द्रजी अग्निहोत्री एम्० ए०, बी० टी०, पी-एच्० डी०) ··· १३०८
१२९–रासपञ्चाध्यायीमें दिव्य प्रेम (कविराज पं० श्रीहरिवक्षजी जोशी, काव्य-सांख्य-स्मृति-तीर्थ) ··· १०२१, १०८९, ११५२
१३०–लोभ रावण और शान्ति सीता (आचार्य श्रीतुलसीजी) ··· ··· १२८०
१३१–लोभ ही दरिद्रता है, इसको दूर कीजिये (स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज) ··· १०५५
१३२–वट-सावित्री अमावस्या (श्रीगौरीशंकरजी गुप्त) ··· ··· ९१९
१३३–वर्तमान दुःखोंके नाशका उपाय और सच्चा विकास ··· ··· ११२७
१३४–वातावरणका भी विचित्र प्रभाव होता है (डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, विद्याभूषण, दर्शनकेसरी) ··· १३११
१३५–वामन और विष्णु (डॉ० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ··· ११४८
१३६–वायुके झोंकेमें दीपक (डॉ० श्रीवि० ए० शणै, बी० एस्-सी०, पी-एच्० डी०) ··· ८६७
१३७–विद्वान् संत-महात्माओंको दान (श्रीरामनिरीक्षणसिंहजी एम्०ए०, काव्यतीर्थ) ११८८
१३८–विषयासक्ति और भगवत्प्रेममें भेद (स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजके प्रवचनसे) ··· १३७९
१३९–वे सब हमें छोड़ जाते हैं, पर यह हमको नहीं छोड़ता ! (डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०, विद्याभूषण, दर्शनकेसरी, साहित्यरत्न) ··· १०९७
१४०–वैशाखके दो महान् दिवस (श्रीगौरीशंकर-जी गुप्त) ··· ··· ८७७
१४१–(श्री) शंकराचार्यका आचार-सिद्धान्त (डॉ० श्रीराममूर्तिजी शर्मा, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, शास्त्री, साहित्यरत्न) ··· ७९०
१४२–शांकर-वेदान्तमें मुक्तिका स्वरूप (डॉ० श्री-राममूर्तिजी शर्मा, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, शास्त्री, साहित्यरत्न) ··· ··· ९६१
१४३–शाश्वत आनन्द और वह कैसे उपलब्ध हो ? (श्रीराधेश्यामजी रस्तोगी) ··· ७८५
१४४–शिक्षामें धर्मनिरपेक्षता या धर्मविमुखता ? (प्राध्यापक श्री जे० पी० पाण्डेय एम्० एस्-सी०, बी० एड०, एल्-एल्० बी०, विशारद) ९८६
१४५–शिव–ज्योतिपुञ्ज एवं आदितत्त्व(डॉ०श्रीनरेन्द्र-कुमारजी सेठी पी-एच्० डी०, एम्० बी० ए०, एम्० ए०, आदि) ··· ७३७
१४६–शोकके क्षणोंमें (श्रीविलियम ए० क्लफ, अमेरिका) ··· ··· १००५
१४७–शैव-उद्गीथ (डॉ० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल, एम्० ए०)··· ··· १०८५
१४८–श्रद्धा और निष्काम भावका रहस्य (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· ८८७

१४९–श्रम-निवारण, शान्ति (दि० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास) … … १२७५
१५०–संक्रामक रोग तथा हवन-यज्ञ (स्व० डॉ० श्रीफुन्दनलालजी अग्निहोत्री, एम्० डी०, लंदन, अनु०—श्रीवीरेन्द्रजी अग्निहोत्री एम्० ए०) … ७४८
१५१–संक्षिप्त वेद-परिचय (एक धर्मशास्त्र-प्रेमी) ८०९
१५२–संस्कार और संस्कृति (श्रीअगरचंदजी नाहटा) … … १३५५
१५३–(श्री)सत्यनारायणव्रत-कथा और उसका महत्त्व (याज्ञिकभूषण पं०श्रीराधाचरणजी शर्मा एम्० ए०, साहित्यरत्न) … १३४५
१५४–(श्री) सत्यनारायणव्रत-माहात्म्य-कथा (पं० श्रीकिशोरीदासजी वाजपेयी) … ९२५
१५५–सत्संग ही स्वधर्म है (पूज्य स्वा० शरणानन्दजी महाराजके प्रवचनके आधारपर; प्रेषक-- श्री'माधव') … … ७०६
१५६–सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय सत्सङ्ग है (श्री-अगरचन्दजी नाहटा) … ९७३
१५७–सबसे भगवद्बुद्धिपूर्वक समान और निष्काम प्रेम करनेसे भगवत्प्राप्ति (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) … ९५२
१५८–समताका महत्त्व (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) … … १२९८
१५९–समय बीतने दीजिये, आपके दुःख स्वयं दूर होंगे (डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, विद्याभूषण, मानस-शास्त्री, दर्शनकेसरी) … … ८३५
१६०–सहानुभूति (श्रीअनन्तविहारीजी 'मृदुल')- १३५९
१६१–साधनोंकी पवित्रता आवश्यक (श्रीगोविन्द शास्त्री, साहित्यरत्न) … १३९६
१६२–सारा समय परमोपयोगी बनानेका साधन (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) … ७६१
१६३–सीधा रूपान्तर (श्रीमाताजी श्रीअरविन्द-आश्रम, पाण्डिचेरी) … … ७४४
१६४–सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा (पं० श्रीसुन्दरीलालजी शर्मा) … १३७२
१६५–स्नेहकी शक्ति सर्वश्रेष्ठ है (श्रीराधेश्यामजी) १२५३
१६६–स्वाध्याय (डाक्टर श्रीनरेन्द्रकुमार सेठी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, साहित्यरत्न) १३७५
१६७–हममें परिवर्तन क्यों नहीं होता ? (श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट) … … ९७१
१६८–हमारा लक्ष्य और साधन (ज्योतिर्विद् श्रीविश्वनाथजी मेहरोत्रा) … ११८५
१६९–हमारा 'ब्राह्मण'-साहित्य (पं० श्रीगंगाप्रसादजी पाण्डेय, एम्० ए०) … १३४२
१७०–हमारी मुक्तिनाथ-यात्रा (श्रद्धेय श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी) … … ७२३, ७८२, ८२१
१७१–हमारी राष्ट्र-व्यवस्थाका एक आदर्श रूप (श्रीगंगाप्रसादजी पाण्डेय एम्० ए०) … ८००
१७२–हमारे जीवनका मानदण्ड—सदाचार (स्वामीजी श्रीकेशवपुरीजी) … १३१५
१७३–हार नहीं मानता (श्रीराधेश्यामजी) … १३६६
१७४–हिंदू-सनातन धर्म (श्रीएल्० एन० मूर्ति) १११५
१७५–हे मानव ! तू अपनी महिमा पहचान (पूज्य स्वामीजी श्रीशरणानन्दजी महाराजके प्रवचनसे; संकलयिता—'माधव') … १२७१

कहानी

१–अर्चावतार (श्री'चक्र') … १३०२
२–आनन्द-मार्ग (श्री'चक्र') … ७२६
३–कर्मफल (श्रीविजयजी 'निर्बाध') … १२५०
४–चिकना घड़ा (श्रीमती बलवीर 'वीर') … ९९१
५–त्याग (श्रीकृष्णगोपालजी माथुर) … ११७२
६–दैहिक साधन (श्री'चक्र') … १०५९
७–पञ्चम पुरुषार्थ (श्री'चक्र') … १२२९
८–पुनर्जन्म (श्री'चक्र') … ८४२
९–भाग्य-भोग (श्री'चक्र') … ९८१
१०–'मैं'की शोध (श्री'चक्र') … ९२७
११–मैं श्राद्ध करूँगा (श्री'चक्र') … ७९४
१२–लक्ष्यवेध (श्री'चक्र') … ११९७
१३–संगठन (श्री 'चक्र')… … १३६१
१४–साधन-सिद्धि (श्री'चक्र') … १११९

कविता

१–अतिथि-सेवक कपोतका बलिदान … ८८५

२-'अन्य-विलक्षण' १२२६
३-अमूल्य मानव-शरीर क्यों खोता है ? ... ७९३
-अर्जुनका विशुद्ध आचरण और उर्वशीका शापरूप वरदान ७५७
५-आजका असुर मानव १११४
६-उद्धवके प्रति (साहित्याचार्य पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम') ... ७५१
७-एक उपालम्भ (प्रो० गोपालजी 'स्वर्णकिरण') ७५०
८-ऐश्वर्य और माधुर्य (स्वामी श्रीजयरामदेवजी) १३७६
९-किसीके कुछ कहनेपर क्रोध आना अपने ही भीतरके मलका उभरकर बाहर निकलना है (डॉ श्रीरामदयालजी भार्गव) ... ८२८
१०-कुलें पवित्र करनेवाले पत्नी-पुत्र ... १११२
११-(श्री)कृष्ण केवल प्रेम-रूप ... १२०४
१२-कौन है ? (गुलशन नवीन) ... ११०९
१३-गोपीकी पुकार (पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम' साहित्याचार्य) ... १३७५
१४-गोमाताके अङ्ग-प्रत्यङ्गमें देवताओंका निवास ९४९
१५-जगत्के जीवन, धन, अधिकार प्रत्यक्ष क्षणभंगुर और दुःखद हैं १३४८
१६-जय श्रीकृष्ण हरे ! (विद्यालङ्कार श्रीजगन्नाथजी मिश्र गौड़ 'कमल' वेदान्तरत्न) ... ९९३
१७-जीवन सफल करो ९००
१८-दिव्य विमान-विराजित भगवान्का ध्यान ... १०७७
१९-दीनकी प्रार्थना ७९७
२०-देवर्षि नारद १२६९
२१-द्वन्द्वातीत जडभरत ११४१
२२-नमस्कार १२०५
२३-निष्काम कर्म जीवन है (विद्यावाचस्पति डॉ० श्रीहरिशंकरजी शर्मा, डी० लिट्०) ... १२९२
२४-नेति-नेति (श्रीकाशीनाथजी बलवंत माचवे) ८२०
२५-पञ्चतत्त्व (विद्यालंकार श्रीजगन्नाथजी मिश्र गौड़ 'कमल', वेदान्तरत्न) ... ७९१
२६-प्रभुका स्वयं अपना दान ८९३
२७-प्रभु-कृपा और प्रभुका मङ्गल कृपा-विधान ... ७६६
८-प्रभुसे प्रार्थना ... ...
-प्रियतम प्रभुकी सहज कृपा ...
३०-बवंडर—सूखे तिनके (प्रो० श्रीगोपालजी 'स्वर्णकिरण') ८३२
३१-भक्तवत्सल भगवान्के द्वारा अश्वोंकी परिचर्या ८२१
३२-भगवान्का हृदयमें नित्यनिवास ... ९९७
३३-भगवान् चन्द्रमौलिसे प्रार्थना ... १०१३
३४-मत्स्यावतार (साहित्याचार्य पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम') ... ८७६
३५-मानवकी पशुता-प्रेतता-पिशाचता ......छठें अंकके आवरणका चौथा पृष्ठ
३६-मानवकी मानवता ..... छठें अंकका चौथा आवरण-पृष्ठ
३७-मानवजीवनका अनुपम लक्ष्य ... १३४०
३८-मृत्यु बनकर तुम्हीं आते हो ... १००८
३९-मेरी चाह १०४६
४०-मेरे प्रभुका स्नेह १०९६
४१-मैं गोपी गोपीनाथकी (पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम' साहित्याचार्य) १००४
४२-रस-समुद्रका प्रवाह १२१९
४३-राम-वन-गमन (विद्यालंकार श्रीजगन्नाथ मिश्र गौड़ 'कमल' वेदान्तरत्न) ... १३९०
४४-विचार-बावनी (श्रीकन्हैयालालजी दूगड़) १०४०
४५-विरक्त भक्त श्रीशुकदेव १३३३
४६-श्याम-श्यामाका उदार निर्जन निकुञ्ज ... १२६८
४७-संत-समागम (श्रीमाधवशरणजी एम्० ए०, एल्-एल्० बी०) ८१५
४८-संयोगकी अपेक्षा वियोगमें निर्बाध असीम सुख ... ७२२
४९-'सत्'में सु
५०-सबमें
५१-सु
ह

110339

110339
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

चित्र-सूची

रंगीन चित्र

१–अतिथिसेवक कपोतके बलिदानसे व्याधका जीवन-परिवर्तन … …	८८५
२–अर्जुनका विशुद्ध आचरण और उर्वशीका शापरूप वरदान … …	७५७
३–गोमाताके अङ्गोंमें देवताओंका निवास …	९४९
४–दिव्य विमान-विराजित भगवान्‌की ध्यानमूर्ति	१०७७
५–द्वन्द्वातीत जडभरत … …	११४१
६–नमस्कार … …	१२०५
७–भक्तवत्सल भगवान्‌के द्वारा अश्वोंकी परिचर्या	८२१
८–भगवान् चन्द्रमौलि …	१०१३
९–भजनमय देवर्षि नारद … …	१२६९
१०–रघुवरकी बाल-छवि … …	६९३
११–विरक्त भक्त श्रीशुकदेव … …	१३३३

रेखा चित्र

१–उमा-महेश्वरका वात्सल्य	रे अंकका मु
२–गोप्रेमी गोपाल	९ वें अंकका मुखपृष्ठ
३–ध्यानयोग	१० वें अंकका मुखपृष्ठ
४–नागफण-नचैया	८ वें अंकका मुखपृष्ठ
५–भगवान् श्रीराम	३ रे अंकका मुखपृष्ठ
६–मुरलीकी मस्ती	६ ठें अंकका मुखपृष्ठ
७–रामनाम-कीर्तनमत्त महावीर	५वें अंकका मुखपृष्ठ
८–वीणापाणि मा सरस्वती	११वें अंकका मुखपृष्ठ
९–वीणापाणि सरस्वती देवी	४थे अंकका मुखपृष्ठ
१०–वंशीका वैभव	१२वें अंकका मुखपृष्ठ
११–सावधान प्रहरी (लक्ष्मण)	७वें अंकका मुखपृष्ठ

बहुत दिनोंसे अप्राप्य पुस्तकका नया संस्करण

श्रीमद्भगवद्गीता––गुटका, मूल, पदच्छेद, अन्वय और साधारण भाषाटीकासहित

यह पुस्तक गीताप्रेसकी डिमाईसाइजकी प्रसिद्ध १.२५ वाली गीताका ही २२×३० बत्तीस पेजी साइजमें गुटका संस्करण है। इसमें वे सभी चीजें हैं, जो १.२५ वालीमें हैं। साइज तथा टाइप छोटे होनेके कारण मूल्य अजिल्दका ५० नये पैसे तथा सजिल्दका ७५ नये पैसे हैं। डाकखर्च ९०नये पैसे।

सं० २०११ तक इसके नौ संस्करण छप चुके थे। यह दसवाँ है, जो अनेक कठिनाइयोंके कारण अबतक नहीं निकल पाया था।

एक सूचना

परलोकगत स्वामीजी श्रीपारसनाथजीद्वारा उनके गृहस्थाश्रमके समयमें 'कल्याण' के लिये लिखी हुई तथा उसमें बहुत समय पहले छपी हुई कुछ कहानियोंका एक संग्रह **'थानेदारीसे इस्तीफा'** के नामसे गीताप्रेसके द्वारा उनकी इच्छाके अनुसार प्रकाशित किया गया था। कहानियाँ बहुत रोचक एवं उपदेशप्रद हैं, अतः जनताने उस पुस्तकको बहुत पसंद किया।
छ व्यक्तियोंने उसकी एक कहानीपर आपत्ति की। गीताप्रेस सभी सम्प्रदायोंका सम्मा
तरहकी साम्प्रदायिक आपत्तिकी बात हमारी समझके अनुसार न समझते हुए भी वह
'मृ
ल्याण'में प्रकाशित एक अन्य कहानी उस स्थानपर दे दी गयी। इस परिवर्तनसे
प्रकट किया। पता नहीं किस कारणसे कुछ दिनोंके बाद उत्तरप्रदेश
प्रेसके अनेक शुभचिन्तकोंने राय दी कि सरकारकी इस आज्ञाको
परंतु एक पुस्तकके लिये यह सब खटपट करना उचित न समझ
वं स्टेशन-स्टालोंपर उस पुस्तककी बिक्री बंद कर दी। पर
पुस्तककी संशोधित प्रतियाँ अभीतक प्राप्त हैं। प्रेमी ग्राहकों
पुस्तक-विक्रेतागण उचित समझें तो दिल्ली, पटना
यह तो स्पष्ट ही है कि उस पुस्तकका नया सं

—गीताप्रेस, पो०

शास्त्री, दर्शनकेसरी) …
१६०–सहानुभूति (श्रीअनन्तविहारीजी
१६१–साधनोंकी पवित्रता आवश्यक (श्रीगोवि
शास्त्री, साहित्यरत्न) …
१६२–सारा समय परमोपयोगी बनानेका साधन (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) … ७६१
१६३–सीधा रूपान्तर (श्रीमाताजी श्रीअरविन्द-आश्रम, पाण्डिचेरी) … … ७४४
१६४–सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा (पं० श्रीसुन्दरीलालजी शर्मा) … १३७२

१–अ